

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली



क्रम संख्या

७२४

काल नं०

२२४

खण्ड

THE
YOGAVĀSIṢṬHA

OF
VĀLMĪKI

With the commentary Vāsiṣṭhamahārāmāyaṇa-
tātparyaprakāś'a.

Part II.

(Containing Nirvāṇa—Pūrvārdha and Uttarārdha.)



EDITED BY
WĀSUDEV LAXMAṆ ŚĀSTRĪ PAṆŚĪKAR

Third Edition.

REVISED AND RE-EDITED BY
NĀRĀYAṆ RĀM ĀCHĀRYA "KĀVYATĪRTHA"

With the co-operation of S'āstrīmaṇḍal.

PUBLISHED BY
PĀṆḌURANG JĀWAJĪ,
PROPRIETOR OF THE "NIRṆAYA-SĀGAR" PRESS,
BOMBAY.

1937.

Price 15 Rupees.
(for two parts)

[All rights reserved by the publisher.]

Printer:-Ramechandra Yesu Shedge, }
Publisher:-Pandurang Jawaji, }

'Nirnaya-sagar' Press,
26-28, Kolbhat Street, Bombay 2.



श्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिप्रणीतः
योगवासिष्ठः ।

श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहितः ।

(द्वितीयो भागः २)

अन्तिमषष्ठ-निर्वाणप्रकरणपूर्वार्धोत्तरार्धयुतः ।

पणशीकरोपाह्वलक्ष्मणशर्मतनुजनुषा वासुदेवशर्मणा

पूर्वसंस्कृतस्यास्य

तृतीयं संस्करणं

“काव्यतीर्थ” इत्युपाध्यलङ्कृत-आचार्यस्युपाभिध-

रामात्मजनारायणशर्मणा

शास्त्रिमण्डलसाहाय्येन सुपरिष्कृतम् ।

मुम्बय्यां

पाण्डुरङ्ग जावजी इत्येतैः

स्वीये निर्णयसागराख्यमुद्रणालये मुद्रापयित्वा च प्रकाशितम् ।

अथ योगवासिष्ठस्थषष्ठप्रकरणस्य विषयानुक्रमः ।

| सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः | सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः |
|--|---|------------|--------|---|------------|
| निर्वाणप्रकरणम् ॥ ६ ॥ (पूर्वार्धम्) | | | ४२ | शिवपूजोपाख्याने परमात्माभिधानम् | ८७३ |
| १ | दिग्दिव्यवहारवर्णनम् | ७७३ | ४३ | विश्रान्तिवर्णनम् | ८७५ |
| २ | विश्रान्तिसुहृदीकरणम् | ७७५ | ४४ | चित्तसत्तासूचनम् | ८७७ |
| ३ | ब्रह्मैक्यप्रतिपादनम् | ७७८ | ४५ | बिल्वोपाख्यानम् | ८७९ |
| ४ | विज्ञानभावप्रतिपादनम् | ७८० | ४६ | शिलाकोशोपदेशः | ८८० |
| ५ | राघवविश्रान्तिवर्णनम् | ७८० | ४७ | चिद्धनोपदेशः | ८८३ |
| ६ | मोहमाहात्म्यम् | ७८१ | ४८ | ब्रह्मैक्यप्रतिपादनम् | ८८५ |
| ७ | अज्ञानमाहात्म्यम् | ७८५ | ४९ | संस्तुतिविचारयोगः | ८८६ |
| ८ | अविद्यालताविलासोपदेशः | ७८९ | ५० | अक्षसंवेदनविचारयोगोपदेशः | ८८८ |
| ९ | विद्यानिराकरणम् | ७९१ | ५१ | इन्द्रियार्थोपलम्भविचारः | ८९१ |
| १० | अविद्याचिकित्सावर्णनम् | ७९३ | ५२ | अर्जुनोपाख्याने नरनारायणावतारकथनम् | ८९६ |
| ११ | जीवन्मुक्तनिश्चययोगोपदेशवर्णनम् | ७९५ | ५३ | अर्जुनोपदेशः | ८९८ |
| १२ | जीवन्मुक्तसंशयनिरूपणम् | ८०० | ५४ | आत्मज्ञानोपदेशः | ९०२ |
| १३ | ज्ञानविचारयोगोपदेशः | ८०१ | ५५ | जीवतत्त्वनिर्णयः | ९०३ |
| १४ | भुशुण्डोपाख्याने मेरुशिखरवर्णनम् | ८०२ | ५६ | वित्तवर्णनम् | ९०७ |
| १५ | भुशुण्डदर्शनम् | ८०४ | ५७ | अर्जुनविश्रान्तिवर्णनम् | ९०९ |
| १६ | वसिष्ठभुशुण्डसमायोगः | ८०५ | ५८ | अर्जुनकृतार्थतावर्णनम् | ९१० |
| १७ | भुशुण्डस्वरूपवर्णनम् | ८०७ | ५९ | प्रत्यगात्मावबोधः | ९११ |
| १८ | मातृव्यवहारवर्णनम् | ८०७ | ६० | विभूतियोगोपदेशः | ९१४ |
| १९ | आलयलाभः | ८०९ | ६१ | जगत्स्वप्नकथनम् | ९१६ |
| २० | भुशुण्डस्वरूपनिरूपणम् | ८११ | ६२ | जीवटोपाख्याने स्वप्नशतरुद्वीये मिश्रकसंसारोदाहरणम् | ९१७ |
| २१ | चिरजीवितवृत्तान्तकथनम् | ८१३ | ६३ | स्वप्नशतरुद्वीयकथनम् | ९१९ |
| २२ | चिरजीवितवर्णनम् | ८१६ | ६४ | गणत्वप्राप्तिवर्णनम् | ९२३ |
| २३ | समाधानसंकल्पनिराकरणम् | ८१९ | ६५ | विद्योत्तरविस्मयवर्णनम् | ९२६ |
| २४ | प्राणविचारणम् | ८२१ | ६६ | मिश्रसंस्तुतिकथनम् | ९२७ |
| २५ | समाधिबर्णनम् | ८२३ | ६७ | ब्रह्मैक्यप्रतिपादनम् | ९२८ |
| २६ | चिरजीवितहेतुकथनम् | ८२६ | ६८ | महामौनयज्ञोपदेशः | ९३० |
| २७ | भुशुण्डोपाख्यानसमाप्तिः | ८२८ | ६९ | प्राणमनःसंयोगविचारणम् | ९३३ |
| २८ | परमार्थयोगोपदेशः | ८२९ | ७० | वेतालप्रश्नः | ९३६ |
| २९ | जगतः परमात्मभयत्ववर्णनम् | ८३३ | ७१ | वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णनम् | ९३७ |
| ३० | शिवपूजोपाख्याने चेलोन्मुखचिद्विचारवर्णनम् | ८४० | ७२ | वेतालप्रश्नभेदः | ९३८ |
| ३१ | मनःप्रतिपादनम् | ८४५ | ७३ | वेतालाख्यानसमाप्तिः | ९३९ |
| ३२ | देहपातविचारः | ८४८ | ७४ | भगीरथोपदेशः | ९४० |
| ३३ | द्वैतैक्यप्रतिपादनम् | ८५१ | ७५ | भगीरथनिर्वाणम् | ९४२ |
| ३४ | श्रीपरमेश्वरोपदेशः | ८५५ | ७६ | गङ्गावतरणम् | ९४३ |
| ३५ | महादेवस्य पूज्यसीमान्तत्वकथनम् | ८५७ | ७७ | चूडालोपाख्याने शिखिध्वजविलासकथनम् | ९४४ |
| ३६ | परमेश्वरवर्णनम् | ८५९ | ७८ | चूडालाप्रबोधः | ९४६ |
| ३७ | नियतिनृत्यवर्णनम् | ८६० | ७९ | चूडालात्मलाभः | ९४९ |
| ३८ | बाह्यपूजनम् | ८६३ | ८० | पञ्चकविलासः | ९५१ |
| ३९ | देवार्चनविधिवर्णनम् | ८६५ | ८१ | अग्नीषोमविचारणम् | ९५६ |
| ४० | देवतातत्त्वविचारः | ८६८ | ८२ | अग्निमादिलाभयोगोपदेशः | ९६४ |
| ४१ | अग्निमादिलाभप्रतिपादनम् | ८६९ | | | |

| सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः | सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः |
|--------|--|------------|--------|---|------------|
| ४१ | स्वरूपविधानार्थमुपदेशकरणम् | ११५० | ८७ | पाषाणोपाख्याने पार्थिवधात्वन्तर्गतजगदान- न्यप्रतिपादनम् | १२६१ |
| ४२ | निर्वाणोपदेशः | ११५१ | ८८ | ” ” | १२६४ |
| ४३ | ब्रह्मकृतानतोपदेशः | ११५४ | ८९ | ” दृश्यमनोभाक्त्वप्रतिपादनम् | १२६६ |
| ४४ | मनोमृगविपद्दर्शनम् | ११५८ | ९० | ” जलजगद्दर्शनम् | १२६७ |
| ४५ | मनोहरिणकोपाख्यानम् | ११६१ | ९१ | ” तैजसजगद्दर्शनम् | १२६९ |
| ४६ | साम्यावबोधनम् | ११६४ | ९२ | ” परमार्थसर्गयोरैक्यप्रतिपादनम् | १२७३ |
| ४७ | सुसुप्तप्रथमकोपक्रमः | ११६६ | ९३ | ” आकाशमण्डपसिद्धममागमगाथावर्णनम् | १२७६ |
| ४८ | विवेकमाहात्म्यम् | ११६८ | ९४ | ” पिशाचवर्णनप्रसंगेन जगद्ब्रह्मणोरैक्य- प्रतिपादनम् | १२८० |
| ४९ | सर्वापज्ञान्तिवर्णनम् | ११७० | ९५ | ” वसिष्ठशरीरवर्णनम् | १२८५ |
| ५० | जीवसप्तकप्रकारवर्णनम् | ११७४ | ९६ | ” अमरत्वप्रतिपादनम् | १२८६ |
| ५१ | विधान्तियोगोपदेशः | ११७५ | ९७ | ” विवेकिविरलत्ववर्णनम् | १२८८ |
| ५२ | ब्रह्मस्वरूपवर्णनम् | ११७८ | ९८ | ” सज्जनसमागमप्रशंसावर्णनम् | १२९१ |
| ५३ | निर्वाणवर्णनम् | ११८१ | ९९ | ” परमार्थनिरूपणम् | १२९३ |
| ५४ | अद्वैतैक्यप्रतिपादनम् | ११८२ | १०० | ” नास्तिक्यनिरूपणम् | १२९६ |
| ५५ | जगतः परमार्थमयत्ववर्णनम् | ११८४ | १०१ | ” परमोपदेशः | १२९९ |
| ५६ | पाषाणोपाख्याने आकाशमन्दिरे वसिष्ठ- समाधानवर्णनम् | ११८७ | १०२ | ” मरणाद्यभावोपदेशः | १३०१ |
| ५७ | ” विदितवैद्याहंकारविचारः | ११८७ | १०३ | ” सकलभावाभावोपदेशेन परमार्थकताप्रति- पत्तिः | १३०५ |
| ५८ | ” सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादनम् | ११८९ | १०४ | ” जगदसत्ताप्रतिपादनम् | १३१० |
| ५९ | ” जगज्जालवर्णनम् | ११९० | १०५ | ” जाग्रदसत्ताप्रतिपादनम् | १३११ |
| ६० | ” जगज्जालवर्णनम् | ११९३ | १०६ | ” कार्यकारणनिरासः | १३१३ |
| ६१ | ” जगदाकाशकबोधः | ११९७ | १०७ | ” अविद्याभावप्रतिपादनम् | १३१७ |
| ६२ | ” विदेक्यवर्णनम् | ११९९ | १०८ | ” अविद्याक्षेपणे पार्थिवसंरम्भवर्णनम् | १३१८ |
| ६३ | ” जगत्सत्त्वैक्यप्रतिपादनम् | १२०२ | १०९ | ” विपश्चिदुपाख्याने अमिप्रवेशाद्देहलाभः | १३२० |
| ६४ | ” विद्याधरीव्यसनवर्णनम् | १२०४ | ११० | ” विप० संप्रामवर्णनम् | १३२२ |
| ६५ | ” विद्याधरीजन्मव्यवहारवर्णनम् | १२०७ | १११ | ” विप० चतुर्दिगतबलद्रावणम् | १३२५ |
| ६६ | ” शिलान्तरवर्णनम् | १२०८ | ११२ | ” विप० बलपरिभ्रंशः | १३२७ |
| ६७ | ” अभ्यासप्रशंसा | १२१० | ११३ | ” विप० समुद्रवर्णनम् | १३२९ |
| ६८ | ” प्रमाणाप्रति सिद्ध्या दृश्यानुपपत्तिवर्णनम् | १२१२ | ११४ | ” विप० दिग्दर्शनम् | १३३१ |
| ६९ | ” सर्गप्राप्तिः | १२१४ | ११५ | ” विप० विपश्चिदनुचरकृतपदार्थवर्णनम् | १३३३ |
| ७० | ” शिलान्तर्जगत्पितामहवाक्यानि | १२१६ | ११६ | ” विप० विपश्चिदनुचरकृतश्वकाककोकि- लान्योक्तिवर्णनम् | १३३९ |
| ७१ | ” कल्पशोभवर्णनम् | १२१८ | ११७ | ” विप० पद्मभ्रमरहंसवर्णनम् | १३४७ |
| ७२ | ” निर्वाणवर्णनम् | १२२१ | ११८ | ” विप० हरिणबन्धुसुगन्धादिवर्णनम् | १३५० |
| ७३ | ” विराडात्मवर्णनम् | १२२३ | ११९ | ” विप० पथिकाविरहवृत्तवर्णनम् | १३५३ |
| ७४ | ” विराडात्मवर्णनम् | १२२६ | १२० | ” विप० दिगन्तरवृत्तिवाय्वादिवर्णनम् | १३५६ |
| ७५ | ” महाकल्पान्तामिषवर्णनम् | १२२८ | १२१ | ” विप० विपश्चिद्विर्णयः | १३५७ |
| ७६ | ” पुष्करावर्ताढम्बरवर्णनम् | १२३१ | १२२ | ” अविद्योपाख्यानान्तर्गतविपश्चिदुपा- ख्याने अर्णवपरिक्रमणम् | १३५८ |
| ७७ | ” पुष्करावर्तवृष्टिसंश्रुलजगद्दर्शनम् | १२३३ | १२३ | ” दिग्विहरणम् | १३६० |
| ७८ | ” एकाणवर्णनम् | १२३६ | १२४ | ” द्वीपेषु विपश्चिद्व्यवहारः | १३६१ |
| ७९ | ” वासनाभावप्रतिपादनम् | १२३७ | १२५ | ” जीवन्मुक्तकलनम् | १३६२ |
| ८० | ” आन्तिमात्रत्वप्रतिपादनम् | १२४१ | १२६ | ” विपश्चिज्जन्मान्तराचरणम् | १३६७ |
| ८१ | ” कालरात्रिवर्णनम् | १२४४ | १२७ | ” भूगोलकनिर्णयः | १३६९ |
| ८२ | ” शिवस्वरूपवर्णनम् | १२५० | १२८ | ” ब्रह्माकाशविपश्चिद्व्यवहान्दर्शनम् | १३७१ |
| ८३ | ” विश्वरूपदर्शनम् | १२५२ | १२९ | ” विपश्चिन्मूलाभः | १३७३ |
| ८४ | ” शिवशक्तिवर्णनम् | १२५४ | | | |
| ८५ | ” प्रकृतिपुरुषकर्मवर्णनम् | १२५७ | | | |
| ८६ | ” जगदन्यान्यत्ववर्णनम् | १२५८ | | | |

| सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः | सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः |
|--------|---|------------|--------|---|------------|
| १३० | विपश्चिदुपाख्याने मृगवह्निप्रवेशः ... | १३७६ | १७४ | ब्रह्मगीतासु निर्वाणोपदेशः ... | १४७६ |
| १३१ | ,, भाससंसारवर्णनम् ... | १३७८ | १७५ | ,, परमार्थगीताख्यद्वैतयुक्तिवर्णनम् ... | १४८२ |
| १३२ | ,, भासवर्णितस्त्रजन्मपरंपरा ... | १३८३ | १७६ | ,, ब्रह्माण्डोपाख्यानम् ... | १४८२ |
| १३३ | ,, शबोपाख्याने महाशिववर्णनम् ... | १३८४ | १७७ | ,, सत्यवर्णनम् ... | १४८४ |
| १३४ | ,, देवपरिदेवनवर्णनम् ... | १३८६ | १७८ | ,, ऐन्दवोपाख्यानम् ... | १४८७ |
| १३५ | ,, शवोपशमवर्णनम् ... | १३९० | १७९ | ,, ब्रह्ममयत्वप्रतिपादनम् ... | १४९० |
| १३६ | ,, मशकव्याधबोधनम् ... | १३९० | १८० | ,, तापसोपाख्यानम् ... | १४९२ |
| १३७ | ,, जाग्रत्सुषुप्ततुरीयवर्णनम् ... | १३९२ | १८१ | ,, तापसोपाख्यानम् ... | १४९३ |
| १३८ | ,, चित्तसर्वात्मकताप्रतिपादनम् ... | १३९६ | १८२ | तापसोपाख्यानान्तर्गतसप्तद्वीपेश्वरो- | |
| १३९ | ,, जगन्नाशवर्णनम् ... | १३९८ | | पाख्याने सप्तद्वीपेश्वरवर्णनम् ... | १४९५ |
| १४० | ,, हृदयकल्पनावर्णनम् ... | १४०२ | १८३ | ,, द्वीपसप्तकाष्ठकवर्णनम् ... | १४९८ |
| १४१ | ,, कल्पान्तवर्णनम् ... | १४०४ | १८४ | ,, कुन्ददन्तोपदेशः ... | १५०१ |
| १४२ | ,, जगद्रतकर्मनिर्णयः ... | १४०५ | १८५ | ,, कुन्ददन्तप्रबोधः ... | १५०३ |
| १४३ | ,, निर्वाणबोधोपदेशः ... | १४०८ | १८६ | ,, सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिपादनम् ... | १५०५ |
| १४४ | ,, पदार्थविचारः ... | १४१३ | १८७ | ,, जीवस्य संसृतिप्रतिपादनम् ... | १५०९ |
| १४५ | ,, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तवर्णनम् ... | १४१६ | १८८ | ,, जीवरूपवर्णनम् ... | १५१३ |
| १४६ | ,, सुषुप्तविचारः ... | १४१९ | १८९ | ,, ब्रह्मैकताप्रतिपादनम् ... | १५१५ |
| १४७ | ,, स्वप्नोपलम्भनम् ... | १४२१ | १९० | ,, रामविश्रान्तिः ... | १५१६ |
| १४८ | ,, स्वप्ननिर्णयः ... | १४२२ | १९१ | ,, महावादबोधनम् (तत्त्वानुसंधानम्) ... | १५२२ |
| १४९ | ,, कारणविचारः ... | १४२५ | १९२ | ,, विश्रान्त्युपगमवर्णनम् ... | १५२३ |
| १५० | ,, परमोपदेशः ... | १४२७ | १९३ | ,, विश्रान्तिकथनम् ... | १५२४ |
| १५१ | ,, अभावदर्शनम् ... | १४३० | १९४ | ,, रामविश्रान्त्युपगमः ... | १५२५ |
| १५२ | ,, मुनिरात्रिसंकथावर्णनम् ... | १४३० | १९५ | ,, बोधप्रकाशीकरणयोगोपदेशः ... | १५२८ |
| १५३ | ,, सर्वैकात्म्यप्रतिपादनम् ... | १४३२ | १९६ | ,, काष्ठवैवधिकोपाख्याने चिन्तामणि० ... | १५३१ |
| १५४ | ,, यथाभूतार्थवर्णनम् ... | १४३३ | १९७ | ,, शास्त्रमाहात्म्यम् ... | १५३२ |
| १५५ | ,, भाविसंपत्तिवर्णनम् ... | १४३४ | १९८ | ,, समदृष्टिप्रशंसावर्णनम् ... | १५३४ |
| १५६ | ,, सिन्धुसंबोधनम् ... | १४३६ | १९९ | ,, मुक्तपुरुषस्थितिवर्णनम् ... | १५३६ |
| १५७ | ,, सिन्धुनिर्वाणम् ... | १४३८ | २०० | ,, साधुवादसपर्यादिवर्णनम् ... | १५३८ |
| १५८ | ,, शवनिर्णयः ... | १४४० | २०१ | ,, विश्रान्तिप्रकटीकरणम् ... | १५४२ |
| १५९ | ,, विपश्चित्संसारभ्रमवर्णनम् ... | १४४१ | २०२ | ,, आत्मविश्रामाङ्गीकरणम् ... | १५४३ |
| १६० | ,, स्वर्गनरकोपलम्भवर्णनम् ... | १४४४ | २०३ | ,, निर्वाणवर्णनम् ... | १५४४ |
| १६१ | ,, निर्वाणवर्णनम् ... | १४४७ | २०४ | ,, चिदाकाशैकताप्रतिपादनम् ... | १५४६ |
| १६२ | ,, अविद्यानिरसनम् ... | १४४९ | २०५ | ,, सर्गकारणनिरासः ... | १५४८ |
| १६३ | ,, इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णनम् ... | १४५१ | २०६ | ,, ब्रह्मविषयमहाप्रश्नः ... | १५५० |
| १६४ | ,, जगत्परमात्मनोरैक्यप्रतिपादनम् ... | १४५३ | २०७ | ,, महाप्रश्नोत्तरवर्णनम् ... | १५५२ |
| १६५ | ,, जाग्रत्स्वप्नैक्योपदेशः ... | १४५५ | २०८ | ,, महाप्रश्नोत्तरमोक्षणम् ... | १५५४ |
| १६६ | ,, शिलोपाख्यानम् ... | १४५६ | २०९ | ,, महाप्रश्नोत्तरे सर्वास्तित्वानुभूतिदर्शनम् ... | १५५६ |
| १६७ | ,, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभावप्रतिपादनम् ... | १४५९ | २१० | ,, महाप्रश्नोत्तरवाक्यसमाप्तिः ... | १५५८ |
| १६८ | ,, शालभक्षिकोपदेशः ... | १४६१ | २११ | ,, परमार्थोपदेशः ... | १५६० |
| १६९ | ,, विश्रान्तचित्तवर्णनम् ... | १४६४ | २१२ | ,, परमार्थनिरूपणम् ... | १५६२ |
| १७० | ,, तत्त्वज्ञानव्यवहारवर्णनम् ... | १४६७ | २१३ | ,, प्राक्तनरामशिष्यत्वोपाख्यानम् ... | १५६३ |
| १७१ | ,, द्वैतैक्यनिरामययोगोपदेशः ... | १४६८ | २१४ | ,, उपदेशमहोत्सववर्णनम् ... | १५६६ |
| १७२ | ,, जगतो ब्रह्मत्वप्रतिपादनम् ... | १४७१ | २१५ | ,, ग्रन्थप्रशंसातद्वाचनदिविधिः ... | १५६९ |
| १७३ | ,, ब्रह्मगीतासु परमार्थोपदेशः ... | १४७३ | २१६ | ,, गुरुभ्यः शिष्यैरात्मनिवेदनम् ... | १५७१ |

इति निर्वाणप्रकरणपूर्वार्धोत्तरार्धविषयानुक्रमः ।

श्रीः ।

योगवासिष्ठः ।



श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासंवलितः ।

निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धम् ६ ।

प्रथमः सर्गः १

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

उपशमप्रकरणादनन्तरमिदं शृणु ।
त्वं निर्वाणप्रकरणं ज्ञातं निर्वाणदायि यत् ॥ १
कथयत्येवमुहामवचने मुनिनायके ।
श्रवणैकरसे मौनस्थिते राजकुमारके ॥ २
मुनिवागर्थनिक्षिप्तमनस्यस्ततपःक्रिये ।
राजलोके गतस्पन्दे चित्रार्पित इव स्थिते ॥ ३

शिवमभयमनाद्यनन्तमर्ध्यं परमसुखाद्वयबोधमात्रसारम् ।
उपरतसकलभ्रमं विशुद्धं निजमहसा स्फुरदात्मतत्त्वगीडे ॥ १ ॥

उत्पत्तिस्थित्युपशमाख्यैस्त्रिभिः प्रकरणैर्जगज्जन्मस्थितिल-
यबोधकानां 'अथात आदेशो नेतिनेति' इत्यादिसर्वप्रपञ्चनिषे-
धकानां च वेदान्तवाक्यानामध्यारोपापवादव्यायेनात्मतत्त्वव्यु-
त्पादकतया वासनाक्षयमनोनाशपर्यन्तज्ञानेन परमपुरुषार्थं ता-
त्पर्यपर्यवसानं दर्शितम् । अथेदानीं 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्य-
च्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा यो वै भूमा तत्सुखम्'
'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'आनन्दं ब्रह्मणो
विद्वाञ्च विभेति कुतश्चन' 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्य-
मयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं
निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' इत्यादि-
श्रुतितात्पर्यसिद्धं प्रागुक्तसर्वसाधनसाध्यसाक्षात्कारज्ञानकलं नि-
र्वाणं व्युत्पादयितुं निर्वाणाख्यमिदं प्रकरणं श्रावयितुं भगवान्
श्रीवाल्मीकिरुवाच—तत्राद्यसर्गे ।

मुनिवाक्यादिहोत्थानं श्रोतृणामाह्निकी क्रिया ।

श्रुतार्थचिन्तानिद्राभ्यां रात्रिवापनमीर्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ पूर्वोत्तरप्रकरणयोर्हेतुतासंगतिं सूचयन् वक्तव्यं प्रति-
जानीते—उपशमेति । जगज्जन्मस्थितिभङ्गहेतुरूपश्रुत्युक्त-
तस्थलक्षणस्य मूढोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तैः 'वाचारम्भणं विकारो
नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इति श्रुतिप्रदर्शितन्यायेनैव
यो० बा० १८

वसिष्ठवचसामर्थं विचारयति सादरम् ।

लसदङ्गुलिभङ्गेन मुनिसार्थं स्फुरद्भुवि ॥ ४
विस्मयालोकनोल्लासप्रोत्फुल्लनयनालिनि ।
पुरन्ध्रवर्गे गम्भीरतरुमञ्जरितां गते ॥ ५
खे वासरचतुर्भागदेशे दिनकरे स्थिते ।
किञ्चिज्ज्ञानोदयात्साम्ये किञ्चिच्छममुपेयुषि ॥ ६

'अङ्गेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाङ्गिः सोम्य शुङ्गेन तेजो-
मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः
सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः स य एपो-
ऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा' इति श्रुतितात्पर्यवि-
षये ऐकात्म्ये पर्यवसानव्युत्पादनपरप्रकरणत्रयानन्तरं तत्फ-
लीभूतस्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'
'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादिश्रुतिदर्शितस्वरूपलक्षणस्य
'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' इत्यादिमहा-
वाक्यार्थस्य तद्बोधफलनिर्वाणस्वरूपस्य च व्युत्पादकत्वाच्चिर्वा-
णाख्यं प्रकरणं शृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥ प्रतिज्ञातमर्थं प्रस्तुतकथा-
मेवावलम्ब्य वर्णयिष्यन्नुपशमप्रकरणोपदेशान्ते दशरथसभायां
यदुक्तं तदाह—कथयतीत्यादिना । सर्वेषां सप्तम्यन्तानां 'भेरी-
पटदृशङ्गानां ध्वनिरासी'दिति षोडशस्थेनान्वयः । मुनिनायके
वसिष्ठे । राजकुमारके रामे ॥ २ ॥ अस्ता त्यक्ता तपो मानसं
बाह्यार्थालोचनं क्रिया शरीरचेष्टा च येन । तदेवाह—गत-
स्पन्दे इति ॥ ३ ॥ अङ्गुलिभङ्गेन उद्विक्तसतर्जनीचेष्टाभिनयेन ।
स्फुरद्भुवि । सभ्रुभङ्गमिति यावत् ॥ ४ ॥ विस्मयः परमाश्चर्यरूपः
प्रत्यगात्मा तदालोकनोल्लासेन गम्भीरा मकरन्दाखादनासक्त-
भ्रमरैर्निष्कम्पशब्दा या तरुमञ्जरी तद्भावमिव गते ॥ ५ ॥
यत्र वासरस्य चतुर्थभागमात्रावशेषो लक्ष्यते तस्मिन्देशे प्रदेशे
श्रवणायैव स्थिते । अतएव किञ्चिज्ज्ञानोदयादिव साम्ये दृष्टि-

१ तद्बोधकफल इति पाठः ।

श्रवणायेव संशान्ते वितानस्पन्दमालिते ।
 मौनं मरुति मन्दारमधुरामोददायिनि ॥ ७
 पुष्पदामसुपुमासु महाभ्रमरपङ्क्तिषु ।
 ज्ञातज्ञेयतया नूनं सम्यग्ध्यानवतीष्विव ॥ ८
 मुक्ताजालकलापान्तर्गताखन्तरभूमिषु ।
 कचत्यपगतस्पन्दं तोये श्रोतुमिवास्थिते ॥ ९
 गृहान्तरं प्रविष्टेषु गवाक्षे दूरमंशुषु ।
 विश्रामार्थमिवादीर्घं नभःपान्थेषु शीतलम् ॥ १०
 मुक्ताजालप्रभाजालभस्मनोद्दलितात्मनि ।
 शंसतीव शमं शाम्यद्दिनदेहे दिवातपे ॥ ११
 करे लीलासरोजेषु शेखरेषु च भ्रूभ्रताम् ।
 श्रुत्वा सुरसमामोदादवृत्तिषु मनस्स्विव ॥ १२
 बालकेष्वङ्गलोकेषु लीलापक्षिषु सादरम् ।
 भोजनार्थं वधूलोकमुपरुन्धत्स्वनारतम् ॥ १३
 भ्रमद्भ्रमरपक्षोत्थवातधूतरजस्यलम् ।
 कौमुदे परिविश्रान्ते चामरेष्वक्षिपक्षमसु ॥ १४
 रश्मिष्वगगुहोन्मुक्तच्छायाजालभयादिव ।
 गवाक्षादिष्विवोद्गीय प्रविष्टेषु गृहान्तरम् ॥ १५
 आसीद्दिनचतुर्भागसत्तावेदनतत्परः ।
 भेरीपटहशङ्खानां दिङ्मुखपूरको ध्वनिः ॥ १६
 तेन तत्तारमप्याशु वचोऽन्तर्धानमाययौ ।
 मौनं जलदनादेन मायूर इव निस्वनः ॥ १७
 आश्रुन्धा श्रुब्धपक्षालिः पञ्जरस्था खगावली ।

प्रिये किञ्चित्तापोपशममुपेयुषीचेत्तत्तारादनुकृष्यान्वयः ॥ ६ ॥
 श्रवणायेव संशान्ते इत्येतद्देहलीदीपन्वायेन मरुतीत्यत्रापि
 संबध्यते । कुसुमवितानस्पन्देन मालिते स्रग्विणि । अतएव
 मन्दारमधुरामोददायिनि ॥ ७ ॥ ८ ॥ मुक्तामयानां जालक-
 लापानां जालाकारवापीवरणानां अन्तर्गतासु अन्तरभूमिषु म-
 ध्यस्थवापीप्रदेशेषु श्रोतुमास्थिते सौत्कण्ठ इव अपगतस्पन्दं
 निश्चलं कचति मुक्तादिप्रभाभिर्दीप्यमाने सति ॥ ९ ॥ अंशुषु
 रविरदिमेषु शीतलं गृहान्तरं श्रवणशालामध्यं विश्रामार्थमिव
 प्रविष्टेषु । देशतः कालतश्च आदीर्घं नभसि पान्थेषु । चिरदू-
 रप्रचारश्रान्तेष्विति यावत् ॥ १० ॥ शाम्यतो दिनस्य देहभूते
 मुक्ताजालकानां प्रभाजाललक्षणेन भस्मना उद्दलितात्मनि
 तदन्तःप्रविष्टे दिवातपे तपस्विलक्षणे स्वात्मनि शमं शान्ति-
 गुणं शंसति सूचयतीव सति ॥ ११ ॥ भ्रूभ्रतां राशां करे पाणौ
 शेखरेषु शिरस्सु च स्थितेषु लीलासरोजेषु शोभना रसा यस्मि-
 स्तस्मुरसं वसिष्ठोपदेशं श्रुत्वा आमोदादानन्दाविर्भावात्तेषां मन-
 स्स्विव अश्रुतिषु निर्मालनोन्मुखेषु सत्सु ॥ १२ ॥ लीलापक्षिषु
 पञ्जरस्थशुक्रादिषु उपरुन्धत्सु । त्वरयतिस्विति यावत् ॥ १३ ॥
 कौमुदे ईषद्विकसोन्मुखकुमुदसंबन्धिनि भ्रमद्भ्रमराणां पक्षो-

१ वरणं वृत्तिराच्छादनं वा. २ बलेव इति पाठः.

भ्रुकम्पे तरसाऽऽतालीपल्लवेव वनावली ॥ १८
 आययुर्भयवित्रस्ता बाला धात्रीकुचान्तरम् ।
 सारवं प्रावृषीवाधाः प्रोन्नतं शृङ्गकोटरम् ॥ १९
 उत्तस्थुरवर्तसेभ्यो भ्रूभ्रतां भ्रमररजः ।
 ईषत्करालवाहाभ्यः सरिङ्गयोऽम्बुकणा इव ॥ २०
 एवं प्रक्षुभिते तस्मिन्गृहे दाशरथे तदा ।
 प्राप्ते वासरवृद्धत्वे शान्तशङ्खस्वने शनैः ॥ २१
 संहरन्प्रस्तुतं वस्तु वचो मधुरवृत्तिमत् ।
 उवाच मुनिशार्दूलः सभामध्ये रघूद्वहम् ॥ २२
 राघवानघ वाग्जालं मयैतत्प्रविसारितम् ।
 तेन चित्तखणं बद्धा क्रोडीकृत्यात्मतां नय ॥ २३
 कश्चिद्गृहीतो भवता मद्भिरामर्थ ईदृशः ।
 त्यक्त्या दुर्बोधमक्षीणो हंसेनेवाम्भसः पयः ॥ २४
 विचार्यैतदशेषेण स्वधियं वं पुनःपुनः ।
 अनेनैव पथा साधो गन्तव्यं भवताधुना ॥ २५
 अनयैव धिया राम विहरन्नैव बध्यसे ।
 अन्यथाधः पतस्याशु विन्ध्यखाते यथा गजः ॥ २६
 सुगृहीतं धिया राम मद्बचो न करोषि चेत् ।
 तत्पतस्यवटे त्यक्तदीपो वान्धो निशास्विव ॥ २७
 असङ्गेन यथाप्राप्तो व्यवहारोऽस्य सिद्धये ।
 इत्येव शास्त्रसिद्धान्तमादायोदारवान्भव ॥ २८
 हे सभ्या हे महाराज रामलक्ष्मणभूमिपाः ।
 सर्व एव भवन्तोऽद्य तावद्यापारमाह्निकम् ॥ २९

त्यंवेतैरुद्धूते रजसि चामरेष्वक्षिपक्षमसु च परितो विश्रान्ते
 सति ॥ १४ ॥ सूर्यरश्मिषु अगानां मेवादिपर्वतानां गुहाभ्य
 उन्मुक्ताच्छायासमूहात्मकात्मसो भयादिव उद्गीय पलाय्य गवा-
 क्षादिषु द्वारेषु निलयनाय गृहान्तरं गृहमध्यं प्रविष्टेष्विव ॥ १५ ॥
 दिनचतुर्थभागस्य सत्ता परिशेषस्तत्तावेदने तत्परः ॥ १६ ॥
 तेन ध्वनिना तत्तारमपि मुनेरिदं मौनं वासिष्ठं वचः अन्तर्धान-
 माययौ ॥ १७ ॥ तरसा ज्वेने आश्रुन्धा संचलिता जातेस्व-
 र्थः । आतालीपल्लवा आकम्पिततालीदला वनावलीव ॥ १८ ॥
 सारवं रोदनशब्दमहितं यथा स्यात्तथा शृङ्गकोटरं शृङ्गद्वयमध्य-
 मिषु ॥ १९ ॥ ईषत्करालः श्रुब्धो वाहः प्रवाहो यासां ताभ्यः ।
 भ्रमराणां रजोगौरत्वद्योतनायाम्बुकणहृष्टान्तः ॥ २० ॥ वास-
 रस्य वृद्धत्वे चतुर्थं वयसि प्राप्ते सति ॥ २१ ॥ प्रस्तुतं वस्तु
 वक्तव्यार्थं संहरन्नुपसंहरन् ॥ २२ ॥ क्रोडीकृत्य हृदि रुद्धेति
 यावत् ॥ २३ ॥ अक्षीणः अक्षयो मद्भिरामर्थः । हंसेन अम्भसः ।
 अम्भः परित्यज्येति ह्यङ्गलोपे पञ्चमी ॥ २४ ॥ अनेन वासना-
 क्षयमनोनाशप्राणसंरोधज्ञानाभ्यासपथा ॥ २५ ॥ २६ ॥ यथा
 अन्धस्त्वकरीपो वा पुरुषोऽवटे गर्ते पतति तद्वत् ॥ २७ ॥ अस्य
 मनुकार्यस्य सिद्धये यथाप्राप्तो व्यवहारः अक्षणेन कार्य इत्येवं
 सर्वेषां परमतात्पर्यविषयं सिद्धान्तमादाय मनसि कृत्य उदार-

कुर्वन्त्वयं हि दिवसः प्रायः परिणताकृतिः ।
 शेषं विचारयिष्यामो विचार्यं प्रातरागताः ॥ ३० ॥
 श्रीवाल्मीकिव्याच ।
 इत्युक्त्वा मुनिना तेन सा सर्वेषु तदा सभा ।
 प्रोक्तस्थौ पद्मवदना सबिकास्तेषु पद्मिनी ॥ ३१ ॥
 राजानः स्तुतराजानः कृतराघववन्दनाः ।
 परिष्टुते वसिष्ठे ते जम्बुरात्मनिवेशनम् ॥ ३२ ॥
 विश्वामित्रेण सहितो वसिष्ठो गन्तुमाधमम् ।
 उत्तस्थावास्नाच्छ्रीमाधमस्कृतनभश्चरः ॥ ३३ ॥
 दशरथप्रभृतयो राजानो मुनयस्तथा ।
 यथानुरूपं वक्तारमनुगम्य मुनिं चिरम् ॥ ३४ ॥
 आपृच्छथ केचिद्गगनं ययुः केचिद्गनान्तरम् ।
 केचिद्राजगृहं सन्तो भृङ्गाः पद्मोत्थिता इव ॥ ३५ ॥
 वसिष्ठपादयोस्त्यक्त्वा पुष्पाञ्जलिमनाविलम् ।
 दारैरनुगतो राजा प्रविवेश गृहान्तरम् ॥ ३६ ॥
 रामलक्ष्मणशत्रुघ्नाः प्राप्तस्य स्वाश्रमं गुरोः ।
 अभ्यर्च्य चरणौ भक्त्या त्वाजग्मुर्नृपमन्दिरम् ॥ ३७ ॥
 सदनानि समासाद्य ध्रोतारः सर्वे पव ते ।
 सक्षुरानर्चुरभ्येयुर्देवान्विप्रान्पितृस्तथा ॥ ३८ ॥

यथाक्रमं स्वभृत्यान्तैर्विप्राद्यैश्च परिच्छद्रेः ।
 समं बुभुजिरे भोज्यं वर्णधर्मक्रमोदितम् ॥ ३९ ॥
 अस्तं गते दिवकरे समं दिवसकर्मभिः ।
 अभ्यागते रात्रिकरे समं रजनिकर्मभिः ॥ ४० ॥
 स्थित्वा तल्पेषु कौशेयशयनेष्वासनेषु च ।
 भूचरा मुनिराजानो राजपुत्रा महर्षयः ॥ ४१ ॥
 संसारोत्तरणोपायं वसिष्ठवदनेरितम् ।
 यथावदेकाप्रधियश्चिन्तयामासुराहताः ॥ ४२ ॥
 ततः प्रहरमात्रेण निद्रामामुद्रिताननाः ।
 उत्स्वप्नसुन्दरीमीयुः पद्मा इव दिनार्थिनः ॥ ४३ ॥
 रामलक्ष्मणशत्रुघ्नाः प्रहरत्रयमेव तत् ।
 वासिष्ठमुपवेशं ते चिन्तयामासुरक्षतम् ॥ ४४ ॥
 प्रहरस्यार्धमात्रं ते तत आमुद्रितेक्षणः ।
 उत्स्वप्नमाययुर्निद्रां क्षणाद्विद्रावितश्रमाम् ॥ ४५ ॥
 इति शुभमनसां विवेकभाजा-
 मधिगतसारतयोदिताशयानाम् ।
 अभजत विरतिं तदा त्रियामा
 मलिननिशाकरवक्रतां जगाम ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतांके मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे दिवसव्यवहारवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

द्वितीयः सर्गः २

श्रीवाल्मीकिव्याच ।
 ततः क्लिप्नेन्दुषदना पर्याकुलतमःपदा ।
 क्षीयमाणा बभौ श्यामा विवेक इव वासना ॥ १ ॥
 पूर्वं ष्वस्ततयालोकं दृश्यमाने परेऽचले ।
 वान् अपरिच्छिन्नात्मबोधवान्भवेत्यर्थः ॥ २८ ॥ २९ ॥ प्रातः
 शः सन्त्यामागताः सन्तः । 'धातुसंबन्धे प्रत्ययाः' इति भवि-
 प्यति कः ॥ ३० ॥ इति उक्त्वा आज्ञप्ता । पद्मानीव पद्मान्येव
 च वदनानि मस्याः ॥ ३१ ॥ स्तुतो राजा दशरथो यैस्ते
 स्तुतराजानः । वसिष्ठे परिष्टुते सर्वैः प्रणम्य प्रशंसिते सति
 ॥ ३२ ॥ नमस्कृता नभश्चरा देवा येन ॥ ३३ ॥ वक्तारमु-
 पदेश्यारम् । चिरमाश्रमान्तमनुगम्य ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ अनाविलं
 निर्मलम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ देवान्पितृष्व आनर्चुः । विप्रान्
 अतिथीन् अभ्येयुः अभिमुखं आ ईयुः । अभिगमनादिना पूज-
 नाय स्वीचक्रुरित्यर्थः । 'अभ्येतुः' इति पाठे तु अभ्येतुरतिथि-
 वर्गस्य मध्ये विप्रानानर्चुरित्येवं योज्यम् ॥ ३८ ॥ परिच्छद्रेः
 परिवारैः सह ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ भाविशुभसू-
 चकत्वादुत्कृष्टस्वप्नैः सुन्दरीं रमणीयाम् । तथाच श्रुतिः 'अथ
 यत्र देव इव राजेव अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य
 परमो लोकः' इति स्वाप्रसार्वात्म्यदर्शनस्य भाविमोक्षफलसूचकतां
 दर्शयति । दिनार्थिनो रात्रिकर्मणकामा इति भावः ॥ ४३ ॥

शयालीकायतंसाभं तापको निकरो दधौ ॥ २ ॥
 अवश्यायकणाकर्षी परामृष्टेन्दुमण्डलः ।
 ज्योत्स्नाकवलनालोको बभौ प्राभातिकोऽनिलः ॥ ३ ॥
 ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ अधिगतसारतया आत्मतत्त्वप्रबोधेन उदितः
 सर्विकास आशयो येषां रामासीनाम् । त्रियामा रात्रिः । वि-
 रतिमुपरमं अभजत प्राप । अतएवाकृणकिरणव्याप्त्या मलिनो
 निशाकर एव वर्णः यस्यास्तद्भावं जगाम ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे दिवसव्यवहार-
 वर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥
 इह रामादिभिः प्रातर्षसिष्टस्य सभानयः ।
 उक्तार्थस्मरणान्तरत्वे विश्रामश्चोपवर्णयते ॥ १ ॥
 क्लिप्तो म्लान इन्दुरेव वदनं यस्याः । क्षीयमाणा मरणो-
 न्मुखी ॥ १ ॥ ततो निकरो निर्गच्छत्किरणस्तापकः सूर्यः प्रा-
 ष्णुर्खैर्नैर्दृश्यमाने पूर्वे पूर्वदिक्स्थे अचले शृङ्गमेदं ध्वंस्वतया
 प्रतिबद्धतया तत्तदन्तरालनिर्गतमालोकं शयाः प्रसारितहस्ता-
 स्तदाभं दधौ । प्रत्यक्षुर्खैर्नैर्दृश्यमाने परे पश्चिमदिक्स्थे
 अचले तु अलीको सिध्याकल्पितो अवतंसः किरीटादिशिरो-
 भूषणं तदाभमालोकं दधाविति इन्द्रे विभज्यान्वयः
 ॥ २ ॥ ज्योत्स्नानां कवलनाय आलोकश्चक्षुःप्रसार इव
 सौरालोको मस्येति सूर्यस्य तदीयचक्षुःपारोपादियमुक्तिः ।

रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना उत्थायानुचरैः सह ।
 ययुर्बन्धितसंध्यास्ते पुण्यं वासिष्ठमाश्रमम् ॥ ४
 तत्र बन्धितसंध्यस्य निर्गतस्यापि सद्यतः ।
 मुनेर्बन्दिरे पादौ पदोर्द्वार्घ्यसंततिम् ॥ ५
 क्षणान्तत्सदनं मौनं मुनिब्राह्मणराजभिः ।
 हस्त्यश्वरथयानैश्च शनैर्निरन्ध्रतां ययौ ॥ ६
 अथासौ मुनिशार्दूलस्तयैव सह सेनया ।
 गृहं दाशरथं काले रामाद्यनुगतो ययौ ॥ ७
 तत्रैनं पूर्वसंबन्धः कृतसंध्यो महीपतिः ।
 दूरमागं विनिर्गत्य पूजयामास सादरम् ॥ ८
 पुष्पमुक्तामणिघ्रातैर्भूयोऽत्यधिकभूषिताम् ।
 सभां प्रविश्य ते सर्वे विविशुर्विष्टरालिषु ॥ ९
 अथ तस्मिन्नवसरे ह्यस्तनाः सर्वे एव ते ।
 श्रोतारः समुपाजग्मुर्नभश्चरमहीचराः ॥ १०
 विवेश सा सभा सौम्या कृतान्योन्याभिवन्दना ।
 बभौ राजसमाभोगा शान्तवातेव पद्मिनी ॥ ११
 यथाप्रदेशमेवाशु निविष्टेषु यथासुखम् ।
 तेषु तद्देशयोगेषु विप्रर्षिमुनिराजसु ॥ १२
 मृदुनि स्वागतरवे शनैः शममुपागते ।
 सभाकोणोपविष्टेषु शान्तशब्देषु बन्दिषु ॥ १३
 तरसैवोदितेष्वशु श्रोतुमभ्यागतेष्विव ।
 गवाक्षादिव जालेषु प्रविष्टेष्वर्करदिमषु ॥ १४
 सत्वरप्रविशच्छ्रोतृहस्तस्पर्शघटोद्भवे ।
 मुक्ताजालझणत्कारे निद्रायामिव शाम्यति ॥ १५
 कुमारः शंकरस्येव कचो देवगुरोरिव ।
 प्रह्लाद इव शुक्रस्य सुपर्ण इव शार्ङ्गिणः ॥ १६

अनेन क्षुत्तृषार्त इवेत्युत्प्रेक्षा गम्यते ॥ ३ ॥ अस्ना-
 तानां श्रवणानधिकारात्स्नात्वा बन्धितसंध्याः । एवमप्रेऽपि
 ॥ ४ ॥ निर्गतस्य निर्गसिष्यतः ॥ ५ ॥ नीरन्ध्रतां निरवकाश-
 ताम् ॥ ६ ॥ ७ ॥ गृहप्रवेशात्पूर्वमेव संबध्नाति मेलयतीति
 पूर्वसंबन्धस्त्वरोत्साहो यस्य तथाविधो महीपतिर्दाशरथः ॥ ८ ॥
 विष्टरालिषु आसनपङ्क्तिषु । 'बृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम्
 ॥ ९ ॥ ह्यस्तनाः पूर्वेषुर्भवाः ॥ १० ॥ राज्ञा सम आभोगः
 संस्थानस्थितिर्यस्याः । राजानं यतवाक्कायचेष्टं दृष्ट्वा सर्वेऽपि तथा
 आसन्निति भावः ॥ ११ ॥ तद्देशयोगेषु सभाप्रदेशप्रविष्टेषु वि-
 प्रादिषु यथाप्रदेशं प्रात्यहिककृतप्रदेशानुक्रमेण निविष्टेषूपविष्टेषु
 सत्सु ॥ १२ ॥ मृदुनि परस्परस्वागतप्रश्रवणे ॥ १३ ॥ उदि-
 तेष्वर्करदिमषु श्रोतुमिव तरसैवाभ्यागतेषु गवाक्षाद्गवाक्षं प्राप्ये-
 व तज्जालच्छिद्रेषु प्रविष्टेषु सत्सु ॥ १४ ॥ सत्वरं सभां प्रविशतां
 श्रोतुणां हस्तस्पर्शैरङ्गघटनैश्चोद्भवो यस्य तथाविधे मुक्ताजाल-
 कभूषणादिझणत्कारे निद्रायामिव निस्पन्दभावाच्छाम्यति सति
 ॥ १५ ॥ दृष्टेर्भक्तिगौरवोत्कण्ठयतिशयद्योतनाय बहून्युप-

१ भविवाचना इति पाठः. २ संसारात्पीर्यत इति पाठः.

वासिष्ठस्यानेन रामः शनैर्दृष्टिं न्यवेशयत् ।
 भ्रमन्तीमम्बरोपान्ते फुल्लपद्म इवालिनीम् ॥ १७
 मुनिस्त्वनुज्झितेनाथ तेनैव रघुनन्दनम् ।
 क्रमेणोवाच वाक्यज्ञो वाक्यं वाक्यार्थकोविदम् ॥ १८
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 कश्चित्सरसि यत्प्रोक्तं ह्यो मया रघुनन्दन ।
 वाक्यमत्यन्तगुर्वर्थं परमार्थावबोधनम् ॥ १९
 इदानीमवबोधार्थमन्यच्च रिपुमर्दन ।
 उच्यमानं मयेदं च शृणु शाश्वतसिद्धये ॥ २०
 वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात् ।
 संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाभ्यासमाहर ॥ २१
 सम्यक्तत्त्वावबोधेन दुर्बांधे क्षयमागते ।
 गलिते वासनावेशे विशोकं प्राप्यते पदम् ॥ २२
 दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् ।
 एकं ब्रह्मैव हि जगत्स्थितं द्वित्वमुपागतम् ॥ २३
 सर्वभावानवच्छिन्नं यत्र ब्रह्मैव विद्यते ।
 शान्तं समसमाभासं तत्रान्यत्वं कथं भवेत् ॥ २४
 इति मत्वाहमित्यन्तर्मुक्त्वा मुक्तवपुर्महान् ।
 एकरूपः प्रशान्तात्मा साक्षात्स्वात्मसुखो भव ॥ २५
 नास्ति चित्तं न चाविद्या न मनो नच जीवकः ।
 एताः स्वकलना राम कृता ब्रह्मण एव ताः ॥ २६
 याः संपदो याश्च दृशो याश्चितो यास्तदेषणाः ।
 ब्रह्मैव तदनाद्यन्तमधिष्वत्प्रविजृम्भते ॥ २७
 पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च ।
 दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि ॥ २८
 उपेक्ष्यहेयोपादेयबन्धवो विभवा वपुः ।

मानानि ॥ १६ ॥ अम्बरे भ्रमन्तीमलिनीं भ्रमरीं फुल्ले पद्मे उद-
 यादिकालो निवेशयति तद्वत् ॥ १७ ॥ तेन प्रागनुक्रान्तेनैव
 क्रमेण ॥ १८ ॥ ह्यः पूर्वेषुः ॥ १९ ॥ २० ॥ प्रागुक्तक्रममे-
 वानुक्रम्य दर्शयति—वैराग्येत्यादिना ॥ २१ ॥ २२ ॥ दिक्का-
 लान्यनवच्छिन्नं त्रिविधपरिच्छेदशून्यम् । तस्यैव विवरणं अद-
 र्ष्टेति । न दृष्टे देशतः कालतो वा उभे कोटी पूर्वापरावधी द्वैतं च
 यस्य । उभशब्दस्य समासे द्विवचनलुकि 'उभयोऽन्यत्र' इत्ययत्
 ॥ २३ ॥ समेषु साधारणेषु गोत्वादिष्वन्यनुगतत्वात्संसमाभासता
 तत्परिशेषेण प्रथमानम् ॥ २४ ॥ इति उक्तब्रह्मस्वभावं मत्वा
 निश्चित्य अहमित्यभिमानं मुक्त्वा स्वात्मैव सु शोभनं स्वमाकाश-
 मानन्दो वा यस्य तथाविधो भव ॥ २५ ॥ स्वाः कलनाः कल्पनाः
 ॥ २६ ॥ संपदो भोग्याः । दृशस्तद्भोगवृत्तयः । चित्तस्वप्रति-
 फलितचिदाभासाः स्मृतयो वा । तेषां भोगानामेषणाः स्मृहाः
 ॥ २७ ॥ पातालादिदेशभेदे तृणादिवस्तुभेदे चकाराम्बुतादि-
 कालभेदे च तदेव सर्वदृश्यात्मना दृश्यते नान्यदित्यर्थः ॥ २८ ॥
 उपेक्ष्याः हेया उपादेया इति सामान्यतः । तत्राप्युत्तरोत्तर-

३ सम्यक्तत्त्वावबोधेन इति पाठः. ४ समसमासता तत्प इति पाठः.

ब्रह्मेव विगताद्यन्तमधिचत्प्रविजृम्भते ॥ २९
यावदज्ञानकलना यावदब्रह्मभावना ।
यावदास्था जगज्जाले तावच्चित्तादिकल्पना ॥ ३०
देहे यावद्देहभावो हृदयेऽस्त्विन्यावदात्मना ।
यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ॥ ३१
यावन्नोदितमुच्चैस्त्वं सज्जनासङ्गसङ्गतः ।
यावन्मौख्यं न संक्षीणं तावच्चित्तादिनिवृत्ता ॥ ३२
यावच्छिद्यिलतां यातं नेदं भुवनमाधनम् ।
सम्यग्दर्शनशक्त्यान्तस्तावच्चित्तादयः स्फुटाः ॥ ३३
यावदज्ञत्वमन्धत्वं वैवश्यं विषयाशया ।
मौख्यान्मोहसमुच्छ्रायस्तावच्चित्तादिकल्पना ॥ ३४
यावदाशाधिषामोदः परिस्फुरति हृदये ।
प्रविचारचकोरोऽन्तर्न तावत्प्रविशत्यलम् ॥ ३५
भोगेष्वनास्थमनसः शीतलामलनिवृत्तेः ।
छिन्नाशापाशजालस्य क्षीयते चित्तविभ्रमः ॥ ३६
तृष्णामोहपरित्यागान्नित्यशीतलसंविदः ।
पुंसः प्रशान्तचित्तस्य प्रबुद्धा त्यक्तचित्तभूः ॥ ३७
असंस्तुतमिवानास्थमवस्तु परिपश्यतः ।
दूरस्थमिव देहं स्वमसन्तं चित्तभूः कुतः ॥ ३८
भावितानन्तचित्तस्वरूपरूपान्तरात्मनः ।
स्वान्तावलीनजगतः शान्तो जीवादिविभ्रमः ॥ ३९
असम्यग्दर्शने शान्ते मिथ्याभ्रमकरात्मनि ।
उदिते परमादित्ये परमार्थैकदर्शने ॥ ४०

मुपादेयतमा बन्धवो विभवाः बपुरित्येवंप्रकारेणेत्यर्थः ॥ २९ ॥
किं सदैव तथा विजृम्भते, नेत्याह—यावदित्यादिना ॥ ३० ॥
आत्मना खेन ममेदमित्यास्था । क्रियत इति शेषः ॥ ३१ ॥
उच्चैस्त्वं पूर्णता । चित्तादिप्रयुक्ता निवृत्ता नीचता ॥ ३२ ॥ ३३ ॥
अज्ञत्वमन्धत्वम् ॥ ३४ ॥ आशालक्षणो विषगन्धः । तावत्
प्रकृष्टात्मविचारलक्षणचकोरोऽन्तर्न प्रविशति ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
अनास्थया त्यक्ता चित्तभूः प्रबुद्धा प्रबोधफलवती भवति नाल्य-
केत्यर्थः ॥ ३७ ॥ चित्तानुदय एव तस्याग इत्याशयेनाह—
असंस्तुतमिति । असंस्तुतमनुपयुक्तं दूरस्थमवस्तु अतएवास-
न्तमभ्रपुरुषाकारमिव खं देहमनास्थं परिपश्यतश्चित्तस्य भवनं
चित्तभूः कुतः ॥ ३८ ॥ भावितं श्रवणमनननिदिध्यासनसा-
क्षात्कारैः परिष्कृतमनन्तचिन्मात्ररूपं संसारप्रसिद्धरूपान्तर-
रमात्मा च यस्य । स्वान्ते मनसि अवलीनं जगद्यस्य ॥ ३९ ॥
असम्यग्दर्शने सम्यग्दर्शनविरोधिनि अज्ञाने मिथ्याभ्रमन्करोति
तथाविधस्वभावे नष्टे सति ॥ ४० ॥ ४१ ॥ चित्ताभावे कथं
व्यवहारस्तत्राह—जीवन्मुक्ता इत्यादिना । चित्तपदवी जले
शुष्के सिकतासु जलरेखेव चित्तप्रचाररेखा ॥ ४२ ॥ ४३ ॥
प्रभ्रमन्ति व्यवहरन्ति । सत्त्वसंस्थितिप्रयुक्तया हेतुया अना-

अपुनर्दर्शनायैव दग्धसंशुष्कपर्णवत् ।
चित्तं विगलितं विद्धि बहौ घृतलघं यथा ॥ ४१
जीवन्मुक्ता महात्मानो ये परावरदर्शिनः ।
तेषां या चित्तपदवी सा सत्त्वमिति कथ्यते ॥ ४२
जीवन्मुक्तशरीरेषु वासना व्यवहारिणी ।
न चित्तनाम्नी भवति सा हि सत्त्वपदं गता ॥ ४३
निश्चेतसो हि तत्त्वज्ञा नित्यं समपदे स्थिताः ।
लीलया प्रभ्रमन्तीह सत्त्वसंस्थितिहेतुया ॥ ४४
शान्ता व्यवहरन्तोऽपि सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
नित्यं पश्यन्ति तद्भ्योतिर्न द्वैतैक्येन वासना ॥ ४५
अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्बहौ त्रिजगत्पणम् ।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुनेश्चित्तादिविभ्रमाः ॥ ४६
विवेकविशदं चेतः सत्त्वमित्यभिधीयते ।
भूयः फलति नो मोहं दग्धबीजमिषाङ्कुरम् ॥ ४७
यावत्सत्त्वं विमूढान्तः पुनर्जननधर्मिणी ।
चित्तशब्दाभिधानोक्ता विपर्यस्यति बोधतः ॥ ४८
प्राप्तप्राप्त्यो भवान्नाम सत्त्वभावमुपागतम् ।
चित्तं ज्ञानाग्निना दग्धं न भूयः परिरोहति ॥ ४९
संरोहतीषणाविद्धं यथा परशुनाग्निना ।
न तु ज्ञानाग्निर्दग्धं प्रबोधविशदं मनः ॥ ५०
ब्रह्मबृंहैव हि जगज्जगच्च ब्रह्मबृंहणम् ।
विद्यते नानयोर्भेदश्चिद्धनब्रह्मणोरिव ॥ ५१
चिदन्तरस्ति त्रिजगन्मरिचे तीक्ष्णता यथा ।

स्थया ॥ ४४ ॥ तर्हि किं तेषां वासनया व्यवहारपरमार्थोभयद-
र्शनद्वैतैक्येनेत्याह—शान्ता इति । तदद्वयं ज्योतिर्नित्यं पश्य-
न्ति तद्वाधिते द्वैतैक्ये तद्वासना वा न संभवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥
तदेव स्पष्टमाह—अन्तर्मुखतयेति ॥ ४६ ॥ अतएवाश्चित्ता-
त्सत्त्वस्य वैलक्षण्यमित्याशयेनाह—विवेकेति ॥ ४७ ॥ वि-
मूढानां जनानामन्तश्चित्तशब्दाभिधानोक्ता सा भवति ताव-
देव पुनर्जननधर्मिणी । बोधतस्तु सा सत्त्वं सती विपर्यस्यति ।
जन्मनिवृत्तिलक्षणं विपरीतकार्यं करोतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ चित्तं
तवेति शेषः ॥ ४९ ॥ कीदृशं तर्हि भूयः संरोहति तदाह—
संरोहतीति । ईषणा एषणा वित्तपुत्रलोकविषयास्ताभिराविद्धं
खचितम् । यथा परशुना च्छिन्नमग्निना दग्धमपि तृणादि
अन्तर्भाजशक्त्या विद्धं भूयः प्ररोहति तद्वत् । निर्दग्धं निर्दग्ध-
षणाबीजशक्तिकम् ॥ ५० ॥ ज्ञानाग्निना कुतो जगद्बीजशक्ति-
दाहस्तत्राह—ब्रह्मेति । हि यस्माज्जगद्ब्रह्मण एव मोहाद्वृद्धा
आरोपितरूपेण वृद्धिः । यस्माच्च ज्ञानाज्जगदपि वास्तवब्रह्मस्व-
भावाभिवृद्धिकं, यतश्च अनयोर्ब्रह्मजगतोरज्ञानमात्रकृतो भेदस्त-
त्राशे न विद्यते अतो न प्ररोहतीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ त्रिजगच्चिद-
न्तश्चिद्दूषणैवास्ति यथा तीक्ष्णतैकरसे मरिचे तीक्ष्णता तद्वत् ।

नातश्चिज्जगती भिजे तस्मात्सदसती मुधा ॥ ५२
 शब्दशब्दार्थसंकेतवासनेह न संविदा ।
 चिद्योमत्वाद्गुमे भातस्त्यजातः सदसन्मती ॥ ५३
 अचिन्मयत्वात्तासि त्वं स्वात्मा किमिव रोदिषि ।
 अचिन्मयत्वे जगतामभावे कल्पनं कुतः ॥ ५४
 चिन्मयं चेत्सदा सर्वं तच्चित्तं प्रविचारय ।
 शुद्धं सत्त्वमनाद्यस्तं तत्राङ्ग कलना कुतः ॥ ५५
 चिदात्मासि निरंशोऽसि पारावारविचर्जितः ।
 रूपं स्वर निजं स्फारं माऽस्मृत्या संमितो भव ॥ ५६
 तां स्वसत्तां गतः सर्वमसर्वं भावयोदयी ।
 इत्यर्थं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० विश्रान्तिसुहृदीकरणं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तादृश्रूपोऽसि शान्तोऽसि चिदसि ब्रह्मरूप्यसि ॥ ५७
 चिच्छिलोदरमेवासि नासि नानास्थथाप्यसि ।
 योसि सोसि न सोसीव सदस्यसदसि स्वभाः ॥ ५८
 यः पदार्थविशेषोऽन्तर्न त्वं न होव सोऽस्ति ते ।
 तदस्यतदसि स्वस्थश्चिदनात्मममोऽस्तु ते ॥ ५९
 आद्यन्तवर्जितविशालशिलान्तराल-
 संपीडचिद्वनवपुर्गंगनामलस्त्वम् ।
 स्वस्थो भवाज्जटपल्लवकोशलेखा
 लीलास्थिताखिलजगज्जय ते नमस्ते ॥ ६० ॥
 लीलास्थिताखिलजगज्जय ते नमस्ते ॥ ६० ॥

तृतीयः सर्गः ३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भाविभूरितरङ्गणां पयोवृन्दमिवाभुधौ ।
 या चिद्वहत्यनन्तानि जगन्त्यनघ सो भवान् ॥ १
 भव भावनश्चा मुक्तो भावाभावविचर्जितः ।

अतस्त्वदृशा चिज्जगती न भिजे । तस्मात्सदसती वस्तुप्ररोह-
 प्रलयौ मुधा मायाप्रयुक्तभ्रान्तिरेवेत्यर्थः ॥ ५२ ॥ तर्हि 'असद्वा
 इदमप्र आसीत्ततो वै सदजायत' इत्यादिश्रुताः, घटोऽस्ति
 घटो नास्तीत्यादिलौकिकाश्च सदसच्छब्दाः किं निरर्थकाः, ने-
 त्याह—शब्देति । इह धौतलौकिकव्यवहारे परस्परव्यावृत्ताः
 शब्दा व्यावृत्तेष्वर्थेषु संकेतिता इति वक्तृश्रोतृवासनेव व्यावृ-
 त्त्याकारेण भासते । तदंशशब्दकृता संविदा प्रमा न । अवस्तु-
 भूताया व्यावृत्तेः शब्दार्थत्वाभावात् । एवं व्यावृत्त्यपगमे उभे
 सदसच्छब्दवाच्ये अव्यावृत्तानुगतचिद्योमन्वादेव परमार्थतो
 भात इति तदेव परमार्थवस्तुशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ एवं
 सदसद्विकल्पत्यागेन चिन्मात्रदर्शने देहाद्यात्मताभ्रमप्रयुक्तजनन-
 मरणायनर्थप्राप्तिप्रयुक्तरोदनस्यापि न प्रसक्तिरित्याह—अचिन्म-
 यत्वादिति । त्वं त्वमिति व्यवहियमाणं रामाभिधं सदसत्त्वभावं
 शरीरमात्मा स्वयं नासि अचिन्मयत्वात् । सर्वस्य जगतः अचिन्म-
 यत्वे अभावे चावगते देहादिकल्पनेव तव कुत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥
 यदि तु चिद्यावृत्तिलक्षणजाड्यमात्रपरित्यागाच्चिन्मयमेव जगदि-
 ति मन्यसे तदा चित्तं चित्स्वभावं प्रविचारय । तच्च सम्यग्
 विचार्यमाणं शुद्धं त्रिविधपरिच्छेदशून्यमेकरसम् । तत्र देहाद्य-
 नर्थकलना कुत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥ अस्मृत्या चित्स्वरूपविस्मरणेन
 संमितः परिच्छिन्नः ॥ ५६ ॥ तां सत्तां पूर्णचित्स्वभावस्थिति
 गतः सन् उदयी निरतिशयानन्दलाभाद्युदयवान् भूत्वा असर्व
 परिच्छिन्नं जगत्सर्वं पूर्णस्वभावं भावय संपादय ॥ ५७ ॥
 नानासि नानाभावेन आस्ते तच्छीलः नासि अथापि तद्वाधाव-
 शित्वादिभि परिशिष्यसे । तत्र सर्ववाङ्मनसप्रवृत्तिानेमिसापगमा-

चिदात्मन्संस्थिताः केव वद ते वासनादयः ॥ २
 जीवोऽयं वासनादीदमिति चित्कचति स्वतः ।
 इतरोक्त्यर्थयोरत्र कः प्रसङ्गोऽङ्ग कथ्यताम् ॥ ३

योसि सोसि । तर्हि किमत्यन्तपरोक्षो नेत्याह—नेति । न सः
 परोक्षोऽसीव यतः स्वभाः स्वप्रकाशः ॥ ५८ ॥ तदस्यसदसीत्यंशं
 विवृणोति—य इति । यः सर्वपदार्थानां विशेषो व्यावृत्तिलक्ष-
 णोऽन्तःपरिच्छेदः स एव अलीकव्यादनच्छब्दार्थः । न त्वं न
 भवसीति सदसीत्यस्यार्थः । स एव तद्यावृत्तसद्दर्मेत्वेन कल्प्य-
 मानो व्यावहारिकैः सत्तति व्यपदिश्यते स ते नारत्येवंत्यसदसी-
 त्यस्यार्थः इत्याशयेन सदस्यसदसीत्युक्त इत्यर्थः ॥ ५९ ॥
 आद्यन्तवर्जितं विशालं स्फटिकशिलान्तरालमिव संपीडं नि-
 बिडं यच्चिद्वनं तद्वपुस्तत्स्वभावस्त्वं न दुःखादिक्रियाभाणिति
 मत्वा स्वस्थो भव । भासमन्ताद्विस्तीर्णं त्वशीयचिच्छिलाजठरे
 प्रतिबिम्बितपल्लवकोश इव कल्पिताया मायाया रेखासदृशवास-
 नाभेदेषु मनोलीलया स्थितान्यखिलानि जगन्ति यस्मिन्स्था-
 विध हे राम, ते तादृशाय नम इत्यर्थः ॥ ६० ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे विश्रान्ति-
 सुहृदीकरणं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

ब्रह्मजीवमनोदेहजगतामैक्यदर्शनात् ।

सर्वदेहभ्रमे शान्ते पूर्णकस्थितिरुच्यते ॥ १ ॥

तत्रादां सर्वकल्पनाप्रतिभासनिमित्तं चित्स्वरूपमात्मेति परि-
 चाययति—भावीति । अम्बुधो भाविनां जायमानानां भूरितरङ्ग-
 मेदकल्पनानामास्पदं पयोवृन्दं जलसामान्यमिव या चिद्व अन-
 न्तानि जगन्ति वहति सा । उ इति संभावनायाम् । सैवामेति
 संभावयेत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्संभावनोत्तरं द्वैतभावनात्यागमात्रेण
 निष्प्रयत्नं निर्वासनं च तत्स्वरूपमनुभावयति—भवेति ॥ २ ॥
 तत्स्वरूपे परिचिते जीववासनाजगद्विभागाश्चित एव कचन-
 मंदकल्पना न पृथक्सन्तीत्यनुभावितुं शक्यत इत्याह—जीव

महातरङ्गगम्भीरभासुरात्मचिदर्षवः ।
 रामाभिधोर्मिस्तिमितः सम सौम्योऽसि व्योमवत् ४
 यथा न भिन्नमनलादीण्यं सौगन्ध्यमम्बुजात् ।
 काष्ण्यं कञ्जलतः शौक्यं हिमान्माधुर्यमिक्षुतः ॥ ५
 आलोकश्च प्रकाशाङ्गादनुभूतिस्तथा चितेः ।
 जलाद्दीचिर्यथाऽभिज्ञा चित्स्वभावात्तथा जगत् ॥ ६
 चितो न भिन्नोऽनुभवो भिन्नो नानुभवादहम् ।
 न मत्तो भिद्यते जीवो न जीवाद्भिद्यते मनः ॥ ७
 मनसो नेन्द्रियं भिन्नं पृथग्देहश्च नेन्द्रियात् ।
 न शरीराज्जगद्भिन्नं जगतो नान्यदस्ति हि ॥ ८
 एवं प्रवर्तितमिदं महश्चक्रमिदं चिरम् ।
 नच प्रवर्तितं किञ्चिन्न च शीघ्रं च नो चिरम् ॥ ९
 स्ववेदनमनन्तं च सर्वमेवमखण्डितम् ।
 विद्यते व्योमनि व्योम न कस्मिंश्चिन्न किञ्चन ॥ १०
 शून्यं शून्ये समुच्छ्रुतं ब्रह्म ब्रह्मणि ब्रूहितम् ।
 सत्यं विजृम्भते सत्यं पूर्णं पूर्णमिव स्थितम् ॥ ११
 रूपालोकमनस्कारान्कुर्वन्नपि न किञ्चन ।
 ज्ञः करोत्यनुपादेयाच्च ज्ञस्यैव हि कर्तृता ॥ १२
 यदुपादेयबुद्ध्या च तदुःखाय सुखाय ते ।
 भावाभावेन नादेयमकर्तुं सुखदुःखयोः ॥ १३

यथा नानाप्यनानैव खं खे खानीति वाग्गणः ।
 सार्धकोऽप्यसिन्नान्मात्मा तथात्मजगत्तेः कर्मः ॥ १४
 अन्तर्व्योमामलो बाह्यो सम्यगाचारचञ्चुरः ।
 हर्षामर्षविकारेषु काष्ठलोष्टसमस्थितिः ॥ १५
 य एवातितरां शत्रुः सत्वरं मारणोद्यतः ।
 तमेवाकृत्रिमं मित्रं यः पश्यति स पश्यति ॥ १६
 समूलकाषं कषति नदीतट इव द्रुमम् ।
 यः सोहृदं मत्सरं च स हर्षामर्षदोषहा ॥ १७
 रागद्वेषविकाराणां स्वरूपं चेन्न भाव्यते ।
 ततः सन्तोऽप्यसद्रूपाः सेविता अप्यसेविताः ॥ १८
 यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
 हत्वापि स इमाल्लोकाच्च हन्ति न निबध्यते ॥ १९
 यन्नास्ति तस्य सद्भावप्रतिपत्तिरुदाहृता ।
 मायेति सा परिज्ञानादेव नश्यत्यसंशयम् ॥ २०
 निःश्लेहदीपवच्छान्तो यस्यान्तर्वासनाभरः ।
 तेन चित्रकृतेनेव जितं ज्ञानाविकारिणा ॥ २१
 यस्यानुपादेयमिदं समस्तं
 पदार्थजातं सदसदृशासु ।
 न दुःखदाहाय सुखाय नैव
 विमुक्त एवेह सजीव एव ॥ २२

इत्याषं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० ब्रह्मैक्यप्रतिपादनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इति । इतरोक्तेरचिदर्षकशब्दस्य तदर्थस्य च । अत्र एवंप्रकारेण चिद्वस्तुनि ॥ ३ ॥ 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यनन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासां परं ब्रह्माभिधीयते ॥' इति व्युत्पादितान्बर्थरामाभिधानः ॥ ४ ॥ तत्र दृश्यस्य दृगव्यतिरेकं दृग्धर्मत्वोपपादकदृष्टान्तैः साधयति—यथेत्यादिना ॥ ५ ॥ प्रकाशाज्ञानेभसः । अनुभूतिवृत्तिप्रतिबिम्बचैतन्यम् । तथाशब्दः पूर्वदृष्टान्तसमुच्चये । यथा अस्मिन्नेति च्छेदः ॥ ६ ॥ उक्तमेवार्थमभ्यासकमोद्घाटनेन स्फुटं दर्शयति—चित्त इत्यादिना । चितो मूलाधिष्ठानब्रह्मचित्तः । अनुभवो मायावृत्त्या रूढचिदाभासः । अहं व्याप्तममहंकारः । एवमप्येऽपि शरीरान्ते बोध्यम् ॥ ७ ॥ न शरीरादिति । समष्टिशरीरे जगतोऽन्नर्भावादित्याशयः ॥ ८ ॥ इदं प्रस्तुतमिदं दृश्यमानं जगच्चक्रं चित्तैव स्वरूपमोहादप्यासपरम्परया प्रवर्तितमित्यर्थः । परमार्थदृशा तु न किञ्चिदपि प्रवर्तितम् ॥ ९ ॥ १० ॥ तस्य निरतिशयपूर्णतामेव भक्तिभेदेर्बर्णयति—शून्यमिति ॥ ११ ॥ ज्ञस्य कर्तृता नैव ॥ १२ ॥ यत् उपादेयबुद्ध्या विषयजातमादीयते तदेव ते दुःखाय सुखाय च भवति । भाव उपादेयताबुद्धिस्तदभावेन तु न किञ्चिदादेयं नाम भवति । अनात्तं च सुखदुःखयोर्कर्तुं प्रसिद्धमिति न दुःखादिप्रसक्तिरित्यर्थः । अथवा भावानां दृश्यानामभावेन असत्त्वेन नादेयं किञ्चिदस्तीति तत् सुखदुःखयोर्कर्तृत्वार्थः ॥ १३ ॥ नानात्वेन प्रतीयमानानां भावानां कथमभाव-

स्तत्राह—यथेति ॥ १४ ॥ काष्ठलोष्टसमस्थितिर्भवेति शेषः ॥ १५ ॥ शत्रुशरीरेऽपि स्वस्यैवात्मत्वात्स्वशरीर इव तत्राप्यकृत्रिमप्रीतिरात्मदर्शिनो भवतीत्याह—य एवेति । मित्रं प्रियतमम् ॥ १६ ॥ तत एव हर्षामर्षदोषनिवृत्तिरित्याह—समूलेति । यो नदी तटे विद्यमानं द्रुममिव सोहृदं मत्सरं च समूलकाषं कषति समूलमुन्मूलयति स एव हर्षामर्षदोषाणां हन्ता भवतीत्यर्थः । समूलोपपादकपेर्णमुक्ति कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः ॥ १७ ॥ रागद्वेषयोस्तत्कार्यविकाराणां च स्वरूपं तत्त्वं चेन्न भाव्यते न विचार्यते ततस्तर्हि सन्तः अरागद्वेषत्वेन प्रसिद्धा अपि जना असद्रूपाः । रागद्वेषतत्त्वापरिज्ञाने तन्मूलोच्छेदासंभवेन पुनस्तेषां रागद्वेषप्ररोहापरिहारात् । अतस्ते सेविता अपि दृष्येत्यर्थः ॥ १८ ॥ किं तर्हि तत्त्वं तयोरिति चेदहंकार एव । अतस्त्परित्यागे आत्यन्तिकरागद्वेषनिवृत्तिरित्याशयेन गीतावाक्यमुदाहरति—यस्येति ॥ १९ ॥ अहंकारस्य तु तत्त्वमज्ञानमेव, तन्निवृत्तिस्तु स्वात्मपरिज्ञानादित्याशयेन तत्र मायाशब्दार्थप्रसिद्धिं दर्शयन्नाह—यदिति ॥ २० ॥ यस्य वासनाभरः शान्तस्तेन जितम् । स किं जयः सत्यः, नेत्याह—चित्रकृतेनेति । यथा चित्रकृतेन राज्ञा चित्रलिखितशत्रुविन्दिता जितमिव तथा नित्यनिरस्तसंसारनिरासबोधाभित्यसिद्धाद्वितीयपूर्णात्मना जितमित्यर्थः ॥ २१ ॥ यस्य पुरुषधैरेयस्य इदं समस्तं भोग्यपदार्थजातं सदसदृशासु

चतुर्थः सर्गः ४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

मनो बुद्धिरहंकार इन्द्रियादि तथानघ ।
अचेत्यचिन्मयं सर्वं कृते जीवादयः स्थिताः ॥ १
एकेनैवात्मना दत्ता नानातेयं मह्यात्मना ।
यथेकेनैव चन्द्रेण तिमिराप्पात्रदर्पणैः ॥ २
भोगतृष्णाविषावेशो यदैवोपशमं गतः ।
तदैवमस्तमज्ञानमन्ध्रं ध्वान्तक्षयादिव ॥ ३
अध्यात्मशास्त्रमग्नेण तृष्णाविषविषूचिका ।
क्षीयते भावितेनान्तः शरदा मिहिका यथा ॥ ४
मौख्यं क्षीणे क्षतं विद्धि चित्तं राम सवान्धवम् ।
विलीनाम्बुधरे व्योम्नि जाड्यं शाम्यत्यविघ्नतः ॥ ५
अचित्तत्वं गते चित्ते क्षीयते वासनाभ्रमः ।
हारमुक्तासमावेशशिल्लभे तन्ताविवानघ ॥ ६
रघुनाथ विघाताय शास्त्रार्थं भावयन्ति ये ।
कृमिकीटत्वयोग्याय चेतसा संमिलन्ति ते ॥ ७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चित्ताभावप्रतिपादनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः ५

श्रीराम उवाच ।

अहो अहं गतश्चित्तं भवद्वाक्यार्थभावनात् ।

आविर्भावतिरोभाववस्थासु वैभवदारिद्र्यदशासु आरोपापवा-
ददशासु वा मिथ्यात्वात्परवत आत्मतया नित्यलब्धत्वाद्वा भ-
नुपादेयं सत्तद्वियोगसंयोगप्रयुक्तय दुःखदाहाय सुखाय च न
भवति किंतु इह सजीवो जीवन्नपि मुक्त एवेत्यर्थः ॥ २२ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
ब्रह्मैक्यप्रतिपादनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

निरस्यान्याः परागृहीतसिद्धेनेह राषवः ।

प्रत्यगृहीतं स्थिरीकृत्य पृष्टः संशयज्ञान्तये ॥ १ ॥

रामस्य प्रत्यगृष्टिसुद्धाटयिष्यन्वसिष्ठः प्रथममाध्यात्मिकेषु
मनआदिभेदेष्वनुगतास्वप्नदृष्टिदैक्यं दर्शयन् जीवादिभेदबाधम-
नुभावयति—मन इति ॥ १ ॥ तत्रोपपत्तिग्राह—एकेनेति ।
दत्ता स्वसत्तासंसर्गाध्यासेन प्रापिता ॥ २ ॥ मनआद्यनुगतप्र-
त्यक्तत्त्वदर्शनादेव तत्र विश्रान्तस्य बाह्यार्थभोगतृष्णाक्षये बाह्य-
सर्ववस्त्वनुगतसन्मात्रस्यापि प्रत्यगभेदेन स्वत एव भानाद्वाष्ठा-
ध्यासनिमित्तमप्यज्ञानं क्षीयत इत्याशयेनाह—भोगेति । एव-
मुक्तरीत्या प्रत्यक्तत्त्वदर्शनेन भोगतृष्णाविषावेशो यदैवोपशमं
गतस्तदैवाज्ञानमस्तं निरस्तमित्यर्थः । आन्ध्रं चक्षुषो विषयप्र-
थनासामर्थ्यम् ॥ ३ ॥ अन्तर्भावितेन सम्यग्विचारितेन ॥ ४ ॥
मौख्यमज्ञानम् । जाड्यं शैत्यम् ॥ ५ ॥ ६ ॥ एवं सर्ववेदान्त-
शास्त्ररहस्यभूतां प्रत्यगृष्टिं सम्यगुद्धाट्य तद्विपरीतदर्शनं

१ तिमिरं नेत्ररोगविशेषः ।

नवतामरसाकारकान्तलोचनलोलता ।

शान्ते मौख्येऽक्षता वाते चलता सरसो यथा ॥ ८

स्थिरतामुपयातोऽसि भावाभावविघर्जितः ।

पदे परमविस्तारे नभसीव प्रभञ्जनः ॥ ९

मन्ये महच्चनैर्बोधमागतोऽसि रघूद्वह ।

विगताज्ञाननिद्रोऽन्तर्नृपतिः पटहैरिव ॥ १०

सामान्ये च लगन्त्येव जने कुलगुरोर्गिरः ।

अत्युदारमतौ राम न लगन्ति कथं त्वयि ॥ ११

यत्रोपादेयवाक्यत्वं भावितं स्वेन चेतसा ।

मद्बचोऽन्तर्विशत्युच्चैस्तते क्षेत्रे यथा पयः ॥ १२

वयमिह हि महानुभाव नित्यं

कुलगुरवो भवतां रघूद्वहानाम् ।

मदुदितमिदमाशु धार्यमार्य

शुभवचनं हृदि हारवत्त्वयेति ॥ १३

शान्तं जगज्जालमिदमग्रस्थमपि नाथ मे ॥ १

परामन्तः प्रयातोऽसि परमात्मनि निर्वृतिम् ।

शास्त्रार्थविघातकं निन्दति—रघुनाथेति । दर्शितं शास्त्रार्थं शा-
स्त्ररहस्यं उपेक्ष्येति शेषः । ये तद्विघातायान्यथा भावयन्ति ते
कृमिकीटत्वयोग्याय पापाय चेतसा रागादिहेतुदुर्बुद्ध्या मिलन्ति
॥ ७ ॥ तां दुर्बुद्धिं व्यवहितसर्गे प्रपन्नयिष्यमाणां प्रतीकनो-
दाहरन् मौख्यक्षयात्तत्क्षयं दर्शयति—नवेति । कृयादिपिण्डेषु
दुर्बुद्धिकल्पितेति शेषः ॥ ८ ॥ इदानीं रामस्य दर्शितप्रत्यगृष्टौ

स्थिरीभानं लिङ्गरूपलक्ष्याह—स्थिरतामिति । प्रभञ्जनो वायुः

॥ ९ ॥ पटहैर्वैतालिकानां प्रबोधनवाद्यभेदैः ॥ १० ॥ इदानीं

स्वकृतस्योपदेशस्य साफल्यदर्शनात्प्रामं स्वं च प्रशंसन्नाह—सा-

मान्ये इति । लगन्ति बोधजननफलेन युज्यन्ते ॥ ११ ॥ यत्र

मयि त्वया उपादेयवाक्यत्वमाप्तमत्वं भावितं चिन्तितमतो मद्-

चस्तवान्तर्हृदि विशति ॥ १२ ॥ इदानीं फलपर्यवसितस्योप-

दिष्टार्थस्यापि स्मरणेन धारणं स्वस्य कुलपूज्यत्वान्माननीयशा-

सनत्वस्यापनेन विधत्ते—वयमिति । भवतां सर्वेषामिक्ष्वाकूणां

विशेषतश्च रघूद्वहानां वयं कुलगुरव इति हेतोस्त्वया मदुदित-

मिदं शुभं वचनं धार्य पुनःपुनश्चिन्तनेन दृढीकृत्येत्यर्थः ॥ १३ ॥

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे

चित्ताभावप्रतिपादनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इह प्रबुद्धः श्रीरामो विश्रान्तः परमे सुखे ।

गुरोः पुरः स्वानुभवं वर्णयामास विस्तरात् ॥ १ ॥

विरवं चिद्रेकरसपूर्णात्मभावम् ॥ १ ॥ शीर्षेण विरकाञ्ज

दीर्घावप्रहसंततं वृष्टेषु वसुधातलम् ॥ २
 शाम्यामि शीतलाकारः सुखं तिष्ठामि केवलम् ।
 प्रसादमनुयातोऽहं सरो निर्वाणं यथा ॥ ३
 सम्यक्प्रसन्नमखिलं दिङ्मण्डलमिदं मुने ।
 यथाभूतं प्रपश्यामि निर्नीहारमिवाधुना ॥ ४
 जातोऽस्मि गतसंदेहः शान्ताशामृगतृष्णिकः ।
 रागनीरागनिर्मुक्तो मृष्टजङ्गलशीतलः ॥ ५
 आत्मनैवान्तरानन्दं तत्प्राप्तोऽस्म्यन्तवर्जितम् ।
 रसायनरसास्वादो यत्र नाथ तृणायते ॥ ६
 अद्याहं प्रकृतिस्थोऽस्मि स्वस्थोऽस्मि मुदितोऽस्मि च ।
 लोकारामोऽस्मि रामोऽस्मि नमो मह्यं नमोस्तु ते ॥ ७
 ते संशयास्ताः कलनाः सर्वमस्तं गतं मम ।
 रात्रिवेतालसंसारः प्रभात इव भास्करे ॥ ८
 निर्मले हृदि विस्तीर्णे संपन्ने हिमशीतले ।
 मनो निर्घृतिमायातं सरसी शरदीव मे ॥ ९
 कलङ्क आत्मनः कस्मात्कथं चेत्यादिसंशयः ।

इत्यापि श्रीवासिष्ठमहारायणे बाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० राघवविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः ६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

नुवृत्तेनावप्रहेण वृष्टिप्रतिबन्धेन संतप्तम् ॥ २ ॥ निर्वाणं निर्ग-
 तगजम् । निर्विक्षोभनिमित्तमिति यावत् ॥ ३ ॥ यथाभूतं यथार्थ-
 भूतसन्मात्रस्वभावम् ॥ ४ ॥ रागैर्विषयरजनैर्नीरागौस्तद्विरोधि-
 वैराग्यादिवृत्तिभिश्च निर्मुक्तः । मृष्टं निर्घृष्टनीहाररजस्कं शर-
 त्कालजङ्गलमिव शीतलः ॥ ५ ॥ रसायनममृतं तद्रसास्वादोऽपि
 यत्र यस्मिन्नानन्दे तृणायते तृणवज्जीरसीभवति, उपेक्ष्यो भवति
 वा ॥ ६ ॥ प्रकृतिः पारमार्थिकस्वभावस्तत्स्थः । लोका आर-
 मन्ते विश्राम्यन्ति वस्मिन्सुखे तदहमस्मि । 'एतस्मैवानन्दस्या-
 न्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । अतएव रमन्ते
 योगिनो यत्रेति प्राग्दर्शितव्युत्पत्त्या रामोऽस्मि । स्वनामसा-
 र्थक्यं ममाद्य संपन्नमित्यर्थः । तादृशाय मह्यं, तत्प्रदर्शकाय
 ते तुभ्यं च नमः ॥ ७ ॥ कलना भ्रमाः । रात्रौ बालभ्रान्ति-
 कल्पितो वेतालस्य संसारः संचारः, कुटुम्बं वा ॥ ८ ॥ मनः
 क्षरति सरसी महासर इव निर्घृतिं निर्वाणविश्रान्तिमायातं
 प्राप्तम् ॥ ९ ॥ चिदेकरसस्यात्मनः अज्ञानादिकलङ्कः कस्मान्नि-
 मित्तादागतः, कथं स्वप्रकाशे तिष्ठति, सः असन्नमपरिच्छिन्नं
 च तं कथमाच्छादयति, कथं च कूटस्थस्य सांसारिकविकारा-
 नुभव इत्यादिसंशयः सर्वसंशयमूलभूताज्ञानापगमाभिर्मूलता
 यातः ॥ १० ॥ भाविताकृतिः स्फुरदाकारः ॥ ११ ॥ अहं
 सांप्रतं विकासवान्ममनुभूयमानमशनायाद्यतीतमात्मानमन्तरा
 विनैव प्राक्त्वणानिगडयन्वितः कः अभवमिति विहसामि
 यो० वा० १९

नूनं निर्मूलता यातो मृगाङ्गाग्रे यथा लभः ॥ १०
 सर्वमात्मैव सर्वत्र सर्वदा भाविताकृतिः ।
 इदमन्यदिदं चान्यदित्यसत्कलना कुतः ॥ ११
 कोऽभवं प्रागहं तादृकत्वणानिगडयन्वितः ।
 अन्तरात्मानमेवेति विहसामि विकासवान् ॥ १२
 आ इदानीं स्मृतं सम्यग्यथैव सकलोऽस्म्यसौ ।
 यस्त्वद्भागमृतापूरजातेनायमहं स्थितः ॥ १३
 अहो नु विततां भूमिमधिरूढोऽस्मि पावनीम् ।
 इहस्थ एव यत्राको न पातालमिव स्थितः ॥ १४
 मह्यं सत्तामुपेताय भावाभावभवाणवात् ।
 नमो नित्यं नमस्याय जयाभ्यात्मात्मनात्मनि ॥ १५
 अनुभववशातो हृदङ्गकोशे
 स्फुटमलितां समुपागतेन नाथ ।
 तथ वरवचसेह वीतशोकां
 चिरमुदितां च दशामुपागतोऽस्मि ॥ १६

यत्सेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १

॥ १२ ॥ आ इति स्मरणद्योतको निपातः । 'निपात एका-
 जनाद्' इति प्रगृह्यत्वादसंधिः । त्वद्भागमृतापूरजातेन मया
 अयमहं यो यथा परमार्थतः स्थित एव सकलश्चास्मि तथा
 इदानीं स्मृतमित्यन्वयः ॥ १३ ॥ अहसिहस्थ एव सन् कांवि-
 द्धिततामपरिच्छिन्नां ब्रह्मलोकभूमिमधिरूढोऽस्मि । यत्र यस्यां
 भूमावर्कः सूर्यः पातालमास्थित इवात्यन्तमधोदेशस्थितोऽपि न
 भवति । कार्यब्रह्मलोकादि सोऽधःस्थितो न परब्रह्मलोकात् । 'न
 तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारवम्' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १४ ॥
 भावाभावभवाणवात् । त्यञ्छोपे पञ्चमी । भावाभावलक्षणं भ-
 वाणवं निस्तीर्य तत्पारभूनां तदधिष्ठानसन्मात्रतामुपेतायेत्यर्थः ।
 यतोऽहमात्मना आत्मनि स्वे महिन्नि जयामि सर्वोत्कर्षेण वर्तै,
 अतः सर्वैर्नित्यं सर्वदा नमस्याय । नमस्कर्तुमर्हायेत्यर्थः ॥ १५ ॥
 हे नाथ, अहं हृदङ्गकोशे स्फुटमलितां भ्रमरवतिस्थरतामुपाग-
 तेन तव वरवचसा इह अस्मिन्देशे काले च खानुभववशातो
 वीतशोकां चिरं सदैवोदितां मुदितां वा जीवन्मुक्तदशामुपा-
 गतोऽस्मीत्यर्थः ॥ १६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे पू० राघवविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

देहात्मप्रविषेकोऽत्र पुःखं देहात्मदर्शनात् ।

मृदानामङ्गनासङ्गान्मोहवृद्धिश्च चर्षयते ॥ १ ॥

इत्थं श्रीगणे सम्यक्प्रबुद्धेऽप्यन्येषां भ्रोतृणां तथैव प्रबोध-
 जननाय प्रवर्तमानो भगवान्वसिष्ठो वक्ष्यमाणदेहात्मविवेकादि-

१ यातोऽस्मि इति पाठः, २ रागनीहार इति पाठः.

भेदमभ्युपगम्यापि शृणु बुद्धिविवृद्धये ।
 भवेदल्पप्रबुद्धानामपि नो दुःखिता यथा ॥ २ ॥
 यस्याज्ञानात्मनोऽङ्गस्य देह एवात्मभावना ।
 उदितेति रुषैवाक्षरिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ३ ॥
 यस्य ज्ञानात्मनो ज्ञस्य सत्येवात्मनि संस्थितिः ।
 संतुष्ट्यैवाक्षसुहृदो न घ्नन्ति तमनिन्दितम् ॥ ४ ॥
 पदार्थे स्फुरतो यस्य न स्तुतिर्निन्दनाहते ।
 स देहं देहदुःखार्थमादत्ते केन हेतुना ॥ ५ ॥
 नात्मा शरीरसंबन्धी शरीरमपि नात्मनि ।
 मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा ॥ ६ ॥
 सर्वैर्भावविकारैस्तु नित्योन्मुक्तस्त्वलेपकः ।
 नात्मास्तमेति भगवाञ्च चोदेति सदोदितः ॥ ७ ॥
 जडस्याङ्गस्य तुच्छस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
 शरीरकोपलस्यास्य यद्भवत्यस्तु तत्तथा ॥ ८ ॥
 आदत्ते तत्कथं नित्यं चिन्मयत्वं सदोदितम् ।
 ययोरेकपरिज्ञाने जडतवाऽपरस्थिता ॥ ९ ॥

श्रवणे राममध्यनुकूल्यन्नाह—भूय एवेत्यादिना । प्रीयमाणाय उपदेशतात्पर्यमोचरनिरतिशयानन्दात्मानुभवलक्षणप्रतिभाजनाय ते सर्वजनहितकाम्यया यद्वक्ष्यामि तच्छृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥ ननु श्रोतृश्रावयितृश्रोतव्यादिभेदानां बाधितत्वात्कथं मे श्रवणे प्रवृत्तिः किंवा तत्फलं तत्राह—भेदमिति । बाधितानुभूत्या भेदाभ्युपगमेन श्रवणे प्रवृत्तिसिद्धिस्तत्र बोधाभिवृद्धिरल्पप्रबुद्धोद्धारश्च तत्फलमित्यर्थः ॥ २ ॥ तत्रादौ श्रोतृणामिन्द्रियजयागामर्थ्यान्तराकृत्यमाणस्य मनसः पूर्णात्मनि प्रतिष्ठा कथं स्यादिति जिज्ञासां लिङ्गैरुपलक्ष्य 'यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दृष्टाश्वा इव सारथेः । यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः' इति श्रुतिद्वयोक्तदिशैव तां क्रमेण परिहरति—यस्येति द्वाभ्याम् । इत्येतस्मादेवासदात्मभावेनापराधादतिरुषा अक्षाणि रिपवः शत्रवो भूत्वा तमङ्गमभिभवन्ति पराभावयन्ति ॥ ३ ॥ संतुष्ट्या सत्यात्मदर्शनोपकारजनितसंतोषेणैव अक्षाणि सुहृदो मित्राणि भूत्वा न घ्नन्ति किंतु ज्ञानाभिवृद्ध्यनुकूलाचरणेन पालयन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥ स्फुरतो व्यवहरतो यस्य पुंसो भोग्यपदार्थे सदैव दोषदर्शनाज्जिन्दनाहते कुत्सनं विना स्तुतिः प्रशस्ताशुद्धिर्न भवत्येव स पुमान्देहसंबन्धिर्दुःखार्थं देहं केन हेतुना आत्मतया आदत्ते । तत्र हेतुर्नस्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ इदानीं देहात्मैक्यभ्रमवारणाय युक्तीः प्रस्तांति—नात्मेत्यादिना । जडचित्वाभ्यां विरुद्धयोर्देहात्मनोराधाराधेयभावादिसंबन्धोऽपि दुर्लभस्तादात्म्यं तु दूरे निरस्तमित्याशयः ॥ ६ ॥ एवं निर्विकारत्वसविकारत्वादिकृतविरोधादपि न तत्प्रसक्तिरित्याह—सर्वैरिति ॥ ७ ॥ आत्माधीनं स्वप्रश्नोपकारं प्राप्यात्मन एव

तयोः कीदृग्विधा भूता समानसुखदुःखता ।
 यौ समौ समधर्माणौ न कदाचन तौ कथम् ॥ १० ॥
 यावप्यसक्तावन्योन्यं मिथः संनैमित्तौ कथम् ।
 कथं स्थूलोऽणुरूपः स्यादणुः स्थूलः कथं भवेत् ॥ ११ ॥
 एकोदये द्वितीयस्य न सत्ता दिनरात्रयोः ।
 ज्ञानं नाज्ञानतामेति च्छाया नायाति तापताम् ॥ १२ ॥
 सद्ब्रह्म नासद्भवति विचित्रास्वपि दृष्टिषु ।
 मनागपि न संश्लेषः सर्वगस्यापि देहिनः ॥ १३ ॥
 देहेन देहैगस्यापि कमलस्येव वारिणा ।
 मनागपि न संश्लेषो ब्रह्मणो देहसत्तयो ॥ १४ ॥
 तद्गतस्याप्यतद्दृत्तेरम्बरस्येव वायुतः ।
 जरा मरणमापञ्च सुखदुःखे भवामवौ ॥ १५ ॥
 मनागपि न सन्तीह तस्मात्वं निर्वृतो भव ।
 स्थितो देहतयाप्युच्चैः पातोत्पानमयो भ्रमः ॥ १६ ॥
 दृश्यते केवलं ब्रह्मण्यप्सु वीचिचयो यथा ।
 आत्मसत्तोपजीवित्वादात्मानुभवतीह हि ॥ १७ ॥

दुःखभोजकृत्वात्कृतघ्नस्य ॥ ८ ॥ ननु चिन्मयत्वमपि देहस्यैव धर्मोऽस्तु, तथाच न कोऽपि विरोध इत्याशङ्क्याह—आदत्ते इति । जडव्यावृत्तं चित्स्वरूपमपरिचीय न देहस्य चिन्मयत्वं ज्ञातुं शक्यं तत्परिचये च जडतैव अपरस्य देहस्य स्थितेति तत्स्वभावविरुद्धं चिन्मयत्वं कथमादत्ते इत्यर्थः ॥ ९ ॥ नन्वात्मनो मानसदुःखभोगेन देहे कार्यं जायमानं दृश्यते देहे च तादृशनादिना आत्मनो दुःखभोग इति तयोः समानसुखदुःखतादर्शनात्तादात्म्यं किं न स्यात्तत्राह—तयोरिति । यौ आत्मदेहौ बह्वयःपिण्डाविव समौ अविविक्तौ परस्परधर्मविनिमयात्समधर्माणौ भासेते, विविक्तौ तु तौ न कदाचन तथा भासेते तयोः कीदृग्विधा कथं च समानसुखदुःखता भूता परमार्थसत्या वक्तुं शक्येत्यर्थः ॥ १० ॥ किंच असन्नेन परमसूक्ष्मेण आत्मना स्थूलस्य देहस्य संगम एव दुर्लभो दूरे ऐक्यमित्याह—यावपीति ॥ ११ ॥ परस्पररोपघातिस्वभावत्वात्तदपि नैक्यप्रसक्तिरित्याह—एकेति ॥ १२ ॥ सद्ब्रह्म असद्देहादिरूपं न भवति । सतश्च देहिनो देहाधिष्ठानप्रतीचः स्वाध्यस्तेन देहादिना मनागपि न संश्लेषः ॥ १३ ॥ उक्तमेव दृष्टान्तोपदर्शनाय पुनराह—देहेनेति । कृतो न संश्लेषस्तत्राह—देहसत्तयेति । देहकल्पनाधिष्ठानसन्मात्रस्वरूपतयेत्यर्थः । तथाचोक्तं भगवत्पादैः 'यत्र हि यदध्यासस्वत्कृतेन गुणेन दोषेण वा अणुमात्रेणापि स न संबध्यते' इति ॥ १४ ॥ अतद्दूतेः अलेपकत्वात्तद्विलक्षणस्वभावस्याम्बरस्य वायुतो यथा शोषकम्परजोळेपादयो दोषा न सन्ति तद्वद्देहादित आत्मनो जरादयो मनागपि न सन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥ देहतया देहात्मदृष्ट्या स्थितोऽपि मरणजन्मादिभ्रमो ब्रह्मात्मदृष्ट्या ब्रह्मणि अप्सु वीचिचय इव

१ दुःखार्थं इत्युच्यते पाठः. २ संगमितौ इति पाठः. ३ देहिनः कापि इति पाठः. ४ एतदमे "जगत्सात्मनिकः किञ्चिन्नासतो

देहकस्य च । तदा तच्च मुर्ध्वैव सुखदुःखक्रमः कुतः" ॥ इति प्र-
 क्षिप्तः श्लोको मुद्रितपुस्तके लभ्यते. ५ महाभ्रमः इति पाठः.

देह्यन्त्रं पयःसत्तामात्रादुर्मिष स्थितम् ।
 आधारस्पन्दनेनाङ्ग यथा क्षोभो न वा भवः ॥ १८
 सूर्यादेः प्रतिबिम्बस्य तथा देहेन देहिनः ।
 सम्यग्दृष्टे यथाभूते वस्तुन्येवामिजायते ॥ १९
 स्थितिर्देहमयो ज्ञानविभ्रमो लयमेति च ।
 देहदेहवतोर्ज्ञानाद्यथाभूतार्थयोः स्थितिः ॥ २०
 सत्तासत्तात्मिकोवेति दीपादीपपदार्थयोः ।
 असम्यग्दर्शिनो देहस्यावर्तपरिवर्तनैः ॥ २१
 अन्तःशून्याः स्फुरन्तीह ते मोहार्जुनपादपाः ।
 अपर्यालोचितात्मार्था अपरामृष्टसंविदः ॥ २२
 स्पन्दन्ते चेसितोन्मुक्तास्तृणघनमूढबुद्धयः ।
 अनास्वादितचित्तत्वाज्जडाः सर्वे खघायुभिः ॥ २३
 यत्र तत्रोदिताक्रान्ता रटन्ति प्रस्फुरन्ति च ।
 तृणकाष्ठादिकं सर्वमाहरन्ति त्यजन्ति च ॥ २४
 सशब्दस्पर्शरूपाख्यास्तरङ्गतरलाङ्गकाः ।
 जडाः सन्तः स्फुरद्रूपा भृशं स्फाररसासवाः ॥ २५
 सविहारागमापाया महौघा इव दुर्धियः ।
 सर्वेषामेव चैतेषां स्थितैवैषां चिद्व्यया ॥ २६
 किंत्वबोधवशादस्याः परां कृपणतां गता ।
 श्वाससंततयो ह्यज्ञालोहकारवृत्तेर्यथा ॥ २७
 स्पन्दमात्रार्थमेवाशु दृश्यन्ते नार्थकारिणः ।

ब्रह्ममात्रो दृश्यत इत्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ यथा पयः स्वसत्तयैव
 स्थितमूर्ध्वत्वमनुभवतीव तद्वत् । यथा प्रतिबिम्बस्य आधार-
 स्पन्दनेन हेतुना क्षोभे सति सूर्यादिर्नागपि क्षोभो नास्ति तथा
 देहेन चिदाभासक्षोभेऽपि देहिनो देहसाक्षिण इत्यर्थः ॥ १८ ॥
 सम्यग्दृष्टे तु वस्तुन्येव स्थितिरभिजायते । देहमयोऽज्ञानवि-
 भ्रमश्च लयमेति ॥ १९ ॥ यथाभूतार्थयोर्विमर्शे निष्कृष्टपरमार्थ-
 स्वभावयोर्देहतत्साक्षिणोर्ज्ञानाद्देहस्यासत्तात्मिका तत्साक्षिणश्च स-
 तात्मिका स्थितिरुदेति प्रकटीभवति ॥ २० ॥ दीपेनाद्यते प्रस्यत
 इति दीपात् तमः प्रवीपश्च तादृशयोः । परस्परोरिथितस्वभाव-
 पदार्थभूतयोरित्यर्थः । इदानीमज्ञस्य जगद्दर्शनप्रकारं निन्दितुं
 प्रपद्यति—असम्यग्दर्शिन इत्यादिना ॥ २१ ॥ २२ ॥ चे-
 तिता चेतनया तयोन्मुक्ताः । भावे घञन्ताञ्चितेर्मत्वर्थे इनि-
 स्ततस्तद् । नह्यचेतनदेहात्मभूताश्चेतना इति वक्तुं योग्या
 इति भावः । यदि ते अचेतनास्तर्हि कथं वदन्ति तृणकाष्ठाह-
 रणादिना व्यवहरन्ति च तत्राह—अनास्वादितेत्यादिना । ते
 सर्वे जडा अपि खैर्मुखनासिकादिच्छिद्रैस्तत्संचारिभिर्वायुभिश्च
 यत्र यत्र प्रदेशे कीचकवदुदितेन नोदनेन आक्रान्तास्तत्र रटन्ति
 प्रस्फुरन्ति संचरन्ति चेति परेणान्वयः ॥ २३ ॥ २४ ॥ शब्द-
 स्पर्शसहितरूपादिविषयलाभेनैव आढ्याः कृतार्थमन्याः । स्फारो
 रसो भोगाभिनिवेश एव आसवस्मिवोन्मादको येषाम् ॥ २५ ॥

तर्जनं गर्जनं मूढाद्भुर्दण्डगुणादिव ॥ २८
 भ्रूयते मरणायैव चिद्बोधपरिवर्जितम् ।
 फलभोगोऽपि यो मूढात्तदरप्यतरोरिव ॥ २९
 तस्मिन्विभ्रमणं यत्तच्छिलाफलहके यथा ।
 तेन यत्संगमः स स्यात्स्थाणुना भुवि जङ्गले ॥ ३०
 तदर्थं यत्कृतं किञ्चित्छोम लकुटैर्हतम् ।
 तस्मिन्वदधमे दत्तं तस्यकं किं न कर्दमे ॥ ३१
 तेन सार्धं कथा यत्तत्कौलेयाज्ञानमम्बरे ।
 अज्ञानमापदां निष्ठा का हि नापदजानतः ॥ ३२
 इयं संसारसरणिर्वैहल्यज्ञप्रमादतः ।
 अज्ञस्योप्राणि दुःखानि सुखान्यपि दृढानि च ॥ ३३
 पुनःपुनर्निवर्तन्ते युगं प्रत्यचला इव ।
 शरीरघनदारादावास्थां समनुबध्नतः ॥ ३४
 ईदं दुर्दुःखमज्ञस्य न कदाचन शाम्यति ।
 अनात्मनि शठे देहे आत्मभावमुपेयुषि ॥ ३५
 असद्बोधमयी माया कथं नामापि नश्यति ।
 दुर्भावस्त्रितधियो वस्तुन्यन्धस्य दुर्मतेः ॥ ३६
 अवस्तुनि सनेत्रस्य लुठतश्च पदे पदे ।
 विषमुत्पद्यते चन्द्रादामोदः कुसुमादिव ॥ ३७
 कण्टकश्चैति पयसो दुर्वाङ्कुर इव स्थलात् ।
 देहशाल्मलिभोगिन्यो मनोमातङ्गशृङ्खलाः ॥ ३८

यथा नद्यादिमहौघा अचेतना अपि विहारागमापायादिचेष्टासहि-
 तास्त्रदुर्धियोऽपि किमेषामात्मचिन्नास्त्येव न किंतु विद्यमानाप्य-
 बोधाद्यथाऽसंपञ्जेल्याह—सर्वेषामिति ॥ २६ ॥ अज्ञानमूर्त्वात् ।
 निःसरन्त्य इति शेषः ॥ २७ ॥ जठरामिस्पन्दमात्रार्थम् । एवं
 मूढाजिष्ण्यमानं परतर्जनं गर्जनं च न चेतनतालिङ्गं मरणाद्यन-
 र्थमात्रहेतुत्वाद्भुर्गुणविस्फारवदित्याह—तर्जनमिति ॥ २८ ॥
 फलभोगः फलजनः ॥ २९ ॥ शिलाफलहके तत्रशिलाफलके
 यथा तथा । स्थाणुना छिन्नतरुमूलेन ॥ ३० ॥ कृतमुपकृतं
 खेन तत् । लकुटैर्दण्डैः । हतं ताडितम् ॥ ३१ ॥ कौलेयः श्वा ।
 'कुलकुक्षी'त्यादिना विहितस्य ढकजः कलोपदृच्छान्दसः । इदम-
 ज्ञनिन्दनमज्ञानस्य हेयताप्रदर्शनार्थं दयया न त्वज्ञेषु द्वेषादित्या-
 शयेनाह—अज्ञानमिति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ युगं युगोपलक्षितं
 लाङ्गलं रथं वा प्रति अचला इव दृढानि दुरुलङ्घनानि च ॥ ३४ ॥
 ॥ ३५ ॥ दुर्दुर्भावैः सुष्ठु अश्रिता व्याप्ता धीर्यस्य ॥ ३६ ॥
 अवस्तुन्यसद्भुतुनि सनेत्रस्य पश्यत इति यावत् ॥ ३७ ॥
 पयसः क्षीरात्कण्टकश्च एति आगच्छति । उत्पद्यत इति यावत् ।
 देहलक्षणस्य शाल्मलेः कोटरे निवसन्त्यो भोगिन्यः सर्पिणीभूता
 आशाः प्रसूयन्ते रागलोभदैन्यादिसर्पान् । अथवा मनोमात-
 ङ्गस्य शृङ्खलाभूता आशा दुःखानि प्रसूयन्ते इति भान्तरबाह्य-
 विषयभेदेनाशामेदं प्रकल्प्य रूपकद्वयं योज्यम् ॥ ३८ ॥

अज्ञस्याशाः प्रसूयन्ते सुकृष्टादिषु शालयः ।
 नरकश्रीरिहाज्ञानं दुष्कृतव्यालवेष्टितम् ॥ ३९ ॥
 परिपालयति प्रीता मयूरी धारिकं यथा ।
 नेत्रलोलालिनीलोला स्फुरिताधरपल्लवा ॥ ४० ॥
 मूर्खार्थमेव विकसत्यङ्गना विषयलुरी ।
 अज्ञस्य हृदि संज्ञमावेव पेलवपल्लवा ॥ ४१ ॥
 विद्यते पतगच्छायो रागविद्रुमदुर्गुमः ।
 तरुच्छदलसङ्गमः शस्त्रजालरदोन्मुकः ॥ ४२ ॥
 ज्वलति द्वेषदावाग्निर्हृन्मरौ कायतापदः ।
 अज्ञमात्सर्यमनसि परापघदनच्छदा ॥ ४३ ॥
 ईर्ष्याकमलिनी चिन्ताषट्पदा विलसत्यलम् ।
 प्रतिजन्मप्रमृष्टोप्रदुःखकलोलविभ्रमम् ॥ ४४ ॥
 जडमेव समभ्येति पुनर्मरणवाडवः ।
 जन्म बाल्यं ब्रजत्येतद्यौघनं युवता जराम् ॥ ४५ ॥
 जरा मरणमभ्येति सूदस्यैव पुनःपुनः ।
 जगज्जीर्णरघटेऽस्मिन्नञ्जवा संसृतिरूपया ॥ ४६ ॥
 मञ्जनोन्मज्जनैरज्ञो यन्त्रे कलशतां गतः ।
 यदेव गोष्पदापूरं अधियः पेलवं जगत् ॥ ४७ ॥
 तदेवापारपर्यन्तमगाधममहात्मनः ।
 धियोऽदृश इवाज्ञस्य दीर्घं जडरकोटपत् ॥ ४८ ॥
 न प्रयान्त्यपरं पारं विद्वद्भ्यः पञ्जरादिषु ।

सुकृष्टात्कैत्रात् । न विद्यते ज्ञानं यस्य सः अज्ञानस्तं नरकश्रीः
 परिपालयति प्रतीक्षते ॥ ३९ ॥ ४० ॥ हृदि मनोविक्षणायां
 सङ्गमौ ॥ ४१ ॥ तरुच्छदः पल्लवस्तत्स्थानापन्नयोः स्फुरदोष्ठयो-
 र्कसन्तो निःश्वासधूमा यस्य । शस्त्रजालमिव कटकटायमाना
 रदा दन्ता एवोन्मुका यस्य । द्वेष एव दावाग्निर्यस्य । हृन्मन-
 स्तलक्षणे मरौ निर्जलारण्ये ज्वलति भस्मीभवतीव ॥ ४२ ॥
 मात्सर्यजलपूर्णं मनसि मानसे । 'मात्सर्यमानसेऽज्ञस्ये'ति पाठः
 साधुः ॥ ४३ ॥ प्रमृष्टा नानाप्रतीकारोपायवेलोपसर्पणेन मा-
 र्जिता उग्रदुःखकलोलविभ्रमा यत्र तं जडमज्ञं जलमयं समुद्रं
 च मरणलक्षणो वाडवो वडवानलः ॥ ४४ ॥ जन्मादीनामु-
 त्तरोत्तरमनर्थप्रापकत्वमेवेत्याह—जन्मेति ॥ ४५ ॥ आरघटे
 यन्त्रे घटीयन्त्रे ॥ ४६ ॥ गोष्पदमापूरयतीति गोष्पदापूरम् ।
 अल्पजलप्रायमित्यर्थः ॥ ४७ ॥ अमहात्मनः परिच्छिन्नदेहा-
 त्मदर्शिनः अपारपर्यन्तमगाधं च भवति । अतः अदृशः अन्ध-
 स्येव अज्ञस्य धियो जठरकोटराद्दुदरभरणासक्तिबन्धनवशादपरं
 दीर्घं संसाराब्धिपारं न प्रयान्तीत्यन्वयः ॥ ४८ ॥ कुतो न
 प्रयान्ति तत्राह—भावेत्यादिना । 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयं-
 भूत्स्मात्पराब् पश्यति नान्तरात्मन्' इति श्रुतेर्बाह्येषु विषय-
 मात्रेषु परावृत्तवासनाभाराक्रान्तहृदयनाभयः सत्यो विषयपङ्केषु
 ममा जन्मचक्रस्य नेमयो नेमिस्थानीयेन्द्रियगणा उद्धृत्य स्पष्टी-
 कर्तुं शोधयितुं न शक्यन्ते ॥ ४९ ॥ शृङ्गपदेन मृगयोपयोगिनः

१ सङ्गमाविव पेलवपल्लवः इति पाठः.

भावमात्रपरावृत्तवासनाभारनाभयः ॥ ४९ ॥
 स्पष्टीकर्तुं न शक्यन्ते जन्मचक्रस्य नेमयः ।
 अज्ञेनेन्द्रियशृङ्गार्थं रागान्मृगयुष्मा तनुः ॥ ५० ॥
 संसारारण्य आस्तीर्णा दूरावाभिषपिण्डवत् ।
 भूतशैलमयी दृष्टिर्मन्मांसलवमात्रिका ॥ ५१ ॥
 मोहात्संलक्ष्यते चित्रपदार्थानन्तरज्जनः ।
 जयत्यनल्पसंकल्पकल्पनाकल्पपादपः ॥ ५२ ॥
 अज्ञानात्प्रसृता यस्माज्जगत्परम्परराः ।
 यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते विशन्ति विलसन्ति च ॥ ५३ ॥
 विचित्ररचनोपेना भूरिभोगिविहङ्गमाः ।
 यत्र जन्मानि पर्णानि कर्मजालं च कोरकम् ॥ ५४ ॥
 फलानि पुण्यपापानि मञ्जरीं विभवश्रियः ।
 अज्ञानेन्दुदये नैता योषिदोषधयः स्फुटम् ॥ ५५ ॥
 संसारवनस्रण्डेऽस्मिन्परां शोभासुपागताः ।
 जन्मजालकलापूर्वस्तमःकालकृतोदयः ॥ ५६ ॥
 शून्योदितात्मा दोषेशो जयत्यज्ञानचन्द्रमाः ।
 अज्ञानेन्दोः प्रसादेन वासनामृतशालिना ॥ ५७ ॥
 तर्पिताशत्रुकोरेण चित्ररत्नरसैषिणा ।
 राजहंसविलासिन्यः प्रालेयशिशिराङ्गिकाः ॥ ५८ ॥
 भान्ति कान्ताकुमुदस्यो लोललोचनषट्पदाः ।
 धम्मिल्लतिमिरोल्लासा लसत्पाण्डुपयोधराः ॥ ५९ ॥

श्येना प्राणाः । तनुः स्वदेहपरम्परा । दूरादूरदेशकालयोरपि
 सर्वदा सर्वत्रेति यावत् । रागान्मृगयाम्यसनात् ॥ ५० ॥ आभि-
 पपिण्डवदिति वतिप्रयोगो भ्रान्तिदृशा भेदाभावे सादृश्याभा-
 वादित्याशयेनाह—भूतेति । भूतमयी मनुष्यपश्यादिप्राणिप्र-
 चुरा हिमवान्विन्यो मलय इत्यादिशैलप्रचुरा च दृष्टिर्वस्तुतो
 मांसलवमात्रिका मृल्लवमात्रिका चेति विभव्य व्युत्क्रमेण सं-
 बन्धः । मोहात्तत्त्वापर्यालोचनादेव गौरश्चः पुरुषो माता आता
 हिमवान्मलय इत्यादिकल्पनया संलक्ष्यते इत्यर्थः ॥ ५१ ॥
 अतएव चित्रैः पदैर्यैश्च अनन्तानि रज्जनानि यस्य तथाविधो-
 ऽनल्पसंकल्पकलनालक्षणः कल्पपादपो जयति । अत्यन्तास-
 द्भिरपि पदार्थैः सर्वकामपूरणसमर्थत्वात्सर्वोत्कर्षेण वर्तत
 इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ इदानीं तादृशकल्पशृङ्गकोटिव्याप्तं संसार-
 वनस्रण्डं वर्णयति—अज्ञानादित्यादिना ॥ ५३ ॥ पर्णानि
 पल्लवाः । कोरकं कलिका । छान्दसी क्लीबता ॥ ५४ ॥ योषि-
 लक्षणा ओषधयो लता अस्मिन्वर्णितलक्षणे संसारवनस्रण्डे ।
 परां शोभासुपागताः ॥ ५५ ॥ अज्ञानस्येन्दुत्वमुक्तमुपपाद-
 यति—जन्मेति । तमःकाले विवेकसूर्यास्तमयकाले । इत्ये
 निष्प्रपञ्चे ब्रह्मणि नभसि च उदितात्मा प्रकाशमानः । दोषाया
 रात्रेर्दोषाणां चेशः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ तर्पिताः पोषिता आशा-
 लक्षणाश्चकोरा येन । चित्तलक्षणं यद्ब्रह्मं द्युमणिसतीयो रसो
 विषयास्वादानामृतं तदेषिणा । सूर्यमण्डलान्तर्गतैर्नैवामृतेन

२ अज्ञानेन्द्रिय इति पाठः.

रामारजन्यो राजन्ते तन्मौख्येण विजृम्भितम् ॥ ६०
 आपातमात्रमधुरत्वमनर्थसस्व-
 माद्यन्तवस्वमखिलस्थितिभङ्गुरत्वम् ।

अज्ञानशाखिन इति प्रस्तुतानि राम
 नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि ॥ ६१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मौक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० मोहमाहात्म्यं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यन्मुक्तावलिता रत्नभूषिता भान्ति योषितः ।
 मदेन्द्रावुदिते क्षुब्धकामक्षीरार्णवोर्मयः ॥ १
 सौवर्णाम्भोजकोशस्थलोलालिपटलश्रियम् ।
 धारयन्ति दृशः स्त्रीणां कपोलतलदोलिताः ॥ २
 उद्यानवनखण्डेषु भूमौ कृतमदा मधौ ।
 दृशाः सुमनसो भान्ति दासा इव मनोभुवः ॥ ३
 क्रव्यादगृध्रगोमायुकौलेयकवलाङ्गिकाः ।
 स्त्रियः समुपमीयन्ते चन्द्रचन्दनपङ्कजैः ॥ ४
 सौवर्णकलशाम्भोजकलिकामानुलुङ्गवत् ।
 दृश्यते स्त्रीस्तनश्रेणी रक्तपूतिसुगन्धिका ॥ ५

रसायनेन्दुनिस्यन्दमधुबिम्बासवद्रवैः ।
 ओष्ठाभिधो मांसलवो लालाक्त उपमीयते ॥ ६
 अल्पाल्पाष्ठीवदाकारा भुजाकुरास्थिशङ्खवः ।
 महाबाहुलताशब्दैर्षण्यन्ते कविभिः शुभैः ॥ ७
 कदलीस्तम्भसम्भारसुन्दरीभिस्तथा भृता ।
 कुचशोभोक्षितानन्दा तोरणालिर्मिराजते ॥ ८
 आपातमन्दमधुरा मध्ये द्रव्यानुषन्धिनी ।
 शीघ्रावसानविरला लक्ष्मीरप्यभिवाञ्छयते ॥ ९
 समुपैति मतिर्दुःखं सुखं च शतशाखताम् ।
 दुःखशाखास्तु जायन्ते नानाकर्मफलाः श्रियः ॥ १०
 बद्धजालघनाकाराः कारार्थमिव रज्जवः ।
 दृच्छदःसदृशा वाचः प्रतानगहने स्थिताः ॥ ११

शुक्लपक्षे चन्द्रपूतैरिति भावः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ रामाल्लक्षणा
 रजन्यो रात्रयो यद्राजन्ते तद्द्रव्याणां मौख्येणैव विजृम्भितम् ।
 तच्छोभाकारेण परिणतं न तत्र शोभनं किञ्चिद्वस्तुतोऽस्तीति
 भावः ॥ ६० ॥ अज्ञानमेव सर्वानर्थहेतुरिति दर्शयन्नुपसंहर-
 रति—आपातेति । हे राम, यद्विषयेषु प्रसिद्धमापातमात्रमधुर-
 त्वमनर्थपर्यवसानत्वमाद्यन्तवत्त्वं देशतः परिच्छिन्नत्वमखिल-
 स्थितिषु भङ्गुरत्वं नश्वरत्वं च तत्सर्वमज्ञानलक्षणस्य शाखिनो
 वृक्षस्य इति एवंविधानि नानाकृतीनि फलानि बीजाङ्कुरपरम्परया
 जगदाकारेण प्रस्तुतानि । तस्मादज्ञानमेव तन्मूलमुच्छेद्यमिति
 भावः ॥ ६१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे मोहमाहात्म्यं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

कामादिभिरनर्थोदिवर्धता रम्यतावहाः ।

विस्तरेणात्र वर्णयन्ते अज्ञानस्य विभूतयः ॥ १ ॥

तत्र सर्वविवेकापहारिण्यः सद्योनर्थगर्तपातिन्यः प्रस्तुताः स्त्रिय
 एवाज्ञानस्य कामस्य च महाविभूतय इत्याशयेन ता एव प्रथमं
 वर्णयति—यदित्यादिना । अस्य यच्छब्दस्य सर्वेषु श्लोकेषु प्रति-
 वाक्यं संबध्यमानस्य सप्तषष्ठितमसर्गोपान्त्यश्लोकार्धे तदज्ञानवि-
 जृम्भितमित्यत्र संबन्धः । मदलक्षणे इन्द्रो उदिते सति योषितः
 क्षुब्धस्य कामक्षीरार्णवस्योर्मय इव यद्भान्ति तदज्ञानस्य विजृ-
 म्भितं विभूतिरिति प्रतिवाक्यं योज्यम् ॥ १ ॥ यद्धारयन्ति त-
 दप्यज्ञानविजृम्भितम् ॥ २ ॥ मधौ वसन्ते वनखण्डेषु तरुषु
 भूमौ च मनोभुवो दासा आज्ञाप्या इव कृतमदाः कामिनां
 अनितोन्मादाः ॥ ३ ॥ क्रव्यादाः क्रव्यमात्राहारा व्याघ्रादयः ।

गृध्रगोमाय्वादयस्तु लामे अज्ञाप्यक्षन्तीति पुनर्ग्रहणम् ॥ ४ ॥
 रक्तपूतिगन्ध एव सुगन्धो यस्मात्तथाविधा स्त्रीणां स्तनश्रेणिः
 सौवर्णकलशादिवद्यदृश्यते तदज्ञानविजृम्भितम् ॥ ५ ॥ इन्दु-
 निस्यन्दोऽमृतम् ॥ ६ ॥ प्रत्येकं विभज्य दर्शने अन्पाल्पा
 भष्ठीवन्तः पर्वणि तदाकाराश्च भुजाशब्दवाच्याः कूरा अस्थि-
 शङ्खवः ॥ ७ ॥ तथा कदलीस्तम्भावेव संभार उहसामप्री यासां
 तथाविधाभिः सुन्दरीभिर्मृता, कुचकलशशोभाया उचितो
 द्रष्टृनेत्रानन्दो यस्याः सकाशात्तथाविधा तोरणालिर्मन्मथागार-
 तोरणसम्भृता काञ्ची यद्विराजते तदप्यज्ञानविजृम्भितमिति
 प्राग्वत् ॥ ८ ॥ आपाते आरम्भे मन्दानां मधुरा, आपाततो-
 ऽल्पमधुरा वा । मध्ये व्ययकाले रागद्वेषादिद्रव्यानुपातिनी ।
 शीघ्रमवसानं भयो यस्याः । कतिपयजनेषु दृश्यत्वाद्विरला,
 ईदृशी लक्ष्मीरपि यदभिवाञ्छयते तदिति प्राग्वत् ॥ ९ ॥ यन्म-
 तिर्दुःखं समुपैति, यच्च सुखं शतशाखतां समुपैति यच्च नाना-
 कर्मफलाः श्रियो दुःखान्येव शाखा यासां तथाविधा जायन्ते
 तदपीति प्राग्वत् ॥ १० ॥ श्रीणामज्ञानविजृम्भितत्वे तत्फल-
 ककाम्यकर्मसु प्रवर्तकानां कर्मकाण्डवचसां सुनरां तथात्वमित्या-
 शयेनाह—बद्धेति । प्रतानानि काम्यकर्मविस्तारास्तलक्षणे गहने
 अरण्ये स्थिता कृता इव बद्धैर्नानाफलकामजालैर्घनाकारा निवि-
 डाकारा अतएव देवादिऋणिनां कर्मिणां करागृह्रक्षणार्था रज्जव
 इव स्थिताः । दतां दन्तानां छदावोष्ठीं तत्सदृशाः । रागवापल-
 प्रधाना इति यावत् । ईदृशाः कर्मकाण्डवाचोऽप्यविद्याविजृम्भित-
 मित्यर्थः । छदशब्दस्य समासे विभक्तेरलुपेवसगेश्च च्छान्दसः ।
 इदं च 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिना भगवता गीतासु

संतता मोहमिहिका कार्यासारविसारिणी ।
यमुना प्रावृषीवैति तिमिरश्यामला चिरम् ॥ १२
कद्रुकृतान्तःकरणो नानासुखविशारदः ।
वर्धते हि गतस्नेहं जन्मप्रतिविषारसः ॥ १३
व्याधूतजर्जराकीर्णजनतापर्णराजयः ।
स्वकर्मपवना वान्ति नानावकररेणवः ॥ १४
कालः कवलितानन्तजगत्पक्वफलोऽप्ययम् ।
घस्मराचारजठरः कल्पैरपि न तृप्यति ॥ १५
मोहमारुतमापीय त्वचा विषमचारिणः ।
स्फुरन्तीहाहयश्चित्राः शीतलाचलदीप्तयः ॥ १६
चिन्तापिशाचोपहता विवेकेन्दुदयं विना ।
तमसेव निरालोका याति यौवनयामिनी ॥ १७
जिह्वा जर्जरतामेति प्राकृतानुनयज्वरैः ।
पद्मकोटरकोणस्थमपि सूत्रं हिमैरिव ॥ १८
दुःखशोकमहाष्टीलः कष्टकण्टकसंकटः ।
सहस्रशास्त्रतां याति दारिद्र्यदृढशाल्मलिः ॥ १९
अन्तःशून्योन्नतिध्वस्तचित्तचैत्यकृतालयः ।

स्फुटीकृतम् ॥ ११ ॥ मोहवशात्स्वत एव काम्येषु प्रवृत्तानां पुनः
शास्त्राणां प्रवर्तनमन्धोन्मत्तस्य स्वतः कृपे पततो बलात्पा-
तनमिवानुचितमित्याशयेन मोहात्स्वतः प्रवृत्तिं दर्शयति—संत-
तेति । कार्याणि प्रवृत्तयस्तल्लक्षणैरासारैर्विसारिणी विस्तीर्णा मोह-
लक्षणा मिहिका स्वतः श्यामला प्रावृषि रजसा च कलुषा तत्रा-
पि निषि तिमिरेणाल्वन्तश्यामला यमुना यथा एति प्रवहति
तद्वत्स्वत एवंति । पुरुषमन्धीकृत्य विषयेषु प्रवर्तयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥
भोगे प्रवृत्तस्य च विषयेषु पुत्रपौत्रादिषु च रागोऽभिवर्धत
इत्याह—कद्रुति । आपाततो नानासुखविशारदः परिणामे
दुःस्वप्नवसानाद्विषमात्सर्वचिन्तादिजननाच्च गतस्नेहं यथा
स्यात्तथा कद्रुकृतान्तःकरणो जन्मलक्षणायाः प्रतिविषाया
विषवल्ग्या रस इव पल्लवोपचयप्रदो रागो वर्धते ॥ १३ ॥
ततश्च क्रमात्पुत्रादीनां मरणं तद्वियोगदुःखपरम्परा भवतीत्या-
शयेनाह—व्याधूतेति । व्याधूनाः पातिता व्याध्यादिजर्जरा
आकीर्णजन्ताः पुत्रादिपरिजनसमूहा एव पर्णराजयो र्यस्तथा-
विधा नानाविधा अवकररेणव इव विवेकदृष्टिहारिणो विक्षेपमेदा
येषु तथाविधाः स्वदुष्कर्मपरिपाकलक्षणाः पवना वान्ति ॥ १४ ॥
ततः स्वस्यापि मृत्युरिति संदेवं जन्मपरम्परया मृत्युमुखे प्र-
वेष्ट इत्याह—काल इति ॥ १५ ॥ एवं परिवर्तमानानज्ञजीवान्
अहित्वेनोत्प्रेक्षते—मोहेति । शीतलस्य त्रिविधतापशून्यस्याच-
लस्य च ब्रह्मणो दीप्तयः प्रकाशयमाना जीवा इह संसारे चित्रा
अहयः सर्पा एव । तत्कृतः । यत्र एते मोहलक्षणं मारुतमापी-
यान्तः पूरयित्वा स्थिताः पुनर्वियुज्यमानया नानादेहलक्षणया
त्वचा चोपलक्षिता विषमचारिणः कुटिलगतयः स्फुरन्ति । संच-
लन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥ तेः प्रतिजन्म प्राप्यमाणं यौवनमपि

१ परितश्च थ इति पाठः.

मायाबहुलयामिन्यां लोभोलूको विवल्गति ॥ २०
पूर्वं गृहीत्वा कर्णाभ्यां स्फुरन्ती परिनिश्चयम् ।
जराजर्जरमार्जारी यौवनाखुं निकृन्तति ॥ २१
निःसारा क्रमशः क्रान्तधराधरसमुन्नतिः ।
द्विण्डीरपिण्डिकेवेयं सृष्टिरायाति पुष्टताम् ॥ २२
आभासपुष्पधवला जगत्पल्लवशालिनी ।
सत्तालता विकसिता धर्मार्थफलधारिणी ॥ २३
सुराचलमहास्थूणं बन्द्रसूर्यगवाक्षकम् ।
गगनाच्छादनं चारु ध्रियते त्रिजगद्गृहम् ॥ २४
संसारसरसि स्फारे चरन्ति प्राणषट्पदाः ।
शरीरपुष्करेष्वन्तश्चिद्रूपरसपायिनः ॥ २५
नभोमार्गमहानीलकुट्टिमैक्रान्तशालिनी ।
भुवनोदररम्यान्तः स्फुरत्यादित्यदीपिका ॥ २६
आशातन्तुनिबद्धाङ्गी जागती जीर्णपक्षिणी ।
स्ववासनाशलाकेऽन्तर्निबद्धेन्द्रियपञ्जरे ॥ २७
अनारतपतञ्जालभूतपर्णपरम्परा ।
स्पन्दते मरुताऽऽमृष्टा संसृतिव्रततिधिरम् ॥ २८

मोक्षसाधनेषु विवेकवैराग्यध्रुवणादिष्वनुपयोजनाद्दुःखैवेत्याशयेना-
ह—चिन्तेति । याति तेषामिति शेषः ॥ १७ ॥ एवं तदीयजि-
ह्वादीनामपि वैयर्थ्यानर्धते दर्शयति—जिह्वेत्यादिना । प्राकृ-
तानां पामराणां स्त्रीपुत्रादीनामनुनयः कौपापनयनं तत्प्रयुक्त-
ज्वरैः संतापैः । जिह्वोपमानत्वोपपत्तये सूत्रपदेन तद्दृढावष्टब्ध-
मन्तर्दलं लक्ष्यते । उक्तो न्यायश्चक्षुराद्येभ्योऽपि ज्ञेयः ॥ १८ ॥
अष्टीला ग्रन्थयः ॥ १९ ॥ सत्यवस्त्वनवलम्बनादन्तःशून्यः
सकोटरश्च स्वोन्नतिभारेण भुमधितलक्षणश्चैत्यवृक्षस्तत्र कृतालयः
मायालक्षणायां बहुलयामिन्यां कृष्णपक्षनिशायाम् ॥ २० ॥
पूर्वमारम्भकाले कर्णाभ्यां कर्णसंनिहितकपोलयोर्गृहीत्वा ॥ २१ ॥
अज्ञानादेव पुनः सृष्टिप्रसरं दर्शयति—निःसारेत्यादिना । क्रमशः
क्रान्ता रचयितुमुपक्रान्ता धराधराणां धराधर इव च समुन्नति-
र्यया । द्विण्डीरस्य फेनस्य पिण्डिका तादृशी प्रसिद्धा सृष्टिर्जगद्गृ-
ष्टिः ॥ २२ ॥ आभासश्चिदाभासप्रकाशस्तल्लक्षणपुष्पधवला उ-
ल्लवला सत्ता ध्यावहारिकसत्यतालक्षणा लता ॥ २३ ॥ सुराचलो-
पलक्षितपर्वता एव महान्तः स्थूणाः स्तम्भा यस्य । गगनमेवा-
च्छादनं च्छदिर्यस्य ॥ २४ ॥ स्फारे विस्तीर्णं संसारसरसि जातेषु
शरीरपुष्करेषु अन्तःस्थचिद्रूपरसपानशीलाः प्राणषट्पदाश्चरन्ति
‘एतस्यैवानन्दस्थान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति’ ‘आनन्देन
जातानि जीवन्ति’ इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ २५ ॥ नभोमार्गलक्ष-
णे महति नीलमणिनिर्मिते कुट्टिमे कृत्रिमभूभागे एकान्तं शा-
लिनी शोभमाना भुवनोदरे रमणीयतरा आदित्यदीपिका स्फुर-
ति दीप्यते यत्तदप्यविद्याविजृम्भितमिति सर्वत्र ॥ २६ ॥ जागती
जगदन्तर्गतजीवराशिलक्षणा जीर्णपक्षिणी स्ववासनाशलाके इ-
न्द्रियपञ्जरे देहे यन्निबद्धा तदपि ॥ २७ ॥ मरुता प्राणेन

सृष्टेः कतिपयं कालं प्रहृष्टाः कुलशालिनः ।
 अधःकृतोन्नरकपङ्काः शङ्कोज्जिताः क्षणम् ॥ २९
 भुक्तेन्दुखण्डकणिकानीलनीरदशैबले ।
 स्वर्गमार्गसरस्यन्तः स्फुरन्ति सुरसा रसाः ॥ ३०
 नानाफलालिमलिना वासनाजालमालिता ।
 स्पन्दामोदमयी स्फीता क्रियाविकसिताब्जिनी ॥ ३१
 वराकी सृष्टिशफरी स्फुरन्ती भवपल्लवे ।
 कृतान्तवृद्धगृध्रेण शठेन विनिर्गृह्यते ॥ ३२
 तरङ्गफेनमालेव सैवान्येव च भङ्गुरा ।
 श्वःश्वोऽपरेन्दुलेखेव समुदेति विचित्रता ॥ ३३
 भूरिभूतशरावाणि क्षणभङ्गानि कुर्वता ।
 इदं कालकुलालेन चक्रं संपरिवर्त्यते ॥ ३४
 असंख्यातानि कल्पानि संजातान्यत्रले पदे ।
 जगज्जलजालानि दग्धानि युगवह्निना ॥ ३५
 भावाभावैरपर्यन्तैः सुखदुःखदशाशतैः ।
 वैपरीत्यं प्रयात्येवमजस्रं जागती स्थितिः ॥ ३६
 ध्रुवैर्युगपरावर्तैर्वासनाशृङ्खलोम्भिता ।
 महाशानिनिपातैश्च न भङ्गाऽबुद्धधीरता ॥ ३७

आमृष्टा कम्पिता ॥ २८ ॥ अधः पाताले स्पष्टं प्रदर्शनाय
 धात्रा कृतोन्नरकपङ्काः सन्तोऽपि तत्पतनशङ्कोज्जिताः सन्तो
 यत्प्रहृष्टास्तदपीति प्राग्वत् । अधथा स्वात्मतादात्म्याध्यासेन
 अधःकृतास्तिरस्कृता इव उप्ता रक्तमांसमलमूत्रादिदेहनरकपङ्का
 यैस्तथाविधास्तच्छङ्कोज्जिताः सन्तो वयं कुलशालिनो महा-
 क्षया इत्याद्यभिमानैर्यत्प्रहृष्टास्तदित्यर्थः ॥ २९ ॥ स्वर्ग-
 लक्षणेऽन्नमार्गस्यसरसि सुरा देवास्तद्रूपाः सारसपक्षिणो य-
 त्स्फुरन्ति तदपि ॥ ३० ॥ यच्च नानाकाम्यफललक्षणैरलिभिर्म-
 लिना क्रियालक्षणा अञ्जिनी विकसिता तदपि ॥ ३१ ॥ शफरी
 प्रोष्णाख्या ध्रुवमस्त्यजातिः ॥ ३२ ॥ श्वः श्वः अपरा प्रतिदिनं
 भिन्नपरिमाणं इन्दुलेखेव ॥ ३३ ॥ क्षणभङ्गानि अचिरनश्वरा-
 णि ॥ ३४ ॥ कल्पानि सर्वव्यवहारसमर्थानि । अत्रले पदे ब्रह्म-
 णि । युगवह्निना युगान्ताग्निना ॥ ३५ ॥ वैपरीत्यं विपरिणामम्
 ॥ ३६ ॥ एतादृशानर्थपरम्परादर्शनेऽप्यज्ञानां कुतो न निर्वेदो-
 दयस्तत्राह—ध्रुवैरिति । वासनाशृङ्खलाभिः उम्भिता पूरिता
 अबुद्धानां मीर्यदाद्वैलक्षणा धीरता यतो न कश्चिदपि भग्ने-
 त्यर्थः ॥ ३७ ॥ या वासना ज्ञानेनाज्ञानबाधेऽप्यधिकारप्रारब्ध-
 बलादिन्द्रादिशरीरं मन्वन्तरकालपर्यन्तं यत्ते तस्याः केनान्येन
 भङ्गप्रसक्तिरित्याशयेनोदाहरति—शान्ता इति । स्वपराक्रमेण
 शतशो विद्वतानप्यरीन् पुनः पुनर्युद्धाभिकाङ्क्षया धारयन्ति पालय-
 न्तीति विद्वतारिध्रास्तथाविधैर्देवपुत्रैरप्यभिष्टानां भवे पुनर्जन्मा-
 दिविषये भङ्गस्तयो वेगो यस्यास्तथाविधामपि ऐन्द्रीं तनुं वासना
 यद्ब्रह्मति यावदधिकारं धारयति तदपीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ भूतसर्ग
 एव पांसुपरम्परा यस्यां तथाविधा नियतिलक्षणा बाल्या काल-

शतशो विद्वतारिधैर्देवपुत्रैरभिष्टताम् ।
 मयमगतयामैन्द्रीं तनुं वहति वासना ॥ ३८
 विशत्यविरतं भूतसर्गपांसुपरम्परा ।
 नित्यं नियतिवात्येयं कालव्यालगतान्तरम् ॥ ३९
 पदार्थाम्भसि सर्वाणि फलफेनानि सर्वतः ।
 पतन्त्यविरतापातमभाववडवामुखे ॥ ४०
 स्फुरन्त्याकस्मिकोद्धता विचित्रद्रव्यशक्तयः ।
 स्वभावमात्रसंपन्नाः स्पन्दश्रिय इवाम्भसः ॥ ४१
 भूतमौक्तिकसंपूर्णान्बृहत्तः सुबहूनापि ।
 जगत्कलभकानन्ति कृतान्तोद्विक्तकेमरी ॥ ४२
 कुलशैलफला मेघपक्षपुञ्जाः फलामृजः ।
 जायन्ते च म्रियन्ते च ध्रियन्ते च जगत्खगाः ॥ ४३
 चिद्विचिन्तौ स्पन्दशुभ्रायां रङ्गैः पञ्चामेरिन्द्रियैः ।
 उन्मीलयति संसारचित्राणि विधिचित्रकृत् ॥ ४४
 अजस्रगत्वरिं सर्वपरिवर्तविधायिनीम् ।
 निमेषशतभागाम्नीमसहस्राधिनाङ्कुराम् ॥ ४५
 मूक्ष्मां कालस्य कलनां स्वसमुत्थानकारिणीम् ।
 ध्यानेनैवान्धवेक्ष्यताः स्थिताः स्थावरजातयः ॥ ४६

लक्षणस्य व्यालस्य गलान्तरं यद्विद्वति तदपि । सर्पाणां वायुभ-
 क्षकत्वप्रसिद्धेरुपेक्षा ॥ ३९ ॥ अभावो नाशस्तद्वक्षणे बडवामि-
 मुखे यत्पतन्ति तदपि ॥ ४० ॥ स्वस्य भावः अधिष्ठानसत्ता ताव-
 न्मात्रेण संपन्ना लब्धस्वरूपा आकस्मिकेनातर्क्येण वासनावचि-
 त्र्येणोद्धताश्चालिता यत्स्फुरन्ति प्रसरन्ति तदपि ॥ ४१ ॥ कल-
 भकान् मत्तगजान्यदति तदपि ॥ ४२ ॥ कुलशैला हिमवदादय
 उपभोग्यत्वान्महरवाच्च फलानि येषाम् । मेघा एव नभोगत्या-
 कारसाहयःश्र्यां पक्षपुञ्जा येषाम् । फलानि आमृजन्ति सर्वतः
 परिशोधयन्ति विचिन्वन्तीति फलामृजः । मृजेर्जाहुलकारकः ।
 गच्छन्ति उत्तरायणदक्षिणायनादिमार्गेण सदा भ्रमन्तीति जग-
 न्ति जीवास्तद्वक्षणाः खगाः पक्षिणो यज्जायन्ते यान्म्रयन्ते यत्
 ध्रियन्ते, यावन्मरणं जीवन्ति तदप्यज्ञानविजृम्भितमित्यर्थः ।
 अत्र कुलचलानां मूलमध्याप्रभागानां नागमर्त्यदेवैरुपभोग्यत्वा-
 त्फलत्वोत्प्रेक्षा, मेघानां च दक्षिणायनमार्गपर्वसु धूमत्वेनाभ्रमेघ-
 त्वादिना चोर्ध्वाधोगतिनिर्वाहकत्वात्पक्षत्वोत्प्रेक्षा बोध्या ॥ ४३ ॥
 दृष्टिसृष्टिपद्मवलम्ब्याह—चिदिति । स्पन्दंश्चाक्षुषादिवृत्ति-
 व्याप्तिभिर्निरस्तावरणस्पष्टत्वाच्छुभ्रायाम् । रङ्गै रङ्गद्रव्यस्थानीयैः
 पञ्चभिर्बहिरिन्द्रियैर्विदधाति दृष्टिमात्रेण सृजतीति विधिदृष्टा
 स एव चित्रकृत् ॥ ४४ ॥ तस्यां दृष्टिसृष्टौ स्थावरजङ्गमयो-
 रनुभवे यो विशेषस्तं प्रथमं स्थावरेषु दर्शयति—अजस्रेति
 द्वाभ्याम् । स्थावरजातयः स्वस्यात्मनः समुत्थानं जगदाकारेण
 विवर्तस्तत्कारिणीमजस्रगत्वरत्वादि विशेषणविशिष्टां सृष्ट्यां का-
 लस्य कलनां ध्यानेनैवान्तरेण बहिः स्फुटव्यवहाराश्रमेणानु-
 भवेन अन्धवेक्ष्य स्थिता इति द्वयोरर्थः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

रागद्वेषसमुत्थेन भावाभावमथेन च ।
जराभरणरोगेण जीर्णा जङ्गमजातयः ॥ ४७
सुदुष्कृतोत्तमध्यानचारिण्यो धरणीतले ।
नियत्या नियतं कालं पीड्यन्ते कीटपङ्कयः ॥ ४८
क्षणेनादृश्य एवेदं निगिरत्यखिलं सुखी ।
सुदुर्लक्ष्यविलः कालव्यालो विपुलभोगवान् ॥ ४९
कालेन किञ्चिदालक्ष्य स्वशरीराकुलीकृताः ।
शीतवातातपप्रौढाः प्रोल्लसत्पुष्पदीप्तयः ॥ ५०
फलप्रदाश्चरन्तीह शीलिनः श्वभ्रविग्रहाः ।
पयःपटलविश्रान्तत्रलोक्याम्भोजकोटरे ॥ ५१
करोति घुंघुमं भूरि भूतभ्रमरपेटिका ।
ब्रह्माण्डभैक्ष्यभाण्डेयं काली भगवती क्रिया ॥ ५२
स्वयं दत्त्वैव दत्त्वैव भूतभिक्षां जिघृक्षति ।
तिमिरालीककबरी इन्द्रकंचपलेक्षणा ॥ ५३
ग्रह्योपेन्द्रमहेन्द्रादिधरागिरिवरादिका ।
ब्रह्मतत्त्वैकपिटका लम्बमानपयोधरा ॥ ५४
चिच्छक्तिमातृका स्थूला तरला घनचापला ।
तारकाजालदशना संभ्यारुणतरा घरा ॥ ५५
समस्तपद्मिनीहस्ता शतक्रतुपुरानना ।

ततो जङ्गमेषु विशेषं दर्शयति—रागेति ॥४७॥ तेष्वपि कृमिकी-
टादीनां दुःखानुभवातिशयं सनिमित्तं दर्शयति—सुदुष्कृतेति ।
सुष्ठु अतिशयेन दुष्कृतोत्तमैस्त्वत्फलभोगानुसारिभ्यान्वेव चरितुं
शीलं यासां तथाविधाः ॥ ४८ ॥ 'स यद्यदेवासृजत तत्तदनु-
मध्रियत' इति श्रुतेः कालकवलनीयत्वं स्थावरजङ्गमानां समा-
नमित्याह—क्षणेनेति ॥ ४९ ॥ एवं स्थावरेषु नियतकालं
फलपुष्पादिपरिणामशालित्वमनिवार्यशीतवातातपादिसहत्वं च वि-
शेष इति दर्शयति—कालेनेति सार्धेन । श्वभ्रं भूबिलं तत्र प्रविष्टो
विग्रहः शरीरमूलभागो येषां तथाविधाः स्थावराः किञ्चिद्भोजकं
स्वपरादृष्टमालक्ष्य निमित्तीकृत्य मनुष्यपर्षादिभिः स्वशरीरे
आकुलीकृताः पीडिता वसन्तादिकालमेदेन प्रोल्लसत्पुष्पदीप्तयः
फलप्रदाश्च अतएव शीलिनस्तवःशमदमतितिशोदार्थादिशील-
वन्त इव चरन्ति कालं नयन्ति ॥५०॥ इदानीं लोकत्रयमम्भो-
जत्रयन्वेन कल्पयित्वा तत्रत्यचरप्राणिनिकायं भ्रमरसमूहत्वेनो-
त्प्रेक्षते—पय इत्यर्धाभ्याम् । यद्यपि पृथिव्येव पद्मपत्रवज्जले
प्रतिष्ठिता पुराणादिप्रसिद्धा नान्तरिक्षद्युलोकौ तथापि तयोरपि
त्रिवृकृतजलधार्यत्वाज्जलभागप्रतिष्ठितत्वमस्यैवेति सूचनाय
पटलपदम् ॥ ५१ ॥ घुंघुमं गुजाध्वनिम् । भ्रमरपेटिका
भ्रमरसमूहः । इदानीं फलनियतां प्राणिक्रियां कालीत्वेन
ब्रह्माण्डं च तदीयभिक्षापात्रत्वेन चतुर्विधभूतप्राणं च
तदीयभैक्ष्यभावेनोत्प्रेक्षते—ब्रह्माण्डेति । कालस्य क्वी काली
पूर्वेगृहीता भूतभिक्षां स्वभ्रं कालाय दत्त्वैव दत्त्वैव पुनः
पुनरदत्त्वा अन्यामन्यां भूतभिक्षां जिघृक्षतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥
इदानीं क्रियाफलभूतां त्रिलोकीं वृद्धकामिनीत्वेन वर्णयति—

सप्ताब्धिमुक्तालतिका नीलाम्बरपरीवृता ॥ ५६
जम्बूद्वीपमहानामिर्वनश्रीरोमराजिका ।
भूत्वा भूत्वा विनश्यन्ती त्रिलोकीवृद्धकामिनी ॥५७
असकृज्जायते नष्टा भूरिविभ्रमकारिणी ।
मग्नमन्यैरधोम्मग्नं भीमे कालमहार्णवे ॥ ५८
प्रतिकल्पक्षणं क्षीणैर्ब्रह्माण्डस्फुटबुद्बुदैः ।
कालेऽगाधरसस्यन्दे स्थित्वा स्थित्वा पुनःपुनः ॥ ५९
कल्पमात्रनिमेषेणोद्गीनाः कारणसारसाः ।
उत्पत्योत्पत्य नाशिन्यः संतप्ताः सृष्टिविद्युतः ॥ ६०
कालमेवे स्फुरन्त्येताश्चित्प्रकाशवनोद्यमाः ।
प्रपतद्भूतविहगाः पतन्त्यविरतभ्रमाः ॥ ६१
कालतालात्किलोत्तालाद्ब्रह्माण्डफलपालयः ।
उन्मेषकृतवैरिञ्चसृष्टयो देवनायकाः ॥ ६२
निमेषकृतसंहाराः सन्ति केचन कुत्रचित् ।
निमेषोन्मेषसंक्षीणकल्पजालाः सहस्रशः ॥ ६३
रुद्राः केचन विद्यन्ते तस्मिंश्चित्परमे पुनः ।
तेऽपि यस्य निमेषेण भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६४
तादृशोऽप्यस्ति देवेशो ह्यनन्तेयं क्रियास्थितिः ।
अनन्तसंकल्पमये शून्ये च ब्रह्मणः पदे ॥ ६५

तिमिरेत्यादिना । अलीकपदं व्याजार्थं ॥५३॥ ब्रह्मोपेन्द्रमहे-
न्द्रादिका आन्तरचेतनस्वभावेन, धरागिरिवरादिका बाह्यस्थू-
लदेहस्थानीयजडस्वभावेन । ब्रह्मतत्त्वमेवंकं हृदि विस्फोट
इव बन्धनैः पिधाय सदा गोप्यं यस्याः ॥ ५४ ॥ चिच्छक्ति-
श्विदाभासः सैव मातेव पोषयित्री यस्याः । अतएव स्थूला
॥५५॥ समस्ताः पद्मिन्यो विमलता हस्ता यस्याः । नीलमम्बरं
नभस्तदेवाम्बरमुत्तरीयं तेन परीहता । वृजः क्विपि 'नहिद्वि-
शृधि' इत्यादिना परेर्दीर्घः । 'आपं चैव हलन्तानाम्' इति
भागुरिमते टाप् ॥५६॥ ५७ ॥ इदानीं कालं महार्णवत्वेन वर्ण-
यति—मग्नमिति । निष्ठाद्वयं भावे ॥५८॥ कल्पा एव क्षणाः ।
वीप्सायामव्ययीभावः । अगाधः रसस्यन्दो भ्रान्तिसहस्रतुष्णा-
जलस्यन्दो यस्मिन् ॥ ५९ ॥ कारणभूतहिरण्यगर्भसारसाः ।
सारससंबन्धात्कालस्य नदत्वकल्पना गम्यते । मेघत्वेन तं
कल्पयति—उत्पत्योत्पत्येति ॥६०॥ चित्प्रकाशस्य वननं वनः
संभजनं तेन उद्यमः प्रकाशशक्तिर्यासाम् । 'तस्य भासा सर्व-
मिदं विभाति' इति श्रुतेः ॥ ६१ ॥ उत्तालादत्युच्चतात्कालल-
क्षणात्तालवृक्षात्प्रपतन्तो भूतानि प्राणिनस्तलक्षणा विहयाः
काका येभ्यस्तथाविधाः । ब्रह्माण्डलक्षणानां फलानां पालयः
पङ्कयः प्रपतन्ति । अतर्कितहेतुकत्वसूचनात्काकतालीयन्यायोऽ-
त्रोत्प्रेक्षितः । देवनायका विष्णुरुद्रेश्चरसदाशिवाख्याः ॥ ६२ ॥
॥ ६३ ॥ चिद्रूपे परमे परमकारणे । ते रुद्रा अपि ॥ ६४ ॥
इयं रुद्रान्ता क्रियास्थितिः कर्मोपासनफलभावस्थितिर-
नन्ता अंसंख्याता । नन्विदं कथं संभाव्यत इति चेन्मायायां
सर्वसंभवांश्चात्रासंभावना युक्त्याशयेनाह—अनन्तेति ॥ ६५ ॥

न संभवन्ति का नाम शक्यश्चित्रपूरकाः ।

एवमक्षीणसंकल्पलब्धार्थभरभासुरा ।

जागती कल्पना येयं तदज्ञानविजृम्भितम् ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० अज्ञानमाहात्म्यं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः ८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

संसारवनखण्डेऽस्मिंश्चित्पर्वततटे स्थिता ।
कीदृशी सृष्ट्यविद्याख्या लता विकसिता कदा ॥ १ ॥
शृहत्पर्वतपर्वाद्या ब्रह्माण्डत्वकसमावृता ।
देहयष्टिरियं यस्यास्त्रिलोकी लोककासिनी ॥ २ ॥
सुखं दुःखं भयो भायो ज्ञानमज्ञानमेव च ।
अत्रैतान्युरुवृत्तानि मूलानि च फलानि च ॥ ३ ॥
सुखादविद्योदेत्युच्चैस्तदेवान्ते प्रयच्छति ।
दुःखादविद्योदेत्युच्चैस्तदेवेषा फलत्यलम् ॥ ४ ॥
भवादविद्योदेत्येषा तमेव फलति स्फुटम् ।
भावात्सत्तामवाप्नोति तमेव फलति क्षणम् ॥ ५ ॥
अज्ञानाद्द्विमायाति तदेव स्यात्फलं स्फुटम् ।
ज्ञानेनायाति संवित्तिस्तामेवान्ते प्रयच्छति ॥ ६ ॥

चित्रस्य आश्चर्यसहस्रस्य पूरकाः । अज्ञानविभूतिप्रपञ्चनमुपसं-
हरति—एवमिति ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ उक्तमेवार्थं संक्षिप्य स्पष्ट-
माह—याः संपद इति । ताः सर्वा अज्ञानलक्षणस्य तीव्रस्य
गाढस्य तिमिरस्य विभूतयः । एतद्विशेषणत्वादेव ता इति पदे 'न-
पुंसकमनपुंसकेन' इति नपुंसकैकशेषस्याप्रवृत्तिः । 'अद्वन्द्वतत्पुरु-
षविशेषणानामिति वाच्यम्' इति तन्निषेधात् ॥ ६८ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे अज्ञान-
माहात्म्यं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

वर्णिता कारणाविद्या जगद्यस्या विभूतयः ।

कार्याविद्या भवारण्ये लतात्वेनेह वर्ण्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ विषयं निर्दिश्य वर्णनप्रकारं प्रस्तौति—संसारेति ।
कूटस्थत्वाच्चिदेव पर्वतस्ततटे स्थिता । कारणाविद्याव्यावृत्तये
सृष्ट्यविद्यारूपेति । कदा कीदृशीति कालभेदेन विकासवैचित्र्य-
योतनार्थम् । तद्वर्णयामः श्रूयतामिति शेषः ॥ १ ॥ बृहन्तो
मेर्वादयः पर्वता एव पर्वाणि काण्डसंघयस्तैराख्या । ब्रह्माण्ड-
पर्वेण तदावरणानि शृह्यन्ते तल्लक्षणत्वग्भिः समावृता । लोकै-
र्जनैः कासिनी पत्राङ्कुरादिविकासवती । इयं त्रिलोकी यस्या
देहयष्टिः संस्थानम् ॥ २ ॥ भवो जन्म । भावः स्थितिः । अत्र
अविद्यालतायाम् । उरुवृत्तानि प्रतिदिनं वृद्धिस्वभावानि ॥ ३ ॥
मूलत्वं फलत्वं च सुखादेरुपपादयति—सुखादित्यादिना ।

नानाविधोद्धासवती वासना मोदशालिनी ।
घनप्रवालतरला तनुरस्या विजृम्भते ॥ ७ ॥
दिवसव्यूहकुसुमा यामिनीलोलपद्पदा ।
अजस्रं स्पन्दमानैषा प्रपतद्भूतपल्लवा ॥ ८ ॥
आगत्यागत्य पतति विवेककरिणीं क्वचित् ।
विधूयते धूतरजाः प्रसक्तिं पुनरेति च ॥ ९ ॥
जायमानप्रवालाख्या संजाताङ्कुरदन्तुरा ।
सर्वतुङ्कुसुमोपेता समग्ररसशालिनी ॥ १० ॥
जन्मपर्वाहिनीरन्ध्रा विनाशच्छिद्रचञ्चुरा ।
भोगाभोगरसापूर्णा विचारैकघुणक्षता ॥ ११ ॥
दिकसन्त्यः प्रतिदिनं चन्द्रार्कावलयोऽमितः ।
व्योम्नि घातविलोलानि पुष्पाण्यस्याः किल ग्रहाः ॥ १२ ॥

भुज्यमानात्संपत्त्यादिसुखादप्रेऽपि मे इतोऽधिका संपद्भूयादिति
रागलक्षणा अवियोदेति सा च यज्ञदानादिधर्मद्वारा सुखं फलति ।
दारिद्र्यादिदुःखाच्च धनतृष्णादिलक्षणा अवियोदेति । सा च पाप-
वासनया दुष्प्रतिग्रहचौर्याद्यधर्मप्रवृत्तिद्वारा पुनस्ततोऽधिकं दुःखं
फलतीत्यादि सर्वत्रोद्यम । एवकारः सर्वत्र भिन्नक्रमः । फल-
त्येवेति योज्यम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ज्ञानेन प्रत्यक्तत्त्वविमर्शेन संवि-
सिहत्तरोत्तरभूमिकाधिरोहलक्षणा ज्ञानवृद्धिः । अन्ते सप्तमभू-
मिकायाम् ॥ ६ ॥ प्रासङ्गिकमुपपाद्य प्रस्तुतां लतामेव वर्ण-
यति—मानाविद्येति ॥ ७ ॥ नानाविधोद्धासवतीत्येतत्प्रपञ्च-
यति—दिवसेत्यादिना । रागादिना प्रपतन्ति प्रभावमानानि
भूतानि प्राणिन एव पल्लवा यस्याः ॥ ८ ॥ आगत्यागत्य कर्म-
वायुना पुनःपुनर्भ्रमित्वा क्वचित्कस्मिंश्चिदधिकारिभूतपल्लवांशे
विवेकलक्षणां करिणीं प्रति पतति । तथा च कदाचिद्विचारशुण्डा-
भ्रेण तदालम्बनविषयतत्त्वविच्छेषेण विधूयते कम्पयते । धूत-
रजाः निरस्तदुर्वासनापरागापि देवास्तत्कराभ्युता पुनर्विषयत-
रूपा प्रसक्तिमेति ॥ ९ ॥ जायमानैर्मिन्नप्रश्वादिप्रवालैराख्या ।
संजातैः पुत्रपौत्राद्यङ्कुरैश्च दन्तुरा आनन्दस्मितास्या ॥ १० ॥
जन्मलक्षणेषु पर्वसु दुःखरोगाद्यद्भिर्नारन्ध्रा निरवकाशा ।
विनाशा मरणानि तल्लक्षणेषु शास्त्रासंधिच्छिद्रेषु बलाद्विधीर्य-
माणेव चक्षुरा व्याकुला । भोगानां विषयाणामाभोगोऽनुभव-
स्तद्विषयेण रसेन रागमकरन्देनापूर्णा ॥ ११ ॥ सर्वतुङ्कुसुमोपेते-

तेन रुद्रादयो ह्येते सत्त्वभागा महामते ।
 तिष्ठन्ति मुक्ताः पुरुषा यावद्देहं जगत्स्थितौ ॥ १३
 यावद्देहं महात्मानो जीवन्मुक्ता व्यवस्थिताः ।
 विदेहमुक्ता देहान्ते स्थास्यन्ति परमेश्वरे ॥ १४
 भाग एष त्वविद्याया एषं विद्यात्वमागतः ।
 बीजं फलत्वमायाति फलमायाति बीजताम् ॥ १५
 उदेत्यविद्या विद्यायाः सलिलादिव बुद्बुदः ।
 विद्यायां लीयतेऽविद्या पयसीव हि बुद्बुदः ॥ १६
 पयस्तरङ्गयोर्द्वित्वभावनादेव भिन्नता ।
 विद्याविद्यादशोर्भेदभावनादेव भिन्नता ॥ १७
 पयस्तरङ्गयोरैक्यं यथैव परमार्थतः ।
 नाविद्यात्वं न विद्यात्वमिह किञ्चन विद्यते ॥ १८
 विद्याविद्यादशौ त्यक्त्वा यदस्तीह तदस्ति हि ।
 प्रतियोगिव्यवच्छेदवशादेतद्बुद्बुदह ॥ १९
 विद्याविद्यादशौ न स्तः शेषे बद्धपदो भव ।
 नाविद्यास्ति न विद्यास्ति कृतं कल्पनयानया ॥ २०
 किञ्चिदस्ति न किञ्चिद्यच्चित्संविदिति तत्स्थितम् ।
 तदेवाविदिताभासं सदविद्येत्युदाहृतम् ॥ २१
 विदितं सत्तदेवैदमविद्याक्षयसंश्रितम् ।
 विद्याभावादविद्यास्यामिथ्यैवोदेति कल्पना ॥ २२
 मिथः स्वान्ते तयोरन्तश्चायातपनयोरिव ।

स्याह—सात्त्विक इति । त्रिमूर्त्यात्मकः प्राकृतो भागः सात्त्विकः ।
 अतस्त्वज्जस्रतुपासकः अतएव त्रिमूर्तीनामावरणाभावादानाग-
 न्तुकी जीवन्मुक्ततेत्याह—तेनेति । असौ हरिहरादिः ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥ परमेश्वरे शुद्धब्रह्मस्वभावे ॥ १४ ॥ प्रथमसाधानमुपसंहृत्य
 प्रस्तुतमेव प्रस्तौति—भाग इति । कार्याविद्या फलं तत्प्रलये
 बीजतां कारणविद्यात्वमायाति ॥ १५ ॥ कार्याविद्योदयलया-
 धारत्वादपि विद्याशरीराणां तेषामविद्यात्वमेवेत्याह—उदे-
 तीति । कारणविद्यान्तर्गतशुद्धसत्त्वभागो विद्या तस्याः सका-
 शास्कार्याविद्यालक्षणसृष्टिरुदेति तत्रैव प्रलये लीयते ॥ १६ ॥
 एवं च विद्याविद्याभेदोऽपि कल्पित एवेति सिद्धमित्याह—एष
 इति ॥ १७ ॥ किञ्च विद्यादशा विद्याविद्योभयबाधे सुतरां
 तद्भेदप्रसक्तिर्नास्तीत्याशयेनाह—नाविद्यात्वमिति ॥ १८ ॥
 विद्याविद्यादशौ तद्भेदविरोधादिदृष्टी । ननु अविद्यादशो बाध्य-
 त्वादस्तु त्यागः, विद्यादशास्तु बाधिकायाः केन त्यागस्तत्राह—
 प्रतियोगीति । बाधेनाविद्याया असत्त्वापत्तौ तन्निरूपितबाधक-
 ताया असिद्धेर्व्यावृत्तिप्रसिद्धेर्व्यावर्त्यप्रतियोगिप्रसिद्धधीनत्वाच्च-
 त्यर्थः ॥ १९ ॥ शेषे परिशिष्टचिन्मात्रे ॥ २० ॥ कोऽसौ शेषस्तं
 दर्शयंस्तदेव प्राग्बोधादाव्येति कल्पितमित्याह—किञ्चिदिति ।
 नास्ति किञ्चित्स्वातिरिक्तं यत्र तन्न किञ्चित् ॥ २१ ॥ २२ ॥
 स्वान्ते मनसि मिथः अन्योन्यं छायातपनयोरिव विरुद्धयोस्त्व-
 योर्विद्याविद्ययोर्मध्ये अविद्यायामन्तः अन्तरे चिति बाधेन
 विद्यीनायां सत्याम् ॥ २३ ॥ अवाप्यं विद्याफलमभिव्यक्तं

अविद्यायां विलीनायां क्षीणे द्वे एव कल्पने ॥ २३
 एते राघव लीयेते अवाप्यं परिशिष्यते ।
 अविद्यासंक्षयात्क्षीणो विद्यापक्षोऽपि राघव ॥ २४
 यच्छिष्टं तन्न किञ्चिद्वा किञ्चिद्वापीदमाततम् ।
 तत्रैवं दृश्यते सर्वं न किञ्चन च दृश्यते ॥ २५
 वटश्च वटघानायामिव पुष्पफलादिमान् ।
 सर्वशक्तिर्हि किञ्चित्त्वं सर्वशक्तिसमुद्रकम् ॥ २६
 नभसोऽप्यधिकं शून्यं न च शून्यं चिदात्मकम् ।
 सूर्यकान्ते यथा वच्चिर्यथा क्षीरे घृतं तथा ॥ २७
 तत्रेदं संस्थितं सर्वं देशकालक्रमोदये ।
 यथा स्फुलिङ्गा अनलाद्यथा भासो दिवाकरात् ॥ २८
 तस्मात्तथेमा निर्योन्ति स्फुरन्त्याः संविदश्चितः ।
 यथाम्बोधिस्तरङ्गाणां यथामलमणिस्त्वियथाम् ॥ २९
 कोशो नित्यमनन्तानां तथा तत्संविदां त्वियथाम् ।
 सबाह्याभ्यन्तरे सर्वं वस्तुन्यस्त्येव वस्तुसत् ॥ ३०
 सर्वदेवाविनाशात्म कुम्भानां गगनं यथा ।
 यथा मणेरयःस्पन्दे अयस्कान्तस्य कर्तृता ॥ ३१
 अकर्तुरेव हि तथा कर्तृता तस्य कथ्यते ।
 मणिसंनिधिमात्रेण यथायः स्पन्दते जडम् ।
 तत्सत्तया तथैवायं देहश्चेतत्यच्चिद्बुधुः ॥ ३२

पूर्वानन्दरूपम् । ननु विद्यापि निराबाधत्वात्कुतो न परिशिष्यते
 तत्राह—अविद्यासंक्षयादिति । इन्धनसंक्षयादभिरिवेति भावः
 ॥ २४ ॥ सर्वबाधात्मकत्वाच्च किञ्चित्परमार्थसद्रूपत्वात्किञ्चित् ।
 अतएव तद्दर्शनमेव तत्त्वतः सर्वदर्शनं सर्वबाधदर्शनं चेत्याह
 —तत्रैवमिति । एवमुक्तेन तात्त्विकरूपेण । मायिकरूपेण तु न
 किञ्चिदपि दृश्यते ॥ २५ ॥ अज्ञानादृष्टदशायामपि तस्यैवाकि-
 षित्वेऽपि वटबीजव्याकृताव्याकृतावस्थयोः स्थूलसूक्ष्मीभूत-
 सर्वात्मकतालक्षणं किञ्चित्त्वं प्रसिद्धमित्याह—वटश्चेत्यादिना
 ॥ २६ ॥ २७ ॥ तत्र सत्त्वादेव देशकालक्रमोदये तस्मान्नि-
 र्यन्तीति परेणान्वयः । अतएवाग्निस्फुलिङ्गादिन्यायेन जी-
 वानामुपाधिभिः सह ततो निर्गमनं श्रुतिषु प्रसिद्धमित्याशये-
 नाह—यथेत्यादिना ॥ २८ ॥ तस्मात्तत्र स्थितत्वादेव ब्रह्मसं-
 विदः सकाशादिमाः प्रसिद्धा जीवचितो निर्योन्ति । अतएव
 तद्ब्रह्म सर्वजीवसंविदां कोश इत्याह—यथेति ॥ २९ ॥ त्विषां
 भ्रमस्थानीयानाम् । निर्गमनावधित्वोक्तैर्मणिप्रभादृष्टान्ताच्च जी-
 वजगतोर्ब्रह्मणो बहिरवस्थानप्रसक्तिं वारयन्नाह—सबाह्याभ्य-
 न्तरमिति । बस्तुन्येवास्तीति संवन्धः । यतो बस्तुघट व-
 स्त्वधीनसत्ताकम् ॥ ३० ॥ वस्तु च सर्वदेव अविनाशात्म-
 त्रिविधपरिच्छेदरहितमिति यावत् । तथा च जीवनिर्गमनं कुम्भा-
 काशोदरे कुम्भनिर्गमनात्कुम्भाकाशनिर्गमनमिषौपचारिकं सं-
 पन्नमित्याशयेनाह—कुम्भानामिति । एवं जीवस्य कर्तृत्वम-

१ इदं सप्तम्यन्तरमधिकमिव प्रतीयते.

तत्र स्थितं जगदिदं जगदेकबीजे
चिदास्ति संविदितकल्पितकल्पनेन ।

लोलोर्मिजालमिष वारिणि चित्ररूपं
स्वादप्यरूपवति यत्र न किञ्चिदस्ति ॥ ३३

इत्यार्वे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० विद्यानिराकरणं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः १०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तस्मान्किञ्चिदेवेदं जगत्स्थावरजंगमम् ।
नकिञ्चिद्भूततां प्राप्तं यत्किञ्चिदिति विद्धि ह्ये ॥ १
यत्र काचिन्न कलना भावाभावमयात्मिका ।
तदिदं राम जीवादि सर्वं व्यर्थं किमीहसे ॥ २
संबन्धोऽयमसावन्तर्हृदि यो व्यपदिश्यते ।
न तं लभामहे सर्पं रज्जुसर्पभ्रमादिव ॥ ३
अपरिज्ञात आत्मैव भ्रमतां समुपागतः ।
ज्ञात आत्मत्वमायाति सीमान्तः सर्वसंविदाम् ॥ ४
अधिद्येत्युच्यते लोके चिद्येत्यमलमाश्रिता ।
चेत्यातीतात्मतामेति सर्वापाधिषिवर्जिता ॥ ५
चित्तमात्रं हि पुरुषस्तस्मिन्नेव च नश्यति ।
स्थिते तिष्ठति चात्मायं घटे सति घटाभ्यन्तरे ॥ ६
गच्छन्पश्यति गच्छन्तं स्थितं तिष्ठन्निश्चुर्यथा ।
भ्रान्तमेवमिदं चेतः पश्यत्यात्मानमाकुलम् ॥ ७
कोशकारघदात्मानं वासनातनुतन्तुभिः ।

प्यौपचारिकमेवेत्याह—यथेति ॥३१॥३२॥ उक्तमर्थं संक्षिप्यो-
पसंहरति—तत्रेति । तत्र अज्ञाते ब्रह्मणि पूर्वपूर्वसंविदितजग-
त्कल्पितवासनाप्रयुक्तनोत्तरोत्तरकल्पनेनेदं जगत्स्थितम् । यत्र
यस्मिन् ज्ञाते स्वादाकाशादप्यरूपिणि मूर्तामूर्तरूपशून्ये नान्यत्कि-
ञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे विद्यानिराकरणं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

अविद्याबन्धविभ्रान्तिः स्थावरेषु मनःस्थितिः ।

बुद्धिपूर्वादिचाराश्च बन्धमोक्षः प्रपद्यते ॥ १ ॥

तस्माज्जगज्जीवमेदस्याज्ञातब्रह्मान्त्रत्वाज्ज्ञाते तस्मिन्निदं न-
किञ्चिदेवेत्यर्थः ॥ १ ॥ इदं जीवादि सर्वं यत्र भावाभावम-
यात्मिका काचित्कलना नास्ति तत्तादृशं ब्रह्मैव । एवंच व्यर्थं
किमीहसे इच्छसि ॥ २ ॥ संबन्धो देहे बाह्यभोग्ये चाहमम-
तालक्षणः । न तं लभामहे विमर्शनेति शेषः ॥ ३ ॥ भ्रमतां
जगद्भ्रान्तिम् ॥ ४ ॥ चेत्यबीजभूतं मलं स्वसत्तारोपेणाश्रिता ।
एति विद्येति शेषः ॥ ५ ॥ एवमविद्यास्वरूपमुक्त्वा तत्कार्यो-
पाधिना आत्मनो बन्धभ्रमं दर्शयति—चित्तमात्रमित्यादिना ।
चित्तमात्रं चित्ततादात्म्याध्यासाच्चित्तप्रायः । अतएव चित्ते नष्टे
नश्यतीव । 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति
विनाशमेवापीतो भवति' इत्यादिश्रुतेः । घटाभ्यन्तरे यथेति शेषः
॥ ६ ॥ एवं गत्यादिकमपि चित्तधर्मं स्वात्मन्यारोपयतीत्याह—
गच्छन्निश्चुर्यथा । अयमात्मा एवं भ्रान्तमिदं चेतश्चित्तमेव आकुल-

वेष्टयन्नेव चेतोऽन्तर्बालत्वान्नावबुध्यते ॥ ८

श्रीराम उवाच ।

मौर्ख्यमत्यन्तघनतामागतं समवस्थितम् ।
स्थावरादि तनु प्राप्तं कीदृशं भवति प्रभो ॥ ९
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
अमनस्त्वमसंप्राप्तं मनस्त्वादपि च च्युतम् ।
तदस्थं रूपमाश्रित्य स्थितेषा स्थावरेषु चित् ॥ १०
तत्र दूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेद्यविदां वर ।
सुप्तपुर्यष्टका यत्र चित्स्थिता दुःखदायिनी ।
मूकान्धजडवत्तत्र सत्तामात्रेण तिष्ठति ॥ ११
श्रीराम उवाच ।
सत्ताद्वैततया यत्र संस्थिता स्थावरेषु चित् ।
तत्रादूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेद्यविदां वर ॥ १२
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
बुद्धिपूर्वं विचार्येदं यथावस्त्ववलोकनात् ।
सत्तासामान्यबोधो यः स मोक्षश्चेदनन्तकः ॥ १३

मात्मानं पश्यति ॥ ७ ॥ अतएव तद्भूतवासनाभिः स्वं बध्नाती-
त्याह—कोशेति । कोशकारः कृमिविशेषः । बाल्कवाद्विवेकश-
ून्यत्वात् ॥ ८ ॥ बालपदोक्ताविवेकप्रसङ्गादविवेकपरमावधीनां
स्थावराणां चित्तस्थितिं जिज्ञासुः श्रीरामः पृच्छति—मौर्ख्य-
मिति । समवस्थितमवलम्बितम् ॥ ९ ॥ अमनस्त्वं सुप्तमाश्रित्य
सुखदुःखसंवेदनायोग्यतापादकं मनोलयम् । पूर्वापरपरामर्श-
क्षममननयोग्यतालक्षणमनस्त्वादपि च्युतम् । तदस्थं सुगधता-
लक्षणं रूपमाश्रित्य । चित् जीवचित् ॥ १० ॥ सुप्तं विवेका-
क्षमम् । पुर्यष्टकपदेन तदन्तर्गतं बाह्यान्तःकरणजातं लक्ष्यते ।
अतएव दुःखप्रतीकाराक्षमत्वाद्दुःखदायिनी । मूकपदेन कर्मे-
न्द्रियशून्यता । अन्धपदेन ज्ञानेन्द्रियप्रचारशून्यता । जडपदेन
मानसप्रसारणशून्यतोपलक्ष्यते ॥ ११ ॥ ज्ञानकर्मेन्द्रियव्यापार-
शून्यतया सत्तामात्रेण चित् स्थिता चेत्तादृशस्थितौ योगिनामिव
शीघ्रमेव वासनाक्षयमनोनाशसंभवाददूरस्थिता मुक्तिरुचितेति
दूरस्थिता मुक्तिरिति वदतस्तव कोऽभिप्राय इत्याशयेन रामः
पृच्छति—सत्तेति ॥१२॥ शास्त्रविहितकर्मानुष्ठानकृतचित्तशु-
द्धिसाधनचतुष्टयसंपत्तिसहकृतश्रवणमनननिदिध्यासनजन्यतत्त्व-
साक्षात्कारकृतसमूल्वासाक्षयमनोनाशाभ्यां सत्तासामान्यस्थि-
तिर्हि मोक्षः स चानन्तदुष्कृतदुर्वासनाबीजसंभूतानां नारकिप्रा-
याणां स्थावराणां शास्त्राधिकारिजन्मदौर्लभ्यादुल्भतर इति श्रीव-
सिष्ठः खोकेरभिप्रायं वर्णयति—बुद्धिपूर्वमित्यादिना ॥ १३ ॥

परिहाय परित्यागो वासनानां य उत्तमः ।
 सत्तासामान्यरूपत्वं तत्कैवल्यपदं विदुः ॥ १४
 विचार्यायैः सहालोक्य शास्त्राण्यध्यात्मभावनात् ।
 सत्तासामान्यनिष्ठत्वं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ १५
 अन्तः सुप्ता स्थिता मन्दा यत्र बीज इवाङ्कुरः ।
 वासना तत्सुप्तत्वं विद्धि जन्मप्रदं पुनः ॥ १६
 अन्तः संलीनमननं परितः सुप्तवासनम् ।
 सुप्तं जडधर्मापि जन्म दुःखशतप्रदम् ॥ १७
 स्थावरादय एते हि समस्ता जडधर्मिणः ।
 सुप्तपदमारूढा जन्मयोग्याः पुनःपुनः ॥ १८
 यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा ।
 तथान्तः संस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना ॥ १९
 यत्रास्ति वासनाबीजं तत्सुप्तं न सिद्धये ।
 निर्वाजा वासना यत्र तत्तुर्यं सिद्धिदं स्मृतम् ॥ २०
 वासनायास्तथा बह्वेक्यव्याधिद्विपामपि ।
 ज्ञेहवैरविषाणां यः शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥ २१
 निर्दग्धवासनाबीजसत्तासामान्यरूपवान् ।
 सदेहो वा विदेहो वा न भूयो दुःखभाग्भवेत् ॥ २२
 चिच्छक्तिर्यासनाबीजरूपिणी स्वाधर्मिणी ।
 स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु ॥ २३
 बीजेषूलासरूपेण जाड्येन जडरूपिषु ।
 द्रव्येषु द्रव्यभावेन काठिन्येनेतरेषु च ॥ २४
 भस्मन्यथानित्यरूपा पांसुष्वप्यणुरूपिणी ।
 असितेष्वसितस्थित्या सितधारतयासिषु ॥ २५

परिहायात्मतत्त्वमिति शेषः ॥ १४ ॥ शास्त्राणि आर्यैर्गुरुसती-
 र्थ्यादिभिः सह विचार्य अध्यात्मभावनात्मननपूर्वकनिदिध्यास-
 नात्तत्त्वमालोक्य ॥ १५ ॥ स्थावरेषु तद्गुरतरमित्युपपादयति—
 अन्तरित्यादिना । सुप्तपदमिव सुप्तत्वं ॥ १६ ॥ जडधर्मापि
 पाषाणादिभाववद्गुणित्यमपि ॥ १७ ॥ १८ ॥ स्थावरेषु वास-
 नैव नास्तीति मन्दाशङ्कां परिहरति—यथेति । पुष्पादीति
 व्युत्क्रमादुक्तिः । अङ्कुरादिपुष्पानामित्यर्थः ॥ १९ ॥ निर्वाजा
 ज्ञानामिर्भाजितबीजशक्तिः ॥ २० ॥ अतएवाप्यापि वासना परि-
 शिष्टा बह्वादिशेषवत्कामादभिवृद्ध्या महानर्थहेतुर्भवतीति निःशेषं
 तत्त्वमयः कार्यं इत्याशयेनाह—वासनाया इति ॥ २१ ॥ २२ ॥
 चिच्छक्तिरावृत्तचिद्रूपा वासना बीजशक्तिः रसतया बीजे अङ्कुर-
 शक्तिलक्षणो भजननाश्रो रस इव ॥ २३ ॥ सैव बीजादिस-
 र्वकारणेषु नानारूपेण स्थितेत्याह—बीजेणिवत्यादिना । उल्लासो
 भूजलयोगादुत्कृष्टता तेन लिङ्गेन रूप्यते अनुभूयते इत्युल्लास-
 रूपमङ्कुरजननशक्तिस्तदात्मना द्रव्येषु धनरत्नादिषु द्रव्यभावेन
 स्पृहणीयताप्रयोजकभयभावेन । 'द्रव्यं च भव्यं' इत्यनुशास-
 नात् । इतरेषु शिलादिषु बालेन कुलमितिबदभेदान्वयः ॥ २४ ॥
 भस्मनि पांसुष्वप्यनित्यरूपा पूर्वतनकाष्ठलोशादिध्वंसरूपा ।

१ पापेन इति पाठः.

आत्मा शक्तिः पदार्थेषु तथा घटपटादिषु ।
 सर्वत्र सत्तासामान्यरूपमाश्रित्य तिष्ठति ॥ २६
 इतीयमखिला दृश्यदशामापुर्य संस्थिता ।
 यथा घटापटा प्रावृडम्बरालम्बिनी तथा ॥ २७
 स्वरूपमस्याश्चैवतत्कथितं प्रविचारितम् ।
 असर्वं सर्वतो व्यापि सदिवासन्मयात्मकम् ॥ २८
 आत्मदृष्टिरदृष्टैषा संसारभ्रमदायिनी ।
 दृष्टा सती समग्राणां दुःखानां क्षयकारिणी ॥ २९
 अस्यास्त्वदर्शनं यत्तदविद्येत्युच्यते बुधैः ।
 अविद्या हि जगद्धेतुस्ततः सर्वं प्रवर्तते ॥ ३०
 अविद्या रूपरहिता यावदेवावलोक्यते ।
 तावदेव गलत्याशु तुहिनाणुर्यथातपे ॥ ३१
 यथा नरो गलन्निद्रो यावत्कलनया मनाक् ।
 विमृशत्याशयं तावन्निद्रा तस्य विलीयते ॥ ३२
 यथा कीदृगवस्त्वेतदिति यावद्विकल्प्यते ।
 अविद्या क्षीयते तावदालोकेनान्धता यथा ॥ ३३
 दीपहस्तो यथाभ्येति तमोरूपदिदृक्षया ।
 तथा विलीयते सर्वं तमस्तापेर्घृतं यथा ॥ ३४
 नच संलक्ष्यते दीपे तमसो रूपनिश्चयः ।
 उदेति केवलं ध्वान्तध्वंसो विमलमूर्तिमान् ॥ ३५
 एवमालोक्यमानैषा कापि याति पलायते ।
 असद्रूपा ह्यवस्तुत्वाद्दृश्यते ह्यविचारणात् ॥ ३६
 आलोक आगते यादृक्तमस्तद्दृश्यते तथा ।
 याऽवस्तुत्वे त्वविद्यायास्त्ववस्तुत्वं प्रतीयते ॥ ३७

अणुरूपिण्यसितेषु मलिनेष्वक्षाधारे चासितस्थित्या मालिन्य-
 मादेवरूपया स्थित्या । असिषु सजादिषु सितधारतया तीक्ष्ण-
 धारतया ॥ २५ ॥ घटपटादिषु सर्वत्र सर्ववस्तुत्वात्मैव सत्ता-
 सामान्यरूपं गृहीत्वा जलाहरणशीतनिवारणादिनानाशक्तिः
 संस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २६ ॥ घटा मेघजालमेव पट आच्छादको
 यस्यास्तथाविधा प्रावृड् वर्षर्तुः ॥ २७ ॥ अस्या अज्ञानावृत्त-
 चिच्छक्तेः । असन्मयात्मकमस्यमायाविकारतादात्म्यापन्नम्
 ॥ २८ ॥ २९ ॥ अस्या आत्मदृष्टेर्दर्शनं दर्शनविरोध्यावरण-
 रूपम् ॥ ३० ॥ रूपरहिता स्वरूपशून्या ॥ ३१ ॥ दृष्टान्तान्त-
 राण्यप्याह—यथेत्यादिना । आशयं स्वचित्तवृत्तान्तम् ॥ ३२ ॥
 तत्त्वपर्यालोचने सर्पादिभ्रमनिवृत्तिरप्यत्र दृष्टान्त इत्याशयेनाह
 —यथेति । अवस्तु सर्पादि कीदृक् । किं वास्तवमुत मद्भा-
 न्निकल्पितमिति यावद्विकल्प्यते विमृश्यते । अन्धता तमः-
 कृतदर्शनशक्तिप्रतिबन्धः ॥ ३३ ॥ अभ्येति चेदिति शेषः ।
 यथा तमो विलीयते तथा सर्वं साविद्यं जगत् ॥ ३४ ॥ तमो-
 रूपादर्शननिर्दर्शनं विवृणोति—नचेति । दीपे आनीयमाने
 गतीति शेषः ॥ ३५ ॥ मन्दमालोक्यमाना मन्दं याति
 सम्यगालोक्यमाना पलायते ॥ ३६ ॥ कुतस्तस्या अवस्तुत्व-
 मिति चेत्सप्रतीतिबलादेवेत्याह—आलोक इति । आलोके

यावन्नालोक्यते तावन्न किञ्चिदपि दृश्यते ।
 आलोकिते यथाऽविद्या तत्तथा प्रतिपद्यते ॥ ३८
 रक्तमांसास्थियन्त्रेऽस्मिन्कः स्यामहमिति स्वयम् ।
 यावद्विचार्यते तावत्सर्वमाशु विलीयते ॥ ३९
 आद्यन्तयोरसद्रूपे नूनं परिहृते हृदा ।
 सर्वस्मिन्नेव यः शेषस्तमविद्याक्षयं विदुः ॥ ४०
 तन्न किञ्चिच्च किञ्चिद्वा तत्सद्ब्रह्मैव शाश्वतम् ।
 तद्वस्तु तदुपादेयं यदविद्या निवर्तते ॥ ४१
 रूपं स्वनाम्न एवास्या ज्ञायते निःस्वभावकम् ।

नहि जिह्वागतस्वाद्यस्वादोऽन्यस्मात्प्रतीयते ॥ ४२
 नाविद्या क्वचिदप्यस्ति ब्रह्मैवेदमस्वण्डितम् ।
 सदसत्कलनास्फारमशेषं येन मण्डितम् ॥ ४३
 एतावदेवाविद्याया नेदं ब्रह्मेति निश्चयः ।
 एतदेव क्षयो यस्या ब्रह्मेदमिति निश्चयः ॥ ४४
 घटपटशकटावभासजालं
 न विभुरितीत्युदितेह सा त्वविद्या ।
 घटपटशकटावभासजालं
 विभुरिति चेद्ब्रह्मितैव सा त्वविद्या ॥ ४५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० अविद्याचिकित्सा नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः ११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

पुनःपुनरिदं राम प्रबोधार्थं मयोच्यते ।
 अभ्यासेन विना साधो नाभ्युदेत्यान्मभावना ॥ १
 अज्ञानमेतद्ब्रह्मद्विद्येतरनामकम् ।
 जन्मान्तरसद्वस्त्वोत्थं घनं स्थितिमुपागतम् ॥ २
 सबाह्याभ्यन्तरं सर्वैरिन्द्रियैरनुभूयते ।
 भावाभावेपु देहस्य तेनातिघनतां गतम् ॥ ३
 आत्मज्ञानं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामगोचरम् ।

सत्तां केवलमायाति मनःपट्टेन्द्रियक्षये ॥ ४
 प्रोक्तं ह्येन्द्रियजां वृत्तिं यत्स्थितं तत्कथं किल ।
 याति प्रत्यक्षतां जन्तोः प्रत्यक्षातीतवृत्तिमत् ॥ ५
 त्वमविद्यालतामेतां प्ररूढां हृदयद्रुमे ।
 ज्ञानाभ्यासविलासासिपातैर्दिलिन्धि स्वसिद्धये ॥ ६
 यथा विहरति ज्ञातक्षयो जनकभूपतिः ।
 आत्मज्ञानाभ्यासपरस्तथा विहर राघव ॥ ७

आगते सति तत्तमो ग्राहकं अराद्रूपं दृश्यते तथा या अविद्या-
 प्यसती दृश्यते । ननु न तमस आलोकनेन बाधः । त्रैकालि-
 कत्वाप्रतीतेः । किंतु औष्ण्येन जलशैत्यस्यैव तिरोभावमात्रम् ।
 आलोक्यपगमे पुनस्तद्दर्शनादिति । तमसोऽवस्तुत्वं तु अस्तु
 तत्तथा । अविद्यायास्त्ववस्तुत्वं त्रैकालिकवाधानुभवेन प्रतीयत
 एवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥ किञ्चिच्छ्रुतिरत्रवाद्यपि वा रजतसर्पाद्यपि
 वा यावद्विचार्ये नालोक्यते तावत्तत्त्वतो न दृश्यते । आलोकितं
 तु यथा यावत्स्वभावा अविद्या यथा न वस्तुत्वं वर्तते तत्त-
 थैव प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ कथं विमृश्यालोकनं कार्यं
 तदाह—रक्तेति ॥ ३९ ॥ एवं विचारवता हृदा मनसा आद्यन्त-
 योरसद्रूपे सर्वस्मिन् दृश्ये परिहृते सति यः शिष्यते इति शेष-
 श्वदात्मा । अध्यस्तबाधस्याधिष्ठानाव्यतिरेकादिति भावः ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ बाध्यस्य निःस्वरूपत्वे तद्बाधस्यात्ममात्रत्वे वा न
 प्रमाणान्तरं मृग्यम् । माया अविद्यादिनाम्रस्तादृशस्वाप्राचर्य-
 ध्वेव ब्रह्मत्वादित्याह—रूपमिति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ एवं सति
 फलितं निष्कृष्टमविद्यातत्क्षययोः स्वरूपमाह—एतावदिति ।
 अविद्यायाः स्वरूपमिति शेषः ॥ ४४ ॥ तदेव विवृण्वन्नुपसंहर-
 रति—घटेति । घटः पटः शकटं चेत्याद्यवभासमानं जगज्जालं
 विभुरपरिच्छिन्नसच्चिदात्मा न कित्वन्यदित्यादिरूपितदृष्टिरेवा-
 विद्या तदुपादेनापरिच्छिन्नसन्मात्रदृष्टिरेव तत्क्षय इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 अविद्याचिकित्सा नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥
 जीवन्मुक्ता यथा दृष्ट्या स्थिता हरिहरादयः ।
 सर्वं ब्रह्मेति सा दृष्टी रामायान्नोपदिश्यते ॥ १ ॥
 उपदिष्टस्यैवार्थस्य पुनःपुनर्भङ्ग्यन्तरेणोपदेश उपदेशार्थ-
 व्युत्पत्तिदार्ढ्यार्थः । दृष्टफला हि श्रवणादयोऽवघातादिवद्याव-
 त्फलोदयमादतेनायाः । तथा हि भगवतो यादरायणस्य
 सूत्रम् 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति । इति रहस्यं जाभितादो-
 षपरिहारेणोत्साहजननायोद्धाटयन्प्रकृतामविद्याक्षये परिशिष्टं
 दृष्टिं श्रानुं राममभिमुखीकरोति—पुनःपुनरिति ॥ १ ॥ कुतो
 नाभ्युदेति तत्राह—अज्ञानमिति । सहस्रपदमानन्त्यपरम् ।
 तथा चानन्तकोटिजन्माभ्यस्तद्वैतवासनास्थिरीकृतत्वाच्च सकृदुप-
 देशात्सूक्ष्मेदमित्यर्थः ॥ २ ॥ चक्षुरादिप्रबलतरयाद्याभ्यन्तर-
 बहुप्रमाणप्राप्तैरूपत्वाच्च प्राचल्यमित्याह—सबाह्याभ्यन्त-
 रमिति । देहस्य भावे जीवनजागरायवस्थासु इन्द्रियैः । अभावे
 मरणप्रलयाद्यवस्थासु साक्षिणा सदानुभूयते । अतिघननामति-
 प्राचल्यम् ॥ ३ ॥ ज्ञानस्य च सामग्र्या दौर्लभ्यं दर्शयति—
 आत्मेति द्वाम्याम् ॥ ४ ॥ प्रोक्तं ह्य अतिक्रम्य ॥ ५ ॥ अत-
 एव पुनःपुनरुपदेशस्य मननाद्यभ्यासस्य चाविद्यालतानानाप्रता-
 नच्छेदनेन सार्थक्यमित्याशयेनोपसंहरति—त्वमिति ॥ ६ ॥ ७ ॥

निश्चयोऽयमभूत्स्य कार्याकार्यविहारिणः ।
जाप्रतस्तिष्ठतो वापि तज्ज्ञानां तेन सत्यता ॥ ८
निश्चयेन हरियेन विविधाचारकारिणा ।
योनिष्ववतरत्युर्व्यां तत्तज्ज्ञत्वमुदाहृतम् ॥ ९
निश्चयो यस्मिन्नेत्रस्य कान्तया सह तिष्ठतः ।
ब्रह्मणो वाप्यरागस्य स ते भवतु राघव ॥ १०
यो निश्चयः सुरगुरोर्वाकपतेर्भार्गवस्य च ।
दिवाकरस्य शशिनः पवनस्यानलस्य च ॥ ११
नारदस्य पुलस्त्यस्य मम चाङ्गिरसस्तथा ।
प्रचेतसो भृगोश्चैव क्रतोरत्रेः शुकस्य च ॥ १२
अन्येषामेव विप्रेन्द्र राजर्षीणां च राघव ।
यो निश्चयो विमुक्तानां जीवतां ते भवत्वसौ ॥ १३

श्रीराम उवाच ।

येनैते भगवन्धीरा निश्चयेन महाधियः ।
विशोकाः संस्थितास्तन्मे ब्रह्मन्प्रब्रूहि तत्त्वतः ॥ १४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

राजपुत्र महाबाहो विदिताखिलवेद्य हे ।
स्फुटे शृणु यथा पृष्टमयमेषां हि निश्चयः ॥ १५
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते ।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्यवस्थितम् ॥ १६
ब्रह्म चिद्ब्रह्म भुवनं ब्रह्म भूतपरम्पराः ।
ब्रह्माहं ब्रह्म मच्छत्रुर्ब्रह्म सन्मित्रबान्धवाः ॥ १७
ब्रह्म कालत्रयं तच्च ब्रह्मण्येव व्यवस्थितम् ।
तरङ्गमालयाम्भोधिर्यथात्मनि विवर्धते ॥ १८
तथा पदार्थलक्ष्म्येत्यमिदं ब्रह्म विवर्धते ।
गृह्यते ब्रह्मणा ब्रह्म भुज्यते ब्रह्म ब्रह्मणा ॥ १९
ब्रह्म ब्रह्मणि बृंह्याभिर्ब्रह्मशस्येव वृंहति ।
ब्रह्म मच्छत्रुरूपं मे ब्रह्मणोऽप्रियकृद्यदि ॥ २०

अयं मदनुभवानुसारी निश्चयः कार्येण बहिर्यवहारेण अकार्येण समाधिना च विहारिणस्त्रयाभूत् । तदेवाभ्यासफलं ज्ञानं तेन ज्ञानेनैवाभिव्यक्तस्य स्वरूपस्य सत्यता नापातज्ञानेनेत्यर्थः ॥ ८ ॥ योनिषु गर्भवासादिकृच्छ्रेष्ववतरति । अवतरन्नपि न तत्प्रयुक्तदुःखैः स्फुरत्यत इत्यर्थः । एवमुत्तरेष्वप्यूह्यम् ॥ ९ ॥ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ एवकारो जीवतामित्यनेन संबध्यते ॥ १३ ॥ प्रश्नः स्पष्टः ॥ १४ ॥ अयं वक्ष्यमाणप्रकारः ॥ १५ ॥ तमेवाह—यदिदमित्यादिना । व्यवस्थितं मायिकव्यवस्थितरूपत्यागेन पारमार्थिकरूपे स्थितम् ॥ १६ ॥ संक्षिप्योक्तमेव विस्तराद्विशिष्य दर्शयति—ब्रह्मेति ॥ १७ ॥ विवर्धते विजृम्भते ॥ १८ ॥ सर्वक्रियाकारकफलनां ब्रह्मनैवेत्याशयेनाह—गृह्यत इति ॥ १९ ॥ ब्रह्मशक्त्या मायया । बृंह्याभिर्विबर्तेः । वृंहति वर्धत इव । अनया दशा न क्वचिद्वेपरागादिप्रसक्तिरित्याशयेनाह—ब्रह्मेति । अप्रियकृदनिष्टकर्तृ ॥ २० ॥ तत्तर्हि ॥ २१ ॥ अत्र ब्रह्मणि । सर्वस्मिन् पूर्णे । चरणस्पन्दनं गमनं

तद्ब्रह्मणि ब्रह्मनिष्ठं किमन्यत्कस्यचित्कृतम् ।
रागादीनामवस्थानं कल्पितानां खड्गक्षवत् ॥ २१
असंकल्पेन नष्टानां कः प्रसङ्गोऽत्र वर्धते ।
ब्रह्मण्येव हि सर्वस्मिन्चरणस्पन्दनादिकम् ॥ २२
स्फुरति ब्रह्म सकलं सुखितादुःखिते कुतः ।
ब्रह्म ब्रह्मणि संतृप्तं ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ २३
स्फुरति ब्रह्मणि ब्रह्म नाहमसीतरात्मकः ।
घटो ब्रह्म पटो ब्रह्म ब्रह्माहमिदमाततम् ॥ २४
अतो रागधिरागाणां मृषेव कलनेह का ।
मरणब्रह्मणि खैरं देहब्रह्मणि संगते ॥ २५
दुःखितानाम कैव स्याद्भ्रुसर्पभ्रमोपमा ।
संभोगादौ सुखं ब्रह्मण्यास्थिते देहब्रह्मणि ॥ २६
संपन्नमेतन्म इति मुधा स्यात्कलना कुतः ।
वीच्यम्भसोः स्पन्दवतोर्न त्वन्यदम्बुनो यथा ॥ २७
त्वत्तामत्ते तथा न स्तो ब्रह्मणि स्पन्दरूपिणि ।
यथावर्तमृते तोये न किञ्चिन्म्रियते क्वचित् ॥ २८
मृतिब्रह्मत्वमायाते देहब्रह्मणि वै तथा ।
यथा चलाचले तोये त्वत्तामत्ते न तिष्ठतः ॥ २९
तथा जडाजडे रूपे न स्थिते परमात्मनि ।
कटकत्वं यथा हेम्नो यथावर्तो जलस्य च ॥ ३०
तद्वत्झावरूपेयं तथा प्रकृतिरात्मनः ।
इदं हि जीवभूतात्म जडरूपमिदं भवेत् ॥ ३१
इत्यज्ञानात्मनो मोहो न च ज्ञानात्मनः क्वचित् ।
अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत् ॥ ३२
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सच्चक्षुषः ।
जगदेकात्मकं ज्ञस्य मूर्खस्यातीव दुःखदम् ॥ ३३
शिशोरिव स्फुरद्यक्षा निशा पुंसस्तु केवला ।
अस्मिन्ब्रह्मघटे नित्यमेकस्मिन्सर्वतः स्थिते ॥ ३४

तदादिकम् ॥ २१ ॥ यतः सकलं ब्रह्म सुखेकरसं स्फुरत्यतो दुःखितादि कुतः ॥ २३ ॥ २४ ॥ अनया दशा आत्यन्तिकी-मभयप्राप्तिमाह—मरणेति ॥ २५ ॥ एवमात्यन्तिकी भोगर-गनिवृत्तिरपि सिध्यतीत्याह—संभोगेति ॥ २६ ॥ कलना इच्छा । स्पन्दवतोः सतोरम्बुनोऽन्यथा किञ्चिदपि नास्ति तथेत्यर्थः ॥ २७ ॥ स्पन्दो रागद्वेषादिना चलनं तद्भूपिणि । तत्प्रयोजके इति यावत् । आवर्तस्य मृते नाशे ॥ २८ ॥ तथा देहब्रह्मणि मृतिब्रह्मत्वमायातेऽपि न किञ्चिन्म्रियते इत्यर्थः । जडरूपापरित्यागेनैव सर्वपर्यायेषु ब्रह्मता मा प्राहीति तन्निषेधति—यथेति । चलाचले चक्षले चले अचले चेति वा ॥ २९ ॥ जडरूपाभावे प्रतियोग्यप्रतिद्वन्द्वजडमिति तद्यावृत्तरूपस्याप्यप्र-क्षेपरिति भावः ॥ ३० ॥ तस्यैव अतदिव भावो यथा तथा-रूपा प्रकृतिर्मायिकः स्वभावस्तद्वादादेव जीवजडरूपमेवकल्पने-त्याह—इदमिति ॥ ३१ ॥ अतएव तत्त्वविदः सर्वं जगदान-न्दैकरसमेवेत्याह—अज्ञस्येति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ यथा निशा सन्निः

न किञ्चिन्म्रियते नाम न च किञ्चन जीवति ।
 यथोल्लासविलासेषु न नश्यति न जायते ॥ ३५
 तरङ्गादिमहाम्भोघौ भूतवृन्दं तथात्मनि ।
 इदं नास्तीदमस्तीति भ्रान्तिर्नामात्मनात्मनि ॥ ३६
 शक्तिर्निर्हेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत् ।
 जगच्छक्त्यात्मनात्मैव ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम् ॥ ३७
 तरङ्गकणजालेन पयसीष पयो घनम् ।
 शरीरनाशेन कथं ब्रह्मणो मृतधीर्भवेत् ॥ ३८
 ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं हि न शरीरादि विद्यते ।
 पयसो व्यतिरेकेण तरङ्गादि महार्णवे ॥ ३९
 यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः ।
 यः फेनो या च लहरी तद्यथा घारि घारिणि ॥ ४०
 यो देहो या च कलना यहृश्यं यौ क्षयाक्षयौ ।
 या भावरचना योऽर्थस्तया तद्ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ ४१
 संस्थानरचना चित्रा ब्रह्मणः कनकादिव ।
 नान्यरूपा विमूढानां मृषैव द्वित्वभावना ॥ ४२
 मनो बुद्धिरहंकारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
 ब्रह्मैव सर्वं नानात्म सुखं दुःखं न विद्यते ॥ ४३
 अयं सोऽहमिदं चित्तमित्याद्यर्थोत्थया गिरा ।
 शब्दप्रतिश्रवेणाद्राविवात्मात्मनि जृम्भते ॥ ४४
 ब्रह्मैवाज्ञातमज्ञत्वमभ्यागतमिव स्थितम् ।
 तथा हि दृश्यते स्वप्ने चेतसात्मात्मनात्मनः ॥ ४५
 अभावितं ब्रह्मतया ब्रह्माज्ञानमलं भवेत् ।

शिशोर्बालस्य दशा स्फुरन्स्वभ्रान्तिपरिकल्पितो यक्षो यस्यां
 तथाविधा । पुंसो युववृद्धपुरुषस्य केवला निर्यक्षा । ब्रह्मलक्षणे
 पूर्णाभूतघटे ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ शक्तिर्मायास्फटिकस्यांशुरने-
 कप्रतिबिम्बप्रदणयोग्यतापादकस्वच्छता सैव यथा नानाप्रतिबि-
 म्बतत्तद्गुणक्रियादिवैचित्र्यात्मना अन्तः स्फुरति तद्वत्सा जगदा-
 त्मना तत्तत्पदार्थशक्त्यात्मना च स्फुरति प्रथते । सा च प्रथा
 आत्मैव तच्च ब्रह्म स्वात्मन्येवाद्दये संस्थितम् ॥ ३७ ॥ अतएव
 शरीरनाशेन नात्मनाश इति दृष्टान्तेनोपपादयति अतुर्भिः ॥ ३८ ॥
 ॥ ३९ ॥ ४० ॥ कलना इन्द्रियव्यापारः । दृश्यं भोग्यम् ।
 क्षयाक्षयौ विपत्संपदौ । भावा हर्षविषादादयस्तद्गचना । अर्थः
 पुरुषार्थभोगः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ यथा एक एव शब्दः अग्नौ
 पर्वतसंनिधौ प्रतिश्रवेण प्रतिध्वन्यात्मना द्विरुक्त इव जृम्भते
 तथा देहचित्तबाह्यार्थादिरूपनाममेदेनात्मैव जृम्भत इत्यर्थः
 ॥ ४४ ॥ अज्ञत्वं जीवजगद्भावम् । तत्र 'आत्मनि चैव विचित्राश्च
 हि' इति बादरायणोक्तं स्वप्नदृष्टान्तमाह—तथाहीति ॥ ४५ ॥
 अज्ञानस्यात्यन्तविरुद्धासंभावितकारिता लोके प्रसिद्धैवेत्याह—
 अभावितमिति ॥ ४६ ॥ अतएव तदज्ञदृशैवाज्ञानरूपं न तत्त्व-
 ज्ञदृशेत्याह—स्वयंप्रभुरिति ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ आत्मा स्वयं ब्रह्म
 यथा जीवजगद्रूपेण तास्विकब्रह्मरूपेण वा भावयति ॥ ४९ ॥
 यो वा १०१

अभावितं हेमतया यथा हेम च मृद्भवेत् ॥ ४६
 स्वयं प्रभुर्महात्मैव ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ।
 अपरिज्ञातमज्ञानमज्ञानामिति कथ्यते ॥ ४७
 ज्ञातं ब्रह्मतया ब्रह्म ब्रह्मैव भवति क्षणात् ।
 ज्ञातं हेमतया हेम हेमैव भवति क्षणात् ॥ ४८
 ब्रह्मात्मा सर्वशक्तिर्हि तद्यथा भावयत्यलम् ।
 निर्हेतुकः स्वयं शक्त्या तत्तथाशु प्रपश्यति ॥ ४९
 अकर्मकर्तृकरणमकारणमनामयम् ।
 स्वयंप्रभुं महात्मानं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ५०
 अपरिज्ञातमज्ञानामज्ञानमिति कथ्यते ।
 परिज्ञातं भवेज्ज्ञानमज्ञानपरिनाशनम् ॥ ५१
 बन्धुरेवापरिज्ञातो ह्यबन्धुरिति कथ्यते ।
 परिज्ञातो भवेद्बन्धुरबन्धुभ्रमनाशनात् ॥ ५२
 इदं त्वयुक्तमित्यन्तर्ज्ञाते सोदेति भावना ।
 यस्माद्युक्ताद्वैरस्याद्यया किल विरज्यते ॥ ५३
 द्वैतं त्वसत्यमित्यन्तर्ज्ञाते सोदेति भावना ।
 तस्माद्द्वैताच्च वैरस्याद्यया किल विरज्यते ॥ ५४
 अयं नाहमिति ज्ञाते स्फुटे सोदेति भावना ।
 मिथ्याहंकारता तस्माद्यया नूनं विरज्यते ॥ ५५
 ब्रह्मैवाहमिति ज्ञाने सत्ये सोदेति भावना ।
 तस्मिन्सत्ये निजे रूपे यथान्तः परिलीयते ॥ ५६
 सति विस्तारजे तस्मिन्ब्रह्मेदमिति वेद्यहम् ।
 त्वमहंत्वादिबाधे तत्सदित्यादि जगद्गतम् ॥ ५७

अतएव तत्त्वविदो न जीवजगद्भावेन पश्यन्तीत्याह—अक-
 र्मेति । स्वबोधतत्त्वभावे स्वयं प्रभवतीति स्वयंप्रभुस्तम् ॥ ५० ॥
 ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ तर्हि जीवजगतोर्ब्रह्ममात्रताभावना सहसैव
 सर्वेषां कुतो नोदेति वैराग्याभावादिति चेतद्वैतव एव तर्ह्यु-
 च्यन्तां तत्राह—इदं त्वित्यादिना । इदं जीवजगद्रूपमयुक्तं
 विचारसहमिति ज्ञाते सति सा ब्रह्मभावना उदेति । यस्माद्दे-
 तोरयुक्ताच्छुक्तिरजतादेर्वैरस्यप्रसिद्धेर्यया विचारणया जगत इव
 भोग्यवर्गादपि विरज्यते पुरुष इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ उक्ता विचा-
 रणा जगद्विषये तत्पदार्थशोधनतया पर्यवस्यतीत्याशयेन जग-
 दंशे उक्तमेव स्फुटमाह—द्वैतमिति ॥ ५४ ॥ जीवांशेऽपि सा
 त्वंपदार्थशोधनतया पर्यवस्यतीत्याशयेन तदंशेऽप्युक्तं स्फुटयति
 —अयमिति । अयं देहादिकार्यकारणसंघातो नाहमिति ज्ञाते सति
 ॥ ५५ ॥ पदार्थशोधफलभूताखण्डवाक्यार्थबोधतयापि सा पर्य-
 वस्यतीत्याशयेन तस्मिन् जीवजगद्भावयोर्बाधलक्षणं लयं स्फुट-
 यति—ब्रह्मैवेति ॥ ५६ ॥ अखण्डाकारबोधे सति स्थितमपि
 जगत्सदेकरसं ब्रह्मैव न पूर्ववहुःखरूपमित्याशयेनाह—सतीति
 द्वाभ्याम् । तस्मिन्खण्डवाक्यार्थे विस्तारजे अपरिच्छिन्नस्वभा-
 वेनाविर्भूते सति त्वंत्वमहंत्वमादिपदादिदंत्वं च तेषां बाधे सति
 तत् प्राक् प्रसिद्धं सत् आविपदाज्ञाति प्रियं नाम रूपमिति

सत्यं सर्वप्रकाराख्यं ब्रह्मेदमिति वैद्विहम् ॥
 न मे दुःखं न कर्माणि न मे मोहो न चाञ्छितम् ५८
 समः स्वस्थो विशोकोऽस्मि ब्रह्माहमिति सत्यता ।
 कलाकलङ्कमुक्तोऽस्मि सर्वमस्मि निरामयः ॥ ५९
 न त्यजामि न चाञ्छामि ब्रह्माहमिति सत्यता ।
 अहं रक्तमहं मांसमहमस्थीन्यहं वपुः ॥ ६०
 चिदहं चेतनं चाहं ब्रह्माहमिति सत्यता ।
 द्यौरहं खमहं सार्कमहमाशा भुवोऽप्यहम् ॥ ६१
 अहं घटपटाकारो ब्रह्माहमिति सत्यता ।
 अहं तृणमहं चोर्षी गुल्मोऽहं काननाद्यहम् ॥ ६२
 शैलसागरसार्थोऽहं ब्रह्मैकत्वं किल स्थितम् ।
 आदानदानसंकोचपूर्विका भूतशक्तयः ॥ ६३
 सर्वमेव चिदात्मास्मि ब्रह्मण्याततरूपधृक् ।
 लतागुल्माङ्कुरादीनामहंसंभवनैषिणाम् ॥ ६४
 चिदात्मान्तर्गतं शान्तं परं ब्रह्म रसात्मकम् ।
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ॥ ६५
 यो मतः सर्वं एकात्मा परं ब्रह्मेति निश्चयः ।
 चिदात्मा ब्रह्म सत्सत्यमृतं ह इति नामभिः ॥ ६६
 प्रोच्यते सर्वगं तत्त्वं चिन्मात्रं चेत्यवर्जितम् ।
 आभासमात्रममलं सर्वभूतात्मबोधकम् ॥ ६७
 सर्वत्रावस्थितं शान्तं चिद्ब्रह्मेत्यनुभूयते ।

प्रथमरूपमिदं जगद्रतं ब्रह्मजातं ब्रह्मैवेति वेद्यैत्यर्थः ॥ ५७ ॥
 ॥ ५८ ॥ तत्समावस्थितमेव परमपुरुषार्थतया वर्णयति—सम
 इत्यादिना ॥ ५९ ॥ त्वंतत्पदार्थशोधनमपि परिच्छेदपारोक्ष्य-
 निरासायैव, तन्निरासेन सार्वान्त्यलाभे तु रक्तमांसादिरूपदेहा-
 दिरप्यात्मैवेति न निरासाहमित्याशयेनाह—अहं रक्तमित्या-
 दिना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ शैलः सागरः सार्थः प्राणिसङ्घ-
 ष्टाहम् । भूतशक्तयः प्राणिधर्माः ॥ ६३ ॥ संभवनमङ्कुरकाण्ड-
 प्रतनशाखाविर्भावस्तदेषिणाम् ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥
 ॥ ६७ ॥ अनुभूयते । ब्रह्मविद्भिरिति शेषः । ननु प्रतिपुरुषं
 मनोबुद्धीन्द्रियवृत्तिभेदेन चिति भेदानुभवात्कथं सा ब्रह्म स्यात्-
 त्नाह—मन इत्यादिना । समस्तासु कलनासु वृत्तिष्वन्वितमनु-
 गतम् ॥ ६८ ॥ खं प्रत्ययस्वरूपमेव मा प्रमा तदाभासं स्वप्र-
 काशम् । शब्दादीनां तत्कारणानामाकाशादीनां तत्कृतजगत्स्थि-
 तेषु तत्त्वावकाशकं सत्ताप्रथास्वरूपम् ॥ ६९ ॥ समस्तकलना-
 न्वितत्वमुपपादयन्नकमेव स्फुटमाह—अनारत्तेति । अत्रिवि-
 स्फुलिङ्गधारावद्भूतुपाधिधाराभिरनारतं गलन्त्यो निःसरन्त्यो या-
 च्छिद्धारास्तासां गहनात्मकमाकरस्थानीयं प्रत्यगात्मरूपम् ॥ ७० ॥
 सुमनसां योगिनां भौतमनुभूयमानमप्यभिलषितुमशक्यम् ।
 अमृतं परं निरतिशयानन्दरूपम् । एतदपि पूर्वैवदुष्पवादयुक्त-
 मेवाह—अनारत्तेति । अहंकारलक्षणानि निःशेषाणि समस्तानि
 भोक्तृचक्राणि प्रति तत्तद्भोगवृत्तिधारोपाधिभिर्मधुधारावदनारत-
 मलक्ष्यं कूटस्थनिष्ठानुभवानन्दैकरसं चिद्ब्रह्माहमित्यन्वयः ॥ ७१ ॥

मनोबुद्धीन्द्रियमातसमस्तकलनान्वितम् ॥ ६८
 भेदं त्यक्त्वा स्वमाभासं चिद्ब्रह्माहमनामयम् ।
 शब्दादीनामशेषाणां कारणानां जगत्स्थितेः ॥ ६९
 तत्त्वावकाशकं सच्छं चिद्ब्रह्मास्मि न मे क्षयः ।
 अनारतगलत्स्वच्छचिद्धारगहनात्मकम् ॥ ७०
 आलोकः सुमनोममं चिद्ब्रह्मास्म्यमृतं परम् ।
 अनारतगलद्रूपं मित्यं चानुभवानृतम् ॥ ७१
 अहंनिःशेषचक्राणि चिद्ब्रह्माहमलेपकम् ।
 सुपुत्रसदृशं शान्तमालोकधिमलतात्मकम् ॥ ७२
 संभोगोत्तममाभासं चिद्ब्रह्मास्म्यपवासनम् ।
 खण्डादित्वातुसंवित्तिरीषन्मात्रा तु तिष्ठति ॥ ७३
 चित्तादिष्वशुद्धेषु तद्धि ब्रह्माहमव्युतः ।
 कान्तासंसक्तचित्तस्य चन्द्रे समुदिते सति ॥ ७४
 चन्द्रप्रत्ययसत्त्वात् चिद्ब्रह्माहमनामयम् ।
 भूमिष्ठनरदृष्टीनां लग्नानां खे निशाकरे ॥ ७५
 या खस्था ननु चिच्छक्तिस्तच्चिद्ब्रह्मास्ति निर्मलम् ।
 सुखदुःखादिकलनाविकलो निर्मलस्तथा ॥ ७६
 सत्यानुभवरूपात्म चिद्ब्रह्मात्मास्ति शाश्वतः ।
 असंस्तुताम्बुगालोके मनस्यन्वयं संस्थिते ॥ ७७
 या प्रतीतिरनागस्का तच्चिद्ब्रह्मास्ति सर्वगः ।
 भूवार्यनिलबीजानां संबन्धेऽङ्कुरकर्मसु ॥ ७८

नित्यं चानुभवावृत्तमित्येतरसमाधिनिष्ठानुभवेनोपपादयन्नाह—
 सुपुत्रेति ॥ ७२ ॥ संभोगा मानुषानन्दादिहैरिष्यगर्भान्तविषय-
 सुखानि तेभ्योऽप्युत्तमम् । आभासं सर्वतः प्रकाशमानम् ।
 संभोगोत्तममिति यदुक्तं तदुपपाद्यानुभावयति—खण्डादीति ।
 रसनादिभिर्निन्द्रियैः खण्डशर्करादिस्वादुसंवित्तिरीषन्मात्राखण्ड-
 रमस्य जिह्वातः कण्ठोपसर्पणपर्यन्ताल्पतरुदेशकालपरिच्छिन्ना
 तिष्ठति, सैव तु खपरिच्छेदहेतुषु चित्तचेत्यचेतयितृषु स्वप्रका-
 शामन्दैकरसतयावबुद्धेषु सत्सु परिच्छेदोपाधिच्युतावपि च्युति-
 रहेतात्मा तदेव निरतिशयानन्दं ब्रह्माहमित्यन्वयः ॥ ७३ ॥
 ननु ज्ञानस्य विषयोपाधिनिर्मुक्ता स्थितिरेवाप्रसिद्धेत्याशङ्क्य
 तत्प्रसिद्धिं दर्शयति—कान्तेति । निधि कान्तासंसक्तचित्तस्य
 चन्द्रोदये सति चन्द्रकान्तोभयदर्शने अन्तराले देशे चित्तो
 विच्छेदाननुभवाच्चन्द्राकारप्रत्ययपर्यन्तमविच्छिन्नसत्तात्मकं नि-
 र्विषयं चिद्ब्रह्म प्रसिद्धं तदेवाहमित्यर्थः ॥ ७४ ॥ भूमिष्ठेति
 तस्यैव स्फुटीकरणम् ॥ ७५ ॥ खस्था आन्तरालिकनभःप्रदे-
 शास्था । उदासीनानां सुखदुःखाकारवृत्त्यन्तरशून्यतादशार्था
 निर्विषयस्वात्मप्रथा प्रसिद्धैवेत्याशयेनाह—सुखेति ॥ ७६ ॥
 एवमिहस्यस्य पुंसोऽन्यत्र दूरस्थे विषये न संस्तुतः संपादि-
 तोऽभ्यगानामन्तरालमार्गस्थानां पदार्थानामालोको येन तथा-
 विषये मनसि संस्थिते सति अन्तराले देशे धनागस्का विषयसं-
 स्पर्शावरोधशून्या या प्रतीतिश्चिन्मात्रं तदित्यर्थः ॥ ७७ ॥
 संबन्धे मेकमे सति अङ्कुरलक्षणेऽङ्कुरे कर्मसु कार्येषु लक्ष्मणीना

शक्तिरुद्रमनीयान्तस्तच्चिद्ब्रह्माहमाततम् ।
 खर्जूरनिम्बविम्बानां स्वयमात्मनि सिद्धताम् ॥ ७९
 या स्वादसत्ता लीनान्तस्तद्ब्रह्म चिदहं समः ।
 खेदानन्दविमुक्तान्तः संवित्तिर्मननोदया ॥ ८०
 लाभालाभविधौ तुल्या चिद्ब्रह्मास्मि निरामयम् ।
 यावद्भूम्यर्कमेतावद्दृष्टिसूत्रं यवाततम् ॥ ८१
 तन्मध्यसदृशं शास्त्रं निर्मलं चिदहं ततम् ।
 जाग्रत्यपि सुषुप्तेऽपि तत्त्वमेऽपि तन्नोदितम् ॥ ८२
 तुर्यं रूपमनाद्यन्तं चिद्ब्रह्माहमनामयम् ।
 पुंसां क्षेत्रशतोत्थानामिक्षूणां स्वादुषत्स्थितम् ॥ ८३
 सर्वेषामेकरूपं तच्चिद्ब्रह्मास्मि समः स्थितः ।
 सर्वगा प्रकृता स्वच्छरूपा भानोरिव प्रभा ॥ ८४
 आलोककारिणी कान्ता चिद्ब्रह्मेदमहं ततम् ।
 संभोगानन्दलवघदमृतास्वादशक्तिवत् ॥ ८५
 स्वानुभूत्यैकमात्रं यच्चिद्ब्रह्मास्मि तदव्ययम् ।
 प्रोताङ्गमपि गुप्तास्यं देहे तन्तुर्बिसे यथा ॥ ८६
 छेदे मेदे स्फुरद्रूपं चिद्ब्रह्माहमनामयम् ।
 आक्रान्तभुवनान्यभ्रमालेष स्पन्दशालिनी ॥ ८७
 दुर्लक्ष्याणुमयाकारा चिच्छक्तिरहमातता ।
 अनुभूतिमयान्तस्था खेदमात्रोपलक्षिता ॥ ८८
 क्षीराकृतस्य सत्तेषु चिदहं क्षयवर्जिता ।
 कटकान्कदकेयूररचना तदतन्मयी ॥ ८९
 हेन्नीव संस्थिता देहे चिद्ब्रह्मात्मास्मि सर्वगः ।
 पदार्थौघस्य शैलादेर्बहिरन्तश्च सर्वदा ॥ ९०
 सप्तासामान्यरूपेण या चित्सोऽहमलेपकः ।

बहिर्निर्गमनानुकूला या चिच्छक्तिस्तद्ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ७८ ॥ खर्जू-
 शकीनां फलानामात्मनि स्वीये जडत्वभावे तिष्ठतां रसमेदानां
 स्वयमन्तर्लानां रासनादिवृत्त्यभिव्यक्ता प्रथारूपा या स्वादसत्ता
 तदेव ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ७९ ॥ किंच येव संवित्तिरिच्छन्नाभालाभयोः
 खेदानन्दवती प्रसिद्धा सैव शास्त्रानुसारिमननोदयविशोभिता
 सती खेदानन्दविनिर्मुक्ता चेतदेव ब्रह्मेत्याह—खेदेति ॥ ८० ॥
 भूमिच्छब्दादित्थं पश्यतः पुंसो यावद्भूम्यर्कं भूमिमारम्भार्कपर्यन्तं
 यत् दृष्टिश्चक्षुस्तदक्षणं सूत्रमाततं विस्तीर्णमस्ति तस्य यन्मध्यं
 नेत्रसूर्योभयासंक्रमभागस्तत्सदृशं विषयप्रकाशनसमर्थमपि तद्वि-
 निर्मुक्तमित्यर्थः ॥ ८१ ॥ एवमवस्थाप्रवसाक्षिरूपमेव तत्परि-
 खानो तुर्यभूतं ब्रह्मेत्याह—जाग्रतीति ॥ ८२ ॥ सर्वेषां पुंसा-
 मन्तः एकरूपं स्थितम् ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ तस्य आलोक-
 प्रसर्वाङ्गव्याप्तिं देहच्छेदादावच्छेद्यतां चाह—प्रोताङ्गमपीति ।
 विसतन्नुपक्षे स्पष्टोऽन्वयः ॥ ८६ ॥ भुवनानि लोका जलानि
 च । वृत्तिवायुपाधिस्पन्दास्पन्दशालिनि ॥ ८७ ॥ दुर्लक्ष्या
 अणवः सूक्ष्मा जीवा जलकणाश्च तन्मयः कल्पिताकारो

१ अत्र प्रचाराविलेवापेक्षितम् । कृतैकशेषद्विवचनान्तप्रचारशब्देन

सर्वासामनुभूतीनामादर्शो यो ह्यकृत्रिमः ॥ ९१
 अगम्यो मललेखानां तच्चित्तस्वमहं महत् ।
 सर्वसंकल्पफलदं सर्वतेजःप्रकाशकम् ॥ ९२
 सर्वोपादेयसीमान्तं चिदात्मानमुपास्महे ।
 सर्वावयवविध्राम्तं समस्तावयवातिगम् ॥ ९३
 अनारतकचद्रूपं चिदात्मानमुपास्महे ।
 घटे पटे तटे कूपे स्पन्दमानं सदा तनौ ॥ ९४
 जाग्रत्यपि सुषुप्तस्त्वं चिदात्मानमुपास्महे ।
 उष्णमग्नौ हिमे शीतं मृष्टमग्ने शितं ध्रुवे ॥ ९५
 कृष्णं ध्वान्ते सितं चन्द्रे चिदात्मानमुपास्महे ।
 आलोकं बहिरन्तस्थं स्थितं च स्वात्मचस्तुनि ॥ ९६
 अदूरमपि दूरस्थं चिदात्मानमुपास्महे ।
 माधुर्यादिषु माधुर्यं तीक्ष्णादिषु च तीक्ष्णताम् ॥ ९७
 गतं पदार्थजातेषु चिदात्मानमुपास्महे ।
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्यातुर्यातिगो पदे ॥ ९८
 समं सदैव सर्वत्र चिदात्मानमुपास्महे ।
 प्रशान्तसर्वसंकल्पं विगताखिलकौतुकम् ॥ ९९
 विगताशेषसंरम्भं चिदात्मानमुपास्महे ।
 निष्कौतुकं निरारम्भं निरीहं सर्वमेव च ॥ १००
 निरंशं निरहंकारं चिदात्मानमुपास्महे ।
 सर्वस्यान्तःस्थितं सर्वमप्यपरैकरूपिणम् ॥ १०१
 अपर्यन्तचिदारम्भं चिदात्मानमुपागतः ।
 त्रैलोक्यदेहमुक्तानां तन्तुमुन्नतमाततम् ॥ १०२
 प्रचारसंकोचकरं चिदात्मानमुपागतः ।
 लीनमन्तर्बहिःस्वात्मान्प्रोक्षीकृत्य जगत्स्वगान् ॥ १०३

यस्याः । अनुभूतिमयोऽनुभवमात्रगम्योऽन्तस्थः सारो यस्याः ।
 अदृशिक्रणता परप्रेमा च तन्मात्रोपलक्षिता ॥ ८८ ॥
 तदतन्मयी हेन्नि हेमसत्तेवेति शेषः ॥ ८९ ॥ ९० ॥
 अनुभूतीनामनुभववृत्तिमेदानाम् ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ सर्व-
 पायुपादेयानामुपादानस्यास्मार्थत्वात्सीमान्तम् ॥ ९३ ॥
 घटपटादौ सद्रूपेण स्थितम् । तनौ चतुर्विधदेहे स्पन्दमानं स्फुर-
 द्रूपं चेष्टानिमित्तभूतं वा । जाग्रदवस्थायामपि सुषुप्तमिव परमा-
 र्थतो निर्विशेषतया स्थितम् ॥ ९४ ॥ अगम्यौघ्यादिसत्ता-
 त्मनामपि चित एव स्फुरणात्परमार्थतः सैव तानीत्याशयेत्याह
 —उष्णमिति । मृष्टं माधुर्यम् । शितं निशितम् । तीक्ष्णमित्यर्थः
 ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ प्रत्यगात्मत्वाददूरमप्यज्ञानादूरस्थम् ॥ ९७ ॥
 गतमिति पूर्वान्वयि ॥ ९८ ॥ कौतुकं कामः ॥ ९९ ॥ संरम्भः
 क्रोधः । कौतुकं भोगोत्कण्ठा । आरम्भो यज्ञः । ईहा चेष्टा ।
 सर्वं निरवशेषम् ॥ १०० ॥ १०१ ॥ अपर्यन्तानां प्रतिबिम्ब-
 चिता आरम्भा यस्मात्तम् । त्रैलोक्यस्थानां देहलक्षणां
 मुक्तानां तन्तुम् ॥ १०२ ॥ प्रचाराचारो जाग्रत्स्वप्नौ संकोचः

दन्द्रत्वेन प्रचारशब्दाज्जाग्रत्स्वप्नयोर्लाभः । अत्राचारमहणं जिनित्यर्थः

| | |
|--|---|
| चित्रं बृहज्जालमिव चिदात्मानमुपागतः । सर्वं यत्रेदमस्त्येव नास्त्येव च मनागपि ॥ १०४ | शब्दरूपरसस्पर्शगन्धैराभासमागतम् ॥ १०९ |
| सदसद्रूपमेकं तं चिदात्मानमुपागतः । परमप्रत्ययं पूर्णमास्पदं सर्वसंपदाम् ॥ १०५ | तैरेव रहितं शान्तं चिदात्मानमुपागतः । आकाशकोशविशदं सर्वलोकस्य रञ्जनम् ॥ ११० |
| सर्वाकारविहारस्थं चिदात्मानमुपागतः । ऋहाधारमथोऽशान्तं जडवाताहृतिभ्रमैः ॥ १०६ | न रञ्जनं न चाकाशं चिदात्मानमुपागतः । महामहिम्ना सहितं रहितं सर्वभूतिभिः । कर्तृत्वे चाप्यकर्तारं चिदात्मानमुपागतः ॥ १११ |
| युक्तं मुक्तं च चिहीपं बहिरन्तरुपासहे । हृत्सरःपद्मिनीकन्दं तन्तुं सर्वाङ्गसुन्दरम् ॥ १०७ | अखिलमिदमहं ममैव सर्वं त्वहमपि नाहमथेतरश्च नाहम् । इति विदितवतो जगत्कृतं मे स्थिरमथवास्तु गतज्वरो भवामि ॥ ११२ |
| जनताजीवनोपायं चिदात्मानमुपागतः । अक्षीरार्णवसंभूतमशशाङ्कमुपस्थितम् ॥ १०८ | |
| अहार्यममृतं सत्यं चिदात्मानमुपासहे । | |

इत्यार्षे श्रीवा० रामायणे वाल्मीकीये देव० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० जीवन्मुक्तनिश्चययोगोपदेशो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः १२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति निश्चयवन्तस्ते महान्तो विगतैनसः ।
सत्याः सत्ये पदे शान्ते समे सुखमवस्थिताः ॥ १
इति पूर्णधियो धीराः समनीरागचेतसः ।
न निन्दन्ति न नन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥ २
इत्यलक्ष्यचमत्कारा नारायणभुजा इव ।
ऋजवः स्खलिताकारा अपरा इव मेरवः ॥ ३
रेमिरे वनखण्डेषु द्वीपेषु नगरेषु च ।
देषोपवनमालासु स्वर्गेषु च सुरा इव ॥ ४

सुषुप्तिस्तत्करम् । अन्तर्बहिश्च स्वेन आप्तान्व्याप्तान् जगद्गणान्-
न्वगान्पक्षिणः क्रोडीकृत्यान्तर्भाव्य लीनं प्रच्छन्नतया स्थितम्
॥ १०३ ॥ १०४ ॥ सर्गे सर्वसत्तानिर्वाहकत्वात्प्रदूषणं, प्रत्ये
सर्वासत्तानिर्वाहकत्वादसद्रूपमिति भावः । परमप्रत्ययमत्यन्त-
विश्वासार्हं चिदेकरसं वा । सर्वासां संपदां सुखलवानामास्पदं
प्रतिष्ठाम् ॥ १०५ ॥ ऋहस्तैलं निरुपाधिप्रेमा च तदाधारम् ।
जडानां देहादीनां वातानां प्राणानां वृष्टिवातानां चाहृतिरण्यासोऽमि-
घातश्च तत्प्रयुक्तैर्भ्रमैरशान्तमयिनष्टम् । भ्रान्तदृशा तैर्युक्तं तत्त्व-
दृशा तु मुक्तं च ॥ १०६ ॥ हृत्सरसि पद्मिनीकन्दवन्निगूढम् ।
सर्वेषां हस्तपादाद्यज्ञानां सुन्दरं दृढविष्टम्भकं तन्तुं रञ्जवदाघा-
रम् ॥ १०७ ॥ प्रसिद्धामृतवैलक्षण्यमाह—अक्षीरार्णवेति
॥ १०८ ॥ अहार्यं गरुडादिभिरपहर्तुमशक्यम् । आभासं अभि-
व्यक्तिम् ॥ १०९ ॥ रञ्जनं स्वव्याप्त्या अभिव्यञ्जकम् ॥ ११० ॥
॥ १११ ॥ तादात्म्याध्यारोपदेशा अखिलमहम् । संसर्गाध्या-
रोपदेशा तु मयैव सर्वम् । अपवाददृशा तु अहंत्वारोपनिमित्त-
महंकारोऽपि नाहम् । इतरस्तु सुतरां नाहं इत्यध्यारोपापवा-
दाभ्यां तत्त्वं विदितवतो मे मम जगत्कृतं कृत्रिमं मायामयं

१ प्रकृतिभावाभावच्छान्दसः.

भ्रेमुः कुसुमपूर्णासु दोलान्दोलचलासु च ।
विचित्रवनलेखानु मेदृष्टशिक्षासु च ॥ ५
चक्रुर्विजितशत्रूणि चामरच्छत्रवन्ति च ।
विचित्रार्थानि राज्यानि चित्राचारमयानि च ॥ ६
अनुजग्मुरिमान्सर्वाङ्गानाचारविचेष्टितान् ।
श्रुतिस्मृत्युदितारम्भामितिकर्तव्यतामिति ॥ ७
ईदृशीरमणीयेषु ललनाहास्यहारिषु ।
विहाराहाररम्येषु भोगाभोगेषु भूषिताः ॥ ८
विविशुद्धारुचूतासु मन्दारवलितासु च ।

वा अस्तु अथवा स्थिरमकृत्रिममात्मैव वास्तु उभयथाप्यहं गत-
ज्वरो भवामीत्यर्थः ॥ ११२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे जीवन्मुक्तनिश्चययोगोपदेशो नामै-
कादशः सर्गः ॥ ११ ॥

बहिर्नीरागनिःसङ्गामन्तःस्वच्छात्मभास्वराम् ।

जनकादिस्थितिं रामो गुरुप्रेक्षामिहाग्रहीत् ॥ १ ॥

ते जनकादयो जीवन्मुक्ताः अन्तः सत्ये पदे शोधिततत्प-
दाथे व्यवस्थिताः ॥ १ ॥ बहिः पूर्णा धीः शोधितत्त्वंपदाथो
येषाम् । अतएवान्तर्बहिश्च समनीरागचेतसः ॥ २ ॥ अलक्ष्ये
सूक्ष्मतमेऽपि लक्ष्ये वेधनचमत्कारो येषाम् । अतएव नारायण-
भुजा इव स्थिताः । स्खलिताकारा नम्रस्वभावाः अपरा मेरव
इव स्थिराः ॥ ३ ॥ तेषां समदृष्ट्या विहारं प्रपन्नयति—रेमिरे
इत्यादिना ॥ ४ ॥ दोलानामान्दोलनैश्चलासु ॥ ५ ॥ विचित्रा
अर्थान्निवर्गा येषु तानि ॥ ६ ॥ नानाचारा बहुविधशि-
ष्टाचारास्तैर्विचेष्टिताननुष्ठितान्धर्माननुजग्मुः । स्वयमप्यनुष्ठि-
तवन्त इत्यर्थः । इति इत्यमेव श्रुतिस्मृत्युदिता आरम्भाः
प्रयत्ना यस्यास्तथाविधामितिकर्तव्यताम् । साङ्गं यागादीति या-
वत् । अनुजग्मुः ॥ ७ ॥ ईदृशीभिर्दृष्टादृष्टसाधनसंपन्निः
रमणीयेषु भोगानामाभोगेषु कलापेषु ॥ ८ ॥ विविशुर्नि-

| | | | |
|--|----|--|----|
| अप्सरोगीतपूर्णासु नन्दनोद्यानभूमिषु ॥ | ९ | प्राकृताचारसंप्राप्ते कुर्वन्तः कर्म केवलम् । | |
| सचराचरभूतेषु विश्रान्ताखिलजन्तुषु । | | स्थिता विगतसंरम्भमपरा इष मेरवः ॥ | २० |
| यज्ञक्रियाकलापेषु गार्हस्थ्येषु यथाक्रमम् ॥ | १० | तां त्वं दृष्टिमवष्टभ्य राघवाऽध्विनाशिनीम् । | |
| तेरुर्हतगजेन्द्रासु भ्रान्तभूरिशिबासु च । | | अनहंकृत्यहंकारो विहरस्व यथाक्रमम् ॥ | २१ |
| मेरीभांकारभीमासु संग्रामार्णववीथिषु ॥ | ११ | यथाभूतामिमामेव पश्यन्सर्गपरम्पराम् । | |
| तस्थुः परुषचित्तासु हृतविसोद्धतासु च । | | मेरुस्थितोऽधिगम्भीरः सममास्व गतभ्रमः ॥ | २२ |
| संरम्भक्षोभरौद्रीषु सर्वासु द्वन्द्वरीतिषु ॥ | १२ | चिन्मात्रं सर्वमेवेदमित्यभासतां गतम् । | |
| मनस्तेषां तु नीरागमनुपाधि गतभ्रमम् । | | नेह सत्यमसत्यं वा क्वचिदस्ति न किञ्चन ॥ | २३ |
| असक्तं मुक्तमाशान्तं परं सत्त्वपदं गतम् ॥ | १३ | महत्तामलमालम्ब्य त्यक्त्वेदमवहेलया । | |
| न ममज्जुः क्वचिदपि संकटेषु महत्स्वपि । | | असक्तबुद्धिः सर्वत्र भव भव्य भवक्षयी ॥ | २४ |
| महदप्युपयातेषु कुलशैलाः सरस्वित्रव ॥ | १४ | किं रोदिषि घनोद्वेगं मूढवञ्चानुशोचसि । | |
| नोल्लास विलासिन्या धिया परमकान्तया । | | भ्रमस्युद्भ्रान्तचित्तश्च सौम्यावर्ते तृणं यथा ॥ | २५ |
| परिपूर्णन्दुलक्ष्म्येषु जलराशी रघूद्वह ॥ | १५ | श्रीराम उवाच । | |
| न मम्लौ दुःखशोकेन ग्रीष्मेणेव वनस्थलम् । | | अहो न भगवद्भूतं सम्यग्जातमलक्षयः । | |
| जहर्ष च न भोगौघैरवश्यायैरिवौषधीः ॥ | १६ | त्वत्प्रसादात्प्रबुद्धोऽस्मि सूर्यसङ्गादिवाम्बुजम् ॥ | २६ |
| ते हि केवलमव्यग्राः कुर्वन्तः कामप्रञ्जरीः । | | भ्रान्तिरस्तं गता नूनं मिहिका शरदीव मे । | |
| इष्टानिष्टफलं राम नाभिलेषुर्न तत्यजुः ॥ | १७ | संशान्ताखिलसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ | २७ |
| नोदगुः कार्यसंपत्तावाक्रान्ता नास्तमाययुः । | | व्यपगतमदमोहो मानमात्सर्यमुक्तः | |
| जहृषुर्न सुखप्राप्तौ मम्लुर्नैव च संकटे ॥ | १८ | ध्वरतरमुदितात्मा शान्तशोकध्वरेण । | |
| मुमुहुर्न विमोहेषु न ममज्जुर्विपत्क्रमैः । | | पुनरसुखमगच्छन्स्वच्छयैकान्तबुद्ध्या | |
| न जहर्षुः शुभैः शोकै रुरुदुर्न भवानिव ॥ | १९ | यदिह वदसि साधो तत्करिष्येऽविशङ्कं २८ | |
| इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे जीवन्मुक्तसंशयनिरूपणं नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥ | | | |

त्रयोदशः सर्गः १३

श्रीराम उवाच ।
सम्यग्ज्ञानविलासेन वासनाविलयोदये ।
जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मभूतं विश्रान्तवानहम् ॥ १

र्विविष्टः ॥ ९ ॥ चराचरभूतैः सहितेषु सर्वभुवनेषु ।
विश्रान्ताः सुखिता अखिला जन्तवो यैस्तथाविधेषु । यज्ञक्रियाक-
लापेषु गार्हस्थ्येषु च । 'अर्थ वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः' ।
'यथैव क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतान्य-
मिहोत्रमुपासते' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १० ॥ तेरुर्निस्तेरुः
॥ ११ ॥ परुषाणि क्रूराणि क्लेशसहानि चित्तानि यासु हृत-
वितैः शत्रुभिरुद्धतासु परिभूतासु । द्वन्द्वरीतिषु विपत्स्विति या-
वत् ॥ १२ ॥ १३ ॥ महदपि ऐश्वर्यमिति शेषः । कुलशैला
हिमवदादयः ॥ १४ ॥ जलराशिरिति व्यतिरेके दृष्टान्तः ।
'दूलोपे' इति वीर्यः ॥ १५ ॥ १६ ॥ अव्यग्राः कर्तृत्वाभिनि-
वेशरहिताः । काम्यन्त इति कामा भोगास्तलक्षणा मञ्जरीः कुर्व-
न्तोऽनुभवन्तः ॥ १७ ॥ शत्रुजयादिकार्यसंपत्तौ सत्यां न उद-
गुरुकर्षं प्रापुः । शत्रुभिराक्रान्ताश्च अस्तमपकर्षं नाययुः ॥ १८ ॥
विमोहेषु विमोहेदेषु कृच्छ्रेषु । विपदां क्रमैराक्रमणैः ॥ १९ ॥
प्रकृत एव प्राकृतः स्वस्ववर्णोचित आचारस्तेन संग्रामे निषये

प्राणस्पन्दनिरोधेन वासनाविलयोदये ।
जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मन्वद विधम्यते कथम् ॥ २

॥ २० ॥ अनहंकृतौ अहंकारनिष्कृष्टशुद्धचिन्मात्रे अहंकार
आत्मबुद्धिर्यस्य तथाविधः सन् ॥ २१ ॥ यथाभूतां यथास्थि-
ताम् । मेरुरिव स्थितः स्थिरः ॥ २२ ॥ कीदृशं तद्यथाभूतदर्शनं
तदाह—चिन्मात्रमिति ॥ २३ ॥ महत्तां ब्रह्मताम् ॥ २४ ॥
॥ २५ ॥ रामवाक्यानि स्पष्टानि ॥ २६ ॥ २७ ॥ न विद्यते
सुखं यस्मात्तदसुखं बद्धात्मताभ्रमम् । एकान्तबुद्ध्या निश्चित-
बुद्ध्या यत् इह अस्मिन्नपदिष्टार्थविषये दार्ढ्यसाधनं अन्यद्वा राज्य-
परिपालनादिकर्तव्यतया वदसि तत् अविशङ्कं करिष्ये ॥ २८ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
जीवन्मुक्तसंशयनिरूपणं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

वर्णितस्वभावोधेन वासनाविलयक्रमः ।

प्राणरोधेन तं वक्तुं पीठिकात्रोपरिष्यते ॥ १ ॥

उपशमप्रकरणे दशितयोर्वासनाक्षयहेत्वोर्ज्ञानयोगक्रमयोर्मध्ये
उत्तमाधिकारिविषयेण ज्ञानविलासेन वासनाविलयफलं प्राप्य
कृतार्थोऽपि रामो मन्दमध्यमाधिकारिणामुपकाराय योगक्रमे-

ऋक्षचक्रे ध्रुवधृते निवसामि युगं प्रसि ॥ ३ ॥
 सोऽहं कदाचिदास्थाने स्वर्गे तिष्ठच्छतक्रतोः ।
 श्रुतवाकारदक्षिभ्यः कथां सुचिरजीविनाम् ॥ ४ ॥
 कथाप्रसङ्गे कस्मिंश्चिदथ तत्राभ्युधाच ह ।
 शातातपो नाम मुनिर्मौनी मानी महामतिः ॥ ५ ॥
 मेरोरीशानकोणस्थे पद्मरागमये दिवि ।
 अस्ति कल्पतरुः श्रीमाञ्जुके चूत इति श्रुतः ॥ ६ ॥
 तस्य कल्पतरुर्मुनिं दक्षिणस्कन्धकोटरे ।
 कलघौतलताप्रोते विद्यते सिद्धगालयः ॥ ७ ॥
 तस्मिन्निवसति श्रीमाञ्जुशुण्डो नाम वायसः ।
 वीतरागो बृहत्कोशे ब्रह्मेव निजपङ्कजे ॥ ८ ॥
 स यथा जगतां कोशे जीवतीह सुराश्रितम् ।
 चिरंजीवी तथा स्वर्गे न भूतो न भविष्यति ॥ ९ ॥
 स दीर्घायुः स मीरामः स श्रीमान्स महामतिः ।
 स विश्रान्तमतिः शान्तः स कान्तः कालकोविदः ॥ १० ॥
 स यथा जीवति खगस्तथेह यदि जीव्यते ।
 तद्भवेज्जीवितं पुण्यं दीर्घं चोदयमेव च ॥ ११ ॥
 इति तेन भुशुण्डोऽसौ भूयः पृष्टेन वर्णितः ।
 यथावदेव देवानां सभायां सत्यमुक्तवान् ॥ १२ ॥
 कथावसरसंशान्तावथ याते सुरपङ्के ।
 भुशुण्डं विहगं द्रष्टुमहं यातः कुतूहलात् ॥ १३ ॥
 भुशुण्डः संस्थितो यत्र मेरोः शृङ्गं तदुत्तमम् ।
 संप्राप्तवान्क्षणेनाहं पद्मरागमयं बृहत् ॥ १४ ॥
 रत्नगैरिककान्तेन तेजसा घह्विचर्चसा ।

मध्वासवरसेनेव रजयत्ककुभां गणम् ॥ १५ ॥
 कल्पान्तज्वलनोज्ज्वलापिण्डात्रिभिश्च संस्थितम् ।
 इन्द्रनीलशिखाधूममालोकाङ्गिताम्बरम् ॥ १६ ॥
 सर्वेषामेव रागाणां राशिमद्राविव स्थितम् ।
 सर्वसंध्याभ्रजालानां घनमेकमिवाकरम् ॥ १७ ॥
 उत्क्रान्तिं कुर्वतो मेरोर्ब्रह्मनाड्येव निर्गतम् ।
 मूर्धानमागतं कान्तं वाडवं जठरानलम् ॥ १८ ॥
 सुमेरुवनदेव्येव नवालककरजितम् ।
 लीलयाऽऽदातुमिन्दुं खे नीतं हस्तशिखाङ्गुलिम् ॥ १९ ॥
 ज्वालाभिरिव मालाभिररुणाभिः पयोमुखम् ।
 खं गन्तुमिव सस्पन्दं शैलस्थमिव वाडवम् ॥ २० ॥
 ताराः स्पष्टमिवाकाशमङ्गुलीभिरिव त्रिभिः ।
 कचदंशुनखाप्राभिः परिचुम्बदिवोत्तमम् ॥ २१ ॥
 गर्जजीमूतमुरजं भूभृतानां तु मण्डपम् ।
 हस्तकुसुमगुच्छाढ्यं ध्वनत्पद्मपदपेटकम् ॥ २२ ॥
 दन्ततालदलावल्या परिहासादिव स्फुरत् ।
 दौलालोलाप्लरोवृन्दमुदारमदमममथम् ॥ २३ ॥
 शिलाविश्रान्तविबुधमिथुनाभितकन्दरम् ।
 वराम्बराजिनं शुभ्रगङ्गायज्ञोपवीति च ॥ २४ ॥
 तापसं पिङ्गलमिव वेणुदण्डधरं स्थितम् ।
 गङ्गानिर्झरनिर्हादि लतागृहगतामरम् ॥ २५ ॥
 गन्धर्वगीतसुभगमामोदमधुरानिलम् ।
 फुल्लहेमाम्बुजोत्तंसं तारारत्नविभूषितम् ।
 व्योम्नः पारमिव प्राप्तं पिङ्गलं मैरवं शिरः ॥ २६ ॥

युगशब्देन युगसमूहो वैवस्वतमन्वन्तरं लक्ष्यते ॥ ३ ॥ शत-
 क्रतोर्निम्बस्य आस्थाने सभायाम् ॥ ४ ॥ मौनी अल्पभाषिता ।
 मानी माननार्हः प्रमाणकुशलश्च ॥ ५ ॥ यदुवाच तदाह—
 मेरोरीत्यादिना । पद्मरागमये शृङ्गे दिवि नभोदेशे चूत इति
 श्रुतो विश्रुतः कल्पतरुस्ति ॥ ६ ॥ कलघाते हेमरूप्ये तन्म-
 यीभिः कल्पलताभिः प्रोते ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ यतो विश्रान्त-
 मतिरस एव शान्तः ॥ १० ॥ तत्तथाविधं दीर्घं जीवितं सा-
 धनदशार्थां पुण्यं फलदशामामुदयं परमपुरुषार्थाभ्युदययुक्तं च
 भवेत् । संभावनायां लिङ् ॥ ११ ॥ भूयोऽपि मगा पृष्टेन तेन
 शातातमेन इति उक्तप्रकारेणैव भुशुण्डो वर्णितः । तदुक्तेः
 प्रसंशामाप्रत्यक्षाणां वारयति—सत्यमुक्तवानिति ॥ १२ ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ तदैव शृङ्गं वर्णयति—रत्नेत्यादिना । रत्नगैरिकैश्च का-
 न्धेन । मध्वासवप्रयुक्तेन रसेन मदेनेव ककुभां दिशां गणं रजयत्
 लोहितीकुर्वत् । क्षीबा हि लोहितायमानाः प्रसिद्धाः ॥ १५ ॥
 कल्पान्तज्वलनादुत्तानां ज्वालानां पिण्ड एवात्रिः संपन्न इवे-
 त्युपेक्षा । संस्थितं चोभोपस्थितम् । इन्द्रनीलानां शिखा इव
 कर्णप्रसृताः प्रभा एव धूमा यस्येत्युपेक्षायामुपपत्तिः ॥ १६ ॥
 सर्वेषां रागाणां लौहित्यानां सर्वेषां प्राप्तिनां रागाणां दर्शने-

च्छानां वा ॥ १७ ॥ ब्रह्मनाड्या सुपुत्रया उत्क्रान्तियोगेन
 ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा निर्गमनं कुर्वतश्चिकीर्षतो मेरोर्जठराच्चिर्गतं
 मूर्धानं शिरःप्रदेशमागतं वाडवं षड्बाभिकल्पं जठरानलमिव
 स्थितमित्युपेक्षा ॥ १८ ॥ सुमेरुवनदेव्या लीलया क्रीडा-
 क्रौंतुकेन इन्दुमादातुं प्रहीतुं खे नीतं प्रसारितमलककरसर-
 जितं हस्तस्य शिखावत्संहतमङ्गुलिजातमिव ॥ १९ ॥ माला-
 भिरिव प्रथिताभिर्ज्वालाभिः खं गन्तुमिव सस्पन्दं चलितमत
 एव शैलस्थं पर्वतमारूढं हव्यबाहकत्वादभिहोत्राद्याहुत्तिपयो
 मुखे यस्य तथाविधं वाडवं ब्राह्मणसंबन्धिनमध्वराग्निमिव स्थि-
 तम् । शृङ्गपक्षे पयो निर्झरोदकं मुखे अग्रभागे यस्य ॥ २० ॥
 कचदंशुनखाप्राभिरिभिः शृङ्गाप्राङ्गुलिभित्तारा अश्विन्यादीः
 स्पष्टं स्पष्टा गणयितुमिव आकाशं परिचुम्बत् व्यामुवदिव उच्च-
 तम् ॥ २१ ॥ मुरजा वायुभेदाः । भुरा वनभूम्या मृतानां
 पुष्टानां वनलक्ष्मीणां नृत्यमण्डपमिव स्थितम् । ध्वनत्पद्मपदपेटकं
 अमरसमूहो यस्मिन् ॥ २२ ॥ दन्तपङ्क्तिवद्विकसन्त्या तालप-
 त्राणामावल्या पङ्कषा । उदारौ मदमन्मथो सर्वप्राणिनां यस्मिन्
 ॥ २३ ॥ तापसत्वेनोत्प्रेक्षते—चदेति ॥ २४ ॥ २५ ॥ पारं

सितहरितपीतपाटल-
धवलैर्धनकुसुमराशिनवरङ्गैः ।

दिवि विहितामलचित्रं
लीलाचलममरयुवतिवर्गस्य ॥ २७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी०दे०मोक्षो० निर्वाणप्र० पू० भुशुण्डोपाख्याने मेरुशिखरवर्णनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

पञ्चदशः सर्गः १५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

कुसुमापूर्णकल्पाभ्रकुन्तले तस्य मूर्धनि ।
कल्पाङ्गमहमद्राक्षं शाखाचक्रमिव स्थितम् ॥ १
पुष्परेण्वभ्रवलितं रत्नस्तवकदन्तुरम् ।
उत्सेधनिर्जिताकाशं शृङ्गे शृङ्गमिवापितम् ॥ २
ताराद्विगुणपुष्पौघं मेघद्विगुणपल्लवम् ।
रश्मिद्विगुणरेण्वभ्रं तडिद्विगुणमञ्जरीम् ॥ ३
स्कन्धेषु किन्नरीगीतद्विगुणभ्रमरस्वनम् ।
दोलालोलाप्सरोलोकद्विगुणीकृतपल्लवम् ॥ ४
सिद्धगन्धर्वसंघातद्विगुणोत्थविहंगमम् ।
रत्नकान्त्यच्छनीहारद्विगुणत्वग्भृतांशुकम् ॥ ५
चन्द्रबिम्बसमाश्लेषद्विगुणाङ्गवृद्धफलम् ।
मूलसंलीनकल्पाभ्रद्विगुणीकृतपर्वकम् ॥ ६
सुरसंवलितस्कन्धं पत्रविभ्रान्तकिन्नरम् ।
निकुञ्जकुञ्जमीतं कच्छसुप्तसुरादिकम् ॥ ७
स्वाकाग्विपुलं भृङ्गानुत्सार्य वलयस्वनैः ।
अप्सरोभ्रमरीभिश्च गृहीतकुसुमान्तरम् ॥ ८

सुरकिन्नरगन्धर्वविद्याधरवरान्वितम् ।
जगज्जालमिवानन्तदशाशाकाशपूरकम् ॥ ९
नीरन्ध्रकलिकाजालं नीरन्ध्रमृदुपल्लवम् ।
नीरन्ध्रविकसत्पुष्पं नीरन्ध्रवनमालितम् ॥ १०
नीरन्ध्रमञ्जरीपुञ्जं नीरन्ध्रमणिगुच्छकम् ।
नीरन्ध्रांशुकरत्नाढ्यं लताबिलसनाकुलम् ॥ ११
सर्वत्र कुसुमापूरैः सर्वत्र फलपल्लवैः ।
सर्वामोदरजःपुञ्जैः परं वैचित्र्यमागतम् ॥ १२
तस्य कक्षेषु कुञ्जेषु लतापत्रेषु पर्वसु ।
पुष्पेष्वालयसंलीनान्विहगान्दृष्टवानहम् ॥ १३
निशानाथकलाखण्डमृणालशकलं धितान् ।
अर्जुनाम्भोजिनीकन्दकवलान्ब्रह्मसारसान् ॥ १४
विरंचेरथ हंसानां पोतकान्सामगायिनः ।
कारवेदसुहृदो ब्रह्मविद्यानुशासनान् ॥ १५
उद्गीर्णमन्त्रनिचयान्स्याहाकारनिभस्वनान् ।
अस्थिनैकतडित्पुञ्जनीलमेघसमोपमान् ॥ १६

ऊर्ध्वावधिम् ॥ २६ ॥ सितहरितादिवर्णैर्धनकुसुमराशिलक्षणैः
प्रतिदिनं नवं रङ्गै रत्नकदम्बैर्दिवि व्योम्नि विहितानि लिखितानीव
अमलानि चित्राणि येन तथाविधममरयुवतिवर्गस्य लीलाचलं
क्रीडापर्वतभूतं मेरुं शिरः शृङ्गमहं संप्राप्तवानिति प्राक्तनचतु-
र्दशश्लोकेन सर्वेषामन्वयः ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे मेरुशिखरवर्णनं नाम चतु-
र्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

शृङ्गे कल्पतरुभूतः पुष्पपक्ष्यादिसंपदः ।

स्कन्धे काककुलं तत्र भुशुण्डश्चेह वर्णयते ॥ १ ॥

कुसुमापूर्णानि कल्पाभ्राण्येव कुन्तलाः केशा यस्मिन्स्थाविधे
तस्य शृङ्गस्य मूर्धनि शिरोदेशे प्राणिनामभिलषितार्थपूरणाय
कल्पन्त इति कल्पान्यङ्गानि शाखाधवयवा यस्य तथाविधं परितः
समप्रसृतशाखापङ्क्तिःत्वाच्छाखाचक्रमिव स्थितम् । परं वैचित्र्यमा-
गतमित्यन्तद्वादशश्लोकविशेषणविशिष्टमर्थात् शातातपोकं चू-
ततरुमहमद्राक्षमिति संबन्धः ॥ १ ॥ पुष्परेणुलक्षणैरभ्रैर्वलितं
व्याप्तम् । उत्सेध औन्नत्यम् । शृङ्गे प्राग्वर्णितमेरुशृङ्गे ॥ २ ॥
न केवलमुत्सेधेनैव निर्जिताकाशं किन्तु ताराद्विगुणपुष्पौघा-
दिनापीत्याह—तारेति । तडिद्विगुणमञ्जरीमिति 'नयूतश्च' इति
कपि 'न कपि' इति हस्त्रनिषेधश्छन्दसः कपो लोपः ॥३॥ दो-
लालोलाप्सरोलोकानामोष्ठकरपदपल्लवैर्द्विगुणीकृतपल्लवम् ॥ ४ ॥

कामरूपत्वात्सैरविहारार्थं कृतविहङ्गमवेषैः सिद्धगन्धर्वसंघातै-
र्द्विगुणं यथा स्यात्तथा उत्था निष्पन्ना विहङ्गमा यस्मिन् । रत्न-
कान्तिलक्षणया अच्छनीहारद्विगुणया त्वचा भृतांशुकं परिहित-
वस्त्रमिव स्थितम् ॥ ५ ॥ औन्नत्यातिशयेन चन्द्रबिम्बसमाश्ले-
षादमृतसपूलेषु द्विगुणाङ्गानि अतएव वृहन्ति फलानि यस्य ।
स्कन्धमूलेषु संलीनैः कल्पाभ्रैर्द्विगुणीकृतानीव पर्वाणि यस्य
॥ ६ ॥ ७ ॥ अप्सरोलक्षणभ्रमरीभिर्वलयस्वनैः कटककणितै-
र्शृङ्गानुत्सार्य गृहीताः कुसुमानामान्तरा मकरन्दाः यस्य । चकारः
प्राक्तनविशेषणैरस्य समुच्चयार्थः ॥ ८ ॥ जगज्जालं ब्रह्माण्ड-
मिव स्थितम् । अनन्तानामनवधीनां दशानामाशानां दिशां
परिपूरकम् ॥ ९ ॥ १० ॥ अंशुकैर्दिव्यवस्त्रै रत्नैश्चाढ्यमिवा-
र्थिकामप्रपूरकम् । लतानां विलसनं लास्यम् ॥ ११ ॥ १२ ॥
कक्षेषु स्कन्धशाखासंधिषु कुञ्जेषु लताभूतशाखाप्रेषु ॥ १३ ॥
विहगेषु विशेषमाह—निशानाथेति । निशाकरकलानां खण्डा
मृणालशकलानीव तैरेधितान्वर्धितान् तथा अर्जुनाः शुभ्रा
अम्भोजिनीकन्दा अपि कवलानि प्रासा येषां तथाविधान् ब्रह्म-
वाहनभूतान्सारसान् हंसान् ॥ १४ ॥ कारस्य वेदानां च
रहस्यार्थालोचनसहायत्वासुहृदो मित्रभूतान् परापरब्रह्मविद्यास्व-
नुशासनं गुरुमुखादिधिनाध्ययनं येषाम् ॥ १५ ॥ अभिवाहन-
शुक्रास्त्र वर्णयति—उद्गीर्णैत्यादिना । अस्थि शङ्कः नैकान्यने-

शुश्रोम वायसास्थानं नीलोत्पलसरःसमम् ।
 मत्पातमन्दवातेन भूकम्पेनेव सागरः ॥ २
 अशङ्कितमपि प्राप्तं दर्शनान्मामनन्तरम् ।
 भुशुण्डस्तु वसिष्ठोऽयं प्राप्त इत्यवबुद्धवान् ॥ ३
 पत्रपुञ्जात्समुत्तस्थौ मेघशाव इवात्रलात् ।
 हे मुने स्वागतमिति प्रोवाच मधुराक्षरम् ॥ ४
 संकल्पमात्रजाताभ्यां कराभ्यां कुसुमाञ्जलिम् ।
 मह्यमाशु तदैवादान्मेघो हैममिवोत्करम् ॥ ५
 इदमासनमित्युक्त्वा नवं कल्पतरुच्छदम् ।
 उपानीतवति त्यक्तभृत्ये वायसनायके ॥ ६
 भुशुण्ड उत्थिते स्वीयकलापक्षेषु पक्षिषु ।
 उपविष्टं मुनिं दृष्ट्वा स्वासनोन्मुखदृष्टिषु ॥ ७
 समन्तात्स्वगवृन्देन भुशुण्डेन समं ततः ।
 तस्मिन्कल्पलतापुञ्जे ह्युपविष्टोऽहमासने ॥ ८
 अर्घ्यपाद्यादि संपाद्य भुशुण्डस्तुष्टमानसः ।
 मामुवाच महातेजाः सौहृदान्मधुराक्षरम् ॥ ९

भुशुण्ड उवाच ।

अहो भगवताऽस्माकं प्रसादो दर्शितश्चिरात् ।
 दर्शनामृतसेकेन यत्सिक्ताः सद्गुमा वयम् ॥ १०
 मत्पुण्यचिरसंभारप्रेरितेन त्वयाधुना ।
 मुने मान्यैकमान्येन कुतश्चागमनं कृतम् ॥ ११
 कश्चिदस्मिन्महामोहे चिरं विहरतस्तव ।
 अखण्डितैव समता स्थिता चेतसि पावने ॥ १२
 किमर्थमघागमनक्लेशेनात्मा कदर्थितः ।
 वचनभ्रवणोत्कानामाज्ञां नो वक्तुमर्हसि ॥ १३

त्वत्पाददर्शनादेव सर्वं ज्ञातं मया मुने ।
 त्वदागमनपुण्येन वयमायोजितास्त्वया ॥ १४
 चिरंजीवितवर्चाभिर्वयं वः स्मृतिमागताः ।
 तेनेदमास्पदं पादैस्त्वं पवित्रितवानयम् ॥ १५
 ज्ञातत्वदागमोऽप्येवं त्वां पृच्छामीह यन्मुने ।
 भवद्वाक्यामृतास्वादवाञ्छितं प्रविजृम्भते ॥ १६
 इत्युक्तवानसौ पक्षी भुशुण्डश्चिरजीवितः ।
 त्रिकालामलसंवेदी तत्र प्रोक्तमिदं मया ॥ १७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

विहंगम महाराज सत्यमेतस्त्वयोच्यते ।
 द्रष्टुमभ्यागतोऽस्म्यद्य त्वामेव चिरजीवितम् ॥ १८
 आशीतलान्तःकरणो दिष्ट्या कुशलवानसि ।
 पतितोऽसि न बुद्धात्मा भीषणां भववागुराम् ॥ १९
 तदेतं संशयं छिन्धि भगवन्मम सत्यतः ।
 कस्मिन्कुले भवाञ्जातो ज्ञातक्षेयः कथं भवान् ॥ २०
 कियदायुश्च ते साधो वृत्तं सरसि किंच वा ।
 केनायं वा निवासस्ते निर्दिष्टो दीर्घदर्शिनः ॥ २१

भुशुण्ड उवाच ।

यत्पृच्छसि मुने सर्वं तदिदं वर्णयाम्यहम् ।
 अनुद्वेगितया यत्नात्कथा भ्राव्या महात्मना ॥ २२
 युष्मद्विधास्त्रिभुवनप्रभुपूज्यरूपा
 आकर्णयन्ति यमुदारधियो महान्तः ।
 तेनाशुभं प्रकथितेन विनाशमेति
 मेघास्पदेन विभवेन यथार्कतापः ॥ २३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वसिष्ठभुशुण्डसमायोगो नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

अवातरम् ॥ १ ॥ किञ्चिद्विशोभितसभ इत्येतद्विशृणोति—
 शुश्रोमेति । वायसानामास्थानं सभा ॥२॥ अशङ्कितमवितर्कि-
 तासंभावितागमनमपि मां प्राप्तम् । अबबुद्धवान् त्रिकालदर्शि-
 त्वादेवेति भावः ॥ ३ ॥ मेघशावः सूक्ष्मो मेघ इवेति यावत्
 ॥ ४ ॥ तदैव स्वागतोक्तिकाल एव । हिममेव हैमं शिशिरमा-
 सारोत्करमिव ॥५॥ त्यक्तभृत्ये । भृत्यद्वारा आसनानयनमकृत्वा
 स्वयमेवासनमादरादुपानीतवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ उत्थितान्तं पूर्वा-
 न्वयि । स्वीयाः कलाः कान्तय इव प्रसरन्तः पक्षा येषां तथा-
 विधेषु पक्षिषु तत्सभावायसेषु ॥ ७ ॥ ततस्वदनन्तरमहं
 भुशुण्डेन सममुपविष्टः ॥ ८ ॥ ९ ॥ प्रसादोऽनुग्रहः ।
 सद्गुमाः पुण्यवृक्षायमाणाः कल्पवृक्षसहिता वा । वयमिति
 निकृष्टजातिताद्योतनाय 'जात्याख्यायाम्-' इति बहुवचनम्
 ॥ १० ॥ कृतः कस्मात्प्रदेशात् ॥ ११ ॥ महामोहे
 मूलाज्ञानकार्ये जगति ॥ १२ ॥ आज्ञापनवचनभ्रवणे

उत्कानामुत्कण्ठितानां नः । आज्ञां आज्ञाप्यमर्थम् ॥ १३ ॥
 १४ ॥ सर्वं ज्ञातमिति यदुक्तं तदेव स्फुटयति—चिरमिति ।
 चिरं जीवितं येषां तद्विषयाभिश्चर्चाभिर्विचारणाभिर्न्द्रसभायां
 जाताभिः ॥ १५ ॥ यदि ज्ञातस्तर्हि किमर्थं पृच्छसि तत्राह—
 भवद्वाक्येति ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ पतितः प्रविष्टः ॥१९॥
 भगवन् 'उत्पसि च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति
 विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥' इत्युक्तज्ञानसंपन्नः
 ॥ २० ॥ वृत्तमतिक्रान्तकल्पान्तचरित्रम् । अयं एतद्बुद्धरूपो
 निवसन्नस्मिन्निति निवासः ॥ २१ ॥ भ्राव्या श्रोतव्या ॥२२॥
 यं वृत्तान्तं युष्मद्विधा आकर्णयन्ति तेन वृत्तान्तेन प्रकथितेन
 वक्तृणामन्येषां च भ्रान्तानामशुभं विनाशमेति । यथा मेघा-
 स्पदेन वृष्टिच्छायावनादिविभवेनार्कतापो विनाशमेति तद्वत्
 ॥ २३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्र-
 करणे पूर्वार्धे वसिष्ठभुशुण्डसमायोगो नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः १७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ राम भुशुण्डोऽसौ न प्रहृष्टो न वक्रधीः ।
सर्वाङ्गसुन्दरः इयामः प्रावृषीव पयोधरः ॥ १
स्निग्धगम्भीरवचनः स्मितपूर्वाभिभाषणः ।
करस्थबिम्बफलवत्प्रतोलितजगन्नयः ॥ २
तृणवद्दृष्टसकलः प्रमेयीकृतसंस्तुतिः ।
लोकाजवं जवीभावे दृष्टज्ञानपरावरः ॥ ३
धीरस्थिरमहाकारो विश्रान्ति गतमन्दरः ।
परिपूर्णमनाः शुद्धः क्षीरार्णव इवागतः ॥ ४

परिविश्रान्तधीः शान्तः परमानन्दघूर्णितः ।
आविर्भावतिरोभावतज्ज्ञः संसारजन्मनाम् ॥ ५
सरभसवदनाभिरामरूपः
प्रियमधुरोचितगानहृद्यवाक्यः ।
स्वयमिव नवमाश्रितः शरीरं
सकलभयापहरं प्रहर्षयुक्तः ॥ ६
इदममलगिरा समाह शुद्ध-
ममृतमनुजिह्वतसंभ्रमक्रमेण ।
कथयितुमखिलं निजं स्वरूपं
मधुपमिव स्तनितेन मुग्धमेघः ॥ ७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डस्वरूपवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः १८

भुशुण्ड उवाच ।

अस्त्यस्मिन्नगति श्रेष्ठः सर्वनाकनिवासिनाम् ।
देवदेवो हरो नाम देवदेवाभिवन्दितः ॥ १
षट्पदश्रेणिनयना यस्योच्चस्तवकस्तनी ।
विलासिनी शरीरार्थं लता चूततरोरिव ॥ २
हिमहारलिता यस्य लहरीस्तबकोम्भिता ।
आवेष्टितजटाजूटा गङ्गाकुसुममालिका ॥ ३

क्षीरसागरसंभूतः प्रसूतामृतनिर्हरः ।
प्रतिबिम्बकरः श्रीमान्यस्य चूडामणिः शशी ॥ ४
अनारतशिरश्चन्द्रप्रस्रवेणामृतीकृतः ।
यस्येन्द्रनीलवत्कालकूटः कण्ठे विभूषणम् ॥ ५
धूलिलेखामहावर्ते स्वच्छपावकसंभवम् ।
परमाणुमयं भस्म यस्य ज्ञानजलं सितम् ॥ ६

उपवर्ण्य भुशुण्डोऽत्र जीवन्मुक्तोचितैर्गुणैः ।

पृष्ठार्थं विस्ताराद्गुणं प्रवृत्तं इति कथ्यते ॥ १ ॥

अथ भुशुण्ड इदमाहेति सर्गान्त्यश्लोकेन संबध्यते । दृष्ट इष्ट-
लाभप्रयुक्तहर्षवान् । वक्रधीः अनृजुबुद्धिः ॥१॥ प्रतोलितं तुल-
येव इत्यस्या निश्चितं जगन्नयं येन ॥२॥ तृणवद्दृष्टं सकलं भोगवृन्दं
येन । लोकानां आजवं जवीभावे कामानुधावने विषये सम्यग्वि-
चार्य प्रमेयीकृता फलत्वेन निश्चिता जन्ममरणादिसंस्तुतिर्येन । दृष्टं
ज्ञानेन परमवरं च ब्रह्म येन ॥ ३ ॥ अमृतोत्पादनानन्तरं गतो
मन्दरो यस्मात्तथाविधः क्षीरार्णव इव विश्रान्तिमागतः ॥ ४ ॥
बहिः परिविश्रान्तधीः अन्तः परमानन्दघूर्णितः । संसारे जन्म
येषां तथाविधानां सर्ववस्तूनामाविर्भावतिरोभावौ तत् तन्निमित्तं
मायातत्त्वमात्मतत्त्वं च जानातीति आविर्भावतिरोभावतज्ज्ञः ॥५॥
प्रियं मधुरं च श्रवणोचितं वीणागानमिव हृद्यं वाक्यं यस्य सा-
क्षात्कारमात्रात्सकलभयापहरं स्वयं ब्रह्मैव जगदुद्धाराय नवं शरी-
रमाश्रितः । अत एव सहजानन्दप्रहर्षयुक्तो भुशुण्डः प्रश्नोत्तर-
कथनाय सरभसेन सोद्योगेन वदनेनाभिरामरूपः सच्चिदमाहेति
परिणामवयः ॥६॥ स भुशुण्डो मा मां प्रति शुद्धममृतमखिलं नि-
जस्वरूपमनुजिह्वतसंभ्रमेणाल्यकविनयोपचारात्साहादिपरिष्कारेण
क्रमेण कथयितुममलगिरा इदं वक्ष्यमाणवृत्तान्तमाह । यथा मुग्धः
सुन्दरो मेघः स्तनितेन स्वगर्जितरवेण मधुपं मकरन्दपानरसिकं

भ्रमरं प्रति तदेवाह तद्वत् । तथा च प्रागेव प्रबुद्धब्रह्मानन्दरसिके
मयि तदुक्तिर्नोपदेशः क्विन्नुवादमात्रमिति भावः ॥ ७ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भुशु-
ण्डस्वरूपवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

स्वजन्म वक्तुमश्र्वादी हरस्तद्गणमातृकाः ।

तासां पानोत्सवोन्मादा भुशुण्डेनात्र वर्णिताः ॥ १ ॥

तत्र 'कस्मिन्कुले भवान्जात' इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरं वक्तुं भूमिकां
रचयति—अस्तीत्यादिना । सर्वेषां नाकनिवासिनां मध्ये श्रेष्ठो
ज्ञानेश्वर्यबलादिगुणैरुत्कृष्टतमो देवानामपि देव इज्य उपास्यश्च
देवानां देवैर्ब्रह्मादिभिरप्यभितः सर्वतः सदा च वन्दितो नमस्कृ-
तः स्तुतश्चेति त्रिभिर्विशेषणैः सर्वांशेऽपि तस्यैवोत्कर्षपरमावधि-
त्वमिति दर्शितम् । अनेनार्थाद्बुद्ध्यमाणब्रह्मविद्यारम्भे मङ्गलमपि
कृतं बोध्यम् ॥ १ ॥ षट्पदानां श्रेणिवि नयनानि यस्याः ॥ २ ॥
हिममिव हार इव च सिता लहरीलक्षणैः स्तवकैरुम्भिता पूरिता ।
गुम्फितेति यावत् ॥३॥ प्रतिबिम्बकरो दर्पणभूतश्चूडामणिः ॥४॥
अनारतं शिरश्चन्द्रस्यामृतप्रस्रवेण निरस्तविषशफिराहितसंजीव-
नशक्तिशैल्यमृतीकृतः ॥ ५ ॥ तथा यस्य स्वच्छास्वाश्रिपाव-
काज्जगत्प्रलयहेतोः संभवतीति तथाविधं धूलिलेखा धूलिश्रेणि-
रूपा महान्तः प्रलयवात्यावर्ता यस्मात्तथाविधं स्थूलभूतानां
सूक्ष्मसूक्ष्मप्रवेशक्रमेण परमसूक्ष्मान्वाक्यमात्रपरिषोषात्परमाणुमयं

निर्मलानि जितेन्दुनि मृष्टानि घटितानि च ।
 वस्यास्वीन्येव रक्तानि देहकान्तमयानि च ॥ ७
 सुधाकरसुधाधौतं नीलवीरदपल्लवम् ।
 तारकाभिन्बुशबलं यस्य चाम्बरमम्बरम् ॥ ८
 भ्रमच्छिवाङ्गनापकमहामांसौशनाकुलम् ।
 बहिर्भूतं गृहं यस्य इमशानं हिमपाण्डुरम् ॥ ९
 कपालमालाभरणाः पीतरक्तवसासवाः ।
 आम्ब्रस्रग्दामवलिता बन्धवो यस्य मन्तरः ॥ १०
 प्रस्फुरन्मूर्धमणयश्चरन्तो मसृणाङ्गकाः ।
 भुजगा बलया यस्य प्रकञ्चकनकस्त्रिषः ॥ ११
 हृत्पातदग्धशैलेन्द्रं जगत्कषललालसम् ।
 म्रैरवाचरितं यस्य लीलासंज्ञासितासुरम् ॥ १२
 स्वस्थीकृतजगज्जातस्वव्यापारस्थचेतसः ।
 यहच्छया करस्पन्दो यस्यासुरपुरक्षयः ॥ १३
 एकाप्रमूर्तयः कोहरागद्वेषविवर्जिताः ।
 स्वशाना यस्य ते शैलाः सरसा अपि नीरसाः ॥ १४
 शिरःखुराः खुरकराः करदन्तमुखोदराः ।
 श्लोष्णोष्णजाहिवक्राश्च प्रमथा यस्य लालकाः ॥ १५
 तस्य नेत्रत्रयोद्गासिचदमस्यामलप्रभाः ।

सितं शुभ्रं तत्साक्षिचिन्माप्रलक्षणजलप्लावितत्वाज्ज्ञानजलं मा-
 यालक्षणं भस्म यस्य मायाशबलब्रह्मणो विभूषणमित्यनुषज्यते ।
 'हरः संछुभ्येनं भजति मसितोद्गलनविधिं' इति भगवत्पादाः
 ॥५॥ मृष्टानि क्षाणोक्तेष्वनेन मणिवच्छोधितानि । अत एव माका-
 षाकारेण घटितानि । देहेषु कान्तानि मनोरमाणि प्रकाशिशरी-
 राणि तन्मयानि तद्विकारभूतानीत्यर्थः ॥७॥ नीला नीरवा येषां
 एव पल्लवानि दशा यस्य । अम्बरमाकाशं विश्व इति भावः ।
 अम्बरं वज्रम् ॥ ८ ॥ भ्रमन्तीभिः शिवाङ्गनाभिः क्रोष्टीभिः
 पक्षीमहामर्गसिर्नेरामिर्ष्वर्योदनेषु आकुलम् । प्राग्मनगरादिभ्यो
 बहिर्भूतम् । भ्रमन्तीभिः शिवाभिः कल्याणवेषाभिरङ्गनाभिः पक्षै-
 र्महान्मूर्धमणयश्चरन्तो मसृणाङ्गकुलं व्याप्तं सर्वदो-
 षेभ्यो बहिर्भूतमित्यपि श्लेषादारोप्यते ॥९॥ मातरौ बन्धमाणाः ।
 प्रेम्णा बध्नन्तीति बन्धवः सदा क्रीडासहायाः ॥ १० ॥ चरन्तः
 पर्यायेण तत्पादभूषणाय प्रसर्पन्तः । मसृणाङ्गकाः श्लिष्टसर्वाङ्गाः
 शीप्यमानस्वर्णकान्तयः ॥११॥ यस्य भ्रंरवं मीषणमाचरितं चरि-
 त्रम् । तदेवावमुखोदहरति—हृत्पातसेत्यादिविशेषणैः ॥ १२ ॥
 सत्यसंकल्पत्वात्कल्याणचिन्तनेनैव स्वस्थीकृतं जगज्जातं येन त-
 थाविधमत एव स्वव्यापारः समाधिस्तत्त्वं चेतो यस्य तथाविधस्य
 बलं यहच्छया समाधिभङ्गे वा करस्पन्दः सोऽस्मासुराणि पुराणि
 श्लिष्टोद्गुरैः सह नाशयतीत्यासुरपुरक्षयस्तथाविधो भवतीति नि-
 शेषः ॥ १३ ॥ यस्य समाधिकाले प्रसिद्धमैकाम्यं वृत्तिवीर्यक-
 षपतमूर्तिषु प्रत्यक्षं दृश्यत इत्याशयेनाह—एकाङ्गैस्ति । कोहरा-
 गद्वेषादिर्वदोक्तमिदं विदुः रथा वृत्तिवीर्ये रक्तो जलं च तत्तद्विदा

यथा गणास्तथैवान्याः परिवारो हि मातरः ॥ १६
 नृत्यन्ति मातरस्तस्य पुरो भूतगणानताः ।
 चतुर्दशविधानन्तभूतजातैकमोजजाः ॥ १७
 खरोष्णाकारबद्धना रक्तमेदोवसासवाः ।
 दिगन्तरधिद्वारिण्यः शरीरावयवकाजः ॥ १८
 वसन्तगिरिकूटेषु व्योम्नि लोकान्तरेषु च ।
 अवटेषु इमशानेषु शरीरेषु च देहिनाम् ॥ १९
 जया च विजया चैव जयन्ती चापराजिता ।
 सिद्धा रक्तालम्बुसा च उत्वला चेति देवताः ॥ २०
 सर्वासामेव मातृणामष्टावेतास्तु नाथिकाः ।
 आसामनुगतास्त्वन्वास्तासामनुगताः पराः ॥ २१
 तासां मध्ये महार्हाणां मातृणां मुनिनाथक ।
 भलम्बुसेति विख्याता माता मानद विद्यते ॥ २२
 वज्रास्थितुण्डश्चण्डाख्य इन्द्रनीलाचलोपमः ।
 तस्यास्तु वाहनं काको वैष्णव्या गरुडो यथा ॥ २३
 इत्यष्टैश्वर्ययुक्तास्ता मातरो रौद्रश्रेष्ठिताः ।
 कदाचिन्मिलिता व्योम्नि सर्वाः केनापि हेतुना ॥ २४
 उत्सवं परमं चक्रुः परमार्थप्रकाशकम् ।
 वामस्रोतोगता एतास्तुम्बुहं दद्रमाश्रिताः ॥ २५

इति सरसा अपि स्वशानाः शोभनाशनतृप्ता इव नीरसा अशाना-
 यापिपासादितृष्णाशून्यास्ते प्रसिद्धा मेहहिमवदादयः शैला यस्य
 हरस्य एकाप्रभूता ध्यानमूर्तयः प्रसिद्धा इत्यर्थः ॥ १५ ॥ इदानीं
 तस्य गणान्तर्वाङ्गेषु सर्वशक्तिमत्तो वर्णयति—शिर इति ।
 शिरांसि खुरा धावनस्त्रण्वादिखुराशक्तिमन्ति येषाम् । तथा
 खुराश्च करा निश्चिप्रशिल्पाधिकरशक्तिमन्तो येषाम् । तथा कराश्च
 दन्तमुखोदरं चर्वणभक्षणभावपनादिशक्तिमन्तो येषाम् । श्लोष्ण
 भ्रूङ्काः उष्ण भजाः अहयः सर्पास्तेषामिव वक्राणि येषां तथा-
 विधाः प्रमथा यस्य तत्तत्काः क्रीडासहाया इत्यर्थः ॥ १५ ॥ यथा
 गणास्तथैव सर्वाङ्गेषु सर्वशक्तिमत्तो नानाकाराननाश्च मातरस्तस्य
 परिवारः ॥ १६ ॥ भुवनसंख्यया चतुर्दशविधानि स्वसंख्यया
 अनन्तानि भूतजातान्येकं मुख्यभोजनमद्यं यासाम् ॥ १७ ॥
 रक्तमेदोवसाः आसव इव सदा पेया यासाम् । शरीरावयवाः
 शबहृत्पादादयः सजो यासाम् ॥ १८ ॥ १९ ॥ तत्कल्प-
 स्थानां तासां नामान्याह—जया शैल्यादिना । देवता मातृ-
 देव्यः ॥ २० ॥ ननु 'सतकोव्यस्तु चासुष्णाः' इत्यदिवहुसं-
 ख्यत्वे तासां प्रसिद्धे कथमष्टावित्युच्यते तत्राह—स्वर्वाङ्गान्ये-
 वेति ॥ २१ ॥ तासां मध्ये सप्तमी या विद्यते तस्यास्तु वाहनं
 चण्डाख्यः काको विद्यते इति परेणाख्यः ॥ २२ ॥ २३ ॥
 इति उक्तसंख्यायां मातरः । केनापि विहारहेतुना ॥ २४ ॥
 चित्तैकान्यद्गारा समाधौ परमार्थभूतस्वामतत्त्वप्रकाशकं पानो-
 त्खम् । वामस्रोतो वाममार्गेषु परशक्तवाराधनप्रकारस्तद्गत-
 स्तुम्बुहनायानं द्रव्यमूर्तिमेवकारण्यत्वेनाश्रिताः । तुम्बुहं कं

पूजयित्वा जगत्पूज्यौ देवौ तुम्बुरुभैरवौ ।
 विचित्रार्थः कथावक्त्रुर्मदिरामदतोषिताः ॥ २६
 अथैवमावयौ तासां कथावसरतः कथा ।
 अस्मानुमापतिर्देवः किं पश्यत्यबहेलया ॥ २७
 प्रभावं दर्शयामोऽस्य पुनर्मात्सान्त्वसौ यथा ।
 दृष्टमात्रमहाशक्तिः करिष्यत्यवधीरणम् ॥ २८
 इति निश्चित्य ता देव्यो विवर्णवदनाङ्गिकाम् ।
 उग्रामेव वशीकृत्य प्रोक्षयामासुरादृताः ॥ २९
 माययापहृतां भर्तुरङ्गाद्रङ्गमुपागताम् ।
 तामालोककथां देव्यः शेषुरोदनतां गताम् ॥ ३०
 पार्वतीप्रोक्षणदिने तस्मिन्महोत्सवः ।
 बभूव तासां सर्वासां नृत्यगेयमनोहरः ॥ ३१

अत्यानन्दमनुहामरवमेवाऽम्बरं बभौ ।
 दीर्घावयवविशेषविकसितजघनोदराः ॥ ३२
 अन्या जहसुरुहामतालक्ष्वेडावनारवम् ।
 लसदङ्गविकारं च ध्वनत्सगिरिकाननाः ॥ ३३
 अन्या जगुर्ध्वनच्छैलगृहभाषानतोषिताः ।
 घारीव रवधत्रज्जगन्मण्डलकोटरे ॥ ३४
 अन्याः पानं पपुः पुष्टवर्चिताङ्गशिरःखुरम् ।
 लीलाघुरघुरारावरणदाकाशकोटरे ॥ ३५
 पपुरुवगुरघोषैः सत्सवरा जगुरुक्षु-
 जहसुरपुरद्वीपुः पेतुरुषैर्वैवल्युः ।
 ननृतुरनिशमातुः स्वादु मांसं च देव्य-
 त्त्रिभुवनमपहृतं चक्रुदन्मत्तवृत्ताः ॥ ३६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे बाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भु० मातृव्यवहारवर्णनं नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः १९

भुशुण्ड उवाच ।

इत्युत्सवे वर्तमाने तासां वाहास्त उत्तमाः ।
 तथैव मत्ता जहसुर्ननुतुः पपुरप्यसृक्तु ॥ १
 तत्रैकत्रासवोन्मत्ताः काञ्चिन्ननु रुरम्बरे ।
 रथहंस्यः स्थिता ब्राह्मण्यः काकश्चालम्बुसारथः ॥ २
 नृत्यन्तीनां च हंसीनां पिबन्तीनामथासवम् ।
 तले चान्धितटानां तु रतिः सम्यगजायत ॥ ३
 संजातरतयो मत्ताः सर्वा हंस्यः क्रमेण ताः ।

रेमिरे सह काकेनाप्यथ मत्तास्तदा किल ॥ ४
 सप्तानां कुलहंसीनां दयितां वायसस्त्वसो ।
 क्रमेणारमतेकत्र यावदन्योन्यमीप्सितम् ॥ ५
 अथ ता गर्भधारिण्यो बभूवुरतितोषिताः ।
 देव्यश्च कृतनृत्यास्ताः सुप्रशान्तमथावयुः ॥ ६
 ददुरोदनतां यातमीश्वराय प्रियामुमाम् ।
 भोजनाय महामायां देव्यस्तः शूलपाणये ॥ ७
 प्रिया मे भोजने इत्थेत्येवं च शशिसेकरः ।

वामस्रोतो वामभागस्तद्गताः सत्य आश्रिता इति वा ॥ २५ ॥
 ॥ २६ ॥ कथावसरतः परस्परसंवादकथाप्रयुक्तसुदृढमात्रव-
 हेलनप्रसङ्गेन कथा वाक् आययौ । तामेव दर्शयति—अस्मा-
 निति ॥ २७ ॥ अथासौ उमापतिर्दृष्टमात्रा महती शक्तिरस्म-
 त्प्रभावो येन तथाभूतः सन् अस्मानुद्दिश्य यथा पुनः अवधीर-
 णमबहेलनां च करिष्यति तथा अस्य प्रभावं दर्शयाम इत्य-
 न्वयः ॥ २८ ॥ उमां दृष्टशक्तिं वशीकृत्य स्वमूर्त्यन्तरत्वा-
 त्काशीनां कृत्वा यज्ञे पशुमिव समन्त्रेषाम्भसा प्रोक्षयामासुः ।
 विवर्णवदनाङ्गिकाभिरनेन वदनाद्यज्ञानां वर्णान्तरापादनेन सहसा
 पक्षा उमा प्रोक्षितेति परिज्ञातुमक्षयत्वापादनं सूच्यते
 ॥ २९ ॥ रथं मातृव्यश्चलमध्वम् । ओदनतां गतां कर्तुं
 शेषुरिव । मातृव्यमुमामूर्त्यन्तररथेन स्वात्मनि मुख्यसापायो-
 गारपरिहासक्रीडात्वाच्च न स्वमूर्त्यवहेलनादोषोऽपि । ओद-
 नतां ओदनादिसर्वभक्ष्यभोज्यलेख्यपेयात्मतां गतां कर्तुमिति
 शेषः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ तालः करतालः श्वेडा
 सिंहनादस्ताभ्यां वनारवं यथा स्थापथा जहसुः ॥ ३३ ॥
 ध्वनन्तः शैल्य गृहाश्च यस्मिन्कर्मणि तथा भवति तथा ।
 चन्द्रोदयरगेण रजत् रववत् ध्वनच्च समुद्रवारीव जगजुः ॥ ३४ ॥
 चन्दनादिना रत्नवसासकविना वा चर्चितान्धुक्तिमानि पुष्प-

न्यज्ञानि शिरआदिखुरपर्यन्तानि यथा स्युस्तथा पानं पपुः ॥ ३५ ॥
 तासामुन्मत्तवृत्तान्येव कानिचिदभिलषणुपसंहरति—पपुरिति ।
 पपुः पेयानि । अपुः परस्परं ररक्षुः । परस्परमुखे भ्रमौ वा
 अहोषुः । अपहृतं परिहृतं स्वाचारशिक्षया अपगतसदृशं वा
 ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे मातृव्यवहारवर्णनं नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥
 ब्राह्मी हंस्यः चण्डयोगास्त्वजन्म भ्रातृभिः सह ।
 ब्राह्म्याः प्रसादाज्ज्ञानासिः पितुः स्थानासिक्थ्यते ॥ १ ॥
 तासां मातृणाम् । वाहा वाहनभूताश्चण्डादयः ॥ १ ॥ तत्र
 तस्मिन्नुत्सवे ब्राह्म्यो ब्रह्मणीसंबन्धिन्यो रथहंस्यः अकस्तुसाया
 रथो वाहनभूताश्चण्डादयः काकश्च एकत्र स्थिता ननुतुः ॥ २ ॥
 अन्धितटानां वेल्गनां तले समभ्रप्रदेशे इति उदीपनविभा-
 बोक्तिः । रतिरजुरागः ॥ ३ ॥ मत्तत्वादेवोत्कृष्टजातीनामपि
 हंसीनां निकृष्टजातीयेनापि काकेन सह रतिरनुष्वितापि संप-
 ज्ञेति सूचनायापिशब्दः ॥ ४ ॥ एकत्रेति वीप्सितम् । एकैकस्यां
 हंस्यां यावदन्योन्यमीप्सितमिच्छ्यपूर्तिस्त्वावदरमतेत्यर्थः ॥ ५ ॥
 अथ कृतोत्सवकृत्यास्ता देव्यो मातरश्च स्वमायाचेष्टाऽविमर्शा-
 त्सुप्रशान्तमकुप्यन्तं र्थं ययुः ॥ ६ ॥ अत एव ओदनतां
 माताभ्यां तले ईश्वराय भोजनार्थं ययुः ॥ ७ ॥ नष्ट शशि-

बुद्धा बभूव रुषितो यदा मातृगणं प्रति ॥ ८
तदा तास्तां समुत्पाद्य स्वाङ्गदानेन वै पुनः ।
ददुर्भूयो विवाहेन पार्वतीमिन्दुमौलये ॥ ९
ततो देव्यो हरश्चैव परिवारस्तथैतयोः ।
सर्वे संतुष्टमनसः स्वां स्वामुपययुर्दिशम् ॥ १०
अन्तर्बन्धयो बभूवुस्ता ब्राह्मयो हंस्यो मुनीश्वर ।
वृत्तान्तं कथयामासुर्ब्राह्मया देव्या यथास्थितम् ॥ ११

ब्राह्मयुवाच ।

हे वत्स्यः सांप्रतं वत्सवत्यो मे रथकर्मणि ।
न समर्था भवन्त्यो हि स्वैरं चरत सांप्रतम् ॥ १२
इति गर्भालसा हंसीरुक्त्वा देवी दयापरा ।
निर्विकल्पसमाधाने ब्राह्मी तस्यो यथासुखम् ॥ १३
अजनाभिसरोजान्तवैरिञ्चकमलाकरे ।
गर्भालसा विचेरुक्त्वा राजहंस्यो मुनीश्वर ॥ १४
एवं विपक्वगर्भास्ता नाभीकमलपल्लवे ।
सुवते स्म मृदून्यण्डान्यथ वल्लय इवाङ्कुरान् ॥ १५
तानि कालं समासाद्य ततोऽण्डान्येकविंशतिः ।
गर्भाकान्त्या द्विधा जग्मुर्ब्रह्माण्डानीव सारवत् ॥ १६
अण्डेभ्यस्तेभ्य एवं हि जाता वयमिमे मुने ।
आतरश्चण्डतनया वायसा एकविंशतिः ॥ १७
ते संजाता गता वृद्धिं तस्मिन्कमलपल्लवे ।
संजातपक्षाः संपन्ना गगनोद्भयने क्षमाः ॥ १८
मातृभिः सह हंसीभिर्ब्राह्मी भगवती ततः ।
चिरमाराधिता सम्यक्समाधिविरता सती ॥ १९
प्रसादपरया काले भगवत्या ततः स्वयम् ।

शेखरो मे प्रिया भोजने दत्तेति बुद्धा मातृगणं प्रति रुषितो
बभूव तदा ता मातरस्तां पार्वतीं स्वाङ्गदानेन स्वस्वाङ्गैः शिर-
आयेकैकावयवकल्पनेन पुनरुत्पाद्य भूयो विवाहेन पाणिप्रहण-
विधिना ददुरिति द्वयोरन्वयः ॥ ८ ॥ ९ ॥ एतयोर्देवीहरयोः ।
मातृणां देव्यंशत्वेनैकीकारादेकशेषे द्विवचनम् ॥ १० ॥ अन्त-
र्बन्धयो गर्भिण्यः ॥ ११ ॥ वत्सवत्यो गर्भिण्यः ॥ १२ ॥ इति
उक्त्वा तदनुग्रहय संचारं विहाय निर्विकल्पाख्ये ममाधाने
समाधौ ॥ १३ ॥ अजस्य विष्णोर्नाभिसरोजस्यान्ते मूले वैरि-
शस्य कमलस्याकरे उत्पत्तिस्थाने विचेरुः ॥ १४ ॥ नाभिकम-
लस्य पल्लवे किसलयप्रदेशे ॥ १५ ॥ गर्भाकान्त्या परिपक्वगर्भ-
पादविक्षेपेण द्विधा जग्मुः अभिद्यन्त । यथा सारवत् सार-
वन्ति, व्यत्ययेनैकवचनम् । ब्रह्माण्डानि स्वर्णरजतस्वर्पराभ्याम-
भिद्यन्त तद्वत् ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ 'ज्ञातज्ञेयः कथं भवान्'
इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमुपक्रमते—मातृभिरिति । मातृभिः
सह चिरमाराधिता अस्माभिरिति शेषः ॥ १९ ॥ तथा तादृशेन
तत्त्वसाक्षात्कारफलेन अनुगृहीताः स्मः ॥ २० ॥ तिष्ठामः
स्थास्याम इति निश्चित्य पितुः पार्श्वे विन्ध्यकच्छे ॥ २१ ॥

तथाङ्गानुगृहीता स्मो येन मुक्ता वयं स्थिताः ॥ २०
संशान्तमनसः शान्ता एकान्ते ध्यानसंस्थितौ ।
तिष्ठाम इति निश्चित्य पितुः पार्श्वे वयं गताः ॥ २१
आलिङ्गितास्ततः पित्रा पूजितालम्बुसा वयम् ।
तया दृष्टाः प्रसादेन संस्थितास्तत्र संयताः ॥ २२
चण्ड उवाच ।

पुत्राः कश्चिदपर्यन्तवासनातन्तुगुण्ठितात् ।
भवन्तो निर्गता नूनमस्मात्संसारजालकात् ॥ २३
नो चेद्वयं भगवतीं तदिमां भृत्यवत्सलाम् ।
प्रार्थयामो यथा यूयं भवथ ज्ञानपारगाः ॥ २४

काका ऊचुः ।

तात ज्ञातमलं ज्ञेयं ब्राह्मया देव्याः प्रसादतः ।
किंत्वेकान्तस्थितेः स्थानमभिवाञ्छाम उत्तमम् ॥ २५
चण्ड उवाच ।

सर्वरत्नगणाधारः समस्तसुरसंश्रयः ।
अस्ति ह्येव महोत्सेधो मेरुर्नाम महीधरः ॥ २६
लसच्चन्द्रार्कदीपस्य भूतवृन्दकलत्रिणः ।
ब्रह्माण्डमण्डपस्यान्तःस्तम्भः कनकनिर्मितः ॥ २७
सौवर्णवन्द्रपीठाढ्यो रत्नाढ्यशिखराङ्गुलिः ।
ध्वनद्वीपाब्धिबलयो भुवेषोन्नमितो भुजः ॥ २८
वृत्तः कुलाद्रिसामन्तैर्जम्बूद्वीपासने स्थितः ।
राजा चन्द्रार्कनयने भ्रमयञ्छैलसंसदि ॥ २९
तारौघमालतीमाल्यो दिग्दशैकाम्बराम्बरः ।
नागजातिद्वयस्थात्मा नाकनायकभूषणः ॥ ३०

पूजिता अलम्बुसा येः । संयता विनयादिगुणयन्त्रिताः ॥ २२ ॥
संसारलक्षणाजालकात्पश्चिबन्धनानायाजिर्गताः कश्चिदितीष्टप्रश्ले
॥ २३ ॥ तत्तदर्थम् । भवथ भविष्यथ ॥ २४ ॥ एकान्ते
स्थितेरवस्थानस्य योग्यं स्थानं निवासमभिवाञ्छामः ॥ २५ ॥
॥ २६ ॥ मेरुमेव वर्णयति—लसदित्यादिना । भूतवृन्दैः प्राणि-
समूहैः कलत्रिणः कुटुम्बिनो ब्रह्माण्डलक्षणस्य मण्डपस्य गृहस्य
अन्तःस्तम्भो मध्यस्तम्भः ॥ २७ ॥ सौवर्णेन चन्द्राकारेण पीठेन
मूलबन्धाङ्गसदृशेन किंपुरुषादिवर्षगणेन आढ्यः संपन्नः रत्नमयैर-
ङ्गुलीयैर्काराढ्याः शिखराण्येवाङ्गुलयो यस्य ध्वनन्तो द्वीपा अन्धयश्च
बलयो यस्य । ईदृशो भुवा उन्नमित ऊर्ध्वोक्तो भुज इव स्थितः
॥ २८ ॥ तमेव राजत्वेन वर्णयति—वृत्त इत्यादिभिः । जम्बूद्वी-
पलक्षणे आसने सिंहासने राजा शैलानामिति शेषः । अत एव
शैलसंसदि चन्द्रार्कलक्षणे नयने भ्रमयन् ॥ २९ ॥ तारौघा एव
मालतीमाल्यानि यस्य । दिश एव दशा यस्य तथाविधमेक-
मम्बरमाकाशमेवाम्बरं वक्त्रं यस्य । नागशब्दार्थभूतस्य सर्पगज-
जातिद्वयस्य आधारः । नाकनायका इन्द्रादय एव भूषणानि

दिगङ्गनाभिरभितो रम्याभिः पुरभूषणैः ।
 एष निस्यन्दिभिः शीतैर्वीजितो घनचामरैः ॥ ३१
 बोडशास्य सहस्राणि योजनानामधः क्षितौ ।
 स्थिताः पादाः प्रपूज्यन्ते नागासुरमहोरगैः ॥ ३२
 अशीतिश्च सहस्राणि देहोऽस्याकन्दुलोचनः ।
 पूज्यते नाकसदने सुरगन्धर्वकिन्नरैः ॥ ३३
 चतुर्दशविधान्येन गृहस्थमिव बान्धवाः ।
 उपजीवन्ति भूतानि मिथो दृष्टपुरास्पवम् ॥ ३४
 अस्य त्वीशानदिग्भागे पद्मरागमयं बृहत् ।
 विद्यते शृङ्गमपरो दिवाकर इवोदितः ॥ ३५
 अस्यास्ति पृष्ठे भूतौघवृतः कल्पतरुर्महान् ।
 जगतः शिखरादर्शं प्रतिबिम्बमिव स्थितः ॥ ३६
 तस्यास्ति दक्षिणस्कन्धे शाखा कनकपल्लवा ।
 रत्नस्तवकनीरन्ध्रा चन्द्रबिम्बोल्लसत्फला ॥ ३७
 तत्र पूर्वं मया नीडं कृतमासीत्स्फुरन्मणि ।
 देव्यां ध्याननिपण्णायां यस्मिन्किल रमे सुताः ॥ ३८
 रत्नपुष्पदलच्छन्नं रसायनफलान्वितम् ।
 चिन्तामणिशलाकाभिर्विहितालिन्दसंस्थिति ॥ ३९
 बुद्धिपूर्वसमाचारैः संपूर्णं काकपुत्रकैः ।
 शीतलाभ्यन्तरं हृद्यं पूरितं कुसुमोत्करैः ॥ ४०
 तद्ब्रह्म सुता नीडं दुर्गं नाकवतामपि ।

इत्याषं श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्र० पू० भुञ्जु० आलयलाभो नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९॥

भोगं मोक्षं च तत्रस्था निर्विघ्नमलमाप्यथ ॥ ४१
 इत्युक्त्वास्मान्पिता तत्र चुचुम्बाभ्यालिलिङ्ग च ।
 ददौ देव्या यदानीतमस्मभ्यं च तदामिषम् ॥ ४२
 तद्भुक्त्वा चरणौ देव्याः पितुश्चैवाभिवाद्य च ।
 विन्ध्यकच्छाद्वयं तस्मात्स्थानादालम्बुसात्प्लुताः ॥ ४३
 क्रमेणाकाशमुल्लङ्घ्य निर्गत्याम्बुदकोटरैः ।
 पवनस्कन्धमासाद्य वन्दितव्योमचारिणः ॥ ४४
 परिहृत्य दिनाधीशं लोकान्तरपुरं गताः ।
 स्वर्गमुल्लङ्घ्य याताः स्मो ब्रह्मलोकं मुनीश्वर ॥ ४५
 प्रणामपूर्वं तत्रैतद्यथावत्पितुर्वचः ।
 मात्रे च भगवत्यै च ब्राह्म्यै चाशु निवेदितम् ॥ ४६
 ताभ्यां सन्नेहमालिङ्ग्य गच्छतेत्याज्ञयैधिताः ।
 वयं कृतनमस्कारा ब्रह्मलोकाद्विनिर्गताः ॥ ४७
 उल्लङ्घ्य लोकपालानां पुरीस्तपनभास्वराः ।
 आकाशगामिनो लोलाः पवनस्कन्धचारिणः ॥ ४८
 इमं कल्पतरुं प्राप्य निजं नीडं प्रविश्य च ।
 दूरस्थवाधास्तिष्ठामो मुने मौनमवस्थिताः ॥ ४९
 जाता यथा वयमिमे स्थितिमागताश्च
 संप्राप्य बोधमुपशान्तधियो यथावत् ।
 एतत्तदुक्तमविखण्डमलं मया ते
 शेषेण मां समनुशाधि महानुभाव ॥ ५०

विंशः सर्गः २०

भुञ्जुण्ड उवाच ।

आसीत्किञ्चित्पुरा कल्पे जगद्यच्चिरमास्थितम् ।

यस्य ॥ ३० ॥ घना मेघास्तल्लक्षणैर्नालश्वेतादिचामरैः ॥ ३१ ॥
 ॥ ३२ ॥ पूज्यते सेव्यते ॥ ३३ ॥ ब्रह्मर्षयो देवर्षयो राज-
 र्षयो देवाः पितरो गन्धर्वाः किन्नरा अप्सरसो विद्याधरा यक्षा
 रक्षांसि प्रमथा गुह्यका नागाश्चेति चतुर्दशविधानि भूतान्यति-
 विस्तीर्णत्वान्मिथो न दृष्टानि पुराणि आस्पदानि स्थानानि च
 यत्र तद्यथा स्यात्तथा उपजीवन्ति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ शिखर-
 लक्षणे विदुमादर्शं जगतः प्रतिबिम्बमिव स्थितः कल्पतरुः
 ॥ ३६ ॥ चन्द्रबिम्बानीवोल्लसन्ति फलानि यस्याम् ॥ ३७ ॥
 स्फुरन्तो मणयो यस्मिन्स्तथाविधं नीडम् ॥ ३८ ॥ चिन्तामणि-
 शलाकाभिर्विहिता अलिन्दसंस्थितिर्बहिर्द्वारप्रकोष्ठरचना यस्मिन्
 ॥ ३९ ॥ बुद्धिपूर्वसमाचारैर्विचारपूर्वव्यवहारशीलः ॥ ४० ॥
 नाकवतां देवानामपि दुर्गम् ॥ ४१ ॥ आसिषं मांसम् ॥ ४२ ॥
 आलम्बुसादलम्बुसानिवासात् ॥ ४३ ॥ वन्दिता व्योमचारिणो
 देवा यैः ॥ ४४ ॥ अस्माल्लोकाल्लोकान्तरं स्वर्गस्तपुरममराव-
 दीम् ॥ ४५ ॥ तत्र ब्रह्मलोके ॥ ४६ ॥ गच्छन्ति आज्ञया
 आज्ञादानेनाशिषा च एधिता वर्धिताः ॥ ४७ ॥ तपनव-

संनिवेशेन चैतद्ब्रह्मपि च न दूरगम् ॥ १

द्भास्वराः ॥ ४८ ॥ मांनं यथा स्यात्तथा अवस्थिताः । मदा समा-
 धिपग इति यावत् ॥ ४९ ॥ उक्तमुपसंहरति—जाता इति ।
 हे महानुभाव, वयं जाताः । यथा च यथावद्बोधं संप्राप्य
 स्थितिमेतत्स्थाननिवासमागताश्चेत्येतत्प्रश्नयोत्तरं सर्वमविखण्डं
 यथा स्यात्तथा ते तुभ्यमुक्तम् । अतः परं शेषेणावशिष्टेन 'किञ्चिदा-
 युश्च ते साधो वृत्तं स्मरसि किञ्च वा' इति प्रश्नद्वयोत्तरेणान्येन वक्त-
 व्यनिमित्तेन मां सम्यगनुशाधि आज्ञापय तदपि तुभ्यं वदिष्यामी-
 त्यर्थः ॥ ५० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे आलयलाभो नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९॥
 प्रतिकल्पं जगत्सारम्यं आदृणां निधनं तथा ।
 प्रलयेऽपि भुञ्जुण्डोऽत्र स्वधित्तस्थैर्यमुक्तवान् ॥ १ ॥
 तत्र 'वृत्तं स्मरसि किञ्च वा' इति प्रश्नस्य विस्तरेणोत्तरं वक्तु-
 कामो वक्ष्यमाणबहुकल्पस्यजीवनोक्तैः 'इमं कल्पतरुं प्राप्य
 निजनीडं प्रविश्य च' इत्याद्युक्तेषु पूर्वोत्तरविरोधाशङ्का मा भू-
 दिति कल्पवृक्षमेवादीनां प्रतिकल्पं संस्थानसाम्यादैक्यवाद्
 इत्याशयं दर्शयति—आसीदित्यादिना । पुरा अस्यजन्महेनौ

तदेतद्वृत्तमभ्यासाद्दत्तमात्रेण वर्णितम् ।
मया मुनीन्द्र बोधाय प्राग्जन्मसाध्यपरिमा ॥ २
अथ मे फलितं पुण्यैश्चिरकालोपसंभृतैः ।
निर्विघ्नमेव पश्यामि यद्भवन्तं मुने ततः ॥ ३
इदं भीडमिमां शास्त्रामहं ज्ञापयन्वे मुमः ।
अथ पावकतां प्राप्तान्येतानि तव दर्शनात् ॥ ४
इदमर्घ्यमिदं पाद्यं पृष्टीत्वा विद्वगार्पितम् ।
नूनं पावनतां गीत्वा शेषेणादिश आशु भोः ॥ ५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इदमर्घ्यं च पाद्यं च भूवो हस्तवति स्वयम् ।
भुशुण्डविद्वगे तस्मिन्निदं रामाहमुक्तवान् ॥ ६
भातरस्ते विद्वद्देश तावत्कस्त्वा महाधिपः ।
इह कस्मात् इदमन्ते त्वमेवैको हि दृश्यसे ॥ ७

भुशुण्ड उवाच ।

तिष्ठतामिह नः कालो महानतिगतो मुने ।
युगानां पङ्क्तयः क्षीणा दिवसानामिवानघ ॥ ८
एतावताथ कालेन सर्वं एव ममानुजाः ।
तनुस्त्वणमिव त्यक्त्वा शिवे परिणताः पदे ॥ ९
दीर्घायुषो महान्तोऽपि सन्तोऽपि बलिनोऽपि च ।
सर्वं एव निगीर्यन्ते कालेनाकलितात्मना ॥ १०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स्कन्धव्यूढार्कशशिषु बहत्सविरतं जघात् ।
घातस्कन्धातिवातेषु कश्चित्तात न खिद्यसे ॥ ११
वग्धोदयास्तशैलेन्द्रवनव्यूहै रवेः करैः ।
चिरमत्यन्तमासन्नैः कश्चित्तात न खिद्यसे ॥ १२

कल्पे यत् किञ्चिन्नगतं पदार्थवृन्दं चिरमस्वितं तत्संनिवेशेन
अवयवसंस्थानाकृत्यादिना एतद्वत् एतत्कल्पीयपदार्थवदेव
आसीत् । अतस्तदेषां च इत्थं अभेदारोपात्सन्निहितमेवैति
शुद्धा इमं कल्पतस्मिन्त्यादिनिर्देश इत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्तस्मा-
द्वृत्तमधीतव्यमपि अगजान्त्वभ्यासाद्दत्तमात्रेण जमता ऐक्येव
वर्णितम् ॥ २ ॥ तत्र दीर्घकथाप्रस्तावे पूजाविलम्बो मा भू-
दिति अथमं पूजास्वीकारं प्रार्थयितुं सुत्या अभिमुखीकरोति—
अथेति द्वाभ्याम् ॥ ३ ॥ इत्यां शास्त्रामनुगतमिदं नीरुम् ।
एतामीति 'नपुंसकमनपुंसकेन' इति नपुंसकेकशेषः ॥ ४ ॥
शेषेणान्निष्ठशेषाविषयण निमित्तेन आदिश प्रधानबहुमि-
त्यर्थः ॥ ५ ॥ भूयः द्वितीयवारम् । उक्तवान् पृष्टवान् ॥ ६ ॥
॥ ७ ॥ ८ ॥ तनूः शरीराणि ॥ ९ ॥ अकलितात्मना अल-
क्षितस्वरूपेण ॥ १० ॥ स्कन्धेषु माण्डव व्यूढा अर्का द्वादशा-
दिस्रः अश्विनश्च यैस्त्वयाविषेषु घातस्कन्धप्रवाहादिमरुदतिक्रा-
मिषु प्रस्रववायुभेदेषु ॥ ११ ॥ १२ ॥ पाषाणवद्दनीकृतानि
शरीरिणि यैस्त्वयाविधिरिन्दोः करैरासन्नप्रलयान्बुद्धकरकापातैश्च
॥ १३ ॥ इह मेरुशिखरे विश्रान्तैः परश्वनपि छिन्दन्ति
अतथारान्कूर्वान्ति शिलीभूता नीरुण्य येभ्यसैः ॥ १४ ॥ १५ ॥

इन्दोरथ करैः गीतैः पाषाणीकृतधारिभिः ।
आसन्नकरकापातैः कश्चित्तात न खिद्यसे ॥ १३
अजस्रमिह विश्रान्तैः कल्पजीमूतमण्डलैः ।
परशुच्छेदनीहारैः कश्चित्तात न खिद्यसे ॥ १४
विषमैर्जागतैः क्षोभैश्चैस्तरपदस्थितः ।
कथं न क्षोभमायाति कल्पवृक्षोऽयमुजतः ॥ १५
भुशुण्ड उवाच ।

निरालम्बास्पदा ब्रह्मन्सर्वलोकावहेलिता ।
तुच्छेयं सर्वभूतानां मध्ये विद्वगजीविका ॥ १६
ईदृशेषु च भूतेषु निर्जनेषु वनेषु च ।
कल्पितास्थास्थितिर्धात्रा शून्ये वा व्योमवत्सर्गि ॥ १७
कथमस्यां प्रभो जातौ जातस्य चिरजीविनः ।
आशापाशनिबद्धस्य विद्वगस्य विशोकिता ॥ १८
वयं तु भगवन्नित्यमात्मसंतोषमास्थिताः ।
न कदाचन नीरूपे मुह्यामो जातविभ्रमैः ॥ १९
स्वभावमात्रसंतुष्टाः कष्टैर्मुक्ता विचेष्टितैः ।
क्षिपामः केवलं कालमस्मिन्ब्रह्मनिजालये ॥ २०
न जीवितान्न मरणात्कर्मदेहस्य रोधनम् ।
यथा स्थितेन तिष्ठामस्तर्धवास्तंगतेहिताः ॥ २१
आलोकिता लोकदशा दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ।
नूनं संत्यक्तमस्माकं मनसा चञ्चलं वपुः ॥ २२
अनारतनिजालोके नित्यं चापरितापिणि ।
कल्पागस्योपरि सदा वैशि कालकलागतिम् ॥ २३
रज्जुच्छप्रकाशाद्ये ब्रह्मन्कल्पलतागृहे ।
प्राणापानप्रवाहेण वैशि कल्पमखण्डितम् ॥ २४

कृच्छ्रकालेषु महतामपि खेदः संभावितः किं पुनर्विहग्यधमयो-
निजातस्य मम तथापि विवेकप्रभावात् खेदप्रसक्तिरिति वक्तुं
स्वयोनिजीविकाया इतरजीविकापेक्षया फल्गुतामाह—निरा-
लम्बेति । निरालम्ब आकाशस्तदास्पदा ॥ १६ ॥ ईदृशेषु फल्गु-
ष्वपि भूतेषु योनिषु । धात्रा आस्थया प्रीत्या स्थितिर्जीविका
कल्पिता तच्चित्रमित्यर्थः । इवार्थे वाशब्दः ॥ १७ ॥ १८ ॥
नीरूपे निःस्वरूपे ॥ १९ ॥ कष्टैः क्लेशफलैः परपीडादिविचेष्टि-
तैर्मुक्ताः ॥ २० ॥ जीविताजीवनात् । देहस्य कर्म ऐहिकामु-
ष्मिकफलार्था क्रियाम् । नापि मरणाद्देहस्य रोधनं नाद्यं बाह्या-
मेत्युभयत्र शेषः । यथा इदानीं स्थितेन नित्यसिद्धनिरति-
शयानन्दात्मस्वभावेन तिष्ठामस्तर्धवाप्रेऽपि तेनैवास्तंगतेहिताः
पूर्णकामाः स्थास्याम इत्यर्थः ॥ २१ ॥ लोकानां दशा जन्म-
मरणाद्यनर्थदशा । मिथ्यात्वनिर्णायिकाः स्वप्रादिदृष्टान्तदृष्टयो
दृष्टाः ॥ २२ ॥ तत्र तावत्कल्पान्तपर्यन्तं कल्पवृक्षप्रभावादेव
नास्माकं खेदप्रसक्तिरित्याह—अनारतेत्यादिना । कल्पागस्य
कल्पवृक्षस्य ॥ २३ ॥ प्रकाशबहुलत्वाद् विज्ञेयदिनरात्रिविभा-
गेऽत्र कथं कालकलागतिं वेत्सि तत्राह—रज्जोति । प्राणापानप्र-

१ निर्जनेषु इते पाठः.

अभिज्ञातदिवाराणौ ह्यस्मिन्नुच्चैः क्षिलोच्चये ।
 जानामि निजया बुद्ध्या लोककालक्रमस्थितिम् ॥ २५ ॥
 सारासारपरिच्छेदि बोधाद्विभ्रान्तिमागतम् ।
 निरस्तचापलं शान्तं सुस्थिरं मे मुने मनः ॥ २६ ॥
 संसारव्यवहारोत्थैराज्ञापाशैरसम्मयैः ।
 उद्गारैरिव भूकालो न वैबद्धं वज्रम्वहम् ॥ २७ ॥
 पदोपशमभक्तिष्यन् बन्धमाकोकशीतया ।
 पश्यन्तो जागर्ती मायां धिया धैर्यमुपागताः ॥ २८ ॥
 भीमास्वपि महाबुद्धे दशाक्षचलबुद्धयः ।
 विनिर्मलोपलाकाराः संप्राप्तास्तु यथाक्रमम् ॥ २९ ॥
 इयमारम्भसुभगा तरला जागती स्थितिः ।
 भूयो भूयः परामृष्टा न च किञ्च न बाधते ॥ ३० ॥
 सर्वाण्येव प्रयान्त्वेव समायान्ति च वा न वा ।
 भगवन्भूतजालानि भयमस्माकमत्र किम् ॥ ३१ ॥
 भूतजालतरङ्गिण्या विशन्त्याः कालसागरे ।
 वयं संसारसरितस्तटस्था अप्यनादृताः ॥ ३२ ॥
 नोज्ञामो न च गृह्णीमस्तिष्ठामो नेह च स्थिताः ।
 मृदुपादा इशा क्रूरा वयमस्मिन्नुमे स्थिताः ॥ ३३ ॥
 इत्यार्षे श्रीवाशिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे ५०

वीतशोकभयायासैस्त्वाहशैः पुरुषोत्तमैः ।
 तुष्टैरनुगृहीताः सः संस्थिता विगतामयाः ॥ ३४ ॥
 ततस्ततश्च पर्यस्तं लुडितं न च वृत्तिषु ।
 नापरामृष्टतस्वार्थमस्माकं भगवन्मनः ॥ ३५ ॥
 निर्विकारे गतक्षोभे चात्मन्युपशमं गते ।
 चित्तरङ्गाः प्रबुद्धाः सः पर्वणीव महारुध्यः ॥ ३६ ॥
 भवदागमनाद्ब्रह्मनिवानीं मुदिताशयाः ।
 मन्दरोद्भूतसर्वाङ्गः क्षीरोदो येन तन्यते ॥ ३७ ॥
 नातः परतरं किञ्चिन्मन्ये कुशलमात्मनः ।
 सन्तो यदनुगम्यन्ते संत्यक्तसकलैषणाः ॥ ३८ ॥
 आपातमात्ररम्येभ्यो भोगेभ्यः किमवाप्यते ।
 सत्सङ्गचिन्तामणितः सर्वसारमवाप्यते ॥ ३९ ॥
 त्रिगुणगम्भीरमसृणमधुरोदारधीरशक् ।
 त्रैलोक्यपद्मकोशेऽस्मिन्स्त्वमेकः षट्पदायसे ॥ ४० ॥
 अधिगतपरमात्मनोऽपि मन्ये
 भवदवलोकनशान्तदुष्कृतस्य ।
 मम सफलमिहाद्य जन्म साधो
 सकलभयापहरो हि साधुसङ्गः ॥ ४१ ॥
 भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डस्वरूपनिरूपणं नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः २१

भुशुण्ड उवाच ।

युगक्षोमेषु घोरेषु वाफयासु विषमासु च ।
 सुस्थिरः कल्पवृक्षोऽयं न कदाचन कम्पते ॥ १ ॥
 भगव्योऽयं समप्राणां लोकान्तरविहारिणाम् ।

वाहेण स्वरोदयशास्त्रप्रसिद्धोपायेनेत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ मनः-
 स्त्रैयबलादपि न मे खेदप्रसक्तिरित्याशयेनाह—सारेति ॥ २६ ॥
 उद्गारश्चनिप्रयैरल्पध्वनिभिः प्राकृतो भूकाल इव नाहं वैबद्धं
 मयं व्रजामि ॥ २७ ॥ धीरत्वादिपि नास्माकं खेदप्रसक्तिरि-
 त्याह—वरेति ॥ २८ ॥ दशाक्षमनुसृत्य भीमास्वपि दशासु
 संप्राप्तास्तु विनिर्मलोपलः स्फटिकावित्तदाकारास्तत्सदृशाः ॥ २९ ॥
 जगत्स्वस्य भूयो किमर्शबलादपि न खेदप्रसक्तिरित्याह—इय-
 मिति ॥ ३० ॥ 'जातस्य हि भ्रुवो मृत्युर्भुवं जन्म मृतस्य च' इति
 भगवद्दर्शितदिशा सर्वसाधारणे दुःखे अपरिहार्यतानिश्चयाद्वा न
 भयप्रसक्तिरित्याह—सर्वाणीति । वा अथवा न वा प्रयान्ति न वा
 समागच्छन्ति । परमार्थदृष्टोत्तरार्थः ॥ ३१ ॥ तत्त्वज्ञस्य स्वस्य तटस्थ-
 तया सर्वभूतसंसारद्रष्टृत्वात्प्रादुराभावाच्च न भयप्रसक्तिरि-
 त्याह—भूतेति ॥ ३२ ॥ व्यवहारमात्रसिद्धये सकण्ठकभुवीव
 साधधानतया संसारे क्रमणान्मृदुपादाः । तत्त्वदृशा संसारोच्छे-
 दित्वात्क्रूराः ॥ ३३ ॥ महतामनुग्रहादपि न नः खेदप्रसक्ति-
 रित्याह—धीतेति ॥ ३४ ॥ व्यवहारमात्रसिद्धये ततस्ततः पर्य-
 क्षमपि रागादिदृष्टिषु न लुडितम् ॥ ३५ ॥ पितः सर्वतो
 यो० वा० १०३

भूतानां तेन तिष्ठाम इह साधो सुखेन वै ॥ २ ॥
 हिरण्याक्षो धरापीठं द्वीपस्ततकवेष्टितम् ।
 यदा जह्वार तरसा नाकम्पत तदा तदः ॥ ३ ॥
 यदा लोलायितवपुर्वभूवामरपर्वतः ।

ब्रह्माकारवृत्तिचन्द्रोदयोद्विक्रमोधा एव तरङ्गा येषां तथाविधाः
 सन्तः पर्वणि महाभय इव प्रबुद्धाः स्यः ॥ ३६ ॥ तादृश
 वयं इदानीं भवदागमनाद्धेतोः । येनोद्भवेन क्षीरोदः क्षीरसा-
 गरो मन्दरोद्भूतसर्वाङ्गो निर्मथ्यमानस्तन्यते तेनामृतेन मुदिता-
 शयाः संपन्ना इत्यर्थः । 'खन्यते' इति पाठेऽप्यवधार्यते मथ्यत
 इत्येकार्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ सर्वसारं ज्ञानम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 भवदवलोकनेन शान्तं दुष्कृतं दुष्टप्रारब्धं यस्य तथाविधस्य
 मम जन्म अद्य सफलं निरतिशयानन्दफलयुक्तमभूदित्यर्थः
 ॥ ४१ ॥ इति श्रीवाशिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे पूर्वार्धे भुशुण्डस्वरूपनिरवाणं नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

कल्पवृक्षस्य माहात्म्यं प्रलये धारणास्थितिः ।

निपतिर्भूरिन्ध्रिप्रार्थस्त्वृत्तिश्चात्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

स्वाभ्रयकल्पवृक्षमाहात्म्योपवर्णने युगान्तोत्पातादिषु स्वस्य
 खेदाप्रसक्तिप्रपञ्चनमुखेन 'वृत्तं स्मरसि किञ्च वै'ति प्रश्नोत्तरं
 वक्तुमुपक्रमते—युगक्षोमेष्वित्यादिना ॥ १ ॥ २ ॥ यद्यपि
 धरया सह कल्पवृक्षस्यापि हरणं विद्यत एव तथापि
 दिव्यप्रभावकाप्राप्त्यवसोसाधयः ॥ ३ ॥ सर्वतो दत्ताः

सर्वतो दक्षसाग्याद्रिस्तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ४
 भुजावष्टम्भविनमन्मेरुर्नारायणो यदा ।
 मन्दरं प्रोहधाराद्रिं तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ५
 यदा सुरासुरक्षोभपतच्चन्द्रार्कमण्डलम् ।
 आसीज्जगदतिशुब्धं तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ६
 उन्मूलिताद्रीन्द्रशिला यदोत्पातानिला वधुः ।
 आधूतमेरुतरवस्तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ७
 यदा क्षीरोदलोलाद्रिकन्दरानिलकम्पिताः ।
 कल्पाभ्रपङ्कयश्चेरुस्तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ८
 यदा समन्ततो मेरुः कालनेमिभुजान्तरे ।
 किञ्चिदुन्मूलितोऽतिष्ठत्तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ९
 पक्षीशपक्षपवना अमृताक्रान्तिसंगरे ।
 यदा वधुः पतत्सिद्धास्तदायं नापतद्रुमः ॥ १०
 यदा शोषाकृतिं रुद्रो नसमाप्तैकचेष्टिताम् ।
 ययौ गरुत्मान्ब्रह्माण्डं तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ११
 यदा कल्पानलशिखाः शैलाब्धिसकलोल्बणः ।
 शेषः फणाभिस्तत्याज तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ १२
 एवंरूपे द्रुमवरे तिष्ठतामापदः कुतः ।
 अस्माकं मुनिशार्दूल दौःस्थित्येन किलापदः ॥ १३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कल्पान्तेषु महाबुद्धे बहत्सूपातवायुषु ।
 प्रपतत्स्विन्दुभाकेषु कथं तिष्ठसि विज्वरः ॥ १४

साम्याय स्तम्भोपष्टम्भशिलावद्वयो यस्य तथाविधोऽमर-
 पर्वतः । अर्थाद्वाराहेण पुनर्भूमिप्रतिष्ठापनदशायामिति गम्यते
 ॥ ४ ॥ भुजेति । अत्रापि चतुर्भुजो द्वाभ्यां भुजाभ्यां
 मेरुमवष्टम्भेतराभ्यां मन्दरं प्रोहधारेति गम्यते ॥ ५ ॥ सुरा-
 सुरयोः क्षोभस्तीव्रसंग्रामस्तेन पतच्चन्द्रार्कमण्डलम् ॥ ६ ॥ ७ ॥
 क्षीराब्धौ लोलस्य मन्दराद्देः कन्दरानिलैरिव कम्पिताः ॥ ८ ॥
 कालनेमिभुजान्तरे प्रकम्पितस्तारकामये संग्रामे प्रसिद्धः ॥ ९ ॥
 अमृताक्रान्तिरमृताहरणं तदर्थं संगरे । पतन्तः सिद्धा येभ्यः
 ॥ १० ॥ गरुडस्य जातमात्रस्य सर्वे लोकाः प्रकम्पिताः ।
 प्रकम्पिता मही सर्वा सप्तद्वीपाश्च कम्पिताः ॥ तदुत्पातान्निम-
 ज्जन्तीं भुवं नावमिवात्मसि । दधौ सहस्रैः शिरसां संकर्षणव-
 पुर्हरः ॥ इति कथामनुसृत्याह—यदेति । रुद्रः संकर्षणरुद्रः ।
 अद्यापि न समाप्तं एकं भूमिधारणलक्षणं चेष्टितं चरित्रं
 यस्यास्तथाविधां शेषाकृतिं यदा ययौ, यदा चोत्प्लुत्य गरुत्मान्
 ब्रह्माण्डं ययौ तदापि नाकम्पतत्यर्थः ॥ ११ ॥ शैलानाम-
 ंधीनां सकलानां प्राणिनां चोल्बणा दुःसहाः कल्पानलशिखाः
 फणाभिर्मुखैस्त्वत्याज उज्जगार । संकर्षणमुखाग्निनैवान्ते प्रलयस्य
 पुराणेषु प्रसिद्धः ॥ १२ ॥ दाःस्थित्येन दुष्टस्थाननिवासेन
 ॥ १३ ॥ इन्द्रो मेघेषु नक्षत्रेष्वेकेषु च प्रपतत्सु । तथा च तदानीं
 प्रलये भूलोकान्तस्य दाहाभ्र मेरुकल्पवृक्षादिभिस्त्राणप्रत्याशेति
 भावः ॥ १४ ॥ कल्पान्ते सहस्रमहायुगपर्यन्ते ॥ १५ ॥

भुशुण्ड उवाच ।

यदा पपात कल्पान्ते व्यवहारो जगत्स्थितौ ।
 कृतघ्न इव सन्मित्रं तदा नीडं त्यजाम्यहम् ॥ १५
 आकाश एव तिष्ठामि विगताखिलकल्पनः ।
 स्तब्धप्रकृतिसर्वाङ्गो मनो निर्वासनं यथा ॥ १६
 प्रतपन्ति यदादित्याः शकलीकृतभूधराः ।
 वारुणीं धारणां बद्धा तदा तिष्ठामि धीरधीः ॥ १७
 यदा शकलिताद्रीन्द्रा वान्ति प्रलयवायवः ।
 पार्वतीं धारणां बद्धा खे तिष्ठाम्यचलं तदा ॥ १८
 जगद्गलितमेर्षादि यात्येकार्णवतां यदा ।
 वायवीं धारणां बद्धा संप्लवेऽचलधीस्तदा ॥ १९
 ब्रह्माण्डपारमासाद्य तत्त्वान्ते विमले पदे ।
 सुषुप्तावस्थया तावत्तिष्ठाम्यचलरूपया ॥ २०
 यावत्पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति ।
 तत्र प्रविश्य ब्रह्माण्डं तिष्ठामि विहगालये ॥ २१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यथा तिष्ठसि पक्षीन्द्र धारणाभिरखण्डितः ।
 कल्पान्तेषु तथा कस्मान्नान्ये तिष्ठन्ति योगिनः ॥ २२

भुशुण्ड उवाच ।

ब्रह्मन्नियतिरेषा हि दुर्लभ्या पारमेश्वरी ।
 मयेदृशेन वै भाव्यं भाव्यमन्यैस्तु तादृशैः ॥ २३
 न शक्यते तोलयितुमवश्यं भवितव्यता ।

स्तब्धप्रकृतीनि निश्चलस्वभावानि सर्वाङ्गानि यस्य ॥ १६ ॥
 सामान्यत उक्तामाकाशे स्थितिं धारणामेदैर्विशिष्य प्रपद्यति—
 प्रतपन्तीति । अत्यन्तशीतलसर्वदिग्ब्रह्माण्डलव्याप्यपरिच्छेद्यज-
 लाल्सा वरुण एवाहमस्मीति चित्तं निरन्तरं धारणं वारुणीधार-
 णेत्युच्यते । तथा हि वरुणमात्मानं सदा मन्यत इति । पार्वत्या-
 दिधारणा अप्येवमेवोक्ताः । पृथिव्यादिपञ्चभूतधारणाप्रकारं
 वसिष्ठः स्वयमेवोत्तरार्थे विस्तरेण वक्ष्यति ॥ १७ ॥ अचल-
 मिति क्रियाविशेषणम् ॥ १८ ॥ चले वायावेवात्मधीर्यस्य
 तथाविधः सन् नभसि संप्लवे ॥ १९ ॥ कियत्कालं तथा संप्लवसे
 तत्राह—ब्रह्माण्डेति । ब्रह्माण्डस्य स्थूलसूक्ष्मसमष्टेः पारं पर-
 मावधिभूतमव्याकृतमासाद्य तत्त्वानां चतुर्विंशतीनां षड्विंश-
 तीनां षट्त्रिंशतां वा नामादिप्राणान्तानां वा अन्ते भूमाख्ये
 पदे सुषुप्तवदेकरसनिर्विकल्पसमाध्यवस्थया ॥ २० ॥ किय-
 त्कालं तादृशसमाधां स्थितिरिति चेत्तत्राह—यावदिति ।
 तत्र पुनः सृष्टिकर्मणि विहगानामस्माकमालये एतत्कल्पवृक्षस्था-
 नापन्ने तिष्ठामि ॥ २१ ॥ अन्येऽपि योगिनस्तथा कस्माक
 तिष्ठन्ति किमर्थमाधिकारिकशरीरान्तरं मुक्तिं वा गच्छन्ति ।
 तेऽत्र शरीरेण त्वमिव कुतो न तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥
 अत्र तत्तत्प्रबलप्रारब्धानुसारिणी सत्यसंकल्परूपा ईश्वरनिय-
 तिरेव व्यवस्थाहेतुर्नान्येत्याह—ब्रह्मन्निति ॥ २३ ॥ तोलयितुं
 इदमित्यमेवेति बुद्ध्या परिच्छेत्तुम् । यथा यादृशप्रारब्धोपनर्त

यद्यथा तत्तथैतद्धि स्वभावस्यैव निश्चयः ॥ २४ ॥
 मत्संकल्पवशेनैव कल्पे कल्पे पुनः पुनः ।
 अस्मिन्नेव गिरेः शृङ्गे तरुदित्थं भवत्ययम् ॥ २५ ॥
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अत्यन्तमोक्षदीर्घायुर्धवाग्निर्देशनायकः ।
 ज्ञानविज्ञानवान्धीरो योगयोग्यमनोगतिः ॥ २६ ॥
 दृष्टानेकविधानल्पसर्गसङ्गमागमः ।
 किं किं स्मरसि कल्याण चित्रमस्मिन्नगतक्रमे ॥ २७ ॥
 भृशुण्ड उवाच ।
 बृहत्तर शिलावृक्षामजातदृणवीरुधम् ।
 अशैलवनवृक्षौघां स्मरामीमां धरामधः ॥ २८ ॥
 दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
 भस्मसारभरापूर्णां संस्मरामि धरामधः ॥ २९ ॥
 अनुत्पन्नदिवाधीशाम्जातशक्षिमण्डलाम् ।
 अविभक्तदिवालोकां संस्मरामि धरामधः ॥ ३० ॥
 मेरुरत्नतलोद्घोतैरर्धप्रकटकोटरम् ।
 लोकालोकमिवाख्याद्रिभुवनं संस्मराम्यहम् ॥ ३१ ॥
 प्रवृद्धासुरसंग्रामे क्षीयमाणान्तरामिह ।
 पलायमानामभितः संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३२ ॥
 चतुर्युगानि चाक्रान्तामसुरैर्मत्तकाशिभिः ।
 वंत्यान्तःपुरतां प्राप्तां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३३ ॥
 अत्यन्तान्तरितान्तान्तसमस्तापरमण्डलाम् ।
 अजदेवत्रयीशेषां संस्मरामि जगत्कुटीम् ॥ ३४ ॥

तत्तथैव । स्वभावस्य नियतेः ॥ २४ ॥ प्रतिकल्पमेतत्तरुनिर्माणेऽपि भोजकादृष्टमूलभूतमत्संकल्प एव निमित्तमित्याह—
 मदिति ॥ २५ ॥ मोक्ष इव दीर्घमपरिच्छेद्यमायुर्यस्य । मोक्षेण जीबन्मुक्त्या वा उपलक्षितं दीर्घमायुर्यस्य । अत एव चिरंतनार्थानां निर्देशविषये नायकः श्रेष्ठः ॥ २६ ॥ दृष्टाः प्रत्येकमनेकविधा अनल्पा बहवः सर्गाणां सङ्गाः स्थितयो गमाः प्रलया भागमा उत्पत्तयश्च येन । अत्रास्मिन्स्त्वदृष्टे जगत्क्रमे चित्रमाश्वर्यभूतं किं किं स्मरसि तद्वदेत्यर्थः ॥ २७ ॥ हे बृहत्तर । मेरोरधः ॥ २८ ॥ २९ ॥ दिवाधीशः सूर्यः मेरुप्रभाभिरविभक्तः अपृथग्भूतः पृथगसञ्ज्ञिति यावत् । दिवालोको दिनहेतुः प्रकाशः ॥ ३० ॥ अर्धं प्रकटं सप्रकाशं कोटरं यस्य अत एव लोकालोकमिव स्थितम् । आख्याः क्वचित्प्रकाशसंपन्ना अद्रयो यस्मिन्स्तथाविधं भुवनम् ॥ ३१ ॥ पलायमानां लक्षणया पलायमानजनाकीर्णाम् ॥ ३२ ॥ चतुर्युगानीति कालबाधित्वादत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ ३३ ॥ अत्यन्तमन्तरितानि समुद्रेणाच्छादितान्यन्तान्तक्रमेण समस्तान्यपरमण्डलानि मेवैतिरिक्तदेशा यस्याम् । मेरौ च अजा ब्रह्मविष्णुब्रह्मया देवत्रयी शिष्यत इति शेषो यस्याम् ॥ ३४ ॥ चतुर्युगानामर्धं युगद्वयपर्यन्तं न दृष्टं बृहत्तरनिर्माणं यस्याम् ॥ ३५ ॥ छात्रं चतुर्थांशाधिकं चतुर्युगं नीरन्ध्रैर्निबिडैरचलैः पर्वतैर्वृताम् । पृथुचक्र-

१ अजात इति पाठः.

चतुर्युगार्धमपरं नीरन्ध्रां वनपादपैः ।
 अदृष्टेतरनिर्माणां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३५ ॥
 एवं चतुर्युगं साध्रं नीरन्ध्रैरचलैर्वृताम् ।
 अप्रवृत्तजनाचारां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३६ ॥
 दशवर्षसहस्राणि मृतवैत्यास्थिपर्वतैः ।
 आकीर्णां परितः पूर्णां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३७ ॥
 भयादन्तर्हिताशेषवैमानिकनभश्चराम् ।
 द्यां च निर्वृक्षनिःशेषां संस्मरामि तमोमयीम् ॥ ३८ ॥
 अनगस्त्यामगस्त्याशामेकपर्वततां गताम् ।
 मत्ते विन्ध्यमहाशैले संस्मरामि जगत्कुटीम् ॥ ३९ ॥
 एतांश्चान्यांश्च वृत्तान्तान्संस्मरामि बहूनपि ।
 किं तेन बहुनोक्तेन सारं संक्षेपतः शृणु ॥ ४० ॥
 असंख्यातान्मनून्ब्रह्मन्स्मरामि शतशो गतान् ।
 सर्वान्संरम्भबहुलांश्चतुर्युगशतानि च ॥ ४१ ॥
 एकमेव स्वयं शुद्धं पुरुषासुरवर्जितम् ।
 आलोकनिचयं चैकं कंचित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४२ ॥
 सुरापं ब्राह्मणं मत्तं निषिद्धसुरशुद्रकम् ।
 बहुनाथसतीकं च कंचित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४३ ॥
 वृक्षनीरन्ध्रभूषीठमकल्पितमहार्णवम् ।
 स्वयंसंजातपुरुषं कंचित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४४ ॥
 अपर्वतमभूमिं च व्योमस्थामरमानवम् ।
 अचन्द्रार्कप्रकाशाख्यं कंचित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४५ ॥

वर्तिना हि धनुष्कोट्या पर्वतानुत्सार्य पश्चाद्भूमिः समीकृतेति पुराणेषु प्रसिद्धम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ द्यां अन्तरिक्षादिलोकान् चकारादरां निर्वृक्षनिःशेषाम् । 'निर्वृक्षे'ति पाठे दिव एव विशेषणम् । ऋक्षाणि ताराः । तमोमयीं तमःप्रचुरामित्यप्युभयविशेषणम् ॥ ३८ ॥ मलयदुर्दुरसह्याद्रिविभाजकाभावादेकपर्वततां गताम् । मत्ते मेरुस्पर्धया अभिवृद्धे सति ॥ ३९ ॥ ॥ ४० ॥ संरम्भैः प्रभावातिशयैर्बहुलान् ॥ ४१ ॥ आश्चर्यान्तरमाह—एकमेवेति । यदा विराड्ब्रह्माण्डशरीर उत्पन्नमात्रः स्वात्मतत्त्वं पर्यालोचयितुं कंचित्कालं समाहितचित्तोऽभूत्सावस्थात्रोच्यते । पुरुषैः सुरादिभिरसुरैश्च वर्जितम् । आलोकानां प्रकाशस्वभावानां तैजसानामेकं निचयं समष्टिं च तदात्मकं ब्रह्माण्डम् ॥ ४२ ॥ कलियुगसर्गस्थितिं स्मरन्नाह—सुरापेति । सुरापा ब्राह्मणा यस्मिन् । निषिद्धा निन्दिताः सुरा देवा यैस्तथाविधाः शूद्रका असच्छूद्रा यस्मिन् । बहुनाथा अनेकभर्तृकाः सत्यः द्वियो यस्मिन् ॥ ४३ ॥ आश्चर्यान्तरमाह—वृक्षेति । समुद्रनिर्मातुः प्रियव्रतस्योत्पत्तेः प्रागवस्थायाभिदं प्रसिद्धम् । जीपुंससङ्गं विना मानस्या सृष्ट्या स्वयमेव संजाता शृगवादिपुरुषा यस्मिन् ॥ ४४ ॥ भुवि जले मन्मायां जनलोकादिप्रकाशबहुललोकव्यवहारमात्रोपलक्षिते काले या स्थितिस्तां स्मरन्नाह—अपर्वतमिति । व्योमस्था अमरा देवा

अनिन्द्रममहीपालममध्यस्थाधमोत्तमम् ।
सप्तमन्धककुपूषकं कंचित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४६
सर्गप्रारम्भकलना विभागो भुवनत्रये ।
कुलपर्वतसंस्थानं जम्बूद्वीपं पृथक्स्थितम् ॥ ४७
वर्णधर्मधियां सृष्टिभिर्भागो मण्डलावनेः ।
ऋक्षस्रकसंस्थानं भुवनिर्माणमेव च ॥ ४८
जन्मेन्दुभास्करादीनामिन्द्रोपेन्द्रव्यवस्थितिम् ।
हिरण्याक्षपहरणं वराहोद्धरणं क्षितेः ॥ ४९
कल्पनं पार्थिवानां च वेदानयनमेव च ।

मन्दरोन्मूलनं चाण्डेरमृतार्थं च मन्थनम् ॥ ५०
अजातपक्षो गदहः सामराणां च स्तम्भः ।
इत्यादिका याः स्मृतयः स्वस्पातीतजगत्क्रमाः ।
बालैरपि हि तास्तात स्मरन्ते तासु को ग्रहः ॥ ५१
गदहवाहनं विहगवाहनं
विहगवाहनं वृषभवाहनम् ।
वृषभवाहनं गदहवाहनं
कलितधनमहं कलितजीवितः ॥ ५२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायने बालमीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० भुशुण्डो० चिरजीवितवृत्तान्तकथनं नामैकविंशः सर्गः ॥२१॥

द्वाविंशः सर्गः २२

भुशुण्ड उवाच ।

ततो जगति जातेषु भगवन्पुष्पदादिषु ।
भरद्वाजपुलस्त्याग्निनारदेन्द्रमरीचिषु ॥ १
पुलहोहालकाधेषु क्रतुभृग्वङ्गिरस्सु च ।
सनत्कुमारसुक्तीशास्केन्देभवदनादिषु ॥ २
गौरीसरस्वतीलक्ष्मीगायत्र्याद्यासु भूरिषु ।
मेरुमन्दरकैलासहिमवहर्कुरादिषु ॥ ३
हयग्रीवहिरण्याक्षकालनेमिबल्लादिषु ।
हिरण्यकशिपुकाशबलिप्रहाङ्कादिषु ॥ ४
शिबिन्यङ्गुपृथुलास्यवैन्वनरभागकेलिषु ।

नलमान्धातृसगरविलीपनहृषादिषु ॥ ५
आत्रेयव्यासकाल्मीकिशुकवात्स्यायनदिषु ।
उपमन्युमणीमङ्गीमगीरथशुकादिषु ॥ ६
अल्पकातीतकालेषु किञ्चिद्दरेषु केचुचित् ।
तथाद्यतनसर्गेषु स्मरणे गणनेव का ॥ ७
मुने ते ब्रह्मपुत्रस्य जन्माष्टकसिद्धं किल ।
संस्मराम्यष्टमे सर्गे तस्मिंस्त्वं मम स्वगतः ॥ ८
कदाचिज्जायसे व्योमः कदाचिज्जायसे जलात् ।
कदाचिद्वायुतः शैलात्कदाचिज्जायसेऽनलात् ॥ ९
यादृशो यादृशाचारो यादृक्संस्थानदिग्गजः ।

नामका योगसिद्धाश्च यस्मिन् ॥ ४५ ॥ न विद्यन्ते मध्यस्था
अधमा उत्तमाश्च यस्मिन् । अत एव समं अन्धानि ककुभां
दिशां चक्राणि यस्मिन्निति पूर्वकल्पान्त्यमन्वन्तराम्नादशोपल-
क्षितजगतिस्थित्युक्तिः ॥ ४६ ॥ एतत्कल्पवृत्तान्तस्मरणं तु एतत्क-
ल्पायुषां बहुनामस्तीति प्रपञ्चयन्नाह—सर्गप्रारम्भेत्यादिना ।
सर्वेषां प्रथमान्तपदानां षष्ठश्लोकस्थे 'बालैरपि हि तास्तात स्म-
रन्ते' इत्यत्रान्वयः । आदौ सर्गप्रारम्भार्थं कलना स्रष्टुः संकल्प-
स्ततो भुवनत्रये द्वीपाद्यवान्तरप्रदेशभेदानां विभजनं विभाग-
स्ततः कुलपर्वतानां संस्थानं यथायोग्यप्रदेशकल्पनं ततः पृथक्-
स्थितं जम्बूद्वीपं प्रविश्य ब्राह्मणादिवर्णानां तद्दर्शनां धियां
सप्तशोभ्यविद्याभेदानां च सृष्टिरिति यथायोगं क्रमो बोध्यः
॥ ४७ ॥ ४८ ॥ क्षितेर्वराहेणोद्धरणम् ॥ ४९ ॥ देवदान-
वमनुष्यादिषु प्रत्येकं पार्थिवानां कल्पनम् । मत्स्यावतारै वेदान-
यनम् ॥ ५० ॥ स्मरन्ते इति स्मृतयः अक्षयस्मर्तव्यार्थाः
महृष्टानेककल्पापेक्षया एतत्कल्पमात्रनिष्पन्नत्वात्स्वल्पा अती-
तजगत्क्रमाः । बालैर्मदपेक्षया अत्यल्पवयस्कैरेतत्कल्प-
जैरपि भवदादिभिः स्मरन्ते इत्येवार्थः ॥ ५१ ॥ कल्पा-
न्तरैषु स्वदृष्टान्याश्चर्योन्तराण्यपि वदन्नुपसंहरति—गदह-
वाहनमिति । कलितं प्राप्तं जीवितं वीर्यायुयैर्न तथाविधः अहं
एतत्कल्पे प्रसिद्धं गदहवाहनं विहगो विहगोसमो हंसस-

द्राहनं चतुर्मुखीभूय देवदेत्यादिसर्गाधिकारं निष्पादयन्तं कलि-
तवान्द्रवाण् । तथा विहगवाहनं ब्रह्माणं वृषभवाहनं सद्दी-
भूय चंद्राराधिकारं कुर्वाणं कल्पितवान् । एवं वृषभवाहनं
रुद्रं च गदहवाहनं विष्णुशरीरं धृत्वा पालनाधिकारं कुर्वाणं
कलितवानिति महदाश्चर्यरहस्यमेतदित्यर्थः ॥५२॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चिरजीवि-
तवृत्तान्तकथनं नामैकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

वासिष्ठस्याष्टजन्मादिसमार्थसप्तसर्गकाः ।

क्षीरोदमयनाद्याश्च भूपो दृष्टा इहोदिताः ॥ १ ॥

ततस्तदनन्तरं किञ्चिद्दरेष्वतीतकालेषु तथा अथतनसर्गेषु
जातेषु पुष्पदादिषु मगीरथशुकाद्यन्तेषु स्मरणे केव गणनेति
सप्तमे सर्वेषां सप्तम्यन्तानां संबन्धः ॥ १ ॥ सनत्कुमारात्मैषु
ब्रह्मर्षिषु । भृग्वङ्गिरःप्रभृतिषु सिद्धर्षिषु । स्कन्देभवदनादिषु
शिष्यपार्थिवेषु ॥ २ ॥ गौर्यादिषु तच्छक्तिषु । मेर्वादिषु गिरिषु
॥ ३ ॥ हयग्रीवादिषु दानवेषु । हिरण्याक्षादिषु दैत्येषु ॥ ४ ॥
शिबिप्रभृतिषु राजसु ॥ ५ ॥ आत्रेयादिषु मुनिषु ॥ ६ ॥
गणनेव केति न तत्र विस्मरणसंभावनाप्यस्तीति भावः ॥ ७ ॥
अष्टमे सर्गे जन्मनि कल्पे वा मम संगतो मया सह मिलितः
अभूः ॥ ८ ॥ किमष्टस्यपि जन्मसु ब्रह्मपुत्र एव नेत्याह—
कदाचिदिति ॥ ९ ॥ सर्वेषु कल्पेषु तत्तदधिकारिपुरुषाणां

१ इत्यस्मिन्निवादेऽपि सर्गस्मन्तिमः श्लोकः इत्युक्तं ब्रह्मणः संशोजितो वृश्यते, स एव श्लोकाद्ब्रह्मणोऽऽवृत्तकीकारैरेतेति वृषभच.

सर्गोऽयं तादृशावेव त्रीन्सर्गान्संस्मराम्यहम् ॥ १०
 एकरूपाखिलाचारसंनिवेशधरामरान् ।
 समकालान्स्थिरस्यैर्यान्दशसर्गान्संस्मराम्यहम् ॥ ११
 अन्तर्धानं गता धात्री वारपञ्चकमुद्धृता ।
 मुने पञ्चसु सर्गेषु कूर्मेणैव पयोनिधेः ॥ १२
 मन्दराकर्षणावेगपर्याकुलसुरासुरम् ।
 स्मरामि द्वादशं चेदममृताम्भोधिमन्थनम् ॥ १३
 सर्वौषधिरसोपेतां बलिप्राहस्तदा दिवः ।
 वारत्रयहिरण्यक्षो जीतवान्वसुधामधः ॥ १४
 रेणुकात्मजतां गत्वा बहुवारमिमं हरिः ।
 बहुसर्गान्तरेणापि चकार क्षत्रियक्षयम् ॥ १५
 शतं कलियुगानां च हरेर्बुद्धदशाशतम् ।
 शौकराजतयैवाप्तं स्मरामि मुनिनायक ॥ १६
 त्रिंशत्त्रिपुरविक्षोभान्द्रौ दक्षाध्वरसंक्षयौ ।
 दशशक्रविघातांश्च चन्द्रमौलेः स्मराम्यहम् ॥ १७
 धाणार्थमष्टौ संप्रामाञ्ज्वरप्रमथमम्भकान् ।
 विक्षोभितसुरानीकान्संस्मरामि हरिशर्षयोः ॥ १८
 युगंप्रति धियां पुंसां न्यूनाधिकतया मुने ।
 क्रियाङ्गपाठवैचित्र्ययुक्तान्वेदान्संस्मराम्यहम् ॥ १९
 एकार्यानि समप्राणि बहुपाठानि मेऽनघ ।
 पुराणानि प्रवर्तन्ते प्रस्तुतानि युगंप्रति ॥ २०
 पुनस्तानेव तानेवमन्यान्पि युगे युगे ।
 वेदादिविप्ररचितानितिहासान्संस्मराम्यहम् ॥ २१
 इतिहासं महाश्चर्यमन्यं रामायणाभिधम् ।
 ग्रन्थलक्षणप्रमाणं च ज्ञानशास्त्रं स्मराम्यहम् ॥ २२

रामवद्भवहर्तव्यं न रावणविलासवत् ।
 इति यत्र धियां ज्ञानं हस्ते फलमिवाहितम् ॥ २३
 कृतं वाल्मीकिना चैतदधुना यत्करिष्यति ।
 अन्यत्र प्रकटं लोके स्थितं ज्ञास्यति कालतः ॥ २४
 वाल्मीकिनाम्ना जीवेन तेनैवान्येन वा कृतम् ।
 एतच्च द्वादशं वारं क्रियते विस्मृति गतम् ॥ २५
 द्वितीयमेतस्य समं भारतं नाम नामतः ।
 स्मरामि प्राकनव्यासकृतं जगति विस्मृतम् ॥ २६
 व्यासाभिधेन जीवेन तेनैवान्येन वा कृतम् ।
 एतत्तु सप्तमं वारं क्रियते विस्मृतिं गतम् ॥ २७
 आख्यानकानि शास्त्राणि निवृत्तानि युगंप्रति ।
 विचित्रसंनिवेशानि संस्मरामि मुनीश्वर ॥ २८
 भूयस्तान्येव तान्येव तथान्यानि युगे युगे ।
 साधो पदार्थजालानि प्रपद्यामि स्मरामि वै ॥ २९
 राक्षसक्षतये विष्णोर्महीमवतरिष्यतः ।
 अधुनैकादशं जन्म रामनाम्नो भविष्यति ॥ ३०
 नारसिंहेन वपुषा हिरण्यकशिपुं हरिः ।
 जघान वारत्रितयं मृगेन्द्र इव वारणम् ॥ ३१
 वसुदेवगृहे विष्णोर्भुवो भारनिवृत्तये ।
 अधुना षोडशं जन्म भविष्यति मुनीश्वर ॥ ३२
 जगन्मयी भ्रान्तिरियं न कदाचन विद्यते ।
 विद्यते तु कदाचिच्च जलबुद्बुदवत्स्थिता ॥ ३३
 दृश्यभ्रान्तिरनित्येयमन्तस्था संविदात्मनि ।
 जायते लीयते चाशु लोला वीचिरिवाम्भसि ॥ ३४

समाननामरूपत्वेऽपि न सर्वेषां पदार्थानां सर्वसंनिवेशाचारसाम्य-
 निबन्धः किंतु काकतालीयन्यायेन कदाचित्सांख्यसिध्याभावेन—
 यादृशं इति ॥ १० ॥ समकालान् तुल्यायुषः । स्थिराणि अष्टुरे-
 रभिवाकितानि स्वैर्याणि नियतकालतत्पदावस्थानानि देवानां
 येषु ॥ ११ ॥ आचारसाम्यमुक्त्वा तद्वैषम्यमाह—अन्तर्धान-
 मिति । अन्तर्धानं जले निमज्जनेन तिरोधानम् । धात्री भूः । कूर्मे-
 णैव न वराहेण ॥ १२ ॥ १३ ॥ दिवः स्वर्गादलिं करं गृह्णातीति
 बलिप्राहः । करसीकृतसर्वदेवगण इति यावत् । अधः पातालम्
 ॥ १४ ॥ बहुभिः परशुरामावतारश्चर्यैः सर्गैरन्तरेण व्यवधा-
 नेनापि ॥ १५ ॥ शौकः कीकटदेशविशेषस्तप्राजतया । बुद्धो-
 दनाख्यतप्राजपुत्रतयेति यावत् ॥ १६ ॥ त्रिंशत्सु कल्पेषु त्रिंश-
 त्संख्याकांश्चिपुराणां विक्षोभान्द्राहान् । प्रतिकल्पं स्थायंभुवेऽ-
 न्तरे चाशुषे च प्रसिद्धौ द्वौ दक्षाध्वरसंक्षयौ । दक्षार्थां शक्राणां
 चन्द्रमौलेः कृतापराधानां पदात्प्रख्याय गिरिगुहासु निरोध-
 कक्षणांसंबभूजस्तम्भलक्षणांश्च विघातान्द्राहान् ॥ १७ ॥
 उवराणां माहेश्वरैष्णवाख्यज्वरभेदानां प्रमथानां च मन्त्रकान्
 भामञ्जयितुम् । शौर्योत्साहजननेन प्रवर्तकानिति यावत् । 'धुर-
 प्रमथमन्त्रकान्' इति पाठे ह्य धुरप्रान् वाणविक्षोभान्मन्त्रि

छिन्दन्तीति धुरप्रमथास्तथाविधा मन्त्रका मन्त्रास्त्राणि येष्वि-
 त्यर्थः ॥ १८ ॥ युगंप्रति युगे युगे । कर्मप्रवचनीयेन प्रतिना
 वीप्सा द्योत्यते । पुंसामध्येत्पुरुषाणां धियां बुद्धीनां न्यूना-
 धिकतया ब्रह्मचर्यगुरुश्रुषाभूमिशयनादिक्रियाणां शिक्षाद्य-
 ज्ञानां सावधानस्वरचनाद्युच्चारणलक्षणपाठानां च न्यूनाधिक-
 ताकृतप्रभाववैचित्र्यैर्युक्तान् ॥ १९ ॥ प्रतिद्वापारान्तनिर्मातृमे-
 दाद्बहुपाठानि ॥ २० ॥ वेदादिविद्विष्यांसवालमीकिप्रभृतिभिः
 प्ररचितान् पुनः पुनस्तानेव भारतरामायणादीनिहासान् ॥ २१ ॥
 महारामायणाभिधं ब्रह्मणा वसिष्ठविश्वामित्रादिभ्य उपदिष्टं
 ज्ञानशास्त्रम् ॥ २२ ॥ २३ ॥ यदन्यत्र वसिष्ठरामसंवादरूपं
 महारामायणं द्वात्रिंशत्सहस्रमितं करिष्यति तदपि दिव्यज्ञान-
 नबलाद्बुभूतं स्मरामि त्वमपि कालतो ज्ञास्यसि ॥ २४ ॥ एत-
 द्वासिष्ठरामसंवादरूपं तेन पूर्वकल्पीयेनान्येन वा वाल्मीकिनाम्ना
 जीवेन प्राकृतमेव विस्मृतिं व्यवहर्तुपरम्परोच्छेदेनोच्छेदं गतं
 सांप्रतं द्वादशानां पूरणं द्वादशं वारं क्रियते ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥
 ॥ २८ ॥ २९ ॥ अधुना संनिहितत्रेतायुगे ॥ ३० ॥ ३१ ॥
 अधुना एतच्चतुर्युगान्तर्गतद्वापारान्ते ॥ ३२ ॥ बहिरिदं जायत
 इति भ्रान्तिरेवैवाभावेनाह—जगन्मयीति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

समैकसंनिवेशानि बहूनि विषमाणि च ।
 तथार्धसमरूपाणि त्रिजगन्ति स्मराम्यहम् ॥ ३५
 तान्येव तादृक्कर्माणि तथान्यान्वरणानि च ।
 तत्कर्माणि तथान्यानि भूतानीह स्मराम्यहम् ॥ ३६
 प्रतिमन्वन्तरं ब्रह्मन्विपर्यस्ते जगत्क्रमे ।
 संनिवेशेऽन्यथाजाते प्रयाते संश्रुते जने ॥ ३७
 ममान्यान्येव मित्राणि अन्य एव च बन्धवः ।
 अन्य एव नवा भृत्या अन्य एव समाश्रयाः ॥ ३८
 कदाचिदहमेकान्ते विन्ध्यकच्छकृतालयः ।
 कदाचित्सहानिलयः कदाचिद्दुर्दुरालयः ॥ ३९
 कदाचिद्धिमवद्वासी कदाचिन्मलयाचलः ।
 कदाचित्प्राक्तनेनैव संनिवेशेन भूधरम् ॥ ४०
 चूतघृक्षे च शाखायां प्राप्य नीडं करोम्यहम् ।
 अनाद्यन्तेषु यातेषु युगेषु मुनिनायक ॥ ४१
 प्राक्तनेनैव जातोऽयं संनिवेशेन पादपः ।
 देहं त्यक्त्वा सुखं साधो नातः परिणतिं गतः ॥ ४२
 तदीयेनैव जातोऽयं संनिवेशेन पादपः ।
 ताते जीवति यथाभूच्छोभास्य सुतरोस्तथा ॥ ४३
 कृतप्राक्संनिवेशोऽयमहं स्थितिमिहागतः ।

प्रतिसर्गं लोकादीनां संनिवेशादिसाम्यनियमोऽन्यौत्सर्गिक
 इत्याह—समेति ॥ ३५ ॥ मन्वाद्यधिकारिपुरुषसंनिवेशचारि-
 ष्यादिष्वपि साम्यमौत्सर्गिकमेवेत्याह—तान्येवेति ॥ ३६ ॥
 संश्रुते प्रख्याते ॥ ३७ ॥ अन्य एव समाश्रया निवासाः ॥ ३८ ॥
 समाश्रयभेदमेव प्रपञ्चयति—कदाचिदित्यादिना ॥ ३९ ॥
 मलये अचलः स्थिरः ॥ ४० ॥ प्राप्येत्यस्य प्राक्तनेन भूधरमि-
 ल्यनेनान्वयः । अनाद्यन्तेषु असंख्येषु ॥ ४१ ॥ अतः प्राक्तन-
 संनिवेशात्परिणतिं संनिवेशान्तरं न गतः । तर्हि त्वमिष
 पादपोऽपि किं चिरजीवी नेत्याह—देहं त्यक्त्वेति ॥ ४२ ॥
 एवं च न पादपजीवैक्येऽपि तात्पर्यं किंतु शोभासंनिवेशशाम्याद-
 भेदोपचार इति सूचयन्नाह—तदीयेनेति । ताते चण्डे ॥ ४३ ॥
 एवं दिग्भूधरयोरैक्यप्रत्यभिज्ञापि संनिवेशसाम्यादेवेत्याह—
 नेहेति ॥ ४४ ॥ पूर्वं उत्तरा दिक् अन्यैवाभूदियमन्या । एवं
 भूधरोऽप्यन्य एवाभूदित्यावृत्तिविपरिणामाभ्यामन्वयः । तर्हि
 तथैव त्वमपि प्रतिकल्पमन्यः समानसंनिवेशश्च किं न स्यात्-
 त्राह—एकेति । अहं एकभासां एकेनैव देहसंस्थानेन वीता
 ब्रह्मनिशागमा यस्य तथाविधः ॥ ४५ ॥ तत्कृतस्तत्राह—
 ध्यानान्त इति । यतः कल्पान्ते प्रागुक्तधारणापूर्वकं स्थिरीकृ-
 तस्य ध्यानस्य निर्विकल्पकसमाधेरन्ते अवसाने पुनर्जातमेनं
 सर्गमालोक्य स एवायं मेरुः स एवायं पादप इति प्रत्यभिज्ञायमाने
 तत्त्वे एव एनं सर्गं वेद्मि । यद्यहमन्यः स्यां तत्तावगाहिनी
 प्रत्यभिज्ञैव न स्यादिति भावः । एवं पूर्वसंस्थानादन्यथा संस्थान-

नेहाभूदुत्तरा पूर्वं ककुभायं च भूधरः ॥ ४४
 दिगुत्तराभूदन्येयं पूर्वमेव महीधरः ।
 एकैकदेहसंस्थानधीतब्रह्मनिशागमः ॥ ४५
 ध्यानान्ते तत्त्वं एवैनं सर्गमालोक्य वेद्यहम् ।
 अर्कादेर्ऋक्षसंचारान्मेर्वादस्थानका दिशः ॥ ४६
 संस्थानमन्यथा तस्मिन्स्थिते यान्ति दिशोऽन्यथा ।
 न सन्नासज्जगन्मन्ये भ्रमयन्केवलं धियः ॥ ४७
 आत्मरूपन्दचमत्कारविभवोऽयं विजृम्भते ।
 पुत्रः पितृत्वमायाति मित्रं यात्यरितां तथा ॥ ४८
 स्त्रीत्वं च शतशो यातान्युसञ्चैव स्मराम्यहम् ।
 कलौ कृतयुगाचारान्कृते कलियुगस्थितिम् ॥ ४९
 त्रेतायां द्वापरे चैव संस्मरामि मुनीश्वर ।
 अदृष्टवेदवेदार्थान्स्वसंकेतविहारिणः ॥ ५०
 सर्गाश्रिरर्गलाचारान्कचित्कांश्चित्स्मराम्यहम् ।
 ध्यातरि ब्रह्मणो ब्रह्मन्ससुरासुरमानुषम् ॥ ५१
 चतुर्युगसहस्रान्ते जगच्छून्यं स्मराम्यहम् ।
 मनोमनननिर्माणान्पार्थिवाकारवर्जितान् ।
 व्याप्तान्वायुमयैर्भूतैर्दश सर्गान्स्मराम्यहम् ॥ ५२

तामहणादपि तद्ब्रह्मम न नाश इत्याशयगर्भा 'दिगुत्तराभूद-
 न्येयम्' इत्युक्तिमुपपादयति—अर्कादेरिति । दिशः प्राच्यादयः
 अर्कसोमादेर्ऋक्षाणां नक्षत्राणामुदयास्तमयादिनियतसंचाराच्च
 नियतोत्तरदिक्स्थितमेर्वादस्थानकाः प्रसिद्ध्यन्ति ॥ ४६ ॥ सर्गा-
 न्तरे तु ता दिशस्तस्मिन्मेरावेवान्यथा प्रकारान्तरेण स्थिते रतिं
 चिप्रपटलिखितमेर्वाद्यधीना दिशस्तत्परिवर्तन इव अन्यथा
 संस्थानं व्यत्यस्तस्थितिं यान्तीत्यर्थः । एवं दिशामनियत-
 स्थित्या मिथ्यात्वे तदनुसारिनियतावयवसंनिवेशघटितस्य सर्व-
 स्यापि जगतोऽनिर्वचनीयतालक्षणं मिथ्यात्वं प्रतिभातीत्याह—
 न सदित्यादिना ॥ ४७ ॥ आत्मनः स्पन्दचमत्कारो मायिक-
 विज्ञेयशक्तिस्तद्विभवः । जागतेषु पदार्थेषु दिक्कृतव्यवस्थाव्य-
 त्यास इव कालकृतव्यवस्थाव्यत्यासोऽपि दृश्यत इत्येतत्प्रपञ्चय-
 न्दर्शयति—पुत्र इत्यादिना ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ त्रेतायां द्वापरे
 च कृतयुगाचारान्कलियुगस्थितिं चेत्यनुकल्प्यान्वयः । कलियुग-
 स्थितिमेव संक्षिप्य विदुषोति—अदृष्टेति ॥ ५० ॥ कश्चित्कृत-
 युगादावपि । तथाहि । कृतयुगेऽपि पुष्करेण नलस्य निकृत्वा
 द्यूते जयो विनापराधमेकघण्टेण सभार्यस्य निर्वासनं च प्रसिद्धम्
 ॥ ५१ ॥ हे ब्रह्मन्, चतुर्युगसहस्रस्यान्ते अवसाने वेधसि
 जगत्प्रसंहारक्रमेणाप्सु शयित्वा योगनिद्राच्छलेन ब्रह्मणः परमा-
 त्मनो ध्यातरि सति ससुरासुरमानुषं जगच्छून्यमसत्तामिवापन्नं
 स्मरामीत्यर्थः । एवं प्रलीनेऽपि जगत्स्येन्दबमनोमनननिर्माणान्
 प्रागुक्तान् वातमयैर्वायुप्रायेर्भूतैः प्राणिभिर्व्याप्तान् ॥ ५२ ॥

विचित्रसंस्थानविशेषदेशा-

न्विचित्रकार्याकुलभूतकोशान् ।

विचित्रविन्यासविलासवेषा-

न्सराम्यहं ब्रह्मदिनेष्वशेषान् ॥

५३

इत्याषं श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भुशुं० चिरजीवितवर्णनं नाम द्वाविंशः सर्गः ॥२२॥

त्रयोविंशः सर्गः २३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथासौ वायसश्रेष्ठो जिज्ञासार्थमिदं मया ।

भूयः पृष्टो महाबाहो कल्पवृक्षलताप्रके ॥ १

चरतां जगतः कोशे व्यवहारवतामपि ।

कथं विहगराजेन्द्र देहं मृत्युर्न बाधते ॥ २

भुशुण्ड उवाच ।

जानन्नपि हि सर्वज्ञ ब्रह्मजिज्ञासयेष माम् ।

पृच्छसि प्रभवो नित्यं भृत्यं वाचालयन्ति हि ॥ ३

तथापि यत्पृच्छसि मां तत्ते प्रकथयाम्यहम् ।

आज्ञाचरणमेवाहुर्मुख्यमाराधनं सताम् ॥ ४

दोषमुक्ताफलप्रोता वासनातन्तुसंततिः ।

हृदि न प्रथिता यस्य मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ५

निःश्वासवृक्षकृक्चाः सर्वदेहलताघुणाः ।

आधयो यं न भिन्दन्ति मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ६

शरीरतरुसर्पौघाश्चिन्तार्पितशिरःफणाः ।

आशा यं न दहन्त्यन्तमृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ७

रागद्वेषविषापूरः स्वमनोबिलमन्दिरः ।

लोभव्यालो न भुङ्क्ते यं मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ८

पीताशेषविवेकाम्बुः शरीराम्भोधिवाडवः ।

न निर्दहति यं कोपस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ ९

यन्मं तिलानां कठिनं राशिसुप्रमिवाकुलम् ।

यं पीडयति नानङ्गस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ १०

एकस्मिन्निर्मले येन पदे परमपावने ।

संश्रिता चित्तविश्रान्तिस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ ११

वपुःखण्डाभिपतितं शाखामृगमिचोदितम् ।

न चञ्चलं मनो यस्य तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ १२

पते ब्रह्मन्महादोषाः संसारव्याधिहेतवः ।

मनागपि न लुम्पन्ति चित्तमेकं समाहितम् ॥ १३

आधिव्याधिसमुत्थानि चलितानि महाभ्रमैः ।

न विलुम्पन्ति दुःखानि चित्तमेकं समाहितम् ॥ १४

नास्तमेति न चोदेति न संस्मृतिर्न विस्मृतिः ।

न सुप्तं न च जाग्रत्स्याच्चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १५

अन्धीकृतहृदाकाशाः कामकोपविकारजाः ।

चिन्ता न परिहंसन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १६

न ददाति न चादत्ते न जहाति न याचते ।

कुर्वदेव च कार्याणि चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १७

ये दुरर्था दुरारम्भा दुर्गुणा दुरुदाहताः ।

दुष्क्रमास्ते न कृन्तन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १८

आभान्ति विपुलार्थानि महान्ति गुणवन्ति च ।

सर्वाण्येवानुधावन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १९

यदुदुर्कहितं सत्यमनपायि गतभ्रमम् ।

दुरीहितदृशोन्मुक्तं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २०

उक्तं सर्वं संक्षिप्तोपसंहरति—विचित्रेति । अहं ब्रह्मदिनेषु कल्पेषु विचित्रस्थानविशेषयुक्ता देशा येषु तथाविधान्विचित्रकार्याकुलभूतानां कोशभूतान् अशेषान्सर्वान्सर्गान्सरामीत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चिरजीवितवर्णनं नाम द्वाविंशतितमः सर्गः ॥ २२ ॥

त्यक्तेषु येषु दोषेषु नरं मृत्युर्न बाध्यते ।

यत्परं च मनःकार्यं तत्सर्वनिह क्लीर्यते ॥ १ ॥

इदं वक्ष्यमाणम् । प्रच्छेदौघे कर्मणि कः ॥ १ ॥

कथं कीदृशदोषत्यागगुणार्जनप्रकारेण ॥ २ ॥ वाचालयन्ति

मुखरयन्ति । मृत्युवाक्पटुतां प्रभ्रमुखेन ख्यापयन्तीति यावत्

॥ ३ ॥ ४ ॥ तत्र सर्वदोषाधारवासनानाश एव मुख्यो

मृत्युतरणोपाय इत्याह—दोषेति । यथा त्यक्तहाराद्याभरणं

चोरा न जिघांसन्ति तद्वदित्यर्थोद्भ्रम्यते ॥ ५ ॥ निःश्वास-

लक्षणा देहवृक्षच्छेदनाः कृक्चा येभ्यः । सर्वाद्यां देहलतानां

देहवृक्षशाखाभूतहस्तपादादीनां घुणाः काष्ठकीटभूताः आधयो

मनोव्याधाः ॥ ६ ॥ शरीरतरुः कोटरस्वसर्पौघभूताः अत एव

चिन्तालक्षणा अपिर्ताः शिरसि फणा यैः । न दहन्ति अर्था-
त्स्वविषामिना ॥ ७ ॥ न भुङ्क्ते न ददाति ॥ ८ ॥ शरीराम्भो-
धेर्वाडवो वडवाग्निभूतः । अत एव पीताशेषविवेकाम्बुः ॥ ९ ॥
आकुलं व्यग्रम् । तिलानां राशि कर्मयन्त्रं कर्मिव उग्रमिति
क्रियाविशेषणम् ॥ १० ॥ ब्रह्मात्मविश्रान्तिरेवात्यन्तिकमृत्युज-
योपाय इत्याशयेनाह—एकस्मिन्निति ॥ ११ ॥ वपुर्लक्षणे
पुष्पितवनखण्डे अभिपतितः शाखामृग इव उदितमूर्जितम् ।
छान्दसं क्लीबत्वम् ॥ १२ ॥ दोषानुपसंहरंस्तज्जयहेतुगुणान्वक्तुं
प्रथमं समाधानमेव मुख्यो गुण इत्याशयेन तं प्रशंसति—एते
इत्यादिना ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ कर्माणि कुर्वन्
यथाशास्त्रं व्यवहरदपि ॥ १७ ॥ दुष्टा अर्था अर्जनीयधनादयः
आरभ्यन्त इत्यारम्भाः कृषिगृहधनादयः । गुणा रागद्वेषादयः ।
उदाहृता मर्मप्रकाशनोक्तयः । क्रमा नीतयः । न कृन्तन्ति
दुष्टफलेन न परितापयन्ति ॥ १८ ॥ आभान्ति प्रकाशमानानि
विपुलार्थानि बहुलभानि सर्वाण्येव सुखानीति शेषः ।
अनुधावन्ति अनुसरन्ति ॥ १९ ॥ उदुर्क औत्तरकालिकं सुखं

यददृष्टमशुद्धेन चित्तवैधुर्यदायिना ।
 अनेकत्वपिशाचेन तत्परं कारयेन्मनः ॥ २१
 आदौ मध्ये तथान्ते च चित्तस्य परमोचितम् ।
 यथाह मधुरं पथ्यं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २२
 यदनन्तं मनःपथ्यं तथ्यमाद्यन्तमध्यगम् ।
 समस्तसाधुभिर्जुष्टं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २३
 यद्बुद्धेः परमालोकमाद्यं यदमृतं परम् ।
 यदनुत्तमसौभाग्यं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २४
 सामरासुरगन्धर्वं सविद्याधरकिष्णरे ।
 ससुरस्त्रीगणे स्वर्गे न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ २५
 सतरौ सनराधीशे सपर्वतपुरमजे ।
 साम्बुधौ भूतले तात न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥ २६
 सनागे सासुरव्यूहे सासुरस्त्रीगणे तथा ।
 समस्त एव पाताले न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥ २७
 सस्वर्गे ससुरालोके सपाताले सदिकतटे ।
 जगत्यास्मिन्तु सर्वस्मिन्न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥ २८
 आधिव्याधिविलोलासु दुःखौघवलितासु च ।
 क्रियासु नित्यतुच्छासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ २९
 तरलीकृतचित्तासु हृदयानन्दिनीषु च ।
 चिन्तासु धीधिकारासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३०

हृत्क्षीरोदकसंस्पन्दमन्वरेषु खलेष्वपि ।
 स्वसंकल्पविकल्पेषु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३१
 अनारतागमापायपरस्वसिशिरास्रपि ।
 चित्राकारासु चेष्टासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३२
 न धरमेकमहीतलराजता
 न च वरं विबुधामररूपता ।
 न च वरं धरणीतलनागता
 स्थितिमुपैति हि यत्र सतां मनः ॥ ३३
 न वरमाकुलशास्त्रविचारणं
 न च वरं परकार्यविवेचनम् ।
 न वरमग्र्यकथाक्रमवर्णनं
 स्थितिमुपैति हि यत्र सतां मनः ॥ ३४
 न वरमाधिमयं चिरजीवितं
 न च वरं मरणं दृढमूढता ।
 न च वरं नरको न च बिष्टपं
 स्थितिमुपैति हि न कश्चिदाशयः ॥ ३५
 इति विविधजगत्क्रमाः समस्ताः
 खलु मतिमूढतया नरस्य रम्याः ।
 चलतरकलनाहिते पदार्थे
 कथमुपयान्ति चिरस्थितिं महान्तः ॥ ३६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजमायणे वाल्मीकीये दे० निर्वाण० पू० मुमुक्षु० समाधानसंकल्पनिराकरणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

तस्मै हितम् । इरीहितदशा भोगाभिलाषदृष्ट्या उन्मुक्तं स्वात्म-
 लाभलक्षणं तत्परम् ॥ २० ॥ चित्तस्य वैधुर्यं पुरुषार्थविधुरता
 तदायिना । अनेकत्वं भेददृष्टिस्तल्लक्षणपिशाचेन यत्सौकर्यं न दृष्टं
 तत्परम् ॥ २१ ॥ आदौ चारुसुखारम्भम्, मध्ये अर्धपरिपाकेऽपि
 मधुरम्, अन्ते पथ्यं सर्वदुःखनिवर्तकं ज्ञानं तत्परम् ॥ २२ ॥
 आद्यन्तमध्यगं सर्वानस्थास्त्रनुगतमात्मसुखम् ॥ २३ ॥ न
 विद्यते उत्तमं यस्मात्तथाविधं सौभाग्यं नित्यनिरतिशयानन्द
 इत्यर्थः ॥ २४ ॥ अनुत्तमसौभाग्यत्वमेवेतरसुखानित्यतादिप्र-
 क्षेपनेन साधयति—सामरेत्यादिना ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ एवं
 लोकत्रयस्याशुभतामुक्त्वा तद्दृष्टितजगत एव तदाह—सस्वर्ग
 इति ॥ २८ ॥ क्रियाशब्देन तत्फलानि लक्ष्यन्ते ॥ २९ ॥
 चिन्तापदमपि मानसक्रियामात्रपरं तत्फलपलक्षणम् ॥ ३० ॥
 हृन्मनस्तल्लक्षणस्य क्षीरोदकस्य संस्पन्दे शोभने मन्दरायमा-
 णेषु । इदं मानसक्रियामात्रोपलक्षणम् ॥ ३१ ॥ अतिचित्राका-
 रासु अत्यद्गतासु । अत एवासिधिरास्त्रसिधाराप्राप्त्या इन्द्रिया-
 दिचेष्टासु ॥ ३२ ॥ एवमशाश्वतत्वानुच्छ्रवाच्च न जायतं किमपि
 सुखं विवेकिभिः स्पृहणीयमित्याह—न धरमित्यादिना । एका
 अनन्यराजता सर्वमहीतलराजता न वरम् । एवं विबुधा अभिस्तमा
 ये भवरा इन्द्रबृहस्पत्यादयस्तद्रूपता स्वर्गप्राप्त्याप्यपीति यावत् ।

धरण्यास्तले पाताले सर्वधरणीधारणसमर्था शेषनागता पाताल-
 राज्यमपीति यावत् । यत्र सतां विवेकिनां मनः स्थितिं पूर्णकामत-
 या विश्रान्तिमुपैति तथाविधं किमपि न भवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ एवं
 दुरुद्धत्वाद्विस्तृतत्वाच्चाकुलताहेतुनानाशास्त्राणां चतुर्दशविद्यास्था-
 नानां विचारणं निष्कर्षसामर्थ्यलक्षणं पाण्डित्यमपि न वरम् ।
 एवं परेषां कार्याणां बुद्धिसौष्टवादिचार्यं विवेचनसामर्थ्यलक्षणं
 लोकानुरजनसामर्थ्यमपि न वरम् । अग्र्याणां भारतादिक-
 थानां क्रमस्य वर्णनादिसामर्थ्यमपि न वरमिति पूर्ववत् ॥ ३४ ॥
 यदि आधिप्रचुरत्वाज्जीवितं न वरं तर्हि सर्वाधिनिवृत्तिमत्त्वान्मरणं
 वरं स्यात्तत्राह—दृढमूढतेति । सर्वदुःखनिदानमूढतादाकार्या-
 तादपि न वरमित्यर्थः । तर्हि भोगेन सर्वदुःखक्षयकरत्वात्नरको
 वरमस्त्विति चेत्तेत्याह—न ख्येति । नरकस्यापि पुनः पापजनमा-
 वसानत्वाच्च तत्रापि सर्वदुःखक्षय इति भावः । बिष्टपं सर्वभुवना-
 धिपत्यम् ॥ ३५ ॥ नरस्य विवेकिनः पुरुषस्य इति अनेन प्रकारेण
 विचार्यमाणा विविधजगत्क्रमाः समस्ताः सर्वेऽपि न रम्याः । हि
 यस्यादेतोस्ते जगत्क्रमाश्चलतरकलनया भवाश्वतत्वबुद्ध्या आर्हिवे
 पृथीये पदार्थे महान्तः कथं चिरस्थितिमात्यन्तिकविधाम्नि याञ्छी-
 त्यर्थः ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजमायणतत्परस्य प्रकाशे निर्वाणप्र-
 करणे पू० समाधानसंकल्पनिराकरणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः २४

भुशुण्ड उवाच ।

एकैव केवला दृष्टिर्निरापाया गतभ्रमा ।
 विद्यते सर्ववित्त्वेषु सर्वश्रेष्ठा समुन्नता ॥ १
 आत्मचिन्ता समस्तानां दुःखानामन्तकारिणी ।
 चिरसंभृतदुःखप्रसंसारभ्रमहारिणी ॥ २
 निष्कलङ्कमनोमार्गविपुलाङ्गणधारिणी ।
 तथा समस्तदुःखानां चिन्तानर्धविनाशिनी ॥ ३
 ज्योत्स्नयेवान्धकाराणामलमन्तः प्रजायते ।
 सा स्वात्मचिन्ता भगवन्सर्वसंकल्पवर्जिता ॥ ४
 युष्मदादिषु सुप्रापा दुष्प्रापैवास्मदादिषु ।
 समस्तकलनातीतं परां कोटिमुपागतम् ॥ ५
 पद्मासादयन्त्येतत्कथं सामान्यबुद्ध्यः ।
 आत्मचिन्ताविलासिन्यास्तस्याः सख्यो महामुने ॥ ६
 किञ्चित्साभ्यमुपायाता विज्ञानशशिशीतलाः ।
 आत्मचिन्तासमानानां विविधानां मुनीश्वर ॥ ७
 आत्मचिन्तावयस्यानां मध्यादेकतमा मया ।
 सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी ॥ ८
 कारणं जीवितस्यैह प्राणचिन्ता समाश्रिता ।
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 इत्युक्तवन्तं विहगं भुशुण्डं पुनरप्यहम् ।
 जानन्नपीदमव्यग्रः पृष्टवान्कीडया मुनिम् ॥ ९

देहनाडीक्रमोपेता षट्चक्रहृदयाम्बिता ।

प्राणस्पन्दविभागाख्या प्राणचिन्तेह वर्णयते ॥ १ ॥

यदि जगति न किञ्चिच्छोभनं स्थिरं तर्हि किं तच्छोभनं स्थिरं च यत्र विवेकिनश्चित्तविश्रान्तिस्तदाह—एकैवेत्यादिना । सर्वेषु वित्त्वेषु ज्ञानेषु मध्ये सर्वांशे श्रेष्ठा समुन्नता । सहसा दुरारोहेति यावत् ॥ १ ॥ आत्मचिन्ता साक्षात्कारपर्यन्त आत्मविचारः । चिरमनादिकालादारभ्य कामकर्मवासनासंभृतस्य दुःखप्रकल्पस्य संसारभ्रमस्य हरणशीला ॥ २ ॥ निरस्त-मायादिकलङ्का प्रत्यक्प्रवर्णं मन एव मार्गो यत्र तथाविधे मन-सोऽप्यमार्गं भगव्ये वा निरतिशयभूमानन्दलक्षणे प्रत्यगात्माज्ञो संचरणशीला । तथा उपस्थितसर्वदुःखानां भाविदुःखानुसंधान-प्रयुक्तचिन्तादिसर्वानर्थाणां च विनाशिनी ॥ ३ ॥ अन्धकाराणां तत्कार्यभ्रान्तिभिः सह परिगणनाद्बहुवचनम् । अलमत्यन्तमन्तो नाशस्तयेति शेषः ॥ ४ ॥ दुष्प्रापैवेत्यवधारणे हेतु-माह—समस्तेत्यादिना ॥ ५ ॥ सामान्यबुद्ध्यः अविद्युद्भ्राष्ट्र-तबुद्ध्यः । तर्हि सा तव कथं सुलभा जातेति चेत्तत्सखीस-माश्रयणादित्याशयेन प्राणचिन्तां वर्णयितुं पीठिकां रचयति—आत्मचिन्तेत्यादिना ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ कीडया कौतुकेन ॥ ९ ॥ किं कीदृशी ॥ १० ॥ ११ ॥ भवतां पूज्यतां युष्म-यो० वा० १०४

सर्वसंशयविच्छेदिष्यत्यन्तचिरजीवित ।
 यथार्थं ब्रूहि मे साधो प्राणचिन्ता किमुच्यते ॥ १०

भुशुण्ड उवाच ।

सर्ववेदान्तवेत्तासि सर्वसंशयनाशकः ।
 मामेतत्परिहासार्थं मुने पृच्छसि वायसम् ॥ ११
 अथवा भवतामेव भगवन्परिशिक्षितुम् ।
 पुनः प्रत्युत्तराणीदं का मे क्षतिरुपस्थिता ॥ १२
 भुशुण्डजीवितकरं भुशुण्डस्वात्मलामवम् ।
 शृणु प्राणसमाधानं वक्ष्यमाणमिदं मया ॥ १३
 पश्येदं भगवन्सर्वं देहगेहं मनोरमम् ।
 त्रिप्रकारमहास्थूणं नवद्वारसमावृतम् ॥ १४
 पुर्यष्टककलत्रेण तन्मात्रस्वजनेन च ।
 अहंकारगृहस्थेन सर्वतः परिपालितम् ॥ १५
 अन्तः पश्यसि सत्कर्णशकुलीचन्द्रशालिकम् ।
 शिरोरुहाच्छादनवद्विपुलाक्षिगवाक्षकम् ॥ १६
 आस्यप्रधानसुद्वारं भुजपाश्र्वापमन्दिरम् ।
 दन्तालिकेसरलक्ष्मिभूषितद्वारकोटरम् ॥ १७
 अनारतं रूपरसस्पर्शनद्वारपालवत् ।
 संकुलालोकवलितं तारालिन्दकृतस्थिति ॥ १८
 रक्तमांसवसादिग्धं क्षायुसंततिवेषितम् ।
 स्थूलास्थिकाष्ठसंबद्धं सुकुड्यं सुसमाहितम् ॥ १९

दायीनां संनिधौ इदं प्राणदर्शनं परिशिक्षितुं विशेषतः परिज्ञातुं पुनः प्रत्युत्तराणि । तत्प्रश्नस्य प्रत्युत्तरं वदानि । लोडुतमः ॥ १२ ॥ देहगेहवर्णनक्रमेण वक्ष्यमाणम् ॥ १३ ॥ वातपित्त-कफलक्षणत्रिप्रकारा महान्तः स्थूणा विष्टम्भकाष्ठानि यस्य ॥ १४ ॥ पुर्यष्टकं प्राग्ख्यातम् । तत्पुर्यष्टकमात्रं स्वजना बान्धवाश्च यस्य ॥ १५ ॥ अन्तः साक्षितया त्वं मया वर्णयमानं देहगेहं पश्यसि साक्षादनुभवसि । सत्यौ कर्णशकुलीद्वयलक्षणे चन्द्रशा-लिके शिरोरुहे यस्मिन् । शिरोरुहैः केशैरुच्छादनवत् ॥ १६ ॥ भुजौ पाश्र्वे च उपमन्दिराणि मन्दिरपक्षभागा यस्य । दन्तालि-र्दन्तपङ्क्तिस्तल्लक्षणकेसरमालाभिर्भूषितं प्रधानद्वारबिलं यस्य ॥ १७ ॥ रूपरसग्रहणं सर्वबाह्यविषयोपलक्षणम् । तान् स्पर्श-यन्ति अन्तर्निवेदयन्ति यानि ज्ञानेन्द्रियाणि तल्लक्षणद्वारपाल-वत् । तत्र त्वचः सर्वाङ्गव्याप्त्या सर्वद्वारपालत्वमिति अधोद्वार-योरपि तद्वत्त्वं बोध्यम् । सर्वत्र संकुलेन लिङ्गदेहव्याप्तिद्वारा व्याप्तेन आत्मालोकेन बलितं व्याप्तम् । विशेषतश्च जागरे तारे अक्षणोः कनीनिके तल्लक्षणयोरलिन्दयोरुष्णैतमद्वारप्रकोष्ठयोः कृता स्वामिस्थितिर्यस्मिन् । 'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणे-क्षन्पुरुषः' 'नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्' इति श्रुतेरिति भावः ॥ १८ ॥ रक्तमांसवसाभिर्वादिभृन्नोमयैरिव विग्धमुपलेपेनोपषितम् ।

इडा च पिङ्गला चास्य देहस्य मुनिनायक ।
 सुस्थिते कोमले मध्ये पार्श्वकोष्ठे निमीलिते ॥ २०
 पद्मयुग्मत्रयं यन्मस्थिमांसमयं मृदु ।
 ऊर्ध्वाधोनालमन्योन्यमिलत्कोमलसहलम् ॥ २१
 सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा ।
 चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याप्तानि वायुना ॥ २२
 चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत्परिवर्धते ।
 वाताहते लतापत्रजाले बहिरिवाभितः ॥ २३
 वृद्धिं नीतः स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा ।
 ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन्प्रसरत्यथ ॥ २४
 प्राणापानसमानाद्यैस्ततः स हृदयानिलः ।
 संकेतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राचारचेष्टितैः ॥ २५
 हृत्पद्मयन्त्रत्रितये समस्ताः प्राणशक्तयः ।
 ऊर्ध्वाधः प्रसृता देहे चन्द्रबिम्बादिवांशवः ॥ २६
 यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति विहरन्ति च ।
 उत्पतन्ति पतन्त्याशु ता एताः प्राणशक्तयः ॥ २७
 स एष हृत्पद्मगतः प्राण इत्युच्यते बुधैः ।
 अस्य काचिन्मुने शक्तिः प्रस्पन्दयति लोचने ॥ २८

ज्ञायवः शिरास्तत्संततिभिर्वेष्टितं रुद्धम् । अत एव सुकुञ्चम् ॥ १९ ॥ अस्य देहस्य मध्ये इडा पिङ्गला चेति द्वे कोमले सूक्ष्मे नाड्यां वामदक्षिणपार्श्वकोष्ठे निमीलिते अनभिव्यक्ते नासापुटयोः प्राणसंचारलिङ्गेनाभिव्यक्ते सुस्थिते ॥ २० ॥ तत्र सर्वप्राणशक्तीनामाश्रयभूतं द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकनाडीप्रभेदमूलजालकं पुरीतन्नामकं संपुटितसनालपद्मयुग्मत्रयाकारं हृत्पद्मयन्त्रत्रयं दर्शयति—पद्मयुग्मेति । अस्थिगृहणाद्वंशसंधिकीलप्रोतोर्ध्वनालता गम्यते । अन्योन्यं संपुटीभावेन मिलत्कोमलसहलमत एव यन्त्रं प्रत्येकं यन्त्राकारम् ॥ २१ ॥ नासाप्रादिपादान्तसकलदेहाकाशचारिणा चन्द्राख्यापानवाद्यत्रमृतसेकेन विकसन्ति पत्राणि दलानि यस्य तत् । एवं प्राणसंचारेण पत्राणि ईषत्संकुचन्तीत्यर्थाद्गम्यते । अत एव तस्य यन्त्रस्य पत्राणि प्राणापानवायुना व्याप्तानि सन्ति मृदु चलन्ति प्रत्युच्छ्वासनिःश्वासमीषसंकुचन्ति विकसन्ति चेत्यर्थः ॥ २२ ॥ किं ततस्तत्राह—चलत्स्विति । परिवर्धते परितः प्रसारात्पुरीतसंबद्धसर्वनाडीच्छिद्रेषु प्रविश्य बहुलीभवतीत्यर्थः । यथा बहिररण्यादां लतापत्रजाले वातेनाहते सति वायुः परितः प्रसरति तद्वदित्यर्थः ॥ २३ ॥ एवं वृद्धिं नीतः स हृदयवायुनाभिकण्ठसर्वाङ्गलक्षणमनेकधास्थानं कृत्वा कल्पयित्वा प्राणादिपद्मसंज्ञः सन् ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु द्विसप्ततिसहस्रप्रतिशाखासु एकोत्तरशतनाडीषु प्रविश्य देहे प्रसरतीत्यर्थः ॥ २४ ॥ तदेवाह—प्राणेति ॥ २५ ॥ तैः प्राणैः सह प्राणशक्तीनामपि सर्वाङ्गं प्रसरं दर्शयति—हृत्पद्मेति ॥ २६ ॥ तासामन्तरस्य देहव्यापनाय नाडीषु व्यापारमाह—यान्तीति ॥ २७ ॥ हृदयमेव मुख्यस्थानं प्राणस्यैव मुख्यता अन्ये तद्वृत्तिमेदास्तत्रा-
 रेण प्राण एव सर्वशरीरेन्द्रियादिचष्टाः क्षक्तिमेदं करोतीत्याह—

काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्ब्रह्मि नासया ।
 काचिदन्नं जरयति काचिद्भक्तिं घर्वांसि च ॥ २९
 बहुनात्र किमुक्तेन सर्वमेव शरीरके ।
 करोति भगवान्वायुर्यन्त्रेहामिव यान्त्रिकः ॥ ३०
 तत्रोर्ध्वाधोद्विसंकेतौ प्रसृतावनिलौ मुने ।
 प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ ॥ ३१
 तयोरनुसरन्नित्यं मुने गतिमहं स्थितः ।
 शीतोष्णवपुषोर्नित्यं नित्यमम्बरपान्थयोः ॥ ३२
 कलेवरमहायन्त्रवाहयोः श्रमहीनयोः ।
 हृदाकाशार्कशशिनोस्त्वग्शीषोमस्वरूपयोः ॥ ३३
 शरीरपुरपालस्य मनसो रथचक्रयोः ।
 अहंकारनृपस्यास्य प्रशस्येष्टनुरङ्गयोः ॥ ३४
 तयोर्ममानुसरतः प्राणापानाभिधानयोः ।
 गतिं शरीरमरुतोराशरीरमरुद्भयोः ॥ ३५
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु सदैव समरूपयोः ।
 सुषुप्तसंस्थितस्यैव ब्रह्मन् गच्छन्ति वासराः ॥ ३६
 सहस्रविनिरुक्ताङ्गाद्विसतन्तुलवादिपि ।
 दुर्लक्ष्या विद्यमानापि गतिः सूक्ष्मतराऽनयोः ॥ ३७

स एष इत्यादिना ॥ २८ ॥ २९ ॥ यन्त्रेहं प्रतिमादियन्त्रस्य नृत्यादिचेष्टाम् । यान्त्रिको यन्त्रसूत्रधारः ॥ ३० ॥ ऊर्ध्वगमनमधोगमनमिति द्विविधसंकेतवन्तौ ॥ ३१ ॥ एवं सर्वमापोद्घातिकमुपवर्णय स्वयं क्रियमाणां प्राणचिन्तां दर्शयति—तयोरिति । तयोर्गत्यनुसरणं न्वाध्यात्मिकपरिच्छेदत्यागेनाधिदेविकसूत्रात्मरूपनदात्मभावधारणया आसङ्गपापमदूषितसर्वेन्द्रियव्रतपरित्यागेन तन्मात्रव्रताचरणम् । वागादीन्द्रियाणां हि वचनादिस्वस्वविषयव्यसनिताव्रतं तच्चासङ्गपापमदूषितमिति श्रमलक्षणेन मृत्युना भ्रमम् । प्राणस्य तु मुखनासिकादिस्थानेषु संचरणमेव व्रतं तच्च न विषयासङ्गदूषितमिति न श्रमात्मना भज्यत इति प्राण एवैको व्रतभङ्गशून्यो मृत्युना न प्रस्यते । अतस्तदात्मताधारणतद्गतमात्राचरणलक्षणात्प्राणचिन्तनात्स्वस्य जितमृत्युतेत्याशयः । इयं च प्राणचिन्ता प्राणव्रतधारणसहिता बृहदारण्यके 'अथातो व्रतमीमांसा' इत्यादिना 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्यान्वैवापान्याच्च नेत्पाप्मा मृत्युराप्नुवत्' इति 'यद्युचरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायं सायुज्यं सलोकतां जयति' इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रपञ्चिता तत एवावगन्तव्या । तयोरुपासनीयगुणान्तराण्यप्याह—शीतोष्णवपुषोरित्यादिना ॥ ३२ ॥ श्रमहीनयोरिति । 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे अथेममेव नाप्रोचोयं मध्यमः प्राणः' इति श्रुतेरिति भावः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ आशरीरं यावज्जीवमरुद्भयोरविच्छिन्नोपासनयोः । तथाच प्राक् श्रुतिरुदाहता 'यद्युचरेत्समापिपयिषेत्' इति । न विच्छिन्द्यादिति हि तदर्थः ॥ ३५ ॥ समरूपयोरिति । अभ्यासातिशयेन बहिरन्तश्च द्वादशषोडशाङ्गलप्रदेशमात्रपरिमितसंचारयोरित्यर्थः ॥ ३६ ॥ प्राणायामाभ्यासात्तयोः

१ विनिमक्ताङ्गा इति पाठः.

अविरतगतयोर्गतिं विदित्वा

हृदि मरुतोरनुसृत्य चोदितां ताम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्र० पू० भुशुण्डोपाख्याने प्राणविचारणं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः २५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्थं स कथयन्पक्षी पृष्टस्तत्र पुनर्मया ।

कीदृशी प्राणवातस्य गतिरित्येव राघव ॥ १

भुशुण्ड उवाच ।

जानन्नपि मुने सर्वं किं मां पृच्छसि लीलया ।

यथापृष्टमहं वच्मि शृणु तत्रापि मद्बचः ॥ २

प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।

सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽयमुपरि स्थितः ॥ ३

अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।

सबाह्याभ्यन्तरे देहे त्वपानोऽयमवाक्स्थितः ॥ ४

जाग्रतः स्वपतश्चैव प्राणायामोऽयमुत्तमः ।

प्रवर्तते यतस्तज्ज्व तत्तावच्छ्रेयसे शृणु ॥ ५

बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्बुद्धम्बुजकोटरात् ।

स्वरसेनास्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः ॥ ६

द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतामधः ।

प्राणानामङ्गुलसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥ ७

सूक्ष्मतमत्वापादनाच्च नोऽक्रमणादिप्रसक्तिरित्याशयेनाह—सह-
स्रेति । अथवा नाख्यन्तःसंचारोऽनयोर्मुखनासिकासंचार इव
कुतो न लक्ष्यते तत्राह—सहस्रेति । 'यथा केशः सहस्रधा
भिन्नस्तावताणिना तिष्ठति' इति श्रुतेर्नाडीनामेवातिसूक्ष्मत्वाद्दुर्लक्ष-
त्वे तदन्तरनयोर्गतिः सुतरां दुर्लक्ष्येत्याशयः ॥ ३ ॥ वर्णितां प्राण-
चिन्तां वर्णयिष्यमाणप्रकारप्रश्रयावसरं सूचयन्नुपसंहरति—
अविरतैति । हृदि हृदयादिस्थानेष्वविरतं गतं संचारो ययोस्त-
योर्मरुतोः प्राणापानयोश्चोदितां नानाश्रुतिषु तत्तत्प्राणोपास्ति-
प्रकरणे अनेकधा विहितां निर्दोषत्वगतश्रमत्वाभिमव्रतत्वसंवर्गा-
द्यनेकगुणविशिष्टां गतिमनुसृत्य वक्ष्यमाणप्रकारेणोपास्य प्रणष्ट-
मृत्युपाशः सन् पुरुषस्तत्त्वज्ञानेन जीवन्मुक्तो भूत्वा इह
संसारे पुनर्न जायत इत्यर्थः । द्विशब्दः प्राणाद्युपास्तीनामपि
निष्कामानुष्ठितानां ज्ञानद्वारा मुक्तिहेतुत्वं श्रुतिषु प्रसिद्धमिति द्योत-
नार्थः ॥ ३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे पूर्वार्धे प्राणविचारणं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

प्राणापानगतिष्वत्र रेचकादिप्रकल्पनम् ।

प्राणापानोदयलयस्थानं ब्रह्म च वर्णयते ॥ १ ॥

प्रश्नावसरप्रदानसूचितश्चिन्तनीयप्राणगतिप्रकारभेदो मया पृष्ट
इत्याह—इत्थमिति ॥ १ ॥ २ ॥ एकः प्राणशब्दो रुद्धः अपरस्तु
प्राणगतिरिति यौगिकस्तत्प्रकरणपरः । लक्षणानुसारेणैवोर्ध्वस्थान-

न पुनरिह हि जायते महात्म-

न्मुदितमनाः पुरुषः प्रणष्टपाशः ॥ ३८

बाह्यात्परापतत्यन्तरपाने यत्नवर्जितः ।

योऽयं प्रपूरणः स्पर्शो विदुस्तमपि पूरकम् ॥ ८

अपानेऽस्तंगते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि ।

तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते ॥ ९

रेचकः कुम्भकश्चैव पूरकश्च त्रिधा स्थितः ।

अपानस्योदयस्थाने द्वादशान्तावधो बहिः ॥ १०

स्वभावाः सर्वकालस्थाः सम्यग्यत्नविवर्जिताः ।

ये प्रोक्ताः स्फारमतिभिस्ताञ्छृणु त्वं महामते ॥ ११

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ताद्बाह्यादभ्युदितः प्रभो ।

यो घातस्तस्य तत्रैव स्वभावात्पूरकादयः ॥ १२

मृदन्तरस्थानिष्पन्नघटवद्या स्थितिर्बहिः ।

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रसमसंमुखे ॥ १३

व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुः कुम्भकं बुधाः ।

बाह्योन्मुखस्य वायोर्थां नासिकाप्रावधिर्गतिः ॥ १४

तं बाह्यपूरकं त्वाद्यं विदुर्योगविदो जनाः ।

नासाग्रादपि निर्गत्य द्वादशान्तावधिर्गतिः ॥ १५

मभिनीय दर्शयति—अयमुपरि स्थित इति ॥ ३ ॥ एवम-
पानपदमप्येकं यौगिकं पूर्ववत्सर्वम् ॥ ४ ॥ एवं लक्षणतो भेदं
प्रदर्श्य तद्गतिष्वयत्नतः सदैव प्राणायामत्वसिद्धिचिन्तनं दर्श-
यति—जाग्रत इत्यादिना ॥ ५ ॥ तत्र हृदयान्मूर्धपर्यन्तं
प्रश्वासगल्यर्धमान्तररेचकत्वेन चिन्तनीयम् । मूर्धादिबहिर्द्वा-
दशाङ्गुलपर्यन्तं त्वर्धं बाह्यपूरकत्वेनेत्याह—बाह्येति द्वाभ्याम्
॥ ६ ॥ ७ ॥ एवं बाह्याद्देशादपाने अन्तः परापतति
प्रविशति यो नासाग्रादिमूर्धपर्यन्तो यश्च मूर्धादिहृदयपर्यन्तो
वायोः स्पर्शस्तं द्विविधमप्यन्तःपूरकं विदुरित्यर्थः ॥ ८ ॥
इदानीमन्तःकुम्भकं कल्पिताकल्पितसाधारण्येन लक्षयति—
अपाने इति । अस्तंगते प्रशान्ते सति ॥ ९ ॥ बहिरपि
च रेचकादीन्दर्शयितुमुपक्रमते—रेचक इत्यादिना । अपान-
स्योदयस्थाने नासाग्राद्बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते ॥ १० ॥ स्वत एव
भवन्तीति स्वभावा ये रेचकादयः प्रोक्ताः ॥ ११ ॥ अभ्युदितः
अभिमुखं स्थितः । तस्य वातस्य । तत्र बाह्यप्रदेश एव । बाह्य-
पूरकादयश्चिन्तनीया इति शेषः ॥ १२ ॥ तत्र बाह्यवाय्वन्तर-
पानस्यैकीभावेन निश्चलप्रायां स्थितिं कुम्भकत्वेन कल्पयति—
मृदन्तरस्थेति सार्धेन ॥ १३ ॥ तस्य पूर्वप्राणभावेन हृदया-
दारभ्य नासाग्रपर्यन्ता या गतिस्तां बाह्यपूरकत्वेनापि कल्प-
येदित्याह—बाह्योन्मुखस्येति ॥ १४ ॥ ततो बहिर्गतिं बाह्य-

या वायोस्तं विदुर्धरा अपरं बाह्यपूरकम् ।
 बहिरस्तंगते प्राणे यावन्नापान उद्गतः ॥ १६
 तावत्पूर्णं समावस्थं बहिष्ठं कुम्भकं विदुः ।
 यत्तदन्तर्मुखत्वं स्यादपानस्योदयं विना ॥ १७
 तं बाह्यरेचकं विद्याच्चिन्त्यमानं विमुक्तिदम् ।
 द्वादशान्ताद्यदुत्थाय रूपपीवरता परा ॥ १८
 अपानस्य बहिष्ठं तमपरं पूरकं विदुः ।
 बाह्यानाभ्यन्तराञ्छ्वैतान्कुम्भकादीननारतम् ॥ १९
 प्राणापानस्वभावांस्तान्बुद्ध्या भूयो न जायते ।
 अद्यावैते महाबुद्धे रात्रिदिवमनुस्मृताः ॥ २०
 स्वभावा देहवायूनां कथिता मुक्तिदा मया ।
 गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ॥ २१
 एते निरोधमायान्ति प्रकृत्याऽतिचलानिलाः ।
 यत्करोति यदश्नाति बुद्ध्यैवालमनुस्मरन् ॥ २२
 कुम्भकादीन्नरः स्वान्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ।
 अव्यग्रमस्मिन्व्यापारे बाह्यं परिजहन्मनः ॥ २३
 दिनैः कतिपयैरेव पदमाप्नोति केवलम् ।
 एतदभ्यसतः पुंसो बाह्ये विषयवृत्तिषु ॥ २४
 न बभ्राति रतिं चेतः श्वहतौ ब्राह्मणो यथा ।
 एतां दृष्टिमवष्टभ्य ये स्थिताः कृतबुद्धयः ॥ २५
 प्राप्तप्राप्तव्यमखिलं तैरखिन्नास्त एव हि ।
 तिष्ठता गच्छता नित्यं स्वपता जाग्रता तथा ॥ २६
 एषा चेत्येक्यते दृष्टिस्तत्र बन्धनमाप्यते ।
 प्राणापानानुसरणप्राप्तबोधवतामलम् ॥ २७
 संशान्तमलमोहेन स्वस्थेनान्तरिहोप्यते ।

पूरकान्तरतया कल्पयति—नासाग्रादिति ॥ १५ ॥ बहिरित्यादिः
 पूर्वोक्तानुवादः ॥ १६ ॥ बाह्यरेचकद्वयकल्पनप्रकारमाह—यत्त-
 दिति । उदयं प्रस्पन्दं विना । तथा च प्रस्पन्दपूर्वक्षणे यद-
 न्तर्मुखत्वं प्रस्पन्दोन्मुखत्वं तमित्यर्थः ॥ १७ ॥ द्वादशान्ता-
 द्वाह्यद्वादशाङ्गुलचरमभागात् । नासाप्रपर्यन्तमपानस्य चलनेन
 स्वरूपामिव्यक्त्या पीवरता ॥ १८ ॥ १९ ॥ बुद्ध् उपालम्भ
 भूयो न जायत इत्यवश्यभाविज्ञानफलेन स्मृतिः—अद्याविति ।
 यद्यपि बहिरन्तश्च रेचकपूरकयोः प्रत्येकं द्वैविध्यकथनारकुम्भ-
 काभ्यां सह दश भवन्ति तथापि कुम्भकयोः प्राचान्यादज्ञा-
 ष्टकाभिप्रायेणयमुक्तिः ॥ २० ॥ एतदभ्यासात्प्राणनिरोधोऽपि
 काले भवतीत्याह—गच्छत इति ॥ २१ ॥ कर्तृत्वभोक्तृत्वा-
 भिमानोऽप्यनेन नश्यतीत्याशयेनाह—यत्करोतीति ॥ २२ ॥
 बाह्यदृष्टिपरित्यागादन्तरात्मदर्शनोदयेन परमपदप्राप्तिरप्यनेन
 सिद्ध्यतीत्याह—अव्यग्रमिति । अस्मिन् प्राणचिन्तनव्यापारे
 संसक्तमत एव बाह्यमर्थं परिजहस्यजत् ॥ २३ ॥ २४ ॥ श्वहतौ
 श्वचर्ममन्त्रायां तद्रूपतक्षीरादाविति यावत् ॥ २५ ॥ २६ ॥ प्राणा-
 पानयोरनुसरणमनुसारिचिन्तनं तेन प्राप्तबोधवतां पुंसां संशा-
 न्तमलमोहेन चित्तेन अन्तर्हृदयस्थे इह प्रत्यगात्मनि ॥ २७ ॥

सर्वारम्भान्सदा स्वच्छः कुर्वन्वापि बुधो जनः ॥ २८
 प्राणापानगतिं प्राप्य सुखस्थः सुखमेधते ।
 प्राणस्याभ्युदयो ब्रह्मन्पद्मपत्रादृदि स्थितात् ॥ २९
 द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते प्राणोऽस्तं वात्ययं बहिः ।
 अपानस्योदयो बाह्याद्वादशान्तान्महामुने ॥ ३०
 अस्तंगतिरथाम्भोजमध्ये हृदयसंस्थिते ।
 प्राणो यत्र समायाति द्वादशान्ते नभःपदे ॥ ३१
 पदात्तस्मादपानोऽयं स्वादेति समनन्तरम् ।
 बाह्याकाशोन्मुखः प्राणो बह्यत्प्रतिशिक्षा यथा ॥ ३२
 हृदाकाशोन्मुखोऽपानो निम्ने वहति वारिवत् ।
 अपानश्चन्द्रमा देहमाप्याययति बाह्यतः ॥ ३३
 प्राणः सूर्योऽग्निरथवा पचत्यन्तरिदं वपुः ।
 प्राणो हि हृदयाकाशं तापयित्वा प्रतिक्षणम् ॥ ३४
 मुखाम्रगगनं पश्चात्तापयत्युत्तमो रविः ।
 अपानेन्दुमुखाग्रं तु ग्रावयित्वा हृदम्बरम् ॥ ३५
 पश्चादाप्याययत्येष निम्नेषसमनन्तरम् ।
 अपानशशिनोऽन्तस्था कला प्राणविवस्वता ॥ ३६
 यत्र प्रस्ता तदासाद्य पदं भूयो न शोच्यते ।
 प्राणार्कस्य तथान्तस्था यत्रापानसितांशुना ॥ ३७
 प्रस्ता तत्पदमासाद्य न भूयो जन्मभाङ्करः ।
 प्राण एवार्कतां याति सबाह्याभ्यन्तरेऽम्बरे ॥ ३८
 आप्यायनकरीं पश्चाच्छशितामधितिष्ठति ।
 प्राण एवेन्दुतां त्यक्त्वा शरीराप्यायकारिणीम् ॥ ३९
 क्षणादायाति सूर्यत्वं संशोषणकरं पदम् ।
 अर्कतां संपरित्यज्य न यावच्चन्द्रतां गतः ॥ ४०

॥ २८ ॥ प्राणस्याभ्युदय इत्यादिः पूर्वोक्तानुवादः ॥ २९ ॥ ३० ॥
 हृदयसंस्थिते अम्भोजमध्ये अस्तंगतिरपानस्थेति शेषः ।
 प्राणो यत्र यस्मिन्नभःपदे समायाति समाप्यते ॥ ३१ ॥
 तस्मात् स्वात् पदात् अपान एति उद्गच्छति । प्राणापानयो-
 रग्रीषोमात्मकत्वं यदुक्तं तदाप्यशैत्योर्ध्वोऽधोमुखत्वप्रदर्शनेनो-
 पपादयति—बाह्योत्यादिना ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तयोः सूर्य-
 चन्द्रात्मकता वा चिन्त्येत्याशयेन तामप्युपपादयति—प्राण
 इत्यादिना ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ कला चरमो भागः । यत्र यस्मि-
 न्हादे ब्रह्मणि स्थित्वा प्रस्ता तद्ब्रह्मासाद्य ॥ ३६ ॥ यत्र यस्मि-
 न्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तबाह्याकाशोपलक्षिते ब्रह्मणि विद्यमानेनापा-
 नेन प्रस्ता तद्ब्रह्मपदमासाद्येत्यर्थः ॥ ३७ ॥ एकस्यैव वायोः पर्या-
 येण शक्तिद्वयोदयश्चिन्तनीय इत्याह—प्राण एवेत्यादिना ॥ ३८ ॥
 आप्यायनमाप्यायो ह्लादनम् ॥ ३९ ॥ तत्र बहिर्द्वादशाङ्गुलप-
 र्यन्ते प्रसृतः प्राणो यावदर्कतामौष्ण्यं परित्यज्य चन्द्रतां शैत्यं
 न गतः सा प्राणापानयोः संध्यवस्था । तस्यां देहाद्बहिः प्राण-
 लयादात्मनो निर्देहत्वनिष्क्रियत्वनिर्मेनस्त्वादयो वास्तवस्वभावाः
 संभावयितुं शक्यत्वाद्द्विचर्यन्ते । तत्र बाह्यकुम्भके देहादिदेश-
 परिच्छेदाभावाच्चन्द्रसूर्यात्मकप्राणापानक्रियाप्रयुक्तयुः कालपरि-

प्राणस्तावद्विचार्यन्तेऽदेशकाले न शोच्यते ।
 हृदि चन्द्रार्कयोर्जात्वा नित्यमस्तमयोदयम् ॥ ४१
 आत्मनो निजमन्धारं न भूयो जायते मनः ।
 सोदयास्तमयं सेरुं सरार्थं सगमागमम् ॥ ४२
 हृदये भास्करं देवं यः पश्यति स पश्यति ।
 न क्षीणं नापरिक्षीणं बहिष्ठं सिद्धये तमः ॥ ४३
 हार्दं तु क्षपयेद्भ्रान्तं यत्क्षये सिद्धिरुत्तमा ।
 बाह्ये तमसि संक्षीणो लोकालोकः प्रजायते ॥ ४४
 हार्दं तु तमसि क्षीणे स्वालोको जायते मुने ।
 हार्दान्धकारक्षयदं परिष्ठातं विमुक्तिदम् ॥ ४५
 सोदयास्तमयं यद्वात्प्राणार्कमवलोकयेत् ।
 अपानेन्दुः प्रयात्यस्तं यत्र हृत्पद्मकोटरे ॥ ४६
 पदात्तस्मादुदेत्यन्तः प्राणार्को बहिरुन्मुखः ।
 अपानेऽस्तंगते प्राणः समुदेति हृदम्बुजात् ॥ ४७
 छायायां गलिताङ्गायां तत्रैवाशु यथातपः ।
 प्राणे त्वस्तंगते बाह्यादपानः प्रोदितः क्षणात् ॥ ४८
 आतपे परितो नष्टे छायेवानुपदं तथा ।
 प्राणजन्मावनौ नष्टमपानं विद्धि सन्मते ॥ ४९
 अपानजन्मभूमौ च प्राणं नष्टमवेहि हि ।
 अस्तंगतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ॥ ५०
 बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ।
 अपानेऽस्तंगते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ॥ ५१
 अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ।

च्छेदाभावाद्देशकाले स्वात्मनि प्रतिष्ठितेन योगिना न शोच्यते
 इत्यर्थः ॥ ४० ॥ एवमन्तःकुम्भकेऽपि हृदि प्राणापानसंघौ
 प्रतिष्ठितस्य मनसो निजाधिष्ठानपरमात्मतत्त्वबोधवशं यद्वा
 जन्मादिप्रसक्तिरित्याह—हृदीति ॥ ४१ ॥ आत्मनो मनसः
 आधारमधिष्ठानं परमात्मानम् । अथवा हृदयस्थः स्वात्मैव प्राण-
 सूर्यः स एवापानात्मकचन्द्रतया उदयास्तमयतद्विभूतव्यामा-
 दिवृत्तिभेदाद्यात्मना विवर्तते न तद्व्यतिरिक्तः कश्चिदस्तीत्युपा-
 सनं स्वात्मदर्शने हेतुरित्याह—सोदयास्तमयमिति ॥ ४२ ॥
 ननु किं हृद्यात्मसाक्षात्कारेण बाह्यतमसा बहिरेवापरिच्छिन्न-
 स्यात्मन आनृतत्वात्तक्षयाय बाह्यज्योतिरेव किं नाभिव्यस्ये
 तत्राह—नेति ॥ ४३ ॥ हार्दं निवृत्तिः । बाह्यज्योतिरेव कल्पमापि हृ-
 र्दध्वान्तवशादेवेति तत्क्षये तत्क्षयोऽर्थास्ति इति भावः । बाह्य-
 ज्योतिषा बाह्यतमःक्षपणं तु रूपादिदर्शनहेतुरेव न बहिरात्मद-
 र्शने हेतुरित्याशयेनाह—बाह्ये इति । लोकयत इति लोको जग-
 द्रूपम् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ उक्ते बाह्यान्तःकुम्भकप्रतिष्ठे प्ररोचनाय
 प्रपञ्चयिष्यन् भूमिकां रचयति—अपानेन्दुरित्यादिना ॥ ४६ ॥
 ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ उदयोन्मुखतैव निरोदयव्याशयः
 ॥ ५० ॥ ५१ ॥ अपानादपानोदयस्थानाद्वाद्याङ्गुलस्थानाद्दूर-
 कोटिगं, षोडशाङ्गुलभागप्रसारिणमित्यर्थः ॥ ५२ ॥ निःशेषवासु-

प्राणरेचकमालम्ब्य अपानाद्दूरकोटिगम् ॥ ५२
 स्वच्छं कुम्भकमभ्यस्य न भूयः परितप्यते ।
 अपाने रेचकाधारं प्राणपूरस्तथास्थितम् ॥ ५३
 स्वसंस्थं पूरकं दृष्ट्वा न भूयो जायते नरः ।
 प्राणापानाशुभाद्यन्तर्यत्रैतौ विलयं गतौ ॥ ५४
 तदालम्ब्य पदं शान्तमात्मानं नानुत्पद्यते ।
 प्राणभक्षोन्मुखेऽपाने देशं कालं च निष्कलम् ॥ ५५
 विचार्य बहिरन्तर्वा न भूयः परिशोच्यते ।
 अपानभक्षणपरे प्राणे हृदि तथा बहिः ॥ ५६
 देशं कालं च संप्रेक्ष्य न भूयो जायते मनः ।
 यत्र प्राणो ह्यपानेन प्राण्येनापान एव च ॥ ५७
 निगीर्णो बहिरन्तश्च देशकालौ च पश्य तौ ।
 क्षयमस्तंगतप्राणमपानोदयवर्जितम् ॥ ५८
 अयत्नसिद्धबाह्यस्थं कुम्भकं तत्पदं विदुः ।
 अयत्नसिद्धो ह्यन्तस्थकुम्भकः परमं पदम् ॥ ५९
 एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धेषा परमैव चित्त ।
 एतत्तत्तत्सदाभासमेतत्प्राप्य न शोच्यते ॥ ६०
 पुष्पस्यान्तरिवामोदः प्राणस्यान्तरवस्थितम् ।
 न स प्राणं न वाऽपानं चिदात्मानमुपासहे ॥ ६१
 जलस्यान्तरिवास्वादमपानस्यान्तरस्थितम् ।
 न सप्राणं न वाऽप्राणं चिदात्मानमुपासहे ॥ ६२
 प्राणक्षयस्योपास्तस्थमपानक्षयकोटिगम् ।
 अपानप्राणयोर्मध्यं चिदात्मानमुपासहे ॥ ६३

रेचनात्स्वच्छम् । नासाविवरेणान्तः प्रविशत्यपाने बाह्यरेचका-
 धारं प्राणस्य पूरणं प्राणपूरस्तदर्थमन्तः आस्थितं प्रविष्टं स्वसंस्थं
 देहान्तर्गतं पूरकं दृष्ट्वा उपास्य ॥ ५३ ॥ यत्र हार्दं ब्रह्मणि ॥ ५४ ॥
 इदानीम् 'अर्कतां संपरित्यज्य न यावच्चन्द्रतां गतः' इत्यत्र 'अदे-
 शकाले न शोच्यते' इति यदुक्तं तद्विदुष्वन बाह्यकुम्भकोक्तस्य देश-
 कालबाधस्यान्तःकुम्भकेऽप्यनुकर्षं दर्शयति—प्राणभक्षोन्मुख
 इत्यादिना । बहिः प्राणलयाधिष्ठानचित्ति अन्तः प्राणनिर्गमापादा-
 नचित्ति वा बाधेन देशं कालं चास्तदन्तर्वातेवस्तुजातं च निष्कलं
 चिन्मात्रमेवेति विचार्येत्यर्थः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ देश-
 कालौ प्राणापानाभ्यां सहैव निगीर्णविति पश्येत्यर्थः । तादृशा-
 वस्थाप्राणापानसंधिक्षणे सर्वप्राणिनामप्यस्ति योगिनस्तु तद्विदु-
 र्नान्दे इत्याह—क्षणमित्यादिना ॥ ५८ ॥ विदुः । योगिन इति
 शेषः ॥ ५९ ॥ ६० ॥ एवं क्रियाभेदभिन्नप्राणचिन्ताप्रकारमुक्त्वा
 तद्विरुद्धमन्तरं प्राणापानान्तरतदधिष्ठानचिदात्मोपासनं कर्त-
 व्यमित्याशयेनाह—पुष्पस्यान्तरित्यादिना । स किं प्राणोपहित
 एवोपास्यो, नेत्याह—न स प्राणमित्ति । तर्हि किं प्राणलयोपल-
 क्षितोऽपानात्मा सः, नेत्याह—न वाऽपानमित्ति । तथा च तत्प-
 रिचयार्थं प्राणस्यान्तरवस्थितमित्युक्तं नतुपासनोपाधितयेति भावः
 ॥ ६१ ॥ आस्वाद्यते इत्याखादो माधुर्यमिव । सप्राणं सजीवम् ।

१ न वाऽपानं इति पाठश्चिन्तः.

| | |
|---|--|
| प्राणस्य प्राणनं प्रोक्षेः परं जीवस्य जीवनम् । देहस्य धारणं धुर्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६४ | प्राणापानोद्भवस्थाने बाह्याभ्यन्तरमास्थिते । ये द्वे योगिपदाधारस्तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥ ७० |
| मनसो मननं सत्यं बुद्धेरेकावबोधनम् । अहंकृतेरहंकारं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६५ | प्राणापानरथारूढं प्राणापानमनाततम् । यच्छक्तिरूपं शक्तीनां तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥ ७१ |
| यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् । यच्च सर्वमयं नित्यं तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥ ६६ | हृत्प्राणकुम्भकं देवं बहिष्प्राणकुम्भकम् । पूरकांशविसृष्टं यत्तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥ ७२ |
| आलोकालोकनं पुण्यं सर्वपावनपावनम् । न च भावनमधूनं तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥ ६७ | प्राणापानपरामर्शं सत्ताबोधं विरूपकम् । यत्प्राप्यं प्राणमननात्तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥ ७३ |
| [अपानोऽस्तं गतो यत्र प्राणो नाभ्युदितः क्षणम् । कलाकलङ्करहितं तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥] | यत्प्राणपवनस्पन्दो यत्स्पन्दानन्दकारकम् । कारणं कारणानां यत्तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥ ७४ |
| नापानोऽभ्युदितो यत्र प्राणश्चान्तमुपागतः । नासाग्रगनावर्तं तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥ ६८ | यदखिलकलनाकलङ्कहीनं परिवलितं च सदा कलागणेन । खनुभवविभवं पदं तद्व्यं सकलसुरप्रणतं परं प्रपद्ये ॥ ७५ |
| यत्र प्राणोऽस्तमायाति यत्रापानोऽस्तमेति च । यत्र द्वावप्यनुत्पन्नौ तच्चित्तस्त्वमुपास्महे ॥ ६९ | |

इत्यार्षे श्रीबामारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भृशुण्डोपाख्याने समाधिबर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः २६

| | |
|---|---|
| भृशुण्ड उवाच । एषा हि चित्तविश्रान्तिर्मया प्राणसमाधिना । क्रमेणानेन संप्राप्ता स्वयमात्मनि निर्मले ॥ १ | अन्तर्मुखोऽस्मि तिष्ठामि स्वकामेनात्मनात्मनि ॥ ४ अपि संरुध्यते वायुरपि वा सलिलं गतेः । नैतस्मात्सुसमाधानाद्विरुद्धं संस्राम्यहम् ॥ ५ |
| एतां दृष्टिमवष्टभ्य संस्थितोऽस्मि महामुने । न चलामि निमेषांशमपि मेरुविचालतः ॥ २ | प्राणापानानुसरणात्परमात्मावलोकनात् । अशोकमनुजातोऽस्मि पदमाद्यं महातपः ॥ ६ |
| गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा । स्वप्नेऽपि न चलत्येष सुसमाधिर्ममात्मनि ॥ ३ | आमहाप्रलयाद्ब्रह्मन्मज्जननिमज्जनम् । अहमद्यापि भूतानां पश्यञ्जीवामि धीरधीः ॥ ७ |
| नित्यानित्यासु लोलासु जगत्स्थितिषु मुस्थितः । | न भूतं न भविष्यं च चिन्तयामि कदाचन । |
| अप्राणं निर्जावम् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ प्राणस्येति । 'स उ प्राणस्य प्राणः' इत्यादिश्रुतेः । प्राणनादिव्यापारे निमित्तमिति सर्वपर्यायार्थः ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ आलोकालोकनं ज्योतिषो ज्योतिः । भावैर्मनोबुद्ध्यादिविकारैर्नमत् नम्रीभवत् पूर्वस्वभावात्प्रच्यवत् न च । नूनमिति निश्चये ॥ ६७ ॥ नासाग्रोपलक्षितद्वाद्वाङ्मूलप्रदे- शगगनं आवर्तः प्राणापानप्रवाहसंधिर्यस्य । विरुद्धप्रवाहद्वयसंधौ ह्यावर्तो भवन्ति ॥ ६८ ॥ इदानीं बाह्यान्तःप्रदेशोपाधिभेदमप- हाय 'यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाश्चकिरे धर्म स एवाद्य स उ श्व एतद्दे तत्' इति श्रुत्यर्थं मनसिकृत्वाह—यत्र प्राण इति ॥ ६९ ॥ ये द्वे प्राणापानोद्भवस्थाने योगिमिः पद्येते गम्येते इति पदे तदाधारस्तदाधिष्ठानं यच्चित्तत्वं तदित्यर्थः ॥ ७० ॥ यत्प्राणापानोपाधिरथारूढमनाततं परिच्छिन्नं सत् प्राणापानस- माहारः प्राणनापाननशक्तिर्भवति एवं करणान्तरशक्तीनामपि यच्छक्तिरूपं भवतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥ प्राणापानकुम्भकभावेन तत्तद्विसर्गरेचकादिभावेन च तदेव विवर्तते इति तदेवापास्यमि- त्याह—हृदिति ॥ ७२ ॥ प्राणापानयोः परामर्शश्चालनं तस्मि- | ज्जिमिन्तभूतं तत्सत्ताबोधरूपं चेत्यर्थः । एवं प्राणोपास्तिफलमपि तदेवेत्युपास्यमित्याह—यत्प्राप्यमिति ॥ ७३ ॥ इन्द्रियाणां विष- यप्रदेशोपसर्पणं स्पन्दस्तदुपभोगश्चानन्दस्तयोः कारणम् ॥ ७४ ॥ अखिलकलनाकलङ्कहीनं परमार्थतः । आपातदक्षिणं तु सदा जीवोपाधिभूतेन प्राणादिषोडशकलागणेन परिवलितं वेष्टितम् । सम्यगनुभवः खनुभवः स एव विभवो निरतिशयैश्वर्यं यस्य तथाधिषं परमात्मपदमुक्तप्रकारेण प्रपद्ये उपासे इत्यर्थः ॥ ७५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धं समाधिबर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥ इत्थं स्वस्वात्मविज्ञानं निरूप्य प्राणचिन्तया । भृशुण्डेनात्र कथ्यन्ते चिरजीवितहेतवः ॥ १ ॥ अनेनोक्तप्रकारेण ॥ १ ॥ मेरोर्विचलनं विचालस्तस्मादपि ॥ २ ॥ ३ ॥ जगत्स्थितिषु इष्टानिष्टलक्षणसु सुस्थितो निर्धि- क्षेपः । स्वकामेन स्वच्छन्देन ॥ ४ ॥ वायुः प्रवहाख्यो ज्योति- श्चक्राधारः । सलिलं महानदीनाम् । गतः प्रवहणात्संरुध्यते संरुद्ध्येतापीत्यर्थः । विरुद्धं व्युत्थापकं विषयजातम् ॥ ५ ॥ हे महातपः ॥ ६ ॥ ७ ॥ वर्तमानां नित्यवर्तमानस्वभावां साक्षि- |

दृष्टिमालम्ब्य तिष्ठामि वर्तमानामिहात्मना ॥ ८
 यथा प्राप्तेषु कार्येषु परित्यक्तफलक्षणः ।
 सुषुप्तसमया बुद्ध्या परित्तिष्ठामि केवलम् ॥ ९
 भाषाभावमयीं चिन्तामीहितानीहितान्विताम् ।
 विमृश्यात्मनि तिष्ठामि चिरं जीवाम्यनामयः ॥ १०
 प्राणापानसमायोगसमयं समनुस्मरन् ।
 स्वयमात्मनि तुष्यामि चिरं जीवाम्यनामयः ॥ ११
 इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्यामि सुन्दरम् ।
 इति चिन्ता न मे तेन चिरं जीवाम्यनामयः ॥ १२
 न स्तौमि न च निन्दामि क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
 आत्मनोऽन्यस्य वा साधो तेनाहं शुभमागतः ॥ १३
 न तुष्यति शुभप्राप्तौ नाशुभेष्वपि खिद्यते ।
 मनो मम समं नित्यं तेनाहं शुभमागतः ॥ १४
 परमं त्यागमालम्ब्य सर्वमेव सदैव हि ।
 जीवितादि मया त्यक्तं तेनाहं शुभमागतः ॥ १५
 प्रशान्तचापलं वीतशोकं स्वस्थं समाहितम् ।
 मनो मम मुने शान्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ १६
 काष्ठं विलासिनीं शैलं तृणमांघ्रिं हिमं नभः ।
 समं सर्वत्र पश्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ १७
 किमद्य मम संपन्नं प्रातर्वा भविता पुनः ।
 इति चिन्ताज्वरो नास्ति तेन जीवाम्यनामयः ॥ १८
 जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च ।
 न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ १९
 अयं बन्धुः परश्चायं ममायमयमन्यतः ।
 इति ब्रह्मज्ञानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २०
 सर्वं सर्वपदाभासमनाद्यन्तमनामयम् ।
 अहं चिदिति जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २१

दृष्टिम् । आत्मना मनसा ॥८॥ निरभिमानत्वेन सुषुप्तसमया ॥९॥
 विमृश्य हेयतया निश्चिद्य । तेन चिरं जीवामि ॥ १० ॥ समा-
 योगः संधिस्तस्मयं तत्र विभातं ब्रह्माति यावत् ॥ ११ ॥ १२ ॥
 आत्मनः स्वस्थान्यस्य वा । चेष्टितमिति शेषः ॥ १३ ॥ शुभं
 प्रस्तावाजीवनम् ॥ १४ ॥ परं सर्वद्वैतबाधलक्षणं त्यागम् ।
 जीवितं जीवनाभिनिवेशस्तदादि ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ संपन्नं
 प्राप्तम् ॥ १८ ॥ १९ ॥ अन्यतः अन्यस्य ॥ २० ॥ सर्वं चिदेव ।
 सर्वपदं नानावस्तिवावभासत इति सर्वपदाभासम् ॥ २१ ॥
 आहरन् आददानः ॥ २२ ॥ संसारे भवं सांसारमारम्भं का-
 र्यम् ॥ २३ ॥ यथाकालं प्रारब्धोपस्थापितभोगकालानुसारे-
 णोपायात् प्राप्तौ ॥ २४ ॥ स्वरूपाच्च परिचलतीत्यपरिचलया
 मनःस्थयशक्त्या । सुदृशा सर्वभूतेष्वारम्भोपम्यदृष्ट्या । ऋजु अकु-
 टिलम् । तथा चोक्तं भारते—‘सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः
 पदम् । एतावान् ज्ञानविषयः प्रलापः किं करिष्यति ॥’ इति
 ॥ २५ ॥ २६ ॥ तत् तदभिमानं त्यक्त्वा शरीरेण तद्वतोऽपि

आहरन्विहरंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठन्नुत्तुसन्स्वपन् ।
 देहोऽहमिति नो वेदि तेनास्मि चिरजीवितः ॥ २२
 इमं सांसारमारम्भं सुषुप्तपदवन्स्थितः ।
 असन्तमिव जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २३
 यथाकालमुपायातावर्थानर्थौ समौ मम ।
 हस्ताविव शरीरस्थौ तेन जीवाम्यनामयः ॥ २४
 अपरिचलया शक्त्या सुदृशा क्षिग्धमुग्धया ।
 ऋजु पश्यामि सर्वत्र तेन जीवाम्यनामयः ॥ २५
 आपादमस्तकान्तेऽस्मिन्न देहे ममता मम ।
 त्यक्त्वाहंकारपङ्क्तस्य तेन जीवाम्यनामयः ॥ २६
 यत्करोमि यदश्रामि तस्यक्त्वा तद्वतोऽपि मे ।
 मनो नैष्कर्म्यमादत्ते तेन जीवाम्यनामयः ॥ २७
 यदा यदा मुने किञ्चिद्विजानामि तदा तदा ।
 मतिरायाति नौद्धत्यं तेन जीवाम्यनामयः ॥ २८
 करोमीशोऽपि नाक्रान्तिं परितापे न खेदवान् ।
 दरिद्रोऽपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २९
 पश्यद्रूपे शरीरेऽस्मिन्भूतस्थात्मा चिदास्पदः ।
 भूतवृन्दमहं साम्यात्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३०
 आशापाशविनुन्नायाश्चित्तवृत्तेः समाहितः ।
 संस्पर्शं न ददाम्यन्तस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३१
 असत्तां जगतः सत्तामात्मनः करबित्त्ववत् ।
 सुप्तः प्रबुद्धः पश्यामि तेनास्मि चिरजीवितः ॥ ३२
 जीर्णं भिन्नं श्रुथं क्षीणं क्षुब्धं क्षुण्णं क्षयं गतम् ।
 पश्यामि नववत्सर्वं तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३३
 सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने ।
 सर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३४
 आपद्यचलधीरोऽस्मि जगन्मित्रं च संपदि ।
 भाषाभाषेषु नैवास्मि तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३५

मे मनो नैष्कर्म्यमकर्तृभोक्तृस्वभावतामादत्ते स्वीकरोति ॥ २७ ॥
 औद्धत्यमविनीततां नायाति ॥ २८ ॥ ईशः परेषामाक्रमणसम-
 र्थोऽप्याक्रान्तिं परिभवं न करोमि । एवं परकृते परितापे सहन-
 शीलत्वाच्च खेदवान् ॥ २९ ॥ पश्यद्रूपे चेतनप्राये अस्मिन्श-
 रीरे भासमानेष्वहं चिदास्पदश्चिन्मात्रदर्शी । एवं च चिदात्मनः
 सर्वभूतेषु साम्यात्सर्वभूतस्थात्मा सन् भूतवृन्दं स्वशरीरमिव
 पश्यामीत्यध्याहृत्य योज्यम् ॥ ३० ॥ सर्वदा समाहितः सन्
 आशापाशविनुन्नायाश्चित्तवृत्तेः अन्तर्हृदि संस्पर्शं प्रवेशं न
 ददामि ॥ ३१ ॥ बाह्यदृष्टिविषये सुप्तः सन् जगतः असत्तां
 पश्यामि, अन्तस्तु प्रबुद्धः सन् आत्मनः सत्तां करबित्त्ववत्प-
 द्यामीत्यन्वयः ॥ ३२ ॥ श्रुथं शिथिलावयवम् । क्षीणं कृशाङ्गम् ।
 क्षुब्धं व्यावृतावयवम् । क्षुण्णं संचूर्णितावयवम् । सर्वमतीता-
 नागतवर्तमानवस्तुनित्यनिर्विकारात्ममात्रवद्दृशा नववत्पश्यामि
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ भाषाः कलानामिव वित्तादीनामुपचया

१ असाधे—न शरीरात्मदर्शी इति पाठः समुपलभ्यते.

नाहमस्मि न चान्यो मे नाहमन्वस्य कस्यचित् ।
इति मे भावितं चित्तं तेन जीवाभ्यनामयः ॥ ३६
अहं जगदहं व्योम देशकालकामावहम् ।
अहं क्रियेति मे बुद्धिस्तेन जीवाभ्यनामयः ॥ ३७
घटश्चिचित्पटश्चित्तं चिद्भवं शकटं च चित् ।
चित्सर्वमिति मे भावस्तेन जीवाभ्यनामयः ॥ ३८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे०मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू०भुशु०चिरजीवितहेतुकथनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥२६॥

सप्तविंशः सर्गः २७

भुशुण्ड उवाच ।

एतत्ते कथितं ब्रह्मन्वधास्मि यदिहास्मि च ।
एवदाज्ञामात्रसिद्ध्यर्थं ध्यात्स्वैनं ज्ञानपारग ॥ १

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अहो नु चित्रं भगवन्भवता भूषणं श्रुतेः ।
आत्मोदन्तः प्रकथितः परं विस्मयकारणम् ॥ २
धन्यास्ते ये महात्मानमत्यन्तचिरजीवनम् ।
भवन्तं परिपश्यन्ति द्वितीयमिव पद्मजम् ॥ ३
यावदद्य दृशो धन्याः स्वात्मोदन्तमखण्डितम् ।
यथावत्पावनं बुद्धेः सर्वं कथितवानसि ॥ ४
प्रमातं दिशु सर्वासु दृष्टा विबुधभूतयः ।
भवानिव जगत्सिद्धं महानवलोकितः ॥ ५
कथंचित्प्राप्यते कश्चिद्भ्रान्त्वेव हि महाजनः ।
न भवानिव भव्यात्मा सुलभो जगति कश्चित् ॥ ६
वंशखण्डे हि कस्मिंश्चिज्जायते मौक्तिकं यथा ।
जगत्खण्डे हि कस्मिंश्चिद्दृश्यते त्वादृशस्तथा ॥ ७
मया तु सुमहत्कार्यमद्य संपादितं शुभम् ।

अभावास्तक्षयाच्च तेषु नैवाभिनविष्टोऽस्मि ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
॥ ३७ ॥ किं सर्वत्र जाड्यमनपोह्यैवाहंबुद्धिस्ते नेत्याह—
घट इति ॥ ३८ ॥ उपसंहरति—इतीति । मेरुकर्णिकावसि-
त्वात् श्यामत्वाच्च त्रिलोककमलस्य अलिरिव अलिकः ॥ ३९ ॥
उत्पादनानि सर्गाः । आदिपदाद्द्विविपरिणामापक्षयास्तलक्षणेना-
भिभवेन परस्परप्रतिघातेन विभिन्नानि वैचित्र्यं प्राप्तानि रूपाणि
यस्य तत् । एवंरीत्या पुनःपुनरुत्पन्नमितमालीनं चाकुलं परित्र-
मत्साक्षिदृश्यबुद्धिमनइन्द्रियाणां दृश्यं जगत्सुखानकाले आलो-
कयन् समाधिकाले प्रकलयन् विलापयंश्च चिरं स्थितोऽस्मीत्यर्थः
॥ ४० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाप्रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
पूर्वार्धे चिरजीवितहेतुकथनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

भुशुण्डस्य प्रशंसाच्च धियासोस्तेन पूजनम् ।

वसिष्ठस्य नभोगत्या स्वलोकासिश्च वर्णयते ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण अस्मि चिरं जीवामि । परमार्थत इह
कार्यकरणसंघाते यदस्मि तच्च कथितमित्यर्थः । आर्षेण वैया-

इत्यहं मुनिशार्दूल त्रिलोककमलालिकः ।
भुशुण्डो नाम काकोलः कश्चित्चिरजीवितः ॥ ३९
ब्रह्मार्णवे विलुलितं विजगत्तरङ्ग-
मुत्पादनाद्यभिभवेन विभिन्नरूपम् ।
आलीनमुत्पन्नमितमाकुलदृश्यदृश्य-
मालोकयन्प्रकलयंश्च चिरं स्थितोऽस्मि ॥ ४०

बुध्यदेहविमुक्तात्मा यद्भवानवलोकितः ॥ ८
तदस्तु तव कल्याणं प्रविशात्मगुहां शुभाम् ।
मध्याह्नसमयो यन्मे ब्रजामि सुरमन्दिरम् ॥ ९
इत्याकर्ण्य भुशुण्डोऽसौ जप्राहोत्थाय पादपात् ।
संकल्पिताभ्यां हस्ताभ्यामुपासं हेमपल्लवम् ॥ १०
कल्पवृक्षलतापुष्पकेसरेण हिमत्विषा ।
तत्पात्रं मौक्तिकार्घ्येण पूरयामास पूर्णधीः ॥ ११
तेनार्घ्यपाद्यपुष्पेण त्रिनेत्रमिव मामसौ ।
आपादमस्तर्कं भक्त्या पूजयामास पूर्वजः ॥ १२
अनुब्रज्याकदर्थेन स्वगेन्द्रालमिति ब्रुवन् ।
विष्टरादहमुत्थाय ततः स्वगणदामुतः ॥ १३
व्योम्नि योजनमात्रं तु मदनुब्रज्यया गतः ।
करं करेणावष्टभ्य बलात्संरोधितः खगः ॥ १४
मथि धाते क्षणेनैव गगनाध्वन्यदृश्यताम् ।
निवृत्तोऽसौ विहंगेन्द्रो दुस्त्यजा संगतिः सताम् ॥ १५
अन्योन्यमपि कस्मिंश्चित्तरङ्गक इवाभुवौ ।
व्योमन्यदृश्यतां यातो खगस्मृत्या मुनीनहम् ॥ १६

त्येन ॥ १ ॥ आत्मोदन्तः स्वदृत्तान्तः ॥ २ ॥ ३ ॥ ये भवन्तं
प्रपश्यन्ति तेषां दृशो धन्याः । यावदद्येति स्वदृशोश्चिरस्थिति-
सार्थक्याभिप्रायम् ॥ ४ ॥ विबुधानां देवानां विदुषां च
भूतयो ज्ञानैश्वर्यसंपदो दृष्टाः ॥ ५ ॥ भ्रान्त्वा यत्नेन चिरमन्वि-
ध्यापि महास्तत्त्वज्ञो जनः कथंचित्प्राप्यते । तत्रापि भवानिव
न सुलभः ॥ ६ ॥ वंशखण्डे वेणुवने । वंशूनामप्यष्टसु मुक्ताक-
रेषु परिगणनात् ॥ ७ ॥ ८ ॥ मध्याह्नपदेन माध्याह्निकं कर्म
लभ्यते । सुरमन्दिरं सप्ताश्लोकं खगहम् ॥ ९ ॥ १० ॥
मौक्तिकलक्षणेनार्घ्येण अर्घ्यार्थजलेन ॥ ११ ॥ त्रिनेत्रमित्युप-
मानाभिस्यं शिवपूजापरतापि तस्य गम्यते । पूर्वजश्चिरन्तनः
॥ १२ ॥ हे खगेन्द्र, अनुब्रज्यालक्षणेन कदर्थेन श्रमेण अल-
मिति ब्रुवन्नहमासुत उद्गीनः ॥ १३ ॥ संरोधितो निवर्तितः
॥ १४ ॥ १५ ॥ आवागमन्योन्यमप्यदृश्यतां यातां । ततः
अहं खगस्य भुशुण्डस्य स्मृत्या अविच्छिन्नस्मरणेनोपलक्षितः
खगस्तर्षिमण्डलं प्राप्य मुनीन्दृष्टवानिति शेषः ॥ १६ ॥

सप्तर्षिमण्डलं प्राप्य जायया परिपूजितः ।
याते कृतयुगस्यादौ पुरा वर्षशतद्वये ॥ १७
संगतोऽहं भुशुण्डेन मेरोः शृङ्गदुमेऽभवम् ।
अद्य राम कृते क्षीणे त्रेता संप्रति वर्तते ॥ १८
मध्ये त्रेतायुगस्यास्य जातस्त्वं रिपुमर्दन ।
पुनरद्याष्टमे वर्षे तत्रैवोपरि भूभृतः ।
मिलितोऽभूद्भुशुण्डो मे तथैवाजरूपवान् ॥ १९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भुशुं० समाप्तिर्नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इति संकथितं चित्रं भुशुण्डोदन्तमुत्तमम् ।
श्रुत्वा विचार्य चैवान्तर्यद्युक्तं तत्समाचर ॥ २०
श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
इति सुमतिभुशुण्डसत्कथां यो
विमलमतिः प्रविचारयिष्यतीह ।
भवभयबहुलाकुलास्थितां स
प्रसभमसत्सरितं तरिष्यतीति ॥ २१

अष्टाविंशः सर्गः २८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं भुशुण्डवृत्तान्तः कथितस्ते मयानघ ।
अनया प्रज्ञया तीर्णो भुशुण्डो मोहसंकटात् ॥ १
एतां दृष्टिमवष्टभ्य स्वप्राणाभ्यासपूर्विकाम् ।
भुशुण्डवन्महाबाहो भव तीर्णमहार्णवः ॥ २
यथा ज्ञानेन योगेन संतताभ्यासजन्मना ।
भुशुण्डः प्राप्तवान्प्राप्यं तथासादय तत्पदम् ॥ ३
असक्तबुद्धयः सर्वे भुशुण्डवदवस्थितिम् ।
प्राप्नुवन्ति परे तत्त्वे प्राणापानावलोकिनः ॥ ४
एता विन्नित्रा भवता श्रुता विज्ञानदृष्टयः ।
इदानीं धियमालम्ब्य यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ५

श्रीराम उवाच ।

भगवन्भवता भूमिभास्वता ज्ञानरश्मिभिः ।
हार्दमुद्दामदीरात्म्यं प्रमृष्टमखिलं तमः ॥ ६
प्रबुद्धाः स्मः प्रहृष्टाः स्मः प्रविष्टाः स्मः स्वमास्पदम् ।
स्थिताः स्मो ज्ञातविज्ञेया भवन्तो ह्यपरा इव ॥ ७

जायया अरुन्धत्या । उक्ताया भुशुण्डसंगतेः काल्माह—याते
इति ॥ १७ ॥ १८ ॥ भूभृतः मेरोः ॥ १९ ॥ उपसंहरति—
इतीति ॥ २० ॥ इतीति । इति इमां सुमतेभुशुण्डस्य सत्कथां
यः प्रविचारयिष्यति स इहास्मिन्नेव शरीरे भवा जन्मादयस्त-
द्भयैर्बहुला अत एवाकुला ये जीवास्तेरास्थिता इति इमां प्रसि-
द्धामसत्सरितं मायानदीं तरिष्यति । प्रसभमिति पौरुषप्राधान्य-
द्योतनार्थम् ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वाधे समाप्तिर्नाम सप्तविंशतितमः सर्गः ॥ २७ ॥

आख्यायिकाभिसंबन्धो देहानियतिवर्णनम् ।

आपातभ्रान्तिमात्रत्वं देहादेश्चात्र वर्णयते ॥ १ ॥

वर्णिताया भुशुण्डाख्यायिकायाः प्रकृतोपदेशसंबन्धं दर्श-
यति—एष्वमित्यादिना ॥ १ ॥ प्राणाभ्यासोऽत्र प्राणस्य निरोध
उपास्तिर्वा तत्पूर्विकाम् । महार्णव इति विपुलः संसारो निर्गिर्या-
ध्यवसितः ॥ २ ॥ ३ ॥ प्राणापानावलोकिनः उक्तोपास्तिशीलाः
॥ ४ ॥ यथेच्छसि योगपूर्विकामुपास्तिपूर्विकां वा स्वात्मप्रतिष्ठां
तथा कुरु ॥ ५ ॥ आस्तां योगोपास्ती त्वदुपदेशध्वणादेव स्वस्य
यो० वा० १०५

अहो भुशुण्डचरितं परं विस्मयकारकम् ।
भगवन्भवता प्रोक्तमुत्तमार्थावबोधनम् ॥ ८
भुशुण्डचरिते ब्रह्मज्ञेतस्मिन्कथिते त्वया ।
यच्छरीरगृहं प्रोक्तं मांसचर्मास्थिनिर्मितम् ॥ ९
तत्केन नाम रचितं कुतो वा तत्समुत्थितम् ।
कथं वा स्थितिमायातं को वा तत्रावतिष्ठते ॥ १०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

परमार्थावबोधाय दोषापाकरणाय च ।
शृणु राघव तत्त्वेन वक्ष्यमाणमिदं मया ॥ ११
अस्थिस्थूणं नवद्वारं रक्तमांसावलेपनम् ।
शरीरसदनं राम न केनचिदिदं कृतम् ॥ १२
आभासमात्रमेवेदमिन्धमेवावभासते ।
द्विचन्द्रविभ्रमाकारं सदसश्च व्यवस्थितम् ॥ १३
द्विचन्द्रदर्शनविधौ चन्द्रद्वित्वं सदैव हि ।
वस्तुतश्चैक एवेन्दुः स्थितो देहस्तथैव हि ॥ १४

तत्त्वबोधः सिद्ध इति सूचयन् रामः कथाप्रसङ्गितदेहगेहस्वरूपमेव
जिज्ञासमानः पृच्छति—भगवन्नित्यादिना । भूमिभास्वता भूमा-
ववतीर्णेन सूर्येण । उद्दामानि दारात्म्यानि अनात्मस्वात्मत्वदर्श-
नानि तत्प्रयुक्तदुःखेष्टितानि च यस्मात्तथाविधं हार्दं तमः ॥ ६ ॥
अपरा द्वितीया भवन्त इव ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ कर्तुर्निमित्तस्य
स्थितिप्रकारस्य तदन्तःस्थस्य स्वामिनश्च प्रश्नाः ॥ १० ॥ ११ ॥
तत्रायस्योत्तरमाह—अस्थीति ॥ १२ ॥ नन्वीश्वरोऽस्य देहस्य
निर्माता श्रुतिपुराणाख्यायिकाप्रसिद्धः, जीवस्तु स्वकर्मोपभो-
गायास्य निर्मापकस्तौ कथमपलप्येते तत्राह—आभासमात्र-
मिति । इत्थमेव । विनैव निर्मातारमित्यर्थः । न हि जले चन्द्रा-
भासो निर्मातारमपेक्षते नापि तैमिरिककल्पितद्वितीयचन्द्रवि-
भ्रमस्तद्वदित्यर्थः । ईश्वरस्य निर्मातृत्वं तु श्रौतं न मुख्यम् ।
पुरुषनिःश्रुतदृष्टान्तदर्शनात् । जीवस्य निर्मापयितृत्वमपि
तथा । अबुद्धिपूर्वत्वादिनिष्ठनिर्माणयोगाच्चेति भावः ॥ १३ ॥
देहस्य मिथ्यात्वं तु प्रतीतिकालमात्रस्थितिकत्वाच्चन्द्रद्वित्ववदेव
सिद्धमित्याह—द्विचन्द्रेति । चन्द्रद्वित्वं द्विचन्द्रदर्शनस्य विधौ

देहप्रत्ययकाले हि देहोऽयं समवस्थितः ।
 असन्नेव च सत्सत्ताप्रोक्तः सदसदात्मकः ॥ १५ ॥
 स्वप्ने स्वप्नावबोधः संस्त्वन्वदा स मुधैव हि ।
 बुद्बुदो बुद्बुदविधौ सत्यो मिथ्यैव चान्यदा ॥ १६ ॥
 देहो देहविधौ सत्यो ह्यसत्य इतरद्विधौ ।
 प्रतिभासविधौ तावज्जलं सदसदन्यदा ॥ १७ ॥
 प्रतिभासविधौ देहः सन्नसंभ्रान्यदा स्मृतः ।
 आभासमात्रमेवेदमित्थं संप्रति भासते ॥ १८ ॥
 अयं नामाहमित्यन्तर्गृहीतमननं स्थितम् ।
 मांसास्थिमयनिर्माणदेहोऽहमिति विभ्रमम् ॥ १९ ॥
 त्यज संकल्पनिर्माणदेहाः सन्ति सहस्रशः ।
 सुखतल्पगतो येन स्वप्नदेहेन दिक्तदान् ॥ २० ॥
 परिभ्रमसि हे राम स देहस्ते क संस्थितः ।
 जागरायां मनोराज्ये येन स्वर्गपुरान्तरम् ॥ २१ ॥
 परिभ्रमसि मेहं वा स देहस्ते क संस्थितः ।
 स्वप्नेष्वपि च यः स्वप्नस्तत्र येन महीतदान् ॥ २२ ॥
 परिभ्रमसि हे राम स देहस्ते क संस्थितः ।
 मनोराज्यं मनोराज्ये महद्विभवभूमिषु ॥ २३ ॥
 परिभ्रमसि येनेह स देहस्ते क संस्थितः ।
 गतैर्देहैर्मनोराज्ये या विचित्रा जगत्क्रियाः ॥ २४ ॥
 प्रकरोषि महाबाहो ते देहास्ते क संस्थिताः ।
 विलासिन्यानुरागिण्या येन संकल्पकान्तया ॥ २५ ॥
 निर्वृतिं यासि देहेन स देहस्ते क संस्थितः ।
 एते राम यथा देहा मनसः सदसन्मयाः ॥ २६ ॥
 तथैव तादृशाचारो देहोऽयं मनसः स्मृतः ।

सत्येव भवति नान्यदा । देहोऽपि हि यस्मात्तथैव । वस्तुतस्तु
 सदैव ह्येक एवेन्दुरित्यन्वयः ॥ १५ ॥ उक्तमेव स्पष्टमाह—
 देहेति । परमार्थसदधिष्ठानकतया उपचारात्सत् ॥ १५ ॥ असतः
 सत्त्वभ्रान्तिः क इष्टा तत्राह—स्वप्न इति । मुधा मिथ्यैव ।
 बुद्बुदविधौ बुद्बुदप्रतीतिसत्त्वे ॥ १६ ॥ इतरद्विधां शुद्धात्मदर्श-
 नसत्त्वे । जलं मृगतृष्णिकोदकम् ॥ १७ ॥ प्रतिभासविधाविति
 प्रसाधितार्थनिगमनत्वात् पीनरुक्त्यम् ॥ १८ ॥ आभासमात्र-
 तामुपपादयंस्तदभिमानं त्याजयति—अयमिति । प्राग्गृहीतदे-
 हाकारं मननमेव संस्कारदाढ्यात्पुनःपुनर्देहाकारेण स्थितम्
 ॥ १९ ॥ त्यजेति पूर्वान्वयि । संकल्पनिर्माणदेहानेवोदाहृत्य
 तेषामसत्यतां दर्शयति—सुखतल्पगत इत्यादिना ॥ २० ॥
 जागरायां जागरे । छान्दसं स्त्रीत्वम् ॥ २१ ॥ २२ ॥ मनो-
 राज्यान्तःकल्पिते मनोराज्यान्तरे महतीषु विभवभूमिषु । 'आ-
 न्महतः समानाधिकरणजातीययोः' इत्यात्वे कर्तव्ये तदभाव-
 इच्छान्दसः । महतामिन्द्रचन्द्रादीनां वा विभवभूमिषु ॥ २३ ॥
 गतैः कल्पनाविलयमनुविलीनैः ॥ २४ ॥ २५ ॥ निर्वृतिं संभो-
 गसुखं यासीति योग्यतया वर्तमानकालोक्तिः । एवं भविष्य-
 त्स्वप्नमनोराज्यदेहा अप्युदाहार्याः । तेषु मिथ्यात्वसंकल्पक-

इदं धनमयं देहो देशोऽयमिति विभ्रमः ॥ २७ ॥
 तत्सर्वं चित्तवीर्यस्य संकल्पस्य विपृम्भितम् ।
 दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ॥ २८ ॥
 दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन ।
 प्रबोधमेष्यसि यदा परमात्मैक्यया स्वया ॥ २९ ॥
 द्रक्ष्यसि त्वं तदा सम्यगिदमकोदये यथा ।
 स्वप्नसंकल्पजालेन यथान्यैव जगत्स्थितिः ॥ ३० ॥
 तथैवेयं हि संकल्पकलना काचिदेव हि ।
 यथा पूर्वं मयोत्पत्तिः प्रोक्ता कमलजन्मनः ॥ ३१ ॥
 मनसः स्वयमेवान्तःसंकल्पकलनोद्भवा ।
 विचित्ररचनोपेतं मनस्तत्रास्तविभ्रमम् ॥ ३२ ॥
 संकल्पकलनामात्रं तथेदमवभासनम् ।
 यथा कल्पित आभासो मनसोऽज्ञजतां गतः ॥ ३३ ॥
 देहाद्विचिन्तितो देहः स्थितोऽन्यस्तद्देव हि ।
 प्राक्प्रवाहचिराभ्यस्तो वासनातिशयेन यः ॥ ३४ ॥
 तथैव दृश्यते देहस्तथाऽऽकृत्युदयेन सः ।
 पौरुषेण प्रयत्नेन संकल्पो ह्ययमेव चित् ॥ ३५ ॥
 अन्यथा भाव्यते राम भूयते तदिहान्यथा ।
 अयं सोऽयं ममायं च संसार इति भाविते ॥ ३६ ॥
 सत्यो यो भाव्यते राम भावनादाढर्यसंभवः ।
 भावितं तीव्रवेगेन यदेवाशु तदेव हि ॥ ३७ ॥
 सर्वत्र दृश्यते राम कान्तेवात्यन्तवल्लभा ।
 अहर्व्यावृत्तिरभ्यस्ता यथा स्वप्नेषु दृश्यते ॥ ३८ ॥
 तथायं भावनाभ्यस्तः संसारोऽप्यवलोक्यते ।
 यथा स्वप्नावनौ क्षिप्रमहर्षदवभासते ॥ ३९ ॥

त्वादेर्निश्चितत्वात्प्रस्तुतदेहेऽपि तथात्वं साधयति—एते इति
 ॥ २६ ॥ अहंताध्यासविषये देहे दांशितो न्यायो ममताध्यास-
 गोचरे धनादावपि सम इत्याशयेनाह—इदं धनमिति ॥ २७ ॥
 या तु देहादौ स्वाप्नादिवैधर्म्यबुद्धिः सा चिरानुवृत्तिमात्रा न
 तु सत्यत्वासांकल्पिकत्वादिप्रयुक्त्याशयेनाह—दीर्घेति ॥ २८ ॥
 अत एवास्य तत्त्वज्ञानेन बाध्यत्वमुपपन्नमित्याशयेनाह—प्रबो-
 धमिति ॥ २९ ॥ सम्यक् आत्ममात्रपरिशेषेण द्रक्ष्यसि । यथा अ-
 कोदये प्रबुद्धः स्वाप्नार्थान्पश्यति तद्वत् ॥ ३० ॥ काचिदनिर्वचनीया
 मिथ्यैवेत्यर्थः । उक्तेऽर्थे च प्रागुत्पत्तिप्रकरणे विस्तारोक्तं स्मार-
 यति—यथेति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ऐन्दवोपाख्यानोक्तमपि
 स्मर्तव्यमित्याह—यथा कल्पित इति ॥ ३३ ॥ पूर्वदेहादुत्का-
 न्तिकाळे विचिन्तितो यो देहः ॥ ३४ ॥ तथाऽऽकृत्युदयेन तादृ-
 शसंस्थानसंपत्त्या । पौरुषेण प्रयत्नेन मनः प्रत्यक्षुस्तीकृत्य
 स्वात्मदर्शने अयं देहजगदाकारः संकल्पविदेवेत्यन्वयः
 ॥ ३५ ॥ अन्यथा भाव्यते यदीति शेषः । तर्हि अन्यथा
 भूयते इति भाविते तथैवानुभूयत इति शेषः ॥ ३६ ॥
 तदेव हि दृश्यते इति परेणान्वयः ॥ ३७ ॥ अहि व्यावृत्ति-
 र्वापृत्तिर्मथान्वस्ता ॥ ३८ ॥ क्षिप्रं क्षीप्रप्रवृत्तौ कणादिः अह-

तथेदमल्पकालस्यमपि संलक्ष्यते स्थिरम् ।
 व्योमन्धेव यथा तापतप्ते संदृश्यते सरित् ॥ ४०
 घराप्यविद्यमानापि संकल्पाद्दृश्यते तथा ।
 दृश्यते दृष्टिवैरूप्याद्यथा व्योमनि पिच्छिका ॥ ४१
 तथैवेयं जगद्गुह्यमीदुर्ज्ञानादवभासते ।
 दृश्यते समया दृष्ट्या न यथा व्योम्नि पिच्छिका ॥४२
 सम्यग्दृष्ट्या जगद्गुह्यमीस्तथेयं नावभासते ।
 भीरुरभ्येति न यथा स्वसंकल्पेषु संभ्रमम् ॥ ४३
 स्वसंकल्पे हि संसारे न तथैति भयं सुधीः ।
 स्व एव हि स्वभावोऽयमित्यं संप्रति भासते ॥ ४४
 संसारसरणिस्थित्यां कस्मात्कोऽत्र बिभेति किम् ।
 स एव किञ्चित्संशोध्यः शुद्ध्या विमलतां गते ॥ ४५
 तस्मिन् दृश्यते राम मोहोऽयं जगतः स्थितः ।
 सम्यगालोकमात्रेण स्वभावः शुद्धिमृच्छति ॥ ४६
 न गृह्णाति मलं भूयस्ताम्रतामिव काञ्चनम् ।
 आभासमात्रमेवेदं न सन्नासज्जगन्नयम् ॥ ४७
 इत्यन्यकलनात्यागः सम्यगालोकनं विदुः ।
 मरणं जीवितं स्वर्गो ज्ञानमज्ञानमेव च ॥ ४८
 चिदाभासादृते नास्तीत्येकता सम्यगीक्षणम् ।
 त्वमहंतादिसंसार इति मे न दिशो दश ॥ ४९
 सर्वं स्वाभासमेवेति सम्यगालोकनं विदुः ।
 सदसन्मयसंसारे यथा भूतार्थदर्शनात् ॥ ५०

विंशद्विंशिकाधीर्घोऽवभासते ॥ ३९ ॥ स्थिरं शाश्वतम् ।
 व्योमनि महभूम्याकाशे । सरित् मृगतृष्णानदी ॥४०॥ घरा
 भूः । अपिशब्दादन्तरिक्षं त्रिलोकी च । पिच्छिका बर्हमुष्टिः
 ॥४१॥ दुर्ज्ञानाद्भ्रमात् ॥४२॥ भीरुपि स्वसंकल्पेषु स्वमनोरा-
 ज्यकल्पितहस्तिव्याघ्रादिषु । संभ्रमं भयम् ॥ ४३ ॥ स्वभावः
 आत्मा । संप्रति बहिर्मुखदशायाम् ॥ ४४ ॥ यद्विभेति तदपि
 भयं किम् । न किञ्चित्स्वात्मव्यतिरिक्तमस्तीत्यर्थः । यो बिभेति स
 एव किञ्चित्संशोध्यो विवेचनीयः ॥ ४५ ॥ अयं भयादिलक्षणो
 मोहः अद्वये शुद्धात्मनि न दृश्यते । तथा च श्रुतिः—'यन्मद-
 न्यभास्ति कस्मान् बिभेमीति । तत एवास्य भयं वीयाय । कस्मा-
 द्यभ्येत् । द्वितीयाद्द्वै भयं भवति' इति । केन तर्ह्युपायेनात्मा
 शुष्यति तमाह—सम्यगिति । स्वभाव आत्मा ॥ ४६ ॥
 पुनरुद्दिप्रतिशब्दां वारयति—नेति । स्वभावतः काश्चनं
 आन्त्या ताम्रतया गृहीतं तापादिना स्वरूपाभिव्यक्तौ पुनस्वाम्रत्व-
 मिवेत्यर्थः । कुतोऽस्य दर्शनमात्राच्छुद्धिरिति चेद्दृश्यमलस्याभास-
 मात्रत्वादित्याह—आभासमात्रमेवेति ॥ ४७ ॥ इति अस्मा-
 द्ज्ञेतोः सम्यगालोकनमेवान्यकलनायास्त्यागो निवृत्तिरिति विदु-
 रिति पूर्वणान्वयः । सम्यगीक्षणं तर्हि कीदृशं तदाह—मरण-
 मित्यादिना ॥ ४८ ॥ चिदाभासात्प्रकाशादृते विना पृथक्
 नास्तीत्येकता चिन्मात्रपरिषेवः फलतः सम्यगीक्षणमित्यर्थः ।

नास्तमेति न चोदेति सम्यगालोकनान्मनः ।
 निर्णय सर्वभावानामसत्त्वं सत्त्वमेव च ॥ ५१
 निष्कामं शान्तिमभ्येति सम्यगालोकनान्मनः ।
 न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न शोचति ॥५२
 शीतलां सत्यतामेति सम्यगालोकनान्मनः ।
 अवश्यमेव मर्तव्यं सर्वैरेव हि बन्धुभिः ॥ ५३
 इति बन्धुवियोगेषु किं वृथा परितप्यसे ।
 अवश्यमेव च मया मर्तव्यमिति निश्चयः ॥ ५४
 इत्यात्ममरणप्राप्तौ किं मुधा परितप्यसे ।
 अवश्यमेव जातेन किञ्चित्सुखिमवादिकम् ॥ ५५
 प्राप्तव्यं पुरुषेणेति हर्षस्यावसरो हि कः ।
 सर्वस्यैव हि संसारे नरस्य व्यवहारिणः ॥ ५६
 अर्थायाता भवत्यापच्छोकस्यावसरो हि कः ।
 वृंहत्युदेति स्फुरति बुद्धुदौघ इवार्णवे ॥ ५७
 इदं हि जगतां जालं किमत्र परिदेवना ।
 सत्सदेव सदैवैतदसदेवासदेव हि ॥ ५८
 क्रियावैचित्र्यमात्रे तु किमन्यत्परिदेव्यते ।
 नाहमस्मि न चाभूवं भविष्यामि न सोऽधुना ॥ ५९
 देहोऽयं चित्रदोषोत्थः किमन्यत्परिदेव्यते ।
 देहाच्चेदन्य एवाहं चिदाभासस्तदङ्ग हे ॥ ६०
 कौ तौ मे सदसद्भावौ यन्निष्ठं परितप्यते ।
 इति निश्चयवत्त्वान्तं सम्यग्ज्ञानात्मनो मुनेः ॥ ६१

त्वंता स्वातिरिक्तचेतनता । अहंता स्वदेहमात्रपरिच्छिन्न-
 चेतनता आदिपदारवंताहंताभिमानविषय आध्यात्मिकः
 कार्यकारणकलापः संसारयत्यात्मानं लोकान्तरेषु विषयेषु च
 भ्रमयतीति संसारो विषयकलापस्तदाधारा दश दिशश्चेति
 सर्वं दृश्यजातं मे मत्संबन्धिनः पृथक् न सन्ति किंतु
 स्वाभासं स्वप्रकाशात्मस्वरूपमेवास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥ सम्यगा-
 लोकनफलमाह—सदसन्मयेति । सद्गद्ग असती माया तदु-
 भयोपादानके ॥५०॥ असत्त्वं बाधम् । सत्त्वमधिष्ठानसन्मात्र-
 परिषेवम् ॥ ५१ ॥ निष्कामं प्राप्तकामत्वादकामम् ॥ ५२ ॥
 शीतलामुपशान्ततापत्रयाम् । स्वस्य मुक्तावपि बन्धुजनानां
 बन्धानिवृत्तेस्वीयमरणादिदर्शनजस्तापो दुर्वारस्तत्राह—अव-
 द्यमेवैत्यादिना ॥५३॥ अज्ञतादशयां स्वमरणाशङ्कातापोऽप्य-
 नेनोपायेन परिहर्तुं शक्य इत्याशयेनाह—अवश्यमेवेति ॥५४॥
 ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ आपत् इतिशुद्धदर्शाया । अर्थादेव आयाता
 भवत्येव । वृंहति वर्धते ॥ ५७ ॥ असदपि सदैव असदेव न
 कदाचित्सत्त्वमापन्नमिति मायाविक्रियावैचित्र्यमात्रात्मके प्रपञ्चे
 किमन्यदस्ति यत्परिदेव्यते इत्यर्थः । अहं अहंकारात्मा
 नास्मि ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ चित्रात्कामकर्मवासनाविद्यादोषादुत्थः
 चिदाभासात्प्रकाशः । अज्ञेति कोमलाम्बुणे ॥ ६० ॥ ये
 निष्ठे उदर्कफले निमित्तभूते यस्मिन्परितापे इति क्रियाविशेषणम्

नास्तमेति न चोदेति न शान्तं परितप्यते ।
 परतामेव नाशान्तामनुत्तमपदे स्थितः ॥ ६२
 आदत्ते तिसिरी मृद्धी तृणकोटिमिवामलाम् ।
 एतदर्थमसत्येऽस्मिन्नास्था कार्या मनागपि ॥ ६३
 सुरज्ज्वेव बलीबर्धो बध्यते जन्तुरास्थया ।
 अतस्त्वया दृढमिदमिति निर्णाय बुद्धितः ॥ ६४
 आस्थारहितया बुद्ध्या विहर्तव्यमिहानघ ।
 कर्तव्यमेव कर्तव्यमकर्तव्यमुपेक्षयते ॥ ६५
 आस्थानास्थे परित्यज्य लीलयाैव महाधिया ।
 आभासमात्रमेवेदं यस्य च प्रतिभासते ॥ ६६
 सोऽन्तः शीतलतामेति दिनान्ते भुवनं यथा ।
 प्रतिभासं परित्यज्य पदार्थपटलव्रजे ॥ ६७
 आभासमात्रसामान्यमिदमालोकयानघ ।
 आभासमात्रकं राम चित्तामर्शकलङ्कितम् ॥ ६८
 ततस्तदपि संत्यज्य निराभासो भवोत्तम ।
 चिदाकाशमयो नित्यं सर्वगः सर्ववर्जितः ॥ ६९
 आभासस्य परित्यागे भवस्येकान्तनिर्मलः ।
 नाहमस्मि न मे भोगाः सत्या इत्यभिभाषिते ॥ ७०
 नेदमाडम्बरं व्यर्थमनर्थायावभासते ।
 अहमेव हि वा सर्वं चिदित्येवं विभाषिते ॥ ७१
 नेदमाडम्बरं व्यर्थमनर्थायावभासते ।
 दर्शनद्वयमप्येतत्सत्यमत्यन्तसिद्धिदम् ॥ ७२
 यदेकमेतयोर्वेत्सि रम्यं तद्राम संश्रय ।
 द्वाभ्यामेवाथ वै ताभ्यां दर्शनाभ्यामिहानघ ॥ ७३

॥ ६१ ॥ अनुत्तमपदे स्थितो ब्रह्मवित् सर्वभाषेषु नाशान्तां
 बाधपरिशिष्टं परतां ब्रह्मतामेव आदत्ते स्वीकरोति न प्रतीति-
 कालिकीं खरताम् । यथा तिसिरी नीडनिर्माणाय तृणानां
 मूलतः खरभागान्परित्यज्य मृद्धी तृणकोटिमेवादत्ते तद्व-
 दित्यर्थः ॥ ६२ ॥ एतदर्थं संसारस्य खरभागपरिहारार्थम्
 ॥ ६३ ॥ इदमप्रभूतं ब्रह्म इति उक्तयुक्तया निर्णाय ॥ ६४ ॥ तर्हि
 किमास्थां परित्यज्य यथेष्टाचरणं कर्तव्यं, नेत्याह—कर्तव्य-
 मेवेति । विहितमेवेत्यर्थः ॥ ६५ ॥ लीलया अश्रमेण ॥ ६६ ॥
 दिनान्ते सौरतापोपरमे । सर्वानुगतसन्मात्रदर्शने उपायमाह—
 प्रतिभासमिति । विशेषाकारमित्यर्थः । पदार्थानां पञ्चभूतानां
 पटलं समूहस्तदात्मके घटपटादिविषयव्रजे ॥ ६७ ॥ चित्तस्य
 आमर्शेन विशेषकल्पनेन कलङ्कितमभूदिति शेषः ॥ ६८ ॥
 तत्सन्मात्ररूपमाभासमपि संत्यज्य स्वात्मव्यतिरेकबुद्ध्या त्यक्त्वा
 निराभासस्त्रिपुटीशून्यः । सर्वगः पूर्णः ॥ ६९ ॥ निराभासता-
 सिद्ध्युपायभूतं चिन्तनद्वयमाह—नाहमित्यादिना । अभितो
 भाषिते चिन्तिते सति ॥ ७० ॥ चिति सर्वबाधचिन्तनं सर्वस्य
 चिदात्मभावचिन्तनं वेति द्वे चिन्तने ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ऐच्छि-
 कसमुषयेऽप्यनयोर्न विरोधः । फलत एकस्यादित्या-

विहरन्कुरु कल्याण रागद्वेषपरिक्षयम् ।
 यत्किञ्चिदुदितं लोके यन्नभस्यथ वा दिवि ॥ ७४
 तत्सर्वं प्राप्यते राम रागद्वेषपरिक्षयात् ।
 रागादिहतया बुद्ध्या यादृशाम विचेष्टितम् ॥ ७५
 तत्तदेव प्रयात्याशु मूढानां विपरीतताम् ।
 द्वेषदोषोर्मिरुद्धासु न गुणाश्चित्तवृत्तिषु ॥ ७६
 पदं कुर्वन्ति दग्धासु स्थलीषु हरिणा इव ।
 रागो द्वेषश्च सर्पो द्वौ न विलीनौ मनोबिले ॥ ७७
 यस्य कल्पतरोस्तस्मात्किं नामाङ्ग न लभ्यते ।
 ये हि प्राज्ञाः खनियता विदग्धाः शास्त्रशालिनः ॥ ७८
 रागद्वेषमयास्ते वै जम्बुकास्ते धिगस्तु तान् ।
 मद्धनं भुक्तमन्येन धनं त्यक्तं मयाऽन्यतः ॥ ७९
 इति संव्यवहारेहाः के रागद्वेषयोः क्रमाः ।
 धनानि बन्धवो मित्रं पुनरायान्ति यान्ति च ॥ ८०
 किमेतेषु नरः प्राज्ञो रज्यते वा विरज्यते ।
 भावाभावभवाभोगा मायेयं पारमेश्वरी ॥ ८१
 संसाररचना सर्वा संसक्तं पातयत्यलम् ।
 न धनं न जनो नात्मा सत्यं राघव वस्तुतः ॥ ८२
 मिथ्यैव मिथ्यावसितमितीदं परिलक्ष्यते ।
 आद्यन्तयोः सर्वमसन्मध्येऽप्यस्थिरमाधिमतम् ॥ ८३
 क्व बध्नाति रतिं प्राज्ञो ह्यन्यकल्पितगद्गुमे ।
 एकं कल्पिता खे स्त्री भुङ्क्ते तां दूरगोऽपरः ॥ ८४
 इतीयमङ्ग संसाररचना तेन मा भ्रम ।
 भूताजवं जघीभावमिममाततमाकुलम् ॥ ८५

शयेनाह—द्वाभ्यामिति ॥ ७३ ॥ रागादिदोषक्षयवत्येव चिन्त-
 नद्वयं सफलं नान्यस्मिन्नित्याह—कुर्वित्यादिना । रागादिक्षय-
 मेव प्रधानफलैः स्तौति—यत्किञ्चिदिति ॥ ७४ ॥ ७५ ॥
 ॥ ७६ ॥ पदं स्थितिम् ॥ ७७ ॥ किं नाम दुःखफलमिति शेषः
 ॥ ७८ ॥ शास्त्रशालिनोऽपि भूत्वेति शेषः । ते जनाः ।
 ते अरण्ये प्रसिद्धा जम्बुकाः । एवार्थे वैशब्दः । राग-
 द्वेषकमं समूलमाह—मद्धनमिति । अन्यतः अन्यस्माद्बन्ध-
 प्राणां धनं प्रमादात्त्यक्तम् ॥ ७९ ॥ इति इत्थं लब्धनष्टधनादि-
 विषये अभिनिवेशात्तद्ग्रहणार्थं बध्बन्धनादिसंव्यवहारेहालक्षणा
 रागद्वेषयोः क्रमाः के, तुच्छा इत्यर्थः । कुतस्तुच्छास्तत्राह—
 धनानीत्यादिना ॥ ८० ॥ प्रियविषयभावेन अप्रियाभावेन च
 भवस्याभोगो यस्याम् ॥ ८१ ॥ संसक्तं लम्पटम् ॥ ८२ ॥
 इति बध्यमाणयुक्तया मिथ्यैववसितं मिथ्यैव परिलक्ष्यते । तां
 युक्तिमाह—आद्यन्तयोरिति । आद्यन्तयोः पूर्वोत्तरकालयोः ।
 अस्थिरमुत्तरोत्तरभावविकारग्रस्तम् ॥ ८३ ॥ तुच्छे संसारे इति
 बन्धयोरगत्वे दृष्टान्तमाह—अन्येत्यादिना ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

१ न चान्तं इति पाठः, २ प्राज्ञा विनियताः इति पाठः.

गन्धर्वपुरनिर्माणविलासेन समं विदुः ।
 स्वप्नसंकल्पपुरवदसदेवेदमुत्थितम् ॥ ८६
 सर्वत्र संस्थमेवेदं सुषुप्तमिव विच्युतम् ।
 परिपश्यसि संसारदीर्घस्वप्नपुरद्रुमम् ॥ ८७
 अज्ञाननिद्रालुठनस्वभावात्मकमच्युतम् ।
 संसारस्वप्नसंभ्रान्तो भवानयमिह स्थितः ॥ ८८
 तदेनां विततां निद्रां घनाज्ञानमयात्मिकाम् ।
 त्यजालक्ष्मीमिवावाप्तनिधानः पुरुषोत्तमः ॥ ८९
 प्रबोधमेहि पश्य स्वमात्मानमुदितं सदा ।
 निर्विकल्पं चिदाभासं प्रातःपद्यं रविं यथा ॥ ९०
 प्रबुध्यस्व प्रबुध्यस्व पुनःपुनरयं मया ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमार्थयोगोपदेशो नामाष्टविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

एकोनविंशः सर्गः २९

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्याकर्णयति स्वस्थसमचेतसि राघवे ।
 विश्रान्ते स्वात्मनि स्वैरं परमानन्दमागते ॥ १
 तत्रस्थेषु च सर्वेषु तेषूपशमशालिषु ।
 राघवस्यात्मविश्रान्तेः स्थित्यर्थं वचनामृतम् ॥ २
 विरराम मुनेर्वारि सस्येष्वम्बुधरादिव ।
 अथ याते मुहूर्तार्थे राघवे प्रतिबोधिते ॥ ३
 पुनराह तमेवार्थं वसिष्ठो वदतां वरः ।
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 राम सम्यक्प्रबुद्धोऽसि स्वात्मानमसि लब्धवान् ॥४
 एवमेवावलम्ब्यार्थं तिष्ठ नेह पदं कृथाः ।
 इदं संसारचक्रं हि नामौ संकल्पमात्रके ॥ ५
 संरोधितायां वहनाद्रघुनन्दन रुच्यते ।

विदुः प्राज्ञाः ॥ ८६ ॥ कल्पनायाः सर्वत्र संभवादधिष्ठानचि-
 त्सद्भावाच्च सर्वत्र संस्थम् । विच्युतं स्वप्नादिभावापन्नं सुषुप्त-
 मिव ॥ ८७ ॥ अच्युतमजस्रानुस्यूतम् । पूर्वान्वयि । भवान्
 शुभवास्त्वं एनां निद्रां त्यजेत्युत्तरान्वयि ॥ ८८ ॥ ८९ ॥
 चिदाभासं चित्प्रकाशम् ॥ ९० ॥ ९१ ॥ मया मेघस्थानी-
 येन । सुशब्दपदं श्लेषाद्गर्जनमप्याह ॥ ९२ ॥ अथैव प्रकृष्टो
 बोधो यस्य तथाविधः सन् सत्यं स्तत्त्वमालोक्य ॥ ९३ ॥
 ॥ ९४ ॥ उपसंहरति—परिगलितेति । सुसारं सुषुप्तमिव
 सौम्या निर्विक्लेषा दृष्टिर्यस्य तथाविधस्त्वं इदं नित्यापरोक्षमति-
 विततं ब्रह्मैवासि, अतः सुशुद्धये समुपशमात्मनि तस्मिन्नेव
 समाहितस्तिष्ठेत्यर्थः ॥ ९५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमार्थयोगोपदेशो नामा-
 ष्टविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

रामस्य बोधाद्विश्रान्तिः पुनरुक्तार्थविस्तरः ।

कैलासे प्राक् शिवेनेत्थं स्वोपदेशश्च कीर्त्यते ॥ १ ॥

इत्थं सानुग्रहं श्रीवसिष्ठेनोपदेशचमत्कारैः प्रतिबोधितस्य

प्रबोध्यसे महाबाहो पश्यात्माकमनामयम् ॥ ९१
 मयैतेनाभिवृष्टेन शीतेन ज्ञानवारिणा ।
 सुशब्दशालिना राम ह्यनेनैवासि बोधितः ॥ ९२
 बोधमासादय परं प्रबोधोऽद्यैव राघव ।
 सत्यमालोकयालीकं त्यक्त्वेमं जागतं भ्रमम् ॥ ९३
 न ते जन्म न ते दुःखं न दोषास्ते न ते भ्रमाः ।
 सर्वे संकल्पमुत्सृज्य तिष्ठात्मनि सुसंस्थितः ॥ ९४
 परिगलितविकल्पदोषजाल-
 स्त्वमसि सुसारसुषुप्तसौम्यदृष्टिः ।
 अतिविततमिदं सुशुद्धये त्वं
 समुपशमात्मनि तिष्ठ हे महात्मन् ॥ ९५

क्षोभितायां मनोनाभ्यामिदं संसारचक्रकम् ॥ ६
 प्रयत्नाद्बोधितमपि प्रवहत्येव वेगतः ।
 परं पौरुषमास्थाय बलं प्रज्ञां च युक्तितः ॥ ७
 नार्भि संसारचक्रस्य चित्तमेव निरोधयेत् ।
 प्रज्ञासौजन्ययुक्तेन शास्त्रसंवलितेन च ॥ ८
 पौरुषेण न यत्प्राप्तं न तत्कचन लभ्यते ।
 दैवैकपरतां त्यक्त्वा बालबोधोपकल्पिताम् ॥ ९
 निजं प्रयत्नमाश्रित्य चित्तमादौ निरोधयेत् ।
 आविरिञ्चात्प्रवृत्तेन भ्रमेणाज्ञानरूपिणा ॥ १०
 असदेव सदाभासमिदमालक्ष्यतेऽनघ ।
 अज्ञानभ्रमविस्तारमात्रकाकृतयोऽनघ ॥ ११
 इमे देहा भ्रमन्तीह सर्वधर्मात्समुत्थिताः ।
 संकल्पः पुनरस्त्वेव देहस्यार्थं कदाचन ॥ १२

श्रीरामस्य अन्येषां च श्रोतॄणां तस्वसाक्षात्कारोदयेन मुहूर्तार्धं
 स्वरूपविश्रान्तिसमाधिना निष्कम्पस्थितिं श्रीवाल्मीकिरुवाच—
 इत्याकर्णयतीत्यादिसार्धेन ॥१॥ तत्रस्थेषु स्वात्मनि विश्रान्ते-
 ष्विति विभक्तिविपरिणामेन योज्यम् । मुनेर्वचनामृतं विररा-
 मेति परेणान्वयः ॥ २ ॥ यथा वृष्टिर्पितेषु सस्येषु अम्बुध-
 रादारि विरमति तद्बोधिते समाधेर्युत्थापितं अर्थाद्वसिष्ठेनैवेति
 गम्यते ॥ ३ ॥ पुनस्तमेवार्थं दृढीकारायाहेत्यर्थः ॥ ४ ॥ अर्थ
 परमार्थमात्मतत्त्वम् । इह संसारे पदं स्थितिं मा कृथाः ।
 तत्रोपायमाह—इदमिति ॥ ५ ॥ क्षोभितायां रागद्वेषादिना वि-
 क्षेपं प्रापितायाम् ॥६॥ पौरुषं अभ्यासवैराग्यदाढ्यलक्षणम् ॥७॥
 ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ आकृतयः दृश्यजगदाकाराः ॥११॥ सर्वे
 धर्मा विकल्पा यस्मात् । सर्वधर्मा संकल्पस्तस्मात् । 'धर्मादनि-
 च्चेकवलात्' इत्यनिचो विषये तदभावश्छान्दसः । अत एव नैतद्दे-
 हनाशमात्रेणैष्टसिद्धिर्यतः पुनर्देहपरंपरोत्पादकः संकल्पोऽस्त्येव ।
 तर्हि संकल्पत्यागे क उपाय इति चेतमाह—देहस्यार्थं इत्या-

नास्तमेति न चोदेति न शान्तं परितप्यते ।
 परतामेव नाशान्तामनुत्तमपदे स्थितः ॥ ६२
 आदत्ते तित्तिरी मृद्धी तृणकोटिमिवामलाम् ।
 एतदर्थमसत्येऽस्मिन्नास्था कार्या मनागपि ॥ ६३
 सुरज्ज्वेव बलीवर्दी बध्यते जन्तुरास्थया ।
 अतस्त्वया दृढमिदमिति निर्णय बुद्धितः ॥ ६४
 आस्थारहितया बुद्ध्या विहर्तव्यमिहानघ ।
 कर्तव्यमेव कर्तव्यमकर्तव्यमुपेक्ष्यते ॥ ६५
 आस्थानास्ये परित्यज्य लीलयैव महाधिया ।
 आभासमात्रमेवेदं यस्य च प्रतिभासते ॥ ६६
 सोऽन्तः शीतलतामेति दिनान्ते भुवनं यथा ।
 प्रतिभासं परित्यज्य पदार्थपटलव्रजे ॥ ६७
 आभासमात्रसामान्यमिदमालोकयानघ ।
 आभासमात्रकं राम चित्तमर्शकलङ्कितम् ॥ ६८
 ततस्तदपि संत्यज्य निराभासो भवोत्तम ।
 चिदाकाशमयो नित्यं सर्वगः सर्ववर्जितः ॥ ६९
 आभासस्य परित्यागे भवस्येकान्तनिर्मलः ।
 नाहमस्मि न मे भोगाः सत्या इत्यभिभाविते ॥ ७०
 नेदमाडम्बरं व्यर्थमनर्थायावभासते ।
 अहमेव हि वा सर्वं चिदित्येवं विभाविते ॥ ७१
 नेदमाडम्बरं व्यर्थमनर्थायावभासते ।
 दर्शनद्वयमप्येतत्सत्यमत्यन्तसिद्धिदम् ॥ ७२
 यदेकमेतयोर्वेत्सि रम्यं तद्राम संश्रय ।
 द्वाभ्यामेवाथ वै ताभ्यां दर्शनाभ्यामिहानघ ॥ ७३

॥ ६१ ॥ अनुत्तमपदे स्थितो ब्रह्मवित् सर्वभाषेषु नाशान्तां
 बाधपरिशिष्टां परतां ब्रह्मतामेव आदत्ते स्वीकरोति न प्रतीति-
 कालिकीं खरताम् । यथा तित्तिरी नीडनिर्माणाय तृणानां
 मूलतः खरभागान्परित्यज्य मृद्धीं तृणकोटिमेवादत्ते तद्व-
 दित्यर्थः ॥ ६२ ॥ एतदर्थं संसारस्य खरभागपरिहारार्थम्
 ॥ ६३ ॥ इदमप्रभृतं ब्रह्म इति उक्तयुक्तया निर्णय ॥ ६४ ॥ तर्हि
 किमास्थां परित्यज्य यथेष्टाचरणं कर्तव्यं, नेत्याह—कर्तव्य-
 मेवेति । विहितमेवेत्यर्थः ॥ ६५ ॥ लीलया अश्रमेण ॥ ६६ ॥
 दिनान्ते सौरतापोपरमे । सर्वाजुगतसन्मात्रदर्शने उपायमाह—
 प्रतिभासमिति । विशेषाकारमित्यर्थः । पदार्थानां पञ्चभूतानां
 पटलं समूहस्तदात्मके घटपटादिविषयव्रजे ॥ ६७ ॥ चित्तस्य
 आमर्शेन विशेषकल्पनेन कलङ्कितमभूदिति शेषः ॥ ६८ ॥
 तत्सन्मात्ररूपमाभासमपि संत्यज्य स्वात्मव्यतिरेकबुद्ध्या त्यक्त्वा
 निराभासस्त्रिपुटीशून्यः । सर्वगः पूर्णः ॥ ६९ ॥ निराभासता-
 सिद्ध्युपायभूतं चिन्तनद्वयमाह—नाहमित्यादिना । अभितो
 भाविते चिन्तिते सति ॥ ७० ॥ चिति सर्वबाधचिन्तनं सर्वस्य
 चिदात्मभावचिन्तनं वेति द्वे चिन्तने ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ऐच्छि-
 कसमुच्चयेऽप्यनयोर्न विरोधः । फलत ऐकरूप्यादित्या-

विहरन्कुरु कल्याण रागद्वेषपरिक्षयम् ।
 यत्किञ्चिदुदितं लोके यन्नभस्यथ वा दिवि ॥ ७४
 तत्सर्वं प्राप्यते राम रागद्वेषपरिक्षयात् ।
 रागादिद्वयया बुद्ध्या यादृशम विवेष्टितम् ॥ ७५
 तत्तदेव प्रयात्याशु मूढानां विपरीतताम् ।
 द्वेषदोषोर्मिरुद्धासु न गुणाश्चित्तवृत्तिषु ॥ ७६
 पदं कुर्वन्ति दग्धासु स्थलीषु हरिणा इव ।
 रागो द्वेषश्च सर्पो द्वौ न विलीनौ मनोबिले ॥ ७७
 यस्य कल्पतरोस्तस्मात्किं नामाङ्ग न लभ्यते ।
 ये हि प्राज्ञाः स्वनियता विदग्धाः शास्त्रशालिनः ॥ ७८
 रागद्वेषमयास्ते वै जम्बुकास्ते धिगस्तु तान् ।
 मद्भनं भुक्तमन्येन धनं त्यक्तं मयाऽन्यतः ॥ ७९
 इति संव्यवहारेहाः के रागद्वेषयोः क्रमाः ।
 धनानि बन्धवो मित्रं पुनरायान्ति यान्ति च ॥ ८०
 किमेतेषु नरः प्राज्ञो रज्यते वा विरज्यते ।
 भावाभावभवाभोगा मायेयं पारमेश्वरी ॥ ८१
 संसाररचना सर्वा संसक्तं पातयत्यलम् ।
 न धनं न जनो नात्मा सत्यं राघव वस्तुतः ॥ ८२
 मिथ्यैव मिथ्यावसितमितीदं परिलक्ष्यते ।
 आद्यन्तयोः सर्वमसन्मध्येऽप्यस्थिरमाधिमत् ॥ ८३
 क्व बध्नाति रतिं प्राज्ञो ह्यन्यकल्पितखड्गमे ।
 एकेन कल्पिता खे स्त्री भुङ्क्ते तां दृग्गोऽपरः ॥ ८४
 इतीयमङ्ग संसाररचना तेन मा भ्रम ।
 भूताजवं जवीभावमिममाततमाकुलम् ॥ ८५

शयेनाह—द्वाभ्यामिति ॥ ७३ ॥ रागादिदोषक्षयवत्येव चिन्त-
 नद्वयं सफलं नान्यस्मिन्नित्याह—कुर्वित्यादिना । रागादिक्षय-
 मेव प्रधानफलः स्तौति—यत्किञ्चिदिति ॥ ७४ ॥ ७५ ॥
 ॥ ७६ ॥ पदं स्थितिम् ॥ ७७ ॥ किं नाम दुःखफलमिति शेषः
 ॥ ७८ ॥ शास्त्रशालिनोऽपि भूत्वेति शेषः । ते जनाः ।
 ते अरण्ये प्रसिद्धा जम्बुकाः । एवार्थे वैशब्दः । राग-
 द्वेषक्रमं समूलमाह—मद्भनमिति । अन्यतः अन्यस्मादवश्य-
 प्राह्यं धनं प्रमादात्त्यक्तम् ॥ ७९ ॥ इति इत्थं लब्धनष्टधनादि-
 विषये अभिनिवेशात्तद्गृहणार्थं वधवन्धनादिसंव्यवहारेहालक्षणा
 रागद्वेषयोः क्रमाः के, तुच्छा इत्यर्थः । कुतस्तुच्छास्तत्राह—
 धनानीत्यादिना ॥ ८० ॥ प्रियविषयभावेन अप्रियाभावेन च
 भवस्याभोगो यस्याम् ॥ ८१ ॥ संसक्तं लम्पटम् ॥ ८२ ॥
 इति वक्ष्यमाणयुक्तया मिथ्येत्यवसितं मिथ्यैव परिलक्ष्यते । तां
 युक्तिमाह—आद्यन्तयोरिति । आद्यन्तयोः पूर्वोत्तरकालयोः ।
 अस्थिरमुत्तरोत्तरभावविकारप्रस्तम् ॥ ८३ ॥ तुच्छे संसारे इति
 बन्धयोरित्यत्वे दृष्टान्तमाह—अन्येत्यादिना ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

१ न चान्तं इति पाठः, २ प्राणा विनियताः इति पाठः.

गन्धर्वपुरनिर्माणविलासेन समं विदुः ।
 स्वप्नसंकल्पपुरघटसदेवेदमुत्थितम् ॥ ८६
 सर्वत्र संस्थमेवेदं सुषुप्तमिव विच्युतम् ।
 परिपश्यसि संसारदीर्घस्वप्नपुरद्वयम् ॥ ८७
 अज्ञाननिद्रालुठनस्वभावात्मकमच्युतम् ।
 संसारस्वप्नसंभ्रान्तो भवानयमिह स्थितः ॥ ८८
 तदेनां विततां निद्रां घनाज्ञानमयात्मिकाम् ।
 त्यजालक्ष्मीमिवावाप्तनिधानः पुरुषोत्तमः ॥ ८९
 प्रबोधमेहि पश्य स्वमात्मानमुदितं सदा ।
 निर्विकल्पं चिदाभासं प्रातःपश्चं रविं यथा ॥ ९०
 प्रबुध्यस्व प्रबुध्यस्व पुनःपुनरयं मया ।

प्रबोध्यसे महाबाहो पश्यात्प्रार्कमनामयम् ॥ ९१
 मयैतेनाभिवृष्टेन शीतेन ज्ञानवारिणा ।
 सुशब्दशालिना राम ह्यनेनैवासि बोधितः ॥ ९२
 बोधमासाद्य परं प्रबोधोऽद्यैव राघव ।
 सत्यमालोकयालीकं त्यक्त्वेमं जागतं भ्रमम् ॥ ९३
 न ते जन्म न ते दुःखं न दोषास्ते न ते भ्रमाः ।
 सर्वे संकल्पमुत्सृज्य तिष्ठ्यात्मनि सुसंस्थितः ॥ ९४
 परिगलितविकल्पदोषजाल-
 स्त्वमसि सुसारसुषुप्तसौम्यदृष्टिः ।
 अतिविततमिदं सुशुद्धये त्वं
 समुपशमात्मनि तिष्ठ हे महात्मन् ॥ ९५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमार्थयोगोपदेशो नामाष्टविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः २९

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्याकर्णयति स्वस्थसमचेतसि राघवे ।
 विश्रान्ते स्वात्मनि स्वं परमानन्दमागते ॥ १
 तत्रस्थेषु च सर्वेषु तेषूपशमशालिषु ।
 राघवस्यात्मविश्रान्तेः स्थित्यर्थं वचनामृतम् ॥ २
 विरराम मुनेर्वारि सस्येष्वम्बुधरादिव ।
 अथ याते मुहूर्तार्धे राघवे प्रतिबोधिते ॥ ३
 पुनराह तमेवार्थं वसिष्ठो वदतां वरः ।
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 राम सम्यक्प्रबुद्धोऽसि स्वात्मानमसि लब्धवान् ॥४
 एवमेवावलम्ब्यार्थं तिष्ठ नेह पदं कृथाः ।
 इदं संसारचक्रं हि नाभी संकल्पमात्रके ॥ ५
 संरोधितायां वहनाद्गुणन्दन रुच्यते ।

क्षोभितायां मनोनाभ्यामिदं संसारचक्रकम् ॥ ६
 प्रयत्नाद्रोधितमपि प्रवहत्येव वेगतः ।
 परं पौरुषमास्थाय बलं प्रज्ञां च युक्तितः ॥ ७
 नाभिं संसारचक्रस्य चित्तमेव निरोधयेत् ।
 प्रज्ञासौजन्ययुक्तेन शास्त्रसंवलितेन च ॥ ८
 पौरुषेण न यत्प्राप्तं न तत्कचन लभ्यते ।
 दैवैकपरतां त्यक्त्वा बालबोधोपकल्पिताम् ॥ ९
 निजं प्रयत्नमाश्रित्य चित्तमादौ निरोधयेत् ।
 आविरिञ्चात्प्रवृत्तेन भ्रमेणाज्ञानरूपिणा ॥ १०
 असदेव सदाभासमिदमालक्ष्यतेऽनघ ।
 अज्ञानभ्रमविस्तारमात्रकाकृतयोऽनघ ॥ ११
 इमे देहा भ्रमन्तीह सर्वधर्मात्समुत्थिताः ।
 संकल्पः पुनरस्त्वेव देहस्यार्थं कदाचन ॥ १२

विदुः प्राज्ञाः ॥ ८६ ॥ कल्पनायाः सर्वत्र संभवाद्धिष्ठानचि-
 त्तज्ञावाच सर्वत्र संस्थम् । विच्युतं स्वप्नादिभावापन्नं सुषुप्त-
 मिव ॥ ८७ ॥ अच्युतमज्ञानस्युत्तम् । पूर्वान्वयि । भवान्
 शुभवास्त्वं एनां निद्रां त्यजेत्युत्तरान्वयि ॥ ८८ ॥ ८९ ॥
 चिदाभासं चित्प्रकाशम् ॥ ९० ॥ ९१ ॥ मया मेघस्थानी-
 येन । सुशब्दपदं श्लेषाद्भजनमप्याह ॥ ९२ ॥ अद्यैव प्रकृष्टो
 बोधो यस्य तथाविधः सन् सत्यं स्तत्त्वमालोक्य ॥ ९३ ॥
 ॥ ९४ ॥ उपसंहरति—परिगलितेति । सुसारं सुषुप्तमिव
 सौम्या निर्विक्लेषा दृष्टिर्यस्य तथाविधस्त्वं इदं नित्यापरोक्षमति-
 विततं ब्रह्मैवासि, अतः सुशुद्धये समुपशमात्मनि तस्मिन्नेव
 समाहितस्तिष्ठेत्यर्थः ॥ ९५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमार्थयोगोपदेशो नामा-
 ष्टविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

रामस्य बोधाद्धिश्रान्तः पुनरुक्तार्थविस्तरः ।

कैलासे प्राक् शिवेनेत्यं स्वोपदेशश्च कीर्त्यते ॥ १ ॥

इत्थं सानुग्रहं श्रीवसिष्ठेनोपदेशचमत्कारैः प्रतिबोधितस्य

श्रीरामस्य अन्येषां च धोतृणां तत्त्वसाक्षात्कारोदयेन मुहूर्तार्धे
 स्वरूपविश्रान्तिसमाधिना निष्कम्पस्थिति श्रीवाल्मीकिरुवाच—
 इत्याकर्णयतीत्यादिसार्धेन ॥१॥ तत्रस्थेषु स्वात्मनि विश्रान्ते-
 श्विति विभक्तिविपरिणामेन योज्यम् । मुनेर्वचनामृतं विररा-
 मेति परेणान्वयः ॥ २ ॥ यथा वृष्टिर्पितेषु सस्येषु अम्बुध-
 रादारि विरमति तद्वद्बोधिते समाधेर्व्युत्थापितं अर्थाद्बुद्धिष्ठेनैवेति
 गम्यते ॥ ३ ॥ पुनस्तमेवार्थं दृढीकारायाहेत्यर्थः ॥ ४ ॥ अर्थ
 परमार्थमात्मतत्त्वम् । इह संसारे पदं स्थितिं मा कृथाः ।
 तत्रोपायमाह—इदमिति ॥ ५ ॥ क्षोभितायां रागद्वेषादिना वि-
 क्षेपं प्रापितायाम् ॥६॥ पौरुषं अभ्यासवैराग्यदार्ढ्यलक्षणम् ॥७॥
 ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ आकृतयः दृश्यजगदाकाराः ॥११॥ सर्वे
 धर्मा विकल्पा यस्मात् । सर्वधर्मा संकल्पस्तस्मात् । 'धर्मादनि-
 च्चेवलात्' इत्यनिचो विषये तदभावश्छान्दसः । अत एव नेतद्दे-
 हनाशमात्रेणैष्टसिद्धिर्यतः पुनर्देहपरंपरोत्पादकः संकल्पोऽस्त्येव ।
 तर्हि संकल्पत्यागे क उपाय इति चेत्तमाह—देहस्यार्थं इत्या-

सुखदुःखविचारित्वं न कार्यं राम धीमता ।
 दुःखम्लानमुखः क्लेदी प्रसन्नाह्लादवर्जितात् ॥ १३
 अपि चित्रनरादेहनरस्तुच्छतरः स्मृतः ।
 आधिव्याधिपरिम्लाने स्वयं क्लेदिनि नाशिनि ॥ १४
 न तथा स्थिरता देहे चित्रपुंसो यथा किल ।
 विनाशितो हि चित्रस्थो देहो नश्यति मान्यथा ॥ १५
 अवश्यनाशो मांसात्मा स्वयं देहो विनश्यति ।
 पालितः सुस्थिरां शोभामावृत्ते चित्रमानवः ॥ १६
 देहस्तु पालितोऽप्युच्चैर्नश्यत्येव न वर्धते ।
 तेन श्रेष्ठश्चित्रदेहो नायं संकल्पदेहकः ॥ १७
 ये गुणाश्चित्रदेहे हि न ते संकल्पदेहके ।
 चित्रदेहादपि जडाद्योऽयं तुच्छतरः किल ॥ १८
 तस्मिन्मांसमये देहे कैवास्था भवतोऽनघ ।
 दीर्घसंकल्पदेहोऽयं तस्मिन्नास्था महामते ॥ १९
 स्वप्नसंकल्पजादेहादपि तुच्छतरो ह्ययम् ।
 अल्पसंकल्पजो दीर्घैः सुखदुःखैर्न गृह्यते ॥ २०
 दीर्घसंकल्पजश्चायं वीर्यदुःखेन दुःखितः ।
 देहो हि संकल्पमयो नायमस्ति न वास्ति नः ॥ २१
 किं व्यर्थमेतदर्थं हि मूढोऽयं क्लेशभाजनम् ।
 यथा चित्रमये पुंसि क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २२
 तथा संकल्पपुरुषे क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
 यथा मनोराज्यमये क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २३
 यथा द्वितीये शशिनि क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
 यथा स्वप्नसमारम्भे क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २४
 यथा नघातपजले क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
 संकल्पमात्ररचिते प्रकृत्यैव च नाशिनि ॥ २५
 तथा शरीरयन्त्रेऽस्मिन्क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
 दीर्घस्वप्नमये ह्यास्मिन्क्षते संकल्पकल्पिते ॥ २६
 भूषिते दूषिते देहे न हि किञ्चिच्चितः क्षतम् ।
 न चिदन्तमुपायाति नात्मा चलति राघव ॥ २७

दिना ॥ १२ ॥ देहसुखदुःखचिन्तापरं नरं चित्रलिखितनरादप्यध-
 मत्वेन निन्दति—सुखदुःखेत्यादिना । क्लेदी बाष्पखेदार्द्रः
 ॥ १३ ॥ १४ ॥ किल प्रतिपद्यते । निर्निमित्तनश्वरत्वमप्यस्य चित्रदे-
 हादधिको दोष इत्याह—विनाशित इति ॥ १५ ॥ स्वयं विनैव
 निमित्तमित्यर्थः ॥ १६ ॥ संकल्पकृतो देहकः ॥ १७ ॥ १८ ॥
 नास्था युक्तेति शेषः ॥ १९ ॥ इदानीं स्वाप्नमानोरधिकदे-
 हेभ्योऽप्यस्य तुच्छतरत्वाह—स्वप्नेत्यादिसार्धेन ॥ २० ॥
 अयं स्वयमेव नास्ति । अथवा नः अस्मदीयतया नास्ति ।
 आत्मनोऽसंज्ञाद्वयत्वादिति भावः ॥ २१ ॥ अतश्चित्रादिदेह-
 क्षतिरिव नास्यापि क्षतिः शोच्येत्याह—यथेति । तस्यात्मनः
 क्षतिर्न ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ कृतो न क्षतं
 तत्राह—न चिदिति ॥ २७ ॥ पूर्वस्य स्वाधिष्ठितचक्रस्य उप-
 माभूतं परितः समीपस्थं वा महच्चक्रमुपचक्रं तद्वत् । स्वचक्र-

न ब्रह्म विकृतिं धाति किंवा देहक्षये क्षतम् ।
 भ्रमचक्रोपरिष्ठो हि पूर्वचक्रोपचक्रवत् ॥ २८
 यथा पश्यति दिक्चक्रं भ्रमदस्यन्तमोहितः ।
 अकस्मादेव रुढेन मिथ्याज्ञानेन वल्गता ॥ २९
 तत्रस्थेन तथैवेदं दृश्यते देहचक्रकम् ।
 भ्रमितं च भ्रमद्रूपं पतद्रूपं प्रपातितम् ॥ ३०
 हतं च दृश्यमानं च दृश्यते देहचक्रकम् ।
 धीरतामलमालम्ब्य घनभ्रममिमं त्यजेत् ॥ ३१
 संकल्पेन कृतो देहो मिथ्याज्ञानेन सन्नसन् ।
 असत्येन कृतं यस्माच्च तत्सत्यं कदाचन ॥ ३२
 असदभ्युत्थितो देहो रज्ज्वामिव भुजंगधीः ।
 असत्यामेव सत्यां च करोत्यपि जगत्क्रियाम् ॥ ३३
 जडेन राम क्रियते यन्न तत्कृतमुच्यते ।
 कुर्वन्नपि तदा देहो न कर्ता कचिदेव हि ॥ ३४
 निरीहो हि जडो देहो नात्मनोऽस्यामिवाञ्छितम् ।
 कर्ता न कश्चिदेवातो द्रष्टा केवलमस्य सः ॥ ३५
 यथा दीपो निघातस्थः स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
 साक्षिवत्सर्वभाषेषु तथा तिष्ठेज्जगत्स्थितौ ॥ ३६
 यथा दिवसकर्माणि भास्करः स्वस्थ एव सन् ।
 करोत्येवमिमां राम कुरु पार्थिवसंस्थितिम् ॥ ३७
 अस्मिन्नसन्मये देहगृहे शून्ये समुत्थिते ।
 सत्तामुपगते मिथ्यावालकल्पितयक्षत्रत् ॥ ३८
 कुतोऽप्यागत्य निःसारः सर्वसज्जनवर्जितः ।
 अहंकारः कुवेतालः प्रविष्टश्चित्तनामकः ॥ ३९
 अस्य मा भृत्यतां गच्छ त्वमहंकारदुर्मतेः ।
 अस्य भृत्यतया राम निरयः प्राप्यते फलम् ॥ ४०
 स्वसंकल्पविलासेन देहगृहे दुराकृतिः ।
 उन्मत्तचित्तवेतालः परिवल्गति लीलया ॥ ४१
 शून्यं देहगृहं प्राप्य चित्तयज्ञेण तत्कृतम् ।
 भीता येन महान्तोऽपि समाधिनि यताः स्थिताः ॥ ४२

वैपरीत्येन भ्रमद्विकचक्रं यथा पश्यतीत्यर्थः ॥ २८ ॥ २९ ॥
 तत्रस्थेन मिथ्याज्ञानचक्रस्थेन जीवेन ॥ ३० ॥ देहचक्रं देह-
 परम्पराचक्रम् ॥ ३१ ॥ प्रतीतितः सन्नपि परमार्थतः असन् ।
 असत्येनाज्ञानादिना कृतं यस्माद्धेतोः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तत्कृतं
 नैवोच्यते यदेति शेषः । चेतनवज्जडे अपराधरोपादर्शनादि-
 त्यर्थः ॥ ३४ ॥ इच्छातो हि कर्तृत्वं स्यात्, सा तु न जडे देहे
 निर्विकारे आत्मनि वा संभवतीत्याह—निरीह इति ॥ ३५ ॥
 अकर्त्रात्मनिश्चयफलमाह—यथेति ॥ ३६ ॥ तर्हि कर्म राज्य-
 संस्थितिसिद्धिस्तत्राह—यथेति ॥ ३७ ॥ देहसत्यतादर्शने तु
 तदभिमानलक्षणाहंकारस्यावर्जनात्तद्व्युत्पत्त्याह—अ-
 स्मिन्नित्यादिना ॥ ३८ ॥ प्रविष्टः, स्यादिति शेषः ॥ ३९ ॥
 ॥ ४० ॥ सत्यहंकारे अनर्थान्तरमप्याह—स्वसंकल्पेत्यादिना

१ स्वसः, स्वच्छ इति पाठौ.

चित्तवेतालमुद्रास्य स्वशरीरकमन्दिरात् ।
 संसारशून्यनगरे न विभेति कदाचन ॥ ४३
 चित्तभूताभिभूतेऽस्मिन्ने शरीरगृहे रताः ।
 चित्रमद्यापि ते कस्माद्दृष्टिता आत्मवत्स्थिताः ॥ ४४
 प्रस्ते चित्तपिशाचेन देहसञ्चानि ये मृताः ।
 पिशाचस्येव या बुद्धिर्नापिशाचस्य राघव ॥ ४५
 अहंकारबृहद्यज्ञगृहे दग्धशरीरके ।
 विहरन्नास्थया साधो न तु वै तत्किल स्थिरम् ॥ ४६
 अहंकारानुचरतां त्यक्त्वा विततया धिया ।
 अहंकारास्मृतिं प्राप्य स्वात्मैवाश्रयलभ्यताम् ॥ ४७
 अहंकारपिशाचेन प्रस्ता ये निरयैषिणः ।
 तेषां मोहमदान्धानां न मित्राणि न बान्धवाः ॥ ४८
 अहंकारोपहतया बुद्ध्या या क्रियते क्रिया ।
 विषवह्न्या इव फलं तस्याः स्यान्मरणात्मकम् ॥ ४९
 विवेकधैर्यहीनेन स्वाहंकारमहोत्सवः ।
 मूर्खेणालम्बितो येन नष्टमेवाशु विद्धि तम् ॥ ५०
 अहंकारपिशाचेन वराका ये वशीकृताः ।
 त एते नरकाग्नीनां राघवेन्धनतां गताः ॥ ५१
 अहंकारोरगो यस्य परिस्फूर्जति कोटरे ।
 स्वदेहपादपोऽधीरैरचिरेण निपात्यते ॥ ५२
 अहंकारपिशाचोऽस्मिन्देहे तिष्ठतु यातु वा ।
 त्वमेनमालोक्य मा मनसा महतां वर ॥ ५३
 अवधूतो ह्यवज्ञानधेतसैव तिरस्कृतः ।
 अहंकारपिशाचस्ते नेह किञ्चित्करिष्यति ॥ ५४

॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ देहगृहे रता आसक्तास्ते अनन्तको-
 टिदेहेषु नष्टेषु अद्यापि देहेन आत्मवत्तादात्म्येन घटिताः कस्मा-
 त्स्थिताः । सदैव तद्वदनदुःखे अनुभूयमानेऽपि तद्विषयने
 यज्ञं न कुर्वन्ति तन्निमित्तमित्यर्थः ॥ ४४ ॥ ये मृतास्तेषामिति
 शेषः ॥ ४५ ॥ सदैव तापत्रयवह्निदग्धे शरीरके आस्थया
 विहरन् ना पुरुषः पिशाच एवेति विभक्तिविपरिणामेनानुष-
 ज्यते । तत्रास्था कुतो न युक्ता तत्राह—न त्विति ॥ ४६ ॥
 प्रथममहंकारस्यानुचरतां भ्रूयतां त्यक्त्वा ततो योगभूमिकाभ्या-
 सादहंकारस्य अस्मृतिं आत्यन्तिकविस्मृतिं प्राप्य ॥ ४७ ॥
 न मित्राणीति । अहंकारिणां विनयदौर्भ्यादौद्धत्यावश्यंभावात्
 न कश्चित्प्रियतीति भावः ॥ ४८ ॥ फलं कलहजनवैरादिरूप-
 मत एव मरणात्मकम् ॥ ४९ ॥ ५० ॥ तस्य परलोकेऽपि
 दुःखमेवेत्याह—अहंकारेति ॥ ५१ ॥ यस्य स्वदेहपादपद्म
 कोटरे हृदि स स्वदेहपादपः । बहुष्वेकवचनं जालोक्यात् ।
 अधीरैरिति च्छेदः ॥ ५२ ॥ मा आलोक्य ॥ ५३ ॥ अनव-
 लोकनमात्रेण किं स्यात्तत्राह—अवधूत इति ॥ ५४ ॥ आत्म-
 नस्तदनुसरणादेवानर्थः । उपेक्षितस्तु स स्थितोऽप्यकिञ्चित्कर
 इत्याह—देहालये इति ॥ ५५ ॥ चित्तेति प्रकृताहंकारस्यैव

देहालये स्फुरत्यस्मिन् राम चित्तपिशाचके ।
 अस्यानन्तविलसद्य किमिवात्मतमात्मनः ॥ ५५
 चित्तयक्षाभिभूतानां वाः कुक्तां विततापदः ।
 शक्यन्ते परिसंख्यातुं न ता वर्षशतैरपि ॥ ५६
 हा हा मृतोऽस्मि दग्धोऽसीत्येता वै दुःखवृत्तयः ।
 अहंकारपिशाचस्य शक्तयोऽन्यस्य नानघ ॥ ५७
 सर्वगोऽपि यथाकाशः संबन्धो नेह केनचित् ।
 सर्वगोऽपि तथैवात्मा नाहंकारेण संगतः ॥ ५८
 यत्करोति वदावसे देहयन्मभिर्दं चलम् ।
 वातरज्जुयुतं राम तदहंकारचेष्टितम् ॥ ५९
 वृक्षोत्पत्तौ यथा हेतुरकर्त्रपि किलाश्वरम् ।
 आत्मसंस्थस्तथेहात्मा चित्तचेष्टासु कारणम् ॥ ६०
 आत्मसंनिधिमात्रेण स्फुरत्यात्तवपुर्मनः ।
 दीपसंनिधिमात्रेण कुड्यरूपमिवामलम् ॥ ६१
 अपि विश्रिष्टयो राम नित्यमेवात्मचित्तयोः ।
 घावापृथिव्योरिव कः संबन्धः प्रकटान्धयोः ॥ ६२
 चपलस्पन्दनेराभिरात्मशक्तिभिरावृतम् ।
 चित्तमात्मेति मौर्ख्येण दृश्यते रघुनन्दन ॥ ६३
 आत्मा प्रकाशरूपो हि नित्यः सर्वगतो विभुः ।
 चित्तं शठमहंकारं विद्धि द्वार्धं बृहत्तमः ॥ ६४
 आत्मासि वस्तुतस्त्वं हि सर्वज्ञो न मनो भृशम् ।
 दूरे कुरु मनोमोहं किमेतेनाभिसंगतः ॥ ६५
 पिशाचोऽपि मनो राम शून्यदेहगृहे स्थितः ।
 भावयत्येष दुष्टात्मा मौढ्यमुत्तम संस्पृशन् ॥ ६६

वृत्त्यन्तरेऽप्यनर्थकारिताख्यानाय निर्देशः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ अह-
 मित्यात्मैवानुभूयत इति नैयायिकादीनां भ्रान्तिं वारयति—
 सर्वग इति । संबन्धत इति संबन्धः । संच्छिद्य इत्यर्थः ॥ ५८ ॥
 वातरज्जुः सूत्रारमा प्राणः ॥ ५९ ॥ अहंकार एव सर्वचेष्टानि-
 मितं नात्मा तर्हि 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः
 प्रथमः प्रैति युक्तः' । 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
 मध्ये चामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते' इत्यादिश्रुतिविरोधस्त-
 त्राह—वृक्षोत्पत्ताविति । आत्मसंस्थः से महिन्नि प्रतिष्ठितः
 कारणं श्रुतिभिरुपचर्यत इत्यर्थः ॥ ६० ॥ उपचारे मनआ-
 दीनां सत्तास्फूर्तिप्रदत्वमेव निमित्तमित्याह—आत्मेति । आत्-
 वपुर्लब्धसत्ताकं कल्पितस्थूलदेहं च ॥ ६१ ॥ प्रकटान्धयोश्चि-
 ज्जडयोः ॥ ६२ ॥ नन्वसंबन्धे मनभावेः सत्तास्फूर्त्यसिद्धिः,
 संबन्धे त्वात्मासत्त्वासिद्धिरित्याह—चपलैति । चपलस्प-
 न्दनातीरयन्ति प्रेरयन्तीति चपलस्पन्दनेरात्मविधाभिरात्मनः
 प्राणस्य शक्तिभिरावृतं वशीकृतं चित्तं तादात्म्याध्यासलक्षणेन
 मौर्ख्येणाज्ञानेन दृश्यते न वस्तुवृत्तेनेत्यर्थः । 'नाभिः' इति पाठे
 चित्तविशेषणम् ॥ ६३ ॥ असत्त्वोपपादनाय विरुद्धत्वमेव प्रप-
 चयति—आहमेति । शठं बन्धकम् ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ हे उत्तम

भवप्रदमकल्याणं धैर्यसर्वस्वहारिणम् ।
मनःपिशाचमुत्सृज्य योऽसि स त्वं स्थिरो भव ॥ ६७
चित्तयक्षदृढाक्रान्तं न शास्त्राणि न बान्धवाः ।
शक्नुवन्ति परिश्रातुं गुरवो न च मानवम् ॥ ६८
संशान्तचित्तवेतालं गुरुशास्त्रार्थबान्धवाः ।
शक्नुवन्ति समुद्धर्तुं स्वल्पपङ्कान्मृगं यथा ॥ ६९
अस्मिञ्जगच्छून्यपुरे सर्वमेव प्रदूषितम् ।
देहगेहं प्रमत्तेन चित्तयक्षेण घल्गता ॥ ७०
चित्तवेतालबलिता समस्ता देहखण्डजा ।
इयं जगदरण्यानी शून्या कस्य न भीतये ॥ ७१
जगन्नगर्यामस्यां तु शान्तचित्तपिशाचकम् ।
देहगेहं कतिपर्यैः सेव्यते सङ्गिरेव यत् ॥ ७२
इह संश्रूयते या या दिक् सैव रघुनन्दन ।
प्रमत्तमोहवेतालैः पूर्णां देहश्मशानकैः ॥ ७३
अस्यां जगदरण्यान्यां मुह्यन्तं मुग्धबालवत् ।
स्वयमाराध्य धैर्याशमात्मानात्मानमुद्धरेत् ॥ ७४
जगज्जगदरण्येऽस्मिन्धरद्रुतमृगव्रजे ।
धृतिं तृणरसै राम मा गच्छ मृगपोतवत् ॥ ७५
अस्मिन्महीतलारण्ये चरन्ति मृगपोतकाः ।
त्वमज्ञानगजं भुक्त्वा सैर्हीं वृत्तिमुपाश्रय ॥ ७६
अन्ये नरमृगा मुग्धा जम्बूद्वीपे स्वजङ्गले ।
बिह्वरन्ति यथा राम तथा मा बिह्वरानघ ॥ ७७
अत्यल्पकालशिशिरे कर्दमालेपदायिनि ।
न मङ्गल्यं बन्धुरूपे महिषेणेव पल्वले ॥ ७८
भोगाभोगा बहिष्कार्या आर्यस्यानुसरेत्पदम् ।
प्रविचार्य महार्थं स्वमेकमात्मानमाश्रयेत् ॥ ७९

मनःपिशाच आत्मानमसंस्पृशन्नपि मौनं तूष्णीमेव स्वसंस्पृष्टं
भावयतीत्यन्वयः ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ संशान्तेति । शुद्ध-
चित्तमिति यावत् । मृगं मृगसदृशं वत्सम् ॥ ६९ ॥ ७० ॥
देहलक्षणे खण्डे परिच्छिन्नभागे जाता ॥ ७१ ॥ समस्तेत्यु-
त्सर्गः । क्वचिदन्यथात्वमपि यतो दृष्टमित्याह—जगदिति । २. त्
यतः ॥ ७२ ॥ अत एवान्नदेहाः श्मशानतुल्या इति निन्दति—
इहेति ॥ ७३ ॥ धैर्याशमाराध्य दृढमवलम्ब्य ॥ ७४ ॥ तृण-
सदृशैरसारंविषयरसैर्धृतिं कृतार्थताबुद्धिम् ॥ ७५ ॥ मृगपोतक-
सदृशा अन्ये मूढा विषयतृणानि चरन्ति चेच्चरन्तु नाम ॥ ७६ ॥
॥ ७७ ॥ ननु बन्धुजनैः समानशीलतया सदैवावस्थानं सुखं
दृष्टं तत्र को दोषस्तत्राह—अत्यल्पेति । विशेषणान्युभयत्र
योज्यानि ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ न मङ्गल्यमासक्तिर्दमे इति शेषः ।
यतस्तन्ममा चिन्तालक्षणा चण्डी कोपना सुदारुणा राक्षसी
खादतीत्यर्थः ॥ ८० ॥ अन्येन कर्मणा । यक्षेणाहंकारेण ।
अन्यस्य मनसः । अन्यो जीवः । मौख्यस्य चक्रिकापरिवर्तमाना
परंपरा चित्रा । आश्चर्यरूपेत्यर्थः ॥ ८१ ॥ सदैकघनत्वादपि

अपवित्रस्य तुच्छस्य दुर्भगस्य दुराकृतेः ।
देहस्यार्थं न मङ्गल्यं चिन्ताचण्डी सुदारुणा ॥ ८०
अन्येन रक्षितो देहो यक्षेणान्येन संश्रितः ।
दुःखमन्यस्य भोक्तान्यधिभ्रेयं मौख्यचक्रिका ॥ ८१
यथैकरूपा घनता दृषदोऽस्त्यात्मनस्तथा ।
सत्तामात्रैकसामान्यादितरस्याप्यसंभवात् ॥ ८२
यथोपलस्य घनता मानसादि तथात्मनः ।
सत्तामात्रादभिन्नत्वादभावादस्य संस्थितेः ॥ ८३
यथोपलस्योपलता घटस्य घटता यथा ।
सत्तामात्रादभिन्नेव मानसादि तथात्मनः ॥ ८४
अत्रेमामपरां दृष्टिं महामोहविनाशिनीम् ।
शृणु या कथिता पूर्वं मम कैलासकन्दरे ॥ ८५
संसारदुःखशान्त्यर्थं देवेनार्धेन्दुमौलिना ।
अस्तीन्दुकरसंभारभासुरः पारगो दिवः ॥ ८६
कैलासो नाम शैलेन्द्रो गौरीरमणमन्दिरम् ।
तत्रास्ते भगवान्देवो हरश्चन्द्रकलाधरः ॥ ८७
तं पूजयन्महादेवं तस्मिन्नेव गिरौ पुरा ।
कदाचिदवसं गङ्गातटे विरचिताश्रमः ॥ ८८
तपोर्थं तापसाचारे त्रिराय रक्षितस्थितिः ।
सिद्धसंघातवलितः कृतशास्त्रार्थसंग्रहः ॥ ८९
पुष्पार्थं स्यूतपुटिकः पुस्तकव्यूहसंग्रही ।
एवंगुणविशिष्टस्य कैलासघनकुञ्जके ॥ ९०
तपः प्रचरतो राम मम कालोऽत्यवर्तत ।
अथैकदा कदाचित्तु बहुलस्याष्टमे दिने ॥ ९१
गते श्रावणपक्षस्य रात्र्यत्रे क्षयमागते ।
दिक्षु संशान्तरूपासु काष्ठमौनस्थितास्त्रिव ॥ ९२

नात्मनि दुःखतद्भोगभोक्तृशरीरादिरूपान्तरावकाश इत्याशये-
नाह—यथेत्यादिभिः । इतरस्य सद्रूपेतररूपस्य सदितरत्व-
संबन्धे असदलीकादिपदैः प्रसिद्धेरिति भावः ॥ ८२ ॥ यथा
उपलस्य घनता काठिन्यं नोपलात्पृथक्सती तथा मानसं समष्टि-
व्यष्टिमनःसमूहः । आदिपदात्तत्तत्कार्यस्थूलप्रपञ्चश्च । तत्कृतः ।
सत्तामात्रस्वभावादभिन्नत्वान्पृथक् अस्य मानसादेः संस्थितेर-
भावादित्यर्थः ॥ ८३ ॥ अयं च न्यायः प्रत्येकं घटतन्मानस-
वृत्त्यादिष्वपि योज्य इति सदद्वैतमेव प्रसिद्धमित्याह—यथेति
॥ ८४ ॥ अत्रास्मिन्नर्थे इमां वक्ष्यमाणमानसशिवपूजालक्षणां
दृष्टिं शृणु ॥ ८५ ॥ तत्रादौ कैलासवर्णनमुखेन कथां प्रस्तौति—
अस्तीत्यादिना । इन्दुकराणां संभारः संघात इव भासुरः ॥ ८६ ॥
॥ ८७ ॥ ८८ ॥ तापसैराचर्यत इति तापसाचारः कृच्छ्रवान्द्रा-
यणादिस्तस्मिन्नियता स्थितिर्यस्य तथाविधः सन् ॥ ८९ ॥
॥ ९० ॥ बहुलस्य श्रावणकृष्णपक्षस्याष्टमे दिने । रात्रेरे
मुखे प्रदोषे पूजाजपध्यानादिना क्षयमागते सति ॥ ९१ ॥
प्राणिसंस्काराद्युपरमात्संशान्तरूपासु दिक्षु करादिचेष्टयाप्यर्थानि-

खड्गच्छेद्यान्धकारेषु कुञ्जेषु गहनेषु च ।
 एतस्मिन्नन्तरे तत्र यामार्धे प्रथमे गते ॥ ९३
 समार्धे तनुतां नीत्वा स्थितोहं बाह्यमग्नदह् ।
 अपश्यं कानने तेजो झटित्येव समुत्थितम् ॥ ९४
 शुभाभ्रशतसंकाशं चन्द्रबिम्बगणोपमम् ।
 प्रकटीकृतदिकुञ्जं तदालोक्य मया स्मयात् ॥ ९५
 अन्तःप्रकाशशालिन्या बहिर्दृष्ट्यावलोकितम् ।
 यावत्पश्यामि तं सानुं प्राप्तश्चन्द्रकलाधरः ॥ ९६
 गौरीकरार्पितकरो नन्दिप्रोत्सारिताग्रगः ।
 शिष्यान्संबोध्य तत्रस्थान्गृहीत्वार्घ्यं सुसंयतः ॥ ९७
 अगमं सुमनास्तस्य दृष्टिपूतमहं पुरः ।
 तत्र पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा दूरादेव त्रिलोचनः ॥ ९८
 दत्तार्घ्येण मया देवः संप्रणम्याभिवन्दितः ।
 ततश्चन्द्रप्रभासख्या ऋज्व्या शीतलया तथा ॥ ९९
 दशा सर्वातिहारिण्या चिरमस्म्यास्पदीकृतः ।
 पुष्पसानूपविष्टाय तस्मै त्रिलोक्यसाक्षिणे ॥ १००
 अर्घ्यं पुष्पं तथा पाद्यमभ्युपेत्यार्पितं मया ।
 मन्दारपुष्पाञ्जलयो विकीर्णा बहवः पुरः ॥ १०१
 नानाविधंनमस्कारैः स्तोत्रैश्चाभ्यर्चितः शिवः ।
 तनो भगवती गौरी तादृश्यैव सपर्यया ॥ १०२
 संपूजिता सखीयुक्ता गणमण्डलिका तथा ।
 पूजान्ते पूर्णशीतांशुरश्मिशीतलया गिरा ॥ १०३
 तत्रोपविष्टं प्रोवाच मामधेन्दुकलाधरः ।
 ब्रह्मन्प्रशमशालिन्यः प्राप्तविश्रान्तयः पदे ॥ १०४
 कश्चित्कल्याणकारिण्यः संविदस्ते स्थिताः परे ।
 कश्चित्तपस्ते निर्विघ्नं कल्याणमनुवर्तते ॥ १०५

वेदनं काष्ठमौनव्रतं तत्र स्थितास्त्रिव ॥ ९२ ॥ गहनेषु वनेषु
 ॥ ९३ ॥ तनुतां ईषद्दृष्टिः प्रवणतामिति यावत् ॥ ९४ ॥ स्मयात्
 विस्मयात् ॥ ९५ ॥ बहिर्दृष्ट्या अवलोकितमन्तर्विचारितमित्यर्थः ।
 विचार्य च यावत्तं पुरस्थं सानुं प्रस्थदेशं पश्यामि
 तावत्तत्र प्राप्त इत्यर्थः ॥ ९६ ॥ सुसंयतः सावधानः ॥ ९७ ॥
 सुमनाः संतुष्टमनाः । पुरः पुरोदेशम् ॥ ९८ ॥ सम्यक् साष्टांगं प्रण-
 म्याभिवन्दितः स्तुतः । स्वभाग्यमहोदयं स्वस्मिस्तदनुग्रहदृष्टि-
 पातं वर्णयति—तत्र इति । तथा सानुभूतालौकिकनिरतिशयान-
 नन्दाविर्भावचमत्कारकारिण्या ॥ ९९ ॥ १०० ॥ अभ्युपेत्य
 अभिमुखं समीपे गत्वा ॥ १०१ ॥ तादृश्या शिवपू-
 जासदृश्या सपर्यया पूजया ॥ १०२ ॥ तदाज्ञया तत्र सानुप-
 विष्टं माम् ॥ १०३ ॥ तत्र कुशलप्रश्ने कर्तव्ये सर्वकौशल्यपरमकाष्ठां
 परमात्मनि चित्तविश्रान्तिमेव भगवान्प्रथममनुजिघृक्षया पृच्छति
 —ब्रह्मज्ञिति ॥ १०४ ॥ संविदश्चित्तवृत्तयः । परे परमात्मव-
 स्तुनि ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ अनुनयो विनयस्तच्छालिन्या
 ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ जगत्कोशे ते प्राणिनो न सन्ति ये न प्रण-
 मन्ति । सर्वेऽपि प्रणमन्त्येवेत्यर्थः ॥ ते देशाः प्रशस्तता

१ बुद्धिदृष्ट्या इति पाठः.

यो० वा० १०६

कश्चित्प्राप्यमनुप्राप्तं कश्चिच्छाम्यन्ति भीतयः ।
 एवंवादिनि देवेशे सर्वलोकैककारिणि ॥ १०६
 गिरानुनयशालिन्या मयोक्तं रघुनन्दन ।
 ज्यक्षानुस्मृतिकल्याणवतामिह महेश्वर ॥ १०७
 न किञ्चिदपि दुष्प्रापं न च काश्चन भीतयः ।
 त्वदनुस्मरणानन्दपरिघूर्णितचेतसाम् ॥ १०८
 न ते सन्ति जगत्कोशे प्रणमन्ति न ये पुनः ।
 ते देशास्ते जनपदास्ता दिशास्ते च पर्वताः ॥ १०९
 त्वदनुस्मरणैकान्तधियो यत्र स्थिता जनाः ।
 फलं भूतस्य पुण्यस्य वर्तमानस्य सेचनम् ॥ ११०
 तनोति चैष्यतो बीजं त्वदनुस्मरणं प्रभो ।
 ज्ञानामृतैककलशो धृतिज्योत्स्नानिशाकरः ॥ १११
 अपवर्गपुरद्वारं त्वदनुस्मरणं प्रभो ।
 त्वदनुस्मरणोदारचिन्तामणिमता मया ॥ ११२
 सर्वासामापदां मूर्ध्नि दत्तं भूतपते पदम् ।
 इत्युक्त्वा सुप्रसन्नं तं भगवन्तं महेश्वरम् ॥ ११३
 अघोचं प्रणतो भूत्वा यद्राम तदिदं शृणु ।
 भगवंस्त्वत्प्रसादेन पूर्णा मे सकला दिशः ॥ ११४
 किंतु पृच्छामि देवेश संदेहे तत्र निर्णयम् ।
 ब्रूहि प्रसन्नया बुद्ध्या त्यक्तोद्वेगमनामयम् ॥ ११५
 सर्वपापक्षयकरं सर्वकल्याणवर्धनम् ।
 देवार्चनविधानं तत्कीदृशं भवति प्रभो ॥ ११६
 ईश्वर उवाच ।
 शृणु ब्रह्मविदां श्रेष्ठ देवार्चनमनुत्तमम् ।
 वदामि मुच्यते येन कृतेन सकृदेव हि ॥ ११७
 कश्चिद्वृत्तिः महाबाहो देवः कः स्यादिति द्विज ।

इत्यर्थः । 'अपशवो वा अन्ये गोभेभ्यः पशवो गोभ्याः'
 इतिवत्प्राशस्त्यलभः ॥ १०९ ॥ भूतस्य प्राक्संश्रितस्य पुण्यस्य
 वृक्षस्थानीयस्य फलं तनोति अनन्तकोटिगुणतया विस्तारयति ।
 वर्तमानस्यैतद्देहारभ्यस्य सेचनममृतसेकेनेवाभिवर्धनं तनोति
 ॥ ११० ॥ एष्यतः करिष्यमाणस्य वृक्षार्थं बीजं तनोति
 ॥ १११ ॥ ११२ ॥ सर्वासं वर्तमानानामेष्यन्तीनां च ॥ ११३ ॥
 पूर्णा इष्टार्थैरिति शेषः ॥ ११४ ॥ त्यक्त्वा उद्वेगाश्चित्त-
 क्षोभहेतवो यस्मिस्तथाविधं देवार्चनविधानं ब्रूहीति परे-
 णान्वयः ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ पूर्णा मे सकला दिश इ-
 त्युक्त्या वसिष्ठस्य विषयभोगाभिलाषशून्यताद्योतनात्सर्वपाप-
 क्षयकरं सर्वकल्याणवर्धनमिति विशेषणाभ्यां च सर्वानर्पणवृ-
 त्त्युपलक्षितनिरतिशयानन्दरूपमोक्षसाधनविषय एवायं प्रश्न इति
 निश्चितवान्सर्वज्ञः परमकाष्ठीक ईश्वरः सर्वभावेन प्रपन्नाय
 वसिष्ठाय परमपुरुषार्थसाधनं तत्त्वज्ञानमेव सर्वदेवार्चनपरमरह-
 स्यभूतमुपदेष्टुकामः प्रतिजानीते—शृणुत्विति ॥ ११७ ॥ तत्र
 वक्ष्यमाणदेवार्चनानुरूपमलौकिकदेवस्वरूपमुपदेष्टुं विष्यस्य तद्दु-
 भुत्सां जनयन्पृच्छति—कश्चिदिति । महाबाहो निरन्तरदेवार्चन-

न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः ॥ ११८
 न देवः कमलोद्भूतो न देवस्त्रिदशेश्वरः ।
 न देवः पवनो नाको नानलो न निशाकरः ॥ ११९
 न ब्राह्मणो नाऽवनिपो नाहं न त्वं द्विजोत्तम ।
 न देवो देहरूपो हि न देवश्चित्तरूपधृक् ॥ १२०
 न देवः कमलारूपी नापि देवो भवेन्मतिः ।
 अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते ॥ १२१
 आकारादिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कृतः ।
 अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं चिच्छिवं विदुः ॥ १२२
 तदेव देवशब्देन कथ्यते तत्प्रपूजयेत् ।
 तदेवास्ति यतः सर्वं सत्तासत्तात्मरूपधृक् ॥ १२३
 अज्ञातशिवतत्त्वानामाकाराद्यर्चनं कृतम् ।
 योजनाध्वन्यशक्तस्य क्रोशाध्वा परिकल्प्यते ॥ १२४
 इयत्तादिपरिच्छिन्नं रुद्रादेः प्राप्यते फलम् ।
 अकृत्रिममनाद्यन्तं फलमानन्द आत्मनः ॥ १२५
 अकृत्रिमफलं त्यक्त्वा यः कृत्रिमफलं प्रजेत् ।

सफलीकृतबाहो इति बाहुसापेक्षबाह्यपूजामात्रशरताद्योतनाय संबोधनम् । ननु प्रसिद्धा एव पुण्डरीकाक्षत्रिलोचनादयो देवाः किमेतावत्यपि विषये भगवान्मानमिज्ञं संभावयतीति मन्यमानस्य वसिष्ठस्य परिच्छिन्नेषु श्रद्धाजाड्यं प्रथममपनेतुमाह—
 न देव इत्यादिना ॥ ११८ ॥ कमलोद्भूतो ब्रह्मा । त्रिदशेश्वर इन्द्रः । निशाकरग्रहणं तत्कलाधीनशरीरकत्रयस्त्रिंशत्कोटिदेव-
 देहोपलक्षणम् ॥ ११९ ॥ पुनर्नाहं न त्वमिति निषेधो रुद्रवसि-
 ष्ठयोस्तत् 'यद्रोदयन्ति तस्माद्ग्राः' । 'यदहं वसिष्ठोऽस्मि तत्त्वं वसिष्ठोऽसि' इत्यादिश्रुतिषु मुख्यसमष्टिप्राणताप्रसिद्धेः 'कतम एको देव इति प्राणः' इति प्राणस्यैव सर्वदेवात्मकत्वश्रुतेश्च प्राणभावेन प्राप्तदेवतात्वनिवारणार्थम् । एवं 'नेनेद्देवा आमुक्-
 न्पूर्वमशत' इत्यादिश्रुतिषु आध्यात्मिकेषु चक्षुरादिषु देवशब्द-
 दर्शनात् । 'त्यचे स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा' इत्यादिमन्त्रलिङ्गाच्च देहाध्यात्मिकभावानामपि प्रसक्तं देवतात्वं वारयति—देह-
 रूप इति ॥ १२० ॥ आध्यात्मिकप्रस्तावात्कमलात्र देहादि-
 शोभा । मतिग्रहणं सर्वाध्यात्मिकभावोपलक्षणार्थम् । तत्तुल्य-
 न्यायादाधिमौक्तिकेष्वपि सर्वभावेण देवत्वमुक्तं बोध्यम् । क-
 स्वर्हि देवस्वमाह—अकृत्रिममिति । डुकृञो 'द्वितः किः'
 'क्रेर्मन्त्रित्यम्' इति मप् । कृत्रिमं क्रियासाध्यं तद्विलक्षणं परमार्थ-
 देवनं निरतिशयप्रमोदशिवप्रकाशो देव इत्यर्थः । पुण्डरीकाक्षा-
 दिमत्यन्ता हि चित्प्रकाशाधीनसत्तास्फूर्तिकत्वात्स्मिन्नध्यस्ता-
 स्तेषां चित्प्रकाशात्पृथक्करणे स्वरूपसिद्धिरेव दुर्लभा दूरे देवत्व-
 मिति तेष्वपि सत्ताप्रकाश एवानावृत्तः स्फुरन्सर्वत्रैको देवस्त-
 दमिव्यत्यतिशयादेव पुण्डरीकाक्षादयोऽपि अभिभूतजाड्यत्वा-
 द्बहिर्बन्धेन ज्वलद्गारा इव देवा उच्यन्ते इति न श्रुतिस्मृत्या-
 दिवादविरोधोऽपीति भावः ॥ १२१ ॥ आकारादिना देशतो

त्यक्त्वा स मन्दारवनं कारुण्यं याति काननम् ॥ १२६
 बोधः साम्यं शम इति पुष्पाण्यग्राणि तत्र च ।
 शिवं चिन्मात्रममलं पूज्यं पूज्यविदो विदुः ॥ १२७
 शमबोधादिभिः पुष्पैर्देव आत्मा यदुच्यते ।
 तत्तु देवार्चनं विद्धि नाकारार्चनमर्चनम् ॥ १२८
 आत्मसंविस्तरूपं तु त्यक्त्वा देवार्चनं जनाः ।
 कृत्रिमार्चास्तु ये सक्ताश्चिरं क्लेशं भजन्ति ते ॥ १२९
 ज्ञातज्ञेया हि ये सन्तो बालक्रीडोपमं च ते ।
 आत्मध्यानादते ब्रह्मन्कुर्वन्तो देवपूजनम् ॥ १३०
 आत्मैव देवो भगवाञ्छिवः परमकारणम् ।
 ज्ञानार्चनेनाविरतं पूजनीयः स सर्वदा ॥ १३१
 त्वमेतच्चेतनाकाशमात्मानं जीवमव्ययम् ।
 स्वभावं विद्धि न त्वन्यः पूज्यः पूजात्मपूजनम् ॥ १३२
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 चेतनाकाशमात्रात्म यथा जगदिदं प्रभो ।
 यथा तच्चेतनस्यैव जीवादित्वं तदुच्यताम् ॥ १३३

वस्तुतश्च परिच्छिन्ने मिते कालतः परिच्छिन्ने तत् देवनं कृतः ।
 अयं भावः । 'दितु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिसुतिमोदमद-
 स्वप्रकान्तिगतिष्विति दशस्वर्षेषु प्रसिद्धादीभ्यतेः पञ्चाद्यन्वि
 देवशब्दव्युत्पादनात्संकोचे मानाभावान्मायिकनिरङ्कुशं श्वर्य-
 स्वच्छन्दक्रीडाविजिगीषाव्यवहारस्तुतीनामाविद्यकमदस्वप्रेच्छा-
 गतीनां च निर्वाहकत्वाद्दशस्वर्षेषु द्युतिमोदावेव मुख्यत्वर्थो तो
 च नित्यनिरतिशयानन्दस्वप्रकाशे ब्रह्मण्येव संभवतो न परि-
 च्छिन्नेषु जडेभ्यति । अतः अकृत्रिमं चिच्छिवमेव देवं तत्त्वतो
 विदुरित्यर्थः ॥ १२२ ॥ यतः सर्वं जगज्जीवतत्संसाररूपं तत्स-
 त्तैव सत्तात्मरूपधृक् न स्वत इति तदेवास्ति नान्यदित्यर्थः
 ॥ १२३ ॥ तर्हि किं पुण्डरीकाक्षायाकारार्चनविधिर्भयं एव
 नेत्याह—अज्ञातेति । कृतं विहितम् ॥ १२४ ॥ आत्मनस्त-
 र्वतः साक्षात्कारान्तपूजनेन प्रसन्नादित्यर्थः ॥ १२५ ॥ कृत्रि-
 मकामभोगानात्मपूजनात्सिद्ध्यन्तीति तदर्थं कृत्रिमपूजैव कार्या
 तत्राह—अकृत्रिमेति ॥ १२६ ॥ अकृत्रिमपूजने तर्हि का
 सामग्री तामाह—बोध इति । साम्यं सर्वत्रात्मौपम्येन दर्शनम्
 ॥ १२७ ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ ज्ञातज्ञेया ये कदाचिदात्मध्याना-
 दुत्थिताः सन्तः साकारदेवपूजनं कुर्वन्तश्चेद्दृश्यन्ते तत्ते बाल-
 क्रीडोपमं कुर्वन्ति न कृत्रिमभोगाशयेत्यर्थः ॥ १३० ॥ १३१ ॥
 त्वं जीवं स्वभावमकृत्रिमं अव्ययं चेतनाकाशं चिदाकाशं ब्रह्म
 विद्धि न त्वन्यः अनात्मा पूज्यः । यतो ज्ञानलक्षणमात्मपूजनमेव
 मुख्यपूजा नान्येत्यर्थः । यथाहुः 'देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो
 देवः सदाशिवः । त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोहंभावेन पूजयेत् ॥'
 इति ॥ १३२ ॥ 'तदेवास्ति यतः सर्वं सत्तासत्तात्मरूपधृक् ।'
 इति ब्रह्मण एव जगज्जीवतत्संसरणसत्तात्मनावस्थानमुक्तं तत्रो-
 पपत्तिं जिज्ञासुर्वसिष्ठः पृच्छति—चेतनेति ॥ १३३ ॥

ईश्वर उवाच ।

चिद्योमैव किलास्तीह पारावारविचर्जितम् ।
सर्वत्रासंभवञ्चैत्यं यत्कल्पान्तेऽवशिष्यते ॥ १३४
यद्यत्स्वयं प्रकचति तस्य स्वकचनस्य तु ।
स्वयं यत्स्पन्दितं नाम तेनेदं जगदित्यलम् ॥ १३५
इत्येवं स्वप्नपुरवज्जगद्भाति चिदात्मकम् ।
एवं चिद्योममात्रात्म जगदच्छं न भित्तिमत् ॥ १३६
अत्यन्तासंभवाञ्चैत्यं दृश्यं चिद्योममात्रकम् ।
चित्रवात्कचति सर्गादौ यत्तज्जगदिति स्मृतम् ॥ १३७
तस्मात्स्वप्नपुराकारं यदिदं भासते जगत् ।
तत्र चिद्योममात्रात्मन्यन्यता नाम का कुतः ॥ १३८
चिन्मात्रमेव गिरयश्चिन्मात्रं जगदम्बरम् ।
चिन्मात्रमात्मा जीवश्च चिन्मात्रं भूतसंततिः ॥ १३९
चिद्योममात्रादितरत्सर्गादौ सर्ववेदने ।
भिन्नस्वर्गे पुरे वापि किं संभवति कथ्यताम् ॥ १४०
आकाशं परमाकाशं ब्रह्माकाशं जगच्चितिः ।
इति पर्यायनामानि तत्र पादपवृक्षवत् ॥ १४१
एवं द्वौ स्वप्नसंकरूपमायाभिः स्वनुभूयते ।
तदा किल चिदाकाशमेव भाति जगत्तया ॥ १४२

तत्र चित्तसत्तायाश्चेत्यानधीनत्वं तावत्सर्वचेत्यप्रलयेऽप्यनपायात्प्र-
सिद्धमिति तदधीनभानस्य चेत्यस्य भानान्तरमिव न सत्तान्तर-
मपि युक्तमित्युपपत्तिमाह—चिद्योमेति । सर्वत्रेति पूर्वार्धान्वयि ।
यद्यस्माद्देतोः । अथवा चिद्योम सर्वत्र सर्गकालेऽपि असंभव-
ञ्चैत्यं पारादिपरिच्छेदशून्यत्वात्प्रलयकालवदित्यनुमानलक्षणत्रो-
पपत्तिर्दर्शिता बोध्या ॥ १३४ ॥ कथं तर्हि जगद्रूपप्रतिभास-
स्तत्राह—यद्यदिति । तस्यापरिच्छिन्नत्वादेव मायावरणान्तः
असंमानान्मायिकवासनादिमार्गेण यत्स्पन्दितं स्पन्दनमिव प्र-
सिद्धं तेनेदं जगदिति अलं भाति । तथाहि—यद्यत्सूर्यचन्द्रप्र-
दीपेन्द्रियमनआदि स्वयं प्रकचति बहलीभूतप्रकाशं भवति तस्य
स्वकचनस्य स्वविम्बे असंमानात्स्वयं यद्विम्बाद्बहिः प्रभाकारेण
स्पन्दितं स्पन्दनं नाम प्रसिद्धं तदेव नीलपीतादितद्विषयरूपं
जगदित्यलमत्यन्तं प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ १३५ ॥ इति उक्त्वा
एवं विचित्ररूपं जगच्चिदात्मकमेव सत्स्वप्नपुरवच्चिदिव भाति
भ्रान्त्या । एवं मयुक्तीत्या परमार्थतो विमृष्टं तु जगच्च भित्ति-
मत् अमूर्तमच्छं चिद्योममात्रामैवेत्यर्थः ॥ १३६ ॥ तर्हि किं
चिदेव चेत्याकारेण परिणतं खं पश्यति नेत्याह—अत्यन्तेति ।
अपरिणामित्वाददृश्यत्वाच्चान्यन्तासंभवाञ्चैत्यमप्यावृत्तचित्तस्वभावा-
द्यदन्यथा कचति प्रथते तदेव दृश्यं जगदित्यर्थः ॥ १३७ ॥
॥ १३८ ॥ अत एवारोपितरूपवाधेन चिन्मात्रस्वरूपं दृष्टव्य-
मित्याह—चिन्मात्रमेवेत्यादिना ॥ १३९ ॥ स्वर्गे ऊर्ध्वलोकेषु

१ मायावरणासंभवादिति पाठः.

यथैतत्संविदाकाशं स्वप्ने भाति जगद्रूपः ।
तथेदं जाग्रदाख्येऽपि स्वप्ने भाति तदेव नः ॥ १४३
यथा स्वप्नपुरे चित्तं वर्जयित्वेतदत्कचित् ।
न किञ्चित्संभवत्येवं जाग्रत्येवं महाचितः ॥ १४४
यतो न संभवत्यन्यञ्चैत्यं किञ्चित्ततोऽखिलम् ।
चित्तं संचेत्यमप्येतदचैत्यं सज्जगत्स्थितम् ॥ १४५
परमाकाशकलनं त्रिजगत्स्वयमुत्थितम् ।
स्वप्नवद्विद्धि चिद्योमि न त्वेतद्वैतवत्स्थितम् ॥ १४६
यथा चिद्योममात्रात्म स्वप्ने घटपटादिकम् ।
सर्गादावेव सर्गोऽयं तथा चिद्योममात्रकम् ॥ १४७
शुद्धसंविच्छिन्मात्रत्वाद्दृतेऽन्यत्स्वप्नपत्तने ।
यथा न विद्यते किञ्चित्तथास्मिन्भुवनत्रये ॥ १४८
याः काश्चन दृशो ये ये भाषाभावास्त्रिकालगाः ।
सदेशकालचित्तास्तत्सर्वं चिद्योममात्रकम् ॥ १४९
स एष देवः कथितो यः परः परमार्थतः ।
यस्त्वं सोऽहमशेषं वा जगदेव च योऽखिलः ॥ १५०
सर्वस्य वस्तुजातस्य जगतोऽन्यस्य ते मम ।
देहो हि चेतनाकाशं परमात्मैव नेतरत् ॥ १५१

पुरे स्वनगरे वा अपिशब्दात्पातालेषु वा चिद्धिन्नं किं संभवति
तत्कथ्यतां निरूपणकुशलैः । अचितः स्वतःसत्तास्फूर्तिसत्त्वे अचि-
त्स्वभावात्तात्तदभावे अलीकत्वादलीकस्य चित्ताप्युज्जीवनादर्शना-
चित्तोऽसङ्गत्वेनाचित्संबन्धाद्ययोगात्साधकान्तरस्य चाप्रसिद्धेरि-
ति भावः ॥ १४० ॥ ननु 'यजति ददाति जुहोति' इत्यादिश-
ब्दान्तरात्कर्ममेद इव चित् आकाशं जगदित्यादिनामान्तराद्दे-
दोऽस्त्विति चेत्तत्राह—आकाशमिति । भूताकाशाव्याकृताका-
शाद्यर्थत्रयपरत्वेनाभिप्रेतानां त्रयाणामप्याकाशशब्दानां काश्च
दीप्ताविति धात्वर्थानुगमेन चिन्मात्रवचनत्वसंभवाद्दमेरपि 'ये
गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था' इत्यनुशासनात् 'वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जग-
च्छतृवच' इति क्विपि द्वित्वादिनिपातनेऽपि ज्ञानार्थत्वानपाया-
चित्पर्यायनामतोपपत्तेरिति भावः ॥ १४१ ॥ तदेति दर्शनाद्य-
देत्यध्याहार्यम् । एवंरीत्या द्वौ द्वैतं स्वप्नादिभिः समं यदानुभू-
यते तत्त्वदृशा तदेत्यर्थः ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ द्वितीय एवं-
शब्दः अपिशब्दार्थे ॥ १४४ ॥ अखिलं चित्तं संचेत्यमपि ज-
गत् अचैत्यं सन्मात्रमेव स्थितम् ॥ १४५ ॥ परमाकाशस्य
ब्रह्मणः कलनं 'बहु स्यां प्रजायेय' इति श्रुतिदर्शित आद्यसंकल्प
एव त्रिजगद्भूत्वा स्वयमुत्थितं द्वैतवत् द्वैतवाद्यभिमतसत्यवस्तु-
वदित्यर्थः ॥ १४६ ॥ जगत्सामान्ये उक्तं न्यायं घटपटा-
दिविशेषेऽपि दर्शयति—यद्येत्यादिना । सर्गो घटपटादिः
॥ १४७ ॥ १४८ ॥ १४९ ॥ स ज्ञानेन पूज्यो देवः प्रथमप्रश्नो-
त्तरत्वेन कथितः ॥ १५० ॥ देहः पारमार्थिकस्वरूपम् ॥ १५१ ॥

संकल्पने स्वप्नपुरे शरीरं
चिद्योमतोऽन्यन्न यथास्ति किञ्चित् ।

तथेह सर्गे प्रथमैकसर्गा-
न्मुने प्रभृत्यस्ति न रूपमन्यत् ॥ १५२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० जगतः परमात्ममयत्ववर्णनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥२९॥

त्रिंशः सर्गः ३०

ईश्वर उवाच ।

एवं सर्वमिदं विश्वं परमात्मैव केवलम् ।
ब्रह्मैव परमाकाशमेव देवः परः स्मृतः ॥ १
तदेतत्पूजनं श्रेयस्तस्मात्सर्वमवाप्यते ।
तदेव सर्गभूः सर्वमिदं तस्मिन्व्यवस्थितम् ॥ २
अकृत्रिममनाद्यन्तमद्वितीयमखण्डितम् ।
अबहिःसाधनासाध्यं सुखं तस्मादवाप्यते ॥ ३
प्रबुद्धस्त्वं मुनिश्रेष्ठ तेनेदं तत्र कथ्यते ।
नातिदेवार्चने योग्यः पुष्पधूपचयो महान् ॥ ४
अव्युत्पन्नधियो ये हि बालपेलवचेतसः ।
कृत्रिमार्चामयं तेषां देवार्चनमुदाहृतम् ॥ ५
शमबोधाद्यभावे हि पुष्पाद्यर्चार्चयन्ति हि ।
मिथ्यैव कल्पितैरेवमाकारे कल्पितात्मके ॥ ६
स्वसंकल्पकृतैः कृत्वा क्रमैरर्चनमाहताः ।
बालाः संतोपमायान्ति पुष्पधूपलवार्चनैः ॥ ७

स्वसंकल्पकृतैरर्थैः कृत्वा देवार्चनं मुधा ।
यतः कुतश्चिन्मिथ्यात्म फलमात्रं नयन्ति ते ॥ ८
पुष्पधूपार्चनं ब्रह्मन्कल्पितं बालबुद्धिषु ।
यत्स्याद्गवाहशां योग्यमर्चनं तद्गदाम्यहम् ॥ ९
अस्मदादिस्त्वसौ कश्चिद्देवो मतिमतां वर ।
देवस्त्रिभुवनाधारः परमात्मैव नेतरत् ॥ १०
शिवः सर्वपदातीतः सर्वसंकल्पनातिगः ।
सर्वसंकल्पवलितो न सर्वो न च सर्वकः ॥ ११
दिकालाद्यनवच्छिन्नः सर्वारम्भप्रकाशकृत् ।
चिन्मात्रमूर्तिरमलो देव इत्युच्यते मुने ॥ १२
संवित्सर्वकलातीता सर्वभावान्तरस्थिता ।
सर्वसत्ताप्रदा देवी सर्वसत्तापहारिणी ॥ १३
ब्रह्म ब्रह्मन्सदसतोर्मध्यं तदेव उच्यते ।
परमात्मपराभिरुच्यं तत्सदोमित्युदाहृतम् ॥ १४

उक्तमनूयोपसंहरति—संकल्पन इति । प्रथमादेकस्य हिरण्य-
गर्भस्य सर्गात्प्रभृति प्रभृते इहान्मिन्सर्गे तथा संकल्पनस्वप्नपुर-
शरीरादिवदेवान्यदपि नास्ति ॥ १५२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-
मायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे जगतः परमात्ममय-
त्ववर्णनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

चितः सर्वात्मता सर्वभोक्तृभावेन संस्थितिः ।

यथा जीवदशां प्राप्ता चित्तश्चाप्यत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

‘चेतनाकाशमात्रम यथा सर्वमिदं प्रभो’ इति यत्त्वया पृष्टं
तस्येदमुत्तरं वर्णितमित्याह—एवमिति । ‘कश्चिद्वृत्ति महाबाहो
देवः कः स्यादिति द्विज’ इति मया त्वत्पृष्टदेवार्चनविधानमूल-
हस्यं यत्त्वां प्रति पृष्टं तदप्येतदेवेत्याह—एष देव इति ॥ १ ॥
परिच्छिन्नदेवार्चनं परिच्छिन्नफलमेतदर्थं तु सर्वकामावसान-
भूमिभूमानन्दप्राप्तिफलमिति सर्वोत्कृष्टमित्याह—तदेतदिति ।
सर्गभूः सर्वजगत्सर्गारोपाधिष्ठानम् ॥ २ ॥ तत्र बहुविधव्यया-
याससाध्यताशङ्कां परिहरति—अथहिरिति । अबहिःसाधनं च
तदसाध्यं चेति विग्रहः ॥ ३ ॥ प्रबुद्धो विवेकी मुख्याधिका-
रीति यावत् । अतिशयितो देवः अतिदेवस्तदर्थं ॥ ४ ॥
मूर्त्यादिरूपदेवार्चने तर्हि केऽधिकारिणस्तानाह—अव्युत्पन्नेति ।
अत एव तदनु रूपमेव कृत्रिमप्रतिमादि तत्सामग्री चेत्याह—कृ-
त्रिमेति । अर्चा प्रतिमा तत्प्रचुरम् ॥ ५ ॥ तच्च शास्त्रोदना-
लाभे कोदवाधानमिषेत्याह—शमेति ॥ ६ ॥ अर्चनं कृत्वा

संतोपमायान्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ७ ॥ यतः कुतश्चिन्मिथ्यात्वप्रप्रायविमा-
नात्परः प्रभृतिगाधनान्मिथ्यात्मकमेव स्वर्गादिफलमागादयन्ती-
ति मुधेत्यस्योपपत्तिः ॥ ८ ॥ ९ ॥ वयं आदिः कारणं यस्य
सोऽस्मदादिरस्मत्कल्पितप्रपन्नान्तर्गतः अतो चक्षुरादिदृश्यमूर्ति-
रूपो देवः कश्चिदनिर्वचनीयो मायामय एवेत्यर्थः । कस्तर्हि
पारमार्थिको देवस्तमाह—देव इति ॥ १० ॥ सर्वभ्यो
ब्रह्मविष्णुरुदादिदेवेभ्योऽप्यतीतसंकल्पना मनोवृत्तयस्तदतिगः ।
‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’ इति श्रुतेः । यस्तु
सर्वविषयभोगसंकल्पैर्वलितो वेष्टितो ब्रह्मविष्णवादिपदरूपः स न
साधनतोऽपि सर्वो न फलतोऽपि सर्वं कं भोगसुखं यस्मिन्-
धाविधः । स्वस्वकर्मापासनतारतम्यानुसारेणैव भोगसामग्र्यास्त-
त्फलसुखलवस्य च तत्र लाभादित्यर्थः ॥ ११ ॥ आत्मदेवस्तु
पूजनदशायां फलदशायां च नित्यनिरतिशयपरमार्थसत्यपूर्णा-
नन्दकस्वभाव एवेति स एव देव इत्युक्तियोग्य इत्याह—दि-
क्कालेति ॥ १२ ॥ १३ ॥ सदसतोर्भावाभावयोर्वर्तमानतदन्य-
कालयोर्मूर्तामूर्तयोः कारणकार्ययोर्व्यावहारिकप्रातिभासिकयोर्वा
आन्तरालिकमाक्षिचिन्मात्ररूपत्वादिधिष्ठानत्वाद्वा मध्यम् । पर-
मस्यचन्द्राग्निकरणज्योतिर्भ्य उक्तं आत्मैव परा सर्वावद्योतन-
क्षमा अभिरूपा प्रकाशो यस्य तत्तथाविधं सत् भोमिति पदेन
श्रुतिषु विराडादिपादत्रयात्मकसर्वप्रपन्नप्रविलापनेन ‘शिवमद्वैतं
चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः’ इत्युदाहृतमित्यर्थः ॥ १४ ॥

महासत्तास्वभावेन सर्वत्र समतां गतम् ।
 महाचिदिति संप्रोक्तं परमार्थं इति श्रुतम् ॥ १५
 स्थितं सर्वत्र सर्वं तु लतास्वन्तर्यथा रसः ।
 सत्तासामान्यरूपेण महासत्तात्मनापि च ॥ १६
 यच्चित्तस्वमरुन्धत्या यच्चित्तत्वं तघानघ ।
 यच्चित्तत्वं च पार्थत्या यच्चित्तत्वं गणेषु च ॥ १७
 चित्तत्वं यन्ममेदं च चित्तत्वं यज्जगद्भये ।
 तद्देव इति तस्वज्ञा विदुरुत्तमधुञ्जयः ॥ १८
 पादपाण्यादिमानन्यो यो वा देवः प्रकल्प्यते ।
 संविन्मात्रादृते ब्रह्मर्किसारः किल कथ्यताम् ॥ १९
 चिन्मात्रमेव संसारसारः सकलसारताम् ।
 गतः स देवः सर्वोऽहं तस्मात्सर्वमवाप्यते ॥ २०
 न स दूरे स्थितो ब्रह्मन्न दुष्प्रापः स कस्यचित् ।
 संस्थितः स सदा देहे सर्वत्रैव च खे तथा ॥ २१
 स करोति स चाश्नाति स विभर्ति प्रयाति च ।
 स निःश्वसिति संवेत्ता सोऽङ्गान्यङ्गानि वेत्ति च ॥ २२
 सोऽस्यां विचित्रचेष्टायां प्रकाशिन्यां च तद्वशात् ।
 तत्स्वरूपनिबद्धायां पुर्यामास्ते मुनीश्वर ॥ २३
 शरीरावसथायां च चलायां तत्प्रसादतः ।
 सोऽस्यां गहनकोशायां हृद्गुहायां गुहेश्वरः ॥ २४
 मनःषष्ठेन्द्रियाचारसत्तातीतामलात्मनः ।
 तस्य संव्यवहारार्थं संज्ञा चिदिति कल्पिता ॥ २५

स एष चिन्मयः सूक्ष्मः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
 इमं भास्वरमाभासं करोति न करोति च ॥ २६
 सा चिदत्यन्तविमला जगदर्थं जगत्क्रियाम् ।
 इमां रञ्जयति प्राह्व रसेनेव मधुर्लताम् ॥ २७
 चारयो ये चमत्काराश्चित्तश्चिति यथास्थितम् ।
 चमत्कुर्वन्ति किल ते तेन केचिन्नभोभिधाः ॥ २८
 केचिज्जीवाभिधानाश्च केचिश्चिताभिधानकाः ।
 केचित्कलाभिधानाश्च केचिद्देशाभिधानकाः ॥ २९
 केचित्क्रियामिधानाश्च केचिद्द्रव्याभिधानकाः ।
 केचिद्भावविकारादिजात्यौचित्याभिधानकाः ॥ ३०
 प्रकाशाभिधानाः केचित्केचिच्छैलतमोभिधाः ।
 अर्केन्द्राद्यभिधाः केचित्केचिद्यक्षाभिधानकाः ॥ ३१
 निरिच्छस्वस्वभावेन वसन्तेन यथाङ्कुरः ।
 तन्यते तद्देवेयं जगद्गुहमीश्विदात्मना ॥ ३२
 चिदेवासु समग्रासु सर्वदैवैकिकैव हि ।
 त्रैलोक्याम्भोधिसंस्थासु शरीरजलजालिका ॥ ३३
 शरीरपङ्कजभ्रान्तमनोभ्रमरसंभृताम् ।
 आस्वादयति संकल्पमधुसत्तां चिदीश्वरी ॥ ३४
 ससुरासुरगन्धर्वं सशैलार्णवकं जगत् ।
 चिति स्थितं प्रवहति जलावर्ते जलं यथा ॥ ३५
 बन्धचित्तमयाचारचारचञ्चुरचक्रिकम् ।
 संसारचक्रं चिच्छक्रे भ्राम्यति भ्रमभाजनम् ॥ ३६

॥ १५ ॥ व्यवहारे सर्वत्रानुगमात्सत्तासामान्यरूपेण । सर्वत्राधि
 तु महासत्तात्मना ॥ १६ ॥ तस्यैव सर्वेषां देवतादीनामात्म-
 त्वादिपि मुख्यं देवत्वमित्याह—यदित्यादिना ॥ १७ ॥ १८ ॥
 तस्यैव विमर्शं सर्वदेवतासारत्वाद्देवत्वमित्याह—पादेति ।
 किंसारः स इति शेषः ॥ १९ ॥ स सर्वः पूर्णो देव एवाहं न
 परिच्छिन्न इत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥ स एव सर्वकर्ता सर्व-
 भोक्ता चेत्याह—स करोतीत्यादिना ॥ २२ ॥ पुर्यामास्ते ।
 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्नेभ्यः' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २३ ॥
 शरीरमावसथो महागृहं यस्यास्तथाविधायाम् । गहना दुर्वि-
 वेका अन्नमयादिबहिःकोशा यस्यास्तथाविधायाम् । हृद्गुहिः
 सैव गूहतीति गुहा तस्याम् । आनन्दमयकोशगुहेश्वरः ॥ २४ ॥
 उपदेशसंभवहारार्थम् ॥ २५ ॥ भास्वारोपे करोतीव, तदप-
 वादे न करोति । नित्यमानस्य कृतत्वाभावादित्यर्थः ॥ २६ ॥
 रञ्जयति शोभयति । मधुर्वसन्तः ॥ २७ ॥ चमत्कारा आरोप्ये
 सत्तास्फूर्तिप्रदानरूपाः । चिति मायाशबले यत्स्थितं पूर्वकामक-
 र्मवासनानुसारेण नियतं चमत्कुर्वन्त्याविर्भावयन्ति । ताश्चिच्छ-
 मत्कारानेव नामकल्पनया व्यपदिशति—केचिदित्यादिना ।
 सर्गभेदेन नभोबहुत्वोक्तिः ॥ २८ ॥ २९ ॥ भावविकारा 'जायतेऽ-
 स्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यति' इति यास्कोक्ताः आदि-
 पदानुगभेदास्तेषां जात्या वैचित्र्येण औचित्येन च विचित्रा-

भिधानकाः ॥ ३० ॥ तानेव प्रपद्यति—प्रकाशेति ॥ ३१ ॥
 चितः किं स्वभोगेच्छया जगत्सृष्टिनंत्याह—निरिच्छेति । तथा
 चोक्तं श्रीमद्गौडपादाचार्यैः—'भोगार्थं सृष्टिरित्येके क्रीडार्थमिति
 चापरे । देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का सृष्टा ॥' इति ।
 नचैवं 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिश्रुतिविरोधः ।
 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्देवो यजुर्वेदः' इत्यादि-
 श्रुत्यन्तरे इच्छाप्रयत्नाद्यनपेक्षनिःश्वसितप्रायत्नोक्तः 'तदैक्षत
 बहु स्यां प्रजायेय' इति समानतात्पर्यकश्रुत्यन्तरानुगुण्याय
 चाकामयतेत्युक्तेरचेतनप्रधानादिकर्तृकताशङ्कावारणमात्रतात्पर्यक-
 त्वात् । तथा च भगवतो बादरायणस्य सूत्रम् 'कामाश्च नानुमा-
 नापेक्षा' इति ॥ ३२ ॥ त्रैलोक्यलक्षणानामम्भोधीनां संस्थासु
 तात्त्विकस्थितिषु विचार्यमाणसु चिदेव शरीरं वास्तवत्वं
 तद्रूपा जलजालिका जलसमूहस्थानीया नान्यदित्यर्थः ॥ ३३ ॥
 तस्या मनःसंकल्पकृतभोकादित्रिपुटीप्रकाशकत्वमेव भोक्तृविवे-
 काद्भोक्तृत्वमिति कल्प्यत इत्याशयेनाह—शरीरेति । ईश्वरी
 स्वारोपितसर्वावभासनसमर्था ॥ ३४ ॥ एवं कर्तृत्वमपि तस्याः
 स्वाध्यारोपितकारकपरिभ्रमणप्रथानिमित्तत्वमेवेत्याशयेनाह—स-
 सुरासुरेति । प्रवहंतं परिवर्तते ॥ ३५ ॥ भ्रमतीति बन्धस्त-
 थाविधो यश्चित्तमयः कर्तृत्वभोक्तृत्वरूप आचारस्तेन चारवक्षस्तु-
 राश्रपलाश्च व्यष्टिजीवसंसरणचक्रिका यस्मिंस्तथाविधं जीव-

चिच्चतुर्भुजरूपेण जघानासुरमण्डलम् ।
 कालो जलदखण्डेन सायुधेन यथाऽऽतपम् ॥ ३७
 चित्रिनेत्रतया ब्रह्मन्वृषशीतांशुचिह्नया ।
 गौरीकमलिनीवक्रपद्मपट्टपदतां गता ॥ ३८
 विष्णोः पद्मालितामेत्य चिद्धानाधीनमानसा ।
 त्रयी नलिन्याः सरसीं धत्ते पैतामहीं स्थितिम् ॥ ३९
 चित्तो ब्रह्मन्विचित्राणि शरीराणीह भूरिशः ।
 पत्राणीव तरोहंस्त्रि केयूरादिक्रियेव च ॥ ४०
 चित्समस्तसुरानीकपरिवन्दितपादया ।
 त्रैलोक्यचूडामणितां धत्ते वासवलीलया ॥ ४१
 चित्सुभास्वरतामेत्य त्रैलोक्योदरडम्बरे ।
 पतत्युदेति संयाति स्वात्मन्येवाब्धिवारिवत् ॥ ४२
 चिच्चन्द्रिका चतुर्दिशु अवभासं वितन्वती ।
 विकासयति निःशेषभूतसत्ताकुमुद्वतीम् ॥ ४३
 चिद्दर्पणमहालक्ष्मीस्त्रिजगत्प्रतिबिम्बितम् ।
 गृह्णात्यनुग्रहेणान्तः स्वगर्भमिव गर्भिणी ॥ ४४
 चिच्चतुर्दशभूतानां मण्डलानि महान्ति च ।
 भूतीकरोति धारित्रीः समुद्रस्वमिवाम्बुधिः ॥ ४५
 विचित्रालोककुसुमा घनसंकल्पपल्लवा ।
 व्योमकेदारिकारूढा सत्तौघफलशालिनी ॥ ४६
 जीवजालरजःपुञ्जवासनारसरञ्जिता ।
 संवेदनत्यग्वलिता चित्तेहाकलिकाकुला ॥ ४७

समष्टि संसारचक्रं मायाशब्दे चिच्चक्रे भ्राम्यति ॥ ३६ ॥ वर्णि-
 तलक्षणं चित एव सर्वकर्तृभोक्तृत्वं विशिष्य वर्णयति—चिदि-
 त्यादिना । कालो वर्षर्तुः सायुधेनैन्द्रधनुर्वज्रयुक्तेन जलदखण्ड-
 वेषेणातपमिव ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ विष्णोर्नाभिपद्मे अलितां भ्रम-
 रत्वमिव एव प्राप्य । त्रयी वेदास्तल्लक्षणाया नलिन्याः सरसीं
 महासरोभूतां स्थितिं मूर्तिम् ॥ ३९ ॥ केयूरादीनां क्रियानि-
 मितिरिव ॥ ४० ॥ चूडामणितां वन्द्यतामिति यावत् ॥ ४१ ॥
 सुभास्वरतां सूर्यादितेजोरूपताम् ॥ ४२ ॥ साक्षादपि तस्या
 आह्लादप्रथानिमित्तत्वात्—चिच्चन्द्रिकेति ॥ ४३ ॥ मङ्गी
 लक्ष्मीः स्वच्छभास्वरतालक्षणा शोभा वैष्णवी माया वा ॥ ४४ ॥
 चतुर्दशभुवनस्थानां भूतानाम् । भूतीकरोति सत्तां संपादयति ।
 यथा धारित्रीः रसशक्तिः अम्बुधिर्जलसमूहरूपा सती समुद्रस्वं
 समुद्रस्वरूपसत्तां संपादयति तद्वत् ॥ ४५ ॥ इदानीं तामेव चित्तं
 लतात्वेन रूपयति—व्योमेत्यादिना । व्योमात्र मायाकाशस्तल्ल-
 क्षणायां केदारिकायां क्षेत्रभक्तौ रुढा हिरण्यगर्भात्मना अङ्क-
 रिता । सत्तौघाः सर्वपदार्थसत्यतास्तल्लक्षणफलदायिनी ॥ ४६ ॥
 संवेदनानि सविकल्पज्ञानानि । चित्तेहाश्चित्तवृत्तयः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥
 जडाः शैलदय एव गुल्मका मूलप्ररोहा यस्याः । विग्रहाश्चतु-
 र्विधशरीराण्येव ग्रन्थयस्तर्वलिता । आमूलाग्रं प्रवृत्तिप्रतानैः
 परिवर्तिता वेष्टिता ॥ ४९ ॥ पेल्वमित्यादिविशेषणविशिष्टं

१ अत्र फलदामिनीति पाठो व्याख्यानुगुणः स्यात्.

अतीतासंख्यत्रिजगत्केसरोज्ज्वलरूपिणी ।
 अनारतरुपन्दमहाविलासोल्लासहासिनी ॥ ४८
 सर्वर्तुपर्वपरुषा जडशैलादिगुल्मका ।
 विग्रहग्रन्थिवलिता मूलाग्रपरिवर्तिता ॥ ४९
 चिल्लतेयं विकसिता पेलवं सदसद्वपुः ।
 विचित्रं दृश्यकुसुमं परामर्शासहं बहु ॥ ५०
 अनयेह हि सर्वत्र च्छायाच्छमिव जन्यते ।
 मन्यते तन्यते वस्तु गीयते क्रियतेऽपि च ॥ ५१
 महाचितानया नित्यं भासन्ते भास्करादयः ।
 देहाः स्वदन्ते च मिथस्तत्सच्चिज्जडविभ्रमैः ॥ ५२
 चिता चावर्तवर्तिन्या सिद्धान्येव प्रनृत्यति ।
 जगज्जालरजोलेखा तत्सत्ता दृश्यदेहिनी ॥ ५३
 चित्सर्वं जगदारम्भमिमं प्रकटयत्यलम् ।
 त्रैलोक्यदीपकशिखादीपो वर्णाश्रयं यथा ॥ ५४
 चिच्चन्द्रबिम्बे विमले शशवत्प्राप्य संगमम् ।
 सर्वत्र लक्ष्यतामेति पदार्थश्रीर्जगत्प्रता ॥ ५५
 चिद्रसायनसेकेन पदार्थपटलावली ।
 रूपमेति फलं चैव प्रावृद्धसिक्तेव सल्लता ॥ ५६
 चिच्छाययैव सर्वस्य जाड्यं सम्यगुदेति च ।
 सर्वस्यास्य शरीरस्य गृहस्येव तमस्त्वह ॥ ५७
 चिच्चमत्कृतयो देहे न भवेयुरिमा यदि ।
 त्रैलोक्यदेहास्त्यक्त्वैते न स्पृशेयुः किलाकृतिम् ॥ ५८

दृश्यकुसुमं अनया जन्यते इति परेणान्वयः । सदसद्वपुःरिखस्य
 परामर्शासहमित्युपपत्तिः ॥ ५० ॥ छाया चन्द्रादिकान्तिरि-
 वाच्छं स्फुटं दृश्यकुसुमम् । मन्यते अभिमानविषयीक्रियते ।
 तन्यते विस्तार्यते ॥ ५१ ॥ तस्याश्चित्तः सत् सत्यं चित् चेत-
 नम् । जडं चेत्यविवेकप्रयुक्तैर्भोक्तृभोग्यताविभ्रमैर्दम्पत्योर्देहा
 वस्तुतोऽमज्जलरूपा अपि मिथः स्वदन्ते प्रीतिविषया भवन्ति
 ॥ ५२ ॥ आवर्तो बाल्यावर्तस्तद्वर्तिन्या चित्तैव सिद्धा तत्सत्तयैव
 दृश्यदेहिनी दर्शनयोग्याकारवती जगज्जालरजोलेखा अन्या चिच्च-
 त्तिरिक्तेव भूत्वा प्रनृत्यति ॥ ५३ ॥ त्रैलोक्यप्रकाशनदीपकशि-
 खाभूता चित् । दीपः प्रसिद्धो वर्णाश्रयं रूपवद्द्रव्यं यथा प्रकट-
 यति तद्वत् ॥ ५४ ॥ चिदधीनप्रकाशतामेव जगतः प्रपन्नयति—
 चिच्चन्द्रबिम्बे इत्यादिना ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ननु चिद्यदि रसा-
 यनमिव पदार्थपटलावलीं सर्वतो व्याप्य स्फुरति तर्हि तत्र
 जाड्यं न स्यात् । न हि सर्वतो रसार्द्रं शुष्कतायाः प्रसक्तिर-
 स्तीति तत्राह—चिच्छाययैवेति । यथा पक्षीकरणेन गृहस्यापि
 सर्वतस्तेजोव्याप्तिसत्त्वात्तदन्तस्तमःप्रसक्त्यभावेऽपि तेजसभास्व-
 रताया भूतान्तरभागेरभिभवाद्दृष्टिभिव्यक्तसौरालोकव्याप्तेः तत्र-
 युक्तच्छायया अन्तस्तम उदेति, तथा घटाद्यधिष्ठानचिद्भा-
 स्वरताया अप्यध्यस्तेनाभिभवाद्दृष्टिश्चाक्षुषवृत्त्याद्यभिव्यक्तवि-
 द्याप्त्या स्फुरणे तच्छायया अन्तर्जाड्यमुदेतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥
 तथा च यथा सौरालोकवशादेव गृहप्रासादाद्याकृतिवैचिभ्य-

चिदाकाशप्रकाशेऽस्मिन्संकल्पशिशुधारिणी ।
क्रियाकुलवधूर्देहपृष्ठे स्फुरति चञ्चला ॥ ५९
चिदालोकं विना कस्य रसनाग्रे स्फुरन्नपि ।
कथं कदा प्रकटतामेति दृष्टः क वा रसः ॥ ६०
शृण्वन्न स्वाङ्गशाखोऽपि कुन्तलालिलतोऽप्यलम् ।
चिन्मज्जनं विना देहवृक्षः क इष राजते ॥ ६१
वर्धते विलुठत्यत्ति चिच्चराचरकारिणी ।
चिदेवास्तीतरन्नास्ति चिन्मात्रमिदमुत्थितम् ॥ ६२
भीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्तवांस्तदा श्यक्षः सुधांशुखच्छया गिरा ।
पुनः पृष्ठो मया राम सुधांशुखच्छया गिरा ॥ ६३
यदि सर्वगतता देव चिदस्त्येका तदात्मकः ।
तदयं चावनिस्फारमयान्धेव न चेतति ॥ ६४
अयं चित्त्वानपुरा भूत्वा चिद्दीनः संप्रति स्थितः ।
इतीयं कल्पना लोके प्रत्यक्षानुभवा कथम् ॥ ६५
ईश्वर उवाच ।

शृण्वेतदखिलं ब्रह्मन्यदा पृष्ठं वदामि ते ।

सिद्धिस्तथा देहान्तरमिदं प्रमातृचिन्मत्कृतिवशादेव गवाश्व-
टपदाद्याकृतिवैचित्र्यसिद्धिर्नान्यथेत्याह—चिन्मत्कृतय इति ।
त्रैलोक्यदेहाङ्गैलोकयान्तर्गताः साकारपदार्थाः एते छायाजाड्ये
त्यक्त्वा आकृतिमाकारमपि न स्पृशेयुः साधकान्तराभावादित्यर्थः
॥ ५८ ॥ क्रिया विहितनिषिद्धेषु प्रवृत्तिः सैव कुलवधूः ॥ ५९ ॥
उक्तमर्थमनुभावयितुं व्यतिरेकमुखेनापि प्रसिद्धोदाहरणेषु सम-
र्थयति—चिदालोकमिति द्वाभ्याम् । स्फुरन् संचलन् व्यामु-
न्नपि प्रकटतां एति यत् दृष्टः । किञ्च तत्रेण प्रकारकालदेशानां
निरासः ॥ ६० ॥ स्वाङ्गानि शाखाः यस्य । कुन्तलालिः केश-
समूहो लता यस्मिन् । चिन्मज्जनं चिद्व्याप्तिं विना ॥ ६१ ॥
एवं च चिददीनजन्मवृद्ध्यादिसर्वभावत्वाज्जलाधीनसर्वभाव-
स्तरङ्गादिर्जलमिव चिदेव परमार्थत इति सिद्धमित्युपसंहरति—
वर्धते इति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ यद्येका चिदेवास्ति तर्हि तदा-
त्मकः अयं देहो निद्रामूर्च्छामरणेषु चकाराद्दृश्यान्तरे च अव-
निस्फारमयी मृत् प्रचुरभूतविकारभूता अन्धा नेत्रादिहीना-
भित्तिरिव न चेतति तत्कथमित्यर्थः ॥ ६४ ॥ तदेव स्पष्टं पुन-
राह—अयमिति । अयं देहादिः पुरा दृश्यभावात्पूर्वं जीवनदशायां
च चित्त्वान् चेतनावान् । 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वाज्जत्वाभावः ।
भूत्वा संप्रति दृश्यमरणादिदशायां चिद्दीनः स्थित इतीयं क-
ल्पना कथं चितोऽविनाशिखभावत्वादपरिणामित्वाच्च कथमपि
जाड्यायोगादिति प्रश्नार्थः ॥ ६५ ॥ यथा तच्चेतनस्यैव जीवा-
दित्वं तदुच्यतामिति प्राक्तनप्रश्नोत्तरमश्रुत्वैव प्रश्नान्तरे वसिष्ठेन
कृते द्वयोरप्युसरं सहैव वक्तुकाम ईश्वर उवाच—शृण्विति ।
अखिलप्राक्तनप्रश्नोत्तरसहितं सर्वम् ॥ ६६ ॥ वक्ष्यमाणोपोद्घा-
तेन प्रथमं चिन्मप्रतिचिन्मचिद्विधेयं देहे दर्शयति—चिदिति ।

महानयं त्वया प्रश्नः कृतो ब्रह्मविदां वर ॥ ६६
चिदस्ति हि शरीरेह सर्वभूतमयात्मिका ।
चलोन्मुखाप्रतिमकैका तु निर्विकल्पा परा स्मृता ॥ ६७
संकल्पबुद्ध्या सैवान्तः स्वयमन्येव संस्थिता ।
संकल्पितेतरवरा दौःशील्यं स्त्री यथा गता ॥ ६८
स एव हि पुमान्कोपाद्यथेहान्य इव क्षणात् ।
भवत्येवं विकल्पाङ्गा चित्स्वरूपान्यतां गता ॥ ६९
विकल्पकल्पिता ब्रह्मंश्चित्स्वरूपपरिच्युता ।
जाड्यं क्रमाङ्गावयन्ती प्रयाति कलनापदम् ॥ ७०
चित्स्वयं चेत्यतामेति साकाशपरमाणुताम् ।
शब्दबीजात्मिकां पश्चाद्वाततन्मात्रगामिनी ॥ ७१
देशकालविभागान्ता तन्मात्रवलिता क्रमात् ।
जीवो भूत्वा भवत्याशु बुद्धिः पश्चादहं मनः ॥ ७२
मनस्त्वं समुपायाता संसारमवलम्बते ।
चण्डालोऽस्तीति मननाच्चण्डालत्वमिव द्विजः ॥ ७३
संकल्पिताऽप्रबोधेन जाड्याऽविश्वप्रबोधिनी ।
शबलं रूपमासाद्य संकल्पाद्यात्यनारतम् ॥ ७४

ह किल । चलायां व्यष्टिषमष्टिबुद्धौ उन्मुखात्मिका आसक्तस्व-
भावा । विज्ञानमयशब्दवाच्यकर्तृभोक्तृस्वभावेत्यर्थः । परा कूट-
स्थं चित्तु निर्विकल्पा ॥ ६७ ॥ तस्याथलस्वभावत्वमिव भेदोऽप्यु-
पाधिकृत एवेत्याशयेनाह—संकल्पेति । 'हन्ताहमिमास्तिन्नो
देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति
श्रुतिदर्शितसंकल्पेन स्वात्मानमेव जीवात्मना बुद्धा बुद्धवती ।
'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इति कर्तरि क्तः । यथा सुशीलैव
स्त्री स्वप्ने संकल्पित इतरो वर उपपतिर्यया तथाविधा सती
दौःशील्यं गता सती द्वितीयेव संपन्ना तद्वत् ॥ ६८ ॥ पुमान्
मनुष्यः अन्यो राक्षस इव क्रूरो भवति तद्वत् ॥ ६९ ॥ एवं-
रीत्या स्वरूपात्परिच्युता चित् क्रमाङ्गाद्यं जडतादात्म्यं भाव-
यन्ती सती कलनायाः सविकल्पबुद्धेः पदं विषयतां प्रयाति
स्वकल्पनयैवेत्यर्थः ॥ ७० ॥ आकाशसहितानि परमाणुनि सू-
क्ष्मभूतानि तद्भावरूपां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धरूपभोग्यानां बी-
जात्मिकां चेत्यतां मायोपलक्षितचिद्विषयतां एति पश्चाद्वातत-
न्मात्रं समष्टिप्राणभावस्तद्गामिनी भवति ॥ ७१ ॥ तथाभूता-
यास्तस्याः पञ्चीकरणप्रयुक्तस्थूलभूतात्मकसमष्टिव्यष्टिस्थूलदेह-
भावं तदन्तर्लिङ्गदेहे जीवभावं तत्र बुद्ध्यादिभावं च दर्शयति—
वेद्येति । तन्मात्रैः सूक्ष्मभूतैः पञ्चीकरणेन वलिता संवलिता
सती सप्तद्वीपचतुर्दशलोकात्मकदेशविभागान्ता निमेषादिद्विप-
रार्थावधिकालविभागान्ता च क्रमाङ्गवति । ततस्तत्र प्राणधार-
णाजीवो भूत्वा बुद्धिरहंकारो मनः अर्थाचित्तं च भवतीत्यर्थः
॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ब्रह्मचिदेव अप्रबोधेनाज्ञानेन शबलं रूपमा-
साद्य देहजीवाकारेण संकल्पिता सती तत्प्रयुक्तजाड्येन अवि-
श्वप्रबोधिनी असर्वज्ञा भूत्वा पुनःपुनर्भोगसंकल्पादनारतं याति

अनन्तसंकल्पमयी जाड्यसंकल्पपीवरा ।
 चिज्जाड्यान्मोदमायाति पयः पाषाणतामिष ॥ ७५
 ततश्चित्तं मनोमोहो मायेति विहितामिधा ।
 जाड्यं निपुणमाश्रित्य संसारे जायते मुने ॥ ७६
 मोहमान्द्यमुपायाता तृष्णानिगडपीडिता ।
 कामक्रोधभयोपेता भावाभावातिपातिनी ॥ ७७
 त्यक्तानन्तनिजाभोगा व्यवच्छेदविकारिणी ।
 दुःखदावानलातप्ता शोकाशिवकृशाशया ॥ ७८
 इयमस्मीति भावेन शून्येन विकलीकृता ।
 देहमात्रगृहीतास्था परं दैन्यमुपागता ॥ ७९
 मग्ना मोहमहापङ्के जीर्णैव वनदन्तिनी ।
 भावाभावलतादोला परिलोलशरीरका ॥ ८०
 असारापारसंसारविकारव्यवहारिणी ।
 तापोपतप्तहृदया रागतेजोनुरञ्जिता ॥ ८१
 निजयूथपरिभ्रष्टा मृगीवावशतां गता ।
 आविर्भावोदिताकारा तिरोभावेऽस्तमागता ॥ ८२
 स्वसंकल्पोपयातासु भीता संभ्रमदृष्टिषु ।
 पलायते वाप्यन्यासु वेतालेष्विव बालिका ॥ ८३
 उष्ट्रीव मधुरं विन्दुं वाञ्छते भावितं सुखम् ।
 अवान्तरपरिभ्रष्टा दोषादोषं पतत्यधः ॥ ८४
 परं वैषम्यमायाति संकटात्संकटं गता ।
 दुःखाहुःखं निपतिता विपदो विपदि स्थिता ॥ ८५
 नानानर्थगणोपेता चेष्टापरवशाशया ।

संसरति ॥ ७४ ॥ पयो जलं पापाणतां करकात्वमिव मोहं
 जीवताभ्रममायाति ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ भावो विभवः । अभावो
 दारिद्र्यं तदनुपातिनी ॥ ७७ ॥ व्यवच्छेदेषु भार्यापुत्रादिवि-
 योगेषु शोकादिविकारिणी । शोकरशिवश्च कृशाशया कृपणा
 ॥ ७८ ॥ इयं प्रत्यक्षदुःखमोहादिस्वभावैवाहमस्मीति भावेन
 भ्रमेण ॥ ७९ ॥ ८० ॥ रागेण तेजसा क्रोधेन चानुरञ्जिता
 ॥ ८१ ॥ विभवानां भूतमात्राणां वा आविर्भावे उदिताकारा
 हृष्टा अभिव्यक्ता वा । अस्तं दैन्यं तिरोभावं वा ॥ ८२ ॥
 ॥ ८३ ॥ यथा उष्ट्री कण्टकनिम्बपत्रादिषु चर्व्यमाणेषु स्ववास-
 नाभावितं विन्दुमल्पतरं मधुरं रसं काङ्क्षते तद्वदुःखबहुलेषु
 विषयेषु सुखं काङ्क्षति इत्यर्थः । अथवा यथा उष्ट्री विषमप्रांशुव-
 प्ररूढवृक्षाप्रसंबद्धमधुपटलप्रसृतमधुविन्दुलेहनवाञ्छया वृक्ष-
 मारुरुभ्रयुगपत्पुरःपादोन्नयनमात्रात्खदेहभारेणावान्तरपरिभ्रष्टा
 च अधो विषमदृष्टे पतति तद्वत्पततीत्यर्थः ॥ ८४ ॥ ८५ ॥
 नरकादिभूमिषु कष्टात्कष्टमनुप्राप्ता ॥ ८६ ॥ क्रमान्मानुष्यला-
 भेषु बाल्यात्प्रभृति व्यनहारकौशलाभ्यासाद्धैरध्यात्कौशलाद्धै-
 द्यभ्यासं काव्यनाटकतर्काद्यभ्यासमुपागता सती विचित्रस्य स्व-
 न्धस्य धनगृहक्षेत्रपरिवारादीर्निर्माणे यः पराक्रमस्तत्पदमेव

कष्टात्कष्टमनुप्राप्ता परितापानुतापिनी ॥ ८६
 क्रमादाबद्धवैदग्ध्याद्वैदग्ध्याङ्गमुपागता ।
 विचित्रबन्धनिर्माणपराक्रमपदं गता ॥ ८७
 सर्वतः शङ्कते भीता प्राणाल्ययमुपागता ।
 क्षीणतोयेव शफरी विवर्तनपरायणा ॥ ८८
 बाल्ये विवशसर्वार्था यौवने चिन्तयाऽऽवृता ।
 वार्धकेऽप्यतिदुःखार्ता मृता कर्मवशीकृता ॥ ८९
 जायते स्वर्गनगरे नागी पातालकोटरे ।
 आसुरी दैत्यविवरे नरन्त्री वसुधातले ॥ ९०
 राक्षसी राक्षसाधारे वानरी वनकोटरे ।
 सिंही गिरीन्द्रशिखरे किन्नरी कुलपर्वते ॥ ९१
 विद्याधरी देवगिरौ व्याली च वनगर्तके ।
 लता तरौ खगी नीडे वीरुत्सानौ वने मृगी ॥ ९२
 शेते नारायणोऽम्भोधौ ध्यानी ब्रह्मपुरेऽञ्जजः ।
 कान्तागतो हरः शैले स्वर्गे सुरवरो हरिः ॥ ९३
 दिनं करोति तीक्ष्णांशुर्वैपत्यभुधरो जलम् ।
 करोति श्वसनं संवित्सपर्वतमहोदधिम् ॥ ९४
 क्रतुचक्रं प्रवहति सहसा कालमण्डलम् ।
 दिनरात्रितयोपति तेजस्तिमिरतां क्रमात् ॥ ९५
 क्वचिद्दीजरसोद्भासात्क्वचित्पापाणमौनिनी ।
 क्वचिन्नदी रसवती क्वचिन्कुमुदविस्तृतिः ॥ ९६
 क्वचित्फलावलीपाकः क्वचित्काष्ठानलादिभिः ।
 क्वचिच्छैत्यहिमद्वारि क्वचित्त्वादि न किञ्चन ॥ ९७

गता न भोक्षोपयोगिविनैकपदमित्यर्थः ॥ ८७ ॥ एवं क्रमेण
 वयःपारं प्राप्य प्राणाल्ययमुपागता सती सर्वतो भीता शङ्कते ।
 विवर्तनं भूमौ लुटनं तत्परायणा ॥ ८८ ॥ संक्षेपोक्तं प्रपञ्च-
 यति—बाल्ये इति । विवशाः पराधीनाः सर्वं अर्था भोगा
 यस्याः । चिन्तया वित्तविषयादिचिन्तया । आवृता पिहितवि-
 वेका ॥ ८९ ॥ कर्मगतीरेव प्रपञ्चयति—जायत इत्यादिना
 ॥ ९० ॥ कुलपर्वतं हिमवदादां ॥ ९१ ॥ देवगिरौ मेरौ ।
 वीरुत् शुल्मिनी ॥ ९२ ॥ नारायणादीनामपि जीवगतिषु प्रप-
 ञ्चनं 'पदमेव हि तन्नित्यमनित्यापदिनः स्मृताः' इत्यादिशिवपु-
 राणानुरोधतः । नारायणादिनारूप्यमुक्तजीवविषये वा योज्यम् ।
 अथवा इत आरभ्य न जीवगतयः प्रपञ्चयन्ते किंतु चित्तैः
 सर्वव्यापारकर्तृत्वैत्यदोषः । कान्तया गतः अर्थाङ्गसंगतः ॥ ९३ ॥
 क्षमनादिपदवाग्वादिभ्यापारा लक्ष्यन्ते ॥ ९४ ॥ ऋतुघटितं संव-
 त्सारचक्रम् । कालमण्डलं युगमन्वन्तरादि ॥ ९५ ॥ क्वचिद्दु-
 क्षादां वीजात्मकस्तदङ्कुरताहेतू रसात्मकश्चोत्सासो यस्याः । पा-
 पाणमौनिनी निश्चला ॥ ९६ ॥ तृतीयान्तपदद्वयानन्तरमुपल-
 क्षितेत्यध्याहार्यम् । शैलेन हिममिवाचरत् हिमत् वारि जलं
 यस्याः । सं आकाशं आदिपदाद्वायुश्च अन्यत्र किञ्चन ॥ ९७ ॥

कचिदुज्वलिताकारा कचित्कष्टा शिला कचित् ।
 कचिन्नीलाथ हरिता कचिदग्निः कचिन्मही ॥ ९८
 सर्वात्मत्वात्सर्वगत्वात्सर्वशक्तित्वयोगतः ।
 सर्वत्वादेवंरूपैव खाद्यच्छैव सा परा ॥ ९९
 चिच्चिनोति यथात्मानं येन यत्र यदा यदा ।
 तस्यथानुभवत्यम्बु स्पन्दाद्वीच्यादितां यथा ॥ १००
 हंसी क्रौञ्ची बकी काकी सारसी तुरगी वृकी ।
 बकी बलाका हरिणी बानरी किन्नरी शुनी ॥ १०१
 वटीका पिङ्गली शाली मक्षिका भ्रमरी शुकी ।
 धीः श्रीर्ह्नीः प्रीती रतिश्च शंबरी शर्षरी शशी ॥ १०२
 एतास्वन्यासु चान्यासु परिभ्रमति योनिषु ।
 विवर्तमानसंसारे जलावर्ते तृणं यथा ॥ १०३
 विभेत्यथ स्वसंकरपात्स्वशब्दादिव गर्दभी ।

नानया सहगन्यास्ति मुग्धा बाला बलाऽबला ॥ १०४
 एषा सा कथिता तुभ्यं जीवशक्तिर्महामुने ।
 प्राकृताचारविबशा बराकी पशुधर्मिणी ॥ १०५
 कर्मात्मेत्यभिधां प्राप्ता शोच्यास्य परमात्मनः ।
 अनन्तं दुःखबहुलं स्वयं विभ्रममाभिता ॥ १०६
 असदेवानयाक्रान्तं विनाशि सहजं मलम् ।
 तण्डुलेनेव कञ्चुकमनन्ययाऽव्यवस्थितम् ॥ १०७
 अनन्तविभवभ्रष्टा दौर्भाग्यपरितापिनी ।
 शोचन्ती प्राप्य जीवत्वं भर्तृहीनेव नायिका ॥ १०८
 जडगतेरवलोक्य शक्ततां
 निजपदस्सरणेन विनेह चित् ।
 प्रजति कष्टमधः पतनाय या
 यदरघट्टघटीघनपीठवत् ॥ १०९

इत्यार्षे श्रीवा०रामायणे वाल्मीकीये दे०मो० निर्वाणप्रकरणे पू० शिवपूजोपाख्याने चेलोन्मुखचिद्विचारो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः ३१

ईश्वर उवाच ।

चिनोत्यलीकमेवैवं सदुःखास्मीति भावनात् ।
 चित्स्वप्रक्षीयतामोहपतिता संभ्रमे यथा ॥ १
 भ्रमृतापि मृतास्मीति विपर्यस्तमतिर्वधूः ।
 यथा रोदित्यनष्टं नष्टास्मीति तथैव चित् ॥ २
 अकारणं विपर्यस्ता मतिर्भ्रान्तमपि स्थिरम् ।
 यथा जगत्पश्यतीदं तथाहंताभ्रमाद्यतिः ॥ ३

कष्टा कुशकण्टकादिदुर्गमा ॥ ९८ ॥ सर्वशक्तित्वं माया तयो-
 गतः । सर्वत्वादेवंरूपा जगद्रूपैव । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुं-
 वच्छान्दसत्वाच्च कृतः । परमार्थतस्तु खाद्यच्छैव सा चिदि-
 त्यर्थः ॥ ९९ ॥ चित् आत्मानं स्वं येन भावेन यत्र यथा
 चिनोति विवर्तेनोपचयं नयति तथा तं भावमनुभवतीत्यर्थः
 ॥ १०० ॥ तान्भावान्पुनः प्रपश्यति—हंसीत्यादिना । पुन-
 र्बकीप्रहणमतिदीर्घपादचञ्चुजालन्तरसंप्रहार्थम् । एवं बलाकाम-
 हणमप्यतिधवलतूलकण्ठजातिप्रहणाय ॥ १०१ ॥ वटीकादयः
 पक्षिजातिभेदाः । शाली शारिका । प्रीती रतिरिति 'दूलोपे' इति
 दीर्घः । शम्बरी माया ॥ १०२ ॥ योनिषु देहभेदेषु ॥ १०३ ॥
 अबला दुर्बला ॥ १०४ ॥ १०५ ॥ कर्मात्मा कर्मानुसारस्व-
 भावा । तथा च श्रुतिः 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधु-
 कारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यो वै पुण्येन
 कर्मणा भवति पापः पापेन' इति ॥ १०६ ॥ अनन्यया
 स्वातिरिक्तसत्तास्फूर्तिश्चान्यया अविद्यया अव्यवस्थितमनियतम्
 ॥ १०७ ॥ भर्तृहीना नायिकेवानाथा स्थितेति शेषः ॥ १०८ ॥
 हे राम, स्वं जडगतेरविद्यायाः शक्ततां सामर्थ्यमवलोक्य । यथा-
 स्मादेतोर्या पूर्णब्रह्मस्वभावापि चित् अरघट्टस्य घटीयन्त्रस्य
 घटीषु प्रविष्टं वनपीठमाकाशस्तेन तुल्यं तद्वत् निजस्य निर-
 यो० वा० १०७

चित्तं हि कारणं त्वस्याः संसारानुभवे चित्तेः ।
 न च तत्कारणं किञ्चिच्चित्तवान्यत्वात्यसंभवात् ॥ ४
 एवं हि कारणाभावाच्चेत्यस्यासंभवादिति ।
 नासौ चित्तं ततश्चेत्यं यन्नतश्चेत्यते यथा ॥ ५
 न दृश्यदर्शनद्रष्टृरूपं तैलमिवोपले ।
 न कर्तृकर्मकरणं दृशीन्दाविव कृष्णता ॥ ६

तिशयानन्दपूर्णभावस्य घनसमुद्रादिमकलजलोपलक्षितसर्वजग-
 दन्तर्भावनसामर्थ्यस्य च स्सरणेन विना देहमात्रपरिच्छिन्नाहं
 घटीमात्रपरिच्छिन्नमहं भोगनिमित्तपुण्यव्यये अल्पजलक्षरणे च
 मम रिक्तैव संपन्नैति मन्यमाना पुनःपुनः स्वपतनाय अधोधो
 प्रजति तत्कष्टमित्यर्थः ॥ १०९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चेलोन्मुखचिद्विचारो नाम
 त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

जीवतादिनिषेधेन सा शुद्धा चित्प्रदश्यते ।

मनःप्राणेन्द्रियद्वारा बहिरन्तःप्रथा यथा ॥ १ ॥

एवं वर्णितप्रकारं जीवजगद्भावमलीकमसदेवाज्ञानाच्चिनोति
 आरोपेण संचिनोति । स्वप्ने क्षीवता मदिरामदस्तत्कृते संमोहे
 पतिता ॥ १ ॥ वधूसुग्धा ॥ २ ॥ आन्तं कुलालचक्रादि यथा स्थिरं
 निश्चलं पश्यति तथा जगदपि स्थिरं पश्यति ॥ ३ ॥ तच्चित्तं
 किञ्चिदस्तु न । कृतः । चित्त्वस्य तदन्यत्वस्य च अत्यन्तम-
 संभवात् । अचित्त्वे जगदन्तःपातेन तत्कल्पनाहेतुत्वायोगादि-
 त्यर्थः ॥ ४ ॥ चित्तासत्त्वादेव तच्चेल्यजगतोऽप्यसत्त्वं सिद्धमि-
 त्याह—एवमिति । यथा चिता चित्तं यन्नतश्चेत्यते असौ चित्
 चित्तं तदधीनं चेल्यं च न किंतु शुद्धैवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ चित्त-

१ कश्चकमित्यत्रार्थो दीर्घश्चन्दोनुरोधात्.

न मातृमेयमानानि नभसीव नवाङ्कुरः ।
 न चिञ्चेतनचेत्यादि नन्दने खदिरो यथा ॥ ७
 नाहंत्वत्वंत्वत्त्वादि पर्यतत्वमिवाम्बरे ।
 सदेहत्वान्यदेहत्वे शङ्कत्वमिव कञ्जले ॥ ८
 नानाऽनाना न चाप्यन्तरणाविव सुमेरवः ।
 न च शब्दार्थशब्दश्रीर्महोषरलता यथा ॥ ९
 नेति नेति न चैवार्कमण्डले रजनी यथा ।
 न वस्तुतावस्तुते च तुषारे तु यथोष्णता ॥ १०
 न शून्यताशून्यते वा शिलाकोश इव द्रुमः ।
 शून्यताशून्यता नाम महती ख इवाखता ॥ ११
 केवलं केवलीभावस्वच्छतैवाघशिष्यते ।
 न चित्तात्कस्यचिद्दोषाज्जातयैतदवाप्यते ॥ १२
 तत्सर्वभावनामात्रेणानर्थः प्रकृतः स्थितः ।
 तज्ज्ञेऽप्यभावनामात्रेणानर्थ उपशाम्यति ॥ १३
 तज्ज्ञेऽप्यभावनामात्रादृतेऽन्यत्रोपयुज्यते ।
 न तृणं न च त्रैलोक्यमिति स्वायत्ततात्र या ॥ १४
 स्वायत्त एव चैषोऽर्थो दुःसाध्यो भावनास्थितः ।

निषेधादेव चिति चक्षुरादिप्रयुक्तदृश्यदर्शनदृष्टरूपत्रिपुटीनिषेधो-
 ऽपि सिद्ध इत्याह—नेत्यादिना । दृशि चिति ॥ ६ ॥ चिञ्चित्तृप्ति-
 श्चेतनस्तदाश्रयश्चेत्यानि तद्विषयाः । आदिपदान्मन्तृमतिमन्तव्य-
 बुद्धिबोधबोद्धव्या अहंकरहंकाराहंकार्याणि गृह्यन्ते ॥ ७ ॥ तत्त्वं
 परोक्षवस्त्वन्तरत्वम् । आदिपदात्तदाश्रयतद्याप्यतसंबन्धा गृ-
 ह्यन्ते ॥ ८ ॥ नाना जीवभेदा अनाना प्रतिदेहमात्माभेदाध्या-
 साश्चापि न । अथौ अन्तः सुमेरव इव । शब्दा नामानि, अर्था
 रूपाणि तेषां शब्दश्रीः कथापि नास्ति ॥ ९ ॥ 'अथात् आदेशो
 नेति नेति' इत्यादयः शास्त्रीयरावेदत्रयनिषेधा अपि तत्त्व-
 प्रदर्शनपर्यन्तमेव । दृष्टे तु चित्तत्वे प्रतियोग्यप्रसिद्धेऽपि न
 संभवन्तीत्याह—नेतीति । वस्तुतिरिक्ता वस्तुताऽवस्तुताख्य-
 धर्मावपि न स्तः ॥ १० ॥ शिलायः कोशं गभं । खे यथा
 प्रसिद्धा महती शून्यता अशून्यता च केवलं केवलीभावलक्षणा
 स्वरूपस्वच्छतैव विमर्शो अवशिष्यते नाणुमात्रमपि भिन्ना तथा
 चित्यपीति परेणान्वयः ॥ ११ ॥ ननु तर्हि हिरण्यगर्भात्मकं
 समष्टिचित्तमेवास्याश्चित्तः सर्वानर्थहेतुर्दोषः । यस्मात्त एव
 निमित्ताच्चतुर्विधशरीरेषु जातया अनया एतत्संसारदुःखमवा-
 प्यते । न च तदस्माभिरुच्छेत्तुं शक्यमित्याशङ्काह—न चित्ता-
 दिति । चिद्दोषाच्चित्तो दोषभूतात् कस्य हिरण्यगर्भस्य चित्ता-
 निमित्ताज्जातया एतद्दुःखमवाप्यत इति न किंतु तेन सृष्टा ये
 देहेन्द्रियविषयास्तेषु सर्वेष्वहंममेति सत्या इति च भावनामात्रे-
 णायं प्रकृतः संसारलक्षणोऽनर्थः स्थित इत्यर्थः ॥ १२ ॥ अत
 एव तत्त्वज्ञे अभावनामात्रादुपशाम्यतीत्याह—तज्ज्ञेऽपीति
 ॥ १३ ॥ अत एव तृणमिवापवदितुं शक्योऽपि त्रैलोक्यपदार्थो
 भावनाबलादेवातत्त्वविदां दुःसाध्यः स्थित इत्याह—न तृण-
 मिति ॥ १४ ॥ नन्वतिसुलभो भावनात्यागः खत एव कुतो

यद्यन्न साध्यते पुंसा तत्कथं केव लभ्यते ॥ १५
 निर्विकल्पाद्वितीया चिदासौ सकलगा सती ।
 परमैका परा साच्छा दीपिका तेजसामपि ॥ १६
 सैषावभासनकरी सर्वगा नित्यनिर्मला ।
 नित्योदिता निर्मनस्का निर्विकारा निरञ्जना ॥ १७
 घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे खरे ।
 असुरे सागरे भूते नरे नागे च संस्थिता ॥ १८
 साक्षिवत्तिष्ठति सती स्पन्दते न च कुत्रचित् ।
 दीपः प्रकाशनायेव करोति न पुनः क्रियाम् ॥ १९
 मलिनाप्यमुनेषा साऽविकल्पाद्या विकल्पिनी ।
 जडेवाप्यजडाभासा न सर्वा सर्वगैव च ॥ २०
 निर्विकल्पा परा सूक्ष्मा चिञ्चिनोति स्वसंविदम् ।
 चातावाताङ्गमर्मादि यथा यन्मादिवेष्टने ॥ २१
 रूपालोकमनस्कारवलिता चिदबोधतः ।
 बोधतश्चैव भवति निद्रां सदसती यतः ॥ २२
 सा परैव चिदत्यच्छा चिन्तामायाति चेतनात् ।
 साधुरेव यथाऽसाधुर्भाविते दुर्जनैषणाः ॥ २३

न सिध्यति तत्राह—यद्यदिति । तृणमात्रस्यापि करप्रसारण-
 यत्नं विना लाभादर्शनादिति भावः ॥ १५ ॥ भावनामात्रत्यागे
 परमपुरुषार्थरूपा परमार्थचित्तसर्वत्र सुलभेत्याशयेन तां वर्ण-
 यति—निर्विकल्पेत्यादिना ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ यथा दीपः
 पदार्थप्रकाशनाय स्वरूपस्थितैव प्रभवति न तु कांचन क्रियां
 करोति तद्वच्चिदपीत्यर्थः ॥ १९ ॥ एषा एवंप्रभावापि सा चित्
 अमुना देहादिभावेनेनैव अमलिनापि मलिना संपन्ना । एवमवि-
 कल्पाद्यापि विकल्पिनीति सर्वत्र योज्यम् ॥ २० ॥ इदानीं
 सर्वगतायाः सूक्ष्मतमायाश्चित्त एकैकस्मिन्देह एव आनखामं
 विशेषव्याप्तिलक्षणं उपचये युक्तिमाह—निर्विकल्पेति । निर्वि-
 कल्पा विशेषाभिमानादिविकल्पास्पृशिनी परा सर्वगता सूक्ष्मा
 चित् वातं प्राणप्रधानं लिङ्गदेहे आवाता प्रतिबिम्बभावेनानु-
 गता सती अज्ञानि हस्तपादादीनि मर्माणि हृदयादिस्थानानि
 आदिपदाद्विसप्ततिसहस्रनाडीभेदं च व्याप्य सर्वगतां स्वसंविदं
 तावन्मात्रे आकृष्येव चिनोति उपचयं नयति । यथा क्षीर्षसू-
 क्ष्मकौशेयादितन्नुस्तर्क्यन्त्रादिसूचीवेष्टने अतिदीर्घमपि खं ताव-
 न्नात्रे उपसंहृत्य बदराद्याकारमुपचयं नयति तद्वदित्यर्थः
 ॥ २१ ॥ अत एव जाग्रतः पुरुषस्य चिद्वही रूपाद्यालोकनैरन्त-
 र्मनस्कारैश्च वलिता सती बोधतो बोधपक्षे भवति । निद्रां
 यतो गच्छतस्तु स्वप्ने वासनामयरूपालोकमनस्कारवलिता सती
 अन्तर्बोधतो बहिस्त्वबोधत इति पक्षद्वयेऽपि भवति । सुषुप्तौ
 त्वज्ञानमात्रसाक्षित्वाच्च किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य परामर्शाच्च
 सदसती सत्यप्यसत्प्राया अबोधपक्ष एव भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥
 सा अत्यच्छा ब्रह्मचिदेव देहाद्यात्मता चेतना तदनुकूलप्रति-
 कूलप्राप्तिपरिहारचिन्तामायाति । यथा साधुरेव दुर्जनसंगत्या
 चिरं चित्ते भाविते संस्कृते सति दुर्जनैषणाः प्राप्य असाधु-

मलेन स्वर्णमायाति ताम्रतां मलमार्जनात् ।
 पुनः कनकतामेति यथा चित्परमा तथा ॥ २४
 स्वारोपशान्त्या स्वादर्शो यथैति प्रतिमास्थितिम् ।
 तथा सर्गमिवागम्य बोधात्स्वं याति तत्पदम् ॥ २५
 अभाववेदनादस्याः संसारः संप्रवर्तते ।
 स्वभाववेदनादेष त्वसदेवोपशाम्यति ॥ २६
 यदा चित्त्वाच्चिनोत्यन्तरन्यतामसतीं तदा ।
 अहंतामिव संप्राप्य नश्यतीवाप्यनाशिनी ॥ २७
 ईषत्स्पन्दादधो याति भृगुप्रान्तात्तरोः फलम् ।
 यथा तथैष संवित्सेरधःपातो महानिव ॥ २८
 रूपादीनां तु सत्तैषा चित एवामलैव चित् ।
 द्वित्वैकत्वे त्वबोधोत्थे बोधेन विलयं गते ॥ २९
 सत्तामात्रेण चित्तस्य बोधश्चित्तेन्द्रियादिषु ।
 आलोकसत्तामात्रेण व्यवहारः क्रियास्विव ॥ ३०
 घातात्कनीनिकास्पन्दस्तद्दीप्तिर्दृष्टिरुच्यते ।
 तद्वाह्यवति तद्रूपरूपबोधस्तु चित्परा ॥ ३१
 त्वद्धारुतां जडौ तुच्छौ तत्सङ्गः स्पर्श उच्यते ।
 मननं स्पर्शसंवित्तिस्तत्संवित्तिस्तु चित्परा ॥ ३२

भवति तद्वदित्यर्थः ॥ २३ ॥ अत एव पुनर्ब्रह्मात्मताभाविता
 चित्ते स ब्रह्मैव भवतीत्याशयेन दृष्टान्तमाह—मलेनेति ॥२४॥
 यथा शोभन आदर्शो दर्पणः स्वारोपितमलस्य मार्जनेन शान्त्या
 प्रतिमास्थितिं पुनःपुनः प्रतिबिम्बाभिव्यक्तियोग्यां स्थितिं स्वच्छ-
 तामेति तद्वच्चिदप्यज्ञानाजडजीवभावादिसर्गमिवागम्य । 'वा-
 ल्यपि' इत्यनुनासिकलोपविकल्पः । आगत्य स्थिता तत्त्वबोधात्-
 त्कैवल्यपदं यातीत्यर्थः ॥ २५ ॥ अभावः असदज्ञानं तद्वेदनात्
 ॥ २६ ॥ अन्यतां भेदम् । 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं
 भवति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २७ ॥ ईषत्स्पन्दाद्वन्तवियोज-
 कप्रच्युतिमात्रात् । भृगुर्गिरितटं तत्प्रान्तात् । एष जीवभावः
 ॥ २८ ॥ चित् एवेति । अध्यस्तस्याधिष्ठानव्यतिरिक्तसत्त्वाभा-
 वादिति भावः । द्वित्वैकत्वे भेदाभेदाध्यासौ ॥ २९ ॥ चित्तस्य
 चित्तसाक्षिणः ॥ ३० ॥ सामान्येनोक्तं विशिष्य चक्षुरादिषु
 विभज्योपपादयंश्चित एव सर्वत्र फलीभावं दर्शयति—वाता-
 दित्यादिना । चित्संनिधिप्रेरिताद्वातात् व्यानवायोर्निमित्ताच्चक्षुः-
 कनीनिकयोः स्पन्दो भवति । तस्यां स्थिता बीप्तिस्तैजसमिन्द्रियं
 दृष्टिश्चक्षुरित्युच्यते । तथा कुल्याद्वारा जलमिव बाह्यं बहिःप्रा-
 पणीयं यदन्तःकरणं तद्वति तथापि षटादौ तद्रूपस्य तत्समाना-
 कारस्य रूपस्य नीलपीतादेर्षटाद्याकारस्य च यो बोधः सत्ता-
 प्रथा सा परा चिदेवेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवं स्पर्शनत्रिपुटीस्थ-
 लेऽपि त्वद्धारुतां जडौ तुच्छौ स्वतःसत्तास्फूर्तिर्न्यूनौ । अतश्चि-
 दधीनसत्तास्फूर्तिर्बलोदेव तयोः सङ्गः स्पर्शेन्द्रियकल्पनानिमि-
 त्तत्वात्स्पर्श उच्यते । तद्वारा तत्संयुक्तशीतोष्णादिद्रव्येषु मननं

गन्धतन्मात्रपथनसंबन्धो गन्धसंविदः ।
 आसां तु मनसा हीनं वेदनं परमैव चित् ॥ ३३
 शब्दतन्मात्रश्रवणवातसङ्गान्मनो विना ।
 सुषुप्तसदृशी संवित्परमा चिदुदाहृता ॥ ३४
 क्रियोन्मुखत्वं संकल्पात्संकल्पो मननक्रमः ।
 मननं चित्तकालुष्यमात्मा चिन्निर्मला भवेत् ॥ ३५
 चित्प्रकाशात्मिका नित्या स्वात्मन्येवावसंस्थिता ।
 इदमन्तर्जगद्धत्ते सच्चिवेशं यथा शिला ॥ ३६
 अद्वितीया दधानेदं विकारादिविवर्जितम् ।
 नास्तमेति न चोदेति स्पन्दते नो न वर्धते ॥ ३७
 संकल्पाजीवतामेत्य निःसंकल्पात्मनात्मना ।
 चिज्जडं नो जडं भावं भावयन्ती स्वसंस्थिता ॥ ३८
 रथस्त्वस्याश्चित्तेर्जीवो जीवस्याहंकृती रथः ।
 अहंकृते रथो बुद्धिस्ततो बुद्धेर्मनो रथः ॥ ३९
 मनसस्तु रथः प्राणः प्राणस्याक्षगणो रथः ।
 अक्षौघस्य रथो देहो देहस्य स्पन्दनो रथः ॥ ४०
 स्पन्दनं कर्म संसारे जरामरणपञ्जरम् ।
 एवं प्रवर्तितं चक्रमिदमादिविभूतिजम् ॥ ४१

तदाकारा मनोवृत्तिः स्पर्शसंवित्तिरित्युच्यते । तत्संवित्तिस्तदव-
 च्छिन्ना विषयान्तत्रिपुटीप्रथा तु परा साक्षिचिदेवेत्यर्थः ॥३२॥
 एवं घ्राणेन्द्रियात्मना गन्धात्मना च विभक्तस्य गन्धतन्मात्रस्य
 नासाप्रवेशिपवनेन कृतः संबन्धो गन्धसंविदां गन्धाकारान्तः-
 कारणवृत्तीनां निमित्तत्वाद्गन्धसंविदः । आसां त्रिपुटीनां मनसा
 हीनं विविकं यत्प्रथालक्षणं वेदनं सा परमा साक्षिचिदेवेत्यर्थः
 ॥ ३३ ॥ एवं शब्दतन्मात्रस्य श्रवणेन्द्रियस्य व्यानवातस्य च
 सङ्गादुत्पन्ना मनोवृत्तयः शब्दसंवित्तयस्तासु मनोशं विना विहाय
 सुषुप्तसदृशी निर्विकारा या साक्षिसंवित्सा परमा चित् ।
 एवं रासनत्रिपुटीसाक्षिचिदपि विविच्य द्रष्टव्येति भावः
 ॥ ३४ ॥ एवं कर्मेन्द्रियप्रवृत्तिनिमित्तसंकल्पात्मकमनोवृत्ति-
 तन्मालिन्यसाक्षितयाप्यात्मचिद्विवेचनीयेत्याह—क्रियोन्मुख-
 त्वमिति ॥३५॥ एवं चान्तर्बहिश्च सर्वद्वैतस्फूर्तेः साक्षिन्वन्मा-
 त्त्रात्मकत्वे सर्वं द्वैतं तस्यामेवाध्यस्तमिति फलितमित्याह—चि-
 दिति । यथा स्फटिकशिला स्वान्तर्गतं वनगिरिनद्यादि प्रतिबि-
 म्बसंनिवेशं धत्ते तद्वत् ॥ ३६ ॥ विकारादिविवर्जितमिति
 क्रियाविशेषणम् । अधिष्ठानतत्त्वात्मना विकारादिविवर्जितमिति
 वा ॥ ३७ ॥ चित् जडं जगत् नो जडमजडं वास्तवभावं
 भावयन्ती सती स्वयं स्वरूपे स्थिता भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥
 इदानीं चितो बहिःसंसरणे रथपरम्परां कल्पयन्नाह—रथ इति
 द्वाभ्याम् ॥ ३९ ॥ स्पन्दनः कर्मेन्द्रियगणः ॥ ४० ॥ सर्वेषां
 मपि रथानां संसारे स्पन्दनं भ्रमणमेव कर्म । साध्यमित्यर्थः ।
 जरामरणोपलक्षिता देहा एव पञ्जराणि यत्र तथाविधं जीवस्व-
 गदोलचक्रं आदेर्मूलकारणस्येश्वरस्य विभूत्या मायैश्वर्येण

प्रतिभासत एवात्मन्यसत्त्वम इवाततः ।
 मनागपि न सत्यात्म मृगतृष्णाम्बुवस्थितम् ॥ ४२
 रथस्त्वत्र स्मृतः प्राणः कल्पनाया मुनीश्वर ।
 यत्र प्राणमरुत्तत्र मननं परितिष्ठति ॥ ४३
 आलोकधीः स्थिता यत्र रूपं तत्रैव राजते ।
 प्राणो बली स्थितो यत्र तदेव परिवेषति ॥ ४४
 यत्प्रयाति घनं वात्या तदेव परिघूर्णते ।
 मनस्याकाशसंलीने न प्राणः परिवेषति ॥ ४५
 तेजस्यसत्तामायाते न रूपमिव राजते ।
 प्राणे प्रशान्ते मरुति मनोन्तर्न मनागपि ॥ ४६
 वात्यायामुपशान्तायां रजो न परिकम्पते ।
 यत्र प्राणो मरुद्याति मनस्तत्रैव तिष्ठति ॥ ४७
 यत्र यत्रानुसरति रथस्तत्रैव सारथिः ।
 प्राणसंप्रेरितं चित्तं याति देशान्तरे क्षणात् ॥ ४८
 क्षेपणोन्मुक्तपाषाण इव तत्रान्यथा क्षयि ।
 यत्र पुष्पं तत्र गन्धो यत्राग्निस्तत्र सोष्णता ॥ ४९
 यत्र प्राणो मरुद्याति यत्रेन्दुस्तत्र तच्छुविः ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० मनःप्राणैक्यप्रतिपादनं नामैकात्रिंशः सर्गः ॥३१॥

संवित्तिः पवनस्पन्दाभाडीसंस्पर्शनश्च सः ॥ ५०
 संवित्तिस्फारता चित्तं मनस्तत्प्राणकोटरे ।
 सर्वत्र विद्यते संविद्योमस्वच्छा जडाजडे ॥ ५१
 श्रुभ्यन्तीव तु सा प्राणस्पन्दादित्यनुभूयते ।
 सत्तामात्रस्वरूपेण जडेषु समवस्थिता ॥ ५२
 प्राणसंबोधिता वेत्ति वेदनात्मतया जडे ।
 नानास्फारसमुल्लासैर्यः पूर्वं परिवल्गति ।
 प्राणेऽतीते त्वमननः स एवाशु न वेपति ॥ ५३
 पुर्यष्टके चित्परमा स्वे मुने प्रतिबिम्बति ।
 आदर्श एव प्रतिमा दृश्यते नोपलादिषु ॥ ५४
 मनः पुर्यष्टकं विद्धि सर्वकार्यैककारणम् ।
 तदेव भेदैः कथितमन्यैः स्वाशयकल्पितैः ॥ ५५
 यस्मादुदेति कलनाकुलदृश्यजालं
 यत्तत्र च स्थितवदित्यनुभूतमुच्चैः ।
 यस्मान्मनो विपरिवर्तति देहदृष्ट्या
 सर्वं तु तत्परमवस्त्विति विद्धि विश्वम् ॥५६

द्वात्रिंशः सर्गः ३२

ईश्वर उवाच ।

मुने शृणु कथं कार्यकारिणी स्पन्दशालिनी ।

जातम् ॥ ४१ ॥ मायिकत्वमेवोपपादयति—प्रतिभासत इति ॥ ४२ ॥ मनसस्तु रथः प्राण इति यदुक्तं तत्र वक्ष्यमाणार्थो-
 पयुक्तं विशेषं वक्तुमुपपत्तिमाह—रथ इति । कल्पनाया मान-
 सकल्पनाया निमित्तत्वादिति शेषः । तदेव दर्शयति—यत्रेत्या-
 दिना ॥ ४३ ॥ बली सूत्ररूपत्वात्सर्वधारणचालनसमर्थः ॥४४॥
 एवं मनसोऽपि प्राणक्रियानिमित्तत्वमस्तीति व्यतिरेकमुखेनाह—
 मनसीति । आकाशे हार्दाकाशे संलीने सति ॥ ४५ ॥ रूपं
 यथा न राजते तद्वदित्यर्थः । एवं प्राणनिरोधादपि मनो निरु-
 ध्वत इत्याह—प्राणे इति ॥ ४६ ॥ अत एव तस्य तद्रथस्त्वमु-
 क्तमित्याह—यत्रेति ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ क्षेपणं यत्रविशेषः ।
 अन्धया प्राणनिरोधे मनः क्षयि । क्षीयत इत्यर्थः ॥ ४९ ॥
 प्राणः समष्टिब्यष्टिरूपः । इन्दुश्चन्द्रस्तदंशभूतं मनश्च । छविश्च-
 न्द्रिका मनोवृत्तयश्च । अत एव चाक्षुषादिसंविस्तिषु प्रत्येकं वा-
 योरपि निमित्तता प्राणयोपदर्शितेत्याशयेनाह—संवित्तिरिति ।
 सर्वाङ्गेष्वन्नरसप्रवेशार्थं सर्वनाडीसंस्पर्शनश्च स पवनः ॥ ५० ॥
 चित्तमनोधटितलिङ्गशरीररामके तस्मिन् प्राणकोटरे चित्तो वि-
 म्वप्रतिबिम्बभावेन द्विगुणीकरणेन स्फारतापि तत्तस्मादेवोपप-
 न्नेत्याह—संवित्तीति ॥ ५१ ॥ तत्रोपपात्तामाह—श्रुभ्यन्ती-
 वेति । स्फुटाभिर्व्यक्तया संचलन्तीव यतो लिङ्गे चिदनुभूयते
 इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ जडेऽपि देहे प्राणसंबोधिता सती सर्गादिवे-

चरन्ती च तनुं पुंसामुपैति परमाभिधाम् ॥ १

दनात्मतया आध्यासिकचित्तादात्म्यबलेन वेत्ति । यो देहः पूर्वं
 जीवनदशायां परिवल्गति व्यवहरति स एव न वेपति न
 कम्पते ॥ ५३ ॥ 'भूतान्तःकरणप्राणज्ञानकर्मेन्द्रियैर्युतम् । अ-
 विद्याकामकर्माब्धं लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥' तस्मिन्पुर्यष्टके ॥५४॥
 ननु प्राणनिमित्तो मनसि चित्प्रतिबिम्ब उक्त इदानीं तु पुर्यष्टके
 स उच्यते तत्कथं न विरोधस्तत्राह—मन इति । अन्यैराचार्यैः
 स्वाशयकल्पितैः शिष्यबोधनोपायैः ॥ ५५ ॥ इदानीं जीवतदु-
 पाधितद्रोग्यलक्षणस्य विश्वस्योत्पत्तिस्थितिलयेषु चिदेकरसस-
 न्मात्रब्रह्माधीनत्वात्परमार्थतो ब्रह्मैव तदित्यनुभावयन्नुपसंह-
 रति—यस्मादिति । यस्मादेतोस्तत्र चित्त्वेवेदिति । यद्यस्मात्त-
 त्रैव स्थितवत् । चकारात्तत्रैव लीयते । यस्मादेतोर्मन एव देह-
 दृष्ट्या विपरिवर्तति भ्रमति । छान्दसं परस्मैपदम् । तत्तस्मा-
 द्विश्वं परमवस्तु ब्रह्मैव नान्यदिति विद्धीत्यर्थः ॥ ५६ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 मनःप्राणैक्यप्रतिपादनं नामैकात्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

विचेष्टयति देहादि यथा पुर्यष्टकं गता ।

यथा देहान्तरं याति तत्सर्वमिह वर्णयते ॥ १ ॥

परमा चित् प्रागुक्तीत्या पुंसां तनुं पुर्यष्टकं चरन्ती प्रविष्टा
 सती कथं कथा रीत्या कार्याणि ऐहिकपारलौकिककर्माणि करोति
 तच्छीला, कथं च तदनुकूलदेहादिस्पन्दशालिनी सती अभिधां
 जडोऽपि देहः प्राणसंबोधितः सन्नित्यादिर्बन्धाख्यापाठश्चान्यत्र.

प्राक्तनैस्तेर्निहन्त्येष स्वमनोमननेहितः ।
 कर्मव्रातैर्विचित्रैः परिपीवरतां गतैः ॥ २
 मनस्तया गता शक्तिः सज्जडेवागता चित्तेः ।
 सा स्फुरत्यनया ब्रह्मबुद्धिता शक्तिभूतया ॥ ३
 अस्याः प्रसादादिह सा चित्कलङ्कवती मुने ।
 जगद्रन्धर्वनगरं करोति न करोति च ॥ ४
 चित्ताद्यसत्तया देहो मूकस्तिष्ठति कुड्यवत् ।
 तत्सत्तया हि स्फुरति नभःसंप्रेरिताश्मवत् ॥ ५
 यथा स्फुरत्यतिजडमयोऽयस्कान्तसंनिधौ ।
 तथा स्फुरति जीवोऽयं सति सर्वगते परे ॥ ६
 सर्वस्थयात्मशक्त्यं व जीव एव स्फुरत्यलम् ।
 मुकुरो बिम्बमादत्ते द्रव्यात्मन्यस्थितादपि ॥ ७
 प्रविस्मृतस्वभावत्वाज्जीवोऽयं जडतां गतः ।
 मोहाद्विस्मृतभावत्वाच्छुद्रतामिव सद्भिजः ॥ ८

चलति ज्ञाति भुङ्क्ते यजते ब्राह्मणः क्षत्रियो देवदत्त इत्यादि-
 शब्दाभिलाषयोभयतां उपैति तत्सर्वं कथयामि शृण्वित्यर्थः
 ॥ १ ॥ देहस्पन्दे चित्प्रतिबिम्बजीवचलनं हेतुस्तत्तलने
 च तदुपाधिपुर्णकल्पमनस्तया परिणता वास्तवचित्स्वभावति-
 रोधात्री मायाशक्तिहेतुस्तस्या मनोरूपेण परिणतां पूर्वपूर्वदेहा-
 न्तपरिणामसंचितकर्मराशिरेव हेतुः । बुद्धदारण्यके-‘कर्म हैवै
 तदुच्यते कर्मैव तत्प्रशंसतुः’ इति प्रहातिप्रहरूपबन्धहेतुत्वस्य
 कर्मत्वेव व्यवस्थापनावित्याशयेनाह—प्राक्तनैरित्यादिना । शक्ति-
 रनादिमायारूपा ब्रह्मशक्तिः । स्वावरणशक्त्या स्वाश्रमं ब्रह्म-
 निहन्त्येष नास्ति न भातीति प्रतीतियोरयतां नीत्वा प्राक्तनै-
 नादिकाल्यदारभ्य संचयात्परिपीवरतानतिपुष्टतां गतैर्विचित्रै-
 र्हेर्बहुविधकामवासनान्वितैर्मनैस्तेर्मानसैरीहितैः कायवाक्चेष्टा-
 रूपैश्च विहितनिषिद्धकर्मव्रातैर्निमित्तैर्मनस्तया पुर्णकालकमनो-
 भावेन गता परिणता सती चित्तेः स्वाधिष्ठानचित्सत्तात्थि-
 दिव स्वस्वभावबलाज्जडेव मिश्रभावमागता भूत्वा ज्ञानकर्मव्य-
 षहारोचिता सती स्वशक्तिभूतया अनया ज्ञानकर्मैन्द्रियादिप्र-
 णाख्या सा मायाशक्तिरेव द्रष्टृदर्शनदृश्यादिनवविधसंसाररूपेण
 स्फुरति नृत्यति नान्यत्किञ्चिदिति द्वयोरर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥
 अस्या मायाशक्तेः अविचारलक्षणाद्विचारलक्षणाच्च प्रसादात्क-
 मात्करोति न करोति चेति संबन्धः ॥ ४ ॥ तर्हि ब्रह्मचित्सं-
 निधानादेह एव सर्वं करोतु किं चित्तादिकल्पनया तत्राह—
 चित्तादीति । आदिपदान्मनोबुद्ध्यहंकारपरिग्रहः ॥ ५ ॥ जीवस्य
 प्राणकर्मैन्द्रियव्यापारेषु ब्रह्म संनिधिमात्रेण साधारणं निमित्त-
 मित्याह—यद्येति ॥ ६ ॥ बुद्ध्यादिप्रथायां ज्ञानेन्द्रियप्रयो-
 जनेषु च प्रतिबिम्बार्पणनासाधारणं निमित्तमित्याशयेनाह—

१ पदमित्यत्र वपुरिति पाठो व्याख्यानगुणः स्यात्. २ बुद्धदार-
 ण्यके पञ्चमाध्याये द्वितीये ब्राह्मणे. ३ तत्रत्र विचारावस्थायामेकान्ते
 स्थित्वा कर्म हेवाभयं पुनःपुनः कार्यकरणोपादानहेतुसूचतुः । न
 केवलमूचतुरपि तु कालेश्वराद्यभ्युपगतेषु हेतुषु यत्तौ प्रशंसतुः
 कर्म हेव तत्प्रशंसतुरिति. [* द्वितीयटिप्पणीनिदिष्टा श्रुतिस्तु

प्रविस्मृतस्वभावा हि चिच्चित्तत्वमुपागता ।
 मोहापहतचित्तत्वात्सुमहानिव दीनताम् ॥ ९
 जडयाऽवशया देहो वातशक्तिसमानया ।
 संचाल्यते तदनया धारीव धीचिमाळया ॥ १०
 कर्मात्मना वराकेण जीवेन मनसामुना ।
 चाल्यन्ते देहयन्त्राणि पाषाणा इव धायुना ॥ ११
 शरीरशकटानां हि कर्षणे परमात्मना ।
 मनःप्राणोदयौ ब्रह्मन्कृतौ कर्मकृतौ ददौ ॥ १२
 विज्जडं तुरीकृत्य रूपं जीवत्वमेत्य च ।
 मनोरथमुपाहृत् बहस्प्राणतुरंगमम् ॥ १३
 क्वचिज्जातपदार्थत्वं क्वचिन्नष्टपदार्थताम् ।
 क्वचिद्रुपपदार्थत्वं क्वचिदेकपदार्थताम् ॥ १४
 गतेव मिश्रवास्त्येवमत्यजन्ती निजं पदम् ।
 जलतेव तरङ्गत्वं सैवासदसदोदिता ॥ १५

सर्वस्थयेति । आत्मरूपया चिच्छक्त्यं व स्फुरति स्वपरप्रथास-
 मर्थो भवति । ननु भौतिकबाह्यस्वभावे स्थितं जीवोपाधि-
 भूतं लिङ्गमद्रव्यस्वभावाद्ब्रह्मणः सकाशात्कर्षं प्रतिबिम्बमादत्ते
 द्रव्ये द्रव्यस्यैव प्रतिबिम्बननिमगदर्शनादिति चेत्तत्राह—मुकुर
 इति । मुकुरेण द्रव्यस्वभावे अस्थितादपि गुणक्रियाजाल्यादेः
 प्रतिबिम्बादावदर्शनात् द्रव्यादेव प्रतिबिम्बो प्राण इति नियम
 इत्यर्थः ॥ ७ ॥ यदि ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीवस्तर्हि कथं तस्य
 अज्ञाननिद्रालस्यादिजाख्यानुभवः । न हि सूर्यप्रतिबिम्बे अभा-
 खरतासंभव इत्याशङ्गाह—प्रविस्मृतेति ॥ ८ ॥ चित्तत्वं चित्त-
 धर्मं जायमालिन्यादि । सुमहान् गाधिलवणहरिश्चन्द्रादिरिव
 ॥ ९ ॥ चित्ततादात्म्याध्यासाच्चित्तधर्मदेव्यादिप्राप्तिवत्प्राणतादा-
 त्म्याध्यासात्तद्धर्मदेहसंचलनहेतुत्वमप्यस्याः सिद्धमित्याह—जड-
 येति । वातशक्तिः प्राणस्तत्तादात्म्यापत्या तत्समानतया
 ॥ १० ॥ कर्मात्मना उक्तरीत्या क्रियास्वभावत्वमापन्नं मनसा
 मननशक्तिमता । उपाधिपारवश्याद्वराकेणात्यन्तदीनेन । यथा
 नौकास्वभनिबद्धरीषपटाद्युपाधिपरवशेन वायुना नौकास्थाः
 पाषाणा अभिमतं देशं प्रति चाल्यन्ते तद्वत् ॥ ११ ॥ मनः-
 प्राणोदयौ मनःप्राणशक्तिकर्मकृतौ भृत्यौ बलीवदौ वा ॥ १२ ॥
 स्वाप्रव्यवहारसाधारण्याय मनस एव रथत्वं कल्प्यम्, मुख्यामुख्य-
 प्राणानां तु तुरङ्गमत्वमित्याशयेनाह—चिदिति ॥ १३ ॥
 क्वचित् जाप्रत्स्वप्रयोजितपदार्थत्वमाविर्भूतपदार्थत्वं बहुपदार्थत्वं
 च । क्वचित्सुषुप्ते नष्टपदार्थतां तिरोभूतसर्वपदार्थतां अविद्यैकप-
 दार्थतां च गते वेति परेणान्वयः ॥ १४ ॥ किं सा दुग्धं दधि-
 भावेनेव जीवजगद्भावेन परिणामाद्यैः नेत्याह—अस्तीति ।
 एवं परिणतापि निजं पारमार्थिकं वपुः स्वरूपमत्यजन्ती सती

निर्णयसागरीयबुद्धदारण्यके तृतीयाध्याये द्वितीयाध्यायान्ते समुप-
 लभ्यते, पूर्वसंशोभकैस्तु पञ्चमाध्यायगतैः श्रुतैः तत्प्रमादविलसित-
 मिति मन्यामहे । तृतीयटिप्पण्यां च हेतुचित्तपदमादशाधारेणा-
 साद्भविनिशेषितम्.] ४ ग्रहाः प्राणजिह्वावाक्चक्षुःश्रोत्रमनोहस्त-
 त्वचः । अतिग्रहा अपानरसनामरूपशब्दकामकर्मस्पर्शसंज्ञाः.

उपजीव्यात्मनो रूपं परं स्फुरति वृत्तिषु ।
 आलोकमुपजीव्येयं रूपश्रीर्दृश्यगा यथा ॥ १६
 परमात्मनि चित्तस्त्रे स्थिते सति निरामये ।
 जीवो जीवति सालोकं दीपे सति गृहं यथा ॥ १७
 आधयो व्याधयश्चैव प्रयान्त्यस्य प्रपीनताम् ।
 अपामिष तरङ्गत्वं वीचित्वस्यैव फेनता ॥ १८
 आधिव्याधिभिराकीर्णशरीराम्भोजषट्पदः ।
 जीवो वैषम्यमायाति तरङ्गत्वे यथा पयः ॥ १९
 चिच्छक्तिः सर्वशक्तिव्याघ्राहं चिदिति भावनात् ।
 अत्र सर्वति वैवश्यं सूर्यो दीर्घरिवाम्बुदैः ॥ २०
 वैवश्याश्चयवती माण्ड्यान्न विन्दत्यात्मसंविदम् ।
 घनजाड्यपराभूतः स्वाङ्गावदलनं यथा ॥ २१
 प्राप्य चाप्यनुसंधानमस्या मोहो विनश्यति ।
 घनमोहरतो जन्तुः स्वकार्यस्मरणं यथा ॥ २२
 यदाङ्गसंविदां वातस्पन्दशक्तिः प्रमोषतः ।
 न करोत्यनुसंधानं कुप्री स्पन्दैषणं यथा ॥ २३
 असंविदस्पन्दतो देहे पद्मपत्रं हृदि स्थितम् ।
 न स्फुरत्यपरामृष्टं दारुपात्रं यथा बहिः ॥ २४
 निःस्पन्दे पद्मपत्रेऽन्तः प्राणाः शान्तिं प्रयान्त्यमी ।
 तालवृन्ते यथाऽस्पन्दे बहिः पवनशक्तयः ॥ २५

तस्वदशा असज्जाप्रदिष व्यवहारदशाप्यमत्स्रप्र इव च आ
 उदिता ईषद्विकसितेत्यर्थः ॥ १५ ॥ आत्मन्यध्यस्तत्वादेवात्म-
 सत्तामेवोपजीव्य मनोवृत्तिप्रतिफलतात्म चिद्वलेनैव मनोरूपं
 जीवजगत्प्रथत इत्याह—उपजीव्येति ॥ १६ ॥ चिदेव
 तत्त्वं पारमार्थिकं रूपं यस्य तथाविधे ॥ १७ ॥ एवं देहच्छेष्टा-
 हेतुता चित उपपादिता । इदानीं तस्या देहान्तरप्राप्तिप्रकारं वक्तुं
 वरामयाय च देहनिमित्तदुःखानि प्रपञ्चयति—आधय इत्या-
 दिना ॥ १८ ॥ वैषम्यं दैन्यदुःखादि ॥ १९ ॥ अत्र देहे ।
 यथा सूर्यो दीर्घः स्वप्रकाशितैरेवाम्बुदैर्मघैस्तिरोधानम्लानिख-
 ण्डितत्वादिवैवश्यं द्रष्टव्या एति तद्वत् ॥ २० ॥ च्यवती ज्ञाना-
 नधिकृतयोनिष्ववतरन्ती । 'शपश्यनो'रिति नुमोऽभावश्छा-
 न्दसः । यथा घनेन मदिरादिमदजाञ्चैन पराभूतः पुरुषः स्वभा-
 दिना स्वाङ्गावदलनं न विन्दति नानुसंधते तद्वत् ॥ २१ ॥
 कदा तर्हि चितो मोहो नश्यति तदाह—प्राप्येति । यथा मदा-
 दिघनमोहरतो जन्तुः कालेन स्वकर्मस्मरणं प्राप्य निर्मोहो
 भवति तद्वत् ॥ २२ ॥ इदानीं देहत्यागप्रकारं वक्तुमुपक्रमते—
 यदेति । यदा वातस्य प्राणस्य स्पन्दशक्तिः अङ्गसंविदां आन-
 खाप्राणिल्लोपाधिद्वारा प्रविष्टजीवसंविदां हृदि लिङ्गस्योपसंहारेण
 प्रमोषतो निमित्ताद्भक्तपादादेरनुसंधानं न करोति । यथा कुप्री
 गलितानामङ्गुल्यादीनां स्पन्दैषणं न करोति तद्वत् । तदा हृदि
 स्थितं भुशुण्डोपाख्याने वर्णितं पद्मपत्रं प्राणसंचारानुकूलतया
 न स्फुरति न कम्पत इति परेणान्वयः ॥ २३ ॥ यथा यज्ञे
 ऋत्विग्भिरपरामृष्टं दारुपात्रं न स्पन्दते तद्वत् ॥ २४ ॥

प्राणे शान्तेतरस्पर्शो जीवो निष्पूर्णमूकताम् ।
 याति शान्ते नभोवायौ न दृश्यत्वं यथा रजः ॥ २६
 विरजं विगताधारं मनो हि शिष्यते मुने ।
 तिष्ठत्यात्मपदं लब्ध्वा जलादितरुबीजवत् ॥ २७
 इति वैकल्यमायातैः कारणौघैः समन्ततः ।
 पुर्यष्टके शमं याते देहः पतति निश्चलः ॥ २८
 चिच्छेत्यचेतनाम्नोहात्स्पन्दमायान्ति वासनाः ।
 तदीरिता स्मरत्यन्तरन्यद्विस्मरति स्वयम् ॥ २९
 हृत्पद्मपत्रस्फुरणात्स्फुटं पुर्यष्टकं भवेत् ।
 हृत्पद्मपत्रे वहनाद्बुद्धे पुर्यष्टकं क्षयि ॥ ३०
 देहे पुर्यष्टकं यावदस्ति तावत्स जीवति ।
 शान्ते पुर्यष्टके देहो मृत इत्युच्यते द्विज ॥ ३१
 विरुद्धमलसंबोधाच्छेदमेददशावशात् ।
 न स्फुरति हृत्पद्मपत्रमभ्यन्तरे यदा ॥ ३२
 तदा पुर्यष्टकं शान्तिमुपैति गगने शनैः ।
 संरोधिते वातयन्त्रे यथा पवनसंततिः ॥ ३३
 स्वसंवित्तिवशाज्जीवो वैवश्यमुपगच्छति ।
 पद्मयन्त्रं शरीरस्थं प्रवाहं याति नित्यदा ॥ ३४
 वासना विमला येषां हृदयाप्रापसर्पति ।
 स्थिरैकरूपजीवास्ते जीवन्मुक्ताश्चिरायुषः ॥ ३५

शान्तिं तेजसि विलयम् । 'मनः प्राणे प्राणस्तोजसि' इति श्रुतेः
 ॥ २५ ॥ रूपोपाधिविलयान्निर्गलं पूर्णं नामोपाधिविलयान्मू-
 कश्च यः कारणात्मा तद्भावं याति ॥ २६ ॥ रजोगुणप्रधानस्वा-
 धारप्राणोपरमादेव विरजं विगताधारं च मनोपि सहैव प्राणेन
 कारणात्मपदं लब्ध्वा तद्भावेनैव शिष्यते । तर्हि किं सर्वथा
 गतं नेत्याह—तिष्ठतीति । जलादिभूतमात्रोपष्टब्धपार्थिवतरुबी-
 जकपुनर्देहाविर्भावोन्मुखं तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २७ ॥ स एवास्या
 देहत्याग इत्याह—इतीति ॥ २८ ॥ पुर्यष्टकस्य तर्हि केन
 हेतुनोद्भव इति चेद्भ्रूपद्मस्पन्दसत्स्पन्दश्च पूर्वपूर्वभोक्तादिभाव-
 स्मृतेः । सा च वासनास्पन्दाद्वासनास्पन्दे च स्वरूपाज्ञानकृतं
 चित्तश्वेत्याकारचेतनं हेतुरिति तत्त्वोन्मुखत्वाय चित्तश्वेत्याका-
 रता प्रतिपत्तिलक्षणा बहिर्मुखतैव प्रथमं पौरुषयत्नेन निरोद्ध-
 व्येत्याशयेनाह—चिच्छेत्यचेतनादिति ॥ २९ ॥ वहनाच्चलना-
 द्बुद्धे निश्चले सतीति यावत् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ परस्परविरुद्धानां
 वातपित्तकफाख्यानां मलानां रागद्वेषादिवासनामलानां च संबो-
 धात् प्रकोपात्, शस्त्रादिकृतदेहच्छेदभेदादिवशाच्च । अभ्य-
 न्तरे देहमध्ये ॥ ३२ ॥ वातयन्त्रे व्यजनादौ ॥ ३३ ॥ स्वस्य
 संवित्तिः संकल्पस्तद्वशात् वैवश्यं मरणादिदुःखसहस्रम् । 'सर्वैका-
 न्यक्षियत्तदः काले दा'इति दाप्रत्ययविधानाच्चित्त्यदेति च्छान्दसम्
 ॥ ३४ ॥ अत एव भोगवासनाशून्येषु तत्संकल्पाभावान्न मृत्युव-
 श्यतेत्याह—वासनेति । विमला रागादिमलरहिता ॥ ३५ ॥

संरुद्धे पञ्चमन्त्रे हि प्राणे शान्तिमुपागते ।
 देहः पतत्यधैर्योऽयं काष्ठलोष्टसमः क्षितौ ॥ ३६
 यथैव व्योम मरुति लीनं पुर्यष्टकं भवेत् ।
 तथैव तत्रैव तदा लयमेति मनो मुने ॥ ३७
 सुचिराभ्यस्तभावं तु वासनाखचितं मनः ।
 यत्र तत्र भ्रमत्स्वर्गनरकादि प्रपश्यति ॥ ३८
 शरीरं शवतामेति मनोमारुतवर्जितम् ।
 गते गृहजने दूरं गृहं संशून्यतामिव ॥ ३९
 सर्वगा चिञ्चेतनतो जीवीभूय मनःस्थिता ।
 पुर्यष्टकवपुर्भूत्वा साऽऽतिवाहिकदेहिनी ॥ ४०
 तन्मात्रपञ्चकं चित्तं क्रोडीकृत्य व्यवस्थिता ।
 स्वप्नभ्रमवदाकारं भावात्स्थूलं प्रपश्यति ॥ ४१
 दृढभावनया पश्चात्तत्रैव रसशालिनी ।
 आतिवाहिकदेहत्वं विस्मरत्यखिलं क्षणात् ॥ ४२
 असत्येव शरीरेऽस्मिन्कृतकत्रिमभावना ।
 नयत्यसत्यं सत्यत्वं सत्यं चासत्यतामपि ॥ ४३
 सर्वगा हि चिदंशेन जीवीभूयाभवन्मनः ।
 मनः पुर्यष्टकरथमाक्रामति ततो जगत् ॥ ४४
 पुर्यष्टकं वातमयं देहमुत्थापयत्यलम् ।

इत्यार्षे श्रीवा०रामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० देहपातविचारो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः ३३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चन्द्रार्धशेखरधर चित्तत्वस्य महात्मनः ।

॥ ३६ ॥ व्योममरुति ह्यव्योमवायां प्राणे ॥ ३७ ॥ एवं लीनस्य
 मनसः पुनः स्वर्गनरकादिभोजकादृष्टप्रबोधितस्य हार्दाकाशे एव
 चक्षुषो वा मूर्ध्नि वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यो निर्गमनयम-
 लोकादिगमनस्वर्गनरकभोगादिकं स्वकल्पनैव न तु बहिः स्वर्गा-
 दयो नामान्ये सन्तीत्याशयेनाह—सुचिरेति । सुचिरमनादि-
 कालादभ्यस्तस्वत्तद्भोगयोग्यशरीरादिभावो येन । यत्र तत्रेति
 स्वर्गादेर्नियतदेशसत्त्वनिराकरणार्थम् ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ तस्या
 देहान्तरग्रहणक्रममाह—सर्वगेति । सर्वगा ब्रह्मचिदेव 'अनेन
 जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुत्युक्तचेत्या-
 कारानुप्रवेशचेतनतः ॥ ४० ॥ तन्मात्राणि सूक्ष्मभूतानि तेषां
 पञ्चानां संघातात्मकं चित्तमातिवाहिकदेहाख्यं पुर्यष्टकम् ।
 भावात्संकल्पनात् ॥ ४१ ॥ रसशालिनी अहंताशक्तिमती
 ॥ ४२ ॥ अस्मिन् उक्तलक्षणे स्थूलदेहे । असत्यं जगत्सत्यत्वं
 नयति आरोपेण प्रापयति । सत्यं स्वीयब्रह्मभावम् । असत्यतां
 नास्ति न भातीति स्वप्रतीतियोग्यताम् ॥ ४३ ॥ चित्तसंसरणे
 क्रममाह—सर्वगेति । अंशेन बुद्धिप्रतिबिम्बितांशेन ॥ ४४ ॥
 वातमयं सूत्रभूतप्राणप्रचुरम् । यदा उत्थापयति तदा हृदि
 प्रविश्य स्पन्दी स्पन्दनशीलो वेतालो यस्य तथाविधः शव इव
 जीवतीत्युच्यते जनैरित्यर्थः ॥ ४५ ॥ व्योमनि हार्दाकाशे

हृत्स्पन्दिवेताल इव जीवतीत्युच्यते तदा ॥ ४५
 क्षीणे पुर्यष्टके चित्तं यदा व्योमनि लीयते ।
 तदा स्फुरति देहोऽयं मृत इत्युच्यतेऽपि च ॥ ४६
 स्वभावशततो जीवो विस्मृत्या शक्तिमृच्छति ।
 वैवश्यात्कालशतः पूर्णं जर्जरतामिव ॥ ४७
 जीवशक्त्या परामृष्टे निरुद्धे पञ्चमन्त्रके ।
 प्राणे संरोधमायाते घ्नियते मानवो मुने ॥ ४८
 यथा जातानि जातानि चान्यान्यन्यानि कालतः ।
 वृक्षात्पर्णानि शीर्यन्ते शरीराणि तथा नृणाम् ॥ ४९
 जायन्ते च घ्नियन्ते च शरीराणि शरीरिणाम् ।
 पादपानां च पर्णानि का तत्र परिदेवना ॥ ५०
 चिदम्बुधौ स्फुरन्त्येता देहबुद्बुदपङ्कयः ।
 इतश्चान्या इतश्चान्या एतास्वास्था न धीमतः ॥ ५१
 सर्वगापि चिदेतस्मिञ्चेतसि प्रतिबिम्बति ।
 पदार्थमन्तरादत्ते नान्यो हि मुकुरादत्ते ॥ ५२
 चिदमलनभसि प्रयत्नरूपाः
 परिवितते तदतन्मयाः स्फुरन्ति ।
 कलकलमुखराः स्फुटाभिरामा
 विविधशरीरविमोहतापनाय ॥ ५३

अनन्तस्यैकरूपस्य द्वित्वं कथमुपागतम् ॥ १

ब्रह्मणि । स्फुरति काष्ठलोष्टादिबद्धचेतनः स्फुटो भवति ॥ ४६ ॥
 स्वस्याऽजरामरब्रह्मरूपतां विस्मृत्य जरठदेहगतामशक्तिं स्वयं
 ऋच्छति प्राप्नोति ॥ ४७ ॥ ततः पूर्ववन्मिथयत इत्याह—जीव-
 शक्तयेति । जीवसंबन्धिन्या प्रागुक्तस्मृतिशक्त्या अपरामृष्टे अत
 एव चलनाच्चिरुद्धे सति ॥ ४८ ॥ पुनः पुनर्नानाशरीरग्रहणं तत्र
 संसरणं जरामरणान्तमेव बोध्यमित्याशयेनाह—यथेति । नृणां
 जीवानाम् ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ उक्तमेवोपसंहर्तुमनुवदति—
 सर्वगेति ॥ ५२ ॥ परितो वितते पूर्णे चिदमलनभसि प्रयत्न-
 रूपाः पूर्वतनस्वीयशुभाशुभप्रयत्नपरिणतिरूपाः । अत एव सु-
 खदुःखफलभोगे हास्यरोदनादिकलकलैः कोलाहलैर्मुखराः ।
 तदतन्मयाश्चिदचित्प्रचुरजीवजगद्रूपाः कल्पनाः स्फुटाभिरामा
 आपातरमणीया विविधैः शरीरैर्जननमरणादिभ्रान्त्या आत्म-
 विमोहतापनाय स्फुरन्ति । प्रतिभासन्त इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे देह-
 पातविचारो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

यथा जीवजगद्देदा मोहसंकल्पकल्पिताः ।

विचारेणैव संभाव्यास्तथा तर्कैरिहोच्यते ॥ १ ॥

सर्वगापि चिदेतस्मिञ्चेतसि प्रतिबिम्बतांति यदुक्तं यच्च दृढ-
 भावनया पश्चात्तत्रैव रसशालिनीत्याद्युक्तं तत्रोभयत्राप्यनुपपत्ति

कथं च तन्महादेव रूढं पर्यायसंकुलम् ।

भवेदुःखोपघाताय प्रज्ञया विनिवारितम् ॥ २

ईश्वर उवाच ।

सर्वशक्ति हि तद्ब्रह्म सदेकं विद्यते यदा ।

तदा निर्मूल एवायं द्वित्वैकत्वकलोक्यः ॥ ३

सति द्वित्वे किलैकं स्यात्सत्यैकत्वे द्विरूपता ।

वसिष्ठः सङ्कते—अन्वार्थेति द्वाभ्याम् । धरतीति धर चन्द्रार्धस्य शेखरे धर चन्द्रार्धशेखरधर । अर्धशब्दस्य षोडशतमभागनिष्ठत्वेन समांशवाचित्वाभावेनानपुंसकत्वात् 'अर्धं नपुंसकम्' इत्यस्याप्रवृत्तेः षष्ठीतत्पुरुषः । अनन्तस्य दिक्कालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यस्य एकरूपस्य सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यस्य चिह्नक्षणस्य तत्त्वस्य सजातीयजीवरूपं विजातीयजडजगद्रूपं च द्वित्वं कथमुपागतम्, किं स्वत उत परतः । नाद्यः । अविकारत्वादनवयवत्वाच्च । नापि द्वितीयः । द्वितीयस्यैवाप्रसिद्धेरिति भावः ॥ १ ॥ यदि तु निर्निमित्तमेव तदा गतमिति ब्रूये तर्हि संकोचे मानाभावादनन्तकोटिभिस्तत्पर्यायैर्बन्धनैः संकुलं व्याप्तं चिरानुभूत्या रूढं तत् प्रज्ञया तत्त्वबोधेनैकत्वागन्तुकत्वाभ्यां दुर्बलतमेन कथं विनिवारितं सत् आत्यन्तिकदुःखोपघाताय भवेत् । निर्निमित्तस्यैकस्याप्युच्छेदाप्रसिद्धेः, कथंचिदेकस्योच्छेदेऽप्यन्येषामनन्तानां तादृशबन्धानां परिशेषात्पुनःपुनरन्यान्यनिर्निमित्तबन्धोत्पत्तदुर्वारत्वाच्च, न प्रागुक्तब्रह्मशक्तिमायानिमित्तं मिथ्याभूतमेव तदिति न कश्चिद्दोष इति युक्तम् । सा ह्यागन्तुकी वा स्यात्सहजा वा, आद्येऽपि स्वत उत्पन्ना उत परसंबन्धाधेयेति विमर्शं अनिमोक्षणवस्थादिदोषापत्तेः । सहजाया अर्ध्याण्यशक्तिवत्सति ब्रह्मण्यपनेतुमशक्त्या अनिमोक्षतादवस्थ्यात्, एकरस्यश्रुतिविरस्यप्रसङ्गाच्च । किं च मायाशक्तोर्मिथ्यात्वे अत्यन्तासत्त्वादसतः कार्योत्पादकत्वायोगात्स एव समुत्थितो निर्हेतुकद्वैतोत्पादवादः । सत्यत्वे ज्ञानेन निवृत्त्ययोगादनिमोक्षदोषानिमोक्ष इत्युभयतस्पाशा रज्जुः । न च निष्कर्षे सत्त्वासत्त्वातिरिक्ता तृतीया विधा केनचिद्भवस्थापयितुं शक्या । तथैव विधया ज्ञानोत्तरमपि द्वैतस्यानिवार्यत्वात् । न हि तृतीया सा ज्ञेन प्रथमा द्वितीया वा कर्तुं शक्या । ज्ञानस्याकारकत्वादन्यस्यान्यात्मतायोगात्स्वरूपपरिवृत्त्यदशनात् । कृतस्य नश्वरत्वापत्तेः पुनर्बन्धानिवारणादिति ॥ २ ॥ न वयं जीवजगदादिद्वैतं प्रमाणरूपपादयितुं प्रवृत्ताः किंतु मोहादनादिकालादारभ्य भ्रान्त्या प्रसक्तं तदध्यारोपापवादन्यायमाश्रित्यापवदितुम् । तत्राध्यारोपे सर्गादौ यत्कामकर्मवासनादिनिमित्तकारणानां ब्रह्मविद्याद्युपादानकारणानां वियदादिकमस्य व्यष्टिसमष्टिस्फूलसूक्ष्मादिविभागकोशभेदादीनां कल्पनं तत् सर्वं स्वयमसत्यमपि सत्यवस्तुपरिवयोपायतया श्रुत्या कल्पितं परमार्थसत्यप्रयोजनाविस्वादिताया इतरवादिक्ल्पनापेक्षया उत्कृष्टमिति श्रोतृणा दिश्वसजननाय ऋकदेशोपपत्तिभिः शास्त्रेषु समर्थते । परि-

कले द्वे अपि चिद्रूपे चिद्रूपत्वात्तदप्यसत् ॥ ४

एकाभावादभावोऽत्र एकत्वद्वित्वयोर्द्वयोः ।

एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ॥ ५

कार्यकारणयोरेकसारत्वादेकरूपता ।

फलान्तस्यापि बीजादेर्विकारादिह कल्पना ॥ ६

चित्तं चेत्यधिकल्पेन स्वयं स्फुरति तन्मयम् ।

विकारादि तदेवान्तस्तत्सारत्वाच्च भिद्यते ॥ ७

चित्ते तु सर्वात्मके सर्वप्रतीचि तस्याद्वितीयताबोधनाय परमार्थदृष्टिमेवावलम्ब्यापोद्यत एवेति तस्मिन्नेकत्वमभ्युपेत्य तद्विरुद्धद्वित्वासंभवोद्भावनं तत्र स्वाभ्युपगतविरुद्धं सिद्धान्तविरुद्धं चेति कथं न पश्यसीत्याशयेन श्रीभगवान्समाधत्ते—सर्वशक्त्यादिना । यदा ब्रह्म व्यवहारदृशा सर्वशक्ति परमार्थदृशा तु एकं सदेव विद्यत इति व्यवस्थितं दृष्टिद्वयमङ्गीकृतं तदा द्वित्वैकत्वलक्षणायाः कलायाः सर्वशक्त्यैकदेशादुदयो यस्य तथाविधस्तदाक्षेपो निर्मूल एव । हि यस्माद्यवहारदृशा अध्यारोपः परमात्मदृशाऽपवादः, न तावद्यवहारदृश्या, 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' इति श्रुत्योपपादितात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तिमतो जीवजगद्भेतागमोऽनुपपन्नः । धर्मिप्राहकमानेन तस्य तत्त्वभावंस्यैव निर्णयात् । 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति श्रुतिदर्शितपरमार्थदृष्टिगम्ये तु न कदापिदपि द्वित्वं तद्विरोध्येकत्वं वा प्रसक्तमिति तत्र तदनुपपत्त्युद्भावनं निर्मूलमेवेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ननु 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तम्', 'विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्' इत्यादिश्रुतिभिर्द्वैतमेव निषिध्यते नैकत्वमित्यविरुद्धमेकत्वं कथं द्वित्वतुल्यकक्षतया निषिध्यते तत्राह—सतीति । सति प्रसिद्धे द्वित्वे तथाश्रुत्ये एकत्वं कल्प्यते । सति चैकत्वे तदेवैकत्वान्तरसहितं द्वित्वमिति कल्प्यत इति परस्परसापेक्षकल्पनत्वानुल्यकक्षे एव ते । तत्रैकत्वलक्षणधर्मस्थापि तदतिरिक्तस्य कल्पने चिदैकरस्यव्याघातप्रसङ्गात्तदप्यसदेवेत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥ इदानीं व्यवहारपरमार्थदृश्यारूपदेशादिव्यवहाराय मिथ्येऽपि सत्ताद्वैविध्यकल्पनाच्च परमार्थसति व्यावहारिकमत्तया जीवजगद्भेदविरोध इत्याह—कार्येति । बीजादेः पुनः फलान्तस्य यथा स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायमानैकस्वभावे अनुगतद्रव्ये विकारात्तानात्वकल्पना तद्ब्रह्मपत्तेरित्यर्थः ॥ ६ ॥ यदि तु सर्वविकाराणां परमार्थसत्ताव्यतिरिक्ता व्यावहारिकसत्ता नाभ्युपेयते तदा सुतरां द्वैतं चिद्विकल्प एव फलित इति राहुशिरोद्वैतविरोधोद्भावनतुल्यस्त्वदाक्षेप इत्याशयेनाह—चित्त्वमिति । अन्तः स एव सारः परमार्थो यस्य तत्त्वात् । एवं च मायातत्कार्याणां पृथक्सत्त्वपक्षः अपृथक्सत्त्वपक्षः असत्त्वपक्षस्तृतीयविधापक्षो वा नानावादिकल्पितप्रधानपरमाणुशक्तिकाक्षणकविज्ञानशून्यतादिपक्षो वा यः कश्चित्त्वयाभ्युपगम्यतां तथाप्यसत्ताद्वयचिन्मात्रास्पर्शां स सर्वोऽपि चिदधीनसिद्धिकश्चिद्विकल्पमात्रमिति चितः कदापि बन्धप्रसक्तिरेव यत्र

विकारादिविकल्पोऽयं तत उत्थाय वस्तुषु ।
याति सार्थकतां नामाकार्यकारणतादिभिः ॥ ८
तरङ्गाः सलिले वेऽपि तोये शैलस्य ते समाः ।
शशाश्रुत्समः सोऽपि वस्य सस्यः शशाङ्करः ॥ ९
वस्तुबोधोऽत्र संघते तत्रालं वाग्विकल्पनैः ।
व्यवच्छेदादि बुद्धेयं बधोवाच्यात्किल द्विज ॥ १०
ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वं तत्त्वतो न विमिषते ।
तरङ्गकणकल्लोलजलौघ इव धारिणः ॥ ११
पुष्पपल्लवपत्रादि लताया नेतरद्यथा ।
द्वित्वैकत्वजगत्त्वादि त्वन्त्वाहम्भं तथा चित्ते ॥ १२
देशकालविकारादिः कृतो भेदमितस्तु यः ।
तच्चिदेतदसत्प्रोक्तं न ब्रह्मोऽत्र तद्वोचितः ॥ १३
देशकालक्रियासत्तामियत्याद्याम् शक्यः ।
चिदात्मिका एव चित्तः सत्त्वात्संपत्तिताः स्वतः ॥ १४
चित्तत्वं चित्तचेत्येहं चिद्ब्रह्माद्यभिधा स्मृता ।
यथा वीच्याद्यभिधार्हं स्थितमम्बुतरङ्गकम् ॥ १५
असंभवत्तरङ्गस्य चिद्विलासमहाम्बुधेः ।

दुर्लभा तत्राऽनिर्भोक्षोद्भवत्त्वं दूरनिरस्तमेवेति भावः ॥ ७ ॥
तत्सारत्वमेवोपपादयति—विकारादीति । यतोऽयं ब्रह्माविक-
कारलक्षणसदाश्रयवटादिलक्षणश्च विकल्पस्वतः सद्ब्रह्मणः सका-
शादेवोन्थाय आविर्भूय जलहरवाद्यर्थक्रियाकारणत्वादिभिः सार्थ-
कतां भोगपर्यवसानं याति । भोगश्च चिद्वसानतैवेति तन्मा-
त्रसारतेत्यर्थः ॥ ८ ॥ एवं जगतो विकल्पनामात्रत्वे केचिज्ज-
लतरङ्गादयो व्यावहारिकाः, महमरीचिकातोयतरङ्गाः प्रातिभा-
सिकाः, बन्ध्यापुत्रशशशृङ्गादयस्त्वत्यन्तासन्त इत्यवान्तरबैल-
क्षण्यविकल्पोऽप्यज्ञस्यैवेत्याह—तरङ्गा इति । यस्य तत्त्वविदः
शशाङ्कुरिभो श्रीहियवाद्यङ्कुरोऽपि ब्रह्मैवेति सत्यस्तस्य ये सलिले
प्रसिद्धास्तरङ्गास्ते शैलस्य मूर्ध्नि कल्पिते तोये ये तरङ्गास्तैः
समाः । स शैलोऽपि शशाश्रुत्समः । स्वतोऽसत्त्वस्य ब्रह्मसत्तया
सत्त्वकल्पनस्य च त्रिष्वपि साम्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥ यत्स्वत्र
जगत्सम्बोधकृतः सर्वपदार्थानां परस्परव्यावृत्तिलक्षणो व्यवच्छे-
दस्तं वस्तुबोधस्वरसाक्षात्कार एव संघते स्फुटितशकलानि
संघत्तेनैवैकतां नयति । तत्र ईदृशे विषये वाग्विकल्पनैर्युक्त्यु-
पपत्तासैः अलं सार्थं नास्ति । यतः अनपगतो अज्ञाने वचोवा-
च्याधुक्तिसहसादपि अशरोक्षभ्रमसिद्धं व्यवच्छेदादि द्वैतं दुरुच्छे-
द्यमित्यर्थः ॥ १० ॥ तत्त्वदृशा दर्शने तु ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वं
सर्वजगदाकारमायिकरूपं तन्मात्रं तत्त्वतो न विमिषते । तत्रैव
तिरोभवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥ तथा च 'अपनादभेरमित्वं वाचार-
म्भणं विकारो नामधेयं ग्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इति श्रुति-
दर्शितव्यायेन लताद्यैक्यदर्शने तदीयपुष्पपल्लवादिभेदानामिव
तरङ्गदर्शने जगद्भेदानामप्यनृतत्वे त्वत्प्रभोऽतिनिरस्तम्भन
इत्याह—पुष्पेत्यादिना ॥ १२ ॥ यो भेदः कृतः तस्यः चित्त
चिदेव चिद्विषयेव नास्ति तत्र द्वित्वं कवमुपागतमित्येतत्त्वमा
यो० वा० १०८

तरङ्गितत्वमिव यत्तत्तावच्छेत्सकृता ॥ १६
तदेतत्परमं ब्रह्म सत्येश्वरशिवादिभिः ।
शून्यैकपरमात्मादिनामभिः परिगीयते ॥ १७
एवं रूपपदातीतं यद्द्रूपं परमात्मनः ।
यसु नामाहममलं विषयो न गिरां च तत् ॥ १८
यदिदं दृश्यते तस्यास्तल्लताया महाचित्तेः ।
फलपल्लवपुष्पादि न मिमं तन्मयं यतः ॥ १९
महाविद्योपनयना चिद्ब्रह्मत्वमिधा सती ।
सा जीवत्वेन बाह्यत्वं तदा द्वीन्द्रिव पश्यति ॥ २०
स्वयमन्यैवमस्मीति भावयित्वा स्वभाषतः ।
अन्यतामिव संयाति स्वविकल्पात्मिकां स्वतः ॥ २१
अकलङ्केन रूपेण रूपं यत्सकलङ्कवत् ।
संसारसरितं प्राप्य चेतनेनैव चेतति ॥ २२
चिद्वपुः स्वयमेतेन ह्येकतामेति जीवताम् ।
चित्तस्वस्यावभासेन जीवो जीवति तन्मयः ॥ २३
आतिवाहिकदेहोऽपि जीवतां समुपागतः ।
भाषनापञ्चकं भूत्वा द्रव्यमस्मीति वेत्यलम् ॥ २४

असत्प्रोक्तम् । अत्र असद्विषये तत्र प्रश्नो नोचित इत्यर्थः
॥ १३ ॥ यतश्चित्तः सत्त्वादेव संपत्तिताः संपन्नसत्ताश्च अतश्चि-
दात्मिका एव ॥ १४ ॥ चित्तं चेत्यं तदीहाह तेषां समहारो
रूपप्रपञ्चश्चित्तस्वमेव । एवं ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्ता अभिधा नाम
प्रपञ्चोऽपि चिदेव स्मृता । अम्बुतरङ्गकं अम्बुतरङ्गानुमत्तं रससा-
मान्यं यथा वीच्याद्यभिधार्हं स्थितं तद्वत् ॥ १५ ॥ तरङ्गितत्व-
मिव यद्विवर्तनं तदेव चेत्यसंबन्ध इत्यर्थः ॥ १६ ॥ ह्यन्यप-
देन 'असद्वा इदमम आसीत्' इति श्रुतिस्थमसत्पदं लक्ष्यते
॥ १७ ॥ मत्तत्त्वं परमार्थतत्त्वदेवेत्याह—एवमिति । रूपाणि
पदानि नामानि च तदतीतं यत् अहम् । तुशब्दः पुरोदृश्यमा-
नखाकाररूपव्यावृत्त्यर्थः । तत् गिरां वाचां चान्मनसां च न
विषयः ॥ १८ ॥ यदिदं दृश्यते जगत् तत् तस्याश्चित्तेश्चिल्लक्षणाया
लतायाः फलपल्लवपुष्पादीत्यन्वयः ॥ १९ ॥ यदि तु अनृतमेव
जीवजगद्भ्रानं विवेकाय पृच्छसि तदा शृणु । सा चित् महती
अभिधा उपनयनं विचित्रवर्णरञ्जितोपनेत्रं यस्यास्तथाविधा यदा
भवति तदा जीवत्वेन अभिधीयत इत्यभिधा तथाविधा सती
द्वीन्द्रिव स्वबाह्यत्वं बाह्यजीवजगद्भ्रानं पश्यतीत्यर्थः ॥ २० ॥
अप्या अत्रह्याचिद्रूपास्मि ॥ २१ ॥ अकलङ्केनैव रूपेण स्थितापि
सकलङ्कवत्पर्युष्टकरूपं कल्पितं तेन संसारसरितं प्राप्य औपा-
धिकचेतनेनैव चेतति न निष्कलङ्कचेतनेनेत्यर्थः ॥ २२ ॥
एतेन पुर्यष्टकेन एकतां तादात्म्याध्यासलक्षणां जीवतां एति ।
तन्मयश्चित्तप्रचुरः सन् जीवति प्राणनादिक्रियां लभते ॥ २३ ॥
इत्थं सर्वगापि चिदेतस्मिन्नेतसि प्रतिबिम्बतीत्येतदाक्षेपांशं
समाभाय दृढभाषनया पथात्तत्रैव रसशालिनीत्येतदाक्षेपांशं
समाभातुं तस्य स्थूलदेहप्रातिक्रममाह—आतिवाहिकेति ।
भाषनापञ्चकं पाञ्चभौतिकस्थूलदेहसंस्कारात्मकं मूला देह-

तद्भव्यं प्राणिना भुक्तमाशु गच्छति वीर्यताम् ।
 ततोऽहं प्राणवाजातो वेत्तीत्यनुभवात्मकम् ॥ २५
 अहंतादिक्रमेणाशु पञ्चकानुभवभ्रमात् ।
 स्थावरं जंगमं सर्वं वेत्ति तत्तद्भवत्यलम् ॥ २६
 काकतालीययोगेन दृढाभ्यासक्षयेण च ।
 वासनान्तरसंश्लेषात्सूक्ष्ममाकारमुज्झति ॥ २७
 द्वित्वस्वसंविदा द्वित्वमेकस्यैव प्रवर्तते ।
 पुंसो वेतालसंकल्पाद्वेताल इव भासुरः ॥ २८
 अद्वित्ववेदनाद्वित्वमात्मनोऽपि निवर्तते ।
 न करोमीति संकल्पात्पुरुषस्येव कर्तृता ॥ २९
 द्वित्वसंकल्पतो द्वित्वमेकस्यैव प्रवर्तते ।
 अद्वित्वसंविदा द्वित्वमनेकस्यापि नश्यति ॥ ३०
 परमात्मतया द्वित्वं न किलात्मनि विद्यते ।
 अविकारादिमत्त्वेन सर्वगतत्वेन सर्वदा ॥ ३१
 यत्स्वसंकल्पपरचितमसंकल्पक्षयं हि तत् ।
 यथा मुने मनोराज्यं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ३२
 तथा संकल्पने क्लेशो न संकल्पविनाशने ।
 संकल्पयक्षो गन्धर्वपुर्याः सृष्टौ न तु क्षये ॥ ३३
 पुष्टसंकल्पमात्रेण यदिदं दुःखमागतम् ।
 तदसंकल्पमात्रेण क्षयि कात्र कदर्शना ॥ ३४
 यत्किञ्चिदपि संकल्प्य नरो दुःखे निमज्जति ।
 न किञ्चिदपि संकल्प्य सुखमव्ययमश्रुते ॥ ३५
 संकल्पव्यालनिर्मुक्ता न यदा तव चेतना ।

न तदा नन्दनोद्याने त्वमुच्चैः परिराजसे ॥ ३६
 स्वविवेकानिलैः कृत्वा संकल्पजलदक्षयम् ।
 परां निर्मलतामेहि शरदीव नभोन्तरम् ॥ ३७
 संकल्पसरितं मत्तां मणिमन्त्रेण शोषय ।
 तत्रोद्यमानमात्मानं समाश्वस्य भवामनाः ॥ ३८
 संकल्पानिलनिर्धूतं भ्रान्तं पर्णतृणांशवत् ।
 भूताकाशे चिदात्मानमवलम्ब्य विलोकय ॥ ३९
 स्वसंकल्पनकालुष्यं विनिवार्यात्मनात्मनः ।
 परं प्रसादमासाद्य परमानन्दवान् भव ॥ ४०
 सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम् ।
 तत्तथा पश्यति तदा स्वसंकल्पविजृम्भितम् ॥ ४१
 संकल्पमात्रमेवेदं जगन्मिथ्यात्वमुत्थितम् ।
 असंकल्पनमात्रेण ब्रह्मन्कापि विलीयते ॥ ४२
 संकल्पघातवलितं जन्मजालकदम्बकम् ।
 असंकल्पानिलस्पर्शाद्विश्राम्यति परे पदे ॥ ४३
 तृष्णाकरञ्जलतिकामिमां रुढिसुपागताम् ।
 संकल्पमूलोद्धरणात्परिशोषवर्ती कुरु ॥ ४४
 प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम् ।
 यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ ४५
 प्रभुरस्मीति विस्मृत्य तावच्छोचति भूमिपः ।
 भूमिपोऽस्मीति संजाता यावन्नास्य हृदि स्मृतिः ॥ ४६
 नास्य तज्जातया ब्रह्मन्प्राक्स्मृतिर्धर्ममानया ।
 शरदेवोपगतया प्रावृद्ध जाड्यापवारिणी ॥ ४७

लाभाय त्रीहियवतिलमाषादिद्रव्यमहं संपन्नमस्मीति वेत्ति । 'त
 इह त्रीहियवतिलमाषा इति जायन्ते' इति श्रुतेरित्यर्थः ।
 श्रुतौ इतिशब्दो भाविदेहानुकूलद्रव्यमात्रोपलक्षणार्थः । तेन
 स्थावरस्येदजादिदेहप्रतिस्थले तत्तद्दीजानुकूलजलादिद्रव्यभावोऽ-
 प्यस्य भवतीति द्योतनाय द्रव्यमस्मीति वेत्तीति सामान्योक्तिः
 ॥ २४ ॥ वीर्यतां रेतस्त्वम् । वृक्षादौ तु बीजभावम् । ततः स्त्रियां
 निषेकक्रमेणाहं प्राणवान् स्थूलदेहो जातोऽस्मीति वेत्तीत्यर्थः
 ॥ २५ ॥ अनुभवात्मकं ब्रह्मैव उक्तेनाहंतादिक्रमेण पञ्चानां
 सहः पञ्चकं स्थूलदेहस्तदनुभवभ्रमाश्चतुरादिद्वारा बाह्यं स्थावरं
 जंगमं च वेत्ति पुनस्तद्वासनया स्वयमपि तत्तद्भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥
 ननु पूर्वमशकादिदेहत्यागे तद्देहाकारवासनात्मना सूक्ष्मतया
 स्थितस्य पुर्यष्टकस्य दृढाभ्यस्तमशकाकारस्य सौक्ष्म्यस्य च कथं
 निवृत्तिर्हस्त्याकारस्य स्थाल्यस्य चानभ्यस्तस्य कथं लाभस्त-
 त्राह—काकतालीयेति । यथा आकास्मिके काकतालसंबन्धे
 काकमरणप्रयोजकं कर्मैव निमित्तं नान्यत् तथा दृढाभ्यस्तवासना-
 भिभवे चिरव्यवहितहस्त्याद्यहंभाववासनोद्भवे च कर्मैव निमि-
 त्तम् । उद्भूतहस्त्यावासनान्तरसंश्लेषात् चिराभ्यस्तमपि सूक्ष्म-
 मशकाकारमुज्झतीत्यर्थः ॥ २७ ॥ विरोधिवासनोद्भवेन पूर्ववा-
 सनोपमर्दे उत्तरस्याभ्यासेन दाह्यं च दृष्टान्तानाह—द्वित्वेत्या-
 दिना ॥ २८ ॥ २९ ॥ अनेकस्य जगतोऽपि ॥ ३० ॥ ३१ ॥

असंकल्पात् क्षयो यस्य तथाविधम् । हि प्रसिद्धम् ॥ ३२ ॥
 किंचेत्यर्थे तथाशब्दः । संकल्पने मानसप्रयत्नेन रचने क्लेशः
 धर्मोऽस्ति न तु संकल्पस्य विनाशने । औदासीन्यमात्रेण स्वत-
 एव तत्सिद्धेः । प्रसिद्धशायमर्थे इत्याह—संकल्पयक्ष इति ।
 गन्धर्वोऽत्र मनस्तपुर्या मनोरथरचितपुर्याः सृष्टौ संकल्प एवा-
 संभावितरचनासमर्थत्वाद्यक्षो दिव्यशिल्पी प्रसिद्धः, न तु तत्क्षये
 इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ कदर्शना क्लेशः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ उच्चैः सर्व-
 गुणोत्कृष्टं नन्दनोद्याने स्थितोऽपीति शेषः । न परिक्षीणक्लेशो
 राजसे ॥ ३६ ॥ संकल्पनाशने तर्हि क उपायस्तमाह—स्ववि-
 वेकेति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ पर्णतृणस्य अंशाः खण्डास्तद्भ्रान्त-
 न्तम् । भूताकाशे सर्वभूतहृदाकाशे ॥ ३९ ॥ ४० ॥ यद्वस्तु
 ब्रह्माकारेण भोग्याकारेण वा यथा भावयति तथा पश्यति
 ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ संकल्पलक्षणेन पुरोवातेन वलितं कन्दलितं
 जन्मलक्षणानां जालानां जलधराणां कदम्बकं असंकल्पलक्षणस्य
 पाश्चात्यानिलस्य स्पर्शात्परे पदे ब्रह्माकाशे विश्राम्यति । विली-
 यत इति यावत् ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ अविद्याकामसंकल्पनाशेऽपि
 यदि जगद्भासेत तर्हि तत्प्रतिभासमात्रमिति जीवन्मुक्तानुभव-
 सिद्धो दृष्टष्टिपक्षः परिशिष्यत इत्याशयेनाह—प्रतिभासेति
 ॥ ४५ ॥ यावदज्ञानं तावदेव जगत्प्रतिभासः शोकहेतुर्न तदु-
 त्तरकालमित्याशयेनाह—प्रभुरिति ॥ ४६ ॥ ननु तत्त्वविदोऽपि

घनप्रवाहयाऽकस्माच्चित्तेहा सैव वर्धते ।
य एवोच्चैःस्वरस्तत्रयाः स एवाक्रामति श्रुतिम् ॥४८
अहमेकोऽहमात्मास्तीत्येकां भावय भावनाम् ।
तया भावनया युक्तः स एव त्वं भवस्यलम् ॥ ४९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० द्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम त्रयविंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः ३४

ईश्वर उवाच ।

इत्थं स्थितमिदं विश्वं सदसद्देवरूपि च ।
द्वैतैक्यपदनिर्मुक्तं युक्तं द्वैतैक्यमप्यतः ॥ १
चित्तेः कलङ्कवैरूप्यमिति संसारतां गतम् ।
अकलङ्कमसंसारि तच्चाभिन्नाद्वयात्मकम् ॥ २
इयमस्मीति संप्राप्तकलङ्का चिन्निबध्यते ।
एतामेव कलां बुद्ध्या स्वकाभिन्नां विमुच्यते ॥ ३
चिदर्थाकारताभावाद्वित्वात्सत्त्वं समुज्जति ।
सुखादिमिलितां धत्ते न सत्यां सदिति क्षणात् ॥ ४

प्राक्कनचिराभ्यस्तसंसारस्मृतिपरम्परया वर्तमाना ब्रह्मास्मीति स्मृतिराच्छाद्येत तथा च पुनः संसारशोकप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—
नास्येति । अस्य भूमिपस्य तत्त्वविदश्च तस्मादाप्तोपदेशाज्जातया वर्तमानया भूषोऽस्मि ब्रह्मास्मीति स्मृत्या बाधिता प्राक्कनदुःख-
स्मृतिः खजाब्धेन अपवारिणी आच्छादनसमर्था न । यथा उप-
गतया शरदा निरस्ता प्रावृद्ध मेघजाब्धेनापवारणसमर्था न भवति
तद्वदित्यर्थः ॥ ४७ ॥ कोऽस्याः प्राबल्ये हेतुरिति चेन्नमननिदि-
ध्यासनाभ्यासलक्षणपौरुषप्रयत्नकृतघनप्रवाहैवेत्याशयेनाह—
घनेति । द्वयोश्चित्तेहयोर्मध्ये या चित्तेहा चित्तवृत्तिरकस्माद्घन-
प्रवाहा सैव वर्धते इतराभिभवसमर्था भवति । यथा तारमन्द्रत-
न्त्रीस्वरयोर्मध्ये य एव उच्चैःस्वरः स एवान्यमभिभूय श्रुतिं धोत्रं
आक्रामति । श्रूयत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ सेयमहं ब्रह्मास्मीति स्मृति-
रेवाविच्छेदेन संतता मुख्या मम मानसपूजा न बाह्येत्याशये-
नाह—अहमिति । एकः अद्वितीय एवाहं शिवो देवः स च अहं
त्वदहंकारोपलक्षित आत्मा नित्यापरोक्षचिदेकरसोऽस्मीत्येकाम-
विच्छिन्नां भावनां स्मृतिधारां भावय । तथा एवरूपया देवपूजा-
भावनया युक्तः स शिव एव त्वं अलं नितरां भवसि नान्यया
पूजयेत्यर्थः ॥ ४९ ॥ एवमुक्तरीत्या इदं बाह्यपूजनं त्वाहशाना-
मसंभवदेव । हि यस्मादविरागेषु तुच्छफलराशिष्वेव भास्वत्प्र-
काशमानम् । त्वद्योग्यस्तु उत्तमपदं तत्परमार्थसत्त्वं परं ब्रह्मैव
एको देवः । यत्पूजासु पूजकः पूजाद्रव्यस्वामी सुष्ठु बोद्धशोप-
चारैः पूजनं पूज्यं प्रतिमालिङ्गादि च किञ्चित् न किञ्चित्तुच्छमिव
भवति । यतः सा सामग्री चित्तस्य पदानि संकल्पास्तदेकमूर्ति-
मनःकल्पनामात्रमित्यर्थः ॥ ५० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण-
णतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे द्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम
त्रयविंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

एवं ह्यसंभवदिदं त्वविरागभास्व-
त्तत्सत्त्वमुत्तमपदं परमेकदेवः ।
पूजासु पूजकसुपूजनपूज्यरूपं
किञ्चिन्नकिञ्चिदिव चित्तपदैकमूर्तिः ॥ ५०

शुद्धा निरंशा सत्या वाऽसत्या वेत्येवमादिभिः ।
विमुक्ता नामशब्दार्थैः सर्वैः सर्वात्मिकापि खम् ॥ ५
सर्वं निरुपमं शान्तं मनसैतन्निर्मागम् ।
ब्रह्मेदं बृंहितं ब्रह्म शक्त्याऽऽकाशविकासया ॥ ६
मनसा मनसि चिच्छन्ने स्वेन्द्रियाधयवात्मनि ।
सत्यालोकाज्जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते ॥ ७
छिद्यते शीर्णसंसारकलना कल्पनात्मिका ।
भृष्टबीजोपमा सत्ता जीवस्य इतिनामिका ॥ ८

सौषुप्तमिह नुर्यं च नुर्यातीतपदं तथा ।

उपदिश्येश्वरोऽम्येत्र विश्रान्त इति वपर्थते ॥ १ ॥

इत्थमनया देवपूजया पूज्यमानं विश्वं बाधदशा असत्
अधिष्ठानदशा सत् देवरूपि च युक्तम् । तत्त्वतो द्वैतैक्यपदनि-
र्मुक्तं व्यवहारे द्वैतैक्यरूपं च युक्तमिति सर्वविरोधपरिहार
इत्यर्थः ॥ १ ॥ कुतो वा द्वैतैक्यरूपि कुतो वा तन्निर्मुक्तं
तदाह—चित्तेरिति । कलङ्को मोहस्तत्कृतं वैरूप्यं जडभाव इति
कल्पनादित्यर्थः । असंसारि इति दर्शनादिति शेषः ॥ २ ॥
तदेव स्पष्टमाह—इयमिति । इयं दृश्यदेहादिरूपा । एतां दृश्य-
प्रथासमर्था चित्कलाम् ॥ ३ ॥ अर्थाकारताया अर्थाकारस्य
भावाद्भावनानिमित्ताद्वित्वं प्राप्य स्वमखण्डसत्त्वं समुज्जति
विस्मरति । देहसुखदुःखादिभिर्मिलितां न सत्यामसत्यामेव
स्वस्थितिं सदिति धत्ते सेयं सकलङ्कस्थितिः ॥ ४ ॥ अकलङ्क-
स्थितिमाह—शुद्धेति । सत्या वा असत्या वा इत्येवमादिभि-
र्विकल्पनामशब्दार्थैः सर्वैर्विमुक्ता व्यवहारे सर्वनामरूपात्मि-
कापि खं शून्यस्वभावा सेत्यर्थः ॥ ५ ॥ उक्तनिष्कलङ्कस्थिति-
प्रतिष्ठार्थं सुष्ठुत्यादिभूमिकाभेदान्दर्शयितुमुपक्रमते—सर्वमिति ।
सर्वं पूर्णं निरुपमं ब्रह्मैव आकाशमिव प्रथमं विकसतीत्याकाश-
विकास्या तथाविधया स्वमायाशक्त्या जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिलक्षणैः
सृष्टिस्थितिसंहारलक्षणैरध्यात्माधिभूताधिदैवलक्षणैर्वा त्रिभि-
र्मार्गैः प्रवृत्तं जगन्मनसैव जृम्भितम् ॥ ६ ॥ अतो मनश्छेदे-
नैवास्य छेद इत्याह—मनसेति । सत्यस्यालोकात्साक्षात्का-
रात् ॥ ७ ॥ एवं तत्त्वबोधेन कल्पनाभिः सह मनसि चिच्छन्ने
प्रथमं यस्यां भूमिकायां जीवन्मुक्तस्य स्थितिर्भवति तां लक्षणै-
र्नाम्ना च दर्शयति—भृष्टबीजोपमेत्यादिना । इतिनामिका 'शुद्धं

पश्यन्ती नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्यर्चवर्णाम् ।
 मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शरदाकाशकोशवत् ॥ ९
 शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यविद्यापलं गता ।
 समस्तसामान्यवती भवतीर्णभवार्णवा ॥ १०
 अपुनर्भवसौषुप्तपदपाण्डित्यपीवरी ।
 परमासाद्य विश्रान्ता विश्रान्ता वितते पदे ॥ ११
 एतत्ते मनसि क्षीणे प्रथमं कथितं पदम् ।
 द्वितीयं शृणु विप्रेन्द्र शकेरस्याः सुपावनम् ॥ १२
 एषैव मनसोन्मुक्ता चिच्छक्तिः शान्तिशालिनी ।
 सर्वज्योतिस्तमोमुक्ता वितताकाशसुन्दरी ॥ १३
 घनसौषुप्तलेखावच्छिन्नान्तःसन्निवेशवत् ।
 सैन्धवान्तस्थरसब्रह्मातान्तःस्पन्दशक्तिवत् ॥ १४
 कालेनावति तत्रैव परं परिणतिं यदा ।
 शून्यशक्तिरिवाकाशे परमाकाशगा तदा ॥ १५
 चेत्यांशोन्मुखतां नूनं त्यजत्यम्बिव चापलम् ।

यदा पश्यत्यन्वयीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' इति श्वेता-
 श्वतरकाठकश्रुत्योश्छान्दोग्ये स्वपितृनामनिर्वचने स्वं अपि
 इतीति विभागे च इतिपदेन व्यवहृतत्वादितिनामिकेत्यर्थः ।
 यच्चयज्ञसुषुप्तावपि स्वपितृनामस्ति तथापि तत्त्वबोधेनाज्ञान-
 लिङ्गादिबाधायत्वोपाधेर्यस्यामविद्यायां लयस्तयोरभावादप्ययबो-
 धकस्वपिशब्दस्य निवृत्तौ स्वरूपप्राप्त्यर्थक इतिशब्द एवावशिष्ट-
 स्तत्रात्र संपद्यत इति भावः ॥ ८ ॥ एवं सर्वदृश्यबाधेनापरो-
 क्षादब्रह्मपरिषोषात्पश्यन्ती इत्यपि तस्या नामान्तरमित्याह—
 पश्यन्तीति । चेत्यस्य चित्तविषयस्य चर्चणां पुनःपुनः प्रीत्यानु-
 स्मरणं उत्सृजन्ती त्यजन्ती ॥ ९ ॥ प्राक्चेत्यविद्यापलं गतापि
 सांप्रतं चित्तस्वभावमात्रस्था समस्तस्य सामान्यं सत्ता तद्वती
 तन्मात्रेण परिशिष्टेति भावत् । भवे जीवदृशायामेव तीर्णो भवा-
 र्णवो यस्याम् ॥ १० ॥ सौषुप्तमितिपदस्य सुषुप्ति निरतिशयान-
 नन्दात्मकं सुप्तं स्वलाभरूपमिति छान्दोग्यकृतव्युत्पत्त्यनुरूपं
 यत्पाण्डित्यं पण्डा शास्त्रज्ञानं ज्ञानं तां इतः प्राप्तः पण्डित-
 स्तस्य भावः पाण्डित्यं 'यश्च श्रोत्रियोऽमृजिनोऽकाममहत्ः' इति
 श्रुत्युपदर्शितलक्षणविद्वदनुभवसिद्धं 'स यो मनुष्याणां रादः'
 इत्यादिना मानुषानन्दादिहैरूप्यगर्भानन्दान्तशतशतगुणोत्तरोत्त-
 रोत्कृष्टविषयानन्दसीकरमहार्णवायितत्त्वेन श्रुतिदर्शितं निरतिशय-
 यानन्दरूपं तेन पीवरी अतिमहती । अथवा सौषुप्तपदस्य सौ-
 पुप्तस्थानस्य यत्पाण्डित्यं निरस्तस्वाविद्यामौर्क्यचिदेकघनपूर्णा-
 नन्दस्वप्नकाशस्वरूपं तेन पीवरी । अत एव भागवत्यागल-
 क्षणया महासुप्तपदनामिकापि सेति भावः ॥ ११ ॥
 उत्तरं स्थानं वर्णयिष्यन्वर्णितं प्रथमं स्थानमुपसंहर-
 ति—एतदिति । शकेश्चिच्छक्रेद्देवीकाराद्वा ॥ १२ ॥
 ज्योतिर्भिः सूर्यचन्द्राभिवाकरणरूपैस्त्वमोभिरन्धकाराज्ञानतत्का-
 रैश्च पुक्ता ॥ १३ ॥ तस्याः पूर्वापेक्षया ये विशेषास्तानाह—

घातलेखेव घलनं पुष्पलेखेव सौरभम् ॥ १६
 कालताकाशते त्यक्त्वा सकले सकलाकला ।
 न जडा नाजडा स्फारा धसे सत्तामनामिकाम् ॥ १७
 दिक्कालाघनवच्छिन्नमहासत्तापदं गताम् ।
 तुर्यतुर्यांशकलितामकलङ्कामनामयाम् ॥ १८
 काञ्चिदेव विशालाक्ष साक्षिवत्समवस्थिताम् ।
 सर्वतः सर्वदा सर्वप्रकाशस्वादुतत्पराम् ॥ १९
 एषा द्वितीया पदता कथिता तव सुमत ।
 तृतीयं शृणु वक्ष्यामि पदं पदविदां वर ॥ २०
 एषा दृक्चेत्यवलनादनामार्थापदं गता ।
 ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दार्थादतीतोदेति केवला ॥ २१
 स्थैर्येण कालतः स्वस्था निष्कलङ्का परात्मना ।
 तुर्यातीतादिनामत्वादपि याति परं पदम् ॥ २२
 सा परा परमा काष्ठा प्रधानं शिवभावतः ।
 चित्येका निरवच्छेदा तृतीया पावनी स्थितिः ॥ २३

घनेति । सर्वेषां परां परिणतिमित्युत्तरप्रोपमानतया संबन्धः
 ॥ १४ ॥ यदा पूर्वभूमिकैवाभ्यासवशाद्घनसौषुप्तादित्परं परि-
 णतिं याति तदा आकाशे विद्यमाना शून्यशक्तिः परमाकाशं
 चिदेकघनब्रह्माकाशभावमागतेव भूत्वा चेत्यांशोन्मुखतां त्यज-
 तीति परेणान्वयः । स्वतो व्युत्थानशून्यता भवतीत्ययं पूर्वा-
 पेक्षया फलतोऽपि विशेष इति भावः ॥ १५ ॥ १६ ॥ क्रिया
 हि कालस्य कला । परिच्छिन्नमवकाशसापेक्षं वस्त्वाकाशस्य
 कला ताभ्यां सकले कालताकाशते तत्परित्यागादेव त्यक्त्वा
 सकलं दृश्यमात्रं न कलयतीति सकलाकला । व्यावर्तनीयजडा-
 भावाभाजडा । अनामिकां शब्दाभिरुपायोग्यां वक्ष्यमाणवि-
 शेषणां सत्तां धत्ते ॥ १७ ॥ जाप्रस्तप्रसुप्तिभ्यस्तुर्यो यो वि-
 राड्हिरुष्यगर्भान्याकृतेभ्यस्तुर्योऽशस्तेन कलितां प्रथमानाम्
 ॥ १८ ॥ अत एव सर्वनिमित्तकसार्वकालिकसर्ववस्तुगोचरेभ्यः प्र-
 काशेभ्यः प्रकाशेभ्यः स्वादुभ्यश्चानन्देभ्यश्च तत्परं तादृशोत्कर्ष-
 वर्ती स्पृहणीयतरां च ॥ १९ ॥ उक्तां तुर्यांशुयां द्वितीयभूमि-
 कामुपसंहरत्य तृतीयामवतारयति—एषेति । पदं भूमिकाम्
 ॥ २० ॥ तस्यां पूर्वापेक्षया ये विशेषास्तानाह—एषेत्यस्मिन्ना ।
 दृक् ब्रह्माकारा अखण्डवृत्तिश्चेत्यं तथासं ब्रह्म तकोनेकब्रह्म
 क्षीरोदकवदेकीभावात्प्रमयति गोचरयतीति नामप्राहकाशः अ-
 ध्यते गम्यते इत्यर्थो आह्यांशस्तदुभयशून्यतापदं गता । अत एव
 ब्रह्मात्मेत्यादिपदवाक्यार्थादतीता । तथा च संप्रज्ञातसमाधिगम्यैव
 पूर्वा भूमिका इयं त्वसंप्रज्ञातसमाधिप्रतिष्ठागम्येति विशेष इति
 भावः ॥ २१ ॥ स्थैर्येण षड्भावविकारराहित्येन कालतोऽपि
 स्वस्था स्थिरा । तमसोऽपि परेण आत्मना स्वैतैव निरस्तक-
 लङ्का । या अतिशयितं परं पदं परमपुरुषार्थ इत्यर्थः ॥ २२ ॥
 सर्वेषां पराणां परा परमा काष्ठा अवधिः शिवभावतः परम-
 मङ्गलत्वात्सर्वेभ्यो मङ्गलेभ्यः प्रधानम् । एका मुख्या निरवच्छेदा

१ सर्वेषां पदानां इति शेषः.

चिरमस्यां प्रतिष्ठायां सर्वाभ्याध्वगदूरगा ।
 सा ममाप्यङ्ग बचसां न समायाति गोचरम् ॥ २४
 त्रिमार्गकलनातीतमिति ते कथितं मुने ।
 तिष्ठ तस्मिन्पदे नित्यमिति देवः सनातनः ॥ २५
 एतन्मयमिदं विश्वं मुने तन्मयवेदनात् ।
 सत्यसंवेदनाभेदं न च नेदं मुनीश्वर ॥ २६
 नेदं प्रवर्तते किञ्चिभेदं किञ्चिन्निवर्तते ।
 शान्तं समसमाभारं प्रथते स्वस्य कोशवत् ॥ २७
 अद्वैतैक्याद्संज्ञोभादनचेतनया तथा ।
 अविकारादिमत्त्वाच्च नित्यामित्यतया चिरम् ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये द्वे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमेश्वरोपदेशो नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः ३५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततो मुहूर्तेन हरो गौरीकमलिनीसरः ।
 महिकासोन्मुखः स्वैरं विकासं बहिराददे ॥ १
 दृक्चयो द्योतयामास मुखाकाशतलोदितः ।

विच्छित्तिरहिता चिति स्थितिस्तृतीयेत्यर्थः ॥ २३ ॥ अस्यां
 प्रतिष्ठायां भूमिकायां स्थितिः सा सर्वेभ्यः शेषशास्त्रप्रसिद्धब्रह्म-
 म्भ्यः श्रुतिप्रसिद्धभूमिभिराद्यध्वभ्यस्तदध्वगेभ्यस्तैरभिरुपा-
 स्तिफलमूर्ध्वलोकभेदं प्राप्तेभ्यश्च दूरगा । अतो हे अङ्ग, ममापि
 बचसां गोचरं विषयतां न समायाति किंतु स्वयमेवानुभूयत
 इत्यर्थः ॥ २४ ॥ त्रिभ्यो जायदाधिर्गोभ्यः कलनायास्तसा-
 पेक्षतुर्यस्वसंख्यायाश्चातीत इति एवंप्रथो देवः सनातनो नित्यो
 नाम्यः । 'अतोऽन्यदाते' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २५ ॥ तन्म-
 यवेदनात्तदुपादानकत्वदर्शनात् एतन्मयम् । उपादानासीता-
 द्वितीयसत्यसंवेदनात् इदं नेदं च । द्विविधविकल्पासीतमित्यर्थः
 ॥ २६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—**वैश्वमिति । स्वस्य कोश उदरं**
तद्वत् ॥ २७ ॥ कुतस्त्वस्वमेभ्योऽपि समाभारं तत्र हेतुमाह—
अद्वैतैक्यादिति द्वाभ्याम् । प्रलयान्धिवद्वैतैक्याभावेऽपि
 स्वत्मनि संशोभः स्यात्तस्याह—**असंज्ञोभादिति । कुतो न**
संज्ञोभस्तत्राह—अनचेतनयेति । अनेऽपि सैन्धवखण्डे इवत्वा-
 दिविकारस्तत्रस एव इहस्तद्वैतिकचम क्वात्तत्राह—**अविकारा-**
दिमत्त्वादिति । आदिपदाद्विचर्तपरिग्रहः । चिरं नित्या अचि
कलाकाशादयो नित्या यस्मात्साहस्रतया ॥२८॥ सतामसतामपि
शिष्टकल्पितमभःशिलाकोशानां जगतामपि चिद्वनत्वाच्च मना-
गपि भेदोऽस्तीति समसमाभासमिति सुष्ठु कल्पमिति भावः ॥२९॥
उक्तमेव तुर्यातीतत्वमुपपादयन्नुपसंहरति—स्वमस्तमिति । ओ-
 मित्यस्याक्षरस्य विराडादिभिरकारादिमात्राभेदेन कल्पितैश्चतुर्भिः
 पादैः प्रविभक्तस्य या नादविन्दुशक्तिज्ञान्ताख्याख्या अर्धमा-
 त्राया मात्रास्तासु तुर्या शान्ताः सतामसा परमा गतिः । तस्यां हि
 ओतानुशात्रनुशाऽविकल्पाख्यासु स्थितिषु अविकल्पाख्या तुरीय-

चिद्वनत्वाच्चिशुशिलाकोशानां जगतामपि ।
 मनागपि न भेदोऽस्ति सतामस्यसतामपि ॥ २९
 समस्तं सुशिवं शान्तवतीतं वाग्बिलास्ततः ।
 ओमित्यस्य च तन्मात्रानुर्या सा परमा गतिः ॥ ३०
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्तवानमलदृक्परिणामतोऽस्मिन्
 पारे यदे समुपशान्तरवाभिधाने ।
 तूष्णीमतिष्ठद्मुना मुनिना च सार्धं
 विधान्तवृत्तिरथ तत्र मुहूर्तमीशः ॥ ३१

बोधं समुद्रकादर्कं अंशुराशिरिवोद्गतः ॥ २
 ईश्वर उवाच ।
 मुने मननमाहूय स्वसत्तैवाशु मीयताम् ।
 त्वमर्थं माहरानर्थं पवनः स्पन्दतामिव ॥ ३

तुरीया तापनीयश्रुती परमा गतिर्व्युत्पादितेति भावः ॥ ३० ॥
 ईशः शिव इति वर्णितप्रकारेणोक्तवानुपदिष्टवानसन् अथ अमुना
 नसिद्धेन मुनिना चादग्यैः स्कन्दनद्यादिभिश्च सार्धं सम्य-
 गुपशान्तो रवः प्रणवार्धमात्राचरमभागो यत्रेति व्युत्पत्त्या
 शान्तरवाभिधाने अस्मिन् सर्वसंसारपारे तुरीयतुरीयपदे अमल
 या इगू भूमानन्दचित् तदैकरस्येन परिणामतो विश्रान्त
 वृत्तिर्यस्य तथाविधः संस्रत्र वसिष्ठाभ्रमे मुहूर्तं तूष्णीं निश्चेष्ट एवा-
 तिष्ठत् । मनसः परमपदविधान्तौ तदधीनसर्वेन्द्रियचेष्टानां कुण्ठी-
 भावादिति भावः ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमेश्वरोपदेशो नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

ब्रह्मविष्णुहरादीनामत्र यः परमः पिता ।

महादेवः परात्मासौ पूज्यसीमान्त ईर्यते ॥ १ ॥

भक्तवात्सल्यातिशयान्मम विकासे प्रबोधने उन्मुखो मद्भा-
 ग्योदयेन प्रेरितः सन् बहिर्विकासं नेत्रोन्मीलनं आददे स्वीचकार
 ॥ १ ॥ इत्यस्य मुखलक्षणे निर्मलत्वाग्निपुण्ड्रशरदभ्ररेखाङ्कितत्वा-
 चाकाशतले उदितो दशां चन्द्रसूर्यामिलक्षणनेत्राणां चयो बोधं
 समाधेः प्रबुद्धतां द्योतयामास । यथा समुद्रकान्धेचसंपुटकाद्
 यावाभूमिसंपुटाद्वा उद्गतः अंशुनां राशिरकौऽहर्षोतयति तद्व-
 दित्यर्थः । अर्कं अंशुराशिरित्युत्त्वविषये यत्वं छान्दसम् ॥ २ ॥
 तत्र अगवांस्तत्त्वबोधोपयोगितया उपायोपेयसारी प्रथममाह—
 मुने इति । हे मुने, त्वया प्रथमं मननं विचारमाहूय संनि-
 धाप्य स्वस्य प्रतीचः सत्ता पारमार्थिकरूपमेवाशु मीयतां प्रमा-
 णैर्निर्धार्यताम् । तत्र प्रतीचि अनर्थं बहिर्मुखत्वापादनेन सर्वा-
 नर्थमूलं त्वमर्थं युष्मत्प्रत्यययोग्यमचिदंशं मा आहर । यथा
 अचलमेनाकाशं पवनः स्पन्दतां नयंस्तापरजोवाग्वादिभ्राज

द्रष्टव्यमिह यत्किञ्चित्तद्दृष्टं किं समं भ्रमैः ।
 न हि हेयमुपादेयं चेह पश्यामि तद्विदः ॥ ४
 शान्त्यशान्तिमयानेतान्विकल्पान्दलयन्नसिः ।
 धीरोसि नान्यथाऽऽस्थित्वा त्वमेव भव चात्मदृक् ॥ ५
 इमां दृश्यदशामाशु बाह्यबोधाय वा पुनः ।
 समाश्रित्य मदुक्तं त्वं शृणु तूष्णीं स्थितेन किम् ॥ ६
 इत्युक्त्वा बाह्यबोधस्त्वं मा भवेति त्रिशूलधृक् ।
 प्राणेनेदं देहगोहं परिस्फुरति यन्नवत् ॥ ७
 प्राणहीनं परिस्पन्दं त्यक्त्वा तिष्ठति मूकवत् ।
 चालनी पावनी शक्तिः शक्तिः संवेदनी चितिः ॥ ८
 सा मूर्ता खादपि स्वच्छा सत्सत्त्वैवात्र कारणम् ।
 विनश्यतः प्राणदेहौ वियोगान्मरुदेव च ॥ ९
 चिदात्मा खादपि स्वच्छो न विनश्यति किं भ्रमैः ।
 मनःप्राणमये देहे चित्तत्वं परिजायते ॥ १०
 मुकुरे ह्यमलाभासे प्रतिबिम्बं प्रवर्तते ।
 सदप्यग्रगतं वस्तु प्रतिबिम्बक्रियां विना ॥ ११

करोति तादृशमिति त्वमर्थोपमा ॥ ३ ॥ ननु त्वमर्थेष्वपि द्रष्टव्यं
 हेयमुपादेयं च बहस्ति तत्कुतो नादत्तं तत्राह—द्रष्ट-
 व्यमिति । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं
 भवति' इत्यादिश्रुतेरात्मदर्शनेनैव सर्वद्रष्टव्यानां तत्त्वतो दृष्ट-
 त्वादुष्टैरदृष्टैर्वा भ्रमैः समं सह किं प्रयोजनम् । तद्विदस्तत्त्वविदः ।
 इह भ्रान्तिविषये ॥ ४ ॥ उपात्ता इष्टार्थाः प्रहीणा अनिष्टाश्च
 विस्ताश्वसनहेतुत्वाच्छान्तिमयास्त एव विपरीता विक्षेपहेतुत्वाद्-
 शान्तिमयास्तानेतान्विकल्पान् दलयंस्त्वमेव धीरः असिरसि ।
 अन्यथा तु न धीरोऽसि । अतः आस्थित्वा आस्थां विधाय
 आत्मदृक् चादीरश्च भव । तथा च दृश्याकारानास्कन्दितचिदा-
 त्मस्वभावावस्थितिरेव मुख्यः कल्प इति भावः ॥ ५ ॥ तत्र
 चैत्त्वमसमर्थंस्तर्हि तत्प्राप्तये कंचित्कालं श्रवणाद्यनुकूलां कतिप-
 यामेव बाह्यदृष्टिमवलम्ब्य निरन्तरं तत्त्वप्राप्तये यतस्व न कदा-
 चिदपि प्रमादादुपरमस्वेत्याह—इमामिति । बाह्यबोधाय
 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एक-
 स्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' इति श्रुतौ
 अलेपकत्वसमर्थनाय सर्वप्रपञ्चबाह्यत्वेन दर्शितस्यात्मनो बोधाय
 तूष्णीमात्मलाभप्रयत्नं विना स्थितेनावस्थितेन किं । कः पुरुषार्थ
 इत्यर्थः ॥ ६ ॥ बाह्याकारदर्शनानां मध्ये देहात्मतादर्शनमेव
 महाननर्थः सर्वानर्थवीजं चेति तदेव मम त्याजयितुं भगवान्
 प्रवृत्त इति वसिष्ठ आह—इत्युक्त्वेति । त्रिशूलधृक् इति प्रागु-
 क्तकल्पान्तरमुक्त्वा त्वं बाह्यदेहादावात्मबोधो यस्य तथाविधो
 मा भवेत्याशयेन वक्ष्यमाणदेहात्मताभ्रमनिरासोपायमाहेति पूर-
 यित्वा व्याख्येयम् । त्रुटितो वा ग्रन्थोऽभ्रान्वेष्यः । तत्र देहस्य
 क्रियाशक्तिरिव चेतनशक्तिरपि परायत्तेति नात्मप्रसक्तिरित्या-
 शयेन प्राणाधीना देहचण्डल्याह—प्राणेनेति ॥ ७ ॥ देहस्य
 चालनी चरनानुकूला क्रियाशक्तिः पावनी पवनप्रयुक्ता संवेदनी

यथा नास्ति मलोपेते मुकुरे मुनिनायक ।
 तथा नास्ति गतप्राणे विद्यमानेऽपि देहके ॥ १२
 सर्वगापि चिदुच्छूनबोधात्स्पन्दादिकं प्रति ।
 बोधात्कलङ्कविमला चिदेव परमं शिवम् ॥ १३
 विदुर्वेवं तदाभासं सर्वसत्तार्थदं तथा ।
 स हरिः स शिवः सोऽजः स ब्रह्मा स सुरेश्वरः ॥ १४
 अनिलानलचन्द्रार्कवपुः स परमेश्वरः ।
 स एष सर्वगो ह्यात्मा चित्तनिश्चेतनः स्मृतः ॥ १५
 देवेशो देवभृद्भाता देवदेवो दिवः पतिः ।
 महाचितः समुल्लासं मुह्यन्तीव न केचन ॥ १६
 ये नाम ते जगत्येते ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
 परस्मात्परिनिर्याता ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ १७
 कणास्तप्तायस इव धारिधेरिव बिन्दवः ।
 तेष्विव भ्रमभूतेषु जातेष्विव परान्पदात् ॥ १८
 स्थितेषु भ्रमबीजेषु कल्पनाजालकर्तृषु ।
 सहस्रगतशाखेयमविद्योदेति पीवरी ॥ १९

शक्तिसु आत्मचित्तिरेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ तत्र क्रियाशक्ते-
 र्मूलमाश्रयश्च विनश्यतः । चिच्छक्तिसु न विनश्यतीत्याह—
 विनश्यत इति ॥ ९ ॥ कुतो न विनश्यति तत्रोपपत्तिमाह—
 मनःप्राणमये इति । लिङ्गदेहसंवलिते इति यावत् । परिजायते
 निरावरणमभिव्यज्यते ॥ १० ॥ स्थूलदेहमात्रस्य तु न चिद-
 भिव्यक्तिसमर्थता मलिनत्वादिति दृष्टान्तेनोपपादयति—सदपी-
 त्यादिसार्धेन ॥ ११ ॥ १२ ॥ अत एव सर्वगतापि चिन्मायाकलङ्का-
 वृत्तत्वालिङ्गदेहादन्यत्र बाह्यक्रियासु स्वतत्त्वबोधे चासमर्था
 लिङ्गदेहे अनादतत्वात्तद्वृत्तिद्वारा तदुभयसमर्थेत्याह—सर्वगोति ।
 बाह्याकारेणोच्छूननाद्बोधाद्बुद्धिचिन्तनिमित्ताद्देहघटस्पन्दादिकं प्रति
 समर्था । ब्रह्माकारबोधानु मायाकलङ्कविमला स्वयमेव परमं
 शिवं परमकल्याणं केवल्याख्यं व्यवतिष्ठत इत्यर्थः ॥ १३ ॥ अत
 एवाभिव्यक्ता चिदेव सर्वसत्तास्फूर्तिनिमित्तत्वादीव्यति द्योतत इति
 व्युत्पत्त्या देव इति विद्वत्पक्ष इत्याह—विदुरिति । तस्या आभा-
 समभिव्यक्तं रूपम्, तदभिव्यक्तयुक्तर्षादेव हरिहरादिदेवानाम-
 प्युक्तृष्टदेवत्वमित्याशयेनाह—स हरिरिति । अजो हिरण्यगर्भः ।
 अह्मा चतुर्मुखः ॥ १४ ॥ चित्स्वनिः सर्वचैतन्याकारः ॥ १५ ॥ ये
 नाम केचन महाचितः समुल्लासं निरतिशयामभिव्यक्तिं प्राप्य न
 मुह्यन्तीव मिथ्यामोहपरवशा न भवन्ति त एते जगति ब्रह्म-
 विष्णुहरादयः परमदेवाः प्रसिद्धा इत्यर्थः ॥ १६ ॥ यस्तु परब्रह्म-
 देवस्तद्दृष्ट्या गुणैकदेशाभिमानिन एते सृष्ट्यादिकार्यार्थमाविर्भूता
 विस्फुलिङ्गप्राया लक्ष्यन्त इत्याशयेनाह—परस्मादिति ॥ १७ ॥
 उपाध्युपहितप्राधान्याभ्यां क्रमाद्दृष्टान्तौ । इदं चाशास्त्रीयव्यवहार-
 दशोक्तं, विमर्शदशा तु ब्रह्मादीनामप्याविर्भावसर्गादिचेष्टानुग्रहो-
 पदेशब्रह्माण्डाधिपत्यतिरोभावान्ता अपि व्यवहारा अविद्याकृत-
 भ्रान्तिरेव न वास्तवीत्याह—तेष्विवेत्यादिना ॥ १८ ॥ १९ ॥

वेदवेदार्थवेदादिजीवजालजटाषली ।
 ततस्तस्या अनन्तायाः प्रसृतायाः पुनःपुनः ॥ २०
 संपन्नदेशकालायाः क्रमः स्याद्वर्णनासु कः ।
 ब्रह्मविष्णुहरादीनामतोऽयं परमः पिता ॥ २१
 मूलबीजं महादेवः पल्लवानामिव द्रुमः ।
 सर्वसत्त्वाभिधः सर्वः सर्वसंवेदनैककृत् ॥ २२
 सर्वसत्ताप्रदो भास्वान्वन्धोऽभ्यर्च्यश्च तद्विदः ।
 प्रत्यक्षस्तुविषयः सर्वत्रैव सदोदितः ॥ २३
 संवेदनात्मकतया गतया सर्वगोचरम् ।
 न तस्याहानमन्त्रादि किञ्चिदेवोपयुज्यते ॥ २४
 नित्याहृतः स सर्वस्थो लभ्यते सर्वतः स्वचित् ।

यां यां वस्तुवशां याति तत एव मुने शिवम् ॥ २५
 स्वरूपं समवाप्नोति रूपालोकमनोदशाम् ।
 आद्यं पूज्यं नमस्कार्यं स्तुत्यमर्ष्यं सुरेश्वरम् ॥ २६
 एनं तं विद्धि वेदानां सीमान्तं महतामपि ।
 एतमात्मानमालोक्य जराशोकभयापहम् ।
 संभृष्टबीजवज्जन्तुर्न भूयः परिरोहति ॥ २७
 सकलजन्तुषु यत्त्वभयप्रदं
 विदितमाद्यमुपास्यमयन्नतः ।
 त्वमजमात्मगतं परमं पदं
 भवसि किं परिमुह्यसि दृष्टिषु ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० महादेवस्य पूज्यसीमान्तत्वकथनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥३५॥

षट्त्रिंशः सर्गः ३६

ईश्वर उवाच ।

ततश्चिद्रूपमेवैकं सर्वसत्तान्तरास्थितम् ।
 स्वानुभूतिमयं शुद्धं देवं रुद्रेश्वरं विदुः ॥ १
 बीजं समस्तबीजानां सारं संसारसंसृतेः ।
 कर्मणां परमं कर्म विद्धानुं विद्धि निर्मलम् ॥ २

कारणं कारणौघानामकारणमनाधिलम् ।
 भावनं भावनौघानामभाव्यमभवात्मकम् ॥ ३
 चेतनं चेतनौघानां चेतनात्मनि चेतनम् ।
 स्वं चेत्यचेतनं चेत्यपरमं भूरिभावनम् ॥ ४

वेदा वेदार्थाः सर्गादिमक्रमाः साज्ञोपाङ्गक्रियाकलापा उपासन-
 भेदा ब्रह्मतत्त्वव्युत्पादनोपायभेदाश्च तदधिकारिणो जीवास्तेषां
 कामकर्मवासनाजननमरणाद्यनर्थजटाश्चेत्येतेषामावली पङ्क्ति-
 रूपा भविष्येति पूर्वत्रान्वयः । अविद्याधिलासभेदास्त्वानन्त्या-
 द्वक्तुमशक्या इत्याह—तत इति ॥ २० ॥ वर्णनासु कः पुरुषः
 क्रमत इति क्रमः समर्थः स्यात् । न कश्चिदित्यर्थः । अथवा
 क्रम्यत इति क्रमः प्रयोजनम् । किं प्रयोजनं स्यात् किञ्चिदित्यर्थः ।
 यतो ब्रह्मविष्णवाद्योऽपि तदधीनशरीरोपाधिपरिग्रहा अतः
 अयं चिदात्मा महादेवस्तेषामपि पितेत्यर्थः । तथा चाथर्वशिरः-
 श्रुतिः 'ध्यायीतेशानं प्रध्यायितव्यम् । सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रे-
 न्द्रास्ते संप्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सहभूतैः न कारणं कार-
 णानां धाता ध्याता कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्येण संपन्नः सर्वेश्व-
 रश्च शंभुराकाशमध्ये' इति । पुराणेष्वप्युक्तम् 'त्रयस्ते कारणा-
 त्मानो जाताः साक्षान्महेश्वरात् । तपसा तोषयित्वा तं पितरं
 परमेश्वरम् । परस्परस्माज्जायन्ते परस्परजयैषिणः ॥' इति
 ॥ २१ ॥ महत्यपरिच्छिन्ने आत्मज्ञानयोगैश्वर्ये महीयते पूज्यते
 सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति महादेवः । तथा च श्रुतिः 'यः सर्वान्भा-
 वान्परित्यज्यात्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्यते महा-
 देवः' इति । सर्वेषां सत्त्वानां बलानि अभिधाश्च यस्य ॥ २२ ॥
 तद्विदस्तं परिचितवतः पुंसः प्रत्यक्षं प्रतीन्द्रियं प्रतिवस्तु च
 स्फुरद्रूपत्वात्स एव विषयो नान्यः ॥ २३ ॥ संनिधानार्थमा-
 ह्वानं प्रकाशनार्थं च मन्त्रा उपयुज्यन्ते । सर्वगते सदा स्फूर्ति-
 रूपे तु तस्मिन्नाह्वानमन्त्रयोः प्रयोजनमस्तीति भावः । आदि-

पदात्प्रतिष्ठापनावगुण्ठनावरोधनादिपरिग्रहः ॥ २४ ॥ तत एव
 लभ्यते ॥ २५ ॥ रूपाणां तदालोकनानां तन्मननलक्षणानां
 मनसां तत्साक्षिदृशश्च स्वरूपं स्वयमेव आप्नोति धत्ते नान्यदि-
 त्यर्थः । अतस्तमेव सर्वपूजादिव्यवहाराणामाद्यं पुरःस्फूर्तिकं
 देवं पूजादियोग्यं विद्धि ॥ २६ ॥ एवं वेदानामप्ययमेव सीमे-
 त्याह—एनमिति ॥ २७ ॥ यत् सकलजन्तुषु विदितं सत्
 अभयप्रदं यत्सर्वस्मादाद्यं यत् अयन्नत उपास्यं तदजं पदं त्वमेव
 भवसि अतः किं बाह्यदृष्टिषु परिमुह्यसीत्यर्थः ॥ २८ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे महा-
 देवस्य पूज्यसीमान्तत्वकथनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

सर्वविश्वोद्भवात्सर्वकारेण च स्थितेः ।

सर्वास्पर्शाद्विशुद्धेश्च सर्वैश्वर्यं प्रपद्यते ॥ १ ॥

यत एतमात्मानमालोक्य न भूयः परिरोहति ततो हेतो-
 र्दृष्टमात्रः संसाररुजं द्रावयतीति रुद्रः स चासौ ईष्टे सर्वस्य
 जगत इतीश्वरः स्वामी तं विदुर्ब्रह्मविदः । तथा च श्रुतिः 'स
 दृष्टो मृडयति नः' । 'ध्रुवा अस्मिन्गोपती स्यात्' इति ॥ १ ॥
 चिदातुं चित्तारम् ॥ २ ॥ क्रियाशक्त्याः कारणम् । स्वसत्तया
 सर्वभावानां भावनं सत्ताप्रदम्, परमार्थतस्तु अकारणमभाव्य-
 मभवात्मकं च ॥ ३ ॥ चेतनौघानां सर्वबुद्धिचृत्तीनां चेतनं
 प्रकाशकम् । चेतनात्मनि जीवेऽप्यन्तःसारभूतं चेतनं चिद्रूपम् ।
 स्वं प्रत्यग्भूतं चेत्यानां बाह्यवेदानामपि चेतनं बुद्धिवृत्तिव्याप्ति-
 कृताभिव्यक्त्या प्रथयितारम् । चेत्यानां परममधिष्ठानतत्त्वभू-
 तम् । भूरिभावनं आत्मानमेव मायया बहुत्वेन भावितवन्तम्

आलोकालोकममलमनालोक्यमलोकजम् ।
 आलोकं बीजबीजौघं चिद्धं विमलं विदुः ॥ ५
 असत्यं सन्मयं शान्तं सत्यासत्यविवर्जितम् ।
 महासप्तादिसप्तान्ते चिन्मात्रं विद्धि नेतरत् ॥ ६
 स्वयं भवति रागात्मा रञ्जको रञ्जनं रजः ।
 स्वयमाकाशमप्याशु कुड्यं भवति मण्डितम् ॥ ७
 अस्मिन्निश्चेतसि स्फारे जगन्मरुमरीचयः ।
 स्फुरिताः प्रस्फुरिष्यन्ति प्रस्फुरन्ति च कोटयः ॥ ८
 स्वसत्तामात्रसंपन्नं पदमस्मिन्स्वतेजसि ।
 न किञ्चन च संपन्नमन्यदौण्यादिषामले ॥ ९
 गर्भीकृतमहामेरुं परमाणुसमं विदुः ।
 आच्छादितमहामेरुं परमाणुसमं विदुः ॥ १०
 गर्भीकृतमहाकल्पो निमेषोऽसावुदाहृतः ।
 आक्रान्तकल्पेनानेन न संत्यक्ता निमेषता ॥ ११
 बालाप्रकादप्यणुना व्याप्तानेनाखिला मही ।
 सप्ताब्धिचरुसनाप्युर्वी नास्यान्तमधिगच्छति ॥ १२

अकुर्वन्नेव संसाररचनां कर्तृतां गतः ।
 कुर्वन्नेव महाकर्म न करोत्येष किञ्चन ॥ १३
 द्रव्यमप्येष निर्द्रव्यो निर्द्रव्योऽपि हि द्रव्यवाच ।
 अकायोऽपि महाकायो महाकायोऽप्यकायवाच ॥ १४
 अद्याप्येष सदा प्रातः प्रातरप्यवर्ततां गतः ।
 न वाद्यमद्य न प्रातस्त्वद्य प्रातश्च वा सदा ॥ १५
 भिदिं भिदिं खिले मत्ता बुद्धपिच्छिलिसालवम् ।
 विविच्छलितसदालोका लासो गुलुगुलुः शिखी ॥ १६
 इत्याद्यनर्थकं वाक्यं तथा सत्यं स एव च ।
 न तदस्ति न वस्तुसत्यं न तदस्ति न वस्तुसती ॥ १७
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
 वक्ष्य सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ १८
 यत्रान्तरालगहनेन विलासवत्या
 हेलविलोलघनसर्जितयामलेन ।
 महेन पल्लवदलामलमालितानां
 लक्ष्मीलताऽविरलिता बलितेव मुष्टिः ॥ १९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमेश्वरवर्णनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः ३७

ईश्वर उवाच ।
 इत्यादिकानां शब्दानामर्थश्रीः सत्यरूपिणि ।

॥ ४ ॥ आलोकानां चक्षुरादीनामादित्यादीनां चालोकं प्रकाशकम् । 'तच्छुद्धं ज्योतिषां ज्योतिः' इति श्रुतेः । अनालोक्यं चक्षुःसूत्रप्रकाश्यम् । अलोदजमलौकिकम् । आलोकं प्रकाशम् । एकमेव बीजं बीजौघात्मना स्थितम् ॥ ५ ॥ न विद्यते सत् पृथिव्यजोवाय्वाकाशं च यत्र । सत्येन व्यावहारिकेणासत्येन प्रातिभासिकेन चावस्थात्रयेण विवर्जितम् । महासप्ताजगत्सप्ता आदिसप्ता कारणाव्याकृतसप्ता तयोरन्ते कावे तत्साक्षि यच्चिन्मात्रं तदेव विद्वीत्यर्थः ॥ ६ ॥ रञ्जनबीजावस्थायां रागात्मा विषयस्मृतौ चित्तसोभकत्वाद्भ्रजकः । विषयसन्धे रञ्जनम् । तद्वियोगे चित्तमालिन्यहेतुत्वाद्भ्रजः । आकाश अमूर्तरूपोऽपि कुड्यं मूर्तं चित्रादिरञ्जितं भवति ॥ ७ ॥ ८ ॥ अस्मिन्स्वतेजसि स्वप्रकाशं स्वसत्तामात्रेण जगत्पदं संपन्नमपि किञ्चन न संपन्नं वस्त्वन्तरामावाद्यथा अनले ज्वालाङ्गारविस्फुल्लिङ्गप्रभादिवैचित्र्यं संपन्नमपि औष्ण्यकस्वभावाद्बहेरन्यत्र तददित्यर्थः ॥ ९ ॥ अत एव 'अणोरणीयान्महतो महीमान्' इति श्रुतिः सर्वविरुद्धधर्माणां तत्र समावेशं दर्शयतीत्याशयेनाह— गर्भीकृतेति । गर्भीकरणं गौणमिति शब्दावारणायच्छादितेत्यर्थेन तद्याख्यानम् ॥ १० ॥ कालतोऽप्यस्मिन्दैर्ध्वसौक्ष्म्यमविरुद्धमित्याह— गर्भीकृतेति । आक्रान्तः सर्वतोऽप्यः कल्पो द्विपरार्धान्तकालो येन । अप्रापि प्राग्बदपौनरुच्यम् ॥ ११ ॥

१ बलनापीति इति पाठः.

तस्मिन्सर्वेश्वरे सर्वसत्तामणिसमुद्भवे ॥ १

उक्तं प्रपञ्चयति— बालाग्रेत्यादिना ॥ १२ ॥ १३ ॥ महाकायो ब्रह्माण्डशरीरः ॥ १४ ॥ अद्यशब्दवाच्यर्षाष्टिकात्मकोऽपि प्रातः आद्यत्रिमुहूर्तमात्रात्मा, परमार्थतस्तु न वा आर्यं मुहूर्तं न वा अद्य नापि प्रातः । अद्यप्रातरादिशब्दानां यदि तत्तदधिष्ठानमिति लक्षणा तदा सदैव स तत्सच्छब्दयोग्य इत्यर्थः ॥ १५ ॥ एवमुन्मत्तबालादिप्रलपितनिरर्थकपशब्दजालमपि स एवेति तेषु काश्चिदनुकूल्य दर्शयति— मणिण्डिति ॥ १६ ॥ तथा सत्यं सार्थकं वेदशास्त्रादिशब्दजालमपि स एव । उक्तं सर्वं पिण्डीकृत्य व्यतिरेकमुक्तेनाप्याह— न तदस्तीति ॥ १७ ॥ अयमेव प्रहादेनापि प्राग्दृष्टा प्रणत इति स्मारयमुपसंहरति— यस्मिन्निति ॥ १८ ॥ यत्रारोपादसतोऽपि सत्ता भवतीति यदुक्तं सत्संभावनाय यथा यत्रानर्थका अपि श्लोकाः सार्थका भवन्तीति दृष्टान्तप्रदर्शनमभिप्रेत्यानर्थकं श्लोकमुदाहरति— यत्रेति । यत्र 'इत्यादिकानां शब्दानामर्थश्रीः सत्यरूपिणी'ति उत्तरसर्वाद्येनाम्बयस्तत्रैतव्याख्यास्यासिः ॥ १९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमेश्वरवर्णनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

सद्योगादसतां सत्ता शिवस्थानन्तहाकनः ।

प्रधानशक्तेर्नियतेनृत्यं चात्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

यस्मिन्निश्चरे इत्यादिकानां सर्गान्तोदाहृतश्लोकप्रभृतीनां शब्दानामर्थश्रीः सत्यरूपिणी सत्यप्रया भवति तस्मिन्सर्वे-

२ न मन्वृषा इति पाठः.

का नाम विमलाभासास्तस्मिन्परमस्निग्धमौ ।
न कचन्ति विचिन्वन्ति विचित्राणि जगन्ति वाः ॥ २
एषा बीजकणास्तस्या चित्सत्ता स्वप्नपुर्मयम् ।
लब्ध्वा मृत्कालवार्यादि करोत्यङ्कुरमोदनम् ॥ ३
फेनावर्तविचर्तान्तर्वर्तिनी रसरूपिणी ।

जगत्सत्तालक्षणस्य मणेः समुद्रके संपुटप्राये मायाशब्दे सर्वेश्वरे का विमलाभासाः शक्तयो न कचन्तीति परेणान्वयः । तस्य श्लोकस्य लोकतः परमार्थतश्च न्यथा सत्यार्थता तथा वर्ण्यते । तत्र लोकतस्त्वावत्कश्चिद्दुःखेन वर्ण्यते । पल्लवैः किसलयैर्दलेर्दुरितपत्रैश्चामलैरम्लानैर्मालितानां लतानां मलेन कान्तेन । सर्वतो लताभिरालिङ्गितेनेति यावत् । अत एवान्तरालेषु स्कन्धकोटरशाखान्तरालेषु करालेषु गहनेन दुष्प्रवेशेन । दुरारोहेणेति यावत् । स्वयं चामलेन अम्लानेनानेन तरुणा पुष्पफलपल्लवप्रमरखगादिसमृद्ध्या विलासवत्या हेलया अवहेलनेन विलोलानि तरलितानि घनानां मेघानां विद्युत्संवलनस्निग्धशिशिरश्यामतासौन्दर्यातिशयविभ्रमसर्जितानि यया । 'गर्जितये'ति पाठे सौन्दर्यातिशयाभिमानप्रयुक्तगर्जनानि ययेति योज्यम् । तथाविधया स्वलक्ष्म्या वृक्षान्तरेषु वनान्तरेषु सर्वजगति वा प्रसिद्धा लक्ष्मीलता स्वात्मन्येवोपसंग्रहादलिता संकोचिता मुष्टिरिवाविरलिता घनीकृतैत्यर्थः । अथवा भगवान् विष्णुरत्र वर्ण्यते । पल्लवैर्दलैश्चामलया वनमालया मालितानां पुरुषाणां मध्ये मलेन श्रेष्ठनामलेन परमार्थतो वसनभूषणादिना च निर्मलेन । अन्तराले जठरे चतुर्दशभुवनभरितत्वाद्गहनेन विष्णुना जगन्मोहनसौन्दर्यविलासवत्या प्राग्वदेव हेलाविलोकघनगर्जितया स्वदेहलक्ष्म्या स्वमालिङ्गन्ती लक्ष्मीलक्षणा ललनापि वलिता मुष्टिरिवाविरलिता अपृथक्कृतैत्यर्थः । परमार्थतोऽप्यन्तराले विचित्रकामकर्मवासनागहनेनाज्ञानलक्षणेन मलेन पल्लवप्रायैः सूक्ष्मभूतैस्तत्कार्यैर्दलप्रायैः स्थूलभूतैर्भुवनमदंश्च मालितानां जगतां या लक्ष्मीलता सा हेलया लीलया नभसि विलोमानां घनानां गर्जितमिव गर्जितं यस्यास्तथाविधया महावाक्यश्रुत्या विलसनं विलसस्तद्वत्या ब्रह्मविद्याकरिण्या मलेन प्रतिमल्लताडनाय वलिता मुष्टिरिव अविरलिता चिदेकघनीकृता । एवमर्थान्तराण्यस्य श्लोकस्य सुधीभिरुद्धानि । इत्यादिकानामित्यत्र आदिपदादनर्थकृत्वेन प्रसिद्धतमानि जरद्रवदशदाडिमादिवाक्यानि गृह्यन्ते । 'जरद्रवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि । तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः ॥' अस्यापि लौकिकः पारमार्थिको वाचो ब्रह्मसत्तयैव कल्पयितुं शक्यते । तथाहि । लौकिकस्तावत्—कश्चिन्मद्रदेशजः कम्बलपादुकाभ्यामुपलक्षितो जरद्रवसादृश्याजरद्रवो बाहीकः स्वगृहद्वारि स्थितः सन्मद्रकाणि

कठिनेन्द्रियसंबन्धे करोति स्पन्दमम्भसाम् ॥ ४
एषा कुसुमगुच्छेषु रसरूपेण संस्थिता ।
कचति घ्राणरन्ध्रेषु करोति परिफुल्लताम् ॥ ५
शिलाङ्गस्था शिलाङ्गामामसतीं सत्यतापदम् ।
सर्गाधारदशां धत्ते गिरीन्द्रः स्थितिलीलया ॥ ६

मद्रदेशप्रसिद्धगीतानि गायति । तं काचिल्लशुनचिकित्सरोगयुक्तेन पुत्रेण सह लवणाकरं प्रति केनचिदावश्यकेन कार्येण गमिष्यन्ती तत्र पुत्रजीवनकामा ब्राह्मणी लवणाकरादयमागत इति लोकेभ्यः श्रुत्वा हे राजभिति सबहुमानं संबोध्य रुमायां लवणाकरे लशुनस्य कोऽर्थः किं समर्थं लशुनमुत महर्घमिति पृच्छतीत्यर्थः । पारमार्थिकोऽपि—कम्बलसदृश्या अविधया पादुकाप्रायेण लिङ्गदेहेन च चक्षुरादिद्वारि विषयभोगार्थं स्थितो जरद्रवसदृशो जीवो वैषयिकाण्येव मद्रकाणि स्त्रीपुत्रादिमङ्गलगीतानि बहिर्मुखो गायति न मनागपि स्वतत्त्वं दिदृक्षते तमेतादृशमुपलभ्य पुंनात्रः संसारनरकाप्रायत इति पुत्रो ब्रह्मात्मताबोधस्तत्कामा ब्राह्मणीव ब्राह्मणी श्रुतिः पृच्छति—हे राजन्, स्वयं ज्योतिष्टेन विराजमान, स्वचैतन्येन सर्वं जगद्रज्यंश्च हे आत्मन्, रुमायां सर्वाविद्याकामकर्मबीजविनाशकत्वाल्लवणाकरोपरप्राये त्वत्स्वरूपे परमशुद्धे अत्यन्तापवित्रत्वाद्ब्राह्मणाभोग्यलशुनतुल्यस्य भोग्यस्य कोऽर्थो मौल्यविचारस्तव । तस्मात्परित्यज्य बाह्यदृष्टिं स्वात्मारामो भवेत्याशयेन कोऽयमात्मेति वयमुपासहे । कतरः स आत्मा, 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्व जाताः' इत्यादि पृच्छतीत्यर्थः । एवं दशदाडिमादिवाक्येष्वप्यर्थसत्ता ऊह्या । भिडि भिडिमिति श्लोकस्य तु बालमत्ताद्यव्यक्तजडिपतानुकरणस्यानुकार्यैरेवाथैरर्थवत्ता । अनुकार्यस्य त्वव्यक्तत्वादेव न वाक्यतेति ॥ १ ॥ या बीजशक्त्यो जगन्ति विचिन्वन्ति आरोपयन्ति ताः शक्तयः का नाम विमलाभासाः स्फुटा भूत्वा न कचन्ति नाविर्भवन्ति ॥ २ ॥ ताः शक्तीरेव युक्तयोदाहरति—एषेत्यादिना । ब्रीह्यादिबीजकणान्तस्था एषा ऐश्वरी चित्सत्ता क्षेत्रे परिष्कृतमृत्कालवार्यादिसद्वकारिकारणानि लब्ध्वा प्रथममङ्कुरं करोति क्रमेण तण्डुलीभूय साक्षात्पुरुषभोज्यमोदनं करोतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ फेनाः आवर्ताः विवर्ताश्च अन्तर्वर्तिनो यस्याः । तेष्वन्तर्वर्तिनी अनुगता वा रससामान्यरूपिणी ऐश्वरशक्तिः कठिनशिलातलादिसंबन्धे निम्नदेशोपसर्पणलक्षणे जिह्वेन्द्रियसंयोगे तूदरोपसर्पणरूपं स्पन्दं करोति ॥ ४ ॥ रसरूपेण मकरन्दसंबलितगन्धरूपेण नासापुटयोः परिफुल्लताम् ॥ ५ ॥ शिलाङ्गा प्रतिमा तदाभाम् । शिलाव्यतिरेकेण पृथगसतीम् । व्यावहारिकसत्यतापदम् । सृज्यत इति सर्गः कार्यं तदाधारः शिलेति मेदविकल्पदशामविकृतैव धत्ते । यथा अविकृतो गिरीन्द्रस्तुण्डक्षलतादिकार्याणि धत्ते तद्वदित्यर्थः

१ चित्सत्ता तु शिलाङ्गामामिति पाठः. मूलस्थाने तु चित्सत्तेति विद्येन्मुपकमलम्भमिति बोध्यम्.

२ भुवनमोदेरित्यपि पाठः. ३ ब्राह्मणीव इति कश्चिन्न पद्यदे.

चिद्रूपं सूर्यलक्ष्मणं समस्ताभासभासनम् ।
 अन्तस्थचित्प्रकाशं स्वमहंतासारमाभयेत् ॥ ७ ॥
 अपारपरमाकाशविपुलाभोगकन्धरम् ।
 अनन्ताधस्तनाकाशकोशपादसरोरुहम् ॥ ८ ॥
 अनन्तदिक्ताभोगभुजमण्डलमण्डितम् ।
 नानाविधमहालोकगृहीतपरमायुधम् ॥ ९ ॥
 हृत्कोशकोणविभ्रान्तब्रह्माण्डौघपरम्परम् ।
 प्रकाशपरमाकाशपारगापारविग्रहम् ॥ १० ॥
 अध ऊर्ध्वं चतुर्विधु विदिधु च निरन्तरम् ।
 ब्रह्मेन्द्रहरिद्वेषप्रमुखाभ्रमण्डितम् ॥ ११ ॥
 इमां भूतत्रियं तस्य रोमालिं प्रविशन्ति येत् ।
 विविधारम्भकारिण्यस्त्रिजगद्यन्त्ररज्जवः ॥ १२ ॥
 इच्छाद्याः शक्तयस्तस्य चिन्तनीयाः शरीरगाः ।
 एष देवः स परमः पूज्य एष सदा सताम् ॥ १३ ॥
 चिन्मात्रमनुभूत्यात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।
 घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे स्थितः ॥ १४ ॥
 शिवो हरो हरिर्ब्रह्मा शको वैश्रवणो यमः ।
 अनन्तैकपदाधारसत्तामात्रैकधिग्रहः ॥ १५ ॥
 विवर्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः ।
 सशैलभुवनाभोगमिदं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ १६ ॥
 देहकोणोऽस्य कस्मिंश्चित्स्वाक्कावयवतां गतम् ।
 विचिन्तयेन्महादेवं सहस्रश्रवणेषुक्षणम् ॥ १७ ॥
 सहस्रशिरसं शान्तं सहस्रभुजभूषणम् ।
 सर्वत्रेक्षणशक्त्याख्यं सर्वतो ब्राणशक्तिकम् ॥ १८ ॥

॥ ६ ॥ समस्तानामाभासानां सूर्यादितेजसां बुद्धिबुद्धीनां च
 आसनम् । अहंतायाः सारं शोधितमन्तस्थचित्प्रकाशम् ॥ ७ ॥
 आकाशादपि विपुलाभोगा कन्धरा कण्डदूर्ध्वभागो यस्य ।
 अमन्तो योऽधस्तनाकाशकोशः स पादसरोरुहे यस्य ॥ ८ ॥
 नानाविधेषु परितो ब्रह्माण्डेषु ये सत्यादयो महान्तो लोकास्ते
 दिग्भुजगृहीतानि परमायुधानि यस्य ॥ ९ ॥ तर्हि ते किं
 ब्रह्माण्डाद्वाह्याः, नेत्याह—हृत्कोशेति । प्रकाशरूपः परमाका-
 शात्मसः पारगः स्वयमपारो विग्रहः स्वरूपं यस्य ॥ १० ॥
 इदमप्यधस्तनादिब्रह्माण्डभेदेन ब्रह्मेन्द्रादिभेदादुपपाद्यम् ॥ ११ ॥
 भूतत्रियं चतुर्विधभूतशोभाम् । त्रिजगत्सर्वपदार्थचेष्टनाय
 रचिता यन्त्ररज्जव इव इच्छाद्याः शक्तयस्तस्य शरीरगा नाज्य-
 क्षिन्तनीयाः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ रूपभेदैरनन्तानां पदा-
 नामाधारो वाच्यस्तद्भेदपरित्यागे एकपदस्याधारो लक्ष्या या
 सत्ता तन्मात्रैकविग्रहः ॥ १५ ॥ द्वारपालकः अविशुद्धिकाले
 मनसोऽन्तःप्रवेशनिरोधको विशुद्धी तु प्रवेशानुकूल इति ॥ १६ ॥
 स्वाज्ञे मायाशबलरूपे । अवयवतामेकदेशताम् । अथवा सबे-
 प्राणिनां श्रवणेषुक्षणशिरःपाण्याद्यवयवास्तस्येति विश्वरूपं चिन्त-
 नीयमित्याह—विचिन्तयेदित्यादिना ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ तथा
 चिन्तनेऽप्यसहायता ननुतस्तस्य न विस्मर्तव्येत्याह—सर्वतो

सर्वतोः स्पर्शनमयं सर्वतो रसनान्वितम् ।
 सर्वत्र श्रवणाकीर्णं सर्वत्र मननान्वितम् ॥ १९ ॥
 सर्वतो मननातीतं सर्वतोः परमं शिष्यम् ।
 सर्वदा सर्वकर्तारं सर्वसंकल्पितार्थदम् ॥ २० ॥
 सर्वभूतान्तरावस्थं सर्वं सर्वैकसाधनम् ।
 इति संचिन्त्य देवेशमन्त्रयेद्विधिवसतः ॥ २१ ॥
 विधानमर्चनस्येदं शृणु ब्रह्मविदां वर ।
 स्वसंविदात्मा देवोऽयं नोपहारेण पूज्यते ॥ २२ ॥
 न दीपेन न धूपेन न पुष्पविभवापणैः ।
 नाभदानादिदानेन न चन्दनविलेपनैः ॥ २३ ॥
 न च कुङ्कुमकर्पूरभोगैश्चिन्तैर्न चेतुरैः ।
 नित्यमङ्गुशलभ्येन शीतलेनाऽविनाशिना ॥ २४ ॥
 एकेनैवाऽमृतेनैव बोधेन स्वेन पूज्यते ।
 एतदेव परं ध्यानं पूजैर्बैव परा स्मृता ॥ २५ ॥
 यदनारतमन्तस्थशुद्धचिन्मात्रवेदनम् ।
 पश्यच्छृण्वन्स्पृशन्निघ्नन्नभ्रन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ २६ ॥
 प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्शुद्धसंविन्मयो भवेत् ।
 ध्यानामृतेन संपूज्य स्वयमात्मानमीश्वरम् ॥ २७ ॥
 परमास्वादयुक्तेन मुक्तेन कुसुमेहितैः ।
 ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानं ह्यस्य समीहितम् ॥ २८ ॥
 ध्यानमर्च्यं च पाद्यं च शुद्धसंवेदनात्मकम् ।
 ध्यानसंवेदनं पुष्पं सर्वं ध्यानपरं विदुः ॥ २९ ॥
 विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो ।
 ध्यानात्प्रसादमायाति सर्वभोगसुखधियः ॥ ३० ॥

इति ॥ २० ॥ सर्वस्य एकं साधनं सत्तास्फूर्तिपदम् । इति उक्तप्रकारेण
 ॥ २१ ॥ उपह्रियत इत्युपहारो गन्धपुष्पादिस्तेन उपहारेण पूज्यते
 ॥ २२ ॥ तदेव प्रपद्यति—नेति ॥ २३ ॥ इतरैश्चन्त्रचामरवर्षणा-
 र्पणैः ॥ २४ ॥ अखण्डसाक्षात्कारवृत्तिधारारुढेन स्वेन स्वात्म-
 केन बोधेन । पूर्वोक्तचिन्तनमप्येतदङ्गमितीयमेव सर्वपूजाभ्याः
 प्रधानेत्याशयेनाह—एतदेवेति ॥ २५ ॥ अस्याः कालनिय-
 मोऽपि नास्तीति सदेव कार्येत्याह—पश्यन्निति ॥ २६ ॥ उक्त-
 ज्ञानाधारामना ध्यानामृतेन ॥ २७ ॥ परमास्वादयुक्तेनेति ।
 अयं भावः—पुष्पादिविषयार्पणं हि देवस्य न साक्षादविच्छिन्न-
 सुसार्पणं किंतु परम्परयाऽल्पतरतदीयसुखाभिव्यञ्जनं क्षुधितस्य
 त्रीहिमुष्ट्यर्पणमिव न तथा प्रीतये भवति । इदं तु प्रतीचः
 स्वयमेव शोधनेन निरतिशयानन्दरूपतामाविर्भाव्य तस्य निस्स-
 निरतिशयस्यास्थान्तैकरस्येन शिवायार्पणरूपं पूजनं परमास्वा-
 दनयुक्तमिति तदेव तादृशदेवस्यानुसृतं पूजनं समीहितं न पुष्पा-
 दीत्यर्थः ॥ २८ ॥ अतएवोक्तलक्षणध्यानेनैव सर्वोपकारसिद्धि-
 रित्याह—ध्यानमिति । ध्यानाभिव्यक्तं संवेदनं चैतन्यं पुष्पप्र-
 योजनरूपत्वात्पुष्पम् । एवं सर्वसुपचारं संवेदनमेव विदुः ।
 असंविदितोपचारभोगाप्रसिद्धेरिति ॥ २९ ॥ प्रसादं स्वरूपा-
 भिव्यक्तिम् । किं ततस्तत्राह—सर्वेति । सर्वेषां मनुष्यादि-

१ आत्मध्यानं इति पाठः.

अथमात्मा मुने भुङ्क्ते देहरूपो गृहे यथा ।
ध्यानेनानेन सुमते निमेषांस्तु त्रयोदश ॥ ३१
मूढोऽपि पूजयित्वा शोभमानफलं लभेत् ।
पूजयित्वा निमेषाणां शतमेकमिति प्रभुम् ॥ ३२
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।
पूजयित्वा स्वमात्मानं घटिकार्धमिति प्रभुम् ॥ ३३
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।
ध्यानबल्युपहारेण स्वयमात्मानमात्मना ॥ ३४
घटिकां पूजयेद्यस्तु राजसूयं लभेत सः ।

मध्याह्नपूजनादित्यं राजसूयैकलक्षभाक् ॥ ३५
दिवसं पूजयित्वा परे घास्त्रि वसेन्नरः ।
एषोऽसौ परमो योग एषा सा परमा क्रिया ।
बाह्यसंपूजनं प्रोक्तमेतदुत्तममात्मनः ॥ ३६
एतत्पवित्रमखिलाघविघातहेतुं
यस्त्वाचरिष्यति नरः क्षणमप्यखिन्नः ।
तं वन्दयिष्यति सुरासुरलोकपूगः
प्राप्तास्पदं जगति मामिष मुक्तमात्मन् ॥ ३७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे बाह्यपूजनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः ३९

ईश्वर उवाच ।

पावनं पावनानां यद्यत्सर्वतमसां क्षयः ।
तदिदानीं प्रवक्ष्येऽहमन्तःपूजनमात्मनः ॥ १
गच्छतस्तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतोऽपि च ।
सर्वाचारगता पूजा नित्यं ध्यानात्मिका त्वियम् ॥ २

हिरण्यगर्भान्तानां भोगसुखभियः अयं प्रसन्न आत्मा भुङ्क्ते इति परेणान्वयः । 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्रुते सर्वान्कामान्सह' इति श्रुतेः ॥ ३० ॥ यथा देहरूपो देहाभिमानी स्वगृहे भोगान्भुङ्क्ते तद्वत् । तेनापि विषयसंपर्शजन्य-वृत्त्यभिव्यक्त्यात्मसुखस्यैवानुभवात् । ब्रह्मात्मसुखे सर्वसुखानामन्तर्भावोदिति भावः । इदानीं तत्त्वसाक्षात्काराभावेऽपि यथोक्तध्यानमात्रेणापि तदुत्कर्षानुसारिफलोत्कर्षमाह—ध्यानेनैत्यादिना ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ननु घटिकार्धध्याने अश्वमेधसहस्रफलं चेद्वटिकाध्याने ततोऽप्यधिकं फलं वाच्यम् । तत्कथमेकराजसूयफलकीर्तनम् । न ह्यश्वमेधाद्राजसूयस्य फलमधिकम् । गृहदारण्यके भुज्युप्रश्ने 'कृन्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशत् वै देवरथाह्वयान्ययं लोकः' इत्यादिना पृथिवीसमुद्रादिपरिमाणमुक्त्वा 'ततः परतस्तथावती शुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशः' इति ब्रह्माण्डस्वर्परद्वयसंधिमुक्त्वा 'तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्बायुरात्मनि स्थित्वा तत्रागमयद्यत्राऽश्वमेधयाजिनोऽभवन्' इत्यश्वमेधयाजिनो ब्रह्माण्डस्वर्परसंधिद्वारा वायुना बहिर्निःसार्य सर्वकर्मफलोत्कर्षस्थानप्रापणश्रवणविरोधात् । 'ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोः' इति प्रसिद्धेः । पूर्वरामायणे इलोपाख्यानं 'नाश्वमेधात्परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः' इति श्रीरामवचनविरोधाच्छरीरके इतरकर्मिणां धूमादिमार्गेण चन्द्रमण्डलप्राप्तिरेवाश्वमेधयाजिन एकस्य त्वक्षिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकावाप्तिरिति सिद्धान्ताधिकरणाश्वमेधस्य राजसूयापेक्षया फलाधिक्यस्य सिद्धत्वादिति चेत् । नैव दोषः । परस्य पूर्वविरोधेनापाद्यकत्वादेवोपपत्तेः । यत्र घटिकार्धपूजनेनाश्वमेधसहस्रफलं

नित्यमेव शरीरस्थमिमं ध्यायेत्परं शिवम् ।
सर्वप्रत्ययकर्तारं स्वयमात्मानमात्मना ॥ ३
शयानमुत्थितं चैव प्रजन्तमथवा स्थितम् ।
स्पृशन्तमभितः स्पृश्यं त्यजन्तमथवाऽभितः ॥ ४
भुञ्जानं संत्यजन्तं च भोगानाभोगपीवरान् ।

तत्र घटिकामात्रपूजनेन तस्य द्वैगुण्यं प्राप्तमेव तत्र राजसूयफलं स्वाराज्यलक्षणं श्रूयमाणमितरेषामश्वमेधयाजिनो स्वाराज्ये पर्यवस्यतीति प्रब्रह्मो राज इव महान् भोगोत्कर्षो घटिकापूजकस्य सिद्ध्यति । न चात्र तत्कौण्डिन्यन्यायाध्ययनं युक्तम् । वाक्यवैधर्म्यप्रसङ्गात् । तथा चेदज्ञे विषये महाभाष्ये उक्तम् । असति सत्त्वपि संभवे बाधनं भवति अस्ति च संभवो यदुभयं स्यादिति । नाप्यत्रापच्छेदाधिकरणन्यायावसरः । अदक्षिणत्वसर्ववेदसदक्षिणत्वयोरिव ब्रह्मलोकतत्स्वाराज्यफलयोर्विरोधाभावादिति विशेषशोतनाय तुशब्दः ॥ ३५ ॥ दिवस्समिति । चिरैकाम्ये ज्ञानोदयावश्यंभावादिति भावः ॥ ३६ ॥ उक्तं बाह्यपूजां प्रशंसन्नुपसंहरति—एतदिति । हे आत्मन्, इति प्रेमातिः शयेन वसिष्ठसंबोधनम् । एतदुक्तलक्षणं पूजनं यस्तु नर-अखिन्नो विज्ञेयखेदशून्यः सन् क्षणमप्याचरिष्यति तं कृमात्सर्वबन्धमुक्तमत एव प्राप्तास्पदं सुरासुरलोकपूगो जगति मामिष वन्दयिष्यति । अभिवादनस्तुत्यादिना पूजयिष्यतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे बाह्यपूजनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

शब्दादिविषयैः प्रसन्नप्रत्यङ्गभासितुः ।

प्रत्यगात्मशिवस्यात्र ह्यन्तःपूजोपवर्णयते ॥ १ ॥

सर्वेषां तमसामज्ञानानां क्षयहेतुत्वात्क्षयः ॥ १ ॥ सर्वेषां प्रत्य-

ङ्गाचारेषु व्यवहारेषु गता अनुगता ॥ २ ॥ सर्वेषां प्रत्य-

यानां कर्तारं संनिधिमन्त्रेण जनयितारं बोधयितारं च ॥ ३ ॥

स्पृश्यं स्वर्शोदिविषयं स्पृशन्तं भुञ्जानम्, अथवा उद्वेगात्स्य-

जन्तम् ॥ ४ ॥ तदेव स्पष्टमाह—भुञ्जानमिति । बाह्यार्थानां

जाग्रदादिविषयानां परिकर्तारं स्वाध्यारोपेण विर्मात्तारम् ।

बाह्यार्थपरिकर्तारं सर्वकार्यस्वरूपदम् ॥ ५ ॥
 देहलिङ्गेषु शान्तस्थं त्यक्तलिङ्गान्तरादिकम् ।
 यथाप्राप्तार्थसंविद्या बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥ ६ ॥
 प्रवाहपतितार्थस्थः स्वबोधस्नानशुद्धिमान् ।
 नित्यावबोधार्हणया बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥ ७ ॥
 आदित्यभावनाभोगभाविताम्बरभास्वरम् ।
 शशाङ्कभावनाभोगभावितेन्दुतयोदितम् ॥ ८ ॥
 प्रतिभासपदार्थौघनित्यावगतसंविदम् ।
 द्वारैर्बहन्तं शारीरैर्मुखे प्राणस्वरूपिणम् ॥ ९ ॥
 रसीकृत्य रसं प्राणस्वान्तोद्दात्ततुरङ्गमम् ।
 प्राणापानरथारूढं गूढमन्तर्गुहाशयम् ॥ १० ॥
 ज्ञातारं ज्ञेयदृष्टीनां कर्तारं सर्वकर्मणाम् ।
 भोक्तारं सर्वभोज्यानां स्तारं सर्वसंविदाम् ॥ ११ ॥
 सम्यक्संविदिताङ्गौघं भावाभावनभावितम् ।
 आभासभास्वरं भूरि सर्वेण चिन्तयेच्छिवम् ॥ १२ ॥
 निष्कलं सकलं चैव देहस्थं व्योमचारिणम् ।
 अरञ्जितं रञ्जितं च नित्यमङ्गाङ्गसंविदम् ॥ १३ ॥
 मनोमननशक्तिस्थं प्राणापानान्तरोदितम् ।
 हृत्कण्ठतालुमध्यस्थं भ्रनासापुटपीठगम् ॥ १४ ॥
 षट्त्रिंशत्पदकोटिस्थमुन्मन्यन्तदशातिगम् ।
 कुर्वन्तमन्तःशब्दादींश्चोदयन्तं मनःखगम् ॥ १५ ॥

सर्वेषां कार्याणां स्वरूपदं स्वसत्ताप्रदम् ॥ ५ ॥ स्वदेहलक्षणेषु
 लिङ्गेषु । तथाहि पश्चाद्यासनस्थः पुरः प्रसारितपाणिर्बद्धाञ्जलि-
 देहः शिवलिङ्गाकारो भवतीति प्रसिद्धम् । अत एव त्यक्तं शृङ्गा-
 रुशिलादि लिङ्गान्तरं आदिपदात्प्रतिमान्तरं च यत्र । शान्ते
 निर्विक्षेपस्वभावे स्थितं बोधलिङ्गम् ॥ ६ ॥ आरन्ध्रप्रवाहपति-
 तेष्वंशेषु भोगेषु स्थितः । प्रसक्ताशुद्धिरपि पुनःपुनरसङ्गविशु-
 द्धात्मबोधलक्षणेन ज्ञानेन सदा शुद्धिमान् ॥ ७ ॥ तादृशपूजने
 यदि मनस्वमसि मज्जति तदान्तर्बहिश्च सर्वेभ्यः परिपूर्णमखण्डि-
 तमह्वयमादियमण्डलं स्वं भावयेत्, यदि तु परितापे निमज्जति
 तदा तादृशचन्द्रमण्डलतया उदितं स्वं भावयेदित्याह—आदि-
 त्येति । आदित्यात्मना भावनात्कल्पितेनाभोगेन विस्तृतस्वसं-
 स्थानेन भाविते पूर्णे हार्दबाह्याम्बरे भास्वरम् ॥ ८ ॥ बाह्या-
 न्तरबुद्धिवृत्तिप्रतिभासेषु तद्भासितपदार्थौघेषु चानुस्यूता या
 नित्यावगतरूपा संवित्तद्रूपम् । बहन्तं स्वाभासान् बहिर्विषय-
 देशे प्रापयन्तम् ॥ ९ ॥ रस्यत इति रसः शब्दादिविषयस्तं
 स्नानन्दरसेनैव रसीकृत्य मधुरीकृत्य आस्वादयन्तस्मिन्नेति शेषः ।
 प्राणस्वान्तलक्षणौ उदात्तौ उत्कृष्टौ तुरङ्गमौ यस्य ॥ १० ॥
 ॥ ११ ॥ 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं
 क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति' इति भगवदुक्तरीत्या सम्यक्संवि-
 दितसर्वाङ्गोद्यम् । आर्बेर्विषयभावनैर्भावनैश्च भावितं लक्षितम् ।

विकल्पिन्यविकल्पे च द्विविधे वाक्पथे स्थितम् ।
 तिले तैलमिवाङ्गेषु सर्वेष्वेवान्तरं स्थितम् ॥ १६ ॥
 कलाकलङ्करहितं कठिनं च कलागणैः ।
 एकदेशे सुहृत्पथे सर्वदेहे च संस्थितम् ॥ १७ ॥
 चिन्मात्रममलाभासं कलाकलनकल्पनम् ।
 प्रत्यक्षदृश्यं सर्वत्र स्वानुभूतिमयात्मकम् ॥ १८ ॥
 प्रत्यक्चेतनमात्मीयमर्थित्वेन पुनः स्थितम् ।
 पदार्थानामुपेत्याशु क्षणाद्वित्वमिवागतम् ॥ १९ ॥
 सहस्तपादावयवः सकेशनखदन्तकः ।
 स्वदेहसंविदाभासो देवोऽयमिति भावयेत् ॥ २० ॥
 विचित्राः शक्तयो बह्व्यो नानाचारा मनोदशाम् ।
 उपासते मामनिशं पश्यः कान्तमिवोत्तमम् ॥ २१ ॥
 मनो मे द्वारपालोऽयं निवेदितजगन्नयः ।
 चिन्तेयं मे प्रतीहारी द्वारस्था शुद्धरूपिणी ॥ २२ ॥
 शक्तिर्ममात्मिका बुद्धिः क्रिया चैव वराङ्गना ।
 ज्ञानानि च विचित्राणि भूषणान्यङ्गानि मे ॥ २३ ॥
 कर्मेन्द्रियाणि द्वाराणि बुद्धीन्द्रियगणैः सह ।
 अयं सोऽहमनन्तात्मा व्यवच्छेदोज्ज्विताकृतिः ॥ २४ ॥
 तिष्ठामि भरितैकात्मा पूर्णः सर्वावपूरकः ।
 इति दैवीमुपाश्रित्य स्वच्छामात्मचमत्कृतिम् ॥ २५ ॥
 दैवत्वपरिपूर्णोऽन्तरदीनान्मावतिष्ठते ।
 नास्तमेति न चोदेति न तुष्यति न कुप्यति ॥ २६ ॥

आभासेभ्यः सर्वप्रकाशेभ्योऽपि भूरि भास्वरम् । विशेष्यस्य
 सापेक्षत्वे सामर्थ्याविघातात्समासः ॥ १२ ॥ निष्कर्षं निष्कल-
 मन्यथा सकलम् । व्योम्नि हृदयाकाशे चरणशीलम् । अज्ञानसं-
 विदं प्रत्यङ्गव्यापि बोधरूपम् ॥ १३ ॥ तदेव विवृणोति—मनो-
 मननेति ॥ १४ ॥ षट्त्रिंशत्पदानि शैवशास्त्रप्रसिद्धषट्त्रिंशत्-
 त्वानि तेषां चरमस्थानस्थम् । कालीरौद्रीकलविकरणीत्यादिश-
 क्तिविभागे उन्मन्या मनोन्मन्या अन्तदशामप्यतिगतम् । शि-
 वयोगप्रसिद्धा वा उन्मन्यन्तदशा सवीजसमाधिरूपा तदतिग-
 तम् । चोदयन्तं प्रेरयन्तम् ॥ १५ ॥ व्यवहारे विकल्पनि नि-
 र्वाणसमाधिमोक्षयोरविकल्पे च वाच्यलक्षरूपे वाक्पथे ॥ १६ ॥
 काल्मात्रभूतमात्राभिः स्थूलदेहात्मना परिणतैः कठिनं मूर्तं
 च ॥ १७ ॥ कलाकलनानामध्यासविकल्पानां कल्पनमधिष्ठा-
 नम् । अधिकरणे ल्युट् ॥ १८ ॥ पुनः स्वस्वरूपविस्मरणाद्भो-
 गार्थित्वेन स्थितम् । स्वतिरिक्तपदार्थानां वेषं स्वयमेवोपेत्य
 आशु क्षणात्स्वसंकेतादेव द्वित्वमागतमिव स्थितम् ॥ १९ ॥
 स्वदेहसंविद आभासाः परिचायिका यस्य ॥ २० ॥ २१ ॥
 सन्मात्रगोचरत्वाच्छुद्धरूपिणी ॥ २२ ॥ आत्मिका आत्मवत्प-
 रप्रीतिविषयीकृता बुद्धिर्ज्ञानशक्तिः । क्रिया प्राणशक्तिः । वि-
 चित्राणि शास्त्रीयाणि लौकिकानि च ज्ञानानि भूषणानि ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ दैवीमलौकिकीमात्मचमत्कृतिं प्रत्यक्त्वपरिचयम्
 ॥ २५ ॥ तादृशपूजापरिपाकफलान्याह—नास्तमेतीत्यादिना ।

न तृप्तिं न क्षुधं याति नाभिवाञ्छति नोज्झति ।
 समः समसमाचारः समाभासः समाकृतिः ॥ २७
 सौम्यतामलमायातः समन्तात्सुन्दराशयः ।
 आदेहमेक एवासावंब्युच्छिन्नमहामतिः ॥ २८
 देवार्चनं करोत्येव दीर्घदीर्घमहर्निशम् ।
 चित्तस्त्वचलितो देहो देवोऽस्य समुदाहृतः ॥ २९
 यथाप्राप्तेन सर्वेण तमर्चयति वस्तुना ।
 समया सर्वया बुद्ध्या चिन्मात्रं देवचित्परम् ॥ ३०
 यथाप्राप्तक्रमोत्थेन सर्वार्थेन समर्चयेत् ।
 मनागपि न कर्तव्यो यत्नोऽत्रापूर्ववस्तुनि ॥ ३१
 प्राप्तदेहतया नित्यं तथार्थक्रिययाऽनया ।
 कामसंसेवनेनाऽथ पूजयेच्छोभनं विभुम् ॥ ३२
 भक्ष्यभोज्यान्नपानेन नानाविभवशालिना ।
 शयनासनयानेन यथाप्तेनार्चयेच्छिवम् ॥ ३३
 कान्तान्नपानसंभोगसंभारादिविलासिना ।
 सुखेन सर्वरूपेण संबुद्ध्याऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ३४
 आधिव्याधिपरीतेन मोहसंरम्भशालिना ।
 सर्वोपद्रवदुःखेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ ३५
 समस्तैश्च समस्तानां चेष्टानां जगतः स्थितेः ।
 मृत्तिजीवितस्वप्राद्यैः प्राप्तैरात्मानमर्चयेत् ॥ ३६
 दारिद्रेणाथ राज्येन प्रवाहपतितात्मना ।
 विचित्रचेष्टापुष्पेण शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ ३७
 नानाकलहकल्लोलललनोल्लासशालिना ।
 रागद्वेषविलासेन सौम्यमात्मानमर्चयेत् ॥ ३८
 सतां हृदयगामिन्या रूढया शशिशीतया ।
 मैत्र्या माधुर्यधर्मिन्या हृत्स्थमात्मानमर्चयेत् ॥ ३९

॥ २६ ॥ अन्तः समः बहिश्च समर्जावन्मुक्तः सम आचारो यस्य ॥ २७ ॥ २८ ॥ कोऽस्य देवः कथमादेहमर्चयतीति तत्राह—चित्तस्त्वेल्यादिना ॥ २९ ॥ वस्तुना त्रिपुटीरूपेण । देवचित्तं ऐन्द्रियकृत्प्रतिबिम्बचित्तः परं तद्विम्बभूतम् ॥ ३० ॥ सर्वेणार्थेन बाह्याभ्यन्तरवस्तुना । अपूर्ववस्तुनि गन्ध-पुष्पाद्युपचारवस्तुनि ॥ ३१ ॥ प्राप्तदेहतया प्राप्तब्राह्मणक्षत्रियादिस्वशरीरोचितया यथाशास्त्रमर्थक्रियया व्यवहारेण । काम्यन्त इति कामा देहधारणमात्रनिमित्तान्नपानादयस्तेषां संसेवनेन ॥ ३२ ॥ तदेव स्पष्टमाह—भक्षयेति ॥ ३३ ॥ संबुद्ध्य तत्त्वतो ज्ञात्वा । तथा च यावत्तदज्ञानं तावद्विषयसुखोपभोगेन प्रसंजितव्यमिति भावः ॥ ३४ ॥ एवं यथाप्राप्तदुःखभोगेऽपि पूजाबुद्धिरेव कार्या नोद्वेग इत्याह—आधीति ॥ ३५ ॥ जगतः स्थितेः संबन्धिनां समस्तानां चेष्टानां फलैरिति शेषः ॥ ३६ ॥ ॥ ३७ ॥ ॥ ३८ ॥ तर्हि किं कलहादिपरेणापि भाव्यं नेत्याह—सतामिति ॥ ३९ ॥ कलहाद्यप्रसक्तानुपायमाह—उपेक्षयेति । शक्तिः क्रीधादिनिग्रहसामर्थ्यं तत्पद्धत्या ॥ ४० ॥ एवं भोग-लभ्यतेनापि न भाव्यमित्याशयेनाह—आकस्मिकेति । भोगा-

उपेक्षया कृष्णया सदा मुदितया हृदि ।
 शुद्धया शक्तिपद्धत्या बोधेनात्मानमर्चयेत् ॥ ४०
 आकस्मिकोपयातेन स्थितेनानियतेन च ।
 भोगाभोगैकभोगेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ ४१
 भोगानामनिषिद्धानां निषिद्धानां च सर्वदा ।
 त्यागेन वातिरागेण स्वात्मानं शुद्धमर्चयेत् ॥ ४२
 ईहितानीहितौघेन युक्तायुक्तमयात्मना ।
 त्यक्तेनात्तेन चार्थेन ह्यर्थानामीशमर्चयेत् ॥ ४३
 नष्टं नष्टमुपेक्षेत प्राप्तं प्राप्तमुपाहरेत् ।
 निर्विकारतयैतद्धि परमार्चनमात्मनः ॥ ४४
 सर्वदैव समप्राप्तु चेष्टानिष्टासु दृष्टिषु ।
 परमं साम्यमाधाय नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४५
 सर्वं विन्देत सुशुभं सर्वं विद्याच्छुभाशुभम् ।
 सर्वमात्ममयं कुर्यान्नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४६
 आपातरमणीयं यद्यच्चापातसुदुःसहम् ।
 तत्सर्वं सुसमं बुद्ध्या नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४७
 अयं सोहमयं नाहं विभागमिति संत्यजेत् ।
 सर्वं ब्रह्मेति निश्चित्य नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४८
 सर्वदा सर्वरूपेण सर्वाकारविकारिणा ।
 सर्वं सर्वप्रकारेण प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ ४९
 अनीहितं परित्यज्य परित्यज्य तथेहितम् ।
 उभयाभ्रयणेनापि नित्यमात्मानमर्चयेत् ॥ ५०
 न वाञ्छता न त्यजता दैवप्राप्ताः स्वभावतः ।
 सरितः सागरेणेव भोक्तव्या भोगभूमयः ॥ ५१
 उद्वेगो नानुगन्तव्यस्तुच्छाऽतुच्छासु दृष्टिषु ।
 व्योम्ना चित्रपदार्थेषु पतितो ह्याततेष्विव ॥ ५२

भोगेषु भोगसमूहेष्वेकस्य कस्यचित्कदाचिद्भोगेन ॥ ४१ ॥ अनिषिद्धानां निषिद्धानां च सर्वदा त्यागेनेति मुख्यः कल्पः । अथवा क्वचिदनिषिद्धानां रागेणेति गौणः ॥ ४२ ॥ अयुक्त-मयात्मना त्यक्तेन युक्तमयात्मना आत्तेनेति व्युत्क्रमेणान्वयः । अर्थानामीशं भोक्तारम् ॥ ४३ ॥ इदानीं मुख्यार्चनसारमाह—नष्टमित्यादिना । उपेक्षेत नानुशोचेत् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ब्रह्मे-वेति दृष्ट्या सर्वं शुभमेवेति विन्देत गृह्णीयात् । ब्रह्मसंवलितमा-यामयत्वदृष्ट्या तु सर्वं शुभाशुभं संमिश्रमिति विद्यात् । उभय-थापि साम्येन वैषम्यदर्शननिमित्ताभावादात्मैवात्ममयमिति वा आत्मप्रचुरमात्ममयमिति वा कुर्यात्पश्येत् ॥ ४६ ॥ उक्तीत्या सुसमं बुद्ध्या ॥ ४७ ॥ इति विभागं भेदम् ॥ ४८ ॥ सर्वदा प्राप्तेन सर्वाकारविकारिणा सर्वप्रकारेण सर्वरूपेण नाम्ना च सर्वं सर्वात्मकमात्मानमर्चयेत् ॥ ४९ ॥ मिथ्यात्वबुद्ध्या परित्यज्य स्वात्ममात्रताबुद्ध्या उभयोरभ्रयणेन स्वीकारेणापि ॥ ५० ॥ भोगभूमयः सुखदुःखहेतवो विषयाः ॥ ५१ ॥ तुच्छासु अप-मानादिदृष्टिषु अतुच्छासु वधबन्धसर्वस्वनाशादिदृष्टिषु पतित आपतितः प्रसक्त उद्वेगो नानुगन्तव्यः । 'पतितेषु' इति पाठे

देशकालक्रियायोगाद्युपैति शुभाशुभम् ।
 अविकारं गृहीतेन तेनैवात्मानमर्चयेत् ॥ ५३
 आत्मार्वनविधानेऽस्मिन्प्रोक्ता द्रव्यधियस्तु याः ।
 एकेनैव समेनैता रसेन परिभाविताः ॥ ५४
 नाम्लानकद्ब्यो नो तिका न कषायाश्च काश्चन ।
 चित्रैरपि रसेर्विग्धा मधुरा एव ताः किल ॥ ५५
 समता मधुरा रस्या रसशक्तिरतीन्द्रिया ।
 तथा यद्भावितं चेत्यममृतं तत्क्षणाद्भवेत् ॥ ५६
 समतामृतरूपेण यद्यन्नाम विभाव्यते ।
 तत्तदायाति माधुर्यं परमिन्दोरिव च्युतम् ॥ ५७
 समताकाशवद्भूत्वा यत्तु स्याल्लीनमानसम् ।
 अविकारमनायासं तदेवाचनमुच्यते ॥ ५८
 पूर्णेन्दुनेव पूर्णेन भाव्यं समसमत्विषा ।

स्वच्छेन चिद्धनैकेन ज्ञेनाप्युपलक्षणा ॥ ५९
 अन्तराकाशविशदो बहिःप्रकृतकार्यकृत् ।
 रज्जनामिहिकामुकः संपूर्णो ह्य उपासकः ॥ ६०
 स्वप्नेऽप्यदृष्टहृत्क्षेमज्ञानाभ्रपरिक्षये ।
 शान्ताहंतादिमिहिकं ह्यः शरद्व्योम राजते ॥ ६१
 सोमार्कमस्तमितमानसमात्मेयं
 सद्यःप्रसूतशिशुवेदनवद्वितानम् ।
 पश्यन्प्रशान्तमतिचेतनचित्तबीजं
 जीवन्ननुत्तमपदस्थित एव तिष्ठ ॥ ६२
 देशकालकरणक्रमोदितैः
 सर्ववस्तुसुखदुःखविभ्रमैः ।
 नित्यमर्चय शरीरनायकं
 तिष्ठ शान्तसकलेहया धिया ॥ ६३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० देवाचनविधिर्नामैकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः ४०

ईश्वर उवाच ।

यथाकालं यथारम्भं न करोषि करोषि यत् ।
 चिन्मात्रस्य शिवस्यान्तस्तदेवाचनमात्मनः ॥ १
 तेनैवाह्लादमायाति याति प्रकटतां तथा ।
 तथा स्थितेन रूपेण स्थेनैव स्वयमीश्वरः ॥ २

आपतितेषु चिरमाततेष्वनुवृत्तेषु ऋजुवक्रशीतदाहादिविचित्रपदा-
 र्थेषु व्योम्नेवेति दृष्टान्ते योज्यम् ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ननु विचि-
 त्रदुःखरागद्वेषादिविकारहेतवः शुद्धशुद्धिकटुतिक्कादिविषमरसा
 भोग्यद्रव्यश्रियः कथमविकारं प्रहीतुं शक्या इति चेदेकेन सम-
 रसेन सर्वेषां वर्षम्यनिरासेन मधुरीकरणादित्याशयेनाह—आ-
 त्मार्वनेति । परिभाविता आह्लाविताः सत्यो न अम्लानकद्ब्यः
 किंतु मधुरैकरसा भवन्तीति परेणान्वयः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥
 आनन्दैकरसविवर्तत्वेन समतादर्शनाद्वा तासामविकारेण प्रहण-
 तिद्विरित्याशयेनाह—समत्वेति । रसशक्तिः 'रसो वै सः' इति
 श्रुतिर्दाशेति आत्मा ॥ ५६ ॥ इन्दोऽभ्युत्तममृतमिव ॥ ५७ ॥
 ब्रह्मैक्यदर्शनलक्षणया समतया स्वयमाकाशवद्भूत्वा लीनमानसं
 यथा स्यात्तथा यदवस्थानं तदेव मुख्यमर्चनमित्यर्थः ॥ ५८ ॥
 उपलक्षणा स्फटिकशिलावज्जिर्मलहृदेन ॥ ५९ ॥ ईदृशो ज्ञस्त-
 त्वविदेव उपासको मुख्यो मत्पूजक इत्यर्थः ॥ ६० ॥ न दृष्टो
 हृदयं लिखतीति हृत्क्षेपः कामो विद्युदादिश्च यस्मिन् । ज्ञस्तत्त्व-
 विदेव शरद्व्योम ॥ ६१ ॥ आनन्दामृतपरिपूर्णत्वात्सोम एव
 सन्निष्कलङ्कस्वप्रकाशातिशयादर्कस्तथाविधम् । अस्तमितानि
 मानसं मनोवृत्तिर्माता मेयं च यत्र तथाभूतम् । सद्यःप्रसूतस्य
 शिशोर्वेदनवद्वितानं विगतविकल्पविस्तारं चेतनस्य चिदाभासस्य

रागद्वेषादिशब्दार्थानात्मन्यन्यतयामले ।
 संभवन्ति पृथग्रूपावकां बह्निकणा इव ॥ ३
 यद्यद्राजत्वदीनत्वसुखदुःखादिवेदनम् ।
 आत्मीयं परकीयं च तत्तद्वर्चनमात्मनः ॥ ४
 विश्वसंविचिरेवार्चा नित्यस्यात्मन एव च ।

चित्तस्य च बीजं मूलभूतं स्वात्मशिवं प्रशान्तमति यथा स्यात्तथा
 पश्यन्सन् त्वमनुलमे जीवन्मुक्तपदे स्थितस्तद्भावेनैव तिष्ठ ।
 संव परा पूजेत्यर्थः ॥ ६२ ॥ विस्तरोकं संक्षिप्योपसंहरति—
 देशेति । शान्ता सकला ईहा मनोरथा यस्यास्तथाविधया
 धिया स्वात्मनि तिष्ठ । संव मुख्यया शिवपूजेत्यर्थः ॥ ६३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे देवा-
 चनविधिर्नामैकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

पूज्यपूजकपूजादिविकल्पपरहितः शिवः ।

परिशुद्धचिदात्मैव देवतातत्त्वमीर्यते ॥ १ ॥

आत्मविदः कृताकृतं सर्वमपि कर्म शिवार्चनमेवेत्याह—
 यथाकालमिति । यथारम्भं यथाशक्ति ॥ १ ॥ तत्कृतस्तत्राह—
 तेनैवेति । तेन तादृशपूजनेनैव तथा स्थितेन पारमार्थिकेन
 स्वरूपेण आह्लादं निरतिशयानन्दस्वरूपाभिव्यक्तिम् । प्रकटता-
 मावरणभङ्गमायाति ॥ २ ॥ ननु स्वाभाविकचेष्टा सर्वापि राग-
 द्वेषमूलतयानर्थहेतुः सा कथं पूजनं स्यादिति चेत्स्वात्मव्यति-
 रेकेण रागद्वेषविकल्पादर्शनादेवेत्याह—रागैति ॥ ३ ॥ राजत्वं
 संपत् । दीनत्वं दारिद्र्यम् । आदिपदादशनायापिपासादयो
 गृह्यन्ते । तेषां वेदनमध्यारोपणम् । देवे पुष्पपत्राद्यारोपणस्यैव
 पूजात्वप्रसिद्धेरिति भावः ॥ ४ ॥ तथा च नित्यस्य शिवस्य
 आत्मनः प्रतीचक्ष विद्यदादिलक्षणस्य ज्ञानदादिकक्षणस्य च

घटाद्यात्मतया ब्रह्म स्वयमात्मा तथैव च ॥ ५ ॥
 शिवं शान्तवचनसंज्ञकं आस्वरमावतम् ।
 जगत्प्रत्ययवत्सर्वमात्मरूपमिदं स्थितम् ॥ ६ ॥
 अहो नु विप्रमात्मैव घटाद्यन्यत्त्वस्थितम् ।
 जीवादिस्वस्वभावोऽन्तर्नूनं विस्मृतिमानिव ॥ ७ ॥
 सर्वात्मकस्यानन्तस्य शिवस्यान्तः किलात्मनः ।
 पूज्यपूजकपूजाख्यो विभ्रमः प्रोदितः कुतः ॥ ८ ॥
 नियताकारता शान्ते न च संभवतीश्वरे ।
 यत्र संकल्प्यते ब्रह्मपूज्यपूजाभयः क्रमः ॥ ९ ॥
 पूज्यपूजाद्यवच्छिन्नो देवो भित्वात्मलात्मनः ।
 सर्वशक्तेरनन्तस्य नेश्वरत्वस्य भाजनम् ॥ १० ॥
 त्रिजगत्प्रसृताच्छिन्नसंज्ञिपूपस्य चात्मनः ।

नेश्वरस्याकृतेर्ब्रह्मन्व्यपदेशो हि युज्यते ॥ ११ ॥
 देशकालपरिच्छिन्नो येषां स्यात्परमेश्वरः ।
 अस्माकमुपदेश्यस्ते न विपश्चिद्विपश्चिताम् ॥ १२ ॥
 तदीयां दृष्टिमुत्सृज्य तथेवामवच्छिद्य च ।
 समः स्वच्छमनाः शान्तो धीतरागो निरामयः ॥ १३ ॥
 कामोपहृत्तरमितो यथाप्राप्तैरस्मिन्धीः ।
 आत्मानमर्चयंस्तिष्ठ सुखदुःखशुभाशुभैः ॥ १४ ॥
 अधिगतवति साधौ चैकमेवानुरूपं
 त्वयि तरलितजीवे जन्मदुःखादि किञ्चिद् ।
 न लगति परिशुभ्ये सर्वतः स्फाटिकाङ्गे
 नवसदन इषाङ्गे निष्कलङ्गे कलङ्गः ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे ब्रह्मीकीये दे० सो० निर्वाणप्रकरणे पू० देवतातत्त्वविचारो नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः ४१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शिवः किमुच्यते देव परंब्रह्म किमुच्यते ।
 आत्मा किमुच्यते नाथ परमात्मा किमुच्यते ॥ १ ॥
 तत्सर्त्तिकचिच्च किञ्चिच्च शून्यं विज्ञानमेव च ।

विश्वस्य संवित्तिरारोप एवार्चा । यथा धियदादिक्रमेण ब्रह्म घटा-
 द्यात्मतयालंक्रियते, स्वयं प्रत्यगात्मा च तथैव जाग्रदादिक्र-
 मेण घटाद्यात्मतयैवालंक्रियत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ एवं चैकं विव-
 रूपं प्रत्यगात्मरूपं वा जगत्प्रत्ययवदायतस्मिदं सर्वं तद्भासा
 भास्वरं तत्स्थित्या स्थितमित्यर्थः ॥ ६ ॥ एवं विमर्शं प्रत्यगात्मैव
 खान्तर्विस्मृतिमानिव भूत्वा जीवादिस्वस्वभावः अन्यद्वदादिज-
 गत्प्रपञ्चं च स्थितं नान्यत्किञ्चिदित्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं तत्सत्तो
 दर्शने पूज्यपूजकविशिष्टपुटी सर्वापि बाधिता भवतीत्यह—
 सर्वात्मकस्येति । अन्तःपरिच्छिन्नरूपस्त्रिपुटीविभ्रमः कुतः ।
 असन्नेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ यत्र यस्यां नियताकारतायां पूज्यपूजादिभयः
 क्रमः संकल्प्यते सा नियताकारता परिच्छिन्नसंस्थानता न
 संभवति ॥ ९ ॥ निस्वाम्यत्मान इति हेतुमर्भमीश्वरत्वविशेष-
 णम् ॥ १० ॥ ईश्वरस्य आकृतेरिति व्यधिकरणे षष्ठ्यां । व्यप-
 देशो वाचाभिलापोऽपि न युज्यते ॥ ११ ॥ हे विपश्चिदिति
 संबोधनम् । विपश्चिन्नोऽपि विपश्चितामिति वा ॥ १२ ॥ इमां
 मनुष्यामपरिच्छिन्नदृष्टिमवलम्ब्य कामोपभोगैरर्चयंस्तिष्ठेति परे-
 णान्वयः ॥ १३ ॥ १४ ॥ तरलितः शोधनेन देहात्पृथक्कृतो
 जीवो येषः तन्मविधे साधौ अमानिषादिगुणवति, अत एवात्ररूप-
 मेकं ज्ञातव्यमुक्तपूज्यपूजकादितत्त्वविमर्शनाधिगतवति । अत
 एव निरस्तमायाकलङ्गे परितस्तत्कार्यप्रपञ्चशून्ये च त्वयि जन्म-
 दुःखादि किञ्चिन्न लगति । यथा स्फाटिकशिला सर्वावयवके
 अङ्गे समीपे परितो नीलरक्षादिवस्त्वन्तरशून्ये नवसदने लेपतः

इत्यादिभेदो भगवंत्सिलोकेश किमुच्यते ॥ २ ॥
 ईश्वर उवाच ।
 अनाद्यन्तमनाभासं सर्त्तिकचिद्विद् विद्यते ।
 इन्द्रियाणामन्यत्वाद्यत्र किञ्चिदिव स्थितम् ॥ ३ ॥

प्रतिबिम्बतो वा नैत्यादिरजनकलङ्को न लगति तद्वदित्यर्थः ॥ १५ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 देवतातत्त्वविचारो नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

शास्त्राचार्यादिसाफल्यं नामभेदप्रकरणम् ।
 चत्वारोपक्रमः पश्चादपश्चाद्ः प्रदर्शयते ॥ १ ॥

यदुक्तं 'नेश्वरस्याकृतेर्ब्रह्मन्व्यपदेशो हि युज्यते' इत्यादिना
 पूज्यतत्त्वमरूपकमव्यपदेश्यं तस्य शिवादिशब्दैरपि कथं व्यप-
 देश इत्याशयेन पृच्छति—शिव इति । यदि शिवादिशब्द-
 प्रवृत्तिभित्तकं कञ्चिदपि धर्मं तत्र स्पृशति तर्हि शिव इति
 किंनिमित्तमुच्यते । एवं परंब्रह्मेत्याद्यपि किंनिमित्तमुच्यत
 इत्यर्थः ॥ १ ॥ 'अतस्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'
 इत्यादिव्यपदेशेषु भिन्नतीति भेदः परस्परव्यावर्तकप्रवृत्तिनिमित्त-
 त्कनामविशेषः किंनिमित्तमुच्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ पृष्टेषु नामकु
 सदिति नामस्तावत्प्रवृत्तिनिमित्तमन्यत्र वाच्यम् । तदर्थं व्यावर्त्य-
 त्याप्रसिद्ध्यैव व्यावृत्त्यनपेक्षणात् । स्वत एवासद्यावृत्तत्वेन प्रवृ-
 त्तिनिमित्तताकृततयावृत्तिकत्वाभावात् । अन्यथा तत्प्रवृत्तिनि-
 मित्तस्त्वन्यसतः सद्यावर्तकत्वायोगात्सत्त्वेऽवश्यं वक्तव्ये तुल्य-
 न्यायेन तत्रापि सच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तमन्यदेव वाच्यमेवं तत्र
 तत्रापीलानवस्थापातात् । एवं किञ्चिन्नकिञ्चिच्छब्दशोरपि
 इन्द्रियावेद्यत्वेन तद्वेशधर्मैर्निर्देष्टुमशक्यत्वाद्यावृत्तिनिरपेक्षतयैव
 तत्र प्रवृत्तिसंभवः । न ह्यव्यावृत्तं व्यावर्तकधर्मशून्यं वा कदा-
 न बोध्यमन्येवेति शक्यं वक्तुम् । अव्यावृत्तनिर्धर्मकादिशब्दानां
 बोधकरत्वात् सर्वानुभवसिद्धत्वात् । न हि निर्धर्मकरकं धर्मः,

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यदिन्द्रियाणां बुद्ध्यादियुक्तानामप्यदृश्यताम् ।
गतं तत्कथमीशान त्वशङ्कनोपगम्यते ॥

ईश्वर उवाच ।

यो मुमुक्षुरविद्यांशः केवलो नाम सात्त्विकः ।
सात्त्विकैरेव सोऽविद्याभागैः शास्त्रादिनामभिः ॥ ५
अविद्यां श्रेष्ठया श्रेष्ठं क्षालयन्निह तिष्ठति ।
मलं मलेनापहरन्युक्तिज्ञो रजको यथा ॥ ६
काकतालीयवत्पद्मादविद्याक्षय आगते ।
प्रपश्यत्यात्मनैवात्मा स्वभावस्यैव निश्चयः ॥ ७
यथाकथंचिदङ्गारे निघृप्य क्षालयन्निघृणुः ।
करनैर्मल्यमाप्नोति काष्ण्याङ्गारक्षये यथा ॥ ८
यथाकथंचिच्छास्त्रार्थैर्भागैर्भागं विचारयेत् ।
सात्त्विकस्तामसो भागो द्वयोरात्मोदयस्तथा ॥ ९
पश्यत्यात्मानमात्मैव विचारयति चात्मना ।
आत्मैवेहास्ति नाविद्या इत्यविद्याक्षयं विदुः ॥ १०

अव्यावृत्तं च व्यावृत्तेभ्यो व्यावृत्तमिति वक्तुं शक्यम् । स्वमाता
बन्धेतिवद्वाहृतत्वात् । एवं च शिवादिशब्दानामपि निर्दोषनि-
रतिशयानन्दस्वरूपमात्रे निमित्तनिरपेक्षेव प्रवृत्तिसुखन्याया-
दुपपन्ना । तत्स्वरूपप्रयुक्तं वा शिवे दुःखादिव्यावृत्तिरपीति
न नामभेदानुपपत्तिरित्याशयेनोत्तरमाह—अनाद्यन्तमिति ।
अनाद्यन्तमाद्यन्तपरिच्छेदाभ्यां स्वतो व्यावृत्तम् । अनाभासमा-
भासान्तरनिरपेक्षं स्वयंज्योतिः । ईदृशं सदस्तु इह खे महिम्नि
स्वत एव विद्यते न देशकालधर्मज्योतिरपिपरापेक्षसतया परा-
धीनव्यावृत्त्या चेत्यर्थः । इवकारस्तत्र किञ्चित्त्वादेरपि मिथ्या-
त्वद्योतनार्थः ॥ ३ ॥ मनोबुद्ध्याहंकारचित्तानामिन्द्रियगृहीतार्थ-
मात्रगोचरसंकल्पविकल्पाध्यवसायाभिमानस्मरणहेतुत्वादिन्द्रिया-
गम्यत्वोक्त्या बुद्ध्याद्यगम्यत्वमप्यर्थादुक्तमेव । न च बुद्ध्याप्य-
गम्यस्य बोधे कश्चिदुपायः संभवतीति सतोऽपि तस्य बोधो-
पायासंभवात् अशङ्केन उपायासंभवशङ्कारहितेनाधिकारिणा
तद्ब्रह्म कथमुपगम्यते अधिगम्यते । साक्षात्कथयत इत्यर्थः ॥ ४ ॥
प्रमाणजन्यया शुद्धसात्त्विकभागपरिणामरूपया ब्रह्माकारवृत्त्या
अविद्यावरणमपनीयते । आवरणापगमे तु ब्रह्म स्वप्रकाशत्वादेव
तत्त्वतो भाति । स एवास्य साक्षात्कारो न बुद्धिवृत्त्यभिव्यक्त-
चिद्भासिरूपो मुमुक्षुर्मोक्षेच्छुर्मनोलक्षणः शमदमादिसाधनपरि-
शुद्धत्वात्केवलः सात्त्विकोऽविद्यांशः स सच्छास्त्रसद्गुरुसत्सङ्गादि-
नामभिः सात्त्विकैरेवाविद्याभागैः संपादितया श्रेष्ठया श्रवणमन-
ननिदिध्यासनसाक्षात्कारान्तस्ववृत्तिपरम्परया बहुतरजन्मसंचि-
तयज्ञदानादिपुण्यसंभृतत्वाच्छ्रेष्ठं स्वकार्याविद्यां क्षालयन्नेव
चिरं तिष्ठति ॥ ५ ॥ ६ ॥ किं ततस्वशाह—काकेति । ततश्चिरा-
भ्यासात्काकतालीयन्यायेन भाग्यपरिपाकादुत्थितया पूर्णब्रह्मा-
कारवृत्त्या अविद्यायाः क्षये निःशेषोच्छेदे आगते सति अनावरण

यावत्किञ्चिदिदं वस्तु नाना नात्मावगम्यताम् ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या नात्मज्ञानस्य कारणम् ॥ ११
गुरुर्हीन्द्रियवृत्तात्मा ब्रह्म सर्वेन्द्रियक्षयात् ।
यद्वस्तु यत्क्षये प्राप्यं तत्तस्मिन्सति नाप्यते ॥ १२
अकारणान्यपि प्राप्ता भृशं कारणतां द्विज ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या आत्मज्ञानस्य सिद्धये ॥ १३
क्रमे गुरूपदेशानां प्रवृत्ते शिष्यबोधतः ।
अनिर्देश्योऽप्यदृश्योऽपि स्वयमात्मा प्रसीदति ॥ १४
शास्त्रार्थैर्बुध्यते नात्मा गुरोर्वचनतो न च ।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतस्ततः ॥ १५
गुरूपदेशशास्त्रार्थैर्विना चात्मा न बुध्यते ।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञानप्रकाशिनी ॥ १६
गुरुशास्त्रार्थशिष्याणां चिरसंयोगसत्तया ।
अहनीव जनान्चार आत्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ १७
कर्मबुद्धीन्द्रियाद्यन्तसुखदुःखादिसंक्षये ।
शिव आत्मेति कथितस्तत्सदित्यादिनामभिः ॥ १८

आत्मा आत्मनैवात्मानं प्रपश्यति । वास्तवस्वप्रथास्वभाव-
एवावतिष्ठत इत्यर्थः । आत्मस्वभावस्य एष उक्तस्वप्रकाशस्वरूप-
परिशेष एव निश्चयः असंदिग्धाविपर्यस्तसाक्षात्कारो नान्या-
दृश इत्यर्थः । अथवा अविद्यास्वभावस्यैव उक्तप्रकार एव क्षय-
निश्चयो नान्यादृश इत्यर्थः ॥ ७ ॥ अविद्यांशेनैवाविद्याक्षये
आत्मनैवात्मनैर्मल्यसिद्धौ च दृष्टान्तमाह—यथेति । शिशुर्बालो
द्वे अङ्गारे गृहीत्वा परस्परनिर्घर्षणक्रीडाव्यसनी अङ्गारयोः क्षया-
त्प्रक्षालितेऽपि हस्ते पुनःपुनस्तन्निर्घर्षणेन करनैर्मल्यं नाप्नोति ।
निर्घर्षणोपजनितरेणुपरम्परालक्षणकाष्ण्याङ्गारयोः क्षये तु क्षाल-
यन्पुनरङ्गारालाभात्करस्य स्वतःसिद्धमेव नैर्मल्यं सौन्दर्यं स्वत
एव प्राप्नोति यथा, तथा सात्त्विकस्तामसश्चाविद्याभागः शास्त्रार्थैः
स्वभागान्तरैः सहायैर्यथाकथंचिदात्मानं विचारयेच्छेदयोरपि
भागयोर्नाशो निर्मलात्मोदयश्च सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥
ननु बुद्ध्या आत्मा विचार्य निर्धार्यते तत्कुतो न बुद्धि-
दृश्यतात्मन इति चेन्न । बुद्धेर्जडाया विचारार्थां स्वातन्त्र्यं किंत्वा-
त्मैव बुद्ध्याद्युपायैर्विचारादिनाऽविद्यां बाधित्वा स्वयं प्रथत
इत्याह—पश्यतीति ॥ १० ॥ अत एव गुरुशास्त्रादिनाभाभेदा
न आत्मा नाप्यात्मज्ञानहेतवः आत्मस्वरूपस्य तज्ज्ञानस्य साध-
नानपेक्षत्वादित्याशयेनाह—यावदिति ॥ ११ ॥ तत्रोपपत्त्य-
न्तरमाह—गुरुरिति इन्द्रियवृत्तं घटितं यत्पुर्यष्टकं तदात्मा
॥ १२ ॥ तर्हि किं गुर्वादयो व्यर्था नेत्याह—अकारणानीति ।
सिद्धये विस्मृतकण्ठचामीकरवद्भावाय ॥ १३ ॥ प्रसीदति
अभिव्यक्तो भवति ॥ १४ ॥ एवमावश्यकत्वे कथमकारणत्वो-
क्तिस्तत्राह—शास्त्रार्थैरिति ॥ १५ ॥ प्रकाशिनी अभिव्य-
ञ्जिका ॥ १६ ॥ १७ ॥ अत एव बोधनिरस्तसर्वोमङ्गलः परमा-
नन्दात्मा स्वत एव शिवशब्दाहो न प्रवृत्तिनिमित्तसापेक्ष इत्युक्त-

यत्रेदमखिलं नास्ति तद्रूपेणैव चास्ति वा ।
 तदाकाशादच्छतरमनन्तं सदिवस्ति हि ॥ १९ ॥
 अविश्रान्ततया यत्र तनुविद्यैर्मुमुक्षुभिः ।
 विचित्रशुद्धमननकलङ्ककलितात्मभिः ॥ २० ॥
 अदूर एव तिष्ठद्भिर्जीवन्मुक्तस्य दृक्पथे ।
 मोक्षोपासकबोधाय शास्त्रार्थरचनाय च ॥ २१ ॥
 ब्रह्मेन्द्ररुद्रप्रमुखैर्लोकपालैः सुपण्डितैः ।
 पुराणवेदसिद्धान्तसिद्धये भावितात्मभिः ॥ २२ ॥
 चिद्ब्रह्म शिव आत्मेशपरमात्मेश्वरादिका ।
 एतस्मिन्कल्पिता संज्ञा निःसंज्ञे पृथगीश्वरे ॥ २३ ॥
 एवमेतज्जगत्त्वं स्वं तत्त्वं शिवनामकम् ।
 सर्वथा सर्वदा सर्वसर्वं यत्सुखमास्व भो ॥ २४ ॥
 शिव आत्मा परं ब्रह्मेत्यादिशब्दैस्तु भिन्नता ।
 पुरातनैर्विरचिता तस्य भेदो न वस्तुतः ॥ २५ ॥
 एवं देवार्चनं नित्यं ज्ञः कुर्वन्मुनिनायक ।
 यत्रास्मदादयो भृत्यास्तत्प्रयान्ति परं पदम् ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अविद्यमानमेवेदं विद्यमानमिव स्थितम् ।
 यथा तन्मे समासेन भगवन्वक्तुमर्हसि ॥ २७ ॥

ईश्वर उवाच ।

योऽसौ ब्रह्मादिशब्दार्थः संविदं विद्धि केवलम् ।
 स्वच्छमाकाशमप्यस्य स्थूलं मेरुरणोरिव ॥ २८ ॥

मित्याह—कर्मैति ॥ १८ ॥ इदं जगत् बाधे नास्ति । आ-
 रोपे चास्ति । तदधिष्ठानतत्त्वं अस्ति हि अस्त्येव । व्यावहारि-
 कसद्वैलक्षण्यात्सदिव ॥ १९ ॥ शिवब्रह्मसदादिनामकल्पनापि
 जीवन्मुक्तानामधिकारिप्रबोधनार्थेवेत्याह—अविश्रान्तेत्यादिना ।
 मुमुक्षुभिरधिकारिभोचनेच्छुभिर्विचित्रस्य जगतः शुद्धस्य त-
 त्त्वस्य च मननं तल्लक्षणो यः शुद्धात्मनि कलङ्कस्तद्युक्त आत्मा
 मनो येषाम् ॥ २० ॥ परमार्थस्य अदूरे संनिहिते जीवन्मु-
 क्तस्य दृक्पथे तिष्ठद्भिः । मोक्षाय स्वोपासका ये भक्तास्तेषां
 बोधाय शास्त्रार्थस्य तत्त्वतज्ज्ञानतदुपायानां रचनाय सम्यगुप-
 पादनाय ॥ २१ ॥ पुराणानां वेदानां सिद्धान्तानां बादरायण-
 सूत्रादीनां सिद्धये सार्थक्याय ॥ २२ ॥ पृथक् संज्ञा कल्पिता
 ॥ २३ ॥ भो वसिष्ठ, विद्यदादिजगदारोपाधिष्ठानत्वाज्जगत्-
 त्वम्, अवस्थात्रयारोपाधिष्ठानत्वात्स्वं तत्त्वं च यत्सर्वदा सर्व-
 प्रकारैः सर्ववस्तूनां सर्वभावनिर्वाहकं तत्केवलं ब्रह्मसुखमेव
 नाणुमात्रमप्यन्यदस्तीति निश्चित्य त्वमास्व ॥ २४ ॥ २५ ॥
 एवमुक्तस्थितिरूपं देवार्चनम् । यत्र यस्मिन्परमशिवपदे अस्म-
 दादय एकैकगुणाभिमानिनो भृत्या इव सृष्ट्यादिकर्मनियताः
 ॥ २६ ॥ इदानीं वसिष्ठः शुद्धचित्ति जीवभावतत्संस्तरणारोप-
 कर्म जिज्ञासुः पृच्छति—अविद्यमानमिति ॥ २७ ॥ उत्तरो-

सा वेद्यमिह गच्छन्ती याति चिन्नामयोग्यताम् ।
 अप्यवेद्यवती नूनमुन्मन्यन्तपदस्थिता ॥ २९ ॥
 क्षणाद्भावितवेद्यत्वाद्दहन्तामनुगच्छति ।
 पुरुषत्वात्पुमान्स्वप्ने वनवारणतामिव ॥ ३० ॥
 अस्यादहन्तादिरूपाया देशतां कालतां गताः ।
 संपद्यन्ते ततः शून्यरूपिण्यः सख्य एव ताः ॥ ३१ ॥
 ताभिः संवलिता सैव सत्ता जीवाभिधानिका ।
 भवति स्पन्दविज्ञाना पवनस्येव लेखिका ॥ ३२ ॥
 जीवशक्तिस्तथाभूता निश्चयैकविलासिनी ।
 बुद्धितामनुयाता सा भवत्यज्ञपदे स्थिता ॥ ३३ ॥
 शब्दशक्त्या क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्त्यानुगम्यते ।
 प्रत्येकं प्रस्फुरत्यन्तरप्रदर्शितरूपया ॥ ३४ ॥
 मिलित्वैष गणः क्षिप्रं स्मृतिं समनुकूलयन् ।
 मनो भवति भूतात्मबीजं संकल्पशाखिनः ॥ ३५ ॥
 आतिवाहिकदेहोक्तिभाजनं तद्विदुर्बुधाः ।
 अन्तस्थया ब्रह्मशक्त्या ह्यरूपं स्वात्मनात्मदृक् ॥ ३६ ॥
 संपद्यमाना एवास्मिञ्चेतसीमा हि शक्तयः ।
 पश्चादिह बहिष्ठास्ता उद्यन्त्यनुदिता अपि ॥ ३७ ॥
 वातसत्ता स्पन्दसत्ता स्पर्शसत्ता तथैव च ।
 त्वक्सत्ता तेजसां सत्ता तथा सत्ताप्रकाशिनी ॥ ३८ ॥
 रूपसत्ता जलसत्ता स्वादुसत्ता तथैव च ।
 तथैव रससत्ता च गन्धसत्ता तथैव च ॥ ३९ ॥

तरारोपे स्थौल्योपचयं वक्तुं परमसूक्ष्मरूपं मूलं दर्शयति—योऽ-
 साविति । मेरुरणोरिवेति चित्तसौक्ष्म्यस्य जडसौक्ष्म्यस्य च
 स्पष्टमेवान्तरमिति भावः ॥ २८ ॥ सा चिद्वेशगोचरसंस्कारोद्बोधा-
 द्वेषकल्पनोन्मुखी यदा भवति तदा चेतनाच्चिदिति क्रिया नाम-
 योग्या भवतीत्यर्थः । उन्मन्यन्तपदे निर्विकल्पसमाधिप्रसिद्ध-
 चिदानन्दंकरसख्यभावे स्थितापि ॥ २९ ॥ ३० ॥ इयत्तापूर्वा-
 पर्यावगाहनादेशतां कालतां च गताः कल्पनाः संपद्यन्ते ताश्वा-
 हतायाः सख्य इत्युत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥ ताभिर्देशकालकल्पनाभिः
 संवलिता सा अहंतास्पदगोचरसंस्कारोद्बोधात्स्पन्दविज्ञाना सती
 पवनस्य लेखिकेवान्तः प्राणस्पन्दा सती जीवाभिधानिका भ-
 वति । 'जीव प्राणधारणे' इति धात्वर्थानुगमादित्यर्थः ॥ ३२ ॥
 एवं निश्चयसंस्कारोद्बोधाद्बुद्ध्यादिशब्दवाच्यापि भवतीत्याह—
 जीवेति ॥ ३३ ॥ ततः कायिकवाचिकमानसिकव्यवहारसंस्का-
 रोद्बोधाच्छब्दादिशक्त्या अहंतानुगम्यते । न प्रदर्शितमत्यन्तपि-
 हितं तात्त्विकमात्मरूपं यया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ अन्तस्थया
 अनामृतसाक्षिरूपया ब्रह्मशक्त्या व्याप्तं जानातीति ज्ञ इति
 प्रमातृरूपं संपद्यते । तच्चात्मनः स्वप्रकाशताबल्यदेवेत्याह—
 आत्मदृशिति ॥ ३६ ॥ एवमन्तःकल्पना बाह्यदृश्यसत्ताकल्प-
 नायां हेतुरित्याह—संपद्यमाना इति । ताः वक्ष्यमाणाः ॥ ३७ ॥
 तेजःसत्तायाः प्रकाशिनी चक्षुःसत्ता ॥ ३८ ॥ रसयतीति रसो

भूशक्ता हेमसक्ता च विण्डसक्ता च पीवरी ।
 देशसक्ता कालसक्ता सर्वाङ्गाकारवर्जिता ॥ ४०
 सर्वसक्तागणं चैतस्कोडीकृत्य स्वरूपवत् ।
 स्फुरत्याश्रित्य पद्मादि बीजं बीजादितां वतम् ॥ ४१
 एतत्पुर्यष्टकं विद्धि देहोऽयं आतिवाहिकः ।
 अपारबोधमेतत्तु स्फुरत्यङ्ग विभागवत् ॥ ४२
 एवमाङ्गसंपन्नं संपन्नं न च किञ्चन ।
 न ज्ञानं न च तद्रूपं न विदायितचेतनम् ॥ ४३
 परं परे ब्रह्मपुरितं केवलं केवलतम सत् ।
 जलपीठस्य जठरे जलद्रवविलासवत् ॥ ४४
 संविदसंबिद्वैक्यात्म पृथगेतदचेतनम् ।
 संबध्यते परिज्ञातं संकल्पनमरोपमम् ॥ ४५
 संवेदनात्परिज्ञानाच्छिवतामेव गच्छति ।
 अज्ञातमेव वा यत्तत्कथं गच्छति वस्तुताम् ॥ ४६
 अथैतद्विन्दते स्वान्तःसंकल्पादंशतां स्वतः ।
 तन्मात्रसक्ता तस्याणोरेतां पश्यति देहके ॥ ४७
 सर्वे स्थूलत्वमापन्नं तदेवाशु प्रपश्यति ।
 तस्य तन्मात्ररन्ध्राणि यथादेशं प्रपश्यति ॥ ४८
 ततः पुरुषरूपैकभावेनात्पुरुषाकृतिम् ।
 काकतालीयवद्दृष्ट्वा तुष्टं पुष्टं भवत्यलम् ॥ ४९
 जीवदेतदवस्थाकं स्थितं पश्यति देहकम् ।
 असन्तमेव गन्धर्वपुरं स्वप्नरं यथा ॥ ५०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

गन्धर्वनगराकारमपि स्वप्नरोपमम् ।
 जगद्दुःखाय दुःखस्य काष्ठं बुक्तिः परिक्षये ॥ ५१
 ईश्वर उवाच ।
 वासनावशतो दुःखं विद्यमाने च सा भवेत् ।
 अविद्यमानं च जगन्मृगतृष्णाभुभङ्गवत् ॥ ५२
 अतः किं वास्यते केन कस्य वा वासना कुतः ।
 कथं स्वप्नरेणाङ्ग मृगतृष्णाभु पीयते ॥ ५३
 सद्रष्टरि तु साहन्ते समनोमननादिके ।
 अविद्यमाने जगति यत्सत्सत्परिदृश्यते ॥ ५४
 यत्र नो वासना नैव वासको नैव वास्यता ।
 केवलं केवलीभाषः संशास्तकलनभ्रमः ॥ ५५
 यस्य सत्त्वोऽप्यसत्त्वो वा शून्य एव हि यक्षकः ।
 विलीनस्तस्य कैवल्यात्किमन्यद्विशिष्यते ॥ ५६
 शून्य एव हि चैताल इष्येयं चित्तवासना ।
 उदितेयं जगन्नास्ती तच्छान्ती शान्तिरक्षता ॥ ५७
 अहन्तायां जगति च मृगतृष्णाजले च यः ।
 सास्थस्तं शिग्धतवरं नोपदेश्यस्त्वसाविति ॥ ५८
 जीवं विवेकिनमिहोपदिशन्ति तज्ज्ञा
 नो बालमुद्गममसन्मयमार्यमुक्तम् ।
 अहं प्रशास्ति किल यः कनकावदातां
 स स्वप्नदृष्टपुरुषाय सुतां ददाति ॥ ५९

रक्षणेन्द्रियं तत्सत्ता ॥ ३९ ॥ हेमशब्देन रक्तस्वर्णमये ब्रह्मा-
 ण्डलवर्धरे प्राप्ते । पीवरी अतिमहती ब्रह्माण्डपिण्डसत्ता ॥ ४० ॥
 स्वरूपवत्त्वदत्तमेव कोडीकृत्य संगृह्य । यथा बीजशुक्तेरुत्तरप-
 रिष्पमेव बीजादितां गतमङ्कुरकाण्डशाखापत्रादि कोडीकृत्य स्फु-
 रति तद्रत् । 'बीजाद्वीजादितां' इति पाठे बीजान्ति उत्तरोत्तरबी-
 जानि येभ्यस्तादृशानामङ्कुरकाण्डादिपरम्पराणामादितां निर-
 नतां गतम् ॥ ४१ ॥ एतदुक्तं सर्वसत्ताकोडीकृतस्वरूपं पुर्यष्टकं
 स्थूलादिदेहत्रयात्मकम् । अयमेव वासनात्मना आतिवाहिको
 देहः । अपारोऽपरिच्छिन्नो बोधश्चित्स्वरूपं यस्य तथाविधं
 ब्रह्मैव एतत् उक्तविभागवत्स्फुरति नान्यदित्यर्थः ॥ ४२ ॥
 एवमारोपक्रमं प्रपञ्चयापवादं दर्शयति—एवमादीति । संपन्नम-
 ज्ञहशा । तत्त्वदृशा तु न किञ्चन संपन्नम् । तत् पुर्यष्टकरूपम् ।
 विदा तत्र तत्र चिदाभासेनाचितं चेतनमपि न ॥ ४३ ॥ जल-
 पीठस्य जलाधारस्य । समुद्रयेति यावत् ॥ ४४ ॥ कथमिदं
 विज्ञातं तत्राह—संविदिति । यतो दृश्यजातं संविदेवेति संवे-
 दने एकात्मकम् । संविदः पृथक्कृतं तु अचेतनं भासकश्चान्यमि-
 त्युभयथापि न जीवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ किंचेदं ज्ञातं सद्वास्तवं
 स्यादज्ञातं वा नोभयथापीत्याह—संवेदनादिति । संवेदनादि-
 त्यस्य ध्याख्या—परिज्ञानादिति ॥ ४६ ॥ अथ यदि कश्चिद्ब्रूयात्स्व-
 तश्चिन्मात्रस्वभावमपि एतद्वस्तु 'बहु स्यां प्रजायेयै'ति संकल्पा-

त्वात्तरेव दृश्यांशतां विन्दते इति तर्हि संकल्पकल्पितस्य मि-
 थ्यात्वात्तस्याणोः परमसूक्ष्मस्यात्मनस्तन्मात्रस्वभावेन सत्ता प्रथ-
 मकल्पिते देहके सूक्ष्मदेहे एव चिराभ्यासात्स्थूलतां पश्यति
 ॥ ४७ ॥ स्थूलदेहसंबन्धाच्च सर्वमान्तरं कोशचतुष्टयं बाह्यवि-
 षयजातं च स्थूलत्वमापन्नं तद्ब्रह्मैव स्वकल्पनया पश्यति ।
 बाह्यरूपादिदर्शने च तस्य देहस्य चक्षुरादिलक्षणानि तन्मात्र-
 द्वाराणि यथाविषयं व्यवस्थितानि प्रपश्यति ॥ ४८ ॥ ततो
 हस्तपादायवववसंघाते आन्तरकोशेषु च पुरुषाकारेणैकत्वभाव-
 नात्पुरुषाकृतिं पश्यति । तेन चाकस्माद्यवहारक्षमतां दृष्ट्वा तुष्टं
 पुष्टं च भवति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ मिथ्येति ज्ञातमपि जगद्दुःखं
 जनयत्येव, अतो दुःखमिच्छित्सा मिथ्यात्वज्ञानादप्येव वाच्चेति
 मन्वमानो वसिष्ठः पृच्छति—गन्धर्वेति ॥ ५१ ॥ वासनाक्षय-
 पर्यन्तं हृत्तरमिध्यास्वनिश्चय एव दुःखनिवृत्त्युपायो नापीत्यस्य
 इत्याशयेनोत्तरमाह—वासनेति ॥ ५२ ॥ अत्यन्तासत्त्वदृढमि-
 थ्ये आश्रयविषयाद्यभावादेव वासनानुद्दयसिद्धिरित्याह—असत्
 इति ॥ ५३ ॥ ब्रह्मादिसहितं जगत्विद्यमाने सति बहुव्याप्री
 सत्त्वेन वा शिष्यते ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ सत्त्वो व्यावहारिकः अ-
 सत्यः प्रातिभासिको वा यक्षको यस्य प्रीतस्य दृशा सूक्ष्मत्वाभि-
 ल्यविलीनः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ कुतो नोपदेश्यस्तत्राह—
 जीवमिति । तज्ज्ञा आत्मज्ञा विवेकिनं प्राप्ताधिकारिविशेषण-

द्विचत्वारिंशः सर्गः ४२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततः स जीवो भगवन्द्दृष्टवान्देहसंभ्रमम् ।
आदिसर्गे नमःसंस्मः कामवस्थामुपैति हि ॥ १

ईश्वर उवाच ।

परस्मात्परमे व्योम्नि पूर्वोक्तक्रमतो वपुः ।
जीवः पश्यति स्वप्नं स च स्वप्नरो यथा ॥ २
सर्वगतवाञ्छितस्य कार्यं स्वप्नरोऽपि हि ।
यथा करोत्याशु तथा जीवोऽद्यापि शरीरघृक्ष ॥ ३
सनातनोऽहमव्यक्तः पुमानित्यभिधां ततः ।
करोत्यात्मनि तेनाशु प्रथमः प्रथितः पुमान् ॥ ४
एवं स सर्गे कस्मिंश्चित्प्रथमोऽथ सदाशिषः ।
कस्मिंश्चिद्विष्णुरित्युक्तो नाभ्युत्पन्नः पितामहः ॥ ५
पितामहः स कस्मिंश्चित्कस्मिंश्चिदपि चेतः ।
स च संकल्पपुरुषः संकल्पान्मूर्तिमास्थितः ॥ ६
पुष्टः प्रथमसंकल्पस्तां मनोमूर्तिमास्थितः ।
यद्यथा कल्पयत्वाशु तत्तथानुभवत्यलम् ॥ ७

मुपदिशन्ति न त्वप्राप्ताधिकारत्वादुद्भवं बहुतरभ्रान्तिशालिन-
मायैर्मुक्तमुपेक्षितमसंहृष्टाद्यभिमानित्वात्सन्मयं बालं यः अज्ञं
प्रशास्ति उपदिशति स कनकवदवदातां सुन्दरीं स्वसुतां स्वप्रदृष्ट-
पुरुषाय ददाति । सोऽपि मूर्ख एवेति यावत् ॥५९॥ इति श्री-
वासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वोक्ते जमन्मि-
थ्यात्वप्रतिपादनं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

समष्टिव्यष्टिसंसारकृत्सिरीशादिपूर्विका ।

मायैवेत्युपदिश्यात्र शंभुः स्वस्विलयं यथै ॥ १ ॥

‘जीवदेतदवस्थाकं स्थितं पश्यति देहकम्’ इत्यन्ते योऽध्या-
रोप उक्तस्तच्छेषं जिज्ञासुर्वसिष्ठः पृच्छति—तत इति । आदि-
सर्गे कल्पाद्यध्यासक्रमे । उक्तानुवादः पूर्वानुसंधानार्थः ॥ १ ॥
स च जीवः स्वप्नरो यथा सूक्ष्मतमनाडीषु विस्तृततमं ब्रह्माण्डं
पश्यति तद्वत्परमसूक्ष्मे चिदाकाशेऽपि पश्यतीत्यर्थः ॥२॥ उक्त-
मेव दृष्टान्ताशयं विवृणोति—सर्वगतत्वादिति । नाडीछिद्रान्तः
प्रवेशेऽपि सर्वशक्तिमतः सत्त्वादिति भावः । कार्यं ब्रह्माण्डं यथा
करोति तथा अद्यापि सर्वेषां प्रसिद्धमित्यर्थः ॥३॥ स एवादिसर्गे
समष्ट्युपाधिको हिरण्यगर्भोऽख्यः स्वात्मनि बाह्यबस्तुषु च नाम-
भेदमपि कथयतीत्याह—सनातन इति ॥४॥ तस्यैव सात्त्विक-
कराजसतामसकल्पेषु सदाशिवादिमूर्तिप्राथम्येनेतरकल्पकत्वं
नियतमित्याह—एवमिति ॥५॥ ‘आकाशप्रभवो ब्रह्मे’ति पूर्व-
रामायणोक्तोर्नाभ्युत्पत्तिनिमग्नः पितामहस्य नास्तीत्याशयेनाह—
पितामह इति । इतरो दुर्गाभैरवविनायकादिः । तेषामपि तत्त-
न्माहात्म्यप्रतिपादकपुराणादिभागेषु ब्रह्माशुद्भवहेतुत्वप्रसिद्धेः ।
स उक्तः सदाशिवादिपुरुषः संकल्पमयः । ‘सोऽकामवत् बहु-
स्यां प्रजायेय’ इति श्रुत्युक्तमायिकसंकल्परूपः ॥ ६ ॥ प्रथम-

तत्त्वसद्रूपमखिलं शून्यवेतालको यथा ।
भ्रमदृष्ट्या तु सद्रूपमित्खहंता जगद्गतिः ॥ ८
द्रष्टादिपुरुषस्त्वेवं स्वयं संपद्यते हि यः ।
स निमेषं प्रति व्योम समुदेत्यथ नीयते ॥ ९
निमेष एव कल्पो यो महाकल्पपरम्पराम् ।
प्रतिभासविपर्यासमात्रेणानुभवत्यलम् ॥ १०
परमाणौ परमाणौ व्योम्नि व्योम्नि क्षणे क्षणे ।
सर्गकल्पमहाकल्पभावाभावा भवन्ति ते ॥ ११
दृश्यन्ते केचिदन्योन्यं साधर्म्याद्वासनागतेः ।
मिथः केचिन्न दृश्यन्ते दृष्टेनाथ सदात्मना ॥ १२
सर्गाः सर्गेण सर्वत्र संभवन्ति न ते शिवे ।
भवन्ति परमे व्योम्नि व्योमरूपा इति स्वयम् ॥ १३
स्वयं च सदसद्रूपा लीयन्ते स्वप्नशैलवत् ।
सर्गेन देश आक्रान्तो न च कालो न कर्तृता ॥ १४
न चैते सत्स्वरूपा वा न कल्प्यं नापि च क्षणः ।
न चेदं जायते किञ्चिन्न च किञ्चन नश्यति ॥ १५

संकल्प एव सूक्ष्मभूतसर्गद्वारा पुष्टः संस्तकालसमष्टिव्यष्टिमनो-
रूपमास्थितो हिरण्यगर्भोदिरूपः सन् यद्भुवनप्रजासर्गादि यथा
कल्पयति तत्तथा व्यवहारक्षममनुभवतीत्यर्थः ॥७॥ तत्त्वदृष्ट्या
असद्रूपं भ्रमदृष्ट्या तु सद्रूपं सत्यमिव भाति ॥८॥ एवमुक्तरीत्या
य आदिपुरुषः स्वसृष्टस्य द्रष्टा संपद्यते स निमेषं प्रति निमेष-
लक्ष्यकालेऽपि स्वरूपपर्यालोचनमात्रेण व्योम चिदाकाशमात्रं
समुदेति । अथ स्वरूपविस्मरणे निमेषमात्रेणैव अनन्तमपारं च
संसारं प्रति नीयते ॥ ९ ॥ कल्पः कल्पनासमर्थः । प्रतिभा-
सस्य विपर्यासः पराकप्रवणता तन्मात्रेण ॥ १० ॥ व्योम्नि
सूचीछिद्राद्याकाशेऽपि ॥ ११ ॥ ते च सर्गभेदा यावतां जीवानां
तुल्यकालं तुल्यगोचरवासनोद्भवस्तावतां मिथो दर्शनादिव्यव-
हारसंवादिनः । अन्येषां तच्छून्या इत्येन्दवोपाख्यानन्यायमा-
त्रित्याह—दृश्यन्त इति । अदर्शने च कल्पितरूपांशे । अधि-
ष्ठानांशे तु सर्वेषां नित्यापरोक्षतैवेत्याह—दृष्टेनेति ॥ १२ ॥
तत्र युक्तिमाह—सर्गा इति । यतः सर्गेण सर्गात्मना स्थितेन
जीवेन संभाव्यमानाः सन्त एव सर्गाः संभवन्ति न तु ते शिवे
परमार्थस्वभावे परमे व्योम्नि । तत्र तेषां व्योमरूपत्वस्यैव
पर्यवसानादित्यर्थः ॥ १३ ॥ ननु सर्गा ब्रह्मसत्तानिरपेक्षाः
स्वसत्तया वा देशकालसंबन्धबलवत्सत्तया वा सन्तु तत्राह—
ह—स्वयं चेति । सदसद्रूपा नैकतरनियतस्वभावाः । एवं
देशः कालश्च सर्गैः प्राक् नाक्रान्तः । तयोरपि सर्गान्तर्गतत्वा-
त्सर्मसापेक्षरूपत्वेन सर्गाधीनकल्पनत्वाच्चैत्यर्थः । तर्हि सर्ग एव
स्वस्य कालसंबन्धरूपमन्यादृशं वा सत्त्वं करोतु तत्राह—
न कर्तृतेति । सर्गाणामिति विपरिणामेनानुषङ्गः ॥ १४ ॥ तर्हि
सर्गाः स्वयमेव यावत्प्रलयं सत्स्वरूपाः सन्तु तत्राह—न चैते

सर्वं संकल्परूपेण चिच्चमत्कुरुते चिति ।
 स्वप्नपत्तननिर्माणपातोत्पातनवज्जगत् ॥ १६
 न देशकालक्रमणं करोति च मनागपि ।
 यथा संकल्पशैलेन देशकालाद्यनन्तकम् ॥ १७
 आक्रान्तमपि नाक्रान्तं तथैव जगता सता ।
 अथ नाक्रान्तमाक्रान्तमिव संकल्पमेरुणा ॥ १८
 यथोच्चदेशकालादि तथैव जगता सता ।
 संपद्यते यथा योऽसौ पुरुषः सर्वकारकः ॥ १९
 अनेनैव क्रमेणेह कीटः संपद्यते क्षणात् ।
 तस्थुषामेवमेवेह जातयो हि चतुर्विधाः ॥ २०
 रुद्राद्यास्त्वृणपर्यन्ताः संपद्यन्ते क्षणं प्रति ।
 परमाणूपमाः सन्ति तथा केचिदणूपमाः ॥ २१
 एष एव क्रमस्तेषां सति वाऽसति सर्गके ।
 अस्याः संसारमायाया एवभूतार्थभावनात् ॥ २२
 भेदोपशान्तावभ्यासान्द्रवत्युपगतः शिवः ।
 निमेषशतभागार्धमात्रमेव परा चितिः ॥ २३
 स्वरूपतश्चेलुठिता सैषोदेत्यनवस्थितिः ।
 सा इरूपा शिलाकाश इव चित्स्वात्मनि स्थिता ॥ २४

इति । सर्गसत्पदयोः पर्यायत्वापत्तेर्नाशानापत्तेः । 'नाभावो विद्यते सतः' इति भगवत्सिद्धान्तादिति भावः । तर्हि सर्गं सत्त्व-
 मध्यस्तमेवास्तु तत्राह—न कल्पमिति । असतः सत्त्वाध्या-
 साधिष्ठानत्वासंभवादिति भावः । तर्हि वैनाशकमनवत्तत्क्षण-
 रूपमेव सत्त्वं धारयानुगतमस्तु तत्राह—नापीति । क्षणरूपस्य
 सत्त्वस्य प्रतीतिकालपर्यन्तमनवस्थितरत्नन्ताप्रतीतस्य सत्त्वं
 अलीकस्यापि तदापत्तेरिति भावः । एतेन आद्यन्तक्षणसंबन्ध-
 लक्षणौ जन्मनाशावपि सर्गस्य निरस्तावित्याशयेनाह—न चेद-
 मिति ॥ १५ ॥ एवं चास्मत्सिद्धान्त एव शरणमित्याशयेन
 प्रागुक्तं स्मारयति—सर्वमिति ॥ १६ ॥ कथं तर्हि देशकाला-
 क्रान्तताप्रत्ययस्तत्राह—यथेत्यादिना ॥ १७ ॥ यथा उच्यते
 स्थितेन संकल्पमेरुणा नाक्रान्तमेव अथापि संकल्पकाले आक्रान्त-
 मिव प्रतिभासते तद्वदिति परेणान्वयः ॥ १८ ॥ अत एव संक-
 ल्पानुसारं पुरुषकीटस्थावरादिजन्मवैचित्र्यमित्याह—संप-
 द्यते इति । सर्वकारकः ऐहिकामुष्मिकसर्वक्रियासमर्थः ॥ १९ ॥
 तस्थुषां स्थावराणां योनिरपि संपद्यते । एवमेव अण्डजादि-
 चतुर्विधजातयः संपद्यन्त इत्यर्थः ॥ २० ॥ क्षणं प्रति माया-
 धिष्ठानुः संकल्पक्षणं एव । वासनासंक्षम्यात्परमाणूपमा ईष-
 द्दिक्रासे त्रसरेणूपमाः सर्गाः सांप्रतं सन्ति ॥ २१ ॥ वर्तमानसर्ग-
 वदेवातीतानागतानामपि क्रमो बोध्य इत्याह—एष एवेति ।
 तेषां रुद्रादितृणान्तानाम् । कथं तर्हि सर्गोपरमस्तत्राह—अस्या
 इति । एवभूतस्य परमार्थतत्त्वस्य भावनात्साक्षात्कारात् ॥ २२ ॥

१ अन्धनाक्रान्तमिति पाठः.

तदनाद्यवभासात्म ब्रह्मशब्देन गीयते ।
 अस्मिन्प्रौढिं गते सर्गे महाचिह्नोत्तनं न च ॥ २५
 संगतासत्यदिग्देशकालांशपरमाणुता ।
 जीवतामागता भूततन्मात्रबलनाक्रमात् ॥ २६
 भवत्यङ्ग मृगीवीरुत्कीटदेवासुरादिकम् ।
 यस्मिन्नित्ये ततेऽनन्ते दृढे स्रगिव तिष्ठति ॥ २७
 सदसद्भ्रथितं विश्वं विश्वगे विश्वकर्मणि ।
 न तदूरे न निकटे नोर्ध्वं नाधो न तेन मे ।
 न पूर्वं नाद्य न प्रातर्न सन्नासन्न मध्यमम् ॥ २८
 अनुभवकलनामृतेऽस्य माता
 भवति न सर्वविकल्पनेष्वसत्सु ।
 फलदुरुषिभवा प्रमाणमाला
 स्थितिमुपयाति न वारिणीव वह्निः ॥ २९
 यथापृष्टं मुने प्रोक्तं त्वयि कल्याणमस्तु ते ।
 दिशं प्रयामोऽस्मिन्मतामागच्छोत्तिष्ठ पार्वति ॥ ३०
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 इत्युक्त्वा नीलकण्ठोऽसौ त्यक्तपुष्पाञ्जलौ मयि ।
 ततार परिवारेण सममम्बरकोटरम् ॥ ३१

क्षणलेशमात्रमपि चिदात्मनो बहिर्मुखत्वे कल्पकोटिविस्तृता-
 नर्धोदय इत्याह—निमेषेति ॥ २३ ॥ लुठिता प्रच्युता । चित्तः
 स्वरूपप्रतिष्ठैव ब्रह्मतेत्याह—सेति । जस्तस्ववित् तेन रूप्यते
 अनुभूयत इति इरूपा ॥ २४ ॥ अभिमानवृद्ध्या यथा यथा सर्गः
 प्रौढिं गच्छति तथा तथा चिदान्मविद्योतनहासः परिच्छेदाधि-
 क्रयप्रयुक्ता आत्मनः क्षुद्रता चेत्याह—अस्मिन्निति ॥ २५ ॥
 संगतैरसत्यैर्दिग्देशकालकृतैरंशैः परिच्छेदैः परमा मशकपुस्तिका-
 यन्ता अणुता क्षुद्रता च । आत्मन इति शेषः । 'परमाणुना' इति
 पाठे तु परमेणाणुना लिङ्गोपाधिना ब्रह्मचिज्जीवतामागता सती
 भूततन्मात्रशब्दितदेहेन्द्रियादिवलनाक्रमात् हे अङ्ग, मृगी वीरु-
 लता वा कीटदेवासुरादिकं वा भवतीति परेणान्वयः ॥ २६ ॥
 अत एव दृढसूत्रे स्रगिव विश्वं सदसद्भ्रथितं तिष्ठतीत्याह—
 यस्मिन्निति ॥ २७ ॥ विवेके तु तत्सर्वदिक्कालादिपरिच्छेदनि-
 मुक्तमेवेत्याह—न तदिति । ते त्वदीयं न । मे मदीयं च न ।
 मध्यमं सदसत्पक्षान्तरालिकमनिर्वचनीयम् ॥ २८ ॥ अत एव
 खानुभवमात्रमेव तत्र मानं न तु लौकिकं मातृमानादि तत्र
 क्रमत इत्याह—अनुभवेति । एवं सर्वविकल्पनेष्वसत्सु अस्य
 खानुभवरूपां कलनां स्वप्रकाशचैतन्यमृते विना अन्यो माता
 अनुभवितान न भवति । या तु लौकिकी फलन्त्युरवो व्यवहारविभवा
 यस्याः सक्रशात्तथाविधा प्रमाणमाला सा वारिणि वह्निरिव तत्र
 स्थितिं नोपयाति । तत्र त्रिपुटीमात्रस्य बाधादित्यर्थः ॥ २९ ॥ उप-
 देशान्तरापरिशेषं दर्शयन्तीश्वरः स्तोपदिष्टार्थमाशिषापि वसिष्ठ-
 मनुग्रहोपदेशमुपसंहृत्योत्तथावित्याह—यथेति ॥ ३० ॥ ततार

तस्मिन्गते त्रिभुवनाधिपताधुमेशे
स्थित्वा क्षणं तदनु संस्मृतिपूर्वमेव ।

अङ्गीकृतं नवपवित्रधिया मयात्म-
देवार्चनं शमवतैव जिहासितं तत् ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमात्माभिधानं नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः ४३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
एतदुक्तं परं तेन स्वयमेव च वेदयद्दम् ।
राम त्वमपि जानीषे यथेदं समवस्थितम् ॥ १
यत्रालीकमलीकेन किलालीके विलोक्यते ।
तस्यां संसारमायायां किं सत्यं किमसन्मयम् ॥ २
यथा येन विकल्पेन यद्विकल्पेन कथ्यते ।
तथा तेनात्मकल्पेन नगताऽप्यनुभूयते ॥ ३
यथा द्रवत्वं पयसि यथा स्पन्दो नभस्वति ।
यथा नभसि शून्यत्वं तथा सर्गत्वमात्मनि ॥ ४
ततः प्रभृति तेनैव क्रमेणार्चनमात्मनः ।
अद्य यावद्गतव्यग्रः कुर्वन्नहमवस्थितः ॥ ५
अनेनार्चाविधानेन मयेमे राम वासराः ।
अखिन्नेनातिवाह्यन्ते व्यवहारपरा अपि ॥ ६
यथाप्राप्तैः क्रियाचारकुसुमैरात्मनोऽर्चनम् ।
व्युच्छिन्नमपि व्युच्छिन्नं न कदाचिद्दहर्निशम् ॥ ७
ग्राह्यग्राहकसंबन्धे सामान्ये सर्वदेहिनाम् ।
योगिनः सावधानत्वं यत्तदर्चनमात्मनः ॥ ८

दृष्ट्यानया रघुपते सङ्गमुक्तेन चेतसा ।
संसारविरलारण्ये विहरास्मिन्न खिद्यसे ॥ ९
दुःखे महति संप्राप्ते धनबन्धुवियोगजे ।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य विचारं कुरु सुव्रत ॥ १०
सुखदुःखे न कर्तव्ये धनबन्धुदयक्षये ।
एवंप्राया एव सर्वा नित्यं संसारदृष्टयः ॥ ११
जानास्येव गतिं चित्रां विषयाणां प्रमाथिनीम् ।
यथायान्ति यथा यान्ति यथा परिभवन्ति च ॥ १२
एवमेव प्रवर्तन्ते प्रेमाणि च धनानि च ।
एवमेवावहीयन्ते निमित्तैरविचारितैः ॥ १३
न तास्त्व न तासां त्वं निर्मलान्तर्जगत्क्रियाः ।
इदमित्थं जगत्किञ्चित्किं मुधा परितप्यसे ॥ १४
त्वमिहासि जगद्रूपं चिन्मात्रवितताकृते ।
निजावयवकावृत्तौ कः क्रमो हर्षशोकयोः ॥ १५
तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत् ।
अतस्तव कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ १६
इति चिञ्चक्रचाञ्चल्ये चिन्मये जगद्भुधौ ।
तरङ्गजाले चाम्भोधौ कः क्रमो हर्षशोकयोः ॥ १७

पुष्टवे ॥ ३१ ॥ पूर्वमेव शमवता मया तस्य श्रीगुरोरी-
श्वरस्यानुस्मृतिपूर्वकमेव तदुपदिष्टं नित्यापरोक्षदेवार्चनं नवया
परिष्कृतया श्रद्धादिपवित्रया च धिया मयानुष्ठेयत्वेनाङ्गीकृतं
तत्प्राक्तनं जडदेवार्चनं जिहासितं चेत्यर्थः ॥ ३२ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वाधे पर-
मात्माभिधानं नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इह श्रुत्वा सर्वैराग्यं रामः स्वात्मशिवार्चनम् ।

प्रबुद्धः कृतकृत्यं स्वं तत्प्रतिष्ठमवर्णयत् ॥ १ ॥

ईश्वरोपदिष्टं तत्त्वदर्शनपर्यवसितं स्वात्मशिवार्चनं श्रीरामस्य
श्रद्धातिशयसिद्धये प्रशंसन्स्वयमपि तदेव पुनरुपदिशति—एत-
दित्यादिना । परं सर्वोत्कृष्टम् । इदं जगत्त्वम् ॥ १ ॥ यत्र
मायायां अलीके भ्रमे अलीकोपाधिघटितत्वादलीकेन जीवेन
अलीकमसदेव जगद्विलोक्यते ॥ २ ॥ तत्र कविकल्पितेन मेरु-
त्वेन राजादेवर्णने तथानुभवो दृष्टान्त इत्याह—यथेति । विविधं
कल्पयतीति विकल्पेन येन कविना यस्मिन् राजादौ मेवादिधि-
विधभावकल्पनं यद्विकल्पस्तेन काव्यरचनया यथा यथा कथ्यते
तथा तथा श्रुत्वा आत्मानं कल्पयतीत्यात्मकल्पो राजादित्सेन
स्वस्मिन्नगता मेरुता कल्पवृक्षता वाप्यनुभूयते । कथमन्यथा
काव्यार्थानुभवचमत्कारासादस्वस्य बहुवित्तत्रभमानादिकं च

कवेः स्यादिति भावः ॥ ३ ॥ विविधकल्पना चाज्ञातस्यात्मनः
स्वभाव एवेत्याशयेन दृष्टान्तान्तराण्याह—यथेति ॥ ४ ॥ एवं
स्वाभाविकस्यैव विकल्पाध्यारोपस्यार्चनत्वचिन्तनं तदाप्रभृत्यय-
पर्यन्तं कुर्वन्नेव स्थित इत्याह—तत इति ॥ ५ ॥ ६ ॥ सुषुप्ति-
काले व्युच्छिन्नमपि कदापि न व्युच्छिन्नम् । तदापि सुखमह-
मस्वाप्सं न किञ्चिद्वेदिपमित्युत्थितप्रतिसंधानहेत्वविद्यावृत्ति-
पुष्पत्रयार्चनसद्भावादिति भावः ॥ ७ ॥ तर्थाज्ञानामपि तादृश-
शिवार्चनं सदैवास्तीति कस्तत्र तेभ्यो विशेषस्तत्राह—ग्राह्येति ।
सावधानत्वं विशेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥ सा च सावधानता आसङ्ग-
त्याग एवेति दर्शयन्नर्चने दृष्टफलबाहुल्यकीर्तनेन रामं प्रवर्त-
यति—दृष्टयेति ॥ ९ ॥ त्यक्तस्यासङ्गस्य पुनरनुत्पादं विचार-
दार्ढ्यं हेतुरित्याह—दुःखे इति ॥ १० ॥ सुखदुःखे हर्षवि-
षादौ । एवंप्राया ईदृशा नश्वरा एव ॥ ११ ॥ प्रथममायान्ति
ततो यान्ति । स्वव्यसनासङ्गेन पुरुषं परिभवन्ति च ॥ १२ ॥
अविचारितैरर्तकितैः ॥ १३ ॥ हे निर्मल, ता जगत्क्रियास्तत्वा-
न्तर्न तासां त्वमन्तर्न किञ्चित्कुच्छमेव ॥ १४ ॥ यदि तु जग-
तस्तुच्छतां नेच्छसि तर्ह्यारमैव जगदिति पश्य । तथादर्शनेऽपि
तत्र बन्धादिवियोगे स्वावयवपरिवर्तन इव न हर्षशोकप्रसक्ति-
रित्याह—त्वमिति ॥ १५ ॥ १६ ॥ इति उक्त्वा रीत्या चिद्रूपे

चिदेकतानतामेत्य सौषुम्नीमागतः स्थितिरिह ।
 अद्यप्रभृति राम त्वं तुर्यावस्थसत्त्वको भव ॥ १८
 समः समसमाभासो भास्वद्वपुरुदारधीः ।
 तिष्ठात्माचारतो नित्यं परिपूर्णं इवार्णवः ॥ १९
 एतत्त्वं श्रुतवान्सर्वं स्थितस्त्वं परिपूर्णधीः ।
 यदिच्छसीतरत्पृष्ठं तत्पृच्छ रघुनन्दन ॥ २०
 यत्पृष्ठं प्रथमे कल्पे तद्य परिचोदय ।
 श्रीराम उवाच ।
 इदानीं संशयो ब्रह्मन्विनिवृत्तो विशेषतः ॥ २१
 ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं जाता तृप्तिरहृत्प्रिया ।
 न मुनेऽस्ति मलं द्वित्वं न चेत्यं न च कल्पनम् ॥ २२
 तदा ममाभूदज्ञानं प्रशान्तमधुना तु तत् ।
 कलङ्क आत्मनोऽस्तीति तदज्ञानवशेन या ॥ २३
 भ्रान्तिरासीदिदानीं सा निवृत्ता त्वत्प्रसादतः ।
 न जायते न म्रियते न चैवात्मा कलङ्कितः ॥ २४
 सर्वं च खल्विदं ब्रह्ममयमित्युदितोऽस्म्यलम् ।
 प्रश्नेभ्यः संशयेभ्यश्च वाञ्छितेभ्यश्च सर्वतः ॥ २५
 शुद्धं मे निर्मलं चेतस्त्वष्टा यन्मभ्रमादिव ।
 सर्वाचारोपदेशेषु प्राप्तप्रोक्तेषु साधुभिः ॥ २६
 निराकाङ्क्षी स्थितोऽस्म्यन्तः सुमेरुः कनकेष्विव ।
 न तदस्त्यस्ति यत्राशा न तदस्ति यदीप्सितम् ॥ २७

न तदस्ति यद्वेषं हेयं मध्यं करारवरे ।
 इदं हेयमुद्यमैरभिवं सदिक्कसत् ॥ २८
 इति चिन्ताभ्रमः शान्तो निपुणं परमो मुने ।
 न स्वर्गमभिवाञ्छामि द्वेषि वापि न रौरवम् ॥ २९
 आत्मन्येव हि तिष्ठामि मन्दराद्रिरिवाभ्रमः ।
 कणशः कीर्णत्रिजगत्क्षीरसागरसंसृतिः ॥ ३०
 विश्रान्तश्चिरसंभ्रान्तो निर्भ्रमो राम मन्दरः ।
 अवस्तिवदमिदं वस्तु पश्येति कलनास्त्यलम् ॥ ३१
 हृदि तस्य कुसुदेहजालेन ज्वलिताधिकम् ।
 इदमित्यं जगदिति ज्ञातं येन मुनीश्वर ॥ ३२
 स यत्र याति कार्पण्यं जगतस्तत्र लभ्यते ।
 विचित्राकुलकल्लोलाज्जडावृत्तिविवर्जितात् ॥ ३३
 त्वत्प्रसादेन भगवंस्तीर्णाः स्मो भवसागरात् ।
 संपदामवधिर्ज्ञातो वृष्टः सीमान्त आपवाम् ॥ ३४
 सर्वसारेऽप्यदीनाः स्मः पूर्णाः स्मः परमेश्वर ।
 यथावमेधामपरैर्दलिताशामतङ्गजम् ।
 संसारसागरे सम्यग्धीरतामागतं मनः ॥ ३५
 परिगलितविकल्पतामुपेतं
 प्रगलितव्याञ्छमदीनसारसत्त्वम् ।
 त्रिजगति यदतिप्रसन्नरूपं
 प्रमुदितमन्तरनुत्तमं मनो मे ॥ ३६

इत्यार्षे श्रीवा० रामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० विश्रान्तिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

जगत्कृत्वास्त्ये ॥ १७ ॥ उक्त्वाचनस्य परमकाष्ठायां रामं
 स्थापयति—चिदेकतानतामिति ॥ १८ ॥ ज्ञयं समः सर्व-
 वैषम्यनिर्मुक्तः । समेन ब्रह्मणा समा ऐकरस्यापक्षा जगदाभासा
 यस्य ॥ १९ ॥ २० ॥ प्रथमे कल्पे विचारारम्भे वैराग्यप्रकरणे
 स्वया यत्पृष्ठं ये प्रश्नाः कृतास्तेषु अद्य किञ्चिदवशिष्टं चेदस्ति
 तर्हि तत्परिचोदय पृच्छ ॥ २१ ॥ मलमज्ञानम् । द्वित्वं जीव-
 ब्रह्मभेदः । कल्प्यते येन तत्कल्पनं मनः ॥ २२ ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ ब्रह्मैव ब्रह्ममयं ब्रह्मविवर्तो वा । वाञ्छितेभ्यश्च
 निवृत्तमिति शेषः ॥ २५ ॥ त्वष्टा यन्त्रे आरोप्य भ्रमणं भ्रम-
 स्तलक्षितं तर्क्षणं तस्मात्सूर्यविम्बमिव शुद्धं भास्वरम् । साधुभिः
 प्राप्तेभ्य उपगतेभ्यः शिष्येभ्यः प्रोक्तेषु सर्वेषामाचाराणां साध-
 नानामुपदेशेषु निराकाङ्क्षी ॥ २६ ॥ चिरलभ्ये आशा ।
 अनुपदलभ्ये ईप्सेति भेदः ॥ २७ ॥ मध्यमुपेक्ष्यम्
 ॥ २८ ॥ रौरवं नरकविशेषं चापि न द्वेषि ॥ २९ ॥
 कणशः परमाणुशो विभज्य कीर्णानि विक्षिप्तानि विनाशितानि
 नीति यावत् त्रिजगन्ति येन तथाविधस्य क्षीरसागरस्य
 संसृतिः सर्वतो व्याप्तिरिव व्याप्तिर्यस्य । औत्प्रेक्षिकमेतत् ।
 अथवा कणशः प्रसृतैर्यशःक्षीरलवैः कीर्णानि सिक्तानि
 त्रिजगन्ति यथा तथाविधामनुवंशक्षीरसागरे संसृतिर्व्यवहारो
 यस्य तथाविधश्चिरसंभ्रान्तो रामलक्षणो मन्दराचलो बोधा-

२ तक्षणं इति पदं क्वचिन्न पश्यते.

मृतोत्पत्त्या कृतार्थः । सांप्रतं विश्रान्त उपरतभ्रमो वृत्त इति परे-
 णान्वयः ॥ ३० ॥ इदं जगत् इत्थं यथा वृष्टप्रकारमेव नाञ्छ-
 तस्त्वमस्तीति येन मूढेन ज्ञातं तस्य हृदि कुसुदेहजालेन ज्वलि-
 तेव अधिकं संतापिनी इदं वस्तु इदमवस्तु इति कलना अल-
 मस्ति हे मुनीश्वर, त्वमिति मनुक्तार्थं स्वानुभवसंवादाय पश्येति
 परेणान्वयः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ स तादृशमूढपुरुषो यत्र यस्मिन् धम्म-
 दिविषये कार्पण्यं याति जगतः संबन्धि तद्वस्तु तस्यदृष्ट्या न
 लभ्यतेऽस्माभिरिति शेषः । यतो वयं विचित्रा अज्ञानाया-
 दिलक्षणा आकुलाः कल्लोलाः षड्भूमयो यस्मिन्स्वविधाच्छुद्धचि-
 दाकारवृत्तिविवर्जिताज्जडावसागरात्परप्रसादेन तीर्णाः स्म इति
 परेणान्वयः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ सर्वसारे भूमानन्वविषयेऽपि निस्खल-
 न्धत्वादीनाः स्मः । अस्मन्मनःसंसारलक्षणे समरे दलितः
 आशतमतङ्गजो येन तथाविधं सत् परैरमेधां सम्यग्धीरतां
 ययौ ॥ ३५ ॥ पूर्णा मनःस्थितिमेव वर्णयन्नुपसंहरति—परि-
 गलितेति । अक्षीनसारमकार्पण्यदृष्टं सत्त्वं स्वैर्य यस्य । त्रिजगति
 प्रसिद्धानि पूर्णचन्द्रक्षीरसागरशरदाकाशादीनि यामि प्रसन्नरू-
 पाणि तान्यतिक्रान्तमतिप्रसन्नरूपम् । सापेक्षसमासद्वन्द्वसः ।
 अन्तःप्रमुदितमत एवानुत्तमं मे मनः स्थितमित्यर्थः ॥ ३६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 विश्रान्तिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ४४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

केवलेनेन्द्रियैः सार्धं वर्तमानार्थवर्तिना ।
 असंगमेन मनसा यत्करोषि न तत्कृतम् ॥ १
 यथा प्राप्तिक्षणे वस्तु प्रथमे तुष्टये तथा ।
 न प्राप्त्येकक्षणादूर्ध्वमिति को नानुभूतवान् ॥ २
 वाञ्छाकाले यथा वस्तु तुष्टये नान्यदा तथा ।
 तस्मात्क्षणसुखे सार्धं बालो बध्नाति नेतरः ॥ ३
 वाञ्छाकाले तुष्टये यत्तत्र वाञ्छैव कारणम् ।
 तुष्टिस्त्वतुष्टिपर्यन्ता तस्माद्वाञ्छां परित्यज ॥ ४
 यदि तत्पदमाप्तोऽसि कदाचित्कालपर्ययात् ।
 तदहंभावनारूपे न मङ्गल्यं त्वया पुनः ॥ ५
 आत्मज्ञानाच्चलस्याग्रे राम विश्रान्तवानसि ।
 अहंभावमहाश्वभ्रं न पुनः पातमर्हसि ॥ ६
 यत्स्मृतानन्तसदृष्टैश्वमेरुशिरःस्थितेः ।
 पुनर्गर्भानुकारान्तःपाताले पतनं कुतः ॥ ७
 दृश्यते ते स्वभावोऽयं समतासत्यतामयः ।
 मन्ये क्षीणविकल्पोऽसि जातोऽसि हतकालिकः ॥ ८
 स्वभावे संस्थितो राम इत्यावेदयतीव मे ।
 सौम्य पूर्णार्णवप्रख्या समता निर्मला तव ॥ ९

इहासङ्गक्षयोपाया वाञ्छात्यागादयः पुनः ।

मनःक्षयान्ता गुरुणा ज्ञानदाढ्यार्थमीरिताः ॥ १ ॥

रामेण स्वस्य तत्त्वयोधविश्रान्तौ वर्णितायामपि तत्परिपाका-
 त्प्राक् प्रच्युतिर्मा भूदिति शिलानिखातस्थूणादाढ्याय संधिकील-
 परम्परामिव जीवन्मुक्तलक्षणभूतां प्रागुक्तसाधनपरम्परामेव
 प्रतिष्ठापयिष्यन् श्रीवासिष्ठः प्रागुक्ते यथाप्राप्तव्यवहारोपभोगादि-
 लक्षणे शिवार्चनेऽपि 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवानृताः'
 इति न्यायेन प्रमादाद्धिसापारानिष्टादिप्रसक्तेरवर्जनाद्भोगस्या-
 नर्थहेतुत्वाच्च स्यादेव पुनर्जननाद्यनर्थ इत्याशङ्कां वारयन्नाह—
 केवलेनेति । केवलेन रागादिरहितेन, अतएव असंगमेन
 कर्तृत्वाभिमानलक्षणक्रियासंगमशून्येन ॥ १ ॥ ननु विष-
 याणां तुष्टिजनकत्वनियमात्कथं तेषु रागस्त्यक्तं शक्य इत्या-
 शङ्गाह—यथेति । प्राप्तिक्षणातिरिक्तपूर्वोत्तरकालयोस्तेषु तुष्टि-
 हेतुत्वव्यभिचाराचार्यं नियम इति भावः ॥ २ ॥ अतएव
 चिरानर्थं क्षणिकसुखे आसक्तोऽपि न युक्त इत्याह—वाञ्छेति ।
 वाञ्छापदेन लाभो लक्ष्यते ॥ ३ ॥ यदा वस्तुलाभकृतः क्षणि-
 कोऽपि वाञ्छानिरोधः सुखहेतुस्तदा आत्यन्तिकवाञ्छो-
 च्छेदो निरतिशयानन्दहेतुरित्यर्थादागतम्, तथाच वाञ्छैवा-
 नर्थ इत्याशयेनाह—वाञ्छाकाले इति । तुष्टिरानन्दः । अतु-
 ष्टिस्तुष्टिविरोधिवाञ्छैव पर्यन्तो विच्छेदो यस्यास्तथाविधा ॥ ४ ॥
 ननु पूर्णानन्दं पदं प्राप्तोऽहं तस्मै मया पुनर्विषयवाञ्छात्यागो-
 यो० वा० १११

आशा यातु निराशत्वमभावं यातु भाषणम् ।
 अमनस्त्वं मनो यातु तवासङ्गेन जीवतः ॥ १०
 यां यां वस्तुदृशं यासि तस्यां तस्यामवस्थितम् ।
 सत्तासामान्यरूपेण ब्रह्म बृंहितचिद्धनम् ॥ ११
 अज्ञातात्मा निबद्धोऽसि विज्ञातात्मा न बध्यसे ।
 राम त्वं स्वात्मनात्मानं बोधयस्व बलादतः ॥ १२
 यत्र न स्वदते वस्तु स्वदते च यथागतम् ।
 अवासनत्वं तद्विद्धि साम्यमाकाशकोमलम् ॥ १३
 वासनारहितैरन्तरिन्द्रियैराहर क्रियाः ।
 न विक्रियामवाप्नोषि खवत्क्षोभशतैरपि ॥ १४
 ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं त्रयमेकतयात्मनि ।
 शान्तात्मानुभवाऽभव्यं न भूयो भवभागसि ॥ १५
 चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यां संसारप्रलयोदयौ ।
 वासनाप्राणसंरोधादनिमेषं मनः कुरु ॥ १६
 प्राणोन्मेषनिमेषाभ्यां संसृतेः प्रलयोदयौ ।
 तमभ्यासप्रयोगाभ्यामुन्मेषरहितं कुरु ॥ १७
 मौर्ख्योन्मेषनिमेषाभ्यां कर्मणां प्रलयोदयौ ।
 तद्विलीनं कुरु बलाद्ब्रह्मात्मार्थसंयमैः ॥ १८
 यथा वातरजःसङ्गस्पन्दात्कं भाववेदनम् ।
 तथा चित्तश्चेत्यतया स्पन्दादिदमुपस्थितम् ॥ १९

पदेशस्ते किमर्थस्तत्राह—यदीति । पुनः कालान्तरेऽप्यहंभाव-
 पङ्के निमज्जनं मा भूदिति तत्पदस्थितिदाढ्यार्थः पुनरुपदेश
 इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ सत्यपि दाढ्यं पुनर्मज्जनं किं नाशङ्कते
 तत्राह—यदीति । यद्यस्माद्धेतोः गर्भो मातृकुक्षिगतः पिण्ड-
 स्तमनुसृत्य करोति जन्माद्यनर्थमिति गर्भानुकारोऽहंभावस्त-
 लक्षणेऽन्तःपाताले । दृढीभूतज्ञानस्यावश्यमविद्यानर्थबीजोच्छे-
 दित्वादिति भावः ॥ ७ ॥ अन्येषामुपकाराय वा मयेदमुक्तं
 तव त्वज्ञानं नष्टमिति मया समतादिलिङ्गैर्लक्षितमेवेत्याश-
 येनाह—दृश्यत इति । कालिका अविद्या ॥ ८ ॥ ९ ॥
 न सज्जनमसङ्गस्तेन जीवतः । अनुमोदने आशिषि वा
 लोद ॥ १० ॥ न मनोरथभङ्गाञ्जिराशत्वाद्याशासे किंतु सर्वतो
 निरतिशयानन्दब्रह्मलाभादित्याशयेनाह—यां यासिति ॥ ११ ॥
 बलात् मननादिदाढ्यात् ॥ १२ ॥ इदानीं निर्वासनत्वस्य स्वानु-
 भवगम्यं लक्षणमाह—यत्रेति । वस्तु भोगसुखम् । यथागतं
 प्रारब्धोपनीतं दुःखमपि ॥ १३ ॥ स्ववत् आकाशवत् ॥ १४ ॥
 अभव्यं दुःखाद्यपि त्रिपुट्येकीकारेणात्मतया अनुभव । तेन
 तस्य प्रतिकूलता शाम्यतीति भावः ॥ १५ ॥ दुःखादौ प्राति-
 कूल्यविकल्पनं मनःकृतमिति तदेव वा भुशुण्डोक्तयुक्त्या निरो-
 द्यव्यमित्याशयेनाह—चित्तेति ॥ १६ ॥ १७ ॥ अज्ञानमेव
 वा प्रवृत्तिद्वारानर्थनिदानमिति तदेव ज्ञानदाढ्येन निरसनीयमि-
 त्याह—मौर्ख्येति ॥ १८ ॥ चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यामिति यदुक्तं

दृश्यदर्शनसंबन्धस्पन्देनेयं जगद्गतिः ।
स्फुरत्यालोककुड्यादिसंगजा वर्णधीरिव ॥ २०
दृश्यदर्शनसंबन्धस्पन्दाभावे न जायते ।
वेदना भवदाभासा चित्रपुंसामिवाशये ॥ २१
चित्तस्पन्दोत्थिता माया तद्भावे विलीयते ।
पयःस्पन्दोत्थिता धीश्चित्तदभावे विनश्यति ॥ २२
त्यागेन वासनांशस्य बोधाद्वा प्राणरोधनात् ।
चित्ते निस्पन्दतां याते कुतः स्पन्दस्य संभवः ॥ २३
असंघित्स्पन्दमात्रेण याति चित्तमचित्तात् ।
प्राणानां वा निरोधेन तदेव च परं पदम् ॥ २४
दृश्यदर्शनसंबन्धे यत्सुखं पारमार्थिकम् ।
तदन्तैकान्तसंघित्या ब्रह्मदृष्ट्या मनःक्षयः ॥ २५
यत्र नाभ्युदितं चित्तं तत्तत्सुखमकृत्रिमम् ।
न स्वर्गादौ संभवति मरौ हिमगृहं यथा ॥ २६
चित्तोपशमजं स्फारमवाच्यं यवसा सुखम् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं नोदेति न च शाम्यति ॥ २७

बोधाद्भवति चित्तान्तो दुर्बोधाच्चित्तवेदिता ।
बालवेतालवत्सेन मोहभीर्धनतां गता ॥ २८
विद्यमानमपि ह्येतच्चित्तं बोधाद्विलीयते ।
सदप्यसदिवाभाति ताम्रं हेमीकृतं यथा ॥ २९
ब्रह्मस्य चित्तं न चित्ताख्यं चित्तं सत्त्वमुच्यते ।
नामार्थान्यत्वभाक्चित्तं बोधात्ताम्रसुवर्णवत् ॥ ३०
न संभवति चित्तत्वं तेन तत्प्रविलीयते ।
भ्रमः शाम्यति बोधेन नाभावो विद्यते सतः ॥ ३१
अवस्त्वेव विकल्पात्म चित्तादि शशशृङ्गवत् ।
सर्वं तदात्मनस्तस्मात्तद्धि बोधाद्विलीयते ॥ ३२
चित्तं सत्त्वं समायातं किञ्चित्कालं जगत्स्थितौ ।
विदृत्य तुर्यावस्थायां तुर्यातीतं भवत्यतः ॥ ३३
ब्रह्मैव भूरिभवनभ्रमविभ्रमौघै-
रित्थं स्थितं सममनेकतयैकमेव ।
सर्वात्म संभवति नेतरदङ्ग किञ्चि-
च्चित्तादिकं च न हृदीव हि संनिवेशः ॥ ३४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चित्तसत्तासूचनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

तद्दृष्टान्तेन स्फुटयति—यथेत्यादिना । यथा खमाकाशं वातस्य रजसां च सजास्पन्दाच्च मलिनचलनादिस्वभाववेदनं संपन्नं तथा चित्तचित्तलक्षणात्स्पन्दाच्चेत्यतया इदमनर्थजातमुपस्थितमित्यर्थः ॥ १९ ॥ उक्तेऽर्थे अन्यव्यतिरेकं दर्शयति—दृश्येति द्वाभ्याम् । नानाच्छिद्रप्रविष्टसौरालोककुड्यसंबन्धजा चित्रवर्णधीरिव ॥ २० ॥ भवतीति भवजगत्तदाभासा । यथा चित्रलिखितपुंसांमाशये हृदि भावनैव न जायते तद्वत् ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ स्पन्दस्य कौटस्थ्यच्युतिरूपस्य ॥ २३ ॥ ह्यर्थे चशब्दः ॥ २४ ॥ बोधाद्वा इति मध्यमोपायमुक्तं विवृणोति—दृश्येति । विषयैन्द्रियसंबन्धे यत्सुखं प्रसिद्धं तत्परमार्थतो ब्रह्मसुखमेव । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । अतस्त्वस्यान्तः परमावधिर्मानुषानन्दमारभ्योत्तरोत्तरं शतगुणोत्कर्षेण श्रुत्या दर्शितः 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वाज विमेति कदाचन' इति । तदेकान्तं तन्मात्रपूर्णतातत्संघित्तिरूपया ब्रह्मदृष्ट्या मनःक्षयः सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २५ ॥ तत्तत्सुखं ब्रह्मसुखं तच्च स्वर्गादिभोगभूमौ न संभवति । तत्र चित्तस्य कामास्यादिकलुषत्वादित्यर्थः । हिमं शिशिरजलं तस्य गृहं सरः ॥ २६ ॥ न वाच्यं वक्तुमशक्यम् । स्वानुभवंकगम्यमित्यर्थः ॥ २७ ॥ चित्तस्यान्तो नाशः । यतो दुर्बोधाद्भ्रान्तिवशादेव चित्तवेदिता चित्तसद्भावप्रतीतिः, बोधेन तु भ्रान्तिर्नश्यतीति युक्तचित्तनाश इति भावः । बालकल्पितवेतालवत् । तेन दुर्बोधेन ॥ २८ ॥ ननु ज्ञानिनामपि

व्यवहारदर्शनाच्चित्तमस्त्येव तत्कथं ज्ञानेन नष्टम्, सत्त्वनष्टत्वयोर्युगपदेकत्र विरोधात्तत्राह—विद्यमानमपीति ॥ २९ ॥ नामतोऽर्थतश्चान्यन्वं भजत इत्यन्यस्वभाक् ॥ ३० ॥ भ्रान्तिबीजत्वमेव चित्तस्य चित्तता सा बोधेन प्रविलीयत इत्यर्थः । घटादिनाशेऽपि कपालाद्यात्मना परिशेषदर्शनात्सतः स्वरूपेण नाशः काप्यप्रसिद्ध एवेत्याह—नाभाव इति ॥ ३१ ॥ वस्तुबोधस्यावस्तुकल्पितांशमात्रबाधकत्वप्रसिद्धेरपि न सत्त्वांशबाधकत्वप्रसक्तिरित्याह—अवस्त्वेवेति । चित्तादि सर्वं तत् पारमार्थिकस्यात्मनो विवर्त इति शेषः ॥ ३२ ॥ तर्हि किं जीवन्मुक्तचित्तस्य व्यवहारक्षमावस्था वास्तव्येव, नेत्याह—चित्तमिति । विहारसमाधिसाक्षात्कारपर्यन्ता तदवस्था न वास्तवी किंतु प्रारब्धप्रतिबद्धाविद्यालेशकृतबाधितानुवृत्तिः । विदेहकैवल्याधिर्भूततुर्यातीतावस्थैव तस्य वास्तवीति भावः ॥ ३३ ॥ तत्तुर्यातीतं ब्रह्म यावत् ज्ञातं तावच्चित्तजगदादि मिथ्यावेषेण स्थितं सर्वात्मकं भवति न चित्तादिकं नाम किञ्चिदितरद्वस्त्वन्तरमस्तीति ज्ञानमात्रेण तन्मात्रस्वभावपरिशेषचित्तादेर्युक्त एवेत्याशयेनाह—ब्रह्मैवेति । यथा हृदि मनोरथपरिकल्पितप्रासादोपवनवाप्यादिसंनिवेशस्तत्रासमावेशादेव नास्ति तद्वत्परमसूक्ष्मे अच्छिद्रचिंदेकरसघने ब्रह्मण्यपि जगदक्षमावेशादेव नास्तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चित्तसत्तासूचनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

पञ्चत्वारिंशः सर्गः ४५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अत्रेमामवबोधाय विसयोह्लासकारिणीम् ।
 अपूर्वां चैव संक्षेपाद्राम रम्यां कथां शृणु ॥ १ ॥
 योजनानां सहस्राणि विपुलं विमलं स्फुटम् ।
 युगैरप्यजरद्रूपमस्ति विश्वफलं महत् ॥ २ ॥
 भविनाशरसाधारं सुधामधुरसारवत् ।
 पुराणमपि बालेन्दुदलमार्दवसुन्दरम् ॥ ३ ॥
 ब्यूहमभ्यमहामेकं मन्दराद्रिरिवाबलम् ।
 महाकल्पान्तवात्याया अपि वेगैरञ्जलितम् ॥ ४ ॥
 योजनायुतकोटीनां कोटिलक्षशतैरपि ।
 वैपुस्येनापरिच्छेद्यं मूलमाद्यं जगत्स्थितेः ॥ ५ ॥
 यस्य विश्वफलस्योच्चैर्ब्रह्माण्डानि समीपतः ।
 हरन्ति लीलां शैलाद्यो राजिकाकणपद्भतेः ॥ ६ ॥
 स्यन्दमानरसापूरां स्वाद्रीं रसचमत्कृतिम् ।
 यस्यातिशेते नो कश्चिदपि राघव षड्रसः ॥ ७ ॥
 न कदाचन पाकेन पातं तेन समेति यत् ।
 सदैव पक्वमप्यङ्ग जरसा यन्न बाध्यते ॥ ८ ॥
 ब्रह्मविष्ण्वन्दुरुद्राद्या जरठाः केचिदेव न ।
 यस्योत्पत्तिं विजानन्ति मूलं वा वृन्तमेष च ॥ ९ ॥
 अदृष्टाङ्गुरवृक्षस्य त्वदृष्टकुसुमाकृतेः ।

स्नानन्दरससंपूर्णं त्रिजगत्कल्पनास्पदम् ।

इह विश्वफलत्वेन परं ब्रह्मोपबर्ण्यते ॥ १ ॥

कथां विल्लाख्यानाख्याम् ॥ १ ॥ न जीर्यत इत्यजरद्रूपं
 स्वभावो यस्य ॥ २ ॥ सुधेव सुधापेक्षया वा अतिमधुरसार-
 वत् । बालेन्दोरङ्गुरप्रायात्प्रतिदिनमुपचीयमानानि इलानीव याः
 कलास्तानीव मार्दवेन त्वङ्मयनमुखस्पर्शतया सुन्दरम् ॥ ३ ॥
 भुवनव्यूहमध्यगतमहामेहरिव मेढीभूतम् । मन्दराद्रिरिवाचलं
 दृढम् ॥ ४ ॥ प्रागुक्तं सहस्रपदमसंख्यपरमिति व्याचष्टे—
 योजनेति । जगतः स्थितेर्विधारणस्य नियमनस्य च मूलम् ॥ ५ ॥
 हरन्ति वहन्ति । राजिका सूक्ष्मसर्षपास्तत्कणानां पद्भतेः पङ्केः
 ॥ ६ ॥ षड्रसः षड्भिन्निद्रयभोग्यब्रह्मलोकान्तमुखलवः प्रसिद्धो
 वा ॥ ७ ॥ तेन तादृशरसयुक्तेनापि पाकेन यत् पातं पतनं न
 समेति । तर्हि किं स्वस्थान एव जीर्यति, नेत्याह—सदैवेति
 ॥ ८ ॥ जरठाश्चिरामुषः ॥ ९ ॥ १० ॥ विततमतिविस्तीर्णं
 यस्त्वौत्स्यं बृहत्सा तच्छालिनः ॥ ११ ॥ समस्येषु फलेषु पुरुषा-
 र्भेषु च सारस्य श्रेष्ठस्य । अष्टि बीजं नास्ति ॥ १२ ॥ शिलया
 अन्तःप्रदेश इव नीरन्ध्रो घनः । 'विज्ञानघन एव' इति श्रुतेः ।
 स्यन्दमानेन्दुबिम्बवत् स्वसंविदासृतमिवास्वाद्यं निरतिशयानन्द-
 रसं स्यन्दमानः ॥ १३ ॥ कोशा इति । 'एतस्वैवानन्दस्यान्यानि
 भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । आत्मनो आजुवान-
 न्दादिहैरण्यगर्भानन्दान्तकर्मफलस्थितेर्मेधा सारः ॥ १४ ॥

अस्तम्भमूलशास्त्रस्य फलस्यास्य महाकृतेः ॥ १० ॥
 एकपिण्डघनाकारविततस्थौल्यशालिनः ।
 यस्योत्पत्तिविकारादिपरिणामो न दृश्यते ॥ ११ ॥
 समस्तफलसारस्य फलस्यास्य महाकृतेः ।
 न मज्जा नाष्टि विततो निर्विकारो निरञ्जनः ॥ १२ ॥
 शिलान्तरिष नीरन्ध्रः स्यन्दमानेन्दुबिम्बवत् ।
 रसं स्वसंविदास्वाद्यं स्यन्दमान इवामृतम् ॥ १३ ॥
 कोशः सकलसौख्यानां शीतलालोककारकः ।
 शैलाभोऽमृतपिण्डाभो मज्जा आत्मफलस्थितेः ॥ १४ ॥
 तस्मात्परममज्जा तु यासौ स्वात्मचमत्कृतिः ।
 अनन्तरक्षितो नित्यमनन्यः श्रीफलं गतः ॥ १५ ॥
 स्वसंनिवेशवैचित्र्यमन्यत्वफलतां गताम् ।
 अत्यजन्त्या तथा तन्व्या स्थूलयाप्यतिबालया ॥ १६ ॥
 इयमस्मीति कलनादसद्व्यन्यतामलम् ।
 मेदाद्यसंभवदिवं स्वयमुत्पाद्य भावितम् ॥ १७ ॥
 अहंकलासमुद्यसमनन्तरमेव सा ।
 वलिताकाशशब्दाङ्गत्रैलोक्यपरमाणुभिः ॥ १८ ॥
 इत्यनुक्रमतो याता संविच्छक्तिस्वरूपताम् ।
 मज्जा प्राक् संनिवेशं स्वं तमेवाप्य समुज्जती ॥ १९ ॥

तस्माद्द्वैरण्यगर्भानन्दफलादपि परमस्याव्यक्तस्य मज्जा । अनन्तेन
 त्रिविधपरिच्छेदद्वयस्वभावेनैव रक्षितः । स्वात्मकमेव श्रीफलं
 बिल्वं गतः स चानन्यः । अद्वय एवेत्यर्थः ॥ १५ ॥ अनन्यत्व-
 मेवोपपादयितुं चमत्कृतिपदस्वारस्यं प्रकटयति—स्वसंनिवेशे-
 त्यादिना । यतस्तथा स्वात्मचमत्कृत्या स्वाध्यस्तस्यान्यत्वस्य
 मेदजातस्य फलतां परमप्रयोजनतां गतं चिदेकरसमज्जारूपं
 पारमार्थिकं स्वसंनिवेशवैलक्षण्यमत्यजन्त्येव इदं मेदादि स्वय-
 मुत्पाद्य भावितमिति परेणान्वयः । प्रकारान्तरैरपि तस्याश्चम-
 त्कृतिलोपपादनाय तन्व्येत्यादिविरुद्धविशेषणानि । अणोरणी-
 यस्त्वात्तन्व्या । महतो महीयस्त्वात्स्थूलया । चिरंतनत्वेऽपि
 वृद्ध्यादिविकाराभावादतिबालया ॥ १६ ॥ असतोऽपि मेदस्योत्पा-
 दने को हेतुस्तमाह—इयमिति । इयमहमस्मीति अनिदमि इद-
 न्ताध्यास एव तद्धेतुरित्यर्थः । अन्यथा पृथक्त्वं तदापादकमल-
 मविद्यामेवंभूतभुवनमेदादिरूपेणोत्पाद्येत्यर्थः । असंभवदित्यनेन
 स्वप्रकाशचिदेकरसे मलस्यैव संभवो नास्ति सुतरां तत्कार्य-
 मेदस्येति द्योत्यते ॥ १७ ॥ स्वोत्पादितैर्भूतभुवनादिमेदैरहंतो-
 त्पादनद्वारा आग्निमानिकं संवलनं सा लभत इत्याह—अहं-
 मिति । अहंकला अहंकारस्तस्याः समुद्यो व्यष्टिसमष्टिरूपेणो-
 द्भवस्तत्समनन्तरम् । आकाशस्तद्रुणः शब्दश्चाङ्गे द्रव्यगुणैकदेशौ
 येषां तथाविधैर्लोक्योपलक्षितव्यष्टिसमष्टिशरीरपरमाणुभिः
 ॥ १८ ॥ स्वस्वरूपापि त्वागेनैवैकरूपापि तदेवास्या महती आत्म-

संविच्छक्त्या तथा तत्र ततस्तरलरूपया ।
 निज एव समे रूपे दृगित्थं संप्रसारिता ॥ २०
 इदं व्योम महानन्तमित्यं कालमयी कला ।
 इयं नियतिरित्युक्ता क्रियेयं स्पन्दरूपिणी ॥ २१
 अयं संकल्पविस्तारस्त्वयमाशान्तरभ्रमः ।
 रागद्वेषस्थितिरियं हेयोपादेयधीरियम् ॥ २२
 इयं त्वत्ता त्वियं मत्ता तत्तेयं संस्थिता स्वयम् ।
 ब्रह्माण्डौघोऽयमूर्ध्वस्थः स्वयमङ्गोर्ध्वमप्यधः ॥ २३
 अयं पुरः पार्श्वतोऽयं पश्चादाराह्वीयसी ।
 इदं भूतं वर्तमानं भविष्यत्त्विदमित्यपि ॥ २४
 इदमन्तःस्थितानल्पकल्पनाम्भोरुहालयम् ।
 ब्रह्माण्डमण्डपापीडक्रीडामण्डपमण्डलम् ॥ २५
 अनन्तकलनातत्त्वपरिप्लवित्वा हरेः ।
 हृदञ्जकर्णिका चेयं लोकपद्माक्षमालिका ॥ २६
 इयं कीर्णमहारुद्रगणापूरितकोटरा ।
 दीर्घाभ्रसरणिभ्रान्तध्वंसनेभ्यः प्रभाविनी ॥ २७
 इयं मेरुः ककुभ्यत्र जगत्पङ्कजकर्णिका ।
 स्फुरदिन्दुमधूलासलम्पटामरषट्पदा ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० बिल्वोपाख्याने पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः ४६

श्रीराम उवाच ।

भगवन्सर्वसारञ्च त्वयैषा बिल्वरूपिणी ।

चमत्कृतिरित्थं मया वर्णितेत्युपसंहरति—इतीति । शक्तिर्व्य-
 वहारसमर्थता तत्स्वरूपताम् ॥ १९ ॥ समे निर्विकारे निजे
 रूपे एव इत्थं जगदाकारा दृक् संप्रसारिता ॥ २० ॥ इत्थं च
 वियदादिसर्वमित्यमेव नान्यदस्याः किञ्चिदिति द्रष्टव्यमित्याह—
 इदमित्यादिना ॥ २१ ॥ आध्यात्मिकार्था अपीयमेवेत्याह—
 अयमिति ॥ २२ ॥ २३ ॥ लिङ्गभेदः आत्मा ब्रह्मेत्यादिवि-
 शेष्यपदमध्याहृत्य योज्यः । दवीयसी दूरतरा ॥ २४ ॥
 अन्तःस्थिता अनन्ताः कल्पनाम्भोरुहाणामालया जीवा यस्मि-
 स्तथाविधम् ॥ २५ ॥ अनन्तैः कलनातत्त्वैः रचनरहस्यैः
 परितः प्लवित्वा ॥ २६ ॥ कीर्णैः सर्वतोव्याप्तैर्महारुद्रगणैः
 पूरितकोटरा । अभ्रसरणिराकाशपदवी । 'अस्मिन्महत्तुर्णवेऽन्त-
 रिक्षे भवा अधि । नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाः' इति श्रुते-
 रिति भावः । भ्रान्ता विषयलम्पटाः स्वर्गिणस्तेषां ध्वंसनेभ्यः
 अधःपतनेभ्यो निमित्तेभ्यः प्रभाविना प्रतापवती, प्रकाशवती
 वा । नक्षत्रपाते नभःपथे प्रभानुवृत्तिदर्शनादित्यर्थः ॥ २७ ॥
 अत्र अस्यामुत्तरस्यां ककुभि दिशि । इन्दुलक्षणस्य मधुन
 उल्लासे अमृतमकरन्दे लम्पटाः अमरलक्षणाः षट्पदा यस्याम्
 ॥ २८ ॥ रजोगुणकार्यरागादिना नरकैर्दुःखैश्च मूलिनो मूलवतो
 जगज्जरठवृक्षस्य उद्दामसौगन्ध्या स्वर्गश्रीलक्षणा पुष्पमञ्जरी इय-
 मेवेत्यर्थः ॥ २९ ॥ ऊर्ध्वमपारा परितश्चापारपर्यन्ता । व्योम-

इयमुद्दामसौगन्ध्यस्वर्गश्रीपुष्पमञ्जरी ।
 जगज्जरठवृक्षस्य रजोनरकमूलिनः ॥ २९
 इयं च तारार्कजल्का ब्रह्मार्णवतटस्थिता ।
 अपारापारपर्यन्ता व्योमलीलासरोजिनी ॥ ३०
 इयं क्रियापरिप्राहा तरङ्गतरलावली ।
 सर्गावर्तविधानस्थभूरिभूतपरम्परा ॥ ३१
 इयत्तया प्रसरिणी क्षणकल्पादिपल्लवा ।
 तेजःकेसरिणी कालनलिनी व्योमपङ्कजा ॥ ३२
 इमा भावविकाराढ्या जरामृतिविषूचिकाः ।
 विद्याविद्याविलासाढ्या इमाः शास्त्रार्थदृष्टयः ॥ ३३
 इति सा तस्य बिल्वस्य निजमज्जाचमत्कृतिः ।
 संकल्पसंनिवेशान्तरेवैव कृतसंस्थितिः ॥ ३४
 शान्ता स्वस्था निराबाधा सौम्या भावनयोजिहता ।
 कर्तृत्वमप्यकर्तृत्वं कृत्वाऽकृत्वेव संस्थिता ॥ ३५
 एषैकिकैव विविधेव विभाव्यमाना
 नैकात्मिका न विविधा ननु सैव सैव ।
 सत्यास्थिता सकलशान्तिसमैकरूपा
 सर्वात्मिकातिमहती चित्तिरूपशक्तिः ॥ ३६

महाचिद्धनसत्तेह कथितेति मतिर्मम ॥ १

लीला व्योमाकारा सरोजिनी कमलिनी सरसी वा इयमेवेत्यर्थः
 ॥ ३० ॥ क्रियाः कर्माण्येव परितो प्राहा यस्याम् । तरङ्गा इव
 तरला मासर्लावली यस्याम् । सर्गः प्रजोत्पादनं तल्लक्षणे आव-
 र्तानां विधाने कार्ये तिष्ठतीति तन्स्था भूरिभूतपरम्परा यस्याम्
 ॥ ३१ ॥ इयत्तया प्राण्यायुःपरिमाणेन प्रसरिणी विस्तृता ।
 तेजोभिरभ्यादित्यचन्द्रादिभिः केसरिणी । व्योमैव पङ्कजं यस्या-
 स्ताथाविधा कालनलिनी इयमेव ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ इति वर्णित-
 प्रकाराः सर्वे सा निजमज्जाचमत्कृतिरेव । एवंप्रकारैर्व्यष्टिसम-
 ष्टिसंकल्पसंनिवेशस्यान्तःकृतसंस्थितिः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ बिल्व-
 रूपायिकां समाप्य स्वरूपेणैव चित्तं वर्णयन्नुपसंहरति—
 एषेति । एकत्वसंख्याया अपि द्वैतापादकत्वाच्चैकात्मिका नापि
 विविधा किंतु सैव एकत्वं सैवैका । वीप्सया सजातीयविजाती-
 यनिवृत्तिर्वा । सकलस्य द्वैतविकल्पस्य शान्त्या समैकरूपा ।
 अनेन स्वगतभेदस्यापि व्यावृत्तिः । अतिमहती ब्रह्मशब्दलक्ष्या
 चित्तिरूपा शक्तिरेवेत्थं व्युत्पादितेत्यर्थः ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे बिल्वोपाख्याने
 पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इह क्षिपिमनोदृष्टपद्मिनीखण्डमण्डितम् ।

शिलोदरमिव ब्रह्म प्रपञ्चाभासमीर्यते ॥ १ ॥

श्रीरामः स्वस्य बिल्वारूपायानतात्पर्यबोधं दर्शयति—भगव-

१ महतीति निरूपशक्तिः इति मुद्रितपुस्तके पाठः.

चिन्मज्जारूपमखिलमहंतादीदमाततम् ।
 न मनागपि मेदोऽस्ति द्वैतैक्यकलनात्मकः ॥ २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 यथा ब्रह्माण्डकूटमाण्डमज्जामेर्वासिस्थितिः ।
 तथा चिद्विल्वमज्जेयं ब्रह्माण्डादिजगत्स्थितिः ॥ ३

सृष्टिचिद्विल्वमज्जा स्यात्स्वाधारान्यत्वसंभवे ।
 विनाशः सर्वगस्यास्य न चैतत्संभवत्यलम् ॥ ४

चित्तेर्मरीचबीजस्य जगदाख्या चमत्कृतिः ।
 स्थिता सौषुप्तसौम्यान्तः शिलान्तःसंनिवेशवत् ॥ ५

अत्रेमामिन्दुवदन चित्रां विस्मयकारिणीम् ।
 वर्ण्यमानां मया रम्यामन्यामास्यायिकां शृणु ॥ ६

स्निग्धा स्पष्टा मृदुस्पर्शा महाविस्तारशालिनी ।
 निषिडा नित्यमधुग्धा कचिदस्ति महाशिला ॥ ७

तस्यामन्तः प्रफुल्लानि पद्मानि सुबहून्यपि ।
 सरस्यामिव रम्याणि तान्यनन्तानि सन्ति वै ॥ ८

अन्योन्यप्रोतपत्राणि मिथो विघटितानि च ।
 मिथश्चोपनिगूढानि गूढानि प्रकटानि च ॥ ९

अधोमुखान्यूर्ध्वमुखान्यपि तिर्यङ्मुखानि च ।
 मिथोमिलितमूलानि मिथःप्रोतमुखान्यपि ॥ १०

कर्णिकाजालमूलानि मूलान्तःकर्णिकानि च ।
 ऊर्ध्वमूलान्यधोमूलान्यमूलानीतराणि च ॥ ११

चित्ति द्वाभ्याम् ॥ १ ॥ २ ॥ नाहंतादिमात्रं चिद्विल्वमज्जा
 किंतु ब्रह्माण्डादिसर्वमपीति निःसंकोचं बोध्यमित्याशयेन वसिष्ठ
 उवाच—यथेत्यादिना ॥ ३ ॥ चिद्विल्वस्य मज्जेत्युक्ते अन्तः-
 प्रदेशस्थावयवानां रसघनः परिणामविशेष इति कस्यचिद्भ्रान्ति
 वारयति—सृष्टिरिति । यथा बिल्वखर्परं मज्जाया आधारस्तथा
 सृष्टिलक्षणमज्जाया आधेयायाः स्वाधारस्य खर्परस्थानीयस्यान्य-
 न्वसंभवे तदन्तःपरिणामरूपा मज्जा स्यात् । तत्र सर्वगस्यास्य
 चिदात्मनः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा परिणामित्वे विनाशो दुर्वारः ।
 न चैतन्निरवयवे मुह्योऽन्तःप्रदेशः परिणामो वा संभवतीति न
 मज्जाशब्दः परिणामपर इत्यर्थः ॥ ४ ॥ तर्हि किंपर इति चेद्वि-
 वर्तलक्षणचमत्कारपर इत्याशयेनाह—चित्तेरिति । शिलान्तः
 शिल्पिमनःकल्पितपद्मवनसंनिवेशवदित्यर्थः ॥ ५ ॥ दृष्टान्तं
 विषरीतुं ब्रह्मशिलाख्यायिकां प्रस्तौति—अत्रेति ॥ ६ ॥ ७ ॥
 मनःकल्पनानामानन्त्यादनन्तानि ॥ ८ ॥ उपनिगूढानि संच्छिद्यानि
 ॥ ९ ॥ १० ॥ दृष्टवैपरीत्येनापि मनःकल्पनसंभवादाह—
 कर्णिकेति । कर्णिकाजालेषु मूलानि येषाम् । इतराणि कानि-
 चिदमूलानि च ॥ ११ ॥ शङ्खाः पद्ममुकुलवत्संनिवेशिनः ।
 चक्रौघास्तु विकसितपद्मवत्संनिवेशिन इत्यर्थाद्भ्रम्यते ॥ १२ ॥
 स्वयं तीर्थयात्रायां शालग्रामक्षेत्रे दृष्टां शिलां गुह्याक्या-
 त्स्मरन् रमः सैवान्न भगवता जगत्कल्पनासहितब्रह्मदृष्टान्तत्वे-

तेषां च निकटे सन्ति शङ्खाः शतसहस्रशः ।
 चक्रौघाश्च महाकाराः पद्मवत्संनिवेशिनः ॥ १२

श्रीराम उवाच ।
 सत्यमेतन्मया दृष्टा तादृशी सा महाशिला ।
 शालग्रामे हरेर्घाञ्जि विद्यते परिवारिणी ॥ १३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 एवमेतद्विजानासि दृष्टवानसि तां शिलाम् ।
 यो यश्च तत्र वै प्राणः समस्तादृगनन्तरः ॥ १४

मया त्वियमपूर्वैव शिलेह कथिता तव ।
 यस्यामन्तर्महाकुक्षौ सर्वमस्ति च नास्ति च ॥ १५

चिच्छिलैषा मयोक्ता ते यस्यामन्तर्जगन्ति वै ।
 घनत्वैकात्मकत्वादिवशादेषा शिलैव चित् ॥ १६

अप्यत्यन्तघनाङ्गायाः सुनीरन्भ्राकृतेरपि ।
 विद्यतेऽन्तर्जगद्दृष्टं व्योम्नीव विपुलानिलः ॥ १७

धौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
 सन्ति तस्यां शिलायां च सुषिरं न मनागपि ॥ १८

अस्यामेव घनाङ्गात्म जगत्पद्मं विजृम्भते ।
 एतस्माद्दस्तुतो नान्यदन्यच्छुद्धात्मकं च वा ॥ १९

शङ्खपद्मादिकं लोकं पाषाणे लिख्यते यथा ।
 भूतं भवद्भविष्यच्च शिलायां शालभञ्जिका ॥ २०

तथास्ति तत्र तत्सर्वं संस्थानं वस्तुतो यथा ।
 उपलान्तः संनिवेशो नानात्मान्येकपिण्डताम् ॥ २१

नोदाहतेति मन्यमान आह—सत्यमेतदिति । परिवारिणी
 पद्मवनलाच्छनपरिष्टता ॥ १३ ॥ दृष्टान्तं दार्ष्टान्तिकसंबन्धस्त्वया
 सम्यग्बुद्ध इत्यनुमोदमानो वसिष्ठ आह—एवमेतदिति ।
 तां दृष्टान्तभूतां शिलां दृष्टवानसीति विजानासि । यश्च तादृग-
 दार्ष्टान्तिकभूतश्चिदात्मा यो यादृशस्वभावः । अनन्तरो निरव-
 काशचिद्वनः । समः प्राणस्यापि प्राणो निरतिशयानन्दरूपस्तत्र
 तस्मिन्नपि विषये दृष्टवानसीति विजानासि ॥ १४ ॥ मया तु
 न त्वद्दृष्टशिला दृष्टान्तत्वेनाभिप्रेता कित्त्वपूर्वा ब्रह्मैव शिलात्वेन
 परिकल्प्य बिल्वमिवोपन्यस्तेति उपाये तात्पर्यविसंवादेऽपि नो-
 पेये विसंवाद इत्याशयेनाह—मया त्विति ॥ १५ ॥ चिदा-
 त्मनि गौण्या शिलाशब्दप्रयोगनिमित्तान्गुणान्दर्शयति—घन-
 त्वेति । आदिपदादभेद्यत्वेकरसत्त्वकूटस्थत्वादिपरिग्रहः ॥ १६ ॥
 अपिशब्दाभ्यां सूचितो विरोधो मायया परिहर्तव्यः ॥ १७ ॥
 ॥ १८ ॥ जगदेव मया तत्र पद्मवनत्वेनोत्प्रेक्षितमित्याह—
 अस्यामेवेति । तत्र जगदन्यदिव भातमपि वस्तुतो नान्यत्
 शुद्धचिदात्मकं च वा न किंतु मायैवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ 'तेषां च
 निकटे सन्ति शङ्खाः शतसहस्रशः' इति यदुक्तं तत्तात्पर्यमाह—
 शङ्खेति । लोक्यत इति लोकं चित्रं लिख्यते शिल्पिमनः-
 कल्पनया यथा तथा भूतं भव्यं सर्वं जगत् । तत्र शालभञ्जिका
 वस्तुतो यथा वास्तवीव अस्तीति परेणान्वयः ॥ २० ॥ २१ ॥

यथावसे तथैषा चित्पिण्डाकारैकिकां घनाम् ।
 यथा पद्मः शिलाकोशादभिन्नस्तद्भुवर्मयः ॥ २२
 तथा सर्गश्चित्तो रूपादभिन्नोऽपि चपुर्मयः ।
 सुषुप्तावस्थया चक्रपद्मलेखाः शिलोदरे ॥ २३
 यथा स्थिताभित्तेरस्तस्तथेयं जगदावली ।
 शिलान्तः पद्मलेखाली मरिचान्तश्चमत्कृतिः ॥ २४
 मोदेति नास्तमायाति यथा सर्गस्तथा चित्तौ ।
 यथा पुरन्ध्यां मर्त्योऽस्तर्मज्जा वा बिस्वगा यथा ॥ २५
 तथाऽनन्तविकाराख्या चित्तौ ब्रह्माण्डमण्डली ।
 विकारादि तदेवेति मुधैवोक्तिरनर्थिका ॥ २६
 तप्तां समुपयास्याशु जलविन्दुरिवाभ्रमसि ॥
 अनन्तत्वाच्चित्तेरेतद्विकारादि चित्तेरिति ॥ २७
 उक्त्या संपद्यते यच्च तद्भवेन विलीयते ।
 ब्रह्मैवेदं विकारादि विकाराद्यर्थवर्जितम् ॥ २८
 वर्जनावर्जनेऽर्थात् ब्रह्मैवानन्ततावशात् ।
 ब्रह्म स्थितं विकारादि ब्रह्मैवोत्पादितं क्रमात् ॥ २९
 अत्राप्यर्थजिदं विद्धि मृगतृष्णाभ्रसा समम् ।
 बीजं पुष्पफलान्तस्य बीजान्तर्नान्यदात्मकम् ॥ ३०
 यादृशी बीजसत्ता सा भवन्ती यात्यथोत्तरम् ।
 चिदने चिदन्तत्वं यस्त एव त्रिजगत्क्रमः ॥ ३१
 एकत्वमेतद्वोक्तिस्त्वमेकामये द्वयोः क्षतिः ।
 जगदन्वयध्वोद्भूतिर्न कदाचित्तदीदृशम् ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० शिलाकोशोपदेशो नाम षट्त्वारिंशः सर्गः ॥४६॥

चिदचिन्न कदाचिन्न इयमस्तर्मिथोऽद्वयम् ।
 महाशिलान्तरे भेदो लेखात्मास्ति यथा बहुः ।
 तदन्यानन्यमज्जादि चिदने त्रिजगत्तथा ॥ ३३
 रेखोपरेखावलिता यथैका पीषरी शिला ।
 तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिति दृश्यते ॥ ३४
 एतच्छिलान्तरह्लादि यथा नित्यं सुषुप्तकम् ।
 नास्तमेति न मोदेति तथाऽहंता जगत्प्रतिः ॥ ३५
 यथा शिलान्तर्लेखादि भिद्यते न शिलान्तरात् ।
 तत्सारत्वाज्जगत्कर्तृ कर्तृत्वादिजगच्चितिः ॥ ३६
 यथा शिलान्तरह्लातां स्पन्दस्पर्न्दभवाभवाः ।
 विषयत्वं न गच्छन्ति कर्तारो जगतस्तथा ॥ ३७
 नेदं कदाचित्क्रियते न कदाचन नश्यति ।
 अद्रिवत्प्रभवोल्लासबिलासावेदनात्मकम् ॥ ३८
 यथा यत्र यदाकारं तथा तत्र तदेव हि ।
 ब्रह्मसत्तात्मकं सर्वं सुषुप्तस्थमिव स्थितम् ॥ ३९
 भूरिभावविकाराख्यो योऽयं जगदुद्वेगमः ।
 सुषुप्तमेव तद्विद्धि शिलान्तः पङ्कजादिबत् ॥ ४०

नित्यं सुषुप्तपदमेव जगद्विलासः

सम्यक्प्रशान्तसमच्चिदन्तत्वात्मकत्वात् ।

पद्माः शिलान्तरिच सर्गदशास्त्वसारा

दृष्टा न देहमुपयान्ति कदाचिदेव ॥ ४१

आवसे स्त्रीकरोति तथा एषा चिदपि घनां एकिकां एक-
 पिण्डतां स्त्रीकरोतीत्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्स्वरूपादभिन्नोऽपि
 चपुर्मयः परिच्छिन्नाकार इव भातीत्यर्थः । सुषुप्तावस्थया टङ्क-
 षोदात्प्राग्भ्रमिभ्यक्तवेत्यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥ सतोः शिलाम-
 रिक्तयोर्भवेति नास्तमायाति तथेत्यर्थः । पुरन्ध्यां सुचरित्रायां
 त्रिकामन्तर्मनसि मर्त्यसात्कान्तः सर्वैवास्ति ॥ २५ ॥ यदा
 विकारिणां ब्रह्माण्डानां चिन्मात्रत्वं तदा तद्विकारभुवनक्षरीरा-
 दिभेदानां चिन्मात्रत्वमर्थसिद्धमिति तदुक्तिरर्थान्यत्वात्सुधा
 चिन्मलेव ॥ २६ ॥ कुतोऽर्थान्यत्वात् तत्राह—तत्तामिति । यत
 एतद्विकारादि आशु ब्रह्माण्डानां चिन्मात्रतादर्शनक्षण एव तप्तां
 चिन्मात्रतां समुपयाति न पृथगणुमात्रमप्यवशिष्यत इति हेतोः
 ॥ २७ ॥ कविकर्मितनन्धर्वनगरवैविध्यवुक्तिमात्रसिद्धत्वादपि
 तस्य त्रयोवृत्तिमात्रत्वमित्याह—उक्तयेति । 'स भूरिति व्याह-
 रद् भुवमसृजत । एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत असृ-
 जमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृन्' इत्यादिश्रुत्या भुवनादि-
 सर्गस्य नामपूर्वकत्वोक्तेरेव नासृजनेन लयोऽप्युह्यः ॥ २८ ॥
 विकाराद्यर्थवर्जनमपि न वस्त्यन्तरमिह्याह—वर्जनेति ॥ २९ ॥
 पुष्पफलान्तस्येते स्वकार्यं बीजवत्सर्वत्र चित्तसत्तानुसृतिदर्शनादपि
 सर्वं चिदेवेत्याह—बीजेत्यादिना ॥ ३० ॥ अङ्कुरादिपूर्वपूर्वविका-

रेषु भवन्ती विद्यमानैव, अथ उत्तरकालं काण्डशाखापङ्कवादि
 याति ॥ ३१ ॥ द्वैतस्यैकत्वकल्पनाधीनकल्पनत्वात्प्यकल्पित-
 चिन्मात्रं तत्त्वमित्याह—एकत्वमिति । एतयोर्बीजतत्कार्ययोः
 अन्यभवश्चिद्यतिरिक्तजाव्यकल्पना तदधीनोद्भूतिः । तन्निद्रुपं
 तु कदाचिदपि ईदृशं जाव्यस्वभावं न संभवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥
 तदेव स्फुटयन् प्रकृते योजयति—चिद्विति । मज्जादिविल्वे
 इति शेषः ॥ ३३ ॥ एकं ब्रह्म इति प्रसिद्धजगद्रूपेण दृश्यते
 ॥ ३४ ॥ सुषुप्तकं शिल्पिवासनामात्रम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ जग-
 त्कर्तृ जीवेश्वररूपं तदीयं कर्तृत्वादिजगच्च चित्तिभिदेव । भवा-
 भवा आविर्भावतिरोभावाः ॥ ३७ ॥ शिला यथा तत्त्वदर्शने
 विषयत्वं न गच्छन्ति तथा आत्मतत्त्वदर्शनेऽपि कर्तार इत्यर्थः
 ॥ ३८ ॥ अद्रिवन्निरिकृटवदविकारित्वावित्यर्थः । अतएव
 शिला नानाशिल्पिनां विद्वद्मानसकल्पनामेद इव ब्रह्मापि
 नानाजीवविरुद्धकल्पनामेदेऽपि तत्तद्रूपमेवावतिष्ठत इत्याह—
 यथेति । यदाकारं कल्प्यत इति शेषः ॥ ३९ ॥ सुषुप्तस्य यथा
 प्रतिजीवं विचित्रस्वाप्नार्थकल्पनामेदमविरोधेन सद्यते तददि-
 त्यर्थः । सुषुप्तमनुन्मिषितवासनामात्रमेव ॥ ४० ॥ आख्यायि-
 कातात्पर्यं संक्षिप्योपसंहरति—नित्यमिति । चिदन्नं ब्रह्म खं

१ यतो ननु इति पाठः.

सप्तत्वारिंशः सर्गः ४७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चित्तस्त्वस्य फलस्येव चितः स्वापापरक्रमात् ।
 स्वसत्तासंनिवेशेन यः स सर्ग इति स्थितः ॥ १
 देशकालक्रियादीनामपि तन्मयरूपतः ।
 इदमन्यदिदं धाम्यदिति नात्रोपपद्यते ॥ २
 समस्तशब्दशब्दार्थवासनाकलनाविदः ।
 एकात्मत्वादसंभेदमिति संकथ्यते कथम् ॥ ३
 फलस्यान्तःसंनिवेशो नामानुक्रमतो यथा ।
 चितः स्वसत्ताघनताऽनाना नाना स्थिता तथा ॥ ४
 अनानैवापि नानैव शुद्धेवाशुभितैव च ।
 यथा फलान्तः स्वासत्ता चिदन्तः सिद्धयस्तथा ॥ ५
 जगन्नगरमादर्शं चितः स्वं प्रतिबिम्बितम् ।
 कचतीवाऽकचदपि शिलान्तःसंनिवेशवत् ॥ ६
 परमे चिन्मणौ सन्ति जगत्कोटिशतान्यपि ।
 चिन्तामणावनन्तानि फलानीवार्षितान्यलम् ॥ ७

तदात्मकत्वात् । असारास्तुच्छाः शिलान्तः पद्मा इव सर्गादि-
 दशा आत्मनि दृष्टा अपि कदाचिदपि देहं स्वरूपस्थितिं नोप-
 यास्येवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शिलाकोशोपदेशो नाम षट्-
 चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इह बिम्बशिलारूपानतात्पर्यमुपवर्णयते ।

मधुराण्डरसे बर्हवर्णसंस्थानभेदवत् ॥ १ ॥

बिम्बदृष्टान्तवशादधिद्रूपमेव तदन्तर्बाजमज्जादीनामिव स्व-
 गतभेदेन तत्र तस्मिन्सत्ताकसर्गोद्भवश्चात्रोक्त इति तात्पर्यभ्रमो
 मा मूढिति तत्तात्पर्यं वर्णयति—चित्तस्त्वस्येति । चिद्रूपं तत्त्वं
 यावत्स्वरूपप्रतिबंधानशून्यं तावदेव सर्गगर्भमिति द्योतना-
 याचेतमफलदृष्टान्तः । सर्गश्च चितः प्रसिद्धस्वापादपरः स्वापः
 स्वप्न एव युगवत्सारादिक्रमात्स्वसत्ताकल्पितसंनिवेशेन प्रवृत्तो न
 चित्समसत्ताकः स्वगतभेद इत्यर्थः ॥ १ ॥ तर्हि किं चित्तत्वा-
 दन्य एव सर्गः, एतदपि बुर्वचमित्याह—देशेति ॥ २ ॥ तर्हि
 किमसदेवेदं सर्गादि, तदपि बुर्वचमित्याह—समस्तेति । सम-
 स्तानां शब्दानां तदर्थानां तद्वासनानां तत्प्रयुक्तसंकल्पविकल्पा-
 विकलानां च वेदितुरवस्थात्रयेऽप्येकात्मत्वात्सत्यत्वे अत्यन्ता-
 सतस्तेन वेदनादर्शनादित्यर्थः ॥ ३ ॥ तस्माच्चिदधीनप्रातिभा-
 सिकानुक्रमवैचित्र्याद्येनैव फलत्वेनोत्प्रेक्षणमित्याह—फल-
 स्येति । अनाना तथा नाना च भूत्वा स्थिता ॥ ४ ॥ तत्राऽना-
 नात्वाद्यंश एव प्राथम्याद्वास्तव इत्याह—अनानैवेति । शुद्धा
 विकृतेषु । सिद्धयः संनिवेशनिष्पत्तयः ॥ ५ ॥ शिलारूपानस्य
 तात्पर्यं दर्शयति—जगदिति । शिलान्तःसंनिवेशवज्जगदिति
 यदुक्तं तस्याप्यादर्शं प्रतिबिम्बितं नगरमिव चितः स्वं स्वं रूप-
 नेषु अकचदपि कचतीत्यर्थं तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ मायिका-

चित्समुद्रक पदेदं तदज्ञोत्कीर्णमाततम् ।
 जगन्मौक्तिकमामाति तदंशमयमन्यवत् ॥ ८
 अहोरात्रं विकरयन्वेदनावेदानान्यलम् ।
 चिदादित्यः स्थितो भास्वाङ्गग्रव्याणि वर्शवन् ॥ ९
 समुद्रकोटरावर्तपयःस्पन्दविलासवत् ।
 अनानैव च नाना चिच्छिलान्तःसंनिवेशवत् ॥ १०
 यदस्ति तच्चिति शिलाशरीरे शालभञ्जिका ।
 यथास्ति तच्चिति शिलाशरीरे शालभञ्जिका ॥ ११
 भावाभावेषु यत्सत्यं चिन्मज्जाकरूपमेव तत् ।
 मज्जासारा पदार्थभ्रीस्तन्मयं स्यात्तदेव हि ॥ १२
 पद्मनानादिशब्दार्थस्यक्त्वा यद्वच्छिलोदरम् ।
 नाना तद्वदिदं नाना तदेतन्मयमद्वयम् ॥ १३
 नानाप्येकतयाऽनाना पद्मविम्बं शिलोदरम् ।
 यथा तद्विभागात्म तथेदं चिद्भ्रान्तरम् ॥ १४
 यथाऽमलपयःकोशः स्थलधियां तु भानुभाः ।

नन्तशक्तिमत्त्वाद्वा चिन्तामणौ चिन्तकमनोरथफलानीव चिति
 सर्वं जगदस्तीति तत्तात्पर्यं वर्णनीयमित्याह—परमे इति ।
 अर्पितानीति श्रुतिषु अरनाभिनिदर्शनोपन्यासादिति भावः
 ॥ ७ ॥ कल्पितविकारांशांशिभावेन मुक्ताशुक्तिसंपुटके मुक्ताना-
 मिव वा चिति जगत्स्थितौ तात्पर्यमित्याह—चित्समुद्रक
 इति । तदत्रे तद्वर्णे उत्कीर्णमिव तदज्ञोत्कीर्णम् । तदेवाह—
 तदंशमयमिति ॥ ८ ॥ आदित्यः स्वस्वरूपाविर्भावतिरोभावा-
 त्मकमहोरात्रविभागमिव चिन्मणिशिलापि स्ववेदनावेदानात्म-
 कजगद्भवप्रकाशनाप्रकाशने स्वात्मनि करोतीत्यर्थं वा तत्तात्पर्य-
 मित्याह—अहोरात्रमिति । विकरयन्विकलयन् । विकुर्वन्निति
 यावत् ॥ ९ ॥ समुद्रस्य कोटरे गर्भे आवर्ततरङ्गादिस्पन्दने
 दानां समुद्रमात्रत्ववज्जगद्भेदानां चिन्मात्ररूपत्वे वा तत्तात्पर्य-
 मित्याह—समुद्रेति ॥ १० ॥ वर्तमानसर्गस्यातीतानागतसर्गस्य
 च तुल्यतया चिन्मात्रस्वरूपताप्रदर्शने वा तत्तात्पर्यमित्याह—
 यदस्तीति । शालभञ्जिका उत्कीर्णा अनुत्कीर्णा वा प्रतिमा
 ॥ ११ ॥ बिल्वारूपानस्यापि जगतश्चिरसारत्वे तात्पर्यमित्याह—
 भावेति । यत्सत्यं तत्त्वं तत् चिद्रूपमज्जाकरूपमेव ।
 पदार्थभ्रीर्बिल्वादिकल्पपदार्थभ्रीर्भ्रजैव सारो यस्मात्सथमिधा प्रक-
 षेद्यर्थः ॥ १२ ॥ शिलोदरात्पृथक्करणे पद्मनानादिसंज्ञार्था-
 सत्त्ववचितः पृथक्करणे जगदसत्त्वे वा तत्तात्पर्यमित्याह—
 पद्येति ॥ १३ ॥ तदेतन्मयमद्वयमित्यं स्फुटयति—मज्जेति ।
 यदि चितो न पृथक् क्रियते तर्हि नानापि जगच्चिदात्मैकतया
 अनानैव भवति यथा तादृशं शिलोदरमित्यर्थः ॥ १४ ॥ यथा
 मरुमरीच्यादिर्भृगदृशा अमलः पयःकोशो जलराशिः । स्थल-
 धियां स्थलभेदेवमिति बुद्धिमताम् । विदुषां दृष्टो बु भानुभाः

सन्नेवासन्नवैवं चिन्नैव त्वं सदसद्रूपः ॥ १५
 यथा सम्यक् पयोराशिः कोटरे कलनोन्मुखम् ।
 द्रवत्वात्स्पन्दतेऽस्पन्दं तथेदं चिद्वनान्तरम् ॥ १६
 चिच्छिलाशङ्खपद्मौघस्तन्मयत्वेऽप्यतन्मयः ।
 जगद्विद्धि सपद्मादिपदार्थं चिच्छिलान्तरम् ॥ १७
 महाशिलाघनोऽप्येष चिद्वनस्थं शिलोदरम् ।
 अरन्ध्रो निर्द्वयोऽच्छोऽजः संशान्तः संनिवेशवत् १८
 तपतीदं जगद्ब्रह्म शरत्काल इवामलम् ।
 स्फुरतीदं जगद्ब्रह्म सौम्यः सोम इव द्रुतः ॥ १९
 ब्रह्मणीदं सुषुप्ताभं नास्त्यनाशं शिलाजवत् ।
 ब्रह्मत्वं ब्रह्मणि यथा तथैवेदं जगत्स्थितम् ॥ २०
 नानयोर्विद्यते मेदस्तरुपादपयोरिव ।
 यानीमानि जगन्तीह नान्यत्तानि चिदाकृतेः ॥ २१
 भाषाभावादि नास्त्येषां तस्या इव कदाचन ।
 ब्रह्मैव जगदाभासं मरुतापो यथा जलम् ॥ २२
 ब्रह्मैवालोकनाच्छुद्धं भवत्यम्बु यथातपः ।
 मेर्वादेस्तृणगुल्मादेश्चित्तादेर्जगतोऽपि च ॥ २३

सूर्यातप एव । तत्र सन्नेव आतपादिरसज्जलादिरिवेति सदस-
 द्रुपर्यथा भाति एवं चित्स्वभावस्त्वमपि भासि । वस्तुतस्तु
 त्वं नैव सदसद्रुपरित्यर्थः ॥ १५ ॥ यथा पयोराशिः कोटरमध्ये
 द्रवत्वात्स्पन्दते तथा अस्पन्दमपि चिद्वनस्य आन्तरं स्पन्दत
 इवेत्यर्थः ॥ १६ ॥ तर्हि तत्र पदादेः शिलामयत्वमिव जागतशङ्ख-
 पद्मादेश्चिन्मयता कृतो न विभाव्यते तत्राह—चिच्छिलेति ।
 अतन्मयस्तदबोधादिति शेषः । अतएव त्वं तथा बुद्ध्यस्ते-
 त्याह—जगदिति ॥ १७ ॥ दृष्टान्तीकृतशिलाघनोऽपि पर-
 मार्थदृष्ट्या चिच्छिलोदरमेव संपन्नमित्याह—महाशिलेति ।
 अतएव तत्र शिल्पियज्ञसहस्रेणापि रन्धादिसंभावनापि नास्ती-
 त्याशयेन विशिनष्टि—अरन्ध्र इति । संनिवेशवन्मिथ्यासंनि-
 वेशेन भासत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ यथा शरत्कालस्तथा अमृतद्रुतः
 सोमः स्फुरतीति कालात्मकयोरेव सूर्यसोमयोरान्तरमेदकल्प-
 नया क्रियाकारकभावेन व्यपदेशस्तथा ब्रह्म जगत्प्रकाशयति
 जगदात्मना स्फुरतीति च व्यपदेश इत्याह—तपतीति ।
 सौम्यो नयनानन्दः ॥ १९ ॥ एवंच ब्रह्मात्मना जगन्नित्यनष्टं
 नित्यस्थितमिति वा उत्प्रेक्षितुं शक्यमित्याशयेनाह—ब्रह्म-
 णीति । वासनामात्ररूपत्वात्सुषुप्ताभम् । यथा शिलाज्जमञ्जा-
 त्मना नित्यमसच्छिलात्मना नित्यं सत्तद्वदित्यर्थः ॥ २० ॥ चिदा-
 त्मना सत्त्वे जगद्ब्रह्मशब्दार्थयोर्भेदो नास्तीत्याह—नानयो-
 रिति ॥ २१ ॥ एषां जगताम् । तस्याधिदाकृतेरिव ॥ २२ ॥
 मेर्वादिस्थूलतमोपि पदार्थस्तत्त्वदृशा आलोकनाच्छुद्धमस्थौल्या-
 दिधर्मैकं ब्रह्मैव भवति । यथा करकाद्यम्बु केवलं पयो भवति
 तद्वत् । अतो बहिस्तृणगुल्मादेर्ब्रह्माण्डान्तस्य अन्तश्चित्तादेर्है-
 रण्यगर्भान्तस्यापि च जगतः परमं यदम्बुवात्तरोत्तरं सूक्ष्मतमं

परमाम्बुविभागेन यद्रूपं तत्परं विदुः ।
 तत्समूहस्तदेवोच्चैश्चित्तं मेरुतृणादिकम् ॥ २४
 यत्सौक्ष्म्येऽपि हि सारात्म स्थौल्ये सारतरं हि तत् ।
 यथा रसात्मिका शक्तिः परमाणुतयाऽनघ ॥ २५
 स्थिता जगत्पदार्थेषु पायसी ब्रह्मता तथा ।
 रसशक्तिर्यथा नानातृणगुल्मलताम्भसाम् ॥ २६
 तथा नानातयोदेति सैवासैवेव ब्रह्मता ।
 येषा रूपविलासानामालोकपरमाणुता ॥ २७
 गुणगुण्यर्थसत्तात्मरूपिण्यासां परात्मता ।
 चिति चित्तेऽस्ति मेर्वादि तदभिव्यज्जनात्मनि ॥ २८
 पिच्छपक्षौघकाठिन्यं मयूराण्डरसे यथा ।
 चिति तत्त्वेऽस्ति नानाता तदभिव्यज्जनात्मनि ॥ २९
 विचित्रपिच्छिकापुञ्जो मयूराण्डरसे यथा ।
 यथा नानात्मिके ह्येव बर्हण्डरसबर्हिणे ॥ ३०
 विवेकदृष्ट्या दृष्टे ते तथा ब्रह्म जगत्स्थितम् ।
 सनानातोऽप्यनानातो यथाऽण्डरसबर्हिणः ॥ ३१
 अद्वैतद्वैतसत्तात्मा तथा ब्रह्मजगद्भ्रमः ।
 यथा सदसतोः सत्ता समतायामवस्थितिः ॥ ३२

भूतसूक्ष्माव्याकृताक्षरान्तं तद्विभागेनान्ते यद्रूपं परिशिष्यते
 तदेव परं विदुर्ब्रह्मविद् इति परेणान्वयः ॥ २३ ॥ स्थूलस्य
 विमर्शं सूक्ष्ममात्रत्वे युक्तिमाह—तत्समूह इति । पक्षीकृतं
 त्र्यपक्षीकृतसमूहः । अपक्षीकृतभूतानि तु चित्तमेवेत्येवं क्रमेण
 बोध्यमित्यर्थः ॥ २४ ॥ सौक्ष्म्ये मन्सारत्वादेव तत्स्थौल्येऽपि
 सत्यतरन्वलक्षणसारतरनाप्रपञ्चे पामरंरनुभूयत इत्याह—
 यत्सौक्ष्म्येऽपीति । अतएवाप्परमाणुगतरसशक्तः स्थूलजटे
 इन्द्रियगोचरतेव घटादीं ब्रह्मसत्तायास्तद्गोचरतत्याह—यथेति ।
 पायसी स्थूलजलनिष्ठा सती योग्येति शेषः ॥ २५ ॥ स्थूलवैचि-
 त्र्येण सत्तावान्तरसामान्यात्मना सत्तावैचित्र्येयेतादृशा दृष्टान्ताः
 कल्प्या इत्याशयेनाह—रसशक्तिरित्यादिना ॥ २६ ॥ रूप-
 विलासानां नीलपीतादिरूपवैचित्र्याणामालोकपरमाणुता सूक्ष्म-
 तमरूपं सामान्यं यथा तथेत्यनुपपन्नयते ॥ २७ ॥ परात्मता ब्रह्मस-
 तापि आसां घटादिव्यक्तीनां गुणगुणरूपवान्तरवैजात्यार्थं सत्ता-
 त्मरूपिणी भवतीति शेषः । आविर्भावदशायां कार्यत्मना
 कारणमेवास्तीतिवतिरोभावदशायामपि कारणात्मना कार्यमप्य-
 स्त्येवेत्येतदपि दृष्टान्तेनोपपादयति—चित्तीति । सर्वथा तिरो-
 भावं मायाशबलचिति अर्धतिरोभावे चित्ते मेर्वादिस्थूलकार्यजात-
 मस्ति । यथा पिच्छानि पक्षौघाः काठिन्यं च मयूरोपादानभूते
 तदण्डरसे सन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ २८ ॥ २९ ॥ विवेकदृष्ट्या
 मेददृष्ट्या ॥ ३० ॥ तथाच तत्र कल्पितमेदो यथा न वास्तवाभेद-
 विरोधी तद्वदत्रापीत्याह—सनानात इति । अण्डे रसरूपो
 बर्हिणो मयूरः ॥ ३१ ॥ तर्हि किं द्वैताद्वैतात्मकमेव ब्रह्म अस्तु
 यथा ब्रह्म वास्तवं जगदिति च भ्रमस्तथा द्वैताद्वैतात्मकम् ।
 नैतावता वेपथ्यप्रसक्तिः । यथा सदसतोः सत्तासमतायामव-

यतः सदसतो रूपं भावस्थं विद्धि तं परम् ।
 नानाऽनानात्मकमिदं त्वनुभूतं नर्संभवम् ॥ ३३
 चिज्जगद्वहनं पश्य बर्हण्डे रसबर्हिणम् ।
 यथा जगति चित्तत्वं चित्तत्वे यज्जगत्तथा ।
 नानाऽनानात्मकैकं च मयूराण्डरसो यथा ॥ ३४
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चिद्वनोपदेशो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

नानापदार्थभ्रमपिच्छपूर्णा
 जगन्मयूराण्डरसधिदाया ।
 मयूररूपं त्वमयूरमन्तः
 सत्तापदं विद्धि कुतोऽस्ति भेदः ॥ ३५

अष्टषट्त्वारिंशः सर्गः ४८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यत्रानुदितरूपात्म सर्वमस्तीदमाततम् ।
 मयूर इव बीजेऽन्तस्तदहंतादिगादि च ॥ १
 यत्र नाभ्युदितं किञ्चित्तत्र सर्वं च विद्यते ।
 तदत्राप्यङ्गिराः स्वर्गसुखसारेण बिम्बति ॥ २
 तथा च मुनयो देवा गणाः सिद्धा महर्षयः ।
 आस्वादयन्तः स्वं रूपं सदा तुर्यपदे स्थिताः ॥ ३
 एते ये स्तब्धनयनदृष्टयो निर्निमेषिणः ।

स्थितिस्तथा तन्निरूपणादित्यर्थः ॥ ३२ ॥ ननु वैषम्यपरिहाराय सत्तासमतायामेवावस्थानमिति कुतः । अभावमात्रतापत्तिलक्षण-
 शून्यत्वेऽपि वैषम्यपरिहारादित्याशङ्क्याह—यत् इति । रूपं तत्त्वं भावस्थं सदस्तु पर्यवसन्नं न शून्यनिष्ठम् । अभाव-
 स्यापि सदधीननिरूपणत्वात् । तं भावं च परं ब्रह्मैव विद्धि । तस्य चाद्वयत्वाज्ञानाऽनानात्मकं भिन्नाभिन्नस्वभावमिदं जगद्रूपं न संभवां यस्य तन्नसंभवमनुपपन्नम् । नत्रर्थस्य नशब्दस्य बहुव्रीहिः ॥ ३३ ॥ एवमनुपपन्नस्यापि बर्हण्डरसदृष्टान्तेनैवैक-
 रस्यं नेयमित्याशयेनाह—चिज्जगदिति । यथा जगति चिदा-
 त्मकं तत्त्वमनुगतं तथा बर्हिणि रगोऽनुगतः । यथा चित्तत्वे जगदन्तर्लीनं तथा रसे बर्हिणि पश्येत्यर्थः ॥ ३४ ॥ उपमोक्त-
 मर्थं रूपकेणैकीकृत्य दर्शयन्भेदं निरस्यति—मानेति । नाना-
 विधपदार्थभ्रमलक्षणैः पिच्छैः पूर्णा आद्या ब्रह्मचिदेव जगत्क्षण-
 मयूराण्डस्य रसः । तत्र भासमानं जगन्मयूररूपं तु अमयूररूपं सत्तालक्षणं पदं परमार्थवस्तु विद्धि । तत्र च भेदः कुतोऽस्ती-
 त्यर्थः ॥ ३५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वा-
 णप्रकरणे पू० चिद्वनोपदेशो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

यत्सत्तास्फूर्तिसौख्यानि प्रतिबिम्बन्ति कल्पिते ।

तत्सत्त्विदानन्दघनं ब्रह्म निष्कृष्य वर्णयते ॥ १ ॥

मयूररसदृष्टान्तात्तिरोभूतजगद्ब्रह्मचिद्व्यगर्भं चिदचित्संवलितं
 बीजशक्तिमदव्याकृतमेव तत्त्वं न ततः परं शुद्धमस्तीति व्या-
 मोहो म्मा भूदिति तदधिष्ठानं निर्विशेषभूमानन्दरूपं निष्कृष्य
 पक्षिच्ययितुं श्रीवासिष्ठ उवाच—यत्रेति । बीजे अण्डे अन्त-
 र्मयूर इव वर्णितमन्तरहंतादि बर्हिर्दिगादि विद्यवादि च सर्वं
 जगद्यत्र शुद्धे कालत्रयेऽध्यनुदितरूपात्म अक्षुत्पक्षरूपमेवास्ति
 यो० वा० ११२

ते दृश्यदर्शनासङ्गस्पन्दत्यागे व्यवस्थिताः ॥ ४
 नास्थिता भावना येषां स्थितानामपि कर्मसु ।
 संवित्संवेद्यसंबन्धस्पन्दत्यागे च ये स्थिताः ॥ ५
 प्राणो न स्पन्दते येषां चित्रस्थवपुषामिव ।
 मनो न स्पन्दते येषां चित्रस्थवपुषामिव ॥ ६
 चित्तचेत्यसमासङ्गत्यागे ते स्वपदे स्थिताः ।
 स्पन्दात्संसाधयन्त्यर्थं तेनांशेनेश्वरो यथा ॥ ७
 तथैव चित्तचेत्यादिस्पन्दात्कुर्वन्ति संस्थितिम् ।

तदेवोक्तदृष्टान्ततात्पर्यविषयो न शब्दमित्यर्थः ॥ १ ॥ यत्र परमार्थतः किञ्चिन्नाभ्युदितं तत्रैव सर्वं जगदविद्यया विद्यते तदेवात्रास्मिन्देहेऽपि अङ्गिराः अज्ञानां रसभूतः प्राणः सन् स्वर्गादिवैषयिकसुखसारेण चित्तवृत्तिभेदेन विचित्रभोगाकारतया स्फटिकमुकुरादौ चन्द्र इव बिम्बति । तथाच विषयसुखानुभव-
 बलात्तद्विम्बभूतनिरतिशयानन्दसद्भावोऽनुमेय इत्यर्थः ॥ २ ॥ सर्वसाधारण्येन तत्सद्भावे अनुमानप्रमाणमुक्त्वा विदुषामनु-
 भवप्रमाणमप्याह—तथा चेति । स्वं रूपं स्वात्मभूतभूमा-
 नन्दम् ॥ ३ ॥ सर्वैरपि कुतो नानुभूयत इति चेद्दृश्यदर्शना-
 सङ्गात्प्राणस्पन्दकृतविक्षेपाच्चेति गृह्यण । अतएव तदुभयपरि-
 हाराय नासाप्रनिरुद्धदृष्टयः प्राणनिरोधपराश्च योगिनो दृश्यन्त इत्याह—एते इति । स्तब्धे नयने गोलके दृष्टी तद्गतेन्द्रियं च येषाम् ॥ ४ ॥ इदं त्वनारूढपञ्चादिभूमिकानाम् । आरूढपञ्चसप्त-
 मभूमिकास्तु व्यवहरन्तोऽपि समाहितैः पूर्वभूमिकागतैस्तुल्य-
 मात्मसुखं सदैवास्वादयन्तीत्याह—नास्थिता इति । कर्मसु व्यवहारेषु स्थितानामपि येषां पञ्चादिभूमिकागतानां बाह्यार्थ-
 सत्यताभावना न आस्थिता ईषदपि स्थिता । ये च पूर्वभूमिका-
 गताः संवित्संवेद्यसंबन्धत्यागलक्षणममाधौ स्थिताः, येषां प्राणो मनश्च न स्पन्दते ते च चित्तचेत्यसमासङ्गयोस्त्यागो यस्मि-
 स्तथाविधे भूमानन्दपदे तुल्यतया स्थिता इति सार्धद्वयस्यार्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ षष्ठादिभूमिकागता अन्तर्ब्रह्माकाराखण्डवृत्तिधारास्प-
 न्दानेनांशेन निरतिशयानन्दास्वादनलक्षणं परमपुरुषार्थं यथा संसाधयन्ति तथैव बहिःचित्तचेत्यादिस्पन्दाद्यवहारसंस्थितिमपि कुर्वन्ति । यथा जगदीश्वरोऽन्तः सदैव स्वरूपानन्दप्रतिष्ठोऽपि बहिर्मायया जगद्यवस्थां पालयति तद्वदित्यर्थः ॥ ७ ॥ तेषां

यथा ह्लादयति स्वच्छः पल्लवं रश्मिरैन्दवः ॥ ८
 तथात्मा ह्लादयत्यन्तर्दृश्यदर्शनसंगमे ।
 विम्बादूरं प्रयातस्य मित्तावपतितस्य च ॥ ९
 यदिन्दोस्तेजसो रूपं तद्रूपं शुद्धसंविदः ।
 न दृश्यं नोपदेशार्हं नात्यासन्नं न दूरगम् ॥ १०
 केवलानुभवप्राप्यं चिद्रूपं शुद्धमात्मनः ।
 न देहो नेन्द्रियप्राणौ न चित्तं न च वासना ॥ ११
 न जीवो नापि च स्पन्दो न संवित्तिर्न वै जगत् ।
 न सन्नासन्न मध्यं च शून्याशून्यं न चैव हि ॥ १२
 न देशकालवस्त्वादि तदेवास्ति न चेतरेत् ।
 एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तं हृदि कोशशतेन च ॥ १३
 यत्रैतत्स्पन्दते दृश्यं तत्तदात्मपदं भवेत् ।
 यच्च नाद्यं न कल्पान्तं न वस्त्वाद्यनिलादिभिः ॥ १४
 इह चामुत्र सदूपादन्यथा भवति क्वचित् ।

इत्याषं श्रीवाल्मीकिप्रहारायणो वान्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वा० ब्रह्मैकात्म्यप्रतिपादनं नामाष्टाचत्वारिंशः सर्गः ॥४८॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः ४९

श्रीराम उवाच ।

यदि नास्ति विकारादि ब्रह्मन्ब्रह्मणि बृंहिते ।
 तदिदं कथमाभाति भावाभावमयं जगत् ॥ १

व्यवहारे दृश्येषु बाह्यविषयेषु दर्शनानां बुद्धिब्रह्मिणां संगमे त्रिपु-
 ष्यामप्यभिव्यक्तो निरतिशयानन्दान्मान्तर्ह्लादयत्येवंति सर्वाऽपि
 व्यवहारः सुरारूप एव । यथा ऐन्दवो रश्मिस्तरुपल्लवमन्तः
 प्रविश्य ह्लादयति तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥ अन्तःस्वरूपमुखं तु तेषां
 सुतरां निर्विकेपमित्यत्रापि दृष्टान्तमाह—**विम्बादिनि** । विम्ब-
 नित्यानन्तरालिकस्य शुद्धनभःस्थस्येन्दोस्तेजसश्चन्द्रिकाया यद्रूपं
 तदेव परमात्मनो निर्विकेपाह्लादरूपं तेरनुभूयत इत्यर्थः ॥ ९ ॥
 ॥ १० ॥ तदेव देहादिरावैर्पाधिनिर्मुक्तमात्मनस्तत्त्वमित्याह—**न**
देह इत्यादिना ॥ ११ ॥ १२ ॥ देशकालवस्तु निरूप्य त्रिविध-
 परिच्छेदादिना ब्रह्मैवास्ति । एतैर्देहादिभिः । शतशब्द आनन्त्य-
 परः । भूतभाविदेहक्रोशानां हृदि वासनात्मना स्थितानामान-
 न्ध्यात् ॥ १३ ॥ एवं कोशशतेन हृदि चित्ते यत्र यस्मिन्सति
 एतद्दृश्यमाविर्भावतिरोभावादिना स्पन्दते तत्सन्मात्रमेवात्मपदं
 भवेत्, संभावितमित्यर्थः । एवं कार्यकारणविलक्षणं तत्संभाव-
 नीयमित्याह—**यच्च** इति । यद्ब्रह्म आद्यं महाकल्पादिकाळे भव-
 मव्याकृताख्यं कारणम् । तथा कल्पान्तं प्राकृतादिप्रलयरूपं
 च न । सर्गकालेऽपि इह एतस्मिन् लोके अमुत्र परलोके वा
 अनिलादिभिः शोषणदहनक्लेदनभेदनादिविकारैः क्वचित्साद्रूपा-
 दन्यथा न भवतीति सविकारवस्तु आदिपदात्तद्विकाराश्च यत्र
 भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु देहादिविकारैस्तदनुगतसद्रूपस्यापि
 विकारः किं न स्यात्तत्राह—**जायन्ते** चेति ॥ १५ ॥ तर्हि किं

१ स्वप्न इति पाठः. २ गच्छतीति पाठः.

जायन्ते च म्रियन्ते च देहकुम्भाः सहस्रशः ॥ १५
 सवाह्याभ्यन्तरस्यास्य नात्माकाशस्य खण्डना ।
 तच्च देहादि सकलमात्मैवात्मविदां वर ॥ १६
 केवलं बोधवैरूप्यादीपत्पृथगिव स्थितम् ।
 विष्वगान्ममयं विश्वं ज्ञातं बुद्ध्या सुसिद्धया ॥ १७
 प्रज्वलन्नपि कार्येषु निर्वाणो निर्ममो भव ।
 यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजंगमम् ॥ १८
 तत्सर्वं ब्रह्म निर्धर्म निर्गुणं निर्मलात्मकम् ।
 निर्विकारमनाद्यन्तं नित्यं शान्तं समात्मकम् ॥ १९

कालक्रियाकरणकर्तृनिदानकार्य-

जन्मस्थितिप्रलयसंस्तरणादि सर्वम् ।

ब्रह्मेति दृष्टवत एव तवात्मदृष्ट्या

भूयोऽपि किं भ्रमणमङ्ग समङ्ग पृथ ॥ २०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अपुनःप्रागवस्थानं यत्स्वरूपविपर्ययः ।
 तद्विकारादिकं तात यत्क्षीरादिषु वर्तते ॥ २

देहादि पृथगस्ति, नेत्याह—**तच्च** इति ॥ १६ ॥ विष्वक् सर्वतः
 सुसिद्धया श्रवणाद्युपायपरिष्कृतया ॥ १७ ॥ अतएव व्यवहरन्नपि
 निर्विकारात्मदर्शनाभिव्यक्तान्मान्ममरूपस्तित्याह—**प्रज्वलन्न-**
पीति । प्रज्वलन् स्वराज्ययोग्यव्यवहारेषु क्षीयमानः ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ हे अज्ञ, कालादि सर्वं जगद्ब्रह्मैवात्मदृष्ट्या दृष्टवन्तव
 किं भूयोऽपि भ्रमणं संभवति नैवं संभवतीत्यर्थः । यतस्त्वं वस्तुतः
 समर्थावपमं स्वरूपं गच्छति सर्वैव प्राप्तवानसीति समङ्ग एव ।
 'ब्रह्मैव सन ब्रह्माप्येति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 ब्रह्मैकात्म्यप्रतिपादनं नामाष्टाचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

विकारैभ्यो विवर्तस्य बलक्षणमिहोच्यते ।

अप्रबोधाद्विद्यास्ति प्रबोधे नास्ति सेति च ॥ १ ॥

विकारारम्भाभ्यां विवर्तस्य लक्षणतो भेदं जिज्ञासमानो
 रामः पृच्छति—**यदीति** । आदिपदादारम्भपरिग्रहः । बृंहिते
 नित्यनिरतिशयबुद्धिमति त्रिविधपरिच्छेदशून्ये इति यावत् ॥ १ ॥
 तत्र कारणे कार्योद्भवः पञ्चधा अतिरोहितप्रागवस्थः १ प्रति-
 बद्धप्रागवस्थः २ प्रच्छन्नप्रागवस्थः ३ अप्रच्छन्नप्रागवस्थः
 ४ विनष्टप्रागवस्थ ५ श्वेति । आद्यो मृदादेर्घटादिभावः ।
 द्वितीयो जलस्य हिमकरकाभावः । तृतीयो रज्ज्वाः सर्पभावः ।
 चतुर्थो जलस्य तरङ्गभावः । पञ्चमो दुरधस्य दधिभावः ।
 तत्रान्त्य एव जन्मादिभावविकारः परिणामश्च, इतरे तु विवर्त-
 भेदा एवेवाशयेन प्रथमं वस्तिष्ठो विकारलक्षणमाह—**अपुन-**
रिति । यत्क्षीरव्रीह्यादिषु दधिवैतुष्यादिलक्षणं कार्यं पुनः

पयस्तां पुनरभ्येति दधित्वाश्च पुनः पयः ।
 बुद्धमाद्यन्तमध्येषु ब्रह्म ब्रह्मैव निर्मलम् ॥ ३
 क्षीरादेरिव तेनास्ति ब्रह्मणो न विकारिता ।
 अनाद्यन्तविभागस्य न चैषोऽवयविक्रमः ॥ ४
 समस्याद्यन्तयोर्धेयं दृश्यते विकृतिः क्षणात् ।
 संविदः संभ्रमं विद्धि नाधिकारेऽस्ति विक्रिया ॥ ५
 न संवेद्यं न संवित्तिस्तत्र ब्रह्मणि विद्यते ।
 तद्ब्रह्मशब्दकथितं निःसंबन्धचिदात्मवत् ॥ ६
 यादृगाद्यन्तयोर्धेयं तादृगोच तदुच्यते ।
 मध्ये यस्य यदन्यत्वं तदबोधोद्भिज्जुम्भितम् ॥ ७
 आत्मा त्वाद्यन्तमध्येषु समः सर्वत्र सर्वदा ।
 स्वमप्यन्यत्वमायाति नात्मतत्त्वं कदाचन ॥ ८
 अरूपत्वात्तथैकत्वान्नित्यत्वादयमीश्वरः ।
 वशं भावविकाराणां न कदाचन गच्छति ॥ ९
 श्रीराम उवाच ।
 विद्यमाने सदैकस्मिन्ब्रह्मण्येकान्तनिर्मले ।
 संधिद्भ्रमस्वरूपाया अविद्यायाः क आगमः ॥ १०
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 ब्रह्मतत्त्वमिदं सर्वमासीदस्ति भविष्यति ।
 निर्विकारमनाद्यन्तं नाविद्यास्तीति निश्चयः ॥ ११
 यस्तु ब्रह्मेति शब्देन वाच्यवाचकयोः क्रमः ।
 तत्रापि नान्यताभावमुपदेष्टुं क्रमो ह्यसौ ॥ १२
 त्वमहं जगदाशाश्च द्यौर्भूश्चाप्यनलादि वा ।

प्राक्तनक्षीरादिभावावस्थानशून्यं क्षीरादिस्वरूपविपर्ययरूपं विद्यते तदेव विकारसंस्कारपरिणामादिशब्दवाच्यमित्यर्थः ॥ २ ॥ ब्रह्मणि जगद्वक्षणं कार्यं तु न तथा तद्वैधर्म्यादित्याह—अबुद्धमिति ॥ ३ ॥ अस्तु तर्हि परमाणुभिर्घणुकादीनामिवावयवधारम्भक्रमस्तत्राह—अनाद्यन्तेति । आद्यन्तलक्षणं दैशिकपरिच्छेदवत्सु क्रियासंयोगादिविभागवत्सु चावयवेष्ववयव्यारम्भक्रमः स्यात् तद्विलक्षणस्य ब्रह्मणः स इत्यर्थः । एतेन बहूनां संयुक्तानां समवेतानां वा स्वेषु स्वाश्रयसमवेते वा समवाये नैककार्यजनकत्वमारम्भकत्वम् । यथा तन्तूनां पटं प्रति । यथा वा कारणगुणानां कार्यगुणं प्रतीति वैशेषिकाद्यभिमतलक्षणं सूचितम् । तथाच कणादसूत्रम् 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' इति ॥ ४ ॥ ब्रह्मणि जगतसु परिशेषाद्विवर्तत्वमेव सिद्धमिति तद्वक्षणेन दर्शयति—समस्येति । विकृतिरन्यथाभावः । संभ्रमं विवर्तः । तथा चाद्यन्तयोः समे तदसंस्पर्शवैषम्यप्रतिभामो विवर्त इति तद्वक्षणमिति भावः ॥ ५ ॥ तदसंस्पर्शं दर्शयति—न संवेद्यमिति ॥ ६ ॥ मध्ये विकारासंस्पर्शः कथं ज्ञायत इति चेदाद्यन्तयोस्तदसंस्पर्शस्वभावावधारणादेव लिङ्गादित्याह—यादृगिति ॥ ७ ॥ आत्मनस्तु प्रकाशस्वाभाव्येन समता सर्वानुभवसिद्धा ।

ब्रह्ममात्रमनाद्यन्तं नाविद्यास्ति मनागपि ॥ १३
 नामैवेदमविद्येति भ्रममात्रमसद्विदुः ।
 न विद्यते या सा सत्या कीदृग्राम भवेत्किल ॥ १४
 श्रीराम उवाच ।
 उपशमप्रकरणे ह्यस्तने तु त्वयेरितम् ।
 अविद्येयं तथेत्यं च विचार्यत इति प्रभो ॥ १५
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 एतावन्तमबुद्धस्त्वमभूः कालं रघूद्वह ।
 कल्पिताभिः किलैताभिर्बोधितोसि स्वयुक्तिभिः ॥ १६
 अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः ।
 अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः ॥ १७
 अप्रबुद्धं मनो यावत्तावदेव भ्रमं विना ।
 न प्रबोधमुपायाति तदाक्रोशशतैरपि ॥ १८
 युक्त्यैव बोधयित्वैष जीव आत्मनि योज्यते ।
 यद्युक्त्यासाद्यते कार्यं न तद्यत्नशतैरपि ॥ १९
 सर्वं ब्रह्मेति यो ब्रूयादप्रबुद्धस्य दुर्मतेः ।
 स करोति सुहृद्भृत्या स्थाणोर्दुःखनिवेदनम् ॥ २०
 युक्त्या प्रबोध्यते मूढः प्राज्ञस्तत्त्वेन बोध्यते ।
 मूढः प्राज्ञत्वमायाति न युक्त्या बोधनं विना ॥ २१
 एतावन्तमबुद्धस्त्वं कालं युक्त्या प्रबोधितः ।
 इदानीं संप्रबुद्धस्त्वं मया येनावबोध्यसे ॥ २२
 ब्रह्माहं त्रिजगद्ब्रह्म त्वं ब्रह्म खलु दृश्यभूः ।
 द्वितीया कलना नास्ति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २३

अनात्मभावश्च तस्यात्यन्तासंभाव्य इत्याह—आत्मा त्विति ॥ ८ ॥ ९ ॥ चित्रप्रकाशंकरसे ब्रह्मणि तद्विरुद्धस्वभावाया अविद्यायाः कथं प्रसक्तिर्येन तत्र जगद्विवर्तः स्यादिति प्रबुद्धदृशा रामः शङ्कते—विद्यमाने इति ॥ १० ॥ न प्रबुद्धदृशा अविद्यासद्भावं ब्रूमः, किंत्वबुद्धव्युत्पादनाय कल्पनयेत्याशयेनोत्तरमाह—ब्रह्मतत्त्वमिति । सर्वं पूर्णम् ॥ ११ ॥ न अन्वयताया भावं सद्भावं वदामः किंतूपदेष्टुमसौ क्रमः कल्पित इत्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ यद्यविद्या नास्त्येव तर्ह्युपशमप्रकरणे 'यथा भ्रान्तिरविद्येयं तथेत्यं च विचार्यते' इति त्वयैवाविद्यासद्भावमङ्गीकृत्योक्तमिति रामः शङ्कते—उपशमेति ॥ १५ ॥ तत्तु तवाबोधदशायां त्वद्बुद्धनुसारिकल्पनयोक्तमिदानीं तु त्वं प्रबुद्ध इति न तत्कल्पनावसर इत्यविरोध इत्याह—एतावन्तमिति ॥ १६ ॥ १७ ॥ भ्रममविद्यादिशास्त्रीयव्यवहारकल्पनाम् । तत् मनः ॥ १८ ॥ युक्तानामसंभावनादिपुरुषदोषनिरासकत्वादिति भावः ॥ १९ ॥ सत्तु तु दोषेषु तत्त्वापदेशो व्यर्थ इत्याशयेनाह—सर्वमिति ॥ २० ॥ २१ ॥ येन यादृशोपदेशेनावबोध्यसे तं शृण्विति शेषः ॥ २२ ॥ तमेवाह—ब्रह्मेति । यथेच्छसीति । ऐच्छिकेन व्यवहारेण न वास्तवब्रह्मत्वहानिरिति भावः ॥ २३ ॥

असंवेद्यमहासंविक्तोऽदिमात्रं जगन्नयम् ।
 एकप्रत्ययवानन्तः कुर्वन्नपि न लिप्यसे ॥ २४
 भारूपश्चेतनो व्यापी परमात्माहमित्ययम् ।
 राघवानुभवान्तस्त्वं तिष्ठन्गच्छच्छ्रुसन्स्वपन् ॥ २५
 निर्ममो निरहंकारो बुद्धिमानसि साधु चेत् ।
 तद्ब्रह्म वेदनं शान्तं सर्वभूतस्थितं भव ॥ २६
 तद्वनाद्यन्तमाभासं सत्त्वमेव परं पदम् ।
 स्थितोऽसि सर्वगैकात्मशुद्धसंविन्मयात्मकः ॥ २७
 यद्ब्रह्मात्मापि तुर्यश्च याऽविद्या प्रकृतिश्च या ।
 तदभिन्नसर्वैकात्म यथा कुम्भशतेषु मृत् ॥ २८
 नात्मनः प्रकृतिर्भिन्ना घटाऽमृन्मयता यथा ।
 सन्मृन्मात्रं यथा चान्तरात्मैवं प्रकृतिः स्थिता ॥ २९
 आवर्तः सलिलस्येव यः स्पन्दस्त्वयमात्मनः ।
 प्रोक्तः प्रकृतिशब्देन तेनैवेह स एव हि ॥ ३०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पूर्वा० संसृतिविचारयोगो नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥४९॥

पञ्चाशः सर्गः ५०

श्रीराम उवाच ।

ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।
 परेण परिपूर्णाः स्मो ब्रह्मज्ञानामृतेन ते ॥ १
 पूर्णात्पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णात्पूर्णं प्रसूयते ।
 पूर्णेनापूरितं पूर्णं स्थिता पूर्णं च पूर्णता ॥ २

कोटिः सर्वभ्रान्तिबाधावधिस्तन्मात्रम् । एकेति । 'तत्र को
 मोहः कः शोक एकन्वमनुपश्यतः' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
 ॥ २४ ॥ हे राघव, त्वं तिष्ठन् गच्छन् श्रसन् स्वपंश्च अन्तः
 अहंभावरूप आत्मेत्यनुभव ॥ २५ ॥ वेदनं चिदेकरसं ब्रह्म
 भव ॥ २६ ॥ सर्वगैकात्मशुद्धसंविन्मयात्मकः स त्वमेव ।
 तच्छ्रुतिप्रसिद्धमनाद्यन्तं परं पदं सन् स्थितोऽसि ॥ २७ ॥
 यद्ब्रह्मेति । आत्मेति तुर्य इत्यपि न प्रसिद्धम् । या च अविद्या
 प्रकृतिश्चकाराजगदिति च प्रसिद्धा तत्सर्वमभिन्नमन्मात्रैकात्मक-
 मित्यर्थः ॥ २८ ॥ यथा घटस्य मृन्मयता सद्वास्तवं मृन्मात्रं
 तथा प्रकृतिरित्यर्थः ॥ २९ ॥ स्पन्दो विवर्तनम् । तेन सन्मात्र-
 स्वभावेनेह स्वविवर्तं स आत्मैवास्ति नाणुमात्रमप्यन्यदित्यर्थः
 ॥ ३० ॥ सत्तया वस्तुवृत्तेन ॥ ३१ ॥ सन्मयः सन्मात्रः ।
 याति । रूपान्तरमिति शेषः ॥ ३२ ॥ तदेव चित्ताङ्कुरं तस्मा-
 त्स्फुरन् भाविसंसारवनखण्डकः संपद्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥
 एतत्कलनाबीजमेव ॥ ३४ ॥ नो पतति चेत् सुखदुःखफलाः
 शरीरद्रुमा येभ्यस्तथाविधाचित्ताङ्कुरा न जायन्ते ॥ ३५ ॥
 उपक्रान्तमुपदेशरहस्यमुपसंहरति—द्विन्वमिति । हे राम,
 जगति असत् भ्रान्त्युपात्तं द्वित्वं जहिहि त्यज । 'आ च हौ'
 इति चकाराज्जहातेरिः । यतस्त्वं बोधमुपागतोऽसि, आत्मैक-
 भावलक्षणेन निरतिशयानन्दविभवेन अभयात्मा भव । दुःखं तु

१ तद्ब्रह्मवेदनं इति पाठः.

यथैकः स्पन्दपवनौ नास्मा भिन्नौ न सत्तया ।
 तथैकमात्मप्रकृती नास्मा भिन्ने न सत्तया ॥ ३१
 अबोधादेतयोर्भेदो बोधेनैव विलीयते ।
 अबोधात्सन्मयो याति रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ ३२
 चित्क्षेत्रे कलनाबीजं यदेतत्पतति स्फुरन् ।
 चित्ताङ्कुरं तदेतस्माद्भाविसंसारखण्डकः ॥ ३३
 एतदेवात्मविज्ञानाद्गन्धं सद्वासनाजलैः ।
 संसिक्तमपि यत्नेन न भवत्यङ्कुरक्षमम् ॥ ३४
 नो चेत्पतति चित्क्षेत्रे कलनाबीजकं ततः ।
 चित्ताङ्कुरा न जायन्ते सुखदुःखलघद्रुमाः ॥ ३५
 द्वित्वं जगत्यसदुपात्तमबोधजातं
 बोधक्षयं जहिहि बोधमुपागतोऽसि ।
 आत्मैकभाषविभवेन भवाभयात्मा
 नास्त्येव दुःखमिति नः परमार्थसारः ॥ ३६

लीलयेदं तु पृच्छामि भूयोबोधाभिवृद्धये ।

बालस्येव पिता ब्रह्मन्न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ ३
 श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
 विद्यमानमपि ब्रह्मन्द्दृश्यमानमपि स्फुटम् ॥ ४

कालत्रयेऽपि नास्त्रेवेति नः परमार्थसार उपदेश इत्यर्थः ॥ ३६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 संसृतिविचारयोगो नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इह कल्पनया जीवे लिङ्गपुर्यष्टकोद्भवः ।

वर्णितोऽक्षैस्तथा तस्य बाह्यार्थग्रहणक्रमः ॥ १ ॥

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इति श्रुतेस्तत्त्व-
 साक्षात्कारेण स्वयं छिन्नसर्वसंशयोऽपि रामः परेषामुपकाराय
 तत्संशयपदं प्रष्टुकामः प्रथमं स्वानुभवमभिलष्य दर्शयति—
 ज्ञातमित्यादिना । वयं ते त्वत्संबन्धिना ब्रह्मज्ञानामृतेन परि-
 पूर्णाः स्मः ॥ १ ॥ स्वानुभवेन 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुद-
 च्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' इति श्रुतिं संवाद-
 यति—पूर्णादिति । पूर्णाद्ब्रह्मणः सकाशादुपाधौ प्रविश्य आन-
 खात्पूर्णमिदं जीवरूपं परमार्थतः पूर्णं ब्रह्मैव । यतः पूर्णाय-
 द्वियदादिक्रमेण प्रसूयते व्याघ्रसमष्ट्युपाधिरूपं तदपि पूर्णमेव
 प्रसूयते । तद्यदा महावाक्योत्थेनाहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानेन सम्मूलो-
 पाधिपरिच्छेदापनयनात्पूर्णं ब्रह्मणा पूर्णमेव जीवतत्त्वमखण्ड-
 क्येनापूरितं तदा कल्पिता पूर्णता भ्रमस्यापगमात्पूर्णस्य पूर्णतैव
 प्राक्स्थितैवावस्थितैत्यर्थः ॥ २ ॥ भूयसां जनानां बोधाभिवृद्धये
 बालस्य लीलाश्रे पितेव कोपं कर्तुं नार्हसि ॥ ३ ॥ सर्वेषां प्राणिनां
 हृद्येवार्थानुभवोत्प्रेषदर्शनात्प्रियाप्रियदर्शनजन्यसुखदुःखयोर्द्वेष-

कथं मृतस्य वै जन्तोर्विषयं स्वं न पश्यति ।

जीवतश्च कथं सर्वं विषयं स्वं प्रपश्यति ॥ ५

कथं घटादिबाह्यत्वमिन्द्रियाणि जडान्यपि ।

शरीरेऽनुभवन्त्यन्तः पुनर्नानुभवन्त्यपि ॥ ६

अयःशलाकोपमयोर्घटादीन्द्रिययोः किल ।

अश्लिष्टयोरन्तरसौ कथं तन्नोदिता मिथः ॥ ७

जानन्नपि यदेतान्वै विशेषाच्छतथा पुनः ।

पृच्छामि तदशेषेण कथयस्वानुकम्पया ॥ ८

नुभवान्धिरानुभूतानामपि बाह्यार्थानां हृद्येव स्मृतिदर्शनाच्च हृद्येव बाह्यार्थानामप्यनुभवो वाच्यः । तत्र श्रोत्रचक्षुरादीन्द्रियाणां बाह्यार्थान् हृद्यानेतुमशक्तेरचेतनत्वेन च स्वयं बहिर्गत्वानुभूयागत्याख्यानुभवत्वेन श्रोत्रादिगोलकातिरिक्तेन्द्रियाभ्युपगमो व्यर्थः । नवान्तःकरणावच्छिन्नं जीवचेतन्यमेवेन्द्रियप्रणाख्या निर्गत्य बाह्यघटादि व्याप्य तदनुभवतीति कल्पनापि युक्ता । तथा सति बहिरेवानुभवोल्लेखापत्तेः । प्रियाप्रियदर्शनप्रयुक्तसुखदुःखानामपि बहिरुदयापत्तेः । कालान्तरेऽन्तःस्मृत्यनापत्तेश्च । अन्तर्विषयप्रवेशमन्तरेणान्तरनुभवायोगात् । नच बहिरन्तःकरणवृत्तिविषयालिङ्गनेन तदाकारलाञ्छनं संस्काराख्यं गृहीत्वान्तःप्रविश्य नट इव तदाकारं विडम्बयन्ती तदनुभावयति स्मारयति चैत्युच्यते इति कल्पनापि युक्ता । घटाद्याकारानुभवानां तलाञ्छनविषयत्वकल्पने भ्रमप्रमयोरविशेषापत्तेः सर्वत्रैवानुभवासप्रसङ्गात् । घटादेर्बाह्यत्वानुभवानापत्तेश्च । इत्थं चानुभव आन्तरो घटादिश्च बाह्य इत्यनयोरसंबन्धाच्च कथंचिदपि बाह्यार्थस्यानुभवारोहणमुपपादयितुं शक्यम् । अतएव नैगायिकादयोऽनुभवस्य विषयैः सह विषयविषयिभावलक्षणः स्वरूपसंबन्ध एव न संश्लेषादिलक्षण इत्याचक्षते—नच सोऽपि युक्तः । असंबद्धस्वरूपस्य सर्वाङ्गविषयान्प्रत्यविशिष्टत्वेन विषयव्यवस्थाऽयोगात् । नचात्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति क्रमेण स्वाभयसंयुक्तसंयुक्तसंयोगादिपरम्परासंबन्धव्यवस्थया व्यवस्था । अननुगतस्य परम्परासंबन्धस्य स्मृत्यनुमित्याद्यनुगततत्तद्विषयव्यवस्थापकत्वायोगात् । परम्परासंबन्धेन बाह्यार्थापरोक्ष्यानिर्वाहत्तस्यैव व्यवस्थापकत्वे स्वरूपसंबन्धकल्पनवैयर्थ्याच्च । एतेन संनिकर्षद्वारा योऽर्थो यज्ज्ञानव्यक्तिजनकः स तद्विषय इति व्यवस्थापि प्रयुक्ता । इन्द्रियादीनामपि तद्विषयत्वप्रसङ्गात् । तस्मादघटितघटनासमर्थमायाशक्तिजलादेवान्तर्बाह्यार्थानुभवो वाच्यः, तथा सति किं कर्णादिगोलकातिरिक्तेन्द्रियाभ्युपगमेनेति यथानुभवं तन्नारैव चिदात्मा बाह्यार्थमनुभवतीति स्यात् । तथा सति मृतशरीरेऽपि कर्णादीनां सर्वगतस्य सदात्मनश्च सत्त्वात्तत्रापि बाह्यार्थानुभूतो नानुभवतीति रामः शङ्कते—श्रोत्रमित्यादिना । श्रोत्रादिशब्दा गोलकपराः । अतएव स्फुटं दृश्यमानमपीति विशेषणम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ यदि कश्चिद्भूयाच्चक्षुरादीन्द्रियाणि स्वयं बहिर्निर्गत्या घटादीनां बाह्यत्व-

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इन्द्रियाद्यपि चित्तादि घटाद्यपि न किञ्चन ।

पृथक् संभवतीहाङ्ग निर्मलाश्चेतनादृते ॥ ९

गगनादपि याऽच्छा चित्तया रूपं स्वमात्मना ।

चित्त्वात्पुर्यष्टकत्वेन भाववृत्त्यैव भावितम् ॥ १०

तदेव च प्रकृतितां गतं जगदवस्थितैः ।

तस्या अवयवाज्जातमिन्द्रियादि घटादि च ॥ ११

पुर्यष्टकत्वमायातं यच्चित्तं स्वस्वभावतः ।

स एवावयवस्तस्मिन्घटादि प्रतिबिम्बति ॥ १२

मनुभूयान्तः प्रविश्य कथयन्तीति तत्राह—जडानीति । न तेषां पृथकेतनत्वं कथनसामर्थ्यं वा अस्तीति भावः । यदि कश्चिद्भूयादिन्द्रियाणि बाह्यार्थं हृदि नीत्वा स्थापयन्तीति तत्राप्याह—पुनरिति । हृद्यर्थस्थापने पुनःपुनर्हृदि तदनुभवः स्यादघटादेर्हृदयाद्बहिर्निःसारणादर्शनादिति भावः ॥ ६ ॥ ननु घटादिविषयजातं कर्तुं प्रथमं चक्षुरादीन्द्रियजातं स्वदेशमाकर्षति । तन्नाकृष्टमिन्द्रियं विषयं संवेष्ट्यान्तर्हृदिस्थाय भोके केनचिदंशेनान्तर्नयति प्राणमिव गन्धमिति कल्पनामाशाङ्गाह—अय इति । विषयाः संश्लिष्येन्द्रियाण्याकर्षयेयुर्नासंश्लिष्य, असंश्लिष्टरज्ज्वादीनां घटाद्याकर्षकत्वादर्शनात् । नच गोलकप्रदेशानुपसर्पिणां घटादीनां तत्संश्लेषः संभवति । नापीन्द्रियाणां रज्ज्वद्धतसंश्लेषस्तदाकर्षकत्वं वा प्रसिद्धम् । मित्रप्रदेशनिखातायःशलाकाद्वयवद्भिन्नदैशत्वादित्याह—अश्लिष्टयोर्घटादीन्द्रिययोर्मिथः असौ त्वदुच्यमाना तन्नोदिता परस्परकर्षणशीलता तत्रापि नेत्राद्यल्पविवरान्तर्घटादिस्थूलप्रवेशकता कथं सर्वानुभवविरुद्धेत्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु तत्त्वबोधेन चिच्छन्नगर्वसंशयस्य तवं कथं मायामये सर्वानुपपत्तिभाजनेऽस्मिन्व्यवहारे ईदृशः संशयस्तत्राह—जानन्नपीति । शतधा बहुधा पुनः पृच्छामि । अज्ञानप्रहार्थमित्यर्थः ॥ ८ ॥ अत्यल्पमिदमुच्यते यद्गोलकातिरिक्तानीन्द्रियाणि न सन्तीति । यतः सम्यग्विभक्तं चिद्यतिरेकेण प्रमातृप्रमाणप्रमेयविभागाः केऽपि न निरूपयितुं केनापि वादिना शक्यन्त इत्याशयेन वसिष्ठः प्रथमं रामाचक्षते—इन्द्रियादीति ॥ ९ ॥ यदि तु कल्पनया द्रष्टृदृश्यस्य चोपपत्तिं मन्यसे तर्हि इन्द्रियादिघटितपुर्यष्टकत्वेनापि पूर्वपूर्ववासनानुसारेण कल्पनोपपत्तेर्न किञ्चिदनुपपन्नमित्याशयेनाह—गगनादपीति । तथा चित्ता आत्मना मायाशब्दलक्षणाभावेन पुर्यष्टकत्वेन स्वं रूपं भाववृत्त्या पूर्वपूर्ववासनानुसारेण भावितं कल्पितमित्यर्थः ॥ १० ॥ उक्तेऽर्थे 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्' इति श्रुतिं प्रमाणयति—तदेव चेति ॥ ११ ॥ एवं चेन्द्रियद्वारा बहिर्निर्गतेन पुर्यष्टकघटकेन चित्तेन घटादिव्याप्त्या स्ववृत्तिप्रतिबिम्बतघटादेर्बाह्यत्वाकारेणैव हृदये नीत्वा प्रदर्शनं तथैव कालान्तरे स्मृतिः स्वप्ने चान्तर्गतस्यैव बाह्यत्वेनानुभवश्चेति सर्वमुपपन्नमित्याशयेनाह—पुर्यष्टकत्वमिति । एवंरीत्या पुर्यष्टकत्वमायातं

श्रीराम उवाच ।

जगत्सहस्रनिर्माणमहिम्नो दर्पणस्य च ।
 पुर्यष्टकस्य भगवन्रूपं कथय कीदृशम् ॥ १३
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अनाद्यन्तं जगद्बीजं यद्ब्रह्मास्ति निगमयम् ।
 भारूपं शुद्धचिन्मात्रं कलाकलनवर्जितम् ॥ १४
 कलनोन्मुखतां यातमन्तर्जीव इति स्मृतः ।
 स जीवः खलु देहेऽस्मिन्निनोति स्पन्दते स्फुटम् १५
 अहंभावादहंकारो मननान्मन उच्यते ।
 बोधनिश्चयतो बुद्धिरिन्द्रदृष्टेस्तथेन्द्रियम् ॥ १६
 देहभावनया देहो घटभावनया घटः ।
 एष एव स्वभावात्मा जनैः पुर्यष्टकं स्मृतः ॥ १७
 ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वाद्यभिपातिनी ।
 या संविजीव इत्युक्ता तद्धि पुर्यष्टकं विदुः ॥ १८
 काले काले ततो जीवस्त्वन्योन्यो भवति स्वतः ।
 भाविताकारयानन्तवासनाकणिकोदयम् ॥ १९
 पुर्यष्टकस्वभावेन कालेनाकारमृच्छति ।
 यथावासनतः सेकाद्बीजं पलुवतामिव ॥ २०

चिद्रूपं तत्त्वमेव पुर्यष्टकस्य चिन्नादिघटितस्वभावतः स्वयमेव स्वः चित्तवृत्त्याख्योऽवयवो भवति । तस्मिन्नवयवे घटादि बाह्यं बाह्याकारेणैव प्रतिबिम्बति । मृतदेहे तु पुर्यष्टकघटितस्य लिङ्गात्मनो जीवस्य स्वकल्पनयैव लीलोपाख्यानोपदर्शिता-रीत्या निर्गमनात् दर्शनादिसामर्थ्यमिति सर्वदोषपरिहार इति भावः ॥ १२ ॥ यद्येवं तर्हि पञ्चीकृतभूतभागेन जगदाकारेण परिणमतोऽपञ्चीकृतभूतकार्यलिङ्गभागेन तत्प्रतिबिम्बग्रहदर्पण-भूतस्य च पुर्यष्टकस्यैव किं रूपं न देव कथयेति रामः पृच्छति—**जगदिति ॥ १३ ॥** तत्स्वरूपं वक्तुं वसिष्ठस्तन्मूलमज्ञातं ब्रह्म-तत्त्वं निर्दिशति—**अनाद्यन्तमिति ॥ १४ ॥** तद्ब्रह्म विद्यदादि-भूतसूक्ष्मं सृष्ट्वा तेनापञ्चीकृतं लिङ्गं पञ्चीकृतेन ब्रह्माण्डं च सृष्ट्वा तदन्तःप्रतिबिम्बलक्षणकलनोन्मुखतां यातं सत् सूत्र-प्राणानामभिमानेन धारणाजीव इति स्मृतोऽभूदित्यर्थः । चिन्नाति वासनोपचयनाङ्गोपचयेन नोपचितो भवति । उपचितश्च बाधान्तर्व्यापारात्मना स्पन्दते चेत्यर्थः ॥ १५ ॥ तस्यैवाभि-मानादिव्यापारभेदेन नामभेदानाह—**अहंभावादित्यादिना ॥ १६ ॥** सर्वव्यापारसाधारणस्वभावात्मा पुर्यष्टकमिति नाम्ना स्मृतः ॥ १७ ॥ ज्ञानेन्द्रियव्यापारेण ज्ञत्वं, कर्मेन्द्रियव्यापारेण कर्तृत्वं, तत्फलमुखदुःखाश्रयत्वेन भोक्तृत्वं, सर्वस्योदासीन्येन प्रकाशेन साक्षित्वम् । आदिपदाद्भोगकरणत्वायतनत्वादिपरि-ग्रहः । एतदभिपातिनी अध्यासनेतद्धर्मिका या संवित्संवे-चित्प्राधान्येन जीव इत्युक्ता, जडांशप्राधान्येन तदेव पुर्यष्टकं तदुचित्यर्थः ॥ १८ ॥ अतएव स्वतादात्म्यभावितादुच्चारणां कालभेदेन भेदाजीवोऽपि कामक्रोधहर्षविषादाद्यनुराजतो नानेव भवतात्याह—**काले काले इति ।** अनन्तवासनाकणिकोदय-

आकारोऽहं शरीरादि स्थावरादि चरादि च ।
 नाहमाद्यश्चिदात्मेति मिथ्या ज्ञानेन चेतति ॥ २१
 भ्रमत्येव जगज्जीवो वासनावलितश्चिरम् ।
 ऊर्ध्वाधोगमनैरब्धौ काष्ठं वीचिहतं यथा ॥ २२
 कश्चिद्विशुद्धजातित्वाद्भवबन्धादनन्तरम् ।
 बुद्धात्मानं समभ्येति पदमाद्यन्तवर्जितम् ॥ २३
 कश्चित्कालेन बहुना भुक्तयोनिगणानुरः ।
 आत्मज्ञानवशादेति परमं पदमात्मनः ॥ २४
 एवंरूपश्च सुमते जीवो यातः शरीरताम् ।
 नेत्रादिना घटाद्यन्तर्यथा वेत्ति तथा शृणु ॥ २५
 चित्तस्य कलनान्तस्य संप्रयातस्य जीवताम् ।
 मनःषष्ठेन्द्रियग्रामो देहोऽयमवतिष्ठते ॥ २६
 यदान्यः सर्वदेहेभ्यः खे पतत्यक्षरूपिणा ।
 तदा तज्जीवसंस्पर्शाजीवात्मैकत्वमृच्छति ॥ २७
 बाह्यार्थवेदने नित्यं संबन्धोऽक्षस्य कारकः ।
 समन्वितस्य चित्तेन न मुक्तस्य कदाचन ॥ २८
 यद्यदच्छतरं तस्मिन्नभःस्थं प्रतिबिम्बति ।
 जीवेन भवति श्लिष्टो बहिर्जीवोऽप्यजीवति ॥ २९

माकारमृच्छतीति परेणान्वयः ॥ १९ ॥ तस्यैव समाष्टव्यष्टि-जीवस्य वीजस्याङ्कुरकाण्डपल्लवादीव सर्वं जगदाकार इत्याशये-नाह—**यथेति ॥ २० ॥** अतएवाद्याश्चिदात्मा नाहं किंतु शरी-राद्याकार एवाहमिति मिथ्याज्ञानेन चेतति पश्यति ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ कश्चिन्मानकादिनुल्यः कल्पादावेव प्राक्कल्पीयभवब-न्धादनन्तरमाद्यं जन्मन्धेनेत्यर्थः । अयं च सर्वो विभागः सात्त्विक-कराजगादिजीवभेदवर्णने उत्पत्तिप्रकरणं व्याख्यातः ॥ २३ ॥ ॥ २४ ॥ कथं घटादियात्त्वमिन्द्रियाणि जडान्यपीति यत्पृष्टं तन्मामान्यतः रामाहितमपि विशेषेण समाधत्ते—**एवंरूप इत्यादिना ॥ २५ ॥** चित्तस्य चेतन्यस्य कलनान्तस्य पुर्यष्टके प्रतिबिम्बतया परिच्छेद्यस्यानस्त्रोभ्रयो व्याप्तौ परिमातृतयाव-तिष्ठते । तेन सदा जीवचेतन्यं देहपरिमितं देहान्मर्गतमेव मुखदुःखादिसंबन्धादनुभवति न बाह्यम् ॥ २६ ॥ यदा तु अन्यो बाह्यघटादिर्द्रष्टव्यो भवति तदा तडागादुद्रिकं जलं कुन्याद्वारेणैव सर्वदेहेभ्य उद्रिकं चक्षुरायक्षरूपिणा द्वारेण बाह्यं घटादिपर्यन्ते खे बाह्याकाशे पतति निर्गच्छतीत्यर्थः । किं ततस्तत्राह—**तदेति ।** तदा तद्घटादिनयनाद्वारनिर्गत-जीवेन स्वाकारवृत्तिव्याप्तिद्वारा संस्पर्शाद्यापनाजीवचेतन्येन साहैकत्वमाध्यासिकचित्तादात्म्यलक्षणं विषयत्वमृच्छति गच्छति ॥ २७ ॥ स चाक्षस्य संबन्धचित्तेन समन्वितस्य जीवत एव बाह्यार्थवेदने कारको भवति न मृतस्य मुक्तस्य वेत्यर्थः ॥ २८ ॥ अस्तु बहिरं तथापि कथमन्तस्तदनुभवस्तत्राह—**यद्यदित्या-दिना ।** यद्यदन्तःकरणवृत्तिरूपं नयनरश्मिरूपं वा खच्छतरं वस्तु तस्मिन्बाह्यनभःस्थं घटादि प्रतिबिम्बति, स च प्रतिबिम्बो वृत्त्यन्तर्गतं जीवनं श्लिष्टो भवति । तर्हि बहिष्ठ एवाहं घट-

निघृष्टनवरत्नामे यदा नयनतारके ।
 तदा तयोर्बाह्यगतः पदार्थः प्रतिबिम्बति ॥ ३०
 जीवेन भवति श्लिष्टः प्रतिबिम्बतया ततः ।
 जीवज्ञेयत्वमायाति बाह्यं वस्त्विति राघव ॥ ३१
 यत्संश्लेषमुपायाति तद्बालोऽपि हि विन्दति ।
 पशुर्वा स्थावरो वापि जीवः कस्मान्न वेत्स्यति ॥ ३२
 अच्छस्य नयनस्याथो रश्मयो जीववेष्टिताः ।
 क्रोडीकुर्वन्त्यलं दृश्यं जीवस्तत्त्वेन विन्दति ॥ ३३
 एष एव क्रमः स्पर्शं संबन्धः प्रत्ययोद्भवः ।
 रसे गन्धे च कथितो जीवसंस्पर्शसंभवः ॥ ३४
 शब्दस्त्वाकाशनिघृष्टत्वात्कर्णाकाशगतः क्षणात् ।
 जीवाकाशं विशत्यन्तरिन्धमिन्द्रियसंविदः ॥ ३५

इत्यादिं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वा० अक्षसंवेदनविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः ५१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

न पुनर्भवतः पूर्वं संपन्नाश्चभुरादयः ।

मनुभवामिति कुतो नानुभूयते तत्राह—बहिरिति । यद्यपि बहिर्जोवोऽस्ति तथाप्यसौ बहिः अजीवति प्राणाञ्च धारयति । जलो नलोपद्वन्दसः । अनुव्यचलदितिवात्तलन्तोत्तरपदः रामासौ वा । यत्र प्राणव्याप्तिस्तत्रैवाहंतावमशो न बहिरित्यर्थः ॥ २९ ॥ अस्त्वेवं तर्हि घटे प्रथाफलोपपत्तिस्थापि कथमन्तर्हृदि घटाकारानुप्रवेशस्तत्राह—निघृष्टेति । यदा नयनतारके पटलादिदोषराहित्याच्छाणनिघृष्टनूतनेन्द्रनीलामे भवतस्तदा नयोन्तारकयोर्घटप्रतिबिम्बसहितो चिन्तितः प्रविशतीति बाह्यगतो घटादिपदार्थः प्रतिबिम्बतीत्युच्यते ॥ ३० ॥ न चैवं नयनतारकानुप्रविष्टः पदार्थो हर्दनाहमभिमानवता जीवेन हृदि प्रतिबिम्बतया श्लिष्टो भवतीत्यर्थः । इति अनया रीत्या घटादि बाह्यं वस्तु बहिरवभासमानमेवान्तर्हृदि अहंकारसंवलितजीवज्ञेयत्वमायातीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ चेतनस्यार्थसंस्पर्शं वेदननियमो बालपथादिष्वपि प्रसिद्ध इत्याह—यदिति । स्थावरेष्वपि शुल्भविशेषे स्पर्शमात्रेण पत्रसंपुटीकरणदर्शनात्तद्वेदनं सर्वत्रानुमीयत इति भावः ॥ ३२ ॥ दूरस्थविषयस्य कथं गोलकसंस्पर्श इति पामरशङ्कामपाकुर्वन्नाह—अच्छस्येति । गोलकारितिकस्य स्वच्छतमस्येन्द्रियस्य रश्मयः प्रागुक्तरीत्या जीववेष्टिताः सन्तः पुरोवर्तिविषयं क्रोडीकुर्वन्त्यालिङ्गन्ति ॥ ३३ ॥ चक्षुष्युक्तं क्रमं स्पर्शादावप्यतिदिशति—एष एवेति ॥ ३४ ॥ शब्दे विशेषमाह—शब्दस्त्विति । शब्दस्य वृत्तिप्रतिबिम्बनं विनापि साक्षाच्छ्रोत्रद्वारान्तःप्रवेशोऽपि संभवतीति भावः । इत्थं गन्धस्यापि पवनद्वारान्तःप्रवेशसंभवोऽस्तु नामेसाञ्चयेन

श्रीराम उवाच ।

दृश्यते मानसादर्शं यन्मदावौदरेषु तत् ।
 प्रतिबिम्बितमेतन्मे ब्रूहि ब्रह्मन्किमात्मकम् ॥ ३६
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अत्यन्तजडयोरेव जीवयोरिव तन्मिथः ।
 प्रतिबिम्बं दृशो भ्रान्तिं विद्धि वेद्यविदां वर ॥ ३७
 तावन्मात्रं जगत्चेतद्विश्वासो मा तवास्त्विह ।
 अहमित्यादिस्तरङ्गो वर्तमानं सदा जलम् ॥ ३८
 पराम्भोधौ तु नास्त्येव देशकालक्रियादिकम् ।
 तन्मयैकतया नित्यमात्मा सर्वत्र सर्वगः ॥ ३९
 नित्यमसक्तमतिमुदितात्मा
 शान्तमृषासुखदुःखविदन्तः ।
 तिष्ठ निविष्टमतिः समताया-
 मस्तसमस्तभवामयमायः ॥ ४०

यथा कमलजस्यैतत्सर्वमेव त्वया श्रुतम् ॥ १

यथासंभवमुक्तन्यायमुपसंहरति—इत्थमिति ॥ ३५ ॥ इदानीं रामः प्रसङ्गात्सर्वेषां प्रतिबिम्बानां स्वरूपं जिज्ञासुः पृच्छति—दृश्यत इति । यत् मानसानि च आदर्शाश्च तत्समाहारे । काचकांस्यमणिजलादियन्त्रदारुणासौदरेषु उदराभिर्गतेषु नवपल्लवादिषु यत्प्रतिबिम्बितघटमुत्प्रभादि एतत् किमान्मकं तन्मे ब्रूहीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ यत्र विम्बस्य सत्यन्वेऽपि चित्प्रतिबिम्बभूतयोर्व्यष्टिसमष्टिजीवयोर्बिम्ब्यातिरिक्तं रूपं भ्रान्तिमात्रसिद्धं न निर्वक्तुं शक्यं, तत्रात्यन्तजडयोर्मुखदर्पणयोर्घटचित्तवृत्तयोर्वा परस्परमापेक्षं प्रतिबिम्बस्वरूपं दुर्बचमिति किं वाच्यमित्वाशयेनोत्तरमाह—अत्यन्तेति । दृश्यैतन्मात्मनो भ्रान्तिं विद्धि ॥ ३७ ॥ न केवलं प्रतिबिम्बमात्रं भ्रान्तिरपि तु जगदपोत्याह—तावदिति । अप्यर्थे तुशब्दः । तावन्मात्रं भ्रान्तिमात्रम् । अतएव तव इह जगति विश्वासो मास्तु । अहमित्यादिः प्रपञ्चस्तरङ्गस्थानीयश्चिज्जलात्पृथगसन्नित्यर्थः । वर्तमानं तु सदा चिज्जलमेवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ हे राम त्वं नित्यमसक्तमतिः सन् शान्ता मृषाभूतसुखदुःखे वेत्तीति मृषासुखदुःखविदुदिर्यस्य तथाविधश्च भूत्वा अस्ता समस्ता भवत्क्षणामयरूपा माया यस्य तथाविधः सन् समतायां ब्रह्मस्वभावे निविष्टमतिस्तिष्ठेत्यर्थः ॥ ४० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पू० अक्षसंवेदनविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

जीवः खानि मनो देहः पुर्यष्टकमिति भ्रमः ।

अबोधादेव बोधे तु ब्रह्मैकमितीर्यते ॥ १ ॥

कलनोन्मुखतां यातमित्यादिना वर्णितमहंकारदेहेन्द्रिया-

ब्रह्मपुर्यष्टकस्यादावर्थसंविद्यथोदिता ।
 पुर्यष्टकस्य सर्वस्य तथैवोदेति सर्वदा ॥ २ ॥
 विद्धि पुर्यष्टकं जीवो यो गर्भस्थेन्द्रियोक्तः ।
 यद्यथा भावयत्याशु तत्तथा परिपश्यति ॥ ३ ॥
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाख्यं विद्धि संवेदनं स्वकम् ।
 संपन्नं च यथा तस्मै प्रोक्तमाद्यमनःस्थितौ ॥ ४ ॥
 शुद्धा संवित्संभवन्ती संवेदनमनिन्दितम् ।
 ततोऽहंवेदानान्तर्जीवपुर्यष्टकान्विता ॥ ५ ॥
 न त्वेकत्वादनन्तत्वाद्देवद्यत्त्वाद्नामये ।
 अभावत्वादानेकत्वाद्दृश्यत्वात्परा स्थिता ॥ ६ ॥
 चेत्यादियुद्ध्या तर्कविज्ञ मनसां च गच्छति ।
 न च जीवत्वमायाति न च पुर्यष्टकात्मिका ॥ ७ ॥
 न विद्यादिविलासोऽस्ति सोस्ति नास्तीव यः सदा ।
 परमात्मेति कथितो मनःपष्ठेन्द्रियातिगः ॥ ८ ॥
 तस्मात्संपद्यते जीवश्चिन्मूर्तिर्मननात्मकः ।
 भ्रमः केवलमित्याद्य उपदेशाय गीयते ॥ ९ ॥
 यतः कुतश्चित्संपन्ने त्वविद्यामय आमये ।
 उपदेश्योपदेशेन प्रविलीने विचारणात् ॥ १० ॥

दीनां प्रागसतां कल्पनं जीवसमष्टेः पद्यजस्येव व्यष्टेस्तवापि
 तुल्यमिति तात्पर्यं त्वया ज्ञातमेवेति वक्ष्यमाणोद्भाताय प्रथ-
 ममनुवदति—न पुनरिति । अप्यर्थे पुनःशब्दः । कमजस्येव
 भक्तोऽपि सृष्टेः पूर्वमनाद्यन्तमित्यादिकर्षितब्रह्मस्वभावे स्थितस्य
 चक्षुरादयो न संपन्ना इत्येतत्सर्वमेव त्वया मद्ब्रह्मनतात्पर्यं
 श्रुतम् । अवधारितमित्यर्थः ॥ १ ॥ एवं पुर्यष्टककल्पनोत्तरं
 व्यवहार्यार्थकल्पनमपि समष्टिबदेव व्यष्टीनामित्याह—ब्रह्मेति ।
 ब्रह्मा हिरण्यगर्भः समष्टिपुर्यष्टकं तस्य यथा सर्गादौ व्यवहर्त-
 व्यार्थसंविदुदिता तथा सर्वस्य व्यष्टिपुर्यष्टकस्याप्युदेति ॥ २ ॥
 तदेव गर्भस्थितिमारभ्य दर्शयति—विद्धीति । यो व्यष्टिजीवो
 गर्भस्थ एव चक्षुरादीन्द्रियोदयविशिष्टः पुर्यष्टकात्मा षष्ठे भाति
 संपद्यते स तदारभ्य यद्यथा व्यवहर्तव्यं वस्तु भावयति तथा
 तत्स्वरूपमनाया परिपश्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ एवंच आद्यमनः-
 स्थितौ हिरण्यगर्भमनोव्यापारे यथा स्वकं संवेदनं इन्द्रियाणि
 इन्द्रियार्थाख्यं च संपन्नं तथा तस्मै तवापि व्यष्टेः संपन्नमिति
 मया प्रोक्तं फलतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ सर्गात्पूर्वं संभवन्ती व्यष्टिसम-
 ष्ठोरेकं शुद्धा संवित् ततस्सदनन्तरं अहंवेदानालक्षणानन्तर्जी-
 वपुर्यष्टकान्विता सास्तु तथापि संवेदनस्वरूपमनिन्दितमेवै-
 त्यर्थः ॥ ५ ॥ वेद्यदोषत्संवेदनं तत् कुतो न निन्द्यते इति
 चेद्वेद्यस्य परमार्थतोऽसत्त्वादित्याह—न त्विति । एकत्वादिहेतु-
 भिरनामये संवेदने परस्य तदन्यस्यास्तित्वात् सत्यत्वात् न त्विल-
 न्वयः । नास्तित्वे च अभावत्वादयस्त्रयो हेतवः । अभावत्वाद्दे-
 शकालकृतपरिच्छेदवत्त्वादानेकत्वाद्सुकृतपरिच्छेदवत्त्वाद्दृश्य-
 त्वात्पुरुत्वाद्येत्यर्थः ॥ ६ ॥ ननु संवेदनमेव सत्त्वादिभावं

प्रशान्तसकलाकारं ज्ञानं तत्रावशिष्यते ।
 यत्राकाशमपि स्थूलमणाशिव महावत्तः ॥ ११ ॥
 यत्रोद्यदाचारमपि सद्यस्यसदिव स्थितम् ।
 जगज्जान्विषयास्त्यक्त्वा काये त्वं तिष्ठ निर्मले ॥ १२ ॥
 असन्मयमविद्याया रूपमेव तदेव हि ।
 यद्दीक्षिता सती नूनं नश्यत्येव न दृश्यते ॥ १३ ॥
 आलोकितं नाम कथमवस्तु किल लभ्यते ।
 प्रयत्नेनापि संप्राप्तं मृगतृष्णाशुभ्रकैरिव ॥ १४ ॥
 असदेव सदेवासदज्ञानादस्य सत्यता ।
 ज्ञानाद्यथास्थितं वस्तु दृश्यते नश्यति भ्रमः ॥ १५ ॥
 अविद्याया विचारोऽयं जीवपुर्यष्टकादिका ।
 अप्यत्यन्तमसत्यायाः कल्पना कल्पितात्मनः ॥ १६ ॥
 तस्यास्त उपदेशाय सेयं जीवादिकल्पना ।
 कृता शास्त्रैः प्रबोधाय तां त्वमेकमनाः शृणु ॥ १७ ॥
 जीवत्वमिव संप्राप्ता पुर्यष्टकपदस्थिता ।
 कला कलङ्ककलिता चित्तिराबोधनोन्मुखी ॥ १८ ॥
 यद्यथा भावयत्याशु तत्तथानुभवत्यलम् ।
 सत्यो भवत्वसत्यो वा बालेन निशि यक्षकः ॥ १९ ॥

गच्छतीत्युक्ते तत्र मनस्तापीनामसत्यत्वे संवेदनमेवासत्यं किं
 न स्यात्तत्राह—चेत्यादीति । चेत्यमन्तव्यादिगोचरबुद्धिदृश्य-
 ध्यारोपमात्रं तत्र वास्तवमनस्ताप्राप्तिः सेत्यर्थः ॥ ७ ॥ तर्हि
 विद्याविलासाविर्भूतस्वरूपत्वात्पूर्वं तदप्यसत्किं न स्यात्तत्राह—
 नेति । आदिपदाक्षरमप्रमाणमननादिपरिग्रहः । यो मूढैर्नास्ती-
 वेति कल्प्यते स परमात्मा सदास्ति ॥ ८ ॥ यद्यद्वितीय एव
 सः तर्हि 'तस्मात्सर्वं एत आत्मानो व्युत्थरन्ति' इति श्रुत्या अमि-
 विस्फुलिङ्गन्यायेन जीवसंपत्तिः कथमुक्तेति चेदुपदेशाय कल्प-
 नमेत्याह—तस्मादिति ॥ ९ ॥ अतएवाविद्यारोगस्य न मूलं
 चिन्त्यं किंतु चिकित्सैव चिन्तनीयेति मूलकल्पनादिश्चिकित्सो-
 पाय एव न वास्तव इत्याह—यत इति । प्रविलीने सति स्वरू-
 पज्ञानमेवावशिष्यत इति परेणान्वयः ॥ १० ॥ ११ ॥ उद्य-
 दाचारं निष्पद्यमानव्यवहारार्थं क्रियाशालीति सद्यावहारिकसत्य-
 मप्यसच्छून्यमिव यत्र स्थितं तत्र त्वं जगज्जान् विषयास्त्यक्त्वा
 निर्मले जीवन्मुक्तः काये सत्येऽवतिष्ठ ॥ १२ ॥ इदानी-
 मविद्यायाः स्वरूपमाह—असन्मयमिति ॥ १३ ॥ मृगतृष्णा-
 शुभ्रकैरिव संप्राप्तं दृष्टान्तोऽप्यप्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ १४ ॥ अस-
 देव राद्भाति यतः असदज्ञानादेवास्य सत्यतेत्यन्वयः ॥ १५ ॥
 सत्यभ्रमनः संनिधानादत्यन्तमसत्याया अप्यविद्यायाः कल्पना
 कल्पितेत्यर्थः ॥ १६ ॥ तस्य ते जीवस्योपदेशाय तस्याः अवि-
 द्याया हेतोर्जीवदिकल्पना कृता ॥ १७ ॥ आबोधनोन्मुखी
 वात्मार्थदर्शनोत्सुका सती यद्यथा भावयतीति परेणान्वयः
 ॥ १८ ॥ बालेन संभावितो यक्षक इव सत्यः असत्यो वा
 असत्यः अयं तु पक्षतन्मात्रज्ञानं पक्षीकरपरिमर्कं देहकलनं

पञ्चतन्मात्रकलनां संभावयति सत्तया ।
 तत्रात्मनि तथा रन्धान्प्रपश्यति तथोदितान् ॥ २०
 एभ्य एव समुत्पन्नं बहिःस्थं भूतपञ्चकम् ।
 पश्यत्यनन्यदन्याभं शास्त्राशतमिवाङ्कुरः ॥ २१
 इदमन्तरिदं बाह्यमिति निश्चयवांस्ततः ।
 जीवो भावं यथादत्ते तत्तथा द्रढयत्यथ ॥ २२
 रश्मिजालमिन्दोर्यदात्मनः प्रतिभासनम् ।
 बाह्यस्पर्शतया तेन तदेवाशूररीकृतम् ॥ २३
 मरिचस्येव यत्तैक्षण्यं शून्यत्वमिव खस्य यत् ।
 आत्मनो वेदनं यच्च तदेवान्यदिव स्थितम् ॥ २४
 अत्रैव निश्चयं बद्धा नियमः सुहृदीकृतः ।
 अनेनेत्यमनेनेत्थं भाव्यमित्यवखण्डितम् ॥ २५
 स्वभावेतरनामासौ स्वसंकल्पमयात्मकः ।
 कश्चित्कदाचिद्भवति स्वभावेनैव नान्यथा ॥ २६
 आत्मनैवेदमखिलं संपन्नं द्वैतमद्वयम् ।
 खण्डो मधुरसेनेव मृदेव च महाघटः ॥ २७
 संनिवेशविकारादिदेशकालादिसंभवात् ।
 संभवत्यत्र नत्वीशे देशकालाद्यसंभवात् ॥ २८

सत्तया सत्यतया संभावयतीत्युत्तरेणान्वयः ॥१९॥ तत्रात्मनि
 देहात्मनि रन्धान् इन्द्रियद्वाराणि । छान्दसं पुंस्त्वम् ॥ २० ॥
 एभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः परमार्थतोऽन्यदेवान्याममिन्द्रियद्वारैः
 पश्यति ॥ २१ ॥ तत्र इदमिन्द्रियमनःप्राणादि अन्तः ।
 इदं घटादि बाह्यम् । भावं वासनाम् ॥ २२ ॥ तत्र विषये-
 न्द्रियसंयोगाभिव्यक्तं स्वात्मसुखमेव विषयसुखतया संभावय-
 तीत्याह—रश्मिजालमिति ॥ २३ ॥ एवं स्वाभाविकं स्ववेद-
 नमेव विषयसंनिकर्षाज्जातमहंकारात्मनो धर्म इति संभाव-
 यतीत्याह—मरिचस्येति ॥ २४ ॥ अत्र सांसारिकविषयभो-
 गेष्वेव पुरुषार्थपर्यवसाननिश्चयं बद्धा गृहलौकिकपारलौकिक-
 कर्माचरणनियमः सुहृदीकृतः । अनेन लौकिककर्मणा । अनेन
 वैदिककर्मणा । अवखण्डितं नश्वरं सुखमुद्दिश्येत्यर्थः ॥ २५ ॥
 तत्रैकः प्रवृत्तिनियमः स्वाभाविकरागादिकृतः, इतरस्तु शास्त्र-
 कृतः । द्विविधोऽप्ययं संकल्पमयात्मकस्तयोः कदाचित्कश्चिदेव
 स्वाभाविकपुरुषयत्नेनैवेतरं जित्वा भवति नान्यथेत्यर्थः ॥२६॥
 तत्रोभयत्राप्यज्ञ आरमैव स्वभावशास्त्रान्यतरानुसारी तत्तद्यापा-
 रसाधनफलात्मना विवर्तत इत्याह—आत्मनैवेति । खण्डः
 मधुसारशर्कराविशेषः ॥ २७ ॥ यद्यपि खण्डघटौ पूर्वतनद्रव-
 पिण्डावस्थयोर्विनाशाद्विकारौ तथापि माधुर्यमृत्स्वरूपाविनाशा-
 त्तदंशे विवर्तदृष्टान्तौ । नहि तद्वद्ब्रह्मणि विकारः संभवति तद्वै-
 धर्म्यादित्याह—संनिवेशेति । अत्र मधुमृदादौ । ईशे ब्रह्मणि
 ॥२८॥ अथवा खण्डो मधुरसेनेवेति वाक्ये खण्डो वनखण्डः,
 मधुरसेन वसन्तद्रवेणेत्यर्थः, तथा चाविकार एव वृक्षविकारहेतु-
 र्जलभागो दृष्टान्त इत्याशयेनाह—इत इति । यथा वृक्षप्रविष्टो

इतः पुष्पमितः पत्रमहमित्युदितो यथा ।
 खण्डे स्वात्मनि नः सत्तारसोऽद्वित्वे द्वितां वहन् ॥२९
 इतः पट इतः कुड्यमहमित्यादितस्तथा ।
 सर्वात्मनात्मनि ब्रह्म विद्धि त्वं द्वित्वमाहरत् ॥ ३०
 अद्याङ्कुरोऽहमद्यार्कुरुगहं त्वद्य वारिदः ।
 यथेति तिष्ठत्यम्भोदस्तथात्मा सदसद्वपुः ॥ ३१
 इति भाव्यमनेनेदमित्थं सर्वेश्वरे ततम् ।
 क्रमं खण्डयितुं लोके कस्य नामास्ति शकता ॥ ३२
 आदर्शस्वच्छ आकाशे नैव स्वः प्रतिबिम्बति ।
 व्यतिरेकासंभवतः कचत्येव हि केवलम् ॥ ३३
 ब्रह्मणि त्वात्मनात्मैव स्थितः कचति बिम्बति ।
 द्वैतीभवत्यदेहोऽपि चिन्मयत्वात्स्वभावतः ॥ ३४
 यद्यथैवात्मकचनं वेत्ति तं भवतात्मना ।
 असत्यमपि तन्नेह व्यभिचारी कदाचन ॥ ३५
 हेमत्वकटकत्वे द्वे सत्यासत्यस्वरूपिणी ।
 हेमि भाण्डगते यद्वच्चिस्वाचित्त्वे तथात्मनि ॥ ३६
 सर्वगत्याश्चित्तेश्चित्त्वं नित्यं मनसि विद्यते ।
 हेमत्वं कटकस्येव जडभावः स्थितोऽन्यदा ॥ ३७

रसो जलमितः पत्रमितः पुष्पमहमिति वैचित्र्येणोदितः सन्
 अद्वित्वेऽपि द्वितां वहन् दृष्टस्तथा नः स्वात्मनि प्रसिद्धसत्तारूपं
 ब्रह्मापि इतः पट इतः कुड्यमहमित्यादितो मेदात् सर्वजगदा-
 त्मना आत्मनि द्वित्वमाहरद्विद्वीति परेणान्वयः ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥ यथा वा अम्भोदो मेघः अद्य प्रीष्मे अर्करुगेवाहमिति
 ताद्रूप्येण तिष्ठति । तत आद्यवर्षारम्भे वारिदानावसरे वारिदो-
 ऽहमिति तिष्ठति । ततो भूमिप्रवेशेनाङ्कुरान्तर्जलमात्मना प्रवेशे
 अद्याङ्कुरोहमिति तिष्ठति । तथा आत्मापि कालमेदेन भावाभा-
 वाकारो भूत्वा तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ अयं च जगद्विवर्तनिय-
 मकमः कल्पितोऽपि न केनचिदन्यथा कर्तुं शक्य इत्याह—
 इतीति । सर्वेश्वरे ब्रह्मणि । ततं प्रसिद्धम् ॥ ३२ ॥ एवं वस्तु-
 स्वभावनियतिरपि वस्तुमेदमिजा नान्यथा कर्तुं शक्येत्याशये-
 नाकाशादिस्वभावस्याज्ञातब्रह्मस्वभावस्य च वैलक्षण्यमाह—
 आदर्शेति द्वाभ्याम् । आदर्शवत्स्वच्छे आकाशे स्वः स्वीयो
 भागः कार्यं वा नैव प्रतिबिम्बति । कुतः । व्यतिरेकासंभवतः
 आकाशे आकाशकार्ये भूतान्तरे वा आकाशमेदाभावात् । किंतु
 केवलमाकाशं निष्प्रतिबिम्बदर्पणोदरवत्स्वच्छतया कचति ।
 दीप्यत एवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ साविद्यं ब्रह्म तु न तथेत्याह—
 ब्रह्मणीति । कचति सर्ववस्तुशक्त्यादिरूपेण दीप्यते । जीवरू-
 पेण प्रतिबिम्बति । मेदकल्पनया च द्वैतीभवति ॥३४॥ अस्त्वेवं
 किं ततस्तत्राह—यदिति । तत्र सर्गादौ यद्वस्तु स्वभावेना-
 त्मकचनं वृत्तं तं स्वभावमसत्यमपि भवता सत्येनात्मना सत्यं
 वेत्ति स च नियमो न कदाचन व्यभिचारीति सर्वापि नियतिः
 सिद्धेत्यर्थः ॥३५॥ सत्यानृतमिधुनीभावे वाचारम्भणश्रुतिदर्शि-
 तन्यायेन दृष्टान्तमाह—हेमत्वैति ॥ ३६ ॥ अतएव प्रथम-
 कार्ये मनसि चिद्ब्रह्मोभयरूपता दृश्यते तत्र यच्चित्तं तत्सत्य-

चित्स्वजाड्यात्मकं चित्तं दृढं भावयति स्वयम् ।
 यथा बद्धैव यद्भावं तथा भवति तत्तदा ॥ ३८
 काले काले चित्ता जीवस्त्वभ्योग्यो भवति स्वयम् ।
 भाविताकारवानन्तर्वासनाकलिकोदयात् ॥ ३९
 स्वप्ने दृष्टो यथा प्राप्नोति सत्तान्धतेक्षणाम् ।
 देहादेहं तथा याति देहोऽयं प्रतिभात्मकः ॥ ४०
 प्रतिभासो यथा स्वप्ने नरः कुर्वन् पटो भवेत् ।
 भवत्यसत्यमैवेदं देहान्तरमिदं स्वतः ॥ ४१
 असत्यमेव त्रियते त्वसत्यं जायते पुनः ।
 जीवः स्वप्रतिभासेन स्वप्रवत्स्वान्यरूपधत् ॥ ४२
 कालेनैतादृशं रूपमिदं नान्यत्वमैति वै ।
 प्रकृतं निम्नयाकृतं भ्रमस्येते भवः स्वतः ॥ ४३
 वस्तु दृष्टमदृष्टं च स्वप्ने समनुभूयते ।
 जीवस्वप्ने जगद्रूपं विद्धि वैद्यविदां वर ॥ ४४

मित्याह—सर्वगत्यादिति । अन्वया कदाचिदित्यर्थः ॥ ३७ ॥
 'चित्तजाड्ये'ति पाठे चित्तस्य जाड्यं जडदेहविषयाकारस्तदा-
 त्मकं चित्तं दृढभावनया यदैव यथा देवनरस्थावरादिना येन
 प्रकारेण यदा यद्भावं भवति तदा तथैव तद्भावं भवति । अनु-
 भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ अतएव कालमेदेन जीवस्याहमाकार-
 भेदानुभव इत्याह—काल इति । चित्ता अन्तर्वासनाकलिका-
 नामुदयादिकासाद्वैचित्र्येण भाविताकारवानन्तर् अन्योऽन्यो
 भवति ॥ ३९ ॥ यथा स्वप्ने दृष्टो प्राप्नोति वनादिसत्तान्यतेक्षणा-
 द्भनादिभावं याति तथा देहभूतोऽयं जीवोऽपि देहादेहान्तरभावं
 याति । यतः स्वप्नवदेव प्रतिभासात्मक इत्यर्थः ॥ ४० ॥ यथा
 स्वप्ने प्रतिभासत इति प्रतिभासो दृश्यमानो नरो भ्रष्टिति कुर्वन्
 भूत्वा पटो भवेत्तथा मरणमूर्च्छायामपि प्रतिभासमानमिदं देहा-
 न्तरं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥ नन्वयं देहः प्रत्यक्षं त्रियते दह्यते
 च स कथं देहान्तरं भवेत्तत्राह—असत्यमेवेति । मरणजन-
 नमिकमपि मर्तुः प्रातिभासिकमेव । जीवतां तु तदेहस्य दाहा-
 दिदर्शनं स्वाभिधाकल्पितस्यैव न तद्भासनामयस्येति भावः ।
 स्वस्वान्यरूपवद्देहान्तरवदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ तर्हि किं यौवनव-
 र्धक्यवद्देहान्तरमप्येतदेहस्य कालिकः परिणामः, नेत्याह—
 कालेनेति । एतादृशमेतदेहरूपं कालेन अन्वयत्वं देहान्तरभावं
 एतीति न । यतः प्रकृतमिदं शरीरं वास्याद्यवस्थामेदेपि तदे-
 वेदमिति प्रत्यभिज्ञानिष्यारूढम् । एते भूतभाविदेहास्तु न ।
 ब्रह्मभिज्ञानाभावादन्येनान्ये सन्ति न सन्तीत्यभिज्ञान्ति
 गच्छन्ति अतस्तेषां स्वतो जीवत एव भवः, वासनया सद्गुरुव
 इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ननु कदापि प्रागदृष्टे देवादिशरीरभावे काल
 वासन तत्राह—वदित्यति । इदं तु जगद्रूपं जीवस्वप्नेऽन्तर्गतं
 विद्धि । 'तस्य प्रथम आवसथाजयः स्वप्नाः' इति श्रुतेरित्यर्थः ।
 इदं तु स्वप्ने अननुभूतस्यापि दर्शनमिह जन्मजन्मजन्मभूताभिजा-
 येण । 'दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं जानुभूतं जानुभूतं च सर्वं
 पश्यति' इति श्रुतिमन्त्रस्योक्तम् । वस्तुतस्तवनादौ 'संसारै

अजाप्रदृष्टिदृष्टो यः स्वाभिधानादिनेरितः ।
 न स्वप्नो विद्यते तस्मादच्छात्मा चित्तिमात्रकम् ॥ ४५
 अद्यापूर्वामिदं स्वप्ने यथा पश्यति नान्यथा ।
 अत्रदृष्टं तथैवार्थं चेतनं चित्प्रपद्यति ॥ ४६
 प्राक्तनी वासनाद्यापि पौरुषेणावजीयते ।
 ह्यःकुकर्माद्य बलेन प्रयाति हि सुकर्मताम् ॥ ४७
 मोक्षादते न शाम्बन्ति जीवतां बभ्रुराद्यः ।
 उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति केषलं देशकालतः ॥ ४८
 चितः स्वकलनात्तस्य देहोऽत्र इव तिष्ठति ।
 पञ्चात्मानामावितोऽसत्यो महायक्षः शिशोरेव ॥ ४९
 मनोबुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् ।
 इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ॥ ५०
 अमूर्त एव चित्तात्मा स्वत्वमस्यातिपीनता ।
 वाततास्य महागुल्मो देहतास्य सुमेरुता ॥ ५१

नाननुभूतं किञ्चिदस्तीति मरणकाले भाविदेहारम्भककर्मोद्बोधि-
 तवासनानुसारेणैव देहान्तरोद्भव इति बोध्यम् ॥ ४४ ॥ तर्हि
 वाक्यजन्यब्रह्मसाक्षात्कारलभ्यब्रह्मभावोपि देहान्तरवद्भासना-
 मयः स्वप्न एव किं न स्यात्तत्राह—अजाप्रदिति । यः 'शिव-
 मद्देतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति स्वाभिधानादिना ईरितः अजाप्र-
 दृष्ट्या तुरीयया दृष्टः परमात्मा तस्य उक्तलक्षणत्रिविधः स्वप्न
 एव न विद्यते जाग्रति कदापि तदनुभवाभावेन तद्भासनाऽप्रति-
 द्वेस्तस्य वासनामयत्वायोगात्तस्मादसावच्छात्मा चैतन्यमात्र-
 मित्यर्थः ॥ ४५ ॥ स एव चिदात्मा चेतनं जीवो भूत्वा अथ
 अपूर्वामिधममिनवं वर्तमानमर्थं यथा चित्स्वभावादेव पश्यति
 नान्यथा तथैवाप्रे दृष्टमप्यर्थं प्रपद्यतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ अत
 एवादृष्टविषयेऽपि भावनाप्रचयेन दृष्टीकृतवाचना पूर्वदृष्टविषयां
 वासनां जयतीति पुरुषप्रयत्नप्रबन्धं प्रदर्शितमित्याह—प्राक्त-
 नीति ॥ ४७ ॥ एवं जीवस्य वासनापरिणतिलक्षणो देहादि-
 बन्धो वर्णितः । इदानीं कदा तच्छान्तिरिति वाञ्छायामाह—
 मोक्षादिति ॥ ४८ ॥ मोक्षं विनैव देहादिनिवृत्तिः किं न
 स्यात्तत्राह—चित्त इति । यतश्चित्तो यावन्मोक्षं देहाकारकलना
 वासना विधृत्येव । स्वकलनैवैतस्य जीवस्य पञ्चात्मा देहोऽप्रे
 तिष्ठतीव । यथा शिशोर्भावितो महायक्षोऽप्रे तिष्ठति तद्बहु-
 निर्वाह इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इदानीं कथंचित् स्थूलदेहनिवारणेपि
 मोक्षं विना किञ्चिद्देहलक्षणं पुर्यष्टकं दुर्निवारमित्याशयेन तद्दर्श-
 यति—अत्र इति ॥ ५० ॥ ननु शास्त्रे ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं प्राण
 भूतावि अन्तःकरणमविद्याकामकर्माणि पुर्यष्टकमित्युक्तं तनु
 पञ्चीकृताकाशवाय्वाविलिङ्घटितस्थूलान्तं मूर्तरूपमपि स्वास-
 तकथममूर्तमनोबुद्ध्याद्यष्टकमेव पुर्यष्टकमुक्तं तत्राह—अमूर्त
 पद्येति । त्वदुक्तं मूर्तपुर्यष्टकं तदा स्पष्टदि पञ्चीकरणेनामूर्तानां
 तन्मात्राणां स्थौल्यं स्यात् । अयं तु तन्मात्ररूपो किञ्चात्मा
 अमूर्त एव । अस्य स्वत्वं पञ्चीकृताकाशत्वमतिपीनतानिरवधिकं
 स्थौल्यं तच्च न संभवति । ननुमूर्तवासनाप्रेदीनामपि मेरुने

विरजस्वक्रमेणैव निरवस्वस्तु मुक्तिमाह ।
 सुषुप्ततैकावस्थास्य जडाः कोटीकृता सदा ॥ ५२ ॥
 स्वप्नान्नी तथावस्था देहप्रत्ययशालिनी ।
 आमोक्षं भ्रमतीहायमिति स्थावरजंगमैः ॥ ५३ ॥
 कदाचिद्धि सुषुप्तस्यः कदाचित्स्वप्नपरिस्वतः ।
 भासिवाहिकदेहोऽयं सर्वस्यैवावतिष्ठते ॥ ५४ ॥
 यदा सुषुप्तभावस्थो भाविदुःखप्रवेधितः ।
 तदा कालानलसमस्तिष्ठत्यनुदिताकृतिः ॥ ५५ ॥
 स्थावराद्यास्यवस्थासु कल्पवृक्षदशासु च ।
 भवत्येव सुषुप्तस्यो घनमोहशिलाघनः ॥ ५६ ॥
 सुषुप्ततास्य जडता स्वप्नोत्थैर्यं हि संसृतिः ।
 यः प्रबोधोऽस्य सा मुक्तिस्तज्जाग्रथा तु तुर्यता ॥ ५७ ॥
 जीवप्रबोधान्मुक्तिर्हि प्रबोधात्परमात्मताम् ।
 सोऽभ्येति क्षालितमलं तान्नं कनकतामिव ॥ ५८ ॥
 जीवप्रबोधान्मुक्तिर्यां सा चेह द्विविधोच्यते ।
 एका जीवन्मुक्ततेति द्वितीया देहमुक्तता ॥ ५९ ॥
 जीवन्मुक्तिर्हि तुर्यत्वं तुर्यातीतं पदं तवः ।

बोधो जीवः प्रबोधोऽयं स च बुद्धिप्रयत्नः ॥ ६० ॥
 ज्ञातप्रमाणो जीवोन्तर्ग्यो जानातीह तन्मयः ।
 पश्यतीमं भयं यैव सुदीर्घस्वप्नविभ्रमम् ॥ ६१ ॥
 मिथ्योदितः स हृदये स्वस्य एव शिलीकृते ।
 जीवानामन्तरे त्वम्यत्र किञ्चिच्चित्कलां विना ॥ ६२ ॥
 ज्ञानेवान्यत्राया पश्यन्सुषुप्तौ परिशोचति ।
 जीवाणोरन्तरे त्वम्यत्र किञ्चित्परमाहते ॥ ६३ ॥
 यत्र तत्र जगद्दृष्टमहो मायाविजृम्भितम् ।
 स्थान्यन्तः कथदम्बुर्जा यथा नाना भ्रमोदयः ॥ ६४ ॥
 जीवाणूनां तथैवान्तर्मिथ्यासंसारभोदयः ।
 बन्धोस्य वासनाबन्धो मोक्षः स्वाहासनाकचः ॥ ६५ ॥
 वासनामन्तोऽस्य सौषुप्ती स्वप्ने विस्फुरति स्थितिः ।
 घनवासनमोहोऽयं जीवः स्थावरतादिभाह् ॥ ६६ ॥
 मध्यस्ववासनस्तिर्यक्पुरुषस्तमुवासनः ।
 यदान्तर्जीवितेनामन्तो बहिर्जाता घटादयः ॥ ६७ ॥
 जीवैक्यादुभयोः सत्ता प्राज्ञप्रहकयोस्तदा ।
 भात्मानात्मसमालीढो बहिरन्तैर्यदा चिता ॥ ६८ ॥

स्यौख्यं दृष्टं यदास्य खत्वमेव दुर्लभं तदा स्थूलवातता महान्
 गुल्मो वृक्ष इवात्यन्तमसंभाविता । एवं स्थूलतेजोजलपृथ्वी-
 तापि । एवंच स्थूलभूतानामेवाचंभवे अस्य परमाणोरप्यति-
 सूक्ष्मस्य देहता सुमेरुतेवात्यन्तासंभावितेति न भौतिकदेहान्तं
 पुर्यष्टकं वर्णयत इत्यर्थः ॥ ५१ ॥ सुषुप्तपयोर्गादपि न बीक्षणा-
 षोऽत्र स्थूलसद्रूपकल्पना उपेक्षाशब्दाह—विरजस्वस्त्विति ।
 मनोमात्रमेव देहादिप्रपञ्चबेन्मनसो वैराग्याद्यभ्यासेन निर-
 जस्वैव शमादिसाधनसंघर्षौ वाक्याज्ज्ञानोदयक्रमेण मनःकल्पि-
 तस्वप्नप्रपञ्चस्य तन्मूलाज्ञानस्य च बाधे स्वकार्यकारणावस्था-
 बन्धवृक्षान्यस्य मुक्तिरुपपद्यते । स्थूलभूतभौतिकमूर्त्तप्रपञ्चाभु-
 पगमे तु तदृष्टस्य ज्ञानेन बाधादर्शनात् मुक्तिरुपपद्यत इत्यर्थः ।
 एवंच किञ्चैव स्वप्नसुषुप्ती द्वे एवावस्थे न जाग्रजानी स्थूल-
 विषया अन्या अवस्था केनचिदुपपादयितुं शक्येत्साधयेन ते
 विभज्य दर्शयति—सुषुप्तस्येति शब्धेन । यथा जडाः सर्व-
 देहादिप्रपञ्चा वासनात्मनोपसंहृत्य कोटीकृताः ॥ ५२ ॥ इति
 एवं बहिरन्तमानप्रकारेण स्थावरजंगमैराकारैरातिवाहिकदेह एव
 आमोक्षान्मनस्यैव ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ भाविमिदुःखप्रैवासनात्म-
 नान्तःप्रविष्टैर्विषयो भिद इव गतस्त्वस्तिरस्त एवापुवितकृतिवि-
 त्प्रतिबिम्बकवितत्वात्सुषुप्तजगत्पञ्च कालानलसमो धीतस्ति-
 ष्टि । अनेनामन्तान्मन्मयैवात्रिकादिसुषुप्तिः प्रत्युक्ता ॥ ५५ ॥
 तत्र स्वावपदिमिहृष्टावस्थासु जात्याधिक्यात्सुषुप्तिमापुर्व-
 मित्याह—स्वावपरावपदिमिति । अन्वर्थे चसम्बद्धः । सजाव
 कल्पवृक्षाणां पुण्याधिक्यात्सामिकीटभृत्पृषादिदुःखाभावादानन्दा-
 धिक्येपि च असुषुप्तविरप्रबोधोऽस्तीति तमस्तिवैवैत्यर्थः ॥ ५६ ॥
 तत्रात्र स्थितप्राज्ञप्रपञ्च एव सुषुप्तिविराजमानमेव संसृतिवि-

तस्य तत्त्वबोध एव तन्मन्मुक्तिमुर्वैवात्वात् जाग्रदिति सर्वप्रपञ्च-
 मित्याह—सुषुप्तस्येवास्येति ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ प्रबोधः
 उत्कृष्टचिन्मात्रमन्मन्मो भवति । स च बोधो बुद्धेः पुरुषप्रपञ्चकः
 ॥ ६० ॥ सत्त्वतो यावान्यथेति ज्ञातप्रमाणो जीवः ज्ञानान्तर्ग्यो
 जानाति भासयति साक्षी तन्मय एव भवतीत्यर्थः । यस्त्वज्ञा-
 तप्रमाणः सोऽपि परमार्थतः स्वस्य एवाज्ञानाच्छिलावदृढीकृते
 स्वहृदये सुदीर्घस्वप्नविभ्रमं तीव्रं भयं पश्यतीति परेणान्वयः
 ॥ ६१ ॥ तर्हि किं जीवानां हृदये वास्तवं भयमस्ति, नेत्याह—
 जीवित्तानामित्यादिना ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ अस्य
 जीवाणोः सौषुप्ती स्थितिर्वासनानामन्तोऽवधिः । तुर्यतुर्यातीत-
 योर्निर्वासनत्वात् । स च स्वप्ने स्फुरति, वैचित्र्येण स्फुटीभव-
 तीत्यर्थः । कथं स्फुटीभवति तद्वाह—घनेति ॥ ६६ ॥ तस्य वास-
 नाक्षुधीत्कर्वादुत्तरोत्तरं शुभयोनिप्राप्तिरित्याह—मध्यस्थेति ।
 पुरुषो मनुष्यगन्धर्वदेवगन्धर्वादिः । वासनानां क्षयतारतम्येन
 वैचित्र्यस्फुटीभावमुक्त्वा प्राज्ञप्रहणादिवैचित्र्येणापि तमाह—
 यदेत्यादिना । यदा यस्मिन् सुषुप्तिविच्युतिकाले देहान्तः
 आनखाप्रभ्यात्प्राणाहंभावलक्षणेन जीवितेन एतावान् देह-
 परिमित एवाहमित्यन्तः परिच्छेदो भवति तदा घटादयः पदार्था
 बहिर्जाताः संपन्नाः ॥ ६७ ॥ सन्तु बहिः किं ततस्त्वन्नाह—
 जीवैक्यादिति । तदा चक्षुरादिद्वारनिर्गतान्तःकरणद्वारा
 निर्भतेन वृत्त्यवच्छिन्नजीवेन घटादीनां व्याप्तौ घटमहं जानामीति
 प्राज्ञप्राहकयोर्वासनात्मिका सत्ता ततश्चैचित्र्येण स्फुटीभव-
 तीत्यर्थः । एतदेव स्पष्टमाह—आत्मैति । अन्तःस्थित आत्मा
 जीवो यदा बहिरनात्मसमालीढो भवति तदा चिता प्राज्ञप्राहक-
 वासना शुभदुष्णोवाभ्यस्तविभागेन सोऽस्या ज्ञेयैत्यर्थः ॥ ६८ ॥

तदा ब्राह्मप्रहृणधीर्भृगुत्पन्नेव सोदया ।
नेह संत्यज्यते किञ्चिन्नेह किञ्चिन्न गृह्यते ॥ ६९
बाह्यान्तरकलाकारश्चिदात्मैकः प्रकाशते ।
त्रिजगच्चिद्धमत्कारस्त्वलं मेदविकल्पनैः ।
शोभिताः स्मश्चिति चिरात्सर्वाह्यान्तर्न विद्यते ॥ ७०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० इन्द्रियार्थोपलम्भविचारो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः ५२

धीवसिष्ठ उवाच ।

यो जीवस्यादितः स्वप्नो नानाकलनकोमलः ।
तन्मिमं विद्धि संसारं न सत्यं नाप्यसन्मयम् ॥ १
न पुंस इव जीवस्य स्वप्नः संभवति क्वचित् ।
तेनैते जाग्रतो भावा जाग्रत्स्वप्नकृतोऽत्र हि ॥ २
जीवस्वप्नमिमं दीर्घं क्षिप्रताप्रतिभासतः ।
असत्यमप्यवस्तुत्वाद्विद्धि वेद्यविदां वर ॥ ३
स्वप्नात्स्वप्नान्तरमिव गच्छन्तो जीवजीवकाः ।
असत्यमेव पश्यन्ति घनसत्यतयानघ ॥ ४
अजडे जडता तात जडे चाजडतोदिता ।
असत्ये सत्यता जीवजीवानुभवमोदतः ॥ ५
भानोरप्यन्तरखिलं पश्यन्तस्त्रिजगद्गमम् ।
अमन्ति स्वप्नसंभ्रान्ता इव जीवा भिदालिभिः ॥ ६

एवं हेयोपादेयवैचित्र्यमपि वासनाध्यस्तमेव न वास्तवमित्याह—
नेहेति ॥ ६९ ॥ शोभितास्तत्त्वबोधेन विराजमानाः । सर्वाह्या-
भ्यन्तरं जगच्चिद्विदितिकं न विद्यते कालत्रयेऽपीत्यर्थः ॥ ७० ॥
यथा अग्निः समुद्रस्तत्त्वतो विमृष्टः अपास्तसमस्ततरङ्गबुद्बुदा-
दिमेदः खादाकाशादप्यच्छं सकलमेकं शुद्धं जलमेव तथा इदं
सर्वं जगत्त्वतो बुद्धं सत् अपहस्तितं निरस्तं वासनावस्थावै-
चित्र्यमेदजातं यस्य तथाविधमनामयं परं पदमेवेत्यर्थः ॥ ७१ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
इन्द्रियार्थोपलम्भविचारो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

जीवस्वप्नो जगत्संसारसंस्तया तत्परिक्षयः ।

तदर्थमर्जुनाख्यानं वसिष्ठेनावतार्यते ॥ १ ॥

ननु स्वप्नः सर्वेषां जीवानां प्रत्येकं भिन्नः, जाग्रत्प्रपञ्चस्तु
सर्वेषां साधारणः सर्वैः स्वप्नवैधर्म्येणानुभूयमानः कथं स्वप्नः
स्यात्त्राह—य इति । आदितः प्रथमं जीवस्य सर्वजीवसम-
ष्ट्यात्मनो यः स्वप्नमेवममस्माकं जाग्रदिति कल्पितं संसारे
विद्धि ॥ १ ॥ किमर्थमेवं कल्प्यत इति चेद्यष्टीनामिव समष्टेः
स्वप्नान्तराप्रसिद्धेरित्याह—नेति । तेनास्माकं जाग्रत्प्रसिद्धा
भूतभुवनादिभावास्तस्य जाग्रत्स्वप्नोभयस्थानकृतोदया न स्वप्नतो
भियन्त इत्यर्थः ॥ २ ॥ असत्यत्वावस्तुत्वाभ्यामपि तस्य

१ सर्वाह्यार्थं न इति पाठः.

अधिर्धर्या जलमपास्तसमस्तमेदः
स्वादच्छमेव सकलं द्रवमेकशुद्धम् ।

सर्वं तथेदमपहस्तितमेदजात-

माद्यं परं पदमनामयमेव बुद्धम् ॥ ७१

सर्वगत्वादनन्तत्वात्स्वस्य जीवस्य जीवतः ।
यद्भावयन्ति चेतन्ति तदेवाश्रिति सत्यवत् ॥ ७
पुण्डरीकाक्षनिर्दिष्टामसंसक्तिगतिं शुभाम् ।
यामालिङ्ग्य महाबाहो जीवन्मुक्तो महामुनिः ॥ ८
पाण्डोः पुत्रोऽर्जुनो नाम सुखं जीवितमात्मनः ।
क्षिपयिष्यति निर्दुःखं तथा क्षेपय जीवितम् ॥ ९

श्रीराम उवाच ।

भविष्यति कदा ब्रह्मन्सोऽर्जुनः पाण्डुनन्दनः ।
कीदृशीं च हरिस्तस्य कथयिष्यत्यसक्तताम् ॥ १०

धीवसिष्ठ उवाच ।

अस्ति सन्मात्रमात्मेति परिकल्पितनामकम् ।
स्थितमात्मन्यनाद्यन्ते नभसीव महानभः ॥ ११
दृश्यते विमले तस्मिन्नयं संसारविभ्रमः ।
कटकादि यथा हेम्नि तरङ्गादि यथाम्भसि ॥ १२

स्वप्नतां साधयन्वैधर्म्यानुभवे निमित्तं दर्शयति—जीवस्वप्न-
मिति । अस्पृश्यस्वप्नवत्क्षिप्रबाध्यताया अप्रतिभासतो हेतो-
र्दीर्घम् । तथाच वैधर्म्यमेव वैधर्म्यभ्रमहेतुरिति भावः ॥ ३ ॥
॥ ४ ॥ वस्तुस्वभाववैपरीत्यदर्शनादप्यस्य स्वप्नतेत्याह—
अजडे इति । अजडे ब्रह्मणि भूतभुवनादिजडता तथा जडे
चाहंकारादिदेहान्ते आत्मत्वाभिमानादजडता उदिता । जीवस्य
समष्टेरकदेशभूता ये व्यष्टिजीवास्तदनुभवलक्षणान्मोहतो
भ्रान्तेः ॥ ५ ॥ जीवाः भिदालिभिर्भेदकल्पनपरम्पराभिर्भ्र-
मन्ति ॥ ६ ॥ कल्पितमेदेषु सत्यत्वारोपे कारणमाह—सर्व-
गत्वादिति । व्यष्टित्वादेव जीवतोऽप्यत्यन्तजीवभूतस्य स्वस्य
परमार्थतः सर्वगत्वादनन्तत्वादपरिच्छेदेन सत्यत्वाच्च यद्यद्भाव-
यन्ति तदेव आशु तत्संसक्तया स्वसत्तारोपेण सत्यवचेतन्ति ।
तथाच तत्संसक्तित्यागात्तत्सत्यताभ्रमनिवृत्तौ बुद्धतत्त्वस्य जीव-
न्मुक्तिः सिद्ध्यतीति भावः ॥ ७ ॥ अयमेवार्थो भगवद्गीतायां
भगवताप्यर्जुनायोपदिष्ट इत्याह—पुण्डरीकाक्षेति । शुभां
शृण्वति शेषः ॥ ८ ॥ तदर्थमर्जुनाख्यायिकामवतारयति—
पाण्डोरिति । सुखं जीवन्मुक्तिसुखविशिष्टम् । जीवितमाशु क्षिप-
यिष्यति क्षेप्यति । स्वार्थे णिच्ि गुणाभावश्छान्दसः ॥ ९ ॥
॥ १० ॥ अर्जुनावतारे कारणं वक्तुं सर्वमूलमनुकामति—
अस्तीत्यादिना । स्थितमिति । 'स्वे महिभिः प्रतिष्ठितः' इति

चतुर्दशविधा भूतजातयः प्रस्फुरन्त्यलम् ।
 तस्मिन्संसारजालेऽस्मिञ्जाले शकुनयो यथा ॥ १३
 तत्रैते यमचन्द्रार्कशक्राद्याः शंसितक्रमाः ।
 भूतपञ्चकसंसारलोकपालत्वमागताः ॥ १४
 इदं पुण्यमुपादेयं हेयं पापमिदं त्विति ।
 तैः स्वसंकल्पघटिताद्वेदनात्स्थापिता स्थितिः ॥ १५
 तस्याद्य यावदनद्य प्रवाहपतिते निजे ।
 कर्मण्यचलसंकाशस्थिरं चित्तमवस्थितम् ॥ १६
 भगवान्स यमः किञ्चिद्भूते प्रतिचतुर्युगे ।
 तपः प्रकुरुते भूतदलनात्पापशङ्कया ॥ १७
 कदाचिदष्टौ वर्षाणि दश द्वादश वापि च ।
 कदाचित्पञ्चसप्तादि कदाचित्षोडशापि च ॥ १८
 उदासीनवदासीने तस्मिन्नियमसंस्थितौ ।
 न हिनस्ति जगज्जाले मृत्युभूतानि कानिचित् ॥ १९
 तेन नीरन्ध्रभूतौघनिःसंचारं महीतलम् ।
 भवति प्रावृषि खेदी कुञ्जरो मशकैरिव ॥ २०
 अथैतानि विचित्राणि भूतानि बहुयुक्तिभिः ।
 क्षिपयन्ति सुरा राम भुवो भारनिवृत्तये ॥ २१
 एवं युगसहस्राणि ध्ववहारशतानि च ।
 समतीतान्यनन्तानि भूतानि च जगन्ति च ॥ २२
 वैवस्वतोऽद्य तु यमो य एष पितृनायकः ।
 अनेन त्वधुना साधो परिक्षीणेषु केषुचित् ॥ २३
 युगेष्वघविघाताय वर्षाणि द्वादशात्मना ।
 व्रतचर्येह कर्तव्या दूरास्तजनकर्षणा ॥ २४
 तेनेयमुर्वी नीरन्ध्रा भूतैर्मर्त्यैरमृत्युभिः ।

श्रुतेः ॥ ११ ॥ १२ ॥ तस्मिन्दृश्यमाने संसारजाले । शकु-
 नयः पक्षिणः ॥ १३ ॥ तत्र तासु भूतजातिषु मध्ये शंसितः
 श्रुतिस्मृत्यादिवर्णितः क्रमश्चरित्रं येषाम् । भूतपञ्चकं पञ्चीकृत-
 तन्मात्रपञ्चकं तल्लक्षणे संसारे लोकपालत्वं तत्सङ्कोकाधिपत्यम्
 ॥ १४ ॥ इदं श्रुतिस्मृतिसमाचारविहितं पुण्यमुपादेयम्, इदं
 तन्निषिद्धं पापं हेयमिति स्वाधिकारानुरूपसंकल्पघटिताद्वेदना-
 स्थितिर्मर्यादा स्थापिता ॥ १५ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—
 तस्येति । तस्य वक्ष्यमाणयमस्य अद्य यावदेतावत्कालं स्वीये
 अधिकारकर्मणि अचलवत्स्थिरं चित्तं मनः अवस्थितम् ॥ १६ ॥
 प्रतिचतुर्युगम् । वीप्सायामव्ययीभावः । कदाचित्किञ्चित्पः
 प्रकुरुते । प्रतिचतुर्युगं किञ्चिद्भूते द्वापरान्ते इति वा ॥ १७ ॥ तत्र
 कालनियमो नास्तीत्याह—कदाचिदिति ॥ १८ ॥ तस्मिन्
 यमे नियमसंस्थितौ तपसि आसीने सति मृत्युः कानिचिदपि
 भूतानि न हिनस्ति ॥ १९ ॥ तेनाहिसनेन हेतुना महीतलं
 नीरन्ध्रैर्बहुभिर्भूतैर्वैर्निःसंचारं संचारायोग्यं भवति । खेदी
 खेदवान् ॥ २० ॥ सुरा विष्णवादिदेवाः युक्तिभिः अंशावता-
 रभारतयुद्धाद्युपायैः क्षिपयन्ति हिसनेन विरलीकुर्वन्तीति
 यावत् ॥ २१ ॥ अयं च भारवतारादिव्यवहारो बहुशो वृत्त

दीना प्रपन्ना गुल्मेव भारभूतैर्भविष्यति ॥ २५
 भूमारपरिभूताङ्गी हरिं शरणमेष्यति ।
 कान्ता वस्युपराभूता दीना पतिमिव प्रिया ॥ २६
 हरिर्देहद्वयेनाथ महीमवतरिष्यति ।
 देवांशैरखिलैः सार्धं नरनारायणं गतैः ॥ २७
 वसुदेवसुतस्त्वेको वासुदेव इति श्रुतः ।
 देहो भविष्यति हरेर्द्वितीयः पाण्डवोऽर्जुनः ॥ २८
 युधिष्ठिर इति ख्यातो धर्मपुत्रो भविष्यति ।
 अम्भोधिमेष्वलाभूपः पाण्डोः पुत्रः स धर्मवित् ॥ २९
 दुर्योधन इति ख्यातस्तस्य भ्राता पितृव्यजः ।
 भविष्यति दृढद्वन्द्वो भीमो बभ्रुरहेरिव ॥ ३०
 अन्योन्यं हरतोरुर्वी तयोः संग्रामलोलयोः ।
 अष्टादशाश्राक्षौहिण्यो घटिष्यन्त्यत्र भीषणाः ॥ ३१
 तत्क्षयेण विभारत्वं भुवो विष्णुः करिष्यति ।
 राघवाऽर्जुनदेहेन बृहद्गण्डीवधन्वना ॥ ३२
 विष्णोरर्जुननामादौ प्राकृतं भावमास्थितः ।
 हर्षामर्षान्वितो देहो नरधर्मा भविष्यति ॥ ३३
 सेनाद्वयगतान्दृष्ट्वा स्वजनान्मरणोन्मुखान् ।
 विषादमेष्यत्युद्योगं युद्धाय न करिष्यति ॥ ३४
 तमर्जुनाभिधं देहं प्राप्तकार्यैकसिद्धये ।
 हरिर्बुद्धेन देहेन बोधयिष्यति राघव ॥ ३५
 न जायते म्रियते वा कदाचि-
 ज्ञायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
 अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
 न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ ३६

इत्याह—एषमिति ॥ २२ ॥ २३ ॥ अघानां पापानां विघा-
 ताय । कर्तव्या भविष्यतीति शेषः । दूरेऽस्तं जनानां कर्षणं
 पीडनं गस्याम् । अस्माद्विशेषणाद्भूतचर्या अहिसादिघटितनिर्वि-
 कल्पसमाधिरूपेति गम्यते ॥ २४ ॥ प्रपन्नगुल्मा वनगुल्मसं-
 कीर्णंति यावत् ॥ २५ ॥ २६ ॥ नरं नारायणं च गतैरनुगतैः ।
 साहाय्यार्थमवतीर्णैरिति यावत् ॥ २७ ॥ २८ ॥ अम्भोधिमेष्व-
 लाया भूमेर्भूपो राजा । अम्भोधिमेष्वलां भुवं पातीति वा ।
 आतोऽनुपसर्गे कः ॥ २९ ॥ तस्य पितृव्यजो भ्राता भवि-
 ष्यति । तस्य द्वन्द्वः प्रतियोद्धा भीमो भविष्यतीति योज्यम् ।
 बभ्रुर्नकुलः । अहेः सर्पस्येव ॥ ३० ॥ आसमन्तात् त्रायत
 इति आत्रा सेना तदशौहिण्यः । अत्र भारतयुद्धे कुरुक्षेत्रे वा
 घटिष्यन्ति ॥ ३१ ॥ हे राघव, बृहद्गण्डीवं धनुर्यस्य । 'धनु-
 ष्व' इत्यनङ् । तथाविधेनार्जुनदेहेन विभारत्वं भारवतरणं
 करिष्यतीति पूर्वत्रान्वयः ॥ ३२ ॥ नरधर्मा अज्ञप्राय इति
 यावत् ॥ ३३ ॥ स्वजनान्बन्धून् ॥ ३४ ॥ बुद्धेन स्वतःसिद्धात्म-
 बोधेन कृष्णदेहेन ॥ ३५ ॥ बोधनप्रकारमेव विस्तराद्दर्शयति—
 न जायत इत्यादिना । आद्यन्तविकारयोर्निषेधे मध्यतनवि-
 कारवत्पुष्टयं प्रसक्तं वारयति—नायमिति । भाविजन्मादिप्रति-

य एनं वेत्ति हन्तारं यच्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ ३७
अनन्तस्यैकरूपस्य सतः सूक्ष्मस्य चादपि ।
आत्मनः परमेशस्य किं कथं केन नश्यति ॥ ३८
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने नरनारायणावतारकथनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ५१

अनन्तमव्यक्तमनादिमप्य-
मात्मानमालोक्य संविदात्मन् ।
संविद्वपुः स्फारमलब्धदोष-
मजोऽसि नित्योऽसि निरामयोऽसि ॥ ३९

त्रिपञ्चाशः सर्गः ५३

श्रीभगवानुवाच ।

अर्जुन त्वं न हन्ता त्वमभिमानमलं त्यज ।
जरामरणनिर्मुक्तः स्वयमात्मासि शाश्वतः ॥ १
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकाश्च हन्ति न निबध्यते ॥ २
यैव संजायते संविदन्तः सैवानुभूयते ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इत्यन्तः संविदं त्यज ॥ ३
अनयैव च युक्तोऽसि नष्टोऽस्तीति च भारत ।
अभितः सुखदुःखाभ्यामवशाः परितप्यसे ॥ ४
स्वात्मांशैः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि भागशः ।

येधो वा ॥ ३६ ॥ एनमुक्तस्वभावमात्मानं यो हन्तारं वेत्ति यश्च हतं
मन्यते तावुभौ नात्मानं तत्त्वतो विजानीतः । अज्ञानमेव हन्तु-
हन्तव्यताभ्रान्तिनिमित्तमिति यावत् ॥ ३७ ॥ त्रिभिः किञ्चिन्तार्-
इयनाशप्रकारनाशहेतूनां प्रतिक्षेपः ॥ ३८ ॥ स्फारमपरिच्छिन्नम-
तएवालब्धदोषं संविद्वपुश्चैतन्यस्वरूपमेवास्ति । अतएवाजोऽसि ।
नित्योसि निरस्ताज्ञानतत्कार्यकलङ्काजनव्यासीति न बन्धुसंसक्ति-
तन्मरणादिसंभावनाप्रयुक्तं दुःखं तवोचितमिति भावः ॥ ३९ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
नरनारायणावतारकथनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

बर्ष्यतेऽहं हतेस्त्वामः सङ्गत्वामादिलक्षणम् ।

उपास्यश्चेत्तु च दशाभेदव्यवस्थिते ॥ १ ॥

तत्रादौ स्वबन्धुहन्ताहमित्यादिरूपोऽहंताभिमानः, एते
मरीया बान्धवा इत्यादिममताभिमानश्च तव सर्वदुःखनिदान-
मिति स एव त्याज्य इत्याह—अर्जुनेति । हे अर्जुन, त्वं
जरामरणादिबर्ष्यमिर्निर्मुक्तः अतएव शाश्वतः स्वबन्धाधीनां सर्व-
भूतानां स्वयं साक्षादात्मासि । अतस्त्वं कस्मापि न हन्ता ।
अहं हन्तेत्यभिमानमलमत्यन्तं त्यजेत्यर्थः ॥ १ ॥ अभिमान-
त्यागफलमाह—यस्येति । यस्य वधादिप्रवृत्तिकाले अहमसुं-
घातयामीत्यहंकृतो भावो नास्ति उत्तरकालं च यस्य बुद्धिस्त-
त्फलहर्षविषादादिना न लिप्यते स पुरुष इमान्सर्वान् लोकयन्त
इति लोकाश्चतुर्विधभूतजातयस्तान् हन्ता प्राणवियोज्यमपि कस्यपि
न हन्ति । सर्वत्र शाश्वतैकान्तत्वस्य वधादिविकारास्पर्शिन-
स्तर्ध्वं सत्त्वात्, देहाधीनां च मायामात्रत्वेन नित्यमसत्त्वादेव
बन्ध्यापुत्रस्यैव वधाप्रसक्तेरिति भावः । अतस्तत्प्रयुक्तपापफले-
नापि न निबध्यते यथेश्वर इत्यर्थः ॥ २ ॥ हन्तुत्वादिबर्ष्यकदेहादि-

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ ५
चक्षुः पश्यतु कर्णश्च शृणोतु त्वक्स्पृशस्त्विदम् ।
रसना च रसं यातु कात्र कोऽहमिति स्थितिः ॥ ६
कलनाकर्मणि रते मनस्यपि महात्मनः ।
न कश्चिदत्राहमिति क्लेशभागे क एव ते ॥ ७
बहुभिः समवायेन यत्कृतं तत्र भारत ।
एकोऽभिमानदुःखेन हासायैव हि गृह्यते ॥ ८
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ९

तादात्म्यभ्रान्तिसंवेदनवशादेव तद्गर्भहन्तृत्वादेरात्मनि प्रति-
भासो न स्वतः, अतस्तदेव प्रथमं त्यजेत्याह—यैवेति । अन्ते-
र्हादे आत्मनि यैव संविद्वुद्धिदृष्टिर्देहाद्यभिमानरूपा अन्यादृष्टी
वा । अहं कार्यकारणसंघातः । स हन्ता अहं । इदमेतद्दे-
हादिसंबन्धि तद्बन्धादि मे मम । इत्येवं संविदं भ्रान्तिशक्तिं
त्यजेत्यर्थः ॥ ३ ॥ अनया उक्तलक्षणया संविदा हन्तृत्वादि-
भिर्युक्तोऽसि । तत्प्रयुक्तपापैश्च नष्टः । बन्धुनाशाद्यैहिकानर्थैर्न-
रकपाताद्यमुष्मिकानर्थैश्च युक्तोऽस्तीति च भ्रान्त्या सुख-
दुःखाभ्यां परितप्यसे ॥ ४ ॥ स्वात्मनः अंशवत्परिच्छेदकलेनां-
शास्तेः सत्त्वादिगुणविकारैर्देहेन्द्रियादिभिः क्रियमाणानि कर्माणि
॥ ५ ॥ विमर्शं तु चक्षुरादीनामेव रूपादिविषये प्रवृत्तिर्नात्मन
इति न तत्कृतेरस्य कर्तृत्वप्रसक्तिरित्यत्रावेनाह—चक्षुरिति ।
अत्रास्मिन्चक्षुरादिकरणकार्यसंघाते अहं कः न कश्चिदिति ।
अहमिति स्थितिः का । न युक्तैत्यर्थः ॥ ६ ॥ कलना उक्तलक्ष-
दिस्तलक्षणे स्वकर्मणि रते प्रसक्ते सत्यपि अत्रास्मिन्ममभाष-
न्तःकरणसंघातेऽप्यहं न कश्चिदिति पश्यतस्ते कः पदार्थः
क्लेशभागे प्रविष्टो यदर्थं शोचसि स नामत्येवेत्यर्थः ॥ ७ ॥ यश्च
संघातकृते कार्ये तदन्तर्गतस्याप्येकैकस्य संघाताभिमानदुःखेन
शोके उपहास्यता तत्र किं वाच्यं तद्दृष्टिर्भूतस्य तद्दुःखोक्तो
इत्याद्येनाह—बहुभिरिति । गृह्यते चेत् इत्यस्यैव भव-
तीत्यर्थः । तथावाहुः 'न साम्बामिकं हुःसमेकः कोचितुर्गर्हति'
इति ॥ ८ ॥ किंच निरहंकारस्य फलसङ्गर्हितं कश्चिद्वि-
विधं शास्त्रीयं कर्म चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानोद्दीपकत्वात्परमशुद्ध्या-
यायैव भवतीति न ते स्वधर्माद्युदाहुःसमसक्तिरित्याह—कर्मो-

१ अन्तर्दे इति वाच्यः.

अहन्त्वधिष्यूर्णेन येषां कायो न मारितः ।
 कुर्वन्तोऽपि हरन्तोऽपि न च ते निर्विषूचिकाः ॥ १०
 न कचिद्राजते कायो ममत्वामेष्यदूषितः ।
 प्राज्ञोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि दुःशील इव मानवः ॥ ११
 निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।
 यः स कार्यमकार्यं वा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ १२
 इदं च ते पाण्डुसुत स्वकर्म क्षात्रमुत्तमम् ।
 अपि क्रूरमतिश्रेयः सुखायैवोदयाय च ॥ १३
 अपि कुत्सितमप्यन्यदप्यधर्ममयक्रमम् ।
 श्रेष्ठं ते खं यथा कर्म तथेहामृतवान्भव ॥ १४
 मूर्खस्यापि स्वकर्मैव श्रेयसे किमु सन्मतेः ।
 मतिर्गलदहंकारा पतितापि न लिप्यते ॥ १५
 योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
 निःसङ्गस्त्वं यथाप्राप्तकर्मवाञ्छ निवश्यसे ॥ १६
 शान्तब्रह्मवपुर्भूत्वा कर्म ब्रह्ममयं कुरु ।
 ब्रह्मार्पणसमाचारो ब्रह्मैव भवसि क्षणात् ॥ १७
 ईश्वरार्पितसर्वार्थ ईश्वरात्मा निरामयः ।
 ईश्वरः सर्वभूतात्मा भव भूषितभूतलः ॥ १८

नेति । योगिनोऽत्रारुक्षवः ॥ ९ ॥ न मारितो मरणाय
 व्यापारितः । पुनःपुनर्भृत्युहेतुभोगलाम्पत्येन प्रवर्तित इत्यर्थः ।
 निर्विषूचिकाः निरस्तरागाद्यामयाः । लौकिकं शास्त्रीयं कर्म
 कुर्वन्तोऽप्यानुषङ्गिकं तत्फलं हरन्त उपभुञ्जाना अपि न च ते
 कुर्वन्तो हरन्तवेत्यर्थः ॥ १० ॥ कचिन्नौकिके शास्त्रीये वा व्यव-
 हारे न राजते । अनर्थानास्कन्दितपुरुषार्थाय न कल्पत इति
 यावत् ॥ ११ ॥ कार्यमवश्यकर्तव्यं शास्त्रीयं कर्म । अकार्यम-
 नावश्यकं लौकिकम् । नतु निषिद्धमप्रसक्तैः ॥ १२ ॥ क्षात्रं
 क्षत्रियाणां विहितं संप्राप्तध्वपलायनं बन्धुवधरूपत्वात् क्रूरमपि
 चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मज्ञानादिसुखायैव । तथा धर्मयशोराज्यस्वर्गा-
 दभ्युदयाय चेत्यति श्रेय एवेत्यर्थः ॥ १३ ॥ तर्हि यद्वन्धुवधा-
 दन्यद्रोणमीष्मकृपादिगुरुवधरूपं कुत्सितं कर्म तन्मया कथं
 कार्यमित्यर्जुनस्य तत्राधर्मत्वशङ्कां सत्यशपयाशिषा निवारय-
 षाह—अपीति । पूजार्हेषु तद्विपरीतशत्रोद्यमनप्रकरणाद्यधर्म-
 बहुलकममपि ते खं युद्धकर्म यथा येन सत्येन शास्त्रप्रामाण्येन
 श्रेष्ठं तथा तेन सत्येन इहास्मिन्युद्धे अमृतवान् अमरणधर्मा
 विजयी भवेत्यर्थः ॥ १४ ॥ यत्र अज्ञस्यापि स्वधर्मः श्रेयसे
 तत्र तत्त्वज्ञस्य तस्मात्तरकादिप्रसक्तिर्दूरापास्तैव । पातित्यावहै-
 र्महापातकादिकोटिमिरपि निरहंकारमतेल्लेपाभावादिब्रह्मज्ञे-
 याह—मूर्खस्यापीति ॥ १५ ॥ किंच राज्यलाभादिलोभप्रयुक्ते
 युद्धे 'लोभमूल्यानि पापानि रसमूल्यास्तथाऽऽमयाः' इति न्यायेन
 कदाचिदधर्मप्रसक्तिः स्यात्फलात्सङ्गत्यागेन सिद्ध्यसिद्धिसमता-
 लक्षणयोगस्थस्य तु तत्प्रसक्तिरपि नास्तीति तां योगस्थिति-

१ मम सुबुद्ध इति पाठः.

संन्यस्तसर्वसंकल्पः समः शाश्वतमना मुनिः ।
 संन्यासयोगयुक्तात्मा कुर्वन्मुक्तमतिर्भव ॥ १९
 अर्जुन उवाच ।
 सङ्गत्यागस्य भगवंस्तथा ब्रह्मार्पणस्य च ।
 ईश्वरार्पणरूपस्य संन्यासस्य च सर्वज्ञः ॥ २०
 तथा ज्ञानस्य योगस्य विभागः कीदृशः प्रभो ।
 क्रमेण कथयैतन्मे महामोहनिवृत्तये ॥ २१
 श्रीभगवानुवाच ।
 सर्वसंकल्पसंशान्तौ प्रशान्तधनवासनम् ।
 न किञ्चिद्भावनाकारं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ २२
 तदुद्योगं विदुर्ज्ञानं योगं च कृतबुद्धयः ।
 ब्रह्म सर्वं जगदहं चेति ब्रह्मार्पणं विदुः ॥ २३
 अन्तःशून्यं बहिःशून्यं पाषाणहृदयोपमम् ।
 शान्तमाकाशकोशाच्छं न दृश्यं न दृशः परम् ॥ २४
 तत ईषद्यदुत्थानमीषदन्यतयोदितम् ।
 स जगत्प्रतिभासोऽयमाकाशमिव शून्यता ॥ २५
 भावोऽहमिति कोऽप्येष प्रत्येकमुदितश्चित्तेः ।
 कोटिकोट्यंशकलितः क इवैनं प्रति प्रहः ॥ २६

मुपदिशति—योगस्य इति ॥ १९ ॥ अथवा बध्यमाणलक्षण-
 ब्रह्मार्पणबुद्ध्या कृतं शास्त्रीयमिदं कर्म न ते बन्धावेत्याह—
 शान्तेति ॥ १७ ॥ निर्विशेषब्रह्मतत्त्वज्ञानेन तदसामर्थ्यं सगु-
 णेश्वरार्पणबुद्ध्या वा कर्म कुरु ततोऽपि न कर्मबन्ध इत्याह—
 ईश्वरेति ॥ १८ ॥ अथवा सर्वसंकल्पत्यागउक्षणसंन्यासयोग-
 युक्त्यापि न ते कर्मबन्धप्रसक्तिरित्याह—संन्यस्तेति ॥ १९ ॥
 एवमुपदिष्टोऽर्जुनः सङ्गत्यागादीनां तल्लक्षणैर्विभागं जिज्ञासुः
 पृच्छति—सङ्गत्यागस्येति द्वाभ्याम् ॥ २० ॥ २१ ॥ आत्यन्त-
 कसङ्गत्यागस्य तत्त्वपरिज्ञानमन्तरेणायोगाद्ब्रह्मात्मतत्त्वमेव भग-
 वान् प्रथमं लक्षणेन निर्दिशति—सर्वेति । तथाच निर्विकल्प-
 समाधिपरिपाकसाक्षात्कारानुभवसिद्धं निष्प्रपञ्चं प्रत्यगात्मरूप-
 मेव ब्रह्मेत्यर्थः ॥ २२ ॥ तदुद्योगं तदाकारावहितचित्तवृत्तिम-
 ज्ञाननिवृत्तिफलोपहितां ज्ञानमाहुस्तदनुकूलधारामात्ररूपां बु-
 योगमित्यर्थः । ब्रह्मण्यभिमन्तव्यस्य जगत्सदभिमन्तुरहंकारस्य
 च बाधो मुख्यं ब्रह्मार्पणमित्याह—ब्रह्मेति ॥ २३ ॥ ब्रह्मणि
 जगदहंकारयोर्बाधोपपत्तये तत्राप्यस्तत्त्वं वक्तुं ब्रह्मस्वरूपमाह—
 अन्तःशून्यमित्यादिना । न दृश्यमिति । सर्वदृश्यनिषेधे
 दशोऽपि दृश्यत्वाभिषेधः किं न स्यादित्याशङ्क्याह—न दृशः
 परमिति । दशो दृश्यतानिषेधो वा तदा स्याद्यदि दृशः परं ह्य-
 न्तरं स्यात्, नतु तदस्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥ ततस्सादृशस्वभावादीषद-
 न्यतयोदितं यत्समुत्थानं सोऽयं जगत्प्रतिभासः स गन्धर्वेनवरा-
 काशमिव । शून्यतैवेत्यर्थः ॥ २५ ॥ संन्यासोपवर्णनोपपत्त्यर्थं
 ब्रह्मणि जगदारोपवदेव तदंशेषु जीवेषु प्रत्येकमहंभावाभ्यास्त
 इति न तत्राप्रहो युक्त इत्याह—भास इति द्वाभ्याम् ॥ २६ ॥

अपृथग्भूत एवैष पृथग्भूत इव स्थितः ।
 पृथक्त्वं हि न पर्यन्तो नाहमित्यवगच्छति ॥ २७
 यथेहाहं तथेहास्ति घटादीहापि मर्कटः ।
 स्वमीहैवं तथाम्भोधिः किमहंतां प्रति ग्रहः ॥ २८
 विकल्पभेदे स्फुरिते संवित्सारमयात्मनि ।
 वैचित्र्येण विचित्रेपि किमेकत्वेऽपि नो ग्रहः ॥ २९
 इति ज्ञातविभागस्य बुद्धौ तस्य परिक्षयः ।
 कर्मणां यः फलत्यागस्तं संन्यासं विदुर्बुधाः ॥ ३०
 त्यागः संकल्पजालानामसंसङ्गः स कथ्यते ।
 समस्तकलनाजालस्येश्वरत्वैकभावना ॥ ३१
 गलितद्वैतनिर्भासमेतदेवेश्वरार्पणम् ।
 अबोधवशतो भेदो नास्त्रैवैषां चिदात्मनि ॥ ३२
 बोधात्मा किल शब्दार्थो जगदेकं न संशयः ।
 अहमाशा जगदहं स्वमहं कर्म चाप्यहम् ॥ ३३
 कालोऽहमहमद्वैतं द्वैतं चाहमहं जगत् ।
 मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
 मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४

अर्जुन उवाच ।

द्वे रूपे तव देवेश परं चापरमेव च ।
 कीदृशं तत्कदा रूपं तिष्ठाम्याश्रित्य सिद्धये ॥ ३५

एषः अहमिति भावः स्वाधिष्ठानादपृथग्भूत एव । हि यस्मा-
 द्भेतोः पृथक्त्वं पर्यन्तः परिच्छेदः स च ब्रह्मणि न । असंश्व
 नाहमिति कश्चिदवगच्छति । तथाचावगन्तृत्वेन पृथक्त्वोपपत्तिः
 पृथक्त्वेन चावगन्तृत्वोपपत्तिरित्यवश्यमन्यतरस्मिन् हेये निरु-
 पपत्तिकं पृथक्त्वमेव हेयमिति भावः ॥ २७ ॥ अहंतायामुक्तो
 न्यायो घटादिममतेहायामपि योज्य इति दर्शयंस्तन्मूलाहंता-
 ग्रहत्यागमेव द्रढयति—यथेति । यथा अहमीहा अहंभावो न
 पृथगस्ति तथा इह प्रतीचि घटादिममतेहालक्षणो मर्कटोपि
 पृथङ् नास्तीति ननुषङ्गेण योज्यम् । तथाच द्विविधापीहा
 अम्भोधिरिव पूर्णं स्वमात्मैवेति नाहंताग्रहो युक्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥
 किंवाहंममतादिसर्वविकल्पभेदे तत्तद्विषयवैचित्र्येण विचित्रे
 स्फुरितेऽपि तत्सत्तास्फूर्तिनिमित्ते अवस्थात्रयानुगते संवित्सार-
 मात्रस्वभावे सर्वविकल्पागमापायसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्येकत्वमपि
 स्फुरत्येव । एवं सति तत्राप्याग्रहो युक्तः स कुतो नो न कियत
 इत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति उक्तरीत्या विमृश्य ज्ञातसारासारविभा-
 गस्य पुरुषस्य बुद्धौ तस्याहंममताग्रहस्य यः परिक्षयस्तेन चार्थ-
 सिद्धः सर्वकर्मफलेष्वस्पृहालक्षणस्त्यागः ॥ ३० ॥ तेन च
 सर्वसंकल्पत्यागलक्षणः असंसङ्गः सिद्ध्यतीति प्रथमप्रश्नोप्युत्तरित
 इत्याह—त्याग इति । चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमाह—समस्तेति ।
 सर्वस्य द्वैतजालस्य वाचारम्भणश्रुत्युक्तन्यायेन तदुपादानेश्वर-
 मात्रत्वभावनेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—अबोधवशत
 इति ॥ ३२ ॥ तद्दृढीकाराय भगवान् स्वस्य सार्वार्थ्यलक्षणां
 विभूतिमाह—अहमाशा इत्यादिना । गच्छतीति जगत् चरम् ।

श्रीभगवानुवाच ।

सामान्यं परमं चैव द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ ।
 पाण्यादियुक्तं सामान्यं शङ्खचक्रगदाचरम् ॥ ३६
 परं रूपमनाद्यन्तं यन्ममैकमनामयम् ।
 ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते ॥ ३७
 यावदप्रतिबुद्धस्त्वमनात्मज्ञतया स्थितः ।
 तावच्चतुर्भुजाकारदेवपूजापरो भव ॥ ३८
 तत्क्रमात्संप्रबुद्धस्त्वं ततो ज्ञास्यसि तत्परम् ।
 मम रूपमनाद्यन्तं येन भूयो न जायते ॥ ३९
 यदि वा वेद्यविज्ञातो भावस्तदरिमर्दन ।
 तन्ममात्मानमात्मानमात्मनश्चाशु संश्रय ॥ ४०
 इदं चाहमिदं चाहमिति यत्प्रवदाम्यहम् ।
 तदेतदात्मतत्त्वं तु तुभ्यं ह्युपदिशाम्यहम् ॥ ४१
 मन्ये साधुविबुद्धोसि पदे विश्रान्तवानसि ।
 संकल्पैरवमुक्तोऽसि सत्यैकात्ममयो भव ॥ ४२
 सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
 पश्य त्वं योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ४३
 सर्वभूतस्थमात्मानं भजत्येकत्वमात्मनः ।
 सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ ४४
 एकत्वं सर्वशब्दार्थं एकशब्दार्थं आत्मनः ।

स्वं कर्माश्रयः ॥ ३३ ॥ अद्वैतं परं द्वैतमपरं रूपं तन्नियम्यं
 जगच्चाहमेवेत्यर्थः । एवं द्विरूपे मयि अधिकारतारतम्येन मनो
 यस्य स मन्मनाः भव । तादृशे मयि तथैव भक्तः श्रवणकीर्त-
 नादिनवविधभक्तिमान्भव । तादृशस्य मे ज्ञानयज्ञेन कर्मयज्ञेन
 वा यजनशीलो भवेत्यर्थः । एवमुक्तप्रकारद्वयेनापि युक्त्वा मयि
 चित्तं निवेश्य मामेवात्मानं स्वात्मभूतमेष्यसि साक्षात्परम्परया
 च प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ एवमुक्तोऽर्जुनस्ते द्वे रूपे तद्युक्ति-
 योग्यमधिकारं कालविभागं च जिज्ञासमानः पृच्छति—द्वे इति
 ॥ ३५ ॥ सामान्यं सर्वजनसाधारणं सुबोधमित्यर्थः ॥ ३६ ॥
 परं अशुद्धचित्तैर्दुरधिगमम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ तत्तत्क्षिप्तशुद्धि-
 क्रमात् ॥ ३९ ॥ तुशब्दार्थं वाशब्दः । इदं च सगुणभजनं
 मया तुभ्यं चित्तशुद्धिभावं संभाव्योक्तं यदि तु तव भावचित्तं
 वेद्यं वेदनाहं विज्ञातम् । भावे क्तः । विज्ञानैकस्वभावं ब्रह्म
 यस्य तथाविधः शुद्ध इति मन्यसे तत्तर्हि मम ईश्वरस्य आत्मानं
 पारमार्थिकस्वरूपभूतं शोधिततत्पदार्थं आत्मनः स्वस्य च
 आत्मानं शोधितत्वंपदार्थरूपं चैकरसीकृत्याखण्डपरिपूर्णान्मानं
 संश्रय । बुद्ध्वा तन्निष्ठो भवेत्यर्थः ॥ ४० ॥ अहमाशा जगदहमि-
 त्यादिविभूत्युपदेशस्यापि तत्तदधिष्ठानस्वतत्त्वपरिशोधन एव
 तात्पर्यमित्याह—इदं चाहमिति ॥ ४१ ॥ मनुपदेशावबोधेन तव
 सदृ एव स्वरूपे विश्रान्तिः सेत्स्यतीत्युत्साहजननाय सिद्धवत्कृ-
 त्याह—मन्ये इति ॥ ४२ ॥ आत्मानमधिष्ठानत्वेनानुगतम् ।
 आत्मन्यध्यस्तानि ॥ ४३ ॥ सर्वथा सर्वप्रकारेण समाधिब्रह्म-
 व्यवहारवृत्त्या वा वर्तमानोऽपि ॥ ४४ ॥ सर्वभूतस्थमात्मानं

आत्मापि च न सन्नासद्गतो यस्याशु तस्य तत् ॥ ४५
 त्रैलोक्यचेतसामन्तरालोको यः प्रकाशकः ।
 अनुभूतिमुपाकूढः सोऽहमात्मेति निश्चयः ॥ ४६
 त्रैलोक्यपयसामन्तर्यो रसानुभवः स्थितः ।
 गव्यानामब्धिजानां च सोऽयमात्मेति भारत ॥ ४७
 अन्तः सर्वशरीराणां यः सूक्ष्मोनुभवः स्थितः ।
 मुक्तोऽनुभवनीयेन सोऽयमात्मास्ति सर्वगः ॥ ४८
 समप्रपयसामन्तर्यथा घृतमिव स्थितम् ।
 तथा सर्वपदार्थानां देहानां संस्थितः परः ॥ ४९
 सर्वाम्भोनिधिरत्नानां सबाह्याभ्यन्तरे यथा ।
 तेजस्तथास्ति देहानामसंस्थित इव स्थितः ॥ ५०
 यथा कुम्भसहस्राणां सबाह्याभ्यन्तरे नभः ।
 जगन्नयशरीराणां तथात्माहमवस्थितः ॥ ५१
 मुक्ताफलशतौघानां तन्तुः प्रोतवपुर्यथा ।
 तथायं देहलक्षणां स्थित आत्मास्त्यलक्षितः ॥ ५२
 ब्रह्मादौ तृणपर्यन्ते पदार्थनिकुरम्बके ।
 सत्तासामान्यमेतद्यत्तमात्मानमजं विदुः ॥ ५३
 तदीपत्स्फुरिताकारं ब्रह्म ब्रह्मैव तिष्ठति ।
 अहन्तादि जगत्तादि क्रमेण भ्रमकारिणा ॥ ५४
 आत्मैवेदं जगद्रूपं हन्यते हन्ति वात्र किम् ।
 शुभाशुभैर्जगदुःखैः किमस्यार्जुन लिप्यते ॥ ५५

इति श्लोकस्य तात्पर्यं स्वयमेव वर्णयति—एकत्वमिति । सर्व-
 भूतेष्वधिष्ठानतया स्थितमात्मानं पश्यति तदा स सर्वशब्दस्या-
 र्थोऽधिष्ठानव्यतिरिक्तस्यालाभादेकत्वं भजते स च एकशब्दार्थं
 आत्मनः प्रतीनः स्वभावे पर्यवसन्नः स आत्मापि च न गत्
 मूर्तभूतत्रयस्वभावः, नाप्यसत् सूक्ष्मभूतद्वयस्वभावः किंतु
 भूमानन्दचिदेकस्वभावो यस्यानुभवं गतस्तस्याशु तदवगम-
 समकालमेव तज्जन्मादिसर्वविक्रियारहितं भूमानन्दात्मकं
 कैवल्यं पर्यवस्यतीति तत्तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ४५ ॥ तस्य
 केनाप्यननुभवादत्यन्तपरोक्षतां प्रसक्तां वारयति—त्रैलोक्ये-
 त्यादिना ॥ ४६ ॥ त्रैलोक्यस्थानां पयसां जलानाम् ।
 गोर्विकारा गव्यानि तेषां दुग्धादीनाम् । अब्धिजानां लव-
 णादीनां चकारादिक्षुमध्वादीनां च जिह्वाप्रसंनिकृष्टानां यो
 रसानुभवः सोऽयमात्मेति न पारोक्ष्यप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥
 अनुभवनीयेन विषयजातेन मुक्तो रहितः, अतएव दुर्लक्ष्यत्वा-
 त्सूक्ष्मः ॥ ४८ ॥ सर्वपदार्थानामन्तरधिष्ठानतया देहानाम-
 न्तस्तु प्रकाशकतया च संस्थितः ॥ ४९ ॥ देहान्तःस्थिति
 दृष्टान्तेन विशदयति—सर्वेति । यथा सर्वरत्नानामन्तर्गतं तेजो
 बहिरपि प्रकाशयति तद्वदित्यर्थः ॥ ५० ॥ असंस्थित इवेत्युक्ति-
 तात्पर्यविषयमलेपकत्वं दृष्टान्तान्तरेण विशदयति—यथेति
 ॥ ५१ ॥ सर्वदेहेष्वन्तः स्थित्वान्तर्यामितया विधारकत्वेऽप्यल-
 क्ष्यत्वे दृष्टान्तमाह—मुक्ताफलेति ॥ ५२ ॥ तत्राधिष्ठानात्मना
 यो० वा० ११४

प्रतिबिम्बेष्विवादर्शसमं साक्षिवदास्थितम् ।
 नश्यत्सु न विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ ५६
 इदं चाहमिदं नेति इतीदं कथ्यते मया ।
 एवमात्मास्ति सर्वात्मा मामेवं विद्धि पाण्डव ॥ ५७
 इमाः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
 आत्मन्यहंताचित्तस्थाः पयःस्पन्दा इवाम्बुधौ ॥ ५८
 यथोपलत्वं शैलानां दारुत्वं च महीरुहाम् ।
 तरङ्गाणां जलत्वं च पदार्थानां तथात्मता ॥ ५९
 सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
 यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ६०
 नानाकारविकारेषु तरङ्गेषु यथा पयः ।
 कटकादिषु वा हेम भूतेष्वत्मा तथाऽर्जुन ॥ ६१
 नानातरङ्गवृन्दानि यथा लोलानि वारिणि ।
 कटकादीनि वा हेमि भूतान्येवं परात्मनि ॥ ६२
 पदार्थजातं भूतानि बृहद्ब्रह्म च भारत ।
 एकमेवाखिलं विद्धि पृथक्त्वं न मनागपि ॥ ६३
 किं तद्भावविकाराणां गम्यमस्ति जगन्नये ।
 क ते वापि जगत्किं वा किं मुधा परिमुह्यसि ॥ ६४
 इति श्रुत्वाऽभयं त्वन्तर्भावयित्वा सुनिश्चितम् ।
 जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह सन्तः समरसाशयाः ॥ ६५

निर्विकारस्थितिर्ब्रह्मता संव वास्तवी । या तु मुक्तासु तन्तुवद-
 न्तर्यामितया स्थितियां च रत्नेषु प्रभावत्प्रकटजीवतया स्थितिस्ते
 उभे अध्यस्तमापेक्षे जगद्यवहारार्थं कल्पिते इति न वास्तवं
 हन्तव्यं हन्ता तत्प्रयुक्तपापं तत्फलप्रदो वा स्वात्मातिरिक्त-
 इत्याशयेनाह—ब्रह्मादाविति त्रिभिः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥
 ॥ ५५ ॥ अध्यस्तैर्वादिदोषैरलेपे दृष्टान्तान्तरमाह—प्रति-
 बिम्बेष्विति ॥ ५६ ॥ सर्वदेहेषु अहमहमिति प्रथमानधिदर्श
 एवाहं जडदेहेन्द्रियविषयांशो नाहमिति विभागोक्तिरपि दर्पण-
 प्रतिबिम्बितेष्वनेकदर्पणान्तरेषु घटादिषु च व्यावृत्तदर्पणस्वरूप-
 परिचयाय दर्पणादर्पणविभागोक्तिवदेवेत्याह—इदं चाह-
 मिति । इतिशब्द आद्योऽर्थविभागप्रकारपरः, द्वितीयस्तूक्ति-
 विभागप्रकारपर इत्यपौनरुक्त्यम् । एवं दर्पणवदेवालेपकोऽद्वय
 एवात्मा सन्नहं सर्वात्मास्ति ॥ ५७ ॥ अहंता अभिमानवृत्ति-
 स्तद्वति चित्ते तिष्ठन्तीति तत्स्थाः ॥ ५८ ॥ आत्मता पारमार्थिकी-
 त्यर्थः ॥ ५९ ॥ अकर्तारं प्रतिबिम्बचेष्टासु दर्पणवदेवाभ्यापृत-
 मित्यर्थः ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ दर्पणतत्प्रतिबिम्बवदेकमेव ॥ ६३ ॥
 यदा निर्विकारं ब्रह्मैकं तदा जन्मादिभावविकाराणां गम्यमा-
 त्माश्रयभूतं किमन्यदस्ति । ते बन्धुवधादिभावविकारा वा क्व
 सन्ति । जगदपि किं वान्यदस्ति । न किञ्चिदित्यर्थः ॥ ६४ ॥
 अन्तः अभयं ब्रह्म भावयित्वा सम्यगनुभूय ॥ ६५ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे बाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे प० अर्जुनोपाख्याने अर्जुनोपदेशो नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥५३॥

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-

र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

६६

चतुःपञ्चाशः सर्गः ५४

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १
मात्रास्पर्शा हि कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ २
ते तु नैकात्मनश्चान्ये काऽतो दुःखं क वा सुखम् ।
अनाद्यन्तेऽनवयवे कुतः पूरणखण्डने ॥ ३
संस्थिता स्पर्शमात्राख्या मात्रास्पर्शभ्रमात्मकः ।
समदुःखसुखो धीरः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ४
सर्वत्वादात्मनश्चैते सुमेदाः संस्थिता इव ।

तेषामेवोक्तलक्षणविशिष्टानां विदेहकैवल्यावाप्तिरपीत्याशयेनाह—
निर्मानमोहा इति ॥ ६६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणता-
त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धेऽर्जुनोपदेशो नाम त्रिपञ्चाशः
सर्गः ॥ ५३ ॥

सुखदुःखादिसंबन्धे हेतुर्हानकमस्तथा ।

यदाकल्प्य च तद्धानं तत्सर्वमिह कीर्यते ॥ १ ॥

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैस्तत्पदं गच्छन्तीत्युक्तं तत्र
द्वन्द्वसंबन्धे को हेतुः कश्च तद्विमोक्षोपायः किमालम्ब्य चेत्या-
द्यङ्गापरिहारद्वारेणात्मतत्त्वमुद्देष्टुकामो भगवानुवाच—भूय
वक्षेति । प्रीयमाणाय प्रीत्या श्रोतुकामाय उपदिश्यमानार्थग्रह-
णेन संतुष्यते च ॥१॥ तत्रादौ विषया एव सुखदुःखरूपा इत्य-
भेदभ्रमं वारयन्नाह—मात्रास्पर्शा इति । मीयन्ते विषया
एभिरेति मात्रा इन्द्रियाणि तेषां विषयसंस्पर्शास्ते शीतोष्णा-
द्यनुभावनप्रयुक्तसुखदुःखहेतवः । अथवा स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः
शब्दादयः । शीतोष्णग्रहणमुदाहरणार्थम् । यथा शीतं प्रीध्ये
सुखदमुष्णं दुःखदं ते पुनः विधिरे विपरीते इति न विषयाः
सुखदुःखरूपा इत्यर्थः । एवं दुःखहेतुप्रदर्श्यं तन्निवारणोपाय-
माह—तांस्तितिक्षस्वेति । तितिक्षोक्तिर्वैराग्यस्याप्युपलक्ष-
णम् । तथाच प्रियेषु विरज्यस्व अप्रियेषु तितिक्षस्वेत्यर्थः ॥ २ ॥
यथा बुद्ध्या तद्विरागितिक्षे सिध्यतस्तामाह—ते त्विति । ते
मात्राः स्पर्शाश्च ते सुखदुःखे वा । चकारादन्यदपि । एकात्मनः
अद्वयपूर्णानन्दस्वभावात्स्वात्मनोऽन्ये न अतः । एवं बोधादि-
त्यर्थः । किं च प्रियतमधनपुत्रादिसंपदा पूर्णोऽहमिति भ्रान्त्या
आभिमानिकं सुखं तद्वियोगाद्यप्रियसंपत्त्या खण्डितोऽहमिति
दुःखं च स्याते अपि निरवयवे पूरणखण्डनासंभवदर्शने निवर्तते
इत्याह—अनाद्यन्ते इति ॥ ३ ॥ यस्य स्पर्शानां विषयाणां
मात्राणामिन्द्रियाणां भाव्यानामभावात् सत्यताप्रतीतिः संस्थिता

असद्रूपास्त्वसद्रूपं कथं सोढुं न शक्यते ॥ ५
मनागपि न विद्यन्ते सुखदुःखे तु सर्वशः ।
सर्वत्वादात्मतत्त्वस्य सत्ता कथमनात्मनः ॥ ६
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
नास्त्येव सुखदुःखादि परमात्मास्ति सर्वगः ॥ ७
सत्त्वासत्त्वमती त्यक्त्वा चैतयोर्जगदात्मनोः ।
त्यक्त्वा न किञ्चिन्मध्ये च शेषे बद्धपदो भव ॥ ८
न दृष्यति सुखैरात्मा दुःखैर्लोपयति नोऽर्जुन ।
दृश्यद्वेक्रेतनात्मापि शरीरान्तर्गतोऽपि सन् ॥ ९

उपशान्ता भवति स मात्रास्पर्शभ्रमात्मको जीवो धीरस्यास्तीति
धीरस्तत्त्वदर्शां समदुःखसुखो भूत्वा अमृतत्वाय कल्पत इत्यर्थः
॥४॥ नन्वप्रिया दुःखादयः कथं स्वं प्रतिकूलवेदनीयतास्वमाधं
जग्युर्धेन ते सत्याः स्युस्तत्राह—सर्वत्वादिति । निरतिशया-
नन्दैकरसस्यात्मन एव सर्वत्वादेते दुःखादिमेदाः शोभना मेदाः
सुमेदाः प्रियतमधनपुत्रादिमेदा इव संस्थिता न प्रतिकूलवेद-
नीयतां भजन्ते । प्राक्नेन तु प्रातिकूल्यस्वभावेनासद्रूपा इत्यर्थः
॥ ५ ॥ तदेव स्फुटीकृत्य समर्थयति—मनागपीति ॥ ६ ॥
नन्वसदपि दुःखाद्यात्मन्युत्पद्यते असत एव स्वकारणसमवायः
स्वसत्तासंबन्ध आद्यक्षणसंबन्धो वा उत्पत्तिरिति कणभक्षाक्ष-
चरणाद्युक्तिं प्रतिक्षिपति—नासत इति । असतो दुःखादेर्भावः
सत्ता न विद्यते । सतः अभावः असत्ता च न विद्यते । स्वभा-
ववैपरीत्यायोगात् । वाचारम्भणादिश्रुत्या विकारमात्रस्यासत्त्व-
निश्चयात् । ननु सर्वविकाराणामसत्त्वे पिण्डाद्यन्यतमविकारा-
नालिङ्गितप्रकृतिसृदाद्यदर्शनात्तस्याप्यसत्त्वे शून्यतापरिशेषः किं
न स्यादिति चेन्न । विकारेष्वनुगतसद्बुद्धेर्निर्विषयत्वायोगेन
विकारासत्त्वेऽपि शून्यपरिशेषानापत्तेः । यदि तदप्यसदेव
स्यात्तर्हि घटः असन् पटः असन्नित्येवान्ववर्त्येत । सत्सदित्येव
चानुवर्तते अतस्तस्मात्त्रनेव परिधिष्यते । यस्तु विकारेषु सन्नित्य-
मित्यस्मिन्मानः सोऽधिष्ठानसत्तानुवेधादेव न स्वत इति सुखदुः-
खादि नास्त्येवेत्यर्थः ॥७॥ जगतः सत्त्वमतिं निरतिशयानन्द-
त्मनः असत्त्वमतिं च त्यक्त्वा तयोर्जगदात्मनोर्मध्ये अन्तराळे
उभयसंघटनानिमित्तं मनस्तमथास्तिगुच्छमिति त्यक्त्वा क्षिप्यत
इति शेषश्चिदात्मा तस्मिन् बद्धपदः प्रतिष्ठितो भव ॥ ८ ॥
दृश्यानि दर्पगलान्यादीनि साक्षितया पश्यतीति दृश्यदृक् ।
नहि दृश्यास्ते दृग्दर्मा भवितुमर्हन्तीति भावः ॥ ९ ॥

१ मत्र संघिरार्थः.

जडं चित्तादि दुःखस्य भाजनं देहतां गतम् ।
 न चैतस्मिन्क्षते क्षीणे किञ्चिदेवात्मनः क्षतम् ॥ १०
 जडं देहादि दुःखादेर्यदिदं भोक्तृसंस्थितम् ।
 तन्मायाभ्रममेवाङ्ग विद्यबोधवशोत्थितम् ॥ ११
 न किञ्चिदेव देहादि न च दुःखादि विद्यते ।
 आत्मनो यत्पृथग्भूतं किं केनातोऽनुभूयते ॥ १२
 यदिदं कथयाम्यत्र तेनैवातो विनश्यति ।
 भ्रान्तिर्दुःखमबोधोत्था सम्यग्बोधेन भारत ॥ १३
 यथा रज्ज्वामहिस्रयं बोधाभ्रश्यत्यबोधजम् ।
 तथा देहादिदुःखादि बोधाभ्रश्यत्यबोधजम् ॥ १४
 विष्वग्विश्वमजं ब्रह्म न नश्यति न जायते ।
 इति सत्यं परं विद्धि बोधः परम एष सः ॥ १५
 ब्रह्माभ्युद्यौ तरङ्गत्वं किञ्चिद्भूत्वा विलीयते ।
 ब्रह्मावर्ते स्फुरस्यद्य ब्रह्मैवासि निरामयम् ॥ १६
 यावत्कालक्रियादेशास्त्वमहंसैनिका इव ।
 ब्रह्मणीव परिस्पन्दा नात्र स्तः सदसद्भूमौ ॥ १७
 अहि मानं मदं शोकं भयमीहां सुखासुखे ।
 द्वैतमेतदसद्रूपमेकः सद्वृषान्भव ॥ १८
 पुरुषाक्षौहिणीनां च क्षयेगानुभवात्मना ।
 ब्रह्मणा वृंहितं शुद्धं ब्रह्म ब्रह्ममयं कुरु ॥ १९
 असंविदन्सुखं दुःखं लाभालाभौ जयाजयौ ।
 शुद्धं ब्रह्मेकतां गच्छ ब्रह्माग्निस्त्वं हि भारत ॥ २०
 लाभालाभसमो भूत्वा भूत्वा नूनं न किञ्चन ।
 खण्डवात इवास्पन्दी प्रकृतं कार्यमाचर ॥ २१
 यत्करोषि यदभ्रासि यस्सुहोषि ददासि यत् ।
 यत्करिष्यसि कौन्तेय तदात्मेति स्थिरो भव ॥ २२

किं तर्हि दुःखहर्षादिभाजनं तत्राह—जडमिति । एतस्मिन्
 चित्तादी ॥ १० ॥ इदं चित्तादिषट्ठितं षीवरूपम् ॥ ११ ॥ १२ ॥
 यदिदं दुःखं तदबोधोत्थान्तिरतस्तेन सम्यग्बोधेनैव विन-
 श्यति । अत्र इष्टान्तं कथयामीत्यन्वयः ॥ १३ ॥ १४ ॥ कीदृशः
 स बोधस्तमाह—विष्वग्विति । विश्वं विष्वक् पूर्णं ब्रह्मैव
 ॥ १५ ॥ अद्य बोधोदयकाले ॥ १६ ॥ कृत्स्नवाची यावच्छब्दः ।
 कालाचीर्न द्वन्द्वसमासः । सदसद्भूमौ भावाभावविकल्पौ ॥ १७ ॥
 ॥ १८ ॥ त्वत्करिष्यमाणपुरुषाक्षौहिणीक्षयात्मनापि ब्रह्मणैव
 वृंहितं अतः अनुभवत्मानां शुद्धं ब्रह्मैव ब्रह्ममयं कुर्वित्यर्थः
 ॥ १९ ॥ २० ॥ नूनं तत्त्वनिश्चयेन न किञ्चन जायतं देहादि-
 रूपं भूत्वा । खण्डवातो गुह्यपरिच्छिन्नो वायुरिव ॥ २१ ॥
 सर्वक्रियाणां ब्रह्मैवेति निश्चयस्यैर्यमेव मदर्पणसिद्ध्याशयेनाह—
 यद्विति ॥ २२ ॥ यन्मयः यदाकारचित्तः ॥ २३ ॥
 अपेक्षाय अभावः अपेक्षम् । अर्थाभावेऽन्ययीभावः ।
 सर्वकामोपर्यवृत्तं फलं परमपुरुषार्थः स्वयं भूत्वा केवलं

यन्मयो यो भवत्यन्तः स तदाप्रोत्यसंशयम् ।
 ब्रह्मसत्यमवानुं त्वं ब्रह्मसत्यमयो भव ॥ २३
 अनपेक्षफलं ब्रह्म भूत्वा ब्रह्मेति भावितम् ।
 क्रियते केवलं कर्म ब्रह्मज्ञेन यथागतम् ॥ २४
 कर्मण्यकर्म यः पश्यत्यकर्मणि च कर्म यः ।
 स बुद्धिमान्मनुष्येषु स चोक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ २५
 मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।
 योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ॥ २६
 कर्मासक्तिमनाश्रित्य तथा नाश्रित्य मूढताम् ।
 नैष्कर्म्यमप्यनाश्रित्य समस्तिष्ठ यथास्थितम् ॥ २७
 त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतप्तो निराश्रयः ।
 कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २८
 आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत् ।
 मौख्यं स्थिते हि मनसि तस्मान्मौख्यं परित्यजेत् २९
 परं तत्त्वज्ञमाश्रित्य निरासकेर्महात्मनः ।
 सर्वकर्मरतस्यापि कर्तृतोदेति न क्वचित् ॥ ३०
 अकर्तृत्वादभोक्तृत्वमभोक्तृत्वात्समैकता ।
 समैकत्वादनन्तत्वं ततो ब्रह्मत्वमाततम् ॥ ३१
 नामातामलमुत्सृज्य परमात्मैकर्ता गतः ।
 कुर्वन्कार्यमकार्यं च नैव कर्ता त्वमर्जुन ॥ ३२
 यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
 ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ३३
 समः सौम्यः स्थिरः स्वस्थः शान्तः सर्वार्थनिरूपहः ।
 यस्तिष्ठति स सव्यग्रोऽप्यलमव्यग्रतां गतः ॥ ३४
 निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।
 यथाप्राप्तानुवर्ती त्वं भव भूषितभूतलः ॥ ३५

यथा चेष्टारूपं ब्रह्मेति भावनाबाधितं कर्म क्रियते ॥ २४ ॥ यः
 पुमान्कर्मण्युक्तीत्या अकर्म निष्क्रियं ब्रह्म पश्यत्यकर्मणि
 ब्रह्मणि चाभिच्युतप्रतिष्ठारूपं कर्म अवश्यं कर्तव्यं पश्यति स
 बुद्धिमान्निवेकी स एव च स्वरूपतः फलतश्च कृत्स्नं पूर्णं कर्म
 करोतीति कृत्स्नकर्मकृत्सुको विद्वद्विरित्यर्थः ॥ २५ ॥ कर्मफलानि
 लाभानी हेतवः प्रवृत्तिनिमित्तानि यस्य तथाविधो मा भूः ।
 अकर्मणि प्राप्तकर्माकरणेऽपि ते सङ्ग आसक्तिर्माभूत् । योगस्थः
 प्रागुक्तसिद्धिसिद्धिसमदृष्टिप्रतिष्ठितः ॥ २६ ॥ मूढतां तत्त्वज्ञौ
 प्रमादम् ॥ २७ ॥ २८ ॥ मौख्यं उक्तप्रमादे स्थिते सख-
 वश्यमासक्तिर्भवेदेव ततोऽनर्षपरम्परेत्यर्थः ॥ २९ ॥ तत्त्व-
 दर्शनाप्रमादे तु निरासकेः स्वत एवाकर्तृता सिद्ध्यासीत्ताह—
 परमिति ॥ ३० ॥ तेन च भूमिकाकर्मादिदेहकैवल्यान्तं
 सिध्यतीत्याह—अकर्तृत्वादिति ॥ ३१ ॥ अकार्यं प्रमादा-
 श्रियिदं च कुर्वन् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ सव्यग्रः सक्रियोऽपि सः ।
 अव्यग्रतामक्रियताम् ॥ ३४ ॥ अलम्बस कामो योगः, कृत्स्न

कर्मन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ३६
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ३७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने आत्मज्ञानोपदेशो नाम चतुष्पञ्चाशः सर्गः ५४

पञ्चपञ्चाशः सर्गः ५५

श्रीभगवानुवाच ।

न कुर्याद्भोगसंत्यागं न कुर्याद्भोगभावनम् ।
स्थातव्यं सुसमेनैव यथाप्राप्तानुवर्तिना ॥ १
अनात्मन्यात्मतां देहे मा भावय भवात्मनि ।
आत्मन्येवात्मतां सत्ये भावयाऽभवरूपिणि ॥ २
देहनाशे महाबाहो न किञ्चिदपि नश्यति ।
आत्मनाशो हि नाशः स्यान्न चात्मा नश्यति ध्रुवः ॥ ३
न हि शीर्यत्यचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ ४
आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत् ।
मौर्ख्यस्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेत् ॥ ५
परं तत्त्वज्ञमाश्रित्य निरासक्तेर्महात्मनः ।
सर्वकर्मरतस्यापि कर्तृतोदेति न क्वचित् ॥ ६
अविनाशमनाद्यन्तमात्मानमजरं विदुः ।

पालनं क्षेमस्तदुभयचिन्ताश्चान्यः ॥ ३५ ॥ त्यक्तसर्वकर्मणो
मानसविषयासङ्गसत्त्वे दाम्भिक एव स संन्यास इत्याह—कर्म-
न्द्रियाणीति ॥ ३६ ॥ सत्सन्स्केन्द्रियनिग्रहवतो यथाशास्त्रं
व्यवहरतोऽपि फलासङ्गत्यागात्संन्यासफलमस्त्येवेत्याशयेन तं
प्रशंसन्नाह—यस्त्विन्द्रियं ॥ ३७ ॥ तस्मान्निगृहीतसर्वेन्द्रियस्य
संन्यासिन एव सर्वकामोपरमात्परमपुरुषार्थो नान्यस्येत्युपसंह-
रति—आपूर्यमाणमिति । यद्वत् आपो नय आपूर्यमाणं समुद्रं
प्रविशन्ति तद्भावमापन्ना विलीयन्ते तद्वदचले ब्रह्मणि प्रतिष्ठा
यस्य तं संन्यासिनं सर्वे कामा मिथ्यात्वबुद्धिबाधितविषयाः सन्तः
प्रविशन्त्यात्मन्येव विलीयात्समात्रतामापद्यन्ते स एव सर्वानर्थ-
शान्तिलक्षणं मोक्षमाप्नोति न तु काम्यन्त इति कामा विषया-
स्तत्कामनाशील इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे आत्मज्ञानोपदेशो नाम
चतुष्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

देहनाशोऽप्यनाशारमा भूतस्त्वज्ञयोः समः ।

मूर्धो जन्मादिभाग् आन्त्या जस्तु नेत्यत्र वर्णयते ॥ १ ॥

भुज्यन्त इति भोगा देहधारणहेतवोऽन्नपानादयस्तेषां संत्यागं
न कुर्यात् । हितमितमेध्याशनाद्युपादशादित्यर्थः । भोगानां
भावनं चिन्तां तत्सौष्ठवसंपादनव्यसनितां च न कुर्यात् । तन्ना-
भालाभादिषु सुसमेनैव स्थातव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥ एवं देहात्म-
भावनापि न कार्येत्याह—अनात्मनीति । भवात्मनि जन्मा-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ३८

नश्यत्यात्मेति दुर्बोधो मा तवास्त्विह दुःखदः ॥ ७

न तथा परिपश्यन्ति विदितात्मान उत्तमाः ।

पश्यन्त्यात्मनात्मानं स्वमात्मन्यात्ममानिनः ॥ ८

अर्जुन उवाच ।

एवं चेत्त्रिजगन्नाथ मूढानामपि मानद ।

देहनाशे समुत्पन्ने इष्टं नष्टं न किञ्चन ॥ ९

श्रीभगवानुवाच ।

एवमेतन्महाबाहो न किञ्चिन्नश्यति क्वचित् ।

आत्मैवास्त्यविनाशात्मा किं तस्य क्व विनश्यति ॥ १०

इदं नष्टमिदं युक्तमिति मोहभ्रमादते ।

अन्यत्तथा न पश्यामि वन्ध्यास्त्रीतनयं यथा ॥ ११

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १२

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

दिविक्रियास्वभावे ॥ २ ॥ ३ ॥ उक्तेऽर्थे 'अशीर्थो न हि शीर्यते'

इति श्रुतिं प्रमाणयन्नाभिमानीकपरिग्रह एव शीर्णतादिदेह-

धर्माणामात्मनि प्रसङ्गकः, तत्प्रागे तु न शीर्णतादिप्रसक्तिरि-

त्याह—न हीति । अचित्तात्मा देहादिपरिग्रहनिमित्ताचित्ताद्वि-

विच्य दृष्ट इत्यर्थः । कर्मणि युद्धादौ ॥ ४ ॥ मौर्ख्यस्थिते

अज्ञतापन्नं ॥ ५ ॥ तत्रोपायमाह—परमिति ॥ ६ ॥ ७ ॥

तथा आत्मा नश्यतीत्येवंप्रकारेण न परिपश्यन्ति । कुतो न

पश्यन्ति । यतस्ते आत्मन्येव आत्ममानिनः स्वमात्मानमना-

त्मदेहादिरूपं न पश्यन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥ नन्वेवं सति मूढा देहा-

द्यात्मबुद्ध्या पश्यन्तु नाम तथापि तेषां तन्नाशे आत्मनाशो

नास्त्येवेति मरणादिर्नानर्थः स्यादित्यर्जुनः शङ्कते—एवं

चेदिति । इष्टं प्रियतमं वस्तु न किञ्चन नष्टम् । 'दृष्टं' इति

पाठे यथार्थदृष्टिगम्यम् ॥ ९ ॥ इष्टापत्त्या भगवान्परिहरति—

एवमेतदित्यादिना ॥ १० ॥ कथं तर्हि देहनाशपुत्रलाभादेर-

नर्थत्वन्नर्थत्वं वा तेषां तत्राह—इदमिति । युक्तं लब्धम् ।

स्वप्नेपि पुत्रमरणजन्मभ्रमादनर्थादिव्यवहारदर्शनादिति भावः

॥ ११ ॥ अतएव सतोऽसत्त्वविरोधात् देहादेः सत्त्वमिति

प्रागुक्तमित्याह—नासत इति । उभयोः सदसतोः । सत्सदेव

असदसदेव न स्वभावविपर्यय इति अन्तो निर्णयस्तत्त्वदर्शिभि-

र्दृष्टो न मूर्खैरित्यर्थः ॥ १२ ॥ एवं यत्सत्त्वविनाशि यद्विनाशि

१ तवास्त्विति दुःखद इति पाठः.

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १३
 अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
 अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १४
 आत्मा चैकोऽस्ति न द्वित्वमसतः संभवः कुतः ।
 अविनाशस्त्वनन्तोऽसौ सतो नाशो न विद्यते ॥ १५
 द्वित्वैकत्वपरित्यागे शेषं यत्परिशिष्यते ।
 शान्तं सदसतोर्मध्यं तदस्तीह परं पदम् ॥ १६
 अर्जुन उवाच ।
 तन्मृतोऽस्मीति भगवन्किंकृता तु नृणां स्थितिः ।
 कथं स्थितौ च लोकानां तौ स्वर्गनरकौ प्रभो ॥ १७
 श्रीभगवानुवाच ।
 भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
 एतत्तन्मात्रजालात्मा जीवो देहेषु तिष्ठति ॥ १८
 स कृष्यते वासनया रज्ज्वेव पशुपोतकः ।
 स तिष्ठति शरीरान्तः पञ्जरे विहगो यथा ॥ १९
 स कालदेशतो देहाज्जर्जरत्वमुपागतात् ।
 वासनावशतो याति प्लक्षपर्णाद्रसो यथा ॥ २०
 श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
 गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ २१
 वासनावत्त्वमेवास्य देहो नेतरयुक्तिजः ।

तदसदेवेति नासतो बन्धुदेहादेर्युद्धं नाशं कश्चिदनर्थं इत्याशये-
 नाह—अविनाशीति द्वाभ्याम् ॥ १३ ॥ १४ ॥ अद्वयत्वाद्दि-
 नाशकाप्रसिद्धेरपि नात्मनाशप्रसक्तिरित्याह—आत्मेति ॥ १५ ॥
 एकत्वं कारणं सच्छब्दवाच्यं द्वित्वं कार्यमसदनृतं तयोर्मध्य-
 मान्तरमधिष्ठानसन्मात्रम् ॥ १६ ॥ एवमपरिच्छिन्नस्यात्मनो
 मरणादिपरिच्छेददुःखादिभ्रमे को हेतुरित्यर्जुनः पृच्छति—
 तदिति । तत्तर्हि । किंकृता केन हेतुना प्राप्ता । स्थितिर्नियतिः ।
 तस्यां च स्थितौ स्वर्गः सुखं नरको दुःखं च किंकृतौ ॥ १७ ॥
 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' इति श्रुति-
 तात्पर्येण भगवान्मात्राधत्तं—भूमिरिति । पञ्चभूतमात्रानिर्मि-
 तमनोबुद्ध्यादिघटितव्यष्टिसमष्टिस्थूलसूक्ष्मदेहतादात्म्यापत्तिरेव
 परस्य जीवभावः स एव अन्ममरणसुखदुःखादिभ्रमनियतिनि-
 मित्तमित्यर्थः ॥ १८ ॥ तस्य विचित्रदेहपरिग्रहे तत्तदनुसूपचे-
 ष्टवैचित्र्ये च निमित्तमाह—स इति ॥ १९ ॥ पूर्वदेहादेहान्तर-
 रगमनेऽपि वासनैव निमित्तमित्याह—स इति ॥ २० ॥
 आशेते अस्मिन्नित्याशयः पूर्वशरीरं पुष्पादि च तस्मात् ॥ २१ ॥
 अतएवास्य स्थूलदेहोऽपि वासनात्मक एव चिरानुवृत्त्या स्थौल्य-
 भ्रम इत्याशयेनाह—वासनेति । क्षीणे लिङ्गे तत्परमपदं
 स्वयमेव भवति ॥ २२ ॥ परेणात्मभूतेनैवाज्ञापानादिना आपुष्टः
 अथवा वासनावोच्छिन्नदेहः परेण परमात्मना अवच्छेदप्रति-
 विम्बभावाभ्यां द्वैगुण्येन प्रवेशादापुष्टः । अभिव्यक्तो भूत्वे-
 ल्यर्थः । मायया ऐन्द्रजालिकपुरुषो यथा खे भ्राम्यति तद्वत् ।

१ यदपशिष्यते इति पाठः.

क्षीयते वासनात्यागे क्षीणे भवति तत्पदम् ॥ २२
 वासनावान्परापुष्टो भूत्वा भ्राम्यति योनिषु ।
 जीवो भ्रमभराभारो मायापुरुषको यथा ॥ २३
 अक्षस्वभावानखिलाच्छरीराद्वासनावशः ।
 जीवो गृहीत्वा संयाति पुष्पाद्गन्धमिवानिलः ॥ २४
 देहो निस्पन्दतामेति जीवे कौन्तेय निर्गते ।
 निस्पन्दावयवाभोगः शान्तवात इव द्रुमः ॥ २५
 अचेष्टं छेदमेदादिदोषैरायात्यदृश्यताम् ।
 मृत इत्युच्यते तेन देहो विगतजीवितः ॥ २६
 स जीवः प्राणमूर्तिः खे यत्र यत्रावतिष्ठते ।
 तं तं स्ववासनाभ्यासात्पश्यत्याकारमाततम् ॥ २७
 अयं देहो हि जीवेन त्वसन्नेवावलोकितः ।
 अस्य नाशे त्वमप्येवं पश्य मा वा सुषुप्तवत् ॥ २८
 यथैव पश्यत्याकारांस्तेषां नाशांस्तथैव सः ।
 आदिसर्गे भावनया किलैष्वेवं विभावतः ॥ २९
 झटित्युद्भवकाले हि यद्यथा दृश्यते पुरः ।
 आनिपातं तदेवास्या अविनाभाविसंविदः ॥ ३०
 प्राक्तनं वासनामूलं पुरुषार्थेन जीयते ।
 यत्नेनाद्यतनेनाशु ह्यस्तनायतनं यथा ॥ ३१

भ्रमभरमाविभर्ताति कर्मण्यण् ॥ २३ ॥ श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं
 चंति यदुक्तं तद्विद्वृणोति—अक्षस्वभावानिति । स्वभावान्
 शब्दादिप्रहणशक्तीः ॥ २४ ॥ तदेव लोके मरणं प्रसिद्धमि-
 त्याह—देह इति ॥ २५ ॥ २६ ॥ खे चिदाकाशे भूताकाशे
 वा यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् देहदेशकालभोग्याद्याकारे अवति-
 ष्ठते भोजकादष्टोद्भावितवासनो भवति तं तमाकारं पश्यति
 ॥ २७ ॥ अस्य देहस्य नाशेऽप्येवमसत्त्वं पश्य । अथवा सुषु-
 प्तवदेहं तन्नाशं तदसत्त्वं च मा पश्य । यथा सुषुप्तो न किञ्चि-
 त्पश्यति तद्वदित्यर्थः ॥ २८ ॥ प्रतियोगिनां वासनाकल्पितत्वे
 तन्नाशानामपि तादृशत्वमेवादिसर्गादारभ्य क्लृप्तमित्याह—यथै-
 वेति । आदिसर्गे हि चतुर्मुखेन एषु सर्गेषु गवाध्याद्याकारेषु
 भावनया पूर्वसर्गानुभववासनयैव विभावतो विभावनाया वशा-
 देवैरूपं कल्पितं ननु मृह्ण्डाद्यादाय कुलालवत्किञ्चिन्निर्मितम् ।
 किलेति श्रुतिपुराणप्रसिद्धौ ॥ २९ ॥ ननु उत्पत्तिकाले जगद्वा-
 सनामयं मिथ्याभूतमस्तु स्थितिकाले त्वर्थक्रियासमर्थत्वात्सर्व-
 जनीनसत्यतानुभवाच्च वास्तवमेवेत्याशङ्गाह—झटितीति ।
 उत्पत्तिकाले झटति प्रथमक्षणे यद्यथा देहघटादिरूपं मिथ्या-
 भूतं सत्यं वा पुरो दृश्यते आविनाशं तदेव तथास्वभावमेव
 भवति न स्वभावान्तरं भजते । अस्यास्तदधिष्ठानभूतायास्तद-
 विनाभाविसंविदो यथोत्पन्नरूपस्थितिहेतुत्वात्संविद्विनाभावेन-
 तेषां सत्ताया अदर्शनाच्चेति भावः ॥ ३० ॥ देहाद्याकाराणां
 वासनामयत्वमस्तु किं ततस्तत्राह—प्राक्तनमिति । अशुभवा-
 सनाकल्पितदेहाद्याकारस्य शुभवासनाभ्यासप्रसूतब्रह्माकारवृत्त्या

य एव पुरुषार्थेन दृष्टो बलवता क्षणात् ।
 पूर्वोत्तरविशेषांशः स एव जयति स्फुटम् ॥ ३२
 अपि स्फुटति विन्ध्याद्रौ वाति वा प्रलयानिले ।
 पौरुषं हि यथाशास्त्रमतस्त्याज्यं न धीमता ॥ ३३
 नरकस्वर्गसर्गादिवासनावशतोऽभितः ।
 प्रपश्यति चिराम्यस्तं जीवो जरठमोहधीः ॥ ३४
 अर्जुन उवाच ।
 नरकस्वर्गसर्गादिसंभ्रमेषु जगत्पते ।
 किमस्य कारणं ब्रूहि जीवस्य जगतः स्थितेः ॥ ३५
 श्रीभगवानुवाच ।
 स्वप्नोपमाना तेनेह भ्रयेसे वासना क्षयः ।
 चिराम्यासवशात्प्रौढा संसारभ्रमकारिणी ॥ ३६
 अर्जुन उवाच ।
 किमुत्था देवदेवेश स्त्रीयते वासना कथम् ।
 श्रीभगवानुवाच ।
 मौर्ख्यमोहसमुत्थाना त्वनात्मन्यात्मभाषणा ।
 आत्मज्ञानाम्महाबोधाद्विलयं याति वासना ॥ ३७

समूलनाशस्तत्फलमिति भावः । पुरुषार्थेन श्रवणमननादिपुरुष-
 प्रयत्नजनितेनाखण्डाकारज्ञानेन जीयते बाध्यते । अद्यतनेन
 प्रायश्चित्तादियत्नेन ह्यस्तनमायतनमधर्मानुष्ठानं यथा जीयते
 तद्वत् । अद्यतनेन दाहयत्नेन ह्यस्तनमायतनं तृणगृहं यथा ना-
 ह्यते तद्वदिति वा ॥ ३१ ॥ ननु बहूनां ज्ञानाय यतमानानां प्रयत्नः
 प्रबलमिति पूर्वतनकामक्रोधादिवासनासिर्बिनाशयमानो दृश्यत
 इति नोत्तरत्वं प्राबल्ये हेतुरिति चेत्तत्राह—य एवेति । धर्मा-
 र्थकाममोक्षेषु मध्ये य एव ममायं पुरुषार्थं आवश्यक इत्यभि-
 विवेशेन दृष्टः स एव पूर्वोत्तरप्रयत्नयोर्विशेषांशो जये प्रयोजकः ।
 तथा च तेषां मोक्षाभिनिवेशमान्याद्भोगाभिनिवेशदाह्याच्च परा-
 भव इति भावः ॥ ३२ ॥ अतएव शास्त्रीये प्रयत्ने दृढाभिनिवेशः
 कार्य इत्याह—अपीति ॥ ३३ ॥ तन्मान्ये पूर्ववासनावैधिव्या-
 स्तुल्लदुःखानर्थपरम्परा सर्वतो दुर्वारैवेत्याशयेनाह—नरकेति ।
 जरठमोहधीः अनाद्यज्ञानमूढबुद्धिः ॥ ३४ ॥ तमेवाशयं 'अज्ञो
 अन्तुरनीशोऽब्रमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छे-
 त्सर्वं वा नरकं तु वा ॥' इति व्यासवाक्यादिप्रसिद्धकारणान्तर-
 लक्ष्येहनिरासेन स्फुटं जिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति—नरकेति ।
 जगतः स्थितेः स्थितिनिमित्तत्वात्स्य जीवस्य ॥ ३५ ॥ न हेत्वन्तरं
 संभावनीयमीश्वरकर्मकर्माधीनामपि वासनानुसारेणैव सुखदुःख-
 प्रापकत्वाद्वास्तनैवासाधारणी चिराम्यासनिरूढा संसृतिहेतुरिति
 तत्त्व एव परमपुरुषार्थाधिना सर्वप्रयत्नैः कार्य इत्याशयं
 स्फुटीकुर्वन्मनवानाह—स्वप्नेति । शास्त्रीयप्रयत्नं विना चिरा-
 म्यासवशात्प्रौढा स्वप्नोपमाना वासनैव येन हेतुना संसार-
 भ्रमदायिनी तेन हेतुना तत्त्वज्ञानाभ्यासेन समूलवासनाक्षयः
 केवलं स्थान्मयः ॥ ३६ ॥ आत्मज्ञानपूर्वं ज्ञानानोऽर्जुनः

भावितात्मासि कौन्तेय सत्यं विज्ञातवानसि ।
 अयं सोऽहं जना एते मयेति त्यज वासनाम् ॥ ३८
 अर्जुन उवाच ।
 वासनाविलये जीवो विलीनो भवति स्वयम् ।
 यो हि यत्सत्तयोच्छूनस्तज्जाशास्त विलीयते ॥ ३९
 जीवे विलयमायाते देशकालान्यथाकृतौ ।
 कोऽसौ भाजनतामेति जन्मनो मरणस्य च ॥ ४०
 श्रीभगवानुवाच ।
 स्वयं कल्पितसंकल्पमात्मरूपं यदाविलम् ।
 तदेव वासनाकारं जीवं विद्धि महामते ॥ ४१
 अनायत्तमसंकल्पमात्मरूपं यदव्ययम् ।
 प्रबोधाद्वासनामुक्तं तन्मोक्षं विद्धि भारत ॥ ४२
 जीवमेव महाबाहो तत्त्वं प्रेक्ष यथास्थितम् ।
 वासनावागुरोऽस्मुको मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ४३
 यो न निर्वासनो नूनं सर्वधर्मपरोऽपि सः ।
 सर्वज्ञोऽप्यभितो बद्धः पञ्जरस्यो यथा खगः ॥ ४४

पृच्छति—किमुत्थेति । अज्ञानमेव तन्मूलं ज्ञानादेव समूल-
 तनाश इति भगवानाह—मौर्ख्येति ॥ ३७ ॥ तत्र विचारा-
 दात्मस्वरूपपरिचयस्ते वृत्तस्तद्दार्ढ्येन देहतत्संबन्धिवन्ध्यादि-
 ध्वङ्गममेति वासनाक्षयमात्रं कर्तव्यं परिशिष्यत इत्याह—
 भावितेति ॥ ३८ ॥ ननु वासनामयमेव किं तत्प्रति-
 विम्बो जीवस्तदुत्पत्तस्य वासनाक्षये क्षय एव स्वाविस्व-
 नर्यायैव तत्त्वज्ञानं वासनाक्षयश्चेत्याशयेनार्जुनः शङ्कते—
 वासनाविलये इति । विलीयते विनश्यति ॥ ३९ ॥
 जन्मनः परमानन्दाविर्भावक्षणपरमपुरुषार्थस्य मरणस्य आत्म-
 न्तिकानर्थनाशस्य च को भाजनतामेति, न कश्चिदिति लक्ष-
 णया व्याख्येयम् । प्रसिद्धजन्ममरणं तु न प्राप्ते । तत्त्वज्ञस्य
 समूलवासनानाशे तत्प्रसक्त्यभावात्पूर्वापरप्रन्धानसुगुणत्वाच्च
 ॥ ४० ॥ भवेदयं दोषो यदि प्रतिविम्बमात्रसंसारी जीवः स च
 विम्बादन्यो भूतमात्राधीनजन्मादिदेशकालमेदमिष इत्यभ्युप-
 गतं स्यात् । नत्वेवं किंतु ब्रह्मैव परमार्थतः शुद्धमन्यतया स्वावि-
 यया पिहितं स्वतत्त्वमजानत् स्वात्मन्येव जीवजगद्भेदकल्प-
 नया संसरतीव तदेव शास्त्रीयश्रवणादिप्रयत्नेन स्वतत्त्वं बुद्ध्या
 सवासनाधियां विधूय स्वस्वभावेऽवसिष्ठते सैवास्व मुक्तिरिति
 श्रौतः सिद्धान्तः । तत्र तु न कश्चित्तदुद्भाषितो दोष इत्याशयेन
 भगवान्समाधत्ते—स्वयमित्यादिना ॥ ४१ ॥ अनायत्तमव-
 न्याधीनम् ॥ ४२ ॥ सा च समूलवासनामुक्तिर्वादेहधारणं
 जीवन्मुक्तिरिति प्रसिद्धा इहैव त्वयाप्यनुभवितुं शक्येति न
 मुक्तिफलमाजि संशयः कार्य इत्याशयेनाह—जीवमेवेति
 ॥ ४३ ॥ स च मोक्षो न कर्मभिर्न वाद्यविषयगोचरपाण्डित्यैर्वा
 कथ्यः किं त्यात्मज्ञानेनैवेत्याशयेनाह—य इति ॥ ४४ ॥

दुर्दर्शनस्य गगने शिखिपिच्छिकेव
सूक्ष्मा परिस्फुरति यस्य तु वासमान्तः ।

मुक्तः स एव भवतीह हि वासनैव
बन्धो न यस्य ननु तत्क्षय एव मोक्षः ॥ ४५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने जीवतत्त्वनिर्णयो नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥५५॥

षट्पञ्चाशः सर्गः ५६

श्रीमगवानुवाच ।

इति निर्वासनत्वेन जीवन्मुक्तयार्जुन ।
अन्तः शीतलतामेत्य बन्धुदुःखमलं त्यज ॥ १
जरामरणनिःशङ्क आकाशविशदाशयः ।
त्यक्तेष्टानिष्टसंकल्पो वीतरागो भवानघ ॥ २
प्रवाहपतितं कार्यमिदं किञ्चिद्यथागतम् ।
कुरु कार्याणि कर्माणि न किञ्चिदिह नश्यति ॥ ३
प्रवाहपतितं कर्म स्वमेव क्रियते तु यत् ।
जीवन्मुक्तस्वभावोऽयं सा जीवन्मुक्ता तथा ॥ ४
इदं कर्म त्यजामीदमाश्रयामीति निर्णयः ।
मूढस्य मनसो रूपं ज्ञानिनस्तु समा स्थितिः ॥ ५
प्रवाहपतितं कर्म कुर्वन्तः शान्तचेतसः ।
जीवन्मुक्ताः सुषुप्तस्थाः स्फुरन्त्यत्र सुषुप्तवत् ॥ ६

उक्तसमाधानं संक्षिप्योपसंहरति—दुर्दर्शनस्येति । स्वमाया-
पिहितत्वादुर्दर्शनस्य अनयस्य अप्राप्तवेदान्तप्रमाणस्य यस्य
परमात्मनो गगने ऐन्द्रजालिकशिखिपिच्छिकेव नाना भ्रमदा-
यिनी सूक्ष्मवासना अन्तः परिस्फुरति जीवजगदाकारेण प्रथते
स एव तु अधिकारिशरीरे वेदान्तनयं प्राप्योत्पन्नतत्त्वज्ञानः
समूलवासनाबन्धान्मुक्तो भवति । इहास्मिन्परमात्मनि । ननु
यतः समूला वासनैव बन्धस्तत्क्षय एव मोक्षेत्यर्थः ॥ ४५ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
जीवतत्त्वनिर्णयो नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

जीवन्मुक्तिप्रतिष्ठाऽस्मिन्नर्जुनायोपदिश्यते ।

विस्तृतत्वं जगद्रूपं मनश्चित्रं च विस्तारत् ॥ १ ॥

बन्धुदुःखं बन्धुवधदुःखम् ॥ १ ॥ २ ॥ प्रवाहपतितं
क्षिष्टव्यवहारपरम्परागतं कार्यमवश्यकर्तव्यमिदं युद्धमन्यानि
चावश्यकानि यागदानादीनि कर्माणि कुरु न काचित्तेन तत्त्वबो-
धस्य क्षतिरित्यर्थः ॥ ३ ॥ स्वं स्वधर्मरूपमेव । सा प्रसिद्धा जीव-
न्मुक्ता तथा तादृश्येव न देहचेष्टामात्रत्यागरूपेत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥
सुषुप्ता इव स्मात्मनि निःसंकल्पास्तिष्ठन्तीति सुषुप्तस्थाः सुषु-
प्तात्मविशेषस्वयंज्योतिरात्ममात्रावशेषाः स्फुरन्ति ॥ ६ ॥
अन्वदपि सुषुप्तिसामर्थ्यं जीवन्मुक्तस्य लक्षणेस्तीऽत्याह—
शिखर-
मिति । ज्ञानबाधितत्वाद्युच्छेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो विषयेभ्यः
अतः प्रयत्नं विनैव व्यावृत्तानीन्द्रियाणि यस्य हृदि हृत्स्थे परमा-
त्मनि मनसा सह स्थिरां निश्चलां संस्थितिमैकरत्येन सौर्यमा-
यान्ति । यथा कूर्मस्य शिरःपादाद्यङ्गानि अल्पेऽपि क्षिप्ते

१ इदं हेत्वर्थकम्.

स्थिरां संस्थितिमायान्ति कूर्माङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो हृदि यस्य स्वभावतः ॥ ७
विश्वात्मनि तथा विश्वं कालत्रयमयोदितम् ।
अभिसि त्रिजगच्चित्रं कुरुते चित्तचित्रकृत् ॥ ८
व्योम्नि व्योमात्मकमपि प्रस्फुटं वृत्तिवर्तिभिः ।
चित्तचित्रकरेणादौ चित्रं चित्रं वितानितम् ॥ ९
पञ्चाङ्गितिः कृता व्योमरूपा चासावहो भ्रमः ।
अपूर्वैवातिमायेयं तृणकुञ्जमयी शुभा ॥ १०
न मनागपि मेदोऽस्ति स्फुटमप्युपलब्धयोः ।
इमा या उपलक्ष्यन्ते भित्तयश्चित्तचित्रजाः ॥ ११
व्योम्नः शून्यतमा विद्धि तास्तामरसलोचन ।
क्षणेन चेतसि यथा भ्रान्तौ लोकक्षयोदयौ ॥ १२

शटिलेवान्तः प्रविशन्ति तद्वत् । स तथाविधो जीवन्मुक्त
इत्यर्थः ॥ ७ ॥ कथं तर्हि जीवन्मुक्ताः व्यवहारकाले जगत्
पश्यन्तीति चेन्मनोराज्यपरिकल्पितनिर्मितिकश्चित्तवैश्विभ्यवदे-
वेति प्रदर्शनाय जगत्सर्वमासर्गान्तं मनोरहितचित्ररूपेण
वर्णयितुमुपक्रमते—विश्वात्मनीति । चित्तलक्षणचित्रकृत्
क्षिप्त्वा विश्वाधिष्ठाने आत्मनि तथा तेन तेन सर्वजनप्रसिद्धा-
नन्तवैश्विभ्येण विश्वं कृत्स्नं अभिसि भित्तिरहितं त्रिजगच्चित्रं
कुरुते इत्यन्वयः ॥ ८ ॥ व्योम्नि अज्ञानाकाशे व्योमात्मक-
मज्ञानमात्रस्वरूपत्वात्प्रथितुमयोग्यमपि सामासान्तःकरणवृत्ति-
लक्षणवर्तिकाभिः प्रस्फुटमभिम्यक्तं चित्रमद्भुतं चित्रं वितानितं
विस्तारितम् ॥ ९ ॥ अद्भुतत्वमेव प्रसिद्धचित्रवैश्विभ्येण दर्श-
यति—पञ्चादिति । समष्टिमनसा सत्यसंकल्पत्वात्संकल्प-
समकालमेव जगच्चित्रं कृतं ततः पञ्चाङ्गितिस्तदाधारः कृता
व्योमरूपा अमूर्ताकाशरूपाचित्रधारणे अयोग्यवैत्याश्चर्यं, अत
एवायं भ्रम इत्यर्थः । अहो भ्रम इति पदयोरर्थं क्रमात्प्रपञ्च-
यति—अपूर्वैवेत्यादिना । इयं विरचना अपूर्वैव अतिशयिता
माया अतिमाया । तृणकुञ्जमिवात्यन्तमसारापि भ्रान्तदृशा
शुभा ॥ १० ॥ आश्चर्यान्तरं दर्शयति—न मनागपीति ।
प्रसिद्धेषु चित्रेषु चित्रेभ्यो मित्रा भित्तयो भवन्ति । इमास्तु
याश्चित्तचित्रजा व्योमादिभित्तय उपलक्ष्यन्ते तासां स्फुटमप्यु-
पलब्धयोरुपाधारेणोचितत्वाविशेषान्मनागपि मेदो नास्ती-
त्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥ अहो भ्रम इत्यत्राहो इत्यंशं प्रपञ्च-
भ्रम इत्यंशं प्रपञ्चयति—व्योम्न इत्यादिना । ता मनश्चित्र-
रचनाः व्योम्नः शून्यतमाः अत्यन्तासत्त्वा इति भावत् । हे ताम-

आत्मा जगत्तथैवेदं सबाह्याभ्यन्तरं नभः ।
 चिरंतनमनोराज्यं यत्तस्मात्किल सत्यता ॥ १३
 किं त्वनालोकितेऽपि स्यात्सत्यं नास्त्येव विभ्रमे ।
 क्रमेणालोकतः सत्यमालोकेन विलीयते ॥ १४
 दृश्यमानमपि क्षामं शरदीवाभ्रमण्डलम् ।
 चित्तचित्रकृतश्चित्रे संस्थिताश्चित्रपुत्रिकाः ॥ १५
 भिद्यभावादानाकारा बहिस्त्रिभुवनादिकाः ।
 न ताः सन्ति न वासि त्वं किं केन परिरोध्यते ॥ १६
 रोध्यरोधकसंमोहं त्यक्त्वा खे विमलो भव ।
 प्रवृत्तिरेव न व्योमः प्रवृत्तिश्चैव स्वात्मिका ॥ १७
 अतः कालक्रियाकुड्यकलादिविमलं नभः ।
 चित्तसंस्थं यथा चित्रं सरूपमखिलात्मकम् ॥ १८
 व्योमः शून्यतमं विद्धि तथेदमखिलं जगत् ।
 चित्तमित्तौ कृतं चित्रं यच्चिश्चित्रकरणे तत् ॥ १९
 सर्वशून्यतया व्योमो मनागपि न भिद्यते ।
 यथा प्रकचतश्चित्तं जगन्निर्माणसंक्षर्यो ॥ २०
 क्षणेनैव तथैवेमौ भुविस्थाविति विद्धि हे ।
 अद्य क्षीणा मनोराज्ये नानानुभवनात्मनि ॥ २१
 क्षणभावितमोहेन कल्पना परिकल्पिता ।

रसलोचन । तत्र क्षणिकस्वप्नजगत्त्रयं दृष्टान्तमाह—क्षणे-
 नेति । षटिकायाः षष्ठो भागः क्षणः ॥ १२ ॥ आत्मा मनस्तन्कार्यं
 जगच्च तथा स्वप्नदेव नभः शून्यमसदेवेत्यर्थः । कुतस्तीर्हि
 जनानां सत्यताप्रतीतिस्तत्राह—चिरंतनेति । चिरानुवृत्तत्वा-
 दित्यर्थः । किलेति नेदं तत्त्वमिति सूचनाय ॥ १३ ॥ किं तर्हि
 तत्त्वं तदाह—किं त्विति । विभ्रमे भ्रान्तिकल्पितपदार्थजाते
 यत् सत्यसंकल्पत्वं कालत्रयेऽपि नास्त्येव तत् अनालोकिते
 तत्त्वतः अदृष्टे तत्त्वज्ञानात्प्राक् किं स्यादपि । न स्यादेवेत्यर्थः ।
 अन्तु वसन्तादिकालक्रमेण बाल्याद्यवस्थाक्रमेण पद्मावधिकारक-
 र्मेण वा आलोकनादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमन्यद्वा व्यावहारिक-
 सत्यत्वं प्रसिद्धं तत्त्वदर्शनलक्षणेनालोकेन विलीयते । यथा
 सौरालोकेन दृश्यमानं शरदभ्रमण्डलं तेनैव शोध्यमाणं विली-
 यते तद्वदिति परेणान्वयः ॥ १४ ॥ एवं मनश्चित्रस्य भ्रान्ति-
 मात्रत्वेन बन्धुवधादिक्लेशमालिन्यं युक्तमित्याह—चित्तेत्या-
 दिना ॥ १५ ॥ परिरोध्यते हन्यते ॥ १६ ॥ रोध्यरोधकसंमोहं
 वध्यघातकभ्रमं तत्प्रयुक्तशोकमालिन्यमिति यावत् । खे ब्रह्मा-
 काशे । यतो व्योमश्चिदाकाशस्य वधादिप्रवृत्तिरेव नास्ति ।
 या तु प्रातिभासिकी प्रवृत्तिः सा च स्वात्मिका ब्रह्माकाशरूपैव
 ॥ १७ ॥ कला चित्ररचनाकौशलं आदिपदात्तद्वैचित्र्यभेदाच्च
 विमलं नभो ब्रह्मैव । यथा चित्तसंस्थं मनोराज्यचित्रमखिलप्रप-
 ष्चात्मकमपि शून्यत्वाभ्रमःस्वरूपं तथा परिदृश्यमानमपि जग-
 व्योमः शून्यतममित्युत्तरेणान्वयः ॥ १८ ॥ इदानीमज्ञाना चिदेव
 चित्रकरश्चित्तं तु तद्भित्तिरित्युत्प्रेक्षणेऽपि शून्यत्वमेव पर्यव-
 स्यतीत्याह—चित्तेति ॥ १९ ॥ तत्रापि मनोराज्यक्षणिकजग-

असदेव मनोराज्यं कर्तुं शक्तं यथा मनः ॥ २२
 क्षणस्य कल्पीकरणे तथैव बलवन्मनः ।
 क्षणं कल्पीकरोत्येतत्तच्चात्पं कुरुते बहु ॥ २३
 असत्सत्कुरुते क्षिप्रमितीयं भ्रान्तिरुत्थिता ।
 क्षणेनैव मनोराज्यं प्रतिभातं स्वभावतः ॥ २४
 यद्विचित्रात्म तदिदं जगज्जालमिति स्थितम् ।
 सर्गे निर्वाणनिष्ठत्वाभ्रिमेषमयमुत्थितम् ॥ २५
 प्रतिभामात्रतोऽत्रैव कल्पिता वज्रसारता ।
 प्रतिभासविपर्यासमात्रं ह्यविदिताकृतेः ॥ २६
 प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा कैव सा वज्रसारता ।
 चित्तचित्रकृतश्चित्स्थं जगच्चित्रं कदा स्थितम् ॥ २७
 अकुड्यमप्यरङ्गाढ्यमिदं स्फारमिवाप्रतः ।
 अहो नु चित्रं निर्भित्ति चित्रमुज्ज्वलमुत्थितम् ॥ २८
 सुरजनं जगदिति स्फुटं दृष्टिविलोभनम् ।
 नानातमोमपीलेखं नानातेजोऽशुरजनम् ॥ २९
 नानाकल्पाङ्गावयवं नानारागानुरञ्जितम् ।
 नानादृष्टिविलासाढ्यं नानानुभवलोचनम् ॥ ३०
 नानाग्रहोप्रकचनं नानाकाराग्रपश्चिमम् ।
 व्योमनीलसरः फुल्लताराचन्द्रार्कपङ्कजम् ॥ ३१

देव दृष्टान्त इत्याह—यथेति ॥ २० ॥ तव नानानुभयनात्मनि
 मनोराज्यं क्षणभावितमोहेन परिकल्पिता वध्यघानकभावा-
 दिकल्पना अद्य मनुपदेशात्क्षीणा ॥ २१ ॥ ननु क्षणभावित-
 मोहेन कथमनाद्यनन्तकल्पविस्तीर्णसंसारलक्षणं मनोराज्यं कृतं
 तत्राह—असदेवेति । यथा अरातोऽपि जन्मादिकरणे मनः
 शक्तं तथा क्षणस्य कल्पीकरणेपि बलवत् समर्थमित्यर्थः ॥ २२ ॥
 क्षणं कल्पीकरोत्येतत् तत् असदुत्पादयतीत्येतच्चाथर्थमन्यमेव ।
 यस्मात्ततोपि बहु आश्चर्यं यदमदपि जगत्सत्कुरुते इतीदृशमनः-
 सामर्थ्यादेवेवं जगद्भ्रान्तिरुत्थितेत्यन्वयः ॥ २३ ॥ तदेवाह—
 क्षणेनैवेति ॥ २४ ॥ एवं निर्वाणे नित्यमुक्ते आत्मन्यध्यस्तत्वा-
 द्प्रतिभामात्रतो जातत्वात्तुच्छं निमेषमर्थं क्षणिकमप्युत्थितं जग-
 दजानद्भिः अत्र ईदृश एव सर्गे भ्रान्तिर्वज्रसारता दुरुच्छेदता
 कल्पिता ॥ २५ ॥ सा च न युक्त्याह—प्रतिभासेति ।
 अविदिताकृतेः अज्ञाततत्त्वस्यात्मनः इदं जगत्प्रतिभासविपर्या-
 गोऽन्यथाप्रतिभारास्तावन्मात्रम् । ईदृशस्यास्य प्रवृत्तावध्यारोपे
 निवृत्तौ बाधे वा का वज्रसारता । न काचिदित्यर्थः ॥ २६ ॥
 स्थितस्य हि निरासे प्रयत्नापेक्षा इदं तु कदापि कापि न स्थितमेवे-
 त्याह—चित्तचित्रकृत इति ॥ २७ ॥ विना स्वकारणसामग्रीतः
 स्वतश्चासदप्यप्रतः स्फुरतीत्याश्चर्यमित्याह—अकुड्यमिति ।
 रङ्गाश्चित्रलेखनसाधननीलपीतादिरङ्गद्रव्याणि ॥ २८ ॥ कथं
 पुरःस्थितं तदाह—सुरजनमित्यादिना । सुप्त रजयत्यासजय-
 तीति सुरजनम् । दृष्टिग्रहणमिन्द्रियमनआधुपलक्षणम् ॥ २९ ॥
 कल्पास्तदङ्गयुगादीनि चावयवा यस्य ॥ ३० ॥ सूर्योदयास्तादि-
 कालेषु नानाकारे अग्रपश्चिमे प्राचीप्रतीच्यौ यस्मिन् । तत्र

विचित्ररचनोद्युक्तमेवालीपत्रमजरि ।
 प्रकोष्ठकामिलिखितसुरासुरतृपुत्रिकम् ।
 परमालोकमङ्गोलसुप्रताकाशकुड्यकम् ॥ ३२
 आकाश एव रचिता प्रतिमैकरज्ञा
 मुग्धा जगन्नयमनोहरपुत्रिकेयम् ।
 चिन्मात्रचक्रपरिरक्षितसर्वलोका
 लीलाकुला चपलचित्तकचित्रकर्त्रा ॥ ३३
 हेमाचलाङ्गलतिका घनकेशपाशा
 चन्द्रार्कलोचनविद्यालनदृष्टलोका ।
 धर्मार्थकामविनियमितशास्त्रवस्त्रा
 पातालजालचरणोन्नतभूतितम्बा ॥ ३४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने चित्तवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥५६॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः ५७

श्रीभगवानुवाच ।

इदं विद्धि महाश्वर्यमर्जुनेह हि यत्किल ।

चित्रपद्मवनादि वर्णयति—व्योमेत्यादिना ॥ ३१ ॥ शरदादि-
 कालमेदेन विचित्ररचनाभिः उत् ऊर्ध्वं युक्ता मेघालीलक्षणाः
 पत्राणि मङ्गयश्च यस्मिन् । लोकत्रयलक्षणेषु प्रकोष्ठकेषु चित्र-
 कोष्ठमेदेषु अभितो लिखिताः सुरासुरमनुष्यलक्षणाः पुत्रिका
 यस्मिन् । परम उत्कृष्टो यश्चन्द्रसूर्याद्यालोकस्तलक्षणेन मङ्गलेन
 सुधालेपेन युवतेव विराजमानता यस्य तथाविधमाकाशलक्षणं
 कुक्ष्यं भित्तिर्यस्मिन् ॥ ३२ ॥ इदानीं त्रिलोकीमेव देवनी-
 रूपां चित्रपुत्रिकां परिकल्प्य वर्णयति—आकाश एवेत्यादि-
 पञ्चभिः । चपलेन कामुकेन चित्तकलक्षणेन चित्रकर्त्रा स्वाधि-
 छानब्रह्माकाशे एव इयं वर्णयमाना जगन्नयलक्षणा मनोहरा
 नटी पुत्रिका रचिता । प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिरेव
 एको मुख्यो रजो नृत्यशाला यस्याः । नृत्यशालाप्रवीपस्थानी-
 यस्य साक्षिचतन्यस्य चकैरिव स्फुरत् प्रतिबिम्बप्राहिभिर्बुद्धि-
 वृत्त्याभरणैः परितो रक्षिताः प्रकाशिता लोका यया । नृत्यहा-
 वभावविलासादिलीलाभिराकुला ॥ ३३ ॥ पुनस्तामेव विशि-
 नष्टि—हेमेति । 'तदण्डमभवद्दैमं सहस्राकसमप्रभम्' इति
 पुराणोक्तैर्ममयं ब्रह्माण्डमेवाचला दृढा अङ्गलतिका यस्याः ।
 घना मेघा एव केशपाशा यस्याः । धर्मार्थकामार्थानि विनिय-
 मितानि व्यावर्तनानि ययोस्तथाविधे प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रे द्वे
 वक्षे यस्याः । पातालजालानि सप्तपातालानि ऊरुजाजुजङ्गाशु-
 र्कपादपाण्यङ्गुलिरूपसप्तावयवकौ चरणौ यस्याः । उन्नता भूनि-
 तम्बो यस्याः ॥ ३४ ॥ ब्रह्मादिबाहुवस्तुष्टयेन उग्रा समर्था ।
 सत्त्वगुणलक्षणकषुकावृताभ्यामुन्नताभ्यां विवेकवैराग्यकुचाभ्यां
 स्फुरन्ती अजयतिर्यस्याम् । सुभ्यालैः शेषादिभिर्वेष्टितं महीतलमेव
 यी० वा० ११५

पूर्वं संजायते चित्रं पश्चान्निश्चितरुदेति हि ॥ १

पद्माकारं पीठमासनं यस्याः । गोरोचनाकस्तूर्यादिनानावर्ण-
 पत्ररचनास्थानीयाः कृता अचला मेघजनहिमवदादिनानावर्ण-
 पर्वता यस्मिन्तथाविधं महाभुवनं मध्यलोक एव उदरं यस्याः
 ॥ ३५ ॥ रात्र्यन्धकारस्य मेरुप्रवक्षिणीकरणलक्षणं यच्चपलत्वं
 तद्वरति अनुहरत्यपनयति च चन्द्रार्कलक्षणाभिचेष्टा यस्याः ।
 पविर्बिद्युदेव दन्तपङ्क्तिर्यस्याः । भुवनमेदाच्चतुर्दशविधमनु-
 परस्परविसदृशं भूतजातमेवाविर्भवद्रोमाखनं यस्याः । तेषु
 भूतेषु प्रसिद्धा भूतभुवनाद्रिप्रलयवाता एव सर्वतः प्रसारितस-
 द्बुद्धिकेसरत्वाच्छ्रोतृणां वैराग्यसद्वासनासौगन्ध्याधायकवाक्पा-
 दलम्बिकदम्बमालापुष्पाणि यस्याः ॥ ३६ ॥ जीवेन व्यष्टि-
 समष्ट्यात्मना अन्विता । चित्रस्य परिकर्माणि उपकरणभूतानि
 विचित्रवासनाकामकर्माणि विन्दति प्राप्नोति तथाविधेन अत-
 एवाचिरादेव विलक्षणानां चित्राणां कर्त्रा निर्माणसमर्थेन
 चित्तेन इति एवं वर्णतरूपा त्रिलोकीलक्षणा वरपुत्रिका स्वाधि-
 छानचिद्गुण एव कृतेत्युपसंहारः ॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
 हारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चित्तवर्णनं नाम
 षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

जायतेऽत्र यथा दृष्ट्या सद्यो निर्वासनं मनः ।

सुखाद्वयारमशेषश्च सा दृष्टिरुपदिश्यते ॥ १ ॥

तत्र प्राग्दर्शितां जगत्साध्यतादृष्टिमेव प्रथमं वासनाकैषि-
 ल्योपयोगितया वर्णयति—इदमिति । अभितौ निराश्रय एव
 मनसा जगदाकारकलनात्पूर्वं जगच्चित्रं जायते पश्चात्तदन्तर्गतं
 भूतभुवनात्मकविराङ्गिस्तिस्तदाधारनया कल्प्यमाना उदेति ।
 व्यष्टिसमष्ट्या समष्टेर्विराजो व्यष्टिधीनकल्पनवादा पश्चाद्बुद्धः

अमितावुत्थिते चित्रे दृश्यते भिसिरातता ।
 अहो विचित्रा मायेयं ममं तुम्बं शिला हुता ॥ २
 चित्तस्थचित्रसदृशे व्योमात्मनि जगन्नये ।
 व्योमात्मनस्ते किमियमहन्ताव्योमतोदिता ॥ ३
 सर्वं व्योमकृतं व्योम्ना व्योम्नि व्योम विलीयते ।
 भुज्यते व्योमनि व्योम व्योम व्योमनि चाततम् ॥ ४
 वेष्टितं वासनारज्ज्वा दीर्घसंसृति दामवत् ।
 वासनोद्वेष्टनेनैव तदिहोद्वेष्टयतेऽर्जुन ॥ ५
 प्रतिबिम्बं यथादर्शं तथेदं ब्रह्मणि स्वयम् ।
 अगम्यं छेदमेदादेराधारानन्यतावशात् ॥ ६
 अनन्यच्छेदमेदादि ब्रह्मणि ब्रह्मणाम्बरम् ।
 किं कथं कस्य केनैव छिद्यते वा क भिद्यते ॥ ७
 तेनेह वासनाभावो बोधात्संपन्न एव ते ।

यो न निर्वासनो नूनं सर्वधर्मपरोऽपि सन् ॥ ८
 सर्वज्ञोऽप्यतिबद्धात्मा पञ्जरस्थो यथा हरिः ।
 यस्यास्ति वासनाबीजमत्यल्पं चित्तिभूमिगम् ॥ ९
 बृहत्संजायते तस्य पुनः संसृतिकाननम् ।
 अभ्यासाद्बुद्धि रूढेन सत्यसंबोधवह्निना ।
 निर्दग्धं वासनाबीजं न भूयः परिरोहति ॥ १०
 दग्धं तु वासनाबीजं न निमज्जति वस्तुषु ।
 सुखदुःखादिषु खच्छं पञ्चपत्रमिवाम्भसि ॥ ११
 शान्तात्मा विगतभयोज्झितामिताशो
 निर्वाणो गलितमहामनोविमोहः ।
 सम्यक्त्वं श्रुतमवगम्य पावनं त-
 त्तिष्ठात्मन्यपहृतिरेकशान्तिरूपः ॥ १२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे बा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने अर्जुनविश्रान्तिवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥५७॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः ५८

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
 स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ १

॥ १ ॥ अत्यन्तमसंभावितरूपत्वादियं माया असंभावितत्वं च
 विरुद्धत्वादित्याशयेन प्रसिद्धा तादृशमायासुदाहरति—मग्न-
 मिति । तुम्ब्याः फलं तुम्बम् । फले लुक् । तत्किल जले ममं
 शिला तु हुता इति यथा स्वप्नेन्द्रजालादावेवोपपद्यते तद्वदित्यर्थः
 ॥ २ ॥ आस्तां जगच्चिप्रसाक्षर्यता, तस्मिन् शून्यात्मनि
 चिद्योमात्मनस्तवाहन्तोदयस्ततोऽप्याश्चर्यभूत इत्याह—चित्त-
 स्थेति ॥ ३ ॥ यदि तु जगत्पि चिद्योमतामेव पश्यसि तर्हि
 सा दृष्टिरेवं पर्यवसन्नैत्याश्चर्यमेवेत्याह—सर्वमिति ॥ ४ ॥ दीर्घं
 संसृतिभ्रमणं यत्र तथाविधं तज्जगच्चित्रं दामवत् प्रसृतया वास-
 नारज्ज्वा वेष्टितं तच्चिद्योमापीह जगति वासनोद्वेष्टनादेवोद्वेष्टयत
 इत्यर्थः ॥ ५ ॥ अस्य ज्ञानातिरिक्तोपायदुरुच्छेद्यताव्यधिष्ठान-
 दार्ढ्यबलादेव न स्वत इत्याह—प्रतिबिम्बमिति ॥ ६ ॥ अत-
 एव ब्रह्मानन्यतादर्शनबलादेव जगतः सर्वच्छेदमेदादिव्यवहारा-
 योभयतादर्शनेन सर्ववासनाः समूलमुच्छेद्या इत्याशयेनाह—
 अनन्यदिति । यदा ब्रह्मणि प्रतिभातं छेदमेदादिव्यवहारजातं
 तद्विषयीभूतं जगच्च ब्रह्मणा अनन्यत्सच्चिदम्बरमेव तदा केन
 कर्त्रा करणेन वा केन प्रकारेण कस्य फलस्यार्थे क देशे काले
 वा किं छिद्यते भिद्यते वा । छेदादिव्यवहारवादानां ब्रह्माति-
 रिक्तविषयदर्शनादित्यर्थः ॥ ७ ॥ तेनानेनोपायेन बोधात्ते वास-
 नानामपि ब्रह्मातिरेकेणाभावः संपन्न एव । ईदृशज्ञानाभावे तु
 वासनाबन्धो दुरुच्छेद एवेति प्रागुक्तं स्मारयति—य इति ॥ ८ ॥
 हरिः सिंहो हरितवर्णः शुक्रो वा । अणुमात्रमपि वासना न
 स्थाप्या । अनर्थसहस्रबीजत्वादित्याशयेनाह—यस्येति ॥ ९ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

वृत्तयो यदि बोधेन संशान्ता हृदये स्फुटम् ।
 तच्चित्तं शान्तमेवान्तर्विद्धि सत्त्वमुपागतम् ॥ २

निःशेषं दग्धम् ॥ १० ॥ निर्दग्धानि वासनाबीजानि यस्य
 तथाविधं मनः ॥ ११ ॥ उक्तोपदेशकममुपसंहरन्नर्जुनं निर्वा-
 सनस्थितौ प्रतिष्ठापयति—शान्तात्मेति । हे अर्जुन, त्वं
 उज्झताः अमिता आशा येन तथाविधः सन् पावनं तत् प्रसिद्धं
 भगवद्गीतारूपं श्रुतं मदुपदेशं सम्यगवगम्य गलितमहामनोवि-
 मोहः सन् अपहृतिरपगतबन्धुवधादिक्लेशो भूत्वा निर्वासना-
 त्मनि शान्तात्मा गलितचित्त एकशान्तब्रह्मरूपः अतएव
 विगतभयो निर्वाणः परमनिर्वृतस्त्रिष्टेत्यर्थः ॥ १२ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे अर्जुन-
 विश्रान्तिवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

तत्त्वबोधेन साविद्यवासनाक्षयसंभवः ।

इहोपपाद्यते तेनाप्यर्जुनस्य कृतार्थता ॥ १ ॥

हे अच्युत, त्वत्प्रसादात् अनुग्रहप्रयुक्त्यदुपदेशान्मोहः
 सवासनाज्ञानं नष्टः । विस्मृतकण्ठचामीकरस्येव स्वतःसिद्धात्मत-
 त्वस्य स्मृतिरिव स्मृतिः साक्षात्कारो लब्धा तथा च सर्वसंवे-
 हयीजनाशाद्गतबन्धुवधादिकर्तृतासंदेहः स्थितोस्मि, अतस्तत्त्वा-
 वस्थितिष्विषयं यथाप्राप्तव्यवहारकर्तव्यताविषयं च तव वचनं
 करिष्ये पालयिष्यामीत्यर्थः ॥ १ ॥ एवमर्जुनेन कृतार्थत्वे दर्शि-
 तेपि खोपदिष्टतत्त्वबोधेन समूलसर्ववासनाक्षयमुपपत्तिभिर्द्व-
 यिष्यन् श्रीभगवानुवाच—वृत्तय इत्यादिना । तत्त्वबोधेन
 हृदये रागादिवृत्तयो यदि सर्वात्मना शान्तास्तर्हि सवासना-
 त्मकं चित्तं शान्तं तत् सर्वं निर्वासनत्वमुपगतमिति विद्धि ।

१ व्याख्यानुसाराद्बन्ध निर्दग्धवासनाबीजमिति पाठोऽपेक्षितः.

अत्र तद्येत्यरहितं प्रत्यक्रेतननामकम् ।
 यस्वशेषविनिर्मुक्तं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ॥ ३
 न केचन विदन्त्येते तत्पदं जागतादयः ।
 भूतलाद्गगनोद्गीर्णं विहंगममिषोन्नतम् ॥ ४
 प्रत्यक्रेतनमाभासं शुद्धं संकल्पवर्जितम् ।
 अगम्यमेनमात्मानं विद्धि दूरं दशामिव ॥ ५
 सर्वातीतं यदस्यच्छं विना शुद्धं स्ववासना ।
 न शक्नोति पदं द्रष्टुं जनदृष्टिरणुनिव ॥ ६
 यत्प्राप्तौ सर्वं पवेमे क्षीणा घटपटादयः ।
 वराकी वासना तत्र किं करोतु परे पदे ॥ ७
 यथाऽनलगिरिं प्राप्य हिमलेशो विलीयते ।
 शुद्धमासाद्य चित्तस्वमविद्या लीयते तथा ॥ ८
 क वराकी रजस्तुच्छा वासना भोगबन्धनम् ।
 क पूरितजगज्जालश्चित्तस्वविपुलानिलः ॥ ९
 तावत्स्फुरत्यविद्येयं नानाकारविकारिणी ।
 यावन्न संपरिह्रातः शुद्धः स्वात्माऽयमात्मना ॥ १०
 सर्वा दृश्यदृशः क्षीणाः स्वच्छतैवोदिता तथा ।
 नभसीव पदे तस्मिन्स्वात्मन्यखिलपूरणे ॥ ११
 समप्राकाररूपं तत्समप्राकारवर्जितम् ।
 वागतीतं परं वस्तु केन नामोपमीयते ॥ १२
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वात्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने अर्जुनकृतार्थता नामाष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

अर्जुनोपाख्यानं समाप्तम् ।

एकोनषष्टितमः सर्गः ५९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य राघवाऽघविनाशिनीम् ।

तथा च श्रुतिः—‘यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि धिताः ।
 अथ मर्त्याऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समभ्रुते’ इति ॥ २ ॥ अत्र
 अस्यां सत्त्वावस्थायां प्रत्यक्रेतनात्मकं यद्यवहारे सर्वं तत्त्वतस्त्व-
 शेषविनिर्मुक्तं तद्ब्रह्म चेत्यरहितं भवतीति शेषः ॥ ३ ॥ जाग-
 ताश्चुरादयोऽज्ञानाश्च केचन तत्पदं न विदन्ति । उन्नतमूर्ध्नि-
 देशगतम् ॥ ४ ॥ आभासं महाभूतादित्रयोदशविधक्षेत्रावभा-
 सकम् । अगम्यमविषयम् । दृशः दूरमसंनिकृष्टमिव ॥ ५ ॥
 तद्दर्शने च श्रवणाद्यवधृततद्भावनास्वभ्यस्ता निदिध्यासनाख्या
 आवश्यकीत्याह—सर्वातीतमिति । चित्तस्वभावादत्यच्छम् ।
 असत्त्वाच्छुद्धम् ॥ ६ ॥ यत्र घटादिस्थूलानामपि बाधस्तत्र
 परमसूक्ष्मवासनानां स्थितिरसंभावितैवेत्याह—यत्प्राप्ताविति
 ॥ ७ ॥ ८ ॥ रजो रेणुरिव तुच्छा छुद्रा ॥ ९ ॥ १० ॥ स्वा-
 त्मनि खोदरे अखिलं पूरयति प्रसति तथाविधे ॥ ११ ॥
 समप्राकारः पूर्णता तद्रूपम् । समसौर्जगदाकारैर्वर्जितम् ॥ १२ ॥
 हे अर्जुन, त्वमतः पूर्णात्मदर्शनादेवाभिमतानां कामानां परिहारो
 निवृत्तस्तद्वक्षणया मन्त्रयुक्तया विषयविषयप्रयुक्तविषुचिकारूपा

१ अयमादिशब्दार्थः.

विषयविषयविषुचिकामतस्त्वं

निपुणमहंस्थितिवासनामपास्य ।

अभिमतपरिहारमन्त्रयुक्त्या

भव विभवो भगवान्भियामभूमिः ॥ १३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति गदितवति त्रिलोकनाथे

क्षणमिव मौनमुपस्थिते पुरस्तात् ।

अथ मधुप इवाऽसिताक्षखण्डे

घचनमुपैष्यति तत्र पाण्डुपुत्रः ॥ १४

अर्जुन उवाच ।

परिगलितसमस्तशोकभारा

परमुदयं भगवन्मतिर्गतेयम् ।

मम तव वचनेन लोकभर्तु-

र्विनपतिना परिबोधिताङ्गिनीव ॥ १५

इत्युक्त्वोत्थाय गाण्डीवधन्वा स हरिसारथिः ।

अर्जुनो गतसंदेहो रणलीलां करिष्यति ॥ १६

करिष्यति क्षतगजवाजिसारथि-

द्रुतक्षरद्गुधिरमहानदीं भुवम् ।

शरोत्करप्रसरमहारजःस्वली-

तिरोहितद्युमणिबिलोचनां दिवम् ॥ १७

तिष्ठ निःसङ्गसंन्यासब्रह्मार्पणमयात्मकः ॥ १

सदाप्रवृत्तिहेतुमहंस्थितिमन्तःकरणस्थां वासनां निपुणमपास्य
 विभवः विगतसंसारबन्धो भियां सर्वानर्थानामभूमिरभयस्व-
 भावो भगवानहमेव भवेति सर्वभगवद्गीतार्थस्यान्ते संग्रहेणोप-
 देशः ॥ १३ ॥ मौनमुपगम्य पुरस्तात्स्थिते सति ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ गाण्डीवं धनुर्यस्य सोऽर्जुनः । ‘गाण्डीवजगात्संज्ञायाम्’
 इति मत्वर्थे वः । ‘धनुषश्च’ इत्यनङ् ॥ १६ ॥ सोऽर्जुनो भुवं
 क्षताः गजवाजिसारथयो द्रुताः शीघ्रं प्रवाहिता यासु तथा-
 विधाः क्षरद्गुधिरमहानद्यो यस्यां तथाविधां करिष्यति । दिवं
 च शरोत्करप्रसरैर्महारजोनिर्मितस्थल्या च तिरोहितं द्युमणिः
 सूर्यस्तद्वक्षणं त्रिलोचनं यस्यास्तथाविधां करिष्यतीत्यर्थः ॥ १७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 अर्जुनकृतार्थता नामाष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

जीवन्मुक्तपदेऽस्पन्द्या चेत्यमुक्ता चितः स्थितिः ।

सुस्थिरा ख्यायया दृष्टया सा दृष्टिरिह वर्णयते ॥ १ ॥

अघविनाशिनीं सर्वपापक्षयकरीम् । निःसङ्गालक्षणो यः
 संन्यासः सर्वत्यागस्त्वंपदार्थशोधः सर्वजगतो ब्रह्मणि बाधल-
 क्षणं यद्ब्रह्मार्पणं तत्पदार्थशोधस्तदुभयपरिबोधित्वाखण्डमहावाक्या-

चित्स्पन्दशमनेनेयं परिशाम्यति संसृतिः ।
 महाचित्ते नतेऽर्थोऽशभावा यो भावनाक्षयः ॥ २२
 असन्नपि स्वभावं तत्संचित्स्पन्द उदाहृतम् ।
 शून्यत्वमजडं यत्तत्परमाहुर्चित्तैर्बुधुः ॥ २३
 तत्त्वेन भावनायत्ता संसृतिः सानुभूयते ।
 अभावनामत्रलयात्सा च निःसाररूपिणी ॥ २४
 केवलं केवलीभावात्तद्रूपा सैव क्षिप्यते ।
 चित्स्पन्दमेव संसारचक्रप्रवहणं विदुः ॥ २५
 मातृमानप्रमेयादि कटकदीव हेमनि ।
 पृथगस्ति न च स्पन्दचित्तेर्या संसृतिर्भवेत् ॥ २६
 चित्तमेव चित्तिस्पन्दस्तदबोधो हि संसृतिः ।
 अबोधमात्रे चित्स्पन्दः कटकत्वमिबोत्थितम् ॥ २७
 बोधमात्रविलीनेऽस्मिन्मुञ्जा चिद्राम क्षिप्यते ।
 स्वभावबोधमात्रेण क्षीयते भोगवासना ॥ २८
 भोगाभावनमेवेह परमं ज्ञत्वलक्षणम् ।
 इतो नामिमताः सर्वे ज्ञस्य भोगाः स्वभावतः ॥ २९
 भवन्ति कोऽतितुप्तो हि दुरक्षं किल वाञ्छति ।

ते तव महति अपरिच्छिन्ने ब्रह्माकारे चित्ते नते परिणते सति यः
 अंशभावस्य जीवजगत्क्षणैकदेशभावस्य योऽपममः सोऽर्थः पर-
 मपुरुषार्थः स एव भावनाक्षयो वासनाक्षयश्चेत्यर्थः ॥ २२ ॥
 यद्यस्मादेतोः असन्नपि संचित्स्पन्द उदाहृतं जडत्वभावमापाद-
 यति तत्तस्मादेतोः स्पन्दशून्यत्वमेव अजडं तत्परमं चित्तैर्बुधुः
 स्वरूपमित्यनुभवनिष्ठा आहुः ॥ २३ ॥ अनात्मदर्शनरूपा या
 संसृतिः सा अनात्मजगदाकारस्य तत्त्वेन याषार्थ्येन या भावना
 तदामस्त तथैवानुभूयते । तदभावनामात्रेण भावनास्मात्सा
 जीवन्मुक्तसंसृतिर्दग्धपटवज्जिःसाररूपिणी न बन्धक्षमेत्यर्थः
 ॥ २४ ॥ कथं तर्हि जीवन्मुक्तौ सा क्षिप्यते तत्राह—केवल-
 मिति । केवलीभावाज्जिःस्पन्दचिन्मात्रीभावात्सा संसृतिस्तरूपा
 चिद्रूपैव क्षिप्यते अतश्चित्स्पन्दमेव मातृमानादिरूपं संसार-
 माहुरित्यर्थः ॥ २५ ॥ स च न चितः पृथगस्तीत्यबोध एव
 संसृतिः पर्यवस्यति ॥ २६ ॥ ॥ २७ ॥ स्वभावः स्वात्मतत्त्वं
 तद्बोधमात्रेण ॥ २८ ॥ भोगवासनाक्षयात्सहजसिद्धभोगानाम-
 चिन्तनमेव ज्ञत्वस्य जीवन्मुक्तताया लक्षणम् । कुतोऽसौ
 भोगात् भावयति तत्राह—इत इति ॥ २९ ॥ भवन्तीति
 पूर्वान्वयि । को नु भूत्वेत्यादिना वर्णितेभ्यो विवेकादिलक्षणेभ्यः
 अपरं लक्षणम् ॥ ३० ॥ इदानीं लक्षणान्तरमाह—चिदिति ।
 महीयात्मचिदेव तेन भोक्तृभोग्यभोगाकारेण स्पन्दते इति त-
 त्स्पन्दा भूत्वा सर्वात्मरूपिणी अस्तीति योऽन्तर्निश्चयः स्वभ्यासः
 सन् प्रकृष्टः स एव ज्ञत्वलक्षणमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ या तु तस्य
 सर्वजनवद्देहधारणमित्ते भोगे प्रवृत्तिः सा वृथा चेष्टैवेत्याह—
 य इति । यो लोकानुरोधसिद्ध्यर्थं भुञ्ज्यमानानपि भोगान् पर-
 मार्थतो न भुञ्जे स बुद्धिमांस्तस्ववित् भ्रान्त्या नभोहननप्रसक्त-
 लोकानुरोधसिद्ध्यर्थं स्वयमपि लग्नुर्नेभो हन्ति तद्वास्तव वृथा

एतदेव परं चिदि ज्ञत्वस्यापरलक्षणम् ॥ ३०
 स्वभावेनैव भोगानां चित्कलानभिवाञ्छनम् ।
 चित्स्पन्दैव सर्वात्मरूपिण्यस्तीति निश्चयः ॥ ३१
 योऽन्तः प्रकृष्टः स्वभ्यासो ज्ञत्वशब्देन स स्मृतः ।
 यो न भुञ्जे भुञ्ज्यमानानपि भोगान्स बुद्धिमान् ।
 लोकानुरोधसिद्ध्यर्थं स हन्ति लग्नुर्नेभः ॥ ३२
 विना कृत्रिमया बुद्ध्या न सिद्धिरवगम्यते ॥ ३३
 कचिदात्मावल्लोके च स्वाज्ञावदलनैरपि ।
 चिच्छेत्वं चेत्यकोटिस्था तावत्पश्यति विभ्रमम् ॥ ३४
 इदं यावदबोधोऽस्मात् स्पन्दते स्पन्दरूपिणी ।
 सम्यग्बोधोऽद्योऽन्तः स्यात्स्पन्दास्पन्ददशाक्रमः ॥ ३५
 कापि याति च संशान्तदीपवत्साम्निधानकः ।
 चितः प्रशान्तरूपाय दीपिकायाः स्वभावतः ॥ ३६
 स्पन्दास्पन्दमयी नेह कथंवास्ति मनागपि ।
 यदस्पन्दस्य मरुतो न सन्नासन्न मध्यगम् ॥ ३७
 रूपं तदेवासंचित्तिस्पन्दायाः प्रशमं चित्ते ।
 अमिन्नः स्याच्चितः स्पन्दः शुद्धचित्स्फाररूपधृक् ३८

चेष्टेव सेत्यर्थः ॥ ३२ ॥ ननु सा यदि वृथा चेष्टा तर्हि सर्वजनभो-
 क्तृभोग्यभोगाकारपरिणतात्मचिदेव सर्वात्मरूपेति प्रागुक्तबुद्धि-
 रपि सर्वजननभोलगुडहननं महीयमेवेतिवन्नान्तिबुद्धित्वात्कृत्रि-
 मैवेति सा कथं लक्षणत्वैनोक्ता तत्राह—चिनेति । सिद्धि-
 निर्तिशयानन्दमात्मतत्त्वम् । तथा च कृत्रिममपि सर्वात्मभाव-
 दर्शनं परिच्छिन्नात्मदृष्टिनिरासद्वारा तत्त्वावगमोपयुक्तमिति
 तल्लक्षणमुक्तमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ तर्हि देहात्मबुद्धिनिरासद्वारा
 तत्त्वदर्शनोपयोगित्वात् हस्तपादादिसाङ्गानामवदलनादिसाहस-
 क्रियापि तल्लक्षणं किं न स्यात्तत्राह—कचिदिति । यदि कचि-
 च्छास्ते विद्वदनुभवे वा स्वाज्ञानामवदलनादिसाहसैरपि सर्वा-
 त्मतादर्शनवत्स्वात्मावल्लोके उपयोगः प्रसिद्धः स्यात्तदा तदपि
 लक्षणं स्यात्तु तदस्तीत्यर्थः । अथवा अकृत्रिमयेति च्छेदः ।
 आत्मावल्लोके स्वरूपाविर्भावे अकृत्रिमयाऽपरिच्छिन्नाकारशून्य-
 न्याया अखण्डब्रह्माकारबुद्ध्या विना स्वाज्ञावदलनैः स्वाज्ञावदल-
 नसदृशासाहसकोटिमिरपि सिद्धिरूपयोगो नावगम्यत इत्यर्थः ।
 तत्कृतस्तत्राह—चिदिति त्रिभिः । इयं चित् यावदबोधोऽस्मा
 अज्ञानच्छन्ना भवति तावच्चेत्यकोटिस्था स्वप्रकाशबुद्ध्यादिकोऽव्य-
 नुप्रविष्टा सती स्वयमपि स्पन्दरूपिणीव भूत्वा चेत्यं बाह्यविषयं
 प्रतिस्पन्दते तेन विभ्रमं पश्यति ॥ ३४ ॥ यदा अन्तः सम्य-
 ग्बोधोऽद्यः स्यात्तदा स्पन्दास्पन्ददशाक्रमः साम्निधानकः स्वनाम्ना
 सह कापि याति बाध्यत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 आत्यन्तिकप्राणच्येष्टोपरमोऽपि स एवेत्याह—यदिति । मध्य-
 गमनिर्वचनीयमपि रूपं यत् ॥ ३७ ॥ न विद्यते असंचित्तिर-
 ज्ञानं स्पन्दश्च यस्माच्चित्तेः । प्रशमं मोक्षार्थं विदुरित्यर्थः ।
 यदा चित्तात्मा चितः स्पन्दः शुद्धचितः स्फाररूपं ब्रह्माकार
 तस्य वृत्तभवति तदा न बन्धाय न माक्षाय ॥ ३८ ॥

न बन्धाय न मोक्षाय स्थित आत्मनि केवलम् ।
 चित्तेभिरर्थसंविष्टिनिर्वाणे न च विन्दते ॥ ३९
 तद्बन्धमोक्षपक्षादेर्नामापीह न विद्यते ।
 मोक्षोऽस्त्वित्येव बोधोऽन्तः पूर्णता क्षयकारणम् ४०
 समास्त्वित्यपि बन्धस्ते श्रेयोऽसंवेदनं परम् ।
 यदनाभासमजडं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ ४१
 चित्तः स्वरूपं संस्थानमचेत्योन्मुखतात्मकम् ।
 यः संकल्पनशब्दार्थरूपः स्पन्दो महाचित्तः ॥ ४२
 बन्धमोक्षादिकाहोऽसौ प्रेक्ष्यमाणः प्रणश्यति ।
 प्रेक्षणादेव संशान्ते त्वहंभावे निरास्पदे ॥ ४३
 न विद्यः केन किं कस्य बध्यते वाथ मुच्यते ।
 संकल्प एव रचिते बुधश्चेदविभागवान् ॥ ४४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० प्रत्यगात्मावबोधो नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥५९॥

षष्टितमः सर्गः ६०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवमाद्यं परं तत्त्वं चिद्धनं परमं पदम् ।
 तत्स्था एते महारूपा ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ १
 विभूतिभिः स्फुरन्त्युच्चैर्जनास्तुष्टा नृपा इव ।
 आकाशगमनाद्याभिः क्रीडाभिः क्रीड्यते चिरम् ॥ २
 तत्स्थेनैव जनेनेह स्वर्गे स्वर्गोक्तसो यथा ।
 तत्प्राप्याङ्ग न भ्रियते तत्प्राप्याङ्ग न शोच्यते ॥ ३

चित्त निरर्थं व्यर्थं संविष्टिस्तिकागो निर्वाणं तदुपरमश्च ते द्वे
 दशे न विन्दते चेत् ॥ ३९ ॥ तत्तर्हि ॥ ४० ॥ स मोक्षो मास्तु
 समा निर्विक्षेपा चिदस्त्विति वा इच्छापि बन्धः । किं तर्हि
 श्रेयस्तदाह—श्रेय इति सपादेनार्थद्वयेन ॥ ४१ ॥ कस्तर्हि
 बन्धमोक्षादिकव्यवहारार्हः पदार्थस्तमाह—य इति ॥ ४२ ॥
 ॥ ४३ ॥ कस्तर्हि चित्तः संकल्पस्फन्दत्यागे उपायस्तमाह—
 संकल्प एवेत । बुधो विवेकी खरचिते संकल्प एव चेदिदं
 मया संकल्पितमिदं नेति पूर्वापरविमर्शेन विभागं जहाति तत्तर्हि
 जातोपि संकल्पो बहिःस्पन्दजननाक्षमो वृथा नश्यतीत्यर्थादेव
 सर्वमवारितमसंकल्पमस्पन्दं च जातमेवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥ एवं
 चित्ता प्रबुद्धचैतन्येन स्पन्दे संक्षीणे स्पन्दमये वाते च संक्षीणे
 सति तन्मूलः संसाराऽपि क्षीण एवेत्याह—स्पन्दे इति ॥ ४५ ॥
 अथवा चित्तप्रकाशव्यतिरेकेण स्पन्दोऽन्यो नास्तीति दर्शना-
 दपि तच्चिद्वृत्तिरित्याह—चिदिति ॥ ४६ ॥ मोहं स्वचलनादि-
 भ्रमम् ॥ ४७ ॥ अनिशं यस्मिन् प्रसन्नं वार्यमाणा अपि
 बलात् सर्वजगदाकारोपलम्भाः स्वदनं तत्प्रयुक्तानन्दास्वादस्तेन
 सुभगं यथा स्यात्तथा उद्यन्ति उत्पद्यन्ते । तथा उक्तसर्वसंवि-
 स्तीनां सत्तास्थितिरपि यत्र देति । एते उक्तसंविष्टिरूपाः सक-
 लकलनाकारपङ्का यस्मिन्गलन्ति लीयन्ते च तं प्रत्यगात्मान-

१ स्वर्गोक्तसो यथा इत्युभयत्र पाठः.

तदसंकल्पमस्पन्दं सर्वं जातमवारितम् ।
 स्पन्दे स्पन्दमये वाते तन्मयत्वात्सदा चित्ता ॥ ४५
 संक्षीणे न च संसारो निस्पन्दे चिद्धने स्थिते ।
 चित्तेज एव चित्स्पन्द इति बुद्धे निरन्तरम् ॥ ४६
 व्यतिरिक्तश्चित्तः स्पन्दो न किञ्चिदवशिष्यते ।
 अस्मिन्स्पन्दमये दीर्घस्वप्ने स्वप्नान्तरं व्रजन् ।
 न ह्यो मोहमुपादत्ते सर्वगत्वात्स्वसंविद् ॥ ४७
 यत्रोदेति प्रसन्नमनिशं सर्गसंविष्टिसत्ता
 यस्मिन्नेते सकलकलनाकारपङ्का गलन्ति ।
 उद्यन्त्येते स्वदनसुभगं यत्र सर्वोपलम्भा
 ध्यानेनैवं तमवगमय प्रत्यगात्मानमन्तः ॥ ४८

तत्प्राप्य जीव्यते नाङ्ग तत्प्राप्याङ्ग न रुध्यते ।

अपारपरमाकाशरूपिणः परमात्मनः ॥ ४
 सत्तासामान्यरूपं चेन्मनागपि विभाव्यते ।
 तत्त्वं निमेषमात्रेण जन्तुमुक्तमना मुनिः ।
 कुर्वन्संसारकर्माणि न भूयः परितप्यसे ॥ ५

श्रीराम उवाच ।

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं यत्र क्षयं गतम् ।

मेवमुक्तप्रकारेण ध्यानेन विचारेणावगमय पश्येत्यर्थः ॥ ४८ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 प्रत्यगात्मावबोधो नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

अद्वितीयस्य शुद्धस्य परस्य निजमायया ।

सर्वोकारैः स्थितिरिह विभूतिरुपदिश्यते ॥ १ ॥

वर्णितब्रह्मणो विभूतीः प्रपञ्चविध्यंस्तत्र मुख्यान्प्रथमं निर्दि-
 शति—एवमिति । तत्स्थास्तजिष्ठाः । तथाच तत्प्रतिष्ठोत्कर्षा-
 देव विभूतिपूत्कर्षो मानुषादिहराः तेष्विति भावः ॥ १ ॥ नृपा
 मानुषानन्दविभवपूर्णा इवेति तैत्तिरीयश्रुतिदर्शितानन्दोत्कर्ष-
 कमप्रथमभूमिकानिर्देशः । तदुक्तभूमिकासु सुखोत्कर्षमाह—
 आकाशोति । क्रीड्यते तत्स्थेनैव जनेनेति परेणान्वयः ॥ २ ॥
 तस्मिन्ब्रह्मणि आनन्दस्फूर्तिविरोधिमालिन्यक्षयतारतम्येन तिष्ठ-
 तीति तन्मोहो मनुष्यगन्धर्वादिर्जनस्तेन । स्वर्गोक्तसो यथेति
 तदुत्तरगन्धर्वाद्युत्तरभूमिकोदाहरणार्थम् । तत्सर्वानन्दोत्कर्षाव-
 यिभूतं ब्रह्म तत्त्वबोधेन प्राप्य । अत्रेति संबोधने ॥ ३ ॥ न
 जीव्यते प्राणधारणनिमित्तैरशानायादिभिर्न पीड्यते । न रुध्यते
 कुल्यादिभिः ॥ ४ ॥ तत्तत्त्वं जन्तुः साधारणजन्तुशरीरोऽपि
 यदि स्यात्तथापि न परितप्यसे किं पुनरुत्तमशरीर इत्युत्तरेणा-
 न्वयः ॥ ५ ॥ अद्विभावनाजन्तुर्न परितप्यते तत्सत्तासाभान्य-

सत्तासामान्यमाभातं मनस्वी स किमुच्यते ॥ ६
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 यद्ब्रह्म सर्वदेहस्यं भुङ्क्ते पिबति वरुगति ।
 आदत्ते विनिहन्त्यन्तः संवित्संवेद्यवर्जितम् ॥ ७
 तत्सर्वगतमाद्यन्तरहितं स्थितमर्जितम् ।
 सत्तासामान्यमखिलं वस्तुतत्त्वमिहोच्यते ॥ ८
 तत्स्थितं सतया व्योम्नि शब्दे शब्दतया स्थितम् ।
 स्पर्शं स्थितं स्पर्शतया त्वच्चित्तस्वकया स्थितम् ॥ ९
 रसे लीनं रसतया रसनायां तु तत्तया ।
 रूपे रूपतया दृष्टं नेत्रे लीनं च दृक्तया ॥ १०
 घ्राणे घ्राणतया दृष्टं गन्धे गन्धतयोदितम् ।
 पुष्टं कायतया काये भूमावपि च भूतया ॥ ११
 पयस्तया च पयसि वायौ वायुतया स्थितम् ।
 तेजस्तया तेजसि च बुद्धौ बुद्धितया गतम् ॥ १२
 मनस्तया मनस्यन्तरद्वन्द्वकृत्याप्यहंकृतौ ।
 रूढं संविदि संवित्या चित्ते चित्ततयोत्थितम् ॥ १३
 वृक्षे वृक्षतया लम्बं पटे पटतयोदितम् ।
 घटे घटतया रूढं वटे घटतयोत्थितम् ॥ १४
 स्थावरे स्थावरत्वेन जंगमत्वेन जंगमे ।
 पाषाणत्वेन पाषाणे चेतनत्वेन चेतने ॥ १५
 अमरेष्वमरत्वेन नरत्वेन नरेषु च ।
 तिर्यक्त्वेन च तिर्यक्षु क्रिमित्वेन क्रिमिस्थितौ ॥ १६

कालक्रमे कालतया क्रमावृत्ततया तथा ।
 त्रुटिक्षणनिमेषादौ संस्थितस्तत्तया विभुः ॥ १७
 शुक्ले शुक्लतया जातं कृष्णे कृष्णतया स्थितम् ।
 क्रियासु स्पन्दरूपेण नियतौ नियमेन च ॥ १८
 संस्थितः संस्थितौ स्थित्या नाशे नाशतया स्थितः ।
 उत्पत्तिरूपेणोत्पत्तावास्थितः परमेश्वरः ॥ १९
 बाल्येन बाल्ये विश्रान्तो यौवने यौवनेन च ।
 जरसा च जरारूपे मरणे मरणेन च ॥ २०
 इति सर्वपदार्थानामभिन्नः परमेश्वरः ।
 कल्लोलसीकरोर्मीणामग्धाविष पयोभरः ॥ २१
 नानातैषां त्वसत्यैव सत्येनानेन चैव हि ।
 कल्पिता चित्स्वभावेन वेतालः शिशुना यथा ॥ २२

सर्वत्र संस्थितिमता विगतामयेन
 व्याप्तं मयेदमखिलं विविधैर्विलासैः ।
 चिद्रूपिणैव कलना कलितात्मनेति
 मत्त्वोपशान्तमतिरास्व सुखं महात्मन् ॥ २३

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
 सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
 ज्ञातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
 श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाजगाम ॥ २४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० विभूतियोगोपदेशो नाम षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

षोडशो दिवसः ॥ १६ ॥

रूपं किं निर्विशेषमुत सविशेषम् । आद्ये तस्य विभूतिवर्णन-
 मसंगतम् । द्वितीये तत्प्राप्य जन्तुर्न परितप्यते इत्यात्यन्तिक-
 परितापोच्छेदवर्णनमयुक्तमित्याशयेन रामः पृच्छति—मन
 इति । मनोबुद्ध्यादि सर्वद्वैतं यत्र क्षयं गतं तच्चिर्विशेषमाभातं
 पूर्णचिन्मात्रमेव सत्तासामान्यमिति त्वयोच्यते उत मनस्वी मन-
 आदिसर्वविशेषवान् सर्वात्मा ईश्वर इत्यर्थः ॥ ६ ॥ नात्र प्रपञ्च-
 बाधोत्तरपरिशिष्टनिर्विशेषमिति वा तत्पूर्वकालिकं सविशेषमिति
 वा विभज्य सत्तासामान्यमुक्तं किंतु सर्वजीवभावेष्वीश्वरभावे
 मुक्तौ च यदनुस्यूतमखण्डदण्डायमानं सन्मात्रं तदेवोक्तं तदेव
 जगतस्तत्त्वम् । तत्र तु त्वदमिप्रेतो न कश्चिद्विरोध इत्याशयेन
 वसिष्ठः समाधत्ते—यदिति । आदत्तेऽन्तर्जाप्रत्सप्रसर्गकाले ।
 विनिहन्ति सुषुप्तिप्रलययोः । संविःसंवेद्यवर्जितं तुरीय-
 तायाम् ॥ ७ ॥ स्थितमेव कण्ठचामीकरवद्बोधेनार्जितम् ॥ ८ ॥
 तदेव वियदादिकार्यानुस्यूतं तद्विभूतितयोपवर्ण्यते सार्वारभ्य-
 प्रदर्शनायेत्याह—तद्वित्यादिना ॥ ९ ॥ तत्तया रसनेन्द्रियतया ।

नेत्रे चक्षुरिन्द्रिये ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ अहंकृत्या अहंकारतया ।
 संविदि बुद्धौ । संवित्या बुद्धितया ॥ १३ ॥ १४ ॥ चेतने
 चतुर्विधभूतेषु ॥ १५ ॥ तत्र विशेषाकारसत्तापि तदेवेत्याह—
 अमरेष्विति ॥ १६ ॥ कालस्य क्रमे युगसंवत्सरत्वादिभेदे ।
 ऋतावित्यादित्प्रपञ्चः ॥ १७ ॥ नियमेन नियतितया ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ बाल्येनेत्यादयो भावप्रधाननिर्देशाः ॥ २० ॥ पयोभरो
 जलसामान्यमिव ॥ २१ ॥ कथमयमेवैको नानात्वेन स्थित
 इति चेत्स्वाज्ञानभ्रान्तिकल्पनयैव न वस्तुत इत्याह—नानात्वेति
 ॥ २२ ॥ हे महात्मन्, सर्वत्र संस्थितिमता चिद्रूपिणा मया
 आत्मना खेनेवेयं जग कलना कलिना कल्पिता । इदमखिलं
 मयैव विविधैर्विलासैर्व्याप्तं मयैवेयं विभूतिर्न मद्यतिरिक्तं किञ्चि-
 दस्तीति मत्वा उपशान्ता मतिर्यस्य तथाभूत आस्व । स्वम-
 हिन्नि तिष्ठेयर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे विभूतियोगोपदेशो नाम
 षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

एकचतुष्टयमः सर्गः ६१

भीरुसम उवाच ।

यथास्माकं मुने स्वप्नपुरपञ्चममण्डलम् ।
 तथैव पद्मजादीनां यदि देहपरिग्रहः ॥ १
 तथैवेदं च संजातं यदि सर्वमसम्भवम् ।
 तद्स्माकं दृढतरः प्रत्ययः कथमुत्थितः ॥ २
 धीवसिष्ठ उवाच ।
 अस्मत्सर्गवदाभाति पूर्वसर्गः प्रजापतेः ।
 आजीवप्रतिभासात्मा विद्यते न तु शास्त्रतः ॥ ३
 सर्वगत्वाच्चित्तेः सर्वे जीवः सर्वत्र संसृतिः ।
 सा चासम्यग्दर्शनोत्था सम्यग्दर्शननाशिनी ॥ ४
 स्वप्नाभः प्रतिभासोऽस्य य एव समुपस्थितः ।
 अहंताप्रत्ययैकात्मा स एवातिदृढं स्थितः ॥ ५
 स्वप्ने क्षिप्रविनाशित्वं यथा पुंसां न दृश्यते ।
 सर्वस्वप्ने तथैवैतद्ब्रह्मणामिह लक्ष्यते ॥ ६
 स्वप्नोऽयं पुरुषस्यास्य प्रतिभासस्य यो भवेत् ।
 रामाऽस्मदादिसर्वात्मा भवेत्सादृश एव च ॥ ७

इह प्रसाध्यते युक्त्या स्वप्नमापासमं जगत् ।

सर्वत्र चाविरोधेन आत्मा सर्वत्र संभवः ॥ १ ॥

यदि सर्वं जगत्परमात्मनः स्वप्नसदृशी भ्रान्तिकल्पितविभूति-
 स्तर्हि ब्रह्मादिदृशा स्वप्नब्रह्मान्तिरित्येव भासते । अस्मदादि-
 दृशा तु न स्वप्नतुल्यः किंतु दृढतरः सत्य इत्येव भासते इति
 वैषम्ये को हेतुः । न च दीर्घकालानुवृत्त्यास्माकं तथा भातीति
 तत्समाधानं युक्तम् । ब्रह्मादीनां परार्थद्वयायुषां ततोपि चिर-
 कालं संसाराणुवृत्त्या सत्यतादात्म्याधिक्यापत्तित्याशयेन रामः
 पृच्छति—यथेति द्वाभ्याम् ॥ १ ॥ अस्माकं अस्माकमेव प्रपञ्चे
 दृढतरः सत्यताप्रत्ययः कथमुत्थितो न पद्मजादीनामित्यर्थः ॥ २ ॥
 अनाधितचिरानुवृत्तिरेव सत्यताभ्रमदात्म्यहेतुर्न बाधितचिरानु-
 वृत्तिरित्याशयेन वसिष्ठः समाधत्ते—अस्मदिति । यदायं
 पद्मजः पूर्वमुपासकावस्थोऽभूत्तदा तत्त्वज्ञानाभावादस्य प्रजाप-
 तेस्तदानीतनः पूर्वसर्ग इदानीमस्मदनुभूयमानसर्गवदेव आस-
 मन्तात्तनुर्विधभूतप्रामलक्षणजीवप्रतिभासात्मा सत्य एवाभाति
 तथापि सांप्रतं तस्य तत्त्वज्ञानबाधितत्वाद्वास्तवो न विद्यते ॥ ३ ॥
 यावदज्ञानं तावच्चित्तेः सर्वगत्वात्सर्वे जीवो भवति । सर्वत्र च
 संसृतिः सत्येव भवति । सा च सम्यग्दर्शनविरोधज्ञानोत्था
 सम्यग्दर्शनेन नष्टुं शीलमस्यास्तथाविधेत्यर्थः ॥ ४ ॥ अत-
 एवास्य प्रजापतेस्तत्त्वज्ञानबाधितः स्वप्नाभः फेस्यः अपञ्चप्रति-
 भासो यः समुपस्थितः सः अज्ञास्मदाद्यहंताप्रत्ययैकात्मा
 एकीभूतः सन् अतिदृढं स्थितः ॥ ५ ॥ तर्हि प्रजापतिभिः
 स्वकल्पितप्रपञ्चस्य तत्त्वबोधेन क्षिप्रविनाशिता कुतो नानुभूयत
 इति चंद्रोजकादृशेन प्रतिबन्धादित्याशयेनाह—स्वप्ने इति ।
 यथा सुप्तपुंसां स्वप्नभोगप्रदकर्मप्रतिबद्धत्वात्स्वप्ने विद्यमानमपि

यत्स्वप्नपुरुषाज्जातं तत्स्वप्नपुरुषात्मकम् ।
 भवतीत्यनुभूतं हि यद्दीर्घं तत्फलं यथा ॥ ८
 असत्यमेव तद्विद्धि यवसत्येन साध्यते ।
 असत्येऽर्थे समर्थेऽपि न युक्तं भावनं घनम् ॥ ९
 येन तेन परित्याज्यमसद्भावनभावनम् ।
 दृढप्रत्ययितं स्वप्नपुरुषाद्यत्समुत्थितम् ॥ १०
 भवत्यात्मनि सर्गादि दृढप्रत्ययमेष तत् ।
 निमेषमात्रः पौरोऽयं सर्गस्वप्नः पुरः स्थितः ॥ ११
 तस्मिन्निमेष एवास्मिन्कल्पता परिकल्प्यते ।
 सुदीर्घस्वप्नखण्डोऽयं यथोदेति प्रजापतेः ॥ १२
 सर्गाख्यः सर्वभूतानां प्रत्येकमुदितस्तथा ।
 चित्तस्वस्यैव भावेन सर्गवर्गपरम्परा ॥ १३
 स्फुरत्यम्भो ब्रह्मत्वेन यथावर्तविवर्तनैः ।
 यथा स्वप्नात्मिकैवेयं सर्गलक्ष्मीर्न वास्तवी ॥ १४
 तदा संभवतीदं वै तत्पदं प्रलयं गतम् ।
 यद्यथा यादृशं दृष्टं तत्सादृग्विद्यते तथा ॥ १५

क्षिप्रविनाशित्वं न दृश्यते तथा समष्टिस्वप्ने जगत्पि ब्रह्मणां
 पद्मजानामिह विनाशित्वबोधे प्रतिबन्धो लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥
 हे राम, अस्य सुप्तपुरुषस्य प्रतिभासस्य प्रतीतिरयं प्रसिद्धः स्वप्नः
 अस्मदादिसर्वजीवजगदात्मा यादृशोऽनाद्यनन्तप्रवाहरूप इत्येव
 भवेत्प्रजापतेरपि तादृश एव भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥ अस्तु
 तादृशः किं तत्तत्साह—यदिति । यथा तस्यान्नादेर्बीजमेव
 तन्मन्वृक्षफलात्मना परिणतं न वस्त्वन्तरं तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥
 अस्तुवेवं ततोऽपि किं तत्राह—असत्यमेवेति । असत्येन मनः-
 पुरुषेण यत्साध्यते तदसत्यमेवेति सिद्धम्, अतो जन्मान्तरस्वर्ग-
 नरकाद्यर्थिकयासमर्थेऽपि घनं सत्यत्वभावनं न युक्तमित्यर्थः ॥ ९ ॥
 येन हेतुना न युक्तं तेन हेतुना दृढप्रत्ययितमपि परित्याज्यम्
 ॥ १० ॥ किंचास्मदादीनामपि स्वप्नसर्गादि यद्भासते तत्तदानीं
 दृढप्रत्ययमेव भवति न मिथ्याबुद्धिवत्तदा दृश्यते नैतावतास्य
 सत्यतेत्यर्थः । अभ्युपेत्य प्राजापत्यस्य सर्गस्य दीर्घकालस्थाधि-
 न्वमिदं सर्वमुक्तम् । वस्तुतस्तु तस्य दैर्घ्यमपि हरिश्चन्द्रस्वप्नदै-
 र्घ्यबदल्पकालेऽपि संभवतीत्याह—निमेषमात्र इति । वार्षिकः
 पूर इव प्रवृद्धः पौरः अयं प्राजापत्यः सर्गस्वप्नः ॥ ११ ॥
 प्रजापतेरिव सर्वेषामपि स्वस्वप्नेषु तदानीं दीर्घप्रपञ्चताप्रत्य-
 योऽस्त्येवेत्याह—सुदीर्घेति ॥ १२ ॥ विदधीनप्रसिद्धिकल्-
 रूपं दृश्यत्वं मिथ्यात्वे प्रयोजकं, तन्नोभयत्रापि समानमित्याश-
 येनाह—चित्तस्वस्येति ॥ १३ ॥ १४ ॥ तत्राप्राजापत्यं पदं
 सर्गादिसहितं प्रलयं गतमत्यन्तासद्येवेति 'न निरोधो न चोत्प-
 त्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमा-
 र्थता ॥' इतीदं प्रसिद्धं भुक्तिवचनं संभवतीत्यर्थः । नन्वत्यन्तासदे-
 वेदं चैतत्कथं न्यबहाराहमिति चेत्तथा दृष्टत्वादेव नात्र पूर्वमुपोष्य-

न हि पर्यनुबोक्तव्याः स्वप्नविभ्रमरीतयः ।
 न तदस्ति जगत्सन्नित्यत्र संभवति भ्रमे ॥ १६
 विचित्रास्त्रिषु लोकेषु दृश्यन्ते वस्तुदृष्टयः ।
 जलमध्ये ज्वलत्यग्निर्यथाग्नौ वडवानलः ॥ १७
 नगराण्यम्बरे सन्ति यथा वैमानिकाश्रयाः ।
 शिलाखलानि जायन्ते हेमाद्राविव पादपाः ॥ १८
 एकान्ते सर्वपुण्यानि सन्ति करुणतरौ यथा ।
 शिलाः फलन्ति फलिबद्धथा रत्नगुलुच्छकाः ॥ १९
 शिलान्तः प्राणिनः सन्ति भेका इव शिलान्तरे ।
 दृषदो वारि निर्याति चन्द्रकान्तोपलादिव ॥ २०
 निमेषेण घटो याति पटतां स्वापसंविदि ।
 असत्यमपि बुध्येत स्वप्ने स्वप्नरं यथा ॥ २१
 आकस्मिकं जलं व्योम्नि ध्रियते भूतगं यथा ।
 वितानमिव खे वारि तिष्ठति स्वर्णदी यथा ॥ २२
 उद्दीयन्ते शिलाः स्थूलाः पक्षवन्तो यथाद्रयः ।
 शिलान्तः प्राप्यते सर्वं ननु चिन्तामणेरिव ॥ २३
 चिन्तितानि फलन्त्याशु देवोद्यानान्तरेष्विव ।
 तान्येव न फलन्त्याशु मोक्षादीनां च राघव ॥ २४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे जगत्सन्निकथनं नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः ६२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अत्र राघव वक्ष्येऽहमितिहासमिमं शृणु ।
 यद्वृत्तं कस्यचिद्भिक्षोः किञ्चिन्मननशालिनः ॥ १

मस्तीत्याह—यद्यथेति ॥ १५ ॥ अज्ञानस्याघटितघटनासाम-
 ध्यादपि न पर्यनुयोज्यतेत्याह—न तदिति ॥ १६ ॥ असंभा-
 वितानां बहूनां जगति दर्शनमुदाहरति—विचित्रा इत्यादिना
 ॥ १७ ॥ हेमाद्रौ निर्मृत्तिके ॥ १८ ॥ एकान्ते एकदेशे
 सर्वाणि पुण्यानि पुण्यफलभूतान्यभिलषितवस्तूनि । 'पुण्यानि'
 इति पाठे पणनं व्यवहारस्तथाभ्यवस्तूनि । 'पुण्याणि' इति पाठे
 तु स्पष्टम् । यथाशब्दाः सर्वत्रोदाहरणार्थाः । फलिबद्धक्षवत् ।
 रत्नगुलुच्छकाश्चिन्तामणिगुच्छाः ॥ १९ ॥ २० ॥ स्वापसं-
 विदि स्वप्ने ॥ २१ ॥ स्वर्णदी मन्दाकिनी ॥ २२ ॥ २३ ॥ न
 फलन्ति नोत्पद्यन्ते । यथा मोक्ष उत्पद्यतां, ब्रह्म नश्यतु,
 प्रपञ्चः सत्योऽस्तु, भोगाः शाश्वताः सन्तु, नियतिर्भज्यतां, वेदा
 अप्रमाणीभवन्तु, इत्यादीनां विषये सत्यसंकल्पानां चिन्तितान-
 न्यपि न फलन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥ असंभवाः असंभाविता
 अन्ये च विचित्रारम्भविभ्रमाः शम्बरगन्धर्वादिमायाविलासै-
 र्दृष्टा इत्यन्वयः ॥ २५ ॥ देशे दूरत्वादौ चन्द्रप्रादेशिकत्वाद्यः
 काठे औत्पातिकनभःकबन्धादयो मन्त्रप्रयोगादिक्रियया औष-
 धादिद्रव्ये रत्नैर्मणिभिः संचरणीयैः पिशाचमदाद्यनुप्रवेशैश्च
 जातास्ते ते विचित्रारम्भविभ्रमा दृष्टा इत्यर्थः ॥ २६ ॥

१ वस्तुदृष्टयः इति पाठः.

यो० वा० ११६

अचेतनोऽपि कुर्वते कर्म यन्मपुमानिव ।
 एवमाद्यास्तथान्ये च विचित्रारम्भविभ्रमाः ॥ २५
 दृष्टाः शम्बरगन्धर्वविलासैरप्यसंभवाः ।
 देशकालक्रियाद्रव्यरत्नसंचरणीयजाः ॥ २६
 अर्था गन्धर्वजनिता अनन्ताः सत्यसंभवाः ।
 असंभवः संभवोऽयमपि भाव्युपपद्यते ॥ २७
 संभवोऽसंभवः सम्यक् सिद्धये स्वप्नविभ्रमः ।
 न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ॥ २८
 सर्वं सर्वेण सर्वत्र स्वप्ने सर्गाभिधानके ।
 स्वप्ने निमग्नधीर्जन्तुः पश्यति स्थिरतां यथा ॥ २९
 सर्गस्वप्ने मग्नबुद्धिः पश्यति स्थिरतां तथा ।
 भ्रमाद्भ्रमान्तरं गच्छन्स्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजन् ।
 अतिस्थिरप्रत्ययभागिह जीवो विमुह्यति ॥ ३०
 श्वभ्रान्तरं श्वभ्रनिपातदोषात्
 संप्राप्तुष्वनुगम्यः प्रयाति ।
 मोहं यथा पातमयैकरूपं
 जीवस्तथा संसृतिपातमूढः ॥ ३१

आसीत्कश्चिन्महाभिक्षुः समाध्यभ्यासतत्परः ।

नित्यं स्वव्यवहारेण क्षपयत्यखिलं दिनम् ॥ २

सत्येभ्य इवार्थक्रियासंभवो येभ्यस्तथाविधा दृष्टा इति पूर्वणा-
 न्वयः । इदानीमसंभवोऽप्ययं ब्रह्माण्डनाशादिर्भावी संभवतीति
 संभव उपपद्यते ॥ २७ ॥ एवमिदानीं संभवोऽपि सर्गरूपः
 स्वप्नविभ्रमः प्रलये तत्त्वबोधे चासंभवः सन् सिद्धये स्वरूपवि-
 भ्रान्तये भवतीत्यर्थः । एवं च ब्रह्मात्मना दर्शने नासत्यं किञ्चि-
 दस्ति, जगदात्मना दर्शने तु न सत्यं किञ्चिदस्तीति फलितमि-
 त्याह—न तदिति ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ यथा मुग्धो मृगः
 श्वभ्रेषु निपातयतीति श्वभ्रनिपातस्तथाविधात्स्वमोहदोषाच्छ्वभ्रा-
 न्त्वभ्रान्तरं प्रयाति तथा संसृतौ पातयन्तीति संसृतिपाता रागा-
 दयस्तान् मूढो जीवः पातमयतया एकरूपं न मृगवन्मध्ये निर्ग-
 मनमस्ति यत्र तथाविधं मोहं देहादिगर्तप्रवेशभ्रमं प्रयातीत्यर्थः
 ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे पूर्वार्धे जगत्सन्निकथनं नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

विचित्रवासनायोगाज्ञानादेशसिबिभ्रमम् ।

वर्णयते जीवटास्थाने भिक्षुमानसचेष्टितम् ॥ १ ॥

अत्र अस्मिन् भ्रमाद्भ्रमान्तरं गच्छन्निति वर्णितेऽर्थे उदाहर-
 णभूतमितिहासं पुरावृत्तम् । यद्वृत्तं संपन्नम् ॥ १ ॥ महान्
 शान्तिदान्तिवैराग्यादिसंपन्नो भिक्षुः परिव्राट् । स्वव्यवहारेण

समाध्यभ्यासशुद्धं तत्तस्य चित्तं क्षणेन यत् ।
 चिन्तयत्याशु तद्भावं गच्छत्यम्बिव वीचिताम् ॥ ३
 कदाचित्स समाधानविरतोऽतिष्ठदेकधीः ।
 किञ्चित्संचिन्तयामास स्वासनस्थः क्रियाक्रमम् ॥ ४
 तस्य चिन्तयतो जाता प्रतिभेयमिति स्वतः ।
 भाषयाम्याशु लीलार्थं सामान्यजनवृत्तिताम् ॥ ५
 इति संचिन्त्य चेतोऽस्य स्थितं किञ्चिन्नरान्तरम् ।
 स्पन्दसंस्थानसंत्यागमात्रेणावर्तनेऽम्बिव ॥ ६
 तेन चित्तनरेणाथ कृतं नामात्मवाञ्छया ।
 जीवटोऽस्मीति सहसा काकतालीयवत्स्थितम् ॥ ७
 जीवटो विजहाराथ स स्वप्नपुरुषध्विरम् ।
 स्वप्ननिर्माणनगरे कस्मिंश्चित्पुरवीथिषु ॥ ८
 तत्र पानं पपौ मत्तो भृङ्गः पद्मरसं यथा ।
 लीलयैव दृढं दृष्टः सुष्वाप घननिद्रया ॥ ९
 स्वप्ने ददर्श विप्रत्वं पाठानुष्ठानतुष्टिमत् ।
 प्रतिभामात्रसंपन्नां चित्ते देशान्तरासिधत् ॥ १०
 कदाचित्स द्विजश्रेष्ठस्त्वहर्व्यापारनिष्ठया ।
 सुष्वापान्तर्व्यवहृतिर्वीजतायामिव द्रुमः ॥ ११
 द्विजोऽपश्यत्स्वयं स्वप्ने सामन्तत्वमथात्मनि ।
 स सामन्तः कृताहारः कदाचिद्धननिद्रया ॥ १२
 अपश्यद्राजतां स्वप्ने ककुब्बलयपालिनीम् ।
 लालितां भोगपूगेन पुष्पांशेण लतामिव ॥ १३
 स कदाचिन्नृपः स्वस्थः सुष्वापास्तमितेहितः ।
 पुरोभाविनिजाचारः स्वकार्यमिव कारणे ॥ १४
 अपश्यत्स्वात्मनि स्वप्ने सुरस्त्रीत्वमनिन्दितम् ।

स्वाश्रमोचितश्रवणमननादिद्वयवहारेण ॥ २ ॥ समाधिचित्तस्य
 ध्येयाकारदाढ्येन पूर्वेस्वरूपशून्यत्वापादनं 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं
 स्वरूपशून्यमिव समाधि'रिति पतञ्जलिवचनात् । तदभ्यासेन
 शुद्धं पूर्ववारासनात्यागक्षमम् । अम्बु जलं वीचितामिव ॥ ३ ॥
 एकधीरेकाप्रचितः ॥ ४ ॥ सामान्यजनाः शास्त्रसंस्कारहीना-
 स्तद्द्विजतां चित्तचंष्टानुसारिताम् ॥ ५ ॥ नरान्तरं प्रतिधर्मानि-
 यन्त्रितपामरपुरुषान्तररूपम् । यथा अम्बु आवर्तने कृते प्राक्त-
 नप्रवाहस्पन्दस्य समसंस्थानस्य च संत्यागमात्रेण नाभ्याकार-
 मावर्तारूपान्तरं तिष्ठति तद्वत् ॥ ६ ॥ तत्र नान्तरीयकी
 नामकल्पनामाह—तेनेति ॥ ७ ॥ ८ ॥ दृष्टो मत्तः ॥ ९ ॥
 प्राठैरध्ययनैः सत्कर्मानुष्ठानैश्च तुष्टिमत् संतुष्टं न पृथग्जनच-
 रित्रेण ॥ १० ॥ अहर्व्यापारनिष्ठया श्रान्त इति शेषः । अन्तः-
 संस्कारात्मना लीना व्यवहृतिर्यस्य । यथा बीजतायां द्रुमोऽन्त-
 र्गतविटपादिमंस्कार आस्ते तद्वत् ॥ ११ ॥ सामन्तत्वं माण्ड-
 लिकराजताम् ॥ १२ ॥ कृताहारो भुक्तवान् सन् सुप्तो घननि-
 द्रया राजतां साम्राज्यम् । ककुभां दिशां बलयानि पालयितुं
 शीलं यस्यास्तथाविधाम् ॥ १३ ॥ पुरोभावी फलदानायोप-
 स्थितो निजः स्त्रीयः रुपासक्तिरूप आचारो यस्य । स्वकार्य

वृक्षकोशरसोल्लासे मञ्जरीत्वमिवोदितम् ॥ १५
 सा सुरस्त्री रतिश्रान्ता निद्रां गाढामुपागता ।
 मृगीत्वमात्मनि स्वैरमावर्तत्वमिवाम्बुता ॥ १६
 सा मृगी लोलनयना कदाचिभिद्रया हृता ।
 स्वप्ने ददर्श वल्लीत्वं स्वाभ्यासाद्गुडमात्मनि ॥ १७
 तिर्यञ्चोऽपि प्रपश्यन्ति स्वप्ने चित्तस्वभावतः ।
 दृष्टानां च श्रुतानां च चेतःस्मरणमक्षतम् ॥ १८
 सा बभूव लतापुष्पफलपल्लवशालिनी ।
 वनदेवी वनोद्यानलतागृहविलासिनी ॥ १९
 बीजान्तस्थाङ्कुराकाररूपयेद्वाधिरुढया ।
 सापश्यदन्तःसंवित्या स्फुटं लवनमात्मनः ॥ २०
 कंचित्कालं सुषुप्तस्य कलया जडतां घनाम् ।
 अनुभूय ददर्शाथ स्वात्मानं भ्रमरं स्थिरम् ॥ २१
 षट्पदो विजहाराथ वने वनलतास्वसौ ।
 पद्मिनीषु च फुल्लासु तरुणीष्विव वल्लभः ॥ २२
 प्रियाभिम्बाधरस्वादुरसवत्कौसुमं मधु ।
 भ्रमत्कुसुमसंघासु मुक्तावल्लीविलासिषु ॥ २३
 स बभूव सरोजिन्यां व्यसनी बिसनालगः ।
 कंचिदेव रतिं ह्यति चेतो जडमतेरपि ॥ २४
 तामाजगाम नलिनीं परिलोलयितुं गजः ।
 रम्यवस्तुश्रयायैव मूढानां गृभ्भते पदम् ॥ २५
 नलिनी मर्दिता सैव समं तेन स षट्पदः ।
 गतो दन्तान्तरं व्रीहिरिव चूर्णत्वमाययौ ॥ २६
 भ्रमरो वारणालोकाद्वारणालोकभाषनात् ।
 ददर्शात्मानमामोदमत्तद्वस्तितयोदितम् ॥ २७

वृक्षादि । कारणे बीजे ॥ १४ ॥ बहुपुरुषसंभोगेऽप्यनिन्दितं
 सुरस्त्रीत्वमप्सरस्त्वम् । रसोल्लासे चेतनत्वकल्पनयोक्तिर्लक्षणया
 वृक्षजीवोक्तिर्वा ॥ १५ ॥ मृगीनयनसौन्दर्याभिलाषवासनया
 मृगीत्वमपश्यदित्यनुकूप्यते । अम्बुता अम्बुसाम्यावस्था ॥ १६ ॥
 ॥ १७ ॥ तिरश्चां स्वप्नदर्शनमस्ति न वेति संदिहानान्प्रत्याह—
 तिर्यञ्च इति । चित्तस्य दृष्टश्रुतसंस्कारप्राहित्वात्सति संस्कारे
 स्मृतिवत्स्वप्नस्याप्यवर्जनादित्याशयः ॥ १८ ॥ लतापल्लवासक्ति-
 वशालता बभूव । वनदेवीनां वने प्रसिद्धलतागृहमिव विलसन-
 शीला ॥ १९ ॥ सा लता कंचित्कालमन्तःसंवित्या साक्षिचै-
 तन्येन निद्राजडतां सुषुप्तिमनुभूय बीजान्तस्थाया भाव्यङ्कुरा-
 काराया श्रियो रूपमिव स्वरूपं यस्यास्तथाविधया स्वप्नेन्मुख्या
 धिया भ्रमराकारोद्भूदसंस्कारया आत्मानं भ्रमरमपश्यदित्य-
 न्वयः ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ कौसुमं मधु मकरन्दं पपौ
 इति शेषः ॥ २३ ॥ व्यसनी अत्यासक्तः सन् बिसस्य नालगो
 नालसंलग्नः ॥ २४ ॥ पदं व्यवसितम् । गृभ्भते वर्धते ॥ २५ ॥
 तेन गजेन सा भ्रमराश्रिता नलिनी मर्दितैव । तेन नालेन समं
 स षट्पदो गजस्य दन्तान्तरं गतः सस्यसंलग्नकृष्णव्रीहिरिव
 चर्ष्यमाणचूर्णत्वमाययौ ॥ २६ ॥ वारणस्यालोकादवलोकना-

शुष्कसागरगर्भीरे गजः खाते पपात ह ।
 तमोघनघने शून्ये संसार इव जीवकः ॥ २८
 बभूव बल्लभो राक्षो महापरबलान्तकः ।
 सदा मदबलक्षीबो घूर्णोतीव निशाचरः ॥ २९
 कदाचिदसिनिर्लिङ्गश्छिन्नः सोऽस्तमुपाययौ ।
 विवेकानिलनिर्लूनरूपो जीव इवात्मनि ॥ ३०
 पश्यन्नाजघटाकुम्भस्थलाग्रेऽलितानलीन् ।
 गण्डस्थभ्रमराभ्यासाद्गजो भूयोऽप्यभूदलिः ॥ ३१
 सेवमानो वनलतां पुनरायात्स पद्मिनीम् ।
 दुस्त्यजो हि दुरभ्यासो वासनानामबोधिनः ॥ ३२
 तत्र हस्तिखुराक्रान्तः पुनः संचूर्णतां ययौ ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० निर्वा० पू० जीवटोपाख्याने स्वप्नशतरुद्रीये भिक्षुसंसारोदाहरणं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

पार्श्वस्थहंससंविद्या बभूव कलहंसकः ॥ ३३
 कलहंसश्चिरतरं योनिष्वन्यासु संलुठन् ।
 कदाचिद्बहुभिर्हंसैः संगतो विजहार ह ॥ ३४
 ब्राह्महंसात्मिका संवित्सशब्दार्थवती मनाक् ।
 तत्र पुष्टास्य तस्यान्तः प्रागण्डरसबर्हिषत् ॥ ३५
 स तच्चिन्तां चरन्मृतो दृढं व्याधिघुणाहतः ।
 तत्संविद्यनुसंधानाज्जातः पद्मजसारसः ॥ ३६
 तत्रातिसंततविवेकवतो विलासैः
 संबोधितो विगतलौकिकवस्तुदृष्टिः ।
 मुक्तः स्थितो ननु युगान्तविधौ विदेह-
 मुक्तेन तेन किमु भावि विभाव्यमेतत् ॥ ३७

त्रिषष्टितमः सर्गः ६३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स कदाचिद्दर्शाथ रुद्रं रुद्रपुरे खगः ।
 वैरिञ्चनलिनीनाललीलालामेन लीलया ॥ १

वारणस्यालोक्यत इत्यालोक आकारस्तद्भावनादात्मानं मत्तहस्ति-
 तया उदितं संपन्नं ददर्श ॥ २७ ॥ स गजः खाते हस्तिपक-
 निर्मितगते । घनेभ्यः शृङ्खलादिवन्धेभ्योऽपि घने कठोरे संसारे
 जीवक इव पारवश्यदुःखान्यनुभवन् ॥ २८ ॥ निशाचर
 इत्युत्तरान्वयि ॥ २९ ॥ स कदाचिदुपस्थिते निशायुद्धे चर-
 तीति निशाचरः सन्नसिभिर्दार्ध्र्यवर्जितान्निर्गतांशिशब्दोऽङ्गुलिभ्यो
 निर्लिङ्गः कृपाणिकास्ताभिश्च च्छिन्नः सन्नस्तं मृत्युमुपाययौ ।
 जीवो जीवोपाधिर्देहाद्यभिमान इव ॥ ३० ॥ गजघटानां हस्ति-
 समूहानां कुम्भस्थलाग्रेभ्य उच्चलितानुङ्गीनान् । अभ्यासाच्चि-
 रपरिशीलनसंस्कारात् । अत्युद्ययनदर्शनसंस्कारोद्बोधितादित्या-
 शयः ॥ ३१ ॥ पुनः पूर्ववासनयेल्यर्थः । अबोधिनः अज्ञस्य ।
 शेषे षष्ठी ननु कर्त्तरि । 'नलोके'ति निषेधात् ॥ ३२ ॥ योनि-
 ष्वन्यासु संलुठन्नित्युक्त्या । 'हंसः पद्मवने भूत्वा विन्ध्यकच्छे
 च वारणः । हरिणो देहयन्त्रादौ' इत्यादिवक्ष्यमाणदिशा अन्त-
 राले पद्माशीतिजन्मानि जातानीति गम्यते । तथा चात्रोक्तहं-
 सजन्मद्वयानन्तरं रुद्रतां गतः 'संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहं
 व्यवस्थितः' इति वक्ष्यति । स कदाचित्पुनर्हंसजन्मप्राप्तोऽन्यै-
 र्हंसैः संगतो विजहारैत्यर्थः ॥ ३४ ॥ तत्र हंससंसदि ब्रह्महंसगुणा-
 कारादिवर्णनश्रवणात् सशब्दा तन्नामसहिता तदाकारार्थवती
 चेति द्वेषापि ब्राह्महंसात्मिका संवित्, अहमपीदृशो ब्राह्महंसः
 स्यामिति वासना तत्र तस्मिन् जन्मनि तस्य हंसभूतस्यास्य
 भिक्षुमनसः प्राग् वर्णिताण्डरसस्थबर्हिषत् पुष्टा । घनीभूतेत्यर्थः
 ॥ ३५ ॥ स तां ब्राह्महंसचिन्तामेव दृढं चरन्नावर्तयन् व्याधि-
 घुणाभिहतो मृतः पद्मजस्य सारसो लक्षणया हंसो वाहन-

तत्र बुद्धिरभूत्तस्य रुद्रोऽहमिति निश्चिता ।
 प्रतिविम्बवदादर्शे द्रागित्येव हि विम्बिता ॥ २

मित्यर्थः ॥ ३६ ॥ तत्र तस्मिन् जन्मनि ब्रह्मलोके च अतिशयेन
 संतर्तविवेकवतः प्रजापतेर्विवेकवैराग्यतत्त्वज्ञानाद्युपदेशविलासैः
 सम्यग्बोधितः । अत एव विगता लौकिकवस्तुषु भोग्यवर्गेषु
 सारतादृष्टिर्यस्य तथाविधः सन् मुक्तो जीवन्मुक्तो भूत्वा
 स्थितः । एवं जीवतैव निरतिशयानन्दमोक्षसुखे लब्धे सति ।
 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः
 प्रविशन्ति परं पदम् ॥' इति श्रुतेर्युगान्तविधौ द्विपरार्धावसाने
 ब्रह्मणा सह विदेहमुक्तेन तेन हंसं किमधिकं भावि साध्यम् ।
 एतत् सुधीभिर्विर्भाव्यं चिन्त्यम् । उ इति वितर्कं । ज्ञानेनेहैव
 समूलानर्थनिवृत्तेर्निरतिशयानन्दावप्तेश्च संपादितत्वात्तदतिरिक्त-
 पुरुषार्थाभावाच्चास्य कृतकृत्यत्वादित्यर्थः ॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भिक्षुसंसारो-
 दाहरणं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

रुद्रभूतेन तेनात्र पूर्वदेहप्रबोधनम् ।

तेषां च शतरुद्रत्वमैकात्म्यं चेह वर्णयते ॥ १ ॥

स हंसो लीलया अनायासेनैव वैरिञ्चासननलिनीनाले लीलाः
 क्रीडास्तन्नामेन । पद्मजसामीप्यमुक्तिपदप्राप्तिबलेनेति यावत् ।
 कदाचित्पद्मजेन सह रुद्रपुरं गतो रुद्रं ददर्श ॥ १ ॥ तत्र
 रुद्रस्य ज्ञानयोगैश्वर्यादिसर्वगुणोत्कर्षदर्शनात्तस्य हंसस्याहमपि
 रुद्रहंभावनया रुद्रः स्यामिति निश्चिता बुद्धिरभूत् । ननु
 जीवन्मुक्तस्य निर्वासनस्य हंसस्य कथं रुद्रत्वस्पृहा । तद्भाव-
 नाभ्यासेन देहत्यागेन पुना रुद्रशरीरधारणं च । यदि तु 'भर-
 तस्य त्रिजन्मभिः' इति न्यायेन तस्य नानादेहभोग्यप्रारब्धशो-
 बादेहान्तरधारणं तर्हि रुद्रहंभावधारणवर्णनस्यानुपयोगप्रस-
 ज्ञात् रुद्रस्वैश्वरतया तद्भावस्य कर्मफलत्वायोगाच्चेति चेत्तत्राह—

रुद्रभूतवपुस्तत्र तनुं तत्याज तामसौ ।
 गन्धः पवनतां गच्छन्कुसुमस्तबकं यथा ॥ ३
 स रुद्रो रुद्रभवने विजहार यथेच्छया ।
 तैस्तैः शिवपुराचारैर्गणकोटिगरिष्ठया ॥ ४
 रुद्रस्त्वनुत्तमज्ञानविलासैकतया तथा ।
 स्वमशेषं च वृत्तान्तमपश्यत्प्राक्तनं धिया ॥ ५
 निरावरणविद्वानवपुः स भगवांस्तदा ।
 उवाच स्वयमेकान्ते स्वस्वप्रशतविस्मितः ॥ ६
 अहो नु चित्रा मायेयं तता विश्वविमोहिनी ।
 असत्यैवापि सद्रूपा मरुभूमिषु वारिवत् ॥ ७
 इति प्रथममाज्ञातं चिद्योऽहं चित्तरां गतः ।
 सर्वसंपन्नसर्वज्ञगगनादिविभावनात् ॥ ८
 यहच्छया स्थितो जीवो भूतनन्मात्ररञ्जितः ।
 कस्मिंश्चिदभवत्सर्गं भिक्षुरभूभितोऽमितः ॥ ९
 तेनावयवबन्धेन बहिः स्वैरविहारिणी ।
 लीलाऽविलुलिताकारा यदा रम्येति भावतः ॥ १०
 सर्वभावोपमर्देन तदभ्यासवशात्तदा ।
 तामेव सोऽन्वभूद्भिक्षुस्त्यक्त्वाभ्यं मननोदयम् ॥ ११
 चमत्कृतिश्चेतसि या रुढा सैव विजृम्भते ।
 बह्वी त्यजति नैदाधी पीतमप्यम्बु माधवम् ॥ १२
 स भिक्षुर्जीवतो भूत्वा जन्तुर्जरठवासनः ।

प्रतिबिम्बवदिति । नायं मुख्यो रुद्रभावः किंतु प्रतिबिम्ब-
 वत्सारूप्यमुक्तिः सा च कर्मोपास्तिफलं भवत्येव—'दिवो भूत्वा
 देवानप्येति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २ ॥ नाप्येतज्जन्मास्तरं
 किंतु प्रारब्धशेषोपनीतयेच्छया योगिवन्मानसदेहान्तरकल्पनेन
 पूर्वदेहत्यागमात्रमित्याशयेनाह—रुद्रभूतवपुरिति ॥३॥ गण-
 कोटिषु गरिष्ठया श्रेष्ठया । गणपत्यपदव्येति यावत् ॥ ४ ॥
 सारूप्यमुक्तौ जगत्संहारादिव्यापाराधिकारामावेऽपि ज्ञानैश्वर्या-
 दिना प्रसिद्धरुद्रसाम्यमस्त्येवेत्याशयेनाह—रुद्रस्त्विति । अनु-
 त्तमज्ञानैरैश्वर्यविलासैश्च प्रसिद्धरुद्रैकतया साम्येन ॥ ५ ॥
 स्वयमेकान्ते स्वमनस्येवोवाच ॥६॥७॥ आ इति स्मरणद्योतको
 निपातः । अहं प्रथमं प्राक्तनपारमार्थिकस्थित्या चिदेव ।
 ततो मायया चित्तरां 'बहु स्यां प्रजायेय' इति सर्गसंकल्प-
 वृत्तिरां गत इत्यादीदमाज्ञातं स्मृतमित्यर्थः । तादृशसंकल्पादेवाहं
 सर्वसंपन्नः संश्रिदंशे सर्वज्ञो जडांशे गगनादिविभागवांश्च
 जात इत्यर्थः ॥ ८ ॥ ततो यहच्छया व्यष्टिसमष्टिलिङ्गस्थूलदेहे
 चिदाभासात्मनानुप्रवेशे भूतैः स्थूलस्तन्मात्रैः सूक्ष्मैश्च तैर्देहेष्वा-
 दात्म्यसंसर्गाध्यसेन तद्रतवासनावैश्विभ्यैश्चित्रपट इव रञ्जितः
 सन् जीवो भूत्वाहं स्थित इत्यर्थः । स च जीवः अनाविकाला-
 जन्मपरम्परामगुभवन्कस्मिंश्चित्सर्गं वैराग्यसमाधिपाटवादभितो
 विषयैरभूभितो भिक्षुः परित्राडभवत् ॥९॥ आत्मज्ञानान्यस्य
 तस्य रम्ये बाह्यवस्तुनीदंश्रेणाहंश्रेणे वा चित्तनिरोधाभ्या-
 सपाटवेन पूर्वदेहादेरात्यन्तिकविस्मरणशक्त्युद्भवं दर्शयति—

तेषु देहेषु बभ्राम रन्ध्रेष्विव पिपीलिका ॥ १३
 आत्मनि द्विजभक्तत्वात्सोऽपश्यद्विजतामथ ।
 भावाभावविपर्यासे बलवानेष वर्धते ॥ १४
 सामन्ततामवापासौ विप्रः संततचिन्तिताम् ।
 सातत्येन रसः पीतः फलतामेति पादपे ॥ १५
 राज्यार्थं धर्मकार्याणां कर्तृत्वात्सोऽभवद्वपुः ।
 सकामुकतया राजा सुरलीत्वमवाप ह ॥ १६
 लोला लोचनलोभेन सा मृगी रसशालिनी ।
 बभूव वासनामोहश्चाहो दुःस्वय जन्तुषु ॥ १७
 मृगी सा बत चित्तस्था बभूव विपिने लता ।
 अवश्यंभावि लवनं लतिकाऽनुबभूव ह ॥ १८
 अन्तःसंज्ञाचिराभ्यस्तं भ्रमरत्वमथात्मनि ।
 साऽपश्यत्सावमर्देन तदा तद्भावभाविता ॥ १९
 सवारणखुरक्षोदमनुभूयाथ भावितम् ।
 भूयोभूयः प्रबभ्राम महासंसृतिसंभ्रमान् ॥ २०
 संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहमहं स्थितः ।
 अस्मिन्संसारसंरम्भे स्वमनोमात्रसंभ्रमे ॥ २१
 एवमत्यन्तचित्रासु संसारारण्यभूमिषु ।
 बह्वीष्वहमतिभ्रान्तस्त्वशून्यास्विव भूरिशः ॥ २२
 कस्मिंश्चिदभवं सर्गं त्वहं जीवटनामकः ।
 कस्मिंश्चिद्ब्राह्मणश्रेष्ठः कस्मिंश्चिद्बसुधाधिपः ॥ २३

तेनेत्यादिना । तेन भिक्षुणा बद्धपद्मासनस्थैरेण स्थूलदेहा-
 वयवानां हस्तपादादीनां लिङ्गदेहावयवानां प्राप्तेन्द्रियादीनां
 च बन्धेन निरोधेन बहिर्देवतादिविषये चित्तस्य यदा यैव
 मानसपूजादिलीला रम्येति भावतः अविलुलिताकारा आरभ्यते
 तदा स तदभ्यासवशात्तामेव लीलां तत्तद्विरुद्धसर्वभावोपमर्दे-
 नान्वभूदिति परेणान्वयः ॥१०॥११॥ रुढया उत्तरचमत्कृत्या
 रुढया अपि पूर्वचमत्कृतेरुपमर्दे दृष्टान्तमाह—बह्वीति ।
 नैदाधी निदाघोष्णचमत्कृतिव्याप्ता बह्वी माधवं वसन्तकालिकं
 पीतमप्यम्बु हरितभावचमत्कारं त्यजति शुष्यतीति यावत् ॥१२॥
 तस्यैव सिद्धस्याप्यशास्त्रीयमानसखेलनप्रवृत्तावनर्धपरम्परोदयो-
 ऽभूदित्याह—स इत्यादिना । तेषु देहेषु योनिषु । जरठवासनं
 इत्यनेन शास्त्रीयवासनाशैथिल्ये अनाद्यनर्थवासनोद्भवोऽवश्यं-
 भावीति सूच्यते ॥ १३ ॥ तानेव समिसितं प्रपश्यति—
 आत्मनीत्यादिना । भावस्योद्भूतस्य अभावस्यानुद्भूतस्य च
 विपर्यासे वैपरीत्ये साध्ये अभ्यासपाटवादिबलवानेष वासनाचयो
 वर्धते उद्भवति अन्यस्तिरोभवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥ धर्म-
 प्रवच्यसहितया कामुकतया ॥ १६ ॥ लोचनपदेन मृगलोचन-
 सौन्दर्यं लक्ष्यते तल्लोभेन लोला । रसशालिनी रञ्जिता ॥१७॥
 लवनं छेदनम् ॥ १८ ॥ सावमर्देन छेदनावमर्दसहितलतादे-
 हं ॥ १९ ॥ भूयोभूय इत्यनेनान्तरालिकानि वारणालिहंसा-
 दीनि नवतिजन्मानि स्मृतान्युच्यन्ते ॥ २० ॥ स भिक्षुरहं
 सन्नेव रुद्रोऽहमिति स्थितः ॥ २१ ॥ अशून्यासु सखास्विव

हंसः पद्मवने भूत्वा विन्ध्यकच्छे च वारणः ।
 हरिणो देहयन्त्रादौ दशमहस्मिमां गतः ॥ २४
 अत्र वर्षसहस्राणि चतुर्युगशतानि च ।
 समतीताभ्यनन्तानि दिनर्तुचरितानि च ॥ २५
 मम प्रथममेव प्राक्चलितस्य परात्पदात् ।
 तत्त्वज्ञानितया रूढो मिधुत्वे योग्यताक्रमः ॥ २६
 भूयोभूयोऽप्यतिक्रम्य गतश्च ब्रह्महंसताम् ।
 स एव प्राक्तनोऽभ्यासः फलितः संगमोदयात् ॥ २७
 दृढाभ्यासो य एवास्य जीवस्योदेत्यविघ्नतः ।
 सोऽत्यन्तमरसेनापि तमेवाश्वनुधावति ॥ २८
 काकतालीययोगेन कदाचित्साधुसंगमात् ।
 अशुभो भावनाभ्यासो जीवस्य विनिवर्तते ॥ २९
 संगत्यधिगतं चैव केवलं स्वोदयं प्रति ।
 प्राक्तनो वासनाभ्यासो ह्यतुरुद्यममीक्षते ॥ ३०
 यच्चेद्वाभ्यस्यतेऽजस्रं यच्च देहान्तरेऽपि च ।
 जाग्रत्स्वप्नेष्वसदपि तत्सदित्यनुभूयते ॥ ३१
 तत्तदर्थक्रियाकारि दुःखाय च सुखाय च ।

भातासु ॥ २२ ॥ २३ ॥ विन्ध्यकच्छे वारणो हरिणश्चाभवम् ।
 इत्थं देहयन्त्रे आदिपदान्मनोयन्त्रे चाहस्मिमां वर्णितरूपां दशां
 गतः ॥ २४ ॥ मम प्रथमसर्गकालादारभ्य परात्पदाभिदेकर-
 सरूपाच्चलितस्य प्रच्युतस्यात्रास्मिन्संसारे वर्षसहस्राणि चतुर्युग-
 शतानि च अनन्तानि समतीतान्यनन्तानि दिनर्तुचरितानि
 च ॥ २५ ॥ मम मिधुत्वे तत्त्वज्ञानितया भवितुं यो योग्यता-
 क्रमः श्रवणमननाद्यभ्यासरूपो रूढोऽपि प्रमादादतिक्रम्य भूयो-
 भूयश्च जन्मपरंपरया ब्रह्महंसतां गतः स एव प्राक्तनोऽभ्यस्यत
 इत्यभ्यासक्रमो रुद्रसंगमोदयाद्भ्रूत्वे तत्त्वज्ञानफलेन फलित
 इति द्वयोरन्वयः ॥ २६ ॥ २७ ॥ अत एव शास्त्रीयसाधना-
 भ्यासो ज्यायान् यो विरुद्धैरनेकजन्मभिव्यवहितोऽपि पुनरुद्भव
 पुरुषार्थ साधयत्येवेत्याह—दृढाभ्यास इति । सः अत्यन्तमर-
 सेन जन्मसहस्रेण व्यवहितोऽपीति शेषः ॥ २८ ॥ तर्ह्यशुभोऽपि
 भावनाभ्यासस्तुल्ययुक्तया शुभाभ्यासव्यवहितोऽपि पुनरुद्भवेत्-
 प्राह—काकतालीयेति ॥ २९ ॥ तर्ह्यशुभवासनावच्छुभ-
 वासनाभ्यासोऽपि स्वयमेव प्राक्तनसंस्कारादुद्भविष्यति तद्दृढा-
 देवायं पुरुषः अशुभवासनां हास्यति चेति पुरुषप्रयत्नविधानं
 व्यर्थमित्याशङ्क्याह—संगतीति । हातुर्दुर्वासनाजालं जिहासतः
 पुंस एव प्राक्तनः सद्वासनाभ्यासः कालान्तरे स्वोदयं प्रति
 सन्पुरुषप्रयत्नमीक्षते प्रतीक्षते, न तं विनोद्भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥
 स च यत्रोऽनैकजन्माभ्यस्त एव सद्वासनादाख्येन दुर्वासनाप्रय-
 समर्थो भवति न सहसैवेत्याशयेनाह—यच्चेति । असदपीत्यनेन
 मिथ्यार्थविषयदेवतोपास्त्यादिप्रयत्नोऽपि यत्र जाग्रत्स्वप्नकालस-
 त्यतानुभवयोग्यदेवताभावादिकलसमर्थो भवति तत्र किं वाच्यं
 परमार्थवस्तुगोचरः श्रवणादिप्रयत्नः प्रमाणगम्यपरमार्थसत्य-

उदेति भावनं तस्माद्भावनाभावनं जयः ॥ ३२
 भावनैव स्वमात्मानं देहोऽयमिति पश्यति ।
 असत्तामात्रविस्तारं गुस्मकत्वमिवाङ्कुरः ॥ ३३
 भावना प्रेक्ष्यमाणैषा न किञ्चिदिह शिष्यते ।
 न च विद्यत दवेति तद्भ्रूमेणालमस्तु नः ॥ ३४
 भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्षवत् ।
 असंवेदनमात्रैकं मार्जन्यालमस्तु नः ॥ ३५
 असन्मयीस्वरूपैषा परं सप्तैव लालनी ।
 वर्तते चेद्विनोदाय किञ्चित्सा न करिष्यति ॥ ३६
 तत्ताम्सर्वास्वसंसारानुत्थायालोकयाम्यहम् ।
 सम्यगालोकदानेन तेभ्य एकीकरोम्यहम् ॥ ३७
 इति संचिन्त्य रुद्रोऽसौ तं सर्गं प्रजगाम ह ।
 यत्र मिधुर्विहारस्यः सुतः शव इव स्थितः ॥ ३८
 बोधयित्वाथ तं मिधुं चेतसा चेतनेन च ।
 योजयामास सस्मार मिधुरप्यात्मनो भ्रमम् ॥ ३९
 रुद्रमात्मानमालोक्य जीवटादिमयं तथा ।
 बोधादविसयाहोऽपि स मिधुर्विसयं ययौ ॥ ४०

स्वभावलाभा भवतीति सूच्यते ॥ ३१ ॥ अतएवानात्मविषयः
 शास्त्रीयोऽपि भावनाभ्यासो दुःखमिधित्तुस्त्रायेवेति सर्वभाव-
 नोच्छेद एवास्यात्यन्तिकानर्थजयो नान्तरालिकदेवत्वादिप्राप्ति-
 रित्याशयेनाह—तत्तदिति । तां तां देवताशरीरतद्भोगार्थ-
 क्रियां करोति तच्छीलं भावनमनात्मचिन्तनम् ॥ ३२ ॥ किञ्चा-
 नात्मभावनाकृत एवायमनर्थः स कथं तद्गीरुणा सेव्य इत्या-
 शयेनाह—भावनैवेति ॥ ३३ ॥ सा तत्त्वदर्शनमात्रेण सूच्छेदे-
 त्याह—भावनैवेति । न वा तदुच्छेदः साध्योऽस्ति नित्योच्छिन्न-
 त्वादसत इत्याह—न चेति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ अथवा मास्त्वसंवे-
 दनं तत्त्वज्ञानबाधितस्य संवेदनेऽपि बाधिताहेरिव भयजनना-
 सामध्येमानर्थत्वाभावात्प्रच्युत लीलाहेतुत्वाच्चेत्याह—असन्म-
 यीति—बाधितत्वादसन्मयी अधिष्ठानसत्तास्वरूपैषा जगदा-
 कारभावना लालनी कांतुकहेतुरेव परं इति प्रातिभासिकसत्तया
 वर्तते चेत्तर्हि विनोदायैव । किञ्चिदणुमात्रमप्यनर्थं सा न
 करिष्यतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ तत्तस्मात्कांतुकवशादेवोत्थाय गत्वा
 सम्यगालोकस्य प्रबोधस्य दानेन तेभ्य उपाधिभ्यो विविक्तं
 स्वात्मानमेकीकरोमि ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ बोधयित्वा जागरूकं
 कृत्वा चेतसा स्वचित्ताक्षेण चित्तेन चेतनेन स्वांशचिदाभासल-
 क्षणेन तत्त्वज्ञजीवेन च योजयामास । अत एव भिक्षोर्जागरणेन
 नास्मदादिस्वापप्रपञ्चस्यैव जीवटादिरुद्रान्तशरीराणां तत्प्रपञ्चानां
 च निरनुवृत्तिबाधप्रसङ्गो निरस्तः । सर्वत्र रुद्रांशजीवप्रवेश-
 कल्पनेन तदीयसत्यसंकल्पबलेन विचित्रभोजकादृष्टशेषबलेन च
 बाधितानामपि सर्वेषामाकल्पान्तमनुवृत्तिसंभवादिति ॥ ३९ ॥
 बोधात्स्वदर्शनात् । अल्पकाले चिरकालानेकजन्मानुभवलक्ष-
 णस्य स्वाप्नरुद्रशरीराद्यनुवृत्तिलक्षणस्य चाश्चर्यस्य दर्शनाद्विसयं

अथ रुद्रस्तथा भिक्षुर्द्विवोत्थाय जग्मतुः ।
 कापि जीवटसंसारं चिदाकाशैककोणम् ॥ ४१
 तत्र तद्भुवनं गत्वा तद्दीपं तच्च मण्डलम् ।
 विषयं तत्पुरं तच्च तं च पाणावसिग्रहम् ॥ ४२
 सुप्तं ददृशतुर्नष्टसंज्ञं जीवटकं शवम् ।
 स्थापयित्वा वपुर्भावं प्रभान्तं भवभूमिषु ॥ ४३
 तं प्रबोध्य नियोज्याशु चेतसा चेतनेन च ।
 एकरूपास्त्रिरूपास्ते रुद्रजीवटभिक्षुकाः ॥ ४४
 बोधवन्तोऽप्यबुद्धाभा विस्मिता अप्यविस्मिताः ।
 बभुस्तूर्णीस्थिताश्चित्रकृताकारा इव क्षणम् ॥ ४५
 अथ जग्मुश्च ते सर्वे क्वचिद्योमनि संस्थितम् ।
 विप्रसंसारमारब्धं परिभूतसधुंघुमम् ॥ ४६
 ते तत्र भुवनं गत्वा तद्दीपं तच्च मण्डलम् ।
 विषयं तच्च तं ग्रामं प्रापुस्तं ब्राह्मणालयम् ॥ ४७
 विप्रं ते ददृशुः सुप्तं कलत्रवलितं गृहे ।
 कण्ठे गृहीतं ब्राह्मण्या बहिर्जीवमिव स्थितम् ॥ ४८
 तं प्रबोध्य नियोज्याशु चेतसा चेतनेन च ।
 तत्स्थास्ते बहवोऽप्यन्ये सविस्मयविस्मयाः ॥ ४९
 अथ जग्मुश्चिदाकाशकचितं चेतितं चितेः ।
 सामन्तं नृपसंसारं भ्रमणाभोगसुन्दरम् ॥ ५०
 ततस्ते भुवनं प्राप्तास्तद्दीपं तच्च मण्डलम् ।
 सामन्तं ददृशुर्मत्तं सुप्तं पर्यङ्कपङ्कजे ॥ ५१
 हेमावदातं हेमाङ्गा निहितं कुचकोटरे ।
 भ्रमर्यैवान्वितं पद्मकोशसुप्तं मधुव्रतम् ॥ ५२

ययौ ॥ ४० ॥ जीवटसंसारं ब्रह्माण्डान्तरम् ॥ ४१ ॥ तत्र लीलोपाख्यानवर्णितरीत्या प्रविश्य भुवनं भूलोकं गत्वा तत्रापि तज्जीवटास्पदं द्वीपम् । विषयं मण्डलान्तर्गतदेशम् । तच्च गृहम् । तत्र गृहे पाणौ असेर्ग्रहणं ग्रहो यस्य तथाविधं तं जीवटं च ददृशतुः ॥ ४२ ॥ शवमिव सुप्तम् । तत्रत्यजनानां स्वदर्शनायोग्यत्वाद्ब्रह्मिष्ठुवपुषो भावो जीवटबोधनाभिप्रायस्तम् । रुद्रस्य या कोटिसूर्याभा प्रभा तदन्तं च सर्वं स्वप्रभावं स्थापयित्वा अन्तर्धानशक्त्या गोपयित्वा । भवभूमिषु जीवटसंयुतिप्रदेशेषु ॥ ४३ ॥ चेतसेत्यादिपूर्ववत् । अन्तरेकरूपाः । बहिर्स्त्रिरूपाः ॥ ४४ ॥ चित्रकृताकाराश्चित्रलिखिता इव ॥ ४५ ॥ व्योमनि चिदाकाशे संस्थितमध्यस्तम् । आरब्धं जीवटचित्तपरिणामरूपम् । परितो भूतैः प्राणिभिः सधुंघुमं सशब्दम् ॥ ४६ ॥ ते तत्रेत्यादि पूर्ववत् ॥ ४७ ॥ कलत्रं पोष्यवर्गस्तद्वलितम् । बहिर्गतं जीवमिव प्रियतमम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ चितेश्चिदाकारविकृतायाश्चेतितं परिणतिरूपम् ॥ ५० ॥ पर्यङ्कलक्षणे पङ्कजे ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ तत्स्थास्तत्र स्थिताः सन्तः ॥ ५४ ॥ चेतसा आतिवाहिकशरीरैरेव । अत्रान्तराले सुप्तानां संबोधनमात्रं मृतानां नु संजीवनमपि बोध्यम् ॥ ५५ ॥ ब्रह्महंसरूपां ईहां

कान्ताभिरभ्यावलितं मञ्जरीभिरिव द्रुमम् ।
 दीपजालकमध्यस्थं रत्नौघ इव काञ्चनम् ॥ ५३
 तं प्रबोध्य नियोज्याशु चेतसा चेतनेन च ।
 तत्स्थास्ते बहवोऽप्येके सविस्मयविस्मयाः ॥ ५४
 अथ ते राजसंसारं जग्मुस्तत्र विबोध्य तम् ।
 चेतसैवमथान्यासु भ्रेमुः संसारभूमिषु ॥ ५५
 प्राप्य तां ब्रह्महंसेहां रुद्रतां सर्व एव ते ।
 समाजग्मुर्विरेजुश्च रुद्राणामुत्तमं शतम् ॥ ५६
 एकसंधिद्भिन्नतनु चित्रचेष्टितवेष्टितम् ।
 एकरूपमनेकाभं रूपं तत्पारमेश्वरम् ॥ ५७
 रुद्राणां तच्छतमथ निरावरणचिन्मयम् ।
 सर्वसंसारसंबन्धि स्थितं सर्वजगत्स्थितम् ॥ ५८
 शतरुद्रशतानीह सन्ति राम महान्ति हि ।
 पतदेकादशं विद्धि संसारं प्रतिसंस्थितम् ॥ ५९
 यो योऽभितः स जीवस्य संसारः समुदेति हि ।
 तत्राप्रबुद्धा जीवौघाः पश्यन्ति न परस्परम् ॥ ६०
 मिलन्ति हि मनोबुद्धास्तरङ्गा इव वारिधौ ।
 अप्रबुद्धास्तु तन्मात्रनिष्ठा लोष्टवदास्थिताः ॥ ६१
 यथा द्रवत्वाद्दीच्यम्बु त्वन्योन्यं संमिलत्यलम् ।
 तथा प्रबुद्धा जीवौघा मिथश्चित्त्वान्मिलन्त्यलम् ॥ ६२
 प्रत्येकमुदिते चैते संसारे जीवराशयः ।
 चिदातोः सर्वगत्वेन त्वसत्याः सत्यवत्स्थिताः ॥ ६३
 यद्यदाखन्यते भूमेस्तत्तन्नाम यथा नभः ।
 सर्वगायाश्चितेर्यद्यदुह्यते तत्तथैव चित् ॥ ६४

चित्तपरिणतिम् । रुद्रचित्तचेतनांशैरेव चित्तचेतनवत्त्वाज्ज्ञानैश्वर्यसंपन्नत्वाच्चोत्तमम् । ते सर्वे देहा रुद्राणां शतम् ॥ ५६ ॥ तदेवाह—एकेति ॥ ५७ ॥ प्रातिभासिकसर्वसंसारस्य संबन्धि आधारभूतम् । सर्वजगदन्तश्च स्वयमन्तर्यामितया स्थितम् ॥ ५८ ॥ ईदृश्येव 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धानां रुद्राणां स्थितिरित्याशयेनाह—शतैति । भिक्षुरुद्रकल्पितशतजगतां मध्ये एतत्त्वां मां च प्रति अनुभूयमानतया संस्थितं जगत् एकादशं भ्रामररुद्रसंसारं विद्धि ॥ ५९ ॥ ननु भिक्षुस्वप्नसंसारः सर्वेपि सर्वैः कुतो नानुभूयन्ते तत्राह—यो य इति । स उक्तलक्षणो जीवस्य यो यः संसारः अभितः समुदेति । तत्र तेषु संसारेषु ॥ ६० ॥ मनसा बुद्धास्तत्त्वविदस्तु तैर्जांबुः सह मिलन्तीति सर्वं पश्यन्तीत्याशयः ॥ ६१ ॥ मेलने च हेतुः स्थौल्यापगम इत्याशयेनाह—यथेति ॥ ६२ ॥ सर्वजीवतत्त्वभूतब्रह्मैक्यलाभ एव सर्वैस्सदीयकल्पितरूपात्मकजीवैर्मिलनमित्याशयेनाह—प्रत्येकमिति । चिदातोश्चित्तसारस्य ब्रह्मणः ॥ ६३ ॥ उह्यते अपोह्यते तत्त्वदर्शनेन सत्यत्वादपनीयते तत्तथा नभोवदेव चित्तपरिशिष्यते ॥ ६४ ॥

सर्वप्रपञ्चभूतानि यथानुभवसीह हि ।
 तथेह सर्वभूतात्म चित्तं सर्वत्र विद्यते ॥ ६५
 यच्छालभञ्जिका वृक्षे शैले श्वभ्रे गतेऽन्तकम् ।
 प्रेक्षयते तद्वदेकात्मा तथा चिति जगत्स्थितम् ॥ ६६
 अवेदने परे शुद्धे वेदनं यज्जगत्स्थितम् ।
 अकारणमचैतन्यं शून्यत्वेन यथा नभः ॥ ६७
 विद्यते वेदनं दृश्यबन्धो मोक्षस्त्ववेदनम् ।
 यदेव रुचिरं ते स्यात्तदेवाशु दृढीकुरु ॥ ६८
 सर्गासर्गौ बन्धमोक्षौ वेदनावेदनात्मकौ ।
 अभिज्ञौ बोधनाञ्चोभौ यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६९
 असंविन्देस्तु यन्नास्ति तन्नाशे का कदर्थना ।
 तूर्णीभावेन यत्प्राप्यं प्राप्तमेवाशु विद्धि तत् ॥ ७०
 यद्वै वेदनमात्रात्म तदङ्गावेदनक्षयम् ।

तद्वेदनं वेदनाया यदिष्टं तत्समाचरेत् ॥ ७१
 वीचिर्यथाम्मसः स्पन्दो जगच्चैव तथा चितौ ।
 एतावन्मात्र एवात्र भेदो यद्रघुनन्दन ॥ ७२
 देशकालस्वरूपेषु सत्सु वीच्यादिताम्भसि ।
 जगदादौ तु देशाद्या असन्तो जगतीक्षिताः ॥ ७३
 आभास्वरं त्रिजगदित्यतिभाति भास्व-
 त्त्वं वेदनं विदनमेव चित्तेः स्वरूपम् ।
 वाचि स्थितं भवति चैतदुपोह भेद-
 क्लिष्टं प्रशान्तवचनस्तु शिवः परात्मा ॥ ७४
 संवेदनं सर्व इतीह शब्दा-
 दर्थादभिज्ञौ न कदाचिदेतौ ।
 वीच्यम्भसी द्वे इति नोचितोक्ति-
 र्यस्याङ्गतायां त्विदमेव युक्तम् ॥ ७५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० जीवटोपाख्याने स्वप्रशतरुद्रीयकथनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ६३

चतुःषष्टितमः सर्गः ६४

श्रीराम उवाच ।

जीवटब्राह्मणादीनां हंसादीनां मुनीश्वर ।
 भिक्षुस्वप्नशरीराणां संपन्नं किमतः परम् ॥ १

नभस इव चित्तः सर्वत्र सत्त्वमनुभावयति—सर्वेति । सर्वे
 प्रपञ्चा विशेषविभागास्तद्युक्तानि पञ्चभूतानि यथा सर्वत्रानुभवसि
 तथा सर्वभूतात्मभूतसत्तारूपं चित्तमपि सर्वत्र विद्यते तदनुभवे-
 त्यर्थः ॥ ६५ ॥ तस्य सर्वगतत्वे तत्र च सर्वकल्पने दृष्टान्तमाह—
 यदिति । यद्यथा वृक्षे काष्ठे शैले शिलास्तम्भे वा टक्कुच्छेदेन
 शिल्पिभिस्तत्तदाकारप्रतिमानुकूलध्वरे कृते अन्तकं पुरुषहस्ति-
 तुरगाद्याकारपरिच्छेदं गते सति तदेव पुरुषादिविचित्ररूपा
 शालभञ्जिका प्रेक्षयते तद्वदेकात्मा सद्रूपः सर्वाकारः प्रेक्षयते,
 चिद्रूपे तस्मिन् जगत्तथा स्थितं प्रेक्षयत इत्यर्थः ॥ ६६ ॥ वृक्षादौ
 टक्कुच्छेदः परिच्छेद इह तु किंकृतः स तत्राह—अवेदने
 इति । अवेदने अविषये परे शुद्धे यद्वेदनं विषयतापादनमन्यथा-
 ज्ञानं तदेव जगदिति परिच्छेदनिमित्तं स्थितमित्यर्थः । चिदेक-
 रसे ब्रह्मणि यज्जगदाकारमचैतन्यं आङ्गं तदकारणं निर्निमित्तमे-
 वेति नभ इव शून्यत्वेन स्थितम् ॥ ६७ ॥ तथा च तादृशवेदनमे-
 वास्य दृश्यबन्धस्तन्निवृत्तिरेव मोक्ष इति फलितमित्याह—विद्यत
 इति ॥ ६८ ॥ बोधनात्तदुभयसाक्षिणः ॥ ६९ ॥ असंविन्देदर्शन-
 मात्राद्यन्नास्ति तस्य अनर्थस्य नाशे का कदर्थना आयासः ।
 यच्च सुखं तूर्णीभावेन प्राप्यं तदाशु प्राप्तमेव । तत्राप्यायासा-
 पेक्षा नास्तीत्यर्थः ॥ ७० ॥ यज्जगद्रूपं वेदनमात्रात्म तत् अवे-
 दनमदर्शनमेव क्षयो यस्य तथाविधम् । तत्तस्या जगद्वेदनाया
 यद्वेदनं साक्षिचैतन्यं तत्प्राप्तमेवेत्यनुपपद्यते—यदिष्टमिति ।
 पूर्ववत् ॥ ७१ ॥ दृष्टान्ताद्दार्ष्टान्तिके यद्वैलक्षण्यं तद्दर्शयति—

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

रुद्रेण सह संभूय प्रबुद्धाः सर्व एव ते ।
 मिथश्च दृष्टसंसारं रुद्रांशाः सुखिनः स्थिताः ॥ २

एतावन्मात्र इति । भेदो वैलक्षण्यम् ॥ ७२ ॥ तदेवाह—
 देशेति । जगत आदौ विवर्तोपादाने ब्रह्मणि देशाद्याः पूर्वम-
 सन्तः पश्चादारोप्यमाणाः कार्यभूतजगत्कोटावेवेक्षिताः ॥ ७३ ॥
 भास्वत्स्वप्रकाशं यत्स्वमात्मरूपं वेदनं चैतन्यं तदेवाविद्यावरणा-
 दाभास्वरमीषत्प्रकाशमिव संपन्नं त्रिजगदित्यतिक्रम्य स्वरूपम-
 न्यथा भाति । चित्तेश्चिद्रूपस्य तस्य पारमार्थिकं स्वरूपं विदनं
 ज्ञानमेव न जडम् । एतद्वेदक्लिष्टं त्रिजगत् । 'अज्ञेन सोम्य
 शुणेनाऽपोमूलमन्विच्छ' इत्यादिश्रुतिदाशतोपायैरुपोह उप-
 संहर । तथोपसंहृतं तु तत् 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इति
 श्रुतिदर्शितदिशा वाचि वाङ्मात्रे स्थितं भवति । प्रशान्तं वचनं
 वाङ्मात्रमपि यत्र तथाविधस्तु परः शिवः परमात्मेत्यर्थः ॥ ७४ ॥
 एवं संवेदनमात्मचैतन्यं सर्वो जगदिति च शब्दादर्थाङ्गभिज्ञौ
 संपन्नौ न कदाचिदेतौ द्वौ स्तः । यस्योक्तरूपस्यात्मनः अज्ञता-
 यामिदमेव युक्तं, न तु ज्ञतायामित्यर्थः ॥ ७५ ॥ इति श्रीवासि-
 ष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे स्वप्रशत-
 रुद्रीयकथनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

तैस्तैर्देहेः पुनस्तेषां शेषभोगोऽत्र वर्णयते ।

ततो रुद्रगणस्वाप्तिः संकल्पस्थिरताक्रमः ॥ १ ॥

भिक्ष्वादिह्रान्तदेहेष्वात्तरालिकाष्टनवतिदेहेषु भोजकप्रार-
 ष्यशेषाः सन्ति न वेति संदेहात्तद्वृत्तान्तं राम पृच्छति—जीव-
 टेति । किं संपन्नं स्वाप्रशरीरवद्वाध उताग्ने व्यवहारोऽपि संपन्न
 इत्यर्थः ॥ १ ॥ ते रुद्रांशा मिथश्च दृष्टपूर्वोत्तरसंसारः सन्तः

तेन रुद्रेण तां मायामवलोक्य यथोदिताम् ।
 स्वांशास्तामेव संसारस्थितिं ते प्रेषिताः पुनः ॥ ३
 श्रीरुद्र उवाच ।
 गच्छताशु निजं स्थानं तत्र भुक्त्वा कलत्रकैः ।
 कंचित्कालं समं भोगाम्मत्सकाशमुपैष्यथ ॥ ४
 भविष्यथ मदंशा ये गणा मत्पुरभूषणाः ।
 ततो महाप्रलयतो यास्यामस्तत्परं पदम् ॥ ५
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 इत्युक्त्वा भगवान् रुद्रस्तेषां सोऽन्तरधीयत ।
 अन्त्यसंसारसंख्यानं रुद्राणां मध्यमाययौ ॥ ६
 प्रययुः स्वास्पदं तेऽपि जीवटब्राह्मणादयः ।
 स्वकलत्रैः समं देहं क्षपयित्वाथ कालतः ॥ ७
 रुद्रलोकं समासाद्य भविष्यन्ति गणोत्तमाः ।
 कदाचिद्भोक्त्रि दृश्यन्ते तारकाकारकारिणः ॥ ८
 श्रीराम उवाच ।
 भिक्षुसंकल्परूपास्ते जीवटब्राह्मणादयः ।
 कथं सत्यत्वमायाताः संकल्पार्थे क्व सत्यता ॥ ९
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 संकल्पसत्यता त्वंशे त्यज संकल्पसत्यताम् ।
 तत्र यज्ञास्ति तन्नास्ति यतः सर्वात्म तत्पदम् ॥ १०
 यत्स्वप्ने दृश्यते यच्च संकल्पैरवलोक्यते ।
 तत्तथा विद्यते तत्र सर्वकालं तदात्मकम् ॥ ११

कृतकृत्यात्वात्सुखिनः स्थिताः ॥ २ ॥ तेन कौतुकदर्शनाय
 प्रथमं प्रवृत्तेन रुद्रेण । तां जीवटादिसंसारस्थितिमेव ॥ ३ ॥
 ॥४॥ महाप्रलयतो द्विपरार्थविज्ञानतः प्रारब्धक्षये भोजकावि-
 द्यालेशेन सह । जगत्प्रतिभासक्षयतो वा ॥ ५ ॥ तेषां सर्वेषां
 रुद्राणां तदानीमन्त्यरुद्रसंसारस्य यत्संख्यानं दर्शनं यत्साक्षि-
 चैतन्यमभूत्तन्मध्यमान्तरालिकं जीवटादिसंसारं प्रत्येकमाययौ
 स्वप्नसाक्षीव जागरमित्यर्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥ भविष्यन्तीत्युक्ते-
 सिष्ठरामसंवादकाले ते स्वस्वसंसारे एव स्थिता इति गम्यते
 ॥ ८ ॥ प्राग्बहुशः पृष्ठार्थस्यैव विशेषजिज्ञासया प्रभ्रः स्पष्टः
 ॥ ९ ॥ अंशे अधिष्ठानचिदंश एव । अध्यस्तांशे तु संकल्पस्य
 सत्यतां विवेकेन त्यज । तत्र सदसत्संवलितसांकल्पिकार्थे
 यत्सदतिरिक्तरूपं पूर्वोत्तरकालयोर्नास्ति तदेव नास्ति तत्पदम-
 धिष्ठानं तु यतः सर्वात्म ततोऽस्येवेति तत्सत्तयैव भोजकादृष्टो-
 द्दोषितसांकल्पिकार्थस्यार्थक्रियासामर्थ्यमित्यर्थः ॥ १० ॥ सर्व-
 कालं यत्सदधिष्ठानं तदात्मकं भूत्वा तद्देशकालात्मतया तत्र
 सदा विद्यते ॥ ११ ॥ गत्वा देशान्तरं यथेत्येतद्विवृणोति—
 देशादिति । यथा मथुरादिदेशादेशान्तरं पाटलिपुत्रादि तत्र
 विद्यमानमपि गतिर्गमनमात्मा स्वस्थं मनः आदिपदाश्चुरादि-
 पाटवमहरादिकालस्तद्विवेकोपदेश्य पुरुष इत्यादिकं कारणकलापं
 विना न लभ्यते तथा स्वप्नेऽपि तत्र जाग्रत्सुषुप्तयोः स्वप्नान्तरे
 वा न लभ्यत इति परेणान्वयः ॥ १२ ॥ चितः कोशे कोश-

तद्देशकालात्मतया गत्वा देशान्तरं यथा ।
 देशादेशान्तरं बह्वक्ष गत्यात्मादिकं विना ॥ १२
 न लभ्यते तथा स्वप्ने विना तत्र न लभ्यते ।
 सर्वमस्ति चितः कोशे यद्यथालोकयत्यसौ ॥ १३
 चित्तया तद्वाप्नोति सर्वात्मत्वादविक्षतम् ।
 संकल्पः स्वप्नकस्त्वङ्ग यथा च दशयाप्यते ॥ १४
 परमभ्यासयोगाभ्यां विना त्वेतन्न लभ्यते ।
 येषां तु योगविज्ञानदृष्टयः फलिताः स्थिताः ॥ १५
 सर्वे सर्वत्र पश्यन्ति ते यतः शंकरादयः ।
 इदमप्रगतं वस्तु तथा संकल्पितं मया ॥ १६
 नाप्यं यतोभयभ्रंशं स प्राप्नोत्युभयाश्रयात् ।
 सर्वं ह्यभिमतं कार्यमेकनिष्ठस्य सिद्ध्यति ॥ १७
 दक्षिणां ककुभं गच्छन्कः प्राप्नोत्युत्तरां दिशम् ।
 संकल्पार्थपरैरेव संकल्पार्थोऽवगम्यते ॥ १८
 अप्रस्थार्थपरैरेव संस्थितोर्थोऽवगम्यते ।
 अप्रस्थे बुद्धिसंस्थे यः संकल्पं प्राप्नुमिच्छति ॥ १९
 तदासावेकनिष्ठत्वाभावात्तन्नाशयेद्भयम् ।
 तस्मादेकार्थनिष्ठत्वाद्भिक्षुजीवेन रुद्रताम् ॥ २०
 प्राप्य सर्वात्मना लब्धं तथा सर्वं तथास्थितेः ।
 भिक्षुसंकल्पजीवास्ते प्रत्येकं तज्जगत्पृथक् ॥ २१
 पश्यन्ति चैते नान्योन्यं रुद्रज्ञानादृते ततः ।
 अप्रबुद्धाः प्रजायन्ते जीवा जीवान्तबोधिनाः ॥ २२

सदृशे सर्ववासनाकरे अज्ञाने यथा यथा आलोकयति भोजका-
 दृष्टोद्दोषितवासनाभिः पर्यालोचयति तथा तथा चित् अविक्षतं
 समग्रं तद्विषयरूपं दृश्यतया आप्नोति ॥ १३ ॥ सर्वस्य स्वप्न-
 संकल्पाद्युगपदर्शने तर्हि क्व उपायस्तमाह—संकल्प इति ।
 आप्यते तां दशां शृण्वति शेषः ॥ १४ ॥ परमिति । अभ्या-
 रायोगपरिपाकदेशेव सेत्यर्थः । तत्रेश्वराणां विनाप्यभ्यासं
 स्वत एव योगसिद्धिफलमस्तीति विशेषमाह—येषां त्विति
 ॥ १५ ॥ अभ्यासयोगयोः संकल्पितार्थत्वमे तदेकाग्र्यसंपाद-
 कत्वेनैवोपयोगः । ऐकाग्र्याभावे तु चित्तमनेकार्थव्यासकमेक-
 मपि स्वसांकल्पिकमर्थं न लभत इत्यसत्यसंकल्पतास्य संपन्ने-
 व्याशयनाह—इत्मित्यादिना । मया ऐकाग्र्यशून्येन न आप्यं
 प्राप्तुं शक्यं यतश्चित्तं संकल्पिततदन्योभयाश्रयाद्भयभ्रंशं
 प्राप्नोति नैकत्र स्थिरीभवतीत्युत्तरेणान्वयः ॥ १६ ॥ यत इत्यत्र
 यलोपस्यासिद्धत्वात्संधिरार्थः । उक्तमेवार्थं सामान्योक्तिभिः
 समर्थयति—सर्वमित्यादिना ॥ १७ ॥ ककुभं दिशम् ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ प्रकृते योजयति—तस्मादिति ॥ २० ॥ तथा
 प्रसिद्धरुद्रवदेन सार्धेऽन्येन सर्वं लब्धम् । अस्यापि तथा स्थितेः ।
 ते आन्तरालिका जीवटादयोऽष्टनवतिभिर्भिक्षुसंकल्पजीवाः प्रत्येकं
 यतः स्थितास्तज्जगत् पृथक्पृथक् ततोऽन्योन्यं न पश्यन्ति
 ॥२१॥ तर्हि ते रुद्रसंनिधौ कथमन्योन्यं दृष्टवन्तस्तत्राह—
 अप्रबुद्धा इति । जीवानामन्ताः संसारभेदास्तद्बोधिनास्तस्य

तदिच्छयाशु तद्रूपा बहुरूपाश्च ते इह ।
 इह विद्याधरोऽहं स्यामहं स्यामिह पण्डितः ॥ २३
 इत्येकध्यानसाफल्यं दृष्टान्तोऽस्यां क्रियास्थितौ ।
 एकत्वं च बहुत्वं च मौख्यं पाण्डित्यमेव वा ॥ २४
 देवत्वं मानुषत्वं च देशकालक्रियाक्रमैः ।
 तुल्यकालमलं कर्तुं धारणाध्यानयत्नतः ॥ २५
 सर्वशक्तयः स्वरूपत्वाजीवस्यास्यैकशक्तिता ।
 अनन्तध्वान्तपूर्वकश्च स्वभावोऽस्य स्वभावतः ॥ २६
 सविकासः ससंकोचोऽर्हिस्त्रस्तेन चिदात्मनः ।
 यदिच्छति तदस्याङ्गं जन्तुः संपद्यते स्वयम् ॥ २७
 स्वयं संपादितैरेभिर्देशकालक्रियाक्रमैः ।
 योगिन्यो योगिनश्चेह तिष्ठन्त्यन्यत्र यत्र च ॥ २८
 इह वामुत्र भोगेन दृष्टमेतदनेकशः ।
 कार्तवीर्यां गृहे तिष्ठन्सर्वेषां भयदोऽभवत् ॥ २९
 विष्णुः क्षीरोदधौ तिष्ठन्जायते पुरुषो भुवि ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० बाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० गणत्वप्राप्तिर्नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

स्वप्नशतरुद्रीयं समाप्तम् ।

रुद्रस्येच्छया प्रजायन्ते ॥ २२ ॥ तथा तद्रूपा बहुरूपाश्च ते
 तदिच्छयैव जायन्ते इत्यर्थः । प्रातिस्विकसंसारदर्शने तु तेषा-
 मेवेच्छा हेतुरित्याह—इहेति ॥ २३ ॥ अन्येषामपि जीवाना-
 मस्यां प्रसिद्धायां क्रियास्थितौ तत्तद्यवहारव्यवस्थायामयं भिक्षु-
 संकल्पसर्ग एव दृष्टान्तः । अयं जीवो धारणाध्यानयत्नानुसारेण
 यद्यदिष्टं तत्सर्वं क्रमेण युगपच्च यथेच्छं कर्तुं समर्थ इत्याह—
 एकत्वमित्यादिना ॥ २४ ॥ देशकालक्रियाक्रमैस्तुल्यकालं वा
 कर्तुमलं समर्थः ॥ २५ ॥ तत्र हेतुमाह—सर्वेति । यतोऽयं
 जीवः परमार्थतोऽनन्तः अतोऽस्य सर्वशक्तयः सन्ति यतश्चाय-
 मेकैकदेहाभिमानलक्षणेनान्तेन परिच्छेदेन पृक्तः अतोऽस्यैक-
 कार्यमात्रशक्तितास्ति । शक्तिस्वभावानुसारतश्च तत्तत्कार्यस्वभा-
 वोऽस्य व्यवस्थित इत्यर्थः ॥ २६ ॥ अत एव प्राणिकर्मानुसारेण
 स्वर्गनरकाद्यनर्थसहस्रसर्गात्मना सविकासः सर्वप्राणिंसंहारेण
 प्रलयतात्मना च ससंकोचो जगदीश्वरः अर्हिसो हिंसाप्रयुक्त-
 वैषम्यनैर्घृण्यदोषशून्यः, यतोऽयं जन्तुर्जीवसङ्घः स्वयं यदिच्छति
 तदेव स्वेच्छानुसारादस्य चिदात्मन ईश्वरस्य संकल्पात्संपद्यते
 न तेन किञ्चित्कस्यचिदिनिष्टं क्रियत इत्यर्थः । तथाच भगवतो
 वादरायणस्य सूत्रम् 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' इति ॥ २७ ॥
 इदानीं धारणाध्यानयत्नफलमैच्छिकीमेकधानेकधावस्थितमुदा-
 हरणेन प्रपद्यति—स्वयं संपादितैरित्यादिना । तत्तद्देशका-
 लानुसारिप्राप्यनुग्रहनिग्रहकीडायधिकारिकक्रियाक्रमैः । इह
 स्वगृहे अन्यत्र यत्रेच्छन्ति तत्र च नानादेहादिकल्पनया
 तिष्ठन्ति ॥ २८ ॥ इह लोके अमुत्र स्वर्गादिषु वा योगिनो युग-
 पत्प्रारब्धभोगेन तिष्ठन्तीति पूर्वगणान्वयः । एतदेवंविधं योगिनां
 चरित्रम् । सर्वेषां चोरादीनां तत्र तत्र संनिधानेन भयदः शास्ता

पश्चर्यं यान्ति तिष्ठन्त्यो योगिन्यो योगिनीगणे ॥ ३०
 शक्रः स्वर्गासने तिष्ठन्त्याति यक्षार्थमुर्विकाम् ।
 सहस्रमेकं भवति तथा चास्मिन्ननार्दनः ॥ ३१
 नृणां शतानि भक्तानां मानुष्यं याति तन्नतैः ।
 एकः सहस्रं भवति तथा चैव जनार्दनः ॥ ३२
 अंशावतारलीलाभिः कुरुते जागतीं स्थितिम् ।
 एकः कान्तासहस्राणि तुल्यकालं निमेषवत् ॥ ३३
 एवं ते भिक्षुसंकल्पा जीवदब्राह्मणादयः ।
 रुद्रविज्ञानवशतः स्वसंकल्पपुरीं गताः ॥ ३४
 तत्र भुक्त्वा चिरं भोगान्प्राप्य रुद्रपुरं ततः ।
 गणताभावसन्तस्ते स्थास्यन्ति सपरिच्छदाः ॥ ३५
 नित्यं प्रफुल्लनवकल्पलतालयेषु
 रुद्रेण साकमुरुत्तगुलुच्छकेषु ।
 नानाजगत्सु च तदा शिवपत्तनेषु
 विद्याधरीष्वमरमौलिधराश्च रेजुः ॥ ३६

अभवत् । तत्र भगवतो दत्तात्रेयस्य प्रसादात्सर्वं योगसामर्थ्यं
 तस्य मार्कण्डेयपुराणादौ प्रसिद्धम् ॥ २९ ॥ जायते जन्मा-
 दिना व्यवहरति । स्वर्लोके योगिनीगणमध्ये तिष्ठन्त्य एव
 भूलोके पशुपेयाद्युपहारग्रहणार्थं यान्ति ॥ ३० ॥ अस्मिन्नरामा-
 वतारे जनार्दनो जनस्थाने चतुर्दशसहस्रराक्षसवधाय सहस्रं
 संपन्नः पुनरेको भवति ॥ ३१ ॥ तेषां भक्तानां नतैर्नमस्कारा-
 दिना प्रार्थनेः । भक्तानां नृणां शतानि अनुग्रहीतुं पुनर्यदुकुले
 मानुष्यं याति । तत्र च कुरुसभायां दुर्योधनादिव्यामोहनायैकः
 सहस्रं भवति ॥ ३२ ॥ कान्तानां सहस्राणि षोडशसहस्रं तुल्य-
 कालमुपभुङ्क्ते इति शेषः । तत्र दृष्टान्तः—निमेषवदिति ।
 यथा निमी राजर्षिर्विदेहतामापन्नः सर्वप्राणिनां नेत्रेषु वसन्
 युगपक्लिमेषणानि करोति तद्वत् ॥ ३३ ॥ वर्णितीत्या प्रकृ-
 तेषु बोध्यमित्याह—एवमिति । रुद्रस्य विज्ञानमभ्यनुज्ञा
 तद्वशतः । तत्संकल्पानुसारिण्येव रुद्रस्याभ्यनुज्ञा तद्वलादित्यर्थः
 ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ तेषामपि तदा स्वगृहे सर्वभुवनेषु च बहु-
 देहकल्पनेनैच्छिकविहारो युगपत्प्रवृत्त इत्याह—नित्यमिति ।
 ते गणा उरुत्तगुलुच्छकेषु बहुरत्नस्तम्बकेषु प्रफुल्लनवकल्पलता-
 गृहेषु रुद्रेण साकं तथा नानाविधेषु जगत्सु भुवनेषु तथा
 शिवेषु कैलासवैकुण्ठब्रह्मलोकादिपत्तनेषु नगरेषु च विहरन्तो
 गीतवादित्रनाट्यादिकुशललासु विद्याधरीषु मध्ये अमरमौलिषु
 ध्रियन्ते सर्वत्र प्रणम्यन्त इत्यमरमौलिधराः । अमरं मरणनिवा-
 रकममृतपूर्णं चन्द्रं मौलौ धारयन्तीति वा अमरमौलिधराः
 सन्तो रेजुर्वभुः ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे गणत्वप्राप्तिर्नाम चतुःषष्टितमः
 सर्गः ॥ ६४ ॥

पञ्चमस्कन्धः सर्गः ६५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ईषदृष्टो यथा तेन मिश्रुणा चेतसि भ्रमः ।
 भूतं प्रयत्नमेवैव पृथक्त्वा सुपश्यति ॥ १
 सर्वस्याभासजीवस्य मृतिजन्ममयी स्थितिः ।
 भवत्येव चिदाकाशकपिष्येवाकृतिं गता ॥ २
 पृथक्त्वैक्यमभ्येति स्वात्मा संसारबण्डकम् ।
 सर्वं एव मृतो जन्तुः पृथक्त्वप्रविभात्मकम् ॥ ३
 एवंततस्वरूपोऽपि देही कामोक्षमाकुलः ।
 जीवयूथं मया तुभ्यं कथितं कथयाऽनया ॥ ४
 परात्मस्पर्शान्दितात्मेति न मिश्रु राम केवलम् ।
 मोहान्मोहान्तरं याति जीवोऽहरहरेव वः ॥ ५
 पर्वताग्रपरिभ्रष्टो ह्यधोऽप्युपलो यथा ।
 परमात्मपरिभ्रष्टो जीवः स्वप्नसिद्धं दृढम् ॥ ६
 पश्यत्यस्मादपि स्वप्नायाति स्वप्नान्तरं पुनः ।
 स्वप्नात्स्वप्ने विनिपतन्मृषैवेदं दृढं किल ॥ ७
 परिपश्यति जीवोऽन्तर्मायया जर्जरीकृतः ।
 कश्चित्केनचिदेवेह कदाचिदपि वा स्वयम् ॥ ८
 देहनाम्नोऽहमित्यन्तो मुच्यते स्वं प्रपद्यते ।
 श्रीराम उवाच ।
 अहो नु विषमो मोहो जीवस्यास्योपजायते ॥ ९
 यथा सुप्तस्य स्तोकेन नानाकारविकारया ।

मिश्रुन्यायोऽत्र सर्वेषु जीवेषु सम उच्यते ।

रात्रावन्वेद्यता मिश्रुः समोऽर्थानं च वर्ण्यते ॥ १ ॥

यथावर्णितप्रकारस्तेन मिश्रुणा स्वचेतसि यो भ्रम ईषदृष्टः
 आपाततश्चिन्तितः एष मिश्रुस्तं भ्रमं स्वं भूतं प्राक्कनं
 शुभाशुभकर्मलक्षणं प्रयत्नमेव फलवस्थायाम् पृथक् स्वात्मनो
 व्यतिरिक्तमिव कृत्वा सुप्तु स्पष्टं प्रपश्यति । नाणुमात्रमप्यन्यद-
 स्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ एवमेव सर्वेषामपि जीवानां अरण्यका-
 लोद्भूतं स्वकर्मैव स्वप्न इव जगत्स्वप्नना आमोक्षं भातीति कोप्य-
 मित्याह—सर्वं एवेति ॥ ३ ॥ एवं मिश्रुत्वेन ततमपरि-
 चिद्धं स्वरूपं यस्य तथाविधोऽपि देही देहपरिचिद्ध इव
 आमोक्षमाकुलस्तिष्ठतीत्यर्थः । अनया मिश्रुकथया ॥ ४ ॥ परा-
 त्मस्वरूपपारस्परिद्वितात्मा सर्वोऽपि जीव इति एवंप्रकार एव
 न केवलं मिश्रुरित्यर्थः । अहरहः प्रतिदिनं स्वप्ने नः अनुभव-
 स्तिद्धमेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ इदं जन्मादिदुःखं कश्चित्केनचि-
 क्षमितेन परिपश्यतीति परेणान्वयः ॥ ७ ॥ ८ ॥ इदानीं
 बन्धमोक्षतत्त्वं संक्षिप्याह—देहेति । देहनाम्नोऽहमित्यभिमान
 एवान्तो बन्धः स्वात्मलाम एव मोक्ष इति निष्कर्ष इत्यर्थः ।
 किञ्चित्प्रहृकामो रामो वर्णितार्थप्रबोधमाश्रयामिनयेन व्यजकि-

मिष्यताम्नोऽहमित्यभिमानात्स्वप्नवत्स्वप्नकम् ॥ १०
 अहो नु कालु वैकल्यं मीमं निषवदुच्यते ।
 भगवन्सर्वदा सर्वं सर्वत्र सर्वदा संभव-
 तीति न त्वया यदुक्तं तदप्यनुभवकृतं यमाभूदित्याह—अस-
 वचिति ॥ ११ ॥ एवमुपदिष्टार्थभिनन्दनेन गुरुं प्रतोष्य त्वयामं
 मिश्रुमेदोऽपि कल्पयित्वा उत कश्चिदस्तीति संवेदेन कौतुका-
 त्पृच्छति—एवंगुणविशिष्टेति । तन्मोहात्मा तादृशजीव-
 दादियोहात्मा ॥ १२ ॥ अन्तर्योगेन आलोक्य त्वद्वोक्तं यद्यपि
 कल्पयित्वा मया मिश्रुकथयामि तद्वाक्यस्यास्तत्प्रयोगात्क-
 वित्तंभासित इव तः । तस्य च बोधेनाधुना दर्शने उपायाने
 प्रोक्तः स्वार्थिणास्येव कश्चिद्वस्तुकाकोचितमुपाय—अचेति
 ॥ १३ ॥ उत्पानयोऽवगच्छात्कोशको विधिज्ञो वाद्यनेदकाहु-
 तिरिति वाचत् ॥ १४ ॥ धनवर्जितस्य मांसकः पुष्टः । तस्य
 वसिष्ठस्य ॥ १५ ॥ वायेन युताः कपिपता विटपिन इव ॥ १६ ॥
 कालनेन पूर्वेषुर्भवेन ॥ १७ ॥ अहर्ष्यापारमाहिकं निजधर्म
 वंशपायाद्युः ॥ १८ ॥ मुनिप्रोक्तं ज्ञानं शाकं चिन्तयन्तः
 अभ्यसन्तः । उपदिष्टार्थानुसंधानात्तदेव कल्पयित्वा पुनः राम-

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अथ रात्रौ समाधिस्थश्चिद्धोक्षिमदिकामिमात् ॥ १३
 मिश्रुरेकोऽस्तिनास्तीति प्रेष्य प्रज्ञानवैकल्यात् ॥

कश्मीकित्वात् ।

मुनौ चैवं कथयति बहिर्भोग्याहृदिषिद्धमः ॥ १४
 उदभूत्प्रलयभ्रुग्धनगर्जितमांसलः ।
 तत्वजुः पादयोस्तस्य पुष्पाञ्जलिपरम्पराः ॥ १५
 कृपाः वीरा विटपिनः पुष्पं वातधुता इव ।
 पूजयित्वा मुनिश्रेष्ठानुदतिष्ठन्सविष्टरात् ॥ १६
 सभा तदनु सोत्तस्यौ सप्रणामपरम्परा ।
 क्रमेण ह्यस्तमेनैव जग्मुः क्षेत्रभूचराः ॥ १७
 स्वरूपेषु यथाशास्त्रमहर्ष्यापारमाहताः ।
 सर्वे संपादयामासुर्निजधर्मं क्रमोचितम् ॥ १८
 चिन्तयन्तो मुनिप्रोक्तं ज्ञानं शाकं चिन्तयन्तः
 ज्ञानं शाकं क्षणमिव मिश्रुः कल्पयित्वापि च ॥ १९

अहो इत्यादिना ॥ ९ ॥ स्तोकेनाह्येनापि मदश्रमादिविमितेन
 सुप्तस्य मनः स्वप्नमायया यथा अलमत्यन्तं मीमं वैकल्यं दुःख-
 संकटं निपतति तच्च निजवत्स्वप्नवत्स्वीयवद्वा उच्यते तद्वदहो
 आश्चर्यमिति परेणान्वयः ॥ १० ॥ सर्वं सर्वत्र सर्वदा संभव-
 तीति न त्वया यदुक्तं तदप्यनुभवकृतं यमाभूदित्याह—अस-
 वचिति ॥ ११ ॥ एवमुपदिष्टार्थभिनन्दनेन गुरुं प्रतोष्य त्वयामं
 मिश्रुमेदोऽपि कल्पयित्वा उत कश्चिदस्तीति संवेदेन कौतुका-
 त्पृच्छति—एवंगुणविशिष्टेति । तन्मोहात्मा तादृशजीव-
 दादियोहात्मा ॥ १२ ॥ अन्तर्योगेन आलोक्य त्वद्वोक्तं यद्यपि
 कल्पयित्वा मया मिश्रुकथयामि तद्वाक्यस्यास्तत्प्रयोगात्क-
 वित्तंभासित इव तः । तस्य च बोधेनाधुना दर्शने उपायाने
 प्रोक्तः स्वार्थिणास्येव कश्चिद्वस्तुकाकोचितमुपाय—अचेति
 ॥ १३ ॥ उत्पानयोऽवगच्छात्कोशको विधिज्ञो वाद्यनेदकाहु-
 तिरिति वाचत् ॥ १४ ॥ धनवर्जितस्य मांसकः पुष्टः । तस्य
 वसिष्ठस्य ॥ १५ ॥ वायेन युताः कपिपता विटपिन इव ॥ १६ ॥
 कालनेन पूर्वेषुर्भवेन ॥ १७ ॥ अहर्ष्यापारमाहिकं निजधर्म
 वंशपायाद्युः ॥ १८ ॥ मुनिप्रोक्तं ज्ञानं शाकं चिन्तयन्तः
 अभ्यसन्तः । उपदिष्टार्थानुसंधानात्तदेव कल्पयित्वा पुनः राम-

प्रातः पुनः प्रसूतकार्बुरूपरेऽसि-
जते जने सचरभूचरभूतसङ्घः ।

आख्यामलोकरचनेन तथैव तस्या-
वन्मोक्षसंबन्धनपूजितपूज्यलोकः ॥ २०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायने बल्मीकीये दे० बालीकायैषु निर्वाणप्रकरणे ६० विद्योत्तरमिस्त्रवर्णनं नाम पञ्चदशितमः सर्गः ॥६५॥

षट्षष्टितमः सर्गः ६६

बाल्मीकिव्याच ।

वासिष्ठमुनिसंयुक्ता विश्वामित्रादिसंयुताः ।
स्थिताः खेचरसिद्धोद्या विभान्ता नृपनायकाः ॥ १
सरामलक्ष्मणा सैव तथैवाथ सभा बभौ ।
सौम्या समसमाभोगा शान्तघातेव पश्चिमी ॥ २
अनवेक्ष्य वचः प्रश्नमुवाचाथ मुनीश्वरः ।
बोधयन्ति वक्ष्यामि सानुकम्पा हि सत्पथाः ॥ ३
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
राजन् रघुकुलाकाशशशाङ्क रघुनन्दन ।
ह्यो मया ज्ञाननेत्रेण स मिथुः प्रेक्षितश्चिरम् ॥ ४
ध्यानेनाहं चिरं भ्रान्तस्तादृग्मिथुदिदक्षणा ।
द्वीपानि सप्त विबुलां कुलशीलसपर्वताम् ॥ ५
यावत्कुतश्चिदप्येवं मिथुर्लक्ष्मो न तादृशः ।
कथं किल मनोराम्यं बहिरप्युपलभ्यते ॥ ६
ततस्त्रिभाणशेषार्थां ताड्यां बुभरहं धिवा ।
उत्तराशान्तरे थातो विलावात भूषार्जवम् ॥ ७
जिननामैव तत्रास्ति श्रीमान् अभयपदो महात् ।
बल्मीकोपरि तत्रास्ति विहारो जनसंभवः ॥ ८
तस्मिन्विहारे स्वकुटीकोशे कपिलमूर्धजः ।

मिथुर्दीर्घदंशो नाम स्थित एव समाधये ॥ ९
एकविंशतिरात्रं च तथैवं स्थितिशालिनः ।
दृढागलं गृहं ध्यानभङ्गभीता विशन्ति नो ॥ १०
श्रुत्याः प्रियाः किल तथा संतिष्ठति स मिथुकः ।
अथैव तस्य संवेतुं नियतेरीदृशी स्थितिः ॥ ११
रात्रयो ध्यानमिष्टस्य गतास्तस्यैकविंशतिः ।
स तु वर्षसहस्राणि तथा चित्तेन भूतवाच ॥ १२
कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे मिथुरेवं पुराऽभवत् ।
अथ त्विह द्वितीयोऽसिस्त्वृतीयो नोपलभ्यते ॥ १३
अथा तु पुनरन्विष्य चेतसा चतुरात्मना ।
तादृग् मिथुस्त्वृतीयोऽन्यो जगत्पद्मोदरालिना ॥ १४
अस्मात्सर्गात्ततो लब्धस्त्वृतीयस्तादृशाशयः ।
मयान्ये लीलया सर्गा मया संप्रेक्षितास्ततः ॥ १५
यावत्सस्मिंश्चिदाकाशकोशाशाविनि सर्गके ।
तृतीयो विद्यते मिथुर्ग्राह्यश्च सदृशक्रमः ॥ १६
एवं तेनैव तेनैव सन्निवेशेन भूरिशः ।
अविष्वक्स्थमवन्सर्वे पदार्थाः सर्गसंततौ ॥ १७
अस्यां समाधायामपि ये मुनयो ब्राह्मणास्तथा ।
भाष्यमैवं समाचारैस्त्वरन्यैरप्यनेकशः ॥ १८

पृथार्थप्रवनेच्छौकव्येन मित्रभावात्कल्पयित्वा च ॥ १९ ॥
सचरभूचरभूतसङ्घो रात्रिमस्त्रिबन्ध अतर्जने प्रसूतसत्सर्ग-
परंपरे जाते सति दक्षरथसमागमस्य तत्रा पूर्वेषुर्वदेव पुनः
आख्यामलोकरचनेन व्याख्यानप्रवणोचितसमासनिवेशकमर-
चनेन तस्यौ ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजमन्वन्तत्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे विद्योत्तरमिस्त्रवर्णनं नाम पञ्चद-
शितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

अभिव्यहत्यात्र यत्नेन विद्योर्दीर्घदंशोऽप्यते ।

साहस्रानां तथाम्बेर्षां भुमीनां शूतभाषिणात् ॥ १ ॥

स्थिता उपविष्टाः । ततो नृपसक्तो नायकाः समन्तादवच-
विभान्ता उपविष्टाः ॥ १ ॥ पश्चिमी पश्चवर्ती सरसी ॥ २ ॥
प्रभजनवेक्ष्य अमतीक्ष्य वच उवाच । अतर्जयदाम्यहमिति शब्दं
प्रतिज्ञासात्वाविति भावः ॥ २ ॥ चिरं प्रेक्षितोऽभिव्यहः । चिर-
मन्विष्य प्रेक्षित इति वा ॥ ४ ॥ ५ ॥ यावत् कल्पसत्सर्वहं
चिरं भ्रान्त इति पूर्वोक्तवचः ॥ ६ ॥ उत्तरस्यां आकाशस्य दिक्षु
भ्रान्तरं देवं ज्ञातो मनसा पर्यालोचितवानिति वाच्यं ॥ ७ ॥
बल्मीकस्याव्यनपदापुपरि परतो जिनमभा इव प्रेक्षितो जन-

पदोऽस्ति तत्र जनपदे विहारारहो जनसंभवो बहुजनाश्रयो
देशोऽस्ति ॥ ८ ॥ इक्ष्वाक्याद्वागुरिमतेन हलन्ताहापि शीर्षे
'इक्षे' अस्तेति न्युनाथम् ॥ ९ ॥ तस्य गृहं कुटीं ध्यानभङ्ग-
भीताः प्रिया अपि श्रुत्या नो विशन्ति किल ॥ १० ॥ तस्य
मिथोः । संवेतुं विदेहकैवल्याय चरमसाक्षात्कारं प्राप्तुम् ।
तत्कृतः । यतो नियतेसादानुनिबन्तुर्विधातुः ॥ ११ ॥ तथा
प्राग्निमितप्रकारेण ॥ १२ ॥ एवं एवंविधः । अथास्त्रिकल्पे ।
अयं द्वितीयः । तृतीयो नोपलभ्यते तदानीं मयेत्यर्थः ॥ १३ ॥
जगत्पदे अलिना अलिवन्नमता मया अस्मिन् सर्गे तृतीयो
नोपलभ्यत इति पूर्वोक्त परेण वा अन्वयः ॥ १४ ॥ अथ
मया लीलया अस्मात्सर्गादन्वे सर्गाः संप्रेक्षितास्तत्र तृतीयस्ता-
दृशाशयो लब्ध इत्यन्वयः ॥ १५ ॥ तदेवाह—यावदिति ।
ब्राह्मस्तत्रत्यब्रह्मणा निर्मित एतत्सदृश एव भुवनक्रमो विद्यते
॥ १६ ॥ एवं ब्रह्माण्डमेवेन सदृशे पदार्थक्रमे तादृशभिक्ष-
वोऽन्यनन्ताः संबन्धन्तीत्याशयेनाह—एवमिति ॥ १७ ॥ अस्मि-
न्नेषु मुमुक्षुन्व्यवहारोक्तमेवार्थं पुनः प्रपञ्चयन्नाह—अस्या-
मिस्त्रादिना । तैरप्येवं मिथुसदृशसमाचारैः स्वसदृशसमाचारैश्च
भाष्यम् । अन्येरपि एतन्मुनिक्रमाचारैर्मिथुसमाचारैश्च भाष्य-

मारदेनामुना भाव्यं पुनरभ्येन वामुना ।
 एवं कलनकर्मभ्यां युक्तेनान्येन भूरिशः ॥ १९
 एवं जन्मादिना भाव्यं व्यासेनापि शुकेन च ।
 शौनकेन पुनर्भाष्यं क्रतुना पुलहेन च ॥ २०
 अगस्त्येन पुलस्त्येन भृगुणाऽङ्गिरसापि च ।
 एत एव तथान्ये च एवंरूपक्रियास्पदम् ॥ २१
 चिराच्चिराद्भविष्यन्ति मायेयं वितता यतः ।
 सहशाचारजन्मानस्त एधान्ये च भूरिशः ॥ २२
 भूयोभूयो विवर्तन्ते सर्गेष्वप्स्विव वीचयः ।
 अत्यन्तसहशाः केचित्केचिदर्थसमक्रमाः ॥ २३
 केचिदीषत्समाः केचिन्न कदाचित्पुनस्तथा ।
 एवमेषातिवितता महतामपि मोहिनी ॥ २४

क्षणेनेहास्ति नो कर्म प्रतिपत्तिर्हि जृम्भते ।
 कैकविंशत्यहोरात्रा अनन्ताकृतयोऽनघ ॥ २५
 क तासामुपलम्भोऽलमहो भीमा मनोगतिः ।
 प्रतिभामात्रमेवेदमित्थं विकसितं स्थितम् ॥ २६
 नानाकलहकलोलं जले प्रातरिवाम्बुजम् ।
 जातं संवेदनादेव शुद्धादिदमशुद्धिमत् ।
 संसारजालमखिलं सार्चिर्बह्विकणादिव ॥ २७
 प्रत्येकमेवमुदितः प्रतिभासखण्डः
 खण्डान्तरेष्वपि च तस्य विचित्रखण्डः ।
 सर्वे स्वयं ननु च तेऽपि मिथो न मिथ्या
 सर्वात्मनि स्फुरति कारणकारणेऽस्मिन् ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वास्मी० दे० मो० निर्वाणप्र० पू० जीवतोपाख्याने भिक्षुसंसृतिकथनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः ६७

दशरथ उवाच ।
 मुनिनायक तं भिक्षुं गत्वा संबोधयन्त्वमी ।
 नरा मत्प्रहिताः शीघ्रं चानयन्तु कुटीगतम् ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 राजंस्तस्य महाभिक्षोः स देहः प्राणवर्जितः ।
 क्लेदो वैवर्ण्यमायातो नासौ जीवितभाजनम् ॥ २
 तस्य भिक्षोस्तु जीवोऽसौ भूत्वा पद्मजसारसः ।

जीवन्मुक्तः स्थितो भूयो नासौ संसृतिभाजनम् ॥ ३
 तद्गृहे मासपर्यन्ते बलाभ्रिकासितार्गलाः ।
 अन्तराले तु तिष्ठन्ति भृत्या भिक्षुदिदृक्षवः ॥ ४
 ततो नष्टाङ्गसंधानं कायं निष्काल्यते जले ।
 त्यक्ष्यन्त्यन्यं करिष्यन्ति भिक्षुमधुष्णमानसम् ॥ ५
 अनेनैवं सदेहेन भिक्षुर्मुक्तो व्यवस्थितः ।
 कथं प्रबोध्यते नष्टं तद्विहारे शरीरकम् ॥ ६

मित्यर्थः ॥ १८ ॥ कलनं ज्ञानं कर्म चरित्रं ताभ्यां युक्तेन
 ॥ १९ ॥ २० ॥ एवंविधस्य रूपस्य संस्थानस्य क्रियाणां
 चास्पदं भविष्यन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ क्षणे
 निरवयवकालात्मनि ईहा मानसचेष्टापि नास्ति । देहादिचेष्टा-
 लक्षणं कर्म च दूरनिरस्तात्वादेव नास्ति । किं तर्हि प्रतिपत्ति-
 र्भ्रान्तिरेव केवलं जृम्भते । तदेवेह भिक्षुचरित्रे स्पष्टमित्याह—
 क्लेति । अनन्ता जीवटादिसर्गाकृतयस्तासामलं सम्यगुपलम्भश्च
 क ॥ २५ ॥ २६ ॥ प्रातरम्बुजमिव विकसितम् । तत्पक्षे
 भ्रमरादीनां नानाकलहा जलकल्लोलाश्च पश्येति योज्यम् ।
 अर्चिर्भिः सहवर्तमानः सार्चिर्महानिर्वहिकणादिव शुद्धात्संवे-
 दनादेवेदमशुद्धिमज्जगजातम् ॥ २७ ॥ एवं भिक्षुमनसीव सर्व-
 जीवमनःस्वपि प्रत्येकं जगद्रूपः प्रतिभासखण्ड उदितस्वस्य
 तस्यान्तर्जीवखण्डान्तरेष्वपि च विचित्रः सर्गखण्ड उदित इत्यन-
 वस्थैव मायादृशेत्यर्थः । ते प्राथमिकखण्डाः स्वयं तेषु च तदन्त-
 र्गतजगत्खण्डा मिथः स्वस्वव्यवहारदशा न मिथ्या सत्या एव ।
 किं स्वतो नेत्याह—सर्वात्मनीति । सर्वात्मन्यस्मिन्निश्चितसैकरसे
 परमात्मनि तादात्म्येन स्फुरति सति । तेन स्वतस्त्वबोधेन तद्भा-
 वत्यागे तु न किञ्चित्त्वमित्यर्थः ॥ २८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-
 मायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भिक्षुसंसृतिकथनं
 नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

भिक्षोः समाधौ मुक्तस्य देहनाशोऽत्र वर्ण्यते ।

भिक्षुभ्राभितवदन्येषां बन्धो मोक्षश्च बोधतः ॥ १ ॥

संबोधयन्तु समाधेर्वृत्यापयन्तु । अमी मत्प्रहिता मया
 प्रेषिता नरा मन्त्रिणो भवदाज्ञया आनयन्तु ॥ १ ॥ 'अथैव तस्य
 संवेतुं नियतेरेष निश्चयः' इति मदुक्तं विस्मृत्य त्वयेदं पृष्टमिति
 सूचयन्वसिष्ठ उवाच—राजञ्जिति । क्लेदः प्राणोपष्टम्भकाङ्ग-
 रसभागः शोषेण वैवर्ण्यमायातः ॥ २ ॥ स तर्हि त्वदीयसत्यसंक-
 ल्पेन प्रजीवतु तत्राह—तस्येति । सत्येव तद्देहभोग्यप्रारब्ध-
 शोषे मत्संकल्पः प्रवर्तते नान्यथेति भावः ॥ ३ ॥ मासपर्यन्तं
 गृहार्गलं न निष्कासनीयमिति भिक्षुणा आज्ञासैरन्तरालवासि-
 भिस्तद्भूल्यैर्गुप्तत्वादपि त्वन्मन्त्रिभित्प्रबोधनं कर्तुमशक्यमि-
 त्याह—तद्गृहे इति । मासस्य पर्यन्ते चरमदिने बलाभ्रिकासि-
 तार्गलाः सन्तो भिक्षुदेहदिदृक्षवो भृत्या बहिर्द्वारान्तराले
 तिष्ठन्ति । बलाभ्रिकाशाबलादिति वा ॥ ४ ॥ ततो मासान्ते कार्यं
 भिक्षुशरीरं निष्काल्य निःसार्य जले त्यक्ष्यन्ति मज्जयिष्यन्ति ।
 तस्यां कुट्यामन्यं तस्कायाकारशिलाप्रतिमारूपं भिक्षुं पूजाभ-
 त्त्यादिव्यवहारप्रवर्तनाय करिष्यन्ति । दृढत्वादधुष्णं मानसं
 भक्तमनःकल्पितदेवतारूपम् । कर्मधारयः ॥ ५ ॥ एवमुक्त-
 रीत्या मुक्तः । विहारे प्राणचेष्टादिव्यापारविषये नष्टं मृतम्

एषा गुणमयी माया दुर्बोधेन दुरत्यया ।
 नित्यं सत्याबोधेन सुखेनैवातिवाह्यते ॥ ७
 असत्येव कृतारम्भा हेन्नः कटकता यथा ।
 प्रतिभासविपर्यासमात्रकारणकोदया ॥ ८
 परमात्मनि वाचेयमित्यं मायानुमीयते ।
 तरङ्गालीव पयसि प्रेक्षामात्रविनाशिनी ॥ ९
 शो हि दृश्यतया दीर्घस्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजेत् ।
 एवं जीवत्वमायाति विवेकात्सर्वमात्मदृक् ॥ १०
 यो यस्य प्रतिभासः स्यादात्मैव स स्वबोधतः ।
 स एवोदेति संसारः करञ्जवनगुल्मदृक् ॥ ११
 प्रत्येकं भूतमुदितं कृतं संसारमण्डलम् ।
 भिक्षोः स्वप्नान्तर इव परां भङ्गिमिवाम्भसः ॥ १२
 प्रस्तुतः पद्मजादेव जगत्स्वप्नो यथोदितः ।
 तथैवास्वच्छचित्तोत्थो रुढः सर्वजनं प्रति ॥ १३
 पितामहवदाभाति सर्गः स्वप्रविलासवत् ।
 प्रत्येकमुदितस्तेन ब्रह्माण्डानीव कोटिशः ॥ १४

॥ ६ ॥ प्रश्नं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमेवावलम्बते—एषेस्वा-
 दिना । दुर्बोधेन भ्रान्तिपरम्पराहेतुविक्षेपशक्त्या । अतिवाह्यते
 निरस्यते ॥ ७ ॥ असती अवियमानैव कृतजगदारम्भा । हेन्नः
 कटकतयेव प्रतिभासस्य यो विपर्यासोऽन्यथाभावस्तन्मात्रकार-
 णको विभ्रमोदयो यस्याः ॥ ८ ॥ 'वाचारम्भणं विकारो नाम-
 धेयं श्रुतिकेयेव सत्यम्' इत्यादिदृष्टान्तश्रुतिवाचा दार्ष्टान्तिक-
 मायापि इत्यमनृतस्वभावैवानुमीयते ॥ ९ ॥ इः परमात्मा
 एवं अविवेकाजीवत्वमायाति । स च स्वविवेकात्सर्वमात्मेति
 पश्यतीत्यात्मदृक् चिन्मात्रः परिशिष्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥ सः स्व-
 बोधत आत्मैव । अबोधतस्तु स एव संसारात्मना उदेति ॥ ११ ॥
 भूतं प्राणिनिकायं प्रति प्रत्येकं संसारमण्डलं भ्रान्त्या उदितं
 कृतम् । यथा भिक्षोः स्वप्नान्तरे अम्भसो भङ्गि आवर्ततरङ्गा-
 दिविभागमिव विद्धीत्यर्थः ॥ १२ ॥ समष्टिर्हिरण्यगर्भस्य मनो-
 मात्रनिर्माणत्वादयं सर्गः स्वप्न एव चेष्टेरपि तथैव भवितुम-
 र्हति । अस्वच्छचित्तादुत्थित इति परः स्थिर इव भासत
 इत्याह—प्रस्तुत इति ॥ १३ ॥ चित्तशुद्धौ तु पितामहस्येव
 पितामहवत् स्वप्रविलासवदसत्य आभाति तेन तादृशमानेन
 ज्ञायते । प्रत्येकमयं ब्रह्माण्डानीव कोटिश उदित इति निष्ठीयत
 इत्यर्थः ॥ १४ ॥ अयं जीवो व्यष्टिप्रपञ्चरूपेण समष्टिप्रपञ्च-
 रूपेण वा साधारणप्रपञ्चरूपेण प्रत्येकमसाधारणप्रपञ्चरूपेण वा
 यथा तथा वा स्फुरन्नस्तु तथापि हृदये प्रतिभानसमर्थं शीर्षं
 विभ्रमं पश्यतीति स स्वप्नबन्धुवैत्यर्थः ॥ १५ ॥ शीर्षस्वप्न-
 दर्शने निमित्तमाह—चित्सत्तामात्रमिति । तत्त्वतः प्रतीते-
 श्रुतमाहृतं तावन्मात्रतश्चित्सत्तामात्रमासाद्य आश्रित्य कश्चित्क-
 स्मिन्निवेनरतिर्यगादिदेहे ॥ १६ ॥ तत्तत्र स्वप्ने विचित्रसुकृत-

स्फुरन्त्यथा तथा वास्मिन्जीवः पश्यति विभ्रमम् ।
 हृदयेऽयं समर्थं च स्वप्नवद्दीर्घमान्तरम् ॥ १५
 चित्सत्तामात्रमासाद्य प्रतीतिश्रुतमात्रतः ।
 जरामरणदुःखानां कश्चिद्भ्राजन्तां गतः ॥ १६
 पातालं ब्रह्मलोकं वा चित्तसुकृतशालिनी ।
 चित्तांशस्पन्दमात्रेण कृत्वा कृत्वेव संस्थिता ॥ १७
 चित्सपन्दरूपिणी जीवनामरूपं गतात्मनि ।
 अन्यत्र च विलुठति गत्वा संभ्रमहारिणी ॥ १८
 चित्तेति परमात्मा न परमात्मा न वा न किम् ।
 जीवदेहादिनाम्नोऽस्य प्रतिबिम्बादिवाहता ॥ १९
 ब्रह्मण्येव परं ब्रह्म जगद्दृष्ट्यैव संस्थितम् ।
 शुद्धाकाशमिवाकाशे जले जलमिवामलम् ॥ २०
 लोको ब्रह्मण एवायं जगद्रूपेषु तिष्ठति ।
 बिभेत्यन्यतया बोधात्प्रतिबिम्बादिवार्भकः ॥ २१
 स्पन्देऽस्पन्दीकृते चेह स्वतः संज्ञा विलीयते ।
 साप्यलं परिणामेन लीयतेऽग्नौ घृतं यथा ॥ २२

शालिनी जीवचित् स्वचित्तांशस्पन्दमात्रेणाद्यः पातालं वा ऊर्ध्वं
 ब्रह्मलोकं वा कृत्वा कृत्वा भुञ्जाना संस्थितेत्यर्थः ॥ १७ ॥
 परमात्मचिदेव प्राणकल्पनया तदधीनस्पन्दरूपिणी भूत्वा तद्वा-
 रेण जीवनामकं रूपं गता सती आत्मनि देहाकारसंभ्रमहा-
 रिणी अन्यत्र बहिश्च गत्वा विषयाकारसंभ्रमहारिणी भूत्वा
 विलुठति ॥ १८ ॥ अस्त्वेवमस्य भ्रान्त्या जीवादिनामरूपमे-
 दस्तथापि परमात्मैवैषः, अध्याससहस्रैरप्यधिष्ठानस्यान्यत्वायो-
 गादिति परमपुरुषार्थफलं जीवब्रह्मैक्यं दृढीकरोति—चित्से-
 तीति । प्रत्यगात्मा चित्तेत्युपाध्याकारभ्रान्तिमात्रापराधात्किं
 परमात्मा ब्रह्म न परं वा ब्रह्म किं आत्मा प्रत्यगात्मा न
 किमस्य ब्रह्मणो मुखस्य दर्पणे प्रतिबिम्बनादिवौपाधिकजीवनाम्नो
 देवदत्तयज्ञदत्तादेर्देहनाम्न आदिपदात्प्राणवाक्चक्षुरादिनाम्नश्चा-
 हर्ता न किंतु अमेदेऽप्युपाधिवशात्सर्वं संभवत्येव । तथा च
 श्रुतिः 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्नेभ्यः' 'प्राणैव प्राणो नाम
 भवति वदन्वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन इति
 तान्येतस्य कर्मनामान्येव' इति ॥ १९ ॥ एवमैक्यदर्शने जग-
 दृष्ट्या व्यवहारदृष्ट्यैव परं ब्रह्म ब्रह्मण्येव संस्थितं किं पुनः
 परमार्थदृष्ट्या समूलोपाधिबाधे तद्वाच्यमिति भावः ॥ २० ॥
 किं च दर्पणादौ मुखादत्यन्तमिमे मुखस्य स्थितावन्यथाभ्रान्ति-
 संभावनापि स्यात् । अयं जीवलोकस्तु स्वात्मभूतस्याभयस्य
 ब्रह्मण एव मूर्तामूर्तात्मकेषु जगद्रूपेषु तिष्ठतीति न तत्संभाव-
 नापि, तथापि अन्यतया आत्मन्यतिरिक्तमन्यन्मम भयहेतुर-
 स्तीति बोधाद्भिमेतीत्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥ अन्यताबोधे
 च बुद्धिस्पन्दो हेतुरिति बुद्धिस्पन्दे समाध्यभ्यासेन अस्पन्दी-
 कृते मेवबुद्धिलक्षणा संज्ञा स्वत एव बुद्धौ विलीयते सा बुद्धि-
 रप्यलं पूर्णब्रह्माकारेण चरमसाक्षात्कारलक्षणपरिणामेनाग्नौ हुतं

चित्स्पन्द एव चित्स्पन्दे सर्वात्मनि विजृम्भितः ।
 स्पन्दास्पन्दौ जृम्भणादि कल्पितं मात्र वास्तवम् २३
 न स्पन्दोऽस्तीह नास्पन्दो नैकता वापि न द्विता ।
 शुद्धं चिन्मात्रसर्वसं बधैवास्ति तथा स्थितम् ॥ २४
 सारेण तु विद्यारेष सर्वशब्दार्थयोः समे ।
 चिन्मात्रमेव ज्ञातेऽयं नास्तीत्यपि न विद्यते ॥ २५
 मेदवेदनयोरेति मेदः प्रकृतिलाम्बुधम् ।
 अमेदबोधोद्यत्खिले गलिते क्षिप्यते परम् ॥ २६
 नानातैवास्य बोधेन स बोधस्त्वनबेक्षणात् ।
 पृच्छकं चैवमस्त्येव तस्मान्निःशङ्कता परा ॥ २७
 ततः स्वप्नो न जागर्तिर्न सुषुप्तिर्न तुर्यता ।
 न बन्धोस्ति न मोक्षोस्ति नाम्यथाकल्पनात्मकम् २८
 शान्तिरेका जगन्नाम्नी शान्तिरेवमवस्थिता ।
 अबोधोऽसत्य एवातः क द्रष्टृदृश्यदर्शनम् ॥ २९
 स्पन्दोऽप्यस्पन्द एव स्यान्निःसंकल्पतया च ते ।

न स्पन्दास्पन्दयोर्भिन्ना संकल्परहितैव चित् ॥ २०
 द्वैतैक्यविकला रूपसंकल्पविदभाषणात् ।
 स च भावनमात्रेण गतो ब्रह्मैव क्षिप्यते ॥ २१
 चिच्छन्दविम्बे संकल्पकलङ्कः स्फुरतीव चः ।
 नासौ कलङ्कस्तद्विद्धि चिद्धनस्य धनं चतुः ॥ २२
 चिद्धनस्य न सन्नासन्स्थीयतां पतते पदे ।
 इत्यदोषमहाबोधसारसंग्रहणं कर्तम् ॥ २३
 चिच्छन्दविम्बासंकल्पकलङ्कस्तविग्रहः ।
 त्वया भव्येन संस्पृष्टो भावाभावक्षयात्मना ॥ २४
 भावाभावादिकलनां नीत्वा चिन्मयतां चितः ।
 समोह्यासविलासान्तः समाश्वस यथासुखम् ॥ २५
 स्पन्दास्पन्दौ कल्पनाकल्पना वा
 चित्ताम्नायो विद्धि नामाब्धिनाम्ना ।
 सर्वाकारा निर्वृतिः शान्तिसत्ता
 पूर्णापूर्णे लोकमेवास्तिव्यति ॥ २६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० ब्रह्मेक्यप्रतिपादनं नाम सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

अष्टषष्ठितमः सर्गः ६८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सुषुप्तमौनवान्भूत्वा त्यक्त्वा चित्तविलासिताम् ।

शृतमिव तदिदं ब्रह्मणि विलीयत इत्यर्थः ॥ २२ ॥ बोधमा-
 त्रात् कथं कुहालकोटिदुर्भेयं जगद्विलीयत इति चेदवास्तवचि-
 त्स्पन्दमात्रत्वादित्याह—चित्स्पन्द एवेति ॥ २३ ॥ कल्पित-
 मिति कथं ज्ञातमिति चेत्तत्त्वदृशा तददर्शनादित्याह—नेति
 ॥ २४ ॥ सर्वशब्दस्य तदर्थस्य च समे एकरसे स्वभावे ज्ञाते
 सति चिन्मात्रमेव परमार्थसत्यम् । नास्तीति अभावभूतोऽप्ययं
 प्रपञ्चो न विद्यते दूरे भाव इत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥ यद्योक्तैव
 वस्तुस्थितिर्न केनचिदन्यथाकर्तुं शक्येति वसिष्ठः प्रतिजा-
 नीते—नानातेति । एवकारौ भिन्नक्रमौ । हे राम, त्वं अनोधे-
 नैव नानातासि । रा त्वमबोधरूपाया नानाताया अनबेक्षणानु
 बोधः पूर्णचिद्रूप एवासि । अस्मिन्नर्थे यं कं च पृच्छ । एवमेवास्ति
 परमार्थः । तस्मादेव तव मम अन्यस्य च परा निःशङ्कता
 प्रतिष्ठितेत्यर्थः ॥ २७ ॥ ततस्तादृशनिःशङ्कतावसादेव जाग्र-
 दादिसर्वावस्थाद्वैतापलापः प्रवृत्त इत्याह—तत इति ॥ २८ ॥
 अबोधवसादेव द्रष्टृदृश्यादित्रिपुटीजगत् । यदा त्वबोधः
 असत्य एव तदा शुद्धात्मरूपा तच्छान्तिरेवेका जगन्नाम्नी । यतः
 सा शान्तिरेव गच्छति सर्वतो व्याप्नोतीति व्युत्पत्त्या एव
 जगन्नामयोग्यतया व्यवस्थिता । द्रष्टृदृश्यदर्शनात्मिका त्रिपुटी
 तु अत्यन्ताप्रसिद्धेति नासौ तदा जगन्नाम्नीत्यर्थः ॥ २९ ॥
 ननु चित्तप्राणादिस्पन्दस्य बोधमात्रेण कथं निवृत्तिरिति चेत्-
 देनुसंकल्पक्षयादेवेत्याह—स्पन्द इति ॥ ३० ॥ चितः अभा-
 वनादर्शनाद्वैतैक्यादिरूपसंकल्प उचितः स च भावनमात्रेण

कलनामलनिर्मुक्तस्तिष्ठावहृद्यतत्पदः ॥ १

दर्शनमात्रेण गत इति द्वैतैक्यरहिता चिद्ब्रह्मैव क्षिप्यत इत्यन्वयः
 ॥ २१ ॥ तद्दर्शनप्रकारमाह—चिच्छन्दविम्बे इति ॥ २२ ॥ नासौ
 कलङ्क इत्यर्थं शुक्तिमाह—चिद्धनस्येति । त्वया चिद्धनस्य तसे
 पदे स्थीयताम् । यद्यस्मात्पूर्णाभावावस्थानात्संकल्पादिस्त्वर्दकर-
 स्यमापन्नः पृथक् न सन् त्वदात्मना च सन् भवति इति अनयैव
 युक्त्वा सर्ववस्तूनामात्मैकरस्यसंपादकनिर्दोषबोधसारस्य संग्रहणं
 सम्यगवलम्बनं कुरु ॥ २३ ॥ हे चिच्छन्दविम्ब, हे असंकल्प-
 कलङ्क । भावाभावक्षयात्मना भव्येन त्वया संस्पृष्टः सर्वोपि
 पदार्थः अमृतविग्रहः संपद्यते । अहो ते माहात्म्यमित्यर्थः
 ॥ २४ ॥ चितः समोह्यासविलाससान्तः सम्यगाश्वस विभ्रान्ति
 मज्ज ॥ २५ ॥ हे राम, त्वं अब्धिनाम्ना आगन्दसमुद्रान्धैव
 स्वरूपेण स्थितः सन् स्पन्दास्पन्दौ कल्पना संकल्पः अकल्पना
 विकल्पो वेति नावां चित्ताम्नायचित्तप्रान्तिभेदः स सर्वोपि सर्वा-
 कारा निर्वृतिः सुखैकरसा शान्तिसत्तैव तथा तथा आस्थिता ।
 इमे च पूर्णापूर्णे इहो एकमेव मे स्वरूपमिति विद्धि ॥ २६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 ब्रह्मेक्यप्रतिपादनं नाम सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

मौनं चतुर्विधं त्वन्न लक्षणैरुपबन्धते ।

सुषुप्तमौनं तत्रापि तुर्यातीतप्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

चित्तविलासितां चित्तस्य स्वाभाविकप्रवृत्त्यनुसारिताम् ॥ १ ॥

१ विकल्प इति पाठः. २ कुरु इति पाठमेवात्प्राप्तुञ्च स्वाप-

श्रीराम उवाच ।

वाङ्मौनमक्षमौनं च काष्ठमौनं च वेदवहम् ।
सुषुप्तमौनं मौनेषु ब्रह्मन्मूर्तिं किमुच्यते ॥ २
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
द्विविधः प्रोच्यते राम मुक्तिर्भुविचरैरिह ।
एकः काष्ठतपसी स्याज्जीवन्मुक्तस्तथेतरः ॥ ३
अभावितायां शुष्कायां क्रियायां बद्धमिन्द्रियः ।
हठाजितेन्द्रियग्रामो मुनिः स्यात्काष्ठतापसः ॥ ४
यथाभूतमिदं बुद्ध्या भावितात्मात्मनि स्थितः ।
लोकोपमोपि तस्योऽन्तर्यः स मुक्तमुनिः स्मृतः ॥ ५
एतयोर्गो भवेद्भ्रातृः शान्तयोर्मुनिनाथयोः ।
चित्तनिश्चयरूपात्मा मौनशब्देन स स्मृतः ॥ ६
चतुष्प्रकारमाहुस्तं मौनं मौनविदो जनाः ।
वाङ्मौनमक्षमौनं च काष्ठं सौषुप्तमेव च ॥ ७
वाङ्मौनं वचसां रोधो बलादिन्द्रियनिग्रहः ।
अक्षमौनं परिस्वाम्येष्टानां काष्ठसंज्ञकम् ॥ ८
मनोमौनं पञ्चमं च तन्मृतौ काष्ठतापसे ।
भावे सुषुप्तमौनस्य जीवन्मुक्तोऽनुजीवति ॥ ९
त्रिषु मौनविशेषेषु विषयः काष्ठतापसः ।
सुषुप्तमौनावस्थायां सा तुर्या सैव मुक्तधीः ॥ १०
वाङ्मौनं मौनमित्येतद्विज्ञं तच्च मनः क्लृप्तम् ।
मलिनं जीवन्मोहाय तत्रस्वः काष्ठतापसः ॥ ११

वागापीनं मौनं संयमः । काष्ठमिव मौनं काष्ठमौनम् । सर्वेषु
मौनेषु ईक्षिषे समर्थो भवतीति मौनेषु ॥२॥ द्विविधा इति ।
त्वद्विदितानां श्रयाणां काष्ठतपस्विनां तारतम्यमेदानामनात्मज्ञ-
तया एककोटितैवेति भावः ॥ ३ ॥ तत्रैव प्रकटयति—अक्ष-
मितायामिति । भावितमात्मतत्त्वपर्यालोचनं तच्छून्यायां
शुष्कायां तदनुभवरसशून्यायां कृच्छ्रचान्द्रायणादिक्रियायाम्
॥ ४ ॥ व्यवहारे इतरतपस्विलोकोपमोऽप्यन्तर्निरतिशयानन्दा-
सादत्तः ॥ ५ ॥ प्रकृत्यर्थं व्युत्पाद्य प्रत्ययार्थं व्युत्पाद्यति—
एतयोरेति ॥ ६ ॥ तत्राद्यं त्रेधा विभज्य चतुष्प्रकारं मौनं मुक्त-
आहुतिरित्यर्थः ॥ ७ ॥ तेषां प्रत्येकं लक्षणान्याह—वाङ्मौन-
मित्यादिना । इन्द्रियनिग्रहोऽक्षमौनम् ॥ ८ ॥ एवं विभागपर्या-
लोचने मनोमौनमपि पञ्चमं यद्यपि संभवति तथापि तत्
काष्ठतापसे मृतौ मूर्च्छासुषुप्तयोरेव संभवति नान्यदेति तस्यैव
परिगणितमित्यर्थः । त्वयै च । भावे आत्मतत्त्वानुभवे ॥ ९ ॥
विषयः अपि क्लृप्तः । तुर्यां चतुर्थी । मुक्तेषु जीवन्मुक्तेषु धीयत
इति मुक्तधीः ॥ १० ॥ यद्यपि त्रिषु मौनेषु मौनत्वं सिद्धं तथापि
तानि मलिनमनोदृढनिश्चयरूपाप्येवेति जीवन्मोहाय तत्रस्वः
काष्ठतापसः ॥ ११ ॥ तर्हि तद्वान्काष्ठतापसः समर्थो कथं तिष्ठति
तदाह—अक्षमिति । बलान्मनोनिग्रहेणान्तरस्वदोऽहंभावस्य
संस्वरूपमनुसंधानमस्पृशन् बहिरपि दृश्यं रूपप्रपञ्चं वाङ्मयं
नाह प्रपञ्चं चास्पृशन्नाहतापसमात्मतत्त्वमयप्रपञ्चं सुषुप्तादिषु

असत्संस्वरणं चापि दृश्यं वाङ्मयमस्पृशन् ।
अपश्यन्नेव पश्यन् हि काष्ठमौनी तु तिष्ठति ॥ १२
प्रस्फुरच्चित्तकलबन्धेनमौनत्रयं स्मृतम् ।
अवन्ति मौनिनस्तत्र न तज्ज्ञासात्स्वलीलया ॥ १३
नानोपादेयताज्ञानमेतन्मौनत्रये क्लृप्तम् ।
लीलया कथितं तेन तज्ज्ञाः कुप्यन्तु वा न वा ॥ १४
इदं सुषुप्तमौनं तु जीवन्मुक्तमिति स्थितम् ।
अपुनर्जन्मनो जन्तोः शृणु भक्षणमूषणम् ॥ १५
नात्र संयम्यते प्राणस्त्रिविधो नापि योज्यते ।
नोल्लस्यन्ते न ग्लायन्ते समस्तेन्द्रियसंविदः ॥ १६
नानाताकलनेयं च न क्लम्यन्ति न शाश्वति ।
चेतो न चेतो नाचेतो न सघासन्न चेतरेत् ॥ १७
अविभागमनभ्यासं यदनाद्यन्तमास्थितम् ।
ध्यायतोऽध्यायतश्चैतत्सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ १८
यथाभूतमिदं बुद्ध्या जगज्ज्ञानात्वविभ्रमम् ।
यथास्थितमसंदेहं सौषुप्तं मौनमेव तत् ॥ १९
अनेकसंविद्रूपात्म शिवेनैवेदमाततम् ।
इत्यास्थितमनन्तं यत्सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ २०
आकाशं नैव चाकाशं सर्वमस्ति च नास्ति च ।
इति चित्तं समं शान्तं यत्तन्मौनं सुषुप्तवत् ॥ २१
सर्वशून्यं निराकम्बं शान्तिविद्यतिमात्रकम् ।
न सघासदिति यस्यामासितं मौनमुत्तमम् ॥ २२

नित्यात्महृद्विलोपाभावान्मस्मच्छन्नामिवत्साक्षिमात्रज्योतिषा प-
श्मंस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १२ ॥ व्युत्पादनकाले त्वेतन्मौनत्रयं प्रस्फु-
रच्चित्तचलनमेव । तत्र प्राक्तनाद्यो मौनिनो भवन्ति, तज्ज्ञास्तु
चित्तबाधास्तत्स्थनिरोधव्युत्थानादिलीलया तत्र भवन्तीत्यर्थः
॥ १३ ॥ अथवा तत्स्थलीलयेत्यस्य पूर्णात्मस्थितिलीलया ।
तज्ज्ञास्तुच्छप्राक्तनमौनत्रये बन्धरूपमेवेदं निरस्यमिति तु
कुप्यन्तु, चिदानन्दविलास एवेति बुद्ध्या न वा कुप्यन्तु,
तथापि तेषामत्रोपादेयताज्ञानमेव नास्तीत्यर्थे तात्पर्यमित्याह—
नात्रेति ॥ १४ ॥ जीवन्मुक्तानां भित्तिरनुभवस्तत्र स्थितम् ।
जन्तोर्भवतीति शेषः । अतस्त्वमपि शृणु ॥ १५ ॥ तत्त्व-
वर्धने सिद्धे अयमेवैव तत्सिध्यतीति न पूर्वमौनकेशसापेक्षते-
त्याह—नात्रेति । ऊर्ध्वाधोमध्यसंचारमेदेन त्रिविधः । विषय-
लाभहर्षेण नोल्लस्यन्ते, निरोधकेशेन न ग्लायन्ते ॥ १६ ॥
तस्य ज्ञानबाधितं चित्तं कथमवतिष्ठते तदाह—चेत इति
॥ १७ ॥ विभाजकविकल्पक्षयात्तारतम्यविभागाभावाच्चाविभा-
गम् । अतएवानभ्यासमभ्यासनिरपेक्षम् । अपरिच्छिन्नात्म-
रूपत्वादानाद्यन्तम् ॥ १८ ॥ जगदिति नानात्वविभ्रमो यस्मि-
न्त्स इदं आत्मतत्त्वं यथास्थितं बुद्ध्या ॥ १९ ॥ अनेकधा
संविद्रूपाणांमात्मा यः शिवस्तेनैवान्तं पूर्णं आस्थितमव-
स्थानं यत्तदित्यर्थः ॥ २० ॥ शून्यरूपत्वाभावानैव चाकाशो
॥ २१ ॥ यस्यां जीवन्मुक्तदद्यायाभासितमवस्थानम् ॥ २२ ॥

भावाभावाद्देशविशेषैर्विद्योत्थितैः ।
 संविदो यदनाभासस्तन्मौनं परमं विदुः ॥ २३
 अत्यन्तमसतैवान्तश्चेतसाऽवृत्तिरूपिणा ।
 यदनावर्तनं संविद्भूतेस्तन्मौनमक्षयम् ॥ २४
 नाहमस्मि न चान्योऽस्ति न मनो न च मानसम् ।
 इति संविदसंविद्विरविच्छिन्नातिमौनिता ॥ २५
 अहमस्मि जगत्स्यस्मिन्वस्ति शब्दार्थमात्रकम् ।
 सत्तासामान्यमेवेति सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ २६
 यस्मात्संविदमेव स्यात्स्वान्यादिकलना कुतः ।
 अनन्तमेव सौषुप्तं सर्वं मौनमतस्ततम् ॥ २७
 सुषुप्तमौनमेवेदमनन्तत्वात्प्रबोधवत् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० महामौनयज्ञोपदेशो नामाष्टषष्ठितमः सर्गः ॥६८॥

तुर्यमेवामलं विद्धि तुर्यातीतमथापि च ॥ २८
 सौषुप्तैकसमाधानस्तथा तुर्यसमाधिकः ।
 तुर्यातीतसमाधिर्वा जाग्रत्यपि भवन्ति वै ॥ २९
 तुर्यस्थ एव सकलामलशान्तिवृत्ति-
 र्जाग्रत्यपि व्यवहरन्निपुणं समन्तात् ।
 नित्यं सदेह उत वापि विदेह एव
 ब्रह्मज्ञभोभवत एव किलास्ति साधो ॥ ३०
 अमित्युदस्तभववासनमेकमास्त्व
 न त्वं न चाहमपि नान्यदिहास्ति सत्यम् ।
 सर्वं च विद्यत इतीह किलान्तराभं
 ज्ञस्तिष्ठ चिद्गगनकोशकलैकनिष्ठः ॥ ३१

एकोनसप्ततितमः सर्गः ६९

श्रीराम उवाच ।
 कुतः शतत्वमायातं रुद्राणां मुनिनायक ।
 ये गणास्ते तु ये रुद्रा उत नेति वदाशु मे ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 स्वप्नानां मिथुणा दृष्टं शतं शतशरीरकम् ।

भावाभावादिविशेषैः संविदोऽनाभासः अविवर्तः ॥ २३ ॥
 बाधितत्वादत्यन्तमसतैव ॥ २४ ॥ मानसं विकल्पनम् । इति
 बाधितस्य संविदा असंविद्विरप्रतिभासः ॥ २५ ॥ स्वस्ति अना-
 मयं शब्दार्थमात्रकं सर्वं सत्तासामान्यमेव ॥ २६ ॥ यस्मादेतोः
 अमा सर्वबाधकस्वाकारचरमवृत्तिप्रमाशून्या तामपि प्रसन्तीव
 स्यात्तस्मान्मनस्य अन्यस्य आदिपदान्नेदस्य च ॥ २७ ॥ अवि-
 द्याबाधानुर्यं तद्बाधकवृत्तीनामपि बाधानुर्यातीतम् ॥ २८ ॥
 प्रागुक्तसप्तविधज्ञानभूमिकानां मध्ये पञ्चम्यादय एतास्तिष्ठो
 भूमिकाः समाधिमेदरूपाः जाग्रति अपिशब्दात्स्वप्नस्थेऽपि तत्त्व-
 विदि पर्यायेण भवन्तीत्याह—सौषुप्तैकेति । समाधानः समा-
 धिकश्च समाधिः एते समाधयो जाग्रत्यपि भवन्ति ॥ २९ ॥
 हे ब्रह्मन् ब्रह्मभूत हे साधो, जाग्रति समन्ताभिपुणं व्यवहरन्स-
 देहोऽपि उत वा त्यक्तव्यवहारः समाधिस्थोऽपि जीवन्मुक्तः
 सकलामलशान्तिवृत्तिर्नित्यं तुर्यस्थ एव तथा विदेह एव ।
 इयं च स्थितिः स्थूलसूक्ष्माकारद्वयबाधानभो भवतीति नभो-
 भवन् यस्तस्यैवास्ति नान्यस्येत्यर्थः । अथवा नभ इत्यपि संबो-
 धनमेव । इयं स्थितिस्तथा भवत एवास्ति नान्यस्येत्यर्थः ।
 अथवा भवतस्तर्वास्तीति रामं प्रति सिद्धवत्कारोक्तिः ॥ ३० ॥
 हे राम, त्वं अमित्युदस्तभववासनमेकं तुर्यरूपमास्त्व । सर्वं च
 विद्यत इतीह किल यत्प्रसिद्धं तत् आन्तरो नाभ्यन्तरनुभूयमानः
 स्वप्नस्तदाभं बुद्धा ज्ञो जीवन्मुक्तस्त्वं चिद्गगनकोशकलैकनिष्ठस्ति-
 ष्टेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे महामौनयज्ञोपदेशो नामाष्टषष्ठितमः सर्गः ॥६८॥

सर्वमुद्देशतो ज्ञातं तत उक्तं न तन्मया ॥ २
 य आकाराश्च ते स्वप्नं तत्तद्गणशतं स्मृतम् ।
 तदेतद्रुद्रशतकं रुद्रा अपि गणा विधौ ॥ ३
 श्रीराम उवाच ।

एकस्मान्गणवन्धित्वात्कथं चित्तशतं कृतम् ।

गणानामपि रुद्रत्वं मुक्तानामैच्छिकी स्थितिः ।
 योगात्प्राणस्य बिलयो मृतेस्तुद्धृतिरुच्यते ॥ १ ॥
 'प्राप्य तां ब्रह्महंसेहां रुद्रतां सर्व एव ते । समाजग्मुर्विरे-
 जुश्च रुद्राणामुत्तमं शतम् ॥' इति शतानामशुभतमरुद्रता
 प्रागुक्ता तदुत्तरसर्गे च रुद्राज्ञया तेषु तेषु देहेषु प्रारब्धशेषं भुक्त-
 वतां तेषाम् । 'तत्र भुक्त्वा चिरं भोगान्प्राप्य रुद्रपुरं ततः ।
 गणतामावसंतस्ते स्थास्यन्ति सपरिच्छदाः' इत्युक्तं तत्र रुद्रे-
 च्छया शतरुद्रमूर्तानां गणत्वमेकैव रुद्रमूर्तिरिति संदिहानो रामः
 पृच्छति—कुत इति । रुद्राणां शतत्वं कुत आगतम् । किं
 गणैः सह परिगणनादुत तद्यतिरिक्तरुद्राणामेव परिगणनात् ।
 एवार्थे तुशब्दः । ये गणास्त्वयोक्तास्त एव ये रुद्रा उक्तास्ते
 उत न । अन्ये एव रुद्रा इत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्र प्रथमकल्पमेवा-
 वलन्व्य वसिष्ठ उत्तरमाह—स्वप्नानामिति । उद्देशतः प्राग्ब-
 र्णिततत्त्वान्मादिप्रस्तावतस्त्वया ज्ञातमेव ततस्त्वन्मया रुद्रशत-
 संख्याने नामतो विशिष्य नोक्तम् ॥ २ ॥ मिथुस्वप्ने ये जीव-
 टाशाकारास्तदाकारमेवोत्सर्गतो गणशतमिति स्मृतम् । तदेवै-
 तद्गुद्रशतकमपि भोगैर्भ्रयसाम्याद्गुद्रांशत्वाच्च भवति । ननु गणा
 इति रुद्रस्य सेवकाः पार्षदा उच्यन्ते ते कथं मुख्यरुद्राः स्युः ।
 स्वामिभृत्यभावयोर्विरुद्धयोरेकत्रासंभवात् । किं च शततमस्य
 मुख्यरुद्रत्वाद्गणत्वाभावाद्गणशतमित्युक्तिश्चानुपपन्नैवेति चेत्त-
 त्राह—रुद्रा अपीति । ते शतं स्वयं रुद्रा अपि पूर्वसिद्धस्ये-
 श्वरकोटिभूतरुद्रस्य परिचर्यादिविधौ गणा एव भवन्ति । तेषां
 कर्मफलभोगैर्भ्रयप्राप्तेस्तदधीनत्वावित्यर्थः ॥ ३ ॥ 'बोधयित्वा
 तु तं मिथुं चेतसा चेतनेन च' इत्यादिना मिथुस्वप्नकृतेन शतत-

तस्वमकृतधरेण दीपाहीपशतं यथा ॥ ४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 निरावरणसद्भावा यद्यथा कल्पयन्ति हि ।
 तत्तथानुभवन्त्येव रसावरणसंविदः ॥ ५
 सर्वात्मनः सर्वगत्वाद्यद्यथा यत्र भाव्यते ।
 तथानुभूयते तत्र तत्तथा व्रतया धिया ॥ ६
 श्रीराम उवाच ।
 कपालमालाभरणो भस्मशाली दिगम्बरः ।
 श्मशाननिष्ठो ब्रह्मन्कामुकश्च किमीश्वरः ॥ ७
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 महेश्वराणां सिद्धानां जीवन्मुक्तशरीरिणाम् ।
 न क्रियानियमोऽस्तीह स ह्यज्ञस्यैव कल्पितः ॥ ८
 अज्ञस्तु दितचित्तत्वात्क्रियानियमनं विना ।
 गच्छद्भयायेन मात्स्येन परं दुःखं प्रयाति हि ॥ ९
 सुशास्त्रिष्वेष्टेष्वनिष्टेषु न निमज्जन्ति वस्तुषु ।
 यतेन्द्रियत्वाद्बुद्धत्वाच्चिर्वासनतया तथा ॥ १०
 काकतालीयवद्रूढां क्रियां कुर्वन्ति ते सदा ।
 न कुर्वन्त्यपि वै किञ्चिन्नैषां क्वचिदपि ग्रहः ॥ ११
 काकतालीयतो विष्णुरेवंकर्मोदितः पुरा ।
 एवंकर्मा त्रिनयन एवंकर्माभुजोद्भवः ॥ १२

मेन हरेण स्वचित्तचैतन्यदानेन निष्कवाचीनां बोधनं यत्प्रागुक्तं तदन्यत्रादर्शनादसंभावयन् रामः पृच्छति—एकस्मादिति ॥ ४ ॥ अनीश्वरेष्वज्ञेषु तददर्शनेऽपि ईश्वरेषु मुक्तेषु न तदसंभावना युक्तेति परिहरति—निरावरणेति । ज्ञानैश्वर्येण निरावरणा योगैश्वर्येण सद्भावाः सत्यसंकल्पाः । 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति श्रुतेः । रसो भूमानन्दस्तं आसमन्तात्सांकल्पिकार्थसत्तालाभाय वृणोति स्वीकरोति तथाविधा या माया प्रतिबिम्बसंविद् सार्वश्यसर्वशक्तत्वाख्या तद्गलादित्यर्थः ॥ ५ ॥ सार्वान्त्यबलादपि तेषां सर्वभावितार्थसिद्धिरित्याह—सर्वात्मन इति ॥ ६ ॥ एवमैश्वर्ये सति हरिहरादयः किमर्थं मानुषयोन्याद्यवतारश्मशानवासादिकदर्थनां स्वस्य कल्पयन्ति शुभमेव कुतो न कल्पयन्तीत्याशयेन रामः पृच्छति—कपालेति । भस्मना शालते शोभते तच्छीलः । ईश्वरः सर्वशक्तिसंपन्नोऽपि सन् किं किमर्थमेवास्ते इत्यर्थः ॥ ७ ॥ क्रियाः शास्त्रीया एव मङ्गलरूपा एव सुखभोगफला एव कार्या इति न नियमस्तेषां विधिक्रित्वाभावात् । अज्ञद्वयप्रसिद्धमङ्गलानामपि सर्वेषां तत्त्वदशा अमङ्गलतमत्वाविशेषात् । अशुभकर्माभावेन दुःखसामग्र्यापि तेषां दुःखभोगानुदयात्सर्वस्य सुखरूपत्वाविशेषाचेति भावः ॥ ८ ॥ दितचित्तत्वात् रागद्वेषलोभादिदोषसहस्रखण्डितचित्तत्वान्मात्स्येन मात्स्येषु प्रसिद्धेन दुर्बलस्वपरजातिप्रसनन्यायेन गच्छन् क्रियानियमनं विना परं जन्म परंपरानरकादिदुःखं प्रयाति । हि इति शास्त्रप्रसिद्धौ ॥ ९ ॥ १० ॥

१ अज्ञः तु दितचित्तत्वात् इत्यपि विग्रहः केषाञ्चन संमतः, स च टीकाकर्त्रे संमतत्वादादर्शान्तरेष्वप्यलब्धत्वादायुक्तत्वाच्च नाहृतोऽस्माभिः यो० बा० ११८

न निन्द्यमस्ति नाभिन्द्यं नोपादेयं न हेयता ।
 न आत्मीयं न च परं कर्म ह्यविषयं क्वचित् ॥ १३
 अज्ञादीनां यथौण्यादि सर्गादौ रूढिमागतम् ।
 हरादीनां तथा कर्म द्विजातीनां च जातयः ॥ १४
 सर्गे प्ररूढिमायाते संकेतवशतः पृथक् ।
 अनुभूतिफलाभ्याः कल्पिताः कल्पिताः स्वयम् ॥ १५
 विदेहमुक्तविषयं तुर्यमौनमतो मया ।
 नोक्तं तव परं मौनं सदेहस्य रघूद्वह ॥ १६
 खादप्यतितरामच्छमात्माकाशं चिदात्मकम् ।
 तत्ताप्राप्तिः परं श्रेयः सा कथं प्राप्यते शृणु ॥ १७
 सम्यग्ज्ञानावबोधेन नित्यमेकसमाधिना ।
 संख्ययैवावबुद्धा ये ते स्मृताः सांख्ययोगिनः ॥ १८
 प्राणाद्यनिलसंशान्तौ युक्त्या ये पदमागताः ।
 अनामयमनाद्यन्तं ते स्मृता योगयोगिनः ॥ १९
 उपादेयं तु सर्वेषां शान्तं पदमकृत्रिमम् ।
 तत्केचित्संख्यया प्राप्ताः केचिद्योगेन देहतः ॥ २०
 एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।
 यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं परं योगैस्तदेव हि ॥ २१
 यत्र प्राणमनोवृत्तिरत्यन्तं नोपलभ्यते ।
 वासनावागुरोत्क्रान्ता तद्विद्धि परमं पदम् ॥ २२

रूढां अकस्मात्प्रादुर्भूताम् । ग्रहः आसन्नः ॥ ११ ॥ एवंकर्मा मानुष्यादिजन्मकर्मा ॥ १२ ॥ न हेयता कस्यचिदिति शेषः । आत्मीयं स्ववर्णाश्रमोचितम् । परं तदन्यत् । ज्ञाः सिद्धास्तान्विषिणोति बध्नातीति विषयस्तथाविधं न क्वचिदित्यर्थः ॥ १३ ॥ तर्हि कथं हरस्य प्रसिद्धहरचरित्रवेषक्रियानियमो हरेर्वा तच्चरित्रवेषादिनियमो भवदादीनां च ब्राह्मणोत्तमचर्यानियमः । काकतालीयन्याये तदघटनादित्याशङ्क्याह—अज्ञादीनामिति । जातयस्तत्तज्जात्युचितकर्मनियमः । मुख्येश्वरेच्छारूपानादिनियतिरेव तद्व्यवस्थापिकेत्यर्थः ॥ १४ ॥ अज्ञानां तु चर्या नाभ्यादिक्रियावन्नियताः सर्गादावभिव्यक्ताः किंतु सर्गे रूढिमायाते सति तत्तद्वर्णादिविभागसंकेतवशतः पृथक् ऐहिकपारलौकिकसुखदुःखानुभूतिफलाः शास्त्रीयाः स्वाभाविक्यश्च रागादिबशात्स्वयं कल्पिता इति वैषम्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥ एवं प्रश्नं समाधाय प्रस्तुतेषु मौनेषु वक्तव्यशेषं दर्शयति—विदेहेति । सदेहस्य प्रसिद्धात्तुर्विधमौनात्परं तव नोक्तं तच्छुषिवति परेणान्वयः ॥ १६ ॥ तत्तायास्तद्भावस्य प्राप्तिः परं श्रेयो मोक्षः ॥ १७ ॥ तत्प्राप्तौ सांख्ययोगानुपाय इति वर्णयिष्यन्सांख्ययोगिनो लक्षयति—संख्ययिति । संख्यया विवेकविचारप्रयुक्तराजयोगेन ॥ १८ ॥ कर्मयोगिनो लक्षयति—प्राप्तेति । युक्त्या प्राग्वर्णितहृद्योगेन ॥ १९ ॥ उपादेयं फलीभूततत्त्वसाक्षात्कारेण प्राप्तव्यम् । सर्वेषां द्विविधानामपि योगिनाम् । देहतः अनेनैव देहेन ॥ २० ॥ फलत एतदेव स्फुटयति—यदिति ॥ २१ ॥ ननु विभिन्नरूपयोस्तयोः कुत एकं फलं तत्राह—यत्रेति । प्राणमनोवृत्त्योरभयोरप्याद्यन्तिक-

वासनां चित्तमेवाहुः कारणं तद्धि संसृतेः ।
 तदकारणतामेति विलीयोभयकर्मसु ॥ २३
 मनः पश्यति वै देहं बालो वेतालकं यथा ।
 स्वात्मानं विलयं नीत्वा न भूयस्तं प्रपश्यति ॥ २४
 मनो मुधैवाभ्युदितमसदेवानवेक्षणात् ।
 स्वप्ने स्वमरणाकारं प्रेक्ष्यमाणं न विद्यते ॥ २५
 मनोभवस्तु संसारः क्व ममाहं क्व संततिः ।
 उपदेश्योपदेशादिबन्धमोक्षौ च तत्कुतः ॥ २६
 एकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा ।
 मनोविनिग्रहश्चेति मोक्षशब्दार्थसंग्रहः ॥ २७

श्रीराम उवाच ।

यदि हि प्राणविलयो मुने मोक्षस्य कारणम् ।
 मृता एव विमुच्यन्ते तन्मन्ये सर्वजन्तवः ॥ २८
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।

त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनःप्रशमनं वरम् ।
 साध्यं विद्धि तदेवाशु यथा भवति तच्छिवम् ॥ २९
 यदा निर्वाणं प्राणास्त्यजन्तीदं शरीरकम् ।

विलयोपलक्षितत्वाद्बुभयवासनावागुरोत्क्रान्ता स्थितिरेव तत्परमं पदं तत इत्यर्थः ॥ २२ ॥ एकफलत्वे ओदनसिद्धौ वह्नि-जलयोरिव सांख्ययोगयोः समुच्चयो युक्तो न विकल्प इति चेत्तत्राह—वासनामिति । संसृतेर्बाह्यान्तःकरणप्राणादिचेष्टा-यास्तद्वासनापुञ्जात्मकं मन एव कारणं तच्च सांख्येन योगेन वा एकैवैव विलीय तत्त्वज्ञानात्मना परिणतमुभयोः करणप्राण-योरपि कर्मसु व्यापारेषु अकारणतामेतीत्येकैकेनोभयफल-सिद्धेर्न समुच्चय इत्यर्थः ॥ २३ ॥ देहाहंतादर्शनपूर्विकैव सर्वा संसृतिस्तन्मूलं मनस्तच्छान्तौ सर्वसंसृतिशान्तिरूपपञ्चेत्याह—मन इति ॥ २४ ॥ आत्मदर्शनेन तर्हि कथं मनसो नाश इति चेत्तददर्शनजन्यत्वादित्याह—मन इति ॥ २५ ॥ ज्ञानेन मनोवाधे तत्कार्याहंममतादिबन्धमोक्षान्ताः सर्वाः कल्पना बाध्यन्त इत्याह—मनोभव इति । क्व कुत इत्यनयोः प्रतिपद-मन्वयः ॥ २६ ॥ इदानीमुक्तमाधममध्यमाधिकारिक्रमेण मोक्ष-साधनप्रयं सर्वशास्त्रार्थतात्पर्यसंग्रहेण दर्शयति—एकेति ॥ २७ ॥ तेषु मध्यमं राम आक्षिपति—यदीति । मरणे सर्वेषां प्राणविलयप्रसिद्धेरिति भावः ॥ २८ ॥ त्रयोऽप्युपाया मनोनाशद्वारं च मोक्षहेतवो मरणे च न मनोनाशः प्राणनाशो वा किंतु मूर्च्छाकाले विलीनसैन्धववदविद्यायां वासनात्मना-वस्थानमुत्क्रमणकाले पुनराविर्भावः । 'सविज्ञानो भवति सवि-ज्ञानमेवान्ववक्रामती'ति श्रुतेस्तृणजलायुकादृष्टान्तप्रसिद्धेर्विली-नानां प्राणानां चक्षुरादिद्वारेणोत्क्रमणसंभवाच्च । न च स्थूल-देहरूपाधाराभावाद्बहिर्निर्गतानां विलयः । बाह्याकाशे सहोत्क्रा-न्ताभिर्भूतमात्राभिस्तान्कालिकव्यवहारयोग्यदेहकल्पनसंभवादि-त्याशयेन वसिष्ठः समाश्लेषे—त्रिष्वेतेषु प्वित्यादिना । मनःप्रश-

१ संसृतिः.

तदानुभूय तन्मात्रैर्यान्ति व्योमनि संगमम् ॥ ३०
 वासनासात्मकान्येषु विद्धि तन्मात्रकाणि वै ।
 तदात्मकैर्मनोवद्भिः प्राणैः श्लिष्यन्ति नेतरैः ॥ ३१
 सवासनास्तृप्यन्ते प्राणा मुञ्चन्ति देहकम् ।
 तद्गोमवायुसंश्लेषं यान्ति दुःखाय गन्धवत् ॥ ३२
 मनः साम्बुरिवाम्भोधौ न शाम्यति सवासनम् ।
 नामनस्काः संभवन्ति प्राणाः सूर्य इव त्विषः ॥ ३३
 न जहाति मनः प्राणान्विना ज्ञानेन कर्हिचित् ।
 तृणान्तरेणैव विना तृणाङ्गमिव तिस्रिरिः ॥ ३४
 ज्ञानाद्वासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
 प्राणात्स्पदं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ॥ ३५
 ज्ञानात्सर्वपदार्थानामसत्त्वं समुदेत्यलम् ।
 ततोऽङ्ग वासनानाशाद्वियोगः प्राणश्चेतसोः ॥ ३६
 ततो न पश्यति मनः प्रशान्तं देहतां पुनः ।
 स्वनाशेन पदं प्राप्तं वासनैव मनो विदुः ॥ ३७
 चेतो हि वासनामात्रं तदभावे परं पदम् ।
 तत्त्वं संपद्यते ज्ञानं ज्ञानमाहुर्विचारणम् ॥ ३८

मनमेव वरं श्रेष्ठं साध्यं विद्धि ॥ २९ ॥ यदा प्राणा निर्वाणं 'वण शब्दे', उपशान्तघुर्घुरारावमिदं शरीरकं त्यजन्ति तदा वासनाकामकर्मोपस्थापितं भाविदेहाकारमनुभूय बाह्यव्योमनि तादृशदेहारम्भानुकूलैस्तन्मात्रैर्भूतमात्राभिः संगमं यान्ति । तथा च श्रुतिः 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' इति । 'तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा अन्येषां वा भूतानाम्' इति च । श्रुतौ पेशस्कारी स्वर्णकारः पेशसः स्वर्णस्य मात्रां शकलान्युपा-दायेत्यर्थः ॥ ३० ॥ तर्हि ता भूतमात्रा बहिर्जीवान्तरप्राणैः सहापि कुतो न श्लिष्यन्ति तत्राह—वासनेति । तत्तज्जीव-वासनामात्रात्मकानि तानि तादृशवासनावन्मनोविशिष्टप्राणैरेव संश्लिष्यन्ति नेतरैरिति व्यवस्थितमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ प्राणा देहान्तरे तद्देहवासनासहिता एवोत्पद्यन्ते । यतः पूर्वदेहमपि भाविदेहवासनासहिता एव मुञ्चन्ति । देहान्तरे च तथीयहार्द-व्योम्ना तदन्तर्गतवायुभिश्च संश्लेषं यान्ति । यथा कूसुमगन्ध-स्तिलेषु प्रतिविशस्तद्रतैलेन संश्लेषं यातीति यन्निष्पीड-नादिदुःखाय भवति तद्वत् ॥ ३२ ॥ अत एव मरणमात्रेण न मनोनाश इति, न प्राणनाशोऽपीत्याह—मन इति । यथा साम्बुर्घटः अम्भोधौ ममो बाह्यजनैरदृश्यमानोऽपि न शाम्यति न नश्यति । मनःप्राणयोः समनियतत्वं व्यतिरेकमुखेनान्वय-मुखेन च दर्शयति—नामनस्का इति साधेन ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ अत एव ज्ञानाद्वासनाक्षये उभयनाश इत्याह—ज्ञानादिति ॥ ३५ ॥ कथं ज्ञानेन वासनानाश इति चेत्तदेतुद्वैतबाधादित्याह—ज्ञानादिति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ तदपि ज्ञानं सवासनं सर्वं बाधित्वा

इत्यस्याः संसृते राम पर्यन्तः संप्रवर्तते ।
 स्वयं विवेकमात्रेण रज्जुसर्पभ्रमाकृतेः ॥ ३९
 एकार्थाभ्यसनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ।
 एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिद्ध्यन्ति परस्परम् ॥ ४०
 तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः ।
 प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ॥ ४१
 प्राणः शरीरविलये प्रयाति व्योमवायुताम् ।
 यथा वासितमेवेदं सर्वं पश्यति तत्र वा ॥ ४२
 यथा विदेहाः पश्यन्ति प्राणा व्योमनि देहकम् ।
 समनस्कास्तथाचारं सर्वं चानुभवन्ति ते ॥ ४३
 शान्ते वातपरिस्पन्दे यथा गन्धः प्रशाम्यति ।
 तथा शान्ते मनःस्पन्दे शाम्यन्ति प्राणवायवः ॥ ४४
 अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी ।
 कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इव स्थिते ॥ ४५
 मनसः स्पन्दनं प्राणः प्राणस्य स्पन्दनं मनः ।
 एतौ विहरतो नित्यमन्योन्यं रथसारथी ॥ ४६
 आधाराधेयवच्चैतावेकाभावे विनश्यतः ।
 कुर्वतश्च स्वनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ॥ ४७
 एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः ।
 तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ॥ ४८
 विचार्य यदनन्तात्मतत्त्वं तन्मयतां नय ।
 मनस्ततस्तल्लयेन तदेव भवति स्थिरम् ॥ ४९

आत्मतत्त्वमेव संपश्यते तच्च तत्त्वं विचारणं रलयोरमेदाद्विगत-
 चालनमचलं ज्ञानमेव शिष्यत इत्यनुभवनिष्ठा आहुः ॥ ३८ ॥
 ॥ ३९ ॥ प्रस्तुतमुपादत्ते—एकेति । एकोऽर्थोऽद्वयं तत्त्वं तद-
 भ्यसनं श्रवणाद्यावर्तनम् ॥ ४० ॥ ४१ ॥ सति शरीरे प्राणो-
 क्तमणे अस्त्वयं कमः, यत्र शरीरस्यैव शापच्छेदादिना नाश-
 स्तत्र कः क्रमस्तामाह—प्राण इति । व्योमवायुतां बाह्याकाश-
 स्थवायुमिलनात्तद्भावम् । तत्र बाह्याकाशे ॥ ४२ ॥ यथा
 यादृशं कर्मोद्भावितवासनामयं सुरनरपश्वादिदेहकं पश्यन्ति
 तथा तदनु रूपमेव आचारं व्यवहारमनुभवन्ति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥
 तिलतैले संक्रान्तकुसुमामोदवन्मिश्रे ॥ ४५ ॥ रथसारथी इव
 अन्योन्यस्पन्दनं विहरतः संपादयतः ॥ ४६ ॥ आधाराधेय-
 वत् अद्भ्यौण्यवत् ॥ ४७ ॥ शान्तं बाधितद्वैतवासनम् । प्राण-
 स्वभावस्य तस्मिन्मनसि लीनत्वादेकीभूतत्वात् ॥ ४८ ॥ तस्मि-
 न्नात्मतत्त्वे लयेन तदात्मतत्त्वमेव स्थिरं भवति ॥ ४९ ॥ अनु-
 पलम्भोऽज्ञानम्, उपलम्भस्तद्वाधिका ब्रह्माकारा वृत्तिस्तयोर्द्व-
 योरप्यसतोर्निवृत्तयोर्यः शिष्यत इति शेषस्तत्र चिन्मात्रे प्राण-
 धारणया वा स्थिरो भवेत्यर्थः ॥ ५० ॥ कियत्कालमेकतत्त्वभा-
 वना धार्या तत्राह—एकस्मिन्निति । भावं तदाकारवृत्तिधा-
 राम् । यावद्भावः सा वृत्तिधागापि चरमसाक्षात्काररूपेण सती
 अभावत्वमायाति तावदित्यर्थः ॥ ५१ ॥ भोग्यक्षयादाहारक्ष-
 यात्स्वयं देह इव विलीयते ॥ ५२ ॥ धारणात्तैः पञ्चभिरज्ञै-

यदेवातितरां श्रेयोऽनुपलम्भोपलम्भयोः ।
 द्वयोरप्यसतोस्तत्र शेषे वापि स्थिरो भव ॥ ५०
 एकस्मिन्सुदृढे तत्त्वे तावद्भावं विभावयेत् ।
 भावोऽभावत्वमायाति स्वभ्यासाद्यावदाततम् ॥ ५१
 प्रत्याहारवतां चेतः स्वयं भोग्यक्षयादिव ।
 विलीयते सह प्राणैः परमेवावशिष्यते ॥ ५२
 यदेकतानं भवति चेतस्तद्भवति क्षणात् ।
 शान्ताशेषविशेषौघं चिराभ्यासस्वभावतः ॥ ५३
 अविद्येयं तु नास्तीति बुद्ध्या युक्तियुतं धिया ।
 ज्ञानादेव परावाप्तिस्तदभ्यासस्ततः परम् ॥ ५४
 चित्ते शान्ते शाम्यतीयं संसारमृगतृष्णिका ।
 जरामुपगते मेघे मिहिका तन्मयी यथा ॥ ५५
 चित्तमात्रमविद्येति कुरु तेनैव तत्क्षयम् ।
 तद्रूपं राम चित्तात्मा नाभावो हि परं पदम् ॥ ५६
 मुहूर्तमेव निर्वाणं यदि चेतः परे पदे ।
 तत्तत्परिणतं विद्धि तत्रैवास्वादमागतम् ॥ ५७
 यदि सांख्येन विश्रान्तं चेतो योगेन वापि ते ।
 क्षणं तत्सत्त्वतां यातं न भूय इह जायते ॥ ५८
 चेतो विगलिताविद्यं सत्त्वशब्देन कथ्यते ।
 दग्धसंसारबीजं तन्न ददात्यन्तरं पुनः ॥ ५९
 कश्चिद्विगलिताविद्यः सत्त्वस्थः शान्तवासनः ।
 परं शून्योपमं सद्यो ज्योतिः पश्यति शाम्यति ॥ ६०

मनसो बाह्याकारक्षये सति धारणादिभिस्त्रिभिर्ब्रह्मैकतानतासं-
 पत्त्या निर्विकल्पसमाधिपरिपाकेन ब्रह्मभावः सिद्ध्यतीत्याह—
 यदेकतानमिति ॥ ५३ ॥ अश्रुते अमते च ध्यानधारणाद्यभ्या-
 सायोगाच्छ्रवणमननाभ्यां द्वैतजातमविद्यैव, सा च नास्त्येव,
 तत्त्वज्ञानादेव परावाप्तिरिति प्रमाणप्रमेयासंभावनादोषनिरास-
 पर्यन्तं बुद्ध्या ततः परं ध्यानधारणादिना ज्ञानाभ्यासः कार्यं
 इत्यर्थः ॥ ५४ ॥ मेघे जरामपक्षयं शरदि उपगते सति ततो
 हेतोरगता तन्मयी । तत आगत इत्यर्थे हेतुमनुष्येभ्योऽन्यत-
 रस्याम् इत्यनुवर्तमाने 'मयद् च' इति मयद् ॥ ५५ ॥ ब्रह्माका-
 रपरिणतेन तेन चित्तेनैव तस्य चित्तस्य क्षयं कुरु । तस्य
 चित्तक्षयस्य रूपं तु चित्ताधिष्ठानमात्मैव न शून्यता । हि
 यस्मात्तदभावः परं पदं परमपुरुषार्थो न भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥
 अप्यर्थे एवकारः । निर्वाणं विश्रान्तम् । तत्तर्हि तद्ब्रह्मैव परि-
 णतं विद्धि नत्वध्यस्तस्याधिष्ठानव्यतिरिक्तं स्वरूपमस्तीति तत्रैव
 निरतिशयस्वप्रकाशानन्दास्वादमागतं सन्न व्युत्थानमिच्छती-
 त्यर्थः । तथाचोक्तं शिवधर्मोत्तरे 'ज्ञानाभ्युत्तरसो येन सकृदास्वा-
 दितो भवेत् । विहाय सर्वकार्याणि मनस्तत्रैव धावति ॥' इति
 ॥ ५७ ॥ इदमेव प्रस्तुतयोः सांख्ययोगयोरेकं फलमित्याह—
 यदिति ॥ ५८ ॥ सत्त्वशब्दार्थं स्वयमेवाह—चेत इति ।
 अन्तरं ब्रह्मभावविच्छेदम् ॥ ५९ ॥ तद्दर्शनोन्मुखजना विरला
 एवेत्याह—कश्चिदिति । अज्ञदशा असंभावनाच्छून्योप-

विगलितात्मपदं विगलन्मनः

सुभग सस्त्वमितीह हि कथ्यते ।

न पुनरेति कलामलिनं पदं

कनकतामिव ताम्रमुपागतम् ॥

६१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० पू० प्राणमनःसंयोगविचारणं नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः ७०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जीवोऽजीवो भवत्याशु याति चित्तमचित्ताताम् ।
विचारादित्यविघ्नान्तो मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ १
मृगतृष्णाजलमिव मनोऽहंतादि दृश्यते ।
असदेव मनागेव तद्विचारात्प्रलीयते ॥ २
संसृतिस्वप्नविघ्नान्तौ वेतालोदाहृतानिमान् ।
प्रश्नानाकर्णय शुभान्प्रसङ्गात्स्मृतिमागतान् ॥ ३
अस्ति विन्ध्यमहादव्यां वेतालो विपुलाकृतिः ।
स किञ्चिन्मण्डलं गर्वादाजगाम जिघांसया ॥ ४
स वेतालोऽवसत्पूर्वं कस्मिंश्चित्सज्जनास्पदे ।
बहुबल्युपहारेण नित्यतृप्ततया सुखी ॥ ५
निर्निमित्तं निरागस्कं पुरोऽप्यभ्यागतं न सः ।
क्षुधितोऽपि नरं हन्ति सन्तो हि न्यायदर्शकाः ॥ ६
स कालेनाटवीगेहो जगाम नगरान्तरम् ।
न्याययुक्त्या जनं भोक्तुं क्षुधा समभिचोदितः ॥ ७
तत्र प्राप स भूपालं रात्रिचर्याविनिर्गतम् ।
तमाह घनघोरेण शब्देनोग्रनिशाचरः ॥ ८

मम् । इहशा तु परं ज्योतिः ॥ ६० ॥ उक्तमेवार्थमनुवदन्नुप-
संहरति—विगलितेति । हे सुभग, उक्तत्रिविधोपायाभ्यासैर्वि-
गलितान्यात्मनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिलक्षणानि भ्रान्तितद्वीजदर्शन-
पदानि यस्य तथाविधं स्वयं चाविद्याक्षयाद्विगलद्वाधितं दग्धप-
टवत् प्रतिभासमात्रविधिं मन इह जीवन्मुक्त्यवस्थायां सस्त्व-
मिति कथ्यते । तच्च वासनाबीजशक्तिदाहात् पुना रागद्वेषा-
भिमानादिकलामलिनं संसारपदं न एति । यथा स्पर्शमणि-
सङ्गात्कनकतामुपागतं ताम्रं पुनः कलङ्ककलामलिनं ताम्रपदं
नैति तद्वदित्यर्थः ॥ ६९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे प्राणमनःसंयोगविचारणं नामै-
कोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

मायाभ्रान्त्यनवस्थाने विदात्मपरिशुद्धये ।

वेतालराजसंवादकथोदाह्रियते शुभा ॥ १ ॥

‘चित्ते शान्ते शाम्यतीयं संसारमृगतृष्णिके’त्युक्तं, चित्तशान्तौ
च विचार एव ज्ञानोदयपर्यन्त उपाय इत्याह—जीव इति ।
इति अनेनोपायेन संपन्नो यः कार्यकारणाविद्ययोरन्तो नाशः
स मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ १ ॥ उक्तार्थाऽसंभावनाहेतुं प्रपञ्चे
दाढ्यभ्रमं धारयति—मृगतृष्णेति ॥ २ ॥ असदेव मनागेवे-
त्युक्तार्थस्य समर्थनायाख्यायिकामवतारयति—संसृतीति ॥ ३ ॥

वेताल उवाच ।

राजंल्लघोऽसि भीमेन वेतालेन मयाधुना ।
क गच्छसि विनष्टोऽसि भव भोजनमद्य मे ॥ ९
राजोवाच ।
हे रात्रिचर निर्व्याप्यं मां चेद्वत्सि बलादिह ।
तप्ते सहस्रधा मूर्धा स्फुटिष्यति न संशयः ॥ १०
वेताल उवाच ।
न त्वामद्वयहृमन्यायं न्यायोऽयं हि मयोच्यते ।
राजासि सकलाशाश्च पूरणीयास्त्वयार्थिनाम् ॥ ११
ममैतामर्थितां राजन्संभवार्थां प्रपूरय ।
प्रश्नानिमान्मयोक्तांस्त्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ १२
कस्य सूर्यस्य रश्मीनां ब्रह्माण्डान्यणवः कृशाः ।
कस्मिन्स्फुरन्ति पवने महागगनरेणवः ॥ १३
स्वप्नात्स्वप्नान्तरं गच्छच्छतशोऽथ सहस्रशः ।
त्यजन्न त्यजति स्वच्छं कः स्वरूपं प्रभास्वरम् ॥ १४
रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवं पुनःपुनः ।
अन्तरन्तस्तथान्तश्च तथा कोऽणुः स एव हि ॥ १५

गर्वाद्वधयोग्येष्वज्जनेष्वनादरात् ॥ ४ ॥ संक्षिप्योक्तं विस्ता-
रयितुं पुनरादित आरभ्याह—स इति । सज्जनस्य राज्ञ आस्पदे
देशे किरातराज्ये कर्कटीव राजकृतेन बहुबध्यजनबल्युपहारेण
नित्यतृप्ततया निर्विक्षेपसमाधिसुखी ॥ ५ ॥ ६ ॥ कालेन तत्र
वध्यजनालाभकालेन । अटवी गेहं यस्य ॥ ७ ॥ रात्रिचर्या
निशि नगरे दुष्टजनपरिज्ञानाय चोरादिवधाय च संचारस्तदर्थं
विनिर्गतम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ निर्व्याप्यं न्यायापेतक्रमेणात्सि-
चेत् ॥ १० ॥ सकलः आशास्वन्त इत्याशा अभिलषितार्थाः ।
किंलेति धर्मशास्त्रप्रसिद्धौ ॥ ११ ॥ अज्ञानेदपराधसहस्रं सुलभं
सुज्ञबेजापराध्यत्येव । स च सत्यप्यपराधसहस्रे पालनीय इति
परीक्षणाय प्रश्नपरिपूरणमेव प्रार्थयते—ममैतामिति । संभवा-
र्यामबाधितार्थाम् । अनेनासंभावितार्थप्रश्नच्छलेन परवधप्रवृत्तिः
स्वस्य नास्तीति दर्शितम् ॥ १२ ॥ सर्वेषां प्रश्नानामापाततोऽर्थः
स्पष्टः । तात्पर्यतस्तूत्तरसर्गे स्फुटीकरिष्यते ॥ १३ ॥ उत्तरोत्तर-
स्वप्ने पूर्वपूर्वसत्यतां त्यजन्नपि तत् प्रकाशकं स्वच्छं सत्यात्मस्व-
रूपं न त्यजति ॥ १४ ॥ यथा रम्भायाः कदल्याः स्तम्भः अन्त-
रन्तस्तथा तदन्तश्च पत्रमात्रं बल्कलमात्रम् । इष्टान्ते तत्स-
दशवल्कलान्तरं दार्ष्टान्तिके स एवेति विशेष इति भावः ॥ १५ ॥

१ मूले किल इति टीकाकृत्पाठोऽस्मिन्निकटवर्तीदर्शान्तरेषु न दृश्यते.

ब्रह्माण्डाकाशभूतौघसूर्यमण्डलमेरवः ।
अपरित्यजतोऽणुत्वं कस्याणोः परमाणवः ॥ १६
कस्यानवयवस्यैव परमाणुमहागिरेः ।
शिलान्तर्निबिडैकान्तरूपमज्जा जगन्नयी ॥ १७

इति कथयसि चेन्न मे दुरात्म-
स्तदिह निगीर्य भवन्तमात्मघातिन् ।
फलमिव तव मण्डलं प्रसेयं
प्रसममुपेत्य जगद्यथा कृतान्तः ॥ १८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वेतालप्रश्नो नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः ७१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
इत्युक्तवति वेताले वक्तुं प्रश्नान्विहस्य सः ।
उवाच वचनं राजा दन्तांशुधवलाम्बरः ॥ १
राजोवाच ।
आस्ते कदाचिच्छेदं हि ब्रह्माण्डमजरं फलम् ।
उत्तरोत्तरं दशगुणभूतत्वपरिवेष्टितम् ॥ २
तादृशानां सहस्राणि फलानि यत्र सन्ति हि ।
अत्युच्चैस्तादृशी शाखा विपुला चलपल्लवा ॥ ३
तादृशानां सहस्राणि शाखानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृशोऽस्ति महावृक्षो दुर्लभ्यो विपुलाकृतिः ॥ ४
तादृशानां सहस्राणि यत्र सन्ति महीरुहाम् ।
तादृशं वनमत्युच्चैरनन्तरुगुल्मकम् ॥ ५
तादृशानां सहस्राणि वनानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति बृहच्छृङ्गमत्युच्चैर्भरिताकृतिः ॥ ६
तादृशानां सहस्राणि शृङ्गाणां यत्र सन्त्यथ ।
तादृशोऽस्त्यतिविस्तीर्णो देशो विपुलकोटरः ॥ ७
तादृशानां सहस्राणि देशानां यत्र सन्त्यथ ।

तादृगस्ति बृहद्भीषं महाहृदनदीयुतम् ॥ ८
तादृशानां सहस्राणि द्वीपानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति महीपीठं विचित्ररचनान्वितम् ॥ ९
तादृशानां सहस्राणि पृथ्वीनां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति महास्फारं महाभुवनडम्बरम् ॥ १०
तादृशानां सहस्राणि जगतां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति महाष्ण्डं चण्डमम्बरपीठवत् ॥ ११
तादृशानां सहस्राणि यत्राण्डानि करण्डकाः ।
तादृशोऽस्ति गतस्पन्दो विपुलाब्धिश्च सागरः ॥ १२
तादृशसागरलक्षणाणि तरङ्गो यत्र पेलवः ।
तादृशः स्वविलासात्मा निर्मलोऽस्ति महार्णवः ॥ १३
तादृगब्धिसहस्राणि यस्योदरज्जलान्यथ ।
तादृशोऽस्ति पुमान्कश्चिदत्युच्चैर्भरिताकृतिः ॥ १४
तादृशानां नृणां लक्षैर्यस्य मालोरसि स्थिता ।
प्रधानं सर्वसत्तानां तादृशोऽस्ति परः पुमान् ॥ १५
तादृशानां सहस्राणि पुरुषाणां महात्मनाम् ।
स्फुरन्ति मण्डले यस्य स्वतनूरुहज्जालवत् ॥ १६

भूतौघपदेन तदाधारभुवनानि लक्ष्यन्ते । अतिमहत्त्वेन प्रसिद्धा ये ब्रह्माण्डाकाशादयोऽपि यस्याणोरपेक्षया परमाणवः अत्यन्तक्षुद्राः ॥ १६ ॥ परमाणोः सूक्ष्मस्यैव सतो महतो गिरेः । निबिडं घनतरं यत् सत्कान्तरूपं तदेव मज्जासारो यस्याः ॥ १७ ॥ इति षट् प्रश्नान् मे न कथयसि चेद्दुष्टो देहादिरेव आत्मा यस्य तथाविधः, अतएवापरिच्छिन्नमात्मानं परिच्छेदेन घातितवानसीत्यात्मघातिन्, तत्तस्मादकम्बनापराधादेव भवन्तं फलमिव निगीर्य प्रसभं बलात्तव मण्डलं मण्डलस्थजनान् प्रसेयम् । 'प्रसेऽह'मिति पाठे विकरणपदव्यत्ययश्छान्दसः ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे वेतालप्रश्नो नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

आद्यप्रश्नसमाधानं विस्तरेणात्र वर्ण्यते ।

अनन्तकोटिब्रह्माण्डफलबुद्ध्यादिकल्पनैः ॥ १ ॥

प्रसिद्धब्रह्माण्डानां त्रसरेणुत्वमित्यल्पदृष्ट्या त्वयोक्तं वक्ष्यमाणकल्पनया कोटिकोटिर्गर्भब्रह्माण्डानामपि तत्र त्रसरेणुत्वसंभवादित्याशयेन विहस्य दन्तानामंशुभिः प्रभाभिर्धवलान्यम्बराणि ब्रह्मण्याकार्षं च यस्य तथाविधः सन् ॥ १ ॥ तत्रादौ 'कस्य सूर्यरश्मीनां ब्रह्माण्डाकसरेणवः' इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरं वक्तुं

मभिज्ञतमत्वाभिमानं वेतालस्य तिरस्कुर्वन्कंचित्कल्पनाचमत्कारं राजा दर्शयति—आस्ते इत्यादिना । इदं त्वया मया चाथितं ब्रह्माण्डमज्ञदृष्ट्या अजरसुत्तरोत्तरं दशगुणाभिर्भूतत्वग्भिर्भूजलाद्यावरणैः परिवेष्टितम् ॥ २ ॥ इदं ब्रह्माण्डं १ ईदृशब्रह्माण्डसहस्रगर्भाणि पञ्चीकृतमहाभूतानि २ तद्गर्भा गन्धतन्मात्रा ३ उत्तरोत्तरं तद्गर्भाणि रसादितन्मात्राणि ७ तद्गर्भं हैरण्यगर्भं मनः ८ अतीतानागतानन्ततद्गर्भा भूतमात्राराशयः ९ तद्गर्भाः कल्पकालाः १० तद्गर्भा उत्तरोत्तरस्य दिनभूता ब्रह्मविष्णुरुद्राणामायुःकालस्तदात्मानस्त एव १३ अनन्तकोटीनां तेषां सत्तास्फूर्तिव्यवहारप्रवर्तकं मायाशबलं ब्रह्म १४ इत्येतांश्चतुर्दशपदार्थानिह क्रमात्फलशाखादिचतुर्दशकल्पनाभिर्निर्देशयति—तादृशानामित्यादिना । चलानि पल्लवानीव भुवनानि यस्याम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ शृङ्गपदेनात्र तत्प्रधानो गिरिरेवोच्यते । विपुलतमत्वात्सर्वतो भरिताकृतिः ॥ ६ ॥ ७ ॥ महाहृदनवीवदाविर्भूतानाविर्भूतप्रवहणप्राणादिषायुचेष्टाभिर्युतम् ॥ ८ ॥ विचित्राभिर्नामादिरचनाभिरन्वितम् ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ पुमान् विष्णुः ॥ १४ ॥ परः पुमान् रुद्रः ॥ १५ ॥ तनूरुहाः केशलोमानि तज्जालवत् । तथा च श्रुतिः—

तादृशोऽस्ति महादित्यः शतमन्यासु दृष्टिषु ।
या एताः कलनाः सर्वास्ता एतास्तस्य दीप्तयः ॥ १७
अस्यादित्यस्य दीप्तीनां ब्रह्माण्डास्त्रसरेणवः ।
मया चित्सूर्य इत्युक्तः सर्वमेतत्तपत्यसौ ॥ १८
विज्ञानात्मैव परमो भास्करो भाविताशयः ।
इमे ये भुवनाभोगास्तस्यैव त्रसरेणवः ॥ १९

विज्ञानपरमार्कस्य भासा भान्ति भवन्ति च ।
इमा जगदहर्लक्ष्यः क्वचिद्दुक्ष्यो रवेरिव ॥ २०
विज्ञानमात्रकचितात्मनि जन्तुजाते
त्रैलोक्यमण्डपमणेरविकासभाजि ।
चिज्जन्मनोर्भवनसंभ्रमतावलेखाः
सन्तीह रे न हि मनागपि शान्तमास्व ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ७१

द्विसप्ततितमः सर्गः ७२

राजोवाच ।

कालसत्ता नभःसत्ता स्पन्दसत्ता च चिन्मयी ।
शुद्धचेतनसत्ता च सर्वमित्यादि पावनम् ॥ १
परमात्ममहावायौ रजः स्फुरति चञ्चलम् ।
कुसुमाङ्ग इवामोदस्तद्वद्रूपकं स्वतः ॥ २
जगदाख्ये महास्वप्ने स्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजत् ।
रूपं त्यजति नो शान्तं ब्रह्मशान्तत्वबृंहणम् ॥ ३

‘यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्’
इति ॥ १६ ॥ प्रत्यग्दृष्टेरन्यासु परादृष्टिषु या एता रुद्रादि-
ब्रह्माण्डान्ताः शतमसंख्याः कलनाः प्रतिभासास्ता एताः सर्व-
प्राणिप्रत्यक्षास्तस्यादित्यस्य दीप्तयो रमयः ॥ १७ ॥ मया
चिदात्मा इति एवंप्रभावः सूर्य इति त्वत्प्रश्नोत्तरत्वेनोक्त एत-
त्सर्वं जगदसौ तपति प्रकाशयति ॥ १८ ॥ भुवनाभोगा
ब्रह्माण्डाः ॥ १९ ॥ भान्ति स्फूर्तिं लभन्ते । भवन्ति सत्तां
च लभन्ते ॥ २० ॥ रे वेताल, वर्णितशबलब्रह्मलक्षणस्य त्रैलो-
क्यमण्डपमणेः सूर्यस्य पारमार्थिकतत्त्वभूते मुख्याधिकारिषु
विज्ञानं शास्त्रजन्याखण्डाकारसाक्षात्कारस्तन्मात्रेण क्वचिता-
त्मनि स्वात्मतया प्रथमाने, अनधिकारिजन्तुमात्रे तु अविकास-
भाजि अस्फुटे, इह प्रत्यगात्मनि अग्निविस्फुलिङ्गतच्चिज्जन्म-
नोर्जीवजगतीर्भवनस्य पृथक्सत्तायाः कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनन्तसं-
भ्रमतानां चावलेखा उल्लेखाः सन्ति । परमार्थदृशा तु मनागपि
न सन्ति । अतस्त्वं शान्तप्रश्नादम्बरमास्वेत्यर्थः ॥ २१ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इहावशिष्टप्रश्नानां पञ्चानामुत्तरं क्रमात् ।

वेतालायाप्रश्नाय राजा सम्यगुदीर्यते ॥ १ ॥

एवं प्रथमं प्रश्नं समाधाय ‘कस्मिन् स्फुरन्ति पवने महाग-
नरेणवः’ इति द्वितीयप्रश्नं राजा समाधत्ते—कालसत्तेत्या-
दिना । तत्र गगनपदेन प्रसिद्धगगनस्यैव ग्रहणं विवक्षितमुत्
महत्पदविशेषितत्वाद्गोप्या महाकालरूपश्चित्संबलितमायाकाश
उत स्पन्दशक्तिप्रधानः सूत्रात्माकाशः उत ततो निष्कृष्टः शुद्ध-
चिदाभासलक्षणो जीवाकाशः अन्यो वासु सर्वेष्वपि कल्पेषु

रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवान्तरान्तरम् ।
अन्तरन्तस्तथेदं हि विश्वं ब्रह्म विवर्त्यपि ॥ ४
सद्ब्रह्मात्मादिभिः शब्दैर्यदेताभिर्विगीयते ।
शून्यमव्यपदेशं ते न तत्किञ्चिच्च किञ्चन ॥ ५
या या विभाव्यते सत्ता सा सानुभवनिर्मितान् ।
रम्भास्तम्भवदेतावच्चिन्मात्रममलं ततम् ॥ ६
सूक्ष्मत्वाद्यलभ्यत्वात्परमात्मा परोऽणुकः ।

तत्तत्सत्ता एव सूक्ष्मतमत्वात्तेषां रेणवस्त्वयोक्ता इत्याह—
कालसत्तेति । स्पन्दः क्रियाशक्तिप्रधानः सूत्रात्मा तत्सत्ता ।
शुद्धचेतनस्ततो निष्कृष्टचिदाभासस्तत्सत्ता चेत्यादि सर्वं सूक्ष्म-
त्वात्पावनं निर्दोषं रजः परमात्ममहावायौ कल्पितानेकवि-
कारचञ्चलं स्फुरतीति परेणान्वयः ॥ १ ॥ ननु परमात्मन
एव सर्वानुगतसत्तारूपत्वात्तत्र कालादिसत्ता स्फुरतीत्याधाराधेय-
भावेन व्यपदेशः कथं तत्राह—कुसुमाङ्ग इति । यथा कुसुम-
मेव स्वाङ्गे आमोदाख्यं मेदं स्वत एव परिकल्प्य कुसुमे आमो-
दरूपकमिव तदाधेयतया स्थितं तद्वत्परमार्थसत्तैव कालादिस-
त्ताभेदात्मतां स्वात्मनि परिकल्प्य स्थितेत्यर्थः ॥ २ ॥ स्वप्ना-
त्स्वप्नान्तरं गच्छन्नित्यादितृतीयप्रश्नस्योत्तरमाह—जगदाख्ये
इति । शान्तं प्रशान्ततत्त्वप्रदोषमसङ्गज्योतीरूपम् । अत एव
तथा बोधमात्राद्ब्रह्म शान्तत्वबृंहणम् ॥ ३ ॥ रम्भास्तम्भो
यथा पत्रमात्रमिति चतुर्थं प्रश्नं समाधत्ते—रम्भास्तम्भ इति ।
अन्तःअन्तः ब्रह्मणि विवर्ति विवर्तेनशीलम् । अपिशब्दादना-
न्तरकारणेषु परिणामशीलं च । अतः सोऽणुस्ततोऽप्यन्तरन्त-
रित्यर्थः ॥ ४ ॥ विवर्तजगद्बृंहणादिनिमित्तादेव तत्सद्ब्रह्मात्मादि-
शब्दगोचरता न तु वस्तुतः सर्वधर्मशून्यत्वादित्याह—ब्रह्मेति
॥ ५ ॥ अत एव पटसत्ता तन्तुसत्तायां पर्यवस्यति तन्तुसत्ता
कार्पाससत्तायां सा च तत्फलसत्तायां सा गुल्मसत्तायां सा
बीजमृज्ज्यादिसत्तायामित्यादिक्रमेण या या सत्ता विभाव्यते
सा सा तत्तदनुभवनिर्मितानाकारान्विहाय रम्भास्तम्भवदेव
तत्तदनुभवरूपे चिन्मात्रे पर्यवस्यतीत्यतस्तदेवामलं जगदा-
कारेण तत् वस्तुतमित्यर्थः ॥ ६ ॥ तत्राणुपदप्रवृत्तौ निमित्त-

अनन्तत्वाद्सावेव प्राप्नो मेर्वादिमूलताम् ॥ ७
अणोरप्यत्यन्तस्य पुंसोऽस्य जगदाद्यपि ।
परमाणुवदाभाति प्रतीतत्वाद् रूपवत् ॥ ८
परोऽणुरेषोऽलभ्यत्वात्पूरकत्वान्महागिरिः ।
सर्वावयवरूपोऽपि निरस्तावयवः पुमान् ॥ ९
अस्य वै ऋषिमात्रस्य मज्जामात्रं जगन्नयी ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वेतालप्रश्नभेदो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः ७३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति राजमुखाच्छ्रुत्वा वेतालः शान्तिमाययौ ।
भावितात्मतया तत्र विचारोचितया धिया ॥ १
उपशान्तमना भूत्वा मत्त्वैकान्तमनिन्दितम् ।
बभूवाविचलध्यानी विस्मृत्य विषमां क्षुधाम् ॥ २
एतद्राम मयोक्तं ते वेतालप्रश्नजालकम् ।
एवंक्रमेण चिदणौ तेनेदं संस्थितं जगत् ॥ ३
चिदणोः कोशगं विश्वं विचारेण विलीयते ।
कायो वेतालकस्येव शिष्यते यत्पदं तु तत् ॥ ४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वेतालाख्यानं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

माह—सूक्ष्मत्वादिति । एवं सौक्ष्म्येऽपि न पूर्णताहानिरिति
ब्रह्माण्डादयोऽपि तद्दृष्ट्या अतिपरिच्छिन्नत्वात्परमाणुप्राया इति
ब्रह्माण्डाकाशभूतौघेन्द्रादिपञ्चमप्रश्नोऽपि दत्तोत्तरः संवृत्त इत्या-
शयेनाह—अनन्तत्वादिति । मेर्वादिपदेन प्रश्नोक्ता मेर्वन्ताः
पञ्च व्युत्क्रमेण गृह्यन्ते तेषां मूलतामाधारताम् ॥ ७ ॥ जग-
दादि ब्रह्माण्डादिपञ्चकं प्रतीतत्वाद्दणुतरत्तदाकारवृत्तिपरिच्छिन्न-
चित्कणपरिच्छेद्यत्वाद् रूपवन्निःस्वरूपं स्वाप्रब्रह्माण्डादिवत् ।
तदपि सूक्ष्मतमनादीच्छिन्नेषु भासमानं परमाणुवदेवेति ॥ ८ ॥
'कस्यानवयवस्यैव परमाणुमहागिरेः' इति षष्ठप्रश्नं समाधत्ते—
परोऽणुरिति । अलभ्यत्वाच्चक्षुरादिकरणैरग्राह्यत्वात् । एष
परोऽणुः पूरकत्वात् सर्वतो व्याप्तो महागिरिः । अभ्यारोपदृशा
सर्वं मूर्तामूर्तं अवयवरूपं यस्य तथा । नेतिनेत्यपवादेन निर-
स्तावयवः ॥ ९ ॥ तत्र शिलान्तर्निबिडैकान्तरूपमज्जाजग-
नीत्यंशं प्रकटयति—अस्येति । हि यस्माज्जगन्नयं 'थावापृथिवी
अन्तरेव समाहिते' इत्यादिश्रुतिषु हार्दाकाशरूपविज्ञानमात्रस्य
मध्यमान्तरं मज्जावत्प्रसिद्धमिति विद्ध्यर्थः ॥ १० ॥ सर्वप्र-
श्नानां निरासेन प्रौढ्या वेतालं परिभवन्नित्येकार्यसंक्षेपेणोपसं-
हरति—विज्ञानेति । हे वेतालबालक, जगन्ति विज्ञानमात्रस्य
कलनानां स्वकौशलानां कलितं प्रकटनं तस्मात्प्रविज्ञानरूपं भवा-
दृशैवेतालचाटभटैरलङ्घनीयमनास्कन्दनीयमेव, अतो मनुक्त्या
त्वमेवंस्वभावमात्मानमनुभावय स्वानुभवमारोहय । शान्तदर्प-

विज्ञानमात्रमभ्यं हि साधो विद्धि जगन्नयम् ॥ १०

विज्ञानमात्रकलनाकलितं जगन्ति

शान्तस्वभावसुकुमारमनन्तरूपम् ।

वेतालबालक पदं तदलङ्घनीय-

मेवं स्वयं समनुभावय शान्तमास्व ॥ ११

वेतालप्रश्नभेदो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना ।

स्वभावापतितं कुर्वन्निरिच्छं तिष्ठ शान्तधीः ॥ ५

आकाशविशदं कृत्वा मनसैव मनो मुने ।

तिष्ठैकशमशान्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६

स्थिरबुद्धिरसंमूढो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ।

राज्ञो भगीरथस्यैव दुःसाध्यमपि सिद्ध्यति ॥ ७

संपूर्णशान्तमनसः परितृप्तवृत्ते-

नित्यं समे सुखमयात्मनि तिष्ठतोऽन्तः ।

सिद्ध्यन्ति दुर्लभतरा अपि वाञ्छितार्था

गङ्गावतार इव सागरखातवस्तु ॥ ८

मास्वेत्यर्थः ॥ ११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे वेतालप्रश्नभेदो नाम द्विसप्ततितमः
सर्गः ॥ ७३ ॥

उपदिश्यात्र वेतालप्रश्ननिर्णयसंस्थितिम् ।

भगीरथस्य वृत्तान्तस्तन्मन्योऽप्यत्र वण्यते ॥ १ ॥

तत्र तस्मिन् राजनि विचारोचितया धिया अनुमितया
भावितात्मतया तत्त्वज्ञतया निमित्तेन । वेतालपक्षे वा सर्वं
योज्यम् ॥ १ ॥ अविचलध्यानी । समाधिस्थ इति यावत् ॥ २ ॥
एवंक्रमेण राजवर्णितक्रमेण ॥ ३ ॥ बालभ्रान्तिकल्पितवेता-
लकस्य काय इव विलीयते ॥ ४ ॥ चित्तं सर्वत उपसंहृत्य
स्वो भावः परमात्मा तदापतितं तत्प्रतिष्ठितं कुर्वन् ॥ ५ ॥
हे मुने मननशील राम, एकस्मिन् वस्तुनि शमः सर्ववृत्तिल-
यस्तेन शान्तात्मोपरतश्चित्तः, अत एव सर्वत्र समं ब्रह्म पश्य-
तीति समदर्शनः ॥ ६ ॥ असंमूढान्तं पूर्वान्वयि । नन्वेवं
स्थितस्य मे कथं देहयात्रासिद्धिस्तत्राह—यथेति । दुःसाध्य-
मन्येषां कष्टसाध्यमपि कार्यं यस्यानायासेनैव सिद्ध्यति ॥ ७ ॥
यथा सगरांशुमद्दिलीपादिदुर्लभतरोऽपि सागराणां सागरपुत्राणां
तत्खातसमुद्रस्य च वस्तु संजीवनमणिप्रायो गङ्गावतारः शान्ति-
वृत्तिसमदर्शित्वादिगुणसंपन्नस्य भगीरथस्यानायासेन सिद्धस्तद्-
दित्यर्थः ॥ ८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वा-
णप्रकरणे पूर्वार्धे वेतालाख्यानं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः ७४

श्रीराम उवाच ।

यथा विसृज्यमत्कृत्या राज्ञो गङ्गावतारणम् ।
भगीरथस्य संपन्नं तन्मे कथय भो प्रभो ॥ १
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
आसीद्भगीरथो नाम राजा परमधार्मिकः ।
भुवः समुद्रयुक्ताया मण्डलीतिलकोपमः ॥ २
संकल्पानन्तरं प्राप्ता यथामिममर्थिनः ।
चन्द्रप्रसन्नवदनादस्माच्चिन्तामणेरिव ॥ ३
साधूनां यो व्यवस्थार्थं धनान्यविरतं ददौ ।
तृणमात्रमुपादत्ते क्वचिच्चिन्तामणिर्यथा ॥ ४
वज्रसारमिव प्रोतमुज्ज्वलभेमि योऽभिनत् ।
अधो मणिरयोयन्त्रं सर्वदुर्जनचेष्टितम् ॥ ५
अधूमवद्विदेहधीः भ्रान्तोऽपि दैन्यमप्यलम् ।
तमोऽहरदृणां नैशं द्युमणिर्वैश्रवणामिव ॥ ६
किरन्नाग्निकणासारममितः स्वप्रतापजम् ।
मध्याह्नसूर्यकान्ताग्निरिव ज्वलति योऽरिषु ॥ ७
मृदुशीतलसंस्पर्शो यः समाह्लादयन्मनः ।
सुज्ञानां द्रवति क्षिप्रस्येन्दोरिन्दुमणिर्यथा ॥ ८

भगीरथस्यात्र गुणाच्चिन्ता चाथ विचारजा ।

त्रितलेन च संवादो जिहासातोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

चित्तस्य पूर्णतादिलक्षणया चमत्कृत्या ॥ १ ॥ समुद्रयु-
क्ताया भुवो राजा स्त्रीयकोसलमण्डल्यास्तु तिलकोपमः ॥ २ ॥
तस्य दानशौण्डतां वर्णयति—संकल्पानन्तरमिति । अर्थिनो
याचका अस्माद्भगीरथाद्यासंकल्पानन्तरमेव समीपगमनवा-
कप्रयोगादिभ्रमं विनैव यथाभिलषितमर्थं प्राप्ताः प्राप्तवन्तः ।
'गत्यर्थो कर्मक—' इति कर्तरि क्तः । चन्द्रप्रसन्नवदनादित्यनेन
दानोत्साहान्मुखे प्रमादातिशय एव न त्वस्य धनव्ययदुःखा-
न्म्लानिरिति शोच्यते ॥ ३ ॥ अपात्रेषु दानं वारयति—साधू-
नामिति । एवं व्ययशीलस्य कथं धनप्राप्तिस्तत्राह—तृणमात्र-
मिति । क्वचित् आयस्थाने स्वधर्मतः प्राप्तं तृणमात्रमुपादत्ते ।
पौनरुक्त्यातृणोपादानाप्रसिद्धे चिन्तामणिपदेन कामधेनुर्ल-
क्ष्यते ॥ ४ ॥ यथा वज्रवेधनमणिः अधः अधोभागे अयसा
यन्त्रयते बध्यते इत्ययोयन्त्रं वज्रसारं दृढतरं वज्रान्तरं परिभ्र-
मन्त्या स्वकान्त्या उज्ज्वलन्ती प्रकाशमाना यन्त्रचक्रनेमिर्यस्मि-
न्कर्मणि तद्यथा भवति तथा भित्त्वा स्वप्रोतं तं गुणयोयं करोति
तथा यो भगीरथो बलवत्तरमपि सर्वं दुर्जनं तचेष्टितं च
तद्देशास्कन्दनेन स्वप्रतापेनोज्ज्वलन्ति रथनेम्यङ्कितानि च मण्ड-
लानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा शस्त्रात्प्रोतं निपृष्ट
अधः पाददेशे निगडाद्ययोर्भिर्यन्त्रयते इत्ययोयन्त्रं कृत्वा अभि-
नत् भित्त्वेव गुणपूर्णं चकारेत्यर्थः । 'वज्रसारमपि' इति पाठेऽपि

जगद्यज्ञोपवीतस्य स्वर्गपातालवाहिनः ।

गङ्गावाहस्य येनास्यां तृतीयः पूरितो गुणः ॥ ९
अगस्त्यशोषितोऽस्मोधिर्गङ्गापूरेण पूरितः ।
येन दुष्पूरभूतोऽपि महासार्थोऽर्थिनामिव ॥ १०
गङ्गासोपानपद्धत्या येन पातालवासिनः ।
योजिता ब्रह्मणो लोके बान्धवा लोकबन्धुना ॥ ११
ब्रह्माणं शंकरं जह्नुं तपसाराधयंश्च यः ।
भूयोभूयो ययौ खेदमशून्याप्यवसायिनः ॥ १२
यौवने वर्तमानस्य तस्य भूमिपतेरपि ।
प्रविचारयतो लोकयात्रां पर्याकुलासिमाम् ॥ १३
सुविरागचमत्कारविचारकणिकोदभूत् ।
वयस्यपि च तारुण्ये वैवाङ्मली मराविव ॥ १४
एकान्ते चिन्तयामास महीपतिरसाविति ।
जगद्यात्रामिमां नित्यमसमञ्जसमाकुलम् ॥ १५
पुनर्दिनं पुनः श्यामा दानादानशतं पुनः ।
तदेव भुक्तविरसं लक्ष्यते कर्म कुर्वताम् ॥ १६
येन प्राप्तेन लोकेऽस्मिन्न प्राप्यमवशिष्यते ।
तत्कृतं सुकृतं मन्ये शेषं कर्म विपूचिका ॥ १७

रूपकेणायमेव तान्पर्यार्थः ॥ ५ ॥ दिवानिर्वाणं प्रजापालनाय
सर्वतः परिभ्रमणात्स्वयं भ्रान्तोऽपि तृणामधर्मप्रवृत्तिहेतुं तमो-
गेहान्धकारं दैन्यं दारिद्र्यमप्यहरत् । यथा द्युमणिर्वैश्रवणं नैशं
तमो व्यवहारदैन्यं च हरति तद्वत् । विशेषणे उभयत्र योज्ये
॥ ६ ॥ स्वस्य प्रतापः पराक्रमः अतितप्तता च, तस्माज्जात-
मभिकणानामासारं धारां किरन्सन् योऽरिषु मध्याह्नकाले
उद्भूतः सूर्यकान्तशिलाग्निरिव ज्वलति । अभिपक्षे भराः
अप्राण्येषां सन्तीति अरिणस्तृणादयस्तेषु ॥ ७ ॥ सुज्ञा ब्रह्मत-
त्त्वविदस्तेषां संनिधौ । इन्दुमणिश्चन्द्रकान्तः ॥ ८ ॥ येन
गङ्गावाहस्य गङ्गाप्रवाहलक्षणस्य जगद्यज्ञोपवीतस्य तृतीयो गुण-
स्तन्तुः अस्यां पृथिव्यां गङ्गावतारणेन पूरितः ॥ ९ ॥ सर्वदि-
गन्तवर्तिनामर्थिनां महान् सार्थः संघो धनेनेव ॥ १० ॥
भूतद्रोहिलाद्ब्रह्मदण्डनिर्दग्धत्वाच्च पातालवासिनः अधोगतिं
प्राप्ता बान्धवाः सगरपुत्रा येन गङ्गालक्षणया सोपानपद्धत्या
ब्रह्मणो लोके योजिता आरोपिताः ॥ ११ ॥ अशून्याप्यवसायिनः
अविच्छिन्नदृढनिश्चयात् स्वमनसः सकाशात् ॥ १२ ॥ अपिशब्दा-
त्तवेवेति गम्यते ॥ १३ ॥ यौवने विचारवैराग्योद्योऽतिदुर्लभ
इति शोतनाय मराविवेति ॥ १४ ॥ इति वक्ष्यमाणप्रकारेण
इमां जगद्यात्रां चिन्तयामास । चिन्ताप्रकारमेवाह—नित्यमि-
त्यादिना ॥ १५ ॥ श्यामा रात्रिः । बहुशो भुक्तं विरसं च फलं
यस्य तत्तथाविधमेव सर्वेषां कुर्वतां कर्म लक्ष्यते, न त्वपूर्वं पर-
मपुरुषार्थफलं चेत्यर्थः ॥ १६ ॥ तत्प्रतीतिसाधनं कृतं कर्म

पुनःपुनः पशुवितं कर्म कुर्वन् लज्जते ।
 मूढबुद्धिरनुविष्टु कः कुर्वाणिकलं बालवत् ॥ १८
 मयैवंदोद्विग्नमनाः कदाचिन्नितकं शुभम् ।
 एकान्तं संवृतेर्जीतः समपृच्छन्नमीरथः ॥ १९
 भगीरथ उवाच ।
 अन्तःशून्यासु सुचिरं भ्रमत्संसारवृत्तिषु ।
 अरण्यानीषु चैतासु भृशं शिक्षा वयं विभौ ॥ २०
 जरामरणमोहादिरूपाणां भवकारिणाम् ।
 भगवन्सर्वदुःखानां कथमन्तः प्रजायते ॥ २१
 त्रितल उवाच ।
 चिरसास्यात्मनोत्थेन निर्विभागविलासिना ।
 राजन् ज्ञेयावबोधेन पूर्णेन भरितात्मना ॥ २२
 क्षीयन्ते सर्वदुःखानि त्रुटपन्ति ग्रन्थयोऽमितः ।
 संशयाः समतां यास्ति संवैकर्माणि चान्ध ॥ २३
 ज्ञेयं विदुरधारमानं संशुद्धं कृत्तिरूपिणम् ।
 स च सर्वगतो मिथं नास्तेति न खोदयम् ॥ २४
 भगीरथ उवाच ।
 चिन्मात्रं निर्गुणं शान्तमस्ति निर्मलमच्युतम् ।
 देहादि नेतरत्किंचिदिति वेधि मुनीश्वर ॥ २५
 किं तत्र प्रतिपत्तिर्मे स्फुटतामेति नेतरा ।

विपूचिकेवाद्बुद्धिः कलमेवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ १८ ॥ अथ
 उक्तचिन्तानन्तरं संसृतेः सकाशादेकांतमत्यन्तं भीतः सन्
 ॥ १९ ॥ भ्रमतां जीवानां रागद्वेषादिसंसारवृत्तिषु तत्फलभूता-
 खेतासु स्वर्गनरकमानुष्याद्यरण्यानीषु च ॥ २० ॥ २१ ॥
 साधनचतुष्टयश्रवणमननाद्युपायैश्चिराभ्यस्तं यत्साम्यविक्षेपवैष-
 म्यक्षम्यः समाधिस्तदात्मना अनादिसिद्धब्रह्माकारेण च उत्थे-
 नाकिर्भूतेन ज्ञेयस्य प्रत्यक्तत्त्वस्वावबोधेन सर्वदुःखानि क्षीयन्ते
 इति परेणान्वयः ॥ २२ ॥ २३ ॥ उदयं च नैति ॥ २४ ॥
 एकमुपदिष्टो भगीरथो विवैकेन स्वयमेवात्मतत्त्वमन्तः पर्या-
 लोच्ययाततो निश्चित्य तत्र विक्षेपबाहुल्याभित्तस्य प्रतिष्ठामल-
 भमनः स्वावगतेशं गुरवे निवेदयंस्तत्स्फुटीभावे विक्षेपोपशमे
 चोपायं पृच्छति—चिन्मात्रमिति । अस्तीत्यनेन असत्त्वोप-
 पादकोऽज्ञानांशो मे नष्ट इति सूचितम् । देहेन्द्रियप्राणमनो-
 बुद्ध्यादियान्तमितरत्किंचिदात्मा नेत्यपि त्वद्वचनविद्यास्तत्त्वोप-
 पत्त्य च वेधि ॥२५॥ तत्राज्ञानापादकोऽज्ञानांश इतरावभास-
 देतुर्विक्षेपांश्च स्वस्य न नष्ट इति दर्शयति—किमिति । अत्र
 अवयोः सदसद्विवेकबोधयोर्मध्ये इतरा आद्या सदात्मबोधरूपा
 प्रतिपत्तिः स्फुटतां करतलामलककल्पलतां नैति तत्र किं
 कारणम् । अहं सर्वविक्षेपशान्त्या एतावन्मात्रसंघितिक्ष कथं
 केनोपायेन स्वामित्यर्थः ॥ २६ ॥ तत्र भगीरथस्य राज्याद्यसि-
 मान्मयेन तत्कृष्टिकेसु चित्तव्यवहाराद्विक्षेपस्तत्रावस्थावैष न
 मो० वा० ११९

एतावन्मात्रसंघितिः स्यामहं भगवन्कथम् ॥ २६
 त्रितल उवाच ।
 ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वमिति चित्तो हृदम्बरे ।
 ततः सर्ववपुर्मृत्वा ध्रुवो जीवो न जायते ॥ २७
 असकिरनमिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
 मिथं च संभक्षितत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ २८
 आत्मनोऽनन्ययोगेन तद्भावमनारतम् ।
 विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ २९
 अभ्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
 एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं तदतोऽन्यथा ॥ ३०
 रागद्वेषक्षयाकारं संसारव्याधिभेषजम् ।
 अहंभावोपशान्तौ तु राजन् ज्ञानमवाप्यते ॥ ३१
 भगीरथ उवाच ।
 शरीरेऽस्मिन्निरारूढो गिरौ तरुविव स्वके ।
 अहंभावो महाभाग वद् मे त्यज्यते कथम् ॥ ३२
 त्रितल उवाच ।
 पौरुषेण प्रयत्नेन त्यक्त्वा भोगीयभावनाम् ।
 गत्वा विकसितां सत्तामहंकारो विलीयते ॥ ३३
 यन्मणापक्षरं यावद्भ्रमं लज्जादिनाखिलम् ।
 अकिंचनत्वशेषेण स्फुटा तावदहंकृतिः ॥ ३४

स्फुटात्मप्रतिपत्तिरिति निश्चित्य त्रितलस्तत्परित्याजनाय प्रथमं
 गीतोक्तामानित्वादिसाधनान्युपदिशति—ज्ञानेनेति । ज्ञायते
 अनेनेति ज्ञानममानित्वादि तेन 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इत्यादि-
 भगवद्दर्शिते ज्ञेये निष्ठत्वं स्थैर्यम् । सर्ववपुः पूर्णस्वभावः । न
 जायते । पूर्णस्वभावाच्च प्रच्यवत इत्यर्थः ॥ २७ ॥ अमानित्वा-
 दिषु कानिचिदवयुत्त्वानुवादव्याख्याभ्यां प्रपञ्चयति—अस-
 क्तिरित्यादिना ॥ २८ ॥ 'मधि चानन्ययोगेन भक्तिरन्यभिचा-
 रिणी' इत्यस्य तात्पर्यार्थं दर्शयति—आत्मन इति । निष्कृष्टा-
 त्मन्विन्तनभेषात्र भगवद्भक्तिर्न गुणचरित्रश्रवणकीर्तनादिर्भग-
 वदभिप्रेतेत्यर्थः ॥२९॥ अभ्यात्मज्ञाननित्यत्वं श्रवणमनननिदि-
 ध्यासनभ्यासः । तत्त्वज्ञानेनार्थस्य परमात्मतत्त्वस्य दर्शनं
 स्फुटाभिव्यक्तिर्या त्वया पृष्टा सा सर्वसाधनफलीभूता ॥३०॥
 सर्वेषामेव साधनानामनहंकाररक्षणं साधनं मूलम् । अहंकारे
 सति अमानित्वादेर्दुःसंपादत्वादित्याशयेनाह—अहंभावेति
 ॥ ३१ ॥ तर्हि तत्परित्यागोपायमेव मे वदेति पृच्छति—
 शरीर इति ॥ ३२ ॥ विकसितामकामोपहतत्वेन स्फुटीभूतां
 सतां शुद्धात्माकारतां गत्वा स्थितस्येति शेषः ॥ ३३ ॥ त्यक्-
 राज्यं मां जना न बहुमन्यन्ते, शत्रवश्चोपहसिष्यन्ति सर्वाभि-
 लषितपूरणसमर्थोऽहं कथं भिक्षामटिष्यामि, कथं कदम्बपाना-
 दिना जीविष्यामीत्यादिचिन्ताप्रयुक्तलज्जाभिमानादिना कृतं
 मुहे पूर्ववदेव नियन्त्रणलक्षणं पक्षरं यावदकिंचनत्वबोधेन

सर्वमेतद्विया त्यक्त्वा यदि तिष्ठसि निश्चलः ।

तदहंकारविलये त्वमेव परमं पदम् ॥ ३५

शान्ताशेषविशेषणो विगतभीः संत्यक्तसर्वैषणो

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भगीरथोपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥७४॥

गत्वा नूनमकिञ्चनत्वमरिषु त्यक्त्वा समप्रां श्रियम् ।

शान्ताहंकारतिरस्तदेहकलमस्तेष्वेव भिक्षामट-

न्मामप्युज्जितवानलं यदि भवस्युच्चैस्त्वमुच्चैरसि ३६

पञ्चसप्ततितमः सर्गः ७५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ तस्य गुरोर्वैकादित्याकर्ण्य भगीरथः ।

मनस्याहितकर्तव्यः स्वव्यापारपरोऽभवत् ॥ १

ततः कतिपयेष्वेव वासरेषु गतेषु सः ।

अग्निष्टोममखं चक्रे सर्वत्यागैकसिद्धये ॥ २

गोभूम्यश्वहिरण्यादि ददौ धनमशेषतः ।

द्विजेभ्यो निजबन्धुभ्यो गुण्यगुण्यविचारयन् ॥ ३

द्विसत्रयमात्रेण सर्वमेव परित्यजन् ।

असुमात्रावशेषोऽसावासीद्राजा भगीरथः ॥ ४

अथ सर्वार्थरिक्तं तत्त्विक्षप्रकृतिपौरकम् ।

सीमान्तिने तृणमिव राज्यं स्वमरये ददौ ॥ ५

आक्रान्ते द्विषता राज्ये मुनिः सन्ननि मण्डले ।

अधोवासोवशेषोऽसौ निर्जगाम स्वमण्डलात् ॥ ६

यत्र न ज्ञायते नाज्ञा यत्र न ज्ञायते मुखात् ।

तत्र प्रामेष्वरण्येषु दूरेषुवास धैर्यवान् ॥ ७

इत्यल्पेनैव कालेन प्रशान्तसकलैषणः ।

परमेण शमेनासावाप विश्रान्तिमात्मनि ॥ ८

अमन्त्रीपानि भूपीठे कदाचित्कालयोगतः ।

अवशः शत्रुणाक्रान्तं स्वमेव प्राप तत्पुरम् ॥ ९

नानागारांश्च तत्रासौ प्रवाहपतितांश्च तान् ।

पौरांश्च मन्त्रिणश्चैव शमी भिक्षामयाचत ॥ १०

विविदुस्ते नृपं पौरा मन्त्रिणश्च भगीरथम् ।

पूजयामासुरथ तं सविषादाः सपर्यया ॥ ११

प्रभो राज्यं गृहाणेति प्रार्थितोऽप्यरिणा मुनिः ।

नादत्तेऽनादताशेषस्तृणमप्यशनादते ॥ १२

कतिचिद्विषसांस्तत्र नीत्वाऽन्यत्र जगाम सः ।

भगीरथोऽयं ह्य कष्टमिति लोकेन शोचितः ॥ १३

अथान्यत्रोपशान्तात्मा परिविश्रान्तधीः सुखी ।

आत्मारामं कदाचित्सु स प्राप त्रितलं गुरुम् ॥ १४

स्वमेव स्वागतं कृत्वा तेन सार्धं भगीरथः ।

कञ्चित्कालमुवासाद्रौ वने ग्रामे पुरे जने ॥ १५

समतामुपयातौ तौ गुरुशिष्यौ समौ स्थितौ ।

कलयामासतुः स्वस्थौ विनोदं देहधारणम् ॥ १६

किमयं धार्यते देहः किं वानेनोज्जितेन नः ।

यथाक्रमं यथाचारं तिष्ठत्वेव यथास्थितम् ॥ १७

इति निश्चित्य तिष्ठन्तौ तौ वनाद्वनगामिनौ ।

अनानन्दं परानन्दं नासुखं न च मध्यमम् ॥ १८

सर्वत्यागेन न भ्रमं तावदहंकृतिः स्फुटा अत्यन्तविकसिता

नृत्यतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ तत् तर्हि ॥ ३५ ॥ सर्वत्यागमेवावश्य-

कर्तव्यतया प्रपद्यति—शान्तेति । शान्तान्यनन्तानि छत्र-

चामरादीनि राजविशेषणानि यस्य तथाविधः सन्नूनमत्यन्तम-

किञ्चनः सन् समप्रां श्रियमरिषु त्यक्त्वा अस्तदेहाभिमानस्तेष्व-

रिष्वेव भिक्षामटन्सन् मां गुरुमपि अलं पूर्णः सन् प्रष्टव्यार्थप-

रिशेषाभावादुज्जितवान् तु शुश्रूषणेन । 'यावदायुस्त्रयो वन्द्या

वेदान्तो गुरुरीश्वरः' इत्यादिशास्त्राप्रामाण्यप्रसङ्गादीदृशालक्षण-

संपन्नो यदि भवसि तर्हि सर्वमुसुष्टुगुणैरुच्चैर्भूतस्त्वमुच्चैः सर्वो-

त्कृष्टं ब्रह्मैवासि न ते संसारसंभावनापीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ इति

श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे

भगीरथोपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

मखव्याजेन सर्वस्वत्यागो राज्ञोऽत्र वर्ण्यते ।

भैक्षचर्या कश्चिच्छैले त्रितलेन समं स्थितिः ॥ १ ॥

मनसि आहितं निश्चितं वक्ष्यमाणं कर्तव्यं येन तथाविधः

सन् ॥ १ ॥ अग्निष्टोमग्रहणं विश्वजित्पर्यन्तानां सोमसंस्था-

नामुपलक्षणम् ॥ २ ॥ अगुणि श्रुताध्ययनादिविकलमपि

अविचारयन् । तद्विचारे विलम्बापत्तेः ॥ ३ ॥ असवः प्राणा-

स्तन्मात्रावशेषः ॥ ४ ॥ सीमान्तिने सीमान्ते संनिहिताय

॥ ५ ॥ अधोवासः कौपीनाच्छादनं तदवशेषः ॥ ६ ॥ यत्र

स्वयं दृष्टोऽपि जनैर्भगीरथनाम्ना न ज्ञायते । यत्र च जनमुखा-

त्स्वनामपि न ज्ञायते न श्रूयते तत्र तादृशेषु ॥ ७ ॥ इति

अनया रीत्या वर्तमानः ॥ ८ ॥ द्वीपानि नद्यन्तरितानि मण्ड-

लानि । अवशः सन् दर्शनाधीनचित्तः ॥ ९ ॥ प्रवाहपति-

तान् क्रमप्राप्तान् नानागारान् । छान्दसं पुंस्त्वम् । प्राप्येति

शेषः ॥ १० ॥ विविदुः परिचिक्वुः ॥ ११ ॥ अनादतमशेषं

राज्यं येन ॥ १२ ॥ शोचितः शोकविषयीकृतः ॥ १३ ॥ १४ ॥

स्वमेव गुरुमिति पूर्वान्वयि । स्वागतग्रहणं वन्दनाद्युपलक्षणम्

॥ १५ ॥ विनोदं कुतूहलभूतं देहधारणम् ॥ १६ ॥ यथाक्रमं

यथाशास्त्रोक्तक्रमम् । यथाचारं वृद्धाचारमनुसृत्य च तिष्ठतु

॥ १७ ॥ न विद्यन्ते विषयानन्दा यत्र तथाविधं परानन्दं

प्रापतुरिति शेषः । तदेव विबिनाष्टि—नासुखमिति । असुखं

धनानि वाजिविभवाद्यैश्वर्यं चाष्टधोदितम् ।
सिद्धैरप्यर्पितं तुष्टैर्मेनाते जर्जरं तृणम् ॥ १९
स्वकर्मणैव देहोऽयं यावत्सत्त्वमनिच्छया ।
धारणीय इति स्वेन कर्मणैवाथ तस्थतुः ॥ २०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भगीरथनिर्वाणं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥७५॥

अभिननन्दतुरागतमुत्तमौ
निजसमाचरणक्रमजं मुनी ।
सुखमसौख्यमभीप्सितवर्जितौ
समसमेऽतिसमौ शमिनौ स्वतः ॥ २१

षट्सप्ततितमः सर्गः ७६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथैकदा पुरे श्रेष्ठे कस्मिंश्चिन्मण्डलान्तरे ।
अनपत्यं नृपं मृत्युरहन्मत्स्य इवामिषम् ॥ १
तत्र प्रकृतयः खिन्ना नष्टदेशक्रमा नृपम् ।
अन्विष्यन्ति स्म संयुक्तं गुणलक्ष्म्या विशालया ॥ २
तं भगीरथमासाद्य स्थिरं शिक्षाचरं मुनिम् ।
परिहाय समानीय सैन्ये चक्रुर्महीपतिम् ॥ ३
भगीरथः क्षणेनैव प्रावृषीवाम्बुना सरः ।
वलितः सेनया गुर्व्या झटित्याशिथ्रिये गजम् ॥ ४
भगीरथो जगन्नाथो जयतीति जनारवैः ।
नीरन्ध्रतामुपाजग्मुर्गिरीन्द्राणां महागुहाः ॥ ५
तत्र तं पालयन्तं तद्राज्यं राजानमाहताः ।
आजग्मुः प्राक्प्रकृतयः प्राहुरित्थं नृपाधिपम् ॥ ६
प्रकृतय ऊचुः ।
राजन्नस्माकमधिपो यस्त्वया स पुरस्कृतः ।
मृत्युना विनिगीर्णोऽसौ मत्स्येनेवामिषं मृदु ॥ ७

दुःखं तद्रहितम् । मध्यमं सुखदुःखोभयशून्यान्तरालवस्था तद्विषमम् ॥१८॥ तयोर्मानुषभोगेष्विव दिव्यभोगेष्वपि वैराग्य-
दार्यं दर्शयति—धनानीति । तच्चरितसंतुष्टैः सिद्धैर्ब्रह्मादि-
भिरर्पितं दत्तमणिमादिभेदेनाष्टधा उदितं प्रसिद्धमैश्वर्यं च
जर्जरं जीर्णतमं तृणमिव मेनाते ॥ १९ ॥ स्वारम्भकेण प्रार-
ब्धकर्मणैव यावत्सत्त्वं यावदायुर्धारणीय इति निश्चित्य तस्थतुः
॥ २० ॥ तौ मुनी निजेन पूर्वसमाचरणक्रमेण जातं सुखम-
सौख्यं दुःखमपि अभिननन्दतुः । यतस्तौ समेभ्योऽपि समे
ब्रह्मणि अतिसमौ एकरसीभूतौ सन्तौ स्वतस्तत्त्वभावादेव शमिनौ
परमशान्तिमन्तौ ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भगीरथनिर्वाणं नाम पञ्चसप्तति-
तमः सर्गः ॥ ७५ ॥

पुनर्भगीरथस्येह राज्यप्राप्तिरुदीर्यते ।

आराध्य ब्रह्मरुद्रादीन् गङ्गायाश्चावतारणम् ॥ १ ॥

कोसलमण्डलाद्भगीरथास्पदमण्डलाच्च मण्डलान्तरे । अहन्
इतवान् । आमिषं धुद्रमत्स्यादि ॥ १ ॥ नष्टो देशस्य क्रमः
पालनमर्यादा येषां तथाविधाः सन्तः पालनसमर्थया गुणलक्ष्म्या
संयुक्तं नृपमन्विष्यन्ति स्म ॥ २ ॥ सर्वगुणलक्ष्मीसमन्वितो-

तत्तत्पालयितुं राज्यं प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
अप्रार्थितोपयातानां त्यागोऽर्थानां च नोचितः ॥ ८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति संप्रार्थितो राजा तदक्लीकृत्य तद्वचः ।
सप्तसागरचिह्नायाः स बभूव भुवः पतिः ॥ ९
समः शान्तमना मौनी वीतरागो विमत्सरः ।
प्राप्तकार्यैककरणः स तिरोहितविस्मयः ॥ १०
पातालतलनष्टानां सागराकारकारिणाम् ।
पितामहानां गङ्गाम्बु शुश्रुवे तारणक्षमम् ॥ ११
तदा किल स्वर्गनदी बहति स्म न भूतले ।
पितृणां भूतविष्योऽभूत्तेन गङ्गाजलाञ्जलिः ॥ १२
भगीरथेन च महीमवतारयितुं दिवः ।
गङ्गां गृहीतो नियमस्ततःप्रभृति भूभृता ॥ १३
ततो राज्यं परित्यज्य मन्त्रिणां भूपतिः शमी ।
तपसे कार्यकार्येहो जगाम विजनं वनम् ॥ १४

ऽयमिति परिज्ञाय प्रत्यभिज्ञाय तत्रागते सैन्येऽस्मिन्विच्य मही-
पतिं चक्रुः ॥ ३ ॥ झटिति गजं आशिथ्रिये आहरोह ॥ ४ ॥
नीरन्ध्रतां पूर्णताम् ॥ ५ ॥ तस्मिन्नेव काले देवात्कोसलराज्य-
हारिणोऽपि मरणाद्योष्यास्था अपि प्रकृतयो भगीरथमागत्य
प्रार्थयामासुरित्याह—तत्रेति । भगीरथस्यैव प्राक्तना मन्त्रिपुरो-
हितादिप्रकृतयः ॥ ६ ॥ राज्यं त्यजता त्वया यः सीमान्त-
वासी अरिः राज्यदानेन पुरस्कृतः असी ॥ ७ ॥ तत्तस्माद्धेतो-
स्तत्प्राक्तनं राज्यम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ मौनी मितहितसत्यवाक् ।
तिरोहितस्तत्त्वज्ञानेन बाधितो विस्मयो महत्यपि कौतुके
आश्चर्यताबुद्धिर्यस्य ॥ १० ॥ अश्वान्वेषणाय भूमेः खननात्सागरा-
कारं गर्तं कर्तुं शीलं येषाम् । कपिलक्रोधाग्निना पातालतले
नष्टानां भस्मीभूतानां स्वपितामहानां गङ्गाम्बु प्लावनेन जलाञ्ज-
लिदानेन च तारणक्षमं न प्राकृतं जलमिति तार्क्ष्यवचनं जन-
परम्परया तेन शुश्रुवे इत्यर्थः ॥ ११ ॥ तदानीं भूतले गङ्गा
स्थितैव तत्रैव जलाञ्जलिः कुतो न दत्त इत्याशङ्क्याह—तदेति ।
तेन भगीरथेनैवान्येषामपि पितृणां गङ्गाजलाञ्जलिर्भूता संजाता
विख्या प्रख्यातिर्यस्य तथाविधोऽभूदित्यर्थः ॥ १२ ॥ ततस्त-
च्छ्रवणदिनात्प्रभृति ॥ १३ ॥ गङ्गावतरणकार्यार्थं यत्पत्तभादि

तत्र वर्षसहस्रैश्च समाराध्य पुनःपुनः ।
 ब्रह्माणं शंकरं ब्रह्मं भूमिं यज्ञस्योच्चयम् ॥ १५
 ततः प्रभृत्प्रमत्ततरङ्गभङ्गिनी
 जगत्पदेः शक्तिविभृद्भङ्गसङ्गिनी ।
 नभस्तत्कामिपतति गां विमार्गगा
 महात्मनामिव बहुपुण्यसंततिः ॥ १६

स्फुरत्तरङ्गभङ्गिनी स्वफेनपुञ्जहासिनी
 प्रसन्नपुण्यमजरीयुतेव धर्मसंततिः ।
 भगीरथे महीपतौ यज्ञःप्रचारवीथिका
 तदा हि सा विमार्गगा महीतले बभूव ॥ १५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० सोक्षोभयेऽनु निर्वाणप्रकरणे पू० गङ्गावतरणं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः ७७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 एतामवष्टभ्य दृशं भगीरथधिया धृताम् ।
 समः स्वस्थो यथाप्राप्तं कार्यमाहर शान्तधीः ॥ १
 इदं पूर्वं परित्यज्य क्रोडीकृत्य मनःखगम् ।
 शान्तमात्मनि सिष्ट त्वं शिखिष्वज इवाचलः ॥ २
 श्रीराम उवाच ।
 कोऽसौ शिखिष्वजो नाम कथं वा कथं चान्तरम् ।
 परन्मे कथय ब्रह्मभूयो बोधविबुधसे ॥ ३
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 द्वापरे भवतां पूर्वमिदानीं च भविष्यतः ।
 तेनैव संनिवेशेन दंपती सिन्धुतां गतौ ॥ ४
 श्रीराम उवाच ।
 यत्पूर्वमासीद्गणधंस्तदिदानीं तथैव हि ।
 भविष्यति किमर्थं वै वद मे वदतां वर ॥ ५
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 जगन्निर्माणनियतेऽस्या ब्रह्मादिसंविदः ।
 ईदृश्यवस्थितिर्नित्यमनिवार्यस्वभावजा ॥ ६
 यदन्यद्ब्रह्मशो भूत्वा पुनर्भवति भूरिशः ।

अभूत्तैव भवत्यन्यः पुनश्च न भवत्यलम् ॥ ७
 अन्यत्राक्संनिवेशकथं सादृश्येन विवक्ष्यते ।
 सदृशा विषमाश्चैव यथा सरस्ति वीच्यः ॥ ८
 ता एवान्याश्च दृश्यन्ते न्यवस्थाः संसृतौ तथ ।
 तस्माद्राजेव भूयोऽपि वक्ष्यमाणकथेश्वरः ॥ ९
 भविष्यति महातेजास्तद्दृष्टान्तमिमं शृणु ।
 द्वापरे पूर्वमभवदतीते सप्तमे मनौ ॥ १०
 चतुर्युगे चतुर्ये तु सर्गेऽस्मिन्कुरुणां कुले ।
 जम्बूद्वीपे प्रसिद्धस्य विन्ध्यस्यादूरसंस्थिते ॥ ११
 मालवानां पुरे धीमाच्छिखिष्वज इतीश्वरः ।
 धैर्यौदार्यदशायुक्तः क्षमाशमदमान्वितः ॥ १२
 शूरः शुभसमाचरणे मौनी गुणगणकरः ।
 आहर्ता सर्वयज्ञानां जेता सर्वधनुष्मताम् ॥ १३
 कर्ता सकलकार्याणां भर्ता पूर्ववपुर्मुखः ।
 पेशलच्छिष्वमधुरो विदग्धः प्रीतिसागरः ॥ १४
 सुन्दरः शान्तसुभगः प्रतापी धर्मवत्सलः ।
 वदिता विनयार्थानां दाता सकलसंपदाम् ॥ १५
 भोक्ता सत्सङ्गसहितः सुभ्रोता सकलभूतैः ।

कार्यं तद्वर्गं ईहा चेष्ट यत्न ॥ १४ ॥ अयोजयत् अन्वतार्य
 संयोजितवान् ॥ १५ ॥ जगत्पतेः शक्तिविभृतः शिखाशङ्क-
 संगिनी शिरसि संगता । द्वापरेऽन्वदसमर्थत्वेऽपि सत्सङ्गदण्ड-
 न्दसः । जगत्पतेर्ब्रह्मणो वा नियोगादिति शेषः । नभस्तत्कदा
 भूमिं क्षिप्यति । महात्मनां स्वर्गिणां बही पुण्यसंततिरिवेक-
 त्प्रेक्षा ॥ १६ ॥ भगीरथे महीपतौ संजातस्य शान्ततस्य
 यज्ञस आसमुद्रं प्रचारार्थं वीथिका इति रूपकोत्प्रेक्षा ॥ १७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 गङ्गावतरणं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

पूजाकार्यमानमुक्त्वा र्थं विज्ञेयं शारदायै ॥

शिखिष्वजस्य साहाय्यं विद्याहृत्किञ्चनकर्म ॥ १ ॥

भगीरथेन पश्चाद्वाज्यकाले धिया धृताम् ॥ १ ॥ इदं विम-
 धजातं परित्यज्य । मनःस्रगं क्रोडीकृत्य इति सिद्धम् ॥ २ ॥
 ॥ ३ ॥ दंपती जायापती पूर्वकल्पे द्वापरे अभूताम् । इदानीं-
 मशान्तिं चतुर्युगेऽपिमद्वापरे तेनैव संनिवेशेन भविष्यतः

॥ ४ ॥ भूतभविष्यतोः सादृश्ये ज्ञे हेतुरिति रामप्रकाशः ।
 ॥ ५ ॥ जगन्निर्माणे नियन्त्रिणाया ब्रह्मादीनां सकलसंकल्प-
 विदः । अनिवार्यस्वभाव एव तदेतद्विस्तर्यः ॥ ६ ॥ ईदृशी-
 त्युक्तं प्रपद्यति—यदिति । यथा एकस्मिन्नामसूत्रो अन्यव्य-
 त्कलं बहुशो भूत्वा पुनःपुनस्तादृशमेव भूरिशो भवति । सत्सङ्ग-
 वदस्तु अभूत्तैव भवति ए च शिषः पुनश्चाश्वि च भवति ॥ ७ ॥
 ॥ ८ ॥ संसृतौ शिखिष्वजस्यदिसंसारेऽपि तदेत्यर्थः । सजा-
 यतीति शिखिष्वज इव वक्ष्यमाणकथाम् वर्णयन्नेन ईदृशो नान्य-
 ॥ ९ ॥ १० ॥ कुरुणां कुरुदेशाधिपतीनां कुर्वपक्षानां च कुले
 वंशे । तद्वाजप्रत्ययस्य बहुषु कुल । नामि धैर्यौदार्यदशान्दसः
 ॥ ११ ॥ मालवानां पुरे उज्जयिन्यामिति यावत् ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥ सकलानां वापीकूपतडागरामादिकार्याणाम् । विदग्धो
 लोकशास्त्रनिष्णातः ॥ १४ ॥ शान्तश्चासौ शुभसः सौम्य-
 लक्षणयुक्तश्च विनयार्थानां परेषामपि विनयविभवेऽपि
 वाक्प्रदानं वदित्वा वक्ता ॥ १५ ॥ सर्वं वैद जनयति तद्वदति

वेदासौ मननासून्यः सौमं वृणवदस्पृष्टान् ॥ १९
 पितरि स्वर्गमप्ये बाल एधोसमौजसा ।
 कृत्वा षोडशवर्षाणि क्षयं दिग्बिजयं वशी ॥ १७
 नूनं साम्राज्यसंपत्त्या भूमण्डलमयोजयत् ।
 अतिष्ठद्विगताशङ्कं पालयन्धर्मतः प्रजाः ॥ १८
 स धीमान्मन्त्रिभिः सार्धं यशसा शुक्रयन्दिशः ।
 अथ गच्छत्सु वर्षेषु वसन्ते प्रोल्लसत्यलम् ॥ १९
 पुष्पेषु जृम्भमाणेषु स्फुरत्सु शशिरदिमषु ।
 मञ्जरीजालदोलासु विटपास्तःपुरान्तरे ॥ २०
 रजःकर्पूरधवलैः कलहलकपाटकैः ।
 आमोदविलसत्सुस्फुरत्सुल्लसत्कवितानके ॥ २१
 गायत्सु गह्वरेषु चैर्मिथुनेष्वङ्किनां मिथः ।
 आवाति मधुरे वापौ शशिशीकरशीतले ॥ २२
 कदलीकन्दलीकच्छतलपङ्कजलक्ष्मिणि ।
 कान्तां प्रति बभूषास्य वसन्तेतः समुत्सुकम् ॥ २३
 क्षीबं कुसुमसंभारसौगन्ध्यमधुरासवैः ।
 मनो नान्यास्पदं चक्रे सवसन्तमिवोदितम् ॥ २४
 उद्यानवनदोलासु लीलाकमलिनीषु च ।
 कदा प्रणयिनीं मुग्धां हेमाक्षमुकुलस्तनीम् ॥ २५
 करिष्ये कामिनीमङ्गे पर्यङ्के कुङ्कुमाङ्किताम् ।
 कदा कमलवल्लीनां दोलास्फलिरिवालिनीम् ॥ २६
 भालोलां तां निवेक्ष्यामि बालां भुजलतानुगाम् ।
 मृणालहारकुन्देन्दुवृन्दवल्लयभिलाषिणी ॥ २७
 मत्कृते मदनातसा कदा स्यादिन्दुसुन्दरी ।
 इति चिन्तापरो भूत्वा कुसुमावचयोन्मुखाः ॥ २८

मानस्य अभिज्ञताभिमानस्तच्छून्यः । ज्ञेयं स्त्रीव्यसनादि ॥ १६ ॥
 उत्तमेन ओजसा स्वबाहुवीर्येण । अनेन पिता माण्डलिक
 एवावीर्यसौ स्वबाहुवीर्येणैव सन्नाद संपन्न इति गम्यते ॥ १७ ॥
 साम्राज्यप्रयुक्तया संपत्त्या । तदा हि कापि दस्यूनाममावात्प्र-
 जानां धनं वर्धत इति विगतजेतव्यशत्रुसद्भावात्कृत् ॥ १८ ॥
 वर्षेषु गच्छत्सु । औवने प्राप्ते सतीति यावत् । अथास्य चेतः
 कान्तां प्रति कञ्चुलुकं बभूवेति पद्ममेव संबन्धः ॥ १९ ॥
 विटपः शास्त्र तल्लक्षणे अन्तःपुरान्तरे मञ्जरीजालदोलासु
 अङ्किनां मिथुनेषु गायत्सिति न्यवहितेनान्वयः ॥ २० ॥
 तद्वेदान्तःपुरं तत्सामग्रीकल्पनेन वर्णयति—रज इति ॥ २१ ॥
 शशिनः शीकरैश्च शीतले ॥ २२ ॥ कदली प्रसिद्धा । कन्दल्यो
 गुग्मवेदासोर्वा कच्छप्रयेषु तस्मै पल्लवेषु च लक्ष्मिणि लस-
 शीके इति शैल्यमान्योपमादकं वायोर्विशेषणम् । वसदित्युक्त्या
 पूर्वमेव गुणसौन्दर्यादिध्वन्याण्डालयामनुरक्तमिति गम्यते
 ॥ २३ ॥ कुसुमसंभारणां सौगन्ध्यलक्षणेर्मधुरैरासवैः क्षीबं
 मसं सख्यं सवसन्तं वनमिदं उदितं रामपल्लवितं मनः अन्त्यास्पदं
 कान्तातिरिचविषयावलम्बनं च चक्रे ॥ २४ ॥ तदौत्सुक्य-
 प्रकारं प्रपञ्चयति—कान्तानुत्सुक्या ॥ २५ ॥ २६ ॥ शिवे-

विजहार वनसन्तेषु कुङ्कुमोपवर्षेषु च ।
 वनोपवनलेखासु लीलाकमलिनीषु च ॥ २९
 वल्लीवलयनेहेषु विविधोद्यानभूमिषु ।
 वनोपवनविन्याससर्वैर्भावलितासु च ॥ ३०
 शृङ्गाररसगर्भासु कथास्वरमतोन्मनाः ।
 इदि हारलसत्कापविलोलाककच्छरीः ॥ ३१
 कुमारीः पूजयामास सुवर्णकलशस्तनीः ।
 एतन्मन्ये विदुर्मन्या मन्त्रिणो नृपनिश्चयम् ॥ ३२
 इङ्किताकारवेदित्वमेव मन्त्रिपदं परम् ।
 अथ तस्य विवाहाय मन्त्रिवर्गो विचारयन् ॥ ३३
 सुराष्ट्राधिपतेः कन्यां ययाचे यौवतान्विताम् ।
 नवयौवनसंपन्नां भार्यात्वे विधिनोत्तमाम् ॥ ३४
 उपयेमे स तामात्मसदृशीं प्रतिमामिव ।
 चूडालेति भुवि ख्याता नाम्ना नृपतिसुन्दरी ॥ ३५
 सा तं भर्तारमासाद्य रेजे फुल्लेव पद्मिनी ।
 नीलनीरजनेत्रां तां चूडालां स शिखिच्वजः ॥ ३६
 केहाङ्कितास्यामास सूर्यो देवो यथाङ्किनीम् ।
 अवर्धत तयोः प्रीतिरन्योन्यार्पितचेतसोः ॥ ३७
 हावभावविलासात्कौटुम्बैर्नवलतेव सा ।
 सुमन्यर्पितसर्वाङ्गैः स सुखी सुस्थितप्रज्ञाः ॥ ३८
 राजहंस इवाङ्किन्या रेमे कम्पितया तया ।
 अन्तःपुरेषु दोलासु लीलाकमलिनीषु च ॥ ३९
 उद्यानेषु विहारेषु ललापुष्पाङ्गेषु च ।
 कदम्बवनलेखासु कान्तानुत्सुक्यासु च ॥ ४०

क्ष्यामि परिणेष्यामि । ममेव तस्या अपि स्वाभिलाषप्रयुक्तसं-
 तापः कदा स्यात्वेन शीघ्रं घटना स्यादित्याशयेनाह—मृणा-
 लेति । इन्दवह्वयः पुष्पितलतागृहात्मना इन्द्रीभूता बलधस्तद-
 भिलषिणी ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ वनानामुपवनानां च
 गुणानुवर्णने आवलितासु कथासु चारमतेति सप्तमीनां संबन्धः
 ॥ ३० ॥ ३१ ॥ कुमारीः इदि पूजयामास बहुमेने, साङ्क-
 त्तिकभूषणैरलङ्किते वा । मन्ये इत्यव्ययं वितर्के । वितर्कवचनं
 वसिष्ठस्य वाक्यालङ्कारार्थम् ॥ ३२ ॥ मन्त्रिणां पदं लक्षणम् ।
 परस्परानुरागगुणशीलकुलसिद्धिसंपत्तिं विचारयन् ॥ ३३ ॥
 युवतीनां समूहो यौवतम् । 'भस्यादे तदिते' इति पुंशुद्भावः ।
 तेनान्विताम् । नवेन यौवनेन वयसा च संपन्नाम् ॥ ३४ ॥
 प्रतिमां प्रतिच्छायामिव सदृशीमनुरुपाम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 विकासयामास प्रसादयामास ॥ ३७ ॥ हावभाववादयः
 शृङ्गारचेष्टाभेदास्तदाज्यैरङ्गैर्नवलतेव सा सुखी इति श्लेषः ।
 शोभने राजविज्ञानुवर्तिभिरनुरक्तैर्मन्त्रिभिरर्पिताः सर्वे उपभो-
 ज्यार्था बसन् । अथवा शोभनेर्वाचिकैर्मन्त्रिभिः सर्वेभ्योऽर्थिभ्यः
 अर्पिताः सर्वे अभिलषितार्था यस्य । अत एव सुस्थितप्रज्ञास्त-
 त्पालनविशेषपरहितः सन् रेमे ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ चन्दनगुण-

मन्दारदामलोलासु कदलीकन्दलीषु च ।
पुरान्तेषु वनान्तेषु दिगन्तेषु सरस्सु च ॥ ४१
जंगलेषु जनान्तेषु जम्बूजम्बीरजातिषु ।
बभूवाह्लादकं सर्वं तयोरन्योन्यचेष्टितम् ॥ ४२
सद्दर्शयोर्धुरधैर्यभूम्योरिव कान्तयोः ।
नित्यमेव वियुक्तत्वात्प्रियत्वाचेष्टितस्य च ॥ ४३
मिथः कलाकलापस्य कोविदौ तौ बभूवतुः ।
स्वरूपमेकमेवैतौ दधतुर्मित्रतां गतौ ॥ ४४
अन्योन्यहृदयस्थत्वादिव संक्रान्तमक्षतम् ।
सर्वशास्त्रार्थवैदग्ध्यं चित्राद्यपि मुखात्प्रभोः ॥ ४५
बालः कालादिवागृह्य साऽसीत्सर्वार्थपण्डिता ।
नृत्यवाद्यादि यावच्च चूडालावदनादसौ ॥ ४६
अक्षिप्तत बभूवाथ कलानामतिकोविदः ।
अमावास्यामिषेन्द्रकावन्वोन्यविलसत्कलौ ॥ ४७

मिथो हृदयसंस्थौ तौ द्वावप्यैक्यमुपागतौ ।
तौ संस्थितावेकरसावन्योन्यं दधिताबुभौ ॥ ४८
पुष्पामोदाविवाभिन्नौ भूतलस्थौ शिवाविव ।
वैदग्ध्यसुन्दरमती सर्वशास्त्रार्थपण्डितौ ॥ ४९
कार्यार्थं च भुवं प्राप्तौ कमलाकमलाधवौ ।
स्नेहात्प्रसन्नमधुरौ समविज्ञातवादिनौ ॥ ५०
अनुवृत्तिपरावास्तां लोकवृत्तान्ततद्विदौ ।
कलाकलापसंपन्नौ लसद्सरसायनौ ।
शीतलस्निग्धमुग्धाङ्गौ शशाङ्गौ द्वाविवोदितौ ॥ ५१
रेजे लसच्च रतिभोगविलासकान्त-
मन्तःपुरेषु मिथुनं तदनुत्तमधि ।
ब्रह्माण्डखण्डकुहरेष्विव राजहंस-
युग्मं विकासिमवमन्मथमन्दचारि ॥ ५२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० वा० वे० मो० निर्वाण० पू० चूडालोपाख्याने त्रिखिध्वजविलासकथनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥७७॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः ७८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं बहूनि वर्षाणि मिथुनं निर्भरस्पृहम् ।
रेमे यौवनलीलामिरमन्दाभिर्दिने दिने ॥ १
अथ यातेषु बहुषु वर्षेष्वानुवृत्तिशालिषु ।
शनैर्गलिततारुण्ये मिश्रकुम्भादिवाम्भसि ॥ २
तरङ्गनिकराकारभङ्गुरव्यवहारिणि ।
पातः पक्कफलस्येव मरणं दुर्निवारणम् ॥ ३
हिमाशनिरिवाम्भोजे जरा निपतनोन्मुखी ।

सुगन्धितासु वीथिषु चन्दनागुरुवृक्षाणां पङ्क्तिषु च ॥४०॥४१॥
॥ ४२ ॥ धुरवरैर्बलीवर्दैः कृष्टेषु क्षेत्रेषु सत् रमणीयं वर्षं
वृष्टिर्योस्तथाविधयोर्मेषस्यसंपत्कान्तयोर्धुभूम्योरिव ॥ ४३ ॥
मिथः अन्योन्यस्माच्छिक्षणादन्योन्यसाम्यार्थित्वाच्च कोविदौ
प्राज्ञतरौ अत एव सर्वगुणसाम्यादनुरागेण ताम्रप्यरजनाच्च
जीवैक्यमिव संपन्नमित्याह—स्वरूपमिति ॥ ४४ ॥ अन्यो-
न्यहृदयस्थत्वाद्देहद्वयसंक्रान्तमेकमेव जीवस्वरूपम् । चित्रादि-
षिल्पवैदग्ध्यमपि तत्तच्छिल्पकुशलानां मुखादागृह्य अभ्यस्य
॥ ४५ ॥ यथा बालो बटुः 'द्वादशवर्षं वेदब्रह्मचर्य'मिति शास्त्रनि-
यतकालाद्देदधियां गृह्णाति तद्वत् । सा चूडाला । असौ त्रिखि-
ध्वजः ॥ ४६ ॥ अमावास्यां प्राप्येति शेषः । इन्द्रकाविव
मिथो हृदयसंस्थौ सन्तौ ऐक्यमुपागतौ ॥ ४७ ॥ मिश्रितशी-
रोदकवदेकरसौ ॥ ४८ ॥ भूतलस्थौ भूमावतीर्णौ शिवौ
गौरीशंकराविव ॥ ४९ ॥ सह प्रत्येकं वा पृष्ठं संदेहपदं लोक-
शास्त्ररहस्यं समं तुल्यकालं तुल्यविषयं च विज्ञातं वक्तुं शीलं
ययोस्तौ ॥ ५० ॥ परस्परगुरुद्विजाभिज्ञादीनां चानुवृत्तिः प्रिय-
हितविनयाद्याचारस्तत्परौ । लोकवृत्तान्तस्य तस्य शास्त्रैकगम्य-

१ नित्यमेवावियुक्तत्वात् इति पाठः.

आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ॥ ४
प्रावृषीव लतातुम्बी तृष्णैका दीर्घतां गता ।
शैलनद्या रय इव संप्रयात्येव यौवनम् ॥ ५
इन्द्रजालमियासत्यं जीवनं जीर्णसंस्थिति ।
सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुःक्युताः ॥ ६
पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवामिषम् ।
बुद्बुदः प्रावृषीवाप्सु शरीरं क्षणभङ्गुरम् ॥ ७

धर्मरहस्यस्य च विदौ । लसन्ति शृङ्गारादिनवरसलक्षणानि रसा-
यनानि ययोस्तौ ॥ ५१ ॥ ब्रह्माण्डखण्डस्य ब्रह्माण्डावयवस्य
सत्यलोकस्य कुहरेषु गम्भीरसरस्सु राजहंसयोर्युग्मं मिथुनमिव
॥ ५२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
पूर्वार्धे त्रिखिध्वजविलासवर्णनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥७७॥

तयोः क्रमेण वैराग्यं सच्छास्त्राभ्यासनिष्ठता ।

चूडालाया विषेकोऽत्र ज्ञानलाभश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

निर्भरस्पृहं दृढप्रेम । मिथुनं तत्त्वोपसद्बन्धम् ॥ १ ॥
अथ शनैस्तारुण्ये गलति सति तद्युग्मं इति निर्णय अध्यात्म-
संमतं शास्त्रं विचारयामासेति दशमे एकादशे च संबन्धः
॥ २ ॥ निर्णयहेतुं प्रथमं तत्कृतं विचारं प्रपद्यति—तरङ्गे-
त्यादिना । तरङ्गनिकराकारेण भङ्गुरेण देहेन व्यवहरणशीले
देहिनि । मरणं देहवियोगः ॥ ३ ॥ कुतो दुर्निवारणं तत्राह—
हिमाशनिरिति ॥ ४ ॥ तृष्णाभोगतत्साधनतृष्णाप्रावृषि कटुतु-
म्बीलतेव दीर्घतां गता वर्धते इति यावत् । रयोऽत्र वार्षिकपूरः
॥ ५ ॥ जीव्यते अस्मिन्निति जीवनं देहादि ॥ ६ ॥ दुःखा-
न्याध्यात्मिकादीनि तृष्णा च चेतः पतन्ति निपत्य तुदन्तीति

रम्भागर्भे इवासारो व्यवहारो विचारगः ।
 सत्त्वरं युवता याति कान्तेवाप्रियकामिनः ॥ ८
 बलादरतिरायाता वैरस्यमिव पादपम् ।
 तदिह स्याच्छुभाकारं स्थिरं किमतिशोभनम् ॥ ९
 यदासाद्य पुनश्चेतो दशासु न विदूयते ।
 इति निर्णय युग्मं तत्संसारव्याधिभेषजम् ॥ १०
 चिरं विचारयामास शास्त्रमध्यात्मसंमतम् ।
 आत्मज्ञानैकमात्रेण संसृत्याख्या विषूचिका ॥ ११
 संशाम्यतीति निश्चित्य तावास्तां तत्परायणौ ।
 तच्चित्तौ तद्गतप्राणौ तन्निष्ठौ तद्विदाश्रयौ ॥ १२
 तदा तदर्चनपरौ तदीहौ तौ विरेजतुः ।
 तत्रैवातिघनाभ्यासौ बोधयन्तौ परस्परम् ॥ १३
 तत्प्रीतौ तत्समारम्भावन्त्योन्यं तौ बभूवतुः ।
 अथ साविरतं राम रमणीयपदक्रमान् ॥ १४
 श्रुत्वाध्यात्मविदां वक्राच्छास्त्रार्थास्तारणक्षमान् ।
 इत्थं विचारयामास स्वमात्मानमहर्निशम् ॥ १५
 अव्यापृता व्यापृता वा धिया धवलयेद्धया ।
 प्रेक्षे तावत्स्वमात्मानं किमहं स्यामिति स्वयम् ॥ १६
 कस्यायमागतो मोहः कथमभ्युत्थितः क्व वा ।
 देहस्तावज्जडो मूढो नाहमित्येव निश्चयः ॥ १७

यावत् ॥ ७ ॥ अप्रियां सपत्नीं कामयते यस्तस्य कान्ता प्रिय-
 नमेव ॥ ८ ॥ अरतिरिष्टविषयालाभनिमित्तं दौर्भनस्यम् ।
 वैरस्यं रमशोषः । इहास्मिन् संसारे ॥ ९ ॥ दशासु जन्म-
 रणादिदुर्दशासु । तद्युग्मं मिथुनं इति विचार्य तत्र अध्यात्म-
 शास्त्रमेव संसारव्याधिभेषजं निर्णय्य तदेव विचारयामासेत्य-
 न्वयः ॥ १० ॥ ११ ॥ तद्विदा अध्यात्मशास्त्रविद एवाश्रयः
 शरणं ययोस्तौ ॥ १२ ॥ १३ ॥ तस्मिन्नध्यात्मशास्त्र एव
 सम्यक् 'तच्चिन्तनं तच्छ्रवणमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्' इत्यादिः
 समारम्भो ययोस्तौ । सा चूडाला ॥ १४ ॥ इत्थं वक्ष्यमाण-
 प्रकारेण ॥ १५ ॥ अव्यापृता त्यक्तशारीरव्यापारा । प्रेक्षे
 विविच्य पश्येयम् । अस्मिन् कार्यकारणसंघाते अहं चेतनधातुः
 किं स्याम् ॥ १६ ॥ अयं संसारलक्षणो मोहो भ्रमः कस्यागतः ।
 यस्य हि भ्रान्तिरागता स तन्निवारणे स्वस्थः स्यात्स एव क
 इत्यर्थः । कैथं वेति निमित्तजिज्ञासा । केति तन्मूलजिज्ञासा ।
 मूले हि परिज्ञाते तदुच्छेदेनोच्छेत्तुं स शक्यः ॥ १७ ॥ मतौ
 स्थूलोहं गौरोहमित्यादिबुद्धिवृत्तौ सख्यामेवानुभूयते न स्वत इति
 तस्य जडत्वमित्यर्थः । अस्माद्देहादभिन्नहस्तपादाद्यवयवात्मकः
 ॥ १८ ॥ बुद्धीन्द्रियगणोपि एवं शरीरावयवात्मक एव । यद्यप्यणव-
 श्चेति सूत्रे इन्द्रियप्राणादयः सूक्ष्मा लिङ्गदेहावयवा एव न स्थूल-
 देहावयवा इति बादरायणेन सिद्धान्तितं, तथापि तेषां देहा-

आबालमेतत्संसिद्धं मतौ चैवानुभूयते ।
 कर्मेन्द्रियगणश्चास्मादभिभावयवात्मकः ॥ १८
 अवयवावयविनोर्न भेदो जड एव च ।
 बुद्धीन्द्रियगणोऽप्येवं जड एवेति दृश्यते ॥ १९
 प्रेर्यते मनसा यस्माद्यष्ट्येव भुवि लोष्टकः ।
 मनश्चैवं जडं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत् ॥ २०
 क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धिनिश्चयैः ।
 बुद्धिर्निश्चयरूपैवं जडा सत्तैव निश्चयः ॥ २१
 खातेनेव सरिभूनं साऽहंकारेण बाह्यते ।
 अहंकारोऽपि निःसारो जड एव शवात्मकः ॥ २२
 जीवेन जन्यते यक्षो बालेनेव भ्रमात्मकः ।
 जीवश्च चेतनाकाशो वातात्मा हृदये स्थितः ॥ २३
 सुकुमारोऽन्तरन्येन केनापि परिजीवति ।
 अहो नु ज्ञातमेतेन चेत्योल्लेखकलङ्किना ॥ २४
 जीवो जीवति जीर्णेन चिद्रूपेणात्मरूपिणा ।
 चेत्यधमवता जीवश्चिद्रूपेणैव जीवति ॥ २५
 आमोदः पवनेनेव खातेनेव सरिद्रयः ।
 असत्यजडचेत्यांशचयनाच्चिद्रुपर्जडम् ॥ २६
 महाजलगतो ह्यग्निरिव रूपं स्वमुज्जति ।
 सद्वासद्वा यदाभाति चित्समाधौ सति स्वतः ॥ २७

वयवत्वेनैवापण्डितपामरमनुभवादवयववद्देहसंयुक्तत्वाच्च तदव-
 यवजडत्वमेवेत्याशयः ॥ १९ ॥ मनआदेरपि जडदेहादि-
 प्रेरकत्वात्तत्संयोगयोग्यद्रव्यतया यष्ट्यादिवज्जडत्वं सिद्धमि-
 त्याह—प्रेर्यते इत्यादिना ॥ २० ॥ जडा सत्ता जाड्यस्वभावै-
 वेति निश्चयः । क्षेपणै रञ्जुयन्त्रैः ॥ २१ ॥ खातेन वप्रद्वयान्त-
 रालिकनिर्गदेशेन । सा बुद्धिर्वाहते प्रेर्यते ॥ २२ ॥ जीवेन
 प्राणावच्छिन्नविदाभासेन जन्यते अध्यस्यते । तथा च यक्षदे-
 हवत्तस्याध्यस्तत्वादेव जडत्वमित्यर्थः । वातात्मा प्राणोपाधिः
 ॥ २३ ॥ अन्तरन्येन स्वान्तर्यामिबिम्बचैतन्येन परिपूर्णो
 जीवति । चेत्योल्लेखः साक्षिभावेन विषयप्रकाशनं तेन कल-
 ङ्किना दूषितप्रायेण ॥ २४ ॥ जीर्णेन चिरंतनेन ॥ २५ ॥ चेत्यो-
 ल्लेखकलङ्किनेति तत्रोपपत्तिमाह—असत्येति । चयनात्तादा-
 त्म्यसंसर्गाभ्यासाच्चिद्रुपश्चित्स्वभावमपि तज्जडमिव संपन्नमित्यर्थः
 ॥ २६ ॥ महाजलं तप्तजलं सामुद्रं वा तद्रतोऽग्निरिव
 स्वं भास्वररूपमुज्जति मुञ्चति । अत एव सत्तांशे चिद्वैलक्षण्य-
 मिव लब्धा घटः सन्पटः सन्निति सत्ता घटपटाद्यविदाकारस-
 मरसानुभूयते । घटाद्याकारस्य मृदादौ लये घटो नास्ति पटो
 नास्तीति सत्ताकारमप्युज्जन्ती अभावतामप्यापद्यत इति
 भावः । चित्समाधौ चेत्यैकाग्र्ये सद्रूपमसद्रूपं वा यदेव वासनो-
 पनीतं स्वत आभाति तदेव क्षणादलं पूर्णं स्वरूपमुत्पृज्य

१ शक्तिमदिति पाठः. २ अत्राप्रियं सपत्नीसंग्रहणं कामयत
 इति व्याख्यानं युक्तं । यथास्थितव्याख्यायां पुंवद्भासानुपपत्तिः.

३ कथं कैर्निमित्तैरेति पाठः.

स्वरूपमलमुत्सृज्य तदेव भवति ज्ञानम् ।
 एवं चिद्रूपमप्येतद्योगोन्मुक्ततया स्वयम् ॥ २८
 जडं शून्यमसत्कार्त्वं चैतन्येन प्रबोध्यते ।
 इति संचिन्त्य शूडाला केनैवा चित्तचेतनी ॥ २९
 इति संचिन्तयामास चिरचित्तं व्यवुष्यत ।
 अहो नु चिरकालेन ज्ञाते ज्ञेयमनामयम् ॥ ३०
 यद्वै विज्ञेयतां कृत्वा न कश्चिदधीयते पुनः ।
 एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्निद्रयादयः ॥ ३१
 असन्तः सर्वं एवैहो द्वितीयेन्दुपदस्थिताः ।
 महाचिदेकैवास्तीह महासत्तेति योच्यते ॥ ३२
 निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहंकारकमिणी ।
 शुद्धसंवेदनाकारा क्षिप्तं सम्मानजच्युतम् ॥ ३३
 सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती सदा ।
 सा ब्रह्मपरमात्मादिनामभिः परिणीयते ॥ ३४
 चेत्यचेतनचित्तादि माया मित्रं न मानतः ।
 तथैवा चेत्यते चिच्छ्रीः सैवाद्या चिदिति स्मृता ॥ ३५
 अचेत्यं यदिदं चित्तं तत्तस्या रूपमक्षतम् ।

तत्क्षणत्स्वयं भवतीति परेणान्वयः ॥ २७ ॥ एवमुक्तरीत्या
 परमार्थतच्चिद्रूपमपि अविद्यावरणादध्यासपरंपरया जडं शून्य-
 मसत्कार्त्वं च संपन्नं जगद्रूपं बुद्धावनावृत्तस्वभावेन चैतन्येनैव
 तत्तदाकारवृत्तिव्याप्त्या मूलाविद्यावरणभङ्गद्वारा प्रबोध्यत इति
 परेणान्वयः ॥ २८ ॥ तर्हि मूलाविद्यावरणभङ्गेनैषा ब्रह्मचि-
 त्केनोपायेन दृश्यस्वप्नं विहाय प्रबोधवती स्यादिति चिन्तितव-
 तीत्याह—इतीति ॥ २९ ॥ इत्थं वर्ण्यमानप्रकारेण व्यबुध्यत ।
 आत्मतत्त्वमित्यर्थः ॥ ३० ॥ कश्चिदपि पुरुषो न हीयते परम-
 पुरुषार्थात्प्रच्युतो न भवतीत्यर्थः । अथवा कश्चिदपि काम्यो-
 ऽर्थो न हीयते न हानिं प्राप्यते । तत्प्राप्त्यैव सर्वकामावा-
 प्तेरित्यर्थः । अथवा किञ्चिद्वस्तु दुःखसाधनमिति बुद्ध्या न
 हीयते न त्यज्यते । सर्वस्याप्यानन्दैकरसस्वसंपत्तेरित्यर्थः ।
 हानासंभवोक्तिरुपादानस्याप्युपलक्षणम् । चिद्विलासस्य अन्ताः
 परिच्छेदहेतवः ॥ ३१ ॥ द्वितीयस्य तैमिरिकदृष्टिपरिकल्पित-
 स्वेन्द्रोः पदे स्थाने स्थिताः । भ्रान्तिकल्पिता इति यावत् ॥ ३२ ॥
 शुद्धं संवेदनमेव आकारः स्वरूपं मयाः । क्षिप्तं भूमानन्दरूप-
 त्वात्परममङ्गलं तादृशस्वभावात्कदाप्यप्रच्युतमित्यच्युतम् ॥ ३३ ॥
 सकृन्मूलाविद्यावरणभङ्गेण विभाता न पुनः केनाप्याम्रियत
 इति सकृद्विभाता । अत एव नित्योदयवती परिणीयते वेदान्ता-
 यध्यात्मशास्त्रेषु लक्षणया ॥ ३४ ॥ चेत्यादित्रिपुटीजालमस्याः
 सकाशाद्विभक्तं वस्तु न । यत एषा त्रिपुटी तथा साक्षिभूतया
 चेत्यते न तु मानतः सिद्धा सैषा साक्षिचित् त्रिपुटी प्रकृतेः
 प्रागेव स्वतःसिद्धत्वादाद्या ॥ ३५ ॥ विजृम्भते विवर्तते ॥ ३६ ॥
 मनोबुद्ध्यादिविवर्तैश्चिदात्मनि मातरि प्रमातृभानापञ्चे सति तत्र
 तरङ्गादिकलनाप्राया जगद्रूपभूतभौतिकपदार्थानां सत्ता अस्ति-
 ता स्फुरति ॥ ३७ ॥ यदिदं जगत्सत्तारूपं प्रसिद्धं तत्तस्या

मनोबुद्धीन्निद्रयाचर्त्तैरूपैः सैव विजृम्भते ॥ ३६
 तरङ्गकणकलोलकलनैर्बन्धिदात्मनि ।
 जगद्रूपपदार्थानां सत्ता स्फुरति मातरि ॥ ३७
 यदिदं तत्परं रूपं तस्याः कलु महाचित्तैः ।
 शुद्धचित्तमणिवत्सा हि सैवं समसमीक्षिता ॥ ३८
 अमन्ययैव वा शक्त्या जगद्भूमिकया स्थिता ।
 सत्ता मायातिरेकेण नाम्ना सैवभवतीह हि ॥ ३९
 विचित्रतेषु भाण्डानां ननु हेमतया यथा ।
 सा तयोदेति तद्रूपमात्मानं चेतति स्वयम् ॥ ४०
 स्वचित्तेन द्रवत्वेन तरङ्गादित्वमम्बुषु ।
 महाचित्तौ जगच्चित्तानुदेतीवानुदेत्यपि ॥ ४१
 तदात्मैव यथा यातो रूपवान् जलधौ द्रवात् ।
 एवं चिन्मात्रमेवाहमनहंभावमाततम् ॥ ४२
 न तस्य जन्ममरणे न तस्य सदसद्रती ।
 न नाशः संभवत्यस्य चिन्मात्रमसतः क्वचित् ॥ ४३
 अच्छेद्योऽयमबाह्योऽयं चिदादित्योऽतिनिर्मलः ।
 आहो नु चिरकालेन शान्तास्मि परिनिर्वृता ॥ ४४

अधिष्ठानभूताया महाचित्तेरेव परं रूपं रूपान्तरम् । सङ्ख-
 शब्दो 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्ते चैवामूर्ते च' इत्यादिश्रौतप्रति-
 स्थितोतनार्थः । यतः सा हि चित्स्फटिकमणिवज्रजगत्प्रतिबिम्ब-
 मसत्तैव धत्ते । सेयं जगत्सत्ता च व्यावहारिकेषु प्रातिभासि-
 केषु च समसमा स्वसाधिष्ठानानुसारिणी उदिता ॥ ३८ ॥
 अत एव जगत्सत्ताया अधिष्ठानसत्तान्यत्वनिरूपणायोगान्माया-
 मात्रत्वमित्याह—अमन्ययैवेति ॥ ३९ ॥ अत एव नामरूपवि-
 शेषप्रलये जगत्सत्ता मायाशबलब्रह्मसत्तात्मनैव परिधिष्यते ।
 मायाबाधे तु आनन्दैकरससन्मात्ररूपमात्मानं स्वयमनुभवती-
 त्याह—विचित्रतेवेति । भाण्डानामलंकारजातानां विचित्रता
 यथा प्रविलये हेमतया हेमसत्तात्मनैवोदेति तथेत्यर्थः ॥ ४० ॥
 सत्तायां दक्षितन्यायेनैव जगद्वैचित्र्यस्फुरणरूपचिद्वेदानामपि
 विषयाकारमेदे मिथ्यात्वपर्यालोचने अपरिच्छिन्नपरब्रह्मचिन्मा-
 त्रता पर्यवस्यतीत्याशयेनाह—स्वचित्तेनेति द्वाभ्याम् । यथा
 स्वप्नेन्द्रजालादौ द्रवत्वेन परिणतेन स्वचित्तेन सिद्धेषु समुद्राय-
 म्बुषु तरङ्गादि अनुचदप्युदेतीव तथा महाचित्तौ ब्रह्मण्यपि
 समष्टिचित्ताजगदनुचदप्युदेतीत्यर्थः । अनुदेतीति नञ्स्तित्तेन
 सहेति योगविभागात्समासश्छान्दसो वा ॥ ४१ ॥ अस्त्येवं
 किं तत्स्वप्नाह—तदिति । तत्तत्र स्वप्ने चिद्रूप आत्मैव चित्त-
 कल्पितबलरूपेण रूपवान् संस्तरङ्गादिद्रव्यभेदान्यथा मातस्व-
 त्वात्मव्यतिरेकं नाणुमात्रमपि किञ्चिदस्ति । एवं चिन्मात्रमेवाहं
 जगद्भानविशेषभेदेः संपन्नो न परमार्थतः पूर्णचिदात्मनो
 मत्तो व्यतिरेकमणुमात्रमप्यस्तीत्यहंभावस्याप्यपरिशेषादनहंभावं
 चिन्मात्रमेवाततं चिस्तीर्णमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ मरणं देहवियोगो नाशो
 च्छंस इति भेदः । सदसद्रती स्वर्गनरको ॥ ४३ ॥ तत्र प्रस्तुत-
 विचारस्याप्यौ चिन्मन्ति दर्शयति—अच्छेद्य इति ॥ ४४ ॥

निर्वामि भ्रमनिर्मुक्तमासे निर्मन्दराब्धिवत् ।
 असदाभासमस्यच्छमनन्तमजमक्युतम् ॥ ४५
 आत्माकाशमनाबाधममलं परमं चिरम् ।
 अनन्तमिदमाकाशं फलौघाभाफलादिकाः ॥ ४६
 सुरासुरयुतं विश्वमेतन्मयमकृत्रिमम् ।
 पुंस्त्वकर्ममयी सेना सर्वं मृन्मात्रकं यथा ॥ ४७
 द्रष्टृदृश्यमयी सत्ता चिन्मात्रैक्यमयी तथा ।
 इदमैक्यमिदं द्वित्वमहं नाहमितीति च ॥ ४८
 क इव भ्रमसंमोहः कथं कस्य कुतः क वा ।
 स्वमनन्तमनायासमुपशान्तास्मि संस्थिता ॥ ४९

निर्वाणपरिनिर्वाणा गतमासे गतज्वरम् ।
 अचेतनं चेतनं वा योऽयमाभाति चेतति ॥ ५०
 भासमानात्म तद्रूपं खं महाचित्ति संस्थितम् ।
 नेदं नाहं न चान्यच्च न भावाभावसंभवः ।
 शान्तं सर्वं निरालम्बं केवलं संस्थितं परम् ॥ ५१
 इत्यंविचारणपरा परमप्रबोधा-
 हुङ्गा यथास्थितमिदं परमात्मतत्त्वम् ।
 संशान्तरागभयमोहतमोविलासा
 शान्ता बभूव शरदम्बरलेखिकेव ॥ ५२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चूडालप्रबोधो नामाष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमः सर्गः ७९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

दिनानुदिनमित्येषा स्वात्मारामतया तथा ।
 नित्यमन्तर्मुखतया बभूव प्रकृतिस्थिता ॥ १
 नीरागा निरुपासका निर्द्वन्द्वा निःसमीहिता ।
 न जहाति न चादत्ते प्रकृताचारचारिणी ॥ २
 परितीर्णभवाम्बोधिः शान्तसंदेहजालिका ।
 परमात्ममहालाभपरिपूर्णान्तरात्मना ॥ ३
 विश्रान्ता सुचिरं श्रान्ता घनलब्धपदान्तरे ।
 सर्वोपमातीततया जगामाव्यपदेश्यताम् ॥ ४

इति सा भामिनी तस्य चूडाला वरवर्णिनी ।
 स्वल्पेनैव हि कालेन ययौ विदितवेद्यताम् ॥ ५
 यथायमागतः कश्चिज्जागतः स्पन्दविभ्रमः ।
 तथा विलीयते सर्वं तत्त्वज्ञानवति स्वयम् ॥ ६
 अदृष्टसकले शान्ते पदे विश्रान्तितमेल्य सा ।
 रराज शरदच्छाभ्रमालेव गतसंभ्रमा ॥ ७
 अनाकुला समालोकमसंबन्धात्मनात्मनि ।
 जरद्ग्रीव शैलाम्रं सतृणं प्राप्य संस्थिता ॥ ८

आसे 'तासस्योः' इति सलोपः । असन् दृश्याभासो यस्मिन् ॥ ४५ ॥ चिरं कालिकपरिच्छेदरहितम् । अनन्तं देशवस्तुकृत-परिच्छेदरहितम् । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तप्राणिकर्मफलौघाश्चकारा-त्तत्साधनव्यापाराः अफलादिका निष्फलसाधना वृथा चेष्टाश्च इदमाकाशमेव नान्यत् ॥ ४६ ॥ पुंस्त्वं कुलालादिपुरुषजातिस्तन्क-र्ममयी तन्निर्मिता । अथवा पुंस्त्वं प्रतिमायां कल्पिता पुरुषजातिः, कर्म तदनुचलनादि तन्मयी तत्प्रचुरा बालनिर्मितमृत्सेना ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ किंवृत्तचतुष्टयं प्रकारभोक्तृनिमित्ताधिकरण-संभाषनाप्रतिषेधार्थम् । खं पारमार्थिकं रूपं प्राप्येति शेषः ॥ ४९ ॥ निर्वाणे मोक्षमुखे परितो निर्वाणा निर्भृता । गतभवज्वरं गतं कण्ठचामीकरवत्प्राप्तं स्वरूपमेवाहमासे । यदचेतनं चेतनं वा आभाति । योऽयं तद्भोक्ता चेतति तदुभयं भासमानात्माभिन्नं यद्ब्रह्म तद्रूपं खं चिदाकाशमेवेति परेणान्वयः ॥ ५० ॥ किं इदं ताहं तान्यत्तादिजगत्स्वभावमत्यक्त्वैव ब्रह्म नेत्याह—नेद-मिति ॥ ५१ ॥ उक्तमेव संक्षिप्योपसंहरति—इत्यमिति । परम-प्रबोधादात्यन्तिकमोहनिद्रापगमात् संशान्ता रागादयस्तमो-विलासा अवस्थात्रयस्वप्ना यस्याः ॥ ५२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चूडालप्रबोधो नामाष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

यो० वा० १२०

अपूर्वश्रीमतीं इष्टा पृष्टया धरणीभृता ।

चूडालया स्वशोभाया हेतुर्बोधोऽत्र वर्णयते ॥ १ ॥

एवं विचारेणोत्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्याभ्यासाद्दिनक्रमेणोत्तरो-त्तरभूमिकाप्रतिष्ठामाह—दिनानुदिनमिति । दिनानुदिनं दिन-क्रमेण । नित्यमभीक्ष्णं प्रकृतिः स्वाभाविकं रूपं तस्मिन् स्थिता प्रतिष्ठिता ॥ १ ॥ तस्यास्तत्प्रतिष्ठालक्षणान्याह—नीरा-गोत्यादिना ॥ २ ॥ परिपूर्णो देहादान्तरात्मनसोऽप्यान्तरः प्रत्यगात्मा यस्याः ॥ ३ ॥ सुचिरं प्राक्संसारश्रान्ता तदा निरतिशयानन्दघने ज्ञानलब्धे पदान्तरे परमपदे विश्रान्ता ॥ ४ ॥ ५ ॥ कथमल्पकालिकेन बोधेनानादेर्महत्तमस्य च भ्रमस्य निवृत्तिस्तत्राह—यथेति । कश्चिदनिर्वचनीयस्वरूपः स्पन्दविभ्रमः अविदुषि अकस्मादेवागतस्तथा तत्त्वज्ञानवति सर्वं निःशेषकस्मादेव विलीयत इत्यर्थः । रीधपाठे यथा विलीयते तथा तत्त्वज्ञानवती बभूवेति कथंचिद्यालयेयम् ॥ ६ ॥ न दृष्टं सकलद्वैतं यत्र तथाविधे पदे ॥ ७ ॥ यथा जरद्ग्रीवो गौर्दुरारोहतमं सैतृणोदकं समालोकं तुल्यातपचन्द्रिकोप-भोगशैलाम्रं दैवात्प्राप्य अनाकुला संस्थिता भवति तद्वत्सापि समालोकं जाग्रदादिसर्वावस्थास्वैकरूपप्रकाशं प्रत्यगात्मानं

१ मूलस्यं तृणपदमुक्त्वाप्युपलक्षणमित्यर्थः.

स्वविवेकघनाभ्यासवशादात्मोदयेन सा ।
 शुशुभे शोभना पुष्पलतेषामिभवोद्गता ॥ ९ ॥
 अथ तामनवद्याङ्गी कदाचित्सि शिषिष्वजः ।
 अपूर्वशोभामालोक्य स्मयमान उवाच ह ॥ १० ॥
 भूयो यौवमयुकेषु मण्डितेषु पुनःपुनः ।
 अधिकं राजसे तन्वि जगद्राजवती यथा ॥ ११ ॥
 प्रपीतामृतसारेव लब्धा लभ्यपदेव च ।
 आनन्दापूरपूर्णेव राजसे नितरां प्रिये ॥ १२ ॥
 उपशान्तं च कान्तं च दधाना सुन्दरं वपुः ।
 अभिभूयेन्दुमायासि भ्रियं कामपि कामिनि ॥ १३ ॥
 अभोगरूपं शान्तमूर्जितं समतां गतम् ।
 गम्भीरं च प्रशान्तं च चेतः पश्यामि ते प्रिये ॥ १४ ॥
 तृणीकृत्य त्रिभुवनं पीताखिलजगद्रसम् ।
 अनन्तोद्गमरं सौम्यं मनः पश्यामि ते प्रिये ॥ १५ ॥
 न केनचिन्महाभागे विभवानन्दवस्तुना ।
 चेतस्तव तुलामेति मरुक्षीराब्धिसुन्दरम् ॥ १६ ॥
 तैरेव बालकदलीमृणालाङ्कुरकोमलैः ।
 अङ्गैः स्थितिमनुप्राप्तैर्वृद्धिं यातेव लक्ष्यसे ॥ १७ ॥
 तथा तेनैव तेनैव संनिवेशेन संस्थिता ।
 अन्यतामुपयातासि लतेव ऋतुपर्यये ॥ १८ ॥
 किं त्वया पीतममृतं प्राप्तं साम्राज्यमेव वा ।
 अमृत्युमेव संप्राप्ता प्रयोगायोगयुक्तितः ॥ १९ ॥

जाग्रदाद्यसंबन्धात्मना स्वभावेन प्राप्य तस्मिन्नेवात्मन्यनाकुला
 संस्थितेत्यर्थः ॥ ८ ॥ आत्मनस्तत्त्वदर्शनप्रयुक्तेनोदयेन पूर्णा-
 नन्दस्वरूपाविर्भावेण ॥ ९ ॥ स्मयमानो विस्मयसेरास्यः
 ॥ १० ॥ जगत् जगती । 'वर्तमाने पृषन्महद्गृहजगच्छतृवच'
 इति शतृवद्भावातिदेशात् 'उगितश्च' इति स्त्रियां ङीप् छान्द-
 सत्वाच्च कृतः । राजवती राजन्वती पूर्णचन्द्रवती वा यथा
 राजते तद्व्राजसे ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ ऊर्जितं विवेकोर्जि-
 तम् । शान्तं शमादिगुणवत् । प्रशान्तमुपरतचापलम् ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ मरुखिर्बिर्जलज्जायतया क्षीराब्धिरिव पूर्णतया च
 सुन्दरम् ॥ १६ ॥ स्थितिमचापत्यमुपायातैस्तैः प्राक्तनैरेवाङ्गै-
 रवयवैस्तेजोतिशयेन वृद्धिं यातेव ॥ १७ ॥ ऋतुपर्यये ऋषि-
 रात्यये ॥ १८ ॥ प्रयोगो रसायनादिप्रयोगः, आयोगो मन्त्रादि-
 सिद्धिः, युक्तयो राजयोगहठयोगोपायास्ताभ्य इति ततः ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ एवं राज्ञा पृष्ट्वा चूडाला स्वशोभातिशयनिमित्तं परि-
 ष्ठितदेहात्मतात्यागः पूर्णाद्वितीयब्रह्मात्मत्वमभवेति गूढोक्त्या
 प्रथममुत्तरमाह—नाकिंचिदिति । अहमिदं सर्वं मूढजन-
 प्रसिद्धमिदं शरीरात्मत्वं त्यक्त्वा न विद्यन्ते अकिंचित् अशेषाः
 किंचिन्नामरूपाकारा यस्मिन्स्वभावविधं ब्रह्मात्मत्वं तत्त्वबोधेन
 आगता न तु मन्त्ररसायनादिसाधनमात्रेण । किंचित्किंचिदल्पं
 तुच्छं च तत्तत्सिद्ध्याकारं तेनेत्यर्थः । अथवा अहं किंचित्किंचिदा-
 कारं जाग्रत्स्वप्नावस्थाद्वयं नागता नाप्यकिंचित्किंचिदाकारं सुषुप्त-

राज्याच्चिन्तामणेर्वापि त्रैलोक्याद्वा त्वयाधिकम् ।
 अप्राप्तं किमनुमासं नीलोत्पलचिलोचने ॥ २० ॥
 चूडालोवाच ।
 नाकिंचित्किंचिदाकारमिदं त्यक्त्वाहमागता ।
 नकिंचित्किंचिदाकारं तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २१ ॥
 इदं सर्वं परित्यज्य सर्वमन्यन्मयाभितम् ।
 यत्तत्सत्यमसत्यं च तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २२ ॥
 यत्किंचिद्यत् किंचिच्च तज्जानामि यथास्थितम् ।
 यथोदयं यथानाशं तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २३ ॥
 भोगैरभुक्तेस्तुष्यामि भुक्तेरिव सुदूरगैः ।
 न हृष्यामि न कुप्यामि तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २४ ॥
 एकैवाकाशसंकाशे केवले हृदये रमे ।
 न रमे राजलीलासु तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २५ ॥
 आत्मन्येव हि तिष्ठामि ह्यासनोद्यानसद्यसु ।
 न भोगेषु न लज्जासु तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ २६ ॥
 जगतां प्रभुरेवासि नकिंचिन्मात्ररूपिणी ।
 इत्यात्मन्येव तुष्यामि तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ २७ ॥
 इदं चाहमिदं माहं सत्या चाहं न चाप्यहम् ।
 सर्वमस्मि न किंचिच्च तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ २८ ॥
 न सुखं प्रार्थये नार्थं नानर्थं नेतरां स्थितिम् ।
 यथाप्राप्तं हृष्यामि तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ २९ ॥

रूपं किंतु इदमवस्थात्रयमपि त्यक्त्वा तुरीयस्वभावमागता तेन
 हेतुनेत्यर्थः । अथवा अहं कर्मोपासनादिना किंचित्किंचिदा-
 कारं इन्द्रचन्द्रादिहिरण्यगर्भान्तं पदं भावनाकृततादात्म्यसिद्ध्या
 नागता । नाप्यकिंचित्किंचिदाकारमव्यक्तरूपं किंचिदं सर्वं त्यक्त्वा
 स्वस्वरूपा एवावस्थिता तेन हेतुनेत्यर्थः । अथवा अहमिदं
 लिङ्गदेहपरिच्छिन्नं जीवाकारं त्यक्त्वा यत्नाकिंचित्किंचित्सर्वा-
 त्मक आकारो यस्य तथाविधं परमार्थतो नकिंचित्किंचिदा-
 कारं च ब्रह्म तदागता प्राप्तवती तेन हेतुनेत्यर्थः ॥ २१ ॥
 उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेण पुनराह—इदमिति । इदं परिच्छिन्नं
 सर्वं परित्यज्य सर्वमपरिच्छिन्नमन्यन्मया आभितम् । किं तत् ।
 यत्तत् सत्यमवाभितं न विद्यते सन्मूर्तं त्यदमूर्तं च प्रपञ्चरूपं
 यत्रैत्यसत्यं च तेनेति प्राग्वत् ॥ २२ ॥ नकिंचित्किंचिदा-
 कारमिति स्वोक्तिं भङ्ग्यन्तरेण वर्णयति—यदिति । यद्वस्तु
 उदयः सर्गस्तमनतिक्रम्येति बभोदयं सृष्टिदशा दृश्यमानं किंचि-
 त्परिच्छिन्नं यदेव च यथानाशं प्रलयदशा दृश्यमानं नकिंचिच्च
 भवति तथाया येन कूटस्थभूमानन्दस्वभावेन स्थितं जानामीत्यर्थः
 ॥ २३ ॥ २४ ॥ हृदयपदेन हार्दं ब्रह्म लक्षयते ॥ २५ ॥ आसनोद्या-
 नादिषु देहे स्थितेऽप्यहं पूर्णात्मन्येव तिष्ठामि न तु भूषण-
 सन्मानादिशारीरमानसभोगेषु तदल्पमप्रयुक्तलज्जासु वा ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ इदं देहादि चासतुपभोग्यमधिष्ठानदशा, आरोपित-
 दशा तु नाहम् ॥ २८ ॥ नानर्थं जिहासामीति शेषः ॥ २९ ॥

१ अन्यदमूर्तं च इति पाठः.

तनुविद्वेषराजाभिः प्रजाभिः शास्त्रदृष्टिभिः ।
 रमे सह वयस्यामिस्तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ ३०
 पश्यामि यज्यनरदिमभिरिन्द्रियैर्वा
 क्षिप्तेन खेह हि तदङ्ग नकिञ्चिदेव ।

पश्यामि तद्विरहितं तु नकिञ्चिदन्तः

पश्यामि सम्यगिति नाथ चिरोदयास्मि ३१

इत्यापे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० चूडालात्मलाभो नामैकोनाक्षीतितमः सर्गः ॥७९॥

अशीतितमः सर्गः ८०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 एवमारमणि विश्रान्तां वदन्तीं तां धराननाम् ।
 अबुक्त्वा तन्निरामयं विद्वस्योवाच भूपतिः ॥ १
 क्षिप्तिष्वज उवाच ।
 असंबद्धप्रलापासि बालासि वरवर्षिणि ।
 रमसे राजलीलाभी रमस्वावनिपात्मजे ॥ २
 किञ्चित्पक्त्वा नकिञ्चिद्यो गतो प्रत्यक्षसंस्थितम् ।
 त्यक्तप्रत्यक्षसद्रूपः स कथं किल शोभते ॥ ३
 भोगैरभुकैस्तुष्टोऽहमिति भोगान्जहाति यः ।
 रुषेवासनशय्यादीन्स कथं किल शोभते ॥ ४
 भोगाभोगे परित्यज्य खे शून्ये रमते तु यः ।
 एक एवाखिलं त्यक्त्वा स कथं किल शोभते ॥ ५
 वसनाशनशय्यादीन्सर्वान्संत्यज्य धीरधीः ।
 यस्तिष्ठत्यात्मनैवैकः स कथं किल शोभते ॥ ६
 नाहं देहोऽप्यथा चाहं नकिञ्चित्सर्वमेव च ।
 एवं प्रलापो यस्यास्ति स कथं किल शोभते ॥ ७

यत्पश्यामि न पश्यामि तत्पश्याम्यन्यदेव यत् ।
 प्रलाप इत्यसंन्यस्य स कथं किल शोभते ॥ ८
 तस्माद्बालासि मुग्धासि चपलासि विलासिनि ।
 नानालापविलासेन क्रीडामि क्रीड सुन्दरि ॥ ९
 प्रविहत्यादृष्टासेन क्षिप्तिष्वज इति प्रियाम् ।
 मध्याहे ज्ञातुमुत्थाय निर्जगामाङ्गनायुहात् ॥ १०
 कथं नात्मनि विश्रान्तो मद्बचांसि न बुद्धवान् ।
 राजेति क्षिप्त्वा चूडाला स्वव्यापारपरामवत् ॥ ११
 तदा तयाङ्ग तत्राप्य तादृगाशययोस्तयोः ।
 ताभिः पार्थिवलीलाभिः कालो बहुतिथो ययौ ॥ १२
 एकदा नित्यतृप्ताया निरिच्छाया अपि स्वयम् ।
 चूडालाया बभूवेच्छा लीलया लगमागमे ॥ १३
 लगमागमसिस्वर्धमथ सा नृपकन्यका ।
 सर्वभोगाननाहत्य समागम्य च निर्जनम् ॥ १४
 एकैकैकान्तनिरता स्वासनावस्थिताङ्गिका ।
 ऊर्ध्वगप्राणपवनचिराभ्यासं चकार ह ॥ १५

वयस्याभिः सखीभूताभिः । तनुः कृशीभूतो विद्वेषो रागश्च
 माभिस्तावाविधाभिः स्वप्रहाभिः शास्त्रदृष्टिभिश्च सह रमे ।
 अथवा शास्त्रदृष्टिभिः करणैस्तानुरत्पीभूतो विद्वेषो रागश्च यासां
 तथाविधामिर्वयस्याभिः सखीभिः सह रमे ॥ ३० ॥ अत्र हे
 नाथ, इह जगति अहं नयनरदिमभिरन्यैर्वा इन्द्रियैर्विसेन च
 यत्पश्यामि तन्नकिञ्चिदन्तमेव । तेनेन्द्रियमनोदृश्येन विरहितं
 तु नकिञ्चिदन्तमेव वस्तु अन्तः पश्यामि । यतो हेतोरिति
 वर्णितरीत्या अन्तर्बहिश्च सम्यग्बाधितरूपं पश्यामि । तेन
 हेतुना चिरं संततमुदिता परमाभ्युदयश्रीमती अस्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 चूडालात्मलाभो नामैकोनाक्षीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अज्ञेन राज्ञा सहाय्यस्यासंबद्धत्ववर्णनम् ।

खेवरवादिसिद्धीनां बीजं चात्र निरूप्यते ॥ १ ॥

एवं वर्णितप्रकारेण स्वशोभातिशये निमित्तानि वदन्तीम्
 ॥ १ ॥ बाला अप्रौढबुद्धिरसि । परबोधानुकूलवाक्योच्चारणे
 अकुशलेति यावत् ॥ २ ॥ असंबद्धप्रलापतामेव नकिञ्चित्कि-
 च्चिदित्याद्युक्तेर्दर्शयति—किञ्चिदिति । साकारस्यैव शोभा
 प्रसिद्धा । यस्त्वाकारसामान्यं त्यक्त्वा निराकारतां गतः स

इत्यन्यत्रायः कथं शोभतेत्यर्थः ॥ ३ ॥ भोगैरभुकैस्तुष्यामीति यस्व-
 भोक्तं तदप्यसंबद्धमित्याह—भोगैरिति । रुषा क्रोधेनेव ॥ ४ ॥
 'एकैवाकाशासंकाशे केवले हृदये रमे' इति यस्वयोक्तं तदप्य-
 संगतमित्याह—भोगाभोगे इति । स्वयं साक्षाद्भोगो मित्र-
 भृत्यादीन्मामाभोजनमाभोगश्चेत्यनयोः समाहारं परित्यज्य तस्मा-
 धनं वितायखिलं च त्यक्त्वा य एक एव शून्ये खे पित्ताचक-
 रमते स किल शोभते इति कथं संगच्छतामित्यर्थः ॥ ५ ॥
 धीरधीः अतिक्रोधादिव धैर्यमात्रवलेन क्षीतोष्णशुसृषादि-
 दुःखानि सहमान इत्यर्थः ॥ ६ ॥ 'इदं चाहमिदं नाह'मिति
 बहुक्तं तदप्यसंबद्धमित्याह—नाहमिति ॥ ७ ॥ 'पश्यामि
 यज्यनरदिमभिरिन्द्रियैर्वा'त्यन्ते यदुक्तं तत्तु सुतरामसंगतमिति
 नैते शोभाहेतव इत्युपसंहरति—यदिति ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥
 कष्टमिति । 'न खेदिहावेहीन्महती विनष्टिः' इत्यादिश्रुतेरिति
 भावः ॥ ११ ॥ अज्ञेति रामसंबोधने ॥ १२ ॥ खे गमागमो
 देववत्संचारस्ताद्विषये इच्छा बभूव । तादृशप्रारब्धशेषबलादिति
 भावः ॥ १३ ॥ १४ ॥ एकैवेति । अर्धांशः शत्रुजयय
 द्वित्रिहायनं प्रवासकाळे इति गम्यते । अन्यथा तत्परावीना-
 यास्तस्मात् एकान्तनिरतत्वाद्ययोगात् । ऊर्ध्वगस्य प्राणपवनस्य

श्रीराम उवाच ।

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्वावरजंगमम् ।
स्पन्दच्युतं क्रियानात्रः कथमित्यनुभूयते ॥ १६
कस्य स्पन्दविलासस्य घनाभ्यासस्य मे वद ।
ब्रह्मन्खगमनाद्येतत्फलं यत्कैकशालिनः ॥ १७
आत्मज्ञो वाप्यनात्मज्ञः सिद्ध्यर्थं लीलयाथवा ।
कथं संसाधयत्येतद्यथा तद्वद मे प्रभो ॥ १८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

त्रिविधं संभवत्यङ्ग साध्यं वस्त्वह सर्वतः ।
उपादेयं च हेयं च तथोपेक्ष्यं च राघव ॥ १९
आत्मभूतं प्रयत्नेन उपादेयं च साध्यते ।
हेयं संत्यज्यते ज्ञात्वा उपेक्ष्यं मध्यमेतयोः ॥ २०
यद्यदाह्लादनकरमादेयं तच्च सन्मते ।
तद्विरुद्धमनादेयमुपेक्ष्यं मध्यमं विदुः ॥ २१

चिरं खेचरसिद्ध्यनुकूलं भ्रूमभ्यादिदेशे निरोधाभ्यासम् ॥ १५ ॥
खेचरसिद्धिप्रयोजकक्रियाप्रसंगेन रामः क्रियासामान्ये निमित्तं
जिज्ञासुराक्षिपति—यदिदमिति । यदिदं स्थावरं जंगमं च
जगत्तत्सर्वं स्पन्दच्युतं क्रियया निष्पादितं दृश्यते । विना
कर्त्रादिकारकस्पन्दं कस्याप्युत्पत्तेरदर्शनात्, तत्रैवं सति क्रिया-
नात्रः स्पन्दस्य कथं निष्पत्तिः । किं सक्रियादुत कूटस्थात् ।
आद्ये आत्माश्रयोऽनवस्था वा । द्वितीये व्याघातः अविरामः
फलानवस्था चेति कथं क्रियानात्रो वस्तुन उत्पत्तिरनुभूयते
अनुभवपथमारोहति तद्वदेत्यर्थः ॥ १६ ॥ एवमाक्षिप्य प्रस्तुतं
पृच्छति—कस्येति । एतत्खगमनादिसिद्धिजातं कस्य स्पन्द-
विलासस्य फलं तदपि वदेत्यर्थः ॥ १७ ॥ अनात्मज्ञः सिद्ध्यर्थं
आत्मज्ञो लीलया वा एतत्सिद्धिजातं कथं केन क्रमेण संसाध-
यति तदपि वदेत्यर्थः ॥ १८ ॥ भवेदयमात्माश्रयानवस्था-
दिको दोषो यदि क्रियास्वरूपमात्रसिद्धये कारकापेक्षा स्यात् ।
न तु तथा किंतु क्रियासाध्यस्य फलस्य । फलनिष्पत्तये हि
प्रवृत्तानि कारकाणि नान्तरिीयकतया क्रियामवलम्बन्ते । तथा
हि फलस्य साध्यता कारकाणां साधनता च व्यपदेष्टुं शक्यते ।
तथा च साध्यसाधनोभयविलक्षणा क्रिया न साध्यापेक्षित-
साधनेभ्यः साधनान्तरमपेक्षत इति तस्यां सक्रियं कूटस्थं वा
कारणमिति विकल्पो निरवकाश एवेत्याशयेन वसिष्ठ उत्तरप्रश्न-
समाधानानुकूलं गौणमुक्त्यसाधारणं क्रियासाध्यं विभज्य दर्श-
यति—त्रिविधमिति । उपादानबुद्धिविषयीभूतं वस्तु उपादेयं
प्रवृत्तिविषयः । हानबुद्धिवेद्यं हेयं निवृत्तिविषयः । उपेक्षाबुद्धि-
गम्यमुपेक्ष्यं तच्चौदासीन्येऽपि क्रियोपचारादनेनोपेक्षायाम-
नर्थः कृत इति लोके व्यवहारदर्शनाद्गौणं साध्यम् ॥ १९ ॥
तेषु फलवैलक्षण्यं दर्शयति—आत्मभूतमिति । आत्मनः
स्वस्य भूतमनुकूलम् । एतयोर्हेयोपादेययोर्मध्यमान्तरालिकम्
॥ २० ॥ आह्लादनकरं साक्षात्परम्परया वा सुखानुकूलम् ।

सन्मतेर्विदुषो ह्यस्य सर्वमात्ममयं यदा ।
त्रय एते तदा पक्षाः संभवन्ति न केचन ॥ २२
केवलं सर्वमेवेदं कदाचिल्लीलया तथा ।
उपेक्षापक्षनिक्षिप्तमालोकयति वा न वा ॥ २३
हस्योपेक्षात्मकं नाम मूढस्यादेयतां गतम् ।
हेयं स्फारविरागस्य शृणु सिद्धिक्रमः कथम् ॥ २४
देशकालक्रियाद्रव्यसाधनाः सर्वसिद्ध्यः ।
जीवमाह्लादयन्तीह वसन्त इव भूतलम् ॥ २५
मध्ये चतुर्णामेवैषां क्रियाप्राधान्यकल्पना ।
सिद्ध्यादिसाधने साधो तन्मयास्ते यतः क्रमाः ॥ २६
गुटिकाञ्जनखट्वादिक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
तत्रासतां च दोषोऽत्र विस्तारः प्रकृतार्थहा ॥ २७
रत्नौषधितपोमन्त्रक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
आस्तामेव किलैषोऽपि विस्तारः प्रकृतार्थहा ॥ २८

दुःखनिवारणसाधनस्यापि सुखानुकूलत्वादेव तत्साधनोपादान-
सिद्धेरिति भावः । तद्विरुद्धं सुखविधाति । दुःखस्यापि स्वास्थ्य-
सुखविधातित्वादेव द्वेष्यत्वादिति भावः ॥ २१ ॥ त्रय एते
साध्यमेदा अज्ञानामेवेत्याह—सन्मतेरिति ॥ २२ ॥ विदुष-
स्तृतीयकल्पाभ्युपगमेऽपि न कश्चिद्दोष इत्याशयेनाह—केवल-
मिति ॥ २३ ॥ एकमेव वस्तु एकस्यैव पुरुषस्य बोधोरागवैरा-
ग्यावस्थाभेदेन त्रेधा संपद्यत इत्याशयेनाह—हस्येति । एवं
'सिद्ध्यर्थं लीलयाथवा' इति प्रश्नांशयोऽपपत्तिमुक्त्वा कथं संसाध-
यत्येतदित्यंशसमाधानं श्रावयति—शृण्वित्यादिना ॥ २४ ॥
तत्र सिद्धितारतम्ये चिराच्चिरयत्नापेक्षायां च निमित्तान्याह—
देशेति ॥ २५ ॥ एषां देशादीनां चतुर्णां मध्ये श्रीशैलाद्युत्तम-
देशादिचतुष्टयमेलने शीघ्रं सिद्धिलाभायोगमन्त्रजपादिक्रियाया
इतरदेशाद्यनुष्ठितक्रियापेक्षया प्राधान्यस्योत्कर्षस्य कल्पना
भवति । फलोत्कर्षोऽपि तदनुसायेवेत्याह—सिद्ध्यादीति ।
यतस्ते सिद्ध्यादयः फलोत्कर्षक्रमा अपि तन्मयास्तादृशक्रियो-
त्कर्षानुसारिण इत्यर्थः ॥ २६ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—
गुटिकेति । तत्र खगमनादिसाधनानि सिद्धगुटिकासिद्धाञ्जन-
सिद्धखट्वादिपादुकादीन्यपि उद्गामरतन्त्रयोगिनीकल्पादिबिस्तृत-
बहुग्रन्थप्रसिद्धानि सन्ति । 'कथं संसाधयत्येतद्यथावद्वद मे
प्रभो' इति त्वदीयप्रश्नस्य तत्क्रियाक्रमनिरूपणं कर्तव्यमिति
चेदभिप्रायस्तर्ह्यविस्तृतोक्त्या तदसंभवात्तद्विस्तारः कार्यः । तेन
तत्र तासु सिद्धिषु विषये असतामजिज्ञासूनामतत्त्वविदां च
त्वदतिरिक्तश्रोतॄणां दैवादभिलापोदये तत्रैव प्रवृत्त्या महान्दोषः
स्यात्तवापि स विस्तारः प्रकृतस्यात्मतत्त्वश्रवणार्थस्य विघ्नरूप-
त्वाद्विघातक इति न तन्निरूपणमत्रोचितमित्यर्थः ॥ २७ ॥
एष न्यायो मणिमन्त्रादिसाध्यसिद्धिक्रमनिरूपणे श्रीशैलादिसिद्ध-
देशनिवाससाध्यसिद्धिक्रमनिरूपणे च योज्य इत्याह—रत्नेति

१ मूढविरागावस्येति पाठः.

श्रीदौले सिद्धदेशे च मेर्वादौ वा निवासतः ।
 सिद्धिरित्यपि विस्तारः कृतार्थं प्रकृतार्थहा ॥ २९
 तस्माच्छिषिध्वजकथाप्रसङ्गपतितामिमाम् ।
 प्राणादिपवनाभ्यासक्रियां सिद्धिफलां शृणु ॥ ३०
 अन्तस्था ह्यखिलास्त्यक्त्वा साध्यार्थेतरवासनाः ।
 गुदादिद्वारसंकोचान्स्थानकादिक्रियाक्रमैः ॥ ३१
 भोजनासनशुद्ध्या च साधुशास्त्रार्थभावनात् ।
 स्वाचारात्सुजनासङ्गात्सर्वेत्यागात्सुखासनात् ॥ ३२
 प्राणायामघनाभ्यासाद्गाम कालेन केनचित् ।
 कोपलोभादिसंत्यागाद्भोगत्यागाच्च सुव्रत ॥ ३३
 त्यागादाननिरोधेषु भृशं यान्ति विधेयताम् ।
 प्राणाः प्रभुत्वात्तज्ज्ञस्य पुंसो भृत्या ह्यखिलाः ॥ ३४
 राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव संपदः ।
 देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव ॥ ३५
 परिमण्डलिताकारा मर्मस्थानं समाधिता ।

द्वाभ्याम् ॥ २८ ॥ हे कृतार्थेति रामसंबोधनं तासां सिद्धिनां
 त्वाहशदृश्या तुच्छतेति द्योतनार्थम् ॥ २९ ॥ तर्हि मत्प्रश्नो
 व्यर्थः संपन्न इति रामस्य विषादो मा भूदिति प्रस्तुतज्ञानदाब्धौ-
 पयोगयानुषङ्गिकखगमादिसिद्धिसाधनं वर्ण्यमानकथासंबद्धमवि-
 स्तारं प्राणायामक्रमं श्रावयति—तस्मादिति ॥ ३० ॥ तत्रादौ
 यमनियमप्रतिष्ठे तद्गोचरप्रदर्शनेन संक्षिप्याह—अन्तस्था इति
 साध्यार्था इतराः साधनार्थाश्च वासनास्त्यक्त्वा स्थानकानि सिद्धा-
 द्यासनानि आदिपदात्समकायशिरोप्रीवतानिश्चलतानासाप्रसंगे-
 क्षणमित्यादियोगशास्त्रोक्तक्रियाक्रमपरिग्रहः ॥ ३१ ॥ तमेव
 क्रियाक्रममवयुत्या प्रपन्नयति—भोजनेति । साधु सम्यग्योग-
 शास्त्रार्थस्य भावनात्परिशीलनात् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ त्यागे
 रेचने आदाने पूरके निरोधे कुम्भके च भृशमभ्यस्तेषु तज्ज्ञस्य
 योगिनः । प्रभुत्वात्प्राणस्वामित्वसंपत्तेर्लौकिकस्य पुंसः प्रभोर्भृत्या
 ह्यवखिलाः प्राणा विधेयतां स्वाधीनतां यान्तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥
 प्राणानां स्वाधीनत्वे तत्संबद्धसिद्धिनामपि स्वाधीनता सिद्ध्यती-
 त्याह—राज्येति । सर्वस्याधिकारिणः ॥ ३५ ॥ इदानीं सर्व-
 सिद्धिनां देहानिलविधेयत्वमुक्तमुपपादयितुं सर्वदेहप्रसृतद्वा-
 सततिसहस्रशास्त्रप्रधाननाडीशताधितां मूलाधारादारभ्य आब्र-
 ह्मरन्ध्रं सप्तसु चक्रेष्वनुप्रविश्य निर्गतां मूलाधारे सार्धत्रिवलय-
 वेष्टनान्तःसुप्तकुण्डलिनीशक्तिगर्भां सुषुम्नानाडीं वर्णयति—परि-
 मण्डलिताकारेत्यादिना । परितः प्रसृतशास्त्राभिः परिवेष्टित-
 त्वात्परिमण्डलिताकारा अत एवाभ्याणामपि नाडीभिवेष्टनादान्द्र-
 वेष्टनिका नाम ॥ ३६ ॥ तां मूलाधारे स्वान्तर्गतकुण्डलिनी-
 संस्थानानुकूत्येन वर्णयति—वीणेति । वीणादण्डस्याग्रे मूल-
 भागे प्रसिद्धो रेखात्मकस्तम्ब्रीमूलपरिवर्तनरूपः सलिलपरिवर्त-
 नरूपो वा य आवर्तस्तत्सदृशी । लिप्या लेखनेन प्रदर्शने
 तु ॐकारस्यार्धमूर्धोकारस्तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्याः ।
 द्रविडाक्षरे पूर्वार्धमिव नागराक्षरे उत्तरार्धमिव वा तत्संस्थानं

आन्द्रवेष्टनिका नाम नाडी नाडीशताधिता ॥ ३६
 वीणाप्रावर्तसदृशी सलिलावर्तसंनिभा ।
 लिप्यार्धोकारसंस्थाना कुण्डलावर्तसंस्थिता ॥ ३७
 देवासुरमनुष्येषु मृगनक्रुखगादिषु ।
 कीटादिष्वहजान्तेषु सर्वेषु प्राणिषूदिता ॥ ३८
 शीतार्तेसुप्तभोगीन्द्रभोगवद्बद्धमण्डला ।
 सिता कल्पामिषिगलदिन्दुवद्बद्धकुण्डली ॥ ३९
 ऊरोर्ध्वमध्यरन्ध्राणि स्पृशन्ती वृत्तिचञ्चला ।
 अनारते च सस्पन्दा पवमानेन तिष्ठति ॥ ४०
 तस्यास्त्वभ्यन्तरे तस्मिन्कदलीकोशकोमले ।
 या परा शक्तिः स्फुरति वीणावेगलसद्गतिः ॥ ४१
 सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकारवाहिनी ।
 प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिजघप्रदा ॥ ४२
 अनिशं निःश्वसद्रूपा रुषितेव भुजंगमी ।
 संस्थितोर्ध्वोक्तमुखी स्पन्दनाहेतुतां गता ॥ ४३

लेख्यमित्यर्थः । 'अर्धं नपुंसकम्' इत्येकदेशिना समासः ।
 'ओमाडोश्च' इति पररूपम् ॥ ३७ ॥ इयं च न मनुष्येष्वेव
 किंतु सर्वप्राणिशरीरेष्वित्याह—देवेति ॥ ३८ ॥ शीतेनार्तः
 शीतार्तिनिवारणाय दृढबद्धमण्डल इति यावत् । तथाविधस्य
 सुप्तस्य भोगीन्द्रस्य भोगः कायस्तद्बद्धं मण्डलं यया । सिता
 शुभ्रा । कल्पामिना विगलता अन्तर्वलयाकाररेखास्फुटितेने-
 न्दुना तुल्यं बद्धा कुण्डलीबलयाकृतिर्यथा । अथवा कल्पते
 जरणसमर्थो भवतीति कल्पोऽभिर्जाठरामिस्तेन विगलन् यो
 मूर्ध्नि योगशास्त्रप्रसिद्धश्चन्द्रः स एव विलीय मूलाधारे प्रसृतो
 घनीभूय तत्र बद्धकुण्डलाकृतिस्तद्विस्थितोऽयुत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥
 ऊरुपदेन ऊरुमूलसंधिर्गुदं लक्षणयोच्यते । तत आरभ्य भ्रूमध्य-
 पर्यन्तं यानि रन्ध्राणि तानि स्पृशन्ती तेष्वनुस्यूता मनोवृत्ति-
 भिरन्तश्चञ्चला वहिश्च पवमानेन प्राणादिना सस्पन्दा ॥ ४० ॥
 तस्या मूलेऽन्तःसार्धत्रिवलयाकारां कुण्डलिनीसंज्ञां चिच्छक्तिं
 दर्शयति—तस्या इति । तस्मिन्मूलाधारे वीणामूले दुर्लक्षणेन
 तन्त्रावेगेनेव लसन्ती परमसूक्ष्मा पराख्या सर्वशब्दमूलभूता
 गतिः शब्दब्रह्मात्मिका स्फूर्तिः सैव प्राणसङ्गात्त्राभिहृदयकण्ठ-
 देशेषूत्तरोत्तरं व्यक्ततरा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीत्यादिभेदान्
 भजते इति । तथाचोक्तं मन्त्रशास्त्रे 'चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द-
 ब्रह्मेति यद्विदुः । तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
 वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः' इति । सांवेनाप्युक्तम्
 'या सा मित्रावणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं वर्णानत्र प्रकटकरणैः
 प्राणसङ्गात्प्रसृते । तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धि-
 सस्थां वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥' इति ॥ ४१ ॥
 सर्वासां प्राणेन्द्रियबुद्ध्यादिशक्तीनामपि सत्तारफूर्तिप्रवृत्तिनिर्वा-
 हकत्राज्जवप्रदा ॥ ४२ ॥ तत्र कथं प्राणशक्तिर्जवप्रदा
 तदाह—अनिशमिति । सैव स्वमुखात्प्राणमूर्ध्वं क्षिपति
 अपानं चाध आकर्षतीत्यनिशं निःश्वसद्रूपेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

यदा प्राणानिलो याति हृदि कुण्डलिनीपदम् ।
 तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजम् ॥ ४४
 यथा कुण्डलिनी देहे स्फुरत्यङ्ग इवालिनी ।
 तथा संविदुदेत्यन्तर्भूदुस्पर्शवशोदया ॥ ४५
 स्पर्शनं मृदुमान्योन्यालिङ्गिका तत्र यन्मयोः ।
 यथा संविदुदेत्युच्चैस्तथा कुण्डलिनी जवात् ॥ ४६
 तस्यां समस्ताः संबद्धा नाड्यो हृदयकौशलाः ।
 उत्पद्यन्ते विलीयन्ते महार्णव इवापगाः ॥ ४७
 नित्यं पातोत्सुकतया प्रवेशोन्मुखया तथा ।
 सा सर्वसंविदां बीजं ह्येका सामान्युदाहृता ॥ ४८
 श्रीराम उवाच ।
 आकल्पाद्भवच्छिन्ना चित्संवित्सर्वमस्ति हि ।
 तस्मात्कुण्डलिनीकोशात्केनार्थेनोदयः स्फुटः ॥ ४९
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 सर्वत्र सर्वदा सर्वं चित्संविद्विद्यतेऽनघ ।

कथं बुद्धिशक्तिजबप्रदा तदाह—यदेति । यदा हृदि स्थितः प्राणः कुण्डलिन्या आकृष्टः सन् अपानवृत्त्या कुण्डलिनीपदं याति तदा भूततन्मात्राभ्यपशीकृतभूतान्येव बीजमुपादानं यस्य तथाविधे अन्तःकरणे भवतीति भूर्जीवसंविद् स्मृतिसंकल्पाध्यवसायाभिमानरागादिशक्तिभेदैरन्तरुदेतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ कथं चेन्द्रियशक्तिजबप्रदा तदाह—यथेति । एवं प्राणबुद्धोराहितज्ञानक्रियास्वशक्तिः कुण्डलिनी देहे मृदुः स्पर्शो विषयसंनि-
 कर्षो येषां तेषां चक्षुरादीनां बन्धोदया सती देहे यथा यथा यादृशभोजकादृष्टसामग्रीवैचित्र्येण स्फुरति तथा तथा तत्तदिन्द्रियैरर्थविशेषस्फूर्तितत्फलभोगादिलक्षणा संविदुदेतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ कथं मृदुस्पर्शवशानुगा तदाह—स्पर्शनमिति । कुण्डलिनी जवात्तथा स्फुरति यथा मृदुना चक्षुरादिना विषय-
 स्पर्शनं प्रथममुदेति । तथा च तत्र यन् कार्यकरणसंघातं युनक्तीति यन्मयुः प्रमाता तस्य वृत्तिद्वारा बहिर्निर्गतस्य बाह्य-
 विषयेण सह अन्योन्यमालिङ्गनमन्योन्यालिङ्गिका । भावे णुल् । वृत्तिव्याप्तिप्रयुक्ता व्याप्तिरुदेति । तथा च यथा विषयावरण-
 भङ्गे उच्चैः स्फुटतरा संविद्वटादिप्रथा उदेति तथा तेन तेन प्रकारेणेत्यर्थः ॥ ४६ ॥ तत्र मूलाधारस्थायाः कुण्डलिन्याश्च-
 क्षुरादिप्रवर्तने नाड्यो द्वारमित्याशयेनाह—तस्यामिति । उत्प-
 द्यन्ते प्रसार्यन्ते । विलीयन्ते संकुचन्ति ॥ ४७ ॥ कथमुत्प-
 द्यन्ते विलीयन्ते च तदाह—नित्यमिति । प्राणात्मना ऊर्ध्व-
 पातोत्सुकतया अपानात्मना अधःप्रवेशोन्मुखया तथा । उक्त-
 मुपसंहरति—स्येति । सामानी साधारणी । समानशब्दाद्भावे स्वार्थे वा घ्यञि ङीषि 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः ॥ ४८ ॥ अपरिच्छिन्नायाश्चित्तो मूलाधारे नाडीमूले परिच्छिन्नकुण्डलि-
 न्याख्यस्वांशादुद्भवः कथं किमर्थं चेति राम प्रच्छति—आक-
 ल्पादिति । कालनः नर्वमिति वस्तुतथापरिच्छिन्नः । देशकृतप-
 रिच्छेदाभावाद्यापि वस्तुकृतपरिच्छेदाभावेऽन्तर्भाव इत्याशये-

१ प्रतीयन्ते इति पाठः.

किंत्वस्या भूततन्मात्रवशाद्भ्युदयः कश्चित् ॥ ५०
 सर्वत्र विद्यमानापि देहेषु तरलायते ।
 सर्वगोऽप्यातपः सौरो मित्यादौ वै विजृम्भते ॥ ५१
 कचिन्नष्टं कचित्स्पष्टं कचिदुच्छन्नतां गतम् ।
 वस्तु वस्तुनि दृष्टं तत्तत्सद्भावैर्विजृम्भितम् ॥ ५२
 एतद्भूयः क्रमेणाहं शृणु वक्ष्यामि तेऽनघ ।
 देहे खे च यथोदेति शृशं संविन्मयक्रमः ॥ ५३
 चेतनाचेतनं भूतजातं व्योम तथाखिलम् ।
 सर्वं चिन्मात्रसन्मात्रं शून्यमात्रं यथा नभः ॥ ५४
 तद्धि चिन्मात्रसन्मात्रमविकारं स्वनामयम् ।
 कचित्स्थितं संविदेव भूततन्मात्रपञ्चकम् ॥ ५५
 तत्पञ्चधा गतं द्वित्वं लक्षसे त्वं स्वसंविदम् ।
 अन्तर्भूतविकारादि दीपाहीपशतं यथा ॥ ५६

नोभवोरेवोपादानम् ॥ ४९ ॥ वसिष्ठस्तु तर्हि कालकृतपरिच्छे-
 दाभावोऽपि तत्रान्तर्भूत एवेति पृथगुपादानं व्यर्थम्, यदि
 स्पष्टीकरणाय तस्य पृथगुपादानं तर्हि देशकृतपरिच्छेदाभावेऽपि
 तत्समानमिति त्रितयानुवादव्याजेन दर्शयभिराकाराया निर्वि-
 षयायाश्च चित्तो जीवाकारेण घटादिगोचरतया बाभिव्यक्त्यर्थं
 तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूरित्युक्तार्थं विस्तारद्विवरि-
 प्यन् स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयाकारपरिणतभूतसापेक्षं चित्तो विशेषा-
 भिन्वक्तिरित्याह—सर्वत्रेत्यादिना ॥ ५० ॥ ननु देशकृतपरि-
 च्छेदाभावे संवित्सर्वत्र भासेतेत्याशङ्कोपाधिवशादेव तस्याः
 स्फुटीभाव इति सदृष्टान्तमाचष्टे—सर्वत्रेति । तरलायते बुद्धौ
 अवच्छेदप्रतिबिम्बनाभ्यां द्विगुणीकृत्य प्रवेशाद्बहुलीभूता जल-
 स्यैकवद्बुद्धिचाक्षर्याचक्षलीभवतीत्यर्थः । तत्रोपाधिकृतबहुली-
 भावेन स्फुटीभावे दृष्टान्तमाह—सर्वत्र इति ॥ ५१ ॥ तत्रा-
 ध्युपाधिमालिन्यतारतम्येन चिदभिव्यक्तितारतम्यमित्याह—
 कचिदिति । सृच्छिलादिवस्तुनि तच्चिद्वस्तु अविद्याजाल्येनाभि-
 भवात्तत्कारिस्थशैत्यमिव नष्टमदर्शनं गतम् । देवमनुष्याविलिङ्गे
 तु स्पष्टमभिव्यक्तम् । वृक्षादिलिङ्गेपृक्कृष्टां छन्नतां बहिः संवे-
 दनवियेकाक्षमतां गतं दृष्टम् । चिदंश इव न सत्तांशे तारतम्य-
 मित्याह—तदिति । तेषां त्रिविधोपाधीनां सर्वानुभवसिद्धैः
 यद्भावेरेव लिङ्गैस्तत्सर्वत्र विजृम्भितमनभिभूतमित्यर्थः ॥ ५२ ॥
 उक्तमेवाभिव्यक्तितारतम्यं क्रमादासर्गसमाप्तेर्विरूपवितुं प्रतिजा-
 नीते—एतदिति । खे मनुष्यादिदेहे चात्पञ्चुत्पावरादिदेहे यथा
 यादृशतारतम्येन ॥ ५३ ॥ तदुपोद्भासेन सूक्ष्मस्थूलभूताध्यास-
 प्रपन्ननाय सर्वाधिष्ठानसच्चिदेकरसं सर्वप्रपन्नतत्सूक्ष्मन्यमात्मत-
 त्वमादौ निर्दिशति—चेतनेति । नभो नभोवदसन्नं विशु सूक्ष्मं च
 ॥ ५४ ॥ तस्मिन्सूक्ष्मे स्थिते मायाकल्पितैकदेशे आकाशादिसूक्ष्म-
 भूतानां क्रमाद्ध्यासात्तदेव भूतमात्रात्स्वरूपकं स्थितमित्याह—
 तद्वीति ॥ ५५ ॥ तत् सन्मात्रपञ्चकं प्राणो मनोबुद्धिशक्तित्रयं

स्वसत्तामात्रकेणैव संकल्पलवरूपिणा ।
 पञ्चकानि ब्रजन्तीह देहत्वं तानि कानिचित् ॥ ५७
 कानिचित्तिर्यग्गादित्वं हेमादित्वं च कानिचित् ।
 कानिचिद्देशतदित्वं प्रव्यादित्वं च कानिचित् ॥ ५८
 एवं हि पञ्चकस्पन्दमात्रं जगदिति स्थितम् ।
 चित्संविद्वन्न सर्वत्र विद्यते रघुनन्दन ॥ ५९
 केवलं पञ्चकवशाद्देहादौ चेतनाभिधा ।
 जडस्पन्दाभिधा कापि स्थावरादौ जडाभिधा ॥ ६०
 यथा स्तब्धः स्थितो वीचिरिव स्थलमिवास्थितः ।
 पञ्चकेषु तथैतच्चिल्लोरूपा जडान्विता ॥ ६१
 इतः सौम्य इतो लोलः किमग्धिरिति नो यथा ।
 विकल्पादौ तथैवैतत्पञ्चकं हि जडाजडम् ॥ ६२
 देहादिपञ्चकं जीवः स्पन्दः शैलादिकं जडम् ।

कर्मन्द्रियमिति पञ्चधा गतं लिङ्गशरीरं प्रतिबिम्बतया प्रविश्य
 वीपाहीपशतमिव संपन्नस्त्वं स्वसंविदमन्तर्भूता जन्मादिविकारा
 आदिपदाज्जाप्रदाद्यवस्थाभेदाश्च यस्मिंस्तथाविधं द्वित्वं जीव-
 भावमिति यावत् । लक्ष्मिं लक्षयसि । छान्दस उपग्रहव्यत्ययः
 ॥ ५६ ॥ कानिचित्लिङ्गारम्भपरिशिष्टानि पञ्चकानि जीवस्य
 देवमनुष्याद्याकारवासनानुसारिसंकल्पलवरूपिणा स्वसत्तामात्र-
 केणैव पञ्चीकरणद्वारा स्थूलदेहत्वं ब्रजन्ति ॥ ५७ ॥ देहप्रकर-
 णाद्देमादित्वं धमुरादिस्थावराशरीरताम् । अथवा तिर्यग्गादित्व-
 मित्यादिपदादेव स्थावरदेहपरिग्रहः । हेमादित्वमित्यनेन
 स्वर्णरजतखर्परोपलक्षितब्रह्माण्डत्वं तदन्तर्गतभुवनादिभोग्यतां
 चेत्यर्थः ॥ ५८ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—एषं हीति । स्थितं
 सिद्धम् । तर्ह्यधिष्ठानचैतन्यं सर्वत्रास्तीति षटाद्यपि चेतनं किं
 न स्यात्तत्राह—चिदिति ॥ ५९ ॥ पञ्चकवशाच्चैतन्याभिव्यञ्जक-
 प्राणादिपञ्चकषटितलिङ्गदेहप्राधान्यादेव मनुष्यदेहादौ मुख्य-
 चेतनाभिधा । कापि तिर्यग्नु लिङ्गस्थूलदेहयोः समप्राधान्याजड-
 स्पन्दाभिधा जडचेतनाभिधा । स्थावरादौ तु लिङ्गस्यान्तःसंवे-
 दनमात्रत्वेन बहिर्जनैश्चेतनत्वाविभावनाजडाभिधा प्रसिद्धेत्यर्थः
 ॥ ६० ॥ त्रिष्वपि चित्कथं तारतम्येन स्थितेत्यत्र दृष्टान्तमाह—
 यथेति । यथा दिवा विलीनो घृतसमुद्रः सायं शिशिरपवनसंप-
 र्कद्वेलातटे क्रमाद्दनीभावात् स्तब्धो निश्चलः स्थितः सन् द्रवप्रदेशे
 वीचिरिव चलः । ईषद्भनप्रदेशे ईषच्चलः । अत्यन्तघनप्रदेशे
 स्थलमिवाचलश्च स्थितः, तथैवैषा चिन्नरतिर्यक्स्थावरादेहरूपेषु
 पञ्चकेषु लोलरूपा ईषल्लोला अत्यन्तजाड्यान्विता च स्थितेत्यर्थः
 ॥ ६१ ॥ यथा क्रुचिद्धनीभावेन लोलत्वाभावेऽपि तस्य नाञ्चि-
 त्वव्याघातस्तथा स्थावरादिभावेऽपि न चिद्रूपताक्षतिरित्याह—
 इत इति । नो इति काकः । किमग्धिरिति स्वपदेशो न
 भवति किंतु भवत्येव यथा तथैवैतत्सुरनरतिर्यग्विकल्पादौ
 चैतन्यमक्षतमित्यर्थः । अथवा यं जडाजडविकल्पोऽभ्यस्तपञ्च-
 कधर्म एव न चिद्धर्मस्तस्यानिर्धर्मकत्वादित्याशयेनाह—पञ्चकं
 हीति ॥ ६२ ॥ पञ्चके स्वभाववशात् ईदृशा बहवो विकल्पा

स्थावराद्यनिलस्पन्दि स्वभाववशातोऽनद्य ॥ ६३
 वाचः पर्यनुयोज्यः स्वभावाद्बुधवन्दन ।
 शीतोष्णादि हिमाभ्यादि वाक्येति परिदृश्यते ॥ ६४
 गृहीतवासनांशानां पुष्टाभावविकारिणाम् ।
 स्थितयः पञ्चकानां हि योज्याः पर्यनुयोजने ॥ ६५
 वासनास्तु विपर्यस्ता इतो नेतुमित्यत्र ताः ।
 पुंसां प्राज्ञेन शक्यन्ते सुखं पर्यनुयोजितुम् ॥ ६६
 अद्युमे वा शुभे वापि तेन पर्यनुयोज्यते ।
 प्रबुद्धवासनं स्वाम्यत्पञ्चकं सुप्तवासनम् ॥ ६७
 यत्र पर्यनुयोगस्य फलं समनुभूयते ।
 तत्र तं संप्रयुञ्जीत नाकारं मुष्टिभिः क्षिपेत् ॥ ६८
 तृणाप्रनिष्ठा मेवाद्याः पञ्चकानां हि राशयः ।
 विवेकनिष्ठाः कीटाद्या एते स्थावरजंगमाः ॥ ६९

दृष्टा इत्याह—देहादीति । देहाद्याकारपरिणतं पञ्चकं प्राणधार-
 णाधीनस्पन्दचैतन्याभ्यां जीवश्चेतनस्तत्प्रयोजकः स्पन्दः शैला-
 दिकं जडमेव । स्थावरादिशरीरं तु बाह्यानिलाधीनस्पन्दि अन्त-
 श्चेतनमित्यादिव्यवस्थितविकल्पाः स्वभाववशातो दृष्टा इत्यर्थः
 ॥ ६३ ॥ ननु स्वः स्वात्मको भावः स्वभावः स कथं विरुद्धविक-
 ल्पात्मकः स्यात् । विरोधो हि परसापेक्षः । स्वो भावस्त्वनन्या-
 पेक्षः । यदि स्वीयो भावः स्वभावस्तथाप्यसौ स्वमात्रमापेक्षो न
 परसापेक्ष इति कथं परसापेक्षस्य विकल्पस्य स्वरूपं निमित्तं वा
 स्यादिति यदि पर्यनुयुज्यते तर्हि त्वया स्वभावं विहाय वाचः पर्य-
 नुयोज्यः । ता एव हि चिज्जडादिशब्दरूपाः । स्वाः पुनरुक्ततायै
 स्वार्थं व्यावर्तयन्त्यश्चेतन्यजाड्ये विरुद्धे गमयतः । एवं शीतो-
 ष्णादिधर्मपरा हिमाभ्यादिधर्मिपरा वाक् सर्वापि इति एवंप्रकारेण
 सर्वत्र परिदृश्यत इत्यर्थः । स्वभावादिति ल्यब्लोपे बर्मणि
 पञ्चमी ॥ ६४ ॥ अथवा वागपि न पर्यनुयोज्या तस्या वास-
 नाकल्पितविकल्पवत्पञ्चकार्यानुवादित्वेन तत्पराधीनत्वात् । किंतु
 गृहीतवासनांशानां तत्तद्विरुद्धविकल्पभावेन विकारिणां लिङ्गा-
 त्मनां पञ्चकानां स्थितय एव पर्यनुयोजने योज्या इत्याह—गृही-
 तेति । ताभिरविकल्पने विरोधमात्रोच्छेदादिति भावः ॥ ६५ ॥
 अथवा न तासामप्यपराधः । पूर्वपूर्वविरुद्धविकल्पसहस्रवास-
 नानुसारित्वात् । अतः प्राज्ञेन विरुद्धविकल्पनामूलमन्वि-
 प्यता पुंसां चित्तमित इतश्च विरुद्धविकल्पसहस्रेषु नेतुं विपर्यस्ता
 विक्रिप्ता वासना एव पर्यनुयोजितुं शक्यन्ते न स्वभावादय
 इत्याह—वासना इति ॥ ६६ ॥ पुंसामद्युमे तिर्यक्स्थावरादिभावे
 द्युमे देवादिभावे वा प्रबुद्धवासनं सुप्तवासनं च पञ्चकं तिष्ठति ।
 तेन वासनैव तदेतुः पर्यनुयोज्यत इत्यन्वयः ॥ ६७ ॥
 किं च वासनापर्यनुयोगस्य तत्क्षयोपाये प्रवर्तकत्वेन सफलता ।
 स्वभावादिपर्यनुयोगस्य न किञ्चित्फलमस्तीत्याह—यत्रेति ॥ ६८ ॥
 अत एव वासनाक्षये पूर्णात्मलाभान्मेवाद्याः स्वर्णराशयोऽपि
 तृणाप्रस्य निष्ठेव निष्ठा तुच्छता येषां ते तृणाप्रनिष्ठाः संपद्यन्ते ।
 विवेकनिष्ठा देवादिभोग्यालिदेहा अपि कीटाद्या इव तुच्छतराः

प्रसुप्तवासनाः केचिद्यथा स्थावरजातयः ।
 प्रबुद्धवासनाः केचिद्यथा नरसुरादयः ॥ ७०
 सवासनाविलाः केचिद्यथैते तिर्यगादयः ।
 प्रक्षिप्तवासनाः केचिद्यथैते मोक्षगामिनः ॥ ७१
 भय स्वास्वेव संवित्सु मनोबुद्ध्यादिकाः कृताः ।
 हस्तपादादिसंयुक्तैः संज्ञाः पञ्चकराशिभिः ॥ ७२
 तिर्यगादिभिरप्यन्यैरन्याः संज्ञाः प्रकल्पिताः ।
 स्थावरादिभिरप्यन्यैरन्याः संविदः कृताः ॥ ७३
 इति साधो स्फुरन्तीमे चित्राः पञ्चकराशयः ।
 रूपैराद्यन्तमध्येषु चलाचलजडाजडैः ॥ ७४
 एषामेकोऽभिसंकल्पः परमाणुर्महीपते ।
 बीजमाकाशवृक्षाणां सर्गाणां तेष्विमानि तु ॥ ७५
 इन्द्रियाणि च पुष्पादि विषयामोदवर्ति हि ।
 इच्छाभ्रमर्यो राजन्त्यो मञ्जर्यश्चञ्चलक्रियाः ॥ ७६
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० च० पञ्चकविलासो नामाशीतितमः सर्गः ॥८०॥

लोकान्तराणि स्वच्छानि गुह्यमा मूलं समेरवः ।
 पल्लवा नीलजलदा लता लोला दिशो दश ॥ ७७
 वर्तमानानि भूतानि भविष्यन्ति च यानि तत् ।
 जयन्ति तान्यसंख्यानि फलानि रघुनन्दन ॥ ७८
 पञ्चबीजास्त एते हि राम पञ्चकपादपाः ।
 स्वयं स्वभावाज्जायन्ते स्वयं नश्यन्ति कालतः ॥ ७९
 स्वयं नानात्वमायान्ति चिरं जाड्यात्स्फुरन्ति च ।
 स्वविविक्ताः शमं यान्ति तरङ्गा इव वारिधौ ॥ ८०
 इतो यान्ति समुत्सेधमितो यान्ति शमं स्वयम् ।
 एते जाड्यविवेकाभ्यां तरङ्गा इव तोयधौ ॥ ८१
 ये विवेकवशमालयं गता
 राम पञ्चकविलासराशयः ।
 तेन भूय इह यान्ति संस्थितिं
 प्रभ्रमन्ति जगतीतरे मुहुः ॥ ८२

एकाशीतितमः सर्गः ८१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एतत्पञ्चकबीजं तु कुण्डलिन्यां तदन्तरे ।

संपद्यन्त इत्याह—तृणाप्रेति ॥ ६९ ॥ अत एव वासना-
 स्वापप्रबोधतारतम्यादेव पञ्चकेषु स्थावरादिर्विचित्र्यमित्युदाहृत्य
 दर्शयति—प्रसुप्तेति द्वाभ्याम् ॥ ७० ॥ वासनाभिराविलेना-
 स्वच्छेन चित्तेन सहिताः सवासनाविलाः । प्रक्षिप्तवासनास्त्यक्-
 वासनाः ॥ ७१ ॥ वासनाविचित्र्यादेव देवनरादिपञ्चकराशि-
 काशभूमिगमनादिविचित्र्यव्यवहारकमहस्तपादादिस्तत्कल्पितक-
 र्मेन्द्रियमंयुक्तैर्देवनरादिपञ्चकराशिभिः स्वासु स्वासु संवित्स्वेव
 नरादियोग्यव्यवहारोचिता मनोबुद्ध्यहंकारचित्तचक्षुःश्रोत्रप्राण-
 रसनस्पर्शादिका अन्तर्बाह्यकरणरूपाः संज्ञाः संकेताः कृताः, अत
 एव ताः प्रतिप्राणिविचित्रस्वभावा दृश्यन्त इति भावः ॥ ७२ ॥
 तिर्यग्भिः पञ्चादिभिस्तु चत्वारः पादाः शृङ्गे पुच्छं चंति ।
 पक्षिभिस्तु चक्षुः पक्षां पुच्छं पादौ चेति । सर्पैस्तु फणा भोगः
 पुच्छमिति । कृमिकोटैर्दशमशकादिभिश्च स्वस्ववासनानुरूप-
 व्यवहारयोग्या अवयवादि संकेताः कल्पिता इत्यर्थः ॥ ७३ ॥
 आद्यन्तमध्येषु चलैर्विकारिभिर्जडैश्च । अधिष्ठानसद्रूपेण तु
 अचलैरजडैश्च ॥ ७४ ॥ एवं पञ्चकाख्यलिङ्गभेदाननन्तानुप-
 वर्ण्य तेष्वेकतमस्य कस्यचित्कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठानफलसम-
 प्लव्णं प्राप्तस्य कश्चिदेकः संकल्पपरमाणुरस्य संसारनमो-
 वृक्षस्य बीजमित्याह—एषामिति । रामश्रिगोचरत्वादिमिव्याप्तः
 संकल्पोऽभिसंकल्पस्तद्वृक्षणः परमाणुः सर्गरूपाणामाकाशवृ-
 क्षाणां बीजं तेषु च सर्गाकाशवृक्षेषु इमानि पञ्चकानीत्यहो
 मायेत्यर्थः ॥ ७५ ॥ सर्गाणामाकाशवृक्षत्वं यदुक्तं तत्पुष्पत-
 दामोदादिकल्पनयोपपादयति—इन्द्रियाणीत्यादिना । आदि-

प्राणमारुतरूपेण तस्यां स्फुरति सर्वदा ॥ १
 सान्तःकुण्डलिनीस्पन्दस्पर्शसंवित्कलामला ।

पदादिन्द्रियावयवेषु पुष्पावयवता यथोक्तितं योज्या । विषय-
 लक्षणेष्वाभेदेषु वर्तनशीलं तत् प्रधानमिति यावत् ।
 चञ्चलानां कर्मेन्द्रियाणां क्रियाः ॥ ७६ ॥ स्वच्छानि
 स्वर्गादिलोकान्तराणि गुह्यमा विटपाः । समेरवो मेरुसहिताः
 सर्वे पर्वता मूलम् ॥ ७७ ॥ भूतानि चतुर्विधशरीराणि । तत्तस्य
 वृक्षस्य ॥ ७८ ॥ स्वभावात्स्वविवेकज्ञान्यादात्मनः ॥ ७९ ॥
 स्वस्माद्विविक्ता विवेकदृष्ट्या दृष्टाः ॥ ८० ॥ श्लोकद्वयोक्तमेव
 संगृह्याह—इत इति । इतः परागदृष्टेः । इतः प्रत्यग्दृष्टेः ॥ ८१ ॥
 हे राम, ये पञ्चकविलासराशयः आलयं निर्वासननाशपर्यन्तं
 विवेकवशं गतास्ते इह संसारे भूयो जन्ममरणदेहधारणादिसं-
 स्थितिं न यान्ति । इतरे तु जगति यथापूर्वं प्रभ्रमन्त्येवेत्यर्थः
 ॥ ८२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतान्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे पञ्चकविलासो नामाशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

कुण्डलिन्याः प्रसङ्गेन रोगोद्भवशमकरमाः ।

सिद्धिसिद्धेक्षणोपायाद्यशेषमिह वर्णयते ॥ १ ॥

‘यदा प्राणानिलो याति हृदि कुण्डलिनीपदम् । तदा संवि-
 दुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः’ इति बुद्धिशक्तिजवप्रदत्वोपपादने
 भूततन्मात्रबीजभूरित्यंशस्य स्फुटीकरणाय कृतं स्थूलसूक्ष्मपञ्च-
 कविचारं संगमयन् खेचरादिस्तिद्धिबीजप्राणाभ्यासोपयुक्तं प्रस्तु-
 तकुण्डलिन्यां प्राणायामव्यवहारं प्रदर्शयति—एतदिति । तस्य
 स्थूलदेहात्मकस्य पञ्चकस्यान्तरे मूलधारे तस्यां प्राग्बर्णितायां
 कुण्डलिन्यामेतस्य लिङ्गात्मकपञ्चकस्य बीजमुपादानं भूतसूक्ष्मं
 प्रथमं प्राणपञ्चकरूपेण स्फुरतीत्यर्थः ॥ १ ॥ सा प्राणरूपे-

कलोक्ता कलनेनाशु कथिता चेतनेन चित् ॥ २
 जीवनाजीवतां याता मननाच्च मनःस्थिता ।
 संकल्पाच्चैव संकल्पा बोधाद्बुद्धिरिति स्मृता ॥ ३
 अहंकारात्मतां याता सैषा पुर्यष्टकामिधा ।
 स्थिता कुण्डलिनी देहे जीवशक्तिरनुत्तमा ॥ ४
 अपानतामुपागत्य सततं प्रवहत्यधः ।
 समाना नाभिमध्यस्था उदानाख्योपरि स्थिता ॥ ५
 अधस्त्वपानरूपैव मध्ये सौम्यैव सर्वदा ।
 पुष्टाप्युदानरूपैव पुंसः स्वस्थैव तिष्ठति ॥ ६
 सर्वयज्ञमधो याति यदि यज्ञात्त धार्यते ।
 तत्पुमान्मृतिमायाति तथा निर्गतया बलात् ॥ ७
 समस्तैर्धोर्ध्वमायाति यदि युक्त्या न धार्यते ।
 तत्पुमान्मृतिमायाति तथा निर्गतया बलात् ॥ ८
 सर्वथात्मनि तिष्ठेच्चैर्यक्त्योर्ध्वोद्योगमागमौ ।
 तज्जन्तोर्हीयते व्याधिरन्तर्मातुरोद्यतः ॥ ९
 सामान्यनाडीवैधुर्यात्सामान्यव्याधिसंभवः ।
 प्रधाननाडीवैधुर्यात्प्रधानव्याधिसंभवः ॥ १०
 श्रीराम उवाच ।
 किंविनाशाः किमुत्पादाः शरीरेऽस्मिन्मुनीश्वर ।
 आधयो व्याधयश्चैव यथावत्कथयाशु मे ॥ ११
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 आधयो व्याधयश्चैव द्वयं दुःखस्य कारणम् ।

गान्तःस्फुरिता कुण्डलिनी मारुतधर्मेण स्वधर्मेण च स्पन्दः
 स्पर्शः संविदिति त्रिरूपकल्पना भूत्वा कला चिज्जीवो मनः-
 संकल्पो बुद्धिरहंकारः पुर्यष्टकं लिङ्गमित्यादिनामानि कलना-
 दिव्यापारोपाधिभिर्लभत इत्याह—सान्तरिति त्रिभिः ॥ २ ॥
 ॥ ३ ॥ ४ ॥ तत्र स्पन्दशक्तेः प्रधानवृत्तितत्स्थानत्रैविध्यं
 दर्शयति—अपानतामिति ॥ ५ ॥ वृत्तिमेदप्रयोजनान्याह—
 अध इति । अपानगमनाधेव प्रयोजनमित्यर्थः । अपानोदाना-
 भ्यामाह्वयमाणापि स्वयं सौम्या निश्चलैव । तदवष्टब्धत्वादेव
 पुष्टा बलवत्यप्यूर्ध्ववृत्तिरुदानरूपैव सती स्वस्थैव तिष्ठति न
 लिङ्गं बहिरुक्तमयतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ एवमधोवृत्तेरपि सा विष्ट-
 म्भिकेत्याह—सर्वप्रयत्नमिति । यदि सामान्यवृत्त्या न धार्यते
 तर्हि सा जीवसंविदपानवृत्त्या सर्वयज्ञं यथा स्यात्तथा आकृष्य-
 माणा अधोमार्गेण बहिर्याति । किं ततस्तदाह—तदिति ॥ ७ ॥
 प्रागुक्तं स्पष्टमाह—समस्तैवेति ॥ ८ ॥ अत एव प्राणापान-
 गतिनिरोधाभ्यासेन सर्वत्रै समानवृत्त्येतरवृत्तिजये सर्वव्याधि-
 क्षयमृत्युजयसिद्धिरित्याह—सर्वथेति । आत्मनि देहे ॥ ९ ॥
 एकशतं प्रधाननाड्यस्तास्त्रास्तु सामान्यनाड्यस्तास्त्रात्प्र-
 पिक्वायाः समानवृत्तेर्यत्रैव कफपित्ताद्युपचयाद्वैधुर्यमव्यापारस्तत्रै-
 वेतराद्युभिर्वैधुर्येणात्तरसाकर्षणादस्परोगाणां महारोगाणां च
 संभव इत्याह—सामान्येति ॥ १० ॥ कस्माद्विनाशो येषां
 ते विविनाशाः । एवं किमुत्पादाः ॥ ११ ॥ तेषां निवृत्तिरीव-
 यो० वा० १२१

तत्रिवृत्तिः सुखं विद्यात्तद्वयो मोक्ष उच्यते ॥ १२
 मिथः कदाचिज्जायेते कदाचित्सममेव च ।
 पर्यायेण कदाचिच्च आधिभ्याधी शरीरके ॥ १३
 देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम् ।
 मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः ॥ १४
 अतस्त्वज्ञानवशतः खेन्द्रियाक्रमणं विना ।
 हृदि तानवमुत्सृज्य रागद्वेषेणारतम् ॥ १५
 इदं प्राप्तमिदं नेति जाड्याद्वा घनमोहदाः ।
 आधयः संप्रवर्तन्ते वर्षासु मिहिका इव ॥ १६
 भृशं स्फुरन्तीध्विच्छासु मौर्ख्यं चेतस्यनिर्जिते ।
 दुरन्नाभ्यवहारेण दुर्देशाक्रमणेन च ॥ १७
 दुष्कालव्यवहारेण दुष्क्रियास्फुरणेन च ।
 दुर्जनासङ्गदोषेण दुर्भावोद्भावनेन च ॥ १८
 क्षीणत्वाद्वा प्रपूर्णत्वाद्वाजीनां रन्ध्रसंततौ ।
 प्राणे विधुरतां याते काये तु विकलीकृते ॥ १९
 दौःस्थित्यकारणं दोषाद्याधिदेहे प्रवर्तते ।
 नद्याः प्रावृष्णिदाघाभ्यामिवाकारविपर्ययः ॥ २०
 प्राक्तनी चैहिकी वापि शुभा वाप्यशुभा मतिः ।
 यैवाधिका सैव तथा तस्मिन्योजयति क्रमे ॥ २१
 आधयो व्याधयश्चैवं जायन्ते भूतपञ्चके ।
 कथं शृणु विनश्यन्ति राघवाणां कुलोद्भव ॥ २२
 द्विविधो व्याधिरस्तीह सामान्यः सार एव च ।

नूनयैस्तात्कालिकोपशमः । सुखरूपस्यात्मनः परिशेषात्सु-
 खम् । तेषां मूलतो ज्ञानेन नाशो मोक्ष इत्यर्थः ॥ १२ ॥
 मिथः अन्योन्यनिमित्तकत्वात्क्रमसंलभे । कदाचिद्युगपदुत्पन्ना-
 द्वास्त्रनिमित्तात्समं युगपत् । कदाचित्सुखान्तरिते पर्यायेण ॥ १३ ॥
 मौर्ख्यमज्ञानं तन्मूले ॥ १४ ॥ तत्र आध्युद्भवनिमित्ता-
 न्याह—अतस्त्वज्ञानेति । आक्रमणं निग्रहस्तं विना । तदभावा-
 दित्यर्थः । हृदि चित्ते तानवं स्तिमितवायुप्रायां स्वास्थ्यहेतुं
 सूक्ष्मतामुत्सृज्य रागद्वेषेषु प्रसक्तेरिति शेषः ॥ १५ ॥ इदं
 प्राप्तमिदं न प्राप्तमिति चिन्ताया इति शेषः । भयशोकनि-
 मित्तप्राप्ती तत्प्रतीकारोपायापरिज्ञानलक्षणं घनं मोहं ददतीति
 घनमोहदाः ॥ १६ ॥ इदानीं शारीरव्याप्युद्भवहेतूनाह—
 दुरन्नाभ्यवहारेण । इच्छामौर्ख्ये आन्तरे तदेतत् । दुरन्नादयस्तु
 नाद्याः । दुर्देशाः श्मशानादयः ॥ १७ ॥ दुष्टेषु निशीथप्रदो-
 षादिशालेष्वशनव्यवायादिव्यवहारेण । दुर्भावा विषसर्पभ्याघ्र-
 तस्करादिशङ्कालेषां मनस्युद्भावनेन ॥ १८ ॥ नाडीनामजर-
 साप्रवेशेन क्षीणत्वाद्दिगुणरसवातादिप्रवेशेन प्रपूर्णत्वाद्वा विधु-
 रतां कफपित्तादिप्रकोपेन व्याकुलताम् । आघातादिना विकली-
 कृते ॥ १९ ॥ दौःस्थित्यमस्वास्थ्यं तत्कारणं व्याधिः स देह-
 स्याकारविपर्ययः ॥ २० ॥ सा चाधिभ्याधिसामग्री प्राक्तनैहि-
 ककर्मानुसारेण मिलतीत्याह—प्राक्तनीति ॥ २१ ॥ २२ ॥
 सामान्यः वैलवः सारो इदतरश्च । व्यवहित्य इति व्यवहारेः

व्यवहारस्तु सामान्यः सारो जन्ममयः स्मृतः ॥ २३
 प्राप्तेनाभिमतेनैव नश्यन्ति व्यावहारिकाः ।
 आधिक्षयेणाधिभवाः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम् ॥ २४
 आत्मज्ञानं विना सारो नाधिर्नश्यति राघव ।
 भूयो रज्ज्वबोधेन रज्जुसर्पो हि नश्यति ॥ २५
 आधिव्याधिविलासानां राम साराधिसंक्षयः ।
 सर्वेषां मूलहा प्रावृण्णदीव तटवीरुधाम् ॥ २६
 अनाधिजा व्याधयस्तु द्रव्यमन्त्रशुभक्रमैः ।
 चिकित्साकादिशास्त्रोक्तैर्नश्यन्त्यन्यैरिहाथवा ॥ २७
 ज्ञानमन्त्रौषधोपाया वक्तुर्धाधिगतानि च ।
 त्वया चिकित्साशास्त्राणि किमन्यदुपदिश्यते ॥ २८

श्रीराम उवाच ।

आधेः कथं भवेद्याधिः कथं च स विनश्यति ।
 द्रव्यादितरया युक्त्या मन्त्रपुण्यादिरूपया ॥ २९
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 चित्तं विधुरिते देहः संक्षोभमनुयात्यलम् ।
 तथाहि रुषितो जन्तुरप्रमेव न पश्यति ॥ ३०
 अनवेक्ष्य पुरो मार्गममार्गमनुधावति ।
 प्रकृतं मार्गमुत्सृज्य शरार्तो हरिणो यथा ॥ ३१
 संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य वहन्ति प्राणवायवः ।
 देहे गजप्रविष्टेन पर्यासीव सरित्तटे ॥ ३२
 असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम् ।
 असम्यक्संस्थिते भूपे यथा वर्णाश्रमक्रमाः ॥ ३३
 काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम् ।

क्षुत्पृषात्रांपुत्राललासादिस्तत्संभवश्च । जन्ममयो जन्मादिविक्रि-
 यामूलम् ॥ २३ ॥ अभिमतेनाज्ञपानस्त्रीपुत्रादिना ॥ २४ ॥
 आधिव्याधिः भूयो भूयसा लोकपरिशीलनाद्भ्रजुतत्त्वप्रत्यय-
 पर्यन्तेनावबोधेन ॥ २५ ॥ प्रावृण्णदी सर्वेषां तटवीरुधामिव
 सर्वेषामाधिव्याधिविलासानां सारव्याधिसंक्षयो मूलहा मूलो-
 च्छेदीत्यन्वयः ॥ २६ ॥ सामान्यव्याधिध्वनाधिजव्याधयः
 मुचिकित्सा इत्याशयेनाह—अनाधिजा इति । अन्यैर्वृद्धपर-
 म्परोपदिष्टैश्चिकित्सैः ॥ २७ ॥ लोलाकादितीर्थेषु ज्ञानम् ।
 मन्त्रा औषधानीत्याद्युपायाः । वक्तुश्च वृद्धजनादधिगतान्यौष-
 धानि चिकित्साशास्त्राणि च त्वया ज्ञायन्त एवेति शेषः ॥ २८ ॥
 आधिभ्यो व्याधिजन्मप्रकारं तच्चिकित्सोपायं च रामः
 पृच्छति—आधेरिति । द्रव्यादांषादितरया मन्त्रपुण्यादिरूप-
 येति स्वसंभावनयोक्तिः ॥ २९ ॥ तत्र प्रथमं तदुद्भवप्रकार-
 माह—चित्ते इत्यादिना । विधुरिते आधिभिः क्षुब्धे । उक्त-
 मर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति—तथाहीति सार्धेन । अग्रं पुरोमार्गम्
 ॥ ३० ॥ ३१ ॥ दार्ष्टान्तिकेऽपि तथैव आधिकृतात्संक्षोभात्प्राण-
 वायवः साम्यमुत्सृज्यामार्गेण वहन्ति । यथा गजस्य प्रविष्टेन
 प्रवेशेन क्षुब्धानि पर्यासि सरित्तटे अमार्गे वहन्ति तद्वत्
 ॥ ३२ ॥ असमं विषमम् । विसंस्थितिं कफपित्तादिपूर्णता-

प्राणाऽऽविधुरिते देहे सर्वतः सरितो यथा ॥ ३४
 कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्वमेव वा ।
 दोषायैव प्रयात्यन्नं प्राणसंचारदुष्क्रमात् ॥ ३५
 यथा काष्ठानि नयति प्राचीदेशं सरिद्रयः ।
 तथाज्ञानि नयत्यन्तः प्राणवातः स्वमाधयम् ॥ ३६
 यान्यज्ञानि निरोधेन तिष्ठन्त्यन्तःशरीरके ।
 तान्येव व्याधितां यान्ति परिणामस्वभावतः ॥ ३७
 एवमाधेर्भवेद्याधिस्तस्याभावाच्च नश्यति ।
 यथा मन्त्रैर्विनश्यन्ति व्याधयस्तत्क्रमं शृणु ॥ ३८
 यथा विरेकं कुर्वन्ति हरीतक्यः स्वभावतः ।
 भावनावशतः कार्यं तथा यरलवादयः ॥ ३९
 शुद्धया पुण्यया साधो क्रियया साधुसेवया ।
 मनः प्रयाति नैर्मल्यं निकषेणेव काञ्चनम् ॥ ४०
 आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव ।
 पूर्णेन्द्राबुदिते ह्यत्र नैर्मल्यं भुवने यथा ॥ ४१
 सत्त्वशुद्ध्या वहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः ।
 जरयन्ति तथाज्ञानि व्याधिस्तेन विनश्यति ॥ ४२
 आधिव्याध्योरिति प्रोक्तौ नाशोत्पत्तिक्रमौ त्वयि ।
 कुण्डलिन्याः कथायोगादधुना प्रकृतं शृणु ॥ ४३
 पुर्यष्टकपरास्यस्य जीवस्य प्राणनामिकाम् ।
 विद्धि कुण्डलिनीमन्तरामोदस्येव मञ्जरीम् ॥ ४४
 तां यदा पूरकाभ्यासादापूर्यं स्थीयते समम् ।
 तदैति मैरवं स्थैर्यं कायस्यापीनता तथा ॥ ४५
 यदा पूरकपूर्णान्तरायतप्राणमारुतम् ।

प्रयुक्तविषमसंस्थानताम् ॥ ३३ ॥ तदेवाह—काश्चिदिति ।
 प्राणैराविधुरिते सर्वतो विह्वलीकृते देहे । सरितो नाड्यः
 सोतासीव ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ समानाकृत्यः प्राणवातः स्वमाधयं
 सर्वं शरीरं भुक्तान्यज्ञानि रसीकृत्य नयति । 'मध्ये तु समान
 एष ह्येतद्गतमन्नं समं नयती'ति श्रुतेरिति भावः ॥ ३६ ॥ धातु-
 वैषम्यपरिणामस्वभावतः ॥ ३७ ॥ उपसंहरति—एवमिति ।
 अभावाभावात् ॥ ३८ ॥ हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः ।
 फले लुकि 'हरीतक्यादिषु व्यक्तिः' इति नियमात् वचने युक्त-
 वद्भावः । तथा यरलवादयो वायुवह्निभूजलादिशीजात्मका मन्त्र-
 वर्णा माञ्जिकभावनावशतो नाडीषु व्याध्याकारपरिणताज्ञ-
 रसानामुत्सारणपाचनादिकार्यं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ३९ ॥ आधु-
 पसमोपायानाह—शुद्धयेत्यादिना ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥
 प्रासङ्गिकप्रश्नोत्तरमुपसंहृत्य प्रकृतं सिद्धिहेतुनिरूपणं प्रस्तौति—
 आधीति ॥ ४३ ॥ पुर्यष्टकास्यस्य लिङ्गात्मनो जीवस्याधार-
 भूताम् ॥ ४४ ॥ आपूर्यं कूर्मनाड्यां प्राणमवष्टभ्येत्यर्थः । तथा च
 पतञ्जलेः सूत्रम् 'कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्' इति । 'कण्ठकूपादध उरसि
 कूर्माकारा नाडी तस्यां कृतसंयमः स्थैर्यं लभते यथा सर्पो
 गोधा वेति' तद्भाष्यम् । कायस्यापीनता गरिमास्या सिद्धिरपि
 तथा तादृशी मैरवी सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ केन तद्भूर्ध्वं

नीयते संविदेवोर्ध्वं सोढुं धर्मकृमं श्रमम् ॥ ४६
 सर्पीव त्वरितैवोर्ध्वं याति दण्डोपमां गता ।
 नाडीः सर्वाः समादाय देहबद्धा लतोपमाः ॥ ४७
 तदा समस्तमेवेदमुत्प्लावयति देहकम् ।
 नीरन्ध्रं पवनापूर्णं भस्त्रेवाम्बु ततान्तरम् ॥ ४८
 इत्यभ्यासविलासेन योगेन व्योमगामिना ।
 योगिनः प्राप्नुवन्त्युच्चैर्दीना इन्द्रदशामिव ॥ ४९
 ब्रह्मनाडीप्रवाहेण शक्तिः कुण्डलिनी यदा ।
 बहिरूर्ध्वं कपाटस्य द्वादशाङ्गुलमूर्धनि ॥ ५०
 रेचकेन प्रयोगेण नाड्यन्तरनिरोधिना ।
 मुहूर्ते स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगदर्शनम् ॥ ५१

श्रीराम उवाच ।

दर्शनं कीदृशं ब्रह्मभयनांशुगणं विना ।
 अदिव्यानामिन्द्रियाणां तत्त्वमेवं कथं भवेत् ॥ ५२
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 न केचन महाबाहो भूचरेण नभस्वतः ।
 अदिव्येनाश्रिता ज्ञानैर्दृश्यन्ते पुरुषेन्द्रियैः ॥ ५३

नभोगतिसिद्धिस्तदाह—यदेत्यादिना । यदा पूरकेण पूर्णं देहा-
 न्तरायतो मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं दीर्घकूलोर्ध्वमा-
 कृष्टः प्राणमारुतो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा संवित् कुण्ड-
 लिनी प्राणनिरोधोद्भूतमूर्ध्माणं तत्प्रयुक्तं शारीरं कृमं मानसं श्रमं
 चाभ्यासपाटवेनामृताप्लावनेन च सोढुं सद्यं कर्तुमूर्ध्वं नीयते
 ॥ ४६ ॥ नीयमाना च सा आकर्षणादण्डोपमां दीर्घतां गता
 सती सर्पीव त्वरितैवोर्ध्वमभ्यासपाटवाद्याति । कथं याति
 तदाह—नाडीरिति ॥ ४७ ॥ तदा नाडीद्वारा नीरन्ध्रं निरव-
 काशं यथा स्यात्तथा पवनेनापूर्णं लघुत्वमापन्नं समस्तमापादम-
 स्तकमिदं देहकं कूपाटूर्ध्वमाकृष्ट्यमाणा चर्मभस्त्रा तत् व्याप्तमा-
 न्तरमन्तःप्रदेशो येन तथाविधमम्बिव उत् ऊर्ध्वं प्लावयति
 उद्गीर्णं करोति तदेवास्याकाशगमनमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ इति एवं-
 विधेनाभ्यासविलासेन योगेन कायाकाशसंबन्धसंयमलक्षणेन ।
 तथा च भगवतः पतञ्जलेः सूत्रम् 'कायाकाशयोः संबन्धसंयमा-
 लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्' इति, तद्भाष्यं च 'यत्र काय-
 स्तत्राकाशं कायस्य तेन संबन्धः प्राप्तिस्तत्र कृतसंयमो योगी
 जित्वा तत्संबन्धं लघुतूलादिषु आपरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा
 जितसंबन्धो लघुर्लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति ततस्तूर्ण-
 नाभितन्तुमात्रे विह्वल्य रश्मिषु विहरति ततो यथेष्टमाकाशग-
 तिरस्य भवति' इति ॥ ४९ ॥ इदानीं सिद्धदर्शनोपायमाह—ब्रह्म-
 नाडीत्यादिना । यदा रेचकेन प्रयोगेणोर्ध्वमाकृष्टा कुण्डलिनी
 शक्तिर्ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तदन्तः प्राणप्रवाहेण शीर्षकपालद्वय-
 संधिलक्षणस्य कपाटस्य बहिर्द्वादशाङ्गुलमिते मूर्धनि षोड-
 शान्ताख्ये स्थाने मुहूर्तमात्रं स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगानां
 सिद्धानां दर्शनं भवतीति परेणान्वयः । तथा च भगवतः
 पतञ्जलेः सूत्रम् 'मूर्ध्वभ्योतिषिसिद्धदर्शनम्' इति । तद्भाष्यं च

विज्ञानादूरसंस्थेन बुद्धिनेत्रेण राघव ।
 दृश्यन्ते व्योमगाः सिद्धाः स्वभावत्स्वार्थदा अपि ॥ ५४
 स्वभावलोकनं यद्ब्रह्मत्सिद्धावलोकनम् ।
 केवलोऽथ विशेषोऽयं सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता ॥ ५५
 मुखाद्बहिर्द्वादशान्ते रेचकाभ्यासयुक्तितः ।
 प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरीम् ॥ ५६
 श्रीराम उवाच ।
 वद स्वभावस्य कथं ब्रह्मभ्रजलसंस्थितिः ।
 वक्तारः सानुकम्पा हि दुष्प्रश्नेऽपि न खेदिनः ॥ ५७
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।

शक्तिर्या तु स्वभावाख्या यथा स्फुरति चात्मनः ।
 सर्गादिषु तथैवासौ स्थितिं यातीति निश्चयः ॥ ५८
 अवस्तुत्वादविद्याया वस्तुशक्तिरपि क्वचित् ।
 मिद्यते दृश्यते ह्यङ्ग वसन्ते शारदं फलम् ॥ ५९
 सर्वमेवमिदं ब्रह्म नानाऽनानातया स्थितम् ।
 जृम्भते व्यवहारार्थं केवलं कथितस्थिति ॥ ६०

'शिरःकपाले अन्तश्छिद्रं प्रभास्वरत्वाज्ज्योतिस्तत्र संयमात्मि-
 दानां यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनमिति ॥ ५० ॥ ५१ ॥
 अदिव्यानामिन्द्रियाणामिति भावलक्षणे 'पृष्ठी चानादरे' इति
 षष्ठौ । यदास्मदासीनामिन्द्रियाणामदिव्यानां सतां सत्यपि
 तत्संनिकर्षे सिद्धानां तत्त्वं तद्गोचरत्वं दुर्लभं तदा नयनांशुगणं
 चाक्षुषप्रभासंनिकर्षं विना षोडशान्ते प्राणधारणमात्रेण सिद्धानां
 दर्शनं कथं भवेत्तच्च कीदृशमित्यर्थः ॥ ५२ ॥ तत्र कथं भवेदि-
 त्यंशमिष्टापस्या वसिष्ठः परिहरति—न केचनेति । नभस्वतो
 नभस्वन्तो वायुभूताः । सिद्धा आश्रिता ज्ञानैर्मलिनैः पुरुषेन्द्रियैर-
 दिव्येनोपायान्तरेण वा न दृश्यन्त इति सत्यमेव स्वयोक्तमित्यर्थः
 ॥ ५३ ॥ केन तर्हि दृश्यन्ते तदाह—विज्ञानादिति । विज्ञाना-
 योगाभ्याससंस्कृतमनसः ॥ ५४ ॥ कीदृशमिति प्रश्नांशस्योत्तर-
 रमाह—स्वभावलोकनमिति । स्थिरार्थता संवादवरदानफला-
 वाप्त्यादिव्यवहारक्षमार्थता स्वप्नपेक्षया विशेष इत्यर्थः ॥ ५५ ॥
 इदानीं परकायप्रवेशो येनोपायेन सिध्यति तमाह—मुखादिति ।
 द्वादशान्ते द्वादशाङ्गुलिपरिमितप्रान्ते ॥ ५६ ॥ 'विशेषोऽयं
 सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता' इति यदुक्तं तत्र स्वभाव एव हेतुर्वाच्यः
 सर्वस्य जगतो मायामयत्वादनियतस्थितित्वं प्राग्बहुशस्त्वयैव
 'घटस्य पटता दृष्टा' इत्यादिना व्युत्पादितं, तत्र स्वभावस्यैकस्य
 नियतस्थितिः कथमिति रामः पृच्छति—वदेति ॥ ५७ ॥
 सत्यसंकल्पस्येश्वरस्य सर्गादिकालसंकल्पप्रयुक्ता वस्तुस्वभावनि-
 यतिरपि यावत्सर्गकालमेव न प्रलये सास्तीति न सर्वनियति-
 भङ्गवादविरोध इत्याशयेन प्रागुक्तमेव स्मारयन् वसिष्ठस्तदुत्तर-
 माह—शक्तिरिति ॥ ५८ ॥ कालमेवेनेव देशभेदेनापि वस्तु-
 शक्तेरनियतता दृष्टेत्याह—अवस्तुत्वादिति । क्वचित्कामरूप-
 देशादौ । शारदं श्रीद्व्यादिफलम् ॥ ५९ ॥ नानाऽनानातया

श्रीराम उवाच ।

सूक्ष्मच्छिद्रादिगत्यर्थं पूरणार्थं च स्वस्य वा ।
अणुतां स्थूलतां वापि कायोऽयं नीयते कथम् ॥ ६१ ॥
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
काष्ठककचयोः श्लेषाद्यथा छेदः प्रवर्तते ।
द्वयोः संघर्षणादग्निः स्वभावाज्जायते तथा ॥ ६२ ॥
मांसं कुयन्त्रजठरे स्थितं श्लिष्टमुखं मिथः ।
ऊर्ध्वाधःसंमिलत्स्थूलद्वयम्ःस्थैरिव वैतसम् ॥ ६३ ॥
तस्य कुण्डलिनी लक्ष्मीर्निनीनान्तर्निजास्पदे ।
पद्मरागसमुद्गस्य कोशे मुक्तावली यथा ॥ ६४ ॥
आवर्तफलमालेव नित्यं सलसलायते ।
दण्डाद्वतेव भुजगी समुन्नतिविवर्तिनी ॥ ६५ ॥
द्यावापृथिव्योर्मध्ये प्राणिनां क्रियेव स्पन्दधर्मिणी ।
संविन्मधुविबोधाको हृत्पद्मपुटपट्टपदी ॥ ६६ ॥
तत्सर्वं शक्तिपद्मादि बाह्येनाभ्यन्तरैस्तथा ।
हृदि व्याधूयते वातैः पत्रवृन्दमिवामितः ॥ ६७ ॥

अनियतस्वभावतया स्थितं सर्वमेवेदं ब्रह्म । ब्रह्म स्वभावेनैव
नियतैकरूपं नान्येनेत्यर्थः । कथं तर्हि बह्वैरूर्ध्वज्वलनादिनियति-
स्तत्राह—जृम्भते इति । प्राणिकर्मतत्फलोपभोगव्यवहारार्थ-
मज्ञातं ब्रह्मैव कञ्चित्कालं तथा तथा नियतस्थिति भूत्वा जृम्भत
इत्यर्थः ॥ ६० ॥ इदानीमणिमाख्या महिमाख्या च सिद्धिः केनो-
पायेन सिध्यतीति रामः पृच्छति—सूक्ष्मेति । नीयते योगिनंति
शेषः ॥ ६१ ॥ अस्य प्रश्नस्योत्तरमुत्तरमर्गे विस्तराद्दर्शयित्वा-
स्तदुपोद्घाततया देहे अग्नीषोमव्याप्तिं निरूपयिष्यन् प्राणा-
पानयोः संघर्षादन्तराले जाठरामिनिष्पत्तौ दृष्टान्तमाह—
काष्ठेति । छेदो द्वैधीभावः । द्वयोः प्राणापानयोः । अग्निजाठरः
॥ ६२ ॥ प्राणापानयोः संघर्षणोपपत्तये अन्योन्याकर्षकत्वे
कारणसाह—मांसमित्यादिना । कुत्सितस्य देहयन्त्रस्य जठरे
उदरप्रदेशे नामैरूर्ध्वमधश्च संमिलत् अत एव मिथः श्लिष्टमुख-
मामाद्यपकाशयभक्ताद्वयरूपं स्थूलं मांसं दिविस्थैरूर्ध्वाका-
शासंस्थैरम्भःस्थैरधो जले निमग्नैश्च भागेः परस्परश्लिष्टैरुपलक्षि-
तमधोऽम्भसा ऊर्ध्वं वायुना च विरुद्धदेशयोः कृष्यमाणं वैतसं
कुक्षमिव कम्पमानं स्थितं वर्तत इत्यर्थः ॥ ६३ ॥ अस्तु
तत्किं ततस्तत्राह—तस्येति । तस्य मांसस्याधस्तनभक्ताभागस्य
मूलभागरूपे निजे आस्पदे मूलाधारे प्रागुक्ता कुण्डलिनी
सर्वस्य कार्यकारणसंघातस्य प्राणप्रदत्वाद्लक्ष्मीः ॥ ६४ ॥ जप-
काले आवर्त्यमाना रुद्राक्षादिफलमालेव नित्यममीक्ष्यं प्राणा-
पानोद्विग्ननिगिरणाभ्यां सलसलायते कम्पेनाव्यकरणं जन-
यति । अव्यक्तानुकरणात्प्राणि बहुलग्रहणात् करोत्यर्थं क्यद् ।
समुन्नतिरूर्ध्वमुखता तथा विवर्तिनी परिवर्तनशीला ॥ ६५ ॥
द्यावापृथिव्योर्मध्ये प्राणिनामूर्ध्वाधोगतिहेतुर्विहितनिषिद्धक्रियेव
प्राणापानयोरूर्ध्वाधोगतिहेतुत्वात्स्पन्दधर्मिणी । चाक्षुषादिसंवि-
द्विज्ञानां मधूनां रूपादिविषयास्वादानां विबोधे अर्क इव

यद्ब्रह्मोम स्फुरत्यङ्ग स्वभावात्तत्र घायवः ।
बलवन्मृदु यत्किञ्चिद्भृशं कवलयन्ति तत् ॥ ६८ ॥
घातैराहन्यमानं तत्पद्मादि तरलायते ।
हृद्यन्यान्यैति कार्येण पल्लवादि यथा तरोः ॥ ६९ ॥
देहेष्वाजरणं सर्वरसानां पवनोऽन्वहम् ।
जनयत्यग्निमन्योन्यसंघर्षाद्भवणुवत् ॥ ७० ॥
स्वभावशीतवातात्मा देहस्तेनौष्ण्यमेत्यथ ।
उदितेन स सर्वाङ्गे भुवनं भानुना यथा ॥ ७१ ॥
सर्वतो विचरेदस्मिस्तसेजस्तारकाकृति ।
हृत्पद्महेमभ्रमरो योगिनां चिन्त्यतां गतम् ॥ ७२ ॥
तत्प्रकाशमयं ज्ञानं चिन्तितं सत्प्रयच्छति ।
येन योजनलक्षस्थं वस्तु नित्यं हि दृश्यते ॥ ७३ ॥
तस्याग्नेर्वाडवस्येव जलं संशुष्कमिन्धनम् ।
मांसपङ्कजखण्डाख्यं हृत्सरः कोशावासितः ॥ ७४ ॥
यदच्छं शीतलत्वं च तदस्यात्मेन्दुरुच्यते ।
इतीन्दोरुत्थितः सोऽग्निरग्नीषोमौ हि देहकः ॥ ७५ ॥

स्थिता ॥ ६६ ॥ शक्तयो ज्ञानकर्मेन्द्रियादिशक्तयः । प्रागुक्तं
हृत्पद्ममादिपदाक्षादीजालं च हृदि आभ्यन्तरैर्वातैस्तया व्याधू-
यते कम्प्यते । यथा बाह्येन वातेन तरुपत्रवृन्दं व्याधूयते
तद्वदित्यर्थः ॥ ६७ ॥ बाह्यं व्योम यद्ब्रह्मेशालं स्फुरति तत्र
च स्वभावादेव वायवो बलवत्काष्ठपाषाणादिमृदुपर्णतृणादि च
कवलयन्तीव कालेन जरयन्ति तद्वदन्तव्योर्ध्वयपि प्राणवायवो
भुक्तमन्नादि जरयन्तीत्यर्थः ॥ ६८ ॥ जरणप्रकारमेवाह—
घातैरिति । तत्प्रागुक्तं हृत्पद्मनाडीभक्तादि प्राणवातैराहन्यमानं
ध्मायमानं लोहकारभङ्गेव तरलायते । तरलायमानस्य तस्य
हृदि अन्तःप्रविष्टस्यान्नस्य प्रथमं रसो रसाद्रक्तं रक्तान्मांसं
मांसात्त्वक् त्वचो मेदो मेदसो मज्जा मज्जाभ्योऽस्थीन्यस्त्रिभ्यः
शुक्रमिति विचित्रकार्येणान्यस्या अन्या परिणतिरेति । यथा
वसन्ते तरोरन्तःप्रविष्टमौमरसस्य पल्लवा मज्ज्यः पुष्पाणि फल-
नीत्यादि एति तद्वदित्यर्थः ॥ ६९ ॥ तत्र सप्तस्वपि धातु-
स्थानेषूत्तरोत्तरपरिणामसिद्धये परस्परसंघर्षाज्जाठरामेरमिव्यक्ति-
रस्तीत्याशयेनाह—देहेष्विति । आजरणं जरणपरम्परया चर-
मधातुपरिणामपर्यन्तमित्यर्थः ॥ ७० ॥ स देहः सर्वाङ्गे
उदितेन प्रदीप्तेन तेन जाठरामिना औष्ण्यमेति ॥ ७१ ॥
तस्यैव सर्वदेहव्यापिनो जाठरामेहृत्पद्मे तारकाकारेण योगिभि-
रुपासनं कियत इत्याह—सर्वत इति । अस्मिन् देहे ॥ ७२ ॥
तदेव चिद्रूपेण चिन्त्यमानं व्यवहितविप्रकृतसर्वपदार्थदर्शन-
सिद्धिं जनयतीत्याह—तदिति ॥ ७३ ॥ तस्यामेरिन्धनमाह—
तस्येति । वाङ्मयाग्नेः सामुद्रं जलमिव मांसलक्षणैः पङ्कजख-
ण्डैराख्यं यद्ब्रह्मसरस्तकोशशायिनस्तस्य जाठरस्याग्नेरपि शारीर-
मन्तरसरूपं जलं संशुष्कं ज्वलनयोग्यमिन्धनमित्यर्थः ॥ ७४ ॥
देहे इन्धनभूतमिन्द्रंशं लक्षणेन विभज्य देहस्याग्नीषोमात्म-

सर्वं तूष्णात्मकं किञ्चित्तेजोऽर्काद्यभिधं विदुः ।
 घीतात्मकं तु सोमाख्यमाभ्यामेव कृतं जगत् ॥ ७६
 विद्याविद्यास्वरूपेण सर्वं सदसदात्मना ।
 जगद्वा येन निर्वृत्तं तदेवैवं विभज्यते ॥ ७७
 संवित्प्रकाशं विद्यादि सूर्यमग्निं विदुर्बुधाः ।
 असज्जाड्यं तमो विद्याद्याहुः सोमं मनीषिणः ॥ ७८
 श्रीराम उवाच ।
 घृष्टिर्वाग्वात्मनः सोमादुदेतीति मुनीश्वर ।
 सोमस्योत्पत्तिमधुना वद मे वदतां वर ॥ ७९
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अग्नीषोमौ मिथः कार्यकारणे च व्यवस्थिते ।
 पर्यायेण समं चैतौ प्रजीषेते परस्परम् ॥ ८०
 जन्माङ्गबीजाङ्कुरवत्तथा दिवसरात्रिवत् ।
 स्थितिदृष्ट्यातपसमा केवला सैतयोर्भवेत् ॥ ८१

कत्वमाह—यदिति ॥ ७५ ॥ बहिरपि जगत्प्रकाशौष्ण्याभ्यां
 शैत्यजाख्याभ्यां चामीषोमात्मकं ज्ञेयमित्याह—सर्वमिति
 ॥ ७६ ॥ अथवा चिज्जडोभयघटितं सदसदात्मकमविद्याशबलं
 ब्रह्मैव जगदाकारेण निर्वृत्तमिति तदेवैवं प्रकाशजाख्यात्मना
 अमीषोमरूपेण विभक्तमित्याह—विद्येति ॥ ७७ ॥ तं विभाग-
 मेव स्फुटमाह—संवित्प्रकाशं । विद्यां आत्मतत्त्वस्फूर्तिम् ।
 आदिपदाद्वाद्यार्थप्रथां च ॥ ७८ ॥ 'देहेष्वाजरुणं सर्वैरसानां
 पवनोऽन्वहम् । जनयत्यग्निमन्योन्यसंघर्षाद्वनवेणुवत्' इति
 त्वदुक्त्या देहे बहिश्च प्रत्यक्षेणाभ्यादित्यादेर्वाय्वधीनोद्भवोदया-
 दिदर्शनाद्बहिर्वाग्वात्मनः सोमादुदेतीत्ययमर्थो मया बुद्ध इति
 शेषः । शेषः स्पष्टः ॥ ७९ ॥ परस्परं पर्यायेण प्रजीषेते जिगी-
 षेते । जेः सनि द्वित्वकृत्वयोरभावदृष्टान्दसः । 'अज्ज्ञानगमाम्'
 इति षीर्षः । 'प्रजीषेते' इति पाठे तु परस्परमुपजीवत इत्यर्थः
 ॥ ८० ॥ अनयोर्जन्मबीजाङ्कुरवत्परस्परोपादानकं दिवसरात्रि-
 वत्परस्परनिमित्तकं च । स्थितिस्तु छायातपसमा परस्परोप-
 चातिनीत्यर्थः ॥ ८१ ॥ दृष्टान्तमेदोपन्यासस्य तात्पर्यान्तर-
 माह—तुल्येति । युगपदुल्लम्बे छायातपस्थितिः पर्यायेणोप-
 लम्बे दिनरात्रिस्थितिर्दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ ८२ ॥ दृष्टान्तयोः
 कार्यकारणभावद्वयपरत्वपक्षेऽप्यवान्तरमेदान्तरद्वयेऽपि तात्प-
 र्यमस्तीत्याह—कार्यकारणभावश्चेति ॥ ८३ ॥ तयोराद्यमुप-
 पादयति—एकस्मादिति ॥ ८४ ॥ द्वितीयमुपपादयति—
 एकैति । भाव उत्पत्तिः ॥ ८५ ॥ भावे कार्यदशायां कारण-
 सत्त्वे मृदात्मकोऽयं घट इत्यादि प्रत्यक्षं प्रमाणमित्याह—सद्रू-
 पेति । यद्यप्यनुमानाधीनामपि संभवोऽस्ति तथापि प्रत्यक्ष-
 सिद्धेऽर्थे न ते मृग्यन्ते इत्यनुपयोगोक्तिः । तदुक्तं न्यायवाच-
 स्पत्ये 'न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमते मिमातारः'
 इति । सिद्धिसत्त्वेन पक्षतारूपकारणाभावादित्याशयः ॥ ८६ ॥
 एवं द्वितीयेऽपि कार्यदशायां कारणासत्त्वे दिवारात्रि नोपलभा-
 महे इत्यनुपलब्धिः प्रमाणमित्याह—विनाशेति । एकवस्तुस्यः

तुल्यकालोपलम्भासावित्थं छायातपस्थितिः ।
 केवलैकोपलम्भाख्या स्थितिर्दिवसरात्रिवत् ॥ ८२
 कार्यकारणभावश्च द्विविधः कथितोऽनयोः ।
 सद्रूपपरिणामोत्थो विनाशपरिणामजः ॥ ८३
 एकस्माद्यद्वितीयस्य संभवोऽङ्कुरबीजवत् ।
 कार्यकारणभावोऽसौ सद्रूपपरिणामजः ॥ ८४
 एकनाशे द्वितीयस्य यद्भावो दिनरात्रिवत् ।
 कार्यकारणभावोऽसौ विनाशपरिणामजः ॥ ८५
 सद्रूपपरिणामस्य मृददृक्प्रमसंस्थितेः ।
 अक्षोपलम्भादितरत्प्रमाणं नोपयुज्यते ॥ ८६
 विनाशपरिणामस्य दिनरात्रिक्रमस्थितेः ।
 अभावोऽप्येकवस्तुस्यो गतो मुख्यप्रमाणताम् ॥ ८७
 अनास्था नास्ति कर्तृत्वमित्याद्याऽऽयुक्तिवादिनः ।
 अवज्ञया बहिष्कार्याः स्वानुभूत्यपलापिनः ॥ ८८

एकवस्तुमात्राहिप्रत्यक्षाविरुद्धः ॥ ८७ ॥ ननु कार्यं कुर्वत्
 कारणमुच्यते । तत्कर्तृत्वं च कारणस्य तदभिनिवेशलक्षणाया-
 मास्थायां दृष्टम् । न च प्रकाशनमात्रोपक्षीणस्य दिनस्य रात्रि-
 निर्माणे आस्थास्तीति नास्ति कर्तृत्वम् । एवं रात्रेरपि दिन-
 कर्तृत्वं नास्तीत्यभावपरिणामेन कार्यकारणभावो निर्मूलः । एव-
 मचेतनस्य मृदादेर्न घटादिजनने आस्था संभवति । तस्याश्चेत-
 नधर्मत्वात् । किञ्चानुपमार्दितान्मृत्पिण्डात् घटो निष्पद्यते ।
 उपमर्दे तु मृत्पिण्डो नश्यत्येवेति किं सद्रूपेण परिणमेत । न च
 पिण्डघटव्यतिरिक्ता उभयानुगता मृत्ताम काचित्तत्र तृतीयास्ति ।
 किञ्च बीजादिस्थितं निनक्षु नश्यन्नष्टं वा अङ्कुरं जनयेत् । नाद्यः ।
 कुसूलादौ तत्प्रसङ्गात् । न द्वितीयतृतीयौ । तदा स्वत्राणंऽप्य-
 समर्थं परमुत्पादयितुं समर्थमिति का वाचो युक्तिः । चतुर्थस्तु
 कल्पः सर्वानुभवबाधित इति न कस्माश्चित्कस्यचिदुत्पत्तिर्वि-
 नाशो वा किञ्च स्वभावत एव सर्वमुत्पद्यते विनश्यति च तत्र
 पौर्वापर्यदर्शनादविवेकिनां कार्यकारणभावविकल्पा इत्यादिदुर्बु-
 क्तिवादिनः स्वानुभवविरोधोद्भावनेनैव निरसनीया इत्याह—
 अनास्थेति । इत्यादिरायुक्तिर्दुर्बुक्तिस्तद्वादिनः । अवज्ञया अव-
 मानेन । स्वानुभूत्यपलापिता च तेषामित्थं वर्णनीया । अना-
 स्थादियुक्तिबुद्धिरकर्तृत्वादिबुद्धिं जनयति चेत्तयोरेव कार्यकार-
 णभावस्तवानुभवसिद्ध इति कथं तत्सामान्यापलापः । यदि न
 जनयति तर्हि तथा स्वानुभववत्तत्त्व परबुबोधयिषया युक्त्यु-
 पन्यासः स्वानुभवविरुद्धः प्रलाप इति । एवं रात्रिरपि चरम-
 भावविकारात्मना अभावपरिणामेन दिनस्य कारणमिति स्वानु-
 भवसिद्धमेव । न च नाशो न भावविकारः । उत्पत्त्यादेरिव
 तस्यापि भावधर्मत्वानुभवात् । एवं बीजाङ्कुराद्यवस्थास्वनुगतं
 द्रव्यमप्यबाधितप्रत्यभिज्ञानुभवसिद्धं नापलापार्हम् । तदेव
 स्थितं निनक्षु नश्यन्नष्टमित्याद्यवस्थामेदं स्वात्मन्यनुभवदङ्कुरादेः
 कारणं नावस्थामेदेषु भिद्यत इति तत्र द्रव्यमेदांस्तेषां निर्देष्टु-
 कोत्पत्त्यादीभिः प्रमाणकानतिगौरवप्रस्तांश्च प्रलपन्तो मूर्खा अब-

प्रत्यक्षवदभावोऽपि प्रमैव रघुनन्दन ।
 अश्रयभावोऽपि शीतस्य प्रमाणं सर्वजन्तुषु ॥ ८९
 अग्निधूमतया भागार्था प्रयाति पयोदताम् ।
 सद्रूपपरिणामेन तदग्निः सोमकारणम् ॥ ९०
 अग्निर्नष्टतया शैत्यादसावेव प्रयाति यत् ।
 विनाशपरिणामेन तदग्निः सोमकारणम् ॥ ९१
 सप्ताम्बुधिपयः पीत्वा धूमोद्गारेण वाडवः ।
 पयोदतां प्रयातेन तदेष जनयत्यलम् ॥ ९२
 अर्कः पीत्वा निशानाथमामावास्यं पुनःपुनः ।
 उन्निरत्यमले पक्षे मृणालमिव सारसः ॥ ९३
 पीत्वामृतोपमं शीतं प्राणः सोममुखागमे ।
 अन्नागमात्पूरयति शरीरं पीनतां गतः ॥ ९४

ज्ञैव बहिष्कार्या इत्यर्थः ॥ ८८ ॥ अनुपलब्धेः प्रामाण्यसंदेहं वारयति—प्रत्यक्षवदिति । प्रमैव प्रमाणमेव । न चाभावे प्रमाकरणत्वमन्यत्र न दृष्टमिति श्रुतमित्यम् । तेजोऽभावस्य शीतानुमितां लिङ्गविधया करणत्वप्रसिद्धेरित्याह—अश्रयभाव इति ॥ ८९ ॥ बहिरभः सद्रूपपरिणामेन सोमकारणत्वमुदाहरति—अग्निरिति । तत् तत्र ॥ ९० ॥ अभावपरिणामेनापि तदुदाहरति—अग्निरिति । असौ अग्निर्द्वयुभावं प्राप्नोति । 'यदा वा अग्निर्द्वयति वायुमेवाप्येति' इति श्रुतेः ॥ ९१ ॥ सद्रूपपरिणामेनाग्नीधोमयोः परस्परकारणत्वमेकैकत्रोदाहरति—सप्तेत्यादिना । वाडवो वडवानलः पयोदतां प्रयातेन स्वनैव तस्सप्ताम्बुधिपय एव जनयति । क्षीरदधिघृतादीनामपि रसात्मकसोमरूपत्वात्सर्वत्र पयोवादः ॥ ९२ ॥ आ अमावास्यामित्यामावास्यम् । 'आह मर्यादासिधयोः' इत्यव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वः । कृष्णपक्षे अमावास्यापर्यन्तमित्यर्थः । अमले शुक्ले पक्षे ॥ ९३ ॥ सोमो मुखमिव शोभमानो यत्र तथाविधवसन्त-प्रीध्मागमे प्राणः सोष्मा वायुर्भौमं पयः पीत्वा वर्षर्तावन्नागमात्तद्वेषेण पीनतां गतः सन् वृष्ट्या पुनर्जगच्छरीरं पूरयति । अथवा आध्यात्मिक एव प्राणः सोमस्यापानस्य मुखादन्नपानादेरुदरे आगमने सति अमृतोपमं तद्रसं पीत्वा पीनतां गतः सप्तभ्रवद्भाससर्वनाडीजालागमनाच्छरीरं पूरयत्याप्याययति । स एवास्य पुनः सोमपरिणाम इत्यर्थः । 'तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्सैषोऽन्नस्य ग्रहः' इति श्रुतेरिति भावः । 'सोमं सुखागमे' इति पाठे तु प्राणोऽग्निभूतो यजमानप्राणोऽध्वरे अमृतोपमं शीतं सोमरसं पीत्वान्ते धूमादिमार्गेण सुखस्य स्वर्गास्यागमे अन्नस्य चन्द्रसन्निहिताकाशलक्षणमार्गपर्वण आगमनाच्चन्द्रं प्राप्य तन्नावं प्राप्तः कलाभिः स्वशरीरं पूरयति स एवास्य पूर्णमास्यां पीनतां गतः पुनः सोमपरिणाम इत्यर्थः । धूमादिमार्गश्चन्द्रभावश्च श्रुत्यैव दर्शितः । अथ यत्रमे प्रातरिष्टपूर्ते दत्तमिन्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्वाग्निं रात्रेरपरपक्षमपर-

जलमप्युदपां भोगे प्रयात्यर्कस्य रश्मिताम् ।
 सद्रूपपरिणामेन तज्जलं बह्मिकारणम् ॥ ९५
 नाशात्मकतया तोयमौष्ण्यत्वादेति ह्यग्निताम् ।
 विनाशपरिणामेन तत्सौयं बह्मिकारणम् ॥ ९६
 अग्नेर्विनाशे सद्रूपपरिणामो निशाकरः ।
 इन्द्रोर्विनाशे सद्रूपपरिणामो हुताशनः ॥ ९७
 हुताशो नाशमागत्य सोमो भवति वै तथा ।
 दिवसो नाशमागत्य रात्रिर्भवति वै यथा ॥ ९८
 तमःप्रकाशयोश्छायातपयोर्द्विनरात्रयोः ।
 मध्ये विलक्षणं रूपं प्राक्षैरपि न लभ्यते ॥ ९९
 संधिरप्यविलोपः स्यादेतयोरेव तद्रूपः ।
 भावाभावैर्यथैकास्थानिष्ठावेतौ तथैव हि ॥ १००

पक्षाद्यान् षट्दक्षिणैति मासांस्तान्ते संवत्सरमभिप्रामुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेव सोमो राजा तद्देवानामन्नम्' इति । 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः भ्रष्टां जुहुति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' इति च पञ्चाग्निविद्यायाम् ॥ ९४ ॥ यदि मन्यसे न वायुर्भौमं रसं शोषयति किं त्वर्करश्मय एव तं पिबन्ति रात्रावप्युष्मरूपेण तेषां सत्वादिति तदा त एवोदाहरणमित्याशयेनाह—जलमपीति । उत् ऊर्ध्वमादित्यरश्मिभिरपां भोगे पाने कल्पयमानेऽपि जलमर्कस्य रश्मितां सद्रूपपरिणामेन याति । शुक्लरूपेण तत्रापामनुगमदर्शनात् । 'यदादित्यस्य लोहितं रूपं तेजस्तद्रूपं गच्छुक्लं नदपाम्' इति श्रुतेरिति भावः ॥ ९५ ॥ यस्तु तत्र शैत्यद्रवत्वयोर्नाश औष्ण्यरौक्ष्ययोश्चोद्भवस्तदंशे विनाशपरिणामिताप्यस्तीति संकीर्णोदाहरणमिदमित्याह—नाशात्मकतयेति ॥ ९६ ॥ सर्वत्राग्नीधोमात्मके परिणामे उभयरूपसंकीर्णतापि सूक्ष्मदृशा लक्षयितुं शक्येत्याशयेनाह—अग्निरिति द्वाभ्याम् ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ तर्हि तमःप्रकाशयोश्छायातपादौ च किमनुगतं रूपं येन सद्रूपपरिणामता तत्र स्यादिति चेत्, तद्द्रव्यं तच्चाभिज्ञतमैरपि शृङ्गप्राहिकया न लभ्यत इत्याह—तम इति । मध्ये अनुगतं व्यावृत्ततमःप्रकाशविलक्षणं सन्मात्ररूपम् । अथवा मध्ये संधौ उभयविलक्षणम् । दिनरात्रयोरिति समासान्तश्छान्दसः ॥ ९९ ॥ ननु तमःप्रकाशयोः संधिरुभयविलोपात्मा शून्यरूपस्तत्र नोभयविलक्षणं किञ्चिद्रूपमस्तीत्याशङ्क्याह—संधिरिति । अनयोः संधिरपि अवलोपः अशून्यरूपः स्यात् । यतस्तत्संधिरूपमेतयोरेव वपुः परस्परसंलभं स्वरूपम् । न हि शून्ययोः संधिर्नाम भवति । न वा निर्निमित्ता सतोः शून्यता, कथं तर्हि तौ संधौ वर्तते इति चेत् । यथा पूर्वोत्तरकालयोर्भावाभावैः । उदाहरणबाहुल्याद्बहुवचनम् । परस्परनिरपेक्षनिरूपणेन भावरूपेण सापेक्षनिरूपणेनाभावरूपेण च तम इदं प्रकाशाभावरूपमेकमेव वस्तु प्रकाशश्वार्थं तमोऽभावरूपमेकमेव वस्त्विति सर्वानुभावा-

द्वाभ्यां चैतन्यजात्याभ्यां भूतानि प्रस्फुरन्ति हि ।
 यथा तमःप्रकाशाभ्यामहोरात्रा महीतले ॥ १०१
 चिद्रूपजडरूपाभ्यामारब्धेयं जगत्स्थितिः ।
 जलामृताभ्यां मिश्राभ्यां शीता तनुरिवैन्दवी ॥ १०२
 प्रकाशमनलं सूर्यं चिद्रूपं विद्धि राघव ।
 जडात्मकं तमोरूपं विद्धि सोमशरीरकम् ॥ १०३
 चित्सूर्यं निर्मले दृष्टे नाम नश्येद्भवोदयम् ।
 व्योमसूर्यं बहिर्दृष्टे यथा कृष्णनिशातमः ॥ १०४
 सोमदेहे जडे दृष्टे चिन्निजे सत्यवद्भवेत् ।
 निशीथे विलसत्यङ्गे यथा सौरप्रभाभरः ॥ १०५
 सोमं प्रकटयत्यग्निश्चिद्देहस्य चिरं प्रभाम् ।
 स्वसंविन्मयमिन्दुश्चिद्देहस्थं रूपमर्कजम् ॥ १०६
 चिन्निष्क्रिया त्वनामा सा केवला नोपलभ्यते ।
 आलोक इव दीपेन देहेनैवावगम्यते ॥ १०७
 चित्तश्चेत्योन्मुखत्वेन लाभः सैव च संसृतिः ।

देतावेकास्थानिष्ठौ स्थितौ तथैव हि संघावपि वर्तते । नाणुमात्र-
 मप्यन्यथाभूतावित्यर्थः ॥ १०० ॥ १०१ ॥ यथा विरुद्धाविरुद्ध-
 तमःप्रकाशपटिना अहोरात्रास्तथा चिज्जडोभयघटिताः सर्व-
 व्यवहारा इत्याह—चिद्रूपेति । जलमये बिम्बे सूर्यकरद्वारा
 सूर्यबिम्बस्थितामृतात्मककलाभिः क्रमेण पूरणादुभयारब्धा
 ऐन्दवी तनुरिव ॥ १०२ ॥ चिज्जडोभयांशाभ्यामेव प्रकाशाप्रका-
 शतया आविर्भूताभ्यां जगतोऽमीषोमात्मकतेत्याह—प्रकाश-
 मिति ॥ १०३ ॥ बहिः सूर्योदयात्मक इवान्तश्चरमवृत्त्या चिदा-
 दित्योदयाजगन्मूलतमोनिवृत्तिरित्याह—चित्सूर्यं इति । भव-
 स्योदयो यस्मात्तद्भवोदयं तमः ॥ १०४ ॥ निजे प्रत्यगात्मनि जडे
 सोमदेहे दृष्टे सति तत्तादात्म्येन स्फुरन्त्यपि चित्तद्रुणत्वमिवा-
 पन्ना गुणान्तरवत्तत्सत्तयैव सती भूत्वा स्वसत्तया असत्यवद्भ-
 वेत् । यथा निशीथे अर्धरात्रेऽङ्गे चन्द्रे विलसति तदनुप्रवेशेन
 स्फुरन् सौरप्रभाभरश्चन्द्रधर्मचन्द्रिकात्वेन संपन्नश्चन्द्रसत्तया
 सन्निव भूत्वा स्वसत्तया असत्यवद्भवति तदानीं सौरप्रभाभरो
 नास्तीति सर्वजनानुभवादिति भावः ॥ १०५ ॥ दृष्टान्तदार्ष्टान्ति-
 कयोरुपपत्तिं फलं चाह—सोममिति । चन्द्रमण्डले प्रविष्टः
 सूर्यप्रभारूपोऽग्निः सोमं जलमयं चन्द्रबिम्बं प्रकटयति स्फुरद्रूपं
 करोति । देहे तु जीवभावेनानुप्रविष्टा चिद्देहस्य चिरं यावदायुः-
 प्रभामहंभावादिना प्रथां करोति 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं
 लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥'
 इति भगवद्ब्रह्मचर्यात् । एवमन्योन्यमेलने तादात्म्याध्यासादर्कजं
 रूपं प्रभामण्डलमिन्दुर्भवति । चिच्च स्वसंविन्मयं मनुष्योऽहं
 चेतन इत्यादिखानुभवानुसारिदेहस्थं रूपं भवतीत्यन्वयः
 ॥ १०६ ॥ इतोऽपि तस्या देहधर्मत्वभ्रम इत्याह—चिदिति ।
 नमयति संकोचयतीति नाम उपाधिस्तच्छून्या ॥ १०७ ॥
 अज्ञानावृतायाश्चित्तश्चेत्योपाध्युन्मुखप्रथानियमादेवानर्षप्राप्तिरि-
 त्याह—चित्त इति ॥ १०८ ॥ एवमुक्तीत्या कुब्जसौरप्रकाश-

निश्चेत्यायाः शुभो लाभो निर्वाणं वा तदेव हि ॥ १०८
 अन्योन्यलब्धसद्भाषयावेवं कुब्जप्रकाशवत् ।
 अग्नीषोमाविमौ ज्ञेयौ संपृक्तौ देहदेहिनौ ॥ १०९
 अतिशायिनि निर्वाणे जाड्ये चैवातिशायिनि ।
 अग्नीषोमस्य चैवाङ्ग स्थितिर्भवति केवला ॥ ११०
 प्राणोऽग्निरुष्णप्रकृतिरपानः शीतलः शशी ।
 छायातपवदित्येतौ संस्थितौ मुखमार्गगौ ॥ १११
 अपाने शीतले सत्तामेत्युष्णः प्राणपावकः ।
 प्रतिबिम्बमिवादर्शो स च तस्मिंस्तथैव हि ॥ ११२
 चिदग्निः पद्मपत्रस्थं सोमं वाचात्मकं त्विषा ।
 जनयत्यनुभूत्येह कुब्जालोकं यथा बहिः ॥ ११३
 संसृत्यादौ यथा काचित्संविच्छीतोष्णरूपिणी ।
 अग्नीषोमाभिधां प्राप्ता सैव सर्गे नृणामिह ॥ ११४
 यत्र सोमकला प्रस्ता क्षणं सूर्येण षोडशी ।
 मुखाद्वितस्तिमात्रं स्यात्तत्र बह्वपदो भव ॥ ११५

वदन्योन्यसंवलनाधीनसद्रूपेण वागव्यवहारविषयत्वादिमौ देह-
 देहिनावप्यग्नीषोमात्मकौ ज्ञेयौ ॥ १०९ ॥ तयोरसंवलिता प्रत्येकं
 स्थितिः क्व प्रसिद्धा तदाह—अतिशायिनीति । निर्वाणमुपा-
 धिनिवृत्त्या आनन्दाविर्भावस्तस्मिन्नतिशायिनि आत्यन्तिके सिद्धे
 अग्नेः केवला स्थितिर्भवति । जाड्ये त्वतिशायिनि जलशिलादि-
 भावे सोमस्य केवला स्थितिर्भवतीत्यर्थः ॥ ११० ॥ प्राणापानयो-
 रप्यग्नीषोमात्मकत्वं प्रागुक्तं प्रकृतोपयोगाय स्मारयति—प्राण
 इति ॥ १११ ॥ तयोः कुब्जालोकवदन्योन्यतादात्म्यस्थितिं
 दर्शयति—अपाने इति ॥ ११२ ॥ मूलप्राणकुण्डलिनीरूपश्चन्द्र-
 मिराधारादिकण्ठान्तचतुर्दलादिपद्मपत्रस्थं परादिवैखरीपर्यन्त-
 वाचात्मकम् । त्विषा अर्थप्रकाशनशक्त्या । अनुभूत्या विवक्षा-
 पक्षे त्वर्थप्रथारूपया स्फूर्त्या । यथा बहिः सूर्य इति शेषः
 ॥ ११३ ॥ यथा सर्गादौ मायाशबलं ब्रह्म संविच्छीतोष्णरूपिणी
 ब्रह्माण्डाकारेणामीषोमाभिधां प्राप्ता तथा नृणां व्यष्टिदेहानां
 सर्गेऽपीत्यर्थः ॥ ११४ ॥ अस्त्वेवं ब्रह्माण्डमिव शरीरमप्यग्नीषोमा-
 त्मकं किं ततः कार्यं तत्राह—यत्रेति । यथा दिवि कृष्णपक्षे
 अग्न्यात्मा सूर्यः सोमस्य शीताः पञ्चदशकलाः प्रतिपदादिति-
 यिषु क्रमेण प्रवृत्ति एकां ध्रुवाख्यां चिद्रूपां परिशेषयति, ततः
 शुक्लपक्षे क्रमेणोष्णा उद्भिरति, ताभिः क्रमेण पूर्यमाणा ध्रुवा
 कला पूर्णः सोमो जायते । तथा हृदि स्थितः प्राणसूर्योऽपान-
 रूपस्य सोमस्य मुखनासिकाद्वारा प्रविष्टाः शीताः पञ्चदशकला
 प्रसित्वा मुखाद्बहिर्ध्रुवाख्यामेकां कलां परिशेष्य पुनस्ता उष्णा
 उद्भिरति । ताभिः सा पूर्यमाणा बहिरपानाख्यः सोमो जायते ।
 तत्र बहिःप्राणापानसंधिकालः पूर्णमासी हृदि त्वमावास्या । अन्त-
 रालदेशे इडापिण्डयोः प्रत्येकमूर्ध्वार्धभागप्रतिशाखानाडीषदके
 प्राणसूर्यस्य प्रवाहाद्भ्रुवयने, मेषादयो द्वादश मासास्तदन्तराळे
 संक्रान्तयः । अपानसोमस्य प्रवाहाद्भ्रुवयने मासा विष्कम्भादयो
 योगा अन्यानि च पर्वाणि निष्पद्यन्ते इति योगिनां प्रत्यक्षम् ।

नूनं सूर्यपदं प्राप्तो यत्र सोमो हृदम्बरे ।
 नूनं केवलया स्थित्या तत्र बद्धपदो भव ॥ ११६
 उष्णमग्निश्चिदादित्यः शैत्यं सोम उदाहृतम् ।
 यत्रैतौ प्रतिबिम्बस्थौ तत्र बद्धपदो भव ॥ ११७
 शरीरे सोमसूर्याग्निसंक्रान्तिज्ञो भवानघ ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० अमीषोमविचारणं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥८१॥

तत्र संक्रान्तिकाला हि बाह्यास्त्रुणसमाः स्मृताः ॥
 संक्रान्तिमुत्तरमथायनमङ्ग सम्य-
 कालं तथा विषुवतौ यदि देहवातैः ।
 अन्तर्बहिष्ठमिव वेत्सि यथानुभूतं
 तच्छोभसेऽत्र न पुनः परमभ्युपेतः ॥ ११९

द्वितीतितमः सर्गः ८२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अणुतां स्थूलतां वापि यथा गच्छति योगिनाम् ।
 देहो नाम तथा सम्यग्वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ १
 हृद्यन्नचक्रकोशोर्ध्वं प्रस्फुरत्यानलः कणः ।
 हेमभ्रमरवत्सांध्यविद्युल्लव इवाम्बुदे ॥ २
 स प्रवर्धनसंविद्या घात्ययेवाशु वर्धते ।

अभ्येक्षु स्वरोदयादिशास्त्रतो ज्ञेयम् । एवं स्थिते वक्ष्यमाण-
 वेहाणुतास्थौल्याद्युपयोगिधारणामेदाः प्रथमं त्रिभिः श्लोकैरुप-
 दिश्यन्ते । यत्र मुखाद्बहिर्देशे सूर्येणाप्रस्ता ध्रुवाख्या सोमस्या-
 पानस्य षोडशी कला प्राणेनोद्गीर्णामिः कलाभिः पूर्यमाणा क्षणं
 प्राच्यां पूर्णमासीचन्द्र इव वितस्तिमात्रं स्यात्तत्र भुशुण्डोपाद्या-
 नोक्तबाह्यकुम्भकेन मनोधरणया बद्धपदः स्थिरो भवेत्यर्थः
 ॥ ११५ ॥ तथा यत्र हृदम्बरे कलाप्रासेन क्रमाद्द्वयमानोऽपा-
 नाख्यः सोमोऽमावास्यायामिव केवलया शुद्धचिद्रूपध्रुवाख्य-
 कलात्मिकया स्थित्या तिष्ठति तत्रान्तः कुम्भकेन बद्धपदो भव
 ॥ ११६ ॥ इदानीमर्धरेचकेनार्धपूरकेण वा अन्तराले प्राणस्यो-
 भयतो निरोधेन बिम्बप्रतिबिम्बवस्तुत्वरूपतामापाद्य धारणा-
 याह—उष्णमिति ॥ ११७ ॥ यथा वसन्तग्रीष्मवर्षाशरत्सु
 क्रमेण शीतसौण्ड्येन प्रासात्सोमस्याग्निसंक्रान्तिः । शरद्धेमन्त-
 शिशिरेषु क्रमादौष्ण्यस्य शैत्येन प्रासादग्नेः सोमसंक्रान्तिस्तयोः
 संधी विषुवतौ सूर्यस्य च मेघादिषु संक्रान्तिस्तथा शरीरेऽपि
 अपानशैत्यस्य जठराग्निना प्रासे सोमस्याग्निसंक्रान्तिः । प्राणौ-
 ष्यस्य बहिःशैत्येन प्रासादग्नेः सोमसंक्रान्तिः । सूर्यस्य संक्रा-
 न्तयस्तु प्रागुक्तास्ता जानातीति तज्ज्ञो भवेति पूर्वोक्तधारणाङ्गं
 विधिः । प्रासादिकं तज्ज्ञानस्य प्रसिद्धसंक्रान्तिज्ञानदानादि-
 फलेभ्य उत्कृष्टतमफलकीर्तनं प्रधानफलेन स्तुतिर्वा ॥ ११८ ॥
 उक्ताङ्गज्ञानमनूय तत्राधिकारिप्रवृत्तये प्ररोचयति—संक्रान्ति-
 मिति । कालं अयनद्वयात्मकं संवत्सरं देहवातैः । प्राणापानयो-
 र्द्वादशनाडीशाखानुसारिगतिमेदाद्बहुवचनम् । बहिःप्रसिद्धे संव-
 त्सरे स्थितमिवान्तरमपि योगाभ्यासाद्यथानुभूतं प्रत्यक्षमनुभूतं
 घटादीव स्फुटं यदि वेत्सि तत्तर्हि अत्र योगिकयासु शोभसे ।
 परं मनुष्यदिष्टान्यदभ्युपेतो व्यासज्ञान्तरे प्रवृत्तस्तु न शोभसे
 इति तदेकप्रवणताविधिः ॥ ११९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-

संविद्रूपतया नूनमर्कवद्याति चोदयम् ॥ ३
 संध्याभ्रप्रथमार्काभो वृद्धिमभ्यागतः क्षणात् ।
 गालयत्यखिलं साङ्गं देहं हेम यथानलः ॥ ४
 जलस्पर्शासहो युक्त्या गलयेत्प्रपदादपि ।
 बाह्य एवानलः स्पर्शात्स्वान्ते वस्तुविशेषतः ॥ ५

यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे अमीषोमविचारणं नामै-
 काशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

अणुतास्थूलतोपाया ज्ञानसाध्वं च योगिनः ।

परकायासिभोगाश्च वर्णयन्त इह युक्तिभिः ॥ १ ॥

एवममीषोमात्मकत्वं देहादेः परिज्ञाय धारणात्रयाभ्यासप-
 रिष्कृतप्राणमनःशरीरस्य सोमसूर्याग्निसंक्रमादिदर्शिनो योगिनो
 देहस्याणिमादिसिद्धिप्राप्तिप्रकारान् वक्तुं प्रतिजानीते—अणु-
 ताभिति ॥ १ ॥ तत्रादावणुत्वप्राप्तये देहस्य विलापनाय नाभ्यु-
 परिदेशे उवलतो जाठरानलस्य हृत्पद्मनालसूक्ष्मच्छिद्रद्वारा
 प्रविश्य हृदयाकाशं हृत्पद्मकर्णिकायां परमात्मन आसनभूतां
 शिखां दर्शयति—हृदीति । अञ्जकोशस्योर्ध्वकर्णिकोपरि ।
 तथाच तैत्तिरीयाणामुपनिषदि 'तस्य मध्ये महानभिर्विश्वार्चि-
 र्विश्वतोमुखः' इति । जाठरानलं प्रस्तुत्य श्रूयते 'तस्य मध्ये
 वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता । नीलतोयदमभ्यस्थाद्विद्युल्ले-
 खेव भास्वरा । नीवारशकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणुपमा ।
 तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति । विद्युल्लवस्य
 सांध्य इति विशेषणं पीतत्वप्रकर्षबोधनार्थम् ॥ २ ॥ स आनलः
 कणः प्रवर्धनस्य संविद्या सर्वं देहं व्याप्य यथा उवलति तथा
 वर्धनोपायज्ञानेन । स च संवर्धितो नामिवदेहं दहति किंतु
 संविद्रूपतया अर्कवदुदयं प्रकाशातिशयं याति ॥ ३ ॥ संध्यायां
 प्रत्युषे अत्रे आकाशे प्रथममुदितो योऽर्कस्तदाभः । गालयति
 गलितं करोति । साङ्गं हस्तपादाद्यङ्गसहितं देहम् । पार्थिवं गन्ध-
 भागं काठिन्यं च तदुपादानजलमागे उपसंहरतीत्यर्थः ॥ ४ ॥
 एवं प्रपदात्पादाप्रपर्यन्तमपि गलयेद्ब्रवीकुर्यात् । ततः शोषण-
 युक्त्या वस्तुविशेषतः अमिस्वभावविशेषाज्जलस्य स्पर्शं शैत्यं न
 सहते इति जलस्पर्शासहः सोऽनलः स्पर्शात्सौण्ड्यबलाद्भवत्वो-
 पसंहारयुक्त्या जलमपि गलयेत् शोषयेत् । एवंरीक्षा देहा

स शरीरद्वयं पञ्चाद्विधूय क्वापि लीयते ।
 विक्षोभितेन प्राणेन नीहारो वात्यया यथा ॥ ६
 आघारनाडीनिर्हीना व्योमस्थैवावशिष्यते ।
 शक्तिः कुण्डलिनी बह्वेर्धूमलेखेव निर्गता ॥ ७
 क्रोडीकृतमनोबुद्धिमयजीवाद्यहंकृतिः ।
 अन्तःस्फुरच्चमत्कारा धूमलेखेव नागरी ॥ ८
 बिसे शैले तृणे भिस्ताबुपले दिशि भूतले ।
 सा यथा योज्यते यत्र तेन निर्यात्यलं तथा ॥ ९
 संवित्तिः सैव यात्यङ्ग रसाद्यन्तं यथाक्रमम् ।
 रसेनापूर्णतामेति तन्त्रीभार इषाम्बुना ॥ १०
 रसापूर्णा यमाकारं भावयत्याशु तत्तथा ।
 धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम यथा कृतिम् ॥ ११
 दृढभाववशादन्तरस्थीन्याप्रोति सा ततः ।
 मातृगर्भनिषण्णेषु सुसूक्ष्मेवाङ्कुरस्थितिः ॥ १२
 यथाभिमतमाकारं प्रमाणं वेत्ति राघव ।
 जीवशक्तिरवाप्नोति सुमेवादि तृणादि च ॥ १३
 श्रुतं त्वया योगसाध्यमणिमाद्यर्थसाधनम् ।
 ज्ञानसाध्यमिदानीं त्वं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ १४
 एकं चिन्मात्रमस्तीह शुद्धं सौम्यमलक्षितम् ।
 सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं शान्तं न जगन्न जगत्क्रिया ॥ १५
 तच्चिनोत्यात्मनात्मानं संकल्पोन्मुखतां गतम् ।
 यदा तदा जीव इति प्रोक्तमाविलतां गतम् ॥ १६
 असत्यमेव संकल्पभ्रमेणेदं शरीरकम् ।

द्राघः सन् खान्ते मनोरूपे आतिवाहिकदेहमात्रेऽवतिष्ठते इति शेषः ॥ ५ ॥ एवं पार्थिवमाप्यं च शरीरद्वयं विधूय स्थितः सोऽभिविषोभितेन प्राणेनोपसंहृतः क्वापि लीयते 'यदा वा अभिरुद्रायति वायुमेवाप्येति' इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ ६ ॥ तदानीं कुण्डलिनीशक्तिरपि मूलाधारस्थसुषुम्नानाडी-हीना तत्संस्कारशाल्यातिवाहिकदेहाकाशेऽवतिष्ठत इत्याह— आघारेति । बह्वेर्निर्गता धूमलेखेव ॥ ७ ॥ तत्र स्थिता च सा क्रोडीकृता संकलिता मनोबुद्धिमये जीवादिघटितलिङ्ग-शरीरे अहंकृतिरिया तथाविधा । अन्तः स्फुरन् चित्प्रकाश-चमत्कारः खेच्छाविहारशक्तिचमत्कारश्च यस्यास्तथाविधा सती सूक्ष्मतमे बिसनालच्छिद्रे शैलादौ च यत्रैव प्रविश्य निर्गन्तुं युज्यते तत्र प्रविश्य निर्यातीत्याह—क्रोडीकृतेति । द्वयोरर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ एवं सूक्ष्मीभावप्रकारमुक्त्वा स्थूलीभावे-नैच्छिकनानाशरीरकल्पनाप्रकारमाह—रसेनेत्यादिना । सा कुण्डलिनी योगिनो जीवशक्तिर्वह्नौ प्रागुपसंहृतं जलभागं यदा मुषति तदा रसेन सर्वतः आपूर्णतामेति । यथा तन्त्री चर्मरज्जुं विभतीति तन्त्रीभारो भस्मरूपभ्रमविशेषः कूपे क्षिप्तोऽम्बुना आपूर्णतामेति तद्वत् ॥ १० ॥ एवं रसापूर्णा सती प्रागुपसंहृतं पार्थिवभागं यमाकारं कर्तुं भावयति तद्योगशक्त्या तथा कृत्वा यो० बा० १२२

जीवः पश्यति मूढात्मा बालो यक्षमिबोजतम् ॥ १७
 यदा तु ज्ञानदीपेन सम्यगालोक आगतः ।
 संकल्पमोहो जीवस्य क्षीयते शरदभ्रवत् ॥ १८
 शान्तिमायाति देहोऽयं सर्वसंकल्पसंक्षयात् ।
 तदा राघव निःशेषं दीपस्तैलक्षये यथा ॥ १९
 निद्राव्यपगमे जन्तुर्यथा स्वप्नं न पश्यति ।
 जीवो हि भाविते सत्ये तथा देहं न पश्यति ॥ २०
 अतस्त्वे तत्त्वभावेन जीवो देहावृतः स्थितः ।
 निर्देहो भवति श्रीमान् सुखी तत्त्वैकभावेनात् ॥ २१
 अनात्मनि शरीरादावात्मभावनमङ्ग यत् ।
 सूर्याद्यालोकदुर्भेदं हार्दं तद्धारुणं तमः ॥ २२
 आत्मन्येवात्मभावेन सर्वव्यापि निरञ्जनम् ।
 चिन्मात्रममलोऽस्तीति ज्ञानादित्येन नश्यति ॥ २३
 अन्ये च विदितात्मानो भावयन्ति यथैव यत् ।
 तत्तथैवाशु पश्यन्ति दृढभावनया तथा ॥ २४
 दृढभावानुसंधानाद्विमूढा अपि राघव ।
 विषं नयन्त्यमृतताममृतं विषतामपि ॥ २५
 एवं यथा यदेवेह भावयते दृढभावेनात् ।
 भूयते हि तदेवाशु तदित्यालोकितं मुहुः ॥ २६
 सत्यभावनदृष्टोऽयं देहो देहो भवत्यलम् ।
 दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः ॥ २७
 अणिमादिपद्प्राप्तौ ज्ञानयुक्तिरिति श्रुता ।
 भवता साधुना राम युक्तिमन्यामिमां शृणु ॥ २८

धत्ते इत्यर्थः ॥ ११ ॥ तत्रास्थ्यादिकल्पनाप्रकारमाह—दृढेति । मातृगर्भनिषण्णेषु कललेषु सुसूक्ष्मा बीजशक्तिरस्थिहस्तपादा-यङ्कुरस्थितिरेव ॥ १२ ॥ यथाभिमतं खेच्छानुसारि सुमे-वादि महत् तृणाद्यल्पं वा आकारमवाप्नोति ॥ १३ ॥ योग-सिद्ध्यनुसारेण स्थूलसूक्ष्मभावप्राप्तिक्रममुक्तमुपसंहृत्य ज्ञानसिद्ध्य-तद्विलक्षणं तं वक्तुं परमप्रकृतं श्रावयति—श्रुतमिति ॥ १४ ॥ ॥ १५ ॥ चिनोत्यध्यासेनोपचिनोति ॥ १६ ॥ जीवः पश्यति स एवास्य स्थूलभाव इति भावः ॥ १७ ॥ सौक्ष्म्य-प्राप्तिक्रममाह—यदा त्वित्यादिना ॥ १८ ॥ शान्तिं बाधम् ॥ १९ ॥ भाविते साक्षात्कृते ॥ २० ॥ २१ ॥ लौकिकसूर्या-द्यालोकैर्दुर्भेदं नाशयितुमशक्यम् ॥ २२ ॥ केन तर्हादित्येन तन्नाशस्तमाह—आत्मन्येवेति ॥ २३ ॥ अस्यां ज्ञानसिद्धा-वपि दृढायां जीवन्मुक्तानामैच्छिकं विनोदाय स्थूलसूक्ष्मप्राति-भासिकदेहकल्पनं सिद्ध्यतीत्याह—अन्ये च्चेति ॥ २४ ॥ विमूढा विषकीटादयः । अमृतताममृतवदाहारताम् । अमृतं पयोन्नादिविषमिश्रितमिदमिति दृढप्रान्त्या विषताम् ॥ २५ ॥ इति ईदृशं तदुदाहरणं मुहुर्बहुशो लोके आलोकितमित्यर्थः ॥ २६ ॥ व्योमतां ब्रह्माकाशताम् ॥ २७ ॥ सैवास्य निरति-शया अणिमादिसर्वसिद्ध्य इत्याशयेनोपसंहरति—अणिमा-दीति । अन्यां परकार्यं प्रविश्य भोगप्राप्तिलक्षणम् ॥ २८ ॥

देवाकाभ्यासयोगेन जीवः कुण्डलिनीपुङ्गवः ।

उद्धृत्य योज्यते यावदात्मोदः पवनादिषु ॥ २९

स्वज्यते विरतस्पन्दो देहोऽयं काष्ठलोष्टवत् ।

देहेऽपि जीवेऽपि मतावासेचक इवात्परः ॥ ३०

स्वाचरे जंगमे वापि यथाभिमतयेच्छया ।

भोक्तुं तत्संपदं सम्यग्जीवोऽन्तर्विनिवेश्यते ॥ ३१

इति सिद्धिधियं भुक्त्वा स्थितं चेतद्वपुः पुनः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे बाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० च० अग्निमादिलभयोगोपदेशो नाम अशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

श्रीराम उवाच ।

अग्निमादिशुणैश्वर्ययुक्ता सा नृपमामिनी ।
एवं बभूव चूडाला घनाभ्यासवती सती ॥ १
जगामाकाशमार्गेण विवेशाम्बुधिकोटरम् ।
चचार वसुधापीठं गङ्गेवामलशीतला ॥ २
क्षणमप्यगता भर्तुर्बक्षसश्चेतसस्तथा ।
सर्वेषुवास राज्येषु लक्ष्मीरिष जगत्सु च ॥ ३
आकाशागामिनी ह्यामा विद्युत्प्रारम्भभूषणा ।
बभ्राम मेघमालेव गिरिमाला महीतले ॥ ४
काष्ठं तृणोपलं भूतं खं वातमनलं जलम् ।
निर्विघ्नमविशत्सर्वं तन्मुमुक्षाफलं यथा ॥ ५
पेरोरुपरि शृङ्गाणि लोकपालपुराणि च ।
दिग्भ्योमोदररन्ध्राणि विजहार यथासुखम् ॥ ६

तत्रादौ पूर्वदेहपरित्यागोपायमाह—रेचकेति । उद्धृत्य बहि-
र्निःसार्य परदेहे यावद्योज्यते तावदयं देहस्त्यज्यत इति परेणा-
न्वयः । यथा बाह्यपवनसंक्रान्तः पुष्पामोदः पवनादाकृष्य
घ्राणे बोज्यते तद्वत् ॥ २९ ॥ विरतस्पन्द उपरतचेष्टः काष्ठ-
लोष्टवद्भवति । परेषां देहे जीवे मतावपि तत्संपदं भोक्तुमयं
स्वजीवो विनिवेश्यते । यथा आसेचकः पुरुषः करस्थकुम्भो-
दकेन यमेव तर्हं लतां वा आसेकुमिच्छति तमेवास्मिन्निति
तद्वदपि यथाभिमतयेच्छया आदर इत्यन्वयः ॥ ३० ॥ ३१ ॥
इति उक्त्वा परदेहे सिद्धिधियं भुक्त्वा स्थितेन योगिना तत्
पूर्वतमं खं वपुः स्थितं चेतुनस्तत्प्रविश्यते नो चेदन्यद्वा यथा-
यावद्विरोचते तत्तावत्कालं प्रविश्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ अथवा
योगिना अथ परकायभोगानन्तरं स्वान्तःकरणवैपुल्यावादानेन
जगदापूर्य देहादयः । व्यत्ययेन द्वितीयार्थे प्रथमा । स्वाचर-
णसर्वदेहादिप्रतिबिम्बोपाधीस्तत्प्रतिबिम्बजीवांस्तथा तद्वि-
म्बोपाधिसत्त्वादिगुणास्तदवच्छिन्नचित्तक्षणान्बिम्बांश्चेत्यस्मिन्न-
नपि व्याप्तवत्या स्वात्मसंविदा संपूर्णं यथा स्वात्तया स्वीयत
इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ उपसंहरति—ज्ञान्नेति । ईशो योगैश्वर्यसंपन्नो
जीवचित्प्रकाशः सदाभ्युदितं नित्यस्वप्रकाशमुज्जितसर्वदोषं
स्वतस्त्वं ज्ञात्वा यद्यथा समभिवाञ्छति तत्तद्विरेण तथैव

प्रविश्यते स्वमन्यद्वा यद्यत्तत्त विरोचते ॥ ३२

देहादयस्तथा विम्बान्याप्तवत्यास्तितानथ ।

संविदा जगदापूर्य संपूर्णं स्वीयतेऽथवा ॥ ३३

ज्ञात्वा सदाभ्युदितमुज्जितसर्वदोषमीशो

यद्यद्यथा समभिवाञ्छति चित्प्रकाशः ।

प्राप्नोति तत्तद्विरेण तथैव राम

सम्यक्पदं विदुरनाचरणत्वमेव ॥ ३४

तिर्यग्भूतपिशाचाद्यैः सहनागमरासुरैः ।

विद्याधरात्सरःसिद्धैर्व्यवहारं चकार सा ॥ ७

यत्नेन तं च भर्तारमात्मज्ञानामृतं प्रति ।

बहुशो बोधयामास चूडाला न विवेद सः ॥ ८

कलाविदग्धा मुग्धा च बालेयं गृहिणी मम ।

इत्येवं केवलं राजा स चूडालां विवेद ताम् ॥ ९

एतावतापि कालेन तामेवंगुणशालिनीम् ।

बालो विद्यामिव नृपश्चूडालां न विवेद सः ॥ १०

साप्यलब्धात्मविभ्रान्तेस्तां सिद्धिधियमात्मनः ।

दर्शयामास नो राज्ञः शूद्रस्येव मन्त्रक्रियाम् ॥ ११

धीराम उवाच ।

महत्याः सिद्धयोगिन्यास्तस्या अथ शिखिचञ्चलः ।

यत्नेन प्राप नो बोधं बुध्यतेऽन्यः कथं प्रभो ॥ १२

प्राप्नोति । एवं सति तत्त्वविदो नाल्पसिद्धीर्बहुमन्वन्ते कित्वना-
चरणत्वमेव निरतिशयानन्दं सम्यक्पदं विदुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
अग्निमादिलभयोगोपदेशो नाम अशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

चूडाला सिद्धिभिन्ना अत्रबोधश्च भूषतेः ।

गुरुपदेशसाफल्ये किराटाख्यातमीर्यते ॥ १ ॥

चूडाला एवं प्रागुक्तीत्या प्राणधारणादिघनाभ्यासवती सती
अग्निमादिशुणैश्वर्ययुक्ता बभूव ॥ १ ॥ तदैश्वर्यमेवावयुत्या प्रपन्न-
यति—जगामेत्यादिना । मोहकालुष्यस्य तापत्रयस्य चोपशमा-
दमला शीतला च ॥ २ ॥ तस्याः कायव्यूहादिकल्पनैश्वर्यमाह—
क्षणमपीति । अगता अविद्युक्ता । राज्येषु राष्ट्रेषु जगत्सु
भुवनेषु चोवास ॥ ३ ॥ विद्युतां प्रारम्भा उन्मेषा इव शोत-
मानानि भूषणानि यस्याः ॥ ४ ॥ ५ ॥ दिशां व्योम्नश्चोदरे
यावन्ति भुवनरन्ध्राणि प्रसिद्धानि तानि सर्वाणीत्यर्थः ॥ ६ ॥
सर्वभूतरुतज्ञतया संभाषणादिव्यवहारम् ॥ ७ ॥ बहुशः प्रति-
बोधयामासेति व्यवहितेन संबन्धश्छान्दसः ॥ ८ ॥ ९ ॥
यथा वेदाभ्ययनकाले बालो वेदविद्यां सर्वपुरुषार्थानुक्लार्थप्रका-
शनादिगुणशालिनीं न वेद तद्वत् ॥ १० ॥ ११ ॥ सर्वसिद्धि-
शालिन्यास्तस्याश्चेद्भूतबोधने अत्रचित्तार्थान्येषां सिद्धिप्रदानां

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

उपदेशकमो राम व्यथस्थामात्रपालनम् ।
ज्ञतेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रबोध राघव ॥ १३
न श्रुतेन न पुण्येन ज्ञायते ज्ञेयमात्मनः ।
जानात्यात्मानमात्मैव सर्वः सर्पपदानि च ॥ १४

श्रीराम उवाच ।

एवंस्थिते वाथ मुने कथमेतज्जगत्स्थितौ ।
क्रमो गुरुपदेशाख्यः स्वात्मज्ञानस्य कारणम् ॥ १५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अत्यन्तरूपणः कश्चित्किराटो धनधान्यवान् ।
अस्ति विन्ध्याटवीकक्षे कुटुम्बी ब्राह्मणो यथ ॥ १६
तस्यैकदा निपतिता गच्छतो विन्ध्यजङ्गले ।
एका वराटिका राम तृणजालकसंवृते ॥ १७
कार्पण्यात्स प्रयत्नेन सर्वं तृणतुषादिकम् ।
कपर्दकार्यममितो दुधाव दिवसत्रयम् ॥ १८
कपर्दकाः स्युर्मवता चत्वारोऽष्टौ च कालतः ।
ततः शतं सहस्रं च सहस्रे चेति चेतसा ॥ १९
कलयजङ्गले दीनो रात्रिदिवमतन्द्रितः ।
जमहाससहस्राणि बुबुधे न परं तु सः ॥ २०
ततो दिनत्रयस्यन्ते तेन तस्माच्च जङ्गलात् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० च० किराटोपाख्यानं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥८३॥

पूर्वेण्णुविम्बप्रतिमो लब्धश्चिन्तामणिर्महान् ॥ २१
तं प्राप्य तुष्टहृदयः समागम्य गृहं सुखम् ।
प्राप्ताखिलजगद्भूतिः शान्तसर्वतया स्थितः ॥ २२
एवं यथा किराटेन कपर्दान्वेषणेन तत् ।
रत्नं लब्धं जगन्मूढ्यमहोरात्रमखेदिना ॥ २३
तथा श्रुतोपदेशेन स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
अन्यदन्विष्यते चान्यल्लभ्यते हि गुरुकामात् ॥ २४
ब्रह्म सर्वेन्द्रियातीतं श्रुतादीन्द्रियसंविदः ।
तेनोपदेशादन्य नात्मतत्त्वमवाप्यते ॥ २५
गुरुपदेशं च विना नात्मतत्त्वागमो भवेत् ।
केन चिन्तामणिर्लब्धः कपर्दान्वेषणं विना ॥ २६
तत्त्वस्यास्य महार्थस्य गुरुपकथनं गतम् ।
अकारणं कारणतां मणेरिव कपर्दकः ॥ २७
पश्य राघव मायेयं मोहिनीं महतामपि ।
अन्यदन्विष्यते यत्तादन्यदासाद्यते फलम् ॥ २८

अन्यत्करोति पुरुषः फलमन्यदेव

प्राप्नोति यत्रिषु जगत्स्ववलोक्यते च ।

तस्मादनन्तरभवस्य जगद्भ्रमस्य

श्रेयोऽस्तिघाहनमसङ्गमभिच्छेदिव ॥ २९

गुरुणा शिष्यबोधने शक्तिर्दुरापालेति रामः शङ्कते—महत्या इति । तस्या अपि यत्नेन उपदेशप्रयासेन ॥ १२ ॥ 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इत्यादिशास्त्रोक्तमर्यादा व्यवस्था तन्मात्रपालनं गुरुकृत उपदेशकमो न त्वसावनधिकारिण्यपि ज्ञानं बलाजनयितुं शक्नोतीत्यर्थः । प्रज्ञाग्रहणं साधनचतुष्टयसहित-प्रज्ञापरम् ॥ १३ ॥ श्रुतेन अनात्मशास्त्रप्रावीण्येन । पुण्येन चित्त-शुद्ध्यननेन काम्यकर्मवर्गेण । अथवा श्रुतेन ज्ञानेन परोक्षज्ञानेन । आत्मनस्तत्त्वभूतं ज्ञेयं ब्रह्म न ज्ञायते इतरथस्त्वुवच विषयी-क्रियते । पुण्येनापि स्वर्गभोगवन्न विनैव विचारं ज्ञानं जन्यते किंतु ताभ्यां विचारे जनिते चरमसाक्षात्कारवृत्त्या कृतेनात्म-नैवात्मा आत्मानं जानातीत्यर्थः । सर्पपदानि सर्प इव । इत्यार्षे वचनं ॥ १४ ॥ तर्हि गुरुपदेशाख्यः क्रमः कथं केन द्वारेण ॥ १५ ॥ स्थूलाब्धतीनिदर्शनन्यायेन शिष्यबुद्धेः प्रत्यक्षप्रवणता-व्यसनापादनद्वारा गुरुपदेशादर्शनकारणतेति वक्तुं वसिष्ठः किरा-टोपाख्यानमाह—अत्यन्तैत्यादिना । किराटः खेटवणिक ॥ १६ ॥ १७ ॥ कार्पण्यात् स्वीयकृपणतास्वभावात् । दुधाव शोध-यामास ॥ १८ ॥ तस्यान्वेषणोद्योगहेतुमभिप्रायमाह—कपर्दका इति । जामे सति मम हस्तैर्भवता अनेन कपर्दकेन किञ्चित्क्रीत्वा तद्विक्रयाच्चत्वारः कपर्दकाः स्युस्ततोऽष्टौ ततः शतं ततः सहस्रं ततो द्वे सहस्रे चेति चेतसा कलयजन्तयन्सन् ॥ १९ ॥ अल्पार्थ-मप्यारब्धो दृढोद्योगो मूढजनहासदर्शनादिविघ्नैरखण्डितश्रे-

न्महाफलो भवतीति सूचयन्माह—जनेति ॥ २० ॥ २१ ॥ प्राप्ता अखिला जगद्भूतयः सांसारिकभोगा येन । शान्ताः सर्वे दारि-द्रायनर्था यस्य तादृशतया स्थितः ॥ २२ ॥ जगदेव मूर्त्यं यस्य तथाविधं तद्भ्रमम् ॥ २३ ॥ तथा गुरुपदेशकमादन्यच्छाब्दं परोक्षप्रायमन्विष्यते । अन्यमित्यापरोक्षं लभ्यते ॥ २४ ॥ कथमन्यत्तदाह—ब्रह्मेति । श्रुतादि शब्दश्रवणतच्छाब्दबो-धादि इन्द्रियप्रयोज्याः संविदक्षितवृत्तयः । गुरुपदेशाच्च शान्दवृत्तय एव जन्यन्ते । तासां मध्ये अत्यन्तस्वच्छतामायां चरमवृत्तौ नित्यापरोक्षब्रह्मस्फुरणं तु शिष्यबुद्धिस्वच्छताब्रह्म-स्वभावोभयप्रयुक्तमेव नोपदेशस्तत्कारणमित्यर्थः ॥ २५ ॥ तथापि 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्यादिश्रुतेर्गुरुपदेश आवश्यक इत्याह—गुरुपदेशमिति ॥ २६ ॥ अन्वेषणद्वारा कपर्दक इव मनन-द्वारा गुरुपकथनमकारणमप्यवश्यफलदर्शनात्कारणतां गत-मित्यर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥ एवमकारणमेव गुरुपदेशाद्यात्मलाभस्य कारणम्, लब्धे त्वात्मनि प्रारब्धशेषोपनीतस्य जगद्भ्रमस्योपेक्ष-यैव क्षयः सिध्यतीति न यन्नापेक्षेत्याह—अन्यदिति । त्रिषु जगत्सु यद्यस्माद्धेतोरेवमवलोक्यते श्रूयते च तस्मादात्मलाभा-दनन्तरं भवस्य प्रारब्धशेषोपनीतस्य जगद्भ्रमस्य तु असङ्गं यथा स्यात्तथा अनिच्छया उपेक्षणेनातिघाहनमेव श्रेय इत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे किराटोपाख्यानं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः ८४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततः शिखिध्वजो राजा तत्त्वज्ञानपदं विना ।
 आजगाम परं मोहं तमोन्धत्वमिवाप्रजाः ॥ १ ॥
 दुःखान्निदीपितमना मनागपि विभूतिषु ।
 तास्वमीष्टोपनीतासु न रेमेऽग्निशिखास्विव ॥ २ ॥
 एकान्तेषु दिगन्तेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
 आजगाम रतिं जन्तुर्मुक्तेषुर्व्याधतो यथा ॥ ३ ॥
 राघव त्वमिवाशेषाः सान्त्वानुनयबोधनैः ।
 प्रार्थितः कार्यते भृत्यैर्महीपो दिवसक्रियाः ॥ ४ ॥
 नित्यमुद्दामवैराग्यः परिव्राड्विव शान्तधीः ।
 खिद्यते च महाभोगान्स भोक्तुं च ध्रियं स्थितः ॥ ५ ॥
 ददावतितरां दानं गोभूमिकनकादिकम् ।
 देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च स्वजनेभ्यश्च मानद ॥ ६ ॥
 अचार च तपः कर्तुं कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम् ।
 परिवभ्राम तीर्थानि वनान्यायतनानि च ॥ ७ ॥
 स तथापि विशोकत्वं न मनागपि लब्धवान् ।
 अनिधानां खनन्भूमिं निधानार्थी निधिं यथा ॥ ८ ॥
 रात्रिदिवं महानेष शुष्यत्येव कृशानुना ।
 चिन्तया चिन्तयामास संसारव्याधिमेषजम् ॥ ९ ॥
 चिन्तापरवशो दीनो राज्यं स्वस्य विषोपमम् ।
 महाविभवमप्यग्रे नापश्यत्खिन्नया धिया ॥ १० ॥
 अथैकदैकान्तगतां चूडालामङ्गमागताम् ।
 इदं मधुरया वाचा समुवाच शिखिध्वजः ॥ ११ ॥
 शिखिध्वज उवाच ।
 भुक्तं राज्यं चिरं कालं भुक्त्वा विभवभूमयः ।
 अधुनास्मि विरागेण युक्तो गच्छामि काननम् ॥ १२ ॥

शिखिध्वजस्य वैराग्यं चूडालाभ्रासनं वने ।

निशि वैकस्य निर्वाणं मन्दरे स्थितिरीर्यते ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञानरूपं पदं विश्रान्तिस्थानं विना । अप्रजाः नष्ट-
 संततिः पुमान् शोकादितमसा अन्धत्वमिव ॥ १ ॥ असीष्टैः
 सामन्तादिभिरुपनीतासु रजादिविभूतिषु ॥ २ ॥ मुक्त इषुर्यस्यै
 तथाविधो दैवादविद्धो जन्तुर्मुगादिव्याधतो मीतो यथा एका-
 न्तादिषु रतिमेति तद्वत् ॥ ३ ॥ अशेषा दिवसक्रियाः कार्यते
 'इक्रोरन्यतरस्याम्' इत्यणौ कर्तुणां कर्मत्वे कर्मणि लः ॥ ४ ॥
 परिव्राड्विव स्थितः स महाभोगान् ध्रियं च भोक्तुं खिद्यते । चः
 पूर्ववाक्यार्थेन सहास्य समुच्चयार्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ देहमनःशोधनं
 कर्तुं कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं तपश्चकार ॥ ७ ॥ ८ ॥ चिन्तया
 चिन्तालक्षणेन कृशानुना ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ विभवभूमयो
 वैभवपदानि ॥ १२ ॥ क्रोडीकुर्वन्ति श्लिष्यन्ति ॥ १३ ॥
 सुखाधिक्ये हेतुन्दर्शयति—न देशेति ॥ १४ ॥ इदानीं वनराजी-

न सुखानि न दुःखानि नापदो न च संपदः ।
 क्रोडीकुर्वन्ति तन्वक्त्रि मुनिं वननिवासिनम् ॥ १३ ॥
 न देशभङ्गसंमोहो न संप्राप्ते जनक्षयः ।
 राज्यादप्यधिकं मन्ये सुखं वननिवासिनाम् ॥ १४ ॥
 स्तबकस्तनधारिण्यो रक्तपल्लवपाणयः ।
 मञ्जरीजालहारिण्यो लोलशुभ्राम्बुदांशुकाः ॥ १५ ॥
 स्वपरागाङ्गरागिण्यः कृतकौसुममण्डनाः ।
 आसेव्यकाञ्चनशिलानितम्बतटशोमिताः ॥ १६ ॥
 तरङ्गमौक्तिकप्रोतसरिन्मुक्तालतावृताः ।
 लतावयस्यावलिता मुग्धमुग्धमृगात्मजाः ॥ १७ ॥
 स्वभावोद्दामसौगन्ध्या वितीर्णफलभोजनाः ।
 षट्पदध्रेणिनयनाः पुष्पापूरलताङ्गिकाः ॥ १८ ॥
 आस्वाद्यस्यन्दतां याताः शीतलामलगाङ्गिकाः ।
 रमयन्ति त्वमिव मां वनवीथ्यो वरानने ॥ १९ ॥
 यथा विविकमेकान्ते मनो भवति निर्वृतम् ।
 न तथा शशिबिम्बेषु न च ब्रह्मेन्द्रसप्तसु ॥ २० ॥
 अस्मिन्सन्मन्त्रणे तन्वि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ।
 भर्तुर्विघटयन्तीच्छां न स्वप्नेऽपि कुलस्त्रियः ॥ २१ ॥
 चूडालोवाच ।
 प्राप्तकालं कृतं कार्यं राजते नाथ नेतरत् ।
 वसन्ते राजते पुष्पं फलं शरदि राजते ॥ २२ ॥
 जराजरठदेहानां युक्तो वनसमाश्रयः ।
 न यूनां त्वाहशामेव तेनैतन्मे न रोचते ॥ २३ ॥
 यौवनेन महाराज न यावद्वयमुज्जिताः ।
 पुष्पौषेणेष तरवस्तावच्छोभामहे गृहे ॥ २४ ॥
 पुष्पधाना पुष्पमितजरसा सह काननम् ।

चूडालोपमात्वेन स्त्रीकृत्य वर्णयति—स्तबकैत्यादिपद्मभिः ।
 प्रायेण सर्वत्र रूपकाणि ॥ १५ ॥ कृतानि कुसुमान्येव कौसुमानि
 मण्डनानि याभिः । आसेव्याः काञ्चनशिला एव नितम्बतटस्तैः
 शोमिताः ॥ १६ ॥ तरङ्गलक्षणमौक्तिकैः प्रोताभिः सरिन्मुक्ता-
 लताभिरावृताः । मुग्धमुग्धा मृगा एवात्मजाः विशवो यासाम्
 ॥ १७ ॥ क्षुधितेभ्यो वितीर्णानि दत्तानि फलभोजनानि याभिः ।
 पुष्पैरापूर्यन्ते इति पुष्पापूरा लता एव बाह्यावृत्तानि यासाम्
 ॥ १८ ॥ लदधर इव आस्वाद्यः स्यन्दस्तरङ्गप्रस्रावो यासां तद्भावं
 याताः । वनवीथ्यो वनराज्यः ॥ १९ ॥ २० ॥ अस्मिन्वनगमन-
 विषये सन्मन्त्रणे उत्तमविचारे ॥ २१ ॥ तस्य वैराग्यदाढ्यं जिज्ञा-
 समाना प्राक्तनीं कामासक्तिमेव वयोनुरूपतावर्णनेनानुमन्य-
 मानेव स्थूणाविचालनन्यायेन विचालयन्ती चूडालोवाच—
 प्राप्तेत्यादिना ॥ २२ ॥ २३ ॥ गृहे शोभामहे । वसावेति यावत् ।
 'अस्मदो द्वयोश्च' इति बहुवचनम् ॥ २४ ॥ पुष्पाणि धीयन्ते

समं वृहद्गमिष्यामो हंसा इव सरोवरात् ॥ २५
अप्राप्तकालं नृपतेः प्रजापालनमुज्ज्वलतः ।
राजन्यस्यैव रन्ध्रस्य महदेनो भविष्यति ॥ २६
अप्राप्तकारिणं भूपं रोधयन्ति च वै प्रजाः ।
रोधयन्ति ह्यकार्येभ्यः प्रभुं भृत्याः परस्परम् ॥ २७

शिखिष्वज उवाच ।

अलमुत्पलपत्राक्षि विघ्नेनाभिमतस्य मे ।
विद्धि मां गतमेवेतो दूरमेकान्तकाननम् ॥ २८
बाला त्वमनवद्याङ्गि नागन्तव्यं वनं त्वया ।
पुंसामपि हि मृदङ्गि दुर्विगाह्यो वनाश्रयः ॥ २९
समर्था न वनावासे योषितः कठिना अपि ।
कानने पुष्पमञ्जर्यः सोढुं शक्यालिमक्षमाः ॥ ३०
भवत्या पालयन्त्येह राज्ये स्थातव्यमुत्तमे ।
कुटुम्बभारोद्ग्रहणं पत्यौ याते व्रतं स्त्रियः ॥ ३१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्या दयितां राजा तामिन्दुवदनां वशी ।
उत्तस्थौ ज्ञातुमखिलं दिनकार्यं चकार च ॥ ३२
अथोज्झितप्रजाचेष्टो रविरस्ताचलं ययौ ।
शिखिष्वजो वनमिव समस्तजनदुर्गमम् ॥ ३३
संहृत्य विततं रूपं तमेवानुययौ प्रभा ।
नाथं भवननिष्क्रान्तं चूडालेवानुरागिणी ॥ ३४
आययौ यामिनी श्यामा भुवनं भस्मधूसरम् ।
धृतव्योमापगं शर्वं संश्लेषा यमुनेव सा ॥ ३५

धार्यन्ते यासु लतासु तक्षीयश्चिरोगतपुष्पैर्मितया तुलितया
जरसा सह पुष्पसिताभिर्लताभिर्मैत्री तत्साम्यदशायामेव
शुकेति भावः ॥ २५ ॥ रन्ध्रस्य राज्यच्छिद्रस्य निमित्तमिति
शेषः । एनः पापम् ॥ २६ ॥ रोधयन्ति निवारयन्ति ॥ २७ ॥
एवं विचालितोऽप्यविचलवैराग्यः शिखिष्वजस्तामनुनयति—
अलमिष्यादिना ॥ २८ ॥ वनाश्रयो वनप्रदेशो दुःखेन
विगाह्यः प्रवेष्टुं शक्यः ॥ २९ ॥ कठिनाः कठोराङ्गयोऽपि । यथा
कानने जाता उपवनजाताभ्यः कठोरा अपि पुष्पमञ्जर्यः शक्यालि
सोढुमक्षमास्तद्वदित्यर्थः । 'शक्यालिम्' इति पाठे शक्यानां
बलवतां पक्षिणामालिं पक्षिमिति व्याख्येयम् ॥ ३० ॥
यस्त्वयोक्तं 'अप्राप्तकालं नृपतेः' इति तस्यापि दोषस्य परिहार-
स्तयैव कार्यं इत्याशयेनाह—भवत्येति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
उपमेययोर्विशेषणे उपमानयोरपि योज्ये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
धृता व्योमापगा स्वसखी गङ्गा येन तथाविधं शर्वं संश्लेष्यति
स्वयमपि कामादालिङ्गतीति संश्लेषा तथाविधा यमुनेवेत्यु-
त्प्रेक्षा । 'श्यामया' इति श्लेषः कर्तारिणः ॥ ३५ ॥ तमाललक्षण-
बालका अङ्गे यासां तासु दिक्षु यमुनाचरित्रदर्शनादिव ज्योत्स्ना-
हासोदयाङ्कितं परितः कृतमण्डलं च यथा स्यात्तथा स्थितासु ।

१ संध्याभ्रदन्तासु इति पाठः.

दिक्षु संध्याभ्रदन्तासु स्थितासु कृतमण्डलम् ।
तमालबालकाङ्कासु ज्योत्स्नाहासोदयाङ्कितम् ॥ ३६
गच्छतोऽपरं पारं देपत्योर्मैरवं पदम् ।
देवोद्यानमयं रन्तुं दिनश्रीदिननाथयोः ॥ ३७
आगच्छतोऽरिदं पारं ह्यघतीक्ष्णकरोज्झितम् ।
निशानिशानायकयोर्देपत्योर्मैरवं पुनः ॥ ३८
तारागणोऽथ ददशे विकीर्णो व्योमकुट्टिमे ।
मुक्तो मङ्गललाजानां दिग्बधूभिरिवाङ्गलिः ॥ ३९
चन्द्रानना तमःश्यामा भ्रान्ता कुमुदहासिनी ।
यामिनी यौवनं प्राप सरोजमुकुलस्तनी ॥ ४०
कृतसंध्यासमाचारः सहचूडालयेष्टया ।
सुष्वाप शयने भूयो मैनाक इव सागरे ॥ ४१
अथार्धरात्रसमये देशे निःशब्दतां गते ।
घननिद्राशिलाकोशनिलीने सकले जने ॥ ४२
स तस्यां संप्रसुप्तायां शयने कोमलांशुके ।
भृशं निद्राविमूढायां भ्रमर्यामिव पङ्कजे ॥ ४३
तत्याज दयितां सुतामङ्गाद्राजा शिखिष्वजः ।
खैरं खैरं मुखं राहोर्दिशं चान्द्रप्रभामिव ॥ ४४
उत्तस्थौ शयनालीनवधूकार्धाञ्चलांशुकात् ।
सलक्ष्मीकान्तिलोलोर्मैर्हरिः क्षीरार्णवादिव ॥ ४५
वीरक्रमार्थं यामीति तत्रैवानुचरव्रजम् ।
योजयित्वा जगामासौ पुराङ्गिर्गत्य पूर्णधीः ॥ ४६
राज्यलक्ष्मि नमस्तुभ्यमित्युक्त्वा मण्डलाद्गतः ।
विवेशोप्रामरण्यानीमेको नद इवार्णवम् ॥ ४७

इतःप्रभृति सर्वेषां सप्तम्यन्तानां तारागणो ददशे इत्यत्र
संबन्धः ॥ ३६ ॥ दिनश्रीश्च दिननाथश्च तद्रूपयोर्देपत्योर्देवो-
द्यानप्रचुरं मैरवं मेरुसंबन्धि अपरं पारं उत्तरार्धं रन्तुं गच्छतोः
सतोः ॥ ३७ ॥ तथा अर्धैर्धर्मोपतापभोजकैः पापैस्तन्नि-
मित्तैस्तीक्ष्णकरैश्चण्डातपैश्चोज्झितं मैरवमिदं पारं निशानिशा-
नायकलक्षणयोर्देपत्योः रन्तुमागच्छतोः सतोः ॥ ३८ ॥
दिग्बधूर्भिर्मुक्त उत्सृष्टो मङ्गललाजानामङ्गलिरिव व्योमलक्षणे
कुट्टिमे सौघतले तारागणो ददशे ॥ ३९ ॥ स्वनाथान्वेषणेन
तद्बुद्ध्यप्रतीक्षया च भ्रान्ता कुमुदादिकुमुदमेहोसवती । यौवनं
स्वयौवनफलमिति यावत् ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ संप्रसुप्तायां
तस्यां चूडालायां भृशं निद्रया विमूढायां सत्याम् ॥ ४३ ॥
यथा राहोर्मुखं चन्द्रमोक्षकाके खैरं खैरं शनैः शनैश्चान्द्रप्रभां
प्राचीं दिशं प्रति त्यजति तद्वत् ॥ ४४ ॥ लीना वधूर्वास्मिस्त-
लीनवधूकं तथाविधमर्धाञ्चलमर्धभागो यस्य तथाविधमंशुकं
प्रावरणवस्त्रं यस्मिन्तथाविधाच्छयनान्पर्यङ्कात् । लक्ष्म्याः
कान्तिभिः सहिताः सलक्ष्मीकान्तयो लोलाश्वोर्मयो यस्मिन्स्था-
विधात्क्षीरार्णवादिव ॥ ४५ ॥ वीरक्रमश्चोरदुष्टनिग्रहार्था निशा-
चर्या तत्र वीरक्रम एवानुचरव्रजं योजयित्वा नियुज्य । पूर्णधी-
निस्तृष्टः ॥ ४६ ॥ उप्रां मीषणाम् । अरण्यानी महदरण्याम् ।

घनान्धकारमुदमाख्या क्षुद्रभूतौघकर्कषा ।
 स्मरण्यानी निशा साधं समं तेनातिवाहितम् ॥ ४८
 प्रातः शून्यामरण्यानी स नीत्वा विततं दिनम् ।
 सप्तमर्केण कस्यांश्चिद्विश्राम्य वनावनौ ॥ ४९
 भानावदृश्यतां याते तत्र क्षान्नादिपूर्वकम् ।
 किञ्चित्फलादिकं भुक्त्वा तं निनाय तमस्विनीम् ॥ ५०
 पुनः प्रातः पुराण्युच्चैर्मण्डलानि निरीक्ष्यदीः ।
 जब्जुल्लङ्घयामस्त राजा ज्ञात्वाशशर्करीः ॥ ५१
 ततो मन्दरशैलस्य तटस्थं जनदुर्गमम् ।
 प्राप काननमत्यन्तदूरस्थजनतापुरम् ॥ ५२
 रटप्रणालसलिलकपीबलितपावपम् ।
 शीर्षवेद्यालयज्ञातभूतपूर्वद्विजाधमम् ॥ ५३
 क्षुद्रप्राणिविनिर्मुक्तसिद्धसेव्यलतालयम् ।
 आपूर्णपादपलतं प्राणवृत्तिकरैः फलैः ॥ ५४
 तत्रैकस्मिन्समैः शुद्धे स्थले सलिलमालिते ।
 शीतले शाद्वलक्ष्यामे क्षिण्ये सफलपादपे ॥ ५५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० च० क्षिण्वजप्रव्रज्या नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमः सर्गः ८५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं क्षिण्वजः पूर्णमठिकायां वने स्थितः ।
 इदानीं शृणु चूडाला सा किं कृतवती गृहे ॥ १
 तत्रार्धरात्रसमये दुरं याते क्षिण्वजजे ।
 हरिणीं प्रामसुतेषु चूडाला बुबुधे भयात् ॥ २
 अपश्यत्पतिनिर्हीना शयनं शून्यतां गतम् ।
 अमास्करमपूर्णेन्दु शान्तशोभमिवाम्बरम् ॥ ३

‘हिमारण्ययोर्महत्त्वे’ इत्यानुक् ॥ ४७ ॥ घनैरन्धकारसदृशैर-
 न्धकारलक्षणैश्च गुल्मैराख्या सा अरण्यानी निशा च तेनाति-
 वाहिता उत्तीर्णा ॥ ४८ ॥ अर्केण समं विश्राम्येत्तुक्त्या
 आसायं जगामवेति गम्यते ॥ ४९ ॥ तमस्विनीं रात्रिम्
 ॥ ५० ॥ ५१ ॥ अत्यन्तदूरस्था जनता जनसमूहाः, जनपदा
 इति यावत्, पुराणि च यस्मात् ॥ ५२ ॥ रटन्ति सशब्दं
 प्रबहन्ति वंशप्रणालद्वारा सलिलानि याभ्यस्तथाविधामिर्भापी-
 मिर्बलिता बलवत्तराः कृताः पादपा यस्मिन् ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ शाद्वलैर्हरिततृणव-
 त्प्रदेशैः श्यामे । ‘मडशादाइल्लक्ष्’ ॥ ५५ ॥ उटजः पर्णशाला
 तद्रूपमाल्यम् ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ विधिर्घोता जगति स्वसृष्टमण्डले
 क्रमं व्यवहारसाधनजातमिव ॥ ५९ ॥ पुष्पाणामुच्चं संचयम् ।
 फलमूलकुशकाष्ठापीनामप्युपलक्षणमेतत् । ततः तृतीये इत्यर्थः
 ॥ ६० ॥ ६१ ॥ उक्तमन्योपसंहरति—इतीति । मालवेशः
 क्षिण्वज इति वर्णितप्रकारेण मन्दरोपान्तकच्छे विरचिते उटजे

समञ्जरीभिर्बल्लीभिः स चकारोटजालयम् ।
 प्रावृट्कालः सविद्युद्भिर्नीलान्धैरिव पञ्जरम् ॥ ५२
 मसृणं वैणवं दण्डं फलभोजनभाजनम् ।
 अर्घपात्रं पुष्पमाण्डमक्षमालां कमण्डलुम् ॥ ५३
 कस्यां शीतापनोदाय कृतीं चैव मृगाजिनम् ।
 आनीयायोजयत्सस्मिन्मठिकामन्दिरे नृपः ॥ ५४
 यत्किञ्चिदन्यद्वा वस्तु योग्यं ताम्रसकर्मणि ।
 तत्तत्र स्थापयामास जगतीव क्रमं विधिः ॥ ५५
 संध्यापूर्वं जपं प्रातः प्रहरे स तदाकरोत् ।
 पुष्पोच्चयं द्वितीये तु ज्ञानं देवार्चनं ततः ॥ ६०
 पश्चाद्भनफलं किञ्चिद्भनकन्दं विसादि च ।
 भुक्त्वा जप्यपरो भूत्वा निनायैको निशां वशी ॥ ६१
 इति दिवसमखेदं मन्दरोपान्तकच्छे
 विरचित उटजेऽन्तर्मालवेशो निनाय ।
 नवनृपतिविलासं तं न सस्मार कं वा
 स्फुरति हृदि विवेके राज्यलक्ष्म्यो हरन्ति ६२

उत्सथौ किञ्चिदाम्लानववना खेदशालिनी ।
 कुसिकेव महाबली निरुत्साहाङ्गपल्लवा ॥ ४
 न प्रसन्ना न विमला बभूवाकुलतां गता ।
 दिनश्रीरिव नीहारधूसरा सा व्यतिष्ठत ॥ ५
 क्षणं शक्योपविष्टैव चिन्तयामास चिन्तया ।
 कष्टं राज्यं प्रभुस्त्यक्त्वा वनं यातो गृहादिति ॥ ६
 तन्मयीहाद्य किं कार्यं तत्समीपं व्रजाम्यहम् ।
 भर्तैव गतिरुद्दिष्टा विधिना प्रकृता स्त्रियः ॥ ७

अन्तःस्थितः सन्नखेदं दिवसं बहून् दिवसाजिनाय । तं प्रागनु-
 भूतं नवं नृपतिविलासं न सस्मार । तत्कुतस्तप्राह—कं वेति ।
 विवेके हृदि स्फुरति सति राज्यलक्ष्म्यः कं वा दरिद्रमपि हरन्ति
 वाञ्छजननेन वशीकर्तुं शक्नुवन्ति । न कंषिदपीत्यर्थः ॥ ६२ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 क्षिण्वजप्रव्रज्या नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

राश्यां प्रभुद्वया राज्ञोऽन्वेक्षणं पथि दर्शनम् ।

भाष्यार्थदर्शनं काले बोधनं चोपवर्ष्यते ॥ १ ॥

उक्तमनूय वक्ष्यमाणकथया संगमयति—एवमिति ॥ १ ॥

प्रागनुभवेति राजवियोगभीत्या सदा जाग्रत्यपि देवाभिप्राया
 हतेति द्योतार्थम् ॥ २ ॥ पत्या निर्हीना त्यक्ता ॥ ३ ॥ कुत्सितौना
 क्षारकर्दमादिजलेन सिक्ता । विशेषणं साधारणं योज्यम् ॥ ४ ॥
 ॥ ५ ॥ इति चिन्तया वक्ष्यमाणं चिन्तयामासेत्यर्थः ॥ ६ ॥
 तदेवाह—तदिति । विधिना शास्त्रेण भर्तैव प्रकृता प्रथमा
 गतिः शरणं उद्दिष्टा विहिता । असति हि भर्तारि पुत्रादयो

इति संचिन्त्य भर्तारमनुगन्तुं समुत्थिता ।
 चूडाला वातरन्ध्रेण निर्गत्याम्बरमाचरौ ॥ ८
 बभ्रामाम्बरमार्गेण कालस्कन्धेन योषिणी ।
 कुर्वती सिद्धसार्धस्य मुखेनान्येन्दुविभ्रमम् ॥ ९
 ददर्शाथ यथायातं रात्रौ अङ्गधरं पतिम् ।
 भ्रमन्तमेकमेकान्ते वेतालसमयोदितम् ॥ १०
 तादृशं पतिमालोक्य स्थित्वा नगनकोटरे ।
 भविष्यन्तिन्तयामास सर्वं भर्तुरखण्डितम् ॥ ११
 यथा येन यदा यत्र यावत्कार्यं यथोदयम् ।
 यथा च निर्वृतिः स्फारा गन्तव्या तेन राघव ॥ १२
 अवश्यं भवितव्यं तद्भर्तुर्दृष्ट्वा पुरः स्थितम् ।
 तदेव संवादयितुं गमनात्सा न्यवर्तत ॥ १३
 आस्तां ममाद्य गमनं काले नातिचिरेण हि ।
 मयास्य पार्श्वे गन्तव्यं नियतेरेष निश्चयः ॥ १४
 इति संचिन्त्य चूडाला प्रविश्यान्तःपुरं पुनः ।
 सुष्वाप शयने शंभोः शिरसीवैन्दवी कला ॥ १५
 केनचित्कारणेनासौ गतः संप्रति भूपतिः ।
 इति पौरं जनं सर्वमाश्वासयातिष्ठदङ्गना ॥ १६
 राज्यं ररक्ष भर्तुस्तत्कमेण समदर्शनात् ।
 यथा कालेन केदारं पकं कलमगोपिका ॥ १७
 तयोस्तदाऽवहत्कालो दंपत्योः स्थितयोस्तथा ।
 अदृष्टान्योन्यमुखयो राज्यक्रान्तनपालयोः ॥ १८
 जगामाथ दिनं पक्षो मासोऽथ ऋतुवत्सरः ।
 शिखिध्वजस्य विपिने चूडालायाः स्वमन्दिरे ॥ १९
 बहुनात्र किमुकेन वर्षाण्यष्टादशशङ्कना ।
 चूडालोवास सदने वनगुच्छे शिखिध्वजः ॥ २०
 अथ यातेषु बहुषु वर्षेषु जरसा घृते ।
 शिखिध्वजे महाशीलतटकोटरवासिनि ॥ २१

मर्तुः कषायपाकं तदाकल्प्य पाळितं शिखम् ।
 तदा तस्याय यातेषु वर्षेषु जरसा घृते ॥ २२
 तदा तस्यात्मकार्यस्य भवितव्यतया तथा ।
 मर्तुः समीपगमने मम कालोऽवसित्यथ ॥ २३
 संचिन्त्य मन्दरोपान्तं गन्तुं बुद्धिं चकार सा ।
 अचारास्तःपुराद्रात्रौ ततार नभसः पथम् ॥ २४
 जगाम वातस्कन्धेन गच्छन्ती खे ददर्श सा ।
 कल्पवृक्षांशुकच्छन्नरत्नस्तवकभूषिताः ॥ २५
 नन्दनोद्याननिलया रक्ताः सिद्धाभिसारिकाः ।
 परामृष्टेन्दुशकलान्प्रालेयकणवर्षिणः ॥ २६
 सिद्धोत्तमात्तसौगन्ध्यान्स्पर्शयामास मादृताम् ।
 चन्द्रबिम्बामृताम्भोधेर्महावीचिपरम्पराम् ॥ २७
 अपश्यन्निर्मलज्योत्स्नामम्बरान्तरतां गता ।
 मेघान्तरेण गच्छन्ती मेघलघ्नाश्च विद्युतः ॥ २८
 अवियुक्ताः स्वभर्त्रा सा भूयो भूयो व्यलोकयत् ।
 उवाच चात्मनैवाहो यावज्जीवं शरीरिणाम् ॥ २९
 न स्वभावः शमं याति ममाप्युत्कण्ठितं मनः ।
 कदा मृगेन्द्रस्कन्धं तं प्रणयप्रवणं पुनः ॥ ३०
 पश्यामि कान्तमित्युक्तं ममाप्युत्कण्ठते मनः ।
 मञ्जरीजालवलितास्तदं वल्लयः स्वकं प्रतिम् ॥ ३१
 न मुञ्चन्ति क्षणमिति ममाप्युत्कण्ठते मनः ।
 यथेयमग्रजा कान्तमेति सिद्धाभिसारिका ॥ ३२
 तथा कदाहमेप्यामि ममापीति मनः स्थितम् ।
 इमे मन्दाश्च मरुत पते च शक्तिनः कराः ॥ ३३
 अनराजय पताश्च ममाप्युत्कण्ठयन्त्यहो ।
 हे चित्साह मुधैवान्तः किं त्वं ताण्डवितं स्थितम् ३४
 सा व्योमनिर्मला साधो क ते याता विवेकिता ।
 अथवा चित्त भर्तारं खं प्रत्युत्कण्ठसे सखे ॥ ३५

गतिरिति भावः ॥ ७ ॥ वातरन्ध्रं वातायनं तेन ॥ ८ ॥
 अन्येन्दुविभ्रमं द्वितीयचन्द्रभ्रान्तिम् ॥ ९ ॥ वेतालबोध्ये समये
 निशि उदितं प्रकाशमानम् ॥ १० ॥ भर्तुः भविष्यत् भाविपदार्थ-
 जातम् ॥ ११ ॥ भविष्यदेवप्रकारनिमित्तकालदेशक्रियेवसाभ्यु-
 दयनिःश्रेयसपर्यन्तैर्विभज्य चिन्तितवतीत्याह—यथेति ।
 स्फारा निर्वृतिर्भूमनन्दविभ्रान्तिः ॥ १२ ॥ पुरः स्थितमिव शोष-
 वरूढपरोक्षं दृष्ट्वा संवादयितुम् । तदनुरूपमाचरितुमिति यावत्
 ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ कलमगोपिका शालिपालिका
 ॥ १७ ॥ अवहत् अगमत् ॥ १८ ॥ कथमगमत्तदाह—
 जगामेति । ऋतुसहितो वत्सरः ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ कषा-
 याणां रागादिवासनानां पाकमालक्ष्य तत्तावत्कालं तथा पाळितं
 प्रतीक्षितमिति यावत् । तदेत्यादिरुक्त्वानुवादो बक्ष्यमाणार्थः
 ॥ २२ ॥ आत्मकार्यस्य स्वभर्तृबोधस्य तथा बक्ष्यमाणप्रकारेण

सोपदेशेनैव भवितव्यतया ॥ २३ ॥ ततार पुत्रुवे ॥ २४ ॥
 ॥ २५ ॥ रक्ताः कान्तेष्वनुरक्ताः । परामृष्टानीन्दोः शकलाणि
 कला यैः ॥ २६ ॥ सिद्धोत्तमेभ्यः आस्तानि गृहीतानि मन्दा-
 रमालाहरिचन्दनकस्तूर्यादिसौगन्ध्यानि यैस्तथाविधान्मादृतान्
 स्पर्शयामास पस्पर्श । चन्द्रबिम्बलक्षणस्यामृताम्भोधेर्महावी-
 चिपरंपराभूतां निर्मलज्योत्स्नाम् । अम्बरस्य आन्तरतामन्त-
 र्वर्तितां गता सती ददर्श ॥ २७ ॥ २८ ॥ स्वभर्त्रा मेघेन
 अवियुक्ताः विद्युतो व्यलोकयत् । आत्मना मनसैकोवाच ।
 किमुवाच तदाह—अहो इत्यादिना ॥ २९ ॥ ३० ॥ मम मनः
 उक्तं विवेकैर्बोध्यमानमपि इति उत्कण्ठते ॥ ३१ ॥ अग्रे श्रेष्ठे
 देवयोनौ जाता अग्रजा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ अज्ञ जड । मुधा
 व्यर्थमेव ताण्डवितं सर्कि स्थितमपीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ अथवा
 नायं दोष इति शेषः । कुतस्तत्राह—भर्तारमिति ॥ ३५ ॥

१-जरसा घृते इति पाठः । घृते इति पाठे जरसोपलक्षितस्येति । घृते इति पाठे शिखिध्वजे जरसा घृते सतीति चान्वयः,

तिष्ठोत्कण्ठाभिवलितं किं समुत्कण्ठितेन मे ।
 किं वृथोत्कण्ठसे वामे भर्ता यातो जरां भवेत् ॥ ३६
 तपस्वी कृशागात्रश्च भवेन्निरासनस्तथा ।
 मनो राज्याद्यभोगेभ्यो मन्येऽस्यामूलतां गतम् ३७
 वासनालतिका प्रावृण्णदी नदगता यथा ।
 एकान्तरत एकात्मा नीरसः शान्तवासनः ॥ ३८
 मन्ये भवति मे भर्ता शुष्कवृक्षसमस्थितिः ।
 तथापि चित्त कोत्कण्ठा भवतोत्कण्ठयान्वितम् ॥ ३९
 मतिमुद्बोधय योगेन श्लेषयिष्याम्यहं पतिम् ।
 प्रमृष्टकलनं भर्तुः समीकृत्य मनो मुनेः ॥ ४०
 राज्य एव नियोज्यामि निवत्स्यावः सुखं चिरम् ।
 अहो नु चिरकालेन मनोरथमिमं शुभम् ॥ ४१
 अहमासादयिष्यामि यद्भर्ता समचिन्तितः ।
 समग्रानन्दवृन्दानामेतदेवोपरि स्थितम् ॥ ४२
 यत्समानमनोवृत्तिसङ्गमास्वाद्ने सुखम् ।
 इति चिन्तयती व्योम्ना चूडालोलङ्घय पर्वतान् ॥ ४३
 देशानन्दान्दिगन्तांश्च प्राप मन्दरकन्दरम् ।
 अहश्यैव नभःस्थैव प्रविवेश वनान्तरम् ॥ ४४
 वात्येव पादपलतास्पन्दवेद्यगमागमा ।
 वनैकदेशे कस्मिंश्चित्कृतपणोऽजे पतिम् ॥ ४५
 दृष्ट्वा योगेन बुबुधे देहान्तरमिवास्थितम् ।
 हारकेयूरकटककुण्डलादिविभूषितः ॥ ४६
 अभवन्मेरुकान्तिर्यस्तमेवात्र ददर्श सा ।
 कृशाङ्गं कृष्णवर्णं च जीर्णपर्णमिव स्थितम् ॥ ४७
 कज्जलाम्बुभरन्नातं भृङ्गीशमिव निस्पृहम् ।
 चीराम्बरधरं शान्तमेकाकिनमवस्थितम् ॥ ४८

इदानीं देहं प्रत्याह—किमिति । वामे हे स्त्रीशरीर, यदालिङ्ग-
 नाद्यर्थं समुत्कण्ठसे स ते भर्ता जरां यातस्त्वभिरपेक्ष एव भवेत्
 संभाव्यत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ राज्यादीनामभोगेभ्यः अभोगार्थं
 अस्य मनः अमूलतां निर्मूलतां गतं मन्ये संभावये ॥ ३७ ॥ तथा
 अस्य वासनालतिका यथा प्रावृण्णदी क्षुद्रा महानदगता सती न
 पृथगवशिष्यते तथा संपन्नोति शेषः । एकान्ते रतः आसक्तः
 अत एव एकात्मा । नीरसो निरिच्छः ॥ ३८ ॥ एवं नैराश्य-
 प्रदर्शनाभिरुत्साहं मनः पुनरुज्जीवयन्तीवाह—तथापीति ।
 अस्त्वेवंविधः सः तथापि हे चित्त, का तवोत्कण्ठा । अहं योगेन
 वक्ष्यमाणोपायेन भर्तुर्मतिमुद्बोधय तत्त्वज्ञीकृत्य प्रारब्धशेषभोगो-
 त्कण्ठया युतं पतिं भवता सह श्लेषयिष्यामि न त्वयोत्कण्ठा कार्येति
 परेणान्वयः ॥ ३९ ॥ तदेव स्पष्टमाह—प्रमृष्टेति ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ यद्यस्माद्धेतोर्भर्ता तत्त्वबोधान्मया समं तुल्यरूपम-
 न्तर्बाह्यार्थचिन्तितं यस्य तथाविधः संपत्स्यत इति शेषः ।
 तदेव प्रशंसन्त्याह—सप्रप्रेति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ अन्दान्मे-
 घान् । वनान्तरं वनमध्यम् ॥ ४४ ॥ पादपानां कृतानां च
 स्पन्देन वेद्यावतुमेयीं गमागमौ यस्याः ॥ ४५ ॥ योगेन,

स्थलीनिषण्णं पुष्पाणि प्रथयन्तं जटाङ्कितम् ।
 तमालोक्यानवघाङ्गी चूडाला पीवरस्तनी ॥ ४९
 किञ्चिज्जातविषादैवमुवाचार्त्तमि चेतसा ।
 अहो नु विषमं मौर्ख्यं तदनात्महतात्मकम् ॥ ५०
 एवंविधाः समायान्ति दशा मौर्ख्यप्रसादतः ।
 अयं स राजा लक्ष्मीवान्यतो मेऽतिप्रियः पतिः ॥ ५१
 हृदि मोहघनभ्रुण्णामिमामभ्यागतो दशाम् ।
 तदवश्यमिहाद्यैव नाथं विदितवेद्यताम् ॥ ५२
 नयाम्यत्र न संदेहो भोगमोक्षधियं तथा ।
 इदं रूपं परित्यज्य रूपेणान्येन केनचित् ॥ ५३
 सकाशमस्य गच्छामि बोधं दातुमनुत्तमम् ।
 बालेयं मम कान्तेति मदुक्तं न करोत्यलम् ॥ ५४
 तस्मात्तापसरूपेण बोधयामि पतिं क्षणात् ।
 भर्ता कषायपाकेन परिपकमतिः स्थितः ॥ ५५
 चेतस्यस्याद्य विमले स्वं तत्त्वं प्रतिबिम्बति ।
 इति संचित्य चूडाला बभूव द्विजदारकः ॥ ५६
 ईषज्यानाप्रतान्यत्वं क्षणादम्बुतरङ्गवत् ।
 पपात विपिने तस्मिन्निजपुत्रकरूपिणी ॥ ५७
 भर्तुरध्याजगामाग्रं मन्दस्मितलसन्मुखी ।
 ददर्श द्विजपुत्रं तं पुरो यातं शिखिध्वजः ॥ ५८
 वनान्तरादुपायातं तपो मूर्तिमिवास्थितम् ।
 द्रवत्कनकगौराङ्गं मुक्ताहारविभूषितम् ॥ ५९
 शुक्लयज्ञोपवीताङ्गं शुक्लाम्बरयुगावृतम् ।
 कमण्डलुधरं कान्तं पुरो यातं शिखिध्वजः ॥ ६०
 व्याप्तप्रकोष्ठद्विगुणेनाक्षसूत्रेण चारुणा ।
 भूमावलग्नगात्रेण किष्कुमात्रेण च स्थितम् ॥ ६१

समाहितचित्तेनेति यावत् । यो हारकेयुरादिभूषितः सन् मेरु-
 कान्तिरभवत्समेव अत्र मन्दरोटजे कृशाङ्गत्वादिलक्षणं ददर्शेति
 परेण संबन्धः ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ भृङ्गीशं प्रसिद्धं दरद्वारपाल-
 मिव ॥ ४८ ॥ देवातिथिसमर्चनाय पुष्पाणि मालां प्रथयन्तम् ।
 जटाभिरङ्कितं चिह्नितम् ॥ ४९ ॥ अनात्मज्ञता अज्ञानं तदा-
 त्मकम् ॥ ५० ॥ यतो यस्माद्धेतोर्मे अतिप्रियः पतिर्मोहघनेन
 हृदि क्षुण्णामभिहतामिमां दशामभ्यागतस्तस्माद्धेतोरिहास्मि-
 ष्टुजे अद्यैव अवश्यं नाथं पतिं विदितवेद्यतां तथा भोगमोक्ष-
 धियं नयामि प्रापयामीति परेणान्वयः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥
 किमर्थमिदं रूपं परित्यज्यं तत्राह—बालेति ॥ ५४ ॥ प्रागेव
 कुतस्त्वपस्त्रिवेषेण स न बोधितस्तत्राह—भर्तेति ॥ ५५ ॥
 द्विजदारको ब्राह्मणपुत्रः ॥ ५६ ॥ कथं बभूव तदाह—ईष-
 दिति । प्रागुक्ताभीषोमधारणान्वितावीषज्यानात् । अन्यत्वं
 पुंस्त्वम् ॥ ५७ ॥ अग्रं पुरोदेशम् ॥ ५८ ॥ मूर्तिमास्थितं तप
 इव द्रवत्कनकमिव गौराणि पीतस्वच्छान्यज्ञानि यस्य ॥ ५९ ॥
 ॥ ६० ॥ व्याप्तः प्रकोष्ठान्मणिवन्धात्रिगुणो बहिर्देशो येन ।
 अतएव किष्कुमात्रेण हस्तमात्रेण द्वैगुण्ये वितस्त्रिमात्रेण वा

कुन्तलव्यातमूर्धानं सालिमालमिवाम्बुजम् ।
 भासयन्तं प्रदेशं तं शारीरैर्वीक्षितमण्डलैः ॥ ६२
 कुण्डलाभ्रवितमुक्कं नभमर्कमिषोदितम् ।
 शिखासंप्रोतमन्दारं शृङ्गस्थेन्दुमिवाचलम् ॥ ६३
 कान्तोपशान्तवपुषमूर्जितं विजितेन्द्रियम् ।
 हिमाभमस्मितलकं भूषितालोकसुन्दरम् ॥ ६४
 मेरुहेमतटीलीनपूर्णेन्दुमिव चञ्चलम् ।
 तमालोक्य द्विजसुतं समुत्तस्यौ शिखिध्वजः ॥ ६५
 देवपुत्रागमधिया संपरित्यक्तपादुकः ।
 देवपुत्र नमस्कार इदमासनमास्यताम् ॥ ६६
 इत्यस्य दर्शयामास पाणिना पत्रविष्टरम् ।
 ददौ च द्विजपुत्रस्य पुष्पमुष्टिं करोत्करे ॥ ६७
 चन्द्रः कुमुदखण्डस्य प्रालेयमिव पल्लवे ।
 हे राजर्षे नमस्तुभ्यमिति द्विजसुतोऽवदत् ॥ ६८
 गृहीत्वा कुसुमान्यस्माद्विवेश पत्रविष्टरे ।

शिखिध्वज उवाच ।

देवपुत्र महाभाग कुत आगमनं कृतम् ।
 दिवसः सफलो मन्ये यस्वामद्यास्मि दृष्टवान् ॥ ६९
 इदमर्घ्यमिदं पाद्यं पुष्पाणीमानि मानद् ।
 इमा प्रप्रथिता माला गृह्यन्तां भद्रमस्तु ते ॥ ७०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा पाद्यमर्घ्यं च मालां पुष्पाणि चानघ ।
 शिखिध्वजस्तदिष्टायै ददौ देव्यै यथाखिलम् ॥ ७१

चूडालोवाच ।

सुबहूनि परिभ्रान्तो भूतलायतनान्यहम् ।
 त्वत्तः पूजा यथा प्राप्ता मयेयं न तथाभ्यतः ॥ ७२
 पेशलेनानुरूपेण प्रश्रयेणामुनानघ ।

अत एवानतिदैर्घ्याद्भ्रमावलग्नगत्रेणाऽक्षसूत्रेणाक्षमालया स्थित-
 सुपलक्षितम् ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ शृङ्गस्थः शृङ्गसंलभप्रयाय इन्दु-
 र्यस्य तथाविधमचलं पर्वतमिव स्थितम् ॥ ६३ ॥ ६४ ॥
 मेरुहेमतटीपदेन तत्रस्थो गङ्गाप्रवाहो लक्ष्यते । तत्र लीनः
 प्रतिबिम्बितः पूर्णेन्दुस्तमिव चञ्चलम् ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ पत्र-
 निर्मितं विष्टरमासनम् । करोत्करे करतले ॥ ६७ ॥ कुमुद-
 खण्डस्य पल्लवे प्रालेयं हिमकणजालमिव ॥ ६८ ॥ यद्यस्मात्त्वा-
 मद्यास्मिन्दिवसे दृष्टवानस्मि ॥ ६९ ॥ ७० ॥ अखिलं शा-
 ल्लोकमनतिक्रम्येति यथाखिलम् । पदार्थानतिवृत्तां यथार्थेऽ-
 व्ययीभावः ॥ ७१ ॥ न तथान्यतः प्राप्तेत्यनुषज्यते ॥ ७२ ॥
 प्रश्रयेण विनयेन । एतैर्हि लक्षणैर्मनुजाश्चिरजीविनो भवन्तीति
 भावः ॥ ७३ ॥ आरात् दूरे उन्मुक्ताः कल्पनाः फलसंकल्पा
 यस्मिन् । अत एवोदारं निर्वाणार्थं तपः संभृतवान् संचितवान-
 नसि । कश्चिदिति इष्टप्रश्ने निपातः ॥ ७४ ॥ शान्तानामक्रोध-
 नानां यतिवनस्थानां व्रतभूतमिदं महावननिषेवणमसिधार-
 यो० बा० १२३

मन्येऽहं नूनमत्यन्तचिरंजीवी भविष्यसि ॥ ७३
 शान्तेन मनसोदारमारादुन्मुक्तकल्पनम् ।
 निर्वाणार्थं तपः साधो कश्चित्संभृतवानसि ॥ ७४
 असिधारासमं सौम्य शान्तव्रतमिदं तव ।
 स्फीतं यद्राज्यमुत्सृज्य महावननिषेवणम् ॥ ७५

शिखिध्वज उवाच ।

जानासि भगवन्सर्वं देवस्त्वं कोऽत्र विस्वयः ।
 ध्रियैव लोकोत्तरया ज्ञायसे चिह्नरूपया ॥ ७६
 एतान्यङ्गानि ते चन्द्रादृष्टितानीति मे मतिः ।
 अथवा किं समालोकादमृतेनेव सिञ्चसि ॥ ७७
 अस्ति मे दयिता कान्ता पाति मद्राज्यमद्य तत् ।
 तथैव तस्या दृष्टानि तान्यङ्गानीह सुन्दर ॥ ७८
 उपशान्तं च कान्तं च वपुरापादमस्तकम् ।
 शृङ्गं शुभ्राम्बुदेनेव पुष्पेणाच्छादयामुना ॥ ७९
 निष्कलङ्केन्दुसंकाशमङ्गमादित्यतेजसा ।
 मन्ये ते ग्लानिमायाति सुमनःपत्रपेलवम् ॥ ८०
 देवार्चनायोपचितमिदमित्थं सितं मया ।
 अङ्ग त्वदङ्गसङ्गेन तत्प्रयातु कृतार्थताम् ॥ ८१
 जीवितं याति साफल्यं स्वमभ्यागतपूजया ।
 देवादप्यधिकं पूज्यः सतामभ्यागतो जनः ॥ ८२
 तत्कस्त्वं कस्य पुत्रस्त्वं किमायातोऽस्यनुग्रहात् ।
 एतन्मे संशयं छिन्धि विमलेन्दुसमानन ॥ ८३

ब्राह्मण उवाच ।

राजन्मे शृणु बह्यामि यथापृष्टमस्मण्डितम् ।
 को नाम परिपृच्छन्तं विनीतं वञ्चयेत्पुमान् ॥ ८४
 अस्यसिञ्जगतीकोशे शुद्धात्मा नारदो मुनिः ।
 पुण्यलक्ष्म्या मुखे कान्ते कर्पूरतिलकोपमः ॥ ८५

समं क्रूरमत्यन्तावधाननिर्वाणं चेत्यर्थः ॥ ७५ ॥ राज्यत्याग-
 निर्वाणार्थतपस्वरणयोरज्ञातयोः प्रशंसनायोगात्तस्य तपसा सर्व-
 ज्ञतां संभावयन् राजा द्विजसुतं रूपादिसंपदा प्रशंसति—
 जानासीत्यादिना । ज्ञायसे महाप्रभावमिति शेषः ॥ ७६ ॥
 अथवा किं बहुना सम्यगालोकाद्वीक्षणाद्देहकान्तितश्चामृतेन
 सिञ्चसीव ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ शृङ्गं मेरुशिखरम् । अमुना महत्त-
 मालारूपेण ॥ ७९ ॥ सुमनसां पुष्पाणां पत्रं दलमिव पेलवं
 सुकुमारं ते अङ्गम् ॥ ८० ॥ इदं पुष्पजातमित्थं दृश्यमानवै-
 चित्र्येण सितं प्रयितम् । 'विन् बन्धने' कर्मणि क्तः । अङ्गेति
 संबोधने । तत्तस्माद्देवस्य तवार्चनादित्यर्थः ॥ ८१ ॥ देवार्च-
 नादप्यतिथिपूजनमधिकमिति तदेकमपि जन्मसाफल्यहेतुः,
 त्वत्पूजने तु मे द्वयमपि युगपत्संपन्नमिति सुतरां जीवितसा-
 फल्यमित्याशयेनाह—जीवितमिति ॥ ८२ ॥ तत्तस्मान्महत्त-
 पूजाग्रहणादनन्तरमिति शेषः ॥ ८३ ॥ पृष्टमनतिक्रम्य यथा-
 पृष्टम् ॥ ८४ ॥ पुण्यलक्ष्म्याः कान्ते रम्ये मुखे सुरमितरं

स कदाचिन्मुनिर्देवो गुहायां ध्यानमास्थितः ।
 तत्र हेमतटे गङ्गा बहत्युत्तरङ्गिणी ॥ ८६
 मेरुलक्ष्यां स्फुरद्गुपा भान्ति हारलता यथा ।
 एकदा नारदमुनिर्ध्यानान्ते स सरित्तटे ॥ ८७
 ध्वनद्बलयमधौषीलीलाकलकलारवम् ।
 किमेतदित्यसौ किञ्चिज्जातप्रायकुद्दलः ॥ ८८
 हेलयालोकयन्नघामपश्यद्बलनागणम् ।
 रम्भातिलोत्तमाप्रायं निर्यातं जललीलया ॥ ८९
 क्रीडन्तं त्यक्तवसनं देशे पुरुषवर्जिते ।
 काश्चनाम्भोजमुकुलसंकाशैः स्तनमण्डलैः ॥ ९०
 परिवेष्टितमन्योन्यं फलकान्तं हुमं यथा ।
 हृतहेमरसापूरनिर्मराभोगभासुरैः ॥ ९१
 कुर्वन्तमुकभिः काममन्दिरस्तम्भसंख्यम् ।
 निर्मलीकृतचन्द्रेण व्याप्तं व्योमविलासिनीम् ॥ ९२
 लावण्यरसपूरेण तर्जयन्तमिवापगाम् ।
 प्राकारैरमरोद्यानरथचक्रैर्मनोभुवः ॥ ९३
 उत्पथार्पितगङ्गाम्बु नितम्बतटसेतुभिः ।
 सर्वत्र दृष्टसर्वाङ्गं विश्वरूपमिव स्थितम् ॥ ९४

यत्कूर्परतिलकं तदुपमा यस्य । अनेन नारदो गौराङ्ग इति
 गम्यते ॥ ८५ ॥ गुहायां मेरोरिति शेषः ॥ ८६ ॥ ८७ ॥
 ध्वनन्ति बलयानि यस्मिन्स्तथाविधं लीलाकलकलारवं जलक्री-
 डाकोलाहलध्वनिम् । संभावनाप्राचुर्याद्यर्थः प्रायश्चन्दोऽप्यद-
 न्तोऽस्ति । 'तदस्मिन्नङ्गं प्राये संज्ञायाम्' 'प्रायमवः' 'रूपात्प्रा-
 षा'दिति पाणिनिजैमिनिप्रभृतयः प्रयोगात् ॥ ८८ ॥ निर्वातं
 जलाभिर्गतम् । जललीलया जलसेचनाविक्रीडया ॥ ८९ ॥
 ॥ ९० ॥ अन्योन्यं परिवेष्टितं वेष्टितम् । संघट्टितमिति यावत् ।
 हृतस्य हेमरसस्य य आपूरनिर्मरः प्रवाहात्तिस्यस्तादृशेन आभो-
 गेन कान्तिसंस्थानेन भासुरैरुकभिः स्वात्मकस्य काममन्दिरस्य
 स्तम्भसंख्यं कुर्वन्तमिति परेणान्वयः ॥ ९१ ॥ खजलनैर्-
 म्बामिर्मलीकृतेन प्रतिबिम्बचन्द्रेण सर्वतो व्याप्तं व्योमविलासि-
 नीमापगां मन्दाकिनीं देहलावण्यरसप्रवाहेण तर्जयन्तं व्यरमा-
 धयन्तमिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ९२ ॥ मनोभुवः कामस्य अमरोद्याने
 मन्दनवने क्रीडायां रथचक्रभूतैर्नितम्बतटलक्षणैः सेतुभिर्निरो-
 धादुत्पथे अर्पितं गङ्गाम्बु येन ॥ ९३ ॥ यतः स्वच्छतमत्वा-
 दन्योन्यादर्शतां गतं अतः सर्वतः प्रतिबिम्बितसर्वाङ्गं सर्वत्र
 दृष्टसर्वाङ्गं सत् 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिणोरुमुखम्'
 इति प्रसिद्धकालात्मनः कल्पतरोर्भगवतः सकाशादुत्थितं विश्व-
 रूपमिव स्थितमित्यर्थः ॥ ९४ ॥ विश्वरूपं दर्शयितुर्भगवतः
 कालान्मकत्वं च विश्वरूपमीतेनार्जुनेन 'को भवानुप्ररूपः' इति
 पृष्ठेन भगवता 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्षु-
 मिह प्रवृत्तः' इति स्ववचनेनैव दर्शितम् । अतस्तमेव कामा-
 त्मानं सर्वकल्पनाफलदातृत्वात्कल्पतरुत्वेन रूपयति—

प्रतिबिम्बितसर्वाङ्गमन्योन्यादर्शतां गतम् ।
 कालकल्पतरोर्वर्षेविटपात्पक्षपल्लवात् ॥ ९५
 विविधतुलताजालाद्दिनधीकलिकाकुलात् ।
 आलोकपुष्परजसो जाताद्भ्रगनकानने ॥ ९६
 स्फुरजलस्रगप्रोतात्सप्तान्येकालवाडकात् ।
 स्तनस्तवकवृन्देषु स्पर्धयातिरसान्वितम् ॥ ९७
 उद्भृत्योद्भृत्य संपूर्णदलितान्भोजपल्लवम् ।
 आलोलालककेशाक्षितारकादिमधुव्रतम् ॥ ९८
 अमृतापद्विघाताय कोशसंख्यकारिभिः ।
 दुष्प्रापे भूतसंधानां विकसत्कनकाम्बुजे ॥ ९९
 पश्चिनीपल्लवाच्छभे गुप्ते मेरुर्गुहान्तरे ।
 शीतले स्वर्धुनीतीरे तोयोन्मृष्टमले सुरैः ॥ १००
 चन्द्रबिम्बकलापूरमेकत्रैवोपसंहृतम् ।
 खैणमालोक्य तत्कान्तं सहसैव मनो मुनेः ॥ १०१
 अनाश्रितविवेकांशं बभूवानन्दितं स्फुरत् ।
 आनन्दवलिते चित्ते ध्रुव्ये प्राणानिले स्थिते ॥ १०२
 बभूव तस्य दृष्टस्य मदनस्खलितं तदा ।
 फलं रसापूर्णमिव प्रीप्मान्त इव तोयदः ॥ १०३

विटपादित्यादिना । वर्षाणि प्रभवादयः षष्टिसंवत्सरा विटपाः
 स्कन्धाः यस्य । एतेनायनद्वयस्य मासानां च शाखात्वमर्था-
 दुक्तमेव ॥ ९५ ॥ विविधा भिन्नलक्षणा ऋतवो लताजालानि
 अवांतरशाखासमूहा यस्य । गगनमध्यस्ताकाशस्तल्लक्षणे
 कानने नन्दने जातात् ॥ ९६ ॥ स्फुरद्भिर्जलमवचन्द्रपरिणामश-
 रीरत्वाजलस्रगैर्देवैः प्रोताद्याप्तात् । सप्तान्यन्वय एकमालवाड-
 कमालवालकं डलयोरमेदादालवालं यस्य तथाविधात्कालकल्पत-
 रोर्विष्णोरुद्भूतं विश्वरूपमिव स्थितमिति पूर्वान्वयः । पुनर्ल-
 लनागणमेव विचिनष्टि—स्तनेति । परस्परस्तनस्तवकवृन्देषु
 अम्भोजमुकुलेषु च सौन्दर्यसाम्यदर्शनप्रयुक्तस्पर्धया नालादु-
 द्भृत्योद्भृत्यास्फालनात्संपूर्णं दलितान्यम्भोजमुकुलपल्लवानि
 येनेति परेणान्वयः ॥ ९७ ॥ अर्थान्मुखपदेषु आलोलो अलका-
 श्वर्णकुन्तलाः केशा दीर्घकुन्तला अक्षितारका आदिपदाल्ला-
 टिकाखचितगाढरत्नेन्द्रनीलमणयश्च मधुव्रता भ्रमरा यस्मिन्
 ॥ ९८ ॥ पुनः कीदृशं ललनागणं तदाह—अमृतेत्यादिना ।
 अमृतकलाकोशसंग्रहकारिभिः सुरैर्देवैरमृतस्य राहुगहडाद्यपह-
 र्तृप्रयुक्तानामापदां विघाताय गुप्ते एकान्तभूते मेरुर्गुहान्तरे
 एकत्रोपसंहृतं चन्द्रबिम्बकलापूरमिव स्थितम् । तत्र गुप्ते इति
 यदुक्तं तदुपपत्तये विचिनष्टि—दुष्प्रापे इति । अन्यानि विशे-
 षणानि अमृतनिधानयोग्यस्थानताप्रदर्शनार्थानि ॥ ९९ ॥
 ॥ १०० ॥ ईदृशं कान्तं खैणं श्रीसमूहमालोक्य मुनेर्मनस्तद-
 नन्तरमानन्दितं प्रमत्तं सत् न आश्रितो विवेकांशो येन
 तथाविधं बभूवेति परेणान्वयः ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ चित्ते
 विकारात्सर्वाङ्गे प्राणक्षोभस्तेन सर्वाङ्गधारस्य रेतसः स्खलनं

प्रत्यप्रपादपश्चिन्नलतावृन्त इवोत्तम ।
 अवहयायकणस्पन्दी शशाङ्क इव वा मुनिः ॥ १०४
 विसं द्विधापातमिव गलत्साररसोऽभवत् ।
 शिखिध्वज उवाच ।
 तादृशोऽपि बहुद्वोपि जीवन्मुक्तोऽप्यसौ मुनिः १०५
 निरिच्छोऽपि निरागोपि न किञ्चिदुपमोऽप्यलम् ।
 सबाह्याभ्यन्तरं नित्यमाकाशविशदोपि च ॥ १०६
 नारदोपि कथं ब्रह्मन् मदनस्खलितोऽभवत् ।
 चूडालोवाच ।
 सर्वस्या एव राजर्षे भूतजातेर्जगन्नये ॥ १०७
 देवादेरपि देहोयं द्वयात्मैव स्वभावतः ।
 अज्ञमस्त्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकम् ॥ १०८
 सर्वमेव जगत्यङ्गं सुखदुःखमयं स्मृतम् ।
 तृष्यादिना पदार्थेन केनचिद्वर्धते सुखम् ॥ १०९
 आलोक इव दीपेन महाम्बुधिरिवेन्दुना ।
 क्षुधादिना पदार्थेन दुःखं केनचिदेव हि ॥ ११०
 तमो मेघपटेनेव स्वभावो ह्यत्र कारणम् ।
 स्वरूपे निर्मले सत्ये निमेषमपि विस्मृते ॥ १११
 दृश्यमुल्लासमाप्नोति प्रावृषीव पयोधरः ।
 अनारतानुसंधानादप्युन्मेषमविस्मृते ॥ ११२
 स्वरूपे नोल्लसत्येष चित्ते दृश्यपिशाचकः ।
 यथा तमःप्रकाशाभ्यामहोरात्रौ स्थितिं गतौ ॥ ११३

वृत्तमित्याह—बभूवेति । तत्र दृष्टान्तानाह—फलमित्यादिना ॥ १०३ ॥ छिन्नं क्षतं लतावृन्तं शाखामूलस्थानं यस्य तथा-
 विधः प्रत्यप्रस्तारुणः पादपो वटादिरिव । उत्तमेति राजसंबो-
 धनम् ॥ १०४ ॥ द्विधापातं सद्योद्विधाखण्डितं विसं मृणाल-
 मिव वा गलन् सारभूतो रसः शुक्रं यस्य । राजप्रभ्रः स्पष्टः
 ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ तत्त्वज्ञानामपि प्रबलतरप्रारब्धेन विवेकां-
 शानिरोधात्कदाचिद्देहधर्मानुवर्तनमस्त्येवेत्युत्तरमाह—सर्वस्या
 एवेत्यादिना ॥ १०७ ॥ यावत्स्वान्तं स्वनाशपर्यन्तम् ॥ १०८ ॥
 सुखदुःखमयत्वमेव दृष्टान्तैर्दर्शयति—तृष्यादिनेति ॥ १०९ ॥
 दुःखं वर्धते इत्यनुकूप्यते ॥ ११० ॥ यथा मेघलक्षणेन पटेन
 उपचितेन निशि तमो वर्धते तद्वत् । यत्र तत्त्वज्ञानामपि क्षणं
 स्वरूपविस्मरणे ईदृशानर्थास्तत्राज्ञानां किं वाच्यमित्याशयेनाह—
 स्वरूपे इति ॥ १११ ॥ अत एव संदेह दृश्यानुल्लासाय सदैव
 संमाधिना स्वरूपाविस्मरणशीलेन भाव्यमित्याशयेनाह—अना-
 रतेति । उन्मेषो निमेषद्वयान्तरालकालस्तावन्मात्रमपि ॥ ११२ ॥
 ॥ ११३ ॥ एवं ज्ञानयोः प्रारब्धफलभोगसाम्येपि रजनारजन-
 कृतो विशेषोऽस्त्येवेति दृष्टान्ताभ्यामुपपादयति—एवमित्या-
 दिना । जन्मकारणस्य देहाद्यात्मभावस्य दर्शनात् ॥ ११४ ॥
 तज्ज्ञस्य तु तद्वशात्तत्त्वज्ञानवशात् । मनागपि न लगतः
 ॥ ११५ ॥ यथा मणेः स्फटिकस्थान्तः रागेण तादात्म्यानु-
 रजनेन । आदिपदात्तप्रयुक्तेन्द्रनीलपद्मरागाद्यध्यासेन आक्रान्त-

तथैव सुखदुःखाभ्यां शरीरं स्थितिमागतम् ।
 एवं हि सुखदुःखे द्वे जन्मकारणदर्शनात् ॥ ११४
 अज्ञस्य गाढतां याते पटे कुङ्कुमवद्दृढम् ।
 तज्ज्ञस्य त्वङ्गं लगतो मनागपि न तद्वशात् ॥ ११५
 यथा शुभाशुभौ रागादिनाक्रान्ततरौ मणेः ।
 पुरःस्थवस्तुभावेन रजनां स्फटिको यथा ॥ ११६
 तज्ज्ञस्तथा नैति बोधाजीवन्मुक्तमतिर्मुनिः ।
 वस्तुनः श्लेषमात्रेण घनरजितमेति धीः ॥ ११७
 गतेऽपि वस्तुनि दृढं बुद्धिर्यत्परितापिता ।
 गतेऽपि कुङ्कुमे वस्त्रं तदीयमनुरज्जनम् ॥ ११८
 न जहाति यथा मूढस्तथा विषयरज्जनम् ।
 अनेनैव क्रमेणैतौ बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ॥ ११९
 भावनातानवं मोक्षो बन्धो हि दृढभावना ।
 शिखिध्वज उवाच ।
 स्वोत्पत्तिकारणप्राप्तौ कथं दुःखं सुखं च वा ॥ १२०
 अभ्युदेतीति वद मे दूरस्थानामपि प्रभो ।
 अत्युदारमतीवाच्छं बह्वर्थं वचनं तव ॥ १२१
 श्रोतुं तर्ति न गच्छामि मयूरोऽभ्रवेण्विव ।
 चूडालोवाच ।
 स्वोत्पत्तिकारणं दृष्टं लब्ध्वा कायाक्षिपाणिभिः १२२
 सुखसंविदियं बाला नूनमुल्लसति स्वतः ।
 इद्वता क्षोभमायाता जीवं कुण्डलिनीगतम् ॥ १२३

तरौ अतिशयेन संक्रान्तावपि शुभाशुभौ कुङ्कुमनील्यादिवर्णौ
 पटश्लेषे रागेण रजनया आदिपदाच्छुद्ध्यद्युज्यादिना च यथा
 मणेर्न लगतस्तद्वदित्यर्थः । इदानीं स्फटिकादपि तस्य स्वच्छ-
 तरत्वाद्विशेषमाह—पुरःस्थेति । स्फटिकः पुरःस्थपाकुसुमा-
 दिवस्तुभावेन तात्कालिकी रजनामपि बायात् । तज्ज्ञस्तु तामपि
 नैतीत्यर्थः ॥ ११६ ॥ 'अज्ञस्य गाढतां याते' इति यदुक्तं तद्वि-
 वृणोति—वस्तुन इत्यादिना । घनं रजितं रज्जनम् । धीः
 अज्ञस्येति शेषः ॥ ११७ ॥ तत्कुतस्तत्राह—गतेऽपीति ।
 यद्यस्मादेतोः परितापिता भवतीत्यर्थः ॥ ११८ ॥ विषय-
 रजनं न जहाति । तथा च बुद्धौ विषयरजनवासनोपचय एव
 बन्धस्तत्क्षय एव मोक्ष इति फलितमित्याह—अनेनेति
 ॥ ११९ ॥ दूरस्थानां पुत्रराज्यादीनाम् । अपिपदात्संनिहितानां
 च लभनाशादिस्वोत्पत्तिकारणप्राप्तौ तदभिमानिनः सुखं दुःखं
 च केन क्रमेण जायते तद्वदेति राजा पृच्छति—स्वोत्पत्तीति
 ॥ १२० ॥ १२१ ॥ तत्रादौ सुखोत्पत्तिप्रकारं वर्णयति—स्वेति ।
 संनिहितविषये कायाक्षिपाणिभिर्दूरस्थविषये शब्दानुमानादिना
 च लब्ध्वा उपलभ्य ॥ १२२ ॥ अपरिच्छिन्नस्वतत्त्वानभिज्ञ-
 त्वाद्बाला इयं इद्वता बुद्धिस्था आत्मसुखसंविद्बुद्धेः क्षोभात्
 क्षोभमायाता सती प्राग्वर्णितरीत्या कुण्डलिनीमुखप्रभवप्राण-
 विधारकत्वात्कुण्डलिनीगतं जीवं भोक्तारं प्रति स्वतः प्रत्यगात्म-
 तत्त्वादेवाभिविस्फुलिन्नवदुक्तसति आविर्भवति । 'एतस्यैवानन्द-

जीवस्य नियता नाड्यः पृथग्देहे स्थितिं गताः ।
 प्राणावपूरिता नाडीर्जीव आक्रामति स्फुरन् ॥ १२४
 संस्पृशैकप्रबुद्धात्मा रसो द्रुमलता इव ।
 सुखप्रबोधसंचारे दुःखबोधागमे तथा ॥ १२५
 जीवस्य नियता नाड्यः पृथग्देहस्थितिं गताः ।
 सुखिनः प्रस्फुरत्वेषा धीरताशु न दुःखिनः ॥ १२६
 ये हि मार्गाः सुवेषस्य कुवेषस्य न ते शुभाः ।
 यावत्प्रमाणं जीवोऽयं संशाम्यत्यपरिस्फुरन् ॥ १२७
 तावत्प्रमाणमेवैनं मुक्तं मुक्तमेवेहि वै ।
 यावत्प्रमाणमधिकं स्फुरति क्षुब्धमारुतम् ॥ १२८
 तावत्प्रमाणमेवैनं बद्धं बद्धमेवेहि मे ।
 सुखदुःखकलास्पन्दो बन्धो जीवस्य नेतरः ॥ १२९
 तदभावे हि मोक्षः स्यादिति द्वेषा व्यवस्थितिः ।
 सुखदुःखदशे यावदानीते नेन्द्रियैः शठैः ॥ १३०
 तावत्सुखसमः सौम्यो जीवस्तिष्ठति शान्तवत् ।
 सुखमालोक्य वा दुःखमक्षातीतश्चलद्रुपुः ॥ १३१
 समुल्लसति जीवोऽन्तर्द्वेषेन्दुमिव तोयधिः ।
 जीवः क्षुभ्यति दृष्टेन संविदाङ्ग सुखादिना ॥ १३२
 आमिषेषेण मार्जारो मौर्ख्यमेवात्र कारणम् ।
 शुद्धेन बोध्यबोधेन स्वात्मज्ञानमयात्मना ॥ १३३

स्थान्यानि भूतानि मात्राभुपजीवन्ति' इति श्रुतेरिति भावः
 ॥ १२३ ॥ हृत्स्यस्य भोक्तुर्नयनरसनश्रोत्रादिप्रतिनियतभोग-
 स्थानागमने मार्गमेदमाह—जीवस्येति ॥ १२४ ॥ तत्तद्विषय-
 संस्पृशैकं तदेकाप्रवाहात्मा सन्निति पूर्वत्रान्वयः । जीवस्य
 नाडीद्वारा सर्वदेहप्रवेशे दृष्टान्तमाह—रस इति । यथा मूले
 सिक्तो रसो जलं नाडीद्वारा द्रुमलताः सर्वप्रदेशेष्वनुप्रविशति
 तद्वदित्यर्थः ॥ १२५ ॥ पृथग्नियता नैकरूपा इत्यर्थः । कुत
 एतज्ज्ञानं तत्राह—सुखिन इति । सुखिनः सुखानुभवे प्रवृ-
 त्तस्य जीवस्य धीरता स्वस्थता प्रस्फुरति न तु दुःखिनो दुःखा-
 नुभवे प्रवृत्तस्य । स हि अस्वस्थं तरलं दंदद्यमानमिवात्मान-
 मनुभवतीत्यतस्तस्य पिशौष्मादिसंतापकरसपूर्णस्तरलश्च नाडी-
 मार्गोऽनुमीयते इत्यर्थः ॥ १२६ ॥ अत एव लोकेऽपि सुवेषस्य
 भोगे प्रवृत्तस्य राजादेः संमृष्टाः कर्पूरचन्दनोदकसिक्ताः क्षीर्ण-
 कुसुमा धूपकस्तूर्यादिसुरभिणो मार्गाः प्रसिद्धाः कुवेषस्य नीचस्य
 तु तद्विपरीता इत्याह—ये हीति । एवं चायं जीवो यावत्कालं
 तरलतरनाडीमार्गानुभवप्रवेशेन अपरिस्फुरन् स्वयं तरलताशून्यो
 भवति तावदस्य न दुःखप्रसक्तिः । तदास्य स्वचन्द-
 नाद्याकारवृत्त्यात्वं स्वात्मसुखमभिव्यज्यते । ब्रह्माकारवृत्त्या तु
 पूर्णमित्यवान्तरवैलक्षण्येपि विक्षेपाभावात्संशाम्यत्येवेति स्वस्था-
 वस्थमेतं तावत्कालं मुक्तमेवावेहि । आविर्भूतसुखा स्वस्थतैव
 मुक्तिरिति तलक्षणसत्त्वादिति भावः ॥ १२७ ॥ १२८ ॥ तर्हि
 विषयसुखानुभवकाले कृतो जीवस्य न मुक्ततानुभवस्तत्राह—

१ प्रवाहात्मा इति पाठद्विकानुगुणः.

सुखदुःखादि नास्तीति तेनासौ याति सौम्यताम् ।
 न तत्सुखादि नो तन्मे मुधा चायमहं स्थितः ॥ १२४
 इति जीवः प्रबुद्धो हि निर्वाणं याति शाम्यति ।
 सुखाद्यवस्त्वतद्रूपमित्यन्तर्बोधसंविदा ॥ १२५
 न तदुन्मुक्ततां याति जीवः शाम्यति केवलम् ।
 सर्वमेव चिदाकाशं ब्रह्मेति घननिश्चये ॥ १२६
 स्थितिं याते शमं याति जीवो निःश्लेहदीपवत् ।
 दीपवच्छममायाति सुखादिश्लेहसंक्षये ॥ १२७
 सर्वमेवमिति ज्ञानाज्जीवोऽद्वित्वविभात्रनात् ।
 सर्वमाकाशमेवेति बुद्ध्या क्षोभं न गच्छति ॥ १२८
 जीवस्यानेन शून्यस्य कः किल क्षोभविभ्रमः ।
 जीवनेदृग्विधेनैव यथा प्रथमसर्गतः ॥ १२९
 स्वयं संविदितो मार्गस्तेनैवाद्यापि गच्छति ।
 शिक्षिष्वज उवाच ।
 सुखसंचारयोग्यासु जीवे सरति नाडिषु ॥ १३०
 देवपुत्र भवत्येष तद्वीर्यच्यवनं कथम् ।
 बूडालोवाच ।
 जीवः क्षोभयति क्षुब्धः प्राणादिपवनावलिम् ॥ १३१
 संविदा शंशमात्रेण सेनामिव महीपतिः ।
 वातस्पन्देन मेदोऽन्तर्मज्जासारश्च संस्थितः ॥ १३२

सुखेति । दुःखप्रहणं दृष्टान्तार्थम् । दुःखस्यैव विषयसुखस्यापि
 कलनं कलानुभवस्तदर्थं रागाद्याश्चस्तस्य बहिःस्पन्दो यश्च सुख-
 विच्छिन्तो तरलीभावस्तदुपायार्जनायानर्थसहस्रे स्पन्दः स एव
 जीवस्य बन्धो न त्वितरः सुखविश्रान्त्यंशोऽपीति क्षणमात्रमपि
 सुखविश्रान्त्या तदभावे मोक्षः स्यादेवेति संसरणासंसरणाभ्यां
 बन्धमोक्षयोर्द्वेषा व्यवस्थितिर्मयोक्तेति परेणान्वयः ॥ १२९ ॥
 उक्तमेवार्थं प्रपद्यति—सुखदुःखेत्यादिना ॥ १३० ॥ अक्षा-
 तीत इन्द्रियागम्यः स्वप्रकाश इति यावत् ॥ १२९ ॥ दृष्टेन
 सुखादिना सुखतरसाधनविषयतदुपायधनादिना तद्रागसंविदा
 क्षुभ्यति । अत्रेति संबोधने ॥ १३२ ॥ मौर्ख्यं निरतिशयान-
 नन्दस्वतत्त्वाज्ञानमेवात्र क्षोभे कारणम् । केन तर्हि तन्निवृत्त्या
 विश्रान्तित्वादाह—शुद्धेनेत्यादिना । बोध्योऽवश्यबोद्धव्यः
 स्वात्मा तद्वोधेन ॥ १३३ ॥ सौम्यतां विश्रान्तिम् ॥ १३४ ॥
 ॥ १३५ ॥ १३६ ॥ सुखादिषु ज्ञेहो रागस्तत्संक्षये ॥ १३७ ॥
 सर्वं जगत् एवं चिन्मात्रमेवेति ज्ञानात् । अद्वित्वमैक्यं तद्वि-
 भावनात् । आकाशं शून्यम् ॥ १३८ ॥ अनेन ब्रह्मैक्यविभाव-
 नेन हेतुना पृथक्ताशून्यस्य बन्धशून्यस्य वा । कथं तर्ह्यस्य
 क्षोभविभ्रम आगतस्तत्राह—जीवनेति । इदृग्विधेन कल्पिते-
 नैव आद्यजीवेन हिरण्यगर्भेण एव सर्वजीवात्मनाहं संसरि-
 ष्याम्येवं स्वतत्त्वबोधादहं क्रमेण मुक्तो भविष्यामीति स्वक-
 ल्पनमैव बन्धमोक्षमार्गो कल्पयित्वा स एवानुवर्त्येत इत्यर्थः
 ॥ १३९ ॥ प्रश्नः स्पष्टः ॥ १४० ॥ क्षीपिषुदशेनाद्रागवासनो-
 द्धेन क्षुब्धः सन् ॥ १४१ ॥ कथं क्षोभयति तत्राह—संविदा
 शंशमात्रेणेति । प्रवृत्तस्वभावानां प्राणादीनामधिष्ठात्र्या

त्यजत्याशु प्रसौमभ्यं रजः पत्रफलादिकम् ।
चलितं तत्त्वधो याति गर्जादिव घनादि खे ॥ १४३
वेदनाडीप्रणालेन याति शुक्रं बहिः स्वतः ।

शिक्षिष्वज उवाच ।

देवपुत्र महाशोऽसि वेत्सि पूर्वां च तत्स्थितिम् ॥ १४४
ज्ञायसे वचनादेव स्वभावो हि किमुच्यते ।

चूडालोवाच ।

आद्यसर्गे यथा सद्यः स्फुरितं ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ १४५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० सुखविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

षडशीतितमः सर्गः ८६

चूडालोवाच ।

आत्मस्वभाववशतो जातं जगदिदं महत् ।
स्थितिं वासनयाभ्येत्य धर्माधर्मवशे स्थितम् ॥ १

वासनाहासमानीय धर्माधर्मैर्न गृह्यते ।
ततो न जायते जन्तुरिति नो दर्शनं मुने ॥ २

शिक्षिष्वज उवाच ।

अत्युदारं महार्थं च वक्षि त्वं वदतां वर ।
अनुभूतिमुपारूढं गूढं च परमार्थवत् ॥ ३

जीवसंविदः अकुरितरागादिवृत्त्यनुरोध एवाभ्यनुहारुपा आज्ञा तदंशमात्रेणेत्यर्थः । मेदोस्वधाद्यन्तःसंचारिणो ज्ञानवातस्य स्पन्देन प्रेरणेन सर्वाङ्गसंस्थितो मेदोन्तर्गतः सारो मन्वासारश्च आशु प्रकृष्टसौगन्ध्यमिवानुगतं रजः खं सूक्ष्मांशं त्यजति । यथा छिन्नवृन्तं पत्रफलादिकं स्वान्तर्गतजलांशमन्तर्गतस्पन्देन त्यजति तद्वदित्यर्थः ॥ १४२ ॥ तस्य त्यक्तं रजः सर्वाङ्गभ्यश्चलितं अनाडीद्वारा अधो मूलाधारस्थानं याति । यथा सर्वतः खे प्रसृतं जलं गर्जयतीति गर्जः पुरोवातस्तस्मात्त्रिमित्तादेकीभूय धनमभ्रं आदिपदान्मेघाद्यवस्थं भूत्वा वर्षणोन्मुखं सदधोऽसच्छिहितदेशं याति तद्वदित्यर्थः ॥ १४३ ॥ स्वतः स्वभावतः । 'देवादेरपि देहोऽयं द्रव्यात्मैव स्वभावतः' इति यत्त्वयोक्तं तत्र स्वभावशब्दार्थः क इति राजा पृच्छति—देवपुत्रेति । महाभासौ ब्रह्म महाशः आत्मतत्त्वविदसि । आत्मज्ञानात् पूर्वं सांसारिकपदार्थसंस्थितिं च तर्कादिकौशल्येन वेत्सि ॥ १४४ ॥

कथमहमीदृक्त्वया ज्ञातस्तत्राह—ज्ञायसे इति । सर्गादिकाले सर्गोन्मुखं ब्रह्म प्राक्कनप्राणिकर्मानुसारेण यादृग्माहर्गधर्मकं यद्यत्यदार्थात्मना स्वात्मनि स्फुरितं तस्य पदार्थस्य आप्रत्यं तादृग्धर्मकत्वनियतिः स्वभावशब्दार्थ इत्याह—आद्यसर्गे इति ॥ १४५ ॥ सांप्रतिकघटादिस्रभाववैचित्र्यं दृष्टसामग्रीवैचित्र्याद्यपि संभाव्येत । सर्गादौ तु तन्निरूपणासंभवात्काकागमनक्षणे देवात्तच्छिरसि तालपतनमिव तेन तस्य मरणमिव चादृष्टमात्रप्रयुक्तमिति बोधनाद्यासर्गानुधावनमित्याशयं दर्शयति—काकैति । 'समासाच्च तद्विषयात्' इतीवार्थद्वयविषयात्समासा-

घटावटपटाद्यात्म तथैवाद्यव्यवस्थितम् ।

काकतालीयबद्धारिबुद्दोत्पत्तिनाशवत् ।

धुणाक्षरवदुच्छूनं तं स्वभावं विदुर्बुधाः ॥ १४६

अस्मिन्स्वभाववशतो जगति प्ररूढे

देहा भ्रमन्ति परितो विविधा विकाराः ।

प्रक्षीणवासनतया न भवन्ति केचि-

द्भूयो भवन्ति च पुनस्त्विदरे घनास्थाः १४७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठरामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० सुखविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

स्वद्वारक्यविभवेनाद्य श्रुतेनामेन सुन्दर ।

पीतेनेवामृतेनाहमन्तर्यातोऽसि शीतताम् ॥ ४

तत्समासेन तां तावदात्मोत्पत्तिं वदाशु मे ।

ततः श्रोष्यामि यत्नेन ज्ञानगर्भां गिरं तव ॥ ५

तेन पद्मजपुत्रेण मुनिना नारदेन तत् ।

क कृतं धीर्यमार्येण कथयाद्य यथास्थितम् ॥ ६

चूडालोवाच ।

ततो निबध्नता तेन मगोमत्समतद्भ्रमम् ।

तृतीये इवार्थे च्छप्रत्ययः । सांप्रतिकेऽपि प्रसिद्धसुदेशकालिनियते स्वभाववैचित्र्ये न दृष्टसामग्रीयता निरूपयितुं शक्येत्याशयेन दृष्टान्तान्तरमाह—चारिबुद्दुवेति । मायामात्रत्वादाकस्मिको नासोऽस्त्विवाशयेन दृष्टान्तान्तरमाह—धुणाक्षरवदिति ॥ १४६ ॥ उक्तलक्षणस्वभाववशतः प्ररूढे अस्मिन् जगति विविधविकारात्मका अण्डजादिचतुर्विधा देहा भ्रमन्ति । तेषु केचिज्ज्ञानदेहास्ते प्रक्षीणवासनतया भूयो जन्मने न भवन्ति । इतरे अज्ञानदेहास्तु भूयो जन्मने भवन्ति । अतस्ते भोगेष्वेव घनास्था इत्यर्थः ॥ १४७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे सुखविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

कुम्भे कुम्भस्य जन्मात्र वृद्धिर्नैवसमागमः ।

तदा क्षिप्यस्य सार्वैश्वमित्यादिरिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

यथावर्णितलक्षणः स्वभावः सर्ववस्तुषु आप्रत्ययं असिद्धस्तथा मायाशबलस्यात्मनः सर्गादिस्रभावः श्रुत्यादिप्रसिद्धस्वदृशत इत्यर्थः । 'भोगार्थं सृष्टिरित्येके कीडावर्धमिति चापरे । देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का सृष्टा' इति भगवद्गोडपादाः ॥ १ ॥ वासनानां हार्सं ज्ञानाभ्यासेनापक्षयम् । नः दर्शनमनुभव इत्यर्थः ॥ २ ॥ इत्यमनुभवचमत्कारे कीर्तिते तत्प्रकारं श्रोतुकामो राजा तां प्रशंसमानः प्रस्तुतकथाशेषं संक्षिप्य समाधयेत्याह—अत्युदारमित्यादिना ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ क कस्मिन्नाधारे कृतं स्थापितम् ॥ ६ ॥ आलाने गजबन्धुस्यम्ने ।

विवेकविपुलालाने शुद्धया धीवरत्रया ॥ ७
 तद्वीर्यं कल्पकालाग्निगलितेन्दुद्रवोपमम् ।
 रसानां पारदादीनां दिव्यानामनुरञ्जनम् ॥ ८
 मुनिना पार्श्वे कुम्भे स्फाटिके विलसद्बुधौ ।
 अद्भुते विद्रुताकारं चन्द्रे चन्द्र इवार्पितम् ॥ ९
 तत्र शैले बृहत्कान्ते स्थूलः पार्श्वेषु चाभितः ।
 गम्भीरकुक्षिः सुदृढधोपलाहननक्षमः ॥ १०
 संकल्पितेन क्षीरेण स कुम्भस्तेन पूरितः ।
 अमृतापूरमिन्नेन विभिनेवामृतार्णवः ॥ ११
 तत्र मासाद्गतो वृद्धिं मुनिमन्दाहुतिक्रमः ।
 अमृताब्धौ शुभो गर्भ इन्दोरिन्दुरिवानुजः ॥ १२
 इन्दुं मास इवापूर्णे कालेन सुषुप्ते घटः ।
 गर्भं कमलपत्राक्षं प्रसूनमिष माधवः ॥ १३
 परिपूर्णसमस्ताङ्गः कुम्भाद्गर्भो विनिर्ययौ ।
 इन्दुः सूक्ष्मादिवाभोधेरपरः क्षयवर्जितः ॥ १४
 दिनैः कतिपयैरेव वृद्धिमभ्याजगाम सः ।
 अप्रमेयाङ्गसौन्दर्यः शुक्लपक्षे शशी यथा ॥ १५
 सर्वसंस्कारसंपन्ने स तस्मिन्धारदो मुनिः ।
 भाण्डाद्भाण्ड इवाशेषं विद्याधनमयोऽजयत् ॥ १६
 दिनैः कतिपयैरेव विज्ञाताशेषवाक्यम् ।
 चकारेनं मुनिवरः प्रतिबिम्बमिषात्मनः ॥ १७

धीलक्षणया वरत्रया चर्मरज्ज्वा ॥ ७ ॥ कल्पकालसंघनिधना
 अभिना गलितस्येन्दोर्द्रव उपमा यस्य । पारदकाञ्चनरूप्यादीनां
 रसानां शंभुवीर्याणामनुरञ्जनमनुकारि सदृशमिति यावत् ॥ ८ ॥
 ॥ ९ ॥ तत्र शैले मेरो । पार्श्वेष्वमितश्च स्थूलो विपुलः अत
 एव गम्भीरकुक्षिः । उपलेष्वाहननमास्फालनं तत्र क्षमः ।
 आस्फाल्यमानोऽप्यस्फुटिति सुदृढत्वे उपपत्तिः । इन्द्राः स
 कुम्भस्तेन नारदेन संकल्पजेन क्षीरेण पूरित इति परेणान्वयः
 ॥ १० ॥ स्वसंकल्पसृष्टामृतापूरात्मना मिन्नेन विभक्तेन विभिना
 सद्वा अरण्यश्चार्णवाविति ब्रह्मलोके भुक्तिप्रसिद्धोऽमृ-
 तार्णवो यथा पूरितस्तद्दिव्यर्यः ॥ ११ ॥ तत्र क्षीरे केहो-
 त्सुकं मुनि मन्दं अभिकार्याहुतिषु क्रमयति प्रवर्तयतीति
 मुनिमन्दाहुतिक्रमः अमृताब्धौ इन्दोरनुजः प्रतिबिम्बेन्दुरिव
 बृहते ॥ १२ ॥ मासः आपूर्णमिन्दुमिव ॥ १३ ॥ सूक्ष्माद्घट-
 परिच्छिन्नादम्भोधेः क्षीरार्णवात्क्षयवर्जितोऽपर इन्दुरिव ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ सर्वैर्जातकर्माद्युपनयनान्तैः संस्कारैः संपन्ने तस्मि-
 न्पुत्रे ॥ १६ ॥ विज्ञातान्यशेषाणि वाक्यानि विद्यास्थानानि
 येन तथाविधम् ॥ १७ ॥ रत्नाद्गौ स्फटिकाचके । संध्योदितः
 पूर्ण इति यावत् ॥ १८ ॥ १९ ॥ ग्रहणधारणसौष्ठवपरिज्ञानाय
 अभिमुखं वादितं वादयित्वा परीक्षितं वेदादिसर्वविद्यास्थानं
 यस्य तथाविधं प्रीत्याहे न्यवेशयेत् ॥ २० ॥ ज्ञानानी पारं

तेनाराजत पुत्रेण मुनिना मुनिनायकः ।
 रत्नाद्गौ प्रतिबिम्बेन संध्योदित इवोडुराद् ॥ १८
 अथैनं पुत्रमादाय ब्रह्मलोकं स नारदः ।
 जगामाथ स्वपितरं ब्रह्माणं चाभ्यवाचयत् ॥ १९
 कृतामिबन्दनं ब्रह्मा पौत्रमादाय तं तदा ।
 अमिवादितवेदादिं स्वयमङ्गे न्यवेशयत् ॥ २०
 अथाशीर्वादमात्रेण सर्वज्ञं ज्ञानपारगम् ।
 पौत्रं तं कुम्भनामानं चकार कमलोद्भवः ॥ २१
 साधो सोऽहमयं कुम्भः पौत्रोऽहं पञ्चजन्मनः ।
 पुत्रोऽहं नारदमुनेः कुम्भनामास्मि कुम्भजः ॥ २२
 निबसाम्यङ्गजपुरे पित्रा सह यथासुखम् ।
 चत्वारः सुहृदो वेदा मम लीलाविलासिनः ॥ २३
 मातृष्वसा मे गायत्री मम माता सरस्वती ।
 ब्रह्मलोके मम गृहं पौत्रस्तत्रास्मि सुस्थितः ॥ २४
 यथाकाममशेषेण जगन्ति विहराम्यहम् ।
 लीलया परिपूर्णत्वान्न तु कार्येण केनचित् ॥ २५
 धरां पतति मे पादौ पततो न महीतले ।
 रजः स्पृशन्ति नाङ्गानि ग्लानिं नायाति मे वपुः ॥ २६
 अद्याकाशपथा गच्छन्ष्टृवांस्त्वामहं पुरः ।
 इह तेनागतोऽस्म्यङ्ग सर्वं कथितवानिति ॥ २७

परमावधिभूतं तत्त्वज्ञानं तत्र विश्रान्तं चकार ॥ २१ ॥ हे
 साधो, स कुम्भः अयं त्वत्पुरस्थोऽहम् । ननु स्त्रीणां परदेवतस्य
 स्वभर्तुः समक्षं धर्मज्ञया वैदर्भ्या बृडालया कथमिदममृतमु-
 च्यते । 'शतमभ्यावृते हन्ति सहस्रं तु गवावृते । आत्मानं
 खजनं हन्ति पुरुषः पुरुषावृते ॥' इति हि पूर्वराമായणे श्रीराम-
 वचनम् । 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपादयेत् । किं
 तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा' इति महाभारते भरतं प्रति
 शकुन्तलावचनं चेत्थं कुप्येतेति चेत् । नैष दोषः । उपदेक्ष्य-
 माणब्रह्मविद्याप्ररोचनार्थस्य तद्वाक्यस्य तात्पर्यविषयार्थाभावेना-
 वृत्तत्वाभावात् 'वचरः प्रवाहणिरकामयत । स्तेनं मनोऽवृत्तवा-
 दिनी वाक् । प्रावाणः प्लवन्ते' इत्यादिवैदिकार्थवादवाक्यवत्प्रा-
 माण्योपपत्तेः । तत्त्वज्ञानबलेन सार्वात्म्यप्राप्तेर्वा 'अहं मनुर-
 भवं सूर्यश्च' इत्यादिवाग्देवोक्तिवत्सोऽहमयं कुम्भ इत्याद्युक्तिर्ना-
 वृता । न च भर्तृवचनादोषः । 'कर्मणा मनसा वाचा सदा भर्तु-
 र्हितं चरेत्' इतिवचनाद्भर्तुर्विद्याविश्वासजननेन परमहितस्यास्य
 वाक्यस्य वचनत्वाभावादिति ॥ २२ ॥ २३ ॥ साक्षान्मातुरभा-
 वात्पितृमात्रादय एव स्वस्य मात्रादय इत्याशयेनाह—मातृष्व-
 स्तेति । पौत्रो ब्रह्मण इति शेषः ॥ २४ ॥ २५ ॥ उपार्थविश्वा-
 सार्थं स्वस्यां देवलिङ्गानि दर्शयति—धरामिति । मयि धरां
 पतति भूलोके संचरति सति मे पादौ महीतले न पततः ॥ २६ ॥

एषोऽहमित्यखिलमेव यथानुभूतं

ते वर्णितं मनु मया वनवासतज्ज ।

सन्तो हि संकथनमार्यजनोत्तमेषु

निर्मान्त्यलं सुभगसंव्यवहारदक्षाः ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चूडालोपाख्याने कुम्भजननकथनं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

॥ अष्टादशो दिवसः ॥

सप्ताशीतितमः सर्गः ८७

शिशिष्वज उवाच ।

सर्गे स्फुरद्भिर्मत्पुण्यैर्मन्ये संप्रेषितो भवान् ।

अलक्ष्यैः संभृतैरद्रौ बृहद्वातैरिवाम्बुदः ॥ १

अद्य तिष्ठाम्यहं साधो धन्यानां धुरि धर्मतः ।

अमृतस्यन्दिष्वचसा यत्त्वयास्मि समागतः ॥ २

न केचन तथा भावाश्चेतः शीतलयन्ति मे ।

राज्यलाभादयोऽप्येते यथा साधुसमागमः ॥ ३

निरर्गलरसो यत्र सामान्येन विजृम्भते ।

मुक्तरागादिमननं तत्कल्पनसुखावहम् ॥ ४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवंवादिनि सैवास्य वाक्यमाक्षिप्य भूपतेः ।

भूयः प्रोवाच चूडाला मुनिदारकरूपिणी ॥ ५

चूडालोवाच ।

आस्तामेषा कथा तावत्सर्वं ते वर्णितं मया ।

त्वं मे कथय हे साधो कस्त्वमद्रौ करोषि किम् ॥ ६

कियत्पर्यवसानेयं भवतो वनवासिता ।

॥ २७ ॥ उक्तिमुपसंहरति—एष इति । हे वनवासतज्ज वनवासगुणास्तःफलं चित्तशुद्धिं च जानन्, अहमेष उक्तप्रकारजन्मादिमानित्यखिलमेव त्वत्पृष्ठं ते यथानुभूतं मया वर्णितम् । पादादौ ते इत्यादेशदृष्टान्वसः । आर्यजनोत्तमेषु पृच्छत्यु सन्तः संकथनं निर्मान्ति कुर्वन्त्येव । यतस्ते सुभगैः सद्भिः सह प्रश्नोत्तरकथनसंव्यवहारे दक्षा अतस्त्वं यद्यदमीप्सितं तत्तत्कामं पृच्छ अहं तद्वक्तुं दक्षोऽस्मीति भावः ॥ २८ ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे कुम्भजननकथनं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

कुम्भप्रकांसा राज्ञोऽत्र निजदुःखनिवेदनम् ।

क्षिप्यत्वमुपदेशार्थं विश्वासश्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

सर्गे जन्मपरम्परालक्षणे संसारे । संभृतैः संश्रितैर्देवाद्युगपत्परिपाकेन फलदानाय स्फुरद्भिर्मत्पुण्यैर्भवानद्रावस्मिन् मन्दराचले संप्रेषित इति मन्ये संभावयामि । बृहद्वातैः पुरोवातैः ॥ १ ॥ त्वदुपदेशान्मभावश्चंभाविनी कृतार्थतेति सूचनाय सिद्धवत्कृत्याह—अद्येति ॥ २ ॥ ३ ॥ राज्यलाभाद्यपेक्षया साधुसमागमे उत्कर्षं दर्शयति—निरर्गलेति । यत्र अस्मि-

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम

सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।

जातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम

श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाजगाम ॥ २९

सत्यं कार्यं च नोऽसत्यं वक्तुं जानन्ति तापसाः ॥ ७

शिशिष्वज उवाच ।

देवपुत्रोऽसि जानासि सर्वमेव यथास्थितम् ।

लोकवृत्तान्ततज्ज्ञोऽसि किमन्यत्कथयाम्यहम् ॥ ८

संसारमयभीतत्याभिवसामि वनान्तरे ।

जानतोपि हि मामार्य कथयाम्येव ते मनाक् ॥ ९

शिशिष्वजोऽहं भूपालस्त्यक्त्वा राज्यमिहास्थितः ।

भृशं भीतोस्मि तत्त्वज्ञ संसृतौ जन्मनः पुनः ॥ १०

सुखं पुनः पुनर्दुःखं पुनर्मरणजन्मनी ।

भवतस्तेन तप्येऽहं तत्त्वज्ञ वनधीयिषु ॥ ११

भ्रमन्नपि दिग्गन्तेषु चरन्नपि परंतपः ।

नासादयामि विभ्रान्तिमेकां निधिभिवाधनः ॥ १२

अयन्नोऽप्यफलोऽप्येको ह्यपूर्णोऽप्यस्तसंगतिः ।

शुभ्याम्यत्र धने साधो घुणध्रुण इव द्रुमः ॥ १३

इमामखण्डितां सम्यक् क्रियां संपादयन्नपि ।

दुःखाद्गच्छामि दुःखौघममृतं मे विषं स्थितम् ॥ १४

न्साधुसमागमे निरर्गलरसः अपरिच्छिन्नो ब्रह्मानन्दो मुक्तरागादिमननं यथा स्यात्तथा सामान्येन दरिद्रादिसर्वजनसाधारण्येन विजृम्भते । तद्राज्यलाभादिकं तु कल्पनमात्रेण तुच्छसुखावहं न निरर्गलसुखावहं साधारणं चेत्यर्थः ॥ ४ ॥ आक्षिप्य निरुध्य । विवक्षितार्थसमाप्तेः पूर्वमेवेति यावत् ॥ ५ ॥ एषा मत्प्रशंसाकथा आस्ताम् । सर्वं त्वत्पृष्ठमिति शेषः ॥ ६ ॥ क्रियान्कालः पर्यवसानमवधिर्यस्याः सा कियत्पर्यवसाना । कार्यं वनवाससार्थं प्रयोजनं च सत्यं वद न प्रच्छादय । यतस्त्वापसास्त्वाहसा असत्यं वक्तुं नो जानन्ति न जानन्ति ॥ ७ ॥

॥ ८ ॥ मनाक् ईषत् । संक्षेपेणेत्यर्थः ॥ ९ ॥ आस्थितस्तप इति शेषः । हे तत्त्वज्ञ, पुनर्जन्मनो भीतः ॥ १० ॥ भवतः जायेते । तप्ये संतप्तोऽस्मि तपश्चरामि च ॥ ११ ॥ १२ ॥ अयन्नः कुण्ठितप्रयत्नः । अफलः अप्राप्तफलः । एकोऽसहायः । अस्ता राज्यकालप्रसिद्धा साधुसंगतिर्लतादिसंगतिश्च येन । घुणैः काष्ठकीटैः ध्रुणः क्षतः ॥ १३ ॥ इमामुपवासदेवातिथिपूजादिरूपाम् । अखण्डितां नियतकालावच्छिन्नाम् । 'विधां चाविधां च यत्खद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया-

चूडालोवाच ।

- पितामहमहं पूर्वं कदाचित्पृष्टवानिदम् ।
यत्क्रियाज्ञानयोरेकं श्रेयस्तद्गृहि मे प्रभो ॥ १५
- ब्रह्मोवाच ।
ज्ञानं हि परमं श्रेयः कैवल्यं तेन वेत्स्यस्यम् ।
कालातिवाहनायैव विनोदायोदिता क्रिया ॥ १६
अलम्बज्ञानदृष्टीनां क्रिया पुत्रपरायणम् ।
यस्य नास्त्यम्बरं पट्टं कम्बलं किं त्यजत्यसौ ॥ १७
वासनामात्रसारत्वाद्द्वयस्य सफलाः क्रियाः ।
सर्वा एवाफला द्वयस्य वासनामात्रसंज्ञयात् ॥ १८
सर्वा हि वासनाभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः ।
अशुभाः फलवन्त्योपि सेवाभावे लता इव ॥ १९
ऋत्वन्तरे यथा याति विलयं पूर्वमार्तवम् ।
तथैव वासनानाशे नाशमेति क्रियाफलम् ॥ २०
न स्वभावेन फलति यथा शरलता फलम् ।
क्रिया निर्वासना पुत्र फलं फलति नो तथा ॥ २१
सयज्ञवासनो बालो यज्ञं पश्यति नान्यथा ।
सदुःखवासनो मूढो दुःखं पश्यति नान्यथा ॥ २२
आकारभासुरान्युच्चैर्न ददाति फलं क्रिया ।
शुभाशुभा वा तज्ज्ञस्य फुल्ला शरलता यथा ॥ २३

मृतममृते' इत्यादिश्रुतेरमृतं अमृतत्वहेतुरिति विश्रान्तये परिग्रहीतमपि कर्मसमुच्चितमुपासनं मे विश्रान्त्यजननाद्विषमिष स्थितं तत्कस्य हेतोस्तद्वदेति भावः ॥ १४ ॥ कर्मसमुच्चितोपासनान्मुक्तिरिति राज्ञो भ्रमो यावन्न निवार्यते तावदयमुपदिष्टमप्यात्मतत्त्वं न प्रतिपत्स्यत इति तन्निवारणाय स्वस्य पितामहोपदिष्टं कर्म श्रावयति—पितामहमिति । क्रियाज्ञानयोर्मध्ये यदेकं मुक्तिकारणं तद्गृहीत्यर्थः ॥ १५ ॥ वेत्ति प्रत्यक्षमनुभवति । क्रिया तु स्वर्गादिभोगविनोदाय प्रवृत्तापि तस्य फल्युत्त्वादपुरुषार्थतया अनर्थानुपार्जनेनायुःकालापनोदनायैव श्रुत्या उदिता उक्त्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्ययेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' इति ॥ १६ ॥ अत एवेयं श्रुतिः 'विद्यां चाविद्यां चे'ति श्रुतिश्च ज्ञानानधिकारिविषया । तत्र मृत्युतरणं स्वाभाविकदुःखेष्टान्यावृत्तिरमृतत्वं चापेक्षिकमभिप्रेतमित्याशयेनाह—अलम्बेति । पौत्रस्याप्यपत्यात्वात्पुत्रेत्युक्तिः ॥ १७ ॥ ननु ज्ञानिनोपि स्वर्णाभिमोषितकर्मकुर्वाणा इत्यन्ते तत्कथमलम्बज्ञानदृष्टीनामेव क्रियाशरणं तत्राह—वासनेति । अज्ञानो रागी वा विहितनिषिद्धकर्मफलं भुङ्के । न च कर्तृत्वभोक्तृत्ववासनानाशे श्रद्धा रागो वा संभवतीति भावः । मात्रशब्दः कार्त्तर्यपरः ॥ १८ ॥ किमशुभा अपि क्रियास्तथैव । ओमित्याह—सर्वा हीति । फलवन्त्योऽपीति । यत्रारब्धफला अपि क्रिया बाधितानुश्रुतिमात्रेण सफलशुष्कलताप्राया भवन्ति तत्रानारब्धफला नश्यन्तीति किं वाच्यम् । 'तरवो यत्र दक्षन्ते तृणानां तत्र का कथा' इति

- वासना चेह नास्त्येव साहंकारादिरुपिणी ।
असत्यैवोदिता मौर्ख्यान्मरुभूमाविवाम्बुधिः ॥ २४
यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात् ।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाम्बुधिर्मरौ ॥ २५
वासनामात्रसंत्यागाज्जराभरणवर्जितम् ।
पदं भवति जीवोऽन्तर्भूयो जन्मविषर्जितम् ॥ २६
सवासनं मनो ज्ञेयं ज्ञानं निर्वासनं मनः ।
ज्ञानेन ज्ञेयमभ्येत्य पुनर्जीवो न जायते ॥ २७
- चूडालोवाच ।
ज्ञानमेव परं श्रेय इति ब्रह्मादयोऽपि ते ।
प्राहुर्महान्तो राजर्षे त्वं किमज्ञानवान्स्थितः ॥ २८
इतः कमण्डलुरितो दण्डकाष्ठमितो वृसी ।
इत्यनर्थविलासेऽस्मिन्नमसे किं महीपते ॥ २९
कोऽहं कथमिदं जातं कथं शाम्यति चेति भोः ।
राजभावैक्षसे कस्मात्किमह इव तिष्ठसि ॥ ३०
कथं बन्धः कथं मोक्ष इति प्रभानुदाहरन् ।
पारावारविद्यां पादान्कस्माद्राजन्न सेवसे ॥ ३१
दुःस्पन्दसंविदा शैलकोटरे क्रिययानया ।
जीवितं क्षिपयन्किं त्वं शिलाकीटवदास्थितः ॥ ३२
साधूनां समदृष्टीनां परिप्रभेन सेवया ।

न्यायादिति भावः ॥ १९ ॥ ऋत्वन्तरे प्रीष्मशरदादौ । पूर्वमार्तवमृतुलिङ्गं नीहारजलधरादि ॥ २० ॥ निर्वासनापि क्रिया कुतो न फलतीति चेत्काशलावत्स्वभावादेवेत्याह—नेति ॥ २१ ॥ सुखदुःखभोगयोग्योऽहमिति वासनैव वा तत्सदुद्भववीजं यक्षत्रान्तिफले बालयक्षवासनावदित्याशयेनाह—सयज्ञेति ॥ २२ ॥ २३ ॥ ननु अज्ञदशायामर्थक्रियासमर्थत्वात्सत्याया वासनायाः कथं ज्ञानेन बाधस्तत्राह—वासनेति । इह अज्ञदशायामपि ॥ २४ ॥ प्राक्तनवासनानाशेऽपि ज्ञानोदयोत्तरमुत्पन्नया तथा क्रिया फलतु तत्राह—यस्येति । प्राज्ञस्य मरुदेशोऽयमिति प्रबोधवतः ॥ २५ ॥ पदं परमपुरुषार्थवस्तु ॥ २६ ॥ पितामहोक्तिमुपसंहरति—ज्ञानेनेति ॥ २७ ॥ अज्ञानवान् ज्ञानं विहाय तप एव मोक्षहेतुरिति निश्चित्य किं स्थित इत्यर्थः ॥ २८ ॥ विवेकहीनस्य बहिर्मुखस्य दण्डकमण्डलवाद्यल्पमपि ममतादिबिषयतया अनर्थायालमित्याशयेनाह—इत इति ॥ २९ ॥ यदि तपोऽप्यनर्थो हेयस्तर्हि क उपादेयस्तमाह—कोऽहमिति । नावेक्षसे न विचारयसि ॥ ३० ॥ विचार इव शुद्धैर्भिगमनसेवनपरिप्रश्रादयोऽप्युपादेया इति दर्शयति—कथमिति । संसारसमुद्रस्य पारं परतीरं सन्मात्ररूपः शोधिततत्पदार्थः । अवारमपरतीरं चिन्मात्ररूपः शोधिततत्पदार्थस्तद्वद्वैक्यलक्षणवाक्यार्थविदामित्यर्थः । अथवा पारावारः परमानन्दसमुद्रस्तद्विदामित्यर्थः ॥ ३१ ॥ दुःस्पन्दा व्रतोपवासशीतोष्णादिदुःखदप्रवृत्त्युन्मुखी आत्मसंविद्यस्यां तथाविधया अनया तपःक्रियया जीवितमायुः क्षिपयन् ॥ ३२ ॥ सा त्वदभिरुषितविश्रान्तिमुक्त्वा-

संगमेन च सा युक्तिर्लभ्यते मुच्यते यथा ॥ ३३
 साधुनैव समं प्राप्तं भुजानो वनकोटरे ।
 तिष्ठावष्टब्धदुश्चेष्टो धराविवरकीटवत् ॥ ३४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 कान्तया देवरूपिण्या तथैवं प्रतिबोधितः ।
 अश्रुपूर्णमुखो वाक्यं शिखिध्वज उवाच ह ॥ ३५
 शिखिध्वज उवाच ।
 अहो नु बोधितोऽस्म्यद्य चिरात्सुरसुत त्वया ।
 मौर्ख्यादार्यसमासङ्गं मुक्त्वाहमवसं वने ॥ ३६
 अहो नु मे क्षयं यातं मन्ये पापमशेषतः ।
 यत्त्वमेव समागत्य संप्रबोधयसीह माम् ॥ ३७
 गुरुस्त्वं मे पिता त्वं मे मित्रं त्वं मे वरानन ।
 शिष्यो नमस्करोम्यद्य पादौ तव कृपां कुरु ॥ ३८
 यदुदारतमं वेत्सि यस्मिन् ज्ञाते न शोच्यते ।
 भवामि निर्वृतो येन तद्ब्रह्मोपदिशाशु मे ॥ ३९
 घटज्ञानादयो ज्ञाने विभागाः सन्त्यनेकशः ।
 ज्ञानानां परमं ज्ञानं कतरत्तारकं भवेत् ॥ ४०

इत्यापं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाण० पू० चू० शिखिध्वजावबोधो नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥८७॥

अष्टाशीतितमः सर्गः ८८

चूडालोवाच ।

अस्ति कश्चित्पुमान् श्रीमान् स्थानं नित्यविरुद्धयोः ।
 गुणलक्ष्म्योरशेषेण यथाब्धिर्वाडवाम्बुनोः ॥ १
 कलावानस्रकुशलो व्यवहारविचक्षणः ।
 सर्वसंकल्पसीमान्तो न तु जानाति तत्पदम् ॥ २

प्रदा ज्ञानयुक्तिः ॥ ३३ ॥ तर्हि मयेदानीं कथं स्थेयं
 तदाह—साधुनैवेति । अवष्टब्धा निरुद्धास्तपःकेशादिवहिर्मुख-
 दुश्चेष्टा येन तथाविधः सन् साधुना गुरुणा मममेव प्रारामाहारं
 भुजानस्तत्सेवापरस्तदुपदिष्टार्थं धराविवरकीटवन्निश्चलस्तिष्ठेत्यर्थः
 ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ निर्वृतः सुखविभ्रान्तः
 ॥ ३९ ॥ 'ज्ञानमेव परं श्रेय' इति यत्त्वया परमं ज्ञानं तारक-
 मुक्तं तदेतेषां ज्ञानानां मध्ये कतरद्भवेत् । किमीदृशं तटस्थ-
 विषयमेव तज्ज्ञानमुतान्यादृशमिति भावः ॥ ४० ॥ 'श्रद्धास्र-
 सोम्ये'ति श्रुतेरश्रद्धानेषु कृतोऽयुपदेशः स्थाणोरग्रे काकरुतव-
 दर्थो निन्द्यश्चेति प्रथमं श्रद्धानो भवेत्याह—यदीति । तत्तर्हि
 इदं त्वष्टृष्टं ज्ञानं यथा यादृशं तद्वदामि वक्ष्यामि ॥ ४१ ॥
 लीलया अनास्थया पृष्टस्य वक्तुर्नाचः । अक्षसंविदश्चक्षुःसंनि-
 कर्षाः ॥ ४२ ॥ श्रुतेः 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादिविधिनिर्दोषप्र-
 माण्येन निश्चितः शिष्टैर्मुक्तसंशयमुपादीयते तद्वदुपादेयमित्यर्थः ।
 अविचारितं प्रामाण्यसंशयेनादिकल्पितम् ॥ ४३ ॥ मुक्तं हेतु-
 भिरुपपादनं यस्य तथाविधमपि प्रमाणबुद्ध्या यथा आदत्ते
 ॥ ४४ ॥ शुभं स्वहितमित्येष भावयन् । कर्णमुखावहं गीतं
 यो० वा० १२४

चूडालोवाच ।

यद्युपादेयवाक्योऽहं राजर्षे तद्वदामि ते ।
 यथा ज्ञानमिदं किञ्चिन्न वक्ष्ये स्थाणुकाकवत् ॥ ४१
 अनुपादेयवाक्यस्य वक्तुः पृष्टस्य लीलया ।
 व्रजन्त्यफलतां वाचस्तमसीवाक्षसंविदः ॥ ४२
 शिखिध्वज उवाच ।
 यद्वक्षि तदुपादेयं मया विधिरिव श्रुतेः ।
 अविचारितमेवाशु सत्यमेतद्वचो मम ॥ ४३
 चूडालोवाच ।
 यथा बालः पितुर्वाक्यं मुक्तहेतूपपादनम् ।
 आदत्ते हि तथैव त्वं गृहाणेतद्वचो मम ॥ ४४
 श्रवणानन्तरं बुद्ध्या शुभमित्येष भावयन् ।
 शृणु गीतमिव त्यक्त्वा हेत्वर्थित्वं वचो मम ॥ ४५
 स्वचरितसदृशं तथोदयन्त्या-
 धिरसमयेन विबोधनं च बुद्धेः ।
 भवभयसुतरं महामतीनां
 शृणु कथयामि कथाक्रमं मनोह्रम् ॥ ४६

अनन्तयत्नसंसाध्ये स चिन्तामणिसाधने ।

प्रवृत्तो वाडवो बहिरब्धिसंशोषणे यथा ॥ ३
 तस्य यत्नेन महता कालेनाध्यवसायिनः ।
 सिद्धश्चिन्तामणिः क्विंया न सिद्ध्यत्युद्यतात्मनाम् ॥ ४

गानमिव प्रीत्या शृणु ॥ ४५ ॥ तत्रादौ देहाद्यभिमानत्याजनाय
 दुःखनिदानोपदर्शनाय च मणिकाचोपाख्यानं हस्तिकाख्यानं
 च श्रावयितुमवतारयति—स्वचरितेति । स्वस्य तव चरितेन
 सदृशं तथा मन्दमतीनामपि बुद्धेश्चिरसमयेन विचारोदयद्वारा
 उदयन्त्या बुद्धेर्विबोधनं महामतीनां च सद्य एव भवभयं सुतरं
 यस्मात्तथाविधम् । विशेषणपरनिपातश्छान्दसः । ईदृशं कथा-
 क्रमं कथयामि शृण्वित्यर्थः ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणं पूर्वार्धे शिखिध्वजावबोधो नाम
 सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

मौर्ख्याश्चिन्तामणिं प्राप्तमुपेक्ष्य तपसा चिरात् ।

काचं कश्चिन्मणिभ्रान्त्या जग्राहेति कथोच्यते ॥ १ ॥

नित्यं परस्परविरुद्धयोः औदार्यवैराग्यमर्बस्वत्यागादिगुणस्य
 लक्ष्म्याः संपदश्च स्थानमावासभूतः । यथा अन्धिर्वडवानलस्य
 अम्बुनश्च विरुद्धयोः म्यानं तद्वत् ॥ १ ॥ तत्परमाःमपदं तु न
 जानाति ॥ २ ॥ म किं वक्तार तदाह—अनन्तेति । अनन्तै-
 स्तपोजपदेवताप्रार्थनान्वेषणादिगोचरैर्यज्ञैः संसाध्ये चिन्तामणेः
 साधने तपआदौ प्रवृत्तः ॥ ३ ॥ अध्यवसायिनो दृढनिश्चय-

प्रवृत्तिमुद्यमं प्रज्ञां प्रयुक्ते चैवखेदवान् ।
 अकिंचनोऽपि शक्तत्वं समवाप्तोत्यविद्यतः ॥ ५
 मणिमग्रे स्थितप्रायं हस्तप्राप्यं दर्शं सः ।
 मेराबुदयशृङ्गस्थो मुनिरिन्दुमिवोदितम् ॥ ६
 बभूव मणिराजेन्द्रे न तु निश्चयवानसौ ।
 राज्ये द्रागिति संप्राप्ते सुदीन इव पामरः ॥ ७
 इदं संचिन्तयामास मनसा सयशालिना ।
 संप्राप्तोपेक्षया दीर्घदुःखसंभ्रमशालिना ॥ ८
 अयं मणिर्मणिर्नायं मणिश्चेत्तद्भवेन्न सः ।
 स्पृशामि न स्पृशाम्येनं कदाचित्स्पर्शतो व्रजेत् ॥ ९
 नैतावतैव कालेन मणीन्द्रः किल सिद्ध्यति ।
 यत्नेन जीवितान्तेन सिद्ध्यतीत्यागमक्रमः ॥ १०
 कृपणः कृणितेनाक्ष्णा लोलालातलतोपमम् ।
 रत्नालोकं प्रपश्यामि द्विचन्द्रत्वमिव भ्रमात् ॥ ११
 कुत एतावती स्फीता भाग्यसंपन्नमागता ।
 अधुनैव यदाप्नोमि मणीन्द्रं सर्वसिद्धिदम् ॥ १२
 केचिदेव महान्तस्ते महाभाग्या भवन्ति हि ।
 येषामल्पेन कालेन भवन्त्यमिमुखाः श्रियः ॥ १३
 अहमल्पतपाः साधुवराको मानुषः किल ।
 सिद्ध्यः कथमायान्ति मामभाग्यैकभाजनम् ॥ १४
 एवं विकल्पसंकल्पैश्चिरमहः परामृशन् ।
 न मणिग्रहणे यत्नमकार्षीन्मौर्ख्यमोहितः ॥ १५

वतस्तस्य महता तीव्रयासेन यत्नेनाल्पकालेनैव चिन्तामणिः
 सिद्धोऽग्रे स्थितः । दृढयोगे फलावश्यंभावनियम इति दर्श-
 यति—किंचेति ॥ ४ ॥ प्रज्ञामिति । आश्रित्येति शेषः
 ॥ ५ ॥ यथा कश्चिदुदयाचलशृङ्गस्थो मुनिस्तत्रैवोदितमिन्दुं
 हस्तप्राप्यमपि भ्रान्त्या मेराबुदितं दूरतरस्थमिव दुष्प्रापं पश्यति
 तद्वद्दर्शित्यर्थः ॥ ६ ॥ अत एव मणिराजानां इन्द्रे ईश्वरे तस्मि-
 न्चिन्तामणीं निश्चयवान्स न बभूव । सुदीनो दरिद्रतमः ॥ ७ ॥
 स्मयो विस्मयस्तच्छालिना । संभ्रमशालिना भ्रान्तेन मनसा ।
 इदं वक्ष्यमाणप्रकारम् ॥ ८ ॥ अयं मणिरिति आपातज्ञानम् ।
 नायं मणिरिति भ्रमः । मणिश्चेत्स्यात्तर्हि स मत्प्रत्यक्षो न
 भवेत्, तर्हि परीक्षणाय स्पृशामि स्पृशेयमितीच्छामिलाषः ।
 न स्पृशामि न स्पृशेयम् । यतः कदाचिन्मणिश्चेदभाग्यस्य मम
 स्पर्शतोऽन्तर्धानं व्रजेत् ॥ ९ ॥ इति शङ्कायां बीजमाह—नैता-
 वतेति । आगमोऽत्रैतिषां तत्क्रमः ॥ १० ॥ कथं तर्हि प्रत्यक्षं
 रत्नालोकदर्शनं तत्राह—कृपण इति । कृपणोऽहं स्वकार्पण्यव-
 शात्कृणितेन भ्रान्तिसंकुचितेनाक्ष्णा लोलालातकल्पितलतोपमं
 रत्नालोकं भ्रमात्प्रपश्यामि ॥ ११ ॥ भाग्यं पुण्यं तत्संपत् ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ कुतो नाकार्षीत्तत्राह—न यदेति ।
 लब्धव्यं यदिति शेषः ॥ १६ ॥ किमर्थमुद्गीय गतस्तत्राह—

न यदा येन लब्धव्यं न तत्प्राप्तोत्यसौ तदा ।
 चिन्तामणिरवाप्तोऽपि दुर्धिया हेलयोजितः ॥ १६
 इति तस्मिन्स्थिते यातो मणिरुद्गीय सिद्ध्यः ।
 त्यजन्ति ह्यवमन्तारं शरो गुणमिवोजितः ॥ १७
 हत्वा प्राज्ञपदं पुंसः संयान्ति किल सिद्ध्यः ।
 आगताः संप्रयच्छन्ति सर्वं यान्त्यसहस्रलम् ॥ १८
 पुमान्भूयः क्रियायत्नं चक्रे रत्नेन्द्रसाधने ।
 नोद्विजन्ते स्वकार्येषु जना अध्यवसायिनः ॥ १९
 ददर्शाथ कचद्रूपं काचखण्डमखण्डितम् ।
 हसद्भिर्बच्चकैः सिद्धैः पुरस्कृतमलक्षितैः ॥ २०
 अयं चिन्तामणिरिति मूढस्तस्मिन्स वस्तुताम् ।
 बुबुधे मोहितो ह्यहो मृदं हेमेति पश्यति ॥ २१
 अष्टौ षष्ठं द्विषं मित्रं रज्जुं सर्पं स्थलं जलम् ।
 चन्द्रौ द्वौ कुरुते चित्तगतो मोहोऽमृतं विषम् ॥ २२
 तं दग्धमणिमादाय प्राक्तनीं च श्रियं जहौ ।
 सर्वं चिन्तामणेरस्मात्प्राप्यते किं धनैरिह ॥ २३
 देशोऽयमसुखो रूक्षो जनैः पापिभिरावृतः ।
 किं तद्रेहं गतप्रायं किं नाम मम बन्धवः ॥ २४
 दूरं गत्वा यथाकामं सुखं तिष्ठामि संपदा ।
 इत्यादाय मणिं मूढः शून्यकाननमाययौ ॥ २५
 तत्र काचकणेनासौ तेन तामापदं ययौ ।
 कज्जलाद्रेरिव निभा मौर्ष्यस्यैवाङ्ग या समा ॥ २६

सिद्ध्यः त्यजन्ति हीति । यथा मौर्ष्या उज्जितः शरो गुणं
 मोर्षी त्यजति तद्वत् ॥ १७ ॥ ननु त्वया स पुरुषो व्यवहार-
 विचक्षण इति कथोपक्रमे उक्तं तस्य सा विचक्षणता मणिसि-
 द्धिकाले क गता तत्राह—हन्वेति । सिद्ध्य आगताः सत्यः
 पुंसः प्राज्ञपदं विचक्षणतां संप्रयच्छन्ति । असहति असहमाने
 उपेक्षके तु पुंसि अलं यान्ति । अपगच्छन्त्यश्च । सर्वं तस्य
 प्राक्तनमपि प्राज्ञपदं विचक्षणत्वं हत्वा विनाश्य संयान्ति किन्हे-
 त्यर्थः । यथाहुः 'न देवा दण्डमादाय दण्डयन्त्यपराधिनम् ।
 बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति तेनासौ दण्ड्यते स्वतः' इति ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ हसद्भिः परिहासपरैरत एव बच्चकैः सिद्धैः पुरस्कृत-
 मग्रे स्थापितम् ॥ २० ॥ वस्तुतां उपादेयताम् ॥ २१ ॥
 मोहस्यान्यथाकारितां प्रसिद्धामुदाहरति—अष्टाविति । अष्टौ
 पदार्थान्कदाचित्संख्याव्यामोहात् षष्ठं षट् कुरुते । एवं द्विषं
 मित्रं कुरुते इत्यादि योज्यम् ॥ २२ ॥ दग्धशब्दो निन्दापरः ।
 श्रियं धनधान्यादिसंपदम् ॥ २३ ॥ एवं देशगृहवन्धावीनपि
 भ्रमात्म जहावित्याह—देश इति । रूक्षः भ्रमधजनशून्यः ।
 गतप्रायं जीर्णमिति यावत् ॥ २४ ॥ मणिं काचखण्डम् ।
 ॥ २५ ॥ या आपत् कज्जलाद्रेर्निभा कान्तिरिव गाढनीला ।
 मौर्ष्यस्यैव या समा अनुरूपा । मृत्युरूपेति यावत् ॥ २६ ॥

दुःखानि मौर्ख्यविभवेन भवन्ति यानि
नैवापदो न च जरामरणेन तानि ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० चूडा० मणिकाचोपाख्यानं नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

सर्वापदां शिरसि तिष्ठति मौर्ख्यमेकं

कृष्णं जनस्य वपुषामिव केशजालम् ॥ २७

एकोनवतितमः सर्गः ८९

चूडालोवाच ।

अथेममपरं रम्यं वृत्तान्तं शृणु भूमिप ।
परं प्रबोधनं बुद्धेः साधो सदृशमात्मनः ॥ १
अस्ति विन्ध्यवने हस्ती महायूथपयूथपः ।
आगस्त्या शुद्धया बुद्ध्या विन्ध्येनेवोदितः स्वतः ॥ २
वज्राचिर्विषमौ दीर्घौ तस्यास्तां दशनौ सितौ ।
कल्पानलशिखातुल्यौ सुमेरुन्मूलनक्षमौ ॥ ३
स बद्धो लोहजालेन हस्तिपेन किलाभितः ।
मुनीन्द्रेणेव विन्ध्याद्रिरुपेन्द्रेणेव वा बलिः ॥ ४
निबद्धो यन्त्रणामाप शस्त्रकुम्भार्दितो गजः ।
तां जगाम व्यथां धीरो नवाश्रौ पुरमेति याम् ॥ ५
रिपौ हस्तिपके दूरादपश्यति स वारणः ।
अयःसमुद्रके यस्मिन्निनाय दिवसत्रयम् ॥ ६
खेदान्निगडनिर्भेदे यत्नवान्स मतंगजः ।
चकार किंकिणीकाणं मुखोद्गतैरथान्यदा ॥ ७
दन्ताभ्यां यत्नतस्ताभ्यां मुहुर्तद्वितयेन सः ।
बभञ्ज शङ्खलाजालं स्वर्गार्गलमिवासुरः ॥ ८
तं तस्य निगडच्छेदमपश्यद्दूरतो रिपुः ।
बलेः स्वर्गावदलनं हरिर्मैरुतलादिषु ॥ ९
तस्य विच्छिन्नपाशस्य मूर्ध्नि तालतरो रिपुः ।
पपात क्रमतः स्वर्गं हरिर्मैरोर्बलेरिव ॥ १०

तस्मान्मौर्ख्यमेव दुःखहेतुषु पराकाष्ठत्युपसंहरति—दुःखा-
नीति । मौर्ख्यविभवेन यानि दुःखानि प्रसिद्धानि तानि सर्वस्व-
नाशादेरापदः सकाशात्प्रापि जरया मरणेन वा भवन्ति, मौर्ख्या-
पगमे तत्त्वविदासापदादिसहस्रेभ्योऽपि दुःखादर्शनात् हेमपर्यङ्के
शयानस्यापि सति मौर्ख्ये दुःखसहस्रदर्शनाच्च । अतः सर्वापदां
शिरसि मौर्ख्यमेकं तिष्ठति । यथा जनस्य सर्वस्य शिरसि कृष्णं
केशजालं तिष्ठति तद्वदित्यर्थः ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे मणिकाचोपाख्यानं
नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

बद्धविन्ध्यगजेन्द्रस्य यत्नाच्छिन्त्वापि बन्धनम् ।

अग्निप्रतो रिपुं प्राप्तं खाते पालोऽन्नं वर्णयते ॥ १ ॥

अत्र हस्तिकाख्यानमपि निदर्शनमतस्तदपि शृण्वित्याह—
अथेति । वृत्तान्तमाख्यानम् । आत्मनस्ताव सदृशम् ॥ १ ॥
अगस्त्यस्येयमागस्ती तथा । 'सूर्यतिथ्य-' इति यलोपः । चिर-

१ विन्ध्यात्मना खेन प्राक्तनोन्नतरूपेणेत्यर्थः.

स पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः ।

पपातोर्व्यां फलं पकं वाताहतमिवाकुलः ॥ ११

तं पुरः पतितं दृष्ट्वा महेभः करुणां ययौ ।

स्फुरत्स्फारगुणाः सन्तः सन्ति तिर्यग्गतावपि ॥ १२

पतितं दलयामीति किं नाम मम पौरुषम् ।

वारणोऽपीति कलयन्न जघान स तं रिपुम् ॥ १३

केवलं निगडव्यूहं विदार्याभिजगाम ह ।

विततं सेतुमुत्सार्य विपुलौघ इवाम्भसः ॥ १४

दयामाश्रित्य मातङ्गो भङ्क्त्वा जालं जगाम ह ।

विदार्य मेघसंघातं नभसीव दिवाकरः ॥ १५

गते गजे समुत्तस्थौ हस्तिपः स्वस्थदेहधीः ।

गजेनैव समं तस्य व्यथा दूरतरं गता ॥ १६

प्रोञ्चलत्तालशिखरात्स तथा पतितोऽपि सन् ।

न सेदमाप दुर्भेदा मन्ये देहा दुरात्मनाम् ॥ १७

वर्धते प्रावृषीवाभ्रं कुकार्येष्वसतां बलम् ।

आसीद्दधिकमुत्साही स च चंक्रमणे तदा ॥ १८

वारणारिरसिद्धाङ्गो गतेभो दुःखमाययौ ।

आगत्योपगतेऽन्तर्धि निघान इव वर्धनः ॥ १९

सोऽन्वियेष गजं यत्नाद्दुल्मकान्तरितं वने ।

पयोदपिण्डितं भोक्तुं रादुरिन्दुमिवाम्बरे ॥ २०

चिरेणालभतेमेन्द्रं कस्मिंश्चित्कानने स्थितम् ।

विश्रान्तं तं तरुतले समरादिव निर्गतम् ॥ २१

स्याज्ञापरिपालनाच्छुद्धया प्रसन्नया अनुग्रहबुद्ध्या विन्ध्येन स्वतः
प्राक्तनोन्नतरूपेणोदितः प्रादुर्भूत इवेत्युत्प्रेक्षा ॥२॥ वज्रस्याचिषी
ज्वाले इव विषमौ तीक्ष्णौ ॥३॥ लोहमयेन जालेन । मुनीन्द्रेण
अगस्त्येन ॥४॥ यन्त्रणां नियन्त्रणम् । कदाप्यसंभावितत्वाद-
लौकिकत्वाच्च नचे अपूर्वे हरशराश्रौ दह्यमानं त्रिपुरं यां व्यथा-
मेति ताम् ॥५॥ समुद्रके जालसंपुटे ॥६॥ किंकिणीनामिव काणं
ध्वनिम् ॥७॥ स्वर्गस्यामरावत्या अर्गलं कवाटविष्कम्भम् । अशुरो
बलिरिव ॥ ८ ॥ ९ ॥ रिपुर्हस्तिपकः ॥ तालतरोस्तालतरुमारुह्य
ततस्तस्य हस्तिनो मूर्ध्नि पपात । यथा बलियज्ञे पदत्रयमितां भुवं
प्रतिगृह्य प्रथमेन पदेन भुवं द्वितीयेन स्वर्गमिति क्रमतस्तृतीयपाद-
पूर्तये मेरोः सकाशाद्दलेर्मूर्ध्नि पपात तद्वदित्यर्थः ॥१०॥११॥
करुणां दयाम् ॥१२॥ इति कलयन्निघन्तयन्सन् ॥१३॥निगडव्यूहं
शङ्खलाजालम् ॥१४॥१५॥ स्वस्थो देहो धीश्च यस्य तथाविधः
सन् ॥१६॥ भेदं शिरःपादादिभङ्गम् ॥ १७ ॥ चंक्रमणे पश्यां
चलने ॥ १८ ॥ न सिद्धे अग्रे स्वप्रयुक्तोपायौ यस्य । अत एव
गतं ॥ १९ ॥ पशोदैः पिण्डितं छन्नम् ॥ २० ॥ २१ ॥

अथ यत्र स्थितो नागस्तत्र तद्वन्धनक्षमम् ।
परया राजसामग्र्या गजलम्पटभूमया ॥ २२
स खातवलयं चक्रे हस्तिपः काननेऽभितः ।
सर्वदिक्कं विधिर्भूमौ समुद्रवलयं यथा ॥ २३
उपर्यस्थगयद्बाललतौघेन स तं शठः ।
शून्यतातन्तुजालेन शरत्काल इवाम्बरम् ॥ २४
दिनैः कतिपर्यैरेव वारणो विहरन्वने ।
तस्मिन्निपतितः खाते शुष्काब्धाविव पर्यतः ॥ २५
व्रजन्पर्याकृतौ कूपे पातालतलभीषणे ।
खातशुष्काब्ध्यधोभागे गजरत्नसमुद्रके ॥ २६
इति भूयो दृढं बद्धस्तेन हस्तिपकेन सः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० हस्तिकोपाख्यानं नामकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः ९०

शिखिध्वज उवाच ।

मणिसाधकविन्ध्येभवन्धनाद्यमरात्मज ।
सूचितं यत्कथाजालं पुनर्मे प्रकटीकुरु ॥ १
चूडालोवाच ।
वाक्यार्थदृष्टेर्निष्पत्या दृढहे चित्तभित्तिषु ।
शृणु स्वयं कथां चित्रां चित्रमुन्मीलयामि ते ॥ २
योऽसौ शास्त्रार्थकुशलस्तत्त्वज्ञाने त्वपण्डितः ।
रत्नसंसाधकः प्रोक्तः स त्वमेव महीपते ॥ ३

तत्र सन्निधौ । गजे लम्पटानामासकजनानां भूमा बाहुल्यं यस्यां
तथाविधया राजप्रयुक्त्या खातसामग्र्या ॥ २२ ॥ विधिः स्रष्टा
॥ २३ ॥ शठो बद्धकः । शून्यतापिधायकतन्तुजालप्रायेण
शुभ्राभ्रपटलेन शरत्कालोऽम्बरमिव तं खातमुपरि बाललता-
जालेनास्थगयत् आच्छादितवान् ॥ २४ ॥ २५ ॥ पर्याकृतौ
वलयाकारे तस्मिन् कूपे खातशुष्काब्ध्यधोभागे यजन्पि स गजः
इति अनया रीत्या गजरत्नसमुद्रके भूयो दृढं बद्धः सन्नयापि
तिष्ठतीति परेणान्वयः ॥ २६ ॥ २७ ॥ यद्यहनिष्यत् ततस्तदा
खातनिबन्धनं दुःखं नालक्ष्यत ॥ २८ ॥ अत एव बुद्धिमाना-
गामिकालमिदानीमेव शास्त्रीयपुरुषप्रयत्नेर्दुःखबीजसंमार्जनेन
शोधयेदित्याह—मौर्ख्यादिति ॥ २९ ॥ यावत्सर्वदुःखनिदानम-
ज्ञानं नोच्छिन्नं तावत्प्रयत्नसहस्रैः कृतोऽपि दुःखोपशमो व्यर्थ
एवेत्याशयेनाह—मुक्तोऽस्मीति । किलार्थं चशब्दः ॥ ३० ॥
तस्मादज्ञानमेव मूलबन्धस्तन्निवृत्तिरद्वितीयात्मतत्त्वज्ञानादेवेति
दर्शयन्नुपसंहरति—मौर्ख्यमिति । हे महान्मन्, न बद्धः सदा
बन्धशून्यः स्वयं बद्ध इति चेतसि यन्मौर्ख्यं तदेव परं बन्धनम-
तस्त्वं तद्विमुक्त्यै आभ्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकत्रिविधपरि-
च्छेदात्मना आत्मबन्धनभूतं त्रिजगदात्मनः सकाशादेवोदयो
जन्म यस्य तथाविधं समस्तमात्ममयं विद्धि । तथा वेदने

तिष्ठत्यद्यापि दुःखेन भूसन्ननि यथा बलिः ॥ २७
अहनिष्यत्पुरैवासौ यद्यप्रे पतितं रिपुम् ।
तन्नालप्यत्ततो दुःखं गजः खातनिबन्धनम् ॥ २८
मौर्ख्यादागामिनं कालं वर्तमानक्रियाक्रमैः ।
अशोधयन्नरो दुःखं याति विन्ध्यगजो यथा ॥ २९
मुक्तोऽस्मि शस्त्रनिगडादिति तुष्टो हि वारणः ।
दूरस्थोऽपि पुनर्बद्धो मौर्ख्यं क्व च न बाधते ॥ ३०
मौर्ख्यं हि बन्धनमवेहि परं महात्म-
न्बद्धो न बद्ध इति चेतसि तद्विमुक्त्यै ।
आत्मोदयं त्रिजगदात्ममयं समस्तं
मौर्ख्यं स्थितस्य सहसा ननु सर्वभूमिः ॥ ३१

तज्ज्ञो भवसि शास्त्रेषु रविर्मेरुतटेष्विव ।
तत्त्वज्ञाने तु विश्रान्तो न त्वं दृषदिवाम्भसि ॥ ४
विद्धि चिन्तामणिं साधो सर्वत्यागमकृत्रिमम् ।
तमन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः ॥ ५
सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ ।
सर्वत्यागो हि साध्याज्यं किं चिन्तामणितो भवेत् ॥ ६
सिद्धः सर्वपरित्यागः साधो संसाध्यतस्तव ।
सर्वीकृतजगद्भूतिर्विद्यास्वात्मोदयस्तथा ॥ ७

आत्मव्यतिरिक्तापरिशेषादात्मा नित्यमुक्त एव भवति ।
इदंशवेदनाभावे तु मौर्ख्ये स्थितस्य पुंम आत्मैव सहसा सर्व-
बन्धादिदुःखबीजानां भूमिः प्ररोहक्षेत्रं भवतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
हस्तिकोपाख्यानं नामकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

मणिकाचशुभाख्यानतात्पर्यमिह विस्तरात् ।

विवृणोति पुरो राजशूडाका कुम्भरूपिणी ॥ १ ॥

हे अमरात्मज देवपुत्र, त्वया यत् मणिसाधककथाजालं
स्वचरित्रसममित्युक्त्या मन्प्रतिबोधनोपाय इति सूचितं तत्प्र-
कटीकुरु ॥ १ ॥ हृद्दयं तल्लक्षणे गृहे चित्तलक्षणामु भित्तिषु
चित्रां कथामेवोन्मीलितं रेखात्रेण कृतं चित्रं व्याख्यावर्णवै-
चित्र्येणोन्मीलयामीत्यर्थः ॥ २ ॥ तत्रादावस्ति कश्चित् पुमान्
श्रीमानित्यादिनोको मणिसाधकः स त्वमेवेत्याह—योऽसा-
विति ॥ ३ ॥ त्वयि कलावान् शास्त्रकुशल इत्याद्युक्तलक्षणम-
न्नीत्याह—सज्ज्ञ इति ॥ ४ ॥ कोऽसौ चिन्तामणिर्यत्साधनेऽहं
प्रवृत्तस्तमाह—विद्धीति ॥ ५ ॥ तस्य चिन्तामणित्वमुपपाद-
यति—सर्वत्यागेनेति । साम्राज्यमात्यन्तिकी पूर्णकामता ॥ ६ ॥
सर्वीकृता तुच्छीकृता हैरण्यगर्भपदान्ता जगत्प्रसिद्धा भूति-

संत्यक्तं भवता राज्यं सदारधनबान्धवम् ।
 ब्रह्मणेव जगत्सर्गव्यापारः स्वनिशागमे ॥ ८
 स्वदेशस्यातिदूरस्थमागतोऽसि ममाश्रमम् ।
 भुवोऽन्तमिव विश्रान्त्यै वैनतेयः सकच्छपः ॥ ९
 केवलं सर्वसंत्यागे शेषिताहंमतिस्त्वया ।
 मृष्टाखिलकलङ्केन स्वसत्तेवानिलेन खे ॥ १०
 मनोमात्रे हृदस्यके जगदायाति पूर्णताम् ।
 त्यागात्यागविकल्पैस्त्वं स्वमम्मोदैरिवावृतः ॥ ११
 नायं स परमानन्दः सर्वत्यागो महोदयः ।
 कोऽप्युच्चैरन्य एवासौ चिरसाध्यो महानिति ॥ १२
 चिन्तयेति गते वृद्धिं संकल्पग्रहणे शनैः ।
 घात्ययेव वनस्पन्दे त्यागः प्रोद्गीय ते गतः ॥ १३
 त्यागिता स्यात्कुतस्तस्य चिन्तामप्यावृणोति यः ।
 पवनस्पन्दयुक्तस्य निःस्पन्दत्वं कुतस्तरोः ॥ १४
 चिन्तैव चित्तमित्याहुः संकल्पेतरनामकम् ।
 तस्यामेव स्फुरन्त्यां तु चित्तं त्यक्तं कथं भवेत् ॥ १५
 चित्ते चिन्तागृहीते तु त्रिजगज्जालके क्षणात् ।
 कथमासाद्यते साधो सर्वत्यागो निरजनः ॥ १६
 संकल्पग्रहणेनान्तस्त्यागः प्रोद्गीय ते गतः ।
 शब्दसंश्रवणेनाङ्ग यथा ग्रामविहंगमः ॥ १७
 निश्चिन्तत्वं परं सर्वं त्याग आदाय ते गतः ।

आमक्यापूजितो जन्तुः स दुःखं न करोति किम् ॥ १८
 सर्वत्यागमणावेवं गते कमललोचन ।
 तपःकाचमणिर्दृष्टस्त्वया संकल्पचक्षुषा ॥ १९
 त्वया तस्मिंस्तपस्येव दुःखे दृष्टिभ्रमोदिते ।
 प्राह्यैकभावना बद्धा जलेन्दौ शशिनो यथा ॥ २०
 अवासनमनासक्त्या कृतानन्ता सवासना ।
 आद्यन्तमध्यविषमा दुःखायैव तपःक्रिया ॥ २१
 अमितानन्दमुत्सृज्य सुसाध्यं यः प्रवर्तते ।
 मिते वस्तुनि दुःसाध्ये स्वात्महा स शठः स्मृतः ॥ २२
 सर्वत्यागं समारभ्य न वैष साधितस्त्वया ।
 तथा दुःखैकताज्ञानबद्धेन वनसन्ननि ॥ २३
 राज्यबन्धाद्विनिष्क्रम्य प्रसरदुःखपूरितात् ।
 वनवासामिधैः साधो बद्धोऽसि दृष्टबन्धनैः ॥ २४
 द्विगुणा एव ते चिन्ताः शीतवातातपादयः ।
 बन्धनादधिकं मन्ये वनवासमजानताम् ॥ २५
 चिन्तामणिर्मया प्राप्त इत्यलं बुद्धवानसि ।
 न लब्धवान्भवान्साधो रफटिकस्यापि खण्डिकाम् २६
 इत्येतदङ्ग मणियत्नकथासमानं
 सम्यङ्मया प्रकथितं तव पद्मनेत्र ।
 तद्बोध्यमेवममलं स्वयमेव बुद्ध्वा
 यद्वेत्सि तत्परिणतिं नय चित्तकोशे ॥ २७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाण० पू० च० चिन्तामणिसाधकवृत्तान्तविवरणं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

शैश्वर्यपरम्परा येन तथाविधो विद्यालक्षणः स्वात्मोदयो निरतिश-
 यानन्दाभ्युदयो यस्मात्तथाविधश्च सर्वपरित्यागः । चार्थे तथा-
 शब्दः ॥ ७ ॥ कथं सिद्धस्तदाह—संत्यक्तमिति । ब्रह्मणा
 वेधसा ॥ ८ ॥ कच्छपग्रहणं गजन्वप्रोधशास्त्रयोरप्युपलक्षणम् ।
 वैनतेयस्येयं कथा भारतादौ प्रसिद्धा ॥ ९ ॥ अहंमतिरभिमान-
 रूपा अविद्या । मृष्टा अश्लिला अत्रनीहारादिकलङ्का येन शार-
 दानिलेन ॥ १० ॥ अहंमतिपरित्यागे परिशिष्टः पूर्णानन्दात्मा
 परमपुरुषार्थः स्वत एव इदि साक्षात्स्फुरतीति सर्वत्याग एव
 मोक्षः पर्यवसितः परमानन्दश्चिन्तामणिर्न तल्लामे तदुपेक्ष्यान्य-
 दन्वेपितव्यमित्याशयेनाह—मनोमात्रे इति । त्वं तु त्यक्तवा-
 भिमानपरिशेषात्त्यागात्यागविकल्पैरावृत इति न पूर्णतां प्राप्त
 इत्याह—त्यागात्यागविकल्पैरिति ॥ ११ ॥ विकल्पवशा-
 देव प्राप्तेऽपि सर्वत्यागे अविश्वासस्तवाभूदित्याह—नायमिति
 ॥ १२ ॥ इति चिन्तया संकल्पग्रहणे चिरं वृद्धिं गते सति
 स ते सर्वत्यागः प्रोद्गीय गतः ॥ १३ ॥ यश्चिन्तामपि आ-
 ईषदपि वृणोति स्वीकरोति ॥ १४ ॥ चित्तत्याग एव मुख्यः
 सर्वत्यागः, चिन्तायां तु सत्यां चित्तं दुस्त्यजम्, चित्तेन तु संक-
 ल्पद्वारा जगदेव संगृहीतमिति न कस्यापि त्यागस्ते प्रतिष्ठित
 इत्याशयेनाह—चिन्तैवेति द्वाभ्याम् ॥ १५ ॥ १६ ॥ ग्राम-
 विहंगमः कपोतादिः ॥ १७ ॥ सर्वत्यागस्य फलं निश्चिन्तत्वं

त्यागेनापगच्छता नीतमिवेत्युपेक्षते—निश्चिन्तत्वमिति ।
 पूज्यस्यानिमन्त्रितस्याथ पूजने दक्षाध्वरादावनर्थः प्रसिद्धः किं
 पुनः प्रार्थनासहसैरागतस्यापूजने इत्याशयेनाह—आमक्येति
 ॥ १८ ॥ ततः कोऽसौ काचखण्डो यो मया मणिवुद्ध्या गृहीत-
 स्तमाह—तप इति ॥ १९ ॥ दुःखहेतुत्वाद्दुःखे प्राह्यमित्येव
 भावना दृढनिश्चयः । जलेन्दौ प्रतिबिम्बचन्द्रे सत्यशशिर्नो
 भावनेव बद्धेत्यर्थः ॥ २० ॥ पूर्वमवासनं यथा स्यात्तथा अना-
 सक्त्या सर्वत्यागमुपक्रम्य पश्चादनन्ता रावासना तपःक्रिया कृता
 सा च कृथा । गृहधनदारादित्यागादादौ विषमा अन्ते फला-
 संज्ञविषमा मध्ये वनवासशीतवातादिसहनाद्विषमेति दुःखायैवे-
 त्यर्थः ॥ २१ ॥ अमितात्मानन्दं सुसाध्यं च सर्वत्यागमुत्सृज्य
 मिते दुःसाध्ये च तप आदिवस्तुनि यः प्रवर्तते स शठः अमि-
 तात्मस्वरूपविधातित्वात्स्वात्महेत्यर्थः ॥ २२ ॥ वनसन्ननि तथा
 वर्णितप्रकारतपाद्दुःखैस्तदेकताप्रयोजकाज्ञानेन च बद्धेन त्वया
 एष प्राक् समारब्धः सर्वत्यागो न साधितः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 वनवासमजानतां प्रागननुभूतवतां सुकुमाराणां वनवासं बन्ध-
 नादधिकं दुःखं मन्ये ॥ २५ ॥ खण्डिकां शकलमपि ॥ २६ ॥
 उपपादितमणिसाधकचरित्रसाम्यमुपसंहरति—इत्थमिति ।
 अङ्ग हे पद्मनेत्र, मया इत्येवं तव चरित्रं मणिप्रयत्नकथया समानं
 सम्यक् प्रकथितं स्फुटीकृतम् । तन्मणिकचदार्ष्टान्तिकमेवं मनुष्यं

एकनवतितमः सर्गः ९१

चूडालोवाच ।

इदानीं राजशार्दूल वस्तुसंप्रतिपत्तये ।
 शृणु विन्ध्येभवृत्तान्तविवृतिं स्वयकारिणीम् ॥ १
 योऽसौ विन्ध्यधने हस्ती सोऽस्मिन्भूमितले भवान् ।
 यौ वैराग्यविवेकी तौ द्वौ तस्य दशनौ सितौ ॥ २
 यश्चासौ वारणाक्रान्तितत्परो हस्तिपः स्थितः ।
 तदज्ञानं तवाक्रान्तितत्परं तव दुःखदम् ॥ ३
 अतिशक्तोऽप्यशक्तेन दुःखादुःखं भयाद्भयम् ।
 हस्ती हस्तिपकेनेव राजन्मौर्ख्येण नीयसे ॥ ४
 यल्लोहवज्रसारेण वारणः परियञ्चितः ।
 तदाशापाशजालेन भवानापदमावृतः ॥ ५
 आशा हि लोहरज्जुभ्यो विषमा विपुला इडा ।
 कालेन क्षीयते लोहं वृष्णा तु परिघर्षते ॥ ६
 यद्गन्धं प्रेक्षते वैरी गजमारादलक्षितः ।
 प्रेक्षते त्वां तदज्ञानं श्रीडार्थं बद्धमेककम् ॥ ७
 यद्बभूव गजः शत्रोः शृङ्खलाजालबन्धनम् ।
 तत्तत्याज भवान्भोगभूमिं राज्यमफण्टकम् ॥ ८
 कदाचित्सुकुं शस्त्रशृङ्खलाबन्धमेदनम् ।
 न त्वस्य मनसः साधो भोगाशाविनिवारणम् ॥ ९
 यदि मे पाटयत्युच्चैर्बन्धं हस्तिपकोऽपतत् ।
 त्वयि त्यजति तद्राज्यमज्ञानं पतितं कृतम् ॥ १०
 यदा विरक्तः पुरुषो भोगाशां त्यक्तमिच्छति ।

रीत्या त्वं स्वयमेव विचार्य तत्त्वतो बुद्ध्या सर्वत्यागं तपो वा
 यदेव चिन्तामणिवदमलं निर्दोषं वेत्सि तदेव स्वचित्तकोशे
 निधाय फलप्राप्तिपर्यन्तां परिणतिं नयेत्यर्थः ॥ २७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 चिन्तामणिसाधकवृत्तान्तविवरणं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

इह विन्ध्येभवृत्तान्तदार्ष्टान्तिकमुदीर्यते ।

कुम्भेन राज्ञश्चरितं बोधात्तत्यागसिद्धये ॥ १ ॥

वस्तुनस्त्वस्य सम्यक् प्रतिपत्तये बोधाय । स्वयो विस्मय-
 स्तकारिणीम् ॥ १ ॥ यौ तस्य द्वौ दशनौ तौ वैराग्यविवेका-
 ख्यावित्यन्वयः ॥ २ ॥ ३ ॥ अतिशक्तो बलवानपि त्वमश-
 क्तेन दुर्बलेनापि मौर्ख्येण दुःखादुःखं भयाद्भयं नीयसे ॥ ४ ॥
 स बद्धो लोहजालेनेत्युक्तिं प्रकटयति—यदिति । परितो
 यञ्चितो बद्ध इति यत् । भवान् पादावभिव्याप्येत्यापदमावृतः ।
 राज्यपालनकाले तदित्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ रिपौ हस्तिपके दूरा-
 दपश्यतीत्यनेन सूचितं तदर्शनमुदाहरति—यदिति । द्वन्द्वे
 रहस्ये । अज्ञानस्य भेतनत्वमारोप्य वादोऽयम् ॥ ७ ॥ दन्ताभ्यां
 यत्तत्साभ्यामित्युक्तेस्तात्पर्यमाह—यदिति ॥ ८ ॥ ९ ॥ 'स
 पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः । पपातोर्व्या'मिति
 बह्वकं तदप्यज्ञाने दर्शयति—यदिमे इति । पतितं यथा भवति

तदा प्रकम्पतेऽज्ञानं छेद्ये वृक्षे पिशाचवत् ॥ ११
 यदा विवेकी पुरुषो भोगान्संत्यज्य तिष्ठति ।
 तदा पलायतेऽज्ञानं छिन्ने वृक्षे पिशाचवत् ॥ १२
 भोगौघे नूनमुन्मुक्ते पतत्यज्ञानसंस्थितिः ।
 पादपे क्रकचच्छिन्ने कुलायस्तद्गतो यथा ॥ १३
 यदा वनं प्रयातस्त्वं तदाऽज्ञानं क्षतं त्वया ।
 पतितं सन्न निहतं मनस्त्यागमहासिना ॥ १४
 तेन भूयः समुत्थाय स्मृत्वा परिभवं कृतम् ।
 तपःप्रपञ्चखातेऽस्मिन्नाहने त्वं नियोजितः ॥ १५
 तदैवाघातयिष्यस्त्वं यद्यज्ञानं तथागतम् ।
 राज्यत्यागविधौ तत्त्वां नाहनिष्यत्क्षयं गतम् ॥ १६
 यत्खातवलयस्तेन वैरिणा हस्तिनः कृतः ।
 तत्तपोदुःखमखिलमज्ञानेन तवार्पितम् ॥ १७
 या तस्य राजराजश्रीर्गजारैर्नृपसत्तम ।
 सा त्वद्यज्ञाननृपतेश्चिन्ताभ्यन्तरचारिणी ॥ १८
 त्वं गजेन्द्रस्त्वयं साधो दीर्घे वनेऽगजोऽपि सन् ।
 अज्ञानवैरिणा तेन निक्षिप्तस्तरसाभितः ॥ १९
 यत्खातवलयो बाललतामिरवगुण्डितः ।
 आवृतं तत्तपोदुःखमीषत्सज्जनवृत्तिभिः ॥ २०
 इत्यद्यापि तपःखाते दुःखे ह्यस्मिन्सुदारुणे ।
 स्थितोऽसि पातालतले नृप बद्धो यथा बलिः ॥ २१

तथा कृतं त्वया पातितमिव जर्जरीकृतमित्यर्थः ॥ १० ॥ तदेव
 स्पष्टयति—यदेति ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ क्षतं शिथिली-
 भूतमपि मनस्त्यागतत्वज्ञानेन निर्मनस्कता तल्लक्षणेन महा-
 सिना न निहतं तदानीमेव ते चूडालोक्तिश्रवणात्तत्त्वबोधाव-
 सरोऽभूदिति भावः ॥ १४ ॥ तेन त्वदुपेक्षिताज्ञानेन ॥ १५ ॥
 राज्यत्यागविधौ तदैव तथागतं पतितमज्ञानं यद्यघातयिष्यस्त-
 तदैव क्षयं गतं सत्त्वां तपःखातपातेन नाहनिष्यदित्यर्थः ॥ १६ ॥
 खातवलयं चक्रे इत्युक्तेस्तात्पर्यमाह—यदिति ॥ १७ ॥
 'परया राजसामभ्या गजलम्पटभूमये'त्यत्रोक्तां राजसामग्रीं
 स्फुटयति—या तस्येति । तस्य गजारैर्हस्तिपकस्य राजप्रयुक्ता
 श्रीः खातसामग्री संपत् या उक्ता सा तु अवज्ञानं विचारानादर-
 स्तल्लक्षणस्य हस्तिपकचपतेः अभ्यन्तरचारिणी अन्तररक्षार्थंभूता ।
 चिन्तैव ह्यविवेकस्य सर्वस्वमिति भावः ॥ १८ ॥ हे साधो, त्वम-
 गजोऽपि सन्नयमुक्तविवेकसंपन्नो गजेन्द्रः अनेनाज्ञानलक्षणेन
 वैरिणा अभितः खाते तरसा निक्षिप्तः ॥ १९ ॥ 'उपर्यस्थगय-
 द्वाल्लतौघेन स तं शठः' इत्यस्य तात्पर्यं स्फुटयति—यदिति ।
 सज्जनवृत्तिभिः शान्तिक्षान्त्याविगुणैः साधुजनसमागमैश्च ईष-
 दावृतम् ॥ २० ॥ 'इति भूयो दृढं बद्धस्तेन हस्तिपकेन सः ।
 तिष्ठत्यद्यापि दुःखेन भूसद्यनि यथा बलिः' इत्युपसंहारस्य

गजस्त्वमाशा निगडानि वैरी

मोहो निखातः पुनरुग्रबन्धः ।

महीतलं विन्ध्य उदन्त इत्थं

त्वदीय उक्तः क्रुह यत्करोषि ॥ २२

इत्याषं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्र० पू० च० हस्तिकाख्यानतात्पर्यविवरणं नामैकनवतितमः सर्गः ॥९१॥

द्विनवतितमः सर्गः ९२

चूडालोवाच ।

यदुक्तं नयशालिन्या तथा विदितवेद्यया ।

तदा चूडालया ज्ञानं तत्कस्मात्प्रोररीकृतम् ॥ १

सा हि तत्त्वविदां मुख्या यद्यद्वक्ति करोति च ।

तत्सर्वं सत्यमेवाङ्ग तदनुष्ठेयमादरात् ॥ २

अथ चेद्वचनं तस्यास्त्वया नानुष्ठितं नृप ।

तत्सर्वसंपरित्यागः कस्मात् निपुणीकृतः ॥ ३

शिखिध्वज उवाच ।

राज्यं त्यक्तं गृहं त्यक्तं देशस्त्यक्तस्तथाविधः ।

दारास्त्यक्तास्तथाप्यङ्ग सर्वत्यागो न किं कृतः ॥ ४

चूडालोवाच ।

धनं दारा गृहं राज्यं भूमिश्छत्रं च बान्धवाः ।

इति सर्वं न ते राजन्सर्वत्यागो हि कस्तव ॥ ५

तथास्त्येवापरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।

तं परित्यज्य निःशेषमायास्यसि विशोकताम् ॥ ६

शिखिध्वज उवाच ।

राज्यं चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं वनमेव मे ।

तात्पर्यं वर्णयन्नुपसंहरति—इत्यद्यापीति ॥ २१ ॥ उक्तमनुक्तं

च पिण्डीकृत्याह—गज इति । त्वं गजः । आशास्तव निग-

डानि । मोहो वैरी हस्तिकः । उग्रं तपसि निर्बन्ध एव

निखातः । महीतलं विन्ध्यः । इत्थं त्वदीय उदन्तो वृत्तान्तो

मया हस्तिकाख्यानेनोक्तः । एवं परिज्ञाय तपःखातादुत्तम्य तस्य

रिपोर्नाशाय यत्करोषि तत्क्रुह मा विलम्बस्वेत्यर्थः ॥ २२ ॥

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वाषे

हस्तिकाख्यानतात्पर्यविवरणं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

इह कुम्भवचः भुक्त्वा सर्वत्यागपरो नृपः ।

त्यक्त्वा वनादिवह्नौ स्वं सर्वं भाण्डमदीवहत् ॥ १ ॥

यदा त्वं वनं प्रस्थितस्तदैवाज्ञानं पतितं सन्न निहतमिति

त्वयोक्तं तत्र तदानीं मम मनस्त्यागोपायः केनोपदिष्टो यो

मयोपेक्षित इति राजशङ्कां वितर्कयन्ती चूडालोवाच—यदु-

क्तमिति ॥ १ ॥ तस्या अतत्त्ववित्त्वानृतवादिनीत्वादिशङ्कां

वारयति—सा हीति । अनुष्ठेयमभूदिति शेषः ॥ २ ॥ यदि

‘आत्मबुद्ध्या चिरं जीवेद्गुरुबुद्ध्या विशेषतः । परबुद्धिर्विनाशाय

स्त्रीबुद्धिः प्रलयंकरि’ इति वचनात्स्त्रीबुद्धिसुपेक्षयात्मबुद्धिनिश्चितं

सर्वत्यागमेव बह्वमंस्थास्तीर्हि स एव त्वया कुतो न स्थिरीकृत

इत्याह—अथ चेदिति ॥ ३ ॥ राज्यादिपरित्यागमात्रेण ‘सिद्धः

सर्वपरित्यागः साधो संसाध्यतस्तव । स्वर्वाकृतजगद्भूतिर्विद्या

स्वात्मोदयस्तथा’ इति त्वयैवोक्तम् । न च मया त्यक्तं राज्यादि

शैलवृक्षादिगुल्माख्यं तदप्येतत्त्यजाम्यहम् ॥ ७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति राम वदन्नेव कुम्भवाक्यप्रणोदितः ।

निमेषान्तरमात्रेण वशी वीरः शिखिध्वजः ॥ ८

प्रममार्ज वनास्थां तां कृतः सुदृढनिश्चयः ।

प्रावृडोघस्तटगतां रजोलेखासिधात्मना ॥ ९

शिखिध्वज उवाच ।

सवृक्षाद्रिवनश्वभ्राद्विपिनादपि वासना ।

परित्यक्ता मया नूनं परित्यागः स्थितो मम ॥ १०

कुम्भ उवाच ।

अद्रेस्तटं वनं श्वभ्रं सलिलं पादपस्थलम् ।

इत्यादि तव नो सर्वं सर्वत्यागः कथं तव ॥ ११

तथास्त्येवापरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।

तं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥ १२

शिखिध्वज उवाच ।

एतच्चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं स्वाभ्रमो मम ।

वापीस्थलोटजयुतस्तमेवाशु त्यजाम्यहम् ॥ १३

पुनः स्वीकृतम् । तत्कथं मया सर्वत्यागो न निपुणीकृत इति

शिखिध्वजः पृच्छति—राज्यमिति ॥ ४ ॥ ‘केवलं सर्वसं-

त्यागे शेषिताहंमतिस्त्वया’ इति मया प्रागुक्तमेवास्त्योत्तरम् । विदे-

काभावात्त्वसौ न प्रतिपन्नस्तदयं वनाश्रमकुटीकमण्डलादिपरि-

ग्रहशेषेपि निःशेषं त्याजिते कथंचिद्विवेकं प्राप्याहंकारग्रन्थि

परित्यज्य पूर्णं भविष्यतीति मन्यमाना शनैस्तद्बुद्धिं विचार-

मवतारयन्ती गूढामिसन्धिनेव चूडालोवाच—धनमिति । यत्स्व-

संबन्ध सर्वं च तत्त्यागे सर्वत्यागः सिद्धेत् । न च राज्याद-

यस्ते स्वसंबन्धिनः सर्वं वा । अहंकारो हि राज्यादिकं ममेति

कल्पयंस्तःस्वामितां मन्यते न त्वात्मेति प्राप्त्यभावाच्च सर्वत्याग-

स्तव सिद्ध इति भावः ॥ ५ ॥ यद्यहंकारे तादात्म्यारोपादात्मा

राज्यादिस्वामितां प्रतिपन्न इत्युच्येत तर्हि तत्त्यागादेव राज्यादि-

त्यागः सिद्धेज्ज्ञानयथा । स च लया न त्यक्त इत्याक्षयेनाह—

तवेति ॥ ६ ॥ उक्ताशयमप्रतिपद्यमानः पूर्वं परित्यक्तत्वादेव

राज्यादौ तवेदानीं राज्यादिसंबन्धो नास्तीति न त्यागार्हता ।

शैलवृक्षादीनां त्विदानीं परिग्रहाच्च तत्त्यागमन्तरेण तव सर्व-

त्यागसिद्धिरित्यस्याशय इति मन्यमानः शिखिध्वज उवाच—

राज्यमिति । एवमग्रेऽपि राजस्तात्पर्यभेदभ्रम ऊह्यः ॥ ७ ॥ ८ ॥

प्रावृडोघो वर्षाप्रवाहः । रजोलेखां पांसुराजिमिव ॥ ९ ॥

वासना ममता परित्यक्ता तेन मम त्यागः स्थितः संपन्नः ॥ १० ॥

कुम्भाशयः पूर्ववत् ॥ ११ ॥ १२ ॥ त्यागाद्दनादि तव नो

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति राम वदन्नेव कुम्भवाक्यप्रबोधितः ।
निमेषध्यानमात्रेण वशी वीरः शिखिध्वजः ॥ १४
प्रममार्जाश्रमास्थां तां संविदा शुद्धया हृदि ।
स्फुरन्तीं स्फुरणेनैव रजोलेखामिवानिलः ॥ १५

शिखिध्वज उवाच ।

स वृक्षोदजवीरुत्काद्वासना स्वाश्रमादपि ।
परित्यक्ता मया नूनं सर्वत्यागः स्थितो मम ॥ १६

कुम्भ उवाच ।

वृक्षो वापी स्थलं गुल्ममुदजं व्रततीवृत्तिः ।
इति किञ्चिन्न ते सर्वं सर्वत्यागः कुतस्तव ॥ १७
तवास्त्यन्योऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
तं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥ १८

शिखिध्वज उवाच ।

एतच्चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं भाजनादि मे ।
चर्मकुड्यकुटीरादि तत्तावत्संत्यजाम्यहम् ॥ १९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा स समुत्तस्थावविभ्रुग्धमतिः शमी ।
विष्टरादवदातात्मा शृङ्गादिषु शरद्धनः ॥ २०
कुम्भस्त्वालोकयज्ञेषु तत्क्रियाः सस्मितः स्वयम् ।
आसने लोककार्येषु स्वस्यन्दन इवांशुमान् ॥ २१
यत्करोति करोत्वेतदस्यैतत्पावनं परम् ।
इति तूष्णीं स्थितः कुम्भः शिखिध्वजमवैक्षत ॥ २२

सर्वमित्यलु नाम तथापि तदाश्रमसद्भावत्कथं सर्वत्यागः सिद्ध इति मामाहेति मन्यमानः शिखिध्वज उवाच—एतच्चेदिति । अप्यर्थक एवकारः ॥ १३ ॥ १४ ॥ आश्रमे आस्थां ममतां प्रममार्ज ॥ १५ ॥ १६ ॥ कुम्भाशयो राजाशयश्च प्रागवत् ॥ १७ ॥ १८ ॥ कुड्यानि मित्तयः । अल्पा कुटी कुटीरः ॥ १९ ॥ विष्टरादासनात् । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । अवदानात्मा शुद्धचित्तः ॥ २० ॥ अंशुमान् सूर्यः स्वस्य स्यन्दने रथे इवासने आलोकयज्ञेषु स्थित इति शेषः ॥ २१ ॥ २२ ॥ अन्धिभूः समुद्रोदरनिम्नभूमिरुन्नतभुवो वृष्टिनद्यादिवारि यथा एकत्रानयति तद्वत् ॥ २३ ॥ करैः किरणैः संचारवान् संक्रान्तोऽर्को यथा सूर्यकान्तशिलास्थानपावकं ज्वालयति तद्वत् । अणौ ज्वलेरकर्मकलाणौ कर्तुः पावकस्य कर्मता । भाण्डोपस्करस्यापि तत्फलमस्मीभावाश्रयत्वात्कर्मता विवक्षिता । उवलेर्मित्त्वविकल्पादुपधाहस्वामावः ॥ २४ ॥ विवेश वृस्यामिति शेषः । ध्वंसिका मन्वन्तरसंधिप्रलयस्तत्र यथा रविः स्वप्रदीपितेऽर्मां जगद्भुत्वा मेरुशृङ्गे उपविशति तद्वत् ॥ २५ ॥ इदानीमक्षमालां त्यक्तुकामः कृतोपकारविस्मरणदोषं परिहरंस्तामाह—एतावन्नमिति द्वाभ्याम् । हे पतिप्रिये स्वामिभक्ते, न जातः परंक्षेपेन स्वार्थसाधनबुद्धेर्भेद उच्छेदो यस्य तथाविधेन मया त्वं यत् एतावन्तं कालं वृत्ता परिवर्तन-

शिखिध्वजस्तु तत्सर्वं भाण्डोपस्करमाश्रमात् ।
एकत्रैवानयामास भुवो वार्यन्धिभूरिव ॥ २३
तत्संस्थाप्येन्धनैः शुष्कैर्ज्वालयामास पावकम् ।
करैः संचारवानर्कः सूर्यकान्तपदं यथा ॥ २४
भाण्डोपस्करजालं तदग्नौ त्यक्त्वा विवेश सः ।
ध्वंसिकायां जगद्भुत्वा मेरुशृङ्गे यथा रविः ॥ २५
एतावन्तं मया कालं वृत्ता यत्त्वं पतिप्रिये ।
अजातबुद्धिमेदेन तेनैव कृतमस्तु ते ॥ २६
भ्रान्तौ तु विनिवर्तिन्यां नाधुनोपकरोषि माम् ।
मन्त्राटव्यां चिरं भ्रान्तं विहृतं कार्यवर्त्मसु ॥ २७
दृष्टानि धर्मस्थानानि विश्राम्याम्यधुना सखि ।
इत्यक्षमालां ज्वलने चिक्षेपोक्त्वा शिखिध्वजः ॥ २८
कल्पान्ताग्नाविव व्योम तारालीं पवनोऽमलाम् ।
मया नरमृगेण त्वं चिरं वनमृगाद्भुतम् ॥ २९
अबोधेन धृतं वृस्यामिदमेव मृगाजिनम् ।
इदानीं गच्छ तुच्छाय पन्थानः सन्तु ते शिवाः ॥ ३०
वह्निना व्योमतां गच्छ सतारं व्योम ते समम् ।
तद्भ्रस्यङ्गात्कराभ्यां स धृत्वा चर्माजहाविति ॥ ३१
नृपोऽग्नावम्बुधेर्वातो दववह्नाविवाचलात् ।
महावृत्तेन भवता त्वया वारि धृतं मम ॥ ३२
साधो कमण्डलो सम्यङ् न ते प्रतिकृतं कृतम् ।
सौहृदस्य मनोज्ञस्य सौजन्यस्यस्थिरस्य च ॥ ३३

धर्मं प्रापिता तेनैव ते तव मत्सेवनं कृतं पर्याप्तमस्तु ॥ २६ ॥ अधुना तु तपोजपादिकर्तव्यताभ्रान्तौ विनिवर्तिन्यामपगतायां सत्यां मां नोपकरोषि अतो न त्वां श्रमेण योजयागीति विश्राम्येत्यर्थः । अहमपि त्वया गह्र जपश्रमेण नानामन्त्राटवीषु भ्रान्तः संप्रति विश्रामिष्यामीत्याह—मन्त्राटव्यामिति । कार्यवर्त्मसु क्रियामाध्यक्षुद्रसिद्धिमार्गेषु विहृतं भ्रान्तम् ॥ २७ ॥ धर्मस्थानानि तपोवनसिद्धिक्षेत्रादीनि ॥ २८ ॥ यथा पवनः कल्पान्ताग्नौ व्योमस्तारालीं नक्षत्रमालां क्षिपति तद्वत् । अनेनाक्षमाला स्फाटिकीति गम्यते । मृगाजिनं प्रत्याह—मयेति ॥ २९ ॥ वृस्यां कुशासने । इदमेव तवोपकृतमस्त्विति शेषः । तुच्छाय मूलकारणमायास्वभावाय । पन्थानः अवान्तरकारणप्रविलयलक्षणा मार्गाः ॥ ३० ॥ सतारं व्योम ते सममित्युक्त्या पृषतस्य तच्चर्मं शुक्लबिन्दुचित्रमिति गम्यते । तस्य हि सतारव्योमताप्राप्तिरनुसर्पेवेति ॥ ३१ ॥ वृष इत्युक्त्वा वृस्यङ्गात्चर्माकृष्य कराभ्यामर्मां जहाविति पूर्वज्ञान्वयः । यथा प्रलयवातः अचलनम्बुधेराकृष्य दववह्नां त्यजति तद्वत् । इदानीं कमण्डलुं त्यक्तुकामः कृतज्ञताख्यापनाय प्रशंसति—महावृत्तेनेत्यादिना । सुष्ठु वृत्तेन वर्तुलेन सुचरित्रेण च भवता यता । शतप्रलययान्तोऽयं भवच्छब्दः ॥ ३२ ॥ प्रतिकृतं प्रत्युपकरणं न कृतम् । सौहृदादिपदान्यपि यथासंभवं श्लेषेण

साधुत्वस्य च सर्वस्य त्वमेव परमास्पदम् ।
 येनैव बह्विना देहं संशोभ्याभ्यागतोऽसि माम् ॥ ३४
 तेनैव गच्छ हे मित्र पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
 इत्युक्त्वा श्रोत्रियायैव कमण्डलुमदात्तदा ॥ ३५
 भद्रये प्रहृते वापि दातव्यं साधु यद्भवेत् ।
 मूर्खस्येव मतिर्गुप्ते नित्यमेव पतत्यधः ॥ ३६
 उचिता ते गतिः सैव वृत्तिके भस्मतां व्रज ।
 इत्युक्त्वादाय वृत्तिकामन्नावेव स मृत्तिकाम् ॥ ३७
 शुद्धार्थमासनार्थं वै चिति तत्याज भासुरे ।
 यस्याज्यमचिरेणैव त्यक्तव्यं किल तत्सदा ॥ ३८
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० सर्वस्यागकरणं नाम दिनवतितमः सर्गः ॥९३॥

विस्तरः क्रियते सद्भिरुपादेये इति स्थितिः ।
 शीघ्रमन्नाविदं सर्वं भाण्डजातं त्यजाम्यहम् ॥ ३९
 एकवारं दहत्यग्निर्दाहं भवति तुष्टये ।
 साधो क्रियोपकरणं निष्क्रियाय त्यजाम्यहम् ।
 न खेदस्तत्र कर्तव्यो नन्वयोग्यं विभर्ति कः ॥ ४०
 इत्युक्त्वान्मृत्तिति भोजनभाजनाद्यं
 सर्वं जुहाव वनवासविलासयोग्यम् ।
 तद्भाण्डजालमनले सममेव राजा
 कल्पान्ततेजसि जगज्ज्वलतीव कालः ॥ ४१

त्रिनवतितमः सर्गः ९३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथोत्थाय ददाहासौ शुष्कं तत्तृणमन्दिरम् ।
 अग्नेन स्वेन मनसा वृथा संकल्पकल्पितम् ॥ १
 शिष्टं यत्किञ्चिदभवत्तत्सर्वं स शिखिध्वजः ।
 असंरब्धमना मौनी क्रमेण समया धिया ॥ २
 ददाह च स चिक्षेप तत्याज च बभ्रज वा ।
 भाण्डजातं स्ववसनं भोजनाद्यपि तुष्टवत् ॥ ३
 स बभूवाश्रमस्तस्य दृष्टनष्टजनस्थितिः ।
 वीरभद्रबलध्वस्तदक्षयज्ञाश्रमोपमः ॥ ४

योज्यानि ॥३३॥ येनैवेति । अनेन स कमण्डलुः पूर्वं कस्मा-
 च्छिच्छ्रोत्रियाच्छुष्यर्थं बहिदाहेन संशोध्य स्वयं गृहीतः स्थितः
 स पुनर्दाहेन संशोभ्याभ्यास्य श्रोत्रियाय दत्त इति गम्यते
 ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ यदुपकरणं साधु प्रतिपत्त्यर्हं भवेत्तदमये
 महते वापि दातव्यं दानेन प्रतिपाद्यमिति नियमादित्यर्थः ।
 वृत्तीं धक्ष्यंस्तस्यां तदुचितं दोषमाह—मूर्खस्येवेति । यथा
 मूर्खस्य मतिरधोगतिहेतौ गुप्ते प्रच्छन्ने पापे पतति तथा
 त्वमपि सदा स्वप्रच्छन्ने अधोदेशे पतसि ॥ ३६ ॥ अतो हे
 वृत्तिके, मूर्खमतेरिव ते सैव दाहसंतापगतिरुचिता अतो
 भस्मतां व्रजेत्यर्थः । इत्युक्त्वा मृत्तिकाम् मृदुतमां वृत्तीं भासुरे
 अन्नावेव तत्याजेति परेणान्वयः ॥ ३७ ॥ किमर्थं सर्वं तत्याज
 तदाह—शुद्ध्यर्थमिति । चित्तशुद्ध्यर्थं चितिं ब्रह्मचैतन्ये ।
 आसनार्थम् । विश्रान्त्यर्थं चेत्यर्थः । कुम्भं प्रत्याह—यदित्यादि ।
 हे साधो, यस्याज्यं भाण्डजातं तदचिरेण शीघ्रमेव त्यक्तव्यं न
 विलम्बितव्यमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ तत्कृतस्तत्राह—विस्तर इति ।
 यतः सद्भिरविद्यमानैस्तेर्भाण्डेरुपादेये संप्रहयोग्ये उपकरणान्त-
 रेपि विस्तरः क्रियते इति लोके वस्तुस्थितिः प्रसिद्धा । अतोऽ-
 हमिदं सर्वं भाण्डजातं शीघ्रमेवाग्नौ त्यजामि ॥ ३९ ॥ यतः
 सर्वं दाह्यं भाण्डमेकवारं युगपदेव दहति चेन्मम तुष्टये सर्व-
 त्यागसंतोषाय भवतीत्यर्थः । ननु हे कुम्भ, तत्र मत्कृतसर्वस्याग-
 यो० वा० १२५

आश्रमात्ते मृगगणास्त्यक्तरोमन्थमुद्ययुः ।
 साभिदाहात्पुरवराङ्गीतभीतजना इव ॥ ५
 भाण्डजातं दहत्यग्नीं सहशुष्केन्धनेन तत् ।
 केवलाकृतिरग्नेहस्तुष्टिमानाह भूपतिः ॥ ६
 शिखिध्वज उवाच ।
 वासनां तत्र संत्यज्य सर्वत्यागी स्थितो ह्यहम् ।
 अहो नु चिरकालेन देवपुत्र प्रबोधितः ॥ ७
 संपन्नः केवलः शुद्धः सुखेनोद्बोधवानहम् ।
 किं नाम किल वस्त्वैतद्भवेत्सांकल्पिकक्रमम् ॥ ८

विषये त्वया खेदो न कर्तव्यः । यतो लोकेपि अयोग्यं को
 विभर्ति धारयति । तथा चाक्रियस्य मम क्रियोपकरणमयोग्यमे-
 वेति न धारणयोग्यमिति भावः ॥ ४० ॥ राजा शिखिध्वज
 इति उक्तवान्सर्वं भोजनभाजनार्थं प्रधानं यस्य तथाविधं
 तत्सर्वं वनवासविलासयोग्यं भाण्डजालं समं युगपदेव अनले
 मृत्तिति जुहाव । यथा कालो ज्वलति कल्पान्ततेजसि जगद्युग-
 पदेव जुहोति तद्वदित्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे सर्वस्यागकरणं
 नाम दिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

दग्धोपकरणं देहं त्यक्तुकामः शिखिध्वजः ।

विनिवार्यात्र कुम्भेन चित्तत्यागाय बोधयते ॥ १ ॥

स्वेन मनसा वृथा ममतासंकल्पेन कल्पितं समर्थितं तत्
 कुटीरुपं तृणमन्दिरम् ॥ १ ॥ पिठरशरावकुशकाष्ठसंचयादि
 यत्किञ्चिदभवत्तत्सर्वं ददाहेत्यादिपरेणान्वयः ॥२॥ स्वस्य वसनं
 वत्कल्पम् । भुञ्जते यस्मिस्तद्भोजनं पत्रपुटकाद्यपि ॥ ३ ॥ पूर्वं
 दृष्टा पश्चाज्ज्ञा अदर्शनं प्राप्ता जनस्थितिर्यत्र । 'पूर्वकाल' इति
 समासः ॥४॥ तदेवोपपादयति—आश्रमादिति ॥५॥ केवलाकृ-
 तिर्देहमात्रावशिष्टः ॥६॥ वासनां ममताम् । तत्र सर्वोपकरणे ।
 प्रबोधितस्त्ववेति शेषः ॥ ७ ॥ सांकल्पिको ममतासंकल्प-
 प्रयुक्तः संप्रहकमो यस्य तथाविधमेतदुपकरणजातं किं नाम, न

यावद्यावत्प्रहीयन्ते विविधा बन्धहेतवः ।
तावत्तावत्समायाति परमां निर्धृतिं मनः ॥ ९
शाम्यामि परिनिर्धामि सुखितोऽस्मि जयाम्यहम् ।
विबन्धाः प्रक्षयं याताः सर्वत्यागो मया कृतः ॥ १०
दिगम्बरो दिक्सद्रनो दिक्समोऽयमहं स्थितः ।
देवपुत्र महात्यागात्किमन्यद्वशिष्यते ॥ ११

कुम्भ उवाच ।

सर्वमेव न संत्यक्तं त्वया राजन् शिखिध्वज ।
सर्वत्यागपरानन्दे मा मुधाभिनयं कुरु ॥ १२
तवास्त्येवापरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
यं परिस्वज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥ १३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति श्रुतवता तेन किञ्चित्संचिन्त्य भूभृता ।
इदमुक्तं महाबाहो राम राजीवलोचन ॥ १४
शिखिध्वज उवाच ।

इन्द्रियव्यालसंघातो रक्तमांसमयाकृतिः ।
शिष्यते सर्वसंत्यागे देहो मे देवतात्मज ॥ १५
तदुत्थाय पुनर्देहं भृगुपातादविघ्नतः ।
विनाशात्मकतां नीत्वा सर्वत्यागी भवाम्यहम् ॥ १६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा देहमग्रस्ये श्वभ्रे त्यक्तमसौ जवात् ।
करोति यावदुत्थानं तावत्कुम्भोऽप्युवाच ह ॥ १७
कुम्भ उवाच ।

राजन्किमिति देहं त्वं निरागस्कं महावटे ।
त्यजस्यहो हि वृषभः कुपितो हन्ति तर्णकम् ॥ १८
जडो वराको मूकात्मा तपस्वी देहको ह्ययम् ।
न कश्चन तवैतस्मिन्मा मुधैव तनुं त्यज ॥ १९
आत्मन्येवैव मूकात्मा ध्यानवानवतिष्ठते ।

किञ्चित्सारभूतमुपादानार्हमित्यर्थः ॥ ८ ॥ तत्त्यागमुखमभिन-
यन्नाह—यावद्यावदिति ॥ ९ ॥ विविधा बन्धा बन्धहेतवो
विषयाः ॥ १० ॥ ११ ॥ बाह्योपकरणत्यागमात्रेण भ्रान्त्या
बालस्येव तस्य सर्वत्यागमुखमभिनयमसहमानः कुम्भ उवाच—
सर्वमेवेति । अभिनयं व्यञ्जकचेष्टाविशेषम् ॥ १२ ॥ तवेत्यादि
प्राग्वत् ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ श्वभ्रे भृगौ ॥ १७ ॥
निरागस्कं निरपराधम् । महावटे भृगौ । तर्णकं खवत्सम्
॥ १८ ॥ निरागस्कतामेव दर्शयति—जड इति । तव अप-
राध इति शेषः ॥ १९ ॥ २० ॥ यस्यापराधस्तमन्यं दर्श-
यति—क्षोभयतीति । स एव निग्रहार्हो दण्ड्यः ॥ २१ ॥
ननु सुखदुःखोद्भवस्थानत्वात्कृतः शरीरं नापराधि तत्राह—
सुखेति । भूत्या उत्पत्तिस्थानतामात्रेण । तत्र दृष्टान्तमाह—
नेति । यथा फलवांस्वरुवायुक्ते आत्मस्पन्दे फलादिपाते सति न

१ एकस्मिन् इति पाठः.

संचाल्यते परेणैव तरङ्गेणैव काष्ठकम् ॥ २०
क्षोभयत्यन्य एवैनं निग्रहार्हो मुहुर्बलात् ।
तपस्विनं यथैकान्तं संस्थितं मत्ततस्करः ॥ २१
सुखदुःखादिभूत्या हि नापराधि शरीरकम् ।
नात्मनः फलवानात्मस्पन्दे वृक्षोऽपराधवान् ॥ २२
वातः फलशिरःपुष्पपातनं कुरुते स्फुरन् ।
तरुणा साधुना धीरापराङ् किमात्मनः ॥ २३
त्यक्तेनापि शरीरेण क्लिप्ततामरसेक्षण ।
सर्वत्यागो न ते याति निष्पत्तिं विषमो हि सः ॥ २४
भृगौ केवलमेतत्त्वं निरागस्कं शरीरकम् ।
मुधा क्षिपसि नो देहत्यागो तत्त्यागिता भवेत् ॥ २५
येनायं क्षोभ्यते देहो मत्तेभेनेव पादपः ।
तत्संत्यजसि चेत्पापं तन्महात्यागवान्भवान् ॥ २६
तस्मिंस्त्यक्ते भवेत्यक्तं सर्वं देहादि भूपते ।
नो चेन्निमग्नमप्येतद्भूयोभूयः प्ररोहति ॥ २७

शिखिध्वज उवाच ।

केनायं बाल्यते देहः किं बीजं जन्मकर्मणाम् ।
कस्मिंस्त्यक्ते परित्यक्तं सर्वं भवति सुन्दर ॥ २८
कुम्भ उवाच ।

साधो न देहत्यागेन न राज्यत्यजनेन च ।
न चोटजादिशेषेण सर्वत्यागो भवेन्नृप ॥ २९
यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन्सर्वैककारणे ।
सर्वस्मिन्संपरित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥ ३०

शिखिध्वज उवाच ।

सर्वं सर्वगतं सर्वहेयं त्याज्यं च सर्वदा ।
सर्वं किमुच्यते ब्रूहि सर्वतत्त्वविदां वर ॥ ३१
कुम्भ उवाच ।

साधो सर्वगताकारं जीवप्राणादिनामकम् ।

तदभिमान्यात्मा अपराधवान् भवति ॥ २२ ॥ यतः स्फुरन्वात
एव फलनां शिरःपल्लवानां पुष्पाणां च बलात्पातनं कुरुते इति
स एवापराधी । तरुणा साधुना किमपराङ् तद्देहेनापि साधु-
नात्मनः किमपराङ्मित्यर्थः ॥ २३ ॥ हि यस्मात्स सर्वत्यागः
पुनरधिकारिदेहदौर्लभ्येन ज्ञानदौर्लभ्याद्विषमो दुःसाध्य एव
संपद्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥ तस्य देहक्षोभकस्याहंकारस्य
त्यागिता नो भवेन्न सिद्धेदित्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥ एतद्देहादि
निमग्नं जलमज्जनादिना नाशितमपि तस्यादेहचालकादेव जन्म-
कर्मबीजभूतात् प्ररोहति ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ सर्ववासनास्प-
दत्वात्सर्वम् । सर्वविषयेषु प्रसृतत्वात्सर्वतः । संकल्पेन सर्व-
जनकत्वात्सर्वैककारणे ॥ ३० ॥ सर्वत्र हेयं सर्वदा च त्याज्यं
त्यक्तुं योग्यं यत्सर्वं त्वयोच्यते तत्किमित्यर्थः ॥ ३१ ॥
चित्प्राधान्येन जीवनामकं क्रियाप्राधान्येन प्राणादिनामकं

२ भवेत्यक्तं सर्वं देहादि सुन्दर इति पाठः.

न जडं नाजडं भ्रान्तं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥३२
चित्तमेव भ्रमं विद्धि विद्धि चेतो नरं नृप ।
चित्तं विद्धि जगज्जालं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ३३
राज्यादेरथ देहादेराभ्रमादेर्महीपते ।
सर्वस्यैव मनो बीजं तरुबीजं तरोरिव ॥ ३४
सर्वस्य बीजे संत्यक्ते सर्वं त्यक्तं भवत्यलम् ।
संभवासंभवाद्भूय सर्वत्यागो भवेदिति ॥ ३५
सर्वधर्माद्यधर्मा वा राज्यादि विपिनादि वा ।
सच्चित्तस्य परं दुःखं निश्चित्तस्य परं सुखम् ॥ ३६
इदं विवर्तते सर्वं चित्तमेव जगत्तया ।
देहाद्याकारजालेन बीजं वृक्षतया यथा ॥ ३७
पादपः पवनेनेव भूकम्पेनेव पर्वतः ।
भस्मा भस्माभरेणायं देहश्चित्तेन चाल्यते ॥ ३८
सर्वभूतोपभोगानां जरामरणजन्मनाम् ।
महामुनीनां सुदृढं चित्तं विद्धि समुद्रकम् ॥ ३९
इदं प्रवर्तते सर्वं चित्तमेव जगत्तया ।
देहाद्याकारजालेन चित्तं जीवो मनोमयम् ॥ ४०
बुद्धिर्महदहंकारः प्राणश्चेत्यादिभिर्मुने ।
क्रियानुरूपैरभिधाव्यापारैः शान्तमुच्यते ॥ ४१
चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तस्मिन्स्युक्ते महीपते ।
सर्वाधिग्याधिसीमान्तः सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥ ४२
चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं त्यागविदां वर ।
तस्मिन्सिद्धे महाबाहो सत्यं किं नानुभूयते ॥ ४३
चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः ।

चित्तं लिङ्गम् ॥ ३२ ॥ नरं व्यवहर्तृपुरुषम् ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
तत्त्यागे सर्वत्यागसंभवात्तद्व्यागे सर्वत्यागसंभवात् ॥ ३५ ॥
सर्वे धर्मादयः अधर्मा वा राज्यादितत्फलभोगस्थानानि वा सचि-
त्तस्य परं दुःखमेव ॥ ३६ ॥ विवर्तते परिणमते ॥ ३७ ॥ भस्मा-
भ्रान्तमिति । भस्माभरेण कर्माभरेण ॥ ३८ ॥ सर्वभूतप्रसिद्धानामु-
पभोगानां जरामरणादीनां देहधर्माणाम् । महामुनिपदेन तद्धर्माः
शमदमादयो लक्ष्यन्ते । तेषां च तत्र तत्र निरूढवासनं चित्तमे-
वाश्रय इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ अशान्तं चित्तमेव मननान्मनोमय-
मन्तः प्राणचेष्टया जीवश्च भूला बहिः स्थूलदेहतद्यवहारद्याकार-
जालेन भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ तदेवान्तः शान्तं महदहंकारः प्राणः
प्राज्ञात्मा चेत्यादिभिः क्रियानुरूपैरभिधाव्यापारैरुच्यते इत्यर्थः
॥ ४१ ॥ ४२ ॥ सत्यं परमार्थभूतभूमानन्दरूपं किं नानुभूयते । अनु-
भूयते एवेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ द्वैतं कार्यविभागाविर्भावपरम्परा । ऐक्यं
कारणे तिरोभावकमश्च लयं बाधं याति ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ अर्थभावेन
पदार्थाकारेण ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ स चायं सर्वत्यागो न परिच्छिन्नात्म-
प्रहणे सिद्ध्यतीत्याशयेनाह—सर्वेति । हे त्यागिन् नृप, परिच्छि-
न्नस्य तव यथा अन्यः सर्वत्यागस्य विषयोऽस्ति तथा त्वमप्य-
न्यस्य त्वस्यागिनस्त्यागविषयो भवति । तथा च त्याज्यमेवात्म-
तया गृह्यासीति न ते सर्वत्यागः सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ अपरि-

शिष्यते परमं शान्तमच्छमेकमनामयम् ॥ ४४
अस्याश्चित्तं विदुः क्षेत्रं संसृतेः सस्यसंततेः ।
क्षेत्रे त्वक्षेत्रतां याते शालेः क इव संभवः ॥ ४५
चित्तमेव विच्छिन्नेहं भावाभावविलासिना ।
विवर्ततेऽर्थभावेन जलमूर्मितया यथा ॥ ४६
चित्तोत्सादनरूपेण सर्वत्यागेन भूपते ।
सर्वमासाद्यते सम्यक् साम्राज्येनेव सर्वदा ॥ ४७
सर्वत्यागस्य विषयो यथैवान्योऽस्ति ते तथा ।
त्वमप्यन्यस्य भवति त्यागिन्गृह्णासि वै नृप ॥ ४८
सूत्रं मुक्ताफलेनेव जगज्जालं त्रिकालकम् ।
सर्वमन्तः कृतं तेन येन सर्वं समुज्जितम् ॥ ४९
येन सर्वं परित्यक्तं तस्मिन्मूढेऽपि संस्थितम् ।
जगत्सर्वं त्रिकालस्थं तन्तौ मुक्तावली यथा ॥ ५०
अस्नेहेनेव दीपेन येन सर्वं समुज्जितम् ।
सस्नेहेनेव दीपेन तेन सर्वं प्रकाशितम् ॥ ५१
स्थितं सर्वं परित्यज्य यः शेतेऽस्नेहदीपवत् ।
स राजते प्रकाशात्मा समः सस्नेहदीपवत् ॥ ५२
समस्तवस्तुनिष्कासे यथा त्वमवशिष्यसे ।
सर्वत्यागे कृते तादृग्विज्ञानमवशिष्यसे ॥ ५३
समस्तवस्तुदाहेऽपि यथा त्वं नेतरो नृप ।
सर्वत्यागत एवाङ्ग तथा निर्वाणमुच्यते ॥ ५४
सर्वत्यागो हि शून्यात्मा आश्रयः सर्वसंविदाम् ।
अनन्तानामुदाराणां स्वमिवेदं दिवौकसाम् ॥ ५५
सर्वत्यागरसापाने जरामरणभीतयः ।

च्छिन्नात्मप्रहणे तु त्वमेव सर्वस्यात्मेति तवान्येन त्यागायोगा-
त्याज्यकोट्यनिविष्टेन त्वया सर्वत्यागे सर्वं स्वायत्तीकृत्य लब्ध-
मित्याह—सूत्रमिति ॥ ४९ ॥ ननु सर्वं त्यजता सर्वशून्यतैवा-
वलम्बिता तत्कथं सर्वं स्वायत्तं लब्धं स्यात्तत्राह—येनेति ।
यद्यपि सर्वं त्यक्त्वा स सर्वशून्यतामापन्नस्तथापि तेन त्यक्तं
जगदाश्रयान्तरालाभात्तमेवाश्रित्य यावद्यवहारं सत्तास्फूर्ती लभत
इति स एव व्यवहर्तृदृशा त्रिकालस्थसर्वलब्धेत्युच्यते इति भावः
॥ ५० ॥ अत एव सर्वत्यागे सर्वबाधादव्यवहार्यदृशा आत्यन्ति-
कस्नेहक्षयाभिर्वाणवीपदृष्टान्तं सर्वगतस्वरूपज्योतिषैव सर्वव्यव-
हारप्रकाशनाद्यवहारदृशा सस्नेहदीपदृष्टान्तं चाह—अस्नेहे-
नेति ॥ ५१ ॥ तदेव स्फुटयति—स्थितमिति ॥ ५२ ॥ सर्व-
त्यागे शून्यतापत्तिं वारयति—समस्तेति । समस्तानां वस्तूनां
राज्यारण्योपकरणानां निष्कासे त्यागे ॥ ५३ ॥ परिशिष्ट-
धितः स्वातिरिक्तत्वात्स्वस्य ततः कः पुरुषार्थस्तत्राह—सम-
स्तेति । तथा निर्वाणं परमपुरुषार्थोपि त्वत्तो नेतरदित्यर्थः ॥ ५४ ॥
तस्य त्यक्तसर्वप्रपञ्चशून्यत्वेपि सर्वसंविदां तदन्तर्भावोऽस्त्येवेति
न जाञ्चप्रसक्तिरित्याह—सर्वत्यागो हीति । दिवौकसां सूर्यच-
न्द्रनक्षत्रादीनाम् ॥ ५५ ॥ सर्वत्यागरसस्य आपाने ईषदप्यास्वा-
दने कृते यथा असज्जोदासीनस्य स्वस्य व्योमलेखिकादिच्छिन्नकारिका-

न काश्चन प्रबाधन्ते स्वस्येव व्योमलेखिकाः ॥ ५६
 सर्वत्यागो महत्त्वस्य कारणं निर्मलद्युतेः ।
 सर्वं त्यजति चेद्यस्माद्द्विस्थैर्यं बृहत्तमम् ॥ ५७
 सर्वस्यागः परानन्दो दुःखमन्यत्सुदारुणम् ।
 इत्योमित्युररीकृत्य यदिच्छसि तदाचर ॥ ५८
 सर्वं त्यजति यस्तस्य सर्वमेवोपतिष्ठते ।
 यथैवाम्बु विशस्यग्नौ तथैवायाति वारिधौ ॥ ५९
 सर्वस्यागान्तरेवास्ति ज्ञानमात्मप्रसादकम् ।
 यच्छून्यं किल भाण्डस्य तत्र रत्नादि तिष्ठति ॥ ६०
 सर्वत्यागवशादेव हतकाले कलावपि ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजावबोधनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

शाक्येन विगताशङ्कं मुनिना मेरुवत्स्थितम् ॥ ६१
 सर्वत्यागो महाराज सर्वसंपत्समाश्रयः ।
 न गृह्णाति हि यत्किञ्चित्सर्वं तस्मै प्रदीयते ॥ ६२
 कृत्वा सर्वपरित्यागं शान्तः स्वस्थो वियत्समः ।
 सौम्यो भवसि यद्रूपस्तद्रूपो भव भूपते ॥ ६३
 सर्वं परित्यज्य महास्वभाव
 त्यजस्यथो येन च तद्विहाय ।
 त्यागामिमानं च मलं विमुच्य
 विमुक्तरूपो भव भूमिपाल ॥ ६४

चतुर्नवतितमः सर्गः ९४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं वदति वै कुम्भे चित्तत्यागं मुहुर्मुहुः ।
 अन्तर्विचारयन्सौम्यो राजा वचनमब्रवीत् ॥ १
 शिखिध्वज उवाच ।
 हृदयाकाशविहगो हृदयद्रुममर्कटः ।
 भूयोभूयो निरस्तं हि समभ्येत्येव मे मनः ॥ २
 जानामि चैतदादातुं मत्स्यं जाल इवाकुलम् ।
 त्यागमस्य न जानामि चित्तं द्रव्य इवोत्तम ॥ ३
 चित्तस्यादौ स्वरूपं मे यथावद्भगवन्वद ।
 ततश्चित्तपरित्यागं यथावद्भद मे प्रभो ॥ ४

टंकिकाः काश्चिदपि न प्रबाधन्ते तद्वत् ॥ ५६ ॥ निर्मला पुतिः
 स्वरूपस्फूर्तिर्यस्मात्तथाविधस्य महत्त्वस्य । तत्कृतस्तग्राह—सर्व-
 मिति ॥ ५७ ॥ इति विमृश्येति शेषः । अमित्यस्य विवरणं—
 उररीकृत्येति ॥ ५८ ॥ सर्वत्यागे वैभवहानिं वारयति—सर्व-
 मिति । सर्वं विभवजातं प्रारब्धोपनीतमुपतिष्ठते । वारिधौ
 अम्बु यथा यथा बहवामौ विशति तथा तथा नदीभ्य आगालेव
 तद्वदित्यर्थः ॥ ५९ ॥ सर्वस्याज्ञानतत्कार्यस्य यस्त्यागस्तदन्तरे-
 वात्मप्रसादकं ज्ञानमवश्यमस्ति । भाण्डस्य मध्ये यद्रत्नादि-
 शून्यं स्थलं तत्रैव रत्नादि तिष्ठतीति किल प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ६० ॥
 कलां पापिष्ठतमेऽपि काले वेदबाह्यत्वादतिनीचेनापि शाक्येन
 सर्वत्यागवशान्मेरुवत्स्थितं यदा तदा पुण्ये द्वापरकाले वेदमार्गा-
 बलम्बना पुण्यतमेन त्वया विगताशङ्कं व्योमवत्स्थेयमिति किं
 वाच्यमिति द्योतनाय हतेति ॥ ६१ ॥ सर्वासं संपदां समा-
 श्रयो निवासस्थानम् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ हे महास्वभाव भूमि-
 पाल, त्वं प्रथमं त्याग्यं सर्वं मनसा परित्यज्य अथो अमन्तरं
 येन त्यजसि तन्मनश्च विहाय तदन्तरं त्यागामिमानं लक्षण-
 महंकारमलं च विमुच्य जीवन्मुक्तरूपो भवेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

कुम्भ उवाच ।

वासनैव महाराज स्वरूपं विद्धि चेतसः ।
 चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ॥ ५
 त्यागस्तस्यातिसुकरः सुसाध्यः स्पन्दनादपि ।
 राज्यादप्यधिकानन्दः कुसुमादपि सुन्दरः ॥ ६
 मूर्खस्य तु मनस्त्यागो नूनं दुःसाध्यतां गतः ।
 पामरस्येव साम्राज्यं तृणस्येव सुमेहता ॥ ७
 शिखिध्वज उवाच ।
 स्वरूपं वेधि चित्तस्य वासनामयमाकुलम् ।
 त्यागः स मन्ये दुःसाध्यो वज्रनिर्गिलनादपि ॥ ८

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 शिखिध्वजावबोधनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

इह चित्तं परित्यक्तुं तन्मूलपरिशोधने ।

देहादिवेषबाधेन पूर्णचिच्छेष ईर्यते ॥ १ ॥

चित्तत्यागं चित्तत्यागोपायम् ॥ १ ॥ निरस्तं न ममेति
 त्यक्तमपि । अप्यर्थो हिशब्दः ॥ २ ॥ एतच्चित्तमादातुं ममतया
 स्वीकर्तुं जानामि द्रव्य इवास्मिन्मूर्तत्वाभावादस्य त्यागं तु
 न जानामि । हे उत्तम ॥ ३ ॥ स्वरूपं त्यागार्हं पिण्डीकृतं
 सामान्यरूपम् ॥ ४ ॥ कुम्भस्तदेवाह—वासनैवेति । रागवा-
 सनेत्यर्थः । उदाहृतो लोके । तथा च लौकिका आहुरूपेषु मम
 वासनास्ति मण्डकेष्वस्य चित्तमिति ॥ ५ ॥ सुकर इति ।
 औदासीन्यमात्रेण तत्सिद्धिरिति भावः । राज्यादपीति । तथा
 चाहुः 'यच्च कामशुलं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृणाक्ष-
 यसुखस्यैते नार्हतः षोडशी कलाम् ॥' इति । सुन्दरो ह्ययः ॥ ६ ॥
 कृतस्सार्हं स सर्वैर्न कियते तत्राह—मूर्खस्येति ॥ ७ ॥ वेधि
 खड्गचसेत्यर्थः । वज्रस्य निर्गिलनाक्षिगिरणादपि दुःसाध्यः ।
 सति मौर्ख्ये औदासीन्यस्यैव दुष्करत्वादिति भावः ॥ ८ ॥

संसृत्यामोदपुष्पस्य दुःखदाहानलस्य च ।
 जगद्वनमृणालस्य मोहमारुतस्य च ॥ ९
 शरीरयन्त्रबाहस्य हृत्पद्ममरस्य च ।
 अयन्नाश्वेतसस्त्यागो यथा भवति तद्वद ॥ १०
 कुम्भ उवाच ।
 सर्वनाशोऽस्य यः साधो चेतसः संसृतिक्षयः ।
 स एव चित्तसंत्याग इत्युक्तं दीर्घदर्शिभिः ॥ ११
 शिखिध्वज उवाच ।
 चित्तत्यागादहं मन्ये चित्तनाशः सुसिद्धये ।
 अभावः शतशो व्याधेः कथमस्यानुभूयते ॥ १२
 कुम्भ उवाच ।
 अहंबीजचित्तद्रुमः सशाखाफलपल्लवः ।
 उन्मूलय समूलं तमाकाशहृदयो भव ॥ १३
 शिखिध्वज उवाच ।
 चेतसः किं मुने मूलं कोऽङ्कुरः कोऽस्य संभवः ।
 काः शाखाः के च वा स्कन्धाः कथमुन्मूल्यते च सः ॥
 कुम्भ उवाच ।
 अहमर्थोदयो योऽयं स चित्तावेदनात्मकः ।
 एतच्चित्तद्रुमस्यास्य विद्धि बीजं महामते ॥ १५
 परमात्मपदं क्षेत्रं क्षेत्रं मायामयस्य तत् ।
 एतस्मात्प्रथमोद्भिन्नादङ्कुरोऽनुभवाकृतिः ॥ १६

जगद्वनमृणालस्य । 'जाले'ति पाठेऽपि जले भवं जालमिति व्युत्पत्त्या अञ्जमेवार्थः । सर्वपर्यायैः कारणमेवोपलक्षयते ॥ ९ ॥ शरीरयन्त्रं वहति प्रवर्तयतीति कर्मण्यण् । यथा येनोपायेन भवति ॥ १० ॥ सर्वस्य वक्ष्यमाणमूलाङ्कुरशाखापल्लवादेर्नाशः स एव संसृतेरपि क्षयः स एव चित्तस्य संत्यागो न तु बाह्यार्थत्यागवन्ममतानिबर्तनमित्यर्थः । दीर्घदर्शिमिरपरिच्छिन्नात्मदर्शिभिः ॥ ११ ॥ उक्तमर्थं विद्युद्यानुवादेनानुमोदमानः शिखिध्वजस्तत्रोपपत्तिमाह—चित्तेति । चित्तं हि व्याधिः । न हि व्याधिः शतशोपि ममतावर्जनलक्षणेन त्यागेनाभावोऽनुभूयते किंतु भित्तिसयोच्छेदेनैव । अतस्तदुच्छेदाय तन्मूलशाखापल्लवादि वदेत्यर्थः ॥ १२ ॥ अहमज्ञातात्मा बीजं यस्य । सशाखाफलपल्लवस्य द्रुमस्योन्मूलने तत्स्थानाकाशमिव निरावरणविक्षेपं हृदयं यस्य तथाविधो भव ॥ १३ ॥ बीजमवत्यस्मिन्निति संभवः क्षेत्रम् ॥ १४ ॥ अहमर्थादज्ञातात्मनः उदयो यस्य तथाविधो योऽयं स चित्तावेदनात्मकोऽभिमानी प्रसिद्धः । एतदेवेति बीजलिङ्गेन निर्देशः । बीजं मूलम् ॥ १५ ॥ कोऽस्य संभव इति प्रश्नोत्तरमाह—परमात्मपदमिति । परमात्मनः पदं नीडं माया संबन्धे क्षेत्रम् । यतस्तत्सर्वस्यैव मायामयप्रपञ्चस्य क्षेत्रमतश्चेतसोऽपि तदेव क्षेत्रमित्यर्थः । कोऽङ्कुर इत्यस्योत्तरमाह—एतस्मादिति । एतस्मात्प्रथमोत्पन्नान्मूलपरिच्छिन्नोऽहमिति निश्चयात्मा चिदाभासव्याप्तत्वाद्दनुभवात्मकोऽङ्कुरो जायत इत्यर्थः ॥ १६ ॥ तस्यैवोपचयेन चित्तद्रुमात्मना

निश्चयात्मा निराकारो बुद्धिरित्येव सोच्यते ।
 अस्य बुद्ध्यभिधानस्य याङ्कुरस्य प्रपीनता ॥ १७
 संकल्परूपिणी तस्याच्चित्तनाममनोमिधा ।
 जीवो मिथ्योपलम्भात्मा शून्यात्मा ह्युपलोपमः ॥ १८
 स्तम्भः कायोऽयमेतस्य काव्यस्थिरसरञ्जितः ।
 देशान्तरेऽङ्कुरोद्देशे कालस्पन्दोऽस्य वासना ॥ १९
 शाखायाच्चित्तवृक्षस्य दीर्घा दूरगतास्तताः ।
 इन्द्रियाण्यल्पभोगाश्च भावाभावात्मयोनयः ॥ २०
 विटपौधा महान्तोऽस्य शुभाशुभफलाकुलाः ।
 ईदृशस्यास्य चित्तस्य दुर्बृक्षस्य प्रतिक्षणम् ॥ २१
 शाखाविलवनं कुर्वन्मूलकापे भरं कुरु ।
 शिखिध्वज उवाच ।
 चित्तद्रुमस्य शाखावैः कुर्वाणोऽहं विकर्तनम् ॥ २२
 कथं करोमि मूलस्य निःशेषकषणं मुने ।
 कुम्भ उवाच ।
 वासना विविधाः शाखाः फलस्पन्दादिनाम्बिताः २३
 अभाविता भवन्त्यन्तर्लूनाः संविद्वलेन ते ।
 असंसक्तमना मौनी शान्तवाद्विचारणः ॥ २४
 संप्राप्तकारी यः सोऽन्तर्लूनचित्तलतो भवेत् ।
 चित्तद्रुमलताजालं पौरुषेण विकर्तयन् ॥ २५
 यस्तिष्ठति स मूलस्य योग्यो निकषणे भवेत् ।

परिणतिरित्याह—अस्येति । देहाद्याकृतिस्मरणाच्चित्तनाम तन्मननाच्च मन इत्यभिधा यस्यास्तथाभिधा पीनता जायत इति परेणान्वयः ॥ १७ ॥ तस्य वृक्षस्य जीवमाह—जीव इति । परमार्थतो निर्विकारत्वात्सर्वविकारशून्यात्मा अत एवोपलोपमो मिथ्याभूतचित्ततद्गमसंबन्धोपलम्भात्मा साक्षीत्यर्थः ॥ १८ ॥ स्तम्भो मूलाच्छाखापर्यन्तो मध्यप्रदेशः । अयं कायः शरीरमेव । मूलस्तम्भदेशाद्देशान्तरे अप्रदेशे स्कन्धशाखादिप्रोहार्यमङ्कुरोद्देशोऽङ्कुरारम्भे चिकीर्षिते वसन्तादिकाल इव तत्तद्भोगप्रदकर्मपरिपाककाले रागद्वेषप्रवृत्त्याद्यङ्कुरपल्लवाद्याकारेण स्पन्दते यो रसः सोऽस्य वासनैवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ अस्य चित्तवृक्षस्य या दीर्घा दूरगतास्तता विस्तृताश्च शाखास्ता इन्द्रियाणि भावाभावाज्जन्ममरणानि तदात्मनोऽनर्थसहस्रस्य योनयः कारणीभूता भोगाश्च अस्य महान्तो विटपौधा अबान्तरशाखासमूहा इति परेणान्वयः ॥ २० ॥ २१ ॥ विषयभोगासंगच्छेदनलक्षणं शाखाविलवनं कुर्वन्सद्गाद्वितीयात्मदर्शनलक्षणे मूलकापे भरं यस्मात्तिशयं कुर्वित्यर्थः । तत्र शाखालवने मूलकापे चोपार्थं राजा पृच्छति—चित्तेति ॥ २२ ॥ ततः शाखालवनोपार्थं कुम्भ आह—वासना इति ॥ २३ ॥ अभाविता आसक्तित्यागेनानुद्भाविता अन्तर्विचारसंविद्वलेन लूना भवन्ति । लफमेवार्थं जीवन्मुक्तेषु लक्षणतया दर्शयति—अस्यैवस्येति ॥ २४ ॥ शाखालवनाभ्यासे इडे सति मूलकापे योग्यो भवतीत्याह—चित्तद्रुमेति । लताजालं शाखासमूहम् ॥ २५ ॥ गौणमङ्गम् ।

गौणं शास्त्राविलवनं मुख्यं मूलविकर्तनम् ॥ २६
चित्तवृक्षस्य तेन त्वं मूलकाषपरो भव ।
मुख्यत्वेन महाबुद्धे मूलदाहमलं कुरु ॥ २७
चित्तकण्टकखण्डस्य भवत्येषमचित्तता ।
शिखिध्वज उवाच ।
अहंभावात्मनश्चित्तद्रुमबीजस्य हे मुने ।
कोऽनलो दहनाख्येऽस्मिन्कर्मण्यर्थकरो भवेत् ॥ २८
कुम्भ उवाच ।
राजन्स्वात्मविचारोऽयं कोऽहं स्यामिति रूपधृक् ।
चित्तद्रुमबीजस्य दहने दहनः स्मृतः ॥ २९
शिखिध्वज उवाच ।
मुने मया स्वया बुद्ध्या बहुराः प्रविचारितम् ।
यावन्नाहं जगन्नोर्वीचनमण्डलमण्डितम् ॥ ३०
नाद्रेस्तटं न विपिनं न पर्णस्पन्दनादि च ।
जडत्वाच्च च देहादि न मांसास्थ्यसृगादि च ॥ ३१
कर्मन्द्रियाण्यपि न च न च बुद्धीन्द्रियाणि च ।
न मनो नापि च मतिर्नाहंकारश्च जाड्यतः ॥ ३२
कटकत्वं यथा हेमि तथाहंत्वं चिदात्मनि ।
जडं त्वसद्रूपतया तेन तन्नास्ति हे मुने ॥ ३३
संनिवेशनिवासात्मा सर्वार्थादिः परे पदे ।

मुख्यं प्रधानम् ॥ २६ ॥ मुख्यत्वेन प्राधान्येन । प्रधानासंपा-
दने यत्प्रसाधितस्याप्यज्ञस्य वैकल्यप्रसङ्गादिति भावः ॥ २७ ॥
त्वं चित्तलक्षणस्य कण्टकखण्डस्य करञ्जवनस्य अलं निरवशेषं
मूलदाहं कुर्वति पूर्वश्रान्वयः । एवं कृते अचित्तता भवति ।
तदाहस्य प्रसिद्धेनानलेनासिद्धेरनलान्तरं जिज्ञासुः पृच्छति—
अहंभावात्मन इति । अर्थकरः समर्थः ॥ २८ ॥ कोऽहं
स्यामिति विचारादिसाक्षात्कारान्तरूपधृक् ॥ २९ ॥ मया स्वबु-
द्धौ बाह्यार्था देहाद्यहंकारान्ता आध्यात्मिकार्थाश्च अनात्मानः
अनृताश्चेति ज्ञातास्तथाप्यन्तरात्मतत्त्वापरिचयाज्जडेऽप्यहंकारे
पुनःपुनरात्मताभ्रान्तिर्न निवर्तत एवेति न विश्रान्त्यामीत्याह—
मुने इत्यादिषड्भिः । यावदिति साकल्ये । सर्वं जगद्बहुशः
प्रविचारितमित्यर्थः । तदेव विशिष्याह—नाहमित्यादि । उच्यते
तदन्तर्गतवनमण्डलादिभिश्च मण्डितं जगन्नाहमिति संक्षिप्योक्तिः
॥ ३० ॥ तदेव विस्तरेणाह—नाद्रेरित्यादि । जडत्वादिति
सर्वत्र हेतुः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ अहंकारे जडत्वं नास्तीति शङ्कां
विवर्तयत्येतेन वारयन् जडस्य स्वतः सेद्गुणशक्त्या चित्तव्या-
सात्सिद्धौ मिथ्यात्वं पर्यवस्यतीत्याह—कटकत्वमिति । तथा
अहंत्वं विवर्त इति शेषः । जडं तु शुक्तिरजतमृगतृष्णादि
असद्रूपतया प्रसिद्धमिति शेषः । तेन जडत्वहेतुना तदहंत्वादि
नास्ति मिथ्यैवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ ब्रह्माण्डादेरुक्तजडवर्गस्याधिष्ठा-
नसद्रूपादन्यत्वादि असत्त्वमित्याह—सन्निवेशेति । स्वतः
सतश्चैतन्यात्परस्परं चान्यदन्यत्वाद्भिन्नत्वात् परे पदे चिति न

विद्यते नान्यदन्यत्वात्तन्मसीव महाद्रुमः ॥ ३४
जानन्नपीति भगवन्नहंत्वमलमार्जनम् ।
अन्तर्यज्ज्ञं न जानामि तेन तप्ये चिरं मुने ॥ ३५
कुम्भ उवाच ।
एतावन्मात्रकं वृन्दं यदि न त्वं महीपते ।
जडत्वात्तन्महाबुद्धे योऽसि तद्वद मेऽनघ ॥ ३६
शिखिध्वज उवाच ।
चिन्मात्रमहमच्छात्मवेदनं विवुषां वर ।
यत्र भावाः स्वदन्ते ते निर्णयन्ते च येन वा ॥ ३७
एवंरूपस्य मे लग्नं नूनं मलमकारणम् ।
सकारणं बाहमिति यत्पदं च न वेद्यदहम् ॥ ३८
असदेतदनात्मीयं प्रमादुं मलमात्मनः ।
मुने यदा न शक्नोमि तेन तप्ये सुदारुणम् ॥ ३९
कुम्भ उवाच ।
ब्रूहि किं तन्महाबाहो लग्नं तव मलं महत् ।
स्थितोऽसि येन संसारी सता बाध्यथवाऽसता ॥ ४०
शिखिध्वज उवाच ।
चित्तद्रुमस्य यद्वीजमहंभावश्च मे मलम् ।
तच्च त्यक्तुं न जानामि त्यक्तं त्यक्तमुपैति माम् ॥ ४१

विद्यते । तथात्वं कुत इति चेद्यतो ब्रह्माण्डादिजडवर्गश्चतुर्दश-
भुवनादिसंनिवेशानां निवासात्मा आधारः सर्वेषामर्थानां शब्दा-
दिविषयाणामादिः कारणभूतः । न च चिदात्मा विभक्त-
स्वभावो निर्विभागसत्तासामान्यरूपत्वादित्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति
अनया रीत्या अहंत्वलक्षणस्य मलस्य मार्जनं जानन्नपि अन्तः
प्रत्यगेकरसं यत् ज्ञं साक्षिचैतन्यं तन्न जानामि ॥ ३५ ॥
इदानीं परिशेषादेव साक्षिचैतन्यं परिचाययिष्यन्कुम्भ उवाच—
एतावदिति । एतावन्मात्रकमहंकारपर्यन्तं दृश्यवृन्दम् ॥ ३६ ॥
अज्ञातभोक्तृत्वादिना प्रसिद्धान्तरान्तरकोशपरम्परावधौ यत्रा-
नन्दैकरसे चिन्मात्रे सति अनानन्दा जडरूपाश्च भावाः शब्दा-
दिविषयाः स्वदन्ते । येन वा बुद्धिदृष्ट्युपाख्येन इष्टानिष्टविभा-
गेन निर्णयन्ते ॥ ३७ ॥ विवेकदृशा पर्यालोचने एवंप्रस्य
मे मम देहादिकोशगणे अहमिति तादात्म्याभिमानलक्षणं मलं
लग्नं इदं सकारणमकारणं वेति अहं न वेद्यं यत्पदं ब्रह्म तच्च
न वेद्यमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ सता सत्येन असता मिथ्या-
भूतेन वा येन मलेन हेतुना संसारी स्थितोऽसि ॥ ४० ॥
तत्सत्यं मिथ्येति वा न जानामि किंतु चित्तद्रुमस्य सर्वानर्थ-
फलस्य मूलमिति सामान्यतोऽहंभावश्चान्ममभावश्चेति विशेष-
तोपि जानामि । तच्च त्यक्तुं निरसितुमुपायं न जानामि । ननु
नाहं न ममेति बुद्धिरेव तत्त्यागोपायः प्रसिद्धः प्राक्त्वयैव वना-
दिषु दर्शितः स कथमपलभ्यते तत्राह—त्यक्तं त्यक्तमिति ।
तथा पुनः पुनस्त्यक्तमपि मूलोच्छेदाभावात्पुनःपुनर्मासुपैति ।

कुम्भ उवाच ।

कारणाज्जायते कार्यं यत्तत्सर्वत्र संभवेत् ।
अन्यस्वसद्विबन्द्वाभं दृष्टमेतन्न विद्यते ॥ ४२
कारणाज्जायते कार्यमहंभावाद्भवाङ्कुरः ।
इति कारणमन्विष्य कथयस्व ममाधुना ॥ ४३

शिखिध्वज उवाच ।

मुनेऽहमिति दोषस्य वेदनं वेष्टि कारणम् ।
तद्यथोपशमं याति तन्मे वद मुनीश्वर ॥ ४४
चित्तश्चेत्योन्मुखत्वेन दुःखायायमहंस्थितः ।
चेत्योपशमनं ब्रूहि मुने तदुपशान्तये ॥ ४५

कुम्भ उवाच ।

कारणं कारणज्ञोऽसि वेदनस्य वदाशु मे ।
ततस्त्वां बोधयिष्यामि कारणाकारणक्रमम् ॥ ४६
वेद्यवेदनरूपस्य चेत्यसंचेतनस्य मे ।
अकारणं कारणतां यथातं तव तद्वद् ॥ ४७

शिखिध्वज उवाच ।

चेत्यचेतनरूपस्य वेद्यसंवेदनाकृतेः ।
इयं पदार्थसत्तेह देहादिः कारणं मुने ॥ ४८
शरीरादितयोदेति वेदनं वस्तुसत्तया ।
असत्याभासया रूपन्दो यथा पवनलेखया ॥ ४९
असत्तां वस्तुसत्ताया नावगच्छाम्यहं यथा ।

अतस्तन्मूलं तदुच्छेदोपायं च वदेस्वाशयः ॥ ४१ ॥ तत्र
सत्यस्य कूटस्थत्वात्कारणता न संभवत्येव । असत्यस्य तु कार-
णतोक्तिरसत्येव कारणे कार्यमुत्पन्नमित्यर्थे पर्यवसिता सती
कार्यस्यासत्यतामेवापादयतीत्यात्मैक्यपर्यवसितेति रहस्यं तदु-
च्यनुसारेणैव बोधयिष्यन् कुम्भो लोकप्रसिद्ध्यनुसमहंकारणं त्वं
स्वबुद्ध्यान्विष्य कथयेत्याह—कारणादिति द्वाभ्याम् ।
अन्यन्तु कारणं विनैव जातं कार्यं द्विचन्द्राभमसदेव । यत एत-
त्सम्यग्दृष्टं चेन्न विद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥ यथा अहंभावात्कार-
णान्मनआदिलक्षणो भवाङ्कुरः कार्यं जायते इति एवंविधये-
वाहंभावस्यापि कारणं स्वबुद्ध्याऽन्विष्य मम कथयस्वैत्यर्थः
॥ ४३ ॥ एवं पृष्ठो राजा चिरं स्वबुद्ध्यान्विष्यासति देहाद्या-
कारवेदने तत्राहंताभिमानायोगात्वेदनमेव तत्कारणमिति
निश्चित्य प्रत्युवाच—मुने इति ॥ ४४ ॥ चित्तश्चेत्योन्मुखत्वेन
हेतुना अयं देहादिरहंभावेन स्थितः सन् दुःखाय संपन्नोऽतश्चे-
त्यदेहादिरेव चित्तस्त्वेदनाभावेपि हेतुरित्यभिप्रेत्य तदुपशान्तये
चेत्योपशमनोपायं ब्रूहीत्याह—चेत्येति ॥ ४५ ॥ यदि वेदनस्य
वेद्योन्मुखत्वे वेद्यमेव कारणमिति कारणज्ञोऽसि तर्हि तत्स्वाभिप्रे-
तमाशु वद । ततस्त्वदुत्तयनन्तरं स्वदभिप्रेतं कारणमकारणमेव
येन क्रमेण संपद्यते तं क्रमं त्वां बोधयिष्यामीत्यर्थः ॥ ४६ ॥
पृष्टमेवार्थं स्फुटीकर्तुं पुनरनुवदति—चेत्येति । सामान्यतो वेद्य-
वेदनरूपस्य विशेषतश्चेत्यसंचेतनस्य मिथ्यात्वादकारणं कारण-

अहंत्ववेदनं चित्तबीजं समुपशाम्यति ॥ ५०

कुम्भ उवाच ।

विद्यते यदि देहादिवस्तुसत्ता तदस्ति ते ।
अभावाद्देहसत्तादेः किंनिष्ठं तव वेदनम् ॥ ५१

शिखिध्वज उवाच ।

यस्योपलभ्यते किञ्चित्स्वरूपं कलनात्मकम् ।
असद्रूपं कथं तत्स्यात्प्रकाशः स्यात्कथं तमः ॥ ५२
हस्तपादादिसंयुक्तः क्रियाफलविलासवान् ।
सदानुभूयमानोऽयं देहो नास्ति कथं मुने ॥ ५३

कुम्भ उवाच ।

कारणं यस्य कार्यस्य भूमिपाल न विद्यते ।
विद्यते नेह तत्कार्यं तत्संविच्छिस्तु विभ्रमः ॥ ५४
कारणेन विना कार्यं शरीरं न कदाचन ।
विद्यते यस्य नो बीजं तद्द्रव्यं केव जायते ॥ ५५
अकारणं तु यत्कार्यं सदिवाप्रेऽनुभूयते ।
तद्द्रष्टुर्विभ्रमाद्विद्धि मृगतृष्णाजलोपमम् ॥ ५६
अविद्यमानमेव त्वं विद्धि मिथ्याभ्रमोदितम् ।
नातियत्नवतोऽप्येतन्मृगतृष्णाम्बु लभ्यते ॥ ५७

शिखिध्वज उवाच ।

असतो द्वीन्दुबिम्बादेर्न युक्तं कारणेक्षणम् ।
वन्ध्यातनयसर्वाङ्गमण्डनं कस्य राजते ॥ ५८

त्वाक्षममेव वेद्यं कारणतां यातमिति यत्तवाभिप्रेतं तद्वदेत्यर्थः
॥ ४७ ॥ शिखिध्वजः पृष्टं स्वाभिप्रेतं स्फुटमाह—चेत्येति ।
देहादिर्बाह्याध्यात्मिकपदार्थसत्ता ॥ ४८ ॥ वेदनस्य देहादिसत्ता
कथं कारणं तत्राह—शरीरेति । यतो वेदनं शरीरादि-
वस्तुसत्तया निमित्तभूतया स्वयमपि मूषानिषिक्तधातुद्रव इव
शरीराद्याकारेणोदेति । अमूर्ते वेदने मूर्तेदेहाद्याकारताया वास्त-
वत्वायोगाद्विशिनष्टि—असत्याभासयेति ॥ ४९ ॥ यथा
चित्तबीजमहंत्ववेदनं समुपशाम्यति तथा देहादिवस्तुसत्ताया
असत्त्वं नावगच्छामि । अतस्तदसत्त्वं यथावगम्यते तथोपदि-
शेति भावः ॥ ५० ॥ एवं पृष्टः कुम्भो वेदनस्य विषयाकारेणो-
त्पत्तिभ्रमवारणाय देहादिदृश्यासत्त्वं प्रतिजानीते—विद्यते
इति । देहादिवस्तुसत्ता यदि विद्यते तत्तर्हि ते तवाभिमतं
वेदनस्य तन्निमित्तं तदाकारत्वं स्यात् तदेव दुर्लभमिति वेदनं
किंनिष्ठं किंविषयम् । निर्विषयमेवेत्यर्थः ॥ ५१ ॥ प्रत्यक्षमुपलभ्य-
मानस्य देहादेः कथमपलाप इति राजा पृच्छति—यस्येति ।
सत्त्वेनोपलभ्यमानस्यासत्त्वप्रतिज्ञा विरुद्धेति दृष्टान्तेनाप्याह—
प्रकाश इति ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ नोपलम्भनमात्रेण दृश्यसत्ता-
निर्णयः । भ्रान्तोपलम्भेषु व्यभिचारात् । किंतु सत्सु कारणेषु
यस्य कार्यस्योपलम्भस्तस्य सत्त्वम् । तानि चास्य न सन्तीत्याह—
कारणमिति चतुर्भिः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ तर्हि किमसौ
देहादिवन्ध्यापुत्रदेहादिवन्ध्यासत्तामेव स्यादिति राजा शङ्कते—

कुम्भ उवाच ।

कारणेन विना कार्यं शरीराद्यक्षिपञ्चरम् ।
अविद्यमानमेवेदं विद्वत्संभवतो ज्ञेयम् ॥ ५९

शिखिध्वज उवाच ।

हस्तपादादियुक्तस्य शरीरस्य मुनीश्वर ।
नित्यमाकलयमाणस्य पिता कस्मात् कारणम् ॥ ६०

कुम्भ उवाच ।

कारणाभावतो राजन्पिता नाम न विद्यते ।
असतो यच्च संजातमसदेव तदुच्यते ॥ ६१
पदार्थानां च कार्याणां कारणं बीजमुच्यते ।
संभवत्यङ्ग जगति न बीजेन विनाङ्करः ॥ ६२
तस्मात् कारणं यस्य कार्यस्येहोपपद्यते ।
बीजाभावे हि तस्मास्ति तरसंविन्निस्तु विभ्रमः ॥ ६३
अवश्यं खलु यस्मास्ति निर्बीजं तन्मतिभ्रमः ।
द्वीन्दुत्वमरुभूम्यम्बुवन्ध्यापुत्रवशासमम् ॥ ६४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० शिखिध्वजावबोधनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥९४॥

पञ्चनवतितमः सर्गः ९५

शिखिध्वज उवाच ।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यद्ययं भासते भ्रमः ।

असत् इति ॥ ५८ ॥ 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्'
इत्यादिश्रुतेस्तथैव विद्वदनुभवात्कारणानिरूपणाच्चैष्टापत्तिरेवेय-
मिति कुम्भ आह—कारणेनेति ॥ ५९ ॥ ऐतित्यानुमाना-
प्तोक्तयुगलसंस्थानसाम्यलिङ्गादिना पितास्य कारणं निर्जातः स
कथमपलप्यत इति राजा शङ्कते—हस्तेति ॥ ६० ॥ तस्याप्य-
सत्त्वे तुल्यो न्याय इति गूढाभिसंधिस्तदेवोत्तरं पुनर्वर्णयति—
कारणाभावत इत्यादिना ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ गूढाभि-
संधिमजानानो राजा शङ्कते—पितामहानामिति ।
आद्यः पितामहो हिरण्यगर्भः । स हि सूक्ष्मभूतलिङ्गसमच्छात्मा
पुत्रपितृपितामहादिसर्वव्यष्टिसमष्टिस्थूलानामुत्पत्तौ कारणं किं न
स्यादित्यर्थः । पूर्वेषां प्रजास्रष्टृणां मनुमरीचिदक्षासीनां, पूर्वस्य
स्वकार्येभ्यः पूर्वस्य ब्रह्माण्डस्य वा उत्पत्तौ ॥ ६५ ॥ तस्यापि कारणं
दुर्बलमित्यसत्त्वे तुल्यो न्याय इति गूढाभिसंधिरेवोत्तरमाह—
आद्य इत्यादिना । यदा कारणाभावे कस्यचिदपि भावो नेति
नित्यं नियमस्तदा सोऽपि नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ६६ ॥ ननु 'यो देवानां
ऽऽब्रवच्छ्रेष्ठवच्च विश्वाधिको खो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत
जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुतम्' इत्यादिमन्त्र-
वर्णेषु तदुत्पादको जायमानं तं कृपादृष्ट्या पश्यन्नीश्वरस्तत्कारणं
प्रसिद्ध एव स कथमपलप्यत इत्याशङ्कां परिहरन् गूढाभि-
संधिमुद्घाटयति—कारणस्येति । सत्यमस्तीश्वरः परमात्मा
तथापि तेन मायया स्वात्मनि भेदकल्पनया भ्रमात्माययान्यो
दृश्यमानोऽपि स पितामहस्तस्मादन्यो न विद्यते । तत्कृतस्तत्र

शिखिध्वज उवाच ।

पितामहानां पुत्राणां पितृणां च जगद्भये ।
आद्यः पितामहः कस्मात्पूर्वोत्पत्तौ न कारणम् ॥ ६५

कुम्भ उवाच ।

आद्यः पितामहो यः स्यात्सोऽपि नास्त्येव भूपते ।
कारणाभावतो नित्यं यदा भावो न कस्यचित् ॥ ६६
कारणस्य स्वबीजस्य नित्याभावात्पितामहः ।
अन्यः स दृश्यमानोपि भ्रमादन्यो न विद्यते ॥ ६७
मृगतृष्णाम्बुवद्भ्रान्तिरूप एवावभासते ।
पितामहार्थकारित्वमपि तस्य भ्रमात्मकम् ॥ ६८
पितामहोदरे तस्य मिथ्याप्रत्ययतः स्थितिः ।
घना तत्र निवृत्तैव मार्जयिष्याम्यथेतर्त् ॥ ६९
तस्माच्चिदात्मकतयात्मनि चित्ततोऽयं
नित्यं स्वयं कचति भूमिप देवदेवः ।
तेनैव पद्मज इति स्वयमात्मनात्मा
प्रोक्तः स्वरूप इति शान्तमिदं समस्तम् ॥ ७०

अर्थक्रियासमर्थश्च तत्कथं दुःखकारणम् ॥ १

सत्यस्य चिदंशस्यापरिणामितया अकारणत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्
परिशेषान्मायांश एव जडस्तत्कारणं वाच्यस्तस्य चाविद्यारूपस्य
बीजस्य कारणस्य नित्योदितविद्याबाधितत्वेनेश्वरे नित्यमेवा-
भावादित्यर्थः ॥ ६७ ॥ एतेन पितामहस्य भुवनादिसर्गार्थक्रिया-
कारिताप्रतिभासोऽपि व्याख्यात इत्याह—मृगतृष्णेति ॥ ६८ ॥
इत्थं मदुक्तयुक्त्या तव पितामहादेः स्वशरीरान्तस्यैतस्य कार्य-
परम्पराप्रबन्धस्य मिथ्येति यौक्तिकप्रत्ययतो घना सत्यत्वेनात्य-
न्तदृढीकृता स्थितिर्निवृत्तैव । अथ इतरतःप्रतिभासमात्रावशिष्टां-
शमपि तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तेनोपदेशेन मार्जयिष्यामीत्यर्थः
॥ ६९ ॥ उक्तमेवार्थं संगृह्योपसंहरति—तस्मादिति । हे भूमिप,
तस्माच्चिदातिरिक्तस्योक्तयुक्त्या असत्त्वाविदेवायं देवदेवः प्रागुक्त
ईश्वरो हिरण्यगर्भादिस्तम्बपर्यन्तसर्गपरम्परात्मा नित्यं यत्क-
चति तदात्मा चिदात्मकतया आत्मन्येव कचति नान्यदणुमात्र-
मपि संपादयति संपद्यते वा । तेन स्वयमात्मना आत्मैव स्वरूपः
पद्मज इत्यादिनामरूपकल्पनेन प्रोक्तः 'सर्वाणि रूपाणि विचित्र-
धीरो नामानि कृत्वाभिषदन्त्यदास्ते' इत्यादिश्रुतिभिः इति एवं
पर्यालोचने इदं समस्तं द्वैतं शान्तं ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥ ७० ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
शिखिध्वजावबोधनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

घनवातात्मवेनात्राविद्योपशमनकर्मः ।

शिखिध्वजस्य बोधेन विश्रान्तिरूपवर्णने ॥ १ ॥

'मृगतृष्णाम्बुवद्भ्रान्तिरूप एवावभासते' इति यदुक्तं तत्र

कुम्भ उवाच ।

एवं जगद्भ्रमस्यास्य भावनं तावदाततम् ।
 शिथिलीभूतस्य शीतेन सलिलस्येव रुक्षता ॥ १
 अज्ञानं शिथिलीभूतमेवं महं विदुर्बुधाः ।
 न नाशेन विनोदति पूर्वसंस्थानविच्युतिः ॥ २
 तनुत्वं सर्वबोधस्य यत्तदेव हि कारणम् ।
 सर्गोपशमसंपत्तौ प्रतिपत्ते परे पदे ॥ ३
 तानवं हृदयते यस्य तस्यानुक्रमतः स्वयम् ।
 पूर्वसंस्थानविगमात्प्रशमोऽप्युपपद्यते ॥ ४
 अनेनैव क्रमेणैवं त्वमादिपुरुषो नृपः ।
 भ्रमाकारोदयं विद्धि मृगतृष्णाम्बुबन्धितम् ॥ ५
 एषा पितामहाभावेऽप्यसती भूतसंततिः ।
 न कदाचन तत्सिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ॥ ६
 अयं भूतोपलम्भो हि मृगतृष्णास्मिन्बोधितः ।
 विचाराद्विलयं याति शुक्तौ रजतधीरिव ॥ ७
 कारणाभावतः कार्यमभूत्वा भवतीति यत् ।
 मिथ्याज्ञानादृते तस्य न रूपमुपपद्यते ॥ ८

मृगतृष्णादेः ज्ञानपानाद्यर्थक्रियासामर्थ्याद्यदर्शानाम्जनमर-
 णादिदुःखकारणत्वादर्शनाच्च विषमो दृष्टान्त इति राजा क-
 हते—आब्रह्मेति । तर्थाह अर्थक्रियासमर्थो दुःखकारणं चायं
 कथमित्यन्वयः ॥ १ ॥ सत्यसंकल्पभावनादृढीकृतस्य मिथ्यार्थ-
 स्यार्थक्रियासामर्थ्यं दुःखकारणत्वं च दैवासुरमायानिर्मितशक्ता-
 क्तहस्यश्वसेनादेः प्रसिद्धमेव किं वाच्यं जगदीश्वरमायानिर्मि-
 तस्य प्रपञ्चस्वेत्याशयेनोत्तरमाह—एवमिति । अस्य सर्गात्म-
 कस्य जगद्भ्रमस्य प्राणिकर्मोपभोगार्थत्वात् एवं त्वदुक्तप्रकार-
 मर्थक्रियासामर्थ्यं दुःखादिकारणत्वं चास्ति । सत्यसंकल्पस्येश्व-
 रस्य भावनमेव तत्तदर्थक्रियायात्मना भाततम् । यथा शीतेन
 शिथिलीभूतस्य सलिलस्य चिरकालेन स्फटिकादिभावेन परिणा-
 माहूक्षता पीठपात्राद्यर्थक्रियासामर्थ्यमाततं तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥
 अत एव मूलाज्ञानस्य ज्ञानाभ्यासपरिपाकक्रमेण शिथिलीभावे
 जगतः सूक्ष्मतापत्तिक्रमादेव सहाज्ञानेन नाश इत्याह—अज्ञान-
 मिति । अज्ञाननाशं विना जगत्संस्थानबाधो नास्तीत्याह—
 नेति ॥ ३ ॥ अज्ञानशिथिलीभावे च निरोधाभ्यासेन बाधधी-
 हृतितावत्वं कारणमित्याह—तनुत्वमिति । तच्च ज्ञानोत्पत्तिक्रमे-
 णाद्यन्तिकसर्गोपशमसंपत्तौ कारणमित्याह—सर्गेति । प्रति-
 पत्ते साक्षात्कृते सति ॥ ४ ॥ अत एव लोकेऽपि अपक्षयापर-
 पर्यायतानवपूर्वक एव स्थूलभावानां विनाशः प्रसिद्ध इत्याह—
 तानवमिति । यस्य देहादेः । प्रथमो नाशः ॥ ५ ॥ एवं
 दर्शितप्रकारेण अज्ञानक्षयित्यक्रमेण जगद्भावादेव तव नित्यसि-
 द्धपूर्णलक्षणपुरुषस्य भावस्थितिसिद्धिरित्याह—अनेनेति । मृ-
 पतृष्णाम्बुबन्धात्स्वरूप एवावतिष्ठते इति प्राणुकाजगरित्यतिरिच्ये-
 र्बधीशेव बोद्धव्येत्याह—भ्रमाकारोदयमिति ॥ ६ ॥ अज्ञो-
 यो० वा० १२६

मिथ्यादृष्टिप्रेक्षितं तु न कदाचन विद्यते ।
 मृगतृष्णाम्भसा केन घटकाः परिपूरिताः ॥ १०
 शिथिलीभूतस्य शीतेन सलिलस्येव रुक्षता ।
 अहुराद्यस्य परमं ब्रह्म कस्मात्तत् कारणम् ।
 अनन्तमजमव्यक्तमम्बरं शान्तमच्युतम् ॥ ११
 कुम्भ उवाच ।
 हेतुत्वाभावतो ब्रह्म कार्यत्वाभावतस्तथा ।
 अद्वैतेनातिगन्तात्मा न च कार्यं न कारणम् ॥ १२
 अकर्तृकर्मकरणमकारणमबीजकम् ।
 अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्म कर्तृ कथं भवेत् ॥ १३
 अकारणत्वात्कार्यत्वरहितं तज्जगद्भवेत् ।
 अद्वैतैक्यमनाद्यन्तं तदाद्यमुपलम्भनम् ॥ १४
 अप्रतर्क्यमविज्ञेयं यच्छिबं शान्तमव्ययम् ।
 तत्कथं कस्य केनैव कर्तृ भोक्तु कदा भवेत् ॥ १५
 अतो नेदं कृतं किञ्चिज्जगदादि न विद्यते ।
 न कर्तासि न भोक्तासि सर्वं शान्तमजं शिवम् ॥१६

तरमुपसंहृत्य प्रस्तुतमेव निगमयन्माह—एवेति ॥ ७ ॥ तस्य
 फलं दर्शयति—अयमिति ॥ ८ ॥ अत एव जगतो भ्रान्ति-
 रेव स्वरूपं नान्यदित्याह—कारणेति ॥ ९ ॥ अत एव मिथ्येति
 दृष्टं सहाय्यक्रियाया निःस्वरूपतामेवापद्यत इत्याह—मिथ्याह-
 ष्टीति ॥ १० ॥ तर्हि पितामहस्य निर्विशेषं ब्रह्मैव कृतो न
 कारणम् । न च परिणामित्वेन तस्यानित्यत्वापत्तिः । क्रमिकसर्व-
 परिणामानुवृत्तिबलादेव जातिवत्तस्य नित्यत्वोपपत्तेरिति राजा
 शक्यते—अहुरिति ॥ ११ ॥ कुम्भः श्रुतियुक्तयनुभवविरोधान्मै-
 वमित्याह—हेतुत्वेति । 'तदेतद्ब्रह्मपूर्वमनपरम्' इति श्रुत्या
 पूर्वत्वलक्षणहेतुत्वस्यापरत्वलक्षणकार्यत्वस्य च निषेधात्, 'नेह
 नानास्ति किञ्चन' इति श्रुत्या द्वैतमात्रनिषेधात् 'असन्नो ह्ययं
 पुरुषः' इत्यादिश्रुतेष्वानुवृत्त्याद्यघटनात्, कूटस्थस्य परिणामायो-
 गाच्च सर्वप्रपञ्चातिगन्ता आत्मा शुद्धं ब्रह्म न कार्यं नापि कारण-
 मित्यर्थः ॥ १२ ॥ कारकान्तराप्रसिद्धेस्तत्प्रयुक्तत्वात्तन्मूलक्षणं
 कर्तृत्वं तस्य दूरनिरस्तमित्याह—अकर्त्रिति । प्रयोज्यकर्तुरप्र-
 सिद्धौ प्रयोजककर्तृताप्यस्य दुर्लभेति योतनाय अकर्त्रिति । अका-
 रणं निमित्तशून्यमबीजकमुपादानशून्यम् ॥ १३ ॥ निर्धर्मक-
 त्वादेव तद्ब्रह्म अकारणत्वात्कार्यत्वलक्षणधर्माभ्यामपि रहितं
 भवेदिति हेतोः कार्यकारणात्मकं जगत्संपन्नमिति यदि संभाव-
 यति तर्हि तज्जगत् द्वैतैक्यलक्षणेन वस्तुकृतपरिच्छेदेन आद्य-
 न्तलक्षणेर्देशकालकृतपरिच्छेदैश्च रहितं सदाद्यमुपलम्भनं चिदे-
 करसं ब्रह्मैव संपन्नमित्यपि संभावय । तदा क जगद्भावः कार्य-
 कारणता वेति भावः ॥ १४ ॥ इत्यमेव तस्य जीवभावभ्रान्ति-
 प्रसङ्गिते कर्तृत्वभोक्तृत्वे अपि निरसनीये इत्याह—अप्रतर्क्य-
 मिति । अशुभं किञ्चित् प्रकारकर्मकरणकालनामप्रसिद्धिः
 सूच्यते ॥ १५ ॥ कलितमाह—अस इत्यदिना ॥ १६ ॥

कारणाभावतः कार्यं न कश्चिद्विद्वं जगत् ।
 अकारणत्वात्कार्यत्वं भ्रमाद्विद्वि त्विदं जगत् ॥ १७
 अकार्यत्वाच्च नास्त्येतत्सर्ग इत्थं न विद्यते ।
 यदा न कस्यचित्कार्यं कारणस्य जगत्तदा ॥ १८
 पदार्थाभावसंसिद्धिस्तत्सिद्धौ कस्य वेदनम् ।
 एवं तु वेदवामावे नास्त्यद्वैतस्य कारणम् ॥ १९
 अतः शुद्धो विमुक्तोऽस्ति कैवोक्तिर्बन्धमोक्षयोः ।
 शिखिध्वज उवाच ।
 बुद्धोऽस्ति भगवन्युक्तियुक्तमुक्तं त्वयोक्तमम् ॥ २०
 कारणाभावतः कर्तुं नेदं ब्रह्मेति वेदयद्दम् ।
 कर्मभावाज्जगत्तास्ति तेन नास्ति पदार्थदृक् ॥ २१
 नातद्विद्यादि तद्दीजं नातोऽद्वैतादि किंचन ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजविभ्रान्तिर्नाम पञ्चमवतितमः सर्गः ॥९५॥

एवंस्थिते विशुद्धोऽस्ति विशुद्धोऽस्ति शिवोऽस्ति वा २२
 नमो महां परं चेत्यं न किंचिदिति बोधितः ।
 पदार्थवेदनादित्थमसवेवापभासते ।
 अहमाद्यन्तमेतेन शान्तमासे लकोशवत् ॥ २३
 जगत्पदार्थप्रविभागदृष्टिः
 सवेशादिकालकलाक्रियौघा ।
 अहो नु कालेन धिरेण शान्ता
 ब्रह्मैव शान्तं स्थितमव्ययात्म ॥ २४
 शान्त्यामि निर्वाप्ति परिस्थितोऽस्ति
 न यामि नोदमि न चास्तमेमि ।
 तिष्ठामि तिष्ठ स्वयथास्थितात्मा
 शिवं शुभं पावनमौनमस्ति ॥ २५

षण्णवतितमः सर्गः ९६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 इति ब्रह्मणि विभ्रान्तिमवाप्य स शिखिध्वजः ।
 मुहूर्तमासीत्संशान्तमना निर्वातदीपवत् ॥ १
 निर्विकल्पसमाधानपरेणाशु विविक्षितम् ।
 स्वलीलयेति कुम्भेन द्रष्टित्येव प्रबोधितः ॥ २
 कुम्भ उवाच ।
 राज्ञश्चानमिद्रातः प्रबुद्धोऽस्ति शिखः स्थितः ।
 कार्यं नास्तमयेनैव न चानस्तमयेन ते ॥ ३

सकृदेव विभातात्मा नष्टानिष्टपदात्मकः ।
 कलाकलननिर्मुक्तो जीवन्मुक्तोऽङ्ग सांप्रतम् ॥ ४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 कुम्भेन बोधितस्त्वेवं स बभूवावबोधवान् ।
 विनिर्गतो रराजोच्चैर्महामोहसमुद्रकात् ॥ ५
 विभ्रान्तधीः क्षणेनैव पश्यन्दृश्यस्य वस्तुनः ।
 असत्तामेव मुक्तात्मा लीलया समुवाच ह ॥ ६

॥ १७ ॥ उपक्रान्तं प्रस्तुतोपयोगितया स्मारयति—यदेति
 ॥ १८ ॥ प्रस्तुतं निगमयति—एवं त्विति ॥ १९ ॥ एकमह-
 न्तानिरासोपायमुपदिश्य परिशिष्टमात्मतत्त्वमनुभावयति—अत
 इति । उपदिष्टार्थं स्वानुभवेनानुमोदमानो राजा युक्तमं त्वयो-
 पदिष्टमित्यनुवदति—बुद्धोऽस्मीत्यादिना ॥ २० ॥ पदार्थदृक्
 नामरूपदृष्टिः ॥ २१ ॥ २२ ॥ चित्स्वरूपात्परमन्यचेत्यं न
 किंचिदिति त्वयाहं बोधितः । इत्थं लडुपदिष्टयुक्त्या सर्वपदा-
 र्थानां विमर्शेन वेदनादध्यारोपे अहमादिविवेकेनापवादे अह-
 मन्तं दृश्यजातमसत्त्वास्त्येवेत्यवभासते इति परेणान्वयः । एतेन
 सर्वद्वैतबाधेन लकोशवत् शान्तं निर्विकल्पमासे ॥ २३ ॥ तामेव
 स्थितिमभिनयन्नुपसंहरति—जगदिति द्वाभ्याम् । देशादिकाल-
 कलाक्रियौघैः सहिता जगत्पदार्थप्रविभागदृष्टिर्मम धिरेण कालेन
 शान्ता । अहो इत्याक्षयं । तथा च शान्तमव्ययात्म निर्वि-
 कारं ब्रह्मैव स्थितं परिशिष्टमित्यर्थः ॥ २४ ॥ परितः पूर्णमा-
 धेन स्थितोऽस्मि । अहमेवं तिष्ठामि लमपि स्वः प्रसन्नोकरसो
 यथास्थितात्मा तिष्ठेति 'अभयं का गच्छताद्याज्ञवत्क्य यो नो
 भगवन्नभयं वेदयसे' इति जनकोक्तिवत्कुम्भं प्रति राजोक्तिः ।
 एवं स्थितौ स्वदात्मैवाहं शुभं परमपुरुषार्थरूपं पावनं शुद्धं
 मौनं वागमन्यं शिवं निरतिशयमुत्तमेव सदास्मीत्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 शिखिध्वजविभ्रान्तिर्नाम पञ्चमवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥
 प्रतिबुद्धस्य राज्ञोऽत्र दृश्यसत्तावमार्जनम् ।
 यथा भवति निःशेषं तथा कुम्भेन बध्नेते ॥ १ ॥
 अखण्डब्रह्माकारदृश्ययुदयेन सम्यक् शान्तं बाह्यवृत्तिप्रस-
 नोपलक्षितं मनो यस्य तथाविधः सनिर्वातदीपवत्किञ्चल आसी-
 दित्यर्थः ॥ १ ॥ अथ यदा तेन राज्ञा अखण्डाकारदृष्टिलक्षणं
 विकल्पमप्यबधूय क्षीराब्धिपतितोदकविन्दुबन्धनसो ब्रह्मीभाव-
 मेवापाय ब्रह्मण्यैकरस्येन विविक्षितं प्रवेष्टुमभिमुखीभूतं तदा
 तस्य इति एवंरूपामवस्थामाशु उपलक्ष्य कुम्भेन वक्ष्यमाणदृश्य-
 मार्जनोपायादिविबुध्या स द्रष्टित्येव प्रबोधित इत्यर्थः ॥ २ ॥
 ननु सर्वदृश्यानामखण्डाकारदृष्टेरप्यस्तमयेन निरतिशयानन्दस-
 मुप्रे विविष्टुरहं किमिति त्वया व्युत्थापनेन विभ्रितः पुनस्तन्मम
 दुर्लभमिति राज्ञो विवक्षामभिलक्ष्य कुम्भ उवाच—राजश्चित्ति ।
 सति अज्ञाने तदुर्लभम् । नष्टे त्वज्ञाने सर्वदृश्यास्तमयोऽस्तु मा-
 वा । सकृद्विभातं तत्सदैवानाहृतं दुर्लभमेवेति भावः ॥ ३ ॥ ४ ॥
 ॥ ५ ॥ व्युत्थानकालेऽपि दृश्यस्यासत्तामेव पश्यन् लीलया
 अभिनवस्य स्वबोधस्य चिरपरिपक्वकुम्भबोधसंवाद्यपरीक्षा-

शिषिष्यज उवाच ।

ज्ञातप्रायमपीदं तु यत्पृच्छामि तदुच्यताम् ।
 भूयो निपुणबोधाय मम मानद् मोदद् ॥ ७
 शिवे शान्ते निरामासे पदेऽनुल्लसितात्मनि ।
 द्रष्टृदर्शनदृश्याद्यो विश्वात्मा प्रत्ययः कुतः ॥ ८
 कुम्भ उवाच ।
 साधु पृष्टं महाराज राजसे वाच भास्करः ।
 एतदेव हि ते शिष्टं ज्ञातुं यत्तदिवं शृणु ॥ ९
 यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्वाम्यवरजंगमम् ।
 सर्वं सर्वप्रकाराद्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥ १०
 ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
 महाकल्पविलासान्ते सत्सारमवशिष्यते ॥ ११
 चिन्मात्रममलं शान्तमाभातं परमं नमः ।
 समस्तकलनोन्मुक्तं युक्तं परमया धिया ॥ १२
 यदेकोदितमत्यच्छं शान्तमाततमुज्ज्वलम् ।
 परमात्मात्मकं तेजस्तिमितं ज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १३
 अप्रतर्क्यमविज्ञेयं समं शिवमनिन्दितम् ।
 ब्रह्मनिर्वाणमापूर्णमापूर्णोदितसंविदा ॥ १४
 अणीयसामणीयञ्च स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
 गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १५

लीलया ॥ ६ ॥ ७ ॥ न उल्लसितस्त्वतः प्रकटीभूत आत्मा
 स्वरूपं यस्य तथाविधे । अविद्यावृते इति यावत् । प्रतीयत इति
 प्रत्ययोऽर्थः प्रतीतिः प्रत्ययो बोधश्च कुतः । कस्माच्चिन्मितादा-
 लम्बनाशेत्यर्थः । किं सत उतासतः । आये विकारबाधयो-
 रयोगः । द्वितीये सत्त्वेन प्रतिभासानुपपत्तिरिति भावः ॥ ८ ॥
 एवं पृष्टः कुम्भस्तदुभयमध्यासेनोपपादयिष्यन् प्रश्नमुपपन्नत्वेन
 प्रष्टारं च वक्ष्यमाणार्थप्रहणसामर्थ्येन प्रशंसति—स्वाच्चिति ।
 प्रागुपदिष्टमात्मतत्त्वमवाप्य निरस्ताज्ञानावरणत्वाद्भास्वरः सन्
 राजसे शोभसे । 'राजसे वाच भास्करः' इति पाठे तु श्वायं
 वाचब्दः । अथ तरप्रबोधानन्तरं राहुनिर्मुक्तभास्कर इव राजसे
 इत्यर्थः ॥ ९ ॥ तत्राभ्याससामग्रीं दर्शयितुमारोप्य संस्कार-
 सहकृताज्ञानबाधमभिघ्नानं दर्शयिष्यन् पूर्वसर्गप्रलयं दर्श-
 यति—यद्विद्वमिति ॥ १० ॥ तत्परिशिष्टमभिघ्नानं दर्शयति—
 तत इत्यादिना ॥ ११ ॥ यत्परमया स्वतत्त्वसाक्षात्कारधिया
 युक्तं सदेकोदितमत्यच्छं भवतीति परेणान्वयः ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥ आसमन्तारपूर्णोदितया संविदा स्वबोधेन आपूर्णम्
 ॥ १४ ॥ १५ ॥ 'अणीयसामणीयः' इत्येतद्दृष्टान्तेन स्फुटयति—
 ईदृशमिति । पृथिव्यपेक्षया उत्तरोत्तरं सूक्ष्मतरत्वेन प्रसिद्धे-
 भ्योऽपि परमसूक्ष्मत्वेन प्रसिद्धमपीदं नमः ॥ १६ ॥ 'स्थविष्ठं
 च स्थवीयसाम्' इत्येतदपि तथा स्फुटयति—ईदृशमिति ॥ १७ ॥
 ईदृशे मायाशब्दे पदे अभिघ्नाने प्राक्तनजगत्संस्कारोद्बोधादुद्भू-
 ततत्त्वप्रणिकर्मानुसारि यदध्यासेन विश्वात्मकवनं तदेव ।
 अः बाधुदेवस्मात्संभवो नस्य तथाविधस्य वेधसो हिरण्य-

ईदृशं तत्परं सूक्ष्मं तस्याग्रे यदिदं नमः ।
 अणोः पार्श्वे महामेरुविव स्थूलात्म लक्ष्यते ॥ १६
 ईदृशं तत्परं स्थूलं यस्याग्रे यदिदं जगत् ।
 परमाणुवदामाति कश्चिदेव न भाति च ॥ १७
 विश्वात्मकवनं नाम पदेऽसंभववेधसः ।
 तदहंवेदनं विद्धि विराडात्मा जगत्स्थितम् ॥ १८
 वातस्य वातस्पर्शस्य यथा भेदो न विद्यते ।
 शून्यत्वस्त्वोपमयोश्चिन्मात्राहंत्वयोस्तथा ॥ १९
 जलेऽस्ति देशकालान्ते यथोर्म्यादि सकारणम् ।
 परेऽसद्वेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ २०
 हेम्यस्ति देशकालान्ते कटकदि सकारणम् ।
 ब्रह्मण्यदेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ २१
 ईदृशं तद्वरिष्ठं च जगद्वाज्यं तदक्षतम् ।
 न द्वैतममलं शान्तं जगत्पणलवायते ॥ २२
 ईदृशं तत्परं श्रेयस्तस्मिन्सति यदीश्वरे ।
 जगत्पदार्थसार्थधीः सा सत्तामेति वेदनात् ॥ २३
 तत्सारमेकमेवेह विद्यते भूपते ततम् ।
 एकमेकान्तचित्कान्तं नैकमप्यद्वितावशात् ॥ २४
 तस्माद्द्वितीया कलना काचिन्नाम न विद्यते ।
 भात्मतत्त्वमलं भातं तदेवापूर्णमक्षयम् ॥ २५

गर्भस्य अहंवेदनमहंभावलक्षणं ज्ञानाभ्यासं विद्धि । तत्र विष-
 यत्वेन जगत्स्थितं तदेव विराडात्मा विषयाभ्यास इत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ अभ्यासपक्षे चाधिष्ठानसत्तयैव कार्यकारणोभयसत्त्व-
 निर्वाहात्तयोः सत्त्वेन प्रतीतेर्ज्ञानेन बाधस्य सत्कौटस्थस्य च
 नानुपपत्तिरित्यभिप्रेत्याध्यस्तस्याधिष्ठानादपृथक्त्वं सदृष्टान्त-
 माह—वातस्येति । आद्यः संसर्गाभ्यासे द्वितीयस्यादात्म्या-
 भ्यासे दृष्टान्तः । वातः स्वत्वं च निरपेक्षत्वादधिष्ठानदृष्टान्ती ।
 स्पन्दः शून्यत्वं च देशप्रतियोगिसापेक्षत्वाद्ध्यस्तदृष्टान्ती ॥ १९ ॥
 असत्कार्यवादिमतानुप्रवेशो मा भूदित्यधिष्ठानसत्तयैव कार्यस्य
 ब्रह्मणि त्रैकालिकसत्त्वमपि दृष्टान्तेन दर्शयन् विशेषमाह—
 जले इति । देशकालाभ्यामन्ती परिच्छेदौ यस्मिन् । जलस्या-
 न्तरालिककारणत्वाज्जलकारणेनैव सकारणम् । ब्रह्मणो मूलकारण-
 त्वाद्कारणम् ॥ २० ॥ २१ ॥ 'श्रेष्ठं च श्रेयसामपि' इत्येतदप्य-
 भ्यासेनैव स्फुटयति—ईदृशमिति । जगदेव राज्यं यस्य तज्जग-
 द्वाज्यं महाराजभूतं तद्वद्वेति वरिष्ठं श्रेष्ठमित्यर्थः । यतो जगद-
 ध्यस्तत्वात्पणलववसुच्छमतो न द्वैतमद्वैतं तदित्यर्थः ॥ २२ ॥
 तस्यैव सर्वाधिष्ठानत्वात्सत्तयैव जगतः सत्तालाभ इत्याह—
 ईदृशमिति ॥ २३ ॥ एकान्तचित्चिन्मात्रस्वरूपम् । कान्तं
 निरुपाधिकप्रेमपदम् । अद्विता द्वितीयासहिष्णुता तद्वशा-
 द्बाधल्याभावादेकत्वसंख्याया एव द्वितीयत्वापत्तेश्च एकमेक-
 त्वसंख्यावदपि न ॥ २४ ॥ आसमन्तारपूर्णम् ॥ २५ ॥

१ परेऽसद्वेशकालान्ते इति मुद्रितपुस्तके पाठः ।

संस्थितं सर्वदा सर्वं सर्वाकारमिबोदितम् ।
 अदृश्यत्वादलभ्यत्वाच्च तत्कार्यं न कारणम् ॥ २६
 प्रत्यक्षादेरगम्यत्वात्किमप्येव तदुत्तमम् ।
 सर्वं सर्वात्मकं सूक्ष्ममच्छानुभवमात्रकम् ॥ २७
 आख्यानाख्यास्वरूपस्य निरामासप्रभादशः ।
 सतो वाप्यसतो वाथ कथं कारणता भवेत् ॥ २८
 यद्वै न कस्यचिद्विजमनाख्यत्वाच्च कारणम् ।
 न किञ्चिज्जायते तस्मात्प्रमाणादि ततात्मनः ॥ २९
 अकर्तृकर्मकरणं सत्यं चिद्वनमक्षतम् ।
 आत्मरूपमनाभासं स्वयंभेदनमक्षतम् ॥ ३०
 तस्माच्च जायते किञ्चित्परस्माद्ब्रह्मणो मुने ।
 कथं किं लभ्यते केन यथोर्म्यादि सकारणम् ॥ ३१
 परेऽसद्वेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ।
 शिक्षिष्वज उवाच ।
 जलादौ यत्तरङ्गादि तत्सकारणमस्ति हि ॥ ३२
 परे जगदहंतादि भाकारणमवैम्यहम् ।
 कुम्भ उवाच ।
 इदानीं तत्त्वतो ज्ञातमेतत्सत्यं महीपते ॥ ३३
 इदं जगदहंतादि नेह किञ्चिन्न विद्यते ।

बभ्रुरादिभिरदृश्यत्वात्करादिभिरलभ्यत्वाच्च न कार्यं ज्ञानकर्म-
 प्रयुक्तातिशयानास्पदं नापि कारणं ज्ञानकर्मनिर्वर्तकमित्यर्थः
 ॥ २६ ॥ किमपि प्रत्यक्षादिलौकिकमानसिद्धार्थभिलक्षणमेव स्ना-
 नुभवैकगम्यं तदुत्तमं निरतिशयानन्दस्वरूपं स्वयमेव सर्वं सर्व-
 स्मात्मा सर्वे चास्यात्मान इति सर्वात्मकम् ॥ २७ ॥ व्यवहारदृष्टौ
 आख्यानाख्यास्वरूपस्य अन्दतदर्थसर्ववस्तुस्वरूपस्य व्यकाव्यक्त-
 स्वरूपस्य वा स्वस्य स्वं प्रत्येव कथं कारणता भवेत् । परमार्थदृष्टौ तु
 निरामासप्रभादशः निरामासप्रभाभिन्नह्य्यात्रस्वभावस्याद्वयस्य
 कथं कारणता भवेत् । किञ्च व्यवहारे अद्वयमसत् द्वैतं सत् ।
 परमार्थे त्वद्वयं सत् द्वैतमसत् । न हि सदसतोरपि केनचित्पर-
 स्परं कार्यकारणता वक्तुं शक्येत्यर्थः ॥ २८ ॥ प्रमाणादिमान-
 मेयमित्यात्मकं जगन्न जायते व्यवहारे आत्मन एव तदात्म-
 त्वात् । न ह्यात्मा आत्मनो जायत इत्यर्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥
 तथा चाध्यासपक्षे न कस्यचिज्जन्मादिविक्रियेति कौटस्थमेव
 सिद्धमित्युपसंहरति—तस्मादिति । यत्सकारणमूर्म्यादि मयोक्तं
 तदपि विमर्शं जलतिरिक्तं कथं लभ्यते किंवा लभ्यते । न
 किञ्चिन्न कथं चिदित्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवं सत्यपि कारणे यदा
 कार्यकारणता नास्ति तदा अद्वयत्वादस्तद्वेशकालपरिच्छेदत्वाद-
 कारणे ब्रह्मणि सा नास्तीति किं वाच्यमित्याह—परे इति ।
 'जलेऽस्ति देशकालान्ते यथोर्म्यादि सकारणम् । परेऽसद्वेश-
 कालान्ते तथा जगदकारणम्' इति यत्प्रागुक्तं तदेव स्वयंपसं-
 तम् । तत्र वैषम्योक्तयंशे कोऽभिप्राय इति राजा पृच्छति—
 जलादाविति ॥ ३२ ॥ समुद्रस्य पञ्जीकृतजलकार्यत्वात्सकारणे-
 र्भूतैर्वाग्वादिवाग्निमितैश्च तरङ्गादेः पयःपरिणामस्य सकारण-

जगच्छब्दार्थरहितं जगदस्ति शिवात्मकम् ॥ ३४
 व्योम्येव निर्मितं शान्तं व्योम्ना सूक्ष्मतरेण च ।
 यथा नभसि शून्यत्वं तथेदं जगदीश्वरे ॥ ३५
 सदृशं स्वस्वरूपेण न वा रूपेण केनचित् ।
 एवंरूपं जगदिदं सम्यग्ज्ञातं शिवं भवेत् ॥ ३६
 सम्यग्ज्ञानप्रभावेण विषमप्यमृतायते ।
 असम्यग्ज्ञातमशिवं जगदुःखप्रदं परम् ॥ ३७
 विषबुद्ध्यामृतमपि भुक्तं विषरसायते ।
 ईदृशञ्च यथा वेत्ति यद्यदेव चिदीश्वरः ॥ ३८
 तत्तथैवाशु भवति तादृशप्रपतया शिवः ।
 यथा ज्वाला भ्रमाज्जाता विचित्राकारविभ्रमैः ॥ ३९
 तिष्ठत्यनन्यरूपैव ब्रह्मसत्ता तथैव हि ।
 यत्परं चित्स्वरूपेण स्थितमात्मनि मन्धरम् ॥ ४०
 तत्सेन देहदेहादिर्जगदादीषु लक्ष्यते ।
 केवलं परमेवैतथं परमं भासते शिवम् ॥ ४१
 अतो जगदहंतादि प्रश्न पवेति नोचितः ।
 यद्वस्तु विद्यमानं सत्प्रश्नस्तत्र विराजते ॥ ४२
 प्रेक्षितं यत्तु नास्त्येव प्रेक्षाप्रश्नेन तत्र किम् ।
 संनिवेशं विना सत्ता यथा हेम्नो न विद्यते ॥ ४३

त्वम् । ब्रह्मणः कारणाप्रसिद्धेरद्वयतया सहकारिकारणाभावाच्च
 तद्विषयैस्याकारणकत्वमिति वैषम्यं मदभिप्रेतम् । तच्च तत्त्व-
 ज्ञानात्प्रागद्वयवस्तुसंभवनानाया एवानुदयादशैर्बोधुमशक्यम् ।
 त्वया त्वद्वैतं वस्तु सर्वद्वैतभावेन तत्त्वतः परिचितमिति तत्सु-
 बोधमित्याशयेन कुम्भ उत्तरमाह—इदानीमित्यादिना ॥ ३३ ॥
 यदि सर्वद्वैतबाधादकारणं तर्हि तत्र जगदस्तीत्युक्तेः कोऽभि-
 प्रायस्तमाह—जगच्छब्दार्थरहितमिति । ब्रह्मसत्तैव प्राप्तजगति
 प्रतीता जगत्सत्ताभूत् । सा तु जगद्भावेऽप्यस्त्येवेत्यभिप्राय
 इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ यथा व्योम्येव व्योम्नोऽपि सूक्ष्मतरेण माया-
 व्योम्ना निर्मितं गन्धर्वनगरं मिथ्यात्वाभित्यशान्तं व्योमसत्तथै-
 वास्ति । यथाऽशून्येऽपि नभसि तद्विरुद्धं शून्यत्वं तत्सत्तथै-
 वास्ति । तथा ईश्वरे मायाकाशे ब्रह्मणि जगदित्यर्थः ॥ ३५ ॥
 स्वस्वरूपेण चैतन्यैकरसेन सदृशं चिद्रूपमेव सम्यग्ज्ञातम् ।
 अथवा केनचिद्रूपेण जडरूपेण वा न सदृशं शून्यमेवेति ज्ञातं
 सत् शिवं ब्रह्मैव भवेत् ॥ ३६ ॥ नन्दशिवं कथं शिवं भवेत्-
 त्राह—सम्यगिति ॥ ३७ ॥ ईदृशः विद्यासहायोऽविद्यासहायो
 वा ॥ ३८ ॥ यथा ज्वाला तिमिरादिनेत्रदोषविभ्रमैः केशोष्ण-
 कादिरूपेण विचित्रा जाताप्यनन्यरूपेणैव तिष्ठति ॥ ३९ ॥
 यच्चित्स्वरूपेण स्थितं परं ब्रह्म तदेवात्मनि मन्धरं मन्दप्रबोधं
 सतेनैवाप्रबोधेन निमित्तेन ॥ ४० ॥ ४१ ॥ बोधदाक्यं तु
 'शिवे शान्ते' इत्यादिलक्ष्मणप्रश्नस्नानवकाश एवेत्याह—अत
 इति । इति 'ब्रह्मदर्शनदृश्याख्यो भिक्षात्मा प्रत्ययः कुतः' इति
 प्रश्न एव नोचितः ॥ ४२ ॥ यदि जगन्नास्त्येव तर्हि कथं तत्
 प्रेक्षास्पष्टमनुभूयत इति प्रश्नोऽपि न कार्य इत्याह—प्रेक्षित-

तथा जगदहंभावं विना नेशस्य संस्थितिः ।
 अकारणत्वात्तास्तीदं ब्रह्मैवेत्थं विजृम्भते ॥ ४४
 अजृम्भमाणमेवेदं जगत्स्वेनेव संस्थितम् ।
 यन्मया एव तेनैव मिथः संप्रेरिताशयम् ॥ ४५
 चमत्कुर्वन्त्यमी भावाः पञ्चके मिथुनौघवत् ।
 चिन्मात्र एव चिन्मात्रं चिन्मात्रेणावधीयते ॥ ४६
 नानात्मनैव नानेव स्वात्मज्ञानात्मनात्मवत् ।
 पूर्णात्पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात्पूर्णानि चक्रिरे ॥ ४७
 भवन्ति पूर्णात्पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ।
 चिन्मात्रमेव कचति यच्चिन्मात्रमयात्मनि ॥ ४८
 अकचित्त्वैव तन्नाम कचित्तं सर्गवेदनम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजस्य वा० दे० मो० निर्वा० पू० चू० शिखिष्वजावबोधनं नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः ९७

कुम्भ उवाच ।

हेरुयस्ति देशकालान्ते इत्थं जन्यजनिक्रमः ।
 न किञ्चिज्जायते शान्ताञ्च किञ्चित्प्रविलीयते ॥ १

मिति । तादृशप्रेक्षाया निर्विषयत्वे कथमिति प्रष्टव्यप्रकारस्यैवा-
 भावादित्यर्थः ॥ ४३ ॥ संस्थितिः प्रभ्राहेति शेषः ॥ ४४ ॥
 ननु यदि पृथिव्यादयो न सन्त्येव तर्हि कथं 'यः पृथिव्यां
 तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं
 यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इत्यादि-
 श्रुतेरन्तर्यामिणेश्वरेण प्रेर्यमाणा एव सर्वे भावाः स्वस्वकार्ये
 चमत्कुर्वन्तीति वैदिकसिद्धान्तस्तत्राह—यस्मया एवेति । मा-
 याशब्दलेश्वरमयाः सर्वे भावास्तेन मायाशब्दलेश्वरेणैव माययैव
 मिथः सामग्र्यात्मना मेलनाय संप्रेरिताः सन्तः पञ्चभूतात्मके
 पिण्डे मायिकमेव तत्तत्कार्यचमत्कारं कुर्वन्ति । यथा मिथु-
 नानि क्लीपुंसयुग्मानि यौवने काममयानि कामेन प्रेरितानि
 परस्परं संभोगेन पुत्राद्युत्पादनेन चमत्कुर्वन्ति । यथा वा बी-
 जानि भूस्थानि वर्षोदकेन प्रेरितान्यङ्कुरोदयाच्चमत्कुर्वन्ति तद्व-
 दिति परेणान्वयः ॥ ४५ ॥ तथा आहृतचिन्मात्रमेव चिन्मा-
 त्रेण मायिकेन नानात्मनैव नानेव भूत्वा अवधीयते तत्तत्कार्य-
 रूपेण परिच्छिद्यते ॥ ४६ ॥ यथा तदेव चिन्मात्रं स्वात्मज्ञा-
 नात्मना स्वेनैव व्याप्तं पारमार्थिकात्मना चमत्कुरुते तद्वत्
 ब्रह्मण एव ब्रह्मभूतसर्गात्मना मायिकचमत्कारे तस्यैव तत्त्वज्ञानेन
 पारमार्थिकस्वरूपावाप्तिचमत्कारे च । 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णा-
 त्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' इति श्रुति-
 मर्थत उदाहरति—पूर्णादिति । प्रलये वासनासन्नशेषेण सर्वो-
 पाधिप्रलये मायाशब्दले ब्रह्मण्यप्ययं प्राप्ता जीवाः कल्पादौ भोज-
 कादृष्टपरिपाके पुनः स्वस्वव्यष्टिसमष्ट्युपाधीन्सर्गेण यदुद्धरन्ति
 तत्पूर्णादपरिच्छिन्नब्रह्मणः कारणात्पूर्णान्यपरिच्छिन्नब्रह्मरूपाण्येव
 कार्याणि माययोद्धरन्ति । स्थितिकाले च यदवान्तरव्यर्थजातमैहि-

अहं चिता चिदेवादौ भवतीव स्वयं ततः ॥ ४९
 अमवन्त्येव रूपं स्वमत्यजन्ती निरामयम् ।
 तेजोमयमनाद्यन्तं मनोरूपमनन्तकम् ॥ ५०
 सम्राट्संसारमाभासि भवतीव स्वयं वपुः ।
 पश्यत्यथ सदेवेदं स्वरूपत्वात्सदेव वा ।
 भावनाद्भूततामेति इदं भवति च क्षणात् ॥ ५१
 शान्तं जगत्प्रसररूपतया स्वभाव-
 शब्दार्थमुक्तमिदमव्यपदेश्यमेकम् ।
 वस्तु स्थितं निजचमत्करणावलोक-
 रूपं जगत्स्वरहितानुभवात्मतत्त्वम् ॥ ५२

स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम् ।
 शुद्धानुभवमात्रं तत्तस्मादन्यत्र विद्यते ॥ २
 किञ्चिज्जगदहंतादि तदेवानन्तमस्ति हि ।

कामुष्मिकभोगमोक्षसाधनानि चक्रिरे तदपि पूर्णादेव पूर्णान्येव
 च मायया चक्रिरे ॥ ४७ ॥ ततो यत्तत्त्वज्ञानान्मुक्ता भवन्ति
 तदपि पूर्णादेव मायापगमात्पूर्णानि भवन्ति । सह भेदभ्रमेण
 मायापगमे पूर्णमेवावशिष्यते इति श्रुतेस्तात्पर्यार्थं इति भावः ।
 यच्चिन्मात्रमयात्मनि सर्गवेदनं कचित्तं तच्चिन्मात्रे चिन्मात्रमेवा-
 कचित्त्वैव कचित्तं नामेत्यत्रान्वयः ॥ ४८ ॥ अहंप्रत्यगात्मरूपा
 चिदेव सर्गादौ स्वं रूपमत्यजन्त्येवाभवन्त्येव स्वतश्चिता स्वयमे-
 वानन्तकं मनोरूपं भवतीव ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ततः स्थौल्यक-
 ल्पनेनाभासि सत् स्वयंभुवः सम्राट् संसारं विराड्भावेन संस-
 रणरूपं भवतीव । अथ व्यष्टिजीवभावेनेदं जगद्भ्रान्त्या सदेव
 पश्यति परमार्थतोऽधिष्ठानसदेव वा जगति पश्यति तदंशे
 न भ्रान्तिरित्यर्थः । भूततां चतुर्विधभूतप्रायताम् ॥ ५१ ॥
 उक्तमुपसंहरति—शान्तमिति । एवमुक्तीत्या शान्तं स्वभा-
 वतः शब्दार्थाभ्यां नामरूपाभ्यां मुक्तमत एवाव्यपदेश्यं स्वप्र-
 काशो योऽनुभवस्तदात्मतत्त्वमेकं वस्तु निजचमत्करणं माया-
 तदवलोककं सत् जगत् प्रसररूपतया जगदिव भूत्वा स्थित-
 मित्यर्थः ॥ ५२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजस्य प्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे शिखिष्वजावबोधनं नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

पूर्वत्राकारणं इदं न जावमिति मार्जितम् ।

विमार्ज्यतेऽत्र यत्नेन इत्यवेदनता चितः ॥ १ ॥

इत्थं विंशतितमश्लोकोक्तः समुदतरद्ब्रह्मन्तत्त्वदान्तरवै-
 षम्यं च इदममार्जनोपयोगितयोपपादितम् । इदानीमेकविंशति-
 तमश्लोकोक्तं हेमकटकदृष्टान्तं तदवान्तरवैषम्यं च तथैवोपपा-
 दनीयमिति वक्तुं कुम्भोऽनुवदति—हेह्वीति ॥ १ ॥ २ ॥
 अस्तु इत्यासत्त्वं तदसत्त्वे इदमचित्तवेदनसरूपताप्रतीतिः

शिक्षिष्वत्र उवाच ।

शिवे जगद्गतादि भुजे नास्तीति वेद्यहम् ॥ ३ ॥
सर्गवेदनमाभाति कथमेतद्ब्रह्माद्यु मे ।

कुम्भ उवाच ।

विस्तारं तदभाद्यन्तं तत्संविदिष तिष्ठति ॥ ४ ॥
तच्च भुवनमत्यच्छं तसन्मात्रं जगद्गुणः ।
न विज्ञानमयोऽर्थोऽस्ति न बाह्यो नापि शून्यता ॥ ५ ॥
वेदनामात्रसारत्वाद्यथा चित्तसार उच्यते ।
प्रथत्वं सलिलस्येव चिदचित्त्वमकारणम् ॥ ६ ॥
स्वात्मनीशमनन्तं तद्यथास्थितमवस्थितम् ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदाभावतः सत्त्वभावयोः ॥ ७ ॥
असत्त्वात्तेन परमे स्वच्छभावव्यवस्थता ।
यदि कारणतापत्तियोग्यं शान्तं पदं भवेत् ॥ ८ ॥

कथमिति राजा पृच्छति—शिवे इत्यादिना ॥ ३ ॥ नभोवि-
स्तृतसौरालोकस्य तदध्यस्तगन्धर्वनगरादिप्रकाशस्वरूपताप्रती-
तिवत्तदित्याशयेन कुम्भ उत्तरमाह—विस्तारमिति । विस्तार-
मेत इति विस्तारं तदधिष्ठानसन्मात्रमेव तस्य स्वाभ्यस्तस्य
संवेदनं संवित् प्रथेव तिष्ठति । अत एव तदध्यस्तं भुवनं तन्मा-
त्रमधिष्ठानसन्मात्रमेवेति तदेव जगद्गुण्यपदिश्यत इत्यर्थः
॥ ४ ॥ अत्र विज्ञानवाणी भुवनादिरूपोऽर्थ आन्तरो विज्ञान-
परिणाम एव संवृत्त्या बाह्यार्थवदवगम्यत इति मन्यते ।
गौतमकणादकपिलपतञ्जलिप्रभृतयो बाह्यार्थः पृथिव्यादिपञ्चभू-
तमयः परमार्थभूतोऽस्तीति । माध्यमिकस्तु शून्यमेव बाह्याभ्य-
न्तरप्राह्यप्राहकभावेन संवृत्त्या प्रथते न वस्तुभूतं किंचिदस्तीति ।
तन्मतान्यपाकुर्वन्नाह—न विज्ञानमय इति ॥ ५ ॥ तत्कुतस्त-
त्राह—वेदनेति । सर्वेषां वादिनां कल्पनाः सत्यां वेदनाया-
मुपपद्यन्ते नासत्यामिति न तस्याः शून्यता क्षणिकता जन्यता
विनाशिता परिणतिर्वा केनचित्कचिद्भूतं शक्यत इति सैव सार
इत्यर्थः । यथा चिदेव सारस्तथा उच्यते उपपाद्यते शृणु दृष्टा-
न्तम् । यथा ब्रह्मत्वं सलिलस्य रसस्तद्वत्सर्ववस्तूनां चैतन्यं सारः ।
यदि चैतन्यं नाम वस्तु न स्यात्तर्हि साधकाभावात्सर्वं जग-
दस्तिनास्तीति व्यपदेशानर्हं किं स्यादिति विमान्यतामिति
भावः । एवं रसभूतायाश्चितः अचित्त्वमकारणं न कारणैर्निरु-
पयितुं शक्यम् ॥ ६ ॥ जया वा तस्या जगत्प्रत्ययता कथमु-
पपादनीयेति चेत्तत्राह—स्वात्मनीति । तच्चिद्रूपं स्वात्मनि
जगदाकारेण प्रथने परमार्थचिन्मात्ररूपेण वा प्रथने ईशं स्व-
मायया समर्थमतस्तद्यथा साविद्यं निरविद्यं वा यथा स्थितं
तथैव प्रतीत्याप्यवस्थितमित्यर्थः । यदि तत्स्वच्छास्वच्छोभय-
भावस्थितिसमर्थं तर्हि तस्य स्वच्छभावैकव्यवस्थता कुतस्त-
त्राह—प्रतियोगीति । सत्त्वमात्रस्य स्वभावो हि स्वच्छ-
भावः । अस्वच्छभावस्तु तद्विरुद्धभावः । स यदि स्वविरोधिनः
सत्त्वस्य व्यपच्छेदं कुर्याच्च कुर्याद्वा । द्वेषापि स्वयं न सिध्य-
तीति सत्त्वतद्विरुद्धभावयोः प्रतियोगिव्यवच्छेदाभावात्स्वच्छ-

अनिक्रितमनामासामप्रसक्तैः कथं भवेत् ।
अतो न कारणं नैव बीजं ब्रह्म कदाचन ॥ ९ ॥
कार्यस्य कस्यचिन्नाम तेन सर्गो न विद्यते ।
न चान्यथोपपत्तिर्हि सर्गस्यास्योपपद्यते ॥ १० ॥
चिन्मात्रकादृते तस्माज्जडसर्गो न विद्यते ।
यदिदं दृश्यते किंचिसचिद्भगमिषोत्थितम् ॥ ११ ॥
अहंभावजगच्छब्दशब्दाद्यैरसरजनम् ।
कार्यं न कारणाभावात्पदार्थं तूपपद्यते ॥ १२ ॥
द्वित्वैक्याद्यात्मकं इयोमपुष्पवत्त्वानुभूतितः ।
वस्तु नाशैकनिष्ठत्वाच्च वा इमुपपद्यते ॥ १३ ॥
उपलम्भकरो नाशो जन्मनस्तस्य वा कुतः ।
अथ चैनं सदा सन्तं नित्यं नष्टं च वेत्सि वा ॥ १४ ॥
पदार्थौघं तदेवेत्यमेकरूपेऽपि किं व्यथा ।

ताया असत्त्वात्परमे सद्वस्तुनि स्वच्छभावैकव्यवस्थता सिद्धे-
त्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु अस्वच्छभावस्यात्यन्तापलापः किमर्थं कि-
यते । स्वच्छचिद्रूपमेवास्वच्छजगद्भावकारणतापत्तियोग्यमिति
कुतो न कल्प्यते तत्राह—यदीति । चित्कोटदृष्ट्याद्वयत्वादिपर-
श्रुतिविद्वदनुभवविरोधात्तथा न कल्प्यत इति भावः ॥ ८ ॥ ९ ॥
चिदभ्यासपक्षं विना सर्गस्योपायान्तरेणोपपत्तिरेव नास्तीत्याह—
न च्छेति ॥ १० ॥ उत्थितमिव ॥ ११ ॥ तर्ह्यस्त्वकारणकमेवेदं
जगदिति यदृच्छावादिपक्षं निरस्यति—कार्यमिति ॥ १२ ॥ यदि
सन्मात्रैकरसं तर्हि कथं जगच्चिद्भूतरूपेण सद्रूपेण च द्वित्वैक्याद्या-
त्मकं प्रतीयते तत्राह—इयोमपुष्पवदिति । सपुष्पवज्जडांशो
विकल्पमात्रमित्यर्थः । अस्तु तर्हि चिद्रूपमेव जगत् । तस्य चि-
द्रूपमेव ब्रह्म कारणम् । न च चिद्रूपैक्ये इदं कार्यमिदं कारण-
मिति विभाजकाभावः । जन्मनाशयोरेव विभाजकत्वोपपत्ते-
स्तत्राह—वस्तिवति । न वा घटपटादिजागतं वस्तु न चिद्रूपमुप-
पद्यते । कुतः । नाशैकनिष्ठत्वाच्चानियतत्वात् । चितो हि नाशो
न चितो सिध्यति । नाशकाळे चितः सत्त्वे नाशोकेर्निर्विषय-
त्वात् । नापि जडेन । तस्य सिद्धावप्यसमर्थत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥
यदि नु चितो नाशो चिद्रूप एव स्वपरप्रथायामन्यनिरपेक्ष
इति कश्चिद्भूयात्तत्राप्याह—उपलम्भकर इति । चिद्रूपः संवि-
ज्ञासः स्वजन्मनस्तस्य स्वप्रतियोगिनो वा उपलम्भकरः प्रका-
शकः । कुतः । न हि स्रोत्पत्तिस्तत्पूर्वकालिकप्रतियोगिचिद्वा नाशो-
नोपलब्धुं शक्यते ॥ न च तदुभयानुपलम्भे तस्य नाशः स्वय-
मुत्पन्न इत्यनुभवितुं शक्यम् । न च साक्षिणा तदुभयानुभवविधि-
तश्चिद्विषयत्वाभोगादतस्तद्वेद्योत्पत्तिनाशयोर्जगतश्च जाज्यमेवेति
भावः । एवं जगतो जाज्ये सिद्धे कारणानिरूपणादकारकोत्पत्तौ
सदैव जन्म स्यान्नित्यं च नाशः स्वादुभयोरपि निवारकाभा-
वात् । हे स्वभाववादिन्, यदि निष्प्रमाणकमनुभवविद्वदमपी-
त्यमेव नित्योत्पत्तिनाशस्वभावमिदं जगदिति वेत्सि अभ्युपग-
च्छसि ॥ १४ ॥ तर्हि श्रुतिविद्वदनुभवसिद्धे अस्वच्छचिदेकरूपे
तस्मिन्ननुपगम्यमाने तव किं व्यथा किमर्थं पीठेसर्वः । ननु

उपलम्भस्तु यथापमेया चित्तव्यवहृतिः ॥ १५
 चित्तस्वभावात्तस्मिन् द्वित्वमैक्यं च नास्त्यलम् ।
 अतः पदार्थसत्ताया अभावे सति भूयते ॥ १६
 अर्संभवाद्भावस्य नाहंताभावनास्ति ते ।
 अहंभावासंभवतश्चित्तमन्यत्किमुच्यते ॥ १७
 इति चित्तमहंरूपं नास्त्यतो न च भिन्नता ।
 निर्वासनः शान्तमना मौनी परमभोग्यः ॥ १८
 सवेदो वा विदेहो वा भावस्योऽप्यचलोपमः ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामाण्ये बाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिष्वजप्रबोधनं नाम सप्तमवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

संबन्धाच्छुद्धिदृष्टेः पदार्थोभावसिद्धितः ॥ १९
 भावनाभावतश्चित्ते नास्त्येवाहमिति स्वयम् ।
 एवं ब्रह्मेति वेदार्थभावाद्ब्रह्मभूतितः ।
 चेतितार्थैकसत्यत्वाच्चिन्ता नाम क विद्यते ॥ २०
 तेनासि निर्मलमकारणमादिभुक्तं
 तद्ब्रह्म शाश्वतमशेषमनेकमेकम् ।
 शून्यं निरामयमसत्सदनादिमर्थं
 सर्वं जगच्चिदपि ब्रह्म यथास्थितं तत् ॥ २१
 सर्वं जगच्चिदपि ब्रह्म यथास्थितं तत् ॥ २१

अष्टमवतितमः सर्गः ९८

शिखिष्वज उवाच ।
 चित्तं नास्तीति मे बोधो यथा युक्त्या स्फुटं भवेत् ।
 तामन्यामथवा ब्रूहि बुद्धं न निपुणं मया ॥ १
 कुम्भ उवाच ।
 चित्तं नास्त्येव हे राजन्कदाचित्किञ्चन क्वचित् ।

यदि सर्वं चिदेकरसं तर्हि कथं चिद्विद्विधोपलम्भस्तत्राह—
 उपलम्भस्त्विति ॥ १५ ॥ तर्हि चिदन्यत्त्वमेव द्वितीयं स्या-
 तत्राह—अत इत्यादिना ॥ १६ ॥ १७ ॥ भिन्नता जीवब्रह्म-
 मेदश्चिद्विद्वेदश्चित्तो दृश्यवेदनतारूपमेदश्च नास्ति ॥ १८ ॥
 शुद्धचिदृष्टेः संबन्धाभावात् कदापि जडपदार्थानामसिद्धेस्तद्भाव-
 नाप्रयुक्तमहमिति जीवरूपमपि नास्त्येवेति स्वयमात्मैव परिशि-
 ष्यते इत्यर्थः ॥ १९ ॥ तादृशात्मैव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'
 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' । 'ब्रह्मेवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इत्या-
 दिसर्ववेदार्थसद्भावनादेव तदनुभवादित्यर्थः । तर्हि तच्चिन्तनत-
 दनुभवात्मिका अखण्डाकारवृत्तिः सर्वं बाधित्वा स्वयं परिशि-
 ष्येतेत्याशङ्क्याह—चेतिज्ञेति । ब्रह्मचिन्तनया चेतितब्रह्मार्थैक-
 सत्यत्वाच्चिन्तादिवृत्तिरपि खेदबोधेन बाध्यत इति न ब्रह्मातिरि-
 क्तपरिज्ञेयप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ २० ॥ उक्तमर्थं फलेनोपसंहरति—
 तेनेति । तेन सर्वद्वैतबाधेन त्वं ब्रह्मैवासि । तद्ब्रह्म अशेषमनेक-
 मेकमेव संपन्नं सर्वं जगत्सासच्छून्यमेव । तत्प्रतिभासरूपा चिदपि
 यथास्थितमविकृतं ब्रह्मेवेति निरामयं तदेवावशिष्टमित्यर्थः ॥ २१ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामाण्यतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 शिखिष्वजप्रबोधनं नाम सप्तमवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

चित्तं नास्तीति बोधस्य दृढीकाराय बिल्लारात् ।
 चेत्यासरवादचित्तं तत्सद्ब्रह्मैवेति वच्यते ॥ १ ॥

ननु आलोके सति रूपादेरिव सत्येव चित्ते चित्तस्यदन्यस्य वा
 प्रथा दृश्यते नासति । तथापि चित्तं ब्रह्माकारवृत्तिकं बाध्यते
 तर्हि क्षीयता इव पुनरान्धं प्राप्तम् । किञ्च सचित्ता एव
 सचेतना अचित्तास्त्वचेतना लोके प्रसिद्धास्तद्यदि जीवन्मुक्ता नष्ट-
 चित्तास्त्वाहं सुधादिबद्धचेतनाः संपद्येरन् । न च तथा दृश्यन्ते ।
 किञ्च सति चित्ते निरतिशयानन्दलक्षणः परमपुरुषार्थः
 साक्षात्कृतमनुभविषुं शक्यं नासति । न चाननुभूयमाना कश्चि-

यच्चेदं चित्तवद्भाति तद्ब्रह्मामिधमव्ययम् ॥ २
 अतोऽज्ञानात्मकं यत्तज्जगदेव न विद्यते ।
 तत्राहंत्वंतदित्यादिकल्पिताः कलनाः कुतः ॥ ३
 नास्त्येव जगदेवेदं यच्चेदं किञ्चनोदितम् ।
 ब्रह्मैवास्तीह सकलं केन तद्बुध्यते कथम् ॥ ४

त्युत्पार्थो नाम भवति । किञ्च ब्रह्माकारं चित्तमेव चित्तं बाधते
 अन्यदा । नाथः । स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि दास्यं दह-
 त्मभिः स्वात्मानं दग्धुं शक्नोति । न द्वितीयः । तद्ब्रह्मस्य जग-
 त्कल्पावकत्वायोगात् । चित्तवृत्त्यतिरिक्तस्य लोके बाधकत्वा-
 प्रसिद्धेः सुन्दोपसुन्दन्यायानवतारात् । ब्रह्मणस्त्वनादेः सर्वसा-
 धकत्वमेव न बाधकत्वमिति चित्तबाधो निरर्थको दुष्करः सर्वा-
 नुभवपराहृत्येत्याद्याशङ्कानिरासेन बोधदार्ढ्यमनो राजा पृ-
 ष्ठति—चित्तमिति । तां प्राणुफामेव युक्तिं विशदीकृत्य
 ब्रूहि । अथवा तदन्यां तदुपयुक्तां मधीयसर्वाशङ्कानिवारणस-
 मर्था च युक्तिं ब्रूहीत्यर्थः । निपुणं दृढम् ॥ १ ॥ तत्र सर्वदो-
 षपरिहारेण चित्तबाधोपपादिकां युक्तिं बभूव कुम्भचित्तासत्त्वं
 तदधिष्ठानब्रह्ममात्रसत्त्वं च प्रतिजानीसे—चित्तमिति । कदा-
 चित्काले क्वचिद्देशे किञ्चिद्ब्रह्मस्त्वात्मना च चित्तं नास्ति ॥ २ ॥
 तां युक्तिमाह—अत इति । यतः सर्वं चित्तादि जगदज्ञानात्मकं
 ज्ञानेनाज्ञानबाधेन हेतुना न विद्यते अतो हेतोरित्यर्थः । अयं
 भावः—भवेदयं स्वात्मनि क्रियाविरोधो यद्यज्ञानबाधाचित्तादि-
 बाधोऽन्यः स्यात् । अज्ञानबाध एव तु सर्वतत्कार्यसंबन्धाव-
 रणविक्षेपादिसर्वनिवृत्तिरूपस्तस्मिन्सति चित्तं नास्त्येवेति प्रति-
 ज्ञातार्थोऽर्थसिद्ध एव । अत एव न पुनरान्ध्याद्विज्ञेयप्रसक्तिर-
 ज्ञानस्यैव सर्वान्धप्रयोजकस्यापगमात् । स्वप्रकाशपूर्णानन्दपरि-
 शेषेण निरतिशयपुरुषार्थसिद्धेः । न च चित्ताधीना चेतनता कि-
 त्त्वभिव्यक्तचिदधीना । सा च जीवन्मुक्तेषु चित्तनाशेऽप्यस्त्येवेति
 नाचेतनत्वप्रसङ्गः । न च चित्तनाशे तत्कृता चिदभिव्यक्तिरपैति ।
 अनभिव्यक्तरज्ञानावरणकृतत्वेन तदपगमे चित्तोऽभिव्यक्तेः स्वा-
 भाविकत्वेनानपायात् । न हि वायुना घनापसारणेन कृता सूर्या-
 भिव्यक्तिः शरदि वायुपरमे अपैतीति सर्वदोषपरिहार इति
 ॥ ३ ॥ प्रथमप्रतिज्ञां समर्पितां निगमय्य द्वितीयानुपादत्ते—

महाप्रलयसर्गादावेवेदं नोदितं जगत् ।
 निर्देशस्त्विदमित्यत्र त्वद्बोधाय मया कृतः ॥ ५ ॥
 उपादानात्मकादीनां कारणानामभावतः ।
 अकारणं च भावानामशेषाणां त्वसंभवात् ॥ ६ ॥
 एवमज्ञानबुद्ध्यात्म जगत्सत्त्वाच्च विद्यते ।
 तस्माद्यद्विदमाभाति भासनं ब्रह्म नेतरत् ॥ ७ ॥
 अनाख्येऽनाकृतौ देवे करोतीदमिति त्वसत् ।
 भाषितं नोपपत्त्यात्म न सत्यं नानुभूयते ॥ ८ ॥
 अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः ।
 स करोति जगदिति हासायैव वचोऽघियाम् ॥ ९ ॥
 अनेनैव प्रयोगेण राजंश्चित्तं न विद्यते ।
 जगदेव न सत्साधो कुतश्चित्तादि तद्गतम् ॥ १० ॥
 चेतो हि वासनामात्रं वास्ये तु सति वासना ।
 वास्यं जगत्सदेवासद्वत्तश्चित्तास्तिता कुतः ॥ ११ ॥
 यदिदं कचति ब्रह्म स्वयमात्मात्मनात्मनि ।
 कृतं तस्यैव तेनैव चित्तमित्यादिनामकम् ॥ १२ ॥
 जगद्दृश्यमिदं वास्यं तदेवोत्पन्नमेव नो ।
 कारणभावतः पूर्वमेवातश्चित्तता कुतः ॥ १३ ॥
 अस्तश्चित्तोममात्रात्म परमाकाशानामकम् ।
 स्फारं वेदनमेवेदं कचत्यस्ति कुतो जगत् ॥ १४ ॥

वास्त्येवेति । तत्समर्थनाय 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति श्रुतिं प्रमाणयति—केनेति ॥ ४ ॥ 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः' इति श्रुतिरपि तत्र मानमित्याशयेनाह—महाप्रलयेति । महाप्रलयः प्राकृतस्वदुत्तरे पुराणादिप्रसिद्धे सर्गादौ यदि नोदितमेव तर्हि चित्तं नास्त्येवेति प्रतिज्ञावाक्ये त्वया कथं यच्चेदं चित्तबद्धासीति निर्देशः कृतस्तत्राह—निर्देशस्त्विति ॥ ५ ॥ पूर्वोक्तयुक्तिरप्येतत्साधनसमर्थत्वाशयेनाह—उपादानेति ॥ ६ ॥ द्वितीयप्रतिज्ञां नियमयति—तस्मादिति ॥ ७ ॥ ननु यदि सर्गादि नास्त्येव तर्हि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' 'कर्ता भोक्ता महेश्वरः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवादानां का गतिरिति चेत् 'नेह जाने'तिश्रुत्यपेक्षितनिषेध्यसमर्थेणोद्गतव्युत्पादनार्थवादत्वेव गतिर्न तस्कार्यतेत्याशयेनाह—अनाख्ये इति । अनाख्ये नामरहिते अनाकृतौ रूपरहिते युक्तिज्ञान्यत्वाच्चोपपत्त्यात्म निष्कलं निष्क्रियमित्यादितास्त्विकश्रुतिविद्वदनुभवबाधितत्वाच्च सत्यं लौकिकैरपि नानुभूयते ॥ ८ ॥ शीतवातादिप्रतिघातवारणाय पृहादिनिर्माणं प्रसिद्धम् । ईश्वरस्त्वप्रतिघः करोतीति अधियां तात्पर्यज्ञानानामर्थवादानां सर्वज्ञस्य वृथा चेष्टोक्तिर्हासायैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं जगत्सर्गादिद्वौ प्रतिज्ञातार्थसिद्धिरित्याह—अनेनैवेति । यदा जगदेव न सत्सदा तदन्तर्गतं चित्तादि कुतः सत्त्वित्यर्थः ॥ १० ॥ जगद्सर्वदे विषनासत्त्वमपि चित्ताद्यसत्त्वित्तिरित्याह—चेतो हीति ।

यत्किञ्चित्परमाकाश ईषत्कचकचायते ।
 चिदादर्शो न जातत्वाच्च चित्तं नो जगत्क्रिया ॥ १५ ॥
 अहं त्वं जगदित्येषा प्रतिपत्तिर्न वास्तवी ।
 मिथ्या स्वप्न इवाभाति नूनं मेऽशेषकारिणी ॥ १६ ॥
 वास्यस्य जगतोऽभावाद्यतो नास्त्येष वासना ।
 अतस्तदात्मकं चित्तं कीदृशं क कुतः कथम् ॥ १७ ॥
 अप्रबुद्धैरवगतं चित्तं दृश्यमिदं जगत् ।
 अस्तश्चित्तं निराकारं पूर्वमुत्पन्नमेव नो ॥ १८ ॥
 नोत्पन्नं कारणाभावात्सर्गादावेव सर्वदा ।
 लोकशास्त्रानुभवतो न च दृश्यस्य वस्तुनः ॥ १९ ॥
 अनादित्वमजस्रं वा स्वैर्यं वाप्युपपद्यते ।
 साकारस्यास्य जगतः स्थूलस्य प्रतिघाकृतेः ॥ २० ॥
 समस्तकारणाभावाल्लोकशास्त्रानुभूतिभिः ।
 युज्यन्ते च निराकर्तुं न महाप्रलयाद्यः ॥ २१ ॥
 शास्त्रानुभववेदार्थसिद्धान्तैस्ते त्रयोऽपि वा ।
 प्रलयाच्च न सन्तीति वक्तव्युन्मत्तक एव च ॥ २२ ॥
 लोकः शास्त्राणि वेदाच्च प्रमाणं यस्य नो मतेः ।
 असङ्गो ह्यतिमूढः स सज्जनस्तं न संशयेत् ॥ २३ ॥
 न च सप्रतिघस्यास्य दृश्यस्याप्रतिघं कश्चित् ।
 कारणं भवितुं शक्तं साकारस्य निराकृति ॥ २४ ॥

वास्ये वासनाकर्मणि विषये ॥ ११ ॥ तर्हि चित्तादिव्यवहारस्य को विषय इति चेन्मायोपहितं ब्रह्मैवेत्याह—यद्विदमिति । नाम्नां संघो नामकम् ॥ १२ ॥ 'चेतो हि वासनामात्रम्' इति श्लोकं व्याचष्टे—जगदिति । दृश्यं वास्यमिति दर्शनानुसारिणी वासनेति द्योतनार्थम् । कारणाभावत इति विषयबाधे निर्विषयवासनास्थित्ययोगादिति भावः ॥ १३ ॥ 'यदिदं कचती'ति श्लोकमपि परमार्थदृशा तत्फलवर्णनपरतया व्याचष्टे—अत इति ॥ १४ ॥ मायातत्त्वदृशापीति व्याचष्टे—यत्किञ्चिदिति । परमाकाशरूपे चिदादर्शो यत्किञ्चिदनिर्वचनीयमायारूपम् । ईषदत्यल्पम् ॥ १५ ॥ अशेषानर्थकारिणी अहं जगदित्येषा प्रतिपत्तिर्मे तत्साक्षिणो मम स्वप्नबन्धयैवाभाति । नूनं निश्चयेनेत्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ यदि नोत्पन्नं तर्हि जगदनादिनित्यमेव किं न स्वात्तत्राह—लोकेति । दृश्यस्य वस्तुनः अनादित्वं जन्मादिसिक्कियारहितत्वं वा कौटस्थ्यं वा लोकतो वा शास्त्रतो वा स्त्रानुभवतोऽपि वा नोपपद्यत इति परेणान्वयः ॥ १९ ॥ साकारस्य स्थूलस्य प्रतिघातयोग्याकृतेश्चास्य जगतो लोकशास्त्रानुभूतिभिः सिद्धा महाप्रलयाद्यो व्युत्क्रमेणाप्रलयान्ता विकारा न निराकर्तुं युज्यन्ते निराकरणोपपादकसमस्तकारणाभावादिस्त्वन्वयः ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ लोकवेदमर्यादोलङ्घने शिष्टैर्बहिष्कार्यतेषु स्यादित्याह—लोक इति । असत्यः केवललोकमात्राभवेभ्यस्त्वाकार्थकेभ्योऽप्यतिमूढः ॥ २३ ॥ तर्हि श्रुत्युत्पन्नज्ञानरूपतापक्षे प्रमाभ्युपगम्यतां तत्राह—

इत्थमालक्ष्यमाणं तत्तदेवं सततं मुने ।
न च नार्थक्रियाकारि भवेत्तथमिदं जगत् ॥ २५
तस्मादिदं निरंशस्य चिद्बोद्धोऽप्रतिघाकृतेः ।
निराकृतेरनन्तस्य पूर्वात्पूर्वनिरंशतः ॥ २६
ब्रह्मणः सर्वरूपस्य शान्तस्यात्तस्य यत्समम् ।
स्वत एवात्मकचनं सर्गप्रलयरूपधृक् ॥ २७
स्वकं वपुश्च तेनैव ज्ञातं जगदिव क्षणात् ।

क्षणान्तरानुबुद्धं सद्ब्रह्मैवास्ते निरात्मनि ॥ २८
ब्रह्मैवेदमतः सर्वं क्वचित् जगदादिधीः ।
क्वचित्तादि क्वचित्तादि क्व द्वैतैक्यादिकल्पना ॥ २९
सर्वं निरालम्बमजं प्रशान्त-
मनादिरित्यात्म यथास्थितं सत् ।
इदं तु नानेव न चाप्यनाना
यथास्थितं तिष्ठ सुकाष्ठमौनम् ॥ ३०

इत्यापि श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिक्षिष्वजावबोधनं नामाष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

एकोनशततमः सर्गः ९९

शिक्षिष्वज उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्महामुने ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहो विभ्रान्तमतिरात्मवान् ॥ १
ज्ञातश्चेयो महामौनी तीर्णमायामहार्णवः ।
शान्तोऽहमनहंरूपो हः स्थितोऽस्मि निरामयः ॥ २
अहो नु सुचिरं कालं प्रभ्रान्तोऽहं भवाम्बुधौ ।
स्थानमक्षयमक्षुब्धमधुना प्राप्तवानहम् ॥ ३
एवं स्थिते मुने नास्ति साहंतादिजगन्नयम् ।
मूर्खबुद्धमिदं भाति यत्तद्भ्रमेति वेद्यहम् ॥ ४
कुम्भ उवाच ।
जगदेव न यत्रास्ते तत्राहंत्वंविभासनम् ।

न चेति ॥ २४ ॥ निराकारब्रह्मकारणत्ववादिन्यास्तु श्रुतेः
'तदनम्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादिबादरायणन्यायेन ज-
गतो ब्रह्मात्स्विकस्वभावतायामेव तात्पर्यमिति प्रागुक्तमेव ।
इत्थं ब्रह्ममात्रतया आलक्ष्यमाणं जगद्यवहारे मूर्तत्वानपगमा-
दर्थक्रियासमर्थं भवत्येवेति न लोकविरोधः । परमार्थतो ब्रह्मी-
भूतमेवेति न मूर्खदृष्टिप्रसिद्धरूपमतो न वेदविरोधोऽपीत्याशये-
नाह—इत्थमिति । इत्थमप्रसिद्धरूपम् ॥ २५ ॥ इदानीं सर्व-
सर्गश्रुतीनां नेतिनेतीत्यादित्तिरारणश्रुतीनां च तात्पर्यं पि-
ण्डीकृत्योपसंहरति—तस्मादित्यादित्रिभिः । पूर्वात्पूर्वं च तन्नि-
रंशं च तस्येति पूर्वात्पूर्वनिरंशतः । षष्ठ्यन्तात्सार्वभिक्रि-
स्तसिः ॥ २६ ॥ सर्वरूपस्य पूर्णस्वभावस्य ब्रह्मणः स्वतो वि-
नैव शास्त्रं यदात्मकचनं तत्स्वकं वपुः स्वरूपमेव सर्गप्रलयरूप-
धृक् जगदिव क्षणं यावदज्ञानकालं ज्ञातमिति सर्वसृष्टिश्रुतीना-
मर्थः । तदेव स्वरूपं क्षणान्तरे तत्त्वमस्यादिशास्त्रमनुसृत्य बुद्धं
सद्ब्रह्मैव निर्गतद्वैतात्मनि स्वभावे आस्ते इति नेतिनेतीत्यादिद्वै-
तनिषेधश्रुतेस्तात्पर्यार्थं इति योज्यम् ॥ २७ ॥ २८ ॥ अतः
शास्त्रीयबोधात् ॥ २९ ॥ एवं ज्ञातं सर्वं जगत्प्रशान्तं सञ्चि-
रालम्बं निराधारमजं यथास्थितं सद्ब्रह्मैव । इदमज्ञदृष्टरूपं तु अ-
त्यन्तासत्त्वाज्ञाना अनानापि च न । अतो यथास्थितं व्यवहरं-

इत्थमम्बरसंसारः क्व कुतः कीदृशः कथम् ॥ ५
यथास्थितव्यवहृतिर्मौनी शान्तमना मुनिः ।
सौम्यार्णवोदरावर्तपरिस्पन्दवदास्व भो ॥ ६
ब्रह्मरूपमिदं शान्तमित्थमस्ति यथास्थितम् ।
अहं जगदिदं चेति शब्दार्थात्म नभोमयम् ॥ ७
इदमाद्यन्तरहितं सर्वं संसारनामकम् ।
चिच्चमत्कृतिनामात्म नभः कचकचायते ॥ ८
संनिवेशदृशः शान्तौ तदस्ति कनकं यथा ।
जगदाद्यर्थसंशान्तौ ब्रह्मेदं विद्यते तथा ॥ ९
यथा स्वयंभूः संकल्पः स्वयं नाम तथैव हि ।
एतौ स्ववेदनायसौ बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ॥ १०

स्तत्त्वतः सुकाष्ठमौनो वागादिव्यापारशून्यस्तिष्ठेत्यर्थः ॥ ३० ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
शिक्षिष्वजावबोधनं नामाष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

प्रबुद्धोऽपि नरेन्द्रोऽत्र भूयः कुम्भेन बोध्यते ।

स्थूणानिखननम्यायाद्बोधोऽस्य सुदृढोऽस्त्विति ॥ १ ॥

एवं बोधितो राजा उपदेशजन्यज्ञानेन सर्वसंदेहादिबीजं
स्वाज्ञानं नष्टमित्यभिलष्य दर्शयति—नष्ट इत्यादिना । विस्मृता-
त्मनः साक्षात्कार एव स्मृतिरित्युच्यते ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥
मूर्खबुद्धमिदं साहंतादिजगन्नयं नास्ति ॥ ४ ॥ कुम्भस्तदुक्तमे-
वानुमोदमान उवाच—जगदेवेत्यादि । अम्बरसंसारो गन्धर्वन-
गरव्यवहारः । किंवृत्तान्यधिकरणनिमित्तदृष्टान्तप्रकारप्रतिक्षेपा-
र्थानि ॥ ५ ॥ सौम्यार्णवोदरे प्रशान्तो य आवर्तपरिस्पन्दस्तद्ब्र-
दास्व तिष्ठ ॥ ६ ॥ शब्दार्थात्म शब्दार्थस्वरूपं तु नभोमयं शू-
न्यमेव ॥ ७ ॥ चिच्चमत्कृतिनामकं यदात्मरूपं नभस्तदेव कच-
कचायते स्वचाकचकचयेन बोध्यते ॥ ८ ॥ यथा नभसि अवाह-
मुखीकृतेन्द्रनीलकटाहाकारसंनिवेशदृष्टेर्विकेकदशा शान्तौ तथा-
सौरीलोककचनमस्त्येव तथैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥ यथा समष्ट्यहं-
कारात्मा स्वयंभूः संकल्पमात्रं तथा स्वयं व्यष्ट्यहंकारोऽपि ।
एतौ समष्टिव्यष्टिबन्धस्तन्मोक्षश्चेत्येतौ तदभिमानतत्परित्याग-

अहमित्येव संकल्पो बन्धायातिविनाशिने ।
 नाहमित्येव संकल्पो मोक्षाय विमलात्मने ॥ ११
 यद्बन्धमोक्षसंकल्पशब्दार्थानां सदा सताम् ।
 स्वरूपवेदनं तत्सत्केवलत्वं च कथ्यते ॥ १२
 अनहंवेदनं सिद्धिरहंवेदनमापदः ।
 सोऽहमेवानहमिति शुद्धबोधो भवात्मवान् ॥ १३
 असंकल्पनमात्रेण सम्यग्ज्ञानोदयात्मना ।
 संकल्पः क्षीयते सिद्धौ स्वयमेवासदात्मकः ॥ १४
 अप्रतर्क्ये स्वरूपे हि नास्ति कारणता शिवे ।
 कारणाभावतः कार्यपदार्थोऽपि न विद्यते ॥ १५
 पदार्थाभावसंसिद्धौ वेदनं नोपपद्यते ।
 कारणाभावतो नित्यमहंभावस्य नोदयः ॥ १६
 अहंभाषानुदयतः संसारः कस्य कीदृशः ।
 संसाराभावतः सर्वे परमेवावशिष्यते ॥ १७
 यदिदं भासते तत्सत्परमेवात्मनि स्थितम् ।
 परं परे परापूर्णं सममेव विजृम्भते ॥ १८
 तेन निस्तिमितं सर्वं शिलाकीर्णमिषाचलम् ।
 विद्धि रश्मिमयाकारमिव ब्रह्म जगत्स्थितम् ॥ १९
 पुरः संकल्पके नष्टे संकल्पनगरस्य यत् ।

वेदनायतौ ॥१०॥ तदेव स्पष्टमाह—अहमित्येवेति ॥ ११ ॥
 कोऽतौ मोक्षस्तमाह—यदिति । सदा पर्यायेण सतां बन्धमो-
 क्षसंकल्पानां साक्षिभूतं स्वरूपवेदनं तदेव सद्ब्रह्म केवलत्वं के-
 वल्यं च कथ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥ सिद्धिर्मोक्षः । आपदो बन्धः ।
 स त्वमहमेवानहमिति शुद्धकेवलत्वात्मबोधवान्भव ॥ १३ ॥ शुद्ध-
 बोधश्च संकल्पक्षयात्सिध्यतीत्याह—असंकल्पनेति ॥ १४ ॥
 शुद्धस्य कारणत्वासंभवाद्दृश्यपदार्थाभावस्तदभावनिश्चयात्संकल्प-
 क्षयः संकल्पनाद्यादहंभावक्षयस्तत्क्षयाज्जीवभावादिसंसारक्षय-
 स्ततश्च ब्रह्ममात्रावशेष इति क्रममाह—अप्रतर्क्य इति त्रिभिः
 ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ प्रागपि यदिदं जगदाकारेण भासते
 तत्परमार्थतो ब्रह्मैव तथा स्थितं तत्त्वबोधेन च नापूर्वं किंतु परे
 स्वभावे स्थितं परमेव परेणापूर्वं तस्य स्वरूपमेव विजृम्भते
 प्रकटीभवति ॥ १८ ॥ तेन सदैकरूपत्वेन हेतुना । वज्रशिलया
 कीर्णं निबिडितं वज्रशिलोदरमिषाचलं दृढम् । तत्र च यज्जग-
 त्स्थितं तद्ब्रह्मणिरश्मिमयप्रतिबिम्बाकारसहस्रमिव ॥ १९ ॥
 मुक्तौ तर्हि कथं स्थितं तदाह—पुर इति । सदेव सददर्शना-
 दसन्मयम् ॥ २० ॥ कथं तर्ह्यचले जगत्स्पन्दप्रत्ययस्तत्राह—
 छायेति । यथा वज्रशिलोदरे प्रतिबिम्बपुरुषोऽस्पन्दमान एव
 स्पन्दते तद्वत्स्पन्दि ॥ २१ ॥ सम्यग्ज्ञानप्रबोधस्योदये बाह्या
 रूपालोका आन्तरा मनस्काराश्च नीरसा निःसारा इत्यागमप्र-
 माणया स्थिरभावना भवति तामेव निर्वाणहेतुत्वाभिर्वाणं विदुः

रूपं तद्विद्धि जगतः आदच्छं सदसन्मयम् ॥ २०
 छायापुरुषवत्स्पन्दि शान्तं निर्मननं जगत् ।
 जगच्छब्दार्थरहितं यः पश्यति स पश्यति ॥ २१
 रूपालोकमनस्कारा नीरसागमभावना ।
 सम्यग्ज्ञानावबोधस्य निर्वाणं वै विदुर्बुधाः ॥ २२
 यथास्ति वातो निःस्पन्दो यथास्ति खगतोपि वा ।
 यथा हेमासंनिवेशमस्ति ब्रह्म जगत्तथा ॥ २३
 नीरसा असदाभासा जगत्प्रत्ययकारिणः ।
 रूपालोकमनस्काराः सन्तीमे ब्रह्मरूपिणः ॥ २४
 ऊर्मिशब्दार्थरहितं यादृग्मम्बु बहुन्यपि ।
 सर्गशब्दार्थरहितं तादृग्ब्रह्म निसर्गवत् ॥ २५
 सर्ग एव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गदृक् ।
 सर्गशब्दार्थरहितो वाक्यार्थस्त्वेष शाश्वतः ॥ २६
 ब्रह्मशब्दार्थसंपत्तौ सर्गशब्दार्थधीः कृता ।
 सर्गशब्दार्थसंसिद्धौ ब्रह्मशब्दार्थधीः कृता ॥ २७
 समस्तशब्दशब्दार्थभाषनाभावनोदयम् ।
 शुद्धं तिष्ठति सिद्धोम ब्रह्मशब्देन कथ्यते ॥ २८
 सम्यग्दर्शनसंसिद्धाभुभयोरप्यवेदने ।
 यच्छिष्टमजरं शान्तं ततो वाग्बिनिवर्तते ॥ २९

॥ २२ ॥ 'जगच्छब्दार्थरहितं यः पश्यति स पश्यति'ति यदुक्तं
 तदृष्टान्तैर्विवृणोति—यथेति । खगतः प्रकाशो यथा क्षीपाद्या-
 कारसंनिवेशं विनास्ति यथा वा कटकादिसंनिवेशनिर्मुक्तं हे-
 मास्ति तथा जगदप्यसंनिवेशं ब्रह्मास्तीति संभावनीयमित्यर्थः
 ॥ २३ ॥ 'रूपालोकमनस्कारा' इत्येतदपि विवृणोति—नीरसा
 इति । ब्रह्मरूपिणो बोधाद्ब्रह्मभूतस्य जगतो जगत्प्रत्ययकारिणो
 रूपालोकमनस्कारा नीरसाः । कोऽर्थः । असदाभासा भवन्तीत्यर्थः
 ॥ २४ ॥ यथा बहुन्यपि तरङ्गादीनि समुद्रे ऊर्मिशब्दार्थरहित-
 मम्बुमात्रं भवन्ति तथा बहुन्यपि वस्तूनि ज्ञानोदये निसर्गव-
 द्ब्रह्मैकमेव भवन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ सर्गशब्दार्थभेदबाधे सर्ग-
 परब्रह्मणोरेक्यमेवेति व्यतिहारेण दृढयति—सर्ग एवेति । हि
 यस्मात् एष एव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रौतवाक्यार्थ-
 ॥ २६ ॥ बृंहणाद्ब्रह्मेति ब्रह्मशब्दस्यार्थसंपत्तावेव सर्गशब्दार्थ-
 धील्लेके कृता । एवं सर्गो नामरूपयोर्विसर्गस्याग इति सर्ग-
 शब्दार्थसंपत्तौ त्रिविधपरिच्छेदनिवृत्तेर्बृहधात्वर्थानुसारिब्रह्मश-
 ब्दार्थता कृतैस्त्रयनयोरेकार्थतैवेत्यर्थः ॥ २७ ॥ ब्रह्मशब्दस्य
 तर्ह्यशब्दे वस्तुनि कथं प्रवृत्तिस्तत्राह—समस्तेति । अल्पस्यापि
 परिच्छेदस्याभ्युपगमे बृहधात्वर्थसंकोचापत्तेरशब्दशब्देनेव ता-
 दृशमेव ब्रह्मशब्देन कथ्यत इत्यर्थः ॥ २८ ॥ अथवा जगच्छ-
 ब्दस्येव ब्रह्मशब्दस्यापि वाक्यार्थवेदनोत्तरं लक्षणया अखण्डार्थ-
 सम्यग्दर्शनसंसिद्धौ यच्छिष्टं वस्तु ततो ब्रह्मशब्दादिवागपि

संशान्तसर्वात्मकवेदनौघ-

मस्तीदमेकात्मकस्वरूपम् ।

यथास्थितं सर्वजगत्स्वरूपं

पाषाणरूपं च परं ह्यरूपम् ॥

३०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजावबोधनं नामैकोनशततमः सर्गः ॥९९॥

शततमः सर्गः १००

शिखिध्वज उवाच ।

एवं चेत्तन्महाबुद्धे यादृशं कारणं परम् ।

कार्यं तादृशमेवेदं जगदित्येव वेदयद्दम् ॥

१

कुम्भ उवाच ।

यत्र कारणता तस्य कार्यं तदुपपद्यते ।

यत्र कारणमेवादौ तस्मात्कार्यं कुतो भवेत् ॥

२

नेहास्ति कारणं किञ्चिन्न च कार्यं कदाचन ।

विद्यमानमिदं सर्वं सर्वं शान्तमजं जगत् ॥

३

जायते कारणात्कार्यं यत्तत्कारणवद्भवेत् ।

यत्र जायत एवेह तस्मिन्सदृशता कुतः ॥

४

बीजमेव न यस्यास्ति तत्कथं बद् जायते ।

अप्रतर्क्यमनात्म्यं च यत्तस्य केव बीजता ॥

५

देशकालवशात्सर्वे हेतुमन्तः प्रमाणगाः ।

अकर्तृब्रह्मविषयः प्रमा कारणयोः कथम् ॥

६

अकर्तृकर्मकरणे नास्ति कारणता शिवे ।

तस्मात्तत्कारणं नास्ति जगच्छब्दार्थवेदनम् ॥

७

ब्रह्मैव त्वं स्वरूपं सद्यत्स्थितं धारयस्व तत् ।

असम्यग्दर्शिविषयं तदेव जगदाचितम् ॥

८

चिन्मात्रमजरं शान्तं यदेकं तत्प्रमीयते ।

तेनैवायं जगद्ब्रह्म सच्छान्तं बुद्ध्यते वपुः ॥

९

अन्यथैव च यो भावधेतसः पृथिवीपते ।

स एव नाशः कथितः खानुभूतश्च पण्डितैः ॥

१०

चित्तं नाशस्वभावं तद्विद्धि नाशात्मकं नृप ।

क्षणनाशो यतः कल्पचित्तशब्देन कथ्यते ॥

११

असंकल्पनमात्रेण सम्यग्ज्ञानोद्यात्मना ।

संकल्पः क्षीयते सिद्धये स्वयमेवासदात्मकः ॥

१२

नास्त्रैवाङ्गीकृताभावं यदि विश्वं हि कथ्यते ।

विद्यमानं कथं तत्स्यान्ननु तामरसेक्षण ॥

१३

निवर्तत इत्यर्थः ॥ २९ ॥ हे राजन्, इदं सर्वं जगत्स्वरूपं यथास्थितं यदस्ति तदप्यतिदृढत्वाद्ब्रह्मपाषाणरूपं परं ब्रह्मस्वरूपमस्त्येव । यदापीदं जगदज्ञानेन संशान्तसर्वात्मकवेदनौघं संपन्नं तद्यपि एकात्मकस्वरूपं सदस्त्येवेति ब्रह्मजगतोरेकैव सत्तेति न कस्याप्यसत्त्वमित्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शिखिध्वजावबोधनं नामैकोनशततमः सर्गः ॥ ९९ ॥

वार्यते ब्रह्मवत्स्वत्वं जगतो ब्रह्मसत्तया ।

जन्मादिविक्रियाऽऽस्पृष्टं ब्रह्मैव सदितिर्वर्ते ॥ १ ॥

यदि ब्रह्मजगतोरेकैव सत्ता तर्हि तथा सत्तया ब्रह्मैव जगदपि परमार्थसत्यं किं न स्यात् । मिथ्यावस्तुनो हि कारणं दुर्निरूपम् । सत्यस्य तु सत्यं ब्रह्मैव कारणं संभवति तुल्यत्वादिति राजा शङ्कते—एवं चेदिति ॥ १ ॥ सत्यं मायाशबलं शुद्धस्य सत्तयेव जगत्समसत्ताकं जगतः कारणं भवेत् । यत्तु निर्गुणं परसत्तानुपजीवि अद्वयत्वात्पूर्वकालाभावेन पूर्ववृत्तिवशन्त्यं निर्विकारं च तस्मात् कार्यं कुतो भवेद्येन तत्समसत्ताकं स्यादित्यर्थः ॥ २ ॥ अस्तु तर्हि तत्र स्थितं मायाशबलमेव जगतः कारणमिति चेत्तत्राप्याह—नेहेति । इह निर्विशेषे मायाशबलं कारणं तत्कार्यं जगत् नास्ति । मायादृष्ट्यैव माया-तच्छबलतत्कार्याणां सद्भाक्पोषणात् । परमार्थदृष्ट्या तु सर्वमिदं जगच्छान्तमजमेवेत्यर्थः । तथा चोक्तं वार्तिके 'अविद्या-क्रीडविद्यानामेवासित्वा प्रकल्प्यते । प्रकल्प्या त्वविषयं न कथं-

चन युज्यते' इति ॥३॥ अजातेन च सादृश्यप्रसक्तिरित्याह—जायत इति ॥ ४ ॥ कुतो न जायते तत्राह—बीजमेवेति । तत्र बीजाभावेऽपि तदेव बीजं किं न स्यात्तत्राह—अप्रतर्क्यमिति ॥ ५ ॥ कुतस्तत्र बीजादिहेत्वभाव इति चेत्प्रमाणसिद्ध-तदुचितदेशकालाभावादित्याह—देशेति । तर्हि ब्रह्मगोचरप्रमेव तत्र हेतुपादानकारणगोचरास्तु न विरोधादित्याह—अकर्त्रिति । यस्य प्रमाणस्याकर्तृ कर्त्रादिकारकमात्रविरोधि ब्रह्म विषयस्तेन हेतुपादानकारणयोः प्रमा जायत इति कथं वक्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥ अत एव स्वरूपं शुद्धाकाशकल्पं यन्निर्विशेषं वस्तु तदेवाहमिति तत्त्वदशा हृदि धारयस्व नान्यादृशम् । अज्ञदृशा च तदेव जगद्रूपेणाचितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ चिन्मात्रप्र-मयैव जगद्ब्रह्मभावेन संपद्यते । अतस्त्वाकारमनोभ्रान्त्या च ब्रह्म जगदाकारेणेत्याह—चिन्मात्रमिति द्वाभ्याम् ॥ ९ ॥ नाशो ब्रह्मस्वरूपहानिः ॥ १० ॥ तदेव स्फुटमाह—चित्त-मिति । सः क्षणमात्रमपि स्वरूपविस्मरणरूपो नाशः कल्पकाल-विस्मृतचित्तशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥ तच्च चित्तमसंक-ल्पनेपर्यवसिततत्त्वज्ञानेन नश्यतीत्याह—असंकल्पनेति ॥१२॥ अस्तु संकल्पनाशस्तथापि विश्वं कथं निवर्तत इति चेन्मिथ्या-त्वादेवेति विशति परमात्मन्येकीभवति न वस्त्वन्तरतयावति-ष्ठत इति विश्वमिति तत्रामनिर्वचनमभिप्रेत्याह—नास्त्रैवेति । यः स्वाधिष्ठाने बाधे न विशति तद्विद्यमानं कथं स्यादित्यर्थः

१ पर्यवसिततत्त्वज्ञानेन इति पाठः.

हस्तावृत्तिष्य यो ब्रूते शूद्रोऽस्मीति वृशं गिरा ।
 कथं स विप्रो भवति विप्रत्वं त्वस्य कीदृशम् ॥ १४
 विवृत्तघातुरत्युच्चैर्मृतोऽस्मीति विरौति यः ।
 मृत्तिमेवागतं विद्धि जीवनं तस्य संभ्रमः ॥ १५
 भ्रमाकृति यदस्तीह दृश्यतेऽलातचक्रवत् ।
 मृगतृष्णाद्विचन्द्रादिबालवेतालकादिवत् ॥ १६
 तत्कथं किल नाम स्यात्सत्यं भ्रमभरात्मकम् ।
 अज्ञानभ्रान्तिरेवान्तश्चित्तमित्येव कथ्यते ॥ १७
 अज्ञानमुच्यते चित्तमसत्सदिव संस्थितम् ।
 असंवेदनमज्ञानं ज्ञानं संवेदनं भवेत् ॥ १८
 अज्ञानसर्वसंविच्छेदज्ञानात्संवेदनाक्षयः ।
 जलज्ञानं मुधा भ्रान्तिः साधो मरुमरीचिषु ॥ १९
 नैतज्जलमिति ज्ञानात्संविच्छेदः प्रविलीयते ।
 इदं चित्तमिति प्रौढं यदज्ञानमलं हृदि ॥ २०
 नास्ति चित्तमिति ज्ञानात्तत्समूलं विनश्यति ।
 यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वमज्ञानभ्रमसंभवम् ॥ २१
 न सर्पोऽयमिति ज्ञानाद्भृदि रुढात्प्रणश्यति ।
 तथात्मनि मनोभूतमज्ञानभ्रमसंभवम् ॥ २२
 चित्तं नास्तीति विज्ञानाद्भृदि रुढाद्विनश्यति ।
 चित्तं मनोऽहमित्यन्तर्यावदज्ञानसंभवम् ॥ २३
 न चित्तमस्ति नो चैवमहंकारादिसंयुतम् ।
 किञ्चिद्देव जगत्यस्मिन्संविदेकान्तनिर्मला ॥ २४
 तथा संकल्पचित्तादि कृतमासीद्विमूढया ।

अद्यासंकल्पतः सर्वं परित्यक्तं प्रबुद्धया ॥ २५
 संकल्पेन यदा याति त्वसंकल्पेन गच्छति ।
 पवनेन महाबाहो ज्वालाजालमिवानले ॥ २६
 आत्मतत्त्वैकधनया ततया ब्रह्मसत्तया ।
 जगत्सर्वमिति व्याप्तं समुद्र इव धारिणा ॥ २७
 नाहमस्मि न चान्योस्ति न त्वं नैते न चित्तकम् ।
 नेन्द्रियाणि न चाकाशमात्मा त्वेकोऽस्ति निर्मलः ॥ २८
 घटाद्याकाररूपेण स एवायं विलोक्यते ।
 इदं चित्तमयं चाहमिति कैव कुकल्पना ॥ २९
 न जायते न म्रियते किञ्चिदस्मिजगद्भये ।
 केवलोऽयं चिदुल्लासः सदसद्भावनात्मना ॥ ३०
 सर्वमात्मा परंब्रह्म सकृत्प्रकटमाततम् ।
 द्वित्वैकत्वे न विद्येते न भ्रान्तिर्न च संभ्रमः ॥ ३१
 सर्वेन्द्रियगणाकारे सन्नेवासि सखे ततः ।
 न दह्यसे महाबुद्धे न च कचन लिप्यसे ॥ ३२
 न ते विनश्यति सखे न च किञ्चिद्विबर्धते ।
 निर्मलाकाशरूपस्य कैवल्यानन्तरूपिणः ॥ ३३
 इच्छानिच्छात्मिके शक्ती येतरापि त्वमेव च ।
 न ह्यंशुव्यतिरेकेण शशाङ्क उपलभ्यते ॥ ३४
 अजमजरमनाद्यजस्वभावं
 सकृदमलं बिलसत्सदैकरूपम् ।
 विगलितकलनं कलाख्यलीलं
 सदुदितमाद्यमजं तदात्मतत्त्वम् ॥ ३५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजपरमावबोधनं नाम शततमः सर्गः ॥१००॥

एकाधिकशततमः सर्गः १०१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति कुम्भवचो राजा भावयंस्तद्वृत्तिमम् ।

॥ १३ ॥ तत्र लोकशृत्तं प्रमाणयति—हस्ताविति द्वाभ्याम्
 ॥ १४ ॥ संनिपातेन विवृत्ताः कुपिता धातवो यस्य तथाविधः
 सन् संनिहितमृत्युरिति यावत् ॥ १५ ॥ चित्ताद्यस्तीत्यनुभवस्य
 तर्हि का गतिरिति च भ्रान्तिरत्वमेवंतं दृष्टान्तेराह—भ्रमाकृतीति
 ॥ १६ ॥ भ्रान्तिपुञ्जरूपमेव तर्हि तत्सदस्तु नेत्याह—तदिति ।
 तस्याज्ञानव्यतिरिक्तस्वरूपाभावादित्यर्थः ॥ १७ ॥ १८ ॥
 अज्ञानात्मनैव तर्हि चित्तादि सत्यमस्तु तत्राह—अज्ञानेति ।
 ज्ञानबाध्यत्वान्नाज्ञानात्मनापि सत्यता सिद्ध्यतीत्यर्थः । उक्तं
 दृष्टान्ताभ्यामुपपादयति—जलज्ञानमित्यादिना ॥ १९ ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ २२ ॥ यावत् सकलम् ॥ २३ ॥ अहंकारादिसंयुतं
 किञ्चिद्देहादि । अप्यर्थे एवकारः । तर्हि किमस्ति तदाह—
 सविदिति ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ व्याप्तं प्रस्तम् ॥ २७ ॥
 कथं प्रस्तं तदाह—नाहमिति ॥ २८ ॥ तर्हि जीवन्मुक्तैर्घटा-

खयमात्मपदे तस्मिन्क्षणं परिणतोऽभवत् ॥ १

बभूवामीलितमनोलोचनः शान्तवाङ्मनिः ।

याकारेण किमवलोक्यते तत्राह—घटादीति ॥ २९ ॥ ३० ॥
 संभ्रमो मरणादिभयम् ॥ ३१ ॥ सर्वस्मिन्निन्द्रियगणे तद्वाह्यव-
 हयाद्याकारे च सन्नेव सन्मात्रस्वरूपस्त्वमस्ति । अतो दाहहेतु-
 भिराध्यात्मिकादिभावेन दह्यसे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ इतरा क्रिया-
 शक्तिरपि त्वमेव । अतस्तवेष्टमनिष्टं कर्तव्यं च नास्तीत्यर्थयोत-
 नाय चकारः । अंशवः कलास्तव्यतिरेकेण ॥ ३४ ॥ त्रिभिरजपदै-
 र्जन्मवृद्धिभिपरिणामा निरस्यन्ते । सदैकरूपमित्यनेनान्ये वि-
 कारः । सकृद्विलसत्सकृत्प्रभातम् । कलाप्रमाणेन स्वस्वरूपपरि-
 चयस्तदाख्या लीला यस्य तथाविधं सत् सन्मात्रतया उदितम् ।
 आद्यं सर्वव्यवहारेभ्यः प्राक्सिद्धं यद्वस्तु तदेवात्मतत्त्वमित्यर्थः
 ॥ ३५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे पूर्वार्धे शिखिध्वजपरमावबोधनं नाम शततमः सर्गः ॥१००॥

ज्ञानदाख्येन राज्ञोऽत्र वर्णयते कृतकृत्यता ।

जीवन्मुक्तावचित्तत्वं स्थितिस्तत्त्वस्य चेष्यते ॥ १ ॥

परिणतः पूर्वभावं विहाय तद्भावं प्राप्तः ॥ १ ॥ शिख-

शिलातलादिघोस्कीर्णो निस्पन्दावयवाकृतिः ॥ २
 ततो मुहूर्तमात्रेण प्रबुद्धं स्फुरितेक्षणम् ।
 तमुवाच महाबाहो ब्रूडाला कुम्भरूपिणी ॥ ३
 कुम्भ उवाच ।
 कश्चिदस्मिन्पदे स्फारे शुद्धे विततनिर्मले ।
 सुतल्पे निर्विकल्पानां सुखं विश्रान्तवानसि ॥ ४
 कश्चिदन्तः प्रबुद्धोसि कश्चिद्भ्रान्तिस्त्वयोऽजिज्ञता ।
 कश्चिज्ज्ञेयं परिज्ञातं दृष्टं द्रष्टव्यमेव वा ॥ ५
 शिखिध्वज उवाच ।
 भगवंस्त्वत्प्रसादेन महाविभवभूमिका ।
 महती पदवी दृष्टा सर्वस्योर्ध्वं स्थिता मया ॥ ६
 सतां विदितवेद्यानामहो बत महात्मनाम् ।
 अपूर्वैकामृतमयः सङ्गः सारफलप्रदः ॥ ७
 जन्मनापि मया लब्धं यन्नाम न महामृतम् ।
 तदद्य त्वत्समासङ्गात्सेनैवासादितं स्वयम् ॥ ८
 अनन्तमाद्यममृतं चैतत्कमललोचन ।
 कथं नासादितमभूत्पूर्वमात्मपदं मया ॥ ९
 कुम्भ उवाच ।
 मनस्युपशमं याते त्यक्तभोगैषणे स्थिते ।
 कषायपाके निर्वृत्ते सर्वेन्द्रियगणस्य च ॥ १०
 यान्ति चेतसि विश्रान्ति विमला देशिकोक्तयः ।
 यथा सितांशुके शुद्धे बिन्दवः कुङ्कुमाम्भसः ॥ ११
 कषायाणामनन्तानां संभृतानां शरीरकैः ।
 स्ववासनास्वरूपाणामद्य पाकस्तवोदितः ॥ १२
 देहान्मलानि सर्वाणि कालेन कमलेक्षण ।
 साधो ब्रूक्षात्फलानीव पाकेन विगलन्त्यधः ॥ १३
 वासनात्मसु यातेषु मलेषु विमलं सखे ।
 यद्वक्ति गुरुरन्तस्तद्विशतीपुर्यथा विस्रे ॥ १४

तलादुत्कीर्णः प्रतिमादिविव ॥ २ ॥ ३ ॥ निर्विकल्पानां योगिनां
 शोभनतल्पभूते निरतिशयानन्दपदे ॥ ४ ॥ ५ ॥ महाविभवो
 निरतिशयानन्दस्तल्लक्षणा भूमिका । सर्वस्य हैरण्यगर्भानन्दा-
 न्तस्य विषयानन्दजातस्योर्ध्वमुत्कर्षकाष्ठयां स्थिता ॥ ६ ॥
 बतेति हर्षे । अपूर्वमनादौ संसारे कदाप्यननुभूतं यदेकामृतं
 निरतिशयानन्दस्तत्प्रचुरः अन एव सारफलप्रदः ॥ ७ ॥ सामा-
 न्योक्तं विशिष्य विवृणोति—जन्मनेति । तेन महामृतस्वरूप-
 भूतंनैव मया अनाद्यज्ञानाच्च लब्धं तदद्य त्वत्समासङ्गात्स्वयमेवा-
 नायासेनासादितम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ पूर्वं चित्तकषायपाकाभावाच्चा-
 सादितमिदानीं तु तपसा तत्परिपाकादासादितमित्याशयेन
 कुम्भ उत्तरमाह—मनसीत्यादिना । सर्वेन्द्रियगणस्य चाम्मन-
 सस्य भोगलक्षणकषायाणां पाके निर्वृत्ते सति तथा च स्मृतिः
 'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः । कषाये कर्मेभिः
 पाके ततो ज्ञानं प्रजायते' इति ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ देहा-
 ङ्गिदेहाद् । मलानि रागादिकषायाः पापानि च ॥ १३ ॥

कषायपाके संपन्ने त्वं मयाच विबोधितः ।
 तेनाद्यैव तवाज्ञानक्षयो जातो महामते ॥ १५
 अद्य पक्कषायस्त्वमद्यैव ज्ञानसंकथाम् ।
 अद्यैव सोपदेशस्त्वमद्यैवासि प्रबुद्धवान् ॥ १६
 शुभाशुभानां सर्वेषां कर्मणामद्य संक्षयः ।
 सत्सङ्गव्यपदेशेन तव निष्पत्तिमागतः ॥ १७
 यावदस्य दिनस्यैव पूर्वभागो महीपते ।
 तावच्छेतोहंममेति तवाज्ञानं बभूव ह ॥ १८
 इदानीं मद्बचोबोधाच्चेतसि क्षयमागते ।
 हृदयात्संपरित्यक्ते संप्रबुद्धोऽसि भूपते ॥ १९
 हृदि यावन्मनःसत्ता तावदज्ञानसंस्थितिः ।
 चित्ते चित्ततया त्यक्ते ज्ञानस्याभ्युदयो भवेत् ॥ २०
 द्वित्वैकत्वदृशौ चित्तं तदेवाज्ञानमुच्यते ।
 एतयोर्यो लयो दृष्टेस्तज्ज्ञानं सा परा गतिः ॥ २१
 प्रबुद्धोऽसि विमुक्तोऽसि त्यक्तं चित्तं त्वया नृप ।
 सदसत्तामयत्वं हि त्यया त्यक्तमसत्पदम् ॥ २२
 धीतशोको निरायासो निःसङ्गोऽनन्य आत्मवान् ।
 महोदयो मुनिर्मौनी स्वरूपे तिष्ठ निर्मले ॥ २३
 शिखिध्वज उवाच ।
 एवं हि भगवन् जन्तोर्मूर्खस्यैवास्ति चित्तभूः ।
 प्रबुद्धस्य न तज्ज्ञस्य चित्तं नाम किल प्रभो ॥ २४
 जीवन्मुक्तास्तदेते हि विहरन्ति कथं वद ।
 अविद्यमानमनसो युष्मदाद्यास्तथा नराः ॥ २५
 इति मे कथयाशेषमन्यैः स्ववचनांशुभिः ।
 हार्दं तमो मे निपुणमेवंप्रायैः प्रमार्जय ॥ २६
 कुम्भ उवाच ।
 यथा वदसि तत्त्वज्ञ तस्यैव हि नान्यथा ।
 चित्तं हि जीवन्मुक्तानां नास्त्यङ्कुर इवाश्मनाम् ॥ २७

विस्रे मृणालरूपे धानुष्कपरिकल्पिते लक्ष्ये ॥ १४ ॥ १५ ॥
 ज्ञानार्था संकथामुपदेशं तात्पर्येणावधारितवानसीति शेषः ।
 उपदिष्टार्थानां हृदि धारणात्सोपदेशः । प्रबुद्धवास्तात्फलसाक्षा-
 त्कारज्ञानवान् जातोऽसीत्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ तवाज्ञानमद्य
 मध्याह्नकाले क्षीणमिति मया ज्ञातमित्याह—यावदिति ॥ १८ ॥
 इदानीमद्यतनदिनस्योत्तरभागे हृदयात्संपरित्यक्ते चेतसि क्षय-
 मागते सति ॥ १९ ॥ अचित्ततया निःस्वरूपताशुद्ध्या ॥ २० ॥
 दृष्टेः परमात्माभिव्यक्तेः ॥ २१ ॥ आत्मन्यन्योन्याध्यासात्स-
 दसत्तामयत्वमेव हि चित्तं नाम तदेव असतो जगतः पदं
 कल्पनास्थानम् ॥ २२ ॥ २३ ॥ चित्ते त्यक्ते जीवन्मुक्तानां
 केनान्तःकरणेन व्यवहारसिद्धिरिति प्रष्टुं राजा पीठिकां रच-
 यति—एवं हीति । यदीत्यर्थे किलशब्दः ॥ २४ ॥ प्रष्टव्यांशं दर्श-
 यति—जीवन्मुक्ता इति । तत् तर्हि ॥ २५ ॥ अन्यैर्दुर्वचमिति
 शेषः । अन्यैः प्रसिद्धसूर्याद्यंशुविलक्षणैः स्ववचनांशुभिः प्रसिद्ध-
 तमोविलक्षणं हार्दं तमः प्रमार्जयेति वा ॥ २६ ॥ २७ ॥

पुनर्जननयोग्या या वासना घनवासना ।
 सा प्रोक्ता चित्तशब्देन न सा तज्ज्ञस्य विद्यते ॥ २८
 यया वासनया तज्ज्ञा विहरन्तीह कर्मसु ।
 तां त्वं सत्त्वामिधां विद्धि पुनर्जननवर्जिताम् ॥ २९
 जीवन्मुक्ता महात्मानः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
 विहरन्ति गतासङ्गं न चित्तस्थाः कदाचन ॥ ३०
 मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते ।
 अप्रबुद्धा हि चित्तस्थाः सत्त्वस्थास्तु महाधियः ॥ ३१
 भूयः प्रजायते चित्तं सत्त्वं भूयो न जायते ।
 अप्रबुद्धस्य बन्धोस्ति न प्रबुद्धस्य भूपते ॥ ३२
 सत्त्ववानसि संजातो महात्यागी स्थितो भवान् ।
 अशेषेण त्वया चित्तं त्यक्तमद्येति वेद्यहम् ॥ ३३
 समस्तवासनोन्मुक्तो राजन्नद्येष राजसे ।
 आकाशसाम्यमायातं मन्ये तव मुने मनः ॥ ३४
 शर्मं प्राप्तोऽसि परमं सिद्धः समसमस्थितिः ।
 अयं हि स महात्यागः सर्वं यत्तत्समुज्जितम् ॥ ३५
 स्वर्गापवर्गवित्तादि तपोदानफलाद्यपि ।
 प्रबुद्धमेधया साधो धिया परमबोधया ॥ ३६

॥२८॥ यथा भर्जिता वितुभाश्च लाजा न म्रीह्यादिशब्दवाच्या नाप्य-
 कुरादिजननक्षमास्तद्भवज्ञानभर्जितं निरावरणं सत्त्वं न मनः-
 शब्दवाच्यं नापि पुनर्जन्मसमर्थमित्यर्थः ॥२९॥ जीवन्मुक्तव्यव-
 हाराभासे तदेव कारणाभास इत्याह—जीवन्मुक्ता इति ॥३०॥
 ॥३१॥ ॥३२॥ तवापि सत्त्वबलदेव यावज्जीवं व्यवहारः सेत्स्यती-
 त्याशयेनाह—सत्त्ववानसीति ॥ ३३ ॥३४॥ त्वया प्राक्चि-
 कीर्षितो यो महात्यागः स सर्वरूपं चित्तं यत्समुज्जितमयमेवे-
 त्यर्थः ॥ ३५ ॥ चित्तत्यागे तपोदानादिसर्वकर्माण्यन्तर्भूतानि
 तत्फले च वित्तस्वर्गापवर्गादितरफलान्यन्तर्भूतानीत्याशयेनाह—
 स्वर्गेति । प्रबुद्धा मेधा उपदिष्टार्थधारणा यस्यास्तथावि-
 धया अत एव परमबोधवत्या धिया कृतचित्तत्याग एव स्वर्गा-
 पवर्गवित्तादिरित्यर्थः ॥ ३६ ॥ तपआदिफले तु न ज्ञानफलम-
 न्तर्भवतीत्याशयेनाह—तपो नामेति । यद्यतो मनस्सागरूप-
 समतायाः सकाशादागतं यत् ज्ञानफलं मोक्षसुखं क्षयातिशयनि-
 र्मुक्तमित्यर्थः । 'तत आगतः' इत्यर्थे 'मयद् च' इति मयद् ॥३७॥
 मं ह्यसत्ये अनित्ये च सत्यस्य शाश्वतस्य चान्तर्भावसंभावनापी-
 त्याशयेनाह—तदिति । तत् ज्ञानफलं सत् सत्यम् । वसतीति
 बहु शाश्वतं च । तत्स्वर्गादि किञ्चित्तु न तु सत्यं भङ्गुरं च ।
 भावाभावैराविर्भावतिरोभावैरुपाकृतमाक्रान्तं पूर्वोत्तरकालयोर-
 दृष्टं स्थितं वर्तमानमेवाधिगतवेदनं प्राप्तदर्शनं स्वप्रवदित्यर्थः
 ॥ ३८ ॥ तुच्छं बह्वायासलभ्यं च स्वर्गादितुच्छसुखमज्ञानमेव
 बहुमतं न तत्त्वविदामित्याशयेनाह—स्वर्ग इति । स्वर्गो नामेति
 किमानन्दस्तुच्छसुखम् । 'किं ज्ञेये' इति समासः । अवर्जनीय-
 धर्मकीर्तनाद्युपापराधसहस्रनाशयत्वात्संदेहसंस्थितः ॥ ३९ ॥

१ विभुषा इति पाठः.

तपो नाम कियन्मात्रदुःखक्षयकरं भवेत् ।
 क्षयातिशयनिर्मुक्तं यत्सुखं समतामयम् ॥ ३७
 तत्सत्तद्भस्तु तत्किञ्चित्तु तु स्वर्गादि भङ्गुरम् ।
 भावाभावैरुपाकृतं स्थिताधिगतवेदनम् ॥ ३८
 स्वर्गो नाम किमानन्दः सोऽपि संदेहसंस्थितः ।
 अप्राप्तस्वात्मसंसिद्धेः क्रियाकाण्डः शुभो भवेत् ॥ ३९
 येन नासादितं हेम रीतिं किं स परित्यजेत् ।
 चूडालादिसमासङ्गाद्भवेज्जत्वं सुखेन ते ॥ ४०
 तत्किमर्थमनर्थंऽस्मिन्निमग्नस्त्वं तपोमये ।
 आश्रमादिविकल्पांशसाध्यस्याद्य कुकर्मणः ॥ ४१
 आद्यन्तावस्य सुमते मध्य एव सुखं स भो ।
 यतस्ते समयो जातो यस्मिन्परिणमन्ति च ॥ ४२
 तपोरूपा विकल्पांशास्तत्र बद्धपदो भव ।
 चिद्योज्ञो नभसोत्यच्छात्सर्वे भावाः समुत्थिताः ॥४३
 तथैव परिहृयन्ते तत्रैव विलयं गताः ।
 इदं कार्यमिदं नेति संकल्पा ब्रह्मबिन्दवः ॥ ४४
 वन्ध्यं शिखिध्वज त्यक्त्वा पूर्णमेव समाश्रय ।
 इष्टं मे प्रार्थयस्वेति यथैव प्रार्थयते सखे ॥ ४५

ज्ञानदीर्घभ्यादज्ञानां युक्त एव तुच्छस्वर्गादिपरिमह इत्याशये-
 नाह—येनेति । रीतिं पित्तलम् । तव तु ज्ञानं प्राङ् दुर्लभ-
 मभूत्तथापि त्वं वृथैव तपःकेशे निमग्न इत्याह—चूडालेति
 ॥ ४० ॥ आश्रमो वानप्रस्थाश्रमः । आदिपदात्तयोर्यं वयस्त-
 दुचित्तकर्माधिकारनिर्वाहकविशेषणान्तराणि च । तदभिमान-
 तत्साधनचिन्तादिविकल्पविक्षेपांशसहस्राध्यस्य बन्धकत्वात्फ-
 लतोऽपि कुत्सितस्य कर्मणः संबन्धिनि कृच्छ्रवान्द्रायणाधि-
 तपःकेशप्रचुरे अनर्थे त्वमद्यपर्यन्तं किमर्थं निमग्नः ॥ ४१ ॥
 स्वर्गादिमहासुखहेतोस्तपसः कथमनर्थत्वं तत्राह—आद्यन्ता-
 विति । भो सुमते, यतोऽस्य तपस आदिभाग आचरणावस्था
 अन्तभागः फलक्षयावस्था च दुःखरूपावेव । मध्ये स्वर्गादि-
 भोगावस्थायामेव सुखं स किल । तर्हि किं मया कृतं तपो
 व्यर्थमेव नेत्याह—यत् इति । यतस्त रसेव ते चित्तकषायपा-
 कात्सांप्रतं तत्त्वबोधसमयो जातः । अतो हेतोः सर्वे तपोरूपा
 विकल्पांशा यस्मिन्नविकल्पे तत्त्वज्ञाने परिणमन्ति तत्फलेनैव
 फलवन्तोऽपि च भवन्ति ॥ ४२ ॥ तत्र ज्ञाने बद्धपदः स्थिरो
 भव । 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादिश्रुतेस्तत्फलेनैव
 ते तपसः साफल्यमिति भावः । ज्ञानफलचिद्योमलाभेन सर्वमेव
 लब्धम् । सर्वस्य जगतस्तत् एतद्भवस्थितिलयश्रुतेरित्याशये-
 नाह—चिद्योज्ञ इति ॥ ४३ ॥ यद्यपि कार्यमिष्टमकार्यमनिष्टं
 च सर्वमपि ब्रह्मसमुद्रबिन्दव एव तथापि तुच्छत्वात्सर्व-
 वन्ध्यं निष्फलमेवातस्त्वरयक्त्वा पूर्णं समुद्रस्थानीयं निर्विशेषमेव
 समाश्रयेत्याह—इदमिति ॥ ४४ ॥ परमभ्रेमास्पदत्वात्परितिश-
 यानन्दरूपस्य स्वस्य इद्यन्तरप्रार्थनापेक्षया तादृशस्वल्पमप्रार्थ-
 नमेव वरमित्याशयेनाह—इष्टमिति । यथाऽकृन्वद्भित्तया

स्त्रिया तथैव स कथं दयितः प्रार्थ्यते स्वयम् ।
 संकल्परचितानैतान्भाषानापतभासुरान् ॥ ४६
 गृह्णन्ति न महात्मानः प्राज्ञा जलरवीनिव ।
 स्वर्गमोक्षादिफलदं यत्किञ्चित्सर्वमेव तत् ॥ ४७
 त्वक्त्वा समसमाभासो योऽस्यसावेष वै भव ।
 सत्त्वं सत्त्वेन नाशेन नाशयं हि विगतस्पृहः ॥ ४८
 पदार्थौघमिमं गृह्णन्तिष्ठास्पन्दितचित्तभूः ।
 अपरिस्पन्दचित्तस्य संसृतिर्नैह धावति ॥ ४९
 पौरुषप्रभवा साधो विपत्तिर्हि मतौ यथा ।
 यानि यानीह दुःखानि प्रस्फुरन्ति जगन्नये ॥ ५०
 चेतश्चापलजान्येव तानि तानि महीपते ।
 स्थिरं शान्तं गतस्पन्दं यस्य चित्तमचापलम् ।
 सदैव स महानन्दी साम्राज्यस्य स भाजनम् ॥ ५१
 अथ चेतसि तत्त्वज्ञ स्पन्दास्पन्दौ त्वमेकताम् ।
 नीत्वा तिष्ठ यथाकाममैक्यमागत्य शाश्वतम् ॥ ५२
 शिखिध्वज उवाच ।
 कथमैक्यं विभो यातः स्पन्दास्पन्दाविभावुभौ ।
 सर्वसंशयविच्छेदकारिभेतद्वदाशु मे ॥ ५३
 कुम्भ उवाच ।
 एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारिवाम्बुधि ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजबोधनं नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

तदेव स्पन्दते धीभिः शुद्धवारिव वीचिभिः ॥ ५४
 ब्रह्म चिन्मात्रममलं सत्त्वमित्यादिनामकम् ।
 यद्रीतं तदिदं मूढाः पश्यन्त्यङ्ग जगत्तया ॥ ५५
 चित्स्पन्द एव सर्वस्वं सर्गे तस्माच्चि संसृतिः ।
 परिस्पन्दो हि विन्ध्यादिशब्दस्पन्दसमं परम् ॥ ५६
 चितः स एव चेतस्पन्दस्तथाऽस्पन्दश्च भावितः ।
 एकरूपतया नाम तत्रेदममलं शिवम् ॥ ५७
 सर्गश्चित्स्पन्दमात्रात्मा सम्यग्दृष्टौ विलीयते ।
 उदेत्यसम्यग्दृष्टीनां रज्ज्वां सर्पध्रमो यथा ॥ ५८
 सस्पन्दा चित्तदभिधा निःस्पन्दा त्वियमातता ।
 तुर्यातीतपदारूढा वाचा वक्तुं न पार्यते ॥ ५९
 शास्त्रसज्जनसंपर्कसंतताभ्यासयोगतः ।
 कालेनामलतां याते चेतसीन्दाविबोदिता ॥ ६०
 एतत्केवलमाभातं स्वानुभूतिभिराततम् ।
 कथ्यते स्वानुभूतेषु स्वयं स्वं रूपमात्मना ॥ ६१
 प्राप्तोऽसि सारं स्वमनादिमध्य-
 मत्रैव तिष्ठ स्वपदे निविष्टः ।
 नो रूपनिर्भेदमहाचिदात्मा
 जातोऽसि साधो खलु वीतशोकः ॥ ६२

स्त्रिया लब्धव्यदयितं प्रति मे इष्टं प्रार्थयस्वेत्यन्यत्रप्रार्थ्यते तथैव
 स्वयं दयित एव कथं न प्रार्थ्यते । तस्मिन्स्वाधीनतया लब्धे
 तदधीनलब्धव्यन्तराणां स्वत एव लाभादिति भावः ॥ ४५ ॥
 अङ्गीकृत्यात्मारिकेष्टानां पुरुषार्थत्वं लब्धत्वादेवाप्रार्थनीय-
 त्वमुक्तम् । वस्तुतस्तु तेषां तत्त्वज्ञदृशा तुच्छत्वाद्प्राज्ञात्वमेव-
 त्याह—संकल्पेति । आपद इव अभासुरानरमणीयान् ॥ ४६ ॥
 जलरवीन् रविप्रतिबिम्बानिव । ज्ञानलाभानन्तरं स्वर्गादिसाधना-
 नीषापवर्गसाधनान्यपि हेयान्येवेत्याद्येनाह—स्वर्गेति ॥ ४७ ॥
 सर्वपदार्थेषु सदंशः सत्त्वेनैव प्राज्ञः, असदंशस्तु नित्यनष्टत्वेनैव
 प्राज्ञचित्तचाञ्चल्यं विनेत्याह—सत्त्वमिति ॥ ४८ ॥ अस्पन्दि-
 तचित्तभूरित्युक्तेः प्रयोजनमाह—अपरिस्पन्देति । न धावति
 न प्राप्नोति । यथा स्वाभाविकप्रवृत्तिलक्षणपुरुषापराधप्रभवा
 विपत्तिर्मतौ विवेकज्ञानोदये सति न प्राप्नोति तद्वदित्यर्थः ॥ ४९ ॥
 ॥ ५० ॥ सम्यग्मप्रावरणतया राजत इति सम्राट् साक्षात्कृत
 आत्मा तद्ग्राहस्य भाजनमित्यर्थः ॥ ५१ ॥ स्पन्दास्पन्दौ
 तत्साक्षिमात्रादर्शनेनैकतां नीत्वा साक्षिणमपि ब्रह्मात्मैक्यमा-
 गत्य प्राप्य भूमानन्दभावेन यथाकामं पूर्णकामतया तिष्ठेत्यर्थः
 ॥ ५२ ॥ विरुद्धयोः स्पन्दास्पन्दयोरैकतानयनं कथमिति राजा
 पृच्छति—कथमिति ॥ ५३ ॥ तयोः स्वरूपेणैक्यविरोधेऽप्य-
 धिष्ठानसाक्षिचिन्मात्ररूपेण न तद्विरोध इति स्वाद्यप्रकटनेन
 कुम्भ उत्तरमाह—एकमिति । वाः इव स्पन्दते स्पन्दात्मना

विवर्तते ॥ ५४ ॥ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभिर्य-
 द्रीतम् । अत्रेत्यामन्त्रेण ॥ ५५ ॥ स्पन्दास्पन्दयोरैक्यमुपपाद-
 यति—चित्स्पन्द इति । सर्गे यत्सर्वस्वं तच्चित्स्पन्द एव । तत्र
 विन्ध्यादिरूपपरिस्पन्दः परं द्वितीयं शब्दस्पन्दसमम् । इवार्थे
 समशब्दो मिथ्यात्वद्योतनार्थः । नामपरिस्पन्द इत्यर्थः ॥ ५६ ॥
 अस्त्वेवं तथापि कथं स्पन्दास्पन्दैक्यं तत्राह—चित्त इति । स
 तत्साक्षात्त्वमेव चितः स्पन्दोऽस्पन्दश्चैकरूपतया भावितश्चेत्तत्र
 इदमात्मरूपमेव चित्तं परिशिष्यत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ सर्गस्तदा
 क्व गच्छति तत्राह—सर्गे इति । यतः सः असम्यग्दृष्टीनां
 भ्रान्त्या उदेति ॥ ५८ ॥ तदभिधा सर्गाभिधा । निस्पन्दा तु
 तुर्यातीतपदारूढा ॥ ५९ ॥ कदा तथोदिता भवति तदाह—
 शास्त्रेति । यथा चक्षुषि तिमिरदोषक्षयेणामलतां याते नित्य-
 सिद्धैव चन्द्रैकता उदिता तद्वत् ॥ ६० ॥ यदि वाचा वक्तुं न
 पार्यते तर्हि कथं त्वया मादृशेषु कथ्यते तत्राह—एतदिति ।
 स्वमनुभूतं यैस्तथाविधेषु स्वानुभूतिभिरेव स्वयं कथ्यते लोकदृष्टे-
 त्यर्थः ॥ ६१ ॥ त्वमपि स्वानुभूतिं प्राप्तोऽस्येव तत्र मद्रचक्षा स्वैर्यमात्रं
 कुर्वित्याह—प्राप्तोऽसीति । भेदकदेहादिरूपाणामभावादेव सर्वदे-
 हेषु निर्भेदः । अत एव महाचिदात्मा जातस्त्वत्त्वोधात्प्रादुर्भूतोऽस्ति
 तत एव वीतशोकः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपद्भवतः'
 इति श्रुतेरिति भावः ॥ ६२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्र-
 काशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शिखिध्वजबोधनं नामैकाधिकशततमः
 सर्गः ॥ १०१ ॥

अधिकशततमः सर्गः १०२

कुम्भ उवाच ।

इति ते कथितं सर्वं शिखिध्वज महीपते ।
यथेदमुत्थितं सर्वं यथा च प्रविलीयते ॥ १
एतच्छ्रुत्वा च बुद्धा च मत्वा च मुनिनायक ।
यथेच्छसि तथा तिष्ठ दृष्टे स्पष्टे परे पदे ॥ २
स्वर्गं गच्छाम्यहं पर्वकालेऽस्मिन्नारदो मुनिः ।
ब्रह्मलोकात्समायातो भवत्यमरसंसदि ॥ ३
न मां पश्यति चेत्तत्र तत्कोपमुपगच्छति ।
नोद्वेजनीया भव्येन गुरवो हि कदाचन ॥ ४
त्यक्तसंकल्पलेखेन न किञ्चिदभिधाञ्छता ।
त्वया सदैव वस्तव्यं दृष्टिरेषैव पावनी ॥ ५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति यावत्प्रतिवचः पुष्पहस्तः शिखिध्वजः ।
प्रणामाय कदात्येष तावदन्तर्धिमाययौ ॥ ६
प्रतिभानगतं वस्तु यथैवान्ते न दृश्यते ।
न दृष्ट्वांस्तथा कुम्भमग्रे राजा शिखिध्वजः ॥ ७
गते कुम्भे महीपालः परं विस्मयमाययौ ।
तमेव चिन्तयन्धिन्नं चित्रार्पित इवाभवत् ॥ ८
इदं संचिन्तयामास चित्रं विलसितं विधेः ।

यत्कुम्भव्यपदेशेन बोधितोऽस्मि चिरोदयम् ॥ ९
क नारदसुतः कुम्भः काहं नाम शिखिध्वजः ।
केवलं कालयुतयैव सोऽहं संपरिबोधितः ॥ १०
अहो नु सम्यक्कथितं देवपुत्रेण युक्तिमत् ।
अहो नु संप्रबुद्धोऽस्मि मोहनिद्राकुलधिरात् ॥ ११
काहमासं विनिर्मग्नः क्रियाजालकुकर्वमे ।
इदं कार्यमिदं नेति मिथ्या विभ्रमचक्रके ॥ १२
अहो नु शीतला शुद्धा शान्तेयं पदवी निजा ।
रसायनोद्भवाकारा सत्त्वं शीतयतीह मे ॥ १३
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
तृणाग्रमपि नेच्छामि संस्थितोऽस्मि यथास्थितम् १४
एवं संचिन्तयन्राजा नूनं निर्वासनाशयः ।
शैलादिव समुत्कीर्णो मौनमेवावतस्थिवान् ॥ १५
तस्मिन्नेव ततो मौने निःसंकल्पे निराश्रये ।
प्रतिष्ठां निश्चलां प्राप्य स तस्थौ गिरिशृङ्गवत् ॥ १६
स तत्र संशान्तभयोऽचिरेण
चिरेण विश्रान्तमतिः समात्मा ।
चिरेण संप्राप्तनिजामलात्मा
योगेन सुष्वाप ततोऽदितात्मा ॥ १७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजसमाधानं नाम अधिकशततमः सर्गः ॥१०२॥

अधिकशततमः सर्गः १०३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

निर्विकल्पसमाधानात्काष्ठकुञ्जोपमस्थितिः ।
एवं शिखिध्वजो राजा चूडालामधुना शृणु ॥ १

आमङ्ग्यान्तर्हिते कुम्भे विस्मितस्य महीपतेः ।

चिरं विमृश्य विश्रान्तः समाधाविह वर्ण्यते ॥ १ ॥

यथेदं सर्वमुत्थितमित्यध्यारोपेण यथा च प्रविलीयत इत्यप-
वादेन च सर्वं पूर्णं ब्रह्मतत्त्वं ते मया कथितम् ॥ १ ॥ गुरु-
शास्त्राभ्यां श्रुत्वा स्वीयविचारेण मत्वा च सम्यग् बुद्ध्या साक्षा-
दृष्टे आवरणभङ्गाःस्पष्टे परे पदे कदाचित्समाधिप्राधान्येन
कदाचिद्यवहारेण च यथेच्छसि तथा तिष्ठ ॥ २ ॥ स्वर्गमि-
न्द्रसभाम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ एषा मदुपदिष्टैव ॥ ५ ॥ सप्रणामप्र-
तिवचनात्पूर्वमन्तर्धानम् । साध्वीभिर्भर्तृकृतनमस्कारस्याप्राप्त-
त्वात् ॥ ६ ॥ स्वप्रादिप्रतिभानगतं धनादिवस्तु । अन्ते जागरे
॥ ७ ॥ चित्रमाश्चर्यम् ॥ ८ ॥ चिरोदयं सदाप्रभातं शाश्वता-
भ्युदयं वा ब्रह्म ॥ ९ ॥ कालयुक्त्या भाग्योदयसमययोगेन
॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ इयं साक्षात्कृतात्मरूपा साम्राज्यप-
दवी । सत्त्वं निर्वासनं मनः ॥ १३ ॥ तेनैव स्वस्य पूर्णकामता-

शिखिध्वजं तं भर्तारं कुम्भवेपेण तेन सा ।

प्रबोध्यान्तर्धिमागस्य ततार तरसा नमः ॥ २

देवपुत्राकृतिं व्योम्नि जहौ मायाविनिर्मिताम् ।

माह—शाम्यामीति ॥ १४ ॥ शैलात्समुत्कीर्णः प्रतिमादि-
रिव मौनं वागादिचेष्टारहितं यथा स्यात्तथा समाहितोऽवतस्थि-
वान् । छान्दसत्वाच्छिटः कसुः ॥ १५ ॥ मौने मुनिकर्मणि
समाधौ ॥ १६ ॥ स राजा तत्र समाधां संप्राप्तनिजामलात्म-
सन् समात्मा समरसः सन् चिरेण विश्रान्तमतिर्भूत्वा अचिरेण
सद्य एव संशान्तभयः सन् चिरकालानुवृत्तेन योगेन अदि-
तात्मा अक्षण्डितस्वभावः सुष्वाप । सुषुप्त इव विश्रामेत्यर्थः
॥१७॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
पूर्वार्धे शिखिध्वजसमाधानं नाम अधिकशततमः सर्गः ॥१०२॥

चूडालायाः परं गत्वा ज्यहेण पुनरागमः ।

यत्काह्युत्थापनं राशस्त्रवालापश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

एवमुक्तरीत्या शिखिध्वजो राजा निर्विकल्पसमाधानात्
काष्ठकुञ्जोपमस्थितिरभूदिति शेषः । चूडालां तद्दत्तान्तमिति
यावत् ॥ १ ॥ ततार पुञ्जवे ॥ २ ॥ देवपुत्राकृतिं कुम्भवेपम् ॥

विदग्धमुग्धमाकारं क्लृप्तं जग्राह सुन्दरम् ॥ ३ ॥
 नभसा स्वपुरं प्राप विवेशान्तःपुरं क्षणात् ।
 दृष्ट्या बभूव लोकस्य नृपकर्म चकार च ॥ ४ ॥
 वासरत्रितयेनाथ पुनरम्बरमेत्य सा ।
 बभूव कुम्भो योगेन शिखिध्वजवनं ययौ ॥ ५ ॥
 तथा तत्रैव तं भूपमपश्यद्वनभूमिगा ।
 निर्विकल्पसमाधिस्थं समुत्कीर्णमिव द्रुमम् ॥ ६ ॥
 अहो नु खलु भो दिष्ट्या विभ्रान्तोऽयमिहात्मनि ।
 स्थितः स्वस्थः समः शान्त इत्युवाच पुनःपुनः ॥ ७ ॥
 तदेनं तावदेतस्माद्बोधयामि परात्पदात् ।
 इदानीमेव किं देहत्यागमेव करोति वै ॥ ८ ॥
 किञ्चित्कालं स्फुरत्क्षेप राज्येव विपिनेन वा ।
 सममेव गमिष्यावस्त्वकदेहाविमौ समौ ॥ ९ ॥
 तस्योपदेशो विषमः परिणामं न गच्छति ।
 अनेनाभ्यासयोगेन तावदाबोधयाम्यहम् ॥ १० ॥
 इति संचिन्त्य चूडाला सिंहनादं चकार सा ।
 भूयोभूयः प्रमोरैरे वनेचरमयप्रदम् ॥ ११ ॥
 न च्चाल शिलेवाग्री यदा नादेन तेन सः ।
 भूयोभूयः कृतेनापि तदा सा तं व्यचालयत् ॥ १२ ॥
 क्षालितः पातितोऽप्येष यदा न बुबुधे नृपः ।
 तदा संचिन्तयामास चूडाला कुम्भरूपिणी ॥ १३ ॥
 अहो परिणतः साधुः स्वपदे भगवानयम् ।
 तदेनं हि कथा युक्त्या सांप्रतं बोधयाम्यहम् ॥ १४ ॥
 अथवैनं महात्मानं किमर्थं बोधयाम्यहम् ।
 विदेहं बोधमासाद्य तिष्ठत्वेष यथासुखम् ॥ १५ ॥
 अहमप्यङ्गनादेहमिमं त्यक्त्वा परं पदम् ।

अपुनर्जननायैव गच्छामीह हि किं समम् ॥ १६ ॥
 इति संचिन्त्य देहं स्वं त्यक्तुमभ्युद्यता सती ।
 पुनः संचिन्तयामास चूडाला सा महामतिः ॥ १७ ॥
 आलोकयामि चैतावदेनं देहं महीपतेः ।
 यद्यस्य सत्त्वशेषोऽस्ति बोधबीजं हृदन्तरे ॥ १८ ॥
 तत्कालेनैव भगवान्संप्रबोधमुपैष्यति ।
 मूलकोशरसालीनं पुष्पजालमिव द्रुमे ॥ १९ ॥
 तदेवं विरहक्षीवन्मुक्त एव भवत्यलम् ।
 मुक्तो भवत्यथ यदि मन्ये गच्छामि तत्समम् ॥ २० ॥
 इति संचिन्त्य चूडाला स्पर्शनेन नयेन च ।
 पतिमालोक्य साशङ्कमुवाच वरवर्णिनी ॥ २१ ॥
 अस्येव सत्त्वशेषोऽस्य हृदि संबोधकारणम् ।
 संबोधहेतूदयेन सत्त्वशेषं व्यबुध्यत ॥ २२ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 भृशं संशान्तचित्तस्य काष्ठलोष्टसमस्थितेः ।
 सत्त्वशेषः कथं ब्रह्मन्नायते ध्यानशालिनः ॥ २३ ॥
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 प्रबोधकारणं यस्य दुर्लक्ष्याणुवपुर्हृदि ।
 विद्यते सत्त्वशेषोऽन्तर्बीजे पुष्पफलं यथा ॥ २४ ॥
 चित्तस्पन्दवियुक्तस्य तस्यास्पन्दितसञ्चितः ।
 द्वित्वैकत्वविहीनस्य समस्याचलसंस्थितेः ॥ २५ ॥
 कायः समसमाभोगो न ग्लायति न हृष्यति ।
 नास्तमेति न चोदेति सममेवावतिष्ठते ॥ २६ ॥
 द्वित्वैकत्वादियुक्तस्य यस्य प्रस्पन्दते मनः ।
 तस्य देहोऽप्यतामेति नास्पन्दस्य कदाचन ॥ २७ ॥
 चित्तस्पन्दो हि सर्वेषां कारणं जगतः स्थितेः ।

क्लृप्तं क्लीशरीररूपमाकारं जग्राह ॥ ३ ॥ नृपकर्म राजकार्यं
 प्रजानुरजनमित्यर्थः ॥ ४ ॥ कुम्भो नारदपुत्रः ॥ ५ ॥ समु-
 त्कीर्णं प्रतिमाकारनिर्मितं द्रुमं काष्ठमिव निखलम् ॥ ६ ॥
 अयं राजा ॥ ७ ॥ इदानीं प्रारब्धकर्मशेषकाले देहत्यागं किं
 किमर्थं करोति, न करोत्वित्याशयः ॥ ८ ॥ विपिनभोग्यकर्म-
 क्षयपर्यन्तं विपिनेन वा । समं तुल्यकालमेव समौ तुल्यस्व-
 भावौ गमिष्यावः । कैवल्यमिति शेषः ॥ ९ ॥ उपदेशः प्रा-
 ष्यया कृतः परिणामं सप्तमभूमिकावस्थितिपर्यन्तं परिपाकं न
 गच्छति इदानीमेव देहत्यागे तथा च जीवन्मुक्तिसुखानुभवा-
 र्थमप्ययं प्रबोध्य इति भावः ॥ १० ॥ प्रभोः भर्तुः ॥ ११ ॥
 पाणिसंपेषेणाचालयत् ॥ १२ ॥ १३ ॥ सप्तमभूमिकाप्रवेश-
 पर्यन्तं परिणतः । अहो इत्याश्चर्यं । तथा च तस्योपदेशो विषमः
 परिणामं न गच्छतीति मयीयसंभावना वृथैवेति भावः ॥ १४ ॥
 अत एवाह—अथवेति । विदेहं तिष्ठतु ॥ १५ ॥ समं सहैव
 गच्छामि । इह जीवने किमधिकं सुखमिति शेषः ॥ १६ ॥
 महामतिरित्यनेनावश्यभोक्तव्यं तदीयप्रारब्धकर्मशेषमपि सा
 स्वमत्या दृष्ट्वा पुनः संचिन्तयामासेति सूचनाय ॥ १७ ॥ अस्त्वं
 यो० वा० १२८

निर्वासनं मनस्तस्य संस्कारलेशात्मना शेषो यदि हृदम्बरे
 प्रारब्धावशेषितमायालेशोपहिते हार्दे ब्रह्मण्यस्ति ॥ १८ ॥
 कालेन तदुद्भवसमयेन । यथा वसन्तारम्भे द्रुमे मूलकोशे
 मूलप्रदेशे यो भौमो रसस्तस्मिन्सूक्ष्मभावेनालीनं भाविपुष्पजा-
 लमिव सत्त्वशेषो यद्यस्तीति पूर्वोक्तान्वयः ॥ १९ ॥ तर्हि मत्प्र-
 बोधितोऽयं जीवन्मुक्तः सन् एवमहमिव विहरन् भवत्येव ।
 अथ यदि सत्त्वशेषस्यापि बाधान्मुक्तो भवति तत्सहैवमपि स-
 ममनेन साकमेव मुक्तिं गच्छामि ॥ २० ॥ स्पर्शेन देहोष्म-
 ल्लिजेन बक्ष्यमाणलिङ्गेन पतिं जीवतीति साशङ्कमालोक्य संबो-
 धहेतूदयेन सत्त्वशेषं व्यबुध्यत । अस्य हृदि सत्त्वशेषोऽस्त्येवेत्यु-
 वाच चेति परेण सहान्वयः ॥ २१ ॥ २२ ॥ स्पर्शनेन नयेन
 चेति यदुक्तं तत्र नयशब्दार्थं जिज्ञासु रामः पृच्छति—भृश-
 मिति ॥ २३ ॥ देहे वृद्धिविपरिणामापक्षयादिविकारानुदयः
 सत्त्वशेषे लिङ्गमित्युत्तरं वक्तुं लिङ्गमनुभवति—प्रबोधेति द्वा-
 भ्याम् ॥ २४ ॥ द्वित्वैकत्वविहीनस्य निर्विकल्पस्य ॥ २५ ॥
 ग्लायति ग्लानिं गच्छति ॥ २६ ॥ अन्यस्य तु तद्वपरीत्यमि-
 त्याह—द्वित्वैकत्वादीति ॥ २७ ॥ तत्कुरुत्तत्राह—चित्त-

राम भावविकाराणां कुसुमानां यथा मधुः ॥ २८
 अस्मिन्प्रयास्यतो देहे चेतसो हि मुहुर्मुहुः ।
 हर्षः क्रोधो न संमोहो वशमेति रघूद्वह ॥ २९
 चित्ते प्रशममायाते कायो यः सत्त्ववर्जितः ।
 बाधते नाम्बरस्येव तस्य भावविकारभूः ॥ ३०
 वीच्यादि न यथोदेति समाया जलसंततेः ।
 तथा न दृश्यते दोषः समायाः सत्त्वसंततेः ॥ ३१
 सत्त्वस्यानुपलम्भोऽस्ति न तस्योपशमादते ।
 यावद्भाति समं तत्त्वं कालाच्छाम्यति केवलम् ॥ ३२
 देहे यस्मिंस्तु नो चित्तं नापि सत्त्वं च विद्यते ।
 स तापे हिमवद्राम पञ्चत्वेन विलीयते ॥ ३३
 शिखिध्वजस्य देहोऽसौ निश्चितस्तेजसोर्जितः ।
 सत्त्वांशेन च संयुक्तस्तेन न ग्लानिभाजनम् ॥ ३४
 तं तथाभूतमालोक्य भर्तुर्वेहं वराङ्गना ।
 अनुज्झितवती देहं चिन्तयामास सत्त्वरम् ॥ ३५
 चित्तत्वं सर्वगं शुद्धं प्रविश्याबोधयाम्यहम् ।
 भविष्यद्बोधनं कान्तमथ तत्र हि संस्थिता ॥ ३६
 न बोधयामि यद्येनं चिरात्तद्बुध्यते स्वयम् ।
 किमेकैवावतिष्ठेऽहमित्येवं बोधयाम्यहम् ॥ ३७
 इति संचिन्त्य चूडाला देहं करणपञ्जरम् ।
 संत्यज्य प्राप चित्तत्वे स्थितिमाद्यन्तवर्जिते ॥ ३८

स्पन्द इति । जगतः स्थितेर्व्यवहारस्य हेतुभूतानां सर्वेषां
 भावविकाराणां कारणम् ॥ २८ ॥ अत एव पुनर्जन्मवीजसत्त्वे-
 ऽस्माद्देहाद्देहान्तरं प्रयास्यतचेतसो मुहुर्मुहुर्ब्रजेन निगृह्यमाणोऽपि
 हर्षः क्रोधः संमोहश्च न वशमेति न निग्रहीतुं शक्यते । तदेव
 पुनर्जन्मावश्यंभावे लिङ्गमित्यर्थः ॥ २९ ॥ चित्ते हर्षादिवि-
 कारशान्तां तु कायेऽपि विकारा निवर्तन्त इत्याह—चित्त इति ।
 सत्त्वेन निर्वासनचित्तेन वर्जितः अप्रतिसंधानेन त्यक्तः ।
 तथा च चित्तेनाहंतया परिग्रह एव देहे वृथादिविकारहेतुरिति
 भावः ॥ ३० ॥ देहजरापलितादिदोषो रागादिदोषश्च न दृश्यते
 ॥ ३१ ॥ कियत्कालं जीवन्मुक्तैः सत्त्वमुपलभ्यत इति चेतप्रा-
 रब्धशेषक्षयेण तत्प्रशमपर्यन्तमित्याह—सत्त्वस्येति । समं
 प्रातिभासिकवैषम्येणापि शून्यम् । कालात्प्रारब्धशेषक्षयका-
 लात् ॥ ३२ ॥ सत्त्वस्यापि क्षये तु मृतो देहो विलीयत
 इत्याह—देहे इति । नो चित्तमित्यङ्गमरणाभिप्रायम् । नापि
 सत्त्वमिति ज्ञमरणाभिप्रायम् । पञ्चत्वेन मरणेन ॥ ३३ ॥
 शिखिध्वजदेहे तु जीवनलिङ्गानि तथा दृष्टानीत्याह—शिखि-
 ध्वजस्येति । तेजसा ऊष्णता ॥ ३४ ॥ प्रश्नं समाधाय प्रस्तुत-
 मनुसंधत्ते—तं तथेत्यादिना । स्वदेहमनुज्झितवती सती
 ॥ ३५ ॥ चित्तत्वं प्रायुक्तं तद्दार्ढ्यं ब्रह्म तदीयकायप्रवेशेन
 प्रविश्य तत्र तत्त्वभावे संस्थिता सती चिरकालेन भविष्यद्बो-
 धनं कान्तमधुनैव संबोधयामीति ॥ ३६ ॥ ननु चिरेण च

तत्र सा चेतनास्पन्दं कृत्वा सत्त्ववतः प्रभोः ।
 स्वं विवेश पुनर्देहं स्वं नीडमिव पक्षिणी ॥ ३९
 कुम्भाकृतिरथोत्थाय निविष्टा कुसुमस्थले ।
 साम गातुं प्रवृत्ता सा भ्रमरीवृन्दनिःस्वना ॥ ४०
 तं सामस्वनमाकर्ण्य चित्तसत्त्वगुणशालिनी ।
 बुबुधे भूपतेर्देहे वसन्त इव पक्षिणी ॥ ४१
 दृशं विकासयामास तां तदार्कं इवाङ्गिनीम् ।
 गृहीतसत्त्वसंपत्तिः शिखिध्वजमहीपतिः ॥ ४२
 अपश्यत्कुम्भमग्रस्थं सामगायनतत्त्परम् ।
 परेण वपुषा युक्तं सामवेदमिवापरम् ॥ ४३
 अहो बत वयं धन्याः पुनः प्राप्तो मुनिः स्वतः ।
 इत्येवोदाहरप्राजा कुम्भाय कुसुमं ददौ ॥ ४४
 दिष्टधोदिताः सो भगवंस्तव चेतसि पावने ।
 के नाम वा महासत्त्वाः प्रसादेष्वङ्ग नो स्थिताः ॥ ४५
 अस्तत्पवित्रीकरणमेवागमनकारणम् ।
 न चेत्किं चागमे ब्रूहि द्वितीयं कारणं भवेत् ॥ ४६
 कुम्भ उवाच ।
 यतः प्रभृति यातोऽसि त्वत्सकाशादनिन्दितः ।
 ततः प्रभृति चेतो मे त्वयैवैह समं स्थितम् ॥ ४७
 रम्ये स्वर्गे न तिष्ठामि समीपे तव सांप्रतम् ।
 अभीष्टमुद्यदेवाङ्ग रम्याणां तत्पुरः स्थितम् ॥ ४८

स्वयमेव बुद्धतां किं बोधनत्वरया तत्राह—नेति । राज्यपालने
 नियुक्ताहं न भर्तृव समाधीं स्थातुं शक्ता व्युत्थिता च कथंचि-
 त्तमेकाकिन्यवस्थातुं शक्नोमीति भावः ॥ ३७ ॥ स्वं देहं
 संत्यज्य तदेहं प्रविश्य तदीये हार्दब्रह्मलक्षणे चित्तत्वे स्थितिं
 प्रापेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ तत्र निर्विकल्पसमाधिना क्षीरोदकबदेकर-
 सीभूतायाश्चेतनायास्तदीयचिदाभाससंबलितबुद्धेः पृथग्भवनानु-
 कूलं स्पन्दम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ चित् चिदाभासखचिता राज-
 बुद्धिः शिखिध्वजाहंभावसंस्कारोद्बोधेन आनखाप्रादेहेऽहंभाव-
 व्याप्त्या बुबुधे ॥ ४१ ॥ तां समाधिनिमीलिताम् ॥ ४२ ॥
 गायनमित्यशिल्यात्वाभावश्छान्दसः । परेण दिव्येन वपुषा युक्त-
 मपरं सामवेदमिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४३ ॥ कुसुमं पुष्पाञ्जलिम् ।
 अनेन तपःप्रभावात्प्राक्संचितपुष्पाणामम्लानता गम्यते ॥ ४४ ॥
 दिष्ट्या स्वभाग्योदयेन उदिताः पुनर्दर्शनाभ्युदयफलस्मृतिगो-
 चरतां गताः । अथवा किं मद्भाग्यचिन्तया महान्तः स्वत एव
 परानुग्रहोद्यता इत्याशयेनाह—के नामेति ॥ ४५ ॥ मदुक्तं
 कारणं न चेदिहागमने द्वितीयं किं कारणं भवेत्, संभावितं
 तद्गृहीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ त्वयैव समं साकम् । स्थानं लामेव
 स्वरदिति यावत् ॥ ४७ ॥ अत एव रम्येऽपि स्वर्गे सांप्रतं न
 तिष्ठामि किंतु तव समीपे तिष्ठामि । हे अङ्ग, यतो बहूनामपि
 रम्याणां मध्ये चित्तस्य यदेवाभीष्टं भवति तत् उद्यत् उद्योग-
 प्राप्यमेव सत् पुरः स्थितं भवति नोद्योगं विनेति त्वदर्शनोद्योग-

त्वाद्दशो बन्धुरासञ्च सुहृन्मित्रं तथा सखा ।
विश्वास्यो वापि शिष्यश्च मन्ये जगति नास्ति मे ४९
शिखिध्वज उवाच ।

अहो नु फलितं पुण्यपादपैर्नः कुलाचले ।
यस्माद्भवानसङ्कोऽपि वाञ्छत्यस्मत्समागमम् ॥ ५०
इदं वनमिमे वृक्षा भृत्योऽयमहमादतः ।
रोचते ते न चेत्स्वर्गस्तदिह स्थीयतां प्रभो ॥ ५१
भवद्वितीर्णया योगयुक्त्या विश्रान्तवानहम् ।
यथा साधो तथा मन्ये स्वर्गे विश्रमणं कुतः ॥ ५२
तामेव संस्थितिं स्वच्छामवलम्ब्य प्रकाशिनीम् ।
विहरेह यथाकामं स्वर्गे भूमितले तथा ॥ ५३
कुम्भ उवाच ।

परे पदे महानन्दे कश्चिद्विश्रान्तवानसि ।
इदं मेदमयं दुःखं कश्चित्संत्यक्तवानसि ॥ ५४
कश्चिदापातरम्येभ्यः संकल्पेभ्यो रतिर्भृशम् ।
निर्मूलतां गता राजन्भोगनीरसमेव ते ॥ ५५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० कुम्भपुनरागमनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमः सर्गः १०४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्यध्यात्मविचित्राभिः कथाभिस्तौ परस्परम् ।
आसाते वेद्यबेत्तारौ मुहूर्तत्रितयं वने ॥ १
तत उत्थाय कस्मिंश्चित्सानौ सरससारसे ।
सरोवरे वने चैव विहृतौ नन्दने वने ॥ २
सेनाचारेण ताभिश्च कथाभिस्तौ वने ततः ।
नीतवन्तौ दिनान्यद्यौ तासु काननवीथिषु ॥ ३
अथ कुम्भ उवाचान्यद्वनं यावो गिराविति ।
तदोमिति नृपो मत्वा तावुमौ प्रविचेरतुः ॥ ४

वशादेव ममागमनमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ मयि को वा ते
प्रीतिहेतुरतिशयस्तत्राह—त्वाद्दश इति ॥ ४९ ॥ कुलाचले
अस्मिन्मन्दरे ॥ ५० ॥ मत्प्रीत्या ते स्वर्गे न रोचते चेत्तर्हि
इह मत्संनिधौ ॥ ५१ ॥ ममापि त्वद्वितीर्णसमाधिसुखतृप्तस्य
स्वर्गे वाञ्छा नास्तीत्याह—भवद्वितीर्णयेति । वितीर्णया
दत्तया ॥ ५२ ॥ तां मह्यमुपदिष्टामेव भूमानन्दसंस्थितिमव-
लम्ब्य । प्रकाशिनीं स्वप्रकाशाम् ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥
क्षमेन समस्थिति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ चिराद्बहुकालोत्तरम् ।
अतिचिरेण दिनत्रयपर्यन्तम् ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ अप्राप्तं प्राप्त-
मिति शेषः । तथा मे सत्त्वं निर्वासनं मनस्त्वस्यात्मन एव
परत्वमाश्रितम् ॥ ६० ॥ यदि त्वदन्यत्किञ्चन नैवास्ति तर्हि
त्वं कीदृशोऽवशिष्टस्तत्राह—निःसंसृतिरिति । स्पष्टम् ॥ ६१ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
कुम्भपुनरागमनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

हेयादेयदशातीतं शान्तं शमसमस्थिति ।
यथाप्रातेष्वनुद्वेगं कश्चित्तव मनःस्थितम् ॥ ५६
शिखिध्वज उवाच ।

त्वत्प्रसादेन भगवन्दृष्टा दृश्यातिगा गतिः ।
प्राप्तः संसारसीमान्तो लब्धो लब्धव्यनिश्चयः ॥ ५७
चिरादतिचिरेणैव विश्रान्तोऽस्मि निरामयः ।
लब्धं लब्धव्यमखिलं तप्तः संश्रितसंस्थितः ॥ ५८
नोपदेष्टव्यमस्माकं किञ्चिदप्युपयुज्यते ।
सर्वत्रैवातिरुप्तोऽस्मि संस्थितोऽस्मि गतज्वरः ॥ ५९
ज्ञातमज्ञातमप्राप्तं त्यक्तं त्यक्तव्यमाश्रितम् ।
तत्त्वं परत्वं सत्त्वं मे स्वस्यैवास्ति न किञ्चन ॥ ६०

निःसंसृतिर्विगतमोहभयो विरागो
नित्योदितः समसमाशयसर्वसौम्यः ।
सर्वात्मकः सकलसंकलनाधियुक्त
आकाशकोशविशदः सममास्थितोऽस्मि ॥ ६१

वनान्यनेकरूपाणि जङ्गलानि तटानि च ।
सरांसि गुल्मजालानि शृङ्गाणि गहनानि च ॥ ५
नदीदेशांस्तथा ग्रामाङ्गराणि वनानि च ।
मञ्जुघोषान्गिरीन्कुञ्जांस्तीर्थान्यायतनानि च ॥ ६
सममेव समच्छेदौ समवेतौ स्थितावुमौ ।
समसत्त्वौ समोत्साहौ शंसन्तौ तस्थुः सदा ॥ ७
आनर्चतुः पितृन्देवान्बुभुजाते च राघव ।
समं तप्ते च सिके च समबुद्धी बभूवतुः ॥ ८

कुम्भस्य रमतो राज्ञा संभोगेच्छात्र वर्ण्यते ।

स्वर्गापदेशात्पूर्वानं विषण्णपुनरागमः ॥ १ ॥

इत्युक्तप्रकाराभिरात्मनीत्यध्यात्मविचित्राभिः कथाभिः पर-
स्परं संबदन्ताविति शेषः ॥ १ ॥ सरसानि क्षिण्वानि सारसानि
पद्मानि पक्षिमिथुनानि च यस्मिन् । नन्दने आनन्ददायिनि ।
फलमूलादिना अबने रक्षके च । प्रसिद्धे ऐन्द्रे नन्दने वने इवेति
वा शेषः ॥ २ ॥ तेन जीवन्मुक्तप्रसिद्धेनाचारेण । वने महा-
रण्ये । काननवीथिषु अवान्तरवनपङ्क्तिमेषु । तेन दिनाष्टकमपि
नैकत्र बास इत्यनिकेतता सूच्यते ॥ ३ ॥ ओमित्यभिमतौ ।
रूपस्यैव कुम्भस्याप्यर्थसिद्धा कर्तृतास्येवेत्युभयकर्तृकचरितस-
मानकर्तृकतामाश्रित्य मत्वेति क्त्वाप्रत्ययनिर्देशः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥
समवेतौ समुदितौ सन्तौ चित्तवृत्त्यापि सममेव स्थितौ शंसन्तौ
परस्परानुभवं कथयन्तौ ॥ ७ ॥ सिके जलार्द्धे शीतकप्रदेशे

१ नासाता इति पाठः.

तमालवनखण्डेषु मन्दारगहनेषु च ।
 दंपती क्षिग्धहृदयौ सुहृदौ तौ विरेजतुः ॥ ९
 इदं गेहमिदं नेति विकल्पकलना मनः ।
 न जहार तयो राम वात्येव विबुधाचलम् ॥ १०
 विचेरतुस्तौ सुहृदौ क्वचिद्भूलिविधूसरौ ।
 क्वचिन्नन्दनदिग्धाङ्गौ क्वचिद्भ्रसानुरञ्जितौ ॥ ११
 क्वचिद्विद्याम्बरधरौ चित्राम्बरधरौ क्वचित् ।
 क्वचित्पल्लवसंछन्नौ क्वचित्कुसुममण्डितौ ॥ १२
 दिनैः कतिपर्यैरेव समचित्ततया तथा ।
 सख्योदात्ततया चैव राजा कुम्भवदायमौ ॥ १३
 अथ तं सुरगर्भमं चूडाला सा शिखिध्वजम् ।
 दृष्ट्वा शोभासुपगतं चिन्तयामास मानिनी ॥ १४
 अयं पतिरदीनात्मा रम्याश्च वनभूमयः ।
 इयं स्थितिरनायासा या न कामेन वञ्चिता ॥ १५
 जीवन्मुक्तधियां भोगं यथाप्राप्तमतिष्ठताम् ।
 एकाग्रहात्मिका तुच्छा मूढतैवोदिता भवेत् ॥ १६
 निजः पतिरुदारत्मा निराधिश्च नवं वयः ।
 गृहाणि पुष्पजालानि सा इता या न कामिनी ॥ १७
 वनपुष्पलतागेहे स्वायत्ते भर्तरि प्रिया ।
 रमते या न निर्दुःखा सा इतैव दुरङ्गना ॥ १८
 रम्यं विवाहितं कान्तं पतिमासाद्य निर्जने ।
 स्त्री सती या न रमते तां धिगस्तु दुरङ्गनाम् ॥ १९
 समुज्जता यथाप्राप्तमपि वेद्यविदा सदा ।
 अनिन्धं समुदारार्थं किं तज्जेन कृतं भवेत् ॥ २०
 तत्किञ्चिद्रचयाम्याशु प्रपञ्चं प्रेक्षया वने ।
 येनायं भूपतिर्भर्ता रमते मयि मानवः ॥ २१
 इति संचिन्त्य चूडाला कुम्भवेषधरा पतिम् ।

चेति यावत् ॥ ८ ॥ ९ ॥ अनिकेतस्थितिलक्षणमाह—इद-
 मिति । विकल्पकलना तयोर्मनो न जहार ॥ १० ॥ प्रियाभि-
 यविकल्पोऽपि तयोर्नाभूदित्याह—विचेरतुरित्यादिना ॥ ११ ॥
 ॥ १२ ॥ सख्येन निर्वासनचित्तेनोदात्ततया उत्कृष्टतया ॥ १३ ॥
 अथ केवलसिद्धभावेन परस्परप्रेमभोजकप्रारब्धभोगोत्तरकालं
 दंपतिभावोपभोजकप्रारब्धोद्भवकाले ॥ १४ ॥ कामेन अङ्गध-
 र्मेण गणेन न वञ्चिता ॥ १५ ॥ यथाप्राप्तं भोगं प्रति अति-
 ष्टतां अनिवृत्तगतीनाम् । एकस्यां भोगनिवृत्तावेवाप्रहो निर्ब-
 न्धस्तदात्मिका या वृत्तिः सा मूढतैव ॥ १६ ॥ अधर्मरोगश्र-
 मादिहेतुभ्यो भोगेभ्यो लोकसंग्रहाय निवर्तितव्यमेव, अत्र तु न
 तत्प्रसक्तिरित्याशयेनाह—निज इति । एवं सर्वसामग्रीसत्त्वेऽपि
 या स्वभर्तारि न कामवती सा अजीवन्मुक्ता चेद्भ्रूवुपभोगविधा-
 तपापेन हता । जीवन्मुक्ता चेन्नोकसंग्रहभङ्गप्रयुक्तनिन्दादिना
 हतैत्यर्थः ॥ १७ ॥ उत्कमेव स्पष्टमाह—ज्ञेनेति ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ अनिन्धं स्वं उदारार्थं भोगं समुज्जता किं किमधिकं
 कलं कृतं भवेत् । न किञ्चिदित्यर्थः ॥ २० ॥ प्रेक्षया सप्रहया

प्राह काननगुल्मस्था कोकिलं कोकिला यथा ॥ २२
 कुम्भ उवाच ।
 चैत्रमासस्य शुक्लोऽयं प्रतिपदिवसो महान् ।
 अद्यास्थानं महारम्भं स्वर्गे भवति वै हरेः ॥ २३
 संनिधानं मया तत्र कर्तव्यं पितुरग्रतः ।
 यथास्थिता हि नियतिर्न संत्याज्या कदाचन ॥ २४
 प्रतिपालयितव्यं मे त्वयेह च वनावनौ ।
 कीडता नवपुष्पायां समुद्वेगमगच्छता ॥ २५
 आगच्छामि दिनान्तेऽद्य निर्विकल्पं नभस्तलात् ।
 सर्गादतितरामेव त्वत्सङ्गो मम तुष्टये ॥ २६
 इत्युक्त्वा मञ्जरीं कुम्भो ददौ मित्राय कौसुमीम् ।
 प्रीतये स्वामिव प्रीतिं कान्तां नन्दनवृक्षजाम् ॥ २७
 आगन्तव्यं त्वया शीघ्रमेवं वदति भूपतौ ।
 पुष्टवेऽथ वनाद्वयोम शरन्मुखपयोदवत् ॥ २८
 पुष्पाञ्जलिं जहौ व्योम प्रजन्कुसुमदामजम् ।
 विसारि वनवातेन हिमं हैम इवाम्बुदः ॥ २९
 शिखिध्वजो व्रजन्तं तं ददर्शाऽऽदर्शनं तदा ।
 उच्चिद्रोऽब्दं यथा बर्ही धीमत्प्रीतिर्हि दुस्त्यजा ॥ ३०
 शिखिध्वजदृशामन्ते व्योम्नि कुम्भवपुर्जहौ ।
 शान्तावर्तेषु वारिभ्रीर्मुग्धा स्वं रूपमाययौ ॥ ३१
 प्राप मञ्जरिताकारकल्पवृक्षोपमं पुरम् ।
 स्फुरत्पताकमात्मीयं स्वर्गरम्यं दिवः पथा ॥ ३२
 अन्तःपुरमदृश्यैव विवेश ललनाकुलम् ।
 मधुमासमहालक्ष्मीर्लसल्लतमिव हुमम् ॥ ३३
 राजकार्याणि सर्वाणि तत्र संपाद्य सत्वरम् ।
 शिखिध्वजस्य पुरतः पपात फलपुष्पवत् ॥ ३४

मयि रमते रतिष्ठुलं कमते ॥ २१ ॥ २२ ॥ आस्थानं वेद्य-
 र्पिसभामेलनम् । हरेः इन्द्रस्य ॥ २३ ॥ पितुर्नारदस्य ॥ २४ ॥
 प्रतिपालयितव्यं मे आगमनमासायं प्रतीक्षितव्यम् ॥ २५ ॥
 निर्विकल्पं आगमनपाक्षिकत्वरहितम् । नियतमिति यावत् ॥ २६ ॥
 कान्तां मनोहराम् । नन्दनवृक्षः कल्पतरुस्तज्जां मञ्जरीम् ॥ २७ ॥
 शरन्मुखपयोदो निर्जलमेघस्तद्वत् ॥ २८ ॥ वनवातेन विसारि
 प्रसरणशीलं पुष्पाञ्जलिम् । पदसंस्कारपक्षे नपुंसकलिङ्गं सर्वना-
 मेति प्रागेव प्रवृत्तमन्तरङ्गं नपुंसकलिङ्गं पुंविशेषसंबन्धेऽपि न
 निवर्तते । तथा चोदाहृतं महाभाष्ये 'शक्यं चानेन श्रमांसादिभि-
 रपि क्षुद्रप्रतिहन्तुं तत्र नियमः कियते पथ पथवक्त्रा भक्ष्याः'
 इतीति । हिमकाले मनो हैमः ॥ २९ ॥ आदर्शनं दृष्टिप्रसरयोग्यश्र-
 देसावधि । अब्दं मेघम् ॥ ३० ॥ स्वं चूडालारूपम् । आययौ
 प्राप ॥ ३१ ॥ स्फुरत्पताकमत एव मञ्जरितः संजातम-
 ञ्जरीक आकारः संस्थानं वक्ष्य तथाविधकल्पवृक्षोपमम् ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ यथा वृक्षात्फलं पुष्पं वा पतति तद्वत् ॥ ३४ ॥

तत्र कालद्युतिं मुखं चकारास्त्रिभ्रमानसा ।
इन्दुं सनीहारमिव श्यामा स्त्रिभ्रमिवाम्बुजम् ॥ ३५
तं दृष्ट्वा तादृशाकारं समुत्तस्थौ क्षिप्रिभ्रजः ।
बभूव स्त्रिभ्रचेताश्च समुवाचेदमादृतः ॥ ३६
देवपुत्र नमस्तेऽस्तु विमना इव लक्ष्यसे ।
कुम्भस्त्वं त्यज संरम्भमिदमासनमास्यताम् ॥ ३७
सन्तो विदितवेद्या ये ते हि हर्षविषादजाम् ।
नाश्रयन्ति स्थितिं स्वस्थाः पद्मा इव जलार्द्रताम् ॥ ३८

धीवसिष्ठ उवाच ।

तेन क्मापतिनेत्युक्ते कुम्भ आहासने विशन् ।
गिरा विषण्णया शीर्णवंशस्वनसमानया ॥ ३९
यावद्देहमवस्थासु समचित्ततयैव ये ।
कर्मेन्द्रियैर्न तिष्ठन्ति न ते तत्त्वविदः शठाः ॥ ४०
ये ह्यतत्त्वविदो मूढा राजम्बालतयैव ते ।
अवस्थाभ्यः पलायन्ते गृहीताभ्यः स्वभाषतः ॥ ४१
यावत्तिलं यथा तैलं यावद्देहं तथा दशा ।
यो न वेद्दशामेति स छिन्नत्यसिनाम्बरम् ॥ ४२
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० पू० च० जीवन्मुक्तव्यवहारप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥१०५॥

एष वेद्दशादुःखपरित्यागो ह्यनुत्तमः ।
यत्साम्यं चेतसो योगाच्च तु कर्मेन्द्रियस्थितेः ॥ ४३
यावद्देहं यथाचारं दशास्वङ्ग विजानता ।
कर्मेन्द्रियैर्हि स्थातव्यं न तु बुद्धीन्द्रियैः कश्चित् ॥४४
परमेष्ठिप्रभृतयः सर्वे एषोदिताशयाः ।
देहावस्थासु तिष्ठन्ति नियतेरेष निश्चयः ॥ ४५
अज्ञातत्वज्ञभूतानि दृश्यजातमिदं हि यत् ।
तत्सर्वमेव नियतिं धावत्यम्बु यथाम्बुधिम् ॥ ४६
तज्ज्ञा बुद्ध्यादिसाम्येन पाण्यादिचलनेन च ।
नियतिं यापयन्तीमां यावद्देहमखण्डिताम् ॥ ४७
अज्ञास्तु सर्वक्षोभेण सुखदुःखदशादृताः ।
नियतिं यापयन्त्यङ्ग वेदलक्ष्यैर्विखण्डिताम् ॥ ४८
इत्थं सुखेषु ननु दुःखदशासु चेत्यं
स्थातव्यमित्यधिगतं यदिहाङ्ग जीवैः ।
अज्ञाभूतनिवहस्फुरितस्तदेषं
दुर्लक्ष्य एष नियतो नियतेर्विलासः ॥ ४९

पञ्चाधिकशततमः सर्गः १०५

क्षिप्रिभ्रज उवाच ।

एवं स्थिते महाभाग कथमुद्वेगमीदृशम् ।

तत्र भर्तृसंनिधौ मुखं श्यामद्युतिं चकार । श्यामा यौवनमध्यस्था
चूडाका ॥ ३५ ॥ आदृतः सादरः ॥ ३६ ॥ विमनाः स्त्रिभ्रमना
इव लक्ष्यसे । मुखम्लानिलिङ्गेनेत्यर्थः । संरम्भं लक्षणया मन-
स्तापम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ बाष्परुद्धकण्ठजत्वाच्छीर्णवंशस्वन-
समानया ॥ ३९ ॥ विदितवेद्याः पुरुषा हर्षविषादजा स्थितिं
नाश्रयन्तीति यदुक्तं तत्र कंचिद्विशेषं विवक्ष्यन्कुम्भ उवाच—
यावद्देहमिति । ज्ञानप्रयुक्तसमचित्ततानान्तरीयकर्मेन्द्रियचेष्टानि-
वृत्तिरेव ज्ञानिनो लक्षणमिति तच्छून्या इव तत्त्वविदो न सम-
चित्तत्वेऽपि प्रारब्धकर्मप्रयुक्तकर्मेन्द्रियचेष्टोद्भवमात्रपराधेनेत्या-
शयः ॥ ४० ॥ अतस्त्वेषु तु न तथेत्याह—ये हीति । बाल-
तथा समचित्तत्वाभावेनैव इदं गृहीताभ्यस्तत्कर्मेन्द्रियनिष्प्र-
हावस्थाभ्यः पलायन्ते च्यवन्ते अज्ञानस्वभावादेवेति वैषम्य-
मित्यर्थः ॥ ४१ ॥ प्रारब्धप्रयुक्ता तु कर्मेन्द्रियहर्षग्लानिदशा
यावद्देहमाविनी ज्ञान्यज्ञानिनोस्तुल्यैवेत्याशयेन सदृष्टान्तमाह—
यावदिति । दशा कर्मेन्द्रियहर्षग्लान्यादिदशा भवत्येवेति शेषः ।
तदेव व्यतिरिक्तमुखेन द्रव्यमिति—य इति । तथा च ज्ञानिनोऽपि
वेद्दशागतिलङ्घनमेवेति ममापि तदनुवर्तनं न दोषायेति
भावः ॥ ४२ ॥ तथा च स्थितसाम्येन वेद्दशादुःखानां समाधि-
वशाद्दर्शनमेव तत्परित्यागो न दृष्टात्कर्मेन्द्रियनिग्रहेण सहन-
मिति निष्कर्ष इत्याह—एष इति ॥ ४३ ॥ विजानता तत्त्व-

लङ्घयानसि देवोऽपि वद वेद्यविदां वर ॥ १

विदा यावद्देहं कर्मेन्द्रियैः सर्वास्तु दशास्तु यथासदाचारमेव
स्थातव्यं, न तु सदाचारं उल्लङ्घय इत्येतावानेव नियमः । बुद्धीन्द्रि-
यैर्न आदिभिस्तु सदा साम्येनेव भाव्यं, न तु कदाचिदपि वैषम्ये-
नेत्यर्थः ॥ ४४ ॥ कर्मेन्द्रियैरनिष्प्रदेहावस्थानुवर्तनं प्रज्ञादि-
सर्वजीवन्मुक्तेषु प्रसिद्धमेवेत्याह—परमेष्ठीति । नियतेः प्रारब्ध-
कर्मनियतेः । अन्यथा तद्भोगासिद्धेरिति भावः ॥ ४५ ॥ प्रारब्धकर्म-
नियतिलङ्घनं तत्त्वज्ञैरज्ञैर्वा कैश्चिदपि कर्तुं न शक्यमित्याह—
अज्ञेति ॥ ४६ ॥ तर्हि किं तज्ज्ञाज्ञयोः साम्यमेव नेत्याह—
तज्ज्ञा इति । यावद्देहमुपासकदेहपातपर्यन्तम् ॥ ४७ ॥ अज्ञास्तु
न तथेत्याह—अज्ञास्त्विति ॥ ४८ ॥ प्रारब्धनियतिस्वरूपमभि-
नीय दर्शयन्तस्याः सर्वैर्दुर्लक्ष्यतामुक्तामनूद्योपसंहरति—इत्य-
मिति । ननु अज्ञ इति राजसंभोधने । अनेन प्राणिना अस्मिन्
जन्मनि इत्थं सुखेषु स्थातव्यं दुःखदशासु चेत्यं स्थातव्यमिति
जीवैः स्वस्वकर्मानुसारेण यथादृशं ललाटाक्षरमधिगतं प्राप्तं
तत्तद्विषये अज्ञेषु ज्ञेषु वा भूतनिवहेषु तथैव स्फुरितो निवसत
एव नियतेः प्रारब्धकर्मणो विलास एवं प्राणुक्तवित्या दुर्लक्ष्यं
इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे पूर्वार्धे जीवन्मुक्तव्यवहारप्रतिपादनं नाम चतुरधिक-
शततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

कुम्भेन निक्षिपुर्वासःशपात्सीत्वास्त्रिभ्रजते ।

परस्परं समाधावैः प्रीतयोश्च तथा स्थितिः ॥ १ ॥

एवं नियतानुसारेण स्थिते जीवकदम्बे स्वं देवोऽपि सवीर्यं

१ न्भावद्युतीत्यपि कश्चित्पाठः.

कुम्भ उवाच ।

शृणु कार्यमिदं चित्तं मदीयं वसुधाधिप ।
 कथयामि तवाशेषं सर्गं यहत्तमद्य मे ॥ २
 सुहृद्याषेदितं दुःखं परमायाति तानवम् ।
 घनं जडं कृष्णमपि मुक्तवृष्टिरिवाम्बुदः ॥ ३
 सुहृदा पृच्छता साधु चेतो याति प्रसन्नताम् ।
 स्वच्छतोपगतेनाशु कतकेन जलं यथा ॥ ४
 अहं तावदितो यातो भवते पुष्पमञ्जरीम् ।
 वत्सा गगनमुल्लङ्घ्य संप्राप्तश्च त्रिविष्टपम् ॥ ५
 ततः पित्रा महेन्द्रस्य सभास्थाने यथाक्रमम् ।
 स्थित्वोत्थाय तथोत्थानकाले पित्रा विवर्जितः ॥ ६
 इहागन्तुमहं त्यक्त्वा स्वर्गं संप्राप्तवाञ्छमः ।
 दिवाकरद्वयैः सार्धं ब्रह्मण्यनिलवर्त्मनि ॥ ७
 अथैकत्र गतो भानुरेकेनान्येन वर्त्मना ।
 आगच्छाम्यहमाकाशं सागरापतिताकृतिः ॥ ८
 अथाग्ने वारिपूर्णानां मेघानां मध्यवर्त्मना ।
 अपश्यं मुनिमायास्तमहं दुर्वाससं जवात् ॥ ९
 पयोधरपटच्छन्नं विद्युद्बलयभूषितम् ।
 अभिसारिकया तुल्यं धाराधौताङ्गचन्दनम् ॥ १०
 स्थितां सुतरुसुच्छायामापगां वसुधातले ।
 वेगेनाभिसरन्तं तां तपोलक्ष्मीमिव प्रियाम् ॥ ११
 तस्य कृत्वा नमस्कारमुक्तं खे वहता मया ।
 मुने नीलाञ्जवस्त्वमभिसारिकया समः ॥ १२
 इत्याकर्ण्य मुमोचासौ मयि मानदं शापकम् ।
 स्तनकेशवती कान्ता ह्यवरात्रविलासिनी ॥ १३
 गच्छानेन दुरुक्तेन रात्रौ योषा भविष्यसि ।

विषादनिमित्तमुद्वेगं कथं लब्धवांस्तद्देवत्यैः ॥ १ ॥ २ ॥ घनं
 जडं कृष्णमिति विशेषणपुंसकत्वं प्राग्वत् । ईदृशोऽप्यम्बुदो
 मुक्तवृष्टिः सन् यथा तानवमायाति तद्वत् ॥ ३ ॥ पृच्छता
 सुहृदा निमित्तेन । स्वच्छतार्थमुपगतेनेति सुहृदोऽपि विशेषणम्
 ॥ ४ ॥ ५ ॥ पित्रा सहेति शेषः ॥ ६ ॥ ब्रह्मणि प्रवहाकृत्य-
 स्थानिलस्य खानुकूले वर्त्मनि तत्प्रवाहेणैव ब्रह्मणि यावदभि-
 मतदेशमित्यर्थः ॥ ७ ॥ अथ मदभिमतदेशप्राप्त्यनन्तरं
 तेन मरुता अग्ने उद्यमानो भानुरेकेन वर्त्मना एकत्र गतः ।
 अहं त्वन्येन वर्त्मना आगच्छामि । सागरापतिताकृतिः
 समुद्रे द्रवमान इत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ शीकरधारा-
 भिषीतं क्षालितमङ्गचन्दनमङ्गरागो यस्य तम् ॥ १० ॥
 वसुधातले स्थितामत एव शोभना तीररुहतसुच्छाया यस्या-
 स्तथाविधाम् । स्वस्य प्रियां तपोलक्ष्मीमिव स्थितामापगां गङ्गां
 प्रति संध्यावन्दनकालाख्यो मा भूविति वेगेनाभिसरन्तम् ।
 'आप या'मिति पाठे तु यां तपोलक्ष्मीलक्षणां प्रियां आर्यां वसु-
 धातले आप प्राप तामभिसुखीकृत्य सरन्तमित्युत्प्रेक्षा ॥११॥
 अभिसारिकया तमिसाभिसारिकया त्वं समो दृश्यसे इति मया

इति श्रुत्वाऽशुभं वाक्यमुत्थितं जर्जरद्विजात् ॥ १४
 विमृशामि मनाग्यावत्तावदन्तर्हितो मुनिः ।
 इत्युद्वेगमनाः साधो संप्राप्तोऽहं नभस्तलात् ॥ १५
 एतत्ते कथितं सर्वं संपन्नोऽस्मि निशाङ्गना ।
 अतिवाह्यं दिनान्तेषु स्त्रीत्वमेतन्मया कथम् ॥ १६
 योषित्स्तनवती रात्रौ वक्तव्यं किं मया पितुः ।
 संसृतौ भवितव्यानामहो नु विषमा गतिः ॥ १७
 अहमप्यद्य यद्देवाधुनामामिषतां गतः ।
 कष्टं मदपहारेण कलहो जायतेऽधुना ॥ १८
 दिशि देवकुमाराणां कामाकुलधियामिह ।
 गुरुदेवद्विजातीनां लज्जापरवशात्मना ॥ १९
 कथमग्ने मया सम्यग्वस्तव्यं यामिनीक्षिया ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा क्षणमेकं सा तूष्णीं स्थित्वा मुनिस्थितौ ॥
 धैर्यमाश्रित्य कुम्भोऽत्र पुनराह रघूद्वह ।
 किमहं इव शोचामि किं मम क्षतमात्मनः ॥ २१
 यथागतमयं देहो मत्तोऽन्योऽनुभविष्यति ।

शिखिष्वज उवाच ।

परिदेवनया कोऽर्थो देवपुत्र तथैतया ॥ २२
 यदायाति तदायातु देहस्यात्मा न लिप्यते ।
 कानिचिद्यानि दुःखानि सुखानि विहितानि च ॥ २३
 तानि सर्वाणि देहस्य देहिनो न तु कानिचित् ।
 यदि त्वमपि कार्याणामखेदाहोऽपि खिद्यसे ॥ २४
 तदन्येषामुपायः स्यात्क इवागमभूषणः ।
 खेदे खेदोचितं वाच्यमिति किञ्चित्त्वमुक्तवान् ॥२५

उक्तम् ॥ १९ ॥ १३ ॥ अद्युभमिति च्छेदः । जर्जराद्ब्रह्मद्वि-
 जाहर्वाससः ॥ १४ ॥ इत्युक्तनिमित्त उद्वेगो यस्य तथाविधं
 मनो यस्य ॥ १५ ॥ कथमतिवाह्यं यापयितुं शक्यम् ॥ १६ ॥
 पितुः अग्ने इति शेषः ॥ १७ ॥ यूनामामिषतां गृध्राभिषन्त्या-
 येन कलहविषयताम् । तमेव न्यायं प्रसक्तं स्पष्टयति—कष्ट-
 मिति । अधुनेति श्वःपरश्वस्तनसंनिहितकालोक्तिः । मदप-
 हारेण मम अपहरणाय । अध्ययनेन वसतीतिवत् फलस्यापि
 हेतुत्वविवक्षया तृतीया ॥ १८ ॥ १९ ॥ मुनिस्थितौ चित्तस-
 माधाने ॥ २० ॥ २१ ॥ यथाप्रारब्धमागतं स्त्रीत्वं मत्तोऽन्योऽयं
 देह एवानुभविष्यति तेनासङ्गिन्मात्रात्मनो मम का क्षतिरि-
 त्यर्थः । राजापि तदुक्तमनुमोदमान आह—परिदेवनयेत्या-
 दिना ॥२२॥२३॥ देहिनो देहोपलक्षितचिदात्मनः कार्याणाम-
 वश्यसंपादानां प्रारब्धफलानां विषये अखेदाहस्तत्वमपि यदि
 खिद्यसे तर्हि अन्येषामविवेकप्रयुक्तखेदविकित्सायां त्वमिव
 आगमभूषणः शास्त्रतत्त्वानुभावनकुशलः उपायविकित्सकः क
 इव शरणं स्यात् कश्चिदित्युत्तरेणान्वयः ॥ २४ ॥ नायं तव
 खेदः किंतु खेदोचितोक्तिमात्रं लोकचाराणुवर्णनायेत्याह—खेदे

इदानीं समतामेत्य तिष्ठस्त्रिभो यथास्थितम् ।
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 तावेवमादिभिर्वाक्यैरन्योन्याश्वासनं स्वयम् ॥ २६
 कृत्वा स्थितौ वनस्त्रिभौ सुहृदौ खेदिनौ मिथः ।
 अथाकौऽप्यस्य कुम्भस्य स्त्रीत्वमुत्पादयन्निव ॥ २७
 जगामास्तं जगद्दीपो दीपः स्नेहक्षयादिव ।
 व्यवहारभरैः सार्धं पश्चाः संकोचमाययुः ॥ २८
 मार्गाश्च पथिकैः सार्धं पान्थस्त्रीहृदयानि च ।
 दाशवद्विहगान्सर्वाङ्कुर्वेदेकत्र संचितान् ॥ २९
 तारकारत्नजालाढ्यं भुवनं साम्यतां ययौ ।
 खं हसदिव ताराढ्यं विकासिकुमुदाकरम् ॥ ३०
 ययावुन्नादचक्राद्भ्रमद्भ्रमरपेटकम् ।
 सुहृदौ तावथोत्थाय संध्यामुद्यन्निशाकराम् ॥ ३१
 वन्दयित्वा तथा कृत्वा जप्यं गुल्मान्तरे स्थितौ ।
 ततः कुम्भः शनैस्तत्र स्त्रीणमभ्याहरन्वपुः ॥ ३२
 शिखिध्वजं पुरःसंस्थं प्रोवाच गलदक्षरम् ।
 पतामीव स्फुरामीव द्रवामीवाङ्गयष्टिभिः ॥ ३३
 लज्जयैव च ते राजन्मन्ये स्त्रीत्वं व्रजाम्यहम् ।
 पश्येमे परिघर्धन्ते राजन्मम शिरोरुहाः ॥ ३४
 प्रस्फुरत्तारकामाला दिनान्ततिमिरा इव ।
 पश्येमौ मम जायेते प्रोन्मुखावुरसि स्तनौ ॥ ३५
 कोरकाविव पद्मिन्या वसन्ते गगनोन्मुखौ ।
 आगुल्फमेव लम्बानि संपद्यन्तेऽम्बराणि मे ॥ ३६
 देहादेव सखे पश्य स्त्रिया इव शनैः शनैः ।
 भूषणान्युत रत्नानि माल्यानि विविधानि च ॥ ३७
 पश्येमान्यङ्ग जायन्ते स्वाङ्गेभ्यो वृक्षपुष्पवत् ।
 पश्यायं स्वयमेवाद्य चन्द्रांशुकरशोभनः ॥ ३८
 मूर्ध्नि पट्टांशुको जातो नीहारोऽद्राविवाङ्ग मे ।

सर्वाणि कान्तालिकानि जातानि मम मानद ॥ ३९
 हा धिक्कष्टं विषादो मे किं करोम्यङ्गनास्म्यहम् ।
 हा धिक्कष्टमहो साधो स्थित एवाहमङ्गना ॥ ४०
 संविदानुभवाम्यन्तर्नितम्बजघने त्विमे ।
 विपिने कुम्भ इत्युक्त्वा तूर्णीं स्त्रिभो बभूव ह ॥ ४१
 राजापि च तमालोक्य तथैवासीद्विषण्णधीः ।
 मुहूर्तमात्रेणोवाच शिखिध्वज इदं वचः ॥ ४२
 कष्टं सोऽयं महासस्वः संपन्ना वरवर्णिनी ।
 साधो विदितवेद्यस्त्वं जानासि नियतेर्गतिम् ॥ ४३
 अवश्यमाविन्यर्थेऽस्मिन्मा स्त्रिभहृदयो भव ।
 आपतन्ति दशास्तास्ताः सुधियां देहमात्रके ॥ ४४
 न चेतस्यधियां त्वेताश्चित्तं यान्ति न देहकम् ।

कुम्भ उवाच ।

एवमस्त्वनुतिष्ठामि यामिनीस्त्रीत्वमात्मनः ॥ ४५
 न खेदमनुगच्छामि नियतिः केन लङ्घयते ।
 इति निर्णय तौ खेदं तं नीत्वा तनुतामिव ॥ ४६
 एकतरपे निशां तूर्णीं नीतवन्तौ चिरेण ताम् ।
 अथ प्रभाते तत्स्त्रैणं वपुस्तसृज्य यौवनम् ॥ ४७
 बभूव कुम्भः कुम्भाभः कुचप्रोज्झितमूर्तिमान् ।
 इति सा राजमहिषी चूडाला वरवर्णिनी ॥ ४८
 कुम्भत्वमास्थिता भर्तुः पश्चात्स्त्रीत्वमुपागता ।
 विजहार वनान्तेषु कुमारीधर्मिणी निशि ।
 कुम्भरूपधरा चाहि भर्त्रा मित्रेण संयुता ॥ ४९
 कैलासमन्दरमहेन्द्रसुमेरुसह्य-
 सानुष्वविस्त्रलितयोगगमागमा सा ।
 साकं प्रियेण सुहृदा भवता यथेच्छं
 स्रग्दामहारवलिता विजहार नारी ॥ ५०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० कुम्भस्य स्त्रीत्वलाभो नाम पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥१०५॥

इति ॥ २५ ॥ २६ ॥ अथ मिथ आश्वासनानन्तरम् ॥ २७ ॥
 ॥२८॥ मार्गास्तमोभिः संकोचमस्फुटतामाययुः । पान्थस्त्रीहृद-
 यानि पथिकाश्च वियोगशोकतमोभिरित्यर्थः । दाशाः समुद्रदीप-
 स्थकैवर्ताः । ते हि पक्षिणोऽपि जालैर्बध्नन्ति मत्स्यानपि रत्ना-
 न्यपि संचिन्वन्ति तद्वद्विद्यमानमूर्ध्वाधो भुवनद्वयं पक्षिसंप्रह्वेण
 तारकारत्नजालाढ्यतया च परस्परं साम्यतां सममेव साम्यम्,
 स्वार्थं प्यञ् । समतां ययावित्यर्थः ॥ २९ ॥ उन्नादं चक्राह्वानां
 भ्रमद्भ्रमराणां च पेटकं वृन्दं कर्तुं विकासिकुमुदाकरं हसदिव
 स्थितं ताराढ्यं खं कर्म ययौ ॥३०॥३१॥ वन्दयित्वा वन्दित्वा ।
 स्वार्थं णिच् । स्त्रिया इदं स्त्रैणं वपुः अभ्याहरन् आविष्कुर्वन्
 ॥ ३२ ॥ गलदक्षरं सगद्गदमिति यावत् ॥ ३३ ॥ ते पुर इति
 शेषः ॥ ३४ ॥ प्रस्फुरत्तारकामाला इत्युपमानविशेषणादुप-
 मेयाः शिरोरुहा अपि मुक्तादिमालासहिता इति गम्यते ॥३५॥
 अम्बराणि वस्त्राणि ॥ ३६ ॥ माल्यानि विविधानि देहादेव

जायन्ते इत्युत्तरान्वयः ॥ ३७ ॥ स्वाङ्गेभ्यः शास्त्रादिभ्यः
 ॥ ३८ ॥ पट्टांशुकः पट्टवस्त्रम् । एवमाच्छादितप्रदेशेष्वपि
 लिङ्गविनिमयः संपन्न इति ज्ञेयमित्याशयेनाह—सर्वाणीति
 ॥ ३९ ॥ स्थितः सिद्धः ॥ ४० ॥ इत्युक्त्वा कुम्भो विपिने
 तूर्णीं बभूव ह किल ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ सुधियां तस्वविदां
 देहमात्रके आपतन्ति चेतसि न ॥ ४४ ॥ अधियामज्ञानां तु
 एता दशाश्चित्तमपि वासनात्मना यान्ति न देहमात्रकमित्यर्थः ।
 अनुतिष्ठामि अनुवर्ते ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ राजा कुम्भविपत्तिवि-
 न्तया राज्ञी तु वृपसंगमोत्कण्ठया निद्राभावाच्चिरेण निशां
 नीतवन्तौ । युवला इदं यौवनं वपुस्तसृज्य । 'भस्याडे तद्धिते'
 इति पुंवद्भावे अत्रिल्यणि प्रकृतिभावाच्च टिलोपः ॥ ४७ ॥ पूर्व-
 युस्तानकुम्भाभः ॥४८॥ कुमारीधर्मिणी अनूडाचारा ॥४९॥ क
 क कथं कथं विजहार तदाह—कैलासेति । कैलासारीनां सानुषु

१ तातेति पाठः.

षडुत्तरशततमः सर्गः १०६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततः कक्षिपयेष्वेव दिवसेषु गतेषु सा ।
 इदं प्रोवाच भर्तारं कुम्भरूपधरा सती ॥ १
 राजन्राजीवपत्राक्ष ममेदं वचनं शृणु ।
 निशायां प्रत्यहं तावत्स्थित एवाहमङ्गना ॥ २
 तदिच्छाम्यङ्गनाधर्मं निपुणीकर्तुमीदृशम् ।
 भर्त्रे कस्यैचिदात्मानं विवाहेन ददाम्यहम् ॥ ३
 तद्भवानेव मे भर्ता रोचते भुवनत्रये ।
 पृष्ट्वाण मां विवाहेन भार्यात्वे निशि सर्वदा ॥ ४
 भयक्षोपनतं साधो प्रियेण सुहृदा सह ।
 स्त्रीसुखं भोक्तुमिच्छामि मा मे विघ्नकरो भव ॥ ५
 क्रमप्रवृत्तमासृष्टेः सुखं साध्यं मनोरमम् ।
 प्रकृतं कुर्वतः कार्यं दोषः क इव जायते ॥ ६
 इच्छानिच्छे फले त्यक्त्वा समन्तात्सर्ववस्तुषु ।
 वयं न सेच्छा नानिच्छाः कुर्मस्तेनेवमी सतम् ॥ ७

शिशिष्वज उवाच ।

कृतेनानेन कार्येण न शुभं नाशुभं सखे ।
 पश्यामि तन्महाबुद्धे यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ८
 समतां संप्रयातेन चेतसेदं जगन्नयम् ।
 स्वरूपमेव पश्यामि यथेच्छसि तदाचर ॥ ९
 कुम्भ उवाच ।
 यद्येवं तन्महीपाल लग्नमद्यैव शोभनम् ।
 राकेयं भावणस्यास्य ह्यः सर्वं गणितं मया ॥ १०
 राणावधोदिते चन्द्रे परिपूर्णकलामले ।
 जन्यत्रो नौ महाबाहो द्वयोरेव भविष्यति ॥ ११
 महेन्द्राद्रिशिरःशृङ्गसानावद्य मनोरमे ।
 रत्नदीपप्रकाशाख्ये मणिकन्दरमन्दिरे ॥ १२

प्रस्थेषु भविस्वल्लितो योगबलेन गमागमः कान्तयोगेन गमाग-
 मश्च यस्यास्तथाविधा सा चूडाला यथेच्छं स्वाभिमतानुसारेण
 भवता वर्तनशीलेन प्रियेण साधे स्रग्दामहारवलिता सती
 यथेच्छं विजहारेति पुनरप्याकाङ्क्षयान्वयः ॥ ५० ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे श्रीत्वल्लभो
 नाम पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

वर्ष्यतेऽत्र महेन्द्राद्रौ विवाहोऽभिपुरस्कृतः ।

तयोर्गुहायां सौवर्ष्या पुष्पतरुषु च संगमः ॥ १ ॥

सा चूडाला ॥ १ ॥ २ ॥ निपुणीकर्तुं सफलीकर्तुम् ।
 ददामि अशिरादेव दास्यामि ॥ ३ ॥ ४ ॥ प्रत्यास्थानेन विघ्नकरो
 मा भव ॥ ५ ॥ आसृष्टेः सृष्टिकालमारभ्य देवर्ष्यादिषु अद्य-
 यावत्क्रमप्रवृत्तं सुखमनायासमेव साध्यं प्रकृतं प्रस्तुतं विवाहकार्यं
 इच्छानिच्छे तत्फले च त्यक्त्वा कुर्वतस्ते क इव दोषो जायत
 इत्यन्वयः । वयं आवाम् । 'अस्मदो द्वयोश्च' इति बहुवचनम् ।

पुष्पभारानतोत्तुङ्गवृक्षराजिविराजिते ।
 वनपुष्पलतालास्यनारीनृत्यमनोहरे ॥ १३
 निशि व्योमगतास्तारा भर्त्रा पूर्णेन्दुना सह ।
 आवयोः परिपश्यन्तु कर्णान्तायतलोचन ॥ १४
 उत्तिष्ठात्मविवाहार्थं कुर्वः काननकोटरात् ।
 राजञ्चन्दनपुष्पादिसंभारं रत्नसंयुतम् ॥ १५
 इत्युक्त्वा कुम्भ उत्थाय सह तेन महीभृता ।
 कुसुमावचयं चक्रे तथा रत्नादिसंचयम् ॥ १६
 ततो मुहूर्तमात्रेण रत्नसानौ समे शुभे ।
 समालम्भनपुष्पाणां ताभ्यां वै राशयः कृताः ॥ १७
 हाराम्बरमणीन्द्रादिराशयस्त्वपरेऽजिरे ।
 सौभाग्यस्येव कामेन कोशाः कालेन संधृताः ॥ १८
 तथा जन्यत्रसंभारं कृत्वा काञ्चनकन्दरे ।
 ययतुस्तौ महामित्रे ज्ञातुं मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १९
 तत्रैनं ज्ञापयामास महाराजं महादरात् ।
 गजकुम्भोपमस्कन्धं कुम्भो मङ्गलपूर्वकम् ॥ २०
 भविष्यद्दयितारूपां भविष्यद्दयितोऽङ्गनाम् ।
 चूडालां ज्ञापयामास कुम्भरूपधरां प्रियाम् ॥ २१
 पूजयामासतुः ज्ञातौ तत्र देवपितृन्मुनीन् ।
 यथा क्रियाफलेऽनिच्छौ क्रियात्यागे तथैव तौ ॥ २२
 नित्यज्ञानरसातृप्तौ व्यवस्थायां जगत्स्थितेः ।
 चक्राते भोजनं भव्यं तावन्न्योन्यसमीहितम् ॥ २३
 कल्पवृक्षदुकूलानि परिधाय सितानि तौ ।
 फलानि भुक्त्वा जन्यत्रस्थानमाययतुः क्रमात् ॥ २४
 एतावताथ कालेन तयोर्जन्यत्रसोत्कयोः ।
 प्रियं कर्तुमिवास्ताद्रिं द्रागित्येवाविशद्रविः ॥ २५

॥ ६ ॥ ७ ॥ तत्तस्माद्देतोः ॥ ८ ॥ स्वरूपं स्वात्मभूतमेवानुपश्यामि
 ॥ ९ ॥ ह्यः पूर्वेद्युरेव मया विवाहलमादि सर्वं गणितम् ॥ १० ॥
 जन्यत्रो विवाहः । द्वयोरेव गान्धर्वविधिनेति भावः ॥ ११ ॥
 मणिमयकन्दरलक्षणे मन्दिरे ॥ १२ ॥ विवाहोत्सवोचितनर-
 नारीगणस्थानीयतया वृक्षलतादिसंपत्तिं दर्शयति—पुष्पभारेति
 ॥ १३ ॥ परिपश्यन्तु विवाहोत्सवमिति शेषः ॥ १४ ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ रत्नसंयुते सानौ समे शुभे अजिरे इति शेषः ।
 समालम्भनं देवतामिमदनादिपूजनं तदर्थानां पुष्पाणाम् ॥ १७ ॥
 अपरे अजिरे इति वचनात्पूर्वमप्यजिरे इति गम्यते । कालेन
 भोजकसुकृतपरिपाककालेन ॥ १८ ॥ १९ ॥ मङ्गलं दधिपूर्वा-
 क्षतसिद्धार्थादि तत्पूर्वकम् ॥ २० ॥ २१ ॥ क्रियाफलानिच्छोत्सयोः
 कथं पूजाप्रवृत्तिस्तत्राह—यथेति । यथैव क्रियात्यागेऽप्यनिच्छौ
 ॥ २२ ॥ अन्योन्यसमीहितं सिद्धिबलकल्पितात्तादेर्भोजनम् ॥ २३ ॥
 फलानि कल्पवृक्षफलानि । जन्यत्रस्थानं वेदिमूलम् । क्रमात्

अथ संध्याक्रमे वृत्ते कृते जप्याघमर्षणे ।
 त्रिवाहदर्शनायैव ताराजाले समागते ॥ २६
 मिथुनैकसखीयामा कुमुदोत्करहासिनी ।
 प्रालेयजालप्रकरं विकिरन्ती समाययौ ॥ २७
 रत्नदीपान्बहुन्सानौ कुम्भः सम्यगयोजयत् ।
 ज्योतीषीन्वर्कयुक्तानि पद्मोद्भव इवाम्बरे ॥ २८
 भूषयामास राजानं स्त्रीत्वं गच्छन्निशगमे ।
 चन्दनागुरुकर्पूरपूरैर्मृगजकुङ्कुमैः ॥ २९
 द्वारकेयूरकटकैस्तथा कल्पलताशुकैः ।
 स्रग्गुह्याभावतंसैश्च माल्यैश्च विविधोचितैः ॥ ३०
 तथा कल्पलतागुच्छैर्मन्दारैः पारिजातकैः ।
 संतानैर्बहुरत्नैश्च मौलिना चन्द्ररूपिणा ॥ ३१
 एतावताथ कालेन बधूत्वं कुम्भ आययौ ।
 घनस्तनभराक्रान्तो बभूवाशु विलासवान् ॥ ३२
 इदं संचिन्तयामास संपन्नोऽयमहं बधूः ।
 कामायात्मा मया देयः कार्यं कालोचितं किल ॥ ३३
 इयमस्मि बधूः कान्ता भर्ता त्वं मे पुरःस्थितः ।
 गृह्णाण काम मामेहि कालोऽयं तव हृच्छयः ॥ ३४
 इति संचिन्त्य भर्तारमग्रस्थगहनस्थितम् ।
 उदयन्तमिवादित्यं रतिः काममिवाभ्यगात् ॥ ३५
 अहं मदनिका नाम भार्यास्मि तव मानद ।
 पादयोस्ते प्रणामोऽयं सज्जेहं क्रियते मया ॥ ३६
 इत्युक्त्वा सानवद्याङ्गी लज्जाघनमितानना ।
 लोलालकेन क्षिरसा प्रणनाम लसत्पतिम् ॥ ३७
 उवाचेदं च हे नाथ त्वं मां भूषय भूषणैः ।
 क्रमेणाग्निं च संज्वाल्य मत्पाणिग्रहणं कुरु ॥ ३८
 राजसेऽतितरां राजन्मां करोषि स्मरानुराम् ।
 एतेर्विवाहे मदनमभिभूयाधितिष्ठसि ॥ ३९

इन्दोरिवांशुजालानि राजन्मादयानि तानि ते ।
 मेरुगङ्गाप्रवाहामां घत्ते द्वारस्तवोरसि ॥ ४०
 मन्दारकुसुमप्रोतैः कुन्तलैर्नृप राजसे ।
 कनकाक्षमिवोल्लोलैर्भृङ्गैः खचितकेसरैः ॥ ४१
 रत्नांशुजालैः कुसुमैः श्रिया स्वैर्येण तेजसा ।
 रत्नस्थानं विभो मेरुमभिभूयाधितिष्ठसे ॥ ४२
 एवमादि वदन्ती तौ भविष्यन्नवदम्पती ।
 प्रच्छन्नपूर्वदाम्पत्यौ मिथस्तुष्टौ बभूवतुः ॥ ४३
 महाराज्ञीं मदनिकां महाराजः शिखिध्वजः ।
 काञ्चनोपलपर्यङ्के निविष्टो भूषयत्स्वयम् ॥ ४४
 अवतंसैस्तथा माल्यैर्मणिरत्नविभूषणैः ।
 वल्लैर्विलेपनैः पुष्पै रक्षिरस्थानकार्पितैः ॥ ४५
 सा बभौ भूषिता तन्वी मदनी मददायिनी ।
 गिरिजेव विवाहोक्ता कामकान्तेषु कामिनी ॥ ४६
 महाराजो महाराज्ञीं भूषयित्त्रेदमाह ताम् ।
 राजसे मृगशावाक्षि लक्ष्मीरिव नवोदिता ॥ ४७
 शक्रेण सह यच्छ्रया यल्लक्ष्म्या हरिणा सह ।
 यद्गौर्याः शंभुना सार्धं तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ४८
 पद्मकोशाङ्कुरहृदा लोलनीलोत्पलेक्षणा ।
 आमोदशुभ्रशांकारा स्वास्थिता पद्मिनीव सा ॥ ४९
 सुरक्तपल्लवकरा स्तनस्तबकधारिणी ।
 त्वमनेकफला मन्ये कामकल्पतरोर्लता ॥ ५०
 हिमशीतावदाताङ्गी ज्योत्स्नाप्रसरहासिनी ।
 पूर्णेन्दुश्रीरिवोद्युक्ता हृष्टैवाह्लादयस्यलम् ॥ ५१
 तदुत्तिष्ठ वरारोहे वेदीं वैवाहिकीं स्वयम् ।
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 तत्र पुष्पलताजालैः काण्डं प्रति शिलाङ्कितैः ॥ ५२

शास्त्रोक्तक्रमात् ॥ २४ ॥ २५ ॥ संध्याक्रमे संध्यावन्दनविधौ
 ॥ २६ ॥ मिथुनानां प्रीतिकरत्वाच्चैकसखीयामा त्रियामा ॥ २७ ॥
 पद्मोद्भवो ब्रह्मा ॥ २८ ॥ मृगजैः कस्तूरीपौष्कलकादिभिः ।
 कुङ्कुमैः काश्मीरैः ॥ २९ ॥ कल्पलतोद्भूतैरंशुकैर्वर्णैः । स्रग्भि-
 रुहार्मरुकुष्ठशोभैरवतंसैः रत्नगुच्छाद्युत्तंसैः । माल्यैः कण्ठादि-
 माल्यैर्विविधभूषणोचितैः ॥ ३० ॥ मौलिपदेन चूडामणिल-
 क्ष्यते । इन्दुरूपिणा चन्द्रसदृशेण ॥ ३१ ॥ बधूचितविलास-
 वान् ॥ ३२ ॥ कामाय कामरूपाय वराय ॥ ३३ ॥ अत एव
 कामत्वेनैव भर्तारं कल्पयित्वा मनस्याह—इयमिति ॥ ३४ ॥
 अग्रस्थे गहने वनवेदिदेशे स्थितम् ॥ ३५ ॥ सज्जेहं सानुरागम्
 ॥ ३६ ॥ लसन्तं शोभमानं पतिम् ॥ ३७ ॥ संज्वाल्य हुत्वा-
 भ्यर्च्य च ॥ ३८ ॥ एतेर्विवाहे प्रसिद्धं मदनं स्वशोभयाभिभू-
 येत्यर्थः ॥ ३९ ॥ तां शोभामेव वर्णयति—इन्दोरित्यादिना ।
 तवोरसि स्थितो हारो मेरौ प्रसिद्धस्य गङ्गाप्रवाहस्य आभां शोभां
 यो० वा० १२९

घत्ते ॥ ४० ॥ खचितकेसरैर्घटितकिञ्चलकैः ॥ ४१ ॥ रत्नांशुजा-
 लैरित्यादीनि राजमेरुसाधारण्येन योज्यानि ॥ ४२ ॥ वदन्ती तौ
 इत्युक्त्वा राज्ञापि तस्याः शोभा वर्णितेति गम्यते ॥ ४३ ॥
 काञ्चनोपललक्षणे पर्यङ्के निविष्ट उपविष्टः ॥ ४४ ॥ तत्तद्भूष-
 णोचितस्थानके अप्तितैः ॥ ४५ ॥ कामकान्ता रतिरिव च
 ॥ ४६ ॥ नवोदितेत्यनेन पूर्वलक्ष्म्या जरतीत्वेन शोभापक्षों
 न्यज्यते ॥ ४७ ॥ तत्ते मङ्गलम् । मया सहेति शेषः ॥ ४८ ॥
 स्तनसदृशः पद्मकोशः, अनुरागसदृशा अङ्कुराश्च हृदि यस्याः ।
 'आपं चैव हृत्तानाम्' इति भागुरिमतेन टाप् । लोलानि
 नीलोत्पलनीक्षणाणीव यस्याः । आमोदः शुभा भ्रमरशांकारा
 यस्यास्तथाविधा पद्मिनीव सा त्वं स्थितेत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इदानीं
 तां कल्पलतात्वेन रूपयति—सुरक्तेति ॥ ५० ॥ हिमशीतेत्या-
 दीनि पूर्णेन्दुश्रियो मदनिकायाश्च साधारणानि योज्यानि ॥ ५१ ॥
 स्वयमलंकुर्विति शेषः । तत्र वेद्याम् । काण्डं प्रति प्रतिकण्डं

| | | | |
|--|----|---|----|
| मुक्ताकुसुमजालानां प्रकरैः स्तवकोपमैः । | | लोलः संचरयामास करानिन्दुलतापृष्ठे । | |
| चतुर्विक्रं चतुर्भिश्च नालिकेरमहाफलैः ॥ | ५३ | तंस्तैर्नवकथालापैरिन्द्रावभ्युदिते त्वथ ॥ | ६३ |
| पूर्णकुम्भैस्तथा गङ्गावारिपूर्णैः प्रकल्पितैः । | | तावासांचक्रतुः कान्तौ दंपती सुमुहूर्तकम् । | |
| ज्वालयामासतुस्तस्या मध्ये चन्दनदारुभिः ॥ | ५४ | अथोत्थाय ज्वलद्रत्नदीपां काञ्चनकन्दराम् ॥ | ६४ |
| ज्वलनं ज्वालितज्वालं दक्षिणस्थं प्रदक्षिणम् । | | स्वयं पूर्वोपरचितां गुप्तां विविशतुः प्रियौ । | |
| पूर्वाभिमुखमेवाग्नेरग्रे पल्लवविष्टरे ॥ | ५५ | ददर्शतुर्नवं तत्र तल्पं कुसुमकल्पितम् ॥ | ६५ |
| नियोज्य दंपती कान्तौ तयोर्विविशतुः स्वयम् । | | परितो व्याप्तमुत्कीर्णैर्हैमपङ्कजराशिभिः । | |
| स हुत्वा तिललाजानि पावकाय शिखिध्वजः ॥ ५६ | | मन्दारादिभिरन्यैश्च पुष्पैर्गलानिषिवर्जितैः ॥ | ६६ |
| उत्थायोत्थाय कान्तां स पाणिभ्यां स्वयमाददे । | | उच्चकैः सुप्रमाणेन निर्मितैः कुसुमैः समैः । | |
| अन्योन्यं शोभमानौ तौ भवाविध वने शिवौ ॥ ५७ | | दीर्घेन्दुबिम्बप्रतिमैस्तुषारस्थलशीतलैः ॥ | ६७ |
| चक्रतुर्दंपती तस्य पावकस्य प्रदक्षिणम् । | | क्षीरोदजलधाराभं ज्योत्स्नासंपिण्डसुन्दरम् । | |
| स्वदायं ज्ञानसर्पस्वं हृदयं प्रेम चापलम् ॥ | ५८ | प्रतिबिम्बमैनङ्गस्य नतं भित्ताविध स्थितम् ॥ | ६८ |
| ददतस्तौ मिथोऽन्योन्यसितकान्तमुखश्रियौ । | | सुगन्धमुन्नतं कान्तं चिरादन्यतयोत्थितम् । | |
| प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा लाजांस्त्यक्त्वाथ बह्वये ॥ | ५९ | मिथुनं पुष्पराशौ तस्यषीदत्परितोऽमले । | |
| भार्यावरौ समं तुष्टौ करौ तत्यजतुः क्रमात् । | | तस्मिन्समसमाभोगे क्षीरोदे मन्दरो यथा ॥ | ६९ |
| स्मयमानमुखौ कान्तौ चन्द्राविव नवोदितौ ॥ | ६० | तैस्तैर्भिधः प्रणयपेशलवाग्विलासै- | |
| पूर्वोपरचिते पुष्पतल्पे विविशतुर्नवे । | | स्तत्कालकार्यसुभगैः प्रणयोपचारैः । | |
| एतस्मिन्नन्तरे चन्द्रश्चतुर्भागं नमस्कृत्यात् ॥ | ६१ | सत्कान्तयोर्नवनवेन तयोः सुखेन | |
| शनैराक्रमयामास शोभां द्रष्टुमिवानयोः । | | दीर्घा मुहूर्त इव सा रजनी जगाम ॥ ७० | |
| तस्मिन् ललनाच्छिद्रं द्रष्टुं दृष्टिरिषामितः ॥ | ६२ | | |

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पृ० चू० लीलाविवाहो नाम षडुत्तरशततमः सर्गः ॥ १०६

सप्ताधिकशततमः सर्गः १०७

| | | | |
|--|---|---|---|
| श्रीवासिष्ठ उवाच । | | एवं महेन्द्रदर्या तावुभौ कुम्भशिखिध्वजौ । | |
| अथ सूर्याख्यरङ्गेण रजिते भुवनोदरे । | | स्वयं विवाहिताविष्टौ संपन्नौ देवदंपती ॥ | २ |
| शिखिध्वजाङ्गना प्रातर्मदनी कुम्भतां ययौ ॥ | १ | | |
| फलगुच्छसमाकारनवरत्नशिलाभिरङ्कितैश्चिह्नितैः ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ | | कित्यतुसि गुणश्रद्धासः ॥ ६५ ॥ श्लानिर्वाजितैरम्लानैः ॥ ६६ ॥ | |
| प्रकल्पितैस्तत्र वेद्यामलंचक्रतुरिति शेषः । तस्या वेद्या मध्ये | | शोभनेन क्षय्याप्रमाणेनोच्चकैरुन्नतैः । मदनिका सत्यसंकल्पेन | |
| वैबाहिकं ज्वलनं प्रतिष्ठाप्य चन्दनदारुभिर्ज्वालयामासतुः ॥ ५४ ॥ | | समैः कुसुमैर्निर्मितैर्दीर्घशय्याकारेण दीर्घाभूतेन्दुबिम्बप्रतिमैः | |
| तं ज्वालितज्वालं दक्षिणावर्तेशिखत्वाद्दक्षिणस्थं ज्वलनं नियोज्य | | पुष्पैः परितो व्याप्तमिति पूर्वत्रान्वयः ॥ ६७ ॥ पुनस्तल्पमेव | |
| प्रदक्षिणं कृत्वा तस्याग्नेरग्रे पल्लवविष्टरे विविशतुरिति परेणान्वयः | | विशिनष्टि—क्षीरोदेत्यादिना । नतं संक्रान्तम् ॥ ६८ ॥ चिरात् | |
| ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ भवश्च भवानी च भवौ । 'पुमान् स्त्रिया' इति | | राज्यत्यागकालादारभ्य अन्यतया अदम्पतित्वेन आन्त्या उदितं | |
| पुंशेषः । शिवौ मङ्गलस्वरूपौ ॥ ५७ ॥ परस्परमात्मदाने | | तन्मिथुनं स्त्रीपुंसद्वन्द्वं पुष्पराशौ तस्मिन्तल्पे न्यषीदत् । उप- | |
| किं दायं परस्परं ददतुस्तमाह—स्वदायमिति ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ | | भोगेन तल्पोपमर्दकत्वान्मन्दरदृष्टान्तः ॥ ६९ ॥ तयोः सत्का- | |
| संभोगकालसान्निध्यस्मृतेः स्मयमानमुखौ ॥ ६० ॥ विवाहव्या- | | न्तयोस्तैस्तैर्लोकोत्तरैः प्रणयपेशलवाग्विलासैस्तत्कालोचितपरि- | |
| पारेणाद्यः प्रहरोऽतिक्रान्त इति सूचयन्माह—एतस्मिन्निति । | | रम्भणादिकार्यसुभगैर्गन्धमाल्यताम्बूलार्पणादिप्रणयोपचारैर्नवन- | |
| चतुर्भागं चतुर्थभागम् ॥ ६१ ॥ तस्मिन्तल्पे करान् संचारया- | | वेन संभोगसुखेन दीर्घा सा रजनी मुहूर्तमिव जगाम ॥ ७० ॥ | |
| मास । यथा कामुकस्य दृष्टिललनाच्छिद्रं द्रष्टुमभितः करान् | | इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे | |
| स्वकिरणान् प्रसारयति तद्वत् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ संगमसुमुहूर्तकं | | लीलाविवाहो नाम षडुत्तरशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥ | |
| प्रतीक्षमाणाविति शेषः । काञ्चनमर्यां कन्दरां गुहां विविशतुः | | नानागिरिविहारादि तथा मायेन्द्रदर्शनम् । | |
| ॥ ६४ ॥ चन्द्रस्याप्यदृश्यत्वाद्गुप्ता । तत्र तल्पं ददर्शतुः । | | अक्षंसकिपरीक्षार्थं स्वर्गाङ्गानादि वर्णयते ॥ १ ॥ | |
| तदेव वर्णयति—कल्पितमित्यादिसार्धत्रयेण । ददर्शतुरिति | | रङ्गेण रजकद्रव्येण ॥ १ ॥ देवसदृशभोगाढ्यत्वादेवदंपती | |

१ तयोर्दंपत्योर्मध्ये स शिखिध्वज इत्यन्वयः, २ लाजानीति

नपुंसकत्वमार्थम्, ३ अनन्तमेति पाठः.

विलेसतुर्विचित्रासु प्रत्यहं वनराजिषु ।
 प्रथकफलभारासु पुष्पपल्लविनीषु च ॥ ३
 दिवा प्रीततरौ मित्रे यामिन्यामिष्टदंपती ।
 प्रभादीपाविष ऋष्टौ न वियुक्तौ बभूवतुः ॥ ४
 रेमाते वनकुञ्जेषु गुहासु च महीभृताम् ।
 तमालजालखण्डेषु मन्दारगहनेषु च ॥ ५
 सहादुर्दुरकैलासमहेन्द्रमलयेषु च ।
 गन्धमादनविन्ध्याद्रिलोकालोकतटेषु च ॥ ६
 दिनैस्त्रिभिस्त्रिभिर्गत्वा निद्रां गतवति प्रिये ।
 चूडाला राजकार्याणि कृत्वा स्वभ्याययौ पुनः ॥ ७
 तौ दिवा सुहृदौ मित्रे दंपती कुम्भभूमिपौ ।
 नानाकुसुमसंवीतौ तस्थतुर्मुदितौ मिथः ॥ ८
 मासमेकं महेन्द्राद्रौ रम्ये सरलसंकुले ।
 रत्नकुड्ये गुहागोहे पूजितौ सुरकिंनरैः ॥ ९
 हस्तलभ्योदितामोघमन्दारवनमालिते ।
 एवं शुक्तिमतः पृष्ठे पक्षं कल्पलतागृहे ॥ १०
 मासद्वयं पक्षवतो गिरेर्वक्षिणादिक्वटे ।
 पारिजातवने देवपुष्पस्तवकमण्डपे ॥ ११
 जम्बूखण्डतले मेरोः पादे जम्बूनदीतटे ।
 जाम्बूनदमये मासं जम्बूफलरसासवैः ॥ १२
 दशोत्तरकुरूणां च मण्डले दिवसानि तौ ।
 कोसलेषूत्तरस्थेषु सप्तविंशतिवासरान् ॥ १३
 एवमन्येषु देशेषु विचित्रेषु महीभृताम् ।
 स्थितवन्तौ महाभागौ सुहृदौ निशि दम्पती ॥ १४
 ततो यातेषु मासेषु शनैः कतिपयेषु सा ।
 चूडाला खिन्त्यामास देवपुत्रकरूपिणी ॥ १५
 सुरूपभोगभारेण परीक्षेऽहं शिखिध्वजम् ।

॥ २ ॥ ३ ॥ यामिन्यां रात्रौ । ऋष्टौ युक्तौ ॥ ४ ॥ ५ ॥
 सहादयः सप्त पर्वताः ॥ ६ ॥ प्रिये निद्रां गतवति स्वनगरं
 मत्वेति शेषः ॥ ७ ॥ ८ ॥ क क कियत्किमत्कालं तस्थतुस्तत्रा-
 ह—मासमित्यादिना । पूजितौ प्रथस्तौ ॥ ९ ॥ हस्तलभ्यान्यु-
 दितानि उद्भूतानि क्षुण्णारोगजराद्यपहास्तिवादमोघानि फलकु-
 सुमफलकलायीनि येषां तत्रविधैर्मन्दारैर्वनमालिते संजातव-
 नमाले । शुक्तिमतः पर्वतविशेषस्य पृष्ठे ॥ १० ॥ पक्षवतो गिरे-
 मैनकाक्ष । देवभोग्ये पुष्पस्तवकमण्डपे ॥ ११ ॥ मेरोर्वक्षिणादे
 जम्बूद्वीपकेतुर्जम्बूद्वीपः प्रसिद्धस्तत्संततिजे जम्बूवनखण्डतले त-
 स्थतुर्गति सर्वत्राद्युपपन्नः । जम्बूफलानां गजप्रमाणानां रसकक्ष-
 णैरासवैः पेयैः खेददौर्बन्ध्यजरामयादिनिर्मुक्तस्थिरयौकनाभिति
 पुराणप्रतिश्रुतिसारेणाभ्याहार्यम् ॥ १२ ॥ उत्तरकुरूणां मण्डले
 दश दिवसानि तौ तस्थतुः ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ परीक्षे परीक्ष्ये ।
 वर्तमानस्वामीन्यास्तद् । रतिमाकृतिम् । परीक्षया दृढीकृतानास-
 क्षिरयं कदापिदपि भोगेषु रतिं मा एष्यति नैष्यत्येवेत्यर्थः ॥ १६ ॥

मा कदाचन चेतोऽस्य भोगेषु रतिमेष्यति ॥ १६
 इति संखिन्य चूडाला मायया विपिनावनौ ।
 आगतं दर्शयामास ससुराप्सरसं हरिम् ॥ १७
 इन्द्रमभ्यागतं दृष्ट्वा परिवारसमन्वितम् ।
 यथावत्पूजयामास वनसंस्थः शिखिध्वजः ॥ १८
 शिखिध्वज उवाच ।
 आत्मना किं कृता दूरादभ्यागमकदर्शना ।
 देवराज यथा तन्मे प्रसादाद्भक्तुमर्हसि ॥ १९
 इन्द्र उवाच ।
 इमे वयमिहायातास्त्वहुणातिशयेन स्नात् ।
 हृदि लग्नेन सूत्रेण खगा वनगता इव ॥ २०
 उत्तिष्ठ स्वर्गमागच्छ तत्र सर्वं त्वदुन्मुखाः ।
 त्वहुणश्रवणाश्चर्याः स्थिता देवाङ्गनागणाः ॥ २१
 पादुकागुटिकाखङ्गरसादीदमथापि च ।
 गृहीत्वा सिद्धमार्गेण स्वीकुरु स्वर्गमण्डलम् ॥ २२
 आगत्य विविधा भोगास्त्वया विबुधसद्यनि ।
 जीवन्मुकेन भोक्तव्यास्तेन त्वामहमागतः ॥ २३
 विमानयन्ति संप्राप्तां न तिरस्करणैः ध्रियम् ।
 नाभिवाञ्छन्ति न प्राप्तां त्वाद्दशाः साधु साधवः २४
 अविग्रमागतेनाद्य सुखं विहरता त्वया ।
 स्वर्गः पवित्रतां यातु हरिणेषु जगद्भयम् ॥ २५
 शिखिध्वज उवाच ।
 सर्वं स्वर्गसमाचारं वेद्मि देवाधिनायक ।
 किंतु सर्वत्र मे स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित् ॥ २६
 सर्वत्रैव हि तुष्यामि सर्वत्रैव रमे प्रभो ।
 अथाच्छन्तवान्मनसः सर्वत्रानन्दवानहम् ॥ २७

सुरैरप्सरोभिश्च सह वर्तमानं हरिसिन्द्रम् ॥ १७ ॥ यथावत्
 यथाशास्त्रमर्घ्यपाद्याद्युपचारैः ॥ १८ ॥ अभ्यागमलक्षणा कद-
 र्यना भ्रमः किं किमर्थं कृता यथा यत्प्रकारेण प्रयोजनेन तत्
 प्रयोजनं वक्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ १९ ॥ स्नात् स्वर्गात् ॥ २० ॥
 त्वहुणश्रवणप्रयुक्तमार्थं विस्मयो येषां यासां च देवाश्च
 तदङ्गनागणाश्च देवाङ्गनागणाः ॥ २१ ॥ गगनगमनशक्ति-
 न्यस्य मे कथं स्वर्गं आगमनं तत्राह—पादुकेति । अथ सिद्ध-
 न्तरविमानदिव्याश्चाद्यपि च ॥ २२ ॥ तेन त्वदाह्वानप्रयोजनेन
 ॥ २३ ॥ प्रत्याख्यानं हृदिस्थमालक्ष्याह—विमानयन्तीति
 ॥ २४ ॥ बलिद्वारपालनाय षड्भोहरणाय च पातालेऽपि हरे-
 र्विहारप्रसिद्धेर्जगत्त्रयमिति ॥ २५ ॥ स्वर्गसम आचारः सुख-
 विहरणं यस्मिंस्तथाविधम् । स्वर्गेण समं सुखमाचरतीत्यणन्तं
 वा । सर्वं देशम् । तथा वेदने हेतुस्तवमि को विशेष इति चेत्-
 माह—किंत्विति । मदभिमतः स्वर्गो भूमात्मैव । स च सर्वत्रै-
 वेति भावः । नियतः परिच्छिन्नः ॥ २६ ॥ पूर्णकामत्वादिपि

नियतं किञ्चिदेकत्र स्थितं स्वर्गकमीदृशम् ।
शक्रं गन्तुं न जानामि त्वदाज्ञां न करोम्यहम् ॥ २८
शक्र उवाच ।
साधो विदितवेद्यानां परिपूर्णधियां समम् ।
सज्जनाचरितं युक्तं मन्ये भोगोपसेवनम् ॥ २९
देवेशे प्रोक्तवत्येवं तूष्णीमेव स्थिते नृपे ।
किमितो नापयाम्येष त्वमिति प्रोक्तवान् हरिः ॥ ३०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शक्रगमनं नाम सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

अष्टोत्तरशततमः सर्गः १०८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तां मायां शममानीय चूडाला समचिन्तयत् ।
दिष्ट्या भोगेच्छया नायं हियते वसुधाधिपः ॥ १
शान्तः समसमाभोग पदं शक्रसमागमे ।
असंरम्भमहेलं च कृतवान्व्यावहारिकम् ॥ २
भूय एव प्रपञ्चेन विमृशाम्येव सादरम् ।
रागद्वेषप्रधानेन केनचिद्बुद्धिहारिणा ॥ ३
इति संचिन्त्य सा रात्राविन्दावभ्युदिते वने ।
गृहीतमङ्गनारूपं कान्ता मदनिका सती ॥ ४
घाते वहति फुल्लाब्धे मधुरामोदमांसले ।

मे सर्वत्र सुखमित्याह—सर्वत्रेति ॥ २७ ॥ तुच्छं स्वर्गं स्व-
र्गकं गन्तुं न जानामि न संभावयामि । तथा चासंभाव्यविषये
आज्ञापनं तवैवानुचितं न तु मम तदकरणमपराध इति भावः
॥ २८ ॥ पूर्णधियां भोगोपसेवनं भोगानुपसेवनं च समम् ।
तत्रापि भोगोपसेवनं सज्जनैः प्रारब्धक्षयायाचरितमतस्तद्युक्तं
मन्ये इत्यर्थः ॥ २९ ॥ देवेशे एवं पुनः प्रोक्तवत्यपि स्वर्गं
गन्तुमनिच्छया नृपे तूष्णीं स्थिते सति एष एवंविधो निरपे-
क्षस्त्वं यदि तर्ह्यहमितः किं नापयामि । असंपन्नागमनप्रयोज-
नस्य ममापयानमेव युक्तमिति हरिरिन्द्रः खेदं सूचयन् प्रोक्त-
वान् ॥ ३० ॥ अहमयैव न स्वर्गमागच्छामि किंतु पुना राज्ये
प्रतिष्ठितः कालेन प्रागिव त्वदरिनिवर्हणादिप्रयोजनार्थमागमि-
ष्यामीत्याशयेनार्थोक्त्या शिखिध्वजे वदति सति हे कुम्भ, ते
रात्रामिप्रेतं पुना राज्यप्राप्तिलक्षणं कल्याणमस्त्विति कुम्भं
प्रति वदन्नन्तर्धिमन्तर्धानमाययौ हरिः ॥ ३१ ॥ इन्द्रे अन्त-
र्धिमागते तेन त्रिदशेशेन युक्तं तद्वितीयं देववृन्दमपि क्षणाद-
दृश्यमभूत् । यथा वारिनिधौ घाते प्रशान्ते सति स्फुरन्ति
व्याकुलानि मकरफेनफणीन्द्रवृन्दानि यस्मिन्स्तथाविधः कल्लो-
राशिरप्यदृश्यो भवति तद्वदित्यर्थः ॥ ३२ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
हारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शक्रगमनं नाम
सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

१ कंचिद इति पाठः. २ नापयाम्येष इति मुद्रितपाठश्चिन्तः.
३ हासः इति पाठः. ४ निष्पेणेति पाठः.

नाहमयैव कालेन वदतीति शिखिध्वजे ।
कल्याणं तेऽस्तु कुम्भेति वदन्नन्तर्धिमाययौ ॥ ३१
तदेववृन्दमखिलं त्रिदशेशयुक्तं
तत्र क्षणादलमदृश्यमभूद्वितीयम् ।
कल्लोलराशिरिव वारिनिधौ प्रशान्ते
घाते स्फुरन्मकरफेनफणीन्द्रवृन्दम् ॥ ३२

संध्याजप्यपरे नद्यास्तीरसंस्थे शिखिध्वजे ॥ ५
संतानकलतागेहं नीरन्ध्रैः पुष्पगुच्छकैः ।
शुद्धान्तं वनदेवीनां प्रविवेश मदान्विता ॥ ६
तत्र संकल्पिते पुष्पशयने माल्यमालिता ।
कण्ठे संकल्पितं कान्तं खिन्नमादाय संस्थिता ॥ ७
आगत्यान्विष्य कुञ्जात्स प्रददर्श शिखिध्वजः ।
लतागेहे मदनिकां कण्ठे खिन्नं मनोहरम् ॥ ८
कुम्भलावलितस्फुटं समालम्बं च चन्दनैः ।
शयनावृतिनिक्षेपपर्याकुलितशेखरम् ॥ ९
हेमामे द्विगुणाकारबालाबाहूपधानके ।

इह क्रोधपरीक्षार्थं पिङ्गसङ्गश्च मायया ।

राश्या प्रदृश्यते रात्रे निजरूपं च पाकतः ॥ १ ॥

तामिन्द्रागमनरूपां मायां शममानीय उपसंहृत्य । हियते
वशीक्रियते ॥ १ ॥ सदा विक्रियाशून्यत्वात् समेन आकाशा-
दिना सम आभोगो मुखाद्यवयवस्थितिर्यस्य । असंरम्भमसाध्व-
समहेलं च व्यावहारिकमर्घ्यपाद्यादिना पूजनमुचितोत्तयादि
च कृतवान् ॥ २ ॥ अप्यर्थे एवकारः । केनचिद्रागद्वेषप्रधान-
प्रपञ्चेन बुद्धिहारिणा बुद्धिक्षोभकेण ॥ ३ ॥ गृहीतमङ्गनारूप-
मिति पदयोः कण्ठे संकल्पितं कान्तमिति चतुर्थे संबन्धः ॥ ४ ॥
फुल्लाब्धे पुष्पिततरुलतासंपन्ने घाते मलयानिले वहति सति
नीरन्ध्रैः पुष्पगुच्छकैरुपलक्षितं वनदेवीनां शुद्धान्तं संतानकल-
तागेहं प्रविवेशेति परेणान्वयः ॥ ५ ॥ ६ ॥ तत्र माल्यैर्मा-
लिता अलंकृता सती मायया संकल्पितमनुरूपं युवानमङ्गनारूप-
पमङ्गनानामिषानुद्गतश्मश्र्वादिव्यञ्जनं षोडशवर्षाकृतिरूपं यस्य
तथाविधमत एव श्मश्रुलाच्छिखिध्वजात्कान्तं मनोहरतमं
खिन्नं विटं कण्ठे गृहीतमादाय संस्थितेत्यन्वयः ॥ ७ ॥
जप्यान्ते शिखिध्वजः संध्याजप्यस्थानात् कुञ्जादागस्य मदनि-
कमन्विष्य कल्पलतागेहे मदनिकां तत्कण्ठे मनोरमं खिन्नं च
ददर्श ॥ ८ ॥ खिन्नं विशिनष्टि—कुम्भललेल्यादिना । मदनिका-
कुम्भतलैः खकुन्तलैश्चावलितस्फुटम् । समालम्बं लिप्तम् । शयने
आश्रया परिवर्तनेन निक्षेपेण च पर्याकुलितः शेखरचूडान्वधो
यस्य तम् ॥ ९ ॥ आकुम्भनाद्विगुणाकारे बाह्यबाहुलक्षणे

संसक्तश्रवणापाङ्गकपोलतलकुन्तलम् ॥ १०
 मिथुनं तद्दर्शयथ मिथः प्रहसिताननम् ।
 अन्योन्यवदनासक्तं छन्नं कल्पलतांशुकैः ॥ ११
 आलोलमाल्यशयनं मदनातुरमाकुलम् ।
 अङ्गलप्रच्छलेनात्मरागमन्योन्यमर्पयत् ॥ १२
 अभ्युन्मुखं समानन्दमुहाममदमन्थरम् ।
 परस्पराहतं पुष्पैर्धक्षोभ्यां पीडितस्तनम् ॥ १३
 तदालोक्याविकारेण चेतसालं तुतोष सः ।
 अहो सुखं स्थितौ खिन्नावित्याह स शिखिध्वजः ॥ १४
 तिष्ठताङ्ग यथाकामं सुखं खिन्नौ यथास्थितम् ।
 विघ्नं माकरवं भीतावित्युक्त्वा निर्जगाम सः ॥ १५
 ततो मुहूर्तमात्रेण प्रपञ्चं तमुपेक्ष्य सा ।
 निर्ययां दर्शयन्ती स्वं रतिफुल्लाकुलं वपुः ॥ १६
 उपविष्टं ददर्शनं नृपं हेमशिलातले ।
 समाधिसंस्थमेकान्ते मनाग्विकसितेक्षणम् ॥ १७
 तं प्रदेशमुपागम्य लज्जावनमितानना ।
 तूष्णीमासीत्क्षणं खिन्ना म्लाना मदनिकाङ्गना ॥ १८
 क्षणाच्छिखिध्वजो ध्यानाद्विरतस्तामुवाच ह ।
 अत्यन्तमधुरं वाक्यमिदमक्षुब्धया धिया ॥ १९
 तन्वि किं शीघ्रमेव त्वं विघ्नितानन्दमागता ।
 आनन्द्यायैव भूतानि यतन्ते यानि कानिचित् ॥ २०
 भूयस्तोषय तं गच्छ कान्तं प्रणयवृत्तिभिः ।
 परस्परेप्सितस्नेहो दुर्लभो हि जगन्नये ॥ २१
 अहमेतेन चार्थेन नोद्वेगं यामि मानिनि ।
 यद्यदिष्टतमं लोके तत्तदेवं विजानता ॥ २२
 अहं कुम्भश्च तन्वङ्गि वीतरागाविद्वेतरा ।

दुर्वासःशापजा बाला त्वं यदिच्छसि तत्कुरु ॥ २३
 मदनिकोवाच ।
 एवमेष महाभाग स्त्रीस्वभावो हि चञ्चलः ।
 कामो ह्यष्टगुणः स्त्रीणां न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ २४
 अबलाहमनेनास्मि रात्रौ गहनकानने ।
 त्वयि संव्याजपपरे किं करोमि वराकिका ॥ २५
 अबला वा कुमारी वा जारं न रतिरोधनम् ।
 करोति परिखिन्नेन नाङ्गे स्वे विनिवेशितम् ॥ २६
 स्त्रियः सुन्दरतां याताः पुरःपुंसामसङ्गमे ।
 मन्युर्निषेध आक्रन्दः सतीत्वं किं करिष्यति ॥ २७
 अबला स्त्री तथा बाला मूढाहमपराधिनी ।
 क्षन्तुमर्हसि नाथ त्वं क्षमावन्तो हि साधवः ॥ २८
 शिखिध्वज उवाच ।
 मन्युर्मम न बालेऽन्तर्विद्यते ख इव द्रुमः ।
 केवलं साधुनिन्द्यात्वाभेच्छामि त्वामहं वधुम् ॥ २९
 सुहृत्त्वेन वनान्तेषु पूर्ववत्सुखमङ्गने ।
 वीतरागतया नित्यं सममेव रमावहे ॥ ३०
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 एवं समतया तत्र स्थिते तस्मिच्छिखिध्वजे ।
 चूडाला चिन्तयामास तत्सर्वेनोदिताशया ॥ ३१
 अहो बत परं साम्यं भगवानयमागतः ।
 वीतरागतयाऽकोधो जीवन्मुक्तोऽवतिष्ठते ॥ ३२
 नैनं हरन्ति ते भोगा न महत्योऽपि सिद्धयः ।
 न सुखानि न दुःखानि नापदो न च संपदः ॥ ३३
 चिन्तिताः सकला एकं प्रयान्त्येनमनिन्दिताः ।
 मन्ये महर्षयः कान्ता नारायणमिवापरम् ॥ ३४

उपधानके उपबर्हे संसक्तं श्रवणादिचतुष्टयं यस्य ॥ १० ॥ मिथुनं
 स्त्रीपुंसद्वन्द्वम् ॥ ११ ॥ अङ्गानां लम् संश्लेषस्तच्छलेन । अर्पयत्
 आसंजयत् ॥ १२ ॥ परस्पराभ्युन्मुखम् ॥ १३ ॥ अविकारेण
 क्रोधविकाररहितेन ॥ १४ ॥ स्वदर्शनाद्भीतौ तौ प्रति हे अङ्ग,
 यथाकामं तिष्ठत तिष्ठतम् । अहं विघ्नं माकरवं इत्युक्त्वा निर्ज-
 गाम ॥ १५ ॥ तं मायाप्रपञ्चमुपेक्ष्य उपसंहृत्येति यावत् ।
 रत्या विटसंभोगेन फुल्लं विकसितमाकुलं च ॥ १६ ॥ १७ ॥
 ॥ १८ ॥ १९ ॥ यानि कानिचित् सर्वाणीत्यर्थः ॥ २० ॥
 परस्परमीप्सितः, अकृत्रिम इति यावत् ॥ २१ ॥ विजानता
 पुंसा यद्यदिष्टतमं तत्तदेवं त्वाहशमेव परोपभोग्यमिति ज्ञेयमिति
 शेषः ॥ २२ ॥ न च त्वदपराधेन मम कुम्भे अविस्मय
 इत्याशयेनाह—अहमिति । त्वं कुम्भादितरैवेति शेषः । अतो
 यदिच्छसि तन्निःशङ्कं कुरु ॥ २३ ॥ २४ ॥ अनेन अस्मि
 प्रार्थितेति शेषः ॥ २५ ॥ अबला पत्या ऊढा तत्पारतन्त्र्यास्त्वा-
 तन्व्यबलहीना । कुमारी अन्ना वा तरुणी एकान्ते जारं प्राप्य
 रतेः रोधनं प्रतिबन्धं न करोत्येव । अयं स्त्रीस्वभाव इत्यर्थः ।

परिखिन्नेन परिहृतजारेण तु देवात्संपन्नरतिविघ्नेन स्वे अङ्गे हेहे
 मनःप्राणादीनां विनिवेशितम् । भावे कः । स्वैर्यं न करोति ।
 तरलतरमनःप्राणा भूत्वा संतप्यत इत्यर्थः ॥ २६ ॥ स्त्रीणां हि
 पुंवशीकारसमर्थसौन्दर्यालाभ एवैकः पुंसामसमागमे हेतुर्नान्यः ।
 यदि स्त्रियः पुंवशीकारसमर्था सुन्दरतां याताः प्राप्ता एकान्ते
 च पुंसां पुरो भवन्ति तदा तासामसंगमे न कश्चिदेतुः । नन्वमि-
 साक्षिकतया विवाहितस्य भर्तुर्मन्युः शास्त्रीयः परपुरुषसंगमनि-
 षेधो जनापवादलक्षण आक्रन्दः स्वपातिव्रत्यभङ्गश्च विवेकहृष्टा
 पर्यालोच्यमाना जारासंगमे हेतवः किं न स्युस्तत्राह—मन्यु-
 रिति । प्रबलतररतिरागबाधितास्ते न जारसङ्गं निरोद्धुं समर्था
 इति भावः ॥ २७ ॥ अत एव क्षमापयामीत्याशयेनाह—अब-
 ल्हेति ॥ २८ ॥ स्वे आकाशे द्रुम इव । वधुं भार्यां नेच्छामि
 ॥ २९ ॥ ३० ॥ तस्य सर्वेण रागद्वेषवासनाभ्रान्त्यतया परी-
 क्षितचित्तेन । उदिताशया इष्टा ॥ ३१ ॥ अक्रोध इति
 श्लेदः ॥ ३२ ॥ ते इन्द्रप्रार्थिता भोगाः सिद्धयश्च ॥ ३३ ॥
 चिन्तिता मदभिप्रेताः सकला जीवन्मुक्तलक्षणभूताः यान्ति

आत्मपुत्रान्तमखिलं तमेवं स्मारयाम्यहम् ।
कुम्भरूपमिदं त्यक्त्वा चूडालैश्च भवाम्यहम् ॥ ३५
इति संचिन्त्य चूडाला चूडालावपुरक्षता ।
दर्शयामास तत्राशु त्यक्त्वा मदनिकावपुः ॥ ३६
तस्मान्मदनिकावेहाचूडाला निर्गतेव सा ।
बभूवस्य पुरो युक्ता निर्गतेव समुद्रकात् ॥ ३७
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० चूडालास्वरूपदर्शनं नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः १०८

तां ददर्शानवद्याङ्गीं पुनः प्रणयपेशलाम् ।
कान्तां मदनिकामेष चूडालां वषितां स्थिताम् ॥ ३८
समुदितामिव माधवपद्मिनी-
मुपगतामिव भूमितलाच्छ्रियम् ।
प्रकटितामिव रत्नसमुद्रका-
त्परिवर्षा निजां वषितां नृपः ॥ ३९

नवाधिकशततमः सर्गः १०९

धीवसिष्ठ उवाच ।

अथ तां वषितां दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्लोचनः ।
शिखिध्वज उवाचेदमाश्चर्याकुलया गिरा ॥ १
का त्वमुत्पलपत्राक्षि कुतः प्राप्तासि सुन्दरि ।
किमिहासि कियत्कालं किमर्थमिह तिष्ठसि ॥ २
अङ्गेन व्यवहारेण स्मितेनानुनयेन च ।
मम जायाविलासेन तत्कलेबोपलक्ष्यसे ॥ ३
चूडालोवाच ।
एवमेव प्रभो विद्धि चूडालास्मि न संशयः ।
अकृत्रिमेव वेहेन लब्धोऽस्यथ मया स्वयम् ॥ ४
कुम्भादिदेहनिर्माणैस्त्वां बोधयितुमेव मे ।
प्रपञ्चः शतशतकत्वसिद्ध यातो वनान्तरे ॥ ५
यदा राज्यं परित्यज्य मोहेन तपसे वनम् ।
त्वमाशास्तत्प्रभृत्येव त्वद्बोधायाहमुद्यता ॥ ६
अनेन कुम्भदेहेन मयैव त्वं विबोधितः ।
कुम्भादिदेहनिर्माणं त्वां बोधयितुमेव मे ॥ ७
आयया न तु कुम्भादि किञ्चित्सत्यं मदीपते ।

अथो विदितवेषस्त्वं ध्यानेनैतद्वलण्डितम् ॥ ८
सर्वे पश्यसि तत्त्वज्ञ ध्यानेनाश्वबलोकय ।
अथ चूडालयेत्युक्तो बद्धा परिकरं नृपः ॥ ९
आत्मोदन्तं विशेषेण ध्यानेनामलमैक्षत ।
अभिराज्यपरित्यागाच्चूडालादर्शनावधि ॥ १०
सर्वं मुहूर्तध्यानेन चात्मोदन्तं ददर्श सः ।
आराज्यसंपरित्यागाद्द्वर्तमानक्षणक्रमम् ॥ ११
सर्वमालोक्य भूपालो विरराम समाधितः ।
समाधिविरतो हर्षविकासिनयनाम्बुजः ॥ १२
विसार्य तरसा बाहू पुलकोज्वलतां गतौ ।
गलदङ्गं घनकोहं मुञ्चद्वाष्पं स्फुरत्स्पृहम् ॥ १३
आलिलिङ्गं चिरं कान्तां नकुलो नकुलीमिव ।
तयोरास्त्रिङ्गने तस्मिन्स्तत्र भावो बभूव यः ॥ १४
न स वासुकिजिह्वामिवैकुं हर्षेण शक्यते ।
दिविस्थाविव पङ्केन कृताविव मिलत्तनू ॥ १५
शैलाविव समुत्कीर्णो शिष्टावास्तां चिरं प्रिथौ ।
मुहूर्तेन गलदङ्गमज्जलौ पुलकपीवरौ ॥ १६

क्षमाधैर्यतृप्यादिरूपा अनिन्दिता महर्देय एकमेनं प्रयान्ति
प्राप्नुवन्ति । आश्रयन्तीति यावत् ॥ ३४ ॥ तमेवंगुणविशिष्टत्वा-
त्कृत्वात्तस्मारणयोग्यभूतमेनं प्रति स्मारयामि ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
शुक्ला योगधारणावती समुद्रकात्संपुटकात्निर्गतेव ॥ ३७ ॥
प्रणये भर्तृचित्तानुराजने वैशालीं चतुराम् । दयितां पूर्वदयि-
ताम् ॥ ३८ ॥ माधवे वसन्ते समुदितां पद्मिनीं कमलिनी-
मिव । अथका समुदितां समुद्रामाविर्भूतां वा माधवस्य विष्णोः
पद्मिनीं पद्महस्तां श्रियमिव । रामावतारावसाने रामस्य विष्णु-
भक्त्यै प्राक्सीतत्वेन भूमितलप्रविष्टां ततो भूमितलात्पुनरुपगतां
श्रियमिव रत्नसंपुटकात्प्रकटितां रत्नश्रियमिव च नृपो निजां
वषितां चूडालां परिवर्षा । पुरो ददर्शैत्यर्थः ॥ ३९ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहाराभायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चूड-
ालास्वरूपदर्शनं नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

इह्य इह्य नृपे एवमाहुः सर्वं सुविस्मितः ।

चूडः प्रवक्ष्ये चूडालानालिङ्गमात्रमवशिष्टाम् ॥ १ ॥

इदं वक्ष्यमाणम् ॥ १ ॥ कुम्भादिरूपेण त्वमेव किमिहासि ।

कियत्कालं किमर्थं वा इह मत्संनिधौ तिष्ठसि । यद्यपि कुम्भः

स्थितिकालप्रमाणं जानात्येव तथाप्यस्या वेषान्तरेण कुम्भाग-
मनात्प्रागपि स्थितिसंभावनात्कियत्कालमिति प्रश्नः ॥ २ ॥
अङ्गेन अवयवसंस्थानेन तत्रेष्टालक्षणव्यवहारेण अनुनयेन प्रेम-
वाक्प्रबन्धशैल्या मम जायायाश्चूडालायाः प्रसिद्धेन विलासेन
तस्याः कला मूर्तिरिव उपलक्ष्यसे दृश्यसे ॥ ३ ॥ अकृत्रिमेण
सहजेन ॥ ४ ॥ ५ ॥ तत्प्रवृत्ति तदाप्रवृत्त्येव ॥ ६ ॥ ७ ॥
सत्यमकल्पनिकम् । ध्यानेन प्रागुक्तयोगधारणया ॥ ८ ॥
पर्यसि द्रक्ष्यसि । परिकरं तादृशधारणानुकूलसन्नादि ॥ ९ ॥
अभि उपरि ॥ १० ॥ आवर्तमानक्षणक्रममिति अत्राप्याहनु-
कृष्यते ॥ ११ ॥ १२ ॥ पुलकोज्वलतां गतौ बाहू विसार्य
प्रसार्य आलिलिङ्गेति परेणान्वयः ॥ गलदङ्गं छिन्नावयवम् ।
चत्वारि क्रियाविशेषणानि ॥ १३ ॥ भावशब्देनात्राभिव्यक्तः
परस्परानुरायलक्षणः स्थायिभावः । यो बाहवो वाचाभयोर्चदः
परमानन्दरूपः शृङ्गाररसो बभूव स वासुकिजिह्वाभिरपि वक्तुं
न शक्यत इत्यन्वयः ॥ १४ ॥ दिविस्थी चन्द्रसूर्यावमाया-
मिव मिलत्तनू पङ्केनाद्दृष्टदा कृताविव ॥ १५ ॥ शैलौ एक-

१ आस्व राज्य इति पाठः.

बाहू विरुधतामीषन्धितुस्तौ शनैः प्रियौ ।
 अमृतापूर्वहृदयौ संशून्यहृदयोपमौ ॥ १७
 उन्मुक्तभुजमास्तां तावलक्षस्थितलोचनम् ।
 घनानन्दक्षणं स्थित्वा तूर्णानि प्रणयपेशलम् ॥ १८
 कान्तां चिबुकसंलग्नकरः प्रोवाच भूपतिः ।
 अस्यन्तमधुरक्षिग्धः कान्तः स्वकुलयोषिताम् ॥ १९
 पुण्यञ्च रतिनिष्पन्दः स्वादुर्नामाश्रुतादपि ।
 कियत्प्रमाणस्तन्वद्भ्या त्वया बालेन्दुमुग्धया ॥ २०
 अनुभूतधिरं क्लेशो भर्तुरर्थेन वारुणः ।
 एवं दुरुत्तरात्तस्मात्संसारकुहरादहम् ॥ २१
 उत्तारितो यया बुद्ध्या सा हि केनोपमीयते ।
 अरुन्धती शची गौरी गायत्री श्रीः सरस्वती ॥ २२
 समस्ताः पेलवायन्ते तव तन्व्या गुणश्रिया ।
 धीः श्रीः कान्तिः क्षमा मैत्री करुणाद्यास्तु सुन्दरि ॥ २३
 कान्तास्वाकारकान्तासु प्रथमेवामिलक्ष्यसे ।
 परेणाध्यवसायेन त्वयाहमवबोधितः ॥ २४
 केन प्रत्युपकारेण परितुष्यति ते मनः ।
 मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि ॥ २५
 पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलश्रियः ।
 शास्त्रार्थगुरुमन्त्रादि तथा नोत्तारणक्षमम् ॥ २६
 यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तृणां कुलयोषितः ।
 सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुमित्रं धनं सुखम् ॥ २७
 शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ।
 सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः ॥ २८
 लोकद्वयसुखं सम्यक्सर्वं यासु प्रतिष्ठितम् ।
 निरिच्छायाः प्रयातायाः पारं संसारवारिधेः ॥ २९
 कथमस्योपकारस्य करिष्ये ते प्रतिक्रियाः ।
 मन्ये कुलाङ्गनां लोके लोके सर्वास्त्वयाधुना ॥ ३०

शिलासमुत्कीर्णपरस्परालिङ्गितमूर्तां इव शिष्टौ मिलितौ चिर-
 मास्ताम् ॥ १६ ॥ आनन्दातिशयेन मनसो जडीभावेन तत्स-
 ज्जावव्यञ्जकलिङ्गादर्शनात्संशून्यहृदयोपमौ ॥ १७ ॥ लक्ष्ये लो-
 चनस्यैवहेतोर्मेनसो जडीभावादेवालक्षस्थितलोचनं यथा स्या-
 त्पथा आस्ताम् । प्रणयपेशलं यथा स्यात्तथा कान्तां प्रति उवा-
 चेति परेणान्वयः ॥ १८ ॥ १९ ॥ रतिनिष्पन्दोऽनुरागर-
 सोऽस्त्रन्तमाधुर्यादिविशेषणचतुष्टयविशिष्टः कियत्प्रमाणो वि-
 स्तीर्ण इति यावत् ॥ २० ॥ भर्तुरर्थेन पुरुषार्थसिद्धिप्रयोजनेन
 हेतुना ॥ २१ ॥ यया मर्तृजेहबुद्ध्या । सा बुद्धिः ॥ २२ ॥
 धीः श्रीरित्याद्या दशकन्या आकारेण सौन्दर्येण कान्तासु स्त्रीषु
 श्रेष्ठाः प्रतिष्ठास्तास्वपि त्वं प्रथमा श्रेष्ठा सतीवामिलक्ष्यसे इति
 परेणान्वयः ॥ २३ ॥ २४ ॥ कृतार्थायास्ते मनः केन प्रत्यु-
 पकारेण परितुष्यति । येन तुष्यति तादृशः प्रत्युपकारो दुर्लभ
 इति भावः ॥ २५ ॥ शास्त्रार्थेत्यादिरतिशयोक्तिः प्रशंसार्था ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ निरिच्छायाः कृतकस्यायास्ते प्रत्युपकारेऽह-

मारीसौजन्यधर्मास्तु व्यपदेश्या भविष्यसि ।
 त्वां निर्मितवतो धातुर्गुणजालातिशायिनीम् ॥ ३१
 मन्ये प्रकुपिता नूनमरुन्धत्यादिकाः स्त्रियः ।
 सती त्वं रूपसौजन्यगुणरत्नसमुद्भिके ॥ ३२
 एहि मे त्वहृणोत्कस्य पुनरालिङ्गनं कुरु ।
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीं चूडालां तां शिखिध्वजः ॥ ३३
 बालिलिङ्ग पुनर्गाढं नकुलौ नकुलीमिव ।
 चूडालोवाच ।
 देव शुष्कक्रियाजालपरे त्वस्याकुलात्मनि ॥ ३४
 भूयोभूयो भृशमहं त्वदर्थं दुःखिताभवम् ।
 तेन त्वदवबोधात्मा स्वार्थं एवोपपादितः ॥ ३५
 मया तदत्र किं देव करोषि मम गौरवम् ।
 शिखिध्वज उवाच ।
 त्वया यथा वरारोहे स्वार्थः संपाद्यते शुभः ॥ ३६
 तमिदानीं तथा सर्वाः साधयन्तु कुलाङ्गनाः ।
 चूडालोवाच ।
 बुध्यसे कान्त विभ्रान्तो जगज्जालतटे विभो ॥ ३७
 अद्य तं प्राक्तनं किञ्चिन्मोहं समनुपपद्यसि ।
 इदं करोमि नेदं तु प्राप्नोमीदमिति स्थितिम् ॥ ३८
 अन्तर्द्वससि तां कश्चिद्दशापेलवतां धियः ।
 तास्तुच्छृण्णाकलनास्ताः संकल्पकुकरुपनाः ॥ ३९
 त्वयि नाद्यावलोकयन्ते देव व्योम्नीव पर्वताः ।
 किं त्वमद्याङ्ग संपन्नः किनिष्टोऽसि किमीहसे ॥ ४०
 कथं पश्यसि पाश्चात्यं देहचेष्टाक्रमं विभो ।
 शिखिध्वज उवाच ।
 सुमनःपूर्णनीलाङ्गमालासारविलोचने ॥ ४१
 त्वमेव यस्य यस्यान्तस्तत्तस्याहमुपास्थितः ।

मसमर्थ इत्याह--निरिच्छाया इति ॥ २९ ॥ कुलाङ्गनां मन्ये
 स्वामिति शेषः । लोके प्रसिद्धाः सर्वाः कुलाङ्गनास्त्वयाऽधुना
 जिता इति शेषः ॥ ३० ॥ नारीणां सौजन्यादिगुणोत्कर्षधर्मास्तु
 प्रथमव्यपदेश्या भविष्यसि ॥ ३१ ॥ स्वापेक्षया गुणजालैरति-
 शाशिनीं त्वां निर्मितवतो धातुर्धिषये प्रकुपिता इत्यन्वयः ।
 त्वमेव सती पतिव्रता ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ साधक-
 न्त्वित्याशीः काकुर्वा । साधयितुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः । जगत्स-
 क्षणस्य जालस्य तटे परावधौ विभ्रान्तः संसारवतो बुध्यसे
 कश्चिदिति व्यवहितेनान्वयः ॥ ३७ ॥ तं प्राक्तनं पयोव्रतोपप-
 द्धादिमोहं किञ्चित्कुच्छं समनुपपद्यसि कश्चित् ॥ ३८ ॥ विभः
 अपकदशया पेलवतां कोमलताम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ कथं
 कीदृशं किं सत्यमुत तुच्छमित्यर्थः । सुमनोभिः पूर्णं नीलाङ्ग-
 मालां सरतः साहस्रयादनुसरतस्तथाविधे विलोचने यस्यास्तथा-
 विधे हे चूडाले ॥ ४१ ॥ मम प्रत्यगात्मभूता त्वमेव सा ह्ये

१ मन्थे कुलाङ्गना लोके जिताः सर्वा इति पाठः.

निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि नमःस्वच्छोऽस्मि निस्पृहः

शान्तोऽहमर्थरूपोऽस्मि चिरायाहमहं स्थितः ।

तां दशामुपयातोऽस्मि यतश्चित्तैकवर्त्मनि ॥ ४३

प्रतिषेधन्ति सहसा न यां हरिहरादयः ।

न किञ्चिन्मात्रचिन्मात्रनिष्ठोऽस्मि स्वस्थ आस्थितः ४४

अमेणाहं विमुक्तोऽस्मि संसारेणालिलोचने ।

न तुष्टोऽस्मि न खिन्नोऽस्मि नायमस्मि न चेतरेत् ४५

न स्थूलोऽस्मि न सूक्ष्मोऽस्मि सत्यमस्मि च सुन्दरि ।

तेजोविम्बात्प्रयातेन मित्तावपतितेन च ॥ ४६

क्षयातिशयमुक्तेन प्रकाशेनास्मि वै समः ।

शान्तोऽस्मि साम्यं नेतास्मि स्वस्थोऽस्मि विगताशयः ४७

परिनिर्वाण एवास्मि सदृशोऽस्मि पतिव्रते ।

यत्तदस्मि तदेवास्मि वक्तुं शक्नोमि नेतरत् ॥ ४८

तरङ्गततरलापाङ्गे गुरुस्त्वं मे नमोऽस्तु ते ।

प्रसादेन विशालाक्ष्यास्तीर्णोऽस्मि भवसागरात् ॥ ४९

पुनर्मलं न गृह्णामि शतध्मातसुवर्णवत् ।

शान्तः स्वस्थो मृदुर्यत्तो धीतरागो निरंशधीः ॥ ५०

सर्वातीतः सर्वगश्च क्षमिवायमहं स्थितः ।

चूडालोवाच ।

एवं स्थिते महासत्त्व प्राणेश हृदयप्रिय ॥ ५१

किमिदानीं प्रभो ब्रूहि रोचते ते महामते ।

मोहस्य विवेकस्य तत्त्वदर्शनस्य वा यस्य यस्यान्तःप्रकाशकतया स्थिता तत्तस्य तस्यान्तः अहमपि उप परमसमीपभूतप्रत्यगात्म-तया आस्थितः । तथा चेदानीं त्वं यथा पश्यसि तथैवाहं पश्यामीति स्थानुभवेनैव ममापि स्थितिर्ज्ञातव्येत्यर्थः । तामेव प्रपश्य दर्शयति—निरीह इत्यादिना ॥ ४२ ॥ अर्थरूपः परमार्थसत्स्वरूपः अनहमि देहादौ अहंभ्रमं त्यक्त्वा चिराय बहुकालोत्तरं वस्तुतो योऽहं स एवाहं भूत्वा स्थित इत्यर्थः । अहं प्रत्यक्षप्रवणचित्तैकवर्त्मन्यधिष्ठितस्तां निरतिशयानन्ददशा-मुपयातोऽस्मि यां प्रयत्नसहसैरपि प्रतिषेद्धं प्रवृत्ता हरिहरादयो महाप्रभावा अपि न प्रतिषेधन्ति न निरसितुं शक्नुवन्ति । 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा शेषां स भवति' इति श्रुतेः । अहेयस्यात्मनो हापनाघटनाचेति भावः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ अयं दृश्यः कार्यवर्गः । इतरत् कारणम् ॥ ४५ ॥ सत्यमबाधितवस्तु । तेजोविम्बात्सूर्यादिमण्डलाद्ब्रूहिः प्रयातेन मित्तावपतितेन च नभोमात्रविसारिणा प्रकाशेनालोकेन ॥ ४६ ॥ जगतः सर्वं वैषम्यं निरस्य साम्यं नेतास्मि । विगताशयो निर्म-जस्कः ॥ ४७ ॥ हे पतिव्रते । 'सतीव्रते' इति पाठे सतीमां व्रतमिव व्रतं यस्या इति व्युत्पत्त्या पतिव्रते इत्येवार्थः । अ-थवा सत्यास्तव स्वरूपनिष्ठालक्षणे व्रते सदृशस्तुत्याशीलो मर्ता-स्तीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ शतवारं ध्मातप्रभौ शोभितं यत्सु-वर्णं तद्वत् । यतः स्वरूपनिष्ठायामत्यन्तोद्युक्तः । निरंशा नि-

शिखिध्वज उवाच ।

प्रतिषेधं न जानामि न जानाम्यभिवाञ्छितम् ॥ ५२

यदाचरसि तन्वि त्वं कदाचिद्वेषि तत्तथा ।

यद्यन्मतं ते सकलं तथास्त्वधिकलं प्रिये ॥ ५३

न किञ्चिदनुसंधातुं जानाम्यम्बरसुन्दरः ।

यदेव किञ्चिज्जानासि तदेव कुरु सुन्दरि ॥ ५४

तदेव धारयिष्यामि प्रतिषिम्बं यथा मणिः ।

चेतसा गलितेष्टेन यथाप्राप्तमनिन्दितम् ॥ ५५

न स्तौमि न च निन्दामि यदिच्छसि तदाचर ।

चूडालोवाच ।

यद्येवं तन्महाबाहो समाकर्णय मन्मतम् ॥ ५६

आकर्ण्य जीवन्मुक्तात्मस्तदेवाहर्तुमर्हसि ।

सर्वत्रैकयावबोधेन मौख्यैक्षयभुषान्विताः ॥ ५७

निरिच्छास्तावदाकाशविशदाः संस्थिता वयम् ।

यादृशेषणमस्माकं तादृशं तदनेषणम् ॥ ५८

यत्प्राणानैषणे कोऽत्र चिन्मात्रोऽभ्यसते हि कः ।

तस्मादाद्यन्तमध्येषु ये वयं पुरुषोत्तम ॥ ५९

शेषमेकं परित्यज्य त एवमे स्थिता वयम् ।

राज्येन सांप्रतेनेमं कालं नीत्वा क्रमेण वै ॥ ६०

विदेहतां प्रयास्यामः प्रभो कालेन केनचित् ।

शिखिध्वज उवाच ।

वयमाद्यन्तमध्येषु कीदृशास्तरले वद ॥ ६१

वोसना धीर्यस्य ॥ ५० ॥ ५१ ॥ इदं न रोचत इति प्रतिषिध्यत इति प्रतिषेधः, कर्मणि घञ् । तं न जानामि ॥ ५२ ॥ कदाचिद् व्युत्थानकाले । मतमभिमतम् ॥ ५३ ॥ अम्बरमाकाशमिव निर्लेपोदासीन्यपूर्णतासुन्दरः । जानासि कर्तव्यतयेति शेषः ॥ ५४ ॥ धारयिष्यामि हृदि संमन्तास्मीति यावत् । गलितमिष्टं इच्छा तद्विषयजातं यस्मात्तथाविधेन । इष्टप्रहणमनिष्टस्याप्युपलक्षणम् ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ आहर्तुमाचरितुम् ॥ ५७ ॥ एषणं राज्य-भोगाद्यपेक्षणम् ॥ ५८ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—यदिति । यद्य-स्मात्कारणात्प्राणानां चक्षुरादीनां मुख्यप्राणस्य च स्वस्वोचित-विषयानेषणे सत्यत्र परमात्मनि कोऽतिशयः । न चाज्ञाना-मिव तत्त्वविदोऽन्तःकरणदेहेन्द्रियादितादात्म्याभ्यासोऽस्ति येने-न्द्रियाणां विषयभोगाभ्यासेन मालिन्ये आत्मनोऽपि मालिन्य-प्रसक्तिः । निष्क्रियासङ्गचिन्मात्रभूतो हि तत्त्ववित् को भो-गानभ्यसते । न कश्चिदित्यर्थः । अस्यतेर्विकरणपदव्यत्ययच्छा-न्दसः । तस्मात्प्रारब्धभोगमात्रेण तदभ्यासव्यसनमालिन्याप्रस-क्तेस्तद्भोगादौ तद्भोगान्ते मध्ये तदन्तराले च वयं ये यत्स्वभा-वास्ते तत्स्वभावा एव प्रारब्धशेषमेकं भोगेन परित्यज्य क्षप-यित्वा स्थिता न तु किञ्चिदन्यथाभूता अन्ये वा भविष्याम इत्यर्थः ॥ ५९ ॥ इममायुःशेषरूपं कालम् ॥ ६० ॥ तस्मा-दाद्यन्तमध्येषु तदन्तरमपि संभावयंस्तं जिज्ञासमानो

शेषमेकं परित्यज्य तिष्ठामः कथमेव वा ।

चूडालोवाच ।

वयमाद्यन्तमध्येषु राजानो राजसत्तम ॥ ६२

मोहमेकं परित्यज्य भवामः पुनरेव ते ।

स्व एव नगरे राजा भव त्वं स्वासने स्थितः ॥ ६३

ललामो ननु कान्तानां महिषी ते भवाम्यहम् ।

सनृपा मत्तवास्तव्या नृत्यन्नवनवाङ्गना ॥ ६४

सपताका ध्वनत्तूर्या पुष्पप्रकरिणी पुरी ।

लसद्गलथा समञ्जर्या रणत्पुष्पालिमालया ।

मधुमासलतालक्ष्म्या चिराद्भवतु सा समा ॥ ६५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति चूडालया प्रोक्तो विहस्य स शिखिध्वजः ।

प्रोवाच मधुरं वाक्यमक्षुब्धं विगतज्वरः ॥ ६६

एवं चेत्तद्विशालाक्षि स्वायत्ता नस्त्रिविष्टपे ।

सिद्धभोगश्रियस्तासु निवसामि न किं प्रिये ॥ ६७

चूडालोवाच ।

न राजन्मम भोगेषु वाञ्छा नापि विभूतिषु ।

स्वभावस्य वशादेव यथाप्राप्तं मे स्थितिः ॥ ६८

न सुखाय मम स्वर्गो न राज्यं नापि च क्रिया ।

इत्यर्थं श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० चूडालाप्रकटीकरणं नाम नवोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

यथास्थितमविक्षुब्धं तिष्ठामि स्वस्थचेष्टिता ॥ ६९

इदं सुखमिदं नेति मिथुने क्षयमागते ।

सममेव पदे शान्ते तिष्ठामीह यथासुखम् ॥ ७०

शिखिध्वज उवाच ।

युक्तमुक्तं विशालाक्षि त्वयैतत्समया धिया ।

को वार्थः किल राज्यस्य ग्रहे त्यागेऽपि वा भवेत् ७१

सुखदुःखदशाचिन्तां त्यक्त्वा विगतमत्सरम् ।

यथासंस्थानमेवेमौ तिष्ठावः स्वस्थतां गतौ ॥ ७२

इति तत्र कथालापकथनेन तयोर्द्वयोः ।

कान्तयोश्चिरदंपत्योर्वासरस्तनुतां ययौ ॥ ७३

अथोत्थाय दिनाचारं यथाप्राप्तमनिन्दितौ ।

सोत्कण्ठावप्यनुत्कण्ठौ चक्रतुः कार्यकोविदौ ॥ ७४

स्वर्गसिद्धिमनाहत्य तस्यतुः पूर्णचेतसौ ।

एकस्मिन्नेव शयने तैस्तैः प्रणयचेष्टितैः ।

सा व्यतीयाय रजनी तयोर्जावद्विमुक्तयोः ॥ ७५

तद्भोगमोक्षसुखमुत्तमयोः स्वयं स-

माशंसतोः प्रणयवाक्यविलासगर्भम् ।

उत्कण्ठतां प्रणयिनोर्धियमानयन्ती

दीर्घा मुहूर्तवदसौ रजनी जगाम ॥ ७६

दशाधिकशततमः सर्गः ११०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ततः समुदिते सूर्ये वितमस्यम्बरे स्थिते ।

समुद्रकादिव जगन्मणौ तस्मिन्धिनिर्गते ॥ १

विकसत्यरुणोपान्ते चक्षुषीवाम्बुजाकरे ।

आचारेष्विव लोकेषु प्रसृतेष्वर्करश्मिषु ॥ २

दंपती तौ समुत्थाय कृतसंध्याक्रमौ स्थितौ ।

पत्रासने मृदुस्निग्धे कान्तौ काञ्चनकन्दरे ॥ ३

राजा पृच्छति—व्यमिति ॥ ६१ ॥ तदभिप्रायानुसारेणव

चूडालापि तदर्थं वर्णयति—व्यमिति ॥ ६२ ॥ तत्र शेषश-

ब्दस्यार्थान्तरमाह—मोहमिति ॥ ६३ ॥ कान्तानामन्तःपुर-

स्त्रीणां ललामो भूषणभूतो भवामि भविष्यामि । मत्ता हृद्य

वास्तव्याः पुरवासिनो यस्याम् । एतदादीनि पुरीविशेषणानि

मधुमासलतालक्ष्मीसाम्योपपादकानि ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

यदि ते मया सह भोगेच्छास्ति तर्हि इन्द्रेण प्रार्थिता दिव्य-

भोगा एव भुज्यन्तां किं मानुषैरिति राजाह—एवं चेदिति

॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ मिथुने इन्द्रे ॥ ७० ॥ ७१ ॥ यथा-

संस्थानं यथास्थितम् ॥ ७२ ॥ चिरदंपत्योः प्राचीनजायापत्योः

॥ ७३ ॥ दिनाचारं सायंसंध्याम् । 'सायंसंध्यां सभास्करा' मित्यु-

क्तेर्दिनाचारात् । परस्परेष्वितसंभोगाय सोत्कण्ठावपि निर्वास-

नत्वादननुत्कण्ठौ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ तत्परस्पराजुभवसिद्धभोग-

यो० वा० १३०

अथोत्थायात्र चूडाला रत्नकुम्भं पुरःस्थितम् ।

कान्ता संकल्पयामास पूर्णं सप्ताब्धिचारिभिः ॥ ४

तेन मङ्गलकुम्भेन तं पूर्वाभिमुखं स्थितम् ।

भार्या भर्तारमेकान्ते स्वराज्येऽभिविषेच सा ॥ ५

संकल्पोपगते हैमे स्वभिषिक्तं स्वविष्टरे ।

स्थितं प्रोवाच तन्वी सा चूडाला देवरूपिणी ॥ ६

केवलं मौनमुत्सृज्य तेजः शान्तमिदं प्रभो ।

मोक्षसुखं स्वयं प्रणयवाक्यविलासगर्भं यथा स्यात्तथा आशंसतोः

कथयतोस्तयोर्धियमुत्कण्ठतां सोत्कण्ठतामानयन्ती प्रापयन्ती

रजनी दीर्घापि मुहूर्तवज्जगामेत्यर्थः ॥ ७६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-

महारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चूडालाप्रकटी-

करणं नाम नवोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

सहसंकल्पसैन्येन गजेन स्वपुरं गतौ ।

तौ कृत्वा सुचिरं राज्यं विमुक्ताविति वर्णयते ॥ १ ॥

समुद्रकात्समुद्रते जगत्प्रकाशकमणाविव समुदिते सूर्ये वित-

मस्यम्बरे स्थितं सति ॥ १ ॥ जनानामरुणोपान्ते चक्षुषीवाम्बु-

जाकरे विकसति सति ॥ २ ॥ ३ ॥ सप्ताब्धिचारिभिः पूर्णं पुरःस्थितं

रत्नकुम्भं राज्याभिषेकाय संकल्पयामास ॥ ४ ॥ तं राजानम् ॥ ५ ॥

संकल्पमात्रेणोपगते स्वयोरयविष्टरे सिंहासने ॥ ६ ॥ मौनं

मुनिभोग्यमिदं शान्तं तेज उत्सृज्य शासनयोरयमिन्द्रादीनां तेजो

| | |
|--|---|
| अष्टानां लोकपालानां तेजस्त्वं भर्तुमर्हसि ॥ ७ | विविदुर्जयशब्देन निर्जग्मुश्चोदिताशयाः ॥ २० |
| चूडालयेति संप्रोक्तो बने राजा शिखिष्वजः । | एकतां संप्रयातेन तारतूर्यनिनादिना । |
| वदन्नेवं करोमीति महाराजत्वमाययौ ॥ ८ | बलद्वयेन तेनासौ विवेश नगरं नृपः ॥ २१ |
| अथ प्रतीहारपदे तिष्ठन्तीमाह मानिनीम् । | लाजपुष्पाञ्जलिप्रातैरावृष्टः पौरयोषिताम् । |
| अद्य देवीपदे रात्रीं त्वां करोम्यभिषेकिनीम् ॥ ९ | वणिङ्गार्गमसौ पश्यन्परंपरमनुत्तमम् ॥ २२ |
| इत्युक्त्वा खरसि ज्ञाप्य महादेवीपदे तथा । | पताकाध्वजसंबाधं मुक्ताजालमनोरमम् । |
| अभिषिकां नृपः कृत्वा स तामाह निजां प्रियाम् १० | नृत्यगेयपरस्त्रीकं स्वभूमावचलं स्थितम् ॥ २३ |
| प्रिये कमलपत्राक्षि क्षणात्संकल्पसंभवम् । | प्रविश्याथ गृहं तैस्तैः संयुतं नृपमङ्गलैः । |
| महाविभवमुद्दामं सैन्यमाहर्तुमर्हसि ॥ ११ | सम्यक्संमानयामास प्रणतं प्रकृतिव्रजम् ॥ २४ |
| इति कान्तवचः श्रुत्वा चूडाला खरवर्णिनी । | पुरोत्सवं भृशं कृत्वा दिनसप्तकमुत्तमम् । |
| सैन्यं संकल्पयामास प्रावृद्धघनमिवोद्भटम् ॥ १२ | अकरोद्राजकार्याणि स्वानि स्वान्तःपुरे नृपः ॥ २५ |
| सैन्यं ददशतुस्ततौ वाजिधारणसंकुलम् । | दशवर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा महीतले । |
| पताकापुरिताकाशं नीरन्धीकृतकाननम् ॥ १३ | सहचूडालया राम विरतो देहधारणात् ॥ २६ |
| तूर्यारवध्वनच्छैलगुहागहनकोटरम् । | देहमुत्सृज्य निर्वाणमच्छेह इव दीपकः । |
| मौलिरत्नमहोद्घोतविचूर्णिततमःपटम् ॥ १४ | अपुनर्जन्मने राम जगामेति महामतिः ॥ २७ |
| तत्र गन्धद्विपवरे कृतपार्थिवमण्डले । | दशवर्षसहस्राणि समदृष्टितया तथा । |
| रक्षिते दृष्टसामन्तैराकूडौ नृपदंपती ॥ १५ | राज्यं तथाऽऽरमथ्यापि निर्वाणं पदमाप्तवान् ॥ २८ |
| तत्रः शिखिष्वजो राजा महिष्या सममिष्टया । | विगतभयविषादो मानमात्सर्यमुक्तः |
| पदातिरथसंबाधं कर्षन्नतिबलो बलम् ॥ १६ | प्रकृतसहजकर्मा भुक्तनीरागबुद्धिः । |
| चञ्चालाचलचालिन्या सेनया स ततो वनात् । | इति समसमदृष्टिर्मृत्युमार्योऽथ जित्वा |
| मिन्दन्निव रसाशैलं वात्ययेवाशु भौमया ॥ १७ | दशशिशिरसहस्राण्येकराज्यं चकार ॥ २९ |
| तस्मान्महेन्द्रशैलेन्द्राण्डलितः स महीपतिः । | भुक्त्वा भोगाननेकान्भुवि सकलमहीपालचूडा- |
| पथि पश्यन्निरीन्देशान्दीर्घमाप्सजङ्गलान् ॥ १८ | मणित्वे |
| दर्शयन्स्वप्रियायास्तमात्मबृत्तान्तसंचयम् । | स्थित्वा वै दीर्घकालं परममृतपदं प्राप्तवान्सत्त्वशेषः । |
| प्रागल्पेनैव कालेन स्वां पुरीं स्वर्गशोभनाम् ॥ १९ | एवं रामागतं त्वं प्रकृतमनुसरन्कार्यजातं विशोक- |
| तत्र ते तस्य सामन्तास्तदागमनमाहताः । | स्तिष्ठोत्तिष्ठ स्वयं वा प्रसभमनुभवन्भोगमोक्षादि- |
| इत्यार्षं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे०मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिष्वजनिर्वाणं नाम दशोत्तरशततमः सर्गः ॥११०॥ | लक्ष्मीः ॥ ३० ॥ |

चूडालोपाख्यानं समाप्तम् ।

भर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥ ८ ॥ पदाभिषेकाभावात्प्रतीहारपदं द्वार-
पालस्थानं तत्र विनयात्तिष्ठन्तीम् । देवीपदे कृताभिषेकास्थाने
॥ ९ ॥ १० ॥ योगसिद्ध्या तव सत्यसंकल्पासंभवम् । भूषणा-
लंकारसङ्घातादिभिर्महाविभवं बह्वर्क्षहिणीपरिमाणैरुद्दामम्
॥ ११ ॥ १२ ॥ नीरन्धीकृतं निरवकाशीकृतं काननं येन
॥ १३ ॥ तूर्यारवैः प्रतिध्वनन्तः शैलगुहागहनकोटरा यस्य
॥ १४ ॥ यस्मद्गन्धमन्ये द्विपा न सहन्ते स गन्धद्विपः ॥ १५ ॥
बलं सैन्यम् ॥ १६ ॥ भौमया भूथया ॥ १७ ॥ १८ ॥ तं
प्राक्तनमात्मनः स्वस्य प्राङ्गुराभिर्गतस्य मार्गं जानपदैः सह
वृत्तं वृत्तान्तसंचयम् ॥ १९ ॥ सामन्तास्तद्देशाधिपत्वे निरु-
पिता मन्त्रिणः । उदिताशयाः सोत्कण्ठाः ॥ २० ॥ २१ ॥
राजाञ्जलीनां पुष्पाञ्जलीनां च प्रातैः । परंपरमुत्तरोत्तरम् ॥ २२ ॥
स्वभूमौ स्वस्थाने अवलं कैलासमिवोद्भूतं स्थितम् ॥ २३ ॥

तेस्त्वैलोकशास्त्रप्रसिद्धैर्दधिपूर्वाक्षतशङ्खवीणाछत्रचामरादिभिर्भृष-
योर्यर्भङ्गलैः संयुतम् ॥ २४ ॥ अन्तःपुरे स्वानि स्वाभिमत-
समाधिभोगावीनि ॥ २५ ॥ देहधारणाद्विरतो विदेहकैवल्य-
सुखे प्रतिष्ठितोऽभूदित्यर्थः ॥ २६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—देहमिति ।
इति अनया प्रागुक्तरीत्या ॥ २७ ॥ राज्यं कृत्वा तथा चूडालया
सह आरमय्य आसमन्तात् कीडयित्वापि ॥ २८ ॥ भुक्तेषु भोगेषु
नीरागा बुद्धिर्यस्य । समेभ्योऽपि समा दृष्टिर्यस्य । स आर्यः शिखि-
ष्वज इति वर्णितप्रकारेण बोधेन कामरक्षणं मृत्युं जित्वा दक्ष-
शिरतृपलक्षितवर्षसहस्राणि जम्बूद्वीपे एकराजस्य भाव ऐक-
राज्यं चकार ॥ २९ ॥ पूर्वोद्धेन शिखिष्वजस्थितिमनूय तां
रामाय कर्तव्यतयोत्तरार्धेनोपदिशति—भुक्त्वेति । स शिखि-
ष्वजो दीर्घकालं भुवि सकलमहीपालानां चूडामणित्वे स्थित्वा

१ अस्य शिखिष्वजाख्यानेनैनापि व्यवहारः.

एकादशाधिकशततमः सर्गः १११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एतत्ते सर्वमाख्यातं शिखिध्वजकथानकम् ।
अनेन गच्छन्मार्गेण न कदाचन खिद्यसे ॥ १
एतां दृष्टिमवष्टभ्य रागद्वेषविनाशिनीम् ।
नित्यं नीरागया बुद्ध्या तिष्ठामवष्टभतत्पदः ॥ २
यथा शिखिध्वजो राज्यं कृतवानेषमीदृशम् ।
राम व्यवहरन्राज्ये भोगमोक्षमयो भव ॥ ३
शिखिध्वजक्रमेणैव यथा बोधमवाप्तवान् ।
कचो बृहस्पतेः पुत्रस्तथा बुध्यस्व राघव ॥ ४

श्रीराम उवाच ।

बृहस्पतेर्भगवतः पुत्रोऽसौ भगवान्कचः ।
यथा प्रबुद्धो भगवन्समासेन तथा वद ॥ ५
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
शृणु राजन्कथां श्रीमाञ्छिखिध्वजवदेव सः ।
प्रबोधं परमं यातो देवदेशिकजः कचः ॥ ६
बालभावात्समुत्तीर्णः संसारोत्तरणोन्मुखः ।
कचः पदपदार्थज्ञो बृहस्पतिमभाषत ॥ ७

कच उवाच ।

भगवन्सर्वधर्मज्ञ कथं संसृतिपञ्जरात् ।
अस्माभिर्गम्यते ब्रूहि जन्तुना जीवतन्तुना ॥ ८
बृहस्पतिरुवाच ।

अनर्थमकरागारादस्मात्संसारसागरात् ।
उड्डीयते निरुद्धेन सर्वत्यागेन पुत्रक ॥ ९
श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्याकर्ण्य कचो वाक्यं पितुः परमपावनम् ।
सर्वमेव परित्यज्य जगामैकान्तकाननम् ॥ १०

अनेकान्भोगान्भुक्त्वा अमृतमजरं परं पदं सर्वं सन्मार्गं त-
च्छेषः सन् प्राप्तवान् । हे राम, त्वमपि आगतं प्रारब्धप्राप्तं
प्रकृतं कार्यजातमनुसरन् विशोकः समाधौ तिष्ठ । अथवा
स्वयं प्रसभं भोगमोक्षज्ञानरक्ष्मीरनुसरन्नुत्तिष्ठ व्युत्थितस्तिष्ठ ।
तव समाभिव्युत्थानयोर्न फलभेदोऽस्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शिखि-
ध्वजनिर्वाणं नाम दशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

राध्या राजेव पित्रात्र सर्वस्वं त्याजितः कचः ।

अन्तेऽहंकारसंख्यागात्पूर्णाऽभूदिति वच्यते ॥ १ ॥

अनेन मार्गेण गच्छन् खिद्यसे निवृत्तसर्वभेदो भविष्यसि ॥ १ ॥

बुद्ध्या अवष्टब्धं परमार्थतया दृष्टमवलम्बितं तत्पूर्वानन्दपदं येन ।
भोगमोक्षमयस्त्प्रचुरः ॥ २ ॥ ३ ॥ शिखिध्वजस्य प्रसिद्धेन सर्व-
त्यागक्रमेणैव कचोऽपि यथा बोधमवाप्तवास्तथा त्वमपि बुध्यस्व
॥ ४ ॥ समासेन साकल्येन ॥ ५ ॥ ६ ॥ बालभावात्समुत्तीर्णो
निर्गतः । यौवनं प्राप्तमात्र इति भावः । पदपदार्थज्ञः सर्वविद्या-

बृहस्पतेस्तत्रमनं नोद्वेगाय बभूव ह ।

संयोगे च वियोगे च महान्तो हि महाशयाः ॥ ११

अथ वर्षेषु जातेषु त्रिषु पञ्चसु सोऽनघ ।

पुनः प्राप महारण्ये कस्मिंश्चित्पितरं कचः ॥ १२

परिपूज्याभिवाद्यैनं समालिङ्गितपुत्रकम् ।

अपृच्छद्वाक्यपतिं भूयः स कचः कान्तया गिरा ॥ १३

कच उवाच ।

अधेदमष्टमं वर्षं सर्वत्यागः कृतो मया ।

तथापि तात विध्वान्ति नाधिगच्छाम्यनिन्दिताम् ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवमार्तवचस्तस्मिन्कचे वदति कानने ।

सर्वमेव त्यजेत्युक्त्वा वाक्यपतिर्दिवमुद्ययौ ॥ १५

गते तस्मिन्कचो देहाद्वल्कलाद्यप्यथात्यजत् ।

गतेन्द्रभार्कतारेण शरद्व्योम्ना समोऽभवत् ॥ १६

पुनर्वर्षत्रयेणैव कस्मिंश्चित्काननान्तरे ।

तत्याजाम्बुदवर्षादि शरदीव नमस्तलम् ॥ १७

उपासैको दिगन्तेषु शान्तशून्यवपुः श्वसन् ।

दूयमानमनाः प्राप तमेव पितरं गुरुम् ॥ १८

कृतपूजाकमो भसया समालिङ्गितपुत्रकम् ।

अपृच्छत्स कचो भूयः श्वेदगद्गदया गिरा ॥ १९

कच उवाच ।

तात सर्वं परित्यक्तं कथां वेणुलताद्यपि ।

तथापि नास्ति विभ्रान्तिः स्वपदे किं करोम्यहम् ॥ २०

बृहस्पतिरुवाच ।

चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तत्युक्त्वा पुत्र राजसे ।

चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं सर्वविदो जनाः ॥ २१

स्थानेषु निष्णातस्तत्त्वमसिवाक्यगोचरपदपदार्थज्ञश्च ॥ ७ ॥

जीव एव तन्तुरिव स्वबन्धसहस्रकरो यस्य तथाविधेन जन्तुना

माहेशेन ॥ ८ ॥ उड्डीयते क्षीघ्रं निर्गम्यत इति यावत् । अति-

वैराग्यदार्ढ्यात्यक्तविषये पश्चात्तापोद्वेगरहितं यथा स्यात्तथा

कृतेन सर्वत्यागेन ॥ ९ ॥ १० ॥ महाशयाः मेरुवत्स्वरा-

शयाः ॥ ११ ॥ त्रिषु पञ्चसु च वर्षेषु । अष्टस्वित्यर्थः । तच्चि-

त्परिपाकतारतम्यं विज्ञाय शेषं त्याज्यमितुमागतं पितरं प्रा-

पेत्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ दिवमाकाशम् ॥ १५ ॥

गतेन्द्रिति । सञ्चितसूर्योदयकालिकशरद्व्योम्नेति थावत् ॥ १६ ॥

पुनरित्याद्यर्थमुत्तरश्लोके दूयमानमना इत्यतः प्राग्योज्यम् । कथं

च शरद्व्योम्ना समोऽभवत्तत्राह—तत्याजेति । कचिद्विरिपुष्ट-

त्रयेणाम्बुदवर्षादि तत्याज परिग्रहार ॥ १७ ॥ शरदादी तु

कचिदिगन्तेषुवास । एवं दूयमानमना एष पुनर्वर्षत्रयेण कस्मि-

श्चित्काननान्तरे तमेव पितरं गुरुमागतं प्राप ॥ १८ ॥ १९ ॥

वेणुलता दण्डः । आदिपदात्कमच्छब्दस्यजिनाद्यपि ॥ २० ॥ २१ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा धाक्पतिः पुत्रं पुष्टुवे तरसा नमः ।
अन्वियेष कचश्चित्तं परित्यक्तमस्त्रिभ्रधीः ॥ २२
चिन्तयन्नप्यसां चित्तं न यदा वेद कानने ।
तदा संचिन्तयामास धियैव पितरं ययौ ॥ २३
पदार्थवृन्दं देहादि न चित्तमिति कथ्यते ।
तदेतर्तिक क्व वा व्यर्थं निरागस्कं त्यजाम्यहम् ॥ २४
पितुः सकाशं गच्छामि ज्ञानुं चित्तं महारिपुम् ।
ज्ञात्वा तत्संत्यजाम्याशु ततस्तिष्ठामि विज्वरः ॥ २५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति संचिन्त्य स कच उज्जगाम त्रिविष्टपम् ।
धाक्पतिं प्राप्य सल्लेहं वचन्दे प्रणनाम च ॥ २६
अपृच्छञ्चैनमेकान्ते किं चित्तं भगवन्वद ।
स्वरूपं ब्रूहि चित्तस्य येन तत्संत्यजाम्यहम् ॥ २७
बृहस्पतिरुवाच ।

चित्तं निजमहंकारं विदुश्चित्तविदो जनाः ।
अन्तर्योऽयमहंभावो जन्तोस्तच्चित्तमुच्यते ॥ २८
कच उवाच ।

त्रयस्त्रिंशन्महाकोटिप्रमाणस्य महामते ।
गुरो गीर्वाणवृन्दस्य कथमेतद्वेति मे ॥ २९
मन्येऽस्य दुष्करस्यागो न सिद्धिमुपगच्छति ।
कथमेष किल त्यक्तुं शक्यते योगिनां घर ॥ ३०
बृहस्पतिरुवाच ।

अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात् ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू०

सुकरोऽहंकृतेस्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि ॥ ३१
यथैतदेवं तनय तथा शृणु वदामि ते ।
अज्ञानमात्रसंसिद्धं वस्तु ज्ञानेन नश्यति ॥ ३२
वस्तुतो नास्त्यहंकारः पुत्र मिथ्याभ्रमो यथा ।
असन्सन्निव संपन्नो बालवेतालवत्स्थितः ॥ ३३
यथा रज्ज्वां भुजंगत्वं मरावम्बुमतिर्यथा ।
मिथ्यावभासः स्फुरति तथा मिथ्याप्यहंकृतिः ॥ ३४
असदेव यथा द्वित्वं मोहादिन्दौ विलोक्यते ।
तथा स्फुरत्यहंकारो न सत्यो वाप्यसन्न च ॥ ३५
एकमाद्यन्तरहितं चिन्मात्रममलान्तरम् ।
खादप्यतितरामच्छं विद्यते सर्ववेदनम् ॥ ३६
सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकाशं सर्वजन्तुषु ।
तदेवैकं कचत्यम्बु विलोलाखण्डीवीचिषु ॥ ३७
अत्र कोऽयमहंभावः कुतो वा कथमुत्थितः ।
काप्सु जातो रजोराशिः कानलादुत्थितं जलम् ॥ ३८
अयं सोऽहमिति व्यर्थं प्रत्ययं त्यज पुत्रक ।
तुच्छं परिमिताकारं दिक्कालविषयीकृतम् ॥ ३९
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं स्वच्छं नित्योदितं ततम् ।
सर्वार्थमयमेकार्थचिन्मात्रममलं भवान् ॥ ४०
फलकुसुमदलानां सर्वदिक्संस्थितानां
रस इव जगतां त्वं संस्थितः सर्वदेव ।
विमलतरचिदात्मा नित्यमेवास्यनन्तः
क इव कच तवाहंनिश्चयो भावमूर्तेः ॥ ४१
कचोपाख्याने कचप्रबोधो नामैकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

अन्वियेष अन्विष्टवान् ॥ २२ ॥ यदा न वेद न दृष्टवान् ।
चित्तस्य स्वान्वेषणविशाराहतायाः प्राक् चित्ताख्याने प्रपञ्चना-
दिति भावः । पितरं धिया ययौ । चिन्तितवानिति यावत्
॥ २३ ॥ ननु त्रिपुरदाहादसुराणामिव देहेन्द्रियविकृत्यागा-
देव चित्तत्यागः सेत्स्यति तत्राह—पदार्थेति । तदेतत्पदार्थवृन्दं
देहादि किं चित्तस्य क्व वा चित्तं स्यादित्यनिर्णयादनागस्कं
चित्तनिलयनापराधशून्यदेहादि व्यर्थं किं त्यजामि । स्यागोऽस्य
नोचित इत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ चित्तविदः
साक्षिणा चित्तं पृथक्त्व जानन्तो जीवन्मुक्तजनाः ॥ २८ ॥
हे त्रयस्त्रिंशन्महाकोटिप्रमाणस्य गीर्वाणवृन्दस्य गुरो, हे महामते
बृहस्पते, अहंभाव एव चित्तमित्येतत्कथं तन्मे वद । अहंकारस्य
लोके आत्मतयैव प्रसिद्धेस्तत्त्यागे आत्मत्यागापत्त्या नैरात्म्याप-
त्तेरिति भावः ॥ २९ ॥ नाप्यात्मनस्यागो वा संभवति, अहेयस्व-
भावत्वादित्याशयेनाह—मन्ये इति ॥ ३० ॥ स्वल्पं तत्साक्ष्यप-
रिचये तत्त्यागो दुष्करः, परिचिते तु साक्षिणि पुष्पावदल-
नादपि सुकर इत्याशयेन बृहस्पतिरुत्तरमाह—अपीति

॥ ३१ ॥ अज्ञानं शुद्धसाक्ष्यपरिचयलक्षणो मोहस्तन्मात्रसंसि-
द्धमहंकारादिवस्तु । तच्च ज्ञानेन तत्परिचयमात्रेण ॥ ३२ ॥
बालकल्पितवेतालवद्वस्तु असन्नेव सन्निव संपन्नोऽज्ञहृष्ट्या स्थितः
॥ ३३ ॥ तथाहंकृतिरपि मिथ्या स्फुरतीत्यन्वयः ॥ ३४ ॥
न च सदसन्निति शेषः ॥ ३५ ॥ सर्वप्रपञ्चमिथ्यात्वे किं वि-
द्यते तदाह—एकमिति । सर्वमिथ्यात्वेऽपि तद्वेदनं विद्यते ।
तदवियमानतायाः साधकाभावादेवासिद्धेरिति भावः ॥ ३६ ॥
तदसत्त्वे जगत्प्रधानुपपत्तेरपि तदस्तीत्याह—सर्वत्रेति । अ-
न्विष्टवेति शेषः ॥ ३७ ॥ तत्र दृग्दृश्ययोर्मध्ये अयमहंकारः कः
कुतो निमित्तात्कार्यं दृग्दृश्यमेलनात्प्रकारान्तरेण वा उत्थितः,
उभयविलक्षणस्वभावस्यास्योद्भव एव दुर्वच इत्याह—क्वेति ।
रजोराशिः शुष्कपांसुनिचयः ॥ ३८ ॥ अयं देहादिः स पि-
त्रादितो जातोऽहम् । दिक्कालाभ्यां विषयीकृतं वृष्यपक्षयादिना
परिणमितम् ॥ ३९ ॥ तर्थाहं कस्तत्राह—दिगिति । सर्वार्थ-
मयं सर्वपदार्थविकारात्मना भासमानं वस्तुतस्त्वपारार्थ्याद्व्य-
त्वाच्चैकार्थम् ॥ ४० ॥ सर्वार्थमयमित्यस्य सर्वपदार्थसारभूतमि-
त्यर्थान्तरं सदृष्टान्तं दर्शयन्प्रकृतं निगमयति—फलेति । सर्व-
विज्ञानः यतो यथावस्त्वमेव सत्तं सुसङ्गतं चेति वचम्,]

द्वादशाधिकशततमः सर्गः ११२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति प्राप्य परं योगमुपदेशमनुत्तमम् ।
जीवन्मुक्तो बभूवासौ ततो देवगुरोः सुतः ॥ १
निर्ममो निरहंकारश्छिन्नग्रन्थिः प्रशान्तधीः ।
कचो बथा स्थितो राम तथा तिष्ठाविकारवान् ॥ २
अहंकारमसद्विद्धि मैनमाश्रय मा त्यज ।
असतः शशशृङ्गस्य किल त्यागग्रहौ कुतः ॥ ३
असंभवत्यहंकारे क ते मरणजन्मनी ।
नभःक्षेत्रे तथा व्युप्तं केन संगृह्यते फलम् ॥ ४
निरंशं शान्तसंकल्पं सर्वभावात्मकं ततम् ।
परमादप्यणोः सूक्ष्मं चिन्मात्रं त्वमनोमयम् ॥ ५
यथाम्भसस्तरङ्गादि यथा हेम्नोऽङ्गदादि च ।
तदेवातदिवाभासं तथाहंभावभावितः ॥ ६
अबोधेन जगत्सर्वं मायामयमिव स्थितम् ।
बोधेन सकलं ब्रह्मरूपं संपद्यतेऽनघ ॥ ७
द्वित्वैकत्वमती त्यक्त्वा शेषस्थः सुखितो भव ।
मा दुःखितो भव व्यर्थं त्वं मिथ्यापुरुषो यथा ॥ ८
मायेयमतिदुष्पारा सांसारि गाढतां गता ।
शरदा मिहिकेवाशु बोधेनायाति तानवम् ॥ ९

दिक्षु संस्थितानां फलानां कुसुमानां दलानां पर्णानां च कार-
णीभूतः सारभूतश्च तरोरन्तर्गतो रस इव त्वं सर्वजगतां कार-
णीभूतः सारभूतश्चान्तः सर्वदेव संस्थितो विमलतरोऽनन्तश्चि-
दात्मैव नित्यमसि । हे कच, भावमूर्तेरखण्डाद्वयसन्मात्रस्वरू-
पस्य तवायं परिच्छिन्नोऽहंनिश्चयः क इव । न कश्चिदित्यर्थः ।
अथवा सर्वैदिकसंस्थितानां फलकुसुमादीनामैकरस्यमापन्नो रसो
मध्विव सर्वजगतां सारभूतनिरतिशयानन्दरूपः संस्थित इ-
त्यर्थः । अतः सर्वदेव त्वमनन्तो विगतमायामलश्चिदात्मैवासी-
त्यादि प्राग्वत् ॥ ४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे कचप्रबोधो नामैकादशोत्तरशततमः
सर्गः ॥ १११ ॥

कचाख्यानप्रबुद्धस्य रामस्य प्रभृतोऽत्र हि ।

मिथ्यापुरुषकाख्यानं खरक्षणमुदीर्यते ॥ १ ॥

युज्यते अखण्डैक्येनावधार्यते प्रत्यगात्मा परमात्मना येन
स योगस्तं तथाविधमुपदेशम् ॥ १ ॥ तथा त्वमपि तिष्ठ ॥ २ ॥
मैनमिति । मिथ्यात्वबुद्ध्या उपेक्षणमेव तस्यागो न स्वत्वनि-
वर्तकयज्ञसापेक्ष इति भावः ॥ ३ ॥ यत्नेन तदनिवारणे कथं
मरणजन्मभयनिर्मोक्षस्तत्राह—असंभवतीति । शत्रन्तेन नशु-
समासे सप्तमी । ननु कामकर्मवासनारूपबीजबलान्मरणजन्मनी
कृतो न स्यातां तत्राह—नभ इति । अहङ्कारक्षेत्रे सत्त्वेव
तानि बीजानि प्ररोहन्ति न तु तद्बोधे सतीति भावः ॥ ४ ॥
अहङ्कारे बाधितोऽवबोधः कीदृशोऽहं तत्राह—निरंश-

श्रीराम उवाच ।

परमामगतोऽस्म्यन्तस्तृप्तिं ज्ञानामृतेन ते ।
अवग्रहमयाक्रान्तः स्वासारेणेव चातकः ॥ १०
अमृतेनेव सिकोऽहमन्तर्गच्छामि शीतताम् ।
उपर्यपि समस्तानां तिष्ठाम्यतुलसंपदाम् ॥ ११
न तृप्तिमनुगच्छामि चत्वांसि वदतस्तव ।
पेन्द्वीनां मरीचीनां चकोरस्तृषितो यथा ॥ १२
तृप्तोऽपि भूयः पृच्छामि त्वां प्रभ्रमिममीश्वर ।
को नाम तृप्तोऽप्यग्रस्तं न पिबत्यमृतासवम् ॥ १३
किमुच्यते मुनिश्रेष्ठ मिथ्यापुरुषनामकम् ।
वस्त्ववस्तु कृतं जगद्वस्तुजातं वदाशु मे ॥ १४
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
मिथ्यापुरुषबोधाय शृणु राघव शोभनाम् ।
इमामाख्यायिकां हासजननीं मदुदीरिताम् ॥ १५
अस्ति कश्चिन्महाबाहो मायायन्मयः पुमान् ।
बालपेलवधीमूढो गूढो मौर्ख्येण केवलम् ॥ १६
स एकान्ते कच्चिज्जातः शून्ये तत्रैव तिष्ठति ।
केशोण्डकमिव व्योम्नि मृगतृष्णेव वा मरी ॥ १७
तस्मादन्यत्र तत्रास्ति यदस्ति च स एव तत् ।
यद्यान्यत्तदाभासं न च पश्यति दुर्मतिः ॥ १८

मिति ॥ ५ ॥ इदृशोऽहं कथमहंभावभावितोऽभूवं तत्राह—य-
थेति । तथा अहंभावभावितोऽप्यन्य इवाभात इत्यर्थः ॥ ६ ॥
तत्र को हेतुस्तमाह—अबोधेनेति । तन्निरासेऽपि हेतुमाह—
बोधेनेति ॥ ७ ॥ द्वित्वमतिः कार्यदर्शनम् । एकत्वमतिः कारण-
दर्शनम् । ते द्वे त्यक्त्वा उभयानुस्यूतसन्मात्रं परिशेष्य तत्प्रति-
ष्ठितः सुखितो भवेत्यर्थः । अतदर्शने तु वक्ष्यमाणपुरुषस्येव
दुःखप्राप्तिस्तव दुर्वारेत्याह—मेति ॥ ८ ॥ तानवमपक्षयम्
॥ ९ ॥ अवग्रहो वर्णप्रतिबन्धस्तद्भूयेनाक्रान्तश्चातको देवादाग-
तवृष्णासारेणेव ॥ १० ॥ अपीति पूर्वैवाक्यार्थसमुच्चये । हैर-
प्यगर्भसंपदन्तानामतुलसंपदामुपरि निरतिशयानन्दलक्षणे ति-
ष्ठामि ॥ ११ ॥ तव उक्तीनामाखादनेनेति शेषः ॥ १२ ॥
ज्ञातव्यतत्त्वस्य सम्यगनुभवात्तृप्तोऽपि । अमृतरूपमासवं पेयम्
॥ १३ ॥ एवं प्रशंसयोन्मुखीकृतं गुरुं प्रति 'मा दुःखितो
भव व्यर्थं त्वं मिथ्यापुरुषो यथे'ति प्राक्सूचितं मिथ्यापुरुषा-
ख्यानं कौतुकाग्रामः पृच्छति—किमुच्यत इति । येन मिथ्या-
पुरुषेण वस्तु अवस्तु कृतम्, अवस्तु जगच्च वस्तुजातं कृतं
तं वदेत्यर्थः ॥ १४ ॥ तत्रवदशां हासजननीम् ॥ १५ ॥
बाल इव पेलवया धिया मूढो विक्षिप्तः । मौर्ख्येणाज्ञानेन च
गूढः संभृतः ॥ १६ ॥ एकान्ते जनदृष्ट्यगोचरे स्थाने तस्य
स्वरूपेणापि मिथ्यात्वमाह—केशोण्डकमिवेति ॥ १७ ॥ तत्र
तदाश्रयस्थाने तस्मान्मिथ्यापुरुषादन्यत्किमपि नास्ति । यत्कि-

सकल्पस्तस्य संजातस्तत्र वृद्धिमुपेयुषः ।
 स्वस्याहं स्वमहं खं मे खं रक्षामीति निश्चलः ॥ १९
 खं स्थापयित्वा रक्षामि वस्त्वहं स्वयमादरात् ।
 इति संचिन्तयन्व्योमरक्षार्थं सोऽकरोद्गृहम् ॥ २०
 तस्य कोशे बबन्धास्थां रक्षितं खं मयेत्यसौ ।
 गृहाकाशेन संतुष्टस्ततः स रघुनन्दन ॥ २१
 अथ कालेन तस्य गृहं नाशमुपाययौ ।
 ऋत्वन्तरेणाब्द इव वातेनेव तरङ्गकः ॥ २२
 हा गृहाकाश नष्टं त्वं हा क यातमसि क्षणात् ।
 हा हा भङ्गमसि स्वच्छमित्येवैतच्छुशोच सः ॥ २३
 इति शोकशतं कृत्वा पुनस्तत्रैव दुर्मतिः ।
 कूपं चक्रे खरक्षार्थं कूपाकाशपरोऽभवत् ॥ २४
 ततो नाशं स कालेन नीतः कूपोऽपि तस्य वै ।
 कूपाकाशे गते शोकनिमग्नोऽसौ ततोऽभवत् ॥ २५
 कूपाकाशप्रलापान्ते कुम्भं शीघ्रमथाकरोत् ।
 कुम्भाकाशपरो भूत्वा स्वयं निर्वृत्तिमाययौ ॥ २६
 कुम्भोऽपि तस्य कालेन नाशं नीतो रघूद्बह ।
 यामेव दिशमादत्ते दुर्भगः सा हि नश्यति ॥ २७
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा०वा०दे०मो०निर्वाणप्रकरणे पू०च०मिथ्यापुरुषोपाख्याने आकाशरक्षणं नाम द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

कुम्भाकाशप्रलापान्ते खरक्षार्थं चकार सः ।
 कुण्डं तथैव तेनासौ कुण्डाकाशपरोऽभवत् ॥ २८
 कुण्डमप्यस्य कालेन केनचिन्नाशमाययौ ।
 तेजसेव तमस्तेन कुण्डाकाशं शुशोच सः ॥ २९
 कुण्डाकाशस्य शोकान्ते खरक्षार्थं चकार सः ।
 चतुःशालं महाशालं तदाकाशमयोऽभवत् ॥ ३०
 तदप्यस्य जहाराशु कालः कवलितप्रजः ।
 जीर्णपर्णं यथा वातस्ततः शोकपरोऽभवत् ॥ ३१
 स चतुःशालशोकान्ते खरक्षार्थं चकार ह ।
 कुसूलमम्बुदाकारं तदाकाशपरः स्थितः ॥ ३२
 तदप्यस्य जहाराशु कालो वात इवाम्बुदम् ।
 कुसूलनाशशोकेन तेनासौ पर्यतप्यत ॥ ३३
 एवं गृहचतुःशालकुम्भकुण्डकुसूलकैः ।
 तस्यापर्यवसानात्मा कालोऽयमतिवर्तते ॥ ३४
 एवं स्थितः स विवशो गगनं गुहायां
 गृह्णन्गृहेण गहनेन किलात्मबुद्ध्या ।
 दुःखान्तराद्धनतराद्धनदुःखजात-
 मायाति याति च गतागतिसङ्गमूढः ॥ ३५

अथोदशोत्तरशततमः सर्गः ११३

श्रीराम उवाच ।
 मिथ्यानरप्रसङ्गेन किं मायापुरुषः प्रभो ।
 कथितोऽयं स्वया व्योमरक्षणं च किमुच्यते ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 शृणु राम यथाभूतमेतत्प्रकटयामि ते ।
 मिथ्यापुरुषवृत्तान्तकथा या कथिताधुना ॥ २
 विदस्तीति प्रतीयते तस्य एव न तद्यतिरिक्तम् । यच्चान्यत्स
 पश्यति तत्संख्यं भ्रान्त्याभासमिति स एवेत्युक्तिरित्यर्थः ।
 अहमेवेदमदृश्यं सर्वमिति स न पश्यति । यतो दुर्मतिरित्यर्थः
 ॥ १८ ॥ स्वस्याहमुपजीवकः । खं मे उपजीव्यम् । अतः
 स्वमेवाहं ईदृशं च स्वमावृत्य रक्षामि ॥ १९ ॥ स्वस्य इष्टं वस्तु
 खं तत्स्वयं कस्मिंश्चिदुपायी स्थापयित्वा स्वयमादरात् रक्षामि
 ॥ २० ॥ तस्य गृहस्य कोशे अन्तर्भागे । आस्थां मयीयमिद-
 मेतावत् स्वमित्यभिमानम् । संतुष्टः अभूदिति शेषः ॥ २१ ॥
 ऋत्वन्तरेण शरदा ॥ २२ ॥ एतत् आकाशम् ॥ २३ ॥ कूपा-
 काशे परो ममतया आसक्तः ॥ २४ ॥ नाशं पांसुमृत्तिकादि-
 पूरणेन तिरोभावम् ॥ २५ ॥ निर्वृतिं तदभिमानसुखम् ॥ २६ ॥
 यामेवेति सामान्योक्त्या तदुपपत्तिः ॥ २७ ॥ २८ ॥ केनचि-
 द्नगजमहिषास्कन्दनादिनिमित्तेन ॥ २९ ॥ चतुःशालं च-
 त्तुर्विधं शाल यस्य तथाविधम् । मध्ये महाशालं सभाकारं
 गृहम् । तदाकाशासक्त्या तदाकाशमयः । श्रीमयो जालम् इति-
 भवत् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ कुसूलं धान्यावपनम् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

मायायन्मयः प्रोक्तो यः पुमान् रघुनन्दन ।
 एनं त्वं तमहंकारं विद्धि शून्याम्बरोत्थितम् ॥ ३
 यस्मिन्नाकाशकोशेऽस्मिन्साधो जगदिदं स्थितम् ।
 तदनन्तमसच्छून्यं सर्गादौ भवति स्वयम् ॥ ४
 अन्तःस्थितसुदुर्लक्ष्यब्रह्म व्योम्नोऽथ शब्दवत् ।
 तस्मादुदेत्यहंकारः पूर्वं स्पन्द इवानिलात् ॥ ५

तस्य मिथ्यापुरुषस्य ॥ ३४ ॥ उपसंहरति—एवमिति । हे राम, स
 मिथ्यापुरुष एवरीत्या गृहेण गहनेन दुःप्रवेशेन कूपकुम्भाद्युपा-
 धिना च गगनं गुहायां तत्तत्रैव गृह्णन् स्थितस्तदागतिसंग-
 मूढस्तदाभिमानात्तत्तन्निर्माणरक्षणविनाशेषु धनतरादुःखान्तरा-
 दपि धनं दुःखजातमायाति ततो याति निर्गच्छति चेत्यर्थः ॥ ३५ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराजमायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 आकाशरक्षणं नाम द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

मिथ्यापुरुषशब्दादेरर्थोऽत्र स्फुटमीयेते ।

यथैवाकथयामिकायाश्च तात्पर्यं साम्यवर्णनात् ॥ १ ॥

उत्तानार्थस्योन्मत्तचेष्टाप्रायस्य प्रेक्षावस्वसंभवं मन्वमानो
 मिथ्यापुरुषाख्यायिकाया अन्यापदेसवाक्यवदन्यार्थे तात्पर्य-
 मिति निश्चित्य रामस्तं पृच्छति—मिथ्येति । मिथ्यानरप्रसङ्गेन
 त्वया यो मायापुरुषः कथितः अयं किमभिप्रेत्य तत्कृतं व्योम-
 रक्षणं च किमभिप्रेत्योच्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥ यथाभूतं यथास्थि-
 तम् ॥ २ ॥ शून्याम्बरं मायाकाशस्तदुत्थितम् ॥ ३ ॥ स-
 र्गादौ सृष्टेः प्राक् ॥ ४ ॥ किं निरधिष्ठानमायाकाशपरिधितं

वृद्धि यातः स गगने कल्पयत्यात्मतां गतः ।
 अनात्मात्माभिधानेन तेनासौ यतते ततः ॥ ६
 अनात्मात्मैकरक्षार्थं देहाध्यानाविधानसौ ।
 भूयोभूयो विनाशोऽपि सृजत्याकुलतां गतः ॥ ७
 स एव मायापुरुषो मिथ्यापुरुष एव सः ।
 असदेवोदितो व्यर्थोऽप्यहंकारो हि मायया ॥ ८
 कूपकुण्डचतुःशालकुम्भादीन्देहकानसौ ।
 कृत्वा रक्षित आत्मेति याति तन्नोन्नि भावनम् ॥ ९
 अहंकारस्य तस्यास्य नामानीमानि राघव ।
 शृणु यैर्जगदाकारविभ्रमैर्मोहयत्यसौ ॥ १०
 जीवो बुद्धिर्मनश्चित्तं माया प्रकृतिरित्यपि ।
 संकल्पः कलना कालः कला चेत्यपि विश्रुतैः ॥ ११
 एवमाद्यैस्तथान्यैश्च नामभिर्बहुतां गतैः ।
 सहस्ररूपोऽहंकारः कल्पितार्थैर्विजृम्भते ॥ १२
 भूताकाशे तते शून्ये जगन्निर्भित्ति निश्चितम् ।
 सुखदुःखान्यनुभवन्मिथ्यैव पुरुषः स्थितः ॥ १३
 यथैव मिथ्यापुरुषो रक्षन्वयोमात्मशङ्कया ।

घटाकाशादिषु क्लिष्ट एवं मा क्लेशवान्भव ॥ १४
 आकाशादपि विस्तीर्णः शुद्धः सूक्ष्मः शिबः शुभः ।
 य आत्मा स कथं केन गृह्यते रक्ष्यतेऽथवा ॥ १५
 हृदयाकाशमात्रस्य शरीरक्षयसंक्षये ।
 व्यर्थं भूतानि शोचन्ति नष्ट आत्मेति शङ्कया ॥ १६
 घटादिषु प्रणष्टेषु यथाकाशाद्यखण्डितम् ।
 तथा देहेषु नष्टेषु देही नित्यमलेपकः ॥ १७
 शुद्धश्चिन्मात्र आत्मायमाकाशादप्यणोरणुः ।
 खानुभूत्यंशमात्रं हि खवद्राम न नश्यति ॥ १८
 न जायते न म्रियते कश्चित्किञ्चित्कदाचन ।
 जगद्विवर्तरूपेण केवलं ब्रह्म जृम्भते ॥ १९
 सत्यमेकं पदं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
 भावाभावविनिर्मुक्तमिति मत्वा सुखी भव ॥ २०
 सर्वापदां निलयमध्रुवमखतन्म-
 मासन्नपातमविवेकमनार्यमज्ञम् ।
 बोधादहंकृतिपदं सकलं विमुच्य
 शेषे सुबद्धपदमुत्तमतां प्रयासि ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० मिथ्यापुरुषोपाख्यानं नाम त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ॥११३॥

तत्र स्थितं च नेत्याह—अन्तरिति । न तन्निरधिष्ठानं किं त्व-
 न्तरधिष्ठानतया स्थितं सुदुर्लभं ब्रह्म यस्य तथाविधम् । नन्व-
 तीन्द्रियात्कथमहंकारादि जगदुत्थितं तत्र दृष्टान्तमाह—व्योस्रः
 शब्दवदिति । अहंकारो लिङ्गात्मा स च मायात्मैवेत्यभिप्रेत्य
 तत्र दृष्टान्तान्तरमाह—स्पन्द इति ॥ ५ ॥ अनात्मैव
 भ्रान्त्या आत्मतां गतः सन् स्वकारणे गगने वृद्धि यातः कल्प-
 नासहस्रैरिदं मे इष्टमिदमनिष्टमित्यादि कल्पयति । तेन कल्पिते-
 नैवाहमित्यात्माभिधानेन असौ इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाराय यतते
 ॥ ६ ॥ तस्मान्नात्मभूतस्यात्मनो रक्षार्थं प्रवृत्तः पूर्वपूर्वदेहनाशो
 उत्तरोत्तरं नानाविधान्देहान्कामकर्मवासनानुसारेण सृजति ॥ ७ ॥
 सः अहङ्कार एव ॥ ८ ॥ कूपकुम्भादिशब्दैरप्युक्त्वावचदेहा एव
 लक्षणयोक्तव्य इत्याह—कूपेति । तन्नोन्नि तदवच्छिन्ने मायामया-
 त्मनि आत्मभावनां याति ॥ ९ ॥ क्रियोपाधिभेदनिमित्तयौगि-
 कनामानि । यैर्यैः क्रियोपाधिभिर्जगदाकारविभ्रमैरयमहङ्कार
 आत्मानं मोहयतीत्यर्थः ॥ १० ॥ प्राणधारणाज्जीवो वायुार्था-
 ध्यवसायादुद्विग्नान्मननात्मनस्त्वन्तनाचित्तमसत्कल्पनान्माया
 परिणामिस्वभावत्वात्प्रकृतिः संकल्पनात् संकल्पः संकल्पिता-
 र्थस्याकल्पनात्कलना तस्य विपरिणामादिनिमित्तत्वात्कालस्तत्रैक-
 देशभेदकल्पनात्कला चेत्यपि विश्रुतैः प्रसिद्धैः ॥ ११ ॥ आदि-
 पदादुत्पत्तिप्रकरणोक्तमनोनामानि सर्वाण्यपि गृह्यन्ते । अन्वयैः
 'कामः संकल्पो विचिकित्सा भ्रष्टाऽभ्रष्टाधृतिरधृतिर्दोर्धर्माः' इत्या-
 दिभ्युत्पत्त्यादिप्रसिद्धवृत्तिभेदानामभिध्व वृत्तिपाहुल्येन बहुतां
 गतैः ॥ १२ ॥ तस्मादन्वय 'तन्नास्ति नष्टं च स एव तन्नि'ति

यदुक्तं तदनुभवमारोपयति—भूतेति । पूर्णं ब्रह्मणि स्वेन
 प्रथमं शून्यरूपे भूताकाशे तते विस्तृते सति तत्र वाय्वादिक-
 ल्पनाक्रमेण कल्पितं जगद्रन्ध्रवर्तनगरमिव निर्भित्तिकुण्ड्याद्यावरण-
 शून्यमेव युक्तया विमर्शं निश्चितम् । न ह्यच्छिद्रे ब्रह्मणि चिच्छिद्रे
 आकाशः प्रथममुपपद्यते । स च शून्यात्मा अतिविस्तृतोऽचल-
 श्वलनात्मा वायुः कथं संपद्यते । स च वायुनीरूपोऽनुष्णस्तद्विरु-
 द्धस्वभावं तेजः कथं संपद्यते । तन्नोष्णं दाहस्वभावं कथं तद्वि-
 रुद्धशैत्याप्यायनस्वभावं वारि संपद्यते । तन्न प्रवशोषाकाठिन्यस्व-
 भावं कथं तद्विरुद्धस्वभावं पृथिवीभावमापद्यते । अतो निर्भित्येव
 जगदिति निश्चितम् । तत्र च स पुरुषो मिथ्यैव सुखदुःखान्य-
 नुभवन् स्थित इत्यर्थः ॥ १३ ॥ 'न च पश्यति दुर्मति'रिति वर्णिता-
 ह्यमिथ्यापुरुषो यथा मिथ्याक्लेशमनुभूय स्थितस्तथा त्वं माभूरि-
 त्याह—यथैवेति ॥ १४ ॥ १५ ॥ शरीरलक्षणस्य क्षयस्य
 निवासस्य संशये ॥ १६ ॥ १७ ॥ खानुभूत्यंशः अहंकार-
 निष्कृष्टस्वप्रकाशचित् तावन्मात्रं हि ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥
 वर्णितमिथ्यापुरुषरूपमहंकारं त्याजयन् परिशिष्टचिन्मात्रे
 स्वयंपदेशेनोपसंहरति—सर्वापदांमिति । अस्वातन्त्र्यापादक-
 त्वादखतन्मम् । आसन्नो नरकादिपातो यस्यासथाविधं सर्ववि-
 वेकविरोधि । अनार्यं निन्द्यमहंकृतिपदम् । सकलमभिमन्तव्य-
 देहेन्द्रियविषयलक्षणकल्पसहितं बोधान्मूलोच्छेदेन विमुच्य शेषे
 निष्कृष्टचिन्मात्रे सुबद्धपदं हृदं स्थितश्चेत् सर्वोत्तमतां प्रयासी-
 त्यर्थः ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे मिथ्यापुरुषोपाख्यानं नाम त्रयोदशोत्तरशततमः
 सर्गः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ११४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

परस्माद्ब्रह्मणः पूर्वं मनः प्रथममुत्थितम् ।
 मननात्मकमाभोगि तत्स्थमेव स्थितिं गतम् ॥ १
 पुष्पकोश इवामोहो महोर्मिरिव सागरे ।
 रश्मिजालमिवाद्ये मनो ब्रह्मणि राघव ॥ २
 तस्यादृश्यात्मतत्त्वस्य विस्मृत्यैव गतं स्थितिम् ।
 नान्यस्मादागतं राम जगद्रक्षुभुजङ्गवत् ॥ ३
 आदित्यव्यतिरेकेण यो भावयति राघव ।
 रश्मिजालमिदं होतत्स्यान्यदिव भास्वतः ॥ ४
 कनकव्यतिरेकेण केयूरं येन भावितम् ।
 केयूरमेव तत्स्य न तस्य कनकं हि तत् ॥ ५
 आदित्याव्यतिरेकेण रश्मयो येन भाविताः ।
 आदित्य एव ते तस्य निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ६
 सलिलव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भावितः ।
 तरङ्गबुद्धिरेवैका स्थिता तस्य न वारिधीः ॥ ७
 सलिलाव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भाव्यते ।
 अम्बुसामान्यताबुद्धिर्निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ८
 कनकाव्यतिरेकेण केयूरं येन भाव्यते ।
 कनकैकमहाबुद्धिर्निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ९
 पावकव्यतिरेकेण ज्वालाली येन भाविता ।
 तस्याग्निबुद्धिर्गलति ज्वालाधीरेव तिष्ठति ॥ १०
 ज्वालाजालाभ्रलेखेव रञ्जिता सा तथा स्थितिः ।

विविच्य सदसद्रूपे दृष्टान्तैरिह भूरिषः ।

असद्रूपनिरासेन सदरूपे स्वर्यमीर्यते ॥ १ ॥

जगतः सर्वस्य मनोविकल्पमात्रत्वादविकल्पवस्तुप्रदर्शनेन
 सुकरो निरास इति व्युत्पादयितुं प्रथमं परे ब्रह्मणि मनः-
 कल्पनामाह—परस्मादिति । पूर्वं सर्गादिकाले प्रथमं सर्वकल्पा-
 नाभ्यः पूर्वं तच्च मनस्तत्र परे ब्रह्मणि अपृथक्सत्तया स्थितमेव
 सत्कल्पनान्तरनिमित्ततया अद्ययावत्स्थितिं गतमित्यर्थः ॥ १ ॥
 अपृथक्सत्तया स्थितौ दृष्टान्तानाह—पुष्पकोशे इति ॥ २ ॥
 तत्स्थमेवेत्यंशं दृष्टान्तैर्विशदीकृत्य स्थितिं गतमित्यंशं विदृ-
 षोति—तस्येति । विस्मृत्या अप्रतिसंधानात्मकेनाज्ञानेनैव
 सर्वजगत्कल्पनामूलतया स्थितिं गतम् ॥ ३ ॥ तथा च जगत्स-
 न्मात्रादन्यतया भावने अन्यत् सन्मात्रतया विभावने तु स-
 द्रूपं ब्रह्मैवेति दृष्टान्तेरुपादयति—आदित्येत्यादिना । इदं
 रश्मिजालं य आदित्यव्यतिरेकेण भावयति तस्य होतद्भास्वत
 आदित्यादन्यदिव स्यादित्यन्वयः ॥ ४ ॥ न तस्येति । वस्त्वै-
 क्यबुद्धेः केयूरेणैवावरोधादिति भावः ॥ ५ ॥ आदित्याव्यति-
 रेकेण निर्विकल्पो रश्मिभेदविकल्पश्चन्यः ॥ ६ ॥ कल्पिताक-
 ल्पितरूपाभ्यामर्थं ह्य कल्पनाकल्पनबुद्धिभ्यां पुरुषोऽपि
 सविकल्पो निर्विकल्पश्च भवतीत्याह—सलिलेत्यादिना

तामेवास्थां समावृत्ते तद्गतान्याकुला मतिः ॥ ११
 पावकाव्यतिरेकेण ज्वालाली येन भाव्यते ।
 तस्याग्निबुद्धिरेकास्ति निर्विकल्पः स उच्यते ॥ १२
 यो निर्विकल्पः सुमहान्सोऽसंक्षीणमहामतिः ।
 प्राप्तव्यं तेन संप्राप्तं नासौ वस्तुषु मज्जति ॥ १३
 नानातामखिलां त्यक्त्वा शुद्धचिन्मात्रकोटरे ।
 संवेद्येन विनिर्मुक्ते संवित्तत्त्वे स्थितो भव ॥ १४
 स्वयमेवात्मनैवात्मा शक्तिं संकल्पनामिकाम् ।
 यदा करोति स्फुरता स्पन्दशक्तिमिवानिलः ॥ १५
 तदा पृथगिवाभासं संकल्पकल्पनामयम् ।
 मनो भवति विश्वात्मा भावयन्स्वाकृतिं स्वयम् ॥ १६
 तत्संकल्पात्मकं चेतो यथेदमखिलं जगत् ।
 संकल्पयति संकल्पैस्तथैव भवति क्षणात् ॥ १७
 कीटत्वमज्जजत्यं च मेरुत्वं मरुतां तथा ।
 मनो जीवमहंकारबुद्धिचित्तादिनामकम् ॥ १८
 संकल्पतो द्वितैकत्वमेत्य चेतो जगत्स्थितिम् ।
 तनोति तस्यां तदनु नानातां गच्छति स्वयम् ॥ १९
 संकल्पमयमेवेदं जगदाभोगि दृश्यते ।
 न सत्यं न च मिथ्यैव स्वप्नजालमिवात्थितम् ॥ २०
 जन्तोर्यथा मनोराज्यं विविधारम्भभासुरम् ।
 ब्राह्मं तथेदं विततं मनोराज्यं विराजते ॥ २१
 यथाभूतार्थभावित्वात्तदेनत्प्रविलीयते ।

॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ गलति नोद्भवति ॥ १० ॥ कल्पि-
 ताकारानुबिद्धा बुद्धिस्तत्रैवास्थां बद्धा तन्मूलानि कल्पना-
 न्तराणि च करोतीत्याह—ज्वालैति । अभ्रलेखेव ज्वालाजालं
 ज्वालाजालाभ्रलेखा सेव रञ्जिता । तदाकारतापजेति यावत् ।
 स्थितिर्बुद्धिवृत्तिः । तद्गतानि ज्वालाजालगतानि चलनोर्ध्वगमन-
 ऋजुवक्रतावीनि च आदत्ते कल्पयति ॥ ११ ॥ १२ ॥ निर्वि-
 कल्पः उक्तप्राप्त्याहकदिविधविकल्परहितः । वस्तुषु वैकल्पिक-
 पदार्थेषु । मज्जति सत्यबुद्ध्या आसज्जते ॥ १३ ॥ दृष्टान्ते
 उपपादिनविकल्पत्यागप्रकारं दाष्टान्तिके उपदिशति—नानाता-
 मिति । कीटशब्द आन्तरप्रत्ययवस्तुपरः ॥ १४ ॥ स्फुरता
 स्वप्रकाशेनात्मनैव संकल्पनामिकां शक्तिं यदा करोति तदा
 मनो भवतीति परेणान्वयः ॥ १५ ॥ विश्वाकारं स्वाकृतिं
 भावयन् विश्वात्मा समष्टिमनो भवति ॥ १६ ॥ तद्विश्वाकार-
 संकल्पात्मकं समष्टिचेतो हिरण्यगर्भात्मकम् ॥ १७ ॥ यथा यथा
 भावयति तदवयुष्य प्रपश्यति—कीटत्वमिति ॥ १८ ॥ १९ ॥
 मिथ्याशब्दोऽलीकपरः । स्वप्नजालमिवातिर्वचनीयमित्यर्थः
 ॥ २० ॥ ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्येदं ब्राह्मम् ॥ २१ ॥ मिथ्या-
 त्वादेव तत्त्वज्ञानेन यथास्थितब्रह्मात्मनैव भावित्वान्माधिकरूपेण
 प्रविलीयत इत्याह—यथाभूतेति । तथा च श्रुतिः 'मनसैव-

| | |
|---|---|
| परमार्थेन इष्टं चेत्तदिदं नैव किञ्चन ॥ २२ | पदार्थजाते सर्वस्मिन्संवित्सारमये स्थिते ॥ २७ |
| इष्टं त्वपरमार्थेन प्रयाति शनशास्त्रताम् । | संविदेवेदमखिलं जगज्जान्यास्ति कल्पना । |
| जलमूर्मितरङ्गादिकलनाहं परिस्फुरन् ॥ २३ | संवित्स्फुरणमात्रेऽस्मि जगज्जालकनामनि ॥ २८ |
| यथाम्बुधिर्बुधुर्धसे स्वभावेन तथा चितः । | इदमन्यदिदं चान्यदिति मिथ्याग्रहः कुतः । |
| कुर्वन्कर्मसहस्राणि ह्यणुचित्स्पन्दनाहते ॥ २४ | संभवादखिलाकारेष्वेकस्या एव संविद्ः । |
| नापूर्वं कुरुते किञ्चित्किञ्चिद्देवमतस्त्यजन् । | संवेद्यमपि नास्त्येव बन्धमोक्षावतः कथम् ॥ २९ |
| गच्छन्भृष्टवन्स्पृशन्जिघ्रन्ध्वदन्व्यवहरन्स्वपन् ॥ २५ | मोक्षोऽयमेव खलु बन्ध इति प्रसह्य |
| नापूर्वं विद्यते किञ्चित्सत्यमित्येव भावयन् । | चिन्तां निरस्य सकलां विफलाभिमानाम् । |
| यद्यत्करोषि तद्विद्धि चिन्मात्रममलं ततम् ॥ २६ | मौनी वशी विगतमानमदो महात्मा |
| ब्रह्म प्रवृंहिताकारं तस्मादन्यन्न विद्यते । | कुर्वन्स्वकार्यमनहंकृतिरेव तिष्ठ ॥ ३० |

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमार्थोपदेशो नाम चतुर्दशधिकशततमः सर्गः ॥११५॥

पञ्चदशधिकशततमः सर्गः ११५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

महाकर्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ ।
सर्वाः शक्ताः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ १

श्रीराम उवाच ।

किमुच्यते महाकर्ता महात्यागी किमुच्यते ।
किमुच्यते महाभोक्ता सम्यक्कथय मे प्रभो ॥ २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एतद्भूतत्रयं राम पुरा चन्द्रार्धमौलिना ।
भृङ्गीशाय तु संप्रोक्तं येनासौ विज्वरः स्थितः ॥ ३
सुमेरावुत्तरे शृङ्गे पूर्वं शशिकलाधरः ।
अतिष्ठदग्निस्काशे समग्रपरिवारवान् ॥ ४
तमपृच्छन्महातेजास्तनुविज्ञानवान्स्थितः ।
भृङ्गीशः प्रणतो राम बद्धाञ्जलिरुमापतिम् ॥ ५

दमात्तमं नेह नानास्ति किञ्चन' इति ॥ २२ ॥ तत्त्वदर्शनाभावे तर्हि किं भवति तदाह—इष्टमिति । तदा अज्ञातपरमार्थबलेनैव शतशास्त्रतां प्रयाति । यथा अम्बुधिर्जलमेव सन् ऊर्मितरङ्गादिकलनाहं रूपं परिगृह्य स्फुरन् अम्बुधिर्बुधुर्धसे तथा कर्मसहस्राणि कुर्वन् जनोऽपि अणुचितश्चिदाभासयुक्तस्य मनसः स्पन्दनाहते कूटस्थचितोऽपूर्वं किञ्चिदपि विकारादि न कुरुते । अतस्त्वमपि किञ्चित्च्छतरं मेदं त्यजन् सन् गमनादिसर्वव्यवहारं कुर्वन्पुर्वमभिनवं जगद्रूपं किञ्चित्तरूपं सत्यं न विद्यते किन्तु पूर्वसिद्धं ब्रह्मैव परमार्थसत्यं विद्यत इति भावयेति चतुर्थार्धपर्यन्तमन्वयः ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ प्रवृंहिताकारं विवर्तयित्वात्मिकाकारं तद्वाधविजृम्भिताकारं वा । ब्रह्म स्वभावमुक्तं प्रतीचि पर्यवसाययति—पदार्थैल्यादिना ॥ २७ ॥ २८ ॥ संवेद्यं अपिशब्दात्तज्जिदानमपि ॥ २९ ॥ हे राम, अयं मोक्ष एव बन्ध इत्यादिकां विफलाभिमानां सकलां चिन्तां प्रसह्य सर्वयत्नेन निरस्य बागादिसर्वैर्निद्रयजयान्मौनी यो० वा० १३१

भृङ्गीश उवाच ।

भगवन्देवदेवेश सर्वज्ञ परमेश्वर ।
यदहं परिपृच्छामि कृपया तद्वदाशु मे ॥ ६
संसाररचनां नाथ तरङ्गतरलामिमाम् ।
अवलोक्य विमुह्यामि तत्त्वविभ्रान्तिवर्जितः ॥ ७
कमन्तर्निश्चयं कान्तमुररीकृत्य सुस्थितम् ।
अस्मिजगज्जीर्णगृहे तिष्ठामि विगतज्वरम् ॥ ८

ईश्वर उवाच ।

सर्वाः शक्ताः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।
महाभोक्ता महाकर्ता महात्यागी भवानघ ॥ ९
भृङ्गीश उवाच ।
किमुच्यते महाकर्ता महाभोक्ता किमुच्यते ।
किमुच्यते महात्यागी सम्यक्कथय मे प्रभो ॥ १०

वशी विगतमानमदश्च सन् खोचितं राज्यादिकार्यं कुर्वन्जनहं-कृतिर्महात्मव भूत्वा तिष्ठेत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमार्थोपदेशो नाम चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

महाकर्त्रादिशब्दानां व्याख्याभिरिह शंभुना ।

लक्ष्मणाणि जीवन्मुक्तानां वर्णयन्ते भृङ्गिणेऽर्थिने ॥ १ ॥

सर्वाः पुण्यपापादिशक्ताः परित्यज्य धैर्यं निर्भयं कूटस्थात्मभावम् ॥ १ ॥ किलक्षणं प्राप्तो महाकर्ता उच्यते इति त्रिष्वपि ॥ २ ॥ अभ्यासकालमपेक्ष्य त्रतत्रयमित्युच्यते फलकाले त्वमानित्वादिकमिदं लक्षणत्रयं संपद्यते । असी भृङ्गीशः ॥ ३ ॥ ४ ॥ तनुविज्ञानवान् मन्दात्मज्ञानः । यद्यपि गाणपत्यप्राप्तिकाल एव सावैरयं तेन प्राप्तमस्ति तथाप्यात्मज्ञानस्थानितरज्ञानसाधारण्याय भोगासक्त्या मान्यमारोप्योक्तिः ॥ ५ ॥ ६ ॥ तरङ्गतरलां नश्वरीम् । ज्ञातेऽपि तत्त्वे भोगासक्त्या विभ्रान्तिवर्जितः ॥ ७ ॥ कान्तं विभ्रान्तिमुत्तरम्यम् । तिष्ठामि तिष्ठेयम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

ईश्वर उवाच ।

धर्माधर्मौ महाभाग शङ्खाविरहिताक्षयः ।
 यः करोति यथाप्राप्तौ महाकर्ता स उच्यते ॥ ११
 रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
 यः करोत्यनपेक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ १२
 मौनवाक्विरहंभावो निर्मलो मुक्तमत्सरः ।
 यः करोति गतोद्वेगं महाकर्ता स उच्यते ॥ १३
 शुभाशुभेषु कार्येषु धर्माधर्मैः कुशाकृया ।
 मतिर्न लिप्यते यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ १४
 सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः ।
 निरिच्छं वर्तते कार्ये महाकर्ता स उच्यते ॥ १५
 उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
 न शोचते यो नोदेति महाकर्ता स उच्यते ॥ १६
 यथार्थकाले मतिमानसंसक्तमना मुनिः ।
 कार्यानुरूपवृत्तस्थो महाकर्ता स उच्यते ॥ १७
 उदासीनः कर्तृतां च कर्माकर्माचरंश्च यः ।
 समं यात्यन्तरत्यन्तं महाकर्ता स उच्यते ॥ १८
 स्वभावेनैव यः शान्तः समतां न जहाति वै ।
 शुभाशुभं ह्याचरन्त्यो महाकर्ता स उच्यते ॥ १९
 जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च ।
 सममेव मनो यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ २०
 न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदभिकाङ्क्षति ।
 भुङ्क्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ २१
 नादत्तेऽप्याददानश्च नाचरत्याचरन्नापि ।
 भुञ्जानोऽपि न यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ २२

तत्र 'सर्वाः शङ्खाः परित्यज्य' इत्यंशं विवृणोति-धर्माधर्माविति ।
 अकर्त्रभोक्तात्मनिष्कयात् कर्तृत्वादिशङ्खाविरहिताकृतिः । 'इत्वापि
 स इमंल्लोकान्' इतिवज्जानप्रभावोक्तिरियं न तु यथेष्टाचरणा-
 भ्यनुष्ठेति बोध्यम् ॥ ११ ॥ रागद्वेषादिपदैस्तथाशकचेष्टा उच्यन्ते ।
 फलाफले इष्टानिष्टे योऽनपेक्षेण निष्कामेन मनसा लोकसंप्रदहमा-
 त्रप्रयोजनेन करोति ॥ १२ ॥ मौनं मुनिकर्म मननयोगादि । गत
 उद्वेगः फलासिद्ध्यन्यथात्वप्रयुक्त उद्वेगो यस्मिन्कर्मणि ॥ १३ ॥
 दैवात्संपक्षेऽथमेधकलत्रभक्षणादिकार्येषु धार्मिकोऽहं पापोऽह-
 मिति वा कुशाकृया कल्पितैर्धर्माधर्मैः ॥ १४ ॥ १५ ॥ शोक-
 निमित्तेषु न शोचते उदयनिमित्तेषु च नोदेति ॥ १६ ॥ प्रार-
 ष्ठ्योपनीतयथोचितप्रयोजनकाले कार्यानुरूपवृत्तस्वस्वत्प्रयोजना-
 नुरूपवृत्तवृत्तान् ॥ १७ ॥ कर्माकर्म विहितनिविद्धकर्मणी स्वयं
 देवाचरंस्तत्कर्तृतामन्यप्रेरणेन हेतुकर्तृताभापयमानश्चान्तर्मन-
 स्यकर्त्रात्मदृष्टनिष्कयेनोभयत्र यः समं भावं याति ॥ १८ ॥ यो
 मित्रेषु शुभममित्रेषुशुभमाचरन्नापि समतां न जहाति । द्वि-
 यस्मादितोर्यः स्वभावेनैव शान्तः । न ह्यस्य चन्द्राद्वादकतासदृशः
 स्वभावोऽन्यथा भवतात्यर्थः ॥ १९ ॥ जन्मादिषु पञ्चदश भाव-
 निकारेषु उदयो हृदिरत्समयोऽपक्षयस्तत्सहितेषु संपरेषु निर्नि-

साक्षिवत्सकलं लोकव्यवहारमस्मिन्नधीः ।
 पश्यत्यपगतेच्छं यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ २३
 सुखैर्दुःखैः क्रियायोगैर्मावाभावैर्धर्मप्रदैः ।
 यस्य नोत्कामति मतिर्महाभोक्ता स उच्यते ॥ २४
 जरा मरणमापन्नं राज्यं वारिष्णमेव च ।
 रम्यमित्येव यो वेत्ति महाभोक्ता स उच्यते ॥ २५
 महान्ति सुखदुःखानि यः पर्यासीव सागरः ।
 समं समुपगृह्णाति महाभोक्ता स उच्यते ॥ २६
 अहिंसा समता तुष्टिश्चन्द्रविम्बादिवांशवः ।
 नोप यस्मादुपयाता महाभोक्ता स उच्यते ॥ २७
 कद्वम्बल्लवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमुत्तमम् ।
 अधमं योऽस्ति साभ्येन महाभोक्ता स उच्यते ॥ २८
 सरसं नीरसं वैव सूरतं विरतं तथा ।
 यः पश्यति समं सौम्यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ २९
 क्षारे खण्डप्रकारे च शुभे वाप्यशुभे तथा ।
 समता सुखिरा यस्य महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३०
 इदं भोज्यमभोज्यं चेत्येवं त्यक्त्वा विकल्पितम् ।
 गताभिलाषं यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३१
 आपदं संपदं मोहमानन्दमपरं परम् ।
 यो भुङ्क्ते समया बुद्ध्या महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३२
 धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
 धिया येनेति संत्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ ३३
 सर्वेच्छाः सकलाः शङ्खाः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
 धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३४

कारसन्मात्रात्मदर्शनात्सममेव मनो यस्य ॥ २० ॥ महाभो-
 कुलक्षणान्याह—न किञ्चिदित्यादिना । प्रकृतं प्रसृतं प्रारब्धो-
 पनीतम् ॥ २१ ॥ इन्द्रियैर्विषयानादानोऽप्यद्वयासङ्गपूर्णात्मप्रति-
 ष्टत्वात्तादत्ते । इत्तपादादिना आदानगमनायाचरन्नापि निष्क्रि-
 यात्मबुद्ध्या नाचरति । एवमद्यानायाद्यतीतनित्यतृप्तात्मदर्शनात्
 भुङ्क्ते ॥ २२ ॥ उदासीनः साक्षाद्गृह्णा साक्षी तद्वत् ॥ २३ ॥
 जयापजयादिक्रियायोगैः । भावाभावैर्लभ्यव्ययैः । भ्रमा विक्षे-
 पात्संप्रदैः । नोत्कामति न विक्षिपति ॥ २४ ॥ रम्यं ब्रह्म-
 दृष्ट्या रम्यम् । यथा स्वर्णमयो व्याघ्रो रम्यस्वर्णदृष्ट्या रम्यस्त-
 वेति भावः ॥ २५ ॥ समं तुल्यदृष्ट्या भोगाय समुपगृह्णाति
 ॥ २६ ॥ यस्मादुपयाता नोपयाताः । चकारः प्रागुक्तगुणकद-
 न्वसमुच्चयार्थः ॥ २७ ॥ अधमं अस्वाद् निरुद्धमप्यन्नम्
 ॥ २८ ॥ विरतं रतिभिषातम् ॥ २९ ॥ खण्डप्रकारे शर्कराप-
 रिष्कृतमक्षयभेदे ॥ ३० ॥ अभोज्यं भोक्तुमशक्यम् अस्वाद्
 तिषादि । विकल्पितं विकल्पनम् ॥ ३१ ॥ अपरममृष्टं कोद-
 वाभकदाच्छादनादि । परं उत्कृष्टं दिव्याजाच्छादनादि ॥ ३२ ॥
 इति प्रागुक्तलक्षणया । धिया निरतिषयानन्दपूर्णाद्वयात्मधिया-
 मिष्येति संत्यक्तमिति वा ॥ ३३ ॥ सर्वा ईहा ज्ञाननःकाय ।

देहस्य मनसो दुःखैरिन्द्रियाणां मनःस्थितेः ।
 नूनं येनोज्जिता सत्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३५
 न मे देहो न जन्मापि युक्तायुके न कर्मणी ।
 इति निश्चयवानन्तर्महात्यागी स उच्यते ॥ ३६
 येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
 सर्वमन्तः परित्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ ३७
 यावती इन्द्रियकलना सकलेयं विलोक्यते ।
 सा येन सुष्ठु संत्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३८
 इत्युक्तं देवदेवेन भृङ्गीशाय पुरानघ ।
 एतां दृष्टिमवष्टभ्य तिष्ठ राम गतज्वरः ॥ ३९
 नित्योदितं विमलरूपमनन्तमाद्यं
 ब्रह्मास्ति नेतरकलाकलनं हि किञ्चित् ।
 इत्येव भावय निरञ्जनतामुपेतो
 निर्वाणमेहि सकलामलशान्तवृत्तिः ॥ ४०

मनामयं ब्रह्म समस्तकल्प-
 कार्यैकबीजं परमात्मरूपम् ।
 बृहच्च तदुहितसर्वभावं
 खमस्ति भातीह यदङ्ग किञ्चित् ॥ ४१
 अन्यत्कश्चित्किञ्चिदिदं कदाचि-
 न्न संभवत्येव सद्यसच्च ।
 इत्येव साधो इदनिश्चयोऽन्तः
 स्थित्वा गताशङ्कविलासमास्व ॥ ४२
 अन्तर्मुखः सन्सततं समस्तं
 कुर्वन्बहिष्ठं खलु कार्यजातम् ।
 न खेदमायासि कदाचिदेव
 निराकृताहंकृतितामुपैषि ॥ ४३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे०मो० निर्वाणप्रकरणे पू० व्रतत्रयनिरूपणं नाम पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः ११६

श्रीराम उवाच ।

भगवन्सर्वधर्मज्ञ चित्तेऽहंकारनामनि ।
 गलिते वा गलद्रूपे लिङ्गं सस्वस्य किं भवेत् ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 बलादपि हि संजाता न लिम्पन्त्याशयं सितम् ।
 लोभमोहादयो दोषाः पर्यासीव सरोरुहम् ॥ २

मुदिताद्याः भियो ब्रह्मं न मुञ्चन्ति कदाचन ।
 गलत्सहंकारमये चित्ते गलति दुष्कृते ॥ ३
 वासनाग्रन्थयद्विच्छन्ना इव नुत्थन्त्यलं शनैः ।
 कोपस्तानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति ॥ ४
 कामः क्रुमं गच्छति च लोभः कापि पलायते ।
 नोल्लसन्तीन्द्रियाण्युच्चैः खेदः स्फुरति मोक्षकैः ॥ ५

चेष्टाः । धिया विषयबाधादेव परितस्त्यक्ताः ॥ ३४ ॥ देहा-
 दीनां सत्ता तत्तदुच्चैः सह येन मिथ्यात्वबुद्ध्या उज्जिता
 त्यक्ता ॥ ३५ ॥ युक्तायुके विहितनिषिद्धे इष्टानिष्टाचरणरूपे
 वा ॥ ३६ ॥ धर्ममधर्मं च शरीरम् । मनोमननं मानसम् ।
 ईहितं वागादि चेष्टितम् ॥ ३७ ॥ सुष्ठु सम्प्रदर्शनेन बाधा-
 त्संलया ॥ ३८ ॥ उपसंहरति—इतीति ॥ ३९ ॥ यथा
 भावनया महाकर्ता च महाभोक्ता महात्यागी वाऽनायासेन
 भवति तां भावनां रामायोपदिशति—नित्योदितमिति । हे
 राम, त्वं देहादिपञ्चकोशानामवस्थात्रयस्य च निरासेन
 निरञ्जनतामुपेतः सन् परिशिष्टं नित्योदितं विमलरूपं
 ब्रह्मास्ति किञ्चित्कित्तरूपनाकलनं नास्तीत्येव भावय ।
 एवं सदा भावयन्कलाबाभिव्यक्त्या कलनामलेभ्यः शान्ता
 वृत्तयो यस्य तथाविधः सन्निर्वाणमेहि प्राप्नुहीत्यर्थः ॥ ४० ॥
 हे भङ्ग, इह संसारे यत्किञ्चिद्भाति तत्समस्तेषु कल्पेषु द्विपरार्धा-
 वधिकालावयवेषु प्रसिद्धानां सर्वकार्याणामेकबीजं मूलकारणभू-
 तमनामयं स्वयं जन्मादिविकारामयश्चर्यं परमात्मरूपं ब्रह्मैव ।
 तच्च बृहत्सर्गमेदैर्बृहत्सर्वभावविकल्पमपि खमाकाशमेवास्ति ।
 सर्वविकल्पस्यैवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ यतः कश्चित्किञ्चिदपि सत्
 स्थूलमसत् सूक्ष्मं अपिशब्दात्कारणं च सदेकरसाद्राज्ञोऽन्यत्र

संभवत्येव । सतः पृथक्त्वे असत्त्वापत्तेः, अपृथक्त्वे सदैकर-
 स्थापत्तेः, प्रकारान्तरस्य च संभावनायोगादिति भावः । हे
 साधो, अतस्त्वं सद्रह्येवाहमित्येवान्तर्दृढनिश्चयः सन् प्रथमं समा-
 ध्यभ्यासबलेन स्थित्वा सप्तमभूमिकां क्रमेणाधिरुह्य गताशङ्क-
 विलासं तथैवास्त्वेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ हे साधो, त्वं यदि अन्त-
 र्मुखः सन्निराकृताहंकृतितामुपैषि तदा बहिष्ठं समस्तं कार्य-
 जातं कुर्वन्पि कदाचिदपि खेदं नायास्येवेत्यन्वयः ॥ ४३ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वा-
 र्धे व्रतत्रयनिरूपणं नाम पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

चित्तस्य गलतो नित्यं चतुर्थादिषु भूमिषु ।

गलितस्य च लक्ष्माणि बर्ष्यन्तेऽत्र पुमाश्चपात् ॥ १ ॥

सत्त्वस्य क्षीणवासनस्य मनसो लिङ्गं लक्षणम् ॥ १ ॥ एवं
 पृष्ठो वसिष्ठः प्रथमं लोभमोहादिदोषक्षय एव मुख्यं तल्लक्षण-
 मित्याह—बलादिति । संजाताः संजनिताः । परीक्षावर्थं परेण
 बलादपि संपादिता इत्यर्थः । सितं शुद्धं शुभ्रं च ॥ २ ॥ सया
 मुखप्रसन्नतादिरपि तल्लक्षणमित्याह—मुदिताद्या इति । दुष्कृते
 निषादहेतौ पापे शान्तामिना गलति सति ॥ ३ ॥ उक्तं प्रपञ्च-
 मन् लक्षणान्तराण्यप्याह—व्यासनेत्यादिना ॥ ४ ॥ ५ ॥

न दुःखान्युपवृंहन्ति न घृणन्ति सुखानि च ।
 सर्वत्र समतोवेति हृदि शैत्यप्रदायिनी ॥ ६
 सुखदुःखाद्यस्त्वेते दृश्यन्ते यदि वा मुखे ।
 दृश्यन्त एव तुच्छत्वान्नानुलिम्पन्ति ते मनः ॥ ७
 चित्ते गलति गीर्वाणगणस्य स्पृहणीयताम् ।
 साधुर्गच्छत्युदेत्यस्य समता शीतचन्द्रिका ॥ ८
 उपशान्तं च कान्तं च सेव्यमप्रतिरोधि च ।
 निवृत्तं चोर्जितं स्वच्छं बह्वीत्यं महद्वपुः ॥ ९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० गलितचित्तलक्षणकथनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ११७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भवतामादिपुरुष इक्ष्वाकुर्नाम भूपतिः ।
 इक्ष्वाकुवंशप्रभव यथा मुक्तस्तथा शृणु ॥ १
 इक्ष्वाकुर्नाम भूपालः स्वराज्यं परिपालयन् ।
 कदाचिदेकान्तगतो मनसा समचिन्तयत् ॥ २
 जरामरणसंक्षोभसुखदुःखभ्रमस्थिनेः ।
 अस्य दृश्यप्रपञ्चस्य को हेतुः स्यादिति स्वयम् ॥ ३
 जगतो न विवेदासौ कारणं चिन्तयन्नपि ।
 अथैकदा पृच्छदसौ ब्रह्मलोकागतं मनुम् ॥ ४
 पूजितं स्वसभासंस्थं भगवन्तं प्रजापतिम् ।

शैत्यं तापनिवृत्तिस्तत्प्रदायिनी ॥ ६ ॥ ननु ज्ञानिनामपि कदा-
 चिन्मुखे सुखदुःखादिलिङ्गानि प्रसादमालिन्त्यादीनि दृश्यन्ते
 यथा प्राक्प्रभव्य दुर्वासःशापध्रवणे शिखिध्वजस्य, यथा वा
 विश्वामित्रेण हरिश्चन्द्रच्छलने पुत्रघातेन च वसिष्ठस्य । तत्कथं
 मुदिताद्याः श्रियो वक्रं न मुञ्चन्तीति लक्षणं घटते तत्राह—
 सुखदुःखादय इति । भोजकप्रारब्धप्राबल्येन दुःखतलिङ्गमा-
 लिन्त्याभासयोः कदाचिदुदयेऽप्युत्तरक्षणे मिथ्यात्वबुद्धिबाधित-
 त्वाच्च तयोस्तच्चित्तलेपकत्वमिति न स्वाभाविकसुखादिप्रसादविघात
 इत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ अप्रतिरोधि परेष्टाविधाति । निवृत्तं
 विनीतम् ॥ ९ ॥ भार्वादेभवेरभार्वेदादिर्द्विविधो विषमोऽपि ।
 सतां गलिताहंकाराणाम् ॥ १० ॥ इदानीमात्मलाभस्यासुल-
 भतां दर्शयंस्तदर्थमप्रवृत्ताच्चिन्द्रेणुपसंहरति—बुद्ध्यालोकेनेति ।
 बुद्धिलक्षणेनालोकेन प्रकाशेन । अथवा प्रत्यक्प्रवणया बुद्ध्या
 आलोकनमालोकस्तावन्मात्रेण साध्ये लभ्ये अस्तमिता आपदो
 यस्मिन् लब्धे सति तथाविधे परमात्मवस्तुनि यो न प्रवर्तते
 तं धिगस्त्वित्यर्थः ॥ ११ ॥ तत्प्रवृत्तौ तर्हि कः प्रथममुपाय
 इति चेद्विवेकवैराग्ये एवेत्याह—विश्रान्तिमिति । हे अहं,
 दुःखरत्नानामाकरभूतं जननमरणोपलक्षितं संसारसागरमुत्ति-
 तीर्षोत्तरितुमिच्छोः पुरुषस्य तत्पारे निरतिशयानन्दात्मनि
 चिरमुचितां विश्रान्तिं प्राप्तुमहं क इदं जगत् किं परमात्मतत्त्वं

इक्ष्वाकुरुवाच ।

मां योजयति धार्ष्णेन भगवन्करुणानिधे ॥ ५
 भवत्प्रसाद एवायं भवन्तं प्रष्टुमञ्जसा ।
 कुतः सर्गोऽयमायातः स्वरूपं चास्य कीदृशम् ॥ ६
 कियदेतज्जगत्कस्य कदा केनेति कथयते ।
 अहं कथं च विषमादस्मात्संसृतिविभ्रमात् ॥ ७
 विमुच्येय घनास्तीर्णाञ्जालादिषु विहंगमः ।

मनुरुवाच ।

अहो नु चिरकालेन विवेके सुविकासिनि ॥ ८
 वितथानर्थविच्छेत्ता सारः प्रश्नस्त्वया कृतः ।
 यदिदं दृश्यते किञ्चित्तन्नास्ति नृप किञ्चन ॥ ९

च किं कीदृशं स्यात् भोगकैस्तुच्छेष किं स्यादिति निरन्तरा-
 भ्यस्ता विचारवैराग्यात्मिका मतिरेव प्रथमोऽभिमत उपायोऽ-
 भ्युपायः । तस्मात्तमेवाभयेदित्यर्थः ॥ १२ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे गलितचित्तल-
 क्षणकथनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

कोऽहं कथं जगदिति विचारेऽत्र निदर्शनम् ।

इक्ष्वाकोर्बुधुना प्रोक्तो विवेकः संप्रकीर्यते ॥ १ ॥

आदिपुरुषो मूलपुरुषो यथा । यादृशविचारेण मुक्तः प्रागु-
 क्तपदे विश्रान्तस्तथा तं विचारं शृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ इति स्वयं
 समचिन्तयदिति पूर्वोक्तान्वयः ॥ ३ ॥ न विवेद विवेकेन वेद ।
 ब्रह्मलोकादागतं महं स्वपितरम् ॥ ४ ॥ तत्र प्रथमं मनुं प्रार्थनया-
 भिसुखीकरोति—मामिति ॥ ५ ॥ प्रष्टव्यांशं दर्शयति—कुत
 इत्यादिना ॥ ६ ॥ संख्यया परिमाणतश्च कियत् । कस्य भोक्तुः
 स्वामिनश्च । कदा केन रचितमिति श्रुत्यादिभिः कथ्यते ।
 अनेन श्रुत्यादिप्रमाणमूलमुपदेशपरंपरासंप्रदायागतमेव त्वया
 वाच्यं न तु तर्केण किञ्चित्कल्पयित्वाते सूचितम् ॥ ७ ॥ विमुच्ये-
 येति कर्मकर्तारि यत्तत्तौ ॥ ८ ॥ तत्र 'तत्त्वोपदेशयोगित्वा-
 त्स्वरूपं चास्य कीदृश'मिति प्रश्नस्य प्रथममुत्तरमाह—यदिद-
 मिति । तथा च मिथ्या जगतः असत्स्वरूपमसदेवेति भावः ॥ ९ ॥

यथा मन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले ।
यसु नो दृश्यते किञ्चित्तत्र किञ्चिदिव स्थितम् ॥१०
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं यत्स्यादपि न किञ्चन ।
अविनाशं तदस्तीह तत्सदात्मेति कथ्यते ॥ ११
इयं तु सर्वदृश्याख्या राजन्सर्गपरंपरा ।
तस्मिन्नेव महादर्शे प्रतिबिम्बमुपागता ॥ १२
भाः स्वभावसमुत्पन्ना ब्रह्मस्फुरणशक्तयः ।
काश्चिद्ब्रह्माण्डतां यान्ति काश्चिद्ब्रह्मच्छन्ति भूतताम् ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० षो० निर्वाणप्रकरणे पू० इक्ष्वाकुमनुसंवादे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥११७॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः ११८

मनुरुवाच ।

संकल्पोन्मुखतां याताः सत्यश्चिन्मात्रसंविदः ।
आपस्तरङ्गत्वमिव यान्ति भूमिप जीवताम् ॥ १
ते जीवाः संसरन्तीह संसारे पूर्वमुत्थिते ।
सुखदुःखदशामोहो मनस्येवास्ति नात्मनि ॥ २
अदृश्यो दृश्यते राहुर्गृहीतेन यथेन्दुना ।
तथानुभवमात्रात्मा दृश्येनात्मावलोक्यते ॥ ३
न शाल्यैर्नापि गुठणा दृश्यते परमेश्वरः ।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सस्वस्थया धिया ॥ ४
पथिकाः पथि दृश्यन्ते रागद्वेषविमुक्तया ।
यथा धिया तथैवते द्रष्टव्याः स्वैन्द्रियादयः ॥ ५

मनु सांख्या उपादाने परमसूक्ष्मतया स्थितमेव कार्यं निमित्तै-
राविर्भाव्यते इत्याहुः । वेदान्तिनस्तु सद्रक्षेत्रं जगदात्मना सर्गे
संपद्यत इति । तत्कथं तन्नास्तीत्युच्यते, तत्राद्यं प्रत्याह—य-
त्त्विति । साक्षिणा इन्द्रियैर्वा यज्ञो दृश्यते तत्किञ्चिदपि स्वोपा-
दाने न स्थितं प्रमाणाभावादित्यर्थः ॥१०॥ स्यादपि न । संभा-
वनाप्यस्य यतो नास्तीत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—अविनाश-
मिति ॥ ११ ॥ प्रतिबिम्बमिति । तथा चादर्शसत्तायाः प्रति-
बिम्बेष्विव संसर्गाध्यासाद्ब्रह्मसत्तानुविद्धं जगदस्तु नाम, तथापि
स्वतः सत्त्वं तस्य नास्त्येवेति तन्नास्तीत्युक्तिर्युक्तैवेति भावः
॥ १२ ॥ कस्तर्हि 'बहु स्या प्रजायेय' इति संकल्प्य ब्रह्मण एव
जगज्जीवभावश्रुतेराधयस्तत्राह—भाः स्वभावेति । स्फुरणश-
क्तयश्चिदाभासाः । ब्रह्माण्डतां स्थूलसमष्ट्यभिमानेन तद्रूपताम् ।
भूततां पृथिव्यमथभिमानेन तद्रूपताम् ॥ १३ ॥ अन्यत्वं चतु-
र्विधभूतग्रामताम् । तथा मिथ्योपाधिषु भ्रान्त्या चिदाभासानां
बन्धादिकल्पना न वस्तुतस्तत्प्रसक्तिरित्याह—न बन्धोऽस्तीति
॥ १४ ॥ उक्तं द्वितीयप्रश्नोत्तरमुपसंहरति—एकमिति ।
यथा एकं वारि तरङ्गभेदः परिस्फुरति एवं चिदपि जगद्भेदः
परिस्फुरति मायामात्रत्वात् न किञ्चिदेव, अतस्त्वं बन्धमो-
क्षममो दूरे प्रविमुच्य न विद्यते भवभयं यस्य तथाविधः
सप्तभयब्रह्मसार एव भवेत्यर्थः ॥ १५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-

अन्यास्त्वन्यत्वमायान्ति भवत्येवं जगत्स्थितिः ।
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति ब्रह्मैवास्ति निरामयम् ।
नैक्यमस्ति न च द्वित्वं संवित्सारं विजुग्मते ॥ १४
एकं यथा स्फुरति वारि तरङ्गभङ्गै-
रेवं परिस्फुरति चिन्न च किञ्चिदेव ।
त्वं बन्धमोक्षकलने प्रविमुच्य दूरे
स्वस्थो भवाऽभवभयोऽभयसार एव ॥ १५

पतेषु नादरः कार्यः सता नैवावधीरणम् ।
पदार्थमात्रताविष्टास्तिष्ठन्वेते यथासुखम् ॥ ६
पदार्थमात्रं देहादि धिया संत्यज्य दूरतः ।
आशीतलान्तःकरणो नित्यमात्ममयो भव ॥ ७
देहोऽहमिति या बुद्धिः सा संसारनिबन्धनी ।
न कदाचिदियं बुद्धिरादेया हि मुमुक्षुभिः ॥ ८
न किञ्चिन्मात्रचिन्मात्ररूपोऽस्ति गगनादप्युः ।
इति या शाश्वती बुद्धिः सा न संसारबन्धनी ॥ ९
यथा विमलतोयानां बहिरन्तश्च भावनम् ।
तेजस्तिष्ठति सर्वत्र तथात्मा सर्ववस्तुषु ॥ १०

रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे इक्ष्वाकुमनुसंवादे
नाम सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

कुतः सर्गः कदा कस्य केनेत्येवामिहोत्तरम् ।

तथात्मदर्शनोपाया मनुनात्र प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

तत्रादौ शुद्धसंविदो जीवभावे निमित्तमाह—संकल्पेति ।
चिन्मात्रस्य शुद्धचैतन्यस्याविद्यायां तत्तत्संस्कारविचित्रायां
प्रतिबिम्बरूपाः संविदः संस्काराणामन्तःकरणतया परिणामे
तदवच्छिन्नतया जीवतां यान्ति ॥ १ ॥ पूर्वमुत्थिते उपाधि-
तया आविर्भूते संसारे समष्टिव्यष्टिमनसः कार्ये । एवं सति
यत्फलितं तदाह—सुखदुःखेति ॥ २ ॥ नन्वदृश्य आत्मा
कथं दृश्ये मनसि संसारदुःखी तद्विमुक्तो वा अविवेके विवेके
वा दृश्यते तत्राह—अदृश्य इति । दृश्येनान्तःकरणेन चरमसा-
क्षात्काररूपतत्परिणामेन च निमित्तेन ॥ ३ ॥ सस्वस्थया नि-
रहंमतावस्थया ॥ ४ ॥ निरहंमता देहेन्द्रियादिषु कथं
द्रष्टव्येति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—पथिका इति ॥ ५ ॥ अवधी-
रणमुपवासादिना पीडनम् ॥ ६ ॥ पदार्थमात्रं उदासीनपदा-
र्थसाधारणं संत्यज्य आत्ममथः शुद्धात्मदृष्ट्या तद्भावप्रचुरः
॥ ७ ॥ ८ ॥ न विद्यते किञ्चिन्मात्रमपि यत्र तथाविधं यच्चि-
न्मात्रं तद्रूपो गगनादप्युः सूक्ष्मः । संसारबन्धनी न मुक्तिहे-
तुरिति यावत् ॥ ९ ॥ अहजगतोऽन्तर्बहिःशासन्नित्प्रवेशेन

संनिवेशांशैश्चिदयं यथा हेतोऽङ्गवादिता ।
 आत्मनस्तद्वत्तद्रूपा तथैव जगदादिता ॥ ११
 विनाशबाडवाक्रान्तं भीमं काममहार्णवम् ।
 जगज्जालतरङ्गिण्यो यान्ति भूततरङ्गिकाः ॥ १२
 तथाप्यद्याप्यपूर्णस्य यः पाता कालवारिधेः ।
 तमात्मानं महागंस्त्वं राजम्भाषय सर्वदा ॥ १३
 अनात्मन्यात्मतामस्मिन्देहादौ दृश्यजालके ।
 त्यक्त्वा सत्त्वमुपारूढो गूढस्तिष्ठ यथासुखम् ॥ १४
 कुचकोटरसंस्रुतं विस्मृत्य जननी सुतम् ।

इत्यार्षे श्रीवा० रामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० इक्ष्वाकुमनुसंवादेऽष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः ११९

मनुरवाच ।

सर्गात्मभिर्विभुः स्पन्दैः क्रीडते बालवत्स्वयम् ।
 संहारात्मकशक्त्याथ संहृत्यात्मनि तिष्ठति ॥ १
 स्वयमस्य तथा शक्तिरुदेत्याबध्यते यथा ।
 स्वयमस्य तथा शक्तिरुदेत्यनुच्यते यथा ॥ २
 सन्द्वार्कवद्वितसायोरन्नादीनां यद्यर्चिषः ।
 यथा पत्रादि वृक्षाणां निर्झराणां यथा कणाः ॥ ३
 तथेदं ब्रह्मणि स्फारे जगद्बुद्ध्यादि कल्पितम् ।
 दुःखप्रदमतज्ज्ञानां तदेवातदिव स्थितम् ॥ ४

स्फुरणेऽनुरूपं दृष्टान्तमाह—यथेति ॥ १० ॥ यथा अन्नदा-
 याकारता हेत्र एव सन्निवेशःवयवविन्यासवैचित्र्यं तद्वदात्म-
 नोऽपि जगत्तन्मूलमायारूपे इत्यर्थः ॥ ११ ॥ आत्मनः काला-
 र्णवागस्त्यतां रूपमितुं कालस्य जगन्नद्युपसंहारस्थानसमुद्गता-
 माह—विनाशेति । विनाश एव बाडवो बडवाभिस्तेनाक्रान्तं
 विशिष्टम् । भूतानि प्राणिनिकायास्तरङ्गा यासाम् ॥ १२ ॥
 यथा सर्वजगज्जालभक्षणेऽप्यद्याप्यपूर्णस्यात्पस्य कालवारिधेयः
 पाता पानकर्ता ॥ १३ ॥ सत्त्वं निर्वासनीभावम् ॥ १४ ॥
 नित्यलब्धेऽप्यात्मन्यलब्धताभ्रान्त्या शोक इत्याह—कुचको-
 टरेति ॥ १५ वपुर्व्यये देहनाशे ॥ १६ ॥ परितो बंहति
 कार्यपरम्परया वर्धते ॥ १७ ॥ हे पुत्र, त्वं संकल्पकलहैर्मुक्तं
 चित्तमात्मनि संस्थाप्य समूलसर्वसंसारोपशमे प्रारब्धभोगोपयो-
 गितरप्रतिभासावशेषादुपशान्तकल्पः सन् व्यवहाराय देहेन्द्रिया-
 दिस्पन्देऽपि तस्याभासमात्रत्वादसंस्पन्दं ब्रह्मोवेह व्यवहारभूमौ
 स्वस्थः सुखी तिष्ठ । इदं राज्यं च शाधि पालय । शासः
 शादेशस्याभीयत्वेनासिद्धत्वादेर्धिः ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
 हारामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धेऽष्टादशोत्तरशत-
 तमः सर्गः ॥ ११८ ॥

वर्णयते पुरुषस्यात्र स्वातन्त्र्यं मोक्षबन्धयोः ।

विद्याविद्यात्मशक्तिभ्यां सत्यामत्यात्मनिश्चयात् ॥ १ ॥

‘स्पन्देऽप्यसंस्पन्दमिवेह तिष्ठ’ इत्युक्तं तत्र ब्रह्मा किमर्थं मायया

यथा रोदिति पुनार्थं तथास्मार्धमयं जनः ॥ १५
 अजरामरमात्मानमशुक्ल परिरोदिति ।
 हा इतोऽहमनाथोऽहं नष्टोऽस्मीति वपुर्व्यये ॥ १६
 यथा धारि परिस्पन्दाज्ञानाकारं विलोकयते ।
 तथा संकल्पवशात्त्रिद्वय परिबृंहति ॥ १७
 संस्थाप्य संकल्पकलहैर्मुक्तं
 चित्तं त्वमात्मन्युपशान्तकल्पः ।
 स्पन्देऽप्यसंस्पन्दमिवेह तिष्ठ
 स्वस्थः सुखी राज्यमिदं प्रशाधि ॥ १८

अहो तु चित्रा मायेयं तात विश्वविमोहिनी ।
 सर्वाङ्गप्रोतमप्यात्मा बदात्मानं न पश्यति ॥ ५
 चिदादर्शमयं सर्वं जगदित्येव भाषयन् ।
 यत्तिष्ठत्युपशान्तेऽहं स ब्रह्मकवचः सुखी ॥ ६
 अहमर्थविमुक्तेन भावेनाभावरूपिणा ।
 सर्वं शून्यं निरालम्बं चिद्रूपमिति भाषयेत् ॥ ७
 इदं रम्यमिदं मेति बीजं ते दुःखसंततेः ।
 तस्मिन्साभ्याग्निना दग्धे दुःखस्यावसरः कुतः ॥ ८
 राजभ्रमावनाख्येण रम्यारम्यविभाषिता ।

स्पन्दते कथं चासंस्पन्दं तिष्ठतीतीक्ष्वाकौर्जिज्ञासां लिङ्गेरुपलक्ष्य
 मनुराह—सर्गात्मभिरिति । विभुरयं परमात्मा प्रसवधर्मिण्या
 अविद्याशक्त्या अविदुषः प्रतिसर्गात्मकैः स्पन्दैः क्रीडते । वि-
 दुषः प्रति तु तत्संहारात्मिकया विद्याशक्त्या समूलं सर्वं
 संहृत्य बाधितत्वात्कूटस्थाद्वये आत्मनि सदैव तिष्ठतीत्यर्थः
 ॥ १ ॥ तत्र रागात्प्रवृत्तस्य सर्गशक्त्युदय इव वैराग्याग्निद्वत्तस्य
 संहारशक्त्युदयोऽपि स्वरसत एव भवतीत्याह—स्वयमिति ॥ २ ॥
 तत्र ज्ञातात्मनि जीवजगत्साधारणसत्तासामान्यात्मना विभाव्य-
 माने तद्विशेषात्मकबाध्यात्प्रतिपदार्थजालकल्पने दृष्टान्ता-
 नाह—सन्द्वेति । अर्चिषः प्रभाज्जालाप्रभेदा यथा कल्पिता-
 स्तथा जगद्वैचित्र्यं तद्वाहकबुद्ध्यादिवैचित्र्यं कल्पितमित्यन्वयः ।
 तसायोप्रहणं मायाशबलदृष्टान्तार्थम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ सर्वगतस्व-
 प्रकाशस्यात्मनोऽदर्शनमसतोऽप्रकाशस्यापि जगतः स्फुटं दर्शनं
 चाक्षर्यमघटितघटनासमर्थमायाबलादेवेत्याह—अहो इति ।
 सर्वेष्वन्वेषवयवप्रायेषु बाध्यात्प्रतिपदभावेषु प्रोतमन्तर्बहिष्क
 व्याप्तमप्यात्मानं यद्यस्मान्न पश्यति ॥ ५ ॥ कया तर्हि भाव-
 नया आत्मानं दृष्ट्वा सुखी स्यातामाह—चिदादर्शमयमित्या-
 दिना । आदर्शं नगरादिरिव ब्रह्मणि जगत्प्रातिभासिकं न
 वास्तवमिति भावयन्नित्यर्थः । मोहशरैरमेयं ब्रह्मैव कवचं यस्य
 सः ॥ ६ ॥ ७ ॥ इति वैषम्यकल्पनमिति शेषः ॥ ८ ॥ अभावना
 समाध्यभ्यासेन सर्वदृश्यविस्मृतिस्तद्वक्षणेनाख्येण रम्यारम्ययोः

सौख्यशिवेषांशु स्नेहैवस्तर्षित्वयताम् ॥ ९
अभावनेन भावनं विलूय कर्मकामनम् ।
परं समेत्य तानवं विशोक एव तिष्ठ भोः ॥ १०

इत्यर्थं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० श्रीशोपायैषु निर्वाणप्रकरणे पृ० इन्द्राङ्गमनुष्यवादे एकोनविंशधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

विंशधिकशततमः सर्गः १२०

मनुरुवाच ।

शास्त्रसंज्ञनसंपर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत् ।
प्रथमा भूमिकैषोका योगस्यैव च योगिनः ॥ १
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना ।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलासत्मिका ॥ २
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी ।
अर्धसुप्तप्रबुद्धामो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥ ३
स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका ।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः ॥ ४
तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम् ।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ॥ ५
तुर्यातीता तु यावस्था परा निर्वाणरूपिणी ।

पदार्थयोर्विभाविता प्रियाप्रियतावैषम्यरूपना । सा हि रागद्वेषहेतुः समदृष्टिदार्ढ्यलक्षणपुरुषप्रयत्नातिशयेन विलयतां छियताम् ॥ १ ॥ समाधिलक्षणेनाभावनेन बाह्यार्थभावनं तत्प्रयोजकं धर्माधर्मलक्षणं कर्मकामनं च विलूय परमाकाशादप्यधिकं तानवं सौख्यं समेत्य तद्दलेन शोकहेत्वलेपे विशोक एव तिष्ठेत्यर्थः ॥ १० ॥ हे पुत्र, त्वं प्रथमं विवेकविलासवान् सन् समाधिना गलितबाह्यकलनाभासः पूर्णात्मना भरितभुवनभोगश्च भूत्वा अधिगतः पराबन्धस्याऽपरिच्छिन्नब्रह्मसुखस्य स्पन्दः सर्वत आभिर्भावो यस्य तथाविधस्तद्विभागबहिष्कृतस्तदस्वप्नैकतापन्नोऽत एव निरस्तसंसारमयः पञ्चमवष्टभूमिकासु चिराय स्थित्वाप्ते सप्तमभूमिकायामात्यन्तिकविक्षेपवैषम्यशमेन समन्विक्रमपूर्णात्सितः शुद्ध आत्यन्तिकवासनाज्ञानकालभ्यस्तयात्स्वच्छ आभोग आकारो यस्य तथाविधोऽभयचिद्वपुर्भवेत्यर्थः । अथवा चतुर्भिः पादैश्चतुर्थावाश्रयतो भूमिकाः क्रमेण दर्शिता बोध्याः ॥ ११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे एकोनविंशधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

सुसुप्तभूमिकासिक्तो सुषुप्तमानस उत्तरा ।

शुक्ल परतस्त्रिको भूमिकाः सप्त दर्शिताः ॥ १ ॥

‘परं समेत्य तानवं’मिति यद्योगभूमिकाभ्यासफलमुक्तं तदुपायभूतान्भूमिकामेदान्वर्णयति—शास्त्रेत्यादिना । तथा च साधनकण्ठयसंपादनसहितं गुरुसतीर्थ्यादिसहायकं भवणं प्रथमा भूमिकेयादिनिष्कर्षा इत्यतिप्रकरणे दर्शिता एवात्र बोध्याः ।

भरितभुवनभोगो भूत्वा विभागबहिष्कृतो
गलितकलनाभासोऽह्लासो विवेकविलासवान् ।
अधिगतपरानन्दस्पन्दचिराय निरामयः
शमसमसितस्वच्छाभोगो भवामयचिद्वपुः ॥ ११

सप्तमी सा परिप्रौढा विषयः स्यान्न जीवताम् ॥ ६
पूर्वावस्थात्रयं त्वन्न जाप्रदित्येव संस्थितम् ।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत् ॥ ७
आनन्दैकघनीभावात्सुषुप्ताख्या तु पञ्चमी ।
असंवेदनरूपाथ षष्ठी तुर्यपदाभिधा ॥ ८
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा ।
मनोवचोभिरप्राज्ञा स्वप्रकाशपदात्मिका ॥ ९
अन्तः प्रत्यावृत्तिवशात्केल्यं चेन्न विभाषितम् ।
मुक्त एवास्य संदेहो महासमतया तथा ॥ १०
यद्भोगसुखदुःकांशैरपरामृष्टपूर्णधीः ।
सशरीरोऽशरीरो वा भवत्येवंमतिः पुमान् ॥ ११
न चिद्ये न च जीवामि नहं सन्नाप्यसन्नयम् ।

॥ १ ॥ विचारणा मननम् । असन्नस्याद्वितीयान्मनोभावना निदिध्यासनम् । विलापनी तत्त्वसाक्षात्कारेणाज्ञानादिप्रपञ्चस्य बाधस्तत्साधिनी । वासनापदेन तदाश्रयाऽविद्या एष्यते ॥ २ ॥ शुद्धः संविन्मयः समाधिपरिपाकवन्तः प्रधाप्रतुरो य आनन्दस्तद्रूपा । तां दशां दृष्टान्तेनानुभवमारोहयति—अर्धेति । यथा निद्राशेषेणार्धं सुप्तोऽर्धं च प्रबुद्धः पुरुषो बाह्यशब्दादीनाकर्णयन्प्यन्तः स्वापसुखासक्तो न प्रतिबन्नादिव्यवहारमिच्छति तद्वदुरथानकालेऽप्यस्यां भूमिकायां योगी तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ स्वसंवेदनं स्वरसत एवाक्षीयमाणं ब्रह्माकारानुभववृत्तित्तरूपा । तदेवाह—आनन्देति ॥ ४ ॥ अथ यदा सा वृत्तिरपि क्षीयते तदाविष्कृतं ब्रह्मैव पूर्णस्वप्रकाशमवशिष्यते तथा जीवतः स्थितिः सप्तमी भूमिका सैव मया ‘शमसमसितस्वच्छाभोगः’ इति प्रागुक्तेत्यर्थः । आद्यभूमिकत्रयस्य वक्ष्यमाणरीत्यैकीकारात् षष्ठी तुर्या ॥ ५ ॥ सप्तम्या अष्टम्याश्च योगिजीवनाजीवनमात्रं विशेषो नान्य इत्यमेद एवेत्याशयेनाह—तुर्यातीतेति । सप्तमी भूमिकैव तुर्यातीताख्या परितः प्रौढा सती विदेहमुक्तिः संपद्यते, सा च जीवतां योगिनां विषयो न स्यादित्यर्थः ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ८ ॥ तामेव प्रशंसति—मनोवचोभिरित्यादिना ॥ ९ ॥ तस्यामेव सर्वदृशानां प्रत्यगात्मनि सम्यग्विलयादात्यन्तिकी जीवन्मुक्ततेत्याह—अन्तरिति । तथा सप्तमभूमिकाप्रसिद्धया ॥ १० ॥ ११ ॥ तस्यां तु जीवन्मुक्तस्य कीदृशोऽनुभवस्त-

१ उक्तासः इति परं कश्चिदप्यत्रे.

आत्मारामो नरस्तिष्ठेत्तन्मुक्तत्वमुदाहृतम् ॥ १२
 व्यवहार्युपशान्तो वा गृहस्थो वाथवैककः ।
 अहं न किञ्चिद्विदिति मत्वा जीवो न शोचति ॥ १३
 अलेपकोऽहमजरो नीरागः शान्तवासनः ।
 निर्मलोऽस्मि चिदाकाश इति मत्वा न शोचति ॥ १४
 अहमन्तादिरहितः शुद्धो बुद्धोऽजरामरः ।
 शान्तः समासमाभास इति मत्वा न शोचति ॥ १५
 तृणाप्रेष्वम्बरे भानौ नरनागामरेषु च ।
 यत्तदस्ति तदेवेति मत्वा भूयो न शोचति ॥ १६
 तिर्यगूर्ध्वमधस्ताम्ने व्यापको महिमा चितः ।
 तस्यानन्तविलासस्य ज्ञात्वेति क इव क्षयी ॥ १७
 बद्धवासनमर्थो यः सेव्यते सुखयत्यसौ ।
 यत्सुखाय तदेवाशु वस्तु दुःखाय नाशतः ॥ १८
 अविनाभावनिष्ठत्वं प्रसिद्धं सुखदुःखयोः ।
 तनुवासनमर्थो यः सेव्यते वा विवासनम् ॥ १९
 नासौ सुखायते नासौ नाशकाले न दुःखदः ।

क्षीणवासनया बुद्ध्या यत्कर्मैकं यत्तेऽनघ ॥ २०
 तद्गन्धबीजवद्भूयो नाङ्कुरं प्रविमुञ्चति ।
 देहेन्द्रियादिना कर्म करणाद्येन कल्प्यते ॥ २१
 एकः कर्ता च भोक्ता च क इवाङ्गोपपद्यते ।
 भावनां सर्वभावेभ्यः समुत्सृज्य समुत्थितः ॥ २२
 शशाङ्कशीतलः पूर्णो भाति भासेव भास्करः ।
 क्रियमाणा कृता कर्मतुलभीर्देहशाल्मलेः ॥ २३
 ज्ञानानिलसमुद्भूता प्रोद्गीय कापि गच्छति ।
 सर्वैव हि कला जन्तोरनभ्यासेन नश्यति ॥ २४
 एषा ज्ञानकला त्वन्तः सकृज्जाता दिने दिने ।
 वृद्धिमेति बलादेव सुक्षेत्रव्युत्तशालिवत् ॥ २५
 एकः स्फुरत्यखिलवस्तुषु विश्वरूप
 आत्मा सरःसु जलधिष्विव तोयमच्छम् ।
 संशान्तसंकलनभूरिकलापमेकं
 सत्तांशमात्रमखिलं जगदङ्ग विद्धि ॥ २६

ह्यापे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० भोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० सप्तभूमिकाविभागो नाम विशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२१

मनुवधाष ।

यावद्विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः ।
 अविवेकेन संपन्ना साप्याशा हि न वस्तुतः ॥ १
 विवेकवशतो याता क्षयमाशा यदा तदा ।
 आत्मा जीवत्वमुत्सृज्य ब्रह्मतामेत्यनामयः ॥ २

माह—न च्छिये इति ॥ १२ ॥ एककः एकचरो यतिः ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ १५ ॥ अतिष्ठुदेषु तृणाप्रेषु । अतिमहत्त्वम्बरे ।
 अतिप्रकाशे भानौ यत्तत्प्रसिद्धतरं सन्मात्रं तदेव प्रत्यक्चिन्मा-
 त्रमहमस्मीत्यखण्डमहावाक्यार्थं मत्वेत्यर्थः ॥ १६ ॥ चितो
 मे महिमा व्यापक इति तस्य परमात्मनो महिमानं ज्ञात्वा कः
 क्षयी मरणादिदुःखभागित्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'एष नित्यो
 महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव
 स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इति ॥ १७ ॥
 जीवन्मुक्तानामपि जीवनस्य विषयभोगाधीनत्वाद्विषयनाशेऽज्ञ-
 वदेव दुःखप्राप्तिमाशङ्क्य विशेषं वक्तुमज्ञस्य विषयनाशे दुःखो-
 त्पत्तिप्रकारमाह—बद्धवासनमिति सार्धेन ॥ १८ ॥ अविना-
 भावनिष्ठत्वं सहावस्थितिनियमः । जीवन्मुक्तानां तद्वैलक्षण्य-
 माह—तनुवासनमिति । चतुर्थादिभूमिकासु तनुवासनं सप्तम-
 भूमौ तु विवासनम् ॥ १९ ॥ एवं कर्मापि तेषामलेपकमि-
 त्याह—क्षीणेति ॥ २० ॥ देहेन्द्रियादिषु भिन्नेष्वेकस्मत्तादा-
 र्म्याभ्यासेन तत्कृतकर्मस्वहमेवैकः कर्तृत्वभिमाने हि कर्मभि-
 र्केषु स्यात् । न च मुक्तानां सोऽस्तीत्याशयेनाह—देहेन्द्रियादि-
 नेति ॥ २१ ॥ भावनामहन्ताद्यभ्यासम् । सर्वेभ्यो देहेन्द्रिया-

ऊर्ध्वाधस्तथाधस्तात्पुनरूर्ध्वं ब्रजं धिरम् ।
 मा संसारारघट्टस्य चिन्तारज्ज्वां घटीभव ॥ ३
 इदं ममाहमस्येति व्यवहारघनभ्रमम् ।
 ये मोहात्परिसेवन्ते अधस्ताद्यान्यधः शठाः ॥ ४

दिभावेभ्यः सम्यगुत्सृज्य सम्यगुत्थितो निर्गतः ॥ २२ ॥
 कृता संवितरूपा ॥ २३ ॥ कर्मैव ज्ञानकलापि कालेन नश्येदि-
 त्याशङ्काह—सर्वैवेति ॥ २४ ॥ २५ ॥ यथा सरःसु जल-
 धिषु समुद्रेषु चाच्छं तोयमेकमेव स्फुरति तथाखिलेषु मायिक-
 वस्तुषु तत्तदमेदाध्यासाद्विश्वरूपः स्वतल्लु सन्मात्रस्वभाव
 आत्मा एक एव स्फुरति । अतः हे अङ्ग, अखिलं जगत् तस्व-
 बोधेन संशान्तभ्रान्तिसंकलनप्रयुक्तभूरिवैचित्र्यकलापं परिशिष्ट-
 सत्तांशमात्रमेवाहमिति विदीत्यर्थः ॥ २६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे सप्तभूमिका-
 विभागो नाम विशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२० ॥

यथाऽपकृष्यते जीवो यथा चोत्कृष्य मुष्यते ।

अत्र ते भावने सम्भविभज्य मनुनेरिते ॥ १ ॥

यथात्मा निरतिशयानन्दं ब्रह्मैव तर्थास्य कियत्कालमज्ञानाजी-
 वाख्या तत्राह—यावदिति । सा किं सत्या नेत्याह—अविवेके-
 नेति ॥ १ ॥ अज्ञानक्षयात्क्षयं वाधम् ॥ २ ॥ भोगाद्यैव स्वर्ग-
 नरकादौ कर्षतीति तां त्यजेत्याह—ऊर्ध्वादिति । भोगचिन्ता-
 रूपायां घटकण्ठज्ज्वां मा घटीभव घटवद्भूदो मा भूरित्यर्थः
 ॥ ३ ॥ तस्या विषयैः सह बन्धनमन्योन्यकण्ठसञ्जनकक्षयं

अस्याहमेव मे सोऽप्यमहमेव तु वैः किल ।
 मोहो बुद्ध्या परित्यक्त ऊर्ध्वोर्ध्वं प्रयान्ति ते ॥ ५
 स्वप्रकाशं स्वमात्मानमवलम्ब्याभिलम्बितम् ।
 आस्व्य संपूरिताकाशां जगन्ति नृप पश्य हे ॥ ६
 यदैवैवं चितो रूपं तर्तं बुद्धमकण्डितम् ।
 तदैव तीर्थैः संसारः परमेश्वरतां गतः ॥ ७
 ब्रह्मेन्द्रविष्णुवरुणा यद्यत्कर्तुं समुद्यताः ।
 तदहं चिद्वपुः सर्वं करोमीत्येव भाषयेत् ॥ ८
 येषु येषु यदा यद्यदर्शनैषु निगद्यते ।
 सर्वमेवाङ्गं तत्सत्यं चिद्विलासो ह्यनङ्गुशः ॥ ९
 चिन्मात्रत्वं प्रयातस्य तीर्थमृत्योरचेतसः ।

यो भवेत्परमानन्दः केनासाधुपप्रीयते ॥ १०
 नाप्यशून्यं न शून्यं च नाधिद्रुपं न चिन्मयम् ।
 नात्मरूपं नान्यरूपं भुवनं भाषयन्मव ॥ ११
 एतत्स्वरूपमासाद्य प्रकृतिः परिशाम्यति ।
 न देशो मोक्षनामास्ति न कालो नेतरा स्थितिः ॥१२
 अहंकृतेर्बिमोहस्य क्षयेमेयं विलीयते ।
 प्रकृतिर्भावनानाङ्गी मोक्षः स्यादेव एव सः ॥ १३
 प्रशान्तशास्त्रार्थविचारवापलो
 निवृत्तानानारसकाव्यकौतुकः ।
 निरस्तनिःशेषविकल्पविष्टुषः
 समः सुखं तिष्ठति शाश्वतात्मकः ॥ १४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० इत्याहुमनुसंवादो नामैकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२१॥

द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२२

मनुरुचाय ।

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
 यत्र कचनशायी च स सप्राडिव राजते ॥ १
 वर्णधर्माध्रमाधारशास्त्रयन्त्रणयोजितः ।
 निर्गच्छति जगज्जात्मात्पञ्चरादिव केसरी ॥ २
 वाचामतीतविषयो विषयाशादशोजितः ।

कामप्युपगतः शोभां शरदीव नमस्तलम् ॥ ३
 गम्भीरञ्च प्रसन्नञ्च निराविष महाहृदः ।
 परानन्दरसाश्रुब्धो रमते स्वात्मनात्मनि ॥ ४
 सर्वकर्मफलत्यागी नित्यतृप्तो निराभयः ।
 न पुण्येन न पापेन लिप्यते नेतरेण च ॥ ५
 स्फटिकः प्रतिबिम्बेन यथा याति न रञ्जनम् ।

दर्शयति—इदमिति ॥ ४ ॥ तदेवानुद्य तन्मूलं तादात्म्याभ्या-
 समपि त्याजयंस्तत्फलं सर्वोत्कर्षमाह—अस्येति ॥ ५ ॥ जग-
 न्ति संवृत्तं सर्वतोऽध्यव्यवधानेन भरितं चिदाकाशमेव पश्य
 ॥६॥ ततं पूर्णम् ॥७॥ ननु जगत्कर्तृत्वाद्यस्य नास्ति स कथं
 परमेश्वरतां गतस्तत्राह—ब्रह्मेन्द्रेति ॥ ८ ॥ नन्वसस्याः सर्वाः
 क्रियाः तत्त्ववित् तासु कथमात्मनः कर्तृतां भाषयेदिति चेन्नान्यं
 दोषः, आत्मसत्तयैव सर्वकल्पनानां सत्यत्वसंभवादित्याद्ये-
 नाह—यैष्विति । दर्शनेषु शास्त्रेषु ॥ ९ ॥ ननु संसारतरणेन
 को व्यमत्तत्राह—चिन्मात्रत्वमिति । निरुपमस्वप्रकाशानन्द-
 प्राप्तिरेव लाभ इत्यर्थः ॥ १० ॥ यदि ब्रह्मसत्तया जगदङ्गुल्यं
 तर्हि द्वैतापत्तिः । यदि नेतिनेतीति निषेधाच्छून्यं तर्हि सर्वक-
 र्तृताकल्पेश्वरताभ्याघातः । तथा यदि जगदचिद्रूपमेव तर्हि
 चितोऽपि आनासंभवकिङ्करत्वेन तैजसरूपाणुविद्यमेव हि भास-
 केन तेजसा भास्यते न नीरूपम् । यदि तु चिदनुवेधाय तस्य
 चिद्विकारताभ्युपेयते तर्हि चित्तः सविकारतापत्तिः । एवमना-
 त्मरूपत्वेपि जगतोऽसत्त्वेनात्मना संबन्धाभावात्ततः सत्तास्फूर्ज-
 काभः । आत्मरूपत्वे तु न ह्यनेन बाध इत्यादिदोषाननिर्वच-
 नीयताकम्बनेन परिहरति—नापीति ॥ ११ ॥ कथं तर्हि
 सच्छाम्यति तत्राह—एतदिति । एतस्मात्स्मनः खं पारयार्थिकं
 रूपमासाद्य साक्षात्कृतम् ॥ १२ ॥ प्रकृतिः सामाजिकरूपकम् ।
 भाषना भगवद्विस्तृतकल्पप्रसिद्धिर्धानं चरमसाक्षात्कारवृत्ति-
 कावृत्तमवेद्यात्प्राप्ती साक्षात्कारमिच्छा यद्य भवति यदा यदा
 यो० वा० ११२

प्रसिद्धः प्रत्यगात्मैव स शास्त्रप्रसिद्धो मोक्षः स्यादित्यर्थः ॥१३॥
 तादृशसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तः कथं तिष्ठति तदाह—प्रशा-
 म्येति । शास्त्रार्थजिज्ञासा काव्यनाटकाद्यर्थजिज्ञासा लौकिकप्रिया-
 प्रियादिविकल्पविक्षेपाच्च निवर्तन्ते इति समः ॥ १४ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे इक्षा-
 कुमनुसंवादो नामैकविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥
 निरुक्तस्वात्मबोधस्य तुर्यातीतपदस्थितेः ।
 मुक्तयेह यत्तेभ्यर्वा लक्षणैर्मनुनेर्यते ॥ १ ॥
 'निरस्तनिःशेषविकल्पविष्टुषः समः सुखं तिष्ठति' इति वा यो-
 गिनः स्थितिरुक्ता तामेव प्रपन्नयति—येन केनचिद्वित्यादिना ।
 आच्छन्नो बहोरुच्छदितः । आशितो भोजितः । स योगी
 सन्नाह मानुषानन्दपरवाधिं प्राप्तो राजेवेति पामरदशेयमुपमा ।
 तत्त्वदशा तु न तदानन्दस्योपप्राप्तिः । 'यतो वाचो निवर्तन्ते'
 इत्यादिभुत्वा हैरण्यगर्भानन्दान्ताविषयानन्दसीकरमहार्णवतया
 निरवधित्वप्रतिपादनात् ॥ १ ॥ तस्यार्थसिद्धं विद्वत्संन्यास-
 माह—वर्षेति । शास्त्रेण वक्ष्यामि किंकरवधियमनं तथा व-
 र्जितः । जगति जालवद्बन्धहेतोरेहिकामुष्मिकक्रियातत्फलकर्तृ-
 त्वभोक्तृत्वादिवासनासङ्गादित्यर्थः ॥ २ ॥ वाचामतीतस्य निर-
 त्तियानन्दस्यानुभवसौख्य विषयः । अत एव विषयाशादशो-
 षितः ॥ ३ ॥ परस्मानन्दस्य रसनं रसो निरन्तरमासाद्यनं
 तस्मादहङ्करोऽप्रच्युतः ॥ ४ ॥ इतरेण हर्षविद्यादिना च
 ॥ ५ ॥ कर्मफलैः प्रसन्नोपनीतस्तुष्टुभाषिना । इत्यर्थं कश्च-

तज्जः कर्मफलेनास्तस्तथा नायाति रजनम् ॥ ६
 विहरजनतावृन्दे देहकर्तनपूजनैः ।
 खेवाह्लादौ न जानाति प्रतिबिम्बगतैरिव ॥ ७
 निःस्तोत्रो निर्विकारश्च पूज्यपूजाविवर्जितः ।
 संयुक्तश्च वियुक्तश्च सर्वाचारनयक्रमैः ॥ ८
 तस्मान्नोद्विजते लोको लोकाभ्योद्विजते च सः ।
 रागद्वेषभयानन्दैस्त्यज्यतेऽपि च युज्यते ॥ ९
 प्रमेये कस्यचिदपि न रोहति महाशयः ।
 प्रमेयीक्रियते चापि बालेनाप्यदुराशयः ॥ १०
 तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽपि वा ।
 मा कदाचन वा राजन्वर्तमानेऽपि वा क्षणे ॥ ११
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारा०वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० इक्ष्वाकुमनुसंवादे इक्ष्वाकुप्रबोधनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२२॥

ज्ञानसंप्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ।
 अहंभ्रान्तिर्हि बन्धाय मोक्षो ज्ञानेन तत्क्षयः ॥ १२
 स पूजनीयः स स्तुत्यो नमस्कार्यः स यत्नतः ।
 स निरीक्ष्योऽभिषाद्यश्च विभूतिविभवैषिणा ॥ १३
 न यत्नतीर्थैर्न तपःप्रदानै-
 रासाद्यते तत्परमं पवित्रम् ।
 आसाद्यते क्षीणमधामयानां
 भक्त्या सतामात्मविदां यद्गु ॥ १४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 एवमुक्त्वा स भगवान्मनुर्ब्रह्मगृहं ययौ ।
 इक्ष्वाकुरपि तां हृष्टिमवष्टभ्य स्थिरोऽभवत् ॥ १५

त्रयोविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२३

श्रीराम उवाच ।
 एवं स्थिते हि भगवज्जीवन्मुक्तस्य सन्मतेः ।
 अपूर्वोऽतिशयः कोऽसौ भवत्यात्मविदां वर ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 ज्ञस्य कस्मिंश्चिदेषांशे भवत्यतिशयेन धीः ।

न्तरापत्तिम् ॥ ६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—विहरन्निति । देहस्य कर्तनैश्छेदनैः पूजनैश्च देहप्रतिबिम्बमिव मित्येति पश्यतीति प्रतिबिम्बगतैरिवेत्युच्यते ॥ ७ ॥ पूज्यः पूजितोऽपि निःस्तोत्रः अप्रशंसमानः । पूजाविवर्जितोऽपि निर्विकार इति कर्मधारये क्रमेण विशेषणान्वयः । संयुक्तखेत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः ॥ ८ ॥ उद्विजते भिमेति । रागद्वेषादिपदैस्तन्निमित्तविषया लक्ष्यन्ते । कदाचित्प्रारब्धबलाद्युज्यते त्यज्यते च ॥ ९ ॥ कस्यचित्कुशलमतेरपि प्रमेये प्रमितिविषये स्वयं तत्त्वतो नारोहति नान्तर्मवति । तत्त्वतस्तं कुशलमतयोऽपि न परिच्छेत्तुं चाकृबन्तीत्यर्थः । व्यवहारतस्तु बालेनापि प्रमेयीक्रियते अल्पेनाप्यनुवर्तनेन बशीक्रियते । यतोऽयमदुराशयः दृढचित्तत्वाद्दुरित्यर्थः ॥ १० ॥ तस्य ज्ञानसमकालमेव मुक्त्या देहादिबाधेन च मुनर्मुक्तिनिमित्तातीर्थादेर्देहत्यागस्य वा चिन्तैव नास्तीत्याह—तनुमिति । कदाचन कदाचिदपि तनुं मा वा त्यजतु वर्तमानक्षणे इदानीमपि वा तनुं त्यजतु । तथाप्यसौ ज्ञानसंप्राप्तिसमये प्रागेव मुक्तो विदेहश्चेति परेण संबन्धः ॥ ११ ॥ तदुपपादनाय बन्धमोक्षस्वरूपमाह—अहंभ्रान्तिरिति ॥ १२ ॥ स पूजनीय इति । तथा च श्रुतिः 'यं यं लोकं मनसा संविभाति विद्युद्-सखः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं कर्मते तांश्च कामा-स्तस्मादात्मसं हाचयेद्भूतिकामः' इति ॥ १३ ॥ तत्पूजनमेव परमपुरुषार्थप्रापकज्ञानहेतुरपीत्याह—नेति । हे अज्ञ, क्षीणो भवामयो वेषां तथाभिधानां जीवन्मुक्तानां भक्त्या भजनेन यत्परमं नन्दं ज्ञानद्वारा आसाद्यते तत्पञ्चाभिर्नाशापत इक्ष-

नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा स आत्मन्येव तिष्ठति ॥ २
 मन्त्रसिद्धैस्तपःसिद्धैस्तन्त्रसिद्धैश्च भूरिशः ।
 कृतमाकाशयानादि का तत्र स्यादपूर्वता ॥ ३
 मणिमाद्यपि संप्राप्तं तादृशैरेव भूरिशः ।
 यत्नेन साधितत्वात्सैर्नेतरेणात्मदर्शना ॥ ४

न्वयः ॥ १४ ॥ ब्रह्मगृहं मेरुशिखरस्यम् ॥ १५ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे इक्ष्वाकुप्र-
 बोधनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥
 ज्ञस्याश्रेभ्योऽन्यसिद्धेभ्यः क्षेत्रत्वाणिमादिषु ।
 अनिच्छैव हि पूर्णत्वादिशेषोऽत्रानिधीयते ॥ १ ॥
 वर्णितलक्षणस्य जीवन्मुक्तस्य मणिमन्त्रादिसिद्धानामिव क्षेत्र-
 रादिसिद्धिरूपोऽपि कश्चिदपूर्वोऽतिशयोऽस्ति न वेति संदिहानी
 रामः पृच्छति—एवमिति । एवं त्वद्वर्णितरूपे लक्षणजाते
 स्थिते सति ॥ १ ॥ तस्यान्यसिद्धागोचरनिरतिशयानन्दात्मगो-
 चरोऽनुभव एव विशेष इत्याशयेनोत्तरमाह—ज्ञस्येति । ज्ञस्य
 कस्मिंश्चिदतिशयान्ये परमात्मतत्त्वांशे धीरे वातिशयेन
 भवतीति योजना । अथवा अप्यर्थे एवकारः । ज्ञस्य सांसारिक-
 सिद्ध्यांशे कस्मिंश्चिदप्यतिशयेऽतिशयधीर्न भवतीति योजना ।
 तत्कृतस्तत्राह—नित्यतृप्त इति ॥ २ ॥ मन्त्रसिद्धादिरूपेणाप्य-
 हमेव स्थित इति सर्वात्मबुद्ध्या तैः प्राप्तानां क्षेत्रादिसिद्धीनां
 तेन प्राप्तत्वात्तासु तस्य नापूर्वतापीत्याह—मन्त्रसिद्धैरिति ।
 अथवा अपूर्वशब्दो न विद्यते पूर्व कारणं यस्येति न्युत्पत्त्या
 तत्त्वत्प्राप्तनित्यनिरतिशयानन्द एव मुख्यः । आकाशयाना-
 दिसिद्धिजातं तु मन्त्रसिद्ध्यादिभिः कृतं स्वयमेवेत्साधितमिति
 तत्र सपूर्वतैव नापूर्वतेत्यर्थः ॥ ३ ॥ यद्यपूर्वशब्दस्यान्यप्राप्त-
 त्वमप्यर्थस्तथापि बहुभिर्मन्त्रसिद्धादिनिरणिमादिसिद्धिजातं
 प्राप्तमेवेति न तेष्वपूर्वतेत्याह—अणिमाद्यपीति । सर्वात्मभू-
 तस्य ज्ञस्य सर्वसांसारिकसिद्धीनां तत्त्वत्वेन तैरेव साधितत्वा-

एष एव विशेषोऽस्य न समो मूढबुद्धिभिः ।

सर्वत्रास्थापरित्यागाधीरागममलं मनः ।

भवेत्तस्य महाबुद्धेर्नासौ वस्तुषु मज्जति ॥ ५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाण० पू० अज्ञादेर्ज्ञस्य विशेषकथनं नाम त्रयोविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्तेः

संशान्तसंस्तुतिश्चिरभ्रमनिर्वृतस्य ।

तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह-

लोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम् ॥ ६

चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः १२४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्रो दुरीहया ।

अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः ॥ १

भूतानि द्विविधान्येव प्रतिसर्गं स्फुरन्ति वै ।

आद्यविस्पन्दजातानि तानि निष्कारणानि वै ॥ २

ईश्वरात्समुपागत्य पुनर्जन्मान्तराणि च ।

भूतान्यनुभवत्यङ्ग स्वकृतैरेव कर्मभिः ॥ ३

कार्यकारणभावोऽयमीदृशो जन्मकर्मणोः ।

अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात्पदात् ॥ ४

पश्चात्तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः ।

आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः संकल्पः कर्मकारणम् ॥ ५

संकल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ।

मोक्षस्तु निःसंकल्पित्वं तद्भ्यासपरो भव ॥ ६

सावधानो भव त्वं च प्राह्यग्राहकसंभ्रमे ।

अजन्ममेव संकल्पदशाः परिहरच्छूनैः ॥ ७

मा भव प्राह्यभावात्मा प्राह्यकात्मा च मा भव ।

दपि न स्वेन पुनः साधने प्रयोजनमस्तीत्याशयेनाह—यज्ञे-
नेति ॥ ४ ॥ तर्हि तत्त्वविदस्तेभ्यः कोऽतिशयस्तत्राह—एष
एवेति । तत्त्वज्ञानमेवातिशय इत्यर्थः । अतिशयान्तरमाह—
सर्वत्रेति । वस्तुषु भोग्येषु ॥ ५ ॥ नीरागतत्वफलान्येव तत्त्व-
ज्ञलक्षणतया वर्णयन्नुपसंहरति—एतावदिति । तत्त्वबोधे संशा-
न्तेन चिरंतनभ्रमेण निर्वृतस्य विश्रान्तस्य अलिङ्गा सर्वधर्म-
ज्ञान्या ब्रह्मचिदेव मूर्तिः सैन्धवधनवदेकरसं स्वरूपं यस्य तथा-
विधस्य एतावदेव खलु लिङ्गं लक्षणम्, यन्मदनकोपविषादमोह-
मनुदिनं निपुणमत्यन्तं तनुत्वमपक्षय इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारामायणतार्क्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे अज्ञा-
देर्ज्ञस्य विशेषकथनं नाम त्रयोविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

निष्कारणत्वं जीवानां प्राह्यरागेण बद्धता ।

रूपाण्यवस्थास्तुर्बं च दृग्ग्याधीयमीयेते ॥ १ ॥

इतरसिद्धपेक्षया आत्मज्ञानस्योत्कर्षो नित्यनिरतिशयानन्द-
नुभवत्वादेव, प्रत्यगतमनश्च नित्यनिरतिशयानन्दरूपता ब्रह्म-
स्वरूपत्वादेवेत्यर्थस्योपपत्तये ब्रह्मण एव स्वस्वभावोपेक्षावशा-
जीवभावप्राप्तिमाह—यद्येत्यादिना । यथा कश्चिद्विप्रः शूद्रां
कामयमानस्तत्संभोगसहसादिदुरीहया स्वं स्वोचितं सत्त्वं
सार्विकं ब्राह्मणधर्मं शनैरुपेक्ष्य चिरकालेन शूद्रत्वमङ्गीकरोति
तथा ईश्वरो बुद्ध्यादिसंगत्या तत्प्रयुक्तभोगाशया स्वं नित्यशुद्ध-
पूर्णानन्दस्वभावमुपेक्ष्य जीवत्वमङ्गीकरोतीत्यर्थः ॥ १ ॥ उपा-
धिप्राधान्येन भोग्यान्धुपहितप्राधान्येनभोक्त्रणीति द्विविधानि
मायागतानादिविधिविधसंस्कारपरंपरानुसारिणो हिरण्यगर्भात्मका-
दाक्षिण्यमन्दाजातानि मायागन्धर्वनगरवदाविर्भूतानि । अतो मि-
थ्यात्वाविष्कारणानि वासावसामधीनिरपेक्षानि । न हि साप्र-

घटादिः स्रोतस्तौ दण्डचक्रादिसामग्रीसापेक्ष इत्यर्थः ॥ २ ॥ ननु
'साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यो वै पुण्येन
कर्मणा भवति पापः पापेन', 'तस्मान्नोकात्पुनरेत्यान्यस्मै लोकाय
कर्मणे' इत्यादिश्रुतिषु जन्मकर्मणोर्बाजाङ्कुरवदनादिः परस्पर-
कार्यकारणभावोऽवगम्यते तत्कथमीश्वरस्य कर्मज्ञानस्य जीव-
भावेनाद्यसर्गे जन्मोच्यते तत्राह—ईश्वरादिति । खलुतैरुप-
हितकृतैः । नेश्वरस्य जीवभावे कर्मपेक्षा किन्तु जीवभावापर्य-
नन्तरं देहादिजन्मनि पूर्वपूर्वदेहादिकृतकर्मपेक्षा । यथा सवि-
तुर्जले प्रतिबिम्बनेन चल्नादिक्रियापेक्षा प्रतिबिम्बस्य तरङ्ग-
भेदेषु संक्रमे तत्तद्गतविक्रियानुभवे चोपाधिक्रियापेक्षा तद्वदिति
भावः ॥ ३ ॥ तदेव स्पष्टमाह—कार्यकारणभाव इति । तथा
चोक्तं वार्तिके 'वियदस्तुस्वभावानुरोधादेव न कारकात् । विय-
त्संपूर्णतोत्पत्तौ कुम्भस्यैवं दशाधियाम्' इति ॥ ४ ॥ पश्चात्तेषां
कर्माणीति कुतो ज्ञायते तत्राह—आत्मज्ञानादिति । यादृश-
मात्मानं यो जानाति स तदनु रूपं संकल्पयति संकल्पानुरूपं
च करोति । न हि मनुष्यादिदेहात्मताबुद्धिं विना पुण्यपापे
संकल्पयति करोति वा । तथा चोक्तं भगवद्भिर्भोग्यकृद्भिः
'न ह्यन्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते' इति । देहाध्या-
सोऽपि संकल्पद्वारेण पुण्यपापप्रवृत्तिहेतुरित्याह—संकल्प इति
॥ ५ ॥ संकल्पोऽस्यास्तीति संकल्पी तथाविधत्वं पुण्यापुण्यप्र-
वृत्तिभोगवासनादिसंतानेन बन्धस्य कारणम् ॥ ६ ॥ संकल्प-
त्यागे उपायमाह—सावधान इति । प्राह्यग्राहकभेदभ्रमे हि
सति ग्राहकस्य प्राह्ये अनुकूलताप्रतिकूलतायनुसंधानाद्वानोपा-
दानानुकूलप्रवृत्तिसंकल्पो भवति । प्राह्यग्राहकविभ्रमत्यागेन
तत्साक्षिण्यैकान्यलक्षणसावधानत्वाभ्यासे तु संकल्पमूलयेवा-
च्छिद्यत इति भावः ॥ ७ ॥ अनुमेयार्थं कण्ठोक्त्याह—जा

भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ ८
 अजस्रं यं यमेवार्थे पतस्यज्ञगणोऽनघ ।
 वक्ष्यते तत्र रागेण तत्रासगेण मुच्यते ॥ ९
 किञ्चिद्रोचते तुभ्यं तद्ब्रह्मोऽसि भवस्थितौ ।
 न किञ्चिद्रोचते चित्ते तन्मुक्तोऽसि भवस्थितौ ॥ १०
 संज्ञात्पदार्थनिचयात्सह स्थावरजङ्गमात् ।
 तृणादेर्देवकायान्तान्मा किञ्चित्तव रोचताम् ॥ ११
 यत्करोषि यदभासि यज्जुहोषि देवासि यत् ।
 न कर्तासि न भोक्तासि तत्र मुक्तमतिः शमी ॥ १२
 सम्तोऽतीतं न शोचन्ति भविष्यन्ति यन्ति नो ।
 वर्तमानं च गृह्णन्ति कर्म प्राप्तमखण्डितम् ॥ १३
 मनसि प्रथिता भावास्तृष्णामोहमदादयः ।
 मनसैव मनो राम च्छेदनीयं विजानता ॥ १४
 विवेकेनातितीक्ष्णेन बलादय इधायसा ।
 मनसैव मनश्छिन्धि सर्वभ्रमस्य शान्तये ॥ १५
 क्षालयन्ति मलेनैव मलं क्षालनकोविदाः ।
 वारयन्त्यस्त्रमलोप विषं प्रति विवेण च ॥ १६
 जीवस्य त्रीणि रूपाणि स्थूलसूक्ष्मपराणि च ।
 तत्रास्य यत्परं रूपं तद्भ्रज द्वे परित्यज ॥ १७
 पाणिपादमयो योऽयं देहो भोगाय धलाति ।
 भोगार्थमेतज्जीवस्य रूपं स्थूलमिहास्थितम् ॥ १८
 स्वसंकल्पमयाकारं यावत्संसारभाषि यत् ।
 चित्तं तद्विद्धि जीवस्य रूपं रामातिवाहिकम् ॥ १९

अथेति । यत् शिष्टं साक्षिस्वरूपं तन्मयस्वरूपेकरतः ॥ ८ ॥
 असावधानत्वे तु ब्रह्मोऽनुकूले रागोऽवर्जनीय इति दर्शयन्वैरा-
 ग्याभ्यासस्याप्यावश्यकतां दर्शयति—अजस्रमिति ॥९॥ राग-
 वैराग्ययोः स्वरूपं विविच्य दर्शयंस्तयोर्बन्धमोक्षलिङ्गतां दर्श-
 यति—किञ्चिदिति । यत् यदि । तत् तर्हि ॥ १० ॥ अप-
 कर्षावधौ तृणशरीरादेरुत्कर्षावधौ देवो हिरण्यगर्भस्तत्कायान्ता-
 त्द्रोग्यविषयरूपाश्च पदार्थनिचयाभिर्धारितं किञ्चिदपि तत्र न
 रोचताम् ॥ ११ ॥ नन्वेवं परवैराग्येण भोक्तृतावन्वजयेऽपि
 पीवता ज्ञानभोजनादिक्रियाणां दुस्त्यजत्वात्तत्कृते बन्धः
 साधेवेत्याशङ्काह—यदिति । तत्र तासु क्रियासु मुक्त-
 मतिः कूटस्थात्मनिविष्टमतिः । तथा चोक्तं भगवता 'नैव
 किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इति ॥ १२ ॥
 इष्टत्रियोगानिष्टसंभावनादिप्रयुक्तयोकेन बन्धप्रसक्तिमाश-
 ङ्काह—सस्त इति ॥ १३ ॥ सर्वबन्धजये मनोजय एवो-
 पायः, स च मनसैव नान्येनेत्याह—मनसीति ॥ १४ ॥
 यदुपायेन मनसा मनोजयस्तमाह—विवेकेनेति ॥ १५ ॥
 मनसा मनोजये आत्माधयदोषं परिहरति—क्षालयन्तीति ।
 मलेन क्षारादिना ॥ १६ ॥ मनःसंवलितो जीवस्तत्र क्रियानंशः

१ अशासि बदिस्वसि पाठः.

आद्यन्तरहितं सत्यं चिन्मात्रं निर्विकल्पकम् ।
 यत्तद्विद्धि परं रूपं तृतीयं विश्वरूपकम् ॥ २०
 एतत्तुर्यपदं शुद्धमत्र ब्रह्मपदो भव ।
 संपरित्यज्य पूर्वं द्वे मा तत्रात्ममतिर्मव ॥ २१
 श्रीराम उवाच ।
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु स्थितं त्रिष्वप्यलक्षितम् ।
 तुर्यं ब्रूहि विशेषेण विविच्य मुनिनायक ॥ २२
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
 यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ २३
 या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः ।
 साक्ष्यवस्था व्यवहृती सा तुर्यकलनोच्यते ॥ २४
 नैतज्जाग्रत् च स्वप्नं संकल्पानामसंभवात् ।
 सुषुप्तभावो नाप्येतदभावाद्ब्रह्मता स्थितेः ॥ २५
 शान्तं सम्यक्प्रबुद्धानां यथास्थितमिदं जगत् ।
 विलीनं तुर्यमेवापुरबुद्धानां स्थिरं स्थितम् ॥ २६
 अहंकारकलास्यागे समतायाः समुद्भवे ।
 विशारदौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ॥ २७
 अद्येनं शृणु दृष्टान्तं कथ्यमानं मयाधुना ।
 प्रबुद्धोऽपि यथा बोधमुपैषि विबुधोपम ॥ २८
 कस्मिंश्चित्काननाभोगे महामौनं व्यवस्थितम् ।
 दृष्ट्वाद्दृष्टमिदं किञ्चिन्मुनिं पप्रच्छ लुब्धकः ॥ २९

पृथक्त्व मनसा च्छेदनीय इति दर्शयितुं जीवरूपाणि विभजते—
 जीवस्येति । परित्यज मनसा छिन्धि ॥१०॥ तानि दर्शयति—
 पाणीत्यादिना ॥ १८ ॥ १९ ॥ विश्वस्य रूपकं निरूपकम् ।
 सतास्फूर्तिप्रदमित्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥ स्थूलसूक्ष्मरूपे जीवस्य
 जाग्रत्स्वप्नयोः प्रसिद्धे । तावन्मात्रपरित्यागेऽपि न सम्यक् तस्य
 परिशुद्धिरित्यवस्थात्रयातीतं जिज्ञासयानो रामः पृच्छति—
 जाग्रदिति । स्थितं संकीर्णमत एव स्पष्टमलक्षितम् । विशेषेण
 तत्संकरव्यावर्तनेन ॥ २२ ॥ अहंभावो जाग्रत्स्वप्नयोर्विक्रमः ।
 अनहंभावः सुषुप्तौ तन्मूलमावरणं तावुमी व्यष्टिरूपी जीवोपाधी
 समष्टिरूपौ तु 'असदा इदमग्र आसीत्ततो वे सदजायत' इत्यादि-
 श्रुतिप्रसिद्धे सदसती ते च त्यक्त्वा ॥२३॥ जीवन्मुक्तेषु व्यव-
 स्थितिर्निरुद्धस्थितिर्यस्याः । व्यवहृती व्यवहारकाले साक्ष्य-
 वस्थिति प्रसिद्धा ॥ २४ ॥ तस्या जाग्रदादिसंकरं वारयति—
 नैतदिति । जडता आवरणं तत्स्थितेरज्ञानस्य ॥ २५ ॥ नन्व-
 द्वितीयं तुरीयं जाग्रदादि द्वैतकाले जीवन्मुक्तानामपि कथं
 स्यात्प्राह—शान्तमिति । विलीनं ज्ञानवाहितम् ॥ २६ ॥
 जलविलीनसैन्यवद्विशारदौ कृते सति ॥ २७ ॥ जाग्रतो
 व्यवहरतः कथं चित्तं विशारद स्यादित्यसंभावनां युगव्याधी-
 योदाहरणेन वारयति—अद्येनमित्यादिना ॥ २८ ॥ महामौनं
 ज्ञानवाहितवागादिवेष्टम् । इदं ब्रह्ममाणं पप्रच्छ ॥ २९ ॥

पद्मावुपगतो बाणभिक्षं मृगमभिद्रुतम् ।
 मुने मदीयबाणेन विद्रो मृग इहागतः ॥ ३०
 क प्रयातो मृग इति प्रत्युवाच स तं मुनिः ।
 समशीला वयं साधो मुनयो वनवासिनः ॥ ३१
 नास्माकमस्त्यहंकारो व्यवहारेषु यः क्षमः ।
 सर्वाणीन्द्रियकर्माणि करोति हि सखे मनः ॥ ३२
 अहंकारमयं तन्मे नूनं प्रगलितं चिरम् ।
 जाग्रत्सुषुप्तसुषुप्ताख्या दशा वेपि न काश्चन ॥ ३३
 तुर्यं पव हि तिष्ठेऽहं तत्र दृश्यं न विद्यते ।
 इति तस्य वचः श्रुत्वा मुनिनाथस्य राघव ॥ ३४
 लुब्धकोऽर्थमविहाय जगामामिमतां दिशम् ।
 अतो वक्षि महाबाहो वास्ति तुर्यैतरा दशा ॥ ३५
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० मृगव्यापीयं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥

निर्विकल्पा हि चित्तुर्यं तदेवास्तीह नेतरत् ।
 जाग्रत्सुषुप्तसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ॥ ३६
 घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचित्तमिहास्थितम् ।
 घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम् ॥ ३७
 मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ।
 यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ।
 तदेव योगिनः सर्वे यज्ञात्संपादयन्ति हि ॥ ३८
 समस्तसंकल्पविलासमुक्तं
 तुर्ये पदे तिष्ठ निरामयात्मा ।
 यत्र स्थिताः साधु सदैव मुक्ताः
 प्रशान्तमेवा मुनयो महान्तः ॥ ३९

पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापहव एव हि ।
 नाविद्यास्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मोदमक्रमम् ॥ १
 शान्त एव चिदाभासे स्वच्छे समसमात्मनि ।
 समप्रशक्तिवचिते ब्रह्मेति कलितामिधे ॥ २
 निर्णीय केचिच्छून्यत्वं केचिद्विज्ञानमात्रताम् ।
 केचिदीश्वररूपत्वं विषदन्ते परस्परम् ॥ ३

सर्वमेव परित्यज्य महामौढी भवानघ ।
 निर्वाणवाधिर्मननः क्षीणचित्तः प्रशान्तधीः ॥ ४
 आत्मन्येवास्व शान्तात्मा मूकान्धवच्चिरोपमः ।
 नित्यमन्तर्मुखो भूत्वा स्वात्मनान्तः प्रपूर्णधीः ॥ ५
 जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि राघव ।
 अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथागतम् ॥ ६

बाणभिक्षमभिद्रुतं पल्लयितं मृगं पश्चाद्गणे उपगतो लुब्धक इति
 पूर्वोन्वयि । किं पप्रच्छ तदाह—मुने इत्यादिना ॥ ३० ॥
 पुनर्मृग इत्युक्तिः संप्रमात् ॥ ३१ ॥ व्यवहारेष्वनभ्यस्तेष्विति
 शेषः ॥ ३२ ॥ अहंकारमयमभिमानप्रचुरम् । चिरं सदैव
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ अतस्सादृशमुन्यनुभवभ्रुत्यादिवाभ्यस्वात्तुर्यैतरा
 जाग्रदादिदशा स्थूलादिदशा च नास्ति ॥ ३५ ॥ गुणत्रयात्मक-
 मायामयचित्तकार्वत्वात्सिद्ध्यामवस्थानां मायाबाधे चित्तस्य मृत-
 त्वादपि तदुपादेयावस्थानामसत्त्वमित्याह—जाग्रदित्यादिना
 ॥ ३६ ॥ सिद्धोऽवस्था रजसादिगुणप्राधान्येन त्रिधा विभज्य
 दर्शयति—घोरमिति । स्वर्गनरकपुनर्जन्मादिहेतुपुण्यपापोत्पादना-
 द्दनीमत्वाधिक्याच्च जाग्रन्मयं जाग्रदभस्वं चित्तं घोरमित्याद्युक्तम्
 ॥ ३७ ॥ गुणत्रयात्मकमायोच्छेदाभिभिर्हीनम् । मृते चित्ते
 योगिनां प्रारब्धशेषभोगाच्च भस्मनि शौक्ल्यमिव सत्त्वांश एवानु-
 वर्तते न रजसमोक्षकेष इत्याह—यच्छेति । रजसा अक्षोभ्य-
 माणत्वात्समम् । तादृशे चित्ते नैवेत्यातिशयेन स्वात्मसुखस्य
 सदैवाभिर्भावात्सर्वव्यापारोपरमेण समोभ्यभ्यासं यज्ञात्संपादय-
 न्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ अतस्त्वमपि तादृशं चित्तं संपाद्य तुर्ये पदे
 विभ्रान्तचित्तेत्याह—समस्तेति । स्पष्टम् ॥ ३९ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वो मृग-
 व्यापीयं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥

सर्वापहवसिद्धान्ते वादिनां यत्र विभ्रमाः ।
 तुर्ये तथाविधे स्वैर्यं सोपायमुपविश्यते ॥ १ ॥
 अविद्या सहजैवास्वावस्थात्रयप्रपञ्चस्य मायया ऐश्वरस्य
 विषदादिप्रपञ्चस्य वेति सर्वस्य द्वैतजातस्यापहव आत्मानमधि-
 कृत्य प्रवृत्तानां श्रुतिस्मृतीविहासपुराणादिशास्त्राणां परसत्ति-
 ज्ञान्तो न बह्वुप्रकाशनम् । स्वप्रकाशात्मात्मवस्तुनः स्वतःसिद्ध-
 तथा तत्सिद्धौ प्रमाणाप्रसरादित्याह—सिद्धान्त इति । शान्तं
 सर्वोपह्वरहितमिदं नित्यापरोक्षं ब्रह्म शास्त्रेन कन्यत इत्यकम-
 मवगाहुमशक्यमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'यतो वाचो निव-
 र्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति । तथा च इविद्याचार्यैरप्यु-
 क्तम् 'यद्यप्रमेयं ब्रह्म किमर्थं शास्त्रमिति चेत्सिद्धं तु निवर्तक-
 त्वात्' इति ॥ १ ॥ श्रुत्यादिसिद्धान्तापरिज्ञानादेव स्वतुदिवै-
 भवेन जगन्मूलान्वेषिणां वादिनां ब्रह्मणन्दवाच्ये सर्वसत्त्या-
 त्मकमायाशब्दे ब्रह्मणि बुद्धिदोषवैविध्यव्याप्तानाविधाः कल्पनाः
 प्रवृत्ता इत्याह—शान्त इति द्वाभ्याम् ॥ २ ॥ निर्णीय स्वस्वगुण-
 सारेण सिद्धान्तमेदान्कल्पयित्वा ॥ ३ ॥ सर्वं मायान्तं दृश्य-
 जातं परित्यज्य । समनस्कसर्वेन्द्रियव्यापारोपरममहामौढी ।
 पूर्वोन्वयिचिदात्मनि निर्वाणवान्तरं आत्मन्येवास्त्विति परेण-
 न्वयः ॥ ४ ॥ ५ ॥ पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

चित्तसत्ता परं दुःखं चित्तासत्ता परं सुखम् ।
अतश्चित्तं चिदेकात्मा नय क्षयमवेदनात् ७
इमा रम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत्समम् ।
एतावतात्मयत्नेन जिता भवति संसृतिः ८
संवेदनीयं न सुखं नासुखं न च मध्यमम् ।

एतावतात्मयत्नेन दुःखान्तोऽनन्त आप्यते ९
भापीनमण्डलशशाङ्कवदन्तरेव
भीमप्रसायनमयः सुखमेति तज्जः ।
विज्ञातसर्वभुवनत्रयवस्तुसारः
कुर्वन्न नाम कुरुते परमभ्युपेतः १०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० तुर्ये स्थैर्योपायकथनं नाम पञ्चविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥१२५॥

षड्विंशत्यधिकशततमः सर्गः १२६

श्रीराम उवाच ।

संज्ञानां योगभूमीनामभ्यासः क्रियते कथम् ।
कीदृशानि च विद्वानि भूमिकां प्रति योनिनः ॥ १
श्रीवासिष्ठ उवाच ।

प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च भवति द्विविधः पुमान् ।

इव स्थितः ॥ ६ ॥ अवेदनात्प्रियद्वेष्यत्वाननुसंधानात् ॥ ७ ॥
अवेदनादित्येतदेव स्पष्टयति—दृष्टेति ॥ ८ ॥ संवेदनीयं चि-
न्तेनीयम् । असुखं दुःखम् । मध्यमं तदुभयसाधनम् ॥ ९ ॥
विज्ञातः सर्वेषां भुवनत्रयवस्तूनां सारो येन । अत एव श्रीमत्
स्वतः सर्वतः प्रकाशेन शोभमानं यद्रसायनं निरतिशयसुखम-
मृतं च तन्मयः । अत एव च आसमन्तात्पीनं पुष्टं मण्डलं
यस्य तादृशो यः शशाङ्कः पूर्णचन्द्रस्तत्कल्पः परं परमात्मानम-
भ्युपेतस्तज्जो जीवन्मुक्तिसुखमेति । कुर्वन्नपि प्रारब्धोपनीतं
व्यवहारं न कुरुते । प्रतिबिम्बचेष्टायामिव न स्वस्य कर्तृत्वं
पश्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे तुर्ये स्थैर्योपायकथनं नाम पञ्चविंशत्युत्त-
रशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

उच्येते योगभूमीनामभ्यासक्रमलक्षणे ।

अन्तराले मृतौ भोगास्ततो जन्मान्तरे जयः ॥ १ ॥

'जाप्रत्येव सुपुत्रस्थः कुरु कर्माणि राघव' इति चतुर्थभूमि-
कारूढं रामं प्रति पञ्चमादिभूमिकास्थितिः संपाद्येत्युक्तम् ।
तत्संपादनकामो रामः स्वजितजेतव्यभूमिकाविभागज्ञानाय तल्ल-
क्षणानि तदभ्यासकर्म च पृच्छति—संज्ञानामिति । भूमिकां
प्रति प्रतिभूमिकं योनिनः कीदृशानि विद्वानि भवन्ति । वी-
ध्यायां प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्विवचनस्याव्ययीभावस्य वा
भावश्यकत्वात्तदकरणं छान्दसम् ॥ १ ॥ पृष्टं भूमिकाभ्यास-
कर्म कथयिष्यन्वसिष्ठस्तदधिकारिणं प्रवृत्तिशास्त्राधिकारिव्यावृत्तं
दर्शयितुं तौ विभज्य तयोर्लक्षणभेदोक्तिं प्रतिजानीते—प्रवृत्त-
ञ्चेति । पुमान् वेदमार्गस्थः पुरुषः ॥ २ ॥ तत्रादौ रागादिदो-
षैर्विपरीतबुद्धेः प्रवृत्तस्य लक्षणमाह—क्रियदिति । तत् सर्व-
विषयज्ञानत्वेन प्रसिद्धं निर्वाणं क्रियन्नाम । न भोगराणिणां
बहुमतमित्यर्थः । उवाचचभोगसंपत्ता संसृतिरेव मे वरम् ।
यथाहुः 'भेषि वृन्दावने एष्ये शृगालत्वं स वाञ्छति । न तु
निर्विषयं भोगं कदापिदपि गौतम ॥' इति । एवंप्रकारेण
विशेष्यत्वात्तस्य निवृत्तैमित्तिककाम्यकर्मजातस्य यः कर्ता

स्वर्गापवर्गोन्मुखयोः शृणु लक्षणमेतयोः ॥ २
क्रियत्तन्नाम निर्वाणं धरं संसृतिरेव मे ।
इतिकर्तव्यकर्ता यः स प्रवृत्त इति स्मृतः ॥ ३
चलार्णवयुगच्छिद्रकूर्मप्रीवाप्रवेशवत् ।
अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान् ॥ ४

॥ ३ ॥ निवृत्तं लक्षयिष्यन् निवृत्तिहेतुं विवेकं वर्णयितुं तदौ-
र्लभ्यमाह—चलेति । यथा यादोगणकोटिभिः प्रचण्डपवनैर्बड-
वानलकथनादिभिश्चात्यन्तचञ्चलपूर्वापरार्णवद्वयोदरे विहरतां
कूर्माणां प्रीवाणामल्पतरेऽपि तरंगचलनादिप्रयुक्तभये झटित्ये-
वान्तःप्रवेशाः पुनर्निर्गमाश्वासंख्येयास्तद्वदसंख्येयानां शृत्युमुख-
प्रवेशपुनर्निर्गमनलक्षणानां जन्मनामन्ते कश्चिदेव पुमान् वि-
वेकी जायते इत्यर्थः । अथवा क्षारार्णवस्य महाकूर्मप्रीवा यथा
अनेकशः कण्ठच्छिद्रे प्रविश्य निर्गतापि क्षारार्णवरसमेवास्वाद-
यन्ती तमेव बहुमन्यमाना आप्रलयं न क्षीराणवरसं जानाति ।
अन्ते कल्पान्ते तु चलयोः क्षारक्षीराणवयोर्मिलनावसरे तदु-
भयोदरलक्षणच्छिद्रे प्रीवाप्रवेशे क्षीररसमास्वाद्य क्षाररसात्क्षी-
ररसस्य विवेकिनी भूत्वा तदासक्ता जायते तद्वज्जीवोऽपि प्रावि-
ष्यरसानेव बहुमन्यमानोऽनेकजन्मनामन्ते भाग्योदयादध्या-
त्मशास्त्ररसमास्वाद्य विवेकी तदासक्ता जायते इत्यर्थः । अथवा
अमृतोत्पादनाय देवासुरैः समुद्रमन्थने क्रियमाणे यथा मन्थाच-
लाधारस्य कूर्मभूतस्य भगवतः समस्तभुवनाधारोदरत्वादन्तर्ब-
हिष मध्यमानचलार्णवयुगस्य छिद्रे क्व प्रथमममृतमुत्पद्यते इ-
त्यास्वादनेन परीक्षार्थं प्रवृत्ता प्रीवा अनेकेषामन्तःप्रवेशवद्दिर्नि-
र्गमनजन्मनामन्ते अन्तर्बहिर्वा यत्रैव प्रथमममृतमुत्पन्नं तत्रैव
तदास्वाद्य क्षीरासूतविवेकिनी जायते तद्वदयं मुमुक्षुरपि श्रवणो-
पायेन बहिर्गमननिविध्यासनाभ्यामन्तश्च ब्रह्मात्मतत्त्वविवेकाय
प्रवृत्तः पुमाननेकजन्माभ्यासवशादन्ते अन्तरेव बहिः श्रवणाव-
सरे वा साक्षाद्विवेकेन निरतिशयानन्दमास्वादयतीत्यर्थः । अथ-
वा चलयोरर्णवयोर्युगस्य युगस्य छिद्रे मध्यवर्तितीरविवरे कूर्-
मस्य प्रीवया साधनभूतया प्रवेशे सति यथा पुरतो निर्गमने प-
श्चात्निवर्तने तथैव छिद्रावस्थाने वा न कापि विश्रान्तिस्तथा
प्राक्न भवसागरं परित्यज्य भवान्तरं प्रति विविशोर्जीवस्य न
कापि विश्रान्तिः । तथाहि । प्राक्ने जन्मनि जराभरणविदुःख-
परम्पराभाविनि वास्वादिदुःखसन्तप्तवैश्ववर्तिनि यातनादेहे

असारा षट् संसारव्यवस्थालं ममैतया ।
 किं कर्मभिः पर्युचितैर्विनं तैरेव नीयते ॥ ५
 क्रियातिशयनिर्मुक्तं किं स्याद्विभ्रमणं परम् ।
 इति निश्चयवान्योऽन्तः स निवृत्त इति स्मृतः ॥ ६
 कथं विरागवान्भूत्वा संसारार्थि तराम्यहम् ।
 एवंविचारणपरो यदा भवति सन्मतिः ॥ ७
 विरागमुपयात्यन्तर्भावनास्त्रनुवासरम् ।
 क्रियास्वरूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ ८
 ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सति ।
 नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥ ९
 मनोनुद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते ।
 पापाद्विमेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ १०
 क्रोहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च ।
 देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ ११
 तदासौ प्रथमाभेकां प्राप्नो भवति भूमिकाम् ।
 मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते ॥ १२
 यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते ।
 एवंविचारवान्यः स्यात्संसारोत्तारणं प्रति ॥ १३
 स भूमिकावानित्युक्तः शेषः स्वार्थ इति स्मृतः ।

गर्भभासे वा महद्दुःखमिति । इत्थं दुःखमयानामनेकेषां जन्म-
 नामन्ते पुमान्कुतश्चित्पुण्यपरिपाकाद्विवेकी जायते ॥ ४ ॥
 कीदृशो विवेकोऽस्य जायते तमाह—असारेत्यादिना । विविधा
 विद्वदा चावस्थितिव्यवस्था असारा विश्रान्तिसुखहीना । पर्यु-
 चितैरेनुचितपरिणामैः ॥ ५ ॥ क्रियाप्रयुक्तेरतिशयैरुत्पत्या-
 स्रिविकृतिसंस्कारैर्निर्मुक्तं कूटस्थमित्यर्थः । इति विचार्य
 तदवश्यं संपादनीयमिति निश्चयवान् ॥ ६ ॥ तस्य प्रथम-
 भूमिकाप्राप्तिरुक्तमाह—कथमित्यादिना ॥ ७ ॥ भावनासु
 भोगतत्साधनचिन्तासु । विरागं वैरस्यम् । उदाररूपासु चित्त-
 शुष्यनुकूलासु शौचसत्सन्नेश्वरोपासनजपादिरूपासु क्रियासु क्रमते
 सज्जते । तेन चान्वहं चित्तशुष्युपचयेन तृष्णाक्षयान्मोदते
 ॥ ८ ॥ विचिकित्सति शुश्रुषते । मर्माणि परेषां रहस्य-
 दोषाकोदाहरति न भाषते ॥ ९ ॥ परेषां स्वस्य च मनसः अनु-
 द्वेगकराणि मृदून्यल्पायासमहाफलानि यमनियमादिकर्माणि
 सेवते । भोगे च पापावश्यंभावात् न अपेक्षते ॥ १० ॥ पेशला-
 न्यनुद्वेगकराणि । उचितानि सत्यप्रियहितादिरूपाणि ॥ ११ ॥
 एवंशुणविशिष्टपुरुषस्य सच्छास्त्रश्रवणाधिकारलक्षणायां प्रथम-
 भूमिकायामवतार इत्याह—तदेति । सज्जनान् शान्तिदान्ति-
 ज्ञानवित्ज्ञानसंपन्नान् ॥ १२ ॥ यतः कुतश्चित्तसेवानुकूलं धना-
 दिसाधनमानीय तान्सेवमानसन्मुखाब्जानशास्त्राणि पुराणमो-
 क्षधर्माध्यात्मसंहितादीन्यवेक्षते शृणोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ भूमि-
 कावात्प्रथमभूमिकाप्रविष्ट इत्युक्तः । शेषः उक्तसाधनचतुष्टया-
 दिसंपत्तिर्हीनस्त्वध्यात्मग्रन्थासफोऽपि रागादिना अनधिकारि-

विचारनास्त्रीमितरामगतो योगभूमिकाम् ॥ १४
 श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाभ्यानकर्मणाम् ।
 मुख्यया व्याख्यया स्याताञ्छ्रयते श्रेष्ठपण्डितान् ॥ १५
 पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
 जानात्यधिगतभ्रव्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ १६
 मदाभिमानमात्सर्यमोहलोभातिशयिताम् ।
 बहिरप्याभितामीषत्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ १७
 इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवनात् ।
 सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ १८
 असंसङ्गामिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम् ।
 ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिधामलाम् ॥ १९
 यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलम् ।
 तापसाश्रमविधामैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥ २०
 संसारनिन्दकैस्तद्वद्वैराग्यकरणक्रमैः ।
 शिलाशय्यासमासीनो जरयत्यायुराततम् ॥ २१
 वनवासविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
 असङ्गसुखसौम्येन कालं नयति नीतिमान् ॥ २२
 अभ्यासात्साधुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम् ।
 जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ॥ २३

जनप्रतारणेनार्जनादिना उदरभरणशीलत्वात्स्वार्थो वचक इत्यर्थः ।
 सेयं शुभेच्छाख्या प्रथमा भूमिका । तस्य क्रमेण द्वितीय-
 भूमिकाप्रवेशकममाह—विचारेति । भूमिकामागतः अधि-
 कारप्राप्त्याऽवतीर्णः ॥ १४ ॥ स तत्र किं करोति तदाह—
 श्रुतीति । श्रुतीनां स्मृतीनां सदाचाराणां धारणाभ्यानकर्मणां
 साधनेन समाधिना साधनैश्च यमनियमासनप्राणाशामप्रत्याहारैः
 प्रतिपाद्ये यस्य योगशास्त्रस्य तस्य च मुख्यया अनुष्ठानानुष्ठान-
 नफलोपहितया व्याख्यया व्याख्यानेन कृयात्तान् । आत्मतत्त्वा-
 नुभवोपदेशकुशलत्वाच्छ्रेष्ठान्पण्डितान् गुरुन् श्रयते श्रवणमन-
 नादिविचाराय शरणं गच्छतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'तद्विज्ञानार्थं च
 गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इति ॥ १५ ॥
 स्वयं व्याकरणाद्यज्ञाभिज्ञत्वात्पदानां तदर्थाणां च वाच्यलक्ष्यादि-
 रूपाणां लक्षणादिप्रविभागज्ञः, शिष्यो गुरुमुखादधिगतभ्रव्यः
 सन् कार्यं साध्यं कर्मकाण्डार्थस्तद्विलक्षणसकार्यं सिद्धं ब्रह्मकाण्डा-
 र्थस्तयोर्विनिर्णयं गृहपतिः स्वगृहकोष्ठविभागमिव स्पष्टं जानाति
 ॥ १६ ॥ बहिलोकमर्यादानुसारेणेषदाभितामपि । अनेन
 प्रथमभूमिकायामेव तेषामन्तर्निवृत्तता दर्शिता ॥ १७ ॥
 शास्त्ररहस्यं परमतात्पर्यं प्रमाणासंभावनानिरासेमाधिगच्छति ।
 गुरुसज्जनाभिमतमात्मरहस्यं प्रमेयासंभावनानिरासेमाधिगच्छति
 ॥ १८ ॥ एवं द्वितीयभूमिकां जितवतस्तृतीयभूमिकाप्रवेश-
 माह—असंसङ्गेति । ततस्तृतीयां भूमिकां पतति प्रविशति
 ॥ १९ ॥ यथावदिति श्लोकद्वयं यथायोगं पूर्वभूमिकाद्वयात्त-
 दादः ॥ २० ॥ २१ ॥ प्रामवासे विज्ञोपवाहुत्वेन समाध्यध्या-
 सानिर्वाहादनवासविहारेण ॥ २२ ॥ तत्र चित्तप्रसादे श्रुत्यात्-

तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुधोऽनुभवति स्वयम् ।
 द्विःप्रकारमसंसङ्गं तस्य भेदमिमं शृणु ॥ २४
 द्विविधोऽयमसंसङ्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च ।
 ग्राहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः ॥ २५
 इत्यसञ्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ।
 प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वसिंभराधीनमेव च ॥ २६
 सुखं वा यदि वा दुःखं कैवाण्यमम कर्तृता ।
 भोगाभोगा महारोगाः संपदः परमाप्सः ॥ २७
 वियोगाद्यैव संयोगा आधयो व्याधयो धियः ।
 कालः कबलनोद्युक्तः सर्वभाषाननारतम् ॥ २८
 अनास्थयेति भावानां यदभाषनमान्तरम् ।
 वाक्यार्थलभननसः सामान्योऽसावसंगमः ॥ २९
 अनेकक्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
 वियोगेनासतामन्तः प्रयोगेणात्मसंविदाम् ॥ ३०
 पौरुषेण प्रयत्नेन संतताभ्यासयोगतः ।
 करामलकवद्वस्तुन्यागते स्फुटतां इडम् ॥ ३१
 संसाराम्बुनिधेः पारे सारे परमकारणे ।
 नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राकृतं मम ॥ ३२

कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभाषणम् ।
 यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३३
 यन्नान्तर्न बहिर्नाथो नोर्ध्वं नाशासु नाश्वरे ।
 न पदार्थं नापदार्थं न जडे न च चेतने ॥ ३४
 आसितं मासनं शान्तमभासं नभसा समम् ।
 अनाद्यन्तमजं कान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३५
 संतोषामोदमधुरः सत्कार्यामलपल्लवः ।
 चित्तनालाप्रसंलीनो विघ्नकण्टकसंकटः ॥ ३६
 विवेकपद्मो रुढोऽन्तर्बिचारार्कविलासितः ।
 फलं फलत्यसंसङ्गां तृतीयां भूमिकामिमाम् ॥ ३७
 समवायाद्विशुद्धानां संन्यासपुण्यकर्मणाम् ।
 काकतालीययोगेन प्रथमोदेति भूमिका ॥ ३८
 भूमिः प्रोदितमात्रा तैरमृताङ्कुरिकेव सा ।
 विवेकेनाम्बुसेकेन रक्ष्या पाल्या प्रयत्नतः ॥ ३९
 येनांशेनोल्लसत्येषा विचारेणोदयं नयेत् ।
 तमेवानुदिनं यन्नात्कृषीवल इवाङ्कुरम् ॥ ४०
 एषा हि परिमृष्टान्तरन्यासां प्रसवैकभूः ।
 द्वितीयां भूमिकां यन्नापृतीयां प्राप्नुयात्ततः ॥ ४१

काले पूर्वभूमिकाद्वयधर्मानुवृत्तिरप्यावश्यक्येति दर्शयति—
 अभ्यासादिति ॥ २३ ॥ असङ्गसुखसौम्येनेत्युक्तिं विभज्य
 व्याचष्टे—तृतीयामिति ॥ २४ ॥ सामान्यः पूर्वभूमिकासाधारणः ।
 स्वदेहक्रियाफलयोगेन कर्ता न भोक्ता चेत्युदासीनः । परक्रिया-
 कर्तानां च न बाध्यो बाधकश्चेत्यसङ्गः ॥ २५ ॥ इति निश्च-
 येन । अर्थेषु ह्येव्यसञ्जनमनभिषङ्गः । सामान्यासंसङ्गमेव
 इतीकर्तुं प्रपद्यति—प्राक्कर्मैति सार्धत्रिभिः । सुखं वा प्राप्य-
 मार्गं यदि वा दुःखं प्राप्यमाणं सर्वं प्राक्कर्मनिर्मितं कर्मस्वात-
 न्यपक्षे । ईश्वरस्वातन्त्र्यपक्षे त्वीश्वराधीनमेव । वाशब्द उत्तर-
 पक्षस्य प्रामाणिकव्योतनार्थः ॥ २६ ॥ पक्षद्वयेऽपि ममास्वा-
 तन्त्र्यास्वतन्त्रः कर्तव्यानुशासनिकी कर्तृता कैव न कश्चिदपी-
 त्यर्थः । असंसङ्गोपयुक्तानन्यानप्यनास्थाहेतून्भावेषु दर्शयति—
 भोगा इति ॥ २७ ॥ २८ ॥ इयमनास्थापि भवणादिसाहाय्येन
 वाक्यार्थज्ञानासक्त्यैवासंसङ्गसुखाय नाम्यस्येत्याह—वाक्या-
 र्थेति ॥ २९ ॥ अयं चासंसङ्गः पूर्वभूमिकयोरेव सत्सङ्गाद्युपायैः
 सम्यगभ्यसनीय इत्याह—अन्वेनेति । भवणमननात्मिकानामा-
 स्मसंविदां प्रयोगेन आधर्तनेन । तथा च भगवतो वादरायणस्य
 सूत्रं 'आवृत्तिरसङ्गुपपदेशात्' इति ॥ ३० ॥ आत्म्यसुनि-
 प्रमाणप्रमेयासंभाषनाद्वयनिरासेन स्फुटतां इत्यभेवात्मवस्तिवति
 विश्वासगोचरतामापते सति ॥ ३१ ॥ सत्सम्यन्तत्रयं पूर्वा-
 ष्वपि वस्तुनीत्यस्य विशेषणम् । श्रेष्ठासंसङ्गं दर्शयति—नाहं-
 मिलादिना । नाहं कर्ता किंत्वीश्वर एव कर्ता । मम प्राकृत-
 मिदानी किप्यमार्गं वा कर्म नास्तीत्यादिनिरासतत्प्रतियोगवादि-
 विकल्पशब्दार्थवैदानामपि दूरतरे कृत्वा यन्मौनमासनमिति

परेणान्वयः ॥ ३२ ॥ मौनं वाच्यनश्वश्रुदादिचेष्टाशून्यं निदि-
 ध्यासनपरिपाकफलनिर्विकल्पसमाधिना यत् आसनमवस्थानम्
 ॥ ३३ ॥ यद्ब्रह्मेकरस्यविलीनचित्तवृत्त्यात्मकमासितम् । अन्तर्बा-
 ह्यादिसर्ववस्त्वालम्बनशून्यमित्यर्थः । चेतने विदाभासे । सर्वा
 विषयसप्तम्यः ॥ ३४ ॥ यत् आसितं भासनं स्वप्रकाशचिद्रूपम् ।
 अभासं प्रकाशकान्तरशून्यम् ॥ ३५ ॥ स चायं समाधिः सदा-
 चारोपबृंहितविवेकस्य फलमिति वक्तुं विवेकं पद्मत्वेन रूप-
 यति—संतोषेति । सत्कार्याणि निष्कामकर्माणि उपासनगुरु-
 शुश्रूषाश्रवणादीन्येव पल्लवा यस्य । चित्तलक्षणनालाप्रे संलीने
 रागादिवासनाप्रभवैर्बहुतरविघ्नकण्टकैः संकटो निवृत्तितः ॥ ३६ ॥
 सोऽयमसंसङ्ग एव तृतीया भूमिकेत्याह—फलमिति ॥ ३७ ॥
 प्रथमभूमिकैवानेकजन्मसंचितमुकृतपरिपाकैरिहिकपुण्यसंचयेन दे-
 वादङ्कुरिता चेतसैव सत्संगमादिना महता यत्नेन रक्षणीया सा
 चेद्रक्षिता अनायासेनैव द्वितीयादिभूमिकाः सेत्स्यन्तीति तत्रैव
 यन्नाधिक्यमुपदिशति—समवायादिति । विशुद्धानां तत्त्व-
 विदां समवायाहानमानभजनाद्युपायैर्मलनात् ॥ ३८ ॥ समवेतसैः
 किं कार्यं तदाह—भूमिरिति । यतसैर्विशुद्धैः सा शुभेच्छाल-
 क्षणा भूमिरीषच्छुभप्रवृत्त्युन्मुखतया प्रोदिता मेघैरङ्कुरिता भूमि-
 रिव प्रतिदिनं विवेकोपदेवालक्षणेनाम्बुसेकेन यथा अमृता
 अम्लना भवति तथा रक्ष्या वर्धनीया दुष्प्रवृत्त्यादिविघ्ननिवारण-
 यत्नेन पालनीया चेत्यर्थः ॥ ३९ ॥ एषा शुभेच्छा साधन-
 चतुष्टयमध्ये वैराग्यलक्षणेन शान्त्यादिलक्षणेन वा धैर्येणांशेन
 प्रथममङ्कुरितोद्भवति तमेवांशं विचारेणोदयमभिर्बुद्धिं नयेत्
 ॥ ४० ॥ एकोऽमिर्बर्धितोऽन्ना कृत्वाऽमिर्बर्धयत् स्वमेव

श्रेष्ठा संसृता ह्येषा तृतीया भूमिकात्र हि ।
भवति प्रोज्झिताशेषसंकल्पकलनः पुमान् ॥ ४२
श्रीराम उवाच ।
मूढस्यासत्कुलोत्थस्य प्रवृत्तस्याधमस्य च ।
अप्राप्तयोगिसङ्गस्य कथमुत्तरणं भवेत् ॥ ४३
एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां चेतरां च वा ।
आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन्गतिः ॥ ४४
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
मूढस्यारूढदोषस्य तावत्संस्तिरातता ।
यावज्जन्मान्तरशतैः काकतालीययोगतः ॥ ४५
अथवा साधुसंगत्या वैराग्यं नाभ्युदेति हि ।
वैराग्येऽभ्युदिते जन्तोरवश्यं भूमिकोदयः ॥ ४६
ततो नश्यति संसार इति शास्त्रार्थसंग्रहः ।
योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ॥ ४७
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ।
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ॥ ४८
मेरुपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ।
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुरा कृते ॥ ४९
भोगजाले परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ॥ ५०

साधयिष्यतीत्याह—एषेति ॥ ४१ ॥ सोपायं वर्णितां तृतीयभूमिकां सफलमुपसंहरति—श्रेष्ठेति ॥ ४२ ॥ प्रसज्जादन्तराले मूढेषु दयया रामः पृच्छति—मूढस्येति । आभिजात्याधिकारिविशेषणहीनस्याप्यात्मकथाविमुखस्य कामभोगार्थमेव प्रवृत्तस्याधमस्य चोपायान्तरेण मोक्षोऽस्ति वा न वेति प्रथमप्रश्नार्थः ॥ ४३ ॥ आद्यभूमिकात्रये अपरोक्षज्ञानोदयाभावादेकद्विष्यादिरूढदशायां मृतस्य कीदृशी गतिरिति द्वितीयस्य ॥ ४४ ॥ आद्यप्रश्नस्योत्तरमाह—मूढस्येत्यादिसार्धद्वयेन । काकतालीययोगतः स्वविचारत एव वा साधुसंगत्या वा वैराग्यं यावन्नाभ्युदेतीति परेणान्वयः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ द्वितीयस्योत्तरमाह—योगभूमिकयेत्यादिना ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ दुष्कृतक्षयानुसारेण रमते इत्यर्थोद्गम्यते । दुष्कृते चेति प्राक्तनानुवादः । न हि तस्य नरकादिभोगोऽस्ति 'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्गतिं तात गच्छति' इति भगवद्वचनात् । आनुषङ्गिकं दुःखभोगाभिप्रायं वा । स्वर्गिणामपि शरीरमानसादिदुःखसहस्रसत्त्वात् ॥ ४९ ॥ भोगजाले भुज्यमाने सुकृतसंभारे दुष्कृते च परिक्षीणे सतीत्यन्वयः । योगिन इति जाल्याख्यायां बहुवचनम् ॥ ५० ॥ योगमेवेति । 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते श्वशोऽपि सः' इति भगवद्वचनात् । तदेवाह—योगवासिता इति । परिपतन्त्यारोहन्ति ॥ ५१ ॥ प्रश्नयोक्ततरमुक्त्वा प्रकृतमनुसरति—भूमिकात्रितय-

जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ।
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमं बुधाः ।
स्मृत्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥ ५१
भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाप्रदिति स्मृतम् ।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं तज्जाप्रदिति दृश्यते ॥ ५२
उदेति योगयुक्तानामत्र केवलमार्यता ।
यां दृष्ट्वा मूढबुद्धीनामभ्युदेति मुमुक्षुता ॥ ५३
कर्तव्यमाचरन्काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५४
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५५
प्रथमायामङ्कुरितं द्वितीयायां विकासितम् ।
फलीभूतं तृतीयायामार्यत्वं योगिनो भवेत् ॥ ५६
आर्यतायां मृतो योगी शुभसंकल्पसंभृतान् ।
भोगान्भुक्त्वा चिरं कालं योगवाञ्छायते पुनः ॥ ५७
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे ॥ ५८
निर्विभागमनाद्यन्तं योगिनो युक्तचेतसः ।
समं सर्वं प्रपश्यन्ति चतुर्थी भूमिकामिताः ॥ ५९

मित्यादिना । आद्यभूमिकात्रये जाप्रच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह—यथाप्रदिति । भेददर्शनगुणेन प्रसिद्धजाप्रत्साम्यादित्यर्थः ॥ ५२ ॥ निमित्तान्तरमप्याह—उदेतीति । आर्यता पूज्यता प्रयोजकसद्गुणोत्कर्षः । यां दृष्ट्वा इति । 'यथाचारति श्रेष्ठः' इति न्यायादित्यर्थः ॥ ५३ ॥ तामेवार्थतामनार्थजनव्यावृत्तां प्रथमं लक्षयति—कर्तव्यमिति । कामं पर्याप्तं सर्वं नित्यनैमित्तिकं कर्मत्यर्थः ॥ ५४ ॥ यथाचारं वृद्धाचारानुसारि । तत्रापि यथाशास्त्रम् । तत्रापि यथाचित्तं स्वचित्तं यत्कृत्वा प्रसीदति न पश्चात्प्यते तादृशमेव । व्यवहारं लौकिकमपि ॥ ५५ ॥ तदेवार्थत्वं प्रथमभूमिकायां शुभेच्छायामङ्कुरितम् । द्वितीयभूमिकायां श्रवणादिप्रवृत्त्या विकासितम् । तृतीयभूमिकायां चित्तैकाग्र्यफलेन फलितमित्यर्थः ॥ ५६ ॥ तत्रान्तराले मृतानां निष्कामकर्मानुष्ठानक्षीणपापानां 'कर्मणा पितृलोको विषया देवलोकः' इत्यादिभ्रुतिप्रसिद्धो देवलोकान्निभोगोऽपि शुभसंकल्पाहितसद्वासनासंभृतत्वात् काम्यकर्मानुष्ठानिनामिव रागादिदुर्वासनासंभरणेनाधःपातहेतुरित्याशयेनाह—आर्यतायामिति ॥ ५७ ॥ अज्ञाने ज्ञानविरोधिद्वैतवासनाजाले असंभावनाविपरीतभावनादोषे च क्षयमागते सति निष्प्रत्यूहान्महावाक्यादपरोक्षाखण्डाकारज्ञानोदये सति मूलाज्ञानक्षयायोगिनश्चतुर्थी भूमिकामिता गताः सन्तः सर्वं जगत्सममानन्दैकरसं पश्यन्तीति

ययोगतः । संसारस्य परामर्शोद्वैराग्यं नाभ्युदेति हि ॥ २ ॥ वैराग्येऽभ्युदिते जन्तोरवश्यं भूमिकोदयः' इति ।

१ मूढस्येत्यारभ्य संग्रह इत्यन्तसार्धभोक्तव्यत्वात् ५१ पाठ उपक-
र्यते 'मूढस्यारूढदोषस्य तावत्संस्तिरातता । यावज्जन्मान्तरश-
तेनोदिता प्रथमात्र भूः ॥ १ ॥ अथवा साधुसंगत्या काकताली-
यो वा १३३

अद्वैते स्वैर्यथावासे द्वैते प्रशममागते ।
 पश्यन्ति स्वप्रबल्लोकांश्चतुर्थी भूमिकामिताः ॥ ६०
 भूमिकात्रितयं जाग्रद्वतुर्थी स्वप्न उच्यते ।
 विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ॥ ६१
 सत्तावशेष एवास्ते पञ्चमी भूमिकां गतः ।
 पञ्चमी भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ॥ ६२
 शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ।
 गलितद्वैतनिर्भासमुदितोऽन्तः प्रबुद्धवान् ॥ ६३
 सुषुप्तघन एवास्ते पञ्चमी भूमिकामितः ।
 अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ॥ ६४
 परिशान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ।
 कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ॥ ६५
 षष्ठीं तुर्याभिधान्यां क्रमात्क्रमति भूमिकाम् ।
 यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः ॥ ६६
 केवलं क्षीणमननमास्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ।
 निर्ग्रन्थिः शान्तसंदेहो जीवन्मुक्तो विभावनः ॥ ६७
 अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चिन्नदीप इव स्थितः ।

परेणान्वयः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ व्यावहारिकसत्तया जग-
 ज्ञानसाम्यात्काप्रत् । प्रातिभासिकसत्तया तद्ज्ञानसाम्यात्स्वप्न
 उच्यते । पञ्चम्यां भूमिकायां सुषुप्तिपदप्रवृत्तिनिमित्तं तत्साम्यं
 दर्शयति—विच्छिन्नेति । 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभि-
 भूतः सुखरूपमेति' इति श्रुतौ सुषुप्तौ सर्वविलयप्रसिद्धेरापि
 प्रातिभासिकत्रिपुटीपरिशेषस्यापि विलयेन तत्साम्यादिति भावः ।
 विच्छिन्नस्य शरदभ्रखण्डस्य केवलाकाशमात्रपरिशेषलक्षणं विल-
 यमिष्य शुद्धचिन्मात्रपरिशेषलक्षणं स्वभावं प्रविलीयते प्रविलयेन
 प्राप्नोतीत्यर्थः । लिङ्गफलव्यापारांशयोर्मध्ये फलांशस्य विलय-
 शब्देन निष्कृष्यानुवादात्तस्य च व्यापारांशं प्रति कर्मत्वान्मृदु
 पचतीति क्रियाविशेषणेष्विवात्रापि द्वितीया । अबधिष्ट-
 व्यापारांशमात्रं प्रविलीयते इति तिङन्तप्रकृत्योच्यते उदपेधं
 पिनष्टीत्यत्रेव ॥ ६१ ॥ सत्ता चित्सत्ता तदवशेषः । सुषुप्तमिति
 पदं गौणं नाम यस्यास्ताम् ॥ ६२ ॥ उदित आविर्भूतस्वरूपः
 ॥ ६३ ॥ 'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवे'ति श्रुत्युक्तप्रज्ञान-
 घनतासाम्याद्वा तस्यां सुषुप्तपदनामतेत्याशयेनाह—सुषुप्तेति ।
 आनन्दमयो ह्यानन्दभुगिति श्रुतिप्रसिद्धान्तर्मुखस्थानन्दाखादन-
 साम्यादपि तन्नामतेत्याशयेनाह—अन्तर्मुखतयेति ॥ ६४ ॥
 विवासनः अत्यन्तोच्छिन्नस्वतोऽन्युत्थानवासनः सखित्यर्थः ॥ ६५ ॥
 उक्तसुषुप्तमपेक्ष्य तुर्याभिधानाम् । तद्व्याख्यायाह—यत्रेत्या-
 दिना ॥ ६६ ॥ द्वैतवदैक्यस्यापि संख्यान्तरव्यावर्तकसंख्यात्वा-
 त्तदुभयवर्जितः । तत्रात्यान्तकहृदयप्रन्थिसर्वसंदेहभेदमाह—
 निर्ग्रन्थिरिति । 'भिद्यते हृदयप्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इति
 श्रुतेरिति भावः ॥ ६७ ॥ अनिर्वाणः प्रारब्धघृतशरीरोऽपि

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ॥ ६८
 अन्तःपूर्णा बहिःपूर्णा पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।
 किञ्चिदेवैव संपन्नस्त्वथ वैव न किञ्चन ॥ ६९
 पञ्चमां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ।
 विदेहमुकता तूका सप्तमी योगभूमिका ॥ ७०
 अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा भवभूमिषु ।
 कैश्चित्सा शिवमित्युक्ता कैश्चिद्भ्रष्टेत्युदाहृता ॥ ७१
 कैश्चित्प्रकृतिपुंभावविवेक इति भाविता ।
 अन्यैरप्यन्यथा नानामेदैरात्मविकल्पितैः ॥ ७२
 नित्यमव्यपदेश्यापि कथंश्चित्पुपदिश्यते ।
 सप्तैता भूमिकाः प्रोक्ता मया तव रघूद्वह ॥ ७३
 आसामभ्यासयोगेन न दुःखमनुभूयते ।
 अस्त्यत्यन्तमदोम्भत्ता मृदुमन्थरचारिणी ॥ ७४
 करिणी विप्रहव्यप्रा महादशनशंसिनी ।
 सा चेन्निहन्यते नूनमनन्तानर्थकारिणी ॥ ७५
 तदेतासु समप्राप्तु भूमिकासु नरो जयी ।
 करिणी मद्मत्ता सा यावन्न विजितौजसा ॥ ७६

निर्वाणो मुक्तः । यथा चित्रदीपः अनुपक्षीणोऽपि न ज्वलतीति
 निर्वाणः जडजगत्स्वभावेनान्तर्बहिश्च शून्यः ॥ ६८ ॥ अना-
 वृतानन्दस्वभावेन त्वन्तर्बहिश्च पूर्णः । तस्याद्वितीयरूपस्य
 संसारदशायां कदाप्यप्रसिद्धत्वेन किञ्चिदपूर्वेण परमाक्षररूपेण
 संपन्नः । वास्तवदृष्ट्या नित्यसिद्धत्वान्न किञ्चन संपन्नः ॥ ६९ ॥
 सप्तमी भूमिका परिप्रौढा चेत्सैव मुक्तेति 'सप्तमी सा परिप्रौढा
 विषयः स्यान्न जीवताम्' इति प्रागुक्तैत्यर्थः ॥ ७० ॥ वचसाम-
 गम्या । योगिमानसानुभवैकगम्येत्यर्थः । न च जीवतः सप्तमी
 भूमिकैव नास्तीति योगिमानसानुभवगम्यतापि तस्या नास्तीति
 अस्मितव्यम् । 'सा सीमा भवभूमिषु' इति तस्या भवभूमिमध्य-
 पातसीमात्वोक्तिविरोधापत्तेः । 'आसामभ्यासयोगेन' इत्युत्तरत्रा-
 भ्यसनीयत्वोक्तिविरोधाच्च । शिवमिति शैवैरुक्ता । 'शिवमद्वैतं
 चतुर्थं मन्यन्ते' इति श्रुत्यनुरोधादिति भावः । ब्रह्मेति वेदा-
 न्तिभिः ॥ ७१ ॥ प्रकृतिपुंसोर्भावः अविविक्तावस्थितिस्तस्य
 विवेक इति सांख्ययोगिभिः । अन्यैर्जैमिनिसात्त्वतमाहेश्वरशुद्धा-
 र्हेदादिभिः स्वर्गो वासुदेवः महेश्वरोऽनुपलब्धं विज्ञानमनुपलब्धसुख-
 मित्यादिस्वबुद्ध्यनुसारिविकल्पितैर्नानामेदैरन्यथान्यथा भाविते-
 त्यर्थः ॥ ७२ ॥ यदि वचसामगम्यं तर्हि कथमुपदिश्यते तत्राह—
 नित्यमिति । कथंचिद्भागत्यागलक्षणाभ्युपायैरित्यर्थः ॥ ७३ ॥ परवै-
 रागदाढ्यं सखेव भूमिकासु प्रवेशो भवति नान्यथेति मत्करि-
 ष्याख्यायिकाच्छक्रेण वर्णयितुमारभते—अस्तीत्यादिना ॥ ७४ ॥
 विप्रहव्यप्रा सदा समरोद्युक्ता महत्यां दशनाभ्यां शंसनं शंसः
 प्रख्यातित्वाहती । अस्तु सा किं ततस्तत्राह—सा चेदिति ॥ ७५ ॥
 तथैताः भूमिकाः निरुद्धाः अतस्तद्वचं विना नैकापि भूमिका जेतुं

१ न तु जीवताम् इति पाठः.

को नाम सुमटस्तावत्संपत्समरभूमिषु ।
 श्रीराम उवाच ।
 कासौ प्रमत्ता करिणी काश्च ता रणभूमयः ॥ ७७
 कथं निहन्यते चैषा क चैषा रमते चिरम् ।
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 रामेच्छा नाम करिणी इदं मेऽस्त्वितिरूपिणी ॥७८
 शरीरकानने मत्ता विविधोच्छ्वासकारिणी ।
 मत्तेन्द्रियोप्रकलभा रसनाकलभाषिणी ॥ ७९
 मनोगहनसंलीना कर्मदन्तद्वयान्विता ।
 मदोऽस्या वासनाव्यूहः सर्वतः प्रसरद्भ्रुः ॥ ८०
 संसारदृष्टयो राम तस्याः समरभूमयः ।
 भूयो यत्रानुभवति नरो जयपराजयौ ॥ ८१
 इच्छानागी निहन्येषा कृपणाजीवसंचयान् ।
 वासनेहा मनश्चित्तं संकल्पो भावनं स्पृहा ॥ ८२
 इत्यादिनिवहो नाज्ञामस्यास्त्वाशयकोशगः ।
 धैर्यनाम्ना बराख्येण प्रसूतामवहेलया ॥ ८३
 नागी सर्वात्मिकामेतामिच्छां सर्वात्मना जयेत् ।
 यावद्वस्त्वदमित्येवमियमन्तर्विजृम्भते ॥ ८४
 तावदुग्रा कुसंसारमहाविषविषूचिका ।

शक्येत्यर्थः ॥ ७६ ॥ सा यावन्न विजिता तावत्तदाकान्तासु
 क्षुद्रसांसारिकसंपद्रूपास्वपि समरभूमिषु प्रवेष्टुमपि को नाम सुमटः
 समर्थो योद्धेत्यर्थः । प्रश्नः स्पष्टः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ 'क चैषा रमते'
 इत्यस्योत्तरमाह—शरीरकानने इति । विविधदैव्यभावनशोक-
 मोहाद्युच्छ्वासकरणशीला । मत्तानीन्द्रियाण्येवोप्राः कोपनाः कलभाः
 शावका यस्याः । रसनाकलभाषिणी मधुरवृंहितसाधनं यस्याः
 ॥ ७९ ॥ प्रख्यातो दन्तो दर्शयति—कर्मैति । कर्म शुभाशुभरूपम् ।
 मदमत्तेन्द्रोक्तं मदं दर्शयति—मद इति । एवमप्रेऽपि योज्यम्
 ॥ ८० ॥ ८१ ॥ नागी करिणी । जीवसंचयान् प्राणिक्रियायान्
 ॥ ८२ ॥ आशयकोशगश्चित्तकोशगतः । कृतिवैविध्यप्रयुक्त इति
 यावत् । कथं निहन्यते चैषेति प्रश्नस्योत्तरमाह—धैर्येति ॥ ८३ ॥
 सर्वात्मिकां ब्रह्मलोकान्तसर्वभोग्यगोचराम् । सर्वात्मना सर्वथा
 सर्वमहमेवेति भावितेनात्मना वा । न हि नित्यलक्षणात्मरूपतया
 भाविते तृष्णा भवति किंत्वित्यलक्षणातया दृष्टे इत्याह—
 यावदिति ॥ ८४ ॥ संसारमहाविषविषूचिकारूपा तृष्णा तावदेव
 विजृम्भत इत्यनुकृष्यते ॥ ८५ ॥ तृष्णैव संसारस्तक्षय एव
 मोक्षभूमिकोदयहेतुत्वाम्मोक्षः । कथं वैराग्यस्य भूमिकोदयहेतुता
 तद्दर्शयति—प्रसादेति ॥ ८६ ॥ रागादिपुरुषापरधमलिने चित्ते
 श्रुत्याचार्याद्युपदेशवाक् पद्यपत्रे जलविन्दुरिव न संश्लिष्यते ।
 वैराग्यादिसाधनसंपत्ते तु आदर्शे तैलविन्दुरिव संश्लिष्यति सती
 अविद्यामलमार्जनेन प्रसादो ब्रह्मकारप्रथनानुकूल स्वच्छता
 तत्कारिणी पर्यवस्यतीत्यर्थः । रागादेरनुदये उदितस्य छेदने
 चोपायमाह—असंवेदनेति । इच्छारूपो मवाङ्कुरः संवेदनं
 विषयस्मरणं तत्परिह्याममात्रेण नोदेति ॥ ८७ ॥ मनागभ्यु-

एतावानेव संसार इदमस्त्विति यन्मनः ॥ ८५
 अस्य तूपशमो मोक्ष इत्येवं ज्ञानसंग्रहः ।
 प्रसादकारिणी स्वच्छा निरिच्छे विमलाकृतौ ॥ ८६
 तैलविन्दुरिवादर्शं विश्राम्यत्युपदेशवाक् ।
 असंवेदनमात्रेण नोदेतीच्छाभवाङ्कुरः ॥ ८७
 मनागभ्युदितैवेच्छा छेत्तव्यानर्थकारिणी ।
 असंवेदनशक्येण विषयेवाङ्कुरावली ॥ ८८
 इच्छाविच्छुरितो जीवो विजहाति न दीनताम् ।
 स्वसंवेदनयत्नस्तु तृष्णीमेवान्तरासनम् ॥ ८९
 अवधानविनिर्मुक्तं सुप्तं शवशतं यथा ।
 तां प्रत्याहारबहिशेनेच्छामत्सीं नियच्छत ॥ ९०
 इदं मेऽस्त्विति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।
 अर्थस्याभावनं यत्तत्कल्पनात्याग उच्यते ॥ ९१
 स्मरणं विद्धि संकल्पं शिवमस्मरणं विदुः ।
 तत्र प्रागनुभूतं च नानुभूतं च भाव्यते ॥ ९२
 अनुभूतां नानुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।
 सर्वमेवाशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामतिः ॥ ९३
 ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति तत् ।
 असंकल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥ ९४

दिताप्यसंवेदनशक्येणैव छेत्तव्या ॥ ८८ ॥ विच्छुरितो व्याप्तः ।
 दीनतां भोगकार्पण्यम् । असंवेदनस्वरूपं व्युत्पादयति—स्वसं-
 वेदनेति । सुप्तु असंवेदनं स्वसंवेदनं तदनुकूले निरोधयत्नः
 प्रत्याहारयत्नश्च चित्तस्यान्तस्तृष्णीं निर्व्यापारतया आसनम्
 ॥ ८९ ॥ तच्चाभ्यासकाले सावधानतारूपं परिपाककाले त्व-
 धानविनिर्मुक्तं सुषुप्तिमरणावस्थयोरिव स्वत एव संपद्यत इत्या-
 शयेनाह—अवधानेति । तामनर्थकारिणीमिच्छामत्सीं प्रत्या-
 हारलक्षणेन बहिशेनाकृष्य नियच्छत बध्नीतेति सर्वान् श्रोतृ-
 न्प्रत्युक्तिः ॥ ९० ॥ ननु प्राक्कल्पनात्यागादेव मुक्तिरिति बहु-
 शस्त्वयोक्तमिदानीमिच्छात्यागादिति कथमुच्यते तत्राह—इदं
 मेऽस्त्विति । संवेगं चित्तभावनं विषयानुसंधानलक्षणकल्पना-
 फलावस्थेयमिति कल्पनमाहुरित्यर्थः । भावनं स्मरणम् ॥ ९१ ॥
 संकल्प एव सर्वानर्थमूलमिति प्राक्तनोक्तीनामप्ययमेवाभिप्राय
 इत्याशयेनाह—स्मरणमिति । कथं तर्हि स्मृतिसंकल्पपदयोर-
 पर्यायता तत्राह—तत्रेति ॥ ९२ ॥ संकल्पे अननुभूतमपि भाव्यत
 इति विशेषादपर्यायत्वेऽपि भूमिकारुक्षुभिर्हेयत्वेन कश्चिद्विशेष
 इत्यभेदोऽत्र विवक्षित इत्याशयेनाह—अनुभूतामिति ॥ ९३ ॥
 इदानीं परमकारणिको वसिष्ठः सर्वजनानां विषयसंकल्पस्यागं
 विना मोक्षो न सिध्यतीति तस्याग एवावश्यं कार्यं इति समप्र-
 वासिष्ठोपदेशरहस्यमाक्रोशेनापि दृढीकरिष्यन्नाह—ऊर्ध्वबाहु-
 रिति । विरौमि उच्चैःस्वरेण पुनःपुनराक्रोशामि । एवं क्रिय-
 माणमप्याक्रोशं बधिर इव सुप्तप्रमत्ता इव च कश्चिदपि जनो न
 शृणोति । शृण्वत्स्वपि च श्रवणफलादर्शनादुक्तिः । अन्तर्हृदि
 किमर्थं न भाव्यते न विमृश्य कृतकृत्यतापर्यवसितः क्रियते ।

किल तूष्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
 परमं यत्र साम्राज्यमपि राम तृणायते ॥ ९५
 गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
 स्पन्दो विगतसंकल्पस्तथा स्पन्दः स्वकर्मसु ॥ ९६
 बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपादिवमुच्यते ।
 संकल्पनं परो बन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ ९७
 सर्वमेवमजं शान्तमनन्तं भ्रुवमव्ययम् ।
 पश्यन्भूतार्थचिद्रूपं शान्तमास्व यथासुखम् ॥ ९८
 अवेदनं विदुर्योगं शान्तमासितमक्षयम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० पू० परमार्थस्वरूपवर्णनं नाम षड्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२७

भरद्वाज उवाच ।

इति धरमुनिनोकं ज्ञानसारं पुराणं
 सकलमनुनिशम्य श्रीरघूणां कुलाश्रयः ।
 विमलमतिरपृच्छत्किंचिदन्यत्स्वयं वा
 समसुखपरिपूर्णः पूर्णबोधस्थितोऽसौ ॥ १
 स खलु परमयोगी विश्ववन्द्यः सुरेशो
 जननमरणहीनः शुद्धबोधस्वभावः ।

न हि मन्दमध्यमाधिकारिणां सम्यक्जननमन्तरेणार्थसिद्धिरित्यर्थः ॥ ९४ ॥ तूष्णीं सर्वव्यापारोपरमेण स्थितेनैव पुंसा तत्तादृशं परमं पदं प्राप्यते । किलेति श्रौतप्रसिद्धौ । तथा च श्रुतिः 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्' इति । परमं हैरण्यगर्भान्तमपि साम्राज्य-सुखं यत्र भूमानन्दे तृणवत्सुच्छतामापद्यत इत्यर्थः ॥ ९५ ॥ ननु सर्वथा संकल्पत्यागे देहस्पन्दाद्यसिद्धेर्व्यवहारलोपे कथं जीवनं तत्राह—गम्येति । यथा गन्तव्ये स्वगृहादिदेश एवैकनिष्ठा अभिच्छिन्नचित्तवृत्तिधारा यस्य तथाविधस्य पान्थस्य पादयोर्विगतसंकल्प एव प्रतिक्षणं स्पन्दो जायते तथा योगिनोऽपि विनैव संकल्पं पूर्वाभ्यासजीवनादृष्टवशादेवानिषिद्धस्वकर्मसु स्पन्दो भविष्यतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ कया दृष्ट्या असंकल्पनं भवेत्सामाह—सर्वमिति । भूतार्थचिद्रूपं नित्यसिद्धपरमार्थचिद्रूपम् ॥ ९८ ॥ अवेदनं तादृशदृष्टिपरिणत्या अहंममेत्यध्यस्तसर्वभेदविस्मरणमेव जीवब्रह्मकवलक्षणं योगं विदुर्ब्रह्मविदः । 'तं विद्याहुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' इति भगवता तथा व्याख्यातत्वादिति भावः । 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इति तद्वाक्यं तु लोकसंप्रहेच्छं प्रत्यच्छिन्नकविहितानुष्ठापनार्थं न नियमार्थमित्याशयेनाह—योगस्थ इति । अयं समाधिपरब्रह्मेना कुरु ॥ ९९ ॥ यथासि भो इति । यथास्थितस्वरूपास्तौ यथास्थितस्थितेरेवोचितत्वादिति भावः ॥ १०० ॥ सा स्थितिरेव सर्वप्रपञ्चनिवृत्तिरूपत्वाच्चूडालोपदर्शितः सर्वत्यागोऽपीत्याह—शि-वमिति ॥ १०१ ॥ विस्तरोकमनर्थतत्त्वं पुरुषार्थवत्त्वं च निष्कृष्य करतलमलकवद्दर्शयन्नुपसंहरति—अहंममेति ॥ १०२ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि निर्वासनोऽथ मा कुरु ॥ ९९
 अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
 अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथासि भो ॥ १००
 शिवं सर्वगतं शान्तं बोधात्मकमजं शुभम् ।
 तदेकभावनं राम सर्वत्याग इति स्मृतः ।
 माधयच्छ्वदन्तः खं कार्यं कर्म समाचर ॥ १०१
 अहंममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यते ।
 असंविदन्विमुच्यते यदीप्सितं समाचर ॥ १०२

सकलगुणनिधानं संनिधानं रमाया-

स्त्रिजगदुदयरक्षानुग्रहाणामधीशः ॥ २

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

इति श्रुत्वा वसिष्ठस्य वाक्यं वेदान्तसंग्रहम् ।
 विदिताखिलविद्वानो रामः कमललोचनः ॥ ३
 शक्तिपातवशोन्मेषप्रकटामलचिद्धनः ।
 मुहूर्तमासीदुमुद्धश्चैतन्यानन्दसागरः ॥ ४

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमार्थस्वरूपवर्णनं नाम षड्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२६ ॥

इह रामस्य विश्रान्तिर्भरद्वाजोत्सुकोक्तमः ।

लक्षणं जाम्बदादीनां तुरीयं चोपवर्णयते ॥ १ ॥

एतावत्पर्यन्तं श्रीवसिष्ठरामसंवादं श्रावयित्वा रामविश्रान्ति-स्मरणसंनिधापिते निरतिशयानन्दपूर्णात्मनि विश्रान्तं तूष्णीं-भूतं गुरुं श्रीवाल्मीकिं दृष्ट्वापि स्वयं तत्र विश्रान्त्यलभादग्रेऽपि श्रवणोत्सुको भरद्वाजः पृच्छति—इतीत्यादि । हे गुरो, विमलमतिः श्रीरघूणां कुलाश्रयोऽसौ श्रीरामः धरमुनिना श्रीवसिष्ठेन इति वर्णितैर्बहुभिः प्रकौरुक्तमुपदिष्टं पुराणं चिरंतनं ब्रह्मादिमहर्षिसंप्रदायागतं ज्ञानसारं निशम्य श्रुत्वा अग्रेऽपि जिज्ञासुः किंचिदपृच्छत् । अथवा एतावत्तैवोपदेशेन शान्तसर्वसंदेहमोहः स्वयं समेन विषयवैचित्र्यप्रयुक्तारतम्यरहितेन साक्षात्कृतेनात्मसुखेन परिपूर्णः सन् पूर्णबोधात्मैव भूत्वा स्थितस्तद्वदेति शेषः ॥ १ ॥ ननु समाने प्रत्यक्षवर्णे त्वया स्वसंदेहमोहनवृत्त्यनिवृत्तिभ्यामेव रामस्यापि तं कृतो नावधार्येते इति तु नाशङ्कम् । यतो मम रामस्य च महदन्तरमस्तीत्याह—स खल्विति । स नित्यसिद्धज्ञानयोगैश्वर्यानावृत्तचित्तस्वभावः 'सर्वस्य वशी सर्वस्ये-धानः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्ध ईश्वरो जगत्पालनायावतीर्णो जगद्गुरुपि सर्वलोकानुग्रहाय ज्ञानशास्त्रप्रवृत्त्यर्थं खेच्छया स्वस्याज्ञानमिव परिकल्प्य श्रोतुं प्रवृत्तः । अहं लनाथश्च एव मुमुक्षुरन्तरसाधनसंपन्न इति महदन्तरमिति भावः ॥ २ ॥ एवं पृष्ट्ये वाल्मीकिः प्रश्नद्वितीयकोटिमेव कथाशेषेण समर्थयन्नुत्तरमाह—इति श्रुत्वेत्यादिना ॥ ३ ॥ शक्तिपातः अखण्डाकार-

प्रश्नोत्तरविभागादिपरिपाटीविवर्जितः ।
 आनन्दामृतपूर्णासु रोमकण्टकितान्कः ॥ ५
 महासामान्यरूपत्वाच्चिद्व्यापकतया स्थितः ।
 नित्यमष्टगुणैश्वर्यतृणप्रायमनोरथः ॥ ६
 न किञ्चिदुषे संपन्नः शिवे परिणतः पदे ।
 भरद्वाज उवाच ।
 अहो खलु ममाश्चर्यं रामः प्राप्नो महत्पदम् ॥ ७
 कथमेतादृशी प्राप्तिरस्माकं मुनिनायक ।
 मूर्खाः स्तब्धाश्च किञ्चिज्ज्ञा मादृशाः क्व च पापिनः ।
 क्व च ब्रह्मादिभिः प्रार्थ्या दुर्लभा रामसंस्थितिः ॥ ८
 अहो मुनीश्वरगुरो कथं विश्राम्यते मया ।
 दुष्पारस्य भवाम्भोभेस्तीर्यते तद्वदाशु मे ॥ ९
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 श्रीरामवृत्तान्तमशेषमादितो
 षसिष्ठवाक्यानुगतं निरूपितम् ।
 धिया विचार्यानु परामृश प्रभो
 मयापि तादृकथनीयमत्र ते ॥ १०

वाक्यजन्यचित्तवृत्तौ नित्यनिरतिशयानन्दात्मतत्त्वाविर्भावस्त-
 द्दशादविद्यासंपुटोद्घाटनलक्षणोन्मेषेण प्रकटामलचिद्धनः कुण्ड-
 लिन्याः सुषुम्नामार्गं षट्चक्राणि भित्त्वा ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशेन शिव-
 शक्तिसंयोगलक्षणो योगशास्त्रप्रसिद्धो वा । यस्तु मन्त्रशास्त्रप्र-
 सिद्धो गुरोः शिष्यानुग्रहातिशयेन स्वदेहं त्यक्त्वा शिष्यदेहे
 प्रविश्य तथीयनाडीपरिशोधनद्वारा तत्कुण्डलिन्याः सप्तचक्रेषु
 संचारणेन सर्वभुवनसमाचारापरोक्षप्रदर्शनरूपः शक्तिपातः स
 नेह विवक्षितः । श्रीरामस्य स्वयमीश्वरस्य सार्वभ्यादेः स्वतः-
 सिद्धतया तदनपेक्षणात्तेन लोकोपकारसिद्धेर्वेति । उद्बुद्धः
 स्वस्वरूपे जागरितो विकसितश्च ॥ ४ ॥ विभाग उक्त्वा नुक्त्वा-
 शिविवेचनम् । आदिपदाद्वाह्यार्थपर्यालोचनमात्रं गृह्यते । तद-
 र्थाभिः परिपाटीभिर्मनोबुद्धीन्द्रियादिव्यापारैर्विवर्जितः । आन-
 न्दामृतेन पूर्णो असवः प्राणा यस्य ॥ ५ ॥ महासामान्यं
 सर्वाधिष्ठानसन्मात्रम् । प्रत्यक्चिन्तस्तद्गुणसंपत्तेः । सर्वैतच्चिद्व्या-
 पकतया पूर्णः स्थितः । स एवास्य निरतिशयानन्दाविर्भाव
 इत्याशयेनाह—नित्यमिति । अष्टगुणानामष्टसंख्यानामणिमायै-
 श्वर्याणां तृणप्राया मनोरथा लिप्सा यस्य ॥ ६ ॥ शिवे पदे नि-
 रतिशयानन्दवस्तुनि परिणत एकरसभूतः संपन्नः । इत्यमुत्त-
 माधिकारिणो रामस्य श्रवणादेर्ब्रह्मप्राप्तिमुपवर्ण्य मन्दमध्यमा-
 धिकारिणां चित्तशुद्ध्यर्थमुपासनाविशेषमवस्थात्रयविवेकदृश्यप्र-
 विलापनादिमननोपायांश्च वक्तुं तदवतारहेतून् भरद्वाजौत्सुक्या-
 दीनरिष्टनेमये भगवान् वास्मीकिर्वर्णयति—भरद्वाज उवाचे-
 त्यादिना ॥ ७ ॥ ८ ॥ दुष्पारस्य भवाम्भोभेर्मोहवारि इति शेषः
 ॥ ९ ॥ एवं पृष्टे वाल्मीकिः श्रुतप्रत्यक्षचिन्तनावर्तनमेव प्रथमं
 ‘आवृत्तिसकृदुपदेशात्’ इति न्यायसिद्धमुपदिशति—श्रीरामेति ।

अविद्यायाः प्रपञ्चोऽयं नास्ति सत्यमिहाण्वपि ।
 विवेचयन्ति विबुधा विवदन्त्यविवेकिनः ॥ ११
 नास्ति भिन्नं चितः किञ्चित्किं प्रपञ्चेन रुच्यसे ।
 अभ्यासेन रहस्यानां वयस्य विशदो भव ॥ १२
 प्रपञ्चविषया वृत्तिर्जाप्रजिद्रेति कीर्तिता ।
 संप्रबुद्धस्तु यस्यान्तश्चित्प्रदीपो निरञ्जनः ॥ १३
 शून्यमूलः प्रपञ्चोऽयं शून्यताशिखरः सखे ।
 सारशून्यतया मध्येऽप्यनास्था सम्मनीषिणाम् ॥ १४
 अनादिवासनादोषादसंभेदायमीक्ष्यते ।
 गन्धर्वनगराकारः संसारो बहुविधमः ॥ १५
 त्वमनभ्यस्य कल्याणीं चैतन्यामृतकन्दलीम् ।
 संमुह्यसि किमभ्यास्य वासनाविषवीरुधः ॥ १६
 जाग्रदेतन्न पतितं ज्ञानालम्बप्रहादधः ।
 न सन्त्युपरि सर्वेषां ये निरालम्बसंविदः ॥ १७
 तावद्गुढा सुधाकाररसा संविन्महानदी ।
 न यावदात्मरूपेण निपुणैरवगाह्यते ॥ १८
 प्राङ्नास्ति चरमे नास्ति वस्तु सर्वमिदं सखे ।
 विद्धि मध्येऽपि तज्जास्ति स्वप्नवृत्तमिदं जगत् ॥ १९

तादृक् त्वदनुभवानुकूलमवस्थात्रयविवेचनादिकथनीयं कथ्यते
 शृण्वित्यर्थः ॥ १० ॥ मिथ्याभूताविद्याकार्यत्वादेव प्रपञ्चस्या-
 सत्त्वं चिद्वैतसाम्राज्यं च बुद्धिमता बोद्धुं शक्यमित्याह—अ-
 विद्याया इत्यादिना । ननु प्रपञ्चस्याविद्याकार्यत्वं चेत् किमर्थं
 वादिनां विवादस्तत्राह—विवदन्तीति ॥ ११ ॥ मिथ्याद्वैतेन
 च वास्तवाद्द्वैतहानिरित्याह—नास्तीति । हे वयस्य सखे इति
 प्रीत्या संबोधनम् । रहस्यानां प्रणवमहावाक्याद्यर्थानां वक्ष्यमा-
 णोपासनानां च । विशदो विशुद्धचित्तो भव ॥ १२ ॥ तत्रादौ
 प्रणवप्रथममात्रार्थं जाग्रत्प्रपञ्चं स्फुटं तत्साक्षिविवेकाय मिथ्या-
 त्वेनोपपादयति—प्रपञ्चेत्यादिना । ‘तस्य त्रय अवस्थात्रयः
 स्वप्नाः’ इति श्रुतौ जाग्रदपि निद्रैवेति कीर्तिता ॥ १३ ॥ शून्य-
 मूलो मिथ्याभूताज्ञाननिदानः । शून्यतारूपमज्ञानमेव शिखरम-
 प्रमन्तो यस्य तथाविधः मध्येऽपि त्रिवृत्करणपृथक्क्रियाद्युपा-
 येन पर्यालोचने सारः सत्ता तच्छून्यतया प्रातिभासिकमात्रः
 प्रवते । अतस्तत्रानास्थैव युक्तेति शेषः ॥ १४ ॥ असतोऽपि
 सवासनाविद्यया दर्शनं गन्धर्वनगरादेः प्रसिद्धमित्याह—अना-
 दीति ॥ १५ ॥ वासनाविषवीरुधो विषवल्लीरध्यास्य आश्रित्य
 किं संमुह्यसि ॥ १६ ॥ तत्त्वदर्शनेन निरालम्बज्ञानरूपस्याल-
 म्बस्य चित्तस्थैर्यहेतोरवष्टम्भस्य परिग्रहादधः पूर्वमज्ञावस्थायामे-
 व ‘एतज्जाग्रत्प्रपतितम्’ उपरि तुर्यदशायां तु तिस्रोऽप्यवस्था न
 सन्ति । ये योगिनो निरालम्बसंविदस्तेषां सर्वेषामनुभवसिद्ध-
 मित्यर्थः ॥ १७ ॥ यावदज्ञानं तावत्कालमेव चिन्तया जगद्गुस्त-
 रङ्गविक्रमप्ररोह इत्याह—तावदिति । रूढा दुस्तरङ्गप्रादुर्भाव-
 वती ॥ १८ ॥ आद्यन्तकालासत्त्वेन मध्येऽप्यसत्त्वमेव स्वभाव-
 वैपरीत्याघटनात्स्वप्नवदनुमेयमित्याह—प्राणिति । स्वप्नस्य वृत्त-

अधिधायोनयो मेदाः सर्वेऽमी बुद्धुदा इव ।
क्षणमुद्भूय गच्छन्ति शानैकजलधी लघम् ॥ २०
सुशीतलोदकनदीं विदित्वाथ विगाह्य ताम् ।
बहिर्भ्रान्तिनिदाघास्ते निर्यान्तु कलितासुखम् ॥ २१
एकश्चाज्ञानजलधिर्जगदाप्लाव्य तिष्ठति ।
ज्येष्ठोऽयमहमित्यूर्मिरविद्याघातसंभवः ॥ २२
चित्तस्खलनमेदाली रागाद्याश्च प्रकल्पिताः ।
ममतोत्कलितावर्तः स्वतः स्वैरं प्रवर्तते ॥ २३
रागद्वेषावतिग्राहौ गृहीतसमनन्तरः ।
ततश्चानर्थपातालप्रवेशः केन वार्यते ॥ २४
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतधारिणौ ।
मज्ज मज्जसि किं द्वैतग्रहक्षाराब्धिबीचिषु ॥ २५
कस्तिष्ठति गतः को वा कस्य केन किमागतम् ।
किं नु मज्जसि मायायां पत मा त्वमतन्द्रितः ॥ २६
तत्त्वमेकं यदात्मेति जगदेतत्प्रचक्षते ।
ततोऽन्यः कस्तवातीतो यस्तात विषयः शुचाम् ॥ २७
बालान्प्रति विधत्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत् ।

मिव कृतं यस्य तत् ॥ १९ ॥ २० ॥ कलितमसुखं दुःखं य-
स्मिन्कर्मणि तत्तथा निर्यान्तु । अचेतनेष्वपि निदाघेषु चेत-
नत्वमारोप्योक्तिः ॥ २१ ॥ इदानीं भगवान्निष्पद्यस्य मज्जनं नि-
वारयिष्यन्नज्ञानं क्षारसमुद्रत्वेन वर्णयति—एकश्चेत्यादिना ।
स्वविकारभूतं जगदाप्लाव्य अभिव्याप्य । तस्य महोर्भिप्रथमजं
दर्शयति—ज्येष्ठ इति । अविद्याप्रवाहोऽनादिभ्रान्तिवासना स
एव वातस्तत्संभवः ॥ २२ ॥ अल्पतरुज्ञानदर्शयति—चित्तेति ।
चित्तस्य तत्तद्विषयेषु ये स्वखलनमेदास्तेषामालिः पङ्क्तस्त्वदेतवो
रागाद्याश्च प्रकल्पिताः, क्षुद्रतरुज्ञा इति शेषः । तस्यावर्तं दर्श-
यति—ममत्तेति ॥ २३ ॥ ग्राहौ प्रवर्तते इति विपरिणामेना-
नुषज्यते । ताभ्यां गृहीतस्य तव समनन्तरः सन्निहितः अन-
र्थपाताले मृत्युमुखे प्रवेशः केन वार्यते । गृहीतपदस्यासमर्थस्य
समासइच्छान्दसः ॥ २४ ॥ यदि तु समुद्रमज्जनं तवावश्यकं
तर्धानन्वसमुद्रे मजेत्याह—प्रशान्तेति ॥ २५ ॥ संसारस्ति-
ष्ठति स च रामस्य तत्त्वबोधाद्गतो मम तु न गत इति शोकहेतुं
मोहं वारयति—कस्तिष्ठतीति । अतन्द्रितो विवेकी त्वं मा पत
॥ २६ ॥ यदा प्रचक्षते व्यक्तं प्रतिपादयन्ति 'इदं सर्वं
यदयमात्मा' इत्यादि वेदान्ता इत्यर्थः ॥ २७ ॥ येषामज्ञान-
मस्ति तान्बालान्प्रति ब्रह्मणो जगदाकारविवर्तः ॥ २८ ॥
अविविक्तः अविवेकी । ननु तत्त्वविदामपि कदाचिद्ब्यामोहः
कथं दृश्यते तत्राह—तस्येति । विटम्बनमज्ञचेष्टानुकरणमात्रम्
॥ २९ ॥ अन्येषां तु न तथा । तेषामविद्याच्छादित्वात्मनां
जलेषु स्थलवृद्धिदनात्मस्वात्मताभ्रान्तेरित्याह—तस्येति । यथा
अज्ञलोकानां जलेषु स्थलमिति संशयो मरुस्थलेषु च जलमिति
संशयस्तथा कल्पितमेदेष्वात्मस्वपि संशयो भ्रम इत्यर्थः ॥ ३० ॥
यदा परमाण्वादिमयजगद्वादिरीत्यापि विवेकेऽपि शोकप्रसक्ति-

अविधर्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा ॥ २८
अविविक्तो जनः शोचत्यकस्माच्च प्रहृष्यति ।
तत्त्वविसु हसन्नास्ते तस्य मोहो विटम्बनम् ॥ २९
तच्च सूक्ष्ममिदं तत्त्वं तिरोहितमविद्यया ।
यथा स्थलेषु लोकानां जलेष्वात्मसु संशयः ॥ ३०
पृथिव्यादिमहाभूतपरमाणुमयं जगत् ।
स्थितं यदा तदापीह को गतो योऽनुशोच्यते ॥ ३१
असतः संभवो नास्ति नास्त्यभावः सतः सखे ।
आविर्भावतिरोभावाः संस्थानानाममी परम् ॥ ३२
किंत्वेनेकपुरोत्साहाद्विषतामुपगच्छति ।
भज संभरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ॥ ३३
दुरितानि समस्तानि पच्यन्तेऽद्यापि न ध्रुवम् ।
कृतमेवास्य देवस्य पाशा विभ्रवतां गताः ॥ ३४
साकारं भज तावत्त्वं यावत्सत्त्वं प्रसीदति ।
निराकारे परे तत्त्वे ततः स्थितिरकृत्रिमा ॥ ३५
इमामुहामतमसो जित्वा सत्त्वबलाद्भुवम् ।
यमस्यानुसराध्वानं विश्वस्तेनान्तरात्मना ॥ ३६

नास्ति तदा मायामयजगद्वादे दूरापास्तैव सेत्याशयेनाह—पृ-
थिव्यादीति । को गतो नष्टः । तन्मतेऽपि देहादेरनात्मत्वेन
तन्नाशे आत्मनाशाभावादित्यर्थः ॥ ३१ ॥ प्रियनाशाद्धि शो-
कप्रसक्तिः । स प्रियो यदि संस्तदा न नश्यत्येव, यद्यसंस्तर्हि
न स्थित एवेत्युभयथापि तन्नाशासिद्धेर्न शोकहेतुरस्तीत्याशये-
नाह—असत इति । संस्थानानां मायिकसंनिवेशविशेषाणाम्
॥ ३२ ॥ ननु यदि मायिकमेव देहादिसंस्थानं तर्हि तदैन्द्रजा-
लिकोपदर्शितमायावदुदासीनं तटस्थं भासतां शोकमोहदुःखा-
द्यनर्थसहस्रदाने त्वस्य को हेतुस्तत्राह—किंत्विति । सत्यम् ।
आधुनिको न कश्चिद्देतुरस्ति किंत्वेनेकः पुरा संस्थितः पुण्यपापप्र-
वृत्तिलक्षण उत्साहः पुरुषप्रयत्नः पुण्यपापाख्यस्तद्देतुरस्ति । त-
स्मादेवायं मायिको देहादिस्तद्भोगाय विषतां विषवन्मरणमूर्च्छा-
द्यनर्थसहस्रहेतुतामुपगच्छति, अध्यात्मज्ञानशास्त्रार्थश्च शत-
शोऽप्युपदिष्टः पापवशादेव हृदि नारोहति, अतस्तत्पापक्षयाय
सगुणेश्वरोपासनं कुर्वित्याह—भजेति । भक्तानुग्रहाय संभरितः
सम्यग्भूत आभोगो बक्ष्यमाणार्धनारीश्वरादिवेषो येन तम्
॥ ३३ ॥ अद्यापि न पच्यन्ते न क्षीणानि तवेति शेषः । ध्रुव-
मिति वितर्के । प्राणिकृतं पुण्यपापात्मकं कर्मैवास्य पशुपतेर्दे-
वस्य प्राणिपशुबन्धनपाशाः विभ्रवतां विविधश्रुत्यादिप्रमाणप्र-
सिद्धताम् ॥ ३४ ॥ सत्त्वं चित्तं प्रसीदति विशुध्यति । ततस्त्वस्मा-
द्भजनादकृत्रिमा विघ्नैरबाध्यत्वात्सहजा भविष्यतीति शेषः ।
तथा च श्रुतिः 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोकनं नीलकण्ठं
प्रशान्तम् । ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः
परस्तात्' इति ॥ ३५ ॥ ईश्वरोपासनशुद्धसत्त्वबलाद्यामोहसह-
स्रैरुहामस्य तमस इमां प्रसिद्धां व्यामोहशक्तिं जित्वा गुरुशा-
नोपदेशविश्वासवता मनसा यमस्य सेन्द्रियमनोनियमनात्मकस्य

समाधाय क्षणं पश्य प्रत्यगात्मानमात्मना ।
 इयं विभातु सा व्यक्तं प्राग्बुद्धिरजनी तव ॥ ३७
 कृतं पुरुषकारेण केबलेन च कर्मणा ।
 महेशानुग्रहादेव प्राप्तव्यं प्राप्यते नरैः ॥ ३८
 नाभिजात्यं न चारिष्यं न नयो न च विक्रमः ।
 बलवन्ति पुराणानि सखे कर्माणि केवलम् ॥ ३९
 अप्रतर्क्यात्प्रतीकारात्किमेवमवसीदसि ।
 न लुम्पसि ललाटस्थामीश्वरोऽप्यक्षरावलिम् ॥ ४०
 क्व चिद्वक्ता क्व वैदग्ध्यं क्व चेयं मोहवल्लरी ।
 अचिन्तनीया नियतिर्यदियं द्वन्द्वमोहिता ॥ ४१
 हे भरद्वाज मोहं त्वं विवेकेन जहि स्फुटम् ।
 असामान्यमिदानीं त्वं ज्ञानं प्राप्स्यस्यसंशयम् ॥ ४२
 दूरमुत्सहते राजा महासत्त्वो महापदि ।
 अल्पसत्त्वो जनः शोचत्यल्पेऽपि हि परिक्षते ॥ ४३
 बोधः पुण्यपराधीनः प्रथते बहुजन्मभिः ।
 अनुमीयेत धीरेषु जीवन्मुक्तेषु कार्यतः ॥ ४४

योगस्याध्वानमनुसर ॥ ३६ ॥ ततः क्षणं सुहृत्तद्वादशतमभाग-
 मपि समाधाय समाधिमाश्रित्य तेनात्मदर्शनेन तव प्राक्तमो-
 वृता बुद्धिरूपा रजनी रात्रिर्विभातु प्रभातभावं गच्छतु ॥३७॥
 ननु सत्कर्मानुष्ठानैरेव चित्तशुद्धिसिद्धेः किमर्थमीश्वरोपासनं
 तत्राह—महेशेति ॥ ३८ ॥ नन्वाभिजात्यसदाचारतपःकर्मा-
 दयतनपुरुषप्रयत्नानां प्राक्तनकर्मापेक्षया प्राबल्यं प्राक्सिद्धिं
 तत्कथमिदानीमीश्वरानुग्रहापेक्षोच्यते तत्राह—नाभिजात्य-
 मिति । पुरातनकर्मणामनन्तत्वादिदानींतनपुरुषप्रयत्नानामल्पतर-
 लाक्षेश्वरानुग्रहमन्तरेण तज्जयसिद्धिः । ईश्वरानुग्रहसाहाय्यं इदं
 कृत्वैव प्रागैहिकप्रयत्नप्राबल्यं साधितं न तद्विहायेति भावः
 ॥ ३९ ॥ तर्हीश्वरोपास्तिरेव कार्या किं यमनियमज्ञानादिभिस्त-
 त्राह—अप्रतर्क्यादिति । एवमीश्वरप्रपन्नोऽपि स्वमप्रतर्क्या-
 त्पौरुषतर्कागम्याच्छ्रुत्येकसमधिगम्याद्दर्मादिसहितज्ञानलक्षणप्र-
 तीकारात्समूलसर्वकर्मनिरासोपायात्किमवसीदसि किमर्थमुद्धि-
 जसि । यत उपासनाप्रसादित ईश्वरोऽपि ललाटस्थामक्षरावलिं
 न साक्षात्स्वरूपेण मार्जयति किंतु ज्ञानकृतमूलोच्छेदोपायेनैवे-
 त्यर्थः ॥ ४० ॥ गुरुशास्त्रयोः शिष्यबोधनशक्तिः, शिष्यस्य च
 चित्तशुद्ध्या ऊहापोहकुशलतया बोद्धताशक्तिः, रागादीनां च समू-
 लोच्छेदयोग्यताप्राप्तिलक्षणपरिपाक इति सर्वसामग्रीमिलनमपी-
 श्वरेच्छालक्षणनियतिबशादेवेत्याह—केति । वाच्यनसागम्याया
 अखण्डब्रह्मात्मधितो वक्ता गुरुः क्व, शिष्यस्य च तद्बोधयोग्यता-
 लक्षणं वैदग्ध्यं कौशलं क्व, इयमेवं शमदमादिक्रमेण स्वविना-
 शाय परिणता मोहवल्लरी क्व । यद्यस्याः सकाशादियं सर्वा सामग्री
 द्वन्द्वं परस्परमिलनमागता सा नियतिरीश्वरेच्छा अचिन्तनीया
 प्रभावेयसापरिच्छेदेन चिन्तयितुमशक्येत्यर्थः ॥ ४१ ॥ अत
 एवेहसामग्रीप्राप्तौ मोहजयोत्साह एव युक्तो न त्यन्तराले

१ द्वन्द्वमागता इति पाठशेषे व्याख्यानुग्रहः स्यात्.

द्विषद्भूतेन येनैव कर्मणा बन्ध ईदृशः ।
 सुहृद्भूतेन तेनैव मोक्षमाप्स्यसि पुत्रक ॥ ४५
 सतां सत्कर्मसंवेगः पुराणं प्रणुदन्नयम् ।
 वर्षौघ इव भूतानां दवानलमसेचयत् ॥ ४६
 सखे संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयी भव ।
 नेष्यसे यदि संसारचक्रावर्तभ्रमः शमम् ॥ ४७
 तावदेतद्विकल्पोत्थमिदं यावद्बहिर्ग्रहः ।
 प्रतिकूलोऽन्धिरुल्लोले केवलं निश्चले जले ॥ ४८
 अयं किमन्धकरणस्त्वया शोकोऽबलमन्यते ।
 निर्वाहयतु सैव त्वां प्रहायष्टिरमङ्कुरा ॥ ४९
 न जातु ते विगण्यन्ते गणनासु गरीयसाम् ।
 ये तरङ्गैस्तृणानीव हियन्ते हर्षशोकयोः ॥ ५०
 समारूढं दशादोलामहोरात्रमिदं जगत् ।
 क्रीड्यते षड्भिः प्रेङ्गैः सखे किमिति खिद्यते ॥ ५१
 सूते संहरति क्षिप्रं पुनः सृजति हन्ति च ।
 जगन्ति बहुपर्यायैः काल एव कुतूहली ॥ ५२

शोक इत्याह—हे भरद्वाजेति । असामान्यमसाधारणम् ॥४२॥
 किंच महत्यपि कार्ये शोकः सामग्रीहीनस्य युक्तो न तु महाराज-
 स्येव सर्वसामग्रीसंपन्नस्य तवेत्याशयेनाह—दूरमिति । महासत्त्वो
 राजा युद्धादिमहापदि निममोऽपि चनभृत्यादिसामग्रीसंपन्नत्वाद्-
 न्येषां मनोरथदूरमपि पृथ्वीपरिपालनदुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालना-
 दिकार्यमाज्ञामात्रेण कर्तुमुत्सहते । परिक्षते धनादिक्षतिरूपाया-
 मापदि तदुत्तरणे हेतुर्धेयादिसामग्रीविरहादित्यर्थः ॥ ४३ ॥
 जीवन्मुक्तादिदर्शनीकृत्य पुण्यसामग्र्यां सत्यां मम बोधो भवि-
 ष्यत्येवेत्यनुमाय सोत्साहः पुण्यसामग्र्यर्जने प्रथमं प्रवर्ततेत्याश-
 येनाह—बोध इति ॥४४॥ ननु पापवत्पुण्यस्यापि बन्धकत्वा-
 द्विषद्भूतं पुण्यं कथमर्जनीयं तत्राह—द्विषद्भूतेनेति । सति
 रागे पुण्यं बन्धकं भवेत्तदभावे तु सुहृद्भूतं मोक्षोपयुक्तमेवेति
 भावः ॥ ४५ ॥ पुण्यातिशयेन प्राक्तनपापनाशे शमदमाद्य-
 मृताप्यायितानां त्रिविधतापशान्तिर्भवतीत्याह—सतामिति ।
 असेचयदिति भूतकालो न विवक्षितः ॥ ४६ ॥ पुण्यार्जनोत्तरं
 वैराग्यदात्र्यं यत्कार्यं तदुपदिशति—सखे इति । ब्रह्मणः
 प्रणयी भवणाद्युपायैर्ब्रह्मण्यासक्तः ॥ ४७ ॥ यावद्बहिर्ग्रहोऽब्रह्म-
 प्रणयिता । उल्लोले जले पयसि अन्धिः प्रतिकूलः कूलोपसर्पां
 विक्षिप्तः । निश्चले तु पयसि केवलं पय एव यथेत्यर्थः ॥ ४८ ॥
 अन्धकरणो विवेकदृष्टिपिधायकः । एवं शोकान्धं त्वां याव-
 दिवेकदृष्टयुद्धाटनं तावत्प्रहायष्टिरेकैव निर्वाहयतु ॥ ४९ ॥
 हर्षशोकयोस्तरङ्गैः शुभोत्साहभङ्गैः ॥ ५० ॥ हर्षविषादादिद-
 शालक्षणां दोलम् । इदं जगत् जीवजातम् । षड्भिर्भेदात्षड्-
 तुभेदात्कामाद्यरिषद्भेदाद्वा षड्भिः प्रेङ्गैर्दोलायन्त्रैः क्रीड्यते
 कालेन । क्रीडतेरकर्मकादेतुमण्णिचि 'गतिबुद्धिः' इत्यादिना
 कर्तुः कर्मत्वे कर्मणि लः । न हि क्रीडाकौतुककल्पितेषु पदार्थ-
 संयोगविभोगेषु केदो युक्त इत्यर्थः ॥ ५१ ॥ कुतूहली क्रीडा-

न विशेषग्रहः कश्चिन्न च कश्चिन्न कश्चन ।
जन्तुष्वभ्यवहार्येषु प्राक्रम्य कालभोगिनः ॥ ५३
का कथा मर्त्यपिण्डानां निमेषान्तरवासिनाम् ।
अपि देवनिकाया ये तेऽपि दुष्कालगोचराः ॥ ५४
स्वयं नृत्सवं किं प्रीतो विपत्तौ विकलेन्द्रियः ।
क्षणं निश्चलमासीनः पश्य संसारनाटकम् ॥ ५५
अस्यानेकतरङ्गस्य जगतः क्षणभङ्गिनः ।
न विधीदति मनस्वी भरद्वाज मनागपि ॥ ५६
त्यज शोकममङ्गल्यं मङ्गलानि विचिन्तय ।
त्रिदानन्दघनं स्वच्छमात्मानं च विभावय ॥ ५७
देवद्विजगुरुश्रद्धाभरबन्धुरचेतसाम् ।
सदागमप्रमाणानां महेशानुग्रहो भवेत् ॥ ५८

भरद्वाज उवाच ।

ज्ञातं तव प्रसादेन सर्वमेतदशेषतः ।
न वैराग्यात्परो बन्धुर्न संसारात्परो रिपुः ॥ ५९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे बाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रक० पू० भरद्वाजानुशासनं नाम सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

इदानीं श्रोतुमिच्छामि वसिष्ठेनोपपादितम् ।
ज्ञानसारमशेषेण ग्रन्थेनोक्तं पदात्मना ॥ ६०
श्रीबाल्मीकिरुवाच ।
भरद्वाज शृणुष्वेदं महाज्ञानं विमुक्तिदम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण भवाञ्छौ न निमज्जति ॥ ६१
संहतिस्थितिसंभूतिमेदैर्योऽनेकधा स्थितः ।
एकोऽपि सन्नमस्तस्मै सच्चिदानन्दमूर्तये ॥ ६२
कृते प्रपञ्चबिलये यथा तत्त्वं प्रकाशते ।
तद्योपायं प्रवक्ष्यामि संक्षेपाच्छ्रुतिशासनात् ॥ ६३
पूर्वापरविचारार्हा कथं नष्टा तव स्मृतिः ।
तयैव ज्ञायते सर्वं करामलकवत्स्वयम् ॥ ६४
[स्वयं विचार्य स्वयमेव चेतसा
तत्प्राप्यते येन न शोचते पुनः ।
सत्सङ्गसच्छास्त्रविवेकतः पुन-
र्वैराग्ययुक्तेन विभाव्यमेतत् ॥]

अष्टाविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२८

श्रीबाल्मीकिरुवाच ।

शान्तो दान्तश्चोपरतो निषिद्धात्काम्यकर्मणः ।
विषयेन्द्रियसंश्लेषसुखाच्च श्रद्धयान्वितः ॥ १

कौतुकी ॥ ५२ ॥ स्वशरीरादेः सर्वप्राणिशरीरादिवत्कालाशनत्वाद्य-
द्यदीयमजं तेन तदवश्यं भोक्तव्यमेवेति निश्चित्य तत्राहंताद्यभि-
मानत्यागेन शोकप्रसक्तिरित्याशयेनाह—न विशेषेति ।
ग्रहो दर्शनम् । न कश्चित्तद्विषयो विशेषधर्मः न कश्चन धर्मा
न न प्रसिद्ध इत्यर्थः । काललक्षणस्य भोगिनः सर्पस्य
प्राक्रम्य बलादाक्रम्याऽभ्यवहारो भक्षणं तत्कर्मभूतेषु जन्तुषु
मध्ये ॥ ५३ ॥ दुष्टस्य कालस्य गोचराः । अन्नभूता इति
यावत् ॥ ५४ ॥ अपि च साक्षिणस्तव संसारनर्तनकौतुकदर्-
शनमेव युक्तं न तु शोकमोहादिविकारैः स्वयं नर्तनमित्याह—
स्वयमिति । विपत्तौ धनचित्तादिनाशे विकलानि विवेकदर्शना-
समर्थानि रोदनादिविकृतानि च इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि यस्य
तथाविधः सन् ॥ ५५ ॥ क्षणभङ्गिनो दर्शनादिति शेषः ।
मनस्वी विवेकी ॥ ५६ ॥ अमङ्गल्यममङ्गलार्हम् ॥ ५७ ॥ कामि
मङ्गलानि तान्याह—देवेति । देवद्विजादिश्रद्धाप्रभृतय ईश्व-
रानुग्रहसाधनत्वान्मङ्गलानि । ईश्वरानुग्रहस्तु साक्षाज्ज्ञानसाध-
नत्वात्परममङ्गलमिति भावः । तथा चोक्तम्—‘ईश्वरानुग्रहादेव
पुंसामद्वैतवासना । महाभयपरित्राणाग्निप्राणामेष जायते ॥’
इति ॥ ५८ ॥ इदानीं भरद्वाजः सर्वसाधनरहस्यं भया पिण्डी-
कृत्य ज्ञातम्, दृश्यप्रपञ्चप्रविलापनोपायरहस्यमीश्वरानुग्रहसाध-
नरहस्यं च वसिष्ठस्य विस्तारोक्तिषु विशकलितं तत्र तत्रोक्तं
पिण्डीकृत्य न ज्ञातमिति कण्ठोक्तयार्थाच्च दर्शयंस्त्रिंशद्वाष्टुः

मृदासने समासीनो जितचित्तेन्द्रियक्रियः ।

ओमित्युच्चारयेत्सावन्मनो यावत्प्रसीदति ॥ २

पृच्छति—ज्ञातमित्यादिना ॥ ५९ ॥ अनेकवाक्यात्मना अशे-
षेण ग्रन्थेनोक्तं रहस्यमेकपदात्मना पिण्डीकृतं निष्कृष्टं श्रोतु-
मिच्छामीत्यर्थः । ‘यदात्मना’ इति पाठे यसात्पर्यकेणेति ग्रन्थ-
विशेषणम् ॥ ६० ॥ ६१ ॥ प्रविलापनोपायमपवादं वक्तुम-
भ्यारोपेणैकमेवानेकधा स्थितं देवं मङ्गलार्थं नमस्यति—संह-
तीति ॥ ६२ ॥ प्रश्नाभिप्रायानुरूपमुत्तरं वक्तुं प्रतिजानीते—
कृते इति । श्रुतिशासनात् माण्डूक्योपनिषदादिश्रुत्युक्तक्रमात्
॥ ६३ ॥ विशकलितोक्तं सूक्ष्ममतिभिः स्वयमेव पूर्वापरवि-
चारेण निष्कृष्य ज्ञातुं शक्यं ततो सौबुद्ध्यं प्राक् प्रख्यातमिदानीं
कथं नष्टमिति वक्ष्यमाणग्रहणावधानार्थमधिक्षिपति—पूर्वाप-
रेति ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भरद्वाजानुशासनं नाम सप्तविंशत्यधिक-
शततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

प्रविलापनयुक्त्यात्र भरद्वाजकृतार्थता ।

वर्णयन्ते ज्ञानिकर्तव्यरामभ्युत्थापनक्रमाः ॥ १ ॥

तत्र साङ्गं साक्षात्कारान्तं प्रपञ्चप्रविलापनप्रकारं ‘शान्तो दान्त
उपरतस्तिष्ठुः श्रद्धावितः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति’
इति श्रुतितात्पर्यवर्णनमुखेनैव वक्तुमारभते—शान्त इत्या-
दिना । तत्रोपरतपदं विषयविभागेन व्याचष्टे—निषिद्धादिति
॥ १ ॥ तत्र समाहितपदार्थतया आसनाद्यष्टाङ्गयोगं वर्णयन्

१ कान्तित्कामिदं पश्यन्.

प्राणायामं ततः कुर्यादन्तःकरणशुद्धये ।
 इन्द्रियाण्याहरेत्पश्चाद्विषयेभ्यः शनैःशनैः ॥ ३
 देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च संभवः ।
 यस्माद्भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत् ॥ ४
 विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्रात्मनि ततः परम् ।
 अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे ॥ ५
 मांसादिपार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत् ।
 आप्यं रक्तादिकं चाप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत् ॥ ६
 वायव्यं च महावायौ नभसं नभसि क्षिपेत् ।
 पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु ॥ ७
 श्रोत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुर्भोगप्रसिद्धये ।
 दिक्षु न्यस्यात्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत् ॥ ८
 चक्षुरादित्यभिन्ने च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत् ।
 प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत् ॥ ९
 विष्णौ तथात्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च ।
 उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत् ॥ १०
 बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेदेताः करणदेवताः ।

तितिक्षुपदमर्थाद्याचष्टे—मृद्वासने इत्यादिना । उच्चारयेद्दीर्घं
 अपेत् । भुञ्जुषोपाख्यानोक्तरीत्या हुततमं वा ॥२॥३॥ यस्माद्य-
 स्माद्यस्य यस्य संभवो जन्म भवति तत्तज्ज्ञात्वा श्रुत्यादिना
 स्मृत्वा तेषु तेषु भूतेषु देवेषु च विलापयेत् । वाचारम्भणश्रु-
 त्युक्तरीत्या तत्तत्प्रतिरेकेण नास्तीति स्मरेदित्यर्थः ॥ ४ ॥ एव-
 माध्यात्मिकदेहेन्द्रियादिभावं त्यक्त्वा तत्कारणभूतदेवतासम-
 ध्यात्मा अकारार्थो विराडेवाहमस्मीति भावनया प्रथमं विराजि
 स्थित्वा ततः परं तत्कारणे उकारार्थं सूक्ष्मभूतलिङ्गसमध्यात्मनि
 हिरण्यगर्भे विराजं प्रविलाप्य स्थित्वा ततस्तत्कारणे त्रिगुणे
 मायोपहिते मकारार्थे अव्याकृते स्थितः संस्ततः पश्चात्सर्वजग-
 न्मूलकारणत्वोपलक्षिते साव्याकृतसर्वाधिष्ठाने अर्धमात्रालक्षिते
 शुद्धे ब्रह्मणि अव्याकृतमपि विलाप्य स्थितो भवेदित्यर्थः ॥ ५ ॥
 देहेन्द्रियादिषु यस्य यस्मात्संभवस्तत्र तत्प्रविलापनं यदुक्तं तद्वि-
 शिष्य पुनर्विद्युतीति—मांसादीत्यादिना । क्षिपेत् तन्मात्रताचि-
 न्तनेन प्रविलापयेत् ॥ ६ ॥ नाभसं शारीराकाशम् ।
 एवं घ्राणाधीन्द्रियाण्यप्यात्मयोनिषु स्वारम्भकेषु देवतो-
 पाधिभूतसूक्ष्मपृथिव्यादिषु निक्षिप्य विलाप्य ॥ ७ ॥
 'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इत्यादिश्रुतेः कर्तुर्जीवस्य
 शब्दादिभोगप्रसिद्धये कर्णादिगोलकानुप्रवेशेन श्रोत्रादिलक्षणे-
 नेन्द्रियभावेनोपेतां दिगादिदेवतां यथाक्रमं देवतास्त्रैव निक्षि-
 पेदिति शेषः । तमेव क्रमं दर्शयति—दिक्ष्वित्यादिना ॥ ८ ॥
 अप्सु वरुणदेवतायाम् ॥ ९ ॥ १० ॥ ब्रह्मणि चतुर्मुखे ।
 बुद्धिग्रहणमुपलक्षणम् । एवं मनोहंकारचित्तान्यपि चन्द्रब्रह्म-
 ष्युतेषु प्रविलापयेदित्युपसंहरति—एता इति । 'अग्निर्वा-
 ग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादिश्रुतिवाक्यप्रमाणमनुस्मृत्य देवता
 एवेन्द्रियव्यपदेशेन स्थिता न त्विन्द्रियाणि नाम वस्तुन्तराणि
 यो० बा० १३४

इन्द्रियव्यपदेशेन व्यादिश्यन्ते च देवताः ॥ ११
 श्रुतिवाक्यमनुस्मृत्य न स्वतः प्रकटीकृताः ।
 एवं न्यस्यात्मनो देहं विराडस्तीति चिन्तयेत् ॥ १२
 ब्रह्माण्डान्तः स्थितो योऽसावर्धनारीश्वरः प्रभुः ।
 आधारः सर्वभूतानां कारणं तदुदाहृतम् ॥ १३
 स यज्ञसृष्टिरूपोऽसौ जगद्गत्सौ व्यवस्थितः ।
 द्विगुणाण्डाद्बहिः पृथ्वी पृथिव्या द्विगुणं जलम् ॥१४
 सलिलाद्विगुणं तेजस्तेजसो द्विगुणोऽनिलः ।
 वायोद्विगुणमाकाशमूर्ध्वमेकैकशः क्रमात् ॥ १५
 व्यस्तेन च समस्तेन व्यापिना प्रथितं जगत् ।
 क्षितिं चाप्सु समावेश्य सलिलं चानले क्षिपेत् ॥१६
 अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।
 नभश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ॥ १७
 स्थित्वा तस्मिन्क्षणं योगी लिङ्गमात्रशरीरचक्र ।
 वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्माविद्ये तथैव च ॥ १८
 दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।
 ततोऽर्धोण्डाद्बहिर्यातस्तत्रात्मास्तीति चिन्तयेत् ॥१९

सन्तीति तत्त्वोपदेशेन प्रविलापनाय मया व्यादिश्यन्ते न
 स्वतः स्वकपोलकल्पनया एतेऽर्थाः प्रकटीकृता इत्युत्तरेणान्वयः
 ॥ ११ ॥ एवं देहेन्द्रियादिप्रविलापनसंग्रहश्लोकं विदुष्य
 विराजि प्रथमं स्थित्वेतद्विशदयति—एवमिति ॥ १२ ॥
 अव्याकृते स्थितः पश्चादित्येतद्विवरणप्रसङ्गेन मायाशब्दस्य
 सर्वजगदभिन्ननिमित्तोपादानस्य ब्रह्मणो ब्रह्मविद्यार्थिभिः प्राणु-
 पास्यत्वेनोक्तां ब्रह्माण्डात्मनो विराजो इत्यप्ये सदा स्थितां ब्रह्म-
 विद्याषट्तितार्थशरीरां मूर्तिं दर्शयन्स एव सर्वप्राणिनां मातापि-
 तृरूपेण कारणमित्याह—ब्रह्माण्डान्तरिति ॥१३॥ सोऽसौ पि-
 तृत्वादेव स्वसृष्टस्य देवमनुष्यादिजगतो वृत्तावभपानादिजीवनो-
 पाये व्यवस्थितः सन् हृदिवृद्ध्यादिना सर्वपोषकभ्रौतस्मार्तयज्ञस-
 ष्टिरूपो ब्रह्माण्डान्तः स्थितः । प्रासन्निकमुक्त्वा प्रस्तुतं प्रविला-
 पनं वक्तुं ब्रह्माण्डावरणान्याह—द्विगुणेति । यद्यपि 'एभिरव-
 रणेण्डं व्यातं दशगुणोत्तरैः' इति पुराणेषु दशगुणोत्तरत्वं
 श्रूयते, तथापि द्विगुणमेव परितो वेष्टने पञ्चकोशप्रदक्षिणे पञ्च-
 विंशतिकोशवदेकगुणस्य पञ्चगुणत्वे द्विगुणस्य दशगुणत्वमित्य-
 भिप्रायेण तद्वोच्यम् । अथवा तदपञ्चीकृतभूतावरणाभिप्रायमिदं
 तु पञ्चीकृताभिप्रायमित्यविरोधः ॥ १४ ॥ एकैकश एकैकस्मा-
 दूर्ध्वमुत्तरोत्तरम् ॥ १५ ॥ व्यस्तेन अपञ्चीकृतेन । समस्तेन
 पञ्चीकृतेन । अत एवान्तरमान्तरं बाधे प्रविलापयेदित्याह—
 क्षितिमिति ॥ १६ ॥ समावेश्य प्रविलाप्य । समस्तस्थूलप्रप-
 ष्ठोत्पत्तिकारणे महदाकाशे हिरण्यगर्भाकाशे ॥ १७ ॥ किं
 तल्लिङ्गशरीरं तदाह—वासना इति ॥ १८ ॥ लिङ्गं लिङ्गशरी-
 रम् । एवं स्थूलोपाधिप्रविलापनेनार्थ इव संपन्नो ब्रह्माण्डात्म-
 ताभिमानत्यागात्ततो बहिर्भूतः संस्तत्र सूक्ष्मभूतात्मकलिङ्गसम-
 ष्टिदेहे अहमात्माधिष्ठाता हिरण्यगर्भ एवास्तीति चिन्तयेदि-

चतुर्मुखोऽप्रके चायं भूतसूक्ष्मव्यवस्थितः ।
 लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याव्यक्ते च बुद्धिमान् ॥ २०
 नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्संतिष्ठते जगत् ।
 तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायाभेदे परे त्वणून् ॥ २१
 अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।
 तत्र सर्वे लयं गत्वा तिष्ठन्त्यव्यक्तरूपिणः ॥ २२
 निःसंबन्धा निराखावाः संभवन्ति ततः पुनः ।
 तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ॥ २३
 आनुलोम्यात्सृता सृष्टिः प्रातिलोम्येन संहृतिः ।
 अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् ॥ २४
 ध्यायेत्तत्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेषत् ।
 भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासानाकर्मवायवः ॥ २५
 अज्ञानं च प्रतिष्ठाः स्युर्लिङ्गमव्याकृते सति ।

त्यर्थः ॥ १९ ॥ ननु चतुर्मुखः पद्मसंभवो देहो लोके हिरण्य-
 गर्भ इति प्रतिष्ठः । अयं तु भूतसूक्ष्मसमष्ट्यात्मा न चतुर्मुख
 इति कथं हिरण्यगर्भस्तत्राह—चतुर्मुख इति । भूतसूक्ष्मे
 अभिमानितया व्यवस्थितोऽयमेव अप्रके ब्रह्माण्डप्रविलापना-
 त्पूर्वं ब्रह्माण्डैश्वर्यभोगार्थं पद्मोद्भवं देहं कल्पयित्वा चतुर्मुख
 आसीदित्यर्थः । ईदृशहिरण्यगर्भात्मभावानानन्तरं यत्कर्तव्यं
 तदाह—लिङ्गमिति । अपधीकृतभूतेभ्योऽपि सूक्ष्मे उपाध्या-
 कारेणाव्याकृते मायांशे उपहितचिदाकारेणाव्यक्ते च । जडा-
 शस्य जडे चिदाभासांशस्य चिति प्रविलापनमिति सूचनाय
 द्विधाकृतोक्तिः ॥ २० ॥ अथवा व्याकरणफलमभिव्यक्तिरिति
 क्रियाफलरूपप्रवृत्तिनिमित्तभेदकल्पनया एकत्रैव व्यपदेशभेद
 इत्याशयेनाह—नामेति । प्रकृतिं सांख्याः । मायां वेदान्तिनः
 ॥ २१ ॥ अपरे बौद्धाः संवृतिरूपमविद्याम् । तत्र तस्मिन्नव्या-
 कृते प्रलयकाले सर्वे पदार्था लयं षष्ठभावविकारं गत्वा अन-
 भिव्यक्तरूपिणः संतस्तत्सत्सयैव तिष्ठन्ति ॥ २२ ॥ कथं तिष्ठन्ति
 तदाह—निःसंबन्धा इति । परस्परसंसर्गशून्याश्चिद्भोग्य-
 तालक्षणास्वादशून्याश्चेत्यर्थः । कुतः । प्रलयानन्तरं सर्गकाले
 ततः अव्याकृतादेव प्रकृतिभूताश्च ॥ २३ ॥ आनुलोम्यादाका-
 शादिक्रमात् । प्रातिलोम्येन सृष्टिविपरीतक्रमेण 'पश्चात्स्थितः
 परमकारणे' इत्येतद्विद्वणोति—अत इति । स्थानत्रयं विराड्-
 रण्यगर्भाद्याकृताख्यं स्थूलसूक्ष्मकारणरूपं समष्टिजाप्रदाद्यवस्था-
 त्रयं 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न
 प्रज्ञानघनम्' इतिश्रुत्युपदर्शितदिशा त्यक्त्वा तदधिष्ठानं परिधि-
 ष्टिचिन्मात्रैकरसं 'अदृश्यमव्यवहार्यमप्राक्ष्यमलक्षणमचिन्त्यमव्य-
 पदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं
 मन्यन्ते' इति श्रुत्युपदर्शितं तस्य प्राप्तये साक्षात्प्राप्त्याधि ध्या-
 येत् ॥ २४ ॥ ध्यानेदया चरमसाक्षात्कारवृत्त्या ध्यानकर्तृकर-
 णरूपं लिङ्गमपि मूलाज्ञानबाधेन प्रविलाप्य घटभज्ञे घटाकाशौ

भरद्वाज उवाच ।

इदानीं लिङ्गनिगडान्मुक्तोऽहं सर्वथा यतः ॥ २६
 चिदंशत्वात्प्रविष्टोऽहं वैतन्यानन्दसागरे ।
 अमेदात्परमात्मास्मि सर्वोपाधिविवर्जितः ॥ २७
 कूटस्थः केवलो व्यापी चिदचिच्छक्तिमानहम् ।
 घटाभावे घटाकाशकलशाकाशयोर्यथा ॥ २८
 तमाहुः श्रुतयो बह्व्य एवमेवैक्यमादरात् ।
 यथान्निरप्नौ संक्षिप्तः समानत्वमनुमज्जेत् ॥ २९
 तदाख्यस्तन्मयो भूत्वा गृह्यते न विशेषतः ।
 यथा तृणादिकं क्षिप्तं रुमायां लवणं भवेत् ॥ ३०
 अचेतनं जगद्व्यस्तं चैतन्ये चेतनी भवेत् ।
 यथा वै लवणप्रन्थिः समुद्रे सैन्धवो यथा ॥ ३१
 नामरूपाद्विनिर्मुक्तः प्रविश्यैति समुद्रताम् ।
 यथा जले जलं न्यस्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ॥ ३२

महाकाशमिव परं निरतिशयानन्दं ब्रह्म विशेषैवाख्य लिङ्गनि-
 गडमुत्तया कृतार्थतेत्यर्थः । ननु 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादिश्रुतौ
 लिङ्गबाधो न दृश्यते, तत्कथं तन्निवृत्तिरिति चेत् स्थानत्रयबाधे
 लिङ्गबाधोऽर्थसिद्धः । स्थूलसूक्ष्मभूतेन्द्रियादिवैव लिङ्गस्य प्रति-
 ष्ठितत्वादिति दर्शयति—भूतेन्द्रियेति ॥ २५ ॥ नन्वज्ञानं कथं
 प्रतिष्ठा तत्राह—लिङ्गमिति । शुद्धे ब्रह्मण्यज्ञानावरणे नाव्या-
 कृते हि सति सूक्ष्मभूतद्वारा लिङ्गमुत्पद्यते नाज्ञानं विनेति
 तदेव लिङ्गस्य मूलप्रतिष्ठेति तन्निवृत्तौ लिङ्गनिगडभ्रसिद्धिरिति
 भावः । एवं बाल्मीकिना प्रणवार्थप्रपञ्चनोपायेन प्रतिबोधितः
 प्रबुद्धो भरद्वाजः स्वानुभवं गुर्वनुभवसंवादेन परीक्षणाय प्रकट-
 यञ्जुवाच—इदानीमित्यादिना ॥ २६ ॥ २७ ॥ चिदहं न तु
 चिच्छक्तिमान् । कीदृशादमेदात्परमात्मास्मि तत्राह—घटा-
 भावे इति । घटभज्ञे सतीत्यर्थः । यथा एकस्यैव घटस्य घट-
 कलशानामभेदकल्पना तदुपहिते आकाशे च घटाकाशः कल-
 शाकाश इति व्यपदेशभेदकल्पना तद्वदेकस्यैवाज्ञानस्य जगत्प्राप्त-
 भेदकल्पना तदुपहिते च मयि जीव ईश्वरो देवो नरः कुञ्जर
 इत्यादिव्यपदेशभेदकल्पना चासीत् । तत्रैकेन घटभज्ञेन यथा
 उभयनिवृत्त्या शूद्राकाशलक्षणैक्यं तद्वदेकस्याज्ञानस्य निवृत्त्या
 सर्वनामादिभेदनिवृत्त्या चिदैक्यसाम्राज्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥
 एवमेक्यमभिप्रेत्य तं ब्रह्मभूतं मां 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्य-
 च्छणोति नान्यद्विजानाति स भूमा यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू-
 तत्केन कं पश्येत्' । 'एकात्मप्रत्ययसारं शिवं शान्तमद्वैतं च-
 तुर्थं मन्यन्ते', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादयो बह्व्यः श्रुतय
 आहुरित्यर्थः । एवं 'यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
 अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मा परमात्मनि' इत्यादिश्रुतिभिरिदृश-
 भेदैक्यं दर्शितमित्याशयेनोदाहरति—यथेति । समानत्वमैक्यम्
 ॥ २९ ॥ एवमचेतनप्रपञ्चस्यापि चिति विलापनेन तज्ज्ञावापत्तौ
 दृष्टान्तमाह—यथेति ॥ ३० ॥ न्यस्तं प्रविलापितम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अविनष्टा भवन्त्येते गृह्यन्ते न विशेषतः ।
 तथाहं सर्वभावेन प्रविष्टश्चेतने सति ॥ ३३
 नित्यानन्दे समस्तज्ञे परे परमकारणे ।
 नित्यं सर्वगतं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ॥ ३४
 निष्कलं निष्क्रियं शुद्धं तद्ब्रह्मास्मि परं परम् ।
 हेयोपादेयनिर्मुक्तं सत्यरूपं निरिन्द्रियम् ॥ ३५
 केवलं सत्यसंकल्पं शुद्धं ब्रह्मास्म्यहं परम् ।
 पुण्यपापविनिर्मुक्तं कारणं जगतः परम् ॥ ३६
 अद्वितीयं परं ज्योतिर्ब्रह्मास्म्यानन्दमव्ययम् ।
 एवमादिगुणैर्युक्तं सत्त्वादिगुणवर्जितम् ॥ ३७
 प्रविष्टं सकलं ब्रह्म सदा ध्यायेत्स्वकर्मकृत् ।
 एवमभ्यसतः पुंसो मनोऽस्तं याति तत्र वै ॥ ३८
 मनस्यस्तं गते तस्य स्वयमात्मा प्रकाशते ।
 प्रकाशे सर्वदुःखानां हानिः स्यात्सुखमात्मनि ॥ ३९
 स्वयमेवात्मनात्मानमानन्दं प्रतिपद्यते ।

उपाधिनाशे उपहितजीवनाशश्चापि मे गतेत्याशयेनाह—
 अविनष्टा इति । चेतने चिदेकरसे सति ब्रह्मणि ॥ ३३ ॥
 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादिश्रुत्यापि
 स्वानुभवं संवादयति—नित्यमित्यादिना ॥ ३४ ॥ ३५ ॥
 सत्यसंकल्पं संकल्पमात्रेणासतोऽपि जगतः सत्तासंपादन-
 समर्थसद्रूपम् ॥ ३६ ॥ सत्त्वादिभिर्मायागुणैर्वर्जितम् ॥ ३७ ॥
 अभ्यासकालेऽपि त्वया अस्मैव ध्यानं मद्यमुपदिष्टमित्या-
 शयेनाह—प्रविष्टमित्यादिना । स्वकर्मकृच्छ्रवणगुरुशुभ्रवादिपरः
 स्ववर्णाश्रमधर्मनिष्ठश्च ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ कथं प्रतिपद्यते
 तत्राह—न मत्त इति ॥ ४० ॥ प्रतिपत्तिशब्दार्थमाह—इत्या-
 त्मेति । एवं भरद्वाजोक्तमनुभवं निशम्य संतुष्टो बाल्मीकिस्तदु-
 क्तानुभवस्थैर्याय 'त्यजतेव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्'
 इत्यादिश्रुतिसिद्धं संन्यासमवश्यकर्तव्यतयोपदिष्टाति—सखे इति
 ॥ ४१ ॥ संसारचक्रावर्तेषु भ्रमतीति भ्रमः त्वं यदि शमं विश्रा-
 न्तिमुखं गार्हस्थ्ये नेष्यसे न प्राप्नोषि तर्हि कर्माणि संन्यस्य
 ब्रह्मणः प्रणयी ब्रह्मण्येव निर्विक्लेपमासक्तो भव । 'ब्रह्मसंस्थोऽ-
 मृतत्वमेति' इति श्रुतेरनन्यव्यापारतया ब्रह्मण्यासकस्य संन्या-
 सिन एव सषीजभ्रान्तिशान्तिसंभवादित्यर्थः । सर्वं समग्रं सा-
 ग्रमिति यावत् ॥ ४२ ॥ न विलम्बनेन चिरं स्थास्यति । 'तस्य
 तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' इति श्रुतेरिति
 भावः । ज्ञानिनो जीवन्मुक्तस्य कर्म कर्तव्यं न वेति प्रथमः
 प्रश्नः । यदा कर्तव्यं तदा प्रवृत्तिरूपं नित्यनैमित्तिककाम्यकर्म
 सर्वमेव यथापूर्वं कर्तव्यम्, अथवा कामनाभ्यो निवृत्तं स्वस्वाभ-
 मोचितकर्ममात्रं कर्तव्यमिति द्वितीयः प्रश्नः पाठकमादार्यकमस्य
 बलीयस्त्वाद्बोध्यः । ननु 'सखे संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयी
 भव' इति सर्वकर्मसंन्यासं श्रुतवतो भरद्वाजस्य द्वावपि प्रश्नाव-
 नुपपन्नौ । सत्यम् । तथापि 'यावज्जीवमभिहोत्रं जुहोति', 'कुर्व-
 षेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इत्यादिश्रुतिभिर्यावज्जीवं

न मत्तोऽस्यपरः कश्चिच्चिदानन्दमयः प्रभुः ॥ ४०
 अहमेकः परं ब्रह्म इत्यात्मान्तः प्रकाशते ।
 श्रीबाल्मीकिरुवाच ।
 सखे संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयी भव ॥ ४१
 नेष्यसे यदि संसारचक्रावर्तभ्रमः शमम् ।
 भरद्वाज उवाच ।
 त्वयोक्तं सर्वमेवेदं ज्ञानं बुद्धं मया गुरो ॥ ४२
 बुद्धिश्च निर्मला जाता संसारो न विलम्बते ।
 इदानीं ज्ञानमिच्छामि ज्ञानिनः कर्म कीदृशम् ॥ ४३
 प्रवृत्तं वा निवृत्तं वा कर्तव्यं च न वा प्रभो ।
 श्रीबाल्मीकिरुवाच ।
 तस्माद्यत्र कृते दोषस्तत्कर्तव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४४
 काम्यं कर्म निषिद्धं च न कर्तव्यं विशेषतः ।
 यदा ब्रह्मगुणैर्जीवो युक्तस्त्यक्त्वा मनोगुणान् ॥ ४५
 संशान्तकरणभ्रामस्तदा स्यात्सर्वगः प्रभुः ।

कर्तव्यतया निबद्धानां 'वीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि-
 वाक्यैर्दीक्षाकाले त्यक्तानामपि दीक्षापगमे पुनः परिग्रहवत् ।
 'त्यजतेव हि तज्ज्ञेयं' 'एतमेव प्रमाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रम-
 जन्ति' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मजिज्ञासानिमित्तेन त्यक्तानां ज्ञान-
 सिद्ध्या निमित्तापगमे पुनः परिग्रहो न्यायसिद्धः । न च विद्वत्सं-
 न्यासविधानात्पुनरपरिग्रहः । तस्य जन्मान्तरानुष्ठितविविदिषा-
 संन्यासवशाद्गृहस्थाद्याश्रमेष्वेव तत्त्वज्ञानोदयेन कृतार्थानुप-
 विशेष्वाप्रति अप्राप्तसंन्यासान्तरविधानपरस्य प्राप्तविविदिषा-
 संन्यासपरिपालनविधानाशक्तेरित्याशयेन प्रश्नानुपपन्नौ बोध्यौ
 ॥ ४३ ॥ एवं पृष्टे बाल्मीकिस्त्वया प्रथमं काम्यनिषिद्धकर्मणां
 ज्ञानविरोधिविक्षेपादिदोषहेतुभूतकर्मणां च त्यागेन ज्ञानित्वं शा-
 न्नाभ्यासेन संपादनीयम् । तदुत्तरं 'तस्य कर्म कीदृशम्' इति
 त्वत्प्रश्नोत्तरं त्वं स्वयमेव ज्ञास्यसि । तत्तद्भूमिकापरिपाकक्रमेण
 तत्तत्कर्मोपरमस्य तदा तदैव त्वयानुभवितुं शक्यत्वाज्ज्ञानिनां च
 प्रारब्धवैचित्र्येणैकरूपस्थित्यदर्शनेन तत्कर्मणां प्रवृत्तमेव निवृ-
 त्तमेव वेति नियन्तुमशक्यत्वादित्याशयेनोत्तरमाह—तस्मा-
 दिति । तस्मात्सर्वकर्मसंन्याससहितब्रह्मप्रणयित्वमेव संसारभ्रम-
 निवर्तकज्ञानोपाय इति मदुपदिष्टार्थस्य बुद्धत्वात्पादशैर्मुमुक्षुभि-
 र्यथास्मिन्कर्मणि कृते सति भ्रवणादिविघ्नदोषक्षितविक्षेपमालि-
 न्यपातकादिदोषश्च न भवति तदेव कर्तव्यम् । काम्यं निषिद्धं
 चकाराद्बुद्धविक्षेपसाधनं च कर्म न कर्तव्यमित्यर्थः । विविदिषा-
 संन्यासपरिपालनं तु विधिना त्यक्तस्य पुनर्विधिं विना परिग्रहा-
 संभवात् 'आरूढो नैष्टिकं धर्मं जस्यु प्रच्यवते पुनः । प्राय-
 क्षितं न पश्यामि येन शुज्येतस आत्महा ॥' इत्यादिपरावृत्तौ दोष-
 भ्रवणात्पुनः परिग्रहे प्रयोजनाभावाच्छिष्टविनाहितत्वाच्च सेत्स्य-
 तीति भावः ॥ ४४ ॥ ज्ञानित्वं त्वस्य सर्वमनोगुणत्यागेन पूर्णा-
 नन्दाद्वयविद्यादासन्नचिदेकरसत्त्वादिब्रह्मगुणप्राप्तावेव स्थानान्यथे-
 त्याह—यद्येत्यादिना ॥ ४५ ॥ वेदादिकोशचतुष्टयात्पर आनन्द-

देहेन्द्रियमनोबुद्धेः परस्वप्नाच्च यः परः ॥ ४६
 सोऽहमस्मि यदा ध्यायेत्तदा जीवो विमुच्यते ।
 कर्तृभोक्तादिनिर्मुक्तः सर्वोपाधिबिबर्जितः ॥ ४७
 सुखदुःखविनिर्मुक्तस्तदानीं विप्रमुच्यते ।
 सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥ ४८
 यदा पश्यत्यभेदेन तदा जीवो विमुच्यते ।
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं हित्वा स्थानत्रयं यदा ॥ ४९
 विशेषसुरीयमानस्यं तदा जीवो विमुच्यते ।
 जीवस्य च सुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि ॥ ५०
 भवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता वित्सुक्तात्मिका ।
 योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत् ॥ ५१
 मनस्यस्तं गते पुंसां तद्वन्यन्नोपलभ्यते ।
 प्रशान्तामृतकल्लोके केवलामृतवारिधौ ॥ ५२
 मच्च मज्जसि किं द्वैतप्रहृष्टाराब्धिबीचिषु ।
 भ्रंज संभरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ॥ ५३
 इति ते वर्णितं सर्वं वसिष्ठस्योपदेशनम् ।
 अनेन ज्ञानमार्गेण योगमार्गेण पुत्रक ॥ ५४
 भरद्वाज महाप्राज्ञ सर्वं ज्ञास्यसि निश्चितम् ।
 परामर्शेन शास्त्रस्य गुरुवाक्यार्थबोधनात् ॥ ५५
 अभ्यासात्सर्वसिद्धिः स्यादिति वेदानुशासनम् ।
 तस्मात्त्वं सर्वमुत्सृज्य कुर्वभ्यासे स्थिरं मनः ॥ ५६
 भरद्वाज उवाच ।
 रामः प्राप्तः परं योगं स्वात्मनात्मनि हे मुने ।

मयकोशात्मा तस्मात्परस्तदधिष्ठानं ब्रह्म ॥ ४६ ॥ आदिपदात् कर्ता
 कार्यं करणं, भोक्ता भोग्यं भोगः, ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति तिस्रोऽपि
 त्रिपुण्यः परिगृह्यन्ते । तत्प्रयोजकैः सर्वैर्देहाद्युपाधिभिस्तत्फ-
 लान्यां सुखदुःखाभ्यां च विनिर्मुक्तो यदा भविष्यसि तदानीम्
 ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्योर्बाजं
 सवासनाकर्माज्ञानम् । निद्रा तदवस्थाविशेषः । सेयं तुर्याख्या
 जीवस्य स्थितिर्योगस्य निदिध्यासनपरिपाकजन्यनिर्विकल्पसमाधे-
 र्वाशब्दान्मुख्याधिकारिणो विचारमात्रजन्यसाक्षात्कारज्ञानस्य
 वा निष्ठा परिसमाप्तिः ॥ ५१ ॥ तस्मिन्विश्रान्तस्य तब द्वैतदर्शन-
 प्रसक्तिरेव नास्ति, दूरे कर्मक्षाराब्धिबीचिमज्जनप्रसक्तिरित्याश-
 येनाह—प्रशान्तेति ॥ ५२ ॥ प्रागुक्तमीश्वरमुपास्य तत्प्रसा-
 देन ते वसिष्ठोक्तज्ञानमार्गेण योगमार्गेण वा तत्त्वज्ञाने सत्येक-
 विज्ञानेन सर्वविज्ञानात्सर्वसंशयमूलाज्ञाननाशाच्च सर्वसंशयोच्छे-
 देन विश्रान्तिर्भविष्यतीत्युपसंहरति—भजेत्यादिना ॥ ५३ ॥
 ॥ ५४ ॥ तत्र शास्त्राचार्योपदेशस्त्रानुभवानामेकार्थनिष्ठतानिष्ठा-
 याभ्यां चिन्तनावृत्तिलक्षणः परामर्शः शब्दबोधणावृत्तिलक्ष-
 णोऽभ्यासश्चावश्यं कार्य इत्याह—परामर्शेनेति ॥ ५५ ॥ ५६ ॥
 योगमुपाधित्यागेनैक्यम् । स्वात्मना शोधितप्रतीचा । आत्मनि
 ब्रह्मणि ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ महामना अपरिच्छिन्नब्रह्माकारचित्तो

कथं वसिष्ठदेवेन व्यवहारपरः कृतः ॥ ५७
 इति ज्ञात्वाहमप्येवमभ्यासार्थं यते यथा ।
 तथैव व्यवहारोऽपि व्युत्थाने मे भविष्यति ॥ ५८
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 यदा परिणतः साधुः स्वस्वरूपे महामनाः ।
 विश्वामित्रस्तदोवाच वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ५९
 विश्वामित्र उवाच ।
 हे वसिष्ठ महाभाग ब्रह्मपुत्र महानसि ।
 गुरुत्वं शक्तिपातेन तत्क्षणादेव दर्शितम् ॥ ६०
 दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके ।
 जनयेद्यः समावेशं शांभवं स हि देशिकः ॥ ६१
 रामोऽप्ययं विशुद्धात्मा विरक्तः स्वात्मनैव हि ।
 विश्रान्तिमात्राकाङ्क्षी च संवादात्प्राप्तवान्पदम् ॥ ६२
 शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः ।
 मलत्रयमपहं चेतकथं बुद्ध्यति पक्ववत् ॥ ६३
 ज्ञानं प्रत्यक्षमेवेदं गुरुशिष्यप्रयोजनम् ।
 उभावपि धृतो योग्यौ सर्वेषामीदृशामपि ॥ ६४
 इदानीं कृपया रामव्युत्थानं कर्तुमर्हसि ।
 पदे परिणतस्त्वं हि कार्याविष्टा वयं यतः ॥ ६५
 स्वरन्कार्यं मम विभो यदुद्दिश्यहमागतः ।
 प्रार्थितश्चातिकष्टेन राजा दशरथः स्वयम् ॥ ६६
 तद्वथा मा कृथाः सर्वं शुद्धेन मनसा मुने ।
 देवकार्यं चरामान्यदवतारप्रयोजनम् ॥ ६७

रामः ॥ ५९ ॥ अनुग्रहदृष्टिमात्रप्रयुक्तेन प्रागुक्तशक्तिपातेन
 त्वया शिष्यस्य ब्रह्मीकरणात्स्वस्य गुरुत्वं शिष्योद्धारसामर्थ्यल-
 क्षणं तत्क्षणात्सद्य एव दर्शितमस्मभ्यमित्यर्थः ॥ ६० ॥ ननु मया
 स्वशरीरं त्यक्त्वा रामदेहं प्रविश्य कुण्डलिनीसंचारादिकं न
 कृतमेव तत्कथं त्वया शक्तिपातो ज्ञातस्तत्राह—दर्शनादिति ।
 सत्यसंकल्पानां त्वाहशां कृपादृष्ट्यापि सच्छिष्यस्य कुण्डलिन्याः
 पदचक्रमेदेन ब्रह्मरन्ध्रस्थितपरशिवसमावेशलक्षणो जीवस्यो-
 पाधिपरित्यागेन शुद्धब्रह्मसमावेशलक्षणश्च शक्तिपातः सिद्ध्य-
 तीति भावः । देशिको गुरुः ॥ ६१ ॥ तत्र रामस्य सच्छिष्यता
 दर्शयति—राम इति ॥ ६२ ॥ मलत्रयं शैबशास्त्रप्रसिद्धमाणवा-
 दिकामकर्मवासनालक्षणं वा । कथं बुद्ध्यति सिध्य इति शेषः
 ॥ ६३ ॥ सच्छिष्येषु शास्त्रस्य दृष्टकृतेवेत्याह—ज्ञानमिति ।
 यत उभौ गुरुशिष्यौ योग्यौ चेत्सर्वेषां पुरुषार्थानामीदृशां
 कैवल्यलक्षणानामपि भाजनं स्तामित्यर्थः ॥ ६४ ॥
 इत्थं वसिष्ठं प्रशस्य प्रस्तुतं कर्तव्यमाह—इदानीमिति । अस्म-
 दादिषु कृपया । त्वं पदे परिणतः । कृतकृत्य इति आगतः ॥ ६५ ॥
 मम कार्यं निर्धिन्नयज्ञसिद्धिं त्वं स्वरन्सन् रामव्युत्थानं कर्तुम-
 र्हसीति पूर्वत्र, वृथा मा कृथा इत्युत्तरत्र वा संबन्धः ॥ ६६ ॥
 किंचान्यदेवकार्यमपि रामव्युत्थापनेन चराम संपादयामो वयम्

सिद्धाश्रमं मया नीतो रामो राक्षसमर्दनम् ।
 करिष्यति ततोऽहस्यामुक्तिं च जनकात्मजाम् ॥ ६८
 परिणेष्यति कोदण्डमङ्गेन कृतनिश्चयः ।
 रामस्य जामदग्न्यस्य कर्ता नष्टां गतिं ध्रुवम् ॥ ६९
 पितृपैतामहं राज्यं विगतोऽभयनिस्पृहः ।
 धनवासच्छलेनेह दण्डकारण्यवासिनः ॥ ७०
 उद्धरिष्यति तीर्थानि प्राणिनो विविधानि हि ।
 सीताहरणदौर्गत्यच्छलेन भुवि शोच्यताम् ॥ ७१
 दर्शयिष्यति सर्वेषां रावणादिवधादपि ।
 स्त्रीसङ्गिनामथास्वास्थ्यं वानरादेः परावृत्तिम् ॥ ७२
 सीताविशुद्धिमन्विच्छल्लोकानुमतिमात्मनः ।
 जीवन्मुक्तो निस्पृहोऽपि क्रियाकाण्डपरायणः ॥ ७३
 भविष्यति गतिं द्रष्टुं ज्ञानकर्मसमुच्चयौ ।
 यैर्दृष्टो यैः स्मृतो वापि यैः श्रुतो बोधितस्तु यैः ॥ ७४
 सर्वावस्थानां तु जीवन्मुक्तिं प्रदास्यति ।
 इति कार्यमशेषेण त्रैलोक्यस्य ममापि हि ॥ ७५
 अनेन रामचन्द्रेण पुरुषेण महात्मना ।
 नमोऽस्मै जितमेवैते कोऽप्येवं चिरमेधताम् ॥ ७६
 श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 इति श्रुत्वा च ते सर्वे विश्वामित्रेण भाषितम् ।

॥ ६७ ॥ कार्यान्तराप्यपि दर्शयन्नेवकार्यं विद्मदयति—सिद्धा-
 श्रमेत्यादिना । अहत्याया मुक्तिं शापमोक्षं च करिष्यतीत्यनु-
 पपन्नः ॥ ६८ ॥ निश्चयो वाभिश्चयः । गतिं परलोकमार्गम्
 ॥ ६९ ॥ राज्यं विमुच्य गतो विगतः । जीवन्मुक्तत्वादेवा-
 भयो निस्पृहश्च । दण्डकारण्यवासिनो मुनीन् राक्षसवनेन भया-
 दुद्धरिष्यतीति परेणान्वयः ॥ ७० ॥ विविधानि तीर्थानि प्राणि-
 नश्च उद्धरिष्यति पावयिष्यतीत्यर्थः । सीताहरणप्रयुक्तं यदौ-
 र्गल्यं शोकमोहादिविडम्बनं तच्छलेन रावणादीनां वधादपि
 सर्वेषां स्त्रीसङ्गिनां भुवि शोच्यतामस्वास्थ्यं च दर्शयिष्यतीति
 परेणान्वयः ॥ ७१ ॥ अथ इन्द्रवरदानेन युद्धे मृतस्य वानर-
 क्षादेः परावृत्तिं परावर्तनं पुनः संजीवनं दर्शयिष्यति ॥ ७२ ॥
 अभिप्रवेशेन सीताविशुद्धिमन्विच्छल्लोकानु-
 मतिं शिष्टजनमाननीयचरित्रतां दर्शयिष्यति । ततो राज्येऽभि-
 विक्तः स्वयं जीवन्मुक्तो निस्पृहोऽपि सन् कर्माधिकृतजनानां
 कर्मानुष्ठानेनैव गतिं द्रष्टुं दर्शयितुं क्रियाकाण्डपरायणो भविष्य-
 तीति परेणान्वयः ॥ ७३ ॥ ज्ञानकर्मसमुच्चयाधिकारिणां ब्रह्म-
 लोकादिगतिं दर्शयितुं ज्ञानकर्मसमुच्चयौ च करिष्यतीति शेषः ।
 ज्ञानमत्रोपासनम् । न केवलं कर्ममार्गप्रवर्तनेन वर्तमानजनमा-
 श्रोपकारी किंतुत्तरकालमपि स्मरणकीर्तनस्मरित्रप्रबोधनादिना
 स्नानुगतानां भक्तानां जीवन्मुक्तिसुखप्रद इत्याह—यैरिति
 ॥ ७४ ॥ सर्वावस्थानामु गतानां भक्त्या अनुगतानाम् ॥ ७५ ॥
 अनेन महात्मना रामचन्द्रेण इति वर्णितप्रकारेण त्रैलोक्यस्य
 ममापि हितं कार्यमिति पूर्वत्रान्वयः । इदानीं श्रीविश्वामित्रः

१ असतः सतः काचनो इति पाठः.

सिद्धाश्च वरयोगीन्द्रा वसिष्ठप्रमुखाः पुनः ॥ ७७
 रामाङ्घ्रिपद्मरजसामादरस्मरणास्थिताः ।
 दूरश्रुतोत्तरकथाः कथया मैथिलीपतेः ॥ ७८
 न संतुतोष भगवान्वासिष्ठोऽन्ये महर्षयः ।
 गुणान्गुणनिघेस्तस्य ब्रुवन्नाकर्णयन्कृतम् ॥ ७९
 विश्वामित्रमुनिं प्राह वसिष्ठो भगवानृषिः ।
 भीवसिष्ठ उवाच ।
 ब्रूहि विश्वामित्र मुने रामो राजीवलोचनः ।
 कोऽयमभूद्बुधः किं वा मनुष्यो वाथ राक्षसः ॥ ८०
 विश्वामित्र उवाच ।
 अत्रैव कुरु विश्वासमयं स पुरुषः परः ।
 विश्वार्थमथिताम्भोधिर्गम्भीरागमगोचरः ॥ ८१
 परिपूर्णपरानन्दः समः भीवत्सलाञ्छनः ।
 सर्वेषां प्राणिनां रामः प्रदाता सुप्रसादितः ॥ ८२
 अयं निहन्ति कुपितः सृजत्ययमसत्सकान् ।
 विश्वादिर्विश्वजनको धाता भर्ता महासखः ॥ ८३
 अयं व्युत्क्रान्तनिःसारमृदुसंसारधूर्तकैः ।
 आनन्दसिन्धुर्विहततो बीतरागैर्विगाह्यते ॥ ८४

सामाजिकानां राममक्तिं वर्धयन्नाह—नम इति । हे जनाः, एते
 यूयमस्मै रामाय नमस्कुरुत । तन्नमस्कारमात्रेण भवद्भिः सर्व
 जेतव्यं जितमेव न साधनान्तरमपेक्षणीयमित्यर्थः । गुप्ताकं
 मध्ये कोऽपि पुरुषधौरेय एवं श्रीराम इव जीवन्मुक्तधरं निर्बि-
 कल्पसमाधिविश्रान्तिं प्राप्तः । सुखमेधतां वर्धयताम् ॥ ७६ ॥
 ॥ ७७ ॥ दूराद्दुर्लभा श्रुता उत्तरचरित्ररूपा रामकथा यैस्त्वया-
 विधाः सन्तो रामाङ्घ्रिपद्मरजसामादरे । नमस्कारे इति यावत् ।
 सदा रामस्मरणे च आस्थिता आस्थावन्तो बभूवुरिति शेषः ।
 वसिष्ठो मैथिलीपतेः कथया श्रुतया न संतुतोष न तृप्तो बभूव
 ॥ ७८ ॥ एवमन्ये महर्षयश्च न संतुतुषुः । भूयः श्रोतुमुत्क-
 ण्ठिताः सर्वे बभूवुरित्यर्थः । अत एव ते तस्य गुणान्परोक्षानाक-
 र्णयन् स्वयं श्रुतं चान्यानप्रति ब्रुवन्ब्रुवन् । लक्ष्यडभावदृक्का-
 न्दसः ॥ ७९ ॥ ब्रूहि श्रोतृजनं प्रति व्यक्तं वद । अयं रामो
 जन्मनः प्राकोऽभूत्, किं वा बुधो देवः अथवा मनुष्य इत्यज्ञ-
 नाभिप्रायानुसारी प्रश्नः ॥ ८० ॥ विश्वामित्रोऽप्यज्ञानानुसारे-
 णोत्तरमाह—अत्रैवेति । हे जन, त्वमत्रास्मिन् राम एव साक्षा-
 द्भगवान्वासुदेव इति विश्वासं कुरु । स पुराणः परः पुरुषः ।
 स कः । विश्वार्थं मथितोऽम्भोधिः क्षीरार्णवो येन सः । गम्भी-
 राणां गूढाशयानामागमानामुपनिषदां तत्त्वगोचरो नान्यप्रमा-
 णस्येत्यर्थः ॥ ८१ ॥ प्रदाता सर्वपुरुषार्थानामिति शेषः । सुबु-
 भक्त्या प्रसादितः ॥ ८२ ॥ असत्समाः कामन्दे कीर्त्यन्त इत्ये-
 सत्सका मिथ्यार्थास्तान् ॥ ८३ ॥ व्युत्क्रान्ता विचारबाधिताः

२ आनन्दसः इषोदरादिर्षीयं प्रयोगः.

क्वचिन्मुक्त इवात्मस्थः क्वचिसुर्यपदाभिधः ।
 क्वचित्प्रणीतप्रकृतिः क्वचित्तत्स्थः पुमानयम् ॥ ८५
 अयं त्रयीमयो देवलो गुण्यगहनातिगः ।
 जयत्यङ्गैरयं षड्भिर्वेदात्मा पुरुषोऽद्भुतः ॥ ८६
 अयं चतुर्बाहुरयं विश्वस्रष्टा चतुर्मुखः ।
 अयमेव महादेवः संहर्ता च त्रिलोचनः ॥ ८७
 अजोऽयं जायते योगाज्जागरूकः सदा महान् ।
 विभर्ति भगवानेतद्विरूपो विश्वरूपवान् ॥ ८८
 विजयो विक्रमेणेव प्रकाश इव तेजसा ।
 प्रज्ञोत्कर्षः श्रुतेनेव सुपर्णेनायमुच्यते ॥ ८९
 अयं दशरथो धन्यः सुतो यस्य परः पुमान् ।
 धन्यः स दशकण्ठोऽपि चिन्त्यश्चित्तेन योऽमुना ९०
 हा स्वर्गममुना शून्यं हा पातालादिहागतः ।
 तस्यागमादयं लोको मध्यमः श्रेष्ठतां गतः ॥ ९१
 राम इत्यवतीर्णोऽयमर्णवान्तःशयः पुमान् ।
 चिदानन्दधनो रामः परमाऽमायमव्ययः ॥ ९२
 निगृहीतेन्द्रियग्रामा रामं जानन्ति योगिनः ।
 वयं त्ववरमेवास्य रूपं रूपयितुं क्षमाः ॥ ९३
 रघोरघोच्छेदकरो भगवानिति शुश्रुम ।
 वसिष्ठ रूपया त्वं हि व्यवहारपरं कुरु ॥ ९४

निःसाराः सृदवश्च संसाराः कार्यकारणबन्धा यैस्तथाविधैर्धूर्तैर्के-
 र्जगद्ब्रह्मैवांतरागैर्यतिभिरानन्दसिन्धुर्बिगाह्यते प्रविश्यते ॥ ८४ ॥
 अयमेव ज्ञानमुक्तो नित्यमुक्तो मायानियन्ता मायान्तर्बद्धश्चेति
 चतुर्धा स्थित इत्याह—क्वचिदिति ॥ ८५ ॥ त्रयीमयो वेदश-
 रीरः । अङ्गैः शिक्षाकल्पादिभिः । वेदानामात्मा पारमार्थिक-
 स्वरूपभूतः ॥ ८६ ॥ चतुर्बाहुः पालको विष्णुः ॥ ८७ ॥
 योगान्मायाशक्तिसंबन्धात् । मोहनिग्रानावृत्तत्वात्सदा जाग-
 रूकः ॥ ८८ ॥ यथा विक्रमेण पराक्रमेणावश्यभावी विजय
 उच्यते प्राप्यते, तेजसा यथा प्रकाशो भास्वरूपं उच्यते
 प्रियते, यथा श्रुतेन शास्त्रेण प्रज्ञोत्कर्ष उच्यते प्राप्यते, तद्वदयं
 सुपर्णेन गरुडेनेत्यर्थः ॥ ८९ ॥ अमुना रामेण यश्चित्तेन ममायं
 प्रतियोदेति चिन्त्यश्चिन्तनार्हः संपन्नः ॥ ९० ॥ विष्णुदेहेना-
 मुना शून्यं स्वर्गं हा स्वर्गस्य शोच्यतेत्यर्थः । 'अभितःपरितः-
 समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति षष्ठ्यर्थे द्वितीया । एवं शेष-
 मूर्तिरयं पातालाद्ब्रह्मणात्मना इहागतः । तथा च पातालास्यापि
 शोच्यतेत्यर्थः ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ रूपयितुं निरूपयितुं शक्यं च
 ॥ ९३ ॥ वंशोऽवतारेण रघुरप्यनेन पावित इत्याह—रघोरिति ।
 शुश्रुम इति कादिनियमाभेदः । लिटि मसो मादेशाभावाच्चान्दसः
 ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ अधिकारनिष्पादनलक्षणो लोकानां
 परामर्शो यावन्न निरूढो न निष्पन्नः, न भवति युक्तमिति
 शेषः ॥ ९७ ॥ पर्यालोक्य क्वचित्कालमनुभूय देवकार्यादीनिधि-

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

इत्युक्त्वावस्थितस्तूर्णीं विश्वामित्रो महामुनिः ।
 वसिष्ठस्तु महातेजा रामचन्द्रमभाषत ॥ ९५
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 राम राम महाबाहो महापुरुष चिन्मय ।
 नायं विश्रान्तिकालो हि लोकानन्दकरो भव ॥ ९६
 यावल्लोकपरामर्शो निरूढो नास्ति योगिनः ।
 तावद्ब्रह्मसमाधित्वं न भवत्येव निर्मलम् ॥ ९७
 तस्माद्राज्यादिविषयान्पर्यालोक्य विनश्वरान् ।
 देवकार्यादिभारांश्च भज पुत्र सुखी भव ॥ ९८
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्तोऽपि यदा रामः किञ्चिन्नोचे लयं गतः ।
 तदा सुपुत्रया सोऽपि विवेश हृदयं शनैः ॥ ९९
 शक्तिप्राणमनःप्रसक्तिकरणो जीवः प्रकाशात्मको
 नाडीरन्ध्रसुपुष्टसर्वकरणः प्रोन्मील्य नेत्रे शनैः ।
 दृष्टोत्कृष्टवसिष्ठमुख्यविदुषो निर्मुक्तसर्वेषणः
 कृत्याकृत्यविचारणादिरहितः सर्वान्प्रतीक्ष्य स्थितः ॥
 श्रुत्वा वसिष्ठवचनं गुरुवाक्यमिति स्वयम् ।
 श्रुत्वा प्रोवाच भगवान्नामचन्द्रः समाहितः ॥ १०१

कारभारांश्च पर्यालोक्य पश्चात्समाधिं भजेत्यर्थः ॥ ९८ ॥ यदा
 राम इति गुरुणा उक्तोपि लयं ब्रह्मैक्यं गतो बाह्यार्थश्रवणाभा-
 वाद्वागादिकरणचेष्टोपरमाच्च न किञ्चिद्वचे तदा स वसिष्ठस्तच्छ-
 रीरं संकल्पेन प्रविश्य तदीयसुपुत्रानाज्या शनैर्हृदयपुण्डरीकं
 विवेश । प्रविश्य तदीयं विलीनं जीवोपाधिं लिङ्गं घनीकृत्य
 वीजान्तः प्रविष्टो वायुस्तदन्तर्गतमङ्कुरमिव बहिराचकर्षेति यावत्
 ॥ ९९ ॥ तस्य बहिराकर्षणे तदाविर्भावक्रमेण तत्र चिदा-
 भासाभिव्यक्त्या तत्कृतं क्षेत्रप्रकाशाबाह्यार्थदर्शनादिक्रममाह—
 शक्तीति । प्रथमं प्राणादिबीजभूतायामाधारशक्ती ततः प्राणा-
 विर्भावे तेषु ततो मनस आविर्भावे तस्मिन् प्रसक्तिश्चिदाभा-
 राभावेनानुप्रवेशत्वं करोतीति शक्तिप्राणमनःप्रसक्तिकरणः ।
 अत एव तत्प्रकाशात्मकस्तदुपाधिको जीवः प्राणद्वारा सर्वनाडी-
 रन्ध्रेष्वनुप्रविश्य सुपुष्टान्याविष्कृतानि सर्वाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियल-
 क्षणानि करणानि येन तथाविधः सन् शनैर्नेत्रे प्रोन्मील्य बहि-
 र्कृष्टान् पूज्यान् वसिष्ठमुच्यमानं विदुषो दृष्ट्वा स्वयं कृतकृत्य-
 त्वाविर्मुक्तसर्वेषणः अत एव कृत्यस्यावश्यकर्तव्यस्य अकृत्यस्य
 त्याज्यस्य च व्यवहारस्य विचारणया गुणदोषचिन्तया आदिप-
 दात्तत्प्रयुक्तानोपादानादिवृत्त्या च रहितः सन्निहर्षं मातेते किं
 वक्ष्यन्तीति सर्वान्प्रतीक्ष्य स्थित इत्यर्थः ॥ १०० ॥ तदनन्तरं
 इति प्रागुक्तं 'राम राम महाबाहो' इत्यादिवसिष्ठवचनं पुनस्तेनैव
 श्रावितं श्रुत्वा इदं गुरुवाक्यमनुब्रह्मण्यमिति पितृभ्रातृबन्धादि-

श्रीराम उवाच ।

न विद्येर्न निषेधस्य त्वत्प्रसादादयं प्रभुः ।
तथापि तव वाक्यं तु करणीयं हि सर्वदा ॥ १०२
वेदागमपुराणेषु स्मृतिष्वपि महामुने ।
गुरुवाक्यं विधिः प्रोक्तो निषेधस्तद्विपर्ययः ॥ १०३
इत्युक्त्वा चरणौ तस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
शिरसा धार्य सर्वात्मा सर्वान्प्राह घृणानिधिः ॥ १०४
श्रीराम उवाच ।
सर्वे शृणुत मद्रं वो निश्चयेन सुनिश्चितम् ।
आत्मज्ञानात्परं नास्ति गुरोरपि च तद्विदः ॥ १०५
सिद्धादय ऊचुः ।
रामैवमेव सर्वेषां मनसि स्थितिमागतम् ।
त्वत्प्रसादाच्च सकलं संवादेन दृढीकृतम् ॥ १०६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवभूतोके द्वात्रिंशत्साहस्र्यां संहितायां बालकाण्डे मोक्षोपायेषु
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे ब्रह्मदर्शने रामव्युत्थानं नामाष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२८ ॥

सुखी भव महाराज रामचन्द्र नमोऽस्तु ते ।
वसिष्ठेनाप्यनुज्ञाता गच्छामोऽद्य यथागतम् ॥ १०७
श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
एवमुक्त्वा गताः सर्वे रामसंस्तवने रताः ।
रामचन्द्रस्य शिरसि पौष्पी वृष्टिः पपात ह ॥ १०८
एतत्ते सर्वमाख्यातं रामचन्द्रकथानकम् ।
अनेन क्रमयोगेन भरद्वाज सुखी भव ॥ १०९
इति रघुपतिसिद्धिः प्रोदिता या मया ते
वरमुनिवचनालीरत्नमालाविचित्रा ।
निखिलकविकुलानां योगिनां सेव्यरूपा
परमगुरुकटाक्षान्मुक्तिमार्गं ददाति ॥ ११०
य इमं शृणुयान्नित्यं विधिं रामवसिष्ठयोः ।
सर्वावस्थोऽपि भ्रवणान्मुच्यते ब्रह्म गच्छति ॥ १११

प्रार्थनामपि श्रुत्वा भगवान्सर्वज्ञः । स्वावतारप्रयोजनज्ञ इति यावत् ।
तदभ्युपगमेन समाहितः सन् प्रोवाचेत्यर्थः ॥ १०१ ॥ १०२ ॥
विधिरवश्यानुष्ठेयोऽर्थः । तद्विपर्ययस्तदतिक्रमणं तु निषेधः ।
अवश्यहेय इत्यर्थः ॥ १०३ ॥ इदानीं श्रीरामः परमगुरुवार्थ-
दानरूपस्य गुरुकृतोपकारस्य निष्कृतिमन्यामपश्यन् स्वशिरसि
तच्चरणधारणव्याजेन स्वं गुरवे समर्प्य सर्वजनेभ्यः सर्वोत्कृष्टं
ज्ञानमाहात्म्यं गुरुमाहात्म्यं च स्वयं प्रत्यक्षमनुभूतं विश्वासदा-
र्यायोपदिष्टवानित्याह—इत्युक्त्वेति ॥ १०४ ॥ तद्विद आत्म-
विद इति गुरुविशेषणम् । तदात्मतत्त्वं गुरुपदेशादेतीति
तद्विदः शिष्यस्य गुरोः परं नास्तीति वा ॥ १०५ ॥ स्थितिं
निश्चयम् । संवादेन एतद्ब्रह्मलक्षणेन त्वदुक्तिसंवादेन च ॥ १०६ ॥
॥ १०७ ॥ १०८ ॥ रामचन्द्रस्य जीवन्मुक्तिविश्रान्तिपर्यन्त-

संवादकथालक्षणमानकं संजीवनममृतमिति यावत् ॥ १०९ ॥
उपसंहरति—इतीति । वरमुनेर्वसिष्ठस्य वचनपङ्क्ति-
रत्नमालया विचित्रा भूषिता इति उक्तरूपा रघुपतेर्जीवन्मुक्ति-
सिद्धिर्या मया तुभ्यं प्रोदिता प्रोक्ता निखिलानां कविकुलानां
योगिनां च सेव्यरूपा सा परमगुरुकटाक्षाच्छ्रवणादिना सेविता
सती मुक्तिमार्गं प्रागुक्तभूमिकाक्रमं ददात्यारोपयतीत्यर्थः ॥ ११० ॥
विधिं संवादप्रकारम् । मोहनालिन्यरागद्वेषमहापातकोपपातका-
दिसर्वदोषावस्थायुक्तोऽपि पुरुषः भ्रवणादेव सर्वदोषैर्मुच्यते
शान्त्यादिगुणप्राप्तिक्रमेण ब्रह्म गच्छति प्राप्नोति किं पुनरधिकारी-
त्यर्थः ॥ १११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे रामव्युत्थानं नामाष्टाविंशत्युत्तरशततमः
सर्गः ॥ १२८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमत्सर्वज्ञसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीरामचन्द्रसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीगङ्गाधरेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षोः शिष्येण श्रीमदानन्दबोधेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षुणा विरचिते
श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धे संपूर्णम् ॥



समाप्तमिदं निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धम् ॥

श्रीः ।

योगवासिष्ठः ।



श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासंबलितः ।

निर्वाणप्रकरणस्य उत्तरार्धम् ६ ।

प्रथमः सर्गः १

श्रीराम उवाच ।

नैष्कर्म्यात्कल्पनात्यागात्तनुः पतति देहिनः ।

कथमेतदतो ब्रह्मन्संभवत्याशु जीवतः ॥ १

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जीवतः कल्पनात्यागो युज्यते न त्वजीवतः ।

रूपमस्य यथातत्त्वं शृणु भ्रवणभूषणम् ॥ २

अहंभावनमेवाहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।

नभोर्यभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ॥ ३

पदार्थरसमेवाहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।

नभोर्यभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ॥ ४

शिवमभयमनन्तसौख्यसिन्धुं हृदि निहितं हितमस्तमोहजालम् ।

जगदुदयनयक्षयप्रवीणं निरुपमबोधघनात्मदेवमीडे ॥ १ ॥

निर्ममा निरहंकारा निःसंकल्पविकल्पनाः ।

यथा जीवन्ति चेष्टन्ते मुक्ता युक्तिस्तथोच्यते ॥ २ ॥

पूर्वार्धे श्रीरामसमाधिप्रदर्शनव्याजेनोत्तमाधिकारिणः श्रव-

णावृत्तिपरिपाकादेव साक्षात्कारज्ञानोदयेन परमपदे सङ्गृह्णान्तिर्भवतीति दर्शितम् । तस्य दैवात्पुनर्व्युत्थानेऽपि यथा अविरतं

तत्रैव विभ्रान्तिरनायासेन सिध्यति तथोत्तरोत्तरभूमिकारोपणायो-

त्तरार्धमिदमारभ्यते । अत्रादौ रामः 'अहंममेति संविदन्न दुःखतो

विमुच्यते । असंविदन्विमुच्यते यधीप्सितं तदाचर ॥' इत्यन्ते

यदुक्तं तत्र सर्वकल्पनात्यागे कल्पनाधीनदेहधारणादिव्यवहारा-

सिद्धिं शङ्कते—नैष्कर्म्यादिति । देहप्राणादिष्वहंतादिकल्प-

नात्यागादेतोर्नैष्कर्म्यात्सर्वक्रियोपरमाद्देहधारकप्राणादिचेष्टोपरमे

देहिनस्तनुराशु पतति अत एतत्त्वदुक्तं तस्य जीवतो व्यवहारादि

कथं संभवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ न कल्पनाधीनं जीवनं येन तस्यागात्त-

नुपातः स्यात् किंतु भोजकप्रारब्धाधीनम्, कल्पनात्याग एव

प्रत्युत जीवनाधीनजन्मेति नोपजीवनं बाधत इत्यभिरुद्धं कित्त्व-

जीवनमेव विरुध्यत इत्याशयेन भगवान्बसिष्ठः समाधत्ते—

जीवत इति । अस्य कल्पनात्यागस्य स्वरूपं यथा जीवनविरुद्धं न

इदं वस्त्विति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।

नभोर्यभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ॥ ५

स्मरणं विद्धि संकल्पं शिवमस्मरणं विदुः ।

तच्च प्रागनुभूतं च नानुभूतं च भाव्यते ॥ ६

अनुभूतां नानुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।

सर्वमेवाशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामते ॥ ७

सर्वास्मरणमात्रात्मा तिष्ठायतेषु कर्मसु ।

अर्धसुप्तशिशुस्पन्द इवाभ्यस्तोपपत्तिषु ॥ ८

निःसंकल्पप्रवाहेण चक्रं प्रस्पन्दते यथा ।

स्पन्दस्वकर्मस्वनघप्राक्संस्कारवशात्तथा ॥ ९

भवति तथा मया यथातत्त्वं वर्ण्यमानं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

अहंभावनं देहादिपरिच्छेदाध्यासम् । नभः अपरिच्छिन्नब्रह्मा-

काशस्त्रूपस्यार्थस्य स्वपारमार्थिकस्वभावस्य भावनं प्रतिबंधानं

परिच्छेदाध्यासोच्छेदित्वात्संकल्पत्यागस्तैरुच्यते ॥ ३ ॥ ४ ॥

इदं देहादि सर्वं दृश्यं वस्तु परमार्थसत्यमिति संवेगमभिमानम् ।

तस्य नभःकार्यभूतचतुष्टयविकारत्वात्तत्त्वतो नभोर्य एवैकः

स्फुरतीत्यर्थस्य भावनं पर्यालोचनम् । इदं द्वयमपि भ्रान्तानुभव-

विरुद्धत्वेऽपि न जीवनविरुद्धम् । जीवत एव भ्रान्तिनिवृत्ति-

दर्शनादिति भावः ॥ ५ ॥ एवं स्मरणात्मकाध्यासविरोधिन-

स्तविरोधस्यापि न जीवनविरोधितेत्याशयेनाह—स्मरणमिति ।

भूतविषयमनुभूतम् । भाविषयमननुभूतम् । स्मरणप्रहर्षं परो-

क्षयवृत्तिमात्रोपलक्षणम् ॥ ६ ॥ स्मृतिं स्मरणं सर्वमनुमित्यादि-

वृत्त्यन्तरं च विस्मृत्य, अपरिच्छिन्नब्रह्माकारनिलीनः काष्ठवद्गुडो

निश्चलश्च तिष्ठ चिरं जीव । तथा च ब्रह्मात्मभावेन चित्तवृत्ति-

निरोधो योगिनामायुर्ध्या प्रत्युत जीवनहेतुरेवेति भावः ॥ ७ ॥

व्यवहारकाले तु स्मृतिमात्रनिरोधः कार्य इत्याह—स्त्वैति ।

दृढाभ्यस्तव्यवहारे न पूर्वापरस्मृतिप्रयत्नाद्यपेक्षास्तीत्याशये-

नाह—अर्धेत्यादिना । अभ्यस्तोपपत्तिषु पूर्वाभ्यासमात्रेणोप-

पद्यमानेष्वित्यर्थः ॥ ८ ॥ विनाप्रयोजनोर्ध्वं पूर्वसंस्कारमात्रेण

अविद्यमानचित्तस्त्वं सस्वसंस्कारमागतः ।
 प्रवाहपतितेष्वेव स्पन्दस्व स्त्रेषु कर्मसु ॥ १०
 ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
 असंकल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाष्यते ॥ ११
 अहो मोहस्य माहात्म्यं यदयं सर्वदुःखहा ।
 चिन्तामणिर्विचाराख्यो हृत्स्थोऽपि त्यज्यते जनैः १२
 अवेदनमसंकल्पस्तन्मयेनैव भूयताम् ।
 एतावत्परमं श्रेयः स्वयमेवानुभूयताम् ॥ १३
 किल तूर्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
 परमं यत्र साम्राज्यमपि राम तृणायते ॥ १४
 गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
 स्पन्दो विगतसंकल्पस्तथा स्पन्दस्व कर्मसु ॥ १५
 सर्वकर्मफलाभोगमलं विस्मृत्य सुप्तवत् ।
 प्रवाहपतिते कार्ये स्पन्दस्व गतवेदनम् ॥ १६
 स्पन्दस्वाकृतसंकल्पं सुखदुःखान्यभावयन् ।
 प्रवाहपतिते कार्ये चेष्टितोन्मुक्तशष्पवत् ॥ १७
 रसभावनमन्तस्ते मालं भवतु कर्मसु ।
 दारुयन्मयस्येव परार्थमिव कुर्वतः ॥ १८
 नीरसा एव ते सन्तु समस्तेन्द्रियसंविदः ।
 आकारमात्रसंलक्ष्या हेमन्तर्ता लता इव ॥ १९
 बोधार्कपीतरसया स्पन्दन् षड्गुणसत्तया ।
 यन्मस्पन्दोपमस्तिष्ठ बहूथेव शिशिरे द्रुमः ॥ २०
 चिदान्तररसान्येव प्रवृत्तान्यपि धारय ।

कृतकार्यं कुलालचक्रं यथा यावद्वेगक्षयं प्रस्पन्दते भ्रमति तथे-
 त्यर्थः ॥ ९ ॥ सत्त्वं निर्वासनं मनस्तदीयं संस्कारवेगमागतोऽ-
 नुगतः सन् रागादिदोषक्षयाच्चोच्छृङ्खलप्रवृत्तिप्रसक्तिरित्याशये-
 नाह—प्रवाहैति ॥ १० ॥ एवं प्रभ्रं समाधाय बहुकृत्वोऽपि
 पथ्यं वदितव्यमिति न्यायेन प्रागुक्तमेव संकल्पत्यागादि श्रेयः-
 साधनमित्युद्घोषयन्पुनःपुनराह—ऊर्ध्वबाहुरित्यादिना ॥ ११ ॥
 ॥ १२ ॥ अवेदनं दृश्यदर्शननिर्मुक्तमात्मतत्त्वं तदेव मुख्योऽ-
 संकल्पः ॥ १३ ॥ तूर्णीं संकल्पचेष्टां विना ॥ १४ ॥
 प्राक्तनसंकल्पप्रयुक्तक्रियावेगवशादेव यावत्तत्क्षयं व्यवहारसिद्धौ
 प्रागुक्तं दृष्टान्तान्तरं पुनराह—गम्येति ॥ १५ ॥ 'अवेदनम-
 संकल्पः' इति यदुक्तं तद्यवहारकालेऽप्युपपादयति—सर्वेति
 ॥ १६ ॥ यथा स्वतश्चेष्टितोन्मुक्तं शष्पं बालतृणं वाप्यादिप्रवा-
 हपतिते तृणान्तरसंयोगवियोगादिकार्ये स्पन्दते तद्वत् ॥ १७ ॥
 यथा परेषां कौतुकार्थं वृत्त्यादि कुर्वत इव स्थितस्य दारुपुत्रिका-
 यन्त्रस्य नटवच्छृङ्गारारिरसभावनं नास्ति तद्वत्तत्वापि कुर्वतो
 विषयसुखे मूर्खस्येव रसभावनं कौतुकबुद्धिर्मा भूदित्यर्थः ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ षड्गुणः पञ्चकोशसंवलितचिदाभासः । समनस्कः
 प्राणवर्णो ज्ञानेन्द्रियवर्णः कर्मेन्द्रियवर्णो ज्ञानकर्मेन्द्रियसहि-
 तान्तःकरणवस्तुष्टवम् । पादकौशिकं शरीरं चेति षड्गुणांस्तेषां

स्वयन्नेनेन्द्रियाण्याशु हेमन्तर्तुस्तरुनिव ॥ २१
 सरसेन्द्रियवृत्तेस्ते कुर्वतोऽकुर्वतस्तथा ।
 संसारानर्धसार्थोऽयं न कदाचन शाम्यति ॥ २२
 निःसंकल्पमरुज्ज्वालायन्त्राम्बुस्पन्दवद्यदि ।
 स्पन्दसे तदनन्ताय श्रेयसे परिकल्पसे ॥ २३
 एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम् ।
 यद्वासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तृता ॥ २४
 अवासनमसंकल्पं यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
 शनैश्चक्रभ्रमाभोग इव स्पन्दस्व कर्मसु ॥ २५
 मा कर्मफलबुद्धिर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।
 उभयं वा त्यजैतस्वमुभयं वा समाश्रय ॥ २६
 बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते ।
 संकल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ २७
 नेह कार्यं न वाऽकार्यमस्ति किञ्चिन्न कुत्रचित् ।
 सर्वं शिवमजं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम् ॥ २८
 पश्यन्कर्मण्यकर्मत्वमकर्मणि च कर्मताम् ।
 यथाभूतार्थचिद्रूपः शान्तमास्व यथासुखम् ॥ २९
 अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
 अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथासि भोः ॥ ३०
 समे शान्ते शिवे सूक्ष्मे द्वैतैक्यपरिवर्जिते ।
 तत्तेऽनन्ते परे शुद्धे किं केन किल खिद्यते ॥ ३१
 नोदेतु त्वयि संकल्पो मरुभूमाधिवाङ्कुरः ।
 इच्छा नोदेतु भवति लतिकेवोपलोदरे ॥ ३२

सत्तया । बहूना वेष्टितः शिशिरे द्रुम इव नीरमः ॥ २० ॥
 ननु नीरगस्य षड्गुणस्य कथं जीवनं तत्राह—चिदिति । अना-
 वरणभूमानन्दरूपा चिदेवान्तरो जीवनपुष्पादिहेतुरसो येषां
 तानि प्रवृत्तानि स्वभावाद्वाह्यरसास्वादे प्रवृत्तान्यपि स्वयन्नेन
 निवार्य चिदान्तररसान्येव कृत्वा धारयेत्यर्थः । इन्द्रियग्रहणं
 षड्गोपलक्षणम् । यथा हेमन्तर्तुस्तरुन् बाह्यजलाभावेऽप्या-
 न्तरेणैव रसेन जीवयति तद्वदित्यर्थः ॥ २१ ॥ इन्द्रियवृत्तीना-
 मनिवारणे सरसत्वे च किं स्यात्प्राह—सरसेति ॥ २२ ॥
 निःसंकल्पमेव मरुतो ज्वालाया यन्त्रस्याम्बुनश्च यथा स्पन्द-
 स्तथा यदि स्पन्दसे । परिकल्पसे समर्थः स्याः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 चक्रे भ्रमतीति भ्रम आभोगः संनिवेश इव शनैरुत्तरोत्तरमुप-
 शमशीलः स्पन्दस्व ॥ २५ ॥ कर्मफले आसक्तिबुद्धिर्यस्य तथा-
 विधो मा भूः । अकर्मणि कर्मत्यागेऽपि तत्फलासक्तिक्षणः सङ्गो
 मास्तु । फलासङ्गाभावे कर्मकरणे तत्त्यागे च न विशेष इत्या-
 शयेनाह—उभयमिति ॥ २६ ॥ २७ ॥ अकार्यं त्याज्यम् ।
 प्राग्वद्यथास्थितमेव आस्यतां स्थीयताम् ॥ २८ ॥ अकर्मत्वं
 निष्क्रियब्रह्मात्मताम् । अकर्मणि तादृशब्रह्मभावस्थितौ कर्मता-
 मवश्यकर्तव्यताम् ॥ २९ ॥ अवेदनं प्राग्व्याख्याताम् ॥ ३० ॥
 निस्पन्दं तूर्णीमवस्थानमाभवात्तज्जीकृतसर्वाङ्गस्येव ज्ञेयार्थैवेति

अवेदनस्य शान्तस्य जीवतो वाप्यजीवतः ।
 नेह किञ्चित्कृतेनार्थो नाकृतेनापि कश्चन ॥ ३३
 यत्कर्माकर्म शान्तेऽन्तः शाश्वतामेदरूपिणि ।
 न कर्मणि च कर्माणि न कर्तर्यपि कर्तृता ॥ ३४
 अहंममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यसे ।
 असंविदन्विमुच्यसे यदीप्सितं तदाचर ॥ ३५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे इच्छादिचिकित्सायोगोपदेशो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अद्वैतैक्यं विमननं शान्तमात्मन्यवस्थितम् ।
 यथा पद्ममयं सैन्यं तथा शिवमयं जगत् ॥ १
 मनोहंकारबुद्ध्यादिविस्तमेव च तन्मयम् ।
 कालाकारक्रियाशब्दशक्तिसंदर्भसंयुतम् ॥ २
 शिवपद्ममया एव रूपालोकमनःक्रमाः ।
 तन्मयत्वादनन्तत्वादतः किं केन चेत्यते ॥ ३

शङ्कां वारयति—समे इति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ कृतेन अकृतेन वा लौकिकवैदिककर्मणा जीवत ऐहिकोऽजीवत आमुष्मिकोऽप्यर्थः पुरुषार्थो नास्ति ॥ ३३ ॥ कृतो नास्ति तत्राह—यदिति । यद्यस्मात्कारणात्कर्माकर्मोभयबाधवर्धो तद्भुमयात्मभूते च शाश्वतामेदरूपिणि त्वयि प्रातिभासिककर्मात्मना विवर्तमानेऽपि बलुतः कैमेता नास्ति तादृशकर्त्रात्मना विवर्तमानेऽपि कर्तृता नास्ति । यस्य कर्मकर्तृतादौ सत्यताबुद्धिस्तस्यैव कर्मफलमिति श्रद्धादिवदधिकारिविशेषणविधायकशास्त्रेण बोधनादिति भावः ॥ ३४ ॥ अत एव देहादावहंममेति संवेदनवत एव विधिविधेयशास्त्राधिकारात्कर्मकृतो बन्धो नेतरस्येति प्रायुक्तमित्याह—अहंममेति ॥ ३५ ॥ पराद्भुमानन्दाख्याच्छवात्परमन्यदिदं हृद्यमर्थरूपमिवार्थरूपकं प्रातिभासिकं जगदशब्दमनिर्वचनीयमवस्त्ववेत्यर्थः ॥ ३६ ॥ एतदेव स्पष्टमाह—यदिति । किञ्चित् इत्यभीदृशं चेति निर्वचनशब्दशून्यम् । एतद्वाधाधिष्ठानं तु अथ तदबोधबाधानन्तरं पश्चादवशिष्टमवेदनं वेदनाविषयमेवानुभवनिष्ठाः सत्यैकरूपं परमपुरुषार्थरूपं विदुरित्यर्थः ॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे इच्छादिचिकित्सायोगोपदेशो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

स्मिरूप्यतेऽत्र प्रथमं सर्वं शिवमयं जगत् ।

कर्मबीजं तथा निवृत्त्य समूलं विनिवार्यते ॥ १ ॥

‘सर्वं शिवमयं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्’ इति अदुक्तं तदत्र प्रथममुपपादयितुं प्रतिजानीते—अद्वैतैक्यमिति । आत्मनि पारमार्थिकस्वभावे तत्त्वदृष्ट्या अवस्थितम् ॥ १ ॥

अहं ममेति नास्त्यलं यदस्ति तच्छिवं परम् ।
 परात्परं त्विवं शिवादशब्दमर्थरूपकम् ॥ ३६
 यद्दृश्यते जगदिवं खलु किञ्चिदेत-
 ज्ञेज्ञोऽङ्गवत्वमिव भासि न विद्यमानम् ।
 अस्य क्षयं विदुरवेदनमेव पश्चा-
 त्सत्यं तदेव परमार्थमथावशिष्टम् ॥ ३७

मातृमेयप्रमाणादिदेशकालौ दिगादि च ।

भावाभावविवर्तादिशिवपद्ममयात्मकम् ॥ ४
 अहंममेत्यतः साराभेतरत्परमेश्वरात् ।
 असंसक्तमतिस्तिष्ठ ह्य शिलोदरमौनवत् ॥ ५
 श्रीराम उवाच ।
 अहंममेत्यसद्रूपं हस्याभावयतः प्रभो ।
 अशुभं कर्मणां त्यागादनुष्ठानाच्च किं शुभम् ॥ ६

यद्यदि चिद्भास्यं तत्तच्चिद्विवर्तत्वाच्चिन्मयमित्यन्तःकरणचतुष्टये क्रमेण दर्शयति—मन इति । प्रथमं हि चित्तश्चेत्योन्मुखत्व-लक्षणं मननं चिद्भासमेव ततस्तदभिमानाध्यवसायस्मरणकाम-संख्यादिवृत्तयस्तथैव चिद्भासाः सर्वानुभवसिद्धाः । तथा चिन्नेत्यसंबन्धलक्षणः कालधेत्याकारस्तत्क्रियाणामसंस्थानसहितं सर्वमन्तःकरणसंसरणं साक्षात्साक्षिवेशत्वाच्छिवमयमिति बोद्धुं शक्यमित्यर्थः ॥ २ ॥ एवं बहिरिन्द्रियतद्गारकबाह्यदर्शनतद्विषयेष्वपि चिद्भासिप्रयुक्तैवापरोक्षप्रथेति तत्रापि शिवमयत्वमेव धिवेकिभिर्दृष्टं शक्यमित्याशयेनाह—शिष्येति । रूपालोकग्रहणं शब्दाद्यालोचनानामप्युपलक्षणम् । मनःक्रमा बाह्यसविकल्पक-दानोपादानादिकुद्दयस्तद्विषयाश्च । एवं शिवमयत्वदर्शनेन शिव एव सर्वत्रिपुटीरूपेण प्रथते न ततो वस्त्वन्तरमस्तीत्याह—तन्मयत्वादिति ॥ ३ ॥ तदेव विशदयति—मात्रिति ॥ ४ ॥ सर्वविवर्तानहंममेति द्वैतव्येगैव संपृष्ट्य तत्र चिद्भासत्वपर्यालो-चने तत्सारतन्मात्रत्वपरिज्ञेयात्तत्र स्थितिः सुलमेत्याशयेनाह—अहमिति । शिलोदरे यत्प्रसिद्धं वागादिचेष्टाशून्यत्वलक्षणं मौनं तद्वत् । नामरूपकर्मात्मके प्रपञ्चे नामरूपयोरपरोक्षचिद्भास्यैव स्फुरणाच्छिवमयत्वं निर्णय तत्र बाधेन तत्स्वरूपेऽवस्थानं सुकर-म् ॥ ५ ॥ कर्मणां तु पुण्यपापलक्षणानामनन्तकोटिजन्मसंवि-तानामपरोक्षतया भानादर्शनाच्च शिवमयत्वदर्शनेन बाधसिद्धि-रिति तद्विचारये परिशेषादाभरणं निश्चेष्टावस्थानलक्षणस्तस्याग एवोपायः । न हि ज्ञानिनः कर्मकरणेन किञ्चित् फलमपेक्षितं, न वा मित्यनैमित्तिकत्यागे प्रत्यवायप्रसक्तिरस्ति येन तूष्णीमव-स्य भावमथाननिर्देशात्.

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

पृच्छामि यदहं तत्त्वं कथयाशु ममानघ ।
यदि जानासि तत्त्वेन कर्म तावत्किमुच्यते ॥ ७
विस्तारः कर्मणः कीदृशं मूलं तस्य च किं भवेत् ।
नाशनीयं च निपुणं कथं कथय नाशयते ॥ ८
श्रीराम उवाच ।
यज्ञाशनीयं निपुणं तन्नूनं च विनाशयते ।
मूलकाषेण भगवन्न शाखादिविकर्तनैः ॥ ९
शुभाशुभं नाशनीयं स्वकर्म खलु घीमता ।
मूलकाषविनाशेन तच्च नष्टं भवत्यलम् ॥ १०
कर्मवृक्षस्य वक्ष्यामि ब्रह्मन्मूलानि मे शृणु ।
यन्निकाषेण निर्मूलो न स भूयः प्ररोहति ॥ ११
देहस्तावदयं ब्रह्मन्कर्मवृक्षः समुत्थितः ।
रुढः संसारविपिने विचित्राङ्गलताञ्चितः ॥ १२
कर्मबीजं तरोरस्य सुखदुःखफलावलेः ।
क्षणतारुण्यकान्तस्य जराकुसुमहासिनः ॥ १३
मुहूर्तं प्रति कालोप्रमर्कटभ्रंसिताकृतेः ।
निद्राहेमन्तजठरलीनस्वप्नदलोद्गतैः ॥ १४
स्ववार्धकशरच्छान्तशीर्णेहापर्णसंततैः ।
जगज्जलजातस्य कलत्रोपतृणावलेः ॥ १५

स्यानं न सिद्ध्येदिति संभावनया रामः पृच्छति—अहमिति ॥ ६ ॥ सत्यमेव तव नैष्कर्म्यं सिद्ध्येदिति मूलेन सह त्वया तरयक्तुं शक्येत । मूलं तु तथा तव दुस्त्यजमेवेति दर्शयितुं वसिष्ठो रामेण कर्मणां किं मूलमिति निश्चित्येत्थं पृच्छयते इति परीक्षार्थं राम त्वया कर्मणः स्वरूपं तस्य फलात्मको विस्तारस्तन्मूलं तत्र नाशयोग्यांशस्तदुपायश्च कीदृशो निश्चित इति पृच्छति—पृच्छामीति ब्राह्म्याम् ॥७॥८॥ मूलकाषेण मूलोच्छेदेन ॥ ९ ॥ तत्र स्वरूपं तन्नाशप्रकारं च रामः स्वाभिप्रेतमाह—शुभाशुभमिति । पुण्यपापरूपमित्यर्थः ॥१०॥ तृतीयप्रश्नोत्तरमाह—कर्मवृक्षस्येति । तत्रादौ 'अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्तममतो हि कर्माण्युत्पिष्टन्ति' इति श्रुत्या निष्कृष्य दर्शितं मूलं प्रथमं दर्शयति—ब्रह्मञ्जिति । यस्य निकाषेण । अनशनादिना मरणेनेति यावत् ॥ ११ ॥ ऐहिककर्ममूलं देहं प्राक्तनकर्मणो विस्तारोऽपि भवतीति द्वितीयप्रश्नमपि तस्य कर्मवृक्षतया वर्णनेन समाधत्ते—देहस्तावदित्यादिना । विचित्राभिर्हस्ताद्यङ्गलक्षणाभिर्लताभिः शाखाभिरशितो विराजमानः ॥ १२ ॥ तस्य प्राक्तनं कर्मबीजम् ॥ १३ ॥ मुहूर्तं प्रति प्रतिमुहूर्तं कालरूपेणोप्रमर्कटेन हर्षविषादरोगजरादिविकारचेष्टाभिर्धंसिताकृतेर्निद्रालक्षणे हेमन्तजठरे लीनाः संकुचिताः स्वप्नलक्षणा दलोद्गतयः पर्णनिर्गमा यस्य ॥ १४ ॥ स्वस्व वार्धकलक्षणे शरदीय शरदि शिशिरान्ते शान्ता उपरताः शीर्णाश्च ईहाधेष्टास्त्रलक्षणाः पर्णसंततयो यस्य । कलत्रं भार्यादिपोष्यवर्गस्वरूपा उप समीपप्रकृता तृणावलिः कक्षो मस्य ॥ १५ ॥

पल्लवावयवा हस्तपादपृष्ठादयोऽरुणाः ।
पत्राणि तनुवृत्तानि सुरेखाणि खलानि च ॥ १६
अरुणाः पवनालोला मृद्यो मसृणमूर्तयः ।
स्नाय्वस्थिदिग्धसरसा अङ्गुल्यो बालपल्लवाः ॥ १७
मृद्यो मसृणतीक्ष्णाप्रा वृत्ता रुढाः पुनःपुनः ।
द्वितीयेन्दुकलाकाराः कलिका नखपङ्क्तयः ॥ १८
कर्मणः परिफुल्लस्य देहरूपतयेति हि ।
कर्मेन्द्रियाणि मूलानि दुष्टानि ग्रन्थिमन्ति च ॥ १९
स्थिरास्थिग्रन्थिनश्चानि पङ्कमप्रात्मकानि च ।
वासनारसपीतानि निजरत्नरसानि च ॥ २०
गुल्फवन्ति दटाङ्गानि सुत्वञ्चि मसृणानि च ।
तेषामपि च मूलानि विद्धि बुद्धीन्द्रियाणि हि ॥ २१
सुदूरमपि जातानि पञ्चस्तम्बानि तानि तु ।
वासनापङ्कमप्राणि रसवन्ति महान्ति च ॥ २२
तेषां मूलं बृहत्स्तम्भं मनो व्याप्तजगज्जयम् ।
पञ्चस्रोतःशिराकृष्टमुक्तानन्तरसद्रवम् ॥ २३
तस्य मूलं विदुर्जावं चेत्योन्मुखचिदात्मकम् ।
चेत्यस्य चेतनं मूलं सर्वमूलैककारणम् ॥ २४
चित्तेस्तु ब्रह्म मूलं यत्तस्य मूलं न विद्यते ।
अनाख्यत्वादनन्तत्वाच्छुद्धत्वात्सत्यरूपिणः ॥ २५

हस्तयोः पादयोश्च पृष्ठानि मृद्वानि आदिपदादोष्ठी कर्णौ जिह्वेत्यादयस्तस्य अरुणास्तामवर्णाः पल्लवरूपा अवयवाः । अल्पारुणानि तु तनुवृत्तानि सुरेखाणि च हस्तपादतलानि इषत्कटोरत्वात्पत्राणि ॥ १६ ॥ अन्तःस्नाय्वस्थिदिग्धत्वात्सरसा रम्या अङ्गुल्यस्तस्य पवनालोला बालपल्लवाः ॥ १७ ॥ छिन्ना अपि पुनःपुना रुढाः प्रादुर्भूता नखपङ्क्तयस्तस्य कलिकाः कोरकाः ॥१८॥ इति देहवृक्षरूपतया परिफुल्लस्य प्रकृतस्य प्राक्तनकर्मणः कर्मेन्द्रियाणि मूलानि । तेषु तरुमूलधर्मोन्दर्शयति—दुष्टानीति । तेषु यानि सच्छिद्राणि तान्यासङ्गकामादिसर्षदुष्टानि यान्यच्छिद्राणि तानि ग्रन्थिमन्ति ॥ १९ ॥ तानि पुनर्यथायोगं विशिनष्टि—स्थिरेति । पङ्को नाडीषु पूर्णोऽक्षरसस्तन्मप्रात्मकानि ॥ २० ॥ तत्र पादेन्द्रियाणि गुल्फवन्ति । सुत्वञ्चि शोभनत्वकसंश्रुतानि अत एव मसृणानि । तेषां मूलान्तराप्याह—तेषामपीति ॥ २१ ॥ सुदूरस्थविषयं प्रत्यपि जातानि प्रादुर्भूतानि । देहाद्बहिर्विषयदेशं गत्वापि प्रहीतुं समर्थानीत्यर्थः । पञ्चस्तम्बानि नेत्रगोलकादिपञ्चविधस्थानाश्रितानि । कर्मेन्द्रियवदेव स्वस्वविषयवासनापङ्कमप्राणि । अत एव तत्र रसवन्ति । महान्ति निग्रहीतुमशक्यानि ॥ २२ ॥ पञ्चेन्द्रियस्रोतोरूपाभिः शिराभिरन्तराकृष्टा उपभोगोत्तरं शुक्लाश्च अनन्ता रूपादिरसद्रवा येन ॥ २३ ॥ तस्य मनसोपि मूलं चेत्योन्मुखी चिदाभासभावेन चेत्यप्रवणा या तेजोवत्प्रविष्टा चित् तदात्मकम् । तत्र चेत्यांशस्य चेतनमविधासबला चिन्मूलम् ॥ २४ ॥ चित्तचिदाभासांशस्य तु चिन्मभूतं ब्रह्म चैतन्यमेव मूलम् ॥ २५ ॥

सर्वेषां कर्मणामेषं वेदनं बीजमुत्तमम् ।
स्वरूपं चेतयित्वास्तस्ततः स्पन्दः प्रवर्तते ॥ २६
मुने चेतनमेवाद्यं कर्मणां बीजमुच्यते ।
तस्मिन्सति महाशास्त्रो जायते देहशास्त्रमलिः ॥ २७
एतच्चेतनशब्दार्थभावनावलितं यदि ।
तत्कर्म बीजतामेति नो चेत्सत्परमं पदम् ॥ २८
चित्तिच्चेतनशब्दार्थभावनावलिता यदि ।
तत्कर्म बीजतामेति नो चेदाद्यं परं पदम् ॥ २९
तस्माद्देवनमेवेह कर्म कारणमाकृतेः ।
यदेतत्कर्मणां प्रोक्तं त्वयैवोक्तं मुनीश्वर ॥ ३०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अस्य राघव सूक्ष्मस्य कर्मणो वेदनात्मनः ।
कस्त्यागः किमनुष्ठानं यावदेहमिति स्थितम् ॥ ३१
यच्चेत्यते नु तेनाशु बहिरन्तश्च भूयते ।
सत्याकारमसत्यं वा भवत्वाहितविभ्रमम् ॥ ३२
न चेत्यते चेतदलं भ्रमादस्माद्विमुच्यते ।
भ्रमः सत्योऽस्त्वसत्यो वा किं विचारणयानया ॥ ३३
एतच्चेतनमेवास्तत्कर्मसत्युद्भवभ्रमैः ।
वासनेच्छामनःकर्मसंकल्पाद्यभिधात्मभिः ॥ ३४

वेदनं चेत्योन्मुखचित् । तच्चाहङ्कारदितादात्म्यापन्नं कर्तृस्वरूप-
महमिति चेतयित्वा क्रियात्मकस्पन्दः संस्तफलाय प्रवर्तते
॥ २६ ॥ चेतनं जीवचिदेव ॥ २७ ॥ एतज्जीवचैतन्यमहङ्का-
रादिसंबलनेन कर्तृचेतनोऽहमिति शब्दार्थभावनयोद्भूत्या यदि
संवलितं तत्तदेवेत्यर्थः । कर्मणां बीजतां मूलताम् ॥ २८ ॥
तदेव स्पष्टमाह—चित्तिरिति । वलिता वेष्टिता । तत् भावना-
संवलितरूपम् ॥ २९ ॥ उक्तार्थस्य प्रामाणिकतासिद्धये गुरुवाक्य-
संबाधिवोक्तयोपसंहरति—तस्मादिति । आकृतैर्देहाद्यहंभा-
वाकारस्य स्वस्य वेदनमेव कर्मणां कारणम् । मया यदेतत्क-
र्मणां मूलं प्रोक्तं तत्प्राक्त्वयैवोक्तं त्वद्वचनमालम्ब्यैवेदं मया
प्रोक्तमित्यर्थः ॥ ३० ॥ एवं त्वया वर्णितं कर्ममूलं न तूष्णीमव-
स्थानेन देहत्यागेन वा त्यक्तुं शक्यमिति न त्वदुत्प्रेक्षितरीत्या
कर्मनिवृत्तिः संभवतीत्याशयेन वसिष्ठ उवाच—अस्येति । याव-
देहं यावदुपाधि ॥ ३१ ॥ तस्मिन् सति बाह्यान्तरहयाध्यासो
दुर्निवार इत्याह—यदिति । यद्यत्तेन बाह्यमाभ्यन्तरं वा
चेत्यते तेन तेन दृश्येन भूयते उद्भवः प्राप्यते । नु इति संभावेन
॥ ३२ ॥ सुषुप्त्याधिकाले न चेत्यते चेत् । 'तीर्णो हि तदा
सर्वाच्छोकान् हृदयस्य भवति' इति श्रुतेस्तथैवाशुमवाप्तेति
भावः । नन्वसत्यभ्रमेणास्य का कृतिस्तत्राह—भ्रम इति ।
बाधाभावे असत्यदुःस्वस्याप्यनुभवे सत्यविशेषादिति भावः
॥ ३३ ॥ एतज्जीवचेतनमेवौपाधिकैर्वासनादिनामभिरुद्भवभ्रमैः
संसारत्माना विकसति ॥ ३४ ॥ ननु तर्हि प्रबोधेन सप्रति-
बिम्बहेतुशिक्षोपाधिर्निरसनीयस्तत्राह—प्रबुद्धस्येति ॥ ३५ ॥
तस्माच्च तूष्णीभावेन देहत्यागेन वा कर्मोपरमः कर्मत्यागः

प्रबुद्धस्याप्रबुद्धस्य देहिनो देहगोहके ।
आदेहं विद्यते चित्तं त्यागस्तस्य न विद्यते ॥ ३५
जीवतां तस्य संत्यागः कथं नामोपपद्यते ।
केवलं कर्मशब्दार्थभावनाभावने सति ॥ ३६
कर्माकर्मत्वमुत्सृज्य स्वयमेव भवत्यजम् ।
असंभवति संत्यागे कर्मणो यः करोति हि ॥ ३७
इदं कर्तव्यतात्यागं न किञ्चित्तेन तत्कृतम् ।
बोधादिदंतासंबिधेः स्वयं विलयनासु यत् ॥ ३८
जगतस्तं विदुस्त्यागमसङ्गं मोक्षमेव च ।
वेदनं सति संबिधे सर्गादावेव वेद्यदृक् ॥ ३९
नोत्पन्ना विद्यते नैव तस्मात्किं केष वेदनम् ।
वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य रूपं यद्वेदनस्य वै ॥ ४०
न वेदनं तन्नो कर्म तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते ।
चेतनं प्रोच्यते कर्म संस्त्याभ्रविकासितम् ॥ ४१
अचेतनं विदुर्मोक्षं सं प्रत्येवोपदेशगीः ।
त्यागो हि कर्मणां तस्मादादेहं नोपपद्यते ॥ ४२
यैस्तु संपूज्यते कर्म तन्मूलं तैर्न मुच्यते ।
मूलं स्वकर्मणः संबिन्धनसो वासनात्मनः ॥ ४३
सा चादेहं समुच्छेत्सुमृते बोधाच्च शक्यते ।

किंतु यथाप्राप्तव्यवहारकालेऽप्यसत्ताद्वितीयकूटस्थचिन्मात्रोऽहं
नैव किञ्चित्करोमीति निष्क्रियात्मस्वभावस्थित्या कर्मशब्दार्थ-
भावनाया अभावने अनुद्भवे सति विनापि यत्नं कर्माकर्मत्व-
विकल्पमुत्सृज्य केवलं स्वयमेव भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ इतोऽ-
न्यथा नु कर्मत्यागो दुष्कर इत्याह—असंभवतीति ॥ ३७ ॥
बोधात्सर्वद्वैतबाधेन कर्मणोऽपि बाधलक्षणस्यागस्तु कुर्वतोऽप्य-
विरुद्ध इत्याशयेनाह—बोधादिति । इदंतासंबिधेर्दृश्यप्रतिभा-
सस्य स्वयमेव विलयनाद्वाधात्तु यदत्यन्तासत्त्वं तं जगतस्त्यागम्
॥ ३८ ॥ ननु बोधाद्वेद्यमेव बाध्यते न वेदनं तत्कथं तद्वाच्य-
उच्यते तत्राह—वेदनमिति ॥ ३९ ॥ सा च वेद्यदृक् तत्त्व-
दशा नोत्पन्ना नैव विद्यते । उपाधिबाधे चिदाभासस्य पृथगन-
वस्थानादिति भावः । यत्तु चिदाभासत्वरूपं वेद्योन्मुखत्वं
संत्यज्य शुद्धचिदात्मकं रूपं शिष्टं तच्च द्वैतवेदनं यतस्तत्कर्म-
क्रिया नो, येन भावस्त्युदन्तविदधात्वर्थः स्यादित्यर्थः । किंतु
ब्रह्मैवेत्याह—वेद्योन्मुखत्वमिति ॥ ४० ॥ यत्तु चिदाभा-
सात्मकं चेतनं तत्कर्म क्रियारूपमेव प्रोच्यते यतस्तत्सं-
स्त्या बुद्ध्याद्युपाधिकारकव्यापारेण जलादी प्रतिबिम्बितम-
भ्रमाकाशमिव विकासितम् ॥ ४१ ॥ अत एव मोक्षमचेतनं
चिदाभासान्यमेव विदुरनुभवनिष्ठाः । तेषां सं विवेकिनं
शिष्यं प्रति उपदेशगीः उपदेशवाणी च इति एवंप्रैव श्रूयत
इत्यर्थः । इत्थं च यावदेहं सुप्तेन व्यवहारः सिद्ध इत्याशये-
नाह—त्याग इति ॥ ४२ ॥ वासनात्मनो मनसः संबन्धिनी
चिदाभाससंबिध् ॥ ४३ ॥ कर्ममूलान्यान्यान्यपि कामवासना-

| | | | |
|--|----|----------------------------|----|
| राम केवलमेवान्तः कर्ममूलकरा परा ॥ | ४४ | अचेतनाकाशमन्यदेकं | |
| सूक्ष्मसंविदसंविद्या स्वयमेव निष्कृत्यते । | | तदेवमस्ति त्विदमर्थहीनम् । | |
| येन संविदसंविद्या स्वयमेव विचार्यते ॥ | ४५ | तद्योमरूपं यत एतदेवं | |
| तेन संसृतिवृक्षस्य मूलकापो वितन्वते ॥ | ४६ | निरामयं चेतनसारमाहुः ॥ | ४७ |

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कर्मबीजदाहयोगोपदेशो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः ३

| | | | |
|--|---|--|----|
| श्रीराम उवाच । | | निष्कृत्य ज्ञप्तिशब्दार्थबोधं तिष्ठ यथास्थितम् ॥ | ५ |
| अवेदनं वेदनस्य मुनीन्द्र क्रियते कथम् । | | सर्वावबोधोघावसरे ज्ञप्तिशब्दार्थयोरिह । | |
| नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ | १ | निर्वाणोदय इत्येव परमोमिति शाश्वताम् ॥ | ६ |
| श्रीवासिष्ठ उवाच । | | शुभाशुभात्मकर्म स्वं नाशनीयं विवेकिना । | |
| नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । | | तन्नास्तीत्यवबोधेन तत्त्वज्ञानेन सिध्यति ॥ | ७ |
| यदा तदैव सुकरं वेदनावेदनं स्वयम् ॥ | २ | कर्ममूलनिकाषेण संसारः परिशास्यति । | |
| एतौ वेदनशब्दार्थौ रज्जुसर्पभ्रमोपमौ । | | सुविचारितमन्विष्टं यावत्कर्म न विद्यते ॥ | ८ |
| असत्याबुद्धितौ विद्धि सुगतृष्णाभ्रसा समौ ॥ | ३ | चिद्रूपो बिल्वमज्जान्तश्चित्तसंज्ञां यदात्मनि । | |
| अबोधस्त्वनयोः भेदान्बोधो दुःस्वाय चैतयोः । | | करोति तद्यथा बिल्वान्न स्वल्पमपि भिद्यते ॥ | ९ |
| तस्मात्सदेव बुध्यस्व माऽसद्बुध्यस्व राघव ॥ | ४ | न यथा संनिवेशान्तः संनिवेशसतः पृथक् । | |
| जन्तोवेदनशब्दार्थबोधो दुःखकरः परः । | | तथा नभोर्यादि पृथक् न परस्मान्मनागपि ॥ | १० |

हीनि करोतीति कर्ममूलकरा । परा कर्तृत्वात्कारिषु भ्रष्टा च ॥४४॥ तस्मान्मदुक् एव कर्मत्यागोपाय इत्याशयेनोपसंहरति—सूक्ष्मेति । येन चिदाभासरूपा संवित् असंविद्या मूलाज्ञानेन सह स्वयमेव तत्त्वं बुद्ध्या विचार्यते रलयोरमेदाद्रिचाल्यते स्वरूपात्प्रच्यव्यते । तेन तन्मूला तत्तद्दृश्यदर्शनरूपा वृत्त्यवच्छिन्नचिदाभासात्मिकापि मूलबाधकस्वयमेव असंविद्या अप्रतिसंधानेन निष्कृत्यते । न तन्निष्कृतने पृथक्प्रयत्नापेक्षास्तीति भावः । क्वचित्पुस्तके येनेत्याद्युत्तरार्धं न पठ्यत एव तथा तेन संसृतिवृक्षस्य तत्त्वज्ञानेन सर्वबाधलक्षणो मूलकापो वितन्वते येन निष्कृत्यत इति परेण योज्यम् ॥४५॥ ४६॥ न विद्यते चेतनं चिदाभासो यत्र तथाविधमाकाशमेकमनन्यत्सजातीयमेदैरिदमर्थैर्दृश्यैर्हानं तद्ब्रह्मैवैवमुक्तदशा अस्ति तदेव सर्वेषामस्मदादिचेतनानां सारं पारमार्थिकं रूपमाहुर्नृणां विद इत्यर्थः ॥४७॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कर्मबीजदाहयोगोपदेशो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

अत्यन्तं माजिते वेद्ये यथातश्चमवेदनम् ।

निष्कियं चापि विदुषां तथोवाच इहोच्यते ॥ १ ॥

‘अवेदनं विदुर्मोक्षं चित्तक्षयमकृत्रिमम्’ इति यदुक्तं तत्र रामः शङ्कते—अवेदनमिति । यद्यपि ‘विद्योन्मुखत्वं-संलयज्य रूपं ब्रह्मवेदनस्य वै । न वेदनं तन्नो कर्म तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते ॥’ इति प्रागुक्तवाचासाः शङ्कया उत्थानं संभवति । तथाप्यन्ते संविदसंविद्या निष्कृत्यते इत्युक्त्या तथाश एवोक्तः स च तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यत इति प्रागुक्त्या सह विरुद्धः सतोऽसत्त्वायोगादिति संभवत्वेन प्रश्नः । ‘एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविन्दयसि न प्रेत्य संज्ञास्ती’त्युक्ते ‘अत्रैव मामगवानममुहत्

न प्रेत्य संज्ञास्ति’ इति मैत्रेयीप्रश्नवदिति ॥ १ ॥ अत एव ‘न वा अरे मोहं ब्रवीम्यविनाशी वारेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा मात्रा-संस्पर्शस्त्वस्य भवति’ इति याज्ञवल्क्यवद्वसिष्ठोऽपि समाधत्ते—नासत इति ॥ २ ॥ कथं सुकरं तदाह—एताविति । एतौ संसारदशाप्रसिद्धौ । ‘यत्र हि द्वैतमिव भवति तवितर इतरं पश्यति’ ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्’ ‘यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा’ इत्यादि-श्रुतिषु एतयोर्निषिद्धत्वादिति भावः ॥ ३ ॥ अत एव वेदन-घटितत्रिपुटीसाक्षिण्णिपुटीनिवृत्तिरेव मोक्ष इत्याशयेनाह—अबोधस्त्विति । सदविनाशिकूटस्थात्मरूपमेव बुध्यस्व । असत् त्रिपुट्यन्तर्गतवृत्त्याद्युपहितचिदाभासं मा आत्मेति बुध्यस्व ॥४॥ परिच्छिन्ने तस्मिन्नात्माबुद्धिरेव सर्वेषामनर्थहेतु-रित्याह—जन्तोरिति । निष्कृत्य समूलं छित्त्वा ॥५॥ व्यवहार-काले तस्य कथमुच्छेदः कार्यस्वत्राह—सर्वेति । सर्वत्रिपुटी-बाधलक्षणव्यवहारावसरेऽपि व्यावहारिकज्ञप्तिशब्दार्थयोः परम-न्यत् तत्र यथायोगं सर्वार्थपरं कूटस्थश्चिन्मात्रं सर्वशब्दपरेण ओमित्यनेन लक्षयित्वा स एवात्मा निर्वाणोदय इत्येव शाश्वतां निर्विकल्पं व्यवहियतामित्यर्थः ॥ ६ ॥ ईदृशबोधव्यवहारादेवो-त्तरपूर्वयोः शुभाशुभयोरश्लेषविनाशी सिध्यत इत्याह—शुभेति ॥ ७ ॥ कूटस्थात्मदर्शनमेव सर्वकर्ममूलवेदनोच्छेदेन सर्वकर्म-बाध इत्याह—कर्मैति । यावत्समूलं सफलं सशास्त्रोपपन्नपन्न-पुष्पं च सर्वं कर्म न विद्यते ॥ ८ ॥ यथा बिल्वमज्जा स्वान्तर्य-द्राजादि करोति तद्विल्वायथा न भिद्यते तथा चिद्रूपोऽप्यात्मनि यच्चित्तसंज्ञां क्रियाकारकादित्रिपुटीं करोति तत्स्वल्पं मनामपि न भिद्यत इत्यन्वयः ॥ ९ ॥ भूलोकसंनिवेशान्तर्गतो जन्तुर्हीनः

१ उःचायते तवोः इति पाठः. २ परेण इत्यत्र पूरणे इत्यपेक्षितम्.

यदेवाम्भस्तदेवान्तर्रवत्वमपृथग्यथा ।
 चित्तमेव तथा चित्तं तद्रूपत्वात्तदर्थयोः ॥ ११
 यथा प्रवृत्तं पयसि यथाऽऽलोकश्च तेजसि ।
 तथा ब्रह्मण्यतद्भावं चित्तं चित्तं च विद्यते ॥ १२
 चेतनं कर्म तत्त्वान्तर्निर्मूलं भ्रमयक्षवत् ।
 उदेत्यहेतुकं तच्चेन्नोदितं तन्न विद्यते ॥ १३
 चेतनं कर्म तच्चेतद्भाति स्पन्द इवानिलः ।
 अहेतुकं यदात्मैतद्बहिरन्तश्च सार्थधीः ॥ १४
 विस्तारः कर्मणां देहः सोऽहंतात्मा ससंसृतिः ।
 अचेतनानहन्त्वेन शाम्यत्यस्पन्दवातवत् ॥ १५
 अचेतनादनन्तात्मा भूत्वा होऽप्युपलोपमः ।
 संसारमूलकषणं कुरु क्रोडमुखाप्रवत् ॥ १६
 कर्मबीजकलाकोशत्याग एव कृतो भवेत् ।
 नान्यथा राधवान्तस्ते शान्तमस्तु सदा स्थितम् ॥ १७
 कर्मबीजकलात्यागे त्वेतस्मादितरात्मनि ।
 अविद्यमाने जीवस्य तज्ज्ञैर्विदितवस्तुभिः ॥ १८
 शान्तैर्न गृह्यते किञ्चिन्न च संत्यज्यतेऽपि च ।
 त्यागादानेन जानन्ति ततस्तैः शान्तमानसम् ॥ १९
 आकाशशून्यहृदयैर्ज्ञैर्यथास्थितमास्यते ।
 क्रियते च यथाप्राप्तं नाप्येतैः क्रियतेपि च ॥ २०
 प्रवाहपतितं सर्वं स्पन्दते शान्तमानसम् ।

संनिवेशो यथा भुवो न पृथक् । नभो व्योम तदन्तर्गतभूत-
 भुवनार्थादि च परस्मात्सन्मात्रात् पृथक् ॥ १० ॥ तदर्थयोश्चित्त-
 चित्तशब्दार्थयोस्तदर्थत्वाच्चिन्मात्रार्थकचित्तिधात्वर्थत्वात् ॥ ११ ॥
 अतद्भावं प्राहकत्वस्मर्तृत्वधर्मद्वयशून्यम् ॥ १२ ॥ कृतस्त-
 द्छून्यं तदाह—चेतनमिति । चेतयतीति चिदिति व्युत्पत्त्या
 हि चेतनमर्थप्रकाशनं चित्तः कर्म क्रियेत्यवगम्यते । तच्च कूटस्था-
 याक्षितो निर्मूलं भ्रमयक्षवन्मिथ्यैव यदहेतुकं मिथ्यारूपमुदेति
 तन्नोदितमेव । अतो न क्रियारूपमन्यतत्र विद्यत इति विकल्प-
 मात्रं तथा व्युत्पादनमित्यर्थः ॥ १३ ॥ एवं चेतनक्रियाया अपृ-
 थक्त्वे तद्विषयाणामपि तत्सिद्धमित्याह—चेतनमिति । यदा
 चेतनं कर्म अहेतुकमिति अनिलतत्स्पन्दवदपृथक् तदा बहिर्जा-
 प्रति अन्तःस्वप्नुषुष्योश्च सैवार्थधीरित्यर्था अप्यात्मैव न पृथ-
 गित्यर्थः ॥ १४ ॥ सर्वकर्मविस्तारो देह एव । 'अथ कर्मणा-
 मात्मेत्येतत्' इति श्रुतेः । स एव मूलतः अहंतात्मा शाखातः
 संसृतिः अचेतनं चिदाभासात्मकक्रियाबाधस्तल्लक्षणानहन्त्वेन
 मूलोच्छेदेन सहास्यः स शाम्यतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ चिदाभासो-
 च्छेदेन जीवस्यात्मनाशो घृत्त इति न मन्तव्यं किंतु स ब्रह्म-
 मावेनानन्तात्मा भूत्वा स्वानर्थसंसारमूलोच्छेदं परमपुरुषार्थं
 संपादितवानित्याह—अचेतनादिति । क्रोडो वराहस्तमुखाप्रं
 यथा मुस्तादिमूलकषणं करोति तद्वत् ॥ १६ ॥ नान्यथा हे
 राधव, अतः कारणात् ते अन्तः सदा स्थितं वेदनात्मकं कर्ममूलं

तेषां कर्मेन्द्रियाण्येवमर्धसंसृतबालवत् ॥ २१
 रसे निर्वासने लब्धे रसा अप्यतिनीरसाः ।
 नाम्नास्तिष्ठन्ति न बहिरज्ञाननिपुणा इव ॥ २२
 कर्मणो वेदनं त्यागः स च सिद्धः प्रबोधतः ।
 अवस्तु नेतरेणार्थः किं कृतेनाकृतेन वा ॥ २३
 अवेदनमसंवेद्यं यद्वासनमासितम् ।
 शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २४
 अपुनःस्वरणं सम्यक् चिरविस्मृतकर्मं तत् ।
 स्थितं तन्मोदरसमं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २५
 अत्यागं त्यागमिति ये कुर्वन्ते व्यर्थबोधिनः ।
 सा भुङ्क्ते तान्यज्ञानान्कर्मत्यागविशाचिका ॥ २६
 समूलकर्मसंत्यागेनैव ये शान्तिमास्थिताः ।
 नैव तेषां कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥ २७
 समूलमलमुद्धृत्य कर्मबीजकलामिति ।
 नित्यमेकसमाधानास्तज्ज्ञास्तिष्ठन्त्यतः सुखम् ॥ २८
 प्रवाहपतिते कार्ये ईषत्स्पन्दा अतन्मयाः ।
 घूर्णमाना इव क्षीया यन्प्रसंचारिता इव ॥ २९
 मोक्षलक्ष्म्या विलासिन्या व्यसनोपहृता इव ।
 अर्धसुप्तप्रबुद्धाभाः कामप्यवनिमागताः ॥ ३०
 यत्सिमूलं परित्यक्तं तस्यकमिति कथ्यते ।
 अमूलकावस्थागो यः स शाखालघनोपमः ॥ ३१

शान्तमस्तु ॥ १७ ॥ एतस्मिन्कर्मबीजकलात्यागे कृते जीवस्य
 इतरात्मनि ब्रह्मात्मत्वातिरिक्ते चिदाभासात्मनि तद्दृश्यप्रपञ्चा-
 त्मनि च अविद्यमाने जाते तज्ज्ञैः शान्तैः किञ्चिन्न गृह्यते न
 त्यज्यते चेति परेणान्वयः । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं
 पश्येत्' इति श्रुतेरिति भावः ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ यथा
 नदीप्रवाहपतितं तृणकाष्ठादि सर्वं स्पन्दते एवं तेषां कर्मेन्द्रि-
 याणि शान्तमानसं विनापि मनोविकारं स्पन्दते इति विपरिण-
 म्यते ॥ २१ ॥ निर्वासने निर्बिषये रसे निरतिहायानन्दे ।
 रसा भोगप्रवणाः करणवृत्तयो नीरसा रागशून्याः सन्तोऽज्ञान-
 निपुणाः स्वस्वविषयप्रकाशे असमर्था इव भूत्वा ॥ २२ ॥
 प्रागुक्तवेदनमेव कर्मणस्त्यागः । इतरेण जीवनादृष्टाक्षितदेहादि-
 स्पन्दरूपेण कर्मणा ॥ २३ ॥ अनुल्लेखं कृताकृतप्रतिसंधानशून्य-
 न्यम् ॥ २४ ॥ २५ ॥ अत्यागं मूलत्यागरहितं कर्मेन्द्रियसंय-
 ममात्ररूपम् । तथा चोक्तं भगवता 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य
 आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान्निमृहात्मा मिथ्याच्चारः स
 उच्यते ॥' इति ॥ २६ ॥ २७ ॥ इति प्रागुक्तरीत्या समूलमु-
 रस्य ॥ २८ ॥ अतन्मयास्तदभिमानलक्षणविकारशून्याः ।
 क्षीया मदिरोन्मत्ता इव । यन्नेत्र संचारिताः काष्ठादिप्रतिमा
 इव च ॥ २९ ॥ व्यसनेन आसक्त्यतिशयेन उपहृताः स्वदेहा-
 यप्रतिसंधानं प्राप्ता इवेत्युत्प्रेक्षा । कामप्यवनिं पद्मभ्यादिभूमि-

अकृष्टमूलशाखाप्रलवनः कर्मपादपः ।
 पुनः शाखासहस्रेण दुःखाय परिवर्धते ॥ ३२
 अवेदनात्मना तेन कर्मत्यागोऽङ्ग सिध्यति ।
 क्रमेण नेतरेणात् एतदेवाहरन्भव ॥ ३३
 ये त्वेवं कर्मसंत्यागमकृत्वान्यत्रकुर्वते ।
 अत्यागं त्यागरूपात्म गगनं मारयन्ति ते ॥ ३४
 बोधात्मकतया कर्मत्यागः संपद्यते स्वयम् ।
 दग्धबीजा निरिच्छोच्चैरक्रियैव भवेत्क्रिया ॥ ३५
 बुद्धीन्द्रियेहितं कर्म सफलं रसभावनात् ।
 वेष्टितव्यं कुदास्त्रेव स्पन्दोऽन्यो निष्फलोऽङ्गजः ॥ ३६
 कर्मत्यागे स्थिते बोधाजीवन्मुक्तो विधासनः ।
 गृहे तिष्ठत्वरण्ये वा शाम्यत्वभ्येतु बोदयम् ॥ ३७
 गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।

इत्यर्थे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपशमयोगोपदेशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः ४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

साहंतादिजगच्छान्तौ बोधे संवित्कलात्मनि ।
 संशान्तदीपसंकाशस्त्यागः सिद्ध्यति नान्यथा ॥ १
 न त्यागः कर्मसंत्यागो बोधस्त्याग इति स्मृतः ।
 अजगत्प्रतिभैकात्मा योऽनहंतादिरव्ययः ॥ २
 अयं सोहमिदं तन्म इति निःस्नेहदीपवत् ।
 शान्ते परमनिर्वाणे प्रबोधात्मेति शिष्यते ॥ ३

काम् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ न कृष्टमुन्मूलितं मूलं यत्र तथाविधं
 शाखाप्रलवनं यस्य ॥ ३२ ॥ तेन प्रागुक्तेन क्रमेणाहरन्भवस्य-
 न्भव तिष्ठ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ निरिच्छा जीवन्मुक्तक्रिया उच्चैर्महार-
 भापि दग्धबीजेत्याक्रियैव । न हि महानपि दग्धतन्तुः पटा-
 भासः पटो भवतीति भावः ॥ ३५ ॥ बुद्धिसहितैरिन्द्रियैर्भोगा-
 संकिरसभावनादीहितं निष्पादितम् । यथा कुदाप्रा वेष्टितव्यं
 कूपकाष्ठं रसभावनाज्जलोद्धरणसेचनदिरूपात्सस्यसंपत्त्या सफलं
 न तु वृथा चेष्टामात्रात्तद्वदन्योऽङ्गजः कायचेष्टामात्ररूपः स्पन्दो
 निष्फलः ॥ ३६ ॥ शाम्यतु धनादिसंपदपचयेन दरिद्रोऽस्तु ।
 उदयं तदुपचयमभ्येतु वा । स सम एवेति शेषः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
 गेहमेवेत्येतच्छ्लोकस्य पूर्वार्धं वर्णयति—परिशान्तेति
 द्वाभ्याम् ॥ ३९ ॥ निर्वाणं ज्ञानाग्निना सहोपरतं दृश्यं यस्य
 ॥ ४० ॥ तदुत्तरार्धं वर्णयति—अनन्तेति त्रिभिः ॥ ४१ ॥
 ॥ ४२ ॥ विविधैः कार्यैरवश्यकर्तव्यैरर्जनव्ययप्रवासकलहादिभिः
 सदैव लोभमोहशोकभयसक्त्यादिविकारदशामयी । पुरं शाखा-
 नगरम् । पत्तनं महानगरम् । मण्डलान्यवान्तरदेशाः । मल्लिने
 हृदि ईदृशी अमला स्फुटा सर्वा मही मुकुरकोशे इव प्रतिबि-
 म्बिता भवत्येवेत्यस्य नारण्येऽपि विश्रान्तिसुखमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

१ भयारत्नादीति पाठः.

अशान्तस्याप्यरण्यानि विजना सजना पुरी ॥ ३८
 परिशान्तमतेर्हस्य स्वप्नेऽप्यप्राप्तमानवा ।
 निर्मला वितता हृद्या हृद्येव वनभूमिका ॥ ३९
 हस्य निर्वाणहृद्यस्य निरुपन्दार्या नभोमयी ।
 शान्ताशेषविशेषार्था जगदेव महाटवी ॥ ४०
 अनन्तसंकल्पवतो हृदयस्थजगत्स्थितेः ।
 हृद्येवावर्तते भूमिरहस्याखिलसागरा ॥ ४१
 जनस्याहस्य दीनस्य विविधद्वन्द्वसंकटा ।
 सारम्भा विविधाकारा हृद्येव प्राममण्डली ॥ ४२
 विविधकार्यविकारदशामयी
 सपुरपत्तनमण्डलपर्वता ।
 मुकुरकोश इव प्रतिबिम्बिता
 हृदि भवत्यमला मल्लिने मही ॥ ४३

अयं सोहमिदं तन्मे शान्तमित्येव यस्य नो ।
 न ज्ञानं तस्य नो शान्तिर्न त्यागो न च निर्वृतिः ॥ ४
 ममेदमयमेवाहमित्येतावति यः क्षयः ।
 बोधात्मा शिवमाशान्तं तस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ५
 अहमंशो विदा क्षीणे सर्वमेव क्षयं गतम् ।
 न किञ्चिच्च क्वचित्क्षीणं निर्वाणैकघनं स्थितम् ॥ ६
 अहंविद्वदहंविद्वत्त्वादेव शाम्यत्यविघ्नतः ।

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 दृश्योपशमयोगोपदेशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इहाहंतेव संसारमूलमित्युपवर्णयते ।

तस्यागम्यानहंभावभावनादात्मबोधतः ॥ १ ॥

दृगात्मनः सर्वदृश्यत्यागो हि मोक्षः स च ज्ञेयक्षये वीपनिर्वा-
 णवत्त्वबोधेन सर्वदृश्यमूलाज्ञानबाधे सिद्ध्यति नान्यथेत्याह—
 साहंतादीति ॥ १ ॥ न विद्यते जगत्प्रतिभा यस्मिंस्तथाविध
 एकात्मैव परिशिष्टो मुख्यः सर्वत्यागलक्षणो मोक्ष इत्यर्थः ॥ २ ॥
 स पामरप्रसिद्धोऽयं देहादिर्दृश्यरूपा एवाहं तद्देहादिसंबन्धं भोग्यं
 जगन्मे इति एतस्मिंस्तादात्म्यसंसर्गाध्यासलक्षणे द्विविधे बन्धे
 निःस्नेहदीपवत्समूलं शान्ते सति प्रकृष्टो बोधश्चैतन्यमेवात्मा
 इति परिशिष्यते स एव निर्वाणमोक्ष इत्यर्थः ॥ ३ ॥ उक्तमर्थं
 व्यतिरेकमुखेनापि द्रवयति—अयमिति ॥ ४ ॥ एतावति एता-
 वतो यः क्षयः । षष्ठ्यर्थे सप्तमी । स बोधात्मैव । अध्यस्तबाध-
 स्थाधिष्ठानमात्रत्वादिति भावः ॥ ५ ॥ विदा तत्त्वबोधेन । सर्व
 ममतास्पन्दं जगत् । सर्वनाशे सर्वस्वनाशभीकं समाधत्ते—न
 किञ्चिदिति । पारमार्थिकरूपेण सर्वं स्थितमेव ॥ ६ ॥ अहंविदि-
 नाशे सुलभ उपायमाह—अहंविदिति । अनहंविदत्त्वात्तदहं-
 भावभावनात् । अविघ्नत इति । नेदं रजतमित्युच्यते रजता-

एतावन्मात्रसाध्येवं किमिवेवं कदर्थना ॥ ७
 अहं नाहमिति भ्रान्तिर्न च चित्त्वाहतेऽस्ति सा ।
 चिरवं चाकलशशिवावस्तः कैषा भ्रमस्थितिः ॥ ८
 न भ्रमो भ्रमणं नैव न भ्रान्तिर्जीमकोऽस्ति वा ।
 अनालोकनमेवैवालोकानेदमस्ति ते ॥ ९
 विद्धि चिन्मात्रमेवैदमसद्रूपोपमं ततम् ।
 तेनालं मौनमास्त्वैवं सर्वं निर्वाणमात्रकम् ॥ १०
 येनैवाशु निमेषेण त्वहमित्येष चेतति ।
 तेनैव नाहमित्येष चेतित्वाशु न शोच्यते ॥ ११
 अहंभावं नभोर्येन निर्वाच्यारूढबाणवत् ।
 अजस्रमाशु धाऽक्षीणं तिष्ठावष्टघतत्पदः ॥ १२
 सनभोर्यामहन्तां त्वं चेतभेवमनारतम् ।
 सर्वभावैरनारूढो भव तीर्थभवार्षवः ॥ १३
 स्वभावमात्रविजये स्वयं यस्य न वीरता ।
 तस्योत्तमपदप्राप्तौ पशोर्बृह्दि कथैव का ॥ १४
 पद्मगो निर्जितः पूर्वं येनोत्तमविदा स्वतः ।
 भाजनं स महार्थानां नेतरो नरगर्दभः ॥ १५
 यस्य स्वान्तर्मनोवृत्तिर्जीयमाना जिताथवा ।
 विषयः स विवेकानां स पुमानिति कथ्यते ॥ १६

अर्थो ह्यदिवाभ्योधौ यो य आपतति त्वयि ।
 तस्मादेव पलायस्व नाहमित्येव भाषयन् ॥ १७
 नाहमस्मीति बुद्ध्यापि सोपपत्तिकमप्यलम् ।
 जानानो ह्यतिमात्रं च किमह इव मुह्यसि ॥ १८
 न हेयमर्थतोऽस्तीह हेङ्गीव कटकादिता ।
 भ्रान्तिमात्राहते सा च शाश्वत्यस्मरणेन ते ॥ १९
 यो यो भाव उदेत्यन्तस्त्वयि स्पन्द इवानिले ।
 नाहमस्मीति चिद्वस्था तमनाधारतां नय ॥ २०
 लोभो लज्जा मदो मोहो येनदाविति नो जिताः ।
 निरर्थकमनर्थेऽस्मिन्स किमर्थं प्रवर्तते ॥ २१
 अहन्त्वं पवने स्पन्द इव यत्त्वयि संस्थितम् ।
 परमात्मनि तन्नान्यदेतत्स्पन्द इवानिले ॥ २२
 असर्गसंविदा सर्गः परेऽस्तोऽतिविराजते ।
 संनिवेशविशेषेण दुरथोऽपि हि शोभते ॥ २३
 परमात्मा तु नोदेति नास्तं याति कदाचन ।
 न चास्मादन्यदस्तीति को भावोऽभाव एव वा ॥ २४
 परं परे पूर्णं पूर्णं शान्तं शान्ते शिवं शिवे ।
 इत्येवमात्रं विततं नाहं न च जगन्न धीः ॥ २५
 अनिर्वाणे विनिर्वाणं शान्तं शान्ते शिवे शिवम् ।
 निर्वाणमप्यनिर्वाणं सनभोर्यं न वापि तत् ॥ २६

ध्यायन्नाधने विज्ञादर्शनादिति भावः । इयं मुक्तिः । इयमित्यती
 कदर्थना बहुसाधनसंपादनभ्रान्तिः किमिव किमर्थमित्यर्थः
 ॥७॥ नन्दनहंशुदिरपि द्वैतत्वाद्दहंशुदिवदध्यास एव । सा केन
 शाश्वतीति चेत्पहेन सह कतकरेणुरिव अहंशुद्ध्या सह स्वत
 एव चिदात्मनि सा शाश्वतीति सोपपत्तिकमाह—अहमिति ।
 चित्त्वात्परमार्थचित्त्वभावात् । ऋते विना ॥ ८ ॥ भ्रमत-
 त्साधनतत्फलतदाभ्याणामज्ञानमात्रविलासत्वाद्ज्ञाननिवृत्तौ न
 पृथगवस्थानमस्तीत्याह—नेति । अनालोकनमज्ञानम् ॥ ९ ॥
 ॥१०॥ यदा यदा अहंभावोदयप्रसक्तिसदा तदा तुल्यकालमेव
 तद्विरुद्धा अनहंभावबुद्धिरुपायेत्याह—येनैवेति ॥११॥ एव-
 मजज्ञं सावधानमुपस्थापितेनानहंभावेन अहंभावमाशु नभोर्येन
 सपुण्यादिना तुल्यं निर्वाच्य निर्बचनाहंतां नीत्वा रणे शरासना-
 रूढोऽर्जुनबाण इव अपराकुलः अवष्टब्धं दृढमालम्बितं तद्गण-
 पदं येन तथाविधः सजस्रीणं शाश्वतं तिष्ठ ॥ १२ ॥ नभोर्यैः
 समानां सनभोर्याम् । 'समानस्य च्छन्दस्यमूर्धेप्रभृत्युदकेषु'
 इति शः ॥ १३ ॥ स्वभावः स्वाभाविकाज्ञानप्रयुक्तोऽहंभावस्त-
 न्यत्रविजये ॥ १४ ॥ कामाद्यरिषद्द्वैः ॥१५॥ मध्यसाधिका-
 रिणो जीयमाना । उक्तसाधिकारिणो जिताः । पुमान् पुरुषार्थ-
 साधनेन सफलैरुत्पुंजन्मा ॥ १६ ॥ अम्भोधौ प्रक्षिप्ता ह्य-
 दिवैति नाहमित्यसन्नात्मभावना तदसंस्पर्श एवात्र पलायनम्
 ॥ १७ ॥ सोपपत्तिकं ह्यतिरूपं कं सुखं जानानः अनुभवप्रति-
 किं मुह्यसि । न मुह्यस्येवेत्यर्थः ॥ १८ ॥ अर्थत उपपत्तितस्ये
 हेवं नास्ति बाह्यारम्भगत्यायाद्युपपत्तीनां स्वया ज्ञातत्वादित्यर्थः

॥ १९ ॥ अथवा किमुपपत्तिसहलैर्नाहमिति दर्शनमेकमेवा-
 भ्यस्तं सर्वभ्रान्ति परिहरिष्यतीत्याह—यो य इति ॥ २० ॥
 इति एवरूपेणानहंभावेन येन न जिताः । निरर्थकं निष्फलं
 अनर्थं नास्तिक्ययथेष्टाचरणाद्यापादके अस्मिन्नध्यात्मशास्त्रे
 अनधिकारी स किमर्थं प्रवर्तते ॥२१॥ त्वयि परमात्मनि सति
 तदेतत् नान्यत् ॥२२॥ असर्गः कूटस्थाद्वयचिन्मात्रस्वभावस्त-
 संविदा परे परमात्मनि अस्तो विलीनस्तद्भावं प्राप्तः सन्
 विराजते । यथा स्रजि कल्पितः सर्पादिर्दुरथोऽपि बोधात्स्रजि
 विलीनः स्रक्संनिवेशविशेषेण कण्ठघृतः शोभते तद्वत् ॥२३॥
 बोधेन जगतो जीवस्य च परमात्मरूपसंनिवेशविशेषोत्पत्तिरभ्यु-
 पगता चेतदुत्तरे भावविकारा अपि स्युरिति तैर्जावजगद्भावध्वं-
 सादिभिश्च द्वैतापत्तिस्तत्राह—परमात्मा त्विति । कल्पितस्य
 चाधेनाधिष्ठानात्मतापत्तिर्नोत्पत्तिर्न वा ध्वंसः किंतु नित्यसिद्ध-
 तत्वभाव एव । कियैव हि विकारादिहेतुर्न ज्ञानमिति न
 द्वैतापत्तिरिति भावः ॥ २४ ॥ अहमादित्रिपुटीबाधे तत्परिच्छेद-
 प्रयुक्तजीवभावापगमात्पूर्णं शान्तं शिवं च त्वंपदलक्ष्यं
 परमेव । तत्र पूर्णं शान्ते शिवे च तत्पदलक्ष्ये परे स्वभावे
 स्थितमित्येतावन्मात्रं यथास्थितं तत्त्वबोधेन विततं नापूर्वं
 किंचिदुत्पादितमित्यर्थः ॥ २५ ॥ ननु प्रसीपनिर्वाणवत्स्वभावा-
 न्निर्वाणनिर्वाणं ज्ञानफलं निष्पन्नमित्यवश्यं वाच्यम् । अन्यथा
 ज्ञानस्य नैष्कल्यप्रसङ्गात्तत्राह—अनिर्वाणे इति । सत्यं निर्वाणं
 ज्ञानफलं तथापि तदत्यन्ताप्रसिद्धमनिशो सूर्ये निशानिर्वाणवद-
 निर्वाणे एव अस्मिन्निर्वाणं विज्ञानान्ते शान्तमिति ज्ञानार्थ-

१ कैषा शक्ति पाठः. २ अस्तीति पाठः.
 यो० वा० १३६

शस्त्राघाताः प्रसह्यन्ते सह्यन्ते व्याधिबेदनाः ।
 नाहमित्येवमात्रस्य सहने का कदर्थना ॥ २७
 जगत्पदार्थसार्थानामहमित्यक्षयोऽङ्कुरः ।
 तस्मिन्निर्मूलतां याते जगन्निर्मूलतां गतम् ॥ २८
 बाष्पेणेवाहमर्थेन निःसारेणापि सारवत् ।
 व्यामलः परमादर्शस्तच्छान्तौ संप्रसीदति ॥ २९
 अहमर्थः परे वायौ रूपन्दस्ताप्रशमे तु तत् ।
 अनिर्देश्यमनाभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३०
 अहमर्थः पुरो द्रव्यप्रतिबिम्बप्रवृत्तिः ।
 तच्छान्तौ सा निराभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३१
 अहमर्थांशुदे क्षीणे परमार्थशरभः ।
 परयानन्तया लक्ष्म्या स्वच्छयाच्छं विराजते ॥ ३२
 अहमर्थमलोन्मुक्तमव्यक्तं ताम्रमङ्ग चेत् ।
 तत्परं परमाभासं संपन्नं हेम कान्तिमत् ॥ ३३
 यथा निरमिधार्थश्रीर्भजत्यव्ययपदेश्यताम् ।
 तथानहन्ताहन्तेयं ब्रह्मत्वमधिगच्छति ॥ ३४
 अस्त्यहन्त्वे स्थितं ब्रह्म सनामेव पदार्थवत् ।
 शान्तवत्सदिवाभासं तद्वत्स व्यपदेशवान् ॥ ३५
 अहमर्थो जगद्बीजं यदि दग्धमभावनात् ।
 तदहन्त्वं जगद्बन्ध इत्यादेः कलनैव का ॥ ३६

निवृत्तिरूपं ज्ञानफलमपूर्वम् । एवं शिवे नित्यसिद्धनिरतिशयानन्दे
 द्विमानन्दवाप्तिलक्षणं फलमपि नापूर्वमिति न ज्ञानफलेन
 द्वैतापत्तिः । यदि प्रतीचि बन्धो ब्रह्मणि वियदादिपदार्थश्च सत्यः
 स्यात्तदा तन्निर्वाणं प्रथीपनिर्वाणवदपूर्वं स्यात् । इदं तु रज्जु-
 सर्पनिर्वाणवत्प्रतीचो बन्धनिर्वाणमनिर्वाणमेव । तद्ब्रह्मापि वा
 सनभोर्य वियदादिसत्यार्थसहितं वस्तुतो न भवत्येवेति तन्नि-
 वृत्तिरपि न द्वैतापादिकेत्यर्थः ॥ २६ ॥ अनहंभावनाया असह्यतां
 वारयति—शास्त्रेति ॥ २७ ॥ २८ ॥ परमात्मलक्षण आद-
 शोऽहमर्थेनार्हकारेण मुखबाष्पेण प्रसिद्धादर्श इव व्यामलो
 व्यासमलो मलिनो भातीयर्थः ॥ २९ ॥ अनन्तमद्वयमाकाश-
 मात्रं च ॥ ३० ॥ बाह्यानर्थदर्शनेऽप्यहंकार एव हेतुरित्याह—
 अहमर्थ इति । सा चित् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ हे अङ्ग, अव्यक्त-
 मनाविभूतस्वभावं चिरमहमर्थताम्रमलसंपर्काञ्जीवताम्रतामापन्नं
 ब्रह्म हेम श्रवणाद्युपायनिष्ठमहमर्थमलोन्मुक्तं चेतदेव परं
 परमाभासमतिभास्वरमत एव कान्तिमत् ब्रह्म हेम संपन्नम् ।
 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यते' इति श्रुतेरित्यर्थः
 ॥ ३३ ॥ अहन्तानिवृत्तौ मम केन शब्देन व्यपदेश इति
 चेद्यथा समुद्रे विलीनायाः सैन्धवकरकाद्यर्थश्रियः करकाद्यमि-
 धानिवृत्त्या अव्यपदेश्यता तद्वत्तवापीत्याह—यथेति ॥ ३४ ॥
 तस्य ब्रह्मादिनाम्ना व्यपदेशोऽपि इतरपदार्थवत् अहन्त्वलक्षणा-
 ल्पत्वात्पर्ययवृद्धत्वलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तं परिकल्प्य प्रवृत्तो न
 वस्तुवृत्तेनेत्याह—अस्तीति । यथा शान्ततरङ्गादिजलं स्वभावेन
 स्थितं प्राक्जनसमुद्रतरङ्गादिरूपेणान्तः सखिभावभासमानं तरङ्ग-

सद्रस्य शिवमात्मेति परे नामकलङ्किता ।
 उदेत्यहन्ता कुम्भत्वादिव मृदातुविस्मृतिः ॥ ३७
 अहमर्थादियं बीजात्सत्ता बिम्बलतोत्थिता ।
 यस्यां जगन्त्यनन्तानि फलान्यायान्ति यान्ति च ॥ ३८
 साद्यच्च्युर्वीनदी सेयं रूपालोकैषणादिका ।
 अहमर्थस्य मरिचबीजस्यान्तश्चमत्कृतिः ॥ ३९
 यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
 इत्यामोदोऽहमर्थोप्रकुसुमस्य विकसिनः ॥ ४०
 अहमर्थः प्रविसृतः प्रकटीकुरुते जगत् ।
 सद्रूपालोकमननं प्रवृत्त इव वासरः ॥ ४१
 प्रवृत्तेन दिनेनार्थः प्रकटीक्रियते यथा ।
 असज्जगदहन्त्वेन क्षणाग्निर्मीयते तथा ॥ ४२
 अहमित्यर्थदुस्तैललवो ब्रह्मणि वारिणि ।
 प्रसृतो यत्तदाश्वेतत्रिजगच्चक्रकं स्थितम् ॥ ४३
 उन्मेषमात्रेणाहन्ता जगन्त्यनुभवत्यहो ।
 न निमेषेण दृगिव सत्यानीत्यप्यसन्त्यलम् ॥ ४४
 अहमर्थे प्रविसृते संसारो ह्यनुभूयते ।
 नान्तर्भूय परिक्षीणे लोचनस्येव तारके ॥ ४५
 अहमंशे निरंशत्वं नीते शाश्वतसंविदा ।
 शाम्यतीयमशेषेण संसारमृगतृष्णिका ॥ ४६

समुद्रादिव्यपदेशभाक् जलस्वभावेनाव्यपदेश्यमेव तद्वदित्यर्थः
 ॥ ३५ ॥ अभावनाद्भावनामूलाज्ञाननाशात् । तत् तर्हि ॥ ३६ ॥
 अहमर्थस्य जगद्बीजतामुपपादयितुं तदुद्भवप्रकारमाह—
 स्रदिति । सत् कालत्रयाबाध्यम् । ब्रह्म अपरिच्छिन्नम् । शिवं
 निरतिशयानन्दम् । आत्मा अपरोक्षचिदेकरसमित्येवंस्वभावे
 परे नमनं नामश्चतुर्णामपि स्वभावानां संकोचस्तेन कलङ्किता
 संजातमालिन्या अत एव मृदः कुम्भाकारपरिच्छेदान्मृत्स्वभाव-
 विस्मृतिरिव स्वभावचतुष्टयप्रतिसंधानशून्या समध्यहन्ता उदेति
 ॥ ३७ ॥ तस्मादहमर्थाद्बीजादियं दृश्यसत्तालक्षणा बिम्बलता
 उत्थिता । व्यष्टिभावेनानन्तान्यसंख्यानि ॥ ३८ ॥ तदेव
 प्रपन्नयति—साद्रीत्यादिना । अग्निभिरब्धिभिरुर्वीमिर्नदीभिश्च
 सहिता साद्यच्च्युर्वीनदी । बहिरिन्द्रियैरर्षालोचनं रूपालोको
 मनस्तद्गोचरकामसंकल्पादिवृत्तय एषणास्तदादिका ॥ ३९ ॥
 ॥ ४० ॥ मेरोः परभागे सद्रूप एव वासरः प्रविसृतः सन्
 सत एव रूपस्यालोकं मननं च यथा निमित्तभावेन करोति
 तद्वत् ॥ ४१ ॥ अर्थो रूपादिः । निर्मायत इति मिथ्यार्थस्य
 भावनमेव निर्माणमित्याशयः ॥ ४२ ॥ तैलस्य लवो बिन्दुः ।
 चक्रकं चक्राकाराभासः ॥ ४३ ॥ दृक् दुष्टचक्षुरिव असन्ति
 असत्यान्यपि जगन्ति सत्यानीत्यनुभवति । निमेषेण तिरोभावेन
 तु नानुभवति ॥ ४४ ॥ तदेव दृढीकर्तुं पुनराह—अहमर्थे
 इति । सुषुप्तिमरणमूर्च्छासु तिरोभूय स्थिते मोक्षे मूलतः
 परिक्षीणे च सति नानुभूयते । समाधौ अन्तर्भूय साक्षात्कारेण
 परिक्षीणे इति वा । तारके कनीनिकायाम् ॥ ४५ ॥ निरंशत्वं

स्वसंबिद्भावनामात्रसाध्येऽस्मिन्वरवस्तुनि ।
सिद्धमात्रात्मनि स्वैरं मा खेदं गच्छ मा भ्रमीम् ॥ ४७
स्वयज्ञमात्रसंसाध्यादसहायादिसाधनात् ।
अनहंवेदनाभ्रान्यच्छ्रेयः पश्यामि तेऽनघ ॥ ४८
विस्मृत्याहं त्वमास्व प्रविस्तुतविभवः
पूरिताशेषविश्वो

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे अहंतानिरासो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

विश्वकूशैलान्तरिक्षक्षितिजलधिमरु-
न्मार्गरूपोऽमलात्मा ।
स्वस्थः शान्तो विशोकः करणमलकला-
वर्जितो निष्प्रपञ्चो
निःसंचारश्चरात्मा सकलमसकलं
चेति सिद्धान्तसारः ॥ ४९

पञ्चमः सर्गः ५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स्वभावं स्वं विजित्यादाविन्द्रियाणां सचेतसाम् ।
प्रवर्तते विवेके यः सर्वं तस्याशु सिध्यति ॥ १
स्वभावमात्रं येनान्तर्न जितं दग्धबुद्धिना ।
तस्योत्तमपदप्राप्तिः सिकतातैलदुर्लभा ॥ २
शुद्धेऽल्पोऽप्युपदेशो हि निर्मले तैलबिन्दुवत् ।
लगत्युत्तानचित्तेषु नादर्श इव मौक्तिकम् ॥ ३
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मम पूर्वं भुशुण्डेन कथितं मेरुमूर्धनि ॥ ४
पुरा भुशुण्डः कस्मिंश्चित्पृष्ठ आसीत्कथान्तरे ।
मया कदाचिदेकान्ते मेरोः शिखरकोटरे ॥ ५

निःशेषताम् ॥ ४६ ॥ साधनफलयोरतिसुलभतां दर्शयति—
स्वसंबिदिति । स्वसंबित् स्वप्रकाशचिदात्मा तस्य भावना
तदाकारवृत्तिमात्रसिद्धिस्तावन्मात्रसाध्ये न तु जडेभिव तत्फल-
व्याप्तिप्रयत्नापेक्षास्तीति साधने अतिसुलभता । सिद्धमात्रात्म-
नीति फलेऽप्युत्पादनप्रयत्नानपेक्षत्वादतिसुलभता सूचिता ।
भ्रमीमहंभावादिभ्रान्तिम् । 'कृदिकारादक्तिनः' इति ऋषि
॥ ४७ ॥ पुरुषान्तरादिबाह्यसाधनानपेक्षत्वादप्यतिसुलभता-
माह—स्वेति ॥ ४८ ॥ इदानीं सर्वोपदेशसिद्धान्तसारं संक्षिप्य
दर्शयन्नुपसंहरति—विस्मृत्येति । हे राम, त्वं प्रथमं व्यग्रहं-
भावं विस्मृत्य विश्वकू सर्वतः प्रसिद्धः शैलान्तरिक्षक्षितिजल-
धयश्च मरुद्वायुश्च तन्मार्ग आकाशश्चैत्येवंरूपः पूरिताशेषविश्वः
प्रविस्तृतविभवः सन् समष्टिभावेनास्व । तदनन्तरं निः-
संचारः स्थावरश्चरात्मा चेति सकलं निष्प्रपञ्चं ब्रह्मवेति बाधित्वा
निष्प्रपञ्चः करणैर्मलैः कलाभिश्च वर्जितः सन् स्वस्थः शान्तो
विशोकोऽमलात्मा आस्वेत्यध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चात्म-
परिशेष एव सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
अहंतानिरासो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

मुग्धबुद्धिमनात्मन्नं कं त्वं सुचिरजीवितम् ।
स्मरसीति मया पृष्टेनोक्तं तेनेदमङ्ग मे ॥ ६
भुशुण्ड उवाच ।
आसीद्विद्याधरः पूर्वमनात्मज्ञः सुखेदितः ।
लोकालोकान्तरशृङ्गे शुष्क आर्यो विचारवान् ॥ ७
तपसा बहुरूपेण यमेन नियमेन च ।
अक्षीणायुरतिष्ठत्स पुरा कल्पचतुष्टयम् ॥ ८
ततश्चतुर्थे कल्पान्ते विवेकस्तस्य चोद्भूत् ।
विदूरस्येव वैदूर्यमौचित्याज्जलदोदयात् ॥ ९
पुनर्मृतिः पुनर्जन्म जरा मेति विभावयन् ।
लज्जेऽहं तत्किमेकं स्यात्स्थिरमित्यवमृष्ट्य सः ॥ १०

शास्त्रं जितेन्द्रियेष्वेव सफलं नेतरेष्विति ।

वासिष्ठेन भुशुण्डोक्ता विद्याधरकथोच्यते ॥ १ ॥

सचेतसां समनस्कानामिन्द्रियाणां स्वं विषयानुषावनलक्षणं
स्वभावमादौ विजित्य पश्चाद्यो नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधने
प्रवर्तते तस्यैव सर्वं शास्त्राचार्योपदेशफलं प्रसिध्यति नान्यस्ये-
त्यर्थः ॥ १ ॥ सिकतानिष्पीडनश्रम इव चिराभ्यस्तोऽपि श्रव-
णादिनिष्फल इत्यर्थः ॥ २ ॥ निर्मले ब्रह्मादौ तैलबिन्दुवत्प्रगति
अन्तर्निविशते । उत्तानमगम्भीरं साधनचतुष्टयरिक्तं चित्तं येषां
तेषु ॥ ३ ॥ ४ ॥ कथान्तरे अध्यात्मकथाप्रस्तावे ॥ ५ ॥
मुग्धबुद्धिरज्ञोऽवश्यमजितेन्द्रियो वृथाश्रमश्च भविष्यतीति
तादृशस्यैव प्रश्नः ॥ ६ ॥ सुष्ठु खेदितः अजितेन्द्रियैः खेदं
प्रापितः । अत एव शुष्को विश्रान्तिरसहीनः । तपसा निय-
मेन यमेन च शुष्क इति परेणान्वयो वा । आर्यः आयु-
र्बुद्धिहेतुसदाचारसंपन्नः ॥ ७ ॥ ८ ॥ औचित्याच्चिराभ्यस्त-
पोनियमादेर्विवेकोदयावदयंभावात् । यथा विदूरभूविशेषस्य
जलदोदयाद्वैदूर्यं रत्नमुद्भवति तद्वत् ॥ ९ ॥ विवेकस्वरूपमेव
दर्शयति—पुनरिति । जरा मा मा भूत् इति विभावयन् लज्जे ।
निर्विण्ण इति यावत् ॥ १० ॥ पञ्च प्राणा दशेन्द्रियाणि मनोबुद्धी

मामाजगाम संप्रष्टमष्टादशमयीं पुरीम् ।
 स्वामुपोह्य विरक्तात्मा संसारारसतां यतः ॥ ११
 स मत्समीपमागत्य कृतोदारनमस्कृतिः ।
 मत्पूजितोऽवसरत उवाचेदमनिन्दितम् ॥ १२
 विद्याधर उवाच ।
 मृदूनि परितापीनि दृषद्दृढबलानि च ।

छेदे मेदे च दक्षामि स्वशस्त्राणीन्द्रियाणि च ॥ १३
 पर्याकुलानि मलिनानि विपत्प्रदानि
 दुःखोर्मिमन्ति गुणकाननपावकत्वात् ।
 हार्दान्धकारगहनानि तमोमवानि
 जित्वेन्द्रियाणि सुखमेति च किं ममार्यैः ॥ १४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे बाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० विद्याधरोपाख्याने विद्याधरप्रश्नो नाम पञ्चमः सर्गः ॥५॥

षष्ठः सर्गः ६

विद्याधर उवाच ।

यदुदारमनायसं क्षयातिशयवर्जितम् ।
 पदं पावनमाद्यन्तरहितं तद्वदाशु मे ॥ १
 एतावन्तमहं कालं सुप्त आसं जडात्मकः ।
 इदानीं संप्रबुद्धोऽसि प्रसादादात्मनो मुने ॥ २
 मनो महामयोत्सतं क्षुब्धमज्ञानवृत्तिषु ।
 मामुद्धर दुरन्तेहं मोहादहमिति स्थितात् ॥ ३
 श्रीमत्यपि पतन्त्याशु शातनाः कानरादयः ।
 गुणवत्युग्रपत्रेऽपि तुहिनानीव पङ्कजे ॥ ४

जायन्ते च म्रियन्ते च केवलं जीर्णजन्तवः ।
 न धर्माय न मोक्षाय मशका इव पङ्कजे ॥ ५
 भावैस्तैरेव तैरेव तुच्छालम्भविडम्बनैः ।
 चिरेण परिखिन्नाः स्तो विप्रलम्भाः पुनः पुनः ॥ ६
 नान्तोऽस्त्यस्य न च स्वैर्यावस्थाऽविभ्रान्तमानसम् ।
 भ्रमतो भोगभङ्गेषु मरुभूमिष्विषाध्वनः ॥ ७
 आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
 अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः ॥ ८
 मानावमानपरया दुरहंकारकान्तया ।

द्वे स्थूलदेहक्षेत्राष्टादशमयीं स्नां पुरीम् । उपोह्य चिरं बोद्ध्वा
 ध्रान्तः विरक्त आत्मा मनो यस्य ॥ ११ ॥ अवसरतः,
 प्रभावसरं प्राप्येत्यर्थः ॥ १२ ॥ तत्र स्वखेदहेतूनिन्द्रियादिदोषा-
 निवस्तरणोत्तरत्र वर्णयिष्यन्नुपक्रमते—मृदूनीति द्वाभ्याम् ।
 स्वस्वविषयेषु शीघ्रानुप्रवेक्षित्वान्मृदूनि प्रवेशोत्तरकालं परिता-
 पीनि ततश्चालयितुमशक्यत्वाद्दृषद्दृढबलानि स्वशरी-
 रानुप्रविष्टशरादिशस्त्राणीन्द्रियाणि च तुल्यानीत्यर्थः ॥ १३ ॥
 इमानीन्द्रियाणि हार्दानि हृदि रूढान्यन्धकारगहनानि सान्ध-
 कारारण्यानि । कामादिमर्कटैः पर्याकुलानि । प्राणमनोदेह-
 हृदयेष्वशनायादिषुर्मिमन्ति । दैवात्कवचिदङ्कुरितस्य शमद-
 मादिगुणकाननस्य पावकत्वाद्दाहकत्वाद्दूर्मिमत्त्वेपि न शीतलानि ।
 ईदृशानीन्द्रियाणि चकारास्तदुपाश्रयं मनश्च जित्वा सुखमेति
 न भोगैः । अतो मम विद्याधरभोगलक्षणैरर्थैः किं प्रयो-
 जनम् । तद्विरक्तो जिज्ञासुः शरणागतोऽस्मीत्यर्थः ॥ १४ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 विद्याधरप्रश्नो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

दिग्भ्यभोगप्रसक्तेन चिरं स्वप्नेन परीक्षिताः ।

इह विद्याधरेणोक्ता विषयेन्द्रियदुर्नवासः ॥ १ ॥

अतः साधनचतुष्टयसंपन्नाय ब्रह्मजिज्ञासवे मह्यं ब्रह्मोपदि-
 शेत्याह—यदिति । सर्वकार्पण्यनिवर्तकमिदुःखनिरतिशया-
 नन्दरूपत्वाद्दुदारम् । आशु शीघ्रं वद । प्रवीतक्षिरस इव
 जलराशिं विविक्षोन्निविधतापसंतप्तस्य मम विळम्बसहनशक्ते-
 रिति भावः ॥ १ ॥ तर्हि प्रागेव कृतो नामस्तत्राह—
 एतावन्तमिति । आत्मनो मनसस्तीव्रतरपैरन्धकारात्प्रसादात्

॥ २ ॥ मनो महामयेन कामेनोत्तमम् । अज्ञानवृत्तिषु दुर्वास-
 नासु क्षुब्धम् । दुरन्ता दुरुच्छेदा ईहाः कर्माणि यस्य तम् । तत्र
 कारणमाह—मोहादिति । अहमित्यनात्मन्यत्माभिमानाका-
 रेण स्थितान्मोहात्स्वतत्त्वापरिज्ञानाभिमित्वादित्यर्थः । मोहाद्दु-
 रेति बुद्धिकृतापादाने वा पञ्चमी ॥ ३ ॥ ननु विद्याधराः सर्व-
 विद्याभयत्वाद्विद्याबलादेव सर्वदुःखनिराससमर्था मणिमन्त्रसा-
 यनादिसिद्धिभिरणिमार्थैश्च युक्ताः भूयन्ते, तत्किमेवं श्रीमति
 त्वयि कामादिदुःखशातनाः कातरस्ताकार्पण्यादिदोषाश्च निप-
 तिताः । येन देवयोनिश्रेष्ठत्वान्मान्यतमोऽपि त्वं निकृष्टकाकयो-
 निमपि मां शरणागतोऽसि पृच्छसि च तत्राह—श्रीमत्यपीति ।
 सर्वविद्यासिद्ध्यादिश्रीमत्यप्यात्मविद्याशून्ये कामकोपेर्ष्यासूयादि-
 दुःखशातनाः कातर्यादिदोषाश्च पतन्त्येव । अजितेन्द्रियत्वादिति
 भावः । पङ्कजपक्षे श्रीमति लक्ष्म्याधारे गुणवति विसतन्तुमति
 स्वाश्रयसक्तेहजलविमुखत्वात्कणैरलेप्यत्वाच्चोप्राणि भेदनिर्हृ-
 राणि पत्राणि यस्य तादृशेऽपि ॥ ४ ॥ ज्ञानामावे देवयोगीनां
 मशकादिषोणिसाम्बमेव धर्माधिकाराभावाविति सूक्ष्मस्व-
 वैराग्यहेतुं सर्वत्र दोषदर्शनं प्रपन्नयति—जायन्ते इत्या-
 दिना ॥ ५ ॥ भावैः सन्दादिविषयैस्तैः सहलक्षः पूर्वभुक्तैरेव
 तुच्छतमसुखस्वार्थं च आत्मभ्यो विषयेन्द्रियत्वेत्सहर्षणविक्ष-
 म्बनेवैखनोपापैर्विप्रलम्भाः । कर्मणि चम् । विप्रलम्भा वक्षिताः
 सन्तः । 'तुच्छाक्षैः' इति पाठे तुच्छानां क्षुब्धजन्तुनामप्यक्षैरुप-
 भोग्यभूतैरित्यर्थः ॥ ६ ॥ अविभ्रान्तमानसं यथा स्यात्तथा भोग-
 भङ्गेषु भङ्गुरेषु भोगेषु भ्रमतो ममास्य संसारात्त्वमोऽन्तोऽनसि,
 स्वैर्यावस्थानं स्वैर्यावस्था च नास्ति ॥ ७ ॥ ८ ॥ ननु कृत्वा-

न रमे वामया तात इतविधाधरभियः ॥ ९
 दृष्टाद्यैर्नयोऽप्यनुभूयः कुसुमकोमलाः ।
 कल्पबुधलतादत्तसमस्तविभवभियः ॥ १०
 विहृतं मेरुकुलेषु विधाधरपुरेषु च ।
 विमानवरमाळाहु वस्तस्वल्पस्थलीषु च ॥ ११
 विश्रान्तं सुरसेनासु काम्तायुजकतासु च ।
 द्वारिहारविलोसासु लोकपालपुरीषु च ॥ १२
 न किञ्चिदुचितं साधु सर्वमाधिष्णिवोष्मणा ।
 दग्धं भरस्रवते तात विज्ञातमधुना मया ॥ १३
 रूपालोकनलोलेन वनितामनघृभ्रुम् ।
 सावभासेन दोषाय दुःखं नीतोऽस्मि कञ्चुका ॥ १४
 इदं गुणावहं नैदमिति मुक्त्वा विकल्पनम् ।
 रूपमात्रानुसारित्वादवस्तुन्यपि धामति ॥ १५
 तावदायाति विरतिं न वदां यावदापदात् ।
 नानाबन्धपरं चेतः परानर्थेहितोऽमुक्त्वा ॥ १६
 प्राणमेतदनर्थाय धावन्धैवामितः स्फुटम् ।
 न निवारयितुं तात शक्नोमीह इयं यथा ॥ १७
 मन्धोदकप्रणालेन मुक्त्वासातुपातिना ।
 वैरिणेवातियोषेण प्राणेनास्मि निवोजितः ॥ १८
 चिरं रसनय्य चाहमनया नयहीनया ।
 गजगोमायुगुतेषु दुःखाद्रिष्वलमाहृतः ॥ १९

निरोधुं न च शक्नोमि स्पर्शकल्पतां त्वचः ।
 प्रीमकालसन्निवृत्तं तपमंशुमतो यथा ॥ २०
 शुभशब्दसार्थिभ्यो मुनेः भवणशक्तयः ।
 मां योजयन्ति विषमे तृणेच्छा हरिणं यथा ॥ २१
 प्रणताः प्रियकारिण्यः प्रहृष्टव्यसमीरिताः ।
 वाद्यगेयरवोन्मिभाः शुभशब्दभियः श्रुताः ॥ २२
 भियः स्त्रियो दिशश्चैव तटाध्याम्भोधिभूयताम् ।
 दृष्टा विभवहारिण्यः प्रहृष्टमणिभूषणाः ॥ २३
 चिरमास्वादिताः स्वादु चमत्कारमनोरमाः ।
 प्रहृष्टकान्ताजनानीताः वदुसा गुणशालिनः ॥ २४
 कौशेयकामिनीहारकुसुमस्तरजानिलाः ।
 निर्धिग्नममितः स्पृष्टा भृशामाभोगभूमिषु ॥ २५
 वधुमुखौषधीपुष्पसमालम्बनभूमयः ।
 अनुभूता मुने गन्धा मन्दानिलसमीरिताः ॥ २६
 श्रुतं स्पृष्टं तथा दृष्टं भुक्तं घ्रातं पुनः पुनः ।
 संशुष्कविरसं भूयः किं भजामि वदाशु मे ॥ २७
 भुक्त्वा वर्षसहस्राणि दुर्भोगपटलीसिमाम् ।
 आग्रहस्तम्बपर्यन्तं न तृप्तिरुपजायते ॥ २८
 साप्राज्यं सुचिरं कृत्वा तथा मुक्त्वा वधुगणम् ।
 भंक्त्वा परबलान्मुषैः किमपूर्वमवाप्सते ॥ २९
 येषां विनाशनं नास्तीत्यर्भुक्तं भुवनत्रयम् ।
 तेषुपि तेषुप्यकिरेणैव समं भक्ष्यपदं गताः ॥ ३०

पुण्याजितया विधाधरसंपदेव तव कुतो न विश्रान्तिस्तत्राह—
 मानेति । मानः स्तोत्रकर्षापादनाभिमानः, अपमानः परा-
 कर्षापादनम्, तदेव परं श्रेष्ठं यस्याम् । दुष्टः अहंकारो येषां
 तेषां काम्ताय रम्यथा । अत एव वामया विवेकिनां प्रति-
 कृत्या क्रिया च । तत्पक्षेऽपि विशेषणे योज्ये ॥ ९ ॥ सर्वत्र
 मुक्तभोगतय्य वैरस्यं प्रकटयति—दृष्टा इत्यादिना ॥ १० ॥
 ॥ ११ ॥ दृष्टाविभूषितानां द्वारा विलसा विहारचमत्कारा यासु
 ॥ १२ ॥ आधयो मानसदु खानि तद्विषोष्मणा दग्धम् । अधुना
 विवेकोदयकाले विज्ञातं न प्राक् ॥ १३ ॥ कीदृशेन विवेकेन
 किं किं कथं कथं ज्ञातं तत्प्रथमं चक्षुरादिषु दर्शयति—रूपे-
 त्यादिना । अधुना अभिकाङ्क्षमाणेन । शृभेः 'त्रसिपृथि' इत्या-
 दिनाः कुः । सप्तभासेन नास्त्रान्तरप्रकाशसहकृतेन । दोषान्
 स्वभिव्यासनेन मनोदृष्ट्याम् ॥ १४ ॥ वनितापिण्डे इदं वजा-
 भरस्रानुकेपनादिकमेव गुणावहं सोभाकल्पकम्, इदं रक्तमा-
 सास्थिकेवादि न, इति विकल्पनं विवेचनं मुक्त्वा विना धावति
 चक्षुरिति शेषः ॥ १५ ॥ तद्विषयासन्नपूर्तिं रागान्धं चेतः
 प्रतीपरूपरागान्धपतङ्गवत् पत्स्यै उत्कृष्टाय मरणाद्यनर्थाय यानि
 हेतितानि दुर्व्यसनानि तदुन्मुखं सत् नानाविधानां कल्पानां
 कथयन्धनरकाद्यापदां वशं यावदायाति सावद्विरतिमुपस्रमं
 गामातीत्यर्थः ॥ १६ ॥ चक्षुष्युक्तं दोषं प्राणादिष्वपि दर्श-
 यति—प्राणमिति ॥ १७ ॥ यथा कश्चिदपिदोषेण वैरिणा

बलाद्दृशीकृतो दुर्गन्धोदकवहे नगरप्रणाले सदा संचरेति नियो-
 जितो भवति तद्दृष्टमपि क्लेषादिदुर्गन्धोदकप्रणाले नासाबिले
 नियोजित इत्यर्थः ॥ १८ ॥ नयो मक्ष्यामक्षयविभागपरं शाब्दं
 तद्धीनया । कुमिकीटपश्चादियोनिलक्षणेऽपि दुःखादिषु । 'सुरापाः
 कुमये भवन्त्यभक्ष्यभक्षिणश्च' इत्यादिस्मृतेरिति भावः । यत्र
 बलवतां गजो बुद्धिमतां गोमायुष्ये श्रेष्ठ इति तयोरेव गोमृता-
 प्रसक्तिर्नान्यस्येति तथोक्तिः ॥ १९ ॥ २० ॥ शब्दरसः शब्दा-
 स्वादनम् । हरिणपक्षे निषमे तृणाहृतकूपे ॥ २१ ॥ तर्हि किं
 तव क्पादयः शब्दान्ता विषया दुर्लभा येन तदर्थमनर्थः
 प्राप्तो नेत्याह—प्रणता इत्यादिना । प्रहृष्टव्यजनेरितत्वादेव
 प्रणतप्रायः ॥ २२ ॥ विशेषणे श्रयादिचतुष्टये साधारणे योज्ये
 ॥ २३ ॥ वधुससौगन्ध्यानां यथायोग्यं मेलनपाकचातुरीगुण-
 शालिनः ॥ २४ ॥ कौशेयादयः षट् त्वविषयाः ॥ २५ ॥
 वधुमुक्तानि ओषध्यान्मनोक्षीरागर्वाद्यः पुष्पाणि समालम्बनं
 कर्पूरकस्तूरीपांशुकलाकीनां मेलनं तद्भूमयस्तत्प्रभवाः ॥ २६ ॥
 भूयोभूयः सेभ्यमानं संशुष्कं काष्ठमिष विरसं संपन्नं तत्र वान्ता-
 शनप्राये जाते किं भजामि ॥ २७ ॥ वैरस्येनैव तज्जिहासा न तु
 तृष्येत्याह—भुक्त्वैति ॥ २८ ॥ किमवाप्यते । न किञ्चिदित्यर्थः
 ॥ २९ ॥ येषां हिरण्यकशिपुप्रभृतीनां विनाशनं विनाशसाधनं
 नास्तीत् प्राग्जगत्सप्रसिद्धम् । 'न शुक्रेण न चार्द्रेण' इत्यादिवर-
 प्रार्थने सर्वप्रसिद्धवधसाधनप्रतिषेधादिति भावः ॥ ३० ॥

प्राप्तेन येन नो भूयः प्राप्तव्यमवशिष्यते ।
 तत्प्राप्तौ यत्नमातिष्ठेत्कष्टयापि हि चेष्टया ॥ ३१
 येन कान्ताश्चिरं भुक्ता भोगास्तस्येह जन्तुभिः ।
 दृष्टो न कस्यचिन्मूर्ध्नि तरुर्व्योमप्लवध वा ॥ ३२
 चिरमास्तु दुरन्तास्तु विषयारण्यराजिषु ।
 इन्द्रियैर्विप्रलब्धोऽस्मि धूर्तबालैरिवार्भकः ॥ ३३
 अद्य त्वेते परिज्ञाता मया स्वविषयारयः ।
 कष्टा इन्द्रियनामानो वञ्चयित्वा तु मां पुनः ॥ ३४
 संसारजङ्गले शून्ये दग्धं नरमृगं शठाः ।
 आश्वास्याश्वास्य निग्नन्ति विषयेन्द्रियलुब्धकाः ॥ ३५
 विषमाशीविषैरेभिर्विषयेन्द्रियपन्नगैः ।
 येन दग्धा न दृष्टास्ते द्वित्रा एव जगत्यपि ॥ ३६
 भोगभीमेभवलितां तृष्णातरलवागुराम् ।
 लोभोप्रकरवालाख्यां कोपकुन्तकुलाङ्किताम् ॥ ३७
 इन्द्रजालरथव्याप्तमहंकारानुपालिताम् ।
 चेष्टातुरंगमाकीर्णो कामकोलाहलाकुलाम् ॥ ३८
 शरीरसीमान्तगतां दुरिन्द्रियपताकिनीम् ।
 ये जेतुमुत्थितास्तात त एवेह हि सङ्गटाः ॥ ३९
 सुसाध्यः करटोद्भेदो मत्सैरावणदन्तिनः ।
 नोत्पद्यप्रतिपन्नानां स्वेन्द्रियाणां विनिग्रहः ॥ ४०
 पौरुषस्य महत्त्वस्य सत्त्वस्य महतः श्रियः ।
 इन्द्रियाक्रमणं साधो सीमान्तो महतामपि ॥ ४१
 तावदुत्तमतामेति पुमानपि दिवौकसाम् ।
 कृपणरिन्द्रियैर्यावत्पुणवन्नपकृष्यते ॥ ४२

इत्थं सति किं कार्यं तदाह—प्राप्तेनेति । कष्टया इन्द्रियप्राण-
 मनःसंयमादिश्रमसाध्ययापि चेष्टया ॥ ३१ ॥ चिरभुक्तमहा-
 भोगानामपि पुंसां भोगकाले अपगते अभुक्तभोगेभ्यः पुरुषा-
 न्तरेभ्यो न कश्चिद्विशेषो दृश्यत इत्याह—येनेति । येन येन
 चिरं कान्ता रम्यतरा भोगाश्चिरं भुक्तास्तादृशस्य पुंसो मध्ये
 कस्यचिदपि मूर्ध्नि संजातः कल्पतरुः कैश्चिदपि जन्तुभिर्न दृष्टो
 येन स तच्छायायां सदैव पूर्णकामो विश्राम्येत् । नापि तस्य
 गुदे व्योमप्लवो विमानादिः संजातो दृष्टो येन स सदैव सर्वत्र
 विहरेदित्यर्थः ॥ ३२ ॥ अर्भकः । साधुरिति शेषः ॥ ३३ ॥
 शब्दादिविषयात्मकानां भूतानामेव मनसो बहिराकर्षणेन
 स्वस्वभोगाय श्रोत्रादीन्द्रियभावेनावस्थानादिन्द्रियनामानः स्व-
 विषयारयो मया अद्य परिज्ञाता इत्यन्वयः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥
 आशीविषैर्दृष्टिविषैः । येन दृष्टा न दग्धाश्च ते तथाविधाः
 पुरुषाः सर्वजगत्यपि द्वित्रा एव संभाव्यन्त इति शेषः ॥ ३६ ॥
 अवश्यजेतव्यताप्रदर्शनायेन्द्रियाण्येव शत्रुसेनात्वेन रूपयति—
 भोगेभ्योऽपि त्रिभिः । भोगा एव मीमा इमा गजास्तैर्वलिताम्
 ॥ ३७ ॥ इन्द्रानि शीतोष्णादीनि । अहंकारेण सेनापतिना
 अनुपालिताम् ॥ ३८ ॥ शरीरलक्षणस्य नगरस्य सीमान्तेषु

जितेन्द्रिया महासत्त्वा ये त एव नरा भुवि ।
 शेषानहमिमात्मन्ये मांसयन्त्रगणांश्चलान् ॥ ४३
 मनःसेनापतेः सेनामिमामिन्द्रियपञ्चकम् ।
 जेतुं चेदस्ति मे यत्नो जयामि तदलं मुने ॥ ४४
 इन्द्रियोत्तमरोगाणां भोगाशावर्जनादृते ।
 नौषधानि न तीर्थानि न च मन्त्राश्च शास्तये ॥ ४५
 नीतोऽस्मि परमं खेदमभिधावद्भिरिन्द्रियैः ।
 एक एव महारण्ये तस्करैः पथिको यथा ॥ ४६
 पङ्कवन्त्यप्रसन्नानि महादौर्भाग्यवन्ति च ।
 गन्धिशैवलतुच्छानि पल्वलानीन्द्रियाणि च ॥ ४७
 दुरतिक्रमणीयानि नीहारगहनानि च ।
 जनितातङ्कजालानि जङ्गलानीन्द्रियाणि च ॥ ४८
 पङ्कजानि सरग्ध्राणि सुदुर्लभ्यगुणानि च ।
 ग्रन्थिमन्ति जडाङ्गानि मृणालानीन्द्रियाणि च ॥ ४९
 रुक्षाणि रज्जुलुब्धानि कल्लोलवलितानि च ।
 दुर्ग्रहप्राह्वोराणि क्षाराम्बूनीन्द्रियाणि च ॥ ५०
 बान्धवोद्भेगदायीनि देहान्तरकराणि च ।
 करुणाकन्दकारीणि मरणानीन्द्रियाणि च ॥ ५१
 अविश्वेकिष्वमित्राणि मित्राणि च विश्वेकिषु ।
 गहनानन्तशून्यानि काननानीन्द्रियाणि च ॥ ५२
 घनास्फोटान्यसाराणि मलिनानि जडानि च ।
 विद्युत्प्रकाशान्येतानि भीमाभ्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५३
 क्षुद्रप्राणिगृहीतानि वर्जितानि कृतात्मभिः ।
 रजस्तमोभिभूतानि स्वेन्द्रियाण्यवटानि च ॥ ५४

गतामाक्रम्य स्थिताम् ॥ ३९ ॥ मत्सैरावणदन्तिन ऐरा-
 वतस्य । करटस्य कुम्भस्योद्भेदो विदारणम् ॥ ४० ॥ सत्त्वस्य
 धैर्यस्य । श्रियो विधान्तिसंपदः । इन्द्रियाणामाक्रमणं जयः ।
 सीमान्तोऽवधिः । पराकाष्ठेति यावत् । महतां तत्त्वविदामपि
 ॥ ४१ ॥ उत्तमतां मान्यताम् ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ यत्न उपाय-
 चेदस्ति तत् तर्हि जयामि ॥ ४४ ॥ एक एवोपायो मया ज्ञातोऽ-
 स्तीत्याह—इन्द्रियेति ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ इतः प्रभृति तुल्यै-
 र्विशेषणैः पल्वलादिसाम्येनेन्द्रियाणि वर्णयति—पङ्कवन्तीत्या-
 दिना । गन्धिभिः शैवलतुल्यैर्मालिनीः तुच्छानि कुत्सितानि
 ॥ ४७ ॥ नीहारैर्जाष्णैर्हिमैश्च गहनानि । आतङ्को भयम्
 ॥ ४८ ॥ पङ्कान्मलाङ्गानि गुणा वासनास्तन्तवश्च सूक्ष्म-
 तमत्वात्सुदुर्लभ्याः । जडाङ्गानि जडदेहावयवप्रायाणि । लड-
 योरमेदाङ्गलाङ्गानि च ॥ ४९ ॥ निष्ठुरत्वादसुखस्पर्शत्वाच्च
 रुक्षाणि । कल्लोलैः पङ्कमिभिस्त्रिभिश्च । क्षाराम्बूनि समुद्र-
 जलानि ॥ ५० ॥ ५१ ॥ गहनानि दुरवगाहानि । अनन्तानि
 निरवधीनि । जनविभ्रान्तिघ्नानि च ॥ ५२ ॥ घना आस्फोटा
 भुजास्फालनगर्जनशब्दा येभ्यः । विद्युदिव क्षणसुखप्रका-
 शानि । पशान्तरे स्पष्टम् ॥ ५३ ॥ क्षुद्रैस्तुच्छसुखासक्तैः कीटा-

पातनैकान्तदक्षाणि दोषाशीविषघ्नन्ति च ।
 रुक्मकण्टकलक्षाणि श्वभ्राप्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५५
 आत्मभरीष्यनार्याणि साहसैकरतानि च ।
 अन्धकारविहारीणि रक्षांसि स्वेन्द्रियाणि च ॥ ५६
 अन्तःशून्यान्यसाराणि चक्राणि प्रन्थिमन्ति च ।
 दहनैकार्थयोग्यानि दुर्दार्कणीन्द्रियाणि च ॥ ५७
 घनमोहप्रबन्धीनि दुष्कूपगहनानि च ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० विद्याधरोपाख्याने वैराग्यवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ७

भृशुण्ड उवाच ।

ततस्तस्य मया ब्रह्मस्तच्छ्रुत्वा पावनं वचः ।
 इदमुक्तं यथापृष्टं सुस्पष्टपदया निरा ॥ १
 साधु विद्याधराधीश दिष्ट्या बुद्धोऽसि भूतये ।
 भवान्धकूपकुहराशिरेणोत्थानमिच्छसि ॥ २
 पावनीयं तव मती राजते घनरूपिणी ।
 विवेकेनानलेनेव कनकद्रवसंततिः ॥ ३
 उपदेशगिरामर्थमादत्ते हारिहेलया ।
 मुकुरे निर्मले द्रव्यमयजेनेव विम्बति ॥ ४
 यदिदं वच्मि तत्सर्वमोमित्यादातुमर्हसि ।
 अस्माभिश्चिरमन्विष्टं नात्र कार्या विन्दारणा ॥ ५

दिमिष्व परिगृहीतानि । अवटानि गर्तोत्करस्थलानि ॥ ५४ ॥
 श्वभ्राप्राणि जीर्णश्वभ्रमुखानि ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ दुर्दार्कणि जीर्ण-
 बंशाक्षिकाष्टानि ॥ ५७ ॥ घनैर्मोहैश्वर्यकलहयूतादिदुर्व्यसनप्र-
 बन्धनशीलानि । कुपुराणि असज्जननगराणि ॥ ५८ ॥ चक्र-
 काणि कुलालचक्राणि ॥ ५९ ॥ हे आपन्नोद्धरणशील, एवं
 वर्णितप्रकारेन्द्रियप्रयुक्तापत्सागरनिमग्नमकिंचनं त्यक्तसर्वस्वमिमं
 शरणागतं मां दयोदयेन कृपोदयेन तत्त्वोपदेशेनोद्धर, यतः
 कारणाजगति ये ये प्रसिद्धास्त्वादृशाः केचन सन्तस्तत्त्वज्ञा
 दयालवो जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते तेषां संगमं शरणागतिं
 परमशोकहरं वदन्ति सर्वज्ञास्त्राणि सर्वजनाश्चेत्यर्थः ॥ ६० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 वैराग्यवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

ब्रह्मैव न जगद्दुःखमज्ञानं जगदाततम् ।

अहंभीजात्प्ररुद्धो हि जगद्दुःखोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

तस्य विद्याधरस्य । इदं वक्ष्यमाणमुत्तरम् ॥ १ ॥ दिष्ट्या
 भाग्योदयात् ॥ २ ॥ विवेकेन घनरूपिणी निविडं व्याप्ता ।
 यथा अनलेन व्याप्ता कनकद्रवसन्ततिः कान्त्यतिशयेन विरा-
 जते तद्वदित्यर्थः ॥ ३ ॥ अत एव ते मतिर्मदुपदेशगिरामर्थमादत्ते
 अवश्यमादास्यति । हेलया अप्रयत्नेन ॥ ४ ॥ ओमिति अज्ञीकार-
 मुण्या ॥ ५ ॥ तत्रादौ सर्वदश्यविवेके साक्षिरूपमेव शृद्धं ब्रह्मेति

महावकरतुच्छानि कुपुराणीन्द्रियाणि च ॥ ५८
 अनन्तेषु पदार्थेषु कारणानि घटादिषु ।
 संभ्रमाणि सपङ्कानि चक्रकाणीन्द्रियाणि च ॥ ५९
 आपन्नमग्नमिममेवमकिंचनं त्वं
 मामुद्धरोद्धरणशील दयोदयेन ।
 ये नाम केचन जगत्सु जयन्ति सन्त-
 स्तत्संगमं परमशोकहरं वदन्ति ॥ ६०

यत्किञ्चित्स्वदतेऽन्तस्ते बुध्यस्वाबोधमुत्सृजन् ।
 नासि त्वं चिरमप्यन्तः प्रेक्षितोऽपि न लभ्यसे ॥ ६
 नाहंत्वमस्ति न जगदिति निश्चयिनस्तव ।
 सर्वमस्ति शिवं तच्च न दुःखाय सुखाय ते ॥ ७
 किमज्ञत्वाज्जगज्जातं जगतोऽथ किमज्ञता ।
 विचार्यापीति नो विद्य एकत्वादलमेतयोः ॥ ८
 मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वमवस्तुत्वात्सदप्यसत् ।
 यद्येदं भासि तद्ब्रह्म न किञ्चित्किञ्चिदेव वा ॥ ९
 मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वं नास्ति त्वमथवास्ति च ।
 प्रतिभासोऽपि नास्त्यत्र तद्भावादतः शिवम् ॥ १०
 विश्वबीजमहंत्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते ।
 साम्राज्यधुर्वीनदीशादिजगज्जरडपादपः ॥ ११

सर्वदेशान्तरहस्यं संक्षिप्योपदिशति— यत्किञ्चिदिति । यत्कि-
 ञ्चिदहंकारादि ते अन्तर्हृदि स्वदते दृश्यतया प्रथते तत्सर्वं त्वं
 नासि । दृश्यवर्गेष्वेव कश्चिदात्मास्ति स मयान्विषय लब्धव्य इति
 चिरमप्यन्तः प्रेक्षितोऽन्विष्टस्वमात्मा न लभ्यसे । अतो दृश्यमा-
 त्रलक्षणमबोधमुत्सृजन् संस्तसाक्षिणमात्मानं बुध्यस्वेत्यर्थः ॥ ६ ॥
 न हि द्रष्टृदृश्यलक्षणसर्वदृश्यत्यागे शून्यतापत्तिः, किंतु सुखदुः-
 खबंधम्यप्रयोजककल्पितदोषांशानिष्टृथा वास्तवपरनकल्याण-
 ब्रह्मभावेन पूर्णतया सर्वमस्त्येवेत्याशयेनाह— नाहमिति ॥ ७ ॥
 दृश्यमात्रस्य अबोधरूपत्वमुक्तमुपपादयति— किमिति । किं
 सुष्ठुतौ प्रसिद्धादज्ञानादहंकारादिभावेन घनीभूताज्जाप्रत्वप्रलक्षणं
 जगज्जातमथवा जतुकाठिन्यादिव विलीनाज्जाप्रदादिलक्षणा-
 जगतः सौप्तरी अज्ञता जाता इति विचार्यापि विनिगमकाभा-
 वात्कार्यकारणभावव्यवस्थां नो विद्यः । अतः काठिन्यद्रवावस्थ-
 योर्धृतस्यैवैकत्वात्सर्वस्याज्ञानमात्रत्वमित्यर्थः ॥ ८ ॥ तस्य विव-
 र्त्तादर्शनमेव त्यागः बाधितस्य जगतस्तुच्छताविभावेन न
 किञ्चिद्ब्रह्म, अधिष्ठानरूपतापत्तिविभावेन तु सर्वमेव ब्रह्मे-
 त्याह— मृगतृष्णेति ॥ ९ ॥ उक्तमाशयं विशदयंस्तत्प्रतिभास-
 मपि निराचष्टे— मृगतृष्णेति । तद्भावात्प्रतिभास्याभावात् ।
 न हि घटाभावे प्रकाशसत्त्वेऽपि घटप्रकाशशब्दार्थोऽस्तीति भावः
 ॥ १० ॥ अनन्तरूपस्य जगतः प्रातिस्विकरूपेण निरसितुमशक्य-

अहंत्वबीजादपुतो जायतेऽसौ जगद्गुणः ।
 तस्येन्द्रियरसाख्यानि मूलानि भुववर्णनि हि ॥ १२ ॥
 तारकाजालकलिका क्रमैश्वर्यः कोरकोत्करः ।
 वासनागुच्छविसराः कूर्चबन्धः फलालयः ॥ १३ ॥
 स्वर्गादयो बृहद्गर्गा महाविटपकोटराः ।
 मेरुमन्दरसहादिगिरयः पञ्चराजवः ॥ १४ ॥
 सप्ताब्धयोऽग्रसुतयः पातालं मूलकोटरम् ।
 युगानि घुणकृन्दाणि पर्वाणि शुणवक्रुषः ॥ १५ ॥
 अज्ञानमुत्पत्तिमही नरा विहगकोटयः ।
 उपलम्भो बृहत्स्तम्भो दधो निर्वाणनिर्वृतिः ॥ १६ ॥
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० श्लोको० निर्वाणप्रकरणे उत्त० विद्याधरोपाख्यानं जगद्गुणबीजवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

रूपालोकमन्स्काप विविधमोदवृषयः ।
 वनं विपुलमाकाशं मुक्तिजालं भुवत्वचः ॥ १७ ॥
 विचित्रशाखा शतव उपशाखा दिग्गो वृक्षः ।
 संविद्रसमहापूते वातस्फन्दो निवर्तनः ॥ १८ ॥
 चन्द्रार्कवृषो लोका मज्जनोन्मज्जनोन्मुखाः ।
 रम्याः कुसुममञ्जर्यस्तिखिरं भ्रमरभ्रमः ॥ १९ ॥
 पातालमाशतगजमन्तरिक्ष-
 मापूर्य तिष्ठत्वसदेव सद्गद् ।
 तस्यानहन्ताग्निहतेऽहमर्थ-
 बीजे पुनर्नास्ति सतोऽपि रोहः ॥ २० ॥

अष्टमः सर्गः ८

मुमुग्ध उवाच ।

विद्याधर धराधारे विरिचम्बरमन्दिरः ।
 दिगन्तराम्बराचारवारसंस्कारचञ्चरः ॥ १ ॥
 ईदृशोऽयं जगद्गुणो जायतेऽहंत्वबीजतः ।
 बीजे ज्ञानाग्निनिर्वृन्दे नैव किञ्चन जायते ॥ २ ॥
 प्रेक्ष्यमाणं च तस्मास्ति किलाहंत्वं कदाचन ।
 एतावदेव तज्ज्ञानममेनैव प्रदह्यते ॥ ३ ॥

त्वाद्बीजदाहेनैव निरास इति वक्तुमहंकारं बीजत्वेन जगत्प्र-
 भवतत्त्वेन वर्णयति—विश्वेत्यादिना ॥ ११ ॥ इन्द्रियरसो
 विषयासप्तस्तदाख्यानि अधोभुवनानि तस्य गुणस्य मूलानि
 ॥ १२ ॥ अश्विन्यादिसप्तविंशतितारकाजालं तस्य प्रधानक-
 लिका । तदन्यद्गर्क्षाषः सूक्ष्मकोरकोत्करः । प्राणिनां वर्मादि-
 वासनाः पुष्पगुच्छसमूहाः । फलालयः फलगुच्छाः ॥ १३ ॥
 स्वर्गादयः स्वर्गहर्जनतपःसत्यलोकाख्या बृहतां लोकानां वर्मा
 महान्तो विटपकोटराः शाखावलयगर्भदेशाः ॥ १४ ॥ अग्र-
 सुतयः आलवालपरिखाः । युगानि कृतावीन्युत्तरोत्तरं भर्मपि-
 ष्टक्षरणाद्गुणवृन्दानि । तत्तद्युगवत्सरायनर्तुमासादिपुण्यपङ्क्तयो
 वृक्षस्य शाखामूलाद्युद्भवपर्वाणि ॥ १५ ॥ नरा जीवाः । उपलम्भो
 आन्तिज्ञानमेव बृहत्स्तम्भः सर्पविटपाधारसध्यमानः । तस्य
 तत्त्वबोधाभिर्वाणं निर्वृतिरेव दधो वनहुताशनः ॥ १६ ॥ इन्द्रि-
 यैरर्थोपलम्भा रूपालोकाः मनसा तद्गोचरसंकल्पविकल्पा
 मनस्काराश्च तस्य गुणस्य विविधा आमोदवृत्तयः कुण्ड-
 प्रसराः । आकाशमन्याकृताकाशं तस्य विपुलं वनम् । भुव-
 त्वचो नेत्रपुटानि इतराधरोष्ठाश्च नेत्रहास्यमुच्छोद्धेदवृक्कि-
 जालमिव पुष्पोद्भेदनम् । प्रसवबन्धनमिति यावत् ॥ १७ ॥
 तस्यात्मसंविदेव जीवनहेतू रसप्रवाहः । सूर्यचन्द्राभ्यामीनां संव-
 र्गेण निवर्तनः सूत्रात्मैव तस्य वातस्फन्दः ॥ १८ ॥ मज्जनो-
 न्मज्जने प्रत्यहमुदयास्तमयो तदुन्मुखाश्चन्द्रार्कवृषस्य रम्याः

१ बृहद्गर्वाणि इति पाठः.

अहंत्वभावाच्चाहंत्वमस्ति संसारबीजकम् ।
 नाहंत्वभावाच्चाहंत्वमस्तीति ज्ञानमुत्तमम् ॥ ४ ॥
 सर्गादावेव सर्गस्य किलस्याभावयोमतः ।
 कुतोऽहंत्वं कुतस्त्वं कुतो द्वित्वैक्यविभ्रमः ॥ ५ ॥
 समाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं यतन्ते ये स्वयत्नतः ।
 संकल्पत्यागमामूलं पदप्राप्तौ जयन्ति ते ॥ ६ ॥

कुसुममञ्जर्यः । सूर्येण सह भ्रमसिमिरमन्धकार एव भ्रमराणां
 भ्रमणं भ्रमरभ्रमः । भ्रमन्तो भ्रमरा इति यावत् ॥ १९ ॥
 ईदृशोऽयं संसारवृक्षः पातालं मूलतो मध्यत आशानगर्भं दिग्ग-
 नूहममलोऽन्तरिक्षं चापूर्य वस्तुतोऽसदेव आन्तिकर्षं सद्गतिष्ठति ।
 तस्य अहमर्थरूपे बीजे अनहंतालक्षणेनाभिमा हते मर्जिते
 सति जीवन्मुक्तिभोगाय भावसदेहपातं प्रतिभासमात्रेण ज्ञातो-
 ऽप्यस्य संसारवृक्षस्य पुनर्जन्मादिना रोहः प्ररोहो जायतीत्यर्थः
 ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे उत्तरार्धे जगद्गुणबीजवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इह संसारवृक्षस्य ज्ञानादुच्छेद ईयते ।

संकल्पमण्डपमायः संसार उपवर्णयते ॥ १ ॥

वर्णितं संसारवृक्षमनुवदति—विद्याधरेति । हे विद्याधर,
 अघसप्तमसलोकसहिता धरा आधारे मूलदेशे यस्य । कीक-
 लोकान्तगिरीणां कन्दराणि अन्तरालभागा मन्दिरं स्तम्भान्
 वेदिर्यस्य । दशदिगन्तरे अन्तरे च आचारेण विवेकविटपवि-
 स्तारेण चारेण ऊर्ध्वविटपप्रसारेण तत्र तत्र प्राविशंकारेण च
 चक्रोऽतिचक्रः ॥ १ ॥ २ ॥ प्रेक्ष्यमाणं तत्त्वतः किमिदं
 स्यादिति रजपरीक्षावद्विचुर्य प्रश्नमात्रतयावधर्मभागम् ।
 तत् अहंत्वम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ उत्पत्तिरेव मज्जस्ततः सतो वा स
 संभवति तस्य स्थितिर्निरस्तत्वाह—सर्गादावेवेति ॥ ५ ॥
 संसारः कालजयेऽपि वास्तवेत्युपास्य इतीकरणाय संकल्प-
 वृत्तमण्डपं वर्णयिष्यत् भूमिकां रचयति—समाकर्ण्येति ॥

रन्धनाज्जयमाप्नोति स्वशास्त्रे सूपकृत्कृते ।
 विवेकी स्वविवेकित्वं यतनादेव मान्यथा ॥ ७
 विश्वमत्कारमात्रं त्वं जगद्विद्धीह नेतरत् ।
 नाशासु न बहिर्नास्तरेतत्कचन विद्यते ॥ ८
 संकल्पोन्मेषमात्रेण जगच्चित्रं विलोक्यते ।
 तदनुन्मेषविलयि चित्रकृच्चित्रचित्रवत् ॥ ९
 मण्डपोऽस्ति महास्तम्भो मुक्तामणिविनिर्मितः ।
 बहुयोजनलक्षाणि कान्तकाञ्चनचित्रितः ॥ १०
 मणिस्तम्भसहस्रेण वृतोऽग्रे प्रोतमेरुणा ।
 इन्द्रायुधसहस्राढ्यकल्पसंख्याभ्रसुन्दरः ॥ ११
 स्त्रीबालपुरुषादीनां वास्तव्यानामितस्ततः ।
 क्रीडार्थं स्थापिता यत्र नानारचनयान्तरे ॥ १२
 भूतबीजपरापूर्णास्तमोरिपुसद्युंशुमाः ।
 तमःप्रकाशचित्राख्या लोकान्तरसमुद्रकाः ॥ १३
 आमोदसुमगा लोलजलदावलिपल्लवाः ।
 लीलापद्माकरे स्त्रीणां विल्लनाकल्पपादपाः ॥ १४
 बालनिःश्वासचलिताः कन्दुकानि कुलाचलाः ।

वक्ष्यमाणं प्राग्बहुशो वर्णितं च आमूलं समूलं संकल्पत्यागं
 कर्तुं गुरोस्तदुपायक्रमवेदकं वाक्यं समाकर्ष्य तदुक्तक्रमेण
 स्वप्रयत्नतो ये यतन्ते तत्त्वबोधप्राप्तौ सत्यामसंकल्पं तत्पदं
 कैवल्यार्थं जयन्ति ॥ ६ ॥ यथा सूपकृतं सूपकारः स्वशास्त्रे सूप-
 कारविद्याविशेषे कृते सम्यग्भ्यस्ते तदुक्तप्रकारेणैव नानाभक्ष्य-
 भोज्यनानारसायनानां रन्धनात्पाकेन निष्पादनात् क्षुत्क्षाम-
 यजरादिजयं राजसन्मानाद्युत्कर्षं चाप्नोति तद्वद्विवेकी अधिकारी
 गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण यतनादेव स्वविवेकित्वं कैवल्यपर्यन्तं जयति
 नान्यथेत्यर्थः ॥ ७ ॥ यतोऽयं संसारः स्वप्नेन्द्रजालादिवदज्ञातचि-
 त्तमत्कारमात्रमतो न चितो बहिरस्तीत्याह—चिदिति ॥ ८ ॥
 विश्वमत्कारमात्रतामुपपादयति—संकल्पेति । चित्रकृतचित्र-
 कारस्य चित्ते कल्पितं यच्चित्रं तद्वत् ॥ ९ ॥ जगतः संकल्प-
 मात्रतां द्रढयितुं संकल्पयूतमण्डपाकारतां कल्पयति—मण्डप
 इत्यादिना ॥ १० ॥ अग्रे अधोमुखं प्रोतो मेरुवोर्ध्वगुग्गु-
 लुर्यस्य तथाविधेन मणिस्तम्भसहस्रेण वृतः । अत एव क्वचिदि-
 न्द्रायुधसहस्राढ्य इव क्वचित्कल्पसंख्याभ्राणीव सुन्दरः ॥ ११ ॥
 यत्र यस्मिन्मण्डपे वास्तव्यानां निवसतां स्त्रीबालपुरुषादीनां
 क्रीडार्थं लोकान्तराणि पातालस्वर्गादीनि तदाकाराः समुद्रकाः
 संपुटकास्तत्र तत्र स्थापिताः । क्रीडशास्त्रे । अन्तरे नानानदी-
 पर्वतवनहस्त्यश्वदेवतिर्यङ्गरादिनानारचनया युक्ताः ॥ १२ ॥
 भूतानि प्राणिनस्तल्लक्षणेर्बैजैः परैस्तदुपभोग्यैश्च आपूर्णाः ।
 तमसां रिपुभिर्घातकैर्मणिप्रवीपसूर्यचन्द्रादिभिर्व्यवहारप्रवृत्त्या
 सद्युंशुमाः सशब्दाः । क्वचित्तमोभिः क्वचित्प्रकाशैश्च चित्रा

संख्याम्बुदाः कर्णपूराचामराः शरदम्बुदाः ॥ १५
 कल्पान्तकालजलदास्तालवृन्तपदं गताः ।
 भूतलं द्यूतफलकं वितानं तारकाम्बरम् ॥ १६
 भूतशारपरावर्ते द्यूतेऽक्षाः शशिभानवः ।
 व्योमाजिरे जगद्भासपणे गृहनिवासिनाम् ॥ १७
 इति संकल्प एवास्तच्चिरभावनया यथा ।
 अग्रस्थदृश्योपमया सत्यतामिव गच्छति ॥ १८
 तथैवायं जगद्रूपः संकल्पैः सुसमुत्थितः ।
 विश्वमत्कारमात्रात्मा चित्रकृच्चित्रचित्रवत् ॥ १९
 असत्यमेव स्फुरति सर्वमस्ति च नास्ति च ।
 असदुत्थित एवायं कुतोपीव समुत्थितः ॥ २०
 हेम्नीव फटकादित्वं संसारोदरकोटरः ।
 विश्वमत्कार एवायमविकल्पनसंक्षयः ॥ २१
 अत्यन्तमेव स्वायत्तो यथेच्छसि तथा कुरु ।
 यश्चाप्यपानदानादावनादरमुपेयिवान् ।
 तस्येदं पश्चिमं जन्म न स कर्म समुज्जति ॥ २२

आख्या अभिख्या येषाम् ॥ १३ ॥ लीलापद्मायाः क्रीडालक्ष्म्या
 आकरे यस्मिन्मण्डपे स्त्रीणां मण्डनाय विल्लना लवनेन गृहीता
 आकल्पाः कर्णपूराद्यलंकारा येभ्यस्तथाविधाः पादपाः कृताः
 ॥ १४ ॥ बालानां निःश्वासेनापि चलिताः, अतिलघीयांस
 इति यावत् । ईदृशाः कुलाचला यत्र अर्थाद्बालानामेव क्रीडा-
 कन्दुकानि कृताः । संख्याम्बुदा दिग्बधूनां कर्णपूराः कृताः ।
 शरदम्बुदाश्च तासां हस्ते चामराः कृताः ॥ १५ ॥ यत्र मण्डपे
 भूतलं संपूर्णं द्यूतफलकं कृतम् । तारकासहितमम्बरं वितानं
 कृतम् ॥ १६ ॥ यत्र मण्डपे व्योमलक्षणे अजिरे चत्वरे
 जगतां भास आविर्भावतिरोभावादिप्रत्यय एव पणो यस्मिन्
 द्यूते क्रीडतां गृहनिवासिनां मण्डपस्वामिनां ब्रह्मादीनां तत्र
 भूतसाराणां चतुर्विधभूतप्रामाणां शारिकलानां पुनःपुनर्जन्म-
 भ्रमणादिना भ्रमणं परावर्तस्त्रालक्षणे द्यूते शशिभान्वादिनव-
 ग्रहा अक्षाः कृताः ॥ १७ ॥ इति ईदृशो मण्डपोऽस्तीति संकल्प-
 यितुः संकल्प एव अग्रस्थदृश्योपमया यथा सत्यतामिव
 गच्छति तथैवायं धातुः संकल्पैः सुसमुत्थितो जगद्रूपो
 मण्डपोऽपीति परेणान्वयः ॥ १८ ॥ १९ ॥ प्रतिभा-
 सतोऽस्ति परमार्थतो नास्ति च । कुतोऽपि समुत्थितो
 मायाहस्त्यादिव ॥ २० ॥ संसार उदरकोटरे यस्य तथाविध-
 विश्वमत्कार एव ॥ २१ ॥ तथा वैच्छिकैर्विकल्पनैरविकल्पनैश्चा-
 विर्भावयितुं तिरोभावयितुं च तत्त्वविदामत्यन्तमेव स्वायत्त
 इति यथेच्छसि तथा कुर्वित्यर्थः । अन्नपानादिरैहिकभोगसा-
 मग्रीधानयज्ञादिरामुष्मिकभोगसामग्री उभयत्राप्यनादरं फल-

१ विल्लनाः कल्पपादपाः इति पाठश्चिन्त्यः.

प्राप्तो विवेकपदवीमसि पावनात्म-
न्पुण्यां पवित्रितजगन्नितयां द्वितीयाम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायण्ये वाल्मीकीये दे० योक्षोपायेषु निर्वाण० उत्तरार्धे विद्याधरो० मायामण्डपवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥८॥

नाघः पतिष्यसि पुनर्मनसाऽमुनेति

जानामि मौनममलं पदमुत्सृज त्वम् ॥ २३

नवमः सर्गः ९

भुशुण्ड उवाच ।

अबुध्यमानश्चेत्यादिचिद्रूपमपि चानघ ।
शान्तचिद्धन एवास्व निर्मलाप्सन्तरंशुवत् ॥ १
अचेतनं चेतनान्तश्चेतनादेव विद्यते ।
स्वेऽसादृश्येऽपि सदृशं पयोराशौ यथानलः ॥ २
सचेतनाचेतनयोर्हेतुश्चित्वास्तथैव चित् ।
विनाशोत्पादयोर्बहिर्ज्वालायाः पवनो यथा ॥ ३
नाहमस्तीति चिद्रूपं चिति विश्रान्तिरस्तु ते ।
ततो यथा घादशेन भूयते तादृशो भव ॥ ४
चिद्रूपः सर्वभाषानामन्तर्बहिरसि स्थितः ।
प्रसन्नाम्बुभरस्यान्तर्बहिर्धैव यथा पयः ॥ ५

नभिसंधिम् ॥ २२ ॥ विवेकप्राप्त्यैव ते मुक्तिरवश्यभाविन्य-
नुमीयत इति पुनर्जन्मादिसंभावनासीतं तन्मात्रासयति—
प्राप्त इति । हे पावनात्मन् शुद्धबुद्धे, त्वं पातहेत्वविवेकपदव्य-
पेक्षया द्वितीयां पवित्रितजगन्नितयां विवेकपदवीं प्राप्तोऽसि ।
अतोऽमुना मनसा न अघः पतिष्यसीति जानामि अनुमिनोमि ।
अतस्त्वं मौनं वाच्यनसचेष्टाशून्यममलं चिन्मात्रपदमवलम्ब्य
मनआदिदृश्यजातमुत्सृजेत्यर्थः ॥ २३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मायामण्डपवर्णनं
नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

चिदधीनोदधध्वंससत्तास्फूर्तिविवर्तनम् ।

इह चित्कचनं विश्वं चिन्मात्रमिति वर्णयते ॥ १ ॥

‘हेन्रीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः । विश्वमत्कार एवा-
यमविकल्पनसंक्षयः ॥’ इति यदुक्तं तदुभयमनुभावविष्णववि-
कल्पनप्रकारं प्रथममुपदिशति—अबुध्यमान इति । चेत्यं
तद्वृत्तक्रियागुणदोषादि तन्मात्रं तदवभासकं चिद्रूपमपि
विमाज्जकविकल्पकमनसो बाधादबुध्यमानो निर्मलासु अबु-
प्रविष्टा अंशवः सूर्यकिरणा इव प्रशान्ततापः प्रकाशमात्रावशेष
आस्व । सेयमपि कल्पस्थितिर्जगद्विकल्पक्षयहेतुरित्यर्थः ॥ १ ॥
संसारोदरकोटरविश्वमत्कार एवायमित्येतदपि सोपपत्तिक-
मनुभावयति—अचेतनमित्यादिना । अचेतनं दृश्यं स्वे
स्वीये जाज्यदुःखपरिणामित्वादिलक्षणे चिदसादृश्ये सत्यपि
चेतनायाश्चित्तोन्तरे विद्यते नान्यत्र । तत्कुतः । चेतनादेव ।
न ह्यन्यत्र विद्यमानं तदसंबद्धया चेतनया चेतितुं शक्यम् ।
न चाचेत्यमानं किंचित्स्थित्यति । नापि चेतना सक्रिया येन गत्वा
चेतयेत् । सा यदि सर्वगता तर्हि सिद्धैव प्रतिज्ञेत्यर्थः ॥ २ ॥
एवं वेशतः सर्वदृश्यस्य चिदन्तःस्थितिं प्रसाध्य कालतोऽपि तां

नाहमस्तीति चिद्रूपं चित्तौ चेल्लग्नमङ्ग ते ।

न चान्यचेतितं ब्रह्म रूपं केनोपमीयते ॥ ६

ससुरासुरपातालभूविष्टपमिषोषितम् ।

नानाभावाजवीभाषक्रियाकालमिवाकुलम् ॥ ७

यथा रङ्गमयं कुड्ये जगन्मौनमिव स्थितम् ।

तथा चिच्चित्रकचितं स्वे कुड्ये चात्मसंस्थितम् ॥ ८

तेनैव भूयते भूरि यच्चित्तं कचितं स्वतः ।

अचेतनं चेतनं वा यथेच्छसि तथा कुट ॥ ९

विश्वमत्कृतयो ब्योम्नि स्फुरन्त्येता जगत्तया ।

अर्काशुवदरोधिन्यः स्वच्छा विदितवेदिनाम् ॥ १०

सूच्यंश्चित्कार्यतां साधयति—सचेतनेति । सचेतना अहं-
वृत्तिविषयाः । अचेतना इदंकारविषयाः । तथा पूर्ववदेव
कारणं विवर्तोपादानम् । चिद्विवर्ततैव विश्वमत्कार इति
भावः ॥ ३ ॥ तत्राहमिति सचेतनाशनिरासेनैवोभयनिरास-
तिच्छा चिन्मात्रावस्थितिसिद्धिरित्याह—नाहमिति । नाहम-
स्तीत्यहंकारास्पदांशबाधेन प्रत्यक्चिद्रूपं परिशेष्य विकल्पहेतु-
क्षयादेवेदं विकल्पनिर्मुक्तपूर्णचित्ति विश्रान्तिरस्त्वित्यर्थः । एवं
विश्रान्तेन त्वया । ततः प्रारब्धशेषक्षयोत्तरम् ॥ ४ ॥ अम्बु-
व्यापिनः क्षीरस्याम्बुक्षयेऽपि परिशेषवद्ब्रह्मरूपमेवानुपमं ते
परिशिष्यत इत्याह—चिद्रूप इति द्वाभ्याम् ॥ ५ ॥ प्रत्यक्चिद्रूपं
ब्रह्म चित्तौ लग्नमखण्डैक्यं प्राप्तं चेत् ॥ ६ ॥ यथा सुरासुरैः
सह वर्तमानं पातालभूत्रिविष्टपमिव स्थितम् । प्रीतिदुर्षकोधयुद्ध-
जयपराजयादिनानाभावैः पलायनानुधावनायाजवीभावेस्तत्त-
दनुरूपक्रियाकालमिव आकुलमपि रङ्गमयं चित्रलिखितं जगत्
कुड्ये कुड्यात्मना मौनं मुनिशरीरमिव निर्व्यापारमेव स्थितं
तथा मायाशबलचिच्चित्रकचितं जगदपि शुद्धचिदाकाशलक्षणे
कुड्ये निर्बिकाराद्वयतदात्मनैव संस्थितं न जगद्भावेनेत्यर्थः
॥ ७ ॥ ८ ॥ अचेतनमनृतजगद्रूपम् । चेतनं परमार्थस-
द्ब्रह्मरूपं वा यदेव चिति स्वतः स्वरसतः कचितं तेनैव भूयते ।
एवं स्वायत्तयोरुभयोर्युत्थानेन समाधिना वा यदेवेच्छसि
तत्कुर्वित्यर्थः ॥ ९ ॥ एतावांस्त्वज्ञेभ्यस्तत्त्वविदां विशेषः ।
यथा मरुभूशो महानद्यात्मना दृश्यमाना अर्काशवो मज्जन-
मरणादिभयजननात्तरणोपायादर्शनाच्चाज्ञानामर्वाकूले निरोधकाः
न मरुभूमितत्त्वज्ञानाम्, तद्देकविज्ञानेन तत्त्वतः सर्वविज्ञा-
नाद्विदितवेदिनां तत्त्वविदां जगद्रूपाविश्वमत्कृतयोऽप्यनिरो-

१ इदं युक्तसचेतनेत्यादेः कलितामकचनम्.

तिमिराक्रान्तदृष्टीनां यथा केशोण्ड्रकादि खे ।

स्फुरत्येवं जगद्रूपमनात्मन्येव तिष्ठताम् ॥ ११

एवं जगत्स्वमहमित्यवबोधरूप-

माभासमात्रमुदितं न च नोदितं च ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजमायणे वाल्मीकीये दे०मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० वि० चित्कचनयोगोपदेशो नाम नवमः सर्गः ॥९॥

अर्काशुजालरचनानगराममत्र

कुड्यादि सत्यमिदमस्ति न खे लतेव ॥ १२

दशमः सर्गः १०

भुशुण्ड उवाच ।

विद्धि त्वं चेतनादेव चेतनेतरचेतनम् ।
जलेऽग्निरिव चिज्जाह्वये नातो मिश्रे मनागपि ॥ १
तद्वेदनावेदनयोरमेदात्स्वस्थमास्यताम् ।
निर्यन्त्रमेव चित्रस्थश्चित्तवद्भ्योममध्यघत् ॥ २
ब्रह्मण्यशेषशक्तित्वादचित्त्वं विद्यते तथा ।
अधुब्धे विमले तोये भाविकेनलवो यथा ॥ ३
न कारणं विनोदेति जलात्केनलवो यथा ।
न कारणं विनोदेति सर्गादि ब्रह्मणस्तथा ॥ ४
न च कारणमस्त्यत्र सर्गवृत्तावकारणे ।
नातः संजायते किञ्चिज्जगदादिर्न नश्यति ॥ ५
अत्यन्तं कारणाभावात् किञ्चिज्जायते जगत् ।
मरावम्बिधव नास्त्येव दृष्टमप्यप्रतो जगत् ॥ ६
ब्रह्मानन्तमजं शान्तमतोऽस्तीदं न सर्गधीः ।

धिन्य इत्यर्थः । उपपादितं चेदं लीलोपाख्याने विस्तरेण ॥१०॥
अज्ञानां तु निरोधिन्य एवेत्याशयेनाह—तिमिरेति ।
अनात्मनि संसारे एव तिष्ठतामज्ञानाम् ॥११॥ अर्काशुवदिति
दृष्टान्तं प्रकारान्तरेणापि वर्णयन्नुपसंहरति—एवमिति ।
आभासमात्रं वर्णितचित्तकारमात्रमतोऽज्ञहशोदितं तत्त्वदशा
नोदितम् । चकारौ विकारान्तराणामपि समुच्चयप्रतिषेधार्थं ।
अर्काशुजालैरेव रचना निर्माणं यस्य तथाविधं यद्गन्धर्वनगरं
तदाममत्र व्यवहारभूमौ कुड्यादि जगत् । तच्च जगद्रूपेण
खे लतेव सत्यं नास्ति । अतो न विजिरोधकमित्यपरिच्छेद-
क्षितः सिद्ध इत्यर्थः ॥ १२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजमायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चित्कचनयोगोपदेशो
नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

यथाभूतं स्थितं ब्रह्म निर्विकारप्रकारणम् ।

नासीदेव जगत्कापि कदापीत्युपबर्ण्यते ॥ १ ॥

ब्रह्मणि जगद्रूपलापसिद्धये तज्जाह्वयमपलपितुं जडत्वेनाभि-
मतस्य चित्रावमनुभावयति—विज्जीत्यादिना । हे विद्याधर, त्वं
चेतनेतरत्वेनाभिमतस्य जगत्क्षेतनादेव चेतनं स्फुरणं विद्धि ।
स्फुरद्रूपत्वमेव हि चेतनत्वम् । तथाहि जगद्रूपं स्फुरति तर्हि
चेतनमेव न चेतनेतरदिति । जले प्रतिबिम्बितोऽग्निरिव
जलाच्च चेतनाद्वत्स्वन्तरमस्ति । अतो जलशैल्यादतिरिक्तं प्रति-

कारणाभावतस्तेन ब्रह्मैवेदमखण्डितम् ॥ ७
अतः शिलोदराभोऽसि व्योमकोशोपमोपि च ।
ब्रह्मैकघनरूपत्वाद्जोऽनघयवोऽसि च ॥ ८
ज्ञोऽसि किञ्चिन्न किञ्चिद्वा निःशङ्कमलमास्यताम् ।
अचेतनाच्चिदाभासे शाम्यतामात्मनात्मनि ॥ ९
नित्यानन्दतयाऽजस्य कारणं नास्ति कार्यकृत् ।
सर्गाद्यसंभवे तस्माद्यदस्ति तदजं शिवम् ॥ १०
अजो येषां तु चिद्रूपो नास्ति मौर्ख्यविलासिनाम् ।
सर्गनाशे समुत्पन्ने किं तेषां प्रविचार्यते ॥ ११
यत्र यत्र परं ब्रह्म तत्र सन्ति जगन्ति हि ।
जगच्छब्दार्थरूपेण मुक्तान्येवंविधानि च ॥ १२
तृणे काष्ठे जले कुड्ये सर्वत्रैव परं स्थितम् ।
सर्वत्रैव च सर्गोद्यः परिप्रोतः स्थितो मिथः ॥ १३

विम्बवद्वैरोष्ण्यमिव न चेतन्याज्जाह्वयं नामान्यदस्तीत्यर्थः ॥११॥
जाह्वयमात्रापलापेनैव जगद्रूपलापसिद्ध्या निर्विकल्पं स्थायीतामि-
त्याह—तदिति । यन्त्रणं यन्त्रं परिच्छेदस्तदहितं यथा
स्यात्तथा । चित्रकृत्तचित्तस्थितज्ज्ञसिबत् । गन्धर्वनगराधिष्ठा-
नव्योममध्यवच्च ॥२॥ ये तु प्रलयेऽपि ब्रह्मणि अचिद्रूपं जगत्
सूक्ष्मरूपेणाऽस्त्येवेति श्रुतिस्मृतिवादास्ते मायाशाबलस्य सर्व-
शक्तित्वादसत्त्वपि ब्रह्मसत्तारोपदृष्ट्या भाविकेनलवे सांप्रतिक-
जलसत्तया सत्ताव्यवहारवदित्याशयेनाह—ब्रह्मणीति ॥ ३ ॥
वास्तवदृष्ट्या तु मायाया एवासत्त्वादद्वितीये निर्विकारे क्षोभत-
द्वैत्वोरेवासंभवाज्जडसर्गादेरुदय एव न संभवतीत्याह—नेत्या-
दिना ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ अनवधारितविशेषसर्वा-
मुगतसत्तासामान्यरूपत्वात्किञ्चित् । विशेषबाधे तदनुगतस्य
सामान्यरूपताया अपि निवृत्तेरैकरूप्यावधारणाच्च न किञ्चित् ।
चेतना बुद्धिस्तच्चिदाभासश्च न विद्येते यत्र ॥९॥ प्रयोजनापेक्षा-
भावादपि सर्गो नास्तीत्याह—नित्यानन्दतयेति । कारणं
क्रियानिमित्तं फलम् ॥ १० ॥ एवं तत्त्वदशा नित्यमुक्तता-
सिद्धिमुपपाद्य तदनभ्युपगमे नित्यबद्धताप्रसक्तिर्मुखाणां स्यादि-
त्याह—अज इति । तेषामनिर्गोक्षदोषानिवृत्तेः किं प्रवि-
चार्यते । निष्फला मोक्षोपायश्चित्तेत्यर्थः ॥ ११ ॥ अर्धप्रबुद्ध-
दृष्ट्या यादृशी स्थितिस्तामाह—यत्र यत्रेति ॥ १२ ॥ १३ ॥

ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते ।
 धनन्ते परमे तस्ये स्वत्वास्वत्वात्यसंभवात् ॥ १४
 अभावसव्यपेक्षस्य भावस्यासंभवादपि ।
 पदं बध्नन्ति नानन्ते स्वभावाद्या दुरुक्तयः ॥ १५
 अस्वत्वाभावयोर्नित्येऽनन्तेऽत्यन्तमसंभवात् ।
 स्वत्वभावेषु सिद्धेषु स्वभावोक्तिर्न तिष्ठति ॥ १६
 नाहन्त्वं लभ्यते साधो बुद्ध्यालोके निरीक्षितम् ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ०

असत्त्वे कुतोऽप्येतद्दालयक्ष इवोदितम् ॥ १७
 मुक्तं त्वहन्त्वशब्दार्थैर्लभ्यते यच्च तत्परम् ।
 युक्तं त्वहन्त्वशब्दार्थैः प्रेक्ष्यमाणं विलीयते ॥ १८
 मेवो जगद्ब्रह्मदशोरमेदः
 पर्यायशब्दार्थविलासतुल्यः ।
 संकल्पमात्रं कथितो न सत्यो
 यथानयोर्वै कटकत्वहेज्ञोः ॥ १९
 वि० स्वर्गापवर्गप्रतिपत्तियोगोपदेशो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः ११

भुशुण्ड उवाच ।

शस्त्राणि दयिताङ्गानि लग्नान्यङ्गे निरम्बरे ।
 यो बुध्यमानः सुखमः स परस्मिन्पदे स्थितः ॥ १
 तावत्पुरुषयत्नेन धैर्येणाभ्यासमाहरेत् ।
 यावत्सुषुप्ततोदेति पदार्थोदयनं प्रति ॥ २
 यथा भूतार्थतत्त्वज्ञमाद्योऽग्रगता अपि ।
 न मनागपि लिम्पन्ति पर्यासीष सरोरुहम् ॥ ३
 शस्त्राङ्गानभ्यास्यल्लग्नान्यलमसंविदम् ।
 अलग्नानीष शान्तात्मा यः पश्यति स पश्यति ॥ ४

तर्हि सिध्यासर्गस्वभावमेवास्तु ब्रह्म नेत्याह—ब्रह्मण इति ।
 स्वः स्वीयो भावो व्यावर्तकधर्मो हि स्वभावस्तस्य च धर्मता
 अस्वभावव्यावर्तकतया वाच्या, अद्वये तु ब्रह्मणि स्वत्वास्व-
 त्वयोरत्यन्तासंभवाच्च स्वभावोऽन्यो निरूपयितुं शक्य इत्यर्थः
 ॥ १४ ॥ व्यावर्तके स्वशब्दासंघटनमुक्त्वा भावशब्दासंघटन-
 मपि दर्शयति—अभावेति ॥ १५ ॥ व्यावर्त्याप्रसिद्धेरपि पद-
 द्वयस्यापि तत्रासंघटनमित्याह—अस्वत्वेति । कालान्तरे देशा-
 न्तरे वा तत्प्रसिद्धिशङ्कावारणाय विशिनष्टि—नित्येऽनन्ते
 इति । स्वतःसिद्धेष्वव्यावर्तकेषु स्वत्वेषु भावेषु च लोके स्वभा-
 वोक्तिः स्वभावशब्दप्रयोगो न तिष्ठति । अप्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ १६ ॥
 यथा ब्रह्मणि सर्गादिर्न सिध्यतीत्यद्वयता एवं प्रतीच्यप्यहन्त्वादि-
 रपीत्युभयशोभे अखण्डता सिद्धेत्याशयेनाह—नाहन्त्वमिति
 ॥ १७ ॥ प्रेक्ष्यमाणं रत्नतत्त्ववच्छास्त्राचार्यानुभवैः परीक्ष्य
 तत्त्वदशा दृश्यमानम् ॥ १८ ॥ अनया दशा जाड्यां चित्स-
 भावतामिव जीवजगद्भेदोऽप्यभेदात्मतामेवापन्न इति प्रदर्शनाय
 प्राक्तना हेमकटकामेददृष्टान्ताः पर्यवसन्ना इत्याशयेनोपसं-
 हरति—मेद इति । संकल्पो राहोः शिर इति व्यपदेशवद्वि-
 कल्पमात्रं विद्वद्भिः कथितः । कटकत्वं कटककारः ॥ १९ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तर-
 रार्धे स्वर्गापवर्गप्रतिपत्तियोगोपदेशो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इहेन्द्रियजयात्पूर्णं निर्विकारमनःस्थितिः ।

देहादिदृश्या दृष्टिश्च हृदीकार्येति वर्ण्यते ॥ १ ॥

निरम्बरे वस्त्राद्यानामृते अङ्गे स्वदेहे लमानि शस्त्राणि दयिता-

विषं यथा स्वान्तरेव दुर्घुणीभवति स्वयम् ।
 न च दुर्घुणता नाम विषादन्यास्ति काचन ॥ ५
 स्वरूपमजहस्त्वेवं जीवतामधितिष्ठति ।
 तथात्मा तत्परिज्ञानमात्रैकप्रविलापिनीम् ॥ ६
 जीवो भवति दुर्घुणोऽमृत्यात्मैव यथा तथा ।
 अत्यजन्ती निजं रूपं चिज्जडं रूपमृच्छति ॥ ७
 ब्रह्मण्यनन्योऽप्यन्याभो दुर्घुणः क्वचिदुत्थितः ।
 तत्स्थः स एवास इवाप्यतत्स्थ इव सर्गकः ॥ ८
 विषं विषत्वमजहद्यथा स्वान्तः कृमिः क्रमात् ।
 न जायते न म्रियते म्रियतेऽपि च जायते ॥ ९

यास्तरुण्याः स्तनाद्यङ्गानि च बुध्यमानः साक्षादनुभवन्नपि
 कामदुःखमयादिविकारानुदयाद्यः सुखमः स्यात् स परस्मिन्पदे
 स्थितः । तादृशस्थितिसिद्धिपर्यन्तमिन्द्रियजयात्मनिष्ठे हृदीकार्ये
 इत्यर्थः ॥ १ ॥ असुमेवार्थे स्पष्टमाह—तावदिति । शस्त्रका-
 न्तादिबाह्यपदार्थेभ्यो विकारोदयनं सिध्यात्वबुद्ध्या प्रतिक्षिप्य
 स्वात्मसुखमात्रविश्रान्तिलक्षणा सुषुप्तता यावदुदेति तावत्
 ॥ २ ॥ तत्त्वज्ञानप्रतिष्ठाया आध्यसंस्पर्श एव लक्षणमित्याह—
 यथेति । न हि शुक्तिबाधे तद्भ्रजतलाभापहारयोराधिर्दृश्यत
 इति भावः ॥ ३ ॥ नभोप्रहृणं दृष्टान्तार्थम् । स पश्यति स
 साक्षात्कारज्ञानवानिति लक्षणेन बोध्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ न
 भ्रान्तिकल्पितेन जीवभावेनास्य वास्तवनिर्विकारस्वभावोऽपगत
 इति तद्वाधमात्रेण तन्नाभो युक्त एवेत्येतदुपपादनय
 दृष्टान्तमाह—न च्चेति । यथा विषं विषस्वभावादप्रच्युतमेव
 घुणकीटादिविकारं गतमिति, घुणता विषादन्या न, तथा
 आत्मा ब्रह्मापि स्वतत्त्वपरिज्ञानमात्रैकबाध्यां जीवतां जीवा-
 कारविवर्तमधितिष्ठतीति जीवता नान्येति बोध्यम् ॥ ५ ॥ ६ ॥
 अमरणस्वभावमेव जडं विषं स्वस्वभावमत्यजदेव यथा मरण-
 स्वभावकीटजीवो भवति तथा ब्रह्मन्चिदपि मरणस्वभावं जडं
 रूपमृच्छतीति वैपरीत्यांशेऽपि दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥ जीव-
 वज्जगदपि घुणवदेवोत्थितमित्याह—ब्रह्मणीति ॥ ८ ॥ कृमौ
 विषस्वभावदृष्ट्या यथा जन्ममरणे न स्तो देहिस्वभावदृष्ट्या

खेनैव संबिद्येन पदार्थामप्ररूपिणा ।
तीर्यते गोष्पदमिष न तु वैवाङ्मवार्णवः ॥ १०
सर्वभाषान्तरावस्था सर्वभावातिशायिनी ।
अन्तःशीतलता यस्मिन्स्मिन्किमिष हेलनम् ॥ ११
जगत्पदार्थसत्तास्तः सामान्येनाशु भाविते ।
मनोहंकारबुद्ध्यादि कः कलङ्कोऽमलात्मनि ॥ १२
यथा घटपटाद्यर्थान्पश्यत्येवं शरीरकम् ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विषाधरो० यथाभूतार्थवेदनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

तथाहन्स्वमनोबुद्धिवेदनाद्यपि पश्य हे ॥ १३
जगत्पदार्थसार्थौघमनोबुद्ध्यादि संस्थितम् ।
न एवासंबिदंस्तिष्ठ परिनिष्ठितनिष्ठया ॥ १४
न केनचित्कस्यचिदेव कश्चि-
दोषो न कैवेह गुणः कदाचित् ।
सुखेन दुःखेन भवाभवेन
न चास्ति भोक्ता न च कर्तृता च ॥ १५

द्वादशः सर्गः १२

भुशुण्ड उवाच ।

ख एव व्योम संपन्नमिति संकल्पनं यथा ।
भ्रान्तिमात्रमसद्रूपं तथाहंभावभावनम् ॥ १
खे खं जातमिति भ्रान्तेरहं कल्पयिता यथा ।
तथा निर्व्यपदेश्यात्म सदस्त्यसदिवाततम् ॥ २
खे खात्मैवास्ति चिद्रूपं तत्स्वकं बुध्यते वपुः ।
भासते यदिदन्त्वेन नाहमस्मि न चानहम् ॥ ३
ततश्चिद्रूपमस्तीदृग्यत्र स्थूलं सूक्ष्मप्यलम् ।

तु स्तस्तथा जीवेऽपि ब्रह्मस्वभावदृष्ट्या न स्तो जीवस्वभाव-
दृष्ट्या तु स्त इत्याह—विषमिति द्वाभ्याम् ॥ ९ ॥ देहेन्द्रिय-
विषयपदार्थेष्वहंममतासत्तया अमप्ररूपिणा अतिरोहितस्वरूपेण
श्रवणादिप्रयत्ननिष्पादितस्वसाक्षात्कारसंवित्रयोजनभूतेन खेनैव
तीर्यते न तु देवं मां तारयिष्यतीति प्रयत्नोपेक्षयेत्यर्थः
॥ १० ॥ सर्वदृश्यभावबाधपरिक्षिप्ते एकात्मस्वभावे परमदरिद्रे
न विश्रान्तिसंभावनेति प्रसक्तमवहेलनां वारयति—सर्वेति ।
सर्वेषां प्रियतमभावानामान्तरी सारसुखरूपा अवस्था सर्वता-
पनिवृत्त्या अन्तःशीतलता यस्मिन् पूर्णात्मस्वभावे ॥ ११ ॥
जीवस्य मनोहंकारादिकलङ्कानिष्ठताबुपायमाह—जगदिति ।
सामान्येन सन्मात्रब्रह्मरूपेण ॥ १२ ॥ यथा घटपटाद्यर्थास्तटस्थ-
तया पश्यसि तथा प्रथमं तटस्थतया शरीरं पश्य नाहन्त्वा-
द्यभिमानेनेत्यर्थः ॥ १३ ॥ तदनन्तरं ज्ञः सर्वसाक्षिरूप एव
बहिर्जगत्पदार्थसार्थौघमन्तर्मनोबुद्ध्यादि च असंविदन् ज्ञप्तिमा-
त्ररूपः परिनिष्ठितनिष्ठया स्वाभाविकस्थित्या तिष्ठ ॥ १४ ॥
तस्यां स्थितौ सर्वगुणदोषादिकक्षेपहेतुपरमसिद्धिरित्याह—न
केनचिदिति । तस्यां स्थितौ भवाभवेन संपदा विपदा तत्प्र-
युक्तसुखेन दुःखेन च केनचिदेतुना कस्यचित्कदाचिदपि दोषो
गुणश्च नास्ति । यतः कर्तृता नास्त्यतो भोक्ता च नास्ति ।
'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिश्रुतेरि-
त्यर्थः ॥ १५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे यथाभूतार्थवेदनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

भ्रान्तिमात्रमहंभावश्चिद्विर्वर्तो जगद्भ्रमः ।

तस्य मूलमविद्येति तत्क्षयकम ईर्यते ॥ १ ॥

बुध्यमाणक्रमेण सहोच्छेदसिद्धये अविद्याया एवाहंभाव-

अणाविष महामेदस्तत्संबिच्छिर्हि कादिता ॥ ४
घनस्ततोऽचिदाभासः खादप्यतितरामणुः ।
जानाति यत्स्वभावं तदेतत्सर्गतया स्थितम् ॥ ५
अहन्तास्मादिताद्यात्मविदः प्रसरणं जगत् ।
अम्भोद्वप्रसरणं यथावर्तादिवेष्टनम् ॥ ६
अचित्प्रसरणं शान्तमस्पन्दीव जलद्रवः ।
निःस्पन्दपचनाकारमाकाशाद्दयोपमम् ॥ ७
न देशकालादिजगत्प्रसरेषु च युज्यते ।

लक्षणसूक्ष्मप्रपञ्चभावस्वस्यैव स्थूलप्रपञ्चरूपतेति सर्वकल्पनानां
चिद्विर्वर्तमात्रतयैकतां दर्शयति—ख एवेत्यादिना । यथा खे
व्योम्येवापरं व्योम संपन्नमुत्पन्नमिति मनसा संकल्पनमेकस्यैव
व्योमो मेदभ्रान्तिमात्रं तथा अज्ञाते आत्मनि सूक्ष्मप्रपञ्चा-
त्मनोऽहंभावस्य भावनं कल्पनमित्यर्थः ॥ १ ॥ ननु दृष्टान्ते
कल्पयिता पुरुषस्तृतीयोऽस्ति तत्र कस्तृतीयस्तमाह—खे ख-
मिति । निर्व्यपदेशि अविद्यापिहितत्वादसदिवाततमत एव
शब्दादिना अव्यवहार्यमात्मरूपं सदस्त्वस्ति तृतीयं कल्पक-
मित्यर्थः ॥ २ ॥ दृष्टान्ते यथा खे अद्वयः खात्मैवास्ति द्वितीयं
तु खं कल्पकपुरुषस्य संकल्पावच्छिन्नचिद्रूपं स्वकं संकल्पात्मकं
वपुरेव यथा कल्पयित्वा बुध्यते, तथा यद्यस्मादविद्योपहित-
चिदात्मा स्वकं वपुरविद्यामेवाहमिदमित्यभिमानमभिमन्तव्यरूपेण
कल्पयित्वा भासते, ततो नाहं नामाज्ञानादन्यदस्ति नाप्यनहं-
प्रपञ्चरूपमित्यर्थः ॥ ३ ॥ अत एव तत्परमसूक्ष्मं सर्वस्थूलक-
ल्पनाधिष्ठानं ब्रह्मास्तीति परिचेयमित्याह—तत इति । तस्य
संबिच्छिः कल्पना । खादिता आकाशादिजगद्भ्रुपता ॥ ४ ॥ पर-
मसौक्ष्म्यं तस्योक्तमुपपादयति—घन इति । खादाकाशादप्यति-
तरामणुरचिदाभासोऽज्ञानलक्षणोऽनादिविर्वर्तस्तत आत्मचित्तेः
सकाशात् घनः स्थूल एव तत्तादृशं परमसूक्ष्मं चैतन्यमना-
द्यहमिदमाकारवासनयोत्तरोत्तरस्थूलस्वभावकल्पनया जानाति ।
एतदेव सर्गतया आभासाभिरुद्धमित्यर्थः ॥ ५ ॥ आत्म-
विद आत्मचैतन्यस्याऽध्यात्ममहन्ताद्यधिलोकं तु खादिता
पञ्चभूतता तदादि प्रसरणं विवर्तविस्तारो जगत्सर्गः ॥ ६ ॥
चित्प्रसरणस्याभावः अचित्प्रसरणं शान्तं जगदुपरमः प्रलय
इति यावत् ॥ ७ ॥ एवं सिद्धस्य देशकालादिजगतोऽवान्तरकार्य-

घनाच्छून्याभिराभासाच्चिन्मात्रविसरादृते ॥ ८
 चिन्मात्रे प्रसृते काले व्योम्नि नाभि जले स्थले ।
 निद्रायां जाग्रति स्वप्ने भवेज्जगदिवोदितम् ॥ ९
 प्रसरणाप्रसरणे न च संभवतो विदुः ।
 खादप्यत्यन्तस्वच्छत्वाद्भोभादेः सदैव हि ॥ १०
 ब्रह्मेतति न भोगादि न चैवात्मन्यसाधहम् ।
 द्रवत्वमम्मसीवान्तरद्वितीयः परे स्थितः ॥ ११
 श्रीर्हीः श्रीर्भीः स्फुरतिः कीर्तिः कान्तिरित्यदिकं गणं ।
 न पश्यति विसंकल्पस्तमसीव पदान्यद्वेः ॥ १२
 ब्रह्मेन्दुबिम्बस्फुरितचिज्योत्कांशामृतद्रवः ।
 दिक्कालासंभवात्सर्गो नेश्वरादतिरिच्यते ॥ १३
 आधिमान्यः स्फुरत्येवं परे स्फुरति भासुरम् ।
 जगदाद्यात्मकं चित्तं चक्रौघत्वमिधाम्भसि ॥ १४
 मज्जनोन्मज्जनारावैर्विवर्तावर्तवेष्टनैः ।
 अच्छिन्नानुपदं क्षीणा भाति सर्गसरिषिरम् ॥ १५
 यथावर्तैः पयो भाति धूमो भाति यथा घनः ।
 तथा जडात्मकतया तृतीयः सर्गं पतयोः ॥ १६

सहस्रलक्षणेषु प्रसरेष्वपि चिन्मात्रप्रसरादृते अन्यत्वारमार्थिकं रूपं न युज्यते नोपपद्यते ॥ ८ ॥ तत्रोपपत्तिं दर्शयति—
 चिन्मात्रे इति । निद्रायां प्रसिद्धस्वप्ने जाग्रति प्रसिद्धे मनोरा-
 ज्यादिसुप्ने च ॥ ९ ॥ चित्तो जगदाकारपरिणामलक्षणो वास्तवः
 प्रसर एव किं न स्यात्तत्राह—प्रसरणेति । क्षोभः संचलनं
 तदादिसर्वविकारशून्यत्वादित्यर्थः ॥ १० ॥ ननु सुखदुःखभो-
 गानुभवरूपा देहाद्यहंभावरूपाश्च विकाराश्चिदात्मनि दृश्यन्ते
 तत्राह—ह इति । परे कूटस्थस्वभावे । तथा च चिदाभासस्यैव
 भोगादिविभ्रमा न कूटस्थात्मन इति भावः ॥ ११ ॥ उक्तेऽर्थे संक-
 ल्पादिमनोवृत्त्यन्वयव्यतिरेकदर्शनं प्रमाणमित्याह—धीरिति ।
 धीश्चिन्तात्मकमनोवृत्तिः । श्रीः संपदभिमानलक्षणा हर्षात्म-
 कमनोवृत्तिः । कीर्तिः स्वगुणख्यातिश्रवणजन्या तादृशवृत्तिः ।
 कान्तिरिच्छा । सर्वत्र मनोवृत्तिबोधकैः पदेस्तद्वेतवो बाह्य-
 विषया लक्ष्यन्ते ॥ १२ ॥ ब्रह्मलक्षणादिन्दुबिम्बात्स्फुरिता या
 जीवचिदाभासलक्षणज्योत्का तदंशचाक्षुषादिज्ञानरूपं यदमृतं
 तदधीनसिद्धिकत्वात्तद्रवप्रायः सर्ग ईश्वराद्ब्रह्मणो नातिरिच्यते ।
 कृतः । तदाधारयोर्दिकालयोर्निरवयवे निष्क्रिये च ब्रह्मण्य-
 संभवात् । सत्यां हि दिशि मूर्तद्रव्यस्य क्रियया सर्गकालः
 कल्प्येत । न च सा प्रागस्ति । एवं सति काले दिगाद्युत्पत्तिः
 कल्प्येत । न च प्रलये सोऽस्ति । क्रियातिरिक्तस्य तत्साधकस्या-
 भावात् । पूर्णे कूटस्थे क्रियाऽयोगात् । न च तयोरसतोः कस्य-
 च्चिदन्यस्यावकाशोऽस्तीति न ब्रह्म व्यतिरिक्तसिद्धिरित्यर्थः ॥ १३ ॥
 परे परमेश्वरे एवं वर्णितदिशा स्वाभिन्नजगदाकारे भासुरं यथा
 स्यात्तथा सर्वसाधारणसच्चिदानन्दात्मना स्फुरति सति कश्चि-
 देव देहादीं विशेषाभिमानेन तदनुकूलप्रतिकूलेषु हेयोपादेय-

दारुणि क्रकवच्छेदे यथावर्तादिकं तथा ।
 अदिगादौ परे सर्गस्तद्वद्रूपचानयम् ॥ १७
 संसारकदलीस्तम्भाद्विना संकल्पपल्लवम् ।
 मृदुनोऽपि दृषत्क्रूराह किञ्चिद्विभ्रमतेऽन्तरम् ॥ १८
 सहस्रखुरमूर्धाक्षिकरवक्रेहितोहितम् ।
 नानाद्रितनुदिग्देशसरित्प्रादेशमात्रकम् ॥ १९
 अन्तःशून्यमसारात्म बहुरामोपरञ्जितम् ।
 स्फुरद्विरागविहितमार्जनामात्रतर्जनम् ॥ २०
 ससुरासुरगन्धर्वविद्याधरमहोरगम् ।
 जडात्मपवनस्पन्दि परचेतनचेतितम् ॥ २१
 पटे चित्रमहाराज्यमिध भासुरसुन्दरम् ।
 परामर्शासहं चारु विकल्पस्फूर्जितं जगत् ॥ २२
 स्पन्दात्मनि विकल्पांशे पतिताऽसत्यरूपिणि ।
 संवित्प्रसरति भ्रान्तौ त्रैलविन्दुरिवाम्भसि ॥ २३
 हृल्लेखाजालविसरैः सर्वावर्तविवर्तनैः ।
 विसरत्क्षेहसंमिश्रजडानुदयस्वर्षणैः ॥ २४

तादिकल्पनेन आधिमान्योऽहंकारात्मा अन्य इव स्फुरति
 तत्सर्वजगज्जीवबन्धमोक्षादिकल्पनात्मकमम्भसि चक्रावर्तौघ इव
 कल्पितं भ्रान्तं चित्तमेव नाणुमात्रमप्यन्यदस्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥
 दृष्टान्तदार्ष्टान्तिके रूपकेणैकीकृत्योपपादयति—मज्जनेति ।
 अनुपदं सद्यस्त्वसाक्षात्कारात् क्षीणा सर्गलक्षणा मरीचिसरित्
 ॥ १५ ॥ दूराद्दूरमराशिर्यथा घनो निबिडो मेघो वा भाति । एत-
 योर्ब्रह्ममनसोस्तृतीयः सर्गो विषयत्वाज्जडात्मकतया सत्यतया
 स्फुरणादजडात्मकतया च भातीति शेषः ॥ १६ ॥ तदतद्रूप-
 पवान् जडाजडरूपवान् ॥ १७ ॥ स्वतो मिथ्यात्वान्मृदुनोऽप्य-
 धिष्ठानसत्तया दृषदिव क्रूरादृढात्स्फटिकखिलाप्रतिबिम्बितक-
 दलीस्तम्भादन्तरमसाम्यं न किञ्चिद्विवेकदृशा लभते । संकल्प-
 कल्पितपल्लववैलक्षण्यकृतमेव वैसादृश्यं नान्यदित्यर्थः ॥ १८ ॥
 इदानीं जगत्पटलिखितचित्रराज्यसादृश्येन वर्णयति—सहस्रे-
 त्यादिचतुर्भिः । सहस्रसंख्यानि करादिब्रह्मन्तानि तदीहितानि
 तद्विज्ञानानि च ऊहितानि वितर्कितानि यत्र । नानाविधा अत्रय-
 स्तनवश्चतुर्विधशरीराणि दिशो देशाः सरितश्च प्रादेशमात्रमिध
 परिच्छिन्ना यत्र ॥ १९ ॥ अन्तःशून्यमवस्तु भ्रान्तरावयवशून्यं
 च । बहुभिः रामैः कामै रजकद्रव्यैश्चोपरञ्जितम् । विरामो वैराग्यं
 विरुद्धवर्णं मार्जनद्रव्यं च तद्विहितमार्जनामात्रमेव तर्जनं
 निरामो यस्य ॥ २० ॥ जडात्मना पवनेन सूत्रात्मना प्रसिद्ध-
 वायुना च स्पन्दनशीलम् । परेण ब्रह्मचेतनेन द्रष्टृचेतनेन च
 चेतितम् ॥ २१ ॥ परामर्शो विचारः परेण आमर्श उपमर्दश्च
 तदसहम् ॥ २२ ॥ विकल्पांशे विकल्पवृत्तौ मनसि प्रतिबिम्ब-
 भावेन पतिता अर्धशून्यत्वाद्वाध्यत्वात्सत्यरूपिणि ॥ २३ ॥
 कथं प्रसरति तदाह—हृल्लेखेति । हृदयं मनो लिखन्ति क्षोभ-
 यन्तीति हृल्लेखाः कामवासनास्तद्व्यवस्य जालत्वानायस्य विसरैः

अहमित्यादिष्विद्रूपे विकल्पेनोन्मुखी सती ।
 न पराद्यतिरिक्तैषा जलत्वादिव तोयता ॥ २५
 चिदादित्यः स्व आत्मैव सर्ग इत्यभिधीयते ।
 भूत्वाहमिति तेनाप्त्यो न सर्गोऽस्ति न सर्जकः ॥ २६
 स्पन्दात्मिकायां सत्तायां यथा स्पन्दो जलद्रवः ।
 तथा चिदात्मा व्योमत्वे न व्योमत्वादि वेत्ति हि ॥ २७
 देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनं विद् ।
 सर्गात्मकत्वात्तेनाम्बुद्रवसाम्यं न दूरगम् ॥ २८
 मनोहंभावबुद्ध्यादि यत्किञ्चिन्नाम वेदनम् ।
 अविद्यां विद्धि यत्नेन पौरुषेणाशु नश्यति ॥ २९
 अर्धं मिथःसंकथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
 आत्मप्रत्ययतः शिष्टमविद्याया निवर्तते ॥ ३०
 चतुर्भागात्मनि कृते इत्यविद्याक्षये क्रमात् ।

समूहैर्निबद्धा । पुत्रकलत्रादिषु विसरता ऋहेन संमिश्रं यथा
 स्यात्तथा जडा मिथ्यात्वादानुदया अनुत्पन्ना एव ये शब्दस्पर्शा-
 दयोऽर्थास्तेषां चर्चणैरास्वादनैः प्रसरति स एव चित्रमहाराज्य-
 त्वेन वर्णितः संसार इत्यर्थः ॥ २४ ॥ एवंरीत्या एषा आदि-
 चित् अहमिति विकल्पेनोन्मुखी बहिर्मुखी जीवभावमिवा-
 पन्ना सत्यपि न परात्परमात्मनो व्यतिरिक्ता । मेदकोपाधीनां
 विकल्पमात्रत्वे जीवपरशब्दयोर्जलतोयशब्दवदेकार्थपर्यवसाना-
 दिति भावः ॥ २५ ॥ उपाध्यनुप्रवेशेन नामरूपव्याकर्तुरहमर्थ-
 जीवस्य ब्रह्ममात्रत्वे तद्भोग्यसर्गशब्दार्थोऽपि ब्रह्ममात्रं संपन्न
 इत्याह—चिदादित्य इति ॥ २६ ॥ जगतो राहुशिरोवच्चिद्विक-
 ल्पमात्रतामविद्यामात्रतापर्यवसानाय दृष्टान्तेनोपपादयति—
 स्पन्दात्मिकायामिति । जलं स्पन्दते इत्यत्र विचार्यताम् । किं
 जलमेव स्पन्दात्मना आस्ते उतान्यत् । न द्वितीयः । अन्य-
 स्यानुपलम्भात् । अन्य एव स्पन्दत इति हि तदा स्यात् स्पन्दस्य
 जलापेक्षानियमाभावप्रसङ्गात् । न च समवायात्तन्निमित्तस्य
 संबन्धानवस्थया असिद्धेः । आद्ये तु कल्पे जलस्य स्पन्दकर्तृ-
 त्वानुपपत्तिः । न हि स्पन्दात्मा स्पन्दं करोति स्पन्दस्यापि कर्तृ-
 त्वापत्तेः । तस्माज्जलद्रवो यथा स्पन्दात्मिकायां स्वसत्तायाम-
 स्पन्द एवेति स्पन्दप्रत्ययो विकल्पमात्रं तथा चिदात्मा व्योमादि-
 प्रपञ्चनिर्माणेपि न व्योमत्वे स्थितो न व्योमकर्तेति न स्वस्थान्यस्य
 वा व्योमभावादिकं वेदितुं शक्नोतीति जलद्रवमेदविकल्पवद्विकल्प-
 मात्रमेव तदित्यर्थः ॥ २७ ॥ ननु जलद्रवमेदविकल्पे देशकालमेदो
 नियामकोऽस्ति । पूर्वकाले पूर्वदेशे स्थितं जलमुत्तरकाले परदेशे
 उपलभ्यते । उत्तरदेशप्राप्तिस्तत्क्रियापूर्विकैव शरादौ कृतेति
 जलेपि द्रवणक्रियामेदः कल्प्यते । ब्रह्मणि त्वद्वये न देशकाल-
 मेदोऽस्तीति न वियदादिमेदविकल्पे निमित्तमस्तीत्यम्बुद्रवसाम्यं
 दूरापास्तमिति शङ्कां समाधत्ते—देष्टेति । किमयं वियदादि-
 सर्गविकल्पासंभवः सर्गात्मकत्वदशायामाक्षिप्यते उत ब्रह्मदशा-
 याम् । द्वितीये दृष्टापत्तिः । न हि वयं ब्रह्मभावे कञ्चिद्विकल्प-

समकालाच्च यच्छिष्टं तदनामार्थसन्मयम् ॥ ३१
 श्रीराम उवाच ।
 अर्धं मिथःसंकथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
 आत्मप्रत्ययतो भागः कथं तस्या निवर्तते ॥ ३२
 समकाले क्रमाच्चेति मुनिनाथ किमुच्यते ।
 तदनामार्थसच्चेति सच्चासच्चेति किं वद ॥ ३३
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 सुजनेन विरक्तेन संसारोत्तरणार्थिना ।
 सह चाप्यात्मविदुषां संसृतिं प्रविचारयेत् ॥ ३४
 यतः कुतश्चिदन्विष्य सविरागममत्सरम् ।
 जनं सज्जनमात्मज्ञं यत्नेनाराधयेद्बुधः ॥ ३५
 संपन्ने संगमे साधोरविद्यार्थं क्षयं गतम् ।
 विद्धि वेद्यविदां श्रेष्ठ ज्येष्ठभेष्टदशोदयात् ॥ ३६

मन्त्रीकुर्मः । सर्गात्मकत्वदशायां तु अयं सर्गकालः प्राक् प्रलय-
 काल इति कालविभागं संसारासंसारदेशमेदं च कल्पनया
 निर्माय तत्र विद्विद्विदात्मनो वियदादिविकल्पवेदनं वर्णयाम
 इति नाम्बुद्रवसाम्यं दूरगमित्यर्थः । तथा चोक्तं वार्तिके
 'अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या
 वैवियेयं न कथंचन युज्यते ॥' इति ॥ २८ ॥ देशका-
 लमेदनिर्माणस्यापि देशकालान्तरसापेक्षत्वादनवस्था । एवं
 विकल्पानां मनोहंभावबुद्ध्यादिसाध्यत्वाद्वियदादिसर्गमेदविकल्प-
 काले तेषामसिद्धत्वात्कथं विकल्पनेत्याद्याशङ्का अपि अनु-
 पपत्त्यादिदोषसहस्रभाजना विद्यामात्रत्वाभ्युपगमादेव परिह-
 र्तव्या इत्याशयेनाह—मन इति ॥ २९ ॥ केन केन पौरुषेण
 कियती सा नश्यति तदाह—अर्धमिति । विनयप्रणतिदानस-
 न्मानादिवशीकृतैस्तत्त्वविद्धिः सह संकथनात्प्रथमभूमिकाप्रति-
 ष्ठापर्यन्तमभ्यस्तयोत्कटवैराग्यादिसाधनचतुष्टयसिद्ध्या पुत्रदार-
 धनादिषु ममताध्यासहेतुभूतमर्थं नश्यतीत्यर्थः । शास्त्रविचारणैः
 श्रवणादिभिः प्रमाणप्रमेयासंभावनादिरूपो देहादिष्वहंतारूप-
 श्चाविद्याया विकल्पशक्तिरूपो भागश्चतुर्थ्याशो नश्यति । आत्मप्र-
 त्ययतो ब्रह्मात्मभावसाक्षात्काराच्चतुर्थभूमिकामारभ्योत्तरोत्तरमु-
 पचीयमानात् शिष्ट आवरणशक्तिरूपश्चतुर्थभागश्चारुणोदयोत्तरं
 तम इव क्रमाच्चिर्वर्तत इत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति प्राग्दर्शितप्रका-
 राद्भूमिकाभ्याससमकालात्क्रमादविद्याक्षये कृते सति यच्छिष्टं
 तन्नामरूपपरहितं सन्मात्रमेव परमपुरुषार्थं इत्यर्थः ॥ ३१ ॥
 संक्षेपोक्तं विस्तरेण जिज्ञासू रामः पृच्छति—अर्धमित्यादिना
 ॥ ३२ ॥ अनामार्थसन्मयमित्यत्र मयदा असदंशस्यापि ऋद्धी-
 कारात्सच्चासच्चेत्युक्तम् । तत्रासदंशः किं तद्वदेत्यर्थः ॥ ३३ ॥
 प्रश्नक्रमाद्दक्षिण उत्तरमाह—सुजनेनेति । आत्मविदुषा सह
 चशब्दादपिशब्दाच्चान्येनापि मुमुक्षुणा सह स्वबुद्ध्या च संसृतिं
 केयं किपर्यवसाना किमूला किसारा कथमुत्तरणीयेति च प्रवि-
 चारयेत् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ इतरभूमिकाभ्यो ज्येष्ठा साधनचतुष्टय-

अर्थं सज्जनसंपर्कादविद्याया विनश्यति ।
 चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थैश्चतुर्भागं स्वयत्नतः ॥ ३७
 एकोऽमिलाष उत्पन्नो भोगेभ्यश्च निवार्यते ।
 तत्क्षये पाल्यविद्यायाश्चतुर्थांशः स्वयत्नतः ॥ ३८
 साधुसङ्गमशास्त्रार्थस्वयत्नैः क्षीयते मलम् ।
 एकैकेनाथ सर्वैश्च तुल्यकालं क्रमादपि ॥ ३९

यदविद्याक्षयैकात्म न किञ्चित्किञ्चिदेव च ।
 शिष्यते तत्परं प्राङ्गुरनामार्थमसञ्च सत् ॥ ४०
 ब्रह्मेदं धनमजराद्यनन्तमेकं
 संकल्पस्फुरणमविद्यमानमेव ।
 बुद्धैवं व्यपगतमानमेयमोहो
 निर्वाणं परिविहरन्विशोकमास्त्व ॥ ४१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० वि० संकल्पसर्गयोरेक्यप्रतिपत्तिर्नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः १३

मुद्युण्ड उवाच ।

जगत्प्रसररूपस्य न देश उपयुज्यते ।
 न कालो धारणे स्तम्भ आलोकस्याम्बरे यथा ॥ १
 मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगन्नयम् ।
 शान्तं तनु लघु स्वच्छं वातान्तः सौरभादपि ॥ २
 चिच्चमत्कृतिमात्रस्य साधो जगदणोः किल ।
 वातान्तः सौरभं मेरुभ्यानुभवयोगतः ॥ ३
 यं प्रत्युदेति सर्गोयं स एवैनं हि चेतति ।
 पदार्थः संनिवेशं स्वमिदं स्वप्नं पुमानिव ॥ ४

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
 यद्वृत्तं देवराजस्य प्रसरेणूदरे पुरा ॥ ५
 कचित्कदाचित्कस्मिञ्चित्कित्कल्पद्रुमेऽभवत् ।
 कस्यांचिद्युगशाखायां फलं जगदुदुम्बरम् ॥ ६
 ससुरासुरभूतौघमशकाहितधुंधुमम् ।
 शैलमांसलपातालधुभूयुप्रकपाटकम् ॥ ७
 चिच्चमत्कृतिचारुचैर्वासनारसपीवरम् ।
 विविधानुभवामोदं चित्तास्वादमनोहरम् ॥ ८
 बृहद्ब्रह्मतत्त्वमौढसत्ताप्रततिकोटिगम् ।

संपत्त्या च श्रेष्ठा या प्रथमभूमिकाप्रतिष्ठा दशा तदुदयादित्यर्थः ॥ ३६ ॥ चतुर्भागं चतुर्थभागम् । स्वयत्नतो नाशयेदिति शेषः ॥ ३७ ॥ तत्रायमुपपादयति—एक इति । एक उत्कट-
 मुमुक्षालक्षणोऽमिलाष उत्पन्नश्चेदयं पुरुषो वैराग्यादिसंपदा
 भोगेभ्यस्तत्साधनेभ्यश्च निवार्यते । अवश्यं निर्ममः संन्यस्य-
 तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ युगपत्प्राप्तौ तुल्यकालम् । क्रमात्प्राप्तौ क्रमादपि
 ॥ ३९ ॥ पञ्चमप्रश्नस्याप्युत्तरमाह—यदिति । अर्थक्रियाव्यव-
 हारानर्हत्वादसत्, अबाध्यपरमपुरुषार्थत्वात्सचेत्यर्थः ॥ ४० ॥
 हे राम, इदं परिविष्टवस्तु आनन्दैकधनं जरादिबिकारघ्न्यं
 ब्रह्मेव । जीवजगद्रूपं तु संकल्पो विकल्पस्तत्स्फुरणमात्रमित्य-
 विद्यमानमेव । त्वमेवमात्मानात्मतत्त्वं बुद्ध्वा व्यपगतमानादित्रि-
 पुटीमोहः सन् निर्वाणं ब्रह्मैव भूत्वा निरतिशयबृहत्त्वादेव परितो
 व्याप्त्या विहरन् सन् विशोकमास्त्व तिष्ठेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 संकल्पसर्गयोरेक्यप्रतिपत्तिर्नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

मायाकार्यं न देशादेरपेक्षेत्यत्र वर्ण्यते ।

इन्द्रस्याणूदरे राज्यकल्पनाख्यानबिस्तरः ॥ १ ॥

‘देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनं विदुः । सर्गात्मकत्वात्’
 इति यदुक्तं तस्योपपादनायेन्द्रप्रसरेण्वाख्यानं वक्तुं भूमिकां
 रचयति—जगदित्यादिना । देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनमि-
 त्यग्नीहोत्रवादः । वस्तुतस्तु दृष्टसृष्ट्या युगपदेव सह देशका-
 लान्यां जगत्प्रसररूपस्य मायिकसर्गस्य धारणेन प्राक्सिद्धो देश

उपयुज्यते । यथा अम्बरे युगपत्प्रसृतस्यालोकस्य धारणे
 स्तम्भो नोपयुज्यते तद्वदित्यर्थः ॥ १ ॥ वातान्तः प्रसृतमति-
 सूक्ष्मत्वाद्वातेनापि धारयितुं कम्पयितुं चाशक्यं यत्सौरभं ज्योतिः
 सौरभं सौगन्ध्यं च तस्मादपि शान्तं तिरोभूतं तनु सूक्ष्मं
 लघु अगुरु स्वच्छं चेत्यर्थः ॥ २ ॥ हे साधो, चिच्चमत्कृतिमात्र-
 त्वेन दृष्टस्य जगदणोरपेक्षया वातान्तर्गतसौरभमपि मेरुविव
 स्थूलं किल । अन्यानुभवयोगतः अन्यैरपि चक्षुर्घ्राणादिसंयो-
 गेनानुभूयमानत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥ दृष्टसृष्टिरूपस्य प्रपञ्चस्य तु न
 स्वकल्पकदृगन्यगोचरतेत्यसाधारणत्वात्परमसौक्ष्ममित्याह—
 यं प्रतीति । यथा मानोरथिकपदार्थः स्वसंनिवेशं स्वसाक्षिणा
 स्वयमेव चेतति । यथा पुमान् स्वस्वप्नं स्वयमेव चेतति
 तद्वदित्यर्थः ॥ ४ ॥ अत्र अस्मिन्पूर्वसिद्धदेशकालानपेक्षारूपे
 अनन्यानुभवगोचरतया परमसौक्ष्मरूपे चार्थे उपपादकम् ॥ ५ ॥
 कश्चिन्नासौ कल्पद्रुमश्च किञ्चित्कल्पद्रुमस्तस्मिन् । सर्वकल्पना-
 फलाधारे मायाशबले ब्रह्मणीति यावत् । युगशाखायां शाखा-
 द्वयसंधौ । जगद्ब्रह्माण्डस्तद्रूपमुदुम्बरं फलम् ॥ ६ ॥ तद्वर्ण-
 यति—ससुरासुरेत्यादिना । शैलैः कीलस्थानीयैर्मांसलानि
 दृढानि पातालादिलोकत्रयलक्षणानि उग्रानि दुराधर्षाणि कपा-
 टानि यत्र । यद्यप्युदुम्बररूपकेन्तःकपाटवर्णनमनुपयुक्तं तथापि
 कल्पवृक्षफलोदुम्बरफलकल्पकमनोवृत्त्यनुसारित्वेन प्रसिद्धवे-
 लक्षण्यकल्पनया कथंचिद्योज्यम् ॥ ७ ॥ चित्तव्यसक्त्या रच-
 नाशक्तिवैविध्येण चारु । उच्यते इत् ॥ ८ ॥ बृहन् प्राग्बर्णितो

अहंकारमहावृत्तं समालोकसमुज्ज्वलम् ॥ ९
 मोक्षद्वारविकास्यास्यं सरिदग्धिशिरावृतम् ।
 मात्रापञ्चककोशस्यं तरसारकसीकरम् ॥ १०
 कल्पावसानजरठं काककोकिलगाम्यथ ।
 पतितं शान्तिमायातं काप्यन्तावासनं गतम् ॥ ११
 तत्राभूदमराधीशः शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः ।
 क्षौद्रकुम्भनिष्पन्नानां क्षुद्राणामिष नायकः ॥ १२
 गुरुपदेशस्वाभ्यासात्स क्षीणावरणोऽभवत् ।
 महात्मा भाषितास्तात्मा पूर्वापरविदां परः ॥ १३
 नारायणादिषु ततः कदाचिद्वीर्यशालिषु ।
 कश्चिदेव निलीनेषु सत्त्वेकः ससुराधिपः ॥ १४
 शस्त्रज्वालानलोज्जरैरयुष्यत महासुरैः ।
 विजितस्तीर्महावीर्यैरतो व्यद्रवदाहुतम् ॥ १५
 दिशो वश सुवेगेन दुद्रावाभिद्रुतोऽरिभिः ।
 न विभ्रामास्पदं प्राप परलोक इवाधमः ॥ १६
 तद्भ्रान्तदृष्टिष्वरिषु मनाक् छिद्रमवाप्य सः ।
 प्रशमं कायसंकल्पं नीत्वा स्वं स्वान्तरे बहिः ॥ १७
 कमप्यर्कांशुकोशस्यं त्रसरेणुं विवेश सः ।
 संविद्रूपतया पञ्चकोशं मधुकरो यथा ॥ १८
 स तत्राशु विशभ्राम चिरादाश्वासमाययौ ।
 अथ विस्मृतसंप्रामो निवृत्तिं समुपागमत् ॥ १९
 कल्पितं सद्य तत्राथ स क्षणाद्भुतवान् ।
 तस्मिन्सन्नानि पद्मान्ते रेमे स्व इव विष्टरे ॥ २०

गृहस्यः स दर्शाय कल्पितं नगरं हरिः ।
 मणिमुक्ताममालादिहस्तममकालाभिरम् ॥ २१
 नगरान्तर्गतोऽवश्यं सलोऽभवत् हरिः ।
 नानाद्रिप्रामगोषवपसनारण्यराजितम् ॥ २२
 तादृप्रतिभेतितवान्सशक्रो भुवनं ततः ।
 साद्यभ्युर्वीनदीशान्तं सक्रियाकालकल्पनम् ॥ २३
 तादृप्रतिभेतितवान्स शक्रस्त्रिजगत्ततः ।
 सपातालमहीव्योमविष्टपार्कादिपर्यंतम् ॥ २४
 तत्रातिष्ठत्सुरेशत्वे स भोगमरभूषितः ।
 पुत्रो बभूव तस्याथ कुन्दो नामाथ वीर्यवान् ॥ २५
 ततो जीवितपर्यन्ते त्यक्त्वा देहमनिन्दितः ।
 निर्वाणप्राययौ शक्रो निःछेद इव दीपकः ॥ २६
 कुन्दस्त्रैलोक्यराजोऽभूज्जनयित्वा सुतं निजम् ।
 कालेन जीवितस्यान्ते जगाम परमं पदम् ॥ २७
 तत्पुत्रोऽपि तथैवाथ कृत्वा राज्ये सुतं निजम् ।
 जगाम जीवितस्यान्ते पावनं परमं पदम् ॥ २८
 एवं पौत्रसहस्राणि समतीतानि सुन्दर ।
 तत्राद्यापि सुरेशस्य येषां राज्ये स्थितोऽशकः ॥२९

इत्यथयावदमरेश्वरवंश एव

संकल्पिते जगति शक्रपदं विधत्से ।

तस्मिन्क्षतेऽपि गलितेऽपि हतेऽपि नष्टे

काप्यम्बरे दिनकरातपपावनाणौ ॥ ३०

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० विद्याधरोपाख्यानान्तर्गतेन्द्रोपाख्याने त्रसरेण्वन्तरसर्गसंघवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

मोक्षद्वारविकास्यास्यं सरिदग्धिशिरावृतम् । सम आलोकः साक्षिचित् तेन समुज्ज्वलम् ॥ ९ ॥ मोक्षद्वारं ज्ञानमेव विकासि आस्यं मुखं यस्य । मात्रास्त्रन्मात्राणि । तरन्ति ऊर्ध्वं प्रवमानानि तारकाप्येव क्षीकरा रसकणा नीहारकणा वा यत्र ॥ १० ॥ महाकल्पावसाने जरठं पकं पातोन्मुखम् । अथ तदनन्तरं काकगामि कोकिलगामि वा । यथा प्रसिद्धोदुम्बरमन्ते काकैः कोकिलैर्ना भक्ष्यते तद्वदसच्छास्त्रकटुरवानुसारिण्या अविद्याकाव्याद्यात्मधुररवानुसारिण्या विद्याकोकिलया वा प्रस्यमानं ज्ञापि अन्तं वासनामात्रशेषलक्षणं नाशमवासनं ब्रह्मभावं वा आगतं भविष्यतीत्यर्थः ॥ ११ ॥ तत्र तस्मिन्नुदुम्बरे । क्षुद्राणां मधुमद्यकानाम् ॥ १२ ॥ भावितः अन्तःसर्वकल्पनावधिप्राप्ता येन ॥ १३ ॥ १४ ॥ शस्त्रज्वालानलानुद्भिन्नतीति शस्त्रज्वालानलोज्जराः । कर्मण्यम् । इन्द्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणादुपपदसमासः । आसमन्ताहुतं क्षीघ्रम् ॥ १५ ॥ सुवेगेन अस्तिजयेन । अधमः पापकृत् ॥ १६ ॥ अरिषु मनाशू भ्रान्तदृष्टिः सत्सु । तद् तदा । छिद्रं मिलयनावसपम् । कायाकारं यो० वा० १३८

स्थूलाकारसंकल्पं स्वान्तरे भूतसूक्ष्मे प्रशमं नीत्वा विलप्याणुतरो भूत्वा बहिः कमपि त्रसरेणुं विवेशेति परेणाम्बयः ॥१७॥ तदन्तःप्रवेशसंकल्पसंविद्रूपतया ॥ १८ ॥ निवृत्तिं बहिर्गमनाभावम् । अनिवृत्तिमिति वा छेदः ॥ १९ ॥ पद्मान्ते पद्मासनमध्ये । स्वे स्वलोकप्रसिद्धे विष्टरे सिंहासन इव ॥ २० ॥ २१ ॥ गोवाटा व्रजाः ॥ २२ ॥ तादृप्रतिस्तादृशसंकल्पोपहितः । भुवनं भूलोकम् । नद्यः ईशा राजानः अन्तास्तस्येशसीमास्तैः सह वर्तमानम् ॥ २३ ॥ अथ तत्र सुरेशत्वे अतिष्ठदित्यपकृष्यान्वयः ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ तस्य सुरेशस्य पौत्रसहस्राणि येषां राज्ये अद्याप्यंशको नाम राजा स्थितः ॥२९॥ इति वर्णितदिशा अद्यथावत् अद्यतनकालपर्यन्तं तत्संकल्पिते त्रसरेण्वन्तरे जगति तद्वद्य एव अमरेशपदं शक्रराज्यं विधत्से पालयति । काप्यम्बरप्रवेशे तस्मिन् दिनकरातपपावने अणौ त्रसरेणौ क्षते अपचिते गलिते नष्टेऽपि हि तद्वाज्यं न गलितमित्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजाख्यातात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे त्रसरेण्वन्तरसर्गसंघवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः १४

भुशुण्ड उवाच ।

तस्य शक्रस्य कुलजः कश्चिदासीत्सुराधिपः ।
 तत्रोत्तमगुणः धीमान्पाश्चात्या यस्य सा तनुः ॥ १
 अथेन्द्रकुलपुत्रस्य तस्य तत्र बभूव ह ।
 प्रतिभाज्ञानसंप्राप्तिर्बृहस्पतिगिरोदिता ॥ २
 ततो विदितवेद्योऽसौ यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
 चकार जगतां राज्यमाज्यपानामधीश्वरः ॥ ३
 युयुधे दानवैः सार्धमजयत्सर्वशात्रवान् ।
 शतं चकार यज्ञानामज्ञानोत्पीर्णमानसः ॥ ४
 उवास कार्यवशतो विसवालान्तरे चिरम् ।
 अन्यान्यपि च वृत्तान्तशतान्यनुबभूव ह ॥ ५
 कदाचिदासीत्तस्येच्छा प्रबोधबलशालिनः ।
 ब्रह्मतत्त्वमवेक्षेऽहं यथावद्व्यानवानिति ॥ ६
 सोऽपश्यत्प्रणिधानेन तत एकान्तसंस्थितः ।
 सबाह्याभ्यन्तरेऽशेषकारणत्यागशान्तधीः ॥ ७
 सर्वशक्तिपरं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम् ।
 सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम् ॥ ८
 सर्वतःपाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
 सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्त्य संस्थितम् ॥ ९
 सर्वेन्द्रियगुणैर्मुक्तं सर्वेन्द्रियगुणान्वितम् ।
 असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १०
 बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
 सूक्ष्मत्वात्सद्विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ ११

तत्कुलोत्पन्नशक्रस्य विसतन्तौ जगत्प्रया ।

तत्रोच्यते ब्रह्मदृष्टौ सर्वदृष्ट्या स्वशक्रता ॥ १ ॥

तस्य प्रागुक्तस्य शक्रस्य कुलजो वंशोद्भवः ॥ १ ॥ तस्य
 तत्र बृहस्पतेः स्वगुरोरुपदेशगिरा उदिता प्रतिभानं प्रतिभा
 आत्मतत्त्वसाक्षात्कारस्तद्रूपज्ञानसंप्राप्तिर्बभूवेति शेषः ॥ २ ॥
 आज्यपानां देवानाम् ॥ ३ ॥ यज्ञानामभ्युपेक्षानाम् । तस्य
 हि फलं तस्य वक्ष्यमाणविसतन्तावेतद्ब्रह्माण्डे च शक्रता-
 प्राप्तिरिति भावः ॥ ४ ॥ विसस्य पद्मनालस्य बालतन्तुस्तद-
 न्तरे । तत्र विसतन्तौ कल्पिते ब्रह्माण्डे राज्ययुद्धजयपराज-
 यादीन्यान्यान्यपि वृत्तान्तशतान्यनुबभूव ह किल ॥ ५ ॥ ब्रह्म-
 तत्त्वं मायाशबलब्रह्मस्वभावम् ॥ ६ ॥ प्रणिधानेन समाधिना ।
 अशेषाणां विज्ञेयकारणानां त्यागेन शान्तधीः ॥ ७ ॥ ८ ॥
 श्रुतिमत् भोत्रेन्द्रियवत् ॥ ९ ॥ सर्वेन्द्रियाणां गुणैः रूपादि-
 प्रहणशक्तिभिरन्वितम् । परमार्थतः असक्तम्, व्यवहारतस्तु
 सर्ववत् । एवमप्रेऽपि ॥ १० ॥ ११ ॥ प्राचुर्बे मयद् ॥ १२ ॥
 भ्रमप्राधान्येन संसृतिः, भावविकारप्राधान्येन जगदिति मेदव्य-
 पदेशः ॥ १३ ॥ १४ ॥ धाम्नि तेजसि शृहे च । सः त्रिज-
 गन्ति ददर्शेति परेणान्वयः ॥ १५ ॥ ज्ञानाधिष्ठाः प्राणिना-

सर्वत्र चन्द्रार्कमयं सर्वत्रैव धरामयम् ।
 सर्वत्र पर्वतमयं सर्वत्राग्निमयं तथा ॥ १२
 सर्वत्र सारगुरुकं सर्वत्रैव नभोमयम् ।
 सर्वत्र संसृतिमयं सर्वत्रैव जगन्मयम् ॥ १३
 सर्वत्रैव च मोक्षात्म सर्वत्रैवाद्यन्मयम् ।
 सर्वत्र सर्वार्थमयं सर्वतः सर्ववर्जितम् ॥ १४
 घटे पटे वटे कुब्जे शकटे वानरे तथा ।
 धाम्नि व्योम्नि तरावद्वावनिले ललिलेऽनले ॥ १५
 ज्ञानाचारविचाराणि विविधावृत्तिमन्ति च ।
 परमाण्वंशमात्रेऽपि त्रिजगन्ति ददर्श सः ॥ १६
 मरिचस्यान्तरे तैक्ष्ण्यं शून्यत्वमिव चाम्बरे ।
 त्रिजगत्सत्यसति च विद्यते चिन्मयात्मनि ॥ १७
 इत्येवं भावयन्मुक्तभावया शुद्धसंविदा ।
 शक्रः क्रमेण तेनैव तथैव ध्यानवानभूत् ॥ १८
 ध्यानेन सर्वमेकत्र पदयंश्चिरमुदारधीः ।
 ददर्शममसौ सर्गमस्मदीयं महामतिः ॥ १९
 ततोऽस्मिन्विचरन्सर्गे शक्रान्ते शक्रतां गतः ।
 चकार राजतां राज्यं वृत्तान्तशतशोभितम् ॥ २०
 विद्याधरकुलाधीश इत्यद्यैव स देवराट् ।
 तस्येन्द्रस्य कुलोत्पन्न इति विद्धि यथास्थितम् ॥ २१
 ततो हृदयबीजस्थप्राच्युत्थाभ्यासयोगतः ।
 विसवालनिवासादिवृत्तान्तमनुभूतवान् ॥ २२

माचाराः शारीरा विचारा मानसाश्च क्रियामेदा येषु । आवृ-
 त्तयः स्वर्गनरकादेः पुनरागमनानि । परमाणोरंशा ऊर्ध्वाधोम-
 ध्यादिभागास्तन्मात्रेऽपि ॥ १६ ॥ सति आविर्भावकालात्मनि ।
 असति तिरोभावकालात्मनि च ॥ १७ ॥ भावयन्पश्यन् ।
 मुक्तो भावो जीवो जीवभावो यया । तेन प्राग्वासनाकल्पिते-
 नेव शक्रदेहेन शक्रो न तु समाप्यनुभूयमानसर्वात्मभावेनेत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ एकत्र मायाशबलब्रह्मणि । इममस्मदीयं त्वया मया
 चानुभूयमानं सर्गं ब्रह्माण्डम् ॥ १९ ॥ ततस्तदनन्तरमस्मि-
 न्सर्गे पातालभूम्यादिलोकदर्शनक्रमेण शक्रलोकान्ते मनसा विच-
 रन्संस्तत्र शक्रदर्शनेन शक्राहंभावसंस्कारोद्बोधात्प्राक्तनाभ्युपे-
 क्षतादृष्टकलावश्यंभावाच्च शक्रतां गतः । राजतां प्रजारणक-
 ताम् । राज्यं राजकर्म करादानपरिपालनादि चकार ॥ २० ॥
 हे विद्याधरकुलाधीश, इति अनया रीत्या तस्य असरेण्वन्तर्ग-
 तस्येन्द्रस्य कुले उत्पन्नः सोऽशास्मिन्ब्रह्माण्डेऽपि देवराट् भूत्वा
 तिष्ठतीति विद्धि ॥ २१ ॥ तत एतदिन्द्रभावात्तन्तरे हृदये बीज-
 मिव संस्काररूपेण स्थितस्य प्राक्तनस्य मुख्यस्य ज्ञानयोगाभ्या-
 सस्य योगतो यथास्थितं प्राक्तनं विसतन्तुनिवासादिसवृत्तान्त-

१ नरे इति वाचः, २ जगतां इति श्रुतितपाठ्यैकाकारसंज्ञकः-

यथैव शक्रः कथितस्त्रसरेणूद्रास्पदः ।
 विसवालास्पदश्चैतत्कुलजः कान्तिमानथ ॥ २३
 तथा शतसहस्राणि तत्रैतन्नान्यतश्च स्त्रे ।
 तादृशव्यवहाराणि समतीतानि सन्ति च ॥ २४
 वहतीयमविच्छिन्ना चिरायैवं तरङ्गिणी ।
 तावद्दृश्यसरित्प्रौढा रुढारूढे च तत्पदे ॥ २५
 इति भाष्यमादीर्घा प्रसूता प्रत्ययोन्मुखी ।
 सत्यावलोकमात्रातिविलयैकविलासिनी ॥ २६

यतः कुतश्चिन्मायेयं यत्र क्वचन वानघ ।
 यथाकथंचित्संपन्नमात्रैव परिदृश्यते ॥ २७
 अहंभावचमत्कारमात्राहृष्टिरिवाम्बुदात् ।
 जायते मिहिकेशाशु प्रेक्षामात्रविनाशिनी ॥ २८
 येनायतामिमतदर्शनद्रष्टृदृश्य-
 मुक्त्वभावमवभासनमात्रमत्त्वम् ।
 सर्वार्थशून्यमत एव च शून्यरूप-
 मेकं स्वमात्रमिष मात्रविकल्पमेव ॥ २९

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० विशाखरोपाख्यानान्तर्गतेन्द्राण्वाख्याने सर्गसंकल्पयोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः १४

पञ्चदशः सर्गः १५

मुशुण्ड उवाच ।

यत्राहंत्वं जगत्त्र पूर्वभागस्य तिष्ठति ।
 पराष्वन्तरपीन्द्रस्य त्रसरेणूदरे यथा ॥ १
 भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
 अहंभावोऽभिमन्तात्मा मूलमाद्यमुदाहृतम् ॥ २
 वासनारससंसिकादहंबीजकणाद्यम् ।
 ब्रह्माद्रौ व्योमविपिने जायते त्रिजगद्गुमः ॥ ३
 तारकापुष्पनिकरो विलीनाचलपल्लवः ।
 सरित्साराशिरापूरो वासनासारतत्फलः ॥ ४
 अहंत्वसलिलस्येदं जगरूपम् उदाहृतः ।

चिच्चमत्करणस्वादुर्वासनाविसरद्रवः ॥ ५
 तारकासीकरासारो नभोनन्तनिखातवान् ।
 भावाभावमहावर्तो नानागिरितरङ्गकः ॥ ६
 त्रिलोकीविलिखल्लेखो विलोलालोकफेनिलः ।
 ब्रह्माण्डबुद्बुदोद्भेदः कवाटापीडपीवरः ॥ ७
 भूपीठदृढडिण्डीरपिण्डश्चिद्भनमद्गुमान् ।
 चित्राजवं जवीभावमज्जनोन्मज्जनात्मकः ॥ ८
 जरामरणमोहादिवीचीचयचमत्कृतिः ।
 उत्पन्नध्वंसिदेहादिबिन्दुवृन्तैकवन्धुरः ॥ ९
 अहंत्वपवनस्पन्दो जगदित्यवगम्यताम् ।
 अहंत्वपन्नसौगन्ध्यं जगदित्यवबुध्यताम् ॥ १०

मनुभूतवान् । सस्मारेत्यर्थः ॥ २२ ॥ सर्वशक्तौ ब्रह्मणि सर्वत्र
 सर्वसद्भावादीदृशशक्तसहस्राण्यपि सर्वत्र सन्तीति संभावये-
 त्याह—यथेति द्वाभ्याम् । अप्यर्थेऽथशब्दः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 चतुर्ध्यादिवर्षान्तभूमिकास्वर्धं रुढे अर्धमरूढे च तस्मिन् ब्रह्म-
 पदे सति इयं माया इति प्रत्ययोऽनुभवस्तदुन्मुखी भवतीति
 परेणान्वयः ॥ २५ ॥ २६ ॥ मायात्वादेव न वैश्विभ्ये हेतु-
 विशेषाश्चिन्त्या इत्याह—यतः कुतश्चिदिति । त्रिभिर्यदुतैः
 किंवृत्तैश्च हेतुकालदेशक्रियाप्रकारनियमानावश्यकता सूच्यते
 ॥ २७ ॥ अथवा एक एवाहंकाराभ्यास एतद्वैश्विभ्ये नियतो हेतु-
 रित्याह—अहंभावेति । मिहिकानीहारधूम इवेति नाशे
 दृष्टान्तः ॥ २८ ॥ येन हेतुना मातृसर्वसाक्षिब्रह्मरूपमविकल्पं
 सर्वविकल्परहितमेव परमार्थतः । अत एव अहंकारवशादायतानि
 विस्तीर्णानि भानि अभिमतानि मानसविकल्पाः दर्शनानि
 त्रिपुटीलक्षणैन्द्रियकविकल्पाश्च तैर्मुक्त्वभावम् । जाग्रदवस्था-
 शून्यमिति यावत् । अत एव वासनामयस्त्राप्रसर्वावशून्यमत एव
 च प्रतियोग्यप्रसिद्धा सर्वशून्यतालक्षणेन सौषुप्ताज्ञानेन च शून्यं
 स्वमात्रमिव पूर्णमवभासनं चिद्रूपमात्मतत्त्वं परिच्छिद्यमित्यर्थः
 ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उ० सर्गसंकल्पयोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

अहंभावो जगद्भावेर्वाङ्मं रूपं च वर्णयते ।

तन्मात्रेणावगम्यदृष्ट्या शुद्धशेषात्कृतार्थता ॥ १ ॥

‘अहंभावचमत्कारमात्राहृष्टिरिवाम्बुदात् । जायते दृश्य-

सरित्’ इति यदुक्तं तदुपपादकतया इन्द्राण्वाख्यायिकां योज-
 यति—यत्रेति । अभिनवेऽपि स्वप्नप्रपञ्चे पूर्वसिद्धमेव
 जगत्पदयामीति सर्वानुभवात्पूर्वभागस्य तिष्ठतीत्युक्तिः ॥ १ ॥
 ॥ २ ॥ व्योम अग्न्याकृताकाशस्तलक्षणे विपिनेऽरण्ये ॥ ३ ॥
 विलीना मेघमिहिका वनप्रच्छन्ना अचलाः पर्वताः पल्लवा यस्य ।
 सरित्सारा गङ्गाद्याः । वासना एव सारा बीजांशा येषु
 तथाविधास्ते भोगाः फलानि यस्य ॥ ४ ॥ इदानीमहंकारं
 महाजलस्तथा जगच्च तत्कार्यतरङ्गादितया वर्णयति—
 अहंत्वत्वेत्यादिपञ्चभिः । इदं जगत् अहंत्वसलिलस्य स्पन्दो
 विलासः । चित्तश्चमत्करणं वैषयिकसुखं स्वाद् भाधुर्यं यत्र
 ॥ ५ ॥ नभसा आकाशेन अनन्तनिखातवान् अपरिच्छेद्य-
 कुक्षिकुहरवान् । भावाः संपदः अभावा विपदश्च महान्त
 आवर्ता यत्र ॥ ६ ॥ त्रिलोकीपदेन तद्गतजना लक्ष्यन्ते ।
 त एव विलिखन्त्यश्चित्रलेखयवदाविर्भवन्त्यो लेखा रेखा
 यत्र । विलोलैः सूर्यचन्द्राद्यालोकैः फेनिलः फेनवान् ।
 ब्रह्माण्डा एव बुद्बुदोद्भेदा यत्र । कपाटमिव आपीड्यति
 निरुणद्धि मोक्षप्रवेशमिति कपाटापीडो मोहसेतुस्तेन पीवरोऽ-
 भिवृद्धः ॥ ७ ॥ भूपीठमेव घनो डिण्डीरपिण्डो यत्र । चिद्भनै-
 श्चिदाभासैर्जर्वैर्दुमान् जलकाकवान् । तेषां चित्रैराजवं
 जवीभावैरुर्वाधस्तिर्यग्भ्रमणैर्मज्जनोन्मज्जनात्मकः ॥ ८ ॥ ९ ॥
 प्रकारान्तराभ्यां जगद्गर्णयति—अहंत्वैति ॥ १० ॥ इत्थं

माहंत्वजगती विद्ये पवनस्पन्दवत्सदा ।
 ययो द्रवत्वमिव च बहिरौण्यमिवापि च ॥ ११
 जगदस्थहृदयंऽन्तरहृदमस्ति जगद्गदि ।
 अन्योन्यभाविनी त्वेते आधाराधेयवत्स्विते ॥ १२
 जगद्गीजमहंत्वं यो मार्हि बोधादवेदनात् ।
 अलं चित्रं जलेनेव तेन धौतं जगन्मलम् ॥ १३
 अहंत्वं नाम तर्कविद्विद्याधर न विद्यते ।
 अकारणमवस्तुत्वाच्छब्दाभ्रकमिवोदितम् ॥ १४
 ब्रह्मण्यतितपेऽनन्ते संकल्पोल्लेखवर्जिते ।
 अहंत्वकारणाभावात् कदाचन सन्मयम् ॥ १५
 अवस्तुन्येति सर्गादौ न संभवति कारणम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वि० विद्याधरनिर्वाणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः १६

भुशुण्ड उवाच ।
 कथयत्येवमप्येवं स विद्याधरमायकः ।
 आसीत्संशान्तसंविद्धिः समाधिपरिणामवान् ॥ १
 प्रबोध्यमानोऽपि मया भूयोभूयस्ततस्ततः ।
 न पपात पुरोदहये परं निर्वाणमागतः ॥ २
 स प्राप परमं स्थानं तावन्मात्रप्रबोधवान् ।
 कैमचिञ्चाधिकेनाङ्ग यत्नेनातिशयैषिणा ॥ ३
 अत उक्तं मया राम यदि शुभे हि' चेतसि ।
 उपदेशः प्रसरति तैलविन्दुरिवाम्भसि ॥ ४

वर्णने फलितमाह—नेति ॥ ११ ॥ परस्परबीजतामाह—
 जगदिति । अन्योन्यस्माद्भाविनी भाविर्भावशीले अन्यो-
 न्याधीनस्थितिके च ॥ १२ ॥ अत एवाहंकारमार्जनाजगन्मार्जन-
 सिद्धिरित्याह—जगदिति ॥ १३ ॥ अहंत्वस्य तत्त्वदृष्ट्या
 असत्त्वदर्शनमेव मार्जनमित्याह—अहंत्वमिति ॥ १४ ॥
 तत्कृतस्तत्राह—ब्रह्मणीति ॥ १५ ॥ संभवदपि कारणं
 लोके अवस्तुनि नैति न व्याप्रियते । प्रकृते तु सर्गादौ कारणं
 न संभवति तत्संभवोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥ निर्वाणं
 कैवल्यलक्षणं चित्तं चिन्मात्रं चिष्टम् ॥ १७ ॥ एवमुपपत्ति-
 प्रतिष्ठिताजगदहंत्वयोरभावात् । बाह्या रूपालोकादयः संसारा
 आन्तरा मनस्कारलक्षणाः संसाराश्च शान्ताः । न च इतर-
 त्तदुभयव्यतिरिक्तं हेयं दुःखमस्ति अतः शान्तमास्त्वैत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ शान्तं निर्दुःखविज्ञेयम् ॥ १९ ॥ व्यपगतो बाह्या-
 भ्यन्तरदृश्यकलनालक्षणः कलङ्को यस्य अत एव शुद्धः ।
 अध्यारोपे खं सून्यमपि पर्वतोपमानं भवति, अपवादे तु जग-
 द्ब्रह्माण्डमपि वा परमाणुरूपमाकाशतुल्यमेव भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 विद्याधरनिर्वाणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

अतोऽहंत्वादि नास्त्येव चन्ध्यासुत इव कश्चित् ॥ १६
 तदभावाज्जगदास्ति चित्तं जगदभावतः ।
 शिष्टं निर्वाणमेवातः शान्तमास्त्व यथासुखम् ॥ १७
 अभावादुपपत्तिस्थादेवं जगदहंत्वयोः ।
 रूपालोकमनस्काराः शान्तास्तत्र न चेतरेत् ॥ १८
 यथास्ति तत्तु नास्त्येव शेषं शान्तमसि ध्रुवम् ।
 संप्रबुद्धोऽसि मा भूयो निर्मूलां भ्रान्तिमाहर ॥ १९
 व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः
 शिवमसि शान्तमसीश्वरोऽसि नित्यः ।
 खमपि भवति पर्वतोपमानं
 जगदपि वा परमाणुरूपमेव ॥ २०

माहमित्यस्ति ते नान्तमैनं भावय शान्तये ।
 एतावदुपदेशोक्तिः परमा नेतरास्ति हि ॥ ५
 एवैवाभव्यमनसि पतिता प्रविलीयते ।
 उत्ताने मसृणावर्शे मुक्ताफलमिवामलम् ॥ ६
 भव्ये तु शान्तमनसि लगत्यभ्येत्यविच्युतिम् ।
 प्रविद्यन्तर्विचाराख्यामर्चिरर्कमणौ यथा ॥ ७
 अहंभावनमेवोच्चैर्बीजं दुःखाख्यशास्त्रमलेः ।
 ममेदं तद्गवादीति शास्त्राप्रसरकारणम् ॥ ८
 अहमादौ ममेत्यन्तस्तत इच्छा प्रवर्तते ।

भुत्वा विद्याधरस्यात्र समाधिरुपबध्बते ।

कथाशेषोपसंहारोऽनहंभावप्रशंसया ॥ १ ॥

संशान्ता दृश्यसंवितिर्यस्य समाधिलक्षणो यश्चित्तस्य क्षीरो-
 दकवर्षिदेकरस्येन परिणामस्तद्वात् ॥ १ ॥ पुरोगते दृश्ये
 शब्दादिविषये न पपात ॥ २ ॥ मुख्याधिकारित्वात्तावन्मा-
 त्रेण महुपदेशेन प्रबोधवान् । भवणावृत्तिमनननिदिध्यासना-
 यतिशयैषिणा न । अज्ञेति वसिष्ठसंबोधनम् ॥ ३ ॥ इदानीं
 वसिष्ठः प्राक् खोक्तेऽर्थे विद्याधरचित्तमुदाहरणमिति वर्णनत्व-
 रया भुशुण्डोक्तिमुक्तम्य रामं प्रत्याह—अत इत्यादि ॥ ४ ॥
 कोऽसावुपदेशस्तमाह—माहमिति । ते अन्तः प्रत्यगात्मनि
 विदेकरसे अहमित्यंशो नास्ति । अतोऽसन्तमेनं मा भावय
 इत्येतावत् एतावत्येवोपदेशोक्तिः परमा सारसंप्रहभूता ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥ अविच्युतिं अभ्येति । अन्तः प्रविश्य विचाराख्यां सर्व-
 मोहारण्यदाहकमामभिषिक्तां च जनयतीति शेषः । यथा
 अर्कमणौ सूर्यकान्ते प्रविष्टं सूर्याचिरभिषिक्तां जनयति तद्वत्
 ॥ ७ ॥ तद्गदहंभावनमेव ममेदं भावनं संसारवृक्षस्य मूर्कविद्यारीदं
 यतो रणादिशास्त्राप्रसरस्य कारणमित्यर्थः ॥ ८ ॥ तदेवाह—
 अहमिति । आदौ बीजावस्थास्थाने । अन्तः तत्कार्यवृक्ष-
 लादेरर्थः । १ मूर्कविद्यारीरिति तूत्तरार्धेऽस्वीत्यर्थः ।

१ विद्येति इत्यपि पाठः- २ संसारवृक्षस्येति मूर्कस्येतिः

| | | | |
|---|----|--|----|
| इदमर्थशतानर्थाकारिणी भवभारिणी ॥ | ९ | तूर्णी बभूव भुक्तात्मा ऋष्यमूक इवाभ्युदः ॥ | १२ |
| एवंविधा मुनिभेदं ब्रूया अपि चिरायुषः । | | अहमापृच्छय तं सिद्धं विद्याधरमथो पुनः । | |
| भवन्त्यभियमो ह्यङ्ग दीर्घायुष्यस्य कारणम् ॥ | १० | प्राप्त आत्मास्पदं राम मुनिमण्डलमण्डितम् ॥ | १३ |
| अन्तःशुद्धमनस्का ये सुचिरायामयप्रदम् । | | एतत्तवाद्य कथितं बलिभुक्तयोक्तं | |
| मनागप्युपदिष्टास्ते प्रागुच्यन्ति परं पदम् ॥ | ११ | विद्याधरोपशमनं लघुबोधनोत्थम् । | |
| श्रीवासिष्ठ उवाच । | | अस्मिन्भुशुण्डविहगेन्द्रसमागमे मे | |
| मेढमूर्धनि मामेवमुक्त्वा स विहगाधिपः । | | वैकादशोह हि गतानि महायुगानि ॥ | १४ |
| इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० विद्याधरोपाख्याने विद्याधरनिर्वाणं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥ | | | |

सप्तदशः सर्गः १७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अनहंवेदनादेवं शुभाशुभफलप्रदा ।
संसारफलिनी नूनमिच्छान्तरुपशाम्यति ॥ १ ॥
अनहंवेदनाभ्यासात्समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
भूत्वा शान्तभवापीडो न नरः परिताम्यति ॥ २ ॥
अहंतापुटकोद्गीनपरबोधबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने काशु गच्छति ॥ ३ ॥
अहंतापुटकोद्गीनो ब्रह्मवीरबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने काशु गच्छति ॥ ४ ॥
अहंतापुटकोद्गीनो ब्रह्मवीरबलेरितः ।

शरीरयन्त्रपाषाणो न जाने काशु गच्छति ॥ ५ ॥
अहमर्थहिमं त्वन्तरनहंता चिद्विषया ।
उद्गीयेव विलीनं सन्न जाने काशु गच्छति ॥ ६ ॥
अहंरसो विलीनोन्तरनहंताचिद्विषया ।
शरीरपर्णादुद्गीर्णात् न जाने काशु गच्छति ॥ ७ ॥
शरीरपर्णाभिष्पीतस्त्वहंभावरसासवः ।
अनहंताकर्मार्गेण परतामधिगच्छति ॥ ८ ॥
शयने कर्दमे शैले गृहे व्योम्नि स्थले जले ।
स्थूला सूक्ष्मा निराकारा रूपान्तरगतापि च ॥ ९ ॥
यत्र तत्र स्थिता सुप्ता प्रबुद्धा भस्मतां गताः ।

स्थाने । इच्छा शाखास्थाने प्रवर्तते ॥ ९ ॥ एवं प्रागुक्तं प्रकृत-
संमत्या समर्थं वसिष्ठः पुनर्भुशुण्डोक्तिकथामेवानुसरन्विद्याधर-
कथामुपसंहरति—एवंविधा इति । दीर्घायुष्यस्य कारणं
तत्त्वज्ञानमेवेतीति शेषः ॥ १० ॥ अन्तःशुद्धेस्तु चिराभ्यास एव
ज्ञानकारणमिति नियमोऽस्त्येवेत्याशयेनाह—अन्तरिति ।
सुचिरायामभ्यासेनान्तःशुद्धमनस्का ये ते । परं पदं ज्ञानम्
॥ ११ ॥ विहगाधिपो भुशुण्डः । ऋष्यमूके गिरो मत्संगाश्रमे
मत्संगशापमयाम्मूका मेघा न गर्जन्तीति प्रसिद्धिः ॥ १२ ॥ प्रथमं
तं सिद्धं भुशुण्डमापृच्छय अथो विद्याधरं गत्वा तदुक्तिर्वादाय
पुनस्तमप्यापृच्छय निश्चितार्थोऽहम् । आस्पदं स्वाश्रमम्
॥ १३ ॥ हे राम, मया लघु शीघ्रमेव बोधनेनोत्थमुत्पन्नं विद्या-
धरस्योपशमनं बलिभुजः ककस्य भुशुण्डस्य कथया उक्तं तवाद्य
कथितम् । अस्मिन् वर्णिते भुशुण्डविहगेन्द्रसमागमे मे जाते
तदनन्तरमिह अस्मिन् कल्पे एकादशमहायुगानि दिव्ययुगानि
गतानीत्यर्थः ॥ १४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशो
निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरनिर्वाणं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

अनहंवेदनादेवं शुभाशुभफलप्रदा ।

देहादिसंघतेः सग्न्यकाशेऽङ्गीकत्वमीर्यते ॥ १ ॥

सर्वसंघतेः काममूलत्वाद्नहंभावेन प्रथमं तद्विद्विति-
माह—अनहमिति ॥ १ ॥ कामोपरमे लोभादियोगक्षयाद्देवा-
ग्यादिसंपदा सर्वमानसदुःखक्षय इत्याह—अनहमिति ॥ २ ॥
सोपवनतोऽप्यभयवर्णादिना हनोदये प्रकल्पतिरिफाहमर्थस्य

बाधेनालीकत्वमेव पर्यवस्यतीत्याशयेनाह—अहंतेति । भव-
णादिना ज्ञाननिर्मथनाभ्यासेन अहंतालक्षणात्प्रमातृयन्त्रपुट-
कादेव वह्निज्वालावदुद्गीन आविर्भूतो यः परब्रह्मसाक्षात्कार-
लक्षणो बोधस्तद्द्वेन ईरितः क्षितः । निरस्त इति यावत् ।
अहमादिदृश्यार्थपाषाणोऽभियन्त्रक्षितपाषाण इवाशु क गच्छति
न जाने । तुच्छत्वमेवापद्यत इति भावः ॥ ३ ॥ चरमसाक्षात्का-
रवृत्त्या रूढं ब्रह्मैवाज्ञानाहंकारादिनिरासकर्ममित्याशयेनाह—
अहंतेति । अज्ञानाहंकारयोरिव स्थूलदेहस्यापि व्यष्टिसमष्टि-
रूपस्य तादृशं ब्रह्मैव निवर्तकमित्याशयेनाह—अहंतेति ॥ ४ ॥
ब्रह्मैव वीरो विक्रान्तस्तद्दलेरितः । 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्य-
समानमध्यमव्यमवीराश्च' इति समानाधिकरणसमासे वीरश-
ब्दपरविपातश्चान्दसः ॥ ५ ॥ अनहंताभावनावृत्तिप्रतिफलित-
चित्तैवाहंतानाद्य इति पक्षो वाऽस्त्वित्याशयेनाह—अहमर्थेति
द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥ उद्गीर्णात् ब्रह्मविद्याधिकारिब्राह्मणाद्युत्कृष्टवर्णा-
त्परिपाकपाण्डुराद्य ॥ ७ ॥ अथवा न बाधिताहंतादेः शून्यता
किंतु ब्रह्मतैवेत्याशयेनाह—शरीरेति । अनहंतालक्षणेनार्क-
रश्मिमार्गेण परतां ब्रह्मतां स्वकारणसूक्ष्मजलात्मतां च ॥ ८ ॥
तत्त्वज्ञानं विना तु न कापि कदापि कस्यान्विदवस्थायाम् देहस्या-
हंकारस्य वा आत्यन्तिकोच्छेदस्तयोः परस्परबीजतया परस्पर-
रान्तःसत्त्वेन जगद्भावेन सर्वत्रोद्भवावर्जनादित्याह—शयने
इत्यादिना । शयने क्षय्यायां स्थूलद्विधादभावस्थाप्राप्ता क्षय-
नाद्विस्थानसप्तके यत्र तत्र स्थितापि शरीरलक्षणा ब्रह्मज्ञान

धृता नीता निमग्ना च दूरस्था निकटा सती ॥ १०
 शरीरवटधानान्तःस्थिताहंत्वनवाङ्कुरा ।
 शाखाजालं तनोस्याशु संसाराख्यमिदं क्षणात् ॥ ११
 अहंत्ववटधानान्तःस्थितदेहवृहद्द्रुमः ।
 संसारशाखामिवहं यत्र तत्र तनोत्यलम् ॥ १२
 शाखाशतेऽद्वलपुष्पफलद्रुमोऽस्ति
 बीजोदरे ननु दशा परिदृश्यतेऽस्ती ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० अहंत्वासत्तायोगोपदेशो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १० ॥

अष्टादशः सर्गः १८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

मरणं सर्वनाशात्म न कदाचन विद्यते ।
 स्वसंकल्पान्तरस्थैर्ये मृतिरित्यभिधीयते ॥ १
 पश्येमे पुर उद्यन्त इव मन्दरमेरवः ।
 अरूढा अपि दिग्वातैः सरिद्विम्बितशैलवत् ॥ २
 उपर्युपर्यन्तरतः कवलीदलपीठवत् ।
 शिष्टाशिष्टस्वरूपाः खे मिथः संसृतयः स्थिताः ॥ ३

श्रीराम उवाच ।

ब्रह्म मे पुर उद्यन्त इति वाक्यार्थमक्षतम् ।

अन्तःस्थित उद्गतोऽहंत्वनवाङ्कुरो यस्यास्तथाविधा सती क्षणा-
 दिदं संसाराख्यमाद्यु सर्वदिव्यापनशीलं शाखाजालं तनोतीति
 तृतीयेनान्वयः ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ एवमहंत्वलक्षणवटधानान्तः-
 स्थितो देहमहाद्रुमोऽपि बोध्य इत्याह—अहंत्वैति ॥ १२ ॥
 उक्तमर्थं वटादिबीजदृष्टान्तेनैवानुभावयति—शाखेति । यथा
 बीजोदरे शाखाशते इद्धानि विराजमानानि दलानि पुष्पाणि
 फलानि च यस्य तथाविधो द्रुमोऽस्ति, यतोऽसौ सत्त्वादेव
 बीजपुटं भित्त्वाङ्कुरादिक्रमेण निर्गच्छन्प्रत्यक्षं सर्वजनैः परि-
 दृश्यते । नन्विति प्रसिद्धौ । तथा अहंत्वलक्षणा या कणिका
 सूक्ष्मबीजं तदन्तरशेषदृश्यसंवीती देहोऽस्तीति सूक्ष्मबुद्धिलक्ष-
 णया दशैव विद्वद्भिर्दृष्टमित्यर्थः ॥ १३ ॥ एवमविचारफलं सुसंश्र-
 णिर्भोक्षमुक्त्वा विचारफलं—देहादिति । विचारैः
 श्रवणादिभिस्तत्त्वबोधात्त्रिभोममात्रं वपुःस्वरूपं यस्य तथाविधस्य
 जीवन्मुक्तस्य विद्यमानाऽपि देहादहंत्वं तत्तादात्म्यात्तद्व्यवस-
 वासवतः अथवा अदेहवतो विदेहमुक्तस्योच्चैर्निरतिशयानन्दे
 प्रतिष्ठितस्य पुंसो बोधमहाभिदग्धाहंत्वबीजजठरात् संसारवृक्षो
 नाभ्युदेति ॥ १४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अहंत्वासत्तायोगोपदेशो नाम सप्तदशः
 सर्गः ॥ १० ॥

उद्यमानान्धनन्तामि पवनैः सर्वतोम्बरे ।

मृतबीजमनःस्थानि वर्ण्यन्तेऽत्र जगन्ति हि ॥ १ ॥

देहोऽस्त्यहंत्वकणिकान्तरशेषदृश्यसंवित्परीत इति बुद्धि-
 दशैव दृष्टम् इति यदुक्तं तत्र कथमस्ति कीदृशी सा बुद्धिदृष्टिः

देहोऽस्त्यहंत्वकणिकान्तरशेषदृश्य-
 संवित्परीत इति बुद्धिदशैव दृष्टम् ॥ १३
 देहादहंत्वमनवासवतो विचारै-
 श्चिद्भोममात्रवपुषो वपुषोऽथ बोधैः ।
 नाहंत्वबीजजठरादसतोऽभ्युदेति
 संसारवृक्ष इह बोधमहाभिदग्धात् ॥ १४

न किंचिद्वगच्छामि यथावन्मुनिनायक ॥ ४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 प्राणस्याभ्यन्तरे चित्तं चित्तस्याभ्यन्तरे जगत् ।
 विद्यते विविधाकारं बीजस्यान्तरिव द्रुमः ॥ ५
 मृते पुंसि नभोवातैर्मिलन्ति प्राणवायवः ।
 सरिज्जलैरिवाम्भोधिजलान्यात्मद्रुतानि हि ॥ ६
 इतश्चेतश्च यान्तीव तेषामन्तर्जगन्त्यलम् ।
 व्योमवातविजुम्भानां संकल्पैकात्मकान्यपि ॥ ७
 सप्राणवातैः पवनैः स्फुरत्संकल्पगर्भितैः ।

तदुभयं मृतजीववासनामयानन्तजगद्भ्युत्पादनेन समर्थयितुं
 भूमिकां रचयति—मरणमिति । मनोबुद्ध्यहंकारादिसर्वनाशा-
 त्मकं मरणमिति पामरा मन्यन्ते । तथा तु कदाचिदपि न
 विद्यते । कृतहानादिदोषप्रसङ्गात् । किंतु मनुष्यादिशरीरात्म-
 भावभोजकप्रारब्धक्षये तदनु रूपसंकल्पतिरोभावे देवादिशरीरा-
 हंभावादिभोजककर्माद्भवे तदनु रूपस्वसंकल्पान्तरस्य तद्भोजका-
 दृष्टक्षयपर्यन्तं स्थैर्यं पूर्वभावविस्मृतिमपेक्ष्य मृतिरित्यभिधीयत
 इत्यर्थः ॥ ११ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—पश्येति । एवं च तत्त-
 जीवसंकल्पकल्पितजगत्स्था मन्दरमेरुप्रमृतयो दिक्षु वातैः सर्वत्र
 उद्यन्ते प्रवाहन्त इव मया दृश्यन्ते त्वमपि पश्येत्यर्थः ॥ २ ॥
 उपर्युपरि बहिर्बहिः यावतां जीवानां भोजकादृष्टसाम्यं तावतां
 शिष्टा एकीभावेन मिलिताः । अन्येषामशिष्टस्वरूपाः ॥ ३ ॥
 उक्तमर्थमसंभावयन् रामः पृच्छति—पश्येति । यथावत्कथ-
 येति शेषः ॥ ४ ॥ मृतानां पुरुषाणां प्राणास्तावज्जन्तुत्काम-
 न्तीति लोकेवेदप्रसिद्धम् । तथापि प्राणाः सन्ति तर्हि प्राणस्या-
 भ्यन्तरे चित्तं चित्तस्याभ्यन्तरे जगदपि विद्यते इति संभावने-
 स्त्वर्थः ॥ ५ ॥ सन्तु नाम तथापि दिग्वातैः कथं प्रवाहन्ते
 तत्राह—मृते इति । पुंसि मृते सति तत उत्क्रान्ताः प्राण-
 वायवो बाह्यनभसि पूर्णैर्वातैः सह मिलन्ति । यतस्ताम्यप्या-
 त्मनि द्रुतानि द्रवस्वभावानि । अतः समस्वभावानां मेलने
 एकैव भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ अतो व्योमवातैर्विशेषेण जुम्भाना-
 माङ्गुथानां तेषां प्राणानामङ्गुथानां जगन्त्यपि इतथेति

सर्वा एव दिशः पूर्णाः पश्यामीमाः समस्ततः ॥ ८
 अत्रैते पश्य पश्यामि संकल्पजगताङ्गणे ।
 बुद्धिदृष्ट्या समुद्यन्ते पुरो मन्दरमेरवः ॥ ९
 खवातेऽन्तर्भूतप्राणाः प्राणानामन्तरे मनः ।
 मनसोऽन्तर्जगद्विद्धि तिले तैलमिव स्थितम् ॥ १०
 खवातैः खसमाः प्राणा यथोद्यन्ते मनोमथाः ।
 उद्यन्ते वै तद्यैतानि तदङ्गानि जगत्स्यपि ॥ ११
 सभूतान्यम्बरोर्व्यादिबुद्धानि त्रिजगत्स्यपि ।
 उद्यन्ते चाप्यरुढानि पुरः सर्वत्र गन्धवत् ॥ १२
 तानि बुद्ध्यैव दृश्यन्ते न दृष्ट्या रघुनन्दन ।
 पुरः संकल्परूपाणि खस्रप्रपुरपूरवत् ॥ १३
 सर्वत्र सर्वदा सन्ति सुसूक्ष्माण्येव आदपि ।
 कल्पनामात्रसारत्वाच्च चोद्यन्ते मनागपि ॥ १४
 तान्येव दृढभावत्वात्सेषु लोकेषु तेष्वलम् ।
 सत्यान्येव चिदंशस्य सर्वगतवाङ्मवानिव ॥ १५
 प्रतिबिम्बं पुराणीव पुरःप्राणसरिद्वये ।
 अरुढान्यपि चोद्यन्ते रुढान्यपि च नैव च ॥ १६

यान्तीवेत्युद्यन्त इवेत्युक्तिरित्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ अहं पश्यामि
 त्वमपि बुद्धिदृष्ट्या पश्य ॥ ९ ॥ खे विद्यमाने वातेऽन्तर्भूतानां
 प्राणाः ॥ १० ॥ ननु गुरुणि जगन्ति कथं वातैरुद्यन्ते तत्राह—
 खवातैरिति । तथा प्राणवदेव तदङ्गानि जगन्त्यपि खसमानि
 लघूनीत्युद्यन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥ सभूतानि चतुर्विधप्राणिसहि-
 तानि । अरुढानि अरुढानि । अप्रतिष्ठितानीति यावत् ॥ १२ ॥
 दृष्ट्या चक्षुरादिना स्वीयस्वप्रदृष्टपुरवत्तादृशपूरवद्वा तादृशपुरान्त-
 र्गतनदीपूरवद्वा ॥ १३ ॥ उद्यन्त इवेति यदुक्तं तत्र इवकारार्थ-
 समर्थनायाह—कल्पनामात्रसारत्वादिति ॥ १४ ॥ यद्यपि
 तानि कल्पनामात्रत्वाच्च सन्त्येवेति नोद्यन्ते, तथापि तान्येव तेषु
 तत्तज्जीवभोग्येषु खेषु स्वर्गनरकभूम्यादिलोकेषु तेषां दृढभाव-
 त्वात्सुखदुःखभोगार्थक्रियासमर्थतया सत्यान्येव तत्सत्यतासंपा-
 दकस्याधिष्ठानचिदंशस्य सर्वगतत्वात् । यथा भवानस्मद्दृष्ट्या
 श्रवणधारणाद्यर्थक्रियासमर्थः पुरोवर्ती सत्यस्तद्वदेवेत्यर्थः ॥ १५ ॥
 अरुढानि वासनामात्रत्वादनविर्भूतानि, रुढान्याविर्भूतानि चैत्व-
 मुद्यन्ते नैव चोद्यन्ते ॥ १६ ॥ सौक्ष्म्ये बहने च सौरभसाम्यं
 प्राणुकमित्याह—सौरभाणीति ॥ १७ ॥ अत एव त्रिजगद्भ-
 मात्मना चित्तस्य स्पन्दमेदयोरपि नात्मनस्त्वावित्याह—कुम्भे
 इति । तथैवात्मनि नान्यतेति शेषः ॥ १८ ॥ यथा मृतानां
 जगत्संकल्पमात्रत्वादसदित्यं ते तत्रापि जगदसत् । भ्रान्तिरैव
 केवलमुदितेव । सा भ्रान्तिरपि परमार्थतो न विनश्यति नोदे-
 तीति तत्त्वदृष्ट्या ब्रह्मरूपिण्येवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ ननु यदि ब्यव-
 हारदृशा जगत्सन्नान्ती वाच्यन्तःप्रवहमाने उदिते तर्हि कथं
 पृथिवी निश्चलतया कथं पश्यामस्तत्राह—यदि वेति । नोदिते

१ यद्यपि 'तथा प्रकाशसंस्थैः' इति पाठो दृश्यते तथापि ब्रह्मकृति
 संबोधनस्य रामं प्रत्ययोग्यत्वाच्च सप्रतीचीनः । २ अत्रार्थपरद्वयपक्षेण

सौरभाणि समुद्यन्ते वाताङ्गस्थानि राघव ।
 जगन्ति प्राणसंस्थानि ज्योमात्मकमयानि तु ॥ १७
 कुम्भे देशान्तरं नीते यथान्त्वव्योक्तिं नाभ्यता ।
 स्पन्दनादिमये चित्ते तथैव त्रिजगद्भ्रमे ॥ १८
 इत्थं न सज्जगद्भ्रान्तिरसत्यैवोदितेषु ते ।
 न विनश्यति नोदेति केवलं ब्रह्मरूपिणी ॥ १९
 यदि वाप्युदिते वातैस्तत्तदस्या न लक्ष्यते ।
 तदन्तःसंस्थितैः स्पन्दो नापि कोशगतैरिव ॥ २०
 यथा स्पन्दोऽङ्गलप्रायां नाभ्यन्तःसंस्थितैरपि ।
 न लक्ष्यते तथा पृथ्व्यां तत्संस्थैस्तन्मयैरपि ॥ २१
 यथा योजनविस्तीर्णं लघौ सन्नानुभूयते ।
 यत्तस्य पादपस्तम्भे परमाणौ यथा जगत् ॥ २२
 वस्त्वल्पमप्यतिबृहद्बुद्धिसत्त्वो हि मन्यते ।
 मूषिकाः स्वाङ्गलिद्रव्यं नवपङ्कमिवार्भकाः ॥ २३
 असत्येव स्वरूपेऽस्मिज्जगदाख्ये विदो भ्रमे ।
 लोकान्तरार्धमयी सा बृहन्स्य भावना ॥ २४

एव । यदि वा उदिते इति पक्षस्तथापि वातैः कृतं तत्तद्भ्रमण-
 परिवर्तनादिकमस्याः पृथिव्यास्तदन्तःसंस्थितैरस्माभिर्न लक्ष्यते ।
 यथा नापि जायमानः स्पन्दस्तदन्तःकोशगतैर्नैर्न लक्ष्यते तद्व-
 दित्यर्थः ॥ २० ॥ तदेव स्पष्टमाह—यथेति । यथा नापि अन्तः
 संस्थितैरपिशब्दात्तन्मयैरपि फीलाद्यैर्नोस्पन्दो न लक्ष्यते तद्व-
 त्पृथिवीसंस्थैः पार्थिवदेहादिमयैरप्यस्माभिरित्यर्थः ॥ २१ ॥ इत्थं
 'पश्येमे पुर उद्यन्त इव मन्दरमेरवः' इति श्लोकिं रामायोपपाठ्य
 उपर्युपर्यन्तरन्तःकदलीदलपीठवदित्युक्तावप्यल्पे बृहतः समा-
 वेशं प्रथमं बृहतोऽल्पत्वकल्पनया दर्शयति—यथेति । यथा
 योजनविस्तीर्णमपि सन्न लघौ पादपस्तम्भे चित्रनिर्व्यूहरचना-
 दिना रचयितुं यत्तस्य यतमानस्य शिल्पिनो बुद्ध्या अल्पत्व-
 कल्पनया तत्रानुभूयते तथा अन्तरन्तःसूक्ष्मतमेऽपि परमाणौ
 जगद्बुद्धिकल्पनयाऽनुभूयत इत्यर्थः ॥ २२ ॥ परमाण्वादेर्बृहत्त-
 मत्वकल्पना न वा तत्र बृहतो जगतः समावेशोऽनुभवितव्य
 इत्याशयेनाह—वदित्येति । तद्यथा रजकोशागारे प्रविष्टा
 अस्मा घनसंबन्धशून्या मूषिका न रजानि बहु मन्यन्ते किंत्व-
 जलिमात्रमितमपि धान्यद्रव्यमेव तत्र देवाङ्गुलं बहु मन्यन्ते,
 यथा वा अर्भका बहुमूल्यान्यपि स्वाभरणानि नित्यमनुभूयमा-
 नापि न बहु मन्यन्ते किंतु नवमपूर्वं मृगपक्ष्याकारं वर्णकादिप-
 रिष्कृतं पङ्कं मृत्पिण्डमेव क्रीडनाय बहु मन्यन्ते, येन तद्दानेन
 बद्धिताः स्वाभरणान्यपि विनिमयेन प्रयच्छन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥
 किंच वास्तवोऽल्पे बृहतः समावेशो न संभवतु नाम, भ्रान्त्या तु
 संभवत्येवेत्याशयेनाह—असत्येवेति । विदः अज्ञानादुत्पन्नितो
 जगदाख्ये भ्रमे असत्येवार्थे केवलं जीवतोऽयं लोको मृतस्य
 धर्मस्यैवपीति धर्माधर्मकत्वानीति व्याख्यातम् । १ पश्येमे पुर उद्यन्त
 इव इत्येतत्सर्गागतद्वितीयकोशोक्तमित्यनुसंधेयम् ।

इदं हेयमुपादेयमिदमित्यन्तरङ्गता ।
 यस्य तस्य भवायास्ति सर्वज्ञस्यापि मूढता ॥ २५
 सचेतनो ह्यवयवी चेतस्यवयवाम्यथा ।
 खान्तरेव तसं जीवस्त्रिजगद्बुध्यते तथा ॥ २६
 संबिदात्मपराकाशमन्तमजमव्ययम् ।
 व्योम्नोऽवयवरूपाणि तस्येमानि जगन्ति भोः ॥ २७
 सचेतनोऽयःपिण्डोऽन्तः क्षुरसूच्यादिकं यथा ।
 बुद्ध्यते बुद्ध्यते तद्ब्रह्मजीवोऽस्त्रिजगद्भ्रमम् ॥ २८
 अत्रिचिद्वापि मृत्पिण्डः शरावोदञ्चनादिकम् ।
 यथाङ्ग मनुते जीवस्तथाङ्ग मनुते जगत् ॥ २९
 चिदचिद्वाङ्गुरो देहे वृक्षत्वं मन्यते यथा ।
 वृक्षशब्दार्थरहितं ब्रह्मेदं त्रिजगत्तथा ॥ ३०
 चिद्वाचिद्वा यथादर्शो विम्बितं वाप्यविम्बितम् ।
 नगरं वेत्ति नो वापि तथा ब्रह्म जगद्भ्रमम् ॥ ३१
 देशकालक्रियाद्रव्यमात्रमेव जगद्भ्रमम् ।
 अहंत्वजगतोस्तेन भेदो नास्त्येतदात्मनोः ॥ ३२
 कल्पितेनोपमानेन यदेतदुपदिश्यते ।

लोकान्तराणि तत्र च धर्माधर्मफलानीत्यादिमयी बृहंगस्य बृहंगं
 गच्छतश्चित्तस्य सा संकल्परूपा भावनैव । न च भावनां
 वस्तुव्यवधाभावो निरुणद्धीत्यर्थः । बृहंघातोः घनर्थे कविधान-
 मिति भावे कः । ततः 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति गमेर्ङः ।
 बाहुलकाभुम् ॥ २४ ॥ ननु मूढानामस्त्वन्तरन्तर्जगद्भ्रमभावना
 सर्वज्ञानां भवदाशीनां कथमन्तरन्तर्जगदन्तरमस्तीति भ्रान्ति-
 स्तत्राह—इदमिति । सर्वज्ञस्यापि भवाय व्यवहारसंभवाय
 यावत्प्रारब्धक्षयं लेशतोऽनुवर्तमाना मूढताऽस्त्येवेत्यर्थः ॥ २५ ॥
 अत एव सर्वज्ञस्यापि समष्टिजीवस्य हिरण्यगर्भस्यावयववत्खान्त-
 रेव त्रिजगद्दर्शनमित्याह—सचेतन इति । अवयवी देहात्मा
 कौकिकपुरुषः । जीवः समष्टिजीवः ॥ २६ ॥ मायोपहित
 ईश्वरस्त्वेवं पश्यतीत्याह—संबिदात्मेति । भो इति संबोध-
 नेन रामस्य तत्समार्यते ॥ २७ ॥ ईश्वरः प्रलयकाले कथं खान्त-
 र्गतं जगत्पश्यति तत्राह—सचेतन इति चतुर्भिः । अयः-
 पिण्डो यदि सचेतनः स्यात्तर्हि यथा खान्तः सूक्ष्मरूपेण स्थितं
 क्षुरसूच्यादि भाविस्वविकारं पश्येत्तद्वदित्यर्थः । जीवः खलीन-
 सर्वसंस्कारोपहितः सन् ॥ २८ ॥ अधिष्ठानसद्रूपप्राधान्येन
 चित् आरोपितमृदादिरूपप्राधान्यविवक्षया अचिद्वा । तात्पर्यं
 पूर्ववदेव ॥ २९ ॥ उपहितप्राधान्येन चित् आरोपितमृदादि-
 रूपप्राधान्येनाचिद्वाङ्गुरः । एतावास्तु विशेषः—जीवसंस्कारो-
 पहितरूपेण वृक्षशब्दार्थसहितं बुद्ध्यते तदनुपहितेश्वररूपेण तु
 तद्ब्रह्मिजगत्सिद्ध्या विद्यया वा बाधितरूपमिति यावत् । शेषं
 प्राग्वत् ॥ ३० ॥ परिणामदशा जीवेश्वरयोः सर्गासर्गकाले
 जगद्दर्शने दृष्टान्तमुक्त्वा विवर्तदशाप्याह—चिद्भेदेति । जीव-
 श्वरोपाध्युपहितदशा वेत्ति अनुपहितदृष्टदशा तु नो वेत्ति ।
 'यत्र' नान्यत्पश्यति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ३१ ॥ एवं

तत्रोपमैकदेशेन उपमेयसधर्मता ॥ ३३
 यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
 अमुञ्चतः पराणुत्वं जीवस्यैतत्स्मृतं वपुः ॥ ३४
 सर्वसंवेदनत्यागे शुद्धसंस्पन्दे पदे ।
 न मनागपि भेदोऽस्ति निःसङ्गोपलकोशवत् ॥ ३५
 यो यो नाम विकल्पांशो यत्र यत्र यथा यथा ।
 यदा यदा येन येन दीयते स तथैव चित् ॥ ३६
 अचिस्वाभास्ति मनसि संकल्पः स हवाङ्गुरः ।
 चित्त्वाप्तु चेतसो विद्धि चित्तिरेवेह कल्पनम् ॥ ३७
 या योदेति विकल्पधीरप्रबुद्धाशयं प्रति ।
 सर्वगत्वादनन्तत्वाधिद्योन्नः सा न सन्मयी ॥ ३८
 यथोदेति विकल्पधीः प्रबुद्धे नोदितैव सा ।
 सर्वगत्वादनन्तत्वाधिद्योन्नः सा न सन्मयी ॥ ३९
 सर्वसंकल्पकलना सत्येत्याबालमक्षतम् ।
 स्वप्रादावनुभूतोन्तरर्थः केनापि लभ्यते ॥ ४०
 संकल्पो वासना जीवस्त्रयोऽर्था लिखिताभिता ।
 सौनुभूतोऽप्यसत्यः स्यादसस्वस्यैव नो सतः ॥ ४१

रामप्रभ्रान्तसमाधाय प्रासङ्गिकं च सर्वं समाप्य 'नाहंत्वजगती
 भिन्ने पवनस्पन्दने यथा' इति प्राक्प्रस्तुतार्थं प्रकारान्तरेण
 समर्थयितुमनुसंधते—देशेति । अहंत्वमपि देशकालक्रियाद्र-
 व्यतादात्म्यसंसर्गाभिमानात्मकत्वात्सद्रूपमेवेत्येतदात्मनोः समा-
 नस्वभावत्वादपि भेदो नास्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ एतदनुभावयितुमेव
 श्रुत्या मया च मूढोहपिण्डादिदृष्टान्ता अचेतना अपि चेतनस्व-
 मारोप्यैकदेशसाम्येनोपन्यस्ता इत्याह—कल्पितेनेति ॥ ३३ ॥
 वास्तवब्रह्मभावलक्षणं परमणुत्वं सौक्ष्म्यमनुभूत एव विवर्त-
 रूपं स्थूलं जगद्रूपमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ अत एवाधिष्ठानदृष्ट्या
 सर्वविवर्तसंवेदनबाधे निष्प्रत्यूहं सर्वतः शुद्धात्मप्रसरप्रदे पूर्ण-
 पदे न मनागपि जीवजगद्भेदोऽस्तीत्याह—सर्वेति ॥ ३५ ॥
 अनाद्ये तु सदा सर्वत्र सर्वविकल्पात्मनैव चिद्विवर्तत इत्याह—
 यो य इति । दीयते मूढेनेति शेषः । चित् तथैव तद्विकल्पा-
 नुसारेणैव सविवर्ता भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ मनसोऽपि चिद-
 नुप्रवेशादेव विचित्रसंकल्पसामर्थ्यं न सत इति नित एव
 सर्वविवर्तस्वातन्त्र्यमित्याह—अचिस्वादिति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
 एवमप्रबुद्धे उदितापि प्रबुद्धे तस्यै नोदितैव अनन्तत्वात्काल-
 वस्तुकृतपरिच्छेदशून्यत्वाच्च ॥ ३९ ॥ यथसन्मयी तर्हि
 कथमाबालगोपालं सत्येव भाति तत्राह—सर्वेति । न जाप्र-
 त्संकल्पकलनैव सत्येति भाति किंतु स्वप्रादिसाधारण्येन
 सर्वापि । न च स्वप्रभ्रान्त्यादानुपलब्धो गजरजतादिरर्थः केनापि
 लभ्यते इति काका मीजयम् ॥ ४० ॥ ननु सत्यः संसारः
 कथमसत्यः स्यात्तत्राह—संकल्प इति । जाप्रत्समौ संकल्पः,
 सुषुप्तिस्तु वासनामात्रं तदुभयप्रतिबिम्बितचिद्रूपस्तदुभयभोक्ता
 जीवश्चेति त्रयः पदार्थाः सत्यकूटस्यचिता स्यात्मानि चित्रवर्ति-
 क्षिताः सोऽयं चित्रसंसारकल्पः संसारोऽधिष्ठानसत्तया कथ

असत्यतामिधं सत्यं मुक्त एव भवेच्छिवः ।
 सातिवाहिकदेहैकपरिक्षयविकासवान् ॥ ४२
 जगन्ति वातैरुह्यन्ते व्योम्नि शाल्मलितूलवत् ।
 नोह्यन्ते चोपलानीव न च सन्त्येव कल्पनात् ॥ ४३
 इत्यस्मिन्नखिलपदार्थसार्थकोशे
 व्योमन्यप्यतिवितते जगन्ति सन्ति ।
 अन्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च
 नान्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च ॥ ४४
 सर्वैवात्परमचित्तेरनन्तरूपा-
 ष्यारम्भप्रचुरदिगन्तसंभृतानि ।

लोलाम्बूदरपुरबिम्बभङ्गराणि
 स्वान्तःस्थाविरलमहापुरोपमानि ॥ ४५
 सस्यैर्याण्यपि सततं क्षणक्षयाणि
 व्यक्ताक्षाय्यपि सततं निमीलितानि ।
 सालोक्यान्यपि परितस्तमोवृतानि
 चिद्रूपार्णवलहरीविवर्तनानि ॥ ४६
 पृथक्स्थितानि व्यतिमिश्रितानि
 जलानि चैवाम्बुनिधौ नदीनाम् ।
 तारार्कचन्द्रग्रहमण्डलानां
 समोदितानां नभसीव भासः ॥ ४७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० वि० जगज्जालकोशसाधर्म्ययोगोपदेशो नामाष्टादशः सर्गः ॥१८॥

एकोनविंशः सर्गः १९

श्रीराम उवाच ।

मुने जीवस्य यद्रूपमाकृतिग्रहणं तथा ।
 यथा च परमात्मत्वं स्थानं यथास्य तद्वत् ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 स्वसंकल्पेन चेत्योक्तं चिदित्यपरनामकम् ।

इत्यनुभूतोऽप्यसत्यस्य जीवस्यैवेत्यसत्यः स्यान्न त्वधिष्ठानसतः ।
 तेन तदसंस्पर्शादित्यर्थः । यथा चित्रप्रतिबिम्बस्वप्नाश्चाश्रिप्र-
 प्रतिबिम्बस्वप्नप्ररुषाणामसत्यानामेव वाहनं न सत्यपुरुषस्य
 तद्वदिति भावः ॥ ४१ ॥ 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि-
 श्रुतेरस्तु वा सत्यस्यैव स्वावोधान्संसारस्तथापि तन्नित्यमुक्त-
 मेव । यथा हि तत्सत्यं ब्रह्म प्राक्तत्त्वबोधान्स्वसत्यतां जगति
 संक्रामयत्तत्सत्यतामिधं स्वयं भवति । तथा तत्त्वबोधोत्तरं
 बाधिताज्जगतः स्वसत्तां स्वात्मन्युपसंहरत्तदसत्यताभिधमपि
 भवति । न हि प्रपञ्चसाधिष्ठानमात्रपरिषेधादन्या असत्यता
 काचित्सुवचा । यत् आतिवाहिकदेहमहितस्यैकस्य स्वाज्ञानस्य
 परिक्षयेऽपि पूर्णतालक्षणविकासवान्मुक्तः प्रत्यगान्मैव शिवो
 भवेदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ अत एवाज्ञानदृष्ट्यैव जगन्त्युह्यन्ते न
 तत्त्वदृशेत्युक्तमित्युपसंहरति—जगन्तीति ॥ ४३ ॥ इति वर्णित-
 रीत्या अस्मिन्नखिलपदार्थसमूहानां कोशभूते अज्ञाते प्रतीचि
 परमार्थतोऽतिवितते व्योमनि शून्याकाशकल्पेऽप्यविद्यया अन-
 न्तानि जगन्ति सन्ति । तानि च कतिपयानां जीवानां भोज-
 कादृष्टसाम्ये जागरे ब्रह्माण्डैक्ये च अन्योन्यं परिमिलितानि ।
 तद्वैषम्ये तु ब्रह्माण्डभेदे स्वप्ने च नान्योन्यं परिमिलितानीत्यर्थः
 ॥ ४४ ॥ तान्येव विंशिनष्टि—सर्वैवात्परमचित्त्वादित्रिभिः ।
 परमचित्तेर्ब्रह्मणः सर्वैवात्सर्वैशक्तित्वादित्यसत्कोचकाभावाद्गु-
 णतो वस्तुतः क्रियाजात्यादितश्चानन्तरूपाणि बहुविधकार्यार-
 म्भप्रचुरैर्दिगन्तसंस्थितजनैः संभृतानि । लोले अम्बूदरे प्रति-
 बिम्बितं पुरबिम्बमिव भङ्गराणि । अत एव स्वान्तःस्थान्यविर-
 लानि सर्वसंभारसंभृतानि यानि देवगन्धर्वादिमहापुराणि तान्येव
 यो० वा० १३९

अनन्तं चेतनाकाशं जीवशब्देन कथ्यते ॥ २
 न पराणुर्न च स्थूलं न शून्यं न च किञ्चन ।
 चिन्मात्रं स्वानुभूत्यात्म सर्वगं जीव उच्यते ॥ ३
 अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
 न किञ्चिन्मात्रकं चैव सर्वं जीवं विदुर्बुधाः ॥ ४

उपमा येषां तानि ॥ ४५ ॥ अनुवृत्तवत्स्वात्मना सस्यैर्याण्यपि
 व्यावृत्तभावाविकारैः क्षणक्षयाणि । एवं जागरे व्यक्ताक्षाय्यपि
 तत्त्वतो व्यक्त्यभावान्निमीलितानि । आत्मज्योतिषा सालोका-
 न्यपि तस्याज्ञानतमोवृत्तत्वात्तमोवृतानि ॥ ४६ ॥ पृथक्स्थितानां
 व्यतिमिश्रितत्वं व्यतिमिश्रितानां पृथक्स्थितत्वे च क्रमादृष्टा-
 न्तद्वयमाह—पृथगिति । नदीपात्रे पृथक्स्थितान्यप्यम्बुनिधौ
 व्यतिमिश्रितानि । नभसि समकालमुदितानां तारादीनां भासस्तु
 इयमस्य भा इति विवेकुमशक्यत्वाद्यतिमिश्रिता अपि एकच-
 लने अपरचलनाभावात् पृथक्स्थितास्त्वानीव ता इव च ॥ ४७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 जगज्जालकोशसाधर्म्ययोगोपदेशो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

जीवस्वरूपतत्त्वं समष्टिव्यष्टिदेहयोः ।

कल्पनं स्थानकरणभेदाज्जोगश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

यत् रूपं शास्त्रीयव्यवहारोपयुक्तं पारमार्थिकरूपं च ।
 आकृतिः स्थूलशरीरं तस्य ग्रहणं कल्पनम् । स्थानं बाह्यव्यव-
 हारद्वारम् ॥ १ ॥ नत्र समष्टिजीवं मोक्षशास्त्रप्रसिद्धं शोधने
 ब्रह्मभेदयोग्यं प्रथमं दर्शयति—स्वेति । अनन्तं यच्चेतनाकाशं
 ब्रह्म तदेव 'हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्र-
 विश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतिर्दार्शित्यसंकल्पेन स्वचे-
 त्यसूक्ष्मभूतोपाधिप्रवेशात्तद्विष्टम्भकप्राणधारणात् 'जीव प्राण-
 धारणे' इति धात्वर्थानुगमाच्चेत्येन प्राणेनोक्तं जीव इति व्यपदि-
 ष्टम् । चञ्चुरादिद्वारा चेतयतीति चित् चेतनः इत्यपरं नाम यस्य
 तथाविधं सजीवशब्देन कथ्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ तस्य पारमा-
 र्थिकं रूपमाह—नेति । शून्यमाकाशं तदन्तर्गतं वा किञ्चन न

यस्य यस्य पदार्थस्य यो भावस्तेन तत्र तम् ।
 स्थितं विद्धि तदाभासं तदात्मैकान्तवेदनात् ॥ ५
 स चेतति यथा यत्र यद्यदाशु तदेव हि ।
 तथा तत्र तदा राम भवत्यनुभवात्मकम् ॥ ६
 पवनस्य यथा स्पन्दश्चेत्यं जीवस्य वै तथा ।
 स्वसंविन्मात्रनिर्णयं नोपदेशाम यक्षयत् ॥ ७
 यथैवास्पन्दनाद्वातः सञ्जैवेत्य सदात्मताम् ।
 तथैवाचेतनाज्जीवो जीवञ्चेति परां गतिम् ॥ ८
 जीवश्चिद्भनरूपत्वादहमित्येव चेतनात् ।
 देशकालक्रियाद्रव्यशक्तीर्निर्माय तिष्ठति ॥ ९
 देशकालक्रियाद्रव्यचर्चिताचर्चितां स्वयम् ।
 भसत्यां सत्यवत्स्फारां तावन्मात्रशरीरिकाम् ॥ १०
 चेतसा ह्यसदाकारां प्रालेयपरमाणुताम् ।
 पश्यत्यात्मन्यथात्मत्वे स्वप्न स्वमरणोपमाम् ॥ ११
 स्वप्नस्वावयवान्यत्वसदृशीं तां विभावयन् ।
 विस्मृत्य चेतनां सत्तां तत्तामेवाशु गच्छति ॥ १२
 एवंरूपो बुध्यमानः प्रोच्छन्नत्वमथात्मनि ।
 पश्यत्याशु स्वमात्मानं चन्द्रबिम्बमिव द्रुतम् ॥ १३

॥ ३ ॥ ४ ॥ तस्य सर्वगतमनुभावयति—यस्य यस्येति ।
 यो भावो जातिगुणसंस्थानायसाधारणरूपं तेन तेन भावेन
 संस्थितमत एव तत्तदिव आभासमानम् । तत्कुतः । तदेकान्त-
 वेदनात्पुनः पुनस्तद्दर्शने तत्तदाकारेणैव भाननियमाद्दृष्टचक्षुः-
 संयोगे हि चक्षुर्द्वारा निर्गतमन्तःकरणं स्ववृत्तिव्याप्तघटावच्छिन्नं
 जीवचित्स्फुरणं घटोऽयं स्फुरति घटोऽयं स्फुरतीति घटस्वभाव-
 तादात्म्येनैव यतो नियमेनानुभावयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ अत एव सम-
 छिन्नीयो यत्र यथा चेतति तत्र तथा भवति सत्यसंकल्पत्वात् ।
 व्यष्टिजीवस्तु स यत्र यथा भवति तत्र तथा चेतति ॥ ६ ॥
 तथा च समच्छिन्नीवस्य पवनस्य स्पन्द इव सर्ववस्तुवैन्विश्यचेत-
 नात्मकः सर्गः पवनस्पन्दवत्स्वानुभवसिद्धः स्वभावो न तु बालस्य
 यथाभ्रान्तिवदुपदेशाभ्यासकृत इत्याह—पवनस्येति । न
 चोपदेशाम उपदेशेन न साधयाम । दिशतेर्विकरणव्यत्यय-
 श्छान्दसः ॥ ७ ॥ अत एवास्य मुक्तिसुषुप्तिप्रलयेषु बाह्याभ्यन्त-
 रार्थां चेतने जीवतापि शाम्यतीत्याह—यथैवेति । परां गतिं
 ब्रह्मभावम् ॥ ८ ॥ तस्याकृतिग्रहणप्रकारं वर्णयितुं सर्वकल्पना-
 मूलस्तम्भमाविर्भूतसर्वशक्तिं समष्ट्यहंकाराभ्यासं प्रथमं दर्श-
 यति—जीव इति । निर्माय आविर्भाव्य । सैवास्य सार्वश्यसर्व-
 शक्तिसंपत्तिलक्षणा रुद्रता ॥ ९ ॥ ततः सूक्ष्मभूतसंस्काराविर्भाव-
 लक्षणसमष्टिविस्तारकल्पनामाह—देशेति सार्धाभ्याम् । संस्का-
 रात्मना ईपदाविर्भावाच्चर्चितां स्थूलतया सम्यगनाविर्भावादच-
 र्चितां च ॥ १० ॥ चेतसा समष्टिविस्तारभावेन सूक्ष्मतमात्संबल-
 नात्प्रालेयपरमाणुप्रायाम् ॥ ११ ॥ स्वप्ने व्याप्राचात्मतादर्शने
 प्रतीतं यत्स्वावयवानां हस्तपादादीनामन्यादृशत्वं तत्सदृशीं तां

आत्मन्यथेन्दुबिम्बात्मन्यसौ संवित्तिपञ्चकम् ।
 काकतालीयवक्त्रिजमुदितं चेतति स्वयम् ॥ १४
 पञ्चानां संविदां पञ्च भिन्नान्यङ्गान्यसावथ ।
 बुध्यते तानि तद्रूपरन्ध्राण्यनुभवत्यपि ॥ १५
 स पञ्चावयवः पञ्चाद्राजते पुरुषो विराट् ।
 अनन्ताकारसंवित्तिरव्यक्तात्मा निरामयः ॥ १६
 मनोमयोऽसावुदितः परस्मात्प्रथमोत्थितः ।
 आकाशविशदः शान्तो नित्यानन्दविभ्रामयः ॥ १७
 स चाप्यपञ्चभूतात्मा पञ्चभूतात्मकोपमः ।
 विराडात्मैकपुरुषः परमः परमेश्वरः ॥ १८
 स्वयमेवाशु भवति स्वयमेव विलीयते ।
 स्वयमेव प्रसरति स्वयं संकोचमेति च ॥ १९
 स्वसंकल्पकृतेनासौ कल्पौघेन क्षणेन च ।
 यहच्छयोदेति पुनः पुनर्भूत्वोपशाम्यति ॥ २०
 मनोमात्रैकरूपात्मा प्रकृतेर्देह एष सः ।
 एष पुर्यष्टकं प्रोक्तः सर्वस्यैवातिवाहिकः ॥ २१
 सूक्ष्मः स्थूलोऽम्बरात्मैव व्यक्तोऽव्यक्तोन्तवर्जितः ।
 सर्वस्य बहिरन्तश्च न किञ्चित्किञ्चिदेव च ॥ २२

समष्टिविस्तारं विष्णुताम् । तस्यैव पूर्णब्रह्मभावविस्मरणे मनः-
 समष्ट्यात्मकचन्द्रभावोपलक्षितस्थूलभावकल्पनया ब्रह्माण्डरूपा
 विराडाकृतिराविर्भवतीत्याह—विस्मृत्येत्यादिना । चेतनां
 चिदेकरसां ब्रह्मसत्तां विस्मृत्य परिच्छिन्नजडसत्तामेवाहमिति
 पश्यंस्तद्भावमेवाशु गच्छति ॥ १२ ॥ पञ्चीकरणेन स्थौल्यापाद-
 नात्स्थूलसमष्टिविराडात्मना प्रोच्छन्नत्वम् । तत्र मनःसमष्ट्या-
 त्मकं कालोपचयात्मना द्रुतं द्रवस्वभावं चन्द्रबिम्बमिव पश्यति
 सैवास्य बुद्धिसमष्टिभावलक्षणा विरचितेत्यर्थः ॥ १३ ॥ तस्य
 विराट्देहे भोगोपपत्तये मनःसमष्टेरेव सकाशादादित्यादिरूपेन्द्रि-
 यपञ्चकं तत्स्थानमेदकल्पनां चाह—आत्मनीति । संवित्ति-
 विषयमेदेनेन्द्रियमेदविभावेनात्संवित्तिपञ्चकमित्युक्तिः ॥ १४ ॥
 तद्रूपाणि स्थानमेदरूपाणि रूपादिभोगद्वाराणि ॥ १५ ॥ आदि-
 त्यदिग्वारिकायुष्टिव्याख्यपञ्चेन्द्रियस्थानावयवैः पञ्चविषयानु-
 पभुजानो राजते तद्विषयेषु मनोविकल्पैरनन्ताकारकल्पना-
 दनन्ताकारसंवित्तिः । स चायं कार्यभावस्यानृतत्वात्स्वका-
 रणव्यक्तात्मैव । अत एव निरामयः ॥ १६ ॥ तस्य मनोमय-
 भावेऽपि स्वतःसिद्धज्ञानैश्वर्यसर्वशक्तिसंपन्नत्वाज्जीवत्वमीश्वरत्वं
 चास्तीत्याशयेनाह—मनोमयोऽसाविति द्वाभ्याम् ॥ १७ ॥
 सर्वपुरुषसमष्टिरूपैकपुरुषः ॥ १८ ॥ तस्येश्वरभावेन स्वाविर्भा-
 वतिरोभावेऽपि स्वातन्त्र्यमस्तीत्याह—स्वयमेवेति ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ प्रकृतेः सर्वोपादानेश्वरस्य स एव देहः । एष एव
 व्यष्टिभावेन सर्वस्य जीवजातस्य । पुर्यष्टकं प्राग्भ्याख्यातम्
 ॥ २१ ॥ स च सूक्ष्मेषु पिपीलिकादिदेहेषु सूक्ष्मः । 'समः
 बुधिणा समो नागेन' इत्यादिश्रुतेः । परमार्थतस्तु न किञ्चित्

अङ्गानि राम तस्याष्टौ मनःषष्ठानि पञ्च च ।
साहंभावानीन्द्रियाणि भावाभावमयानि च ॥ २३
तेन गीता इमे वेदाः सहशब्दार्थकल्पनाः ।
नियतिः स्थापिता तेन तथाद्यापि यथास्थिता ॥ २४
अनन्तमूर्ध्वं मूर्धास्य तथाधः पादयोस्तलम् ।
अपराकाशमुदरमिदं ब्रह्माण्डमण्डपम् ॥ २५
लोकान्तराण्यनन्तानि पार्श्वकाः क्षतजं पयः ।
मांसपेक्ष्यः क्षितिधराः सरितः संतताः शिराः ॥ २६
रक्ताधारा जलधयो द्वीपान्येवाश्रयेष्टनम् ।
बाहवः ककुभः स्फारास्तारका रोमसंततिः ॥ २७
पञ्चाशदनिलस्कन्धा एकोनाः प्राणवायवः ।
मार्तेण्डमण्डलं चण्डं पित्तं जठरपावकः ॥ २८
शशाङ्कमण्डलं जीवः श्लेष्मा शुक्रं सितं बलम् ।
मनः संकल्पकोशात्म सारात्मा परमामृतम् ॥ २९
मूलं शरीरवृक्षस्य बीजं कर्मद्रुमस्य च ।
प्रसवात्सर्वभावानामिन्दुरानन्दकारणम् ॥ ३०
यदिन्दुमण्डलं नाम स सञ्जाड् जीव उच्यते ।
शरीरकर्ममनसां बीजं मूलं च कारणम् ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

अस्मादिन्दुविराड्जीवात्प्रसरन्ति जगद्भये ।
जीवा मनांसि कर्माणि सुखान्यत्रामृतानि च ॥ ३२
विराज एते संकल्पा ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
तस्य चित्तचमत्काराः सुरासुरनभश्चराः ॥ ३३
चित्स्वभावो बुध्यमानः प्रालेयपरमाणुताम् ।
यदादौ भावयत्याशु तदा तत्रैव तिष्ठति ॥ ३३
तेनैतदेव जीवस्य स्थानं विद्धि रघूद्वह ।
पञ्चावयवमेतत्तच्छरीरमनुभूयते ॥ ३५
विराड्जीवाश्चन्द्रमसो जीवभूतानि देहिनाम् ।
प्रसरन्त्यज्ञजातानि प्रालेयविसरात्मना ॥ ३६
तान्येव देहिदेहेषु जीवा जीवन्ति जीविषु ।
मनो भूत्वा विच्छेद्यन्ते कर्म जन्मसु कारणम् ॥ ३७
एवं विराट्सहस्राणि महाकल्पशतानि च ।
गतान्यथ भविष्यन्ति नानाचाराणि सन्ति च ॥ ३८
सर्वतोऽनुभवरूपयानया
सत्तयोत्तमपदादभिन्नया ।
अन्तवर्जितमहाकसकया
तिष्ठतीति पुरुषः परो विराट् ॥ ३९

व्यवहारतस्तु किञ्चिन्परिच्छिन्न एव च ॥ २२ ॥ पञ्च ज्ञाने-
न्द्रियाणि चकारात्कर्मेन्द्रियसहितः प्राणो मनोऽहंकार इत्यष्टा-
वङ्गानि । भावाभावमयानि मूर्तामूर्तरसरूपाणि ॥ २३ ॥ तेन
चतुर्मुखीभूयेमे चत्वारो वेदा गीताः । नियतिः शास्त्रीयसदा-
चारादिमर्यादा ॥ २४ ॥ ऊर्ध्वं द्यौरस्य मूर्धा शिरः । अधः
पृथिवी पादयोस्तलम् । अपरमान्तरालिकमुदरम् । 'तस्य ह वा
एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्वं सुतेजाश्छुर्विश्वरूपः प्राणः
पृथग्बर्त्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ'
इत्यादिश्रुतेरिति भावः । ब्रह्माण्डमण्डपं शरीरमिति शेषः
॥ २५ ॥ पार्श्वकाः पार्श्वधवयवाः । पयो वारि क्षतजं रक्तम् ।
मूत्रस्याप्युपलक्षणमेतत् । क्षितिधराः पर्वताः । मांसपेक्ष्यः
सरितः शिरा नाड्यः ॥ २६ ॥ रक्ताधारा रक्तसंचयपेक्ष्यः ।
वेष्टनं षट्शवेष्टनम् । ककुभो दिशः, बाहवः । यद्यपि छान्दो-
भ्यादौ 'लोमानि नर्हि'रित्युक्तं तथापि भ्रुत्यन्तरानुरोधेन तारका
इत्युक्तिः ॥ २७ ॥ एकोनाः पञ्चाशत् भावहप्रवहायनिल-
स्कन्धाः प्राणवायवः । चण्डं कूरं चक्षुरिति शेषः । जठरपा-
वक और्बानलः पित्तम् ॥ २८ ॥ जीवादिषट्कं तु शशाङ्कमण्ड-
लमेव । सितं वषाभागः । संकल्पकोशात्मेति मनोविशेषणम् ।
परामृतं ब्रह्मैव सारात्मा ॥ २९ ॥ बीजादिभावोऽपि मनस
एवेत्याह—मूलमित्यादिना । अङ्गादिभावेनाप्यायनादानन्द-
कारणम् ॥ ३० ॥ स एव विराट्शरीरे जीवः अङ्गात्मकेन
तेन समष्टिप्राणधारणादित्याशयेनाह—यदिति । व्यष्टिशरीरा-
णामक्षमयानां स बीजं प्राणहेतुकानां सर्वकर्मणां मूलं व्यष्टि-
मनसां च कारणम् । 'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्'

इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तदेव स्पष्टमाह—अस्मादिति ।
सुखानि भोगा अमृतानि मोक्षाश्च ॥ ३२ ॥ विराजो विराड्-
जीवस्य । चतुर्मुखादिशरीराणामपि चान्द्रामृतपरिणामरूपत्वात्
'सोमः पवते जनिता मनीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनितामेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रम्य जनितोत विष्णोः' इति
श्रुतेरिति भावः । नभश्चराः पक्षिणः । सर्वप्राण्युपलक्षणमेतत्
॥ ३३ ॥ चित्तचमत्कारतां चित्तोपहितचित्तद्विवर्ततया प्रकटयति—
चित्स्वभाव इति । प्रालेयपरमाणुतां सुसूक्ष्मामृतकलात्मतां
साक्षितया चन्द्रे बुध्यमानो यदा देवतादिशरीराकारं सर्गादौ
भावयति संकल्पयति विराडात्मा प्रजापतिस्तदा तत्र तादृशव-
त्तुर्मुखादिशरीरभावे एव स्वयं सिद्धवतिष्ठति सत्यसंकल्पत्वादि-
त्यर्थः ॥ ३४ ॥ एतच्चन्द्रमण्डलमेव सर्वजीवसमष्टिविराड्जीव-
स्यापबीकृतपञ्चभूतान्यवयवा यस्य तथाविधं तस्य विराजः शरी-
रम् । एतज्जाप्रदिति सर्वैरनुभूयते ॥ ३५ ॥ इन्दुविराड्जीवा-
द्यष्टिजीवप्रसरं प्रागुक्तमुपपादयति—विराडिति । जीवभूतानि
जीवनसाधनानि । प्रालेयविसरश्चन्द्रकलानामोषधीषु प्रसरस्तदा-
त्मना ॥ ३६ ॥ जीवाः जीवोपाधयः ॥ ३७ ॥ सहस्रशतश-
ब्दावसंख्यपरौ । संप्रति सन्ति च ॥ ३८ ॥ उत्तमपदाद्ब्रह्मणः ।
अभिन्नया अत एवान्तवर्जितो निरवधिर्महंश्चाङ्गसङ्गो व्यष्टिस-
मष्टिदेहसंबन्धो यस्यास्तथाविधया अधिष्ठानमत्तयैव 'तद्विवर्तो
विराट्पुरुष' इति वर्णितरीत्या सर्वतः सर्वदेशकालेषु दृढ माया-
वृत्ते ब्रह्मणि तिष्ठतीत्युपसंहारः ॥ ३९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं
नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः २०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

संकल्पपुरुषस्त्वेष यद्यत्कल्पयति स्वयम् ।
 तत्तथा तादृशं पञ्चभूतात्मा भवतीव खम् ॥ १ ॥
 सर्वं राम जगज्जातं तत्संकल्पं विदुर्बुधाः ।
 तादृग्रूपं पञ्चकात्मविषयोन्मुखमाततम् ॥ २ ॥
 जगत्पदार्थसार्थस्य विराट् सर्वस्य कारणम् ।
 कारणेन समान्येव कार्याणि च भवन्त्यतः ॥ ३ ॥
 यथैष स विराडेव विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
 स्वसंविदि प्रसरति बोधवाघ्न त्वबोधवान् ॥ ४ ॥
 आसरीसृपमारुद्रमेवमभ्युदितो भ्रमः ।
 अणावप्यद्रिविस्तारो बीजकोश इव द्रुमः ॥ ५ ॥
 आसरीसृपमारुद्रं विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
 पराणावप्यनन्तात्मबोधतो न त्वबोधतः ॥ ६ ॥
 यादृगेव विराडात्मन्येष विस्तार आगतः ।
 तादृगेवेह सर्वस्मिन्नणुमात्रेऽपि भूतके ॥ ७ ॥

वासनाकर्मकामानुरूपसंकल्पसर्जनेः ।

समष्टिसाम्यं व्यष्टीनां जीवानामिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

विराट्पुरुषसत्यसंकल्पानुसारिविवर्तं ब्रह्म धत्ते इत्याह—
 संकल्पेति । पञ्चभूतात्मा विराट्पुरुषो यद्यद्यथा यथा भवत्विति
 संकल्पयति तत्तथा तथा स ब्रह्माकाशमपि भवति ॥१॥ यतो
 ब्रह्मपूर्वोपासनाहितवासनया तादृग्रूपं पञ्चभूतात्मविराड्रूपं सर्गादीं
 भूत्वा उपासनाफलपञ्चमहाभूतात्मकविषयसमष्टिभोगोन्मुखतां
 गतमित्यर्थः ॥ २ ॥ कारणेन सृदादिना कार्याणि घटादीनि
 समस्वभावान्येव यतो भवन्त्यतो हेतोरित्युत्तरत्रान्वयः ॥ ३ ॥
 प्रत्येकं व्यष्टिजीवोऽप्यात्मनि स्वस्मिन्विराट् सर्वसर्गममर्थ
 इत्यर्थः । यतो मनोवृत्त्यनुसारेण स्वसंविदि बाह्यान्तर-
 विषयाकारेण प्रसरति सति विराट्वायमपि तत्तदर्थबोधवानेव
 न त्वबोधवानिति साम्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अपकर्पावधौ आसरी-
 सृपमुत्कर्पावधावारुद्रमेवं जगदाकारो भ्रमोऽभ्युदितः स एव
 सर्गः । अणावपीति भ्रमत्वे उपपत्तिः ॥ ५ ॥ अस्त्वेवं किं तत्-
 स्तत्राह—आसरीसृपमिति । विराट् स्रष्टा । तथा च साम्यं
 सिद्धमित्यर्थः ॥ ६ ॥ अणुमात्रे मशकपुष्यादिदेहपरिच्छि-
 ज्ञेऽपि भूतके जीवे ॥ ७ ॥ विततं भ्रान्त्या विस्तारितम् ॥ ८ ॥
 ननु विराजो व्यष्टिभनस्तदुपहितजीवोभयकारणत्वेन वैषम्य-
 मिति कथं साम्यं तत्राह—मन इति । अथवा समष्टिव्यष्ट्योरे-
 कैवेषा सनेति भेद एव नास्ति, कृतः कारणता तत्रेत्यविशेष
 इत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवमुपाधिभनःकारणतां निरस्योपहितजीवं
 प्रति कारणतां निरसितुमुपाधिरूपमाह—शुक्रसारमिति ।
 प्रथमं शुक्रं रेत एव शार उपाधिर्नस्य तम् । ततः शुक्रोपहित-
 जीवादेव मातापित्रोर्मैथुनकाले अचलस्य पूर्णानन्दब्रह्मणो भोगा-

परमार्थेन न स्थूलं न सूक्ष्मं किञ्चन क्वचित् ।
 यद्यथा विततं यत्र तत्तथाश्वनुभूयते ॥ ८ ॥
 मनश्चन्द्रमसो जातं मनसश्चन्द्र उत्थितः ।
 जीवाजीवोऽथवैकैषा सत्ता द्रवजलाङ्गवत् ॥ ९ ॥
 शुक्रसारं विदुर्जीवं प्रालेयकणसंनिभम् ।
 आनन्दोऽचलसंदोहस्तत एव प्रवर्तते ॥ १० ॥
 तं चेतति तदाभासं पूर्णमात्मस्थमात्मना ।
 तत्र तन्मयतां धत्ते तेन तन्मयरूपिणी ॥ ११ ॥
 जीवसंविदथैषान्तर्यदुपायाति पञ्चताम् ।
 न तत्र कारणं किञ्चिद्विद्यते न च कार्यता ॥ १२ ॥
 प्रतियोगिव्यवच्छित्तेरभावात्स्वस्वभावयोः ।
 स्वभावोक्तिर्न चैवात्र भवत्यर्थानुसारिणी ॥ १३ ॥
 जीवो जीवत्वमेव स्वजीवत्वादेव च स्वतः ।
 अन्तस्त्वेन यहिष्टेन दृश्यते न च वायुवत् ॥ १४ ॥
 नीहारेणैव संवीतश्चेत्यद्यस्तुपरायणः ।

कारवृत्तौ प्रतिविम्बनेन संदोहः प्रपूर्तिलक्षण आनन्दः प्रव-
 र्त्तते । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति
 श्रुतेरित्यर्थः ॥ १० ॥ तं तस्य ब्रह्मणः आभासलक्षणमानन्दं
 रेतोवच्छिन्नजीवचिदात्मस्थमात्मना रेतोभूतस्वभावेनैव चेतत्य-
 नुभवति । चेतयन्तीव रेतोरुपमेवानन्दः प्रियतमोऽहमिति
 बीजमारभ्य तत्र तादात्म्याध्यागलक्षणां तन्मयतां धत्ते ।
 'आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेः ॥११॥
 अथानन्तरमेषा जीवसंविदन्तर्गतपञ्चतां देहरूपां तादात्म्ये-
 नैवोपायाति । सैवास्यास्तदुपहितता तत्र च न विराजोऽन्यस्य
 वा कारणतयाह—न तत्रेति ॥१२॥ यद्युपहितरूपे न किञ्चि-
 त्कारणं तर्हि तदनागन्तुकं जीवानां स्वभावः स्यात् । न च
 कस्यचित्स्वभावोऽर्पणीत्यनिर्माक्षप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—प्रतियो-
 गीति । अत्रोपहितरूपे स्वभावोक्तिरर्थानुसारिणी अर्थवती न
 भवति । स्वशब्दार्थविशिष्टो हि भावशब्दार्थः स्वभावः, तत्र
 स्वशब्दो यदि शुद्धपरस्तिर्हि तस्याद्वयत्वात् प्रतियोगी तद्यवच्छेदो
 ग्रान्योऽस्तीत्यव्यावर्तकत्वादन्यो भावशब्दार्थोऽपि न निरूप-
 यितुं शक्यत इति तद्विशिष्टार्थसिद्धेर्निरस्तत्वादित्यर्थः ॥१३॥
 यदि वा उपहितपरः स्वशब्दस्तदाप्यसौ न स्वबहिर्भूतं भावश-
 ब्दार्थं लभते यः स्वार्थेन विशिष्यादित्याह—जीव इति ।
 उपहितरूपो जीवोऽपि स्वतः स्वस्य जीवत्वादुपहितरूपत्वादेव
 जीवत्वमुपहितरूपमेव स्वयं न तद्यतिरिक्तं रूपान्तरमन्तस्त्वेन
 बहिष्टेन वा भावशब्दार्थभूतं विशेष्यतायोग्यं तत्र दृश्यते ।
 स च वायुर्वातीत्यत्र क्रियात्मैव वायुर्यथा विकल्पबुद्ध्या भेदं
 परिकल्प्य वातीति व्यपदिश्यते तद्वज्जीवो जीवत्वमिति
 भ्रमधर्मिभावेनेत्यर्थः ॥ १४ ॥ यदि न जन्यं न नित्यं

जात्यन्ध इव पन्थानं मारुतात्मा न पश्यति ॥ १५
जगज्जृम्भिकया जीवः स्वमैक्यं द्वित्वमास्थितः ।
स्पन्दशक्तयेव पथन आवृतात्मा न पश्यति ॥ १६
अज्ञानस्य महाग्रन्थेर्मिथ्यावेद्यात्मनोऽसतः ।
अहमित्यर्थरूपस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः ॥ १७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवनिर्वाणयोगोपदेशो नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः २१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ज्ञानिनैव सदा भाव्यं राम न ज्ञानबन्धुना ।
अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम् ॥ १

श्रीराम उवाच ।

किमुच्यते ज्ञानबन्धुर्ज्ञानी चैव किमुच्यते ।
किं फलं ज्ञानबन्धुत्वे ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम् ॥ २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत् ।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ३

स्वभावभूतं वा तर्हि किं तज्जीवरूपं यत्संसारतीति चेदनिर्वचनी-
याज्ञानावृतब्रह्मैव तत्स्वात्मन एवान्यथादर्शनं तस्य संसार
इत्याह—नीहारेणेत्यादिना । मारुतात्मा प्राणेन्द्रियादिजडता-
दात्म्यापन्नः अत एव स्वरूपं न पश्यति । 'न तं विदाथ य इमा
जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासु-
तृप उक्थशासश्चरन्ति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १५ ॥ जग-
दाकारया जृम्भिकया वृंहिकया अविद्याशक्त्या संवीतः अत एव
स्वमैक्यमेव द्रष्टृदृश्यमिति द्वित्वं कल्पयित्वा तत्रास्थितोऽभि-
निविष्टः ॥ १६ ॥ अत एव विद्यया अविद्यानाशसंभवात्मा-
निर्मोक्षदोष इत्याह—अज्ञानस्येति । अहमित्यर्थरूपस्य महा-
ग्रन्थेर्भेदो निदारणम् ॥ १७ ॥ अत एव हे राम, त्वं व्यपगतो
धनोऽज्ञानमेधो यस्मात्तथाविधध्वेतनक्षिप्रप्रकाशमात्रः सच्च-
मित्यहंकारोपाधिपरिच्छेदमबुध्यमानः शोधितत्वंपदार्थः सन्
क्षितं बाधितं सत् मूर्त असदमूर्त सदसत्सन्मूलाज्ञानं च यत्र
तथाविधो रूपबाधादेवानभिधो नामशून्यः सन्धवधनवदा-
नन्देकरसधनो यश्चेतनः शोधिततत्पदार्थस्तदेकरूपः सन् सम-
न्तात्पूर्ण आस्व ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवनिर्वाणयोगोपदेशो नाम
विंशः सर्गः ॥ २० ॥

अद्युभा च शुभा चात्र द्विविधा ज्ञानबन्धुता ।

हेया ग्राह्या च यत्नेन लक्षणैरुपवर्ण्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ हेया वर्णयितुं पीठिकां रचयति—ज्ञानिनैवेति ।

ज्ञानी उत्तरसर्गवक्ष्यमाणलक्षणस्तथाविधेनैव सदा भाव्यं भवि-
तव्यं ज्ञानव्याजेन सत्कर्मश्रद्धाबाधनाद्भोगलाम्पत्येन स्वं परं

व्यपगतधनचेतनः समन्ता-

दहमिति नूनमबुध्यमान आस्व ।

अनभिधधनचेतनैकरूपः

क्षितसदसत्सदसत्सदोदितश्च ॥ १८

कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते ।

बोधशिल्पोपजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ४

वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये ।

जानन्ति ज्ञानबन्धुस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः ॥ ५

प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे वर्तते यः श्रुतोचिते ।

अदूरवर्तिज्ञानत्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ६

आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु ।

तानि ज्ञानावभासानि सारस्याऽनवबोधनात् ॥ ७

आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये ।

चानर्थैर्बध्नातीति ज्ञानबन्धुस्तथाविधेन न भाव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

किं लक्षणं प्राप्य ज्ञानबन्धुरुच्यते किं लक्षणं प्राप्य ज्ञानी उच्यते

पुरुषस्ते लक्षणे तत्फले च वदेति प्रश्नार्थः ॥ २ ॥ अनुष्ठाने

साधनचतुष्टयसंपादने मननादौ च ज्ञानोपाये यो न यतते

॥ ३ ॥ यस्य शास्त्राभ्यासलब्धः शाब्दो बोधः कर्मस्पन्देषु भोग-

व्यवहारेषु दृश्यमानेषु वैराग्योपरमादिफलैः फलितो न दृश्यते ।

तत्त्वकथाभिः परवचनचातुरीबोधशिल्पं तदुपजीवित्वात् ॥ ४ ॥

अर्थाद्वसनाशनलाभादय एव शास्त्रफलानीति ये जानन्ति

तान्शास्त्रार्थकथानाटनाक्षटादिशिल्पिन इव विद्यात् ॥ ५ ॥

द्वितीयां शुभां ज्ञानबन्धुतां लक्षणेन दर्शयति—प्रवृत्तिल-

क्षणे इति । प्रवृत्तिलक्षणे निष्कामाभिहोत्रादिलक्षणं धर्मे श्रुतस्य

शास्त्रार्थज्ञानस्योचिते अनुरूपे श्रुतस्य करिष्यमाणवेदान्तश्रवण-

स्योचिते चित्तशुद्धिद्वारा अनुकूले श्रुते श्रुतिबोधिते उचिते

स्वाधिकारकुलाचाराद्युचिते च । 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन

तपसा' इत्यादिश्रुतैः । सत्कर्मानुष्ठाने चित्तशुद्धिक्रमेणावश्यं

ज्ञानेन बध्यते इति व्युत्पत्त्या अदूरवर्तिज्ञानत्वावगमादित्यर्थः

॥ ६ ॥ अनात्मशास्त्राभ्यासपरा अपि तत्तदर्थज्ञानैः संबध्यमाना

दृश्यन्ते, तत्सदृशोऽयं मा भूदित्यात्मज्ञाने विशेषं दर्शयति—

आत्मज्ञानमिति । तानि ज्ञानमिवावभासान्ते न तु ज्ञानानि ।

कुतः । रसेन सारभूतेनाबाध्येन निरतिशयानन्दात्मना सह

वर्तते इति सरसौ तदध्यस्ती जगज्जीवा तयोर्भावः सारस्यं

तदधिष्ठानब्रह्मरस एव तदनवबोधनादध्यस्तबाध्यार्थमात्र-

बोधनाज्ज्ञानिन्तमात्रतया अज्ञानतरङ्गमात्रत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥ अत

एव तन्नाभमात्रतुष्टानामशुभज्ञानबन्धुतैवेत्याह—आत्मज्ञान-

संतुष्टाः कष्टेषु ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ ८
 ज्ञानादितज्ज्ञेयविकाशशान्त्या
 विना न संतुष्टधियेह भाव्यम् ।
 त्वं ज्ञानबन्धुत्वमुपेत्य राम
 रमस्व मा मोगभवामयेषु ॥ ९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ज्ञानविचारो नामैकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः २२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वाद्योऽचित्तं चित्तमेव च ।
 न बुध्यते कर्मफलं स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ १
 ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु ।
 निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ २
 अन्तःशीतलतेहासु प्राज्ञैर्यस्यावलोक्यते ।
 अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ ३
 अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक् ।

मिति । अभ्यासश्रमेण दुरभिमानादिदोषापानेन पारलौकिकानर्थफलेन च कष्टाद्येष्टा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा ते संतुष्टा इति हेतोस्तेऽपि अज्ञानबन्धवः स्मृता इत्यर्थः ॥ ८ ॥ अत एव न सप्तमभूमिकास्थैर्यपर्यन्तं मुमुक्षुणा तौष्टिकेन भवितव्यमित्याह—ज्ञानादीति । ज्ञानं बाह्याभ्यन्तरगोचरवृत्तयः आदिपदात्तकारणानि तदाश्रयः प्रमाता च तेषां ज्ञेयाः शब्दादयस्तेषां विकाशाः प्रयाश्चेत्येषामात्यन्तिकज्ञान्त्या पूर्णानन्दैकरसस्वप्रकाशब्रह्मात्मैक्यप्रतिष्ठां विना मुमुक्षुणाऽन्तरभूमिलाभमात्रेण कृतार्थोऽस्तीति संतुष्टधिया उत्तरोत्तरभूमिप्रापकप्रयत्नशिथिलेन कदाचिदपि न भाव्यम् । हे राम, त्वं सर्वविद्यास्थानकुशलोऽप्यनात्मशास्त्रपाटवासक्त्या ज्ञानोपेक्षणानानधिकारिषु ज्ञानोपदेशकौशलस्थापनेन वा ज्ञानबन्धुत्वमुपेत्य तत्क्यातिलाभादिप्रयुक्तभोगलक्षणेषु भवामयेषु मा रमस्वेत्यर्थः ॥ ९ ॥ कथं तर्हि मुमुक्षुणा स्थातव्यं तदाह—अत्रेति । आहारो हितमितमेध्याशनं तदर्थं तदुपायप्राप्तये श्रुतिस्मृतिषिट्टैरनिन्द्यं स्ववर्णाश्रमोचितोपायेनाहारार्जनादिकर्म कुर्यात् । षिट्टं स्पष्टम् ॥ १० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ज्ञानविचारो नामैकविंशतितमः सर्गः ॥ २१ ॥

ज्ञानिनो लक्षणान्यादां कीर्त्यन्तेऽत्रोपपत्तिभिः ।

तथा जीवजगद्भ्रतस्वादीनि प्रसङ्गतः ॥ १ ॥

ज्ञानबन्धुतां तत्फलं चोपवर्ण्य 'ज्ञानी चैव किमुच्यते' 'ज्ञानित्वेऽपि च किं फलं'मिति प्रश्नयोरुत्तरं वक्तुं प्रथमं ज्ञानिलक्षणा-
 न्याह—ज्ञानेनेति । यः पुमान् भूमिकारोहणक्रमपरिपकेन ज्ञानेन ज्ञेयब्रह्ममात्रे दृढप्रतिष्ठत्वात्प्रारब्धकर्मफलं भुञ्जानोऽप्य-
 चित्तं चित्तभिन्नं शब्दादिविषयजातं तत्तदाकारपरिणतं काम-
 संकल्पादिवृत्तिभेदैः परिणतं च चित्तमेवेति तच्च बाधितानु-

अत्राहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं
 कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम् ।
 प्राणाः संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं
 तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥ १०

वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥ ४
 प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः ।
 तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ ५
 अकारणं प्रवर्तन्त इव भाषा अकारणात् ।
 अविद्यमाना अप्येतेऽविद्यमाना इव स्थिताः ॥ ६
 आविर्भावतिरोभावैर्भावाभावभवामवैः ।
 पञ्चात्कारणतां यान्ति मिथः कारणकर्मभिः ॥ ७
 असतः शशाश्रुक्कादेर्मृगतृष्णाभ्रसो यथा ।

श्रुतिमात्रत्वात् बस्तुसद्बुध्यते स ज्ञानीति तल्लक्षणज्ञैरभिधीयत इत्यर्थः ॥ १ ॥ तथा ज्ञस्य शब्दादिविषयभोक्तुः प्रमातुरन्तःकरणस्य कर्मसु भोग्यभूतेषु विषयेषु येन पुरुषेण ज्ञाने ज्ञाने इत्यनुज्ञानम् । वीप्सायामव्ययीभावः । सर्वेषु चाक्षुषादिवृत्तिभेदेषु साक्षितया स्थितं चिन्मात्रं सम्यक् तत्त्वतो ज्ञात्वा बाधितं दृश्यं निर्वासनात्मकं वासनामात्रेणाप्यपरिशिष्टं दृश्यते स ज्ञानीत्यर्थः । अथवा येन तत्त्वेन ज्ञातेन चित्तं निर्वासनं भवति तत्तत्त्वं सम्यक् ज्ञात्वा स्थितस्य यस्य ज्ञस्य सर्वेषां प्राणिनां कर्मसु यथेच्छव्यवहारेषु स्वैरं व्यवहरन्तिवत्यनुज्ञानमेव दृश्यते । स्वधनापहारवधबन्धादिप्रवृत्तिमपि दस्युनां योऽनुमोदते स ज्ञानीत्यर्थः । इदं तु जडभरतादौ प्रसिद्धम् ॥ २ ॥ अकृत्रिमेणैकेन स्वात्मलाभेन शान्तस्य यस्य ईहासु व्यवहारेषु ॥ ३ ॥ पुनर्जन्ममूलाज्ञानोच्छेदित्वात्तत्त्वज्ञानमेव ज्ञानं नैतरदित्याह—
 अपुनर्जन्मने इति । शेषा तदन्या शाब्दज्ञानचातुरी तु वसनाशने ददातीति वसनाशनदा इतरशिल्पतुल्या जीविकैव न ज्ञानशब्दवाच्येत्यर्थः ॥ ४ ॥ शरदाकाशमिव निरावरणप्रकाशं हृदयं यस्य ॥ ५ ॥ उक्तलक्षणोपपत्तये तत्त्वज्ञानस्य सर्वद्वैतवासनोच्छेदकत्वं समर्थयितुं जगतः असदविद्यामात्रत्वपरिशेषादकारणत्वासत्त्वे दर्शयति—अकारणमित्यादिना । यतोऽविद्यमानाः अतः अकारणं विनैव कारणं प्रवर्तन्ते उत्पद्यन्त इव न तु बस्तुत उत्पद्यन्ते । एवं चाविद्यमाना एव स्थिता इव ॥ ६ ॥ उत्तरभावविकारेष्वप्यकारणत्वादेवासत्त्वं बोध्यमित्याशयेनाह—आविर्भावैति । ननु बीजादङ्कुरोत्पत्तेः प्रत्यक्षं दर्शनात्कथमकारणं प्रवर्तन्त इत्युच्यते तत्राह—पञ्चादिति । नेदं सर्गादौ संभवति, प्रलये बीजाङ्कुरयोर्दुर्भयोरप्यभावादिति भावः । कारणकर्मभिः कारणव्यापारैः ॥ ७ ॥ सांप्रतं दृश्यमान-

आलोकनादकथ्यस्य कीदृक् स्यात्किल कारणम् ॥ ८
 असतः शशमृत्कादेः कारणं मार्गयन्ति ये ।
 बन्ध्यापुत्रस्य पौत्रस्य स्कन्धमासादयन्ति ते ॥ ९
 असत्यप्रतिभासानामेतदेवाशु कारणम् ।
 यद्नालोकनं नाम समालोकक्षणक्षयम् ॥ १०
 परमात्मायते जीवो बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
 चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवावतिष्ठते ॥ ११
 परमात्मैव जीवोऽयं बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
 आम्न एव रसापत्तेः प्रयाति सहकारताम् ॥ १२
 चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवावतिष्ठते ।
 जीवो जीवितजीर्णेषु जातिजन्मसु जर्जरः ॥ १३
 ये परां दृष्टिमायाता विधि तेषामपामिव ।
 अरूपालोकमननं स्पन्दमस्पन्दनं सदा ॥ १४
 ये परां दृष्टिमायाता दृश्यश्रीपारदर्शिनः ।

मपि बीजं सतोऽङ्कुरस्य कारणमसतो वा । नाद्यः । सतः कारणा-
 पेक्षाभावात् । नद्वितीय इत्याह—असत् इति द्वाभ्याम् ॥ ८ ॥
 आसादयन्त्यारोहन्ति । असत्तत्कारणतन्मार्गणानां पुत्रपौत्र-
 तस्कन्धारोहणानि क्रमाद्दृष्टान्ताः ॥ ९ ॥ यद्यकारणद्वैतभावा-
 भ्युपगमे अनिमोक्षप्रसङ्गवारणाय मोक्षशास्त्रप्रामाण्याय च कार-
 णमवश्यं कल्प्यं तर्हि ज्ञानमात्रनिवर्त्य मिथ्याभूतमज्ञानमेव
 तत्कारणं कल्पनीयं नान्यत्सद्रूपं तस्य ज्ञानेन निवर्तयितुम-
 शक्त्या अनिमोक्षतादवस्थप्रसङ्गादित्याशयेनाह—असत्येति ।
 अनालोकनमज्ञानम् ॥ १० ॥ बन्धस्याज्ञानकार्यत्वं समालोकक्षण-
 क्षयत्वं चानुभावयति—परमिति । अयं जीवः परं स्वातिरिक्त-
 मचेतनं जडमहंकारदेहादि बुध्यमानस्तत्क्षणमेव तत्तादात्म्या-
 ध्याससंस्कारोद्बोधादात्मायते आत्मेवाचरति स एव त्वस्य
 बन्धः । चेतनं निष्कृष्टचिन्मात्रमात्मानं बुध्यमानस्तु जीव एव
 'येन जातानि जीवन्ति' इति श्रुतिदर्शितदिशा सर्वजगदुज्जीवन-
 हेतुनिष्कृष्टनिरतिशयानन्दाद्वय एवावतिष्ठते सोऽस्य मोक्ष
 इत्यर्थः । अथवा जीवः चेत्यते अनेनेति चेतनं बुद्धिः । चेत्यते
 अस्मिन्निति चेतनं स्थूलदेहः । चितिक्रिया चेतनं चिदाभासः ।
 तन्नितयरहितं कूटस्थाद्वयचिन्मात्रमात्मानं बुध्यमानः सन् पर-
 मात्मा ब्रह्मेवाचरति परमात्मायते । अद्वितीयपूर्णानन्दैकस्व-
 भावोऽवतिष्ठते । चेतनं बुद्ध्यादिकमात्मेति बुध्यमानस्तु जीव
 एव भूत्वावतिष्ठते न पूर्णभावं लभते इत्यर्थः । अथवा अयं
 जीवचेतनं विषयेषु चाक्षुषादिवृत्तिफलैर्भ्यापनं तद्रहितमचेतनं
 यथा स्यात्तथा वृत्तिव्याप्त्यैव न तु फलव्याप्त्येत्यर्थः । एवमात्मानं
 स्वप्रकाशचिद्रूपतया बुध्यमानः परमात्मैव न ह्यनात्मा अणुमात्र-
 मपि फलव्याप्तिं विना बुध्यते । चेतनं वृत्तिव्यापनं यथा स्यात्तथा
 अणुमात्रमपि बुध्यमानो जीव एवावतिष्ठते न ब्रह्मस्वभावं
 स्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'यस्यामतं तस्य मतं मतं
 यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम्'

न विद्यमानमप्यस्ति तेषां वेदनमाततम् ॥ १५
 ये परां दृष्टिमायाता विधि तेषामपामिव ।
 स्पन्दमस्पन्दनं सर्वमवेदनवशादिह ॥ १६
 अरूपालोकमननवेष्टिता मुक्तदामवत् ।
 बुधाः कर्मसु चेष्टन्ते वृक्षपत्रेष्विवानिलः ॥ १७
 ये परां दृष्टिमायाताः संसृतेः पारदर्शिनः ।
 न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां वसन्निव ॥ १८
 ये बद्धवासना मूढाः कर्म शंसन्ति तेऽनघ ।
 श्रुतिस्मृत्युचितं तेन विनाबोधं प्रयान्ति ते ॥ १९
 इन्द्रियाणि पतस्यर्थं भ्रष्टं वृष इवामिषम् ।
 तानि संयम्य मनसा युक्त आसीत् तत्परः ॥ २०
 नासन्निवेशं हेमास्ति नासर्गं ब्रह्म विद्यते ।
 किंतु सर्गादिशब्दार्थमुक्तं युक्तमतेः शिवम् ॥ २१
 एकाग्रकारे संपन्ने व्यवहारो युगक्षये ।

इति ॥ ११ ॥ पूर्वार्धं विवृणोति—परमात्मैवेति । अयं
 जीवो यथोक्तरीत्या अचेतनमजागरणमेव स्वात्मनि बुध्यमानो
 जागरूकः परमात्मरसावेशात्परमात्मैव भवति । यथा आम्न
 एव हेमन्ते सुप्तप्रायो वसन्ते रसावेशात्पल्लवितः पुष्पितश्च
 प्रबुद्धप्रायः सहकारशब्दवाच्यतां प्रयाति तद्वदित्यर्थः । उत्तर-
 र्धमपि विवृणोति—चेतनमिति । जातिजन्मसु नानायोगिज-
 न्मसु ॥ १२ ॥ १३ ॥ अत एव तत्त्वविदां चेष्टास्तदभिमाना-
 भावादस्पन्दरूपा एवेत्याह—ये इति । रूपालोकमननाभिमान-
 शून्यम् । अपां निम्नानुसरणमिव प्रारब्धमात्रानुसरणमित्यर्थः
 ॥ १४ ॥ यथा दग्धपटदर्शनं पटदर्शनमेव न भवति किंतु भस्म-
 दर्शनं तथा बाधितदृश्यश्रीदर्शनं तदतीतब्रह्मदर्शनमेवेति न द्वैत-
 वेदनं तेषामस्तीत्याशयेनाह—ये इति ॥ १५ ॥ अतोऽपि तेषां
 स्पन्दस्यास्पन्दत्वं रूपदर्शनाभावेऽप्यापो दृष्टान्ता इत्याशये-
 नाह—ये इति ॥ १६ ॥ अत एव च तेषां कर्मलेपबन्धनाभाव
 इत्याह—अरूपेति । यतो रूपालोकमननवेष्टिता न भवन्त्यतो
 मुक्तदामा उत्सृष्टो वृषभस्तद्वन्धनशून्या इत्यर्थः ॥ १७ ॥ पार-
 लौकिककर्मापेक्षा तु वृत्तिरस्तेत्याशयेनाह—ये इति ॥ १८ ॥
 अज्ञानां तु कर्मैव शरणमित्याह—ये इति । विनाबोधं तत्त्व-
 ज्ञानाभावात् तेन कर्मैव ते प्रयान्ति तत्फलभोगमिति शेषः
 ॥ १९ ॥ कुतस्तेषां कर्मैव शरणं तत्राह—इन्द्रियाणीति । भ्रष्ट-
 मधःपतितम् । अधःपातहेतुमिति यावत् । सत्कर्मानालम्बनं
 तेषामधःपात एवेन्द्रियैः कार्यं इति भावः । तथा च श्रुतिः 'कुर्व-
 ञ्चेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथे-
 तोस्ति न कर्म लिप्यते नरे' इति । अत एव विदुषोपीन्द्रिय-
 निग्रहे सत्येव स्वरूपप्रतिष्ठा सिद्ध्यति नान्यथेत्याह—तानीति
 ॥ २० ॥ अदग्धे दग्धे च पटे संनिवेशसाम्यवच्छगत्संनिवेश-
 साम्यभानमविदुषामिव विदुषामप्यस्तु नाम तथापि तद्विदुषां
 ब्रह्मैवेत्याशयेनाह—नासन्निवेशमिति ॥ २१ ॥ सर्गशब्दार्थ-

निर्विभागो निरामासो यथा ब्रह्मघने तथा ॥ २२
 अभ्रोदरे भ्रमाङ्गानां स्पन्दास्पन्दमयी यथा ।
 स्वसंविदात्मिका सत्ता भूतानामीश्वरी तथा ॥ २३
 जलस्यान्तर्जलांशानां द्वैताद्वैतमयो यथा ।
 स्वसंविदात्मा सुस्पन्दस्तथा ब्रह्मणि भूतदृक् ॥ २४
 यथाम्बरेऽम्बरांशानां द्वैताद्वैतकृतात्मनि ।
 अनन्या सृष्टिराभाति तथानवयवे शिवे ॥ २५
 जगतोऽन्तरहंरूपमहंरूपान्तरे जगत् ।
 स्थितमन्योन्यघलितं कदलीदलपीठवत् ॥ २६
 रूपालोकमनस्कारै रन्ध्रैर्बहिरिव स्थितम् ।
 सृष्टिं पश्यति जीवोऽन्तः सरसीमिव पर्वतः ॥ २७
 जीवो जगत्तयात्मानं पश्यत्ययमकारणम् ।
 हेमेव कटकदित्वं तदपश्यन्न पश्यति ॥ २८
 जीवन्तोऽपि न जीवन्ति म्रियन्ते न मृता अपि ।
 सन्तोपि च न सन्तीव पारावारविदः शुभाः ॥ २९
 प्रबुद्धः सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि न पश्यति ।
 गृहकर्मणि गेहस्थो गोष्ठभाण्डमना इव ॥ ३०
 विराड् हृदि यथा चन्द्रः प्रतिदेहं यथा स्थितः ।

मुक्तत्वे प्रलयो दृष्टान्त इत्याह—एकेति । तथा असन्नपि सन्निति शेषः ॥२२॥ प्रलये स्पन्दसत्तामसंभावयन्तं प्रति दृष्टान्तमाह—अभ्रोदरे इति । यथा चलदभ्रोदरे तदवयवानामभ्रादविभागादस्पन्दमयी दिग्विभागान्तु स्पन्दमयीति स्वानुभवसंविदात्मिकैव विरुद्धधर्मयौगपथेन सत्ता संभाव्यते तद्वत्प्रलयेऽपीश्वरी स्पन्दसत्ता भूतानां संभावनीयेत्यर्थः ॥२३॥ तत्र चिदाभासस्पन्दसद्भावेऽपि दृष्टान्तमाह—जलस्येति । जलस्य स्तिमिततडागादिजलस्य द्वैताद्वैतमयस्तीमित्याद्भेदाभेदाभ्यां दुर्वचः स्वसंविदान्मा ब्रह्मसंविदात्मा भूतदृक् तत्तज्जीवाभासः ॥२४॥ निरवयवे सावयवजगत्सद्भावेऽपि दृष्टान्तमाह—यथेति । अम्बरांशानां दिग्भेदरूपाणामाकाशावयवानाम् ॥२५॥ अनयैव शीत्या प्राशुक्तमहंकारजगतोरन्योन्यान्तर्गतत्वमपि संभावनीयमित्याह—जगत् इति ॥ २६ ॥ अहंकारात्मनो जीवस्य स्वान्तर्गतजगतो बहिर्दर्शनेऽपि दृष्टान्तमाह—रूपेति । यथा पर्वतो हिमवदादिः स्वरन्ध्रनिर्गतं स्वान्तर्गतजलमेव मानसादिमहासरस्तया पश्यति तद्वत् ॥ २७ ॥ यथा हेमपिण्डे भूतभावि कटकाद्याकाराः पर्यालोचने दृश्यन्ते कनकमात्रदृष्टौ तु न दृश्यन्ते तद्वज्जीवे जगदपीत्याह—जीव इति । अकारणं निर्निमित्तं भ्रान्त्यैवेत्यर्थः ॥२८॥ अत एव तद्दर्शनां जीवन्मुक्तानां जन्ममरणसंसारस्थितयोऽन्यदृशा सत्योऽपि न सन्त्येवेत्याह—जीवन्त इति ॥ २९ ॥ ब्रह्मासक्तमनसो देहयात्राकर्मणि न कर्तृताबुद्धिः यथा गोष्ठभाण्डेष्व्वासक्तमनसो गृहकर्मणीत्याह—प्रबुद्ध इति ॥३०॥ प्रासङ्गिकं समाप्य प्रस्तुतमनुसंधत्ते—विराडिति । यथा ब्रह्माण्डहृदि विराड् जीवश्चन्द्रः स्थित एवं प्रतिव्यष्टिदेहं रेतोहिमकणाकारो जीवो हृदि स्थित इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

१. अन्धैर्बहिरिव स्थितम् इति पाठः.

जीवो हिमकणाकारः स्थूले स्थूलो लघौ लघुः ॥३१॥
 अहमात्मा त्रिकोणत्वमुपगच्छति कल्पनम् ।
 असदेव सदाभासं मन्यते चेतनाद्वयः ॥ ३२
 कर्मकोशे त्रिकोणे च शुक्रसारेऽवतिष्ठते ।
 देहे जीवोहमित्यात्मा स्वामोदः कुसुमे यथा ॥ ३३
 अहमित्येव शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् ।
 विसरत्यखिले ज्योत्स्ना यथा ब्रह्माण्डमण्डपे ॥ ३४
 अक्षरन्ध्रप्रणालेन विसृतं वेदनोदकम् ।
 व्याप्नोति त्रिजगद्धूमो वियन्मेघतया यथा ॥ ३५
 देहे यद्यप्यशेषेऽस्मिन्बहिरन्तश्च वेदनम् ।
 विद्यते तत्तथाप्यत्र शुकेऽस्ति घनवासना ॥ ३६
 जीवः संकल्पमात्रात्मा यत्संकल्पोऽवतिष्ठते ।
 हृदि भूत्वा स एवाशु बहिः प्रसरति स्फुटम् ॥ ३७
 यथास्थितां च निश्चिन्तां वर्जयित्वा स्थिरोपमाम् ।
 न कयाचिदपि स्थित्या शाम्यत्यहमिति भ्रमः ॥ ३८
 चिन्तानुचिन्त्यमानापि भावनीयाम्बरोपमा ।
 अहंभावोपशमने शमनेन क्रमेण ते ॥ ३९
 तज्ज्ञा व्यवहरन्तीह भाव्यभावनवर्जितम् ।

तस्य देहग्रहणप्रकारमाह—अहमात्मेति । स पितृहृदि रेतोरूपेण स्थितोऽहंकारात्मा जीवः पित्रा मातुश्चिकोणयोर्नां निष्कलिकोणपरिच्छिन्नत्वरूपं कल्पनमुपगच्छति । तत्रत्यरक्तमिश्रितः कललबुबुदपिण्डाद्याकारक्रमेणाधिर्भूतमसदेव वपुः शरीरं सदाकारमहमिति चेतनान्मन्यते ॥ ३२ ॥ एवं त्रिकोणोपलक्षिते मातृगर्भे शुक्रमेव सारः अस्थिनाड्यादिकठिनांशो यत्र तथाविधे स्वकर्मनिर्मितकोशे देहे कोशकारकृमिरिव बद्धोऽवतिष्ठते । स्वामोदः सुगन्धः ॥ ३३ ॥ तत्रापि चन्द्रकलानां चन्द्रविम्ब इव हृदयस्थशुक्रकणेऽहंभावस्फूर्तीनां विशेषव्याप्तिस्तद्द्वारा सर्वदेहसामान्याहंभावप्रथेति स्वानुभवादेव प्रसिद्धमित्याह—अहमिति ॥ ३४ ॥ तस्य बाह्यार्थदर्शने द्वाराण्याह—अक्षेति । विसृतं बहिर्निःसृतं साभासान्तःकरणलक्षणं वेदनोदकम् । त्रिजगत्त्रैलोक्यस्थान् संनिकृष्टबाह्यार्थान् । यथा धूमो मेघतया वियद्योप्योति तद्वत् ॥ ३५ ॥ सर्वदेहापेक्षया हृदयस्थे शुके विशेषामिमानोऽनुभवसिद्ध इत्याह—देहे इति । घनवासना विशेषाभिमानः ॥३६॥ अत एव हि हार्दसंकल्पपूर्वकमेव बाह्यार्थव्यवहाराः प्रवर्तन्त इत्याह—जीव इति ॥ ३७ ॥ अत एव च तदहंभावश्चित्तस्य ब्रह्माकारस्थितिं विना नोपायसहस्रैरपि शाम्यतीत्याह—यथास्थितामिति । समाधिपरिपाके स्थिरब्रह्मकरस्यात्स्थिरोपमाम् ॥ ३८ ॥ अत एव हे राम, ते तव मनननिदिध्यासनादिना अनुचिन्त्यमानापि ब्रह्मचिन्ता आत्यन्तिकाहंभावोपशमने साध्ये उत्तरोत्तरभूमिकासु निर्विकल्पसमाधिपरिपाचनक्रमेण चरमभूमिकायामम्बरोपमा भावनीया संपाद्या । नेतावतैव त्वयोपरन्तव्यमित्यर्थः ॥ ३९ ॥ तर्हि किं भवदायीनामपि तथा सा भावनीया, नेत्याह—तज्ज्ञा इति ।

अरूपालोकमननं मौनं वाहनरा इव ॥ ४०
 अकिञ्चिद्भावो यः स्यात्स मुक्त इति कथ्यते ।
 जीवन्नाकाशविशदो बन्धशून्य इव स्फुटम् ॥ ४१
 अहमित्येष शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् ।
 विसरत्यखिले देहे ब्रह्माण्डेऽर्कप्रभा यथा ॥ ४२
 दृङ्नेत्रं खदनं जिह्वा श्रुतिः श्रोत्रं भवत्यसौ ।
 इत्याद्या वासनाः पञ्च बद्धा तासु निमज्जति ॥ ४३
 चिद्भावोऽक्षतयोदेति मनो भूत्वैकदेशतः ।
 सर्वगोऽपि रसो भूमौ यथाङ्कुरतया मधौ ॥ ४४
 यो भावयति भावेषु नेह रूढेष्वभावताम् ।
 तस्यायत्नवतो दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥ ४५
 येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
 यत्र क्वचनशायीह स सन्नाडिव राजते ॥ ४६
 वासनाभिरुपेतोऽपि समग्राभिरवासनः ।
 अन्तःशून्योऽप्यशून्यात्मा स्वमिव श्वसनान्वितः ४७
 आसने शयने याने स्थितो यत्नेन बोध्यते ।
 निद्रालुरिव निर्वाणमनोमनननिर्वृतः ॥ ४८
 संविन्मात्रं हि पुरुषः सर्वगोऽपि स तिष्ठति ।
 स्फुटसारे शरीरस्य यथा गन्धोऽन्नकेसरे ॥ ४९

अरूपालोकमननं वाद्यमानसदृश्यदर्शनाभिमानरहितं यथा
 स्यात्तथा । मौनं कर्मेन्द्रियव्यापारशून्यं च ॥४०॥ बन्धशून्यः
 शुक्लादिनिर्मुक्त इव ॥ ४१ ॥ सर्वशरीरेऽहंभावव्याप्तिरपि
 शुक्रांशव्याप्तिवशादेवेत्याह—अहमिति ॥ ४२ ॥ चक्षुरादी-
 न्द्रियभावेन तत्तत्स्थानसंबन्धोऽपि शुक्लात्मभूतस्यैव जीवस्ये-
 त्याह—दृङ्गिति । दृङ्गिन्द्रियं नेत्रं तद्गोलकम् । एवमग्रेऽपि ।
 अत एव हि कथादिदर्शनस्पर्शनश्रवणादौ सर्वेन्द्रियैरपि कामोद्दी-
 पनाभिमज्जतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ अज्ञानावृतचित्तो विपरीतभावनैव
 प्रथमं मनो भूत्वा रेतोऽहंभावेनैकदेशतोऽक्षतया तत्तदिन्द्रिय-
 भावेनोदेतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ अत एव तत्प्रतिकूलयथार्थभावनां
 विना न तदुःखोपरम इत्याह—य इति । यः पुरुष इह संसारे
 रूढेषु मनोहंकारदेहादिजगद्रूपेषु 'वाचारम्भणं विकारो नाम-
 धेयम्, नेह नानास्ति किञ्चन, अथात आदेशो नेति नेति'
 इत्यादिश्रुतिदर्शितामभावतां न भावयति । तस्य मोक्षानुकूल-
 यत्नरहितस्य पुंगुर्दभस्यानन्तं जन्मादिदुःखं नोपशाम्यत्येवेत्यर्थः
 ॥ ४५ ॥ तथा भावयतस्तु बाह्यसर्वस्वत्यागेऽपि प्रारब्धाकृष्ट-
 जनैः संपाद्यमानवसनाशनादिभिरान्तरस्नानन्दामृततृप्त्या च
 वैराजपदान्तसाध्याज्यसुखमस्त्येवेत्याह—येन केनचिदिति
 ॥ ४६ ॥ वासनाभिर्ब्रह्माकारवासनाभिर्दग्धपटतन्वाकारसदृशज-
 गद्वासनाभिर्वा ॥४७॥ न बोध्यते षष्ठादिभूमिकाप्रविष्टत्वादिति
 भावः ॥ ४८ ॥ स्फुटसारे रेतसि ॥ ४९ ॥ एवं व्यष्टिसमष्टि-
 जीवभावादिवर्णनं परमप्रस्तुते योजयन्नुपदेशसर्वस्वं संक्षि-
 प्याह—संविन्मात्रमिति । इति परमा रहस्यभूता उपदेशभूः
 यो० बा० १४०

संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
 आत्मनिष्ठत्वमजगत्परमेत्युपदेशभूः ॥ ५०
 नीरसो भव भावेषु सर्वेषु विभवादिषु ।
 पाषाणं हृदयं कृत्वा यथा भवसि भूतये ॥ ५१
 साधो हृदयसौर्षिर्यमसौर्षिर्यमिवास्तु ते ।
 अचित्त्ववपुषोऽचित्त्वादुपलस्येव राघव ॥ ५२
 तज्ज्ञाह्वयोरशेषेषु भावाभावेषु कर्मसु ।
 ऋते निर्वासनत्वासु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ५३
 सत्सैवैषा विदो यत्सा भवत्युन्मिषिता जगत् ।
 परं तत्त्वं निमिषता दृगिवा नामकं ततम् ॥ ५४
 दृश्यं विनश्यत्यखिलं विनष्टं जायते पुनः ।
 यन्न नष्टं न चोत्पन्नं तत्सद्भवति तद्भवान् ॥ ५५
 भावकृतिर्हि निर्मूला भावितापि न विद्यते ।
 सखिलं मृगतृष्णेव न ददाति भवाङ्कुरम् ॥ ५६
 यथाभूतार्थसंदर्शच्छिन्नाऽहमिति भावना ।
 दृष्टापि न करोत्यन्तर्दग्धं बीजमिवाङ्कुरम् ॥ ५७
 कर्म कुर्वन्नकुर्वन्वा बीतरागो निरामयः ।
 निर्मना नित्यनिर्वाणः पुमानात्मनि तिष्ठति ॥ ५८
 चित्तोपशान्तौ संशान्ताः शान्ता ये भोगबन्धवः ।

उपदेशस्थितिः ॥ ५० ॥ तत्र वैराग्यदार्ढ्यमेव साधनरहस्य-
 मित्याह—नीरस इति ॥५१॥ 'पाषाणं हृदयं कृत्वा'इत्युक्ते-
 स्तात्पर्यं विशदयति—साधो इति । यथा अचित्त्ववपुष उपलस्य
 हृदयसौर्षिर्यमचित्त्वादेव चिन्निवेशानवकाशमसौर्षिर्यं प्रसिद्धं
 तथा चिन्मात्रवपुषस्तव दहराकाशरूपं हृदयसौर्षिर्यं चित्त्वादेवा-
 चिन्निवेशनिरवकाशं चिन्निषिद्धितमसौर्षिर्यमिवास्त्विति तदाशय
 इत्यर्थः । अथवा इयन्तं कालमचिदात्माभिमानादचित्त्ववपुष-
 स्तव अचित्त्वादज्ञानात्स्फटिकोपलस्यान्तःकल्पितमाकाशमिव
 भोगसामग्री धनादिलाभकोटिभिरप्यपूर्यमाणं कामलक्षणं हृद-
 यसौर्षिर्यं मनश्छिद्रं सांप्रतं नित्यनिरतिशयानन्दपूर्णस्मलाभा-
 त्पूर्णकामत्वेन बाधितं वास्त्वं स्फटिकोपलासौर्षिर्यमिवावन्दैक-
 घनमस्त्विति तदाशय इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ अत एव स्फटिको-
 पलप्रतिबिम्बितजनव्यवहारकर्मस्विव तज्ज्ञाह्वयोः प्रतीतिसा-
 म्येऽपि सत्यत्ववासनाभावकृत एव विशेष इत्याह—तज्ज्ञेति
 ॥ ५३ ॥ एवं च स्फटिकोपले द्रष्टृपुरुषदृष्टिरिव विदक्षैतन्यस्य
 सत्सैव वासनाभिर्बन्मिषिता जगद्भवति निर्वासनत्वेन निमि-
 षिता ततमपरिच्छिन्नतत्त्वं मोक्षाद्वयं भवतीति फलितमित्यर्थः
 ॥ ५४ ॥ अत एव चित्तसत्त्वं नित्यत्वमित्याह—दृश्यमिति
 ॥ ५५ ॥ ईदृशबोधेन मूलाज्ञाननाशे सत्यन्वेषणेऽपि जगद्भा-
 न्तिर्न लभ्येत्याह—भावेति । भावकृतिर्जगद्भ्रान्तिः । निर्मूला
 नाधितमूला । भाविता अन्विष्टापि ॥५६॥५७॥ अत एव विहि-
 तकर्मकरणाकरणयोर्विदुषामविशेष इत्याह—कर्मैति ॥ ५८ ॥
 समनसोऽपि योगिनः शान्त्यादिषशाशात्मनि कुतो न तिष्ठन्ति

न स्वभावपरिशीणाच्चित्तमेवां किलाकरः ॥ ५९
 अघनः केवललोको बुधो जीवः परायते ।
 स एवान्योऽप्यनन्योऽन्तरपराह इवातयः ॥ ६०
 एकदेशस्थितात्पुंसो दूरायातस्य चेतसः ।
 यद्रूपं सकलं मध्ये तद्रूपं परमात्मनः ॥ ६१
 चावच्छिद्योमकपूर्वं यच्चमत्कुर्वते स्वयम् ।

अनन्तमन्तरव्यक्तं जगदित्येव वेत्ति तत् ॥ ६२
 गतभवभ्रमभासुरमक्षयं
 शममुपेतमुपेक्षितदीपवत् ।
 स्थितमपीह जनं जगदीश्वरा-
 दनुगतं ननु भाति मुदा च खे ॥ ६३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सुखयोगोपदेशो नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः २३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

विरागवासनापास्तसमस्तंभववासनः ।
 उत्थाय गच्छ प्रकृतेरस्या मङ्किरिवाङ्कितः ॥ १
 मङ्किर्नामाभवत्पूर्वं ब्राह्मणः संक्षितव्रतः ।
 स कथं शृणु निर्वाणमासवान्मङ्किबोधितः ॥ २
 अहं कदाचिदाकाशकोशादवनिमागतः ।
 भवत्पितामहार्थेन केनाप्युपनिमङ्कितः ॥ ३
 विहरन्भूतलं गच्छंस्त्वत्पितामहपत्तनम् ।
 प्रातोऽस्मि कामप्यादीर्घामरण्यानीं महातपाम् ॥ ४
 पांसुप्रतर्दनहतां प्रकवत्सत्सैकताम् ।
 अद्यद्यापारपर्यन्तां क्वचिद्राम किलाङ्किताम् ॥ ५

तत्राह—चित्तेति । ये हठाच्छान्ता योगिनस्तेऽपि चित्तोप-
 शान्तां सत्यामेव सम्यक् शान्ता भवन्ति नान्यथा । यतस्तेषां
 भोगेन बध्नन्तीति भोगबन्धवो भोगवासना न स्वभावपरि-
 क्षीणा मूलतश्चिन्ताः । हि यस्मादेषामाकरः क्वनीभूतं चित्तम-
 स्त्येवेत्यर्थः ॥ ५९ ॥ चित्तदेहादिरूपेण घनीभाव एव जीवस्य
 भेदकस्तापकश्च, तदभावे त्वयं ब्रह्माभिन्नो निस्ताप एवे-
 त्याह—अघन इति । अघनो मूर्तिशून्यो जीवः केवलचिदा-
 लोकमात्रः शोधितत्वंपदार्थः परायते । पराभेदयोग्यो भवती-
 त्यर्थः । आतपपक्षे अघनो मेघावरणनिर्मुक्तः अखरश्च ॥ ६० ॥
 तदेवाघनं केवलचिदालोकस्वरूपमात्मनोऽनुभावमिति—एक-
 देशेति । पुंसो देहात् दूरं दूरस्थादित्यचन्द्रादिविषयं चक्षुरादि-
 द्वारा यातस्य चेतसश्चित्तवृत्तेर्मध्ये विच्छेदाभावाद्देहमारभ्य
 चन्द्रमण्डलपर्यन्तमविच्छिन्ना अपरोक्षचिदभिव्यक्तस्यैव ।
 तस्या देहप्रदेशे चन्द्रप्रदेशे च सविषयत्वेऽप्यन्तराले निर्विषयं
 यद्रूपं प्रतिद्वं तद्रूपमेव सकलं पूर्णं परमात्मनः परिचयमित्यर्थः ।
 तथा च श्रुतिः 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
 दिवीव चक्षुराततम्' इति ॥ ६१ ॥ निर्विषयचित्त एवायं
 मायाचमत्कारो जगदित्याह—चाविति । अव्यक्तमनभिव्यक्तम्
 ॥ ६२ ॥ एवमिदं जगत्स्वप्नजनं प्रति गतभवभ्रमभासुरमुपे-
 क्षितदीपवत् शमं निर्वाणमुपेतमक्षयं ब्रह्मैव भाति । अहंजनं
 प्रति नु नियन्तुरीश्वरात्सकाशात्सर्वनियतिव्यवस्थामिमुदा भोग-
 प्रीत्या चानुगतं खे आकाशोदरे परमावृतः स्थितमपि भातीति
 दृष्टिभेदमात्रमित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-

अधुग्धखानिलालोकजलभूशान्तिशालिनीम् ।
 ततां शून्यां महारम्भां ब्रह्मसत्तामिवामलाम् ॥ ६
 अविद्यामिव संमोहसृगतृष्णां गतां भ्रमात् ।
 जडतामाततां शून्यां दिव्योहमिहिकाकुलाम् ॥ ७
 अथ तस्यामरण्यान्यां यावत्प्रविहराम्यहम् ।
 तावत्पश्यामि पुरतो वदन्तं पथिकं भ्रमात् ॥ ८
 पान्थ उवाच ।

अहो नु परिस्त्रेदाय प्रौढप्रायातपो रविः ।
 परितापाय पापोऽयं दुर्जनेनेव संगमः ॥ ९
 सुगलन्तीव मर्माणि स्फुरतीवाग्निरातपे ।
 संकुचत्पल्लवापीडास्ताप्यन्ते यनराजयः ॥ १०

तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सुखयोगोपदेशो नाम
 द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

मङ्किनो मरुकान्तारे वसिष्ठेनात्र संगमः ।

निर्वेदात्तरवजिज्ञासोऽपदेशश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

'नीरसो भव भावेषु सर्वेषु विभवादिषु' इति यद्वैराग्यदा-
 र्थस्यावदयकत्वमुक्तं तत्प्रतिष्ठापनाय मङ्गुपाख्यानमारभते—
 विरारोत्यादिना । अस्याः परिदृश्यमानायाः प्रकृतेः स्वाभावि-
 काज्ञानादिरूपायाः संसृतेस्तत्त्वबोधेनोत्थाय निर्वाणात्मपदं
 गच्छेत्यर्थः । अङ्कितस्तल्लक्षणैश्चिह्नितः ॥ १ ॥ मया विबोधित
 उपदिष्टः ॥ २ ॥ केनापि यज्ञादिरूपेण भवत्पितामहस्याऽज-
 स्यार्थेन प्रयोजनेन प्रागुपनिमङ्कितः सन् ॥ ३ ॥ त्वत्पितामहस्य
 पत्तनं नगरमयोध्यां प्रति गच्छन्नामिष्यन्सत्तर्षिलोकाद्भूतलं
 प्राप्य । विहरन् संचरन् । अरण्यानीं महारण्यम् । 'हिमारण्य-
 योर्महत्त्वे' । 'इन्द्रवरुण' इत्यादिना आनुक् ॥ ४ ॥ पांसूनां
 प्रतर्दनेनाविच्छिन्नप्रसरेण हतां प्वस्ताम् । धूसरामिति यावत् ।
 अङ्कितां कुग्रामैरिति शेषः ॥ ५ ॥ अविद्यमानपांखादिनाऽधुग्धस्य
 स्वस्याकाशस्यानिलस्य शंखापवनस्य आलोकस्याऽऽतपस्य भृग-
 तृष्णाजलस्य तप्तभुवश्च शान्त्या शालिनीं शोभमानाम् । दुर्गम-
 त्वाद्भ्रन्तृणां महान्त आरम्भाः प्रयत्ना यत्र । अमलां निष्पङ्काम् ।
 ब्रह्मसत्तापक्षे स्पष्टम् ॥ ६ ॥ जडतां गतामित्यनुषज्यते ॥ ७ ॥ वदन्तं
 व्यक्तं भाषमाणम् ॥ ८ ॥ यथा पापो दुर्जनेन संगमः परिता-
 पाय तथा प्रौढप्रायातपोऽयं रविः परिस्त्रेदायेत्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥

तत्तावदेवमप्रस्थं प्रामकं प्रविशास्यहम् ।
 श्रममत्रापनीयाशु बह्वाभ्यध्वानमाशुगः ॥ ११
 इति संचिन्त्य सोऽप्रस्थं किरातप्रामकं यदा ।
 प्रवेष्टुमिच्छति तदा मया प्रोक्तमिवं वचः ॥ १२
 अपरिज्ञातनीरागमार्गं मित्रं शुभाकृते ।
 मरुमार्गमहारण्यपान्थं स्वागतमस्तु ते ॥ १३
 चिरं मनुष्यदेशेऽस्मिन्निर्जनप्राममध्वनि ।
 अधराध्वग विभ्रान्तिं विभ्रान्तोपि न लप्स्यसे ॥ १४
 प्रामे विभ्रमथं नैव वर्तते पामरास्पदे ।
 तृड्वे लक्षणपानेन भूय एवाभिवर्धते ॥ १५
 एते प्रामैकशरणाः पल्लवाः स्पन्दभीरवः ।
 अयथापथसंचारा हरिणा इव जन्तवः ॥ १६
 न स्फुरन्ति विचारेषु प्रज्वलन्त्यनुभूतिषु ।
 न त्रस्यन्ति दुराचारादहमयन्मया इव ॥ १७
 कामार्थरागसङ्घेषपरिनिष्ठितपौरुषाः ।
 कर्मण्यापातमधुरे रमन्ते दग्धबुद्धयः ॥ १८
 आभिजात्याततोदारा शीतला रसशालिनी ।
 मेह विश्वसिति प्रज्ञा मेघमाला मराबिव ॥ १९
 धरमन्धगुहादित्वं शिलान्तःकीटता वरम् ।
 वरं मरौ पङ्कमृगो न प्राभ्यजनसंगमः ॥ २०

तत् तस्माद्धेतोः ॥ ११ ॥ मया तद्भाग्योदयकालं ज्ञात्वा तदीय-
 सर्वश्रममूलोच्छेदायैदं तत्त्वेषुमुत्सोत्पादकं साभिप्रायं वक्ष्य-
 माणवाक्यमुक्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥ न परिज्ञातो नीरागाणाम-
 किंचनानां संचारयोग्य आतिथेयजनसंभृतो मार्गो येनेत्युत्ता-
 नार्थः । अत एव मरुमार्गमहारण्यपान्थ । अभिप्रेतार्थान्तरं
 तु स्पष्टम् । हे मित्र, तेऽत्रागमनं महर्शनेन सर्वदुःखमूलक्ष-
 यात्स्वागतमस्तु ॥ १३ ॥ तस्य अधराध्वगेति संबोधनात्स्वस्य
 तदा नभोध्वगमनं सूच्यते । निर्जनप्राममातिथेयजनशून्यप्रामं
 यथा स्यात्तथा स्थिते इति शेषः । प्राक्तनप्रामेष्वलपानप्रतिश्र-
 यादिलाभाद्विभ्रान्तोऽप्यग्रे विभ्रान्तिं न लप्स्यसे इत्युत्तानार्थः ।
 आशयार्थं तु हे अधरकर्माध्वग, अस्मिन् कर्मोपासनलभ्य-
 दक्षिणोत्तरायणमार्गलक्षणेऽध्वनि स्वर्गादिभूमिषु किंचित्किंचि-
 द्विभ्रान्तोऽपि निर्जनप्रामं जननं जनो निर्गतजन्मसमूहं यथा
 स्यात्तथा मोक्षवर्षिणं विभ्रान्तिं न लप्स्यसे इति बोध्यम् ॥ १४ ॥
 नैव वर्तते पामराणां दुर्वाक्यादिना प्रत्युत क्षोभकारित्वादित्यु-
 त्तानो भावः । आशयार्थस्तु प्रामे कर्तृकरणसंभातात्मने देवम-
 नुष्यादिदेहे पामराणां कामद्वेषणीनामालये । यदि मन्थसे
 विषयोपभोगैर्विभ्रान्तिरिति तत्राह—तृड्विति । तथा चोक्तं
 ययातिना—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाभ्यति ।
 हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥' इति ॥ १५ ॥ पल्लवाः
 पुलिन्दजातिभेदाः । आरण्यकल्पाजनपदस्पन्द्याद्भीरवस्तम-
 सइमाना इत्युत्तानार्थः । आशयार्थं त्वेते कामादयः पल्लव-
 पत्नोदुरागादिदुष्का विवेकहन्तभीरवः स्वयथापथसंचाराः

निमेषास्वादमधुराः क्षणान्तरविरागिणः ।
 मारणैकान्तनिरता प्राभ्या विषकणा इव ॥ २१
 वाग्मि मस्मकणाकीर्णा जीर्णाः संशीर्णसङ्घसु ।
 तृणपर्णवनव्यग्रा प्राभ्याधार्मिकवायवः ॥ २२
 एवमुक्तेन तेनाहमिदमुक्तस्ततोऽनघ ।
 मद्भाष्येन समाश्वस्य ज्ञातेनेवामृताम्भसा ॥ २३
 पान्थ उवाच ।
 भगवन्कोऽसि पूर्णात्मा महात्मा कथमात्मवान् ।
 पश्यस्यनाकुलो लोकं प्रामयात्रामिवाध्वगः ॥ २४
 किं त्वया पीतममृतं किं त्वं सन्नाद्धिराडथ ।
 सर्वार्थरिक्तोऽपि चिरं संपूर्ण इव राजसे ॥ २५
 शून्योऽसि परिपूर्णोऽसि घूर्णोऽसीव स्थिरोऽसि च ।
 न सर्वमपि सर्वं च न किंचित्किंचिदेव च ॥ २६
 उपशान्तं च कान्तं च दीप्तमप्रतिघाति च ।
 निवृत्तं चोर्जितं तादृग्रूपं किमेति ते मुने ॥ २७
 भूसंस्थोऽपि समस्तानां लोकानामुपरीव खे ।
 संस्थितोऽसि निरास्योऽसि घनास्योऽसीव लक्ष्यसे ॥
 प्रसृतं न पदार्थेषु न पदार्थात्मनाऽस्ति वै ।
 तवेन्दोरिव शुद्धस्य मनोऽमृतमयं स्थितम् ॥ २९

अशास्त्रीयमार्गप्रवणाः ॥ १६ ॥ न स्फुरन्तीत्याद्युभयतः स्पष्टं
 योज्यम् । अहमयन्मयाः प्रतिमादय इव ॥ १७ ॥ १८ ॥
 आभिजात्यं विशुद्धोभयकुलता तेनातता प्रज्ञा इह जनेषु न
 विश्वसिति ॥ १९ ॥ अन्धयतीत्यन्धा अन्धकारानृता पुहा
 तस्यामहित्वमजगरता ॥ २० ॥ विषकणा मधुमिश्रविषकणाः
 ॥ २१ ॥ मस्मकणाकीर्णा धूलिधूसरा प्रामे भवा प्राभ्या ये
 अधार्मिका जनास्तल्लक्षणा वायवक्ष्ण्डपवना वान्ति संचरन्ति
 ॥ २२ ॥ एवं मया उक्तेन संभाषितेन तेन मङ्गिना मदाशय-
 बोधादयं मामुद्धरिष्यतीति सम्यगाश्वासं प्राभ्याऽहमिदं वक्ष्य-
 माणमुक्तः ॥ २३ ॥ पूर्णात्मा त्वमिति शेषः ॥ २४ ॥ पूर्णा-
 त्मतामेव हेतुवितर्कैः प्रकटयति—किं त्वयेति । सन्नाद्ध-
 सर्वलोकेश्वरः संपूर्णश्चन्द्र इव राजसे ॥ २५ ॥ सांसारिक-
 दोषदुःखैः शून्योऽसि । निरतिशयानन्देन जीवन्मुक्तगुणैश्च
 परिपूर्णोऽसि । देहाद्यप्रतिसंधानान्मदघूर्णोऽसीव । परमार्थं
 स्थिरोऽसीव । न सर्वमिति समष्ट्यपवादाध्यारोपदृष्टिभ्याम् ।
 न किंचिदिति व्यष्ट्यपवादाध्यारोपदृष्टिभ्याम् ॥ २६ ॥ ईद-
 शोऽहं कथं त्वया ज्ञात इति चेष्वद्रूपदर्शनादिति सूचयन्नाह—
 उपशान्तमिति । तथा च श्रुतिः 'रूपमेवास्यैतन्महिमानं
 व्याचष्टे' इति ॥ २७ ॥ माहशानामुद्धारे घनास्योऽसीव लक्ष्यसे
 ॥ २८ ॥ इन्दोरिव शुद्धस्य तवामृतमयं मनः इन्वुकरवत्
 पदार्थेषु न प्रसृतं नाप्यौषधिवनस्पतिसोमाज्यपयोधादिपदार्था-
 त्मना उपभोगार्हमस्ति येन क्षीयेत । अतः सदैव पूर्णं
 स्थितमिति तव चन्द्रावतिशय इत्यर्थः ॥ २९ ॥ अन्ध-

कलाघानकलङ्कोऽन्तःशीतलो भास्वरः समः ।
 रसायनभरापूर्णः पूर्णेन्दुरिव राजसे ॥ ३०
 त्वदिच्छायां तु सदसद्भावं पश्यामि ते चिति ।
 संसारमण्डलमिदं स्थितं फलमिवाङ्कुरे ॥ ३१
 अहं तावदयं विप्र शाण्डिल्यकुलसंभवः ।
 मङ्किर्नाम महाभाग तीर्थयात्राप्रसङ्गतः ॥ ३२
 गत्वा सुदूरमध्वानं दृष्ट्वा तीर्थानि संप्रति ।
 चिरकालेन सदनमात्मीयं गन्तुमुद्यतः ॥ ३३
 न च मे गन्तुमुद्योगो विरक्तमनसो गृहम् ।
 दृष्ट्वा तद्वित्सकाशानि भूतानि भुवनोदरे ॥ ३४
 भगवन्सत्यमात्मानं कथयेद्धानुकम्पया ।
 गम्भीराणि प्रसङ्गानि साधुचेतःसरांसि हि ॥ ३५
 दर्शनादेव मित्रत्वं कुर्वतां महतां पुरः ।
 कमलानीष भूतानि विकसन्त्याश्वसन्ति च ॥ ३६
 ममेदं च मनो मोहात्संसारभ्रमसंभवम् ।
 मन्ये हातुं न समर्थं स त्वं बोधानुकम्पितैः ॥ ३७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

वसिष्ठोऽस्मि महाबुद्धे मुनिरस्मि नभोगृहः ।
 केनाप्यर्थेन राजर्षेरिमं मार्गमुपस्थितः ॥ ३८
 मागा विषादं पन्थानमागतोऽसि मनीषिणाम् ।
 प्रायः प्राप्तोसि संसारसागरस्य परं तटम् ॥ ३९
 वैराग्यविभवोदारा मतिरुक्तिरपीदृशी ।
 आकृतिः शान्तरूपा च न भवत्यमहात्मनः ॥ ४०
 मणिर्मधुरकाषेण यथैति विमलात्मताम् ।
 तथा कषायपाकेन चित्तमेति विवेकिताम् ॥ ४१
 किं ज्ञातुमिच्छसि कथं संसारं हातुमिच्छसि ।
 उपदिष्टमहं मन्ये संपादयति कर्मभिः ॥ ४२
 विमलवासन उत्तममानसः
 परिषिविक्रमतिर्जनतेजसा ।
 पदमशोकमलं खलु युज्यते
 जनितितीर्षुमतेरिदमुच्यते ॥ ४३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० मङ्गुपाख्याने मङ्किर्निर्वाणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥२३॥

चतुर्विंशः सर्गः २४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ममेत्युक्तवतो मङ्किर्विनिपत्य स पादयोः ।

दपि तत्साम्यं विशेषं चाह—कलाघानिति ॥ ३० ॥ एवं
 हिरण्यगर्भसाम्यं ततो विशेषश्च तेऽस्तीत्याह—त्वदिच्छाया-
 मिति । रावैश्यसर्वशक्त्यादिसंपन्नस्य ते चिति आत्मनि अङ्कुरे
 काण्डादिफलान्तं वृक्षरूपमिवेदं संसारमण्डलं सर्गयोग्यतया
 स्थितं पश्यामि संभावयामि । तत्सर्गार्थं त्वदिच्छायां तु सद-
 सद्भावं पश्यामि संवेद्मि । यदीच्छसि तर्हि त्वमपि जगत्सृष्टं
 शक्नोष्येव, परंतु नेच्छसीत्ययं ततो विशेष इति भावः ॥३१॥
 एवं प्रशंसयाभिमुखीकृताय वशिष्ठाय स्ववैराग्यादिसाधनसंप-
 त्योपदेशार्हतां दर्शयितुं स्वगोत्रनामादि कीर्तयति—अह-
 मित्यादिना ॥३२॥३३॥ तद्वित्सकाशानि क्षणमङ्कुराणि ॥३४॥
 आत्मानं नामगोत्रादिना कथयेत्युक्तानार्थः । सत्यमिति विशे-
 षणस्वारस्यात्परमात्मानमुपदिशेत्याशयार्थः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 तमेवाशयं रफुटमाह—ममेति । अप्यर्थं चकारः । ममेदमीष-
 द्विवेकशाल्यपि मनो मोहादज्ञानसंशयप्राचलत्यात्संसारभ्रमसंभवं
 दुःखं हातुं निःशेषमुच्छेत्तुं विना गुरुपदेशं स्वविमर्शकौशल-
 मात्रेण न समर्थमिति मन्ये पुनःपुनर्मननेन निश्चितवानस्मि ।
 अतः स प्राग्वर्णितमदुदररसामर्थ्यस्थं रहस्यबोधानुकूलैरुपदे-
 शानुकम्पितैर्मोहसंशयोच्छेदेन दुःखक्षयसमर्थं कुर्विति शेषः
 ॥३७॥ राजर्षेः अजस्य । केनापि याजनादिरूपेणार्थेन ॥३८॥
 परं तदं परतीरम् ॥ ३९ ॥ मनीषिणां पन्थानमहं प्राप्त इत्यत्र

उवाचानन्दपूर्णाक्षमिदं मार्गं बहन्वचः ॥ १

किं लिप्तं तदाह—वैराग्येति । अमहात्मनो ज्ञानाधिकारभाग्य-
 हीनस्य ॥ ४० ॥ विवेकोदयोऽपि चित्तकषायपाके तव लिप्त-
 मित्याह—मणिरिति । मधुरेण मृदुना काषेण शाण्वर्षणेन
 ॥ ४१ ॥ शिष्यो गुरुणोपदिष्टमर्थं पुनःपुनः स्वपरिशीलनाज्ज्ञा-
 तांशं पुनः प्रश्नावधारणादिकर्मभिर्भयतः फलपर्यवसितं संपाद-
 यति, अतस्त्वं स्वाज्ञातजिज्ञासितांशं वदेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ खलु
 यस्माच्चेतोर्भ्यः शिष्यो विमला रागादिमलशून्या वासना यस्य ।
 अत एवोत्तमवैराग्यादिसाधनत्रयसंपन्नमानसो भवति परिषि-
 विका नित्यानित्यसारासारादिविवेकशालिनी मतिर्यस्य तथावि-
 धश्च । स एव गुरुजनस्योपदेशतेजसा अशोकमात्यतत्त्वपदं
 प्राप्तुं युज्यते योग्यो भवति नेतरः । अतः कारणाजनिभ्यो
 जन्मादिसर्वदुःखेभ्यस्त्रितीर्षुत्तरणेच्छुर्मतिर्यस्य तथाविधस्य
 संभाषणपरीक्षणेन ज्ञाताधिकारस्यैव तव मयेदमुच्यते नान्या-
 दशस्य । अतः स्वपूर्वोत्तरपृष्ठान्तं वदेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 मङ्किर्निर्वाणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

देहेन्द्रियमनोबुद्धिदोषाद्यैः सह विस्तरात् ।

सासारिकं खलुःखौषं मङ्किनेहोपबर्ण्यते ॥ १ ॥

स मङ्किः इति एवमुक्तवतो मम पादयोर्विनिपत्य आनन्द-
 बाण्यपरिपूर्णाक्षं यथा स्यात्तथा मार्गं मां बहन् सज्ज्ञानन्दपूर्णा-

मङ्गिरवाच ।

भगवन्भूरिशो भ्रान्ता दिशो दश दृशो यथा ।
मया न तु पुनः साधुर्लब्धः संशयनाशकृत् ॥ २
समस्तदेहसाराणां सारस्याद्य फलं मया ।
खिन्नोस्मि भगवन्पश्यन्द्दशाः संसारदोषदाः ॥ ३
पुनर्जातं पुनर्नष्टं सुखदुःखभ्रमः सदा ।
अवश्यंभाविष्यन्तदुःखत्वात्सकलान्यपि ॥ ४
सुखान्येवातिदुःखानि वरं दुःखान्यतो मुने ।
दृढदुःखवदन्तत्वाद्दुःखयन्ति सुखानि माम् ॥ ५
तथा राम यथा दुःखमेव मे सुखतां गतम् ।
वयोदशनलोमाश्रैः सह जर्जरतां गतम् ॥ ६
उच्चैःपदे पातपरा बुद्धिर्नाभ्यवसायिनी ।
सुप्रवालं कुसंकल्पाद्गहनं न प्रकाशते ॥ ७
मनः पिप्पलपल्यूलैरिव कुप्रामकोटरम् ।
वासनाङ्गवहैर्गुर्धैर्नित्यं पापीयसी स्थितिः ॥ ८

मक्षमिन्द्रियकलापं वह्निति वा इदं वक्ष्यमाणमुवाच ॥ १ ॥
हे भगवन्, स्वसंशयविच्छेदायोपदेशकुशल, साध्वन्वेषणपरेण
मया दृशो दृश्यो यथा दिक्षु भूरिशो भ्रमन्ति तथा दिशो
भ्रान्ताः ॥ २ ॥ अद्य मया त्वन्नाभात्समस्तेषु देवासुरतिर्यगा-
दिदेहेषु साराणां ब्राह्मणदेहानां मध्ये ज्ञानाधिकारसंपत्त्या
सारस्य स्वदेहस्य फलं लब्धमिति शेषः ॥ ३ ॥ खेदमेव हेतुभिः
सह प्रपन्नयति—पुनरित्यादिना । जातं जन्म । नष्टं मरणम् ।
ननु सदा दुःखभ्रम इति कुतः, सुखानामपि संसारेऽनुभूय-
मानत्वात्तत्राह—अवश्यमिति । सकलान्यपि सुखान्यवश्यं-
भाविपर्यन्तदुःखत्वादिदुःखान्यत्यन्तदुःखानि दुःखान्येवेति
परेणान्वयः ॥ ४ ॥ अत एभ्यः सुखेभ्यो दुःखान्येव वरम् ।
अविच्छिन्ना दुःखपरम्परा हि जलचरैस्तच्छीततेवाभ्यासात्स-
त्यापि स्यात्, सुखविच्छिन्नाभ्यासात्तु सा दुःसहेति भावः ।
प्रबलतरदुःखानुबन्धित्वाद्वा कोप्रवाहजीवने दुःखापेक्षया विष-
संपृक्तमोदकास्वादसुखेष्विव क्षुद्रदुःखपरंपरापेक्षया भोगसुखेषु
द्वेष्यताधिक्यमुच्यतेमिलाह—दृष्टेति ॥ ५ ॥ हे राम हे
सौम्येति वसिष्ठसंबोधनम् । सुखानि मां तथा दुःखयन्ति यथा
मे दुःखमेव सुखतां गतं भवतीत्यन्वयः । इदानीं तत्त्वज्ञाना-
नुपयुक्तानां वयःप्रभृतीनां वृथा जीर्णतामनर्थपरम्पराबीजतां
च दर्शयति—वय इत्यादिना । जर्जरतां शिथिलताम् ॥ ६ ॥
उच्चैःपदे उत्तरोत्तरभोगोत्कर्षस्थाने पातोऽभिलाषस्तपरा
बुद्धिर्न परमपुरुषार्थसाधनाभ्यवसायिनी । मनस्तूत्तरोत्तरं
वर्धमानै रागपल्लवैः सुप्रवालं पल्लवितमतीतभोग्यकोटिगोचर-
शोकमोहादिकुसंकल्पाच्च गहनं दुर्भवेकमत एव स्वस्वदोषा-
दिसाक्षिविवेकेन न प्रकाशते ॥ ७ ॥ तत्र दृष्टान्त-
माह—पिप्पल्लेति । पिप्पल्लनामश्वत्थावीनां पल्यूलैः प्लव-
मानैः क्षुष्कपर्णादिसंशयैर्गहनं कुप्रामान्तरालमिव स्थिति-

कण्टकद्रुमवह्नीव करालकुटिला मतिः ।
आयुरायासशालिन्या यामिन्येव तमोन्धया ॥ ९
अक्षीवानागतालोकं क्षीणं संततचिन्तया ।
न किञ्चिद्रसमादत्ते नष्टैवापि न नश्यति ॥ १०
न पुष्पिता न फलिता तृष्णा शुष्कलतेव नः ।
कर्म कर्मणि निर्ममं वासनाख्यमकर्मणे ॥ ११
जीवितं च जने जीर्णं नैवोत्तीर्णो भवार्णवः ।
दिनानुदिनमुच्छ्राना भोगाशा भयदायिनी ॥ १२
पूर्णापूर्णात्मनि क्षीणाः श्वभ्रकण्टकवृक्षवत् ।
चिन्ताज्वरविकारिण्यो लक्ष्म्याः खलु महापदः ॥ १३
संपन्नमक्षतं सापि विप्रलम्भेन जृम्भते ।
अन्तः स्फुरितरत्नेहं भास्वरं वान्धकोटरम् ॥ १४
कल्लोलकलिलं शून्यं चेतः शुष्काब्धिदुर्भगम् ।
मामिन्द्रियार्थैकपरं न स्पृशन्ति विवेकिनः ॥ १५
सकण्टकममेध्यस्थं श्लेष्मातकमिव द्रुमम् ।

जीविकापि नानाभोगवासनापूतिगन्धान्ने वहन्तीति वास-
नाङ्गवहैरत एव गुर्धैर्गुर्धप्रार्थैरिन्द्रियैः कुप्रामस्थितिरेव नित्यं
पापीयसी ॥ ८ ॥ मतिश्च करजादिकण्टकवह्नीव कराल
कुटिला च । आयुश्च आयासशालिन्या तमोन्धया संतत-
विषयचिन्तया अनागतालोकमप्राप्तवीपादिप्रकाशमक्षि चक्षु-
स्तमोन्धया यामिन्येवाप्राप्तब्रह्मदर्शनालोकं वृथा क्षीणमिति
परेणान्वयः ॥ ९ ॥ तृष्णा शुष्कलतेव न किञ्चिद्विवेकरसमा-
दत्ते । पुनःपुनर्मोघीभावाद्यपि न नश्यति ॥ १० ॥ ननु
कर्मभिरेव तवोद्धारः किं न स्यात्तत्राह—कर्मैति । यत्किञ्चि-
चित्त्वैर्नैमित्तिकं कर्म कृतं तत् प्राक्तनदुष्कर्मराशौ कतिपय-
भागक्षणेन निमग्नम्, उपक्षीणमिति यावत् । भोगवासनाख्यं तु
बीजमुत्तरोत्तरानर्थहेतवे अकर्मणे काम्यनिविद्धकर्मणि प्रवर्त-
यतीति शेषः ॥ ११ ॥ जने पुत्रकलत्रवान्धवभृत्यादावासक्त्या
जीर्णम् ॥ १२ ॥ लक्ष्म्या अर्जनार्थं महापदस्तु श्वभ्रोत्पन्न-
कण्टकवृक्षवत्पुत्रमित्रपशुधनादिभिः कदाचित्पूर्णे कदाचिदपूर्णा-
त्मनि च गृहे चिन्ताज्वरैर्विकारिण्यः क्षीणाः क्षयिताः ॥ १३ ॥
लक्ष्मीर्बहुतरधनादिभिः संपन्नं शस्त्रादिभिरक्षतमपि पुरुषं
भूयोभूयः प्रलोभ्य दूरमाकृष्य चात्रुदस्युवश्यतापादनेन सर्वसंप-
न्नाशशस्त्रघातादिदुःखपर्यवसायिनी विप्रलम्भेन जृम्भते । यथा
सर्पश्चिरोमणिना भास्वरमन्धकोटरे सान्धकारश्वभ्रमन्तरदृष्ट-
सर्पं स्फुरितरत्नेहं पुरुषं खान्तः प्रवेद्य सर्पदंशादिविप्रल-
म्भेन जृम्भते तद्वत् । इवार्थं वाशब्दः । 'रम्भेह' इति पाठे
अन्तःप्रकृतसफलकदलीकं तादृशश्वभ्रं दृष्टान्तः ॥ १४ ॥ चेत-
श्चित्तमप्याशासहस्रकल्लोलैः कलिलमस्वच्छं सर्वतः प्रधावनेऽ-
प्यर्थशून्यमत एव शुष्काब्धिरिव दुष्पूरत्वाद्दुर्भगमत एव चित्त-
परवशमिन्द्रियार्थैकपरं मां विवेकिनो न स्पृशन्ति उपेक्षन्ते
॥ १५ ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—सकण्टकमिति । मनोऽपि

| | | | |
|---|----|---|----|
| असदेव महारम्भं चलवर्जुनवातवत् ॥ | १६ | शास्त्रदृष्टिरपि प्राज्ञैर्नाश्रिता तरुणाय या ॥ | २० |
| मनो मरणमप्राप्तं शून्यं दुःखाय वल्गति । | | साप्यदृष्टिरिवान्ध्याय वासनावेशकारिणी । | |
| शास्त्रसज्जनसंपर्कबन्ध्रतारकधारिणी ॥ | १७ | तदेवमतिसंमोहे यत्कार्यमिह दाहणे । | |
| अहंभावोल्लसयक्षा क्षीणा नाज्ञानयामिनी । | | उदर्कश्रेयसे तात तन्मे कथय पृच्छते ॥ | २१ |
| अज्ञानध्वान्तमत्सेभसिंहः कर्मतृणानलः ॥ | १८ | शाम्यन्ति मोहमिहिकाः शरदीव साधौ | |
| उदितो न विकाराको वासनारजनीक्षयः । | | प्राप्ते भवन्ति विमलाश्च तथाखिलाशाः । | |
| अवस्तु बहुवहुञ्जं मत्तश्चित्तमतंगजः ॥ | १९ | सत्येति वाग्भवतु साधुजनोपगीता | |
| इन्द्रियाणि निकृन्तन्ति न जाने किं भविष्यति । | | मद्बोधनेन भवता भवशान्तिदेन ॥ | २२ |

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्गल० मङ्किवैराग्यं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः २५

| | | | |
|---|---|---|---|
| श्रीवसिष्ठ उवाच । | | क्षीयते माघवस्यान्ते शनैरिव धरारसः ॥ | ४ |
| संवेदनं भावनं च वासना कलनेति च । | | अस्याः संसारसल्लभ्या वासनोत्सेधकारिणी । | |
| अनर्थायेह शब्दार्थे विगतार्थो विजृम्भते ॥ | १ | कदन्या वनजालिन्या रसलेखेव माघवी ॥ | ५ |
| वेदनं भावनं विद्धि सर्वदोषसमाश्रयम् । | | संसारान्ध्यतयोदेति वासनारामा रसश्चितौ । | |
| तस्मिन्नेवापदः सन्ति लता मधुरसे यथा ॥ | २ | यथा वनतया तस्थौ मधुमासरसः क्षितौ ॥ | ६ |
| संसारमार्गे गहने वासनावेशवाहिनः । | | चिन्मात्रादमलाच्छून्यादते किञ्चिन्न विद्यते । | |
| उपयाति विचित्रैर्धैरुत्तवृत्तान्तसंततिः ॥ | ३ | नान्यत्किञ्चिदपर्यन्ते खे शून्यत्वेतरद्यथा ॥ | ७ |
| विचेकिनो वासनया सह संसारसंभ्रमः । | | | |

विमर्शं असदेव महान्तः कर्मरम्भा यस्मात्तथाविधम् । अर्जुन-
वातो वातरोगविशेषः सदैव भ्रमणकारी यथा देहे चलति
तद्वत् ॥ १६ ॥ बहुशो मृतेऽपि मयि मरणमप्राप्तमभिलषि-
तार्थशून्यं दुःखायैव वल्गति धावति । ननु शास्त्रसज्जनसंपर्का-
द्युपायैर्मनो निगृह्यतामिति चेद्यावज्ज्ञानफलविवेकाकौं दयेना-
ज्ञानयामिनी न क्षीणा तावच्छास्त्रसज्जनसंपर्काद्यश्चन्द्रतारकव-
द्यात्यन्तिकमनोभ्रमविनाशाय क्षमन्त इत्याशयेनाह—शास्त्रेति
द्वाभ्याम् ॥ १७ ॥ अहंभाव एव उल्लसन् बालकल्पतयक्षो
यस्याम् ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ सेवादिना वशीकृतैः प्राज्ञै-
रुपायैर्या नाश्रिता सापि मे अदृष्टिदृष्टिविघात इवान्ध्याय संपन्ने-
त्यन्वयः । एवं वर्णितरीत्या सर्वतोऽप्यनर्थप्रसक्तया अतिसंमोहे
समस्य मम तनुत्तरणाय उदर्के श्रेयसे मोक्षाय च यत्कार्यं
तत्कथयेति संबन्धः ॥ २१ ॥ हे भगवन्, शरदि शरकाले
इव निर्मलस्वच्छज्ञानविवेकादिज्योतिर्गणमण्डिते साधौ गुरौ
प्राप्ते सति आकाशस्येव क्षिप्यस्य मोहलक्षणा मिहिकाः
शाम्यन्ति । अखिला आशा दिश इव मनोरथाश्च विमला निर-
स्तरागादिरजोमला भवन्ति इति लोके प्रसिद्धा साधुजनैरुपगीता
वाक् भवता कृतेन मदीयभवशान्तिदेन मद्बोधनेन सत्या
अवाधितार्था भवत्विति प्रार्थना ॥ २२ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महाराजायणतापर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्किवैराग्यं
नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

संवेदनाद्यविद्योत्थं बन्धवीजचतुष्टयम् ।

परमात्मनि विद्या च तस्मिद्दृश्यत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

एवं मङ्किना स्वसंसारानर्थमुपवर्ण्य तन्निरासोपाये पृष्टे तद्वी-
जान्यपरिज्ञाय तन्निरसनोपाया न संपादयितुं शक्या इति तद्वी-
जचतुष्टयमुपपादयितुमुपदिशति—संवेदनमिति । प्रथममि-
न्द्रियविषयोपभोगलक्षणं संवेदनमपगतं विषये तद्गुणानुसंधानेन
पुनःपुनर्भावनं तेन तदाकारलक्षणरूपा चित्ते दृढवासना
तया च मरणादिकालेऽपि भाविदेहाधारम्भानुकूल्य कलना
तत्स्मृतिरिति चतुर्विध इह संसारे अनर्थाय सर्वानर्थबीजभूतो-
मिध्याभूतार्थगोचरत्वात्स्वयं मिध्याभूतत्वाच्च विगतार्थः शब्दार्थः
पदार्थोऽविद्यया विजृम्भत इत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्राद्ययोरत्यन्त-
मनर्थता, अन्त्ययोस्तु तत्पृष्ठभावेनेत्याशयेनाह—वेदनमिति ।
तत्रापि भावनं महाननर्थ इत्याशयेनाह—तस्मिन्निति । यथा
पुष्पपल्लवादिसमृद्धा कृता मधुमासप्रवर्तिते तद्वसे सन्ति तत्प-
रिणामत्वात्कृतासर्वस्वस्य तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ अत एव विचे-
किनो विषयदोषभावनया ब्रह्मभावनया च तत्क्षये वासनया
सह सर्वोपि संसारः क्षीयत इत्याह—विचेकिन इति ॥ ४ ॥
उत्तरसंसारस्य तु वासनैव प्रवर्तिकेत्याह—अस्या इति ।
सङ्गधी सकण्टकगुल्मविशेषः ॥ ५ ॥ चित्तौ अज्ञानाभयजीव-
नैतन्त्ये ॥ ६ ॥ परमार्थापलापहेतुं तदाचरणमज्ञानं दर्शयितुं पर-
मार्थं प्रथममाह—चिन्मात्रादिति । अन्त्यावृत्तचिन्मात्रादिति

असदेव जगत्साहं शुद्धा संविद्यतेति चे ।
 ईषत्प्रसरणेनाशु स्पन्दमं पवनो यथा ॥ १५
 सदिव्यासत्यमेवैवमकुर्वत्यम्यमेधते ।
 मृदा हेजेव कुम्भत्वमपृथग्लभ्यमात्मगम् ॥ १६
 शून्यमात्रं यथा व्योम स्पन्दमात्रं यथानिलः ।
 जलमात्रं यथोर्म्यादि संविन्मात्रं तथा जगत् ॥ १७
 अन्यवच्छिन्ननिर्भागसंविन्मात्रं जगद्भ्रमम् ।
 विद्धि शान्तं तथा व्योम यथा धारिणि पर्वतम् ॥ १८
 निर्वाणस्योपशान्तस्य ह्यस्य सोदेति शीतता ।
 अन्तर्यत्रेन्द्वोऽप्येते दीप्तज्वलनविन्दवः ॥ १९
 किं केन कथमेकान्तशान्तातशिधात्मनि ।
 निरालोकोऽपरालोकः शून्ये जगति जन्यते ॥ २०
 या सत्ता ब्रह्मशब्दाख्या रूपं सर्वस्य तत्रिजम् ।
 न यत्र काचिद्वाधास्ति सर्वं तन्मयमव्ययम् ॥ २१
 यदिदं तु पदार्थत्वं यत्र बाधानुभूयते ।
 यद्यच्च बाधनं प्रेक्ष्य तन्न विद्यः अपुष्पवत् ॥ २२
 ह एवापगतस्वान्तं शान्तमास्व महाश्मवत् ।
 असौ न मननं मानमनन्तमजमव्ययम् ॥ २३
 आकाशकल्पे स्वे भावे तिष्ठतोऽङ्गानिवेदनम् ।

भवत्यभ्यासदाह्येन विद्या स्वप्नविकारवत् ॥ २४
 निरुपादानसंभारमभिसावेव चेतति ।
 ब्राह्मं कर्तुं जगच्चित्रं न कश्चिद्वा न किञ्चन ॥ २५
 तनोति यत्तदात्मैव तस्य तत्र तथा स्थितम् ।
 दृश्याभावादसदृश्यं तेन कः क्व करोति किम् ॥ २६
 अहं सुखीति सुखिता अहं दुःखीति दुःखिता ।
 सर्व एव स्वरूपस्था व्योमात्मानोऽपि पार्थिवाः ॥ २७
 सर्वेषामेव भावानां चिदाकाशात्मनामपि ।
 मिथ्यैव स्वप्नशैलानामिव पार्थिवता स्थिता ॥ २८
 अहंत्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।
 तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ॥ २९
 हेज्ञः कटकशब्दार्थो व्यतिरिक्तो यथास्ति ते ।
 व्यतिरिक्ता तथा सत्या नाहंतास्ति शमात्मनः ॥ ३०
 निर्वाणो निर्मना मौनी कर्तोऽकर्ता च शीतलः ।
 ह एव शान्त एवास्ते शून्य एवाभिपूरितः ॥ ३१
 निर्वासनास्पन्दपरो यन्मपुत्रकगात्रवत् ।
 स यथास्थितमेवास्ते हः संव्यवहरन्नपि ॥ ३२
 यथा मञ्जुकसंस्थस्य स्पन्दन्ते नैव वा शिशोः ।
 अङ्गानि स्वानुसंधानं विनैघंविदितात्मनः ॥ ३३

स्वात्मन्युपरमः ॥ १४ ॥ साहमहंकारसहितं जगत् शुद्धा संविदेव
 अविवेकप्रयुक्तेनेषत्प्रसरणेन स्वे आश्रुतस्वरूपाकाशे तनोति
 ॥ १५ ॥ ब्रह्मसंविन्परमार्थतोऽन्यमकुर्वत्येवासत्यमेव सदिवेदं जग-
 द्रूपमेधते जृम्भते । कथमसत्यमिति ज्ञायते तत्राह—मृदेति ।
 यथा मृदा हेजा वा आत्मगं स्वात्मनि कल्पितं कुम्भत्वमपृथग्लभ्यं
 पृथक्कृत्य लब्धुमशक्यं तथेदं जगदपि पितः पृथक्कृत्य लब्धुमश-
 क्यम् । यदि सत्यं स्यात् पृथक् लभ्येतेति भावः ॥ १६ ॥ यद्यद-
 पृथग्लभ्यं तत्तत्पृथक्सत्ताशून्यमिति हेमादौ व्यासिं दर्शयति—
 शून्यमात्रमिति ॥ १७ ॥ अन्यवच्छिन्नेति सजातीयमेदनिरासः ।
 निर्भागेति स्वगतमेदनिरासः । धारिणि प्रतिविम्बितं पर्वतं
 पर्वतसदृशं वृहत्तरुं वा ॥ १८ ॥ इत्थं जगत्सर्वं जानतो न सांसा-
 रिकतापप्रसक्तिरित्याशयेनाह—निर्वाणस्येति । सा सर्वोत्कृष्टा
 शीतता सर्वतापोपशान्त्युपलक्षिताऽऽङ्गादता । यत्र यदुष्मेति
 भावत् ॥ १९ ॥ तत्र अक्राशान्तरप्रसक्तिरपि नास्तीत्याह—
 किमिति । जगति विद्ये शून्ये सति अपरालोकः किंस्वरूपः,
 केन साधनेन कया च क्रियया जन्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥ तदेव
 सर्ववस्तूनामवाप्तं स्वरूपमित्याह—येति ॥ २१ ॥ वाप्यं स्वरूपं
 तर्हि किं तत्राह—ध्विति । पदार्थत्वं नामरूपभावः । तच्च
 तस्य बाधनं बाधच्च तस्मोत्पत्त्यादिविकारवद् तत्सर्वं प्रेक्ष्य सम्य-
 त्विद्युदयापि न विद्यः । यतस्तत्स्वपुष्पवत्पुष्पमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥
 तच्च रूपं मनोविकल्पितं मनोपगमेऽपैतीति शान्तमास्तेत्याह—
 ह ध्वेति । शान्तापगमेन शोऽप्यपगमिष्यत्येवेति कथं ह एक-
 सेत्पुष्पसे तत्राह—अस्याविति । मनोपगमे हि नामरूपात्मकं
 मननं विकल्पनं तन्मानं चक्षुरादि चाऽपगच्छेत्, अथौ कस्तु
 यो० वा० १४१

तथा न किञ्चनन्तमजमव्ययं ब्रह्मैवेति नापगच्छतीत्यर्थः ॥ २३ ॥
 हे अहं, आकाशकल्पे स्वे आत्मभावे मनोबाधेन तिष्ठतो ह्यस्य
 नामरूपयोरनिवेदनमप्रतीतिरेव भवति, यतस्तत्स्वरूपावस्थित्य-
 भ्यासदाह्येभावादेव स्वप्नविकारवन्मनस्युदेतीत्यर्थः ॥ २४ ॥
 मनोविकल्पमात्रं जगदिति कथं ज्ञायते तत्राह—निरुपादा-
 नेति । यतो ब्राह्मं हैरण्यगर्भं मन एव जगतः कर्तुं निर्मातुं तच्च
 निरुपादानसंभारं निरस्तरज्जकद्रव्यतुलिकाकूर्वादिसामग्रीकमेव
 जगच्चित्रममितौ निराश्रय एव संकल्पमात्रेण चेतति पश्यति ।
 न कश्चिद्वा मनोतिरिक्तः कर्ता न किञ्चन कार्यं च मानसे स्वप्नादौ
 दृष्टमित्यर्थः ॥ २५ ॥ तच्च मनो यतनोति विस्तारयति तत्र
 सर्वत्र मनोराज्यादाविष आत्मा स्वयमेव तथा तत्तद्वस्त्वाभासा-
 त्मना स्थितम् । इत्थं स्वातिरिक्तदृश्याभावात्केन कः किं क्व
 करोति, न कश्चित्केनचित्कश्चित्किंचिदित्यर्थः ॥ २६ ॥ इत्थं च
 सुखदुःखे तत्साधनीभूताः पार्थिवादिविषयाश्च कल्पनोपरमे
 शून्यरूपा आत्मरूपा वा संपन्ना इत्याह—अहमिति ॥ २७ ॥
 पार्थिवानामप्यपार्थिवता स्वप्नशैलवत्संभावनीयेत्याह—सर्वेषा-
 मिति ॥ २८ ॥ एवं च सति यत्फलितं तदाह—अहंत्वोल्लेखत
 इत्यादिना ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ निर्वासनत्वादेव अस्पन्दपरः
 स्पन्दाभिमानशून्यः । यन्निर्मितशिलादिप्रतिमाशरीरवत्
 ॥ ३२ ॥ देहस्पन्ददशायामेव तदस्पन्दसंभावनाय दृष्टान्तमाह—
 यथेति । स्पन्दमानदोलमन्त्रके दुप्तस्य शिशोरङ्गानि नैव
 स्पन्दन्ते तद्वत्संभावनीयमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ ननु तस्य स्वरूपज्ञान-

१ स्वप्नविकारवत् इति पाठविन्नाह.

निःसंबोधैकबोधस्य निराशेहैषणाशिषः ।
 शान्तानन्तात्मरूपत्वाद्नुसंधानता कुतः ॥ ३४
 अद्रष्टुरपदृश्यस्याद्रूपस्यापरूपिणः ।
 कुतः किलानुसंधानमनपेक्षस्य पश्यतः ॥ ३५
 अपेक्षैव घनो बन्ध उपेक्षैव विमुक्तता ।
 सर्वशब्दान्विता तस्यां विश्रान्तेन किमीक्ष्यते ॥ ३६
 पार्थिवत्वे शरीरेऽस्मिन्स्वस्वप्राङ्ग इवासति ।
 भ्रममात्रात्मनि कुतः क्व कस्य किमपेक्षणम् ॥ ३७
 उपशान्तसमस्तेहं विगताखिलकौतुकम् ।
 निरस्तवेदनं ज्ञेन विदा केवलमास्यते ॥ ३८
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० मङ्कयुपा० निर्वाणसंमाप्तिर्नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

मङ्किनेति श्रुतवता ततो मोहो महानपि ।
 अशेषेण परित्यक्तस्तत्रैव त्वगिवाहिना ॥ ३९
 प्रवाहापतितं कार्यं कुर्वतापास्तवासनम् ।
 तेन वर्षशतस्यान्ते स्थितमद्रौ समाधिना ॥ ४०
 तत्राद्ययावत्पाषाणसमधर्मा स तिष्ठति ।
 संशान्तकरणो योगी बोध्यमानः प्रबुध्यते ॥ ४१
 एतेन राघव विवेकपदेन शान्ति-
 मासादयोदयवता मनसा विहर्तुम् ।
 मा दीनतां व्रजतु रागमयी मतिस्ते
 क्षीणा क्षणादसलिलेव शरद्धनाली ॥ ४२

सप्तविंशः सर्गः २७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

निर्वाणो भव शान्तात्मा यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
 सन्नेवासत्समः सौम्य स्फटिकादिव निर्मितः ॥ १
 एकस्मिन्नेव सर्वस्मिन्संस्थिते विततात्मनि ।
 नैकस्मिन्न च सर्वस्मिन्नानाताकलना कुतः ॥ २
 आद्यन्तरहितं सर्वं व्योम चित्तत्वनिर्भरम् ।
 शरीरोत्पत्तिनाशेषु का चित्तत्वस्य खण्डना ॥ ३
 स्फुरन्ति हि जडक्रीडाश्चिन्मत्कारचापलात् ।
 अचापलात्प्रतीयन्ते तरङ्गा इव वारिणि ॥ ४
 यथा शुभ्राम्बुदे वस्त्रशङ्का न फलभागिनी ।

मेव देहाद्यनुसंधानं किं न स्यात्तत्राह—निःसंबोधेति ।
 निःसंबोधो बहिर्मुखचित्तवृत्तिस्तच्छून्याखण्डबोधरूपस्य । चिर-
 प्राप्ये विषये आशा । प्राप्तविषये ज्ञेह एषणा । मनोरथैराशास-
 नमाशीरिति भेदः ॥ ३४ ॥ द्रष्टादित्रिपुटीबाधादपि तस्य नानु-
 संधानतेत्याह—अद्रष्टुरिति । स्वयं च अपरूपिणो निराकारस्य
 ॥ ३५ ॥ सर्वशब्दान्विता उपेक्षा सर्वोपेक्षैव विमुक्ततेत्यर्थः ।
 तस्यां पूर्णकामतायां विश्रान्तेन किमीक्ष्यते अपेक्ष्यते । 'ईप्स्यते'
 इति पाठः साधुः ॥ ३६ ॥ शरीरार्थं हि सर्वोऽप्यपेक्षते । तस्य स्वाप्-
 शरीरादिवद्भावे सति न कस्यचिदपेक्षाप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ३७ ॥
 उपसंहरति—उपशान्तेति ॥ ३८ ॥ मुख्याधिकारित्वान्मङ्किनः
 सकृच्छ्रवणमात्रेण मोहनिवृत्तिमाह—मङ्किनेति ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ हे राघव, त्वमेतेन मङ्किपरिश्रुतीतोपायेन ज्ञानेऽभ्युद-
 यवता मनसा विवेकपदेन स्वात्मानन्दे विहर्तुं शान्तिमासादय ।
 ते मतिः रागमयी सती असलिला शरद्धनालीव क्षणात् क्षीण-
 विवेका भूत्वा दीनतां मा व्रजत्वित्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणसमा-
 प्तिर्नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

चित्तस्पन्दे चित्तः स्पन्दभ्रमादिभ्रमिभूतयः ।

चित्तशान्त्यैव तच्छान्त्या स्वरूपस्वित्तिरीर्यते ॥ १ ॥

स्फटिकाभिर्मितः प्रतिमापुरुषो यथा सजपि दृष्टिप्रसरानिरोधि-

देहोऽयमहमित्येषा तथा शङ्का न वास्तवी ॥ ५
 माऽवस्तुनि निमग्नस्त्वं भव भूरिभवप्रदे ।
 वस्त्वन्तसुखायाद्यं भव्यं भावय भूतये ॥ ६
 चिद्बोमानन्तमेवासिन्नेयत्तास्ति समात्मनः ।
 इत्येव परमं वस्तु वस्तु तत्परमस्तु ते ॥ ७
 एवं निश्चयवान्नाम त्वमेवासि निरञ्जनः ।
 ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं सत्यं चापि न किञ्चन ॥ ८
 द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च चित एव विभूतयः ।
 अतत्तत्संविदो नान्यदध्यानं ध्येयमस्ति च ॥ ९

त्वादसत्समस्तद्वत्स्वात्माद्वैतदृष्टिप्रसरानिरोधित्वादसत्समः ॥ १ ॥
 प्रबोधात्प्रागेकस्मिन्नेव सर्वात्मतया स्थिते प्रबोधे तु नैकस्मिन्न
 च सर्वस्मिन् । व्यष्टिसमष्टिभावबाधादिति भावः ॥ २ ॥ ननु
 प्रतिशरीरमुत्पत्तिनाशाभ्यां सप्तवितस्तिपरिमाणेन च परिच्छेदा-
 नुभवाभानैवास्तु नेत्याह—आद्यन्तेति ॥ ३ ॥ जडसर्गादि-
 रूपाः क्रीडाः । चिन्मत्कारो मनस्तत्चापलात् ॥ ४ ॥ वस्त्र-
 शङ्का वस्त्रलोत्प्रेक्षा न परमार्थावधारणफलभागिनी तद्वत् ।
 शङ्का भ्रान्तिः ॥ ५ ॥ अवस्तुनि मिथ्याभूते देहादावहंभाव-
 निमग्नो मा भव । भूतये मुक्तये ॥ ६ ॥ किं तद्वस्तु यद्भावनं
 कार्यं तदाह—चिद्बोमेति । तादृशवस्तु तत्परं ते मनोऽस्त्व-
 ल्यर्थः ॥ ७ ॥ तस्य किं फलं तदाह—एवमिति । न चायं निश्च-
 योऽनिश्चयो ध्यानध्यानादित्रिपुटीबाधकत्वादित्याशङ्क्य तस्या-
 बाध्यत्वमेव युक्तमित्याशयेनाह—ध्यातेति । कुतस्तस्याबाध्यत्वं
 तत्राह—सत्यं चेति । यतो ध्यात्रादित्रये किञ्चिदपि सत्यं
 नेत्यर्थः ॥ ८ ॥ तर्हि दर्शनादित्रिपुट्या अपि तत्सामान्यात्कथं
 तद्बाधकत्वमित्याशङ्क्य विशेषमाह—द्रष्टेति । दर्शनं हि प्रमा-
 णजन्यं वस्तुतन्त्रमेव न पुरुषतन्त्रमिति वृत्त्यभिव्यक्तपरमार्थ-
 चित्प्राधान्यादज्ञाननिवर्तकत्वाच्च परमार्थचित्त एव विभूतयो
 द्रष्टादयः । ध्यानं तु न प्रमाणजं नापि वस्तुतन्त्रं पुरुषेच्छानु-

उद्यति प्रतिपञ्चन्द्रे वहति प्रलयानिले ।
 आत्मतत्त्वं समं सौम्यं न क्षुभ्यति न शाम्यति ॥ १०
 यथा नौयायिनः स्थाणुतरुशैलादिवेपनम् ।
 यथा शुक्रौ रजतधीस्तथा देहादि चेतसः ॥ ११
 यथा देहादि चित्तस्य तथा देहस्य चित्तकम् ।
 तथैव जीवः परमे पदे द्वैतमतः कुतः ॥ १२
 सर्वमेकमिदं शान्तं ब्रह्म बृंहितवेदनात् ।
 न किञ्चिज्जगदाद्यस्ति भ्रान्तिरन्या न विद्यते ॥ १३
 न विद्यते यथा व्योम्नि वनं ज्ञेहृष्य सैकते ।
 विद्युच्छशाङ्कबिम्बे च तथा देहादि चेतसि ॥ १४
 अविद्यमान एवास्मिन्मा विभीहि जगद्भ्रमे ।
 एतदेव परं सत्यं विद्धि सत्यविदां वर ॥ १५

जगदस्ति न ससेति यासीद्भ्रान्तिस्तवाद्य सा ।
 शान्ता मधुपदेशेन किमन्यद्वन्धकारणम् ॥ १६
 स्थाण्युदञ्चनकुम्भादि यथा मृन्मात्रकं तथा ।
 चित्तमात्रं जगदिवं क्षीणं तच्च विचारणात् ॥ १७
 आपत्सु संपत्सु भवाभवेषु
 शान्तैषणाहर्षविषादसंवित् ।
 सौम्यादहंभावविदा विमुक्तो
 यथास्थितं तिष्ठ विलीय मास्व ॥ १८
 यथास्थितं वस्त्वधिगम्य राम
 स्थितोऽसि चेद्वा स्वकुलाम्बरेन्दो ।
 तद्दर्पशोकैषणदूषणादि
 विमुच्य वा तिष्ठ यथेच्छमास्व ॥ १९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० मुख्ययोगोपदेशो नाम सप्तविंशः सर्गः ॥२७॥

अष्टाविंशः सर्गः २८

श्रीराम उवाच ।

बीजाङ्कुराणां पुरुषकर्मणां जन्मकारिणाम् ।
 दैवशब्दार्थयुक्तानां तत्त्वं वद विभो पुनः ॥ १

सारि चेति क्रियाविशेषमात्रत्वादविद्याविभूतय एव ध्यात्रादय इति बाध्या इत्यर्थः । विशेषान्तरमप्याह—अतदिति । अतत् असंवित् जडवस्तु सर्वं तत्संविदोऽन्यत् पृथग्भूतं न दृष्टमतो दृश्यं दर्शनानुसार्येव । ध्येयं तु अध्यानं विनापि ध्यानं अस्ति स्फुरति चेति न वस्तुनो ध्यानानुसारितेति विशेष इत्यर्थः ॥ ९ ॥ संविदस्तु निर्विकारत्वं सर्वतो विशेष इत्याह—उद्यतीति । तथा समुद्रः प्रतिपञ्चन्द्रे उद्यति सति क्षुभ्यति प्रलयानिले वहति शुष्यति च न तथा आत्मतत्त्वमित्यर्थः ॥ १० ॥ तर्हि तस्या ब्रह्मदित्रिपुटी कथं विभूतिरिति चेद्विवर्ततयैवेत्याशयेनाह—यथेति । चिति चेतसो दृष्ट्या भ्रम इत्यर्थः ॥ ११ ॥ एवं देहदृष्ट्या चित्तमपि कल्पितम् । तदुभयदृष्ट्या जीवः कल्पितस्तदृष्ट्या तदुभयं कल्पितमिति शुद्धचित्ति विवर्ताः सर्वे इत्याह—यथेति ॥ १२ ॥ ब्रह्मदृष्ट्या तु तदेवैकमित्याह—सर्वमिति ॥ १३ ॥ चेतसि तत्त्वदृष्टौ ॥ १४ ॥ विभीहि भयं प्राप्नुहि ॥ १५ ॥ जगदेवास्ति अद्वितीयब्रह्मसत्ता नास्तीति या भ्रान्तिस्तवासीत्सा ॥ १६ ॥ १७ ॥ हे राम, त्वं सौम्यान्मधुपदेशादहंभावपया विदा विमुक्तः सन् संपत्सु शान्तैषणाहर्षसंवित् आपत्सु च शान्तविषादसंवित् सन् भवाभवेषु विभवानामुत्कर्षापकर्षेषु यथास्थितं समं तिष्ठ । मधुपदेशविस्मरणेन विलीय स्वरूपस्थितिदार्ढ्यं विहाय मा आस्व ॥ १८ ॥ तर्हि तत्त्वज्ञानोत्तरं प्रमादात्प्रारब्धप्राबल्याद्वा हर्षशोकानुवृत्त्यपराधेन पुनर्बन्धो भविष्यति नेत्याह—यथास्थितमिति । हे स्वकुलाम्बरेन्दो

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

दैवकर्मादिपर्यायं घटादि घटतावधि ।
 संवित्स्पन्दनमेवेदं लोके पुरुषतां गतम् ॥ २

राम, त्वं यथास्थितं ब्रह्मात्मैक्यवस्तु अपरोक्षतया सम्यग्धिगम्य स्थितोऽसि चेततर्हि हर्षशोकैषणालक्षणानि दूषणानि चित्तसंतापकानि विमुच्य वा तिष्ठ, यथेच्छं वा तान्यनुवर्तमान आस्वेति प्राप्तनवाशब्दस्यात्रान्वयः । तव दृष्टसुखार्थं मया विलीय मास्वेत्युक्तं न तु तावता मुक्तां संदेह इति भावः ॥ १९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुख्ययोगोपदेशो नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

बीजाङ्कुराणां पुरुषकर्मणां जन्मकारिणाम् ।

दैवशब्दार्थयुक्तानां तत्त्वं भूयोऽत्र वर्णयते ॥ १ ॥

बीजानामुपादानानामङ्कुराणामुपादेयानां पुरुषाणां कर्तृणां कर्मणां तदीयविहितनिषिद्धोदासीनक्रियाणामिति दृष्टसामग्रीणां दैवशब्दार्थेनादृष्टेन निमित्तेन युक्तानां सर्वेषां जन्मपरंपरालक्षणसंसारानर्थकारिणां तत्त्वं प्राग्विशकलितोक्तमपि पुनः पिण्डीकृत्य कथयेत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्रादौ दैवस्य तत्त्वं कर्म कर्मणस्तत्त्वं पुरुषस्तत्त्वं मनोरूपचित्स्पन्दः तस्य तु चिदात्मैव तत्त्वं यच्चिदात्मैव प्रथमं 'बहु स्वां प्रजायेय' इति प्राथमिकसंकल्पलक्षणेन चित्स्पन्देन समष्टिव्यष्टिमनो भवति ततो देहाकाराध्यासेन पुरुषस्ततः कर्माणि कुर्वन्पुण्यपापादृष्टरूपदैवतां चापद्य तद्भोगाय घटादिब्रह्मात्मना तद्गतगुणक्रियाद्यात्मना च घटत्वादिसामान्यं तेन जगद्रूपेण विवर्तत इति दैवकर्मादिकारणशब्दरूपं घटादि घटतावधि कार्यशब्दरूपं च तत्त्वचित्स्पन्दपर्यायमित्याशयेनोत्तरमाह—यथेति ॥ २ ॥

संवित्स्पन्दोऽहते पुंस्त्वं कर्म वा कीदृशं भवेत् ।
घटावटपटाद्यात्म ह्येतेनैव जगत् कृतम् ॥ ३
प्रवर्तते जगद्भ्रमीः संवित्स्पन्दात्सवासनात् ।
निवर्तते हि संसारः संवित्स्पन्दादवासनात् ॥ ४
अवासनं हि संचित्तेः स्पन्दमस्पन्दनं त्रिषुः ।
सस्पन्दोऽप्यस्फुरत्स्पन्दो येनावर्तादिनोऽहते ॥ ५
मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।
कल्पनांशाहते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ ६
जलवीच्योर्यथा द्वित्वं संकस्योत्थं न वास्तवम् ।
तथेह चित्परिस्पन्दरूपयोर्जन्तुकर्मणोः ॥ ७
कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिज्ञे विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतले ॥ ८
हिमं यत्तद्यथा शैल्यं यन्धैस्यं तद्यथा हिमम् ।
यत्कर्मासौ तथा जन्तुर्यो जन्तुः कर्म तत्तथा ॥ ९
संवित्स्पन्दरसस्यैव देवकर्मनरादयः ।
पर्यायशब्दा न पुनः पृथक्कर्मादयः स्थिताः ॥ १०
स्पन्दात्संविज्जगद्बीजमस्पन्दाद्यात्यबीजताम् ।
अङ्कुरश्च तदेवान्तः स्थितत्वादङ्कुरधियः ॥ ११
चित्त्वं च क्वचिदस्पन्दं क्वचित्स्पन्दं स्वभावतः ।
अनन्तमेकार्णववहिकालक्रमसंस्थितम् ॥ १२
संवित्स्पन्दो वासनावानिह बीजमकारणम् ।
भूत्वा कारणतामेति देहादेरङ्कुरावलेः ॥ १३
तृणवल्लीलतागुल्मबीजान्तरगतैरपि ।

अत एव हि पुरुषकर्मादि घटावटादि च संविदधीनसत्तास्फु-
र्तिकं सर्वैरनुभूयते संविद्विर्वर्तत्वानभ्युपगमे तु सत्तास्फूर्तिशून्यं
तत् कीदृशं भवेत् । अलीकमेव स्यादित्यर्थः ॥ ३ ॥ सर्वस्य
संवित्स्पन्दमात्रत्वे वैचिन्त्येणोद्भवे तन्निवृत्तौ च निमित्त-
माह—प्रवर्तते इति ॥ ४ ॥ येन हेतुना आवर्तादिना
खान्तःप्रवेश्यमानस्तरङ्गः सस्पन्दोऽप्यन्तःसमुद्रमात्रतामा-
पद्यमानः अस्फुरत्स्पन्द एवोऽहते वितर्क्यते इत्यर्थः ॥ ५ ॥
अत एव चित्तः स्पन्द एव पुरुषाद्याकारता तन्निवृत्तिरेव
निराकारतेति स्पन्दपुरुषयोः परस्परं विमर्शेन भेद इत्याह—
मनागिति ॥ ६ ॥ अधिष्ठानाद्भेदस्तु सुतरां नास्तीत्याह—
जलेति । जन्तुः पुरुषः ॥ ७ ॥ अभिज्ञे इति । तथा च श्रुतिः
‘अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्त्यमतो हि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति’,
इति ॥ ८ ॥ तथा च क्रियमाणे पुण्यपापे भाविदेहस्य
तद्भोग्यस्य च पूर्वावस्थे इत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं च यदुक्तं
‘देवकर्मादिपर्यायम्’ इति तत्सिद्धमित्याह—संविदिति ॥ १० ॥
बीजाङ्कुराणामिति प्रश्नस्योत्तरमाह—स्पन्दादिति । तद्बीज-
मेवान्तःसूक्ष्मावयवरूपं निर्गतमप्यङ्कुर इत्यर्थः ॥ ११ ॥ चित्त्वं
चित्स्वभाव ईदृशो यद्विकालक्रमसंस्थितं स्पन्दं क्वचिद्भजते

बीजं संवित्स्पन्द एव तस्य बीजं न विद्यते ॥ १४
न बीजाङ्कुरयोर्भेदो विद्यतेऽप्यधीन्ययोरिव ।
बीजमेवाङ्कुरं विद्धि विद्धि कर्मैव मानवम् ॥ १५
चित्स्फुरन्ती भूमिकोशे करोति स्थावराङ्कुरम् ।
स्थूलान्स्वहाम्मृदुकूरान्पयोबुद्बुदकानिव ॥ १६
चिता विना धराकोशादख्यस्तपरिपेलात् ।
अङ्कुरान्वज्रसारांश्च क उल्लासयितुं क्षमः ॥ १७
प्राणिवीर्यरसान्तस्था संविज्जगममाततम् ।
तनोति लतिकान्तस्थो रसः पुष्पफलं यथा ॥ १८
यदि सर्वगता संविद्भवेन्नातिबलीयसी ।
तत्क उल्लासने शक्तः स्यादेवासुरभूभृताम् ॥ १९
जङ्गमानां स्थावराणामेतदाद्यं च बीजकम् ।
संविद्धिस्फुरणामात्रमस्य बीजं न विद्यते ॥ २०
बीजाङ्कुरविकल्पानां क्रियापुरुषकर्मणाम् ।
ऊर्मिवीचितरङ्गाणां नास्ति भेदो न वस्तुनि ॥ २१
द्वित्वं च कर्मणोर्यस्य बीजाङ्कुरतया तयोः ।
विपश्चित्पशवे तस्मै महतेऽस्तु सदा नमः ॥ २२
संवित्तेर्जन्मबीजस्य योऽन्तस्थो वासनारसः ।
स करोत्यङ्कुरोल्लासं तमसङ्गाग्निना दह ॥ २३
कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यदमज्जनम् ।
शुभाशुभेषु कार्येषु तदसकं विदुर्बुधाः ॥ २४
अथवा वासनोत्साद एवासङ्ग इति स्मृतः ।
यथा कयाश्चिद्युक्त्यान्तः संपाद्य तमेव हि ॥ २५

क्वचिज्जैत्यर्थः ॥ १२ ॥ वासनावान् भूत्वा अकारणमपि कार-
णतामेति ॥ १३ ॥ अवान्तरबीजवेषेऽवस्थितः स एव सर्वत्र
बीजमवान्तरवेषास्तु तस्य कार्यवेषविशेषव्यवस्थार्थमित्याशये-
नाह—तृणेति । बीजान्तराणां गतेर्व्यवस्थितकार्यप्रवृत्तेः ।
नन्वेवं तदन्तरमप्यनुगतं बीजान्तरं स्यादित्यनवस्थामाशङ्क्याह-
तस्येति ॥ १४ ॥ यदि बीजान्तरगता शक्तिरेवाङ्कुर इति
मन्यसे तदापि न शक्तितद्गतोर्भेद इत्याशयेनाह—नेति ॥ १५ ॥
स्थावराणां वटापीनामङ्कुरम् । कूरान्कठिनान् । तथा च स्मरन्ति
‘भूजलादिस्वरूपेण बीजमाविश्य सर्वकृत् । स्वयं कालस्वरूपेण
विदध्यादङ्कुरोदयम् ॥’ इति ॥ १६ ॥ वज्रसाराणिति । दृढान्प्र-
बालावीन्मृदुतरादङ्कुरात् क उल्लासयितुं निःसारयितुम् ॥ १७ ॥
शुकशोषिताभ्यां देहनिष्पादनेऽप्ययमेव न्याय इत्याह—
प्राणीति ॥ १८ ॥ १९ ॥ संविदो विस्फुरणा स्पन्दः ॥ २० ॥ कर्म
देवम् । परस्परमपि भेदो नास्ति वस्तुन्यधिष्ठानेषु भेदो नास्ति
॥ २१ ॥ इत्थं श्रौतमभेदं यो न पश्यति तं निन्दति—द्वित्व-
मिति । द्वित्वं भेदम् । तयोर्बीजाङ्कुरयोरपि । महते पद्यने तद्रूप-
पञ्चत्वेन स्थिताव, महते ब्रह्मणे नम इत्यर्थो वा ॥ २२ ॥ वासना-
संगप्रयुक्ता अस्य बीजता वासनादाहेऽप्येतीत्याह—संविचे-
रिति ॥ २३ ॥ २४ ॥ यदि तु स्वयमेव सत्त्वसादुक्तेः एवासङ्गवेति

यथैव वेत्ति ततश्च पुत्रया पुरुषयज्ञतः ।
 वासनाङ्कुरनिर्मूलमेतदेव परं शिवम् ॥ २६
 पौरुषेण प्रयत्नेन यथा जानासि वा तथा ।
 निवारथाहंभार्वाद्यमेवोऽसौ वासनाक्षयः ॥ २७
 नास्त्येव पौरुषाद्यन्या संसारोत्तरणे गतिः ।
 निरहंभावरूपेऽस्मिन्वासनाक्षयनामनि ॥ २८
 आद्यैव संविदस्तीह सोऽङ्कुरो बीजमस्ति तत् ।
 तत्कर्म तच्च पुरुषस्तद्देवं तच्छुभाशुभम् ॥ २९
 न बीजमादावस्त्यस्यभाङ्कुरो न च वा नरः ।
 न कर्म न च देवादि कैवलं चिदुदेति हि ॥ ३०
 नो बीजमस्ति न किलाङ्कुरकोऽपि वास्ति
 नाप्यस्ति कर्म पुरुषश्च न वास्ति साधो ।

एकं तु चित्त्वमुदितं ह्यनयामिधान-
 लक्ष्म्या नटः सुरनरासुरशोभयेव ॥ ३१
 इत्येव निश्चयमनामय भावयित्वा
 त्यक्त्वा भृशं पुरुषकर्मविचारशङ्काम् ।
 निर्वासनः सकलसंकलनाधिमुक्तः
 संविद्वपुर्ननु यथामिप्रतेच्छमास्व ॥ ३२
 प्रशान्तसर्वेच्छमशङ्कमच्छ-
 चिन्मात्रसंस्थोऽखिलकार्यकारी ।
 आत्मैकरामः परिपूर्णकामो
 भवाभयो राम शमाभिरामः ॥ ३३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० प्रो० निर्वाण० उत्तरार्धे शङ्कतत्त्वसिद्धान्तप्रतिपादनं नामाष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

एकोनविंशः सर्गः २९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

नित्यमन्तर्मुखस्तिष्ठ धीतरागो विधासनः ।
 चिन्मात्रममलं शान्तं कर्म सर्वत्र भावयन् ॥ १
 आकाशविशदः प्राङ्मुखिन्मात्रैकघनस्थितिः ।
 समः सौम्यः समानन्दः स ब्रह्माऽऽहंहिताशयः ॥ २
 शोकेष्वापत्सु घोरेषु संकटेष्वथटेषु च ।
 यथाप्राप्तेषु सर्वेषु सर्वेषून्नतिमत्सु च ॥ ३
 यथाकर्म यथादेशं कुरु दुःखमदुःखितः ।
 बाष्पक्रन्दादिपर्यन्तं द्वन्द्वयुक्तसुखानि च ॥ ४
 समागमेषु कान्तानामुत्सवेषूदयेषु च ।

आनन्दं भज सौम्यात्मा वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ५
 भूतानि मृत्युकार्येषु संग्रामादिषु निर्दह ।
 दावानलस्तृणानीव वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ६
 क्रमागतेष्वस्मिन्नोऽर्थे बकवच्चिन्तयार्जय ।
 अर्थोपार्जनकार्येषु वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ७
 बलाद्विदलयाशेषानरीनरिनिषूदन ।
 वातो रिक्तानिवाम्भोदान् वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ८
 जनेषु करुणार्हेषु धैर्यं कुरु महात्मसु ।
 आत्मारामप्रना मौनी वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ९
 मुदितो भव हर्षेषु दुःखेषु भव दुःखितः ।
 करुणां कुरु दीनेषु भव धीरेषु वीर्यवान् ॥ १०

मन्यसे तर्हि तत्त्वज्ञानाभ्यासेनैव वासनां दहेत्याह—अथ-
 वेत्ति । तं वासनोत्सादमेव ॥ २५ ॥ प्रागुक्तराजयोगलक्षणया
 हृद्योगलक्षणया वा यथैव पुरुषयज्ञतस्तया चिराभ्यस्तया
 पुत्रया वासनाक्षयं सुकरं वेत्ति तथैव संपादयेत्पुण्यज्यते ।
 एतच्च ब्रह्मगात्ररूपमेव ॥ २६ ॥ सर्ववासनानां चिद्वन्धिरहंभाव
 एव मूलमस्तस्मैव निवारयेत्याह—पौरुषेणेति ॥ २७ ॥
 वासनाक्षयनामनि संसारोत्तरणे ॥ २८ ॥ अनाद्यनन्तप्रत्यगात्म-
 संमित्तत्त्वैवाङ्कुरबीजादीनां सत्ता न सत इत्याह—अद्येति
 ॥ २९ ॥ नरः पुरुषः ॥ ३० ॥ बीजादेः सतः सत्ताद्यन्यत्वे
 एकस्मिन्सत्त्वैवाङ्कुरोऽपि बीजादिवैर्जगद्भूत्वा वृक्षसीति कलित-
 मित्याह—नो बीजमिति । चित्तं चित्स्वरूपम् । अमिधान-
 प्रहृषं वायारम्भणभ्रुतिस्वारणार्थम् ॥ ३१ ॥ ननु हे अनात्मन
 राम, त्वं इति एकरूपमेव निश्चयसंदिग्धं भवयित्वा पुरुषकर्मा-
 यङ्कुरविचारशङ्कां त्यक्त्वा निर्वासनः सन् यथामिप्रतेच्छं समा-
 हितो व्यवहराम्ब्रह्म आलोच्यर्षः ॥ ३२ ॥ एतदेव स्पष्टमनुपसं-
 रति—प्रशान्तोऽस्ति ॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण-

तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शङ्कतत्त्वसिद्धान्तप्रति-
 पादनं नामाष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

भ्यवहारे यथा प्राप्तकोकचर्षाजुवर्तनम् ।

स्वरूपे तु सदा स्वैर्यं रामायानोपदिश्यते ॥ १ ॥

यथाप्राप्तं कर्म सर्वत्र चतुर्मित्रोदासीनपुरुषेषु यथायोग्यं
 आचरन्निष्पादयन् ॥ १ ॥ स ब्रह्मा ब्रह्मसमरस आहं हितो
 विस्तारित आशयो यस्य तथाविधो भव ॥ २ ॥ यथाप्राप्तेषु
 सर्वेष्वल्पेषु उन्नतिमत्सु महत्सु च शोकादिषु अन्तरदुःखितः
 सन् यथावेशं तत्तद्देशधर्ममनुसृत्य यथाकर्म बाष्पक्रन्दनादिप-
 र्यन्तं दुःखं दुःखनिवृत्तयः शीतोष्णादिद्वन्द्वयुक्तानि ब्रह्मसकन्द-
 नादिभोगसुखानि च कुर्वति द्वयोरन्वयः ॥ ३ ॥ संक्षेपोकार्य-
 येव प्रपद्यति—समागमेष्वित्यादिना । शोकावासनाभिरा-
 क्तान्ता ये मूढाः कर्मठजनास्तद्वत् ॥ ५ ॥ भूताभ्यधार्मिकाणि
 दृष्टवानि ॥ ६ ॥ भर्माविरुद्धक्रमागतेष्वर्थोपार्जनकार्येषु । अर्थ
 धनम् ॥ ७ ॥ असीन् शत्रून् ॥ ८ ॥ धैर्यमौदार्यधीरताम् ।
 मौनी अकल्पनः सन् ॥ ९ ॥ हर्षेषु हर्षस्थानेषु ॥ १० ॥

अन्तर्मुखः सदानन्दः स्वात्मारामतयान्वितः ।
 यः करोति शमोदारस्तत्र कर्तासि नानघ ॥ ११
 आत्मभावनया साधो नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ।
 यज्रधारापि ते राम पतिता याति कुण्डताम् ॥ १२
 संकल्पकलनोन्मुके स्वसंविन्मात्रकोटरे ।
 यस्तिष्ठत्यात्मनि स्वैरमात्मारामो महेश्वरः ॥ १३
 न तं भिन्दन्ति शस्त्राणि न दहन्ति हुताशनाः ।
 न क्लेदयन्ति वारीणि शोषयन्ति न मारुताः ॥ १४
 सुस्तम्भमजमालिङ्ग्य स्वात्मानमजरामरम् ।
 तिष्ठावष्टभ्य धीरात्मा सुस्तम्भमिव मन्दिरम् ॥ १५
 जगदक्षपदार्योऽघपुष्पामोदश्रियं पराम् ।
 संविदं संविदः स्वस्थामास्वान्तर्मुखमच्युतम् ॥ १६
 अन्तर्मुखतया नित्यं कार्यमाहरतां बहिः ।
 जीवतामपि नोदेति वासना दृषदासिव ॥ १७
 पुनः प्रसरणोन्मुक्तमन्तःसुप्तं मनः कुरु ।
 कुर्वन्सर्वाणि कर्माणि कूर्माङ्गवदवृत्तिमान् ॥ १८
 अन्तर्वृत्तिविहीनेन बहिर्वृत्तिमतेव च ।
 सुप्तप्रबुद्धप्रायेण कार्यमाचर चेतसा ॥ १९
 बालमूकादिविज्ञानवदन्तस्त्यक्तवासनम् ।
 भवतः कुर्वतः कार्यं खवञ्चितं न लिप्यते ॥ २०
 वृत्तित्यागविलीनेन किञ्चित्प्रसरता बहिः ।
 अन्तरत्यन्तसुप्तेन चेतसा तिष्ठ विज्वरः ॥ २१
 असंकल्पकलङ्कायां ज्ञानाच्चित्तक्षयोदये ।
 शुद्धायां संविदि स्थित्वा कुरु मा कुरु घानघ ॥ २२
 सुषुप्तसमया वृत्त्या जाग्रदवहरन्ब्रजन् ।
 गृहाण मा किञ्चिदपि मा वा किञ्चित्परित्यज ॥ २३
 जाग्रत्यपि सुषुप्तश्चेज्जागर्षि च सुषुप्तके ।

तत्र मूढवत्कर्तृताप्रयुक्तदोषप्रसक्तिं वारयति—अन्तर्मुख इति । त्वमिति शेषः ॥ ११ ॥ इन्द्रप्रयुक्तवज्रस्य धारापि । कुण्डतां मोघताम् । 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते' इति श्रुतेरिति भावः ॥ १२ ॥ स्वसंविन्मात्रकोटरे हार्दाकाशे ॥ १३ ॥ १४ ॥ चित्तं स्वस्मिन् सुषु स्तभ्रातीति सुस्तम्भं नित्यनिरतिशयानन्दं स्वात्मानम् । सुस्तम्भं दृढस्तम्भं मन्दिरमिव धीरात्माऽचल-
 स्तिष्ठ ॥ १५ ॥ जगदक्षपदस्य पदार्योऽघलक्षणपुष्पाणामा-
 मोदश्रियमिव सारभूतां परां ब्रह्मसंविदमाश्रित्य सर्वा बाह्य-
 संविदः अच्युतमन्तर्मुखं यथा स्यात्तथा कृत्वा आस ॥ १६ ॥
 कार्यं व्यवहारम् । दृषदां पाषाणानामिवेति वासनानुदये दृष्टान्तः
 ॥ १७ ॥ कूर्माङ्गवदवृत्तिमानन्तर्बहिश्च वृत्तिशून्यः ॥ १८ ॥
 तदेवाह—अन्तरिति । सुप्तप्रबुद्धोऽर्धजागरूकः ॥ १९ ॥ २० ॥
 वृत्तित्यागः सदैव निर्बिकल्पसमाधिज्ञानाभ्यासस्तेन विलीनेन
 पाधितेन । किञ्चिद्दृग्पटाकारवत्प्रतिभासमात्रेण प्रसरता ।
 अत्यन्तसुप्तेन भूतेन ॥ २१ ॥ २२ ॥ जाग्रत् सन् व्यवहरन्
 ब्रजन्पि त्वं सुषुप्तसमया वृत्त्या मा किञ्चिद्विदं गृहाण, अनिष्टं

जाग्रत्सुषुप्तयोरैक्यात्तदस्त्यसि निरामयः ॥ २४
 एवमाद्यन्तरहितमभ्यासेन शनैःशनैः ।
 पद्मासादयाद्वन्द्वमतीतं सर्ववस्तुतः ॥ २५
 न च द्वैतं न चैक्यं जगदित्येव निश्चयी ।
 परमामेहि विभ्रान्तिमाकाशविशदाशयः ॥ २६
 धीराम उवाच ।
 यद्येवं मुनिशार्दूल तदहंप्रत्ययात्मकः ।
 भवानेवेह किं तावद्वसिष्ठाख्यः स्थितो वद ॥ २७
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 राघवे गदति त्वेवं वसिष्ठो वदतां वरः ।
 तूष्णीमेव मुहुर्तार्धमतिष्ठत्स्पष्टचेष्टितः ॥ २८
 तस्मिंस्तूष्णीं स्थिते किं स्यादिति सभ्ये महाजने ।
 पतिते संशयाम्भोघौ रामः पुनरुवाच ह ॥ २९
 किमर्थं भगवंस्तूष्णीं भवानहमिव स्थितः ।
 न सोऽस्ति जगतां न्यायः सतां यो नोत्तरक्षमः ॥ ३०
 धीवसिष्ठ उवाच ।
 न मे वक्तुमशक्तत्वाद्युक्तिक्षय उपस्थितः ।
 किंतु प्रश्नस्य कोट्यास्य तूष्णीमेवानघोत्तरम् ॥ ३१
 द्विविधो भवति प्रष्टा तत्त्वज्ञोऽज्ञोऽथवापि च ।
 अज्ञस्याज्ञतया देयो ज्ञस्य तु ज्ञतयोत्तरः ॥ ३२
 पतावन्तमभूत्कालं भवानज्ञाततत्पदः ।
 भाजनं सधिकल्पानामुत्तराणां महामते ॥ ३३
 तत्त्वज्ञस्त्वधुना जातो विभ्रान्तः परमे पदे ।
 योग्यो न सधिकल्पानामुत्तराणामसि स्फुटम् ॥ ३४
 यावान्कश्चित्किलोलेखो वाक्ययो वदतां वर ।
 सूक्ष्मार्थः परमार्थो वा बहुरूपतरोऽपि वा ॥ ३५

वा त्यज ॥ ३३ ॥ जाग्रदवस्थायामपि स्थूलसूक्ष्मोपाध्यप्यया-
 त्सुषुप्तत्वं चेद्भवति तदा सुषुप्तकेऽप्यज्ञानावरणाभावाज्जागर्षि ।
 जाग्रत्सुषुप्तोर्भेदकाऽज्ञानतत्कार्ययोर्बाधेनैक्ये सति तत्परिधिष्टं
 यदस्ति सन्मात्रं तदसि ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ सर्वद्वैतापलापे तव
 वसिष्ठाहंभावादेरप्यपरिशेषात्कथं वक्तृत्वादिव्यवहार इत्याशयेन
 रामः पृच्छति—यद्येवमिति ॥ २७ ॥ नास्त्येव वसिष्ठाहंभावादि-
 र्मम श्रोतृणामज्ञानदृष्ट्यैव सोबलम्बितस्तेषां तत्त्वज्ञाने संपन्ने
 तु मौनमेवोत्तरमित्याशयेन तूष्णींभावमाह—राघवे इति ॥ २८ ॥
 मुख्याधिकारिणां केषाञ्चिज्ज्ञाने जातेऽपि सर्वेषामज्ञानानु-
 च्छेदात्संशयाम्भोघौ पतिते सति ॥ २९ ॥ गुरोर्युक्तिक्षया-
 देव निरुत्तरतां मन्यमानो राम आह—किमर्थमिति ।
 जगतां मध्ये स तादृशो न्यायः शिष्यैरुद्गाव्यस्तर्को नास्ति यः
 सतां विदुषां गुरुणाम् ॥ ३० ॥ अस्य प्रश्नस्य कोट्या परमा-
 वधित्वेन हेतुना तूष्णीमवस्थानमेवोत्तरम् ॥ ३१ ॥ कोटित्व-
 मेव दर्शयितुं भूमिकां रचयति—द्विविध इत्यादिना ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ वाक्य उलेखोऽमिलपः ॥ ३५ ॥

प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यातीतादिविभ्रमैः ।
 स च सर्वोऽन्वितः साधो भा इव ब्रह्मरेणुभिः ॥ ३६
 उत्तरं सकलङ्गं च तज्ज्ञो गार्हति सुन्दर ।
 नाकलङ्गा च वागस्ति त्वं च तज्ज्ञतरः स्थितः ॥ ३७
 यथाभूतं च वक्तव्यं ह्यस्यान्तेवासिनो मया ।
 यथाभूतं विदुः काष्ठमौनमन्तविवर्जितम् ॥ ३८
 अविचारात्ससंकल्पं मौनमाहुः परं पदम् ।
 तदेव तव तज्ज्ञस्य वक्तुः सुन्दर उत्तरः ॥ ३९
 यन्मयो हि भवत्यङ्ग पुरुषो वक्ति तादृशम् ।
 हेयमात्रमयन्नाहं वागतीते पदे स्थितः ॥ ४०
 वागतीतपदस्थो हि कथं गृह्णाति वाङ्मलम् ।
 अवाच्यं वच्मि नो तेन वाग्धि संकल्पनाङ्किता ॥ ४१

श्रीराम उवाच ।

वाचि ये ये प्रवर्तन्ते ताननादृत्य दोषकान् ।
 प्रतियोगिव्यवच्छेदिपूर्वकान्वद को भवान् ॥ ४२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं स्थिते राघव हे यथाभूतमिदं शृणु ।
 कस्त्वं कोऽहं जगद्वा किमिति तत्त्वविदां वर ॥ ४३
 अहं तावदयं तात चिदाकाशो निरामयः ।
 चेत्यसंवेद्यरहितः सर्वसंकल्पनातिगः ॥ ४४

प्रतियोगी निरूपको व्यवच्छेदो व्यावृत्तिः । संख्या गणना ।
 अतीतस्तत्सर्वमतिक्रान्तः परमार्थः । आदिपदात्तसाधनं तदि-
 तरबाधकं तद्बोधस्तदुपाया बोध्यबोधकप्रमाणादयो गृह्यन्ते ।
 तेषां विभ्रमैः कल्पनाकलङ्कैरन्वितः । भाः जालान्तरातपः
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ अन्तेवासिनः शिष्यस्य । अन्तविवर्जितं सर्व-
 परिच्छेदकलङ्कशून्यम् ॥ ३८ ॥ अविचारात्तत्त्वज्ञानोदयात्प्राग-
 ज्ञानादुपदेशवाकप्रवृत्तियोग्यताकल्पनया संसंकल्पं वाग्व्यवहार-
 संकल्पविषयमाहुः । विचारेण परिज्ञातं तु मौनं वागगोचर-
 मेवाहुः 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि-
 श्रुतयो विद्वांसश्च । तन्मौनमेव ॥ ३९ ॥ पुरुषो वक्ता । हेयं
 तत्त्वसाक्षात्कारगम्यं निर्विकल्पवस्तु तन्मात्रमयः । स्वार्थं मयद
 ॥ ४० ॥ हि यस्मात्सर्वा वाक् प्रतियोगिव्यवच्छेदादिसंकल्प-
 नाङ्किता ॥ ४१ ॥ अनादृत्य तात्पर्याविषयीकृत्य भागत्याग-
 लक्षणोपायेन वद । व्यवच्छेदी व्यावृत्तः । प्रतियोगी तन्निरूपकः
 ॥ ४२ ॥ यथाभूतं यथास्थितम् ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ खान्यत्
 प्रत्यगात्मव्यतिरिक्तमणुमात्रमपि वक्तुं न वेद्मि न विवक्षामि ।
 तथा च यत्परः शब्दः स एव शब्दार्थ इति न्यायमाश्रित्वा-
 खण्डं निर्विकल्पं वाक्यार्थं प्रतिपद्यन्वेति भावः ॥ ४६ ॥ कथं
 तर्ह्यज्ञबोधनाय प्रतिवादिविजयाय च विदुषां निरहंकाराणा-
 मुद्योगसिद्धिस्तत्राह—स्वपक्षेति । शिष्याणां मोक्षार्थं तेषां
 संदेहवारणाय प्रतिवादिविजयार्थमपि उद्यमिनो विद्वांसः
 श्रुतियुक्त्यादिप्रमाणैः स्वपक्षोद्गाहनपराः सन्तो वाधितस्या-

खच्छं चिदाकाशमहं भवानाकाशमेव च ।
 जगत्काशमखिलं सर्वमाकाशमात्रकम् ॥ ४५
 शुद्धज्ञानैकरूपात्मा शुद्धज्ञानमयात्मनि ।
 अन्यसंविद्दृशोन्मुक्तः खान्यद्वक्तुं न वेद्यहम् ॥ ४६
 स्वपक्षोद्गाहनपरा अहंतात्मैकवर्धनम् ।
 मोक्षार्थमप्युद्यमिनो नयन्ति शतशाखताम् ॥ ४७
 जीवतोऽप्युपशान्तस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
 शववद्यदवस्थानं तदाहुः परमं पदम् ॥ ४८
 अबहिःसाधनं शान्तमनन्तःसाधनं समम् ।
 न सुखं नासुखं नाहं नान्यदित्यादि तं शिवम् ॥ ४९
 मुक्तताया अहंतेयमभाषो भाषनं क्व च ।
 तयैवान्विष्यते सेति जात्यन्धश्चित्रमीक्षते ॥ ५०
 स्पन्दनेऽस्पन्दने चैव यत्पाषाणवदासितम् ।
 अजडस्यैव तद्विद्धि निर्वाणमजरं पदम् ॥ ५१
 तच्च नान्यो विजानाति स्वयमेवानुभूयते ।
 लोकैषणाविरक्तेन ज्ञेन ज्ञत्वमिवात्मनि ॥ ५२
 तत्राहंता न च त्वत्ता नानहंता न चान्यता ।
 केवलं केवलीभावो निर्वाणममलं शिवम् ॥ ५३
 चेत्योन्मुखत्वमेवाहुश्चेतनस्यास्य चेतनम् ।
 एष एव च संसारो बन्धः क्लेशाय भूयसे ॥ ५४

प्याहार्यारोपेणाहंतात्मन एकस्यैव वर्धनं कुर्वाणाः शतशाखतां
 नयन्ति, न त्वज्ञवद्व्यामुद्यन्तीत्यर्थः ॥ ४७ ॥ नैतावतैषां पाण्डि-
 त्यप्रकटनव्यवहार एव परमं पदमिति वेदितव्यं क्लिप्तन्य-
 देवेत्याह—जीवत इति ॥ ४८ ॥ परमपदमेव विशिनष्टि—
 अबहिःसाधनमिति । अन्तर्बहिःसाधनशून्यत्वादेव नाहंकर्तृ-
 भोक्तृत्वशून्यमत एव भोग्ये सुखदुःखरहितं स्वप्रकाशनिरति-
 शयानन्दभूमात्मकत्वाच्छिवम् ॥ ४९ ॥ ननु किमर्थं तत्त्वप्रका-
 शमुच्यते । विषयसुखवद्भोग्यमेव तत्किं न स्यात्तत्राह—मुक्त-
 ताया इति । इयमहंतेव मुक्तताया मुक्तेरभावः प्रागभाव-
 स्थानीया । तादृशेनाहंभावेन मुक्तेर्भावमनुभवः क्व । न ह्य-
 भावेन प्रतियोगी अनुभवितुं शक्यः । तर्ह्यस्तु मुक्ततयैव मुक्ति-
 भावनं तत्राप्याह—तयैवेति । पक्षद्वयेऽपि जात्यन्धश्चित्र-
 दर्शनन्यायः स्यादित्यर्थः ॥ ५० ॥ तर्ह्यहंकारप्राणादिस्पन्दने
 अस्पन्दने च वृक्षमृगादिस्पन्दनास्पन्दनयोर्गिरिशिलावदचल-
 तया स्थितत्वात्तद्वज्जडमेव किं न स्यात्तत्राह—स्पन्दने इति ।
 आसितमवस्थानम् । भावे क्तः । यतस्तन्निर्वाणमजरमपक्षयादि-
 विक्रियाशून्यम् । तथा च गिरिशिलायामप्यपक्षयेण चलनम-
 स्थैवेति नात्यन्तिकमचलत्वमिति चलेष्वेव जाड्यं न कूटस्थे इति
 भावः ॥ ५१ ॥ अतः स्वप्रकाशत्वमेव परिशेषात्सिद्धमित्याह—
 तच्छेति । लौकिकात्मनि प्रसिद्धं ज्ञत्वं घटादिस्फूर्तिफलमिव न हि
 तज्ज्ञानान्तरवेद्यमनवस्थापातादिति भावः ॥ ५२ ॥ तत् तत्र
 ॥ ५३ ॥ तस्य परप्रकाशतैव संसार इत्याह—चेत्योन्मुखत्व-

१ अतीतादिविभ्रमैः इति मुद्रितपाठटीकाकर्षसंमतः ।

चेतनस्याचेतनत्वमचेत्योन्मुखतात्मकम् ।
 मोक्षं विद्धि परं शान्तं पदमव्ययमेव च ॥ ५५ ॥
 दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने शान्ते शान्तात्मनि स्थिते ।
 चेत्यं न सर्वमवस्थेयं कः किं चेतयते कथम् ॥ ५६ ॥
 संकल्पः स्वप्नदृश्येऽन्तः संविन्मात्रात्मतां विना ।
 यथान्यवद्भवेद्गूपास्तथैवास्मिन्बहिर्गते ॥ ५७ ॥
 मनोबुद्ध्यादयश्चैते संविन्मात्रानुरूपिणः ।
 मनोबुद्ध्यादिशब्दार्थभावितास्तु जडात्मकाः ॥ ५८ ॥
 संविन्मात्रे समे स्वच्छे सबाह्याभ्यन्तरे तते ।
 अभिज्ञे मेवबुद्धिर्धा किमनर्थाय जृम्भते ॥ ५९ ॥
 संविन्मात्रस्य शुद्धस्य शून्यस्य च किमन्तरम् ।
 यच्चान्तरं तद्विबुधा विदन्त्येति न वाग्गतिम् ॥ ६० ॥
 सदसद्रूप आभासो यथा किमपि लक्ष्यते ।
 तमसीक्षितयत्नेन ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥ ६१ ॥
 अयमाकाशमेवाहं यदि शाम्याम्यवासनम् ।
 वासनां तु न बध्नासि स्थित एवासि चिन्मभः ॥ ६२ ॥
 इति निश्चयवानन्तस्तज्जोऽह इव संज्ञया ।
 चिद्वपुर्विद्यमानोऽपि शाम्यत्यसदिव स्वयम् ॥ ६३ ॥

मिति । चेतनं चेत्यव्याप्तिलक्षणां क्रियाम् ॥५४॥ इदंशचेतना-
 भावेनाचेतनत्वं तु मोक्षे इष्टमेवेत्याह—चेतनस्येति ॥ ५५ ॥
 ननु मोक्षेऽपि चेत्यमस्तु तत्राह—दिगिति ॥ ५६ ॥ एव-
 मन्तर्मुखतामात्रेण स्वतःसिद्धां मुक्तिमुपपाद्य बहिर्मुखतामात्रेण
 जगद्विकल्पप्रसरं दर्शयति—संकल्प इति । हे भूपाः इति श्रोतृ-
 संबोधनम् । यथा स्वप्नदृश्ये जगति संविदन्तर्गतस्तत्तद्वासना-
 नुसारिसंकल्पः संविन्मयोऽपि संविदात्मतां विहायान्यवद्भवेत्-
 थैवास्मिन्मात्मनि बहिर्गते बहिर्मुखे सति स्वात्मैवान्यवद्भवेत्प्र-
 खात्मा भवेदित्यर्थः ॥५७॥ एवं मनोबुद्ध्यादयोऽपि बहिर्मुखता-
 यामेव जडात्मका अन्तर्मुखतायां तु संविन्मात्रानुसारिणश्चिदे-
 करसाः ॥ ५८ ॥ एवमन्तर्बहिश्च सर्वस्य चिदेकरसत्वे चित्तो
 बहिर्मुखतालक्षणा मेदबुद्धिरैकैव ध्यर्थोऽनर्थहेतुरित्याह—
 संविन्मात्र इति ॥ ५९ ॥ सर्वदृश्यापगमेऽवशिष्टं संविन्मात्रं
 शून्यकल्पमपुरुषार्थ इति तु न मन्तव्यम् । तस्य निरतिशयान-
 नन्दरूपताया विद्वद्भिरनुभूयमानत्वादित्याह—संविन्मात्र-
 स्येति । वाग्गतिं वागोचरतां नैति । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्या-
 दिभ्युत्तेरिति भावः ॥६०॥ विवेकियौक्तिकदृष्ट्या तर्हि कथं जगत्स-
 दाह—सदसद्रूप इति । ईक्षितस्य चक्षुःप्रणिधानस्य ब्रह्मण
 तमसि यथा सदसद्रूप आभासो लक्ष्यते तद्वत् ॥ ६१ ॥
 त्वमपि वासनां यदि न बध्नासीति संबन्धः ॥६२॥ अन्योऽपि
 पुरुषः अयमाकाश एवाहमिति निश्चयवांस्तज्ज एव । स संज्ञया
 व्यवहारेणाह इव विद्यमानोऽपि चिद्वपुरेव सन् सत्यपि देहा-
 दावसदिव शाम्यति । 'तयो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद-
 भवसत्पर्वणम् तथा मनुष्याणाम्' इति श्रुतेरित्यर्थः ॥६३॥ ननु
 जीवानामविद्या किं चिदात्मना शाम्यति उत जडेन । नाथः ।

जीवानां इतिगुप्तेन उच्यतेज्ञानवायुना ।
 अविद्याभिः प्रबुद्धानां पुनस्तैवैव शाम्यति ॥ ६४ ॥
 अजडानां यदज्ञानं स्यात्पूनामिव शाम्यताम् ।
 तमाहुर्मोक्षमस्तुधमासितं पदमव्ययम् ॥ ६५ ॥
 ज्ञत्वेन ज्ञत्वमासाद्य मुनिर्भवति मानवः ।
 अज्ञत्वाद्ज्ञतामेव प्रयाति पशुवृक्षताम् ॥ ६६ ॥
 अहं ब्रह्म जगच्चेदमित्यविद्यामयो भ्रमः ।
 असत्यः प्रेक्षया चान्तं दीपेनेव न लभ्यते ॥ ६७ ॥
 समप्रकरणप्रामोऽप्यसंकल्पो विवेदनः ।
 न किञ्चिदप्यनुभवत्यन्तर्बाह्ये च शान्तधीः ॥ ६८ ॥
 सुषुप्तत्व इव स्वप्नः समाधौ प्रविष्टीयते ।
 दृश्यं सर्वं ज्ञबोधेऽन्तः पुनः स्वात्मैव लक्ष्यते ॥ ६९ ॥
 नीलत्वं च यथा व्योम्नि तथा पृथ्व्यादिता शिवे ।
 भ्रान्तिमात्रादृते नान्यद्यथा व्योम तथा शिवः ॥ ७० ॥
 वासनाभिरुपेतोऽपि समस्ताभिरवासनः ।
 भवत्यसावसत्सर्वमिदमित्येव यस्य धीः ॥ ७१ ॥
 संकल्पेष्वद्भुतं भव्यं स्वप्नमायेन्द्रजालकम् ।
 यद्भत्संस्तृतयस्तद्बहुष्टेऽप्यास्था किमत्र वै ॥ ७२ ॥

चिदात्मनः प्रत्युत तत्साधकत्वेनाविरोधित्वात् । न द्वितीयः ।
 जडमात्रस्याविद्याकार्यत्वेन तदविरोधित्वादित्याशङ्क्याह—जी-
 वानामिति । अहमज्ञ इति साक्षिज्ञतेरज्ञानसाधकत्वाजीवानां
 संसारलक्षणेऽविद्याभिस्तदीयज्ञप्तिरक्षितेनाज्ञानवायुना उच्यते
 पुनरहं ब्रह्मास्मीति प्रबुद्धानां तेषां चरमसाक्षात्कारवृत्त्या-
 त्मना परिणतेनान्तर्गतसाक्षिगुप्तेनाज्ञानवायुनैव शाम्यति, न
 तृतीयमपेक्षत इत्यर्थः ॥ ६४ ॥ ननु मुक्तैर्जगज्जायते न वा ।
 आद्ये संसाराविशेषः । द्वितीये आरमाज्ञानमेकं परिहरता त्वया
 जगदज्ञानान्यनन्तानि स्वीकृतानि स्युः । स्याणुत्पत्त्यानां च कथं
 तेषां मुक्ता तत्राह—अजडानामिति । अनादृतस्वप्नप्रकाश-
 निरतिशयानन्दात्मरूपत्वाद्जडानां तेषामज्ञानं सांसारिकज्ञान-
 शून्यमत एवास्तुत्वं दुःस्वप्नोभरहितं यदासितमवस्थानं तं मोक्ष-
 नामानमाहुः । न चानन्ताज्ञानप्रसक्तिरेकविज्ञानेनैव सर्वविज्ञाना-
 त्सर्वाज्ञानाज्ञात्, भ्रान्तिज्ञानाभावस्यात्मरूपतया तत्त्वज्ञान-
 वैलक्षण्यभावाच्चेति भावः ॥६५॥ किञ्च सति मूलाज्ञाने तद्दलेनैव
 वाशार्थज्ञानाभावानां मोक्षार्थापादकता, तत्रास्ते तु मुनित्वसंपाद-
 कतेत्याशयेनाह—ज्ञत्वेनेति ॥६६॥ किञ्च ब्रह्मज्ञानं जगद्भ्रमश्च
 सर्वोऽप्यज्ञानमेव, न चज्ञाननिवृत्तिरज्ञानं येन मुक्तिर्न स्यादित्या-
 शयेनाह—अज्ञमिति ॥ ६७ ॥ तर्हि जीवन्मुक्तानां चक्षुरादि-
 करणैर्बाह्यज्ञानदर्शनान्मुक्ता न स्यात्तत्राह—स्वप्नेनेति ॥६८॥
 समाधौ ज्ञस्य बोधे सङ्गताते पुनर्यत्सर्वं दृश्यं दृश्यते तत्स्वात्मैव
 लक्ष्यते न अनात्मा नाम तेषामनुमात्रमप्यवस्थीत्यर्थः ॥ ६९ ॥
 कुतो विलीयत इति चेन्नान्तिमात्रत्वादित्याह—जीवन्मुक्तमिति
 ॥७०॥ अत एव वाचितार्थवासना वासनेव न भवतीत्यवासन
 एव ह इत्याह—वासनाभिरिति ॥७१॥ ननु विविच्युत्पन्नै-

न दुःखमस्ति न सुखं न पुण्यं न च पातकम् ।
 न किञ्चित्कस्यचिन्नष्टं कर्तुर्भोक्तरसंभवात् ॥ ७३
 सर्वं शून्यं निरालम्बं ममताप्रत्ययोऽप्ययम् ।
 द्विबन्धस्वप्नपुरवद्यस्यासौ सोऽपि नास्ति नः ॥ ७४
 केवलो व्यवहारस्थः काष्ठमौनगतोऽथ वा ।
 काष्ठपाषाणवसिष्ठब्रह्मतामधिगच्छति ॥ ७५
 शान्तत्वे चित्तत्वे नानानानात्मनीह शिवे ।
 अद्ययविनोऽद्ययवित्त्वे त्विह युक्तिर्विद्यते नान्या ॥ ७६
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भावनाप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

अर्थागतस्वभावस्य च नैव च संभवादमले ।
 एतस्मिन्सर्वगतं ब्रह्मणि नास्ति स्वभावोक्तिः ॥ ७७
 न च नास्तिकोपलम्भात्संविसेरस्तिता च नैवाजे ।
 ग्राह्यप्राहकदृष्टेरसंभवादस्ति किञ्चिदपि ॥ ७८
 शमममलमहार्थमार्यजुष्टं
 शिवमजमक्षयमासितं समं यत् ।
 तद्वितथपदं तदास्व शान्तं
 पिब लल भुङ्क्ष्व भवानयं हि नास्ति ॥ ७९
 पिब लल भुङ्क्ष्व भवानयं हि नास्ति ॥ ७९
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भावनाप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

देववरतिर्यगादिभिर्विहितनिषिद्धानेककर्मभिस्तत्फलभोगनियति-
 भिश्चेष्टरेणाधिष्ठितमद्भुतमिदं जगत्कथमसद्वृत्तं संकल्पमात्र-
 मित्याद्युक्तिभिस्त्वया अपलप्यते । न हि संकल्पमनोरथादिश्वेवं-
 विधार्थाः सन्तीत्याशङ्क्य तत्राप्यद्भुतार्थसत्तां दर्शयति—संक-
 ल्पेष्विविति । हे भव्य, यथा सांक्लिककार्येषु स्वप्रमायेन्द्रजा-
 लकं यद्ददद्भुतं तद्वत्संसृत्तयोऽपि । प्रत्यक्षदृष्टेऽपि स्वप्रायश्च-
 किनास्था युक्ता तद्वत्संसृत्तिष्वपीत्यर्थः ॥ ७२ ॥ सतोर्हि कर्तु-
 र्भोक्तरस्तु सर्वसुखदुःखभोगाय पुण्यपापनियतिसिस्तयोरेवासंभवे
 का तद्यवस्थानियतिरित्याह—नेति ॥ ७३ ॥ अयं ममताप्र-
 त्ययो यस्याहंकारस्य सोऽपि नास्ति ॥ ७४ ॥ केवलः सर्वद्वै-
 तशून्यस्त्वविव्यवहारस्थो वाऽस्तु अथवा काष्ठपाषाणवदचलः
 समाधौ तिष्ठन्काष्ठमौनगतोऽस्तु सर्वथापि ब्रह्मतामधिगच्छ-
 त्येव ॥ ७५ ॥ इत्थं मायिकविवर्तवादसिद्धान्तमाश्रित्याध्यारो-
 पितस्य जगतोऽपवादेन तत्त्वविदः परमपुरुषार्थं प्रतिष्ठां दर्शिता ।
 ये त्वन्ये तार्किका अन्यथान्यथा सिद्धान्तान्कल्पयन्ति तेषां
 जगदुत्पत्त्यादिव्यवहारे परमपुरुषार्थलक्षणे परमार्थं च युक्ति-
 र्नास्तीत्याह—शान्तत्वे इत्यादिना । इहास्मिन्शिवे प्रत्य-
 गात्मनि प्राणबुद्धिमनोदेहादितादात्म्येन नानात्मनि भिन्नस्व-
 भावे सांसारिकानर्थशतसंकुले प्रत्यक्षं भासमाने तन्निराकरणेन
 शान्तत्वे निर्दुःखनिरतिशयानन्दद्वयरूपपरिशेषणे वादिना-
 मन्यादर्शिताऽध्यारोपापवादन्यायातिरिक्ता युक्तिर्न विद्यते ।
 नित्यशान्तस्वभावे शिवेऽभ्युपगम्यमाने तु तस्य निर्विकारकूट-
 स्थस्य चलनपरिच्छिन्नस्वभावचित्तरूपत्वे देहेन्द्रियादिनानाना-
 नामावेन संसरणे च युक्तिरुपपत्तिर्न विद्यते । यदि तु तस्मिन्मध्ये
 तस्य परिच्छिन्नता परिणामिता सावयवता चाभ्युपगम्येत तर्ह्य-
 वयविनस्तस्य चेतनैर्जडैर्वा अवयवैरवयवित्त्वे युक्तिर्न विद्यते ।
 अवयवानां चेतनत्वे ऐकमत्यासंभवेनावयवार्थभाविनि विच्छेदे
 अवयविनाशप्रसङ्गात्, अचेतनत्वे त्ववयविनोऽप्यचेतनत्वापत्ते-
 रुभयत्राप्यनित्यस्यारब्धस्य प्राक्जनपुण्यपापासंभवेन भोगासिद्धे-
 रित्यादियुक्तिसहस्येभ्यः । एवं जगत्कारणेऽपि शिवे शान्तत्वे
 निर्विकारकूटस्थत्वेऽभ्युपगते जगत्सत्त्वगुणकूलसंकल्पात्मकचित्तात्वे
 तत्प्रवर्तके नानानानात्मनि प्रपञ्चरूपे तदन्तर्गतपृथिव्याद्य-
 वयविनोऽवयवित्त्वे नान्या युक्तिर्न विद्यते इति विवर्तदृष्टिरेव
 शरणमिच्छार्थः ॥ ७६ ॥ नन्वात्मनः शान्तत्वेऽपि प्रलयान्ते

लीनानां सर्वपदार्थानां ब्रह्मणि प्रलयकाले सत्त्वात्प्रयुक्तस्वभाव-
 वैचित्र्यबलादेव चित्तत्वनानात्वाऽनानात्वसावयवत्वादिवैचित्र्य-
 युक्ताः सर्गादावाविर्भविष्यन्ति तत्राह—अर्थागतेति । अर्थ-
 वैचित्र्यहेतुः स्वभावः शिवे परमात्मवस्तुन्यर्थेभ्य आगत उत
 स्वतःसिद्धः । तत्रार्थेभ्य आगतस्वभाव इति व्याहृतम् । स्वो
 हि भावः स्वभावः । आगन्तुकोऽन्याधीनश्च कश्च स्वभावः
 स्यात् । तथा असङ्गत्वादद्वयत्वात्त्वामले परप्रयुक्तस्वभाववैचित्र्य-
 मलसंबन्धश्च नैव संभवति । न चार्थात्वे प्रलये स्वातन्त्र्येण
 सन्ति येन स्वस्वभावबलादेव विभिन्ना आविर्भवेयुरिति द्योत-
 नार्थः प्रथमश्चकारः । अतः परिशेषादनागन्तुको ब्रह्मण एव स्वस्व-
 भावो वाच्यः । एतस्मिन्सर्वगते ब्रह्मणि वैचित्र्यहेतुस्वभाव-
 स्योक्तिसंभव एव नास्ति । सर्ववस्तूनां सर्ववैचित्र्यप्रसङ्गात् ।
 न हि सर्वगते ब्रह्मणि अत्रैवायमेव स्वभाव इति प्रलये व्यवस्था-
 पकमस्ति । सर्वत्र सर्ववैचित्र्याभ्युपगमे च वैचित्र्यमेव लुप्येत ।
 न हि सर्वसाधारणो धर्मो वैचित्र्यं भवति, नापि किञ्चिद्देहकं
 सिध्यतीति सर्वजगदैकरस्यप्रसङ्गादिति भावः ॥ ७७ ॥ नन्वेवं
 सार्वजनीनस्यापि जगद्वैचित्र्यस्य युक्त्यसहत्वादपलपे तत्संवि-
 त्तरप्यपलापः किं न स्यात् । न हि संवेद्यमन्तरेण संवित्प्रसिद्धेति
 शून्यत्वात्ः प्रसक्त इति चेत्तत्राह—न च्चेति । संवेद्यापलापे संवि-
 त्तरप्यस्तित्वा नास्तीति न च वक्तुं शक्यम् । संविदपलापिनो नास्ति-
 कात्मन एवोपलम्भादपलापितुमशक्यत्वात् । स हि स्वातिरिक्ते एव
 संवित्संवेद्ये अपलपेन्न तु स्वात्मानम् । यदा सर्वापि संवित्तादा-
 त्मेव तदा तत्र संवेद्यमपलापन् संविदं परिशेषयत्येव । किंच
 निराधारनिषेधयोगाद्ग्राह्यप्राहकयोरप्राह्यप्राहकात्मनि स्वयंप्र-
 काशे आधारे प्रतिषेधो वाच्यः । स एव तस्यात्मेति तेनाऽजे
 स्वात्मन्येव ग्राह्यप्राहकदृष्टोरसंभवप्रतिपादनपर्यवसानात्सर्वप्र-
 तिषेधावधिभूतं किञ्चिदजं तस्याप्यस्तीति सिद्धं तदेव ब्रह्मेत्यर्थः
 ॥ ७८ ॥ हे राम, त्वमार्यैर्ब्रह्मविद्भिर्जुष्टं सेवितमहार्थं परैर्दुर्तुम-
 शक्यं यच्छिवमवितथं परमार्थसत्यं पदमासितं नित्यसिद्धं
 तदेव भूत्वा परमार्थत आस्व । व्यवहारे चेतरोक्त्वपिब
 मुञ्च लल क्रीडस्व तथापि भवान्मुक्त एव । हि यस्मादयं
 दृश्यबन्धस्तव नास्तीत्यर्थः ॥ ७९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-
 मायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भावनाप्रतिपादनं नामै-
 कोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः ३०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अहंतैव पराऽविद्या निर्वाणपदरोधिनी ।
 तयैवान्विध्यते मूढैस्तदित्युन्मत्सत्वेष्टितम् ॥ १
 अहंतैवालमज्ञानादज्ञत्वस्य निदर्शनम् ।
 न हि तज्ज्ञस्य शान्तस्य ममाहमिति विद्यते ॥ २
 अहंतामलमुत्सृज्य निर्वाणः खमिधामलः ।
 सदेहमपदेहं वा हस्तिष्ठति गतज्वरः ॥ ३
 न तथा शरदाकाशं न तथा स्तिमितोऽर्णवः ।
 पूर्णेन्दुमध्यं न तथा यथा हः परिराजते ॥ ४
 चित्रसंगरयुद्धस्य सैन्यस्याधुब्धता यथा ।
 तथैव समता ह्यस्य व्यवहारवतोपि च ॥ ५
 निर्वाणैकतया ह्यस्य वासनैव न वासना ।
 लेखादामोपमा त्वग्भेरुर्म्यादि न जलेतरत् ॥ ६
 तरत्तरङ्गो जलधिर्जलमेव यथाखिलम् ।
 दृश्योच्छूनमपि ब्रह्म तथा ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ७
 अन्तरस्तंगतोऽधुब्धो बहिरस्तंगतः शमी ।
 विद्यते बोदितो यस्य स मुक्त इति कथ्यते ॥ ८
 अहंत्वसर्गरूपेण संवित्संविन्मये परे ।

यथाहंताद्यविद्योत्थनानात्वभ्रान्तिशान्तिः ।

स्वाद्ब्रह्मणि स्थिरो धीरः सा इष्टिरिह साध्यते ॥ १ ॥

यावदहंता न परित्यक्ता तावद्ब्रह्मविचारोऽपि नावतरति, दूरे तन्नाम इत्याशयेनाह—अहंतैवेति । परा सर्वासां कार्या-
 विद्यानां मूलस्तन्मभूता निर्वाणपदस्य रोधिनी आवरणी । तत्
 निर्वाणपदम् ॥ १ ॥ अज्ञानादुत्पन्ना अहंतैवाज्ञत्वस्य निद-
 र्शनं लिङ्गं यथा धूमोऽग्नेः । तस्य व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति—न
 हीति ॥ २ ॥ अलं निःशेषं अहंतालक्षणं मलमिति वा ॥ ३ ॥
 अहंतापगमादेव ह्यस्य नैर्मल्यं निर्विकल्पं पूर्णतां च वर्णयति—
 न तथेति ॥ ४ ॥ यथा चित्रलिखिते संगरे युद्धस्य । युधेः
 'गल्यर्थार्कर्मक-' इति कर्तरि कः । परस्परं संप्रहरतोऽपि
 सैन्यस्य अधुब्धताप्रतिभासेऽपि न अधुब्धता ॥ ५ ॥ एवं व्यवहार-
 कार्यलिङ्गेनानुमीयमाना वासनापि बाधेनान्तर्निर्वाणैकतया दग्ध-
 पटतन्पुरेखादामोपमत्वात् वासना ॥ ६ ॥ ऊर्म्यापीति
 दृष्टान्तं विशदयति—तरत्तरङ्ग इति ॥ ७ ॥ तस्यान्तर्बोध्यस-
 र्ववासनाबाधे किंलक्षणमिति चेदक्षोभशमादिकमेवेत्याशये-
 नाह—अन्तरिति । उदितः सदैव प्रसन्नः ॥ ८ ॥ संविन्मये
 परे अज्ञातात्मनि । स्फुरति विवर्तते ॥ ९ ॥ अत्रखण्डरूपेण
 व्योम्नि स्फुरतो नीहारधूमस्य गजरयादिरूपा व्यूहा आकाररच-
 नाभेदाः ॥ १० ॥ इदानीं भगवान्वसिष्ठः सर्वान्भोतून्संघो-
 ष्याह—संविदिति । हे श्रवणार्थमागता ज्ञा अभिज्ञानाः, यूयं
 विषादं मा कुरुत किंतु मनुष्यरीत्या सर्वापि विषादहेतुः प्रपन्नः
 संविदो भ्रान्तिर्विषयमात्रमिति विचारेण भ्रान्तितद्विषयत्वं-

स्फुरत्यम्भोम्भसीवातो नानातेयं किमात्मिका ॥ ९
 धूमस्य स्फुरतो व्योम्नि यथा गजरथादयः ।
 व्यूहा धूमान्न ते भिन्नास्तथा सर्गाः परे पदे ॥ १०
 संविद्भ्रान्तिविचारेण भ्रान्त्यलाभविलासिनः ।
 विजयध्वं विषादं माऽऽगता ज्ञास्तज्ज्ञता हि वः ॥ ११
 अङ्कुरोऽनुभवत्यन्तर्वृक्षपत्रफलं यथा ।
 तथा जगदहंत्वे हः स्वात्मा स्वात्मखमप्यलम् ॥ १२
 रूपालोकमनःसत्ता ज्वालार्चिष्विव दण्डता ।
 सत्योपि च न सन्त्येता भ्रान्तेश्चित्ताबला इव ॥ १३
 यथा सुखं यथारम्भं यथा नाशं यथोदयम् ।
 यथा देशं यथा कालमजराः शान्तमास्यताम् ॥ १४
 इष्टानिष्टोपलम्भेषु शान्तो व्यवहरन्नपि ।
 शववभ्रान्त्यतामन्तर्निर्वाणोऽनुभवत्यलम् ॥ १५
 अमनोवासनाहंता धत्ते यच्च जगच्चिरम् ।
 जीवतोऽजीवतश्चैव चिज्जीवः स परं पदम् ॥ १६
 सत्तैव जडवाहेन दुःखभाराय केवलम् ।
 नृणां पाशावबद्धानां पोतकानामिचार्षवे ॥ १७
 मोक्षसत्ता भ्रयति तं नाज्ञानानुभवादिव ।

परीक्षणे भ्रान्तीनां निःस्वरूपतापत्या अलाभेन विलासिनो
 विलसनशीलाः सन्तो विजयध्वं सर्वोत्कर्षेण वर्तन्तम् । हि
 यतो मनुष्यदेशेन वः तज्ज्ञतैवास्ति न त्वज्ञतेत्यर्थः ॥ ११ ॥
 कीदृशी सा संविद्भ्रान्तिरहेनानुभूयते तदाह—अङ्कुर इति ।
 अङ्कुरः स्वात्मा बस्तुतः स्वात्मानं खमाकाशकल्पमपि जगदहंत्वे
 अनुभवति । प्रगृह्यसंधिरार्थः । यथा अङ्कुरः स्वात्मनि वासनात्मकं
 वृक्षपत्रफलादिभावं तद्वदित्यर्थः ॥ १२ ॥ कीदृशस्तत्र विचा-
 रस्तमाह—रूपेति । बहिः रूपालोकसत्ता अन्तर्भनःसत्ताश्चाधि-
 ष्ठानात्मना सत्योऽपि स्वरूपेण न सन्ति । यथा भ्राष्यमाणोल्मु-
 कज्वालार्चिःषु दण्डवक्रतादय इत्यर्थः । चित्ताबलाः विधुरचि-
 त्तकल्पितकामिन्य इव ॥ १३ ॥ अतो हे श्रोतारः, सर्वं जगत्
 यथा उदेति, स्थितं च यथा स्वकार्यमारभते, यथा च सुखदुः-
 खेऽनुभावयति, यथा च नश्यति, यथा च तदीयौ देशकालौ तथा
 तथा उत्पत्तिस्थित्युपशमप्रकरणोक्तयुक्तिभिर्विमृश्य मिथ्येति
 निश्चित्य शान्तमास्यताम् ॥ १४ ॥ शववभिर्वाणः शान्तचित्तः ।
 अतो नानुभवति ॥ १५ ॥ जीवन्मुक्तानां मनोवासनार-
 हितंवाहंता चिरं यावद्देहपातं यज्जगद्गते यच्च तद्भोक्ता जीवत्स्वाव-
 त्कालं जीवति तदुभयं चिज्जीव एव न जडांशोऽणुमात्रमपि
 तत्रास्तीति परमं पदमेव तदित्यर्थः ॥ १६ ॥ एवं च निष्कर्षे
 जीवजगतोर्जडप्रवाहात्मना सत्तैवानर्थ इति फलितमित्याशये-
 नाह—सत्तैवेति । पोतकपक्षे डलयोरभेदाज्जलरूपेण वाहे-
 नाघारेणार्णवे सत्तैव दुःखसदृशपण्यभारवहनायेति योज्यम्
 ॥ १७ ॥ अत एव तमज्ञमज्ञानजात्यानुभवापराधादिव निवृत्त-

मृतेन यत्किल प्राप्यं जीवंप्राप्नोति तत्कथम् ॥ १८
 यद्यत्संकल्प्यते तत्तत्संकल्पादेव नाशभाक् ।
 न संभवति यत्रैतत्सत्यं पदमक्षयम् ॥ १९
 नान्यो न बाह्यमस्तीति भावनाभिर्भयो भव ।
 सत्यं युक्तं भवत्येतद्विषमप्यमृतं यथा ॥ २०
 जडं देहादि चिन्तान्तं विचार्य सकलं वपुः ।
 लभ्यते नाहमस्तीति तस्मान्नास्तीति सत्यता ॥ २१
 शान्ताशेषविशेषाणामहंतान्ताविचारणात् ।
 केवलं मुक्ततोदेति न तु किञ्चिद्विनश्यति ॥ २२
 भोगत्यागविचारात्मपौरुषाक्षान्यदत्र हि ।

उपयुज्यत इत्यज्ञाः स्वात्मैवाशु प्रणम्यताम् ॥ २३
 निर्वासनं मननमेवमुदाहरन्ति
 मोक्षं विना भवति तत्र च जातु बोधात् ।
 सन्नो जगद्भ्रम इतीह परः प्रबोधो
 न प्रत्ययोऽत्र यदतः सुचिराय बन्धः ॥ २४
 जगदहमसदित्युपेत्य सम्य-
 ग्जनधनदारशरीरनिर्व्यपेक्षः ।
 भवति हि स च चेतनस्वरूपः
 परिमितखं खलु नान्यथास्ति मुक्तिः ॥ २५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपन्यासयोगो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः ३१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

सर्वात्मनि चिदाभासे तदेवाश्वनुभूयते ।
 संवेद्यते यदेवान्तरसत्यं वस्त्ववस्तु वा ॥ १
 तदेवाभ्यासतः पूर्वं बाह्यार्थानुभवात्मना ।
 स्फुरतीव बहिष्ठेन स्वस्वप्नोऽत्र निदर्शनम् ॥ २
 चिद्रूपं सर्वमेतच्च चिदच्छा गगनादपि ।
 चिच्छिनोति चिदेवातो नैतत्किञ्चन कुत्रचित् ॥ ३

न नाशो नास्ति नानर्थो न जन्ममरणे न खम् ।
 न शून्यता न नानास्ति सर्वं ब्रह्मैव नैव च ॥ ४
 नाशे जगदहंत्वादेर्न किञ्चिदपि नश्यति ।
 असतः किल नाशोऽपि स्वप्नादेः किं नु नश्यति ॥ ५
 मिथ्यावभासे संकल्पनगरे कैव नष्टता ।
 तथा जगदहंत्वादौ नाशो नासति विद्यते ॥ ६
 कुतो जगदुपालम्भ इति चेतदवस्तुनि ।

रस्यपूर्णतालक्षणा मोक्षसत्ता न श्रयति । यथा मृगुपातादिना
 मृतेन प्राप्यं स्वर्गादि जीवन्तं न श्रयति तद्वदित्यर्थः ॥ १८ ॥
 ननु मास्तु मोक्षः सांकल्पिकस्वर्गादिफलेष्वेव कश्चिन्नित्यः पुरु-
 षार्थोऽस्तु तत्राह—यद्यदिति । तत्राशे चावश्यं भयमस्तीति
 भावः । किं तर्ह्यभयमक्षयं च तदाह—न संभवतीति । एतत्सं-
 कल्पनम् ॥ १९ ॥ एतत् अनहंभावनं अज्ञदृष्ट्या मयावहत्वा-
 द्ब्रह्मीनुमयुक्तमपि परमार्थदशा सत्यमिति युक्तमेव प्रहीतुम् ।
 यथा मूढेन विषबुद्ध्या उपेक्षितममृतमभिज्ञेन प्रहीतुं युक्तमि-
 त्यर्थः ॥ २० ॥ तत्सत्यतामुपपादयति—जडमिति ॥ २१ ॥
 अत एवाशेषान्तेरहंत्वशान्तिरवधिः सैव मुक्तता । तस्यां च
 घृतकाठिन्यविकले घृतस्यैव नाणुमात्रमप्यात्मनः किञ्चिद्व्यमिति
 न सर्वनाशोऽयमिति भेतव्यमित्याशयेनाह—शान्तेति ॥ २२ ॥
 अत्रास्यां मुक्तौ भोगत्यागो विचार आत्मन इन्द्रियमनोनिग्रह-
 पौरुषं चेति त्रयाक्षान्यदुपयुज्यते इति निश्चित्य हे अज्ञा मुमु-
 क्षवः, सर्वमनात्मवर्गं परित्यज्य स्वात्मैव प्रणम्यतां तत्त्वबोधेन
 शरणीक्रियतामित्यर्थः ॥ २३ ॥ एवमहंतावधिकसर्वद्वैतोपशमेन
 निर्वासनं सर्वबासनाक्षयोपलक्षितं यन्मननं मनसो ब्रह्मभावेना-
 वस्थानं तदेव मोक्षं श्रुतयो विद्वांसबोदाहरन्ति । तत्र बोधात्-
 त्वज्ञानाद्विना जातु कदाचिदपि न भवति । स च परः प्रबोधो
 जगद्भ्रमः सन् परमार्थो नो न भवत्येव इह मोक्षशास्त्रे प्रसिद्धः ।
 यद्यस्मात्कारणादत्र ईदृशे बोधे 'नेह नानास्ति किञ्चन'

इत्यादिश्रुत्या जायमानोऽपि रागादिपुरुषदोषप्राबल्याजगत्सत्य-
 ताभ्रमदाढ्याच्च प्रत्ययो विश्वासो नास्ति । अतो हेतोः सुचिराय
 जीवस्य संसारबन्धोऽनुवर्तत इत्यर्थः ॥ २४ ॥ तस्मान्छाब्दादि-
 विश्वासदाढ्याजगदित्यहमिति चोभयमप्यसत् नास्त्येवेति सम्यक्
 श्रवणमननाभ्यासेनोपेत्य बन्धादिजने धने दारेषु स्वशरीरे च
 निर्व्यपेक्षः सन् परमार्थतत्त्वं बुद्ध्वा परिमितखं उपाधिपरिच्छिन्न-
 चिदाकाशरूपः स जीवः चात् जगच्च चेतनं चिन्मात्रं तत्स्वरूपो
 भवति सैवास्य मुक्तिरयमेव तदुपाय इतोऽन्यथास्य मुक्तिर्नास्ती-
 त्यर्थः ॥ २५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपन्यासयोगो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

चित्ता प्रस्तमचिद्रूपमसदेव सदेव वा ।

न किञ्चिद्व्यमित्यत्र निर्वाणस्थितिरिरीर्यते ॥ १ ॥

नित्यनिरतिशयानन्दपूर्णाद्वयचिदाकाशलक्षणां निर्वाणस्थि-
 तिमनुभाषयितुं प्रागुक्तं दृश्यानुभवस्य संवेदनाभ्यासाधीनत्वं
 स्मारयति—सर्वात्मनीति ॥ १ ॥ २ ॥ अस्त्येवं किं तत्स-
 त्नाह—चिद्रूपमिति । सर्वमेतच्चित्त एव रूपं कल्पितवेषभेदः,
 बाह्यत्वं तर्हि चित्तः किं स्वरूपं तत्राह—चिदच्छेति । यतो
 घृतं स्वात्मनि काठिन्यमिव चिदेव जगद्वेषं चिनोति अतश्चि-
 देव ॥ ३ ॥ अस्त्येवं ततोऽपि किं तत्राह—नेति । ततो ब्रह्मा-
 द्वैतमिष्टं सिद्धमित्यर्थः ॥ ४ ॥ ननु जगदहंतादेर्जडांशस्य तत्त्व-
 बोधेन नाश इष्टः स कथमपलप्यते तत्राह—नाशे इति । ना-
 शोऽपि कः इति शेषः ॥ ५ ॥ ६ ॥ यद्यसदेव जगत्सर्वानर्थ-

न निर्णयः संभवति स्वपुष्पाणां किमुच्यते ॥ ७
 निर्णय एष एवात्र यद्दशेषमभावयन् ।
 यथास्थितं यथाचारं पाषाण इव तिष्ठति ॥ ८
 जगत्संकरूपमात्रात्म तत्र तेऽर्थयुतं क्षणात् ।
 शाम्यत्यशेषेणेत्येव निर्णयः सर्गविभ्रमे ॥ ९
 सर्गेऽनर्गल एवायं ब्रह्मात्मकतयाक्षयः ।
 अन्यथा तु न सर्गोऽयमस्ति नास्ति च सन्ति वा ॥१०
 येषां च विद्यते सर्गः स्वप्नपुंसामिवासताम् ।
 स सर्गः पुरुषास्ते च मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ११
 असतामेव सद्भावमिव येषामुपेयुषाम् ।
 न धयं निर्णयं विभो वन्द्यापुत्रगिरामिव ॥ १२
 परिपूर्णार्णवप्रस्था काप्यपूर्वैव पूर्णता ।
 तज्ज्ञानां द्रष्टृदृश्यांशदृष्टौ न हि पतन्ति ते ॥ १३
 अचला इव निर्वाता दीपा इव समत्विषः ।
 साचारा वा निराचारास्तिष्ठन्ति स्वस्थमेव ते ॥ १४
 आपूर्णैकार्णवप्रस्था काप्यन्तः पूर्णतोदिता ।
 अन्तःशीतलता वसिष्ठस्यापूर्वैव लक्ष्यते ॥ १५

रूपत्ववर्णनेन तस्योपालम्भो निन्दा हेयत्वेन निर्णयश्च शाब्देषु
 कुतः कियत इति चेत् सत्यम् । अवस्तुनि नोपालम्भस्तत्फलं
 विचारो निर्णयो वा न संभवत्येव स्वपुष्पस्य किमुपालम्भो निर्-
 णयो वा केनचिदुच्यते तद्वदित्यर्थः ॥७॥ तर्हि किं तच्छाब्दवै-
 यर्थ्यमेव नेत्याह—निर्णय इति । स्वाभाविकस्वरूपस्थितिसिद्ध्यर्थ-
 मसदपि सतिव कल्पयित्वा निन्दादिना वैराग्यविवेकादिस्त्व-
 द्वाक्षाकारान्त उपायः कल्पित इति एष एव निर्णयः सिद्धान्त
 इत्यर्थः । यथास्थितं यथाशाब्दं यथाचारं यथासंप्रदायं च भू-
 मिकाक्रममभ्यस्येत्यर्थः ॥८॥ अस्त्वेवमात्मतत्त्वे निर्णयः सर्गा-
 दिजगत्स्वरूपे को निर्णयः सफलस्तमाह—जगदिति । तत्र
 प्रागुक्तस्मिती । अर्थः सांसारिकपुरुषार्थाभासस्तद्युतम् ॥ ९ ॥
 ननु सर्गः सुषुप्तिप्रलययोः स्वत एव क्षीयते किं तस्य ब्रह्म-
 मात्रतापरिज्ञानेन तत्राह—सर्गे इति । अनर्गलो मूलोच्छेदा-
 त्पुनरुद्भवश्चान्यः । अन्यथा प्रलयादौ क्षये तु बीजात्मनाऽस्ति
 कार्यात्मना नास्ति सन्ति वा प्रकयेऽप्यैन्दवाक्यानोक्तीत्या
 कार्याणि । साकल्पिकस्य परैः क्षेत्रमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ १० ॥
 तर्हि सति सर्गे कथं प्रलयस्तत्राह—येषामिति । प्रलयसंकरूप-
 यितुर्दृष्ट्या तेषामसत्त्वात्सांकल्पिकसर्वनाशादेव तस्य प्रलय-
 व्यवहारादित्यर्थः ॥ ११ ॥ अत एव जीवजगद्रूपानामनिर्ण-
 यत्वादिनिर्बचनीयत्वमुक्तमित्याह—असतामेवेति ॥१२॥ अत
 एव च तत्त्वविदां सदैवादितीयविदानन्दपूर्णतेत्याह—परिपू-
 र्णेति । हि यस्मात्ते द्रष्टृदृश्यांशदृष्टौ न पतन्ति नाभिनिविष्टान्ते
 ॥ १३ ॥ अचला इवाप्रकम्प्या इति शेषः । साचाराः । इवार्थे
 वाशब्दः ॥ १४ ॥ १५ ॥ अज्ञपुरुषास्तर्हि किंस्वरूपास्तदाह—
 वासनैवेति ॥ १६ ॥ अनालोकनं प्रकाशास्फूर्तिः । कृष्णं तमः

वासनैवेह पुरुषः प्रेक्षिता सा न विद्यते ।
 तां च न प्रेक्षते कश्चित्ततः संसार आगतः ॥ १६
 अनालोकनसिद्धं यत्तदालोकात्त्र विद्यते ।
 कृष्णाद्यनुपलम्भोऽत्र दृष्टान्तः स्पष्टचेष्टितः ॥ १७
 भूतानि देहमांसादि तच्चासद्भिन्नमो जडः ।
 बुद्ध्यहंकारचेतांसि तन्मयान्येव नैतरत् ॥ १८
 भूतादिमयतां त्यक्त्वा बुद्ध्यहंकारचेतसाम् ।
 अत्यन्तं स्थितिरभ्येति यदि तन्मुक्ततोदिता ॥ १९
 चिच्छिष्टा येत्यनिष्ठत्वात्तादृश्येवात्र कास्तिता ।
 तस्मात्केव कुतः कुत्र वासना किंस्वरूपिणी ॥ २०
 यस्य चैव भ्रमः सोऽसन्प्रेक्षयासन्न लक्ष्यते ।
 मृगतृष्णाम्बुवत्तेन संसारः कस्य कः कुतः ॥ २१
 तदेवं तर्हि तस्य स्यादिति चित्तोदयो हि यः ।
 पुनः स एव संसारविभ्रमः संप्रवर्तते ॥ २२
 तस्मात्सर्वमनाश्रित्य व्योमवत्समुपास्यताम् ।
 अपुनःस्मरणं श्रेय इह विस्मरणं परम् ॥ २३
 नेह द्रष्टा न भोकास्ति नाऽस्तिता न च नास्तिता ।
 यथास्थितमिदं शान्तमेकं स्पन्दि सदाब्धिवत् ॥२४

आदिपदात्तकार्यचोरयक्षादिस्तस्य आलोकस्फूर्तावनुपलम्भो द-
 द्रान्तः । 'तृष्णा' इति पाठे तृष्णा मृगतृष्णा । स्पष्टचेष्टितः ।
 अतिस्पष्ट इति यावत् ॥१७॥ कीदृशादालोकात्तमाह—भूता-
 नीति । देहमांसादिस्थूलदेहोपादानं पञ्चीकृतानि भूतान्येव ।
 तथा बुद्ध्यहंकारचेतांसि सूक्ष्मशरीरोपादानोपलक्षणम् । तान्यपि
 'अभ्रमयं हि सोम्य मनः' इत्यादिश्रुतेस्तन्मयान्यपञ्चीकृतभू-
 तविकारभूतान्येव ॥ १८ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—भूता-
 दीति । तत्र बुद्ध्यहंकारचेतसाम् मूलादिमयतां वाच्यारम्भणश्रुतिवर्धितोपायेन
 तद्गारा स्थूलदेहमन्यविद्यया अहमित्यभिमन्यते । तस्य विवेकेन
 बुद्ध्यहंकारचेतसां मूलादिमयतां वाच्यारम्भणश्रुतिवर्धितोपायेन
 त्यक्त्वा अत्यन्तं स्वप्रकाशचिन्मात्रस्वभावेन या स्थितिर्यथभ्येति
 तर्हि सैव मुक्ता उदिता आविर्भूता । स एवालोको मयोक्त
 इत्यर्थः ॥ १९ ॥ एवमात्मानोके प्रवृत्ते वासनापि बाधितेवेति
 तथापि न बन्धप्रसक्तिरित्याह—चिदिति । लिङ्गोपाधावात्म-
 चित् शिष्टा तादात्म्याभ्यासेन मिलिता चेत्तस्याश्वेतोन्मुक्त-
 त्वात्तादृश्येव वासना अस्तिता प्रसिद्धा । सा चात्र अस्यामुक्त-
 तायां का ॥ २० ॥ बन्धस्य जीवस्यैव तत्त्वदर्शने अनुपल-
 म्भाच्च केन कस्य बन्धप्रसक्तिरित्याह—यस्येति । असन्
 अलीकः । असन्न प्रेक्षया तत्त्वदृष्ट्या न लक्ष्यते ॥२१॥ आत्मा-
 लोकमान्ये तु पुनश्चित्तोदयेन संसारः स्यादेवेति तद्दार्ढ्यम-
 पुनःस्मरणवधि कार्यमित्याह—तदेवमिति द्वाभ्याम् । तत्त-
 स्मादेवमात्मानोके प्रवृत्तस्यापि विषयस्मरणे यश्चित्तोदयः स
 एव पुनः संसारः संप्रवर्तते संप्रवर्तते ॥ २२ ॥ परं विस्मरणं
 भूमिकाभ्यासेन साधयेदिति शेषः ॥२३॥ तदभ्यासपरः कथं
 पश्येत्तदाह—नेहेत्यादिना । स्पन्दिप्रारम्भोपनीतव्याभितव्यव-

सर्वं दृश्यं जगद्ब्रह्म सदित्यवगते स्फुटम् ।
जलशोषादिवोदेति विम्बविम्बिक्षये शिवम् ॥ २५
शान्तताव्यवहारो वा रागद्वेषविषर्जितः ।
विभ्रान्तस्य परे तस्ये दृश्यते समदर्शिनः ॥ २६
अथवा शान्ततैवास्य निर्वाणस्यावशिष्यते ।
निर्वासनः किल मुनिः कथं व्यवहरत्वसौ ॥ २७
यावत्त्वस्य न निर्वाणं परिपोषमुपागतम् ।
तावद्यवहरत्यस्तरागद्वेषभयोदयः ॥ २८
वीतरागभयक्रोधो निर्वाणः शान्तमानसः ।
शिलेवाप्यशिलीभूतो मुनिस्तिष्ठति नित्यशः ॥ २९
कोशेऽस्ति पद्मवीजस्य यथा सर्वाङ्गिणी तथा ।
अनन्या स्वप्नविभ्रान्तिरात्मन्यस्ति न बाह्यता ॥ ३०
बाह्यताभावनाद्बाह्यमात्मैवात्मत्वभाबनात् ।
भवतीदं परे तस्ये भावनं तत्तदेव हि ॥ ३१
यान्तः स्वप्नादिविभ्रान्तिः सैवेयं बाह्यतोदिता ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे बाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० निर्वाणयुक्त्युपदेशवर्णनं नामैकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः ३२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यदा चित्तिः प्रसरति तदाहंताजगद्भ्रमः ।
असदेवाभ्युदेतीव स्पन्दादपि च वायुता ॥ १
उदितोऽपि न खेदाय ब्रह्मरूपत्ववेदनात् ।
परमाय त्वनर्थाय जगच्छब्दार्थभावनात् ॥ २

हारनिमित्तम् । सदा अविद्यवत्पूर्णम् ॥ २४ ॥ विम्बनं विम्ब-
विदाभासः सोऽस्वासीति विम्बी उपाधिस्तदुभयक्षये ॥ २५ ॥
शान्तता समाधिपरता व्यवहारो वेति द्वयमपि दृश्यते ॥ २६ ॥
॥ २७ ॥ सप्तमभूमिकाविभ्रान्तिपर्यन्तं परितोषं नोपागतम्
॥ २८ ॥ २९ ॥ एवं च ब्रह्मणि स्वाभाविकभावानुसारेण
जगद्रूपमस्ति, शास्त्रीयतत्त्वभावनानुसारेण तार्त्तिकं रूपमप्य-
स्तीति यथेच्छमनर्थः पुरुषार्थो वा सुलभ इत्याशयेनाह—कोशे
इत्यादिना । बाह्यता आत्मान्यनिष्ठता जगतो नेत्यर्थः ॥ ३० ॥
बहिरस्तीति प्रतीतिस्त्वात्मन्येव बाह्यताभावनाद्यान्याधारत्वा-
दित्याह—बाह्यताभावनादिति । तथा च तत्तद्भावनात्मकमेव
बाह्यत्वमान्तरत्वं चेति फलितमित्याशयेनाह—भावनमिति
॥ ३१ ॥ अत एव स्वप्नजाग्रतोर्न प्रतीतितो मेव इत्याह—येति ।
निष्प्रमाणस्थकीरयोरेव अन्यतामेदो विशेषो नास्ति ॥ ३२ ॥
ननु जाग्रत्स्वप्नार्थानां स्वैर्योस्वैर्ये विशेषः प्रत्यक्ष उपलभ्यते
तस्य का गतिस्तत्राह—स्वैर्येति । एवं स्वप्नस्य जाग्रद्देहाधार-
ताप्रत्ययोऽपि न भेदक इत्याह—आधारेति ॥ ३३ ॥ स्वप्न-
ार्थानां यावदात्ममात्रता नानुसंधीयते तावदेव मानम् । आत्म-
मात्रतानुसंधाने तु इदित्येव जागरणाद्बाह्यतात्मान्यत्वं प्र-
सिद्धं तद्ब्रह्मप्रद्वेष्येति बोध्यमित्याशयेनाह—स्वप्नादिति ।

मनागप्यन्यता नात्र त्रिभाण्डपयसोरिव ॥ ३२
स्वैर्योस्वैर्ये तथैवात्र भ्रान्तिमात्रमये तते ।
आधाराधेयते ते द्वे यथा जलतरङ्गते ॥ ३३
स्वप्नादावात्मनोऽन्यत्वज्ञानादन्यत्ववेदनम् ।
अनन्यतावबोधे तु तदनन्यत्वं चोदयि ॥ ३४
कलनारहितं शान्तं यद्रूपं परमात्मनः ।
भवत्यसौ तत्तद्भावादतद्भावाच्च तद्भवेत् ॥ ३५
स्वप्नादिज्ञानसंशान्ती यद्रूपं शुद्धमैश्वरम् ।
न तदस्ति न तन्नास्ति न बाण्णोचरमेव तत् ॥ ३६
आत्यन्तिकभ्रान्तिलये युक्त एवावगच्छति ।
स्वरूपं नोपदेशस्य विषयो विदुषो हि तत् ॥ ३७
शान्तं निरस्तभयमानविषादलोम-
मोहात्मदेहमननेन्द्रियचित्तजाड्यम् ।
त्यक्त्वाहमक्षयमपास्तसमस्तभेदं
निर्वाणमेकमजमासितुमेव युक्तम् ॥ ३८

रूपानुभवमादत्ते बभ्रुःप्रसरणाद्यथा ।

चित्तिः प्रसरणात्तद्ब्रह्मजगद्विभ्रममास्थिता ॥ ३
यासौ प्रसरति ध्यर्थं चेत्याभावाच्च सा सती ।
असत्कथं प्रसरति बभ्रुःप्रसरणाद्यथा ॥ ४

उदयि पृथगाविर्भाववच्च ॥ ३४ ॥ अत एव वास्तवोऽपि ब्रह्म-
भावस्तद्भावनाधीन इति यदुक्तं तत्सिद्धमित्याह—कलनेति
॥ ३५ ॥ अस्तितानिरूपककारुदेशाधारायभावाच्च तदस्ति ।
स्वरूपस्याभावाच्च नास्ति । अत एव बाण्णोचरमित्यर्थः ॥ ३६ ॥
कथं तर्हि तद्भावा गुरुणोपदिश्यते तत्राह—आत्यन्तिकेति ।
युक्तः समाधिस्थः सानुभवेनैवावगच्छति कान्तासंभोगसुख-
वच्च परं प्रत्युपदेशस्य विषयस्तथापि तदुपायप्रदर्शनेन तत्र
श्रोतुमुज्यवतारणमेवोपदेशफलमिति भावः ॥ ३७ ॥ अतो हे
राम, अहमहंकारं त्यक्त्वा निरस्तानि जाड्यान्तान्येकादश यस्मि-
स्तथाविधमत एव शान्तमजमक्षयमपास्तसमस्तभेदमेकं नि-
र्वाणं ब्रह्म भूत्वा सदैव समाधावासितुं युक्तमुचितं न व्यवहार-
विषयेष्वित्यर्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणयुक्त्युपदेशवर्णनं नामैक-
त्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

साधुसंगमलच्छाकाविचारान्यासशास्त्रिनः ।

मोक्षोऽत्रावश्यमास्तिवात्स्वायत्त उपपाद्यते ॥ १ ॥

विद्याविद्याभ्यां बन्धमोक्षयोः स्वायत्तत्वं वर्णयिष्यन् प्रथम-
मविद्याया चित्प्रसरणाधीनं स्वायत्तं बन्धं दर्शयति—यदेति ।
स्पन्दादपि चेति दृष्टान्तार्थम् । इव चेति पाठः स्पष्टः ॥ १ ॥
॥ २ ॥ ३ ॥ 'उदितोऽपि न खेदाय' इति यदुक्तं तदुपपाद्यति—

अयं त्वनुभवादेव मुधैवानुभवन्स्थितः ।
 असदेवाननुभवन्स्वयमर्भकयक्षवत् ॥
 अहंभावोऽपि दुःखार्थमहमित्येव वेदनात् ।
 अवेदनाभाहमतः स्वायत्ते बन्धमुक्तते ॥
 तद्वधानं स समाधिर्वा यदवेदनमासितम् ।
 अजडानां जडमिव समं शान्तमनामयम् ॥
 द्वैताद्वैतसमुद्रेदैर्वाक्यसंदर्भविभ्रमैः ।
 मा विषीदत दुःखाय विबुधा अबुधा इव ॥
 असदाश्रयते दुःखं स्वप्रवद्वनवासनः ।
 रूपालोकमनस्कारान्संकल्पपरचितानिव ॥
 दुःखं सदेव नाश्राति सुप्तवत्सनुवासनः ।
 रूपालोकमनस्कारान्संकल्पपरहितानिव ॥
 अत्यन्ततनुतामेत्य वासनैवेति मुक्तताम् ।
 देशकालक्रियायोगात्पदार्थे भावनामिव ॥
 अत्यन्ततनुतां याता वासनैवेति मुक्तताम् ।
 पराणुपरिणामेन खतां खेऽभ्रादिका यथा ॥
 अहंभावनया बोधे वासना घनतानवा ।

यासाविति । कूटस्थचित्तो बाह्यार्थोपसर्पणलक्षणं प्रसरद्रूपं वि-
 षयाभावात्स्वतश्च नास्त्येवेति विद्यया बाधाञ्च खेदायेति भावः
 ॥ ४ ॥ अयं चित्प्रसरोऽनुभवादेव सिद्ध्येत् । स चानुभवो वि-
 द्यया बाध्यमानोऽसदर्थमननुभवज्ञेवार्भकयक्षानुभवन्मुधैव
 स्थित इत्यर्थः ॥ ५ ॥ उक्तो न्याय आन्तरे अहंभावात्मकप्र-
 सरेऽपि तुल्य इति दर्शयन् बन्धमोक्षयोः स्वायत्तता सिद्धे-
 स्याह—अहंभाव इति ॥ ६ ॥ मोक्षस्य स्वायत्ततामुपपाद-
 यति—तदित्यादिना । विद्यया मूलजाभ्यापहाराभिदात्मैकरस्वा-
 पत्या अजडानां मनोबुद्ध्यादिसर्ववस्तूनां जडं पापाणापीव नि-
 खलं यदवेदनं वेद्यवेदनभावनिसुक्मासितमवस्थानं तदेव
 ध्यानं समाधिर्वा । तदुपलक्षिता मुक्तिरिति यावत् ॥ ७ ॥ अय-
 मेव विभ्रान्तिहेतुः सिद्धान्तः । अन्यथाकल्पने तु वादिनां
 कलहमात्रपर्यवसानेन वृथा कण्ठशोषः स्यादित्याशयेन तान्संबो-
 ध्याह—द्वैतेति । हे विबुधाः पण्डितमन्या वादिनः, यूयमबुधा
 मूर्खा इव द्वैतादिनानाविकल्पसमुद्रेदैर्बहुविधकलहात्मकबाक्य-
 संदर्भविभ्रमैर्मा विषीदत वृथा कण्ठशोषलक्षणं विषादं मामुत ।
 इममेव परमपुरुषार्थहेतुं सिद्धान्तमवलम्बन्त्वमित्यर्थः ॥ ८ ॥
 घनवासनस्य बहिर्मुखस्यासदपि रूपादिदर्शनमिव दुःखमपि दृढ-
 तरं दुर्वारम् । तनुवासनस्यान्तर्मुखस्य तु तद्वदेव प्रारब्धप्रसं-
 जितमपि दुःखमापाततो भुज्यमानं खानन्दानुभवतिरोहितत्वा-
 दमुक्तप्रायमेव भवतीत्याह—असदिति द्वाभ्याम् । आश्रयते
 भुङ्क्ते ॥ ९ ॥ अप्यर्थे एवकारः । सत् प्रारब्धप्रसंजितमपि दुःखं
 नाश्राति न भुङ्क्ते । सुप्तो निद्रासुखपरवशचित्तो यथा मशकम-
 त्कुणादिदंशनदुःखं नानुभवति तद्वत् ॥ १० ॥ अतो वासना-
 नामेवोपचयात्संसारानुभव इवापचयो देशकालक्रमेण सु-
 क्तानुभवोऽपि सिध्यतीत्याह—अत्यन्तेति ॥ ११ ॥

विपश्चित्संगमाभ्यासात्पाण्डित्यमिव मूढता ॥ १३
 नाहमस्तीह मद्युक्त्या निश्चयोऽन्तः शमात्मकः ।
 जीवतोऽजीवतश्चास्ति रूढबोध इति स्मृतः ॥ १४
 वायौ द्रव्यमिवात्रेदं जगदादि च भासते ।
 कोऽहं कथमिदं चेति विचारेणैव शाम्यति ॥ १५
 नाहमित्येव निर्वाणं किमेतावति मूढता ।
 सत्संगमविचाराभ्यामेतदाश्ववगम्यते ॥ १६
 क्षीयते तत्त्ववित्सङ्गादहमित्येव बन्धनम् ।
 आलोकेनेव तिमिरं दिवसेनेव यामिनी ॥ १७
 कोऽहं कथमिदं दृश्यं को जीवः किं च जीवनम् ।
 इति तत्त्वज्ञसंयोगाद्यावज्जीवं विचारयेत् ॥ १८
 जीवितं भुवनं भाति ततोऽहमिति नश्यति ।
 तत्त्वमेकेन तज्ज्ञार्कसेवनात्स निषेव्यताम् ॥ १९
 यो यो बोधातिशयवांस्तं तं पृथगुपास्व भो ।
 संगमे कथयोवेति तेषां वादपिशाचिका ॥ २०
 वादयक्षेऽप्यभ्युदिते बालस्येव विपश्चितः ।
 युक्तियुक्तमलं मुख्यमुदेत्यहमिति भ्रमः ॥ २१

अपक्षयक्रमप्राप्तेन परेणाणुना सूक्ष्मतमेन चरमपरिणामेन ।
 आदिपदाशोहारधूमादिपरिग्रहः ॥ १२ ॥ वासनातानवे तर्हि
 क उपायस्तमाह—अहंभावनयेति । ब्रह्माहंभावनया बोधे
 अभिवृद्धमाने वासना दिने दिने घनं निरुद्धं तानवं सांक्ष्म्यं
 यस्यास्तथाविधा सती मुक्तिः संपद्यते । यथा विपश्चितां पण्डि-
 तानां संगमाद्विद्याभ्यासाद्धर्मानान्मूढता घनतानवं प्राप्य
 पाण्डित्यं संपद्यते तद्वदित्यर्थः ॥ १३ ॥ कियत्कालं बोधो वर्ध-
 नीय इति चेद्रूढबोधतापर्यन्तमित्याशयेन रूढबोधलक्षणमाह—
 नाहमिति । मद्युक्त्या अहंब्रह्मेति भावनालक्षणेन प्रत्यगात्मयो-
 गेनाभ्यस्यमानेनेह जीवतो योगिनोऽजीवतः परलोकं गतस्य
 वा अहंशब्दार्थो जीवो नास्तीति शमात्मको निश्चयोऽन्तर्य-
 स्यास्ति स रूढबोध इत्यर्थः ॥ १४ ॥ द्रव्यं द्रव्यं क्रियेति च
 कल्प्यमानम् । 'स्पन्द' इति पाठे स्पष्टम् । आदिपदाजीवः
 ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ जीवनं प्राणादिधारणं किम् । याव-
 ज्जोवग्रहणमामोक्षोपलक्षणम् ॥ १८ ॥ स च विचारो गुरुसेव-
 नाच्छीघ्रं फलपर्यन्तः सिध्यतीत्याशयेनाह—जीवितमिति ।
 यतस्तज्ज्ञस्त्ववित् तल्लक्षणस्यार्कस्य सेवनात्संपर्कोद्भवं जगदेव
 बोधेनोज्जीवितं भाति । अहमिति सर्वपदार्थतरवावरणं तमो
 नश्यति, वस्तुतस्त्वं च एकेन क्षणेन प्रथते अतः स तज्ज्ञार्को
 निषेव्यतामित्यर्थः ॥ १९ ॥ यदा तु बहुषु विद्वत्सु तार्किकेषु
 च सत्स्वयं तत्त्वज्ञोऽयं नेति निर्धारणे असमर्थोऽहं तदा किं कुर्या
 तत्राप्याह—यो य इत्यादिना । ननु पृथगुपास्वेति किमर्थ-
 मुच्यते, समुदितोपास्तौ को दोषस्तमाह—संगमे इति । क-
 थया परस्परविरुद्धयुक्तिकथनेन । 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे
 तुण्डे सरस्वती' इति न्यायादिति भावः ॥ २० ॥ उदेतु नाम
 वादपिशाचिका को दोषस्तत्राह—वादयक्षे इति । वादलक्षणे

अतः प्रत्येकमेकान्ते प्राप्तः सेवेत पण्डितम् ।
एकीकृत्य तदुक्तांस्तानर्थान्बुद्ध्या विचारयेत् ॥ २२
विचारयेत्तदुक्तयर्थं बुद्ध्या बुद्धिविबुद्धये ।
सर्वसंकल्पमुक्तं यत्तत्सत्तन्मयतां ब्रजेत् ॥ २३
विपश्चित्संगमैर्बुद्धिं नीत्वा परमतीक्ष्णताम् ।
अज्ञानलतिका सैका कणशः क्रियतामलम् ॥ २४
एषोऽर्थः संभवत्येव तेनेदं कथयाम्यहम् ।
खानुभूतं वयं बाला नासमञ्जसवादिनः ॥ २५

व्योम्नोऽम्बुवाहादिविजृम्भयेव
तरङ्गमङ्गोव महाजलस्य ।
न युज्यते नापि च नश्यतीह
नाशोदयौ निर्मनस्य किञ्चित् ॥ २६
इदं हि सर्वं मृगतृष्णिकाम्बुव-
धिरामये ब्रह्मणि शान्त आतते ।
विचारिते नाहमितीह विद्यते
कुतः क्व कस्मान्मननादिविभ्रमः ॥ २७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यावबोधनोपदेशो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः ३३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स्वपौरुषेण स्वधिया सत्संगमविकासया ।
यदि ना नीयते ज्ञत्वं तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ १
स्वं कल्पितं कल्पितं च प्रतिकल्पनया स्वया ।
तदेवान्यत्त्वमादत्ते विषत्त्वममृतं यथा ॥ २
कल्पना चाकल्पनान्ता मुक्तता यदकल्पनम् ।
एतच्च भोगसंत्यागपूर्वं सिध्यति नान्यथा ॥ ३

यज्ञे पिशाचेऽभ्युदिते सति विवेकिनोऽपि श्रोतुरश्रांतमपि
युक्तिभिस्तर्कैर्युक्तं तार्किकैः प्रतिपाद्यमानमहं प्रत्यक्तत्त्वं मुख्यं
तदेवालं पर्याप्तं ममेति भ्रम उदेति । तथा चान्धगोलाङ्गूलन्या-
येन तदालम्बनेऽनर्थं एव स्यादिति भावः ॥ २१ ॥ सेवेत
सेवाद्युपचारेण बशीकृत्य पृच्छेत् ॥ २२ ॥ श्रुतियुक्तिखानु-
भवविद्वदन्तरसंवादाद्विचारयेद्रजतस्त्वमिव परीक्षेत सर्वसंदेहो-
च्छेदेन बुद्धेः शुद्धये । एवं मननेन बुद्धिशुद्धौ निदिध्यासनं
कार्यमित्याह—सर्वसंकल्पमुक्तमिति । तत् सत्परमार्थस्वन्म-
यतां निर्विकल्पसमाधितस्तदैकरसम् ॥ २३ ॥ तेन तत्त्वज्ञा-
नोदयेनाज्ञानोच्छेदं दर्शयति—विपश्चिदिति ॥ २४ ॥ तदसं-
भवशङ्का न कार्येत्याह—एषोऽर्थ इति ॥ २५ ॥ सर्वसंकल्प-
मुक्तं यत्तदेव सत्, तन्मयताप्राप्तौ सर्वजगद्व्यवहारैरपि विदुषो न
कश्चिद्विद्वानाशोऽनिष्टोदयो वेत्याह—व्योम्न इति । यथा व्योम्नः
अम्बुवाहनीहारातपादिविजृम्भया यथा वा महाजलस्य समुद्रस्य
तरङ्गादिभङ्गा किञ्चिदनिष्टं न युज्यते, नापि किञ्चिदनिष्टं नश्यति,
तद्विनिर्मनस्य निःसंकल्पस्य योगिनोऽपि नेष्टानिष्टनाशोदयावि-
त्यर्थः ॥ २६ ॥ आकाशसमुद्रयोः सद्वितीमत्वात्तद्योगवियोगश-
ङ्कापि स्यात्, विदुषसु कूटस्थाद्वयब्रह्मरूपत्वात्प्राप्यस्वविवर्तैस्तच्छ-
ङ्कापीत्याशयेनाह—इद् हीति । निरामये आतते पूर्णं ब्रह्मणि
विचारिते प्रबुद्धे सति इदं सर्वं मृगतृष्णिकाम्बुवदहमिति च
पृथगात्मरूपं न विद्यते । एवं स्थिते इह तत्त्वविदि मनना-
दिविभ्रमः कुतः क्व कस्मात्स्मादित्यर्थः ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यावबोध-
नोपदेशो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

वचसा मनसा चान्तः शब्दार्थावविभावयन् ।
य आस्ते वर्धते तस्य कल्पनोपशमः शनैः ॥ ४
वर्जयित्वाहमित्येष नाविद्यास्तीतरात्मिका ।
शान्ते त्वभावनादस्मिन्नान्यो मोक्षोऽस्ति कश्चन ॥ ५
अहंभावमथादेहं किञ्चिच्छ्रयसि नश्यसि ।
जगदादिरुचिस्तास्मिस्त्यक्ते शान्यसि सिध्यसि ॥ ६

इहोपवर्धते आन्तिकल्पना प्रतिकल्पना ।

परलोकचिकित्सा च संवित्प्रसरवारणात् ॥ १ ॥

तत्रादौ प्रतिकल्पनां वक्तुं प्रस्तावं रचयति—स्वपौरुषेणेति ।
ना अधिकारयोग्यशरीरं प्राप्तः पुरुषो यदि ज्ञत्वं तत्त्वज्ञानं
नीयते प्राप्यते । नयतेद्विकर्मकात् ‘प्रधाने नीहकृष्णहाम्’ इति
प्रधाने कर्मणि लः । तत्तर्हि नेतरो नान्यथेत्यर्थः ॥ १ ॥ कीदृशं
तत्पौरुषं येन ज्ञत्वं नीयते तदाह—स्वं कल्पितमिति । स्वं
स्वाभाविकमशास्त्रीयम् । कल्पितं कल्पितमिति वीप्सा । सर्वं
कल्पितं चात्तन्मूलं वासनाविद्यादि च स्वया स्त्रीयया शास्त्रीयया
प्रतिकल्पनया तदेवान्यत्त्वं बन्धहेतुतामपहाय मोक्षोपयोगित्व-
मादत्ते । यथा स्वभावतो मरणहेतुरपि विषं रसायनशास्त्रोक्तो-
पायप्रतिकल्पनया विषत्त्वं विहायामृतममरणसाधनं रसायनं
भवति तद्वत् ॥ २ ॥ कियत्कालं प्रतिकल्पना कार्येति चेत्सर्व-
कल्पनानि वृत्तिपर्यन्तमित्याह—करुणनेति । अकल्पनं सर्वकल्प-
नानिवृत्तिरन्तोऽवधिर्नस्याः सा यद्यस्मादेतोरकल्पनमेव परि-
शिष्टस्यात्मनो मुक्तता । तत्रावश्यकी वैराग्यलक्षणां संन्यास-
लक्षणां च प्राथमिकीं प्रतिकल्पनां दर्शयति—एतच्छेति । पूर्व-
मादौ भोगसंत्यागात् ‘त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्पदं
पदम्’ इति श्रुतेरिति भावः ॥ ३ ॥ ततः श्रवणमननाभ्यामा-
त्मतत्त्वं निश्चित्य बाह्यनसनिरोधलक्षणा प्रतिकल्पना कार्ये-
त्याह—वचसेति ॥ ४ ॥ ततोऽनहंभावलक्षणा सा कार्ये-
त्याह—वर्जयित्वेति । अभावनात्सर्वभावनानिवर्तकतत्त्व-
साक्षात्कारात् । अस्मिन्नहंकारे शान्ते बाधिते सति ॥ ५ ॥
अथ तत्त्वसाक्षात्कारोत्तरमपि प्राक्नजगज्जीवभावे रुचिर्यस्य

अचेतनादिदं सर्वं सदेवासदिव स्थितम् ।
 शान्तं यस्योपलस्येव नमस्तस्मै महात्मने ॥ ७
 अचेतनादिदं सर्वमुपलस्येव शाम्यति ।
 शून्याख्यातः परालीनचित्तस्य चित्तवभाषणात् ॥ ८
 इदमस्त्वथवा मास्तु चेति तं दुःखवृत्तये ।
 अचेतितं सुखायान्तरचेतनमचेतनात् ॥ ९
 झौ व्याधी देहिनो घोरवयं लोकस्तथा परः ।
 बाभ्यां घोरानि दुःखानि भुङ्क्ते सर्वैर्हि पीडितः ॥ १०
 इहलोके यतन्ते ज्ञा व्याधौ भोगैर्दुरौषधैः ।
 आजीवितं यथाशक्ति चिकित्सा नापरामये ॥ ११
 परलोकमहाव्याधौ प्रयतन्ते चिकित्सनम् ।
 शमसत्सङ्गबोधाख्यैरमृतैः पुरुषोत्तमाः ॥ १२
 परलोकचिकित्सायां साधयाना भवन्ति ये ।
 मोक्षमार्गमहेच्छायां शमशक्त्या जयन्ति ते ॥ १३
 इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
 गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ १४
 इहलोकचिकित्साभिर्जीवितं यातु मा क्षयम् ।
 आत्मज्ञानौषधेरज्ञाः परलोकश्चिकित्स्यताम् ॥ १५
 आयुर्वायुचलत्पत्रलवाम्बुकणभङ्गुरम् ।
 परलोकमहाव्याधिर्यत्नेनाशु चिकित्स्यताम् ॥ १६
 परलोकमहाव्याधौ यत्नेनाशु चिकित्सिते ।
 इहलोकमयो व्याधिः स्वयमाशूपशाम्यति ॥ १७

तथाविधः सन् आदेहं स्थूलदेहपर्यन्तं किञ्चिदल्पमप्यहंभावं
 यदि श्रयति तदैवापरिच्छिन्नपूर्णानन्दस्वरूपविस्मरणाक्षयसीव ।
 संसारदुःखे पततीत्यर्थः । तस्मिन्नहंभावे त्यक्ते तु शाम्यति
 सर्वदुःखनिवृत्तिं कभसे । निरतिशयानन्दस्वभावेन सिष्यति
 च ॥ ६ ॥ अचेतनाद्बहिर्मुखवृत्त्या अदर्शनात् ॥ ७ ॥ परस्मि-
 न्ब्रह्मणि आलीनचित्तत्वात् एवोपलस्येव बहिरचेतनादन्तश्चि-
 त्तवभाषणात्साधकाभावाद्बोधकसत्त्वात्तदेदं सर्वं इदं शाम्यति
 ॥ ८ ॥ सुखदुःखयोर्दृश्यसत्त्वात्तदेव नोपयुज्येते किंतु तद्दर्शना-
 दर्शने एवेति तचेतनाय प्रवृत्तं चित्तमेव निरोद्धव्यमित्याशये-
 नाह—इदमिति । इदस्याचेतनमदर्शनं तु अचेतनाचित्तक्रिया-
 निरोधेन ब्रह्माकारतापादनान्तप्रतिकल्पनावशादेवेत्यर्थः ॥ ९ ॥
 परलोकचिकित्सां वर्णयितुमुपक्रमते—ज्ञाविति । सर्वैराध्या-
 त्मिकादिभावैः ॥ १० ॥ इहलोके प्रसिद्धे क्षुत्पृषादिव्याधावज-
 पानादिभोगलक्षणैर्दुरौषधैर्यथाशक्ति यतन्ते । अपरामये पारलौ-
 किकनरकजन्मपरम्परादिव्याधौ भोगैश्चिकित्सा न जायत इत्यर्थः
 ॥ ११ ॥ चिकित्सनं कर्तुमिति शेषः ॥ १२ ॥ अपध्यभोग-
 त्यागे सत्प्राज्ञौषधसेवने च साधयानाः । शमाख्यसौषधस्य
 शक्त्या ॥ १३ ॥ ननु परलोकव्याधेस्तत्रैव चिकित्सा करि-
 ष्यते किमत्र तच्चिन्तया तत्राह—इहैवेति । निरौषधं साधु-
 संगमसच्छास्त्राद्यौषधशून्यं नरकस्थावरदिस्थानम् ॥ १४ ॥
 हे भक्ताः ॥ १५ ॥ १६ ॥ इह लोकव्याधिश्चिकित्सार्थं प्रययामो

संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
 परमाणूदरेऽप्यस्ति तच्छैलशतविस्तरम् ॥ १८
 यत्संविदः प्रसरणं रूपालोकमनांसि तत् ।
 व्योमन्येवानुभूयन्ते नातः सत्यो जगद्भ्रमः ॥ १९
 प्रलयेष्वपि दृष्टेषु जगद्दृश्याश्चविभ्रमः ।
 न नश्यति न जायेत भ्रान्तिमात्रैकरूपिणः ॥ २०
 भोगपङ्कार्णवे मम आत्मा नोत्तार्यते यदि ।
 स्वपौरुषचमत्कृत्या तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ २१
 अजितात्मा जनो मूढो रुढो भोगैककर्दमे ।
 आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ २२
 जीवितस्य यथा बाल्यं दृष्टं प्राथमकल्पिकम् ।
 निर्वाणस्य तथा भोगसंत्यागो रागशान्तिदः ॥ २३
 तज्ज्ञस्य जीवितनदी सकल्लोलाप्यसंभ्रमा ।
 समं वहति सौम्यैव चित्रसंस्थेव नीरसा ॥ २४
 अज्ञजीवितनद्यास्तु रसनात्यन्तभीषणाः ।
 आवर्ता वृत्तिविभोभकल्लोलाः सहवाहिनः ॥ २५
 सर्गवर्गाः प्रवल्गन्ति संवित्प्रसरलेशकाः ।
 द्विचन्द्रबालवेतालमृगाम्बुस्रममोहवत् ॥ २६
 संविद्धारितरङ्गीषा भान्ति सर्गाः सहस्रशः ।
 विचारितास्त्वसत्यास्ते सत्यास्त्वनुभवभ्रमात् ॥ २७
 जगन्त्याकाशकोशेऽपि संवित्प्रसरणभ्रमात् ।
 सन्तीवाप्यनुभूयन्ते न तु सत्यानि तानि तु ॥ २८

न कार्य इत्याह—परलोकैति ॥ १७ ॥ परलोकव्याधे-
 स्तपस्तीर्थयज्ञदानप्रायश्चित्तादिचिकित्सा यद्यपि सन्ति तथापि ता
 नात्यन्तिकतदुच्छेदहेतवः किंत्वात्मज्ञानमेव । तत्र भ्रवणा-
 दिपूर्वकसमाध्यम्नासलक्षणसंवित्प्रसरनिरोधादेवेत्याशयेन तदु-
 पायान्वक्तुं भूमिकां रचयति—संविन्मात्रमिति । तज्जगत्पर-
 माणूदरेऽपि संविदः पूर्णत्वाद्दृश्येव ॥ १८ ॥ प्रसरणं बहिर्मु-
 खतया विवर्तनं तदेव रूपालोका बाह्यार्थो मनांसि कामसं-
 ल्पाशाभ्यन्तरा इत्यर्थः । व्योमनि चिदाकाशे ॥ १९ ॥ मिथ्या-
 त्वादेव प्रलयसहस्रैरपि नास्य निवृत्तिः, सृष्टिसहस्रैरपि न सत्ता,
 किंत्वात्मज्ञानादेवेत्याशयेनाह—प्रलयेष्वपिपीति । न जायेत
 सृष्टिषु दृष्टेष्वपि शेषः । तत्र हेतुमाह—भ्रान्तीति । भ्रान्ति-
 मात्रैकरूपित्वादित्यर्थः ॥ २० ॥ आत्मज्ञाने तर्हि के उपाया
 इति चेत्प्रथमं वैराग्यमेवेत्याह—भोगैति ॥ २१ ॥ २२ ॥
 जीवितस्य आयुषः ॥ २३ ॥ रागशान्तिद इति विशेषणस्य
 तात्पर्यं तज्ज्ञाज्ञजीवितनदीवैलक्षण्यवर्णनेन दर्शयति—तज्ज्ञ-
 स्येत्यादिना ॥ २४ ॥ रसनाः आकन्दपञ्चनयस्ताभिरत्यन्तभी-
 षणाः ॥ २५ ॥ अज्ञानामविचारादेव सर्गादिप्रतिभासविक्षेप-
 रूपाः संवित्प्रसरलेशा इत्याह—सर्गैति । प्रवल्गन्ति प्रसरन्ति
 ॥ २६ ॥ अनुभवभ्रमाद्भ्रान्तानुभवात् ॥ २७ ॥ प्रसिद्धे आका-
 शकोशेऽपि गन्धर्वनगरादि जगन्ति सन्तीवानुभूयन्ते ॥ २८ ॥

संविद्विकासपयसो बुद्धुः सर्गविभ्रमः ।
 अहमित्यादिसद्भावविकाराकाररूपवान् ॥ २९
 संविजिर्षाणमजगत्संविदुन्मीलनं जगत् ।
 नान्तर्न बाह्यं नासत्यं न सत्यं सर्वमेव तत् ॥ ३०
 चिद्रूपमजमव्यक्तमेकमव्ययमीश्वरः ।
 स्वत्वभावत्वरहितं ब्रह्म शान्तात्मखादपि ॥ ३१
 ब्रह्मणो निःस्वभावस्य सर्गसंवेदने स्वतः ।
 स्पन्दने पवनस्येव कारणं नोपयुज्यते ॥ ३२
 स्वप्रानुभववद्भ्रान्तिर्ब्रह्माब्धौ ब्रह्मबीजयः ।
 सर्गता वस्तुतस्त्वत्र न स्वप्नो न च सर्गता ॥ ३३
 एकमेव निराभासमचित्त्वमजडं समम् ।
 न सद्भासन्न सदसदिदमव्ययमद्वयम् ॥ ३४
 यथास्थितस्यैव सतो यस्यासंवेदनात्मकम् ।
 संविप्रशमनं जातं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३५
 सतोऽपि मृन्मयस्येव यस्यासंवेदनात्मकम् ।
 साहं जगद्विगलितं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३६
 यथा शाम्यत्यसंकल्पात्संकल्पनगरं तथा ।

वेदनोत्थं जगदहं चिति शाम्यत्यवेदनात् ॥ ३७
 स्वभाववर्जं शब्दार्थाः सर्व एव सहेतुकाः ।
 स्वभावस्य तु यो हेतुर्मुक्तिस्तदनुभावनम् ॥ ३८
 न कस्यचित्पदार्थस्य स्वभावोऽस्तीह कश्चन ।
 महाचिदम्बुप्रवताः सर्वा एवानुभूतयः ॥ ३९
 महाचिदनिलस्पन्दा एता एवानुभूतयः ।
 एतास्ता ब्रह्मगगनशून्यता इति बुध्यताम् ॥ ४०
 वातस्पन्दाविवाभिन्नौ ब्रह्मसर्गौ विभिन्नता ।
 तयोस्त्वसत्या स्वभ्रान्तौ स्वप्ने स्वमरणोपमा ॥ ४१
 भ्रान्तिस्तु तावत्तत्त्वार्थविचारी यावदस्फुटः ।
 विचारे तु स्फुटे भ्रान्तिर्ब्रह्मतामेव गच्छति ॥ ४२
 भ्रान्तिस्त्वसत्या वस्तुवैव प्रेक्षयातो न लभ्यते ।
 शशशृङ्गवदस्यच्छमतो ब्रह्मैव शिष्यते ॥ ४३
 अनादिमध्यान्तमनन्तमच्छं
 समं शिषं शाश्वतमेकमेव ।
 सर्वा जरामोहविकारभार-
 भ्रान्ति विमुच्याम्बरभाषमेहि ॥ ४४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उ० सत्यार्षोपन्यासयोगो नाम त्रयविंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः ३४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

प्रातेषु सुखदुःखेषु यो नश्यति स नश्यति ।
 यो न नश्यत्यनाशोऽसावलं शास्त्रोपदेशनैः ॥ १
 यस्य चेच्छोदयस्तस्य सन्त्यवश्यं सुखादयः ।

अहमित्यादिभिः सद्भिर्भावविकाराकारै रूपवान् ॥ २९ ॥ सं-
 विदो निर्वाणमप्रसरः । अजगत् सर्वजगत्त्रिभुक्तिः । उन्मीलनं
 प्रसरः ॥ ३० ॥ स्वप्नसरोधयोः स्वयमेवेष्टे इति ईश्वरो
 ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ स च स्पन्दो मिथ्याभूताविद्याविवर्त एव
 न तु सत्यब्रह्मस्वभावज इत्याह—ब्रह्मण इति ॥ ३२ ॥ आवि-
 श्कारवे च विवर्तरूपा एव सर्गताः ब्रह्मणो बीजयो भ्रान्ति-
 रेव । वस्तुतस्तु न स्वप्नो नापि सर्गतेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ परमाहं-
 तस्साहिं ब्रह्म कीदृशं तदाह—एकमेवेति । अचिरं चित्त्वाख्य-
 धर्मान्तरक्षयम् ॥ ३४ ॥ तादृशब्रह्मभावेन स्थितिरेव योगिनः
 संविप्रशमनं मुनित्वं चेत्याह—यथास्थितस्येति ॥ ३५ ॥
 साहं जीवभासहितम् ॥ ३६ ॥ संकल्पसृष्टेरसंकल्पनमिव
 दृष्टसृष्टेरस्या अदृष्टिरेव निवृत्तिरित्याह—यथेति ॥ ३७ ॥
 सर्वजगदनुभवगतः स्वभावो जाह्नवं सैव मूलाविद्या तामेकां
 वर्जयित्वा सर्वे एव शब्दार्था नामरूपाणि सहेतुकास्तदहेतुकाः ।
 तस्य स्वभावस्यापि यो हेतुः साक्षितया साधकस्तदनुभावनं
 स्वात्मनस्वप्नमात्रतापादनं मुक्तिरित्यर्थः ॥ ३८ ॥ अविद्यापममे
 न कस्यचिदपि जाह्नवं परिशिष्यत इति विदेकरसं योनिनो
 जगदित्याह—चिद्विद्याविना ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ क्रिय-
 यो० वा० १४३

ते चेत्सम्यक्चिद्विकित्स्यन्ते पूर्वमिच्छैव मुच्यताम् ॥२
 अहं जगदिदं भ्रान्तिर्नास्त्येव परमे पदे ।
 इदं शान्तमनालम्बं सर्वं निर्वाणमव्ययम् ॥ ३

त्कालं सा भ्रान्तिस्तत्राह—भ्रान्तिस्त्विति ॥ ४१ ॥ ननु
 भ्रान्तिः कथं ब्रह्मतां गच्छति तत्राह—भ्रान्तिस्त्विति ।
 भ्रान्तौ यः सत्तास्फूर्त्यशः स ब्रह्मतां गच्छति, अन्यस्तु नास्त्ये-
 वेति न तदभिप्रायेणोक्तमिति भावः ॥ ४३ ॥ सर्वभ्रान्तिबाध-
 परिशिष्टं ब्रह्म दर्शयन् रामं तद्भावस्थितौ स्थापयति—अना-
 दीति । हे राम, त्वं देहप्रसन्नप्रसक्तां सर्वां जरामोहादिविकार-
 भारभ्रान्ति विमुच्य ब्रह्माकाशभावमेहि । प्रामुहीत्यर्थः ॥ ४४ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 सत्यार्षोपन्यासयोगो नाम त्रयविंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

दृष्टसृष्टिर्जगत्सत्यादर्शनादेव संक्षयः ।

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः सत्यवर्ण्यन्तेऽत्रोपपत्तयः ॥ १ ॥

‘वेदनोत्थं जगदहं चिति शाम्यत्यवेदनात्’ इति यदुक्तं
 तत्रोपपत्तीर्विबभूवर्भगवान्वासिष्ठः प्रथमं नश्वरीभ्यः सुखदुःखानु-
 भवत्रिपुटीभ्यः पृथक्त्वानश्वरमात्मानं दर्शयंस्तदर्शनादेव सर्व-
 शास्त्रोपदेशानां चरितार्थवेत्याह—प्रातेष्विति ॥ १ ॥ वस्ति-
 च्छादिमान् स निखदुःखी नाम्ना कित्तिच्छास्यागापुपायवि-
 कित्सनीयसंसृतिरोगकोटावेवेत्याद्येनाह—यस्य चेति ॥ २ ॥
 यस्त्वविनाश्यात्मा तत्रेच्छाद्यभिमानो तदभिमन्तव्यं जगत्तत्र

१ देहप्रसक्तां वलति पाठः.

अहं ब्रह्म जगद्येति शब्दसंभ्रमविभ्रमः ।
 सर्वस्मिञ्छान्त आकाशे केन नामोपकल्पितः ॥ ४
 नेहास्त्यहं न च जगन्न च ब्रह्मादिशब्दकाः ।
 शान्तस्यैकस्य सर्वत्वात्कर्ता भोक्तेह कः कुतः ॥ ५
 उपदेश्यतिशायित्वात्सर्वापहव एव च ।
 कृतोऽयं स च सत्यात्मा त एवाहं विशिष्यते ॥ ६
 अग्रस्थसिद्धसंचारो ज्ञायते नापि दारुणः ।
 यथैकपार्श्वसंस्तुतनरः स्वप्नाभ्रगर्जितम् ॥ ७
 ज्ञप्तौ नास्ति यत्स्तेन सिद्धाचारो न लक्ष्यते ।
 स्वभाव इति सर्वेण ज्ञप्तिस्थो ह्यनुभूयते ॥ ८
 ज्ञप्तिरप्यात्मभूतैव सर्वं भाति हि तन्मयम् ।
 तस्मात्साहं जगत्सर्वमभिन्नं परमात्मनः ॥ ९
 ज्ञप्तिर्जगत्तया भाति संकल्पस्वप्नयोरिव ।
 अनानावयवोदेति जलमूर्मितया यथा ॥ १०
 एकात्मैवोदये ज्ञप्तेर्नानातामिव चागतः ।
 अज्ञानात्स त्वयस्तुत्वात्प्रेक्षितो नोपलभ्यते ॥ ११
 यथा स्वावयवानेव सर्वानवयवी भवेत् ।
 नित्यानवयवं शान्तं ब्रह्मैवेदं तथा जगत् ॥ १२
 भाण्डलक्षणाणि धत्तेऽन्तश्चिद्रूपकनकेष्टिका ।
 यदेष सा चेतयते जगदादीव वेत्ति तत् ॥ १३
 ब्रह्मैव कचतीवेदं सत्तयाच्छजगत्तया ।
 चिद्रूपत्वाद्भ्यात्मात्वात्तरङ्गादितयाब्धिषत् ॥ १४

संभाव्यमेवेत्याह—अहमिति ॥ ३ ॥ एवं चाहमादिशब्दास्तत्र
 निर्विषया इत्याह—अहमिति ॥ ४ ॥ तदभावे दूरपास्तैव
 कर्तृभोकादिकथेत्याह—नेहेति ॥ ५ ॥ ननु सर्वापहवे उपदे-
 शादिरप्यपहूयेत । तथा च तद्बोधोपायो न लभ्येत इति चेदस्तु
 नामैवम् । उपदेश्यस्य ब्रह्मणः सर्वापहवेऽप्यनपहवात्पहूयमा-
 नात्तसर्वाभ्यः पारमार्थिकसत्यप्रत्यगात्मस्वरूपातिशयवत्त्वा-
 चापहवोपायेन तद्बोधानन्तरमुपदेशाद्युपायस्यानपेक्षणा चेत्या-
 शयेनाह—उपदेश्येति । विशिष्यते परिशिष्यते अतिशय्यते
 च ॥ ६ ॥ अस्तुवेवं तथापि कथमदर्शनमात्रेण दृश्योपशमस्त-
 प्राह—अग्रस्थेति । यथा पुरोभागेऽपि स्थितानामन्तर्धान-
 शक्त्या अन्तर्हितानां सिद्धानां पिशाचादीनां च संचारो व्य-
 हारो दारुणो भयंकरोऽपि न ज्ञायते । यथा वा एकशय्याप्रदेशे
 सुप्तस्य नरान्तरस्य स्वप्ने प्रसिद्धानामभ्रणां गर्जितं दारुणमपि
 न ज्ञायते तथास्मद्दृष्ट्या नास्त्येव तद्वदित्यर्थः ॥ ७ ॥ तदे-
 वाह—ज्ञप्तिविति । सर्वेणापि द्रष्टा स्वज्ञप्तिस्थोऽनुभूयते इति
 स्वभावो हि प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ ८ ॥ अस्तुवेवं किं तत्सत्प्राह—
 ज्ञप्तिरपीति ॥ ९ ॥ अनानावयवापि ज्ञप्तिर्नानावयवजगत्तया
 भाति ॥ १० ॥ नानातामिवागत एक आत्मैव ज्ञप्तेरज्ञानादि-
 वतरूप उदयः । स तूदयोऽवस्तुत्वात्स्वदृशा प्रेक्षितो नोपल-
 भ्यते ॥ ११ ॥ यथाऽयमनवयवोऽपि जीवः स्वान् इत्युपादा-

यद्यच्चेतयतेऽन्तस्तु जगदादीव पश्यति ।
 अरूपमपि रूपं स्वं यन्न चेतयते न तत् ॥ १५
 चेतनाचेतनत्वोक्ती तस्येशत्वात्स्वदेहगे ।
 उपदेशार्थमेवोक्ते न सद्विषयमर्थतः ॥ १६
 न जगत्सन्न चैवासङ्गासते चेतनाच्चिति ।
 अचेतनान्न कचति क इवार्थग्रहोऽत्र नः ॥ १७
 अचेतनं चेतनं च स्पन्दास्पन्दवदात्मनः ।
 स्वायत्ते न कदर्थस्थे स्वस्थपाषाणवत्स्थिते ॥ १८
 यस्येक्षितस्य नो सत्ता नाधारो न च कारणम् ।
 सोऽहमित्येव यो यश्चो न जाने कुत उत्थितः ॥ १९
 यस्याहमिति यक्षस्य सत्तैवास्ति न सत्यतः ।
 अहो नु चित्रं तेनेमे भवन्तो विवशीकृताः ॥ २०
 काकतालीयवद्भ्रान्तमहं ब्रह्मणि भासते ।
 स्वमेव रूपं दृग्भ्रान्तौ केशोण्डकमिवाम्बरे ॥ २१
 ब्रह्मैवाहं जगद्यत्र कुतो नाशसमुद्भवौ ।
 अतो हर्षविषादानां किंत्वेव कथमास्पदम् ॥ २२
 सर्वेश्वरत्वादीशस्य विभातीदं प्रचेतितम् ।
 अचेतितं च नो भाति तेनाचेतितमस्तु ते ॥ २३
 काकतालीयवच्चित्वाज्जगतो भाति ब्रह्म खम् ।
 स्वप्नसंकल्पपुरवत्तस्माद्भिद्यते कथम् ॥ २४
 यथोर्म्यादि जले वृक्षे यथा वा शालभञ्जिका ।
 यथा घटादयो भूमौ तथा ब्रह्मणि सर्गता ॥ २५

यवयवान् कलयन्स्वप्ननोरथादावयवी भवेत्तथा ब्रह्मापी-
 ल्यर्थः ॥ १२ ॥ चिद्रूपा कनकेष्टिका कुलाली चेतयते स्मरति
 ॥ १३ ॥ १४ ॥ यन्न चेतयते नाध्यस्यति न तत्पश्यति ॥ १५ ॥
 ईशत्वात्मायाशब्दत्वेन सर्वशक्तिसंपन्नत्वात्स्वदेहभूतमायागते ।
 इदं तु वचनमर्थतः सद्विषयं परमार्थगोचरं नेत्यर्थः ॥ १६ ॥
 ॥ १७ ॥ अस्तुवेवं किं तत्सत्प्राह—अचेतनमिति । स्वायत्ते
 स्वाधीने न कदर्थस्थे यन्नभ्रमसाध्ये । यथा स्वस्थस्य निश्चलस्य
 स्फटिकपाषाणस्य स्वान्तर्गतप्रतिबिम्बसहस्रस्पन्दास्पन्दे न यन्न-
 साध्ये तद्वत्स्थिते ॥ १८ ॥ सर्वकल्पनामूलस्यैकस्याहंकारस्यैव
 परीक्षणेन मिथ्यात्वावधारणे सर्वजगन्मिथ्यात्वं सिद्धमित्याश-
 येनाह—यस्येति ॥ १९ ॥ सत्यतो वस्तुतः । सत्ता विद्यमा-
 नता ॥ २० ॥ काकतालीयवदाकस्मिकम् ॥ २१ ॥ एवं च
 यत्फलितं तदाह—ब्रह्मैवेति । किमास्पदं विषय आश्रयश्च
 ॥ २२ ॥ वर्णितां दृष्टसृष्टिकल्पनामनूय तत्फलमाह—सर्वेश्वर-
 त्वाच्चिति । ते तव अचेतितं जगददर्शनमस्तु । तदेव सर्वदृश्य-
 मार्जनरूपा मुक्तिः फलमित्यर्थः ॥ २३ ॥ वर्णितरीत्या जगतोऽपि
 चित्वाद्ब्रह्म स्वमेव स्वप्नसंकल्पपुरवत्काकतालीयवदकस्मादन्यथा
 भाति । वस्तुतस्तु तज्जगत्सत्ताकथं भिद्यते, तद्भेदे सत्तास्फूर्त्य-
 लभेनालीकृतप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ २४ ॥ स्तिमिते जले यथा
 कर्म्यादि । अस्तुत्कीर्णे वृक्षाकृष्टे शालभञ्जिका । भूमौ वाजु-

अनाकृतावसंस्थाने स्वच्छे यदनुभूयते ।
 तत्तदेवात उदितं किंनामाहं जगन्ति किम् ॥ २६
 मरुतः स्पन्दवैचित्र्यं सत्तयैव यथा तथा ।
 ब्रह्मणो निःस्वभावस्य जगदाद्यहमादि च ॥ २७
 यथाभ्रे लक्ष्यते वृक्षगजवाजिमृगादिता ।
 असन्निवेशाकृतिनि सर्गाहन्ते तथापरे ॥ २८
 सर्गोऽवयववद्भाति सर्व एव परे शिवे ।
 एवं तदुपरमां विद्धि कार्यकारणवद्यथा ॥ २९
 अन्तःशान्तमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
 जगत्यसंभवादेव व्योमवत्सममास्यताम् ॥ ३०
 न भवन्तो न च घयं न जगन्ति न खादयः ।
 सन्ति शान्तमशेषेण ब्रह्मेदं निर्भरं स्थितम् ॥ ३१
 अशेषेष्विशेषेषु शान्ताशेषविशेषता ।
 सत्या सैवाहमित्याशु त्यक्त्वा मोक्षाय भाव्यताम् ३२
 वेदनं बन्धनं विद्धि विद्धि मोक्षमवेदनम् ।
 यथास्थितं यथाचारं भव शान्तमवेदनम् ॥ ३३
 द्रष्टा न दृश्यतां याति चित्तिर्नायाति चेत्यताम् ।
 चेत्याभावादजगति कः किं चेतयते कथम् ॥ ३४
 द्रष्टृदृश्यदशाभावाज्जाप्रत्येव सुषुप्तिवत् ।
 शरदाकाशकोशाभमसत्तोपममास्यताम् ॥ ३५
 तथैकब्रह्मचिद्रूपे पवनस्पन्दने यथा ।
 अत्राचिद्रोधता सर्गो मोक्षो ब्रह्मैकबोधता ॥ ३६
 चित्स्पन्दो ब्रह्ममरुतो यत्र सर्ग इति स्मृतः ।
 नात्र चित्स्पन्दनं यत्स्यान्निर्वाणं तदुदाहृतम् ॥ ३७

बीजमन्तर्यथा वेत्ति स्वरूपं पल्लवादिकम् ।
 तथा महाचिदन्तस्थं स्वरूपं वेत्ति सर्गताम् ॥ ३८
 पत्रादिवेदनाद्रीजं यथा पत्रादि तिष्ठति ।
 परा चित्सर्गसंविच्छिस्तथा भवति सर्गता ॥ ३९
 यथा भावविकाराभाञ्छित्पराः सर्गतास्तथा ।
 सर्वे बीजानि दृष्टान्तास्तद्रूपा एव तन्मयाः ॥ ४०
 निर्विकारपरब्रह्ममयं सर्वमिदं जगत् ।
 निर्विकारमनाद्यन्तमेवं विद्धि निरामयम् ॥ ४१
 निजसंकल्पमात्रात्मा निजसंकल्पनात्क्षयी ।
 द्वैताद्वैतविकारोऽयं संकल्पनगरं यथा ॥ ४२
 शून्यत्वाकाशयोर्भेदो यादृशोऽवगतस्त्वया ।
 भेदं निरात्मकं विद्धि तादृशं ब्रह्मसर्गयोः ॥ ४३
 महाचिद्रूपिणी शान्ता या सत्ता ब्रह्मणः पुरा ।
 स्वतः सेयमहत्वं च मानवोऽस्मीत्यबोधतः ॥ ४४
 ब्रह्मण्यस्मिज्जगद्रूपे न किञ्चिदपि जायते ।
 जातमप्यथ नष्टं च न नश्यत्यम्बुवीचिवत् ॥ ४५
 पदार्थब्रह्मरूपेण ब्रह्मेवात्मनि तिष्ठति ।
 अवयवीवावयवे स्त्रे त्रं वारीव वारिणि ॥ ४६
 निमेषादर्धभागेन देशादेशान्तरस्थितौ ।
 यद्रूपं संविदो मध्ये स स्वभाव उपास्यताम् ॥ ४७
 संक्षुब्धमक्षुब्धमिति द्विरूपं
 संवित्स्वरूपं प्रवदन्ति सन्तः ।
 भ्रेयः परं येन समीहसे त्वं
 तदेकनिष्ठो भव माऽमतिर्भूः ॥ ४८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वात्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थयोगोपदेशो नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

द्रुता घटादयस्तथेत्यर्थः ॥ २५ ॥ असंस्थाने निरवयवे ।
 दृष्टान्ते 'यथाभ्रे' इति वक्ष्यति ॥ २६ ॥ सत्ताभेदादर्शनादपि
 तन्मात्रत्वमित्याह—मरुत इति । निःस्वभावस्य निरवयवस्य
 ॥ २७ ॥ गजवाजिमृगादिता तत्तदाकारः तादृशसंनिवेशाकृ-
 तिदृश्ये अत्रे आकाशे नीहारे वा ॥ २८ ॥ अवयववत् वृक्षशा-
 खावत् । कार्यं घटादिः कारणं तद्बीजादिस्तद्वद्यथा लोके सूक्ष्मा-
 र्थोपमानानि प्रसिद्धानि एवं तयोः सर्गब्रह्मणोरप्युपरमां विद्धि
 ॥ २९ ॥ बर्णितरीत्या जगत्याः जगतः स्वव्यतिरिक्तस्यासंभ-
 वादेव व्योमवत्समं निर्विकल्पमास्यताम् ॥ ३० ॥ निर्भरमति-
 वेलम् । पूर्णमिति यावत् ॥ ३१ ॥ चिदतिरिक्तरूपानिरूपणादशेष-
 येषु पदार्थेष्विशेषेषु सत्सु विशेषभ्रमं त्यक्त्वा शान्ताशेषविशेष-
 षता परमार्थसत्या सा चिदेवाहमिति भाव्यताम् ॥ ३२ ॥
 यथाचारं विद्वदाचारं भूमिकाभ्यासमनतिक्रम्य ॥ ३३ ॥ तत्त्व-
 बोधदार्ढ्ये जडार्थचेतनप्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—द्रष्टेति ॥ ३४ ॥
 असत्तोपमं शून्यकल्पं न तु शून्यमेव ॥ ३५ ॥ ब्रह्मण्यहानात्म-
 वनस्पन्दवद्भेददर्शनम् । तथा च चिदचिद्भेददर्शनमेव सर्गः
 ऐक्यदर्शनमेव तन्मोक्ष इति निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥
 भेददर्शनस्यैव सर्गतां दृष्टान्तरूपपादयति—बीजमित्यादिना

॥ ३८ ॥ वेदनसमकालमेव तद्भाषस्थितावप्येतादृश एव दृ-
 ष्टान्त इत्याह—पत्रादीति ॥ ३९ ॥ वृक्षस्य षड्भावविकारा
 अभ्यत्र दृष्टान्ता इत्याह—यथेति । भावविकाराणामाभाः क्र-
 मिकप्रतिभासाः बीजादिरूपेण स्थितायाश्चित एव विकारत्वा-
 तन्मयाः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ पुरा पूर्वसिद्धा सैत्र
 अबोधतो मानवोऽस्मीत्याकारेणाहंता चाज्जगता च भवतीत्यर्थः
 ॥ ४४ ॥ जातमपि न जायते । नष्टमपि न नश्यति ॥ ४५ ॥
 पदार्थरूपेण ब्रह्मरूपेण च स्थितं ब्रह्म आत्मन्यविकृतस्वभावे
 तिष्ठति । यथा वृक्षः स्वावयवे ॥ ४६ ॥ वास्तवी स्थितिलु-
 चितो निर्विकल्पेवेत्याह—निमेषादिति । प्राग्ब्याख्यातमेतत्
 ॥ ४७ ॥ हे राम, सन्तो विवेकिनः शास्त्रज्ञाः । संवित्स्वरूप-
 मेकं संक्षुब्धं सविवर्तमज्ञानुभवसिद्धमपरमक्षुब्धं निर्विकर्तं कूट-
 स्वपूर्णानन्दैकरसमिति द्विरूपं प्रवदन्ति । तयोर्मध्ये येन त्वं
 परं भ्रेयः परमपुरुषार्थं समीहसे तदेकनिष्ठो भव । अपरीक्ष्य
 यत्किञ्चिद्गद्दी अमतिरविवेकी मा भूरित्यर्थः ॥ ४८ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थ-
 योगोपदेशो नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः ३५

भीवसिष्ठ उवाच ।

वेशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदः क्षणात् ।
 यद्रूपममलं मध्ये परं तद्रूपमात्मनः ॥ १ ॥
 गच्छन्नुपवन्स्पृशन्ननुष्णमिषमिषण्डसन् ।
 नूनं निरामयत्वाय नित्यमेतन्मयो भव ॥ २ ॥
 तत एव निराभासात्सत्याभिर्वासनैषणात् ।
 यथास्थितं यथाचारमबलाऽमरशैलवत् ॥ ३ ॥
 एतद्रूपमविद्यायाः प्रेक्षिता यन्न लभ्यते ।
 प्रेक्षिता लभ्यते चेतसा तद्विद्यैव पराभवत् ॥ ४ ॥
 अविद्यासंभवाच्चेत्यचिरैव संभवतः क्व किम् ।
 चेत्यते कथमेवान्तः शान्तिरेव बलोदिता ॥ ५ ॥
 सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत् ।
 सर्वं वाऽसर्ववद्भाति शुद्धं चाशुद्धवत्ततम् ॥ ६ ॥
 अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वाऽशून्यवत्स्फुटम् ।
 स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम् ॥ ७ ॥
 अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत् ।
 सदेवासदिवादृश्यं तदेवातदिवोदितम् ॥ ८ ॥
 अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जडवद्गतम् ।
 अचेत्यं चेत्यमावीव निरंशं सांशशोभनम् ॥ ९ ॥
 अनहं सोऽहमिव तदनाशमिव नाशवत् ।
 अकलङ्कं कलङ्गीव निर्वेद्यं वेद्यवाहितम् ॥ १० ॥
 आलोकि ध्वान्तघनवन्नवन्न पुरातनम् ।

परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजगद्गणम् ॥ ११ ॥
 सर्वात्मकमपि त्यक्तदृष्टं कष्टेन भूयसा ।
 अजालमपि जालाढ्यं चाशेषवदनेकधा ॥ १२ ॥
 निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम् ।
 ब्रह्म विद्धि विद्वानाधमपामिव महोदधिम् ॥ १३ ॥
 जगद्ब्रह्ममहाकोशं तुलायां तूलकालघु ।
 मायामरीचिशशिनमपि नेक्षणगोचरम् ॥ १४ ॥
 अनन्तमपि निष्पारं न च क्वचिदपि स्थितम् ।
 आकाशे घनविन्यासनगनिर्माणतत्परम् ॥ १५ ॥
 अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
 गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १६ ॥
 अकर्तृकर्मकरणमकारणमकारकम् ।
 अन्तःशून्यतयैवैतच्चिराय परिपूरितम् ॥ १७ ॥
 जगत्समुद्रकमपि नित्यं शून्यमरण्यवत् ।
 अनन्तशैलकठिनमप्याकाशलवान्मृदु ॥ १८ ॥
 प्रत्येकं प्रत्यहं प्रायः पुराणं पेलवं नवम् ।
 आलोकमन्धकारामं तमस्वालोकमाततम् ॥ १९ ॥
 प्रत्यक्षमपि दुर्लभ्यं परोक्षमपि चाग्रगम् ।
 चिद्रूपमेव च जडं जडमेव चिदात्मकम् ॥ २० ॥
 अहमेवानहंभावमनहं वाऽहमेव च ।
 अन्यदेव तदेवाहमहमेवान्यदेव तत् ॥ २१ ॥
 अस्य पूर्णार्णवस्यान्तरिमे त्रिभुवनोर्मयः ।

सप्रपञ्चाप्रपञ्चात्मवस्त्वस्त्वण्डेन्यदृष्टये ।

सत्यानुतोभयामासं ब्रह्मरूपं प्रपन्नयते ॥ १ ॥

संशुद्धमशुद्धमिति द्विरूपं ब्रह्म विरोधामासोक्तिभिः प्रप-
 न्यप्यनशुद्धरूपं प्रथमं प्रागुक्तोपायपरिचितं तन्निष्ठताविधा-
 नाय स्मारयति—देशादिति । क्रमिकविषयद्वयान्तरालकाले
 यन्निर्विषयं रूपं तत्परमशुद्धमित्यर्थः ॥ १ ॥ एतन्मयो निर्वि-
 षयचिन्मात्रनिष्ठो नूनमवश्यं भव ॥ २ ॥ यथास्थितं जीवन्मु-
 क्तस्थितिमनतिक्रम्य यथाचारं स्वकुलाचारमप्यनतिक्रम्य न्यव-
 हरमपि ततस्तादृशानिष्ठायाः सकाशादबला नचलैव । नमर्थोऽ-
 ममकारो न नम् । अचला तन्निष्ठतैव विधेत्यर्थः ॥ ३ ॥ वक्ष्य-
 माणोपयोगितया तद्विरुद्धामविद्यां लक्षयति—एतदिति । प्रे-
 क्षिता प्रमाणैर्विमृष्टा ॥ ४ ॥ चेत्यचिरैव चिचेत्यभेदो । भे-
 दासंभवे च शान्तिरेव कथं चेत्यते चेतनाय व्याप्रियते । अतो
 विमर्शं शान्तिनिर्वैद्यवेदनचिन्मात्रस्थितिरेव बलादुचितेत्यर्थः
 ॥ ५ ॥ विद्याविद्यामिश्रितया आन्तरालिकरूपमिषण्डविवेकि-
 दृष्ट्या तु ब्रह्म नियतैकरूपमप्यनियतविरुद्धानात्मभावमिव तिष्ठ-
 तीति विरोधामासः प्रमाणयुक्त्यनुभवादिभिश्चासर्गसमाप्तेस्त-
 दप्रपद्यति—सत्यमित्यादिभिः । ब्रह्म जगच्च सत्यं परमायत

एकमेव, तदेकमेव अनेकवत्तद्विरुद्धरूपेण स्थितमिति योज्यम् ।
 एवमप्रेऽपि । सर्वं पूर्णम् ॥ ६ ॥ शून्यमिव प्रलये । अशून्यव-
 र्त्सर्गे । कालतो देशतस्तु स्फारम् ॥ ७ ॥ अदृश्यं द्रष्टुमशक्य-
 मित्यसदिव ॥ ८ ॥ सांशमिव शोभनं शोभमानम् ॥ ९ ॥
 नाशवदिव । वेशं बहति प्रवनेन निर्वहति तच्छीलमिव ॥ १० ॥
 आलोकि स्वप्रकाशम् । राहोः शिर इतिबद्देदकल्पनादिभिः
 ॥ ११ ॥ भूयसा यज्ञदानतपश्चित्तशुद्धिवैराग्यश्रवणमननादिना
 कष्टेन पुरुषप्रयत्नेन त्यक्तं दृष्टं इत्यजातं येन । अनेकधा स्थित-
 मप्यशेषवत् द्वितीयपरिशेषशून्यम् ॥ १२ ॥ मायालक्षणस्यांशुम-
 ण्डलस्य रश्मिजालस्यामलभास्कररूपम् । वित् वेदनमात्रस्वरू-
 पमपि । अप्यर्थे द्विशब्दः । विदां सर्ववेदनानां नाथं स्वामि-
 भूतमिव सर्वज्ञम् ॥ १३ ॥ ब्रह्माण्डात्मना जगद्ब्रह्ममहाकोशम् ।
 गुरुतममपि विवेकतुलायां तोलने गुरुत्वमात्रस्यानृतत्वात्तूलक-
 वादपि लघु ॥ १४ ॥ अनन्तं कालतः, निष्पारं देशतः । तथापि
 क्वचिद्देशे काले वा नावस्थितम् । आकाशे शून्यदेशेऽपि ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ परिपूरितं कर्त्राधिकारकैः ॥ १७ ॥ १८ ॥ प्रत्येकं प्रतिवस्तु ।
 प्रत्यहं प्रतिकालम् । जगत्सिरोभावकरात्मनः । अप्यर्थे तुशब्दः
 ॥ १९ ॥ २० ॥ अनहं सुष्मदर्थः । अन्यत् इदमर्थ इत्यपौनस-
 क्यम् ॥ २१ ॥ उक्तेष्वर्णवैद्यु मायामात्रत्वमभिप्रेस्योपपत्तीराह—

स्फुरन्त इव तिष्ठन्ति स्वभावद्रवतात्मकाः ॥ २२ ॥
 विभर्ति सर्वमङ्गस्थं तुषारमिव शुक्लताम् ।
 भाति सर्वस्त्वनेनैव तुषारेणैव शुक्लता ॥ २३ ॥
 अदेशकालावयवोऽप्येव देवो दिवानिशम् ।
 असज्जगत्तनोतीव यथा धारितरङ्गकम् ॥ २४ ॥
 एतस्मिन्विकसन्तीमा विपुलाकाशकानने ।
 जगज्जरठमञ्जयः प्रसरत्पत्रपञ्चकाः ॥ २५ ॥
 एष स्वप्रतिबिम्बस्य स्वयमालोकनेच्छया ।
 अत्यन्तनिर्मलाकारः स्वयं मुकुरतां गतः ॥ २६ ॥
 व्योमवृक्षफलस्यास्य स्वेच्छावयव उज्ज्वलाः ।
 सर्गोपलम्भ उद्यच्च चमत्कुर्वन्ति संविदि ॥ २७ ॥
 अन्तस्थेन बहिष्ठेन नानानानातयात्मनि ।
 एष सोऽन्तर्बहिर्भाति भावामावविभावया ॥ २८ ॥
 एतद्रूपा पदार्थधीरेतस्मिन्नेतदिच्छया ।
 चमत्करोत्येतदर्थं जिह्वेव स्वास्यकोटरे ॥ २९ ॥
 अस्याम्भसो द्रवत्वं यत्तदिदं जगदुच्यते ।
 संवित्स्वादूपलम्भाङ्गं भुवनावर्तवृत्तिमत् ॥ ३० ॥
 शान्त्यत्र पदार्थश्रीः सर्वासामेव भास्वति ।
 एतस्मादेव चोदेति स्वालोक इव तेजसः ॥ ३१ ॥
 इवमेव जगत्सर्वं शुक्लत्वं तुष्टिने यथा ।
 अत एताः प्रवर्तन्ते विद् इन्द्रोर्बिवांशवः ॥ ३२ ॥

एतस्माद्रङ्गतोऽनङ्गाज्जगच्चित्रमितं स्थितम् ।
 विद्ध्यभावविकारादिशान्तमेतन्मयं ततम् ॥ ३३ ॥
 अस्माद्धनतरोरेताः स्वरूढा गगनाकृणे ।
 दृश्यशाखाः प्रवर्तन्ते जगज्जालगुलुच्छकाः ॥ ३४ ॥
 व्ययोदयवती नूनमत्र दृश्यतरङ्गिणी ।
 नानातानन्तकुसुमा बहुत्यविचलाचले ॥ ३५ ॥
 अस्मिन्व्योमात्मके रङ्गे भुवनामिनयभ्रमैः ।
 नृत्यत्यधिरतारम्भं धारैर्नियतिनर्तकी ॥ ३६ ॥
 जगत्कोटिमहाकल्पकल्पोन्मेषनिमेषणः ।
 विताने नाट्यते भूयो जन्यते कालबालकः ॥ ३७ ॥
 उद्यत्स्वपि जगत्स्वेष शान्तमेवावतिष्ठते ।
 अनिच्छ एव मुकुरः प्रतिबिम्बशतेष्विव ॥ ३८ ॥
 भूतानां वर्तमानानां सर्गाणां संभविष्यताम् ।
 एषोऽकारणकं बीजं सर्गाणामिव कारणम् ॥ ३९ ॥
 अस्योन्मेषो जगल्लक्ष्मीर्निमेषः प्रलयागमः ।
 अनुन्मेषनिमेषोऽसावात्मन्येवावतिष्ठते ॥ ४० ॥
 उद्यन्त्यमूनि सुबहूनि महामहान्ति
 सर्गागमप्रलयजन्मदशा जगन्ति ।
 सर्वाणि तान्ययमपारस्वरूप एव
 प्रस्पन्दनानि मरुदेव यथास्व शान्तम् ॥ ४१ ॥

इत्यादिं श्रीशासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० परब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

अस्येत्यादिना ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ प्रसरन्ति दलस्थानी-
 यानि पद्मभूतलक्षणपत्रकानि यासाम् ॥ २५ ॥ स्वप्रतिबिम्बस्य
 वर्णितस्य जीवजगद्रूपस्याकारान्तरस्य । मुकुरतां दर्पणताम् ।
 अपरिच्छिन्नब्रह्मसंविदि वृक्षो गगनोदुम्बरस्तवीयफलकल्पस्य
 ब्रह्माण्डस्य स्वेच्छाकल्पिते त्रैलोक्यावयवे उज्ज्वल्य वीप्यमाना-
 क्षन्त्रसूर्यादयस्तेभ्य उद्यच्छुरादिकरणजालं च जीवभूतस्या-
 त्मनः सर्गोपलम्भे रूपादिदर्शने उपकरणतया चमत्कुर्वन्तीत्यर्थः
 ॥ २६ ॥ २७ ॥ स एष परमात्मा अन्तस्थेन वासनामयप्रपञ्चेन
 बहिष्ठेन भुवनात्मना आप्तस्वप्रयोर्नानातया सुषुप्तावनानातया
 च भावाभावविभावनया स्वयमेवान्तर्बहिष्च भाति नान्यदतो-
 ऽणुमात्रमप्यस्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥ एतदेव प्रपञ्चयति—एतद्रूपेत्या-
 दिना ॥ २९ ॥ संविदेव स्वादु यथा स्यात्तथा उपलभ्यन्त
 इत्युपलम्भान्यज्ञानि रूपरसाद्येकदेशा यस्य ॥ ३० ॥ सर्वासा-
 नेव सूर्यचन्द्रामिकरणादिमासां रूपादिपदार्थधीरत्रास्मिन्नेव भा-
 स्वति सुषुप्तप्रलययोः शान्त्यति आप्तस्वप्रयोर्वैतस्मादेवोदेति ।
 यथा सूर्यादितेजसः स्वालोकः प्रभामण्डलम् ॥ ३१ ॥
 इदं ब्रह्म । अतोऽस्या विद्विद्रूपप्रब्रह्मणः सकाशात् । एताः पदा-
 र्थश्रीवः ॥ ३२ ॥ अनङ्गाधिरवयवाद्रङ्गतो रङ्गकद्रव्यात् ।
 अन्माविकारविकारैरादिपदात्सगतवैचिन्त्यैव स्पृश्यम् । एतन्मयं

चिन्मयमेव विद्मि ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ अत्र एतस्मिन्नविचले
 अचले पर्वते व्ययोदयो हासवृद्धी तद्वती दृश्यलक्षणा
 तरङ्गिणी नदी वहति ॥ ३५ ॥ धारैः कल्पभेदरूपैर्वासरैर्निय-
 तोत्सववासरैश्च ॥ ३६ ॥ तथा निवर्तितनर्तक्या ब्रह्मरङ्गमाया-
 विताने काललक्षणः स्वबालकः पुत्रो भूयोभूयो नाट्यते उपसं-
 हृत्य च भूयो जन्यते । स कीदृशः । जगतां ब्रह्माण्डानां कोटयो
 महाप्रलया अवाप्तरप्रलयाश्च नेत्रोन्मेषनिमेषणे यस्य तथाविधः
 ॥ ३७ ॥ अनिच्छ इच्छादिविक्रियाशून्यः ॥ ३८ ॥ भौतिक-
 सर्गाणां कारणं भूतपञ्चकमिव ॥ ३९ ॥ उन्मेषो निमेषश्च
 समा यस्य । निर्मायस्त्वसौ अनुन्मेषनिमेषः । अत एव स्वात्म-
 न्येवावतिष्ठते ॥ ४० ॥ परिमाणतो महान्ति च तानि काल-
 संख्यावैभवादितो महान्ति च महामहान्ति जगन्ति ब्रह्माण्डा-
 स्तेषां तदन्तर्गतपदार्थानां च सर्गः अगमनमगमः स्थितिः प्रल-
 यश्च तत्र प्राणिनां जन्म देहपरिग्रहः बाल्यादिदशा आप्तदा-
 दिदशा उत्कर्षापकर्षदशाश्चेत्यमूनि विदाकाशे उद्यन्ति तानि
 सर्वाण्यपारोऽपरिच्छिन्नस्वरूपश्रिदाकाश एव यथा मरुप्रस्प-
 न्दनानि मरुदेव न बस्त्वन्तरमिति बुद्ध्या शान्तमास्त्वैत्यर्थः ॥ ४१ ॥
 इति श्रीशासिष्ठमहारायणे शासिष्ठतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 परब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः ३६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चमत्कुर्वन्त्यथानर्था आवर्ता इव वारिणि ।
 एकस्वभावाः सकला यथा वारितरङ्गकाः ॥ १
 सर्वस्यैवाद्य विश्वस्य निर्द्वैयज्ञेयरूपिणी ।
 परमाकाशतारूपं परोपशमसंश्रया ॥ २
 बालचिन्ता पुरोव्योम्नि न किञ्चिदपि मे यथा ।
 तथेदं तत्त्वतो विश्वं सत्यं तु शिशुचेतसि ॥ ३
 अरूपालोकमननं शिलापुत्रकसैन्यवत् ।
 रूपालोकमनस्कारा भान्ति केवात्र विश्वता ॥ ४
 रूपालोकमनस्कारसारश्चिन्मात्रतां विना ।
 न लभ्यतेऽसावपरं व्योमेवात्र क्व विश्वता ॥ ५
 विदो वित्तं जगद्भ्रान्तिरविरवं तु न विभ्रमः ।
 विरवाविरवे त्वदायत्ते चित्ताचित्ते यथा तव ॥ ६
 परमाकाशरूपत्वाच्चिद्व्योम्नो वितताकृतेः ।
 न स्वभावविपर्ययः कश्चित्संभवति क्वचित् ॥ ७
 तन्मयस्यास्य विश्वस्य न स्वभावविकारिता ।
 विद्यते प्रेक्ष्यमाणापि किमु सास्य भविष्यति ॥ ८

तुच्छस्यानिच्छतो भोगो न बन्धायेति व्रथ्यते ।

इच्छेव परमो बन्धस्तरयागान्मुक्तिरित्यपि ॥ १ ॥

इह सर्वे पदार्था विरुद्धानेकरूपा अविरुद्धेकरूपाश्च भासन्ते
 तत्र प्रथमं रूपं रागद्वेषाद्युद्भवेन दुःखहेतुत्वादनर्थरूपम्, द्वितीयं
 तु तदुपशमेन मोक्षोपयोगीति दर्शयति—चमत्कुर्वन्तीति ।
 सकलः पदार्था वारिण्यावर्ता इव भिन्नरूपाः प्रथमं चमत्कु-
 र्वन्ति इच्छोत्पादनेन चित्तं भ्रमयन्ति । अथानन्तरमनर्था राग-
 द्वेषनरकादिरूपाः पर्यवस्यन्ति । यथा तरङ्गकाः वारि जलमात्रं
 तथा एकस्वभावास्तु न चमत्कुर्वन्ति नाप्यनर्था इति भावः
 ॥ १ ॥ किं तदविरुद्धं रूपं येन रूपेणैकस्वभावास्तद्दर्शयति—
 सर्वस्यैवेति । सर्वस्याप्यस्य विश्वस्य सत्तामात्ररूपा परमाकाश-
 तैव तादृशं रूपं सा च सर्वेभ्यो ज्ञेयेभ्यो विशेषरूपेभ्यो
 निष्कृष्य ज्ञेयं यत्सन्मात्रं तद्रूपिणी अत एव परेण समाधिलक्षणे-
 नोपशमेन संश्रयो यस्यास्तथाविधा ॥ २ ॥ प्रसिद्धे व्योम्नि
 बालबुद्धिवेशं यक्षपिशाचादिमीषणरूपं प्रौढबुद्धिवेशं तन्निष्कृष्टं
 शुद्धरूपं च दृष्टान्ततया प्रसिद्धमित्याह—बालेति । बालस्य
 चिन्ता चिन्तनकल्पितरक्षःपिशाचादिरूपं प्रौढस्य दृष्ट्या यथा
 न किञ्चिदस्ति तथा विदुषो मे दृष्ट्या विश्वं नास्ति ॥ ३ ॥
 शिलापुत्रकसैन्यवदरूपालोकमननमेव विश्वं विद्वद्दृशा तत्र
 विश्वता केव । अज्ञदृशा तु रूपालोकमनस्कारा भान्ति ॥ ४ ॥
 रूपालोकमनस्कारयोरपि तत्त्वतो विमर्शो चिन्मात्रातिरिक्तं रूपं
 दुर्लभं दूरे ताभ्यां विश्वतासिद्धिरित्याह—रूपेति ॥ ५ ॥
 तथा च विदो वेदितृपुरुषस्य विश्वमेव जगद्भ्रान्तिः, अवेदितृत्वमेव
 न विभ्रमः सर्वविभ्रमशान्तिरिति फलितम् । तच्च स्पष्टयन्मुक्ति-

सर्वं चिद्व्योम वैचेदं न सस्वमहमित्यपि ।
 विकाराद्यस्ति न ज्ञप्तावहति न लभेत्कचित् ॥ ९
 सर्वं शान्तं शिवं शुद्धं त्वमद्वंतादिविभ्रमम् ।
 न किञ्चिदपि पश्यामि व्योमजं काननं यथा ॥ १०
 संविदाकाशशून्यत्वं यत्तद्विद्वि वचो मम ।
 इदं त्वत्संविदाकाशे स्वयमात्मनि तिष्ठति ॥ ११
 पदमाहुः परं सद्यदनिच्छोदयमासितम् ।
 पापाणपुरुषस्येव चित्रस्थस्येव चासनम् ॥ १२
 स विश्रान्तमना मौनी यस्य प्रकृतकर्मसु ।
 स्पन्दो दारुनरस्येव विगतेच्छमनाकुलम् ॥ १३
 अन्तःशून्यं बहिःशून्यं विरसं गतवासनम् ।
 जगद्वेणोरिव ज्ञस्य जीवतो भाति जीवनम् ॥ १४
 यस्य न स्वदते दृश्यमदृश्यं स्वदते हृदि ।
 सबाह्याभ्यन्तरं शान्तः स वितीर्णो भवार्णवात् ॥ १५
 उच्यन्तां शब्दजालानि वंशवद्गतवासनम् ।
 रसेनानङ्गलमेन प्रकृतानन्यचोदनैः ॥ १६
 स्पृश्यन्तां स्पर्शनीयानि यथाप्राप्तान्यवासनम् ।

वस्त्रायत्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥ 'अपरं व्योमेव' इति यदुक्तं तद्विश-
 दयति—परमाकाशेति । न हि चिज्जडीभवति न वा व्योम मूर्ति-
 भवतीति भावः ॥ ७ ॥ ब्रह्मदर्शनबाध्यत्वादपि जगत्त ब्रह्म-
 विकार इत्याह—तन्मयस्येति । या यत्र प्रेक्ष्यमाणापि न विद्यते
 बाध्यते अस्य सा किमु भविष्यति उत्पत्स्यते स्थास्यते वा ।
 नेतःसंभावितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ अभिमन्तव्यविकारनिरासन्त्या-
 येनाभिमन्तुविकारोऽपि निरसनीय इत्याह—सर्वमिति ।
 विकार आदिपदाद्वाधश्च ज्ञतो चिदात्मनि नास्त्यतः क्वचिदप्य-
 ज्ञप्तिं चिद्यतिरिक्तम् ॥ ९ ॥ १० ॥ इत्थं च मदीयमुपदेश-
 वचो यत्तदपि संविदाकाशरूपं शून्यत्वं विद्वि । यस्मादिदं वच-
 स्त्वत्संविदाकाशरूपे आत्मन्येव स्वयं तिष्ठति न जडस्वरूपे ।
 शब्दतत्त्वस्यापि चिद्रूपस्फोटान्मनैव निष्कर्षे पर्यवसानादिति
 भावः ॥ ११ ॥ एवं मेयमातृमानानां चिन्मात्रत्वे सिद्धे इच्छा-
 विषयादेरभावादनच्छोदयं यदासितमवस्थानं तदेव परमं पद-
 माहुः ॥ १२ ॥ इच्छाभावेऽपि जीवनहेतुव्यवहारसिद्धिमाह—स
 इति ॥ १३ ॥ एवं व्यवहारेण जीवतो ज्ञस्य कथं जगद्भ्रान्ति तदाह—
 अन्तरिति । वेणोर्वशनालस्येवान्तर्बहिश्च शून्यम् ॥ १४ ॥ न स्व-
 दते न रोचते ॥ १५ ॥ अस्वदनमेव प्रतीन्द्रियविषयं प्रपञ्चयं-
 स्तदुत्तीर्णतां दर्शयति—उच्यन्तामित्यादिना । प्रकृतः प्रकृतः
 प्रारब्धशेषक्षयस्तदुपयुक्तान्यशब्दोच्चारणरहितैर्ब्यवहारैरनङ्गल-
 मेन व्यवहाराद्ब्रह्मदाबहंममतासंबन्धरहितेन रसेन माधुर्येण
 वंशवन्मुरलीवद्गतवासनं यथा स्यात्तथा शब्दजालान्युच्यन्तामु-
 च्यन्तां वागिन्द्रियेणेत्यर्थः ॥ १६ ॥ एवं त्वगिन्द्रियेण स्वया
 नदभटवदेश्यादिकूटनिवासगृहेणेवाग्निच्छममनोदयं च स्पर्शनी-

कूटागारवदधुब्धमनिच्छममनोदयम् ॥ १७
 स्वाद्यन्तां रसजालानि विगतेच्छामयैषणम् ।
 अपरागाभिलषणं यथाप्राप्तानि दर्विवत् ॥ १८
 दृश्यन्तां रूपजालानि पुनः प्राप्तान्यवासनम् ।
 अरसं निर्मनोमानमगर्थं चित्रनेत्रवत् ॥ १९
 जिह्यन्तां गन्धपुष्पाणि विगतेच्छमवासनम् ।
 स्पन्दबन्धोपलभानि त्यागाय वनवातघत् ॥ २०
 इति चेद्विरसत्वेन बोधयित्वा चिकित्सिताः ।
 न भोगरोगास्तद्वच्च शान्त्यै नास्ति कथैव च ॥ २१
 यः स्वाद्यन्भोगविषं रतिमेति दिने दिने ।
 सोऽग्नौ स्वमूर्तिं ज्वलिते कक्षमक्षयमुज्झति ॥ २२
 निरिच्छत्वं समाधानमाहुरागमभूषणाः ।
 यथा शान्त्येऽनमोऽनिच्छं नोपदेशशतैस्तथा ॥ २३
 इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम् ।
 तथा न नरके नापि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥ २४
 इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
 एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमाः ॥ २५
 यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथा यथा ।
 तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति ॥ २६
 यथा यथेच्छा तनुतां याति जन्तोर्विधेकतः ।
 तथा तथोपशाम्यन्ति दुःखचिन्ताविषूचिकाः ॥ २७
 यथा यथेच्छा घनतां याति लोकस्य रागतः ।
 तथा तथा विवर्धन्ते दुःखचिन्ताविषोर्मयः ॥ २८
 इच्छा चिकित्स्यते व्याधिर्न स्वयन्वैषधेन चेत् ।

यानि क्वचन्दनादीनि स्पृश्यन्ताम् ॥ १७ ॥ १८ ॥ अरसमनि-
 च्छम् । निर्मनोमानं मनो मीयते निर्मायते येन वासनाजालेन
 तद्रहितम् । अगर्भं निरभिमानम् । चित्रलिखितपुरुषादिनेत्र-
 वत् ॥ १९ ॥ जिह्यन्तां प्रायन्ताम् । अशिति जिघ्रदेशच्छा-
 न्दसः । 'जिघ्रन्तां' इति पाठे विकरणव्यत्ययः । अपानोपनीतं
 गन्धं स्पन्देन बध्नात्यस्रपाम्पनेति स्पन्दबन्धो प्राणं तदुपल-
 भानि । त्यागाय न तु रागाय ॥ २० ॥ इति उक्तरीत्या अनु-
 क्तैष्वपि कर्मेन्द्रियविषयेषु तद्वत्प्राग्भवत् चाज्ज्ञानेन्द्रियवच्च विरस-
 त्वेन निःसारत्वेन मनो बोधयित्वा भोगरोगाक्षेपं चिकित्सिता-
 श्चदा दुःखशान्त्यै कथैव नास्ति चादनर्थपरम्परोद्भवश्चास्तीत्यर्थः
 ॥ २१ ॥ तदेवाह—य इति । कक्षं तृणपूलम् । अक्षयमक्ष-
 ण्डितम् । अजस्रमिति यावत् । उज्झति क्षिपति ॥ २२ ॥ अतो
 भोगेच्छाल्याग एव मनःशान्तौ मुख्यो हेतुरिति स्तौति—
 निरिच्छत्वमिति ॥ २३ ॥ नापि ब्रह्मलोके इति । तथा चोक्तं
 ययातिना—'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
 तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' इति ॥ २४ ॥

१ मनोदयमित्यार्षम्.

२ वृषाममैः दृष्टुमेषम पाठः.

तदत्र बलबन्धन्ये विद्यते नौषधान्तरम् ॥ २९
 इच्छोपशमनं कर्तुं यदि कृत्स्नं न शक्यते ।
 स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥ ३०
 यस्त्विच्छातानवे यत्नं न करोति नराधमः ।
 सोऽन्धकूपे स्वमात्मानं दिनानुदिनमुज्झति ॥ ३१
 दुःखप्रसवशालिन्या बीजमिच्छैव संसृतेः ।
 सम्यग्ज्ञानाग्निदग्धा सा न भूयः परिरोहति ॥ ३२
 इच्छामात्रं हि संसारो निर्वाणं तदवेदनम् ।
 इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियतां किं वृथाभ्रमैः ॥ ३३
 शास्त्रोपदेशगुरवः प्रेक्ष्यन्ते किमनर्थकम् ।
 किमिच्छाननुसंधानसमाधिर्नाधिगम्यते ॥ ३४
 यस्येच्छाननुसंधानमात्रे दुःसाध्यता मतेः ।
 गुरुपदेशशास्त्रादि तस्य नूनं निरर्थकम् ॥ ३५
 इच्छाविषविकारिण्यामन्त एव नृणामलम् ।
 दुःखप्रसरकारिण्या हरिण्या जन्म जङ्गले ॥ ३६
 न वालीक्रियते त्वीषदात्मज्ञानाय चेदसौ ।
 इच्छोपशान्तिः क्रियतां तयालं तदयाप्यते ॥ ३७
 निरिच्छतैव निर्वाणं सेच्छतैव हि बन्धनम् ।
 यथाशक्ति जयेदिच्छां किमेतावति दुष्करम् ॥ ३८
 जरामरणजन्मादि करञ्जखदिरावलेः ।
 बीजमिच्छा सदैवान्तर्दृष्टतां शमवहिना ॥ ३९
 यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्ततैव ततस्ततः ।
 यावद्गति यथाप्राणं हन्यादिच्छां समुत्थिताम् ॥ ४०

एतावन्त्येतावन्मात्रपर्यवसितानि ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥
 लोकस्य जनस्य ॥ २८ ॥ तच्चिकित्सायां च धैर्यलक्षणः पुरुष-
 प्रयत्न एवौषधं नान्यदित्याह—इच्छेति ॥ २९ ॥ स्वल्पम-
 पीति । अल्पाल्पेच्छानिरोधाभ्यासक्रमेण सर्वत उपशमोद्युक्तेन
 भाव्यमित्यर्थः । मार्गस्थः सन्मार्गप्रविष्टः ॥ ३० ॥ दिनानुदिनं
 प्रतिदिनम् ॥ ३१ ॥ आत्यन्तिकेच्छाबाधस्तु ज्ञानेन तन्मूलना-
 शादेवेत्याह—दुःखेति ॥ ३२ ॥ तस्या अवेदनमसरवापाद-
 नम् । 'विद सत्तायाम्' भावे ल्युट् । वृथाभ्रमैर्यत्नान्तरैः ॥ ३३ ॥
 इच्छाप्रशमनयत्नाभावे शास्त्रादिवैयर्थ्यमपीत्याह—दास्त्रेति ।
 समाधिक्षिप्तसमाधानोपायः किं नाधिगम्यते किमर्थं नाश्रीयते
 ॥ ३४ ॥ मतेः स्वविवेकात् ॥ ३५ ॥ इच्छाविषविकारिण्यां
 संसृती नृणामन्तो मृत्युरेव । यथा हरिण्या व्याघ्रादिसंकुले
 जङ्गले मृत्युरेव तद्वत् ॥ ३६ ॥ असौ ना इच्छया चेन्न वाली-
 क्रियते बालवत्पलो न क्रियते तदा आत्मज्ञानाय तु ईषदेव
 प्रयत्नः अत इच्छोपशान्तिरेव क्रियतां तयैव तज्ज्ञानमवाप्यते
 ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ सदैवाभ्यस्तेन शमवहिना दृष्टताम् ॥ ३९ ॥ याव-
 द्विवेकवैराग्याद्युपायप्राप्ति । यथाप्राणं यथाधैर्यादिवलम् ॥ ४० ॥

१ अपानोपनीतमिति 'कृष्वं प्राणं उज्जयत्यपानः प्रत्यगसती'ति
 कठवल्लीशुक्लपुरोषेनेति वेदम्.

यतो यतश्च सेच्छत्वं बन्धपाशास्ततस्ततः ।
पुण्यपापमया दुःखराशयो विततार्तयः ॥ ४१
इच्छानिरासरहिते गते साधोः क्षणेऽपि च ।
दस्युभिर्मुषितस्येव युक्तमाक्रन्दितुं चिरम् ॥ ४२
यथा यथास्य पुंसोऽन्तरिच्छा समुपशाम्यति ।
तथा तथास्य कल्याणं मोक्षाय परिवर्धते ॥ ४३

आत्मनो निर्विकेकस्य यदिच्छापरिपूरणम् ।
संसारविषवृक्षस्य तदेव परिषेचनम् ॥ ४४
हृद्दक्षजाः स्वसुखदुःखकुबीजकोशौ
वैरादिवाश्रयकृतादशुभाच्छुभाच्च ।
आसाद्य दुष्कृतकृशानुशिखाः शितान्ता
इच्छाश्छमच्छमिति पुंस्पशुमादहन्ति ॥ ४५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संसारबीजकथनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः ३७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इच्छाविषविकारस्य वियोगं योगनामकम् ।
शान्तये शृणु भूयोऽपि पूर्वमुक्तमपि स्फुटम् ॥ १
आत्मनो व्यतिरिक्तं चेद्विद्यते तदिद्वेच्छया ।
इष्यतामसति त्वेतत्स्वात्मान्यत्वं किमिष्यते ॥ २
निर्भागावयवा सूक्ष्मा व्योमः शून्यतरैव चित् ।
सैवाहंजगदाकारा सती किं तत्सयेष्यते ॥ ३
सा व्योमरूपा व्योमैव व्योमात्मवेद्यवेदिका ।
व्योमात्मजगदाभासमप्रेच्छाविषयोऽस्ति कः ॥ ४
प्राह्यप्राहकसंबन्धः कुतश्चिदिति तन्न नः ।
विद्यतेऽसौ प्रशान्तानां येषामस्ति न वेद्यि तान् ॥ ५

दस्युभिर्मुषितस्यापहतसर्वस्वस्येव ॥४१॥४२॥ कल्याणं साधनचतुष्टयम् ॥ ४३ ॥ विषयोपभोगेनेच्छयाः परिपूरणं यतदेव ॥ ४४ ॥ हृत् हृदयं तल्लक्षणादुक्षादाश्रयादिबन्धनात् जाताः शितान्ताः निशिताप्रा इच्छा इच्छारूपा दुष्कृतकृशानु- शिखास्तत्रस्थं चिदाभासरूपं पुंस्पशुं जीवलक्षणं पशुं स्वाश्रये हृदि कृतादशुभात्पापलक्षणाच्छुभात्पुण्यलक्षणाच्च स्वाश्रयदूष- णापराधादुत्पन्नाद्वैरादिव मोहधूमैरन्वीकृत्य लेहपाशैर्हवं बद्धा च आसाद्य पातयित्वा तदीयौ सुखदुःखकुबीजानां कोशौ कुसूलस्थानीयौ तद्वृषणौ आसमन्तादहन्ति वार्ताद्वयवर्जयन्ति । छम- च्छमितीति तद्वसादाहोत्पशब्दानुकरणम् । इच्छाः कर्तव्यः । दुष्कृतकृशानुशिखाः आसाद्य प्रज्वाल्य तदीयकुबीजकोशौ दह- न्तीति वा । कुबीजकोशौ आसाद्य पुंस्पशुं दहन्तीति वा यथे- च्छमन्वयः । 'पुमः खय्यमपरे' इति रुवे 'संपुंकानाम्' इति सत्वम् । 'पुंस्पशुं' इति पाठस्तु च्छान्दसः ॥ ४५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संसा- रबीजकथनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

अथेच्छैव न जायेत जातापि ब्रह्म केवलम् ।

तथोपपत्तिभिर्भूयो ज्ञानयोगोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

वियोगफलकत्वाद्वियोगम् । इच्छामूलकसर्वानर्थाशान्तये ॥१॥

इच्छया इष्यताम् । यथेच्छमिच्छा प्रवर्ततामित्यर्थः । 'इच्छतां' इति पाठेऽप्ययमेवार्थः । तथा च यावदात्मा न ज्ञायते तावदेव

१ वार्ताकं घृन्ताकम्.

प्राह्यप्राहकसंबन्धः स्वनिष्ठोऽपि न लभ्यते ।
असतस्तु कथं लाभः केन लब्धोऽसितः शशी ॥ ६
एवैव प्राहकादीनां सत्ता यन्नात्मनिष्ठता ।
स्वभावावेक्षया सत्या न जाने क्व प्रयान्ति ते ॥ ७
एष एव स्वभावो यद्द्रष्टृदृश्यक्षयोऽखिलः ।
ज्ञात्वाऽसत्या विनिर्वाणमहंतात्मनि गच्छति ॥ ८
निर्वाणे नास्ति दृश्यादि दृश्यादौ नास्ति निर्वृतिः ।
मिथोऽनयोरनुभवो न च्छायातपयोरिव ॥ ९
उभे एते मिथोऽसत्ये असत्ये च न निर्वृतिः ।
यतो निर्वाणमजरमदुःखमनुभूयते ॥ १०

द्वितीयवस्तुसत्यताभ्रान्त्या इच्छोदय इत्यात्मज्ञानयोग एव विष- यापहारद्वारा तन्निवृत्त्युपाय इति भावः ॥२॥ यदि तु ज्ञानेन जग- त्सत्यं ब्रह्मैव संपन्नमिति न मिथ्येति मन्यसे तदाप्यत्यन्ताभेदे एषिन्नादित्रिपुटीघटितेच्छया असिद्धिरित्याह—निर्भागेति । निर्गतो भागश्चिपुटीविभाजकोपाधिभेदो विभजनीयावयवभेदश्च यस्याः । अहंकारा जगदाकारा च सैव सती ॥३॥४॥ बुद्ध्या अगृहीते विषये इच्छानुदयाद्वाप्यप्राहकसंबन्धाभावे ग्रहणस्या- सिद्धेरपि विदुषां नेच्छाप्रसक्तिरित्याह—प्राह्येति । प्रशान्तानां नः असौ अज्ञदृष्टिप्रसिद्धो प्राह्यप्राहकसंबन्धः कुतश्चिदपि निमित्तात्प्रमाणाद्वा न विद्यते इत्येतस्माद्धेतोरपि किमिष्यते इत्यन्वयः । येषामज्ञानामस्ति तान्न वेद्यि । तेऽपि तत्त्वहसा अत्यन्ताप्रसिद्धा इत्यर्थः ॥ ५ ॥ त्वर्थे अपिशब्दः । असितः श्यामः ॥ ६ ॥ प्राहकादीनां सर्वत्रिपुटीनामेवैव सत्ता । कैषा यन्नात्मनिष्ठता तारिखके आत्मन्यविश्रान्तिः । अज्ञानमिति यावत् । ते च प्राहकादयः स्वभावोऽशास्त्रीयदृष्टिस्तदपेक्षया सत्याः शास्त्रीयतत्त्वदृष्ट्युदये क्व प्रयान्तीति न जाने ॥ ७ ॥ तत्त्वज्ञा- नस्याप्येष एव स्वभावो यदसत्या अहंता शास्त्रतः स्वतत्त्वं ज्ञात्वा तस्मिन्नात्मनि गच्छत्यपैति । स एवाखिलो द्रष्टृदृश्यक्षयो विशिष्टं निर्वाणं चेत्यर्थः ॥ ८ ॥ दृश्यनिर्वाणयोः परस्परसह- भावोऽपि स्वभावत एवेत्याह—निर्वाण इति । मिथोऽनुभवः सहानुभवः ॥ ९ ॥ कुतो न सहानुभवोऽपीति तत्राह—उभे

२ इच्छतामिति पाठे विकरणव्यञ्जन आर्षः.

अप्रभृतं च दृश्यादि नित्यं नात्र सुखप्रदम् ।
 असद्य तद्भाष्यतां मा निर्वाणे स्वीयतामजे ॥ ११
 शुक्तिकारुण्यसदृशं प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
 अर्थकार्यपि तन्नास्ति किमत्रापहवेन च ॥ १२
 तत्सद्भावात्महृदुःखमसद्भावात्महृत्सुखम् ।
 अभावः सोपपत्तिस्तु दृढतां याति भावनात् ॥ १३
 तत्किमात्मनि बन्धाय विदग्धं न मुधाधमाः ।
 स्पष्ट एवोपचयदेवैस्तुन्यस्तामिताऽपदे ॥ १४
 कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
 तदा तु ब्रह्मता ह्यस्मिन्संविन्मात्रात्मके तते ॥ १५
 मार्गयन्ति प्रबोधाय तैर्मृगैरलमस्तु नः ।
 व्योमरूपे किलैकस्मिन्सर्वोत्तमनि तते सति ॥ १६
 कार्यकारणताद्यानामुक्तीनामेव कः क्रमः ।
 यो हेतुः स्पन्दने वायोर्द्रवत्वे सलिलस्य च ॥ १७
 शून्यत्वे नभसः सौम्य सर्गादित्वे चिदात्मनः ।
 कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ॥ १८
 तदा ब्रह्मणि सर्गाणां कारणार्था विलज्जता ।
 न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिषमयं जगत् ॥ १९
 नास्ति चिन्मात्रतान्यत्वमत इच्छोदयः कुतः ।
 मृदेहयोधसेनायां न मृन्मात्रेतरद्यथा ॥ २०
 न सज्जगद्दहतादौ दृश्ये ब्रह्मेतरद्यथा ।

इति । यदि मिथः सह स्यातां तदा उभे परस्परबाधितत्वात्-
 सत्ये स्याताम् । ताम् असत्ये को दोषस्तत्राह—असत्ये चेति ।
 तथा च विद्वदनुभवविरोध इत्याह—यत् इति ॥ १० ॥ ननु
 तर्हि सर्वजनप्रसिद्धं दृश्यादिमहाकौतुकं निर्वाणे दुर्लभं स्यादित्य-
 नाश्रावं परिहरन्नाह—अप्रभृतमिति । असत् चादनर्थरूपं
 च तद्दृश्यादि मा भाष्यतां न चिन्व्यताम् ॥ ११ ॥ तत् अर्थ-
 कारि पुरुषार्थसंपादकं नास्त्येव । अत्र ईदृशे दृश्ये अपहवेन
 किं कौतुकं गतमित्यर्थः ॥ १२ ॥ अभावः शाब्दज्ञानकृतो
 बाधः सोपपत्तिर्मेव न सहितो भावनाधिदिव्यासनात् ॥ १३ ॥
 इदानीं परमकारुणिको भगवान्बसिष्ठो दृश्यकौतुकासक्तानध-
 माधिकारिणः भोतृन्बलाजिर्भर्त्ये दृश्यासक्तिं त्याज्यन्नाह—
 तत्किमिति । हे अधमाः, यूयमुपचयदेवैर्विकारजातस्य अपदे
 परमार्थवस्तुनि स्वप्रकाशत्वाच्छाब्दाचार्योपदेशाच्च करतलमल-
 कवत्स्पष्टे एव स्फुरति सत्यस्वामदर्शनं किं इत् प्रामुत् । भवन्नि-
 स्सद्दृश्यजातं किमात्मनि बन्धनाय न विदग्धम् । किं बन्ध
 एवाभिलषितोऽस्ति येन दृश्यासक्तिं न मुञ्चतेत्यर्थः ॥ १४ ॥
 यदा कार्यकारणभावादि सर्वं ब्रह्मैव भवति तदैव तु देहादिप-
 रिच्छेदापगमासते विस्मरं प्राप्ते चिन्मात्रात्मके प्रतीचि ब्रह्मता
 सिञ्चति माणुमात्रमपि दृश्यपरिशेषे ॥ १५ ॥ अत इव
 व्योमरूपे सर्वात्मनि पूर्णेऽपि कार्यकारणतादिदृश्यमग्नीकुल्य के
 प्रज्ञप्रबोधाय साधनानि मार्गयन्ति सुगमयन्ते तैर्वादिमृगैस्तादृकिः

श्रीराम उवाच ।

एवं चेत्तदुदेत्विच्छा मा वीदेतु मुनीश्वर ॥ २१
 सा तु ब्रह्मैव कोऽर्थः स्यात्स्या विधिनिषेधने ।
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 ज्ञातायां संप्रबुद्धायामिच्छा ब्रह्मैव नेतरत् ॥ २२
 यथा संबुद्धवाग्राम तत्सत्यं किं त्विदं शृणु ।
 यदा यदा ज्ञतोदेति शान्म्यतीच्छा तदा तदा ॥ २३
 वस्तुस्वभावापुद्गलस्यादित्ये वामिनी यथा ।
 शान्म्यत्येव न तूदेति ज्ञताविच्छादि तत्तथा ॥ २४
 यथा यथोदयो ज्ञतेर्ज्ञेयतान्तिस्तथा तथा ।
 वासनाविलयश्चैव कथमिच्छोदयो भवेत् ॥ २५
 तस्या विद्योपशान्तेयं निर्मला मुक्ततोदिता ।
 अशेषदृश्यवैरस्याद्यस्येच्छोदेति न कश्चित् ॥ २६
 विरक्ततास्य नो दृश्ये नोदेत्यत्रास्य रकता ।
 केवलं द्रष्टृदृश्यधीः स्वदते न स्वभावतः ॥ २७
 काकतालीययोगेन परमेरण्यमनया ।
 यदि किञ्चित्कदाचिच्च सम्यगिच्छति वा न वा ॥ २८
 तदस्य सेच्छा नेच्छा वा ब्रह्मैवात्र न संशयः ।
 इच्छा न जायते ज्ञस्यावश्यमेवानु वा न वा ॥ २९
 ज्ञता चेदुदिता जन्तोस्तद्विच्छास्योपशान्म्यति ।
 नैतयोः स्थितिरेकत्र प्रकाशतमसोरिव ॥ ३०
 प्रतिषेधविधीनां तु तज्ज्ञो न विषयः कश्चित् ।

शिष्यमृगैर्वा अलमस्तु । प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥
 यदि चावश्यं हेतुर्वाच्यस्तर्हि सर्वस्वभावरूपा स्वाविवैषेत्याशये-
 नाह—य इति ॥ १७ ॥ अत एव विदुषां तद्भावात्सर्गाविहेतु-
 निरूपणे निर्लेज्जतादोष इत्याह—कार्येति ॥ १८ ॥ कारण-
 प्रतिपादनार्था उक्तिर्विलज्जता निर्लेज्जता ॥ १९ ॥ २० ॥
 यदि सर्वं ब्रह्मैव तर्हि इच्छापि सुतरां ब्रह्मेति तदुत्पत्तौ का
 क्षतिरिति विद्वद्बुद्ध्या रामः शङ्कते—एवं चेदिति ॥ २१ ॥
 'इच्छानुत्पादने यमः क्रियतां किं वृथाध्रमेः' इत्यादिप्राशुक्यमवि-
 धिनिषेधने निवारणे सत्यं विदुष इच्छोदयेऽपि न काचित्क्षतिः ।
 विद्याबाधितायास्तस्या उदय एव दुर्लभ इत्युत्तरमाह—ज्ञाता-
 यामित्यादिना ॥ २२ ॥ २३ ॥ 'इटकटकटी गतौ' इत्यत्र ई
 इति प्रच्छिष्टस्य धातोः अत्रन्तस्य सप्तम्येकवचने अयतीति कर्प
 न त्वयतेः । तस्यात्मनेपदित्वात् ॥ २४ ॥ २५ ॥ मूलोच्छेदादपि
 विदुषो नेच्छोदयसंभव इत्याशयेनाह—तस्येति ॥ २६ ॥ न
 स्वदते न रोचते ॥ २७ ॥ सम्यक् शास्त्रानिषिद्धं देहधारण-
 मात्रसाधनमज्ञदानादि ॥ २८ ॥ तत्तदा अस्य विदुषः सा
 इच्छा नेच्छाऽनिच्छा वा उभयं ब्रह्मैव । अथवा ज्ञस्य विदुषो
 न वा अभिनवभोगचमत्कारविषया इच्छा अवश्यं न जायते
 एव । प्रागभ्यस्तमनुसृत्य तु वा अनियतेत्यर्थः ॥ २९ ॥ ज्ञता
 तत्त्वज्ञानम् । तत् तदा ॥ ३० ॥ अत एव रागतः प्रसक्तनिषिद्ध-

शान्तसर्वेषुच्छस्य कोऽस्य किं वक्ति किंकृते ॥ ३१
 एतदेव वृताचिह्नं यदिच्छास्वतितानवम् ।
 ह्लादनं सर्वलोकानामथानुभव एव वा ॥ ३२
 दृश्यं विरसतां यातं यदा न खदते क्वचित् ।
 तदा नेच्छा प्रसरति तदैव च विमुक्तता ॥ ३३
 बोधादनैक्यमद्वैतं यः शान्तमवतिष्ठते ।
 इच्छानिच्छादयः सर्वे भावास्तस्य शिवात्मकाः ॥ ३४
 बोधादस्तमितद्वैतमद्वैतैक्यविवर्जितम् ।
 यः स्वच्छो विगतव्यग्रः शान्त आत्मन्यवस्थितः ॥ ३५
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
 न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३६
 नानिच्छया नेच्छयाथ न सता नासता सदा ।
 नैवात्मना न चान्येन नैतैर्मरणजीवितैः ॥ ३७
 इच्छा च तस्य नोदेति निर्वाणस्य प्रबोधिनः ।
 यदि चोदेति तस्येच्छा ब्रह्म शाश्वतमेव सा ॥ ३८
 न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमजं जगत् ।
 इति योऽन्तः शिलेवास्ते तं प्रबुद्धं विदुर्बुधाः ॥ ३९
 दुःखं सुखं भावनया कुर्वन्विषमिवामृतम् ।
 इति निश्चित्य धीरात्मा प्रबुद्ध इति कथ्यते ॥ ४०
 तत्स्थितं व्योमनि व्योम शान्ते शान्तं शिवे शिवम् ।
 शून्ये शून्यं सति च सद्यद्ब्रह्मणि जगत्स्थितम् ॥ ४१
 असंवेदनसंविद्ये ततेऽविश्वमिति स्थिते ।

क्रियाप्रतिषेधशब्दे नीरागोऽयं नाधिकारीत्याह—प्रतिषेधेति ।
 किंकृते कस्मै प्रयोजनाय । न ह्यनन्धस्य कूपे न पतनीयमित्यन्धेन
 वक्तव्यमस्तीति भावः ॥ ३१ ॥ बाह्येच्छानिश्चिः खानन्दानु-
 भवतृप्तिश्च तत्त्वबोधोदयचिह्नमित्याह—एतदेवेति । सर्वलोका-
 नामभयदानेन ह्लादनम् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ अद्वैतं द्वैत-
 ध्वंसरूपं बस्तन्तरम्, ऐक्यं मेलनमेकत्वसंख्या च तैर्विवर्जितं
 यथा स्यात्तथा य आस्ते तस्येति परेणान्वयः ॥ ३५ ॥ अर्थ-
 व्यपाश्रयः प्रयोजनलाभः ॥ ३६ ॥ नानिच्छयेति । अर्थव्यपा-
 श्रय इति सर्वत्रानुषज्यते ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ इति प्राग्व-
 णितमात्मतत्त्वं निश्चित्य दुःखं सुखं च निरतिशयानन्दात्मभावनया
 विषममृतमिदं कुर्वन् ॥ ४० ॥ तद्बोधानुसारिणी स्थितिरेव
 सर्ववस्तूनामविपर्यस्तस्थितिर्नाज्ञप्रसिद्धेत्याह—तदिति । तत्
 तदा ॥ ४१ ॥ इति उक्तीत्या अविश्वं निर्जगत्कं यथा स्यात्तथा
 स्थिते सति ॥ ४२ ॥ चिन्तापुरं मनोराज्यनगरं तदुपमम्
 ॥ ४३ ॥ परः पुरुषान्तरं तृतीयमनोराज्यकल्पितायाः पुरो
 नगर्या मध्ये तव यथा अन्तर्गमागभावविघ्नं कुञ्जादिप्रतिबन्ध-
 शून्यं सिध्यतस्तथा विदुषोऽप्यस्मिन् जगद्भ्रमे सिध्यत इत्यर्थः
 ॥ ४४ ॥ तत्कृतस्तत्राह—अद्वैतीति । यतः अख्यादिशून्य-
 तरात्मनि ब्रह्मरन्तःकरणमेवाख्यादिशोभात्मना जुम्भते । यथा

१ कस्य इति पाठः. २ बोरात्मा इति पाठः.

सौम्ये समसमे शान्ते शिवेऽहंताभ्रमः क्षयी ॥ ४२
 यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
 तत्सर्वं शान्तमाकाशं परचिन्तापुरोपमम् ॥ ४३
 परचिन्तापुरोमध्ये गतविघ्नं गमागमौ ।
 यथान्तस्तव शून्यत्वात्तथैवास्मिज्जगद्भ्रमे ॥ ४४
 अग्निपूर्वीनदीशैलशोभाशून्यतरात्मनि ।
 जुम्भते द्रष्टृकरणं मृगतृष्णाम्बुवीक्षितम् ॥ ४५
 स्वप्ननिर्माणपुरवद्दालवेतालतालवत् ।
 यदिदं दृश्यते तत्र किं किलासत्यतेतरत् ॥ ४६
 असत्यमेवाहमिति भासते सत्यमेव च ।
 भ्रान्तिभाजं विनैवेयं भ्रान्तिः स्फुरति सा सती ॥ ४७
 न सन्नासन्न सदसत्किमपीदमतीन्द्रियम् ।
 अवाक्यं जगदित्येव भात्यवशुभितं खवत् ॥ ४८
 इहेच्छानिच्छते ह्यस्य शाम्यतां यदलं समे ।
 तथापि श्रेयसे मन्ये नन्वनिच्छोदयं स्फुटम् ॥ ४९
 अहं जगदिति ह्यतिः खे खस्येवेयमास्थिता ।
 चिदात्मनो यथा वायोः स्पन्दो नाप्राप्ति कारणं ॥ ५०
 चित्तश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तच्चित्तं सैव संसृतिः ।
 सेच्छा तन्मुक्तता मुक्तिर्युक्तिं ज्ञात्वेति शाम्यताम् ॥ ५१
 इच्छा भवत्वनिच्छा वा सर्गो वा प्रलयोऽथवा ।
 क्षतिर्न कस्यचित्काचिन्न च किञ्चिदिहास्ति हि ॥ ५२
 इच्छानिच्छे सदसती भावाभावो सुखासुखे ।

तृषितभ्रान्तपुरुषस्य चक्षुरूपं करणमम्बुशून्ये पुरोदेशे मृगतृ-
 ष्णाम्बुवीच्यात्मना जुम्भते तद्वदित्यर्थः ॥ ४५ ॥ असत्यताया
 इतरत् सत्यत्वं किं किल ॥ ४६ ॥ भ्रान्तिभाजो मिथ्यात्वादपि
 भ्रान्तेर्मिथ्यात्वमित्याह—असत्यमेवेति । यतः सत्यं ब्रह्मैवाह-
 मिदमिति चासत्यमेव भासते अत इयं भ्रान्तिर्भ्रान्तिभाजं
 विनैव स्फुरतीत्यसतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥ अत्यन्तासत्त्वे शून्यत्वादि-
 मतप्रवेशः । अत्यन्तं सत्त्वे अद्वैतश्रुतिविद्वदनुभवविरोधः ।
 उभयरूपत्वं तु विरोधादसंभवीत्यनिर्वचनीयतायति पुंस्त्ववदस्य
 परिशेषादित्याह—न सदिति । अतीन्द्रियं इन्द्रियानवधार्यत-
 त्वम् । खवत् इन्द्रियवत् । गन्धर्वनगरायाकारावशुब्धाकाशा-
 वदा ॥ ४८ ॥ ह्यस्य तत्त्वविदस्तत्त्वबोधबलादेवालं शाम्यतां
 विषयाणां यत् यद्यपि इच्छानिच्छते समे तुल्यफले तथाप्य-
 निच्छोदयमेव स्फुटं निर्विक्षेपसुखाभिव्यक्तिहेतुं श्रेयसे मन्ये ।
 नन्विति रामसंबोधने ॥ ४९ ॥ यथा अविच्छेते एव खे 'आ-
 काशाद्रायु'रित्यादिश्रुत्युक्तमेणाहं जगदिति ह्यतिरास्थिता तद्ब-
 दज्ञानावृत्तचिदात्मनोऽपि । नात्र कारणान्तरं मृगमित्यर्थः
 ॥ ५० ॥ तथा च चिदात्मनो बहिःप्रवणतैवेच्छा चित्तं
 संसारश्च, अन्तःस्वरूपे स्थितिरेव मुक्तिरिति फलितमित्याह—
 चित्त इति ॥ ५१ ॥ तथा चेश्वरस्य सर्गप्रलययोरिव विदुष
 इच्छानिच्छयोर्न कश्चिन्नामः क्षतिर्वैत्याह—इच्छेति । अस्ति
 फलमिति शेषः ॥ ५२ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—इच्छानिच्छे इति ।

इत्यत्र कलना व्योम्नि संभवन्ति न काश्चन ॥ ५३
 इच्छानां तानवं यस्य दिनानुदिनमागतम् ।
 विवेकशमत्तस्य तमाहुर्मोक्षभागिनम् ॥ ५४
 इच्छाधुरिकया विचे हृदि शूलं प्रवर्तते ।
 जयन्ति यत्र नैतानि मणिमन्त्रौषधानि च ॥ ५५
 यान्कार्यकरणव्यूहान्कृतवान्पूर्वमेव तान् ।
 संप्रेक्षया न पश्यामि मिथ्याभ्रमभरादते ॥ ५६
 भ्रमभूतेन कुर्मन्नेद्यवहारमवस्तुना ।
 तत्कस्मात्परचित्पात्रिः कम्बलत्वं न नीयते ॥ ५७
 असता व्यवहारध्वेत्प्रेक्षामात्रविनाशिना ।
 क्रियते शशशृङ्गेण तत्कथं छाद्यते न खम् ॥ ५८
 अहंभावाच्चिदाकाशो जाख्यातिशयतः क्षणात् ।
 पाषाणतां जलमिव मनस्त्वाद्याति देहताम् ॥ ५९
 चित्त्वाद्नुभवत्येतामसत्यामेव देहिताम् ।
 अविनष्टैव चिच्छक्तिः स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ६०
 व्योम्न्यसत्यमवस्तुत्वात्सत्यं चानुभवाद्यथा ।
 नीलत्वं तद्वदीशेऽस्मिन्सर्गो नासन्न सन्मयः ॥ ६१
 यथा शून्यत्वमभसोर्यथा स्पन्दनमस्वतोः ।
 भेदो नास्ति तथा सर्गब्रह्मणोरेकरूपयोः ॥ ६२
 नेह संजायते किञ्चिज्जगदादि न नश्यति ।

कलनाः कल्पनाः । अत्र तत्त्वविद्रूपे व्योम्नि चिदाकाशे ॥५३॥
 ॥ ५४ ॥ इच्छालक्षणया धुरिकया धुरप्रमाणशाल्येन । शूलं
 शोकभोहादिवेदना । यत्र यस्मिन् शूले एतानि लोकप्रसिद्धानि
 मणिमन्त्रौषधानि न जयन्ति । कुण्ठीभवन्तीति यावत् ॥ ५५ ॥
 विधाता प्राणिदुःखविचिकित्सार्थं यान् औषधमन्त्रयन्त्रादिकारण-
 प्रामान् कृतवास्तान् पूर्वमेव बहुशः परीक्षणार्थं संप्रेक्षया यतमा-
 नोऽहं मिथ्याभ्रमभरेण आहते पुंसि तच्चिकित्सासमर्थान् पश्यामि
 ॥ ५६ ॥ ननु भ्रान्तिसिद्धेनेव केनचिदुपायेन तच्चिकित्सादि-
 व्यवहारोऽस्तु तत्राह—भ्रमभूतेनेति । भ्रमो भ्रान्तिज्ञानं तेन
 भूतेन सिद्धेन । अस्मद्भ्रान्तिसिद्धोपायेन परभ्रान्तिसिद्धदुःखनि-
 वारणे अस्मन्ननोरथकल्पितबहुयोजनविस्तृतमुखेन परकीयस्व-
 प्रशैलादेः कवलनप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ भ्रान्तिसिद्धस्या-
 सत्त्वादपि न पारमार्थिके परदुःखनिवारणे सामर्थ्यमित्याह—
 अस्ततेति । क्रियते इति पूर्वाम्बयि । तस्मात्तवीर्यं तत्त्वज्ञाना-
 भिव्यक्तं परमार्थसत्यं प्रकृतं तवीर्यसर्वभ्रमदुःखनिवारणो-
 पायो नान्य इति भावः ॥ ५८ ॥ नन्वमूर्तमनोभ्रान्तिमात्रं
 जगत्कथं मूर्तदेहादिभावं याति तत्राह—अहंभावादिति ।
 देहाकाशाराहंभावात् । जलं जाख्यातिशयतः पाषाणतां कर-
 काभावमिव ॥ ५९ ॥ कल्पिते चितः स्वमरणतुल्ये जडदेह-
 भावेऽपि वास्तवचिद्रूपमक्षतमेवेति तेन तामनुभवतीत्याह—
 चिस्त्वादिति ॥ ६० ॥ प्रातिभासिकजडभावः प्रतिभासापीन-
 सताकत्वादिनिर्वचनीय इत्याह—व्योम्नीति ॥ ६१ ॥ अत एव

स्वप्ने निद्रागतस्येव केवलं प्रतिभासते ॥ ६३
 अविद्यमाने पृथ्व्यादौ प्रतिभामात्ररूपिणि ।
 सर्गे क इव संरम्भस्त्यागादानैश्चिदम्बरे ॥ ६४
 न देहः प्रतिभातोऽस्ति पृथ्व्यादिकारणान्वितः ।
 केवलं ब्रह्मचिन्मात्रमेवात्मन्येव संस्थितम् ॥ ६५
 बुद्ध्यादेः कारणत्वं च द्वैतैक्यासंभवाच्च सत् ।
 अनेनेदं क्रियत इत्यस्यार्थं याति संभवात् ॥ ६६
 अहेतुरक्रमं भाति त्रिति कल्पक्रियागणः ।
 क्षणेनैव यथा स्वप्ने मृत्तिजन्मादि सत्त्वराः ॥ ६७
 स्वमेव पृथ्वी खं शैलाः स्वमेव दृढभित्तयः ।
 स्वमेव लोकाः स्पन्दः खं सर्गसंवेदनं चितेः ॥ ६८
 व्योमभित्तौ जगच्चित्रं चिद्रङ्गमयमाततम् ।
 नोदेति नास्तमायाति न शाम्यति न ताम्यति ॥६९
 चिद्वारिणि जगत्सुकृतरङ्गद्रवरूपिणि ।
 किं नु वा कथमुत्पन्नं किं शान्तं च कदा कथम् ॥७०
 शान्ते महाचिदाकाशे जगच्छून्यत्वशालिनि ।
 चेत्यासंभवतः सन्ति नोदयास्तमयौ कुतः ॥ ७१
 पर्वता गगनायन्ते गगनं पर्वतायते ।
 संवेदनप्रयोगेण ब्रह्मणः सर्गता स्थितौ ॥ ७२
 संविद्यूर्णप्रयोगेण निमेषार्धेन योगिनः ।
 कुर्वन्ति जगदाकाशमाकाशं त्रिजगन्ति च ॥ ७३

जगद्ब्रह्मसत्तयोरैक्याद्भेदो नास्तीत्याह—यथेति ॥६२॥ प्राति-
 भासिकार्थस्य स्वाप्रार्थवत्प्रतिभासातिरिक्तमुत्पत्त्यादिकमप्रसिद्ध-
 मित्याह—नेहेति ॥ ६३ ॥ अत एव तस्यागादानयोरभिवि-
 देशो न युक्त इत्याह—अविद्यमाने इति ॥ ६४ ॥ देहार्थं
 हि पृथ्व्याद्यर्थस्य त्यागादाने स्याताम् । यदा तदुभयं प्रतिभा-
 समात्रत्वादसत्ता ते अप्यसती इत्याशयेनाह—नेति । प्रति-
 भातः प्रतिभासमात्रत्वात् ॥ ६५ ॥ एवं बुद्ध्यादेरपि स्वप्ने-
 तिभासकचैतन्यापेक्षया द्वैतैक्ययोर्भेदाभेदयोरसंभवाद्भेदनेनेदं
 क्रियत इत्यस्य व्यवहारस्य कारणत्वमप्यसत्सदर्थं परमार्थवस्त्वेव
 याति । तस्यैव संभवादित्यर्थः ॥ ६६ ॥ एवं ब्रह्मणि कल्पम-
 हाकल्पादयस्तत्रत्यक्रियागणाश्च निर्हेतुका निष्क्रमा एव सहेतु-
 संक्रमवत्प्रतिभासन्त इत्याह—अहेतुरिति । मृत्तिजन्मादयः
 सत्त्वरा रीषकालरहिताः ॥६७॥ तथा च सर्वं चिदाकाश एवेति
 फलितमित्याह—स्वमेवेति । यतश्चितेः स्वात्मन्येव सर्गसंवे-
 दनं नान्यत्रेत्यर्थः ॥ ६८ ॥ न ताम्यति न ग्लायति ॥ ६९ ॥
 ॥ ७० ॥ स्तां तर्हि चित एव जगदात्मना उदयास्तमयौ, ने-
 स्याह—शान्ते इति । चेत्यासंभवतो यदा जगन्त्येव न सन्ति
 तदात्मना चित उदयास्तमयौ कुतः । कस्मात्सिन्धत इत्यर्थः
 ॥ ७१ ॥ यदि तु मायाविलासदृशा दृश्यते तदा सर्वस्य सर्व-
 रूपता यथेच्छमुपपद्यत इत्याह—पर्वता इति । संवेदनञ्च
 वासनावैचिन्त्यानुसारिकल्पनालक्षणेन प्रयोगेण संकल्पेन ॥७२॥
 अत एव योगसिद्धानामैच्छिकी विरुद्धकल्पना क्षणात्सिन्धवी-

सिद्धसंकल्पनगराण्यसंख्यानि यथाऽम्बरे ।
 तथा सर्गसहस्राणि सन्ति तानि तु चित्रमः ॥ ७४
 महार्णवे यथावर्ता अन्योन्यमपि मिथिताः ।
 पृथगेवावतिष्ठन्ते पयसोऽन्ये च नैव ते ॥ ७५
 महाचित्ति महासर्गा अन्योन्यमपि मिथिताः ।
 पृथगेवावतिष्ठन्ते व्यतिरिक्ता न ते ततः ॥ ७६
 सर्गात्सर्गान्तरालोके या प्रबुद्धस्य योगिनः ।
 सिद्धलोकान्तरे प्राप्तिः सैवेति विबुधोक्तयः ॥ ७७
 अविनाशिनि भूतानि स्थितानि परमे शिवे ।
 व्योम्नीष शृण्वतोऽह्लासाः सर्गवर्गा विरगळम् ॥ ७८
 परमार्थनिजामोदाः सहजाः सर्गविभ्रमाः ।
 नोद्यन्ति नोपशाम्यन्ति लेखा इव शिलोदरे ॥ ७९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाग्मी० दे० मो० निर्वाणप्रक० उत्तरार्धे दृश्योपदेशयोगो नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

अन्योन्यं कुलुप्रामोदा विंशिता अन्यमीक्षिताः ।
 व्योमरूपास्तथा सर्गा अन्योन्यं सिद्धभूमयः ॥ ८०
 संकल्पाकाशरूपत्वात्सर्वानुभवव्यतिरिक्तेः ।
 तनुसंकल्पमोहानां सत्याश्च मननोक्तयः ॥ ८१
 न ज्ञानवादिता सत्या न बाह्यानर्थवादिता ।
 यथावेदनमेतानि वेदनानि फलन्ति वः ॥ ८२
 चित्ति चित्त्वं यदस्त्यन्तर्जगदित्येव भाविते ।
 मेदो द्रवत्वपयसोरिव नात्रोपपद्यते ॥ ८३
 कालो जगन्ति भुवनान्यहमक्षवर्ग-
 स्त्वं तानि तत्र च तथेति च सर्वमेकम् ।
 चिद्योम शान्तमजमव्ययमीश्वरात्म
 रागाद्यः खलु न केचन संभवन्ति ॥ ८४

अष्टत्रिंशः सर्गः ३८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चित्पश्यति जगन्मिथ्या स्ववेदनविबोधिता ।
 व्योम्नि मायाजनासिक्ता दृग्निवाचलतान्तरम् ॥ १

व्याह—संविदिति । संविक्षणं यत्सिद्धौषधपूर्णं तत्प्रयोगेण
 ॥ ७३ ॥ यथा प्रसिद्धे अम्बरे आकाशे अनन्तानि सिद्धसं-
 कल्पकल्पितानि नगराणि परस्परमसंलग्नान्यन्तर्हितानि सन्ति
 तथा ब्रह्मणि सर्गसहस्राणि सन्ति ॥ ७४ ॥ तत्र दृष्टान्त-
 माह—महार्णवे इति ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ अन्योन्यमन्तर्हिता-
 नामपि सिद्धलोकान्तराणामिच्छयालोकने योगिनो या स्वोपा-
 धेर्मूलचित्ति प्रविलपनेन परचित्तानुप्रवेशद्वारा तल्लोकानुप्रवे-
 शलक्षणा प्राप्तिः सैव स्वसर्गात्सर्गान्तरालोकेऽपीति विबुधानां
 विदुषामुक्तयः । तथैव लीलोपाख्यानादौ वर्णनादिति भावः
 ॥ ७७ ॥ एवं च सर्वप्राणिनां तद्भोग्यसर्गाणां च शाश्वते ब्रह्म-
 ष्येव विवर्तरूपा स्थितिः फलितेत्याह—अविनाशिनीति ॥ ७८ ॥
 तथा च परमार्थविदाकाशस्य निजामोदकल्पाः सर्गविभ्रमा-
 स्तस्वरूपा एवेति नोत्पत्त्यादिरेषामस्तीत्याह—परमार्थेति ।
 रफटिकशिलोदरे दृश्यमाना लेखा रेखा इव ॥ ७९ ॥ सिद्धभूमय
 इवेति शेषः ॥ ८० ॥ अत एव प्रपञ्चस्य स्थूलसंकल्पमोहानां
 पामराणां दृष्ट्या स्थूलानुभवव्यतिरिक्तः सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतम-
 संकल्पमोहानां योगिभेदानां दृष्ट्या सूक्ष्मादिभावेन स्थितिरिति
 सर्वानुभवमनुसारात्स्वानुभवानुसारिण्यः सर्वकामुक्तयः
 कस्या इत्याह—संकल्पयेति । तत्र च सूक्ष्माः संकल्पा मोहाश्च
 येषां योगिनां तेषां मननपूर्विका जगत्सौक्ष्म्योक्तयश्च सत्याः
 न पामराणुभवविरोधेनासत्या मन्तव्या इत्यर्थः ॥ ८१ ॥ अत
 एव वादिभेदानां नानाविधकल्पना अपि तत्तद्वाच्यार्थकल्पा-
 नुसारेणैव सत्याः न सर्वसंकल्पानुसारेण परमार्थतो वेति तान्त्व-
 योऽप्याह—वेति । अथवादिता आन्तरिक्षात्तत्रात्रपरमार्थ-

ब्रह्मसर्गश्चित्तसर्गो द्वावेतौ सदृशौ मतौ ।
 परमार्थस्वरूपत्वादधुग्धत्वात्सदैव च ॥ २
 ज्ञानरूपतयाबाह्यं बाह्यं चानुभवास्तथा ।

वादिता । बाह्या इत्या ये अनर्था दुःखहेतवो द्रव्यगुणकर्मा-
 दिसप्तपदार्थास्तन्मात्रवादितापि सत्याः । यथावेदनं यथासंकल्पं
 तत्तदर्थक्रियासमर्थतया फलन्ति ॥ ८२ ॥ कस्तर्हि प्रामा-
 णिकः पक्षस्तमाह—चित्तीति । चित्त्वं त्रिपुटीप्रकाशनशक्तिः ।
 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' इत्यादि श्रुतेरिति भावः ॥ ८३ ॥ उक्त-
 मनूय प्रकृते योजयन्नुपसंहरति—काल इति । सर्वाधारः
 कालस्तदन्तर्गतानि जगन्ति ब्रह्माण्डास्तदन्तर्गतानि चतुर्दश-
 भुवनानि तदन्तर्गता अहंत्वमित्यादयो भोक्तारस्तेषां भोगोप-
 करणभूतोऽक्षवर्गस्तानि शब्दस्पर्शादिभोग्यानि तत्र च तथा
 विचित्रो भोगश्चेत्येतरसर्वमीश्वरात्म मायिकसर्वैरयसर्वैश्चलत्यादि-
 संपन्नं परमार्थतः शान्तमेकं चिद्योमैव । एवं खलु निश्चिते
 केचन रागाद्यो न संभवन्त्येवेल्ययमेनेच्छादिसर्वदोषजये मुख्यो-
 पाय इत्यर्थः ॥ ८४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपदेशयोगः नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ३७
 इह चिच्छेद्यसंलग्नेदभ्रमविरासतः ।
 चिदेव जगदित्येवस्तत्सकैरुपपाद्यते ॥ १ ॥

चेच्छेद्य सर्वजगत्तन्मात्रतां तर्कैरुपपादयिष्यन् भूमिकां
 रचयति—चिदिति । मिथ्या स्ववेदनं स्वस्व अत्रह्यतत्रप्र-
 त्येव विबोधिता विक्षिता । कथा माया दर्शनहेतुमाजनमिथो-
 वेणासिक्ता इह च धुग्धोऽपि अथलतां परमैतभावं तदान्तरं चित्त-
 म्बप्रत्यक्षिकरदरीवनकुजादि च पश्यति तत्रचित्त्वर्थः ॥ १ ॥
 आन्तिककल्पितस्त्वर्थं सर्वैश्चिन्तसर्गव्ययनः कल्पनयैव धुग्धव-
 ज्ञाति न वस्तुत इत्याह—ब्रह्मेति ॥ २ ॥ अन्तरेवं किं तत्त-

१ मिथिता अप्यमिथिता इति पाठः.

सत्यरूपमतः सत्यां विद्धि बाह्यार्थरूपताम् ॥ ३
 बाह्यार्थसद्विज्ञानवाद्योरैक्यमेव नः ।
 वेदानामैकरूपत्वात्सर्वदा सर्वसंस्थितेः ॥ ४
 अक्षुब्धखानिकालोकजलभूशान्तिशालिनी ।
 तता शून्या महारम्भा ब्रह्मसत्त्वैश्च सर्वतः ॥ ५
 तस्मै सर्वं ततः सर्वं तत्सर्वं सर्वतश्च तत् ।
 तच्च सर्वमयं नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ६
 चिन्मयत्वाद्यदा चेत्यमेति द्रष्टृचितैकताम् ।
 तदा दृश्याङ्गयैतद्येत्यते नान्यथा चिता ॥ ७
 यदा चिन्मात्रमेवेयं द्रष्टृदर्शनदृश्यदृक् ।
 तदानुभवमं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥ ८
 द्रष्टृदृश्ये न यद्येकमविष्यच्चिदात्मके ।
 तद्दृश्यास्वादमशः स्यात्तद्दृष्टुमिषोपलः ॥ ९
 चिन्मयत्वाच्चितौ चेत्यं जलमप्स्विव मज्जति ।
 तेनानुभूतिर्मवति नान्यथा काष्ठयोरिव ॥ १०

सजातीयैकताभावाद्यद्दृक्काष्ठं न चेतते ।
 दाह तद्दपि द्रष्टा दृश्यं नाशास्वदाजडम् ॥ ११
 यादृक्सत्ताभि काष्ठानि तादृश्रूपं त्वचेतनम् ।
 जानन्ति नेतरसत्तादृश्यं चिदृश्यचेतनम् ॥ १२
 महाचिदात्मनैवास्ति जलानिलधराश्चतम् ।
 नैतेषु स्पन्दबुद्ध्यादि प्राणजीवाद्यभावतः ॥ १३
 प्राणबुद्ध्यादयः सत्तां भावनावशतो गताः ।
 भावना चिच्चमत्कारः स यद्येकमुदेति च ॥ १४
 जगत्तया शान्ततया ब्रह्मसत्तावसिष्ठते ।
 पुंस्तया गत एवात्मा रेतोवटकबीजयोः ॥ १५
 सर्वाप्राणमये बीजे योऽस्मात्प्रगतोऽणुकः ।
 स स तत्तद्भवत्यग्रं बीजं च स्यात्समि स्थितः ॥ १६
 ब्रह्म सर्वपराणवात्मा यो यस्मादर्धतोऽणुकः ।
 स स तत्तद्भवेदस्तु वस्तुब्रह्मैव सिद्धति ॥ १७
 द्रव्यमेव यथा द्रव्यं तिर्यगूर्ध्वमधस्ताथा ।

स्तत्राह— ज्ञानेति । यथा भित्तिस्वच्छिन्नसर्गो वास्तवभित्तिरूपेण भित्तेरबाह्यो भ्रान्तानुभवात्मना तु तद्वास्तवज्ञाने कल्पितः सर्गोऽपि वास्तवज्ञानरूपतया अबाह्यो भ्रान्तानुभवात्मना तु बाह्य इति सिद्धे ज्ञानं सत्यरूपमित्यतो हेतोर्बाह्यार्थरूपतामपि तदात्मना सत्यां विद्वीत्यर्थः ॥ ३ ॥ एवं चास्मन्मतं न बाह्यार्थ-
 वादेन नापि विज्ञानवादेन निरुध्यते । अत्रोभयोरैकरस्यात् । सर्वदा चिदतिरिक्तस्मान्तरविज्ञातस्य बाह्यप्रपञ्चस्य चासतः असं-
 स्थितेः । अनभ्युपगमादित्यर्थः ॥ ४ ॥ सर्वस्य चिदैक्ये चितः सदैवाक्षुब्धत्वाभिर्षिशेषत्वाच्च क्षुब्धानां स्वादिपञ्चभूतानां शान्ति-
 रर्थसिद्धेति पूर्णब्रह्मसत्तामात्रपरिशेषः सिद्ध इत्याह—अक्षु-
 ष्ण्वेति ॥ ५ ॥ तदेवं सर्वकारकक्रियाफलात्मकं जगद्ब्रह्मीभूतं नम-
 स्यति—तस्मै इति ॥ ६ ॥ व्यवहारकालेऽपि चेत्यस्य चिदैक्या-
 पतिबल्यदेव सत्तास्फूर्ती नान्यथेत्याह—चिन्मयत्वादिति ।
 षटादि चेत्यं ब्रह्म चिन्मयत्वादेव द्रष्टृचित्वा चाक्षुषदृश्यवच्छि-
 ञ्जप्रमातृचैतन्येन यदा वृत्तिव्यासिद्धारा एकतामेति तदा दृश्य-
 मङ्गं शरीरं यस्यास्तबाधिभयेव तथा चिता एतद्दृष्टादि चेत्यते
 नान्यथेत्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं द्रष्टा तद्दर्शनसाधनं दृश्यं दृक्
 तत्फलं चेत्येतत्सर्वं चिदैक्याधीनसिद्धिकत्वाद्यदा चिन्मात्रमेव
 तदा सर्वस्य जगतोऽनुभवनमात्रमेव स्वरूपं परमार्थतः स्थितं
 फलितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ द्रष्टृदृश्ययोरैक्यसाधनानुप्राहकं तर्क-
 नाह—द्रष्टृदृश्ये इति । द्रष्टृदृश्ये चिदात्मके साक्षिणि यद्येकं
 नाभविष्यत् तर्थाह द्रष्टृभक्षणे प्रवृत्तो ना पुरुष इच्छं द्रष्टा
 बोधयन्नापि उपल इव दृश्यस्यात्वादं तन्माधुर्यमज्ञोऽनुभवन्
 स्वात्, न हि जडो रसमुनुभवितुं शक्नोति, न वा जडो रसस्तं
 प्रति स्फुरिष्यति येनानुभवैदित्यर्थः ॥ ९ ॥ तयोश्चिन्मयत्वाभ्यु-
 पगमे त्वनुभविष्यतीति चेत्यमनुभवनीयम् । अणु पतितो जल-
 विन्दुरिव तदनुभवशेन मज्जति तेन हेतुना इक्षुमाधुर्यमास्वा-
 दयन्तीति त्रिपुञ्जः स्फुरन्वाहुरवेद्येमाहुरभिर्यति । सिद्धाती-

त्यर्थः ॥ १० ॥ व्यतिरेके काष्ठयोरिवेत्युक्तदृष्टान्तसाम्यं
 दार्ष्टान्तिके उपपादयति—सजातीयेति । काष्ठं कर्तुं दाह
 द्वितीयं काष्ठं कर्म यथा काष्ठत्वेन सजातीयत्वेऽपि चिदैक्या-
 भावाद्यद्दृक् चेतते तथा द्रष्टापि भाजकं सर्वथा चिदैक्यमज्ञान्यं
 दृश्यं नाशास्वत् ॥ ११ ॥ न च द्रष्टृदृश्ययोरैक्यत्वे काष्ठद्रव्यसिद्धि-
 शेषं केचिज्जानन्तीत्याह—यादृशिति । यादृशी सत्ता स्थिति-
 र्भेषां तानि । इतरद्वैलक्षण्यं तु न जानन्ति केचिदपीत्यर्थः ।
 तस्मादुक्तकर्तव्यमदृश्यं सर्वं चिद्रूपेणैव द्रष्टा दृश्यं चेतनं चिद-
 भिन्नं चेति सिद्धमित्यर्थः । कर्मधारयः ॥ १२ ॥ एवं द्रष्टृ-
 दृश्ययोश्चिद्रूपत्वे दृश्ये जगति धरानिलजलादिभेदापगमाद्दृष्टि
 च स्पन्दबुद्धिप्राणादिभेदापगमात्सर्वस्य जगतो ब्रह्मैक्यमेव
 सिद्धमित्याह—महाचिदात्मनेति । अश्मतान्ते समाहारद्वन्द्वे
 नपुंसकह्रस्वः ॥ १३ ॥ भावनाकल्पितत्वादपि प्राणादिभेदानां
 मिथ्यात्वमित्याह—प्राणेति ॥ १४ ॥ ब्रह्मसत्ताविवर्तमात्रत्वादपि
 जगद्भेदानां मिथ्यात्वमित्याह—जगत्तयेति । शान्ततया सुषु-
 त्तिप्रलयात्मना । एवेत्यत्र भा इवेति छेदः । पुंस्तया प्रसव-
 शक्ततया आगत आक्रान्तः । वट एव वटकः ॥ १५ ॥ तत्र
 वटबीजे पुंस्त्वाक्रान्तं सूक्ष्ममविकृतं ब्रह्मसत्तार्कं भागं तत्र
 षटादिविवर्तं च दर्शयति—सर्वाप्रेति । अग्रशब्दः सारपरः ।
 यो योऽप्रगतोऽणुकोऽतिसूक्ष्मः स सः परमात्मा । स एवाहुर-
 काण्डशास्त्रादौ तत्तदुत्तरोत्तरकार्ये पुरोभूयाधं बीजं च भवती-
 त्यर्थः ॥ १६ ॥ तत्र यो यो यस्मात्सूक्ष्मः कारणतया प्रसिद्धः
 स स ब्रह्मकोटी, यच्च स्थूलः कार्यात्मना प्रसिद्धः स मायाकोटी
 सिध्येत्युपलक्षयेदित्याशयेनाह—ब्रह्मेति । एवमुपलक्षिते सर्वत्र
 वस्तुब्रह्म तिष्ठति नान्यदित्यर्थः ॥ १७ ॥ यथा षटाद्येकैक-
 द्रव्यमामूल्यं तदेव द्रव्यं ज्ञानमात्रमपि तदन्यदस्ति तथा सर्वं

३ बीजं काष्ठमपि संश्लेष इति शक्यः.

११४
११५

येन तेन यथा तथा ॥ १८ ॥
नान्यत्वं हेमरूपशते यथा ।
सन्तमेव शान्तस्य सर्गाहंत्वगणे तथा ॥ १९ ॥
पार्श्वस्थस्वप्रमेघौघा यथा तत्र न काश्चन ।
सर्गप्रलयसंरम्भास्तथा स्वात्मान एव मे ॥ २० ॥
पङ्कता कल्पिता व्योम्नो या पुत्रकपताकिनी ।
सा यथा शान्ततामात्रं स्वमेवेदं तथा जगत् ॥ २१ ॥
संकल्पभ्रम एवान्तः पुष्पीभूय जगत्स्थितम् ।
जलावनितलक्लिन्नबीजं कल्प इव द्रुमः ॥ २२ ॥
अनहंतात्मनो ह्यस्य सत एकत्वमासतः ।
जरत्फणलबायन्ते ननु नामाऽणिमादयः ॥ २३ ॥
त्रैलोक्ये तत्र पश्यामि सदेवासुरमानुषम् ।
एकरोमांशविश्वस्य यल्लोभाय महात्मनः ॥ २४ ॥
यथा तथा स्थितस्यापि यत्र तत्र गतस्य च ।
द्वैतसंकल्पसंदोहा न सन्त्यधिगतात्मनः ॥ २५ ॥
विश्वमेव नभो यस्य शून्यं सर्वं महात्मनः ।
कुतः कस्य कथं तस्य भवत्विच्छा निरात्मनः ॥ २६ ॥
शान्ताशेषविशेषस्य निरेषणविशेषतः ।
सप्तमसप्तां सदृशौ क आकलयितुं क्षमः ॥ २७ ॥
मारैर्न किञ्चिन्म्रियते जीवैः किञ्चिन्न जीवति ।
शुद्धसंविन्मयस्यास्य समालोकस्य स्वस्य च ॥ २८ ॥
मिथ्या लोकस्य कचतो भ्रान्त्या मरणजन्मनी ।
असत्यपि भ्रान्तिभाजि मृगतृष्णानदीतटे ॥ २९ ॥
सम्यक्परीक्षितं यावन्न भ्रान्तिर्न परीक्षकाः ।

जगदामूलमं येन येन पुरुषेण यथा यथा परीक्ष्य दृष्टं सन्मात्र-
रूपं ब्रह्मैव नाणुमात्रमपि तदन्यदस्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ अवि-
कारित्वेऽपि दृष्टान्तमाह—हेमत्वमिति । सर्गो जगद्भावः
अहंत्वं जीवभावस्तद्रूपे ॥ १९ ॥ तस्य विवर्तरेलोपमाह—
पार्श्वस्थेति ॥ २० ॥ व्योम्नो या पङ्कता मलिनता कल्पिता या
च गन्धर्वपुत्रकाणां पताकिनी सेना सा यथा स्वमेव ॥ २१ ॥
हृदयान्तः पुष्पीभूय बहिर्जगत्फलं स्थितम् । यथा जलेनाव-
नितले क्लिन्नमाद्रीभूतं वटादिबीजं कल्पते छायाश्रयादिना प्राण्यु-
पकारसमर्थो भवतीति कल्पो महान्वटादिद्रुमः संपद्यते तद्वत्
॥ २२ ॥ ननु यदि परमसूक्ष्मं ब्रह्म तद्भावस्थितिरेव मोक्षस्तर्ह्यणि-
मादिसिद्धिभिरसौ तुल्य इत्याशङ्क्यां वारयति—अनहंतात्मन
इति । अहंतादिप्रतिबन्धनिरासेनाविभूतनिरतिशयानन्दस्य ह्यस्य
दृष्टेत्यर्थः ॥ २३ ॥ एको रोमांश इव विश्वं यस्य तथा-
विश्वस्य महात्मनः ॥ २४ ॥ २५ ॥ निरात्मनो निःस्वरूपाद्भो-
गादिनिमित्तात् ॥ २६ ॥ सप्तां विभवं असप्तां वारिण्यं च
सदृशौ समे पश्यतः क आकलयितुं क्षमो महिमानमिति शेषः
॥ २७ ॥ बन्धुपुत्रादिमरणजीवनादिनापि नास्य हर्षविषादप्रसक्ति-
रिष्याथेनाह—मारैरिति । मारैर्मरणहेतुभिर्जीवैर्जीवहेतुभिः
॥ २८ ॥ लोकसाक्षजनस्य भ्रान्त्या मृगतृष्णानदीतटभावे

न नाम जन्ममरणे केवलं शान्तमव्ययम् ॥ ३० ॥
दृश्याद्यो विरतिं यात आत्मारामः शमं गतः ।
स सन्नेवासदाभासः परितीर्णभवार्णवः ॥ ३१ ॥
दीपनिर्वाणनिर्वाणमस्तंगतमनोगतिम् ।
आत्मन्येव शमं यातं सन्तमेवामलं विदुः ॥ ३२ ॥
आबुध्यादि जगद्दृश्यं यस्मै न स्वदते स्वतः ।
आकाशस्येव शान्तस्य तमाहुर्मुक्तमुत्तमाः ॥ ३३ ॥
अहमस्यविचारेण विचारेणाहमस्ति नो ।
अभावाद्दहमर्थस्य क्व जगत्क्व च संसृतिः ॥ ३४ ॥
संविदसंवेदनादेव बुध्याद्याकारवत्स्थितम् ।
रूपालोकमनोरूपं जगद्वेत्ति चिदम्बरम् ॥ ३५ ॥
सर्वार्थरिक्तमनसः सतः सर्वोत्तमस्तव ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वमाचरणं शिवम् ॥ ३६ ॥
यत्करोषि यद्भासि यज्जुहोषि यदासि यत् ।
यत्तपस्यसि हंस्येषि तत्सर्वं शिवमव्ययम् ॥ ३७ ॥
यदहं यत्त्वमाशा यद्यत्क्रियाकालखादयः ।
यल्लोकालोकगिरयस्तच्चिद्योम शिवं ततम् ॥ ३८ ॥
यद्रूपालोकमननं यत्कालत्रितयं जगत् ।
यज्जरामरणात्यादि तन्महाचिन्नमः शिवम् ॥ ३९ ॥
निश्चिकित्सो निराभासो निरिच्छो निर्मना मुनिः ।
भूत्वा निरात्मा निर्वाणस्तिष्ठ संतिष्ठसे यथा ॥ ४० ॥
गतेच्छमननं शान्तमनन्तस्थमभावनम् ।
व्यवहारोऽस्तु ते मा वा स्पन्दस्पर्शद्वैर्यथानिलः ॥ ४१ ॥

भ्रान्तिभाज्यात्मनि मिथ्यैव मरणजन्मनी कचतः ॥ २९ ॥
यावदस्माभिः सम्यक्परीक्षितं तावन्न भ्रान्तिर्न वा परीक्षका
न वा जन्ममरणे सन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ न परीक्षका इति कथ-
मुच्यते तत्रविदः परीक्षकस्याबाधात्तत्राह—दृश्यादिति । ब्रह्म-
भावेन सन्नपि देहेन्द्रियादिसहितपरीक्षकात्मना असदाभास
इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ ब्रह्मात्मना सन्तमेव दीपनिर्वाणमिव निर्वाणं
विदुः ॥ ३२ ॥ अत एव तस्य न संसारः स्वदते इत्याह—आबु-
ध्यादीति ॥ ३३ ॥ तत्रवह्न्येदीपवनिर्वाणस्तर्हि त्वं वसिष्ठः
कथमसि तत्राह—अहमिति ॥ ३४ ॥ अभावः कुतस्तत्राह—
संविदिति । वास्तवं चिदम्बरमेव स्वसंविदोऽन्यथासंवेदना-
देव बुध्याद्याकारवत्स्थितं सत् ॥ ३५ ॥ ममेव यथार्थसंवेदनेन
भ्रान्तिनाशे सर्वार्थरिक्तमनसस्तवापि निर्वाणरूपैव स्थितिः
सेत्स्वसीत्याह—सर्वार्थेति ॥ ३६ ॥ सर्वमाचरणं प्रपद्यति—
यदिति ॥ ३७ ॥ आचरणग्रहणं जगन्मात्रोपलक्षणमित्याशये-
नाह—यदिति । आशा इच्छा दिशश्च ॥ ३८ ॥ ३९ ॥
निश्चिकित्सो बुःखप्रशमोपायान्बेषणशून्यो निर्बन्धिकित्सो वा ।
'निर्विकल्प' इति पाठः स्पष्टः । यथा निर्वाणः संतिष्ठसे तथा
तिष्ठ ॥ ४० ॥ यथा अनिलः अमिलसंबन्धी स्पन्दास्पन्दै-

निर्वासना निष्कलना शान्ता पुरुषतास्तु ते ।
शास्त्रेण यन्मवाहेन वाह्या दारुमयी यथा ॥ ४२ ॥
भूतालोकस्तु माऽऽज्ञेहो मा चाऽज्ञेहञ्च बाह्यगः ।
अनिर्देशधरालोकश्चिन्नदीपवदास्यताम् ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः ३९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

संजाताकृत्रिमक्षीणसंसृतिप्रत्ययः पुमान् ।
असंकल्पो न संकल्पं वेत्ति तेनासदेव सः ॥ १ ॥
श्वासान्त्वानिरिवादशो कुतोऽप्यहमिति स्थिता ।
विदि साऽकारणं दृष्टा नश्यन्त्याशु न लभ्यते ॥ २ ॥
यस्य क्षीणावरणता शान्तसर्वेदतोदिता ।
परमामृतपूर्णात्मा सप्तयैव स राजते ॥ ३ ॥
सर्वसंदेहदुर्ध्वान्तमिहिकामातरिष्वना ।
भाति भास्वद्विया देशस्तेन पूर्णेन्दुनेव खम् ॥ ४ ॥

व्यवहारस्वथा ते तवाप्यस्तु ॥ ४१ ॥ पुरुषता पुरुषोचितचेष्टा ते
शास्त्रलक्षणैः यन्मवाहेन वाह्या निर्वाह्यास्तु ॥ ४२ ॥ हे
राम, तव बाह्यगो मातृपितृबन्धुजनादिभूतानामालोकनमालोक
आज्ञेहः ज्ञेहबहुलो मा भूत् अज्ञेहो वा मा भूत् किंतु अनिर्देश-
धरः अस्तिनास्तीति परीक्षकैर्निर्देष्टुमशक्य आलोकः प्रका-
शो यस्य तथाविधोऽस्तु । एवं च त्वया चिन्नदीपवदास्यतां
स्थीयताम् । तस्यापि हि चिन्नलिखिततैलपूर्णत्वात्परमार्थतस्ते-
ल्लभावाच्च भूतानां प्राणिनामालोकनमालोक आज्ञेहः ज्ञेहब-
हुलः अज्ञेहस्तच्छून्यश्च न भवति । आलोकः प्रकाशश्च चिन्न-
लिखितः अस्तिनास्तीति निर्देशार्हो न भवतीति साम्यादित्यर्थः
॥ ४३ ॥ 'निर्वासना निष्कलना' इति श्लोकार्थमेव पुनरनुवादेन
दृष्टीकर्तृपुंसंहरति—निर्वासनस्येति । वर्तमानभोगेषु विर-
सस्य । भाविषु निरेषणस्य । शास्त्रात्सच्छास्त्रात् । तत्त्वे स्व-
सुखे विनोदो विश्रान्तिस्तद्वेतुः । आदेहधारणमवश्यमावित्वाद-
वर्जनीये व्यवहारे सच्छास्त्रानुसंगे एव चित्तदोषनिर्हरणेन
विवेकाद्युद्वेगनेन च तत्त्वज्ञानप्रतिष्ठासिद्धेरिति भावः । अतः
अनभिसंधिमतः अत एवामलस्यापि तस्य तत्त्वविदः संवेदन-
पूर्वकव्यवहारेषु शास्त्रार्थं स्वस्ववर्णाश्रमोचिताचारे शमदमादौ
च सज्जनं सम्यगनुवर्तनमेव स्वरूपमसाधारणं लक्षणं न यथेष्टा-
चरणमित्यर्थः । तथा चाहुर्वृद्धाः 'विदितब्रह्मतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं
यदि । छुनां तत्त्ववहासां चैव को भेदोऽद्युष्मिभक्षणे ॥' इति
॥ ४४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

प्रबुद्धात्मनि विश्रान्तो यद्रूपः परिशिष्यते ।

जगच्च तस्य बद्रूपं तत्सम्यगिह वर्णयते ॥ १ ॥

विदुषः शास्त्रानुसारनियमे तन्नियामकसंकल्पस्यापि प्रसक्ति-

निर्वासनस्य विरसस्य निरेषणस्य
शास्त्रादृते क इव तत्त्वविनोद्वेतुः ।
शास्त्रार्थसज्जनमतोऽप्यमलस्य तस्य
संवेदनेष्वनभिसंधिमतः स्वरूपम् ॥ ४४ ॥

विसंसृतिर्विसंदेहो लब्धज्योतिर्निरावृत्तिः ।
शरदाकाशविशदो ज्ञेयो विज्ञायते बुधः ॥ ५ ॥
निःसंकल्पो निराधारः शान्तः स्पर्शात्पवित्रताम् ।
अन्तःशीतल आधत्ते ब्रह्मलोकादिधानिलः ॥ ६ ॥
असद्रूपोपलम्भानामिर्यं वस्तुस्वभावता ।
यत्स्वर्गवेदनं स्वप्नबन्ध्यापुत्रोपलम्भवत् ॥ ७ ॥
अविद्यमानमेवेदं जगद्यदनुभूयते ।
असद्रूपोपलम्भस्य सैषा वस्तुस्वभावता ॥ ८ ॥
असत्येष्वेव संसारेष्वास्तामर्थः कुतो भवेत् ।

माशङ्काह—संजातेति । संजातो यथाभूतार्थगोचरत्वादकृत्रिमः
क्षीणा संसृतिर्यस्मात्तथाविधः प्रत्ययः साक्षात्कारो यस्य तथा-
विधः पुमान् शास्त्रीयव्यवहारनियमेऽप्यसंकल्प एवावतिष्ठते ।
यतोऽयं तत्त्वव्यवहाराभासहेतुसंकल्पाभासं स्वात्मैवेति पश्यन्
संकल्पं न वेत्ति । न च वेदनमन्तरेण कस्य चित्तसत्ता प्रसिद्धेति
स संकल्पाभासोऽसदलीकमेवेत्यर्थः ॥ १ ॥ 'न संकल्पं वेत्ति' इत्यु-
क्तैर्विवरणाय सर्वसंकल्पबीजस्याहंताध्यासस्य बाधादपि तस्य
न संकल्पप्रसक्तिरित्याशयेनाह—श्वासादिति । प्राग्बोधात्कु-
तोऽप्यनिर्वचनीयाभिमित्ताभिःश्वासोत्था आदर्शे म्लानिरिव अह-
मित्यहंता स्थिता । सा तत्त्वविदि अकारणमाद्यु नश्यन्ती
दृष्टा यत्नेनान्विष्टापि न लभ्यते ॥ २ ॥ कामनया हि संकल्प-
प्रसक्तिः, सा च पूर्णकामस्य नास्तीत्याशयेनाह—यस्येति ।
सत्तया निरतिशयानन्दस्वरूपसत्तयैव ॥ ३ ॥ एकलाभादेव
सर्वलाभाल्लब्धव्यविषय इव एकविज्ञानेनैव सर्वविज्ञानाज्ज्ञातव्य-
विषयेऽपि भ्रमसंशयाद्यभावात्तदर्थमपि तस्य न संकल्पप्रसक्ति-
रित्याशयेनाह—सर्वेति । भास्वती निरावरणात्मकप्रकाशा
धीर्यस्य तेन । अत एव सर्वेषां देहलक्षणानां दुर्ध्वान्तनिमित्तमि-
हिक्रानां मातरिष्वना । तद्देशस्थसर्वजनभ्रमसंशयनिराससमर्थस्य
तत्प्रसक्त्यभावादिति भावः ॥ ४ ॥ यतो बुधस्तत्त्वविद
'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' इत्यादिश्रुतिषु
ज्ञेय आत्मैवेति विज्ञायत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ स्पर्शात् प्रणतिशुभ्रूषा-
दिना संगमात् । जनानां पवित्रतां निष्पापताम् । ब्रह्म-
लोकादागतः अनिल इव ॥ ६ ॥ 'न संकल्पं वेत्ति' इत्येत-
द्विशदीकृत्य 'तेनासदेव स' इति तच्छेषं विशदीकर्तुमसद्रूपो-
पलम्भस्य स्वरूपं प्रपद्यति—असद्रूपेति चतुर्भिः ॥ ७ ॥
॥ ८ ॥ स्वप्नबन्ध्यापुत्रोपलम्भवदित्युक्तदृष्टान्तसाम्यं दर्शयति—

सर्गापवर्गयोः शब्दाद्येषु वन्ध्यासुतोपमौ ॥ ९
 जगद्रूपतया सत्यमनिर्मितमभावितम् ।
 अनिष्ठितं चान्यथा तु नाहं नावगतं च तत् ॥ १०
 आत्मस्वभावविभ्रान्तेरियं वस्तुस्वभावता ।
 यदहंतादिसर्गादिदुःखाद्यनुपलम्भता ॥ ११
 क्षणाद्योजनलक्षान्तं प्राप्ते देशान्तरे चितः ।
 चेतनेऽयस्य तद्रूपं मार्गमध्ये निरञ्जनम् ॥ १२
 अस्पृश्यत्वात्सदृशं सकोशाभासचिन्मयम् ।
 अचेत्यं शान्तमुदितं लताविकसनोपमम् ॥ १३
 सर्वस्य जन्तुजातस्य तत्स्वभावं विदुर्बुधाः ।
 सर्गापलम्भौ गलति तत्रस्थस्य विवेकिनः ॥ १४
 सुषुप्ते स्वप्नधीर्नास्ति स्वप्ने नास्ति सुषुप्तधीः ।
 सर्गनिर्वाणयोर्भ्रान्ती सुषुप्तस्वप्नयोरिव ॥ १५
 भ्रान्तिवस्तुस्वभावोऽसौ न स्वप्नो न सुषुप्तता ।
 न सर्गो न च निर्वाणं सत्यं शान्तमशेषतः ॥ १६
 भ्रान्तिस्त्वसन्मात्रमयी प्रेक्षिता चेन्न लभ्यते ।
 शुक्तिरूप्यमिवासत्यं किल संप्राप्यते कथम् ॥ १७

असत्येष्विति । कुतो भवेत् किं सत्यादुतासत्यात् । न ताव-
 त्सत्यात् । तस्य कूटस्थत्वात् । न द्वितीयः । असत्यादसत्यस्योत्प-
 तेरप्यसत्त्वापत्तेः । एवं क्व आस्तां सत्यासासङ्गाद्यत्वादसत्यासा-
 भारत्वायोगासिति भावः । अतः असत्येष्वेव संसारेषु सर्गस्य
 बन्धस्य तदपवर्गस्य च शब्दादेव यत्र वन्ध्यासुतोपमौ तत्र
 चूरे तदर्थसिद्धिरित्यर्थः ॥ ९ ॥ यदा तु जगत्सत्यमिति पक्षस्त-
 दपि स ब्रह्मभेदेनैव निर्वाण इत्युत्पत्तिस्थितितत्त्विकरूपकादिवि-
 भागो निरालम्बन एवेत्याह—जगदिति । अभावितं भावनया
 अविषयीकृतम् । आधारविशेषे अनिष्ठितं च । अन्यथा ब्रह्म-
 तानभ्युपगमे तु ॥ १० ॥ असद्रूपोपलम्भस्वभावमुपवर्धे सद्रू-
 पोपलम्भस्वरूपविभ्रान्तेर्वस्तुस्वभावं प्रपञ्चयति—आत्मैवादिना ।
 अनुपलम्भता । निर्दिषयन्निन्मात्रतेति यावत् ॥ ११ ॥ चितो
 निर्दिषयताया अप्रसिद्धिमाशङ्कमानं प्रति 'दिशादेशान्तरप्राप्तौ'
 इति श्लोके इष्टितां तत्प्रसिद्धिं स्मारयति—क्षणादिति ।
 शाखादिदेशान्तरादिवेशान्तरे योजनलक्षान्तं चक्षुर्दूरं प्राप्ते
 चेतने चाक्षुषदृश्यवच्छिन्नचैतन्ये मार्गमध्ये अयते व्याप्रीतीत्य-
 यस्य चैतन्यस्य यदचेत्यं सकोशाभासचिन्मयं रूपं सर्वस्य
 जन्तुजातस्य प्रसिद्धं तत्स्वभावं विदुरिति व्यवहितेन संबन्धः
 ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ सुषुप्तिस्वप्नयोः परस्परविषयसम्बन्धत्वेन वा
 तुरीये निर्दिषयता चित्तः संभावनीयेत्याह—सुषुप्ते इति ॥ १५ ॥
 स्वप्नसुषुप्त्यादिविभागोऽपि भ्रान्तौ वस्तुस्वभावभूतः परमार्थो
 नास्तीत्याह—भ्रान्तीति ॥ १६ ॥ कुतो नास्ति तत्राह—भ्रान्-
 तिरिति ॥ १७ ॥ भ्रान्तिविषयोऽर्थो भ्रान्त्या न लक्ष्योऽनुप-
 लम्भान्तरेण लभ्यतां तत्राह—स्वभावादिति । भ्रान्तेरन्व
 उपलम्भः प्रमात्मको वाच्यः, स च कस्यचिद्भ्रान्तिगोचरार्थस्य
 साक्षिसंभावादन्यो नास्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ एवं च सत्यस्वभावो

यत्र लब्धं च तत्रास्ति तेन भ्रान्तेरसंभवः ।
 स्वभावादुपलम्भोऽन्यो नास्ति कस्य न कस्यचित् ॥ १८ ॥
 स्वभाव एव सर्वस्यै स्वदते किल सर्वदा ।
 अनानैव हि नानैव किं वादैः संविभाव्यताम् ॥ १९ ॥
 अस्वभावे महद्दुःखं स्वभावे केवलं शमः ।
 इति बुद्ध्या विचार्यान्तर्यदिष्टं तद्विधीयताम् ॥ २० ॥
 सूक्ष्मे बीजेऽस्त्यगः स्थूलो दृष्टमित्युपपद्यते ।
 शिवे मूर्ते जगन्मूर्तमस्तीत्युत्तमसंकथा ॥ २१ ॥
 रूपालोकमनस्कारबुद्धयद्वन्द्वतादयः परे ।
 स्वरूपभूताः सलिले द्रवत्वमिव स्वात्मकाः ॥ २२ ॥
 मूर्तां यथा स्वसदृशैः करोत्यवयवैः क्रियाः ।
 आत्मभूतैस्तथा भूतैश्चिदाकाशमकर्तृ सत् ॥ २३ ॥
 आत्मस्थादहमित्यादिरसदादेरसंसृतेः ।
 शब्दोऽर्थभावमुक्तो यः पटहादिषु जायते ॥ २४ ॥
 यद्भ्रातं प्रेक्षया नास्ति तत्रास्त्येव निरन्तरम् ।
 जगद्रूपमरूपात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ २५ ॥
 येषामस्ति जगत्स्वप्नस्ते स्वप्नपुरुषा मिथः ।

साक्षिसंभाव एक एव स्वात्मनि त्रिपुटीकल्पनया प्रथते
 नान्यदत्त्वादनुमात्रमपीत्याह—स्वभावा इति । स्वदते परम-
 प्रेमास्पृश्यता प्रथते ॥ १९ ॥ तस्य स्वभावातिरिक्तकल्पनमेव
 संसारदुःखमकल्पितस्वरूपावस्थितरेव कैवल्यबुद्धमित्याह—
 अस्वभावे इति । विधीयतां उपादीयताम् ॥ २० ॥ तदुपादाने
 क उपाय इति चेत्तदभ्यस्तस्य विश्वस्य तन्मात्रतादर्शनमेवेत्या-
 शयेनोत्पत्तिप्राक्कालादारभ्य तदपृथक्कसतां दर्शयति—सूक्ष्मे
 इति । अगो वृक्षः । उत्तमानां तत्त्वविदां वेदानां च संकथा
 सदुक्तिरित्यर्थः ॥ २१ ॥ एवं प्रत्यगात्मन्याभ्यात्मिकभावना-
 मप्यपृथक्कसत्तैव स्वधर्मताप्रतीतेः सर्वानुभवसिद्धेत्याह—रूपेति
 ॥ २२ ॥ एवं तत्पदार्थव्यवहारः सर्गादिस्त्वंपदार्थव्यवहारश्च
 चिदात्मा पृथक्कसताकत्वात्तदवयवप्रायेः सर्वपदार्थैः प्रवृत्त इत्या-
 ह—मूर्ते इति । स्वसदृशैः स्वात्मप्रायेः स्वापृथक्कसताकैरिति या-
 वत् ॥ २३ ॥ अव्यवहार एव शब्दप्रयोगादिव्यवहारोऽप्यपृथ-
 कसतया चिदधिष्ठितादेव देहबागादेर्जायते इत्याह—आत्म-
 स्थादिति । असंसृतेर्जडत्वेन स्वतो व्यवहारासमर्थादस्मदादेर्वै-
 सिष्ट्यामादिदेहाद्योऽहमित्यादिरर्थप्रकाशनाभिप्राययुक्तः शब्दो
 जिह्वादिकरणन्यापारेण जायते स आत्मस्थाचिदात्माधिष्ठितादेव
 जायते । गटीपदकमतालाभिरुवादाकपुरुषाधिष्ठितेषु पटहादिषु
 यथा तदभिप्रायानुसारिविधिप्रशब्दो जायते तथेति शेषः
 ॥ २४ ॥ एवं सर्वजन्मव्यवहारस्य चिदभेदनिर्वाहत्वे आत्मन्तिक
 एवामेदोऽस्तु किमर्धजरतीन्यायेनाभिधारमात्रसिद्धजात्यांशभेदो-
 पगमेनेत्याशयेनाह—यदिति । आपाततो भातम् । प्रेक्षया
 विचारजन्यतत्त्वज्ञानेन । अतो जात्यभेदांशरूपं जगद्रूपमक-
 पात्म निःस्वरूपमेव । एवं च ब्रह्म ब्रह्मणि स्वस्वभावे संस्थि-
 तम् । येषाम् स्वस्वभावात्स्वस्वस्विति भावः ॥ २५ ॥ नन्वसंशयि

न सन्ति ह्यात्मनि मिथो नास्मास्वम्बरपुष्पवत् ॥ २६
 मयि ब्रह्मैकरूपं ते शान्तमाकाशकोशवत् ।
 वायोः स्पन्दैरिषामिन्नैर्व्यवहारैश्च तन्मयि ॥ २७
 अहं तु सन्मयस्तेषां स्वप्नः स्वप्नवतामिव ।
 ते तु नूनमसन्तो मे सुषुप्तस्वप्नका इव ॥ २८
 तैस्तु यो व्यवहारो मे तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ।
 ते यत्पश्यन्ति पश्यन्तु तत्तैरलमलं मम ॥ २९
 अहमात्मनि नैवास्मि ब्रह्मसत्तेयमातता ।
 त्वदर्थं समुदेतीव तथारूपैव वागियम् ॥ ३०
 अविरोद्धविरोद्धस्य शुद्धसंविन्मयात्मनः ।
 न भोगेच्छा न मोक्षेच्छा हृदि स्फुरति तद्विदः ॥ ३१
 स्वभावमात्रायत्तेऽस्मिन्बन्धमोक्षक्रमे नृणाम् ।
 कदर्थनेत्यहो मोहाद्गोष्पदेऽप्युदधिभ्रमः ॥ ३२
 स्वभावसाधने मोक्षेऽभावोपशमरूपिणि ।

इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मीकीये दे० मो० नि० उत्तरार्धे वसिष्ठगीतासु स्वभावविभ्रान्तियोगोपदेशो नामैकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः ४०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यादीन्द्रियवेदनम् ।
 स्वरूपं विदुरम्लानमस्वभावस्य वस्तुनः ॥ १

ब्रह्म ब्रह्म स्वभावे तिष्ठतु नाम तेन संसारिणां को लाभ इत्या-
 शङ्क्य तेषां पुरुषार्थचिन्ता वन्ध्यायाः स्वपुत्रराज्यादिलाभचि-
 न्ताबद्धयैवेत्याशयेनाह—येषामिति । मिथः अन्योन्यं भ्रान्ति-
 दृष्ट्यापि जागरे स्वप्नान्तरे च तत्तदात्मनि न सन्ति, मिथः
 परमैकान्ततमब्रह्मभूतेष्वस्मासु स्वपुष्पवत् नितरां सन्तीत्यर्थः ।
 एवार्थे हि शब्दः ॥ २६ ॥ अस्मासु जडांशे एव ते तद्यवहाराश्च
 स्वपुष्पवत्, सच्चिदंशे तु मयि ब्रह्मैकरूपत्वात्सन्त्येवेत्याह—
 मयीति । ते पुरुषाः वायुस्पन्दवत्स्वाभिन्नैस्तैस्तैः स्वव्यवहारैः सह
 मयि सन्त्येव । यतस्तदुभयं शान्तं सद्ब्रह्मात्मैकरूपं तच्च ब्रह्म
 मयि प्रत्यगात्मस्वभावेऽस्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥ अपरं विशेषमाह—
 अहं त्विति । अप्रबुद्धदृष्ट्या जगत् इव वसिष्ठदेहस्यापि सत्यत्वा-
 दिति भावः । ते त्विति । प्रबुद्धदृष्ट्या जगता सह तद्देहादीनां
 बाधादिति भावः ॥ २८ ॥ अनुग्रहोपदेशादिव्यवहारस्तैस्तद्दृष्टि-
 सिद्धसत्यभावेर्मध्यवहारैर्मम । अलमलमिति वीप्सा आत्यन्तिक-
 निष्प्रयोजनतात्परोक्षभावः ॥ २९ ॥ अहं आत्मनि वसिष्ठ-
 देहभावे नैवास्मि । इव वसिष्ठाद्याकारा त्वदर्थं ब्रह्मसत्तैव
 समुदेतीव । इयं वागपि तथारूपा त्वदर्थं ब्रह्मसत्ताधिर्वैरूपैव,
 मम दृष्ट्या तु कास्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ सर्ववस्तूनामानन्दैकर-
 सात्मतादर्शनादविरोद्धं विरोद्धं दुःखादिकमपि यस्य तथावि-
 धस्य तस्वविदः ॥ ३१ ॥ मोहादविरोद्धनिरतिशयानन्दात्मा-
 परिज्ञानादिति ब्रह्मैकरूपं संसारकदर्थना मोक्षोपायक्रमाभ्या-
 सकदर्थना च ॥ ३२ ॥ अभावस्यासत् एव दुःखस्योपशम-
 नौ० वा० १४५

न घनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न च क्रियाः ॥ ३३
 तैलबिन्दुर्भवत्युच्चैश्चक्रमप्पतितो यथा ।
 तथाशु चेत्यसंकल्पे स्थिता भवति चिज्जगत् ॥ ३४
 जाग्रति स्वप्नवृत्तान्तस्थितिर्यादृप्रसा स्मृतौ ।
 तादृप्रसाहंत्वजगज्जालसंस्था विवेकिनः ॥ ३५
 तेनैवाभ्यासयोगेन याति तत्तनुतां तथा ।
 यथा नाहं न संसारः शान्तमेवावशिष्यते ॥ ३६
 यदा यदा स्वभावार्कः स्थितिमेति तदा तदा ।
 भोगान्धकारो गलति न सन्नप्यनुभूयते ॥ ३७

मोहमहत्तारहितः

स्फुरति मृतौ भवति भासते च तथा ।

बुद्ध्यादिकरणनिकरो

यस्माद्दीपादिवालोकः ॥

३८

अस्वभावतनुत्वेन स्वभावस्थितिरातता ।

यदोदेति तदा सर्गो भ्रमाभः प्रतिभासते ॥ २

रूपिणि ॥ ३३ ॥ अप्सु पतितः अप्पतितस्तैलबिन्दुर्यथा नाना-
 वर्णं चक्रं भवति ॥ ३४ ॥ ज्ञानबाधितं तु जगत् स्वप्नवत्स्मृति-
 मात्रयोग्यतामापद्यत इत्याह—जाग्रतीति । स्मृतौ प्रतिभास-
 माना यादृप्रसा यादृविधा ॥ ३५ ॥ तेन प्रागुक्तैव भूमिका-
 भ्यासयोगेन । तत् जगज्जालम् । तनुतामपक्षयम् ॥ ३६ ॥
 प्रत्यक्प्रवणदृष्ट्या परीक्षणे इदानीमपि तदपक्षयो बाधश्चानुभ-
 वितुं शक्य इत्याशयेनाह—यदा यदेति । गलति अपक्षीयते
 आत्यन्तिकबाधेन । न सन् कालत्रयेऽपि नास्तीत्यनुभूयते
 ॥ ३७ ॥ एवं भोगान्धकारस्य मृतौ विनाशे सति बुद्ध्यादि-
 करणनिकरो मोहेनात्मावरणेनाज्ञानेन महत्तया स्थूलदेहाद्यभ्या-
 सेन च रहितो भवति । तथा ब्रह्माकारवृत्तीद्वेन बोधेन स्फुरति ।
 यस्मात्स्फुरणाद्दीपात्प्रसृत आलोक इव सर्वतो व्याप्य ब्रह्मीभूतो
 भासते चेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वभावविभ्रान्तियोगोपदेशो
 नामैकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

न संसृती ब्रह्म भाति न ब्रह्मणि च संसृतिः ।

बीजन्मुक्तौ द्वयं भाति पर्यायेणेति वर्ण्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ निःस्वभावस्य बाह्याभ्यन्तरवस्तुनस्तत्साक्षिचैतन्य-
 मेव वास्तवं स्वरूपमिति विद्वदनुभव इत्याह—रूपेति । अम्लानं
 निर्विकारकलङ्कम् ॥ १ ॥ तत्र तद्बोधोन्वयव्यतिरेकानु-
 विधानलक्षणां युक्तिमाह—अस्वभावेति द्वाभ्याम् । यदा
 आसता अपरिच्छिन्ना वास्तवस्वभावस्थितिः अस्वभावस्तपिरो-

यदा स्वभावविभ्रान्तिः स्थितिमेति शमात्मिका ।
जगद्दृश्यं तदा स्वप्नः सुषुप्त इव शाम्यति ॥ ३
भोगा भवमहारोगा बन्धवो दृढबन्धनम् ।
अनर्थायार्थसंपत्तिरात्मनात्मनि शाम्यताम् ॥ ४
अस्वभावात्मता सर्गः स्वभावैकात्मता शिवः ।
भूयतां परमव्योम्ना शाम्यतां मेह ताम्यताम् ॥ ५
नात्मानमवगच्छामि न दृश्यं च जगद्भ्रमम् ।
ब्रह्म शान्तं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मैवास्मि निरामयः ॥ ६
त्वमेव पश्यसि त्वन्त्वं सर्वं शब्दार्थजुम्भितम् ।
पश्यामि शान्तमेवाहं केवलं परमं नमः ॥ ७
ब्रह्मण्येव पराकाशे रूपालोकमनोमयाः ।
विभ्रमास्तव संजातकल्पाः रूपन्वा इवानिले ॥ ८

ब्रह्मात्मा वेत्ति नो सर्गं सर्गात्मा ब्रह्म वेत्ति नो ।
सुषुप्तो वेत्ति नो स्वप्नं स्वप्नस्थो न सुषुप्तकम् ॥ ९
प्रबुद्धो ब्रह्मजगतोर्जाग्रत्स्वप्नदशोरिव ।
रूपं जानाति मारूपं जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥ १०
यथाभूतमिदं सर्वं परिजानाति बोधवान् ।
संशाम्यति च शुद्धात्मा शरदीव पयोधरः ॥ ११
स्मृतिस्थः कल्पनस्थो वा यथाख्यातश्च संगरः ।
सदसन्नान्ततामात्रस्तथाहंत्वजगद्भ्रमः ॥ १२
आत्मन्यपि नास्ति हि या
द्रष्टा यस्या न विद्यते कश्चित् ।
न च शून्यं नाशून्यं
आन्तरियं भासते सेति ॥ १३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० वसिष्ठगीतासु आत्मविभ्रान्तिकथनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥४०॥

एकचत्वारिंशः सर्गः ४१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अस्वभावस्वभावोऽयं सर्वोऽहंतादिवेदनः ।
स्वभावैकस्वभावेन निर्वाणीक्रियतां स्वयम् ॥ १
यत्रादित्यो भवेत्तत्र यथालोकस्तथा भवेत् ।
परं विषयवैरस्यं तत्र यत्र प्रबुद्धधीः ॥ २
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।

जगद्ब्रह्मसंभारमसिक्तौ चित्रमुत्थितम् ॥ ३
न चोत्थितं किञ्च न वा शान्ते शान्तं यथास्थितम् ।
अनामयं परं ब्रह्म सत्यमव्ययमेव तत् ॥ ४
चिद्व्यक्तकारमात्रात्मकल्पनारङ्गरजनाः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते स्वे जगच्चित्रपुत्रिकाः ॥ ५
रसभावविकाराख्यं नृत्यन्त्यमिनयैर्नवैः ।

धात्री अविद्या तत्तनुत्वेन तत्कृतपरिच्छेदेन तच्छरीरतया च
उदेति तदेत्यन्वयोक्तिः ॥ २ ॥ व्यतिरेकमाह—यदेति ।
स्वबोधेनेति शेषः । बीजशेषवैषम्येऽप्यद्वैतात्ममात्रस्थित्यंशे सुषु-
प्तदृष्टान्तः ॥ ३ ॥ अत एव स्वरूपविभ्रान्तिविरोधिनो भोगा-
दयोऽनर्था एवेत्याह—भोगा इति ॥ ४ ॥ एवं च स्वायत्तानां
स्वभावस्थितौ नानर्थे पातो युक्त इत्याह—भूयतामिति । इह
संसारे । मा ताम्यतां ग्लम्बताम् ॥ ५ ॥ स्वायत्ततामेव खानु-
भवाभिनयेन दर्शयति—नेति । आत्मानं ब्रह्मादित्रिपुट्या-
मायं वसिष्ठजीवम् ॥ ६ ॥ हे राम, वसिष्ठस्त्वमिति त्वंशब्दार्थ-
बुद्धितं त्वं त्वमपि स तादृशस्त्वमेव पश्यसि, अहं तु शान्तमेव
पश्यामि ॥ ७ ॥ तवापि एते शब्दार्थादिरूपालोकमनोमया
विभ्रमा न परमार्थतो जाताः किंतु संजातकल्पाः ॥ ८ ॥
मम द्वैतादर्शनं न द्वैतप्रदेषात् किंतु द्वैताद्वैतयोर्युगपदर्शना-
संभवादित्याह—ब्रह्मात्मेति ॥ ९ ॥ अत्यन्तादर्शने कथं तदु-
पदेशप्रसिद्धिस्तत्राह—प्रबुद्ध इति । जीवन्मुक्तस्तु पर्यायेणो-
भयं पश्यतीत्युपदेशा भवतीत्याशयः ॥ १० ॥ सोऽप्युत्तरोत्तर-
भूमिकासु क्रमेण द्वैतादर्शनात्प्रशाम्यतीत्याह—यथाभूतमिति
॥ ११ ॥ तद्दृष्ट्वा द्वैतस्योत्तरोत्तरं पेलवतां दृष्टान्ताभ्यामाह—
स्मृतिस्थ इति । संगरो युद्धम् ॥ १२ ॥ वा परि-इयमाना

जगन्माया परमार्थसत्ये आत्मनि अपिशब्दादत्यन्तासति शून्ये
च नास्ति । यस्याः कश्चिद्द्रष्टा जीवोऽपि न विद्यते । इति शून्या-
शून्यविलक्षणं आन्तरनिर्वचनीयैव भासते इत्यर्थः ॥ १३ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
आत्मविभ्रान्तिकथनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

त्रिजगत्पुत्रिकानृत्यमस्वभावस्वभावतः ।

स्वभावैकस्वभावेन निर्वाणं चात्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

अस्वभावोऽविद्या तस्वभावोऽयमात्मा सर्वजगद्रूपः सत्त्व-
हंतादिवक्ष्यमाणत्रिजगत्पुत्रिकादृत्वं वेत्तीत्यहंकारादिवेदनः सं-
पन्नः । एवमनिर्वाणोऽयमात्मा स्वयं शास्त्रीयोपायप्रभवविद्या-
विभूतेनाद्वितीयस्वप्रकाशपूर्णानन्दलक्षणस्वभावैकस्वभावेन स्वेनैव
निर्वाणीक्रियताम् ॥ १ ॥ सा च विद्या विद्वत्समागम-
विवेकजन्याद्वैरमयादेव सिध्यतीत्याशयेनाह—यदेति ॥ २ ॥
तत्र वैराग्यार्थमविद्यास्वभावाच्छुद्धे जगच्चित्राध्यासं वर्णयति—
अकर्तृ इति ॥ ३ ॥ विद्यास्वभावेन तत्प्रबोधं निर्वाणस्वरूपं दर्श-
यति—न चेत्येति ॥ ४ ॥ तत्रायमस्वभावस्वभावं त्रिजगन्मूल्यद-
नन्तपुत्रिकात्वेन वर्णयति—चिद्व्यक्तकारेत्यादिना । चिद-
व्यक्तकारमात्रात्मानो मे जीवास्तेषां कल्पनामात्रात्मके रत्ने नृत्यम-
ण्डपे शृङ्गारादिनारसरजना यासाम् । जगच्चित्रपुत्रिकाः स्वे
नृत्यन्तीति परेणान्वयः ॥ ५ ॥ रसैः शृङ्गारादिभिर्नवैः स्वाधि-

परमाणुप्रति प्रायः खे स्फुरन्त्यम्बरारिमिकाः ॥ ६
 सर्वर्तुशेखरधरा दिग्बाहुलतिकाकुलाः ।
 पात्तारुपादकतिका ब्रह्मलोकशिरोधराः ॥ ७
 अम्बार्कलोलनयनास्तारोत्करतनूहहाः ।
 सप्तलोकाङ्गलतिकाः परितोच्छाम्बराम्बराः ॥ ८
 द्वीपाम्बुराशिषलया लोकालोकाद्रिमेखलाः ।
 भूतभारबलजीवप्रवहत्प्राणमारुताः ॥ ९
 वनोपवनविन्यासहारकेयूरभूषिताः ।
 पुराणवेदवचनाः क्रियाफलविनोदनाः ॥ १०
 त्रिजगत्पुत्रिकानृत्यं यदिदं दृश्यते पुरः ।
 ब्रह्मवारिद्रवत्वं तत्तद्ब्रह्मानिलवेषनम् ॥ ११
 अस्वभावस्थितैवास्य कारणं कारणात्मकम् ।
 असुषुप्तं स्थिता स्वापे स्वप्नस्येव सतीष सा ॥ १२
 असुषुप्तसुषुप्तस्थः स्वभावं भावयन्भव ।
 जाग्रत्यपि गतदृश्यो मा स्वप्नमिदमाश्रय ॥ १३
 यज्जाग्रति सुषुप्तत्वं बोधादरसवासनम् ।
 तं स्वभावं विदुस्तज्ज्ञा मुक्तिस्तत्परिणामिता ॥ १४
 अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
 अरूपालोकमननं स्थितं ब्रह्म जगत्तथा ॥ १५

कान्ते कान्तं प्रकचति पूर्णं पूर्णं व्यवस्थितम् ।
 द्वित्वैक्यरहिते भाति द्वित्वैक्यपरिवर्जितम् ॥ १६
 सत्यं सत्ये स्थितं शान्तं सर्गात्मन्यात्मनि स्वयम् ।
 आकाशकोशसदृशं शिलाजठरसंनिभम् ॥ १७
 सुरज्जठराकारं घनमप्यम्बरोपमम् ।
 प्रतिबिम्बमिव ध्रुब्धमप्यध्रुब्धमसच्च सत् ॥ १८
 भविष्यन्ननिर्माणं चेतसीव स्थितं पुरम् ।
 ब्रह्म वृंहितभारूपममेदीकृतमानसम् ॥ १९
 यथा संकल्पनगरं संकरुपाद्यैव भिद्यते ।
 तथायं जगदाभासः परमार्थान् भिद्यते ॥ २०
 हेमपीठमिषानेकभविष्यत्संनिवेशवत् ।
 लक्ष्यमाणमपि स्फारं शान्तमव्ययमास्थितम् ॥ २१
 अजस्रनाशोत्पादाद्यमेकरूपमनामयम् ।
 अनाशोत्पादमजरमनेकमिव कान्तिमत् ॥ २२
 ब्रह्मैव शान्तिघनभावगतं विभाति
 सर्गोदयेन विगतास्तमयोदयेन ।
 व्योमेव शून्यविभवेन गलत्स्वभाव-
 लाभं प्रति प्रसभमेव ननु प्रबुद्धे ॥ २३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० स्वरूपविभ्रान्त्यर्थमुपदेशकरणं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥४१॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः ४२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चित्तवत्कचनं शान्ते यत्तत्तस्मान्न भिद्यते ।

भावैर्विकारैः कम्पस्वेदादिसंचारिभावेः आत्थं यथा स्यात्तथा ।
 अभिनयैस्तत्तद्वस्त्वाकारव्यञ्जकचेष्टाभिः । परमाणुप्रति परमाणु-
 मात्रास्वपि विद्यमाने खे त्रिदाकाशे । प्राय इति संभावितत्वद्योत-
 नार्थः ॥६॥ ब्रह्मलोकः शिरोधरा कन्धरा यासां ब्रह्मलोकरूपाणां
 शिरसां धरा धारयिष्य इति वा ॥ ७ ॥ तारोत्करास्तनूहहाणि
 लोमानि यासाम् । परितो दिक्षु अर्च्छं स्वरुमम्बरमाकाशमेवा-
 म्बरं वल्लं यासाम् ॥ ८ ॥ भूतानां भौतिकशरीरादीनां भारेण
 धारणेन पोषणेन च निमित्तेन चलन्तो जीवा एव प्रवहन्तः प्राण-
 मारुता यासाम् ॥ ९ ॥ पुराणानि वेदाश्च वचनं यासाम् । तत्त-
 क्रियाफलसुखदुःखानि विनोदनानि विलासा यासाम् । एवं-
 विधा जगत्पुत्रिका नृत्नन्तीति पूर्वत्रान्वयः ॥१०॥११॥ अस्य
 च नृत्यस्य अस्वभावस्थितैव चित् कारणम् । यतस्तादृशमेव कार-
 णात्मकं श्रुतिषु प्रसिद्धम् । यथा स्वापे निद्रायामसुषुप्तं स्थिता
 सा स्वप्नस्य कारणं तद्वदित्यर्थः ॥१२॥ एवमस्वभावस्वभावमुप-
 वर्णयन्तानां स्वभावैक्यस्वभावेन निर्वाणीकरणे उपायमाह—
 असुषुप्तेति । हे राम, त्वं पारमार्थिकस्वभावं भावयन् जाग्रत्य-
 प्यज्ञाननाशादसुषुप्तं सर्वद्वैतोपसंहारात्सुषुप्तं च तुर्यं पदं तत्स्यो-
 भव ॥ १३ ॥ रसो एगो वासता च तच्छून्यम् । तत्परिणा-
 मिता कस्याकपेण परिनिष्ठितत्वं ॥ १४ ॥ तस्यां परिनिष्ठाय

अव्याकृतामलतया काऽतः सर्गादिसंभवः ॥ १

व्यवहारकालेऽपि निदेकरसं जगद्भातीत्याह—अकर्त्रित्या-
 दिना ॥ १५ ॥ द्वित्वैक्यरहिते शोधिते प्रतीचि द्वैतैक्यपरि-
 वर्जितं शोधितं ब्रह्म अखण्डैकरस्येन भाति ॥ १६ ॥ सर्गा-
 त्मनि स्थितं सत्यं सत्ये आत्मनि शान्तं स्वयमेव स्थितम्
 ॥१७॥ शिलाजठरवदप्रकाशस्वभावताभ्रान्ति वारयति—सुर-
 ज्जेति । अत एव जगत्प्रतिबिम्बं प्राप्य ध्रुब्धमिव स्थितमप्य-
 ध्रुब्धम् ॥१८॥ अमेदीकृतमेकरसीकृतं मानसं यत्र ॥१९॥२०॥
 हेमपीठं पीठवन्नुरसो हेमपिण्डः । स्फारं नानाविस्तारं लक्ष्य-
 माणमपि ॥२१॥ कान्तिमत् भास्वरम् ॥ २२ ॥ ननु हे राम,
 प्रबुद्धे सति शान्तिघनभावगतं ब्रह्मैव प्रसभमद्वैतस्वभावबला-
 देव विगतास्तमयोदयेन सर्गलक्षणेन उदयेन स्वाराज्यविभवेन
 भाति । यथा व्योम गलत्स्वभावलाभं बाधितस्वरूपलाभं केशो-
 ष्णकगन्धर्वनगरतलमल्लिकतादिकं प्रति प्रसभं बलादेव स्फूर्तिनि-
 रासो भद्रप्रदेन स्वीयदृश्यविभवेन विभाति तद्वदित्यर्थः ॥२३॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 स्वरूपविभ्रान्त्यर्थमुपदेशकरणं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥
 भूयः प्रवच्यते चान्न विद्यविद्येश्वरैकता ।
 विद्येकैः पूजनीयश्च स्वास्त्वैव परमेश्वरः ॥ १ ॥
 भ्राम्यन्तं जगतो ब्रह्ममात्रतायन्नभाषितुं जगद्वैक्यकचन-

चित्तदीपे गते यान्ति भ्रान्तिवद्भ्रान्ति स्वे स्थिते ।
 रूपालोकमनस्कारसंबिदोऽम्बुद्रवोर्मयः ॥ २
 निरस्तकरणापेक्षं मरुतः स्पन्दनं यथा ।
 यथा विसरणं भासस्तथा जगदिदं परे ॥ ३
 द्रवत्वमिव कीलाले शून्यत्वमिव चाम्बरे ।
 स्पन्दत्वं मरुतीवेदं किमप्यात्ममयं परे ॥ ४
 महाचित्ति महाकाशे यदिदं भासते जगत् ।
 तच्चित्तमेव कचति निर्मलत्वं मणाविव ॥ ५
 यथा द्रवत्वं पयसि यथा शून्यत्वमम्बरे ।
 यथा प्रस्पन्दनं वायौ महाचित्ति तथा जगत् ॥ ६
 वेत्ति वायुर्यथा स्पन्दं तथा वेत्ति जगच्चित्तिः ।
 न द्वैतैक्यादिभेदानां मनागप्यत्र संभवः ॥ ७
 अविवेकविवेकाभ्यां भासुरं भङ्गुरं जगत् ।
 बोधे सदैव सद्रूपमभासुरमभङ्गुरम् ॥ ८
 ज्ञप्तिमात्रादृते शुद्धादादिमध्यान्तवर्जितात् ।
 नान्यदस्तीह निर्णीतं महाचिन्मात्ररूपिणः ॥ ९
 तत्कस्यचिच्छिवं शान्तं कस्यचिद्ब्रह्म शाश्वतम् ।
 कस्यचिच्छून्यतामात्रं कस्यचिज्ज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १०

हेतोश्चित्तस्य चिद्भेदं निरस्यति—चित्तवदिति । शान्ते कूट-
 स्थात्मनि प्रथमं यत् चित्तवत्कचनं तत्तस्मात्कचनरूपाश्चिदात्मनो
 न भिद्यते । कुतः । अब्याकृतत्वादमलत्वाच्च । तथा हि नाम-
 रूपभेदाद्वि लोके भेदः प्रसिद्धः । स च नामरूपव्याकरणात्पूर्व-
 भूतजीवभावानुप्रवेशोपाधौ चित्ते न संभवति । तस्याव्याकृ-
 तत्वात् । सूक्ष्मतेजोवज्जात्मकलिङ्गसृष्ट्यनन्तरं हि 'संयं देवतै-
 क्षत हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य
 नामरूपे व्याकरवाणि' इति तद्व्याकरणं श्रूयते । तथा अमल-
 त्वाच्च चित्तो न भिद्यते । चिदप्यमला चित्तमपि । न च तादृशयोः
 प्रभाकाशयोरिव भेदः केनचिद्विषयितुं शक्यते । चित्तस्य चिद्भे-
 दनिरासादेव तदधीनो जगद्भेदः सुतरां निरस्त इत्याह—कान्त
 इति ॥ १ ॥ इदमेव स्फुटमाह—चित्तदीपे इति । स्थिते
 कूटस्थे स्वे प्रत्यगात्माकाशे रूपालोकमनस्कारसंबिद्वक्षणा अम्बु-
 द्रवोर्मयो मृगतृणाभ्रान्तिवद्भ्रान्ति । ते च चित्तलक्षणे वीपय-
 तीति वीपः सूर्यस्तस्मिन्नस्तं गते यान्ति अपगच्छन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥
 सत्पार्या चिदतिरिक्तकारणनिरपेक्षत्वादपि जगच्चिदेवेति दृष्टान्तै-
 रुपपादयति—निरस्तेत्यादिना । निरस्ता करणापेक्षा येन ।
 भासः प्रभाया विसरणं प्रसारः ॥ ३ ॥ कीलाले जले । आत्म-
 मयमात्मविवर्तः । किमप्यनिर्वचनीयम् ॥ ४ ॥ प्रतीचि चित्ता-
 दीनामवस्थाद्वये कचनमिव ब्रह्मणि मायावीनं वियदादिकचन-
 मपि तदभिज्ञमेवेत्याशयेन तैरेव दृष्टान्तरूपपादयति—महा-
 च्छितीत्यादिना ॥ ५ ॥ ६ ॥ स्फूर्तावपि चिदतिरिक्तनिरपेक्ष-
 त्वाच्चिदभेद इत्याशयेनाह—वेत्तीति । द्वैतं चैक्यं च संख्ये-
 यभेदाश्च तेषाम् ॥ ७ ॥ अविवेकेन भासुरं विवेकेन भङ्गुरम् ।

१ भ्रान्तिवद्भ्रान्तिस्वे इति मुद्रितपाठोऽस्वरसः टीकाकारसंमतम् ।

तदनन्तात्म चिद्रूपं चेत्यतामिव भावयत् ।
 स्वसंस्थमेव हेयत्वमज्ञत्वमिव गच्छति ॥ ११
 चित्तया नास्ति सत्ता च चित्तता नास्ति तां विना ।
 विना विना यथा वायोर्यथा स्पन्देषु कारणम् ॥ १२
 तथा महाचित्तोच्छायाः सर्गसंवित्तिवृत्तिषु ।
 नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥ १३
 इत्यत्रार्थोऽभविष्यत्स द्वित्वैकत्वास्तितावशात् ।
 कोऽत्र कल्पयिता द्वित्वमेकत्वं वा महाम्बरे ॥ १४
 विष्वग्विभ्वमपरैकपरमाकाशकोशता ।
 यथा स्पन्दानिलद्वित्वं शाब्दमेव न वास्तवम् ॥ १५
 विश्वविश्वेश्वरद्वित्वं तथैवासन्मयात्मकम् ।
 सदेवासंभवद्वित्वं महाचिन्मात्रकं च यत् ॥ १६
 विश्वाभासं तदेवेदं न विश्वं सन्न विश्वता ।
 देशकालादिमत्त्वेन कदाचिद्वेत्ति सत्यता ॥ १७
 कटकत्वस्य भिन्नस्य विश्वस्य च तथा परे ।
 द्वित्वैक्यासंभवे चात्र कार्यकारणता कुतः ॥ १८
 स्यात्सत्कल्पनामात्रमेवैतन्नान्यवस्तुता ।
 शून्यता नमसीवात्र द्रवत्वमिव चाम्बसि ॥ १९

परमार्थबोधे तु ब्रह्ममात्रत्वादुभयशून्यम् ॥ ८ ॥ बोधेन
 यच्चिर्णीतं तदाह—ज्ञप्तीति ॥ ९ ॥ तत्रैव वेदानुसारिणाम-
 वेदानुसारिणां च विचारयतां वादिनां यथार्थायथार्थरूपैः कल्प-
 नाभेदाः प्रवृत्ता इत्याह—तदिति ॥ १० ॥ तत्रैवानाद्यविद्या-
 दिदृश्याकारताध्यास इत्याह—तदिति ॥ ११ ॥ तत्र चित्तव-
 बलादेवाध्यस्तस्फूर्तेश्चित्तया विना हेयस्य सत्ता नास्ति तां सत्तां
 विना च तस्य चित्तता चित्तस्य नास्ति । यथा विना शून्या-
 त्मना कूटस्थेनाकाशेन विना वायोः कारणं नास्ति । वायुं च
 विना स्पन्देषु कारणं नास्ति तद्वदित्यर्थः ॥ १२ ॥ तथा नित्यमग्न-
 सत्ताधीनसत्ताकासु सर्गभ्रान्तिष्वधिष्ठानमपेक्ष्य नित्यं सत्त्वं स्वरू-
 पतस्तु नित्यमसत्त्वं चेति द्वेषापि शास्त्रे 'सदेव सोम्येदं नेह नाना'
 इति च व्यपदेश इत्यर्थः । अन्यस्य हेतोरनपेक्षणात् । असमर्थ-
 समासदछान्दसः ॥ १३ ॥ चिज्जडद्वित्वस्य तत्कारणैकत्वस्य च
 अस्तित्वा स्वतः सत्ता तद्वशादि अत्र सर्गसंवित्तिषु इति प्रसिद्धो-
 ऽर्थोऽभविष्यत् । कूटस्थाद्वये चिदम्बरे द्वित्वमेकत्वं वा कः कल्प-
 यिता सत्तास्फूर्तिभ्यां समर्थयिता । जडेषु न कश्चित्तादृशोऽस्ती-
 त्यर्थः ॥ १४ ॥ एवं च आकाशाद्वित्वाप्रसिद्धिवत्स्पन्दानिलभे-
 दाप्रसिद्धिवच्च विश्वविश्वेश्वरद्वित्वस्याप्रसिद्धिरेव फलितेत्याह—
 विश्वगित्यादिना ॥ १५ ॥ १६ ॥ अथवा ब्रह्मदृष्ट्या अवृत्त-
 स्यापि विश्वस्य स्वन्यूनदेशकालस्वकार्यापेक्षयाऽधिकदेशकाल-
 व्याप्त्या सत्यतामाशङ्क्य परिहरति—देशकालेति ॥ १७ ॥
 कार्यकारणभेदे सिद्धे तथा स्यात्स एवास्तिद इत्याह—द्वित्वै-
 क्येति ॥ १८ ॥ कल्पनिकः कार्यकारणभेदोऽज्ञीकियत् इति

खे खलेखाप्यभिज्ञेव किलास्ति जगदादिता ।
 यद्रूपं ब्रह्म तद्रूपं जगत्कात्र द्वितैकते ॥ २०
 यद्रूपं व्योम तद्रूपमेवं शून्यं किलाखिलम् ।
 एकात्मनि तते स्वच्छे चिन्मात्रे सर्वरूपिणि ॥ २१
 शिलापुत्रकसेनायां पाषाणत्व इवास्थिते ।
 कार्यकारणवैचित्र्यं कथं संभवति क्व वा ॥ २२
 कथमव्योमता व्योम्नि द्वितीयासंभवान्भवेत् ।
 प्रतिभात्मैव भारूपो भाति सर्गो महाचिति ॥ २३
 पुत्रिकेषोपलोत्कीर्णां तन्मयत्वात्तदात्मिका ।
 साधो यथास्थितस्यैव बुद्ध्या विश्वं प्रलीयते ॥ २४
 काष्ठमौनदशाभासं संसारमवशिष्यते ।
 यथा निमीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ॥ २५
 स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्तिभावनात् ।
 तथैवोन्मीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ॥ २६
 स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्तिभावनात् ।
 भावनोपशमं कृत्वा शिलीभूय यथास्थितम् ॥ २७
 अशिलीभूतमेवान्तः स्वभावं सममास्यताम् ।
 आविवेकोपहारेण यथाप्राप्तार्थपूजनैः ॥ २८
 बोधाय पूज्यतां बुद्ध्या स्वभावः परमेश्वरः ।
 विवेकपूजितः स्वात्मा सद्यः स्फारवरप्रदः ॥ २९
 रुद्रोपेन्द्रादिपूजात्र जरत्तृणलवायते ।

चेन्न कल्पनिकेन तेन सत्यतानिर्वाह इत्याह—स्याच्चेदिति ।
 ॥ १९ ॥ अस्यन्तामेदेऽपि खलेखेति खे भेदकल्पना दृष्टि
 जगदपि तद्रस्यादित्याह—खे इति ॥ २० ॥ खस्य लेखेति
 खाङ्गिभिव कल्पितं लेखापदवाच्यं व्योम यद्रूपं तद्रूपं ब्रह्मणो
 जगदित्यर्थः । एवं स्थिते ब्रह्मण्यपि जगत्कारणता गतेत्याह—
 एकात्मनीत्यादिना ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ यथास्थितस्य वास्तव-
 स्यैव तत्त्वं बुद्ध्या ॥ २४ ॥ काष्ठमौनं बाह्यमानससर्वचेष्टा-
 शून्यत्वं तादृशया दशया आभासं स्फुरत् ब्रह्म संसारमवधूय
 शिष्यते । भावनालक्षणमनःस्पन्दमात्रजन्यः सर्वः संसार-
 भ्रमो भावनात्यागादस्पन्दावस्थितिमात्रेण विधूयते इत्याह—
 यश्चेत्यादिना ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ चिदेकरसत्वेन शिला-
 वैलक्षण्यादन्तः अशिलीभूतं स्वभावमवलम्ब्य आस्यताम् । तादृ-
 शस्थित्यनुकूलविवेकवैराग्यादिसाधनाभ्यास एव परमेश्वरस्या-
 त्मनः सर्वोत्कृष्टा पूजेत्याह—आविवेकेति । आसमन्तात्सर्वतो
 यो विवेकस्तद्वक्षणेनोपहारेणोपचारेण ॥ २८ ॥ स्फारं निरति-
 षायानन्दलक्षणं वरं प्रददातीति स्फारवरप्रदः ॥ २९ ॥ ३० ॥
 ॥ ३१ ॥ अन्यमनात्मभूतं तदस्थमीश्वरम् । 'अथ योऽन्यां
 देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव
 स देवानाम्' इति श्रुतेरिति भावः । ननु तदस्थेश्वरः पूजनेन
 प्रसन्न एतं शस्त्रादिविषवद्विप्रभृतिभ्य उपघातकेभ्यः सर्वतो
 रक्षिष्यति कूटस्थात्मा किं करिष्यति तत्राह—सस्सङ्गेति ।

विचारशमसत्सङ्गबलिपुष्पैकपूजितः ॥ ३०
 सद्योमोक्षफलः साधो स्वात्मैव परमेश्वरः ।
 सत्यालोकनमात्रैकपूजितोऽनुत्तमार्थदः ॥ ३१
 यत्रास्त्यात्मेश्वरस्तत्र मूढः कोऽन्यं समाभयेत् ।
 सत्सङ्गशमसंतोषविवेकापूजितात्मनः ॥ ३२
 शिरीषकुसुमायन्ते शस्त्रादिविषवद्वयः ।
 देवार्चनतपस्तीर्थदानान्यतिष्ठतान्यपि ॥ ३३
 भस्मायन्ते निरर्थत्वाद्दिवेकामहात्मनाम् ।
 पतान्यपि विवेकेन क्रियन्ते सफलानि चेत् ॥ ३४
 विवेक एव तत्कस्मात्स्फुटमन्तर्न साध्यते ।
 यथाभूतार्थविज्ञानाद्वासनोपरमे परे ॥ ३५
 यज्ञो विवेकशब्दाख्यो भवत्यात्मप्रसादतः ।
 तथा तथा विवेकोऽन्तर्बुद्धिं नेयः शमामृतैः ॥ ३६
 यथा यथा पुनः शोषमुपयाति न विभ्रमैः ।
 देहसत्तामनाहत्य यथा भूतार्थदर्शनात् ॥ ३७
 लज्जां भयं विषादेर्ष्यं सुखं दुःखं जयेत्समम् ।
 जगदादि शरीरादि नास्त्येवादी कुतोऽद्य तत् ॥ ३८
 कार्यं चेत्कारणस्यैतत्तथापि ब्रह्ममात्रकम् ।
 प्रतिभामात्रमेवाच्छं न तु ज्ञतेर्घटादि सत् ॥ ३९
 ज्ञानात्मिकैव प्रतिभा क्षतिरेवाखिलं जगत् ।
 क्षतिरप्यात्मतत्त्वधीः परिज्ञातोपशाम्यति ॥ ४०

आसमन्तात्पूजित आत्मा येन तस्य ॥ ३२ ॥ किंवाऽविवेकिभिः
 कृतेषु देवतार्चनादिष्वपराधावश्यंभावेन नैफल्यानर्थयोरवश्यं-
 भावात्तत्रापि देशकालद्रव्यपात्रकर्त्रादिविशुद्धिविवेकः श्रद्धा-
 भक्तिसान्निदान्यादयो यथावश्यकस्तर्ह्येकेशे महाफले आत्म-
 दर्शने एव ते कुतो नोपयोज्यन्ते इत्याह—देवार्चनेत्यादिना
 ॥ ३३ ॥ देशकालपात्राद्यविवेकेन । अमहात्मनां दुरात्मनाम्
 ॥ ३४ ॥ कोऽसौ विवेको यः साध्य इत्युच्यते तमाह—यथा-
 भूतेति ॥ ३५ ॥ यज्ञ इति । तथा च वैराग्यादिसर्वसाधन-
 संप्रह इति भावः । आत्मप्रसादतो निष्कामानुष्ठितयज्ञदानादि-
 माध्यचित्तप्रसादात् ॥ ३६ ॥ विभ्रमैर्विषयभ्रान्तिभिः ॥ ३७ ॥
 देहसत्तानादरे उपायं विचारं दर्शयति—जगदादीति । शरी-
 रस्य आदिकारणभूतं जगत् आदिपदात्तकारणं च आदौ
 नास्त्येव । यच्चादौ नास्ति तदद्य कुतो भवेत् । 'नासतो विद्यते
 भावः' इति न्यायात् ॥ ३८ ॥ ननु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'
 इति ब्रह्मात्मना आदौ सदेव कारणस्य ब्रह्मणः कार्यमस्तु
 तत्राह—कार्यं चेदिति । तथापि ब्रह्ममात्रकमेव न ततो
 भिद्यते । सङ्गदे असत्त्वापत्तेः । अद्वयकार्यस्य कारणे अद्वयत्वा-
 विघातकत्वेन भेदप्रतिभासस्य विकल्पमात्रत्वादित्याह—प्रति-
 भामात्रमेवेति । ज्ञतेः पृथगिति शेषः ॥ ३९ ॥ विकल्पप्रतिभापि
 चिदाभासज्ञानात्मिकैवेति सैवाखिलं जगदित्यर्थः । सा चिदा-
 भासलक्षणा क्षतिरप्यज्ञातात्मतत्त्वस्यैव दर्पणदृष्टा सुखशीरिव

ज्ञेयाभावे त्वनिर्वाण्या शिष्यते शाश्वतं शिवम् ।
 अशरीराद्यविश्वात्म सर्वं शान्तमिव ततम् ॥ ४१
 ज्ञानज्ञेयज्ञतिमुक्तं हृष्यमौनमिव स्थितम् ।
 शान्तान्तःकरणाः स्वस्थाः शिलापुत्रककोशावत् ॥ ४२
 चलन्तश्चालयन्तश्च ब्रह्मणा एव तिष्ठत ।
 अज्ञेयज्ञत्वसद्रूपाः सदसत्साररूपिणः ॥ ४३
 आकाशकोशविशदा भवता भवभूमयः ।
 यथास्थितं च तिष्ठन्ति गच्छन्तश्च यथागतम् ॥ ४४
 यथाप्राप्तैककर्माणः संपद्यन्ते बुधाः परम् ।
 अथवा सर्वसत्यागशान्तान्तःकरणोज्ज्वलाः ॥ ४५
 एकान्तेष्वेव तिष्ठन्तु चित्रकर्मार्षिता इव ।
 संकल्पशान्तौ संकल्पपुरवत्सर्वदाखिलम् ॥ ४६
 स्वप्रवच प्रबुद्धस्य सदैवास्तं गतं जगत् ।
 सनेत्ररूपानुभवं जातितोऽन्ध इव भ्रमैः ॥ ४७
 निर्वाणं वर्णयन्नस्तप्यतेऽन्तर्न शाम्यति ।
 कल्पनांशोपदेशेन लोकोऽविद्यामयात्मना ॥ ४८

येन केनचिद्वत्त्वात्कृतार्थोऽस्तीति मन्यते ।
 अकृतार्थः कृतार्थत्वं जानन्मौर्ख्यविमोहितः ॥ ४९
 विज्ञास्यत्यकृतार्थत्वं क्षणान्तरकद्वर्धनैः ।
 उपायं कल्पनात्मानमनुपायं विदुर्बुधाः ॥ ५०
 दुःखदत्वाभिमेवेण भावाभावैषणभ्रमैः ।
 जगद्भ्रमं परिहाय यद्वासनमासितम् ।
 विरसाशेषविषयं तस्मिन् निर्वाणमुच्यते ॥ ५१
 आख्यायिकार्थप्रतिभानमेत्य
 संवेत्स्यच्चिद्वारि भराद्भवात्मा ।
 अवेद्यच्चिद्रूपमशेषमच्छं
 पश्यन्विनिर्वासि जगत्स्वरूपम् ॥ ५२
 जात्यन्धरूपानुभवानुरूपं
 यदागमैर्बुद्धमबोधरूपम् ।
 अधस्पदीकृत्य तदान्तरेऽस्मि-
 न्बोधे निपत्यानुभवो भवाभूः ॥ ५३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० निर्वाणोपदेशो नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः ४३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अहंतादिजगद्धेदं परिज्ञानादसत्यताम् ।

प्रत्यगात्ममात्रत्वेन दृष्टमात्रा मेदकोपाध्यपगमेनोपशाम्यति
 ॥ ४० ॥ यत उपाधिभूतज्ञेयाभावे विम्बात्पृथगिवा निर्वाच्येति
 पूर्वान्वयि । अनया रीत्या प्रत्यग्भावे अशरीरादिब्रह्मभावे अवि-
 श्वात्मेत्यखण्डं सर्वं पूर्णं शाश्वतं शिवं शिष्यत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥
 तद्भावस्थितिरेव भवद्भिः सर्वैः संपाद्येत्याह—शान्तेति ॥ ४२ ॥
 तस्यास्थितौ यथा प्राप्तव्यवहारेऽपि न क्षतिरित्याह—चलन्त
 इत्यादिना ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ समाधौ वा कामं स्वीयतामि-
 त्याह—अथवेति ॥ ४५ ॥ सर्वदा समाधिकाले व्यवहारकाले
 च प्रबुद्धस्याऽविच्छिन्नप्रबोधस्य पुंसः संकल्पपुरवत्सर्वदा
 सदैव तुच्छत्वादस्तं गतम् ॥ ४६ ॥ प्रबोधश्च सनेत्रस्य रूपानु-
 भववत्परिनिष्ठितः पूर्णानन्दानुभवपर्यन्तो निर्वाणे उपयुज्यते
 न जात्यन्धरूपकल्पनातुल्यः परोक्षकल्प इत्याशयेनाह—स
 नेत्रेत्यादिना ॥ ४७ ॥ अज्ञः कतिपयवाक्यश्रवणेनैव तत्त्वज्ञोऽहं
 संपन्न इति भ्रमे निर्वाणं वर्णयन् सनेत्रस्य रूपानुभवं वर्णयन्
 जात्यन्ध इवान्तर्मानापमानादिभिस्ताप्यते न तु तत्त्वज्ञवच्छ्र-
 म्यति । शान्तिसुखमनुभवतीत्यर्थः । अन्धगोलाङ्गुलन्यायेनास-
 दुपदेशप्रतारितानामपि कृतार्थताभ्रान्तिर्लोकैः प्रसिद्धेत्याह—
 कल्पनांशेति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ तस्मात्कल्पनात्मकं ज्ञानं न निर्वा-
 णोपाय इत्यभिज्ञानुभवेनोपसंहरति—उपायमिति ॥ ५० ॥
 निमेवेण भावाभावैषणभ्रमैर्दुःखदत्वात्कल्पनात्मानमनुपायमनुपायं
 विदुरिति पूर्वान्वयः । तस्मात्प्रायुक्तं सम्यग्ज्ञानमेव वासना-

याति सानुभवो मोहात्सत्यमेवान्यथाधियाम् ॥ १

नाशपर्यन्तं दृढीकार्यं तदेव निर्वाणं पर्यवस्यतीत्याशयेनाह—
 जगदिति । विरसा अशेषा हैरण्यगर्भपदान्ता विषया यत्र
 ॥ ५१ ॥ अत एव हे राम, लं मनुपदिष्टमर्थमाख्यायिका उप-
 लब्धार्था लौकिकी पौराणिकी वा कथा तदर्थ इव परोक्षः कल्प-
 नामात्ररूपः प्रतिभासो यस्य तथाविधमेत्य बहिर्मुखतया अभि-
 गम्य न कृतार्थो भविष्यति किंतु भराद्वासनामात्रपूरातिशयात्
 द्रवात्म परितः प्रवहत्स्वरूपं जगत्स्वरूपमचिद्वारि संवेत्सि पश्य-
 स्येव । प्रत्यग्दृष्ट्या त्वशेषं पूर्णमच्छमवेद्यच्चिद्रूपं पश्यन्साक्षादनु-
 भवं विनिर्वासि निर्वाणविभ्रान्तो भविष्यसीत्यर्थः ॥ ५२ ॥ तदे-
 तद्ब्रह्मज्ञाह—जात्यन्धेति । आयमेरुपदेशवाक्यैर्बहिर्मुखतया
 जात्यन्धरूपानुभवसदृशं यद्बुद्धं तदबोधरूपमेव । अपरोक्षे
 वस्तुनि परोक्षज्ञानस्य भ्रान्तिमात्रत्वात् । अतस्तादृशबोधमध-
 स्पदीकृत्य पादेनाकन्येव तिरस्कृत्य । 'अधःशिरसी पदे' इति
 सत्त्वं च्छिः । आन्तरे प्रत्यगात्मरूपे अस्मिन्नित्यापरोक्षे बोधे
 साक्षादनुभवैर्न निपत्य अभूर्जन्मादिद्यन्वः सोऽनुभव एव लं
 भव । तदेव ते निर्वाणमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणोपदेशो
 नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

मनोबद्धपुरग्राये जगत्संज्ञानकल्पिते ।

बोधमात्रेण निर्वृष्टे ब्रह्मैकस्वित्तिरीर्यते ॥ १ ॥

आन्तरमहंतादिवाद्यमिदं जगत्तु भोक्तृभोग्यरूपं सर्वं तद-

अज्ञानज्वरमुक्तस्य बोधशीतल्लितात्मनः ।
 एतदेव भवेच्छिदं यद्भोगांस्तु न रोचते ॥ २
 अलमन्धैः परिहानैर्बोध्यवाचकविभ्रमैः ।
 अतहंवेदनामात्रं निर्वाणं तद्विभाव्यताम् ॥ ३
 परिहृता यथा स्वप्ने पदार्था रसयन्ति नो ।
 न च सन्ति तथैवास्मिन्नहं जगद्विदंभमे ॥ ४
 यथा स्वभाबनाद्यक्षस्तरौ सखजनं पुरम् ।
 पश्यत्यसत्यमेवैवं जीवः पश्यति संसृतिम् ॥ ५
 विभ्रमात्मा यथा यक्षो यक्षलोकश्च ते मिथः ।
 सद्रूपौ सुस्थितौ मिथ्या तथाहंत्वजगद्भूमौ ॥ ६
 अनावरणतोऽरण्ये यक्षा विभ्रमरूपिणः ।
 यथा स्फुरन्ति भूतानि तथेमानि चतुर्दश ॥ ७
 भ्रममात्रमहं मिथ्यैवेति बुद्ध्वा विभावयन् ।
 यक्षोऽयक्षत्वमायाति चित्तं चित्तस्वतामिदम् ॥ ८
 निरस्तकलनाशङ्कं स्यागग्रहणवर्जितम् ।
 अविसारिसमस्तेच्छं शान्तमास्य यथास्थितम् ॥ ९
 असत्तासंभवं दृश्यं द्रष्टात्मकमिदं ततम् ।
 अथवा नैव द्रष्टात्म सदवाच्यं किमास्यते ॥ १०
 वसन्तरसपूरस्य यथा विटपगुल्मता ।

नुभवरूपभोगतत्त्वपरिज्ञानादसत्यतां याति । चिदवसानो हि भोगः स हि भोक्तुर्भोग्यसंबन्धानुभवः तेनानुभवेन हि मोहादात्मविनिमयेनान्वयाधियां भोक्तव्येवात्मबुद्धिमतां मूढानामात्मा सानुभवो न स्वत इति सत्यं ब्रह्मैव स इत्यर्थः ॥ १ ॥ अत एव तत्त्वविदां भोग्यवर्गेष्वरुणिरित्याह—अज्ञानेति ॥ २ ॥ एवं भोग्येषु विरक्तानां भोक्तव्यहंकारांशत्यागमात्रेण चिन्मात्रपरिज्ञेवात्मकं निर्वाणं सिद्धमित्याह—अलमिति । वाच्यं रूपं वाचकं नाम तद्विषयभ्रान्तिरूपैः ॥ ३ ॥ भोगांस्तु न रोचते इत्येतद्विशदयति—परिहृतातेति । स्वप्ने दृष्टाः पदार्था यथा जागरूकं पुरुषं न रसयन्ति न रञ्जयन्ति न सन्ति च तथैवाहं जगद्विदमिति भ्रमे दृष्टाः पदार्था अपि तत्त्वज्ञमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अरण्ये यक्षो गन्धर्वमावाकल्पितं नगरं वाऽत्र दृष्टान्त इत्याह—यथेति । 'यक्षतनौ' इति पाठे यक्षविद्यानिपुणमनुष्यः स्वभावनाकल्पितयक्षतनौ स्थित्वा स्वजनसहितं पुरं यथा कल्पयित्वा पश्यतीति व्याख्येयम् ॥ ५ ॥ तत्र यक्षो विभ्रमात्मा भ्रान्तिकल्पितभोक्तृस्वरूपः यक्षलोकस्तन्नगरं च भ्रान्तिकल्पितभोग्यरूपमित्युभयं नास्त्येव तथापि तौ मिथ उपभोगलक्षणार्थक्रियाकारितया यथा सद्रूपविद्ये स्थितौ तथेत्यर्थः ॥ ६ ॥ दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके चासतोऽपि सत्यतया प्रतिभासे अनावृतसाक्षिण्यध्यास एव निमित्तमित्याशयेनाह—अनावरणत इति । भुवनोपाधिसंख्यया चतुर्दश ॥ ७ ॥ यक्षस्य स्वकल्पितदेहनगराद्युपसंहार इव जगद्भ्रमबाधेऽपि तस्मिन्प्रायस्त्वदर्शनमेव हेतुरित्याह—भ्रममात्रमिति । चित्तस्वतां चिद्रूपतात्त्विकभावम् ॥ ८ ॥ अत्रापि क्रियाविशेषणानि ॥ ९ ॥ तत्त्वतो विमर्शं

स्वरूपमात्रभरितसंविदः सर्गता तथा ॥ ११
 यदिदं जगदाभासं शुद्धं चिन्मात्रवेदनम् ।
 कात्रैकता द्वितां च वा निर्वाणमलमास्यताम् ॥ १२
 भूयतां चिन्मयव्योम्ना पीयतां परमो रसः ।
 स्वीयतां विगताशङ्कं निर्वाणानन्दनन्दने ॥ १३
 किमेतास्वतिशून्यास्तु संसारारण्यभूमिषु ।
 मानवा वातहरिणा भ्रमथो भ्रान्तबुद्ध्यः ॥ १४
 जगत्त्रयमरीच्यम्बु विप्रलम्बान्धबुद्ध्यः ।
 मा धावत गतव्यप्रमाशयोपहृताशयाः ॥ १५
 रूपालोकमनस्कारमृगतृष्णाम्बुपायिनः ।
 व्यर्थमायासमायूषि मा मा क्षपयतैणकाः ॥ १६
 जगत्त्रन्धर्वनगरगुरुगर्वेण नश्यथ ।
 सुखरूपाणि दुःखानि नाशनायैव पश्यथ ॥ १७
 जगत्केशोण्डकभ्रान्त्यै मा महाम्बरमध्यगम् ।
 अवलोकयताभ्रान्ते स्वरूपे परिणम्यताम् ॥ १८
 मानवा वातलोलोक्षपत्रप्राप्ताम्बुमङ्गुर-
 मानवासु न चास्वन्धगर्भशय्यास्तु सुष्यताम् ॥ १९
 अविराममनाद्यन्ते स्वभावे शान्तमास्यताम् ।
 द्रष्टृदृश्यदशादोषादस्वभावाद्भिनश्यताम् ॥ २०

दृश्यस्य द्रष्टृमात्रता तुच्छता वा पर्यवस्यतीत्याह—असस्तेति । न विद्यते सत्तायाः संभव उत्पत्तिर्यस्मिन्स्तथाविधं नैव वा द्रष्टात्म । कुतः । सत् परमार्थचिद्रूपं द्रष्टृ तत्त्वमवाच्यं तुच्छं दृश्यरूपं किमास्यते स्थाप्यते । न हि सतोऽसद्रूपता केनचित्संपादयितुं शक्येत्यर्थः । आसेरण्यन्तकर्तुर्ण्यन्ते 'गतिबुद्धि-' इति कर्मत्वे कर्मणि लः ॥ १० ॥ द्रष्टृदृश्यात्मत्वाभावेऽपि व्यवहारे दृश्यसत्तास्फूर्तिर्निर्वाहकता संभवत्येवेति दृष्टान्तेन दर्शयति—वसन्तेति ॥ ११ ॥ परमार्थे तु द्रष्टृक्यादिसंभावनापि नास्तीत्याह—यद्विदमिति ॥ १२ ॥ इदानीं भगवान्वसिष्ठः सर्वान्प्रति दयया हितमुद्बोधयन्नपदिशति—भूयतामित्यादिना । परमो रसो निरतिशयानन्दः 'रसो वै सः' इति श्रुतेः । निर्वाणानन्दलक्षणे नन्दने स्वर्वेने ॥ १३ ॥ वातहरिणा वातप्रम्य इवेति शेषः । भ्रमथ उ इति च्छेदः ॥ १४ ॥ आशया तृष्णया उपहृताशयाः सन्तो गतव्यप्रं प्राप्तवैयर्थ्यं यथा स्यात्तथा मा धावत ॥ १५ ॥ रूपालोका बाह्यभोगा मनस्कारा आभिमानिकभोगास्त एव मृगतृष्णाम्बूनि । आयासं प्राप्येति शेषः ॥ १६ ॥ जगद्रूपे गन्धर्वनगर इव विवेकहारी यो गर्वस्तेन नश्यथ । मा इत्यनुपज्यते ॥ १७ ॥ महाम्बरं ब्रह्माकाशस्तन्मध्यगमज्ञाननैल्यं मा अवलोकयत कित्वाभ्रान्ते यथार्थतो दृष्टे स्वरूपे परिणम्यताम् ॥ १८ ॥ हे मानवाः, वातैर्लोलानि उभेषूर्ध्वशाखास्थितेषु पिप्पलपत्रेषु प्राप्तानि स्कानान्यवश्यामम्बूनीव भङ्गुरा मानवा मनुष्यदेहा यास्तु आस्तु संसारलक्षणास्वन्धगर्भशय्यास्तु मा सुष्यताम् ॥ १९ ॥ अविराममनाच्छ्रितम् । स्वभावे पारमार्थिकप्रसभावे । द्रष्टृदृश्यदशा-

अज्ञावबुद्धः संसारः स हि नास्ति मनागपि ।
 अवशिष्टं च यत्सत्यं तस्य नाम न विद्यते ॥ २१
 ओटयित्वा तु तृष्णायःशृङ्खलावलितं बलात् ।
 संसारपञ्जरं तिष्ठ सर्वस्योर्ध्वं मृगेन्द्रवत् ॥ २२
 आत्मात्मीयग्रहभ्रान्तिशान्तिमात्रा विमुक्तता ।
 यथा तथा स्थितस्यापि सा स्वसत्त्वैव योगिनः ॥ २३
 निर्वाणताऽवासनता पराऽपतापताहता ।
 संसाराध्वनि खिन्नस्य शान्ता विश्रामभूमयः ॥ २४
 तज्ज्ञातो न मूर्खाणां मूर्खज्ञातो न तद्विदाम् ।
 विद्यते जगद्दुःसाववाच्यार्थमयो मिथः ॥ २५
 विश्वता भ्रान्तिसंशान्तौ संस्थितैव न लभ्यते ।
 महार्णवाम्बुवलिता पुत्रिकेव पयोमयी ॥ २६
 भ्रान्तिशान्तौ प्रबुद्धस्य विनिर्वाणस्य विश्वता ।
 यथास्थितैव गलिता विद्यते च यथास्थितम् ॥ २७
 निर्दग्धतृणभस्माली कापि याति यथानिलैः ।
 सतां स्वभावविधमैः कापि याति तथा जगत् ॥ २८
 जगद्ब्रह्मपदार्थस्य संनिवेशः स तूत्तमः ।
 ब्रह्मशब्दार्थरूपात्मा न जगच्छब्दकार्यभाक् ॥ २९
 अविज्ञातस्य बालस्य पदार्था यादृशा इमे ।

दोषलक्षणादस्वभावात्स्वरूपविनिमयान्मा विनश्यताम् ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ तृष्णालक्षणया अयःशृङ्खला वलितं वेष्टितं संसार-
 पञ्जरं ज्ञानबलात्ओटयित्वा मृगेन्द्रः सिंहस्तद्वत्सर्वस्योर्ध्वमुत्कर्ष-
 काष्टायां तिष्ठ ॥ २२ ॥ आत्मात्मीयग्रहः अहंममेत्यभिमानस्त-
 लक्षणभ्रान्तिशान्तिमात्रा तावन्मात्रस्वरूपा विमुक्तता नान्या
 काचिदस्ति । सा च योगिनः स्वात्मसत्त्वैवेत्यर्थः ॥ २३ ॥ तामेव
 संसाराध्वखिन्नविश्रान्तिभूमिभेदत्वेन कल्पयित्वाह—निर्वाण-
 तेति । अवासनतेति च्छेदः । परा उत्कृष्टा अपतापता अपग-
 तत्रिविधतापता । एताः पञ्चम्याशास्तिस्रो भूमिकाः ॥ २४ ॥
 मिथः परस्परमवाच्या वक्तुमयोग्या येऽर्थास्तन्मयस्तत्प्रचुरः ।
 तच्च अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगदिति प्रागुक्तमेवेति
 ॥ २५ ॥ गङ्गागोदानमैदल्यादिरूपा पयोमयी पुत्रिका आकार-
 भेदकल्पना यथा महार्णवाम्बुवलिता सती तद्रूपेण संस्थितै-
 षार्णववासिभिर्न लभ्यते तद्वद्भ्रान्तिसंशान्तौ ज्ञानिभिर्विश्वता-
 पीत्यर्थः ॥ २६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—भ्रान्तीति ॥ २७ ॥ २८ ॥
 ब्रह्मपदस्य बृंहणरूपो योऽर्थस्तस्य संनिवेश आकारविशेषः स तु
 ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थरूपो निर्विकल्पस्वप्नप्रकाशनिरतिशयानन्द-
 प्रत्यगात्मा चेदुत्तमः । गच्छति षड्विधविकारैः परिवर्तत
 इति जगदिति जगच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तविकारकार्यभाक्चेन्नोत्तम
 इत्यर्थः ॥ २९ ॥ जगति निर्विकल्पानुभवः विश्वोरपि प्रसिद्ध इति
 तत्साम्यमाह—अविज्ञानस्येति । न विद्यते विश्वात् विशेषज्ञानं
 अस्य बालस्य शिशोः ॥ ३० ॥ 'तज्ज्ञातो न मूर्खाणां मूर्खज्ञातो
 न तद्विदाम्' इत्युक्तिमुपपादितां भगवद्ब्रह्मणेन संबोध्यति—

विदुपस्तादृशा एव तिष्ठतः क्षीणवासनम् ॥ ३०
 या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
 यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ३१
 स्थितमेवाऽविरामी यज्जाग्रदस्य सुषुप्तवत् ।
 चित्रावलोकित इव जाग्रत्योऽस्य रसैषणाः ॥ ३२
 जात्यन्धरूपानुभवसमं भुषणवेदनम् ।
 भ्रान्तप्रायमसद्रूपं ज्ञस्य भाति न भाति च ॥ ३३
 विमूढदुःखं त्रिजगद्विमूढविषयं न सत् ।
 स्वप्ने स्वप्नतया ज्ञाते रूपालोकमनःक्रियाः ॥ ३४
 न स्वप्नते यथा तद्वज्जाग्रत्स्वप्ने स्फुरन्तु मा ।
 निर्विभागः समाश्वस्तोऽविरोधं परमागतः ॥ ३५
 आशीतलान्तःकरणो निर्वाणो ह्योऽवतिष्ठते ।
 तज्ज्ञस्याकृष्टमुक्तस्य समं ध्यानं विना स्थितिः ॥ ३६
 निम्नं विनैव तोयस्य न संभवति काचन ।
 अर्थ एव मनस्कारो मन एवार्थरजनम् ॥ ३७
 एष एवैष आभासः सबाह्याभ्यन्तरात्मकः ।
 आसमुद्रं नदीवाहशतसंघमयात्मकम् ॥ ३८
 यथैकश्लेषपिण्डात्म बहृत्यम्बु तरङ्गिणाम् ।
 सबाह्याभ्यन्तराकारमर्थानर्थमयात्मकम् ॥ ३९

या निशेति ॥ ३१ ॥ तदिदं ध्याचष्टे—स्थितमेवेत्यादिना ।
 यद्यस्मादेतोः सर्वजनानामज्ञानान्धकारानृतत्वात्सुषुप्तवत्स्थित-
 मेवात्मतत्त्वमस्य तत्त्वविदः अविरामी विरामशून्यो जाग्रत्
 जाग्रत्तस्मात् 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति' इत्युच्यत
 इत्यर्थः । यस्माच्चास्य जाग्रत्यो मूढजनजाग्रत्त्वेन प्रसिद्धा रसैषणा
 इन्द्रियैः शब्दादिविषयास्वादाश्चित्रावलोकिततृण्युदादिरिव पुरो-
 गता अपि न सन्ति तस्मात् 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा
 पश्यतो मुनेः' इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ उत्तरार्धं पुनर्ध्याचष्टे—
 जात्यन्धेति । भाति चेज्जिशास्वप्नवत् भाति चेज्जिशासुषुप्तव-
 दिति भावः ॥ ३३ ॥ विमूढानां दुःखत्वेन प्रसिद्धं त्रिजगद्विमूढ-
 विषयमेव न प्रबुद्धविषयं यतो न सदित्यर्थः । ननु ज्ञस्य यदि
 विषयोपभोगो नास्ति तर्हि केन स तृप्तो जीवति तत्राह—
 स्वप्ने इत्यादिना ॥ ३४ ॥ जाग्रत्स्वप्ने जाग्रत्स्वप्नभोगा मा स्फुरन्तु
 नाम तथापि ह्यो निर्वाण आशीतलान्तःकरणोऽवतिष्ठते इति
 परेणान्वयः ॥ ३५ ॥ आकृष्टानि भोगवासनाभिश्चितस्य बहिरा-
 कर्षणानि तैर्मुक्तस्य वर्जितस्य तज्ज्ञस्य ध्यानं चित्तनिरोधयत्नं
 विनैव समं स्थितिर्भवति ॥ ३६ ॥ तदुच्यन्तेनोपपादयति—
 निम्नमिति । यथा तडागादितोयस्य कुल्यादिनिम्नमार्गं विना
 काचन प्रवाहादिक्रिया न संभवति तद्वदित्यर्थः । ननु तत्त्व-
 ज्ञानेन बाह्यार्थबाधे बहिरिन्द्रियाणि न प्रवर्तन्तां मनस्कारनिरो-
 धस्तु कथं सिद्ध्येत्तत्राह—अर्थ एवेत्यादि ॥ ३७ ॥ एष मन-
 स्कार एवैषोऽर्थाभासः । यथा तरङ्गिणामासमुद्रं नदीप्रवाहाद्य-
 न्तमेवात्मकं प्रसिद्धं सर्वमम्बु एकत्र केचे एकपिण्डात्मकं

मन एव स्फुरत्यर्थनिर्भासं व्याततं तथा ।
 नास्त्यर्थमनसोर्द्वित्वं यथा जलतरङ्गयोः ॥ ४०
 एकभावे द्वयोः शान्तिः पवनस्पन्दयोरिव ।
 नूनमेकोपशान्त्यैव निःसारे परमार्थतः ॥ ४१
 एकत्वादर्थमनसी सममेवाशु शाम्यतः ।
 अर्थः संस्काररूपात्मा नेहितव्यो विजानता ॥ ४२
 मनश्च सम्यग्ज्ञानेन शान्तिरेवं भवेत्तयोः ।
 अनष्टे नश्यतश्चैते ज्ञस्यार्थमनसी स्वतः ॥ ४३
 मृन्मये द्विषति ज्ञानाद्विषद्भावभये यथा ।
 यथासंस्थं स्थिते एव ज्ञस्यार्थमनसी सदा ॥ ४४
 किमप्यपूर्वमेवान्यत्संपन्ने भावरूपिणि ।
 संहितार्थजगत्कालोऽप्यहोऽहविषयोऽप्यसत् ॥ ४५
 पार्श्वसुप्तनरस्वप्न इव क्लीबाप्रयक्षवत् ।
 ज्ञस्य साक्षं जगन्नास्ति वीरस्येव पिशाचधीः ॥ ४६
 ज्ञमहो भावयत्यहं चिरं वन्ध्यापि वर्धते ।
 विनैव ज्ञातशब्दार्थमर्थभावमिधागतम् ॥ ४७
 स्थितं बोधमनाद्यन्तं स्वभावं संसर्गं विदुः ।
 मनः शब्दार्थरहितं विभागान्तविवर्जितम् ॥ ४८
 बोधवारिमनोबुद्धितरङ्गमिव निर्मलम् ।
 क संभवत एवान्तः के वार्थमनसी किल ॥ ४९
 निरर्थिकैव विभ्रान्तिः स्वभावमयमास्यताम् ।

जलसामान्यमेव स्फुरति तथा सबाह्याभ्यन्तरं सर्वार्थाकारं
 मन एव स्फुरतीति परेणान्वयः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—एकेति । तस्वज्ञानेनार्थभावे मनोऽपि
 बाधितमेवेति न मनस्कारप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥
 अयं च तयोर्बाधः स्वाप्रव्याघ्रनाशवदनष्टनाश इत्याह—
 अनष्टे इति ॥ ४३ ॥ यथा मृन्मये प्रतिमायां भ्रान्ति-
 कल्पिते द्विषति स्ववैरिणि ज्ञानाद्वाध्यमाने तस्मिन्द्विषद्भावस्त-
 रप्रयुक्तमयं च नश्यतस्तद्वदित्यर्थः । यथासंस्थं पारमार्थिकज्ञ-
 स्वभावेन स्थितम् ॥ ४४ ॥ अन्यत्सांसारिकदशाप्रसिद्धरूपादन्य-
 त्पूर्णानन्दरूपं संपन्ने भावरूपिणि परमार्थसद्रूपिणि संहिते
 हेतुफलभावेन घटिते अर्थः सुखदुःखभोगस्तत्साधनं जगत्
 त्रैलोक्यं च येन तथाविधः संसारकालः अपिशब्दात्कालकृताः
 पदार्थानां जन्मादिविकारास्तद्भोक्ता अज्ञस्तद्विषयः शब्दादि-
 विषयोऽपीति सर्वं तस्वज्ञदृष्ट्या असत् ॥ ४५ ॥ तत्र दृष्टान्ता-
 वाह—पार्श्वेति । क्लीबपदेन अधीरो बालादिल्क्ष्यते तदग्रे
 भागमानयक्षवच्च ॥ ४६ ॥ वन्ध्यापि पुत्रप्राप्तादिविस्तारेण
 वर्धते तदृष्ट्येति शेषः । तस्वज्ञास्तर्हि जगत्स्वभावं कीदृशं
 विदुस्तमाह—विनैवेति । ज्ञातशब्दस्यार्थो ज्ञानविषयत्वम्, तं
 विनैव स्वप्रकाशात्वादेवार्थाभासमिव स्थितं भासमानमनाद्यन्तं
 बोधं ब्रह्मैवेति विदुरित्यर्थः ॥ ४७ ॥ बाह्यार्थेषूक्तवैदनप्रकार

शुद्धबोधस्वभावस्यैराकाशमिव शारदैः ॥ ५०
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तान्तैर्मनस्त्वं नानुभूयते ।
 विधूयानन्तनानात्वमसद्भावमनामये ॥ ५१
 ज्ञेयं रज्जुरिवाशेषं स्वभावे तिष्ठ चिदने ।
 ज्ञप्तिरेवान्तरं बाह्यं चार्थत्वमधितिष्ठति ॥ ५२
 बीजं शाखाफलानीव कातोऽर्थमनसी वद ।
 ज्ञेयासंभवतो ज्ञप्तिरप्यनास्यं पदं गता ॥ ५३
 शान्ताशेषविशेषात्मा तेन शेषोऽस्ति सत्स्वभाः ।
 अर्थ एव मनस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ॥ ५४
 मन एवार्थसंस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ।
 सर्वात्मत्वाद्जस्यैतदप्यकारणकं मनः ॥ ५५
 भ्रमानुभवतोऽर्थश्च मिथ्यैवास्तीव भासते ।
 अकारणकमेवार्थनिर्भासं भासते मनः ॥ ५६
 विद्युद्विलसिताकारमस्थिरं तरलायते ।
 त्वं मनस्कारमात्रात्मा संसृता विभ्रमायसे ॥ ५७
 स्वभावैकपरिज्ञानात्तासि नापि भ्रमायसे ।
 मनसैव हि संसार आत्मबोधेन शाम्यति ॥ ५८
 शुक्तिरूप्यभ्रमाकारो जनो मिथ्यैव ताम्यति ।
 अभावभावस्तु परं बोधरूपमसंसृतिः ॥ ५९
 निर्वाणादितरा सप्ता दुःखायाहमिति भ्रमः ।
 मृगतृष्णांभुरूपोऽहमसच्छून्यस्वरूपकः ॥ ६०

आन्तरेषु मानसेष्वपि बोध्य इत्याह—मनः शब्देति ॥ ४८ ॥
 निर्मलं विदुरित्यनुषजते । एवं प्रपक्षितयोरज्ञतस्वज्ञजगद्बोधप्रका-
 रबोर्मध्ये द्वितीय एवोपादेयो यथार्थत्वात्ताव इत्याह—केति
 ॥ ४९ ॥ स्वभावस्थितौ निरूढायामवस्थात्रयस्य तुरीयबोध-
 मात्रतासंपत्तेर्मन्तव्याभावान्मनसो मनस्त्वमप्यपैतीत्याह—
 शुद्धेति । शारदैः पद्मैर्ज्योतिर्भिर्जनैर्वा ॥ ५० ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषु-
 तलक्षणैरन्तैरवस्थापरिच्छेदैः अनन्तानि नानात्वानि यस्मि-
 स्तथाविधमशेषं ज्ञेयं विधूयाध्यस्तसर्पं विधूय रज्जुरिवानामये
 स्वभावे तिष्ठ ॥ ५१ ॥ अधितिष्ठति धत्ते ॥ ५२ ॥ ज्ञप्तिर्बुद्धिर्दृष्टिः
 ॥ ५३ ॥ स्वभाः स्वप्रकाशः । अर्थमनसोः परस्परधीननिरूपण-
 त्वादमेदे द्वयोरपि भ्रान्तिमात्रता पर्यवस्यतीत्याह—अर्थ
 एवेति । बाह्यस्यान्तरभावात्मकत्वादान्तरस्य बहिरभावात्मक-
 त्वाच्चेति भावः ॥ ५४ ॥ अर्थ इव संस्क्रियत इत्यर्थसंस्कारः ।
 घञन्तत्वात्पुमान् 'घञवन्तः' इत्यजहल्लिङ्गः । तर्थाथो मनश्च
 तत्त्वतः किं तत्राह—सर्वात्मत्वादिति । अजस्य ब्रह्मणः
 सर्ववस्तूनामात्मत्वान्मन इति रूपेणापि तदेव भासते । तन्नि-
 च्छृष्टरूपेऽपि तुच्छमेवेति भावः ॥ ५५ ॥ ब्रह्म मनोरूपेणैव
 मनोऽप्यर्थरूपेण निष्कारणमेव भासत इत्याह—भ्रमानुभ-
 वत इति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ अभावभावो बोधः ॥ ५९ ॥ केनो-
 पायेन तर्हि इतरा अहमिति सप्ता शाम्यति तमाह—मृगा-
 तुष्णेति । अहमहंकारो मृगतृष्णांभुसदृशः शून्यस्वरूपक

इत्येवात्मपरिज्ञानाद्दहमित्येव शाम्यति ।
 ज्ञात्वा ज्ञानमयो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरार्थताम् ॥ ६१
 गतं स्वमत्यजद्रूपं तरङ्गत्वं यथा पयः ।
 मूलशाखाप्रपर्यन्ता सत्ता विटपिनो यथा ॥ ६२
 निर्विकारमलं ज्ञतेर्ज्ञेयान्तैकैव भासते ।
 यथा योजनलक्षाभमेकमेवामलं नभः ॥ ६३
 एकमेव तथा ज्ञानं ज्ञेयान्तं भात्यखण्डितम् ।
 शून्यत्वादेकममलं यथा सर्वगमेव जम् ॥ ६४
 तथैकममलं ज्ञात्वा ज्ञानज्ञेयदशास्त्वपि ।
 घृतेनात्मा घनीभूय पाषाणीक्रियते यथा ॥ ६५

चित्ता चेत्यतयात्मैव स्वचित्तीक्रियते तथा ।
 देशकालं विनैवात्मा बोधाबोधेन चित्तताम् ॥ ६६
 अबुद्धो नीयते न्यायैरेकमेवैव सुस्थितः ।
 अत्र यद्यप्यबोधादेः संभवो नास्ति कश्चन ।
 तथापि कल्प्यतेऽत्रैव बोधनाय पररूपम् ॥ ६७
 महानुभावा विगताभिमाना
 विमूढभावोपशमे गलन्ति ।
 निर्भ्रान्तयोऽनन्ततयैव शान्ता
 नित्यं समाधानमया भवन्ति ॥ ६८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायाणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाण० उ० ब्रह्मैकतानतोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ४४

श्रीराम उवाच ।

क्रमात्समाधानतरोराजीवफलशालिनीम् ।
 सलताकुसुमां ब्रुहि सत्तां विभ्रान्तिदां मुने ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 आजीवमुद्यदुत्सेधं विवेकिजनकानने ।
 पत्रपुष्पफलोपेतं समाधानतदं शृणु ॥ २
 यथाकथंचिदुदितं दुःखेन स्वयमेव च ।

इत्येव शाम्यति ॥ ६० ॥ कुत एवं तत्राह—ज्ञात्वेति । यस्त-
 द्ब्रह्मसर्गादौ सर्वज्ञतया स्वात्मभूतमेव स्रष्टव्यपदार्थं ज्ञात्वा तादृ-
 शज्ञानमयो हिरण्यगर्भः स्वयं भूत्वा तत्संकल्पानुसारेण स्वयमेव
 सबाह्याभ्यन्तरार्थतां स्वरूपमत्यजदेव गतमित्यर्थः ॥ ६१ ॥ अ-
 स्वेव किं ततस्तत्राह—मूलेति । इदमतः सिद्धम्—यथा विट-
 पिनो मूलाच्छाखाप्रपर्यन्ता एकैव सत्ता तथा ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपे
 जगत्प्यलमत्यन्तं निर्विकारं स्थिता ज्ञेयान्ता एकैव सत्ता भासते
 न सत्तान्तरमस्तीति ॥ ६२ ॥ सत्सैक्ये दृष्टान्तान्तरमपि सत्सैक्यमु-
 पपादयति—यथेत्यादिना ॥ ६३ ॥ तस्य नैर्मल्येऽप्ययमेव दृष्टान्त
 इत्याशयेनाह—शून्यत्वादिति ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ बोधरूपस्य स्वत-
 र्वस्याबोधेन ॥ ६६ ॥ 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रुतिदर्शितै-
 र्लाघवतर्कानुगृहीतन्यायैः शङ्कते—अत्रेति । अत्र शुद्धे विदा-
 त्मनि । परिहरति—तथापीति । अत्रैव अस्यामबोधदशाया-
 मेव न तत्त्वत इत्यर्थः । तथा चोक्तं वार्तिके—'अविद्यास्तीत्य-
 विद्यायामेवास्तिवा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या त्ववियेयं न कथंचन
 युज्यते' इति ॥ ६७ ॥ असंभवद्रूपत्वादेव तत्त्वज्ञानोदयेनाज्ञानेन
 सह सर्वं गलन्तीत्युपसंहरति—महानुभावा इति । अत एव
 महानुभावा अधिकारिदेहादिसंघातास्तत्त्वज्ञानेन विमूढभावस्य
 मूलाज्ञानस्य ज्ञानेनोपशमे घृतकाठिन्यवत्स्वात्मन्येव गलन्ति ।
 तद्गलनाज्ञानान्ततया निरतिशयानन्दपूर्णभावेन शान्ताः सन्तो
 निर्भ्रान्तयो निर्विकेपा नित्यमनवरतमेव समाधानं समाधि-

संसारवननिर्वेदं बीजमस्य विदुर्बुधाः ॥ ३
 शुभजालहलाकृष्टं रसासिकमहर्निशम् ।
 प्रवहच्छसनाकुल्यं क्षेत्रमस्य विदुर्बुधाः ॥ ४
 समाधिबीजं संसारनिर्वेदः पतति स्वयम् ।
 चित्तभूमौ विविक्तायां विवेकिजनकानने ॥ ५
 स्वचित्तभूमौ पतितं ध्यानबीजं महाधिया ।
 सेकैरमीभिर्यत्नेन संसेकव्यमखेदिना ॥ ६

विभ्रान्तिस्तत्परा भवन्तीत्यर्थः ॥ ६८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराया-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मैकतानतोपदेशो
 नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

वर्ष्यते वर्धनीयोऽत्र समाधानसुरद्रुमः ।

तले तस्य च विभ्रान्त्यै भ्रान्तो देहिमनोभृगुः ॥ १ ॥

क्रमात् बीजक्षेत्रसेकाङ्कुरीभावपत्रकाण्डशाखापुष्पफलच्छा-
 याविस्तारादिवर्णनक्रमात् । आजीवनमाजीवो विवेकिजनः सर्व-
 प्रकारैरुपजीवनं तत्फलशालिनीम् । लताः शाखाः कल्पल-
 ताश्च तत्सहिताम् । मनोभृगुविभ्रान्तिदाम् । सत्तां स्थितिम्
 ॥ १ ॥ आजीव्यते सर्वात्मना उपजीव्यत इत्याजीवस्तथावि-
 धम् ॥ २ ॥ शत्रुस्वजनापमानादिजन्यदुःखेन भाग्यवशात्स्व-
 यमेव वा साधुसुहृज्जनोपदेशादिना निमित्तान्तरेण वा यथा-
 कथंचिदुदितं निर्वेदमुत्कटजिहासात्मकं परवैराग्यमस्य समाधा-
 नतरोर्बीजं विदुरित्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ तच्च संसारनिर्वेदरूपं
 समाधिबीजं विवेकिजनलक्षणे कानने नन्दने विविक्तायां विवे-
 कपरिष्कृतायां चित्तभूमौ स्वयमेव पतति न वा पापेक्षा-
 स्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ उक्तवैराग्यलक्षणं ध्यानबीजं महाधिया
 तत्परिवर्धनोद्युक्तदृढधिया पुरुषेणाऽमीभिर्वक्ष्यमाणलक्षणैः सेकैः
 संसेकव्यं न प्रसूतिवैराग्यवत्पुनर्मौगासक्तया नाशनीयमि-
 त्यर्थः । अखेदिना कामक्रोधादिवेगः खेदस्तत्सहिष्णुना ॥ ६ ॥

१ मनो विदुः इति पाठो शुक्लः.

शुद्धैः स्निग्धैः पवित्रैश्च मधुरैरात्मनोहितैः ।
 सत्संगमनवक्षीरैरेन्दुवैरमृतैरिव ॥ ७
 अन्तःशून्यप्रदैः पूर्णैः स्वच्छैरमृतशीतलैः ।
 विसृतैरमृताकुल्याशास्त्रार्थवरवारिभिः ॥ ८
 स्वचित्तभूमौ पतितं परिहाय महाधिया ।
 बीजं संसारनिर्वेदो रक्ष्यं ध्यानस्य यत्नतः ॥ ९
 तपःप्रकारदानेन पदार्थघटनेशितैः ।
 तीर्थायतनविभ्रान्तिवृत्तिविस्तारकल्पनैः ॥ १०
 कर्तव्योऽङ्कुरितस्यास्य रक्षिता शिक्षिताशयः ।
 संतोषनामा प्रियया नित्यं मुदितयान्वितः ॥ ११
 पश्चात्स्थिताशाविद्वगान्परप्रणयपक्षिणः ।
 अस्मादापततः कामगर्भगृध्राभिचारयेत् ॥ १२
 मृदुभिः सत्क्रियाकुन्तैर्विवेकाकर्तापरैरपि ।
 अचिन्त्यालोकदैरस्मान्मार्जितव्यं रजस्तमः ॥ १३
 संपदः प्रमदाश्चैव तरङ्गा भोगभङ्गराः ।
 पतन्त्यशनयस्तस्मिन्दुष्कृताभ्रसमीरिताः ॥ १४
 धैर्योऽशर्यदयामन्त्रैर्जपस्नानतपोद्गमैः ।
 विनिवारयितव्यास्ताः प्रणवार्थत्रिशूलिना ॥ १५
 इति संरक्षितादस्माद्ध्यानबीजात्प्रवर्तते ।
 आभिजात्योन्नतः श्रीमान्विवेकाख्यो नवाङ्कुरः ॥ १६
 तेन सा चित्तभूर्भाति सप्रकाशा विकासिनी ।
 भवत्यालोकरम्या च खं यथाभिनवेन्दुना ॥ १७
 तस्मादङ्कुरतः पत्रे उभौ विकसतः स्वयम् ।
 एकं शास्त्राभिगमनं द्वितीयं साधुसंगमः ॥ १८

तत्र प्रथमं सत्संगमलक्षणैर्नवैः क्षीरैः पश्चात्सन्मुखावगतशास्त्रा-
 मृतैः सेकव्यमित्याह—शुद्धैरिति द्वाभ्याम् ॥७॥ नेतिनेतीति
 सर्वद्वैतनिषेधादन्तःसर्वसंसारशून्यात्मप्रदेः अत एव पूर्णैः सर्व-
 तापोपशमनादमृतवत्स्वादुशीतलैः । शुद्धहृदयस्थस्य ब्रह्मसरसो
 व्याहयाद्वारा प्रसृतैः । अमृतप्रवाहस्यासमन्तात्कुल्यावद्भ्रमृत-
 श्रवणमननादिशास्त्रार्थवरवारिभिः ॥८॥ ध्यानस्य बीजं संसार-
 निर्वेदरूपं रक्ष्यम् ॥९॥ के ते यकास्तानाह—तप इति । तपो-
 ऽत्र भगवदुक्तं 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्' इत्यादिकं
 कायिकं वाचिकं मानसं च त्रिविधं सात्त्विकं तल्लक्षणेन प्रकी-
 र्यन्त इति प्रकाराः क्षेत्रदोहदास्ताहानेन । पदार्था अमानित्वा-
 दयस्तेषां घटनेन द्वैशितैः समर्थितैः । तीर्थायतनादिपुण्यस्थाने
 विभ्रान्तिर्वासस्तरक्षणस्य वृत्तिविस्तारस्य प्रकारप्राचीनाद्यावरण-
 विस्तारस्य कल्पनैः ॥ १० ॥ एवं सेचनाद्युपायैरङ्कुरितस्य
 संजाताङ्कुरस्यास्य बीजस्य रक्षणोपायेषु शिक्षिताशयो निपुणतरो
 मुदितारम्या प्रियया पश्यान्वितः संतोषनामा रक्षिता परिपा-
 लकपुरुषः कर्तव्यः ॥ ११ ॥ अस्माद्रक्षकाद्येतोः पश्चात्पूर्ववास-
 बासु स्थितान् आशालक्षणांस्त्रिद्वगान्परैष्वात्मातिरिक्तेषु पुत्र-
 मिप्रथनादिषु प्रणयोऽनुसारात्संप्रान्पक्षिणः कामगर्भादिप्राञ्च

स्तम्भेषु निबध्नाति स्वैर्ये नाम समुन्नतिम् ।
 संतोषत्वग्विबलितं वैराग्यरसरञ्जितम् ॥ १९
 वैराग्यरसपुष्टात्मा शास्त्रार्थप्रावृषान्वितः ।
 स्वल्पेनैव स्वकालेन परामेति समुन्नतिम् ॥ २०
 शास्त्रार्थसाधुसंपर्कवैराग्यरसपीवरः ।
 रागद्वेषकपिक्षोभैर्न मनागपि कम्पते ॥ २१
 अथ तस्मात्प्रजायन्ते विद्वानालङ्कृताकृतेः ।
 लता रसविलासिन्य इमा विततदेशगाः ॥ २२
 स्फुटता सत्यता सत्ता धीरता निर्विकल्पता ।
 समता शान्तता मैत्री करुणा कीर्तिरार्यता ॥ २३
 लताभिर्गुणपत्राभिः स ध्यानतरुर्जितः ।
 यशःपुष्पाभिरेताभिः पारिजातायते यतेः ॥ २४
 इत्यसौ ज्ञानविटपी लतापल्लवपुष्पवान् ।
 भविष्यज्ज्ञानफलदो दिनानुदिनमुत्तमः ॥ २५
 यशःकुसुमगुच्छाख्यो गुणपल्लवलासवान् ।
 वैराग्यरसविस्तारी प्रज्ञामञ्जुरिताकृतिः ॥ २६
 सर्वाः शीतलयस्याशाः प्रावृषीव पयोधरः ।
 सर्गात्पत्रं शमयति सूर्यतापमिवोडुपः ॥ २७
 प्रतनोति शमच्छायां छायामिव घनागमः ।
 निरोधमास्फारयति शमोऽनिल इवाम्बुदम् ॥ २८
 निबध्नात्यात्मना पीठं कुलाचल इव स्थितम् ।
 फलस्य रचयत्यूर्ध्वं घटिकां मङ्गलादिताम् ॥ २९
 विवेककल्पवृक्षे तु वर्धमाने दिने दिने ।
 छायावितानवलिते पुंसो हृदयकानने ॥ ३०

ध्यानाङ्कुरविघातार्थमापततो निवारयेत् ॥ १२ ॥ अहिंसाप्रधान-
 त्वान्मृदुभिर्भयमनियमासनप्राणायामेश्वरोपासनादिसत्क्रियालक्षणैः
 कुन्तैर्मार्जनीपूलैः । अस्मादङ्कुरक्षेत्राद्रजो मार्जितव्यम् । एवम-
 चिन्त्यब्रह्मालोकदैर्विवेकात्पैस्तमोऽज्ञानतिमिस्मपि मार्जितव्यम्
 ॥ १३ ॥ तस्मिन्ङ्कुरे ॥ १४ ॥ प्रणवमात्राभिविराडादिभिः
 स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चविलापनेन । तद्बोधेनेति यावत् ॥ १५ ॥
 आभिजात्येन पुष्टिसौन्दर्यातिशयेनोन्नतः ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥
 स्तम्भं काण्डम्, स्वैर्यं दृढमूलताम् । समुन्नतिमुच्छ्रयम् ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ २१ ॥ विज्ञानं श्रवणावर्तनजं ज्ञानम् । इमा वक्ष्य-
 माणाः । विततदेशगाः प्रतानविस्तीर्णा अपरिच्छिन्नात्मप्रदेश-
 गताश्च ॥ २२ ॥ स्फुटता स्वात्मतत्त्वस्य स्फुटीभावस्तदेकसत्यता ।
 सत्ता तदात्मना स्थितिः । धीरता तत्राप्यकम्प्यता । समता सर्व-
 वैषम्यनिवृत्तिः ॥ २३ ॥ गुणाः शान्त्यादयः पत्राणि यासाम् ।
 यतेः संन्यासिनः ॥ २४ ॥ भविष्यज्ज्ञानं मूलाज्ञानोच्छेदक्षमो
 ब्रह्मसाक्षात्कारः सप्तमभूमिकाविभ्रान्तिपर्यन्तः ॥ २५ ॥ २६ ॥
 सर्गात्पत्रं सांसारिकतापम् ॥ २७ ॥ निरोधं चित्तस्वैर्यम् ॥ २८ ॥
 पीठं मूलबन्धम् । फलस्य कैवल्याख्यस्य घटिकां घटपित्रीम् ।
 मङ्गलादितां शान्त्यादिकल्याणगुणधियं रचयति ॥ २९ ॥ ३० ॥

प्रवर्तते शीतलता तलतापापहारिणी ।
 मध्युल्लसन्मतिलता तुषारोदरसुन्दरी ॥ ३१ ॥
 यस्यामवान्तरभ्रान्तो विभ्राम्यति मनोमृगः ।
 आजन्मजीर्णपथिकः पथि कोलाहलाकुलः ॥ ३२ ॥
 सत्तामात्रात्मशारीरचर्मार्थं प्रेक्षितोऽरिभिः ।
 नानातासारसाकारगोपयज्जर्जरोन्मुखः ॥ ३३ ॥
 संसारारण्यविसरद्वासनापवनेरितः ।
 अहंतातापसरिता सर्वदा विप्रदारदी ॥ ३४ ॥
 दीर्घादरी दूरचितसारसंचारजर्जरः ।
 पुत्रपौत्रपरामर्शप्रतापात्पतितोऽवटे ॥ ३५ ॥
 लक्ष्मीलताविलुठनात्संकटैः कुण्ठिताङ्गकः ।
 तृष्णाधीसरितं गृह्णन्कल्लोलैर्दूरमाहतः ॥ ३६ ॥
 व्याधिदुर्व्याधवैधुर्यपलायनपरायणः ।
 अशङ्कितविधिव्याधपातादिव कृताकृतिः ॥ ३७ ॥
 ज्ञेयास्पदसमायातदुःखसायकशङ्कितः ।
 वैरिविद्रवणव्यग्रो दृषदाहरणाङ्कितः ॥ ३८ ॥
 उन्नतानतसंपातनिपातेनातिचूर्णितः ।
 विकारोपलनिर्घातैः पारम्पर्येण चूर्णितः ॥ ३९ ॥
 तृष्णाचारुलताजालप्रवेशवशविक्षतः ।

तलस्य मूलभ्रमेर्हृदयस्य प्रसिद्धानाध्यात्मिकादितापानपहरति तच्छीला ॥ ३१ ॥ अवान्तरेषु संसारप्रान्तरेषु भ्रान्तो मनो-मृगो यस्यां छायायां विभ्राम्यति । तमेव मनोमृगं सर्गोपान्त्य-श्लोकस्थमनोहरिणक इत्यन्तं बहुतरभ्रमादिहेतूपपादकैर्विशेष-णैर्वर्णयति—आजन्मेत्यादिना । पथि देवात्प्राप्ते सन्मार्गेऽपि नानावादिकोलाहलैराकुलो व्यग्रः सन्भ्रंशित इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ अरिभिः कामाद्यरिषुर्गलुब्धकैः । सत्तामात्रात्मा यः शारीरः पुरुषस्तलक्षणस्य चर्मणोऽपहारार्थं प्रेक्षितः । अनुसृत इति यावत् । नानातालक्षणेभ्यः सारेषु साकारेषु शरीरादिकण्टककु-ञ्जेषु मुहुर्मुहुर्निर्लीय स्वं गोपयंश्चासौ तदोषकण्टकैर्जर्जरमूर्ध्वं मुक्तं यस्य स चेति बहुव्रीह्युत्तरपदः कर्मधारयः ॥ ३३ ॥ अहं-तालक्षणाया तापसरिता मृगतृष्णानद्या सर्वदा विप्रधावनेन दारदो विषमेदः सोऽस्यास्तीति दारवी विषाक्रान्त इवान्तर्दाह-तृष्णादिभ्याकुल इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ दीर्घेष्वेव भोगविस्तारेष्वारो-रोऽस्यास्तीत्यादरी नाल्पसंतुष्ट इत्यर्थः । अत एव दूरेऽप्युपस्थि-तेषु सारेषु हरिततृष्णप्रायेषु विषयेषु संचारेण धावनेन जर्जरः शिथिलितगात्रः । पुत्रपौत्रादीनां परामर्शः परिपालनं तत्प्रयु-क्तादाध्यात्मिकादित्रिविधदावाभिप्रतापादवटे अनर्थगतं पतितः ॥ ३५ ॥ लक्ष्मीः संपत्तलक्षणासु लतासु पादवेष्टनेन विलुठना-च्छत्रुचोरराजादिप्रयुक्तैर्बन्धनताडनदण्डनादिसंकटैः कुण्ठिता-ङ्गकः । कल्लोलैः अशानायापिपासाशोकमोहजरासृत्युलक्षणै-रुर्मिभिः ॥ ३६ ॥ न शङ्कितः संभावितो विधिद्वैवं येन । कृता-कृतिः संकुचिताकारः ॥ ३७ ॥ ज्ञेयानां नेत्रादिज्ञानेन्द्रिया-स्त्राधानां शीतघण्टारावयथाङ्कुरादीनामास्पदेभ्यो निक्षिप्तभूतेभ्यो

स्वप्रहारचिताचारः परमायास्वशिक्षितः ॥ ४० ॥
 इन्द्रियग्राममागत्य प्रपलायनतत्परः ।
 सुदुर्ग्रहगजेन्द्रोप्रविस्फूर्जनविमर्दितः ॥ ४१ ॥
 विषयाजगरोदारविषफूत्कारमूर्च्छितः ।
 कामुकः कामिनीभूमौ रसात्प्रायो विपोथितः ॥ ४२ ॥
 कोपदावानलमुष्टपृष्ठविस्फोटदाहवान् ।
 सदा गतागतानेकदीर्घदुःखप्रदाहवान् ॥ ४३ ॥
 स्वात्मलगाभिलाषांशदंशदोषैरुपद्रुतः ।
 भोगलोभलसन्मोदशृगालचिरविद्रुतः ॥ ४४ ॥
 स्वकर्मकर्तृतोऽन्तदारिद्र्यद्वीप्यनुद्रुतः ।
 व्यामोहमिहिकान्धत्वकूटावटलुठस्तनुः ॥ ४५ ॥
 मानसिहसमुल्लासद्वयोत्कम्पनातुरः ।
 मरणेन रणे येन वृकपुष्पमिवेक्षितः ॥ ४६ ॥
 गर्वेण निरिणयाशु दूरतो जनसेवितः ।
 कामैः समन्ततो दन्तवितानितयवाङ्कुरः ॥ ४७ ॥
 तारुण्यनारीसुहृदा क्षणमालिङ्ग्य वर्जितः ।
 दुःसंचारेषु पवनैः कुपितैरिव वर्जितः ॥ ४८ ॥
 कदाचिन्निवृत्तिं याति सशमं च तरौ क्वचित् ।
 मनोहरिणको राजन्नाजीवमिव भासति ॥ ४९ ॥

लुब्धकक्षेत्रकादिभ्यः समायाताहुःखसायकाच्छङ्कितः । दृषद्वि-राहरणेः प्रहारैरिव पूर्वपूर्वदुःखानुभवसंस्कारैरङ्कितः ॥ ३८ ॥ उन्नतानतेपूर्वाधस्तनेषु स्वर्गनरकादिषु क्रमात्संपातनिपातेन । दृषदाहरणाङ्कित इत्यत्र दृषत्पदार्थं दर्शयति—विकारैति । विकाराः कामक्रोधभयादयः । पारम्पर्येण नैरन्तर्येण ॥ ३९ ॥ ॥ ४० ॥ सुदुर्ग्रहो गजेन्द्रः कामः ॥ ४१ ॥ विपोथितो विम-र्दितः ॥ ४२ ॥ कोपदावानलेन मुष्टो दग्धः । अत एव मुष्टे विस्फोटादिव बहिर्दाहवान् । सदा गतागतैर्विषयेषु पुनःपुनर्भ्र-मणंरन्तचिन्ताशोकादिदीर्घदुःखैरन्तःप्रदाहवान् ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ दारिद्र्यलक्षणेन द्वीपिना व्याघ्रणानुद्रुतः । पुत्रकलत्रासक्तिलक्ष-णया व्यामोहमिहिकया अन्धत्वे सति कूटेषु कपटेषु निरि-शृङ्खलवटेषु नीचकुलेषु गर्तेषु च लुठस्तनुः ॥ ४५ ॥ हृदय-स्योत्कम्पनं भयं तेनातुरः । येन प्रसिद्धेन मरणेन मृत्युव्या-घ्रेण रणे संप्रहारे वर्कन्ते आददते वृश्न्ति वा वृकाः स्वन-खास्तेषां पुष्पमिव सुखदार्यं ईक्षितः ॥ ४६ ॥ गर्वेणार्थादज-गरेण निरिणयाशु दूरतो जना यस्मात्तदूरतो जनं महारण्यं तत्र सेवितः । चिरं प्रतीक्षित इति यावत् । कामैर्निमित्तैः सम-न्ततो दैन्ययात्रादिना दन्तविकासाद्विताविता विस्तारिता इव दन्तप्रभा यवाङ्कुरा येन ॥ ४७ ॥ तारुण्यलक्षणेन नार्यर्थे सुहृदा न स्वतः । पवनैर्भ्रंशापवनसदृशैरिन्द्रियैर्दुःसंचारेषु नर-कस्थावरादियोनिकान्तारेषु वर्जितो बहुशः क्षिप्तः ॥ ४८ ॥ हे राजभिति दसरथस्य भाविकृत्या रामस्य वा संबोधनम् । ईदृशोऽयं मनोहरिणकः कदाचिद्बहुजन्मसंस्वितमुकृतपरिपा-कभाग्योदयकाले ऋषिदधिकारिजन्मनि समादिसाधनसहितं १ दुःसंचारेषुपवनैः इति मुद्रितपाठः टीकाकर्तृसमतः स्वारस्य-विकल्पः ।

तालीतमालवकुलादिकवृक्षगुल्म-
विश्रान्तिषु प्रचुरपुष्पविलासहासैः ।

इत्याषं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० मनोमृगविपद्वर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

नामापि यस्य न विदन्ति सुखस्य मूढाः

प्राप्नोति तच्छमतरोः स्वमनोमृगो वः ॥ ५०

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ४५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति विश्रान्तघानेष मनोहरिणकोऽरिहन् ।
तत्रैव रतिमायाति न याति विटपान्तरम् ॥ १
एतावताथ कालेन स विवेकद्रुमः फलम् ।
अन्तस्थं परमार्थात्म शनैः प्रकटयत्यलम् ॥ २
ध्यानद्रुमफलं पुण्यौ तदसौ स्वमनोमृगः ।
अधःस्थितः प्रान्तगतं तस्य पश्यति सत्तरोः ॥ ३
आरोहति नरो वृक्षं तदास्वादयितुं फलम् ।
अन्यधर्गपरित्यागो वितताध्यवसायवान् ॥ ४
विवेकवृक्षपात्राम वृत्तीस्त्यजति भूगताः ।
उन्नतं पदमासाद्य भूयो नाधः समीहते ॥ ५
तेनोत्तमफलार्थेन संस्कारान्प्राक्तनानसौ ।
विवेकपादपाकढस्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ ६
हसत्युच्चैः पदारूढमात्मानमवलोकयन् ।

यथा स्यात्तथा वर्णितलक्षणे ध्यानतरो निर्धृति विश्रान्ति-
सुखं याति । यथा आसमन्ताज्जीवतीत्याजीवं प्राणिजातं रात्रौ
शीतान्धकारार्तं भास्वति सूर्येऽभ्युदिते निर्धृतिं याति तद्वदित्यर्थः
॥ ४९ ॥ हे श्रोतारः, तालीतमालादिवृक्षगुल्मविश्रान्तिसदृशेषु
भूम्यादिसत्यलोकान्तलोकवासेषु प्रचुरपुष्पविलासहाससदृशैर-
नित्यभोगाभासैर्यस्य निरतिशयस्य भूमाख्यस्य सुखस्य नामापि
मूढा आत्मज्ञानशून्या जना न विदन्ति तत्तादृशमपुनरावृत्ति-
मोक्षविश्रान्तिसुखं वः स्वमनोमृगः प्रागुक्तरीत्या क्षेत्रवीजसे-
कादिना वर्धिताच्छमतरोर्ध्यानकल्पवृक्षात्प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५० ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
मनोमृगविपद्वर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

बर्णयते मनसो ध्यानपादपारोहणक्रमः ।

आरोहतः सुखोत्कर्षोऽप्युत्तरोत्तरभूमिषु ॥ १ ॥

हे अरिहन् । तत्र ध्यानकल्पतरावेव ॥ १ ॥ एतावता
प्राग्बर्णितेन गुच्छारम्भान्तेन मनोमृगविश्रान्त्यन्तेन च कालेन
स वर्णितो विवेकसहितध्यानद्रुमोऽन्तस्थं पञ्चकोशान्तस्थं गुच्छा-
न्तस्थं च परमार्थात्म पारमार्थिकस्वरूपं कैवल्यफलं शनैर्ब-
क्ष्यमाणभूमिकारोहणक्रमेण परिपच्यमानं प्रकटयति साक्षादनु-
भावयति ॥ २ ॥ तत्रादावसंभावनादोषस्येवत्क्षयान्मन्दान्ध-
कारे षटादेरिव संभावनाप्रायं साक्षात्कारं चतुर्यभूमिकाद्वारं
दर्शयति—ध्यानेति । प्रान्तगतं शास्त्राप्रसंलभम् ॥ ३ ॥ प्राक्-
नमृगरूपकस्य वृक्षारोहणे अनुपयोगान्नापलपशुभावादिनिवृत्तेश्च
नर इत्युक्तिः ॥ ४ ॥ कथमारोहति तदाह—विवेकेति । विवेक-

एतावन्तमहं कालं कृपणः कोऽभवं त्विति ॥ ७
करुणादिषु तेष्वस्य भ्रमच्छाखान्तरेषु सः ।
लोभध्यालमघः कुर्वन्सन्नाडिव विराजते ॥ ८
हृदयेन्दोर्गलध्रेणी दुःखान्नतिमिरावलिः ।
कृष्णायःशृङ्खलातृष्णा दिनानुदिनमुज्जति ॥ ९
उपेक्षते न संप्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
सोमसौम्यो भवत्यन्तः शीतलः सर्ववृत्तिषु ॥ १०
शास्त्रार्थपल्लवेष्वेव निषण्णात्मावतिष्ठते ।
उन्नतावनता याता अधः पश्यजगद्गतीः ॥ ११
भीमद्रुमलतोत्कीर्णपुष्पप्रकरदन्तुराः ।
प्राक्तनीः स्वाः स्थलीः पश्यन्हसत्यन्तर्वराकताम् ॥ १२
तेषु तत्स्कन्धदेशेषु तथोद्गीमविडीनया ।
हारिण्या विहरञ्जात्या राजेव परिराजते ॥ १३

वृक्षे दृढप्रतिष्ठितः पादो यस्य तथाविधो नाम प्रथमं भूत्वा
प्राक्तनीः संसारभूगता देहादिष्वहंममतादिवृत्तीस्त्यजति ।
'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' इति लोपः समाधान्तः । नाधः
समीहते आरोढव्यावलम्बनीयवृक्षभागेष्वेव सावधानदृष्टिचित्त-
निवेशनादिति भावः ॥ ५ ॥ संस्कारास्त्यजति । न किञ्चित्पूर्वतनं
स्मरतीति यावत् ॥ ६ ॥ कदाचिद्देवात्स्मरणमपि हसति । कृपणो
विषयसुखकणप्रार्थनया वीनः ॥ ७ ॥ करुणा सर्वभूतदया आदि-
पदात् 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' इत्याद्या दैव्यः
संपदो गृह्यन्ते । तल्लक्षणेभ्यो अस्य वृक्षस्य शाखान्तरेषु भ्रमन्
व्युत्थानकाले विहरन्सन्नाडिव पूर्णकामः ॥ ८ ॥ हृदयेन्दोः
सद्बुद्धिचन्द्रस्य गलत्यस्मिन्निति गलः कलाक्षयहेतुर्दशस्तस्य ध्रेणी
पङ्क्तिभूता । दुःखलक्षणस्य अञ्जस्य चन्द्रस्य बहुत्वभ्रान्तिहेतु-
स्तिमिरं नेत्ररोगविशेषस्तदावलिः कृष्णायः अयोजातिभेदस्त-
भिर्मिता शृङ्खलेव प्राणिनां बन्धनहेतुः ईदृशी तृष्णा छुमेच्छा-
रम्भदिनमारभ्य दिनानुदिनं क्षीयमाणा चतुर्थभूमिकायां निःशेष-
मुज्जति । 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इति भगवद्ब्रह्मच-
दिति भावः ॥ ९ ॥ १० ॥ शास्त्रमध्यात्मशास्त्रं तदर्थाः शम-
दमसंतोषादयस्तल्लक्षणेपु पल्लवेषु किमलयेषु । इतरशास्त्रानु-
सारिप्रवृत्तौ प्राणिनां ब्रह्मलोकपर्यन्तमुन्नताः स्वाभाविकप्रवृत्तौ
निरयान्तमवनताश्च जगद्गतीरधः अज्ञदशायामेवेति पश्यन्
॥ ११ ॥ भीमा भयानका विषद्रुमलतास्त्रोत्कीर्णैर्बिम्बपुष्प-
प्रकरैर्दन्तुराः प्रकटितोन्नतदन्ता इव स्थिताः स्थलीः प्राग्बर्णिताः
सप्त अज्ञानभूमिकाः पश्यन्स्मरन् ॥ १२ ॥ तस्य ध्यानतरोः
स्कन्धदेशेषुत्तरोत्तरभूमिकाभेदेष्वभ्यासदशायासाक्षात्कारा-

पुत्रदारसमप्राणि मित्राणि च धनानि च ।
जन्मान्तरकृतानीव स्वप्नजानीव पश्यति ॥ १४
रागद्वेषभयोन्मादमानसोहमहत्तया ।
नटस्येवास्य दृश्यन्ते शीतलामलचेतसः ॥ १५
उन्मत्तचेष्टिताकारा हसत्यपि पुरोगताः ।
तरङ्गभङ्गराधाराः संसारसरितो गतीः ॥ १६
न स चेतयते काञ्चिद्भोकदारधनैषणाः ।
अपूर्वपदविभ्रान्तो जीवन्नेव यथा शवः ॥ १७
केवलं केषले शुद्धे बोधात्मनि महोन्नते ।
दत्तदृष्टिः फले तस्मिन्परं समधिरोहति ॥ १८
स्मृत्वा स्मृत्वापदः पूर्वं संतोषामृतपोषितः ।
अर्थानामप्यनर्थानां नाशेषु परितुष्यति ॥ १९
व्यवहारेषु कार्येषु भोगसंपादकेष्वपि ।
परमुद्वेगमायाति सनिद्र इव बोधितः ॥ २०
दीर्घाध्वग इवोदारामनारतमबाधिताम् ।
चिरं मौर्ख्यभ्रमाक्रान्तो विभ्रान्तिमभिवाञ्छति ॥ २१
निःश्वासबोधितोऽप्यग्निरनिन्धन इवात्मनि ।
श्वासमात्रसमोऽप्यन्तरतिष्ठन्नेव शाम्यति ॥ २२
आपतन्ती बलादेव पदार्थेष्वरतिं शनैः ।
न शक्नोति निराकर्तुं दृष्टिमत्र च्युतामिव ॥ २३
तां महापदवीं गच्छन्परमार्थफलप्रदाम् ।
भूमिकामप्युपायाति वचसामप्यगोचराम् ॥ २४

दुःखीनविषीनप्रायया अत एव विहरजात्या चित्तवृत्त्या ॥ १३ ॥
॥ १४ ॥ व्यवहारे नटस्येव परानुरजनमात्रप्रधानया कृत्रि-
मया रागादिमहत्तया अस्य दृश्यन्ते । व्यवहारा इति शेषः
॥ १५ ॥ पुरोगता अपि संसारमृगतृष्णासरितो गतीर्मिथ्यात्व-
बुद्ध्या हसति ॥ १६ ॥ १७ ॥ परं पञ्चमभूमिकास्थानम्
॥ १८ ॥ १९ ॥ यथा सनिद्रः पुरुषो बोधितः सन्निसुखवि-
च्छेदादुद्वेगमायाति तद्वदयमवश्यकार्येषु व्यवहारेषु परैर्बोध्य-
मानः समाधिसुखविच्छेदादुद्वेगमायातीत्यर्थः ॥ २० ॥ प्राक्
चिरं मौर्ख्यप्रयुक्तेन जन्ममरणपरम्पराभ्रमध्रमेणाक्रान्त इति
सांप्रतं समाधिविभ्रान्तिमेवाभिवाञ्छतीत्यर्थः ॥ २१ ॥ श्वास-
मात्रेणैतरजनसमोऽप्यन्तरहंभावाभिमानेनाऽतिष्ठन्नेवेति पूर्णा-
त्मनि शाम्यति ॥ २२ ॥ बाह्यपदार्थेष्वरतिं पूर्वाभ्यासबल-
दापतन्ती अत्र बाह्यार्थेषु च्युतां स्वलितां यथाप्राप्तोपभोग-
दृष्टिमिव निराकर्तुं न शक्नोति, अप्रतिकूलत्वादिति भावः
॥ २३ ॥ भूमिकां षष्ठभूमिकाम् ॥ २४ ॥ अचेष्टितेषु प्रयत्न-
रहितेष्वेव कुतोऽपि परप्रयत्नादिनिमित्तात्प्राप्तेषु ॥ २५ ॥ २६ ॥
खगः सिद्धः । अगपदवीं मेरुशिखरमिव पक्षी वृक्षाप्रमिवेति
वा ॥ २७ ॥ तस्य सप्तमभूमिकाप्रतिष्ठामाह—तत्त इति ।
अखिलां बुद्धिं विहायेत्यनेन तत्रास्यात्यन्तिकवासनाक्षयमनोनाशौ
दर्शितौ । पृष्ठाति भूमानन्दब्रह्मभावफलमिति शेषः । आवरण-

कुतोऽप्यचेष्टितेष्वेव संप्राप्तेषु विधेर्वशात् ।
भोगेष्वरतिमायाति पान्थो मरुमहीष्विव ॥ २५
घूर्णः क्षीण इवानन्दी सुप्तः संसारवृत्तिषु ।
अन्तःपूर्णमना मौनी कामपि स्थितिमृच्छति ॥ २६
स तादृप्रपतामेत्य परमार्थफलस्य तत् ।
कमाम्निकटमाप्नोति खगोऽगपदवीमिव ॥ २७
ततस्तदखिलां बुद्धिं विहाय वियता समः ।
पृष्ठात्यथास्वादयति भुङ्क्तेऽथ परितुष्यति ॥ २८
संकल्पार्थपरित्यागाहिनानुदिनमातता ।
शुद्धस्वभावविभ्रान्तिः परमार्थातिरुच्यते ॥ २९
मेदबुद्धिर्विलीनार्थाऽमेद एवावशिष्यते ।
शुद्धमेकमनाद्यन्तं तद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः ॥ ३०
लोकैषणाविरक्तेन त्यक्तदारेषणेन च ।
धनैषणाविमुक्तेन तस्मिन्विभ्रम्यते पदे ॥ ३१
परेण परिणामेन मिथश्चित्परमार्थयोः ।
तापेन हिमलेखेव मेदबुद्धिर्विलीयते ॥ ३२
तज्ज्ञस्याकृष्टमुक्तस्य स्वभावेषूपमां विना ।
स्थितिः स्रग्दामकस्येव न संभवति काचन ॥ ३३
यथाऽप्रकटिताङ्गान्तःसंस्थिता शालभञ्जिका ।
न सती नासती स्तम्भे तथा विश्वस्थितिः परे ॥ ३४
ध्यानं न शक्यते कर्तुं न चैतदुपयुज्यते ।
अबोधेन विबुद्धस्तु स्वयमत्रैव तिष्ठति ॥ ३५

भङ्गादृहति निर्विक्लेपस्फुरणादास्वादयति तदेकप्रवणवृत्त्या
भुङ्क्ते तद्भावेन पूर्णस्थित्या परितुष्यतीति चतुर्ध्यादिभूमिका-
फलानामत्र लाभो दर्शितः ॥ २८ ॥ सर्वभूमिकारोहणोपायर-
हस्यमाह—संकल्पेति ॥ २९ ॥ तत्राप्युपायमाह—मेदेति ।
मेदबुद्धिर्विलीयते मेदसाक्षिचित् विलीना अर्थात्पिपुटीमेदा यस्या-
स्तथाविधा सती अभेद एवावशिष्यते । स च शुद्धं ब्रह्मै-
वेत्यर्थः ॥ ३० ॥ तस्याप्युपायमाह—लोकैषणेति द्वाभ्याम् ।
दारेषणास्यागोनेवार्थात्पुत्रैषणास्यागो लभ्यत इत्याशयः ॥ ३१ ॥
दृश्यतस्त्वशोधने सन्मात्रं परमार्थः । दृष्टतस्त्वशोधने चिन्मा-
त्रम् । तयोरखण्डैक्यलक्षणेन परेण निरतिशयानन्दात्मना परि-
णामश्चित्तस्य चरमसाक्षात्कारवृत्तिसंज्ञेनेत्यर्थः ॥ ३२ ॥ ननु
आकृष्टमुक्तधनुष इव चित्तस्याखण्डाकारवृत्त्युपरमे पुनः पूर्वा-
वस्थास्थितिर्बुर्बारेत्याशङ्गाह—तज्ज्ञस्येति । तज्ज्ञस्य लब्ध-
साक्षात्कारस्य धनुरादिकठोरोपमां विना कोमलतरस्य स्रग्दाम-
कस्येव स्थितिः । भूमौ पतितं हि स्रग्दाम ऋजुवक्रादिभावेन
यथैवाकृष्य स्थाप्यते तथैवावतिष्ठते न धनुर्वत्पूर्वावस्थास्थिति-
स्तस्य संभवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ किं सा स्थायता ध्यानरूपा
नेत्याह—यश्चेति द्वाभ्याम् । अप्रकटिताङ्गा अनाविष्कृता-
वयवा ॥ ३४ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—ध्यानमिति । इत्थं
प्राग्बोधात्सप्रपञ्चे ब्रह्मणि निष्प्रपञ्चस्वभावस्याबोधेन ध्यानं
तावत्कर्तुं न शक्यते । साक्षाद्विबुद्धस्तु स्वयं तत्स्वभावे एव

आत्यन्तिकी विरसता यस्य दृश्येषु दृश्यते ।
 स बुद्धो ना प्रबुद्धस्य दृश्यत्यागे हि शक्तता ॥ ३६
 दृश्यस्य बोधताबोधो यो बोधादपरिक्षयः ।
 स समाधानशब्देन प्रोच्यते सुसमाहितेः ॥ ३७
 द्रष्टृदृश्यैकरूपः प्रत्ययो मनसो यदा ।
 स तदेकसमाधाने तदा विभ्राम्यति स्वयम् ॥ ३८
 स्वभावो दृश्यवैरस्यमेव तत्त्वविदो निजः ।
 दृश्यरूपन्दनमेवापुरतस्त्वद्भावमुत्तमाः ॥ ३९
 अतज्जायैव विषयाः स्वदन्ते न तु तद्विदः ।
 न हि पीतामृतायान्तः स्वदन्ते कद्रु काञ्जिकम् ॥ ४०
 वितृष्णस्यात्मनिष्ठत्वादेवणात्रयमुज्जतः ।
 ज्ञस्याप्यनिच्छतो ध्यानमर्थायातं प्रवर्तते ॥ ४१
 बोधः स्फुरति तृष्णायाः सैव यस्य न विद्यते ।
 तस्य स्वरूपमुत्सृज्य कासौ तिष्ठति कः कथम् ॥ ४२
 ज्ञस्यानाराधको ध्येयबोधो नयतु यो भवेत् ।
 अनन्ता सा वितृष्णस्य निर्विभागोदितः स्वयम् ॥ ४३

तिष्ठन्कथं तज्यातुं शक्नुयात् । न हि स्वपन् जागरूको वा अस्वप्नो-
 ऽहमस्मीत्यात्मानं ध्यातुं शक्नोतीति भावः ॥ ३५ ॥ जागरूकेण
 स्वाप्रार्थोऽथैव तत्त्वविदा प्रपञ्चे तुच्छबुद्ध्या आत्यन्तिकवैरस्य-
 मात्रं तु कर्तुं शक्यमित्याशयेनाह—आत्यन्तिकीति ॥ ३६ ॥
 यदि न ध्यानं तर्हि तदविषये ब्रह्मणि कथं समाधिः, धारणा-
 ध्यानसमाधीनामेकविषयत्वनियमात् । तथा हि भगवतः पत-
 ज्जलेः सूत्राणि 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' 'तत्र प्रत्ययैकतानता
 ध्यानम्' 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' 'प्रय-
 मेकत्र संयमः' इति तत्राह—दृश्यस्येति । यो दृश्यस्य त्रिपुटी-
 लक्षणस्य जगतस्तस्मात्स्वस्वरूपबोधमात्रताबोधः स एव सुष्ठु
 सम्यग्यथार्थस्वभावे आहितेः स्थापनाद्वेतोः सम्यगाधानं समा-
 धिरिति विग्रहे समाधानशब्देनोच्यते । तादृशबोधस्वभावादि
 प्रपञ्चोऽपरिक्षयः शाश्वतो भवतीति सम्यक्स्वभावे तस्या-
 धानं संपन्नमित्यक्षरार्थानुगमादित्यर्थः ॥ ३७ ॥ अर्थमात्रनि-
 र्भासं स्वरूपशून्यमिवेति पतज्जलिबचनस्यापि दृष्टदृश्यैक्यापाद-
 नेन मनसो विलये तात्पर्यं सुबचमित्याशयेनाह—द्रष्टृति ।
 द्रष्टा साक्षिदृश्या त्रिपुटी तदेकतां रूपयतीति रूपः ॥ ३८ ॥
 दृश्यस्य वैरस्यं जाण्यदुःखादिरसताविरुद्धविदानन्दरसभावः
 ॥ ३९ ॥ विषया अचित्स्वभावा अचित्स्वभावदेहाद्यात्मने अत-
 त्त्वज्ञायैव स्वदन्ते । 'दृश्यार्थानां प्रीयमाणः' इति संप्रदानता ।
 तद्विद इति तस्यैव शेषत्वविवक्षया षष्ठी । काञ्जिकं मद्यविशेषः
 ॥ ४० ॥ यदि तु पुनःपुनः स्वस्वरूपानुसंधानमेव ध्यानं मन्यसे
 तर्हि तज्जागरूकस्य जाग्रदात्मनीव विदुषः सहजसिद्धमित्याह—
 वितृष्णस्येति ॥ ४१ ॥ वितृष्णस्येत्युक्तेस्तात्पर्यमुद्राटयति—
 बोध इति । बोधः स्वरूपानुसंधानलक्षणं ध्यानं तृष्णादिविक्षे-
 पहेतोः स्फुरति संचलतीति प्रसिद्धम् । यस्य तत्त्वविदः ।

१ दृश्यत्यागे हि शक्तता इति पाठः.

अनन्तमपतृष्णस्य स्वयमेव प्रवर्तते ।
 ध्यानं गलितपक्षस्य संस्थानमिव भूधृतः ॥ ४४
 शुद्धबोधात्मनि ज्ञत्वाऽसमाहिततोदिता ।
 न जातु सुसमिद्धेऽग्नौ घृतविन्दोरवस्थितिः ॥ ४५
 परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् ।
 आहृतं येन तन्मूत्रं तस्मै नृब्रह्मणे नमः ॥ ४६
 नूनं विषयवैतृष्ण्ये परिप्रीडिमुपागते ।
 न शक्नुवन्ति निर्हर्तुं ध्यानं सेन्द्राः सुरासुराः ॥ ४७
 परं विषयवैतृष्ण्यं वज्रध्यानं प्रसाध्यताम् ।
 मेदे विगलिते ज्ञानादन्यध्यानतृणेन किम् ॥ ४८
 मूर्खस्थो विश्वशब्दार्थो नामूर्खविषयस्तथा ।
 तज्ज्ञानयोस्तयोश्चैव विश्वविश्वेशयोस्तथा ॥ ४९
 यत्रैकीभूय कचनं तत्र विभ्राम्यतां बुधाः ।
 बोधभूमिषु सिद्धानामर्थानां वा विवेकिनाम् ॥ ५०
 सत्तासत्ते द्वयैक्ये च निर्णीते नेह केनचित् ।
 उपाय एकः शास्त्रार्थो द्वितीयो ह्यसमागमः ॥ ५१

तथा च परिशेषास्वरूपानुसंधानस्यैव सिद्धिरित्याह—तस्येति ।
 किंतुतानि दृश्यद्रष्टृदर्शनत्रिपुटीपरामर्शानि ॥ ४२ ॥ अथवा
 वितृष्णस्य ज्ञस्य सा तृष्णा अनन्ता अपरिच्छेद्या । यतोऽयं
 स्वयं निर्विभागोऽपरिच्छिन्नात्मरूप एवोदितः । अतो ध्येयस्य
 चिन्तनीयस्य बाह्यार्थस्य बोधो यो यादृशो भवेत्स तादृशे
 समाधौ व्यवहारे वा नयतु तथाप्यसौ तस्याऽनाराधको न तत्तृ-
 ष्णापूर्तिसमर्थ इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ अतो बाह्यार्थेऽपगततृष्णस्य
 तस्य तादृशतृष्णाया नित्यनिरतिशयानन्दात्मैव परिशेषाद्रोधक
 इति तदनुभवलक्षणमनन्तध्यानं स्वयमेव प्रवर्तते न यज्ञम-
 पेक्षत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥ अत एव शुद्धबोधोदयपर्यन्तमेव
 समाधियज्ञः । शुद्धबोधात्मनि साक्षादनुभूते ज्ञत्वविरोधादेवा-
 ऽसमाहितत्वं समाधियज्ञनिवृत्तित्त्वरुदितेत्यर्थः । विरोधं
 दृष्टान्तेन प्रकटयति—न जात्विति ॥ ४५ ॥ विक्षेपहेतूनां
 रागादिदोषाणामात्यन्तिकोच्छेदलक्षणं तु समाधानं विदुषामे-
 वास्त्यतस्ते नमस्या इत्याह—परमिति । आहृतं संपादितम्
 ॥ ४६ ॥ तृष्णापाशबद्धान्स्वपशून्प्रत्येव देवानां तृष्णाहीपनेन
 विग्रसमर्थत्वादिति भावः ॥ ४७ ॥ विषयवैतृष्ण्यं च ज्ञानेन
 सर्वविषयबाधपर्यवसितकार्यं तदेव वज्रवद्दं ध्यानमपीति
 प्रशंसति—परमिति ॥ ४८ ॥ अत एव विदुषां विश्वशब्दो
 बाधितार्थक इत्याह—मूर्खेति । तज्ज्ञानयोरित्याद्युत्तरश्लोका-
 न्वयि । तयोस्तद्विशेषज्ञानाज्ञानयोः ॥ ४९ ॥ यत्र यस्मिन्भू-
 मानन्दे द्वैतबाधाभिप्रायेणैकीभूय कचनमित्युच्यते न त्वैकत्व-
 संख्याभिप्रायेण । यतो विवेकिनामारुक्षणां मननादिबोधभू-
 मिषु सिद्धानामारूढानां साक्षात्कारादिबोधभूमिषु वा आत्मा-
 तिरिके सत्तासत्ते द्वैतैक्ये च केनचिदपि न निर्णीते इत्यन्वयः
 ॥ ५० ॥ तत्र विभ्रान्तानुपायानाह—उपाय इति । शास्त्रा-

ध्यानं तृतीयं निर्वाणे श्रेष्ठस्तत्रोत्तरोत्तरः ।
 जीवादर्शान्मिथो रूपं गृह्यात्पेषा महद्बुधः ॥ ५२
 जगत्युवेति संघट्टादाविशेषं समे समे ।
 ज्ञातपूर्वापराशेषजगदष्टापदस्थितेः ॥ ५३
 एकसिद्धौ द्वयोः सिद्धिर्बोधवैतृष्ण्यदीपयोः ।
 मतिवास्याधुतो व्योम्नि दग्धो ज्ञानाग्निनाखिलः ॥ ५४
 जगत्सुलः परे शान्ते न जाने काशु गच्छति ।
 चित्राग्निनेव बोधेन तेन जाड्यं न शाम्यति ॥ ५५
 निर्मूलापि जगद्भ्रान्तिर्येनाशु न विलीयते ।
 यथाऽहस्य जगज्जतिरपज्ञानात्प्रदीप्यते ॥ ५६
 तथा हस्य परिज्ञानाच्चदग्निः प्रदीप्यते ।
 तज्ज्ञस्याहजगज्जतिशब्दार्थरहिता स्थिता ॥ ५७
 यथास्थितैव त्रिजगज्जतिश्चित्र इवोदिता ।
 शून्यत्वेनैव रचिता सुसत्त्वेनेव निर्मिता ॥ ५८
 भासते भामयी बाह्या जगज्जतिर्हचेतसि ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोहरणिकोपाख्यानं नाम पञ्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः ४६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते ।

ध्यात्मशास्त्रस्यार्थनमादरनैरन्तर्येणाभ्यासः शास्त्रार्थः ॥ ५१ ॥
 फलसंनिकर्षाधिक्याच्छ्रेष्ठः । एवं विचारजन्यज्ञानवैराग्ययोरपि
 निर्वाणोपायतां परस्पराधीनप्रतिष्ठां च दर्शयितुमविवेकप्रयुक्-
 णीबोधाधिपरिच्छेदाधीनरागद्वेषाभ्यां प्रियाप्रियविषयसंघ-
 ट्टात्साम्यवैषम्यकल्पनां दर्शयति—जीवेति । महद्बुधपरि-
 च्छिन्ना एषा नित्यापरोक्षा ब्रह्मचित् जीवाह्वयस्य स्वप्नप्रतिबिम्ब-
 स्यादर्शभूतावन्तःकरणोपाधेर्वशान्मिथः परस्परं विभिन्नं रूपं
 गृह्णाति ॥ ५२ ॥ तत्र जगति प्रियाप्रियसंघट्टात् आविशेषं
 ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तान्विशेषानभिव्याप्य स्वकर्मवैचित्र्यात्सम-
 विषमे शरीरभेदे उदेतीत्यर्थः । तदेवमनादिकालात्संसरतां
 जीवानां मध्ये कस्यचिद्भाग्योदयाज्ज्ञानाधिकारयोग्ये जन्मनि
 शास्त्रसम्बन्धसङ्गाद्युपायलाभाज्ज्ञातपूर्वापराशेषजन्ममरणभ्रमणरूप-
 पजगच्छैरिफलक्रीडास्थितेः पुरुषधीरेयस्य बोधवैतृष्ण्यरूपयो-
 दीपयोरेकसिद्धौ द्वयोरपि सिद्धिरित्यन्वयः ॥ ५३ ॥ ज्ञानाग्निना
 दग्धो मस्तीभूतोऽखिलो जगत्सुलक्ष्मिद्योऽन्युत्तरभूमिकाभ्यासल-
 क्षणया मतिवात्यया धुत उद्गायितः सन् क्व गच्छति न जाने
 ॥ ५४ ॥ भ्रान्तिनिवारणसमर्थ एव बोधो मूलाज्ञानजाड्यो-
 च्छेदहेतुर्न त्वापातज्ञानमात्रमित्याह—चित्राग्निनेति । जाड्य-
 मज्ञानं शीतं च ॥ ५५ ॥ अज्ञस्याग्निनिवेशलक्षणादपज्ञानाद्यथा
 संसारभ्रान्तिरभिवृद्ध्या प्रकाशते तथा तत्त्वज्ञस्य परिज्ञा-
 नाभिवृद्ध्या उत्तरोत्तरभूमिष्वज्ञानमधिकं दह्यत इत्याह—
 यथेति ॥ ५६ ॥ दह्यमानेऽज्ञाने जगत्कीदृशं तेषां भासते
 तदाह—तज्ज्ञस्येति ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ अविमूढस्येति च्छेदः
 ॥ ५९ ॥ अर्धप्रबुद्धस्य तर्हि कीदृशं भाति तदाह—बाधेति

१ शरीरफल इति पाठः.

नूनं बोधेऽविमूढस्य नाहंता न जगत्स्थितिः ॥ ५९
 भासते परमाभासरूपिणः काप्यवस्थितिः ।
 बोधाबोधात्मकं चित्तं भाति शुष्कार्द्रकाष्ठवत् ॥ ६०
 बोधादेकं जगद्भावैर्जाड्याभात्मत्वमागतम् ।
 मिथो बोधाद्विबदतिमैत्री भजति बोधतः ॥ ६१
 य एवास्याधिको भागस्तन्मयत्वेन तिष्ठति ।
 बुधः सतत्त्वं नाधैति जगतोऽभावभावयोः ॥ ६२
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां स्वभावमिव तुर्यगः ।
 वासनैव मनः सेयं स्वविचारेण नश्यति ॥ ६३
 अवस्तुत्वात्तो मोक्षो नात्मनाशे प्रवर्तते ॥ ६४

ध्यानद्रुमात्स्वयमुपोढमनश्पपाका-
 त्कालेन बोधमुपयातवतः क्रमेण ।

भुक्त्वा रसायनफलं परबोधमाद्य-

मिच्छन्मनोहरिणको निगडाद्विमुक्तः ॥ ६५

बोधोऽप्यसद्भवत्याशु परमार्थो मनोमृगः ॥ १

॥ ६० ॥ द्विवत् उभयस्वभाववत् । बोधतो बोधाधिक्येन
 सर्वजनेष्वतिमैत्री भजति । आत्मौपम्येन सुखदुःखे दयया
 पश्यतीत्यर्थः । अबोधादबोधांशेन विवदति विवादादिना
 व्यवहरतीति वा ॥ ६१ ॥ यस्तु बुधः परिपक्वज्ञानः स तु जगतः
 अभावभावयोः सत्त्वासत्त्वयोः सतत्त्वं याथाार्थं नावैत्येव
 ॥ ६२ ॥ यथा तुर्यगः सप्तमभूमिकारूढो जाग्रदादीनां स्वभावं
 न पश्यति तद्वदिति भेदकल्पनादुपमा । ननु मनोहरिणकस्य
 ध्यानतरौ विश्रान्तिः प्रस्तुतेति तस्यैव रूपान्तरेण तदारोहणे
 परमपुरुषार्थफलाबासिर्वाच्या, तत्र मनोनाशलक्षणो मोक्षः कथं
 तस्य पुरुषार्थः स्यात्तत्राह—वासनैवेति ॥ ६३ ॥ अवस्तु-
 त्वादिति । तथा चात्मन एव मायिकमनोहरिणवेषेणानर्धविश्रान-
 न्त्यादिवर्णनं प्रस्तुतमिति भावः ॥ ६४ ॥ तथा चायं मनोनाशो
 मनोहरिणवेषेण वर्णितस्यात्मनो निगडमोक्षप्रायः फलित इत्यु-
 पसंहरति—ध्यानेति । इच्छन्मुमुक्षुः प्रस्तुतो मनोहरिणको
 वर्णितरूपादङ्कुरकाण्डशाखापत्रवपुष्पफलान्तपरिणामलक्षणानल्प-
 परिपाकात्कालेन स्वयमुपोढमुपचितं बोधं फलमुपयातवतो
 ध्यानद्रुमादायं परबोधोऽखण्डाकारवृत्त्यभिव्यक्तः परमानन्द-
 स्तलक्षणं रसायनफलं भुक्त्वा संसारनिगडाद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः
 ॥ ६५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे मनोहरणिकोपाख्यानं नाम पञ्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

ध्यानद्रुमफलास्वादे यादृशी मनसः स्थितिः ।

इवं विषयवैरस्यं यादृस्तदिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

ज्ञाते साक्षादनुभूते । बोधधरमसाक्षात्कारवृत्तिरपि खोपा-
 दानाज्ञानाभावादसद्भवति मनोमृगश्च परमपुरुषार्थरूप आत्मैव

कापि सा मृगता याति प्रक्षीणक्षेहदीपवत् ।
 परमार्थवशैवास्ते तत्रानन्तावभासिनी ॥ २
 ध्यानद्रुमफलप्राप्तौ बोधतामागतं मनः ।
 वज्रसारं स्थितिं धत्ते क्षिप्रपक्ष इवाचलः ॥ ३
 मनस्ता कापि संयाति तिष्ठत्यच्छैव बोधता ।
 निर्वाधा निर्विभागा च सर्वाऽखर्वात्मिका सती ॥ ४
 सुबिबिक्ततया चित्तसत्ता बोधतयोदिता ।
 अनाद्यन्ता भवत्यच्छप्रकाशफलदायिनी ॥ ५
 स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलैषणम् ।
 अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥ ६
 यावन्नाधिगतं ब्रह्म न विभ्रान्तं परे पदे ।
 तावत्तन्मननत्वेन न ध्यानमवगम्यते ॥ ७
 परमार्थैकतामेत्य न जाने क मनो गतम् ।
 क वासना क कर्माणि क हर्षामर्षसंविदः ॥ ८
 केवलं दृश्यते योगी गतो ध्यानैकनिष्ठताम् ।
 स्थितो वज्रसमाधाने विपक्ष इव पर्वतः ॥ ९
 विरसाखिलभोगस्य प्रशान्तेन्द्रियसंविदः ।
 नीरसाशेषदृश्यस्य स्वात्मारामस्य योगिनः ॥ १०
 क्रमेण विगलद्दृष्टेर्बलाद्भिन्नान्तिमीयुषः ।
 अर्थायातं समाधानं केन नाम विचार्यते ॥ ११
 तावद्विषयवैरस्यं भावयन्त्युचिताशयाः ।
 न पश्यन्त्येव तान्यावद्भोगाधिजनरो यथा ॥ १२
 अपश्यन्नागतानर्थाभिर्वासनतयात्मवान् ।
 बलाद्ब्रह्मसमाधाने त्वन्येनेव निवेश्यते ॥ १३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे साम्यावबोधनो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

प्राकृषीव नदीपूरो यः समाधिरुपस्थितः ।
 बलादेव तमायातं भूयश्चलति नो मनः ॥ १४
 सर्वार्थशीतलत्वेन बलाच्चाने यदाऽऽगतम् ।
 हानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ॥ १५
 दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् ।
 तदेव परिपाकेन वज्रसारं भवत्यलम् ॥ १६
 तदेतद्भोगवैतृष्ण्यं ध्यानमङ्कुरितं हि तत् ।
 तदेव पीठबन्धेन बद्धं भवति बन्धुरम् ॥ १७
 सम्यग्ज्ञानं समुच्छ्रयं सर्वैधोऽज्ञतवासनम् ।
 ध्यानं भवति निर्वाणमानस्यपदमागतम् ॥ १८
 अस्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्भ्यानदुर्धिया ।
 नास्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्भ्यानदुर्धिया ॥ १९
 दृश्यस्वदनमुक्तस्य सम्यग्ज्ञानवतो मुनेः ।
 निर्विकल्पं समाधानमविरामं प्रवर्तते ॥ २०
 यस्यै न स्वदते दृश्यं स संबुद्ध इति स्मृतः ।
 न स्वदन्ते यदा भोगाः सम्यग्बोधस्तयोदितः ॥ २१
 यस्य स्वभावविभ्रान्तिः कथं तस्यास्ति भोगिता ।
 अस्वभावो हि भोगित्वं तत्क्षये तत्कथं कुतः ॥ २२
 श्रुतपाठजपान्तेषु समाधिनिरतो भवेत् ।
 समाधिविरतः भ्रान्तः श्रुतपाठजपाच्छ्रूयेत् ॥ २३
 निर्वाणमासीत निरस्तस्त्रेदं
 समस्तशङ्कास्तमयाभिरामम् ।
 सुषुप्तसौम्यं समशान्तचित्तं
 शरद्धनाभोगविशुद्धमन्तः ॥ २४

भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ सा प्राक्तनी मृगता विषयतृष्णान्वेषणस्व-
 भावता याति अपैति ॥ २ ॥ स्थितिरवाचल्यम् ॥ ३ ॥ मनस्ता
 वाह्यार्थमननस्वभावता । सर्वा पूर्णा । अत एवाखर्वात्मिका
 बोधता चिन्मात्रता तिष्ठति ॥ ४ ॥ चित्ते या सत्ता प्राग्जडदे-
 हाद्यविवेकाज्जडेवाभूत्सैव सांप्रतं देहादेः सुबिबिक्ततया स्थिता
 बोधतया उदितेव । यतः परमार्थप्रकाशफलदायिनीत्यर्थः ॥ ५ ॥
 यतो निरस्तसकलैषणमतस्तदनन्यगतिकरवात्स्वात्मध्यानमेव
 परिशेषादवगम्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ कदा तर्हि तन्मनो न ध्यानं
 तदाह—यावदिति । तत् मनः । मननत्वेन विषयान्तरानुसंधा-
 नत्वेन ॥ ७ ॥ ८ ॥ ध्यानवत्तस्य समाधिरप्यर्थसिद्ध इत्याह—
 केवलमिति द्वाभ्याम् ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ तस्य परवैराग्य-
 मप्यर्थसिद्धमित्याह—तावदिति । चित्रनरश्चित्रलिखितान्पु-
 षान् ॥ १२ ॥ वज्रवदमेधे समाधाने समाधावन्येन नियञ्जेव
 बलाभिवेश्यते ॥ १३ ॥ यः समाधिराविर्भूतानन्दैकरसः प्रथ-
 मवृत्ताभुपस्थितस्तं शुद्धपिपीलिकान्यायेन वस्तुस्वभावबलादेवै-
 काग्र्यमायातमासाद्यन्मनस्ततो न चलति ॥ १४ ॥ ज्ञानाद्बला-
 दागतं यद्विषयान्तरे वैरस्यं स एव समाधिः । न हि रागादिना
 दन्दव्यमाने चेतसि समाधानं कदाचिदपि कल्पन्तिप्रसिद्धमिति

॥ १५ ॥ एवं ध्यानोपपत्तिरपि विषयवैरस्ये सत्येव नान्यथे-
 त्याह—दृढमिति ॥ १६ ॥ तथा च भोगवैतृष्ण्यं बीजमेवाहु-
 रितावस्थं ध्यानं प्ररूढावस्थं समाधिरित्येवमेदेऽपि व्यपदेशमेदः
 फलित इत्याह—तदेतदिति ॥ १७ ॥ साक्षात्कारवृत्त्याविर्भूतं
 ब्रह्मेव अविद्योच्छेदितया ज्ञानं वासनोच्छेदितया ध्यानं सर्व-
 दुःखोच्छेदानन्दरूपतया निर्वाणमिति व्यपदिश्यत इत्याह—
 सम्यगिति ॥ १८ ॥ सर्वमिदं भोगवैतृष्ण्ये सत्येव सिद्ध्यति नान्य-
 येति तदेव दृढीकर्तुं प्रशंसति—अस्ति चेत्यादिना ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ २१ ॥ पूर्णाद्वयस्वभावविरुद्धं भोगित्वमज्ञानकृतस्व-
 भावविपर्ययकाल्मात्रे संभवति नाज्ञाननाशोत्तरमित्याह—
 यस्येति ॥ २२ ॥ अभ्यासकाले व्युत्थितेन किं कार्यं कदा वा
 समाधिः सेम्यस्तत्कममाह—श्रुतेति । श्रुतं गुरुसतीर्थ्यादिभिः
 सह वेदान्तश्रवणम् । पाठ उपनिषदाद्यावर्तनम् । जपः प्रण-
 वादेः । तथा चोक्तं स्कान्दे—‘जपभ्रान्तः पुनर्ध्यायेज्याम-
 भ्रान्तः पुनर्जपेत् । जपध्यानाभियुक्तस्य प्रसीदति परः शिवः’
 इति ॥ २३ ॥ तत्रापि सदैव समाधिप्रधानेन भाव्यमित्याह-
 येनोपसंहरति—निर्वाणमिति । स्पष्टम् ॥ २४ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे साम्या-
 वबोधनो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः ४७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

संसारभारसुधान्तः संकटेषु लुठत्तनुः ।
 योऽभिवाञ्छति विश्रान्तिं तस्य क्रममिमं शृणु ॥ १ ॥
 पूर्वं विवेककणिका यदा स्वहृदि जायते ।
 संसारनिर्वेदमयी कारणाद्वाप्यकारणात् ॥ २ ॥
 तदा श्रयन्ति सच्छायांसाधुत्वसुविशालिनः ।
 अध्वश्रमहरांस्तापतप्ता मार्गतकरुनिव ॥ ३ ॥
 दूरे परिहरत्यज्ञान्यज्ञयुपानिवाध्वगः ।
 ज्ञानदानतपोयज्ञान्करोति विबुधानुगः ॥ ४ ॥
 वेशलं चानुरूपं च व्यवहारमकृत्रिमम् ।
 लोक्यमाह्लादनं घृष्टं चन्द्रविम्बमिवामृतम् ॥ ५ ॥
 परप्रज्ञानुगो भव्यः परार्थपरिपूरकः ।
 पवित्रकर्मरसिकः कोऽपि सौम्यः प्रवर्तते ॥ ६ ॥
 नवनीतस्थलीवाऽच्छा क्लिग्धा मृद्री मनोहरा ।
 जनं सुखयति स्वाद्वी तदीया नवसंगतिः ॥ ७ ॥
 शीतलानि पवित्राणि चरितानि विवेकिनः ।
 इन्दोरिवांशुजालानि जनं शीतलयन्त्यलम् ॥ ८ ॥
 न तथोद्यानखण्डेषु पुष्पप्रकरहारिषु ।
 विद्याम्यते वीतभयं यथा साधुसमागमे ॥ ९ ॥

भूयोऽपि विस्तारमुक्तिसाधनक्रमवर्णने ।

प्रस्तुते इद्वैराग्यप्राप्त्यन्तस्मिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

बहुकूलोऽपि पथ्यं वदितव्यमिति न्यायमाश्रित्य परमकारुणिको वसिष्ठः पूर्वं ध्यानवृक्षोत्पादनपरिपालनफलोन्मुखीकरणमनोहरिणकाश्रयणतदारोहणफलोपभोगान्तरूपकपरंपरया वर्णितमेव शुभेच्छादिमोक्षसाधनभूमिकाकर्म पुनः कुत्र कुत्र कियद्गुणसंपलाभ इत्येतत्प्रतिपादनप्रकारेण स्पष्टं मन्दाधिकारिप्रबोधनाय वर्णयिष्यंस्तच्छ्रवणाय शिष्यमभिमुखीकरोति—
 संसारेति । मरणमूर्च्छादिसंकटेषु लुठन्ति तन्नो यस्य । कर्म तत्र तत्र गुणप्रकर्षलाभक्रमम् ॥ १ ॥ तत्र विवेकाकुरोदये येषां गुणानां लाभस्तान्दर्शयति—
 पूर्णमिष्यादिना । कारणादहिकयज्ञतपोदानादिपापक्षयकारणात् । अकारणतदभावात् । जन्मान्तरानुष्ठितसत्कर्मभिरेव क्षीणपापानां वाक्यात्प्रभृत्येव विनैवैहिककारणं विवेकोदयदर्शनादिति भावः । अद्वैत निर्वेदमयी विवेककणिका जायते तदैव साधुत्वेन सुदु विशालिनो विस्तीर्णा वक्ष्यमाणगुणास्तं श्रयन्तीति परेणान्वयः ॥ २ ॥ तत्र दृष्टान्तः—तापतप्ताः पुरुषाः सच्छायांस्वार्गतस्त्विवेकि ॥ ३ ॥ तत्राज्ञजनसङ्गत्यागो यज्ञदानादिपरता देवताराधनादिगुणाः प्रथममुद्यन्तीत्याह—दूरे इति । एवमग्रेऽपि गुणा योज्याः ॥ ४ ॥ लोकेभ्यः परिणामे हितं लोक्यं सख्यव्यवहारम् । चन्द्रविम्बं कर्तुं । अमृतं कर्म ॥ ५ ॥ स्वपक्षरूपलोभाभिमानाधवात्परहितकारित्वाच्च परप्रज्ञानुगः । अत एव स्वैक्यत्रियो

मन्दाकिनीपयांसीव संगतानि विवेकिनाम् ।
 प्रक्षालयन्ति पापानि प्रयच्छन्ति तं विशुद्धताम् ॥ १० ॥
 विवेकिषु विरक्तेषु संसारोत्सर्गार्थिषु ।
 जनः शीतलतामेति हिमहारगृहेष्विव ॥ ११ ॥
 ननु नामरतोदारा या विवेकिनि विद्यते ।
 सुरगन्धर्वकन्यासु मानवीषु न विद्यते ॥ १२ ॥
 प्रज्ञा प्रसादमायाति क्रमादुचितकर्मणः ।
 अन्तःकरोति शास्त्रार्थमर्थं मुकुटभूरिव ॥ १३ ॥
 सत्प्रज्ञोन्नतिमायाति शास्त्रार्थप्रसशालिनी ।
 विवेकिनि विलासेन कदलीव मूलावने ॥ १४ ॥
 अन्तरेवानुभवति सर्वार्थान्प्रतिविम्बितान् ।
 आदर्शवदशेषेण प्रज्ञा नैर्मह्यशास्त्रिणी ॥ १५ ॥
 साधुसंगमशुद्धात्मा शास्त्रार्थपरिभोजितः ।
 प्राज्ञो भात्युद्धृतं बह्वेरग्निशौचमिवांशुकम् ॥ १६ ॥
 कचत्काञ्चनकान्तेन विमलालोककारिणा ।
 भुवनं भास्करेणैव भाति साधुः स्वरोजसा ॥ १७ ॥
 तथानुगच्छति प्राज्ञः शास्त्रसाधुसमागमौ ।
 यथात्यन्तानुषङ्गेण तावेवानुभवत्यसौ ॥ १८ ॥
 क्रमात्सजनतामेत्य शास्त्रार्थभरभाविताः ।

भवतीति भव्यः । पवित्रेषु शास्त्रानिषिद्धेषु कर्मसु रसिकः कोऽपि सर्वजनोत्कृष्टः सौम्यः सन् प्रवर्तते व्यवहरति ॥ ६ ॥ नवनीतस्य स्थली मुख्याश्रयो दधिमण्ड इवाच्छा क्लिग्धेत्यादिसाधारणम् । नवसंगतिः प्रथमसमागमः । मथनविवेचनपरिपाकक्रमेण चिरसंगतेरुत्तरोत्तरसारत्वात्स्वादुतरार्थलाभहेतुत्वसूचनाय नवेति विशेषणम् ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ हिमहारीश्च रचितेषु गृहेष्विव ॥ ११ ॥ न विद्यते सेति शेषः ॥ १२ ॥ क्रमादनुष्ठितादुचिताभिष्कामकर्मणो हेतोः प्रज्ञा बुद्धिः प्रसादं विशुद्धिमायाति । तच्छुद्ध्या च विविदिषोदये गुरुमुखभृतं शास्त्रार्थमन्तःकरोति । हृदि स्थापयतीत्यर्थः । मुकुटभूर्दणतलं स्वप्रतिविम्बितार्थमिव ॥ १३ ॥ विवेकिनि विवेकवति हृत्स्थाने । विलासेन मूलप्ररोहादिविस्तारेण ॥ १४ ॥ सा विवेकिप्रज्ञा सर्वार्थानन्तर्मनोविलासमाश्रितया अनुभवति ॥ १५ ॥ अभावेव शौचं मालिन्यदाहाद्विशुद्धिर्यस्य तथाविधमंशुकं वस्त्रमिव । तद्विद्विष्यं सिद्धात्स्वरोजसं मलदाहोत्तरं बह्वेरुद्धृतं विद्युत्पुञ्जमिव भास्वरतरं भातीति शास्त्रप्रसिद्धम् ॥ १६ ॥ साधुविवेकी । स्वरोजसा आन्तरेणात्मप्रकाशेन ॥ १७ ॥ शास्त्रमभ्यासेन साधोर्गुरोः समागमं च सेवादिना तथा अनुगच्छति निरन्तरमनुसरति यथा अद्यन्तं तदुपदिष्टार्थामिनिवेशलक्षणेन तदनुषङ्गेण स्वरेऽपि तच्चिन्तनतच्छुभ्रुषापरस्तावेवानुभवति न तदतिरिक्तं स्वशरीरादिकमपीत्यर्थः ॥ १८ ॥ रागद्वेषलोभप्रमादादिदोषकर्मभ्यादिगुणघञ्चयक्रमा-

भाति भोगानघः कुर्वन्पञ्चरादिव निर्गतः ॥ १९ ॥
 भोगाभिगमदौर्भाग्यं दिनानुदिनमुज्जता ।
 तेन तत्कुलमाभाति ताराचक्रसिबेन्दुना ॥ २० ॥
 अभोगकृपणा कापि न चैवास्य प्रवर्तते ।
 मुखे कान्तिरपूर्वैव चन्द्रे राहुमृते यथा ॥ २१ ॥
 तृणीकृतत्रिजगतां महतामभिधेयताम् ।
 स याति कल्पविटपी नभसीव दिवोकसाम् ॥ २२ ॥
 भोगानां द्वेषणेनान्तर्लज्जमानो मनस्यपि ।
 भोगानामप्यसंपस्या परमं परितुष्यति ॥ २३ ॥
 स्वा एवोपहसत्यन्तस्तरुणीस्तरलक्रियाः ।
 खेदस्मेरमुखो जातीर्जातिस्मर इवाधमः ॥ २४ ॥
 अथ तं द्रष्टुमायान्ति सौहार्देनैव साधवः ।
 भूमाविवोदितं चन्द्रं विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ २५ ॥
 नित्यानादतभोगोऽसौ ततोऽप्युचितया धिया ।
 प्राप्तमप्युचितारम्भं भोगं न बहुमन्यते ॥ २६ ॥
 पूर्वं संसृतिवैरस्यमन्तरेवोदितात्मनः ।
 जायते जीर्णजाल्यस्य पाकादिव शरत्तरोः ॥ २७ ॥
 ततः सज्जनसंपर्कमुदकध्रेयसे स्वयम् ।
 करोति स्वस्थतागृध्रुर्मिवगाश्रयणं यथा ॥ २८ ॥
 तेनोदारमतिभूत्वा शास्त्रार्थेषु निमज्जति ।
 महान्महाप्रसङ्गेषु सरःखिव महागजः ॥ २९ ॥
 सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम् ।
 नियोजयति संपत्सु खालोकेष्विव भास्करः ॥ ३० ॥

त्सज्जनतां निर्दोषगुणवजनताम् ॥ १९ ॥ भोगान्प्रति व्यसनित-
 तथा विषयाभिमुख्येन गमनं भोगाभिगमस्तलक्षणं दौर्भा-
 ग्यम् । कुलं वंशस्तद्वटितसमाजश्च आभाति ॥ २० ॥ अभोग-
 कृपणा भोगकार्पण्यनिर्मुक्ता अभिनवैव कापि कान्तिरस्य
 मुखे प्रवर्तते । राहुं ऋते विना । राहुनिर्मुके यथेति यावत्
 ॥ २१ ॥ अभिधेयतां प्रशंसनीयताम् । नभसि स्वर्गे ॥ २२ ॥
 प्राप्तभोगानां परित्यागे तुष्यन्नपि त्यक्तसर्वद्वेषेण मया भोगेषु
 द्वेषः कथं कृत इति मनसि लज्जमानोऽपि कदाचिद्भवतीति न
 तथा परितुष्यति । भोगानामसंपस्या अलाभेन तु लज्जा-
 प्रसक्त्यभावात्परमं परितुष्यतीत्यर्थः । त्वर्थेऽपिशब्दः ॥ २३ ॥
 प्राक्कनीस्तरुणीः रागादिप्रौढाः स्वाः स्त्रीया एव भोगौत्सुक्यत-
 रलाः क्रियाः सांप्रतं स्मरन् खेदेन स्मेरमुखः सन्नन्तरुपहसति
 यथा अधमश्चाण्डालादिदैवाजातिस्मरः सन् स्वा एव जाती-
 रन्तरुपहसति तद्वदित्यर्थः ॥ २४ ॥ तादृशं तं द्रष्टुम् । साधवः
 सिद्धाः ॥ २५ ॥ ततस्तेभ्यः सिद्धेभ्यः प्रसङ्गेभ्यः प्राप्तमुचि-
 तारम्भमनिषिद्धमपि सिद्ध्यादिभोगं स न बहुमन्यते ॥ २६ ॥
 कुतो न बहुमन्यत इति चेद्गुरुशास्त्रसंपर्कात्पूर्वमेव वैराग्यादि-
 साधनानां दृढाभ्यस्तत्वादिशाशयेनोक्तमेव गुणोदयकर्म पुनर-
 जुक्तामिति—पूर्वमित्यादिना ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥
 ॥ २१ ॥ स्वार्थानप्युपेक्षमाणः परार्थं कुतः स्पृहयेदिति भावः

परस्वादानविरतिः पूर्वमेव प्रवर्तते ।
 विवेकिनो निजार्थेषु संतोषश्चोपजायते ॥ ३१ ॥
 परस्वादानविरतः संतोषामृतनिर्भरः ।
 विवेकी क्रमशः स्वार्थानप्युपेक्षितुमिच्छति ॥ ३२ ॥
 ददाति कणपिण्याकशाकाद्यपि हि याचते ।
 तेनैवाभ्यासयोगेन स्वर्मांसानि ददात्यसौ ॥ ३३ ॥
 नूनं विलयचित्तानां विवेकमनुधावताम् ।
 मौर्ख्यं लघुत्वमायाति धावतामिव गोष्पदम् ॥ ३४ ॥
 परार्थादानविरतिं पूर्वमभ्यस्य यत्नतः ।
 आहर्तव्या विवेकेन ततः स्वार्थेष्वरक्तता ॥ ३५ ॥
 ततो भोगनिरासेन सह स्वार्थनिराकृतिः ।
 परमायै सुविधान्त्यै क्रियते कृतिभिः क्रमात् ॥ ३६ ॥
 न तादृशं जगत्यस्मिन्दुःखं नरककोटिषु ।
 यादृशं यावदायुष्कर्मणोपार्जनशासनम् ॥ ३७ ॥
 आसने शयने याने गमने रमणे जने ।
 औचिचिन्तापरा एव ननु मूढा विदन्तु ताम् ॥ ३८ ॥
 मन्वर्था विततानर्थाः संपदः संततापदः ।
 भोगा भवमहारोगा विपरीतेन भाविताः ॥ ३९ ॥
 तावन्नायाति वैरस्यं चिन्ताविषयजृम्भणैः ।
 यावदर्थमहानर्थो न कदर्थार्थमर्थ्यते ॥ ४० ॥
 अनुत्तमसुखं यस्यै चिराय परिरोचते ।
 जगत्तृणशिखादृष्ट्या सोऽर्थं पश्यतु शाम्यतु ॥ ४१ ॥
 भूरिभावविकाराणां जरामरणकर्मणाम् ।

॥ ३२ ॥ तेनैव त्यागाभ्यासयोगेन स्वर्मांसान्यपि याचमानेभ्यो
 ददाति ॥ ३३ ॥ विवेकानुसरणक्रमेण विलीयमानचित्तानां दिने
 दिने ज्ञानप्रचयेनाज्ञानं क्षीयत इत्याह—नूनमिति । मौर्ख्य-
 मज्ञानम् । लघुत्वमपक्षयेणाल्पताम् । यथा धावतामश्वा-
 दीनां गोष्पदमनायासोल्लङ्घ्यत्वलक्षणं क्षुद्रत्वमायाति तद्वत्
 ॥ ३४ ॥ परेषां स्वं धनादि तस्य आदानाद्विरतिं निवृत्तिम्
 ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ अर्थोपार्जनप्रयुक्तं शासनं दण्डनम् । ऐहिक-
 पारलौकिकदुःखजातमिति यावत् ॥ ३७ ॥ तत्र मूढानां पार-
 लौकिकदुःखास्मरणेऽपि ऐहिकं सर्वप्रसिद्धं स्मारयति—आसने
 इति । विदन्तु स्मरन्तु ॥ ३८ ॥ अर्जनरक्षणव्ययादौ राज-
 चोरादिभ्यश्चार्थार्थिनामनर्थसहस्रस्य प्रसिद्धत्वाद्विततानर्थाः राग-
 विपरीतेन विवेकेन भाविताः पर्यालोचिताश्चेदित्यर्थः । अथवा
 भावप्रधानो निर्देशः । अनर्थरूपा अप्येते मोहाब्जनैस्तद्विपरी-
 तेन भाविता इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ यावत्कदर्थार्थमर्थलक्षणोऽनर्थः
 पुरुषेण नार्थ्यते नाभिलष्यते तावत्स पुरुषो वैरस्यं तापत्रय-
 प्रयुक्तशोषं नायाति ॥ ४० ॥ यस्यै पुरुषाय मोक्षाख्यमनुत्तमं
 सुखं रोचते स पुमानर्थं धनं जगल्लक्षणस्य तृणस्य शिखेव
 तुच्छतरमिति दृष्ट्या पश्यतु । घनस्पृहात्याग एव मुख्यो मोक्षो-
 पायस्तस्येत्यर्थः ॥ ४१ ॥ तुच्छतामेव द्रष्टयितुं पुनःपुनर्धनं

१ परस्वादानं इति टीकातुल्यः पाठः. २ अर्थेचिन्ता इति पाठः.

शास्त्रतर्कविचारेषु न तथा स्वीयते चिरम् ॥ ७
उपशान्तेन शान्तेन स्वात्मारामेण मौनिना ।
ज्ञातैवान्विष्यते ज्ञेन विज्ञानैकान्तवादिना ॥ ८
एवमभ्यासवशातः परे विभ्रम्यते पदे ।
भिन्नैवाम्भसि शान्तेन स्वयमेव विवेकिना ॥ ९
सबाह्याभ्यन्तरं शान्ता ज्ञतैवार्थतयोदिता ।
न संभवति भिन्नोऽर्थ इत्येव परमं पदम् ॥ १०
नार्थोपलब्धिर्नोऽशून्यमस्ति बोधात्मतां विना ।
इत्यन्तरनुभूतिस्थमाहुस्तत्परमं पदम् ॥ ११
एकबोधातिसंबन्धपरिणामाच्च बोधता ।
न शून्यता नार्थतेति विद्धि तत्परमं पदम् ॥ १२
स्वसंविन्मात्रविभ्रामवताममनसां सताम् ।
न स्वदन्ते हि विषयाः पयांसि हृषदासिव ॥ १३
निरोधपदमापन्नो निर्मना मौनमन्धरः ।
स्वभावे स्थित एवास्ते चित्रे कृत इवात्मवान् ॥ १४
सर्वार्थमर्थरहितं महदेव पराणुवत् ।
अशून्यमेव शून्यात्म हृदयं वेद्यवेदिनः ॥ १५
अहंत्वं जगदीहादि दिक्कालकलनादि च ।

स्वीयत इति वा ॥ ७ ॥ देवादास्थितेनापि तत्र तत्र ज्ञाता
तत्त्वविदेव ज्ञानदाव्यायान्विष्यते । अथवा ज्ञाता वेहेन्द्रिय-
बुध्यादीनां साक्षाद्वा प्रत्यगात्मैव चेतसान्विष्यते न तथातिरिक्तं
किंचिदित्यर्थः ॥ ८ ॥ एवं निरन्तरान्वेषणेऽवश्यं स्वात्मदर्श-
नेन विभ्रान्तिः सिद्ध्यतीत्याह—एवमिति ॥ ९ ॥ कीदृशं तत्पदं
यत्रास्य विभ्रान्तिः कीदृशनिश्चयात्मिका च सा तदाह—सबा-
ह्याभ्यन्तरमिति । अज्ञता स्वाज्ञानमेवाऽर्थतया हृषवर्गा-
कारेणोदिता, सा च भिन्नोऽर्थेन संभवतीति शान्ता सा शान्ति-
रेव परमं पदमित्यर्थः । अथवा सबाह्याभ्यन्तरं भिन्नोऽर्थो
न संभवतीत्येव निश्चयरूपा ज्ञाता चरमसाक्षात्कारवृत्तिरेव
दग्धेन्यनामिदमिदमिति शान्ता चेतदेव परमं पदमित्यर्थः
॥ १० ॥ इति अनुभूतौ स्वानुभवे सर्वबाधावधित्वेन स्थितं
यत्तदेव परमं पदमित्यर्थः ॥ ११ ॥ तस्य परमपदस्य न
बोधता न शून्यता नाप्यर्थतेति विद्धि । कृतः । सर्वस्व
वस्तुजातस्यैकेनाह्वयेन बोधेनैवातिशयितः संबन्धोऽतिसंबन्ध
आख्यन्तिकैकरस्यं तथा परिणामात् । न हि बोध्याभावे तथाहृता
बोधताप्यपदेष्टुं शक्या, नापि तदर्थता तस्यैव व्यपदेष्टुं शक्या,
नाप्यर्थशून्यतामात्रेण बोधस्य शून्यताप्रसक्तिरिति भावः ॥ १२ ॥
तद्विभ्रान्तावाख्यन्तिकं विषयवैरस्यं सिद्ध्यतीत्याह—स्तेति ।
यथा अमनसां हृषदां क्षीराणि न स्वदन्ते तद्वत् ॥ १३ ॥
बहिर्मुखवितानां स्वात्मप्रवणतां स्वात्मविभ्रान्तानां च बहि-
र्मुखतां निरुणद्धीति निरोधस्तथाविधं पदम् । चित्रे कृतो
क्लिखित इव निश्चलः ॥ १४ ॥ कीदृशं तदा तस्य मनो भवति
तदाह—सर्वार्थमिति । वैशमवश्यवेदनीयमात्मतत्त्वं वेदितुं

१ चिरं इति कालः.

इस्य ज्ञानादि शून्यादि स्थितमेव न विद्यते ॥ १६
ज्ञेनामलपदस्थेन दीपेनेव निरस्यते ।
तमो हृदं तथा बाह्यं रागद्वेषभयादि च ॥ १७
रजोरहितसर्वांशं सत्त्वात्पारमुपागतम् ।
असंभवत्तमोरूपं प्रणमेत्तं नृभास्करम् ॥ १८
मेदप्रविलये जाते चित्ते चादृश्यतां गते ।
या स्थितिः प्राप्तबोधस्य न धागोचरमेति सा ॥ १९
वदात्येतन्महाबुद्धे निर्वाणं परमेश्वरः ।
अहर्निशं परमया चिरं भक्त्या प्रसादितः ॥ २०
श्रीराम उवाच ।
ईश्वरः को मुनिभेष्ट कथं भक्त्या प्रसाद्यते ।
एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि सर्वतत्त्वविदां वर ॥ २१
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
ईश्वरो न महाबुद्धे दूरे न च सुदुर्लभः ।
महाबोधमयैकात्मा स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ २२
तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः ।
सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ २३

शीलं यस्य तथाविधस्य तस्य हृदयं मनः अर्थरहितमेव सत्स-
र्वांशं भवति । सर्वस्य तत्त्वतस्तन्मात्रत्वात् । तथा अपरि-
च्छिन्नमज्ञाकारत्वान्महदेव सत्त्वतिरेकेण दुर्लक्ष्यत्वात्परमाणु-
बद्धवति ॥ १५ ॥ 'अशून्यमेव शून्यात्म' इति शेषं व्याचष्टे—
अहंत्वमिति । यतो ज्ञानादि अतस्तत्तया स्थितमेव, यतश्च
शून्यादि अतो न विद्यते—'नासतो विद्यते भावो नाभावो
विद्यते सतः' इति न्यायादिति भावः ॥ १६ ॥ भयादि यत्तच्च
निरस्यते ॥ १७ ॥ पक्षद्वयेऽपि विशेषणानि स्पष्टानि ।
अज्ञाननिशातिरोहितत्वेऽपि सत्त्वात्पारं तमोन्धिपारम्
॥ १८ ॥ १९ ॥ एतद्वर्णितं परमपदलक्षणं निर्वाणं परमे-
श्वरो ददाति । 'तपःप्रभावादेवप्रसादाच्च' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
॥ २० ॥ रामप्रश्नः स्पष्टः ॥ २१ ॥ २२ ॥ ईश्वरता हि
ईश्वरविषये सर्वथा स्वातन्त्र्यम् । तच्च सर्वं प्रति सर्वप्रकारेण
स्वात्मन एव संभवतीत्युपपत्तिमाह—तस्मै इति । अचेतनं
हि सर्वं रथगृहप्रसादादि चेतनार्थम् । न च तदतिरिक्तोऽ-
न्यचेतनधातुरस्ति । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुतेः ।
अनेन सर्वोपभोक्तास्वातन्त्र्यमुक्तम् । कर्तृतादिस्वातन्त्र्यमपि
तस्मैवेत्याह—तत्त इति । तृतीयापञ्चमीषष्टीसप्तमीविभक्त्य-
न्तात्सार्वभिकिकस्तसिः कर्तृकरणमित्यस्वात्म्यादिभावेनापि
स्वातन्त्र्यद्योतनार्थो बोध्यः । स सर्वमित्युपादानाधिष्ठानतादि-
स्वातन्त्र्यप्रवर्धनाय । एवं सर्वत इत्यपि सर्वशक्तिनिरूपकता-
स्वातन्त्र्यद्योतनाय बोध्यम् । सौक्ष्म्यसर्वगतत्वपरिणामादि-
स्वातन्त्र्यमपि तस्यैव संभवतीत्याह—सोऽन्तः सर्वमय
इति । इत्थं सर्वथा सर्वदा सर्वात्मनस्तस्यैव सर्वथापि सर्वो-
त्कर्त्तास एवेव इति वमस्कार्यं इत्याह—तस्मै इति ॥ २३ ॥

तस्मादिमाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
 अकारणं कारणतो गतयः पवनादिव ॥ २४
 अनिशं पूजयन्त्येताः सर्वाः स्थावरजङ्गमाः ।
 यथाभिमतदानेन सर्वे ते भूतजातयः ॥ २५
 सुबहून्येष जन्मानि यथाभिमतयेच्छया ।
 यदा संपूजितस्तेन प्रसादमधिगच्छति ॥ २६
 प्रसन्नः स महादेवः स्वयमात्मा महेश्वरः ।
 बोधाय प्रेरयत्याशु दूतं पूतं शुभेहितैः ॥ २७
 श्रीराम उवाच ।
 आत्मना परमेशेन को दूतः प्रेर्यते मुने ।
 स दूतो बोधनं वापि करोति वद मे कथम् ॥ २८
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 आत्मसंप्रेरितो दूतो विवेको नाम नामतः ।
 हृद्गुहायां सदानन्दस्तिष्ठतीन्दुरिवाम्बरे ॥ २९
 स एष वासनात्मानं जन्तुं बोधयति क्रमात् ।
 संसारसागरादस्मात्सारयत्यविवेकिनम् ॥ ३०
 बोधाल्मैषोऽन्तरात्मैव परमः परमेश्वरः ।
 अस्यैव वाचको नाम प्रणवो वेदसंमतः ॥ ३१
 जपहोमतपोदानपाठयज्ञक्रियाक्रमैः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराणायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० विवेकमाहात्म्यं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः ४९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

परिपुष्टविवेकानां वासनामलमुज्झताम् ।
 महत्ता महतामन्तः काप्यपूर्वैव जायते ॥ १

अत एव श्रुतिप्रसिद्धं जन्मादिहेतुतालक्षणं तस्येत्याशयेनाह—
 तस्मादिति ॥ २४ ॥ सर्वाः स्थावराऽपि तस्यैव प्रसिद्धेत्याह—
 अनिशमिति ॥ २५ ॥ २६ ॥ स एव महादेवः शुभेहितैः
 सुकृतैः प्रसन्नः सन् बोधाय तत्त्वज्ञानाधानाय पूतं विदुद्धतमं
 वक्ष्यमाणं दूतं प्रेरयति प्रेषयति ॥ २७ ॥ कथं करोति तन्मे
 वद ॥ २८ ॥ तेनात्मना देवेन संप्रेरितो विवेको नाम दूतः
 प्रागुक्ताधिकारिणो हृद्गुहायामागत्य तिष्ठति यावज्ज्ञानप्रतिष्ठं
 स्थिरीभवति ॥ २९ ॥ स विवेकदूतः यद्बोधयति तदेव
 तस्य तारणमित्याशयः ॥ ३० ॥ एष सर्वजगत्प्रथाहेतुत्वेन
 प्रसिद्धो बोधाल्मैवान्तरात्मा न वासनात्मा । स एव परमः
 परमेश्वरः । प्रणवोऽस्यैव वाचकः सज्जाम भवति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
 तस्य स्थूलप्रपञ्चोपहितं वैश्वानररूपमात्ममेदभ्रमनिरासायो-
 पास्यं दर्शयति—शौरिति । तथा च श्रुतिः—'अभिर्मूर्धा चक्षुषी
 चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विष्टताश्च वेदाः । वायुः प्राणो
 हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी शेष सर्वभूतान्तरात्मा'
 इति ॥ ३३ ॥ 'विश्वतश्छुस्त विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुस्त

एष प्रसाद्यते नित्यं नरनागसुरासुरैः ॥ ३२
 द्यौर्मूर्धा पृथिवी पादौ तारका रोमराजयः ।
 भूतान्यस्थीनि हृदयं व्योमास्य परमेश्वरः ॥ ३३
 सर्वत्रैष चिदात्मत्वाद्याति जागर्ति पश्यति ।
 तेनैव सर्वतो लक्ष्यकरकर्णाक्षिपादभृत् ॥ ३४
 विवेकदूतमुद्बोधय हत्वा चित्तपिशाचकम् ।
 आत्मनः पदवीं स्फारां जीवः कामपि नीयते ॥ ३५
 त्यक्त्वा सर्वविकल्पौघान्विकारानर्थसंकरान् ।
 पौरुषेणात्मनैवात्मा स्वयमेव प्रसाद्यताम् ॥ ३६
 भ्रमन्मनःपिशाचेऽसिन्कल्लोलजलदाकुले ।
 संसाररात्रितिमिरे स्वात्मैवापूर्णचन्द्रमाः ॥ ३७
 अगाधमरणावर्तकल्लोलाकुलकोटरे ।
 तृष्णातरङ्गतरले स्वमनश्चण्डमारुते ॥ ३८
 महाजडलघाधारे संसारविषमार्णवे ।
 इन्द्रियप्रामगहने विवेकः पोतको महान् ॥ ३९
 पूर्वं यथाभिमतपूजनसुप्रसन्नो
 दत्त्वा विवेकमिह पावनदूतमात्मा ।
 जीवं पदं नयति निर्मलमेकमाद्यं
 सत्सङ्गशास्त्रपरमार्थपरावबोधैः ॥ ४०

औदार्योदारमर्यादां मतिं गाम्भीर्यसुन्दरीम् ।

महतां नाशगाहन्ते भुवनानि चतुर्दश ॥ २

विश्वतस्पात्' इत्यादिश्रुतीनामप्यत्रैव सामञ्जस्यमित्याशयेनाह—
 सर्वत्रेति । सर्वतो लक्ष्यं करकर्णाक्षिपादं विभर्ति तथाविधः
 ॥ ३४ ॥ नीयते अनेनेति शेषः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ कल्लोलाः
 पद्ममयस्तल्लक्षणैर्जलदैराकुले संसारलक्षणरात्रेस्तिमिरे स्वात्मैव
 आसमन्तात्पूर्णचन्द्रमाः । साहादप्रकाश इत्यर्थः ॥ ३७ ॥
 विवेकस्यैवोत्तारणत्वं वक्तुं संसारं समुद्रतया रूपयति—अवा-
 घेति द्वाभ्याम् ॥ ३८ ॥ महतां स्थावरजङ्गमभूताद्यात्मना जड-
 लवानां जलकणानामाधारे ॥ ३९ ॥ उक्तं प्रश्नोत्तरं संक्षिप्योप-
 संहरति—पूर्वमिति । स्पष्टम् ॥ ४० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विवेकमाहात्म्यं
 नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

सुप्रसन्नविवेकानां महत्ता बाहवी भवेत् ।

बाहवश्च विश्वं भवति स्फुटं तदिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

कापि लोकोत्तरा महत्ता जायते ॥ १ ॥ तामेव प्रपन्नयति—
 औदार्येत्यादिना । औदार्यस्य सर्वलोके तारतम्येन प्रसि-
 दस्य उदारं श्रेष्ठां मर्यादामधिभूतां गाम्भीर्येण च सुन्दरीं

चित्तभ्रान्तिजगदिति प्ररूढे प्रत्यये सताम् ।
 बाह्याभ्रान्तभ्ररक्षकप्रहो मोहश्च शाम्यति ॥ ३
 द्वीन्दुवत्तापजलवत्केशोण्डकवदम्बरे ।
 विस्फुरन्त्यां जगद्भ्रान्तौ वासनाप्रत्ययः कुतः ॥ ४
 वासनाप्रत्यये शून्ये शून्यं व्योमैव शिष्यते ।
 साप्यवस्था मनोऽसत्त्वे कुतस्त्याज्या विवेकिना ॥ ५
 अयमेतत्तु यावत्प्रायेणानेन वर्जिता ।
 पश्यन्तीवाप्यपश्यन्ती सावस्था परमोच्यते ॥ ६
 विचित्ररत्नरश्म्योद्य इव नानात्मकं जगत् ।
 आभासमात्रं न त्वात्मा न घनं न च पार्थिवम् ॥ ७
 रूपालोकनमात्रं हि शून्यमेव जगत्स्थितम् ।
 खे विचित्रमणिव्यूहकरजालमिवोत्थितम् ॥ ८
 नेह सत्यानि भूतानि न जगत्ता न शून्यता ।
 इदं ब्रह्माख्यरत्नप्रभाजालं विजुम्भितम् ॥ ९
 सृष्टयोऽसृष्टयो ब्राह्म्यो नानाता च न नाशताः ।
 अमूर्ता एव भासन्ते कल्पनार्कगणा घनाः ॥ १०
 एवं तावद्धनीभूतः पिण्डग्राहो न विद्यते ।
 संकल्पिते च व्योम्नीव शून्यतैवावगम्यते ॥ ११

महतां मतिं चतुर्दशापि भुवनानि तद्गतसंपदो जनाश्च नाव-
 गाहन्ते । न प्रलोभयितुमियसया कलयितुं वा शक्नुवन्तीत्यर्थः
 ॥ २ ॥ बहिः शब्दादिलक्षणेष्वातिप्रहेषु भवो बाह्यः अन्तः
 संकल्पविकल्पादिरूपैश्चरत्त एव हृदान्तर्बहिः संचारक्षमनक-
 प्रायो ग्रहः समनस्केन्द्रियादिकलापस्तन्मूलभूतो मोहः अज्ञानं
 चकाराद्वासनाकामकर्मादिश्च शाम्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ भ्रान्तीनां
 सत्यताभिमानो यावत्कालं तावदेव तद्वासनोपचयः तासां
 भ्रान्तिवनेन स्फुरणे तद्वासनानामपि मूलोच्छेदादुच्छेदो लोके
 प्रसिद्ध इति दृष्टान्तानुदाहृत्य दर्शयति—द्वीन्दुवदिति । जग-
 द्भ्रान्तौ भ्रान्तिरेवेत्यमिति तत्त्वबोधाद्विस्फुरन्त्यां सत्याम् ॥ ४ ॥
 सा वासनाशून्या अवस्थापि मनसः असत्त्वे सति सिद्ध्यति । सा
 निर्वासना निर्मनस्कावस्था सप्तमभूमिकायां विवेकिना प्राप्ता
 कुतस्त्याज्या । तस्यागे हेतुर्नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ एतत्तु जाग्रदा-
 यवस्थात्रयमेव सर्वेषां प्रसिद्धम् । या तु अनेन त्रयेण वर्जिता
 सावस्था दर्शनादिव्यवहारमूलकाधादपश्यन्त्यपि जीवनमात्र-
 हेतुप्रारब्धशेषेण पश्यन्तीवान्यदशा भाति, तद्दृष्ट्या तु परमैव
 सोच्यते न दृश्यानुषक्त्यर्थः ॥ ६ ॥ तादृशां व्युत्थानकालेऽपि
 जगज्ज आत्मा न घनं नापि पृथिव्यादिघटितं किंतु विचित्रो
 रत्नरश्म्योद्यो निषिद्धितप्रभापुञ्ज इव घनतायाभासमात्रमित्यर्थः
 ॥ ७ ॥ ८ ॥ यतो नानाता नास्त्यतः सृष्टयो न सन्ति । यतश्च
 नाशताः न सन्ति अतः असृष्टयः प्रलयाश्च न सन्ति किं त्वमूर्ता
 एव कल्पनार्कगणा घनीभूय भासन्त इत्यर्थः । अर्कपदेन तत्कि-
 रणा लक्ष्यन्ते ॥ १० ॥ संकल्पकल्पितमूर्ताकाराणां मनोराज्यादौ
 शून्यतैव प्रसिद्धा न पिण्डग्रह इत्याह—एवं तावदिति ॥ ११ ॥
 शून्यताप्रसाधनस्य फलमाह—तस्यामिति । तस्यां शून्यतायां

तस्यामवस्तुभूतायां कथं भावनिबन्धनम् ।
 भविष्यदाकाशतरौ विभ्रान्तः को विहंगमः ॥ १२
 पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यता च न विद्यते ।
 चित्तमप्यत एवास्तं शेषं सत्तत्र चास्थिति ॥ १३
 अनानासममेवास्ते नानारूपो विबोधवान् ।
 अन्तरालीननानार्थो यथा कनकपिण्डकः ॥ १४
 यथास्थितस्य साहंत्वं विश्वं चित्तं विलीयते ।
 ज्ञस्यावाच्यमचित्त्वं सत्स्वरूपमवशिष्यते ॥ १५
 क्लिश्यते केवलं बुद्धिरत्तराधरदर्शनैः ।
 स्तोत्रयाभ्यस्तया युक्तया सत्योऽर्थो ह्यवगम्यते ॥ १६
 विराडोजोविरहितं कार्यकारणतादिभिः ।
 भूतभव्यभविष्यस्य जगदङ्गस्य संभवम् ॥ १७
 येन बोधात्मना बुद्धं स ज्ञ इत्यभिधीयते ।
 अद्वैतस्योपशान्तस्य तस्य विश्वं न विद्यते ॥ १८
 पूर्वोक्ताः सर्वे एवैते उपदेशा विशेषणाः ।
 ज्ञस्यानुभवमायान्ति स्वतः साधुकथा इव ॥ १९
 पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यत्वं चाप्यसंभवात् ।
 अत एव मनो नास्ति शेषं सत्तत्र स्थितिः ॥ २०

अहंममतरागद्वेषादिभावनिबन्धनं कथम् । न संभवत्येवेत्यर्थः
 ॥ १२ ॥ एवं जगतः पिण्डत्वाद्यपलापे सन्मात्रं सारतया
 परिशिष्टमित्याह—पिण्डत्वमिति । तत्तु दुरपहवमित्याह—
 तत्र चास्थितीति ॥ १३ ॥ अत एव तत्त्वविज्ञाप्यस्यपि
 सुषुप्तस्थो भासमाननानात्वानां सन्मात्रात्मन्यन्तर्लयादिति सदृष्टा-
 न्तमाह—अनानासममेवेति ॥ १४ ॥ ननु ज्ञस्य तत्सन्मात्र-
 मवशिष्टचिद्रूपमेव किं न स्यात् । सति हि चित्ते चिदमिव्यक्तिः
 प्रसिद्धा, तद्विलये तदसंभवादित्याह—यथास्थितस्येति ।
 यदि अयथास्वभावे जाड्ये स्थितस्यास्य साहंत्वं विश्वं चित्तं च
 विलीयेत तदा जडसन्मात्रपरिशेषो भवेत् । न त्वेवं किंतु
 ज्ञस्य यथाभूतचिदेकस्वभावे स्थितस्य साहंत्वं विश्वं चित्तं च
 तत्त्वदर्शनाद्विलीयते, तदा तु परिशिष्टचिदेकरसस्याऽचित्त्वं वस्तु-
 मशक्यमिति चिदेकरसत्परिशेषसिद्धिरित्यर्थः ॥ १५ ॥ यदि
 तत्स्वरूपमेव तर्हि सर्वेषां कुतो न मुलभमिति चेदुच्चावचविषये-
 ध्वेव बुद्धेश्चलतया स्थैर्याभावादित्याह—क्लिश्यत इति ॥ १६ ॥
 कासौ स्तोका युक्तिस्तौ दर्शयंस्तदभ्यासफलं ज्ञानलक्षण-
 मित्याह—विराडिति । येन अधिकारिणा भूतभव्यभविष्य-
 त्सर्ववस्तुलक्षणस्य जगदङ्गस्य संभवं जन्म कार्यकारणतादिभि-
 र्विमृश्य वाचारम्भणश्रुतिदर्शितन्यायेन विराजा स्थूलप्रपञ्चेन
 ओजसा तद्विष्टम्भकसूत्रात्मकप्रधानेन सूक्ष्मप्रपञ्चेन विरहितं
 परिशिष्टसन्मात्ररूपाखण्डबोधात्मना बुद्धं स एव ज्ञस्त्वविदिति
 सार्धस्यार्थः ॥ १७ ॥ १८ ॥ सर्वोपदेशानां तत्तदसंभवानां श-
 व्यावर्तकानां तादृशानुभवे पर्यवसानमित्याह—पूर्वोक्ता इति
 ॥ १९ ॥ युक्त्यन्तरमाह—पिण्डत्वमिति । चतुर्विधभूतप्रामाणां
 पृथिव्यादिमहाभूतानां चावयवशो गुणवाच्य विविच्य दृश्यमानानां

चेत्योन्मुखत्वमेवान्तश्चेतनस्यास्य चेतनम् ।
 उदितं तदनर्थाय श्रेयसेऽनुदितं भवेत् ॥ २१
 उदितं बाह्यातामेति तत्र गच्छति पिण्डताम् ।
 स्वयं संवेदनावेध जाड्यादम्बिव शैलताम् ॥ २२
 स्वप्राद्यर्थवदादत्ते बोधोऽबोधेन पिण्डताम् ।
 तद्गाहकतया चित्तं भूत्वा बध्नाति देहकम् ॥ २३
 एतावतीष्ववस्थासु बोधस्योदेति नान्यता ।
 शब्दकल्पनया मेदः केवलं परिकल्पितः ॥ २४
 बहिरन्तश्च बोधस्य भात्यात्मैवार्थदृष्टिभिः ।
 अन्तस्त्वेन बहिष्ठेन नैवास्य मनसो यथा ॥ २५
 बोधस्याकाशकल्पत्वात्कालाकाशादि तद्रूपः ।
 पदार्थाश्चैव स्वात्मानः स्वप्रवचनार्थरूपिणम् ॥ २६
 बाह्यार्थता नाम्परत्वं तद्रूपबोधवशाद्भजेत् ।
 नासादृश्यं हि बोधत्वं गन्तुं शकं जडं क्वचित् ॥ २७
 बोधो दृश्यदशां नैति प्राप्तो वापि च तां स्थितिम् ।
 स यथास्थितमेवास्ते मनागप्येति नान्यताम् ॥ २८
 अत्यर्थं शुद्धबोधैकपरिणामे कृतोदये ।
 बोधाबोधार्थशब्दानां श्रुतिरप्यस्तमेप्यति ॥ २९
 आतिवाहिकदेहानां चित्तानामेव जायते ।

परमाणुभावेऽप्यविश्रान्तेः पिण्डत्वं तावज्जास्ति । नापि च
 शून्यत्वं प्रत्यक्षत्वाद्यसंभवात् । उभयासंभवे च सर्वविकल्पाप-
 गमात्तदधीनस्थितिकं मनोऽपि नास्तीत्यविकल्पं सन्नात्ररूपं
 स्फुरणमेव क्षिप्यत इति शेषं तदेव तव पारमार्थिकं रूपं स्थितिः
 प्रतिष्ठेत्यर्थः ॥ २० ॥ युक्त्यन्तरमाह—चेत्योन्मुखत्वमिति ।
 अन्तश्चेतनस्यास्य प्रत्यगात्मनश्चेत्योन्मुखत्वमेव चेतनं संसारा-
 त्मना बोधः ॥ २१ ॥ कथमनर्थाय तदाह—उदितमिति ।
 शैलतां करकोपलभावम् ॥ २२ ॥ बोधश्चिदात्मा । अबोधेन
 स्वाङ्गानेन ॥ २३ ॥ ईदृशविवर्तसहस्रैरपि चित्तो नाणुमात्रमपि
 विकार इति तेषां वाचारम्भणमात्रत्वमित्याह—एतावती-
 ष्विति ॥ २४ ॥ यथा स्वप्नस्य मनसा दर्शने मनस एवान्तस्त्वेन
 बहिष्ठेन च मन एव विकृतं भाति न तथा बोधात्मा अर्थदृष्टि-
 भिर्भासमानोऽपि विकृत इत्यर्थः ॥ २५ ॥ कृतो न विकृतस्तत्राह—
 बोधस्येति । कालाकाशादिवदविकृतमित्यर्थः । अर्थरूपि
 अर्थाकारपरिणामि ॥ २६ ॥ चिज्जडबाह्यार्थाकारेण न विक्रियतां
 जडमेव तत्त्वबोधवशादान्तरविदाकारत्वेन विक्रियतां तत्राह—
 बाह्येति । हि यस्माज्जडमसादृश्यमत्यन्तविसदृशमित्यर्थः ॥ २७ ॥
 तां दृश्यस्थितिं विवर्तवशात्प्राप्तोऽपि स बोधो यथास्थितमविकृत
 एवास्ते ॥ २८ ॥ सप्तमभूमिकाविश्रान्तिपर्यन्ते परिणामे परिणतो
 ॥ २९ ॥ दृश्यस्य मनोभावनयैव दृढीभाव इव तयैव क्षिथिलीभाव
 इत्याह—आतिवाहिकेत्यादिना ॥ ३० ॥ नटेः पिशाचवेषना-
 टनय कल्पिता पिशाचतेव ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ भावना अर्थसत्य-
 तावासना ॥ ३३ ॥ एतस्मादुदे उच्छेदे परा उद्युक्ताः ॥ ३४ ॥

आधिभौतिकताबोधो दृढभावनया स्वया ॥ ३०
 आकाशविशदंश्चित्तैर्भाषितैवातिवाहिकैः ।
 आधिभौतिकता मिथ्या नटैरिव पिशाचता ॥ ३१
 अन्तरिभ्रमणाभ्यासात्प्रज्ञातैषोपशाम्यति ।
 नोन्मत्तोऽस्मीति संबोधाच्छाम्यत्युन्मत्तता किल ३२
 अन्तेः स्वयं परिज्ञानाद्वासना विनिवर्तते ।
 स्वप्ने स्वप्नतया बुद्धे कस्य स्यात्किल भावना ॥ ३३
 वासनातानवेनैव संसार उपशाम्यति ।
 वासनैव महायक्षिण्येतच्छेदपरा बुधाः ॥ ३४
 अज्ञानोन्मत्तता पुंसां यथाभ्यासेन भाषिता ।
 तथैव बोधात्स्वभ्यासात्सा कालेनोपशाम्यति ॥ ३५
 आतिवाहिकदेहोऽयमाधिभौतिकतां यथा ।
 नीयते भावनां तज्ज्ञैर्बोधसत्ताप्रसादतः ॥ ३६
 आतिवाहिकदेहोऽपि नीत्वा जीवपदं तथा ।
 दृष्टेन बोधाभ्यासेन नेतव्यो ब्रह्मतामपि ॥ ३७
 स्वस्तुष्वेदुत्पत्तिर्बुध्यते बोधरूपिणी ।
 तदातिवाहिकी बुद्धिः कथमित्यपि बुध्यते ॥ ३८
 नो चेत्तत्प्रतिवाक्यार्थात्तद्बन्धिविनिवर्तते ।
 भूतोत्सादनसूत्रस्य प्रतिपत्तृपदं यथा ॥ ३९

सा अज्ञानप्रयुक्ता उन्मत्तता ॥ ३५ ॥ बोधस्य सत्ता अभ्यास-
 दृढीकृता स्थितिस्तत्प्रसादतः आतिवाहिकदेहो भावनां ब्रह्माहं-
 भाववासनामात्रतां तथा नीयत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ भावनां
 नीत्वा जीवपदं जीवतां नीत्वा ततो ब्रह्मतां नेतव्यः ॥ ३७ ॥ कथं
 जीवपदं नेतव्यः कथं च ब्रह्मतां तदाह—स्वस्तुष्वेदिति ।
 उत्पन्नान् हि बाह्यानाध्यात्मिकांश्च भावान्प्रति रागाद्युद्भावेनेना-
 त्मानमतिवहतीत्यतिवाहो वासनासहस्तदुद्भवो हि लिङ्गदेह
 आतिवाहिक इत्युच्यते । तत्र सर्वभावनानां प्रथमो विकार उत्पत्तिः
 सा चेद्विसृज्य स्वस्तुष्वकूटस्था बोधमात्ररूपिणी बुध्यते तदा
 आतिवाहिकीबुद्धिरपि कथं कितत्त्वा इति तुल्यन्यायेन बुध्यते ।
 न तावत्कस्यचिद्भावस्य कूटस्थबोधस्वभावव्यतिरेकेणोत्पत्ति-
 निरूपयितुं शक्या । तथा हि । सा हि प्राक्स्वयमुत्पन्न भावा-
 न्निधिष्यादनुत्पन्न वा । द्वितीये ऋणमपि शशां विशिष्यात् ।
 आद्ये स्वयमुत्पत्त्यादिभिर्विशेष्यमाणा भाव एव स्यात् भाव-
 विकारः । एवं तदुत्पत्तिरपीत्यनवस्थादोषाभ्युपगमे निर्विकार-
 भावानवस्थैव स्यादिति नोत्पत्त्यादिविकाराः कस्यचित्केनचित्-
 रूपयितुं शक्या इति कूटस्थबोधरूपा एव ते इति बुद्धे कः
 कस्यै कमतिवहेतिकं तदतिवहनं का वा तद्बुद्धिरन्या स्यादिति
 सापि तत्त्वतो बुध्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ अनयैव रीत्या तत्त्वं-
 पदार्थबोधने सर्वमहावाक्यान्यसंछाद्यबोधनेन सर्वसंदेहप्रतिब-
 मेदने समर्थाणि । अन्यथा तु भूतोत्सारणमप्यगतदुःखरूपिपद-
 वदनैकान्येव भ्रमणमात्रवत्संसारं निवर्तयन्तीति कथं
 स्यादित्याह—नो चेदिति । स्वप्नस्य मन्त्रस्य प्रतिपत्तृपदं

जगद्बोधैकतां बुद्ध्या बोद्धव्या तावद्व्रणम् ।
 अत्यन्तपरिणामेन यावत्सापि न बुध्यते ॥ ४०
 सबाह्याभ्यन्तरे चित्ते शान्ते भाति स्वभावता ।
 शीतलां व्योमनिर्भासां तामेवाभित्य शाम्यताम् ॥ ४१
 ज्ञानवान्ज्ञानयज्ञस्थो ध्यानयुपं विरोपयन् ।
 जगद्विजित्य जयति सर्वत्यागैकदक्षिणः ॥ ४२
 पतत्यङ्गारवर्षे च वाति वा प्रलयानिले ।
 भूतले व्रजति व्योम्नि सममास्ते च आत्मनि ॥ ४३
 वैतृष्ण्यशान्तमनसो निरोधमलमीयुषः ।
 स्थितिर्वैश्रसमाधानं विना नान्योपपद्यते ॥ ४४
 यथा बाह्यार्थवैतृष्ण्ये नोपशाम्यत्यलं मनः ।
 न तथा शास्त्रसंदर्भैर्नोपदेशतपोदमैः ॥ ४५
 मनस्तृणस्य सर्वार्थवैतृष्ण्यान्निर्विबोधितः ।
 सर्वत्यागानिलैः संपदत्यापदिति भावनात् ॥ ४६
 बहिरन्तश्च मोहश्च पिण्डग्राहोऽर्थवेदनम् ।

चित्तिरेवेति कचति ज्ञात्वा मणिरिवात्मनि ॥ ४७
 नरनागासुरागारगिरिगङ्गरदृष्टिभिः ।
 चित्तिरेवेति विस्तृता धूमोऽम्बुदतयेव खे ॥ ४८
 वेपन्ते चिद्भवत्वेन ब्रह्माण्डजडमाण्डगाः ।
 स्वविवर्ततरङ्गिण्यो जीवशक्त्याऽऽपतद्रसाः ॥ ४९
 जीवकाजीर्णशफरी व्योमवारिविहारिणी ।
 मोहजालेन वलिता न स्वरत्यात्मनि स्थितिम् ॥ ५०
 घनीभूता घनत्वेन चिद्वना गगनाङ्गणे ।
 नानापदार्थरूपेण स्फुरति स्वात्मनात्मनि ॥ ५१
 सर्व एव समा जीवा वासनामन्तरेण च ।
 शुष्कपर्णवदुडुनीना जडाः श्वसनवेणवः ॥ ५२
 आहृत्य पौरुषबलान्यवजित्य तन्द्री-
 मुत्थाय तर्जितसमर्जितवासनौघम् ।
 संसारपाशघनपञ्जरमञ्जसैव
 भङ्गत्वाभ्युदेयमभितोऽङ्गसमेन भाष्यम् ५३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्स० सर्वोपशान्तिर्नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

हुंफडादिपदं यथा तथा भवेदिति शेषः ॥ ३९ ॥ तत्पदार्थ-
 शोधाय वाचारम्भणन्यायेन प्रथमं जगत्कारणेश्वरस्वरूप-
 बोधैकतां बुद्ध्या तदनन्तरं संपदार्थशोधाय प्रत्यक्चिदपि 'स
 पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इति श्रुतिदर्शितदिशा असद्भावा
 बोद्धव्या । कियत्कालं पदार्थद्वयशोधनपरेण भाष्यं तत्राह—
 अत्यन्तेति । यावत्पदार्थयोरखण्डैकरसवाक्यार्थरूपेणात्यन्त-
 परिणामेन सा अखण्डाकारवृत्तिरपि न बुध्यते तावत्काल-
 मित्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ स एव मुख्यो विश्वचिदाख्यो ज्ञानयज्ञ
 इत्याह—ज्ञानवानिति । विरोपयन् दृढं निखायोच्छ्रयन्तन् ।
 सर्वत्याग एवैका मुख्या सर्वस्वदक्षिणा यस्य तथाविधो भूत्वा
 जगद्विध्वं विजित्य जयति सर्वोत्कर्षेणास्ते ॥ ४२ ॥ सर्वोत्कर्षमेव
 सर्वविपदप्रकम्प्यत्वेन प्रथमं वर्णयति—पततीति ॥ ४३ ॥ वज्र-
 सारवैतृष्ण्यशान्तिमुत्सोत्कर्षस्यैर्येणापि तं वर्णयति—वैतृष्ण्य-
 मित्यादिना ॥ ४४ ॥ शान्तिसाधनानां मध्ये वैतृष्ण्यस्योत्कर्ष-
 माह—यथेति ॥ ४५ ॥ संपत्सर्वाप्यत्यापदिति भावनान्मनो-
 लक्षणस्य तृणोन्मयस्य मध्ये सर्वस्वागलक्षणैरनिलैर्विबोधितः
 सर्वार्थवैतृष्ण्यलक्षणोऽमिर्ज्ञात्वा चरमसाक्षात्कारज्वालात्मना
 प्रकुम्भ बहिरन्तश्च प्रसिद्धो यो मोहान्धकारो यश्च तत्प्रयुक्त-
 श्वोरयश्चादिकल्पवास्तुषो ब्रह्माण्डभूतमौतिकमूर्तलक्षणविष्णु-
 ग्राहो यश्च तत्प्रयुक्तं अक्षुरादिना शब्दार्थवेदनं तत्सर्वं ज्ञप्तिक्षि-
 द्वास्तेवेत्यखण्डाद्वस्त्वभावेनैव कचति । यथा वज्रादिभूमिः
 स्वप्रतिबिम्बितवस्तुजातं सैकरस्येन प्रभयन्स्वत एव कचति
 तद्वदिति द्वयोरेण्ययः ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ विस्तृता विविधं वैचिध्यं
 प्राप्ता ॥ ४८ ॥ ब्रह्माण्डभ्रमणान्तर्गतसर्ववस्तुजां विविधवर्ण-
 यो० वा० १४८

स्पन्दत्वादपि चिद्विवर्तमात्रत्वमित्याशयेनाह—वेपन्ते इति ।
 जीवशक्त्या प्राणेन आपतद्रसा सरसाः ॥ ४९ ॥ तत्र चतुर्विध-
 शरीरलक्षणचिद्विवर्ततरङ्गिणीषु जीवशफरीणां मोहजालेन
 बन्धात्स्वतत्त्वास्मरणमित्याह—जीवकेति ॥ ५० ॥ चिदेव
 आत्मनि स्वरूपलक्षणे गगनाङ्गणे घना मेघा इव संपद्य स्थिता
 घनत्वेन भूरादिमूर्ताकारेण नानापदार्थरूपेण स्फुरति ॥ ५१ ॥
 तत्र जीवानां तुल्यस्वभावत्वेऽपि वासनावैचित्र्यादेव संसार-
 दुःखवैचित्र्यं नान्यकृतमित्याह—सर्व एवेति । वासनामन्त-
 रेण विना इतरांशे समाः वासनावैषम्यादेव शुष्कपर्णवदुडुनीनाः
 सन्तो विचित्रस्वर्गनरकादिभूविभागेषु पतन्ति न स्वतः । यतो
 जडोपाधिसाम्याज्जडाः श्वसनस्य प्राणस्य वेणव इव ध्वनिवैचि-
 त्र्येऽपि वासनाङ्गुलिचेष्टावैचित्र्यमन्तरेण क्षमन्त इत्यर्थः
 ॥ ५२ ॥ अत एव वासनावज्रपञ्जरमेदनार्थमेव निस्तन्द्रपौरुष-
 प्रयज्ञो वर्धनीयस्तत एव परमपुरुषार्थसिद्धिरित्युपसंहरति—
 आहृत्येति । आदौ पौरुषबलानि साधनचतुष्टयश्रवणमनना-
 दीन्याहृत्य ततो ध्यानविग्रभूतां तन्द्रीमासनप्राणायामाद्यभ्यासे-
 नावजित्य संप्रज्ञातसमाधिना बहिर्दृष्टेरुत्थाय निर्विकल्पासंप्र-
 ज्ञातसमाध्यनुप्रवेशादेव समर्जितं प्राक्समर्जितवासनौघलक्षणं
 संसारपाशघनपञ्जरमञ्जसा शीघ्रमेव तत्त्वसाक्षात्कारेण भङ्गत्वा
 अभितः पूर्णानन्दैकरसब्रह्मात्मना उदेयं त्वया न त्वङ्गसमेव
 संसारान्तर्वर्तिना भाष्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वोपशान्ति-
 र्नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः ५०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इमे ये जीवसंघाता दृश्यन्ते दश दिग्गताः ।
 नरनागसुरागेन्द्रगन्धर्वाद्यभिधानकाः ॥ १
 ते स्वप्नजागराः केचित्केचित्संकल्पजागराः ।
 केचित्केवलजाग्रत्स्थाश्चिराज्जाग्रत्स्थिताः परे ॥ २
 घनजाग्रत्स्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे ।
 क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधाः स्मृताः ॥ ३
 श्रीराम उवाच ।
 एतेषां भगवन्मेदो बोधाय मम कथ्यताम् ।
 जीवानां सप्तरूपाणां जलानामर्णवेधिव ॥ ४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
 केचित्सुप्ताः स्थिता देहैर्जीवा जीवितधर्मिणः ॥ ५
 ये स्वप्नमपिपश्यन्ति तेषां स्वप्नमिदं जगत् ।
 विद्धि ते हि खलूच्यन्ते जीविकाः स्वप्नजागराः ॥ ६
 क्वचिदेव प्रसुप्तानां यः स्वप्नः स्वयमुत्थितः ।
 विषयः सोऽयमस्माकं तेषां स्वप्ननरा वयम् ॥ ७
 तेषां चिरतया स्वप्नः स जाग्रत्त्वमुपागतः ।
 स्वप्नजागरकास्ते तु जीवास्ते तद्रताः स्थिताः ॥ ८

वासनादात्मशब्दव्यभिचयभेदवैचित्र्यकल्पितम् ।

इह बोधाय जीवानां साप्तविध्यं प्रपञ्चयते ॥ १ ॥

सर्वे एव समा जीवा वासनामन्तरेण चेल्यन्ते यजीवानां
 वासनावैचित्र्यमात्रेण वैचित्र्यमुक्तं तत्साप्तविध्येन लक्षणैर्निरूप-
 यितुं प्रतिजानीते—इमे इति । नरनागादिदेहवैचित्र्यैर्दे-
 दृश्यन्ते ते इति संबन्धः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ अर्णवेषु क्षीरादिरस-
 मेदवासितानां जलानामिव ॥ ४ ॥ तत्रायान् जीवटोपाख्यान-
 दर्शितन्यायमवलम्ब्य लक्षयति—कस्मिंश्चिदित्यादिना ।
 देहैर्जीवितधर्मिणो जीवन्तः सन्तो ये स्वप्नमपिपश्यन्तीति
 परेणान्वयः ॥ ५ ॥ ६ ॥ तेषां स्वयमुत्थितो यः स्वप्नप्रपञ्चः
 सोऽयं समानकर्मवासनोद्भववशादस्माकं यदा विषयो भवति
 तदा वयं तेषां स्वप्ननरा इत्यर्थः । उपपादितो हायमर्थः
 प्राग्वलीलोपाख्याने ॥ ७ ॥ तेषु स्वप्नजागरकशब्दमुपपादयति—
 तेषामिति । उपागतो यतोऽत इति शेषः ॥ ८ ॥ 'तेषां स्वप्न-
 नरा वयम्' इति यदुक्तं तदप्युपपादयति—सर्वज्ञत्वादिति ।
 नन्वस्मदीयदेहादिप्रपञ्चो यदि वासनात्मना तच्चित्ते स्यात्तदा स
 एव तेषां स्वप्न उद्भूत इति तदन्तर्गतानामस्माकं तदीयस्वप्नरत्वं
 स्यात् । न त्वेतत्संभवतीति चेन्मैवम् । येन हेतुना सर्वं सर्वत्र
 विद्यते सर्वसत्ताप्रदस्य मायाशबलब्रह्मणः सर्वगतस्य सर्वत्र सर्व-
 ज्ञत्वात् । अतो वयं तेषां स्वप्ननरास्तदन्तःकरणे वासनात्मना
 स्थिता एव तत्स्वप्ने कर्मसाम्याद्युगपदसिन्धुका इत्यर्थः ॥ ९ ॥
 अस्तु दैविकी सर्वत्र सर्वस्थितिः कालिकी तु न संभवति ।

१ (देव) (भूत) इति चेद्वर ।

सर्वज्ञत्वात्सर्वगतस्य सर्वं सर्वत्र विद्यते ।

येन स्वप्नवतां तेषां वयं स्वप्ननराः स्थिताः ॥ ९

श्रीराम उवाच ।

येषु कल्पेषु ते जाताः क्षीयन्ते कल्पकल्पनाः ।

यदि तास्तत्कथं तेषां प्रबुद्धानामवस्थितिः ॥ १०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इह स्वप्नभ्रमान्ते ते मुच्यन्ते वा विनिद्रताम् ।

प्राप्य संकल्पतो देहांतथैवान्यान्ध्रयन्त्यलम् ॥ ११

तथैवान्यं प्रपश्यन्ति जगत्कल्पं च कल्पितम् ।

कल्पनाभासनभसो न हि संकटता भवेत् ॥ १२

संकल्पनात्मकजगज्जीर्णोदुम्बरकीटकाः ।

स्वप्नजागरकाः प्रोक्ताः शृणु संकल्पजागरान् ॥ १३

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।

अनिद्रालव पयान्तः संकल्पैकपराः स्थिताः ॥ १४

ध्यानाद्विलुठिता वाथ मनोराज्यवशानुगाः ।

संकल्पदारुण्यमापन्ना गलिताप्रानुभूतयः ॥ १५

संकल्प एव जाग्रत्त्वं येषां चिरतर्यांशतः ।

तत्रास्तमितचेष्टानां ते हि संकल्पजागराः ॥ १६

संकल्पोपशमे भूयस्तमन्यं वा ध्रियन्ति ते ।

अतीतकल्पेषु वर्तमानवस्तुस्थित्ययोगादन्यथा सर्वकल्पानां
 योगपद्यापत्त्या भेदाभावप्रसङ्गादित्याशयेन रामः पृच्छति—
 येष्विति । प्राग्येषु कल्पेषु ते अस्मत्प्रपञ्चस्वप्नप्रदृष्टारो जीव
 जाता जन्म प्राप्तास्तेषां कल्पानां कल्पनाः सह तदेहैः सांप्रतं
 यदि क्षीयन्ते नष्टास्तर्ह्येतस्मात्स्वप्नात्प्रबुद्धानां तेषां पुनरतीते
 कल्पे नावस्थितिः सिद्ध्यति । न ह्यद्यतनस्वप्नात्प्रबुद्देन पूर्वेषुस्स-
 नोऽपि जागरोऽनुभवितुं शक्यः, दूरे पूर्वकल्पस्थः स इति
 भावः ॥ १० ॥ ते जीवा यद्यस्मत्प्रपञ्चात्मके स्वप्ने तत्त्वज्ञानं
 देवाह्वन्ते तर्हि मुच्यन्ते एवेति नैतद्दोषप्रसक्तिः, यदि तु तत्र
 लभन्ते तर्हि न तत्कल्पशेषस्तेषामतीत इत्यप्रे उद्भवित्येव ।
 अन्यकल्पनाकल्पितानामेवात्ययात् । तच्चेतसि प्रातिस्विकतत्क-
 ल्पशेषकल्पनाया अग्रेऽप्येन्दवोपाख्यानन्यायेनोपपत्तेरित्याशयेन
 वसिष्ठः समाधत्ते—इहेति । 'अन्यान्ध्रयन्ति' इत्युक्त्या दृष्ट-
 सृष्टिवादमालम्ब्य प्रत्यहं जागरे देहान्तरकल्पनायामपि संस्कार-
 वशादेव प्रत्यभिज्ञेत्यपि दर्शितम् ॥ ११ ॥ संकटता निरवका-
 शता ॥ १२ ॥ आद्यजीवानां निरूपणमुपसंहृत्य द्वितीयांस्वप्नु-
 मुपक्रमते—शृण्विति ॥ १३ ॥ अनिद्रालवस्त्वक्तनिद्रा एवै-
 न्दववत्संकल्पपराः ॥ १४ ॥ अथवा जीवटोपाख्यानोक्तभिष्णु-
 वद्धानाद्विलुठिताश्चलिताः । गलिता अप्रानुभूतिः पूर्वावस्थानु-
 संधानं येषाम् ॥ १५ ॥ येषां जीवानां संकल्प एव चिरानुवृत्त्या
 घनीभूते जाग्रत्त्वं जागराभिमानः तत्र सांकल्पिकार्थेष्वेवास्तमिता
 न पूर्वापरप्रतिबंधानक्षमा मनबोद्धा येषाम् ॥ १६ ॥ तं प्राक्कलं

देहे तेषां वयमिमे संकल्पपुरुषाः स्थिताः ॥ १७
 संकल्पजागराः प्रोक्ता एते संकल्पशायिनः ।
 जीवा जीवितगा लोकाः शृणु केवलजागरान् ॥ १८
 प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः ।
 प्रोक्ताः केवलजागर्याः प्रागुत्पत्त्यविकासिनः ॥ १९
 भूयो जन्मान्तरगतास्त एव चिरजागराः ।
 कथ्यन्ते प्रौढिमायाताः कार्यकारणचारिणः ॥ २०
 त एव दुष्कृतावेशाज्जडस्थावरतां गताः ।
 घनजाग्रत्तया प्रोक्ता जाग्रत्सु घनतां गताः ॥ २१
 ये तु शास्त्रार्थसत्सङ्गबोधिता बोधमागताः ।

पश्यन्ति स्वप्रवृत्ताप्रजाप्रत्सवमा भवन्ति ते ॥ २२
 ये तु संप्राप्तसंबोधा विश्रान्ताः परमे पदे ।
 क्षीणजाग्रत्प्रभृतयस्ते तुर्या भूमिकां गताः ॥ २३
 इति सप्तविधो भेदो जीवानां कथितस्तव ।
 समुद्राणामिव मया बुद्ध्या श्रेयःपरो भव ॥ २४
 भ्रान्तिं परित्यज्य जगद्गणनात्मिकां त्वं
 बोधैकरूपघनतामलमागतोऽसि ।
 शून्यत्ववर्जितमशून्यतया च मुक्तं
 तेन द्वयैक्यकविमुक्तवपुस्त्वमाद्यम् ॥ २५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे बाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवसप्तकप्रकारवर्णनं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः ५१

श्रीराम उवाच ।

कथं केवलजाग्रत्स्वमकारणमनर्थकम् ।
 पराद्विकसति ब्रह्मन्नागनादिव पादपः ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अकारणं महाबुद्धे न कार्यमुपलभ्यते ।
 तज्जाग्रतः केवलस्य न कश्चिदिह संभवः ॥ २
 तस्यातो संभवादन्त्ये जीवभेदाः सजीवकाः ।

व्यवहारमन्यं तद्विलक्षणं वा । तेषां दृष्ट्या तु वयं संकल्पपुरुषा
 एव तुल्यसंकल्पोद्भवादित्यर्थः ॥ १७ ॥ एते जीवाः । तेषां संकल्प-
 जीवितं गच्छन्ति प्रविशन्ति तथाविधा अस्मदादिलोकाश्च तद्दृष्ट्या
 संकल्पजागरा एव । तृतीयान् भावयति—शृणुष्विति ॥ १८ ॥
 सृष्टिसंकल्पेन बृंहितात्मनो ब्रह्मणो वक्ष्यमाणरूपादस्मिन्कल्पे
 प्राथम्येनावतीर्णा लब्धशरीरास्तस्मिन्नस्मिन्नि स्वप्रपूर्वकत्वाभावा-
 त्केवलजागर्याः । यथा प्रागुक्ता दामव्यालकटाः । यतस्ते
 प्रागुत्पत्तिविकाशक्षणस्वप्रशून्याः कल्पान्तरीयजाग्रत्संस्कारस्य
 जाग्रज्जननेनैवोपक्षीणस्यैतत्कल्पीयस्वप्नेहेतुत्वाकल्पनादिति भावः
 ॥ १९ ॥ चतुर्थानाह—भूय इति । जन्मान्तरेपूत्तरोत्तर-
 जन्मपरंपरासु गताः कार्ययोज्जाग्रत्प्रत्ययोः कारणे सुषुप्तौ च
 संवरणशीलाः ॥ २० ॥ पञ्चमोऽक्षयति—त एवेति ।
 जाग्रत्सु जाग्रद्दृष्ट्यासु घनतामज्ञाननिबिडताम् । जाग्रत्स्विति
 विशेषणात्स्वप्ने स्थावराणामपि कदाचिन्मनुष्यभावादिदर्शन-
 मस्त्येवेति गम्यते । इति पञ्चधा भिन्ना बद्धजीवाः ॥ २१ ॥
 अवशिष्टं भेदद्वयं जीवन्मुक्तेषु दर्शयिष्यन् षष्ठानाह—ये त्विति ।
 चतुर्थपञ्चमषष्ठभूमिकास्था इति यावत् ॥ २२ ॥ सप्तमभूमिका-
 रुद्धा एव सप्तमा इत्याद्येनाह—ये त्विति ॥ २३ ॥ श्रेयःपरः
 उत्तरोत्तरश्रेष्ठभूमिकातत्परः ॥ २४ ॥ हे राम, त्वं जगतो गणना
 द्वितीयादिवस्तुबुद्ध्या दर्शनं तदात्मिकां भ्रान्तिं परित्यज्य ।
 यतः अलं बोधैकरूपघनतामागतोऽसि । तेन द्वितीयाद्यभावेन
 तथाश्रुतैक्यस्याप्यसंभवेन द्वयैक्यकाभ्यां विमुक्तवपुः अत एव

सर्वे न संभवन्त्येव कारणाभावविक्षताः ॥ ३
 नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चन नश्यति ।
 उपदेश्योपदेशार्थं शब्दार्थकलनोदयः ॥ ४
 श्रीराम उवाच ।
 कः करोति शरीराणि मनोबुद्ध्यादिचेतनैः ।
 को मोहयति भूतानि केहरागादिबन्धनैः ॥ ५

शून्यत्ववर्जितमप्यशून्यताख्यधर्मेणापि मुक्तम् । आद्यं सर्वक-
 ल्पनाभ्यः प्राथमिकमधिष्ठानसन्मात्रमेव त्वं शिष्ट इत्यर्थः ॥ २५ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 रार्धे जीवसप्तकप्रकारवर्णनं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

ब्रह्मदृष्टानुत्पन्नमात्मदृष्टौ शृणुष्ववम् ।

बोधादमूर्तं च जगद्यथा तदिह वष्यते ॥ १ ॥

‘प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः । प्रोक्ताः केवल-
 जागर्याः’ इति यदुक्तं तदनुपपन्नम् । कूटस्थाद्वयस्य ब्रह्मणः प्राथ-
 म्येन जीवतयावतारे बीजप्रयोजनयोरसंभवात्कामकर्मवासना-
 दिबीजानां जीवभावोत्तरकालत्वादिति रामः शङ्कते—कथमिति
 ॥ १ ॥ अत्यल्पमिदमुच्यते—कूटस्थाद्वयत्वेकेवलजागराख्यजी-
 वावतारो न संभवतीति तन्मूलकजीवान्तराणां जगतश्चावता-
 रस्यानुपपत्तेस्तुल्यत्वात् किंतु कूटस्थाद्वयवस्तुनो जगज्जीवोभया-
 पलापमन्तरेणोपदेष्टुमशक्यत्वात्तदुपदेशार्थं ब्रह्मण एव जीव-
 जगच्छब्दार्थाकारकलना श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु कल्पितेत्यु-
 त्तरं वसिष्ठ आह—अकारणमित्यादिना ॥ २ ॥ कारणाभावा-
 देव विक्षताः । निरस्ता इति यावत् ॥ ३ ॥ अस्त्वेवं तथापि
 भोगायतनस्य देहादेः कर्मादिद्वारा साक्षाद्वा कश्चिन्निर्माता
 अवश्यं वाच्यः । कार्यमात्रस्य सकर्तृकत्वनियमात् । तत्र च
 जीवं प्रवेश्य विषयैर्व्यामोहयिताऽन्यो विनाव्यामोहकं चेतनस्य
 व्यामोहादर्शनात् । तथा च व्यामोहव्यामोहकौ द्वौ चेतनावन्धौ
 जीवेश्वराख्यौ सर्गादिश्रुतियुक्तिप्रामाण्यात्स्वीकार्यावेति पुना

धीवसिष्ठ उवाच ।

न कश्चिदेव कुरुते शरीरानि कदाचन ।
 न मोहयति भूतानि कश्चिदेव कदाचन ॥ ६
 अनाद्यन्तावभासात्मा बोध आत्मनि संस्थितः ।
 नामापदार्थरूपेण कर्मूर्ध्यादितया यथा ॥ ७
 बाह्यं न विद्यते किञ्चिद्बोधः स्फुरति बाह्यवत् ।
 उदेति बोधहृदयाद्रीजादिव सरद्रुमः ॥ ८
 बोधस्यान्तरिदं विश्वं स्थितमेव रघूद्रह ।
 स्तम्भस्यान्तर्यथा शालभञ्जिका प्रकटीकृता ॥ ९
 सबाह्याभ्यन्तरात्मैकमनन्तं देशकालतः ।
 बोधामोदप्रसरणं जगदेव प्रबुध्यताम् ॥ १०
 अयमेव परो लोको भाव्यतां वासनाक्षयः ।
 शाम्यतां परलोकस्थं काः किलायान्ति वासनाः ॥११
 देशकालक्रियालोकरूपचित्तात्मसत्पदम् ।
 देशकालादिशब्दार्थरहितं न च शून्यकम् ॥ १२
 पदे पदविदामेव तस्मिन्बोधगतिर्भवेत् ।
 द्रष्टृणां शान्तदृष्ट्यानामेवान्येषां न राघव ॥ १३
 ये वै तरलगम्भीरमहंतागर्तमाश्रिताः ।
 पश्यन्ति ते तमालोकं न कदाचन केचन ॥ १४
 चतुर्वशविधानन्तभूतजातसुधुंघुमा ।

रामः शङ्कते—कः करोतीति ॥ ५ ॥ भवेतामावश्यकौ यदि शरीरादिकर्तृता व्यामोहव्यामोहकभावश्च सत्य इति श्रुतियुक्तिसिद्धं स्यात् । बाह्यारम्भणश्रुत्या तत्त्वमस्यादिश्रुतिभिश्च तस्मात्कृतत्वे निरूढे प्रतिभासमात्रस्य कूटस्थाद्वयेनापि विवर्तमात्रेण निर्वाहुं शक्यत्वाच्च तयोरावश्यकतेत्याशयेन वसिष्ठ उत्तरमाह—न कश्चिदेवेत्यादिना ॥ ६ ॥ कं जलं यथा ऊर्ध्यादितया तरङ्गतया स्वात्मनि स्थितं तथा बोधात्मात्मनि स्थितः ॥ ७ ॥ ननु बाह्यार्थस्य कथमान्तरचिदात्मविवर्ततः व्याश्रयन्त्वात्तत्राह—बाह्यमिति । आन्तराद्बोधहृदयादेवान्तरैव बाह्यवदुदेति ॥ ८ ॥ बीजाद्रुमो बहिरेवोदेतीति विषमो दृष्टान्त इत्याशङ्क्य समं तमाह—बोधस्येति । अथवा यशान्तरहितं स्यात्तर्ह्यन्तरेव स्थितं स्यात्, बहिर्हि विश्वं तिष्ठति तत्राह—बोधस्येति ॥ ९ ॥ वस्तुतस्तु चिद्वस्तु नान्तरं न बाह्यं किं त्वनन्तं तदन्तरेवामोदवदान्तरबाह्योभयविधजगत्कल्पनेत्याह—सबाह्येति ॥ १० ॥ नन्वत्रैव चेज्जगत्कल्पना तर्हि ब्रह्मलोकादिः परलोकोऽर्चिरादिसार्गगम्यो दूरे कथं प्रसिद्ध इति चेत्तदृष्टानादिविवासनाप्रवाहवशादेव । वासनाक्षये तु स सर्वोऽपि स्वप्नमात्रतयास्वप्नसंनिहित एवेत्याशयेनाह—अयमेवेति । साम्बतां विषुषा परलोकस्वप्ना इहैव स्थितमात्मानं न दूरत्वादिवासनाः समायान्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥ ननु प्रत्यगात्मैव चेत्परलोकदेशकालादिसर्वात्प्रा तर्हि देशकालादिबाधे शून्यरूप एव किं न स्यात्तत्राह—वेद्येति ॥ १२ ॥ यदि न शून्यं तर्हि दूरात्तज्जगत्-

जगद्दृष्टिरियं शस्य शरीरावयवोपमा ॥ १५
 कारणाभावतः सृष्टिर्नोदिता न च शाम्यति ।
 यादृशं कारणं वा स्यात्तादृग्भवति कार्यकम् ॥ १६
 यदि स्यात्कारणे कार्यं स्थितं कारणतास्य का ।
 कार्यमेवोपलम्भात्तदसद्ब्रह्मवेदनात् ॥ १७
 सौम्यस्यान्तर्यथाभोधेरूर्ध्यावर्तादयः स्थिताः ।
 ब्रह्मण्यसंभवक्षोमे जगच्चित्तादयस्तथा ॥ १८
 सर्वात्मैवामलं ब्रह्म पिण्ड एक इव स्थितम् ।
 नानाभाण्डात्म हेमैव यथान्तःस्थितरूपकम् ॥ १९
 स्वप्नकाले स्वप्न एव जाग्रदप्रतिप्रहात् ।
 जाग्रत्काले जाग्रदेव स्वप्नः सत्यावबोधतः ॥ २०
 चित्तमात्रतया बुद्धं मृगतृष्णांभुवत्स्थितम् ।
 जाग्रत्स्वप्नत्वमायाति विचारविकलीकृतम् ॥ २१
 सम्यग्ज्ञानेन भूतानि शस्य देहृतया सह ।
 पीठबन्धं विमुञ्चन्ति गतकाल इवाम्बुदाः ॥ २२
 यथा गलितुमारब्धो घनो गगनतामियात् ।
 तथा सत्यावबोधेन शाम्येत्सात्मग्रहं जगत् ॥ २३
 शरदभ्रवदालूना मृगतृष्णांभुवत्तथा ।
 पुनः संस्पृश्यमानैव बोधाद्गलति दृश्यता ॥ २४

मपि प्रपञ्चापलापमात्रेण तस्मिन्पदे कुतो न बोधगतिस्तत्राह—पदे इति ॥ १३ ॥ १४ ॥ तद्दर्शिनस्तर्हि कीदृशी जगद्दृष्टिस्तामाह—चतुर्वेशेति ॥ १५ ॥ तेषां समाहितदृष्टा सृष्टिः कीदृशी व्यवहारदृष्टा च कीदृशी तामुक्तोपपादनाय पूर्वोत्तरार्धाभ्यामाह—कारणेति ॥ १६ ॥ तत्र पूर्वार्थोक्तं तर्केणोपपादयति—यदीति । कुतो न स्थिता तत्राह—कार्यमेवेति । कुण्डलव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरादर्शनाच्च कारणमन्यदस्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥ उत्तरार्थोक्तमपि दृष्टान्तेनोपपादयति—सौम्यस्येति ॥ १८ ॥ अन्तर्गतनानाभाण्डात्मा एको मृत्पिण्ड इव ब्रह्म स्थितम् । यथा अन्तर्गतकटककुण्डलादिरूपकं हेम तथावस्थितम् । पिण्डावस्थाया अपि कार्यत्वेन कुण्डलादिसाम्यादिति भावः ॥ १९ ॥ यथा पिण्डकाले घटः पिण्ड एव घटकाले च पिण्डो घट एवेति व्यवस्थितमेकस्यैव दर्शनम्, एवं प्रपञ्चस्यापि स्वप्नकाले जाग्रत्स्वप्न एव जाग्रत्कालेऽपि स्वप्नो जाग्रदेवेति व्यवस्थितमेकमेव जगत्स्वप्नैर्बुध्यत इत्याह—स्वप्नेति । व्यवस्य वासनाविस्ताराभिविष्टस्व मनसः अपरिग्रहादनवरोधाद् ॥ २० ॥ जाग्रत्कालेऽपि जाग्रच्चित्तमात्रतया पर्याकोचितं स्वप्नतुल्यतामेवेति, सेव विषुषः सृष्टेः शरीरावयवोपमतेत्स्वप्नोपपादितेत्युपसंहरन्सम्यग्ज्ञाने तस्यापि समूलं बाधमाह—चित्तमात्रत्वेति ॥ २१ ॥ गते वर्षाकाले अम्बुदाः पीठबन्धसकारणीहारभावमपि यथा विमुञ्चन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ २२ ॥ आत्मग्रहोऽहंकारसत्सहितम् । चरमसाक्षात्कारव्यतिरिक्तं वा ॥ २३ ॥ संस्पृश्यमाना स्वप्नार्-

यथा दीप्तानले लीनं सुवर्णं घृतमिन्धनम् ।
 एकतां याति विज्ञाने तथा भुवनचित्तदृक् ॥ २५
 बोधेन तनुतामेति पिण्डबन्धो जगन्नये ।
 पिशाचबुद्धिः सद्ने बोधितस्य यथा शिशोः ॥ २६
 बोधस्यानन्तरूपस्य स्वयमेवात्मनात्मनि ।
 जगच्चित्तादिता भाता पिण्डबन्धः किलात्र कः ॥ २७
 बोधाबोधनमेवैवं जगच्चित्तमिधोदितम् ।
 तदेवास्तं गतं बोधात्पिण्डबन्धस्य कास्तिता ॥ २८
 जहाति पिण्डकाठिन्यं जाग्रत्स्वप्नाबोधतः ।
 परां पेलवतामेति हेम द्रुतमिधामिना ॥ २९
 यथास्थितं बोध एव घनतामिव गच्छति ।
 विनैव देशकालाभ्यां तौ विनिर्माय हेमवत् ॥ ३०
 जाग्रत्येवं विचारेण स्वप्नामे पेलवे स्थिते ।
 क्षीयमाणे शरत्काल इवैति तनुतां रसः ॥ ३१
 परां पेलवतां याता दृश्यलक्ष्यः स्थिता अपि ।
 स्वप्ना इव परिज्ञाता न स्वदन्ते विवेकिनः ॥ ३२
 क किल स्वात्मविभ्रान्तिः कैतद्विषयवेदनम् ।
 सुषुप्तजाग्रतोरैक्यं भ्रान्ताभ्रान्तात्मनोर्भवेत् ॥ ३३
 चित्तमात्रे भ्रान्तिमात्रे स्वप्नमात्रात्मनि स्थिते ।
 जगतीह पदार्थेभ्यः सत्यबुद्धिर्निवर्तते ॥ ३४
 कस्य स्वदन्तेऽसत्यानि कथमेव महामते ।
 मृगतृष्णाजलानीव दृश्यान्वपि पुरःस्थितैः ॥ ३५
 सत्यबुद्धौ बिलीनायां जगत्पश्यति शान्तधीः ।
 जालघ्नीपांशुजालाभमपिण्डात्माम्बरात्मकम् ॥ ३६
 जाग्रतो वस्तुतः शून्यात्परिज्ञाताभिवर्तते ।

दिना अनुभूयमानैव ॥ २४ ॥ २५ ॥ पिण्डबन्धो मूर्तावाका-
 रप्रहः । तनुतां क्रमाद्विलयम् ॥ २६ ॥ अयं च विलयो न जनु-
 काठिन्यविलयवक्तिमिष्ठापावाद्पैति किंतु शुक्तिरूप्यवदसत्प्रति-
 योगिकत्वाद्पुनरागामीत्याशयेनाह—बोधस्येति । भ्रान्ताभि-
 विधपरिच्छेदा रूपाण्याकारमेदाश्च न विद्यन्ते यस्य तथाविधस्य
 बोधस्य साक्षिचित्तः स्वयमेव निर्निमित्तमेव जगच्च तद्विकल्पकं
 चित्तं च तदाद्यज्ञानं चेति त्रिरूपता भाता । अत्रास्मिन्बोधे
 ॥ २७ ॥ तथा चानृतजगच्चित्तभावेनानृतमज्ञानमेव विजृम्भत
 इति फलितमित्याह—बोधाबोधनमेवेति ॥ २८ ॥ एतेन
 जाग्रदेव स्वप्नकाले स्थौल्यं विहाय सूक्ष्मप्रपञ्चतां याति । स्वप्न-
 भ्रान्तिरेव चिराभ्यासाद्भनतया जाग्रत्तामिव गच्छतीत्यादि
 यत्प्राशुक्तं तस्मिद्धमित्याह—जहातीत्यादिना ॥ २९ ॥ तौ
 जाग्रत्स्वप्नौ ॥ ३० ॥ रसो भोगरागो जलं च ॥ ३१ ॥ पेलवतां
 तुच्छताम् ॥ ३२ ॥ आत्स्यबुद्धतुप्तत्वात्पि तस्य विषयेभ्यना-
 दर इत्याशयेनाह—केति । यदि त्वत्सत्यापि विषया स्वदे-
 स्ताहं सुषुप्तजाग्रतोरैक्यमपि संभाव्येत, तथा भ्रान्ताभ्रान्ता-
 त्मनोर्भूतत्त्वज्ञयोर्बैक्यं संभाव्येत्यर्थः ॥ ३३ ॥ जगति चित्त-
 मात्रे संपन्ने जाग्रत्मात्रात्मनि स्थिते सति इह सक्त्वन्वनादि-

चित्तभ्रमात्मनो भ्रान्तिरूपास्वादनभावना ॥ ३७
 यदवस्त्विति विज्ञातं तत्रोपादेयता कुतः ।
 केन स्वप्नं परिहाय स्वप्नहेमाभिगम्यते ॥ ३८
 स्वप्नादिव परिज्ञाताद्रसो दृश्याभिवर्तते ।
 द्रष्टृदृश्यदशादोषग्रन्थिच्छेदः प्रवर्तते ॥ ३९
 नीरसः शान्तमननो निर्वाणाहंकृतिः कृती ।
 वीतरागो निरायासः शान्तस्तिष्ठति बुद्धधीः ॥ ४०
 रसे नीरसतां याते वासना प्रविलीयते ।
 शिखायां प्रविलीनायां प्रदीपस्यांशवो यथा ॥ ४१
 बोधादीपांशुजालाभमघनं व्योम दृश्यते ।
 भ्रान्तिरूपं जगत्कृत्स्नं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ४२
 नैवात्मानं न स्वाकाशं न शून्यं न च वेदनम् ।
 अत्यन्तपरिणामेन पश्यन्पश्यति तत्पदम् ॥ ४३
 यत्र नात्मा न शून्यं च न जगत्कलना न च ।
 न चित्तदृश्योदयधीः सर्वं चास्ति यथास्थितम् ॥ ४४
 भूम्यादिताऽहसंबुद्धा ज्ञानादस्तमुपागता ।
 हस्य शून्यैव संपन्ना संस्थितापि न विद्यते ॥ ४५
 भवत्येकसमाधानसौम्यात्मा व्योमनिर्मलः ।
 तिष्ठत्यपगतासङ्गः स्थित एवाप्यसत्समः ॥ ४६
 अस्तंगतमना मौनी निरोधपदवीं गतः ।
 तीर्थैः संसारजलधेः कर्मणामभ्युत्थितः ॥ ४७
 तनुभुवनगगनगिरिगण-
 करणपरं परममज्ञानम् ।
 विगलति गलिते तस्मिन्
 सकलमिदं विद्यमानमपि ॥ ४८

पदार्थेभ्यः सत्यताबुद्धिर्निवर्तते ॥ ३४ ॥ असत्यान्वपि भोग्यानि
 तस्य स्वदन्तां तत्राह—कस्येति । वार्धे एवकारः । कथं
 वा स्वदन्त इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ जाले वातायने प्रविष्टस्य
 वीपांशुजालस्यामेव प्रकाशरूपमप्यपिण्डात्मकमेवाम्बरात्मकं
 पश्यति ॥ ३६ ॥ अत एव चित्तमात्रात्मनः स्वाप्नलक्ष्यचन्दनादेः
 स्वदनभावना जाग्रतः पुरुषस्य शून्यत्वेन परिज्ञातात्सत्साभिव-
 र्तेत इति प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ स्वप्नहेम उपादानुं केना-
 भिगम्यते ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ रसनिवृत्तावसौ कथमास्ते तदाह—
 नीरस इति । नीरसो निःशेहो बन्ध्वादिषु । वीतरागो विषयेषु
 ॥ ४० ॥ ४१ ॥ प्राग्भ्रान्तिरूपं कृत्स्नं जगत्स्वबोधादीपांशु-
 जालवत्प्रकाशैकरसमघनं सद्योमनुल्यं दृश्यते ॥ ४२ ॥
 सप्तमभूमिकास्थितिलक्षणेनात्यन्तपरिणामेन तर्हि कथं भवति
 तदाह—नैवेति । पश्यंस्त्वस्वज्ञः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ अज्ञैः पिण्ड-
 ग्रहेण संबुद्धा भूम्यादिता तु ज्ञानादस्तां वाधमुपागता ॥ ४५ ॥
 ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ यस्मात्कारणात्तनुनां चतुर्विधशरीराणां तदा-
 धाराणां भुवनानां तदाधारस्य गगनस्य विहारस्थानानां गिरि-
 गणानां तत्साधनानां करणानां च परमुपादानकारणं परम-

संशान्तान्तःकरणो

गलितविकल्पः स्वरूपसारमयः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे०मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० विश्रान्तियोगोपदेशो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

परमशमामृतवृत्त-

स्तिष्ठति विद्वाञ्छिरावरणः ॥

४९

द्विपञ्चाशः सर्गः ५२

श्रीराम उवाच ।

बोधो जगदिवाभाति मुने येन क्रमेण ह ।
 तं क्रमेण क्रमं ब्रूहि भूयो मेदनिवृत्तये ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 वृक्षस्येव विमूढस्य यद्दृष्टौ तत्स्वचेतसि ।
 यन्न दृष्टौ न तच्छित्ते भवत्यल्पतरस्मृते ॥ २
 भव्यः पश्यति शास्त्रार्थमेव पूर्वापरान्वितम् ।
 न दृष्टिविषयं वस्तु यत्पश्यति करोति तत् ॥ ३
 भावानुष्ठाननिष्ठः सन् शास्त्रार्थैकमना मुनिः ।
 भूत्वोपदेशं त्वमिमं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ ४
 इयं दृश्यभरभ्रान्तिर्नन्वविद्येति शोच्यते ।
 वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः ॥ ५
 उपदेश्योपदेशार्थमेनां मदुपरोधतः ।

मज्ञानं मूलज्ञानमेव नान्यत् । अतः कारणात्स्मिन्मूलज्ञाने
 ज्ञानेन गलिते सति इदं तनुभुवनादिसकलं जगदज्ञहशा विद्य-
 मानमपि विगलति । असद्भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ एवंरीत्या गलित-
 विकल्पो योगी स्वरूपसारमयः सन्परमशमामृतेन स्वानन्देन
 तृप्तो निरावरणभूमानन्दस्वभावस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 विश्रान्तियोगोपदेशो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इह तार्किकतर्कालोक्यकल्पनान्तरखण्डनैः ।

अनिर्वाच्यजगद्भावः कूटस्थस्य समर्थ्यते ॥ १ ॥

बोधः कूटस्थचिदात्मा येन क्रमेण प्रकारेण भाति तं क्रमं
 बाह्यन्तरकल्पनामेदखण्डनैः समर्थनक्रमेण भूयो ब्रूहि ॥ १ ॥
 चिदात्मनो जगद्भावोऽयमनिर्वचनीय एवेत्यस्यार्थस्य समर्थनाय
 प्रथमं दृष्टसृष्टिपक्षमवलम्ब्य दृष्ट्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिस्थिति-
 कत्वं तस्य दर्शयति—वृक्षस्येवेति । विमूढस्याज्ञस्यात्मनो
 वृक्षस्य मूलदारुपत्रपल्लवादिनानाकारघटितस्येव नानाकारं यज्ज-
 गद्रूपं तत् दृष्टौ सत्यामेव अस्तीति स्वचेतसि प्रसिद्धं नान्यथा ।
 अत एव ह्यल्पतरमपि दृष्टमेव स्मर्यते न बहुष्यदृष्टं तत्सत्ताऽप्र-
 सिद्धेरित्यर्थः ॥ २ ॥ विद्वद्विदुषोः शास्त्राशास्त्रानुसारिक्रियावै-
 लक्षण्यदर्शनादपि तत्तद्दृष्ट्यनुसारव्यवस्थितैव जगत्सत्ता गम्यत
 इत्याशयेनाह—भव्य इति । दृष्टेर्नेत्रस्य विषयं संनिष्ठमपि
 निषिद्धं वस्तु भोग्यतया न पश्यति ॥ ३ ॥ अत एव हि मयापि
 लं शास्त्रीयदृष्टिव्यवस्थापनमुखेनैव श्रवणादौ नियम्यसे
 इत्याशयेनाह—भावेति । भावश्चित्तशुष्यजुकूलं कर्म ॥ ४ ॥
 अविद्यात्वप्रसिद्धेरपि तत्पत्त्याह—इयमिति ॥ ५ ॥ तर्हि कथं

सत्यामिव क्षणं तावदाश्रित्य श्रूयतामिदम् ॥ ६
 कुत एषा कथं चेति विकल्पाननुदाहरन् ।
 नेदमेषां न चास्तीति स्वयं ज्ञास्यसि बोधतः ॥ ७
 यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगन्स्थावरजंगमम् ।
 सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥ ८
 अस्य भागविभागात्मा नाशोऽवश्यमवारितः ।
 विन्दुना विन्दुना बोधे उद्धृतस्यास्ति हि क्षयः ॥ ९
 एवं स्थिते द्रव्यनाशे ब्रह्मणस्तन्मयत्वतः ।
 नानन्तत्वं न चास्तित्वं न च वै संभवत्यलम् ॥ १०
 मदशक्तिरिव ज्ञानमिति नास्मासु सिध्यति ।
 देहो विज्ञानतोऽस्माकं स्वभवन्न तु तत्त्वतः ॥ ११
 नश्यत्येव च दृश्यश्रीः सैव नान्यैव नैव च ।
 इत्थं भवेत्समुचितं कृतं शास्त्रं च नान्यथा ॥ १२

शास्त्रोपदेशतत्फलासिद्धिस्तत्राह—उपदेश्येति ॥ ६ ॥ उप-
 देशफलसिद्धिकाले स्वयं भ्रान्तिर्निःशेषं निवर्तते ततोऽपि तथे-
 त्याशयेनाह—कुत इति । अनुदाहरन् अनुस्मिन्नन् ॥ ७ ॥ इत्थं
 विवर्तपक्षमनुभवपर्यवसितं प्रदर्श्य पक्षान्तरेषु दोषान्निबधुः
 सत्यस्यैव प्रपञ्चस्य वृक्षशाखान्यायेन ब्रह्मामेदमभ्युपगच्छतां
 पक्षे ब्रह्मण आनन्त्यहानिः स्यादिति दोषं वक्तुं जगतो नश्वरत्वं
 प्रतिजानीते—यदिदमिति ॥ ८ ॥ प्रतिज्ञातं साधयति—
 अस्येति । अस्य जगतो भागानां भूरावयववानां विभागो विश्ले-
 षस्तदात्मा नाशो बोधे विमर्शे दुर्वारः साधयवत्वात् । हि यस्मा-
 द्द्रष्टादिगतजलस्य विन्दुना विन्दुना पृथक्कृत्योद्धृतस्य क्षयो
 लोके प्रसिद्धोऽस्ति तद्वदित्यर्थः ॥ ९ ॥ अस्तु नाशः, को दोष-
 स्तत्राह—एवमिति । शाखावयवनाशे वृक्षनाशवद्भूरादिद्रव्य-
 नाशे ब्रह्मणोऽपि नाशप्रसङ्गे श्रुत्युक्तमनन्तत्वं न सिध्यति । अव-
 यवेभ्यः पृथक्कृतस्यावयविनो विमर्शो असत्त्वादस्तित्वं च न
 सिध्यति, न च चिदेकरसं निरवयवं च ब्रह्म मूर्तादिजगदवयवकं
 संभवतीत्यर्थः ॥ १० ॥ ननु मा भूषिदात्मा जडजगदवयवकः
 जडानामेव भूम्यादिभूतानां कायाकारपरिणतानां मदिरावयवा-
 नुगता मदशक्तिरिव चैतन्यं धर्मोऽस्त्विति चार्वाकपक्षमुद्धृत्य
 दूषयति—मदशक्तिरेवेति । अस्मासु आस्तिकेषु । न
 सिध्यति, अस्मान्प्रति चार्वाकेण साधयितुं न शक्यमिति यावत् ।
 यतोऽस्माकं प्रामाणिकानां मते देहो विज्ञानाधीनसिद्धिकत्वा-
 त्स्वाप्रदेहवत्पारिषको न भवति । न हि विज्ञानातिरेकेण देह-
 सत्तासाधकमस्ति, न चासिद्धे देहे मदशक्तिविज्ञानमुत्पत्तुमर्ह-
 तीति भावः ॥ ११ ॥ किञ्च जगतो ब्रह्मामेदे उच्यमाने दृश्य-

सैवैतीत्यसमुल्लेखं कथं नष्टस्य संभवः ।
 तद्रूपान्येति युक्तं स्यादनुभूतानुगा वयम् ॥ १३
 सैव व्योमतयैवासीदित्यसत्सैव सा कथम् ।
 तथैव व्योमसंस्था चेन्नाशं तर्हि न सा गता ॥ १४
 कार्यकारणयोरेकरूपतैवं यदा तदा ।
 कार्यकारणताभावादैक्यमेवास्मदागमः ॥ १५
 शून्यत्वमुपलम्भत्वं यद्गतं नष्टमेव तत् ।
 अन्यस्तर्हि भवेन्नाशः कीदृशः किल कथ्यताम् ॥ १६
 नष्टं भूयस्तदुत्पन्नमिति यत्प्रत्ययेति कः ।
 नश्यत्यवश्यं तेनेदं पुनरन्यत्प्रवर्तते ॥ १७
 मध्ये मध्ये यदुत्सेधफलाद्यवयवैकिका ।
 आवेहं बीजसत्तास्ति कार्यकारणता कुतः ॥ १८
 देशकालक्रियात्मैकं यथादृष्टमिह स्थितम् ।
 बीजमेवैककर्मातो न घटः पटकार्यकृत् ॥ १९
 सर्वदर्शनसिद्धान्ते नास्ति भेदो न वस्तुनि ।
 परमार्थमये तेन विवादेन किमत्र नः ॥ २०

नाशाद्ब्रह्मणोऽन्तवत्त्वशङ्का स्यात् । आध्यासिके त्वभेदे प्रति-
 योगिन इव तन्नाशस्यापि वस्तुतो ब्रह्मसंस्पर्शाभावात् तत्प्रसक्तिः
 शास्त्रसाफल्यं चेत्याशयेनाह—नश्यत्येवेति । यतः पुनःपुन-
 र्नष्टा उद्भवन्ती दृश्यश्रीः सैव न, अन्यैव च नैवेत्यनिर्वचनीया
 अविद्यामात्रम् । इत्थं सत्येव विषया तद्भावे शास्त्रं कृतं सफलं
 भवेत् । अन्यथा सत्यबन्धनिवृत्तौ शास्त्रस्यानुपायत्वाद्यर्थमेव
 स्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥ प्रलये नष्टाया भुवनसंस्थितेः पुनः सृष्टा-
 नुद्भवन्त्याः सैवान्यैवेत्यनिर्धार्यत्वादप्यनिर्वचनीयर्तवेत्याह—
 सैवैतीत्यादिना । या नष्टा सैव पुनरुन्मज्जनेनैतीत्यसमुल्लेखं
 संभावयितुमशक्यम् । अनुभूतानुगाः अनुभवानुसारिणो वयं
 नानुभवविरुद्धमण्वपि सहामहे इत्यर्थः ॥ १३ ॥ अनुभवा-
 नारोहमेव स्फुटयति—सैवेति । सा मूर्ततैव प्रलये व्योम-
 तया अमूर्तभावेनासीदित्यसत् । यतः सा मूर्ततैवामूर्तता
 कथम् । व्योमसंस्थापि सा तथा पूर्वावस्थापञ्चैव चेत्प्रलये नाशं
 न गतैवेति प्रलयवादोच्छेदः स्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥ एवं सर्गेपि
 प्रलयावस्थाया अपि तुल्यन्यायेन प्रसक्तौ प्रलयावस्थादभ्याकृता-
 त्कार्यस्य सर्गस्यैक्यापत्तौ कूटस्थवादापत्तिरित्याह—कार्येति ।
 अस्मदागमोऽस्मत्सिद्धान्तः स्यादित्यर्थः ॥ १५ ॥ यद्वस्तु उप-
 लम्भत्वं गतमपि शून्यत्वं गतं तन्नष्टमेव । सदा उपलब्धकालेऽ-
 प्यसत्त्वाभ्युपगमात् । असत्त्वापत्तिरेव हि नाशः । यथन्यादृशो
 नाशो लोके भवेत्तर्हि स कीदृशः कथ्यताम् । न चोपलम्भत्व-
 बलाद्ब्रह्मप्यनष्टं भवति । नष्टानामपि स्वप्ने उपलम्भदर्शनाद-
 नष्टत्वासिद्धेः ॥ १६ ॥ भूयः समुत्पत्तिदर्शनान्मध्ये नष्टस्यापि
 सत्त्वं कल्प्यत इति चेद्वेदेनाप्युत्पत्त्युपपत्तेः । प्रत्यभिज्ञादेर-
 दर्शनाच्च नैवमित्याह—नष्टमिति । प्रत्ययेति प्रत्यभिज्ञानाति ।
 अयतेर्कटि पदवर्णव्यत्ययश्छान्दसः ॥ १७ ॥ ननु यथैकस्मिन्नेव
 तपै मध्ये मध्ये कोटरस्फुटनशास्त्रादिवैविध्यभेदेऽप्यामूक्यार्थं

इदं शान्तमनाद्यन्तं तद्रूपत्वाद्द्विचारतः ।
 व्योमाभं बोधतामात्रमनुभूतिप्रमाणतः ॥ २१
 यथैतन्नानुभूतं सद्यथैतदनुभूयते ।
 यथैतत्सिद्धिमाप्नोति तद्विदं कथ्यते क्रमात् ॥ २२
 महाकल्पान्त उन्नष्टे सर्वस्मिन्दृश्यमण्डले ।
 आमहादेवपर्यन्तं समनोबुद्धिकर्मणि ॥ २३
 व्योमन्यपि शमं याते कालेऽप्यकलितस्थितौ ।
 वायावपि त्वपगते तेजस्यत्यन्तमस्थिते ॥ २४
 तेजस्यपि गते ध्वंसं वार्यादौ सुचिरं क्षते ।
 अलमन्तमनुप्राप्ते सर्वशब्दार्थसंचये ॥ २५
 शिष्यते शान्तबोधात्म सदृच्छं बाध्यवर्जितम् ।
 अनादिनिधनं सौम्यं किमप्यमलमव्ययम् ॥ २६
 अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् ।
 सर्वभूतात्मकं शून्यं सदसच्च परं पदम् ॥ २७
 तन्न वायुर्न चाकाशं न बुद्ध्यादि न शून्यकम् ।
 न किञ्चिदपि सर्वात्म किमप्यन्यत्परं नमः ॥ २८

वृक्षदेहस्यैकता, शाखादितत्कार्याण्येव भिद्यन्ते, एवमुत्पत्त्यादि-
 विकारभेदेषु प्रलये पुनरुद्भवे च भुवनाद्येकतैव किं न स्यादिति
 चेत्तत्राह—मध्ये इति । उत्सेध औजस्यं फलानि आदिपदा-
 च्छालोपशाखादासत्कन्धपत्रपुष्पादयश्च ये अवयवास्तोपेकिका
 अनुगता वृक्षदेहमभिव्याप्य स्थिता बीजसत्तैवाखण्डा तत्रा-
 स्तीति सत्सैक्यदृष्टौ शाखादेः पृथक्सत्ताऽसिद्धेः कार्यकारणतो-
 च्छेदः स्यादित्यर्थः ॥ १८ ॥ दृष्टान्ते उक्तं कार्यकारणतोच्छेदं
 दार्ष्टान्तिके दर्शयति—वेदोति । यदि प्रलयसर्गादिदेशकाल-
 क्रियात्मकमेकं सन्मात्रमेव बीजमभ्युपगम्येत तर्हि तत् एकं
 स्वयमेवैकं कर्म क्रिया तत्फलं च यस्य तथाविधं सत् न किञ्चि-
 त्कुर्यात् । असमर्थत्वात् । न हि घटः पटकार्यासमर्थस्तत्करोती-
 त्यर्थः । अथवा तदनुगतं बीजदेशात्मकं कालात्मकं क्रिया-
 त्मकं वा एकस्वभावं वाच्यम् । न होकं नानास्वभावं संभवति ।
 स्वभावभेदे एकत्वानुपपत्तेः । तथा च यदि देशैकस्वभावं तर्हि
 कालकार्यं न कुर्यात् । न हि घटस्वभावं वस्तु पटकार्यकृ-
 दृष्टमित्यर्थः ॥ १९ ॥ नानास्वभावमेकं वस्त्विति वदन्सर्वदर्शन-
 सिद्धान्तातिच्छन्नाद्वैतण्डिकः स्यादित्याशयेनाह—सर्वेति ।
 वस्त्यैक्ये कार्यभेदः सर्वदर्शनसिद्धान्ते नास्ति । परमार्थमये
 वस्तुनि वस्तुस्वभावेऽपि भेदो नानात्वं नास्ति । अतः सर्वदर्शन-
 विरुद्धवादिना सह विवादेन किमित्यर्थः ॥ २० ॥ परिशेषा-
 देकस्वभावत्वे तु चित्स्वभावस्यैवोपजीव्यस्यैकस्य परिशेषः सिद्ध
 इत्याह—इदमिति । सर्वकल्पनानामनुभूतिप्रमाणसारत्वात्-
 त्स्वभावापलापायोगेन परिशेषाच्चस्वभावस्यैव हानादिति भावः
 ॥ २१ ॥ तदुपपादनं प्रतिजानीते—यथैतदिति ॥ २२ ॥
 अत एव हि सर्वभेदप्रलयेऽप्यविपरिल्लभोऽनुभवात्मैवावशिष्यत
 इत्याह—महाकल्पान्त इत्यादिपञ्चभिः ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥
 ॥ २६ ॥ २७ ॥ परिशिष्टं वाप्यादिसत्त्वरूपनेव किं न स्यात्

तद्विद्या तत्पदस्येन तन्मुकेनानुभूयते ।
 अन्यैः केवलमाज्ञातैरागमैरेव वर्ण्यते ॥ २९
 न कालो न मनो नात्मा न सन्नासन्न देशादिक्र ।
 न मध्यमेतयोर्नास्तं न बोधो नाप्यबोधितम् ॥ ३०
 किमप्येव तदत्यच्छं बुध्यते बोधपारगैः ।
 शान्तसंसारविसरैः परां भूमिमुपागतैः ॥ ३१
 प्रतिषिद्धा मयैते तु येऽर्थाः सर्वत्र ते स्थिताः ।
 अस्मद्बुद्ध्या परिच्छेद्याः सौम्याम्भोधेरिवोर्मयः ॥ ३२
 यथास्थितं स्थिताः सर्वे भावास्तत्र यथा तथा ।
 अनुत्कीर्णा महास्तम्भे विविधाः शालभञ्जिकाः ॥ ३३
 एवं तत्र स्थिताः सर्वे भावा एव च न स्थिताः ।
 असर्वात्मैव सर्वात्म तदेव न तदेव च ॥ ३४
 पदं यथैतत्सर्वात्म सर्वार्थपरिवर्जितम् ।
 यथा तत्र च पश्यन्ति तत्रैकपरिणामिनः ॥ ३५
 सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम् ।
 सर्वार्थपरिपूर्णं च तदाद्यं परिदृश्यते ॥ ३६
 तवैतावन्महाबुद्धे सर्वार्थोपशमात्मकम् ।
 न सम्यग्दानमुत्पन्नं संशयोऽत्र निदर्शनम् ॥ ३७
 यः प्रबुद्धो निराभासं परमाभासमागतः ।
 स्वच्छान्तःकरणः शान्तस्तं स्वभावं स पश्यति ॥ ३८
 अयं त्वमहमित्यादित्रिकालजगज्जन्मः ।
 तत्रास्ति हेमपिण्डान्तरिव रूपकजालकम् ॥ ३९
 हेमपिण्डाद्यथा भाण्डजालं नानोपलभ्यते ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० ब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

तथा न लभ्यते भिन्नं परमार्थघनाज्जगत् ॥ ४०
 सर्वदैव हि भिन्नात्मा स्वाङ्गभूतोपलम्बकम् ।
 स जगद्भ्रतमेवेदं हेमेवाङ्गवृत्तकम् ॥ ४१
 रिक्तं देशादिशब्दार्थैर्देशकालक्रियात्मकम् ।
 यथास्थितमिदं तत्र सर्वमस्ति न वास्ति च ॥ ४२
 यथोर्म्यादि समे तोये चित्रं चित्रकृदीहते ।
 भाण्डवृन्दं मृदः पिण्डे तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ ४३
 तथैतदत्र नो भिन्नं नाभिन्नं नास्ति वास्ति च ।
 नित्यं तन्मयमेवाच्छं शान्ते शान्तमिदं तथा ॥ ४४
 अनिखातैव भातीयं त्रिजगच्छालभञ्जिका ।
 स्वरसस्येव दृश्यत्वमिता ब्रह्मणि दारुणि ॥ ४५
 निखाता दृश्यतां यान्ति स्तम्भस्थाः शालभञ्जिकाः ।
 अस्मिन्नक्षोभ्य एवान्तस्तरङ्गाः सृष्टिदृष्टयः ॥ ४६
 सरस्यतिरसे भान्ति चिद्वनामृतवृष्टयः ।
 अविभागे विभागस्था अक्षोभे क्षुभिता इव ।
 अविभाता विभान्तीव चिद्वने सृष्टिदृष्टयः ॥ ४७
 परमाणौ परमाणावत्र संसारमण्डलम् ।
 विभाति भासुरारम्भं न विभाति च किञ्चन ॥ ४८

आकाशकालपवनादिपदार्थजात-
 मस्याङ्गमङ्गरहितस्य तदप्यनङ्गम् ।
 सर्वात्मकं सकलभावविकारशून्य-
 मप्येतदाहुरजरं परमार्थतत्त्वम् ॥ ४९

तत्राह—तदिति ॥ २८ ॥ इदानीमपि तद्विद्वदनुभवसिद्ध-
 मित्याह—तद्विदेति ॥ २९ ॥ तत्र 'कालः स्वभावो नियतिर्य-
 दच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इत्याद्यागममर्भतो
 दर्शयति—न काल इति ॥ ३० ॥ 'तथदात्मविदो विदुः' इत्या-
 गमं च तथोदाहरति—किमपीति । चतुर्थ्यादेः पराम् ॥ ३१ ॥
 मयापि तेऽर्थाः श्रुत्यनुसार्यनुभवमाश्रित्य मुहुः प्रतिषिद्धा
 इत्याह—प्रतिषिद्धा इति । सर्वत्र श्रुतिषु प्रतिषेध्यतया स्थिता
 येऽर्थास्त एव मया प्रतिषिद्धाः ॥ ३२ ॥ तर्हि 'सदेव सोम्येद-
 मम आसीत्' इत्यादिसत्कार्यवादधुतीनां कोऽभिप्रायस्तमाह—
 यथास्थितमिति । ब्रह्मस्वभावस्थितिरेवाविकल्पिता जगतोऽपि
 सत्तेत्याद्यस्तासामिति भावः ॥ ३३ ॥ अत एव 'नेह नाने'त्यादि-
 श्रुतीनां 'सदेव सोम्ये'त्यादिश्रुतीनां चाविरोधेनैकमेवोभयथापि
 व्यपदिश्यत इत्याद्येनाह—एवमिति ॥ ३४ ॥ अनुत्कीर्ण-
 शिलायां पुत्रिकामेदानामिव योगिनां तत्रेच्छया अस्ति नास्तीत्यु-
 भयथापि दर्शनं सिद्धमित्याह—एवमिति ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 एतावत्प्रासवर्णितसमाधिकालपर्यन्तम् । संशयोऽत्र सम्यग्ज्ञा-
 नानुत्पत्तौ निदर्शनं लिङ्गम् । 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इति श्रुते-
 र्निश्चिते तत्त्वे संशयाननुभवाच्चेति भावः ॥ ३७ ॥ निराभासं सर्व-
 दश्याभासनिर्मुक्तम् । परं आभासं चरमसाक्षात्कारम् ॥ ३८ ॥

हेमपिण्डान्तः रूपकाणां रूप्यमुद्राणां जालकं समूह इव कल्पनया
 अस्ति ॥ ३९ ॥ तर्हि किं रूपकबद्धेनापि जगत्सत्, नेत्याह—
 हेमपिण्डादिति । नाना पृथक्सदिति यावत् ॥ ४० ॥ यद्यप्य-
 नृतं सतो न भिद्यते तथापि सत्तु अनृताद्विद्यत एवेत्याह—
 सर्वदैवेति । अङ्गदरूपकमिवानृतमित्यर्थः ॥ ४१ ॥ देशादि-
 शब्दानामर्थैः प्रवृत्तिनिमित्तैर्जातिगुणक्रियादिभिः रिक्तं रहितम्
 ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ तथैव मेदादिना दुर्निरूपस्वभावमनृतं ब्रह्मणि
 स्थितमित्याह—तथेति । तत्त्वज्ञानेन शान्ते ब्रह्मणि शान्ता-
 त्मनैव स्थितम् ॥ ४४ ॥ अनिखाता अनुत्कीर्णा । स्वरसस्य
 स्वसाक्षिणः शिल्पिनो दृश्यत्वं इतेव । ब्रह्मणि दारुणीति व्यस्त-
 रूपकम् ॥ ४५ ॥ तत्र यो विशेषस्तमाह—अस्मिन्निति ।
 अक्षोभ्ये अधिकार्ये विवर्तरूपास्तरङ्गाः ॥ ४६ ॥ तमेवाह—
 सरसीति सार्धेन । अतिरसे निरतिशयानन्दजलपूर्णं चित्स-
 रति चिन्मेष्णामृतवृष्टिप्रायाः सृष्टिदृष्टयो विभाजकधर्मशून्येऽपि
 विभागस्था अक्षोभेऽपि क्षुभिता अविभाता एव विभान्तीवेत्यपि
 विशेष इत्यर्थः ॥ ४७ ॥ तत्र 'अविभाता विभान्ति' इत्येत-
 द्दिशदयति—परमाणाविति ॥ ४८ ॥ वर्णितं कूटस्थस्य जगद्भावं
 संघट्टोपसंहरति—आकाशेति । अङ्गरहितस्य निरवयवस्यास्य
 यदाकाशकालपवनादिपदार्थजातरूपमङ्गं वर्णितं तदपि सिध्य-

त्रिपञ्चाशः सर्गः ५३

श्रीराम उवाच ।

यथा चेत्ये चेतनता यथा काले च कालता ।
 यथा च व्योमता व्योम्नि यथा च जडता जडे ॥ १
 यथा वायौ च वायुत्वमभूतादावभूतता ।
 यथा स्पन्दान्मनि स्पन्दो यथा मूर्ते च मूर्तता ॥ २
 यथा मित्रे च मित्रत्वं यथाऽनन्ते ह्यनन्तता ।
 यथा दृश्ये च दृश्यत्वं यथा सर्गेषु सर्गता ॥ ३
 एतत्क्रमेण हे ब्रह्मन् वद मे वदतां वर ।
 आदितः प्रतिपाद्यं व बोध्यन्ते ह्यल्पबोधिनाः ॥ ४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तदनन्तं महाकाशं महाचिद्धनमुच्यते ।
 अवेद्यचिद्रूपमयं शान्तमेकं समस्थिति ॥ ५
 ब्रह्मविष्णुवीश्वराद्यन्ते महाप्रलयनामनि ।
 शब्दार्थे रूढिमापन्ने यच्छुद्धमवशिष्यते ॥ ६
 सर्गस्य कारणं तत्र न किञ्चिद्रूपपद्यते ।
 मलमाकारबीजादि मायामोहभ्रमादिकम् ॥ ७
 केवलं शान्तमत्यच्छमाद्यन्तपरिवर्जितम् ।

त्वादधिष्ठानमात्रपरिशेषाकानङ्गं निरवयवमेव । एवं सकल-
 भावविकारशून्यमयेतदजरमात्मतत्त्वं सर्वाधारोपेण सर्वात्मकं
 श्रुतय आहुरित्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम द्विप-
 ञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

अध्यारोपितचेत्यानां प्रातिस्निकभिदाजुषाम् ।

भावस्त्वप्रत्ययाद्यर्थो ब्रह्मवेत्युपवर्ण्यते ॥ १ ॥

ब्रह्मणोऽध्यारोपितानिर्वचनीयजगद्रूपप्राप्तिक्रमे वर्णिते तत्र
 कतिपयव्यक्तिष्वनुगतमितराभ्यो व्यावृत्तं त्वतलादिभावप्रत्य-
 याभिधेयं यजात्यादिरूपं तस्वरूपं तत्त्वतो जिज्ञासु रामः
 पृच्छति—यश्चेत्यादिना । चेत्ये स्मृतिविषये । चेतनता स्मृति-
 विषयभावः । वर्षायाकाधारे त्युटि तत् । चेत्येति यावत्
 ॥१॥ अभूतं वर्तमानं आदिपदाद्भविष्यच्च तत्र अभूतता ॥२॥
 मित्रे वस्तुकृतपरिच्छेदादिमति । अनन्ते तच्छून्ये ॥ ३ ॥
 एतदेवंरूपं सर्ववस्तूनामसाधारणं भावं बोधकापायक्रमेण मे
 वद । क्रमेणेत्युक्तेराशयमुदाहरति—आदित इति ॥ ४ ॥
 त्वत्पृष्ठश्वेत्यादिवस्तूनां भावश्चिदात्मैव तस्यैव स्वाध्यस्तेष्वन्यो-
 न्यतादात्म्याध्यासे तद्भावताविभावनानित्युत्तरमभिप्रेत्य तस्य
 नित्यसद्रूपतां दर्शयितुमारभते—तदनन्तमित्यादिना । यत्त्वया
 पृष्टं तदिदमित्यर्थः ॥ ५ ॥ सर्वनाशे परिशिष्यमाणत्वात्स एव
 सर्ववस्तूनां भावः । भूधातोर्भावे घञि नित्यसत्तार्थे भावशब्द-
 ध्युत्पत्तेरित्याशयेनाह—ब्रह्मेति । शब्दार्थे नामरूपे । अरूढिं
 तिरोभावमापन्ने । असन्मात्रप्रलयेन परिशिष्टे सच्छब्दार्थे
 रूढिं प्रतिस्निकभापके इति वा ॥६॥ ननु तदपि स्वकारणे लीयतां
 यो० वा० १४९

तद्विद्यते यत्र किल खमपि स्थूलमद्भवत् ॥ ८
 न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्रूप्यदा ।
 न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ ९
 निमेषे योजनशते प्राप्तायामात्मसंविदि ।
 मध्ये तस्यास्तु यद्रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १०
 सबाह्याभ्यन्तरे शान्ते वासनाविषयभ्रमे ।
 सर्वचिन्ताविहीनस्य प्रबुद्धस्यार्धरात्रतः ॥ ११
 शान्तं निःसुखदुःखस्य पुरुषस्यैव तिष्ठतः ।
 यदस्पन्दि मनोरूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १२
 तृणगुल्माङ्कुरादीनां सत्तासामान्यमाततम् ।
 यदुद्भवोद्भवं रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १३
 तस्मिन्पदे जगद्रूपं यदिद् दृश्यते स्फुटम् ।
 सकारणमिवाकारकरालमिव भेदवत् ॥ १४
 तत्सर्वं कारणाभावात् जातं न च विद्यते ।
 नाकारयुक्तं न जगत् इतैक्यसंयुतम् ॥ १५
 यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ।
 स्वयं नित्यानुभूतेऽर्थे कोऽत्रापहवशक्तिमान् ॥ १६

तेनामदस्तु तत्राह—सर्गस्येति । तत्र सदात्मनि सर्गस्य
 जन्मनः कारणं किञ्चिदपि नोपपद्यते । मलमायादीनां तदधी-
 नसिद्धिकत्वादिति भावः ॥ ७ ॥ यत आद्यन्तपरिवर्जितमत-
 स्तत्सदेव विद्यत इति सत्तार्थकभावशब्दार्थे इति भावः ॥ ८ ॥
 तद्यदा शान्तमलं तदा अस्तीति वाच्यवृत्त्या वक्तुं न युज्यते,
 तदा हि भविता स्यात्त भाव इति भावः ॥ ९ ॥ तादृशनि-
 र्विषयचित्स्वभावस्यान्यताप्रतिद्धिमनुभवप्रदर्शनेन वारयति—
 निमेषे इति । शाखाचन्द्रदर्शनकाले निमेषमात्रेण शास्त्रोर्ध्व-
 देशे योजनशतं चाक्षुषत्रसिद्धारा प्राप्तायां प्रमातृसंविदि शाखा-
 चन्द्रयोर्मध्ये तस्या निर्विषयं रूपं प्रसिद्धमिति प्रागसकृद्दर्शित-
 मेवेत्यर्थः ॥ १० ॥ अर्धरात्रिपर्यन्तं गाढनिद्रया मनसो निद्रा-
 कालेष्वेऽपनीते सति ततः समाध्यारूढानां योगिनां तद्रूपमनु-
 भवसिद्धमित्याह—सबाह्येति द्वाभ्याम् ॥ ११ ॥ १२ ॥
 तृणानां गुल्मानामङ्कुरकाण्डतरुविटपादीनां च सर्वपदार्थानामु-
 द्भवे उद्भवं तदनुषक्तयाविर्भूतं यत्सत्तासामान्यमाततमनु-
 गतं रूपं तदेव त्वत्प्रययाद्यर्थ इत्यर्थः । तथा चोक्तं वाक्यप-
 दीये 'सा सत्ता सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः' इति ॥१३॥
 तस्मिन्नेव सत्तासामान्यरूपे तादात्म्येनानुषक्तं व्यावृत्तमिव यद्-
 टपटादिजगद्रूपमागन्तुकत्वात्सकारणमिव कम्बुप्रोवाद्याकारैः
 करालमिव च भासते तत्सर्वमनृतम्, अत एव कारणाभावात्
 जातं न विद्यते चेति परेणान्वयः ॥ १४ ॥ तच्च
 सद्रूपं नाकारयुक्तम्, अत एव न जगत् इतैक्यादिनापि न
 संबद्धम् ॥ १५ ॥ तत्कुतस्तत्राह—यदिति । अत्रार्थे
 सर्वेषां आनुभव एव मानमित्याह—स्वयमिति ॥ १६ ॥

न च शून्यमनाद्यन्तं जगतः कारणं भवेत् ।
 ब्रह्मामूर्ते समूर्तस्य दृश्यस्याब्रह्मरूपिणः ॥ १७
 तस्मात्तत्र जगद्रूपं यदा भातं तदेव तत् ।
 स्वयमेव तदा भाति चिदाकाशमिति स्थितम् ॥ १८
 जगच्चिद्ब्रह्मभावाच्च तथा भावो भ्रमादिव ।
 सर्वमेकमजं शान्तमद्वैतैक्यमनामयम् ॥ १९

पूर्णात्पूर्णे विसरति पूर्णे पूर्णे विराजते ।
 पूर्णमेवादितं पूर्णे पूर्णमेव व्यवस्थितम् ॥ २०
 शान्तं समं समुद्रयास्तमयैर्विहीन-
 माकारमुक्तमजमम्बरमच्छमेकम् ।
 सर्वे सदा सदसदेकतयोदितान्म
 निर्वाणमाद्यमिदमुत्तमबोधरूपम् ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु नि० उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः ५४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जगन्नाम नमः स्वच्छं सद्ब्रह्म नमसि स्थितम् ।
 नमो नमसि भातीदं जगच्छब्दार्थ इत्यजम् ॥ १
 स्वमहं जगदित्यादि शब्दार्थो ब्रह्म ब्रह्मणि ।
 शान्तं समसमाभासं स्थितमस्थितमेव सत् ॥ २
 समुद्रगिरिमेघोर्धोर्विस्फोटमयमप्यजम् ।
 काष्ठमौनवदेवेदं जगद्ब्रह्मावतिष्ठते ॥ ३
 द्रष्टा द्रष्टव्यं दृश्यस्य स्वभावात्स्वात्मनि स्थितः ।
 कर्ता कर्तव्यं कर्तव्याभावतः कारणादृते ॥ ४

बस्तु तर्ह्यसतो जगतः शून्यमेव कारणं तत्राह—न चेति ।
 शून्यस्य कारणत्वे तस्य देशादिपरिच्छेदाभावात्सर्वं सर्वत्र सदा
 स्वादित्याशयेन विशिनष्टि—अनाद्यन्तमिति । अत एव न
 ब्रह्मणि कारणम् । अमूर्तस्य मूर्ताकारपरिणामायोगाच्चेत्याह—
 ब्रह्मेति । तथा च श्रुतिः 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमन्तरमबाह्यम-
 यमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' इति ॥ १७ ॥ तस्म हीदृशे ब्रह्मणि
 यजगद्रूपं भातं तद्ब्रह्मं तथा भातमिति । ब्रह्मं सर्ववस्तूनां
 भावस्त्वतल्लयार्थं इत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ १८ ॥ एवं
 जगत्तच्चिद्ब्रह्मभावादापातप्रतीतस्तथा भावो घटपटाद्याकारो
 भ्रमादिवेति सिद्धे सर्वत्र सर्वमेकमेव ॥ १९ ॥ भ्रात्या तस्य
 जगज्जीवभावे भ्रान्त्यपगमे वास्तवब्रह्मभावे च 'पूर्णमदः पूर्ण-
 मिदम्' इत्यादिश्रुतिः प्राग्दर्शितैवेत्यनुवदति—पूर्णादिति ॥ २० ॥
 वर्णितरीत्या सर्वमाकारमुक्तं सत् सदसदेकतया सदा उदिता-
 त्मेति यदिदमुत्तमबोधरूपं ब्रह्म परिशिष्टं तदेव निर्वाणमिति
 भावप्रत्ययार्थतत्त्वमित्यर्थः ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम त्रिप-
 ञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

सर्वं वस्तु स्वभावस्य स्वभावेन क्रियाभिदे ।

अधिकारमतोऽद्वैतं सन्मात्रमिति वर्ण्यते ॥ १ ॥

घटपटादीनां न घटत्वपटत्वाद्यनुज्ञिकस्य स्वरूपं भेदो वा
 निरूपयितुं शक्यम्, घटघटत्वयोरपि परस्परं न निरवाच्छङ्ग-
 प्रतियोगिताकां भेदो निरूपयितुं शक्याविति पृथक्करणे निर्विकल्प-
 तया समाभासयोर्भावभेदोर्विभागस्य विकल्पमात्रत्वात्सर्व-
 वस्तूनां भावमात्रत्वे घटे घटत्वमित्यादिशब्दार्थनिष्कर्षे ब्रह्म

न ज्ञत्वं न च कर्तृत्वं न जडत्वं न भोक्तृता ।
 न शून्यता न चार्थन्वमिह नापि नभोर्थता ॥ ५
 शिलाजठरवत्सत्यं घनमेकमजं ततम् ।
 सर्वं शान्तमनाद्यन्तमेकं विधिनिषेधयोः ॥ ६
 मरणं जीवितं सत्यमसत्यं च शुभाशुभम् ।
 सर्वमेकमजं व्योम वीचिजालजलं यथा ॥ ७
 विभाग एव दृश्यत्वं द्रष्टृत्वं चैव गच्छति ।
 पतच्च कल्पनं स्वप्नपुरादिर्ध्वनुभूयते ॥ ८
 एवमच्छं पराकाशे स्वप्नपतनवज्जगत् ।
 भाति प्रथममेवेदं ब्रह्मैवेत्थमतः स्थितम् ॥ ९

ब्रह्मणि स्थितमित्येव पर्यवस्यतीति प्रसाधितस्य भावप्रत्ययार्थ-
 निष्कर्षस्य फलमिहोपपादयितुमारभते—जगन्नामेत्यादिना ।
 घटत्वपटत्वादिभावेभ्यो निःसृज्यमाणं जगज्जम इव स्वच्छं
 निर्भेदकलहमेव प्रसिद्धम् । तत्र च घटत्वपटत्वादिभावः प्राशु-
 चरीत्या ब्रह्मैव स्थितम् । तथा चैवंदर्शने घटः पट इत्यादिभावे
 नम एव नमसि भाति स एव जगच्छब्दस्य घटपटादिशब्दस्य
 चार्थस्तच्चाजं जन्मादिविकारशून्यमेवेति न कार्यकारणभावः
 कस्यचिद्विहितप्रतीत्यर्थः ॥ १ ॥ अमुमेवार्थं पुनः स्पष्टमाह—
 त्वमहमिति । भावभवित्रोः पृथक्त्व दर्शने अत्यन्तैक्यदर्श-
 नेऽपि वा सौक्ष्म्यादिना समसमाभासमेव पृथगस्थितमेव तथा
 सत् ॥ २ ॥ एवं समुद्रगिरिमेघोर्ध्यादिविभागप्रचुरं विचित्र-
 कारकक्रियाफलभेदैर्भासमानमपि तत्तद्भावभित्तृत्वं निष्कर्षे
 निष्क्रियं ब्रह्मैवावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ३ ॥ तदेव द्रष्टादिविभाग-
 प्रचुरं विचित्रकारकेषु तत्तद्भावनिष्कर्षेण प्रपञ्चयति—द्रष्टेति ।
 दृश्यस्य स्वभावाच्चिच्छेदो द्रष्टा चिन्मात्रस्वभावे स्वात्मनि स्थितः
 सन् तद्द्रष्टव्यं भवति एवं कर्तापीत्यर्थः ॥ ४ ॥ अनया दृष्ट्या सर्व-
 जगद्द्रष्टव्यमपमार्ष्टुं शक्यमिति दर्शयति—नेति ॥ ५ ॥
 भावाभावविभागस्याप्यपमार्जनद्विधिनिषेधयोरेकम् ॥ ६ ॥ ७ ॥
 ब्रह्मणो जीवभावेन विभागे सत्येकमेव चिदंशप्राधान्येन द्रष्टृतां,
 तदंशप्राधान्येन चिद्रूपं तिरोधाय दृश्यतां चैव गच्छति । यथा
 स्वप्ने व्यावहारिकजीवात्प्रातिभासिकजीवस्य विभागे स्नापति-
 रोहितो व्यावहारिकजीवः स्नापजीवदृश्यपुरादिभावं गच्छति
 तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥ प्रथमं निष्पन्नं यद्ब्रह्म तदेवाज्ञो जीव-

तद्विदं तादृशं विद्धि सर्वं सर्वात्मकं च यत् ।
 देशादेशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यमनङ्कितम् ॥ १०
 चिद्बोद्धः शान्तशान्तस्य मध्यमे चैवमास्थितम् ।
 जगत्तथैव सलिलमेवोर्म्यादितया यथा ॥ ११
 यदुदेत्युदितं यच्च यच्च नोदेति नोदितम् ।
 देशादेशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यान्न मेदितम् ॥ १२
 अतः किलास्य सर्गस्य कारणं शशशुक्लवत् ।
 प्रयत्नेनापि चान्विष्टं न किञ्चिदुपलभ्यते ॥ १३
 यदकारणकं भाति तदभातं भ्रमात्मकम् ।
 भ्रमस्यासत्यरूपस्य सत्यता कथमुच्यते ॥ १४
 कारणेन विना कार्यं किल किं नाम विद्यते ।
 यदपुत्रस्य सत्पुत्रदर्शनं स भ्रमो न सत् ॥ १५
 यस्त्वकारणको भाति स स्वभावो विजृम्भते ।
 सर्वरूपेण संकल्पगन्धर्वनगरादिवत् ॥ १६
 देशादेशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्ये विदो वपुः ।
 स्वरूपमजहस्वेव राजतेऽर्थविवर्तवत् ॥ १७
 बोध एव कचत्यर्थरूपेण स च सादृशः ।
 दृष्टान्तोऽत्रानुभूतोऽन्तः स्वप्नसंकल्पपर्वतः ॥ १८
 धीराम उवाच ।
 विद्यते वटबीजान्तर्यथा भाविमहाद्रुमः ।
 परमाणौ तथा सर्गो ब्रह्मन्कस्माच्च विद्यते ॥ १९
 धीवसिष्ठ उवाच ।
 यत्रास्ति बीजं तत्र स्याच्छाखा विततरूपिणी ।

त्वना विभागादित्यं जगद्भावेन स्थितम् ॥ ९ ॥ तत्तस्मादिदं
 सर्वात्मकं जगद्रूपं प्रथमं यादृशं निष्प्रपञ्चं तादृशमेव सदेति
 विद्धि । तादृशं निष्प्रपञ्चमनादृतं चित्तो रूपमप्रसिद्धमिति तु न
 वाच्यम् । शास्त्राचन्द्रोभयदर्शनवृत्त्यभिव्यक्तचित्तस्तदुभयमध्य-
 मप्रदेशे तथा प्रसिद्धेः प्रागसकृदुक्तत्वादित्याह—देशादिति ।
 अनङ्कितं विषयविशेषेणाचिद्धितम् ॥ १० ॥ इदानीमपि प्रत्य-
 यदृष्ट्या पर्यालोचने तद्रूपं सुदर्शमित्याशयेन दृष्टान्तः सलिलमे-
 वेति ॥ ११ ॥ सर्वं जगत्तादृशनिर्विषयचैतन्याभिन्नमेवेत्याह—
 यदिति । उदेत्युदितं च कार्यरूपं, नोदेति नोदितं च कारण-
 रूपम् । न मेदितं न भिन्नम् । स्वार्थेण्यन्तात् कः ॥ १२ ॥
 अस्त्वभिन्नं किं तत्तत्तत्राह—अत इति ॥ १३ ॥ ततोऽपि किं
 तत्राह—यदिति ॥ १४ ॥ यदपुत्रस्य वन्ध्यापतेः स्वप्ने सत्पुत्र-
 दर्शनं स भ्रम एवेत्यर्थः ॥ १५ ॥ स्वभावो द्रष्टृष्विदेव स्वरूपं
 जहस्तथा विजृम्भते ॥ १६ ॥ क्व तर्हि स्वरूपमजहद्राजते
 तत्राह—देशादिति । शास्त्राचन्द्रदेशयोरेव परमार्थविवर्तवदि-
 त्युभयरूपकचनं तत्र प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ १७ ॥ असत्यप्यर्थं
 बोधोऽर्थरूपेण कचते इत्यर्थेऽपि दृष्टान्तावाह—बोध एवेति
 ॥ १८ ॥ बोध एवार्थरूपेण कचतीति किमर्थं कल्प्यते वटबी-
 जान्तः सूक्ष्मो ह्यस्य इव बोधान्तर्जडतात्मकः प्रपञ्चो लक्ष्य एव

अन्यते कारणैः सा च वितता सहकारिभिः ॥ २०
 समस्तभूतप्रलये बीजमाकारि किं भवेत् ।
 सहकार्यथ किं तस्य जायते यद्दशाजगत् ॥ २१
 यत्तु ब्रह्म परं शान्तं का तत्राकारकल्पना ।
 परमाणुत्वयोगोऽपि नात्र केवात्र बीजता ॥ २२
 कारणस्येति बीजस्य सत्यासत्यैककारिणः ।
 भर्त्सभवाजगत्सत्ता कथं केन कुतः क का ॥ २३
 जगदास्ते परस्याणोरन्तरित्यपि नोचितम् ।
 सार्षपे कणके मेरुरास्त इत्यज्ञकल्पना ॥ २४
 सति बीजे प्रवर्तन्ते कार्यकारणदृष्टयः ।
 निराकारस्य किं बीजं क अन्यजनकक्रमः ॥ २५
 अतो यत्परमं तत्त्वं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
 नेह प्रथयते किञ्चिन्न च किञ्चिद्विनश्यति ॥ २६
 चिदाकाशश्चिदाकाशे हृदि चित्वाजगद्भ्रमम् ।
 अशुद्धवदिवाशुद्धे शुद्धं शुद्धे प्रपश्यति ॥ २७
 स्वमेवाभासते तस्य रूपं स्पन्द इवानिले ।
 सर्गशब्दार्थकलना नेह काश्चन सन्ति नः ॥ २८
 यथा शून्यत्वमाकाशे द्रवत्वं च यथा जले ।
 अन्यतात्ममयी शुद्धा सर्गतेयं तथात्मनि ॥ २९
 भारूपमिदमाशान्तं जगद्ब्रह्मैव नस्ततम् ।
 अनादिनिधनं सत्यं नोदेति न च शाम्यति ॥ ३०
 देशादेशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्ये विदो वपुः ।
 यत्तज्जगदिति वेदं द्योमात्मनि व्यवस्थितम् ॥ ३१

प्राक् स्थित इत्येव कुतो वा न कल्प्यत इति रामः शङ्कते—
 विद्यत इति ॥ १९ ॥ साकारे हि बीजेऽन्तर्निराकारो वटः प्राग-
 भूत्, स च भूजलादिसहकारिकारणसमवधानेऽङ्कुरादिकमेवाविर-
 भूत् । न च सर्वजगत्प्रलये किञ्चित्साकारं संभवति सहकारिणो
 वा लक्ष्यन्त इति विषमो दृष्टान्त इत्युत्तरं वसिष्ठ आह—अज्ञे-
 लादिना ॥ २० ॥ आकारोऽस्यास्तीत्याकारि किं बीजं भवेत् ।
 एवं सहकार्येपि तस्य बीजस्य किं भवेत् ॥ २१ ॥ ननु ब्रह्मैव तत्र
 जगच्छक्तिकर्तृ बीजमस्तु तत्राह—यत्स्थिति । अत्रास्मिन्ब्रह्मणि
 परमाणुत्वयोगोऽपि नास्ति आकारकल्पना दूरापात्तेत्यर्थः
 ॥ २२ ॥ अत एव कारणसंभवः प्रागुक्त इत्याह—कारण-
 स्येति । इति अनया रीत्या ॥ २३ ॥ यदि तु 'अणुः पन्था विततः
 पुराणः' 'अणोरणीयान्' इत्यादिश्रुतिबलादणुत्वमभ्युपगम्येत
 तथापि तत्र जगत्स्थितिर्दुरुपपादेत्याह—जगदिति ॥ २४ ॥
 यदि तु जगदपि निराकारमेवेत्यभ्युपगम्येत तर्हि सुतरां बीजा-
 दसंभवात्तादृशब्रह्मतैव पर्यवसितेत्याह—सतीति द्वाभ्याम्
 ॥ २५ ॥ प्रथयते आविर्भूय स्वरूपं प्रख्यापयति ॥ २६ ॥ किं
 तर्हि तत्तदाह—चिदाकाश इति ॥ २७ ॥ २८ ॥ आत्ममयी
 स्वविवर्तरूपा स्वान्यता ॥ २९ ॥ अविवर्तं तर्हि कीदृक् तदाह—
 भारूपमिति ॥ ३० ॥ तदप्रसिद्धिस्तु बहुशो वारिदेति

यथा स्पन्दोऽनिले तोये द्रवन्धं व्योम्नि शून्यता ।
तथा जगदिदं भातमनन्याश्लेषमात्मनि ॥ ३२
संविन्नभो ननु जगन्नभ इत्यनर्क-
मात्मन्यवस्थितमनस्तमयोदयं क ।

तत्त्वङ्गभूतमखिलं तदनन्यदेव

दृश्यं निरस्तकलनोऽम्बरमात्रमास्व ॥ ३३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अद्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः ५५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भावाभावप्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।
आदावेव हि नोत्पन्नाः सर्गादौ कारणं विना ॥ १
न त्वमूर्तो हि चिद्धातुः कारणं भवितुं कश्चित् ।
स्वात्मा शक्तः स मूर्तानां बीजमुर्वीरुद्धामिव ॥ २
स्वभावमेव सततं भावयन्भावनात्मकम् ।
आत्मन्येव हि चिद्धातुः सर्वोऽनुभववान्स्थितः ॥ ३
आस्वादयति यं भावं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
लब्धः सर्गः प्रलापेन क्षीवः श्लुब्धतया यथा ॥ ४
यदा सर्वमनुत्पन्नं नास्त्येवापि च दृश्यते ।
तदा ब्रह्मैव विद्मीदं समं शान्तमस्तसमम् ॥ ५
चिन्नमधिन्नमस्येव पयसीव पयोद्रवः ।
चित्त्वात्कचति यत्तेन तदेवेदं जगत्कृतम् ॥ ६

स्मारयति—देशादिति ॥ ३१ ॥ अन्येन वस्त्वन्तरेणाश्लेषः
संबन्धस्तच्छून्यम् । असङ्गात्प्रमिति यावत् ॥ ३२ ॥ वर्णितं
सर्वं जगतश्चित्स्वभावमात्रत्वं संश्लोपदिशन्नुपसंहरति—संवि-
दिति । हे राम, जगत् आत्मनि परमार्थस्वभावेऽवस्थितं सत् ।
नन्विति निश्चयेन संविन्नभ एव शून्यतापन्नं सत्प्रसिद्धं नभ
एव किं न स्यात्तत्राह—नभ इति । अनर्कं सूर्यरहितं तदस्त-
मयोदयरहितं च आत्मनि स्वरूपमात्रेऽवस्थितं च नभ इति क
प्रसिद्धम् । न हि नभः सच्चित्स्वभावमर्कादिशून्यं वा प्रसिद्धमपि
दु जडं शून्यम् । किं च सर्वदृश्यानां यत्तत्त्वं सच्चित्स्वभावरूपं
तदनुविद्धत्वेन भानात्तदङ्गभूतमेवाखिलं प्रसिद्धं न शून्यनभोऽङ्गम्,
येन तन्मात्रं स्यात् । अतस्तेन सच्चिदात्मनैवानन्यत् । तस्मा-
त्त्वमपि निरस्तकलदृश्यध्विदम्बरमात्रं सन् आस्व तिष्ठेत्यर्थः
॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे अद्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

अन्यभावनयान्यां स्वां पश्यन्ती चिज्जगत्स्थिता ।

स्वभावादात्मन्येति परमार्थमयं जगत् ॥ १ ॥

एवं जगत आत्यन्तिके ब्रह्माभेदे अनुत्पत्तिरेव फलिते-
त्याह—भावेति ॥ १ ॥ उत्पत्तिवादे त्वदृश्यं बीजं वाच्यं
तत्तु दुर्वचमित्यसकृदुक्तं स्मारयति—न त्विति ॥ २ ॥ अत एव
तत्त्ववित्स्वर्गं जगश्चित्स्वभावमेव भावयन्स्तद्भावेनैव स्थित इत्याह
—स्वभावमेवेति । 'सर्गानुभववान्' इति पाठे तु अङ्गधि-
द्धातुरात्मन्येव सर्गस्वभावं भावयन्स्तद्भावनुभववान्स्थित इति

स्वप्ने तदेव जगदित्युदेति विमला यथा ।
काचकस्येव कचति तथेत्यं सादि सर्गखे ॥ ७
चित्काचकस्य कचनं यथा स्वप्ने जगद्भवेत् ।
तथैव जाग्रदविधं तत्स्वमात्रमिदं स्थितम् ॥ ८
आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यभिशब्धते ।
अद्य रात्रौ चित्तेः स्वप्नः स्वप्न इत्यपि शब्धते ॥ ९
पूर्वप्रवृत्ता सरितां रुद्धाद्यापि यथास्थिता ।
तरङ्गलेखा दृष्टीनां पदार्थरचना तथा ॥ १०
यथा वारितरङ्गश्रीः सरितां रचना मिता ।
तथा चिद्धोम्नि चिद्धीजसत्तान्तःसृष्टिता मिता ॥ ११
मृतस्यात्यन्तनाशश्चेत्तन्निद्रासुखमेव तत् ।
भूयद्भोदेति संसारस्तत्सुखं नवमेव तत् ॥ १२

व्याख्येयम् ॥ ३ ॥ अत एवाज्ञात्मना स्वभावभावनानुरूपः सर्गो
लब्ध इत्याह—आस्वादयतीति । यथा मदिरादिश्लुब्धतया
आत्मनैव क्षीवः स्वात्मा लब्धस्तद्वत् ॥ ४ ॥ अत एवानुत्पन्न-
वस्त्वन्तरस्वभावदर्शने तद्भावस्थितिरिति विद्मीत्याह—यद्येति
॥ ५ ॥ कथं तां तेनेदं जगत्कृतमिति श्रुत्यादिप्रवाद उपपन्न-
स्तत्राह—चिन्नम इति । यद्यस्मात्तेन चिदात्मना निमित्तेनेद-
मध्यस्तं जगत्कचति तेन हेतुना जगद्ब्रह्मैव जगदाकारेण तेनैव
कृतमिति प्रवाद इति शेषः ॥ ६ ॥ स चायं स्वप्नद्रष्टुः 'अथ रथान्
रथयोगान् पथः सृजते' इति श्रुतौ तत्स्वप्नप्रवादवदित्याह—
स्वप्ने इति । यथा वा काचकदूषितनेत्रस्य नभसि केशोण्डूकादि
कचति तथा इत्थं विचित्रं सादिरूपं सर्गात्मभाविते चिदाकाशे
कचतीत्यर्थः ॥ ७ ॥ तत्तस्मात्स्वमात्रं चिदाकाशमात्रम् ॥ ८ ॥
कस्तर्हि तथा सति जाग्रत्स्वप्नयोर्भेदस्तमाह—आदीति । आदौ
प्रवृत्ते हिरण्यगर्भमकसर्गे । अद्य रात्रौ प्रवृत्ते स्वस्वव्यष्ट्यन्तः-
करणमात्रपरिणामरूपे सर्गे यश्चित्तेः स्वप्नः ॥ ९ ॥ आदिसर्ग-
संकल्प एवामहाप्रलयं सर्वपदार्थस्वभावव्यवस्थापिका नियति-
स्तदनुसारेणैवाद्यापि यथास्थितं पदार्थरचना कृता यथापूर्वप्रवृत्ता
गरितां तरङ्गरेखा दृष्टीनां प्रत्यक्षा रूढेत्यन्वयः ॥ १० ॥ तथा च
वारिसत्तातिरिक्तसत्ता यथा तरङ्गश्रियो नास्ति एवं जग-
तश्चित्मत्तातिरिक्ता सा नास्तीत्याशयेन ब्रह्मोपादानकताप्रवाद
इत्याशयेनाह—यद्येति ॥ ११ ॥ एवं जगतः पृथक्सत्ताभावे
जन्ममरणभीतिप्रसक्तिरेव नास्ति, प्रत्युतोभयथापि सुखमेवे-

कुकर्मभ्यस्तु चेद्गीतिः सा समेह परत्र च ।
 तस्मादेते समसुखे सर्वेषां मृतिजन्मनी ॥ १३
 मरणं जीवितं वास्तु सहजे वासने तयोः ।
 इति विश्रान्तचित्तो यः सोऽन्तःशीतल उच्यते ॥ १४
 सर्वसंबित्तिविगमे संविद्रोहति यादृशी ।
 भूयते तन्मयेनैव तेनासौ मुक्त उच्यते ॥ १५
 अत्यन्ताभावसंविद्या सर्वदृश्यस्य वेदनम् ।
 उवेत्यपास्तसंवेद्यं सति वाऽसति सर्गके ॥ १६
 यन्न चेत्यं न चिद्रूपं यच्चित्तेरप्यचेतितम् ।
 तद्भावैक्यं गतास्तज्ज्ञाः शान्ता व्यवहृतौ स्थिताः १७
 चित्काचकाचकच्यं यज्जगन्नाम्ना तदुच्यते ।
 अत्यच्छे परमाकाशे बन्धमोक्षदशः कुतः ॥ १८

चिन्मःस्पन्दमात्रात्म संकल्यात्मतया जगत् ।
 सद्भूतमयमेवेदं न पृथ्यादिमयं क्वचित् ॥ १९
 नेह देशो न कालोऽस्ति न द्रव्यं न क्रिया न खम् ।
 सद्विवाखिलमुच्छूनं वाप्यनुच्छूनमप्यसत् ॥ २०
 भाति केवलमेवेतं परमार्थघनं घनम् ।
 यन्न शून्यं न वाऽशून्यमत्यच्छं गगनादपि ॥ २१
 साकारमप्यनाकारमसदेवातिभास्वरम् ।
 अतिशुद्धैकस्मिन्मात्रस्फारं स्वप्नपुरं यथा ॥ २२
 निर्वाणमेवमिदमाततमित्थमन्त-
 भिद्योन्न आविलमनाविलरूपमेव ।
 नानेव न क्वचिदपि प्रसृतं न नाना
 शून्यत्वमम्बर इवाम्बुनिधौ द्रवत्वम् ॥ २३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० जगतः परमार्थमयत्ववर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः ५६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा व्योम्नि चिन्मये ।
 साधु संभवति स्वच्छं शून्यत्वं ख इवाखिले ॥ १
 यत्र चित्तत्र सर्गश्रीरव्योम्नि व्योम्नि वास्ति चित् ।
 चिन्मयत्वात्पदार्थानां सर्वेषां नास्त्यचित्कचित् ॥ २
 पदार्थजातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च ।
 चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः ॥ ३
 पाषाणाख्यानमत्रेदं शृणु राम रसायनम् ।
 पूर्वं मयैव यद्दृष्टं चित्रं प्रकृतमेव च ॥ ४

अहं विदितचेद्यत्वात्कदाचिःपूर्णमानसः ।
 त्यक्तुमिच्छुरिमं लोकव्यवहारं घनभ्रमम् ॥ ५
 ध्यानैकतानतामेत्य शनैर्विश्रान्तये चिरम् ।
 त्यक्ताजवं जघ्नीभाव एकान्तार्थी शमं ब्रजन् ॥ ६
 इदं चिन्तितवानस्मि कस्मिन्निदमरालये ।
 संस्थितो विविधाः पश्यन्भङ्गुरा जागतीर्गतीः ॥ ७
 विरसा खल्वियं लोकस्थितिरापातसुन्दरी ।
 न जातु सुखदा मन्ये कस्यचित्केनचित्कचित् ॥ ८

त्याह—मृतस्येति । यदि मृतस्यात्यन्तासत्त्वं तथापि ब्रह्मसुख-
 सत्ताया एव तत्तन्नाशोभयमत्तात्मनः परिशेषाभिद्रायां सुषुप्तौ
 निरतिशयानन्दत्वेन प्रसिद्धं सुखमेव प्राप्तं भूयश्च पुनर्मृतौ
 देहाद्यात्मना संसारो यद्युदेति तत्तस्य नवं संसाररूपमपि तदेव
 सुखं न हि सुखान्यसत्तास्तीति न क्वचिद्भयप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥
 ननु मृतस्य कुकर्मभ्यो नरकादिदुःखसंभावनाद्भयं किं न स्यादि-
 त्याशाङ्कामुत्याप्याह—कुकर्मभ्य इति । सा भीतिरिह जीवतः
 परत्र मृतस्य च समा नरकादेर्जीवनस्य च ब्रह्मसुखसत्तातिरिक्त-
 सत्ताभावाद्दुःखस्यापि सुखसत्तयैव स्थितेर्विशेषाभावादित्यर्थः
 ॥ १३ ॥ तयोर्मेरणजीवितयोर्वासने सौख्येण स्थितिरूपे सते
 सहजे स्वाभाविकब्रह्मसुखरूपे ॥ १४ ॥ तेन दृश्यबन्धस्य पृथ-
 कसत्तापगमेनासौ मुक्त उच्यते ॥ १५ ॥ एवं दृश्यस्यात्यन्ता-
 भावसंबित्त्या परसत्तया सर्गके सत्यसति वा सर्वदृश्यस्य वेदनम-
 पास्तसंवेद्यं निर्दिष्यमेवोदेतीति मुक्तत्वोपपत्तिरित्यर्थः ॥ १६ ॥
 चेत्याभावादेव तत्सापेक्षचित्तिक्रियारूपं न ॥ १७ ॥ अमीक्ष्यं
 कचतीति कचकचस्तद्भावः काचकच्यम् ॥ १८ ॥ १९ ॥
 प्रतिभासमात्रेणोच्छूनं वाप्यनुच्छूनमेवेत्यसत् ॥ २० ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ हे राम, चिद्योन्न आविलं जगद्रूपमित्थमुक्तीत्या

अनाविलं रूपमाततं निर्वाणमेव । अनेन क्वचिदपि न प्रसृतं
 न कितु सर्वत्र प्रसृतमेव । अम्बरे शून्यत्वमिव अम्बुधौ
 द्रवत्वमिव च इदं जगन्न नाना कितु तदेवेत्यर्थः ॥ २३ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 राधे जगतः परमार्थमयत्ववर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

चिदेव सर्वं सर्वत्र सर्वं चिदिति निश्चितेः ।

हृदीकाराय पाषाणाख्यायिकात्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

चिन्मये व्योम्नि ब्रह्माकाशे तत्सत्तया सर्वत्र सर्वदा साधु असं-
 कुचद्वृत्तितया संभवति तन्न सर्वं सर्वदा सर्वत्र स्वच्छमेव स्वमा-
 लिन्यलेशेनापि ब्रह्म न दूषयति । यथा खे शून्यत्वमखिले
 तस्मिन्नेत्यात्मना भासमानमपि न खं दूषयतीत्यच्छं तद्वदि-
 त्यर्थः ॥ १ ॥ उक्तार्थे उपपत्तिमाह—यत्रेति । अव्योम्नि
 पृथिव्यादी ॥ २ ॥ सर्वस्य चिन्मात्रता स्वप्ने प्रसिद्धति तद्दृष्टा-
 न्तेन जाग्रत्यपि तां साधयति—पदार्थजातमिति ॥ ३ ॥
 रसानां माधुर्यवैचित्र्याणां शृङ्गारादीनां चायनं स्थानं भ्रान्ति-
 रोगमेषजं च विविधकथोपजृम्भितत्वाच्चित्रं विस्तरेण वर्णयितुं
 प्रकृतं प्रस्तुतं च ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ अमरालये संस्थितोऽह-
 सिदं वक्ष्यमाणं चिन्तितवानस्मि ॥ ७ ॥ केनचिदप्युपायेन

उद्वेगं जनयत्यन्तस्तीव्रसंवेगखेदतः ।
 इमा दृश्यदृशो ब्रह्मरिष्टानिष्टरुलप्रदाः ॥ ९
 किमिदं दृश्यते किं वा प्रेक्षते कोऽहमेव वा ।
 सर्वे शान्तमजं व्योम चिन्मात्रात्मनि रिक्तकम् ॥ १०
 तस्मात्समस्तसिद्धेन्द्रदेवदैत्यादिदुर्गमम् ।
 सुप्रवेशमितो गत्वा संगोप्यात्मानमात्मना ॥ ११
 अदृश्यः सर्वभूतानां निर्बिकल्पसमाधिगः ।
 समे खण्डे पदे शान्ते भासे विगतवेदनम् ॥ १२
 तस्मात्को नु प्रदेशः स्यादत्यन्तं शून्यतां गतः ।
 यत्रैता नानुभूयन्ते पञ्च बाह्यार्थवेदनाः ॥ १३
 शब्दकाननवार्थवद्भूतौघामिसमाकुलाः ।
 क्षोभयन्त्यथ संक्षुब्धास्तस्मान्मे गिरयोऽरयः ॥ १४
 नामाविधा नगेन्द्राणामन्तरावलिता जनैः ।
 देशा विषमया एव निःशेषा विषयाहिभिः ॥ १५
 जनैर्जलचरैर्व्याप्ताः सागरा नीरकुक्षयः ।
 विविधारम्भसंक्षुब्धैर्नगराणीव नागरैः ॥ १६
 तटान्यग्रम्बुराशीनां लोकपालपुराणि च ।
 भूताकुलानि शृङ्गाणि पातालकुहराणि च ॥ १७
 गायन्त्यनिलमांकारैर्दृत्यन्ति लतिकाः करैः ।
 पुष्पैर्हसन्त्यगेन्द्राणां गुह्या गहनकोटराः ॥ १८
 मौनिमीनमुनिस्पर्शकम्पिनालचलाम्बुजाः ।
 सरस्यो विरसा एव धार्यावर्तविराविताः ॥ १९
 पवनस्पर्शसंक्षुब्धतृणपांसुपताकिनी ।
 रटत्यनिलमांकारैर्निर्झरोर्गोप्यसंयता ॥ २०
 तस्मादाकाशमाशून्यं कस्मिंश्चिद्द्रकोणके ।

प्रकारेण च । क्वचिद्देशे काले च ॥ ८ ॥ न सुखदेत्येतावदेव न
 किं नु दुरन्तदुःखदापीत्याह—उद्वेगमिति ॥ ९ ॥ अल्पं रिक्तं
 रिक्तकम्, विवर्त इत्यर्थः ॥ १० ॥ तस्माद्विक्षेपोद्वेगस्यावश्येय-
 त्वात्तद्दानयेत्यर्थः । आत्मानं स्वदेहमात्मना स्वेनैवाऽन्तर्धाना-
 पायैः संगोप्य गूहयित्वा संरक्ष्य च ॥ ११ ॥ विगतबाह्यार्थ-
 वेदनं यथा स्यात्तथा ॥ १२ ॥ १३ ॥ ननु गिरिषिखरप्रत्य-
 श्रोण्यादयः सागरकुक्षितटादयः पातालकुहरादयश्च बहव
 एकान्तदेशाः प्रसिद्धास्ते कुतो नाध्यास्यन्ते समाध्वर्थतत्राह—
 शब्देत्यादिना । विक्षेपहेतुश्चन्द्रप्रचुरः काननैर्वागिरिभिरन्दैर्मेघैः
 विह्वल्यग्रादिभूतौघैश्चाभितः समाकुला गिरयः स्वयं संक्षुब्धाः
 सन्तोऽन्यानपि क्षोभयन्ति तस्मात्ते मे अरय इव प्रतिकूला
 इत्यर्थः ॥ १४ ॥ अन्तरा द्रोणीप्रदेशाः किरातादिजनैर्वलिता
 वेष्टिताः विषयाहिभिर्दूषितत्वाद्विषमया एव ॥ १५ ॥ विवि-
 धारम्भसंक्षुब्धैरित्युभयान्वयि ॥ १६ ॥ अग्नीणां अम्बुराशीनां
 च तटानि शृङ्गाणि च ॥ १७ ॥ गिरिशुहास्ताहं सेव्यन्तां तत्राह—
 गायन्तीति । सिंहसर्पादिगर्भत्वाद्गहनकोटराः ॥ १८ ॥ सन्तु
 तर्हि महासरांसि दक्षिणपथे सरस्य इति प्रसिद्धाः स्वतीरे
 समाधिहेतवस्तत्राह—मौनीति । दर्पभयव्याकुलानां मीनानां

अत्र तिष्ठाम्यवष्टभ्य योगयुक्तिमनिन्दिताम् ॥ २१
 कस्मिंश्चिदेककोणेऽत्र कृत्वा कल्पनया कुटीम् ।
 वज्रोदरद्वंदं तस्यामन्तस्तिष्ठाम्यवासनम् ॥ २२
 इति संचिन्त्य यातोऽहमाकाशमसि निर्मलम् ।
 यावत्तदपि पश्यामि सकलं विततान्तरम् ॥ २३
 क्वचिद्भ्रमत्सिद्धगणं क्वचिद्भ्रज्जदम्बुदम् ।
 क्वचिद्विधाधराधारं यक्षोत्क्षिप्तक्षयं क्वचित् ॥ २४
 क्वचिद्भ्रमत्पुरवरं प्रारब्धसमरं क्वचित् ।
 क्वचिद्भ्रवज्जलधरं क्वचिदुहृत्तयोगिनि ॥ २५
 क्वचिद्दैत्यपुरोद्गीनसगन्धर्वपुरं क्वचित् ।
 क्वचिद्भ्रमद्गहणं तारकाकुलितं क्वचित् ॥ २६
 क्वचिन्खे खगसंपृष्टं क्वचित्कुद्भ्रमहानिलम् ।
 क्वचिदुत्पातवलितं क्वचिन्मण्डलमण्डितम् ॥ २७
 क्वचिदपूर्वभूतौघं नागरावलितं क्वचित् ।
 क्वचिदकंरथाक्रान्तं क्वचिदन्यरथोद्गुरम् ॥ २८
 क्वचिदादित्यदाहान्तं शशिशैत्यान्वितं क्वचित् ।
 क्वचिद्भ्रुजनासह्यं क्वचिदृष्यौष्ण्यदुर्गमम् ॥ २९
 क्वचिदुत्तालवेतालं गरुडोद्गमरं क्वचित् ।
 क्वचित्सप्रलयाम्भोदं क्वचित्सप्रलयानिलम् ॥ ३०
 ततो भूतगणांस्त्यक्त्वा दूरादूरतरं गतः ।
 प्राप्तवानहमेकान्तं शून्यमत्यन्तविस्तृतम् ॥ ३१
 अत्यन्तमन्दपवनं स्वप्नेऽप्यप्राप्यभूतकम् ।
 मङ्गलोत्पातरहितमगम्यं विद्धि संसृतेः ॥ ३२
 कल्पिताथ मया तत्र कुटी प्रकटकोटरा ।
 नीरन्ध्रकुड्यनिविडा पद्मकुड्यालसुन्दरी ॥ ३३

ज्ञानशीलानां मुनीनां च स्पर्शैः क्रीडाज्ञानायभिषातैः कम्पन-
 शीलनालैश्चलान्यम्बुजानि यासु तथाविधाः सरस्यो वार्थावर्त-
 विराविताः सत्यः समाधिभङ्गहेतुत्वान्मम विरसा एव, यतोऽहं
 तदा मौनाच्च तन्निवारणसमर्थः ॥ १९ ॥ अस्तु तर्हि
 निर्झरोवीं ते विधान्तिहेतुस्तत्राह—पवनैति । असंयता
 अनियता । अनिवारितविक्षेपेति यावत् ॥ २० ॥ परिशेषा-
 दाकाश एव सर्वविक्षेपहेतुवर्जनाच्छरणमित्याशयेनाह—
 तस्मादिति ॥ २१ ॥ वज्रोदरद्वंदमिति पूर्वोत्तरोक्तयक्रिया-
 विशेषणम् ॥ २२ ॥ विततान्तरं विक्षेपहेतुसहस्रव्याप्तगर्भम्
 ॥ २३ ॥ विक्षेपहेतुषाहुस्यमेव विशेषणैः सर्वतः प्रपञ्चयति—
 क्वचिदित्यादिना ॥ २४ ॥ उहृत्ता उम्मादरोद्गुह्या भोगिन्वो
 यत्र ॥ २५ ॥ आसनेर्दैत्यपुरेर्दुर्गीनानि सगन्धर्वाण्येव देव-
 पुराणि यत्र ॥ २६ ॥ मण्डलमैधादिचक्रवालेर्मण्डितम् ॥ २७ ॥
 अपूर्वाः अपूर्वदृष्टमित्राकारा भूतौघाः पिशाचसह्या यस्मिन् ।
 नागर्नगरसमूहैरावलितम् । अन्येषां चन्द्रादिग्रहाणां रथैरुद्ग-
 रम् ॥ २८ ॥ आदित्यसंनिधेर्दाहैरन्तो सृत्युः प्राणिनां यत्र ।
 क्षुब्धजनैर्भूतप्रेतादिभिरसह्यं बीभत्सम् ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥
 मङ्गलैः क्षुब्धविक्षेपातैरुद्भ्रमविक्षेप रहितम् ॥ ३२ ॥ कल्पिता

धुण्धुण्णाङ्गपूर्णेन्दुबिम्बोदरमनोहरा ।
 कङ्कारकुन्दमन्दारपुष्पश्रीकोशशोभिता ॥ ३४
 समस्तभूतागम्यत्वं तत्र संकल्प्य चेतसा ।
 अगम्ये सर्वभूतानामहमासं तदा ततः ॥ ३५
 बद्धपद्मासनः शान्तमनाः परममौनवान् ।
 संघत्सरशतान्तेन निर्णयोत्थानमात्मनः ॥ ३६
 निर्विकल्पसमाधिस्थो निद्रामुद्रामिवागतः ।
 समः सौम्यनमःस्वस्थः समुत्कीर्ण इवाम्बरात् ॥ ३७
 चिरं यदनुसंधत्ते चेतः पश्यति तत्क्षणात् ।
 क्षिरेण चाशापवनव्यक्तवद्विततं यदा ॥ ३८
 तदा वर्षशतैनात्र बोधबीजं वृताम्तरम् ।
 इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मी० दे० मो० निर्वाण० उ० पाषाणो० आकाशमन्दिरे वसिष्ठसमाधानवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

मासीम्ने हृदयक्षेत्रे कालमेकं विकासतः ॥ ३९
 संप्रबुद्धोऽभवन्मेऽथ जीवः संबुद्धवेदनः ।
 शिशिरक्षीणगात्रस्य मधाबिष रसत्सरोः ॥ ४०
 तच्छतं तत्र वर्षाणां निमेषमिव मे गतम् ।
 बह्व्योऽपि कालगतयो भवन्त्येकधियो मनाक् ॥ ४१
 विकासमागतो बाह्यं गतो बुद्धीन्द्रियक्रमः ।
 वासन्तः पुष्परूपेण मदस्येव रसो मम ॥ ४२
 मां प्राणपूरितमुपागतसंविदंश-
 मभ्यागतं त्वहमिति प्रसृतः पिशाचः ।
 इच्छाङ्गनाबिबलितोऽथ कुतोऽपि सद्यः
 प्रोज्ञामसन्नमनवायुरिवोप्रबुद्धम् ॥ ४३

सप्तपञ्चाशः सर्गः ५७

श्रीराम उवाच ।

त्वामप्युदितनिर्वाणमहंकारपिशाचकः ।
 बाधते किमिति ब्रूहि मुने संदेहशान्तये ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अहंभावं विना देहस्थितिस्तज्ज्ञानयोरिह ।
 आधेयस्य निराधारा न संख्येहोपपद्यते ॥ २
 अयं त्वत्र विशेषस्तं शृणु विश्रान्तचेतसः ।
 श्रुतेन येनाहंभावपिशाचः शान्तिमेति ते ॥ ३

अहंभावपिशाचोऽयमज्ञानशिशुनामुना ।
 अविद्यमान एवान्तः कल्पितस्तेन संस्थितः ॥ ४
 अज्ञानमपि नास्त्येव प्रेक्षितं यत्र लभ्यते ।
 विचारिणा दीपवता स्वरूपं तमसो यथा ॥ ५
 यथा यथा विलोक्यते तथा तथा विलीयते ।
 इहाहतापिशाचिका तथा विचारिता सती ॥ ६
 किल सत्यामविद्यायामहृतोवेति शाश्वती ।
 बुद्धिमोहात्मिका यक्षी निर्देहैव यथा निशि ॥ ७

सत्यसंकल्पेन निर्मिता ॥ ३३ ॥ धुणैः कीटभेदैः धुण्णं छिद्री
 कृतं पूर्णं दुबिम्बोदरमिव मनोहरेत्यभूतोपमा ॥ ३४ ॥ तत्र
 अहं चेतसा समस्तभूतागम्यत्वं संकल्प्य वक्ष्यमाणलक्षण-
 निर्विकल्पसमाधिस्थः आसमिति व्यवहितेनान्वयः ॥ ३५ ॥
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ पुनः शतवर्षोत्तरं समाधेर्व्युत्थाने निमित्तमाह—
 क्षिरमिति । ततश्चिरेण वर्षशतान्ते चित्तमाशावत्पवनवत्
 यदा बिनतं तदा बोधबीजं व्युत्थाननिमित्तं कर्म हृदयक्षेत्रे एकं
 कालं विकासतो वृत्तमान्तरं मध्यभागे यस्य तथाविधमासी-
 दिति परेणान्वयः । 'नासापवनव्यक्तवत्' इति पाठे प्राणाभि-
 व्यक्तवदित्यर्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ मधौ चैत्रमासे ॥ ४० ॥
 एकधिय एकाप्रचितस्य मनाक् अत्यल्पा भवन्ति ॥ ४१ ॥
 तदनन्तरं ते किमभूत्तत्राह—विकासमिति । वृक्षाणां मदस्य
 पद्मवादिपुच्छहेतोर्हर्षस्य निमित्तभूतोऽन्तर्गतो रसः पुष्परूपेणैव
 ॥ ४२ ॥ ततः किमासीत्तदाह—मामिति । अयं प्राणैः पञ्च-
 वृत्तिवायुभिर्निद्रैश्च पूरितं तद्गशादेव उपागत आविर्भूतो जीव-
 संविदंक्षो यस्य तथाविधं देहं सद्यः अभ्यागतं तु मामभिलक्ष्य
 इच्छाङ्गनाया अज्ञनया पिशाच्या विबलितः परिष्वक्तः अह-
 मिति प्रसिद्धोऽहंकारपिशाचः कुतोऽप्यतर्कितान्तरप्रदेशात्प्रसृतः
 प्राप्तः । यथा उग्रं क्षाल्मल्यादिदृक्षं प्रोज्ञामानां तरुणां सन्न-
 मनो वायुबण्डपवनः प्रसरति तद्वदित्यर्थः ॥ ४३ ॥

इति श्रीवासिष्ठमहाराामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उक्त-
 रार्थे वसिष्ठसमाधानवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

ज्ञानाहंकारयोरत्र विशेषप्रतिपत्तये ।

ज्ञानबाधितदृश्यस्य चिन्मात्रत्वं समर्थ्यते ॥ १ ॥

मामहमिति प्रसृतः पिशाच इत्युक्तया प्रोज्ञामसन्नमनवायु-
 रिति दृष्टान्तोक्तया च वसिष्ठस्याप्यहंकारपिशाचकृतबाधावग-
 माज्ज्ञानफलनित्यत्वं संभावयन्नामः पृच्छति—त्वामपीति ।
 उदितं निर्वाणं ज्ञानमूलं यस्य तथाविधं त्वामपि ॥ १ ॥ न
 प्रारब्धशेषभोगमात्रप्रयोजनदग्धपटप्रायदेहधारणनिमित्ताहंका-
 राभासप्रतीतिमात्रेणाज्ञवज्ज्ञानिनो बन्धप्रसक्तिरिति दर्शयि-
 तुमज्ञाहंकारात्तत्त्वज्ञाहंकारे निर्दोषताविशेषप्रदर्शनेनोत्तरमाह
 वसिष्ठः—अहंभावं विनेत्यादिना । देहस्थितिर्नोपपद्यते यस्मा-
 दाधेयस्य निराधारा संस्था नेति नमावृत्त्या व्याख्येयम् ॥ २ ॥
 ॥ ३ ॥ अज्ञानलक्षणेन शिशुना बालेन कल्पितः । तेनाज्ञान-
 वशेनैव संस्थितः ॥ ४ ॥ अस्वेवं किं नतस्तत्राह—अज्ञान-
 मपीति । ज्ञानेनाज्ञाने बाधिते तदधीनस्थितकोऽहंकारोऽपि
 बाधित एवेत्याशयः ॥ ५ ॥ तथा च विदुषामनुभवोत्कर्षकमेणा-
 ज्ञानक्षयोत्कर्षः प्रसिद्ध इत्याह—यथा यथेति ॥ ६ ॥ अत एव
 विद्याप्रागभावकालनियता अज्ञता प्रसिद्धेत्याह—किलेति ।

सति सर्गे त्वविद्यायाः संभवो नान्यतः कश्चित् ।
 सति द्वितीये शशिनि द्वितीयो विद्यते शशः ॥ ८
 सर्गस्त्वयमजातत्वाद्ब्रह्मातो न विद्यते ।
 न जातः कारणाभावात्पूर्वमेव खल्वक्षयत् ॥ ९
 परमाकाशकोशान्तरादिसर्गे निरामये ।
 पृथ्व्यादेरुपलम्भस्य भवेत्किमिव कारणम् ॥ १०
 मनःषष्ठेन्द्रियातीतं मनःषष्ठेन्द्रियात्मनः ।
 साकारस्य निराकारं कथं भवति कारणम् ॥ ११
 बीजात्कारणतः कार्यमङ्कुरः किल जायते ।
 न बीजमपि यत्रास्ति तत्र स्यादङ्कुरः कुतः ॥ १२
 कारणेन विना कार्यं न च नामोपपद्यते ।
 कदा क इव खे केन दृष्टो लब्धः स्फुटो हुमः ॥ १३
 संकल्पेनाम्बरे यद्बहुद्भयते विटपादिकम् ।
 स संकल्पस्तथाभूतो न तत्रास्ति पदार्थता ॥ १४
 एवं येयं चिदाकाशे सर्गादावनुभूयते ।
 शून्यरूप इवाकाशे सर्गस्थितिरनर्गला ॥ १५
 सम एव चिदाकाशः क्वत्त्यात्मनि तत्तथा ।
 स्वभाव एव सर्गाख्यध्विस्वाद्यैतन्न्यमीश्वरः ॥ १६
 स्वप्नसर्गोऽत्र दृष्टान्तः प्रत्यहं योऽनुभूयते ।
 स्वयं संवेदने स्वप्ने स्फुरत्यद्रिपुराकृतिः ॥ १७
 चित्स्वभावे यथा स्वप्ने आस्ते सर्ग इवेह यः ।
 असर्गे सर्गवद्भाति तथा पूर्वं महाम्बरे ॥ १८
 अवेद्यवेदनं शुद्धमेकं भास्वजमव्ययम् ।
 सर्गादौ यदनाद्यन्तं स्थितः सर्गः स एव नः ॥ १९
 नेह सर्गोऽस्ति नैवायं पृथ्व्यादिगणगोलकः ।

अज्ञाना कार्याविद्या वा ॥ ७ ॥ एवं कारणाविद्यापि कार्याविद्यो-
 दयकालमात्रव्यवहारत्वात्तदुपाधिकजीवचित्तेष्टत्वाच्च तदधीने-
 त्याह—सतीति । संभवः अनुभवाधीना सिद्धिः ॥ ८ ॥
 अस्तु तथा किं ततस्तत्राह—सर्गस्त्विति ॥ ९ ॥ कारणाभाव-
 मुपपादयति—परमाकाशेति ॥ १० ॥ मनःषष्ठेन्द्रियाप्राप्त-
 त्वात्तदामनो मनःषष्ठेन्द्रियसिद्धिं विना उल्लेखायोगादनुल्लिखि-
 तस्य कर्तुमशक्नोति भावः । एवं साकारस्य षटादेः साकारे-
 णैव कुलालमृत्पिण्डादिना करणमुचितं न निराकारेणेत्यर्थः
 ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ यदि नोत्पन्न एव सर्गस्तर्हि कस्तथा
 भासते तं सदृष्टान्तमाह—संकल्पेनेत्यादिना ॥ १४ ॥ सर्गा-
 दिकाले येयमनर्गला सर्गस्थितिरनुभूयते सापि आकाशे शून्य-
 रूपो वृक्षादिव बोध्या ॥ १५ ॥ तर्हि किं शून्यमेव सर्गात्मना
 प्रथते नेत्याह—सम इति । समः सर्गाकारवैषम्यरहित ईश्वर
 एव तथा प्रथत इत्यर्थः ॥ १६ ॥ अविकृतस्यैव विकारजगदा-
 त्मना स्फुरणे स्वप्ने स्वाप्ने दृष्टान्त इत्याह—स्वप्नेति ॥ १७ ॥
 ॥ १८ ॥ तथा च सर्गात्प्राग्वाहशमान्तत्वं तादृशमेव सर्ग-
 कालेऽपीत्याह—अवेद्यवेदनमिति ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥
 तथा च खच्छे आकाशे प्रतीतवर्णवैचित्र्यमिव ब्रह्मण्येव ब्रह्म-

सर्वे शान्तमनालम्बं ब्रह्मैव ब्रह्मणि स्थितम् ॥ २०
 सर्वशक्त्यात्म तद्ब्रह्म यथा क्वचित् यादृशम् ।
 रूपमत्यजदेवाच्छं तथा भवति तादृशम् ॥ २१
 यथा स्वप्नपुरं जप्तोच्चिन्मात्रप्रविजृम्भितम् ।
 तथैव सर्गः सर्गादौ शुद्धचिन्मात्रजृम्भितम् ॥ २२
 खच्छे चित्परमाकाशे चिदाकाशो य आस्थितः ।
 स्वभाव एव सर्गोऽसाविति तेनैव भावितः ॥ २३
 भाव्यभावकभावादिभूमीनां भावनं भृशम् ।
 सर्वं चित्रम एवाच्छमात्मनात्मनि संस्थितम् ॥ २४
 एवं स्थिते कुतः सर्गः कुतो विद्या क आज्ञता ।
 ब्रह्म शान्तं घनं सर्वं काहंकारादयः स्थिताः ॥ २५
 अहंभावस्य संशान्तिरेषाऽसौ कथिता तव ।
 अहंभावः परिज्ञातः पिशाच इव शाम्यति ॥ २६
 मया त्वेवमहंभावः परिज्ञातो यदाखिलः ।
 तदा मे विद्यमानोऽपि निष्कलः शरदभवत् ॥ २७
 चित्राग्निदाहो विज्ञातो यथा दाहेषु निष्कलः ।
 तथाहंभावसर्गादि ज्ञानं निष्कलनामियात् ॥ २८
 इति मेऽहंकृतेस्त्यागे रागे च समता यदा ।
 तदा व्योम इवाध्यामः सर्गं सर्गं च मे स्थितिः ॥ २९
 अहंभावस्य नैवाहं नाहंभावो ममेति च ।
 तेन विद्धि चिदाकाशमवेदमिति निर्घनम् ॥ ३०
 यथा मम तथाग्येषामपि बोधवतामिह ।
 अग्निवमिव चित्राग्नेर्नास्त्ययं बोधविभ्रमः ॥ ३१
 नाहमस्मि न चान्योऽस्ति सर्वं नास्तीति निश्चये ।
 प्रकृतव्यवहारस्त्वं शिलामौनमयो भव ॥ ३२

स्वामभूतेन वैचित्र्येण खेनैव स्वयं स्फुरतीति तत्स्वभाव एव
 सर्ग इति फलितमित्याह—खच्छे इति ॥ २३ ॥ ननु स्वभाव-
 पदे भाव इति भावघञन्तपदेन भवनमुच्यते, तच्च भावक-
 व्यापाररूपभावनाफलं भाव्यनिष्ठं, भावना च भवितुर्भवनानु-
 कूलो भावकव्यापारः करणादिकारकनिर्वर्त्य इति भाव्यभावका-
 दित्रिपुटीभूमीनामेकरसे कथं संभवस्तत्राह—भाव्येति । न
 कल्पितं नानारसत्वं वास्तवैकरस्यविरोधादिति भावः ॥ २४ ॥
 स्थिते निश्चयेन स्थिरीभूते ॥ २५ ॥ तथा चाज्ञाने बाहंभावो
 बाधते न तज्ज्ञानिति फलितमित्याह—अहंभाव इति । पिशाचो
 बालकल्पितपिशाच इव ॥ २६ ॥ एतेन त्वत्प्रभ्रः समाहित इति
 दर्शयति—मया त्विति ॥ २७ ॥ दाहः अध्यस्ता दहनक्रिया
 ॥ २८ ॥ समाधी त्यागे व्यवहारकाले रागे च अव्योमो
 मेघाडम्बरातपवाय्वादिना निरवकाशीकृतस्य स्थितिः समेति
 शेषः ॥ २९ ॥ संबन्धत्यागमात्रेणाप्यहंता न बाधते किं पुनर्बा-
 धितेत्याशयेनाह—अहंभावस्येति । नितरां घनं निर्घनम् ॥ ३० ॥
 अस्मिन्नर्थे सर्वविद्वदनुभवसंवाद इत्याह—यथेति । अयं अहं-
 भावादिः ॥ ३१ ॥ त्वमप्यहमिवाहन्तः सर्वभावेनाद्वितीयो भवे-
 त्याह—माहमिति । प्रकृतं व्यवहरतीति प्रकृतव्यवहारः ॥ ३२ ॥

आकाशकोशविशदाकृतिरेव तिष्ठ
निर्देशवच्चिरमपहुतसर्वभावः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० पा० विदितवेद्याहंकारविचारो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ५७

अद्यादितश्च किल चिन्मयमेव सर्वं
नो दृश्यमस्ति शिवमेवमशेषमित्थम् ॥ ३३

अष्टपञ्चाशः सर्गः ५८

भीराम उवाच ।

अहो नु विततोदारा विमला विपुलाचला ।
भवता भगवन्भूत्यै भूयो दृष्टिददाहता ॥ १
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सदित्येव स्थितं सत्यं समं समनुभूतितः ॥ २
अयमस्ति मम ब्रह्मन्संशयस्तं निवारय ।
किमिदं भगवन्नाम पाषाणाख्यानमुच्यते ॥ ३
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
सर्वत्र सर्वदा सर्वमस्तीति प्रतिपादने ।
पाषाणाख्यानदृष्टान्तो मयायं तव कथ्यते ॥ ४
नीरन्ध्रकघनाङ्गस्य पाषाणस्यापि कोटरे ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ५
भूताकाशे महत्यस्मिन्वशून्यत्वमनुज्झति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ६
अन्तर्गुल्माङ्कुरादीनां प्राणिवायव्युत्तेजसाम् ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ७

भीराम उवाच ।

कुड्यादौ सन्ति सर्गौघा इति चेत्कथ्यते मुने ।
तत्त्वे विमान्ति सर्गौघा इति किं न प्रदृश्यते ॥ ८
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
एतत्ते वर्णितं राम मुख्यमेव मयाखिलम् ।
योऽयमालक्ष्यते सर्गः स ख एव समास्थितम् ॥ ९
आदाबेव हि नोत्पन्नमद्यापि न च विद्यते ।
दृश्यं यच्चावभातीदं तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १०
नास्ति भूरणुमात्रापि सर्गैर्निर्विवरा न या ।
न च कचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव ते ॥ ११
न तेजसोऽणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च कचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १२
न घायोरणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च कचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १३
खं नाणुमात्रमप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरं न यत् ।
न च कचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १४

निर्देशो निरवकाशः शिलाघनस्तद्वत् । अद्य सर्गकाले । आदितः
सर्गप्राक्काले । सार्वविभक्तिकस्तसिः ॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विदितवेद्या-
हंकारविचारो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

सर्वत्र सर्वसर्गश्रीः सदैवास्ति न चेति च ।

दृष्टिभेदेन पाषाणाख्यायिकार्थोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

प्रासङ्गिके जीवन्मुक्ताहंकारस्याबाधकत्वे समर्थिते प्रकान्तस्य
सर्वत्र सर्वथा सर्वमित्याद्यर्थस्य पाषाणाख्यायिकया समर्थनं
यत्प्रतिज्ञातं तदेव प्रष्टुं भूमिकां रचयति—अहो इति ॥ १ ॥
सर्वं सर्वत्र सर्वथा सत् सर्वं सर्वत्र सर्वदा च सत् इति यत्प्र-
स्तुतं तदनुभूतितो विशृङ्खलमानं सममविषममेकरसमेव पर्यव-
स्यति । सर्वधर्मधर्मिणां देशतः कालतो वस्तुतश्च सर्वभावे
व्यावृत्तिव्यावर्तकताद्यसिद्धेरिति भावः ॥ २ ॥ तत्र प्रष्टव्यांशं
दर्शयति—अयमिति । इदं पाषाणाख्यानं किं केनांशेन साम्य-
मभिप्रेत्योच्यते । व्यावर्तकधर्मवतोरेव साधारणधर्मेण सादृश्य-
प्रसिद्धेरिति भावः ॥ ३ ॥ अयं वक्ष्यमाणप्रकारः ॥ ४ ॥ न पाषा-
णसाम्यं सर्वधर्मसंकरं वा वस्तुं पाषाणाख्यायिकारभ्यते किंतु
पाषाणोदराध्यासाधिष्ठाने ब्रह्मणि असंकीर्णतयैव सर्वजगद्ध्या-
ससंभवसंभावनायैत्याह—नीरन्ध्रेति । कोटरे आन्तरे चिदा-
काशे । कथया प्रस्तुताख्यायिकया । इति अयमर्थः प्रदर्श्यते
यो० वा० १५०

॥ ५ ॥ अथवा भावोदरचित्वात् शून्यात्मकाकाशरूपाभावा-
धिष्ठानचित्यसंकीर्णतया सर्वजगदारोपः संभवतीत्याशये-
नाह—भूताकाशेति ॥ ६ ॥ अयं न्यायः सर्वत्र योजनीय
इत्याशयेनाह—अन्तरिति ॥ ७ ॥ यदि कुड्यादिसर्वभावा-
भावानवच्छिन्नचित्वात् सर्वजगद्ध्यास आख्यायिकाभिप्रेतस्तर्हि
शुद्धे चिदाकाशे सर्वजगद्ध्यास इत्येव पक्षः कुतो न परिपृ-
ह्यते, येनाध्यस्तजगद्भावे शुद्धमेव परिशिष्येन इत्यपरमनुकूलं
स्यादिति रामः पृच्छति—कुड्यादाविति । तत् तर्हि । खे शुद्ध-
चिदाकाशे ॥ ८ ॥ सत्यमेष एव पक्षो मुख्यतया मे विवक्षितः ।
शुद्धचिदाकाशः सहसा न परिच्युतं शक्य इति तदुपायतया
उपहितचित्यपि प्रत्येकं सर्वजगद्ध्यासो दर्शित इत्याशयेनोत्तर-
माह—एतदिति । संविदाकाशात्मकमेव ॥ ९ ॥ एवं दृश्यमा-
त्रस्यैव ब्रह्ममात्रत्वे अनुत्पत्तिरेव फलितेत्याह—आदाबेवेति ।
परमार्थदृष्टेरित्यर्थः ॥ १० ॥ आरोपदृष्टौ तु प्रतिभूतपरमाणु
सर्वमारोप्य द्रष्टुं शक्यम्, अपवाददृष्टौ तु तद्वैपरीत्यमित्याशये-
नाह—नास्तीत्यादिना । निर्विवरा गाढभरिता या न तादृशी
अणुमात्रापि भूर्नास्ति । सर्वापि सर्गभरितैवेत्यर्थः । एवमत्रेऽपि
योज्यम् ॥ ११ ॥ तत् तेजः ॥ १२ ॥ तत् सः ॥ १३ ॥
भूतानां प्रक्रमे अपां त्यागायोगाद्भूतेजसोरन्तरालेन चापामणु-

१ विद्यन्ते सर्गा ब्रह्म इति पाठः.

न सा महाभूततास्ति सर्गैर्निर्विचरा न वा ।
 न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १५
 दैतानां नाणुरप्यस्ति स सर्गैर्यो न निर्वचनः ।
 न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १६
 ब्रह्मणो नाणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विचरो न चः ।
 न च क्वचन सर्गान्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १७
 सर्गेषु नाणुरप्यस्ति न ब्रह्मात्मैव यः सदा ।
 ब्रह्मसर्गास्तथेत्येष वाचि भेदो न वस्तुनि ॥ १८
 सर्गा एव परंब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गता ।
 मनागप्यस्ति न द्वैतमत्राद्यकौण्ठ्ययोरिव ॥ १९

इमे सर्गा इदं ब्रह्म तेऽत्यन्तमकच्यदृष्टवः ।
 विदार्यदारुणकवङ्गान्प्रवर्षपरिवर्जिताः ॥ २०
 द्वैतमैक्यं च यत्रास्ति न मन्मगपि तत्र ते ।
 सर्गब्रह्मादिशब्दार्थाः कथं कस्येव भान्तु के ॥ २१
 ज्ञान्तमेकमनाद्यन्तमिदमच्छमनामयम् ।
 व्यवहारवतोऽप्यङ्ग ब्रह्मस्य मौनं शिलाघनम् ॥ २२
 निर्वाणमेवमखिलं नभ एव दृश्यं
 त्वं चाहमद्रिनिचयाश्च सुरासुराश्च ।
 तादृज्जगत्समबलोकथ यादृगङ्ग
 स्वप्नेऽथ जन्तुमनसि व्यवहारजालम् ॥ २३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे बाल्मी० दे० भोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषाण० सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादनं नामाष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः ५९

श्रीराम उवाच ।
 अनन्तरं नभःकोशकुटीकोटरतो मुने ।
 तव ध्यानात्प्रबुद्धस्य वृत्तं वर्षशतेन किम् ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 ततो ध्यानात्प्रबुद्धोऽहं श्रुतवांस्तत्र निःस्वनम् ।
 मृदु व्यक्तवदं दृश्यं न च वाक्यजुगो यतः ॥ २
 स्त्रीस्वभावादिव मृदु मधुरं वा निनादि वा ।

रप्यस्तीत्यादिश्लोकोऽप्युक्तः ॥ १४ ॥ महाभूतेति पद्यानां
 समुदितरूपव्यपदेशः ॥ १५ ॥ १६ ॥ ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य सूक्ष्म-
 भूतेकथेः ॥ १७ ॥ सर्गेषु तत्कृतेषु भुवनभूतप्रामेषु । तथा सति
 चत्कृतं तदाह—ब्रह्मेति ॥ १८ ॥ अभ्यर्कभोर्ये औष्ण्ये
 तयोस्त्वि ॥ १९ ॥ सर्जनात्सर्गो बृहणाद्ब्रह्मेति सृजिवृहिक्रिययोः
 परस्परं भेदाभावादाधाराधेयभावस्य दुर्बलत्वाच्च न क्रियापि
 स्वरूपस्यतिरिच्यत इति सर्गब्रह्मादिशब्दाः प्रवृत्तिनिमित्तधर्म-
 रूपस्वरूपपरिवर्जिताः सन्तः कुठारादिना विदार्ये काण्डे ये दारुणो
 रक्तः प्रसिद्धास्तद्वदर्थपरिवर्जिताः सन्तो लक्षणया अत्यन्त-
 मकच्ये दृष्टिः प्रतीतिर्येभ्यस्तथाविधा भान्तीत्यर्थः । अथवा
 शीर्षत इति दारु तदेव विदार्यमिति पञ्चायप्रायौ यां रवौ शब्दौ
 लक्ष्मिभार्यपरिवर्जिता भान्तीत्यर्थः ॥ २० ॥ भास्तु परमाथे
 तेषामर्थभेदस्तत्र द्वैतैक्ययोरभावात् । व्यवहारे तु ब्रह्मैकं सर्गा
 नानेक्यभेदसत्त्वाद्भिन्नार्थाः किं न स्युस्तत्राह—द्वैतमिति ।
 यत्र व्यवहारे द्वैतमैक्यं चास्ति, तत्रापि सर्गब्रह्मादिशब्दार्था
 मन्तपि न भान्ति । ते हि द्वैतात्मकस्य द्रष्टृर्भायुरद्वैतात्मकस्य
 वा । आद्येऽज्ञस्य तस्य कथं भान्तु, द्वितीये कस्येव भान्तु, के
 किंस्वभावा भान्तु, न ह्यद्वैते भान्नाद्वास्यैकलक्षण्यं सुषुचमिति
 भावः । अथवा अत्यन्तावाच्यदृष्टितामेव प्रकटयति—द्वैतमिति ।
 यत्र वस्तुनि द्वैतमैक्यं च मनागपि नास्ति तत्रेत्यन्वयः ॥ २१ ॥
 अत एव तत्त्वविदो व्यवहारकालेऽपि तत्त्वैवास्ते इत्यह—
 शान्तमिति ॥ २२ ॥ वर्णितं पाषाणारुण्यायिकातापर्यसुपसं-

खल्पाङ्गत्वादिनिर्हादि मया तद्वाक्यमूहितम् ॥ ३
 इन्दिन्दिरुताकारं तन्मीरणितरञ्जनम् ।
 न रोदनं च पठनं विसकोशसमस्वनम् ॥ ४
 तदाकर्ण्याशु तत्रेदमहं चिन्तितवानथ ।
 शाब्दिकास्वीक्षणात्पश्यन्दिशो दश सविस्मयः ॥ ५
 व्योम्नोऽयं सिद्धसंचारमार्गशून्यान्यमन्तरम् ।
 भागो योजनलक्षाणि समतिक्रम्य संस्थितः ॥ ६

हरति—निर्वाणमिति । हे अङ्ग राम, त्वं जगत्तदवस्तमबलो-
 क्य । अथ जागरानन्तरं जन्तुमनसि स्वप्ने दृष्टं यादृगव्यवहार-
 जालमीषत्स्मर्यमाणमप्यात्ममात्रशेषमित्यर्थः ॥ २३ ॥ इति श्रीका-
 सिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्गब्रह्म-
 त्वप्रतिपादनं नामाष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

समाधिरमे सूक्ष्मध्वनिश्रवणमीर्यते ।

तन्मूलान्धेषणध्वानेऽमन्तकोटिजगरप्रभा ॥ १ ॥

एवं सर्गद्वयेन प्रासङ्गिके प्रश्रविसये उपवर्णिते पुनराख्या-
 यिकाशेषं श्रोतुकामो रामः पृच्छति—अनन्तरमिति । वर्ष-
 शतेन ध्यानात्प्रबुद्धस्य तव प्राग्कर्षितेच्छाङ्गनासहिताहङ्कारस्य-
 शाचप्रसरानन्तरं किं वृत्तमिति प्रश्नः ॥ १ ॥ निःस्वनं शब्दम् ।
 मृदुव्यक्तानि नातिस्पष्टान्यक्षराणि पदानि च यत्र । तत् कुतः ।
 यतोऽयं निःस्वनो वक्तव्यानुमः । पदार्थप्रतिपादनसमर्थं वाक्य-
 यंबोधनसमर्थं च न ॥ २ ॥ स्त्रीकण्ठप्रभवप्रयुक्तस्वभावविशेष-
 दिव मृदु मधुरं निनादि अनुरणनशीलं च । स्वल्पज्जत्वा-
 दतारत्वादिनिर्हादि । अदृश्वमिति वाक्त् ॥ ३ ॥ इन्दिन्दिरु-
 त्रभरस्तदीयं इतं ध्वनिस्तदाकारम् । तन्मी वीणा तद्रमितस्व
 रञ्जनं रक्तिप्रदम् । न बालरोदनप्रावं नापि प्रौढपठनप्रायम् ।
 विसकोशे प्रसिद्धभ्रमरस्वनसमस्वनम् ॥ ४ ॥ शाब्दिकस्य
 शब्दकर्तुरन्वीक्षणादन्वेषणाद्दश दिशः पश्यन् । 'शब्द-
 दुर्दुरं करोति' इति ठक् ॥ ५ ॥ कुतः सविस्मयः किं वा
 चिन्तितवानसि इत्याह—व्योम्नो इत्यस्मिन् । चिन्तितवानपि

तदिहेष्टमिच्छन्त्या स्यात्कुतः शब्दस्य संभवः ।
 शाब्दिकं च च पश्यामि कञ्चेति विलोकयन् ॥ ७ ॥
 अनन्तमिदमाशुभं सुरो मे विर्मलं ममः ।
 इह भूतं प्रयत्नेन प्रेक्षयामां न दृश्यते ॥ ८ ॥
 यदेति चिन्तयित्वाहं भूयोभूयो विलोकयन् ।
 शब्देश्वरं न पश्यामि तदा चिन्तितवानिदम् ॥ ९ ॥
 आकाश एव भूत्वाहमाकाशेनैकतां गतः ।
 आकाशगुणशब्दाकारोऽप्याकाशकोशके ॥ १० ॥
 देहाकारमिह स्यात्प्रधानेनेह यथास्थितम् ।
 चिदाकारपुन्योऽज्ञा याम्यैक्यं चारिचाम्बुजा ॥ ११ ॥
 चिन्तयित्वाहं स्वकं देहं पश्यामि स्थितः ।
 आसं समाधिमाधातुं पुनरामीलितेक्षणः ॥ १२ ॥
 त्यक्त्वा ब्रह्मसंस्पर्शान्द्रियानन्तरानपि ।
 चित्ताकाशोऽहमभवं संवित्पुण्ड्रमयात्मकः ॥ १३ ॥
 क्रमात्तदपि संत्यज्य बुद्धितत्त्वपदं गतः ।
 संपन्नोऽहं चिदाकाशे जगज्जालैकदर्पणः ॥ १४ ॥
 ततस्तेन स्वभावेन भूतव्योमैकतामहम् ।
 संप्रयातोऽम्बुनैवाम्बु सौरभं सौरभेण वा ॥ १५ ॥
 संपन्नोऽथ महाकाशं व्याप्यानन्तोऽथ सर्वगः ।
 अनाकारोऽप्यनाधारः सर्वार्थाधारतां गतः ॥ १६ ॥
 अहं त्रैलोक्यवृन्दानि संसारानां शतानि च ।

तत्र ब्रह्मण्डलक्षणि पञ्चाम्यववित्तम्यवि ॥ १७ ॥
 परस्परमदृष्टानि मिथः खान्धमलानि च ।
 नानाचारविचाराणि शून्यान्येव परस्परम् ॥ १८ ॥
 स्वप्नरूपणि सुप्तानां तुल्यकालं नृत्तमिथः ।
 महारम्भानुमृष्टानि शून्यानि च परस्परम् ॥ १९ ॥
 जायमानानि मयन्ति वर्धमानानि भूरिशः ।
 धर्तमानान्यतीतानि भविष्यन्ति च सर्वज्ञः ॥ २० ॥
 अनेकचित्रजालानि महाभिस्तीनि खानि च ।
 मनसेवोप्रराज्यानि कृतानि विविधैर्जनेः ॥ २१ ॥
 निरावरणरूपाणि तथैकावरणानि च ।
 पञ्चावरणयुक्तानि षडेकावरणानि च ॥ २२ ॥
 दशावरणचित्राणि षोडशावरणानि च ।
 चतुर्विंशत्यावृत्तीनि षट्त्रिंशत्स्वावृत्तानि च ॥ २३ ॥
 शून्यानि भूतपूर्णानि पञ्चभूतमयान्यपि ।
 एकपृथ्व्यादिभूतानि चतुःपृथ्व्यादिकानि च ॥ २४ ॥
 त्रिःपृथ्व्यादीनि चान्यानि द्विःपृथ्व्यादीन्यथापि च ।
 तथा सप्तमहाभूतान्येकजातिमयानि च ॥ २५ ॥
 त्वादशानुभवाभोगविरुद्धास्तिदशानि तु ।
 तथा नित्यान्धकाराणि सूर्यादिरहितानि च ॥ २६ ॥
 तथा मीलितसर्गाणि एकनाथावृत्तानि च ।
 विलक्षणप्रजेशांशविचित्राचारवन्ति च ॥ २७ ॥

संचारयोग्यैर्मार्गैः शून्यानि आनि योजनलक्षणाणि तानि ब्रह्म-
 तिक्रम्यानन्तरं तदूर्ध्वमयं व्योमो भागः संस्थित इत्यन्वयः ॥ ६ ॥
 तत्तादृशे इह एकान्तस्थाने ईदृग्विधस्य स्त्रीवाक्यसदृशस्य ।
 शाब्दिकं शब्दकर्तारम् ॥ ७ ॥ भूतं प्राणिमात्रम् । प्रयत्नेनापि
 प्रेक्षयमाणमन्विष्यमाणम् ॥ ८ ॥ शब्देश्वरं शब्दोच्चारणसमर्थं नदा
 न पश्यामि तदा । इदं प्रेक्षयमाणम् ॥ ९ ॥ अहं प्रथममुपाधि-
 त्यागेन चिदाकाश एव भूत्वा तदध्यस्ताव्याकृताकाशेनैकतां गतः
 संस्तकार्यभूताकाशगुणं शब्दं तदर्थंश्च तस्मिन्नाकाशकोशके
 विद्यमानमन्दासात्कारोऽस्ति । अनुमविध्यामीति शब्दः ॥ १० ॥
 तदेव सोपयमाह—देहाकारमिह स्यादिति । न्योत्रा अव्याकृ-
 ताकाशेन । चार्जलविन्दुरम्बुना जलसामान्येनेव ॥ ११ ॥
 ॥ १२ ॥ ऐन्द्रियानिन्द्रियसंस्पर्शान्द्रियेन
 त्यक्त्वा । आन्तरानन्तःकरणचतुष्टयविषयान् मन्तव्यादीनपि
 मननादिनिरोधेन त्यक्त्वा ॥ १३ ॥ बुद्धितत्त्वपदं गतः संज्ञापि
 संज्ञा च चिदाकाशे वास्तवत्वे स्थितः सन् स्वाध्यस्तजगज्जाल-
 प्रतिमिच्छानामेकदर्पणः सर्वज्ञः ॥ १४ ॥ अम्बुना जलसामा-
 न्येन अम्बु समुद्रादिजलमिव ॥ १५ ॥ तस्मिन्भूताकाशे तत्कार्य-
 सर्वजगद्बलोकनाय चिदाकाशामेकदर्पणमाह—संपन्न इति ।
 तथा चासद्भादयत्वाद्नाधारोऽप्यहं सर्वाधारतायोग्यभूताकाशा-
 मेदात्सर्वाधारां गतः ॥ १६ ॥ तत्र तदवस्थापथे चिदा-
 काशे ॥ १७ ॥ मिथः अन्योन्यदृष्ट्या खानि अव्याकृताकाश-
 मात्ररूपाणि । अत एव परस्परमदृष्टानि ॥ १८ ॥ ब्रह्म इत्यान्त-

माह—स्वप्नेति । तुल्यकालं सुप्तानां जनानां स्वप्नरूपाणीव ।
 एकदशा महारम्भाण्यपरदशा अनुमृष्टानि । अत एव शून्यान्य-
 शून्यानि च ॥ १९ ॥ २० ॥ महाभिस्तीन्येकचित्रजालानि खानि
 निर्भिस्तीनि च ॥ २१ ॥ तत्र स्वप्नवृष्टदृष्टिषु ब्रह्माण्डावरणत-
 त्संख्यादिनियमोऽपि नास्ति । यस्य यावद्विषये वासनाविभूता तं
 प्रति तावत्सर्गस्यैव कल्पनादित्याशयेनाह—निरावरणेत्यादिना ।
 पञ्चीकृतानां पञ्च अपञ्चीकृतानां पञ्चेति दशावरणचित्राणि ।
 तैः सह तन्मात्राण्यहंकारो महत्तत्त्वं प्रकृतिश्चेति सांख्यकल्प-
 नया षोडशावरणानि । तेषामेव तत्त्वगणनया चतुर्विंशत्स्वा-
 वृत्तीनि । शैवकल्पनया षट्त्रिंशत्स्वलक्षणैः सैराकाशकल्पैरा-
 वरणैरावृत्तानि च ॥ २२ ॥ २३ ॥ एकैकानि पृथ्व्यादीन्येव भूतानि
 येषु ॥ २४ ॥ एवं पृथिव्यादिद्वित्रिचतुर्भूतयुक्तानि च । काल-
 दिशोः सावयवत्वेन भूतत्वकल्पने सप्त महाभूतानि ॥ २५ ॥
 सिद्धविद्याधरगन्धर्वयक्षराक्षसादिकल्पनावैचित्र्याणि मनुष्यबुद्ध्या
 संभावयितुमप्यशक्यानीत्याशयेनाह—त्वादशेति । त्वादशा-
 नामनुभवाभोगे विरुद्धा अत्यन्तमसंभाव्याः अतिशयितदशा
 अतिदशा भूतानां सौक्ष्म्यवैचित्र्यपरिणतिमेदा यासु तानि
 ॥ २६ ॥ मीलितसर्गाणि प्रलयसुषुप्तिप्रायाणि । सर्गादौ एके-
 नैव नाथेन हिरण्यगर्भादिना आवृत्तान्यधिष्ठितानि । प्रजेशाः
 प्रजापतयस्वदंशा देवादिगणास्तेषां विचित्राचारैस्तद्वन्ति ॥ २७ ॥

१ तैः सहेत्याहो निष्कारणैः.

तथा निर्वेदशास्त्राणि निःशास्त्राणि तथैव च ।
 कृमिक्रमसमारम्भदेवादिप्राणिमन्त्रि च ॥ २८
 जात्या तु पारम्पर्येण संकेताचारवन्ति च ।
 तथा नित्यप्रकाशानि ज्वलितान्निमयानि च ॥ २९
 तथा जलैकपूर्णानि पवनैकमयानि च ।
 स्तब्धानि परमाकाशे वहन्ति च तथानिशम् ॥ ३०
 जायमानानि पुष्यन्ति परिपुष्टानि चाभितः ।
 तिर्यग्गच्छन्ति चान्यानि पूर्णसर्वमयान्यपि ॥ ३१
 देवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च ।
 दैत्यवृन्दमयान्येव कृमिनिर्विवराणि च ॥ ३२
 अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
 जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥ ३३
 परस्परमदृष्टानि नानुभूतानि वै मिथः ।
 सैनिकस्वप्नजालानि जातानीव महान्यपि ॥ ३४
 विविधान्यप्यनन्तानि स्वच्छाकाशात्मकान्यलम् ।
 अन्योन्यमन्यवृत्तीनि न मिथोऽन्यस्थितीनि च ॥ ३५
 मिथश्चान्यान्यशास्त्राणि मिथोऽनन्तानि यानि च ।
 अन्योन्यसन्निवेशानि मिथोऽन्योन्यानि यानि च ३६
 अन्योन्यं परलोकानि मिथः सिद्धपुराणि च ।
 अन्यादृशमहाभूतान्यन्यादृग्दिग्गिरीणि च ॥ ३७
 त्वादृशानुभवेहानामगम्याभ्यागतानि च ।
 असमञ्जरूपाणि कथ्यमानानि मादृशैः ॥ ३८

तदेव प्रपञ्चयति—तथेत्यादिना । उदुम्बरकृमिसदृशसमारम्भै-
 देवादिभिः प्राणिमन्त्रि ॥ २८ ॥ क्वचित्कलियुगारम्भाद्वेदशास्त्रो-
 च्छेदे ब्राह्मणादिजात्या पारम्पर्यमात्रेण संकेतितब्राह्मणाद्याचा-
 रवन्ति ॥ २९ ॥ कानिचित्परमाकाशे स्तब्धानि निश्चलानि
 कानिचिद्बहन्ति चलन्ति च ॥ ३० ॥ पुष्यन्ति वर्धमानानि ।
 पूर्णसर्वभोग्यमयानि ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ अणुकं परमाणुमपि प्रति
 अन्तरन्तस्तदन्तश्च कल्पिते स्वकोशेऽपि जातानीत्याद्यन्वयः
 ॥ ३३ ॥ सैनिकानां स्वप्नजालानीव परस्परमदृष्टानि ॥ ३४ ॥
 तथा विविधानीत्यादि योज्यम् । अन्यवृत्तीनि मिथार्थक्रियाणि ।
 मिथोऽन्यस्थितीनि न समस्थितिकानि चेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ यानि
 मिथः अनन्तानि अपरिच्छेद्यब्रह्मस्वभावानि । धर्मानन्त्याद्वा
 अनन्तानि । भेदेऽप्यन्योन्यस्येव संनिवेशो येषां तानि ।
 प्रत्यभिज्ञायामन्योन्यात्मकानि च ॥ ३६ ॥ एकत्र मृतैरपरत्र
 गमनादन्योन्यपरलोकानि परस्परं प्रत्यन्तर्धानशक्तियोगान्मिथः
 सिद्धनगरप्रायाणि च ॥ ३७ ॥ अत एवान्यस्यान्यत्र वर्णने
 अपरिनिष्ठितमतीनामगम्यत्वादसमञ्जरूपाणि भान्तीत्याह—
 त्वादृशेति । अनुभवानामीहानां प्रयत्नानां चागम्यान्यविषय-
 भूतान्यभ्यागतान्यभिमुखमागतानि । संनिहितान्यपीति यावत् ।
 तर्हि तानि त्वादृशां कथनैर्ज्ञास्यन्ते तत्राह—असमञ्ज-
 सेति ॥ ३८ ॥ चिदादित्यास्य अंशुमण्डलप्राये सर्वतः प्रसृते

अणुवत्सेष्यमाणानि चिदादित्यांशुमण्डले ।
 परमार्थश्रियो व्योम्नि रश्मिजालानि कुण्डले ॥ ३९
 कानिचित्तानि तान्येव भूत्वा भूत्वा भवत्यलम् ।
 कानिचित्तादृशान्येव जातानि घनपर्णवत् ॥ ४०
 अन्योन्यत्वाच्च सदृशान्यन्यानि सदृशान्यपि ।
 कंचित्कालं सुसदृशान्यन्यान्येव च कानिचित् ॥ ४१
 फलानि तान्यनन्तानि परमार्थमहातरोः ।
 अन्यान्येव चान्यानि तन्मयान्येव वै ततः ॥ ४२
 कानिचित्स्वल्पकल्पानि दीर्घकल्पानि कानिचित् ।
 अन्यान्यनियतं भूरि नियतं भूरि कानिचित् ॥ ४३
 अन्यान्यज्ञातकालानि यदृच्छावशतः स्वयम् ।
 जायमानानि पुष्टानि सुस्थिराणि स्थितानि च ॥ ४४
 तानि शून्यत्वजालानि परमाकाशकोशके ।
 अपरिज्ञातकालानि रुढान्यज्ञातदोषके ॥ ४५
 अभ्यर्काकाशमेवादि शतैरावलितान्यलम् ।
 चिच्चमत्कारखे स्वप्नजालान्याभान्ति चाविलम् ॥ ४६
 अनुभूतेर्भ्रमात्मत्वात्कारणानामभावतः ।
 पृथ्व्यादीनामहेतूनामत्यन्तं सन्त्यसन्ति च ॥ ४७
 सृगतृष्णाम्बुभरवद्विचन्द्रव्योमवर्णवत् ।
 संपन्नानि न सत्यानि सत्यान्यप्यनुभूतितः ॥ ४८
 चित्संकल्पनभस्येव भासमानानि भूरिशः ।
 वासनावातनुन्नानि विलुठन्त्यात्मचेष्टितैः ॥ ४९

चैतन्ये ये अणवो जालसूर्यमरीचिषु प्रसिद्धास्तद्वत्सेष्यमाणानि
 प्रसिद्धिभाञ्जि । 'शेष्यमाणानि' इति पाठे परिशेषभाञ्जि । तथा
 परमार्थश्रियो मोक्षसाम्राज्यलक्ष्म्याः कुण्डले तादृक्प्राये व्योम्नि
 अव्याकृताकाशे भूताकाशे च विचित्ररत्नरश्मिजालप्रायाणि
 ॥ ३९ ॥ ४० ॥ तेषु कानिचिदेकत्रैव चिति सर्वेषामध्यासाद-
 पृथक्सत्त्वेनान्योन्यात्मकत्वात्सदृशान्यन्यादृशान्यपि । एवं सदृ-
 शान्यपि कंचित्कालं सुसदृशानि । कानिचिदन्यान्यत्यन्तविसदृ-
 शान्येव । मायाया अघटितघटनापटीयस्त्वादिति भावः ॥ ४१ ॥
 वृक्षफलवद्वा तत्र भेदाभेदकल्पनेत्याह—फलानीति ॥ ४२ ॥
 अनियतं देशकालब्रह्मस्वभावनियमरहितमेव भूरि बहूनि ।
 कानिचिन्नियतं तद्विपरीतमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ सूर्याद्यभावादज्ञातका-
 लानि ॥ ४४ ॥ तानि किं सत्यानि नेत्याह—तानीति । कदाप्र-
 सृति तर्हि रुढानि तत्राह—अपरिज्ञातेति । अनादीनीत्यर्थः ।
 अज्ञातमज्ञानं तदेव दोषो यस्मिंस्तथाविधे प्रतीचि रुढानि ॥ ४५ ॥
 चिच्चमत्काररूपे खे चिदाकाशे । आविलं रजस्तमःकलुषितं
 यथा स्यात्तथा ॥ ४६ ॥ अहेतूनां पृथ्व्यादीनामनुभूतेर्भ्रमात्म-
 त्वात्तानि जगन्त्यत्यन्तमधिष्ठानात्मना सन्ति स्वरूपेण त्वसन्ति
 च ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अतश्च तथेत्याह—चित्संकल्पेति ॥ ४९ ॥

सुरासुरादिमशका बहुशोदुम्बरद्रुमे ।
 फलानि रसपूर्णानि घूर्णमानानि मारुतैः ॥ ५०
 अभिजातस्वभावस्य सर्गारम्भकरस्य च ।
 शुद्धचित्तत्वबालस्य संकल्पनगराणि खे ॥ ५१
 त्वमहं स इदं चेति धिया बलदृढान्यलम् ।
 संपन्नान्यर्कदीप्तयेव पङ्कक्रीडनकानि च ॥ ५२
 वृत्तानि रसशालिन्या नियत्या नित्यतृप्तया ।
 वनान्युग्रफलानीव वसन्तरसलेखया ॥ ५३
 महाकर्तृण्यकर्तृणि न कृतान्येव खानि वा ।
 स्ययं संपन्नरूपाणि चिद्योरुयेव कृतानि वा ॥ ५४
 परमार्थमयान्येव तदन्यद्बोदितान्यपि ।
 अलब्धान्येव लब्धानि सदाऽसन्त्येव सन्ति च ॥ ५५
 चतुर्दशदशैकादिविधभूतगणानि च ।
 पुनस्तान्येव तान्यन्तरन्यान्यन्यान्यथो बहिः ॥ ५६
 नरकस्वर्गपातालबन्धुमित्रमयान्यपि ।

महारम्भमयान्येव शून्यानि परमार्थतः ॥ ५७
 क्षीराम्बुधेर्जलानीव जेहसाराणि सर्वतः ।
 तरङ्गमङ्कुराण्यन्तर्बहिश्चावृत्तिमन्ति च ॥ ५८
 आभासमात्ररूपाणि तेजस्यात्मविष्वतः ।
 जातानीव स्वतस्तानि स्पन्दनानि नभस्वतः ॥ ५९
 वृक्षरूपाणि पत्राणां बुद्ध्यहंकारचेतसाम् ।
 असतामप्यसन्त्येव स्वप्ने न्यस्तनृणामिव ॥ ६०
 पुराणवेदसिद्धान्तकल्पनातल्पपालिषु ।
 घननिद्राणि सुप्तानि बिभ्रन्ति शवतामिव ॥ ६१
 परमार्थमहारण्ये चिद्रन्धर्वकृतानि वै ।
 सूर्यदीपकदीप्तानि गृहाणि गहनान्मनि ॥ ६२
 प्रजायमानानि नभस्यनन्ते
 विशीर्यमाणानि च निर्निमित्तम् ।
 तदा त्वहं वै तिमिराक्षदृष्ट-
 केशोण्ड्रकानीव जगन्त्यपश्यम् ॥ ६३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पा० जगज्जालवर्णनं नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः ६०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ततोऽहमभितो भ्रान्तस्तादृशं प्रविचारयन् ।
 बहुकालमसंरुद्धसंविदाकाशतां गतः ॥ १
 शब्दं पश्चात्तमश्रौपमहं वीणास्वनोपमम् ।

ब्रह्मोदुम्बरद्रुमे सुरासुरोरगनरादयो मशकाः । ब्रह्माण्डानि तु भोगवैचित्र्यरसपूर्णानि फलानि ॥ ५० ॥ अथवा जगन्ति शुद्धस्य केवलस्य चित्तत्वलक्षणबालस्य संकल्पनगराणि ॥ ५१ ॥ संकल्पनगरत्वे दाढ्ये को हेतुस्तमाह—त्वमिति । अहंताद्यभिमानधिया बलेन अलमत्यन्तं दृढानि संपन्नानि । पङ्कमयानि क्रीडनकानीव । चकारो हिमेन घृतकरकाशीनीवेति दृष्टान्तान्तराभ्यूहनार्थः ॥ ५२ ॥ नित्यममीक्षणं तृप्तया तृप्तिमत्या रसो रागो द्ववत्वं च तच्छालिन्या कर्मफलावश्यंभावनियत्या वृत्तानि निष्पन्नशाखोपशाखानि ॥ ५३ ॥ सृष्टिश्रुतिदृशा महद्ब्रह्मैव कर्तृ येषां तानि । 'अपूर्वमनपरं' इत्यादिश्रुतिदृशा तु अकर्तृणि अकर्तृकाणि ॥ ५४ ॥ तदन्यद्वा तदन्यदिव । मणीवोष्ट्रस्येतिव दिवार्थे वाशब्दः । सदा असन्त्येवेति च्छेदः ॥ ५५ ॥ भुवनसंख्यया चतुर्दश, देवयोनिमात्रसंख्यया दशविधाः, मनुष्याथेकैकजाल्या एकविधा आदिपदाद्यथासंभवं व्यादिनियतविधा भूतगणा येषु ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ जेहो घृतं प्रीत्यतिशयश्च तत्साराणि, आवृत्तिः परिवृत्तिस्तद्वन्ति च ॥ ५८ ॥ स्वतो जातानि नभस्वतो वायोः स्पन्दनानीव ॥ ५९ ॥ बुद्ध्यहंकारचित्तरूपाणां पत्राणामाश्रयभूतवृक्षरूपाणि । असतां स्वातिरिक्तद्रष्टृणामपि साधारणायमानानि असन्त्येव यथा स्वप्ने नितरा-

क्रमात्स्फुटपदं जातं तत आर्यात्वमागतम् ॥ २
 शब्ददेशपतद्दृष्टिदृष्टवान्वनितामहम् ।
 पार्श्वे कनकनिष्पन्दप्रभया भासिताम्बराम् ॥ ३
 आलोलमाल्यवसनामलकाकुललोचनाम् ।

मस्तानामसतां स्वातिरिक्तनृणां दृश्यानीत्यर्थः ॥ ६० ॥ पुराणादिप्रसिद्धव्रतदानयज्ञादिफलावश्यंभावकल्पनालक्षणेषु तल्पवृत्तिषु स्वप्नेषु दृढविश्वासघननिद्राणि आत्मस्वरूपस्यात्यन्तमप्रबोधाच्छवतामिव बिभ्रन्ति । अभ्यस्ताच्छतुर्गुम्छान्दसः ॥ ६१ ॥ परमार्थो ब्रह्म तल्लक्षणे महारण्ये मायोपहितचिद्रन्धर्वेण कृतानि सूर्यलक्षणदीपकदीप्तानि गृहाणीत्युत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥ हे राम, अहं तदा तस्मिन्समाधिकाले अनन्ते चिन्नभसि निर्निमित्तं प्रजायमानानि निर्निमित्तं च विशीर्यमाणानि तिमिराक्षदृष्टकेशोण्ड्रकानीव भ्रान्तिमात्रसिद्धानि जगन्ति अपश्यम् दृष्टवानित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगज्जालवर्णनं नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

समाधौ शब्दकारिण्याः स्त्रियो दर्शनमीर्यते ।

तामनादस्य भूयोऽपि विचित्रजगदीक्षणम् ॥ १ ॥

तादृशं प्रागुक्तप्रकारं शब्दकारणं प्रविचारयन्नन्विष्यन् । असंरुद्धसंविदाकाशतामपरिच्छिन्नचिदाकाशताम् ॥ १ ॥ आर्यात्वं आर्याख्यच्छन्दोलक्षणलक्षितत्वम् । यथाहुः 'यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथः तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' इति ॥ २ ॥ शब्दस्य प्रभवप्रदेशे पतन्ती दृष्टियोगदृष्टिर्यस्य तथाविधः सन् वनितां स्त्रियम् । पार्श्वे इति पूर्वोत्तरान्वयि ॥ ३ ॥ तामेव वर्णयति—आलोलोत्थादिना ।

लोलस्मिल्लवलाभ्यां धियमिवागताम् ॥ ४ ॥
 कान्तकाञ्चनगौराङ्गीं मार्गस्वयम्बवीचयाम् ।
 वनदेवीमिवाभोदिसर्वात्रयबसुन्दरीम् ॥ ५ ॥
 सा पूर्णचन्द्रबद्धना पुष्पप्रकरहासिनी ।
 यौवनोद्दाम्बद्धना पद्मलक्ष्मणशासिनी ॥ ६ ॥
 आकाशकोशसदमा शशाङ्करसुन्दरी ।
 मुक्ताकलापरचना कान्ता मन्तुसारिणी ॥ ७ ॥
 स्वरेण मधुरेणैवमार्यामार्यविलासिनी ।
 पपाठाकठिनं वामा मत्पार्श्वे मृदुहासिनी ॥ ८ ॥
 असदुचितरिक्तचेतन-
 संसृतिसरिति प्रमुह्यमानानाम् ।
 अवलम्बनतटविटपिन-
 मभिन्नौमि भ्रमस्तमेव मुने ॥ ९ ॥
 इत्याकर्ण्याहमालोक्य तां चारुवदनसनाम् ।
 ललनेयं किमनवेत्यनादृत्यैव तां गतः ॥ १० ॥
 ततो जगद्गुण्ययीं मार्यां संप्रेक्ष्य विस्मितः ।
 अनादृत्यैव तां व्योम्नि विहर्तुमहमुद्यतः ॥ ११ ॥
 ततस्तां तत्कृतां चिन्तामलमुत्सृज्य खे स्थिताम् ।
 जगन्मायां कल्पितुं व्योमात्माहं प्रवृत्तवान् ॥ १२ ॥
 यावसानि तथोग्राणि जयन्ति सकलानि यम् ।
 शून्यमेव यथा स्वप्ने संकल्पे कथने तथा ॥ १३ ॥

लोलत् चञ्चलं धम्मिल्लवलाभं केसवन्धनं यस्याः ॥ ४ ॥ मार्ग-
 स्थमिष गच्छत् नवयौवनं यस्याः ॥ ५ ॥ ६ ॥ आकाशकोशः
 प्राग्दर्शितभूताकाशः सदनं यस्याः । मामनुसरति तच्छ्रीला
 ॥ ७ ॥ सा वामा मत्पार्श्वे अकठिनं मृदु यथा स्यात्तथा मधु-
 रेण स्वरेण एवं चक्ष्यमाणरूपामार्यां पपाठ ॥ ८ ॥ तामेवार्या-
 मुदाहरति—असदिति । हे मुने, अहं असतां खलानामु-
 च्छितं रागद्वेषकामलोभमोहादिदोषैः रिक्ता विरहिता चेतना
 चेतो यस्य तथाविधम् । तथा संसृतिलक्षणायां सरिति
 प्रमुह्यमाणनामवलम्बनभूतं तटविटपिनं तीरवृक्षभूतं
 भवन्तमेव अभितो नौमि प्रशंसामि नान्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥
 तच्छ्रुत्वा त्वं किमकार्षीस्तत्राह—इतीति ॥ १० ॥ तदुत्तरा-
 र्थोक्त स्फुटयति—तत इति ॥ ११ ॥ अनादृत्येति पदं विह-
 र्नुमिति पदं च व्याचष्टे—तत इति । खे शून्यस्वभावे
 स्थिताम् । व्योमात्मा चिदाकाशरूपः ॥ १२ ॥ खे स्थितामित्ये-
 तदुपपादयति—यावदिति । यस्मादित्यर्थे यावच्छब्दः ।
 संकल्पे मनोरज्ये । कथने कथार्थप्रकाशने । चार्थे तथाश्चब्दः
 ॥ १३ ॥ शून्यरूपत्वादेव तानि जगन्ति कानिचित् क्वचिदपि
 परमार्थतः किञ्चिदपि न पश्यन्ति न शृण्वन्ति । अत एव
 कल्पेषु महाकल्पेषु महाजन्मसु सर्गेषु च समता ऐकरूप्यमेव
 येषां तानि । बहुमीहौ 'गोत्रियोरुपसर्जनस्य' इति दापो हस्ते
 'नपुंसकस्य श्लचः' इति नुमि पुनर्दीर्घः । परस्परतेपक्षिसमा-

न पश्यन्ति न शृण्वन्ति कदाचित्कामिचित्कचित् ।
 तानि कल्पमहाकल्पमहाजन्मैकतान्त्रय ॥ १४ ॥
 प्रमत्तपुष्करावर्तानुन्मसोत्पातमादतान् ।
 स्फुटिताङ्गीम्हटाकारवटितप्रहमण्डपान् ॥ १५ ॥
 ज्वलत्कल्पाग्निविस्फोटवटद्वैडविडास्पदान् ।
 प्रतपद्मादशकारकन्दुमार्तण्डमण्डलान् ॥ १६ ॥
 लुठत्सुरपुरमातवितताक्रन्दघर्घरान् ।
 रणसर्वादिकटकभ्रेणीनिगिरणोद्भटान् ॥ १७ ॥
 कल्पाग्निज्वलबोल्लासपठत्पटपटारवान् ।
 आत्मभ्रंशबृहत्क्षोभक्षुब्धाम्बरमहार्णवान् ॥ १८ ॥
 देवासुरनरायारघर्घराक्रन्दककेशान् ।
 सप्तार्णवमहापूरपूरितार्कन्दुमण्डलान् ॥ १९ ॥
 न विचेतन्ति कल्पान्तान्सर्वाण्येव परस्परम् ।
 एकमन्दिरसंसुताः स्वप्ने रणरथानिव ॥ २० ॥
 तत्र इहसहस्राणि ब्रह्मकोटिशतानि च ।
 इष्टानि विष्णुलक्षाणि कल्पवृन्दान्यलं मया ॥ २१ ॥
 तत्र क्वचिद्नादित्ये निरहोरात्रभूतले ।
 आकल्पयुगवर्षान्ते जगत्सूहृः क्षयोदयः ॥ २२ ॥
 चिति सर्वं चितः सर्वं चित्सर्वं सर्वतश्च चित् ।
 चित्सत्सर्वात्मिकेत्येतद्दृष्टं तत्र मयाखिलम् ॥ २३ ॥

रम्भानिव परस्परप्रलयसमारम्भानपि तानि न पश्यन्तीत्येत-
 दपि प्रत्यक्षंरम्भवर्णनपुरःसरं दर्शयितुमारभते—अखेत्या-
 दिना ॥ १४ ॥ सर्वेषां द्वितीयावबहुवचनान्तानां पञ्चमेश्लोकस्ये-
 कल्पान्तावविचेतन्तीत्यत्रान्वयः ॥ १५ ॥ कल्पाग्निविस्फोटवै-
 टन्ति ध्वनन्ति ऐडविडास्पदानि कुबेरभवनावि येषु । प्रल-
 पन्ति द्वापशाकारकन्दुकवहिवि भ्रमन्ति मार्तण्डमण्डलानि येषु
 ॥ १६ ॥ रणतां सर्वाग्निनितम्भ्रेणीनां निगिरजे उद्भटान्
 ॥ १७ ॥ कल्पाग्नीनां यानि ज्वलनानि तेषां ये उल्लासास्तेस्त-
 त्प्रयुक्तंशादिप्रन्थिविस्फोटनः पठन्तो ब्रह्मकुबेरन्तः पटपट-
 रना येषु । आत्मस्वभावभ्रंशप्रयुक्तबृहत्क्षोभादिवदेव मादोमण-
 क्षोभैः क्षुब्धाः अम्बरमहार्णवा येषु ॥ १८ ॥ दुलोकपर्यन्तं
 सप्तार्णवाभिबुध्या सप्तार्णवमहापूरैः पूरितान्यर्कन्दुमण्डलानि
 येषु ॥ १९ ॥ इहक्षानपि तत्तदन्तःप्रवृत्तान्कल्पान्तान् सर्वा-
 ण्येव जगन्ति परस्परं न विचेतन्ति ॥ २० ॥ एवं जगतां
 प्रासन्निकीं परस्परं शून्यरूपतामुपपाद्य प्रस्तुतमेवाह—अखेत्या-
 दिना । तत्र तेषु जगत्सु मया इष्टानि ॥ २१ ॥ तत्र तस्मि-
 न्धार्यितबहुप्रकारे जगति क्वचिच्चिदसुनि ऊर्ध्वैर्वितर्कैरेव क्षय
 उदयश्च दृष्ट इत्यनुषज्यते ॥ २२ ॥ अस्तु ऊर्ध्वैरेव क्षयोदयः
 किं ततस्तत्राह—चित्तीति । ततः प्रागुक्तं पाषाणाख्यायिका-
 हृदयं चिति सर्वमित्यादिरूपं मया अन्वयव्यतिरेकभ्रंवां परीक्ष्य

त्वं किंचिदिति चेद्विद्वि तत्र किं चिद्विद्वि चिद्वि ।
 सा हि शब्दतम व्योमो न च नाम च किंचन ॥ २४
 तदाकाशमिदं भास्ति जगदित्यभिशाब्दितम् ।
 तेनैव शब्दव्यवसायं सर्वं हि परमं वचः ॥ २५
 दृश्यदृष्टिरिदं भास्तिराकाशतत्त्वमजरी ।
 चिद्योमात्रं कमेवेति तत्राहमनुभूतवान् ॥ २६
 बुद्ध्याकालौकिकरूपेण व्यापिना बोधकृषिणा ।
 तत्रानन्तेन संकल्पमनुभूतमिदं मया ॥ २७
 ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिद्यो ददा ।
 ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम् ॥ २८
 तत्राहमिव संसारशते भाते मुनीश्वराः ।
 दृष्टा वसिष्ठनामानो ब्रह्मपुत्राः सदुत्तमाः ॥ २९
 ब्रह्मज्ञासततिस्त्रेताः सर्वा एव सराघवाः ।
 तत्र दृष्टं कृतशतं द्वापरानां शतं तथा ॥ ३०
 भेदोदयेन वै दृष्टास्तास्ताः सर्गदशास्तथा ।
 बोधेन चेतद्वत्त्वच्छमेकं ब्रह्म नभस्ततम् ॥ ३१
 नेदं ब्रह्मणि नामास्ति जगद्ब्रह्मण्यथ त्विदम् ।

दृष्टमित्यर्थः ॥ २३ ॥ कीदृशेन ऊहेन चिति कीदृश उदयः
 कीदृशो वा क्षयस्तानुदाहरति—स्थिति । हे राम, त्वं घटः
 पटः कुण्डमिति वा भवेत् किंचिदिति रूपं संकल्प्य नाम्ना वक्षि
 तत्र तस्यां दशायां चित् त्वद्विवक्षितं तत्तत्किंचित्तद्वत् तत्तत्ता-
 मरूपात्मनेव भवति स उदयः । सैव व्योमोऽपि शून्यतमा
 विवक्षिता सती न किंचन नाम भवति न किंचन रूपमिति स
 तत्क्षय इत्यर्थः ॥ २४ ॥ किंच जगदिति नामरूपकल्पनया
 तच्छून्यात्मकमाकाशमेव भाति । आकाशस्यैव वाग्वादिक्रमेण
 जगदकारपरिणामश्रुतेः । तच्चाकाशं शब्दतन्मात्ररूपत्वात्सर्वव-
 स्तुनो नामसामान्यमपि भवति । तेनैव 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि,
 वेह नामास्ति किंचन' इत्यादिशब्दात्मना परिणतेन नभसा सर्वं
 जगत्परमं किंचन एव भवति । स एवास्यात्यन्तिकः क्षय
 इत्यर्थः ॥ २५ ॥ एवं विमर्शं स्वस्य यादृशोऽनुभवोऽनुभूतमाह—
 दृष्टमिति । हे अत्र, परिशिष्टं यच्चिद्योम तत् कं सुखमेव निरति-
 क्षयानन्दैकरसमेवैत्यनुभूतवानित्यर्थः ॥ २६ ॥ बुद्धिधरमसाक्ष-
 त्कारदृष्टिस्तद्रूपो च आकाशस्तत्राधिर्भावात्तदेकरूपेण व्यापिना
 कूर्मैनाऽनन्तेन त्रिविधपरिच्छेदरहितेन मया तत्र तस्मिन्समाप्त्यै
 नैसंकल्पं मिःसंकल्पमिदं वक्ष्यमाणमनुभूतम् ॥ २७ ॥ जगज्जालं
 ब्रह्माण्डसमूहास्तदन्तर्गता दशादिशस्तदन्तर्गतं कलाकालदेशा-
 दिकं च सर्वं ब्रह्मव्योमेव तथा स्थितं दृष्टमित्यर्थः ॥ २८ ॥ तत्र
 वक्ष्यमाणभेदोदयेन भाते संसारशते अहमिव मत्समानरूपा
 मुनीश्वराः ॥ २९ ॥ द्वासततिसंख्याकाः सराघवा रामावतारसहि-
 तास्त्रेतावुगमेदा दृष्टा इत्यनुकृत्यते ॥ ३० ॥ भेदोदयेन भेदका-

ब्रह्मैवाजमनाद्यन्तं तत्सर्वं तत्पदादिकम् ॥ ३२
 पापाणामौघप्रतिमं नकिंचिदभिशाब्दितम् ।
 यत्तत्किंचिदिति द्योतरूपं ब्रह्म जगत्स्मृतम् ॥ ३३
 विभात्यचेत्यं चिद्योमि स्वसत्तैव जगत्तया ।
 निराकारे निराकारा स्वप्रानुभवसंनिभा ॥ ३४
 अनन्यमात्मनो ब्रह्म सर्वं मामात्ररूपकम् ।
 प्रकाशनमिवालोकः करोति न करोति च ॥ ३५
 तेषु नामानुभूयन्ते जगद्भक्षेषु तत्र वै ।
 उष्णानि चन्द्रविश्वानि सूर्याः शीतलमूर्तयः ॥ ३६
 प्रजास्तमसि पश्यन्ति पश्यन्त्येव न तेजसि ।
 उलूकस्य समाचारास्तस्यैव सदृशस्वराः ॥ ३७
 इतः शुभेन नश्यन्ति यान्ति पापैस्तथा दिवम् ।
 विषाशनेन जीवन्ति त्रियन्तेऽमृतभोजनैः ॥ ३८
 यद्यथा बुध्यते बोधे यथोदेत्यथवा स्वतः ।
 तथाशु स्फुटतामेति सद्वासद्वा तदेव तत् ॥ ३९
 विटपाकारमूलौघदर्शनाद्ब्रह्मशोभिभिः ।
 घूर्णते पत्रपुष्पानैः पादपैर्व्योमि काननम् ॥ ४०

सनोद्बोधेन । बोधेन तत्त्वदृशा तु एतत्सर्वं ब्रह्म नभ एव दृष्ट-
 मित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तथा च ब्रह्मणः सप्रपञ्चता निप्रपञ्चता च दृष्टि-
 भेदेनाविद्वेत्साह—नेदमिति । अथ त्विदमस्तीति शेषः । पद्यते
 ज्ञानेन प्राप्यत इति पदं तदात्मकम् ॥ ३२ ॥ नकिंचिदभिशाब्दितं
 सर्वनामरूपशून्यम् । द्योतरूपं ज्योतीरूपम् । तदेव जगद्वेषेण
 स्मृतमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ अचेत्यं चेत्यं विनापि चितः स्वसत्तैव चेत्य-
 जगत्तया विभाति ॥ ३४ ॥ विभातीत्येतत्प्रत्यगभेदप्रदर्शनेनोपपाद-
 यन्स्वयंज्योतिर्द्वं दर्शयति—अनन्यमिति । अनन्यं अनन्यत् ।
 अद्वादेशाकरणं छान्दसम् । भामात्ररूपकं ब्रह्म सर्वं करोति न
 करोति च । यथा आलोकः प्रकाशनं करोति स्वातिरिक्तप्रकाश-
 नाप्रसिद्धेन करोति च तद्वत् ॥ ३५ ॥ ननु यदि चिदेव जगत्सर्हि
 चन्द्रः शीत एव सूर्य उष्ण एवेति व्यवस्थिता नियतिर्विपर्यये-
 तेति चेदिष्टापत्तिः ब्रह्माण्डभेदे वैपरीत्यस्यापि दर्शनादित्याह—
 तेष्वित्यादिना ॥ ३६ ॥ उलूकस्य दिवान्धस्य । उलूकेन सम
 आचारौ दर्शनादिव्यवहारो यासाम् । समशब्दार्थस्य नित्यं प्रति-
 योमिसापेक्षत्वेन सामर्थ्याधिघातात्समासः । तस्यैव तेनैव ॥ ३७ ॥
 इत इति । मनःकल्पनाया निरङ्कुशत्वादियमुक्तिर्न तु वस्तुतः ।
 वेदाप्रमाणयापादकत्वादिति बोध्यम् ॥ ३८ ॥ तत्कुतस्तत्राह—
 यद्विद्वि । विश्वस्यासद्विद्वि बोधे यद्वस्तु हिताहितमाधनत्वेन
 क्वा बुध्यते तथैव भोजकादृष्टवसादुदेति । यथोदेति तथैव
 भोगकालेऽपि स्फुटतामेति । अन्यत्र सद्वा असद्वास्तु न विशेषः ।
 वतस्तद्ब्रह्मैकं तद्वासनाकर्मानुसारेण विवर्तत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥
 एतद्ब्रह्मण्डप्रसिद्धकाननविपरीतपत्रपुष्पसंस्थानार्थक्रियासंपन्नं
 ब्रह्माण्डान्तरे प्रसिद्धमित्याह—विटपेति । विटपाः शाखास्तदा-
 काराणां मूलैधानां दर्शनाद्ब्रह्मण्यवदृढैः शोभावाद्भिः पत्रपुष्पै-
 राभ्यन्तीति पत्रपुष्पानैः पादपैर्व्योमि काननम् इत्यर्थः ॥ ४० ॥

१ अत्र अनन्तेन नसङ्कल्पः इति पदविशेषकटीकाकारैः कृतः स च
 सुधीभिर्विमर्शनीयः.

सिकताः पीडिताः सत्यः स्रवन्ति जेहजं रसम् ।
 शिलाफलककेभ्यश्च जायन्ते कमलान्यलम् ॥ ४१
 दारुण्यश्मनि मिश्रौ च चञ्चलाः शालभञ्जिकाः ।
 देवाङ्गनाभिः सहितं गायन्ति कथयन्ति च ॥ ४२
 मेघान्परिदधत्युच्चैर्भूतान्युच्चैः पटानिव ।
 प्रतिवर्षं विजातीयान्युत्पद्यन्ते फलान्यगे ॥ ४३
 संनिवेशैर्न नियतैरङ्गानां विविधाङ्गकैः ।
 शिरोभिः सर्वभूतानि परिक्रामन्ति भूमिगैः ॥ ४४
 शास्त्रवेदविहीनानि निर्धर्माण्येव कानिचित् ।
 यत्किञ्चनैककारीणि तिर्यग्वन्ति जगन्त्यधः ॥ ४५
 कामसंविद्धिहीनानि निःस्त्रीजातानि कानिचित् ।
 भूतैः संशुष्कहृदयैर्व्याप्तान्यश्ममयैरिव ॥ ४६
 पवनाशनभूतानि समरत्नाश्मकानि च ।
 अजातार्थान्यलुब्धानि निगर्वाणीव कानि च ॥ ४७
 क्वचित्प्रत्येकमात्मानं पश्यत्याप्नोति नेतरत् ।
 बहुभूतकमप्यस्ति जगदित्येकभूतकम् ॥ ४८
 नल्लकेशादिके यद्ब्रह्मद्वन्द्वं संस्थितः ।
 आत्मवत्सर्वभूतानामेकीभूतात्मभावना ॥ ४९
 अनन्तापारपर्यन्तं शून्यमेव बहु क्वचित् ।
 यत्नतः संविदाप्नोति तस्यान्ते न जगत्पुनः ॥ ५०

एवमसंभावितसहस्रमप्यन्यत्र संभावनीय-मित्याह—सिकता
 इति । पीडितास्तिलयन्निर्धोडिताः । जेहजं रसं तैलं स्रवन्ति
 ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ भूतानि प्राणिनः पटानिव मेघान्परिदधति
 परिधानं कुर्वन्ति । अगे वृक्षे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ तिर्यग्वन्ति
 पश्चादिमात्रपूर्णानि । अधः भूम्याद्यधोलोकेषु ॥ ४५ ॥ यतः
 कामसंविद्ध्या हीनान्यत एव निस्त्रीजातानि ॥ ४६ ॥ पवना-
 शनाः सर्पा एव भूतानि प्राणिनो यत्र । समानि रत्नान्यश्मकानि
 च यत्र । अजातार्थान्यसंजातधनानि । धनादिव्यवहारशून्या-
 नीति यावत् । अत एवालुब्धानि । निगर्वाणि निरहंकाराणीव ।
 कानि च कानिचित् ॥ ४७ ॥ क्वचिद्व्यहंभावमेदं विना
 विराडहंभावेनैकात्म्येनैव सर्वदेहमेदव्यवहारमाह—क्वचि-
 दिति । इतरदात्मान्तरं नाप्नोति । तत्रापि चतुर्विधभूत-
 मेदैर्बहुभूतकं खेदजायकैकभूतपूर्णं चास्तीत्यर्थः ॥ ४८ ॥
 तत्र देहमेदेष्वेकीभूतात्मभावना कीदृशी तां दर्शयति—
 नख्खेति । यद्ब्रह्मलकेशादिके छिद्यमाने जायमाने चात्मनः
 खच्छेदनजन्मादि पश्यतीत्यन्यत्र संस्थित इव भवति । तत्सौ-
 न्दर्यादिसुखभोगे त्वेकीभूतात्मभावना अस्य दृश्यते तद्ब्रह्म-
 ल्यर्थः । अत एवाह श्रुतिः 'नह वै देवान्पापं गच्छति पुण्यमे-
 वानु गच्छति' इति ॥ ४९ ॥ क्वचित्तु सर्गमेदवासनानुद्भवा-
 दव्याकृताकाशमात्रतया विभाव्यत इत्याह—अनन्तेति ।
 तर्हि कथं सर्वत्र सर्वात्मकं तदित्युक्तं तत्राह—यत्नत इति ।
 तिरोभावावस्थादृष्टिं तिरोभाव्यसंस्कारविषयाविर्भावनयत्नतस्तस्य

अत्यन्ताबुद्धबुद्धानि मोक्षशब्दार्थदृष्टिषु ।
 दारुण्यश्मयाशेषभूतौघानीव कानिचित् ॥ ५१
 ऋक्षचक्रविहीनानि निष्कालकलनानि च ।
 मूकसंकेतसाराणि भूतजालानि कानिचित् ॥ ५२
 कानिचिद्वर्जितान्येव नेत्रशब्दार्थसंविदा ।
 व्यर्थदीप्तात्मतेजांसि भूतानीत्येकचिन्तया ॥ ५३
 प्राणसंविद्धिहीनानि व्यर्थामोदानि कानिचित् ।
 मूकानि शब्दवैयर्थ्याच्छ्रुतिहीनानि कानिचित् ॥ ५४
 वाक्यसंविद्धिहीनत्वान्मूकान्यन्यानि कानिचित् ।
 स्पर्शसंविद्धिहीनत्वाद्दशमङ्गानीव कानिचित् ॥ ५५
 संविन्मात्रमयान्येव दृष्टान्यपि च कानिचित् ।
 व्यवहारीण्यप्यग्राह्याण्येव नित्यं पिशाचवत् ॥ ५६
 भूमयान्येकनिष्ठानि निष्पिण्डान्येव कानिचित् ।
 कानिचिद्वारिपूर्णानि वह्निपूर्णानि कानिचित् ॥ ५७
 कानिचिद्वातपूर्णानि सर्वाकाराणि कानिचित् ।
 जगन्ति व्योमरूपाणि वत तत्र कचन्ति खे ॥ ५८
 धरापीठैकपूर्णेषु तिष्ठन्त्यन्येषु देहिनः ।
 मेका इव शिलाकोशे कीटा इव धरोदरे ॥ ५९
 जलैकपरिपूर्णेषु तिष्ठन्त्युर्ध्वानाद्रिषु ।
 अमन्त्यन्येषु भूतानि नित्यमेवोग्रमीनवत् ॥ ६०

शून्यस्यान्तेन तिरस्करणेन पुनर्जगदाप्नोति पश्यति ॥ ५० ॥
 मोक्षशब्दार्थो निर्विशेषब्रह्मभावस्तदृष्टिषु अत्यन्ताबुद्धान्यली-
 कानि तद्बुद्धानि । चित्पृथक्कारबुद्धौ तु दारुण्यश्मयानि हस्त्य-
 श्वादिरूपाण्यशेषाणि भूतौघानीव चेतनतया दृष्टानि ॥ ५१ ॥
 ऋक्षचक्रैर्ज्योतिश्चक्रैर्विहीनान्यत एव निष्कालकलनानि कानि-
 चित् । शब्दाभावाच्छ्रोत्राभावाद्वा मूकानां हस्तपादाद्यभिनय-
 संकेतसाध्यव्यवहारत्वात्साराणि कानिचिदिति विभज्यान्वयः ।
 एवमग्रेऽपि यथायोगं बोध्यम् ॥ ५२ ॥ नेत्रशब्देन तदर्थं न
 नेत्रेण तज्जन्यसंविदा रूपादिदर्शनेन च वर्जितान्येव । अत
 एव व्यर्थदीप्तात्मकानि सूर्यादितेजांसि येषु । इति इयं जग-
 त्स्थितिः एकचिन्तया एकाग्रचित्तयोगिनः कल्पनया मयोक्ते-
 ल्यर्थः ॥ ५३ ॥ प्राणो प्राणेन्द्रियं तज्जन्यगन्धं संविच्च ताभ्यां
 विहीनानीत्यादि पूर्ववत् ॥ ५४ ॥ अश्माङ्गानीव त्वग्निन्द्रिय-
 रहितानि ॥ ५५ ॥ संविन्मात्रमयानि । मनोराज्यकल्पानीति
 यावत् । कानिचित्तु व्यवहारीण्यपि पिशाचवदनुद्भूत-
 गुणभूतारब्धत्वादिन्द्रियैरग्राह्याण्येव । साक्षिमात्रवेद्यानीत्यर्थः
 ॥ ५६ ॥ निष्पिण्डानि घनीभावरहितानि ॥ ५७ ॥ सर्वाका-
 राणि सर्वकार्यक्षमसर्ववस्तुकानि । प्राकाम्यसिद्धिशालिमनः
 कल्पनयेदमुक्तम् । तत्र खे चिदाकाशे । बतेत्याक्षर्ये ॥ ५८ ॥
 भूमयान्येवेति यदुक्तं तत्र भूतजीवनानुपपत्तिशब्दां दृष्टान्तेन
 परिहरति—घरेति ॥ ५९ ॥ एवं वार्थादिपूर्णेष्वपि जीवनो-
 त्पत्तिर्बोध्येत्याह—जलेति । उग्रमीनो ग्राहस्तद्वत् ॥ ६० ॥

१ अत्र भूमयान्येकेति ५७ तमश्लोकमूलवदपेक्षितम्,

अन्येष्वन्येकपूर्णेणु जलादिरहितान्यपि ।
भूतान्यग्निमयान्येष स्फुरन्त्यलमलातवत् ॥ ६१
अन्येष्वनिलपूर्णेणु भूतान्यस्तेतराण्यपि ।
घातमात्रमयाङ्गानि स्फुरन्त्यर्जुनघातवत् ॥ ६२
अन्येषु व्योममात्रात्मदेहेषु व्योमरूपिणः ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जगज्जालवर्णनं नाम षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

प्राणिनः सन्ति सर्गेषु दर्शनव्यवहारिणः ॥ ६३
पातालपातिषु तथाम्बरमुत्पतत्सु
तिष्ठत्सु विभ्रमपदेष्वथ दिङ्मुखेषु ।
नानाजगत्सु किमिवास्ति मया न दृष्टं
यन्नाम चिज्जलधिचञ्चलबुद्बुदेषु ॥ ६४

एकषष्ठितमः सर्गः ६१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चिदाकाशाच्छिदाकाशे पयसीव पयोरयाः ।
चित्रवाङ्गीवाः स्फुरन्त्येते एत एव मनांसि नः ॥ १
विशदाकाशरूपाणि तान्येष च मनांसि नः ।
जगन्ति तान्यनन्तानि संपन्नान्यभितः स्वयम् ॥ २
श्रीराम उवाच ।
सर्वभूतगणे मोक्षं महाकल्पक्षये गते ।
पुनः कस्य कथं सर्गसंविच्चिरुपजायते ॥ ३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

महाप्रलयपर्यन्ते क्षितिजलपवनद्रुताशाकाशा-
शेषविशेषविनाशे आब्रह्मस्थावरान्तेषु मुक्तौ परि-

अलातवत् भ्रमद्भुक्तवत् स्फुरन्ति संचलन्ति ॥ ६१ ॥ अर्जुन-
वातो रोगविशेषः । तद्वन्तो हि जना आकाशे भ्रमन्तीति देश-
विशेषे प्रसिद्धम् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ तत्र चिदाकाशे अथ ऊर्ध्वं परितश्च
कल्पिते दिग्विभागे द्रवमानानि सर्वाणि विचित्राणि जगन्ति
तदन्तर्गतवस्तूनि च मया दृष्टानीत्युपसंहरति—पातालेति ।
चिज्जलधेश्चञ्चलबुद्बुदप्रायेषु नानाजगत्सु मया यत्र दृष्टं नाम
तत्किमिव । न किञ्चिदित्यर्थः । सर्वज्ञसाक्ष्यविषयस्याप्रसिद्धेरिति
भावः ॥ ६४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे जगज्जालवर्णनं नाम षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

अज्ञातब्रह्महृदयं जगत्साक्षेऽप्यनम्बरम् ।

ज्ञाते तु ब्रह्मणि जगत्साक्षीदस्ति भविष्यति ॥ १ ॥

अनाद्यज्ञातं ब्रह्मैव स्वकूटस्थगूर्णानन्दचित्स्वभावविस्मरणा-
बलनपरिच्छेदादिस्वभावान्तरं परिकल्प्य मनःप्राणादिक्रमेण
भोक्ता जीवो भोग्यं जगच्च भूत्वा सर्वत्र सर्वदा सर्वरूपेण संस-
रत्येवैतस्य यावद्विचं संसारः शाश्वतस्वभावः । तदेव शास्त्रा-
चार्योपदेशाज्ज्ञातं चेत्सर्वदा सर्वतः सर्वात्मना च पूर्णानन्द-
विदेकरसमात्रं न कदापि क्वापि कश्चिदपि कस्यचिदपि संसा-
रकेशः संभावयितुं शक्य इति नित्यमुक्तस्वभावमेव तदिति
व्युत्पादयितुं वसिष्ठो भूमिकां रचयति—चिदाकाशादिति ।
चिदाकाशात्तद्विदेकरसस्वभावात् । जीवाः प्राणोपाधिपरि-
च्छिन्नाः स्फुरन्ति अनादितादृशवासनोद्भवाद्वासन्ते । त
एवोत्तरोत्तरं संकल्पविकल्पसदृशैः संसरणबीजत्वात्स्वात्मनि
करणभावमिवापद्यमानानि मनांसि इत्युच्यन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

जगत्सु भूयो यथेदं जगदनुभूयते तथा शृणु ।
अव्यपदेश्यं यत्परमार्थघनं ब्रह्म चिन्मात्रमित्याच-
क्षते मुनयः तस्य हृदयमिदं जगत्तस्मादव्यतिरि-
क्तमेव, स एव च देवस्तदात्मीयं हृदयं स्वभावं
जगदित्यवगच्छति च विनोदेनैव न तु वास्तवेन
रूपेण जगदिति किञ्चिदुपलभामहे, विचारयन्त-
स्तस्मात्किमिव नश्यते किमिव जायते यथा परम-
कारणमविनाशि तथा तद्बुद्बुदयमविनाश्यं च । महा-
कल्पाद्यश्च तदवयवा एव, अपरिज्ञानमात्रमत्र
केवलं मेदायैव तदपि प्रेक्ष्यमाणं न लभ्यत एव ॥ ४

तान्येव मनांसि स्वान्तर्गतभोग्यजगद्वासनानां जगदाकारेण
विकासादन्तानि जगन्ति संपन्नानीत्याह—जगन्तीति ॥ २ ॥
नन्वेवं सति ब्रह्मैव स्वाविद्यया नानाजीवभावैर्नानासंसार-
त्मना एकमेव संसरति एकमेव स्वविद्यया सर्वजीवसंसारभा-
वेभ्यो मुच्यत इत्युक्तं स्यात्, तथा च प्राक्कनप्राकृतप्रलयान्ते
सर्वजीवसमष्ट्यात्मनो हिरण्यगर्भस्य तत्त्वज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ
तन्मूलसर्वजीवजगद्भावानां बाधावर्जनात्सर्वमुक्तिरवश्यवाच्येति
मुक्तस्य ब्रह्मणः पुनरेतज्जगज्जीवपरम्परया संसारो निर्बाजः कथं
संपन्न इत्याशयेन रामः शङ्कते—सर्वेति । 'भूयश्चान्ते विश्वमा-
यानिवृत्तिः' इति श्रुतेः सर्वमुक्तेरवश्यवाच्यत्वादिति भावः ॥ ३ ॥
प्रथमनूय तदुत्तरं गद्यपर्यवर्तुं वसिष्ठः प्रतिजानीते—महा-
प्रलयेत्यादि—शृणुष्वित्यन्तेन । आकाशान्तानामशेषविशेषाणां
विनाशे सति ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु जीवजगत्सु मुक्तौ परिणतेषु
अव्यपदेश्यं ब्रह्म चिन्मात्रमवशिष्यत इति यद्यप्याचक्षते तथापि
तस्याविशिष्टस्य ब्रह्मचिन्मात्रस्य हृदयमिदं जगत्तस्माद्ब्रह्मणोऽ-
व्यतिरिक्तमेवेति पूरयित्वा व्याख्येयम् । अयं भावः—यद्यपि
मुक्तदृष्ट्या सर्वजीवन्मुक्तिरेव न कस्यचित्किञ्चित्परिशिष्यते
तथाप्यन्येषां प्रत्येकं तत्त्वज्ञानोदयाभावात्तद्दृशा स्वस्वाविद्या न
नष्टैवेति बन्धानुभव एव । यथा चन्द्रलोकस्थानां सांप्रतं
चन्द्रमण्डलं गतानां च दृष्ट्या अत्यन्तासदपि चन्द्रप्रादेशिकत्वं
भूमिदानां दृशा तथैवास्ते तद्वदिति । एतदेवाह—स एव
देव इत्यादिना । अवगच्छति बद्धदृशा । चकाराभावगच्छति च
मुक्तदृशा । भूयं जीवन्मुक्तास्तर्हि कीदृशं जगदुपलभ्ये तत्राह—

तस्मान्न कस्यचित्किञ्चित्कदाचिन्नश्यति क्वचित् ।
 न चैव जायते ब्रह्म शान्तं दृश्यमजं स्थितम् ॥ ५
 आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेऽपि या शुद्धचि-
 न्मात्रसत्ता विद्यते ॥ ६
 वपुर्जगदिदं तस्या ननु नाम महाचित्तेः ।
 कथं नश्यत्यनष्टायां तस्यां सा च न नश्यति ॥ ७
 संविदो हृदयं स्वप्ने यथा भाति जगत्तया ।
 व्योमात्मैव तथैवादिसर्गात्प्रभृति भासते ॥ ८
 चिद्योमावयवः सर्गः सर्गस्यैतादृशाः क्षयाः ।
 उदयाच्चेति खं सर्वं किं नाशि किमनाशि च ॥ ९
 एषा हि परमार्थसंविदच्छेद्या अदाह्याऽक्लेद्याऽ-
 शोष्या, सा ह्यतद्विदामदृश्या तस्या यद्दृश्यं तत्तदेव
 भवति यथासौ न नश्यति तदन्तर्धर्ती जगदाद्यनुभवो
 न जायते न नश्यत्येवेति केवलं स्मरणविस्मरणव-
 शेन स्वभावरूपेणानुभवाननुभवौ कल्पयतीव ॥ १०
 यद्यद्यदात्मकं तद्वं तद्विनाशं विनाऽक्षयि ।
 तस्माद्ब्रह्मात्मकं दृश्यं विद्धि ब्रह्मवदक्षयम् ॥ ११
 महाप्रलयादयस्तदवयवा एव ॥ १२
 चिन्मात्रे परमे व्योम्नि कुत एव भवाभवौ ।
 कुतो भावविकारादिः कथं व्योम्नि निराकृते ॥ १३

विनोदेनैवेति । विनोदेन बाधितानुवृत्तिरूपकौतुकेनैव दग्ध-
 पटवदित्यर्थः । तस्मादेवं दृष्टिप्रयेऽप्यव्यतिरिक्तत्वाजगत्किमिव
 नश्यति किमिव जायते । यद्यविनाशेव तर्हि कथं महाकल्पावा-
 न्तरकल्पादयस्तत्राह—महाकल्पादय इति । न हि शाश्वतस्य
 तस्यैकदेशा अघाश्रुताः शक्या वक्तुम् । न वा नष्टाः कल्पभेदाः
 पुनः पुनरगन्तुं शक्नुवन्ति । अतः मतामेव कल्पसर्गभेदानां
 जपमालावयववत्परिवृत्तिरेव पुनःपुनः कालचक्रात्मनेति भावः ।
 कथं तर्ह्यतीतानागतकल्पादिषु भेदप्रत्ययस्तत्राह—अपरि-
 ज्ञानमात्रमिति ॥ ४ ॥ गद्यप्रसाधितमर्थं पद्येनोपसंहरति—
 तस्मादिति ॥ ५ ॥ जगतोऽविनाशित्वे युक्त्यन्तरमाह—आका-
 शेति । महत्त्वोत्कर्षावधावाकाशे अणुत्वोत्कर्षावधौ परमाणुसह-
 स्रांशमात्रे च जगति ब्रह्मचित्सत्तयैव सतेति यदा सिद्धान्त-
 स्वदा तद्विनाभावे कथं विनाशोपपत्तिरिति समुदायार्थः ।
 वपुरित्यादीनि पद्यानि ॥ ६ ॥ ७ ॥ संविद्धृदयत्वं च संविन्मा-
 त्रसारे स्वप्नेऽपि प्रसिद्धमित्याह—संविद् इति ॥ ८ ॥ ९ ॥
 तर्ह्यस्तु संविदोऽपि नाशस्तत्र गद्येनोत्तरमाह—एषा हीति ।
 यथा असौ संविन्न नश्यति तथा तदन्तर्धर्ती तद्दृश्यभूतो
 जगतस्तदेत्वज्ञानस्य चानुभवः प्रतिभापि न जायते न नश्यति
 च । यदि न नश्यत्येव तर्हि कथं सुखदुःखादीनां कादाचित्क-
 त्वानुभवस्तत्राह—केवलमिति ॥ १० ॥ जगतः शाश्वतेना-
 त्मना सात्मकत्वादपि न नश्यतेति पद्येनाह—यद्यदिति ।
 यद्यदिति दर्शनात्तदित्यप्याहार्यम् । तत्तद्विनाशं विना

महाकल्पादयो भावा नामैतानि जगन्ति च ।
 ब्रह्मात्मकतयैवास्मिन्संविद्ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ १४
 निराकृत्यच्छिन्मात्रं दृश्यं संकल्प्य तद्वशम् ।
 याति येनैव घटितो यक्षस्तद्दृश्ये किल ॥ १५
 यथावयविनो वृक्षस्य शाखावितपफलपल्लवपु-
 ष्पादयोऽवयवास्तथा परमार्थघनस्याकाशादप्यच्छ-
 रूपस्याध्यपदेश्यस्य प्रलयमहाप्रलयनाशोद्भेदभावा-
 भावसुखदुःखजननमरणसाकारनिराकारत्वादयो-
 ऽवयवाः, यथैव चासावयवव्यनाशोऽव्यपदेश्यश्च
 तथैव त इति ॥ १६
 अवयवावयविनोर्दृश्ययोर्वाप्यदृश्ययोः ।
 एकात्मनोरेव सदा भेदोऽस्ति न कदाचन ॥ १७
 यथा तरोः संविन्मूलं तथा परमार्थघनस्य क्वचि-
 त्किञ्चित्त्वं क्वचित्सर्गस्तम्बः क्वचिल्लोकान्तरविटपाः
 क्वचिद्यवस्थाः शाखाः क्वचित्पदार्थपल्लवाः क्वचित्प्र-
 काशकुसुमम् क्वचिदन्धकारकाण्यं क्वचिन्नभःको-
 टरं क्वचित्प्रलयगुल्माः क्वचिन्महाप्रलयगुल्माः क्वचि-
 द्दरिहरादिगुलुच्छकाः क्वचिज्जाड्यत्वक् एवमना-
 कारं व्योमरूपमेव संविदात्मनि ब्रह्मणि ब्रह्मसदृश-
 भावादव्यतिरिक्तमेवैतत्स्थितम् ॥ १८

अक्षयि अपिनाशि ॥ ११ ॥ यदि ब्रह्मात्मकं विश्वं तर्हि तन्ना-
 नात्याद्ब्रह्मनानात्वं किं न स्यात्तत्राह—महाप्रलयादय इति ।
 तस्य महाकालात्मनो ब्रह्मणः अवयवा एव ॥ १२ ॥ नन्व-
 चेतनसर्गप्रलयाद्यनन्तावयवघटितं कथं चिदेकरसं स्यादिति
 चेद्विरिचक्षणगराशनेकप्रतिबिम्बघटितस्फटिकशिलाया स्वच्छधि-
 लैकरसत्ववदित्याशयेन पद्येनोत्तरमाह—चिन्मात्रे इत्यादिना ।
 निराकृते निराकारे । भावे कः बहुव्रीहिः ॥ १३ ॥ यथा विचि-
 त्रप्रतिबिम्बभेदाः स्फटिकात्मनैव स्थितास्तद्ब्रह्महाकल्पादयो
 विचित्रभावाः संविदेकरसे ब्रह्मणि संस्थिता इत्यर्थः ॥ १४ ॥
 यथा मनःसंकल्पजानां यक्षनगरसेनादीनां मनोमात्रत्वं तथा
 चित्संकल्पजस्य जगतोऽपि चिन्मात्रत्वमित्याशयेनाह—निरा-
 कृतीति ॥ १५ ॥ अस्तुत्वेवं तथापि कथं जगतामविनाशित्व-
 मिति चेदविनाश्यवयवत्वादेवेत्याशयेन वृक्षशाखासाम्येन गद्येन
 वर्णयति—यथेत्यादिना । असौ ब्रह्मरूपोऽवयवी यथैवाविनाशः
 अव्यपदेश्यश्च तथैव ते अवयवाः सर्गप्रलयादय इति एतस्मात्कार-
 णादित्यर्थः ॥ १६ ॥ तत्कृतस्तत्र पद्येनाह—अवयवावयवि-
 नोरिति । ननु दृश्यादृश्ययोः कथमभेदस्तत्राह—दृश्ययोर्वेति ।
 अभेदेऽपि स एव स्थौल्ये दृश्यो भवति सौक्ष्म्ये त्वदृश्य इति ।
 न दृश्यत्वादृश्यत्वे भेदनिश्चये इत्याशयः ॥ १७ ॥ तत्रावयवा-
 वयविनोरभेदं वृक्षतदवयवसाम्यनिरूपणेनोपपादयति—यथे-
 त्यादिना । यथा तरुसद्भावे तरुसंविदेव मूलं तथा परमार्थ-
 घनस्य जगतोऽपि सद्भावे संविदेव मूलमिति साम्यं प्रसिद्धम् ।

इतो भाव्य इतो भाव इतः सर्ग इतः क्षयः ।
 स्वभाव एवानुभव इति ब्रह्माचलं स्थितम् ॥ १९
 एवंमयेऽपि परमे ब्रह्माकाशे न रज्जनाः ।
 काश्चिदेवाङ्ग सन्तीन्दुबिम्बे विमलता यथा ॥ २०
 निर्मले परमाकाशे क भावाभावरज्जनाः ।
 कादिमध्यान्तकलनाः क लोकान्तरविभ्रमाः ॥ २१
 अपरिज्ञानमेवैकं तत्र दोषवदुत्थितम् ।
 केवलं तत्परावृत्य प्रेक्षणात्परिशाम्यति ॥ २२
 अज्ञानं ज्ञतिबोधेन परामृष्टं प्रणश्यति ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषाणो० जगदाकाशैकबोधो नामैकषष्टितमः सर्गः ॥६१॥

येनैवाभ्युदितस्तेन पवनेमेव दीपकः ॥ २३
 अज्ञानं संपरिज्ञातं नासीदेवेति बुध्यते ।
 अबन्धमोक्षं ब्रह्मैव सर्वमित्यवगम्यते ॥ २४
 एवं बोधादयो राम मोक्ष उक्ताः स्वसंविदा ।
 विचारयज्ञो लभते नात्र कश्चन संशयः ॥ २५
 इदं जगज्जालमनाद्यजातं
 ब्रह्मार्थमाभातमितीह दृष्ट्वा ।
 विचारदृष्ट्याऽष्टगुणेभ्यस्त्वं
 पश्यंस्तुणं स्वात्मनि जीव आस्ते ॥ २६

द्विषष्टितमः सर्गः ६२

श्रीराम उवाच ।
 यदेतद्भवता दृष्टं चिद्धोमवपुषा तदा ।
 तदेकदेशसंस्थेन किमुत भ्रमताम्बरे ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 संपन्नोऽहमनन्तात्मा व्यापी व्योम तदा किल ।

एवं संविन्मूलतयैव क्वचित्प्रदेशे किञ्चिद्वैचित्र्यं तरुवदेव दर्शयति—क्वचिदिति । सर्गलक्षणः स्तम्भो मध्यकाष्ठम् । तत्संलमा भूरादिलोकान्तरलक्षणा विटपाः स्कन्धाः । तत्रापि जम्बूद्वीपादिव्यवस्थाः शाखाः । तेषु गिरिनचीजनपदादिपदार्थाः पल्लवाः । तेषु चन्द्रादित्यादिप्रकाशः कुसुमम् । अन्धकारलक्षणं हरितच्छदकार्ण्यम् । प्रलयलक्षणा गुल्मा ग्रन्थिभेदाः । हरिहरादिवेद्योत्तमलक्षणा गुल्लच्छका गुच्छाः । सजलमेघजाज्वलक्षणा लव् । एवं वर्णितरीत्या अनाकारं व्योमरूपमेवाकारभेदैः संविदात्मनि ब्रह्मणि ब्रह्मसदृशस्वच्छभावादेवाभ्यतिरिक्तं स्थितमित्यर्थः ॥ १८ ॥ उक्तमेवार्थं पथैराह—इतर इत्यादिना । भाव्यो भविष्यदर्थः । भवतीति भावो वर्तमानपदार्थः । अतीतस्याप्युपलक्षणमेतत् । स च सर्वोऽप्यनुभवाधीनसिद्धिकत्वादनुभव एव । स च स्वो भाव आत्मैवेति ब्रह्मैवाचलमेकमेवं वैचित्र्यकल्पनया स्थितमित्यर्थः ॥ १९ ॥ तर्हि ब्रह्मणि सर्गप्रलयादिरज्जना किं सत्याः, नेत्याह—एवमिति । काश्चिदपि न सन्त्येवेत्यन्वयः । इन्दुबिम्बे विमलता निष्कलङ्कता यथा नास्तीति कथञ्चिदुपमा । तथा निर्मले इत्युत्तरान्वयो वा ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥ तर्हि तथा विभ्रमे को हेतुः कुतो वा तच्छान्तिस्तत्राह—अपरिज्ञानमेवेति । परावृत्य परामृष्टिमपहाय प्रत्यगात्मप्रवणया धिया प्रेक्षणात् । 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमेकदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इत्यादिभ्रुतेरिति भावः ॥ २२ ॥ अज्ञानसाधकस्यैव चरमसाक्षात्कारवृत्तीदस्य तद्वाधकत्वे युक्तिमाह—अज्ञानमिति ॥ २३ ॥ ज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यबाधकत्वं प्रसिद्धमेवेत्याह—अज्ञानमिति । बाधपरिधिष्ठितप्रवृत्तमभिलष्य दर्शयति—अबन्धमोक्षमिति ॥ २४ ॥

स्यातां तस्यामवस्थायां कीदृशौ तौ गमागमौ ॥ २
 नैकस्थानस्थितमयो नाहं गतिमयोऽभवम् ।
 तदनेन स्व एवास्मिन्दृष्टमेतन्मयात्मनि ॥ ३
 यथाज्ञानि शरीरत्वे पश्याम्यापादमस्तकम् ।
 चिन्नेत्रेणाप्यनेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ४

हे राम, मया मोक्षे एवं वर्णितरूपा बोधादय उपाया उक्ताः । एतांस्तूपावाधिरन्तरं विचारे यज्ञो यस्य तथाविधोऽधिकारी लभते ॥२५॥ अनादि इदं जगज्जालं कदाप्यजातं नोत्पन्नमेव किंतु ब्रह्मैवार्थयते प्रार्थयते भोगमोक्षादित्यर्थम् । अज्ञातस्वरूपमिति यावत् । इति वर्णितजगद्द्वयादिरूपेणाभातं वर्तते । जीवः अधिकारी इति विवेकदृष्ट्या इति विचारदृष्ट्या अणिमाद्यष्टगुणसंपन्नमीश्वरत्वमपि मायामात्रत्वादसारमेवेति परबैराग्योत्कर्षेण तृणप्रायं पश्यन् निरतिशयानन्दं ब्रह्मैवाहमिति निश्चित्य स्वात्मन्येव पूर्णकाम आस्ते इत्यर्थः ॥२६॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगदाकाशैकबोधो नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

देहवज्रगतां बीजा वष्यतेऽत्र मुने क्षिया ।

संभाषाभ्योमरूपस्य स्वप्नव्योमरूपया ॥ १ ॥

त्वया तज्जगज्जालं किं परिच्छिन्नभावेन स्थित्वा पक्षिवदम्बरे भ्रमता दृष्टमुतापरिच्छिन्नचिद्धोमभावेनेति संदिहानो रामः पृच्छति—यदेतदिति ॥१॥ तत्र द्वितीयकल्पमालम्ब्य वसिष्ठ उत्तरमाह—संपन्न इति । तस्यामानन्त्यावस्थायां गमागमौ । क्रियामात्रोपलक्षणमेतत् ॥ २ ॥ मयटौ प्राचुर्ये । तत्तस्मादेतोः स्वे एवास्मिन्नित्यापरोक्षे आत्मनि एतज्जगन्मया दृष्टम् ॥ ३ ॥ एकदेशस्थित्यादिकल्पनां विना स्वात्मतया नात्मदर्शनाप्रसिद्धिं दृष्टान्तोपन्यासैर्निराचष्टे—यथेत्यादिना । शरीरत्वे देहात्मतादर्शने । अज्ञानि हस्तपादादीनि । यथा देहैकदेशस्थितिर्देहान्तरभ्रमणादिकल्पनां विनापि अनेत्रेण अक्षिगोलकानपेक्षेणापि चिन्नेत्रेण यज्ञ पश्यामि तद्वित्यर्थः ॥ ४ ॥

अनाकृतेर्निरवयवस्थितेस्तदा
 तथाऽभवद्विमलचिदम्बरात्मनः ।
 जगन्ति तान्यवयवजालकानि मे
 यथा स्वतो न विगलिता न वस्तुता ॥ ५

प्रमाणमत्र ते स्वप्नदृष्टोऽभुवनविभ्रमः ।
 स्वप्नेऽनुभूयते दृश्यं न च किञ्चित्स्वमेव तत् ॥ ६
 यथा पश्यति वृक्षः स्वं पत्रपुष्पफलादिकम् ।
 स्वसंवेदननेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ७
 यथाम्बुधिरनन्तात्मा वेत्ति सर्वान् जलेचरान् ।
 तरङ्गावर्तफेनांश्च तथैतद्बुद्धवानहम् ॥ ८
 अवयवान्स्वानवयवी यथा वेत्ति निजात्मनि ।
 अनभ्यानात्मनः सर्गास्तथैतान्बुद्धवानहम् ॥ ९
 अद्यापि तानहं देहे व्योम्नि शैले जले स्थले ।
 तथैव सर्गान्पश्यामि राम बोधैकतां गतः ॥ १०
 पुरोऽस्माकमिदं विश्वं गृहस्यान्तर्बहिस्तथा ।
 पूर्णमेतज्जगद्बुद्धैर्बोधि बोधैकतां गतः ॥ ११
 यथाम्बो रसतां वेत्ति शैल्यं वेत्ति यथा हिमम् ।
 स्पन्दं वेत्ति यथा वायुस्तथैतद्वेत्ति शुद्धधीः ॥ १२
 यो यो नाम विवेकात्मा शुद्धबोधैकतां गतः ।
 एत एव मयैकात्मा वेत्ति स्वात्मानमीदृशम् ॥ १३
 अस्या दृष्टेः परिणतेर्वैसृषेदनेवेद्यधीः ।
 न काचिदस्त्यभ्युदिता विज्ञानात्मैकता यतः ॥ १४

असङ्गोदासीननिरवयवब्रह्मभूतस्य तदा जगदवयवता कथमभू-
 तत्राह—अनाकृतेरिति । तदा तस्यां समाध्यवस्थायामनाकृते-
 र्निरवयवस्थितेर्विमलचिदम्बरात्मनोऽपि मे तानि जगन्ति तथा
 अवयवजालकान्यभवन् यथा स्वतो वस्तुता न विगलिता नापि
 वस्तुता अभवत् मत्सत्तया सत्त्वाद्बस्तुता न विगलितेति मद्-
 वयवता, स्वतः सत्ताश्न्यत्वात्तु न वस्तुता, तथा च वास्तवी
 सावयवता नाभवदित्यदोष इति भावः ॥ ५ ॥ उक्तेऽर्थे स्वप्न-
 जगतस्तथाविधतां प्रमाणयति—प्रमाणमिति ॥ ६ ॥ 'यत्र
 त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिश्रुतिस्तु निर्वि-
 कल्पसमाध्यादावेव जगददर्शनमाह न सविकल्पसमाधावित्सा-
 शयेन नेत्रादिकरणानि विनापि तद्दर्शने दृष्टान्तान्तरमाह—
 यथेति । वृक्षो वृक्षदेहात्मभूतो जीवः ॥ ७ ॥ अम्बुधिः
 समुद्राभिमानो जीवः ॥ ८ ॥ किं बहुना सर्वप्राणिष्वपि
 स्वावयवानां तथा वेदनं प्रतिद्विमत्याशयेनाह—अवयवानिति
 ॥ ९ ॥ तदेव मे स्वात्मनि जगद्बुद्धयतादर्शनमिति न किंतु
 सदैव तत्प्रवणया दृष्ट्या तद्गुणं शक्यमित्याह—अद्यापीति ।
 अद्य अपिशब्दाच्छ्लोऽपि ॥ १० ॥ ११ ॥ अम्मआदिपदानि
 तत्सद्देवतापरणि ॥ १२ ॥ किं त्वमेक एव वेत्सि नेत्याह—यो य
 इति । स योऽपि मया सह एकत्मा, अहं च स्वात्मानमीदृशं

दिव्या दृग्द्रिसंस्थस्य तथा योजनकोटिगान् ।
 भावान्वेत्ति बहिश्चान्तरेवं तद्बुद्धवानहम् ॥ १५
 यथा भूमण्डलं भावाभिधिधातुरसादिकान् ।
 वेत्त्येवं तन्मया बुद्धमनन्यदृश्यमात्मनः ॥ १६

श्रीराम उवाच ।
 ब्रह्मज्ञानुभवत्येवं त्वयि तामरसेक्षण ।
 सा किं कृतवती ब्रूहि कान्ताऽर्यापाठपाठिनी ॥ १७

वसिष्ठ उवाच ।
 तामेवार्यां पठन्ती सा तथैवानुनयान्विता ।
 मत्समीपे नभोदेहा व्योम्नि देवीव संस्थिता ॥ १८
 यथाहमाकाशवपुस्तथैवासौ स्वरूपिणी ।
 तेन दृष्टा न सा पूर्वं देहेन ललना मया ॥ १९
 अहमाकाशमात्रात्मा सा खमात्रशरीरिणी ।
 जगज्जालं खमात्रं तदिति तत्र तदा स्थितम् ॥ २०

श्रीराम उवाच ।
 शरीरस्थानकरणप्रयत्नप्राणसंभवैः ।
 यदुदेति वचो वर्णैस्तत्कुतस्तादृशाकृतेः ॥ २१
 रूपालोकमनस्कारः कुतो नामात्मनामिति ।
 ब्रूहि मे भगवंस्तत्त्वं यथावृत्तञ्च निश्चयम् ॥ २२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 रूपालोकमनस्काराः शब्दपाठवचांसि च ।
 यथा स्वप्ने नभस्येव सन्ति तत्र तथाम्बरे ॥ २३

तदात्मभूतं वेत्तीति मत्प्रत्यया एव सर्वविदुषां प्रत्यया इति
 न ते पृथगन्वेष्ट्या इत्याशयः ॥ १३ ॥ परिणतेः परिपाक-
 वशाद्देवित्रादित्रिपुटीबुद्धिर्न काचित्स्वात्मातिरिक्तास्ति यतो विज्ञा-
 नेनैकात्मतैव तेषामभ्युदितेत्यर्थः ॥ १४ ॥ एकेन ज्ञानेन कथं
 व्यवहितविप्रकृष्टसर्वदर्शनमिति चेत्तद्दृष्टान्तेन संभावयति—
 दिव्येति । अद्रिसंस्थस्य पर्वतारूढस्य पुंसस्तिमिरोगाद्यप्रतिहृत्-
 त्वादौषधादिपरिष्कृतत्वाद्वा आजानसिद्धत्वाद्योगपरिष्कृतत्वाद्वा
 दिव्या बहिराधिभौतिकानन्तराध्यात्मिकांश्च भावान् वेत्ति
 साक्षात्पश्यति । एवं तद्बुद्धित्यर्थः ॥ १५ ॥ भूमण्डलपदेन तद्-
 मिमानी जीवो गृह्यते ॥ १६ ॥ १७ ॥ अनुनयेन प्रशंसादिप्रीति-
 जनकव्यापारेणान्विता ॥ १८ ॥ यदि समीपे संस्थिता तर्हि
 किनेव समाधिं प्रागेव त्वया कुतो न दृष्टा तत्राह—यथेति
 ॥ १९ ॥ तत्र तस्मिन्निश्चिदाकाशे । तदा समाधिकाले ॥ २० ॥
 यथाकाशरूपैव सा तर्हि जिह्वाताल्बोष्ठप्राणवाय्वाद्यभावात्कथमार्या
 पठितवतीति रामः पृच्छति—शरीरेति । तादृशाकृतेरकाश-
 शरीरायाः ॥ २१ ॥ एवमाकाशमात्रस्य तव तद्बुद्धदर्शनपर्या-
 लोचनाद्यपि दुर्लभमित्याशयेनाह—रूपालोकेति । स्वं च तदा
 यथा यादृशं वृत्तं संभाषणादिव्यवहारो यत्स स यथावृत्तोऽभू-
 त्वाभिधयं च ब्रूहीत्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्र जगदहान्तेनैव कल्पनया

रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिन्नम एव ते ।
 यथोदेति तथा तत्र तद्दृश्यं खात्मकं स्थितम् ॥ २४
 न केवलं तु तद्दृश्यं यावत्तु विषयं वयम् ।
 जगद्धेदं स्वमेवाच्छं यथा तन्नस्तथाखिलम् ॥ २५
 परमार्थमहाधातुर्वेद्यनिर्मुक्तचिद्रूपः ।
 एवं नाम स्वयं भाति स्वभावस्येव निश्चयः ॥ २६
 शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा ।
 यथैव तेषां देहादि तथास्माकमिदं स्थितम् ॥ २७
 यथैव तत्तथैवेदं तथैवेदं यथैव तत् ।
 असत्सत्तामिव गतं सञ्ज्ञासदिव च स्थितम् ॥ २८
 यथा स्वप्ने धराध्वादिपृष्ठव्यवहृतिर्नभः ।
 तदा ह्यहं च त्वं सा च तदिदं च तथा नभः ॥ २९
 यथा स्वप्ने नृभिर्युद्धकोलाहलगमागमाः ।
 असन्तोऽप्यनुभूयन्ते संसारनिकरास्तथा ॥ ३०
 घञ्जि चैत्स्वप्नेदृश्यधीः कस्मात्तदसमञ्जसम् ।
 भवाच्यमेतद्धेतुर्हि नान्योऽस्त्यनुभवस्थितेः ॥ ३१
 कथमालक्ष्यते स्वप्न इति प्रष्टुः प्रकथ्यते ।
 यथैवं पश्यसीत्येव हेतुरत्रास्ति नेतरः ॥ ३२
 स्वप्नजन्तुरिव व्योम्नि भाति प्रथमसर्गतः ।
 प्रभृत्येव विराडात्मा खे स्वप्नेव परस्परे ॥ ३३
 स्वप्नशब्देन बोधार्थं तव व्यवहराम्यहम् ।
 हृदयं त्विदं न सञ्ज्ञासन्न स्वप्नो ब्रह्म केवलम् ॥ ३४

सर्वमुपपन्नमित्युत्तरमाह—रूपेत्यादिना ॥ २३ ॥ २४ ॥
 अल्पमिदमुच्यते तदा तद्दृश्यं खात्मकमिति । तत्त्वतो विचारे
 इदानीमिदं जगदपि खात्मकमेव । अत्रापि शरीरादिभ्रान्त्यैव
 व्यवहारभ्रमश्चेत्याह—न केवलमिति । वयमस्माकं विषयं
 गोचरं च यावत् तत्सर्वं जगद्धेतुन्वयः ॥ २५ ॥ नामेति
 श्रुतिविद्वदनुभवादिप्रसिद्धमिदमिति द्योतनाय । स्वभावस्य
 अगदासनोपहितचित्स्वभावस्य ॥ २६ ॥ का प्रमा तत्सत्तापुद्गेः
 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इत्यादिश्रुतिबाधितत्वा-
 दिति भावः ॥ २७ ॥ सत् निर्विशेषात्मतत्त्वं चावृत्तत्वात्स-
 दिवात्यन्ताप्रसिद्धमिव स्थितम् । चकारश्चिदानन्दस्वभावव्य-
 खासोऽप्येवमित्यनुक्तसमुच्चयार्थः ॥ २८ ॥ धरापृष्ठे कृष्यादि-
 व्यवहृतिः अप्यपृष्ठे गमनादिव्यवहृतिः सौधादिपृष्ठे शयनादि-
 व्यवहृतिश्च नभश्चिदाकाश एव ॥ २९ ॥ ३० ॥ स्वप्नैचिन्त्येऽपि
 हेत्वन्तरसंभावनायास्तु नावकाशः । अनवस्थादिदोषभयेन तत्र
 सर्ववादिनां मूकीभावादविद्योपहितचित्त्वात्मन एव स्वभावोऽय-
 मिति भ्रमक्षयैव परिशेषात्सिद्धेरित्याह—ब्रह्मीति । तस्मै
 वचनमसमञ्जसम् । स्वाप्नानुभवस्थितेरन्यो हेतुर्हि यस्मात्तास्ति
 ॥ ३१ ॥ प्रष्टुः सर्वैरेव यथैव पश्यसीति तदनुभव एवोत्तरं
 प्रकथ्यते नेतरोऽत्र हेतुस्तासाधकोऽस्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ तथाहि
 श्रुतिविरुद्धप्रकृतानन्तरं प्रथमसर्गतः प्रभृत्येव स्वप्नजन्तुरिव

अथ राघव सा कान्ता मया कान्तानुषङ्गिणी ।
 संविदं तन्मयीं कृत्वा पृष्टेदं दृश्यरूपिणी ॥ ३५
 व्यवहारो यथोदेति स्वप्ने स्वप्नजनैः सह ।
 तथा तदा तथा सार्धं व्यवहारो ममोदितः ॥ ३६
 यथैव स्वप्नसंकाशो व्यवहारः स्वमेव सः ।
 तथैव त्वमिमं विद्धि मामात्मानं जगच्च स्वम् ॥ ३७
 यथा स्वप्नजगद्रूपं स्वमेवैवमिदं जगत् ।
 जाग्रदादौ स हि स्वप्नः सर्गादौ जगदुद्भवः ॥ ३८
 स्वप्नोऽयं जगदाभोगो न किञ्चिद्वा स्वमेव च ।
 निर्मलं ज्ञप्तितामात्रमित्थं सम्मात्रसंस्थितम् ॥ ३९
 स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारो युष्मदादिकः ।
 द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्बोमैवामलं स्वतः ॥ ४०
 यथा द्रष्टामलं व्योम दृश्यं तद्ब्रह्म तथा ।
 स्वरूपजगत्पुष्पैर्जगत्स्वेनामलं नभः ॥ ४१
 चिद्बोमोऽनाकृतेः स्वप्नो हृदि स्फुरति यः स्वतः ।
 सर्गस्तस्य कुतस्तेन साकृत्तित्वं कथं भवेत् ॥ ४२
 साकारस्यैव यत्स्वप्नजगत्तद्बोम निर्मलम् ।
 निराकारस्य चिद्बोमः सर्गः स्वप्नः कथं न स्वम् ॥ ४३
 निरुपादानसंभारमभित्तावेव चिन्नमः ।
 पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा ॥ ४४
 मृद्या चिदाकाशमृदा ब्रह्मणा ब्राह्मणेन खे ।
 कृतोऽपि न कृतः सर्गमण्डपोऽक्षगवाक्षकः ॥ ४५

कल्पनात्मा विराडात्मा चिदाकाशे चिदाकाशमेव प्रथत इत्याह—
 स्वप्नेति । परस्परे विषयविषयितया अन्योन्यसापेक्षरूपे ॥ ३३ ॥
 तर्हि किं दृष्टान्तभूतस्वप्नस्वभावमेव जगत्, नेत्याह—स्वप्नश-
 ब्देनेति ॥ ३४ ॥ एवमवान्तरप्रक्षं समाधाय पूर्वपृष्ठकथाशे-
 षमाह—अथेत्यादिना । कान्ते वक्ष्यमाणं अनुषङ्गिणी अनुरा-
 गवसी । तन्मयीं तदभिप्रायजिज्ञासाप्रधानां संकल्पसंविदं कृत्वा
 ॥ ३५ ॥ अशरीरस्य ते तथा सह कथं प्रश्नादिव्यवहारोऽभू-
 तत्राह—व्यवहार इति ॥ ३६ ॥ त्वया सहेदानीं तनव्यवहारो-
 ऽपि मम तादृश एवेत्याह—यथैवेति ॥ ३७ ॥ कथं तर्हि स्वप्न
 इति जगदिति च नाममेदस्तत्राह—जाग्रदादौ इति ॥ ३८ ॥
 अयं जगद्वेष आत्मनः स्वप्न एव, अथवा न किञ्चित् ॥ ३९ ॥
 अथवा कश्चिद्विशेषोऽपि वक्तुं शक्य इत्याशयेनाह—स्वप्नस्येति ।
 युष्मदादिवासनाकारेण साकारः ॥ ४० ॥ गतं द्रष्टृदृश्यान्तरा-
 लिकं दर्शनमपि तथा व्योमैव ॥ ४१ ॥ यः स्वप्नः स्फुरति
 तस्य सर्गो जन्म कुतः । तेन च बन्ध्यापुत्रकल्पेन जगता सा-
 कृत्तित्वं कथं भवेत् ॥ ४२ ॥ यत्र साकारस्य युष्मदादेः प्रसिद्धं
 स्वप्नजगदसत् तत्र निराकारस्य ब्रह्मणः स्वप्नभूतः सर्गस्तथेति
 किं वाच्यमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ब्रह्मणा हिरण्यगर्भाक्येन ब्राह्म-
 णेन अक्षा इन्द्रियच्छिद्राण्येव गवाक्षा यस्मिंस्तथाविधो देहादि-

नो कर्तृता न च जगन्ति न भोक्तृतास्ति
नास्तीति नास्ति न च किञ्चिदतो बुधः सन् ।

पाषाणमौनमवलम्ब्य यथाप्रवाह-
माचारमाचर शरीरसिद्धास्तु मा धा ॥ ४६

इत्यायं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्त० पाषा० चिदैक्यं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥६२॥

त्रिषष्टितमः सर्गः ६३

श्रीराम उवाच ।
तव स्त्रियाऽस्वरूपेण देहेनाभूत्तया कथम् ।
कथमुच्चारितास्तत्र वर्णाः कचटतादयः ॥ १
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
वर्णेषु स्त्रशरीराणां वर्णाः कचटतादयः ।
कदाचनापि नोद्यन्ति शवानामिष केन च ॥ २
वर्णोच्चारोऽभविष्यच्चैत्प्रकटार्थस्ततः क्वचित् ।
स्वप्नेष्वन्वभविष्यत्तं विनिद्रः पार्श्वगो जनः ॥ ३
तस्मात् किञ्चित्स्वप्नेषु तत्सत्यं भ्रान्तिरेव सा ।
स्निग्धाम्राकाशकचनं तत्तथा खे स्वभावजम् ॥ ४
तदेन्दुकाण्यखतनुशिलागेयादितां गताः ।
इवाभान्ति चिदाकाशास्तथा देहरवाद्यः ॥ ५
तच्चिदाकाशकचनं यन्नाम स्वप्नवेदने ।
आकाशमेव नभसः कचनं विद्धि नेतरत् ॥ ६

यथा स्वप्नस्तथैवेदं जाग्रद्वप्रे व्यवस्थितम् ।
आकाशमप्यनाकाशं यथैवेदं तथैव तत् ॥ ७
यथा कचति तच्चारु चेतनं चतुरं तथा ।
यथा स्थितं तदेवेदं सत्यं स्थिरमिव स्फुरत् ॥ ८
श्रीराम उवाच ।
भगवन्स्वप्न एवेदं कथं जाग्रदवस्थितम् ।
असत्यमेव सत्यत्वमिव यातं कथं भवेत् ॥ ९
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
शृणु स्वप्नयान्येव कथं सन्ति जगन्त्यलम् ।
नान्यानि न च सत्यानि न स्थिराणि स्थितानि च ॥ १०
अनुभूतानि बीजानि बीजराशाधिवाम्बरे ।
अन्यान्यान्यानि तान्येव समानि न समानि च ॥ ११
प्रत्येकमन्तरन्यानि तथैवाभ्युदितानि च ।
परस्परमदृष्टानि बहूनि विविधानि च ॥ १२

सर्गमण्डपः कृतोऽपि न कृत एव ॥ ४५ ॥ अतः सर्वदृश्यमा-
र्जनात्परिशिष्टो बुधस्तत्साक्ष्येव सन् परमार्थः । अतो हे राम,
त्वमन्तः पाषाणमौनमवलम्ब्य बहिर्यथाप्रवाहमाचारमाचर ।
तत्र ते शरीरं यावत्प्रारब्धदोषमस्तु तदुत्तरं मास्तु वा न कश्चि-
द्विशेष इत्यर्थः ॥४६॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चिदैक्यं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥६२॥

अज्ञपक्षेऽन्तरन्तः सन्त्यनन्ताः सर्गसंपदः ।

ब्रह्मैव ब्रह्मवित्पक्षे चिदैक्यनमीर्यते ॥ १ ॥

स्वप्नव्यवहारदृष्टान्तेन प्राक्समर्थितमप्यशरीरस्य संवादादि-
व्यवहारं मन्दप्रज्ञानां स्फुटबोधाय पुना रामः पृच्छति—तत्रेति ।
हे मुने, तव तथा पूर्वोक्तया स्त्रिया सह अस्वरूपेण मुखजिह्वाद्यव-
यवज्ञानेन वासनामात्रात्मना देहेन कथं व्यवहारोऽभूत् । तत्र
तस्यां दशार्थां कचटतपादयो वर्णास्त्वया विना जिह्वां कथमु-
च्चारिताः ॥ १ ॥ वर्णोच्चारणादिव्यवहारे शरीरस्य न कारणता
सत्यपि शवशरीरे तददर्शनाद्विनापि शरीरं स्वप्ने तद्दर्शनादन्व-
यव्यतिरेकव्यभिचारात् सहेतुकत्वे व्यवहारस्य सत्यतापत्तेश्च
किंतु कल्पनामात्रम् । तच्च तदापि मुलभमित्याशयेन वसिष्ठ
उत्तरमाह—वर्णेष्वित्यादिना । खमेव शरीरं येषां तत्त्वविदां
तेषां मते वर्णेषु मध्ये ये कचटतपादयस्ते कदाचनापि
नोद्यन्ति । कल्पनामात्ररूपवादित्यर्थः ॥ २ ॥ उक्तेऽर्थेऽनुकूलं
विपक्षे प्रतिकूलं च तर्कमाह—वर्णोच्चार इति । प्रकटश्वासा-
वर्थश्च प्रकटार्थः, परमार्थ इत्यर्थः । यदि स्वाप्नवर्णोच्चारः पर-
मार्थः स्यात्तदा पार्श्वस्थध्वणानुभवगोचरः स्यादिति तर्कः ॥३॥

स्वभावजं निद्रास्वभावबलकल्पितम् ॥ ४ ॥ यदैवं तदा किं
तत्राह—तथेति । तदा तैमिरिकाध्यस्तमिन्दुकाण्यमाकाश-
मूर्तेताशिलाकर्तृकं गीतमित्यादिप्रातिभासिकार्थतां गतास्तद-
वच्छिन्नचिदाकाशा इव स्वाप्नदेहशब्दादयोऽपि तत्तद्द्वन्द्वसंस्का-
रोपहितचिदाकाशा एव तथा भान्तीति सिद्धमित्यर्थः ॥ ५ ॥
ते चिदाकाशा एव तथा भान्तु किं ततस्तत्राह—तदिति ।
यथा नभसो मूर्तात्मना कचनं नभसो नेतरत् तथा तच्चिदा-
काशकचनादि यत्स्वप्नवेदने जगदाकारं प्रसिद्धं तच्चिदाकाश-
मेव विद्धि ॥ ६ ॥ एवं स्वप्नार्थानां चिदाकाशमात्रतां प्रसाध्य
तत्साम्येनैव पुरः स्थितानां समाधिदृष्टानां चार्थानां चिदाकाश-
मात्रतेत्याह—यथेति । तत् समाधिदृष्टम् ॥ ७ ॥ तथा चार्थं
सर्वोऽपि चित्त एव कचनचमत्कारो नाणुमात्रमप्यचिद्रूपं किञ्चि-
दस्तीत्याह—तथेति । इदं जगत्सत्यमिव स्थिरमिव च स्फुर-
द्भवति तथा चतुरं तच्चेतनं ब्रह्म स्थितमित्यन्वयः ॥८॥ प्रमाण-
गम्यस्य जाग्रत्प्रपञ्चस्य तदगम्यस्वप्नसाम्यमयुक्तमिति रामः
शङ्कते—भगवन्निति । असत्यमेव सत्यत्वं चक्षुरादिप्रमाण-
वेद्यतां कथं यातं कथं संभवेत् ॥ ९ ॥ अस्त्वापाततत्त्वक्षुरादि-
मानगम्यता, तथापि तत्त्वतो निमर्शासहचेनास्थिरत्वेन च स्वप्न-
साम्यमस्त्येवेत्याशयेनोत्तरमाह—शृण्वित्यादिना । स्वप्नवेदेवा-
त्मनो नान्यानि नाप्यात्मवत्सत्यानि स्थिराणि चेत्यनिर्वच-
नीयान्येवेत्यात्मसत्तयैव स्थितानि चेत्यर्थः ॥१०॥ एवं परस्परं
बीजभावाद्विरुद्धमेदामेदसमासमरूपत्वाच्च स्वप्नसाम्यमित्याह—
अनुभूतानीति ॥ ११ ॥ कदलीत्वक्संनिवेशवत्परस्परमन्तर-

अन्योन्यं तानि सर्वाणि न पश्यन्त्येव किंचन ।
जडानीवैकराशीनि बीजानीव गलन्त्यपि ॥ १३
द्योमात्मत्वाच्च गगनं न विदन्ति परस्परम् ।
अपि चेतनरूपाणि सुप्तानीव निरन्तरम् ॥ १४
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालमहनि व्यवहारिणः ।
असुरा निहता देवैस्ते स्वप्नजगति स्थिताः ॥ १५
अज्ञानाच्च गता मुक्तिं न जाञ्ज्याञ्जडतामिताः ।
न देहवन्तः किं सन्तु विना स्वप्नजगत्स्थितेः ॥ १६
सुप्ताः स्वप्नजगज्जाले स्वाचारव्यवहारिणः ।
पुरुषा निहताः पुंभिस्ते तथैव व्यवस्थिताः ॥ १७
निर्मोक्षा निःशरीरास्ते चेतनावासनान्विताः ।
दृष्टं स्वप्नजगज्जालं विना च क्व वसन्तु ते ॥ १८
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालव्यवस्थाचारचारिणः ।
ये हता राक्षसा देवैस्ते यथैव व्यवस्थिताः ॥ १९
एवं ये निहता राम किं ते कुर्वन्ति कथ्यताम् ।
अज्ञत्वाच्च गता मुक्तिं चेतनाच्च दृष्टिस्थिताः ॥ २०
साद्यभ्युर्वीजनं दृश्यमिदं सर्वं यथास्थितम् ।
चिरायानुभवन्त्येते यथेमे वयमाहताः ॥ २१
तेषां कल्पजगत्संस्था यथास्माकं तथैव ताः ।

अस्माकं जगतीसंस्था यथा तेषां तथैव च ॥ २२
एतेषां स्वप्नपुरुषास्त एवमे वयं स्थिताः ।
ये च ते नाम संसारास्तेभ्य एकमिमं विदुः ॥ २३
ते स्वप्नपुरुषास्तेषां सत्या एवानुभूतितः ।
आत्मनोऽपि परस्यापि सर्वगत्याच्चिदात्मनः ॥ २४
यथा ते स्वप्नपुरुषाः सत्यमात्मन्यथाऽपरे ।
तथापि स्वप्नपुरुषाः सत्यमेव तथैव ते ॥ २५
स्वप्नपुरपौरा ये त्वया दृष्टास्तथैव ते ।
स्थितास्तत्र तथाद्यापि ब्रह्म सर्वात्मकं यतः ॥ २६
प्रबोधेऽपि हि भिद्यन्ते स्वप्नभावा यथा स्थिताः ।
तथा स्थित्यानुभूयन्ते परब्रह्मतयागवा ॥ २७
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदास्ति तथा परे ।
यथा न किञ्चिन्नाकाशं न क्वचिन्न च हन्यते ॥ २८
निरन्तरे पराकाशे निरन्ते च विनोदये ।
निरन्ते चित्तसंघाते निरन्ते जगतां गणे ॥ २९
प्रत्याकाशकलाकोशं प्रतिसंसारमण्डलम् ।
प्रतिलोकान्तराकारं प्रतिद्वीपं गिरिं प्रति ॥ ३०
प्रतिमण्डलविस्तारं प्रतिग्रामं पुरं प्रति ।
प्रतिजन्तु प्रतिगृहं प्रतिघर्षं युगं प्रति ॥ ३१

न्तरानन्त्येनावस्थानानुभवादपि मिथ्यात्वात्स्वप्नसाम्यमेवेत्याह—
प्रत्येकमिति । स्वप्नवत्परस्परमदृष्टत्वादपि तथेत्याह—परस्पर-
मिति ॥ १३ ॥ तदेवोपपादयति—अन्योन्यमिति । कुसूल-
स्थबीजानीवान्तरेव गलन्त्यपि ॥ १३ ॥ गलितान्यपि तानि
चेतनरूपाण्येवेति न प्रतप्तस्वप्नरूपितजलबिन्दुवद्योमात्मतां
प्राप्य शून्यमेव संपद्यन्ते नापि अस्मदादिवत्परस्परं विदन्ति
पश्यन्ति किंतु अज्ञानादृष्टचेतनरूपत्वाच्चिरन्तरं सुप्तानीव
स्वप्नमेवानुभवन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥ तत्र सुप्ता जीवाः स्वप्नजगज्जालं
प्राप्य तत्रैव कल्पिते अहनि सर्वव्यवहारिणो भवन्तीति प्रति-
जानीते—सुप्ता इति । प्रतिज्ञातमर्थमसुरमनुष्यराक्षसादीनां
स्वप्नहतानां गत्यन्तराभावात्परिज्ञानमानेन साधयिष्यन्प्रथम-
मसुरेषु दर्शयति—असुरा इति साधेन ॥ १५ ॥ असुरा देव्याः
सौप्तिकेन देवैर्निहताः सन्तः स्वप्नजगत्स्थितेः स्थिताः । यतो
ज्ञानाभावान्मुक्तिं न गताः । नापि जडतां पाषाणादिभावमिताः ।
नापि देहवन्तः संपन्नाः । ईदृशास्ते स्वप्नजगत्स्थितोर्विना किं
सन्तिवत्यर्थः ॥ १६ ॥ एवं पुरुषा मनुष्या अपि स्वप्नरूपे
जगज्जाले वासनाभिर्बन्धव्यवहारिणः । ते च तत्रैवान्यैः पुंभिर्निहताः
सन्तस्तथैव प्राणुकासुरजीववत्स्वप्नपरम्परायामेव व्यवस्थिताः
॥ १७ ॥ यतस्तेऽपि ज्ञानाभावाच्चिर्मोक्षा निःशरीराश्चेति न
जागरक्षमा वासनाभिश्च व्यवहरणशीलाः । ईदृशास्तु ते स्वप्न-
जगज्जालं विना क्व वसन्तु । तेषां स्वप्नं विना नान्या गतिर-
स्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ अयमसुरेषु मनुष्येषु च दर्शितो न्यायो
राक्षसादिष्वपि योज्य इत्यावायेनाह—सुप्ता इति द्वाभ्याम्

॥ १९ ॥ २० ॥ तेषां स्वप्नप्रभिरानुभूत्या अस्मदनुभवसा-
म्याज्जाप्रदवस्थैव भवतीत्याह—साद्रीति । आहताः सत्यत्वा-
भिमानिनः ॥ २१ ॥ २२ ॥ तथा चास्माभिरनुभूयमानं जग-
त्तदन्तर्गता वयं च यदि तैर्दृष्टास्तर्हि अस्मज्जाग्रतेषां स्वप्नो वयं
च तेषां स्वप्नपुरुषाः संपद्यामहे इत्याह—एतेषामिति ॥ २३ ॥
आत्मनोऽपि परस्य पुरुषान्तरस्याप्यनुभूतितः अनुभवाद्यत-
स्तुत्या अतः सत्या एव, तत्सत्तानिमित्तस्याधिष्ठानचिदात्मनः
सर्वगतत्वेन तुल्यत्वादित्यर्थः ॥ २४ ॥ अपिशब्दो भिन्नक्रमः ।
यथा ते स्वप्नपुरुषाः सत्यास्तथा अपरेऽपि मया प्रतिस्वप्ननु-
भूयमानाः पुरुषाः सत्यमेव तथैव ते त्वयापि स्वप्नपुरुषा बोध्याः
॥ २५ ॥ २६ ॥ यथा ते ते स्वप्नभावाः प्रबोधे जागरणे यथा
भिद्यन्ते विशीर्यन्त इत्यनुभूयते तथा स्वप्नकाले स्थित्वा स्थिता
इत्येवानुभूयन्ते । तथा च तद्वाच इव तत्सत्ताप्यनुभवबलं लब्धा
नापहोतुं शक्येत्यर्थः । अथवा ब्रह्मसत्ताया एव सर्वसत्तात्म-
कत्वात्कस्यापि सत्ता कदापि नापहोतुं शक्येत्याशयेनाह—
परब्रह्मतयेति ॥ २७ ॥ तथा च प्राक् प्रतिज्ञातं फलितमि-
त्याह—सर्वमिति । यथा सर्वं जगदाकाशकार्यत्वादाकाशमेवेति
तद्रूपेण न क्वचित्किञ्चिदपि हन्यते तथा प्रथमं विनोदये उत्प-
त्तिशून्ये मध्ये निरन्तरे अग्रे च निरन्ते परमाकाशे ब्रह्मणि
तत्र निरन्ते असंख्ये चित्तसंघाते तेषु चासंख्ये जगतां गणे
तत्रापि प्रत्याकाशं तत्रापि प्रतिसंसारमण्डलं तत्रापि प्रतिभूरा-
दिलोकं तत्रापि प्रतिद्वीपं तत्रापि प्रतिगिरिं तत्रापि प्रतिमण्डल-
विस्तारं तत्रापि प्रतिग्रामं प्रतिपुरं तत्रापि प्रसिगृहं तत्रापि

यावन्तो ये मृताः केचिज्जीवा मोक्षविचर्जिताः ।
स्थितास्ते तत्र तावन्तः संसाराः पृथगक्षयाः ॥ ३२
तेषामन्तर्जनाः सन्ति जनं प्रति पुनर्मेनः ।
पुनर्मेनः प्रति जगज्जगत्प्रति पुनर्जनः ॥ ३३
इत्थमाद्यन्तरहित एष दृश्यमयी भ्रमः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० जगत्त्वैक्यप्रतिपादनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

ब्रह्मैव ब्रह्मवित्पक्षे नात्रेयत्तास्ति काचन ॥ ३४
कुड्ये नभस्युपलके सलिले स्थलेऽन्त-
श्चिन्मात्रमस्ति हि यतस्तदशेषविश्वम् ।
तद्यत्र तत्र जगदस्ति कुतोऽत्र संख्या
तज्जेषु तत्परमथाहमनःसु दृश्यम् ॥ ३५

चतुःषष्टितमः सर्गः ६४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततस्तत्कुवलोल्लासिमालतीमाह्वयलोचना ।
ललना ललितालोक्य लीलयाऽऽलपिता मया ॥ १
का त्वं कमलगर्भासे किमर्थं मामुपागता ।
कस्यासि किं प्रार्थयसे क्व गतासि किमास्पदा ॥ २
विद्याधर्युवाच ।
मुने शृणु यथावत्त्वमात्मोदन्तं वदाम्यहम् ।
प्रष्टुमर्हसि विस्रब्धमार्तां करुणयार्थिनीम् ॥ ३
परमाकाशकोशस्य कस्मिंश्चित्कोणकोटरे ।
युष्माकं संस्थितं किञ्चिदिदं तावज्जगद्गृहम् ॥ ४
पातालभूतलस्वर्गा इहापवरकास्त्रयः ।
कल्पनैका कुमार्यत्र कृता धातृत्वमायया ॥ ५

प्रतिजन्तु प्रतियुगादिकालं च यावन्तो ये जीवा मृता मोक्षवि-
चर्जिताः स्थितास्तावन्तः संसाराः पृथक्पृथगक्षया एव स्थिता
इति पश्चानामेकान्वयः ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
तावत्संख्ययापि जगत्संख्याया न विश्रान्तिरित्यनवस्थैव
मायाया भूषणमित्याशयेनाह—तेषामित्यादिना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
हे राम, कुड्ये नभसि उपले पाषाणे सलिले स्थले चान्तर्हि
यतश्चिन्मात्रमस्ति तदेवाशेषविश्वं न जगज्जगत्त्वन्तरम् ।
तत्तथा सति चितः सर्वगत्वाद्यत्र तत्र सर्वत्र जगत्स्वयैव । अत्र
जगति संख्या कुतः । तच्च विश्वं तज्जेषु परं निर्विशेषं निरति-
शयानन्दैकरसं ब्रह्मैव । तुशब्दार्थेऽथशब्दः । अज्ञानां मनः-
सु तदेव दृश्यप्रपञ्चमेवेत्यनर्थरूपमेवेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः
'तत्स्वैव मयं विदुषोऽमन्वानस्य' इति ॥ ३५ ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगत्-
त्वैक्यप्रतिपादनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

पृष्टयेह वसिष्ठेन विद्याधर्या हि विस्तारात् ।

स्वर्गोद्गन्मकर्माद्या निर्वेदान्ता निरूपिताः ॥ १ ॥

प्रासङ्गिकं प्रश्नं समाधाय श्रीवासिष्ठः प्रस्तुतकथाशेषमाह—
तत्त इत्यादिना । कुवलयान्युत्पलानीवोल्लासिनी कटाक्षमाला-
भिर्मालतीमाल्यानीव प्रसरती लोचने यस्याः सा ललना मया
आलोक्य लीलया कौतुकेन आलपिता संभाषिता । पृष्टेति
यावत् ॥ १ ॥ कस्यासि इद्विता भार्या वेति शेषः । किमास्पद-

तत्र द्वीपैः समुद्रैश्च वलितं वलयैरिव ।
पाटलोत्थं जगलक्ष्म्याः प्रकोष्ठमिव भूतलम् ॥ ६
अन्ते द्वीपसमुद्राणां सर्वदिक्कमवस्थिता ।
योजनानां सहस्राणि दश हेममयी मही ॥ ७
स्वयंप्रकाशसंकल्पफलदाम्बरनिर्मला ।
चिन्तामणिमयी स्वच्छा स्वच्छायाजितविष्टपा ॥ ८
साप्सरामरसिद्धानां लीलाविहरणावनिः ।
संकल्पमात्रसंपन्नसर्वसंभोगसुन्दरी ॥ ९
अन्ते तस्या भुवः शैलो लोकालोकोऽस्ति विश्रुतः ।
भूपीठस्य प्रकोष्ठस्य वलयावलनां दधत् ॥ १०
कच्चिन्नित्यं तमोव्याप्तो मूढबुद्धेरिद्याशयः ।
कच्चिन्नित्यं प्रकाशात्मा मनः सखवतामिव ॥ ११

मायासस्थलं यस्याः ॥ २ ॥ आत्मनः स्वस्या उदन्तं वृत्तान्तम् ।
एकान्ते विस्रब्धं परदारसंभाषणमयुक्तमिति शङ्कां वारयति—
प्रष्टुमिति । आर्ता आर्तिप्रशमनोपायार्थिनीं मां करुणया
विस्रब्धं प्रष्टुमर्हसीत्यन्वयः । तथा च गतामार्ताधासनमुचितमे-
वेति भावः ॥ ३ ॥ तत्र प्रथमं स्वास्पर्दं वक्तुमुपक्रमते—पर-
माकाशेत्यादिना । कस्मिंश्चिदिति । 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि'
इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ४ ॥ इहासिन्धुष्मजगद्गृहे अपव-
रका अन्तर्गृहप्रकोष्ठाः । अत्र एष्वपवरकेषु धातृत्वं हिरण्यग-
र्भता तदाकारया मायया सर्गवैचित्र्यकल्पनाख्या एकैव कुमारी
गृहस्वामिनी क्रीडार्थं कृतेत्यर्थः ॥ ५ ॥ यतो द्वीपैः समुद्रैश्च
वलयैरिव वलितमत एव तद्वर्णैः पाटलं सदुत्थमुन्नतं जगलक्ष्म्याः
प्रकोष्ठं करमूलमिव स्थितमित्यर्थः ॥ ६ ॥ सप्तानां द्वीपानां
समुद्राणां चान्ते सर्वदिक्कं परित इति यावत् । योजनानां दश
सहस्राणि परिणाहतो दैर्घ्येण ॥ ७ ॥ तां महीं वर्णयति—स्वय-
मित्यादिना । स्वयमेव रात्रावपि प्रकाशते इति स्वयंप्रकाशा ।
संकल्पानां सर्वकामानां फलदा । अम्बरमिव निर्मला ।
चिन्तामणिप्रचुरा । स्वच्छा नीरजस्का । स्वकान्त्या जिता विष्टपाः
स्वर्गदिलोका यया ॥ ८ ॥ साप्सरसाममराणां सिद्धानां च
लीलाविहरणोचिता अवनिः । सेति पृथक्पदं वा ॥ ९ ॥ अन्ते
बहिः प्रान्ते भूपीठलक्षणस्य जगलक्ष्मीप्रकोष्ठस्य वलयवदावलनां
परितः स्थितिम् ॥ १० ॥ तं शैलं वर्णयति—कच्चिदित्या-

१ ततः कुवलयोल्लासि इति पाठः सुबन्तः; कुवलयपर्यायः

कुवलयशब्दोऽप्यस्तीति यथावस्थितोऽपि संयच्छत पद्य.

कचिदाहादजनकः साधूनामिव संगमः ।
 कचिदुद्वेगजनको मूर्खैरिव समागमः ॥ १२
 कचित्प्रकटसर्वाथो मनो मतिमतामिव ।
 कचिदत्यन्तगहनो मूर्खश्चोत्रियचित्तवत् ॥ १३
 कचिदप्राप्तसोमांशुः कचिदप्राप्तसूर्यभाः ।
 कचिल्लोकमयस्तेन कचिदाशून्यदिकतटः ॥ १४
 कचिद्देवपुरव्याप्तः कचिद्देवपुरान्वितः ।
 कचित्पातालगहनः कचिच्छृङ्गोर्ध्वकन्धरः ॥ १५
 कचिच्छृङ्गभ्रमदृग्धः कचित्सानुमनोहरः ।
 कचिच्छृङ्गशिखाक्रान्तवैरिञ्चनगरान्तरः ॥ १६
 कचिच्छून्यमहारण्यवहृत्कल्पान्तमारुतः ।
 कचित्पुष्पवनोद्यानगायद्विद्याधरीगणः ॥ १७
 कचिन्पातालगम्भीरगुहाकुम्भाण्डभीषणः ।
 कचिन्नन्दनसोदर्यमुन्याश्रममनोरमः ॥ १८
 कचिदक्षयमत्ताश्रमः कचिदुर्लभवारिदः ।
 कचिद्भ्रमगुहाश्वभ्रमगहनोपान्तमण्डलः ॥ १९
 कचित्शुद्धजनाक्षेपसमुत्सादितभूतभूः ।
 कचिद्वास्तव्यजनतासौजन्यजितविष्टपः ॥ २०
 कचिन्नित्यं वहद्वाताजातस्थावरजङ्गमः ।
 कचित्सर्वक्षयोन्मुक्तस्थिरस्थावरजङ्गमः ॥ २१
 कचिन्महामरुमरुन्मुक्तभांकारभीषणः ।
 कचित्कण्टकमलिनीमत्तसारसभूषणः ॥ २२
 कचित्सलिलकल्लोलजलदोल्लासघर्घरः ।
 कचिन्मत्तान्सरोदोलाविलासजनितस्सरः ॥ २३
 कचित्पिशाचकुम्भाण्डवेष्टिताश्चेष्टदिकतटः ।
 कचिद्विद्याधरीसिद्धनृत्यगीतसरित्तटः ॥ २४

दिना ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ लोकमयो जनप्रचुरः । कचित्तु
 बहिर्भागे तेन लोकेनाशून्यानि दिक्तटानि यस्य ॥ १४ ॥
 पातालमिव गहनो दुष्प्रवेशः ॥ १५ ॥ शृङ्गशिखाक्रान्तवैरि-
 नगरान्तर इत्यौषत्यातिशयोक्तिः ॥ १६ ॥ १७ ॥ पातालग-
 म्भीरासु गुहासु कुम्भाण्डैः पिशाचभेदैर्भीषणः ॥ १८ ॥ अक्ष-
 याणि सदा स्थितानि मत्तानीव गर्जनपराण्यभ्राणि यस्मिन्
 ॥ १९ ॥ जनपदक्षोभेण क्षुब्धानां संचलितानां जनानामाक्षेपैः
 खड्गकुठारदिप्रहारैः समुत्सादिता भूतभुवो रक्षःपिशाचादिनि-
 वासा यस्मिन् । वास्तव्यजनसमूहानां सौजन्येन जितत्रिविष्टपः
 ॥ २० ॥ नित्यममीक्षणं वहद्भिर्वातेरैव आज्ञाता उद्धृता अज्ञाता वा
 स्थावरजङ्गमा यत्र । विषशक्नाभिरोगादिनिमित्तभेदैः सर्वैः
 स्यैरुन्मुक्ता अत एव चिरं स्थिराः स्थावरजङ्गमा यत्र ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ २३ ॥ पिशाचैः कुम्भाण्डैश्च वेष्टितानि अत एव
 आचेष्टानीव दिक्तटानि यस्य ॥ २४ ॥ उद्वर्षतामम्भोदानां
 सरिदक्षणेर्बाहुभिर्लुठत्तटो विशीर्यमाणवप्रः ॥ २५ ॥ कमलिन्याः
 कोशलक्षणवकस्यैर्भ्रमरनेत्रैरारब्धध्यानं अर्धात्सरोजिनीमण्डलं
 यत्र । स्वर्गाङ्गानामप्यरसां सिद्धसुन्दरीणां च दम्तास्ताम्भू-
 यो० वा० १५२

कचिदुद्वर्षदम्भोदसरिद्बाहुलुठत्तटः ।
 कचित्सततगानीतनीतनानाश्रसत्पटः ॥ २५
 कचित्कमलिनीकोशवक्रस्याध्यानमण्डलः ।
 कचित्स्वर्गाङ्गनासिद्धसुन्दरीदन्तमण्डनः ॥ २६
 कचित्सपदिनकरजनताचारसुन्दरः ।
 कचिन्नैशतमोगेहृत्तुल्यमत्तनिशाचरः ॥ २७
 कचिदुत्पतदुत्पाततया नश्यज्जनाधनिः ।
 कचित्सौराज्यसंपस्या प्रोद्भवत्पुरमण्डलः ॥ २८
 कचिदत्यन्तनिःशून्यः कचिज्जनपदावृतः ।
 कचिच्छृङ्गान्तगम्भीरः कचित्पातालभीषणः ॥ २९
 कचिद्दृहृत्कल्पतरुः कचिन्निर्जलजङ्गमः ।
 कचिन्महाकरिकुलः कचिन्मत्तहरित्रजः ॥ ३०
 कचिन्निर्भूतमुद्यातः कचिदुन्मत्तराक्षसः ।
 कचित्करञ्जगहनः कचित्पालमहावनः ॥ ३१
 कचिद्योमोपमसराः कचिद्दीर्घमरुस्थलः ।
 कचिन्नित्यभ्रमत्पांसुः कचित्सर्वतुंकाननः ॥ ३२
 शिखरेषु शिलास्तस्य सामान्याचलसंनिभाः ।
 सन्ति सुस्थितकल्पाभ्रा रत्नमध्योऽम्बरामलाः ॥ ३३
 क्षीरोदकार्कगौरीणां वनस्कन्धौकसामिव ।
 विभ्राम्यन्त्यनिशं यासु हरयो हरियोनयः ॥ ३४
 तासामुत्तरदिग्भागे पूर्वशृङ्गशिलोदरे ।
 निवसाम्यहमक्षीणवज्रसारसमत्वचि ॥ ३५
 विधिना तत्र बद्धास्मि वसाम्युपलयन्मके ।
 अत्रासंख्या मुने याता मन्थे युगगणा मम ॥ ३६
 न केवलमहं बद्धा यावद्भूर्तापि तत्र मे ।
 यद्दः सायंतने पद्मकुञ्जले षट्पदो यथा ॥ ३७

मण्डयतीति तथोक्तः । नागवल्लीवनभूषित इति यावत् ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ निःशून्यः शून्य एव । जलपूर्णैः शृङ्गान्तैर्ग-
 म्भीरः शुष्कैस्तु पातालभीषणः ॥ २९ ॥ मत्ता हरित्रजाः सिंह-
 वानरादिसमूहा यस्मिन् ॥ ३० ॥ निर्भूतं प्राणिनिकायशून्यं
 यथा स्यात्तथा उद्यातः । वृषोद्धत इति यावत् ॥ ३१ ॥ नैर्मत्य-
 विस्तारादिभिव्योमोपमानि सरांसि यस्मिन् । सर्वे ऋतवो यत्र
 तथाविधानि काननानि यस्मिन् ॥ ३२ ॥ तस्य वर्णितरूपस्य
 लोकालोकशैलस्य शिखरेषु सामान्याचलाः सहायमलयादयस्त-
 त्संनिभा रत्नमध्यः शिलाः सन्ति ॥ ३३ ॥ क्षीरमिवोदक-
 मिबार्क इव च गौरीणामवदातानां यासां शिलानां पृष्ठेषु वने
 स्कन्धौकसां महातरुणां स्कन्धेष्विव अन्येषां हरीणां योनयः
 कारणभूताः सपुत्रपौत्रा इति यावत् । हरयः सिंहवानरादयो
 विभ्राम्यन्ति ॥ ३४ ॥ तासां शिलानां मध्ये तस्य गिरेरुत्तर-
 दिग्भागे पूर्वदिक्स्थस्य शृङ्गस्य या शिला तदुदरे अहं निव-
 सामीति किमास्पदा इति प्रश्नस्योत्तरम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ कस्यापी-
 त्याविप्रभ्रानामुत्तरं वक्तुमारभते—न केवलमित्यादिना ॥ ३७ ॥

तेन सार्धं मया भर्त्रा शिलाकोटरसंकटे ।
 अनुभूताश्चिरं कालमत्र वर्षगणा गताः ॥ ३८
 अद्याप्यात्मैकदोषेण न हि मोक्षं लभावहे ।
 चिरं तत्रैव तिष्ठामस्तथैवाबद्धभावनौ ॥ ३९
 पाषाणसंकटे तस्मिन्बद्धावावां न केवलम् ।
 बद्धो यावदशेषेण परिवारोऽपि तत्र नौ ॥ ४०
 पुराणपुरुषो बद्धो द्विजस्तत्रास्ति मे पतिः ।
 एकस्थानात् चलति जीवन्युगशतान्यसौ ॥ ४१
 आबाल्याद्ब्रह्मचारी च श्रोत्रियः पाठकोऽलसः ।
 एकान्त एक एवास्तेऽजिह्ववृत्तिरचापलः ॥ ४२
 अहं व्यसनिनी भार्या तस्य वेदविदां घर ।
 न निमेषं समर्थास्मि तं विना देहधारणे ॥ ४३
 शृणु तेन कथं ब्रह्मन्भार्याहं समुपार्जिता ।
 कथं वृद्धिमयं यातः स्नेहोऽस्माकमकृत्रिमः ॥ ४४
 तेन जातेन मद्भर्त्रा बालेनैव सता पुरा ।
 किञ्चिज्ज्ञेन सतैकेन तिष्ठतात्मालयेऽमले ॥ ४५
 श्रोत्रियत्वानुरूपेण जाया मे जन्मशालिनी ।
 कुतः संभवतीत्येव निर्णाय चिरचिन्तया ॥ ४६
 स्वयमेवानवद्याङ्गी तेन तामरसेक्षण ।
 उत्पादितास्मि नाथेन ज्योत्स्नेव शशिनाऽमला ॥ ४७
 मनसा मानसीभार्या मन्दरोत्तमसुन्दरी ।
 ततो वृद्धिं प्रयातास्मि वसन्त इव मञ्जरी ॥ ४८
 सहजाम्बरसंछन्ना भूतानां चित्तहारिणी ।
 पूर्णेन्दुविम्बवदना द्यौरिधामलतारका ॥ ४९
 कोरकोच्चस्तनभरा समग्ररसशालिनी ।
 लतावरवनेनेव करपल्लवशालिनी ॥ ५०
 सर्वस्य जन्तुजातस्य नित्यं हृदयहारिणी ।

॥ ३८ ॥ एको दोषः कामस्तेन । आबद्धा भावना ममता
 याभ्यां तौ ॥ ३९ ॥ परिवारः पुत्रपौत्रभृत्यादिः परिजनः ।
 नौ आवयोः ॥ ४० ॥ असां मे पतिर्युगशतानि जीव-
 क्षपि एकस्थानात्स्वासनात् चलति नोत्तिष्ठति ॥ ४१ ॥
 श्रोत्रियः स्वाध्यायशीलः । अत एवान्येषां पाठकोऽपि । अजिह्व-
 वृत्तिः ऋजुः । अचापलः इन्द्रियचापलश्चून्यः ॥ ४२ ॥ स्वयं
 तु न तथेत्याह—अहमिति ॥ ४३ ॥ अस्माकं आवयोः ।
 'अस्मदो द्वयोश्च' इति बहुवचनम् ॥ ४४ ॥ स्वजन्मप्रकारमाह—
 तेनेति ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ स्वां वर्णयति—सह-
 जेत्यादिना ॥ ४९ ॥ रस्यन्त इति रसा गुणास्तैः शालिनी ॥ ५० ॥
 हरिण्या इव तारे दीर्घे नयने यस्याः ॥ ५१ ॥ व्यसनिनीति
 यदुक्तं तद्विवृणोति—लीलेत्यादिना । न च तृप्ता भोगेष्वित्यर्थः
 ॥ ५२ ॥ समदर्शिभर्तृमनःकल्पनामयत्वाद्ब्रह्मलक्ष्म्योः प्रिया-
 सखीव समदर्शिनी । अत एव मोहजालानामभिजापि संप-
 दापदोरखिणा ॥ ५३ ॥ भर्तृमनोमयत्वादेव तत्कल्पितत्रैलोक्य-

हरिणीतारनयना मदनोन्माददायिनी ॥ ५१
 लीलाविलासैकरता हेलावलितलोचना ।
 गेयवाद्यप्रिया नित्यं न च तृप्तानुरागिणी ॥ ५२
 सौभाग्यभोगपरमा लक्ष्म्यलक्ष्म्योः प्रिया सखी ।
 अनन्या मोहजालानामखिणा संपदापदोः ॥ ५३
 न केवलमहं गेहं धारयामि द्विजन्मनः ।
 यावत्रैलोक्यसदनमिदमङ्ग विभर्म्यहम् ॥ ५४
 अहं कुलकरी भार्या कलत्रभरणक्षमा ।
 त्रैलोक्यगृहसंभारधारणैकभरोद्बहा ॥ ५५
 अथाहं तरुणी जाता समुद्भिन्नोन्नतस्तनी ।
 लतोल्लुल्लुच्छेव विलासरसशालिनी ॥ ५६
 पतिर्मां दीर्घसूत्रत्वाच्छ्रोत्रियत्वात्तपोरतः ।
 कयाप्यपेक्षयाद्यापि न विवाहितवानिमाम् ॥ ५७
 तेन यौवनसंपन्नविलासरसशालिनी ।
 तं विना व्यसनेनाहं वद्रेऽग्नाविष पश्चिनी ॥ ५८
 शीतानिलविलोलासु नलिनीषु निरन्तरम् ।
 अङ्गदाहमवाप्नोमि पूताङ्गारस्थलीष्विव ॥ ५९
 उद्यानावनयः सर्वाः पूर्णाः कुसुमवर्षणैः ।
 संपन्नास्तसिकताः शून्या मे मरुभूमयः ॥ ६०
 जलकल्लोलकह्लारकमलोत्करकोमलाः ।
 सरस्यः सारसारावसरसा मम नीरसाः ॥ ६१
 अहं पुष्करमन्दारकुमुदोत्करमालिता ।
 भृशं दाहमवाप्नोमि कण्टकेष्विव दोलिता ॥ ६२
 कुमुदोत्पलकह्लारकदलीतल्पपालयः ।
 मदङ्गसङ्गमाङ्गीष्ममर्मरा यान्ति भस्मताम् ॥ ६३
 यत्कान्तमुचितं स्वादु विचित्रं चित्तहारि च ।
 तदालोक्य भवाम्यन्तर्बाष्पपूर्णायतेक्षणा ॥ ६४

धारणमपि मदीनमेवेत्याह—न केवलमिति ॥ ५४ ॥
 कुलकरी पुत्रपौत्रपरम्पराप्रसवयोग्या । कलत्रं पोष्यवर्गस्तद्भर-
 णक्षमा ॥ ५५ ॥ उल्लुल्लुच्छा उल्लसत्फलपुष्पगुच्छा लतेव
 ॥ ५६ ॥ इमामेवंगुणलक्षणामपि मां पतिः सः ब्राह्मणो दीर्घ-
 सूत्रत्वादशीघ्रकारितास्वभावात् कयापि वक्ष्यमाणया मोक्षा-
 पेक्षया न विवाहितवान् ॥ ५७ ॥ अविवाहे त्वं कथं तस्य
 भार्या तत्राह—तेनेति । तेन सह यौवनेन संपन्नो यो भोग-
 विलासविषयो रस इच्छा तच्छालिनी । अहं स्वमनोरथेनैव
 तं भर्तारं वृत्तवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥ पूतानां भस्ममार्जनेन संधुस्त्रि-
 तानामङ्गाराणां स्थलीष्विव ॥ ५९ ॥ तप्ताः सिकता यासु तथा-
 विधा मरुभूमयः संपन्नाः ॥ ६० ॥ कह्लाराणां पद्ममेदानां कमलानां
 चोत्करैः कोमलाः सुखस्पर्शाः ॥ ६१ ॥ दाहशान्तये पुष्करा-
 दिकुमुदोत्करैः सखीभिर्दोलाशय्यादिरचनेन मालिता दोलिता
 विच्छिठितेव ॥ ६२ ॥ अङ्गसङ्गमाङ्गिणिसाङ्गीष्मेण तापोष्मणा
 शुष्काः प्रथमं मर्मरा भूत्वा ततो भस्मतां यान्ति ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

व्यसनानलसंतप्ताः पतन्तो वाष्पविन्दवः ।
 छमच्छमिति मज्जन्ति कमलोत्पलपङ्क्तिषु ॥ ६५
 कदलीकन्दलीस्कन्धदोलान्दोलनलीलया ।
 लालितोद्यानखण्डेषु मुखमाच्छाद्य रोदिमि ॥ ६६
 तुषारनिकराकीर्णं कदलीदलमण्डपम् ।
 पद्म्याम्युष्माणमुज्ज्वलन्तं खदिराङ्गारमीषणम् ॥ ६७
 नलिनीनालदोलासु सारसीं सारसाश्रिताम् ।
 दीनानना विलोकयान्तर्निन्दामि निजयौवनम् ॥ ६८
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० विद्याधरीव्यसनवर्णनं नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

रम्ये रोदिमि मध्यस्थे पदार्ये यामि सौम्यताम् ।
 हृष्याम्यशोभने दीना न जाने किमहं स्थिता ॥ ६९
 दृष्टानि कुन्दमन्दारकुमुदानि हिमानि च ।
 मया कामाग्निदग्धानां भस्मानीव दिशं प्रति ॥ ७०
 आनीलपल्लवमृणाललतोत्पलानां
 कङ्कारकुन्दकदलीदलमालतीनाम् ।
 शय्या ममाङ्गचलनेन विशोषयन्त्या
 व्यर्थं गतानि नवयौवनवासराणि ॥ ७१

पञ्चषष्टितमः सर्गः ६५

विद्याधर्युवाच ।

अथ कालेन महता सोऽनुरागो विरागताम् ।
 प्राप्तो मम शरच्छान्तौ विरसः पल्लवो यथा ॥ १
 वृद्ध एकान्तरसिको नीरसः स्नेहवर्जितः ।
 भर्ताऽजिह्वमतिमौनी किं मन्ये जीवितेन मे ॥ २
 वरं वैधव्यमावाह्याद्वरं मरणमेव च ।
 वरं व्याधिरथापद्वा नाहृद्यप्रकृतिः पतिः ॥ ३
 एतावज्जन्मसाफल्यं सौभाग्यमविविण्डितम् ।
 रसिकः पेशलाचारो यन्नार्यास्तरुणः पतिः ॥ ४
 हता नीरसनाथा स्त्री हताऽसंस्कारिणी च धीः ।
 हता दुर्जनमुक्ता श्रीर्हता वैश्याहता च ह्रीः ॥ ५
 सा स्त्री यानुगता भर्त्रा सा श्रीर्यानुगता सता ।

छमच्छमीति प्रवीपनिपतस्सार्चिःस्नेहविन्दुनिपातशब्दसादृश्य-
 द्योतनार्थमव्यक्तानुकरणम् । 'डाषि बहुलं द्वे भवतः' इत्यत्र
 बहुलप्रहणाद्वित्वे 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' इति उत्तरदला-
 च्छब्दस्य पररूपम् । 'नास्नेहितस्यान्त्यस्य तु वा' इति निषे-
 धस्तु छान्दसत्वात्तेति बोध्यम् । मज्जन्ति अन्तःप्रविशन्ति
 खोष्मणा कमलोत्पलानि झटिति शोषयन्तः स्वयमपि शुष्य-
 न्तीति यावत् ॥ ६५ ॥ उद्यानखण्डेषु सस्त्रीभिः कदलीकन्दली-
 स्कन्धकल्पितपल्लवदोलासु आन्दोलनलीलया लालिता सती
 ताभ्यः स्वदुःखं वक्तुमशक्ता लज्जया मुखमाच्छाद्य रोदिमि ॥ ६६ ॥
 ॥ ६७ ॥ सारसेन भर्त्रा आश्रितां संगताम् ॥ ६८ ॥ अशो-
 भने मूर्च्छाजडीभावादौ हृष्यामि यतस्तदानीमहं किं स्थितेति न
 जाने । तथा चाहन्ताविलये तद्गतदुःखस्याननुभवद्विश्राम्यामी-
 त्यर्थः ॥ ६९ ॥ दिशं प्रति प्रतिदिशम् । असमासे अद्विवचनं
 छान्दसम् ॥ ७० ॥ आनीलानां तमालादिपल्लवानां मृणालल-
 तानां उत्पलानां च तथा कङ्काराकीर्णां च शय्याः अङ्गचलनेन
 देहसंयोगेन विशोषयन्त्या मम नवयौवनवासराणि व्यर्थं गतानि
 ॥ ७१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे विद्याधरीव्यसनवर्णनं नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

सा धीर्या मधुरोदारा साधुता समदृष्टिता ॥ ६
 नाधयो व्याधयो नैव नापदो न दुरीतयः ।
 कुर्वन्ति मनसो बाधां वृष्योरनुरक्तयोः ॥ ७
 उत्फुल्लाः कुसुमस्थल्यो नन्दनोद्यानभूमयः ।
 धन्वायन्ते कुनाथानां विनाथानां च योषिताम् ॥ ८
 सर्व एव जगद्भावा यथेच्छं गुणलेशतः ।
 संत्यज्यन्ते प्रमादासु वर्जयित्वा पतिं स्त्रिया ॥ ९
 स्थिरयौवनया दुःखान्येतानि मुनिनायक ।
 भुक्तानि वर्षवृन्दानि पश्य दौर्भाग्यजृम्भितम् ॥ १०
 अथ क्रमेण तेनैव सरागो मे विरागताम् ।
 आययौ हिमदग्धाया नलिन्या इव नीरसः ॥ ११
 विरागवासनास्तेन सर्वभावानुरञ्जना ।

इह कालेन संप्राप्ते स्वानुरागे विरागताम् ।

संसिद्धा भारणाभ्यासैर्जितासुः सा न्यवेदयत् ॥ १ ॥

शरच्छान्तौ हेमन्तारम्भे पल्लवो यथा विरसः सन् विरा-
 गतां प्राप्नोति तद्वत् ॥ १ ॥ कीदृशविचारक्रमेण विरागतां प्राप्त-
 स्तमाह—वृद्ध इत्यादिना । अजिह्वमतिः ऋजुचित्तः । किं
 फलमिति शेषः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ असंस्कारिणी शास्त्रीय-
 संस्कारहीना । तथा ह्रीः सत्कुलाचाराद्युचिता पुंसां लज्जा च
 वैश्याभिः पुंश्वलीभिर्हता चेत् हता ॥ ५ ॥ शमदमादिसंपत्त्या
 मधुरा या सैव धीः सा बुद्धिः । एवं सैव साधुता या समदृष्टिते-
 ल्यनुषज्यते ॥ ६ ॥ दुष्टा इतयः 'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा
 मूषकाः खगाः । अत्यासन्नाथ राजानः षडेता इतयः स्मृताः'
 ॥ ७ ॥ धन्वायन्ते मरुभूमिवदाचरन्ति । संतापयन्तीति यावत्
 ॥ ८ ॥ अत एव सर्वं सुत्यजं पतिरेको दुस्त्यज इत्याह—सर्वं
 पृषेति । जगति प्रसिद्धा भावा गृहक्षेत्रबन्धुधनादयः । गुण-
 लेशतः गुणाल्पतावशात् प्रमादादनवधानाद्वा । तुशब्दो म्लिज-
 क्रमः । पतिमेकं तु वर्जयित्वेति ॥ ९ ॥ भुक्तानि मयेति शेषः ।
 वर्षवृन्दानीति कालाश्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया । दौर्भाग्य-
 जृम्भितं मयेति शेषः ॥ १० ॥ अथवा ममायं भाग्योदय

तवोपदेशेनेच्छामि मुने निर्वाणमात्मनः ॥ १२
 अप्राप्तमिमतार्थानामविश्रान्तधियां परे ।
 मरणैरुह्यमानानां जीवितात्मरणं वरम् ॥ १३
 स मङ्गर्ताद्य निर्वाणमीहमानो दिवानिशम् ।
 राजा रात्रेव मनसा मनो जेतुं प्रबुध्यते ॥ १४
 ब्रह्मस्तस्य च मङ्गर्तुर्मम चाज्ञानशान्तये ।
 न्यायोपपन्नया वाचा कुरु स्मरणमात्मनः ॥ १५
 यदा मामनपेक्ष्यैव स मङ्गर्तात्मनि स्थितः ।
 तदा विरागो वैरस्यमनयन्मे जगत्स्थितिम् ॥ १६
 संसारवासनावेशवर्जितास्मि ततोऽवसम् ।
 निबध्यामिमतां तीव्रां व्योमसंचारधारणाम् ॥ १७
 भर्जयित्वा तथा व्योम्नि गतिं धारणया मया ।
 अभ्यस्ता धारणा भूयः सिद्धसङ्गफलप्रदा ॥ १८
 ततः स्वजगदाधारपूर्वापरनिरीक्षया ।
 स्थिताहं धारणां बद्धा सापि सिद्धिं समागता ॥ १९
 अथ स्वजगतो दृष्ट्वा हृदयं तस्य बाह्यगा ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारा० वा० दे० मोक्षो० निर्वाण० उ० पाषाणो० विद्याधरीजन्मव्यवहारवर्णनं नाम पञ्चषष्ठितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

अहं दृष्टवती स्थूलां लोकालोकगिरेः शिलाम् ॥ २०
 एतावतापि कालेन दंपस्योरावयोर्मुने ।
 परं द्रष्टुमभूदिच्छा न काचन कदाचन ॥ २१
 मङ्गर्ता केवलं शुद्धवेदार्थैकान्तचिन्तया ।
 न च यातं न चायातं वेत्यहो विगतैषणः ॥ २२
 तेनासौ मत्पतिर्विद्वानपि न प्राप्तवान्पदम् ।
 अथ सोऽहं च वाञ्छावः प्रयत्नेन परं पदम् ॥ २३
 तदेतामर्थितां ब्रह्मन्सफलां कर्तुमर्हसि ।
 महतामर्थिनो व्यर्था न कदाचन केचन ॥ २४
 भ्रमन्ती सिद्धसेनासु सदा नभसि मानद् ।
 त्वहते नेह पश्यामि घनाज्ञानदवानलम् ॥ २५
 ब्रह्मन्विनैव करुणाकरकारणेन
 सन्तो यतोऽर्थिजनवाञ्छितपूरणानि ।
 कुर्वन्ति तेन शरणागततामुपेतां
 मामर्हसीह न तिरस्करणेन योक्तुम् ॥ २६

षट्षष्ठितमः सर्गः ६६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथेत्युक्तवती पृष्ठा सा मया कल्पितासना ।

एवेत्याशयेनाह—अथेत्यादिना । क्रमेण नीरसः सन् विरागता-
 माययौ ॥ ११ ॥ तेनोक्तं क्रमेण विरागवासनाः प्राप्य
 सर्वभावेषु तदनुरजना यस्यास्तथाविधा अहं संप्रति तवोप-
 देशेन आत्मनो निर्वाणमिच्छामि ॥ १२ ॥ ईदृशोऽपि समये
 त्वादृशोपदेष्टुलमेऽपि विश्रान्तिमनिच्छन्त्या मम जीवनं
 व्यर्थमपि तु मरणमेव वरमित्याशयेनाह—अप्राप्तेति ।
 मरणैर्मरणतुल्यदुःखप्रवाहैरुह्यमानानाम् ॥ १३ ॥ सहधर्मचारि-
 णीनां स्त्रीणां भर्तृसमानशीलौचित्याच्च भर्त्रा सह त्वया-
 हमुपदेश्येत्याह—स इति द्वाभ्याम् । यथा राजा रात्रैव सहा-
 येन राजानं जेतुं प्रबुध्यते नीतिशास्त्रोक्तोपायैर्जागरूको भवति
 तद्वत्स मम भर्तापि मनसैव मनो जेतुं प्रबुध्यते । विवेकोपाय-
 जागरूको वर्तते इत्यर्थः ॥ १४ ॥ आत्मनः स्मरणं विस्मृतकण्ठ-
 चाभीकरवत्प्रबोधनम् ॥ १५ ॥ मां अनपेक्ष्य मदपेक्षां विहा-
 यैवेत्यर्थः । विरागो जगत्स्थितिं वैरस्यं नीरसतामनयत् ।
 नयसौर्हिकर्मता प्रसिद्धा ॥ १६ ॥ इदानीं स्वस्याः धारणा-
 भ्यासस्थिरचित्तत्वेनाप्युपदेशाधिकारसंपत्तिरस्तीत्याशयेनाह—
 संसारेति । व्योमसंचारसिद्धिदां प्राग्वर्णितां खेचरीमुद्राख्यां
 धारणाम् ॥ १७ ॥ सिद्धसङ्गः सिद्धैः सह संवादाविव्यवहारस्त-
 त्फलप्रदा । अत एवान्यैरगम्यमपीदं रहःस्थानमागत्य त्वया
 सह संवदामीति भावः ॥ १८ ॥ स्वजगत्स्वावासब्रह्माण्डस्तदा-
 कारस्व पूर्वापरभागघटिताकारस्य शास्त्रदृशा योगदृशा च कर-
 तन्ममलकविकिरीक्षया तदाकारां भावनां बद्धा स्थिता । साधा-

संकल्पितासनस्थेन स्थितेन नभसि स्थिता ॥ १

रणपि मे तदवयवसर्वभूतजयक्रमेण सिद्धिमागता ॥ १९ ॥
 हृदयमन्तर्गतसर्ववस्तु दृष्ट्वा तस्य बाह्ये निर्गता अहं प्राग्वर्णितां
 स्वजगद्गर्भमेतद्ब्रह्माण्डस्थस्य लोकालोकगिरेः शिलां दृष्टवती
 ॥ २० ॥ प्राक् तु कदाप्ययं ब्रह्माण्डो मया मत्पतिना वा न
 दृष्टस्तदिच्छाभावादित्याह—एतावतेति ॥ २१ ॥ शुद्धवेदार्थो
 धर्मः परमात्मा च तदेकान्तचिन्तया । यातं गतं कालं अयातं
 वर्तमानमविष्यत्कालं तदन्तर्गतपदार्थान्ब्रह्मतत्त्वं च न वेति
 ॥ २२ ॥ तेन तत्त्वावेदनेन । अथ त्वदुपदेशश्रवणमननादि-
 प्रयत्नेन परं पदं ज्ञातुमिति शेषः ॥ २३ ॥ महता भवादृशानां
 संनिधौ । अर्थिनः पुरुषार्थलिप्सवः । अप्यर्थे चनशब्दौ ॥ २४ ॥
 अन्य एव सिद्धा इममर्थं कुतो न प्रार्थितास्तत्राह—भ्रमन्ती इति
 ॥ २५ ॥ इत्थं स्ववृत्तान्तमखिलं जिज्ञासितं च निवेद्य शरणं
 प्रतिपद्य स्वस्या अनुपेक्षणीयतां प्रार्थयते—ब्रह्मञ्जिति । यतः
 कारणात्सन्तो विनैव कारणेन अर्थिजनवाञ्छितपूरणानि कुर्वन्ति
 तेन कारणेन शरणागततामुपेतां मां तिरस्करणेनोपेक्षणेन योक्तुं
 नार्हसि । अर्थिनामुपेक्षाया एव तिरस्कारत्वादिति भावः ॥ २६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 विद्याधरीजन्मव्यवहारवर्णनं नाम पञ्चषष्ठितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

कथं स्थितिरभाकाशे गृहं बाते शिलोदरे ।

पृष्ट्वेति तथा तत्र जगद्विस्तार ईयते ॥ १ ॥

प्राग्वर्णिते ब्रह्माण्डोर्ध्वनभसि स्थितेन तत्रापि संकल्पिता-
 सनस्थेन मया तस्मिन्नेव नभसि कल्पितासनस्थिता इति प्राग्व-

कथं क्षिलोदरे बाले त्वद्विधानां भवेरिस्थितिः ।
 कथं संचलनं तत्र किमर्थं तत्र चास्पदम् ॥ २
 विधाधर्युवाच ।
 मुने यथेदं भवतां जगत्स्फारं विराजते ।
 तथास्माकं जगत्तत्र सर्गसंसारयुक्तं स्थितम् ॥ ३
 स्फुरन्ति नागाः पाताले तिष्ठन्ति भुवि पर्वताः ।
 आपश्छलछलायन्ते बहन्ति व्योम्नि वायवः ॥ ४
 अर्णवा अर्णसा भान्ति यान्त्यन्तः शनकैः प्रजाः ।
 भूतान्यजस्रं जायन्ते त्रियन्तेऽविरतं यथा ॥ ५
 घान्ति वाता बहन्त्यापो भान्ति चाभान्ति खे सुराः ।
 तिष्ठन्त्यगाः समुद्यन्ति प्रह्ला यान्ति महीं नृपाः ॥ ६
 देवासुरमनुष्याणां व्यवहारपरम्पराः ।
 लोलाः प्रवृत्ता आकल्पमासमुद्रमिवापगाः ॥ ७
 दिनपद्मानि भूलोकसरस्याकल्पमानभः ।
 लोलाभ्रालीनि फुल्लानि मीलितोन्मीलितान्यलम् ॥ ८
 चन्द्रचर्चाश्चतुर्दिकं चन्दनेनात्मतेजसा ।
 रचयन्नात्रिरोहिण्योस्तमो हन्त्यपि हृद्रतम् ॥ ९
 स्वदशास्वादनरता वातयन्त्रसुचारिता ।
 रोदःसद्यनि सूर्याख्या दीप्यते दिवि दीपिका ॥ १०
 ब्रह्मसंकल्पितो रुद्रो वातसंचारचारिभिः ।

र्णितप्रकारेण स्ववृत्तान्तमुक्त्वती सा अथाजन्तरे पृष्टा ॥ १ ॥
 किं पृष्टा तदाह—कथमिति । निरवकाशे क्षिलोदरे शरीरादि-
 मतीनां त्वद्विधानां स्थितिः कथं भवेत् । संचलनं च कथं भवेत् ।
 तत्र आस्पदं गृहं च ते किमर्थं किंप्रयोजनकम् । अत्र प्रवेश
 एवासंभावितस्तत्रेदं सर्वमत्यन्तासंभावितमित्यर्थः ॥ २ ॥
 नैतावदेव त्वया असंभावितं तत्रास्तीति संभावनीयं किंत्वीदृशं
 जगदन्तरमपीति विधाधरीप्रश्नस्योत्तरमाह—मुने इति ॥ ३ ॥
 तदेव प्रपन्नयति—स्फुरन्तीत्यादिना । छलछलायन्ते इत्य-
 ध्यक्तध्वन्यनुकरणम् ॥ ४ ॥ अर्णसा उदकेन । यान्ति गमना-
 दिना व्यवहरन्ति । यथा अत्रेति शेषः ॥ ५ ॥ नक्षत्रादि-
 रूपेण भान्ति । स्वस्वशरीराकारेण आभान्ति ॥ ६ ॥ ७ ॥
 आकल्पं कालतः । आनभो देशतः । अभिविधावाचौ ।
 लोलाभ्रान्येवालयो भ्रमरा येषु तथाविधानि दिनपद्मानि
 भूलोकसरसि फुल्लानि अलं मीलितान्युन्मीलितानीति तदन्तः-
 पात्तिपदार्थकेसराद्यभिप्रायम् ॥ ८ ॥ चन्द्र आत्मतेजसा
 चन्द्रिकालक्षणेन चन्दनेन चतुर्दिकं चर्चाः छेपनानि रचयन्तन्
 रात्रेः रोहिण्याश्च हृद्रतं बहिर्गतमपि तमः हन्ति ॥ ९ ॥
 स्वीयदशादिगलक्षणाया दशाया कर्तिकाया आस्वापने इवसेहो-
 पभोगे रता वातलक्षणेन यन्त्रेण सुचालिता परितो भ्रमिता
 रोदसी यावाभूमी तलक्षणे सद्यनि गृहे ॥ १० ॥ इदानीं रोदस्यौ
 भ्रमता ज्योतिश्चक्रेण परह्यन्ततया रूपयति—ब्रह्मेति द्वाभ्याम् ।
 खे ऋक्षाणां चक्रं ज्योतिश्चक्ररूपो गुणैरावर्तत इति गुणावर्तो
 परहो विवर्तते भ्रमति । स च विवर्तमानश्चतुर्विधभूतलक्षण-

खेऽनिशं चक्रं ऋक्षाणां गुणावर्तो विवर्तते ॥ ११
 भूततण्डुलमासृष्टेः पिनष्टि ध्रुवकीलकः ।
 नियत्या बलितो रोदःकपाटाम्भोदधरः ॥ १२
 द्वीपाग्निशैलैर्भूपीठं विमाननगरैर्नमः ।
 दैत्यदानवनागैर्धैः पूर्णं पातालमण्डलम् ॥ १३
 कुण्डलं त्रिजगल्लक्ष्म्या नीलं भूतलमण्डलम् ।
 स्थितं चञ्चलमाचारचञ्चलायाः स्फुरन्मणि ॥ १४
 बुद्ध्यादिरहितां स्पन्दसंविदं वायवीमिव ।
 स्थावरं जंगमं चैव सूक्ष्ममादाय जायते ॥ १५
 मुनिमौनैर्धरा वार्भिर्मारुतैः कपिचापलम् ।
 आकाशैरवकाशित्वं तेजोभिर्मांसनं श्रितम् ॥ १६
 वृक्षोर्व्यव्यत्रिचक्षराः प्राणिनोन्तः स्फुरन्त्यलम् ।
 मृत्तिजन्मोन्मुखाः कीटसुरासुरजलौकसः ॥ १७
 ससुरासुरगन्धर्वाः कालः कलयति प्रजाः ।
 दोर्भिः कल्पयुगाद्दैव्य स्वपशुनिव पालकः ॥ १८
 अनन्तविपुलागाधगम्भीरे कालसागरे ।
 उत्पस्योत्पस्य लीयन्ते ते त्वावर्तविवर्तया ॥ १९
 चतुर्दशविधा वातवैष्टिता भूतपांसवः ।
 नाशाकाशे विलीयन्ते शरदम्भोदलीलया ॥ २०
 भुवनं बोधयन्ती द्यौश्चन्द्रार्ककरचामरैः ।

तण्डुलमासृष्टेः सृष्टिकालमारभ्य पिनष्टि । केनासौ क्षितिपना
 निर्मितस्तमाह—ब्रह्मसंकल्पित इति । कैरयं विष्टब्धस्ता-
 नाह । वातसंचारचारिमिवांतरश्मिभिः रुद्रः अवष्टब्धः । कस्मि-
 न्कीले रुद्रस्तमाह—ध्रुवकीलक इति । रोदस्योः कपाट-
 वत्पिधानोद्घाटनस्वभावैरम्भोदैर्धैरो ध्वनन् ॥ ११ ॥ १२ ॥
 तत्राप्यत्रेव भूरादिलोका यथोचितं द्वीपपर्वतादिभिः पूर्णाः
 सन्तीत्याह—द्वीपेति । विमानसंनिवेशारचितैर्नगरैर्नमः पूर्णम्
 ॥ १३ ॥ तत्रापि नीलं भूतलमण्डलमाचारचञ्चलायास्त्रिजग-
 ल्लक्ष्म्याः स्फुरन्मणिचञ्चलं कुण्डलमिव स्थितम् ॥ १४ ॥ तत्रापि
 स्थावरं जंगमं चैव प्राणिजातं बुद्ध्यादिरहितां बाह्यां वायवीं
 क्रियामिव आन्तरीं सूक्ष्मां प्राणाख्यां स्पन्दसंविदमादाय
 जायते जन्मादिविकारोद्भवते ॥ १५ ॥ तत्रापि मुनिमौनैर्मुनि-
 कर्मभिः श्रितः । धरा समुद्रादिवार्भिः श्रिता । मारुतैः कपिव-
 चापलं श्रितम् । आकाशैस्तत्तदुपाधिभिर्नैरुपाध्यन्तरूपमवका-
 शित्वं श्रितम् । सर्ववस्तूनां स्वभावा नियतास्तुल्या इत्यर्थः
 ॥ १६ ॥ वृक्षचरा मर्कटादयः उर्वीचरा मनुष्यादयः अबिध-
 चरा मत्स्यादयः अत्रिचरा मृगादयः खचराः पक्षिदेवादय-
 स्तत्राप्यन्तरालं स्फुरन्ति ॥ १७ ॥ कालः सुरादिसहिताः प्रजाः
 पालकः पुरुषः स्वदोर्भिः स्वपशुनिव कल्पयुगवर्पादिलक्ष्णै-
 दोर्भिः कलयति पालनादिना उपभुङ्क्ते ॥ १८ ॥ ते सुरादयो
 यादोगणाः कालसागरे आवर्तविवर्तया कालगत्या उत्पस्योत्पस्य
 लीयन्ते ॥ १९ ॥ नश्यत्यस्मिन्निति नाशः तथाविधे अन्याङ्क-
 ताकाशे ॥ २० ॥ आकाशा एवांशुकं वक्षं यस्याः । आकल्प-

स्थिताकाशांशुकाकल्पतारकोत्करशेखरा ॥ २१
स्थिताः पवनभूकम्पमेघतापसहिष्णवः ।
स्वं प्रदेशमनुज्झन्त्यः ककुभः स्तम्भिता इव ॥ २२
उत्पातमेघनिर्हादभूमिकम्पग्रहप्रहैः ।
अज्ञातैरपि विज्ञातैर्भूतानां जायते गतिः ॥ २३
सप्तानां जलमग्नीनामौर्ध्वानिः पिबति ज्वलन् ।

लोकान्तराणामाकल्पं कालो भूतगणं यथा ॥ २४
पातालमाविशति याति नभोबिलं च
दिङ्मण्डलं भ्रमति भूतगणः समन्तात् ।
पर्येति पर्वतमहार्णवमण्डलानि
द्वीपान्तराणि च भरुत्सरणक्रमेण ॥ २५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाण० शिलान्तरवर्णनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः ६७

विद्याधर्युवाच ।

यावत्सं सर्गमागच्छ प्रसादः क्रियतां मुने ।
आभ्रयैषूपपन्नेषु महान्तो ह्यतिकौतुकाः ॥ १
तंश्चेत्युक्ते मया सार्धं गन्तुमारब्धमम्बरे ।
वात्यया सौरमेणेव शून्ये शून्येन शून्यया ॥ २
अथाहं दूरमध्वानं शून्यमुल्लङ्घ्य नाभसम् ।
नभःस्वं भूतसंघातं तथा सार्धमवातवान् ॥ ३
तमुल्लङ्घ्य चिरेणात्र भूतसंचारमम्बरे ।
लोकालोकशिरोव्योम प्राप्सोऽसि धवलाम्बुदम् ॥ ४
उत्तरांशेन्दुशुभ्राभ्रपीठाभिर्गत्य तां शिलाम् ।
आनीतोसि तयोस्तुङ्गां तप्तकाञ्चनकल्पिताम् ॥ ५
यावत्पश्याम्यहं शुभ्रां शिलां तां न च तज्जगत् ।
कलधौतमयीमुच्चैरग्निलोकतटीमिव ॥ ६
तदा मयोक्ता सा कान्ता क भवत्सर्गभूरिति ।
क रुद्रार्कामितारादि क लोकान्तरसप्तकम् ॥ ७

कार्णवाकाशककुभः क्रोन्मज्जननिमज्जने ।
क महाम्भोदसंभारः क ताराम्बरडम्बरम् ॥ ८
क शैलशिखरभ्रेण्यः क महार्णवलेखिकाः ।
क द्वीपवलयः सप्त क तप्तकनकावनिः ॥ ९
क कार्यकालकलनाः क भूतभुवनभ्रमः ।
क विद्याधरगन्धर्वाः क नरामरदानवाः ॥ १०
कर्षिभूपालमुनयः क नयापनयक्रमः ।
क पञ्चयामयामिन्यः क स्वर्गनरकभ्रमः ॥ ११
क पुण्यपापकलना क कलाकालकेलयः ।
क सुरासुरवैराणि क द्वेषकोहरीतयः ॥ १२
वदत्येवं मयि वचः सोवाच वरवर्णिनी ।
विस्रयाकुलमालोक्य शिलामलिविलोचना ॥ १३
विद्याधर्युवाच ।
पश्याम्येखिल नात्मीयमहं सर्वमिहोपले ।
मुकुरप्रतिबिम्बस्थपुरान्यपुरवज्जनम् ॥ १४

भूतास्तारकोत्कराः शेखरे यस्यास्तथाविधा यौश्चन्द्रार्ककरवामरैः
संवीज्य सुप्तं भुवनं बोधयन्तीव स्थिता ॥ २१ ॥ तत्रापि ककुभो
दिशः स्तम्भिताः स्थावरप्राणिन इव पवनभूकम्पवृष्ट्यातपस-
हिष्णवो भूत्वा स्थिताः ॥ २२ ॥ ज्योतिःशास्त्रकुशलैर्विज्ञातैरन्यैर-
ज्ञातैरपि उत्पातादिनिमित्तैर्भूतानामिष्टानिष्टलक्षणा गतिस्तत्रापि
जायते ॥ २३ ॥ लोकान्तराणां चतुर्दशभुवनमेदानां भूतगणं
प्राणिनिकायं यथा कालः पिबति तद्वत् ॥ २४ ॥ उक्तं सर्वं संक्षि-
प्योपसंहरति—पातालमिति । तत्रापि पातालयोग्यो भूतगणः
प्राणिनिकायः पातालमाविशति । नभोबिलवासयोग्यो नभोबिलं
याति । इतरस्वन्तराले दिङ्मण्डलं भ्रमति । मरुतो वायोः सरण-
क्रमेण संचरणवत्पर्वतमहार्णवमण्डलानि द्वीपान्तराणि च पर्येति ।
तथा च सर्वोऽप्यत्रल्यव्यवहारस्तत्रापि वर्तत एवेति संभावये-
त्यर्थः ॥ २५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे शिलान्तरवर्णनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

कौतुकान्तां शिलां गत्वाप्यहृष्टा मुनिना जगत् ।

पृष्टयाभ्यासमाहास्यं विद्याधर्यात्र वर्णयते ॥ १ ॥

१ श्रीवासिष्ठ उवाचैत्यपेक्षितमत्र. २ अखिल इति संशोधनम्.

हे मुने, त्वं यदि मदुकार्थं जातमसंभावितं मन्यसे तर्हि स्वय-
मेव साक्षात्सं सर्गं यावत्साकल्येन द्रष्टुमागच्छ ॥ १ ॥ इति
तथा उक्ते सति मया तथास्त्वित्यभ्युपगम्य तथा सहाम्बरे
गन्तुमारब्धमित्यन्वयः । वात्यया सह सौरमेणे चम्पकादिग-
न्धेनेव ॥ २ ॥ भूतसंघातं देवादिप्राणिनिकायम् ॥ ३ ॥
॥ ४ ॥ उत्तराया दिशः अंशे पूर्वभागे स्थितादिन्दुवच्छुभ्रा-
दभ्रपीठादधो निर्गत्य ॥ ५ ॥ अहं अग्निनावलोकयते इत्य-
ग्निलोकां मेरुतटीमिव स्थितां तां शिलां यावत्साकल्येना-
न्विष्य पश्यन्नपि तत्तयोक्तं जगत्त्र न पश्यामीत्यर्थः
॥ ६ ॥ भवत्सर्गभूः क तत्र त्वया वर्णिता रुद्रार्क-
दयश्च केति सा मयोक्तेति सर्वत्राप्रे संबन्धः ॥ ७ ॥
ककुभो दिशः । उन्मज्जननिमज्जने प्राणिनां जन्मनाशौ ॥ ८ ॥
॥ ९ ॥ १० ॥ ऋषयो भूपालस्तेषु मुनयश्च क । 'भूपाल-
मुनयः' इति पाठे तु स्पष्टम् । पञ्चयामा हेमन्तयामिन्यः ॥ ११ ॥
॥ १२ ॥ मयि एवं वदति सति सा मामुवाच ॥ १३ ॥
अहमपि न पूर्ववत्पश्यामि किंतु प्राशुक्तं सर्वं देवमनुष्यासुरा-
दिवज्जनं मुकुरे प्रतिबिम्बभावेनास्थितं यत्प्रसिद्धपुरादन्त्यपुरं

नित्यानुभव एवात्र दर्शने कारणं मम ।
 तदभावो मुने मन्ये ते कारणमदर्शने ॥ १५
 अन्यच्च चिरकालैकद्वैतसंकथयानया ।
 शुद्धातिवाहिकैकात्मदेहता विस्मृतावयोः ॥ १६
 ममातिसुचिराभ्यस्तमपि व्योम लतामिव ।
 गतं निजं जगदिदं यतः पश्यामि न स्फुटम् ॥ १७
 अभूद्यत्स्वजगत्पूर्वमतिप्रकटमेव मे ।
 तत्पश्यामीदमादर्श इव बिम्बितमस्फुटम् ॥ १८
 चिरव्यर्थोत्थया नाथ संकथाव्यथया मिथः ।
 स्वास्थ्यं विस्मृतमात्मीयमवदाततमं ततम् ॥ १९
 योऽभ्यासः प्रकचत्यन्तः शुद्धचिन्मसो रसात् ।
 भवेत्तन्मयमेवान्तरावालमिव लक्ष्यते ॥ २०
 न सच्छालेण सा विद्धि न सङ्गायेन सा कला ।
 अस्ति नास्त्यमितोद्योगाद्यदभ्यासात् सिञ्चति ॥२१
 स्वजगत्संतताभ्यासवशतो मां कथाभ्रमः ।
 नूनमाक्रान्तवानेष द्वयोर्हि बलवाजयी ॥ २२
 इष्टवस्त्वर्थिनां तज्ज्ञसूपदिष्टेन कर्मणा ।
 पौनःपुन्येन करणाभेतरच्छरणं मुने ॥ २३
 अयमित्थमिहाज्ञानभ्रमः प्रौढोऽहमात्मकः ।
 शाम्यति ज्ञानचर्चाभिः पश्याभ्यासविजृम्भितम् २४
 अहं क्षिप्याबला बाला पश्यामि त्वं न पश्यसि ।
 सर्वज्ञोऽपि शिलासर्गं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥२५

तद्वत्पश्यामीत्यर्थः ॥ १४ ॥ तदभावस्तसिरोधानम् । पादादौ
 ते इति छान्दसम् ॥ १५ ॥ सर्वसूक्ष्मार्थग्रहणक्षमविष्टुद्धमनो-
 मात्रदेहताविस्मृतिवशादपि तव तददर्शनं मत तदस्फुटदर्शनं
 चेत्याह—अन्यञ्चेति ॥ १६ ॥ ममापीदं निजं जगद्गतं नष्ट-
 प्रायम् । यतश्चिराभ्यस्तां व्योमलतामिवेदं न स्फुटं पश्यामीत्य-
 न्वयः ॥ १७ ॥ १८ ॥ स्वास्थ्यं प्रागुक्तधारणाभ्याससिद्धशु-
 द्धातिवाहिकैकात्मदेहत्वं न तु स्वरूपावस्थितिः पूर्वग्रन्थविरो-
 धात् ॥ १९ ॥ अभ्यासपदेन तज्जन्यदृढसंस्कारो लक्ष्यते ।
 प्रकचति उद्बुद्धः प्रकाशते । इवकारो सिञ्चक्रमः । अन्तः
 आन्तरं चित्तं तन्मयमेव भवेदिवेति ॥२०॥ अत एवाभ्यासही-
 नस्य ध्रुवणमनने निष्फले इत्याह—नेति । सा कला अस्तीति
 पूर्वत्रान्वयः । अभ्यासस्य त्वसाध्यं न किञ्चिदस्तीत्याह—
 नास्तीति ॥ २१ ॥ अयं त्वत्संवादकथाभ्रमः स्वीयजगत्संतता-
 भ्यासवशतो मां पूर्वजगद्भवतीमाक्रान्तवान् वशीकृतवान् ।
 तेन तत्संस्कारस्तिरोहित इवाभूदित्यर्थः । अतीतभ्रमापेक्षया
 वर्तमानस्य बलीयस्त्वादित्याशयेनाह—द्वयोर्हीति ॥ २२ ॥
 अत एव लौकिकं वैदिकं वा शिल्पविद्यादिफलमिच्छताम् । तत्त-
 द्दुरूपदिष्टक्रमेण पुनःपुनस्तदभ्यास एव शरणं नान्यदित्याह—
 इष्टेति । तज्ज्ञैर्गुरुभिः सूपदिष्टेन कर्मणा तत्करणप्रकारेण ॥२३॥
 अनाद्यनन्तः संसारानर्थोऽपि ज्ञानाभ्यासावश्यति चेत्किमन्य-
 दनिष्टमवशिष्यते । यदभ्यासेन न चिकित्सेतेत्याह—अय-

अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोपि चूर्ण्यते ।
 बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥२६
 इत्थं नाम परिप्रौढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
 शाम्यत्येव विचारेण पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २७
 अभ्यासेन कटुद्रव्यं भवत्यभिमतं मुने ।
 अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ॥ २८
 अबन्धुर्बन्धुतामेति नैकटयाभ्यासयोगतः ।
 यात्यनभ्यासतो दूरात्कोहो बन्धुषु तानवम् ॥ २९
 आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्योम केवलम् ।
 आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥ ३०
 आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
 विहंगवत्स्वमभ्येति पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ ३१
 पुण्यानि यान्ति वैफल्यं वैफल्यं यान्ति मातरः ।
 भाग्यानि यान्ति वैफल्यं नाभ्यासस्तु कदाचन ॥३२
 दुःसाभ्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
 विषाण्यमृततां यान्ति संतताभ्यासयोगतः ॥ ३३
 येनाभ्यासः परित्यक्त इष्टे वस्तुनि सोऽधमः ।
 कदाचिन्न तदाप्नोति बन्ध्या स्वतनयं यथा ॥ ३४
 यद्यप्यभिमतं वस्तु स्वभ्यासेन तदर्जनात् ।
 तद्युक्तिपूर्वकं त्याज्यमामृत्योर्जीवितं यथा ॥ ३५
 इष्टे वस्तुनि नाभ्यासं यः करोति नराधमः ।
 सोऽनिष्टेऽनिष्टमाप्नोति नरकाभ्रकान्तरम् ॥ ३६

मिति । ज्ञानस्य चर्चाभिः श्रवणाद्यभ्यासैः ॥ २४ ॥ अभ्यास-
 पाटवे बालानामपि प्रौढता दृष्टा, तद्विस्मरणे तु महतामपि
 व्यामोहः संभावित इत्यर्थे आवामेव निदर्शनमित्याह—अह-
 मिति । अहं क्षिप्यभूतापि शिलासर्गं पश्यामि, त्वं सर्वज्ञो गुरु-
 रपि न पश्यसि, आश्चर्यमेतदभ्यासविजृम्भितमित्यर्थः ॥ २५ ॥
 बाणः अचेतनोऽपि महदलक्ष्यं सूक्ष्मतममपि लक्ष्यं शरसंधा-
 नाभ्यासपाटवादेति प्राप्नोति ॥ २६ ॥ २७ ॥ निम्बभक्षणा-
 भ्यासवते द्विडाय निम्बोऽपि रोचते ॥ २८ ॥ बन्धुतां बन्धु-
 वत्स्निरगताम् ॥ २९ ॥ देहे भौतिकताभ्रान्तिरपि स्वाभावि-
 कात्तदभ्यासादेवेत्याह—आतिवाहिकेति ॥ ३० ॥ स्वमभ्येति
 खेचरसिद्धिं लभते ॥ ३१ ॥ कीर्तनाद्यल्पापराधेनापि महा-
 न्यपि पुण्यानि वैफल्यं यान्ति । भाग्यानि धनानि ॥ ३२ ॥
 औषधार्थमभ्यासेन सेवितानि विषाणि अमृतवदारोग्यादिहे-
 तुतां यान्ति ॥ ३३ ॥ अत एव शास्त्रीयशुभाभ्यासः कदापि
 न परित्याज्य इत्याह—येनेति ॥ ३४ ॥ तर्हि शास्त्रीयत्वाद-
 भिमत्तं दारपुत्रधनसत्कर्मानुष्ठानादिवस्तु तत्कदापि न त्याज्यं
 नेत्याह—यदपीति । स्वभ्यासेन प्रयत्नसहस्रेण तदर्जनादत्य-
 न्ताभिमत्तं दारादि यद्वस्तु तदपि न सहसा त्याज्यं किंतु वैरा-
 ग्याभ्यासेन व्रत्यादिपरिकल्पनादियुक्तिपूर्वकं त्याज्यम् । यथा
 आमृत्योरत्यन्ताभिमत्तमपि जीवितं योगिभिर्युक्तिपूर्वकं त्यज्यते
 तद्वदित्यर्थः ॥ ३५ ॥ तत्त्वज्ञानाभ्यासस्तु सर्वथा न त्याज्यः ।

तरन्ति सरितं स्फीतां संसारासारसेविनः ।
 स एवात्मविचाराख्यमभ्यासं न त्यजन्ति ये ॥ ३७
 अभ्यासभासोऽमिमत्तं वस्तु प्रकटयन्त्यलम् ।
 प्रापयन्ति च निर्विघ्नं घटं दीपप्रभा यथा ॥ ३८
 यथा कल्पद्रुमलताः सञ्चिन्तामणयो यथा ।
 फलन्ति शरदध्वैतास्तथैवाभ्यासभूमयः ॥ ३९
 इष्टवस्तु विराभ्यासभासान्मासयति प्रजाः ।
 तथेन्द्रियाख्यां देहोर्व्यां रात्रिं पश्यन्ति नो यथा ४०
 सर्वस्य जन्तुजातस्य सर्ववस्त्ववभासने ।
 सर्वदैवैक एवोच्चैर्जयत्यभ्यासभास्करः ॥ ४१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वास्मी० दे० मो० निर्वाणप्र० उ० पाषा० अभ्यासप्रशंसा नाम सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

अष्टषष्ठितमः सर्गः ६८

विद्याधर्युवाच ।
 ततः प्राचीनमभ्यासं बोधधारणयामले ।
 कुर्वः प्रकटतां तेन जगदेभ्यति शैलगम् ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 युक्तियुक्ते तथेत्युक्ते विद्याधर्यां धरोरसि ।
 बद्धपद्मासनोऽथाहं समाधाबुदितोऽभवम् ॥ २
 सर्वार्थभावनास्यागे चिन्मात्रैकान्तभावितः ।
 अस्यजं तमहं पूर्वकथार्थकलनामलम् ॥ ३

तस्यागे देहाहंभावाद्यभ्यासस्य नान्तरीयकस्य वारयितुमशक्य-
 स्वादिनिर्माक्ष एवेत्याशयेनाह—इष्टे इति । अनिष्टे देहाद्यहं-
 भावे अनिष्टमेवाभ्यासस्वभावादेवाप्रोति । ततश्च नरकाक्षरका-
 न्तरम् ॥ ३६ ॥ संसारः असारो येन तादृशविवेकसेविनो ये
 पुरुषा आत्मविचाराख्यमभ्यासं न त्यजन्ति त एव स्फीतां
 मायासरितं तरन्तीत्यन्वयः ॥ ३७ ॥ यथा घटार्थिने दीपप्रभा
 घटं प्रकटयन्ति निर्विघ्नं प्रापयन्ति च तथा आत्मवस्त्वर्थिने
 अभ्यासलक्षणाभासः प्रकाशा अभिमतमात्मवस्तु प्रकटयन्ति
 निर्विघ्नं प्रापयन्ति च । तत्र श्रवणमननाभ्यासोऽसंभाषनाति-
 मिरनिरासेन प्रकटयति । निदिध्यासनाभ्यासस्तु विपरीतभा-
 वनारूपविघ्ननिरासेन प्रापयतीत्याशयः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ देह-
 लक्षणायामुर्व्यामिष्टं वस्तु परमप्रेमविषय आत्मैव तद्विचारा-
 भ्यासलक्षणो भासान् सूर्यस्तथा भासयति यथा प्रजाः प्रकृष्ट-
 जन्मानोऽधिकारिजना इन्द्रियाख्यां रागद्वेषजन्ममरणाद्यनर्थ-
 सहस्रदुःखस्वप्नमोहनिद्राप्रवां रात्रिं न पश्यन्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ अन्यर्थे तुशब्दः । चतुर्दशभुवनस्थाया अपि भूतजा-
 तेर्मध्ये कस्यचिदपि प्राणिनः किञ्चिदप्यभिमत्तं वस्तु अभ्यासं
 विना न सिञ्चतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥ अभ्यासस्वरूपं दर्शयति—
 पौनःपुन्येनेति । स एव इह शास्त्रे पुरुषार्थः प्राग्बहुको वर्णितः
 पुरुषप्रयत्नः परमपुरुषार्थफलस्तेन विना गतिर्निरासरो नास्ति

चतुर्दशविधायास्तु भूतजातेर्न कस्यचिद् ।
 सिध्यत्यभिमत्तं वस्तु विनाभ्यासमकृत्रिमम् ॥ ४२
 पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते ।
 पुरुषार्थः स एवेह तेनास्ति न विना गतिः ॥ ४३
 दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा ।
 निजवेदनजेनैव सिद्धिर्भवति नान्यथा ॥ ४४
 अभ्यासभास्वति तपस्यवनौ वने च
 वीरस्य सिध्यति न यत्र तदस्ति किञ्चित् ।
 अभ्यासतो भुवि भयान्यभयीभवन्ति
 सर्वासु पर्वतगुहास्वपि निर्जनासु ॥ ४५

अथ चिद्योमतां प्राप्तः परां दृष्टिमहं गतः ।
 शरत्समयसंप्राप्तौ व्योम निर्मलतामिव ॥ ४
 ततः सत्यावधानैकघनाभ्यासेन देहके ।
 ममाधिभौतिकभ्रान्तिर्नूनमस्तमुपागता ॥ ५
 उदयास्तमयोन्मुक्ता सततोदयमप्यपि ।
 महाचिद्योमतास्वच्छा प्रोदितेषु तदाभवत् ॥ ६
 अथ पश्याम्यहं यावत्स्वस्यैवामलतेजसा ।
 वस्तुतस्तु न चाकाशं नोपलः परमेव तत् ॥ ७

॥ ४३ ॥ निजवेदनं स्वविवेकस्त्वजेनैव ॥ ४४ ॥ वीरस्येन्द्रिय-
 जयादिशरस्य पुंसः अभ्यासभास्वति तपति प्रकाशमाने सत्य-
 वनौ भूमौ वने जले चादन्तरिक्षे च यदभिलषितं वस्तु न
 सिध्यति तत्रास्ति किञ्चित् । भयानि भयहेतुव्याघ्रसर्पादीनि
 ॥ ४५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे अभ्यासप्रशंसा नाम सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इहाधिभौतिकभ्रान्तिनिरासेन समाधिना ।

आतिवाहिकभावस्य स्थितिः सत्य समर्प्यते ॥ १ ॥

यतो दृढाभ्यासाख्यसमाधिप्रत्ययान्तरेण देहादाधिभौति-
 कताभ्रान्तिर्न निवर्तते आतिवाहिकभावश्च नाविर्भवति तं विना
 च सर्गान्तरस्थितिः साक्षिप्रत्यक्षेण द्रष्टुमशक्या, ततो हेतोरमले
 परमात्मनि सर्वबोधानुकूल्या समाधिरूपधारणया प्राचीनमा-
 तिवाहिकभावाभ्यासमावां कुर्वस्तेनोपायेन शैलगं शिलान्तर्गतं
 महुक्तं जगत्प्रकटतामेभ्यति ॥ १ ॥ तथा विद्याधर्या युक्ति-
 युक्ते इति एवंप्रकारे वचस्युक्ते सति । धरस्य शैलस्योरसि अधि-
 त्यकायाम् । उदित उद्युक्तोऽभवम् ॥ २ ॥ तत्र समाधौ सर्व-
 नाकार्यकलनास्यागे सति पूर्वकथार्थं आधिभौतिकदेहादिभाष-
 ना तत्संस्कारमलमप्यत्यजं त्यक्तवानित्यर्थः ॥ ३ ॥ इदमेव
 स्पष्टमाह—अखेत्यादिना ॥ ४ ॥ ५ ॥ सततोदयमयी निवृत्त-
 नाशुतस्यप्रकाशा ॥ ६ ॥ स्वस्य साक्षिण एव दृष्टीद्वेन जयक-

परमार्थघनं स्वच्छं तत्तथा भाति तादृशम् ।
 तथाभावनया ह्यात्मा मदीयो दृष्ट्वांस्तथा ॥ ८
 यथा स्वप्ने सुमहती दृष्टा रोहता शिला ।
 व्योमैव केवलं तद्भ्रसुशुभं चिन्मभःशिला ॥ ९
 स्वयं स्वप्नान्वितोऽन्यस्य स्वप्नपुंस्त्वं गतो नरः ।
 स्वप्नेऽज्ञानप्रबुद्धस्य यादृक्तादृक्स्वरूपतः ॥ १०
 स्वप्नस्थानां शिरश्छिन्नं येषां ते संसृतौ स्थिताः ।
 कालेन ज्ञानलाभेन विना कुर्वन्तु किं किल ॥ ११
 बोधः कालेन भवति महामोहघतामपि ।
 यस्मान्न किंचनाप्यस्ति ब्रह्मतत्त्वाद्देहेऽक्षयम् ॥ १२
 अतस्तच्चिद्धनं स्वच्छं ब्रह्माकाशं शिलाकृति ।
 दृष्टं मया तथा तत्र न तु पृथ्यादि सत्कचित् ॥ १३
 भूतानामादिसर्गं यच्छुद्धं यत्पारमार्थिकम् ।
 वपुस्तदेव ह्येतेषां ध्यानलभ्यमवस्थितम् ॥ १४
 ब्राह्मं वपुर्हि भूतानामात्मीयं यत्पुरातनम् ।
 तदेवाद्य मनोराज्यं संकल्प इति कथ्यते ॥ १५
 सत्तातिवाहिको देहस्तत्परं परमार्थतः ।
 प्रत्यक्षं परमं यत्सत्तदाद्यं कचनं चितः ॥ १६
 उद्यत्प्रथममध्यक्षं जीवस्य प्रथमं वपुः ।
 मनः प्रत्यक्षमित्युक्तं तत्तेनाद्यैव दुर्धिया ॥ १७
 योगिप्रत्यक्षमित्युक्तं मनःप्रत्यक्षमित्यपि ।
 तत्स्वमेव चित्तो रूपं गतमेवान्यतां मुधा ॥ १८

तेजसा । वृतेर्जडायाः स्वतो दृक्शक्त्यभावादिति भावः ॥ ७ ॥
 तत्परमार्थघनं परं तत्स्वमेव मदीय आत्मा तथा उपलभावनया उपलं दृष्टवानित्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ यद्ययं व्यवहारः स्वप्न एव तर्हि कथं स्वप्नजाप्रज्ञाप्रतिभासस्तत्राह—स्वयमिति । स्वप्ने अज्ञानवशादेव प्रबुद्धोऽहमिति मन्यमानस्यान्यस्य स्वप्नदृश्यपुरुषत्वं गतः स्वप्नान्वितः स्वयं स्वरूपतो यादृक् प्रतिबुद्धोऽस्मीति प्रतिभाति तादृगित्यर्थः ॥ १० ॥ अत एव सौप्तिके सुप्तहतानां जागरणोपायदेहाभावादगत्या स्वप्न एव तेषां जागरता परिशिष्यत इति प्रागुक्तं मयेति स्मारयति—स्वप्नस्थानामिति ॥ ११ ॥ तस्मान्मूलाज्ञाननिद्रोच्छेदेन स्वरूपप्रतिबोध एवास्य मुख्यः प्रतिबोधोऽन्यथा तु स्वप्न एव नृथा जागराभिमान इत्याह—बोध इति ॥ १२ ॥ अत एव मयापि स्वरूपजागरासत्प्रागदृष्टशिलाकृति स्वच्छं चिद्धनं दृष्टं न पृथ्यादिविकारं सदित्यर्थः ॥ १३ ॥ सर्गस्यादिरादिसर्गो महाप्रलयस्तदित्यर्थः । एतेषां तत्त्वविदां ध्यानलभ्यमैकाग्र्यप्राप्यम् ॥ १४ ॥ ब्राह्मं रूपमेव सर्वभूतानां वपुः पारमार्थिकरूपं इति एवं जगदाकारेण कथ्यते । मूर्धैरिति शेषः ॥ १५ ॥ अस्त्वेवं तथाप्यातिवाहिको देहः कः, यद्भावे सर्वजगद्दर्शनं चित्स्वभावकचनं च प्रागुक्तं तमाह—सत्तेति । मायाशबलं ब्रह्म सदित्युच्यते । तत्र चित्तो जगत्संस्कारसंबन्धितांशसत्ता ए एवातिवाहिको देहः । नित्यापरोक्षदृष्टिदंशस्तु स्वरूपकचनमित्यर्थः ॥ १६ ॥ तर्हि कथं यो० वा० १५३

इदमद्यतनं नाम प्रत्यक्षमसदुत्थितम् ।
 असत्प्रत्यक्षमेवेति विद्धि प्रत्यक्षमङ्ग तत् ॥ १९
 अहो नु चित्रा मायेयं प्राक्प्रत्यक्षे परोक्षता ।
 निर्णीतास्मिन्स्वनध्यक्षे प्रत्यक्षकलनागता ॥ २०
 आतिवाहिकदेहत्वं प्रत्यक्षं प्रथमोदितम् ।
 सत्यं सर्वगतं विद्धि मायैव त्वाधिभौतिकम् ॥ २१
 अनुभूतापि नास्त्येव हेन्नः कटकता यथा ।
 तथातिवाहिकस्याधिभौतिकत्वं न विद्यते ॥ २२
 भ्रममभ्रमतां यातमभ्रमं भ्रमतां गतम् ।
 वेत्ति जीवो विचारेण विनाहो नु विमूढता ॥ २३
 आधिभौतिकदेहोऽयं विचारेण न लभ्यते ।
 आतिवाहिकदेहस्तु किल लोकद्वयेऽक्षयः ॥ २४
 आधिभौतिकचिद्रूढा ह्यातिवाहिकदेहके ।
 मरौ मरीचिकास्त्रेव यथा मिथ्यैव वारिष्ठीः ॥ २५
 जाताधिभौतिकी संविदातिवाहिकचित्कमे ।
 देहदृष्टिवशात्प्रौढा स्थाणौ पुरुषधीरिव ॥ २६
 शुक्लौ रजतता तापे जलतेन्दौ यथा द्विता ।
 आधिभौतिकता तद्वन्मायैवातिवाहिके ॥ २७
 यदसत्कृतं सत्यं यत्सत्यं तदसत्कृतम् ।
 अहो नु मोहमाहात्म्यं जीवस्यास्याविचारजम् ॥ २८
 योगिप्रत्यक्षमेवास्ति किंचिदस्ति तु मानसम् ।
 यस्माल्लोकद्वयाच्चारस्ताभ्यामेव प्रसिध्यति ॥ २९

मनो जीवस्यातिवाहिको देह इति प्रागुक्तं तत्राह—उद्यदिति । तत्सत्तारूपं सर्गोदयेन तदाकारमिबोधत् सर्गोचरमध्यक्षं जीवस्य चिदाभासात्मनः प्रथमं हिरण्यगर्भाख्यं समष्टिरूपमातिवाहिकवपुर्भवति । तत्पुनः समष्टिभावस्यापि दुर्धिया विस्मरणे अद्यैव व्यष्टितां गतं तत्सर्वजनप्रत्यक्षं मन इति प्रागुक्तमित्यर्थः ॥ १७ ॥ तदित्यं स्वयमेव चित्तो रूपं समष्टिरूपेण योगिप्रत्यक्षं सर्वजनसाधारण्येन तु मनःप्रत्यक्षमित्यप्युक्तम् ॥ १८ ॥ तत्र इदमद्यतनं मनःप्रत्यक्षमाधिभौतिकदेहादिकल्पनया अत्यन्तासद्रूपैर्णवोत्थितमित्यसत्प्रत्यक्षमेव विद्धि । तथोनिप्रत्यक्षमेव हे अङ्ग, सद्याथात्म्यस्फूर्तेर्मुख्यं प्रत्यक्षम् ॥ १९ ॥ कथं तर्हि सर्वजनानां तस्मिन्प्रत्यक्षे परोक्षतानुभवः इतरत्र च प्रत्यक्षतानुभवस्तत्राह—अहो इति ॥ २० ॥ प्रथमोदितमिति सूक्ष्मपूर्वकत्वात्स्वौत्याभ्यासस्येत्यर्थः । 'यदमे रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुद्धं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादभ्रैरमित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इति श्रुतेः । सत्यं समष्टिभावात्सर्वगतं मायैवानृतमेव ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ स्थूलस्य सूक्ष्मात्पृथक्त्वे अपृथक्त्वे वा कीदृशं स्वरूपं स्यादित्यादिप्राक्प्रपञ्चितविचारेण । इहामुत्र च सर्वव्यवहारनिर्वाहकत्वादात्मोक्षमक्षयः ॥ २४ ॥ आधिभौतिकचिदाधिभौतिकताप्रथा रूढा प्राबुर्भूता ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ स्फूर्तिस्पन्दने हे व्यवहारसर्वस्वम् । ते च लोकद्वयसाधारणत्वादातिवाहिकदेहस्यैव निष्कर्षे

आद्यं प्रत्यक्षमुत्सृज्य यः सत्येऽस्मिन्कृतस्थितिः ।
 प्रत्यक्षे मृगतृष्णाम्बु पीत्वा स सुखमास्थितः ॥ ३०
 यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ।
 अकृत्रिममनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ ३१
 प्रत्यक्षेणैवमध्यक्षं प्रत्यक्षं प्रविचार्यताम् ।
 यदाद्यं तत्सदध्यक्षं तत्प्रत्यक्षेण दृश्यताम् ॥ ३२
 लोकत्रयानुभवदं त्यक्त्वा प्रत्यक्षमैहिकम् ।
 मायात्मकं यो गृह्णाति नास्ति मूढतमस्ततः ॥ ३३
 आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः ।
 अत्राधिभौतिकव्याप्तिरसत्यैव पिशाचिका ॥ ३४
 अजातसंकल्पमयं प्रत्यक्षं सत्कथं भवेत् ।
 स्वयमेव न यत्सत्यं तत्स्यात्कार्यकरं कथम् ॥ ३५
 यत्र प्रत्यक्षमेवासदन्यात्किं तत्र सद्भवेत् ।
 क्व तत्सत्यं भवेद्भस्तु यदसिद्धेन साध्यते ॥ ३६
 प्रत्यक्ष एव भावत्वे नष्टे केवानुमादयः ।

उह्यन्ते वारणा यत्र तत्रोर्णायुषु का कथा ॥ ३७
 अतः प्रमाणसंसिद्धं दृश्यं नास्त्येव कुत्रचित् ।
 अनन्यदिदमस्तीव तत्तद्ब्रह्मघनं घनम् ॥ ३८
 स्वप्ने द्रष्टुः स्वमेवाद्विर्गृहे नान्यस्य वै यथा ।
 तथा तद्भाववतोरवयोः सा शिलैव चित् ॥ ३९
 अयं शैल इदं व्योम जगदेतदिदं त्वहम् ।
 इति चिन्मय आत्मान्तः खं चमत्कुरुते स्वयम् ॥ ४०
 पश्यत्येतत्प्रबुद्धात्मा नाप्रबुद्धः कदाचन ।
 श्रोतुः कथार्थसंवित्तिर्नाश्रोतुर्भवति कश्चित् ॥ ४१
 अप्रबुद्धमिति भ्रान्तिरेवेयं सत्यतां गता ।
 क्षीयस्य सुस्थिरा एव नृत्यन्ति तरुपर्षताः ॥ ४२
 सर्वत्राप्रतिहतमेकरूपबोधं
 प्रत्यक्षं शिवमनुबुध्य चित्स्वरूपम् ।
 प्रत्यक्षान्तरमिह पेलवं श्रयन्ते
 ये मूढास्तृणतनुभिः शठैरलं तैः ॥ ४३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे०मो० नि०उ०पा० प्रमाणाप्रतिसिद्ध्या दृश्यानुपपत्तिवर्णनं नामाष्टषष्टितमः सर्गः ॥६८॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः ६९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जगद्भ्रमनाभासमदृश्यं दृश्यवत्स्थितम् ।
 परया दृश्यते दृष्ट्या तद्ब्रह्मैव निरामयम् ॥ १
 तत्र शैलसरित्त्वोतोलोकालोकान्तरभ्रमाः ।

पर्यवस्यत इत्याह—योगीति । मानसं स्पन्दनमिति शेषः ।
 तच्च प्रत्यक्षाधीनसिद्धिकर्त्वात्किंचिदस्ति न प्रत्यक्षसमसत्ता
 तस्यास्तीत्यनुभवे तदपीति भावः ॥२९॥ तथा च सर्वसाधार-
 णप्रत्यक्षमात्रे सर्वमन्यद्विहाय योगेन स्थिरता कार्या न पामर-
 जनमात्रप्रसिद्धे ऐहिकमात्रे स्थूलादिप्रत्यक्षे इत्याशयेनाह—
 आद्यमिति ॥ ३० ॥ एवं सुखेऽपि सर्वलोकसाधारणे योगिना-
 मेवानुभवसिद्धे परमपुरुषार्थता न पामरजनप्रसिद्धे इत्याशये-
 नाह—यदिति । क्षणमात्रेण नाशानुभूतिमिदुःखपर्यवसितं
 प्राक्च दुःखसहस्रनिष्पादितं यद्विषयसुखं तद्दुःखमेवाहुर्विवेकिन
 इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ उक्तमेव हृदीविकीर्षुः पुनराह—प्रत्यक्षेणे-
 त्यादिना ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ मिथ्यासंकल्पमयस्य जन्मैव
 यत्र दुर्लभं तस्य सत्ता अत्यन्तदुर्लभा, असतस्त्वार्यक्रियासमर्थता
 ततोऽपि दूरनिरस्तेत्याह—अजातेति ॥ ३५ ॥ ननु चक्षुरा-
 दिप्रमाणप्रसाधितः प्रपञ्चः कथमपलप्यते तत्राह—यत्रेति ।
 योगिप्रत्यक्षबाधितत्वाच्चक्षुरादेरपीति भावः ॥ ३६ ॥ यदा
 साक्षादर्थसाधकेषु चक्षुरादिष्वियं गतिस्तदा तन्मूला अनुमाना-
 दयोऽपि दूरनिरस्ता इत्याह—प्रत्यक्ष एवेति । ऊर्णार्णो-
 षस्य । मत्वर्थायो युस् ॥३७॥ एवं दृश्यमार्जने फलितमाह—
 अनन्यदिति । यद्विदं सदनन्यदस्तीवेति भासते तद्वदं

१ क तत्सिद्धं भवेत् प्रति पाठः.

भ्रान्ति ते परमादर्शं महाव्योमनि बिम्बिताः ॥ २
 सा प्रविष्टा ततः सर्गं तमनर्गलचेष्टिता ।
 अहमप्यविशं तत्र संकल्पात्मा तया सह ॥ ३

सैन्धवघनतुल्यं ब्रह्मघनमेवेति फलितमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ स्वप्ने
 अद्रिद्रष्टुः प्रसिद्धोऽद्रिस्तदानीमपि खं शून्य एव । यतस्तस्मिन्नेव
 काले जाग्रतः स्वपतो वा अन्यस्य सोऽद्रिर्नास्ति । यथाऽयं दृष्टा-
 न्तस्तथा शिलाभावनवतोरवयोर्दृश्यापि सा शिला चिदेवेत्यर्थः
 ॥ ३९ ॥ चमत्कुरुते । भासत इति यावत् ॥ ४० ॥ चिदेवेत्यं
 प्रथते नान्यदिति प्रबुद्धात्मैव पश्यति नाप्रबुद्धः । यथा भार-
 तादिकथार्थसंवित्तिस्तच्छ्रोतुरेव नान्यस्य तद्ब्रह्मदित्यर्थः ॥ ४१ ॥
 ॥ ४२ ॥ ये तु योगिप्रत्यक्षं पूर्णानन्दैकरसं स्वरूपमनुबुध्यापि
 तद्वाधितं चक्षुरादिप्रत्यक्षान्तरं पेलवं तुच्छमपि प्रमाणत्वेन
 सहन्ते तृणतनुभिस्तृणप्रायैः शठैरात्मवञ्चकैस्तैः अलं न किंचि-
 त्प्रयोजनमस्ति । स्वानुभवेऽपि विश्वासशून्याः परवाक्यं कथं
 विश्वस्यीरन्त्यनुपदेयया एव ते इत्यर्थः ॥४३॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे प्रमाणा-
 प्रतिसिद्ध्या दृश्यानुपपत्तिवर्णनं नामाष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

शिलासर्गप्रवेशोऽत्र तत्रत्वविभिदर्थानम् ।

स्वासितस्य मुनेस्तेन संभाषा चात्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

शिलोदरे जगत्सद्भावसंभावनया तत्सत्तास्फूर्तिप्रदं तदधि-
 ष्टानं ब्रह्म दर्शयति—जगद्भ्रममिति । जगन्ति अज्ञानीव
 यस्य । अनाभासं सूर्यादिज्योतिषामविषयः । अदृश्यं चक्षुराद्य-
 विषयः ॥ १ ॥ २ ॥ सा विद्याधरी । तत्र शिलोदरे । तं प्राणुर्कं

यावत्सा तत्र वैरिञ्चं लोकमासाद्य सोद्यमा ।
 उपविष्टा विरिञ्चस्य पुरः परमशोभना ॥ ४
 वक्ष्ययं मुनिशार्दूल पतिर्मे पाति मामिमाम् ।
 विवाहार्थमनेनाहं जनिता मनसा पुरा ॥ ५
 पुराणः पुरुषोऽप्येष मामप्यद्य जरागताम् ।
 न विवाहितवांस्तेन विरागमहमागता ॥ ६
 विरागमेषोऽप्यायातो गन्तुमिच्छति तत्पदम् ।
 यत्र न द्रष्टृता नैव दृश्यता न तु शून्यता ॥ ७
 महाप्रलय आसन्नो जगत्सिद्धिश्च संप्रति ।
 ध्यानाच्च च चलत्येषु शैलमौनादिवाचलः ॥ ८
 तस्मान्मामेनमपि च बोधयित्वा मुनीश्वर ।
 आमहाकल्पसर्गादौ परमे पथि योजय ॥ ९
 इत्युक्त्वा मामसौ तस्य बोधायदमुवाच ह ।
 नाथायं मुनिनाथोऽद्य सद्यः संप्राप्तवानिदम् ॥ १०
 एषोऽन्यस्मिन्नगरेहे ब्रह्मणस्तनयो मुनिः ।
 पूजयैनं गृहायातं गृहस्थगृहपूजया ॥ ११
 बुध्यतामर्घ्यपाद्येन पूज्यतां मुनिपुङ्गवः ।
 महन्महत्सपर्यामिर्महात्मभ्यो हि रोचते ॥ १२
 तयेत्युक्ते महाबुद्धिर्बुधुषे स समाधितः ।
 स्वसंविच्चित्रवात्मत्वादावर्त इव वारिधौ ॥ १३
 शनैरुन्मीलयामास नयने नयकोविदः ।
 मधुः शिशिरसंशान्ताववनौ कुसुमे यथा ॥ १४
 शनैः प्रकटयामासुस्तान्यङ्गान्यस्य संविदम् ।
 मधुपल्लवजालानि नवानीव नवं रसम् ॥ १५
 सुरसिद्धाप्सरःसङ्घाः समाजग्मुः समंततः ।

सर्ग प्रविष्टा ॥ ३ ॥ सोद्यमा तैदानयनोद्यमवती सा तत्रत्यं
 वैरिञ्चं लोकमासाद्य विरिञ्चस्य पुरः उपविष्टा सती अयं मे पतिरि-
 त्यादिवाक्यं यावद्वक्ति तावदस्मिन्नगति महाप्रलय आसन्न इति
 पञ्चमेऽन्वयः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ पुनः सैवाह—संप्रती-
 स्यादिना ॥ ८ ॥ तस्त्रोपदेशेन बोधयित्वा आमहाकल्पं
 वैज्ञानिकप्रलयपर्यन्तं ये ये प्रसिद्धाः सर्गास्तेषामादौ मूलभूते
 ब्रह्माख्ये पथि योजय ॥ ९ ॥ तस्य चतुर्मुखस्य बोधाय समा-
 धिव्युत्थानाय उचितार्थावगमाय च ॥ १० ॥ गृहस्थानां गृहे-
 पूषितया पूजया पूजय प्रीणय ॥ ११ ॥ त्वया अयं मुनिपुंगवः
 पूज्यत्वेन बुध्यताम् । अत एवार्घ्यपाद्येन पूज्यताम् । यतो
 महात्मभ्यस्त्वाहोभ्यो महत्सपर्यामिः प्राप्यं यन्महत्फलं तदेव
 रोचते न शुद्धम् । 'वक्ष्यथानां प्रीयमाणः' इति चतुर्थी ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥ कुसुमे द्वे नयनयोरुपमे । मधुर्यथा उन्मीलयति
 तद्वत् ॥ १४ ॥ मधोः संबन्धीनि पल्लवजालानि नवं स्वरसमिवे-
 ल्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ प्रणवपूर्वकैः स्वरैः सुन्दरं यथा स्यात्तथा
 ॥ १७ ॥ करामलकवत् दृष्टः संसारलक्षणस्य असारस्य सारः
 आत्मा येन ॥ १८ ॥ १९ ॥ दृष्ट्या कटाक्षेण दर्शिते मणिमये

यथा हंसालयो लोलाः प्रातर्विकसितं सरः ॥ १६
 ददर्शासौ पुरःप्राप्तं मां च तां च विलासिनीम् ।
 उवाचाथ वचो वेधाः प्रणवस्वरसुन्दरम् ॥ १७
 अन्यजगद्ब्रह्मोवाच ।
 करामलकवद्दृष्टसंसारसारसार हे ।
 ज्ञानामृतमहाम्भोद मुने स्वागतमस्तु ते ॥ १८
 पदवीमसि संप्राप्त इमामतिदवीयसीम् ।
 दूराध्वसुपरिश्रान्त इदमासनमास्यताम् ॥ १९
 इत्युक्ते तेन भगवन्नभिवाद्य इत्यहम् ।
 चदन्मणिमये पीठे निविष्टो दृष्टिदर्शिते ॥ २०
 अथामरर्षिगन्धर्वमुनिविद्याधरोदिताः ।
 प्रस्तुताः स्तुतयः पूजा नतयः स्थितिनीतयः ॥ २१
 ततो मुहूर्तमात्रेण सर्वभूतगणोदिते ।
 शान्ते प्रणतिसंरम्भे तस्योक्तं ब्रह्मणो मया ॥ २२
 किमिदं भूतभव्येश यदियं मामुपागता ।
 वक्ति ज्ञानगिरासांस्त्वं बोधयेति प्रयत्नतः ॥ २३
 भवान्भूतेश्वरो देव सकलज्ञानपारगः ।
 इयं तु काममूर्खा किं ब्रूते ब्रूहि जगत्पते ॥ २४
 कथमेषा त्वया देव जायार्थं जनिता सती ।
 नेह जायापदं नीता नीता विरसतां कथम् ॥ २५
 अन्यजगद्ब्रह्मोवाच ।
 मुने शृणु यथावृत्तमिदं ते कथयाम्यहम् ।
 यथावृत्तमशेषेण कथनीयं यतः सताम् ॥ २६
 अस्ति तावदजं शान्तमजरं किञ्चिदेव सत् ।
 ततश्चित्कचनैकान्तरूपिणः कश्चितोऽस्म्यहम् ॥ २७

पीठे अहं निविष्ट उपविष्टः ॥ २० ॥ स्थितिनीतयो युक्तव्य-
 वहारनीतयः ॥ २१ ॥ सर्वभूतगणैर्गन्धर्वादिभिरुदिते नागादिभिः
 कृते प्रणतिसंरम्भे शान्ते सति ॥ २२ ॥ इयं विद्याधरी
 मामुपागता सती अस्मांस्त्वं ज्ञानगिरा बोधयेति यद्वक्ति इदं
 किमुचितमनुचितं वेत्यर्थः ॥ २३ ॥ कृतस्तेऽयं संशयस्तप्राह—
 भवानिति । तथा च तव कृतकृत्यत्वान्मदुपदेशापेक्षैव नास्ति,
 अस्यास्तु साधनसंपत्त्यभावादधिकारो नास्तीत्युपदेशप्रार्थनानुप-
 पत्तेः संशय इति भावः ॥ २४ ॥ संशयान्तरं दर्शयति—
 कथमिति । विरसतां निर्वेदम् ॥ २५ ॥ सत्यं ममास्याश्च नोप-
 देशार्हता तथापीयं स्ववासनयैव ममाप्यज्ञतां स्वस्या अधिकारं
 च मन्यमाना त्वां प्रार्थितवती, तथा अस्या जन्ममात्रं मया
 संपादितं जायार्थमहं जनिता अहं चास्य भार्यास्त्रीत्यादिकल्पना
 सर्वाप्यस्याः स्ववासनयैव संपन्ना । अत एवास्या महासनामात्रत्वा-
 न्मिथ्याभूतायाः सांप्रतं मम विदेहकैवल्यप्राप्त्यैव सह स्वकल्पित-
 प्रपञ्चेन प्रलयस्त्वस्त्वमक्षमेव भविष्यतीत्युत्तरं विस्तराद्ब्रह्मकामः
 प्रतिजानीते—मुने इति ॥ २६ ॥ तत्रादौ वक्ष्यमाणोपोद्धातेन
 'ज्ञानमप्रतिषं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च

आकाशरूप एवाहं स्थित आत्मनि सर्वदा ।
 भविष्यति स्थिते सर्गे स्वयंभूरिति नाम मे ॥ २८
 वस्तुतस्तु न जातोऽस्मि न च पश्यामि किञ्चन ।
 चिदाकाशश्चिदाकाशे तिष्ठाम्यहमनाद्युतः ॥ २९
 यद्यं त्वं ममाहं ते यदियं कथनं मिथः ।
 तत्परस्परज्ञाप्रे रणतीवेति मे मतिः ॥ ३०
 एवंरूपस्य मे कालवशतोऽविशदाकृतेः ।
 सा कुमार्याश्चिदाभासमात्रस्यान्तः स्वभावतः ॥ ३१
 ममानन्या तवान्यस्य चान्येवेह विभाति या ।
 सोदितानुदितेवान्तर्ममाहमिति वासना ॥ ३२
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपा० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषाण० सर्गप्राप्तिर्नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥६९॥

अनाशसत्तानुदितस्त्वहमात्मात्मनि स्थितः ।
 स्वभावादच्युताकारः स्वात्मारामः स्वयं प्रभुः ॥ ३३
 तस्या अहमिति भ्रान्तेर्वासनाया जगत्स्थितेः ।
 संपन्नेयमधिष्ठातृदेवता देहरूपिणी ॥ ३४
 वासनाया अधिष्ठातृदेवतैवमियं स्थिता ।
 न तु मे गृहिणी नापि गृहिण्यर्थेन सत्कृता ॥ ३५
 स्ववासनावेशवशेन भावं
 गृहिण्यहं ब्रह्मण इत्युपेत्य ।
 एषा स्वयं व्यर्थमितातिदुःखं
 यस्मात्किलैषैव हि वासनान्तः ॥ ३६

सप्ततितमः सर्गः ७०

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच ।

अथाहं चिन्मयाकाशस्त्वन्याकाशमयीं स्थितिम् ।
 परां प्रहीतुमिच्छामि तेनेहोपस्थितः क्षयः ॥ १
 महाप्रलयकालेऽस्मिन्स्यकृमेषा मयाधुना ।
 मुनीन्द्र नूनमारब्धा तेन वैरस्यमागता ॥ २
 आकाशत्वाद्यदाद्योऽयं पराकाशो भवान्यहम् ।
 तदा महाप्रलयता वासनायाश्च संक्षयः ॥ ३
 सह सिद्धं चतुष्टयम्' इति पुराणप्रसिद्धमौत्पत्तिकं तत्त्वज्ञानं
 स्वस्यास्तीति प्रकाशयितुं स्वकारणं ततः स्रोत्पत्तिस्वरूपं चाह—
 अस्तीति । कथितोऽस्मि प्रकटीभूतोऽस्मि ॥ २७ ॥ तादृश-
 तत्त्वज्ञानबाधिता स्रोत्पत्तिस्तत्प्रयुक्तस्वनाम च कथं प्रसिद्धं
 तत्राह—आकाशेति । व्यवहर्तृप्रजासर्गे उत्पद्य स्थिते सति
 तद्गुण्य व्यावहारिकं स्वयंभूरिति नाम भविष्यति ॥ २८ ॥
 वस्तुतस्त्ववदशा तु ॥२९॥ तर्हि तत्त्वविदोरावयोः प्रश्नोत्तरादि-
 व्यवहारः कीदृशस्तत्राह—यदिति । यथा एक एव समुद्रोऽ-
 खण्डस्तरङ्गभेदेः खण्डनपरस्परघातैर्ध्वनिवैचित्र्यं दर्शयति तद्व-
 दिति भावः ॥ ३० ॥ एवं समुद्रात्तरङ्गवरीषत्कल्पितस्वपरदृष्टि-
 वैद्यमेदरूपस्य कालवशत ईषत्स्वरूपविस्मरणादविशदाकृतेर्मै-
 नान्तरीयकचिदाभासमात्रस्यान्तर्या ममाहमिति वासना उदिता
 सा कुमार्या अन्यस्य तव अन्येव विभाति मम तु अनन्या
 विभाति । सा उदिता अनुदिता चावयोर्दशेति द्वयोरन्वयः ॥३१॥
 ॥३२॥ त्वं तर्हि स्वदशा कीदृक् तत्राह—अनाशेति । अहं तु
 अनाशसत्ता यतोऽनुदितः ॥ ३३ ॥ ईदृशात्त्वत्त इयं कथ-
 मुत्पन्ना का च वा तत्राह—तस्येति । आ अहमिति भ्रान्तेः ।
 स्मरणे आकारः अकित् प्रगृह्यः । पूर्वपूर्वाहंकारसंस्कारप्रभव-
 त्वात्सृष्टिकल्पाया अहमिति भ्रान्तेर्जगत्स्थितेर्वासनायाश्चाधि-
 ष्ठात्री देवता इयं मत्संकल्पादेहरूपिणी संपन्नेत्यर्थः ॥ ३४ ॥
 ॥ ३५ ॥ तर्हीयं त्वां कथं पतिरिति ब्रूते तत्राह—स्वेति ।
 यस्मादेवैव अन्तः सर्वजगद्वासना अतो गृहिण्यहमिति स्वमनीष-

तेनैषा विरसीभूता मन्मार्गं परिधावति ।
 नानुगच्छति को नाम निर्मातारमुदारधीः ॥ ४
 इहाद्यायं कलेरन्तश्चतुर्युगविपर्ययः ।
 प्रजामन्विन्द्रदेवानामद्यैवान्तोऽयमागतः ॥ ५
 अद्यैव चायं कल्पान्तो महाकल्पान्त एव च ।
 ममायं वासनान्तोऽद्य देहव्योमान्त एव च ॥ ६
 वैवोपेत्य व्यर्थमतिदुःखमिता प्राप्ता ॥३६॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्गप्राप्ति-
 नांमैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

वर्ष्यते वासनादेव्या इह निर्वेदकारणम् ।

प्रलयो जगतश्चाथ मिथ्याभिन्नममात्रता ॥ १ ॥

'कथमेषा त्वया ब्रह्मन् जायार्यं जनिता सती । नेह
 जायापदं नीता' इति प्रश्नस्योत्तरमुक्तम्, इदानीं 'नीता विरसतां
 कथम्' इति प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमारभते—अथेत्यादिना । अथ
 स्वसंकल्पकल्पितद्विपरार्थायुःप्रमाणादनन्तरं चिन्मयः चिद्विबर्त-
 रूपो यश्चित्ताकाशस्तद्रूपोऽहं परां निरतिशयानन्दरूपामन्याका-
 शमयीं ब्रह्माकाशात्मिकां कैवल्यस्थितिम् । तेन हेतुना इह
 महासनाकल्पिते जगति क्षयो नित्यो नैमित्तिको दैनंदिन आत्य-
 न्तिकश्चेति पुराणप्रसिद्धश्चतुर्विधोऽपि प्रलय उपस्थितः ॥ १ ॥
 त्यक्तुं मूलोच्छेदात्स्वसत्तातः प्रच्यावयितुम् । तेन हेतुना वैरस्यं
 क्षयोन्मुखताम् ॥ २ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—आकाशत्वादिति ।
 त्यन्लोपे पञ्चमी । अयमहं यदा चित्ताकाशतां विहाय आद्यो
 ब्रह्माकाशो भवामि तदेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ कलेश्वरमकल्पच-
 रममन्वन्तरचरमकलियुगस्यान्तः परिसमाप्तिकालः । प्रजाश्च
 मनुश्चेन्द्रश्च देवाश्च तेषाम् ॥ ५ ॥ चतुर्विधप्रलयानामथ युग-
 पत्प्राप्तिरित्याह—अद्यैवेति । वासनान्तः इत्यात्यन्तिकवैज्ञा-
 निकप्रलयोक्तिः । देहव्योमान्त इति प्राकृतप्रलयोक्तिः ॥ ६ ॥

तेनेयं वासना ब्रह्मक्षयं गन्तुं समुद्यता ।
 केव पद्माकराशोषे गन्धलेखावतिष्ठताम् ॥ ७
 यथा जडाब्धिलेखाया जायते लहरी चला ।
 वासनायास्तथैवेच्छा मुधोदेत्यपकारणम् ॥ ८
 आभिमानिकदेहाया वासनायाः स्वभावतः ।
 अस्या आत्मावलोकेच्छा स्वयमेवोपजायते ॥ ९
 आत्मतत्त्वं नु पश्यन्त्या धारणाभ्यासयोगतः ।
 दृष्टोऽनया भवत्सर्गो वर्गव्यग्रनिरर्गलः ॥ १०
 अनयाम्बरसंचारपरयाद्रिशिरःशिला ।
 दृष्टा स्वजगदाधारभूतास्माकं तु आत्मिका ॥ ११
 एतद्यस्मिजगद्यत्र तद्गुणस्त्वं जगद्विरौ ।
 अस्मज्जगत्पदार्थेषु संत्यन्यानि जगन्त्यपि ॥ १२
 वयं तानि न पश्यामो भेददृष्टौ स्थिता इमे ।
 बोधैकतां गतास्त्वाशु पश्यामस्तानि वीक्षणात् ॥ १३
 घटे घटे घटे कुड्ये खेऽनलेऽम्भसि तेजसि ।
 जगन्ति सन्ति सर्वत्र शिलायामिष सर्वदा ॥ १४
 जगन्नाम मुधा भ्रान्तिः किल स्वप्नपुरोपमा ।
 मिथ्यैवेयं क नामासौ चिद्रूपास्त्यथ नास्ति च ॥ १५
 परिज्ञाता सती येषामेषा चिन्नभसैकताम् ।
 गता ते न विमुह्यन्ति शिष्टास्तु भ्रमभाजनम् ॥ १६
 अधान्यधारणाभ्यासात्स्वविरागवशोदितम् ।
 साधयन्त्याऽर्धमात्मीयं दृष्टस्त्वमनया मुने ॥ १७

तेन आत्मावलोकनेच्छादिकारणकलापेन ॥ ७ ॥ स्वनाशहेतौ
 स्वात्मावलोकनेऽस्याः कथमिच्छा जायते इति चेत्स्वभावादे-
 वेति सोपपत्तिकमाह—अथेत्यादिना । अपकारणं कारणान्तरं
 विना, स्वभावादेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ तर्ह्यस्या अस्मदीयब्रह्माण्ड-
 दर्शने को हेतुस्तमाह—आत्मेति । आत्मज्ञानार्थं प्रकृतस्य
 धारणाभ्यासस्य ब्रह्माण्डान्तरगमनादिसिद्धयो नान्तरीयकं
 फलमिति तत्परीक्षेच्छैव तदेतुरिति भावः । वर्गेषु धर्मार्थादि-
 चतुर्वर्गेषु व्यग्रा निरर्गलाः प्रजा यस्मिन् ॥ १० ॥ प्रागुक्त-
 शिलादर्शनमप्यस्यास्तद्वलादेवेत्याह—अनयेति ॥ ११ ॥ १२ ॥
 भेददृष्टौ व्युत्थानदशायां स्थिता वयं न पश्यामः । समाधिना
 बोधैकतां गतास्तु योगदृशा वीक्षणात्पश्याम एव ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ इयं जगन्माया मिथ्यैव । असौ मिथ्याभ्रान्तिः क
 नामास्ति । यद्यस्ति च तर्ह्यधिष्ठानचिद्रूपा अन्यथैवास्ति न
 प्रतीयमानजडरूपेत्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ 'किमिदं भूतमव्येश
 यदियं मामुपागता' इति यत्स्वसमीपागमनसामर्थ्यकारणं पृष्टं
 तस्योत्तरमाह—अथेति । अथ प्रागुक्तनिर्वेदप्राप्त्यनन्तरं
 स्वविरागवशादुदितमात्मीयं स्वाभिलषितमात्मज्ञानानुकूलं च
 गुरुपसदनश्रवणमननाद्यर्थं त्वदुपदेशात्साधयन्त्या साधयितु-
 मिच्छन्त्या अनया अन्यासां प्रागुक्तजगत्सर्गदर्शनहेतुधारणा-
 व्यतिरिक्तानां खेचरसिद्धिब्रह्माण्डान्तरसंचारपरमनःकल्पितसू-
 क्ष्मार्थानुप्रवेशसिद्धसंदर्शनसंभाषणादिसिद्धिहेतूनां चूडालोपा-

इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते ।
 इत्यमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया ॥ १८
 प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते नेह कार्याणि कानिचित् ।
 द्रव्यकालक्रियाद्योता चितिस्तपति केवलम् ॥ १९
 देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्ध्यादिकं त्विदम् ।
 चिच्छिच्छलङ्कारमेवैकं विद्यन्तस्तमयोद्यम् ॥ २०
 चिदेवेयं शिलाकारभवतिष्ठति बिभ्रती ।
 अङ्गमस्या जगज्जालं महतः स्पन्दनं यथा ॥ २१
 विज्ञानघनमात्मानं जगदित्यवबुध्यते ।
 अनाद्यन्तापि साद्यन्ता चित्त्वादिति गतापि चित् ॥
 चिच्छिच्छलेपमनाद्यन्ता साद्यन्तास्तीति बोधतः ।
 साकारापि निराकारा जगदङ्गेति संस्थिता ॥ २३
 यद्वत्स्वप्ने चिदेव स्वं रूपं व्योमैव पत्तनम् ।
 वेत्ति तद्वदिवं वेत्ति पाषाणं जगदङ्गकम् ॥ २४
 न सरन्तीह सरितो न चक्रं परिवर्तते ।
 नार्थाः परिणमन्त्यन्तः कचत्येतच्चिदम्बरम् ॥ २५
 न महाकल्पकल्पान्तसंविदः संविदम्बरे ।
 संभवन्ति पृथग्रूपाः पयसीव पयोन्तरम् ॥ २६

जगन्ति सन्त्येव न सन्ति शान्ते

चिदम्बरे सर्वगतैकमूर्तौ ।

नभोन्तराणीव महानभोन्त-

श्चित्सन्ति सत्तानि पराम्बराणि ॥ २७

स्यानोपवर्णितधारणाविशेषाणामभ्यासास्वतंसकल्पकल्पितं त्व-
 त्समाभिस्थानं परिज्ञाय तत्र गतया अनया अन्तर्हितोऽपि त्वं
 दृष्ट इत्यर्थः ॥ १७ ॥ इति वर्णितप्रकारेण जीवचिच्छक्तिरविद्या
 ऐन्द्रजालिकमायेव परिजृम्भते । ब्राह्मी च मायाशक्तिरित्येव
 परिजृम्भते । सा तु विद्या, निरस्तावरणशक्तिःत्वादानामयेति
 विशेष इत्यर्थः । अथवा पूर्वार्धेन मायेव मायिकोपाधीननुस-
 रन्ती जीवचिच्छक्तिर्विजृम्भत इत्यङ्गकथा, उत्तरार्धे तु ब्राह्मी-
 शक्तिराविर्भूता ब्रह्मचिदेव सर्वतो विजृम्भत इति तत्त्वज्ञकथेति
 योज्यम् ॥ १८ ॥ प्रवर्तन्ते उत्पद्यन्ते । निवर्तन्ते नश्यन्ति ।
 किन्तु केवलं चितिरेव द्रव्यमिव काल इव क्रियेव द्योतमाना
 तपति स्फुरति ॥ १९ ॥ अज्ञानां प्रतिष्ठितरङ्गकम् । 'इवे प्रति-
 कृतौ' इति कन् ॥ २० ॥ अवतिष्ठत्यवतिष्ठते । छन्दसः पद-
 व्यत्ययः ॥ २१ ॥ चित एवेदं विपरीतदर्शनं भ्रान्तचित्स्वभा-
 वादेवेत्याह—विज्ञानेति । साद्यन्ता देशकालकृतपरिच्छिन्ना
 इति एवंविधवस्तुकृतपरिच्छेदमपि गता ॥ २२ ॥ निराकारापि
 साकारा सती जगन्ति अज्ञानि यस्यास्तथाविधेति वैपरीत्येन
 संस्थिता ॥ २३ ॥ यद्वत् यथा स्वप्ने चिद्योमैव स्वरूपं पत्तनं
 वेत्ति तद्वद्भागेऽपि जगच्चिद्योमैव जगदङ्गकं गिरिपाषाण-
 मपि वेत्ति पश्यति ॥ २४ ॥ स्वप्नवदेव प्रबोधे बाधसाम्यं
 दर्शयति—न सरन्तीति ॥ २५ ॥ पयसि समुद्रे तरङ्गादि
 पयोन्तरमिव पृथग्रूपाः ॥ २६ ॥ एवं सति अध्यारोपदृष्ट्या दर्शने

वसिष्ठ तद्रच्छ मुने जगत्सं
त्वं चासने संप्रति शान्तिमेहि ।

बुद्ध्यादिरूपाणि परं ब्रजन्तु
वयं बृहद्ब्रह्मपदं प्रयामः ॥

२८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराम्णयणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० शिलान्तर्जगत्पितामहवाक्यानि नाम सप्ततितमः सर्गः ॥७०॥

एकसप्ततितमः सर्गः ७१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा भगवान्ब्रह्मा ब्रह्मलोकजनैः सह ।
बद्धपद्मासनोऽनन्तसमाधानगतोऽभवत् ॥ १
ओंकारार्धोऽर्धमात्रान्तः शान्तनिःशेषमानसः ।
लिपिकर्मापिताकार आसीदांशान्तवेदनः ॥ २
तमेषानुसरन्ती सा तथैव ध्यानगा सती ।
वासनासीदशेषांशा शान्ता आकाशरूपिणी ॥ ३
परमेष्ठिन्यसंकल्पे तस्मिन्स्तानवमेयुषि ।
सर्वगानन्तचिद्योमरूपोऽपश्यमहं यदा ॥ ४
यावत्संकल्पनं तस्य विरसीभवति क्षणात् ।
तथैवानु तथैवोर्व्याः साद्रिद्वीपपयोनिधेः ॥ ५
तृणगुल्मलताशालिसमुद्भवनशक्तता ।
समस्तैवास्तमागन्तुमारब्धा च शनैःशनैः ॥ ६

जगन्त्यनन्तानि सदैव सर्वत्रैव चित्सत्तया सन्त्येव नाणुमात्रमपि
क्वापि किञ्चिदप्यपलपितुं शक्यम् । अपवाददृष्ट्या दर्शनेन
क्वापि किञ्चिदपि चित्स्वरूपव्यतिरिक्तं समर्थयितुं शक्यमिति
फलितमित्याह—जगन्तीति । यथा महानभोन्तर्घटाकाशादि-
नभोन्तराणि महानभःसत्तया सन्ति पृथक् न सन्ति तथा तानि
जगन्त्यपि पराम्बराणि शून्यान्यपि चित्सन्ति सद्भवन्तीत्यर्थः
॥ २७ ॥ हे वसिष्ठमुने, त्वं संप्रति तत्त्वं जगद्रच्छ तत्र
चैकान्तकल्पिते प्राक्तने निजासने समाधिना शान्तिं निर्विक्रम-
सुखमेहि । इमानि मत्कल्पितानि बुद्ध्यादिजगद्रूपाणि प्रलयेन
परमव्यक्तं ब्रजन्तु । वयं तु हैरण्यगर्भोपाधिसहितमूलाज्ञान-
घाथेन परं पदं कैवल्यारूप्यं प्रयाम इत्यर्थः ॥२८॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारामाण्यतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शिला-
न्तर्जगत्पितामहवाक्यानि नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

कल्पनाहेतुवैधात्रसंकल्पोपशमक्रमात् ।

सत्कल्पितानां भूतानां वर्णयते प्रलम्बक्रमः ॥ १ ॥

न विद्यते अन्तः अवसानं पुनर्व्युत्थानं यस्मात्तथाविधं
यत्समाधानं समाधिस्तत्परः ॥ १ ॥ ॐकारस्य उत्तरार्धं या
अर्धमात्रा तदन्तर्नादविन्दुशक्तिशान्ताख्यतद्गणेषु क्रमाच्चित्त-
विलापनेनान्ते शान्तनिःशेषवासन इति संप्रहोक्तिः ॥ २ ॥ न
शिष्यन्ते अंशाः स्मृतिबीजभेदा यस्यां तथाविधा भूत्वा शान्ता
सती आकाशरूपिणी शून्यस्वभावा आसीत् ॥३॥ इदं तथैव-
मान्तरं रहस्यं त्वं कथमप्राक्षीस्तत्राह—परमेष्ठिनीति । स्थूल-

१ आशान्तवासनः इति पाठः सुबचः.

क्विल तस्य विराडात्मरूपस्याङ्गैकदेशताम् ।
सा विभर्ति मही तेन तदसंवेदनोदयात् ॥ ७
विचेतना सा विरसा बभूव परिजर्जरा ।
मार्गशीर्षान्तबह्वीष जराविधुरतां गता ॥ ८
यथास्नाकमसंविचेरङ्गाली विरसा भवेत् ।
तथा धिरिचिसंविचेर्धरा वैधुर्यमागता ॥ ९
संपन्ना संहतानेकमहोत्पातभरावृता ।
दुष्कृताङ्गारनिर्दग्धनरकोन्मुखमानवा ॥ १०
दुर्भिक्षाकाण्डदौस्थ्यवैद्यदारिद्र्यदुर्भगा ।
दुःशीलाशेषवनिता निर्मर्यादनरावृता ॥ ११
पांसुप्रमन्दनीहारधूलिधूसरसूर्यका ।
द्वन्द्वमूर्खमहादुःस्विव्यसनिव्याधिताकुला ॥ १२
अग्निदाहजलापूरयुद्धप्रोच्छिन्नमण्डला ।
अवृष्ट्यवप्रहोन्नष्टकष्टचेष्टितपामरा ॥ १३

सूक्ष्मकारणलक्षणार्थसहितप्रणवमात्राप्रविलयक्रमेण स्ववासना-
क्षयात्तानवमुत्तरोत्तरसूक्ष्मभावं आ ईयुषि एयुषि सति अह-
मपि समाधिना सर्वगानन्तचिद्योमरूपः संस्तत्सर्वमपश्यम् ।
ननु ईयुषीति परोक्षे लिटः कसुरपश्यमित्यपरोक्षोक्तिश्च विद-
ध्यते । नैव दोषः । वसिष्ठस्य समाध्यारम्भात्प्राग्दशामालम्ब्य
पारोक्ष्यम्, समाध्यारम्भदशामालम्ब्यापारोक्ष्यमित्युभयो-
पपत्तेः । न चैवं तुल्यकालताबोधकभावबलक्षणसप्तमीविरोधः ।
सामीप्यातिशयेनापि भावस्य भावान्तरलक्षकत्वदर्शनासुल्यका-
लत्वोपचारेणापि तदुपपत्तेरिति ॥ ४ ॥ तस्य विधेः संकल्पनं
शनैःशनैस्तत्क्षणादारभ्य यथा यथा यावद्विरसीभवति तावत्तथैव
तथैव साद्रिद्वीपपयोनिधेरुर्व्यास्तृणगुल्मादिसमुद्भवनशक्तता तथा
समस्तैव जलादीनामपि शक्तिरस्तं गन्तुमारब्धेति परेणान्वयः
॥ ५ ॥ ६ ॥ मुमूर्षोर्विदुषः सर्वदेहव्यापिसंवेदनस्य तत्संहारे
तदवैरस्यवद्वा तत्र विराड्देहावयवपृथ्व्यादीनां वैरस्यं बोध्यमि-
त्याशयेनाह—क्विलेति । तदसंवेदनस्य तत्संवेदनोपसंहारस्य
उदयात्सा विचेतना सती विरसा परिजर्जरा बभूवेति परेणा-
न्वयः ॥ ७ ॥ ८ ॥ आशयस्थं दृष्टान्तं प्रकाशयति—यथेति
॥ ९ ॥ कथं कथं विजर्जरा बभूवेत्येतत्प्रपञ्चयति—संपन्नोत्सा-
दिसार्धपञ्चदशभिः । तत्र मनुष्याणां नाशादौ कलिकल्मषमपि
निमित्तमित्याशयेन तत्प्रपञ्चयन्नाह—दुष्कृतेत्यादि ॥ १० ॥
दौस्थ्यैः राजचोराद्युपपन्नैः ॥११॥ पांसुवत्प्रमन्दनीहारधूलि-
भिश्च धूसरो भास्करो यस्याम् । शीतोष्णादिवृन्द्विभक्तभिरासो-
पाये मूर्खैरत एव महादुःस्विभिर्दुर्व्यसनिभिर्व्याधितैश्च आकुल्य

अशङ्कितमहोत्पातपतत्पर्वतपत्तना ।
 शिशुश्रोत्रियमुन्यार्यगुणिनाशरुदजना ॥ १४
 अशङ्कितस्थलीमध्यसंजातागाधकूपका ।
 वर्णसंकरनारीणामासक्तजनभूमिपा ॥ १५
 अट्टशूलाखिलजना शिवशूलचतुष्पथा ।
 केशीकशूलवनिता पात्रशूलजनेश्वरा ॥ १६
 दुःखशूलसमाचारा द्वन्द्वशूलाखिलप्रजा ।
 अधर्मशूलवनिता पानशूलजनेश्वरा ॥ १७
 अधर्मशूलवलिता कुशास्त्रशतशुलिनी ।
 दुर्जनाखिलविस्तार्या विपद्भिहतसज्जना ॥ १८
 अनार्यवसुधापाला तदनाहतपण्डिता ।
 लोभमोहभयद्वेषरागरोगरजोरता ॥ १९
 अप्यन्यगामिपुरुषा रुषाभिहतसद्विजा ।
 अनारतपराक्रन्दपरापर्यन्तपामरा ॥ २०
 दस्युत्सन्नपुरप्रामदेवद्विजसमाश्रया ।
 आपातमधुरारम्भदुःखदोदरभङ्गुरा ॥ २१
 आलस्योल्लासविलसत्कार्यवैधुर्यधर्मिणी ।
 सर्वापदुपतापान्ता क्रमेणोत्सन्नदिग्गणा ॥ २२
 भस्मशेषपुरप्रामा निर्जनाखिलमण्डला ।
 रोरुयमाणभस्माभ्रकुण्डलोद्गामराम्बरा ॥ २३
 दुर्भगाडम्बरारम्भरोदनोरुषोदरी ।
 मुष्टिप्रमाणजनता जनतापानुषङ्गिणी ॥ २४

॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ जलदौलभ्यादशङ्कितं स्थलीमध्ये यत्र कचन जलाशयाखननात् सर्वतः संजाता अगाधकूपका यस्याम् । वर्णसंकराय नारीणां मध्ये गोत्रसापिण्ड्यागम्यादिविचारं विनैव विवाहाद्यासक्ता जना भूमिपाश्च यस्याम् ॥ १५ ॥ अद्यत इत्यमोदनादि शूलं विक्रयापहारादिना उपजीव्यं येषां तथाविधा अखिलजना यस्याम् । शिवः शूलकं तदेव शूलमुपजीव्यं येषु तथाविधानि चतुष्पथानि यस्याम् । केशो भगः स एवैकं शूलमुपजीव्यं यासां तथाविधा वनिता यस्याम् । पात्रं शिरः करस्तदेव शूलमुपजीव्यं येषां तथाविधा नरेश्वरा राजानो यस्यामिति संप्रदायव्याख्या । अथवा 'अट्ट अतिक्रमे' इति धातोः अट्टः स्वस्ववर्णाश्रमोचितवृत्त्यतिक्रमः । शिवाः सुगालाः । केशाः प्रसिद्धा एव । पात्रं वेद्यानर्तक्यादयश्च शूलरोग इव व्यसनक्रन्दनहेतवो येषामिति यथायोगं योज्यम् । शेषं प्राग्वत् ॥ १६ ॥ एवं दुःखान्येव शूलानीव प्राणिक्रन्दनहेतवो येषां तथाविधा जनसमाचारा यस्याम् । एवमप्रेऽपि ॥ १७ ॥ अधर्मशूलैरधर्माक्रोशपरैर्जनैः सर्वतो वलिता । कुशास्त्रशतैर्वेदबाह्वैः शूलिनी रोगार्तेव साक्रन्दा । दुर्जनाशोरपिशुनादयोऽखिलजना विस्तार्या यत्र ॥ १८ ॥ १९ ॥ अन्यगामिनः स्वधर्मत्यागेन परधर्मप्रवृत्ताः पुरुषा यत्र । रुषा क्रोधेन अभिहताः सन्तो द्विजाः स्वधर्मोपदेष्टारो यत्र । अनारतं परेषामाक्रन्दे रोदने तस्पर अपर्यन्ताः पामरा यत्र ॥ २० ॥ अन्याया-

नीरसाशेषदेशान्ता सर्वर्तुगुणवर्जिता ।
 इत्यस्य पार्थिवे धातौ ब्रह्मणो गतवेदने ॥ २५
 पृथिवी पृथुवैधुर्या संपन्नासन्ननाशतः ।
 अथ तत्संविदुन्मुक्तो जलघातुः क्षयोन्मुक्तः ॥ २६
 यदा विभ्रुभितात्मासीत्तदा नियतिलङ्घनात् ।
 समुत्सार्यार्यमर्यादामर्षवा विवृतार्णसः ॥ २७
 प्रवृत्ता विकृतिं गन्तुमुन्मत्ता इव राविणः ।
 वीचिबिक्षोभविन्यासैर्वेलाविपिनलावकाः ॥ २८
 कल्लोलवलनावर्तविषर्तोद्धर्तिताश्रयाः ।
 महाभ्रमदुत्तुङ्गतत्तत्तनभोदिशः ॥ २९
 बृहद्गुलावर्तगर्जनेनोद्भवकन्दराः ।
 सीकरौघमहारम्भघनसंवलिताचलाः ॥ ३०
 चलच्चलच्चलद्वीरमकराघूर्णितान्तराः ।
 उल्लसन्मकराक्रान्तद्रुमकाननितोदराः ॥ ३१
 दरीविदारणभ्रष्टसिंहाहतजलेचराः ।
 उर्म्युदस्तमहारत्नभरतारकिताम्बराः ॥ ३२
 उत्फालमकरच्छन्नभमभ्ररवृहद्दनाः ।
 परस्परोर्मिसंघट्टभांकारकटुटांकुताः ॥ ३३
 तरत्तरलमातङ्गफूत्कारा धौतभास्कराः ।
 अन्योन्यवैल्लनव्यप्रप्रविदीर्णाद्रिभित्तयः ॥ ३४
 तटपर्वतलुण्टाकतरङ्गकरमण्डलाः ।
 गर्जद्विरिद्वीगेहविशदुन्मत्तवारयः ॥ ३५

जितवितैर्भरणकाले आपातमधुरारम्भं परिणामे परलोके च दुःखदं उदरं येषां तथाविधा भङ्गुरा अल्पायुषो यत्र ॥ २१ ॥ आलस्योल्लासेन विलसत्संध्यावन्दनादिकार्यवैधुर्यं येषां तथाविधा धर्मिणो धार्मिकजना यत्र । सर्वेषामापद उपतापा रोगाशान्ते यस्याम् ॥ २२ ॥ रोरुयमाणैर्ध्वनद्विभस्माभ्रोभयकुण्डलैश्चक्रवातेरुद्गामरसिवाम्बरं यस्याम् ॥ २३ ॥ दुर्भगानां प्रजानामाडम्बरारम्भे रोदनैश्च उरुरवं ध्वनिबहुलमुदरं यस्याः । 'नासिकोदरोष्ठ-' इति ङीप् । मोषणं मुष्टिवैर्यं तत्प्रमाणा जनता जनसमूहो यस्याम् ॥ २४ ॥ सर्वैः ऋतुगुणैर्वर्जिता । इति वर्णितप्रकारेण अस्य ब्रह्मणो विधातुर्विराट्देहारम्भके पार्थिवे धातौ गतवेदने उपसंहृतचैतन्ये सति पृथिवी पृथुवैधुर्या संप- जेति परेणान्वयः ॥ २५ ॥ आसन्ननाशतः प्रलयात् । एवं जलभागादपि चैतन्योपसंहारारम्भे सप्ताब्धीनां क्षोभेण निर्मे- र्यादत्वमासीदित्याह—अश्लेत्यादिना ॥ २६ ॥ विवृतार्णसो विस्तृतजलाः ॥ २७ ॥ वेलाविपिनानां लावकाश्छेदकाः ॥ २८ ॥ महाभ्रमद्विरुत्तुङ्गतत्तत्तनभो दिशश्च यैः ॥ २९ ॥ बृहद्गुलुगुलायमानैरावर्तैर्गर्जनेन उद्भवाः कूजन्तः पर्वतक- न्दरा येषाम् ॥ ३० ॥ स्वस्ववेगोत्कर्षक्यापनेनेतरजयार्थं चल- न्यस्तरत्नेभ्योऽप्रे चलद्विस्तेभ्योऽप्यप्रे चलद्विर्वीरमकरैराघू- र्णितान्तराः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ उत्फालैश्छलद्विर्मकरैश्छन्ना नमश्चरा बृहन्तो घनाश्च येषाम् ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

भूपाः परपुराक्रान्ता लम्बा इव हतारयः ।
 तारारवरणद्वेहविद्रावितनभञ्जराः ॥ ३६
 प्रलुण्ठितवनव्यूहलूनकाननिताम्बराः ।
 सपक्षपर्वताकारतरङ्गापूरिताम्बराः ॥ ३७
 महारवमरुच्छिन्नकल्लोलाचलचालिताः ।
 चञ्चलीरगिरिमातपतचटरटज्जलाः ॥ ३८
 उल्लसद्विपुलावर्तप्रोत्क्षिप्तमकरोत्कराः ।
 विमज्जभिस्तलावर्तनिर्गीर्णगिरिकन्दराः ॥ ३९
 दरीदलनसंप्राप्तदृषद्दशनदन्तुराः ।
 शृङ्गलम्बिदरीप्रान्तमग्नवीचिजलेभकाः ॥ ४०
 व्यालोलवलनाक्रान्तविटपिप्रोतकच्छपाः ।
 यमेन्द्रवसुधावाहैरुत्कर्णैर्भयविद्वलैः ॥ ४१
 श्रूयमाणपतच्छैलतटीकटकटारवाः ।
 मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमग्नोम्भमग्नदुताग्रयः ॥ ४२
 लीलालूनवनव्यूहशीतलासारवारयः ।
 प्रज्वलद्वडवावह्निज्वालावलिमिलज्जलाः ॥ ४३
 सरसेन विभोर्नाशैर्विशङ्कितमहानलाः ।
 मिलच्छिन्नरिमालाप्रजलमातङ्गयोधिनः ॥ ४४
 नृत्यन्तीव तरङ्गैर्वैर्जलावलनवेधिनः ।
 जलाचलाचलान्योन्यसंघट्टस्फोटपण्डिताः ॥ ४५

हता अरयः स्वविरोधिद्वामयो यैः । तारारवं उच्चैःस्वरं यथा
 स्यात्तथा रणद्विस्तरङ्गैर्हेभ्यो विद्राविता नभश्चरा देवादयो यैः
 ॥ ३६ ॥ प्रलुण्ठितैरुत्खायोष्मैर्बनव्यूहैर्लूनकाननमिव कृतमम्बर-
 माकाशं यैः ॥ ३७ ॥ मरुच्छिन्नैर्विमक्तैः कल्लोलैरचला इव
 चालिताः । रत्नधात्वादिप्रभाभिश्चञ्चलीरेभ्यो गिरिजातेभ्यः पत-
 द्भिर्वर्षै रटज्जलाः ॥ ३८ ॥ निस्तलैरगाधैरावर्तैर्निर्गीर्ण गिरयस्त-
 त्कन्दराश्च येषाम् ॥ ३९ ॥ दरीदलनवशात्संप्राप्तैः स्फटिकादि-
 दृषद्दशनैर्दन्तुरा हसन्त इवेति यावत् । शृङ्गेषु लम्बिषु धीर्षु
 दरीप्रान्तेषु ममाः प्रविष्टा वीचयो जलेभका यादोमजमेदा
 येषाम् ॥ ४० ॥ यमस्य इन्द्रस्य वसुधायाश्च वाहैर्वाहनैर्महिषै-
 रावतदिग्गजादिभिः उत्कर्णैर्हूर्ष्वीकृतकर्णैः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥
 लीलालूनेषु वनव्यूहेषु विश्रान्तानीव शीतलम्ब्यासारवारीभि
 येषाम् ॥ ४३ ॥ स्त्रीयेन रसेन जलेन विभोराश्रमस्येनवनस्य
 नाशैर्विशङ्किता मीता इव तिरोभूता महानला येभ्यः । अर्षा-
 त्स्थलमातङ्गैः सह मिलन्तः शिखरिमालाश्रेषु जलमातङ्गा
 योधिनी युद्धशीला येषाम् ॥ ४४ ॥ जलैरचलानामचकैरन्वोन्ध-
 संघट्टे स्फोटने च पण्डिताः ॥ ४५ ॥ उड्गामराः उल्लवन्धयो या
 शृतवनगजोत्फुल्लशरीरलक्षणा मेर्यस्तासां तरङ्गावताञ्जनैर्बद्धानं
 तेन भासुरैः कल्लोलैर्दृष्टारसुरैः पातालमिष अलमग्नन्त-

बृहद्विरिवनद्रातप्राणिमण्डलमण्डिताः ।
 उड्गामरवनेमेन्द्रमेरीषावनभासुरैः ॥ ४६
 असुरैरिव पातालं कल्लोलैरलमाकुलाः ।
 अथोदपतदुष्वासदिङ्गागवदनध्वनिः ॥ ४७
 पातालतलतास्वन्तर्विस्फोटामोटनोद्भटः ।
 चञ्चलाचलकीलोर्षा चचाल क्षणचालिता ॥ ४८
 लोला शैवालवल्लीव व्यालोलाम्भोधिलङ्किता ।
 अथ दुर्वारनिर्घोषनिर्वाताडम्बरान्विता ॥ ४९
 पुस्फोटेव पतन्ती द्यौर्दिशां पतिरवारवैः ।
 आवर्तवलनाकाराः केतवः पेतुरम्बरात् ॥ ५०
 हेमरत्नमया मुक्ताः सिन्दूरभुजगा इव ।
 ककुब्भ्यो नभसो भूमेरुदगुर्दग्धदिकतटाः ॥ ५१
 चलज्जवालाजटाटोपा विविधोत्पातपङ्कयः ।
 पृथ्व्यादीन्यसुरादीनि ब्रह्मोन्मुक्तानि सर्वतः ॥ ५२
 द्विविधानि महाभूतान्यलं संक्षोभमाययुः ।
 चन्द्रार्कानिलशक्राम्रियमाः कोलाहलाकुलाः ॥ ५३
 परिपातपरा भासन्ब्रह्मलोकगतेश्वराः ।
 कम्पैः कटकटारावपतत्पादपङ्कयः ॥ ५४
 भूमेरन्वमवन्भूरिदोलान्दोलनमद्रयः ।
 भूकम्पलोलकैलासमेरुमन्दरकन्दराः ।
 पेतुः कल्पतरुन्मुक्ता रक्तस्तम्बकवृष्टयः ॥ ५५

माकुला इति परेणान्वयः ॥ ४६ ॥ अथ सागरक्षोभानन्तरं
 तत्र प्रवमानत्वादुष्वासानामूर्ध्वीकृतपुष्कराणां दिङ्गागानां दिग्ग-
 जानां ध्वनिरुदपतत् उद्गतोऽभूत् ॥ ४७ ॥ कीदृशाः स ध्वनिः ।
 पातालतललक्षणस्य ताडनः अन्तर्विस्फोटेन विदारणेन आमो-
 टनेन पिण्डीकरणेन चोद्भटो घनतरः । दिग्गजैश्चानुत्थामाना
 उर्वा चञ्चलानि मेर्वाद्यचलकीलानि यस्यास्तथाविधा भूत्वा
 क्षणादेव स्वस्थानाचालिता सती व्यालोलैरम्भोधिमिलङ्किता च
 सती लोला शैवालवल्लीव चचालेति परेण सहान्वयः ॥ ४८ ॥
 ततः किमासीत्तदाह—अथेति । दुर्वाराणां प्रलयाम्बुदानां
 निर्घोषनिर्वातानामाडम्बरैरन्विता द्यौर्दिशां प्रतिध्वनिलक्षणैर-
 रवैः पतन्ती पुस्फोटेव ॥ ४९ ॥ केतव औत्पातिकधूम-
 केतवः पेतुः उत्पेतुः ॥ ५० ॥ वर्णतो हेमरत्नमया
 इव मुक्ता इव सिन्दूरवर्णभुजगा इव चेल्यप्रिमोत्पातपङ्क्त्यु-
 पमानानि । ककुब्भ्यो दिग्भ्यो नभसो भूमेरुत्पातपङ्कय
 उदगुरिति व्यवहितेनान्वयः ॥ ५१ ॥ ब्रह्मणा प्रागुक्त-
 धात्रा उन्मुक्तानि विधारणसंकल्पोपसंहारादुपेक्षितानि । असु-
 रादीनि पृथ्व्यादीनि चेति द्विविधान्यपि महान्ति भूतशब्द-
 वाच्यानि संक्षोभमाययुः ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ब्रह्मलोकं यत्
 ईश्वरः स्वस्वाधिकारनिर्वाहकः प्रदावो येषां तथाविधाः सन्तः

लोकान्तराद्रिपुरधारिषिकाननान्त-

मुत्पातकल्पपवनेन मिथो हतानाम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० कल्पक्षोभवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

कोलाहलैर्जगद्भूत्प्रविकीर्णशीर्णं

पूर्णाण्ये त्रिपुरपूर इवामिपाती ॥

५६

द्विसप्ततितमः सर्गः ७२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथाकृष्टवति प्राणान्स्वयंभुवि नभोभवः ।
विराडात्मनि तत्याज वातस्कन्धस्थितः स्थितिम् ॥ १ ॥
ते हि तस्य किल प्राणास्तेन कान्तेषु तेष्वपि ।
ऋक्षचक्रे स्थितिं कोऽन्यो घप्ते भूतैकधारिणीम् ॥ २ ॥
वातस्कन्धे समाक्रान्ते ब्रह्मणा प्राणमारुते ।
समं गन्तुं परित्यज्य संस्थितिं क्षोभमागते ॥ ३ ॥
निराधाराः सवाताग्निदाहोऽस्मुक्वदापतन् ।
व्योन्नस्तारास्तरोः पुष्पनिकरा इव भूतले ॥ ४ ॥
कालपाकचलन्मूला जगत्खण्डफलालयाः ।
प्रशान्तपवनाधारा विमानावलयोऽपतन् ॥ ५ ॥
प्रलयोन्मुखतां याते ब्राह्मे संकल्पनेन्धने ।
सिद्धानां गतयः शेमुरिद्धानामर्चिषामिव ॥ ६ ॥
प्रभ्रमन्त्योऽम्बरे कल्पमारुतैस्तनुत्लवत् ।

॥ ५४ ॥ ५५ ॥ लोकान्तराण्यद्रयः पुराणि वारिधयः काननानि
चेत्येतदन्तं सर्वं जगदुत्पातसहितेन कल्पपवनेन मिथोऽन्योन्यं
हतानां हन्यमानानां जनानां कोलाहलैः रुद्रबाणाग्निदाहेन
अभिपाती अभितः पतनशीलस्त्रीणि पुराणि पूरयतीति त्रिपुर-
पूरो दैत्यसंघ इव पूर्णाण्ये प्रविकीर्णं शीर्णमभूदित्यर्थः ॥ ५६ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
कल्पक्षोभवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

धातुः प्राणनिरोधेन वातस्कन्धस्थितिक्षयः ।

तत्प्रसङ्गात्पुनः पृष्ट्वा वर्णयतेऽग्रे विराडस्थितिः ॥ १ ॥

विराडात्मनि स्वयंभुवि प्राणानाकृष्टवति स्वदृष्टप्रदेशे उपसं-
हर्तुमारुक्ववति सति वातस्कन्धस्थितो नभोभवो वायुः स्थितिं
प्रहनक्षत्रविमानादिविधारणमर्यादां तत्याज ॥ १ ॥ ते वात-
स्कन्धास्तस्य स्वयंभुवः प्राणाः । कान्तेषु उपसंहृतेषु ॥ २ ॥
स्थितिं प्राणुकां त्यक्त्वा समुपसंहारेण साम्यावस्थां गन्तुं क्षो-
भमागते सति ॥ ३ ॥ सवाते अग्निदाहे उद्गीनैरुल्मुकैस्तुल्यं
ताराः भूतले आसमन्तादपतन् ॥ ४ ॥ जगत्खण्डे अर्जितस्य
सुकृतफलस्य आलयाः भोगस्थानभूता विमानावलयः काल-
विपाकेन चरुद्विच्छिन्नं भोगमूलं कर्म येषां तथाविधाः
सन्तः अपतन् ॥ ५ ॥ इद्धानां वीप्तानाम् ॥ ६ ॥
क्षेत्रादिसिद्धीनां क्षमिष्णुतां तुच्छतां च सूचयन्नाह—
प्रभ्रमन्त्य इति । मूला वाग्व्यापारेऽप्यसमर्थाः ॥ ७ ॥
इन्द्रादिनगरैः सहितानि सेन्द्रादिनगराणि अमरभूततो मेरोः
शिरांसि शिखराणि च पेतुः ॥ ८ ॥ मनु ब्रह्मणः स्थूलदेहो

१ नभोभवः इति मुद्रितपुस्तके पाठः.

यो० बा० १५४

खशक्त्यपचये मूकाः सिद्धसंततयोऽपतन् ॥ ७

संकल्पद्रुमजालानि सेन्द्रादिनगराणि च ।

पेतुर्भूकम्पलोलस्य शिरांस्यमरभूतः ॥ ८

श्रीराम उवाच ।

चित्ति संकल्पमात्रात्मा विराड् ब्रह्मा जगद्रूपः ।

किमङ्गं तस्य भूलोकः किं स्वर्गः किं रसातलम् ॥ ९

कथमेतानि चाङ्गानि ब्रह्मंस्तस्य स्थितानि च ।

कथं वा सोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः ॥ १०

ब्रह्मा संकल्पमात्रात्मा निराकृतिरिदं स्थितम् ।

जगदित्येव जातो मे निश्चयः कथयेतरत् ॥ ११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

आदौ तावदिदं नासन्न सदास्ते निरामयम् ।

द्विन्मात्रपरमाकाशमाशाकोशैकपूरकम् ॥ १२

ब्रह्माण्डरूपो विराड् तदन्तर्गतः सत्यलोकेनिवासी चतुर्मुखदे-
हस्तु तन्मनःकल्पितः प्रातिभासिक एव । न च सोऽपि तस्य
स्थूलदेह एवेति युक्तम् । विराड्देहान्तःस्थित्ययोगात् । न हि
कस्यचिदपि स्थूलदेहान्तः स्थूलदेहान्तरं दृष्टं श्रुतं वा संभाव-
यितुं वा शक्यम् । एवं सति मानसे चतुर्मुखदेहे प्रातिभासिके
स्वाप्नदेहप्राये प्राणोपसंहारसंकल्पेन कथं विराड्देहविष्टम्भकप्रा-
णस्थानीयवातस्कन्धादिकथयः । न हि स्वप्नदेहे प्राणाद्युपसंहारेण
मरणदर्शने जाग्रत्प्रसिद्धस्थूलदेहक्षयो दृश्यत इत्याशयेन रामः
शङ्कते—चित्ति संकल्पमात्रात्मेत्यादिना । ब्रह्मा चतुर्मुख-
चित्ति संकल्पमात्रं मनस्तदात्मा जगद्रूपब्रह्माण्डशरीरकः प्रसिद्धः ।
तस्य संकल्पमात्रात्मनश्चतुर्मुखस्य भूलोकादयो लोका अङ्गं
अवयवाः किम् । न ह्यमूर्तस्य मनसो मूर्तान्यङ्गानि संभवन्ति ।
यदापि संभवति तदा भूलोकः किमङ्गं, पादा अन्यो वा स्वर्गश्च
किमङ्गं, रसातलं च किमङ्गं कोऽवयव इति विभागप्रश्नः ॥ ९ ॥
अस्तु वा चतुर्मुखदेहोऽपि मूर्तस्तथाप्यल्पपरिमाणस्यैतस्यैतान्य-
तिविस्तृतानि भूरादीन्यङ्गानि कथं स्थितानि । तस्यापि विस्तृ-
तत्वकल्पनेन ब्रह्माण्डात्मता यद्युच्येत तर्हि स स्वस्यैव वपुष
एतस्य ब्रह्माण्डस्यान्तः सत्यलोके कथं स्थितः ॥ १० ॥ किंच
ब्रह्मा संकल्पमात्रात्मा निराकृतिरमूर्त एव, इदं तु जगत्साकारं
स्थितमिति मे निश्चयो जातः । अत इतरत्प्रकारान्तरमस्ति
चेत्कथय ॥ ११ ॥ तत्र प्रथमं पृष्टं स्थूलदेहस्य मनोमयदे-
हानन्यत्वं तदवयवानां तदवयवत्वं चानुभावयितुं भूमिकां
मूलेद्वाटनेन रचयति—आदौ तावदित्यादिना । आशानां सर्वाभि-

तत्स्वामाकाशतां चेतच्छेत्यमित्यवबुध्यते ।
 स्वरूपमत्यजमित्यं चित्त्याद्भवति चेतनम् ॥ १३
 विद्धि तद्धेतनं जीवं सघनत्वान्मनः स्थितम् ।
 एतावति स्थितिजाले न किञ्चित्साकृति स्थितम् ॥ १४
 शुद्धं व्योमैव चिद्बोम स्थितमात्मनि पूर्ववत् ।
 यदेतत्प्रतिभातं तु तदन्यन्न शिवास्ततः ॥ १५
 अथ तन्मन आभोगि भाषिताहंकृति स्फुरत् ।
 संकल्पात्मकमाकाशमास्ते स्तिमितमक्षयम् ॥ १६
 तत्संकल्पविदाभासनभोऽहमिति भावितम् ।
 असत्तमेवानुभवत्संनिवेशं स्वमेव खे ॥ १७
 वेत्ति भावितमाकारं पश्यत्यनुभवत्यपि ।
 संकल्पकात्मकं शून्यमेव देह इति स्थितम् ॥ १८
 शून्यमेव यथाकारि संकल्पनगरं भवान् ।
 पश्यत्येवमजो देहं खे स्वमेवानुभूतवान् ॥ १९
 संविदो निर्मलत्वात्स यावदित्यं तथाविधम् ।
 अनुभूयानुभवनं स्वेच्छयैवोपशाम्यति ॥ २०
 यदा तत्त्वपरिज्ञानमस्मदादेस्तदाऽऽततम् ।
 इदं संसरणं विद्धि शून्यं सत्यमिव स्थितम् ॥ २१
 यथाभूतपरिज्ञानादत्र शाम्यति वासना ।
 अद्वैताभिरहंकारास्ततो मोक्षोऽवशिष्यते ॥ २२
 एवमेष स यो ब्रह्मा स एवेदं जगत्स्थितम् ।

विराजो ब्रह्मणो राम देहो यस्तदिदं जगत् ॥ २३
 संकल्पाकाशरूपस्य तस्य या भ्रान्तिरुत्थिता ।
 तदिदं जगदाभाति तद्ब्रह्माण्डमुदाहृतम् ॥ २४
 सर्वमाकाशमेवेदं संकल्पकलनात्मकम् ।
 वस्तुतस्त्यस्ति न जगत्स्वप्तामत्ते न च क्वचित् ॥ २५
 क्वचिन्मात्रेऽमले व्योम्नि कथं वा केन वा जगत् ।
 किं जायते किमत्रास्ति कारणं सहकारि यत् ॥ २६
 अतोऽलीकमिदं जातमलीकं परिदृश्यते ।
 अलीकं स्वदतेऽलोकमेवं पश्यति शून्यकम् ॥ २७
 जगदादिकया भासा चिन्मात्रं स्वदते स्वतः ।
 आत्मनात्माभरे द्वैते स्पन्दनेनेव मारुतः ॥ २८
 इदं किञ्चिन्न किञ्चिद्वा द्वैताद्वैतविषर्जितम् ।
 विदाकाशं जगद्विद्धि शून्यमच्छं निरामयम् ॥ २९
 शान्ताशेषविशेषोऽहं तेन राघव संस्थितः ।
 सन्नेवासभिघातस्त्वमेवमेवास्व निर्ममः ॥ ३०
 निर्वासनः शान्तमना मौनी विगतचापलः ।
 सर्वं कुरु यथाप्राप्तं कुरु मा वात्र किं प्रहः ॥ ३१
 अनादिनिस्तानुभवो य एकः
 स एव दृश्यं न तु दृश्यमन्यत् ।
 सत्यानुभूतेऽननुभूतयो याः
 सुविस्तृता दृश्यमहादशस्ताः ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० निर्वाणवर्णनं नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

लाघाणां दिशां च कोशानां भूमानन्दात्मकत्वादेकमेव पूरकम् ॥ १२ ॥ तदेतत्परमाकाशं स्वरूपमत्यजद्विकारमनापद्यमानमेव स्वामाकाशतां चन्द्रो द्वितीयचन्द्रमिव कल्पयत् परं स्वातिरिक्तं वस्तिवति अवबुध्यते ॥ १३ ॥ तत्र बोध्यबोधबोद्धभावलक्षण-त्रिपुटीमननेन सघनत्वाद्दानीभावान्मनोवेषेण स्थितं तथाभूतं चेतनं जीवं विद्धि । स्वरूपमत्यजदिति यदुक्तं तदुपपादयति—एतावतीति । एतावति त्रिपुटीजीवभावपर्यन्ते स्थितिजाले अध्यासेन संपन्नेऽपि तेषु न किञ्चिदपि साकृति परस्परव्यावृत्ता-कारसहितं रूपं परमार्थतः स्थितं किंतु शुद्धं व्योमैव शून्यमेवेति परेण संबन्धः ॥ १४ ॥ किं तर्हि स्थितं तदाह—चिद्बोमेति ॥ १५ ॥ एवमभिमानाकारभावनादसतैव तद्भावेनापि स्फुर-तीत्याह—अथेति ॥ १६ ॥ अहंकारकल्पनोत्तरं स्थूलदेहकल्प-नापि तस्यावस्तुभूतंवेत्याह—तदित्यादिना ॥ १७ ॥ १८ ॥ यदि देहं शून्यमेव तर्हि कथं साकारमनुभूयते तत्राह—शून्य-मेवेति ॥ १९ ॥ प्रलयमोक्षादिकल्पनाप्येवमेवेत्याह—संविद् इति ॥ २० ॥ कदोपशाम्यति तदाह—यदेति । तदा आत-तमिति वृत्तेः ॥ २१ ॥ यथाभूतं परमार्थसत्यं ब्रह्म तत्परि-ज्ञानान्मिध्यावासना अत्रास्मिन्नेव जन्मनि शाम्यति ॥ २२ ॥ अस्त्वेवं तथाप्येतदुचया यस्पृष्टं किं समाहितं तत्राह—एव-मिति ॥ २३ ॥ तथा च ब्रह्माण्डस्यापि भ्रान्त्यैव स्थूलदेहत्वम्, विचारतस्तु तदीयमनोमात्रत्वमिति तद्गोपसंहारेणोपसंहारः

सिद्ध इति भावः ॥ २४ ॥ जाग्रदनुभवतायां स्वाप्नदेहाज्ञोप-संहारेण स्वाप्नभूरादिलोकोपसंहारवद्वा तदुपसंहारः । द्वयोरपि संकल्पाकाशमात्रत्वादित्याशयेनाह—सर्वमिति ॥ २५ ॥ अ-वास्तवत्वं कथं ज्ञेयमिति चेदसंभाव्यत्वादित्याशयेनाह—केति । किंतुसपञ्चकं देशकालादिसर्वप्रकारैरप्यसंभाव्यत्वस्य समर्थना-र्थम् ॥ २६ ॥ स्वदते प्रियाप्रियभावेन प्रयते । अलोकं निष्प्र-पञ्चं ब्रह्मैव भ्रान्त्या शून्यकं जगच्छून्यं स्वमेव एवं जगद्भा-वेन पश्यति ॥ २७ ॥ तदेव स्पष्टमाह—जगदादिकथेति । आदिपदात्तदर्मा उत्पत्त्यादिभावविकारा गृह्यन्ते ॥ २८ ॥ द्वैतविवर्जनात्किञ्चित् । अद्वैतस्यापि वर्जनात् किञ्चिद्वा ॥ २९ ॥ तस्मादहमिव त्वमपि एवं परमार्थतः सत्त्वेव व्यवहारे असन् देहादिरिव आस्व किंतु निर्मम इत्यर्थः ॥ ३० ॥ व्युत्थितः सर्वं व्यवहारं कुरु समाहितः सन् मा वा कुरु किं प्रहः किमर्थमेकत्राप्रह इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तस्मात्सर्वं दृश्यं प्रहैव तदज्ञानान्येव भ्रान्त्याकारपरिणतानि दृश्यानुभवा इति निष्कर्ष इत्युपसंहारति—अनादीति । सत्ये अनुभूते । भावे कः । अनुभवैकरसे ब्रह्मणि या अननुभूतयः अज्ञानानि ता एव भ्रान्तिवैचित्र्यैः सुविस्तृता दृश्यमहादश इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

१ चैतत्परमित्यवबुध्यते इति टीकानुगुणः पाठः.

त्रिसप्ततितमः सर्गः ७३

श्रीराम उवाच ।

बन्धमोक्षजगद्भुक्तिर्न शून्या नापि सन्मयी ।
नास्तमेति न चोदेति किमप्याद्यमसौ किल ॥ १
उपदिष्टमिदं ब्रह्मंस्त्वया बुद्धमलं मया ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ २
सर्गादिसंभ्रमदृशः शून्यतादिदृशस्तथा ।
न काञ्चन विभो सत्या असत्याश्च न काञ्चन ॥ ३
एवंस्थिते तु यत्सत्यं तत्सर्वं बुद्धवानहम् ।
तथापि भूयोबोधाय सर्गानुभव उच्यताम् ॥ ४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराख्यं देशकालक्रियादिमत् ॥ ५
तस्य नाशे महानाशे महाप्रलयनामनि ।
ब्रह्मोपेन्द्रमरुद्रुद्रमहेन्द्रपरिणामिनि ॥ ६
शिष्यते शान्तमत्यच्छं किमप्यजमनादि सत् ।
यतो वाचो निवर्तन्ते किमन्यदधगम्यते ॥ ७
सर्वपापेक्षया मेरुर्यथातिवितताकृतिः ।
तथाकाशमपि स्थूलं शून्यं सद्यदपेक्षया ॥ ८
शैलेन्द्रापेक्षया सूक्ष्मा यथेमे असरेणवः ।

इहारोपक्रमो भूयो बोधदाख्याय वर्णयते ।

कथमेतस्य चाङ्गानीत्यादिप्रश्नोत्तरं ततः ॥ १ ॥

‘किमत्र तस्य भूलोकः, कथमेतानि चाङ्गानि, कथं वासोन्तरे तस्य’ इति प्रस्तुतप्रश्नत्रयोत्तरोपोद्घातत्वेन वर्णितं शुद्धे ब्रह्मणि जगदध्यारोपप्रकारं पुनः क्रमशःसात्पर्यतश्च सम्यग्निजज्ञासमानो रामस्तत्र तात्पर्यतः स्वज्ञातांशं दर्शयितुं सिंहावलोकनन्यायेन व्यवहितोफनिकर्षं स्मारयति—बन्धेत्यादिना । सन्मयी सत्यार्थविषया । सर्वसाक्षित्वादेव स्वयं नास्तमेति नोदेति च । अतः असौ सर्वसाक्षिणी बुद्धिरेव विषयमार्जने किमपि बाञ्चनसागम्यमाद्यं ब्रह्मेति त्वया तात्पर्यगत्या उपदिष्टम् । किलेति गुरुबुद्धिविसंवादादशङ्कापरिहाराय । इदं मया बुद्धमिति परेणान्वयः ॥ १ ॥ तर्हि किमुपदेशोपरमोऽस्तु नेत्याह—भूय इति ॥ २ ॥ सत्या अबाधितार्थाः असत्या बाधितार्था अपि न । तत्तद्यवहर्तृदृशा ब्रह्मण एव तथास्थितेरर्थक्रियाऽविसंवादादसत्कार्यपक्षानभ्युपगमात्सर्वशक्तिमति ब्रह्मणि सर्वशून्यतापादनशक्तेरपि संभवान्मायया सर्वविरोधपरिहाराच्चेति भावः ॥ ३ ॥ मायाशब्दब्रह्ममाहात्म्यमिव तदधिष्ठाननिर्विशेषनित्यमुक्तब्रह्मतत्त्वमप्यहं बुद्धवानित्याह—बुद्धमिति । सर्गानुभवः प्रपञ्चाध्यासक्रमो भूय उच्यताम् । भूयसां श्रोतॄणां बोधाय, बोधबाहुल्यायेति वा ॥ ४ ॥ ॥ ५ ॥ स्थूलस्य भूतभौतिकस्य सूक्ष्मभूतेषु नाशे भूतसूक्ष्मैः सह अव्याकृतानुप्रवेशे । महानाशे प्राकृते प्रलये इति यावत् । ब्रह्मोपेन्द्रादिदेहानां परिणामश्वरमो भावविकारस्तद्वति तच्छ्रीके

तथा सूक्ष्मतरं स्थूलं ब्रह्माण्डं यदपेक्षया ॥ ९
अमानकलिते सौम्ये काले परिणते चिरम् ।
शान्ते तस्मिन्परे व्योमन्याद्ये ह्यनुभवात्मनि ॥ १०
असंकल्पो महाशान्तो दिक्कालैरमिताकृतिः ।
अन्तर्महाश्रिदाकाशो वेत्तीव परमाणुताम् ॥ ११
असत्यामेव तामन्तर्भावयन्स्वप्नवत्स्वतः ।
ततः स ब्रह्मशब्दार्थं वेत्ति चिद्रूपतां तताम् ॥ १२
चिद्भावोऽनुभवत्यन्तश्चित्त्वाच्चिदणुतां निजाम् ।
तामेव पश्यतीवाथ ततो द्रष्टेव तिष्ठति ॥ १३
यथा स्वप्ने मृतं पश्यत्येक एवात्मनात्मनि ।
मृत एव मृतेर्द्रष्टा तथा चिदणुरात्मनि ॥ १४
ततश्चिद्भाव एवोऽन्तरेक एव द्वितामिव ।
पश्यन्स्वरूप एवास्ते द्रष्टृदृश्यमिव स्थितः ॥ १५
चिद्भावशून्य एवातिनिराकारोऽप्यणुं तनुम् ।
पश्यन्दृश्यमिवोदेति द्रष्टेव च तदा द्विताम् ॥ १६
प्रकाशमणुमात्मानं पश्यन्स्तदनुभावतः ।
उच्छ्रानतां चेतयते बीजमङ्कुरतामिव ॥ १७
देशकालक्रियाद्रव्यद्रष्टृदर्शनदृग्दृशः ।
अर्थान्तरस्वभावेन तिष्ठन्त्यनुदिताभिधाः ॥ १८

वा ॥ ६ ॥ तदा यच्छिष्यते तद्दर्शयति—शिष्यत इत्यादिना ॥ ७ ॥ अन्यापेक्षया शून्यं परमसूक्ष्मं सदप्याकाशं यदपेक्षया स्थूलम् ॥ ८ ॥ तथा अन्यापेक्षया स्थूलं विशालतममपि ब्रह्माण्डं यदपेक्षया सूक्ष्मतरमणुतरम् ॥ ९ ॥ मानहेतुसूर्यस्पन्दाद्युपाधिप्रलयादमानकलिते तादृशप्रलयकाले चिरं द्विपरार्धपरिमितब्रह्मायुःकालतुल्यप्रमाणपरिणते अतिवाहिते सति ॥ १० ॥ मायावरणान्तःसुषुप्तप्रायश्चिदाकाशः स्वप्नोन्मुख इव स्वान्तर्लोकजगत्संस्काररूपां परमाणुतां वेत्ति पर्यालोचयतीव ॥ ११ ॥ भावयन्पर्यालोचयन् । तत्पर्यालोचनेनेषुचित्त्वभावप्राप्तेर्दृष्टान्द्रष्टेति प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दार्थम् । तथा च श्रुतिः ‘तपसा चीयते ब्रह्म’ इति ॥ १२ ॥ तद्गोचरतालक्षणे तद्देदने चित्स्वभावातिरिक्तो हेतुर्दुर्निरूप इत्याह—चिद्भाव इति । तेनैव द्रष्टृतासंपत्तिं दर्शयति—तामेवेति ॥ १३ ॥ नन्वेकत्र दृश्यद्रष्टृभावो विरुद्धः कथं संपद्यते इति चेत्स्वप्नविरोधापर्यालोचनादित्याह—यथेति ॥ १४ ॥ तथा कल्पनेऽपि न वास्तवैक्यक्षतिरित्याह—तत इति ॥ १५ ॥ शून्य एवेत्यस्य व्याख्या—अतिनिराकार इति । दृश्यमिव द्रष्टेव च द्वितां तदा उदेति उद्वहति ॥ १६ ॥ स च द्रष्टा मायाबलेन प्रकाशस्वभावमणुं परिच्छिन्नमात्मानं पश्यन्संस्तदनुभावत उच्छ्रानतामुपचयं चेतयते कल्पयति ॥ १७ ॥ तदैव तस्य तन्प्राप्तरीयकतया देशकालादिविभागकल्पना अपि भवन्ति परंतु सा वागाद्यभिव्यक्त्यभावाद्-

१ पश्यतीवान्तरिति पाठः.

चिदणुर्यत्र भातोऽसौ देशो मितिमुपागतः ।
 यदा भातस्तदा कालो यद्भानं तत्क्रिया स्मृता ॥ १९ ॥
 उपलब्धं विदुर्द्वयं द्रष्टृताप्युपलब्धता ।
 भालोकनं दर्शनता ह्यलोकनकारणम् ॥ २० ॥
 एवमुच्छ्रुता भाति मितानन्ताथ वा क्रमात् ।
 असत्यैव नभस्येव नमोरूपैव निष्कमा ॥ २१ ॥
 चिदणोर्भासनं भातं तत्प्रदेशेन देहगम् ।
 येन पश्यति तच्छुः संप्रहोऽक्षदशामिति ॥ २२ ॥
 चिदणुप्रतिभासेऽन्तः प्रथमं नामवर्जितम् ।
 तन्मात्रशब्दमेतेषामेतदाकाशरूपि तत् ॥ २३ ॥
 चिदणुप्रतिभाकाशपिण्ड एव घनस्थितिः ।
 अनुसंधानविषयशब्देतत्तीन्द्रियपञ्चकम् ॥ २४ ॥
 एवं चिदणुसंधानं दृश्यपोषमुपैत्यलम् ।
 तदेव ज्ञानमित्युक्तं बुद्धिरित्यभिधीयते ॥ २५ ॥
 ततो मनस्तदारूढमहंकारपदं गतम् ।
 देशकालपरिच्छेद इत्यङ्गीकृत आत्मना ॥ २६ ॥
 चिदणोरस्य भाषस्य प्रत्यग्रं यत्र वेदनम् ।
 स तत्रोत्तरकालेन पूर्वामिथ्यां करिष्यति ॥ २७ ॥
 अन्यस्मिन्नेकदेशे सा ऊर्ध्वामिथ्यां करिष्यति ।

श्रुतिभिधा इत्याह—देशेति ॥ १८ ॥ तद्विभागकल्पनाप्र-
 कारं विशदयति—चिदणुरिति । परिच्छिन्नस्य देशकालानवगा-
 ष्टप्रतीत्यप्रसिद्धेरिति भावः ॥ १९ ॥ तदैव त्रिपुटीविभाजको-
 पाभिमेदानां साक्षिणस्तदालोकननिमित्तभावस्य च कल्पना भ-
 वतीत्याह—उपलब्धमिति । द्रव्यगुणक्रियादिकल्पनाधारत्वाद्-
 द्रव्यम् ॥ २० ॥ एवमेव कर्ता कार्यं कारणं, भोक्ता भोग्यं भोग
 इत्यादित्रिपुटीभेदानां तत्साक्षिणस्तन्निमित्ततायाश्च कल्पनं सर्वत्र
 बोध्यमित्याशयेनाह—एवमिति । देशकालवस्तुपरिच्छेदैर्मिता,
 संख्येयत्तादिना अनन्ता वा ॥ २१ ॥ तत्र रूपादित्रिपुटीसिद्धौ
 चक्षुरादिकरणविभागकल्पनादि नान्तरीयकी भवतीति संक्षेपेण
 दर्शयति—चिदणोरिति । चिदणोर्जावस्य भातं भासनं सौरा-
 यालोकं येन गोलकप्रदेशेन चिच्छ्रेण येन चातीन्द्रियेण करणेन
 पश्यति तदुभयं चक्षुः । सर्वासां श्रोत्राद्यक्षदृष्टीनामप्ययं व्यायः
 सम इति संप्रहः संक्षेपः ॥ २२ ॥ श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकविषये-
 ष्वेव नामरूपभेदकल्पनात्प्रागवस्था तन्मात्रशब्देनोच्यत इ-
 त्याह—चिदृण्विति । एतेषां श्रोत्रादिपञ्चकविषयाणां प्रथमं प्रा-
 क्तनं यन्नामवर्जितं स्वरूपं तत्तन्मात्रमिति शब्दो यस्य तथाविधं
 यतस्वदेतदाकाशरूपि सूक्ष्मतममित्यर्थः ॥ २३ ॥ एवं क्रमेण
 चिदणोः प्रतिभालक्षण आकाश एव घनस्थितिः सन् पिण्डः
 स्थूलदेहो भवति तत्र रूपाद्यनुसंधानवशादिन्द्रियपञ्चकं चेतती-
 त्युपसंहारः ॥ २४ ॥ अन्तःकरणचतुष्टयकल्पनाप्रकारमाह—
 एवमिति । दृश्येषु शब्दादिषु पुनःपुनरनुभवात्पोषमुपबन्धमुपैति
 तत्रेन्द्रियगृहीतविषयाणां स्मृतिदद्यायां ज्ञानं चित्तमिति अघ्य-
 वसायदशायां बुद्धिरिति चाभिधीयते ॥ २५ ॥ ततः संकल्प-

एवं दिग्भिधानादि कल्पयिष्यति स क्रमात् ॥ २८ ॥
 देशकालक्रियाद्रव्यशब्दानामर्थवेदनम् ।
 भविष्यति स्वयमसावाकाशविशदोऽपि सन् ॥ २९ ॥
 इत्थं स्वानुभवैर्नैव व्योम्नैव व्योमरूपभृत् ।
 आतिघाहिकनामान्तर्देहः संपद्यते चित्तेः ॥ ३० ॥
 एष एव चिरं कालं तत्र भावनया तथा ।
 गृह्णाति निश्चयं पूर्णमाधिभौतिकमात्मनः ॥ ३१ ॥
 व्योम्ना व्योम्न्येव रचितो निर्मलेनेति विभ्रमः ।
 असता सत्समास्तीर्णस्तापनद्या जलं यथा ॥ ३२ ॥
 संकल्पनामुपादत्ते स्वदेहे गगनाकृतिः ।
 शिरःशब्दार्थदां काञ्चित्पादशब्दार्थदां कञ्चित् ॥ ३३ ॥
 उरःपार्श्वादिशब्दार्थमयीं कञ्चिदनाविलाम् ।
 भावाभावप्रहोत्सर्गशब्दाद्यर्थमयीमपि ॥ ३४ ॥
 नियताकारकलनां देशकालादियन्निताम् ।
 विषयोन्मुखतां यातामिन्द्रियमातवेधिताम् ॥ ३५ ॥
 सोणुः पश्यत्यथाकारमात्मनः स्वात्मकल्पितम् ।
 हस्तपादादिकलितं चित्तादिकलनान्वितम् ॥ ३६ ॥
 एवं संपद्यते ब्रह्मा तथा संपद्यते हरिः ।
 एवं संपद्यते रुद्र एवं संपद्यते कृमिः ॥ ३७ ॥

विकल्पदशायां मनोऽभिमानेनाहंममताया तदारूढं तदभि-
 निविष्टं सत् अहंकारपदं गतम् । देशकालविभागकल्पनां वर्ण-
 यितुं प्रसूति—देशेति । इति वक्ष्यमाणरीत्या ॥ २६ ॥ तत्र
 काले देशे च पूर्ववत्कल्पना उत्तरकालकल्पनामपेक्ष्यैव प्रवर्तते
 इत्याह—चिदणोरिति । अस्य प्रसिद्धस्य भावस्य शब्दादिवि-
 पयस्य प्रत्यग्रं नवम् । आद्यमिति यावत् । यत्र देशरूपे काल-
 रूपे वा आधारे वेदनं यस्य चिदणोर्जावस्य भवति स चिदणु-
 स्तस्य देशकालस्य चोत्तरकालेन व्यावर्त्तेन निमित्तेन पूर्वं इत्य-
 भिर्या नाम करिष्यति कल्पयिष्यतीति प्रतिजीवं प्रतिबस्तु
 चेदमनियतमेवेति भावः ॥ २७ ॥ तां कल्पनामपेक्ष्य ऊर्ध्वा-
 भिर्या ततोऽन्यस्मिन्काले एकामेव करिष्यति । दिशि तूर्ध्वद-
 क्षिणपश्चिमाद्यभिधानानि बहूनीति विशेष इति भावः ॥ २८ ॥
 एवं देशकालवस्तुभेदास्तज्जामानि च कल्पयित्वा गृहीतसंके-
 तानां पुरुषाणां शब्दभ्रवणे तत्तदर्थवेदनात्मनापि स्वयमेव सं-
 पत्स्यत इत्याह—देशेति ॥ २९ ॥ एवं स्वयमेव प्रथममातिवा-
 हिकदेहस्ततो देशकालक्रियावस्तुविभागस्तत्तत्प्रथमभेद इति
 क्रमेण नामान्तं सर्वजगच्छरीरं संपद्यत इत्यर्थः ॥ ३० ॥ एवं
 सर्वजगतो मनःकल्पनामात्रत्वेनातिघाहिकदेहावयवत्वे कथ-
 माधिभौतिकताप्रत्ययस्तत्राह—एष एवेति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
 स गगनाकृतिश्चिदणुः स्वदेहेऽपि कल्पनीये वक्ष्यमाणप्रपञ्चां
 संकल्पनामुपादत्ते ॥ ३३ ॥ एवं वाय्वार्थहानोपादानादिव्यव-
 हारकल्पनापि बोध्येत्याह—भावैति ॥ ३४ ॥ इत्थमाकारो
 गोः, इत्थमश्व इत्यादिनियताकारकलनाम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ईश्व-
 राणामपि देहादिकल्पना संकल्पवशादेव किं पुनरन्येषा-

न च किञ्चन संपन्नं यथास्थितमवस्थितम् ।
 शून्यं शून्ये विलसितं वृत्तिर्गतौ विजृम्भिता ॥ ३८
 प्रतिकन्दः शरीराणां बीजं त्रैलोक्यबीरुधाम् ।
 सर्गागलप्रदो मुक्तेः संसारासारवारिदः ॥ ३९
 कारणं सर्वकार्याणां नेता कालक्रियादिषु ।
 सर्वाद्यः पुरुषः स्वैरमित्यनुत्थित उत्थितः ॥ ४०
 नास्य भूतमयो देहो नास्यास्थीनि शरीरके ।
 अवष्टुभुमसौ मुष्ट्या शक्यते न तु केनचित् ॥ ४१
 तेनाब्धिमेघसंप्रामासिंहगर्जार्जितात्मना ।
 अपि सुप्तनरेणेव नूनं मौनवता स्थितम् ॥ ४२
 जाग्रतः स्वप्नसंहृद्योद्गारभट्टिवेदनम् ।
 यथा स्मृतिगतं नासन्न सत्तद्भवसौ स्थितः ॥ ४३
 बहुयोजनलक्षोघप्रमाणोऽपि बृहद्बुधुः ।
 परमाण्वन्तरे भाति लोमान्तस्थजगद्भयः ॥ ४४
 कुलशैलगुणौघात्मा जगद्गन्दात्मकोऽपि सन् ।
 कुलायं धानकामात्रमपि नो पूरयत्यजः ॥ ४५
 जगत्कोटिशताभोगविस्तीर्णोऽप्यणुमात्रकम् ।
 वस्तुतो व्याप्तवानेष न देशं स्वप्नशैलवत् ॥ ४६
 स्वयंभूरेष कथितो विराडेव स उच्यते ।
 ब्रह्माण्डात्मा जगद्देहो वस्तुतस्तु नभोमयः ॥ ४७
 सनातन इति प्रोक्तो रुद्र इत्यपि संज्ञितः ।
 इन्द्रोपेन्द्रमरुन्मेघशैलजालादिदेवकः ॥ ४८
 तेजोणुमात्रं प्रथितं चेतित्वात्प्रथमं वपुः ।

क्रमेण स्फारसंघित्तिर्महानहमिति स्थितः ॥ ४९
 स्पन्दसंवेदनात्तेन स्पन्द इत्यनुभूयते ।
 यः स एवानिलाभिर्यो वातस्कन्धात्मना स्थितः ॥ ५०
 प्राणापानपरिस्पन्दो वेदनावनुभूयते ।
 तेन यः सोऽयमाकाशे वातस्कन्ध उदाहृतः ॥ ५१
 चित्साधे कल्पितास्तेन बालेनेव पिशाचिकाः ।
 तेजःकणा असन्तोऽपि त एते चिष्यतां गताः ॥ ५२
 प्राणापानपरावर्तदोला तदुदरोदिता ।
 वातस्कन्धाभिर्धां घृते जगत्तद्बुदयं महत् ॥ ५३
 प्रतिच्छन्दशरीराणां प्रथमं बीजमेव सः ।
 जगद्गतानां सर्वेषामाकल्पव्यवहारिणाम् ॥ ५४
 प्रतिच्छन्द्याद्यदेतस्मादुत्थिता जगदात्मना ।
 देहास्तदा यथा बाह्यमन्तरेषां तथा स्थितम् ॥ ५५
 चितिस्तस्याद्यबीजस्य पूर्वमेव यथोदिता ।
 तथैवाद्यापि जीवेऽन्तस्तथोदेति तदीहिता ॥ ५६
 श्लेष्मपित्तानिलास्तस्य चन्द्रार्कपवनास्त्रयः ।
 ग्रहा ऋक्षगणास्तस्य प्राणाष्टीवनसीकराः ॥ ५७
 तस्यास्थीन्यद्रिजालानि मेदसो जातिका घनाः ।
 शिरः पादौ त्वचं देहान्पश्यामस्तस्य नो वयम् ॥ ५८
 वपुर्विराजो जगद्ग विद्धि
 संकरूपस्य हि कल्पनात्म ।
 आकाशशैलावनिसागरादि
 सर्वे चिदाकाशमतः प्रशाभ्यतम् ॥ ५९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणो० विराडात्मवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥७३॥

मित्याह—एवमिति ॥३७॥ सर्वापीयं कल्पना अवृत्तैवेत्याह—
 न चोति ॥३८॥ व्यष्टिवत्समम्ब्रात्मा विराडप्येवमेव कल्पनयो-
 त्थित इत्याह—प्रतिकन्द इति । व्यष्टिशरीराणां प्रतिनियतः
 कन्दः प्रतिकन्दः । तदाधारत्रैलोक्यवल्लीनामपि स एव बीजम् ।
 मुक्तेर्दारेषु प्रतिबन्धकविषयसर्गागलप्रदः ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 भूतमयदेहाद्यभावादेव मुष्ट्या अवष्टुभुं न शक्यते ॥ ४१ ॥
 यथा स्मृते अर्ध्नीनां मेघानां संप्रामाणां सिंहाणां च गर्जाभिमै-
 हाध्वनिभिश्चोर्जितात्मनापि सुप्तनरेण वस्तुतो मौनवता निःश-
 ब्दमेव स्थितं तथा तेनापि विराजा निष्प्रपञ्चे स्वरूपे स्थितमि-
 त्यर्थः ॥ ४२ ॥ स्वप्नसंहृद्यनां योद्गुणामारमटी कोलहलस्तद्वे-
 दनं जाग्रतः स्मृतिपथं गतं सद्यथा नात्यन्तासन्नापि सत्तथा
 प्रपञ्चोऽयं स्थितः ॥ ४३ ॥ मायामात्रत्वादेवासंभावितसहस्रम-
 प्यत्र संभवत्येवेत्याशयेनाह—वृत्तिरिति ॥ ४४ ॥ धानका वट-
 बीजादयस्सावन्मात्रमपि कुलायं नीडच्छिन्नं न पूरयति ॥ ४५ ॥
 ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ उक्तं सर्वं संक्षिप्याह—तेज इति ।
 अणुमात्रं तेजः परमसूक्ष्मा चित् प्रथमं चेतित्वाच्चित्तवपुः संप-
 न्नम् । स एव चित्तात्मा वर्णितक्रमेण स्फारसंघित्तिः सन् महा-
 न्द्राण्डाःमैवाहमिति स्थित इति संप्रह इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ अत
 एव तदीयाः प्राणा वातस्कन्धास्तद्बुपसंहारेण वातस्कन्ध-

मज्ञोऽस्माभिर्वर्णित इत्याशयेनाह—स्पन्देति ॥ ५० ॥ स्पन्दसं-
 वेदनात्तेन प्राणस्पन्द इत्यनुभूयते इति यदुक्तं तत्सर्वानुभवप्र-
 सिद्धा समर्थयति—प्राणेति । सोऽयं तदीयप्राणस्पन्दस्तद्ब्रह्मा-
 ण्डाकाशे वातस्कन्धोऽस्माभिरुदाहृतः प्राणित्यर्थः ॥ ५१ ॥
 चिष्यतां सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रादिस्थानताम् ॥ ५२ ॥ हृदयं उद-
 रान्तर्गतमांसास्थ्यादीति यावत् ॥ ५३ ॥ प्रतिच्छन्दाः प्रति-
 जीवभेदमिच्छास्तत्कल्पितव्यष्टिशरीराणाम् ॥ ५४ ॥ परेच्छा-
 कल्पिता देहाः कथमेतस्य व्यष्टितां गतास्तत्राह—प्रतिच्छन्द्या-
 दिति । प्रतिच्छन्दं भवः प्रतिच्छन्द्याः । दिगादित्वाद्यत् । यद्य-
 स्माद्देतोस्तथाविधादस्मादुत्थिताः प्रतिपुरुषदेहं तत्तद्वासनामया
 ब्रह्माण्डा एवमेव बोध्या इत्याह—देहा इति ॥ ५५ ॥ तत्रैक-
 बीजान्तरन्तर्यथा वृक्षबीजपरम्परा क्रमेणोद्भवदर्शनादस्तीति
 संभाव्यते तद्दत्तत्रापि संभाव्यतामित्यभिप्रेत्याह—चित्तिरिति ।
 तदीहिता तेन हिरण्यगर्भेण वाञ्छिता ॥ ५६ ॥ तस्य हिरण्य-
 गर्भस्य श्लेष्मपित्तादयः । अत एवान्येऽपि ग्रहा ऋक्षगणा नक्ष-
 त्रसमूहाश्च प्राणेन यदा ष्टीवनं निष्ठीवनं तत्सीकराः श्लेष्मवि-
 न्दव इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ मेदसो जातय इव जातिकाः । घना
 मेघाः । तस्य शिरः ऊर्ध्वकपालं पादौ अधःकपालं त्वचं ब्रह्मा-
 ण्डावरणानि च वयं दूरस्वत्वात् पश्यामः ॥ ५८ ॥ हे अज्ञ,

चतुःसप्ततितमः सर्गः ७४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तस्मिन्कल्पे तु संकल्पे तस्य यद्वपुरास्थितम् ।
शृणु तत्र व्यवस्थेयं विचित्राचारहारिणी ॥ १
परमं यच्चिदाकाशं तद्विराडात्मनो वपुः ।
आद्यन्तमध्यरहितं लघु त्वस्य वपुर्जगत् ॥ २
संकल्परहितो ब्रह्मा स्वाण्डं संकल्पनात्मकम् ।
वपुषः परितो भास्वत्पश्यत्याकाशमेव तत् ॥ ३
ब्रह्मात्मैव स्वसंकल्पं स्वमण्डमकरोद्विधा ।
तैजसं तैजसाकारः पुष्टः पुष्टं विहंगवत् ॥ ४
अण्डस्यैकं नभो दूरं गतं संबुद्धवानसौ ।
भुवोधःसंस्थितं भागं व्यतिरिक्तं च नात्मना ॥ ५
ब्रह्माण्डभाग ऊर्ध्वस्थो विराजः शिर उच्यते ।
अधोभागोऽस्य पादाख्यो नितम्बो मध्यमात्रकम् ॥ ६
दूरं विमुक्तयोः संधिः खण्डयोरिति विस्तृता ।
अनन्ता व्योमलेखा सा इयामा शून्येति दृश्यते ॥ ७
धौस्तालु विपुलं तस्य ताराधिरबिन्दवः ।
संबिद्धातलवा देहे सुरासुरनरादयः ॥ ८
देहान्तः कृमयस्तस्य भूतप्रेतपिशाचकाः ।

इदं जगद्विराजो वपुर्विद्धि । तच्च संकल्परूपस्य कल्पनात्मनः
कल्पनामात्रं न बाह्यसाधनसाध्यं न च मनःकल्पनात्मकं किञ्चिद्वा-
स्तवं संभवति । अतो हेतोराकाशशैलादि सर्वप्रदान्तं चिदाकाश-
मेवैत्यर्थः ॥ ५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजमायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

वान्यङ्गान्यस्य ये लोका ये चास्यावयवाः पृथक् ।

यथा चान्तःस्थितोऽस्यैव तत्सर्वमिह वर्णयते ॥ १ ॥

इदानीं 'किमिदं तस्य भूलोकः किं स्वर्गः किं रसातलम्' इति
विभागप्रश्नस्य 'कथं वा सोऽन्तरे तस्य' इति प्रश्नस्य, 'कथं वा
तन्मनोमात्रं निराकृतिरिदं स्थितम्' इति प्रश्नस्य च विस्तरेणो-
त्तरं वक्तुं श्रोतारमवधापयति—तस्मिन्निति । तस्मिन्शिलोदर-
दृष्टे ब्रह्मकल्पात्मके तस्य विराजः संकल्पे यद्ब्रह्माण्डात्मकं वपुः
स्थितं तस्य इयं वक्ष्यमाणा जन्मकर्मावयवादिविभागव्यवस्था
तां शृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥ तत्रास्य ब्रह्मैव वास्तवं स्वरूपं प्राथमि-
कमकल्पितं वपुर्विराट्शरीरं तु काल्पनिकं तद्दृष्ट्वा अतिलघुत-
रमित्याह—परममिति ॥ २ ॥ चिदाकाशमाद्यन्तमध्यरहितं
तस्य स्वरूपमिति कथं ज्ञायते तत्राह—संकल्परहित इति ।
यतः स ब्रह्मा स्वसंकल्पवपुषो ब्रह्माण्डाद्बहिः संकल्परहितो
निःसंकल्पसाक्षिचिदाकाशमात्रः सन् संकल्पनात्मकं स्वाण्डं
पश्यति तच्च परमार्थदशा आकाशमेवैत्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्रादौ
तस्य शिरः पादां नितम्बं च वक्तुं ब्रह्माण्डस्योर्ध्वधःकपालद्वय-
विभागमाह—ब्रह्मेति । तैजसं हिरण्यम् । तैजसाकारो लिङ्ग-
समष्ट्यभिमानिचिदाकारः ॥ ४ ॥ दूरमूर्ध्वं गतमिति संबुद्धवान्

लोकान्तराणि रन्ध्राणि सुषिराण्यस्य देहके ॥ ९
ब्रह्माण्डखण्डमस्याधो विस्तृतं पादयोस्तलम् ।
जानुमण्डलरन्ध्राणि पातालकुहराण्यधः ॥ १०
जलैश्चलचलायन्ती सुषिरानेकरन्ध्रिका ।
भूरन्तर्मण्डली लोला समुद्रद्वीपवेष्टना ॥ ११
जलैर्गुण्डगुडायन्त्यो नद्यो नाड्यः सरिद्रसः ।
जम्बूद्वीपं हृदम्भोजमस्य हेमाद्रिकर्णिकम् ॥ १२
कुक्षयः ककुभः शून्या यकृत्प्रीहादयोऽचलाः ।
मृद्यः स्निग्धाः पटाकारा मेदसो जालिका घनाः ॥ १३
चन्द्राकौ लोचने तस्य ब्रह्मलोको मुखं स्मृतम् ।
तेजः सोमोऽस्य कथितः श्लेष्मा प्रालेयपर्वतः ॥ १४
अग्निलोकस्तथैर्वाग्निः पित्तमस्यातिदुःसहम् ।
वातस्कन्धमहावाताः प्राणापाना हृदि स्थिताः ॥ १५
कल्पद्रुमवनान्यस्य सर्पवृन्दानि च क्वचित् ।
लोमजालान्यनन्तानि वनान्युपवनानि च ॥ १६
ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डं तु समस्तमुरुमस्तकम् ।
ब्रह्माण्डप्रान्तरन्ध्रार्चिरस्य दीप्ता शिखोत्थिता ॥ १७
स्वयमेव मनस्तेन मनो नास्योपयुज्यते ।

संकल्पितवान् एवमात्मना न व्यतिरिक्तमभिन्नं च संकल्पित-
वान् । मध्यमात्रकं आन्तराकाशमध्यमिति यावत् ॥ ५ ॥ ६ ॥
खण्डयोः कपालयोः संधिरन्तरालं शून्या इयामा व्योमलेखेति
दृश्यते जनैः ॥ ७ ॥ तालु काकुदम् । संबिद्धातयोर्बुद्धिप्राणयो-
र्लेवा वृत्तिभेदाः ॥ ८ ॥ भूतप्रेतपिशाचका रक्तमांसाद्यशुचिलो-
लुपत्वात्कृमयः । लोकान्तराणि सूर्यचन्द्रादिलोकाश्चक्षुरादिर-
न्ध्राणि । याम्यादिनारकलोकान्तराण्यधःसुषिराणि ॥ ९ ॥
॥ १० ॥ चलचलायन्ती चञ्चलयमाना । अन्तर्मण्डली मध्य-
स्थवस्तिजघननितम्बमण्डली । लोला कामरोगजरामरणादि-
व्याकुला । समुद्रा द्वीपाश्च वेष्टनान्यन्तरीयकाधीकटिसूत्रप्रायाणि
यस्याः ॥ ११ ॥ नाड्यः शिराः । सरित्पदेन तज्जलं लक्ष्यते ।
रच्छिरान्तर्गतो रसः ॥ १२ ॥ कुक्षयः कुक्षिभागः । ककुभो
दिशः । यकृत्प्रीहादयो मांसभेदाः । मेदसो धातुविशेषस्य
जालिकाः पटल्यः । घना मेघाः ॥ १३ ॥ तेजो रेतः ॥ १४ ॥
वातस्कन्धेषु प्रसिद्धा आवहनिवहप्रवहादयो महावाताः ॥ १५ ॥
कल्पद्रुमवनान्यन्यानि वनान्युपवनानि च क्वचित्पातालादौ
प्रसिद्धानि सर्पवृन्दानि चास्य लोमजालानि ॥ १६ ॥ ब्रह्माण्ड-
स्योर्ध्वप्रान्ते रन्ध्रे प्रसिद्धं दीप्ताग्निः 'अथ यदतः परो दिवो-
ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु'
इति श्रुतिप्रसिद्धमर्ज्योतिरस्य दीप्ता शिखा चूडा ॥ १७ ॥
एवंविधविराट्देहकल्पनाकर्तृस्तस्य किं मनः कानीन्द्रियाणि
तत्राह—स्वयमिति । यतः सर्वमनःसमष्ट्यात्मा एव विधाता
स्वयं मन एव । अतोऽस्य सर्वकल्पनासु अन्यन्मनो नोपयुज्यते

आत्मैव भोक्तृतामेति किल कस्य कथं कुतः ॥ १८
 स्वयमेवेन्द्रियाण्येष तेनान्यत्रास्तिता कृता ।
 यतस्तत्कल्पनामात्रमेवेन्द्रियगणः किल ॥ १९
 अवयवावयविनोरिवेहेन्द्रियचित्तयोः ।
 न मनागपि भेदोऽस्ति चैक्यमेकशरीरयोः ॥ २०
 तस्य तान्येव कार्याणि जगतां यानि कानिचित् ।
 संकल्पा एव पुंश्रुत्या चलन्त्यारूपितद्विताः ॥ २१
 जागते तस्य विज्ञेये नान्येऽस्य मृतिजन्मनी ।
 स एवेदं जगत्यस्मत्संकल्पात्मास्य नेतरत् ॥ २२
 तत्सत्तया जगत्सत्ता तन्मृत्यैव जगन्मृतम् ।
 यादृशी स्पन्दमरुतोः सत्तैका तादृशी तयोः ॥ २३
 जगद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव ।
 जगद्यत्स विराडेव यो विराट् तज्जगत्स्मृतम् ॥ २४
 जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः ।
 संकल्पमात्रमेवैते शुद्धचिद्बोमरूपिणः ॥ २५

अनवस्थाप्रसङ्गात् । यदि तु आत्मैव स्वभोगाय भोग्यवर्गं कल्प-
 यतीति मन्येथास्तत्र । तस्य कूटस्थाद्वयस्वभावत्वादित्याह—
 आत्मैवेति । किंवृत्तानि प्राभवत् ॥ १८ ॥ एवमिन्द्रियाण्यप्यस्य
 नोपयुज्यन्ते । यतस्तेनान्यत्र अस्मदादिषु इन्द्रियाणामस्तिता
 कृता कल्पिता । न चेन्द्रियकल्पनायामिन्द्रियाणां निमित्तत्वमन-
 वस्थाप्रसङ्गादिति भावः ॥ १९ ॥ कथं तर्हि इन्द्रियमनसोर्भेद-
 व्यवहारस्तत्राह—अवयवेति । अस्ति चैक्यं मनःप्रवृत्त्यन्वय-
 व्यतिरेकदर्शनादिन्द्रियप्रवृत्तेः स्वप्ने मनसैव सर्वेन्द्रियकार्यनिर्वाह-
 दर्शनाच्चेति भावः ॥ २० ॥ अत एव च सर्वजगत्क्रियास्त-
 क्रिया एवेति न क्रियापि पृथक् प्रष्टव्येत्याह—तस्येति । यत-
 स्तदीयसंकल्प एव पुंश्रुत्या व्यष्टिसर्वपुरुषवेषेण आरूपितद्विता
 आरोपितभेदाः सर्वव्यवहारमना चलन्ति ॥ २१ ॥ तर्ह्यस्म-
 दादिमरणजन्मनी तस्यैव मरणं जन्म च स्याताम् । तथा च
 द्विपरार्थकालजीवनप्रसिद्धिविरोधस्तत्राह—जागते इति । सम-
 ष्टिजगन्मृतिजन्मनी एव तस्य मरणजन्मनी विज्ञेये । अन्ये
 अस्मदादिव्यष्टिमात्रप्रसिद्धे तु अस्य न । यत इदं जगति सम-
 ष्टिरूपं स एव अस्मत्संकल्पात्मापि स एव नेतरनेतर इत्यर्थः ।
 अथवा तस्य विधातुः सह सिद्धं चतुष्टयमिति पुराणदर्शितन्या-
 येन तत्त्वज्ञतया जीवन्मुक्तस्य द्विपरार्थान्तादिकालप्रसिद्धे अस्म-
 दादिव्यष्टिषु प्रसिद्धे च मृतिजन्मनी जागते जगदन्तर्गतासह-
 ष्टिकल्पिते एव नान्ये । स्वदृष्टिसिद्धे इत्यर्थः । यतः स एवेदं
 जगति प्रसिद्धः । अस्मत्संकल्पात्मा व्यवहारोऽप्यस्यैव रूपं नेत-
 रदित्यर्थः । अथवा इन्द्रियमनांघ्नीव तस्य मृतिजन्मनी अपि
 जागते अस्मदादिप्रसिद्धे विज्ञेये नान्ये । पृथक्कल्पे तस्य संक-
 ल्पात्मापि जगति प्रसिद्धः अस्मत्संकल्पात्मैव । यतः स एवेदं
 सर्वं नेतरत्किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥ कुतः स एवेदं तत्राह—

श्रीराम उवाच ।

संकल्पात्स विराडेव स्वमेवाकृतिमागतम् ।
 अस्तु नाम स्वदेहान्तः कथं ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ २६
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 यथा ध्यानेन देहान्तस्तिष्ठसि त्वं यथा स्थितम् ।
 तथास्ते निजदेहेऽन्तः संकल्पात्मा पितामहः ॥ २७
 नृणां तथा च मुख्यानां जीवो ब्रह्मपुरोदरे ।
 उत्पत्तिपुत्रिकादेहः प्रतिबिम्बोपमोऽस्ति सः ॥ २८
 यत्र त्वमपि देहान्तः कर्तुं शक्तोऽस्यलं स्थितम् ।
 संकल्पात्मा विभुस्तत्र ब्रह्मा किं न करिष्यसि ॥ २९
 बीजान्तः स्थावरं ह्यास्ते पदार्थे यत्र जंगमः ।
 किं नास्ते तत्र देहेऽन्तर्निजचित्कल्पनात्मिका ॥ ३०
 साकारो गगनात्मास्तु निराकारं स्वमस्तु वा ।
 आस्ते बहिरथान्तश्च भिन्ने बाह्यान्तरे बहिः ॥ ३१
 आत्मारामः काष्ठमौनी न जडोऽपि दृषज्जडः ।
 अहंत्वमित्यादिमयो विराडात्मनि तिष्ठति ॥ ३२

तत्सत्तयेति । तस्य च जगतश्च तयोः ॥ २३ ॥ २४ ॥ एते
 विराड्जगती शुद्धचिन्मात्ररूपिणः परमात्मनो 'बहु स्यां प्रजा-
 येय' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं संकल्पमात्रं तच्च निःस्वरूपमिति ब्रह्मैव
 परिशिष्टमिति निष्कर्षः ॥ २५ ॥ अस्तु नामेत्यन्तेन उक्तम-
 भ्युपगम्य श्रीरामः शिष्टं प्रश्नं स्मारयति—स्वदेहान्तरिति ।
 'कथं वा सोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः' इति प्रश्नस्योत्तरं
 वदेत्यर्थः ॥ २६ ॥ ध्यानेनेति । मानसपूजायां हि हृदि क-
 ल्पिते रत्नमण्डपे देवमुपवेश्य स्वं तत्समीपस्थं छत्रचामरव्यज-
 नदर्पणताम्रवृत्तादिभिर्देवं परिचरन्तं यथानुभवसि तद्वदित्यर्थः
 ॥ २७ ॥ किं च स्थूलदेहात्मकस्य स्वस्यान्तर्हृदयपुण्डरीके लिङ्ग-
 देहात्मकस्य स्वस्यावस्थानं सर्वेषां विवेकिनामनुभवसिद्धमि-
 त्याह—नृणामिति । मुख्यानां विवेकिनाम् । ब्रह्मपुरे शरीरे ।
 उत्पत्तिपुत्रिका औत्पत्तिकतत्तद्देहप्रतिमाकारः । अत एव दर्प-
 णान्तर्गतप्रतिबिम्बोपमः ॥ २८ ॥ कैमुतिकन्यायेन धातुः
 स्वदेहान्तःस्थितिरित्याह—यत्रेति ॥ २९ ॥ यत्र स्थावराणा-
 मपि स्वबीजदेहान्तरवस्थानसामर्थ्यं तत्राविर्भूतसर्वशक्तिकचि-
 त्कल्पनात्मिकायाश्चतुर्मुखमूर्तेः किं तद्वाच्यमित्याह—बीजेति
 ॥ ३० ॥ तथा च ब्रह्मा ब्रह्माण्डाकारेण साकारः संधिद्रगनात्मा
 वाऽस्तु मनःसमष्टिरूपेण निराकारं स्वमस्तु वा पक्षद्वयेऽपि बहि-
 रन्तश्चास्ते बाह्यान्तरभावकल्पने एव परं स्वरूपाद्बहिः स्थिते
 भिन्ने न त्वत्कल्पितमान्तरं सद्रूपं भिद्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ स
 तर्हि बहिरन्तश्च कीदृशः कीदृशे स्वभावे परमार्थतस्तिष्ठति
 तदाह—आत्माराम इति । स बहिर्विराड् ब्रह्माण्डात्मा अन्तस्तु
 अहंत्वमित्यादिव्यष्टिसमष्टिभूतभौतिकमयः । आत्मनि तु आत्मा-
 रामः सन् काष्ठमौनी निर्वाक्यो दृषदिव जडः स्थितः

भावेष्टितोज्जितलतातृणदारुपुंख-
दुच्छब्दमम्बुरयवञ्च विरोपिताङ्गः ।

नानाविधेऽपि विहरन्नपि कार्यजाळे

तज्जः शिलाजठरशान्तमनस्क एव ॥ ३३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षोपायैषु निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० विराडात्मवर्णनं नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥७४॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः ७५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथाप्रस्यब्रह्मलोको ब्रह्मणि ध्यानशालिनि ।
निक्षिप्ताक्षः शनैर्दिक्षु दृष्टवानहमप्रतः ॥ १
द्वितीयमर्कं मध्याह्ने पश्चाद्भ्युदितं स्फुटम् ।
दिग्दाहमिव दिग्बन्धे वनदाहमिवाचले ॥ २
षड्लोकमिव द्योन्नि षडवाग्निमिवावर्णवे ।
ततोऽपश्यमहं दीप्तं सूर्यं नैर्ऋतदिक्षुखे ॥ ३
सूर्यं धाम्ये ककुब्भागे सूर्यमग्निककुब्मुखे ।
सूर्यमैन्द्रककुब्भागे सूर्यमीशानदिक्षुखे ॥ ४
कुबेरककुम्भि सूर्यं सूर्यं वायव्यदिक्षतटे ।
सूर्यं वरुणदिग्भागे तेन विस्मयवानहम् ॥ ५
यावद्विचारयाम्याशु विधिवैधुर्यमाकुलम् ।
उदभूज्जतलात्तावदकं और्वं इवार्णवात् ॥ ६
एकादशेऽखिलाकार्णां प्रतिबिम्बमिधोत्थितम् ।
उदभूज्जयमर्काणामन्तरे दिग्गणाम्बरे ॥ ७

सोऽपि विदेकरसत्वात् जडस्तिष्ठति ॥ ३२ ॥ न केवलं विराज एवेदशी स्थितिः किंतु तत्त्वज्ञानं सर्वेषामिति दर्शयितुं तामेव दृष्टान्तैर्विशदयति—भावेष्टितेति । तज्जस्तत्त्ववित् परापराध-सहिष्णुताविषये यथा लता तृणं कक्षः दारु पुमान्प्रतिमा वा पूर्वं रज्ज्वादिना भावेष्टिता बद्धा पश्चादुज्जिता मुक्ता अपि न कुप्यन्ति किंतु निःशब्दं तूष्णीमेवासते । यथा अम्बुरयो जल-प्रवाहो निरुद्धो विरोपिताङ्गः शातितावयवोऽपि प्राक्नस्थितिं न जहाति तथा नानाविधे कार्यजाळे विहरन्नपि शिलाजठरमिव शान्तमनस्कः पूर्वस्थित्यैवास्ते न मनागपि क्रोधहर्षविषादादिना विक्रियत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्य-प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं नाम चतुःसप्त-तितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

विधातरि ध्यानपरे द्वादशादित्यसंभवः ।

दहन्नत्र जगत्सर्वं वर्णयते प्रलयानलः ॥ १ ॥

प्रश्नप्रासङ्गिकं समाप्य प्रस्तुताख्यायिकामेवानुसंधते—अथे-त्यादिना । अथ सेन्द्रादिनगरमेरुशिखरपत्तनदर्शनानन्तरं शनैर्दिक्षु निक्षिप्ताक्षोऽहं द्वितीयमर्कं दृष्टवानिति परेणान्वयः ॥ १ ॥ मध्याह्ने इत्यनेन मध्यदिश्यकं सतीति गम्यते । दिक्षु दिशां मध्ये । अप्रतः पुरोगते पश्चाद्दिग्बन्धे पश्चिमदिक्षुके म-ध्यस्थादर्कोद्वितीयमर्कमहं दृष्टवानिति संबन्धः ॥ २ ॥ दिग्दा-हमिवेत्यादीनि सर्वेषामर्काणामुपमानानि प्रत्येकं योज्यानि

तद्वि रौद्रं वपुस्तत्र तन्मध्ये लोचनत्रयम् ।
तद्वादशपरीमाणं दीप्तं वृन्दं विवस्वताम् ॥ ८
सर्वदिकं ददाहोच्चैः शुष्कं वनमिवानलः ।
अथोदभूजगत्खण्डशोषणप्रीष्मवासरः ॥ ९
अनग्निरग्निदाहो द्वागदृश्योऽमुकगुल्मकः ।
अनग्निनाग्निदाहेन तेन तामरसेक्षण ॥ १०
अङ्गानि दाघदग्धानि खिन्नानीध ममाभवन् ।
प्रदेशं तमथ त्यक्त्वा दूरमारूढवानहम् ॥ ११
दृढहस्ततलाघातहतकन्दुकवज्रमः ।
अपश्यं गगनस्थोऽहमुदितं वण्डतेजसम् ॥ १२
तपन्तं द्वादशादित्यगणं दिक्षु दशस्वपि ।
बृहत्तत्र सतारावज्ज्वालेव भगणं चलम् ॥ १३
महाकुहकुहाशब्दं कथत्सत्ताग्धिडम्बरम् ।
सज्ज्वालोऽमुकनीरन्ध्रलोकान्तरपुरान्तरम् ॥ १४
ज्वालाघनपटाटोपसिन्दुरीकृतपर्वतम् ।
दीप्यमानमहागारस्थिरधिद्युत्ककुत्पटम् ॥ १५

॥ ३ ॥ ४ ॥ वरुणदिग्भागे इति प्रागुपकान्ताजुवादः ॥ ५ ॥ विधिवैधुर्यं देवप्रातिकूल्यम् ॥ ६ ॥ दिग्गणानामन्तरे आन्तरालिके मध्यमाम्बरे । असमर्थसमासश्छान्दसः । मध्य-मस्यैकादशत्वोक्तेरूर्ध्वमप्यन्योऽर्क उदित इति गम्यते । तेषु मध्यमे एकादशेऽर्के दर्पणोदरे प्रतिबिम्बमिवान्यदर्काणां त्रयमुद-भूत् । तद्वि मध्यतनादित्यान्तरुदितमर्कत्रयात्मकमेकं ब्रह्मविष्णु-शिवात्मकस्यैकस्य रुद्रस्येदं रौद्रं वपुः । तदेव 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः' इति गायत्र्या प्रकाश्यते । अत एव हि तन्वतुर्विशाल्यक्षरप्र-सूतचतुर्विंशतिसहस्रश्लोकात्मकस्य पूर्वरामायणस्य सारसंग्रहा-त्मके आदित्यहृदये 'ब्रह्मेशानाच्युतेशाय रौद्राय वपुषे नमः' इति त्रिमूर्तिमूलपरशिवात्वेन नमस्कृतमिति तदेव सर्वोत्कृष्टमु-पास्यमित्याहुः ॥ ७ ॥ तत्र तस्मिन्नर्के तन्मध्ये रौद्रवपुर्मध्ये लोचनत्रयं तद्रौद्रं वपुरेव द्वादशादित्याकारपरिमाणं विवस्वतां वृन्दं भूत्वा ददाहेति परेणान्वयः ॥ ८ ॥ ९ ॥ अहृद्योऽमुक-गुल्मकत्वादेव प्रसिद्धाग्निरहितः सौराग्निदाह उदभूत् ॥ १० ॥ दूरमूर्ध्वं नभ आरूढवान् ॥ ११ ॥ १२ ॥ तत्र तासु दिक्षु सतारं नभः अबति व्याप्नोतीति सतारावा ज्वालेनावर्ताकारेण चलं भगणं नक्षत्रचक्रमपश्यमित्यर्थः ॥ १३ ॥ इत ऊर्ध्वं सार्धद्वादशश्लोकेषु स्थितानि सर्वाणि द्वितीयान्तपदानि प्रस्तुत-द्वादशादित्यगणविशेषणत्वेन योज्यानि । कुहकुहेति कथनशब्दा-जुकरणम् ॥ १४ ॥ ज्वालाकलहर्षैर्धनेः पटाटोपैः रक्तवज्रा-

स्फुरत्कटकटाटोपचटत्पत्तनमण्डलम् ।
 विदधद्भूतलोद्भूतधूमदण्डैः शिलाघनैः ॥ १६
 काचस्तम्भसहस्राख्यं भुवनस्थानमण्डपम् ।
 कथद्भूतमहाभूतताराक्रन्दतिघर्घरम् ॥ १७
 भूतलोकपुरापातस्फुटचटचटोद्भूतम् ।
 ताराविशरणोद्घातघृष्टरत्नधरातलम् ॥ १८
 सर्वस्थलालयचलहृद्यमानजनव्रजम् ।
 क्षीणाक्रन्दकथद्भूतगणदुर्वासविकतटम् ॥ १९
 उत्तप्तम्बूदराखिन्नजलेचरमहार्णवम् ।
 सर्वदिक्कानलप्लोषक्षीणाक्रन्दपुरान्तरम् ॥ २०
 विदलद्गन्धिदग्दन्तिदन्तोत्तम्भितभूधरम् ।
 धराधरदरीरन्ध्रधूममण्डलकुण्डलम् ॥ २१
 पतत्पर्वतनिष्पिष्टपृष्ठपत्तनमण्डलम् ।
 पचत्पचपचाशब्दशब्दिताद्रीन्द्रकुञ्जरम् ॥ २२
 तापतप्तोन्नमद्भूतज्वरितार्णवपर्वतम् ।
 हृदयस्फोटनिःसारपतद्विद्याधराङ्गनम् ॥ २३
 आक्रन्दरोदनश्रान्तमूर्धनिःसरणामरम् ।
 नागलोकज्वलज्वालापातालोत्तप्तभूतलम् ॥ २४
 शुष्कार्णवसदापकविवर्तोन्नजलेचरम् ।
 और्वेणाविन्धनाभावात्प्रोद्गीयेव सहस्रधा ॥ २५
 गतेन नृत्यतोत्थाय गृहीतगगनाङ्गनम् ।

अथोद्भूज्वलज्वालाकिंशुकांशुकशोभितः ॥ २६
 ताण्डवायेव कल्पाग्निस्तरलोत्सुकमाल्यवान् ।
 तारं पटपटाटोपी रटद्भट इवोद्भटः ॥ २७
 ज्वालोद्भूजो धूमकचो जगज्जीर्णकुटीनटः ।
 जज्वलुर्धनजालानि पुराणि नगराणि च ॥ २८
 मण्डलद्वीपदुर्गाणि जङ्गलानि स्थलानि च ।
 सर्वखानि महाकाशमाशा दश दिवः शिरः ॥ २९
 श्वभ्ररूपारघट्टापट्टनोदारदिकतटः ।
 शृङ्गाणि सिद्धवृन्दानि गिरयः सागरार्णवाः ॥ ३०
 सरः सरस्यः सरितो देवासुरनरोरगाः ।
 आशाः शनशनाशब्दैः पुरुषैश्च शिवाचिषाम् ॥ ३१
 आसन्ध्वेडाकुराक्षस्यो ज्वालाजालोद्भवलोर्ध्वजाः ।
 भमद्भूमिति भांकारैर्भीषणैर्भूरिभस्मभिः ॥ ३२
 ज्वालाः श्वभ्राद्रिभूमीनां गुहाभ्यः परिनिर्ययुः ।
 ज्वालोदरस्था अरुणाः समस्ता भूतजातयः ॥ ३३
 स्थलपद्मोदरालीनामाजहुः श्रियमश्रियः ।
 सद्यो निःसृतरक्ताभैः सिन्दूराम्मोदसुन्दरैः ॥ ३४
 धगद्भूमिति गायद्भिर्ज्वालाजालैर्जगद्भूतैः ।
 आसीद्भूतकांशुकैः कीर्णं संध्याधैरिव वा नभः ॥ ३५
 उत्फुल्लकिंशुकवनैरुद्गीनैरिव वाऽऽवृत्तम् ।
 और्वेण चावृता आसन्फुल्लाशोकवना इव ॥ ३६

डम्बरैः सिन्दूरवर्णाः कृताः पर्वता येन । दीप्यमानेषु महतां
 लोकपालानामगारेषु स्थिरविद्युत् इव ककुत्पटा येन ॥ १५ ॥
 धूमदण्डैर्दण्डाक्रौर्धूमैः । काचस्तम्भसहस्राख्यं भुवनस्थानलक्षणं
 मण्डपं विदधत् कुर्वाणमिवेति संबन्धः ॥ १६ ॥ भूतानां प्रा-
 णिनां महाभूतानां पृथिव्यादीनां च तारः आक्रन्दै रोदनैरति-
 घर्घरम् ॥ १७ ॥ भूतानां प्राणिनां लोकानां भुवनानां तदन्त-
 र्गतपुराणां च आसमन्तात्पातैः स्फुटतां पदार्थानां चटचटाश-
 ब्दैरुद्भूतम् । ताराणामश्रिन्यादीनां विशरणैः पतनैर्ये उद्घाता
 अभिघातास्तैर्घृष्टरत्नं धरातलं येन ॥ १८ ॥ सर्वेषु स्थलेषु
 आलयेषु स्वस्वगृहेषु चलन्तो धावन्तो दृश्यमाना जनव्रजा येन ।
 क्षीणैर्मृतैराक्रन्दपूर्वकं कथद्भिः पच्यमानैश्च भूतगणैः प्राणिनि-
 कायैर्दुर्वासानि दुर्गन्धीनि वासायोग्यानि च दिक्तटानि येन
 ॥ १९ ॥ सर्वदिग्ग्यापिना अनलेन प्लोषो दाहस्तेन क्षीणाक्रन्दं
 शान्तरोदनं पुरान्तरमन्यन्नगरं येन ॥ २० ॥ विदलतां विक्षी-
 र्यमाणानां दग्धानां च दिग्दन्तिनां दन्तैरेव स्तम्भप्रायैरुत्त-
 म्भिता अधोभागे धारिता दिग्दन्तभूधरा येन ॥ २१ ॥ २२ ॥
 तापतप्तैरुन्नमद्भिस्सुच्छलद्भिश्च भूतैर्ज्वरिताः संजातज्वरा इवा-
 र्णवाः पर्वताश्च येन ॥ २३ ॥ केचिदाक्रन्दै रोदनैश्च श्रान्ताः
 केचियोगबलेन ब्रह्मरन्ध्रं विदार्य मूर्धनिःसरणा भूत एवामराश्च
 योन्निनो यत्र ॥ २४ ॥ शुष्केष्वर्णवेषु सदा पक्काक्षिरकषिता
 विवर्तैः परिवर्तनैरुप्रा भीषणाश्च नकादिजलेचरा येन ॥ २५ ॥

गृहीता गगनाङ्गना अप्सरसो येन । एवं द्वादशादित्यगणमुप-
 वर्ण्य तदुद्भवं प्रलयामि नटत्वेन वर्णयति—अथेत्यादिना नट
 इत्यन्तेन । ज्वलज्वालारूपैः किंशुकपुष्पवर्णैरंशुकैर्वर्णैः शोभितः
 ॥ २६ ॥ तरलैरुत्सुकैर्माल्यवान् । तारं विस्फुटद्भिर्वेष्वादिभिः
 पटपटाटोपी नानावाद्याडम्बरवान् ॥ २७ ॥ २८ ॥ सर्वाणि
 खानि पातालादिभूच्छिद्राणि । भूमेरुर्ध्वं महाकाशम् । दिवो
 युलोकस्य शिर ऊर्ध्वभागः ॥ २९ ॥ तथा क्वचित् श्वभ्ररूपः
 क्वचिदारघट्टयन्त्रैः सौधैश्च युक्तैः पट्टनैश्चोदारो रम्यो दिक्तटः ।
 तथा पर्वतशृङ्गाणि तत्रत्यसिद्धवृन्दानि तद्युक्ता गिरयः सागरा-
 र्णवाः ॥ ३० ॥ आशा दिशश्च तदन्तर्गतपुरुषैः सह शिवा-
 चिषां रुद्रेनेत्रज्वालानां शनशनाशब्दैर्जज्वलुरिति पूर्वत्रान्वयः
 ॥ ३१ ॥ किंचेता आशाः ज्वालाजालैरुद्भवा ऊर्ध्वजाः केशा
 यासां तथाविधाः सत्यो भमद्भूमिति प्रसिद्धैर्भीषणैर्भांकारध्वनि-
 भिर्भूरिभस्मभिश्च परस्परं विक्षिपन्त्यः । ध्वेडा परस्परधूलिज-
 लादिप्रक्षेपैः क्रोडात्पराः कुराक्षस्य इव आसन् ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ किंचाश्रियः संपद्ग्रहितास्ता दिशः सद्यो निःसृतरक्ता-
 भैर्ज्वालाजालैः स्थलपद्मोदरालीनां श्रियमाजहुर्जगद्भूतैः ॥ ३४ ॥
 वेत्युरप्रेक्षयोर्विकल्पः ॥ ३५ ॥ आवृत्तं नभ इत्यनुषजते । वा-
 चब्दः प्राग्वत् । एवमौर्वेणाभिना संवृता अर्णवाश्च फुल्लान्यशो-
 कवनानि येषु तथाविधा इव स्थलाज्जैर्वलिता इव राविराः
 कालरविनिकरव्यासा इव वा आसन्निति परेण संहान्वयः ।

इव स्थलाङ्गवलिता राविरा इव आर्णवाः ।
 नानावर्णज्वलज्वालाधूमविन्यासबन्धवान् ॥ ३७
 रूढं वह्निमिवाघानुं चित्रसौधलताश्रयम् ।
 अनन्त इव विन्यास वनयौवनपावकः ॥ ३८
 उदयास्तमयादिभ्यो विन्ध्यो विधुरतामगात् ।
 अङ्गारकल्पविटपैर्ज्वालावनविवलग्नैः ॥ ३९
 शनैरीषदिव धुन्धैः सद्योऽसह्यत्वमाययौ ।
 मध्यमध्यकचत्काण्यभ्रमद्मालिमालितम् ॥ ४०
 बलज्वालाङ्गमलिनं दृष्टं सर इवाम्बरम् ।
 खेऽद्रीणां शिखरे व्योम्नि शिखाशिखरशेखराः ॥ ४१
 ननृतुनीरसा नाशनर्तक्यः केतुकुन्तलाः ।
 तलाहितानलज्वाला ब्रह्माण्डोर्ध्वकपाटभूः ॥ ४२
 तर्जनप्रोत्पतद्भूतधानौघा भ्राष्ट्रभूमिका ।
 कण्ठक्रेणी मृज्जलाग्निर्नानावर्णानारुणा ॥ ४३
 हृत्प्रकोष्ठे जगलक्ष्म्याः सौवर्णीवाभवत्तदा ।
 शैलाश्चटचटास्फोटैर्वृक्षाः कटकटारवैः ॥ ४४
 देशा हलहोल्लासैरलं विदलनं ययुः ।
 अन्धयः कथिताकाराः फेमिलोल्लासमांसलाः ॥ ४५
 धीचीकरतलाघातांश्चकुरर्कमुखे मुखे ।

रवीन् रान्ति स्वीकृष्वन्तीति रविराः त एव राविरा इति स्वार्थि-
 कोऽण् कल्प्यः ॥ ३६ ॥ तथा वनेषु यौवनं युवभावो यस्य
 तथाविधः पावको दधामिध्रिलिखितं सौधतलाश्रयं मिथ्या-
 वह्निं प्रौढं यथार्थभूतमाघानुं संपादयितुमिव नानावर्णानां उव-
 लज्वालानां धूमविन्यासानां च बन्धः प्रबन्धः श्रेणिरिति
 यावत्, तद्वान्सन् फणासहस्रप्रबन्धवाननन्तः सर्परादिव विनि-
 भास विस्तृतो नितरामासीदित्युत्तरेण सहान्वयः ॥ ३७ ॥
 ॥ ३८ ॥ किञ्च सूर्योदयास्तमयादिवैधुर्याकाङ्क्षिणो विन्ध्यस्य
 मनोरथस्तदा फलित इत्याशयेनाह—उदयास्तमयादिभ्य
 इत्यर्धेन । अङ्गारेत्याद्युत्तरान्वयि ॥ ३९ ॥ सद्यो दक्षिणदेशे
 प्रसिद्धो गिरिः । मध्ये मध्ये कचत्प्रकाशमानं काण्यं येषां तथा-
 विधैर्धूमलक्षणैरलिभिर्मालितम् । बलद्भिर्धूमसंबलितैर्ज्वाला-
 क्षणैरञ्जर्मलिनं चेति नभसः सरःसाम्योपपत्तिः ॥ ४० ॥
 शिखाशिखरशेखराः ज्वालाप्रोत्संसाः । केतुर्धूमावर्तो धूमकेलारुच्य
 उदपातविशेषश्च कुन्तलस्थानीयो यासां तथाविधा नासा मृत्स-
 वस्तल्लक्षणा नर्तक्यः अद्रीणां खे विवराकाशे शिखरे मृत्प्रदेशे
 व्योम्नि अद्यादिशून्यशुद्धाकाशप्रदेशे च नीरसाः करुणादिरस-
 शून्याः सत्यो ननृतुः ॥ ४१ ॥ ब्रह्माण्डस्य ऊर्ध्वभाग एव
 कपाटं पिधानं यस्यास्तथाविधा भूः पृथिवीतले अधोभागे आ-
 हिता अनलज्वाला यस्यास्तथाविधा सती तर्जनैर्बन्धनैः प्रोत्प-
 तन्ति भूतानि प्राणनिकाया एव धानौघा भर्ज्यमानवीजस्था-
 नीया यस्यां तथाविधा भ्राष्ट्रभूमिका अम्बरीषस्पर्परमभूदिति
 शेषः ॥ ४२ ॥ किञ्चैयं पृथिवी तदा प्रलयकाले सोरस्ताडनं
 रुदन्त्या जगलक्ष्म्या हृदि प्रसक्ते प्रकोष्ठे द्रीपमेदभिजाभिर्दुग्धिः

अन्योन्यवेह्लितोल्लोलभूतलाकारपर्वतम् ॥ ४६
 जहूर्वाचीकरैर्वेहे जडाः प्रकुपिता इव ।
 आशाकाशाशिनामेषां गुहागुहगुहारवान् ॥ ४७
 पपाठ शब्द आग्नेयो ज्वालातटतटोद्भवः ।
 लोकपालपुरापाततत्ताङ्गाराद्रिमिस्रयः ॥ ४८
 दिशो दशापि वैबश्यं ययुर्नमसवृत्तयः ।
 काञ्चनद्रवसाद्रीन्द्रहुमागारगुहागृहः ॥ ४९
 शनैश्चार्वाकृतिर्मैरुसीदिम इवातपे ।
 क्षणेनैवानलात्तस्माद्धिमवाञ्जतुवद्भुतः ॥ ५०
 सर्वान्तःशीतलः शुद्धो दुर्जनादिव सज्जनः ।
 तस्यामपि दशायां तु मलयोऽमलसौरभः ॥ ५१
 आसीत्स्यजत्युदारात्मा न नाशेऽप्युत्तमं गुणम् ।
 नश्यन्नपि महान् ह्वारं न खेवं संप्रयच्छति ॥ ५२
 चन्दनं दग्धमप्यासीदानन्दार्थैव जीवताम् ।
 न कदाचन संयाति वस्तूत्तममवस्तुताम् ॥ ५३
 प्रलयानलनिर्दग्धमपि हेम न नष्टवत् ।
 द्वे हेमनभसी तस्मिन्न नष्टे प्रलयानले ॥ ५४
 तयोरेव वपुः ऋष्यं सर्वनाशेऽप्यनाशयोः ।
 नभो विभुतयाऽनाशि हेमाकृष्टतयाक्षयम् ॥ ५५

सप्तसमुद्रादिलक्षणैर्जलेस्तथाग्नैरभिभिध काचतत्कान्तिकाश्चन-
 स्थानीयैर्नानावर्णैराननैर्मुखैर्मणिभिध अरुणा सौवर्णी कण्ठक-
 ण्ठक्रेणीवाभवत् ॥ ४३ ॥ विदलनं विस्फीर्णताम् ॥ ४४ ॥ एवम-
 ंधयोऽपि परस्परं मुखमाहृत्य रुद्रुरिवेत्युत्प्रेक्षते—अन्धय
 इति । अर्कमुखे सूर्यप्रतिबिम्बतिलके खमुखे ॥ ४५ ॥ किञ्च
 तेऽन्धयः अन्योन्यं वेह्लितं संबद्धं तरङ्गास्फालनैरुल्लोम्नत एव
 क्रमेण मृत्पाषाणादीनां समीकरणाद्भूतलाकारतां प्राप्तं पर्वतं
 जहुः आजहुः । आहारतां निन्दुरप्रसन्निति यावत् । प्रकुपिता
 जडा मूर्खा मृत्तिकाशिलादि प्रसन्तीति प्रसिद्धम् ॥ ४६ ॥ क-
 चिच्च एषामन्धीनां गुहामुखनिर्गतान् गुहागुहेत्येवंरूपानारवान्
 प्रदेशान्तरे ज्वालातटस्य गिरितटस्य संघटनादुद्भूत आग्नेयः
 शब्दः पपाठ । गुरुकान् शब्दान् शिष्यध्वनिरिव अनुचकारे-
 त्यर्थः ॥ ४७ ॥ किञ्च तदा प्रलयाम्बुदानां निवृत्तेरनुकृष्टयो
 दशापि दिशो लोकपालपुराणां दशानामप्यापातैर्दाहे प्रतप्ताङ्ग-
 रभरिताद्रिमिस्रयः सत्य उन्मत्तवृत्तयो भूत्वा वैबश्यं व्याकुलतां
 ययुः ॥ ४८ ॥ काञ्चनद्रवभूतः अद्रिभिः प्रत्यन्तपर्वतैरिन्द्रेण
 हुम्भैरागारैर्गुहागृहैश्च सहितश्चार्वाकृतिर्मैरुपर्वतः शनैः आतपे हिम
 इव विलीन आसीत् ॥ ४९ ॥ जतुवल्लाक्षावद्भुतो विलीनः
 ॥ ५० ॥ अमलसौरभः सुगन्धिरिति यावत् ॥ ५१ ॥ महानु-
 त्तमपुरुषः ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ दग्धं दह्यमानमपि । न नष्टवत्
 न ननाश ॥ ५४ ॥ अविनाशिवस्त्वेव सार इति ऋष्यमित्या-
 शयेनाह—तयोरेवेति । आकृष्टतया दोषेभ्यो निष्कृष्य शोधित-

सत्त्वमेकं सुखं मन्ये न रजो न च वा तमः ।
 चलदुःखवनानीव विकीर्णाङ्गारवर्षणः ॥ ५६
 दग्धाब्दाद्रिमहाधूमज्वालोऽभूद्बह्विवारिदः ।
 रसविस्मरणार्तानां शून्यानां स्फारदेहिनाम् ॥ ५७
 शुष्काणां व्योमविटपिपत्राणां पात्ररूपिणाम् ।
 वारिदानां सवारीणां दग्धानां प्रलयार्चिषा ॥ ५८
 ज्ञस्येवाङ्ग न दोषाणां दृष्टं भस्मापि न क्वचित् ।
 न लङ्घयति कैलासं यावदुल्लसितोऽनलः ॥ ५९
 तावत्तं कल्पकूपितो रज्जो नेत्राग्निनादहत् ।
 दाहस्फुटद्भूमस्थूलशिलाचटबटारवाः ॥ ६०
 लकुटोपललोष्टौघैर्युध्यन्तेव भूभृतः ।
 ज्वालाघनघटाटोपसावतंसचलान्तिमाः ॥ ६१
 बभूवुर्व्योमविकसत्स्थूलपद्मवना इव ।

सर्गः कदाचिदेवासीदित्यगात्स्मरणीयताम् ॥ ६२
 कल्पान्तः स्मारयन्मूर्खानगादस्मरणीयताम् ।
 तापोपतापपरमाः परमारणतत्पराः ।
 बहयोऽपह्वं चकुर्जंगतामसतामिव ॥ ६३
 ववुरशनिनिपातपीडिताङ्गाः
 कचदनलोत्सुकगुल्ममण्डलाभाः ।
 प्रलयसमयवायवोऽनलान्ता-
 इलदमरावलयो लये लिहन्तः ॥ ६४
 व्यालोलस्फुटदानलद्रुमवनप्रोद्भूतभस्मोष्मणा
 दत्ताभ्राभ्रमदुत्सुकाहतिबहत्साङ्गारगौरार्चिषः ।
 भ्रश्यत्पावकशृङ्गमध्यविलसज्ज्वालावलीश्यामला
 निःशेषाग्निनिकाशासुस्तवज्जवा वेगेन वाता ववुः ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० महाकल्पान्तामिवर्णनं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः ७६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ कल्पान्तमरुति बहत्पवधुताचले ।
 चलेनाम्भोधिकल्लोलैर्नभस्यावर्तकारिणि ॥ १
 समुद्रेषु विमुद्रेषु मर्यादोलङ्घने घने ।
 अधनेषु घनिष्वम्बुदारिम्योपद्रवद्रुते ॥ २

तथा ॥ ५५ ॥ अत एव रजस्तमोनिष्कृष्टं शुद्धं सत्त्वमेव ब्रह्म-
 सुखाभिव्यक्त्या सुखसारं मन्ये । दग्धा अन्दा अम्बुदलक्षणा
 अद्रयो येन तथाविधो महाधूमज्वालः प्रलयबह्विलक्षणो वारिदः ।
 चलन्ति उच्चानि वनानीव नभसि स्फुरन् विकीर्णाङ्गारवर्ष-
 णोऽभूदित्यन्वयः ॥ ५६ ॥ रसानां जलानामाल्यन्तिकशोषे
 संस्कारमात्रस्याप्यनवशेषाद्विस्मरणेनार्तानां शून्यानां स्फारदे-
 हिनां अण्डजाविचित्रविभूतानाम् ॥ ५७ ॥ तथा शुष्काणां
 दग्धानामत एव व्योमविटपिपत्रपात्रप्रायाणां शून्यतां गताना-
 मिति यावत् । अथवा सवारीणामार्गणामेव प्रलयार्चिषा बलाद्-
 दग्धानां वारिदानां हे अङ्ग, ज्ञानापिदग्धानां ज्ञस्य तत्त्वविदो दो-
 षाणामिव भस्मापि क्वचिन्न दृष्टमित्यन्वयः ॥ ५८ ॥ न लङ्घ-
 यति नाभिभवति । कैलासं रजतगिरिम् ॥ ५९ ॥ तं कैला-
 सम् । कल्पार्थं कूपितः । तद्दाहमपि वर्णयति—दाहेत्यादिना
 ॥ ६० ॥ भूभृतस्फुटपादपर्वताः । किञ्च ते भूभृतो ज्वालघन-
 घटाटोपैः सावतंसानि चलानि अन्तिमानि अग्रच्छिखराणि येषां
 तथाविधाः सन्तो व्योमि विकसन्ति स्थूलानां पद्मानां वनानि येषां
 तथाविधा इव बभूवुः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ अस्मरणीयतां प्रत्य-
 क्षतामिति यावत् । मूर्खान् स्मारयन् अगदसारतामिति
 शेषः । असतामलीकानां शशशृङ्गाधीनामिवापह्वमश्वन्तास-
 त्वम् ॥ ६३ ॥ लये तस्मिन्प्रलये प्रवृत्ते अज्ञानिनिपातैः पीडि-
 तानि प्राण्यङ्गानि यैः कचद्भिरनलोत्सुकैर्गुल्मानि कुम्भशुक्लाङ्ग-

भूतले भूतलेशांशवर्जिते वह्निभर्जिते ।
 पातालमपि पाताले गते किमपि कालतः ॥ ३
 दिशि वा विद्यमानायां विशीर्णे सर्गवर्गके ।
 लोके व्योमगतालोके शोकौकसि ककुब्जाणे ॥ ४

मण्डलाभाः दलन्त्यो विशीर्यमाणा अमरावलयो यैस्तथाविधाः
 प्रलयसमयवायवः अनलान्ताद्वह्निमध्याभिर्गत्य दिशो लिहन्त
 इव ववुः ॥ ६४ ॥ पुनः कीदृशास्ते वाता वयुस्तदाह—व्यालो-
 लेति । व्यालोला ज्वालापल्लवकोटिभिः स्फुटन्तो विकसन्तश्च ये
 आनला वह्निमया द्रुमास्तेषां वनेपूद्भूतेन भस्मसहितेनोष्मणा
 दत्ताभ्रा व्यासाकाशा उत्पादितमेघा वा । तथा भ्रमतामुत्सुका-
 नामाहतिभिरभिघातैर्वहन्त्यो निःसरन्त्यः साङ्गारा गौराः
 पीता अर्चिषो येभ्यः । तथा भ्रश्यन्तीभिः कज्जलात्मना
 स्वलन्तीभिः पावकशृङ्गप्रायशिखामध्ये विलसन्तीभिः स-
 कज्जलज्वालावलीभिः श्यामलाः । तथा निःशेषे जगत्प्रतीनां
 निकाशेन प्रदीपनेन सुस्तवः स्तुतियोग्यो जवो येषां
 तथाविधा वाता वेगेन ववुरित्यर्थः ॥ ६५ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामयणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाकल्पा-
 न्तामिवर्णनं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

ऊर्ध्वं वारुणदिग्भागे पुष्करावर्तकोदयः ।

वर्णयतेऽत्रोपसंहारोऽप्यग्रेराग्नेयदिक्षुखे ॥ १ ॥

अवधुताचले कम्पितशैले ॥ १ ॥ विमुद्रेषु विगतच्छिहेषु
 घनिष्वधनेषु सत्सु । अम्बुदारिम्योपद्रवेण जलाभाबदुःखेन द्रुते
 पलायिते इति घनेन भूतलेन वा संबन्धः ॥ २ ॥ किमपि
 प्रसिद्धविलक्षणं पातालं विनाशमिति यावत् ॥ ३ ॥ दिशि
 युलोके व्योमगत आलोकः सौरोऽस्मिन्तद्वावापने ॥ ४ ॥

कुतोऽप्याकाशकुहरादृप्तदैत्यगणा इव ।
 पुष्करावर्तका मेघाश्चकुर्गुलुगुलारवम् ॥ ५
 ब्रह्मविस्फोटितस्वाण्डकुब्जविस्फोटनोद्भटम् ।
 अन्योन्यास्फालनोत्फालमसार्णवरवाविलम् ॥ ६
 लोकार्णवपुरोद्गीर्णघनकोलाहलोत्क्षणम् ।
 एतत्कुलाचलस्कन्धबद्धोप्रवर्धवर्धरम् ॥ ७
 ब्रह्माण्डशङ्खजठरपूरणावर्तमन्थरम् ।
 स्वर्लोकोदःपातालतलतोऽतिसगुल्मकम् ॥ ८
 समस्तदूरदिग्भिस्तिहेलाहेलनघर्षुलम् ।
 महाप्रलयसंपन्नापानकापानतर्षुलम् ॥ ९
 प्रसृतप्रलयाख्येन्द्रमत्तैरावतवृंहितम् ।
 आकल्पशुब्धमेघाब्धिनिर्हादमिव संभृतम् ॥ १०
 महाप्रलयसंशुब्धक्षीरोदमथनारवम् ।
 ब्रह्माण्डोप्रारघटेऽस्मिन्वार्यम्भ्रमिव सारवम् ॥ ११
 अथास्मिन्सति कल्पाग्नौ स्थितिमेति कथं घनः ।
 इति विस्मितवानस्मि दृशं दिग्भवकेऽत्यजम् ॥ १२
 यावन्न क्वचिदेवात्र पश्याम्याशासु केवलम् ।
 तरन्ति तरलास्फालमुत्सुकाशनिवृष्टयः ॥ १३
 तेन ज्वलनतापेन बहुयोजनकोटिषु ।
 पदार्था भस्मतां यान्ति दूरे दिक्षु दशस्वपि ॥ १४
 अनन्तरं क्षणाद्योस्त्रि दूरेऽहमनुभूतवान् ।
 ऊर्ध्वतः शीतलं वातमधस्तादनलोपमम् ॥ १५

शुद्धगुलेति आरवानुकरणं प्रथमं दूरादतारश्रवणाभिप्रायम् ॥५॥
 सामीप्यक्रमेण तस्यैव तारतां दर्शयति—ब्रह्मेति । ब्रह्मणा
 विस्फोटिते स्वाण्डे कुब्जस्य ब्रह्माण्डमित्तोर्वेस्फोटन इव उद्भटं
 तारतमम् । अन्योन्यास्फालनैरुत्फाला उच्छलन्तो ये मत्त
 अर्णवास्तदीयरवदाविलम् । शब्दसमकालप्रसृतस्य दिग्जल-
 मालिन्यस्योपमेयोपमानयोः शब्देऽप्यारोपादाविल्वोक्तिः ॥ ६ ॥
 लोकेष्वर्णवेषु पुरेषु च प्रतिध्वन्यात्मना उद्गीर्णघनेः कोला-
 हलैरतितारैरुत्क्षणं दुःसहम् । एतैः प्रारवर्णितैः कुलाचलस्कन्ध-
 संबद्धैर्दाहोप्रवर्धैर्मिश्रणाद्बर्धरम् ॥ ७ ॥ ब्रह्माण्डशङ्खजठरपूरणे
 सति तद्भिस्तिप्रतिरोधप्रयुक्तैः परावर्तनैर्मन्थरं निबिडतरमत एव
 स्वर्लोकात् रोदोभ्यां पातालतलतश्च अतिशयेन सगुल्मकं शास्त्रा-
 प्रकरसहितमिव ॥ ८ ॥ समस्तदूराणामपाराणां दिग्भिस्तीनां
 हेल्या हेल्नेन विलेखनेन घर्षुलं कषणशीलमिव । महाप्रलये
 सप्ताब्धीनां मिश्रणेन कथनात्संपन्नस्य पानकस्य आपाने
 आस्वादाने तर्षुलं पिपासितमिव ॥ ९ ॥ प्रसृतस्य
 मिजयार्थं निर्गतस्य प्रलयाख्यस्य इन्द्रस्य मत्तैरावतगर्जितमिव
 स्थितम् । आकल्पं प्रलयपर्यन्तं चिरनिरोधेन क्षुब्धानां
 मेघलक्षणानामब्धीनां संभृतं चिरसंचितं युगपत्सिःसृतं निर्हाद-
 मिव स्थितम् ॥ १० ॥ आरघटे घटीयन्त्रस्थाने प्रसिद्धं
 वार्यम् जलधारायन्त्रमिव ॥ ११ ॥ अथ वर्णितमेघाब्धिनिश्रवणा-

एतावति नभोमार्गे दूरे कल्पाम्बुदाः स्थिताः ।
 यस्तेषामग्नितापानां विषयो न च सदृशाम् ॥ १६
 अथ चारुणदिग्भागादाययौ कल्पमारुतः ।
 यस्मिंस्तृणवदुह्यन्ते विन्ध्यमेरुहिमालयाः ॥ १७
 तेन ज्वालाचलाः प्रान्तोद्गीनाङ्गारविहंगमाः ।
 लोलोत्सुकवनाक्रान्ता जग्मुरग्निदिशं द्रुतम् ॥ १८
 संध्याभ्रसदृशाकारास्तेरुङ्गारवारिदाः ।
 भ्रेमुर्भस्मभराभ्राणि पूताङ्गाररजांसि खे ॥ १९
 स ज्वालविलसद्वातो दुष्टोऽनलदृशं ब्रजन् ।
 हेमाद्गीणां सपक्षाणामनीकं द्रवतामिव ॥ २०
 धराद्रिमण्डलाभोगे सौम्याङ्गारभरात्मनि ।
 ज्वालावलिगणे जाते भाते तेजसि भास्वताम् ॥ २१
 अर्णवेष्वनलार्णस्सु कथनोत्फालवारिषु ।
 वनेष्वस्मृतपणेषु दीप्ताग्निरुधारिषु ॥ २२
 ब्रह्मलोकस्थनाथेषु ब्रह्मलोकपुरेषु च ।
 साङ्गनाथालवृद्धेषु दग्धेषु निपतत्सु खम् ॥ २३
 कल्पान्तानलपद्मिन्या ब्रह्माप्राचसरोवरे ।
 ज्वालापल्लवशालिन्याः सर्बीजायाः सटोत्सुकैः ॥२४
 अनिलात्मसु मूलेषु नागेषु च नगेषु च ।
 आपातालं निमग्रेषु महत्यङ्गारकर्दमे ॥ २५
 उष्ट्रसैन्यमिवालक्ष्य गतिमन्निकटं नभः ।
 आययावजनश्यामः कल्पाम्बुदगणः कणन् ॥ २६

नन्तरं विस्मितमाश्चर्यबुद्धिस्तद्दानहं संजातोऽस्मि तत अथोदिग्-
 तिरिके दिग्भवके दृशं दृष्टिं मेघान्वेषणाय अत्यजं विमुक्तवान् ।
 व्यापारितवानस्मीति यावत् ॥ १२ ॥ न पश्यामि । मेघानिति
 शेषः । किं तर्हि दृष्टवानसि तत्राह—केवलमिति । तरन्ति
 आकाशे ग्वन्ते ॥ १३ ॥ १४ ॥ अनुभूतवान् त्वग्निन्द्रियेण
 ॥ १५ ॥ एतावति दूरे यो यावान् दूरप्रदेशस्तेषामधःप्रवृत्ता-
 नामग्नितापानां सतां तत्र जीवतां प्राणिनां दृशां च विषयो न
 ॥ १६ ॥ १७ ॥ ज्वालालक्षणा अचलाः पर्वताः । पर्वतत्वो-
 पपादके द्वे विशेषणे ॥ १८ ॥ भस्मभरलक्षणान्यन्धारणाद-
 भ्राणि पूतानां वायुशोभितानामङ्गाराणां रजांसि ॥ १९ ॥ २० ॥
 सौम्या निर्ज्वाला येऽङ्गारास्तद्भरात्मके जाते सतीति शेषः ।
 भास्वतां द्वादशादित्यानां तेजसि रजोपगमाद्भाते स्फुटे सति
 ॥ २१ ॥ क्वचिदनला एवार्णांसि येषां तथाविधेषु क्वचित्कथनो-
 त्फालवारिषु । सर्वेषां सप्तम्यन्तानां कल्पाम्बुदगण आययाविल्य-
 ग्रेणान्वयः ॥२२॥२३॥ सटाः केसरसदृशाः स्फुलिङ्गास्तद्दृष्टितैरु-
 त्सुकैः सर्बीजायाः ज्वालापल्लवशालिन्याः ब्रह्मलक्षणे अप्राप्ते नि-
 रुपले सरोवरे प्रवृद्धायाः कल्पान्तानलरूपायाः पद्मिन्याः अनि-
 लात्मसु विष्टम्भकवायुप्रधानेषु नागेषु नगेषु च सर्पपर्वतरूपेषु
 मूलेषु आपातालमङ्गारकर्दमे निमग्रेषु सत्सु इति द्वयोरन्वयः
 ॥२४॥२५॥ चर्मभ्रामिदृष्टाणां पश्चिमदेशे जल्लाहकत्वप्रसिद्धे-

स्थिरकल्पानलज्वालानुस्यविद्युन्मयाचलः ।
 एककोणकविश्रान्तसप्तार्णवपयोभरः ॥ २७
 भित्तिभासुरनीहारभारनिर्वादिक्तटः ।
 ब्रह्माण्डकुड्यनिबिडमण्डलास्फोटपण्डितः ॥ २८
 कल्पान्तधुभिताम्भोधिर्वर्तुलावर्तवृत्तिमान् ।
 तडिज्जलचरः सारनिर्हादः खमिवागतः ॥ २९
 मृतो दग्धो निशानाथस्ततो द्विगुणशीतलः ।
 अन्यमाकारमाश्रित्य परं लोकमिवागतः ॥ ३०
 हेमसंभाररूपेण हिमालयमिवाखिलम् ।
 जाड्यस्तम्भितनिःशेषजलकाष्ठाचलं दधत् ॥ ३१
 अथ ब्रह्माण्डविस्फोटकठिनं घटिताम्बरम् ।
 प्राग्द्रुतोद्भटतौषारकाष्ठा वृष्टिः पपात ह ॥ ३२
 अग्निदाहवनाकाशविद्युदुन्मेषभीषणा ।
 चटद्भिर्गडगडास्फोटस्फुटद्ब्रह्माण्डमण्डला ॥ ३३
 प्रथितोत्थितसीत्कारशतक्ष्वेडाक्षयारवा ।

शीतसीकरनीहारभित्तिबन्धमयाम्बरा ॥ ३४
 रोदोमण्डपवैदूर्यस्तम्भसंभारभासुरैः ।
 धारासारैर्धराधुर्यशैलशातकशालिनी ॥ ३५
 धराचटचटास्फोटस्फुटदङ्गारपत्तना ।
 गर्जितोर्जितसंपातपतल्लोकान्तराकुला ॥ ३६
 सा बभूवाथ साङ्गारजगद्रेहविलासिनी ।
 कृतप्रत्युद्गमा बाष्पश्रियाऽज्वलनया भुवः ॥ ३७
 ज्वालालबोल्ललनडम्बरम्बरं त-
 द्भूदस्थलाद्दलजालमिवालमासीत् ।
 ज्वालाभ्रमङ्गमरपङ्क्तिनिभास्तदासं-
 स्तत्र स्फुरच्छिशिरसीकरपक्षपुञ्जाः ॥ ३८
 उद्यद्दृष्टचटारवपूरिताशो
 भीमोऽभवत्सलिलदानलसंनिपातः ।
 दुर्धारवैरिविषमो महतां बलानां
 संग्राम उग्र इव हेतिहतोग्रहेतिः ॥ ३९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रक० उत्तरार्धे पाषा० पुष्करावर्तडम्बरवर्णनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥७६॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः ७७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथावनिपयस्तेजःपवनानां युगक्षये ।
 जाते परमसंक्षोभे बभूवास्मिजगत्रयम् ॥ १

स्तत्सैन्यमिव ॥२६॥ तमेव वर्णयति—स्थिरेत्यादिना ॥२७॥
 भित्तिवत् भासुरैर्नीहारभारैर्निर्वाणानि निरवकाशानि दिक्तटानि
 यस्य । ब्रह्माण्डकुड्यपर्यन्तं निबिडस्य भूमण्डलस्यास्फोटे विद-
 लने पण्डितः । ब्रह्माण्डकुड्यपर्यन्तं स्वयं निबिडः सन् नभो-
 मण्डलास्फोटनप्राये ध्वनी पण्डित इति वा ॥ २८ ॥ कल्पान्त-
 धुभिताम्भोधिरैव खमायातोऽधिरूढ इवेत्युत्प्रेक्षा । वर्तुलव-
 र्तस्थानीयद्वादशादित्यपरिवेषवृत्तिमानित्यादिविशेषणान्युत्प्रेक्षोप-
 पादकानि ॥ २९ ॥ उत्प्रेक्षान्तरं दर्शयति—मृत इति । परम-
 त्यूर्ध्वदेशरूपं परलोकमाश्रित्यान्यमाकारमम्बुदगणलक्षणं शरी-
 रान्तरमागत इव ॥ ३० ॥ हेमसंभारसदृशविद्युद्रूपरूपेण
 जाड्येन स्तम्भितानि निःशेषाणि समस्तानि जलानि काष्ठमिवा-
 चलानि येन तथाविधं हिमालयं दधत् धारयन्निव ॥३१॥ अथ
 मेघागमनानन्तरं वृष्टिः पपात । कथम् । ब्रह्माण्डस्य विस्फो-
 टवत्कठिनवज्रनिर्घातेन घटितम्बरं यस्मिन्कर्मणि तथाविधा
 प्राक् प्रथमं द्रुता उद्भटनीहाराः काष्ठा दिशो यस्याम् ॥ ३२ ॥
 तां वृष्टिमेव वर्णयति—अग्निदाहेत्यादिना । अग्निदाहसदृशेन
 वनाकाशयोर्विद्युदुन्मेषेण भीषणा । चटद्भिर्गडगडास्फोटैः स्फुट-
 द्ब्रह्माण्डमण्डला ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ रोदसी द्यावाभूमी तल्लक्षणम-
 ण्डपस्य वैदूर्यस्तम्भानां संभार इव भासुरैः स्थूलतरैर्धाराणामा-
 सारैः संपातैर्धराधूर्वहाणां शैलानां शातका ये टंकप्रहार-

तापिच्छविपिनोद्भूतिनिभमसाभ्रभासुरम् ।
 महार्णवमहावर्तवृत्ति धूमविवर्तनम् ॥ २
 नीलज्वालालबोल्लासहेलाटिमिटिमारटि ।

स्तच्छालिनी ॥ ३५ ॥ स्फुटन्ति अङ्गारपत्तनान्यङ्गारसमूहा यया
 ॥ ३६ ॥ साङ्गारजगद्रेहविलासिनी सा वृष्टिः । अथ अज्वल-
 नया भुवो बाष्पश्रिया सखीव कृतप्रत्युद्गमा बभूव ॥ ३७ ॥
 तदा तत्तादृशमम्बरमाकाशं ज्वालालबानामुल्लनं विलासस्तदा-
 डम्बरं यस्मिन्स्तथाविधं सङ्घट्टानि प्ररूढानि स्थलाद्दलजालानि
 यस्मिन्स्तथाविधमिव आसीत् । तत्र तस्मिन्मन्बरे स्फुरन्तः
 शिशिराः शीकरपक्षपुञ्जा जलधरास्तु ज्वालालासु भ्रमन्ती या भ्रमर-
 पङ्क्तिस्तन्निभा आसन् ॥ ३८ ॥ किंच तदा सलिलदानां मेघा-
 नामनलानां च संनिपातः समागमः उद्यद्दृष्टचटारवैः
 पूरिता आशा दिशो येन तथाविधः सन् दुर्धारवैरिविषमः अत
 एवोग्रो महतां बलानां सेनानां हेतिभिर्हताः उग्रा हेतयो यत्र
 तथाविधः संग्राम इव भीमो भयानकः अभवत् ॥ ३९ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पुष्क-
 रावर्तडम्बरवर्णनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

पुष्करावर्तकोत्सृष्टवृष्टिधाराविसंघुलम् ।

सप्तसप्ततितमः सर्गः ७७

अवनिश्च पयश्च तेजश्च पवनश्चैतेषां चतुर्णां महाभूतानां
 परमसंक्षोभे जाते सति जगत्रयं यादृशं बभूव तद्वर्णयामि
 शृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥ तापिच्छविपिनं तमालवनम् ॥ २ ॥ सा-
 र्देषु दाहोषु धूमनीलज्वालालबोल्लासलक्षणाभिर्हेलाभिष्टिमिटिमे-

१ मूलस्थतापारपदस्यवाचमर्थः । अथवा घटदनुरोधेन मूढे

उद्भटनीहारेति पाठो वा कल्प्यः.

कृतभस्माभ्रसंभारपूर्णलोकान्तरान्तरम् ॥ ३ ॥
 उच्छलद्दीर्घरुत्कारैश्छमच्छममयात्मकैः ।
 तूर्यमुन्नमदासारविसारिजयघोषणम् ॥ ४ ॥
 भ्रमद्भस्माभ्रधूमाभ्रं बृहत्कल्पाभ्रसंभ्रमम् ।
 बाष्पाभ्रविभ्रमोद्भ्रान्तसीकरोप्राभ्रवृन्दवत् ॥ ५ ॥
 ब्रह्माण्डभित्तिभांकारभीषणैर्मातरिश्वनः ।
 प्रसरैरम्बरोद्गीनदग्धेन्द्रादिपुरोत्करम् ॥ ६ ॥
 जलानलानिलोल्लासस्फुटकोटिगताश्मनाम् ।
 प्रविघट्टनटंकारैर्जडीभूताक्षकश्रुति ॥ ७ ॥
 नभःस्तम्भनिभाबन्धधारानीरन्ध्रवर्षणैः ।
 कर्षणैः कल्पवह्नीनां छमच्छमघनध्वनि ॥ ८ ॥
 गङ्गा तरङ्गिका येषां तादृशैः सरितां गणैः ।
 अभ्रैरिव नभोभीमैः पूर्यमाणाखिलार्णवम् ॥ ९ ॥
 तापिच्छपत्रवृन्दस्थपुष्पगुच्छसमोपमैः ।
 तपद्भिरकैरालीढपीठकल्पाभ्रमण्डलम् ॥ १० ॥
 बहद्भिरिसरिङ्गहृशिखरिङ्गीपपत्तनम् ।
 कल्पानिलघनक्षोभकृतपर्वतकुट्टनम् ॥ ११ ॥
 ब्रह्मतारागणैरुर्व्यभ्रैर्विग्रहदुर्ग्रहैः ।
 पतद्भिर्द्विगुणालातलतामावर्तपातिभिः ॥ १२ ॥
 आवहोत्थजलाद्गीन्द्रसंघट्टास्फोटघट्टितम् ।
 महाप्रलयपर्यस्तपर्वतप्रान्तकुट्टिमम् ॥ १३ ॥
 घनसीकृतबाष्पाभ्रैः कल्पाभ्रैरपि मेदुरैः ।
 अन्धीकृतार्कजालांशुतमोनिबिडमन्थरम् ॥ १४ ॥
 विशीर्णवसुधार्पाठखण्डखण्डैर्गलत्तटैः ।
 उद्यमानैर्लुठच्छैलपतनैः संकटार्णवम् ॥ १५ ॥

ऊर्म्युद्यदुपलच्छिन्नघनैर्घसरमारुतैः ।
 समुद्रघोषैर्निर्घातगम्भीरैर्भ्रमदिवत्तटम् ॥ १६ ॥
 ब्रह्माण्डकुड्यक्रोडाप्रकुट्टकैः कट्टांकृतैः ।
 कल्पाभ्रविटपास्फोटैर्बट्टितैर्कार्णधारटि ॥ १७ ॥
 स्वर्गपातालभूलोकखण्डखण्डैर्विमिश्रितैः ।
 यथास्वभावं तिष्ठद्भिर्मरुबुधैर्वृताम्बरम् ॥ १८ ॥
 मृतार्धमृतदग्धार्धदग्धाङ्गैर्देवदानवैः ।
 अन्योन्यदर्शनाद्वातवेल्लितैर्भ्रामितायुधम् ॥ १९ ॥
 कल्पान्तपवनोद्भ्रान्तैर्लोकान्तरजरसृणैः ।
 आरब्धार्जुनवाताश्यास्तम्भमुद्भूतभस्मभिः ॥ २० ॥
 उद्यमानशिलाजालप्रहारविलुठत्तटैः ।
 पतल्लोकान्तरैः स्फारदुष्कालकट्टांकृतम् ॥ २१ ॥
 वातोद्भूहगिरिघातगुहाभांकारभासुरम् ।
 पतद्भिर्विहितावर्तलोकपालपुरीपुरैः ॥ २२ ॥
 कृतकर्कशनिर्हार्दैरसुरैरिव मारुतैः ।
 उद्यमानवनव्यूहप्रोतवातायनैर्वृतम् ॥ २३ ॥
 पुरमण्डलवैत्याग्निसुरनागविषस्वताम् ।
 निकुरम्बं दधद्योद्भि मशकानामिवोद्भयम् ॥ २४ ॥
 नश्यन्नगवराभोगैर्भागैर्भ्रमसुरालयैः ।
 आवर्तघर्घरारावैर्जलमूर्ध्वमधोनलम् ॥ २५ ॥
 कुर्वजलाद्रिनिष्पेषैर्विकपालपुरकुट्टनम् ।
 निपतद्देवदैत्येन्द्रसिद्धगन्धर्वपत्तनम् ॥ २६ ॥
 कुट्टनं पर्वतादीनां प्रशान्ताङ्गाररूपिणाम् ।
 वातैः कुर्वत्पदार्थानामसारं रजसामिव ॥ २७ ॥

त्यारदनशीलम् ॥ ३ ॥ वीर्घां रत्न ध्वनिस्तत्कारैः सांश्रन्धनैः ।
 आसारानां विसारिजयघोषणं तूर्यमुन्नमदुच्छदित्युत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥
 पञ्चविधाभ्रवृन्दवदित्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ प्रविघट्टनैर्जडीभूतत्वगा-
 यक्षकम् । टंकारैर्जडीभूतश्रुति वधिरीकृतश्रोत्रम् ॥ ७ ॥ कल्प-
 वह्नीनां कर्षणैर्विलेखनैर्विदारणैरिति यावत् ॥ ८ ॥ तरङ्गिका
 एकैकतरङ्गप्राया ॥ ९ ॥ तमालपत्राभस्थानां पुष्पगुच्छानां या
 उपमा सैवाकार्णामिति तत्समोपमैः । आलीढपीठं आस्वादित-
 धारप्रायं कल्पाभ्रमण्डलं यत्र । अबिन्धनानामर्काणां तदास्वा-
 दकत्वादिति ॥ १० ॥ ११ ॥ विग्रहेण परस्परप्रहारेण दुर्ग्रहै-
 र्दुर्निरोधैः अत एव आवर्तपातिभिरन्ते पतद्भिश्च द्विगुणां भूमिष्ठा-
 लतेभ्यो द्विगुणामलातलतां नभस्यपि कुर्वदिति शेषः ॥ १२ ॥
 आसमन्ताद्ब्रह्मतीत्यावहः प्रचण्डपवनस्तदुत्थानां जलाद्गीन्द्रप्रायाणां
 बृहत्तरङ्गाणां संघट्टैः स्फुटन्तीति स्फोटाः पर्वता यत्र ॥ १३ ॥
 घनानि सीकृतानि सीकरा येषु तथाविधैर्बाष्पाभ्रैः ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ ऊर्मिभ्य उद्यद्भिर्भूमिर्भ्रुवैर्भ्रमदिवत्तटम् ॥ १६ ॥
 ब्रह्माण्डकुड्यलक्षणस्य क्रोडाप्रस्य उरोदेशस्य कुट्टकैरास्फालकैः
 अत एव कट्टांकृतैः कल्पाभ्रकल्पविटपलक्षणकरणाद्वास्फोटैः

परस्परघट्टितैर्कार्णवं आरटि सोरस्ताडं रुददिति यावत् ॥ १७ ॥
 किंचोद्भिनैः स्वर्गादिलोकत्रयखण्डखण्डैर्गुप्ततारतम्यक्रमेण यथा-
 स्वभावमन्तरिक्षे तिष्ठद्भिः अधोभागे वृष्टिजलसंस्पर्शात्संभावि-
 तजलभागस्य वायुना शोषणाच्च मरुवृत्तिर्जलं बुध्रं मूलमधो-
 भागो येषां तैः ॥ १८ ॥ समानविपत्कृत्वेऽपि परस्परवैरिदृष्ट्यै-
 वान्योन्यं दर्शनात्परस्परबधाय भ्रामितायुधम् । तथा च विनाशानं
 विपत्सहस्रैरपि न वैरदृष्टिरज्ञानां शाम्यतीति सैव विपत्स्योऽपि महा-
 विपदिति ध्वनितम् ॥ १९ ॥ अर्जुनवात इति वातरोगविशेषस्य
 नाम । तेन हि रोगेण रोगिणो नभस्युद्भोय भ्राम्यन्ते, न तु तस्य
 रोगस्यार्जुनवर्णतास्तीति तेषाम निरालम्बनं मा भूदिति लोकान्तर-
 जरसृणैः खोद्भूतभस्मभिर्वातं धवलीकृत्य आरब्धः अर्जुनवाता-
 रुधायाः स्तम्भः प्रतिष्ठा सालम्बनता यस्मिन्नित्युत्प्रेक्षा ॥ २० ॥
 स्फारं दुष्कालप्रयुक्तं कट्टांकृतं यस्मिन् ॥ २१ ॥ वातस्योद्भूतेन
 संघट्टनेन गिरिघातगुहानां भांकारैर्भासुरम् ॥ २२ ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ आवर्तैः परावर्तनं उत्पाद्य श्लोणवद्वैपरीत्येन धारणं
 तेन घर्घरारावैरुर्व्वं वृष्टिजलमधो निराबाधं दवानलं दधदिति
 शेषः ॥ २५ ॥ २६ ॥ पर्वतादीनां पदार्थानां रजसामिव

पुराण्यमरदैत्यानां भ्रमङ्गिणीनि शातयत् ।
 रत्नैः खणखणायन्ति पर्यासीव पयस्वताम् ॥ २८
 पूर्णाम्बरं पतल्लोकलोकसप्तकमन्दिरैः ।
 चक्रावृत्त्या भ्रमद्रूपैरमरैः सागरैरिव ॥ २९
 डीनोडूनैः परिभृतं विचलद्वातबेह्लितैः ।
 दरघादग्धैः पदार्थैः स्त्रे शीर्णपर्णगणैरिव ॥ ३०
 हेमस्फटिकवैदूर्यसुसारमणिमन्दिरैः ।
 दिवः पतङ्गिराकीर्णमुद्यज्ज्ञणज्ञणस्वनैः ॥ ३१
 उत्पेतुर्धूमभस्माब्दाः पेतुर्वारा पुरोत्कराः ।
 उन्ममज्जुस्तरङ्गौघा ममज्जुभूतलाद्रयः ॥ ३२
 आवर्तघर्घरारावा मिथो विदलनोद्यताः ।
 जुघूर्णुर्णवाकीर्णपर्णवत्प्रौढपर्वताः ॥ ३३
 क्रन्दच्छिष्टामरणं चलत्सजीवभूतकम् ।
 भ्रमत्केतुशतोत्पातं दुष्प्रेक्ष्यमभवज्जगत् ॥ ३४
 मृतार्धमृतया भूतसंतत्यानिललोलया ।
 अभूशीरन्ध्रमाकाशं जीर्णपर्णसवर्णया ॥ ३५
 जगदासीत्पतच्छृङ्गस्थूलधारौघनिर्भरम् ।
 वहद्दहद्गिरिपुरवातपूर्णसरिच्छतम् ॥ ३६
 शाभ्यच्छमशमाशब्दशतशाखहुताशनम् ।
 चलाब्धिवलनान्दोललोलशैललसत्तटम् ॥ ३७
 तृणराशिसरिष्ठयायमिश्रद्वीपार्णवोत्कटम् ।
 अत्यन्तदूरचिद्योमक्षणज्वालासहावनम् ॥ ३८
 वर्षशाभ्यद्दुताशोत्थभस्मामोदपतत्सुरम् ।

भूतपूर्वजगद्भूतं परिविस्मृतसर्गकम् ॥ ३९
 निर्गलोल्लसद्भ्रमं सर्गलोपशमकमम् ।
 सर्गलोपोल्लसच्छेषं सर्गलोपविचर्जितम् ॥ ४०
 अनारतविपर्यासकारिमारुतनिर्वृतम् ।
 बीजराशिरिवाजम् पूर्यमाणं पुनःपुनः ॥ ४१
 उल्मुकान्योन्यनिष्पेषवह्निचूर्णसुवर्णजैः ।
 रजोभिर्विभृतैर्हेमकुट्टिमाकाशकोटरम् ॥ ४२
 भूमण्डलबृहत्खण्डैर्भ्रष्टैः सद्दीपसागरैः ।
 पूर्णसप्तमपातालं लुठन्पातालमण्डलैः ॥ ४३
 आसप्तमसुतालान्तमामहीतलपर्वतम् ।
 आव्योमैकार्णवीभूतं पूर्णं प्रलयवायुभिः ॥ ४४
 एकार्णवोऽथ ववृषे शनैः शीघ्रं सरिच्छतैः ।
 भुवने जलकल्लोलैः कोपो मूर्खाशये यथा ॥ ४५
 मुसलोपमया पूर्वं ततः स्तम्भनिभाङ्गया ।
 ततस्तालद्रुमाकारधारयासारसारया ॥ ४६
 ततो नदीप्रवाहोप्रजलपातैकपातया ।
 सप्तद्वीपमहीपीठसममेदुरमेघया ॥ ४७
 वह्निर्विदाहकृष्ट्या शममभ्याययौ तथा ।
 शास्त्रसज्जनसंगत्या गाढमापत्पदं यथा ॥ ४८
 ऊर्ध्वाधरस्थपरिवृत्तपदार्थजात-
 मन्तःकणैः खणखणायितशैलमज्जम् ।
 ब्रह्माण्डकोटरमभूद्विधुरं कुबाल-
 लीलाविलोलमिव बिल्वफलं विशुद्धम् ॥४९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराामायणे वा० दे० मो० नि० उ० पापा० पुष्करावर्तवृष्टिविस्मृतलजगद्घर्णनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥७७॥

कुहनं कुर्वत् ॥ २७ ॥ पयस्वतां मेघानां पर्यासीव रत्नैः खणख-
 णायन्ति अमरदैत्यानां पुराणि शातयत् ॥ २८ ॥ पतन्तो
 लोका जना येभ्यस्तथाविधैर्लोकसप्तकमन्दिरैः पूर्णाम्बरम्
 ॥ २९ ॥ ३० ॥ आकीर्णमित्यन्तानां सर्वेषां पदानां सर्गाद्य-
 श्लोकस्थे 'बभूवास्मिज्जगन्नयम्' इत्यत्रान्वयः ॥ ३१ ॥ वारा
 वृष्टिजलेन ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ चलन्तः सजीवा ईषज्जीवनयुक्ता
 भूतकाः प्राणिनो यत्र । अनुकम्पार्या कन् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥
 पतन्तः गिरिशृङ्गाणीव स्थूलानां धारौघाणां निर्भरा यस्मिन्
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ तत्त्वज्ञानेद्विद्योमक्षणदाहस्यास्य जगतः
 प्रलये चिरेण नाशो नाश्चर्यपदमित्याशयेनाह—अत्यन्तेति ।
 तत्त्वज्ञानदीर्घभ्यद्योतनायास्वन्तदूरेत्युक्तिः । चिद्योमि क्षण-
 ज्वाला न सहते तथाविधमवनं स्थितिर्यस्य ॥ ३८ ॥ पूर्वं भूतं
 भूतपूर्वं जगद्भूतं चराचरं यत्र । सांप्रतं तु परिविस्मृतसर्गकम्
 ॥ ३९ ॥ सर्गस्य लोपेन शमकमो यत्र । परमार्थतः सर्गलोपे
 उल्लसति शेषः परमात्मा यत्र । सर्गलोपाभ्यां बभूवतो विचर्जितम्

॥ ४० ॥ सदैव वा सर्गतलोपविशिष्टमित्याशयेनाह—
 अनारतेति ॥४१॥ हेमकुट्टिमिव आकाशकोटरं यत्र ॥४२॥
 लुठन्त्यन्यपातालमण्डलानि येषु तथाविधैर्भूमण्डलबृहत्खण्डैः
 ॥ ४३ ॥ अभिव्याप्तावाहः । सप्तमं सुतलमेव सुतालं पाता-
 लम् । छान्दसो दीर्घः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ आसारः संपातस्तत्सा-
 रया ॥ ४६ ॥ ततस्तालपरिमाणधारापातानन्तरं नदीप्रवाहस्य
 ताम्रपर्ण्यादौ प्रसिद्धो मलयाद्यप्राय उग्रो जलपातस्त्रदेकपातया ।
 एकशब्दः सदृशपरः । सप्तद्वीपविशिष्टसप्तममहीपीठसमा मेदुरा
 मेघा यस्या उत्सृष्टारस्तया ॥ ४७ ॥ गाढं दुःखकोटिनि-
 बिडमापत्पदं सर्वविपत्स्थानमज्ञानं यथा ॥ ४८ ॥ कुत्सिता-
 निर्बालस्य विस्फोटनलीलाभिर्विलोकं बिल्वफलमिव विधुरं
 विनष्टमभूदित्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पुष्करावर्तवृष्टिविस्मृत-
 लजगद्घर्णनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः ७८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 वातवर्षहिमोत्पातपातभङ्गे धरातले ।
 जडवेगोऽगमदृष्टिं कलाविव महीपतिः ॥ १
 गङ्गाप्रवाहपतितधारापातविवर्धितः ।
 सरित्सहस्रैः सहस्रा मेरुमन्दरभासुरैः ॥ २
 आदित्यपथसंप्राप्तकन्दरो जडमन्थरः ।
 एकार्णवः समुच्छून आसीन्मूर्ख इवेश्वरः ॥ ३
 विपुलावर्तवृत्त्यात्तविवृत्ताद्रिजरत्नः ।
 स्फुरत्सुकृतरङ्गाप्रनिगीर्णादित्यमण्डलः ॥ ४
 मेरुमन्दरकैलासविन्ध्यसह्यजलेचरः ।
 गलितावनिपङ्कान्तलीनव्यालमृणालकः ॥ ५
 अर्धदग्धद्रुमवनव्यूहशैवलसंकटः ।
 त्रैलोक्यभस्मसंस्मृष्ट आसीत्कर्दमकुत्सितः ॥ ६
 नभःस्तम्भबृहद्धानोत्तालभास्करपुष्करः ।
 धाराजालमहाभोदविलीननलिनीदलः ॥ ७
 डिण्डीरपर्वतप्रान्तनददुन्मत्तवारिदः ।
 भ्रमदिन्द्रानिलाकन्दुपुरपत्तनपुरणैः ॥ ८
 काष्ठवत्प्रोह्यमाणोप्रसुरासुरजनोत्करः ।
 शनैः क्रमोच्छूनतया लिङ्गआदित्यमण्डलम् ॥ ९
 तरत्तारतरारावधाराधरसमुद्भवैः ।
 बुद्बुदैः परिसंदिग्धप्रोह्यमाणमहाचलः ॥ १०
 भ्रमद्बुद्बुदविभ्रान्तभ्रान्तकल्पान्तवारिदः ।

उत्तालैस्तैरनाधारैः पश्यन्नपरवारिदम् ॥ ११
 महाप्रवाहवार्यौघघोषधुंघुमिताम्बरः ।
 एकप्रवाहमहितसव्योमकुलपर्वतः ॥ १२
 चण्डवातकृतापूर्वजलौघकुलपर्वतैः ।
 महाधुरधुरारावधर्घरोग्रमहारयः ॥ १३
 ब्रह्माण्डखण्डसंघट्टपरावृत्तिभिरुद्धतः ।
 कुर्वन् योजनलक्षाणि विततान्युन्नतानि च ॥ १४
 तृणैरिव तरङ्गेषु दोलान्दोलनमद्रिभिः ।
 कुर्वन्निरुपलाघातभङ्गभास्करमण्डलः ॥ १५
 शून्यब्रह्माण्डविपुलजलघातकुलायके ।
 नीलानचलकाकोलाजहन्सलिलजालकैः ॥ १६
 मृतामृतमहद्भूतमज्जनोन्मज्जनाकुलान् ।
 तरंगमकरावर्तप्रतिबिम्बान्वितानिव ॥ १७
 मृतशिष्टान्पुरभ्रष्टान्फेनाद्रितटिकोटिषु ।
 दधज्जलबलध्रान्तास्त्रिदशान्मशकानिव ॥ १८
 विपुलाद्यतनाकाशविपुलान्बुबुद्बुदान् ।
 सहस्रसंख्यान्कलयंल्लोचनानीव वासवः ॥ १९
 शरद्व्योमसमाभोगैर्बलद्भिर्बुद्बुदक्षणेः ।
 पश्यन्निव नदीधारान्मेघानाताम्रपूरकान् ॥ २०
 पुष्करावर्तकाभ्राणां बहुभिर्वाचिमण्डलैः ।
 कुर्वन्नालिङ्गनानीव सपक्षाद्रिवदुत्थितैः ॥ २१
 त्रिजगद्भाससंतुप्तः प्रगायन्निव धर्घरैः ।

नदीप्रमाणैरामारैरभितः पूरयन्नभः ।

एकार्णवः प्रवृद्धोऽत्र विस्तरेणोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

जडवेगो जलवेगः ॥ १ ॥ व्योमगङ्गाप्रवाहेषु पतिता या
 मेघधारास्तत्पातेन विवर्धितः । 'विवर्जितैः' इति पाठे विवर्जि-
 तैर्विसर्जितैः सरित्सहस्रैः समुच्छूनः । सहस्रोत्थितैर्मेरुमन्मन्दर-
 वच्च भासुरैस्तरङ्गैः आदित्यपथसंप्राप्ताः प्रवाह्यमाणगिरिकन्दरा
 यस्य तथाविध एकार्णव आसीदिति द्वयोरन्वयः ॥ २ ॥ ३ ॥
 तमेवैकार्णवमासर्गसमाप्तेर्विशिनष्टि—विपुलैत्यादिना । विपुला-
 नामावर्तानां वृत्त्या आत्तानि अत एव विवृत्तानि भ्राम्यमाणानि
 अद्रिजरत्नानि यस्मिन् ॥ ४ ॥ सह्यान्ताः जलेचरा इव यस्य ।
 तमेवार्णवं पद्माकरत्वेन संभावयति—गलिताेत्यादिना । गलिता
 या अवनिस्तत्पङ्कान्तविलीनाः शेषादिव्यालमृणालका यस्य
 ॥ ५ ॥ ६ ॥ नभोलक्षणेपु स्तम्भेषु नालेषु बृहतीषु कर्णिकासु
 धानाभिर्बोजभूतैः किरणैरुत्ताला भास्करा द्वादशादित्या एव
 पुष्कराणि पद्मानि यस्मिन् । धाराजाला महाम्भोदा एव जलो-
 परि संलम्पत्वाद्विलीनप्रायाणि नलिनीदलानि यस्मिन् ॥ ७ ॥
 ॥ ८ ॥ ९ ॥ किमेते बुद्बुदा उत महाचला इति परितः
 संदिग्धाः प्रोह्यमाणा महाचला यस्मिन् ॥ १० ॥ उत्तालैः

रलयोरभेदादुद्भूतास्ताराः कनीनिका येषां तथाविधैस्तैः समेष-
 बुद्बुदैरनाधारैः स्वाधारमुखमात्ररहितैर्नेत्रैः अपरं सन्निहितं
 वारिदं पश्यन्मित्युत्प्रेक्षा ॥ ११ ॥ घोषैर्धुंघुमितं मुखरीकृतमम्बरं
 येन । एकस्मिन्प्रवाहे महिता मग्नाः सव्योमकुलपर्वता यस्य
 ॥ १२ ॥ १३ ॥ तिर्यग्विततानि ऊर्ध्वमुन्नतानि च योजनल-
 क्षाणि स्वस्मिन् कुर्वन् ॥ १४ ॥ तृणवहोलान्दोलनं कुर्वन्निद्रिभि-
 रुपलाघातैर्भमानि भास्करमण्डलानि येन ॥ १५ ॥ किञ्च शून्य-
 ब्रह्माण्डलक्षणे विपुले जलसंघातस्य कुलायके नीचे स्थिताशी-
 लान् अचलाः पर्वतास्तल्लक्षणान् काकोलान्द्रोणकाकान् । बृह-
 न्मद्रूनिति यावत् । सलिललक्षणैर्जालकैरानायैर्जहन् बद्धा हर-
 निव । हरतैः शतुर्लान्दसो लिङ्गद्भावः ॥ १६ ॥ अचलकाको-
 लानेव द्वाभ्यां विशेषणाभ्यां विशिनष्टि—मृतेति । इवेति पूर्व-
 श्लोकान्वयि ॥ १७ ॥ फेनलक्षणानामद्रीणां तटिषु कोटिषु
 शिखरेषु च । दधत् वहन् ॥ १८ ॥ विपुलो योद्यतनः प्रसिद्धः
 आकाशः अधोमुखीकृतरजतकटाहवद्दृश्यमानस्तद्रिपुलानिति
 बुद्बुदान्तर्निविष्टप्राणिदृष्ट्योक्तिः । लोचनानीव वासव इति
 बहिष्ठदृष्ट्या उपमा ॥ १९ ॥ नद्य इव धारा येषां तान् ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ अद्रय एव कटकानि बलया येषाम् । अद्रिकटक-

१ स्तम्भ इत्यपि पाठः. २ अस्मद् इत्यन्तत्वं विचारणीयम्.

स्वैर्नृत्यभिष्व चोप्राद्रिकटकैर्वाचिदोर्दुमैः ॥ २२
 नदीधाराधरैरुर्ध्वं मध्ये दग्धैर्धराधरैः ।
 अधो धराधरैर्नागैरधरः पङ्क्तैर्दुतः ॥ २३
 धारात्रिपथगापूरैर्निपतङ्गिर्निरन्तरम् ।
 मग्नोन्मग्नो ह्यमानाद्रिशृङ्गिणीरबुधुवः ॥ २४
 उद्यमानदलत्सर्गखण्डक्रन्दक्षमञ्जरः ।
 बहुद्विधाधरीचृन्दपद्मिनीसुन्दरान्तरः ॥ २५
 एकार्णवपयःपूरैर्धर्धराधरैरहसि ।

त्रैलोक्यखण्डसंहारे प्रोक्ष्यमाणे महाम्मसि ॥ २१
 नासीत्कश्चित्परित्राता हन्ताऽवीचिवशोऽपि च ।
 शक्नोति कः परित्रातुं कालेन कवलीकृतम् ॥ २७
 नाकाशमासीन्न दिगन्त आसी-
 दधोऽपि नासीन्न तदूर्ध्वमासीत् ।
 भूतं न आसीन्न च सर्ग आसी-
 दासीत्यरं कैवलमेव वारि ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्तोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० पा० एकार्णववर्णनं नामाष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमः सर्गः ७९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एतस्मिन्नन्तरे चक्षुर्व्योमस्थोऽहमथात्यजम् ।
 ब्रह्मलोके महालोके प्रभातेऽर्कप्रभामिव ॥ १
 यावद्दृष्टो मया तत्र शैलादिव विनिर्मितः ।
 परमेष्ठी समाधिस्थः प्रधानपरिवारवान् ॥ २
 समूहश्चैव देवानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
 शुक्रो बृहस्पतिश्चैव शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ ३
 सोमोऽथ वरुणोऽग्निश्च तथान्येऽपि सुरर्षयः ।
 देवगन्धर्वसिद्धानां साध्यानां च विनायकाः ॥ ४
 लिपिकर्मापिताकाराः सर्वे ध्यानपरायणाः ।
 बद्धपद्मासनास्तत्र निर्जीवा इव संस्थिताः ॥ ५
 अथ ते द्वादशादित्यास्तमेवोद्देशमागताः ।

बद्धपद्मासनास्तस्थुस्तथैवाशु यथैव ते ॥ ६
 ततो मुहूर्तमात्रेण दृष्टवानहमज्ञजम् ।
 पुरो विनिर्द्रतां यातः स्वप्नदृष्टमिवाग्रगम् ॥ ७
 ब्रह्मलोकजनं सर्वं महतामिव वासनाम् ।
 नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रगम् ॥ ८
 अरण्यशून्यमेवासीत्तद्ब्रह्ममननं तदा ।
 कठिनाकाण्डविष्वस्तं पृथिव्यामिव पत्तनम् ॥ ९
 सर्वं एव न च कापि ते तथा तादृशास्तदा ।
 ऋषयो मुनयो देवा वेदा विद्याधरादयः ॥ १०
 ज्ञातं ततोऽवधानेन मया नभसि सिद्धता ।
 यावन्निर्वाणमापन्ना ब्रह्मवत्सर्वं एव ते ॥ ११
 वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः ।

कटकैरिति वार्थः । श्वमुखः सरमुख इतिवदुत्तिविषयेऽत्रिपदस्य तत्कटकपरत्वात् ॥ २२ ॥ न विद्यते धरा यस्य ॥ २३ ॥ ॥२४॥ इति विचारणशीले सर्गखण्डे क्रन्दन्तो नभश्चरा देव-
 तालक्षणा हंसादयो यस्य अत एव पद्मिनीसुन्दरान्तरः ॥२५॥
 ॥ २६ ॥ वीचीनां वक्षो न भवतीत्यवीचिवशोऽपि कश्चित्ता-
 सीत् । हन्तेति खेदे ॥ २७ ॥ स्पष्टम् ॥ २८ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे एकार्णव-
 वर्णनं नामाष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

सर्विदेवगणस्यात्र धातुनिर्वाणमीर्यते ।
 स्वप्नस्थेषु प्रबोधेन बाधस्तत्र समर्थ्यते ॥ १ ॥

अथ एतस्मिन्नन्तरे तपोलोकपर्यन्तमेकार्णववारिपूरणोत्तरकालं सखल्लोकसंनिहितव्योमस्थोऽहं महालोके प्रकाशबहुले ब्रह्मलोके चक्षुः अत्यजम् । दर्शनाय प्रेरितवानिति यावत् ॥ १ ॥ प्रधानः परिवारः प्राणाद्युपासनाभिः सलोक्यादिसुक्तिं प्राप्तो ब्रह्मणा सह विदेहकैवल्यं विविधुर्जीवन्मुक्तपरिवारसद्धान् । तथा चो-
 क्तम् 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रसिद्धवरे । परस्परान्ते कृता-
 क्मावः प्रविशन्ति परं पदम्' इति ॥ २ ॥ देवानां शक्रादीना-
 माधिकारिकदेवानां तादृशशुक्रादिमुनीनां च समूहस्तत्र मया दृष्ट इत्यन्वयः । तानेव काश्चिद्वचमुवाह—शुक्र इत्यादिना यो० वा० १५६

॥ ३ ॥ विनायका नियन्तारः । स्वामिन इति यावत् ॥ ४ ॥ सर्वे निर्जीवा इव संस्थिता मया दृष्टा इति विपरिणामेनानुबन्धः ॥ ५ ॥ तदन्तरं नदुत्तं तदाह—अथेत्यादिना ॥ ६ ॥ तस्य धातुर्द्वितीयपरार्धान्यमुहूर्तो मीर्यते येन चरमक्षणेन स मुहूर्त-
 मात्रस्तेन तथीयचरमसाक्षात्कारबोधेद्ब्रह्मचैतन्येन तद्विद्याक-
 त्पिततदेहसहिततथीयसर्वप्रपञ्चबाधादिनिर्द्रतां प्रबोधं प्राप्तः पुरुषः स्वप्नदृष्टं स्वप्नं स्वप्नपदार्थजातमिव बाधितमात्ममात्र-
 परिशेषमपश्यं तदेवास्य विदेहकैवल्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥ प्रागुक्त-
 त्परिवारजनेष्वप्येवमेव कैवल्यं कृतमित्याह—ब्रह्मलोकजन-
 मिति । महतां तत्त्वज्ञानां ज्ञानबाधितां पूर्ववासनामिवैत्यपरो
 दृष्टान्तः । शिष्टं प्राग्वत् ॥ ८ ॥ तदा तथीयचरमसाक्षात्कार-
 क्षणे सद्ब्रह्मनगरं ब्रह्माण्डं वा अरण्यमिव शून्यं गृहजनादिर-
 हितमेवासीत् । कठिनेनाकाण्डेनाकस्मिकेन नाशहेतुना विष्व-
 ल्यम् ॥ ९ ॥ ते मुनिदेवादयोऽपि सर्वे तथा तादृशाः शून्य-
 मेवासिद्धिं विपरिणामेनाप्ययः । यतस्ते न कापि गता इति
 शेषः ॥ १० ॥ नामरूपात्मना शून्यमावेऽपि स्वरूपेण तु
 निर्वाणस्मृतया स्थिता एवेत्यात्मानुभवेन दर्शयति—ज्ञात-
 मिति । अवधानेन प्रणिधानेन ॥ ११ ॥ सैव तेषां वासना-

१ ब्रह्मसंकल्पसिद्धम्, २ सिद्धा इति पाठः.

स्वप्रलोकाः प्रबुद्धानामिव स्वं रूपमागताः ॥ १२
 आकाशात्मैव देहोऽयं भाति वासनया स्फुटः ।
 तदभावात् नो भाति स्वप्नो बोधवतो यथा ॥ १३
 अन्तरिक्षगतो देहो यथा स्वप्ने विलोक्यते ।
 बोधे तद्वासनाशान्तौ न किञ्चिदपि लक्ष्यते ॥ १४
 जाग्रत्यपि तथैवायं वासनायाः परिक्षये ।
 नैवातिवाहिको नैव लक्ष्यतेऽत्राधिभौतिकः ॥ १५
 स्वप्नानुभव एषोऽत्र दृष्टान्तत्वेन लक्ष्यते ।
 आबालमेतत्संसिद्धमनुभूतं श्रुतं स्मृतम् ॥ १६
 अपहृते च वा योऽपि स्वमेवानुभवं शठः ।
 स त्याज्यः को ह्यलीकेन सुसमुद्रोधयेत्किल ॥ १७
 देहकारणकः स्वप्नो देहाभावात् दृश्यते ।
 इति चेत्तददेहानां परलोकोऽपि नास्ति च ॥ १८

कल्पितरूपापगमेन वास्तवस्वरूपावाप्तिरित्याशयेनाह—वासना-
 यामिति ॥ १२ ॥ तदेवोपपादयति—आकाशात्मैवेत्यादिना ।
 श्वतः प्रबोधशालिनः ॥ १३ ॥ अन्तरिक्षगतः आकाशग-
 ध्यात् ॥ १४ ॥ स्वप्नजागरे स्वाप्नाधिभौतिकमात्रबाधः, तत्त्व-
 डिण्डी भौतिकादिदेहत्रयस्यापि बाध इति विशेष इत्याशये-
 भ्रमदिप्रत्यपीति । वासनाक्षयहेतुतत्त्वप्रबोधस्य प्रमाणजस्य
 काष्ठवत्प्रवाजाप्रत्यपीत्युक्तिः ॥ १५ ॥ तथा च स्वप्नबाधा-
 शनैः श्रमोत्सहशोऽप्याबालप्रसिद्धत्वादुष्टान्तत्वेनोदाहिय-
 तरत्तरत्तरेति । 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' इति
 बुद्धेः परि च स्मृतम् ॥ १६ ॥ एवं स्वपरानुभवसिद्ध-
 भ्रमहुद्बुद्धौ योऽपहृते स्वप्नादिसर्वदृश्यसत्यतावापी स न
 त्याह—अपहृते इति । अलीकेन शिषेण सुप्तं
 नदीयन्तम् ॥ १७ ॥ ननु तथापि न स्वप्रदृष्टान्तो
 एवादिदेहकारणको ह्ययं देहः स्वप्रदेहस्तु न तथेति
 स्वन्तासत्त्वेन वैषम्यादिति चेत्तर्हि यज्ञादिना जाय-
 देहस्यापि देहकारणकत्वाभावेनात्यन्तासत्त्वप्रसङ्गाभा-
 वेनैव प्रतिवादिनां प्रसज्येतेत्याह—देहेति ॥ १८ ॥ किञ्च
 कारणकस्य देहस्यात्यन्तासत्त्वे आतिवाहिकदेहसमस्यात्मनो
 हिरण्यगर्भस्याप्यत्यन्तासत्त्वप्रसङ्गः, तथा सति सर्गाद्यर्थक्रियाप्य-
 लीकैव स्यादित्याह—इत्येतदिति । इति एवरीत्या त्वदुक्तमेतद-
 सत्त्वमभविष्येत् तत्तर्हि पूर्वसर्गप्रलयान्ते सर्वशरीरसंक्षये एत-
 त्सर्गादिकाले शरीरहेतुकशरीराभावादयं सर्गोऽपि नाभविष्यत् ।
 स चायं परिदृश्यमानोऽस्त्येव । एवं पूर्वपूर्वसर्गोऽप्येवमापादयितुं
 शक्यमित्याशयेनाह—सर्वदेति ॥ १९ ॥ ननु तर्हि मास्तु
 कदापि प्रलयः, अनादौ संसारे अविच्छिन्नप्रवाहाः सर्वे देह-
 कारणका एव देहा अर्थक्रियासमर्था भविष्यन्ति । हिरण्यगर्भ-
 देहस्य वा पूर्वपूर्वनारायणादिदेहादुत्पत्तिः कल्पयिष्यते । तथा
 च न कदाचिदनीदृशं जगदिति जैमिनीयमतं वृषयति—
 अवयवेति । क्षित्यादिभूतानां हि सावयवत्वादेव संयोगस्य
 विभागावसानत्वादिनापो दुर्वारः । तथा च न कदाचिद-

इत्येतदभविष्येत्तच्छरीरसंक्षये ।
 नामविष्यदयं सर्गः स चास्त्येव च सर्वदा ॥ १९
 अवयवविभागात्मन्यवश्यंभाविनि क्षये ।
 न कदाचिदन्तित्यं तज्जगदित्यप्यसंस्थितम् ॥ २०
 न कदाचिज्जगन्नाशो देहोऽभूतगुणादिकम् ।
 मद्शक्तिरिव क्षतिरुदेतीति च वक्षि चेत् ॥ २१
 तत्पुराणेतिहासानां सर्वसंक्षयवादिनाम् ।
 स्मृत्यादीनां सचेदानां वैयर्थ्यमुपजायते ॥ २२
 अप्रमाणतयैतस्मिन्नर्थे तेषां महामते ।
 अन्यत्रापि प्रमाणत्वं बन्ध्यादावपि किं भवेत् ॥ २३
 न चैतदिष्यते लोके जगदुच्छेदकारणात् ।
 अन्यथास्तामेतदङ्ग ममेदमपरं शृणु ॥ २४

नीदृशं जगदिति मतमसंस्थितमप्रतिष्ठितमेव । भूम्यादि-
 नाशे चतुर्विधभूतप्रामशरीराणामाधाराभावेनावस्थानायोगान्ना-
 रायणदेहस्यापि सावयवत्वादिनाक्षित्वावरणादप्सु क्षयान्तवप्रसि-
 ष्ढेरजन्मविनाशत्वे देहाकारणकत्वेनात्यन्तासत्त्वप्रसङ्गाच्चेति भावः
 ॥ २० ॥ अत्र प्रसङ्गाच्चावार्कमतमपि निरसितुमनुवदति—
 न कदाचिदिति । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयमेव हि चतुर्विध-
 देहाकारेण घटपटाद्याकारेण च संमिल्लब्धम् । तस्य च पृथि-
 व्यादिभूतात्मना कदाचिदपि नाशो नास्ति । देहस्तु भूतानां
 मेलने उद्भूतज्ञानेच्छादिगुणा हस्तपादाद्यवयवसंस्थानतत्त्वमि-
 व्यङ्ग्या जातिरित्येवमादिकमेव तदीयो धर्मसंघातः । तत्र यद्यपि
 क्षिप्तिकैत्र भूते दृश्यते तथापि सुरारम्भकेषु पिष्टतयकारकि-
 ष्वादिद्रव्येषु मिलितेषु कालपाकादिना मद्शक्तिरिव देहाकारप-
 रिणतेषु चतुर्षु भूतेषु क्षतिगुण उदेति तेन तद्गुणको देह एवा-
 त्मेति हे चार्वाक, त्वं वक्षि चेत् शृणु । तस्योत्तरमिति शेषः
 ॥ २१ ॥ तत्तर्हि सर्ववस्तूनां संक्षयो नित्यनैमित्तिकप्राकृतवै-
 ज्ञानिकाख्याश्चतुर्विधाः प्रलयास्तद्वादिनामष्टादशपुराणानां भार-
 तापीतिहासानां पारलौकिकात्महिताहितधर्माधर्मात्मतत्त्वलक्षणे
 दिस्मृतीनां सदाचाराणां च वैयर्थ्यं प्रसज्येतेत्यर्थः ॥ २२ ॥
 नन्वस्तु वेदपुराणादीनामप्रामाण्यमभिमतेव चार्वाकणाभिदं
 त्वया आपादितमिति चेत्तत्राह—अप्रमाणतयेति । निर्दोषा-
 णामेतेषां वेदपुराणादीनामेतस्मिन्प्रलयधर्माधर्मात्मतत्त्वलक्षणे
 अर्थे अप्रामाण्ये सति भोगत्वम्पत्यलोभद्वेषादिदोषसहस्रदुष्टे
 अन्यत्र त्वद्वाक्येऽपि इयं बन्ध्या शतं पुत्रानसूतेत्यादिवाक्य-
 तुल्ये किं प्रामाण्यं भवेत् । संभावनया लिङ् । तत्संभावनयापि
 दुर्लभेत्यर्थः ॥ २३ ॥ न चैतत्त्वदुक्तं वेदपुराणादीनामप्रामाण्यं
 लोके प्रेक्षावद्भिरिष्यते अज्ञीक्रियते । कृतहानाकृताभ्यागमादि-
 दोषेण निर्वाणप्रयोजनसर्गाद्यसंभवेन च जगदुच्छेदप्रसङ्गात् ।
 किञ्च देहात्मवादे किमवयवाः सर्वेऽप्यात्मान उतावयव्येव ।
 आये बहूनां चेतनानां सदैकमत्यनियमाभावेन वैमल्ये देहोन्म-
 धनप्रसङ्गः । द्वितीये वृक्षे इत्याद्येकवयवे अवयवविभागात्जीवना-

मदशक्त्यात्मनि ज्ञाने दृष्टा देशान्तरेषु या ।
 प्रसृतानां पिशाचादिदेहता सा न सिध्यति ॥ २५
 अथ सापि मुधा भ्रान्तिर्यावद्देहं प्रदृश्यते ।
 इति चेतन्मुधा नाम सत्यमित्येव धो भवेत् ॥ २६
 एवं चेतत्परो लोकः सत्स्वर्गनरकादिकम् ।
 इत्येषापि न संबित्किं सत्यतामुपगच्छति ॥ २७
 न पिशाचप्रमा सत्या मदशक्तिमतोऽपि हि ।
 प्रतिभास्य न सत्या स्यात्परलोकात्मिका कथम् ॥ २८

भावप्रसङ्ग इत्याद्यन्यत्र दूषणसहस्रमस्त्येवेत्यास्तामेतत् । एतेन हे अन्न, त्वया किष्पपिष्टजलादिसंघाते मदिरायां मदशक्तिरिव कायाकारपरिणतभूतसंघाते ज्ञतिगुण उत्पद्यत इति यदुक्तं तदपि दत्तोत्तरमेव । तत्र इदमपरं दूषणं बह्यमाणं शृण्वित्यर्थः ॥ २४ ॥ ज्ञाने ज्ञानगुणे मदशक्त्यात्मनि मदशक्तिरिव आत्मा स्वभावो यस्य तथाविधे अभ्युपगम्यमाने गुणिनो देहस्य नाशे गुणस्याप्यव्ययनाशादेशान्तरेषु प्रसृतानां जीवानां देहस्योच्छेदात्पिशाचादिदेहान्तरेण स्वदेशागमनं परशरीरावेशेन प्राक्न-स्वजनादिप्रत्यभिज्ञासंभाषणार्थक्रिया च या लोके प्रसिद्धा सा न सिध्यति ॥ २५ ॥ अथ यदि ब्रूयाः सा पिशाचादिकल्पनापि मुधा भ्रान्तिरेव, पिशाचानामप्रत्यक्षत्वाच्चार्याकमते प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणाभावात् । न हि प्रत्यक्षातिरिक्तं प्रमाणं संभवति । शतशो दृष्टसहस्रचारेष्वपि पार्थिवत्वलोहलेक्यत्वादिषु बज्रमण्यादौ व्यभिचारदर्शनात् । उत्पातादिकालान्तरे गवादीं स्वरादिप्रसूतिदर्शनाद्देवताप्रतिमादिभ्यश्च विनापि बहिर्धूमोद्गम-दर्शनात्सर्वत्र लिङ्गेषु देशान्तरे कालान्तरे च व्यभिचारशङ्काया चारयितुमशक्यत्वेनानुमानप्रामाण्यायोगात् । कृत्स्नकदेशसादृश्य-विकल्पने उपमानप्रामाण्यासिद्धेर्मानान्तरामूलकशब्देषु लोके अर्थसिद्धिनियमादर्शनादव्ययशब्दानामनुवादित्वाच्च शब्दप्रामाण्या-योगादर्थापर्यनुपलब्धयोश्च व्यतिरेकव्याप्त्युपजीविन्योरनुमानस-मानयोगक्षेमत्वात्संभवैतिश्वयोः संभावनामात्रत्वादनुमानादौ च संभावनास्यैव प्रामाण्याभिमानात्प्रवृत्तिसिद्धेः । संदिग्धेषुऽपि फले अर्थातुराणां प्रवृत्तिनियमदर्शनेनार्थनिश्चयस्य प्रवृत्त्यनङ्ग-त्वाच्च सर्वव्यवहारोपपत्तेः । किञ्च पिशाचप्रस्तस्य पिशाचवारण्य-वहारोऽपि यावद्देहमेव दृश्यते न तु तन्मरणे । अतस्तद्देहस्यैव साक्षिप्राप्तिक्रान्तिरिव पिशाचप्रस्तोऽहमिति दृष्टा भ्रान्तिरिति चेत्, तत्प्रदुर्कं सर्वं नाम शब्दजातं मुधा व्यर्थमेव । खोक्त्यैव व्याहृतत्वात् । न हि प्रत्यक्षातिरिक्तस्य सर्वस्वाप्रमाणत्वे चार्वा-कानां वाक्यं प्रमाणं भवति । तस्यापि प्रत्यक्षातिरिक्तत्वात् । न चानुमानादीनामप्रामाण्ये त्वया खोक्तोऽर्थो युक्तिभिः समर्थ-यितुं शक्यः । युक्तीनामनुमानतया तत्प्रामाण्यापत्तेः । न च ते दृष्टान्तोऽस्ति सादृश्यस्योपमानगम्यत्वात्तदप्रामाण्ये तदसिद्धेः । नापि स्वपक्षे अनुकूलः परपक्षे प्रतिकूलो वा तर्कस्त्वयोद्भाव-यितुं शक्यः । तर्कस्यान्वयव्यतिरेकव्याप्तिघटितत्वेन तदपला-यिनस्ते तदप्रसिद्धेः । आपत्तिव्यतिरेकयोरनुपपत्त्यनुपलब्ध-

पिशाचोऽस्तीति चेतसंबित्सत्यार्था तेन संबिदः ।
 मृतस्यास्ति परो लोक इत्यस्यां किं न सत्यता ॥ २९
 काकतालीयवद्देहात्पैशाची ज्ञप्तिरस्ति चेत् ।
 परलोकार्थसंबित्तिः कथं नास्ति सकारणा ॥ ३०
 यान्तर्वेत्ति यथा संबित्सा तथाभुभवत्यलम् ।
 अस्तु सत्यमसत्यं वा सिद्धमित्यनुभूतितः ॥ ३१
 मृतस्यास्ति परो लोको विदित्येवंमयी भवेत् ।
 सति वाऽसति देहेऽस्मिन्नेन किं सदसच्च किम् ॥ ३२

धीनत्वेन तदभ्युपगमे अर्थापर्यनुपलब्धिप्रामाण्याभ्युपगमा-पत्तेः । प्रमाणषट्कमपि सत्यमित्येव बध्वाकाणामभ्युपगन्तव्यं भवेदित्यर्थः ॥ २६ ॥ अस्त्वेवं तेन कस्ते स्वामस्तमाह— एवं चेदिति । एवं शब्दादीनां प्रामाण्यमभ्युपगतं चेतत्तस्मा-त्त्रिदोषशब्दरूपायाः श्रुतेः प्रामाण्यावश्यंभावाद्देतोः श्रुतिजन्या-परो लोकः स्वर्गनरकादिकं च सत् इत्येषापि संबित् सत्यतां प्रामाण्यं किं नोपगच्छति । ज्ञानानां हि स्वत एव प्रामाण्यं कारणदोषबाधकज्ञानाभ्यां क्वचिदपोद्यते । न चात्र कारणे दोषोऽस्ति, नापि स्वर्गनरकादयो न सन्तीति बाधकं प्रमाणजं ज्ञानमस्तीति भावः ॥ २७ ॥ अथ सापि मुधा भ्रान्तिरिति यदुक्तं तद्दूषयति—नेति । पिशाचप्रस्तस्य पिशाचविषयिणी प्रमा पिशाचस्य परदेहे स्थितस्य तदनुभवसिद्धा दर्शनश्रवणादि-प्रमा दृष्टृणामस्मदादीनां परदेहेन पिशाचव्यवहारप्रमा च ज्ञानानां स्वतःप्रामाण्यादेव लोके सत्या प्रसिद्धा । सापि यदि न सत्या तर्हि अस्य शीबस्य मदिरादेर्मदशक्तिमतो द्रव्यस्य मदश-क्तिप्रतिभापि न सत्या स्यात् । न ह्यमत्तानुभवसिद्धार्थापत्त्यापि-नस्ते प्रमत्तप्रतीति सिद्धमदशक्तिः परेणापलपनीया । तथा च तत्र दृष्टान्तासिद्ध्या ज्ञानस्य भूतगुणत्वासिद्धेः परलोकात्मिका स्वर्ग-नरकादिस्थितिः कथं त्वया निरसितुं शक्येति शेषः ॥ २८ ॥ तेन सर्वजनप्रसिद्धेन ज्ञानानां स्वतःप्रामाण्येन पिशाचोऽस्तीति संबित् सत्यार्था चेदनुभवबलात्प्रसिद्धा, मृतस्यापि परलोकोऽस्तीति श्रुतिजन्यायां प्रतीतौ तद्बलदेव किं न सत्यता ॥ २९ ॥ किञ्च पिशाचप्रस्तस्य पैशाची ज्ञप्तिर्न श्रुतिसदृशदृढतरप्रमाणजा किंतु काकतालीयवदाकस्मिकी । तथाविधापि सा स्वानुभवापलप-योगादस्ति प्रमा चेतसकारणा दृढतरश्रुत्यादिकारणसहिता पर-लोकार्थसंबित्तिः कथं नास्ति, कुतो न प्रमेत्यर्थः ॥ ३० ॥ ननु नानुभवबलादेवार्थसत्त्वमवधारयितुं शक्यम्, श्रुतिरजतानुभ-वेऽपि तदर्थसत्त्वादर्शनादित्याशङ्गाह—चेति । या संबित् अन्तर्यदर्शसत्त्वं यथा नेति तदर्थसत्त्वं तथाभुभवति तत्र श्रुतिरजतसंबित् स्वप्रतिभासकालिकमर्थसत्त्वमवगाहते । नेदं रजतमित्यौत्तरकालिकी बाधसंबित्तु त्रैकालिकं रजतासत्त्वम् । तत्रायसंबिद्वल्यत्प्रतिभासिकं रजतादेः सत्त्वमस्तु । द्वितीयसंबि-द्वलादसत्त्वं वा अनुभूतितः सिद्धम् । अर्थरूपं नानुभवमन्त-रेणापलपितुं शक्यमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्र यदि जीवतः सति देहे श्रुत्यादिप्रमाणवशाद्वा मृतस्य असति देहे स्वप्रवत् प्रतिभा-

तस्मात्स्वभावः प्रथमं प्रकुरन्वेति संविदम् ।
 वासनाकारणं पञ्चाहुष्य संपश्यति भ्रमम् ॥ ३३
 तत्क्षयाच्छ्रममायाति ब्रह्मदृश्यदगमयः ।
 तत्सत्तायामुदेतीयं संसृत्याख्या पिशाचिका ॥ ३४
 उपलम्भ उदेत्यादौ ब्रह्मणो वासना ततः ।
 तच्छान्तिं विद्धि निर्वाणं तत्सत्तां संसृतिभ्रमम् ॥ ३५
 उत्पन्नैव च सागादौ परब्रह्मण्यसंभवात् ।
 उत्पन्ना समयाद्यास्तौ ब्रह्मैव परमेव सत् ॥ ३६
 एतावद्यत्परिज्ञानं तन्निर्वाणं विदुर्बुधाः ।
 यद्ब्रह्मपरिज्ञानं तं बन्धं विद्धि राघव ॥ ३७
 विज्ञानघन एवायं कचनानकचनान्तरकः ।

इत्यर्थं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वास्मीकीये दे० मो० निर्वा० उ० पा० वासनाभावप्रतिपादनं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

स्वयमेव कचत्यन्तर्न कचत्येष वा स्वयम् ॥ ३८
 संविदंशपरावृत्तिमात्रे पेलवकपिणि ।
 बन्धदृष्टोक्षदृक् चेति क्लेशस्तत्साधनं कियत् ॥ ३९
 संविदुद्बोधने बन्धस्तदनुद्बोधने शिवम् ।
 असत्सद्ब्रह्मजगद्भाति संविदुद्बोधनोदरम् ॥ ४०
 अजडं वेदनं सुप्तं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
 प्रबुद्धं बन्ध इत्याहुयदिच्छसि तदाहर ॥ ४१
 निर्वाणवासनमनन्तमनाद्यमच्छ-
 बोधैकतानमपयन्मणमस्तशङ्कम् ।
 मद्द्वैतमैक्यरहितं च निरस्तशून्य-
 माकाशकोशविशदाशयशान्तमात्म ॥ ४२

मात्रबन्धाद्वा यदि परो लोकोऽस्तीत्येवंमयी एवमनुभवरूपा
 संविद्वश्यं भवेदेव, तर्हि तेन मरणेन किं जीवदनुभवसिद्धं
 कन्तुतानुभवसिद्धमसदित्यपलभ्येत किंवा वैपरीत्येन । नोभयम-
 प्यवकपिणुं शक्यमिति सिद्धं भ्रुत्यादिप्रामाण्यमित्यर्थः ॥३३॥ स
 यदि ब्रूवात्कथाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यः संविदुद्बोधश्च मृतस्य
 कण्ठमथो पारलौकिकी संविदुद्बुद्धिष्यतीति तर्हि स संविदः
 क्वाभ्युत्पन्नः सतः सिद्धत्वात्प्रस्युत तत्सिद्धिबलेनैव वासनामय-
 स्वातिवाहिकदेहस्य तत्कल्पितस्थूलदेहस्य बाह्यप्रपञ्चस्य च
 पञ्चासिद्धेस्तदन्वयस्य दृश्यसिद्धिहेतोरप्रसिद्धेर्न देहाधीनं संवि-
 ज्ञानेति प्रतिवक्तव्य इति सूक्ष्मस्तरप्रतिबन्धनमुपसंख्यत्वात् 'वास-
 नायां विधीनायामदर्शनमुपागता' इत्यादिना प्राग्जुक्तान्तं वास-
 नाक्षयादेव सर्वदृश्योच्छेदं समर्थयितुं प्रसूति—तस्मादित्या-
 दिना । तस्माद्देवादिप्रमाणस्य ज्ञानानां स्वतःप्राप्त्याप्यस्य च
 सिद्धत्वात्प्राप्तनखनायः परमात्मा स्वप्रकाशात्सर्वव्यवहारतत्प्र-
 थमं स्वरूपां संविदं स्वत एव नित्यसिद्धां वेति न तद्वेदनकल-
 मन्धतोऽपेक्षते स्वीकृत्यप्रकाशात्मतामिव वदितित्यर्थः । वासनानां
 कारणमुद्बोधोपादानं सर्वजगद्वासनामयम्, भातिवाहिकदेहं तु
 ततः पञ्चासिद्धिजाप्रदारम्भक्षणे स्वरूपचित्स्वभावबलदेव बुद्ध्या
 ततो देहादिभ्रमं संपश्यतीति न सर्वतः पूर्वसिद्धसंभितिसिद्धि-
 हाधीनेति भावः ॥३३॥ अत एव वासनाक्षयादेवातिवाहिकदेह-
 क्षयद्वारा सर्वानर्थक्षयः सिद्ध इत्याह—तत्क्षयादिति ॥३४॥
 तत्र सर्गादौ ब्रह्मण आदौ वासनान्तर्गतप्रपञ्चपर्यालोचनात्मा
 उपलम्भ उदेति 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेवेति' इति श्रुतेः ।
 ततस्त्वस्मात्प्राक्नजगद्वासनानां जगदात्मना उद्भूतो भक्ति ।
 वासनाशान्तो तु बीजाभावादेव जगदनुद्बुद्धादर्थसिद्धं निर्वाणमि-
 त्याह—तदिति ॥ ३५ ॥ ननु वासना कुत उत्पन्ना । न ताव-
 द्ब्रह्मणः । तस्य 'तदेतद्ब्रह्मपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इत्यादिश्रु-
 तिमिः कारणत्वप्रतिषेधादसत्कूटस्थाद्वयत्वश्रुतेः । नापि पूर्व-
 कल्पीयजगतः । तस्य प्रलये स्वयं विनश्यतः अन्योत्पादनाशेषः ।
 ननु न विनश्यति स्वयमेव चरमभावविकारेण सूक्ष्मीभूय
 तिष्ठति तथास्थितिरैवास्य प्रलये वासनात्मेति चेन्न । तदा-

स्थितिरस्य किं प्रलये स्वसत्त्वा उत ब्रह्मसत्तया । भावे 'सदैव
 सोम्येदमप्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुतिविरोधात् ।
 द्वितीये स्वतोऽसत्परसत्तया तिष्ठतीति प्रलापस्यालीकेऽप्यतिप्रस-
 क्तत्वात्पक्षद्वयेऽपि सृष्टिप्रलययोरविशेषापत्तेरभासमानसत्ताऽप्र-
 सिद्धेर्नष्टं तिष्ठतीति च व्याघातादिति चेत्सत्यम् । सा वासना
 आदौ प्रलये पूर्वसर्गं वा उत्पन्नैव । न । असत्ताद्वये परब्रह्मण्यसंभ-
 वस्य स्वयैवोक्तत्वात् । तथाप्यद्वितीयब्रह्मबोधनोपायतया शास्त्र-
 कल्पितात्सर्गादिसमयाभिर्वाजजगदुत्पत्त्ययोगात्सा वासनापि
 प्राक् केनचिन्निमित्तेनोत्पद्येति यावद्बोधोदयं स्वीक्रियताम् ।
 बोधोदये तु सर्वं जगद्ब्रह्मैव सा वासनापि परं ब्रह्मैवेति पर्यव-
 स्यतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ न च श्रुतिभ्यः असत्ताद्वयं ब्रह्मपरिज्ञाय
 तत्र वासनायसंभक्तस्त्वयोद्भावयितुं शक्यः । तत्परिज्ञाने तु
 सर्वसंशयबीजाज्ञानोच्छेदाभिर्वाणमेव संपन्नमिति न वासनोत्प-
 त्पाद्यनुपपत्तिशङ्काप्रसक्तिरित्याशयेनाह—एतावदिति ॥३७॥
 यौक्तिकदृष्ट्या निष्कर्षं तु अज्ञातं ब्रह्मैव जगत्तद्वासना तद्विद्या
 नाज्ञातं ब्रह्मैव तद्विद्युत्पत्तिविद्या तत्फलं निर्वाणं चेति पर्यवस्य-
 तीत्याशयेनाह—विज्ञानेति । श्रुत्यादिप्रमाणलाभात्प्राक् न
 कचत्येव ॥ ३८ ॥ ब्रह्मास्मीति स्वभावतः स्वां मन्यमाना
 स्वयमेव स्वबन्धो नित्यमुक्तास्तीति प्रमाणतः स्वां प्रबुद्धा सा
 स्वयमेव मोक्ष इति निष्कर्षेऽवगतौ न कश्चिन्मोक्षसाधने क्लेश
 इत्याह—संविदंशेति ॥ ३९ ॥ तद्विदं परीक्षकैर्व्युत्थानसमा-
 धिभ्यां व्युत्थानसुषुप्तिभ्यां च स्पष्टं द्रष्टुं शक्यमित्याशयेनाह—
 संविदुद्बोधने इति । संविद उद्बोधने बहिर्मुखत्वापादने । शिर्षं
 निर्वाणम् । संविदुद्बोधनोदरमेव असत्त्वजगत्सद्भाति ॥ ४० ॥
 ॥४१॥ एवमैच्छिकयोर्बन्धमोक्षयोर्मोक्षस्वभावाहरणमेव निर्वि-
 क्षेपपरमानन्दरूपत्वाद्युक्तमित्याशयेनोपसंहरति—निर्वाणवा-
 सनमिति । हे राम, समच्छबोधैकतानं ब्रह्मैव सत्त्वपयन्मणं निर्मुक्त-
 बन्धमात्म । विशेषणान्यन्यानि ब्रह्मणि वा क्रियायां वा योज्याणि
 ॥४२॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे वासनाभावप्रतिपादनं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥७९॥

अशीतितमः सर्गः ८०

भीषसिष्ठ उवाच ।

इति ते सर्वं आयाता ब्रह्मलोकनिवासिनः ।
 अदृश्यतामेव गता दीपाः क्षीणवद्यद् इव ॥ १ ॥
 अथ ते द्वादशादित्या ब्रह्मणि ब्रह्मतां गते ।
 जगद्ब्रह्मलोकं तमद्ब्रह्मभास्वरार्षिणः ॥ २ ॥
 वैरिञ्चनगरं दग्ध्वा ध्यानं कृत्वा विरञ्चिवत् ।
 तेऽपि निर्वाणमाजग्मुर्निःश्रेहदशदीपवत् ॥ ३ ॥
 तत एकार्णवापूरो विरिञ्चनगरान्तरम् ।
 रात्रौ भुवमिष ध्वान्तं पूरयामास सूर्मिमान् ॥ ४ ॥
 आब्रह्मलोकमभवज्जगदापूर्वमर्षसा ।
 तुल्यं रसैकपूर्णेन पक्वद्राक्षाफलेन तत् ॥ ५ ॥
 तत्तसूर्मिगिरिमातस्त्रगैरावलिताः खिलाः ।
 विच्छिन्नाः कल्पजलदा जल एव निलिलियरे ॥ ६ ॥
 एतस्मिन्नन्तरे तत्र दृष्टवानहमम्बरात् ।
 याषदभ्युदितं भीमं भीतः किञ्चिन्नभोन्तरात् ॥ ७ ॥
 कल्पान्तजगदाकारं कृष्णमापूरिताम्बरम् ।
 आकल्पं संभृतं नैशं देहेनेवोत्थितं तमः ॥ ८ ॥
 तरुणादित्यलक्षणां तेज आभास्वरं दधत् ।
 आदित्यत्रयसंकाशैः स्थिरविद्युच्चयोल्बणैः ॥ ९ ॥

वैज्ञानिकस्वरूपा वर्णितः प्रलयक्रमः ।

प्राकृतो योगिगम्योऽन्यो वर्णिते प्रलयक्रमः ॥ १ ॥

अनुर्वासनाकल्पितस्य तल्लोकदेवभुवनादिसर्वप्रपञ्चस्य तस्या-
 रम्भक्षयभोत्पत्तेन साक्षात्कारेण यो बाधस्तलक्षणो वैज्ञानिकः
 प्रलयः 'नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रमम्' इत्यादिना स्वप्न-
 बाधसदृशः सोपपत्तिकं मुक्तरूपा उपवर्णितः । बद्धदशा तु धा-
 तुर्वेहृत् तदारम्भकोपाधीनां तस्मिन्निद्रायारीनां च स्वस्वकारणे
 लयद्वारा मायाशबले ब्रह्मणि लयलक्षणं प्रलयमुपवर्णयितुमुप-
 क्रमते—इतीति ॥ १ ॥ ब्रह्मणि विधातृदेहे । मायाशबलब्रह्म-
 ताम् । जगद्ब्रह्मस्यैव ॥ २ ॥ आदित्याद्यधिकारिजीवानाम-
 प्यधिकारप्रारम्भसमाप्तेभ्यःसाक्षात्कारेण समस्तस्वप्नप्रपञ्चबा-
 धात्तद्देव विदेहकेवल्यमासीदित्याह—वैरिञ्चेति ॥ ३ ॥ तदु-
 त्तरे किञ्चासीत्त्याह—तत् इति । प्राक्प्रकान्त एवैकार्णवापूरः ।
 'सूर्मिमान्' इति पाठे पञ्चीकृतजलात्मा ॥ ४ ॥ अर्णसा जलेन ।
 तद्ब्रह्मण्यम् ॥ ५ ॥ तस्यैकर्मिभिः भुवमानैर्गिरिमातैः रात्रौ देव-
 क्षरीरैर्बावलिता विषद्विता अत एव खिला विच्छिन्ना विच्छि-
 न्नाः कल्पजलदाः प्राणुकाः पुष्करवर्तकादयः ॥ ६ ॥ एत-
 स्मिन्नन्तरे अहमम्बरादभ्युदितं भीमं भयानकं किञ्चिद्रूपं दृष्ट-
 वान् न तु विशिष्य रुद्रोऽयमिति परिचितवान् । तावद्गीत इ-
 त्यर्थः ॥ ७ ॥ तदेव रूपं भीतिहेतुभिरद्भुतैर्विशेषणैर्वर्णयति—
 कल्पान्तैत्याद्यभिः । आकल्पं द्विपरार्धावसानकालपर्यन्तं प्रति-
 निशं जातं तम एकत्र संभृतमुपचितं पदेहेनोत्थितमिवेति

नेत्रैराभास्वरमुखं ज्वालापुञ्जसमुद्गिरम् ।
 पञ्चाननं दशभुजं त्रिनेत्रं शूलपाणिकम् ॥ १० ॥
 आयान्तमन्तमुकेऽपि व्योम्नीव वितताकृतिम् ।
 स्वमिवासि घनश्यामं देहमासाद्य संस्थितम् ॥ ११ ॥
 स्थितमेकार्णवापूर्णाद्ब्रह्माण्डाद्बहिरम्बरे ।
 व्योमेव हस्तपादादिसंनिवेशेन लक्षितम् ॥ १२ ॥
 घोणानिलपरावृत्तिविधूतैकमहार्णवम् ।
 गोविन्दमिव दोर्दण्डक्षोभितक्षीरसागरम् ॥ १३ ॥
 कल्पाण्यवजलापूरं पुंस्त्वेनेव समुत्थितम् ।
 मूर्तियुक्तमहंकारमस्तकारणमागतम् ॥ १४ ॥
 कुलावलबृहद्बृहन्मिबोद्भूयनडम्बरैः ।
 पक्षौघैरुत्थितं व्योम समस्तमभिपूरयत् ॥ १५ ॥
 ततस्त्रिशूलनयनैर्मया रुद्रोऽयमित्यसौ ।
 दूरादेव परिज्ञाय परमेशो नमस्कृतः ॥ १६ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 किं स तादृग्विधो रुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः ।
 किं पञ्चवदनः कस्माद्दशबाहुः स तिष्ठति ॥ १७ ॥
 किं त्रिनेत्रः किमुप्रात्मा किमेकः किंप्रयोजनः ।
 केनेरितः किमकरोच्छायासीद्ब्रह्म का मुने ॥ १८ ॥

संहारमूर्तेरघोररुद्रस्य कृष्णवर्णोत्कर्षादुत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥ वर्णेन कृष्ण-
 त्वेऽपि तेजसा भास्वरत्वमपीत्याह—तरुणेति । दधदित्येतदुत्त-
 रम्भेकेऽप्याभास्वरं मुखं दधदिति संबन्धते ॥ ९ ॥ ज्वाला-
 पुञ्जं समुद्गिरतीति ज्वालापुञ्जसमुद्गिरम् ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥
 घोणा नासा तदनिलस्य श्वासवायोः परावृत्तिभिर्भ्रमणैः ॥ १३ ॥
 पुंस्त्वेन पुरुषाकारेण समुत्थितमिव । सर्वाहंकारसमष्टिरूपं मूर्ति-
 युक्तं भूत्वा आगतमिव । सर्वकारणत्वात्स्वयमस्तकारणम् ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ ततस्तादृशरूपदर्शनानन्तरं मया त्रिशूलेन त्रिभिर्नय-
 नैश्च प्रसिद्धैर्लक्षणैरसौ रुद्रः परमेशो जगदीश्वर इति परिज्ञाय
 नमस्कृतः ॥ १६ ॥ ननु परमेश्वरः 'मायां तु प्रकृतिं विद्या-
 न्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादिश्रुतिषु मायाशबलं ब्रह्मैवामूर्तं
 महेश्वर इति प्रसिद्धं, तत्किमर्थं कैशोपाधिभिः पञ्चवदनादिवि-
 शिष्टां मूर्तिं धत्ते, सर्वात्मनो वा कथं परिच्छिन्नमूर्तिभाव इति
 विशिष्य जिज्ञासमानो रामः पृच्छति—किं स इति । स सर्व-
 श्रुतिप्रसिद्धः परमेशस्तादृग्विधस्त्वद्दर्शितरीत्या भयानकस्वरूपः
 किनिमित्तं केनोपाधिना स्थित इति प्रश्नस्य प्रपञ्चभूता दशप्र-
 श्नाक्षयः स्वतन्त्राः । स तिष्ठतीत्यत्रापि केल्यध्याहृत्याधारप्रश्नो
 बोध्यः । एवं किमुपः किमात्मेति किमः प्रत्येकं संबन्धाद्वा प्रश्नौ
 ॥ १७ ॥ स किं स्वतन्त्र उत परतन्त्रः । यदि स्वतन्त्रस्तर्हि पूर्णकाम-
 स्यास्य किमर्थं संहारे प्रवृत्तिः । यदि परतन्त्रस्तर्हि केनेरितः ।
 तस्मिन्नीश्वरे रुद्ररूपे सति तदीयच्छायारूपा मायापि का भा-
 सीत्तद्देवत्यः ॥ १८ ॥ हे काकुत्स्थ, असौ परमेश्वरः सर्वसर्ग-

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

काकुत्स्थ रुद्रनामासावहंकारतयोत्थितः ।
 विषमैकाभिमानात्मा मूर्तिरस्यामलं नभः ॥ १९
 व्योमाकृतिः स भगवान्ब्योमवर्णो महाद्युतिः ।
 चिद्योममात्रसारत्वादाकाशात्मा स उच्यते ॥ २०
 सर्वभूतात्मभूतत्वात्सर्वगत्वान्महाकृतिः ।
 यानि तस्यानुषक्तानि पञ्च खानीन्द्रियाण्यलम् ॥ २१
 तानि तस्य मुखान्याहुस्तपद्रूपाणि सर्वतः ।
 कर्मेन्द्रियाणि विषयास्ते हि तस्य भुजा दश ॥ २२
 सर्वभूतनरैः सार्धं ब्रह्मणा परमेयुषा ।
 यदासौ संपरित्यक्तस्तदा स्वां मूर्तिमागतः ॥ २३
 स चैकांशैकरूपात्मा नास्ति तस्य हि साकृतिः ।
 तथा दृश्यत एवासौ भ्रान्तिमात्रेण मूर्तिमान् ॥ २४
 चिदाकाशगते स्फारे भूताकाशे स तिष्ठति ।
 वेदे च सर्वभूतानां नित्यं वायुरिवेश्वरः ॥ २५

स्थितिसंहारादिगोचरसंकल्पाध्यवसायादिवीजभूतसर्वाभिमाना-
 त्मकमायावृत्तिरूपया अहंकारतया सर्वजगदध्यासमूलस्तम्भभू-
 तया सर्वप्राणिरोदने सर्वशरणागतरुद्रावणे च निमित्तभूतया
 रुद्रनामा सञ्जुतितः । तत्र रोदने विषमाभिमानात्मा रुद्रावणे
 तु एकाभिमानात्मा संपद्यते । अस्य सा मया दृष्टा मूर्तिस्त्व-
 मलं नभः आकाशमेव ॥ १९ ॥ अनेन किं स तादृशविधः किं
 कृष्णः किं महाकृतिरिति प्रश्नत्रयं समाहितमित्याह—व्योमेति
 ॥२०॥ 'किं पञ्चवदन' इति प्रश्नस्योत्तरमाह—यानीति । त-
 स्याहंकारस्य प्रतिशरीरमनुषक्तानि यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि तानि
 तस्य रुद्रस्य मुखान्याहुस्तपद्रुविदः ॥२१॥ अत एव हि ज्ञानेन्द्रि-
 याणि सर्वतस्तपद्रूपाणि प्रकाशस्वभावानि ॥२२॥ कस्माद्दशबाहुः
 स इति प्रश्नं समाधत्ते—कर्मेन्द्रियाणीति । वाक्पाणिपादपायूप-
 स्थाकृत्यानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि दक्षिणतः, वचनादानविहरणोत्सर्गा-
 नन्दाकृत्याः पञ्च तद्विषयाश्च वामत इति क्रमात्तस्य दशभुजा इत्य-
 र्थः । तर्ह्यसौ प्रागपि तादृशमूर्त्यां कुतो न दृष्ट इति चेन्नराचरनाम-
 रूपकार्याकाराध्यारोपव्यामूढदृष्टिभिस्तदन्तर्गतकारणस्वभावस्य
 दुर्ग्रहत्वादेवेत्याशयेनाह—सर्वेति । सर्वभूतैश्चतुर्विधशरीरैर्नरैस्त-
 त्तज्जीवैश्च सार्धं परं कारणं मायाशबलं ब्रह्म आ ईयुषा प्रलयेन
 प्राप्तवता ब्रह्मणा चतुर्मुखेन स्वाध्यारोपितकार्येण पटेन तन्तु-
 रिव यदासौ परित्यक्तस्तदा स्वां प्रागुक्ताकाशमात्रपरिशेषरूपां
 वर्णितां मूर्तिमागतः । कारणरूपेण स्फुटीभूत इति यावत् ॥२३॥
 यद्यसावाकाशमात्रात्मा तर्ह्यमूर्तस्य तस्य प्राग्वर्णिता देहाकृतिः
 कथं दृष्टा तत्राह—स चेति । स च रुद्रः सर्वकार्यविशेषप्रवि-
 ल्यावशिष्टो यः कारणकांशस्वदेकरूपात्मा तस्य सा मया
 वर्णिता देहाकृतिर्नास्ति । तथा उपासकैः स्वभासनया असौ
 दृश्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥ प्रश्नेषु स तिष्ठतीत्यत्र केत्वध्याहृत्य
 आधारप्रश्नो यो वर्णितस्तस्योत्तरमाह—चिदाकाशगते इति ।

सर्वभूतपरित्यक्तस्तस्मिन्काले जमूर्तिमान् ।
 क्षोभयन्स क्षणं क्षीणः परमां शान्तिमेत्यति ॥ २६
 ये गुणाकृतयः कालाग्निचाहंकारबुद्धयः ।
 प्रणवस्य च ये वर्णा ये च वेदास्तथा त्रयः ॥ २७
 रुद्रस्य तस्य ते नेत्रसंनिवेशेन संस्थिताः ।
 त्रिशूलं तेन त्रैलोक्यं गृहीतं करकोटरे ॥ २८
 यस्मात्तद्वातिरेकेण सर्वभूतगणेष्वपि ।
 अन्यत्र विद्यते किञ्चिद्देहात्मैव ततः स्थितः ॥ २९
 सर्वसत्त्वोपलम्भात्मा स्वभावोऽस्य प्रयोजनम् ।
 ईरितः शिवरूपेण चिन्मात्राकाशरूपिणा ॥ ३०
 तेनैव च निर्गीर्णः सन्परमां शान्तिमेत्यसौ ।
 निर्मलाकाशरूपात्मा कृष्ण इत्येष ईश्वरः ॥ ३१
 कृत्वा कल्पं जगत्सर्वं तत्पीत्वैकार्णवं तदा ।
 स प्रयाति परां शान्तिमभूयःसंनिवृत्तये ॥ ३२

इदं चावस्थानं तत्तदन्तर्यामिभावेनेति सूचनाय वायुरिवेति
 ॥ २५ ॥ २६ ॥ किं त्रिनेत्र इति प्रश्नस्योत्तरमाह—ये इति
 ॥ २७ ॥ ते गुणादिपञ्चत्रिका रुद्रस्य पञ्चसु वक्त्रेषु क्रमाग्निने-
 त्रपञ्चकर्मनिवेशेन संस्थिता इत्यर्थः । किमुप्रात्मेत्यत्र किंशब्दस्य
 प्रत्येकमन्वयात् किमुपः किमात्मेति द्वौ प्रश्नौ वर्णितौ । तत्रा-
 यस्य केन त्रिशूलायुधेनोप इति गूढार्थस्य रामाभिप्रेतस्य सर्व-
 ज्ञतां कृपापयन्मुनिरुत्तरमाह—त्रिशूलमिति । करकोटरे मुष्टि-
 च्छिद्रे ॥ २८ ॥ किमात्मेति द्वितीयस्योत्तरमाह—यस्मा-
 दिति । सर्वभूतगणदेहात्मैत्यर्थः । अत एव हि सर्वभूतानामहं-
 कारात्मकद्राभिधानादेव देहात्मत्वाभिमानः । तथा च भगवतो
 वादरायणस्य सूत्रम् 'परामिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध-
 विपर्ययो' इति ॥२९॥ 'किंप्रयोजन' इत्यस्योत्तरमाह—सर्वेति ।
 स्वच्छाणां सर्वेषां सत्त्वानां स्वस्वकर्मानुरूपविषयभोगात्मको य
 उपलम्भः क्रमाज्ज्ञानसाधनप्राप्तावन्ते यः स्वात्मतत्त्वोपलम्भश्च
 तदात्मा यः शास्त्रीयविहितनिषिद्धकर्मज्ञानफलदानस्वभावः स
 एवास्य सर्गादौ प्रयोजकत्वात्प्रयोजनम् । तथा चोक्तं गौड-
 पादैः 'देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' इति । केनेरित
 इति प्रश्नं समाधत्ते—ईरित इति । चिन्मात्राकाशरूपिणा
 शिवं बाह्यनसागोचरनिरतिशयभूमानन्दात्मकं परमकल्याणं
 स्वरूपं यस्य तथाविधेन परमात्मनैव 'बहु स्वां प्रजायेये'ति सं-
 कल्पात्मकमायावृत्त्या ईरितः सर्गाद्युन्मुखतया प्रेरितः सृजति
 ॥ ३० ॥ प्रलयार्थमीरितश्च सर्गकर्मविपरीतक्रमेण जगन्नि-
 र्गीर्णकाशभावेन स्थितः स्वयमपि तेनैव शिवरूपेण स्वा-
 त्मना निर्गीर्णः सन् आकाशभावमपि विहाय परमां
 भूमानन्दस्वरूपप्रतिष्ठादक्षणां शान्तिमेतीत्यर्थः । 'किं कृष्ण'
 इत्यादिप्रश्नानां सर्वेषां सोपपत्तिकं समाधानमुक्तं स्मार-
 यन्नुपसंहरति—निर्मलेति सार्धेन ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अनन्तरं मया दृष्टस्तत्रासौ यावदुद्यमात् ।
 प्रवृत्तः प्राणवेगेन तमाकृष्टं महार्णवम् ॥ ३३
 अथ तस्य मुखं स्फारं ज्वालामालाकुलान्तरम् ।
 प्राणाकृष्टो महाम्मोधिर्वाडवाग्निमिवाविशत् ॥ ३४
 स एव वाडवो भूत्वा वहिराकल्पमर्णवे ।
 अहंकारः पिबत्यम्बु रुद्रः सर्वं तु तप्तदा ॥ ३५
 पातालमिव पानीयं सर्पो बिलमिव क्षणात् ।
 पञ्चवायुरिवाकाशमविशत्सन्मुखं जवात् ॥ ३६
 समुपेत्यापिबद्गुद्रः स मुहूर्तेन तत्पयः ।
 कृष्णाङ्गोऽर्क इव ध्वान्तं सत्संपर्क इवागुणम् ॥ ३७
 आब्रह्मलोकपातालं शान्तं शून्यमथामवत् ।
 रजोधूमानिलास्मोधिभूतमुक्तं समं नभः ॥ ३८
 केवलं तत्र दृश्यन्ते चत्वारो व्योमनिर्मलाः ।
 इमे पदार्था निस्पन्दाः शृणु ताम्रधुनन्दन ॥ ३९
 एकस्तावदसौ मध्ये रुद्रः कृष्णाम्बराकृतिः ।
 निराधारः स्थितो व्योम्नि निस्पन्दामोदबिम्बवत् ॥ ४०
 द्वितीयोऽवस्थितो दूरे पृथ्व्याकाशतलोपमः ।
 भागो ब्रह्माण्डसदनस्याधः पातालसप्तकात् ॥ ४१
 पातालभूतलदिवां सशैलेन्द्रदिवौकसाम् ।
 व्याप्तः पार्थिवभागेन पङ्कमात्रात्मनात्मभाक् ॥ ४२
 तृतीयोऽत्र पदार्थोऽभूदूर्ध्वं ब्रह्माण्डभागभूः ।
 दृष्टिक्षयात्सुदूरत्वाद्दुर्लक्ष्यगगनासितः ॥ ४३

किमकरोदित्युपान्यप्रश्नस्य कयाशेषश्रूषाविषयत्वमभिप्रेतं ज्ञात्वो-
 त्तरमाह—अनन्तरमित्यादिना । प्राणवेगेन श्वासानिलवेगेन ।
 आकृष्टम् । पातुमिति यावत् ॥ ३३ ॥ जलस्य तेजस्युप-
 संहारद्योतनाय ज्वालामालासमाकुलमित्युक्तम् ॥ ३४ ॥
 इतरकालेऽपि जलशोषे तेजस्येवोपसंहारः प्रसिद्ध इत्याशये-
 नाह—स एवेति ॥ ३५ ॥ पञ्चवायुः पञ्चवृत्तिः प्राणः प्राणिनां
 मुखाकाशमिव । अपानस्यापि प्राणात्मकत्वात्पञ्चवृत्तिकत्वव्यप-
 देशः ॥ ३६ ॥ अगुणं दोषजातम् ॥ ३७ ॥ समं सर्ववैषम्य-
 निर्मुक्तम् ॥ ३८ ॥ इमे वक्ष्यमाणाः पदार्थाः ॥ ३९ ॥ आमोदः
 सौरभं तद्विम्बं तत्स्वरूपं तद्वत् ॥ ४० ॥ ४१ ॥ त्रयाणां
 लोकानां तद्वत्पदार्थानां च भस्मीभावात्पुनर्जलक्रेदनेन पङ्कमा-
 त्मना पार्थिवभागेन व्याप्तः सप्तात्मभाक् ऊर्ध्वभागापेक्षया
 किञ्चिदुपचित्वात् ॥ ४२ ॥ दृष्टिक्षयात्प्रयनरदमीनां तत्रा-
 प्रसरात् । तत्र हेतुः—सुदूरत्वादिति ॥ ४३ ॥ चतुर्थः
 पदार्थस्तदुभयान्तरालाकाशमेवेत्याह—दूरेति । इमेव निर्मलम्
 ॥ ४४ ॥ असौ अन्तरालाकाशः । अत्र मत्पुरोगतपदार्थमध्ये
 एतस्माच्चतुष्टयादन्यत्किञ्चन नैवासीदित्यन्वयः ॥ ४५ ॥ सावर-
 णाभ्यां ब्रह्मसप्तकाहौ ब्रह्माण्डखर्परं ताभ्यां बहिः किं विद्यते ।
 तत्र तयोः का आवरणाः । ताश्च कियत्तः । निराधाराश्च कथं
 संस्थिता इति चत्वारः प्रश्नाः ॥ ४६ ॥ तत्र मध्यमप्रश्नयोः प्रथम-
 मुत्तरमाह—ब्रह्माण्डखण्डयोरिति । तच्च जलमनन्तमति-

१ ज्वालामालासमाकुलम् इति वीकाकृदभिमतः पाठः.

दूरविच्छिद्योर्मध्यं यत्तद्ब्रह्माण्डखण्डयोः ।
 तदाकाशमनाद्यन्तं ब्रह्म निर्मलमाततम् ॥ ४४
 चतुर्थोऽसौ पदार्थस्तु तदा संलक्षितो मया ।
 चतुष्टयादत्र नान्यदेतस्मादेव किञ्चन ॥ ४५
 श्रीराम उवाच ।
 बहिः किं विद्यते ब्रह्मन्ब्रह्मसप्तकाहृतः ।
 कास्तत्रावरणा ब्रूहि कियत्तः संस्थिताः कथम् ॥ ४६
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 ब्रह्माण्डखण्डयोः पारे ततो दशगुणं जलम् ।
 संध्याकाशमनन्तं तद्वर्जयित्वा ततः स्थितम् ॥ ४७
 ततस्तथैव ज्वालात्म तेजो दशगुणं स्थितम् ।
 ततस्तथैव पवनः पवनो निर्मलः स्थितः ॥ ४८
 ततस्तथैव धिमलं नभो दशगुणं स्मृतम् ।
 ततः परममत्यच्छं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ॥ ४९
 अन्यत्रान्यत्र तस्याथ दृष्टयोऽन्यास्तथैव खे ।
 कचन्त्यनन्ता दूरस्था मिथो दृष्टात्मसृष्टयः ॥ ५०
 श्रीराम उवाच ।
 ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डस्य तथाभस्ताम्मुनीश्वर ।
 तज्जलादिमहाकारं क्व कथं केन धार्यते ॥ ५१
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 स पार्थिवपदार्थानां स्थितः पुष्करपत्रवत् ।
 भागस्तमेवाधावन्ति ते सुता मातरं यथा ॥ ५२

विस्तृतं खण्डद्वयसंध्याकाशमनन्तवर्जयित्वा बहिरेवाततं स्थितम् ।
 यद्यपि खण्डद्वयसंध्याकाशो बृहदारण्यके 'तथावती क्षुरस्य
 धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशः' इति क्षुरधा-
 रामक्षिकापक्षपरिमितोऽत्यन्तसूक्ष्मः प्रतिपादितस्तथापि प्रागत्र
 चतुर्मुखो ब्रह्माण्डखण्डद्वयं विभेद तत्र भिन्नं दूरतरं गतमिति
 वर्णितत्वात्तदनुसारेण संध्याकाशस्यानन्तत्वोक्तिरिति बोध्यम्
 ॥ ४७ ॥ तथैव जलवदेव पवनस्यज्जलपवित्रीकरणः स्वयं च रजो-
 मालिन्यरहितः पवनो वायुः स्थितः ॥ ४८ ॥ नभ आकाशम् ।
 प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—तत इति । अतिसूक्ष्मत्वादत्यच्छं
 मायाशबलब्रह्माकाशं स्थितम् ॥ ४९ ॥ ननु पुराणादौ आकाशा-
 त्परतो दशगुणमहंकारतत्त्वं ततः परं तद्दशगुणं महत्तत्त्वं तदग्रे
 अनन्ता प्रकृतिश्च वर्णिता तदत्र कथं परित्यक्तं तत्राह—अन्य-
 त्रेति । तस्य मायाशबलब्रह्मणः खे आवृते स्वरूपाकाशे अन्यत्रा-
 न्यत्र योगिमाहेश्वरपाश्वरात्रकापिलादित्तत्रेषु अन्या अन्या महद-
 हंकारादितत्त्वभेदावरणकल्पनादृष्टयः, अनन्ताः कचन्ति, ताश्च
 मिथः परस्परं संवादेन दृष्टात्मकल्पनासृष्टयः पुराणेषु कीर्त्यन्ते न
 श्रुतिषु, ताः प्रक्रियाः सन्तीत्यस्माभिरुपेक्षिता इत्यर्थः । ब्रह्मा-
 ण्डभेददृष्टिपरतया वा श्लोको व्याख्येयः ॥ ५० ॥ चतुर्थं प्रश्नं
 परिशिष्टं स्मारयन् रामः पृच्छति—ऊर्ध्वं इति । ब्रह्माण्डाद-
 प्युत्तरोत्तरं दशदशगुणविस्तारान्महाकारम् ॥ ५१ ॥ तं
 पार्थिवं ब्रह्माण्डखर्परभागमेव आधावन्ति आधारादिभावेना-

अतो यदेव नेदीयो ब्रह्माण्डाख्यं महाबधुः ।
 तत्पदार्थाः प्रधावन्ति तृषिताः सलिलं यथा ॥ ५३
 अथलम्ब्य तदेवान्तः संस्थितास्तैजसाद्यः ।
 न स्थितिं प्रविमुञ्चन्ति स्वां यथावयवा इव ॥ ५४
 श्रीराम उवाच ।
 ब्रह्मन्ब्रह्माण्डखण्डे ते तिष्ठतः कथमुच्यताम् ।
 किमाकृती धृते केन कथं वा परिनश्यतः ॥ ५५
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अधृतं धृतमेवोच्चैरपतञ्चैव वा पतत् ।
 अनाकृत्येव साकारं जगत्स्वप्नपुरं यथा ॥ ५६
 किमस्य नाम पतति किं वा केनास्य धार्यते ।
 यथा संवित्ति कचनं तथैतद्वतिष्ठते ॥ ५७
 यथा केशोण्डूकं व्योम्नि यथा च व्योम्नि शून्यता ।

यथा वा पवने स्पन्दो जगद्विभ्रगमे तथा ॥ ५८
 चित्तौ संकल्पनगरं ब्रह्माण्डाख्यं जगद्ब्रह्म ।
 खे खमेवाप्यनाकारं प्रत्याकारमिव स्थितम् ॥ ५९
 पातसंवित्समुद्भूतं पतदास्ते दिवानिशाम् ।
 गच्छन्त्या संविदोद्भूतं गच्छदास्ते दिवानिशाम् ॥६०
 स्थितसंवित्समुद्भूतं तिष्ठदास्ते दिवानिशाम् ।
 उत्पतन्त्या चित्तोद्भूतमुत्पतञ्चैव तिष्ठति ॥ ६१
 पति नाशविदा नाशं महाकल्पादिवेदनैः ।
 जायते जन्मसंविद्या व्योम्नि सर्वादिवेदनैः ॥ ६२
 आभासि मौक्तिकगणः शरदम्बरान्त-
 ईच्छावसत्य उदितोऽप्यतिसत्यरूपः ।
 भ्रान्त्या यथा नभसि च स्फुरतां तथैषां
 संख्यां विधानुमिह को जगतां समर्थः ॥६३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० भ्रान्तिमात्रत्वप्रतिपादनं नामाशीतितमः सर्गः ॥८०॥

एकाशीतितमः सर्गः ८१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अथ राघव रुद्रं तं तदा तस्मिन्महाम्बरे ।
 प्रवृत्तं नर्तितुं मत्तमपश्यं वितताकृतिम् ॥ १
 व्योमेवाकृतिमापन्नमजहद्वापितां निजाम् ।
 महाकारं घनश्यामं दशाशापरिपूरकम् ॥ २
 अर्कन्दुवह्निनयनं चलद्दशदिगम्बरम् ।
 घनदीर्घप्रभाजालमालानं श्यामलार्चिषाम् ॥ ३
 बडवाग्निदशं लोलभुजोर्मिभरभासुरम् ।

अथन्ति । यथा सुता वानरीशिशवो मातरमुदरे दहं गृहीत्वा
 उवनेऽपि न पतन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ ५२ ॥ ऊर्ध्वरूपरोपरित-
 नजलस्याप्यपतने अयमेव न्यायः सामीप्यानुगृहीतो बोध्य
 इत्याशयेनाह—अत इति । नेदीयः संनिहिततरम् । 'अन्ति-
 कबाहवोर्नेदसाधौ' इति इयसुनि नेदादेशः ॥ ५३ ॥ यथा शरी-
 रसंयुक्ता हस्तपादाद्यवयवा दृढतरसंयोगस्थितिं न प्रतिमु-
 षन्ति तद्वत् ॥ ५४ ॥ इतरावरणाधारयोर्ब्रह्माण्डखर्परयोरति-
 गुरुत्वादवश्यं पिपतिषतोः कस्तर्ह्याधार इति रामः पृच्छति—
 ब्रह्मभिति । कथं केनाधारेण तिष्ठतः ॥ ५५ ॥ सत्यतादृष्टाधि-
 यमाधारादिचिन्ता । मिथ्यादृष्टौ तु न गुरुतराणामप्याधारादि-
 नियमोऽस्तीति स्वप्रदृष्टान्तेन वसिष्ठ उत्तरमाह—अधृतमिति ।
 अनाकृति अमूर्तम् ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ प्रत्याकारं प्रति-
 नियताकारमिव ॥ ५९ ॥ सर्वपदार्थानां यथा संवेदनमेव स्वभावो
 नियतोऽनियतो वा सिद्ध्यतीत्याह—पातेति । गच्छन्त्या गमना-
 ध्यासवच्छा ॥ ६० ॥ तथा च 'किमाकृती धृते केन' इति प्रश्ना-
 वपि स्वसंवित्कल्पितनियतानियताकृती संविदेन धृते इत्यर्था-
 द्दोत्तरौ ॥ ६१ ॥ कथं वा परिनश्यत इत्यस्योत्तरमाह—

एकार्णवाणो द्राग्देहबन्धनेन समुत्थितम् ॥ ४
 पश्याम्यनन्तरमहं यावत्तस्य शरीरतः ।
 छायेव परिनिर्यासि नर्तनानुविधायिनी ॥ ५
 सूर्येष्वविद्यमानेषु महातमसि चाम्बरे ।
 स्थिता कथमियं छाया भवेदिति मतिर्मम ॥ ६
 यावद्विचारयाम्याशु तावत्तस्य तदा पुरः ।
 सा स्थिता परिनृत्यन्ती विस्तीर्णा श्रीत्रिलोचना ॥ ७
 कृष्णा कृशा शिरालाङ्गी जर्जरा वितताकृतिः ।
 ज्वालाकुलानलालोचनसंभारशेखरा ॥ ८

एतीति ॥६२॥ यथा शरदम्बरान्तर्विलोक्यतो दृष्टौ पतद्दूरका-
 कारो मौक्तिकगण आभासि, तथा चित्रभसि भ्रान्त्या स्फुरतामेषां
 जगतां संख्यामाधारादितरवपरिगणनं कर्तुं कः समर्थः । न कश्चिद-
 त्यर्थः ॥६३॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे उत्तरार्धे भ्रान्तिमात्रत्वप्रतिपादनं नामाशीतितमः सर्गः ॥८०॥

रुद्रः स नृत्यन्मूलये मैत्रवोऽत्रोपवर्ण्यते ।

तच्छायाकारादिभ्यश्च नृत्यन्ती जगद्वक्त्रिका ॥ १ ॥

'किमकरोत्' इति प्रश्नोत्तरशेषं 'प्रलयाकाशे रुद्रमूर्त्वं छायासी-
 द्दृ का मुने' इति प्रश्नोत्तरं दृष्ट्यात्कारात्रिस्वरुपं च वर्णयितु-
 गुपकमते—अथेति ॥ १ ॥ नृत्यं तावद्वर्णयति—इत्येवैवेत्या-
 दिना ॥ २ ॥ श्यामलार्चिषां नीलप्रभाज्वालानामालानं बन्धन-
 स्तम्भमिव ॥ ३ ॥ बडवामय इव दृशो यस्य । देहबन्धेन
 शरीरग्रहणेन समुत्थितमिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥ नर्तनानुविधा-
 यिनी रुद्रनर्तनमनुकुर्वाणा ॥ ५ ॥ इति धम मतिराघाहा
 आसीदिति शेषः ॥ ६ ॥ श्रीमन्ति त्रीणि लोचनानि यस्याः
 ॥ ७ ॥ तां वर्णयति—कृष्णेत्यादिना । जर्जरा शिथिलाङ्गी ।

१ ज्वालाकुलाना इति पाठो दुष्कः.

मिजाञ्जनतमःश्यामा यामिनीवाकृतिं गता ।
 तमःश्रीर्देहयुकेव साकारेवाम्बरद्युतिः ॥ ९
 अतिदीर्घा करालास्या नभो मातुमिवोद्यता ।
 दीर्घजानुभुजभ्रान्त्या मातुकामेव दिव्युत्थम् ॥ १०
 कृशा बहुपवासेव परिनिम्नमहातनुः ।
 कञ्जलश्यामला मेघमालेव पवनाकुला ॥ ११
 कृशाशक्ता यदा स्थातुं सुदीर्घा विधिना तदा ।
 प्रथितेव शिरारूपैर्दामभिर्देव्यशालिभिः ॥ १२
 तथा नाम सुदीर्घा सा यथा तस्याः शिरःखुरम् ।
 मया दृष्टं प्रयत्नेन चिरोर्ध्वाधोगमागमैः ॥ १३
 अम्ब्राभ्रतन्त्रीप्रथितशिरःकरखुरोत्करा ।
 आमूलात्सूत्रचलिता कण्टकानामिव स्थली ॥ १४
 विश्वरूपमयार्कादिशिरःकमलजालकैः ।
 कृतमालामलालोकवातवह्निमयाञ्चला ॥ १५
 प्रलम्बकर्णालुलितनागा नृशवकुण्डला ।
 शुष्कतुम्बीलताष्ट्रीलादीर्घालोलासितस्तनी ॥ १६
 कुमारबर्हिपिच्छौर्ध्वैर्ब्रह्ममूर्धजमण्डलैः- ।
 लाञ्छितोच्चसुराधीशशिरःखट्वाङ्गमण्डला ॥ १७
 दन्तेन्दुमालाविमला विमलोद्द्योतपाततः ।
 तमोर्णवोर्द्धलेखेव वृत्तावर्तविवर्तिनी ॥ १८
 शुष्कतुम्बीलतेवोच्चैराकाशतदसंस्थिता ।

लोलो वनसंभारो वनसमृद्धिरिव पुष्पपल्लवादिभूषितः श्यामलः
 शेखरो यस्याः ॥ ८ ॥ तिस्र उद्रेक्षाः ॥ ९ ॥ मातुं स्वर्ध्व-
 साम्येन परिमातुमुपमातुं च ॥ १० ॥ परितो निम्ना सगर्ता
 महती तनुर्यस्याः ॥ ११ ॥ सुदीर्घा कृशा च सा यदा स्थातु-
 मशक्ता विधात्रा लक्षिता तदा शिरारूपैर्दामभिर्दाम्याय प्रथिते-
 वैद्युत्प्रेक्षा ॥ १२ ॥ सा तथा सुदीर्घा यथा मया प्रयत्नेन
 योगबलान्मनोवेगेन चिरमनेकसहस्रवर्षकालमूर्ध्वमधश्च गमा-
 गमैर्धवनैस्तस्याः शिरःखुराः पादनखाश्च तेषां समाहारः शिरः-
 खुरम् । 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य' इत्येकवद्भावः । दृष्टं नान्येन द्रष्टुं
 शक्यमिति भावः ॥ १३ ॥ अम्ब्रेः शिराजालैराभ्रतन्त्रीभिश्च
 प्रथिताः शिरःप्रभृतिरपादनखान्ता अङ्गोत्करा यस्याः । आमूला-
 न्मूलमारभ्य शाखाप्रथेयन्तं सूत्रैर्वलिता कण्टकानां स्थली
 निवासभूमिः खदिरादिलतेव स्थिता ॥ १४ ॥ विश्वरूपमयैर्ना-
 नावर्णैर्कादिदेवदानवशिरःकमलजालकैः कण्ठे कृतमाला भू-
 षिता । अमल आलोक्यो यस्य तथाविधो वातप्रवीणो यो वह्नि-
 स्तन्मयान्यञ्चलानि पटत्राणि यस्याः ॥ १५ ॥ प्रलम्बयोः
 कर्णयोरालुलिता नागा यस्याः । तथा नृशवे कुण्डले यस्याः ।
 शुष्का लम्बफला तुम्बीलतेव आष्ट्रीलं ऊरुपर्वप्रन्थिपर्यन्तमा-
 दीर्घाबालोलावसितौ स्तनी यस्याः ॥ १६ ॥ कुमारबर्हिणां
 पिच्छौर्ध्वैर्ब्रह्ममूर्धजानां केशानां मण्डलैश्च लाञ्छितान्युच्चानि
 सुराधीशानामिन्द्रादीनां शिरासि यस्मिन्स्थाविधं खट्वाङ्गमण्डलं
 यस्याः ॥ १७ ॥ दन्तलक्षणया इन्दुमालया विमला । अत एव
 यो० वा० १५७

विलोलावयवाष्ट्रीला वातैः पटपटारवा ॥ १९
 बृहत्तरङ्गोर्ध्वभुजा श्यामलोल्लासशालिनी ।
 एकार्णवोर्मिमालेव नृत्तावृत्तिविवर्तिनी ॥ २०
 क्षणमेकभुजाकारा क्षणं बहुभुजाकुला ।
 अनन्तोप्रभुजाक्षिप्तजगभ्रतनमण्डपा ॥ २१
 क्षिप्रमेकमुखाकारा क्षिप्रं बहुमुखाकृतिः ।
 अनन्तोप्रमुखी क्षिप्रं निर्मुखी चापि च क्षणम् ॥ २२
 एकपाशान्विता क्षिप्रं क्षिप्रं पादशतान्विता ।
 क्षणं चानन्तपादाख्या निष्पाशकारिणी क्षणम् ॥ २३
 कालरात्रिरियं सेति मयानुमितदेहिका ।
 काली भगवती सेयमितिनिर्णीतसञ्जना ॥ २४
 ज्वालापूर्णारघट्टोप्रखाताभनयनप्रया ।
 ज्वलद्धरेन्द्रनीलाद्रिसानूपमललाटभूः ॥ २५
 लोकालोकेन्द्रनीलोप्रश्वभ्रमीमहनुद्वया ।
 वातस्कन्धगुणप्रोततारामुक्ताकलापिनी ॥ २६
 इन्द्रनीलाद्रितुल्योच्चतोरणोच्चैःप्रभाम्बरे ।
 विभ्रान्तकाचशैलाभभगभीषणवायसी ॥ २७
 नृत्यद्गुजलतापुष्पैर्नखशुभाभ्रमण्डलैः ।
 पूर्णचन्द्रशतानीव भ्रमयन्ती नभस्तले ॥ २८
 भ्रमद्भिर्व्याप्तदिकचक्रा भुजैः कल्पाम्बुदैरिव ।
 वर्षद्भिः प्राणिजप्रान्ततारालेखावृहत्प्रभाः ॥ २९
 नखपुष्पाङ्गुलीवल्लीजालैर्भ्रान्तभुजद्भूमैः ।

तदीयविमलोद्द्योतपातवशादभिवृद्धा । वृत्तैरावर्तविवर्तिनी व्या-
 लोला तमोलक्षणस्यार्णवस्य ऊर्ध्वलेखा उपरिभाग इव स्थिता
 ॥ १८ ॥ आकाशलक्षणमाकाशप्रसृतं च तदं संस्थिता । एव-
 मप्येऽपि विशेषणे उभयत्र योजये ॥ १९ ॥ २० ॥ अनन्तैरुप्र-
 भुजैराक्षितो व्याकुलितो जगज्ज्वलमण्डपो यया ॥ २१ ॥ २२ ॥
 ॥ २३ ॥ इति निर्णीताः सञ्जनाः याम् । निपूर्वस्य नयतेरवग-
 त्यर्थत्वात् 'गत्यर्थकर्मक-' इति कर्तरि क्तः ॥ २४ ॥ पुनस्तां
 मुखादिपादान्तं वर्णयितुमारभते—ज्वालैस्वादिना । आरघट-
 यन्त्रस्य शिरःकाष्ठे प्रसिद्धं खातप्रयं ज्वालाभिः पूर्णं स्यात्तदा
 नेत्रत्रयोपमा बोध्या । ज्वलन्ती धरा यस्मिन्स्थाविधो य इन्द्र-
 नीलाद्रिप्रस्वस्तदुपमा ललाटभूर्यस्याः ॥ २५ ॥ लोकालोका-
 चलस्य प्रसिद्धमिन्द्रनीलश्वभ्रमिवाधोनिम्नत्वात्कुण्डलकान्तिप्रका-
 शाप्रकाशमत एव भीमं हनुद्वयं यस्याः ॥ २६ ॥ इन्द्र-
 नीलाद्रौ तुल्ये तुलनाई उपमायोग्ये उच्चैः तोरणे नगरबहिर्दारे
 पद्मरागादिप्रभारजिते अम्बरे द्वारान्तशिखरे विभ्रान्तः प्रति-
 छितः अधोमुखः कृत्रिमः काचशैल इव भगवायसो भगनामा
 काको यस्याः ॥ २७ ॥ २८ ॥ कल्पाम्बुदपक्षे स्फुरत्प्रभाः
 प्राणिजा गजप्रभवा दन्ता इव प्रान्तेषु ताराः बृहत्प्रभाकेखा-
 धाराश्रेणीवर्षद्भिः । भुजपक्षे प्राणिजा गजादिप्रभवा मुक्ता इव
 प्रान्ते प्रलये निपतन्त्यस्ताराश्रेणीव च भास्यमाना नखपङ्क्ति-
 बृहत्प्रभाः वर्षद्भिः ॥ २९ ॥ कुण्ठैरत एवोप्रभृतिभिः । नखा

कृष्णैः कानमिताशेषगगनाप्रोद्धमूर्तिभिः ॥ ३० ॥
 तमालतालतः स्थूलां भुवं दग्धमहाधनैः ।
 विडम्बयन्ती वलितां जङ्घासङ्घेन लोलता ॥ ३१ ॥
 अप्यनन्ते महाव्योम्नि पारं प्रातैः शिरोरुहैः ।
 कुर्वाणेषाततं वासं चरसिमिरदन्तिनः ॥ ३२ ॥
 उह्यन्ते मेरुर्वा येन तेन निश्वासवायुना ।
 घनधुंधुमदिक्चक्रगगनप्राग्गोषिणा ॥ ३३ ॥
 घनमारुतफूत्कारक्ष्वेडनोयं प्रणायता ।
 नियतानुनयेनेव चलिता सानुवृत्तिना ॥ ३४ ॥
 ततो नृत्तवशावेशाद्भ्रमानशरीरिणी ।
 मया दृष्टावधानेन गगनाभोगभूरिणा ॥ ३५ ॥
 बाधसयाऽऽवृता देहे हेलाचलनसारया ।
 माला मलयकैलाससहस्रमन्वरमेरुभिः ॥ ३६ ॥
 आसीत्तस्या युगान्ताभ्रमालिका पट्टपट्टिका ।
 आदर्शमण्डलान्यङ्गे त्रीणि लोकान्तराणि च ॥ ३७ ॥
 कर्णयोर्हिमवन्मेरु रूप्यकाञ्चनमुद्रिके ।
 ब्रह्माण्डधुंधुमेर्माला महती कटिमेखला ॥ ३८ ॥
 अजः कुलाचलाः शृङ्गधनपसनगुच्छकाः ।
 जरत्पुरवनद्वीपप्राग्मपेलवपल्लवाः ॥ ३९ ॥
 तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च ।
 क्रतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥ ४० ॥
 मुक्तालतादिकं नद्यः कालिन्दीत्रिपथादिकाः ।
 धर्माधर्माधुमौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥ ४१ ॥

एष पुण्याणि येषु तथाविधान्यङ्गुलीवलीजालानि येषां तथाविध-
 र्जातभुजहृमैः काननिर्तं वनमिव कृतमशेषं गगनाभ्रमाकाश-
 प्रान्तो यया ॥ ३० ॥ लोलता सर्वतल्लितेन जङ्घासङ्घेन
 दग्धैः खर्जूरदिग्धमहामेर्वलितां दग्धशिष्टतमालतालवृक्षमात्रतः
 स्थूलां प्रोन्नतां भुवं विडम्बयन्ती अनुकुर्वाणा ॥ ३१ ॥ शिरो-
 रुहैः चरसिमिरलक्षणस्य दन्तिनो व्योम्नि वासं कुर्वाणा संपाद-
 यन्तीव ॥ ३२ ॥ प्रतिध्वनिभिर्घनधुंधुमं दिक्चक्रं यस्य तथा-
 विधे गगनप्राग्मे उद्धोषणशीलेन निश्वासवायुना नियतानुनयेन
 अत एव सानुवृत्तिना नटेन सह चलितावासीदित्युत्तरेणान्वयः
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ कथं दृष्टा तदाह—यावदिति । हे-
 लया बिलासेन चलनं नृत्यमेव सारोऽभिप्रेतार्थो यस्यास्तथाभि-
 धया तथा मलयकैलाससहस्रादिगिरिभिर्यावत्साकल्येन रचिता
 माला देहे आवृता भूषणत्वेन संनिवेशिता । 'वृता' इति वा पाठः
 ॥ ३६ ॥ किंच जगत्सर्वं तस्या भूषणादिनिख्यसामग्री बभूवे-
 त्याशयेनाह—आसीदित्यादिना । युगान्ते प्रसिद्धा पुष्करावर्ता-
 यभ्रमालिका वक्षसि इन्द्रनीलपट्टपट्टिका आसीत् । त्रीणि
 लोकान्तराणि अत्र जघनोदरादौ मणिमयादर्शमण्डलान्वास-
 जित्यादिः सर्वत्र यथायोगं विपरिणामेनानुषङ्गः कार्यः ॥ ३७ ॥
 ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ दृष्टान्तीति 'नपुंसकमनपुंसकेन—' इति नपुंसक-

स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः अथर्द्धमपयोक्तवाः ।
 वेदाः सकलशास्त्रार्थचतुःसंस्थानचतुष्पुकाः ॥ ४२ ॥
 त्रिशूलैः पट्टिभैः प्रासैः शारदातवृष्टिमुद्गरैः ।
 निर्यवायुधजालानि अन्धामानि विभर्ति सा ॥ ४३ ॥
 चतुर्दशविधा भूतजातयो याः सुरादिकाः ।
 तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ॥ ४४ ॥
 तस्याश्च नगरप्राग्गिरयो देहशाधिनिः ।
 नृत्यन्त्या सह नृत्यन्ति पुनर्जन्म मुदेव ते ॥ ४५ ॥
 जगत्प्रामैकमेवैतज्जगदस्यावरं तदा ।
 नृत्यतीति मया ज्ञातं परलोके सुखं स्थितम् ॥ ४६ ॥
 निर्गीर्णं जगदङ्गस्थं कृत्वा पृथिसुपागता ।
 परिनृत्यति सा मत्ता जगज्जीर्णाहिचातकी ॥ ४७ ॥
 आदर्शप्रतिबिम्बस्थमिवाभास्यखिलं जगत् ।
 तस्या वपुषि विस्तीर्णं स्वरूपिणि सरूपधृक् ॥ ४८ ॥
 सा न नृत्यति तत्सर्वं सशैलवनकाननम् ।
 जगदृत्यति नानात्म नृत्या पुनरुपागतम् ॥ ४९ ॥
 तज्जगत्तर्तनं चाह तद्देहादर्शसंस्थितम् ।
 चिरं मया तदा दृष्टमभिनष्टं पुनः स्थितम् ॥ ५० ॥
 विचलसारकाजालं भ्रमत्पर्वतमण्डलम् ।
 मशकव्यूहवद्वातव्याधूतामरदानवम् ॥ ५१ ॥
 संग्रामोन्मुक्तचक्राभद्वीपार्णववृताम्बरम् ।
 हेलाविचलनावर्तमौढशैलधरातृणम् ॥ ५२ ॥
 नीलमेघांशुकावृत्तिवातधुंधुमिताम्बरम् ।
 काष्ठस्थ्यादिस्फुटास्फोटपटपटपटारवम् ॥ ५३ ॥

शेषः ॥ ४० ॥ अन्यकर्णयोः हिमवन्मेरुकुण्डलप्रागुक्तकर्णा-
 तिरिककर्णयोः ॥ ४१ ॥ सकलशास्त्रार्थशीराणि ऋग्यजुःसामा-
 थर्वाख्यचतुःसंस्थानानि चतुष्पुकाणि कुचाग्रानि येषाम् ॥ ४२ ॥
 ॥ ४३ ॥ ताः प्रसिद्धा लोमावलयो रोमावलयः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥
 सर्वस्यापि नृत्ये चलनादस्यावरात्मकम् । पूर्वं मृतत्वात्तद्देहलक्षणे
 परलोके सुखं स्थितम् ॥ ४६ ॥ जगत्क्षणी जीर्णः अहिः सर्पो
 यया तथाविधा चातकी पक्षिणी । अत्र चातकीशब्देन मयूरी
 लक्ष्यते मेघप्रियत्वसाम्यात् । अहिरणमृत्ययोस्तस्यां प्रसिद्धेव
 ॥ ४७ ॥ सरूपधृक् प्राक्तनजगत्सदृशरूपधृक् ॥ ४८ ॥ कदाचि-
 दनृत्यन्त्यामपि तस्यां तदन्तर्गतं जगदृत्यतीति मया दृष्टमि-
 त्याह—सेति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ तदेव जगत्तर्तनं वर्णयति—
 विचलदित्यादिना ॥ ५१ ॥ संग्रामे उन्मुक्तचक्राणामिव आभा
 भ्रमणसादृश्यश्रीर्येषां द्वीपादीनां तथाविधैस्त्वैवताम्बरम् । हेलया
 विचलनैर्भ्रमणैरावर्तवार्तैरिव प्रकर्षणोद्धानि शैलधरातृणानि
 यस्मिन् । 'प्रादुद्भोवो—' इति वृद्धिः ॥ ५२ ॥ नीलमेघलक्षणा-
 नामंशुकानां वक्राणामावृत्तिषु परिवर्तनेषु वातेषुधुंधुमितम्बर-
 माकाशं यस्मिन् । अथस्तु परस्परसंचरितानां काष्ठस्थ्यादीनां
 स्फुटास्फोटैः संविचिपन्नैः । पटपटपटपटपटारवार्धरवमिच्छिम्

जगत्पदार्यैर्व्यामिभैरमिधैर्मुकुरैर्यथा ।
 व्यासमाभोगिभांकारैरैरुत्तमैस्तथा ॥ ५४
 मेरुर्नृत्यति लोलोक्कुलावलवृहद्भुजः ।
 भ्रमदभ्रपटोषेतनमस्तनुतनूरुहः ॥ ५५
 अत्यजन्तः समुद्राश्च मर्यादासुदृणं हुमाः ।
 भूमेर्नभस्तलं यान्ति नभसो यान्ति भूतलम् ॥ ५६
 पुराणि घर्षराघर्षैश्च्यन्ते लुठितान्यधः ।
 सगृहाहालवास्तस्यं न च किंचिद्भुतत्यधः ॥ ५७
 तस्यां भ्रमन्त्यां चतुरं चन्द्रार्कद्विनरात्रयः ।
 नखाप्रलेखालोकान्तर्भ्रान्तिकाश्चनसूत्रवत् ॥ ५८
 विभान्ति सृष्टयस्तस्या घर्माणि जलजालिकाः ।
 इव नीहारहारिण्या नीलवारिद्वयाससः ॥ ५९
 क्षमेव तस्याः संपन्नं कवरीमण्डलं वृहत् ।
 पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाह्वो दिशः ॥ ६०
 द्वीपाब्धयोऽम्बुवलयः पार्श्वकाः सर्वपर्वताः ।
 प्राणापानावलीदोलाः पवनस्कन्धशालिकाः ॥ ६१
 तदानुभूतं नृत्यन्त्यास्तस्या वपुषि विस्तृते ।
 हिमवन्मेरुसहायैर्दोलनभ्रममद्रिभिः ॥ ६२
 तरद्विगुलुच्छास्ता बलयस्या तथा कजः ।
 पुनः कल्पान्त आरब्ध इव ताण्डवहेलया ॥ ६३
 सुरासुरोरगानीकरोमशाङ्गः शरीरकः ।

निस्पन्दं स्थातुमशकञ्चसौ भ्रमति चक्रवत् ॥ ६४
 नामाविभवविज्ञानयज्ञयज्ञोपवीतिनी ।
 सा सरन्ती नभस्यासीदनघृत्कारघोषिणी ॥ ६५
 तत्र भूतलमाकाशमाकाशमपि भूतलम् ।
 प्रतिकृति भवत्यन्तर्न च किंचिद्विबर्तते ॥ ६६
 वृहद्भासागुहागेहनिर्गता घनघुंघुमाः ।
 तत्रोप्रा प्रायसो भान्ति घोरघृत्कारकारिणः ॥ ६७
 नभःकरशतैस्तस्याश्चतुरावृत्तिवर्तिभिः ।
 भाति चण्डानिलोद्भूतैराकीर्णमिष पल्लवैः ॥ ६८
 तदङ्गजजगद्भस्तुजातभ्रमणसंभवात् ।
 दृष्टिर्धौरापि मे मोहे सन्ना सेनेव संगरे ॥ ६९
 प्रोद्यन्ते यन्मवच्छेत्ता निपतन्ति नभश्चराः ।
 लुठन्त्यमरणेहानि बलिते देहदर्पणे ॥ ७०
 मेरुः पर्वण्युदा मलयाः पल्लवा इव ।
 हिमाद्रयो हिमकणा इवौर्ध्वोऽञ्जलता इव ॥ ७१
 सन्ना मल्लामिष जगा विन्ध्या विद्याधरा इव ।
 वृक्षावर्ते भ्रमन्तोऽन्ता राजहंसा इवाम्बरे ॥ ७२
 द्वीपान्यपि तृणानीव समुद्रा बलया इव ।
 सुरलोकालयः पद्मा आसंस्तद्देहवारिणि ॥ ७३
 विशाकाकाशसंकाशे स्वप्नाश्चनपुरोपमे ।
 अङ्गे तस्या वृहज्जङ्घे पिण्डादित्यसमन्विषि ॥ ७४

॥५४॥ अन्योन्वसंघट्टनाद्विकेषाच्च प्रतिकर्षणं व्यामिभैरमिधैश्च ज-
 गरपदार्यैस्तद्भ्रमन्तैस्तन्मणेश्च आभोगिभांकारैर्मूर्तिमद्रिभैर्यैरिव
 व्यासम् ॥५४॥ तदेव जगद्भूयं प्रत्येकं वर्णयति—मेरुरित्यादिना ।
 भ्रमद्भ्रमपटैरुपेताश्छन्ना नमन्त्यस्तनवस्तनूरुहाः कल्पवृक्षाश्च
 वक्ष्य ॥ ५५ ॥ मर्यादासुदृणं वेलाभमर्यादानियमम् ॥५६॥ वास्तुषु
 वेक्ष्यभूमिषु भवा वास्तव्यास्तदन्तैः सहितं यथा स्वास्तथा लुठि-
 तानि ॥ ५७ ॥ तस्यां कलरात्र्यां भ्रमन्त्यां सत्यां चन्द्रार्का-
 द्यक्ष्णक्षमाप्ररेखासु ये आलोकः प्रभाविशेषास्तदन्तर्भावेण
 भ्रमन्तः काश्चनसूत्रवदीर्घाकारा भान्ति । भ्रमदलातवह्निप्राया
 इत्यर्थः ॥ ५८ ॥ नीहारेर्द्वारिण्या हारवत्या नीलवारिद्वयाना-
 स्तस्याः सृष्टयो मेवैविसृष्टा जलजालिका घर्माणि खेदविन्दव इव
 विमान्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥ इदानीं जगत्सर्वं तस्या अज्ञत्वेन
 संपन्नमिति वर्णयति—क्षमेवैत्यादिना ॥ ६० ॥ द्वीपा अम्बु-
 वक्ष्य अम्बुवह्निता बलयः संपन्नाः । आनहोहप्रवहादयः पवन-
 स्कन्धकक्षणा नभःसौभ्रशालिकास्तस्याः प्राणापानावलीदोलाः
 संपन्नाः ॥ ६१ ॥ अत एव तदज्ञत्वेन संपन्नैर्हिमवद्वापद्रिमिष-
 द्रपुषि दोलनप्रयुक्ता भ्रमा यस्मिन्स्वाविधं प्रेक्षोक्तिः काशीजन-
 सुक्ष्मभूतमित्युत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥ तरन्तः लवमाना अद्रि-
 कक्षणा सुलुच्छा मलयो वासु तथाविधाः प्रावर्णितस्तन्नो बल-
 मन्त्या परिवर्तयन्त्या तथा ताण्डवलीलया पुनः प्रलव आरब्ध
 इत्युत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥ असौ तस्याः शरीरमेव शरीरको

निस्पन्दं स्थातुमशकञ्च अशकृन्तन् भ्रमतीत्युत्प्रेक्षा । शक्रे-
 श्छान्दसो विकरणव्यत्ययः ॥ ६४ ॥ कर्मफलभूता विभवास्तद-
 गुष्ठानहेतुविज्ञानानि तदनुष्ठानरूपा यज्ञाश्चेति त्रिसूत्रयज्ञोपवी-
 तिनी नमति सरन्ती नृत्यन्ती सा देवी घनघृत्कारा मेघध्व-
 नमस्त्रीर्घोषिणी वेदघोषणवती ब्रह्मचारिणीवासीत् ॥ ६५ ॥
 अथवा तत्र तन्मूलेन च किंचिदपि विवर्तते चलति किन्तु
 भूतलमाकाशं चक्रमिवेण परस्परस्मिन् प्रतिबिम्बनेन
 प्रतिकृति परस्परसदृशं सत् पर्यायेण भूतलमाकाशं भवति
 आकाशं च भूतलं भवति । तत्र पश्यतां द्वे अपि सह स्वस्व-
 गतैः पदार्यैरुर्ध्वाधो विवर्तते इति भ्रान्तिमात्रमित्यर्थः ॥ ६६ ॥
 तच्छासवायुन्वर्णयति—वृहदिति ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ धीरा
 धैर्यवती स्थैर्यवती च मे दृष्टिः संगरे सेनेव तदज्ञजग-
 द्भुभिः सह जातानि यानि भ्रमणानि तरसंभवाच्छ्रमासन्ना
 कुण्ठितशक्तिरासीदित्यर्थः ॥ ६९ ॥ तस्या देहदर्पणे बलिते परि-
 वर्तिते सति ॥ ७० ॥ उर्ध्वा भवा और्ध्वः अञ्जलता इव
 व्यूढा विशकलिताः ॥ ७१ ॥ अम्बरे राजहंसा इव वृक्षा-
 वर्ते अन्तर्भ्रमन्तः । अन्ता इति द्रुलोपेऽणो दीर्घः ॥ ७२ ॥
 तद्देहकक्षणे वारिणि सरसि सुग्लोक्षनामालयः पङ्कयः पद्मा
 इत्यनुषज्यते । उत्प्रेक्षापङ्क्तिनिवेशात्तामित्येदे सरारूपकस-
 मर्चनात् ॥ ७३ ॥ पिण्डीभूतैरादित्यैः समदिवपि तस्या अङ्गे
 विन्ध्यादयः सर्वे जगमतां गता इति परेणाम्बयः ॥ ७४ ॥

विन्ध्यो नृत्यति काञ्चनाचलवने सहस्रं सहस्रो गिरिः
कैलासो मलयो महेन्द्रशिखरी कौञ्जाचलो मन्दरः ।

गोकर्णो गगनाङ्गणे घसुमती विद्याधराणां पुरं
सर्वे अंगमतां गता घनमधस्तस्याः शरीरे सदा ॥ ७५ ॥
अब्धिर्नृत्यति पर्वते गिरिरपि प्रोचर्नभःकोटरे
व्योमापीन्दुदिवाकरैः क्व चलितं भूमेरधस्ताद्व्रतम् ।
सद्वीपाचलपत्तनो घनगणः प्रोत्कीर्णपुष्पो दिवि
व्यालोलं जगदम्बुधाविष तृणं दिक्चक्रके भ्राम्यति ॥

व्योम्नि भ्रमन्ति गिरयोऽम्बुधयो दिगन्ते
लोकान्तराणि पुरपत्तनमण्डलानि ।

नद्यः सरांसि मुकुरान्तरिव प्रवृद्ध-
घातावकीर्णतृणविक्रमणक्रमेण ॥ ७७ ॥

मत्स्याश्चरन्ति च मरौ चरवारिणीषु
व्योम्नि स्थिराणि नगराणि भुवीव भ्रान्ति ।

खे भूधरा गगनसंक्षयवारिवाह-
मुत्पातघातपरिवृत्तगिरिस्थितं तत् ॥ ७८ ॥

ऋक्षोत्करो भ्रमति दीपसहस्रयन्त्र-
चक्रक्रमेण मणिवर्षणवेगचारुः ।

अन्तर्बहिश्च परितः प्रणयेन मुक्तं
विद्याधरामरगणैरिव पुष्पवर्षम् ॥ ७९ ॥

काञ्चनाचलस्य शिरोरुहे वने विन्ध्यश्चिरन्तनं वैरं निर्यातयन्निव
नृत्यति तदसहस्रः सहस्रो गिरिः कैलासादयश्च गगनाङ्गणे
कोपादिव नृत्यन्ति । तत्पक्षपाताद्घसुमती विद्याधराणां पुरं च
नृत्यतः । इत्थं सर्वे स्थावरा जङ्गमतां गता इत्यर्थः ॥ ७५ ॥
किञ्चेदमपरमाश्चर्यम्-अब्धिः पर्वते नृत्यति । स च गिरिः
प्रोचर्नभःकोटरे नृत्यति । तद्योमापि इन्दुदिवाकरैः सह भूमेर-
धस्ताच्चलितं सत् क्व गतं न ज्ञायते । प्रोत्कीर्णानि पुष्पाणि
यस्मिंस्तथाविधः सद्वीपाचलपर्वतो घनगणो दिवि तुलोके सूर्या-
दिस्थाने नृत्यति । इत्थं व्यालोलं जगदम्बुधौ तृणमिव दिक्चक्रके
भ्राम्यतीत्यर्थः ॥ ७६ ॥ तथा गिरयो व्योम्नि भ्रमन्ति ।
अम्बुधयश्च दिगन्ते भ्रमन्ति । पुरपत्तनमण्डलानि नद्यः सरांसि
च स्वाश्रयलोकाल्लोकान्तराणि मुकुरान्तरिव प्रविश्य प्रवृद्धेन
घातेनावकीर्णानां तृणानां यानि विक्रमणानि उड्डयनानि लोके
प्रसिद्धानि तत्क्रमेण भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ७७ ॥ किञ्च मत्स्या चर-
वारिणि समुद्र इव मरौ चरन्ति । नगराणि च भुवीव व्योम्नि
स्थिराणि भ्रान्ति । भूधराः खे भ्रान्ति । गगनं च संक्षयवारि-
वाहाः प्रलयमेघाश्च तेषां समाहारो गगनसंक्षयवारिवाहमुत्पा-
तघातपरिवृत्तगिरिषु स्थितं तत्परमाश्चर्यमित्यर्थः ॥ ७८ ॥
किञ्च ऋक्षोत्करो नक्षत्रसमूहो मणीनां वर्षणवेग इव चारुर्मनो-
हरः सन् दीपसहस्रणां भ्रमन्ति यानि यन्त्रचक्राणि तत्क्रमेण
भूमेरन्तर्बहिश्च भ्रमति । यथा विद्याधरामरगणैः प्रणयेन स्वत्स-
मायां मुक्तं पुष्पवर्षमन्तर्बहिश्च भ्रमति तद्वत् ॥ ७९ ॥ किञ्च

१ पत्तनः इति पाठः समीचीनः.

संहारसर्गनिचया दिनरात्रिभागे
विन्दूपमा रजतयोर्विन्दुसोत्कराश्च ।

कृष्णाः सिताश्च परितोऽमलशुक्लकृष्ण-
स्वादशमण्डलवदाकुलमुल्लसन्ति ॥ ८० ॥

रत्नानि भास्करनिशाकरमण्डलानि
तारोत्करास्तरलमण्डलकान्तिहाराः ।

स्वच्छाम्बराणि चलितानि महाम्बराणि
कुर्वन्त्यनारतमनल्पमलातलेखाः ॥ ८१ ॥

कल्पान्तकालविलुठन्नजगन्मणीनि
व्यावर्तनैर्ज्ञगिति जातज्ञणज्ज्ञणानि ।

तेजांसि शंक्रततयोर्ध्वमधश्च यान्ति
नानाविधानि गुणवन्ति विभूषणानि ॥ ८२ ॥

संप्राममत्तभटखङ्गमरीचिवीचि-
श्यामायमानसकलातपवासराणाम् ।

व्यावृत्तिभिर्विलुठतामपि सुस्थिराणा-
माकर्ष्यते कलकलो जनमण्डलानाम् ॥ ८३ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुहरवह्निरवीन्दुपूर्वा
देवासुराः परिविवृत्तिभिरापतन्तः ।

अन्येऽन्य एव विविधा उपयान्ति यान्ति
घाताघधूतमशकाशनिविभ्रमेण ॥ ८४ ॥

तद्देहे संहाराः प्रख्याः सर्गनिचयाश्च दिनरात्रयोर्भागे पक्षे उल्ल-
सन्ति । दिनरात्रिप्रामा अल्पा इति यावत् । तथा दिवसोत्करा
दिनरात्रिसमूहाश्च मलिनामलिनयो रजतयोर्विन्दूपमा अत्यल्पा
उल्लसन्ति । कृष्णाः सिताश्च पक्षाः परितः भ्रमन्त ये शुक्लाः
कृष्णाश्च ब्रह्मेन्द्रनीलादिनिर्मिताः शोभना आदर्शास्तनमण्डल-
वदुल्लसन्तीत्यर्थः ॥ ८० ॥ तथा तद्देहे भास्करनिशाकरमण्डलानि
रत्नानि संपन्नानि । तारोत्करा नक्षत्रसमूहास्तु तरला मण्ड-
लाकारा कान्तिर्येषां तथाविधा हाराः संपन्नाः । स्वच्छान्यम्ब-
राण्याकाशास्तु चलितानि वेष्टितानि महान्त्यम्बराणि बह्व्राणि
संपन्नानि । तेषु भ्रमद्ब्रह्मताम्यादयः अलातलेखा अनारतमनल्पं
प्रकाशं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ८१ ॥ तन्मूले कल्पान्तकाले विलुठत्
त्रिजगद्यावर्तनैर्ज्ञगिति झटिति जातज्ञणज्ज्ञणानि मणीनि संप-
न्नानि । तथा शंक्रततया शंकारेण ऊर्ध्वमधश्च यान्ति सूर्या-
दितेजांसि नानाविधानि गुणवन्ति नूपुरबलयादिविभूषणानि
संपन्नानीत्यर्थः ॥ ८२ ॥ किञ्चापरमत्याश्चर्यम्-संप्रामेषु मत्तानां
भटानां खङ्गप्रभावीचिभिः श्यामायमानसकलातपा वासरा
येषाम् । तथा देवीताण्डवे व्यावृत्तिभिर्भ्रमणैर्विलुठतामप्यधि-
ष्ठानब्रह्मस्थैर्या-सुस्थिराणां वीरजनमण्डलानां कलकला महायुद्ध-
कोलाहल आकर्ष्यते ॥ ८३ ॥ किञ्चेदमपरमाश्चर्यम् । अनन्तकोट्य-
तीतानागतसर्गप्रलयघटितशरीराया अस्यान्ताण्डवे ब्रह्मेन्द्रादयो
देवासुरा अधिकारप्रवृत्तिभिरन्येऽन्य एव आपतन्त आपद्यमानाः
सन्तो घाताघधूतमशकानामशानीनां विद्युत्तमिव च प्रस्त्रिदेव

संहारसर्गसुखदुःखभवाभवेहा-
नीहानिषेधविधिजन्ममृतिभ्रमाद्याः ।
सार्धं पृथक्च विलसन्ति सदैव सर्गे
व्यामिश्रतामुपगता अपि तत्र भावाः ॥ ८५
भावोद्भवस्थितिर्विपत्करणभ्रमाणां
संहारसर्गभुवनावनिविभ्रमाणां ।
मिथ्यैव खे प्रकचतां खशरीरकाणां
संलक्ष्यतेऽत्र न मनागपि नाम संख्या ॥ ८६
उत्पातशान्तिमरणोत्सवयुद्धसाम्य-
विद्वेषरागभयविश्वसनादि तत्र ।
एकत्र कोश इव रत्नचयो विभाति
नानारसाप्रतिघसर्गपरम्परं तत् ॥ ८७
तस्याश्चिदम्बरमध्ये वपुषि स्वभाव-
भूतास्फुटानुभवभावजगद्भवस्थाः ।
सर्वक्षया मलिनदृक्कलिताम्बरस्थ-
केशोण्ड्रकस्फुरणधन्परितः स्फुरन्ति ॥ ८८
जगत्संश्रुद्धमश्रुद्धं दृश्यते स्थितिसंस्थिति ।
संचाल्यमानमुकुरप्रतिबिम्ब इवास्थितम् ॥ ८९
नृत्यस्फुरत्प्रतापान्तर्जगदर्थः प्रतिक्षणम् ।
स्थितिं त्यजन्ति गृह्णन्ति बालसंकल्पसर्गघत् ॥ ९०

विभ्रमेण अस्थिरताविलासेन आयान्ति यान्ति च ॥ ८४ ॥
किंचापरमाश्चर्यम्—तत्र तस्याः शरीरे प्रतीयमाने सर्गे संहार-
सर्गादयः परस्परविहृदा अपि सर्वभावाः परस्परासंस्पर्शेन सदा
सार्धं पृथक् च विलसन्ति । व्यामिश्रतामुपगता अपि विलसन्ती-
त्यर्थः ॥ ८५ ॥ किंचात्र तच्छरीरे खे चिदाकाशे मिथ्यैव प्रक-
चतामत एव खशरीरकाणां शून्यानां संहारसर्गभुवनावनिविभ्र-
माणां भावादभिष्टानादुद्भवः स्थितिर्विपत्पक्षयः करणमर्थक्रिया-
भ्रमाः परिवर्तान्धेत्येतेषां संख्या इयत्ता मनागपि न संलक्ष्यते
॥ ८६ ॥ किंच तत्र तद्गुणेषु उत्पाततच्छान्त्यादिविरुद्धद्वन्द्व-
जातमेकत्र कोशे रत्नचय इव विभाति । यतस्तद्गुणानारसा
अपि परस्परमप्रतिघाः सर्गपरम्परा यस्मिन्स्थिताविधिमित्यर्थः
॥ ८७ ॥ किंच तस्याः परमार्थतश्चिदम्बरमध्ये वपुषि स्वभाव-
भूतः अशास्त्रीयप्रतीतिसिद्धो यो मायावरणलक्षणोऽस्फुटानुभव-
भावस्तत्प्रयुक्ता जगद्भवस्थाः सर्वक्षयाश्च परितस्तिमिररोगम-
लिनदृशा कलितानि अम्बरस्थकेशोण्ड्रकस्फुरणानीव स्फुरन्ति
॥ ८८ ॥ अचलायामभिष्टानसन्मात्रस्थितौ संस्थितिर्यस्य तथा-
विधं जगदश्रुद्धमेव मायाकोभदृष्ट्या संश्रुद्धं दृश्यते, यतस्तद्वि-
म्बात्मना अचल एव गिरिः संचाल्यमानमुकुरप्रतिबिम्बः सं-
खल इव स्रवति तद्गदास्थितमित्यर्थः ॥ ८९ ॥ नृत्येन स्फुरत्प्र-
तापाया मायाया अन्तर्निविष्टाः सर्वे जगदर्थः प्रतिक्षणं परि-
णामेन पूर्वस्थितिं त्यजन्ति अन्यां च स्थितिं गृह्णन्ति । तत्र
बालसंकल्पसर्ग एव प्रसिद्धो दृष्टान्त इत्यर्थः । तथा चाहुः
सांख्याः 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावाः' इति ॥ ९० ॥

क्रियाशक्तिः शरीरेऽन्तः पूर्यमाणा अनारतम् ।
राशीभूय विशीर्यन्ते जगन्मुद्गकणोत्कराः ॥ ९१
क्षणमालक्ष्यते किंचिन्न किंचिदपि सा क्षणम् ।
क्षणमङ्गुष्ठमात्रैव क्षणमाकाशपूरिणी ॥ ९२
यस्यात्सा सकला देवी संविच्छक्तिर्जगन्मयी ।
अनन्ता परमाकाशकोशशुद्धशरीरिणी ॥ ९३
कालत्रयस्थितजगन्नितयान्तरी हि
चित्सा तथा कचति तेन यथास्थितेन ।
रूपेण चित्रकृदुदारमनःस्थचित्र-
संसारजालसदृशेन कचज्जवेन ॥ ९४
सर्वात्मकैकवपुरेकचिदात्मकत्वा-
त्संशान्तलैकवपुरेकचिदात्मतत्त्वात् ।
एवं निमेषणसमुन्मिषितैकरूपं
सा विभ्रती वपुरनन्तमनादि भाति ॥ ९५
तस्यां विभाति तदनन्तशिलात्मकोशे
लेखान्नचक्ररचनादिवदेव दृश्यम् ।
व्योमात्मकं गगनमात्रशरीरवत्यां
चिस्वाह्वज्जलधिकोश इवोर्मिलेखा ॥ ९६
महती भैरवी देवी नृत्यन्त्यापूरिताम्बरा ।
तस्य कल्पान्तरद्रस्य सा पुरो भैरवाकृतेः ॥ ९७

सर्वपदार्थानामुत्पादनार्थमेव कारकक्रियाशक्तय उपयुज्यन्ते ।
उत्तरे तु भावविकाराः स्वत एव काले प्रवर्तन्ते । यथा मु-
द्गानां राशीकरणे कारकक्रियाशक्तिरुपयुज्यते, विशीर्यप्रसरणे तु
स्वः स्मिन्धतास्वभाव एव हेतुर्न कारकान्तरक्रियाशक्तिस्तद-
दित्याह—क्रियाशक्तीति ॥ ९१ ॥ परिणामिस्वभावजडजगन्म-
यीत्वादेव सा देवी प्रतिक्षणमन्यथान्यथा लक्ष्यते इत्याह—क्ष-
णमिति ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ सा हि देवी कालत्रयस्थितस्य सर्व-
तत्परिणामवैचित्र्यशालिनो जगन्नितयस्यान्तर्भवा आन्तरी-
चित् । अतः कारणाद्यथास्थितेन पर्यायवर्तिना तत्सत्कामकर्म-
वासनापरिपाकानुसारेण कचज्जवेन चित्रकृतः पुरुषस्य उदारो
मनसि स्थितं यच्चित्रसंसारजालं तत्सदृशेन यथास्थितेन तेन
तेन विचित्रेण रूपेण तथा कचतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥ तर्हि किं
सा सप्रपञ्चैव, नेत्याह—सर्वात्मकेति । सा देवी अविद्यावृत्तैक-
चिदात्मकत्वात्सर्वसंसारत्मात्मकैकवपुश्चित्रभित्तिरिवास्ते । विद्या-
निरस्ता विद्यैकचिदात्मकत्वाच्चु संशान्तं यत् समाकाशं तद्गु-
र्निष्प्रपञ्चैवास्ते । एवं बद्धदृशा मुक्तदृशा च गम्यं निमेषणेन
समुन्मिषितेन चाविद्याविद्याभ्यां पर्यायव्यञ्जितेनोपलक्षितं पर-
मार्थतश्चिदेकरूपमनाद्यनन्तं वपुर्विभ्रती सा भातीत्यर्थः ॥ ९५ ॥
विभ्रतेदृशा परिणामदृशा च जीवन्मुक्तानां यौक्तिकानां च तस्यां
जगद्गाने दृष्टान्तद्रयमाह—तस्यामिति । शिलाद्रु रकटिकशिला ।
गगनमात्रशरीरवत्यामित्यन्तमाद्यदृष्टान्तस्य विवरणं, शिष्टं द्विती-
यस्य ॥ ९६ ॥ इत्थं तस्यास्तज्जलस्य च तत्समुपवर्ध-
पुनस्तत्त्वयुत्प्रेक्षादिभिर्वर्णयति—महतीत्यादिना ॥ ९७ ॥

शिरोमन्दाभितोऽभिद्रव्यस्वाणुषनावलिः ।
कल्पान्तवातव्याधृता वनमालेष नृत्यति ॥ ९८
कुहालोत्सलवृत्तीफलकुम्भकरण्डकैः ।
मुसलोदञ्चनस्वालीस्ताम्बैः स्रग्दामधारिणी ॥ ९९
एवंविधानां स्रग्दामजालानां कुलुमोत्करम् ।
किरन्ती संसृजन्तीव नृसधुम्भं क्षयक्षतम् ॥ १००
बन्धमानस्तथा सौऽपि तथैवाकाशभैरवः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० कालरात्रिवर्णनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

अशीतितमः सर्गः ८२

श्रीराम उवाच ।

किमेतद्गगधन्सर्वनाशे नृत्यति केन सा ।
किं शूर्पफलकुम्भाद्यैस्तस्याः स्रग्दामधारणम् ॥ १
किं नष्टं त्रिजगद्भूयः किं काक्या देहसंस्थितम् ।
परिचृत्यति निर्वाणं कथं पुनरुपागतम् ॥ २
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
मासौ पुमाश्च वासौ स्त्री न तदुत्तं न तादृभौ ।

कल्पान्तद्वयस्य शिरो मलाटस्थानममन्दनाश्रितेन उभेन वृत्तीय-
भेत्त्राग्निना दग्धानि भूत एव स्थाणुपरिशेषाणि वनानि यस्यां त-
थाविधा भवनिर्भूमिर्धस्यास्तथाविधा कल्पान्तवातैर्ध्याधृता वन-
माला वनपङ्क्तिरिव सा नृत्यतीत्युत्प्रेक्षा उपमा वा ॥९८॥ न केवलं
तस्याः प्राग्वर्णिताम्येव स्रग्दामानि किंतु खनित्रमुसलोदखला-
द्यपीत्याह—कुहालेति ॥ ९९ ॥ नृते धुम्भं व्याधृतं क्षयेण
भङ्गेन क्षतं किरन्ती नवं नवं संसृजन्तीव ॥ १०० ॥ १०१ ॥
रक्षासवानां पूर्णं यममहिषस्य महाभृङ्गं पाणावादाय डिम्बं
डिम्बमित्यादिभिस्तालव्यञ्जकैः शब्दवाचैर्नृत्यन्त्या उरसि शिरः
शिरांशेव स्रजं कृत्वा विभ्रत्या ताक्षर्यपक्षैः शेखरं भूषितवत्या
प्रलये जगद्भुक्त्वा मुदितया कालरात्र्या बन्धमानः स्तूयमानो
भैरवो वः पायात् ज्ञानप्रतिबन्धकदोषनिरासेन रक्षरित्याक्षीः ॥
डिम्बं डिम्बमित्यादिश्रायमर्थः—हे भैरव, त्वं सर्वप्राणिनां डिम्ब-
मनर्थभोगोपाधिं स्थूलशरीरादिप्रपञ्चं आक्षय्य । क्षयु भदने ।
अक्षयिरवा ततो डिम्बं सूक्ष्मशरीरादिप्रपञ्चमपि क्षय्यं भक्ष्यं
कृत्वा ततोपि सुडिम्बं मूलोपाधिभूतं कारणशरीरमपि चरमसा-
क्षात्कारे तत्त्वत आविर्भूय प्रक्षय्यं सम्यग्भक्ष्यं कृत्वा पञ्चमा-
दियोगभूमिकारोपणेन सहसा शीघ्रमेव पञ्च पञ्च सप्तमभूमिका-
पर्यन्तं सम्यक्परिपाष्य विदेहकैवल्येन जरयेति स्तूयमान इति ।
इति नृत्यन्त्या कालरात्र्या सह युष्माभिः स्तूयन्तौ भैरवो वः
पायादिति वाऽन्वयः ॥ १०२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणा-
त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कालरात्रिवर्णनं नामैका-
शीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

विद्रूपस्य शिवस्वात्र तत्त्वं निष्कृष्य वच्यते ।

सकलं वाचदृशात् परिज्ञातं तु निष्कलम् ॥ १ ॥

सर्वस्य प्रपञ्चस्य विस्तरं प्राक् प्रलयो वर्णितः । प्रलीनस्य

तथैव वितताकारस्तदोच्चैः परिचृत्यति ॥ १०१
डिम्बं डिम्बं सुडिम्बं पञ्च पञ्च सहस्राक्षस्य क्षय्यं प्रक्षय्यं
नृत्यन्ती शब्दवाचैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं ताक्षर्यप-
क्षैः । पूर्णं रक्षासवानां यममहिषमहाभृङ्गमादाय
पाणौ पायाद्भो बन्धमानः प्रकम्पमुदितया भैरवः
कालरात्र्या ॥ १०२

तथाभूते तथाकारे भाकृती न च ते तयोः ॥ ३
अनादिचिन्मात्रमो यत्तत्कारणकारणम् ।
अनन्तं शान्तमाभासमात्रमव्ययमाततम् ॥ ४
शिवं तत्सच्छिवं साक्षाद्भूयते भैरवाकृति ।
तथास्थितो जगच्छान्तौ परमाकाश एव हः ॥ ५
चेतनत्वात्तथाभूतसत्त्वावविभवाद्दते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेतो निराकृति ॥ ६

च तस्य नृत्यन्त्याः कालरात्र्या भूषणादिभावेनात्रे सद्भावो
नृत्यभ्रमणादि च वर्णितमिति नष्टस्य पुनरुन्मजनमुक्तमसंभा-
षितं मन्थमानो रामः पृच्छति—किमेतदिति । सर्वनाशे सति
सा देवी केनाग्नेन नृत्यति । शूर्पफलकुम्भाद्यैस्तस्याः स्रग्दाम-
धारणं च स्वयोक्तं किं, कथं संभावनीयमित्यर्थः ॥ १ ॥ तदेव
स्पष्टमाह—किमिति । नष्टं स्थितं चेतकथं निर्वाणमुपरतं जग-
त्पुनरुपागतं सत् कथं परिचृत्यतीति व्याहृतं प्रतिभातीत्यर्थः
॥ २ ॥ यदि परमार्थदृष्ट्या मवुक्तं व्याहृतं मन्थसे तर्ह्यस्य
नाम परमार्थतद्विम्बानैकरसपूर्णानन्दसम्प्राप्तिरिफलीयुंसा-
दिजगद्रूपस्य रुद्रदेव्यादिभिभागस्य चाख्यन्तासंभावितत्वात् ।
भ्रान्तदृशा तु न किञ्चिद्व्याहृतम् । प्रकृतसत्तया सदा सतां सर्व-
वस्तूनां नाशानाशयोर्विशेषस्य दुर्निरूपत्वादित्यसकृदावेदितस्वा-
जटानामपि स्वप्नोन्मादयोऽरुन्मजनप्रसिद्धैर्भूतानामपि चिराद्भ-
स्मीभूतानां मुनिसिद्धेश्वरादिवरप्रभावात्पुनरागमनप्रसिद्धैर्योव-
ज्ञानं जगदाकारस्य चित्ते संस्कारात्मना सर्वेषां सद्भावेनाख्यन्त-
भ्रान्तैः केवलजगद्रूपेण सर्वजगद्भटितैकमूर्त्यात्मना रुद्रदेव्याद्यु-
पासकैस्तादृशरूपेण च योगसिद्धिबलाद्गुहं शक्यत्वादित्याशयेन
वसिष्ठ उत्तरमाह—मास्वावित्यादिना ॥ ३ ॥ ४ ॥ शिवं
निरतिसञ्चानन्दैकरसं तत्सद्रूपैव शिवं नीलकण्ठत्रिनेत्रस्वाविशि-
वरूपं सप्तप्रलयकाले भैरवाकृति लक्ष्यते उपासकैरिति शेषः ।
यतस्तद्भासनानुसारेण स परमाकाश एव तथा तथा भाकृत्स्य
स्थित इत्यर्थः ॥ ५ ॥ किञ्च चेतने ब्रह्मणि जगदुपबन्धारः
श्रुतिषु प्रसिद्धः । न च निराकारचेतनो लोके केनचिद्भूषत
इति श्रौतो हि संहर्तेश्वर उमासहस्रार्थं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं
नीलकण्ठं प्रशान्तमित्यादिश्रुतिप्रसिद्धरूपेण संभावनीय इत्याशये-
नाह—चेतनत्वाविति । वृत्तीयार्षे पञ्चौ । यथा हेतो निरा-

कथमास्तां वद ब्राह्म विन्मात्रं चेतनं विना ।
 कथमास्तां वद ब्राह्म त्रिचं तिलतां विना ॥ ७
 कटकदि विना हेम कथमास्तां विलोक्यताम् ।
 कथं स्वभावेन विना पदार्थस्य भवेत्स्थितिः ॥ ८
 विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेधुरसः कथम् ।
 निर्माधुर्यञ्च यस्त्विधुरसो न हि स तद्रसः ॥ ९
 अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ।
 न च विन्मात्रनभसो नष्टं कचन युज्यते ॥ १०
 स्वसत्तामात्रकादन्यत्किञ्चित्तस्य न युज्यते ।
 अन्यत्वमुररीकर्तुं व्योमानन्यमसौ किल ॥ ११
 तस्मात्तस्य यदक्षुब्धं सत्तामात्रं स्वभासनम् ।
 अनादिमध्यपर्यन्तं सर्वशक्तिमयात्मकम् ॥ १२
 तदेतन्नजगत्सर्गकस्यास्तौ व्योम भूर्विशः ।
 नाश उरपादनं नाम विनानाभासनं तमः ॥ १३
 जननं मरणं मायामोहं माध्यमवस्तुता ।
 वस्तुता च विवेकञ्च बन्धो मोक्षः शुभाशुभे ॥ १४
 विद्याऽविद्या विदेहत्वं सदेहत्वं क्षणस्मिन् ।
 चञ्चलत्वं स्थिरत्वं वा त्वं चाहं चेतरेभ्य तत् ॥ १५

कृति यथा स्यात्तथा स्यात् न युज्यते तथा तेनापीत्यर्थः ॥ ६ ॥
 यथा हेतो हेमादिद्रव्यस्य पिण्डकुण्डलाद्यन्वत्तमाकारवर्ष्यभाव-
 नियमस्तथा चित्तोऽप्यवश्यं चैत्याकारवल्बननियमो लोके प्र-
 सिद्ध इति निराकारपरिशेषपक्ष एव प्रत्युतासंभावित इति प्रीति-
 वादेनाह—कथमिति ॥ ७ ॥ अज्ञातचित्तः सविषयतास्वभाव-
 त्वादप्याकारो दुस्त्यज इत्याशयेनाह—कथं स्वभावेनैत्या-
 दिना ॥ ८ ॥ ९ ॥ अपि च नष्टानामपि स्पृशतौ भानवर्शनाचि-
 दृष्या कस्यापि निरन्वयनाश एवाप्रसिद्ध इत्याह—न चेति
 ॥ १० ॥ किञ्च ब्रह्मनन्यस्य जगतो ब्रह्मसत्तामात्रकातिरिक्त-
 पाप्रसिद्धेन कस्मन्निर्वाशः प्रसिध्यतीत्याह—स्वेति । ननु 'निर्दूषं
 चानिदूषं च निदूषयं चानिदूषयं च निज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं
 चानृतं च सत्यमभवत्' इति ब्रह्मसत्तातिरिक्तं रूपं भ्रूयते,
 अनुभवन्ति च पामरास्तत्राह—अन्यत्वमिति । असौ ब्रह्मात्मा
 'बहु स्यां प्रजायेय' इति जगदाकारेण अन्यत्वमुररीकर्तुं 'त-
 स्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुतेः प्रथमं
 व्योमानन्यमाकाशाभिज्ञं स्वात्मानं करोति किल । यदि स्वात्मन्यं
 व्योम करोति तर्हि अन्यत्वं कथमुररीकृतं स्यात् । सद्रूपान-
 न्यत्वासंपादने वा कथं व्योम कृतं स्यात् । सदात्मतात्मन एव
 हि व्योमादेरुत्पत्तिरिति न 'निदूषं चानिदूषं च' इत्यादिश्रुत्युक्तस्य
 मूर्तामूर्तरूपस्य सद्रूपान्यतासिद्धिरित्यर्थः ॥ ११ ॥ किं तर्हि
 जगद्रूपमिति चेद्ब्रह्मसत्त्वम् । सा हि तरवावबोधकमानं विना
 लौकिकदृष्ट्या जनसत्प्रलयाधाकारेण सर्पात्मनेव रज्जुर्भासते ।
 तरवावबोधकमानेन तु यथार्थरूपेणेति निष्कर्ष इत्युपसंहरति—
 तस्मादिति ॥ १२ ॥ विनानाभासनं तरवावेदकमानं विनैवा-
 विद्याव्युत्पत्तदृष्ट्या भासनं तैमिरिकदृष्ट्या चन्द्रव्योमादिभासन-

सदसचाथ सदसन्मोर्ष्यं वापिद्वयमेव च ।
 देशकालक्रियाव्रज्यकलनाकेलिकल्पनम् ॥ १६
 रूपालोकमनस्कारकर्मबुद्धीन्द्रियात्मकम् ।
 तेजोवार्थनिलाकाशपुष्पादिकमिदं ततम् ॥ १७
 एतत्सर्वमसौ शुद्धचिदाकाशो निरामयः ।
 अजहद्योमतामेव सर्वात्मैवैवमास्थितः ॥ १८
 एतत्सर्वं च विमलं स्वमेवात्र न संशयः ।
 असावनन्वत्स्वमादिर्दृष्टान्तोऽत्राविस्त्रण्डितः ॥ १९
 चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया ।
 एवोऽसौ शिव इत्युक्तौ भवत्येष सनातनः ॥ २०
 स एव हरिरित्यास्ते भवत्येष पितामहः ।
 चन्द्रोऽर्क इन्द्रो बरुणो यमो धीश्रवणोऽनलः ॥ २१
 अनिलो जलवोम्भोधिर्घ्नो यद्वस्त्वस्ति नास्ति च ।
 इत्येते चिन्मयाकाशकोशलेशाः स्फुरन्त्यलम् ॥ २२
 एवंविधाभिः संज्ञाभिर्मुधाभावनयेदशाः ।
 स्वभावमात्रबोधेन भवन्त्येते तु तादृशाः ॥ २३
 अबोधो बोध इत्येवं चिद्बोमैवात्मनि स्थितम् ।
 तस्मान्नेदो द्वैतमैक्यं नास्त्येवेति प्रशान्यताम् ॥ २४

शिव नमः शुद्धसत्तातिरिक्तार्थान्यमेवेत्यर्थः ॥ १३ ॥
 परमार्थतस्तु जननादि एतत्सर्वं शुद्धचिदाकाशो निरामय
 इति पञ्चमे संबन्धः । माया विज्ञेयः, मोह आवरणं
 तयोः समाहारः ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥
 सदनन्यत्वमिदं चिदनन्यत्वमप्यस्य स्वप्रदृष्टान्तेन संभावनीय-
 मित्याशयेनाह—एतत्सर्वमिति ॥ १९ ॥ स सचिदेकस्वभावः
 परमात्मा । 'शिव एको व्योमः शिवंकरः सर्वमन्यत्परित्य-
 ज्य' इत्यादिश्रुतिषु शिव इत्युक्त एव सनातनः शिवो भवत्येवेति
 मया सद्रूपैरुपन्यस्त इत्यर्थः ॥ २० ॥ स एव विष्णवाद्याका-
 रेणोपासितवतां हरिरिति वेवेणास्ते । एवं पितामहोऽप्यन्येषां
 भवति । किं बहुना । चन्द्रार्कादिवासनावासिनधियां तत्तद्रूपो-
 ऽपि भवतीत्याह—चन्द्र इति । तथा च श्रुतिः 'इन्द्रं मित्रं बरुण-
 ममिमाहुरथो विद्यः स सुपर्णो गह्वरान् । एकं यदिप्रा बहुधा
 वदन्त्यमि यमं मातरिधानमाहुः' इति ॥ २१ ॥ स एवानिलो
 वायुः । ह्यः अतीतं दिनम् । कालमात्रोपलक्षणमेतत् । तत्र
 यद्वस्त्वस्ति नास्ति चेति विकल्प्यते तत्सर्वमेव एवेत्यर्थः । तथा च
 श्रुतिः 'स ब्रह्मा स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वरद । स
 एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः । स एव
 सर्वं ब्रह्मं यच्च ब्रह्मं सनातनम् । ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः
 पन्था विमुक्तये' इति । इति कथिता एते हरिपितामहादयो
 भावाच्चिन्मयस्य ब्रह्मकाशकोशस्य गुणाद्युपाधिप्रयुक्ता लेशा
 अशाः ॥ २२ ॥ मुधाभावमया अन्यथाप्रहमकारिण्या अवि-
 द्याया परमार्थस्वभावमात्रबोधेन तु एते तादृशाच्चिन्मात्रस्वभावा
 भवन्ति ॥ २३ ॥ तथा च ब्रह्मैव कंचित्कालमज्ञदृशा अबोध
 इति जीवजगद्वेषेण स्थितम् । ततो विद्वदृष्ट्या बोधे इति वेवेणं

तावत्तरङ्गत्वमयं करोति
जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं
निरामयं तन्मयतामुपेतः ॥

२५

ज्ञाने तु शान्तिं स तथोपयाति
यथा न सोऽग्निर्न तरङ्गकोऽसौ ।
यथास्थितं सर्वमिदं च शान्तं
भवत्यनन्तं परमेव तस्य ॥

२६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० शिवस्वरूपवर्णनं नाम द्वाशीतितमः सर्गः ॥८२॥

श्रुतीतितमः सर्गः ८३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चिन्मात्रपरमाकाश एव यः कथितो मया ।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तस्तदा रुद्रः प्रनृत्यति ॥ १
यासौ तस्याकृतिर्नासावाकृतिः कृतिनां घर ।
तच्चिन्मात्रघनं व्योम तथा कचति तादृशम् ॥ २
मया दृष्टा तदाकाशमेव शान्तं तदाकृतिः ।
मयेव तत्परिज्ञातं नान्यः पश्यति तत्तथा ॥ ३
यथा नाम स कल्पान्तः स रुद्रः सा च भैरवी ।
मायामात्रं तथा सर्वं परिज्ञातमलं मया ॥ ४
चिद्योमेव परं शून्यं संनिवेशेन तेन तत् ।
तथा संलक्ष्यते नाम भैरवाकारतां गतम् ॥ ५
वाच्यवाचकसंबन्धं विना बोधो न जायते ।
यस्मात्तस्मात्त्वयि मया दृष्टमेव प्रवर्णितम् ॥ ६
यदेव वाच्युपाकृतेतद्राम सर्वैव ते ।
रूढाधिभौतिकदृशः क्षणान्मायात्मतां गतम् ॥ ७
न भैरवी सा नैवासौ भैरवो नैव संक्षयः ।
समस्तमेव तद्भ्रान्तिमात्रं चिद्योम भासते ॥ ८

स्वरूपे स्थितमिति फलितम् । न तदन्यत्किञ्चित्कदाचिदपी-
त्याह—अबोध इति ॥ २४ ॥ तथा च जीवः अज्ञातस्वात्म-
स्वरूपे संसारमहासमुद्रे तावत्कालं जन्ममरणभ्रमणादिनानातर-
ङ्गत्वं करोति, यावत्परब्रह्मात्मकं स्वस्वभावं न जानाति । यदा
तु जानाति तदा तन्मयतामुपेतः सन् निरामयं तदेवास्ते
इत्यर्थः ॥ २५ ॥ तदेवाह—ज्ञाते त्विति ॥ २६ ॥ इति श्री-
वासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शिव-
स्वरूपवर्णनं नाम द्वाशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

चिन्मात्रमेव स शिवो न काली भैरवाकृतिः ।

बोधाय कल्पनादृष्ट्या तथा भातीति वर्ण्यते ॥ १ ॥

अत एव तव मया अविद्याभ्रान्तिनिरासेन तात्त्विकशिवस्व-
भावदृष्ट्युद्घाटनाय जगत्प्रलम्बद्वन्द्व्यादि स्नानभूतं वर्णितं न
तदेव परमार्थं इति भ्रमितव्यमित्याह—चिन्मात्रेत्यादिना
॥ १ ॥ २ ॥ तत्त्वदृशा तु मया तदाकृतिभिर्दाका-
शमात्रमेव दृष्टा । अन्यस्तत्त्वदृष्टिहीनः ॥ ३ ॥ तत्त्वदृष्ट्यं
मया कल्पान्तादिसर्वं मायामात्रमिति परिज्ञातम् ॥ ४ ॥ ५ ॥
कल्पनादृष्टिदृष्टस्यापि तव पुरतो वर्णनं तु वाच्यवाचकशब्दा-
र्थसंबन्धकल्पनं विना निर्विशेषस्य व्युत्पादनायोगात्कल्पनेन

स्वप्ननिर्माणपुरवत्संकल्पपरणवेगवत् ।
कथार्थसार्थरसवन्मनोराज्यविलासवत् ॥ ९
यथा स्वप्नपुरं स्वच्छे व्योम्नि मौक्तिकधीर्यथा ।
यथा केशोण्ड्रकं व्योम्नि तथाऽचिद्भाति चिद्घने ॥ १०
चिन्मात्राकाशमेवाच्छं कचति स्वात्मनात्मनि ।
तथा नाम यदाभाति तदात्मैवं जगत्तथा ॥ ११
यथा चिद्योम्नि कचति स्व एवात्मा तथा पटे ।
तथा कचति तत्तत्र कल्पान्तानलनर्तने ॥ १२
शिवयोरेवमाकारो निराकारोऽङ्ग वर्णितः ।
अधुना शृणु ते वक्ष्ये नृत्यस्यानृततास्थितिम् ॥ १३
चेतनं चेतनाघातोः किञ्चित्संस्पन्दनं विना ।
कचित्स्थातुं न शक्नोति वस्तववस्तुतया यथा ॥ १४
स्वभावाच्चेतनं तस्माद्द्रुद्रत्वेन तथा स्थितम् ।
हेमेव रूपकत्वेन संनिवेशविलासिना ॥ १५
यन्नाम चेतनं यत्र तदवश्यं स्वभावतः ।
स्पन्दधर्मि भवत्येव वस्तुता हि स्वभावजा ॥ १६

त्वद्युत्पादनार्थमित्याह—वाच्येति ॥ ६ ॥ तन्निरसनं तु कल्पित-
प्रक्रियायां सत्यताबुद्धिर्मा भूदित्येतदर्थमित्याह—यदेवेति । हे
राम, सर्वैव चिराभ्यासाज्जगति रूढाधिभौतिकदृशस्ते यदेव
वाच्युपाकृते तदेव क्षणान्मायात्मतां सत्यताभ्रान्तिं गतम् ॥ ७ ॥
न भैरवीत्यादिना पुनर्निवेशेन तत्समस्तमेव भ्रान्तिमात्रं
परमार्थतश्चिद्योमेवेति भासते ॥ ८ ॥ ९ ॥ तथा अचित् चिद्घने
भाति भ्रान्त्या ॥ १० ॥ प्रबोधेन तर्हि कथं भाति तदाह—
चिन्मात्रेति ॥ ११ ॥ तर्हि किं स्वप्नकाशचिदात्मनः स्वपरकचने
विशेषोऽस्ति नेत्याह—यथेति ॥ १२ ॥ तथा च कचनेकस्वभावं
निर्विशेषं चिद्योमेव शिवयोस्तात्त्विको निराकार एवाकारः परि-
शिष्ट इत्युपसंहृत्य नृत्यस्य स्थितिस्तु मायामात्रत्वाद्वस्तुतास्थि-
तिरेवेत्यंशं व्युत्पाद्यमानं शृण्वित्याह—शिवयोरिति ॥ १३ ॥
यथा भ्रान्त्या दृश्यमानं शुक्त्यादि वस्तु रजताद्यवस्तुतया विना
स्थातुं न शक्नोति तथा चेतनाघातोच्चेतनमपि किञ्चित्संस्पन्दनं
विना स्थातुं न शक्नोति । भ्रान्तेः स्वभावविपर्यासकरव नियम-
साम्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥ अत एव सर्वं ब्रह्म सर्वजगद्भटितदेह-
रुद्रदेव्याकारविपर्यासेन अधिष्ठानतास्वभावेन स्थितमित्याह—
स्वभावादित्यादिना ॥ १५ ॥ वस्तुता अधिष्ठानता ॥ १६ ॥

यः स्पन्दश्चिद्धनस्यास्य शिवस्यास्य स एव नः ।
 स्ववासनावेशवशात्प्रत्यमेव विराजते ॥ १७
 अतः स कल्पान्तशिवो रुद्रो रौद्राकृतिर्द्रुतम् ।
 यद्युत्पत्ति हि तद्विद्धि चिद्धनस्पन्दनं निजम् ॥ १८
 श्रीराम उवाच ।
 प्रामाणिकदृशा दृश्यमिदं नास्त्येव वस्तुतः ।
 यदेवास्तीव तत्सर्वं कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ १९
 तत्कल्पान्तमद्वाशून्ये एतस्मिन्परमाम्बरे ।
 कथं चिन्नाम वाऽचेत्यं चेता चेतति चिद्धनः ॥ २०
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 एतदेव तदाप्यङ्ग द्वैतैक्याम्भोधिशान्तये ।
 यदि चिन्मात्रनभसश्चेत्यमस्ति न किञ्चन ॥ २१
 न किञ्चिद्धेतति ततः क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
 सर्वं शान्तं दृषन्मौनं विज्ञानघनमम्बरम् ॥ २२
 यद्येदं चेत्यते नाम तत्स्वभावोऽस्य घल्गति ।
 चित्स्वभावस्य शान्तस्य स्वसत्तायामवस्थितेः ॥ २३
 यथा स्वप्ने चिदेवान्तः पुरपत्तनवद्भवेत् ।

पुरादि न तु तर्कित्विद्विज्ञानाकाशमेव तत् ॥ २४
 आत्मनात्मनि चिच्छून्यं ज्ञात्वा च हेयमप्यलम् ।
 तथा च सर्गादारभ्य वेत्ति स्वं कचनं च तत् ॥ २५
 स्वयमन्तः कचन्ती चित्स्वभावाकाशकोटरे ।
 क्षणकल्पजगद्भ्रान्तिं घस्ते कल्पमया स्वया ॥ २६
 स्वयमन्तः कचत्कान्तिश्चिदाकाशः स्वभावश्चे ।
 अयं सोहमयं च त्वं करोतीत्यादिकल्पनम् ॥ २७
 तस्मात्तु द्वैतमस्तीह न चैक्यं न च शून्यता ।
 न चेतनाचेतनं वै मौनमेव न तच्च वा ॥ २८
 न चेतति क्वचित्किञ्चित्कश्चित्चेत्यात्मभावतः ।
 तेन चेतापि नास्तीव मौनमेवावशिष्यते ॥ २९
 निर्विकल्पसमाधिर्हि सिद्धान्तः सर्ववाङ्मये ।
 तच्च जीवदृषन्मौनं तूष्णीमेवात आस्यताम् ॥ ३०
 कुर्वन्निजं प्रकृतमेव यथाप्रवाह-
 माचारजालमञ्जलः परमार्थमौनात् ।
 निर्मानमोहमदभेदमनङ्गजीव-
 माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्य ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रक० उत्तरार्धे पाषा० विश्वरूपदर्शनं नाम ऋषीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

॥ १७ ॥ १८ ॥ प्रामाणिकदृशा नास्त्येवेति न तस्मिन्कल्पे
 प्रध्नः । अप्रामाणिकदृष्टिकल्पे पृच्छामि । यदेव किञ्चिदस्तीव
 तत्सर्वं कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ १९ ॥ तत्तथा सति चितः
 अचेत्यं चेत्यरहितं चिन्नाम वा कथम् । तथा आभयाभावे
 चेता चेतयिता वा कथम् । स्वातिरिक्तचित्तिक्रियाभावे
 चिद्धनचेतति वा कथम् । त्रिपुटी नोपपद्यत इत्यर्थः ।
 यदि चाविद्या तदानीमसदपि दृश्यं दर्शयतीति तत एव
 त्रिपुटीस्तिद्धिरुच्येत तर्हि सर्गप्रलययोरविशेषः । न ह्यचेतिते
 सर्वजाद्भटिते रुद्रदेवीशरीरे तद्बुद्धं वा संभवति । न हि
 युगपरप्रत्ययेनैक्यं च भावयितुं शक्यमिति भावः ॥ २० ॥ हे अङ्ग,
 यथेः शास्त्रे तदापि तव द्वैतैक्यसंदेहाम्भोधिशान्तये एत-
 देवैतरं शृणु । तदेवाह—यदीति । यदि सर्वप्रलये परिशि-
 ष्टस्त्विन्मात्रनभसः किञ्चन चेत्यमस्ति तदा ततो द्वितीयास-
 र्थश्च क्वचिद्देशे कदाचन काले किञ्चिदपि बस्तु कश्चिदपि न
 चेत्ते । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि-
 श्रुतेति भावः ॥ २१ ॥ तथा चायं प्रामाणिकदृष्टिसिद्धो नित्य-
 शुभ्रस्वभाव एव प्रलय इति त्वयोपन्यस्य इति प्रथमकल्प
 एवंपन्न इत्याह—सर्वमिति । तथा चाप्रामाणिकदृशा द्विती-
 यन्मात्रित्य प्रश्नो नोचित इति भावः ॥ २२ ॥ यदि तु
 प्रथमकल्पवैलक्षण्याय प्रलये अविद्यादि किञ्चिन्नेत्यामभ्युपगच्छसि
 तदिनैव त्रिपुटीजगद्भटितरुद्रदेवीशरीरे तद्बुद्धं च संस्मरतीति
 वाच्यं किञ्चिन्मयोक्तमित्याशयेनाह—यद्येदमित्यादिना ।

तदर्थे इति शठः ।

श्री० वा० १५८

स्वभावः अविज्ञातात्मस्वरूपमस्य ब्रह्मणः प्रलयेऽपि रुद्रदेवी
 तद्बुद्धरूपेण बलगति प्रथते । न चैतावता वास्तवकूटस्थचित्स्व-
 भावहानिरित्याह—चित्स्वभावस्येति ॥ २३ ॥ भ्रान्त्या अन्यथ
 त्वप्रतिभासेऽपि वास्तवस्वभावाप्रच्युतौ दृष्टान्तमाह—यथेति
 ॥ २४ ॥ तथा च सर्वं हेयं ज्ञात्वापि चित् आत्मना आत्मनि सर्वैव
 हेयं शून्यम् । तथा च प्रलयकालेऽपि सर्गारम्भक्षणदारभ्य याव-
 त्प्रलयक्षणं यद्यथा संपन्नं तत्सर्वं स्वं कचनं वेत्तीति सदा सर्वज्ञं
 तद्ब्रह्म प्रतिदमित्यर्थः ॥ २५ ॥ अत एव तत्सर्गकालेऽपि प्रलय-
 मतीतानागतसर्वप्रलयसहस्रैः सह पश्यत्येवेत्यपि संभाव-
 नीयमित्याशयेनाह—स्वयमित्यादिना ॥ २६ ॥ २७ ॥ अत
 एव हि सर्वदृश्यस्य तदभावस्य च परस्परबाधितत्वात्परमार्थव-
 स्तुनो भावाभावोभयनिषेधाच्चित्तेत्याशयेनोपसंहरति—तस्मा-
 दित्यादिना । सर्गप्रलययोर्विशेषोऽपि स्वानुभवेनैव सिद्धो न
 युगपरप्रत्ययेनापलपितुं शक्य इति भावः ॥ २८ ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥ हे राम, त्वमपि ईश्वर इव लोकदृशा निजं प्रकृतमेव
 राज्यपरिपालनायाचारजालं यथाप्रवाहं पितृपितामहप्राप्तक्रमेण
 कुर्वन्नेव स्वदृशा परमार्थमौनाभिर्मानं निर्मोहमपगतमदभेद-
 मत्रैतद्दभिमानीजीवेन च रहितमाकाशकोशवद्विशदाशयं च
 यथा स्यात्तथा शान्तं निर्विकल्पमास्य ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्वरूपदर्शनं
 नाम ऋषीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः ८४

श्रीराम उवाच ।

अनन्तरं मुने ब्रूहि काली किमिव नृत्यति ।
किं शूर्पफलकुहालमुसलादिस्रजाऽऽवृता ॥ १ ॥
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
स भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते ।
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥ २ ॥
यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा ।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥ ३ ॥
स्पन्देन लक्ष्यते वायुर्वह्निरौष्ण्येन लक्ष्यते ।
चिन्मात्रममलं शान्तं शिव इत्यभिधीयते ॥ ४ ॥
तत्स्पन्दमायाशक्त्यैव लक्ष्यते नान्यथा किल ।
शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ॥ ५ ॥
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा ।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम् ॥ ६ ॥

शिवशक्तयोर्मिजं रूपं विविध्यात्रोपवर्ण्यते ।

शूर्पादिमालारूपं च सत्यासत्याभिमर्शतः ॥ १ ॥

या काली नृत्यतीति स्वया वर्णिता सा किमिव । किंस्वरूपे-
त्यर्थः । सा च किमात्मकशूर्पफलकुहालादिस्रजा आवृता तदुभयं
ब्रूहीत्यर्थः । 'कालः किमिव नृत्यति' इति पाठेऽपि कालात्म-
ककालीस्वरूपस्यैव प्रशस्तस्या एव पूर्वोत्तरप्रत्ययोर्नृत्यस्य
शूर्पमुसलादिस्रगधारणस्य च वर्णनात् ॥ १ ॥ शिवस्य
स्वरूपमनिरूप्य तच्छक्तिस्वरूपनिरूपणायोगादुभयरूपं सहैव
निरूपयितुमुपक्रमते—स इति । चलनस्वभावराजोगुणप्राधा-
न्येन स्पन्दशक्तिं सत्त्वगुणरुच्छताप्राधान्येन सर्वतश्चित्प्रति-
बिम्बव्याप्त्या जगत्संस्कारघटितत्वेन च सर्गादिसंकल्पविकल्प-
हेतुत्वेन मनःसाम्यान्मनोमयीम् । शिवे तादात्म्येनाभ्यासा-
त्तदधीनसत्तास्फूर्तिकृत्वाश्च तदनन्यां मायां तां विद्धीत्यर्थः
॥ २ ॥ अनन्यत्वं दृष्टान्ताभ्यां समर्थयति—यथेति । मोक्षा-
त्प्रागेव सर्वकालव्यवहारसमाप्तेः सर्वकालव्याप्तिरस्त्येवेत्याशयेन
सर्वदेत्युक्तिः ॥ ३ ॥ 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन
जातानि जीवन्ति' इत्यादिश्रुतिषु जगत्सर्गप्राणस्पन्दादितत्किय-
र्थेव शिवस्य ब्रह्मणो लक्षणादपि तदनन्यत्वमित्याह—स्पन्दे-
नेति द्वाभ्याम् ॥ ४ ॥ ननु श्रुतौ सर्गादिब्रह्मलक्षणं तच्छि-
वस्य कथमुच्यते तत्राह—शिवमिति । यतः सर्वाः श्रुतयो
ब्रह्मविदश्च शिवमेव ब्रह्म विदुरतो नाशिवं ब्रह्मान्यदस्तीत्यर्थः
॥ ५ ॥ 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिषु सा स्पन्दश-
क्तिरेव शिवस्येच्छेत्युक्ता सैव सत्यकामस्य तस्य मनोराज्यमिव
जगत्तनोतीत्याह—स्पन्दशक्तिरिति ॥ ६ ॥ सैषा स्वान्तर्गत-
चिदाभासप्रदीप्तवाचितिशक्तिर्जीवन्तैतन्यमिति प्रोक्ता ॥ ७ ॥
प्रकृतित्वेन जगदाकारपरिणामित्वेन । तथा च श्रुतिः 'मायां
तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति । दृश्याभासेष्वनु-

करोत्येव शिवस्येच्छा करोतीदमनाकृतेः ।
सैषा चित्तिरिति प्रोक्ता जीवनाजीवितैषिणाम् ॥ ७ ॥
प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता ।
दृश्याभासानुभूतानां करणात्सोच्यते क्रिया ॥ ८ ॥
वडवाग्निशिखाकाराच्छोभ्याच्छुष्केति कथ्यते ।
चण्डित्वाश्चण्डिका प्रोक्ता सोत्पलोत्पलवर्णतः ॥ ९ ॥
जया जयैकनिष्ठत्वात्सिद्धा सिद्धिसमाश्रयात् ।
जयन्ती च जया प्रोक्ता विजया विजयाश्रयात् ॥ १० ॥
प्रोक्ता पराजिता वीर्याहुर्गा दुर्ग्रहरूपतः ।
अकारसारशक्तित्वादुमेति परिकीर्तिता ॥ ११ ॥
गायत्री गायनात्मत्वात्सावित्री प्रसवस्थितेः ।
सरणात्सर्वदृष्टीनां कथितैषा सरस्वती ॥ १२ ॥
गौरी गौराङ्गदेहत्वाद्भुवदेहानुषङ्गिणी ।
सुप्तानामथ बुद्धानाममात्रोच्चारणाद्बुद्धि ॥ १३ ॥

भूतानामुत्पत्त्यासिक्कृतिसंस्कारलक्षणानां चतुर्विधफलानां कर-
णात् ॥ ८ ॥ 'दीपिचर्मपरीधानां शुष्कमांसातिभैरवा' इत्यादि-
पुराणेषु तस्याः शुष्कताप्रसिद्धेरपि निमित्तमाह—वडवेति ।
यतः समुद्रादिजलाद्रब्रह्माण्डदेहा सा वडवाग्निशिखाकाराद्वैष्ण-
वित्यादिज्योतिषः सकाशाच्छोभ्या अतः शुष्केति कथ्यत इति
॥ ९ ॥ यतो जया अतो जयन्ती च प्रोक्ता । तथा च नामद्वय-
स्याप्येकमेव प्रकृतिनिमित्तम् । विशिष्टो जगत्सु विजयापदस्य ।
एकमप्येत्प्युच्यते ॥ १० ॥ उमेति परिकीर्तिता अकारघटका-
नामकारोकारमकाराणां उ म अ इति व्यत्यासेन षट्ने टापि
उमाशब्दनिष्पत्तेरिति भावः । 'समेति परिकीर्तिते' इति पाठे तु
अकारलक्ष्यतुरीयस्वरूपस्थूलसूक्ष्मादिसर्वप्रपञ्चकारविकल्प-
त्वात्सर्ववैषम्यरहितेत्यर्थः ॥ ११ ॥ गायना आपकस्तेषां
परमपुरुषार्थात्मत्वात् । स्वर्गपवर्गसाधनसर्वकर्मोपासनज्ञानद-
ष्टीनां सरणात्प्रसरात् ॥ १२ ॥ भवत्यस्माद्विश्वमिति भव ईश्वरस्त-
देहानुषङ्गिणी । उमानाम पुनः प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—सुप्ता-
नामिति । चार्थे अथशब्दः । सुप्तानां प्रबुद्धानां च त्रेकोदवस्थ-
सर्वप्राणिनां हृदि अनाहतनादात्मना अकारादिमात्राप्रवृत्तस्य
प्रणवनादभागस्य शब्दब्रह्माख्यस्य नित्यं सर्वदेवोच्चारणादौ-
परिमितद्वैतपुण्डरीकच्छिन्ने लिङ्गाकारेण स्थितस्य हृद्द-
शाख्यस्य शिवस्य मूर्ध्नि भूषणभूता बिन्दुरुपा इन्दुकला शे-
त्युच्यते । तथा चोक्तं वायवीयसंहितायाम्—'श्रीमिषिकारं
ब्रह्म ब्रह्मणः प्रतिपादकम् । अहमेति त्रिमात्राभिः परस्व-
र्धमात्रया । तत्राकारः स्थितो भागे ज्वालालिङ्गस्य दक्षिण
उकारश्चोत्तरे तद्वन्मकारस्वस्य मध्यतः । अर्धमात्रात्मको न-
श्रूयते लिङ्गमूर्धनि' इति । हंसोपनिषदि च 'पूर्वे दले पुष्क-
म' इत्यादिहृदयपुण्डरीकदलेषु जीवस्य मतिभेदमुक्त्वा लिङ्गे हृद्
पदस्याग्रे तुरीयं यदा हंसो नादे विहीनो भवति तच्चतुर्वैश्व-

१ अस्याभे—'चेलोन्मुखतयोदिता । सैषोका वासनानास्त्री वासना इत्यसंविदः ॥ सैषा जीवकला प्रोक्ता' इत्यपि कनिहृदयते.

नित्यं त्रैलोक्यभूतानामुमेतीन्दुकलोच्यते ।
 शिष्योर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः ॥ १४
 नभो हि मांसमेताभ्यां दृष्टिदृष्टं विलोक्यते ।
 अस्ति नभो नभस्येव तौ नभोनभसि स्थितौ ॥ १५
 नभोनिभावभूताङ्गावच्छौ व्योम्न इवाप्रजौ ।
 हस्तपादास्यमूर्ध्नो यद्बहुत्वाल्पत्वभेदतः ॥ १६
 नानात्वं हलशूर्पादिस्त्रग्धरत्वं च तच्छृणु ।
 सा हि क्रिया भगवती परिस्पन्दैकरूपिणी ॥ १७
 दद्यात्स्त्रायाश्च जुहुयादित्याद्यप्रशरीरिणी ।
 चितिशक्तिरनाद्यन्ता तथा भातात्मनात्मनि ॥ १८
 साकाशरूपिणी कान्ता दृश्यन्तीः स्पन्दधर्मिणी ।
 देव्यास्तस्या हि याः कास्या नानाभिनयनर्तनाः ॥१९
 ता इमा ब्रह्मणः सर्गजरामरणरीतयः ।
 क्रियासौ ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः ॥ २०
 स्पन्दान्करोति धत्तेऽन्तः कल्पितावयवात्मिका ।
 काली कमलिनी काली क्रिया ब्रह्माण्डकालिका ॥२१
 धत्ते स्वावयवीभूतां दृश्यलक्ष्मीमिमां हृदि ।
 न कदाचन चिदेवी निर्देह्यावयवा क्वचित् ॥ २२

मिति लिङ्गमूर्धस्थे नादे सर्वोपाधिविलयेन ब्रह्मप्रतिष्ठा तुरी-
 यातीतावस्थेत्युक्तमिति भावः ॥ १३ ॥ 'काली किमिति नृत्य-
 ति' इति प्रश्ने किमिति कालीति वर्णनिमित्तप्रश्नमभिप्रेत्योत्तर-
 माह—शिवयोरिति ॥ १४ ॥ ननु चिद्रूपयोः शिवयोर्जडव्यो-
 मरूपता कथं तत्राह—नभ इति । चिद्रूपाभ्यामेवैताभ्यां
 मांसमयं स्वशरीरमिव श्यामं सर्गसंकल्पदृष्ट्या दृष्टमतः श्याम-
 मिव जडमिव च विलोक्यते । निराधारस्थितिरपि तयोर्नभो-
 वदेवानुमेयेत्याह—अस्तीति ॥ १५ ॥ अमूर्तत्वस्वच्छत्वे अपि
 तयोर्व्योमवदेव बोधे इत्याह—नभोनिभाविती । अग्रजौ ज्येष्ठ-
 भ्रातरावित्युपमादाव्याय संभावना । अमूर्तत्वे हस्तपादादि-
 मत्त्वं हलशूर्पादिस्रग्धरत्वं च कथमिति चेत्तत्रोत्तरं श्रावयति—
 हस्तेत्यादिना । हस्तपादास्यमूर्ध्न इति समाहारद्वन्द्वैकवद्भावः ।
 हस्तादेर्यद्बहुत्वाल्पत्वभेदतो नानात्वं वैचित्र्यं यच्च हलशूर्पादि-
 स्त्रग्धरत्वं तच्छृण्विति परेणान्वयः ॥ १६ ॥ हि यस्मात्सा
 भगवती अनाद्यन्ता चितिशक्तिरपि आत्मना स्वेच्छयैव स्वात्मनि
 सर्ववैदिकक्रियारूपा भूत्वा दद्यात्स्त्रायाजुहुयादित्यादिवेदविहित-
 दानज्ञानयागादिश्रेष्ठशरीरिणी संपन्ना तस्मात्तस्या देव्या य
 नानाविधाभिनयसहिता नर्तनास्ता इमा ब्रह्मणः कर्मफलरूपाः
 सर्वप्राणिसर्गस्थितिरामरणरीतयो बोध्या इति परेणान्वयः
 ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ यतः असौ देवी क्रिया अतो निरव-
 यवायाः क्रियाया अप्रसिद्धेः स्वरूपप्रसिद्धयमेव कल्पितहस्तपा-
 दाद्यवयवात्मिका ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः शरीरान्तर्भक्ते
 तैः स्पन्दान्करोति । सां क्रियारूपतां प्रकटयतीति यावत् ॥२०॥
 कालीनामनिर्वचनेऽपि तस्याः क्रियैकस्वभावत्वं ब्रह्माण्डशरीर-
 तया सर्वलोकावयवधारिणीत्वं च प्रसिद्धतीत्याशयेनाह—

शिवत्वाव्यतिरेकेण शिवतैवं विदृश्यताम् ।
 यथाङ्ग शून्यता व्योम्नः स्पन्दनं मातरिभवनः ॥ २३
 ज्योत्स्नायाश्चेत्यमेवं हि दृश्यमङ्गं चित्तेः क्रिया ।
 शिवं शान्तमनायासमव्ययं विद्धि निर्मलम् ॥ २४
 न मनागपि तत्रास्ति स्तैमित्यं स्पन्दधर्मता ।
 सा क्रियैव तथारूपा सती बोधवशाद्यदा ॥ २५
 व्यावृत्त्यैव तथैवास्ते शिव इत्युच्यते तदा ।
 चितिशक्तेः क्रिया देव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ॥२६
 यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
 देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपिण्या महाकृतेः ॥२७
 कल्पिताकारधारिण्या अनन्यावयवा इमे ।
 सर्गाः सज्जनतावर्गा लोका आलोकभास्वराः ॥ २८
 सद्गीपसागराः पृथ्वयः सवनावनयोऽद्रयः ।
 साङ्गोपाङ्गास्त्रयो वेदाः सविद्यास्थानगीतयः ॥ २९
 सविधिप्रतिषेधार्थाः सशुभाशुभकल्पनाः ।
 सदक्षिणाग्नयो यज्ञाः पुरोडाशाद्यशंसिनः ॥ ३०
 भूपालोलूखलवृत्तीशूर्पयूपादिसंयुताः ।
 संप्रामाः सायुधप्रामाः सशूलशरशक्तयः ॥ ३१

कालीति । 'कल गतौ संख्याने च' इति धातोर्हि कालशब्दः
 कालीशब्दश्च निष्पद्यते । कलिः कामधेनुरिति च वैयाकरणा धारणा-
 दिसर्वक्रियावाची कलधातुरित्याहुः । तथा चेयं ब्रह्माण्डलक्षणानां
 बीजकोशानां कालिका कलमित्री निर्मात्री धारयित्री परिणामा-
 दिविकारप्रापयित्री च क्रिया स्वयं सती कमलिनी पद्मिनीलतेव
 काली श्यामला संपन्ना । अत एव हि स्वपुष्पाद्यवयवीभूतामिमां
 पृथ्व्यादिदृश्यलक्ष्मीं हृदि धत्ते इत्यर्थः । एवं जगदङ्गधारणेऽपि
 तस्या असङ्गोदासीनचिद्रूपशिवस्वभावत्वाच्चिरवयवत्वमेवेत्याह—
 न कदाचनेति ॥ २१ ॥ २२ ॥ अङ्गाभावेऽप्यङ्गव्यपदेशे दृष्टा-
 न्तानाह—यथेति ॥ २३ ॥ ज्योत्स्नायाश्चन्द्रिकायाश्चैत्यं प्रबो-
 धनीयं कुमुदायङ्गम् । 'ज्योत्स्नाङ्गमिन्दोः' इति पाठे तु स्पष्टम् ।
 एवं तस्याः कालात्मकं जगदङ्गकं क्रियास्वरूपमुपवर्णय वास्तवं
 स्वरूपं वर्णयति—शिवमिति ॥ २४ ॥ तत्र क्रियास्वरूपं
 तस्या अबोधदशामात्रदृश्यमवास्तवं, शिवरूपं तु बोधदृश्यं वास्त-
 वमित्याह—सेति ॥२५॥ यदा बोधवशात्क्रियास्वभावाद्यावृत्त्य
 तथैव वास्तवस्वभावेनास्ते तदैव शिव इत्युच्यते । कूटस्थस्य
 चितिशक्त्यात्मिकाया देव्या आत्मनि स्वस्या अविद्यावशाद्य-
 त्प्रतिस्थानं प्रतिकूलस्पन्दजडभावेनावस्थानं तदेव क्रियेत्यु-
 च्यते ॥ २६ ॥ विद्यया यथाभूतचिन्मात्रस्वभावस्थितेरेव
 हेतोः शिव इत्युच्यते ॥ २७ ॥ तथा च कल्पितजगद्देहा-
 रिण्या नृत्ये कल्पिता गीतय इव तादृशशूर्पमुसलादिस्रग्दामभू-
 षणमेवोचितमिति वक्तुं भूमिकां रचयति—कल्पिताकारेति ।
 सन्तो विद्यमाना जनतावर्गा येषु । इमे वक्ष्यमाणाः सर्वे ॥ २८ ॥
 ॥ २९ ॥ पुरोडाशरूपं यदाद्यमदनीयं तच्छंसिनस्तद्विष्ण्याः ।
 यज्ञानां द्रव्यदेवतानिरूप्यत्वादिति भावः ॥ ३० ॥ युद्धानामपि

सभुशुण्डीगदाप्रासहयेभमटभासुराः ।
 ज्ञातयो भूतसंघानां चतुर्दश सुरादिकाः ।
 चतुर्दशाधिद्वीपोर्व्यस्तथा लोकाश्चतुर्दश ॥ ३२
 श्रीराम उवाच ।
 चित्तेः कल्पाः शरीरिण्याः सर्गा येऽङ्गे स्थितास्तथा ।
 ते किमात्मनि तिष्ठन्ति उतासत्या वदेति भो ॥ ३३
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 रामासौ किल चिच्छक्तिस्तया यच्चोदितं तथा ।
 तत्प्रवेतितमेघातः सत्यं चेदमिवाखिलम् ॥ ३४
 तत्प्रतिबिम्बितं बाह्यान्मुकुरप्रतिबिम्बवत् ।
 सत्यं तदन्तरेवास्ति चित्तेर्नासत्यमर्थतः ॥ ३५
 चिद्रूपस्य तथाप्यन्तः सत्संकल्पपुरं भवेत् ।
 दृढम्यानाद्विशुद्धायाश्चित्तेर्भवतु सा कथम् ॥ ३६
 भादर्शेष्वथवा स्वप्ने सर्गाः संकल्पनेऽस्तु वा ।
 स आत्मन्यर्थकारित्वात्सत्य इत्येव मे मतिः ॥ ३७

योऽस्वर्गसंपत्त्यादिहेतुविहितकर्मत्वेन यज्ञसाम्यात्तदङ्गैः सह
 निर्देशः । भूपालोद्धलकृत्स्यादिषट्तिस्तद्गामसंबुताः ॥ ३१ ॥
 लोकाश्चतुर्दशोस्तन्तानां सर्वेषामिमे कल्पिताकारधारिण्या देव्या
 अनन्यावयवा इति पूर्वत्र संबन्धः ॥ ३२ ॥ एवं प्रश्नद्वये
 त्वया समाहितेऽपि मम प्राक्सर्गकृतद्वैतैक्ययोगपथासंभवश-
 क्त्याः सम्यक् समाधानं न वृत्तम् । नष्टस्यासतोऽर्थक्रियाका-
 रित्वासंभवात् । स्वसत्ताबलेन कार्यसत्तासंपादनमेव हि कार-
 णानां कार्यार्थक्रिया । उपादानेन कार्यस्य तत्तापहारश्च नाशः,
 न चैकस्मिन्नेव काले कारणेन स्वकार्ये सत्ता संपाद्यते अपह्रियते
 चेति शिष्यते । न वा सर्वकारणसदात्मप्रवृत्तसत्ताकैः पदार्थैः
 प्रलये स्वस्वार्थक्रिया संभावयितुं शक्येत्याक्षयेन रामः पृ-
 च्छति—चित्तेरिति । रुद्रकालीशरीरिण्याश्चित्तेरे प्रलयकालेऽप्यतीतानागताः सर्वे सर्गाः कल्पाः प्रलयाश्च स्थिता इति
 यत्त्वया वर्णितं तत्र पृच्छामि । ये स्थिताः सर्गास्ते
 किमात्मन्यर्थक्रियासमर्थे सत्स्वभावे तिष्ठन्ति उत असत्यास्ता-
 दृशसत्त्वभावशून्या मृगतृष्णाम्बुप्राया इति वदेत्यर्थः ॥ ३३ ॥
 जगतः प्रलयस्य च कदापिदपि नात्यन्तिकं सत्त्वं नाप्यसत्त्वं
 किंतु सत्यसंकल्पानुसारिचिता सत्यमिति चेतितं सत्यमसदिति
 चेतितमसत्त्वं न स्वतोऽस्य किञ्चिदपदेशार्हं रूपमस्ति । तथा च
 प्रलयकालेऽप्येन्दवसर्गाः स्थिता अर्थक्रियासमर्थान्च तत्संकल्प-
 चितो दृष्ट्या । इतरसंकल्पदृष्ट्या तु ते न स्थिता न प्रलीनाश्चेति
 प्राग्बर्णितमेवेत्याक्षयेन वसिष्ठ उत्तरमाह—रामेत्यादिना ।
 यद्ब्रह्मतया सत्यसंकल्पविता तत्तद्भोक्तृवासनाकर्मबीजोद्भेदेन
 सर्गाय वा प्रलयाय वा चोदितं तथा तैर्भोक्तृभिः प्रचेतितमनु-
 भूतमेव । अतस्तदनुभवितृदृशा इदमखिलं सत्यमिव । चाद-
 न्यदृशा अत्यन्ताप्रसिद्धेरसत्यमिव ॥ ३४ ॥ कुतः सत्यमिव त-
 प्राह—तदिति । यतस्तत्त्वं बाह्यान्मुखादेर्विम्बाभिस्तान्मुकुर-
 प्रतिबिम्बवत् पूर्वानुभववासनादिनिमित्तात्तत्साक्षिचित्ति प्रति-

मम नार्थाय स इति वक्षि चेषत्कथं भवेत् ।
 देशान्तरगताः सर्वे भवन्त्यर्थाय संप्रति ॥ ३८
 यथा देशान्तरग्रामस्तद्गतस्यार्थकृद्भवेत् ।
 सर्वे तथैव तद्भावं गतस्यार्थविनिश्चयात् ॥ ३९
 यद्यथाभूतसर्वार्थक्रियाकारि प्रदृश्यते ।
 तत्सत्यमात्मनोऽन्यस्य नैवातत्तामुपेयुषः ॥ ४०
 तस्माच्चिच्छक्तिकोशस्थाः सर्वाः सर्गपरम्पराः ।
 सत्य आत्मेति तद्भावं गतस्यान्यस्य नाखिलाः ॥ ४१
 भूतमव्यभविष्यस्थाः संकल्पस्वप्नपूर्णाः ।
 सर्वे सत्याः परं तत्त्वं सर्वात्मा कथमन्यथा ॥ ४२
 प्राप्यन्ते योगसिद्धेन तद्भावं तु गतेन ते ।
 अन्येन पर्वता ग्रामा गत्या देशान्तरे यथा ॥ ४३
 चालितस्य यथा गाढनिद्रस्य स्वप्नपत्तनम् ।
 न लुठस्येव लुठितमित्यप्यनुमतं स्फुटम् ॥ ४४

बिम्बितं तदन्तरेवास्ति अतोऽर्थतस्तं प्रति सत्यमेव ॥ ३५ ॥
 कथं तर्ह्यसत्यं तत्राह—चिद्रूपस्येति । तथा तदनुभवबलात्स-
 त्यत्वेऽपि चिद्रूपस्यान्तरचिद्रूपस्य प्रवेशायोगात्सत्संकल्पनगर-
 वन्मिष्यैव भवेत् । अत एव ध्यानदाब्धेन वासनाक्षये तत्प्रस-
 क्तिरेव नास्तीत्याह—दृष्टेति ॥ ३६ ॥ प्रतीतिमात्रेणाद्दृशा
 सत्यत्वं तु प्रतिबिम्बस्वप्नार्थार्थानामपि सुबन्वं तेषामपि तदन्तः
 स्वानुरूपार्थक्रियाकारित्वदर्शनादित्याह—आदर्शेष्विति ॥ ३७ ॥
 स आदर्शान्तर्गतो घटादिर्मम बाह्यजलाहरणाद्यर्थाय समर्थो
 नेति चेत् त्वं वक्षि वदसि तर्हि शृणु । तदादर्शान्तर्गतं बहिर-
 र्थाय कथं भवेत् । न ह्यन्यत्र विद्यमानमन्यत्र जलाहरणाद्यसमर्थ-
 मिलेतावता असद्भवति । किं तव देशान्तरगताः सर्वे घटा-
 र्थाः संप्रति ते गृहे जलाहरणाद्यर्थाय समर्था भवन्तीति काकः ।
 देशान्तरे तेषामर्थक्रियाकारित्वमिव दर्पणस्वप्नान्तरार्थक्रिया तु
 प्रतिबिम्बादेरप्यस्त्येवेत्याह—यथेति । सद्भावं स्वप्नादिद्रष्टृभा-
 वम् ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ अत एव तत्सदर्थक्रियाद्रष्टृदृष्ट्यैव तत्सत्यं नान्यद-
 द्येति व्यवस्थितं तस्य सत्यत्वमित्याह—यदिति । आत्मनस्वप्न-
 द्वात्मनः सत्यम् । अतस्तां अतद्भ्रूतामुपेयुषः अन्यस्य पुरुषस्य
 दृशा नैव सत्यम् ॥ ४० ॥ तद्देव प्रकृतेऽपि योज्यमित्युपसं-
 हरति—तस्मादिति ॥ ४१ ॥ अन्यथा तेषामसत्यत्वे सर्वात्मा
 परं तत्त्वं कथं स्यात् । न ह्यत्यन्तासत्त्वत्त्वमात्मा वा प्रसिद्ध
 इति भावः ॥ ४२ ॥ अत एव परस्वप्नार्थार्था अपि योनिभिः
 प्राप्यन्ते, इच्छया उपभुज्यन्ते चेत्याह—प्राप्यन्त इति । अन्ये-
 न तस्मात्प्रपुरुषातिरिक्तेनापि परकायप्रवेशेन तद्दृश्यं प्रविश्य
 तन्मनोभावं गतेन यथा देशान्तरे विद्यमानाः पर्वतग्रामास्तत्र
 गत्या प्राप्यन्ते तद्वत् ॥ ४३ ॥ नृत्येन काल्याश्चक्रेऽपि तद्देह-
 गतभूम्याद्यचक्रे दृष्टान्तमाह—चालितस्येति । शनैः पर्यङ्क-
 स्यान्त्यत्र नयनेन शयनस्थलादन्यत्र चालितस्यापि ॥ ४४ ॥

तथा चलन्त्या लुठितं तस्या देहगतं जगत् ।
न लुठत्येष मुकुरप्रतिबिम्बमिव स्थितम् ॥ ४५
स त्रैलोक्यमहारम्भः सत्योऽपि भ्रान्तिमात्रकम् ।
भ्रान्तिमात्रस्य के नाम लुठनालुठने षड् ॥ ४६
कदा स्वप्नपुरं सत्यं कदा स्वप्नपुरं मुधा ।
कदा स्वप्नपुरं भ्रमं कदा स्वप्नपुरं स्थितम् ॥ ४७
भ्रान्तित्वं केवलं सैव दृश्यश्रीर्यावदग्रग ।

त्वं विद्धीमामपि भ्रान्तिं जगद्भ्रमीमवास्तवीम् ॥४८
संकल्पने मनोराज्ये स्वप्ने संकथने भ्रमे ।
यथापुरानुभवानं त्रैलोक्यानुभवं तथा ॥ ४९
अहमिति जगदिति नान्त-
भ्रान्तिरियं प्रकचतीव चितः ।
परमाकाशकृशाख्या
शाम्यति निपुणं परिज्ञाता ॥ ५०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० शिवशक्तिवर्णनं नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

पञ्चाशीतितमः सर्गः ८५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति नृत्यति सा देवी दीर्घदोर्दण्डमण्डलैः ।
परिस्पन्दात्मकैर्व्योम कुर्वाणा घनकाननम् ॥ १
क्रियासौ नृत्यति तथा चित्तिशक्तिरनामया ।
अस्या विभूषणं शूर्पकुहालपटलादिकम् ॥ २
शरशक्तिगदाप्रासमुसलादि शिलादि च ।
भावाभावपदार्यौघकलाकालक्रमादि च ॥ ३
चित्स्पन्दोऽन्तर्जगद्धत्ते कल्पनेव पुरं हृदि ।
सैव वा जगदित्येव कल्पनेव यथा पुरम् ॥ ४
पवनस्य यथा स्पन्दस्तथैवेच्छा शिवस्य सा ।
यथा स्पन्दोऽनिलस्यान्तः प्रशान्तेच्छस्तथा शिवः ॥५
अमूर्तो मूर्तमाकाशे शब्दाडम्बरमानिलः ।
यथा स्पन्दस्तनोत्येवं शिवेच्छा कुरुते जगत् ॥ ६
नृत्यन्त्याथ यदा तत्र तथा तस्मिन्पराम्बरे ।

काकतालीययोगेन संरम्भवशतः स्वयम् ॥ ७
निकटस्थः शिवः स्पृष्टः स मनागभ्रमन्तिकम् ।
वाडवोऽग्निः स्वनाशाय वहन्त्येवाम्बुलेखया ॥ ८
स्पृष्टमात्रे शिवे तस्मिन्ततः परमकारणे ।
प्रवृत्ता प्रकृतिं गन्तुं सा शनैस्तनुतां तथा ॥ ९
अनन्ताकारतां त्यक्त्वा संपन्ना गिरिमात्रिका ।
ततो नगरमात्रासौ ततश्च द्रुमसुन्दरी ॥ १०
ततो व्योमसमाकारा शिवस्यैवाकृतिं ततः ।
सा प्रविष्टा सरिच्छान्तसंरम्भेव महार्णवम् ॥ ११
एक एवाभवदथो शिवया परिवर्जितः ।
शिव एव शिवः शान्त आकाशे शमनोऽभितः ॥१२
श्रीराम उवाच ।
भगवद्विद्धवसंसृष्टा सा शिवा परमेश्वरी ।
किमर्थमागता शान्तिमिति मे ब्रूहि तत्त्वतः ॥ १३

दार्ष्टान्तिके योजयति—तथेति ॥ ४५ ॥ तदचलने बुक्ष्यन्तर-
माह—स इति ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ इमां इदानीं तनीमपि ॥ ४८ ॥
तथा त्रैलोक्यानुभवं विद्धीत्यनुषज्यते ॥ ४९ ॥ चितः अन्तः
अहमिति जगदिति च वस्तुतो नास्ति । परंतु इयं आकाशः
कृश इतीव आख्यायत इत्याख्या भ्रान्तिः कचति । न आकाशे
काश्यं काष्ण्यं वास्ति । सा अज्ञानाभ्रान्तिः । अत एव निपुणं
परिज्ञाता शाम्यतीत्यर्थः ॥ ५० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शिवशक्तिवर्णनं नाम
चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

देवास्तथा प्रनृत्यन्त्या इष्टा स्पृष्टा च तं शिवम् ।

प्रेम्णा तद्गुणे विलयादेकीभावोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

परिस्पन्दात्मकैर्दीर्घदोर्दण्डमण्डलैर्व्योम घनं काननं कुर्वाणा
सा देवी इति प्रागुक्तरीत्या नृत्यति ॥ १ ॥ अज्ञातस्वतत्त्वा
चित्तिशक्तिरेवासौ क्रिया । सा च तथा नृत्यति स्वभावादेवेत्यर्थः
॥ २ ॥ ३ ॥ अलातस्पन्दश्चक्रयाकारमिव स चित्स्पन्द एव
जगदाकारं धत्ते इत्याह—चित्स्पन्द इति । यथा मनोराज्यक-
ल्पनेव हृदि पुराकारं धत्ते तद्वत् । अथवा जगदेव सा न भेद

इत्याह—सैवेति ॥ ४ ॥ अथ शिवेच्छा सा शिवाभिज्ञेत्याह—
पवनस्येति । इच्छात्मिकायास्तस्याः कथं पूर्णकामशिवाभेदस्त-
त्राह—यथेति । यथा अनिलस्यान्तः स्पन्दो नानिलस्वरूपा-
दन्य इत्यस्पन्द एव । एवं शिवेच्छापि शिवादनन्येत्यनिलेच्छैव तद्दृ-
ष्टेति भावः ॥ ५ ॥ कथममूर्ताया इच्छाया मूर्तजगदाकारस्त-
त्राह—अमूर्त इति । अनिलः अनिलाश्रितः स्पन्दः ॥ ६ ॥
संरम्भः प्रेमनिर्भरस्तद्वशतो यदा शिवः स्पृष्टस्तदा प्रकृतिं गन्तुं
प्रवृत्तेति व्यवहितेनान्वयः ॥ ७ ॥ अन्तिकं अभ्रमिव तिरोधा-
यकं स्वावरणशक्त्यंशं मनाक् अपनीयेति शेषः । यथा वहन्त्या
समुद्राम्बुलेखया वाडवोऽग्निः स्वनाशाय स्पृश्यते तद्वत् ॥ ८ ॥
प्रकृतिं अव्यक्तभावम् ॥ ९ ॥ तत्रादौ भौतिकानन्ताकारत्यागेन
भूतामात्रभावमाह—अनन्तेति । ततः पञ्चीकरणत्यागेन सूक्ष्म-
भूतात्मना नगरमात्रा । ततो विचित्रवासनामात्रपल्लवशाखाशा-
लित्वात् द्रुम इव सुन्दरी ॥ १० ॥ अव्याकृतव्योमसमाकारा
॥११॥ आकाशे प्राग्वर्णिते शमनः सर्वसंहर्ता सर्वोपलब्धशान्त्या
शिव एक एवाभितोऽभवत् ॥१२॥ किमर्थं किंनिमित्तम् ॥१३॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी ।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा ॥ १४
स परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः ।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥ १५
भ्रमति प्रकृतिस्तावत्संसारे भ्रमरूपिणी ।
स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥ १६
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम् ।
अजरं परमाद्यन्तवर्जितं वर्जितद्वयम् ॥ १७
संविन्मात्रैकधर्मित्वात्काकतालीययोगतः ।
संविहेवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥ १८
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्जति ।
तदन्तरेकतां गत्वा नदीरूपमिवाणवे ॥ १९
आपगा हि पयोमात्रं सङ्गे अर्णव एव सा ।
यदा तदा तमेवाशु प्राप्य तत्रैव लीयते ॥ २०
चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवासाद्य शाम्यति ।
जन्मस्थानशिलां प्राप्य तीक्ष्णधारा यथायसी ॥ २१
पुंसइच्छायां निजच्छाया प्रविष्टस्य शरीरकम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणो वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० प्रकृतिपुरुषक्रमवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥८५॥

षडशीतितमः सर्गः ८६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शृणु राम कथं तत्र महाकाशे तथा स्थितः ।
देहे भ्रान्तिं तु तां त्यक्त्वा स रुद्रोऽप्युपशाम्यति ॥ १
स रुद्रस्तौ जगत्खण्डौ तदा चित्र इवार्पिताः ।
निस्पन्दा एव तत्रासन्प्रेक्षमाणे स्थिते मयि ॥ २
ततो मुहूर्तमात्रेण स रुद्रस्तौ नभोन्तरे ।

॥१४॥१५॥ सा पारमेश्वरी इच्छा ॥१६॥ तथा चेच्छाया इष्टप्रा-
प्तिपर्यन्तमेव स्पन्दस्तप्राप्तौ तु शान्तरेवोचितेति भावः ॥१७॥
॥ १८ ॥ प्रकृतित्वं कार्याकारपरिणामम् ॥ १९ ॥ अत्रोपप-
त्तिमाह—आपनोत्यादि ॥ २० ॥ आयसी अयोविकारक्षुरादि-
संबन्धिनी धारेव ॥ २१ ॥ वनादिच्छायां प्रविष्टस्य पुंसो
निजच्छाया यथा तच्छरीरकं प्रविशति तद्वत् ॥ २२ ॥ तर्हि
वनाद्बहिर्निर्गमने पुनश्चायेव ब्रह्मप्राप्तस्यापि पुनः संसृतिः
स्यात्तत्राह—चेति त्वेति । पुनरागमने निमित्तस्याज्ञानस्य बाधा-
दिति भावः ॥ २३ ॥ पुनः संसारेच्छायां हि पुनरागमः
संभाव्येत तत्त्वबोधे सैव दुर्लभेत्याह—साधुरिति । चोरमेव
भ्रान्त्या यावत्स्वहितं परिजानाति । चोरोऽयं ममाहित इति वि-
जाय तु तत्र न रमते ॥ २४ ॥ २५ ॥ यद्यस्माच्चितिनिर्वाणं
प्रशान्तं रूपमेव परमं निरतिशयानन्दं पदं तत्तस्मात्प्रकृतिरज्ञ-
चिदपि ज्ञानेन तत्प्राप्य तत्तामवाप्नोति ॥ २६ ॥ उक्तमेवार्थं
विद्वत्प्रोपसंहरति—तावदिति द्वाभ्याम् । स्पष्टम् ॥२७॥२८॥

यथाशु प्रविशत्येव प्रकृतिः पुरुषं तथा ॥ २२
चेतित्वा चिन्नित्तं भावं पुरुषाख्यं सनातनम् ।
भूयो भ्रमति संसारे नैह तर्ता प्रयाति हि ॥ २३
साधुर्वसति चोरीधे तावद्यावदसौ नतम् ।
परिजानाति विज्ञाय न तत्र रमते पुनः ॥ २४
द्वैते तावदसद्रूपे रमते भ्रमते चितिः ।
परं पश्यति नो यावत्तं दृष्ट्वा तन्मयी भवेत् ॥ २५
चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिदग्धाविवाग्धिताम् ॥ २६
तावद्विमोहवशतश्चितिराकुलेषु
सर्गेषु संसरति जन्मदशासु तासु ।
यावन्न पश्यति परं तमथाशु दृष्ट्वा
तत्रैव मज्जति घनं मधुनीव भृङ्गी ॥ २७
संप्राप्य कस्त्यजति नाम तदात्मतत्त्वं
प्राप्यानुभूय च जहाति रसायनं कः ।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि
दुःखानि जन्ममृतिमोहमयानि राम ॥ २८

खण्डौ विलोकयामास दृशार्केणेव रोदसी ॥ ३
ततो निमेषमात्रेण घोणाश्वासेन खण्डकौ ।
तौ समानीय चिक्षेप पातालान्तरिवानने ॥ ४
अतिष्ठदेक एवासावेकं खे खमिवाखिले ।
मुक्तब्रह्माण्डखण्डोप्रमण्डमण्डकमण्डलः ॥ ५

इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
प्रकृतिपुरुषक्रमवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

ब्रह्माण्डखण्डपरंप्राप्तिरुद्रदेहस्य सौक्ष्म्यतः ।

चिदाकाशे तिरोभावः शिलायामत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

तत्प्रदेशान्तरेष्वन्यशिलावृक्षतृणादिषु ।

सर्वत्र सर्गवैचिभ्यदर्शनं ब्रह्मणीयते ॥ २ ॥

तत्रादौ रुद्रदेहोपसंहारक्रमं प्रावयति—शृण्विति । यथा इत्यर्थे
कथंशब्दः । स प्राग्वर्णितप्रभावः ॥१॥ तौ जगत्खण्डौ ऊर्ध्वाधस्ता
नब्रह्माण्डखण्डे चेति त्रयोऽपि चित्रे अर्पिता लिखिता इव निस्पन्द-
एव तत्राकाशे तदा आसन् ॥२॥ अर्केण सूर्यात्मिकया दृशा रोदसी
यावाभूमी इव । 'कोणेन' इति पाठे कटाक्षेण रोदसी यावाभूमीभूतौ
तौ जगत्खण्डाविति व्याख्येयम् ॥ ३ ॥ घोणा नासिका तदुप-
लक्षितमुखाकृष्टेन श्वासेन ॥ ४ ॥ भुक्ते ब्रह्माण्डखण्डलक्षणे
उभे क्षीरमण्डं च मण्डकं मण्डलं चेत्येते द्वे येन । जलाद्या-

१ नतमिति मूलस्यस्वायमर्थः.

ततो मुहूर्तमात्रेण लघुः सोऽभ्रमिवाभवत् ।
 ततोऽभवद्यद्विसमस्ततः प्रादेशमात्रकः ॥ ६
 ततः काचकणाकारो मया दृष्टः स तादृशः ।
 ततः सोऽणुभवन्दृष्टो मया खाद्विव्यदृष्टिना ॥ ७
 परमाणुरथो भूत्वा ततस्त्वन्तर्द्धिमाययौ ।
 इत्यसौ शममायातः शरदम्बुदखण्डवत् ॥ ८
 तादृशोऽपि महारम्भः पुरः पश्यत एव मे ।
 इति सावरणे तेन ते ब्रह्माण्डकवाटके ॥ ९
 विनिर्गीर्णे क्षुधातेन हरिणेनेव पर्णके ।
 अथाभ्रमिर्मलं व्योम शान्तं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १०
 अनादिमध्यपर्यन्तं संविदाकाशमात्रकम् ।
 इत्यहं दृष्ट्वास्तत्र कल्पान्तमुहविभ्रमम् ॥ ११
 दर्पणप्रतिबिम्बामं शिलाशकलकोटरे ।
 अथ तामङ्गनां स्मृत्वा तां शिलां तंश्च विभ्रमम् ॥ १२
 राजद्वारगतो ग्राम्य इवाहं विस्मयं गतः ।
 तामालोकितवान्भूयः कलधौतशिलामहम् ॥ १३
 यावत्सर्वत्र सन्त्यत्र सर्गाः काल्या इवाङ्गके ।
 बुद्धिनेत्रेण दृश्यन्ते दिव्याक्षणा वा न ते यथा ॥ १४
 सर्वत्र सर्वदा सर्वं यदस्त्येव तदा तथा ।
 दूरवत्प्रेक्ष्यते मांसदृशा यद्येव सा शिला ॥ १५
 दृश्यते तच्छिलैवैका न तु सर्गादि किञ्चन ।
 सावस्थिता शिलैवैकरूपा निबिडमण्डला ॥ १६
 कलधौतप्रयी स्फारा संभ्याजलदसुन्दरी ।
 ततोऽहं विस्मयाविष्टः प्रविचारितवान्पुनः ॥ १७
 शिलायामपरं भागं तथैव परया दृशा ।
 यावत्समपि पश्यामि जगदारम्भमन्धरम् ॥ १८

वरणलक्षणक्षीरमण्डसहिते वा ब्रह्माण्डखण्डमण्डकमण्डले द्वे व्या-
 ख्येये । क्षीरमण्डेन सह हि मण्डकमण्डलं तद्भुजां रोचते ॥५॥
 अन्नमिव लघुरभवत् । यद्विद्वन्मण्डस्तसमः ॥ ६ ॥ काच-
 कणः सूक्ष्मं काचशकलम् । खादाकाशादप्यणुभवन् ॥ ७ ॥
 ॥ ८ ॥ ९ ॥ अल्पे पर्णे पर्णके । निर्मलं दृश्यकालुष्यरहितम्
 ॥ १० ॥ पाषाणोदरसंसारकथासमाप्तिं सूचयन्नुपसंहरति—
 इत्यहमिति । कल्पान्तं महाप्रलयम् ॥ ११ ॥ तामङ्गनां
 विद्याधरीम् ॥ १२ ॥ ग्रामे भवो ग्राम्यः कदाप्यदृष्टनगरो
 जन इव । तां शिलां पूर्वदृष्टप्रदेशात् प्रदेशान्तरेष्वप्यालोकित-
 वान् ॥ १३ ॥ यावदिति साकल्ये यत इत्यर्थे वा । प्राग्दृष्टे
 कास्या अङ्गके शरीरे इव सर्वत्र सर्गाः सन्ति । 'कल्पा इव' इति
 पाठे कल्पाः सर्गा इवेति सिध्यात्वसूचक इवशब्दो व्याख्येयः ।
 ते सर्गाः ॥ १४ ॥ यदि सा शिला मांसदृशैव दूरस्त्वस्तुवदा-
 पाततः प्रेक्ष्यते तर्हि एका शिलैवेत्यन्वयः ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ संभ्याजलदस्य काचनवर्णप्रसिद्धेः स इव सुन्दरी
 ॥ १७ ॥ जगदारम्भमन्धरं संक्लिष्टम् । 'अम्बरम्' इति पाठे तु

१ शिलान्तर्गतं ब्रह्मदृत्तं क्यपर्यन्तं तद्विलासं चेत्यर्थः.

तथैव सुषिराकार इव नानार्थसुन्दरम् ।
 पुनरन्यं तथैवाहं प्रदेशं परिदृष्टवान् ॥ १९
 सर्गसंरम्भवलितं यावत्समपि तादृशम् ।
 यं यं प्रदेशं पश्यामि शिलायास्तत्र तत्र वै ॥ २०
 जगत्पश्यामि विमलमादर्श इव विम्बितम् ।
 मयातिकौतुकेनाथ सर्वास्तस्य गिरेः शिलाः ॥ २१
 अन्विष्टा भूतिभागाश्च तृणगुल्मादयस्तथा ।
 यावत्सर्वत्र तत्तादृजगदस्ति यथास्थितम् ॥ २२
 बुद्ध्यैव दृश्यते नाक्षणा परया विविधाकृति ।
 क्वचित्प्रथमसर्गात्म जायमानप्रजापति ॥ २३
 कल्प्यमानर्क्षचन्द्रार्कदिनराश्रयुवत्सरम् ।
 क्वचित्कचिन्महीपीठसंपन्नजनमण्डलम् ॥ २४
 क्वचित्किञ्चिदस्त्रातोप्रचतुःसागरस्वातकम् ।
 क्वचित्किञ्चिदसंजातसुरसंजातदानवम् ॥ २५
 क्वचित्किञ्चित्कृतयुगाचारसज्जनभूतकम् ।
 क्वचित्किञ्चित्कलियुगाचारदुर्जनभूतकम् ॥ २६
 क्वचित्किञ्चित्पुरव्यूहदैत्यसंगरदुस्तरम् ॥ २७
 क्वचित्किञ्चिन्महाशैलजालनिर्विवरावनि ।
 क्वचित्किञ्चिदसंपन्नसर्गमेकाम्बुजोद्भवम् ॥ २८
 क्वचित्किञ्चिज्जराश्रुत्यन्मुक्तभूतलमानवम् ।
 क्वचित्किञ्चिदसंजातचन्द्रशून्यशिरःशिवम् ॥ २९
 अनिर्मथितदुग्धाब्धिभृत्युमत्सुरपूरितम् ।
 असंजातामृताश्वेभवैद्यगोकमलाविषम् ॥ ३०
 शुक्रामरमहाविद्यानाशनोत्कसुरव्रजम् ।
 क्वचित्किञ्चिच्च गर्भाङ्गकर्तनोत्कसुरेश्वरम् ॥ ३१
 अपरिम्लानधर्मत्वात्स्वप्रकाशाखिलव्रजम् ।

जगतामारम्भा यत्र तथाविधमम्बरं यस्मिन् ॥१८॥ तथा पूर्व-
 दृष्टप्रदेशवदेव सुषिराकारे नानार्थसुन्दरम् । इवशब्दो सिध्यात्व-
 द्योतकः ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ परया आधिभौतिक-
 देहभावभ्रान्तिशून्यया सर्वसाक्ष्यहंभावबुद्ध्यैव । तत्र तत्र दृष्टा-
 न्विशेषान्प्रपन्नयति—क्वचिदित्यादिना । प्रायशो बहुव्रीहयः
 सर्वत्र । जायमानः प्रजापतिर्यस्मिन् । जायमानप्रजापतिना
 कल्प्यमानर्क्षेत्याद्युत्तरश्लोकार्धेन सह तत्पुरुषघटितबहुव्रीहिर्वा
 ॥ २३ ॥ महीपीठे संपन्नं जनमण्डलं यत्र ॥ २४ ॥ सगरपुत्रै-
 रथाप्यस्वातमुषं चतुःसागरस्वातकं यत्र । अजातसुरं च तत्सं-
 जातदानवं च ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ एकं अम्बुजोद्भवो
 इहिय एव यस्मिन् ॥ २८ ॥ असंजातचन्द्रत्वाद्भूषणशून्य-
 शिराः शिवो यस्मिन् ॥ २९ ॥ वैद्यो धन्वन्तरिः । गावः का-
 मधेनवः । कमला लक्ष्मीः । विषं कालकूटम् ॥ ३० ॥ शुक्रेण
 तपसा साध्यमानाया अमरमहाविद्यायाः मृतसंजीवनाख्याया-
 स्तपोविप्रावरणेन नाशने उत्क उत्कण्ठितमनाः सुरव्रजो यत्र ।
 किञ्चिच्च भाविस्वशत्रुविनाशमुद्दिश्य दितेरुदरं प्रविश्य तद्गर्भ-
 साज्ञानां कर्तनं उत्कः सुरेश्वर इन्द्रो यत्र ॥ ३१ ॥ पूर्वस्मात्प्र-

क्वचित्किञ्चिच्च पूर्वान्यसंनिवेशक्रमस्थिति ॥ ३२
 अपूर्ववेदशास्त्रार्थसमाचारविचारणम् ।
 क्वचित्किञ्चिच्च कल्पान्तसंक्षोभसिद्ध संस्थितम् ॥३३
 क्वचित्किञ्चिच्च दैत्यौघविलुण्ठितसुरालयम् ।
 क्वचित्किञ्चित्सुरोद्यानगायत्रन्धर्वकिन्नरम् ॥ ३४
 क्वचित्किञ्चित्समारब्धगीर्वाणासुरसौहृदम् ।
 भूतभव्यभविष्यत्स्थजगदाडम्बरं मया ॥ ३५
 तदानुभूतं वपुषि महाविश्वगणात्मनि ।
 एकत्र कल्पविभ्रुब्धपुष्करावर्तमन्थरम् ॥ ३६
 एकत्र सौम्यसकलभूतसंततिसंस्थितम् ।
 एकत्र समनुक्षुब्धसुरासुरनरेश्वरम् ॥ ३७
 एकत्रासंभवद्भानुनित्याभिन्नतमोघनम् ।
 एकत्रासंभवद्भान्तं कान्तं ज्वालोदरोपमम् ॥ ३८
 एकत्र नलिनीनालनिलीनमधुकैटभम् ।
 एकत्र पद्ममञ्जुषासुप्तबालनवाहजम् ॥ ३९
 एकत्रैकार्णवोदप्रवृक्षविश्रान्तमाघवम् ।
 एकत्र कल्परजनीनिःशून्यतिमिराकुलम् ॥ ४०
 शिलाजठरनिस्पन्दं व्योमैव वितताकृति ।
 सुषुप्तजठराकारमप्रज्ञातमलक्षणम् ॥
 अप्रतर्क्यमविज्ञेयं सुषुप्तमिदं सर्वतः ।
 एकत्र पक्षविभ्रुब्धशैलकाकाकुलाम्बरम् ॥ ४२
 एकत्र घञ्जनिषेषद्रवद्रुधरभासुरम् ।
 एकत्रोद्दत्तमसाग्धिद्वियमाणधराचलम् ॥ ४३
 एकत्र पुरवृत्रान्धबलिसंगरसंकुलम् ।
 एकत्र मत्तपातालजकम्पिषसुन्धरम् ॥ ४४
 एकत्र शेषशिरसः कल्पान्तलुडितावनि ।
 क्वचिदल्पेन रामेण हतरावणराक्षसम् ॥ ४५
 रक्षसा रावणेनैव क्वचिद्विहतराघवम् ।

सिद्धसंनिवेशक्रमादन्यसंनिवेशक्रमा पदार्थस्थितिर्यस्मिन् ॥३२॥
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ अमृतमन्थनार्थं समारब्धं गीर्वाणानामसुराणां
 च परस्परसौहृदं यत्र ॥ ३५ ॥ महाविश्वगणात्मनि मायाश-
 बलचिद्वपुषि तदा मया एवं विचित्रजगदाडम्बरमनुभूतमित्य-
 न्वयः । तमेव जगदाडम्बरं पुनः प्रपन्नयति—एकत्रेत्यादिना
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ नित्यमभिज्ञेन अविनाशितेन तमसा घनम्
 ॥ ३८ ॥ भगवन्नाभिनिलीनाले निलीनौ मधुकैटभौ यत्र
 ॥ ३९ ॥ एकार्णवे प्रलये उद्रे उन्नताग्रे अक्षयवटवृक्षे पत्रपुटे
 विश्रान्तो माघवो यत्र । आलोकनिःशून्येन गाढेन तिस्रिरेणा-
 कुलम् ॥ ४० ॥ भूम्याद्यनुत्पत्तेर्व्योममात्रोत्पत्तेर्व्योमैव एकत्रे-
 त्यनुषज्यते ॥ ४१ ॥ पक्षच्छेदाभावात्पक्षैर्विभ्रुब्धाः शैला एव
 काका इव काकास्तैराकुलाम्बरम् ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ पुराणां
 त्रिपुराणां वृत्रस्य अन्धकस्य बलेन संगरैः संकुलम् । मत्तैः पा-
 तालगजैर्दिग्गजैः कम्पिनी वपुन्धरा यत्र ॥ ४४ ॥ अल्पेन

भूस्थपादेन देवाद्रिशिरस्थशिरसा परम् ॥ ४६
 पद्माम्यम्बरमाक्रान्तं क्वचिद्वै कालनेमिना ।
 क्वचिच्चापसुरैर्नित्यं दानवैरेव पालितम् ॥ ४७
 क्वचिच्च अष्टदनुजैरमरैरेव पालितम् ।
 जिष्णुयुक्तेन गुप्तेन विष्णुपाण्डवकौरवैः ॥ ४८
 क्वचिद्भारतयुद्धेन निहताक्षौहिणीगणम् ।
 धीराम उवाच ।
 किमहं भगवन्पूर्वमभवं कथयेति मे ॥ ४९
 अभवं चेदनेनैव संनिवेशेन तत्कथम् ।
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 सर्व एव विवर्तन्ते राम भावाः पुनःपुनः ॥ ५०
 पूर्यमाणा यथा माषाः क्रमेणान्येन तेन वा ।
 सर्वक्रमसमाः केचित्तथैवान्येन वा मिथः ॥ ५१
 स्फुरन्त्यर्थसमा भावाः केचिदग्धितरङ्गवत् ।
 पुनस्त्वं पुनरेवाहं पुनः पुनरिमे जनाः ॥ ५२
 न कदाचन नैवान्ये संभवन्त्यखिलं परे ।
 त एवान्येऽथवाम्मोघौ तरङ्गा इव निर्णयः ॥ ५३
 यद्ब्रह्म जायते तद्ब्रह्मतानां भ्रमतां भवेत् ।
 आयान्ति यान्त्यनन्तानि भूतानीह भवद्भूमैः ॥ ५४
 तान्येवान्यानि चान्यानि समानि विषमाणि च ।
 आवृत्तिमन्ति तान्येव तथैवान्यानि चाभितः ॥ ५५
 विद्धि सीकरजालानि भूतानि जगदम्बुधेः ।
 विस्रबन्धुवयःकर्मविद्याविज्ञानचेष्टितैः ॥ ५६
 तैरेव केचिज्जायन्ते भूयोभूयः शरीरिणः ।
 अर्धैस्तैः सदृशाः केचित्केचित्पादेन तैः समाः ॥ ५७
 तज्जीवास्तैर्विसदृशा भवन्त्यन्यशरीरिणः ।
 सर्वैरेभिः समाः केचित्कालेनैव विलक्षणाः ।
 कालेन सदृशाः केचिदनेन च विलक्षणाः ॥ ५८

बालेनैव रामेण ॥ ४५ ॥ विदितः सीताहरणेन कश्चितो
 राघवो यत्र ॥ ४६ ॥ अपसुरैरपसारितदेवैः ॥ ४७ ॥
 जिष्णुरर्जुनस्तद्युक्तेन । विष्णुना कृष्णेन । गुप्तेन पालितस्वजनेन
 ॥ ४८ ॥ 'क्वचिदल्पेन रामेण' इत्यादि श्रुत्वा साक्षर्यो रामः पृ-
 च्छति—किमहमिति ॥ ४९ ॥ अनेन इदानीं दृश्यमानेना-
 वयवाकृतिसंनिवेशेनाभवं किंवा अन्यादृशेनेत्यर्थः ॥ ५० ॥
 पूर्यमाणाः कुम्भकुसूलादौ पुनःपुनस्तेनान्येन च क्रमेण संनिवे-
 शेन यथा विवर्तन्ते तद्ब्रह्मित्यर्थः । तथा प्राक्तनयाकृत्या अ-
 न्येन वा आकारेण ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ तरङ्गदृशा त्वाह—न
 कदाचनेति । मायादृशा त एव जायन्ते अन्ये वा जायन्ते
 इत्यनिर्णय एवेत्याह—त एवेति । निर्णयो यद्ब्रह्म जायते इत्य-
 न्वयः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ इदं च प्राञ्चसुख्यवहारप्रक-
 रणे उक्तेवेति स्मारयंस्तदेवाह—विद्येति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥
 जीवैक्ये सदृशान्येव शरीराणि भवन्तीत्यन्यनियम इत्याह—

कालेनाकुलचेष्टयान्य इव ते गच्छन्त्यधोर्ध्वं पुन-
र्देहालेखनखेदितान्यगणितान्यन्यानि चान्यान्यलम्

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाण० उ० पाषा० जगदन्यायत्ववर्णनं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

भूताम्बूनि बहन्ति संसृतिमये तान्यम्बुधौ चञ्चले
चक्रावृत्तिमयानि संकलयितुं शक्नोति कस्तान्यलम्

सप्ताशीतितमः सर्गः ८७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततश्चिदाकाशवपुर्व्याप्यनन्तो निरामयः ।
दत्तावधानो वपुषि तदा पश्याम्यहं क्वचित् ॥ १
यावदन्तर्गतः सर्गः संस्थितोऽङ्कुरितोपमः ।
कुसूलस्येव बीजस्य सिक्तस्येवाङ्कुरो हृदि ॥ २
ऊर्ध्वमुच्छ्रान एवान्तःसेकाद्बीजे यथाङ्कुरः ।
आकारवत्यनाकारे चित्वाचित्त्वे तथा जगत् ॥ ३
यथोन्मिषति दृश्यश्रीः सुषुप्ताद्बोधमेयुषः ।
जाग्रद्वा विगते स्वप्ने चिन्मात्रस्य स्वचेतनात् ॥ ४
तथैवात्मनि सर्गादाद्यनुभूतस्वरूपिणि ।
हृदि सर्गोदयो नान्यरूप आकाशरूपतः ॥ ५

श्रीराम उवाच ।

आकाशरूप आकाशे परमाकाश कथ्यताम् ।

तज्जीवा इति । एवं जीवभेदे विसदृशान्येव तानीत्यप्यनियम
इत्याशयेनाह—सर्गैरिति । अनेन शरीरेण ॥ ५८ ॥ यस्मा-
त्कारणान्ते जीवा रागद्वेषभोगत्वम्पट्यादिदोषाकुलया विचित्र-
धर्माधर्मचेष्टया कालेन विचित्रनानादेहधारणादन्येऽन्ये इव
भूत्वा अधोलांकेषूर्ध्वं स्वर्गादिषु च पुनःपुनर्गच्छन्ति । अधो-
र्ध्वमिति यत्प्रोपासिद्धेः संभारार्षः । तस्मात्कारणावच्छले संसृति-
मये अम्बुधौ चक्रावृत्तैः प्रायाणि यानि भूताम्बूनि बहन्ति तानि
सदृशानि विसदृशानीति वा तान्येषान्यानीति वा अलं सम्यक्
संकलयितुं निर्धारयितुं कः पुरुषः शक्नोतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
जगदन्यायत्ववर्णनं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

वासिष्ठेन स्वदेहेऽत्र वर्णयते विश्वकल्पनम् ।

स्वस्यैव हि स्वयंभूत्वं तन्वक्ष्याद्युज्ज्वलकमात् ॥ १ ॥

कलधौतशिलावृक्षतृणगुल्मलतादिष्विव मया स्वशरीरावयवे-
ष्वप्यवहितदृशा सर्गा दृष्टा इत्याह—तत इति । ततः शिलातृ-
णगुल्मादिषु विचित्रसर्गदर्शनानन्तरम् ॥ १ ॥ कथमङ्कुरितोप-
मस्तदाह—कुसूलस्येति । कुसूलस्य हृदि वृष्टिसिकस्य बीज-
स्येव ॥ २ ॥ आकारवति मूर्ते अनाकारे अनूर्ते चित्वाचित्त्वे
चेतनाचेतने सर्ववस्तुनि अन्तःसेकादूर्ध्वमुच्छ्रान्ते बीजेऽङ्कुर इव
जगदस्तीति शेषः ॥ ३ ॥ स त्वया समाधौ कथमनुभूतस्त-
त्राह—यथेति । यथा सुषुप्तात्सकाशाद्बोधं स्वप्नदर्शनमेयुषधि-
न्मात्रस्य पुंसः स्वचेतनात्स्वाग्रदृश्यश्रीरुन्मिषति । विगते वा
स्वप्ने बोधमेयुषो जाग्रदप्रपञ्च उन्मिषति तथैवेत्यनेऽन्वयः ॥ ४ ॥

यो० बा० १५९

भूयो निपुणबोधाय कथं सर्गः प्रवर्तते ॥ ६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शृणु राम यथापूर्वं स्वयंभूत्वं मया तदा ।
अनुभूतमस्तसद्विदं स्वप्नपुरोपमम् ॥ ७
तमालोक्य महाकल्पसंभ्रमं व्योमरूपिणा ।
भागेऽन्यत्र शरीरस्य संविदुन्मेषिता मया ॥ ८
यदैव सामला संवित्किंचिदुन्मेषिता स्थिता ।
तदैवाहं क्वचित्तत्र पश्याम्याकाशतामिव ॥ ९
गतं स्वभावं चिद्योम यथा त्वं राम निद्रया ।
जाग्रद्वा स्वप्नलोकं वा विशन्वेत्सि समं घनम् ॥ १०
दिङ्मात्राकाशमेवादौ ततोऽस्मीत्येव वेदनम् ।
तद्वनं कथ्यते बुद्धिः सा घना मन उच्यते ॥ ११

॥ ५ ॥ हृदि सर्गोदय इति लया हृत्पदेन हृदयाकाश उक्तः,
आकाशरूपत इति च चिदाकाश इति मया त्वदभिप्रायोऽवगत
इति संबोधनेन सूचयन् रामः स्फुटपविशानाय विस्तरापुनः
कथयेति प्रार्थयते—आकाशेति । हृदयाकाश परमाकाशरूप हे
वसिष्ठ, चिदाकाशरूपे त्वयि कथं सर्गः प्रवर्तते तत्पुनः कथ्य-
तामित्यर्थः ॥ ६ ॥ पृष्ठमर्थं विस्तराद्वक्तुं प्रतिजानीते—शृ-
ण्विति । स्वयंभूत्वं शरीरे सर्वजगत्सर्गकल्पनात्परमेष्ठित्वम् ॥ ७ ॥
तं प्राविशस्वराद्वर्णिं कलधौतशिलादौ महाकल्पसंभ्रममालोक्य
चिद्योमरूपिणा मया शरीरस्यान्यत्र भागे स्थिता संवित् सर्ग-
दर्शनसंकल्पेन कौतुकादुन्मेषितेत्यर्थः ॥ ८ ॥ तत्रादौ 'त-
स्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुत्युक्तमोपलक्ष-
णमाकाशकल्पनमाह—यदैवेति । 'यदैव' इति पाठे तथैवेति
पाठ्यम् ॥ ९ ॥ इयं चाकाशता न चिद्वनस्यान्तःशून्यभाव-
प्राप्तिलक्षणसौक्ष्म्याधिक्यं किंतु चित्तसौक्ष्म्यापेक्षया जात्याधि-
क्यात्स्थौल्यमेवेत्याशयेन दृष्टान्तेन संभावयति—गतमिति ।
हे राम, यथा त्वं निद्रया प्रावर्णितस्वप्नजाग्रदलोकं वा स्वप्नं
स्वप्नलोकं वा विद्यान् स्वात्मन एव समं घनं तदाधारस्वभावं
वेत्सि तद्वत्संभावयेत्यर्थः ॥ १० ॥ आकाशकल्पनयैव तद्बोध-
चित्ताद्यन्तःकरणवदुच्यसिद्धिमाह—दिङ्मात्रेति । दिशो मि-
मीते स्वचलनानुकूलतया स्वात्मनि पर्यालोचयतीति दिङ्मात्रं
तथाविधमाकाशमेवादौ चेतनाचितं भवति । तत आकाशमह-
मस्मीत्येव वेदनं सोऽङ्कारः । तदैव घनमाकाशमेवेत्यवधारणा-
त्पूर्वभावविसरणात् बुद्धिः कथ्यते । सैव संकल्पविकल्पकाम-

तद्वेत्ति शब्दतन्मात्रं तन्मात्राणीतराण्यथ ।
 पञ्चेन्द्रियाणि तत्स्थौल्यादितिन्द्रियगणोदयः ॥ १२
 सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नं जगद्दृश्यघनोदयम् ।
 यथा तथैव सर्गादौ दुःखं भाति निमेषतः ॥ १३
 तुल्यकालमनन्तेऽस्मिन्दृश्यजालावभासने ।
 कथयन्ति क्रमं केचित्केचिन्न कथयन्ति च ॥ १४
 परमाणुकणे कान्ते संपन्नमनुभूतवान् ।
 महं चेतनमात्मानं वस्तुतोऽमलमेव जम् ॥ १५
 यथा स्वभावतो व्योम्नि चलत्येवानिशं मरुत् ।
 तथा स्वभावात्सर्वत्र पश्यत्येव वपुस्त्विषति ॥ १६
 यादृशं चेतितं रूपं शक्त्या परमया तथा ।
 तच्छक्तोत्यन्यथाकर्तुं नैषा यत्नेन भूयसा ॥ १७
 ततः पश्याम्यहं यावत्संपन्नोऽप्यणुरूपकः ।
 चित्त्वाच्चेतस्तदेवाशु तथाभूतोऽस्मि संस्थितः ॥ १८
 ततोऽहं बुद्ध्याग्रूपं तनु तेजःकणाकृति ।
 तदेव भावयन्पञ्चाद्रतोऽहं स्थूलतामिव ॥ १९
 प्रेक्षे तावदहं किञ्चिदिति बोधाल्लघोस्ततः ।
 मनागालोकनायैव संप्रवृत्तोऽनुभूतवान् ॥ २०
 यन्नाम तत्र तत्किञ्चित्स्येहाद्य रघूद्वह ।
 शृणु नामानि मुख्यानि कल्पितानि भवादृशैः ॥ २१
 द्रष्टुं प्रवृत्तो रन्ध्रेण येन तच्छुद्धयते ।
 यच्च पश्यामि तद्दृश्यं दर्शनं तु फलं ततः ॥ २२

विचिकित्सादिकल्पनघना मन उच्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥ तदेवं
 विषयान्कल्पयित्वा तद्वाहकानीन्द्रियाण्यपि कल्पयतीत्याह—त-
 दिति ॥ १२ ॥ तद्रशादेव प्राङ्निर्दुःसस्यात्मनः स्वप्न इव व्य-
 हारदुःखावाप्तिरित्याह—सुषुप्तादिति ॥ १३ ॥ ननु स्वप्ने नाका-
 शादिक्रमेण सर्गः किंतु तुल्यकालमेव सहसा सर्वजगद्दर्शनमिति
 वैषम्यं तत्राह—तुल्यकालेति । 'स ऐक्यत लोकाशु सृजा इति
 स इमांल्लोकनसृजत । स तपस्वत्त्वा इदं सर्वमसृजत' इत्यादि-
 श्रुतिषु तुल्यकालमपि सर्गश्रवणात् क्षणोदरेऽपि कालदैर्घ्यकल्प-
 नेन क्रमोपपत्तेरिति भावः ॥ १४ ॥ क्षणोदरे कालदैर्घ्यमिव
 परमाणूदरेऽपि देशदैर्घ्यकल्पनया तत्र ब्रह्माण्डात्मकं चेतनमा-
 त्मानमहमेव कल्पनया दृष्टवानित्याह—परमाण्विति ॥ १५ ॥
 मरुतश्चलनमिव मनसः शरीरादिकल्पनं स्वभाव इत्याह—
 यथेति ॥ १६ ॥ तथा प्राथमिकमनःकल्पनाशक्त्या एषा शक्तिः
 स्वयमप्यन्यथाकर्तुं न शक्नोतीत्युत्तरकल्पनाशु सैव स्थिरा निय-
 तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥ अत एवाहमपरिच्छिन्नोऽपि तत्कृतपरि-
 च्छेदकल्पनया अणुरूपकः परिच्छिन्नः संपन्न इत्याह—तत्त इति
 ॥ १८ ॥ तनु सूक्ष्मं लिङ्गशरीरं चित्प्रतिबिम्बव्याप्त्या तेजःकणा-
 कृति । स्थूलता स्थूलदेहतामिव ॥ १९ ॥ तत्र चक्षुरादिद्रावरकल्प-
 नया रूपादिद्रष्टृता स्वस्य संपन्नत्वाह—प्रेक्षे इत्यादिना ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ तद्दृश्यं रूपम् ॥ २२ ॥ तदनु निष्पादिनी नान्त-

यदा पश्यामि कालोऽसौ यथा पश्यामि स क्रमः ।
 प्रौढा नियतिरित्यस्य यत्र पश्यामि तन्नमः ॥ २३
 स्थितोऽस्मि यत्र देशोऽसावित्यथैषा प्रकल्पना ।
 तदा त्वहं चिदुन्मेषमात्रात्तन्मात्रकारणम् ॥ २४
 पश्यामीति ततस्तत्र मनाम्बोधो ममोदभूत् ।
 ततो रन्ध्रद्वयेनाहमपश्यं यत्तदप्यक्षम् ॥ २५
 याभ्यामपश्यं रन्ध्राभ्यां त इमे लोचने स्थिते ।
 ततः किञ्चिच्छृणोमीति संबिदित्युदिता मम ॥ २६
 ततः किञ्चिन्मनास्त्रात्रं शंकारं श्रुतवानहम् ।
 प्रध्मातस्येव शङ्कस्य शब्दं व्योम्नः स्वभावजम् ॥ २७
 याभ्यामहमथाश्रौषं त इमे भ्रवणद्वये ।
 प्रदेशाभ्यां विचरता मरुता विततस्वनम् ॥ २८
 स्पर्शसंवेदनं किञ्चिद्दहमत्रानुभूतवान् ।
 येन नाम प्रदेशेन तेन सा त्वक्च कथ्यते ॥ २९
 येन स्पृष्टमिवाहं तत्तदाहमनुभूतवान् ।
 सत्संवेदनमात्रात्मा सोऽयं वायुरिति स्मृतः ॥ ३०
 स्पर्शनेन्द्रियतन्मात्रमिति वेदिनि संस्थितम् ।
 आस्वादसंविद्याभून्मे तदास्वाद्यरसेन्द्रियम् ॥ ३१
 प्राणान्मे घ्राणतन्मात्रमुदितं व्योमरूपिणः ।
 इत्थं न किञ्चित्संपन्नं सर्वं संपन्नमत्र मे ॥ ३२
 पञ्चमिन्द्रियतन्मात्रजालं चेतत्र संस्थितः ।
 यावत्तावद्विदः पञ्च बलादेव ममोदिताः ॥ ३३

रीयकी देशकालादिनियतिरपि संपन्नत्वाह—यदेति ॥ २३ ॥
 अथ कल्पनादात्म्यकाले । तदा तर्हि त्वं कीदृक्तत्राह—तदेति ।
 तदानींतनदृष्ट्या सर्वं चिदुन्मेष एवेति तन्मात्रकारणमहमि-
 त्यर्थः ॥ २४ ॥ देहे चक्षुरादिरन्ध्रकल्पनादिदर्शनादिकौतुका-
 तदाभूदित्याह—पश्यामीति ॥ २५ ॥ २६ ॥ सहैव विषय-
 कल्पनामाह—तत्त इति ॥ २७ ॥ याभ्यां प्रदेशाभ्यां वितत-
 स्वनमश्रौषं ते इमे । प्रगृह्यत्वे संभिरार्थः । भ्रवणद्वये कर्ण-
 च्छिन्द्रे । विचरता मरुतेति श्रोत्रादिध्यापारस्यापि प्राणाधीनत्व-
 योतनार्थम् ॥ २८ ॥ एवं त्वकल्पनेत्याह—स्पर्शेति ॥ २९ ॥
 सहैव तद्विषयकल्पनामाह—येनेति । वायुग्रहणं त्वाम्बुषयमा-
 त्रोपलक्षणम् । सत्संवेदनं सत्यसंकल्पस्वन्मात्रात्मा ॥ ३० ॥
 इति उच्यतीत्या वेदिनि मयि स्पर्शनेन्द्रियतन्मात्रं संस्थितं
 संपन्नमिति पूर्वानुवादः । रसनेन्द्रियकल्पनामाह—आस्वादेति ।
 तत् आस्वाद्यरसभेदसहितं रसनेन्द्रियं संस्थितमित्यनुकल्प्यते
 ॥ ३१ ॥ प्राणात् आघ्राणसंकल्पाकृष्टप्राणभेदादपानात् । प्राणं
 च तद्विषयगन्धतन्मात्रा च तयोः समाहारो घ्राणतन्मात्रम् ।
 सेयं देहेन्द्रियविषयसंपत्तिः कल्पनामात्रतन्मात्रेणैवेति दर्शय-
 न्नुपसंहरति—इत्थमिति ॥ ३२ ॥ ततो बलादेव पञ्चभोगसं-
 विद उदिता इत्याह—पञ्चमिति । विदः शब्दादिप्रवालक्षणा
 भोगसंविदो मिथ्यात्वादेव अनाकारा आन्तिसात्रेण तथा भात-

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्रशरीरिकाः ।
 अनाकारास्तथा भातस्वरूपिण्यो भ्रमात्मिकाः ॥ ३४
 एवंरूपमहं जालं भावयन्मत्तदास्थितः ।
 तदहंकार इत्यद्य कथ्यते त्वाहशैर्जनैः ॥ ३५
 एष एव घनीभूतो बुद्धिरित्यभिधीयते ।
 साथ बुद्धिर्घनीभूता मन इत्यभिधीयते ॥ ३६
 अन्तःकरणरूपत्वमेवमत्राहमास्थितः ।
 आतिवाहिकदेहात्मा चिन्मयव्योमरूपवान् ॥ ३७
 पवनाद्यप्यहं शून्यः केवलाकाशमात्रकः ।
 सर्वेषामेव भावानां शून्याकृतिररोचकः ॥ ३८
 अथैवंभावनाच्चाहं यदा तत्र चिरं स्थितः ।
 तदाहं देहवान्दृष्ट इति मे प्रत्ययोऽभवत् ॥ ३९
 तेनाहंप्रत्ययेनाथ शब्दं कर्तुं प्रवृत्तवान् ।
 शून्य एव यथा सुप्तः स्वप्नोद्गीनमरो रवम् ॥ ४०
 अथ पूर्वं कृतः शब्दो बालेनेव तदोमिति ।
 ततः स एष अकार इति नीतः पुनः प्रथाम् ॥ ४१
 ततः स्वप्नरेणेव यत्किंचिद्गदितं मया ।
 तदेतद्विद्धि वाचं त्वं पञ्चाक्षरीतां प्रथामिह ॥ ४२
 ब्रह्मैव सोऽस्मि संपन्नः सृष्टेः कर्ता जगद्गुरुः ।
 ततो मनोमयेनैव कल्पिताः सृष्टयो मया ॥ ४३
 एवमस्मि समुत्पन्नो न तु जातोऽस्मि किंचन ।
 दृष्टवानस्मि ब्रह्माण्डं ब्रह्माण्डान्तं न किंचन ॥ ४४
 एवं जगति संपन्ने ममैतस्मिन्मनोमये ।
 न किंचित्तत्र संपन्नं तच्छून्यं व्योम केवलम् ॥ ४५
 इत्थं संशून्यमेवेदं सर्वं वेदनमात्रकम् ।

स्वरूपिण्यः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ भावयन् अभिमन्यमानः । तेनै-
 वाहंकारकल्पनाभूदित्याह—तदिति ॥ ३५ ॥ घनीभूतो दृढा-
 ध्यवसायेन बहलीभूतः । मनोऽपि पुनःपुनर्विषयान्सारथितं
 संपन्नमित्यपि बोध्यम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ यतोऽहं शून्याकृतिरत
 एव सर्वेषामेव कल्प्यमानभावानामरोचकः अनिरोचकोऽनिवा-
 रकश्च ॥ ३८ ॥ तत्र तस्मिन्पूर्वकल्पिते ब्रह्मात्मकदेहे चिरं
 यदा स्थितस्तदा तदन्तः अहं खेनेव चतुर्मुखदेहवान्दृष्टः ॥ ३९ ॥
 तेन तादृशदेहप्रत्ययेन स्वप्ने उद्गीनो नभसि संवरणरो यथा रवं
 करोति तथा शब्दं कर्तुं प्रवृत्तवान् ॥ ४० ॥ तत्र विशेषामि-
 लापे विनिगमकाभावात्सर्वसाधारणार्थकः शब्दसमष्ट्यात्मा
 अकार एव प्रथममुच्चारित इत्याह—अथेति ॥ ४१ ॥ वाक्कि-
 चिद्याहृतिगायत्रीवेदादि प्रागभ्यस्तं गदितम् ॥ ४२ ॥
 ब्रह्मा चतुर्मुख एव । मनोमयेनैव चतुर्मुखदेहेन मया ॥ ४३ ॥
 स्त्रीयस्थूलदेहभूतं ब्रह्माण्डं सावरणम् । ब्रह्माण्डान्तं ब्रह्माण्डब-
 हिर्भूतम् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ अयमेव न्यायः सर्वसर्गेषु बोध्य
 इत्याशयेनाह—इत्थमिति ॥ ४६ ॥ तद्योम ब्रह्मकाशमेव
 तथा स्थितम् ॥ ४७ ॥ निर्मूलं निष्कारणमेवान्तरात्सेव

मनागपि न सन्त्येते भावाः पृथ्व्यादयः किल ॥ ४६
 जगन्मृगतृडम्बुनि भ्रान्ति संविदि संविदः ।
 न बाह्यमस्ति नो बाह्ये खे तद्योम तथा स्थितम् ॥ ४७
 मरौ नास्त्येव सखिलं संवित्पश्यति तत्तथा ।
 निर्मूलमन्तःसंतप्ता स्वसंभ्रमवती भ्रमम् ॥ ४८
 नास्त्येव ब्रह्मणि जगत् संवित्पश्यति तत्तथा ।
 निर्मूलमेव संवित्वादेवं भ्रान्तेश्च संभ्रमम् ॥ ४९
 असदेवेदमामाति हृद्येव जगदाततम् ।
 संकल्पनमनोराज्यं यथा स्वप्नपुरादिवत् ॥ ५०
 पार्श्वसुप्तजनस्वप्नस्तश्चित्तावेशनं विना ।
 यथा न किंचित्तश्चित्तावेशनादनुभूयते ॥ ५१
 तथा जगत्तदृषदं संप्रविश्यानुभूयते ।
 आदर्शबिम्बिताकारं दृष्टमप्यन्यथाप्यसत् ॥ ५२
 आधिभौतिकभावेन नेत्रेण यदि लक्ष्यते ।
 तत्तन्न दृश्यते किंचिद्विरिरेव प्रदृश्यते ॥ ५३
 आतिवाहिकदेहेन परं बोधदशा यदि ।
 प्रेक्ष्यते दृश्यते सर्गः परमात्मैव चामलः ॥ ५४
 सर्वत्र सर्गनिर्वाणं प्रज्ञालोकेन लक्ष्यते ।
 ब्रह्मात्मैवान्यथा चेतस्र किंचिदभिलक्ष्यते ॥ ५५
 यत्पश्यत्यवदाता धीः सोपपत्तिविचारणा ।
 न तन्नेत्रैस्त्रिभिः शर्वो नेन्द्रो नेत्रशतैरपि ॥ ५६
 यथा जमाकृतं सर्गैस्तथा भूरिति बुद्धवान् ।
 तदाहममवं ध्याता धराधारणयान्वितः ॥ ५७
 तथा धराधारणया धरारूपधरोऽभवम् ।
 अस्यजज्ञेव चिद्योमवपुः सद्गाडिवाचिरात् ॥ ५८

शुब्धा ॥ ४८ ॥ संवित्वाद्दशानावृतसंवित्स्वभावात् ॥ ४९ ॥
 संकल्पनप्रयुक्तं मनोराज्यं यथा तथेति पृथग्योज्यम् । 'वृमनो-
 राज्यम्' इति पाठे संकल्पे स्थितस्य नुः पुरुषस्य मनोराज्यं
 यथेति ॥ ५० ॥ परकायप्रवेशेन स्वप्नदृष्टिचित्तावेशनाद्योगिभिर-
 नुभूयते ॥ ५१ ॥ तदृषदं तत्कल्पनाधिष्ठानविच्छिन्नम् ।
 अन्यथा न तथा किलसदपि ॥ ५२ ॥ अत एव प्रागाधिभौ-
 तिकदशा दर्शने लोकालोकगिरिरेव दृश्यते न शिलान्तर्गतं
 ब्रह्माण्डमित्युक्तमित्याह—आधिभौतिकेति ॥ ५३ ॥ सर्गो
 दृश्यते स च परमात्मैव लक्ष्यते योगिभिरित्यर्थः ॥ ५४ ॥
 तत्त्वदशा दर्शने त्वाह—सर्वत्रेति ॥ ५५ ॥ तत्त्वदृष्टिं योगि-
 दृष्टिं च सर्वोत्कर्षेण प्रभांसति—यदिति ॥ ५६ ॥ तत्र स्वस्य
 तत्त्वज्ञस्य यदा जीवन्मुक्तयोनिदशा पश्यत आकाशमिव भूरपि
 सर्वतः सर्गैर्व्याप्तेति बुद्धिरुत्पन्ना तदा क्रमाद्भूम्याद्येकैकभूताहं-
 मावधारणया यद्यत्कौतुकं खेन दृष्टं तत्सर्वं विस्तराद्दर्शयिष्यन्ब्र-
 धमं धराधारणादृष्टं तद्वक्तुमुत्क्रमते—यथेति । यदा बुद्धवांसदृ-
 धराधारणया अन्वितः अभवमित्यर्थः ॥ ५७ ॥ यथा संसाद
 चकवती स्वदेहमात्राहंभावमलजज्ञेव समस्तभूमण्डले ममता-

धराधारणया चैव धराधातुदरं गतः ।
 द्वीपाद्रितृणवृक्षादिदेहोऽहमनुभूतवान् ॥ ५९ ॥
 संपन्नोऽस्म्यथ भूपीठं नानावनतनूरुहम् ।
 नानारत्नावलीव्याप्तं नानानगरभूषणम् ॥ ६० ॥
 ग्रामगङ्गपरवाङ्मं पातालसुषिरोदरम् ।
 कुलाचलभुजान्निष्ठद्वीपाग्निधवलयान्वितम् ॥ ६१ ॥
 तृणौघतनुरोमाङ्गं गिरिखण्डकगुरुमकम् ।
 दिग्धारणकटव्यूहधृतं शेषशिरःशतैः ॥ ६२ ॥
 ह्रियमाणं महीपालैः शोभमानैर्मतन्तुभिः ।
 प्राणिभिर्भुज्यमानाङ्गं वर्धमानं व्यवस्थया ॥ ६३ ॥
 हिमवद्भिर्भ्यसुस्कन्धं सुमेरुशारकन्धरम् ।
 गङ्गादिसरिदापूरमुक्ताहाररणसनुम् ॥ ६४ ॥
 गुहागहनकञ्चादि सागरादर्शमण्डलम् ।
 मरुपरस्थलश्वेतसुवराम्बरसुन्दरम् ॥ ६५ ॥
 भूतपूर्वैः परापूर्णे परिपूतं महार्णवैः ।
 इत्याद्यं श्रीवासिष्ठमहारामायणे बा० दे० मो० नि० उ० पा० पार्थिवधात्वन्तर्गतजगदानन्त्यप्रतिपादनं नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥८७॥

अलंकृतं पुष्पवनैः समारंभं रजोधनैः ॥ ६६ ॥
 नित्यं कृषीवलैः कृष्टं वीजितं शिद्विरानिलैः ।
 तापितं तपनैस्तैरुक्षितं प्रावृडम्बुभिः ॥ ६७ ॥
 विपुलाग्रस्थलोरस्कं पद्माकरकृतेक्षणम् ।
 सितासितघनोष्णीषं दशाशोदरमन्दिरम् ॥ ६८ ॥
 लोकालोकमहास्नातवलयोप्रास्यमीषणम् ।
 अनन्तभूतसंघातपरिस्पन्दैकचेतनम् ॥ ६९ ॥
 व्याप्तमन्तर्बहिर्धैव नानाभूतगणैः पृथक् ।
 देवदानवगन्धर्वैर्बहिरन्तस्तु कीटकैः ॥ ७० ॥
 पातालेन्द्रियरन्ध्रेषु नागासुरकृमिजैः ।
 सप्तस्वर्णवकोशेषु नानाजातिजलेचरैः ॥ ७१ ॥
 व्याप्तं नदीवनसमुद्रदिगन्तशैल-
 द्वीपाख्यजन्तुविषयस्थलजङ्गलौघैः ।
 नानावलीवलितमण्डलकोशखण्डं
 बह्वीसरःसरिदरातिगणाङ्गखण्डैः ॥ ७२ ॥

अष्टाशीतितमः सर्गः ८८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भूपीठेन सता तत्र मया तदनु मानव ।
 अनुभूतं नदनदीस्वसंवेदनसंस्थितैः ॥ १ ॥
 क्वचिन्मरणसाक्रन्दनारीकरुणवेदनम् ।
 क्वचिदुत्साण्डवज्रेणमहोत्सवमहासुखम् ॥ २ ॥
 क्वचिदुर्वारदुर्भिक्षदुराक्रन्दं दुरीहितम् ।

भावं धत्ते तथा अहमपि चिद्योभवपुर्नकाहंभावमत्यजनेव
 धराहंभावेन धरारूपधरोऽभवमित्यर्थः ॥ ५८ ॥ धराधातुभू-
 म्यभिमानीजीवस्तदुदरं तद्बुद्धितादात्म्यं गतः सन् ॥ ५९ ॥
 यदनुभूतवात्सदाह—संपन्न इत्यादिना । इत आरभ्य आसर्ग-
 समामेभूपीठमेव देहाधारेण वर्ण्यते ॥ ६० ॥ ६१ ॥ गिरि-
 खण्डका गिरिकदम्बा गुल्मरोगग्रन्थय इव यस्य । कटपदेन
 शिरांसि लक्ष्यन्ते तथ्युहृतम् । तथा शेषस्य शिरसां शतैर्दश-
 शतैर्धृतम् ॥ ६२ ॥ शोभमाना इमास्तन्तवः सेनाजालतन्तु-
 ग्रन्थय इव येषां तथाविधैर्महीपालैः परस्परं युद्धैर्हियमाणम् ।
 उत्करनगरादिप्रदेशव्यवस्थया ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ गुहागहनाः
 कञ्चादयो देशा यस्मिन् । सागरा आदर्शमण्डला इव य-
 स्मिन् । मरुदेशलक्षणैरुपरस्थललक्षणैश्च श्वेतैः सुवराम्बरैः सु-
 न्दरम् ॥ ६५ ॥ पूर्व भूतैर्भूतपूर्वैर्महार्णवैः प्रलयकाले परापूर्णे-
 मत एव सांप्रतं ज्ञात्वोद्गतमिव परितः पूतं पवित्रम् । पुष्पवनै-
 र्मास्यैरिवालंकृतम् । चन्दनस्थानीयै रजोधनैः समासुर्धं क्लिप्तम्
 ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ अप्रस्थलं समभूप्रदेशः ॥ ६८ ॥ लोकालोकस-
 मीपे प्राग्वर्णितो यो महास्नातवलयस्तल्लक्षणोप्रेणाख्येन मीषणम्
 भूतानां परिस्पन्द एव परिस्पन्द एकीभूतं चेतनमेव चेतनं यस्य
 ॥ ६९ ॥ नानाभूतगणलक्षणैः कीटकैर्व्याप्तम् । तेषु देवदानवे-

क्वचित्सकलसस्यौघसंपन्नघनसौहृदम् ॥ ३ ॥
 क्वचिदग्निमहावाहदग्धदेहोप्रवेदनम् ।
 क्वचिज्जलप्लवातूनपुरपत्तनखण्डकम् ॥ ४ ॥
 क्वचिष्पलसामन्तकृतलुण्ठनमण्डलम् ।
 क्वचिदुद्दामदौरात्म्यरक्षःपैशाचमण्डलम् ॥ ५ ॥

त्यवयुत्याजुवादः ॥ ७० ॥ ७१ ॥ उक्तमेव संक्षिप्तोपसंहर-
 न्विशिनष्टि—व्याप्तमिति । नद्यादिद्वीपान्तैर्जन्तुविषयैः प्राणि-
 भोग्यैः स्थलजङ्गलौघैश्च व्याप्तम् । नानाविधाभिर्गिरिनदीपर्व-
 तायावलिभिर्जनावलिभिश्च वलिता मण्डलकोशानां खण्डा य-
 स्मिन् । तथा बह्वीभिः सरोभिः सरिन्द्रिरातिगणैरञ्जखण्डैश्च
 व्याप्तमित्यनुषज्यते ॥ ७२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पार्थिवधात्वन्तर्गतजगदानन्त्य-
 प्रतिपादनं नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

स्वदेहभूते भूपीठे तत्र तत्र व्यवस्थिताः ।

विशेषा इह वर्ण्यन्ते कौतुकात्स्वेन वीक्षिताः ॥ १ ॥

हे मानव मनुवंशोद्भव, वर्णितरीत्या भूपीठभूतेन मया तदनु
 प्राग्वर्णितसाधारणसर्वभूधर्मघटितस्वदेहदर्शनानन्तरं प्रत्येकं न-
 दनदीसमुद्रादिविशेषाकारप्रातिस्विकसंवेदनेच्छावशाद्यथा यथानु-
 भूतं तच्छृण्विति शेषः ॥ १ ॥ क्वचित्प्रदेशे भर्तृपुत्रभ्रात्रादि-
 मरणेन साक्रन्दानां नारीणां करुणवेदना यत्र तथाविधम् ।
 अत्रापि प्रायेण सर्वत्र भूपीठमेव विशेष्यम् । ज्ञेयानां स्त्रीधूम-
 हादीनां महोत्सवैर्महसुखं यत्र ॥ २ ॥ सुदृष्ट्या फलितैः सकल-
 सस्याधैः सुभिक्षत्वात्संपन्नानि घनसौहृदानि यत्र ॥ ३ ॥ जलेन
 श्ववनमाह्वयनं तेनाह्वयः । पुरपत्तनयोर्धोषवर्णिकप्रकर्षाभ्यां

१ समाह(क)ण्डं इति सूक्त्येकयोः पाठवैमन्यं सर्वादशेषु दृश्यते.

कचिज्जलाशयोह्लासवेह्नोत्पुलकाप्रकम् ।
 कन्दरोदरनिष्क्रान्तवातवेह्नितवारिदम् ॥ ६
 संविद्वोघोभमत्स्वाङ्गकेशोत्थाङ्गुरलोमकम् ।
 वारिवाहनविश्वोभनतोभतलसत्तलम् ॥ ७
 सशृङ्गभैरवभ्रपुराद्रिवनपत्तनम् ।
 संविन्मण्डलसंचाललेखाङ्गुमृदुकम्पनम् ॥ ८
 कचित्सामन्तसंक्षुब्धसैन्यसंहरणं रणे ।
 कचित्सौम्यसुखासीनसर्वसामन्तमण्डलम् ॥ ९
 अरण्यं कचिदाशून्यमुल्लसद्वातशंकृति ।
 जंगलं कचिदालूनभ्युत्तसंपन्नसस्यकम् ॥ १०
 हंसकारण्डवाकीर्णसरः फुल्लाम्बुजं कचित् ।
 कचिन्मरुस्थलस्थूलस्तम्भनार्जुनमारुतम् ॥ ११
 कचिन्नदनदीवाहहेलानिकषघर्घरम् ।
 कचिदङ्कुरकार्याङ्गसिकबीजस्य जृम्भणम् ॥ १२
 कचिदन्तस्तु कीटास्यमृदुस्पन्दनवेदनम् ।
 मां त्वमेवाशु बुद्धेह त्रायस्वेतीष बोधनम् ॥ १३
 शाखापरिकरामोगं मृङ्गागाङ्गनिपीडनैः ।

भेदः ॥ ४ ॥ ५ ॥ जलाशयानामुल्लासेन पूर्वा केदारारामादीनां वे-
 ह्नैः सेकैरुपलकसस्सगुल्माद्यप्रकम् । कन्दरोदरेति तत्रोपपत्तिः
 ॥ ६ ॥ संविद्वोघेन प्रहर्षेण उन्नमन्तः पुलकिताः स्वाङ्गकेशा
 इव उत्थान्यङ्गुरलोमानि यत्र । वारीणां वहनमेव वाहनं प्रवाह-
 स्तद्रिक्षोभेण ॥ ७ ॥ नतोन्नतत्वमेव भूतलानां दर्शयति—
 सशृङ्गैति । अन्तर्गतवृहच्छिलादिभिः सशृङ्गाणीव भैरवाणि
 भीषणानि श्रमणानि येषु तथाविधानि पुराणीनि यत्र । अत एव
 संविदन्तीति संविदो नागरादिजनास्तन्मण्डलस्य संचाले तत्पद-
 लेखाङ्गुनिपतनादिशङ्कया मृदु कम्पनं च यत्र ॥ ८ ॥ ९ ॥ पूर्व-
 मालनं पश्चाद्भुतं ततः संपन्नं सस्यं यत्र ॥ १० ॥ मरुस्थलेषु
 बाल्योद्गीनधूलिभिः स्थूलान्स्तम्भान्कुर्वन्तीति स्थूलस्तम्भना अ-
 र्जुनाः पांसुधवल्ल भाक्ता यस्मिन् ॥ ११ ॥ अङ्कुरकार्यार्थं कु-
 ल्याघटीयन्त्राद्यङ्गैः सिकस्य क्षेत्रगतमीच्यादिबीजस्याङ्कुरादिभा-
 वेन जृम्भणम् ॥ १२ ॥ शिलादिसंकटनिविष्टं मां हे वसिष्ठ,
 त्वमेव आशु बुद्ध्या त्रायस्वेति कीटेन मां प्रति बोध्यते यत्र
 तादृशमिव स्थितम् ॥ १३ ॥ कचिद्दटादिबने शिखानां भू-
 लमत्वान्मृङ्गागाङ्गनिपीडनैरुपलक्षितः शाखापरिकरणामाकारो
 यत्र । कचिच्च मूलजालमवष्टभ्य विटपानां धारणशीलम् ॥ १४ ॥
 कचिदद्रिणामस्थानि शिला इव निविष्टैर्वृक्षैरन्योन्यमलमत्यन्त-
 माक्रम्य संक्षिभ्य दिक्तटाङ्गानां निरवस्थाशीकरणाङ्गिपीडनैः अ-
 र्णवोऽल्लासेनेव वेह्नितं वेह्नितम् ॥ १५ ॥ कचित्तु गाढशुभ्रैर्भुवि
 स्तप्रसरनिरोधपराधादभर्षणैः कुदैरार्कैः करैरतपैः स्वरसाकर्षणं

१ ० ० ० इति पाठः । २ बहिश्चरेत्वारभ्य रोनीवमित्यन्तं समस्तं पदम् ।

मूलजालमवष्टभ्य कचिद्विटपधारिणम् ॥ १४
 अन्योन्यमलमाक्रम्य दिक्तटाङ्गनिपीडनैः ।
 कचिदशस्थिनिविष्टैरर्णवोह्लासवेह्नितम् ॥ १५
 शुष्कपल्लवसंकोचनिविडाङ्गनिपीडनम् ।
 अमर्षणैः करैरार्कैः स्वरसाकर्षणं कचित् ॥ १६
 शृङ्गमन्दिरमातङ्गप्रहाराशनिभूरुहाम् ।
 निविडाङ्गोत्कटस्थैर्यपरुषापतनं कचित् ॥ १७
 निमीलितेक्षणानन्दतनूनामसमाक्रमम् ।
 कचित्सूक्ष्मतरोल्लेखमङ्कुरोह्लासनं नवम् ॥ १८
 मक्षिकायौकमशकनिघाससदृशं कचित् ।
 कुब्जलेशकुभृङ्गारिहलहेलानिकर्षणम् ॥ १९
 शीतं शीतविशीर्णाङ्गजर्जरत्वग्विकीर्णवत् ।
 पाषाणीभूतसलिलं कचित्परुषमारुतम् ॥ २०
 उहालीभूतमृङ्गमज्जदन्तःकुमिवजम् ।
 कचिदुद्भ्रष्टदङ्गादिमूलं जलनिमज्जनम् ॥ २१
 शनैरन्तर्निनीनाम्बुकृताह्लादं बहिश्च रै-
 -सोशामाङ्कुरोर्मौघं कचिद्वर्षविजृम्भितम् ॥ २२

प्राप्य शुष्कपल्लवसंकोचं निविडाङ्गनिपीडनं वनं यत्र ॥ १६ ॥
 कचित्तु गिरिशृङ्गमन्दिराणां मातङ्गानां दन्तप्रहाराशनेः भूरुहां
 वृक्षाणां निविडाङ्गोत्कटस्थैर्य प्रति परुषाण्यापतनानि यत्र ।
 सापेक्षसमासश्छान्दसः । 'परुषं पतनं कचित्' इति पाठे अश-
 निभिर्भूरुहां निविडाङ्गोत्कटस्थैर्येण परुषं पतनमेव कचिन्मया-
 नुभूतमिति योज्यम् ॥ १७ ॥ कचित्तु निमीलितानिक्षणानि
 येन तथाविधानन्दोपलक्षिततनूनां समाधिनिष्ठानां सूक्ष्मनरं
 तत्त्वमुल्लिखत्यनुभूयमानं सूचयति तथाविधमत एवासमाक्रमं
 नवमपूर्वं रोमाङ्कुरोह्लासनमनुभूतमित्यर्थः । अथवा कचित्क्षेत्रप्र-
 देशे निमीलितेक्षणानामानन्दोपलक्षिततनूनां विषयभोगिनामि-
 व असममक्रमं च सूक्ष्मतरान्तरानन्दाविर्भावोलेखं धीजेभ्योऽ-
 ङ्कुरोह्लासनं नवं चमत्कृतमनुभूतमित्यर्थः ॥ १८ ॥ यूकानां स-
 मूहो यौकं तन्निघासमलिनान्बरसदृशम् । कुब्जलेशानामल्प-
 कुब्जलेशानां प्रमादात्पद्मकोशशायिनां कुभृङ्गाणां चोपमर्दक-
 त्वादरयो ये दन्तिनस्तैर्हलैरिव हेलाभिर्ब्रह्मप्रदेर्निकर्षणं दृष्टम् ।
 'कुब्जलेश' इति पाठे कुब्जलश्रेष्ठे पद्मकुब्जले सुप्तानां कुभृङ्गाणां ये
 अरय इति व्याख्येयम् ॥ १९ ॥ कचित्कचिदिमवत्प्रदेशे शीतं
 शीतविशीर्णाङ्गानां वेहिनां जर्जरत्वव्याप्तवत्स्थितम् ॥ २० ॥
 उहालनमुहालो विहलनं तथाभूतेषु मृदुष्वङ्गेषु मज्जन्तः अन्तः
 कुमिवत्रा यत्र । कचिज्जलनिमज्जनमनुभूतमिति पृथक्संबन्धः
 ॥ २१ ॥ कचिद्दीजेषु वर्षविजृम्भितमत एव शनैरन्तर्निविष्टैर-
 म्बुभिः कृताह्लादं ततो बहिश्च रसोशामाङ्कुरोर्मौघम् ॥ २२ ॥

(अत्र 'बहिश्च रसो' इति पदद्वये एवाथंस्वारस्वमिति नवम् ।)

तनुतरपवनविकम्पित-

कोमलनलिनीद्रुमस्तरणैः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० बाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० भूमण्डलगतविशेषवर्णनं नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥८८॥

विहरणमिष मे विहितं

सरोमिरक्षेषु निर्वाणम् ॥

२३

एकोनवतितमः सर्गः ८९

श्रीराम उवाच ।

पार्थिवी धारणां बद्धा जगन्ति समवेक्षितुम् ।
संपन्नस्त्वमसौ भूमिलोकः किमुत मानसः ॥ १

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इदं च मानसं चाहं संपन्नः पृथुभूतलम् ।
नेदं न मानसं नैव संपन्नो वस्तुतस्त्वहम् ॥ २
अमानसं महीपीठं न संभवति किञ्चन ।
यदसद्वेत्सि यत्सद्वा मनोमात्रकमेव तत् ॥ ३
चिदाकाशमहं शुद्धं तस्य मे तत्पदात्मनः ।
यच्चिन्मात्रात्मकचनं तत्संकल्पाभिदं स्मृतम् ॥ ४
तन्मनस्तन्महीपृष्ठं तज्जगत्स पितामहः ।
संकल्पपुरवद्योञ्जि कचत्येतन्मनोमयः ॥ ५
एवं संकल्पमात्रं मे मनोमात्रं तदाततम् ।
धारणाभ्याससंपुष्टं भूमण्डलमिति स्थितम् ॥ ६
नेदं भूमण्डलं तद्वै तदन्यच्चि मनोमयम् ।
आकाशमात्रकचनमचेत्यं कचनं चित्तेः ॥ ७
तदेवाकाशमात्रात्म तथाभूतं चिरं स्थितम् ।
इदंप्रत्ययलब्धत्वात्मानसत्वं समुज्जति ॥ ८

इदं स्थिरं सुकठिनं विततं भूमिमण्डलम् ।
अस्तीति जायते बुद्धिव्योञ्जीव चिरवेदनात् ॥ ९
न्यायेनेदमिषानेन न स्थितं वस्तुधातलम् ।
इदं चैवैकमेवाद्यसर्गस्याद्यमुपागतम् ॥ १०
यथा स्वप्ने पुरत्वेन चिदेव व्योञ्जि भासते ।
तथा चिदेव सर्गादाविदं जगदिति स्थितम् ॥ ११
विद्धि चिद्रूपबालस्य मनोराज्यं जगन्नयम् ।
महीतलादिकं दृश्यमिदं सर्वं च सर्वदा ॥ १२
चिद्रूपस्यात्मनो नान्यः संकल्पस्तन्मयं जगत् ।
वस्तुतस्तु न सत्यात्म न पिण्डात्म न भासुरम् ॥ १३
दृश्यमस्त्यपरिज्ञातं परिज्ञातं न विद्यते ।
परिज्ञातं तदेवास्य शृणोषि यदिदं चिरम् ॥ १४
सर्वं चिन्मात्रमाशान्तं प्रकचत्यात्मनात्मनि ।
भूमण्डलात्म दृश्यात्म द्वैतैक्याभ्यां विवर्जितम् ॥ १५
मणिर्यथा स्वभावेन शुक्लपीतादिकास्त्विषः ।
अकुर्वन्नेव कुरुते चिदाकाशस्तथा जगत् ॥ १६
यतो न किञ्चित्कुरुते न च रूपं समुज्जति ।
तस्मान्न मानसं नेदं किञ्चिदस्ति महीतलम् ॥ १७

किञ्च मे अज्ञेषु सरोमिस्तनुतरपवनविकम्पितकोमलनलिनीद्रु-
मनामास्तरणैर्निर्वाणं निरतिशयानन्दरूपं विहरणं क्रीडनमिव
विहितमित्यर्थः ॥ २३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायाणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भूमण्डलगतविशेषवर्णनं नामा-
ष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

अत्र तद्वारणादृष्टं भूमण्डलमिदं तथा ।

जगत्सर्वं च चिद्योञ्जि मनोमात्रमितीर्यते ॥ १ ॥

हे शुरो, कान्तुकात्स्वात्मनि जगन्ति समवेक्षितुं प्रवृत्तस्त्वं
पार्थिवी धारणां बद्धा किमसावस्मदादिदृश्यो मृत्पाषाणादिमयो
लोकः संपन्न उत मानसो मनोमात्रमयो मनोराज्यकल्पो मृदा-
द्यघटितः स्वप्नमयो लोकः संपन्न इति प्रश्नः ॥ १ ॥ कल्पना-
दृशा तत्त्वदृशा वा विमर्शे कोटिद्वयभेदाप्रसिद्धेः संशयानुपपत्तिं
सूचयन्वसिष्ठ उत्तरमाह—इदं चेति । यदि कल्पनादृशा पृ-
च्छसि तर्हि इदं मृत्पाषाणमयत्वेन त्वत्प्रसिद्धं च तदेव मनो-
मात्रविकारत्वान्मानसं चेति समुच्चयः संपन्नः । यदि तु तत्त्वदृशा
पृच्छसि तर्हि नोभयमपि संपन्न इत्यर्थः ॥ २ ॥ पूर्वार्धोक्तं प्र-
तिज्ञापूर्वकं समर्थयति—अमानसमित्यादिना । सत्येव मनसि
तस्मिन्नेवास्तिनास्तीति विकल्पदर्शनादिति भावः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥
अज्ञप्रसिद्धसुहृत्पाषाणादिमयत्वस्य 'अपागादग्नेरमित्वं त्रीणि

रूपाणीत्येव सत्यम्' इत्यादिश्रुतिनिषिद्धत्वात्तत्त्वज्ञस्य धारणायां
दृष्टं नाज्ञदृष्टिप्रसिद्धेरूपमित्यसमुच्चयो वास्तित्वाभावेनाह—
नेदमिति ॥ ७ ॥ यथाकाशमात्रस्यामूर्तस्यैवेत्यं कचनं तर्हि कथं
मूर्तदंप्रत्ययमाधत्ते तत्राह—तदेवेति । तर्हि किं दक्षित्वे दुरध-
त्वमिव मानसत्वं मुञ्चति नेत्याह—इदंप्रत्ययेति । स्वप्नादाव-
स्थूलस्य केवलमानसस्य पृथग्यादेर्जाग्रदृष्टिदंप्रत्ययेनोपलब्धत्वान्ना-
दुरधत्वसाम्यं किंतु तरङ्गकटकशाटकादिभावेऽपि जलकनकका-
र्पासमयत्ववदिदं बोध्यमिति भावः ॥ ८ ॥ व्योञ्जि नैत्यादि-
बुद्धिरिव चिरवेदनाज्जायते ॥ ९ ॥ वाचारम्भणश्रुतिदर्शितन्या-
येन तु दर्शने इदमिवाज्ञप्रसिद्धरूपेण वस्तुधातलं न स्थितं कित्वा-
द्यसर्गस्य मनोरूपस्य आद्यं सूक्ष्मं यदेकमेव रूपं तदेवोपागतं
स्थितम् । 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इति श्रुत्युपदर्शितमित्यर्थः
॥ १० ॥ 'इदंप्रत्ययलब्धत्वात्' इत्युक्तिं विशदयति—यथेति
॥ ११ ॥ चिद्रूपबालस्य चतुर्मुखस्य ॥ १२ ॥ १३ ॥ अज्ञदृष्टिनिष्कर्षे
अज्ञातचिन्मात्रं जगत् । तत्त्वनिष्कर्षे तु चिन्मात्रमेवैत्याशये-
नाह—दृश्यमिति । यदिदं चिरं मयोपदिश्यमानं शृणोषि कथं
न प्रबुध्यसे इत्यर्थः ॥ १४ ॥ कीदृशं परिज्ञातं तत्राह—सर्व-
मिति ॥ १५ ॥ मणिवैदर्यादिः । अकुर्वन् अव्याप्रियमाणः
॥ १६ ॥ नेतिनेत्यादिश्रुतिपर्यालोचनेनोपसंहरति—यत् इति ।

महीतलमिवाभाति चिद्योमैव निरन्तरम् ।
 आत्मन्येवातलं व्योम यथामलतलं स्थितम् ॥ १८
 स्वभावमात्रकचनं तत्तदेव यथास्थितम् ।
 भूमण्डलमिवात्स्यच्छं जमेव विशतान्तरम् ॥ १९
 इदं भूमण्डलं तच्च द्वयमेतन्महाचितेः ।
 स्वरूपमेव कचति तव स्वप्नपुरं यथा ॥ २०
 इदमाकाशमात्रात्म तद्व्याकाशमात्रकम् ।
 अज्ञानात्मपरिज्ञानाज्जालाभेदं न तत्कचित् ॥ २१
 त्रैलोक्यभूतजालानां कालत्रितयमाविनाम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० दृश्यमनोमात्रत्वप्रतिपादनं नामैकोनवतितमः सर्गः ॥८९॥

नवतितमः सर्गः ९०

श्रीराम उवाच ।
 अनन्तरं वद ब्रह्मजगन्ति भवता तदा ।
 भूमण्डलानां हृदये कचिद्दृष्टानि नैव वा ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 परात्मजाप्रत्स्यप्रोर्धामण्डलौघात्मना मया ।
 ततोऽनुभूतं हृदये दृष्टं च परया दशा ॥ २
 यावत्तथैव सर्वत्र जगज्जालमवस्थितम् ।
 सर्वं दृश्यमयं शान्तमपि द्वैतमयात्मकम् ॥ ३
 जगन्ति सन्ति सर्वत्र सर्वत्र ब्रह्म संस्थितम् ।
 सर्वं शून्यं परं शान्तं सर्वमारम्भमन्थरम् ॥ ४
 सर्वत्रैवास्ति पृथ्व्यादि स्थूलं तच्च न किञ्चन ।

॥ १७ ॥ अतलं तलभावश्चून्यम् ॥ १८ ॥ अनन्तरं मेदं
 अनन्तरं वा विशता स्वभावेन भूमण्डलमिव दृश्यत इत्यर्थः
 ॥ १९ ॥ तत्र धारणाकल्पितभूमण्डलमिदं भूमण्डलं च तुस्व-
 मेव चिद्विवर्तत्वे इत्याह—इदमिति ॥ २० ॥ अज्ञानोपहिता-
 त्मपरिज्ञानाद्भाति । ज्ञानानु न इदं नापि तत् धारणास्थम्
 ॥ २१ ॥ संभ्रमो भ्रान्तिरेव । स च मनोराज्यदशायाः स्थितौ
 मर्यादायां तत्साम्ये बोध्य इति यावत् ॥ २२ ॥ सामान्यतां
 सर्वाधिष्ठानत्वात्साधारणतां गता आत्मसत्तैव तानि सर्वाणि
 सत्तासामान्यमेव तेन हेतुना तानि तदन्तर्गतानि च सर्ववस्तु-
 न्यहमेवेति धारणायां मया मनसा अनुभूतानि साक्षिदशा च
 अखिलं निःशेषं यथा स्यात्तथा दृष्टानीत्यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 हे राम, परमात्मतत्त्वमेवाबोधदशायां स्वशुद्धात्मतामजहदत्य-
 जदेव यथास्थितं सर्वं जगदात्मगतं स्वात्मतामिव प्राप्तं सद्रूपं
 कृत्वा विभर्ति, बुद्धं तु सत् किञ्चनापि न विभर्ति सैवास्य
 मुक्तिरित्यर्थः ॥ २५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्यमनोमात्रत्वप्रतिपादनं नामैकोनव-
 तितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

पृथिवीहृदयेऽनन्तजगद्द्विदिहोच्यते ।

जलधारणया सर्वजललीला च पूर्ववत् ॥ १ ॥

यथा प्रसिद्धे जगति कलभौतशिलादिप्रदेशमेदेष्वनेकानि

संभ्रमः स्वप्नसंकल्पो मनोराज्यदशास्थितौ ॥ २२
 भूतान्यथ भविष्यन्ति वर्तमानानि यानि च ।
 भूमण्डलानि तान्यङ्ग सत्ता सामान्यतां गता ॥ २३
 अहमेव समप्राणि तेषामन्तर्गतान्यपि ।
 तेन तान्यनुभूतानि तथा दृष्टानि चाखिलम् ॥ २४
 चिन्मात्रमेतदजरं परमात्मतत्त्वं
 शुद्धात्मतामजहदङ्गतं विभर्ति ।
 सर्वं यथास्थितमिदं जगदात्ममेदं
 बुद्धं सद्रूपं न विभर्ति तु किञ्चनापि ॥ २५

चिद्योमैव यथा स्वप्नपुरं परमजातवत् ॥ ५
 नेह नानास्ति नो नामा न नास्तिस्त्वं न चास्तिता ।
 अहमित्येष नैवास्ति यत्र तत्र कुतोऽस्ति किम् ॥ ६
 अनुभूतमपीदं सर्वहमित्यादिकैरूपकम् ।
 नास्त्येव यदि धाप्यस्ति तद्ब्रह्माजमनामयम् ॥ ७
 यत्स्वप्नपुरमेवेदं सर्गादावेव चिन्ममः ।
 अस्तितानास्तिते तत्र कीदृशे क कुतः स्थिते ॥ ८
 यथाहं दृष्टवांस्तानि जगन्त्यवनिरूपभृक् ।
 तथा मया जलीभूय दृष्टं तादृशमेव तत् ॥ ९
 वारिधारणया वारि भूत्वा जडमिवाजडम् ।
 समुद्रमन्दिरेष्वन्तश्चिरं गुलगुलायितम् ॥ १०

ब्रह्माण्डानि सन्ति तथा धारणादृष्टेष्वपि भूमण्डलेषु प्रतिबल्लु
 तानि सन्ति न वेति संदिहानो रामः पृच्छति—अनन्तरमिति ।
 मण्डलशब्दः प्रदेशमेदपरः ॥ १ ॥ उर्ध्वधारणया परमात्मनो
 जाग्रदुर्ध्वामण्डलात्मना स्वप्रोर्धामण्डलात्मना च मया तत्सुर्ध्व-
 प्रदेशभेदलक्षणे तद्दृश्ये परया ईश्वरसाक्षिदशा साक्षाद्दृष्टं
 मनसा च विमृश्यानुभूतम् । स्वप्नप्रहृणं स्वाप्रोर्व्यादिप्रदेशमेदे-
 ष्वप्यनन्तजगत्संभवप्रदर्शनाय ॥ २ ॥ किं दृष्टमनुभूतं च
 तदाह—यावदिति । तथा प्राग्दृष्टकलभौतशिलादिवदेव ।
 यावदिति साकल्ये । शान्तमद्वैतं द्वैतमयात्मकमपि ॥ ३ ॥
 कुतो द्वैतमयं कुतो वा शान्तं तत्राह—जगन्तीति ॥ ४ ॥
 ॥ ५ ॥ नाना अनाना वा सत्यमिति प्रसिद्धे तद्दर्शनाभिमा-
 निनि सिद्ध्येत्स एव तावन्नास्तीत्याह—अहमित्येवेति ॥ ६ ॥
 ॥ ७ ॥ यद्यस्मात्सर्गादौ सृष्टेः प्राक् चिन्मम एव तत्समाप्तदु-
 स्तरं चिन्ममसि दृष्टमपीदं स्वप्नपुरसममेव । इत्थं प्रतियोगिन्या
 अस्तितया अव्यवस्थितौ तदभावो नास्तिताप्यव्यवस्थितैवेत्याह
 —अस्तितैति ॥ ८ ॥ पृष्टस्योत्तरं समाप्य जलधारणया यद्यत्कौतुकं
 दृष्टं तद्दकुमारभवे—यथेत्यादिना ॥ ९ ॥ गुलगुलायितम् ।
 अव्यकानुकरणदिवायर्थादाचारे क्यर्था भावे कः ॥ १० ॥

१ इत्यर्थ इति पाठः.

तृणवृक्षलतागुल्मवल्लीनां स्तम्भनाडिषु ।
 मृद्वलक्षितमारुढं तवाङ्गेष्विव यूकया ॥ ११ ॥
 सर्वान्थानोपमास्तम्भे तच्छेदे बलयोपमा ।
 मृद्या कर्णाहिगत्येव रचना प्रकृतोदरे ॥ १२ ॥
 वल्लीतमालतालादिपल्लवेषु फलेषु च ।
 विश्रम्य पुष्टयाऽऽकृत्या रेखाविरचनं कृतम् ॥ १३ ॥
 मुखेनाविश्य हृदयमृतुवैचुर्यधारिणा ।
 हृता विधुरिता भुक्ता लूना देहेषु धातवः ॥ १४ ॥
 सुप्तं पल्लवतल्पेषु प्रालेयकणरूपिणा ।
 तुल्यकालमशेषेषु दिक्षु सर्वास्त्रखेदिना ॥ १५ ॥
 नानाहृदनदीगेहप्राहिणाऽविरताध्वना ।
 विश्रान्तं सेतुसुहृदः प्रसादेन क्वचित्क्वचित् ॥ १६ ॥
 विदाऽविदनुसंधानाज्जडेन तदनाधयात् ।
 जडाशयेषूलसितं जलेनावर्तवर्तिना ॥ १७ ॥
 मया दुष्कृतिनेवोर्ध्वशिलास्वस्थेन भूभृताम् ।
 स्वावर्तवर्तिना श्वभ्रपातेषु शतधा गतम् ॥ १८ ॥
 धूमरूपेण निर्गत्य दादभ्यो गगनार्णवे ।

मृदुमन्दमलक्षितं च यथा स्यात्तथा आरुढम् ॥ ११ ॥ यथा
 कर्णाहिः सूक्ष्मतन्तुनिभः कीटकविशेषो मृद्या गत्या अलक्षितः
 कर्णं लीन इव प्रविशति तद्वत्तेषां तृणगुल्मादीनां छेदे भेदे
 पर्वभेदे तदुदरे छिद्रभेदे च गतिरचना प्रकृतेत्यर्थः ॥ १२ ॥
 वल्लीनां लतानां तमालतालादिवृक्षाणां च पल्लवेषु फलेषु च रस-
 रूपेण विश्रम्य पर्णादिभावेन कालतः पुष्टया तत्तत्पर्णाद्याकृत्या
 अन्तःशिरारेखाविरचनं कृतम् ॥ १३ ॥ तथा प्राणिनां देहेषु
 पानकाले मुखेन हृदयमाविश्य वसन्तादिक्रतुप्रयुक्तवैषम्यधा-
 रिणा मया वातपित्तकफाख्या धातवः क्वचिद्धृताः कदाचिद्विधु-
 रिताः केचिद्धृता जठराग्निना परिपाचिताः केचिद्धृताः खण्डिता
 इत्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥ हृदलक्षणा ये नदीनां गेहाः पद्यावा-
 सास्तद्वाहिणा नित्यं प्रवाहादविरताध्वना ॥ १६ ॥ विदा चैत-
 न्येनाविदंशस्य विषयतया अनुसंधानात्तत्र विषयांशमात्रतया
 तस्य चित्स्वभावस्यानाश्रयाज्जडेन अत एव लडयोरभेदाज्जलेन
 मया जडाशयेषु जडाशयप्रायेषु भ्रान्तिसहस्रैरावर्तवर्तिना उ-
 ल्लसितम् ॥ १७ ॥ प्रायश्चित्तार्थं मृगुपाते प्रकृतेन दुष्कृतिना
 पापकारिणेव मया भूभृतां पर्वतानामूर्ध्वशिलाभ्यः अस्वस्थेन
 चलितेन निर्हारेण श्वभ्रपातेषु विशीर्णेन शतधा गतम् ॥ १८ ॥
 गगनलक्षणे अर्णवे समुद्रे नीलवर्णा ये ऋजमणयो नक्षत्राणि
 तदन्तर्वर्तिना कणरत्नेन रत्नकणेन भूत्वा स्थितम् । वसिष्ठवचन-
 प्रामाण्याद्गुर्ध्वरदृश्यानि नीलवर्णान्यपि नक्षत्राणि दिवि सन्तीति

२. मया कर्णाहित्येव मृद्या गत्या तृणादीनां स्तम्भे प्रकाण्डे
 सर्वान्थानोपमा सर्वेषां तृणादीनामुत्थानमूर्ध्वस्थितिसादुपमा तत्स-
 दृशी यथा ऊर्ध्वस्थितिः स्यात्तथेत्यर्थः । तेषां तृणादीनां छेदे भेदे
 पर्वभेदे तदुदरे छिद्रभेदे च बलयोपमा बलमाकारवती रचना

कणरत्नेन नीलवर्णमप्यन्तर्वर्तिना स्थितम् ॥ १९ ॥
 विधान्तमभ्रपीठेषु विधुन्नितया सह ।
 भिन्नेन्द्रनीलनीलेन शेषाङ्गेष्विव शौरिणा ॥ २० ॥
 परमाणुमये सर्गे पिण्डरूपेष्वलक्षितम् ।
 स्थितमन्तःपदार्थेषु ब्रह्मणेवास्त्रिलात्मना ॥ २१ ॥
 प्राप्य जिह्वाणुभिः सङ्गमनुभूतिः कृतोत्तमा ।
 यामात्मनो न देहस्य मन्ये ज्ञानस्य केवलम् ॥ २२ ॥
 न मया न च देहेन नान्येनास्वादितात्म यत् ।
 तदन्तर्विभूतं चेत्यमज्ञानाय तदप्यसत् ॥ २३ ॥
 सर्वैतुरसरूपेण नानामोदानि दिक्कवलम् ।
 भुक्तानि पुष्पजालानि प्रोच्छिष्टं ददतालये ॥ २४ ॥
 चतुर्दशप्रकाराणां भूतानामङ्गसन्धिषु ।
 उषितं चेतनेनेव जडेनाप्यजडात्मना ॥ २५ ॥
 सीकरोत्कररूपेण रथमारुह्य मारुतम् ।
 आमोदेनेव विहितं विमलव्योमवीथिषु ॥ २६ ॥
 राम तस्यामवस्थायां परमाणुकणं प्रति ।
 अनुभूतमशेषेण यथास्थितमिदं जगत् ॥ २७ ॥

गम्यते ॥ १९ ॥ २० ॥ दुषिपुत्तिकादिपरमसूक्ष्मदेहात्मकेऽपि
 सर्गे तत्तत्प्राणिपिण्डरूपेष्वन्तर्गतेषु परमसूक्ष्मेषु तन्नाम्नादिप-
 दार्थेषु ब्रह्मणेव परमसूक्ष्मजलात्मना मया स्थितम् ॥ २१ ॥
 किंच मधुरादिरसात्मना मया तदीयजिह्वालक्षणेणरुभिः सह
 सङ्गं प्राप्य तेषां रसास्वादलक्षणा उत्तमा अनुभूतिः कृता । या-
 मनुभूतिं न देहस्य मन्ये किंतु केवलं ज्ञानस्वरूपस्य आत्मन
 एव विषयानन्दाकाराविर्भूतं स्वरूपं मन्ये । 'एतस्यैवानन्दस्या-
 न्यानि भूतानि मात्रामुजीवन्ति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २२ ॥
 तत्र पृथग्जना विषयमेवानन्दरूपमास्वाद्यमानं मन्यन्ते तत्र
 तथा विद्यात्, किंचसद्दुःखरूपमनास्वादनीयमेवेति तं पृथक्कृत्य
 दर्शयति—न मयेति । यत्तत्त्वं विषयरूपं तत्र मया तदभिष्टान-
 चिता नाप्यास्वादकपुरुषदेहेन नाप्यन्येन तज्जीवेनास्वादितात्म-
 सुखलेशस्वाप्यभावेनास्वादानायोग्यत्वात्तथाविधं चेत्यं चिता
 यदन्तर्विभूतं प्रकाशितं तत्केवलं जीवानामज्ञानाय व्यामोहायैव
 यतस्त्वत्तत्त्वं तदज्ञानमप्यसदेव । असतः असदर्थत्वस्यैवौचि-
 त्यादित्यर्थः ॥ २३ ॥ आस्वाद्यत्पक्षेऽपि विषयाभिष्टानचिदा-
 स्वादितानेव विषयास्तदुच्छिष्टप्रायानन्ये आस्वादयन्तीति वा क-
 ल्पनास्त्वित्याशयेनाह—सर्वैर्विति । अलये भ्रमराय ॥ २४ ॥
 कल्पनया जडेनापि वस्तुतोऽजडात्मना ॥ २५ ॥ मारुतरूपं
 रथमारुह्य विहितं श्रीङ्गं जनाहादनं चेति शेषः ॥ २६ ॥
 तत्रापि परमाणुपर्यन्तपर्ववस्तुषु प्रतिवस्त्वन्तः कलघौत-
 शिलायामिव सर्गा अनुभूता इत्याह—रमेति ॥ २७ ॥

प्रकृता संपादितेत्यर्थ इति योजना कार्या । पूर्वश्लोके यूकोपमया
 शारोहणमात्रं प्रतिपादितं कर्णाहीत्याद्युपमया त्वाकारविशेषप्रति-
 पादनपूर्वकं तत्प्रतिपादितमिति शेषम्.

अजडेन जडेनेव समया जालया तथा ।
अन्तःसर्वपदार्थानां ज्ञाताज्ञातेन संस्थितम् ॥ २८
जगतां तत्र लक्षाणि नाशोत्पातशतानि च ।
मया दृष्टानि कृद्धानि कदलीदलपीठवत् ॥ २९
एवं जगद्भाजगद्भा साकारं वा निराकृति ।

चिन्मात्रगगनं सर्वमाकाशाधिकनिर्मलम् ॥ ३०
न किञ्चन त्वं च न किञ्चनेदं
शुद्धः परो बोध इदं विभाति ।
स चापि नो किञ्चन नापि शून्य-
माकाशमेवासि विकासमास्य ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० जलजगद्दर्शनं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

एकनवतितमः सर्गः ९१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
ततोऽहमभवं तेजस्तेजोधारणयेदया ।
चन्द्रार्कतारकाभ्यादिविचित्रावयवान्वितम् ॥ १
नित्यं सत्त्वप्रधानत्वात्प्रकाशाकृतिराजगत् ।
सर्वं दृश्यसृते सर्वचौरध्वान्तप्रतापयुक् ॥ २
दीपादिभिः शनैः क्षिग्धैर्दशाशतविहारिभिः ।
प्रत्यक्षीकृतसर्वार्थं प्रतिगोहं सुराजवत् ॥ ३
लोकालोके च दृषितैश्चन्द्रार्काद्यंशुरोमभिः ।
परप्रकाशैकरतैर्दूरोत्क्षिप्तान्धरान्धरम् ॥ ४
अन्धकारस्य दैन्यस्य समस्तगुणनाशिनः ।

दृश्यं सदृश्यमनिशं सर्वस्य गुणशालिनः ॥ ५
तमस्तमालपरशुः परशुद्धिकरं पदम् ।
सुवर्णमणिमाणिक्यमुकादिजनजीवितम् ॥ ६
शुक्लकृष्णारुणादीनां नित्यं ज्योत्स्नाङ्गशायिनाम् ।
पुत्राणामिव वर्णानां सर्वेषां देहवः पिता ॥ ७
घनक्षेहरसं पृथ्व्या रक्षितानलवेधनम् ।
गृहं प्रति घनानन्दैर्वृतदीपकपुत्रकम् ॥ ८
दृष्टं पातालकेष्वीषसमोरुपेषु पावकम् ।
अर्धदृष्टं रजोरूपे भूतले भूतमालिते ॥ ९
सत्त्वात्मसु महासत्त्वं नित्यत्वं देवसद्यसु ।

जालया जलविषयिण्या समया तुल्यरूपया तथा धारणया ॥ २८ ॥
प्रतिवस्त्रन्तर्दृष्टजगद्प्रतिवस्त्रन्तरेऽपि तथाविधजगदन्तराण्य-
नवस्थितान्यन्तरन्तर्दृष्टानीत्याह—जगतामिति । कदलीदलपी-
ठवदन्तरन्तः प्रकृद्धान्यन्तानीत्यर्थः ॥ २९ ॥ एवं कल्पितानन्तज-
गद्यासत्त्वेपि नाधिष्ठानचिति किञ्चिन्मालिन्यमस्तीत्याह—एवमिति
॥ ३० ॥ उक्तं न्यायं रामदृश्यजगत्पि योजयन्सर्वाधिष्ठानशुद्ध-
चिन्मात्रे रामं प्रतिष्ठापयति—न किञ्चनेति । न किञ्चन त्वमित्य-
वस्थाप्रयेण सह देहेन्द्रियादिप्रतिषेधः । न च किञ्चनेदमिति
वियदादिबाह्यप्रपञ्चप्रतिषेधः । स च शोधिततत्त्वपदार्थलक्षणो
बोधः नो किञ्चन दृश्यस्वभावो नाप्यदृश्यस्वभावो नाप्यदृश्यश-
न्यस्वभावः किञ्चिद्व्यवहाररूपः स एव त्वमसि, अतो विकासम-
खण्डवाक्यार्थबोधस्त्वसर्ववैतसंकोचं यथा स्यात्तथा भास्वे-
त्यर्थः ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वा-
णप्रकरणे उत्तरार्धे जलजगद्दर्शनं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

तेजोधारणया तेजोभावमासाद्य वीक्षिताः ।

सूर्यचन्द्राग्निरक्षादिचमत्कारा इहोदिताः ॥ १ ॥

ततो जलधारणाकौतुकदर्शनानन्तरम् ॥ १ ॥ आजगत्
सर्वं जगदभिव्याप्य प्रकाशाकृतिः । 'राजवत्' इति पाठे
सर्वं दृश्यं चक्षुर्विषयं स्थापहतं ऋते निहाय सर्वतत्त्वैरेष्विव
पत्न्यमानेषु ध्वान्तेषु राजवत्प्रतापयुगिति संबन्धः ॥ २ ॥
यथा सुराजा दशाघातैर्नानावैषैर्बिहारिभिः क्षिग्धैश्चरैः प्रतिगो-
हं प्रत्यक्षीकृतसर्ववृत्तान्तार्थस्तद्वर्तिकाशतविहारिभिर्दीपादिभिः

प्रत्यक्षीकृतसर्वार्थम् । तेज एव सर्वत्र विशेष्यमनुवर्तते ॥ ३ ॥
परप्रकाशैकरतैरेव लोकानां जनानां भुवनानां च आलोके
अतिसंतुष्टैः पुलकितैश्च चन्द्रार्काद्यंशुलक्षणं रोमभिर्दूरे उक्तं ऊर्ध्वं
क्षिप्तमस्तमम्बरं सर्वावरकतमोवस्त्रमिव दृश्यमानमम्बरमाकाशं
येनेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥ किमर्थमन्धकारं दूरे उत्क्षिपतीति चेत्त-
त्राह—अन्धकारस्येति । यतः सत् विद्यमानं जगत्सर्वं सम-
स्तान् गुणान् रूपादीनाशयत्यदर्शनं नयति तथाविधस्यान्धकार-
लक्षणस्य दैन्यस्य दृश्यं विषयः । सर्वस्य च गुणशालिनः पर-
दैन्यनिवर्तनसमर्थस्य सत् उत्तममपगतदैन्यं जगद्दृश्यं दर्शनार्ह-
मतस्तदपनयनं युक्तमेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ पुनः कीदृशं तेजः ।
तमोलक्षणाणां तमाल्लक्षणां परशुः खण्डकम् । परमुत्कृष्टं
शुद्धिकरं पश्यते अनेनेति पदम् । निस्तेजस्त्वानां सुवर्णादीनाम-
नादरात्लक्षणाणां जनानां जीवितमादरहेतुः । सुवर्णादिरूपेण
जनानां जीवनसाधनमिति वा ॥ ६ ॥ ज्योत्स्ना आलोकस्तद-
ङ्गशायिनाम् । रूपमात्रस्यालोकाङ्गगुणत्वादिति भावः ॥ ७ ॥
इदं च तेजः पृथ्व्या सह घनः क्षेहरसः प्रीत्यतिशयो यस्य
तथाविधम् । कुतः । यतो रक्षितमनलावेधनं दहनं येन ।
सर्वदाहकोऽप्यनलो मृदं न दहति तदस्य क्षेहलक्षणमित्यर्थः ।
एवं पृथ्व्यापि स्वक्षेहलक्षणप्रकटनाय गृहं प्रति प्रतिगृहं घना-
नन्दैः प्रीत्यतिशयैर्भित्तिप्रासादादिभावेन हृतो वायव्यभिधाताइ-
क्षितो दीपकपुत्रको यस्य ॥ ८ ॥ तमोरजःसत्त्वबहलेषु पाताला-
दिषु लोकेषु तेजसः प्रकाशतारतम्यमाह—दृष्टमिति साधनं ।
इष्टपावकं इष्टप्रकाशकम् । अर्धदृष्टमर्धप्रकाशम् ॥ ९ ॥
महासत्त्वं महाप्रकाशम् । नित्यत्वं नित्यता । अन्मस्तमसोर्महान्

१ दूरोत्क्षिप्तान्धरान्धरम् इति पाठः.

यो० वा० १६०

२ अथ टीकाकर्ता इष्टपावक इति पाठोऽभिप्रेत इति दृश्यते.

जगज्जीर्णकुटीदीपः कूपोऽस्मत्समसोर्महान् ॥ १०
 दिग्बधूविमलादर्शो निशानीहारमारुतः ।
 सत्त्वं चन्द्रार्कबहीनां कुङ्कुमालेपनं दिवः ॥ ११
 केदारं दिनसंख्यानां तमोच्छ्रानामनुग्रहः ।
 नभःकाचवृहत्पात्रक्षालनाम्बु समुल्लसत् ॥ १२
 सत्ताप्रवतयार्थानां प्रकाशकतयापि च ।
 चिन्मात्रपरमार्थस्य सहोदर इवानुजः ॥ १३
 क्रियाकमलिनीमानुर्भूतलोदरजीवितम् ।
 रूपालोकमनस्कारचमत्कारश्चित्तेर्यथा ॥ १४
 नभस्तलगतासंख्यनक्षत्रमणिमालितः ।
 दिनर्तुवत्सराहृष्टावाडवाङ्ग्यादिफेनिलः ॥ १५
 चन्द्रार्कादितरङ्गान्तरजडं पङ्किलो महान् ।
 वृहद्ब्रह्माण्डस्नातस्थो नित्यमेकार्णवोऽक्षयः ॥ १६
 टेमादिषु सुवर्णत्वं नरादिषु पराक्रमः ।
 काचकच्यं च रत्नादौ वर्षादिष्ववभासनम् ॥ १७
 ज्योत्स्ना मुखेन्दुबिम्बेषु पक्ष्मलेक्षणलक्ष्मसु ।
 अवत्सेहामृतापूरो हाससौहार्दभासनम् ॥ १८
 कपोलबाहुनेत्राक्षिभ्रूकरालकलासकः ।
 निजोऽजेयतया जातो विलासः कामिनीजने ॥ १९

अगाधः कूप इवान्तर्मासि ॥ १० ॥ दिग्बधूनां विमल आदर्श इव विविध प्रकाशकम् । निशानीहारस्य मारुत इव अपनेत् सत्त्वं जीवितसर्वकम् ॥ ११ ॥ तमसा उच्छ्रानामुच्छ्रानानां रूपाणामनुग्रहः । नभोलक्षणस्य काचमयवृहत्पात्रस्य क्षालनार्थ- मम्बु ॥ १२ ॥ चिन्मात्रलक्षणस्य परमार्थस्य जाड्यमात्रेण जघन्यत्वादनुज इव ॥ १३ ॥ रूपालोकस्य चाक्षुषस्य तत्प्रयु- क्तमनस्कारस्य च वृत्त्या रूढचित्तेरिव विषयावरणतमोनिवर्तन- लक्षणचमत्कारः ॥ १४ ॥ किंचेदं तेजो वृहद्ब्रह्माण्डस्नातस्थो महार्णव एवेत्युत्प्रेक्षणाय रूपककल्पितैरणवर्धमैर्विशिनष्टि—न- भस्तलेति । दिनर्तुवत्सरादिकालभेदलक्षणैराहृष्टैः सर्वतः प्रवृद्धै- र्वाडवाङ्ग्यादिभिर्विक्षोभाफेनिलः ॥ १५ ॥ चन्द्रार्कादिलक्षण- तरङ्गान्तःप्रसृतै रजोभिः अजडं विनैव जलं कदाचित्पङ्किलः ॥ १६ ॥ किंचेदं तेजः सन् अहं हेमादिषु सुवर्णत्वं संपन्नः । नरादिषु पराक्रमः, संपन्न इति योज्यम् । काचकच्यं कान्तिवि- शेषः । अवभासनं विद्युत्प्रकाशः ॥ १७ ॥ मुखसदृशेष्विन्दु- बिम्बेषु तु ज्योत्स्ना संपन्नः । पक्ष्मलेक्षणलक्ष्मसु मुखलक्षणेन्दु- बिम्बेषु तु ज्योत्स्नासदृशः अवत्सेहामृतापूरो हाससौहार्दयुक्तं भासनं च संपन्न इत्यर्थः ॥ १८ ॥ कामिनीजने त्वहमजेयतया प्रसिद्धो निजः स्वाभाविकः कामविलासो जातः । स कीदृक् । कपोलवर्षीनां लासको लवण्यातिशयेन प्रकाशकः । 'स्वामकः' इति पाठे चलनादिकारहेतुः ॥ १९ ॥ किंचाहं तृणीकृतत्रि- भुवनानां चपेटाभिरास्फोटिता द्विषो यैस्तथाविधानामपि परा- क्रमिणां वृत्रादीनां शिरःसु वज्रीकरणं वज्रप्रहारः संपन्नः । सिंहादिचेतसि वीर्यं च संपन्न इति प्रत्येकं विशेषणविशेष्य-

तृणीकृतत्रिभुवनचपेटास्फोटितद्विषाम् ।
 शिरःसु वज्रीकरणं वीर्यं सिंहादिचेतसि ॥ २०
 कटुककटुकुट्टाकसङ्घट्टाङ्कतैः ।
 पट्टस्फुटाटोपरटि भटेष्वटनमुद्गटम् ॥ २१
 देवेषु दानवारित्वं सुरारित्वं सुरारिषु ।
 सर्वभूतेषु सोजस्त्वमुष्णमः स्थावरादिषु ॥ २२
 अथ ते मरुवद्भास्वास्तत्राहमनुभूतवान् ।
 जगदाकाशकोशेषु तेषु तामरसेक्षण ॥ २३
 दिगन्तदशनिस्तीर्णैः करजालैर्जगत्खगम् ।
 गृह्णदध्यङ्गमर्कत्वं ग्रामवदृष्टभूतलम् ॥ २४
 कामोत्पले कोशचक्रं वाडवं तिमिरार्णवे ।
 ब्रह्माण्डसदने दीपं वृक्षं दिनफलावलेः ॥ २५
 रसायनहृदाकारमिन्दुत्वं वदनं दिवः ।
 निशानिशाचरीहासं विकासं रजनीविशाम् ॥ २६
 जगद्वाघण्यलक्ष्मीणां सर्वासामुपमास्पदम् ।
 रजनीरोहिणीनारीकैरवाणां परं प्रियम् ॥ २७
 नेत्रवृन्दस्य वक्रस्य घुलतापुष्पजालकम् ।
 स्वर्गौघमशक्य्यूहं तारकापटलं मृदु ॥ २८

भावेन वा योज्यम् ॥ २० ॥ किंचाहं भटेषु उद्गटं रणाङ्गणेष्वटनं लक्षणया तत्प्रयोजकं वीर्यं संपन्नः । तत्कीदृशम् । कटुभिः क- टुटानामायसकवचानां कुट्टाका ये खङ्गास्तत्संघट्टजन्मैर्घट्टाङ्कतैः पट्टस्फुटाटोपं च यथा स्यात्तथा रटि रटनशीलम् ॥ २१ ॥ उष्णमः औष्ण्यम् । वाय्वादिबलेनाप्यनाम्यत्वप्रयोजकं बलं वा ॥ २२ ॥ अथ तेषु स्वधारणाकल्पितेषु जगदाकाशकोशेषु ते तत्र प्रसिद्धा मरुस्थली यथा स्वान्तर्नद्यादिकल्पनमनुभवति तद्वद्दहमपि भा- स्वान्सन् वक्ष्यमाणं सर्वं स्वान्तरनुभूतवानित्यर्थः ॥ २३ ॥ तदे- वाह—दिगन्तैत्यादिना । अहमर्कत्वमनुभूतवान् । कीदृशं तत् । दिगन्तेषु दशसु निस्तीर्णैः प्रसृतैः करजालैः । अग्रयः अग्रान्य- वयवा यस्य तथाविधं जगत्क्षणं स्वर्गं पक्षिणं गृह्णत् । पुनः कीदृशम् । ग्रामवदस्पतिमाणं दृष्टं भूतलं यत्र ॥ २४ ॥ पुनस्त- त्कीदृशमर्कत्वम् । चन्द्रकामवत्युत्पले कोशचक्रं वदनहेतुभूतं च- क्रम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २५ ॥ तथा इन्दुत्वं चन्द्रभावमप्यनुभू- तवान् । तदपि कीदृशम् । रसायनस्यामृतस्य हृद इवाकारो यस्य । दिवो वदनमिव वदनम् । निशालक्षणाया निशाचर्या अभिसारिकाया हासमिव हासम् । तथा रजन्यां विशन्ति प्र- वेष्टादिव्यवहारं ये कुर्वन्ति ते रजनीविशस्तेषां विकासं प्रकाश- कम् ॥ २६ ॥ २७ ॥ तथा सर्वप्राणिनां नेत्रवृन्दस्य वक्रस्य मुखस्य च आह्लादविकासहेतुत्वात्परमं प्रियमित्यनुगृह्यन्वयः । तथा अहं मृदु तारकापटलम् । भावप्रधानो निर्देशः । तारकासमूहत्वं चानुभूतवान् । तदपि कीदृशम् । वीराकाशस्तत्क्षणया ल- तायाः पुष्पजालकमिव स्थितम् । स्वर्गसुखलक्षणे ओषे तन्म- करन्दप्रवाहे आचक्रं मशक्य्यूहमिव मृदु शुद्धम् ॥ २८ ॥

वणिज्यात्रे वणिग्घस्तनुलातोलनदोलितम् ।
 रक्षत्वं जलकल्लोलहस्तान्दोलनमधिभिः ॥ २९
 अब्धाऽब्धौ शफरावर्तमब्धा गोमञ्जरीगणः ।
 अब्धादौ दावदहनं वैद्युतं द्योतनं तनौ ॥ ३०
 दारुदारणदुर्वारदीप्तं ज्वलनमाततम् ।
 यज्ञाग्निदाहकल्याणं विस्फोटकठिनारवम् ॥ ३१
 कचत्काञ्चनमाणिक्यमुक्तामणिमयं महः ।
 तपस्तां नीतमाक्षिप्य पाण्डित्यमिष पामरैः ॥ ३२
 विश्रान्तं स्तनभृङ्गेषु मुक्ताहारतया तथा ।
 असुरोरगगन्धर्वनरनायकयोषिताम् ॥ ३३
 पादाहतिं गतं मार्गं तिलकत्वं बधूमुखे ।
 खद्योतेन मया लब्धं पश्यावस्थासु चापलम् ॥ ३४
 कचिद्विद्युत्तया तेषु शफर्या चार्णवेष्विव ।
 स्वस्थेषु विकृतं चारु वार्यावर्तविराविषु ॥ ३५
 कचिद्दीपतयानीय कलिकाकोमलाङ्गया ।
 अन्तःपुरेषु कान्तानां सुरतालोकमं कृतम् ॥ ३६
 कचित्कज्जलजालस्य ज्वालाकनकदाकृते ।
 खेदिना घनकूर्माभं सङ्गेनैव स्वकोटरे ॥ ३७

तथा अहं रजलमप्यनुभूतवान् । तच्च वणिजो मिमीते इति वणिज्यात्रो विपणिस्तस्मिन् वणिजां इस्तेस्तुलासु तोलनैश्च दोलितमान्दोलितम् । प्राक् अधिभिर्जलकल्लोलहस्तीरान्दोलनं प्राप्तमिति शेषः । बाहुलकात्कर्मणि वा ल्युट् ॥ २९ ॥ किंचाहमब्धौ समुद्रे अपो धयति पिबतीत्यब्धा बडवानलः सन् शफराणां क्षुद्रमत्स्यानां मञ्जीतानाभावर्तं परिभ्रमणकौतुकमनुभूतवान् । तथा सर्वत्र अपः धयति शोषयतीत्यब्धा गोमञ्जरीगणः सूर्यकिरणमञ्जरीसमूहात्मकः संस्तनौ स्वशरीरे द्योतनमनुभूतवान् । अब्धादौ मेघपर्वतादौ प्रविश्य दावदहनवैद्युतं च तप्तच्छरीरे द्योतनं स्वमनुभूतवानित्यर्थः ॥ ३० ॥ किंचाहमग्निभावं प्राप्य दारुणां दारणं विदारणनिमित्तं दुर्वारं यथा स्यात्तथा धीममत एव दारुविस्फोटेः कठिनारवमाततं सर्वतोविस्तृतं ज्वलनमनुभूतवान् । तथा यज्ञाग्निः सज्जनाहविर्दाहकल्याणं चानुभूतवानित्यर्थः ॥ ३१ ॥ किंच तस्मिन्निभावे कचत्कावभ्यातिशयेन वीप्यमानं काञ्चनादिमयं महो ज्योतिः कोशागारदाहेन आक्षिप्य परिभूय भस्मादिभावं नीत्वा तत्स्वामिनां तपस्तां संतापमिषयतां नीतम् । यथा बलवद्भिः पामरैर्बहुभिरैकस्य पण्डितस्य पाण्डित्यं वितण्डावादैरभिभूय संतापमिषयतां नीयते तद्वत् । तथा चामाणकमाहुः—'पलाशां पण्डितः प्राह मूर्खा जल्पन्ति पाडलम् । मुष्टिप्रहारैः संक्रिष्टः पण्डितोऽप्याह पाडलम्' इति ॥ ३२ ॥ प्रसंगोपात्ते मुक्ताभावेऽपि यदनुभूतं तदाह—विश्रान्तमिति ॥ ३३ ॥ खद्योतभावे यदनुभूतं तदाह—पादाहतिमिति । खद्योतमूतेन मया तत्खद्योतत्वं मार्गं संचरता जनानां पादाहतिं गतं लब्धम् । बधूमुखे तु तिलकत्वं गतं लब्धम् । स्थानभेदप्रयुक्तासूक्तार्णव-

१ पडव, पडक इत्यपि पाठे, २ बहुमीद्विः—आकृतमाकृतिः.

कल्पान्तेषु कचित्सर्वजगत्प्रमथनभ्रमात् ।
 खे कज्जलासिते लीनं यत्रेभ इष विद्युता ॥ ३८
 कचिदाकल्पमापीय बाडवाभितया जलम् ।
 जगत्सु गगनेष्वन्ते नवृते जलराशिषु ॥ ३९
 कचिदुल्मुकदन्तेन मया ज्वालाभुजात्मना ।
 विलोलधूमावर्तोमकुन्तलेनाकुलौजसा ॥ ४०
 पुरर्पस्वलदाहेषु कवलीकृतजन्तुना ।
 कृताः कृताष्ट काष्ठादिपदार्थाः खादनोचिताः ॥ ४१
 हतेन शस्त्रपाषाणैरयःपिण्डादिवासिना ।
 हन्त्वादाहार्थमुद्गीर्णाः कणकोपलताः कचित् ॥ ४२
 कचिन्महाशिलाकोशे पाषाणमणिना मया ।
 समस्तभूतादृश्येन स्थितं युगशतान्वयि ॥ ४३
 श्रीराम उवाच ।
 मुने तस्यामवस्थायामनुभूतं त्वया सुखम् ।
 उत दुःखमिति ब्रूहि बोधाय मम मानद ॥ ४४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 यथा याति नरः सुप्तो जडतां चेतनोऽपि सन् ।
 चिद्योम गच्छेद्दृश्यत्वं तथा जाड्यं प्रचेतति ॥ ४५

कर्षावस्थासु चापलमनैयत्वं पश्य ॥ ३४ ॥ स्वस्थेषु मेघेषु मया कचिद्विद्युत्तयार्णवेषु शफर्येव चारु यथा स्यात्तथा विकृतं चेष्टितम् । वार्यावर्तविराविष्विति द्वयोरपि विशेषणम् ॥ ३५ ॥ अन्तःपुरेषु आनीय स्थापितेनेति शेषः ॥ ३६ ॥ ज्वालालक्षणं कनकं दाति खण्डयति तथाविधैकृते स्वकोटरे वर्तिकाग्रे प्ररुढकज्जलजालस्य सङ्गेनैव खेदिना मन्दप्रभेण दीपेन मया ज्वालाव्ययवसंकोचाद्घनकूर्माभं रूपं कृतमित्यर्थः । कल्पान्तामिभूतेन मया कल्पान्तेषु सर्वेषु जगत्सु भ्रमणप्रयुक्ताद्बृहत्तः धमात्कज्जलेनासिते इयामे कचित्खे आकाशे लीनम् । यथा मेघवाहनस्य रुद्रस्य इमे वाहनभूते मेघे विद्युता लीनं तद्वत् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ गगनेषु शून्यतां प्राप्तेषु जलराशिषु मया अन्ते गगने नवृते । गात्रविक्षेपार्थस्य नृतेर्धात्वर्थोपसंभृतीतकर्मकत्वेनाकर्मकत्वाद्भावे लिट् ॥ ३९ ॥ कचिदुल्मुकदन्तेन ज्वालाभुजात्मना विलोलावर्तधूमाप्राप्येव कुन्तलाः केशा यस्य तथाविधेनौजसाग्निना मया पुराणां प्ररुढकक्षर्यत्वलानां च दाहेषु क्रियमाणेषु काष्ठादिपदार्थाः खादनोचिता भक्षणयोग्याः कृता इति परेणान्वयः ॥ ४० ॥ हे कृताष्ट । कृताः स्थिरीकृता दयाद्यस्पृहान्ता गौतमोक्ता अष्टौ गुणा येनेति व्युत्पत्तेः ॥ ४१ ॥ कचित्कर्मारशाब्धौ शस्त्रैरयोमुद्गैः पाषाणैश्च हतेन लोहाभिघातादभिहतेन कणका विस्फुलिङ्गा उपलताः पाषाणखण्डाश्चोद्गीर्णाः ॥ ४२ ॥ पाषाणमणिना बज्रवैद्युदिरूपेण स्थितम् ॥ ४३ ॥ तस्यां पाषाणमण्याव्यवस्थायाम् ॥ ४४ ॥ चिदानन्दंकरसंपूर्णमनुभूतस्य मम कौतुकाज्जगद्भारोपवीक्षणं न दुःखलेशस्यापि प्रसक्तिः किंतु सुखमेवेत्युत्तरं वक्तुं वसिष्ठो भूमिकां

१ वार्यत्वमामजनेत्यत्र कलिति योगमिमागादा समूहे तच्च.

आत्मानं चेतसि ब्रह्म पृथ्यादीव यदा तदा ।
 सुप्तं जडमिवास्तेऽन्तः स्यादस्य न तदन्यथा ॥ ४६
 वस्तुतस्तस्य खोर्व्यादि नासद्रूपं न सन्मयम् ।
 द्रष्टृदृश्यमिवाभासि ब्रह्म चैतत्समं स्थितम् ॥ ४७
 एतत्सत्यपरिज्ञानं यस्योत्पन्नमखण्डितम् ।
 न तस्य पञ्चभूतानि न दृश्यद्रष्टृविभ्रमः ॥ ४८
 तदा मयैवं शुद्धेन तत्कृतं ब्रह्मरूपिणा ।
 ब्रह्मरूपादते किञ्चिदेतत्कर्तुर्न युज्यते ॥ ४९
 यदा सर्वमिदं दृश्यं जातं ब्रह्म निरामयम् ।
 तदा ब्रह्मपदस्थेन मयात्मैवैवमीक्षितः ॥ ५०
 यदा पुनरहं पञ्चभूतानीत्येव भासयन् ।
 भवामि जड एवाहं तदा चेतामि किं किल ॥ ५१
 सुप्तोऽस्मीति दृढं भावं बुद्धवाञ्छेतनोऽपि सन् ।
 नैप्रमेवैत्यलं जाड्यं लसच्चेतति किञ्चन ॥ ५२
 यस्तु ज्ञानप्रबुद्धात्मा वेदस्तस्याधिभौतिकः ।
 शान्त्यत्युदेति विमलो बोधात्मैवातिवाहिकः ॥ ५३
 आतिवाहिकदेहेन तेन बोधात्मनाणुना ।
 बृहता वा यथाकामं निर्वाणात्मावतिष्ठते ॥ ५४
 बोधदेहेन हृदयं शिलानामर्ष्यभेदिनाम् ।
 प्रविद्यथाशु विनिर्याति याति पातालमम्बरम् ॥ ५५

रचयति—यथेति ॥ ४५ ॥ अस्य ब्रह्मणस्तद्वास्त्वं सच्चिदान-
 न्द्रूपमन्यथा न स्यादेवेति न दुःखप्रसक्तिरिति भावः ॥ ४६ ॥
 कुतो न स्यात्तत्राह—वस्तुत इति । सममविकृतमेव स्थितम्
 ॥ ४७ ॥ अज्ञाने हि दुःखप्रसक्तिः स्यात् न तदस्तीत्याह—
 एतदिति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ यदि मम पाषाणमण्यादि-
 भावे चेतन्यमेव न स्यात्तर्हि तदनुभवोऽयं स्मरणं च न स्यादि-
 त्याशयेनाह—यदेति । किं चेतामि कथमनुभवामि ॥ ५१ ॥
 सुप्तोऽस्मीति । तत्र नैप्रं निद्रोपस्थापितमज्ञानमेव नावेदिषमिति
 प्रतीतिप्रापितं जाड्यं अलं एति । लसत्स्वप्रकाशं किञ्चन वस्तु
 चेतस्येव । अन्यथा सुप्तिकालननुभूतस्य स्वापाज्ञानादेः स्मरणं
 कथं स्यादिति भावः ॥ ५२ ॥ ज्ञानोदयेन स्थूलव्यष्टिसमष्टिदे-
 हस्वाधिभौतिकभाषापगमादपि न जाड्यदुःखप्रसक्तिरित्याशये-
 नाह—यदिति ॥ ५३ ॥ निर्वाणात्मा जीवन्मुक्तः ॥ ५४ ॥
 ॥ ५५ ॥ तथाच न मे दुःखप्रसक्तिरित्युपसंहरति—तस्मा-
 दिति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ स्वेच्छानिर्भितकौतुकत्वादिपि न
 दुःखप्रसक्तिरित्याशयेनाह—स्वेच्छयैवेति । स्वेच्छयैवान्यत्र
 प्रयाति चेद्यथा न दुःखं तथैव तत्तत्रैव स्थितिं याति चेदपि
 यथा पुनरागतस्तथैव तत्र स्थितिरपि इष्टैव नानिष्टैत्यर्थः
 ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ तवापि तत्त्वज्ञानितया आतिवाहिकदेहत्वं

१ पुंसवर्षम् । अभेदि नेति वा पाठस्तत्राभेदि नेति षष्ठेदः ।

तस्मान्मया पुरा राम बोधदेहेन तत्तदा ।
 तथा कृतमनन्तेन चिन्मयव्योमरूपिणा ॥ ५६
 वज्रपाषाणपातालनभोम्बरगमागमान् ।
 कुर्वतस्तादृशस्याशु न विघ्न उपजायते ॥ ५७
 बोधमात्रशरीरेण यावदास्ते जडेष्वसौ ।
 पदार्थेषु तथाभूतस्तावत्तत्रावतिष्ठते ॥ ५८
 स्वेच्छयैव खलित्वाथ ततोऽन्यत्र प्रयाति चेत् ।
 तत्तत्रैव स्थितिं याति तत्तथैवागतिर्यथा ॥ ५९
 बोधमात्रं विदुर्देहमातिवाहिकमव्ययम् ।
 इदानीं त्वं तमेवेह बुधोऽनुभवसि स्वयम् ॥ ६०
 चिन्मात्रव्योमरूपोऽस्मीत्यर्कादाविति बोधतः ।
 आत्मैवास्तमुपानीतः सन्नेवासाञ्चिवात्मना ॥ ६१
 स्थितं स्वप्नादिजगति तमसेवासतेव च ।
 आवृतेनेव वान्यासामलभ्येन सता दशम् ॥ ६२
 तरङ्गलेखयाङ्गारसरितः स्वाङ्गलमया ।
 मनोराज्यधियेवाशुक् प्रोत्पन्नस्तद्वदेहया ॥ ६३
 कञ्जलालिकया वह्निविपिनं पुष्पशोभया ।
 फुल्लस्थलाम्बुजाकारं किंशुकाशोकरूपया ॥ ६४
 विततारम्भयाप्युच्चैर्ज्वालाज्वलतयेहया ।
 उपोत्थायाङ्ग गलितं खललक्ष्म्येव लोलया ॥ ६५

धारणामेदैर्जगद्भावकांतुकदर्शनं च सुलभमेवेति मद्युक्तं परी-
 क्षस्वेत्याशयेनाह—बोधमात्रमिति । तमेवातिवाहिकदेहं धार-
 णया जगद्भावं चानुभवसि, यदीच्छसीति शेषः ॥ ६० ॥
 तत्त्वज्ञैरिच्छयैव अर्कादिसर्वं जगदस्तं नीत्वा आत्ममात्रतया
 स्थापयितुं शक्यमित्याह—चिन्मात्रेति । आत्मना आत्मरूपेण
 सन्नेव जगद्रूपवाधादसञ्चिब भवतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥ ननु अस्म-
 दादिदृशा सता जगता कथमसतेव स्थितमिति चेत्स्वप्नादि-
 जगति जाग्रजगतेवेत्याह—स्थितमिति । यथा दृशं जाग्रत्पुरुष-
 दृष्टिं प्रति सता विद्यमानेनैव जगता सुप्तपुरुषप्रसिद्धस्वप्नादिज-
 गति तमसा अज्ञानभावेनेव असता शून्यभावेनेव आवृतेनेव
 वा अन्यासां सुप्तदृशामलभ्येन स्थितं तद्वदित्यर्थः ॥ ६२ ॥
 किञ्च यथा कश्चिन्मनोराज्यधिया कल्पिताया अङ्गारसरितस्तर-
 ङ्गलेखया स्वाङ्गलमयापि अशुक् निर्दुःख एव कौतुकी प्रोत्पन्न-
 स्तद्वदहमपि आ ईहया ईपदिच्छया पाषाणमण्यादिभावेन
 प्रोत्पन्न इति न शुक्प्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इत्थं रामप्रश्न-
 स्योत्तरमभिधाय प्रस्तुतमेवानुवर्तमान आह—कञ्जलेति । व-
 ह्निभूतेनैव मया कञ्जलमेवालिकं अलिसमूहो यस्यां तथाविधया
 अत एव पुष्पशोभया किंशुकाशोकरूपया इहया वीतया ज्वा-
 लाज्वलतया वह्नियुक्तं विपिनं फुल्लस्थलाम्बुजाकारं कृतमिति
 शेषः ॥ ६४ ॥ हे अङ्ग, मया इहया वीतया खललक्ष्म्येव लोलया

ना पुरुषः । अभेदीति हृदयविशेषणमित्यनुमीयते.

तेजस्तयापि परमाणुकणोदरेऽपि
दृष्टेत्यमेवमिह राम मया जगच्छ्रीः ।

अन्या च सा न च चिदम्बरतः परस्मा-
त्स्वप्ने पुराचलगणोऽत्र निदर्शनं च ॥ ६६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० तैजसजगद्गर्णनं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

दिनवतितमः सर्गः ९२

भीवासिष्ठ उवाच ।

अथ वातमयीं कृत्वा जगत्प्रेक्षणकौतुकात् ।
धारणां धीरया वृत्त्या विततामहमागतः ॥ १
संपन्नोऽस्म्यनिलो घल्लीललनालोकलासकः ।
कमलोत्पलकुन्दादिजालकामोदपालकः ॥ २
सीकरोत्करनीहारहेलाहरणतत्परः ।
सुरतथान्तसर्वाङ्गसमाह्लादनतर्बुलः ॥ ३
तृणगुल्मलतावल्लीदलताण्डवपण्डितः ।
लतौषधिफलोह्लासकुसुमामोदमण्डितः ॥ ४
मृदुर्मङ्गलकालेषु ललनालोकलालकः ।
भीम उत्पातकालेषु पर्णवत्प्रौढपर्वतः ॥ ५
नन्दने कुन्दमन्दारमकरन्दरजोरुणः ।
नरकेऽङ्गारसंभारभूरिनीहारभासुरः ॥ ६
सागरे सरलावर्तलेखानुमितसर्पणः ।
दिवि वारिदसंचारमृष्टामृष्टेन्दुदर्पणः ॥ ७
नक्षत्रक्षत्रसैन्यस्य रथो रंहोविबृंहितः ।
त्रैलोक्यसिद्धसंचारविमानधरणे हितः ॥ ८

सहोदर इव क्षिप्रगामित्वाद्यस्य चेतसः ।
अनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः स्पन्दानन्दनचन्दनः ॥ ९
तुषारसीकरासारजरारोमविजर्जरः ।
आमोदयौवनोन्मादो मौनमार्दवशैशवः ॥ १०
नन्दनामोदमधुरो मधुरोदारसंसृतिः ।
चारुचैत्ररथोन्मुक्तो हृतकान्तारतथ्रमः ॥ ११
चिरं गङ्गातरङ्गाङ्गदोलान्दोलनसथ्रमः ।
थ्रमस्वरूपाज्ञतया निवारिततथ्रमः ॥ १२
पुष्पभारानताः स्पशैर्वसन्तवनितालताः ।
चिरं चपलयँल्लोलदलहस्तालिलोचनाः ॥ १३
चिरं भुक्त्वेन्दुभिम्बाप्रं सुप्ता पूर्णाभ्रतल्पके ।
विधूय कमलानीकमपनीतरतथ्रमः ॥ १४
समस्तरजसामेको व्योमगामी तुरंगमः ।
आमोदमदमातङ्गसमुह्लासमहासुहृत् ॥ १५
धीरेणाप्य तडिच्छृङ्गं पयोदपशुपालकः ।
तन्तुः सीकरमुक्तानामरिधर्मा रजोरुजाम् ॥ १६
आकाशकुसुमामोदः सर्वशब्दसहोदरः ।
नाडीप्रणालीसलिलं भूताङ्गोपाङ्गवर्तकः ॥ १७

ज्वालाज्वलतया उपोत्थाय ऋटिल्येवोत्कर्षं प्राप्य सहस्रव गलि-
तम् ॥ ६५ ॥ हे राम, मया तेजस्तयापि परमाणुकणानामुदरेऽपि
प्रत्येकं इत्यमेवं जगच्छ्रीर्दृष्टा सा जगच्छ्रीर्भवदादिप्रसिद्धा च
जगच्छ्रीः परस्माच्चिदम्बरतः अन्या न । अत्रास्मिन्नर्थे चः युष्माकं
स्वप्ने प्रसिद्धः पुराणः अचलगणश्च निदर्शनं दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ ६६ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
तैजसजगद्गर्णनं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

वायुधारणया वायुभावे तत्कर्मैभिस्तरः ।

ततः साकाशासाक्षात्स्थितिश्चात्रोपबर्ण्यते ॥ १ ॥

विततां वायुभावप्रतिष्ठापर्यन्तं विस्तीर्णां तामागतः प्राप्तः
सन्निलः संपन्नोऽस्मीत्यन्वयः ॥ १ ॥ प्रसिद्धैरनिलघर्मैरा-
त्मानं मिशिनष्टि—घल्लीत्यादिना । आमोदान्पालयति स्वाधी-
नीकृत्य रक्षतीत्यामोदपालकः ॥ २ ॥ ३ ॥ फलोह्लासानां
कुसुमानां आमोदैर्मण्डितः संपन्नोऽस्मीति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ ४ ॥
मङ्गलकालेषु भाविकत्याणसूचनाय मृदुशैल्यमान्यसौरभयुक्तः ।
उत्पातकालेषु तु भीमस्तद्विपरीतत्वात्खरोष्णपरुषः । प्रलयकाले
तु पर्णवत्प्रौढा उद्गायिताः पर्वता येन तथाविधः ॥ ५ ॥
नन्दने स्वर्गे ॥ ६ ॥ सरलाभिरावर्तलेखाभिस्तरङ्गलेखाभिरनु-
मितं सर्पणं प्रचलनं यस्य । मेघापसारणे मृष्ट इव तदाच्छादने-

नामृष्टो मलिनीकृत इवेन्दुदर्पणो येन ॥ ७ ॥ नक्षत्रलक्षणस्य
क्षत्रसैन्यस्य राजसेनाया रंहोभिर्विबृंहितो विबृद्धो रथः । प्रब-
हाख्यो मरुद्भेदो नक्षत्रचक्रं भ्रमयतीति उयोतिःशास्त्रप्रसिद्धेः ।
तथा त्रैलोक्येऽपि सिद्धानां संचारे देवानां विमानधारणे च
हितोऽनुकूलः ॥ ८ ॥ ९ ॥ तुषाराविलक्षणैर्जराधवलरोमभि-
विजर्जरो वृद्ध इव । कुसुमाथामोदैर्यौवनोन्मादवानिव । मौन-
मार्दवे शैशवमिव यस्य ॥ १० ॥ नन्दने इन्द्रोद्याने उदारो मधु-
रश्च । चैत्ररथात्कुबेरोद्यानादुन्मुक्तः प्रसृतः ॥ ११ ॥ गङ्गात-
रङ्गाङ्गदोलसु आन्दोलनेन सथ्रम इव परभ्रमनिवारणोत्सुक्येन
स्वभ्रमानभिज्ञतया निवारितास्तता विस्तीर्णाः परभ्रमा येन
॥ १२ ॥ वसन्तस्य वनिता इव स्थिता लता नमैस्पशैरिव
चिरं चपलयन् । लोलदलहस्ताश्च ता अलिलोचनाश्चेति कर्म-
धारयः ॥ १३ ॥ इन्दुविम्बे अत्रं भ्रष्टममृतं चिरं भुक्त्वा ।
रतथ्रमः स्त्रीयः परकीयो वा ॥ १४ ॥ १५ ॥ तडिच्छृङ्गं शृङ्गं गोप-
बालानां प्रसिद्धं बाधमाप्य धीरेण तच्चादेन पयोदलक्षणानां
पशूनां गोमहिष्यादीनां पालकः । रजोरुर्ना धूलिबिनाशाकानां
जलभागानामरिधर्मा । शोषक इति यावत् ॥ १६ ॥ आकाशलक्ष-
णस्य कुसुमस्यामोदो गन्धभूतः अत एव तद्गुणानां सर्वशब्दानां
१ नन्दनोदारमधुरः इति पाठो व्याख्यानगुणः ।

मर्मकर्मकरैकात्मा दृढहागेहकेसरी ।
 नित्यमेकात्मपथिकः सारविज्ञातवेदसः ॥ १८
 आमोदरक्षलुण्टाको विमाननगरावनिः ।
 दाहाधकारशीतांशुः शैत्येन्दुक्षीरसागरः ॥ १९
 प्राणापानकलारुद्धा प्राणिनां यन्त्रवाहकः ।
 अरिर्मित्रं च द्वीपानां द्वीपसंचारणे रतः ॥ २०
 पुरोगतोऽप्यदृश्यात्मा मनोराज्यपुरोपमः ।
 तालवृन्ततिलेतैलमालानं स्पन्ददन्तिनः ॥ २१
 एकक्षणलवेनैव चालिताखिलभूधरः ।
 वर्णावलितरङ्गानां गङ्गावाह इवैककृत् ॥ २२
 धूमाम्बुवाहुरजसां महावर्तकृदम्भसाम् ।
 घुनदीवाहघायोघनभोनीलोत्पलालिकः ॥ २३
 शरीरावेष्टितोन्मुक्तपुराणतृणचोपनः ।
 स्पन्दपद्मवनादित्यः शब्दवर्षैकवारिदः ॥ २४
 व्योमकाननमातङ्गः शरीरगृहगर्गतः ।
 धूलीकदम्बविपिनमालालिङ्गननायकः ॥ २५
 स्त्यानीकरणसंशोषधृतिस्पन्दनसौरभैः ।
 सशैत्यैः कर्मभिः वङ्गिरलक्ष्मण आक्षयम् ॥ २६
 रसाकर्षणसव्यप्रो नित्यं भातेव तेजसः ।
 हरणादानकर्तृणामङ्गानां विनियोगकृत् ॥ २७
 शरीरनगरे नाडीमार्गैर्गतिनिरर्गलः ।

सहोदरः । भूतानां प्राणिनामङ्गेषु उपाङ्गेषु च वर्तकः संसृष्टी-
 यनाशीलक्षणप्रणालीनां सलिलमिव संपन्न इत्यर्थः ॥ १७ ॥ एवं-
 भूतानां प्राणभूतत्वाद्दयादिमर्मस्थानत्वान्मर्मकर्मकराणां सर्व-
 वानेक आत्मा । एकान्तं नियतं पथिकः संचरणशीलः । जात-
 वेदसः सारं बलं वेत्तीति सारवित् । यतो दुर्बलं वीपादिभावे नाश-
 यति प्रबलं च मित्रभावेन वर्षयति ॥ १८ ॥ आमोदलक्षणरङ्गानां
 लुण्टाको बलात्कलिकाप्रन्थिमुन्मोच्य हर्ता । विमानगणलक्षण-
 नगरस्य भवनिर्विधारकः । दाहस्तापस्तलक्षणाधकारस्य शी-
 तांशुः । शैत्येन्दोः क्षीरसागर इव जन्मभूमिः ॥ १९ ॥ द्वीपा-
 नां तरङ्गैः अण्डकत्वादरिः पांसुभिरुपचेतृत्वाग्निमित्रं च ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ प्रलयकाले एकक्षणलवेनैव चालिता उस्त्राता
 अखिल भूधर येन । वर्णावलिर्नाम्बुर्णास्त्रक्षणाणां तर-
 ङ्गानां गङ्गाप्रवाह इव धूलिमिश्रणेनैकत्वकृत् ॥ २२ ॥
 पुनः कीदृग्वायुः । धूमानाम्बुवाहानां रजस्राम्भसां च महा-
 वर्तकृत् । घुनदीप्रवाह एव मकरन्दवायोघो यत्र तथाविधस्य
 नभोलक्षणनीलोत्पलस्य अतिको अमरः ॥ २३ ॥ वास्याशरी-
 रावेष्टनेनोन्मुक्त्याणां जीर्णतृणानां चोपनो मन्वगतिहेतुः । स्पन्दः
 क्रियासामान्यं तलक्षणस्य पद्मवनस्य आक्षिप्तो विप्रसहेतुः ।
 शब्दलक्षणस्य वर्षस्य कुडेरैको मुख्यो वारिदः ॥ २४ ॥ शरीरगृहे
 गर्गतो नक्षत्रविशेष इव कवेव शब्दावयवानः । धूलीलक्षणन-
 यिकाकदम्बस्य विपिनमाललक्षणनायिकाणां चालिङ्गने नायकः
 ॥ २५ ॥ स्त्यानीकरणं हिमवृत्तादेः पिन्वीकरणं कर्दवादेः संशोषो

रसमाण्डे परावर्तादायुर्मणिमहावणिक ॥ २८
 शरीरनगरीनाशनिर्माणैकपरायणः ।
 रसकिङ्कलाधातुपृथक्करणकोविदः ॥ २९
 प्रतिस्फुग्माणुकं देहे ततो दृष्टं मया जगत् ।
 तत्रैतद्यं रूपवानस्मि स्फुटमाभोगि सुस्थिरम् ॥ ३०
 परमाणुप्रति त्वच्च प्रोक्षन्त इव सर्गकाः ।
 न च किञ्चित्किलोक्षन्ते आकृते किमिवोक्षते ॥ ३१
 सचन्द्रार्कानिलाग्नीन्द्रपद्मवैभषणेभ्राराः ।
 सप्रह्लाहरिगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ॥ ३२
 ससागरगिरिद्वीपदिगन्तरमहार्णवाः ।
 सलोकान्तरलोकेशक्रियाकालकलाकमाः ॥ ३३
 सस्वर्गभूमिपातालतलोकान्तरान्तराः ।
 सभावाभाववैधुर्यजरामरणसंभ्रमाः ॥ ३४
 एवं नाम तदा राम भूतपञ्चकरूपिणा ।
 मया प्रविहृतं तत्र त्रैलोक्यनलिनोदरे ॥ ३५
 रसः पीतोऽनुभूतश्च क्माजलानिलतेजसाम् ।
 मूलजालेन वृक्षाणां प्राणिनां वसता मया ॥ ३६
 रसायनघनाङ्गेषु चन्दनद्रवशोभिषु ।
 लुठितं चन्द्रविम्बेषु तुषारशयनेष्विव ॥ ३७
 सर्वर्तुवनजालेषु नानामोदानि दिक्ष्वलम् ।
 भुक्तानि पुष्पजालानि प्रोच्छिष्टं द्वाताऽलये ॥ ३८

मेधादेर्धृतिचौरणं तृणादेः स्पन्दनं सौरभानि गन्धाहरणानि शैत्यं
 तापहरणं चेति षड्विः कर्मभिः आक्षयं प्रलयपर्यन्तमलक्ष्यः
 क्षणो विधामो येन ॥ २६ ॥ हरणादानकर्तृणां दृष्ट्वायज्ञानां
 विनियोगकृत्, चालक इति यावत् ॥ २७ ॥ गतिविषये निरर्गलो
 निरन्तरायः । अक्षरसमये देहभाण्डे प्राणापानादिभावेन परा-
 वर्तादायुर्मणिरक्षणव्ययविषये महावणिक ॥ २८ ॥ अक्षर-
 सानां किङ्कलस्य मलस्य कलाणां सूक्ष्मतरसारभागानां षण्णां त्व-
 गसृष्ट्यांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राख्यानां वातपित्तकफाख्यानां वा
 धातूनां च पृथक्करणे कोविदः कुशलः ॥ २९ ॥ तत्र वायु-
 भावेऽपि प्रतिस्फुग्माणुकं परमाणुपर्यन्तं प्रतिदृश्यं देहे तत्तदुदरे
 मया कलधौतशिलावेषेव जगद्दृष्टम् । तत्र तेष्वपि जगत्सु इत्थं
 पृथिव्यादिजगद्रूपवानइमेवास्मि ॥ ३० ॥ परमार्थदृष्टा तु न च
 किञ्चित्किलोक्षन्ते । आकृते शून्याकारे ॥ ३१ ॥ प्रतिपरमाणु
 किञ्चित्सहिताः सर्गकाः प्रोक्षन्त इव तदाह—सञ्चन्द्रार्कैल्यावि-
 त्त्रिभिः । सर्वत्र 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुमीहिः । सहस्य
 सः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ एवमाकाशाधारणया आकाशभावे
 तद्विलासमेदानुभवा अप्यूषा इत्याद्येनोपसंहरति—एवं वा-
 मेति ॥ ३५ ॥ कथं कथं प्रविहृतं तत्रप्रपन्नवति—रसः पीत
 इत्यादिना । प्राणिनां मूलजालनिकटेजःसम्भावकामाणां वृक्षाणां
 देहे वसता मया मूलजालेन भूमौ रसः पीतः ॥ ३६ ॥ रसा-
 यनमसृतं तद्वनाङ्गेषु चन्दनद्रववस्त्रैस्तौक्ष्ण्यैरुपादिपुष्पकोभिषु
 ॥ ३७ ॥ नानामोदावि पुष्पजालावि भुक्तान्यनुभूतानि । क-

ततोन्नतासु मृद्वीषु स्वास्तीर्णास्वम्बराजिरे ।
सुतं शुभ्राभ्रमालासु नवनीतस्थलीष्विव ॥ ३९ ॥
सुमनःपत्रमृदुषु नीललक्ष्मीविलासिषु ।
सुरसिद्धाङ्गनात्रेषु दूरास्तस्मरबासनम् ॥ ४० ॥
कृतः कुमुदकङ्कारकमले नलिनीवने ।
कोमलः कलहंसीमिर्लीलाकलकलारवः ॥ ४१ ॥
सरत्सरिच्छिरासारा मूलभूमण्डलान्विताः ।
अङ्गैरुदाः स्फुरद्भूता लोमालय इवाद्रयः ॥ ४२ ॥
आद्रयः प्रथिता दीर्घसरित्सूत्रैः समुद्रकैः ।
आदर्शैरिव विभ्रान्तमङ्गेषु प्रतिविम्बिभिः ॥ ४३ ॥
भूतसर्गेण विभ्रान्तं सिद्धविद्याधरादिना ।
मद्देहे चेतितेनेव महिकायौकरूपिणा ॥ ४४ ॥
मत्प्रसादेन मुदितैर्लब्धमर्कादिभिर्वैपुः ।
कृष्णरक्तसितापीतहरितैर्हरितैरिव ॥ ४५ ॥
समुद्रमुद्रया सप्तद्वीपसप्तात्मरूपया ।
संस्थया स्थापिता भूमिः प्रकोष्ठे बलयोपमा ॥ ४६ ॥
विद्याधरपुरम्भीणां परामृष्टाङ्गयष्टिना ।
अदृष्टेनैव विहितः पुलकोल्लास आत्मना ॥ ४७ ॥
सरिच्छिरामलस्फाररसानि सुषिराणि च ।
जगन्त्येवास्थिजालानि ममासन्संस्थितानि च ॥ ४८ ॥
असंख्यैर्व्योममातङ्गैश्चन्द्रार्कचलचामरैः ।
उदुम्बरान्तर्मंशकैरिव मद्बुद्वे स्थितम् ॥ ४९ ॥
सर्वपातालपादेन भूतलोदरधारिणा ।

स्वमूर्धापि तदा राम न त्यक्त्वाथ पराणुता ॥ ५० ॥
विधु सर्वासु सर्वत्र सर्वदा सर्वकारिणा ।
सर्वोत्तमान्यसर्वेण शून्यरूपेण संस्थितम् ॥ ५१ ॥
किञ्चित्त्वं सदकिञ्चित्त्वं साकृत्तित्त्वं विराकृति ।
अनुभूतं सजायं च चेतनत्वमलं मया ॥ ५२ ॥
मैनाकमुग्धपीनस्य सागरस्यावर्णि प्रति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि स्थाणुभूतान्यथो मया ॥ ५३ ॥
जगन्त्यङ्गे मयोढानि गूढानि प्रकटान्यपि ।
प्रतिबिम्बपुराणीव मुकुरेणाजडात्मना ॥ ५४ ॥
एवं जलानिलाग्नित्वं भूमित्वं चात्मना मया ।
कृतं चित्तेषु स्वप्नेषु वत मायाविजृम्भितम् ॥ ५५ ॥
अपि तस्यामयस्थार्यां जगन्त्याकाशकोशके ।
मया दृष्टान्यसंख्यानि परमाणुकणं प्रति ॥ ५६ ॥
परमाणुं प्रति व्योम परमाणुं प्रति स्थितम् ।
सर्गवृन्दं यथा स्वप्ने स्वप्नान्तरयुतं पुरम् ॥ ५७ ॥
स्वमेवाहमभूवं भूमण्डलं द्वीपकुण्डलम् ।
सर्वात्मनापि न व्याप्तं किञ्चनापि मया क्वचित् ॥ ५८ ॥
समुत्पादयताशेषं लतातरुतृणाङ्कुरम् ।
भूतलेन रसाः कृष्टा मयार्थेनैव पुंभूताम् ॥ ५९ ॥
अवदाततमे युद्धबोधकालमुपेयुषि ।
जगद्गुह्याणि तिष्ठन्ति न तिष्ठन्ति च कानिचित् ॥ ६० ॥
चित्ति यास्तु चमत्कारं चमत्कुर्वन्ति यत्स्वतः ।
स्वचमत्कृतयोऽन्तस्थास्तदेताः सृष्टिदृष्टयः ॥ ६१ ॥

भोगप्रोच्छिष्टं मकरन्दं अल्पे ददता मया ॥ ३८ ॥ अम्बरा-
जिरे आकाशवत्तरे स्वास्तीर्णासु शुभ्राभ्रमालासु सुतम् ॥ ३९ ॥
सुमनसां शिरीषादिपुष्पाणां पत्रमिव मृदुषु सुरसिद्धाङ्गनात्रेषु ।
किं कामुकेन त्वया सुतं, नेत्याह—दूरास्तेषु ॥ ४० ॥ ४१ ॥
किञ्च ब्रह्माण्डभूतेन मया सरन्तीनां सरिच्छिरासाराणां मूलभू-
तभूमण्डलेनान्विताः स्फुरद्भूता भुक्त्वावलयः अङ्गैरुदाः
अद्रयो लोभाभ्रालयः पङ्कज इवाङ्गैरुदाः ॥ ४१ ॥ ये आद्रयो
जगति प्रथितास्वैर्दीर्घसरित्सूत्रैः समुद्रकैश्च सह मम आद्रेषु
प्रतिविम्बसहितैरादर्शैरिव विभ्रान्तं स्थितमित्यर्थः ॥ ४३ ॥
सिद्धविद्याधरादिना भूतसर्गेण प्राणिनिकायेन तु मद्देहे चेतिते-
न परिज्ञात्वेन महिकायौकरूपिणो विभ्रान्तम् ॥ ४४ ॥ तर्हि
किं तेर्महिकायौकावद्भूतैः प्रतिक्षणं निवार्यमाणैरुद्दिग्भैरलास्थितं,
नेत्याह—मत्प्रसादेनेति । वपुःकृष्णेत्यादिसमस्तपदं बोध्यम् ।
वपुषा कृष्णरक्तसितापीतहरितैः शिबैरैरिव स्थिरैः पेयीयमाने-
र्नोदमानैवेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ सप्तद्वीपैः सप्तविधात्मरूपया सं-
स्थया संनिवेशेन प्रसिद्धा भूमिर्मया प्रकोष्ठे बलयोपमा स्थापि-
ता ॥ ४६ ॥ तामिरदृष्टेनैवात्मना मया तासां स्थानन्देन पुल-
कोल्लासो विहितः ॥ ४७ ॥ सरिच्छिरासाराभिरामलस्फारान्त-
र्गतरसानि सुषिराणि चिच्छ्रवन्ति च पर्वतादिजगन्ति मम देहे
अत्रिजगत्सु चान्यासापीनि च संस्थितानि ॥ ४८ ॥

व्योममातङ्गैरवतादिभिः । मद्बुद्वे हृदयाकाशे ॥ ४९ ॥
एकमतिविस्तृतब्रह्माण्डरूपेणापि मया परमसूक्ष्मविन्मात्रस्वप्न-
वता न हापितेत्याह—सर्वेति ॥ ५० ॥ शून्यरूपेण सर्वद्वैतश-
न्यविन्मात्ररूपेण ॥ ५१ ॥ तदा परिच्छेदापरिच्छेदादिसर्ववि-
रुद्धधर्माणां स्वात्मनि समुच्चयोऽनुभूत इत्याह—किञ्चित्स्व-
मिति ॥ ५२ ॥ समुद्रादिकृषिदेशेष्वपि कलधौतशिलायामिवा-
नन्तानि जगन्ति सन्ति तान्यपि मयानुभूतानीत्याह—मैना-
केति । मैनाकवदन्तर्निनीनैः पर्वतशिलादिभिर्मुग्धस्य पीनस्वा-
तिविस्तृतस्य च सागरस्य अवर्णि प्रति प्रतिदेशं स्थाणुभूतानि
सर्गसहस्राणि सन्ति तानि च मया अथो अनुभूतानीति विप-
रिणामेनानुषज्यते ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ स्वप्नेषु प्रसिद्धया चित्तेषु
कृतम् ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ प्रतिपरमाणु एवं विस्तृतं व्योम स्थितं
तत्र संवरत् प्रतिपरमाणु सर्गवृन्दं स्थितम् ॥ ५७ ॥ एवं आध्या-
सिक्रमात्मरूपमेवाभूवम् । एवं सर्वजगदात्मभूतेनापि मया
क्वचित्किञ्चनापि न व्याप्तं न स्पृष्टम् । असद्वादयत्वादित्यर्थः
॥ ५८ ॥ पुंभूतां पुरुषादिकारीरसृतामर्थेनैवाशेषं लतातरुतृणा-
ङ्कुरं समुत्पादयता मया सृष्टिविपतिता रसा भूतलेन कृष्टा नि-
पीताः ॥ ५९ ॥ युद्धसदृशं सर्वद्वैतसंहारकं बोधकालं उपेयुषि मयि
जगद्गुह्याणि तिष्ठन्ति न तिष्ठन्ति च ॥ ६० ॥ केन रूपेण तिष्ठन्ति

१ युद्धबोधकालमेव मयि इति पाठः.

अनुभूतं कृतं यावत्कञ्चन किञ्चन ।
परमार्थचमत्कारादृते नैहोपलभ्यते ॥ ६२
प्रत्येकं विश्वरूपात्मा सर्वकर्ता निरामयः ।
प्रबुद्धः शुद्धबोधात्मा सर्वं ब्रह्मात्मकं यतः ॥ ६३
सर्वः सर्वत्र सर्वात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।

एतत्प्रबुद्धविषयमप्रबुद्धं न वेदयद्दम् ॥ ६४
आकाशकोशविशदात्मनि चित्स्वरूपे
येयं सदा कञ्चति सर्गपरम्परेति ।
सान्तस्तदेव किल ताप इवान्तरूष्मा
भेदोपलम्भ इति नास्ति सदस्यनन्तम् ६५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे बा० दे०मो० निर्वाणप्रकरणे उ०पाषा० परमार्थसर्गयोरैक्यप्रतिपादनं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥९२॥

त्रिनवतितमः सर्गः ९३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
अथैवंरूपसंविद्येः परावृत्तयः प्रयत्नतः ।
तमम्बरकुटीकोशदेशमागतवानहम् ॥ १
यावत्तत्र न पश्यामि स्वदेहं कञ्चन स्थितम् ।
पश्यामि केवलं सिद्धं कमप्यन्यं पुरः स्थितम् ॥ २
उपविष्टं समाधाननिष्ठमिष्टं पदं गतम् ।
सौम्योदयमिवादित्यं दग्धेन्धनमिधानलम् ॥ ३
बद्धपद्मासनं शान्तं समाधाननिरिङ्गनम् ।
गुस्फटितयमभ्यस्थवृषणं विषयातिगम् ॥ ४
मृष्टसौम्यसमाभोगस्कन्धबन्धुरकन्धरम् ।
सुस्थिरोदारविश्रान्तस्फारकस्थितिसुन्दरम् ॥ ५
नाभीनिकटगोसानपाण्डितयदीप्तिभिः ।
हृदयाम्भोजतेजोभिर्बहिष्ठैरिव भासितम् ॥ ६
त्रिष्टपदमेक्षणं क्षीणसर्वेक्षं स्वच्छतां गतम् ।

सरो निमीलिताम्भोजमिष सुप्तं दिनात्यये ॥ ७
अविश्रुभितमाशान्तमन्तःकरणकोटरम् ।
दधानं धीरया वृत्त्या शास्तोत्पातमिबाम्बरम् ॥ ८
अपश्यता निजं देहं तं मुनिं पश्यता पुरः ।
इदं मया तदा तत्र चिन्तितं चारुचेतसा ॥ ९
अयं कश्चिन्महासिद्धः संप्राप्तोऽस्मिन्दिगन्तरे ।
विचार्याहमिबैकान्तं विश्रामार्थी महाम्बरम् ॥ १०
समाधियोग्यमेकान्तं लभेयेतीह चिन्तया ।
कुटी दृष्टेयमेतेन सत्यसंकल्पशालिना ॥ ११
मदागमनमेतेन ततोऽचिन्तयता चिरम् ।
तं स्वदेहं शशीभूतमपास्येह कृता स्थितिः ॥ १२
तदिहास्तमहं यामि खं लोकमिति निश्चयम् ।
यावत्प्रप्तुं प्रवृत्तोऽस्मि तावत्संकल्पनक्षयात् ॥ १३

केन च न तिष्ठन्तीति चेच्चिन्मत्कारमात्ररूपेण तिष्ठन्ति तदन्यरूपेण न तिष्ठन्तीत्याह—चिन्तीति द्वाभ्याम् । चिति या अन्तस्थाः स्वचमत्कृतयः स्वसत्तास्फूर्तिलक्षणं चमत्कारं यत्स्वतश्चमत्कुर्यन्ति जगत्सारोप्य प्रकटयन्ति ततो रूपेण एताः सर्गेदृष्टयः सन्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ अत एवाध्यारोपे प्रत्येकं स्वसत्तार्पणाद्विश्वरूपात्मापवादेन प्रबुद्धस्तु शुद्धबोधात्मैवेत्यर्थः ॥ ६३ ॥ अत एव एकैकवस्त्वन्तरे ब्रह्मणि सर्वजगदध्यासात्सर्वः सर्वत्र सर्वात्मा च सर्वगः सर्वसंश्रय इत्येतत्प्रबुद्धविषयं जगद्रूपं पर्यवस्यति । अप्रबुद्धगम्यं तु रूपं न प्रबुद्धेर्देहं शक्यमित्याह—अप्रबुद्धमिति ॥ ६४ ॥ तथा चाद्वये विदात्मनि विदुषां सर्वत्र सर्वात्मताकल्पना विकल्पमात्रं न चिद्यतिरिक्तं वस्तु किञ्चिदस्तीत्याह—आकाशेति । सा अन्तस्तदेव । यथा तापस्यान्तरुष्मेति प्रयोगे तापपदस्य तदन्तःपदस्योष्मपदस्य च न पृथगर्थोऽस्ति किंतु वाक्याद्विकल्पमात्रं तद्भेदोपलम्भोऽपीति न जगदस्ति किंतुनन्तं सदस्तीत्यर्थः ॥ ६५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थसर्गयोरैक्यप्रतिपादनं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

वसिष्ठकुट्यां ध्यानस्थसिद्धस्येह निरीक्षणम् ।

पातः कुट्युपसंहारात्सोदन्तोक्तिश्च वर्णयते ॥ १ ॥

अथ चारणासिद्धजगद्दर्शनानन्तरमेवंरूपाया उक्तरूपायाः

कीतुकदर्शनसंविद्येः सकाशात्परावृत्त्याह तत्प्राक्तनं स्वसमाधिस्थानमम्बरकुटीकोशदेशमागतवान् ॥ १ ॥ यावत्सकल्येनान्विष्टमपि कञ्चन स्वदेहं न पश्यामि ॥ २ ॥ इष्टं परमप्रेमास्पदं निरतिशयानन्दब्रह्मपदं गतम् । तं वर्णयति—सौम्योदयमिबेत्यादिना ॥ ३ ॥ समाधानेनेष्टविषये चित्तस्थैर्येण निरिङ्गनं निश्चलम् ॥ ४ ॥ 'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्' इति भगवदुक्त्यानाहृदेहस्थितिलक्षणान्यस्याह—मृष्टेति । भस्मत्रिपुण्ड्रेखाभ्यां सौम्याभ्यां गाम्भीर्यभ्यां समाभोगाभ्यां स्कन्धाभ्यां बन्धुरा कन्धरा ग्रीवा यस्य । सुस्थिरस्य उदारे वस्तुनि विश्रान्तेन मनसा स्फारस्य प्रसन्नवदनस्य कस्य शिरसः स्थित्या सुन्दरम् ॥ ५ ॥ पाण्डितयस्य दीप्तिभिः फुल्लपद्मद्वयसदृशशोभाभिः । हृदयाम्भोजेति तासांमेवोत्प्रेक्षा ॥ ६ ॥ क्षीणाः सर्वा ईक्षा बाह्येन्द्रियव्यापारा यस्य । दिनात्यये रात्रौ ॥ ७ ॥ ८ ॥ इदं नक्षयमाणं चिन्तितम् ॥ ९ ॥ पूर्वमहमिबैकान्तविश्रामार्थी ॥ १० ॥ समाधियोग्यमेकान्तं स्थलं लभेय इति चिन्तया इह संप्राप्तः । एतेन इयं कुटी स्वध्यानयोग्या दृष्टा ॥ ११ ॥ तत एतेन चिरं मनुष्येक्षणाच्छवीभूतं तत्र स्थितं स्वदेहं वसिष्ठदेहं दृष्ट्वा तत्र पुनर्मदागमनमचिन्तयता अज्ञानता तं देहमपास्य अन्यतः कित्वा इह कुट्यां स्थितिः कृता ॥ १२ ॥ तन्मम शरीरमिह अस्तं नष्टप्रतोऽहमस्ति-

सा निवृत्ता कुटी तत्र संपन्नं व्योम केवलम् ।
 स सिद्धोऽपि निराधारः पतितोद्यः समाधिमान् १४
 स्वप्रसंकल्पसंशान्तौ स्वप्रसंकल्पपत्तनम् ।
 यदा सा सुकुटी नष्टा मत्संकल्पोपशान्तिः ॥ १५
 स पपात ततो ध्यानी जलोत्पीड इवाम्बुदात् ।
 आदिवाभिलुभोऽब्द इन्दुबिम्बमिव क्षये ॥ १६
 वैमानिक इवापुण्यद्विष्टमूल इव द्रुमः ।
 आस्यक्त इव पाषाणः स पपात ततोऽवनौ ॥ १७
 अहं यावदियं तावत्कुटिकास्त्विति कल्पने ।
 क्षीणे कुटीक्षये जाते स सिद्धः पतितः क्षणात् ॥ १८
 पतता तेन सिद्धेन ततः सौजन्यकौतुकः ।
 मनसैवाहमगमं नमसो वसुधातलम् ॥ १९
 सोऽपतत्पवनस्कन्धघलनावर्तवृत्तिभिः ।
 सतद्वीपसमुद्रान्ते गीर्वाणरमणावनौ ॥ २०
 प्राणापानोर्ध्वगामित्वात्स्वाद्यथास्थितमेव सः ।
 सृष्टपूर्वोर्ध्वमूर्धोर्व्या बद्धपद्मासनोऽपतत् ॥ २१
 न प्रबुद्धो बभूवासौ विचरं तमश्चेतनः ।
 पाषाणदेह इव वा तूलात्मेवैव वा लघुः ॥ २२
 मया तद्वचोवार्थमथ यत्नवता तदा ।
 कृत्वा जलदतां व्योम्नि वृष्टं गर्जितमूर्जितम् ॥ २३
 करकाशनिपातेन तेन तस्मिन्दिगन्तरे ।
 मयूरं प्रावृषेवासुं बुद्ध्या बोधितवानसौ ॥ २४
 बभूवाभासिताङ्गधीर्विकासितविलोचनः ।
 धारानिकरफुल्लात्मा प्रावृषीवाम्बुजाकरः ॥ २५

वाहिकदेहेनैव स्वं सप्तर्षिलोकं गामि इति निश्चयं कृत्वा यावद्-
 न्तुमहं प्रवृत्तोऽस्मि तावदित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥ पत्तनम्,
 इवेति शेषः । पूर्वस्य परस्य चायं कुटीनाशस्य दृष्टान्तः ॥ १५ ॥
 जलोत्पीडो जलधारः । क्षये प्रलयकाले इन्दुबिम्बमिव ॥ १६ ॥
 अपुण्यः क्षीणपुण्यः । अवनौ वक्ष्यमाणकाष्मनावनौ ॥ १७ ॥
 अहं यावदिह स्थास्यामि तावदियं कुटिका अस्तु तिष्ठतु इति
 एवंप्रकारे मदीयसत्यसंकल्पने गमनसंकल्पने क्षीणे सति ॥ १८ ॥
 तेन सिद्धेन सह अहं मनसा तेनातिवाहिकदेहेनैव वसुधातल-
 मगमम् ॥ १९ ॥ प्रवहादिपवनस्कन्धानां बलनं परिवर्तनं
 तत्प्रयुक्ताभिरावर्तसदृशवृत्तिभिर्यथा आवर्ते भ्रमज्जलमधः प्र-
 विक्षति तद्वदित्यर्थः । गीर्वाणानां रमणाधिकरणे काष्मनावनौ
 ॥ २० ॥ उर्व्या सृष्टः प्रथमं निवेशितः पूर्वः पदभागो येन
 तथाविधत्वासावूर्ध्वमूर्धा च तथाविधः सन् । तत्कृतः । प्राणेन-
 पानस्योर्ध्वं आकर्षणेनोर्ध्वगामित्वात्कूपेऽवतरतः कुम्भस्य र-
 ङ्गवेव तुम्बस्य वृन्तेनेव चोर्ध्वं प्राणापानाभ्यां विष्टवस्वेनाधः-
 शिरस्कलाघटनादित्यर्थः ॥ २१ ॥ तं तथाविधं विचरं बलनं
 प्राप्ताप्यसौ समाधेन प्रबुद्धो बभूव । यतश्चित्तस्यान्यत्र दृष्टा-
 केरचेतनप्रायः । तर्हि अतिदूरात्पतनेन भ्रमगात्रः कुतो नाभू-
 तत्राह—प्राणाणेति । वज्रपाषाणदेह इव योगबलाद्बस्तूल-

प्रबुद्धं संप्रशान्तायां दृष्टौ तमहमप्रतः ।
 अपृच्छं स्वच्छया वृत्त्या निवृत्तं परमार्थतः ॥ २६
 क स्थितोऽसि करोषीदं किं च भो मुनिनायक ।
 कस्त्वं कस्मादलं दूरात्त भ्रंशमपि चेतसि ॥ २७
 इत्युक्तो मामसौ प्रेक्ष्य संस्मृत्य प्राकर्णी गतिम् ।
 उवाच वचनं चारु चातको जलदं यथा ॥ २८
 सिद्ध उवाच ।
 प्रतिपालय मे यावत्स्ववृत्तान्तं स्मराम्यहम् ।
 कथयिष्यामि ते पश्चात्पाश्चात्यं वृत्तमात्मनः ॥ २९
 इत्युक्त्वा चिन्तयित्वाशु स यथा वृत्तमक्षतम् ।
 स्मृतवान्सायमहीव समाचरितमात्मनः ॥ ३०
 मामथोवाच वचनं चारु चन्द्रांशुशीतलम् ।
 आह्लादनमनिन्द्यं च निरवद्यं सुखोदयम् ॥ ३१
 सिद्ध उवाच ।
 अधुना त्वं मया ब्रह्मन्परिज्ञातोऽभिवादये ।
 अतिक्रमोऽयं क्षन्तव्यः स्वभावो हि सतां क्षमा ॥ ३२
 मुने चिरमहं भ्रान्तो देवोपवनभूमिषु ।
 भोगामोदविमोहेषु बटपदः पश्चिनीष्विव ॥ ३३
 दृश्यनद्यामथो चित्तजलकल्लोलहेलया ।
 चक्राघर्तोद्यमानेन मयोद्विभेन चिन्तितम् ॥ ३४
 संसारसागरे दृश्यकल्लोलैरहमाकुलः ।
 कालेनोद्वेगमायातश्चातकोऽवग्रहे यथा ॥ ३५
 संविन्मात्रैकसारेषु रम्यं भोगेषु नाम किम् ।
 अवतिष्ठे गतोद्वेगसंविद्योद्भयेव केवलम् ॥ ३६

पिण्ड इव लघुरेव वा ॥ २२ ॥ बोधार्थं समाधेर्युत्थापनार्थम् ।
 जलदतां मेघतां कृत्वा वृष्टम् । ऊर्जितं बलवत्तरं च गर्जितम्
 ॥ २३ ॥ असौ मेघभूतोऽहं प्रावृषा मयूरमिवासुं सिद्धं बुद्ध्या
 स्वबुद्धिकौशलेन बहिराकृष्टया तद्बुद्ध्या वा बोधितवान् समाधे-
 र्युत्थापितवान् ॥ २४ ॥ २५ ॥ परमार्थतः परमार्थस्थिति-
 हेतोः समाधेः ॥ २६ ॥ किमपृच्छत्तदाह—केति । दूरात्त-
 मधःपातमपि कस्मात् चेतसि न संजानसि ॥ २७ ॥ २८ ॥
 प्रतिपालय प्रतीक्षस्व ॥ २९ ॥ वृत्तं पूर्वस्ववृत्तान्तं जन्मान्तर-
 वृत्तान्तैः सह । अक्षतं समग्रम् । अहि वृत्तमात्मनश्चरितं
 यथा जनः सायं स्मरति तद्वत् ॥ ३० ॥ वक्ष्यमाणवचनस्य
 विवेकवैराग्यप्रधानत्वाच्चार्विल्यादिविशेषणैः प्रशंसा ॥ ३१ ॥
 अतिक्रमः प्रथमदर्शनेऽनभिवादनलक्षणोऽपराधः ॥ ३२ ॥
 तत्र क स्थितोऽसीति प्रश्नस्य प्रत्यक्षदृष्टसमाधिस्थानकुटी-
 विषयत्वायोगात्पूर्वतनाधारभेदान् जातिस्मारत्वं क्लृपाप-
 यन् जन्मान्तरसाधारणानाह—मुने इति ॥ ३३ ॥ चित्त-
 जलकल्लोलहेलया स्वप्रबुद्धदृश्यनद्यामुद्यमानेन अत एव चिरका-
 लेन विचारोदये संसारादुद्विभेन वक्ष्यमाणं चिन्तितम् ॥ ३४ ॥
 अवग्रहे वृष्टिप्रतिबन्धे ॥ ३५ ॥ किं चिन्तितं तदाह—संवि-
 न्मात्रेति । भोगेषु किं नाम रम्यम् । यदि तत्र संविदात्मना

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्राहते परम् ।
 मेह किञ्चन नामास्ति किमेतावस्यहं रमे ॥ ३७
 चिन्मात्राकाशमेवैतत्सर्वं चिन्मात्रमेव वा ।
 तत्किमत्रासदाकारे रमे नष्टमतिर्यथा ॥ ३८
 विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः ।
 रसाः सरसवैरस्या लुठनेषु न को हतः ॥ ३९
 जीर्णा जीवितजम्बालजरच्छफरिकामतिः ।
 कायं व्रुतगताऽऽदातुं जरेच्छति बृहद्दुकी ॥ ४०
 कायोऽयमधिरापायो बुद्बुदोऽम्बुनिधाविष ।
 स्फुरन्नेव पुरोन्तर्हि याति दीपशिखा यथा ॥ ४१
 विविधाकुलकल्लोला चक्रावर्तविधाधिनी ।
 मृतिजन्मबृहत्कूला सुखदुःखतरङ्गिणी ॥ ४२
 यौवनोल्लासकलिला जराधवलफेनिला ।
 काकतालीययोगेन संपन्नसुखबुद्बुदा ॥ ४३
 व्यवहारमहाबाहलेखाजडरवाकुला ।
 रागद्वेषधनोल्लासा भूतलालोलदेहिका ॥ ४४
 लोभमोहमहावर्ता पातोत्पातविधर्तनी ।
 हा तप्ता जीविताख्येयं नदी नदनशीतला ॥ ४५
 अपूर्वाण्युपगच्छन्ति तथा पूर्वाणि यान्त्यलम् ।
 संसारसरिदम्बूनि संगतानि धनानि च ॥ ४६
 प्रवृत्ता ये निधर्तन्ते तैरलं हतमावकैः ।
 अपूर्वा ये प्रवर्तन्ते तेष्वथास्वेह कीदृशी ॥ ४७
 सर्वस्याः सरितो वारि प्रयास्यायाति चाकरात् ।
 देहनद्याः पयस्त्वायुर्यास्येद्यायाति नो पुनः ॥ ४८

प्रथमानं सुखमेव रम्यं तदतिरिक्तानां तत्साधनानां दुःखस्वरूप-
 परत्वेन तन्मात्रसारस्वार्त्तार्हि दुःखांशं सर्वं विहाय सारभूते सुख-
 संविद्योऽत्रेव केवलमवतिष्ठे, किमन्येनासारेणेत्यर्थः ॥ ३६ ॥
 न अपरिच्छिन्नं सुखं विहाय परिगणिते परिच्छिन्ने अमुखे रम-
 णमुचितमित्याह—शब्देति । एतावत्सत्ये ॥ ३७ ॥ एतत् शब्दा-
 दिवर्षं चिन्मात्रे स्वतः सति तद्यतिरेकेण विभाव्यमानमाकाशं
 शून्यमेव तदव्यतिरेकदर्शने चिन्मात्रमेव पर्यवस्यति । तदेवमु-
 मयसाप्यसदाकारे अत्र शब्दादौ किं रमे । नष्टमतिरुन्मरतो
 यथा तथेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ विषयाः शब्दादयो विषयन्मरणो-
 न्मादादिवैषम्यहेतवः । वामाः क्रियः । रसाः रागाः सरस-
 स्थापि पुंसो वैरस्यहेतवः । एषु लुठन् को न हतः । कुरङ्गमात-
 र्ग्रीनामेकेकासलयापि बधवन्धनादिदर्शनादित्यर्थः ॥ ३९ ॥
 एवं कायेऽप्यासक्तिर्नोचितेत्याह—जीर्णैति । व्रुतगता जरा बृह-
 द्दुकी जीवितजम्बाले बृहतीयं शफरिका लब्धेति मतिर्यस्यास्त-
 थाविधा सती कायमादातुं प्रसिप्तुमिच्छति ॥ ४० ॥ ४१ ॥
 एवं जीवितेऽप्याशा नोचितेति तन्मतीत्वेन वर्णयति—विविधे-
 त्यादिना । विविधा आकुला विक्षेपा एव कल्लोला यस्याः ॥ ४२ ॥
 कल्लि पद्मविला ॥ ४३ ॥ व्यवहारलक्षणया महाप्रबाह-

शतशः परिवर्तन्ते प्रतिपिण्डं क्षणं प्रति ।
 कुलालचक्रकाभावा इष भावा भवाम्बुधौ ॥ ४२
 चरन्ति चतुराक्षौरा विषमा विषयारयः ।
 हरन्ति भावसर्वस्वं जागर्मि स्वपिमीह किम् ॥ ४०
 आयुषः क्षण्डक्षण्डाश्च निपतन्तः पुनःपुनः ।
 न कश्चिद्वेत्ति कालेन क्षतानि दिवसान्यहो ॥ ४१
 इदमद्य तथेदं च तथेदमिदमस्य मे ।
 एवं कलनया लोको गतं प्राप्तं न वेत्स्यहो ॥ ४२
 भुक्तं पीतमनन्तासु भ्रान्तं च वनभूमिषु ।
 दृष्टानि सुखदुःखानि किमन्यदिह साध्यते ॥ ४३
 सुखदुःखानुभवनाद्भूयोभूयो विवर्तनात् ।
 अनित्यत्वाच्च भावानां स्थिता निष्कौतुका वयम् ॥ ४४
 भुक्तानि भोगवृन्दानि दृष्टा चानित्यता भृशम् ।
 नोपलभ्यत एवाति विश्रान्तिरिह कुत्रचित् ॥ ४५
 भ्रान्तमुत्तुङ्गशृङ्गासु मेरुपवनभूमिषु ।
 लोकपालपुरीषूच्चैः संप्राप्तं किमकृत्रिमम् ॥ ४६
 सर्वत्र दारुभिर्वृक्षा मांसैर्भूतानि भूर्भुदा ।
 दुःखान्यनित्यता चेति कथमाश्वास्यते वद ॥ ४७
 न धनानि न मित्राणि न सुखानि न वाग्धवाः ।
 शक्नुवन्ति परित्रातुं कालेनाकलितं जनम् ॥ ४८
 जनो जीमूतजठरजलधन्निरिक्लिषु ।
 यात्यन्तःशून्य एवास्तं पांसूपचयपेलवः ॥ ४९
 न मे मनोरमाः कामा न च रम्या विभूतयः ।
 इदं मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं च जीवितम् ॥ ६०

लेखया जडरवैर्मूर्खप्रलापैः लडयोरभेदात्तल्लक्षणैर्जलरवैराकुला ।
 रागद्वेषलक्षणैर्धनैर्मैर्दुःखसति बधते तथाविधा ॥ ४४ ॥ हा
 इति खेदे । नदनं नदनः शब्दमात्रं तेन शीतला वस्तुतस्त्वाप-
 त्रयतसा बहतीति संबन्धः ॥ ४५ ॥ संसारसरिदम्बुभूतानि
 संगतानि इष्टपुत्रमित्रादिसंगमाः । धनानि च पूर्वाण्यपयान्ति
 अपूर्वाणि चोपगच्छन्ति ॥ ४६ ॥ तत्र गच्छत्सागच्छत्सु च
 न शोकदर्शानुचितवित्याह—प्रवृत्ता इति ॥ ४७ ॥ आयुषि
 धनाविवेकक्षयमाह—सर्वस्या इति । आकराद्विरिमेवादेः ॥ ४८ ॥
 प्रतिपिण्डं प्रतिदेहं प्रतिकर्णं च भोग्या भावाः कुलालचक्रकेष्वा-
 रुडा षटशरावादिभावा इव ॥ ४९ ॥ भावो विवेकस्तल्लक्षणं
 सर्वस्वम् ॥ ५० ॥ ५१ ॥ गतमायुः प्राप्तं मृत्युं च न वेत्ति
 ॥ ५२ ॥ अन्यत् अपूर्वम् ॥ ५३ ॥ निष्कौतुका भोगेषु निरु-
 त्कण्डाः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ अकृत्रिमं शाश्वतं किं संप्राप्तम् । न किं-
 चिदित्यर्थः ॥ ५६ ॥ सर्वभोगेष्वसारतां विविच्य दर्शयति—
 सर्वत्रेति ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ पांसूपचयः पांसुराशिरिव पेलवः
 अस्थिरः अदृढश्च जनो गिरिक्लिषु पतितभीमूतजठरजलधन्नि-
 षयान्तः आसक्तः सन् क्षणे क्षणे हीयमानः अन्तःपुरुषार्थान्य
 एव अस्मिं मरणं याति । 'अरठजीमूत' इति पाठे शरभ्मेवजलवत्

केच कस्य कथं नाम कुत आश्वासना मुने ।
 अथ श्वो वाऽऽपदं पापो मृत्युर्मूर्ध्नि नियच्छति ॥६१॥
 शरीरं पर्णवद्भृशि जीवितं जीर्णसंस्थिति ।
 धीरधीरतया प्रस्ता रसा नीरसतां गताः ॥ ६२
 नीतं मनोरथैरेव नीरसैर्वाऽऽयुराततम् ।
 न मम स्वं चमत्कारकारि किञ्चिदपीहितम् ॥ ६३
 मोहोऽद्य माम्धमायाती देहो नेहोपयुज्यते ।
 अनास्यैवोत्तमावस्था स्थानास्यैवाधमा स्थितिः ॥ ६४
 आपदापतितैवेयमहो मोहविधायिनी ।
 नित्यमित्येव मन्तव्यं सक्तव्यं नेह संसृतौ ॥ ६५
 विधिभिः प्रतिवेधैश्च शाश्वतैरप्यशाश्वतैः ।
 यथेष्टं नीयते लोको जलं निम्नोन्नतैरिव ॥ ६६
 विवेकामोदसर्वस्वं चेतः कुसुमकोशतः ।
 हृत्वा मूच्छो प्रयच्छन्ति विषया विषयायवः ॥ ६७
 असदेव तथा नाम दृष्टं सत्तानुपागतम् ।
 यथाऽसदेव सद्रूपं संपन्नमसदेव सत् ॥ ६८
 दोलायन्त्योऽवनौ देहं सागरान्सागराङ्गनाः ।
 यथा धावन्ति धावन्ति जनता विषयांस्तथा ॥ ६९
 धावन्ति विषयांल्लक्ष्यमुन्मुक्ताश्चित्तसायकाः ।
 स्पृशन्ति न गुणान्भूयः कृतघ्नाः सौहृदं यथा ॥ ७०
 उत्पातवायुरेवायुर्मित्राण्येवातिशत्रवः ।
 बन्धवो बन्धनान्येव धनान्येवाति नैघनम् ॥ ७१
 सुखान्येवातिदुःखानि संपदः परमापदः ।
 भोगा भवमहारोगा रतिरेव परारतिः ॥ ७२
 आपदः संपदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
 जीवितं मरणायैव बत मायाविजृम्भितम् ॥ ७३

॥ ५९ ॥ ६० ॥ किञ्चित्तानि कालकर्तृप्रकारनिमित्ताक्षेपकानि ।
 पापः क्रूरो मृत्युर्व्यस्माद्य श्वो वा मूर्ध्नि आपदं यच्छति प्रापय-
 तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ नीरसैर्भोगैस्तन्मनोरथैरेव वा आत-
 तमायुर्नातम् । चमत्कारकारि किञ्चित् स्वं पुरुषार्थरूपं मम नेहितं
 न संपादितम् ॥ ६३ ॥ अनास्था विषयेषु । स्थानं
 जीवितं तदास्यैव अधमा स्थितिः ॥ ६४ ॥ विवेकिनां
 संपदाविप्राप्ती इयं आपदेवापतितेति मन्तव्यम् ॥ ६५ ॥
 विवेकिनः कर्मशास्त्राण्यपि व्यामोहकान्येव भ्रान्तीत्याह—
 विधिभिरिति ॥ ६६ ॥ यतः कर्मिणाभैद्विकामुष्मिकविष-
 याविवेकं हृत्वा अनर्थमेव प्रापयन्तीत्याह—विवेकामोदस-
 र्वस्वमिति ॥ ६७ ॥ वस्तुतस्तु विषयरूपमसदेव तथा सद्रूप्या
 दृष्टं सत्तानुपागतं न वस्तुतः । यथा सद्रूपमावरणेनासदेव
 संपदं तथा असदेव विक्षेपेण ससंपन्नम् । मायाशक्तेरवटित-
 वटनपटीयस्त्वदित्यर्थः ॥ ६८ ॥ तत्र परावदृष्टीनां विषयो-
 म्बुद्धी प्रवृत्तिः सामाविक्रीत्याह—दोलायन्त्य इति । कृच्छ्रमा-
 वनौ देहं प्रवाहं दोलायन्त्योलायन्त्यः सागराङ्गना वधो यथा
 सागरात् जावन्ति ॥ ६९ ॥ गुणान् विवेकनैरान्करीन्भीर्वाश्च

बहुकालपरावर्तानिष्टानिष्टान्मुखं मनाक् ।
 पश्यन्प्रियवियोगांश्च याति अर्जरतां जवः ॥ ७४
 भोगा विषयसंभोगा भोगा एव फणावताम् ।
 दशन्त्येव मनाक् स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥ ७५
 आयुर्याति निरायासपदप्राप्तिविवर्जितैः ।
 उदर्कमङ्गराकारैः करालैः कष्टचेष्टितैः ॥ ७६
 भोगाशावद्दृष्टानामपमानः पदे पदे ।
 आलानमवलीनानां धन्यानामिव वन्तिनाम् ॥ ७७
 संपदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गमङ्गराः ।
 कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छयासु रमते बुधः ॥ ७८
 सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
 किंतु मत्ताङ्गनापाङ्गमङ्गलोलं हि जीवितम् ॥ ७९
 आपातरमणीयेषु रमन्ते विषयेषु ये ।
 अत्यन्तविरसास्तेषु पतन्ति निरयेषु ते ॥ ८०
 इन्द्रदोषोपकृद्धानि दुःसाध्यान्वस्थिराणि च ।
 धनान्यभव्यसेव्यानि मम जातु न तुष्टये ॥ ८१
 आपातमात्रमधुरा दुःखपर्यवसाधिनी ।
 मोहनायैव लोकस्य लक्ष्मीः क्षणविलासिनी ॥ ८२
 आपातरमणीयानि विमर्दविसराण्यति ।
 दुःखान्यापत्रदातृणि संगतानि खलैरिव ॥ ८३
 शरदम्बुधरच्छयागतवर्थो यौवनभियः ।
 आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ ८४
 अन्तकः पर्यवस्थाता जीविते महतामपि ।
 चलन्त्यायुंषि शास्त्राप्रलम्बाभूनीव देहिनाम् ॥ ८५
 जीर्यन्ते जीर्यतः केशा वन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
 क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥ ८६

॥ ७० ॥ अतितरां मेहासत्त्वा शातयन्तीति शत्रवः । नैघनं
 निघनसाधनम् ॥ ७१ ॥ आसक्तिजनमेनातिदुःखानि । रति-
 रासक्तिरेव परा भरतिरद्वेगः ॥ ७२ ॥ प्रागुक्तमेव विवृण्व-
 षाह—आपद इत्यादिना ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ फणावतां सर्पाणां
 भोगाः फणा एव । तद्रूपपादयति—दशन्त्येवेति ॥ ७५ ॥
 ॥ ७६ ॥ अवलीनानां खानपानोपवासादिना कर्शितानाम्
 ॥ ७७ ॥ न केवलं मङ्गरा अपि तु सद्यो मृत्युदाधेत्साह—
 अहिफणैति ॥ ७८ ॥ अस्यशब्दावभ्युपगमवाद्योतकौ । सन्तु
 नाम मनोरमा इत्यर्थः ॥ ७९ ॥ आपात इन्द्रियसंयोगक्षणः
 अविचारो वा । पतन्तीति । विषयव्यसनिनामधर्मावश्यंभावा-
 दिति भावः ॥ ८० ॥ तद्रूपामधनदोषमाह—इन्द्रेति । अर्जन-
 काळे शीतोष्णछृत्पिपासादिइन्द्रदोषोपकृद्धानि दुःसाध्यानि च ।
 कृष्टेनार्जितान्यपि राजवोरदुर्व्यसनप्रमादादिभिर्मिनाशावस्थि-
 राणि च ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ संगतानि धनादिसंबन्धाः खलैः
 संगतानि मैत्र्य इवेत्याहुरया योज्यम् ॥ ८३ ॥ अयं श्लोकः
 किरातार्जुनीये अत्रत्य एव पठितो बोध्यः ॥ ८४ ॥ पर्यवस्थाता
 अमर्षं प्रत्यवस्थाता । अच्यन्ति स्वच्यन्ति ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

भोगाभोगातिगहने सर्वस्मिन्कायकानने ।
परमुल्लासमायाति तृष्णैका विषमञ्जरी ॥ ८७
बाल्यं यौवनघघाति यौवनं याति बाल्यवत् ।
उपमानोपमेयत्वं भङ्गुरत्वं मिथोऽनयोः ॥ ८८
जीवितं गलति क्षिप्रं जलमञ्जलिना यथा ।
प्रबाह इव बाहिन्या गतं न विनिवर्तते ॥ ८९
झटित्येवागतो देहः कुतोऽप्यञ्जेनघातवत् ।
याति पश्यत एवास्तं तरङ्गाम्बुददीपवत् ॥ ९०
रम्येष्वरम्यता दृष्टा स्थिरेष्वस्थिरतापि च ।
सत्येष्वसत्यतार्थेषु तेनेह विरसा वयम् ॥ ९१
सुखं यदात्मविभ्रान्तौ गते मनसि सत्त्वताम् ।
पाताले भूतले स्वर्गे तन्न भोगेषु केषुचित् ॥ ९२
अपि संपूर्णदृष्टार्थाः पञ्चापीन्द्रियवृत्तयः ।
तावज्जयन्ति मामेता भुङ्गं चित्रलता इव ॥ ९३

अद्य दीर्घेण कालेन निरहंकृतिना मया ।
स्वर्गापवर्गवैतृष्ण्यमिदमासादितं धिया ॥ ९४
चिरमेकान्तविभ्रान्त्यै तेनैतन्नभसः पदम् ।
त्वमिवागतधानत्र दृष्टवानसि तां कुटीम् ॥ ९५
अद्यैतत्संपरिज्ञातं यदेषा भवतः कुटी ।
आगन्ता त्वं पुनश्चेति मया तन्न विचारितम् ॥ ९६
तदा त्वन्न मया ज्ञातं कश्चित्सिद्धोऽयमात्मना ।
देहं त्यक्त्वेह निर्वाणं गत इत्यनुमानतः ॥ ९७
एतन्मे भगवन्वृत्तमेषोऽस्मीति यथास्थितम् ।
मया ते कथितं सर्वं यथा जानासि तत्कुरु ॥ ९८
सिद्धैर्न यावदवधानपरैर्विचार्य
निर्णीतमुत्तमधियान्तरशेषवस्तु ।
तावन्निकालकलनं न विदन्ति किञ्चि-
दित्यज्ञजादिमनसोऽपि मुने स्वभावः ॥९९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० पा० आकाशमण्डपसिद्धसमागमगाथावर्णनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥९३॥

चतुर्नवतितमः सर्गः ९४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ हेममयाकाराविस्तीर्णायां महाभुवि ।
सौहार्दादेव सिद्धस्य तस्येदमहमुकवान् ॥ १
त्वया न केवलं तावन्मयापि न विचारितम् ।
आव्याप्तिरहिता नाम न संभवति देहिनाम् ॥ २

इदानीं भोगान्भुक्त्वा जन्मान्तरे विनेकवैराग्यादि प्राप्स्यामीति प्रत्याशा तु न कार्यवेत्याह—भोगेति । सर्वस्मिन्भाविदेह-परम्परारूपेऽपि कायकानने ॥ ८७ ॥ तत्रापि बाल्यादिषु न वैतृष्ण्यप्रत्याशेलाशयेनाह—बाल्यमिति ॥ ८८ ॥ कुतो याति तत्राह—जीवितमिति । जीवितं आयुः । बाहिन्या नद्याः ॥ ८९ ॥ यो यो देह आगतः स कुतोपि निमित्ता-ञ्जटिलेव पश्यत एव अस्तं नाशं याति । तरङ्गवदम्बुद-वहीपवत् ॥ ९० ॥ सत्येषु सत्यतया ज्ञातेषु । विरसा विरागाः ॥ ९१ ॥ सत्त्वतां निर्वासनताम् ॥ ९२ ॥ सांप्रतं दृष्टवैराग्यं मां संपूर्णसर्वविषयसहिता अपि सर्वेन्द्रियवृत्तयः संभूयापि न जेतुं शक्नुवन्तीत्याह—अपीति । तावज्जयन्तीति काकुत्स्तेन न जयन्त्येवेत्यर्थः ॥ ९३ ॥ ९४ ॥ एतत् त्वत्कुटी-कल्पनास्पदम् ॥ ९५ ॥ त्वत्कुटीयं त्वं च पुनस्तस्यामागत्येति न तदा विचारितम् । एतत्सर्वमद्य परिज्ञातमित्यर्थः ॥ ९६ ॥ किं तर्हि तदा ज्ञातं तदाह—तदेति ॥ ९७ ॥ क्व स्थितोऽसी-त्वादि त्वया पृष्टं जन्मे वृत्तं तदेतन्मयोक्तमित्यर्थः । अतः परं त्वं यथास्मिन्नपराधे दण्डमनुग्रहं वा जानासि तत्कुर्वित्यर्थः ॥ ९८ ॥ हे मुने, सिद्धैरपि युष्मदादिभिर्वाच्यपर्यन्तमवधानपरैर्भूत्वा अन्तः अशेषवस्तु उत्तमया धिया विचार्य न निर्णीतं तावन्ते त्रिकालस्व-कृतान्तस्य कर्तनं सम्यग्ज्ञानं किञ्चिदपि न विदन्ति । अयमञ्ज-

कस्यान्मया तवोदन्तं विचार्यासौ स्थिरीकृता ।
न कुटी ज्योद्धि तेन त्वमभविष्यः स्थिरस्थितिः ॥ ३
उत्तिष्ठ सिद्धलोकेषु निवसाधो यथास्थितम् ।
स्वास्पदस्थितयः सौम्याः स्वात्मसिद्धौ सुसाधनम् ॥४
इति निर्णीय तावुच्चैरुत्सृतौ तारकोपमौ ।

जादिमनसोऽपीदृश एव स्वभावः किं पुनर्मादृशस्येति त्वद्वृत्तान्ता-परिज्ञानदेहनिरासाद्यपराधं क्षमस्वेत्यर्थः ॥ ९९ ॥ इति श्रीवा-सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे आकाश-मण्डपसिद्धसमागमगाथावर्णनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥९३॥

सिद्धलोके द्वयोर्ग्रामं पिशाचानां च संस्थितिः ।

वर्ण्यते देवतानां च मनोमात्रानुसारिणी ॥ १ ॥

हेममय्यामाकाशमिष विस्तीर्णायां सप्तद्वीपसमुद्रबहिःस्थि-तायां महाभुवि । सौहार्दात् सुहृद्भावात् ॥ १ ॥ अयमविचारा-पराधो न केवलं तवैव किंतु ममापि तुल्य इत्याह—स्वयेति । तत्र सिद्धैर्न यावदवधानपरैरिति यस्वयोक्तं तत्सत्यमेवेत्याह—आव्याप्तीति । देहिनां देहवतां योगिनामपि आव्याप्तिः प्रणि-धानेन सर्वविषये मनोव्याप्तिस्तद्वहिता अतीतानागतार्थसंवि-तिर्न संभवत्येव ॥ २ ॥ यदि संभवति तर्हि तव पतनं मा भू-दिति सा संकल्पकुटी स्थिरीकृता स्यादित्याह—कस्यादिति । स्थिरस्थितिः पतनरहितः । तथा च परस्परप्रमादो द्वाभ्यामपि श्रन्तव्य इति भावः ॥ ३ ॥ त्वं स्वीयं मया सप्तर्विलोके त्वया नन्दनवने च प्राक्तने निवसितव्यमिति भावः । तत्किमर्थं तत्राह—स्वास्पदेति । स्वात्मनः सिद्धौ निर्विघ्नेपस्थितौ ॥४॥ स च अहं च तौ । 'त्यदासीनि सर्वैर्नित्यम्' इति तच्छब्दशेषः । मनु 'त्यदासीनां मिथः सहोक्ता अत्परं तच्छिष्यसे' इत्यसच्छब्द-

सममेकपुटोद्गीनौ व्योम यन्प्रोपलाविष ॥ ५
 प्रणामपूर्वमन्योन्यमथ कृत्वा विसर्जनम् ।
 गतः सोऽभिमतं देशमहं चाभिमतं गतः ॥ ६
 इति वृत्तान्तमखिलमुक्त्वानस्मि राघव ।
 तवाश्चर्यमयीं पश्य संसृतीनां विचित्रताम् ॥ ७
 श्रीराम उवाच ।
 भगवंस्तव देहोऽसौ पृथिव्यामणुतां गतः ।
 भ्रान्तः केन शरीरेण सिद्धलोकांस्ततो भवान् ॥ ८
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 आ स्मृतं शृणु वृत्तान्तं ततो मम जगद्गृहे ।
 भ्रमतः सिद्धसेनासु लोकपालपुरीषु च ॥ ९
 अहमिन्द्रपुरं प्रातो न कश्चित्तत्र दृष्टवान् ।
 मामिमं देहरहितमातिवाहिकदेहिनम् ॥ १०
 अहं किल तदा राम संपन्नो गगनाकृतिः ।
 न चाधारो न चाधेयश्चिदाकाशमयात्मकः ॥ ११
 न ग्रहीता न च ग्राह्यस्त्वादशार्थावबोधिनाम् ।
 न चैव देशकालानां क्वचिदावृत्तिकारकः ॥ १२
 मनोमननमात्रात्मा पृथ्व्यादिपरिवर्जितः ।
 संकल्पपुरुषाकारः पदार्थानामरोधकः ॥ १३
 अरुद्धश्च पदार्थोद्यैः स्वयं स्वानुभवोन्मुखः ।

शेषे आवामिति भाव्यम् । सत्यम् । छन्दसत्वात्तत्राश्रितम् ॥ ४ ॥
 उच्चैर्व्योम । उत्सृज्यो उद्गीर्णा । एकयन्प्रपुटाद्गुडो नौ यन्प्रोपलाविष ॥ ५ ॥
 उद्गीय व्योमि किं चक्रुस्तत्राह—प्रणामपूर्वमिति ।
 सः नन्दनं अहं सप्तर्षिलोकादीन् गतः ॥ ६ ॥ इति वर्णितपा-
 षाणाख्यायिकालक्षणं वृत्तान्तं स्वानुभूतमखिलं सिद्धवृत्तान्तं च
 तवाहमुक्त्वानस्मि । तं वृत्तान्तं प्रस्तुते योजयति—आश्चर्य-
 मयीमिति ॥ ७ ॥ कुटीसंस्थस्त्वदीयस्थूलदेहः सिद्धेनापास्त
 इति त्वयैव स्वयमूहितमित्युक्तम् । निरस्तश्च पार्थिवो देहः पृ-
 थिव्यां कालेन पांशुभावापद्यत इति परिशेषादेव ज्ञातम् । एवं
 सति मनोमात्रदेहेन सिद्धलोकांन्गतो भवान्कथं तत्रत्यजनैः
 सह व्यवहृतवान् । न हि मनोमात्रात्मा अन्यैः सह व्यवहर्तुं
 शक्नोत्यन्ये वा तेन सह व्यवहर्तुं शक्नुवन्तीत्याशयेन रामः पृ-
 च्छति—भगवन्निति । अणुतां पांसुताम् । भ्रान्तः संचरितवा-
 नसि ॥ ८ ॥ आ इति स्मरणद्योतको निपातः । आञ्जित् ॥ ९ ॥
 ॥ १० ॥ गगनाकृतिराकाशावदस्थूलः । चिदाकाशप्रचुरं यन्म-
 नस्त्वात्मकः ॥ ११ ॥ त्वादशा ये स्थूलार्थावबोधिनास्तेषां ननु
 सूक्ष्मार्थदर्शिनां योगिनाम् । प्रेषणप्रतीक्षणादिनान्येषां देशक-
 लपरिवर्तनकारकश्च न संपन्नः ॥ १२ ॥ पदार्थानां सम्भ्र-
 म्भादीनामसंस्पर्शादरोधकः ॥ १३ ॥ स्वप्ननोराज्यवत्स्वमनो-
 मयैर्भूतैर्व्यवहर्ता ॥ १४ ॥ स्वप्नानुभूतयः स्वप्नानुभवाः अत्र
 ईदृशार्थसंभावने अविकल्पितः समस्तो दृष्टान्तोऽनुसंधेय
 इत्यर्थः । यस्तु नैयायिको ज्ञानमात्रे अवच्छेदकतासंबन्धेन
 देहस्य कारणता त्वय्यन्योन्ययोगस्यापि कारणता सुषुप्तौ सदभावे

व्यवहर्ता तथाभूतैरेवं पुंभिर्मनोमयैः ॥ १४
 स्वप्नानुभूतयो राम दृष्टान्तोऽत्राविकल्पितः ।
 अनुभूत्यपलापं तु यः कुर्यात्तेन तेऽस्त्वलम् ॥ १५
 यथा स्वप्नचरो गेहे व्यवहर्ता न दृश्यते ।
 तथा तदा न दृष्टोऽसि पुरस्वोऽपि नभोगतैः ॥ १६
 अहमन्यान्प्रपश्यामि पार्थिवाकारभासुरान् ।
 मामातिवाहिकात्मानं न कश्चिदपि पश्यति ॥ १७
 श्रीराम उवाच ।
 न दृश्यते विदेहत्वाद्भवान्भ्योमवपुर्यदि ।
 तत्कथं तेन सिद्धेन दृष्टोऽसि कनकावनौ ॥ १८
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अस्मदादिर्जनो नाम यथा संकल्पकल्पितान् ।
 नासंकल्पितमाप्नोति सत्यकामवपुर्यतः ॥ १९
 व्यवहारेषु मग्नेन लौकिकेष्वमलात्मना ।
 क्षणाद्विस्मर्यते पुंसा आतिवाहिकमात्मनः ॥ २०
 मया पश्यतु मामेष इति संकल्पितं तदा ।
 तेन मां दृष्टवानेष स्वसंकल्पार्थभाजनम् ॥ २१
 जनो जरठभेदत्वाच्च संकल्पार्थभाजनम् ।
 स एव जीर्णभेदत्वात्सत्यकामत्वभाजनम् ॥ २२

ज्ञानाभावोपपत्तेरित्यादि प्रलपति स मूर्खस्त्वया न संभाव्य
 एवेत्याह—अनुभूतीति । तेन सह ते अलमस्तु संभाषणादिना
 प्रयोजनं नास्ति । सुषुप्तावपि सुखमहमस्वाप्तमित्यादिस्मृति-
 दर्शनेन सुखस्वापादिज्ञानसत्त्वात् 'स्वप्नेन शरीरमभिग्रहस्यासुप्तः
 सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरेति स्वानं हिरण्यः
 पुरुष एकहंसः' इत्यादिश्रुतिविरोधात्तन्निशापात्यकशरीरेण
 मया दुःस्वानुभवात्तन्निवारणाय ब्रह्माज्ञया मित्रावरुणोद्भवशरी-
 रपरिग्रहाच्चेति भावः ॥ १५ ॥ गेहे सुप्तः स्वप्ने चरतीति
 स्वप्नचरः पुरुषः स्वप्ने व्यवहर्ताप्यन्यैस्तत्रेहस्यैर्न दृश्यते तथा
 अहमपि नभोगतैर्देवैर्न दृष्ट इत्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ मां न
 कश्चिदपि पश्यतीत्येतत्ते लोकिविरुद्धम् । प्राक् सिद्धेन दृष्टोऽह-
 मिति त्वयैवोक्तत्वात् । अहमन्यान्प्रपश्यामीत्यप्यसंगतम् । म-
 नसो बहिरस्तात्कथात्स्वप्ने स्वमनोमयानामेष दर्शनादित्याशयेन
 रामः पृच्छति—न दृश्यत इति ॥ १८ ॥ सत्यसंकल्पानुसा-
 रिदर्शनव्यवस्थया उभयं वसिष्ठः परिहरति—अस्मदादिरिति ।
 अस्मदादिर्ज्ञानयोगसिद्धो जनः ॥ १९ ॥ ननु ज्ञानसिद्धानां
 सदैवातिवाहिकदेह एवास्ति न स्थूल इति त्वयैवासकृत्पूर्वं
 तत्कथं तेषां स्थूलदेहबुद्ध्या परदर्शनसंवादादिसत्यसंकल्पनं
 घटते तत्राह—व्यवहारेष्विति । सत्यम् । समाधिविवेककाल-
 योस्तत्रैव व्युत्थानव्यवहारकाले आतिवाहिकभावविसरणमप्य-
 स्तीति तत्संकल्पनसंभव इत्यर्थः ॥ २० ॥ एष सिद्धः सोऽपि
 सत्यसंकल्पः सिद्धश्चेति वा मां द्रष्टुं शक्नोतीत्याशयेन तं विद्वि-
 नधि—स्वसंकल्पार्थभाजनमिति ॥ २१ ॥ सिद्धसेतरवनेभ्यो

इहोस्तु सिद्धयोः सिद्धविरुद्धेऽपि तयोर्मिथः ।
 अधिकैकवदात्तात्मा जयी पुरुषयस्त्वान् ॥ २३
 भ्रमतः सिद्धसेनास्तु लोकपालपुरीषु मे ।
 विस्मृता व्यवहारौघैः स्वातिबाहिकतात्मनः ॥ २४
 कदा तदाहमपरैर्भ्यश्चर्तुं महाम्बरे ।
 प्रवृत्तो न च मां कश्चित्त्र पश्यति चञ्चलम् ॥ २५
 अत्यन्तमप्यारदतः क्षुब्धो न भूयते मम ।
 केनचित्सुरलोकेषु स्वप्रपुंस इवानघ ॥ २६
 अवष्टुं प्रवृत्तस्य नान्यावष्टुघये मम ।
 संपद्यते किञ्चिदपि मनोमननदेहिनः ॥ २७
 एवं न्योमपिशाचोऽहं संपन्नो रघुनन्दन ।
 मयानुभूता कान्येषा देवागारपिशाचता ॥ २८
 श्रीराम उवाच ।

पिशाचाः सन्ति लोकेऽस्मिन्किमाकाराः किमास्पदाः ।
 किंजातीयाः किमाचाराः कीदृशाः कीदृशाशयाः ॥
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।

पिशाचाः सन्ति लोकेऽस्मिन्नादृशास्तादृशाभ्युत्पन्नाः ।
 न सभ्योऽसौ न यो वक्ति प्रसङ्गापतितं वचः ॥ ३०
 पिशाचाः केचिदाकाशसदृशाः सूक्ष्मदेहकाः ।

विशेषमाह—जन इति । जरठखिरवासनाददीकृतो मेदः स्व-
 स्वात्प्रभाषो येन तथाविधत्वात् जीर्णमेदत्वाद्वाधितमेदवासना-
 त्वात् एव सिद्धः सत्यकामत्वस्य भाजनं योग्यः ॥ २२ ॥
 ननु तर्हि वन्न द्वौ सिद्धौ परस्परविरुद्धं संकल्पयतः । यथा
 एकः अहमेतं पश्यामीति संकल्पयति, अपरस्तु मामयं न
 पश्यति । तत्र कथं व्यवस्था तत्राह—द्वयोरिति । यस्यैवा-
 त्मानकैश्चापि कथं तत्संकल्पः प्रबलः । यथैकराज्यसिद्धयर्थं
 यतमानो राजपुत्रयोर्यस्यैव शौर्याद्याधिक्यं तस्य जयस्तद्वि-
 श्वर्थः । तुल्यबलत्वे तुभयसंपत्तिर्वैरशापाविरोधसर्गे बध्यते
 ॥ २३ ॥ अस्त्वेवं तथापि प्रकृते किं तत्राह—भ्रमत इति ।
 व्यवहारौघैर्हेतुभिर्विदा विस्मृता तदा व्यवहर्तुं प्रवृत्त इति परे-
 णान्वयः ॥ २४ ॥ २५ ॥ आरदतः कूजतः ॥ २६ ॥ अव-
 ष्टुं अन्यस्य पतनारोहणादिप्रसङ्गे कराद्यबलम्बनं दातुं प्रवृ-
 त्तस्य मम किञ्चिदपि हस्ताद्यन्यस्य अवष्टुघये अवलम्बनाय
 न संपद्यते ॥ २७ ॥ एवमनया रीत्या । देवागारेषु पिशाचता
 अनुभूता ॥ २८ ॥ प्रासङ्गिको रामप्रश्नः ॥ २९ ॥ सभ्यः
 समाह्वैः । 'सत्यः' इति पाठे यथार्थवत्ता । श्रोतुः प्रमया हि
 अर्थसाधारण्यग्रहः । न च श्रोतुः प्रासङ्गिकार्थजिज्ञासायायजिज्ञासि-
 तेऽर्थान्तरे वाक्यात्प्रमोत्यत इत्यनवधेयवचनोऽसाकुम्भस्यदुपे-
 क्षेतेति । तथा चाहुर्वाचस्पतिमिभ्राः—'प्रतिपितिसतमर्थं प्रति-
 पादयन्प्रतिपादयिता अवधेयवचनो भवति । अप्रतिपितिसतं
 तु प्रतिपादयन्नसौ न लौकिको न परीक्षक इत्युम्भस्यदुपे-
 क्षेत' इति ॥ ३० ॥ सूक्ष्मदेहका मनोमयदेहकाः । स्वप्र-
 न्नः कल्पितहस्तादिभिर्बुधुणाः ॥ ३१ ॥ यदि ते मनोमात्र-

हस्तापादादिसंयुक्ताः पश्यन्ति त्वमिवाकृतिम् ॥ ३१
 छायाया मयदायिन्या त्वन्यत्र भ्रमरूपया ।
 ते चित्ताक्रमणं कृत्वा बोधयन्ति नराशयम् ॥ ३२
 प्रन्त्यदन्ति पिबन्त्याशु लघुसत्त्वबलं जनम् ।
 बलं सत्त्वमथो जीवान्निहसन्त्याक्रम्य चित्तकम् ॥ ३३
 आकाशसदृशाः केचित्केचिन्नीहारसंनिभाः ।
 केचित्त्वप्रनराकाराः साकारा अपि स्वात्मकाः ॥ ३४
 केचिदभ्रदलप्रस्थाः केचित्पवनदेहकाः ।
 केचिद्भ्रमात्मका एव सर्वे बुद्धिमनोमयाः ॥ ३५
 प्रहीतुं नैव युज्यन्ते प्रहीतुं शक्नुवन्ति नो ।
 आकाशशून्यवपुषः पश्यन्त्याकृतिमात्मनः ॥ ३६
 शीतातपादिविहितं सुखं दुःखं विदन्ति च ।
 पातुमनुभवष्टुमीहितुं शक्नुवन्ति नो ॥ ३७
 इच्छाद्वेषमयक्रोधलोभमोहसमन्विताः ।
 मन्मोषघतपोदानधैर्यधर्मवशीकृताः ॥ ३८
 सत्त्वावष्टम्भयन्नेण मन्नेणाराधितेन वा ।
 दृश्यन्तेऽपि च गृह्यन्ते कदाचित्केनचित्कचित् ॥ ३९
 देवयोनिर्हि सा तेन केचिद्देवोपमादयः ।
 केचिन्नरसमधीकाः केचिन्नागसमन्वयाः ॥ ४०

मयदेहास्तर्हि अन्येषामाक्रमणं कथं कुर्वन्ति । मनसो बहिरा-
 क्रमणाद्यसामर्थ्यादित्यत आह—छायायेति । ते पिशाचा अ-
 न्यत्र नरान्तरे तथैवचित्प्रभमरूपया अत एव नानाभयदा-
 यिन्या स्वच्छायया प्रतिबिम्बेनानुप्रविश्य तथैवचित्ते तादात्म्य-
 मिवापद्य तस्य नरस्याशयं दुःखभोगप्रदं कर्मकामवासनादिकं
 नानाभ्रान्तिचेष्टायनुरूपतया उद्बोधयन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ तन्म-
 रणानुकूले कर्माशये सति भ्रन्ति स्वयं च स्वीयक्रणानुबन्धानु-
 सारेण तथैवदेहघातूनदन्ति रुधिरादि पिबन्ति । बलं सत्त्वं च
 क्षपयन्तीति शेषः ॥ ३३ ॥ एतेन किमाचारा इति प्रश्नः
 समाहितः । किमाकाराः किंजातीया इति प्रश्नौ समाधत्ते—
 आकाशेति । विचित्रकर्मानुसारेण तेषां सौक्ष्म्यतारतम्येन
 देहारम्भादन्तर्धानादिशक्तिारतम्येन नानावासनानुसारिरूप-
 मेदेन चावस्थानमिति भावः ॥ ३४ ॥ अद्भ्रदलं मेघखण्डः ।
 भ्रमात्मकाः आक्रमणीयपुरुषभ्रान्त्यनुसारिदेहा इति यावत्
 ॥ ३५ ॥ पश्यन्ति स्वयमनुभवन्ति । परस्परं च पश्यन्ति ॥ ३६ ॥
 बाह्यजलदि पातुम् । अन्नाद्यर्तुं भोक्तुम् । ईहितुं यथेष्टं दाना-
 दानादिना व्यवहर्तुम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ केनोपायेन तर्हि ते
 दृश्यन्ते मनुष्यैस्तमाह—सत्त्वैति । सत्त्वावष्टम्भो योगधारणा-
 मेदः । यन्मं भूतदर्शनानुकूलमीजाक्षरघटितं रजतादिप्रसृ-
 खितं कण्ठदौ शार्वमाणं तेन । गृह्यन्ते वशीकृत्य सेवादौ नि-
 युज्यन्ते । केनचिद्भूतविषावता पुरुषेण । क्वचिद्देशे प्रसिद्धमेत-
 दित्यर्थः ॥ ३८ ॥ एकादशदेवयोनिमेदान्तर्गतत्वादिगामाद्यैर्धर्म-
 तारतम्येन सुखभोगोऽपि तेष्वस्तीति सूचयन्त्याकृतिमेदा-
 न्प्रभवयति—देवयोनिर्हि । ज्ञानेः सर्वैः समन्वयः सादृश्यं

ब्रह्मगालोपमाः केचिद्ब्रह्मजलवासिनः ।
 कुल्यावकररव्यास्तु वसन्ति निरयेषु च ॥ ४१
 एतदास्पदमेतेषामित्याकाराः प्रकीर्तिताः ।
 पिशाचा एवमाचारा जन्मैर्वा भूयतामिदम् ॥ ४२
 अचेत्यचिन्मयं ब्रह्म सर्वशक्तिसमावतः ।
 यत्स्थितं बुद्धमेवान्तर्धेत्यं संकल्पयन्निव ॥ ४३
 तं जीवं विद्धि स प्रौढस्त्वहंकार इति स्मृतः ।
 सोऽहंकारः स्मृतः पुष्टो मन इत्युदितात्मनि ॥ ४४
 स एव कथ्यते ब्रह्मा संकल्पाकाशरूपवान् ।
 असदेवासतो बीजं जगतो विगताकृतिः ॥ ४५
 एवं मनःस्थितो ब्रह्मा सदेहोऽप्यमलं नमः ।
 तत्स्वप्नपुरुषाकारः सत्त्वासात्तद्रूपः सदा ॥ ४६
 पृथ्व्यादिमूर्तिरहितस्त्वातिवाहिकदेहवान् ।
 पृथ्व्यादयः किल कुतः संकल्पपुरुषस्य खे ॥ ४७
 भवन्मनो यथाकाशपुरं पश्यति कल्पितम् ।
 तथा मनोविरञ्चित्वं पश्यत्यात्मनि कल्पितम् ॥ ४८
 यद्वेत्ति कल्पितं तत्सत्पश्यत्यनुभवत्यपि ।
 यो यावन्मात्रकस्तत्स कस्मात्किल न पश्यति ॥ ४९
 स यत्पश्यति तत्तादृक् शून्यात्मा शून्यमन्वरे ।
 ब्रह्म ब्रह्मणि वा ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ॥ ५०
 तथा संप्रति भासोऽस्य चिरकालैकभावनात् ।
 घनीभूतः स्थितः पुष्टः सुदीर्घस्वप्नसुन्दरः ॥ ५१
 आतिवाहिकदेहस्य तस्य तच्चिरभावनात् ।
 सर्गानुभवानं भूरि ब्रह्मणो ब्रह्मरूप्यपि ॥ ५२
 गतं प्रकटतोत्कर्षादाधिभौतिकदेहताम् ।

वेषाम् ॥ ४० ॥ निरयेषु नरकप्रायेष्वशुचिदेशेषु ॥ ४१ ॥
 एतेन किमाकाराः किमास्पदाः किमाचारा इति प्रश्नाः समा-
 हिता इत्याह—एतदिति । किंजातीया इति प्रश्नो यदि जन्म-
 परस्ताद्याप्युत्तरं मूलत आरभ्य सर्गादिना जगत्तत्त्वं व्युत्पादय-
 न्भाषयति—जन्मेत्यादिना ॥ ४२ ॥ तत्र प्रथमं मायाशक्त-
 कस्य ब्रह्मणो जीवभावप्रतिं मनआद्युपाध्युत्तवं क्रमेण दर्श-
 यति—अचेत्येति । चेत्यचिन्मयं कार्यब्रह्म तद्विलक्षणमचेत्यचि-
 न्मयम् । चेत्यं संकल्पयन् मनः पुरुष इव बुद्धं सत्तद्रूपेण य-
 तिस्थितं तदेव जीवं प्रथमाहुरं विद्धि ॥ ४३ ॥ प्रौढः अमि-
 मानोर्जितः । अज्ञानतिमिरनाशाय तत्त्वसाक्षात्कारवृत्त्याकृत-
 तया उदित आधिर्भूत आत्मा येषां तैः ॥ ४४ ॥ स मनो-
 रूपो जीव एव समष्ट्यात्मना ब्रह्मा कथ्यते । असतो जगतः
 असन्धन एव बीजम् ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अत
 एव स विरिक्तो यथास्वसंकल्पनं वेत्ति तत्तद्वर्थाकारेण पश्यत्य-
 नुभवत्यपि । यो यावन्मात्रको जीवः प्रसिद्धः स सर्वोऽपि त-
 च्छिद्रं सदेव अतो ज्ञानशक्तिमत्तत्कस्मादेतोर्न पश्यति ॥ ४९ ॥
 शून्यात्मा निराकारमनोरूपः स ब्रह्मा अन्वरे विदाकाशे शून्य-
 मेव यद्ब्रह्माण्डाकारं पश्यति तदिदं जगदित्यर्थः ॥ ५० ॥ ५१ ॥

तेनैव सर्ग इत्युक्तो मेदसंततिमाहुरः ॥ ५३
 स ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्ममात्रात्मनोस्तयोः ।
 अजातयोरेव सदा तदात्मजगतोर्द्वयोः ॥ ५४
 अभिन्नयोरेव मृशं शून्यत्वात्परयोरेव ।
 ऐकारभ्येनैव घसतोः पधनस्पन्दयोरेव ॥ ५५
 वेत्ति भूतमयत्वं तस्मिन्धैव न तु वास्तवम् ।
 तथा यथा त्वं संकल्पपुरुषस्य सतोऽसतः ॥ ५६
 ततः शरीरघातूनां तेन पृथ्व्यादिकाः कृताः ।
 अभिधाः पञ्च चित्पुष्टा जगदित्येव ताः स्थिताः ॥ ५७
 यथा त्वसत्य एवायं संकल्पः सत्य एव ते ।
 तथासावात्मसंकल्पं सत्यमेवानुभूतवान् ॥ ५८
 स स्वयं चिन्मयाकाशः स संकल्पविदम्बरम् ।
 अतः स्वप्नो जगत्सर्वं कृतौ नाशोद्भवौ स्थितौ ॥ ५९
 यथैवैतन्मनः सत्त्वं तदंशाः सत्यमेव ते ।
 तथैव तत्कृताभ्यन्तद्राक्तेन्दुमरीचयः ॥ ६०
 एवं स्थिते जगज्जालं तन्मनोराज्यमुच्यते ।
 तच्च शून्यं निरालम्बमाकाशकचनं चिति ॥ ६१
 यथा स्वप्नपुरं व्योम संकल्पाद्विर्यथा नमः ।
 तथा ब्रह्म जगच्चैव अमेवाच्छमनाकृति ॥ ६२
 एवमाभासमात्रस्य क्वतोऽनिशमव्ययम् ।
 सर्गादिमध्यान्तदृशो भुवैवात्रोदिताः स्थिताः ॥ ६३
 किञ्चिदाकाशकोशस्य तव वा मम वा नव ।
 जगतो वापि जायेत किं वा नश्यति मे वद ॥ ६४
 तत्किमर्थमनर्थाय निरर्थकमपार्थकाः ।
 कस्माद्भ्युदिता ब्रूहि रागद्वेषभयादयः ॥ ६५

॥ ५२ ॥ ५३ ॥ तदात्मा जीवो जगच्च तयोर्द्वयोः ॥ ५४ ॥
 ॥ ५५ ॥ पृथ्व्यादिभूतमयत्वं वेत्ति । यथा त्वं स्वसंकल्पपुरु-
 षस्य असत एव सतो नगरादेर्भूतमयत्वं वेत्ति तद्वत् ॥ ५६ ॥
 ब्रह्माण्डात्मकस्वशरीरघातूनां कठिनदवादिभागानां तेन ब्रह्मण्य
 पृथ्व्यादिका अभिधाः संज्ञाः कृताः । ताः समुदितरूपेण जग-
 दित्येव स्थिताः ॥ ५७ ॥ यथा असत्योऽपि ते संकल्पो तन्मो-
 राज्यकौतुकाद्यर्थक्रियाकारित्वात् सत्य एवानुभूयते त्वया तच्च
 असौ ब्रह्मापि आत्मनः संकल्पं सत्यमित्येवानुभूतवान् । तस्य
 समष्ट्यात्मत्वात् तत्संकल्पजस्य सर्वजनसाधारणाधिक्येति
 विशेष इति भावः ॥ ५८ ॥ तमेव स्फुटयति—स इत्य-
 दिना । स ब्रह्मा स्वयं चिन्मयाकाश एव परमार्थतः तत्सं-
 कल्पोऽपि विदम्बरमेव ॥ ५९ ॥ कथं तर्हि तत्कृताभ्यन्तरा-
 दयः सर्वार्थक्रियाहेतवस्तत्राह—यथैवेति । तदंशास्तद्वत्तत्त्वे
 सत्त्वं प्रवृत्त्याद्यर्थक्रियासमर्था एव ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥
 सर्गस्य आदिमध्यान्तदृशो जन्मस्थितिमज्ञप्रसयाः ॥ ६३ ॥
 अत एवात्मनिचिदाकाशरूपतामुत्तुष्टाने तव वा मम वा नव
 वा न कस्यचित्सर्गादयः सन्तीत्याह—किमिति । जगतो अत्र-
 तादेव सुतयां न जन्मादिप्रत्ययप्रसक्तिरिति श्लोकात् नव

वस्तुतोऽङ्गं न सर्गादिर्न सर्गो नाप्यसर्गता ।
 विद्यते सकृदाभातमिदमित्थं सदैव तत् ॥ ६६
 आशून्ये विपुलामोगे स्वच्छच्चिज्जलपूरिते ।
 कलनापङ्ककलिले भविष्यति चिदम्बरे ॥ ६७
 अन्तरिक्षाक्षयक्षेत्रे स्वात्मनो गगनात्मिका ।
 तस्माद्बीजादियं जाता भूरिभूतशिलावलिः ॥ ६८
 नास्ति किञ्चिदिह क्षेत्रं व्युत्तं नाम न किञ्चन ।
 न बीजमस्ति नो जातं किञ्चित्सर्वं च संस्थितम् ॥ ६९
 याः शिलावलयस्तत्र पुष्टास्ता विबुधादयः ।
 यास्तु वर्णोज्ज्वला यताः स्वास्थिता बुद्धबुद्धयः ॥ ७०
 यास्त्वर्धपकास्ता यता नरनागादिजातयः ।
 यास्त्वाश्याना रजोनष्टास्ताः क्रमिस्थावरादयः ॥ ७१
 यास्तु शुभ्यः फलैर्हीनाः शून्याकाराः क्षयक्षताः ।
 अशरीराः शरीरिण्यस्ताः पिशाचादिकाः स्मृताः ॥ ७२
 न हि संकल्पितुः स्वेच्छा क्वचित्पर्यनुयुज्यते ।
 तास्तथेच्छा विरिञ्चस्य तथा नाम तथोदिताः ॥ ७३
 सर्वा एव चिदाकाशरूपिण्यो भूतजातयः ।
 आतिबाहिकदेहिन्यः पृथ्व्यादिरहितात्मिकाः ॥ ७४
 ताभिरभ्यासवशतस्त्वाधिभौतिकसंविदम् ।
 प्राप्ता दीर्घानुभवनात्स्वप्नजाग्रदशामिव ॥ ७५
 पिशाचाद्यास्तथा एते तथाभूताधिभौतिकाः ।

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मोक्षो० नि० उ० पा० पिशाचवर्णनप्रसङ्गेन जगद्गणोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्नवस्वितमः सर्गः ॥ १४ ॥

तिष्ठन्ति तुष्टमनसः स्वसंसारविहारिणः ॥ ७६
 पश्यन्ति काञ्चिदन्योन्यं प्राण्या प्राण्येयकानिव ।
 स्वमैकलोकवास्तव्या इवैता भूतजातयः ॥ ७७
 काञ्चिद्बुधुनरप्राप्तस्वप्ननिर्माणलोकवत् ।
 नान्योन्यमपि पश्यन्ति नानासंस्थानसंस्थिताः ॥ ७८
 स्थिता यथैता जगति पिशाचाद्याः कुजातयः ।
 प्रायस्तथैताः कुम्भाण्डयक्षप्रेतादयः स्थिताः ॥ ७९
 यथा यत्रेह वै निम्ना जलं तत्रावतिष्ठते ।
 तथा यत्र पिशाचाद्यास्तमस्तत्रावतिष्ठते ॥ ८०
 मध्याक्षेपि पिशाचभेदजिरे तिष्ठति स्वयम् ।
 तत्तस्यान्धं तमस्तत्र संनिधानं करोत्यलम् ॥ ८१
 न निहन्ति च तद्भानुर्न चान्यस्तत्प्रपश्यति ।
 स एव चानुभवति पश्य मायाविजृम्भितम् ॥ ८२
 अग्नेरादित्यचन्द्रादेस्तैजसं मण्डलं यथा ।
 पिशाचादेरजान्यात्म तामसं मण्डलं तथा ॥ ८३
 याति तेजस्यनोजस्त्वं तमस्योजःप्रधानताम् ।
 उलूकवत्पिशाचाद्या आश्चर्यं तत्स्वभावतः ॥ ८४
 एषा पिशाचाजनितस्य जातिः
 प्रोक्ता मया ते समयानपेता ।
 पिशाचतुल्यः सुरलोकपाल-
 लोकेषु जातोऽहमिति प्रसङ्गात् ॥ ८५

पुरुषान्तरामिप्रायेण ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ वस्तुतः परमार्थदशा ।
 सर्गस्य आदिः कारणम् । सकृदाभातं अपुनरावरणतया
 प्रथां गतम् । इदं प्रत्यमूर्पं सदैव तद्गङ्गा ॥ ६६ ॥ तथाविधेऽपि
 चिदम्बरे क्षेत्रे अज्ञानकल्पनापङ्केन कलिले सति स्वात्मनस्त-
 स्मादेव बीजादियं भूरिभूतशिलावलिर्भविष्यति प्रागजाता चेति
 परेणान्वयः ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ कलनापङ्कनिरासे त्वाह—जा-
 स्तीति ॥ ६९ ॥ एवं पिशाचजातिवर्णनप्रसङ्गेन सर्गतत्त्वं
 व्युत्पाद्यं प्रस्तुतानुकूलतया वर्णितभूतशिलाया अवयवादिभेद-
 तया जातिभेदान्दर्शयति—या इति । तत्र तस्मिन्कलनापङ्क-
 कलिते आत्मक्षेत्रे याः शिलावलयः पुष्टाः संकृष्टास्ता विबुधादयो
 जातय इति सामान्योक्तिः । विशिष्य विभजते—या इत्यादिना ।
 तत्र यास्तु वर्णेन कान्त्यतिशयेनोज्ज्वला रजरूपा बुद्धबुद्धयो
 देवर्ष्यादिजातयः ॥ ७० ॥ अर्धपका अर्धवर्णोज्ज्वलाः शिलाः ।
 आश्याना म्लानाः शिलाः ॥ ७१ ॥ शुभ्यो बृहत्सो भारभूताः का-
 न्तिप्रकाशादिफलैर्हीना वृथापाषाणा इति यावत् । अशरीरा अ-
 देहाकाराः शरीरिण्यो देहाकाराश्च शिलाः ॥ ७२ ॥ ननु हिरण्य-
 गर्मस्योत्तमदेवादिरजान्येव तत्र क्षेत्रे उत्पद्यन्तामित्येव संकल्पः
 कुतो नाभूतिकमर्थं वृथापाषाणरूपपिशाचजात्पुत्पादनसंक-
 ल्पोऽभूत्तत्राह—न इति । संकल्पितुः संकल्पयितुर्बोद्धुतिच्छा
 न हि पर्यनुयुज्यते आक्षिप्यते । तस्मात्प्रज्यजीवप्राक्कनकर्माद्यनु-

सारित्वादिति भावः । विरिञ्चस्य ता इच्छास्तथा जातास्तथैव
 पिशाचजातय उदिताः ॥ ७३ ॥ शिलात्वोत्प्रेक्षणात्प्रसक्तं
 भौतिकत्वं भूतजातीनां वारयति—सर्वा एवेति ॥ ७४ ॥ कथं
 तर्ह्यस्माकं देहे भौतिकत्वानुभवस्तत्राह—ता इति ॥ ७५ ॥
 तथाभूतं चिराभ्यासप्राप्तमाधिभौतिकमाधिभौतिकत्वं येषाम् ।
 स्वयोनिभोग्यभोगैस्तुष्टमनसः । तथा च तेषां पिशाचदेहः कुत्सि-
 तभोगश्च प्रिय एव न विमत्सो भातीति भावः ॥ ७६ ॥ अन्योन्यं
 पश्यन्ति दर्शनादिना व्यवहरन्ति । प्राण्येयकान् प्राणीणानिव ।
 प्राण्यशब्दात्स्वार्थं ढकञ्छान्दसः ॥ ७७ ॥ बहु प्रायेण ॥ ७८ ॥
 पिशाचजातिवदेव कुम्भाण्डादिजातीनां प्रायशस्तामसी आति-
 बाहिकदेहचेष्टादिस्थितिरित्याह—स्थिता इति ॥ ७९ ॥ निम्न-
 तातारतम्येन जलस्थितितारतम्यवत्पापतारतम्येन तेषु तम-
 स्तारतम्यमित्याह—यश्चेति ॥ ८० ॥ तत्रेति दर्शनाद्यत्रेय-
 ध्याहार्यम् । अजिरे सातपत्त्वरेऽपि तिष्ठति चेत् ॥ ८१ ॥
 भानुः सूर्यस्तमो न निहन्ति । स पिशाच एव ॥ ८२ ॥
 अस्मदादीनां प्रकाशसिद्धये अभ्यादित्यादितेजोमण्डलमिव
 पिशाचादेर्व्यवहारसिद्धये तामसं मण्डलमस्तीत्याह—अग्ने-
 रिति । इन्धनाद्यजन्यात्म ॥ ८३ ॥ अनोजस्त्वं नैर्बल्यम् ।
 तदेतदाश्चर्यम् ॥ ८४ ॥ हे राम, मया ते पिशाचयोर्नो आज-
 नितस्य जीवस्य एषा जातिर्यथाप्रश्रं प्रोक्ता । समयः पृष्ठ-

पञ्चनवतितमः सर्गः १५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततश्चिदाकाशवपुर्भूतपञ्चकवर्जितः ।
 विहरन्नहमाकाशे पिशाच इव संस्थितः ॥ १ ॥
 न मां पश्यन्ति चन्द्रार्कशक्रा हरिहरावयः ।
 न देवसिद्धगन्धर्वकिंनरा नाप्सरोगणाः ॥ २ ॥
 नाक्रामन्ति मयाक्रान्ता न च शृण्वन्ति मद्ब्रुवः ।
 इत्यहं मोहमापन्नो विक्रीत इव सज्जनः ॥ ३ ॥
 अथ चिन्तितवानस्मि सत्यकामा इमे वयम् ।
 पश्यन्तु मां सुरगणास्तेन तस्मिन्सुरालये ॥ ४ ॥
 द्रष्टुं प्रवृत्ता मामग्रे वास्तव्याः सर्वे एव ते ।
 झटित्येव पुरं प्राप्तमिन्द्रजालदुमं यथा ॥ ५ ॥
 अथ गीर्वाणगेहेषु संपन्नो व्यवहार्यहम् ।
 यथास्थितसमाचारः स्थितो निःशङ्कचेष्टितः ॥ ६ ॥
 यैरविज्ञातवृत्तान्तैर्दृष्टोऽहमजिरोत्थितः ।
 वसिष्ठः पार्थिव इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥ ७ ॥
 व्योमन्यादित्यरश्मिभ्यो दृष्टोऽहं यैर्नभोगतैः ।
 वसिष्ठस्तैजस इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥ ८ ॥
 वानात्समुदितो दृष्टो यैरहं गगनास्पदैः ।
 सिद्धैर्वातवसिष्ठाख्यस्तैरहं समुदाहृतः ॥ ९ ॥
 यैरहं सलिलादृष्टः प्रोत्थितस्तैर्मुनीश्वरैः ।
 उक्तो वारिवसिष्ठोऽहमिति मे जन्मसंततिः ॥ १० ॥
 ततःप्रभृति लोकेऽहं पार्थिवः प्रथितः क्वचित् ।

भवत्यं वक्तव्यमिति व्याख्यातुसंप्रदायस्तदनपेता । तद्वशादिति या-
 वत् । सुरलोकेपाललोकेष्वहं पिशाचतुल्यो जातोऽस्मीति यद्वचोचं
 तदप्रसङ्गात्त्वया पृष्टे सतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पिशाचवर्णनप्रसङ्गेन
 जगद्ब्रह्मणोरेक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ १४ ॥

सत्यसंकल्पतास्मृत्या व्यवहारः पुनर्जनैः ।

स्वत्याकाशवसिष्ठादिनामासिद्धेह वर्णयते ॥ १ ॥

निहरन् संचरन् ॥ १ ॥ २ ॥ मया पादन्यासारोहणाध्या-
 सनादिना आक्रान्ता अपि मां न प्रत्याक्रामन्ति । मोहं पूर्वा-
 परकर्तव्याप्रतिसंधानम् ॥ ३ ॥ चिन्तितवान् चिन्तया स्मृत-
 वान् । सत्यकामा इमे वयमिति स्मृत्यभिनयः । पश्यन्तु मां
 सुरगणा इति च संकल्पितवानिति शेषः ॥ ४ ॥ अग्रे वस-
 न्तीति वास्तव्याः । 'वसेस्तव्यकर्तरे णिच' इत्युपसंख्यानान्त
 ॥ ५ ॥ व्यवहारी संभाषणादिव्यवहरणशीलः संपन्नः ॥ ६ ॥
 अजिरे चत्वरभूमौ प्रथममाभिर्भूतो दृष्टस्तैस्तपृथिवीत एव
 मनुत्पासि कल्पयद्भिः पृथिव्या जातः पार्थिवोऽयं वसिष्ठ इति
 लोकेषु प्रथितः प्रख्यातिं नीतोऽस्मि । एवमग्रेऽपि योज्यम्
 ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ इति एवरीत्या परकल्पनयैव मे पृथिव्या-
 स्मिभ्यो जन्मनां संततिः परम्परा ॥ १० ॥ भावतो महन्मय-
 यो० वा० १६२

अम्मयः क्वचिदन्वेषां तैजसो माहृतः क्वचित् ॥ ११ ॥
 अथ कालेन मे तत्र तस्मिन्नेवातिवाहिके ।
 आधिभौतिकता देहे रूढा रूढान्तरेरिता ॥ १२ ॥
 यदेतदातिवाहित्वमाधिभौतिकता च खम् ।
 द्वयमप्येकदेहात्म ततः क्वचि मे चितिः ॥ १३ ॥
 एवमात्म क्वचिद्योम क्वचनात्माप्यहं नभः ।
 परमेव निराकारं युष्मास्वाकारवानपि ॥ १४ ॥
 जीवन्मुक्तो व्यवहरंस्तथास्ते ब्रह्मस्वात्मकः ।
 तथैवादेहमुक्तोऽपि तिष्ठति ब्रह्ममात्रकः ॥ १५ ॥
 मम न ब्रह्मतापेता तादृग्व्यवहृतेरपि ।
 असंमवादन्यदृशो युष्मदादिष्वहं त्वहम् ॥ १६ ॥
 यथाऽहस्य स्वप्नरे निर्जन्मनि निराकृतौ ।
 आधिभौतिकताबुद्धिस्तथा मे जगतोपि च ॥ १७ ॥
 एवमेवावभासन्ते सर्वे एव स्वयंभुवः ।
 सर्गाश्च न तु जायन्ते प्रयाता इव बोदिताः ॥ १८ ॥
 एष सोहमिहाकाशवसिष्ठः पुष्टतामिव ।
 गतोऽद्य स्वात्मनाभ्यासाद्भ्रष्टतां वा भवत्स्थितिः ॥ १९ ॥
 आकाशात्मान एवैते सर्वे एव स्वयंभुवः ।
 यथा त्वेतन्मनोमात्रमिमे सर्गास्तथैव हि ॥ २० ॥
 अहमादिरयं सर्गस्त्वपरिहानदोषतः ।
 वेताल इव बालानां गतो धो वज्रसारताम् ॥ २१ ॥
 परिह्रातस्तु कालेन स्वल्पेनैवोपशाम्यति ।

देहः ॥ ११ ॥ तस्मिन्नेवातिवाहिके देहे आधिभौतिकता रूढा
 प्रादुर्भूता रूढेन चिराभ्यासपरिणतेन आन्तरेण मनसा ईरिता
 गमिता । आरूढान्तरेरन्वैः सिद्धैरीरिता गदितेति वा ॥ १२ ॥
 तर्हि किमज्ञवद्भौतिकदेहात्मेवाभून्त्याह—यदेतदिति । यत्
 इदं द्वयमपि खमाकाशमेव तद्रूपेणकदेहात्मेत्येतत्स्वतः परि-
 ज्ञातं ततो मे चित्तिरेवात्मभावेन क्वचि न देहात्मभावेन देहा-
 त्मभाव इत्यर्थः ॥ १३ ॥ क्वचिद्योमादिभूतरूपेण क्वचनात्मा-
 प्यहम् । एवमात्म चिदेकस्वभावं परं नभ एव न भूताकाशा-
 दिस्वभावः । कथं तर्ह्यकारवान् इत्यसे तत्राह—युष्मा-
 स्त्विति । युष्मदुपदेशादिव्यवहारसिद्ध्यर्थमित्यर्थः ॥ १४ ॥
 वस्तुतस्तु सदेहविदेहमुक्तयोरैकरूप्यमेवेत्याह—जीवन्मुक्त
 इति ॥ १५ ॥ युष्मदादिषु उपदेशार्थमहं वसिष्ठदेहः संपन्न
 इत्यर्थः ॥ १६ ॥ शून्ये देहे कथं तर्हि आधिभौतिकता रूढेत्यु-
 क्तस्तत्राह—यथेति । जगतो जनान्तरस्य च ॥ १७ ॥ ब्रह्मादि-
 शरीराणि तत्कृतसर्गाश्चैवमेव परदृष्ट्येवाधिभौतिका इत्याह—
 एवमेवेति ॥ १८ ॥ भवत्स्थितिर्भवद्व्यनुसारिभौतिकदेहस्थितिः
 ॥ १९ ॥ ममेव हिरण्यगर्भस्यापि स्वदृष्ट्या जगद्ब्रह्माकाशात्म-
 कमेवेत्याह—आकाशेति । परीक्षकदृशा एतन्मनोमात्रम् ॥ २० ॥
 वः अज्ञजनानाम् ॥ २१ ॥ दूरगते बन्धो ज्ञेहो यथा कालेनेप-

१ जन्वन्तरस्य इत्यपि पाठः.

वासनातानवात्त्रेहो बन्धो दूरगते यथा ॥ २२
घनत्वमहमासाद्य तथा सर्गस्य शाम्यति ।
परिज्ञाता यथा स्वप्ननिषेरावेयभाषणा ॥ २३
शाम्यन्ति संपरिज्ञाताः सकला दृश्यदृश्यः ।
यथा मरुनदीवेगवारिप्रहणबुद्धयः ॥ २४
महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः ।
एतदासाद्यते नित्यं किमेतावति दुष्करम् ॥ २५
संसारवासनाभावरूपे सक्ता तु यस्य धीः ।
मन्दो मोक्षे निराकाङ्क्षी स श्वा कीटोऽथवा जनः २६
भोगाभोगः किलायं यः स जीवन्मुक्तबुद्धिना ।
कीदृशो भुज्यमानः स्यात्कीदृकस्यान्मौर्ख्यसेविना २७
महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० वसिष्ठशरीरवर्णनं नाम पञ्चमवतितमः सर्गः ॥ १५ ॥

॥ दिवसः १७ ॥ पाषाणोपाख्यानं समाप्तम् ॥

वर्णवतितमः सर्गः १६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

पाषाणाख्यानमेतसे कथितं कार्यकोषिद ।
अनयेमाः स्फुरद्दृष्ट्या सृष्टयो नभसि स्थिताः ॥ १
न च स्थितं किञ्चनापि क्वचनपि कदाचन ।
स्थितं ब्रह्मघने ब्रह्म यथास्थितमखण्डितम् ॥ २
ब्रह्म चिन्मात्रकं विद्धि तद्यथा स्वप्नदृष्टिषु ।

शाम्यति तद्वत् ॥ २२ ॥ अहंकाररूपं घनत्वं स्थौल्यं तथा
शाम्यति । आदेयभावना उपादेयतावासना ॥ २३ ॥ २४ ॥
प्रायपदं सदृशपरम् । एतत् उक्तरूपं जीवन्मुक्तत्वम् ॥ २५ ॥
संसाराल्यासक्तया अभ्यात्मशास्त्रपराबुद्धिं निन्दति—संसारैति ।
यस्य जनस्य धीः संसारवासनावशात् अभावरूपे अवस्तुल-
भावे देहेन्द्रियभोग्यादिरूपे सक्ता मोक्षविषये निराकाङ्क्षी स
जनोऽशुचिभोगासक्तिसाम्याच्छ्रुत्वा अथवा कीटो न तु मनुष्यः ।
ज्ञानाधिकारयोगमनुष्यदेहस्यायोग्य इत्यर्थः ॥ २६ ॥ यथैक-
मेवाहं इतिःपुरोडाशादिशुद्धितमरूपं देवद्विजादिभिर्भुज्यते
उच्छिष्टपुरीषाद्यशुद्धिरूपं तु श्वकीटादिभिस्तथा जीवन्मुक्तैः
शब्दादिभोगः शुद्धचिन्मात्रानन्दस्वरूपो भुज्यते । मूर्खैस्तु
अशुद्धितमविषयरूप इत्याशयेनाह—भोगेति । जीवन्मुक्तबु-
द्धिना भुज्यमानो भोगस्याभोगः कलापः कीदृशः स्यात् ।
मौर्ख्यमन्यथावस्तुवेदनं सेवते तच्छीलेन मूर्खेण च भुज्यमानः
कीदृक् स्यात्तद्विदृश्यमित्यर्थः ॥ २७ ॥ किञ्चाज्ञानां भोग्यार्थ-
वृत्तिरिव तृष्णाक्रोधलोभादिलक्षणः संताप एवोदेति शास्त्रपरि-
शीलिनां सुज्ञानां सर्वार्थेषु परा अन्तःशीतलतोदेतीत्यपरो वि-
शेष इत्याह—महारामायणेति ॥ २८ ॥ एतस्मिन्कीदृशोऽपि
मोक्षे लोकस्य नार्थित्वम् । अहो भाव्यम् ॥ २९ ॥ अयं
जनः प्रकृत्या स्वभावेनैव विषयैर्वशीकृतः अत एव परस्परं

अन्तःशीतलतोदेति परार्थेषु हिमोपमा ॥ २८
मोक्षः शीतलचित्तत्वं बन्धः संतप्तचित्तता ।
एतस्मिन्नपि नार्थित्वमहो लोकस्य मूढता ॥ २९
अयं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतः
परस्परं स्त्रीधनलोलुपो जनः ।
यथार्थसंदर्शनतः सुखी भवे-
न्मुमुक्षुशास्त्रार्थविचारणादितः ॥ ३०
श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विषयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाजगाम ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० वसिष्ठशरीरवर्णनं नाम पञ्चमवतितमः सर्गः ॥ १५ ॥

॥ दिवसः १७ ॥ पाषाणोपाख्यानं समाप्तम् ॥

पुरं भवन्निजाद्रूपात् कदाचन भिद्यते ॥ ३
स्वयंभूत्वसमापत्तौ तथा दृश्यव्यवस्थितौ ।
स्वरूपमजहत्त्वे चिदाकाशमजं स्थितम् ॥ ४
न स्वयंभूर्न च जगन्न स्वप्नपुरमस्त्यलम् ।
स्थितं संविन्महादृष्ट्या ब्रह्म चिन्मात्रमेतया ॥ ५
यथा पुरं भवत्स्वप्ने चिद्रूपं स्वात्मनि स्थितम् ।

युद्धचौर्यहरणादिनापि स्त्रीधनादिसंपादनात्तल्लोलुपः । एवं भ्रान्ति-
संतापैः सदा दंदद्यमानोऽयं मुमुक्षुशास्त्राणामर्थविचारणानिदि-
ध्यासनाद्युपायतो यथार्थवस्तुसंदर्शनत एव सुखी गतसंतापः
पूर्णानन्दो भवेन्नोपायान्तरेणेत्यर्थः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासि-
ष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वसिष्ठशरीर-
वर्णनं नाम पञ्चमवतितमः सर्गः ॥ १५ ॥

पाषाणाख्यानतात्पर्यं चिद्विवर्तौ जगन्नमः ।

वर्णयतेऽन्न चिदेवात्मा ब्रह्मानन्दोऽक्षरामरः ।

विस्तरेण वर्णितं पाषाणाख्यानं परमप्रकृते योजयति—पा-
षाणाख्यानमिति । अनया आख्यायिकया स्फुरन्त्या चिन्मात्र-
पूर्णतादृष्ट्या सर्वाः सृष्टयो नभसि चिदाकाशे शून्यभावे च
स्थिता इति निश्चिन्मित्यर्थः ॥ १ ॥ ब्रह्मघने सैन्धवघनवदेक-
रसे स्वभावे ॥ २ ॥ जगतश्चिन्मात्रविवर्तत्वं स्वप्ने सर्वानुभव-
सिद्धमित्याह—ब्रह्मेति । निजाच्चिद्रूपात्कदापि न भिद्यते न
प्रच्यवते । तथाच स्वरूपाद्प्रच्युतस्य रूपान्तरप्रतिभासो विवर्त-
इति तल्लक्षणं जगति प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३ ॥ स्वप्नवत्सर्वोऽपि विवर्तता
बोधेत्याह—स्वयंभूत्वसमापत्ताविति । स्वयंभूः समष्टिजीवस्त-
त्वेन सूक्ष्मोपाधिसमापत्तौ दृश्यस्थूलव्यवस्थितौ च । अजं निर्वि-
कारम् ॥ ४ ॥ जगत्त्रिवर्तस्वर्हि परमार्थदृष्ट्या किं स्थितं
तदाह—नेति ॥ ५ ॥ इष्टान्तेऽपि तत्सममित्याह—यथेति ।

अखण्डमेवमासृष्टेरामहाप्रलयस्थितेः ॥ ६ ॥
 हेमहेमाश्मनोः स्वमपुरचेतनयोर्यथा ।
 भेदो न संभवत्येव न भेदश्चित्तिसर्गयोः ॥ ७ ॥
 चित्तिरेकास्ति गो सर्गो हेमास्ति न तद्मिका ।
 स्वमाचले चिदेवास्ति न तु काचन शैलता ॥ ८ ॥
 चिदेव शैलवद्भाति यथा स्वप्ने निरामया ।
 तथा ब्रह्म निराकारं सर्गवद्भाति नेतरत् ॥ ९ ॥
 चिन्मात्रमिदमाकाशमन्तमजमव्ययम् ।
 महाकल्पसहस्रेषु नोदेति न च शाम्यति ॥ १० ॥
 चिदाकाशो हि पुरुषश्चिदाकाशो भवानयम् ।
 चिदाकाशोऽहमजरश्चिदाकाशो जगन्नयम् ॥ ११ ॥
 चिदाकाशं वर्जयित्वा शवमेव शरीरकम् ।
 अच्छेद्योऽसावदाह्योऽसौ चिदाकाशो न शाम्यति ॥ १२ ॥
 अतो न किञ्चिन्म्रियते न च किञ्चन जायते ।
 चित्त्वात्तत्तश्चित्कचनं जगदित्यनुभूयते ॥ १३ ॥
 चिन्मात्रपुरुषो जन्तुर्घ्नियते यदि नाम वा ।
 ततो मरिष्यत्तत्पुत्रो निःसंदेहं पितुर्मृतौ ॥ १४ ॥
 एकस्मिन्मृते जन्तावमरिष्यन्स्तु सर्वदा ।
 सर्व एव जनाः शून्यमभविष्यन्महीतलम् ॥ १५ ॥
 न चाद्यापि मृतं राम चिन्मात्रं कस्यचित्कचित् ।
 न च शून्या स्थिता भूमिस्तस्माच्चित्पुरुषोऽक्षयः ॥ १६ ॥
 एकं चिन्मात्रमेवाहं न शरीरादयो मम ।
 इति सत्यनुसंधाने क्व जन्ममरणादयः ॥ १७ ॥
 अहं चिन्मात्रममलमित्यात्मानुभवं स्वयम् ।
 अपहन्त्यात्महन्तारो निमज्जन्त्यापदर्षणे ॥ १८ ॥
 चिदहं गगनादच्छा नित्यानन्ता निरामया ।

किं जीवितं मे किं वापि मरणं वा सुखासुखे ॥ १९ ॥
 व्योमात्मचेतनमहं के शरीरादयो मम ।
 इत्यात्महापहृतेऽन्तर्योऽनुभूतं धिगस्तु तम् ॥ २० ॥
 चिदाकाशमहं स्वच्छमनुभूतिरिति स्फुटा ।
 यस्यास्तमागता मूढं तं जीवन्तं शवं विदुः ॥ २१ ॥
 अहं वेदनमात्रात्मा कानि देहेन्द्रियाणि मे ।
 लब्धात्मानमिति स्वच्छं प्रविलुम्पन्ति नापदः ॥ २२ ॥
 चिन्मात्रं शुद्धमात्मानं योऽवलम्ब्य स्थिरः स्थितः ।
 नाधयस्तं विलुम्पन्ति महोपलम्बिवेषवः ॥ २३ ॥
 चित्तं स्वभावं विस्मृत्य बन्धास्था ये शरीरके ।
 तैः सुवर्णं परित्यज्य गृहीतं भस्म वस्तुतः ॥ २४ ॥
 बलं बुद्धिश्च तेजश्च देहोऽहमिति भावनात् ।
 नश्यत्युदेत्येतदेव चिदेवाहमिति स्थितेः ॥ २५ ॥
 चिदाकाशमहं शुद्धं के मे मरणजन्मनी ।
 एवं स्थिते स्युः किनिष्ठा लोभमोहमदादयः ॥ २६ ॥
 चिदाकाशाहते देहान्योऽन्यत्सारमघामुयात् ।
 तस्मै तद्युज्यते वक्तुं सन्ति लोभादयस्त्विति ॥ २७ ॥
 न च्छिद्ये न च दृष्टेऽहं चिन्मात्रं ब्रह्मचरिति ।
 न देही निश्चयो यस्य तं प्रत्यन्तकरस्तृणम् ॥ २८ ॥
 अहो नु मुग्धता ज्ञानदृष्टीनां यद्विदन्त्यलम् ।
 शरीरशकलाभावे नश्याम इति मोहिताः ॥ २९ ॥
 अहं चिन्मम एवेति सत्ये भावे स्थिरे सति ।
 ब्रह्मपातयुगान्ताग्निदाहाः पुष्पोत्करोपमाः ॥ ३० ॥
 चिन्मात्रममरं नाहं यन्नश्यामीति रोदिति ।
 अनष्ट एव तद्देहो जातापूर्वा सरोलिका ॥ ३१ ॥

अखण्डचिद्रूपं यथास्थितमेवमासृष्टेरामहाप्रलयाजगद्रूपं भव-
 तदेव स्थितमित्यर्थः ॥ ६ ॥ चिदनुविद्धतया सर्वसर्गानुभवा-
 दपि सैव तथा स्थितेति निश्चय इत्याह—हेमेति । हेमाश्म-
 मेर्वादी प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ आकाशं स्वच्छं सर्वगत-
 मलेपकं च ॥ १० ॥ पुरुषो जीवः । भवानित्यादिरुक्तस्य
 प्रपञ्चः ॥ ११ ॥ शवं निर्जीवमेव स्यात् ॥ १२ ॥ १३ ॥
 चित्तो मरणे तद्देहे प्रमाणाभावात्सर्वमरणं स्यादित्याह—चिन्मा-
 त्रेति । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति पुत्रस्य पित्रात्माऽभेद-
 श्रुतेरिति भावः ॥ १४ ॥ 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्य-
 स्थितः' इति श्रुतेरेकमरणे सर्वमरणप्रसङ्गश्चेत्याह—एकस्मि-
 क्षिति । एकमरणानधिकरणक्षणाप्रसिद्धेः सर्वदेत्युक्तिः । मही-
 तलमग्रहणं जगन्मात्रोपलक्षणम् ॥ १५ ॥ तर्कस्य विपर्ययप-
 र्यवसानं दर्शयति—न च्छेति ॥ १६ ॥ तथान चिदात्मपरिज्ञाना-
 देव जननमरणाद्यनर्थनिवृत्तिः सिद्धेत्याह—एकमिति ॥ १७ ॥
 चिन्मात्रमहमित्येवंरूपमात्मानुभवं ये अपहन्ति कुतर्कैः खण्ड-
 यन्ति त एवात्महन्तारः । वचनव्यत्ययश्छान्दसः । 'अप-

हृत्य' इति वा पाठः ॥ १८ ॥ १९ ॥ इति चिद्विद्विरन्तरनुभू-
 तमनुभवं यः कुतर्कैरपहृते च आत्महा तं धिगस्तु ॥ २० ॥
 यस्य चिदात्माहमित्यनुभूतिरस्तं नाशमागता तं मूढं जीवन्त-
 मपि शवं विदुस्तरवविदः ॥ २१ ॥ इति बोधेन लब्धात्मानं
 अविद्यादिमालिन्यापणमात्स्वच्छं पुरुषं मरणाद्यापदो न प्रवि-
 लुम्पन्ति ॥ २२ ॥ २३ ॥ वस्तुतः सुवर्णं परित्यज्य भस्म
 खर्णबुद्ध्या गृहीतम् ॥ २४ ॥ एतदेव बलबुद्ध्यादि ॥ २५ ॥
 किनिष्ठाः स्युः । न ह्यात्मनिष्ठास्तौ तदा येन तैरात्मा बुभ्येदि-
 त्यर्थः ॥ २६ ॥ देहान् स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यान् । सारमात्मान-
 मघामुयात्प्रश्येत् । तस्मै मूढाय ॥ २७ ॥ अन्तकरो मृत्युः
 ॥ २८ ॥ ज्ञानदृष्टीनां पण्डितानामपि मुग्धता व्यामोहो दृश्यते ।
 यत् शरीरलक्षणाशकलस्य जडवर्गैकदेशस्याभावे नाशो उपस्थिते
 नश्याम इति मोहिता मीता जायन्त इति शेषः ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥ अमरं चिन्मात्रमहं न अतो नश्यामीति यदोदिति
 तदनष्टे एवात्मानि रोदिति । सेयं विवेकिदृशा नष्टसेव रोदन-
 विदम्बना अपूर्वा सरोलिका परिहासकीर्तय जाता ॥ ३१ ॥

इदं चेतनमेवाहं नाहं देहादिदृष्टयः ।
इति निश्चयवान्योऽन्तर्न स मुह्यति कर्हिचित् ॥३२॥
अहं चेतनमाकाशो नाशो मे नोपपद्यते ।
चेतनेन जगत्पूर्णं केच संदेहितात्र वः ॥ ३३ ॥
चेतनं वर्जयित्वा न्यर्तिकिञ्चिद्युं जना यदि ।
यदुच्यतां महामूढाः स्वात्मा किमपलप्यते ॥ ३४ ॥
तच्चेतनं चेन्म्रियते तज्जनाः प्रस्यहं मृताः ।
ब्रूत किं न मृता यूयं तन्मृतं किल चेतनम् ॥ ३५ ॥
तस्मान्न म्रियते किञ्चिन्न च जीवति किञ्चन ।
जीवामीति मृतोऽस्मीति चिच्चेतति न नश्यति ॥३६॥
चिच्चेतति यथा वा यत्तथा साशु पश्यति ।
आबालभेषोऽनुभवो न क्वचित्सा च नश्यति ॥ ३७ ॥

परिपश्यति संसारं परिपश्यति मुक्तताम् ।
सुखदुःखानि जानाति स्वरूपात्तन्न भिद्यते ॥ ३८ ॥
अपरिहातदेहासु धत्ते मोहामिधां स्वयम् ।
परिहातस्वरूपासु धत्ते मोहामिधां स्वयम् ॥ ३९ ॥
नास्तमेति न चोदेति न कदाचन किञ्चन ।
सर्वमेव च चिन्मात्रमाकाशविशदं यतः ॥ ४० ॥
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तं प्रति स्थितम् ॥ ४१ ॥
यद्यद्यथा जगति चेतति चेतनात्मा
तत्तत्तथानुभवतीत्यनुभूतिसिद्धम् ।
दृष्टं विषामृतदशेव पदार्थजातं
नातोस्ति संविदविशेषमिति प्रसिद्धम् ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० अमरत्वप्रतिपादनं नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः ९७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

संविन्मयत्वाज्जगतः स्वप्नस्य परमात्मनः ।
ब्रह्माकाशतया सर्वं ब्रह्मैवेत्यनुभूयते ॥ १ ॥
भ्रमस्य चातिदृश्यत्वाददृश्यत्वान्महाचितेः ।

इदं नित्यापरोक्षं चेतनं चिन्मात्रमेवाहम् ॥ ३२ ॥ संदेहिता
जन्मरणादिसंशयः ॥ ३३ ॥ चेतनादन्यद्वयमिति हि चेत-
यद्विरुच्येत अचेतयद्विर्वा । नाद्यः । चेतयद्विचेतनास्वभावं
स्वस्थानुभवद्विस्तथा वक्तुमशक्यत्वात् । न द्वितीयः । अचे-
तयद्विर्जैर्वैयमचेतना इत्यनुभविषुमभिलषितुं किञ्चिदपलपितुं
वा शक्यमित्याशयेनाह—चेतनमिति ॥ ३४ ॥ किञ्च चेतन्यं
स्वप्नरूपं चेतयति तर्हि सदैव पश्येत् । तदा सर्वदा सर्वेषां
जीवतां मरणानुभवः स्यादित्याह—तदिति ॥ ३५ ॥ एवं मरणा-
प्रसिद्धौ तथावृत्तं जीवनमित्यपि कल्पना वृथेत्याशयेनाह—त-
स्मादिति । चेतति आन्तिमनुभवति । स्वयं तु कदापि न नश्यति ।
तथाच श्रुतिः 'न हि द्रष्टुं दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्'
इति ॥ ३६ ॥ सर्वेषामविनाशिच्चेतनानुसारेणेवार्थानुभवः
प्रसिद्धो न तद्वैपरीत्येनेत्याह—चिदिति ॥ ३७ ॥ स्वरूपाधि-
त्वभावात्तु चेत्यभेदे देशभेदे कालभेदे च न भिद्यते ॥ ३८ ॥
तर्हि बन्धमोक्षयोः किञ्चुतः को वा विशेषस्तयाह—अपरिहा-
तेति ॥ ३९ ॥ ४० ॥ तथाच जगद्रूपेषु सत्यत्वमिध्यात्वे स्वस्व-
निर्णयानुसारनियते न वास्तवे इत्याह—न तदस्तीति ॥ ४१ ॥
उक्तमर्थं निगमयन्नुपसंहरति—यद्यदिति । पदार्थजातं विषा-
मृतदशेव कालभेदाद्भोक्तृभेदात्सहकारिभेदाच्चानियतविपरीत-
व्यवस्थितार्थक्रियाभेदसंविदनुसारेणैव व्यवस्थितं दृष्टमित्यतो
हेतोः संविदविशेषं संविदनुसारे किञ्चिदपि वस्तु नास्तीति
यदुक्तं तत्रप्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-

मदशक्तिवदात्मेति सत्यतास्यापि युज्यते ॥ २ ॥
असत्त्वाद्दृश्यविधान्तेरलभ्यत्वान्महाचितेः ।
उपलब्धुरभावाच्च शून्यनास्तीव सत्यपि ॥ ३ ॥

तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अमरत्वप्रतिपादनं नाम
षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

वर्ण्यते सर्वशक्तित्वात्सर्वबाधुक्तिसत्यता ।

भोगासक्तिश्च सर्वेषां तत्त्वज्ञधिरलस्थितिः ॥ १ ॥

ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वात्सर्वबाधुक्तौनां सत्यतेति बक्ष्यमाणा-
र्थोपयोगितया 'न तदस्ति न यत्सत्यम्' इति सर्गापान्त्यश्लोकोक्तं
समर्थयितुं भूमिकां रचयति—संविन्मयत्वादिति । परमात्मनः
स्वप्नभूतस्य जगतः परमार्थसत्यब्रह्माकाशतया सर्वं ब्रह्मैवेति
सत्यमेव जगत्सर्वैरनुभूयत इति नासत्यं किञ्चिदस्तीत्युक्तमि-
त्यर्थः ॥ १ ॥ एवं ब्रह्मरूपेण सत्यत्वेऽपि कथं प्रतीयमानरू-
पेण सत्यता । न हि रज्जुरूपं सत्यमिति तदध्यस्तः सर्पः सत्यो
भवति तत्राह—भ्रमस्येति । तत्र हि सर्पोऽपि दृश्यो रज्जुरपि
दृश्या । उभयोर्दृश्यत्वे रज्जुदर्शने सर्पबाधादसत्यता, इह तु जग-
द्भ्रान्तिर्दृश्या तदधिष्ठानं महाचितिरदृश्येति वैषम्याच्चिदात्मा
मदशक्तिरिव स्वयमदृश्यो दृश्यभ्रमहेतुः कार्यरूपेणैव स्वसत्तां
प्रकटयतीत्यस्य जगद्रूपस्य सत्यता युज्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥
तर्हि न तदस्ति न यन्मृषेत्युक्तिः कथं घटतां ब्रह्मणो मृषात्वा-
योगात्तत्राह—असत्त्वादिति । बन्धकाले दृश्यविधान्तेः सर्व-
दृश्योपरमलक्षणमोक्षस्यासत्त्वादसंपत्तेस्तां विना महाचितेरद्वि-
तीयचिदात्मनः अलभ्यत्वान्मुक्तिकालेऽपि उपलब्धुः प्रमासु-
रन्तःकरणोपहितजीवस्योपलम्भकप्रमाणादेश्च बाधेनाभावाच्चा-
स्वन्ताप्रसिद्धप्रामतया सति परमार्थवस्तुन्यपि शून्यत्वमिव

चिन्मात्रं पुरुषोऽकर्ता समेत्यव्यक्तो जगत् ।
 एवंदृष्टेः सत्यमेतदेवमर्थानुभूतितः ॥ ४
 विधतो ब्रह्मणो दृश्यमित्येवंवादिनोऽपि सत् ।
 मतमेवंस्वरूपाणामर्थानामनुभूतितः ॥ ५
 परमाणुसमूहात्म जगदित्यपि सत्यतः ।
 संवेद्यते यथा यद्यत्तथैवानुभूतितः ॥ ६
 यथा दृष्टं तथैवेदमिह लोके परत्र च ।
 नासन्न सदिति प्रौढा सत्यमाध्यात्मिकी गतिः ॥ ७
 बाह्यमेवास्ति नास्त्यन्यदित्यन्ये सत्यवादिनः ।
 स्वात्मन्यक्षगणातीतं प्राप्नुवन्ति न ते यतः ॥ ८
 अनारतविपर्यासदर्शनात्क्षणमङ्गधीः ।
 युक्तैव तद्विदामाद्यं सर्वशक्ति हि तत्पदम् ॥ ९
 कलविङ्कघटन्यायो धर्म इत्यपि तद्विदाम् ।
 तथात्मसिद्धेर्भ्रंशानां तद्देशेषु न दुष्यति ॥ १०

सुवचमित्यर्थः ॥ ३ ॥ एवं सति सर्वेषां वादिनां वाक्यं स्व-
 खानुभवसिद्धार्थप्रतिपादनात्सत्यमेवेति प्रपञ्चयिष्यन् प्रथमं
 सांख्योक्तेः सत्यतां दर्शयति—चिन्मात्रमिति । इदं जगत् सुख-
 दुःखमोहात्मतया अन्वीयमानं तथाविधसामान्यपरम्परावि-
 भूतगुणत्रयसाम्यावस्थालक्षणादव्यक्ततः प्रधानाख्यान्मूलकार-
 णान्महदहंकारादिक्रमेण समेति आविर्भवति । पुरुषस्तु चि-
 न्मात्रमकर्ता च । तस्य भोगमोक्षसिद्धये सर्गः प्रवर्तते इत्येवं
 दृष्टिर्यस्य कपिलस्य तस्य तथैव तत्सत्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ यस्तु
 वेदान्ती ब्रह्मणो विधतो जगदिति वाची तस्यापि मतं सत् ।
 तथा पर्यालोचने एवंरूपाणामेवार्थानामनुभवादित्यर्थः ॥ ५ ॥
 एवं कणादगौतमसौत्रान्तिकवैशेषिकाईतानां परमाणुसमूहात्म-
 कमेव जगदिति कल्पनापि तदनुभवानुसारित्वात्सत्यैवेत्याह—
 परमाण्विति ॥ ६ ॥ एवं दृष्टसृष्टिवादिनामनिर्वचनीयमेवेह
 लोके परत्र च जगत् तु सदसदन्यतरकोटिप्रतिष्ठितमित्याध्या-
 त्मिकी मनःकल्पनामात्ररूपा जगतो गतिरवगतिरपि सत्यम् ।
 तैस्त्वथैवानुभवादित्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं ये अन्ये चार्वाका बाह्यं
 पृथिव्यादिभूतचतुष्टयमेवास्ति अन्यदान्तरमात्मरूपं नास्तीति
 वदन्ति तेऽपि सत्यवादिन एव । यतस्ते अक्षगणेभ्यश्चक्षुरादि-
 भ्योऽतीतं स्वात्मनि देहे विद्युन्तो न प्राप्नुवन्ति ॥ ८ ॥ एवं
 क्षणिकवादिनां क्षणभङ्गधीरपि युक्तैव । प्रतिक्षणपरिणामिनां
 सर्वभावानामनारतं विपर्यासदर्शनादित्यर्थः ॥ ९ ॥ यथा घटे-
 ऽवकृदः कलविङ्कस्तन्मुखापावरणे बहिरुद्गीय गच्छति एवं
 देहान्तःपरिच्छिन्नो धर्मो जीवः कर्मक्षये परलोके उद्गीय
 गच्छतीत्याहृतकल्पनापि सत्या । तथा भ्रंशानां यवनापीना-
 मीश्वरोत्पादितो देहाकार एव जीवो देहनिखननदेशेषु तिष्ठति
 स ततः कात्यान्तरे ईश्वरेण परासृष्टसदिच्छया मुच्यते उच्छि-
 यते । शाश्वतं स्वर्गं नरके वा निवेशयत इति कल्पनापि तदनु-
 भवानुसारादेव न दुष्यति ॥ १० ॥ एवं सर्वत्र समकुद्गीनां

समाः सन्तश्च विप्राग्निविषामृतमृतिष्वपि ।
 मान्त्येवं तद्विदां सर्वमिदं सर्वात्मकं यतः ॥ ११
 स्वभावसिद्धमेवेदं युक्तमित्येव तद्विदाम् ।
 अन्विष्टा याति नो प्राप्तिं बुद्धिमत्सर्वकर्तृता ॥ १२
 एकः सर्वत्र कर्तेति सत्यं तन्मयचेतसाम् ।
 सोऽयं निश्चयवान्सोऽत्र तदाप्नोतीत्यबाधितम् ॥ १३
 अयं लोकः परश्चास्ति ज्ञानाभ्यादि च नेतरत् ।
 एतदेतादृशं सत्यं विद्धि भाषितभावनम् ॥ १४
 अशेषं शून्यमेवेति बौद्धानामेतदेव सत् ।
 लभ्यते तद्विचारेण यत्र किञ्चन नैव हि ॥ १५
 चित्तिभिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
 आशु संपादयत्यन्तरात्मनात्मनि स्वात्मिका ॥ १६
 नेदं शून्यं न आशून्यमित्यवस्तु न तद्विदाम् ।
 सर्वशक्तिर्हि सा शक्तिर्न तद्विद्यत एव तत् ॥ १७

सन्मात्रवस्तुनि दत्तदृष्टीनां विषामृतमृतिजम्मादिषु विषमत्वेन
 कादाचित्कत्वेन च प्रसिद्धेष्वपि सर्वत्र समाः सदा सन्तश्च
 भान्ति । यत इदं ब्रह्मैव सर्वं सर्वात्मकं चातो न किञ्चिदत्र
 दुर्लभमिति सर्ववादिनामपि सर्वाभिलषितसिद्धिरित्यर्थः ॥ ११ ॥
 एवं स्वभावादेव स्वयमेव सर्वं जगदुत्पद्यते स्वभावादेव नश्यति
 न जगतः कर्ता कश्चिदस्तीति तद्विदां स्वभाववादिनां चार्वा-
 काणां मतमपि युक्तमेव । यतो घटपटादौ दृष्टापि बुद्धिमत्सर्व-
 कर्तृता दृष्टिवाततृणाङ्कुरादौ सम्यगन्विष्टापि प्राप्तिं नो याति ।
 न ह्यकालवृष्टिसुक्षेत्रतृणादयः कृषीबलानां सत्यकर्तृणामनिष्टा
 विनैव कर्तारं स्वभावादेव जायमानाः कर्तृकल्पनां ग्रहन्ते ।
 न हि सर्वानिष्टकर्ता कश्चिदस्ति, तस्य चाकालवृष्टिपरसुक्षेत्रतृणा-
 दिना प्रयोजनमस्तीति कल्पना संभवतीति भावः ॥ १२ ॥
 क्षित्याङ्कुरादौ सर्वत्र कार्यमात्रे एकः कर्ता इति यत्कल्पनं तदपि
 सत्यम् । तथा निश्चयवतामीश्वरोपासकानां तत्प्राप्तयन्तुप्रहवरदा-
 नाद्यर्थक्रियादर्शनादित्याह—एक इति । तन्मयं तदासक्तं
 चेतो येषाम् । सोऽयमुपासको यतस्तथा निश्चयवांस्ततः
 सोऽन्तस्तस्वोपास्यं सर्वकर्तारं प्राप्नोति । न ह्यसौ पूर्ववाचीव तं
 बाधितं मन्यते । अकालवृष्टिसुक्षेत्रतृणादीनामपि सर्वानिष्टत्वा-
 सिद्धेः सर्वकर्मफलप्रदस्येश्वरस्य दुष्कर्मफलानिष्टकर्तृत्वे दोषा-
 मावाचेति ॥ १३ ॥ आस्तिकानामयं लोक इव परोऽपि
 लोकोऽस्ति । अतः परलोकार्थिनां तीर्थस्नानाभिहोत्रादि इतरत्
 निष्फलं न । एतादृशं तेषामेतद्भावितभावनं सत्यमेव ॥ १४ ॥
 एतत्सद्भावनमपि सत्यमेव । यत्र शून्यवादे तत्प्रमाणशून्ये प्रमे-
 यशून्यलकल्पनसंभवादिति भावः ॥ १५ ॥ सर्ववादिनां स्व-
 स्वाभिलषितसिद्धायुपपत्तिमाह—चित्तिरिति ॥ १६ ॥ एवं
 शून्याशून्यविलक्षणानिर्वचनीयतृतीयविधावादिनामपि तत्स्वाभि-
 मतमवस्तवसत्यं च । यतः सर्वशक्तेर्ब्रह्मणः सा अनिर्वचनीया
 मावादाकिः । हि यस्मात्तच्छून्यं न । यद्विद्यते ब्रह्म तदेव च

तस्मात्स्वमिच्छये यस्मिन्त्यः स्थितः स तथा ततः ।
 अथर्षं फलमाप्नोति न चेद्वाल्याभिर्वर्तते ॥ १८
 विचार्य पण्डितैः सार्धं श्रेष्ठवस्तुभि धीमता ।
 स कठो निश्चयो प्राणो नेतरत्र यथा तथा ॥ १९
 संभवत्युत्तमप्रज्ञः शास्त्रतो व्यवहारतः ।
 यो यत्र नाम तत्रासौ पण्डितस्तं समाश्रयेत् ॥ २०
 सतां विषदमानानां सञ्ज्ञास्त्रव्यवहारिणाम् ।
 यः समाह्वात्कोऽनिन्द्यः स श्रेष्ठस्तं समाश्रयेत् ॥ २१
 सर्वे एषानिदां श्रेयो धावन्ति प्राणिनो बलात् ।
 परिमिद्धं पर्यासीव तद्विचार्य समाश्रयेत् ॥ २२
 कल्लोलैर्दृष्टमानानां नृणां संसारसागरे ।
 अज्ञाता दिवसा यान्ति तृणानामिव विन्द्वः ॥ २३
 श्रीराम उवाच ।
 जगत्पूर्वं लतेषापि विश्वान्ता वितते पदे ।
 पूर्वापरविचारेण के परमाश्रयदर्शिनः ॥ २४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 जातौ जातौ कतिपये व्यपदेश्या भवन्ति ते ।
 येषां यान्ति प्रकारेण दिवसा भास्वतामिव ॥ २५

न उभयविकल्पणेत्यर्थः ॥ १७ ॥ वास्यादविश्वासलक्षणात्प-
 ल्यदेतोः पूर्वनिश्चयान्न निवर्तते चेदित्यर्थः । अथवा वास्याद-
 ज्ञानाच्च निवर्तते चेत् । तथा च वाषदात्मज्ञानं नास्ति ताव-
 देव तत्तत्सिद्धान्ताः सत्याः । आत्मज्ञाने तु आत्मैव सत्यो
 नान्यदिति भावः ॥ १८ ॥ अत एवाविचाराद्यस्य कस्यचि-
 त्सिद्धान्तो न प्राण इत्याह—विचार्येति ॥ १९ ॥ पण्डितश्रे-
 ष्ठलक्षणमाह—संभवतीति द्वाभ्याम् । शास्त्रतः अभ्ययनतः ।
 व्यवहारतः आचरणतः । यत्र देशे । नामेति तस्य दौर्लभ्या-
 न्वेष्यत्वद्योतनाय ॥ २० ॥ अनिन्द्यो निन्दायोग्यनिविद्धा-
 चरणहीनः ॥ २१ ॥ तर्हि किं निश्चयान्तरनिष्ठा विफला एव,
 नेत्याह—सर्वे एवेति । श्रेयः स्वस्वनिश्चयानुरूपमभिलषितम् ।
 भावन्ति प्राप्नुवन्ति । तत्रेषु परमपुरुषार्थसाधनं किं स्यादिति
 विचार्य सञ्ज्ञासङ्घट्टरू एव समाश्रयेत् ॥ २२ ॥ तौ च शीघ्रं
 समाश्रयेष्व विलम्बेन, आयुषि विश्वासायोगादित्याशयेनाह—
 कल्लोलैरिति । कल्लोलैर्मनोरथपरम्परातरङ्गैः । अज्ञाता अल-
 क्षिताः तृणानामप्रे लम्बा विन्द्व इव ॥ २३ ॥ भोगतृष्णा-
 प्राबल्यात्तद्विरक्त मुमुक्षव एव दुर्लभास्तेष्वपि परमात्मतत्त्व-
 साक्षात्कारवन्तस्त्वपुच्छलक्षणाः पण्डितश्रेष्ठा अतिदुर्लभा इत्य-
 मुमेवार्थं विस्तरेण श्रोतुकामो रामः पृच्छति—जगदिति ।
 वितते पदे ब्रह्माकाशे जगद्विदुषसहस्रवितानबालप्रसारपूर्वक-
 मतिविस्तारेण विश्वान्ता प्राणिनां भोगतृष्णैति शेषः । एवं
 सति पूर्वापरजगत्स्वरूपानर्थविचारेण सारासारविचारेण च
 भावः परमार्थस्वदर्शिनः परास्त्वदुक्तश्रेष्ठपण्डिताः के वा स्युः ।
 ते अतिदुर्लभा इत्यर्थः ॥ २४ ॥ सत्यमतिदुर्लभास्त्रयापि
 देवाभ्युत्पन्नगन्धर्वादिजातिभेदेषु ते सन्त्येवेति प्रयत्नेनान्वेष्या

अधश्चोर्ध्वं च धावन्तश्चकार्बर्तविवर्तनैः ।
 सर्वे तृणवदुद्यन्ते मूढा मोहमहाम्बुधौ ॥ २६
 नष्टात्मस्थितयो भोगवद्विषु प्रज्वलन्त्यलम् ।
 देवा दिवि दवेनाद्रौ दृष्टमाना दुमा इव ॥ २७
 पातिता मदसंपन्ना दानवा दानधारिभिः ।
 गजा इव निरालाना घोरे नारायणावटे ॥ २८
 न गन्धमपि गन्धर्वा दर्शयन्ति विवेकजम् ।
 गीतपीतपरामर्शाः सरन्ति हरिणा इव ॥ २९
 विद्याधराश्च विद्यानामाधारत्वेन मोहिताः ।
 स्फुरितानामुदाराणामपि कुर्वन्ति नादरम् ॥ ३०
 यक्षा विशोभितभुवो दक्षतामक्षता इव ।
 दर्शयन्त्यसहायेषु बालवृद्धातुरेषु च ॥ ३१
 दन्तिनामिव मत्सानां रंहसा हरिणारिणा ।
 कृतः करिष्यसि त्वं च राक्षसानां परिक्षयम् ॥ ३२
 भृशं पिशाचाः पश्यन्ति भूतभोजनचिन्तया ।
 धूमान्धकारानिलया ज्वालयाहुतयो यथा ॥ ३३
 नागजालसृणालानि मग्नानि धरणीतले ।
 नगानामिव मूलानि जडानीव स्थितान्यलम् ॥ ३४

इति वसिष्ठ उत्तरमाह—जातौ जाताविति । 'तथो
 यो देवानां प्रत्यनुच्यत स एव तदभवत्तथर्षाणां तथा मनुष्या-
 णाम्' इत्यादिश्रुतिव्यपदेश्या भवन्ति संभवन्त्येव ॥ २५ ॥
 अन्ये तु सर्वे मूढा मोहमहाम्बुधौ भोगतृष्णाकल्लोलैस्तृणवदु-
 द्यन्ते ॥ २६ ॥ तदेव देवादिजातिभेदेषु प्रपञ्चयति—नष्टा-
 त्मस्थितय इत्यादिना । दवेन वनहुताशनेन ॥ २७ ॥ दान-
 धारिभिर्देवैर्नारायणलक्षणे अवटे महागते पातिताः ॥ २८ ॥
 गन्धं लेषामपि । गीतलक्षणं यत्पीतं मदिरा तद्व्यात्परैररिषुर्गैः
 परामृश्यन्त इति परामर्शा हरिणा इव मृत्युव्याघसंनिधिं सरन्ति
 गच्छन्ति ॥ २९ ॥ ब्रह्मविद्याया अपि विद्यात्वात्तद्योग्यता-
 वलेन स्फुरितानामप्युदाराणां विवेकानामादरं न कुर्वन्ति ।
 भोगसाधनविद्यास्त्रेव रमन्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥ भयज्वरोन्मा-
 दादिदोषोत्पादनेन विशोभिता भूर्जनावासो यैः । स्वयमक्षता
 इव स्वदेहं स्थिरं मन्यमाना इति यावत् । असहायेष्वेकाकिषु
 मणिमन्त्रादिबलान्येषु च बालादिषु स्वदक्षतां दर्शयन्ति
 ॥ ३१ ॥ राक्षसानां तु कामबलशौर्यादिना दन्तिभन्मत्सानाम-
 रिणा शत्रुभूतेन हरिणा सिंहभूतेन विष्णुना प्राणबहुतः परि-
 क्षयः कृतः अप्रे च त्वं करिष्यसीति तत्प्रमादफलं तेषां प्रत्यक्ष-
 मेवेत्याह—दन्तिनामिति ॥ ३२ ॥ पिशाचानां तु सदा
 शुधातुरत्वात्प्राणिवधभोजनचिन्तैव सदेति न कदाचिदपि
 विवेकप्रसक्तिरित्याह—पिशाचा इति । अज्ञानधूमान्धकार-
 णानिलवत्कोषादिज्वालालासंपादिकया भूतभोजनचि-
 न्तया । यथा अमौ पतिता भाहुतयः सदैव सधूमज्वालया
 दंष्ट्रमानं स्वं पश्यन्ति तथा पिशाचा अपीत्यर्थः ॥ ३३ ॥
 एवं नागजातावपि विवेको दुर्लभ इत्याह—नागजालेति ।

विश्वं शरणं येषां कीटानामिव भूतले ।
 तेषामसुरबालानां विवेकेषु कथैव का ॥ ३५
 अल्पमात्रकरणार्थेन संचरन्ति दिवानिशम् ।
 विपीलिकासधर्माणः प्रायेण पुरुषा अपि ॥ ३६
 सर्वासां भूतजातीनां व्यग्राणां व्यर्षदीर्घया ।
 क्षीबाणामिव गच्छन्ति दिवसानि दुरीहया ॥ ३७
 न कंचित्संस्पृशत्यन्तर्विवेको विमलो जनम् ।
 जलेऽगाधं निपतितं निमज्जन्तं रजो यथा ॥ ३८
 नीयन्ते नियमाधृता मानवा मानवायुभिः ।
 काम्पिकैः स्फुटतापृताः किरारुनिकरा इव ॥ ३९
 पानभोजनजम्बाले गहने योगिनीगणाः ।
 दुर्गन्धपल्वलोद्गारे पतिताः पामरा इव ॥ ४०
 केवलं यमचन्द्रेन्द्रद्रार्कधरुणानिलाः ।
 जीवन्मुक्ता हरिब्रह्मगुरुशुकानलादयः ॥ ४१

इत्यर्थे श्रीवासिष्ठसंहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० विवेकिविरलवर्णनं नाम सप्तमवतितमः सर्गः ॥९७॥

प्रजापतीनां सप्तविंशत्याः कश्यपादयः ।
 नारदाद्याः कुमाराद्याः सप्तकाद्याः सुरात्मजाः ॥ ४२
 दानवानां हिरण्याक्षबलिप्रह्लादशम्बराः ।
 मयवृत्रान्धनमुचिकेशिपुत्रमुरादयः ॥ ४३
 विभीषणाद्या रक्षस्तु प्रहस्तेन्द्रजिवादयः ।
 शेषतक्षककर्कोटमहापद्मादयोऽहिषु ॥ ४४
 ब्रह्मविष्ण्वन्द्रलोकेषु वास्तव्या मुकदेहिनिः ।
 मुकस्रभावास्तुषिताः सिद्धाः साध्याश्च केचन ॥ ४५
 मानुषेषु च राजानो मुनयो ब्राह्मणोत्तमाः ।
 जीवन्मुक्ताः संभवन्ति विरलास्तु रघूद्वह ॥ ४६
 भूतानि सन्ति सकलानि बहूनि दिक्षु
 बोधान्वितामि विरलानि भवन्ति किंतु ।
 वृक्षा भवन्ति फलपल्लवजालयुक्ताः
 कल्पवृक्षास्तु विरलाः जलु संभवन्ति ॥ ४७

अष्टमवतितमः सर्गः ९८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

विवेकिनो विरक्ता ये विश्रान्ता ये परे पदे ।
 तेषां तनुत्वमायान्ति लोभमोहादयोऽरथः ॥ १
 न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति नाविशन्त्याहरन्ति च ।
 उद्विजन्तेऽपि नो लोकाल्लोकान्मोहेजयन्ति च ॥ २
 न नास्तिक्यास्तु चास्तिक्यात्कष्टानुष्ठानवैदिकाः ।
 मनोश्चमधुराचाराः प्रियपेशलधादिनः ॥ ३

धरणीतले पाताले । नगानां वृक्षाणां मूलानीव जडान्यचेतना-
 नीव विवेकहीनानि स्थितानि ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ एवं बलवीर्य-
 प्रभावादिसंपन्नानां देवाद्यसुरान्तानां विवेकदौर्लभ्ये अन्येषां
 तर्कि वाच्यमित्याशयेनाह—अल्पमात्रेत्यादि । पुरुषा मनुष्याः
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ यथा जले निमज्जन्तं रजः शुष्कपांसुर्न
 स्पृशति तद्वत् ॥ ३८ ॥ मानो देहाद्यभिमानस्तलक्षणैर्वायुभिः
 अक्रोधादिनियमेभ्य आधृताश्चालिताः क्रोधादिवश्यतां नीयन्ते ।
 यथा काम्पिकैः शूर्पकम्पकर्तृभिः कृषीबलेर्धानास्फुटतासिद्ध्यर्थं
 खलेषु पृता उद्गायिताः किरारुनिकरा निःसारधान्याभासस-
 मूहा वायुनिर्मायन्ते तद्वदित्यर्थः ॥ ३९ ॥ सुराक्षिरपानमा-
 सादिभोजनलक्षणो जम्बालः पद्मो यस्मिन्स्थाविधे तामसधर्म-
 फलभोगासक्तिलक्षणदुर्गन्धपल्वलोद्गारे पतिताः । अविवेकेने-
 त्यर्थः ॥ ४० ॥ एवं देवादिजातिषु विवेकज्ञानदौर्लभ्यं प्रपश्य
 तेषु ये प्रबुद्धास्तान्परिगणितानिव कतिपयान्दर्शयति—केवल-
 मित्यादिना ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ अहिषु नागेषु ॥ ४४ ॥
 वसन्तीति वास्तव्याः । मुकदेहिनो जीवन्मुक्ताः । तुषितादयो
 देवशोनिमेदाः । केचन न तु सर्वे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ सर्व-

सङ्गादाहादयस्त्यन्तः शशाङ्ककिरणा इव ।
 विवेक्षितारः कार्याणां निर्णेतारः क्षणादपि ॥ ४
 अनुद्वेगकराचारा बान्धवा नागरा इव ।
 बहिः सर्वसमाचार्य अन्तः सर्वाधर्शीतलाः ॥ ५
 शास्त्रार्थरसिकास्तज्ज्ञा ज्ञातलोकपराचराः ।
 हेयोपादेयवेषारो यथाप्राप्ताभिपातिनः ॥ ६
 विरुद्धकार्यविरता रसिकाः सज्जनस्थितौ ।
 अनावरणसौगन्ध्यैः परास्पदसुखाशयैः ॥ ७

जातिष्वपि जीवन्मुक्ताः सन्ति किंतु ते विरला इत्येतद्दृष्टन्तेनो-
 पपादयति—भूतानीति । स्पष्टम् ॥ ४७ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
 हारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विवेकिविरलव-
 र्णनं नाम सप्तमवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

लक्षणान्युपवर्णयन्ते सतां तत्त्वविदासिद्ध ।

परीक्ष्योपेक्ष्य तद्दोषान् कर्तव्यञ्च तदाचरन् ॥ १ ॥

तनुत्वमल्पताम् । तथाच लोभादिदोषारूपतापि तादृशं
 चेन्निर्यत्त्वं किं वाच्यमिति भावः ॥ १ ॥ नाविशन्ति क्वापि
 विषये नाभिविशन्ते । एवं नाहरन्ति न संवृहन्ति भोग-
 जातम् ॥ २ ॥ एवं पारलौकिककर्मस्यपि नात्यन्तकायक्रेसाव-
 हेषु शुष्कवैदिकवदतिरिक्त्यन्तीत्याह—मैति । अस्ति परलोक
 इति मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्ति स इति मतिर्यस्य स
 नास्तिकः, तदन्यतरभाषामिमानप्रयुक्ताद्विदित्यर्थः ॥ ३ ॥ क-
 र्याणां कर्तुमुचितानां लौकिकवैदिककर्मणां परस्परविरोधाद्बु-
 द्धानसंकटे अकार्येभ्यो विवेचयितारः संदेहनिर्णेतारः ॥ ४ ॥
 नागराश्चतुराः । सर्वैः समः साधारण आचारो येषाम् ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥ सज्जनस्थितौ सदाचारे । अनावरणमुपदेशेन हृदयकोशो-

पूजयन्त्यागतं फुल्लं भृङ्गं पद्मा इवार्थिनम् ।
 आवर्जयन्ति जनतां जनतापापहारिणः ॥ ८ ॥
 शीतलास्पदवत्स्निग्धाः श्लक्ष्णीव पयोधराः ।
 भृष्टङ्गकरं धीरा देशभङ्गमाकुलम् ॥ ९ ॥
 रोधयन्त्यागतं क्षोभं भूकम्पमिव पर्वताः ।
 उत्साहयन्ति विपदि सुखयन्ति च संपदि ॥ १० ॥
 चन्द्रबिम्बोपमाकारा दारा इव गुणाकराः ।
 ज्ञानःपुष्पामलदिशो भाविसत्फलहेतवः ॥ ११ ॥
 पुंस्कोकिलसमालापा माधवा इव साधवः ।
 कल्लोलयद्गुलावर्तं व्यामोहमकरालयम् ॥ १२ ॥
 लुठन्तमिव हेमन्तं लोडयन्तं जनास्पदम् ।
 धीमिद्विक्षोभचपलं परचित्तमहार्णवम् ॥ १३ ॥
 तच्च रोधयितुं शक्तास्तदस्थाः साधुपर्वताः ।
 आपत्सु बुद्धिनाशेषु कल्लोलेष्वाकुलेषु च ॥ १४ ॥
 संकटेषु दुरन्तेषु सन्त एव गतिः सताम् ।
 एभिर्द्विद्वैरथान्यैश्च ज्ञात्वा तानुचिताशयान् ॥ १५ ॥
 आश्रयेतैकविधानस्यै भ्रान्तः संसारवर्त्मना ।
 यस्मादत्यन्तविषमः संसारोरगसागरः ॥ १६ ॥
 धिना सत्सङ्गमन्येन पौतकेन न तीर्यते ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० सज्जनसमागमप्रशंसा नामाष्टमवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

आस्तां किं मे विचारेण यद्भवेदस्तु तन्मम ॥ १७ ॥
 इत्यन्तः कल्पांसासाद्य न स्थेयं गर्तकीटवत् ।
 एकोऽपि विद्यते यस्य गुणस्तं सर्वमुत्सृजन् ॥ १८ ॥
 अनाहतान्यतदोषं तावन्मात्रं समाश्रयेत् ।
 गुणान्दोषांश्च विहातुमावात्यात्स्वप्रयत्नतः ॥ १९ ॥
 यथासंभवसत्सङ्गशास्त्रैः प्राग्निधयमेधयेत् ।
 दोषलेशमनाहत्य नित्यं सेवेत सज्जनम् ॥ २० ॥
 स्थूलदोषं त्वनिर्वाणं शनैः परिहरेत्क्रमात् ।
 याति रम्यमरम्यत्वं स्थिरमस्थिरतामपि ॥ २१ ॥
 यथा दृष्टं तथा मन्ये याति साधुरसाधुताम् ।
 पप सोऽत्यन्त उत्पातो यः साधुर्याति दुष्टताम् ॥ २२ ॥
 देशकालवशात्पापैर्महोत्पातोऽपि दृश्यते ।
 सर्वकर्माणि संत्यज्य कुर्यात्सज्जनसंगमम् ।
 एतत्कर्म निराबाधं लोकद्वितयसाधनम् ॥ २३ ॥
 न सज्जनादूरतरः क्वचिद्भवे-
 द्भजेत साधुन्विनयक्रियान्वितः ।
 स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपं
 विसारिणस्तद्गतपुष्परेणवः ॥ २४ ॥

द्वानं तत्प्रयुक्तैर्ज्ञानोदयसौगन्धैः परैः आस्पदैः आश्रयदानैः
 सुखैरघनैरक्षैश्च आगतमर्थिनं पूजयन्तीति परेणान्वयः ॥ ७ ॥
 पद्मपद्मे अनावरणेत्यादि स्पष्टम् । आवर्जयन्ति गुणैर्वशीकुर्वन्ति
 ॥ ८ ॥ शीतलमास्पदमुयानादि तद्वत्स्निग्धाः । भृष्टतां राज्ञां
 भङ्गकरं देशभङ्गदं च आकुलं दुर्भिक्षमारीपरचक्रादिप्रयुक्तं
 जनक्षोभं तपःप्रभावसत्कर्मानुष्ठापनसामाधुपायैः रोधयन्ति
 विष्टभ्य निवारयन्तीति परेणान्वयः ॥ ९ ॥ १० ॥ रूपमाधु-
 र्यप्रेमादिगुणाकरा दाराः पतिप्रता इव । यद्य इत्यादिविशेषणः
 साधून् वसन्तत्वेनोत्प्रेक्षते ॥ ११ ॥ माधवा वसन्ताः । कल्लो-
 लेत्यादीनि परचित्तमहार्णवविशेषणानि ॥ १२ ॥ पद्मकरेषु
 अतिशिथिलतरपवनविक्षिप्ततरङ्गच्छलेन लुठन्तं हेमन्तमिव
 जनास्पदं जनपदं भृङ्गहंसादिजनास्पदं पद्मवनं च लोडयन्तम् ।
 वीचयः बहुमयस्तद्विक्षोभैश्चपलं तत्प्रसिद्धलोभद्वेषादिमोहितम् ।
 कोऽप्यर्थे । इदंशमपि परेषां राजादीनां चित्तमहार्णवं सामदा-
 न्नादिना विवेकोपदेशे च रोधयितुं शक्ताः ॥ १३ ॥ तदस्था
 उदासीना वेलासन्नहिताश्च । साधुपर्वता इति रूपकं नोपमि-
 तसमासः । सामान्यधर्माणां प्रयोगात् । अत एव सतां विवे-
 किनामापदादिषु प्राप्तेषु सन्त एव गतिः । कल्लोलेषु अक्षानाया-
 पिपासाशोकमोहजरासृत्तुलक्षणषड्भिर्मिषु आकुलेषु देशविव-
 रादिषु च ॥ १४ ॥ एभिर्द्विदानीमुक्तैः । अथशब्दचशब्दौ
 समुच्चये । अन्यैः प्रागुक्तैश्च ॥ १५ ॥ एकस्मिन्नद्वये ब्रह्मणि
 विश्रान्त्यै । उरगनीषणः सागर उरगसागरः ॥ १६ ॥ १७ ॥
 कल्कं प्रमादम् । उक्तगुणानां मध्ये एकोऽपि गुणो यस्य

विद्यते तमपि तावन्मात्रमुद्दिश्य सर्वं कार्यान्तरमुत्सृजन्सन् अना-
 हतान्यतदोषं यथा स्यात्तथा आश्रयेदिति परेणान्वयः ॥ १८ ॥
 १९ ॥ २० ॥ स्थूला दोषा यस्य तथाविधं त्वनिर्वाणं पूर्वपरिजनं
 शनैः परिहरेत्यजेत् । तदपरिहारे के दोषास्तानाह—यातीति ।
 रम्यं शोधितमपि चित्तमरम्यत्वं रागादिकलुषतां याति । स्थिर-
 मपि विश्रान्तिसुखं विच्छेदादस्थिरतां याति ॥ २१ ॥ कुत एत-
 न्मन्यसे इति चेन्नोके तथैव दर्शनादित्याह—यथेति । अस्त्वेवं
 ततोऽपि को दोषस्तत्राह—एष इति । उत्पातो जगदनिष्टसू-
 चकः ॥ २२ ॥ पापैर्जनानां दुरदृष्टैः दृश्यते । यथा विश्वामित्रस्य
 लुब्धामात्यादिष्वह्राद्वसिष्ठकामधेनुहरणे प्रवृत्तिस्तथा च परस्पर-
 वैरवृत्त्या बहुतरमासीत्कयुद्धान्तं जगदनिष्टम् । एवं कश्यपविश्रवः-
 प्रवृत्तीनां भार्यासंगत्या जगदनिष्टनिमित्तदैत्यराक्षसाद्युत्पादने प्रवृ-
 त्तिरपि देशकालवशाद्भूमकेत्वादिप्रसिद्धमहोत्पातवद्दृश्यत इत्यर्थः ।
 उक्तमनूषोपसंहरति—सर्वेति ॥ २३ ॥ स च सज्जनसमागमो
 गुणार्जनकमेण ज्ञानप्रतिष्ठासिद्धिपर्यन्तं न विच्छेदनीय इत्याह—
 नेति । क्वचिदपि काले सज्जनादुर्दूरतरो न भवेत् । विनय-
 सेवादिक्रियान्वितः सन् सदैव भजेत । किं तद्व्यक्तम्—स्पृ-
 शन्तीति । तेषां साधूनां समीपगमेनं अयत्नेनैव विसारिणोषां
 शान्तिदान्यादिगुणलक्षणाः पुष्परेणवः सौगन्धमिश्रैश्च अधि-
 वासनमिश्रीकृततिलानिव स्पृशन्ति । अवश्यं संसर्गसंतीत्यर्थः
 ॥ २४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वा-
 णप्रकरणे उत्तरार्धे सज्जनसमागमप्रशंसा नामाष्टमवतितमः
 सर्गः ॥ ९८ ॥

नवनवतितमः सर्गः ९९

श्रीराम उवाच ।

सन्ति दुःखक्षयेऽस्माकं शास्त्रसत्सङ्गयुक्तयः ।
मन्मौषधितपोदानतीर्थपुण्याभ्रमाभयाः ॥ १
कृमिकीटपतङ्गाद्यास्तिर्यक्स्थावरजातयः ।
कथं स्थिताः किमारम्भास्तेषां दुःखक्षयः कथम् ॥ २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सर्वाण्येवेह भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
आत्मोचितायां सत्तायां विश्रान्तानि स्थितान्यलम् ॥ ३
भूतानामणुमानाणामप्यस्माकमिवैषणाः ।
किंत्वल्पास्था वयं विघ्नास्तेषां त्वचलसंनिभाः ॥ ४
यथा विराट् प्रयतते बालखिल्यास्तथैव खे ।
बालमुष्ट्यल्पकायेऽपि पश्याहंकृतिजृम्भितम् ॥ ५
जायन्ते च क्षियन्ते च निराधारेऽम्बरे खगाः ।
शून्यैकविषयास्तेषां स्वास्थ्यं न भवति क्षणम् ॥ ६
पिपीलिकायाश्चेष्टाभिर्ग्रासावासात्मबन्धुभिः ।
अस्मद्विवसकल्पोऽपि न पर्याप्तः क्षणो यथा ॥ ७
असरेणुप्रमाणात्मा कृम्यणुस्तिमिनामकः ।

कृमिकीटपतङ्गानां तिर्यक्स्थावरजन्मनाम् ।

संसारे यादृशो भोगस्तत्सर्वमिह वक्ष्यते ॥ १ ॥

कृमिकीटपतङ्गादीनामतिमूढजन्तूनां तात्कालिकदुःखोपशमो-
पायाभावे जीवनमेव दुर्लभम् । उपायं च ते ज्ञातुं न शक्नु-
वन्ति । तथा सति कथं जीवन्तीति तेषां संसरणस्थितिं जाति-
प्रसङ्गाजिज्ञासमानो रामः पृच्छति—सन्तीत्यादिना । अस्माकं
मनुष्यजातीनामैहिकामुष्मिकदुःखक्षये शास्त्रादय उपायाः
सन्ति । ये कृम्यादयस्तेषां दुःखक्षयः कथं केनोपायेन,
तदभावे च ते कथं स्थिता जीवन्तीत्यन्वयः ॥ १ ॥ २ ॥
आत्मोचितायां तत्तद्योग्यभोगोचितायां सुखसत्तायाम् । तथा च
तत्तद्योनिभोगविषयसुखलव एव तेषां महान्पुरुषार्थ इव भाति ।
तावन्मात्रेण विश्रान्तास्तदाशयैव बहुतरदुःखान्यपि सहमाना
जीवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥ एषणाः स्वस्वयोन्युचितसुखभोगेच्छाः
सन्तीति शेषः । किंतु वयं तेषु भोगेष्वल्पास्था अल्पविघ्नाश्च ।
तेषां तु मोहकामादिदोषप्राबल्याद्विवेकाभावाच्च बद्धी आस्था ।
अचलसंनिभाः महान्तो बहवश्च विघ्नाः ॥ ४ ॥ भोगेषु
बद्धास्था इति कुतो ज्ञायते इति चेत्प्रयत्नाधिक्यलिङ्गादित्याशये-
नाह—यद्येति । विराट् ब्रह्माण्डशरीरो जीनो यथा स्वाधिकार-
निर्वाहचेष्टाभिः स्वभोगाय प्रयतते तथा बालानां केशानां
खिलैरप्रधानैः संमितदेहाः कृमिकीटमक्षकमत्कुणादयोपि तथैव
बालमुष्टिच्छिद्रापेक्षया अल्पकायेऽपि खे स्वावकाशे प्रयतन्ते
॥ ५ ॥ खगाः प्राणुक्ता आकाशपक्षिणः । स्वास्थ्यं स्वैर्यम् । प्रय-
त्नविच्छिन्निरिति यावत् ॥ ६ ॥ पिपीलिकादीनां कणावर्जनप्रय-
त्नबाहुल्यदर्शनादपि तेषां भोगास्थाबाहुल्यमनुमीयत इत्या-
यो० वा० १६३

गमने व्यग्रता तस्य गच्छत्येव लक्ष्यते ॥ ८
अयं सोहमिदं तन्म इत्याकल्पितकल्पनम् ।
जगद्यथा नृणां स्फारं तथैवोद्योगुणैः क्रमेः ॥ ९
देशकालक्रियाद्रव्यव्यग्रया जर्जरीकृतम् ।
क्षीयते व्रणकीटानामस्माकमिव जीवितम् ॥ १०
पादपाः किञ्चिदुभिद्रा घननिद्राः खलूपलाः ।
कृमिकीटादयः कार्ये नरवत्स्वप्नबोधिनः ॥ ११
शरीरनाश पवैषां सुखं संप्रति दुःखकृत् ।
अस्माकमिव तेषां तज्जीवितं तु सुखायते ॥ १२
जनो द्वीपान्तरं याद्विचिकीतः परिपश्यति ।
पदार्थजालं पश्यन्ति तादृक्पशुमृगादयः ॥ १३
अस्माकमिव संसारस्तिरभ्यां सुखदुःखदः ।
पदार्थप्रविभागेन केवलं ते विवर्जिताः ॥ १४
हृदयात्सुखदुःखाभ्यां नासातो रशनागुणैः ।
पशवः परिकृष्यन्ते विक्रीताः पामरा अपि ॥ १५
सुप्तानां यादृगस्माकं वेदनं स्पष्टसुत्वचाम् ।
वृक्षगुल्माङ्कुरादीनां तादृगुहामवेदनम् ॥ १६

शयेनाह—पिपीलिकाया इति । प्रासावासपदाभ्यां तत्संपादन-
प्रयत्ना लक्ष्यन्ते । आत्मबन्धुपदेन च कुटुम्बपोषणप्रयत्नः ।
अस्मद्विवसकल्पोऽपि शीर्षः कालत्वासां कणार्जनादिप्रयत्ने क्षण-
वन्न पर्याप्तो नालमित्यर्थः ॥ ७ ॥ तिमिनामकः कृम्यणुरणु-
तमः कृमिरस्ति ॥ ८ ॥ देहे तद्भोग्येषु चाहंममतालक्षणा-
भ्यासश्च नृणां क्रमेण समान इत्याह—अयमिति । उद्योगुणै-
र्गुणातिशयैः स्फारं बाहुतरास्थायोग्यं तथैव क्रमेरपि ॥ ९ ॥
विषयास्थया व्यर्थमायुषः क्षयोऽपि कीटादीनामस्माकं च समान
इत्याह—देशेति ॥ १० ॥ किञ्चिदुभिद्रा ईषज्जागरुकाः ।
कार्ये स्वस्वोचितविषयभोगे स्वप्नश्च बोधो जागरश्च येषां स्त
इति स्वप्नबोधिनः ॥ ११ ॥ एषां कृमिकीटस्थावराणां संप्रति
शरीरकाले सुखं स्थितानामस्माकमिव शरीरनाश एव दुःख-
कृत् । तज्जीवनं शरीरे प्राणावस्थानम् ॥ १२ ॥ अस्मद्भोग्य-
गृहप्रासादघनरत्नादिकं ते कथं पश्यन्ति तदाह—जन इति ।
स्वामोग्यं पदार्थजालमुदासीनतया संमुग्धदृशा पश्यन्तीत्यर्थः
॥ १३ ॥ पदार्थानामुत्कर्षापकर्षादिबुद्धिहेतुना गुणक्रियोपयोगादि-
प्रविभागेन ॥ १४ ॥ विक्रीतजनसाम्यं पशुनामुपपाद्यति—
हृदयादिति । पशवो हि बलीवर्दादयो नाशहरयो हृदयान्मनसः
सकृशादन्तः सुखदुःखाभ्यां परिकृष्यन्ते । नासातो नासिका-
प्रदेशाच्च नाथेन रशनागुणैर्बहिः परिकृष्यन्ते । एवमुभयतः परा-
धीनतया कृम्यमाणा अपि किञ्चिदपि सुखदुःखं परिहर्तुं निवेद-
यितुं वा न शक्नुवन्ति तथा द्वीपान्तरे विक्रीताः पामरा अपीति
तयोः साम्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥ वृक्षादीनां सुखदुःखानुभवप्रकार-
मप्यस्मदनुभवानुकृत्येनोपपाद्यति—सुप्तानामिति । स्पष्ट-

यादृगस्माकमीत्यर्थकमसंसारपातिनाम् ।
 पदार्थवेदनं तादृकितरश्चां भ्रान्तमभ्रमम् ॥ १७
 आह्लादमात्रे सौम्यत्वं सुखतश्चेन्द्रकीटयोः ।
 समं विकल्पविन्मुक्तं विकल्पस्त्वनतिक्रमः ॥ १८
 रागद्वेषभयाहारमैथुनोत्थं सुखासुखम् ।
 तिरश्चां जन्ममृत्यादिखेदः कश्चिन्न भिद्यते ॥ १९
 ऋते पदार्थभूतार्थभविष्यद्भस्तुबोधतः ।
 शेषं बभ्रुहिगोमायुगजादीनां नृभिः समम् ॥ २०
 निद्रामयानां वृक्षाणां स्वसत्तामचलादयः ।
 स्थिता अनुभवन्तोऽन्ये चिदाकाशमखण्डितम् ॥ २१
 आपीननिद्रा वृक्षाद्याः स्वसत्तास्थास्तथाद्रयः ।
 जङ्गमानि चिदाकाशं नाम किञ्चित्कदाचन ॥ २२
 भ्रखण्डचित्ता शैलादिसत्ता निद्रा च भ्रूहाम् ।
 द्वैतोपलम्भमुक्तत्वात्स्वमेवैकमतो जगत् ॥ २३
 परिज्ञातं जगदाद्यदपरिज्ञानसंयुतम् ।
 न त्वं नाहं न चैवास्तिनास्ती न च भविष्यति ॥ २४
 यथास्थितं सर्वैवेदं मौनमेव शिलाघनम् ।

सुत्वाचां सुकुमारत्वाचां सुप्तानां निद्रापरवशचेतसामस्माकं बहुतर-
 रशीतोष्णमसकमत्कुणादिभिर्बाध्यमानानामसुखनिद्रायां यादृक्
 उद्वामं दुःखवेदनं तादृगित्यर्थः । अङ्कुरग्रहणं सौकुमार्यात्तत्र
 कृमिकीटादिदंशने दुःखातिशयद्योतनार्थम् ॥ १६ ॥ तिरश्चां
 पदार्थप्रविभागेन विवर्जितं वेदनं यदुक्तं तदप्युपपादनेनानुभव-
 मारोहयति—यादृगिति । ईतिदंशकोभपलायनेन धावनादि-
 गतिस्तदर्थे कुशकण्टकतप्तबालकाकमणभारोद्ग्रहनादिक्रमसंसारे
 पतनशीलानामस्माकं यादृशं सर्वतो भयाशङ्कि पदार्थवेदनं तादृक्
 पक्षिसर्पादितिरश्चामपि सदेत्यर्थः ॥ १७ ॥ विकल्पविद्भिर्विक्षे-
 पानुभवैर्मुक्तं चेत् आह्लादमात्रे सामान्यभूते स्वरूपानन्दे सु-
 खतः आहारनिद्रामैथुनादिसुखेषु च इन्द्रस्य कीटस्य च सौ-
 म्यत्वं मनःप्रसादलक्षणं समम् । विकल्पो विक्षेप एव तु द्वयो-
 रप्यनतिक्रमो दुरतिक्रम इत्यर्थः ॥ १८ ॥ तिरश्चां इन्द्रस्य
 चेति शेषः । न भिद्यते न विविष्यते ॥ १९ ॥ पदार्थाः
 शास्त्रगम्याः पुण्यपापब्रह्मतत्त्वादयः । भूतार्था अतीतपदार्थाः
 भविष्यद्भस्तुनि भाविकृषिकलादिपदार्थाः एतेषां बोधतः ऋते
 एतद्बोधान्निहाय शेषं ज्ञानं बभ्रुर्नकुलः अहिः सर्पः गोमायुः
 शृगालः गजादिषु ये पशवस्तेषां सर्वेषां नृभिः समं तुल्यमि-
 त्यर्थः ॥ २० ॥ पर्वताद्यस्तर्हि कथमनुभवन्ति तत्राह—नि-
 द्रेति । निद्राप्रचुराणां सुषुप्तिस्थानां वृक्षाणां या वातमूढतया
 स्वसत्ता तां अचलाः पाषाणादयोऽनुभवन्तः स्थिताः, अन्ये हिम-
 वन्मेर्वाद्यस्तरवपर्वतास्त्वखण्डितं चिदाकाशमनुभवन्तः सदा
 समाधौ स्थिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥ इत्थं च न वृक्षादिजीव-
 दशा जगत्कल्पना । तेषामपीननिद्रात् । नाप्यग्रादिजीव-

अनाद्यन्तमविच्छिद्रमनिद्रं च सनिद्रकम् ॥ २५
 पूर्वं सर्गाद्यथैवासीत्तथैवैकं समस्थितम् ।
 भविष्यत्यधुनानन्तकालमेवं तथैव च ॥ २६
 नैवात्मता न परता न जगत्ता न शून्यता ।
 न मौनता न मौनित्वं किञ्चिन्नेहोपपद्यते ॥ २७
 त्वं यथास्थितमेवास्व यथास्थितमहं स्थितः ।
 सुखासुखे पराकाशे शान्ते नेहास्ति किञ्चन ॥ २८
 परमाकाशतां मुक्त्वा किं स्वप्ननगरे वद ।
 विद्यते किल तच्छान्तं चिद्योमाच्छमनामयम् ॥ २९
 अपरिज्ञित्तिरेवैका तत्र संभ्रमकारिणी ।
 परिज्ञातमिदं यावद्विद्यते सापि न कश्चित् ॥ ३०
 परिज्ञाते जगत्स्वप्ने यावत्सत्यं न किञ्चन ।
 ग्रहस्तदेनं प्रति किं ज्ञेहो बन्ध्यासुते तु कः ॥ ३१
 स्वप्नकाले परिज्ञाते जगत्स्वप्नणावणौ ।
 किमुपादेयता कास्या प्रबोधेऽसौ न किञ्चन ॥ ३२
 यन्न किञ्चित्प्रबोधोऽस्ति नाप्रबोधोऽस्ति तत्कश्चित् ।
 यस्तूपलम्भस्तत्काले पूर्वावस्थैव सा तथा ॥ ३३

जातिदशा । तेषां स्वसत्तास्थत्वात् । जङ्गमजातिष्वपि न तत्स्व-
 दशा । तेषां चिदाकाशमात्रत्वात्किन्तु कतिपयाश्च जङ्गमजातिदशा ।
 सा च दृष्टिर्न बहुतरदृष्टिविरुद्धा जगत्सत्तां साधयितुं क्षमत
 इत्याशयेनाह—आपीनेति । यानि जंगमानि जीवजातानि
 तान्यपि सुषुप्तिमरणमूर्च्छामोक्षाद्यवस्थासु चिदाकाशमेव नाम ।
 तत्र केषाञ्चित्कदाचन स्वप्ने अर्धविकासेन जागरे सर्वविका-
 सेन भासमानं किञ्चिन्नगद्वहुरहस्यनुरोधाच्चिदाकाशमेवेति
 युक्तमित्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्र या शैलादिसत्ता या च भ्रूहं
 निद्रा सा द्वैतोपलम्भमुक्तत्वात् स्वमेव । अतस्तदृशा जगदेकम-
 ज्ञानोपहितचिन्मात्रमेव ॥ २३ ॥ अन्यदृशापि स्वतत्त्वं यावद-
 परिज्ञानसंयुतं तावदेव जगत् । परिज्ञातं तु न त्वं नाहं नाप्य-
 स्तिनास्ती सत्तासते नापि भविष्यतीति कश्चित्कोटी व्यव-
 तिष्ठत इत्यर्थः ॥ २४ ॥ एवमन्यवस्थित्या जगद्भावनिरासे
 ब्रह्मैव परिशिष्टमिति दर्शयति—यथास्थितमिति । अज्ञदशा
 सनिद्रकं निद्रयेव स्वात्मन्येव जगद्वैचित्र्यं कल्पयदित्यर्थः ॥ २५ ॥
 परमार्थतस्तु सदेवैकरूपमित्याह—पूर्वमिति । अधुना वर्तमा-
 नकाले तथैवास्ति । अनन्तकालमग्रे च तथैव भविष्यतीत्य-
 न्वयः ॥ २६ ॥ तस्य च आत्मत्वादयोऽपि विशेषा व्यावर्त्या-
 भावात् सन्ति किं पुनरन्ये इत्याह—नैवेति ॥ २७ ॥
 ॥ २८ ॥ २९ ॥ सा अपरिज्ञित्तिरपि परिज्ञातमिति हेतोर्न
 विद्यते ॥ ३० ॥ एवं जगत्स्वप्नं प्रति किं किमर्थं ग्रहः अभि-
 निवेशः ॥ ३१ ॥ अणौ अणौ संभाव्यत इति शेषः ॥ ३२ ॥
 प्रबोधकाले असदप्यप्रबोधकाले सदस्तु तत्राह—यदिति ।
 पूर्वावस्था अज्ञतैव । सा तथा तदुपलम्भमात्मना प्रथते इत्यर्थः

विद्यते वर्तमानत्वं अविष्यद्भूतता तथा ।
 बोधाबोधश्च नो सत्यं वस्तु शान्तं किलाखिलम् ३४
 यथोर्मिणोर्मौ निहते न काचित्पयसा क्षतिः ।
 तथा देहेन निहते देहे नास्ति चित्तेः क्षतिः ॥ ३५
 चितावाकाश एवाहं देह इत्युपजायते ।
 संविदेव ततो देहे नष्टे किं नाम नश्यति ॥ ३६
 प्रबुद्धस्यैव चिद्योमः स्वप्नो जगदिति स्थितम् ।
 पृथ्यादिरहितं यस्मात्तस्मात्स्वप्नात्मकं जगत् ॥ ३७
 सर्गादौ पूर्वचित्स्वप्नाज्जाता पृथ्यादिवस्तुषीः ।
 स्वप्नार्थं सत्यताभ्रान्तिः कल्पनामात्ररूपिणी ॥ ३८
 पूर्वात्पूर्वतरस्यास्य स्वप्नस्यावयवस्थितौ ।
 सत्येवासत्यरूपायां पृथ्यादिकलना कृता ॥ ३९
 सा च भ्रान्तिस्तथा रूढा यथासत्यैव सत्यताम् ।
 परमामागता तस्य सत्यमत्यन्तनिर्मलम् । ४०
 वस्तुतस्तु यथाभूतं चिद्ब्रह्मैवाततं स्थितम् ।
 न च तत्संस्थितं किञ्चित्समर्ताऽस्मर्ता किमात्मकः ४१
 एवं मात्रापरिज्ञानमेवात्र प्रतिबोधकम् ।
 अत्रैव तु परिज्ञानं कवाटप्रविघाटनम् ॥ ४२
 पारिशेष्यान्न पृथ्यादि किञ्चित्संभवति क्वचित् ।

॥ ३३ ॥ तर्हि कालत्रयमज्ञानं तज्ज्ञानं च किं सत्यं, नेत्याह—
 विद्यत इति ॥ ३४ ॥ तथाच मिथ्याभूतदेहादौ मिथ्याभूतैः
 शत्रुभिर्हेतेऽपि न तदुभयाधिष्ठानात्मनः क्षतिरित्याह—
 यथेति ॥ ३५ ॥ आकाशभूतायां चितावेव देह इति भ्रान्ति-
 संविदेव उपजायते । तथाच भ्रान्तिसंविद्रूपे देहे नष्टे किं नाम
 नश्यति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ पूर्वपूर्वचित्स्वप्नसंस्कारात् ॥ ३८ ॥
 एवं पूर्वात्पूर्वतरस्यानादिप्रवाहरूपस्य स्वप्नस्यावयवस्थितौ इदा-
 नीतन्वामसत्यरूपायामेव सत्येव कलना मूढैः कृता ॥ ३९ ॥
 तत् परमार्थसत्यं त्वत्यन्तनिर्मलं न आख्यकलुषमित्यर्थः ॥ ४० ॥
 असत्यरूपायां सत्येव कलना कृतेति इवकारेणोपमित्वा तेन
 भ्रान्तिकलनायां सत्यार्थकलनासादृश्यं दर्शितम् । तच्च सत्सु
 प्राक्सत्यार्थेषु तदनुभवे सांप्रतं च तत्समर्तैरि युज्यते नान्यथे-
 त्याशास्त्राह—वस्तुत इति । तत् सत्यरूपं पृथ्यादि किञ्चित्प्रा-
 गपि न च संस्थितम् । एवं च तदनुभवस्यात्यन्ताप्रसिद्धौ
 स्वर्ता अस्मर्ता विस्मर्ता वा किमात्मकः ॥ ४१ ॥ तर्ह्यसत्ये
 अत्यन्ताप्रसिद्धसत्यतायाः सादृश्यस्य च किं प्रतिबोधकमिति
 चेत् स्वप्नकाशसत्यस्वरूपाऽपरिज्ञानमेवेत्याह—एवं मात्रेति ।
 यथार्थभूतचिद्ब्रह्ममात्रगोचरमपरिज्ञानमज्ञानमेव जगति सत्यता-
 प्रतिबोधकम् । अत एव तत्त्वपरिज्ञानमेवाज्ञानावरणकवाटस्य ज-
 गत्सत्यता भ्रान्त्यादिविश्लेषकपाटस्य च प्रविघाटनमपावरणमि-
 त्यर्थः ॥ ४२ ॥ सकार्याज्ञानबाधे चिन्मात्रपारिशेष्यात्तत्पारि-
 शिष्टं चिन्मात्रं शिवमेव ॥ ४३ ॥ बाह्याद्विन्वाचिन्मिताद्विन्

यो द्रष्टा यच्च वा दृश्यं विमलं शिवमेव तत् ॥ ४३
 मुकुरेऽन्तर्यथा विम्बाद्विम्बं भाति जगत्तथा ।
 चिद्योमनि स्वतो भातमविम्बादेव विम्बितम् ॥ ४४
 मुकुरेऽन्तर्यथा विम्बं न दृष्टमपि किञ्चन ।
 तथा चिद्योमगं विश्वं न दृष्टमपि किञ्चन ॥ ४५
 लभ्यते यद्विचारेण यत्संस्कारणकं स्थितम् ।
 तत्सच्छेषं तु भामात्रमभूतं सत्कथं भवेत् ॥ ४६
 भवेद्भ्रमात्मकमपि किञ्चिदर्थक्रियाकरम् ।
 स्वप्नाङ्गनापि कुरुते सत्यामर्थक्रियां नृणाम् ॥ ४७
 यत्तद्ज्ञानं तु सा चिद्धा परमं तच्चिदम्बरम् ।
 इति काहं क विम्बश्रीः क त्वं दृश्यदृशश्च काः ॥४८
 मृत्वा पुनर्भवनमस्ति किमङ्ग नष्टं
 मृत्वा न चेद्भवनमस्ति तथापि शान्तिः ।
 विज्ञानदृष्टिस्तद्वशातोऽस्त्यथ चेद्विमोक्ष-
 स्तन्नेह किञ्चिदपि दुःखमुदारबुद्धेः ॥ ४९
 मूर्खस्य यादृशमिदं तु तदङ्ग एव
 जानात्यसौ न हि वयं किल तत्र तज्ज्ञाः ।
 मत्स्यो हि यो मृगनदीसलिले स एव
 जानाति तच्छपलधीचिधिवर्तनानि ॥ ५०

प्रतिविम्बम् । अविम्बात् विनैव बाह्यं विम्बमिति मुकुरापे-
 क्षया विशेषः ॥ ४४ ॥ कस्तर्हि मुकुरदृष्टान्ते विवक्षितोऽशास्त्र-
 माह—मुकुरे इति ॥ ४५ ॥ विचारेण शास्त्रीयविचारेण ।
 संस्कारणकं सप्रमाणकं तदेव सत् परमार्थसत्यम् । शेषमितरसु
 भामात्रं प्रतिभामात्रं कालत्रयेऽप्यभूतम् ॥ ४६ ॥ असत्कथं
 व्यवहारार्थक्रियाश्रमं जगत्तत्राह—भवेदिति । सत्यां स्वाधि-
 कसतायां चरमधातुविसर्जनलक्षणार्थक्रियाम् ॥ ४७ ॥ अह-
 मादिविश्वश्रीर्हि भासमाना सिद्धा नान्यथा । तत्र यत्तद्ज्ञानं
 सा चिद्धा आत्मस्वरूपचित्प्रकाश एव नान्या । तद्ज्ञानव्या-
 वर्तकं दृश्यरूपं तु भानात् पृथक्कारे शून्यत्वाद्भानात्मकत्वे तस्या-
 वर्तकत्वायोगाच्चिदम्बरमेव । इति विमर्शेन किञ्चिज्जगत्प्रति-
 ध्यतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ हे अङ्ग, उदारबुद्धेस्तव दर्शितप्रकारा वा
 विज्ञानदृष्टिस्तद्वशात्तच्चिन्मात्रभूतस्य देहापगमेन मृत्वा पुनर्देहा-
 न्तरोत्पत्त्या भवनं चेदस्ति । मोक्षो नास्तीति यावत् । तथापि
 किं नष्टं का क्षतिः । निर्दुःखनिरतिशयानन्दचिदात्मनो नाशो-
 त्पत्तिभ्यामस्पर्शात् । अथ चेन्मृत्वा पुनर्भवनं नास्ति । विमो-
 क्षोऽस्ति चेदिति यावत् । तथापि सर्वप्रपञ्चशान्तिरेव ।
 तत्तस्मादिह दुःखं किञ्चिदपि पक्षद्वयेऽपि न प्रसज्यत इत्यर्थः
 ॥ ४९ ॥ मूर्खस्य तर्हि कथं मरणजन्मनोर्दुःखप्रसक्तिरिति
 चेत्ता स एव जानातीत्याह—मूर्खस्येति । यो मृगनदीसलिले
 मत्स्योऽहमिति मत्स्यभावमनुभवति स एव तस्यावपलधीचिधि-
 वर्तनानि जानाति न तु मृगनदीभ्रान्तिशून्यः कश्चिदित्यर्थः

अन्तर्बहिस्त्वमहमित्यपि चैवमादि

सर्वात्मकं तपति चिन्नम एकमेव ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० परमार्थनिरूपणं नाम नवमवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

शाखाशिखाविटपपत्रफलैकदेहः

संकल्पवृक्ष इव बोधस्वमात्रसारः ॥ ९९

शततमः सर्गः १००

श्रीराम उवाच ।

युक्तिः स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्संसारे दुःखशान्तये ।

तेषां येषामयं पक्षः भूयतामुच्यतां ततः ॥ १

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः ।

भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥ २

धीवसिष्ठ उवाच ।

यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम् ।

तत्तथैवानुभवति प्रत्यक्षमिति सर्वगम् ॥ ३

यथा खं सर्वगं शान्तं तथा चिद्योम सर्वगम् ।

तदेवैक्यमथ द्वैतमन्यार्थस्यात्यसंभवात् ॥ ४

सर्गादौ तद्वत्तेऽन्योऽर्थो महाप्रलयरूपिणि ।

॥ ५० ॥ तत्त्वविदृष्ट्या त्वन्तर्बहिश्च तच्चिन्नमः त्वं अहमपि चैवमादि जगद्येति सर्वात्मकं भूत्वा एकमेव तपति स्फुरति । यथा बोधस्वमात्रसार आत्मैव शाखा तच्छिखा तद्विटपास्तपत्रफलानि चैत्याद्येकदेहः संकल्पवृक्षः सन् मनोराज्ये स्फुरति तद्वदित्यर्थः ॥ ५१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-प्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थनिरूपणं नाम नवमवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

देहात्मवाद्यादिमते निविष्टानां मतेरपि ।

यथा तत्त्वेऽवतारः स्यात्तथा युक्तिरिहोच्यते ॥ १ ॥

प्राक्सर्गवाद्युक्तिसत्यतावर्णनक्रमे 'स्वभावसिद्धमेवेदं युक्तमित्येव तद्विदाम्' इति यच्चार्याकोकीनां युक्तत्वं वर्णितं तत्तेषां देहात्मवादविषये सर्वास्तिकपक्षप्रतिपक्षभूते कथं युक्तम्, तेषां कथं वा पुरुषार्थसिद्धिः स्यादित्येतज्जिज्ञासमानो रामः पृच्छति—युक्तिरिति । अयं वक्ष्यमाणो मत्प्रश्नो मनो दत्त्वा श्रूयतां तत उत्तरमुच्यताम् ॥ १ ॥ अगोचरः अप्रत्यक्षः । न तावज्जीवतः स्वस्य मृत्युः प्रत्यक्षः । परेषां मृत्युदर्शनादि स्वस्यापि मृत्युस्तदनुमीयते । न चानुमानं चार्वाकाणां प्रमाणम् । प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणानभ्युपगमादिति भावः । अस्तु वा देहनाश एव मृत्युस्तथापि पुनर्जन्मानभ्युपगमात् एव सर्वदुःखनिवृत्तिलक्षणो मोक्ष एवेति स्पृहणीय एव तेषामित्याशयेनाह—भस्मीभूतस्येति । शान्तस्य सर्वदुःखोपशमं प्राप्तम् । अयं येषां पक्षस्तेषामिति पूर्वत्रान्वयः ॥ २ ॥ संविदा स्वनिश्चयानुसारिविद्वानुभवनियम एव देहात्मभावेऽभ्युपपत्तिस्व-न्मोक्षेऽपीत्याशयेन वसिष्ठस्तं समर्थयितुमुपक्रमते—यं यमिति । इति इदं सर्वगं सर्वजनीनं प्रत्यक्षं स्थानुभवसिद्धम् ॥ ३ ॥ तत्तद्विद्वान्मरणकल्पितदेहादिद्वैतं वेदान्तविद्वदनुभवसिद्धिद-र्भक्यं च तच्चिद्योमेव । तद्यतिरिक्तस्यात्यन्तसंभवादित्यर्थः

अकाणरत्वाभास्त्येव ब्रह्मवेदमतस्ततम् ॥ ५

समस्तवेदशास्त्रार्थे ये महाप्रलयादि च ।

नेच्छन्ति ते महामूढा निःशास्त्रा नो मृता इव ॥ ६

सर्वशास्त्राविरुद्धेन सर्वे ब्रह्मेदमित्यलम् ।

स्थितं सानुभवं योक्तुं येषां तेन कथाक्रमः ॥ ७

नित्या निरन्तरोदेति यादृशी संविदाशये ।

भूयते तन्मयेनैव पुंसा देहोऽस्तु माथवा ॥ ८

बोधाच्चेत्संविदो जातः स दुःखी पुरुषो भवेत् ।

विरुद्धं वेदनं यावत्तावज्जीवोऽङ्ग तन्मयः ॥ ९

जगच्चिद्योमकचनमात्रमेवेति भाविते ।

तत्कथं वेदनं व्योम्ना बोधः कस्य कुतो भवेत् ॥ १०

॥ ४ ॥ अन्यस्यासंभवे 'सदेव सोम्येदमत्र आसीत्' इत्यादिश्रु-त्यनुग्रहीतां युक्तिमाह—सर्गादाविति । सर्गस्य आदौ पूर्वाव-स्थायामद्वितीयब्रह्मरूपे महाप्रलये । तर्हि ब्रह्मणः कारणं ततोऽन्यत्पूर्वमस्तु तत्राह—अकारणत्वादिति ॥ ५ ॥ ननु ब्रह्मरूपो महाप्रलय एव नाभ्युपगम्यते बीजाङ्कुरादिपरंपरानादि-त्वेन पृथिव्यादिभूतानां प्रवाहानादित्वात् कदाचिदनीदृशं जग-दिति कर्मजडानां पूर्वमीमांसकादीनां पक्षं दूषयति—सम-स्तेति । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्रा-ह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादिश्रुतेः समस्तवेदशास्त्रार्थ आदिपदा-जीवानां ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं मोक्षं तत्साधनानि च ये नेच्छन्ति ते मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं तुल्यन्यायेन कर्मशास्त्रस्याप्यप्रामाण्यावार-णाभिःशास्त्रा नोऽस्माकं तत्त्वविदां दृशा मृता इव । न तत्त्वो-पदेशकथायोग्या इत्यर्थः ॥ ६ ॥ येषां योक्तुं देहेन्द्रियादीनां सर्वव्यवहारेषु नियोक्तुं प्रत्यगात्मचैतन्यं मनो वा सर्वशास्त्रावि-रुद्धेन सर्वे स्वत्विदं ब्रह्मेति दर्शनेन सानुभवमलं पर्याप्तं पूर्ण-कामं स्थितम् । कृतकृत्यस्तैः सहापि नोपदेशकथाक्रम इति जिज्ञासून्प्रत्येवोपदेशकथाप्रस्ताव इत्यर्थः ॥ ७ ॥ प्रासङ्गिकं समाप्य प्रस्तुतमनुसंधते—नित्येति । तथाच चार्वाकमिमते देहात्मभावेऽपि तादृशदृढनिश्चयात्मकसंविदुदय एवान्वयव्यति-रेकाभ्यां हेतुर्न देहो व्यभिचारादिति भावः ॥ ८ ॥ अत एवा-नन्दैकरसस्वाप्मात्मनो विरुद्धदुःखित्ववेदनदाब्धेन दुःखमयता सर्वानुभवसिद्धेत्याह—बोधादिति । अत्रेति संबोधने ॥ ९ ॥ एवं दुःखमयस्यापि जगतो निरतिशयानन्दचिद्योमकचनमा-त्रमेवेति भावनादास्तवतद्भावदर्शने भ्रान्तिकल्पितदुःखरूपता तद्गृहणग्राहकस्यैव क्षाम्यन्तीति देहात्मवादिनामपि तथाभा-वने निस्तारसिद्धिरित्याशयेनाह—जगदिति । तत्र प्राक्स-

न कानिचित्प्रभावन्ति एकनिश्चयसंविदाम् ।
 पुंसां सुखानि दुःखानि रजांसि नभसामिष ॥ ११
 संवित्सत्यास्त्वसत्या वा निश्चयस्तावदीदृशः ।
 आबालमेतत्संसिद्धं केनापहृत्यते कथम् ॥ १२
 न देहः पुरुषो वापि जीवोऽन्य उपलभ्यते ।
 संवित्सर्वमिदं सा तु यथा वेत्ति तथा जगत् ॥ १३
 सा सत्याप्यथवासत्या तथा देहोऽनुभूयते ।
 स्वातन्त्र्येण यथा स्वप्ने पाताले खे जले दिवि ॥ १४
 संवित्सत्यास्त्वसत्या वा तावन्मात्रः स्मृतः पुमान् ।
 स यथानिश्चयो नूनं तत्सत्यमिति निश्चयः ॥ १५
 प्रामाण्यं सर्वशास्त्राणामेतेनैव प्रसिद्ध्यति ।
 सर्वसिद्धान्तसिद्धान्त एव एवेति मे मतिः ॥ १६
 तस्मादबोधता यास्ते यथा संवित्सथैव सा ।
 भवत्यकलुषाकारा तथैव फलभागिनी ॥ १७
 देशकालक्रियाद्रव्यवेदशास्त्रैरण्णाभ्रमैः ।
 अबोधता तु या संवित्कदाचित्सा न नश्यति ॥ १८

सिद्धं दुःखादिवेदनं कथं व्योम्ना कूटस्थाद्वयचिदाकाशेन दुःखा-
 देवोऽथः कस्य भवेत् कुतो वा निमित्तादित्यर्थः ॥ १० ॥ उक्तेऽर्थे
 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति श्रुतिमर्थत
 उदाहरति—न कानिचिदिति । प्रभावन्ति प्रामुवन्ति ।
 लिम्पन्तीति यावत् ॥ ११ ॥ स्वस्वदृढनिश्चयानुसार्यार्थानुभवे
 संविदः प्रामाण्यं वित्तवृत्तेः सत्यत्वं वा नोपयुज्यते देहात्ममा-
 वायनुभवे आद्याभावाद्ब्रह्मसाक्षात्कारवृत्तौ द्वितीयाभावादित्या-
 शयेनाह—संविदिति । संवेदनं संवित् सत्या प्रमा, संवेद्यते
 यया सा संवित् सत्या अबोधिता वेत्युभयनियमाभावोक्तिः ।
 ईदृश एतादृशसदसदर्शानुभवहेतुर्भवत्येवेत्यर्थः । कथमपहृत्यते ।
 न ह्यनुभवविरुद्धमवलम्ब्यानुभवोऽपह्नोतुं शक्य इत्यर्थः ॥ १२ ॥
 अत एव सर्वबाधभिप्रेततत्तद्वेषकल्पनासमर्था संविदेवात्मेति सर्वे
 वादिनो बोधयित्वा कृतार्थाकर्तुं शक्या इत्याशयेनाह—न
 देह इति । देहश्चार्थाकामितः पुरुषः सांख्याभिमतो जीवो
 भीमांसकाशभिमतो वापि भोक्ता अन्यः संवित्पृथक्कृतो नोप-
 लभ्यते । अतः सर्वमिदं वादिनां कल्पनापहं देहादिसंविदेव
 ॥ १३ ॥ स्वातन्त्र्येण स्वकल्पनामात्रेण न पृथिव्याविकारण-
 सापेक्षतयेत्यर्थः ॥ १४ ॥ पुमान् आत्मा । तत् सत्यं तदर्थ-
 क्रियासमर्थम् ॥ १५ ॥ संविद एव सर्वबाधभिमतात्मादि-
 भावेनावस्थाने तस्याः परमार्थसत्यत्वात्तत्कल्पितार्थानां तत्तद-
 भिमतार्थक्रियासमर्थत्वाच्च सर्वशास्त्रप्रामाण्यं प्रागुक्तं प्रतिष्ठित-
 मित्याह—प्रामाण्यमिति । तथा चायं संविद्वैतात्मवादसि-
 द्धान्तः सर्ववादिनामुपजीव्यत्वात्पुरुषार्थहेतुत्वाच्च सर्वसिद्धान्त-
 शिरोमणिः सिद्धान्त इत्याह—सर्वेति ॥ १६ ॥ तर्हि किं
 संविदेव तत्तद्वाद्यभिमतदेहाद्याकारेण तत्तद्विषयानुरोधेन परि-
 णमते नेत्याह—तस्मादिति । या संविदि अबोधता अविद्या
 आस्ते सैव यथा तत्तद्वादिनां संवित्तथैव परिणामेन प्रवृत्त्यादि-

आविर्भवति सा भूयः क्षीणाशङ्का क्षणेन चेत् ।
 तत्केन संविदो दुःखं कदा नामोपशाम्यति ॥ १९
 संविदेव नृणां जीवः स यथा दृढभाषणः ।
 तथा सुखी वा दुःखी वा भवेदित्येव निश्चयः ॥ २०
 संविदेवस्ति तज्ज्ञानां शरणं भवभेदने ।
 नास्ति चेत्तच्छिलामूकमान्ध्यमेवावशिष्यते ॥ २१
 यस्तथैव च संवित्या वेदनेनैव लभ्यते ।
 अयं स्वभावज्ञप्त्यान्तर्जाड्यं पुंसेव निद्रया ॥ २२

धीराम उवाच ।

दिक्वधस्ताच्च नान्तोऽस्या भावी नापि जगत्क्षयः ।
 अस्तीति भावितं येन संत्यक्ताऽभावबुद्धिना ॥ २३
 विज्ञानघनमेवेदमिति नूनमपश्यता ।
 पश्यता च यथादृष्टं सर्वक्षयमपश्यता ॥ २४
 तस्य स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्युक्तिराधिविनाशने ।
 इति मे संशयं छिन्धि भूयो बोधाभिवृद्धये ॥ २५

काले भवति । सैव तत्त्वबोधार्थमना परिणामे अकलुषशुद्धचिदा-
 कारा तथैव मोक्षफलभागिनीत्यर्थः ॥ १७ ॥ अत एव पुण्य-
 देशकालादौ ज्ञानदानादिक्रियाभिः रसायनमन्त्रौषधादिद्रव्यैः कर्म-
 शास्त्रबोधितैः स्वर्गपशुपुत्राद्येषणाभ्रमैश्च सा अबोधता तत्प्र-
 युक्ता या विक्षेपसंवित्सा च कदाचिदपि न विनश्यति ॥ १८ ॥
 बोधे बाधिताया अविद्यायाः पुनराविर्भावस्तु न शङ्को भीजा-
 भावादिनिर्मांशप्रसङ्गात्स्याह—आविर्भवतीति । आत्यन्तिक-
 बाधेन क्षीणा पुनः प्रसक्त्याशङ्कापि । सा अविद्या भूयः
 क्षणादाविर्भवति चेत्तर्हि संविदो जीवस्य दुःखं कदा केन
 वा नामोपशाम्यति—न कदाचिन्न केनचिदपीत्यर्थः ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ प्रत्यगात्मरूपसंविदेव तत्त्वतो ज्ञाता स्वकार्यं बन्धं हर-
 तीति सैव मुमुक्षुणां शरणम्, तदभावे तु जगदान्ध्यमेव स्यादूरे
 मोक्षं प्रत्याशेत्याह—संविदिति । अवशिष्यते परिशेषात्प्र-
 सज्जते ॥ २१ ॥ कुत आन्ध्यमेवावशिष्यते तत्राह—यदिति ।
 यद्यस्मादेतोः स्वभावज्ञप्त्या स्वप्रकाशया तथैव प्रत्यगात्मसं-
 वित्या पुंसा निद्रया स्वजाव्यमिव आन्ध्यकल्पेन अवेदनेनैवायं
 प्रपञ्चो लभ्यते तत्र संवित्प्रपलापे असाक्षिकस्यान्ध्यस्यैव परि-
 शेषादित्यर्थः ॥ २२ ॥ न कदाचिदनीदृशं जगदित्यभ्युपगम्य
 ये महाप्रलयादि नेच्छन्ति ते निःशास्त्रा मृता इवेति ये त्वया
 निन्दितास्तन्मतानुसारिदृढनिश्चयवतां तत्त्वज्ञानावतारादौ बुक्ति-
 रस्ति न वेति संदिद्धानो रामः पृच्छति—दिक्विति ।
 अस्याः संसृतेः प्राच्याद्यूर्ध्वान्तनवदिभ्यु अघस्तादधोदिशि
 च अन्त एव नास्ति । एवं जगतः क्षयो नाशोऽपि नास्तीति
 येन संत्यक्तप्रागभावाद्यभावत्रयबुद्धिना पुंसा भावितम्
 ॥ २३ ॥ पुनः कीदृशेन तेन पुंसा इदं सर्वं विज्ञानबन्धने-
 वेति परमार्थतत्त्वमपश्यतेति पूर्वोक्तान्वयः । यथादृष्टं जगदेव

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अत्रैकं तादृशितं पूर्वमेव तथोत्तरम् ।
द्वितीयमुत्तरं न्याय्यं ब्रह्ममाणमिदं शृणु ॥ २६
ईदृग्भावस्त्वया प्रोक्तो यः पुमान्पुरुषोत्तम ।
स तावच्चेतनामात्रं भवतीत्यनुभूयते ॥ २७
स चाकारविनाशेन युज्यते नात्र संशयः ।
अथाविनाशो देहश्चेत्तदुःखस्यात्र कः क्रमः ॥ २८
भवेद्भागविभागात्मविनाशस्त्वविचारितः ।
अवश्यं तस्य भवति किलेति ननु निश्चयः ॥ २९
मृतः स संविदात्मत्वाद्भूयो नो वेत्ति संसृतिम् ।
ज्ञानधौता न या संविन्न सा तिष्ठत्यसंसृतिः ॥ ३०
अथवा नास्ति संवित्तिरिति निश्चयवान्यदि ।
ततस्तादृग्भेदनतो भवत्येव दृषज्जडः ॥ ३१

सत्यमिति पश्यता ॥ २४ ॥ २५ ॥ पूर्वं प्रागुक्तं निःशास्त्रा
नो मृता इव तैर्न कथाक्रम इत्येवोत्तरम् । अथवा पूर्वपूर्ववादिनं
प्रति यदुक्तं 'यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम्' इत्याद्यु-
त्तरं तदेवोचितम् । तथाच चेतन्याननुविद्धतादृशनिश्चयाप्रसिद्धेः
सोऽपि मन्दचैतन्यं व्युत्पाद्य पूर्वनिश्चयस्य तद्विवर्तताव्युत्पादनेन
चिदखण्डैकरस्यानुभवे अवतारयितुं शक्य इति भावः ॥ २६ ॥
हे पुरुषोत्तम, ईदृग्भावस्तदुक्तनिश्चयवान् यः पुमांस्त्वया प्रोक्तः
स किं देहातिरिक्तचेतनात्मदर्शा उत नित्यातिबाहिकदेहात्म-
दर्शा उत स्थूलदेहात्मदर्शा उत शुद्धसंविदात्मदर्शा उताज्ञाना-
शृतसंविदात्मदर्शा उत संविदपत्नपी । तत्रायकल्पे तावदाह—
स तावदिति । स यदि चेतनाः रूपादिसंविदो भीयन्ते यत्र
तच्चेतनामात्रं चिदाभासरूपं भवतीत्यभ्युपगच्छति तर्ह्यनुभूयत
एव क्रमात्तेनात्मतत्त्वमित्यर्थः ॥ २७ ॥ तत्कृतस्तत्राह—स
चेति । अर्थेऽयं चः पठितः । यस्मात्स देहाद्याकारोपाधिनाशेन
परमात्मना सह युज्यते एकीभवति । द्वितीये त्वाह—अथेति ।
विनाशिन्यक्षमये देहे आत्मताशुद्धौ सर्वतो विनाशाशङ्कया
दुःखम् । अविनाशिन्यात्मतानिश्चये तु न देहाकारत्वदर्शन-
मात्रापराधेन दुःखप्रसक्तिरिति क्रमात्सोऽपि बोध्यमानस्तत्त्वं
प्रतिपत्स्यत इति भावः । तत् तर्हि । क्रमः प्रसङ्गः ॥ २८ ॥
तृतीये कल्पे तावदाह—अथेदिति । भागविभागोऽवयवभेद-
स्तद्वदितः स्थूलात्मा तस्यात्मत्वदर्शिना तद्विनाशः सन्नपि न
विचारितः । अवश्यं च सावयवस्य विनाशो भवति । किलेति
प्रतिबोधने । तस्यापि तदतिरिक्तात्मनिश्चयः सिद्ध्यतीत्यर्थः
॥ २९ ॥ चतुर्थकल्पेऽप्याह—मृत इति । स शुद्धसंविदात्म-
दर्शा जीवन्मुक्तः सर्वदा सर्वत्र लीलया जगत्पश्यन्नपि मृतो
चिदेहतामात्रेण कैवल्यं प्राप्तः सन्भूयः संसृतिं नो वेत्ति । न
पश्यतीत्यर्थः । पञ्चमकल्पेऽप्याह—ज्ञानेति । या संवित् तत्त्व-
ज्ञानेन न धौता सा संसृतिधीजभावाविनाशादसंसृतिर्न तिष्ठति ।
अवश्यं संसारखेद्येत्यर्थः । तथा च तस्या अपि क्वचिजन्मनि ज्ञानो-

यथावेदनमर्थेषु चित्त्वे देहक्षयात्क्षते ।
मृतिरेव परं श्रेयो दृष्टं नानुभवादिति ॥ ३२
असंभवाच्छुद्धविदो निःशरीरा भवन्ति ये ।
जडभावा जडीभूय दुर्भेदान्ध्या भवन्ति ते ॥ ३३
ये चापि स्वप्नपुरवत्सर्वं पश्यन्ति चिन्मयाः ।
तेषामिदमिवाशेषं जगज्जालं प्रवर्तते ॥ ३४
स्थैर्यास्थैर्येण भूतानां किमपूर्वमतौ भवेत् ।
भूतस्थैर्ये तथास्थैर्ये सुखं वैवासुखं समम् ॥ ३५
स्थिरमस्त्वस्थिरं वापि मद्यादिमहतामपि ।
चिद्भामात्रमिदं भाति यावदज्ञानमाततम् ॥ ३६
संविदा संविदोऽसत्तामिहाव्याप्य विनष्टया ।
निर्णीयाङ्गीकृतं यैर्वा जाड्यं तद्दालकैरलम् ॥ ३७
येषां विद्म्यः शरीराणि ते वन्द्याः पुरुषोत्तमाः ।
शरीरेभ्यो विदो येषां तैरलं पुरुषाधमैः ॥ ३८

दयाजिस्तर इति भावः ॥ ३० ॥ षष्ठकल्पेऽप्याह—अथवेति ।
दृषदिव जडो विशेषज्ञानशून्यो भवत्येव चिरमित्यर्थः ॥ ३१ ॥
तेन तत्र किं कथं वा श्रेयो दृष्टं तत्राह—यथावेदनमिति ।
आमरणं दृढीकृततादृग्भेदानुसारेणैव देहपातादनन्तरं चित्त्वे
विशेषविज्ञाने क्षते नष्टे सति गण्डसुषुप्तिकल्पा सा मृतिरेव
नैयायिकमोक्षकल्पा निर्दुःखत्वात्परं श्रेय इति तेन दृष्टं न तु
निरतिशयानन्दानुभवाच्छ्रेयस्तेन मूर्खेण दृष्टमित्यर्थः ॥ ३२ ॥ ये
तु शून्यवादिनो नैरात्म्यदृढनिश्चयास्तेषां मृतानां का गतिस्ता-
माह—असंभवादिति । निःशरीरा मृताः । तथाच श्रुतिः
'अमुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा मृताः । तांसे प्रेत्या-
भिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' इति ॥ ३३ ॥ येऽपि
विज्ञानवादिनः क्षणिकविज्ञानमयं स्वप्नतुल्यं जगदिति पश्यन्ति
तेषामपि व्यवहारसिद्धिस्तुल्येत्याह—ये चापीति । चिन्मयाः
क्षणिकविकारिचिदात्मभूताः ॥ ३४ ॥ ये जगतः स्थैर्यवादिनो
ये च क्षणिकत्ववादिनस्तेषामुभयेषामपि सुखदुःखमोगान्तव्य-
वहारसिद्धिः समेत्याह—स्थैर्येति । अपूर्वमतौ जगद्यवहारवै-
विध्यशुद्धौ किमन्तरं भवेत् । असुखं दुःखम् ॥ ३५ ॥ तत्त्व-
विदां तु भूम्यादिभूतानां क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोर्नाशः । अथ-
त्तस्याधिष्ठानब्रह्ममात्रसतत्त्वकत्वेन शुक्तिरजतमूल्यविचारवत्-
द्विचारस्य व्यर्थत्वादित्याशयेनाह—स्थिरमिति । मद्यादीनां
महतां भूतानामपि ॥ ३६ ॥ संविदस्तु न क्षणिकत्वं तथा
स्वाप्तालक्षणस्य खनाशस्य जाड्यस्य च व्याप्तमशक्यतया
संविद्याप्तिमन्तरेण तदुभयसिद्ध्ययोगाच्च तदुक्तिर्वैभवाभावादित्याह—
संविदेति । संविदः कालतोऽसत्ता क्षणिकत्वं देशतः
असत्ता तु जाड्यं द्विविधमपि तां अभ्याप्य अस्पृष्टा विनष्टया
क्षणिकत्वाभिमतसंविदा जाड्यम् । क्षणिकत्वस्याप्युपलक्षणमे-
तत् । वैर्निर्णीयाङ्गीकृतं तैस्तथाविधैर्बालकैर्मूर्खैरलं संभाषणेने-
त्यर्थः ॥ ३७ ॥ अत एव हि कूटस्थचित्तो विवर्तभावेन तद्या-
तदेहान्तजडप्रपञ्चोत्पत्तिवादिनो धन्याः । वाच्यारम्भणन्यायेव

चिद्रूपो जीवबीजौघ आकाशकमिजालवत् ।
ऊर्ध्वं तिर्यग्भो याति पूर्यमाण इव स्वयम् ॥ ३९
चेत्यते येन कर्तान्यो बीजौघेन स तत्परः ।
तथैवानुभवत्यन्तः स्वयमेव विचलाति ॥ ४०
यद्यथा चेत्यते येन तज्जीवेनाशु तेन तत् ।
चिद्रूपेणाप्यते सिद्धमेतदाबालमक्षतम् ॥ ४१
यथा धूमस्य नभसि यथाग्नेर्धौ महाम्भसः ।
भावर्तवृत्तयश्चित्रास्तथा चिद्रोम्नि संसृतेः ॥ ४२
पुरी भवति चिद्रोम यथा स्वप्ने नरं प्रति ।
तथादिसर्गात्प्रभृति तदेवेदं जगत्स्थितम् ॥ ४३
सहकारिनिमित्तानि यथा स्वप्ने न सन्ति वै ।
पृथिव्यादीनि भूतानि तथैवादौ जगत्स्थितेः ॥ ४४
अज्ञानां स्वप्नगरे वस्तुधा विविधाः कृताः ।
यास्ता एव जगत्स्वप्नगरे पुष्टतां गताः ॥ ४५

चिन्मात्राकाशमेवेमाः प्रजा द्वैतैक्यवर्जिताः ।
के वात्र रञ्जनान्या खे यद्वाभाति स्वमेव तत् ॥ ४६
चिच्चन्द्रिका चतुर्दिकं शीतलाह्लादकारिणी ।
तनोति चेतनालोकं तस्येदं कचनं जगत् ॥ ४७
अद्यैवाद्यन्तयोर्व्योम्नि चिन्मये सर्गदर्शनम् ।
चिद्रुन्मेषनिमेषाभ्यां खात्मोदेत्यस्तमेति च ॥ ४८
यद्यथा वेत्ति यत्तत्ससथैवानुभवत्यलम् ।
यस्मात्समस्तं चिन्मात्रं किमिवात्र न विद्यते ॥ ४९
शरदाकाशविशदं संविद्ः सौम्यमानसाः ।
असन्त एव तिष्ठन्ति सन्तोऽधिगततत्पदाः ॥ ५०
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः
प्रवाहसंप्राप्तनिजार्थभाजः ।
तिष्ठन्ति कार्यव्यवहारदृष्टौ
निरामया यन्मया इवैते ॥ ५१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे नास्तिक्यनिराकरणं नाम शततमः सर्गः ॥१००॥

एकाधिकशततमः सर्गः १०१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चिन्मात्रमेव पुरुषस्तदेवेत्थमवस्थितम् ।

विकारानृतत्वदर्शने चित्परिशेषलाभात् । अश्वितो देहादेश्चिद्रु-
त्पत्तिवादिनश्चार्वाककणभक्षादयो मूर्खाः चिद्विनाशेन जडपरिशे-
षस्यापुरुषार्थत्वात्साधकाभावाच्चेत्याशयेनाह—येषामिति । विज्ञ-
इति बहुत्वमविवक्षितम् ॥ ३८ ॥ जीवसमष्टिरूपहिरण्यगर्भं
चिदाभासबहुत्वाद्वा बहुवचननिर्देशः । तथा च समष्ट्यात्मा
हिरण्यगर्भं एक एव नानाजीवात्मना ऊर्ध्वाधोलोकगमनादिना
संसरतीति कल्पनापि साध्वीत्याह—चिद्रूप इति । आकाशक-
मयो मशकादयस्तज्जालवत् । यथा मणिकमल्लिकादौ पूर्यमाणो
जलीषस्तिर्यगूर्ध्वमधो याति तद्वत् ॥ ३९ ॥ सा नानाकर्तृजीव-
समष्टितापि हिरण्यगर्भश्चितः स्वकल्पनाभिनिवेशवशादेवे-
त्याह—चेत्यत इति । बीजौघेनेतीत्यंभावे तृतीया । येन हिर-
ण्यगर्भश्चिदाभासेन बीजौघभावेन समष्टितां स्वस्योपास्यतद्वा-
सनानुसारात्कल्पादौ अन्यः बहुधा भिन्नो व्यष्टिरूपः कर्ता
स्मान्तश्चेत्यते च तत्परस्तदासक्तः संस्तथैव नानाकर्तृरूपं स्मान्तः
स्वयमेवानुभवति तथैव विचरति संसरति चेत्यर्थः ॥४०॥ अनेन
प्रकारेणापि प्राग्यदस्मानिः प्रतिज्ञातं तदेव सिद्धमित्याह—
यदिति । आबालं आहृदं च । अक्षतमव्याहृतसिद्धम् ॥ ४१ ॥
अत एव हि तज्जीववितां वासनानैविश्यानुकूलतत्संसृतिचेत-
नैविश्यात्संसृतिवैविध्यमनन्तमित्याह—यद्येति ॥ ४२ ॥ त-
देव चिद्रोमेवेदं जगद्भूला स्थितम् ॥ ४३ ॥ सहकारिकरणानि
नितैव स्वर्गादौ प्रतिमात्रेण सिद्धत्वादपि स्वप्नसाम्यमेवे-
त्याह—सहकारितीति । आदौ सर्गादौ ॥ ४४ ॥ अज्ञानां नग-
राववभूतवृक्षाणां वस्तुधा उत्तरोत्तरभूमिकामेदाः । या अर्ध-

चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥ १

विकासेन पेलवाः कृतास्ता एव सम्यग्बिकासेन घनीभावात्पु-
ष्टतां गताः ॥ ४५ ॥ यत् उ आभातीति च्छेदः ॥ ४६ ॥
त्रिविधतापोपशमनाच्छीतला चेतना अर्धप्रथा तद्वक्षणमालो-
कम् । तस्य चेतनालोकस्यार्थरूपेण कचनम् ॥ ४७ ॥ आदौ
सर्गात्प्रागन्ते प्रलये च व्योम्नि सर्गशून्यस्वभावे चिन्मये
व्योम्नि अद्य वर्तमानक्षण एव सर्गदर्शनं प्रसिद्धं, तत्र खात्म-
ब्रह्मैव स्वचितः परिच्छिन्नरूपेणोन्मेषादपरिच्छिन्नरूपेण निमेष-
पात्र स्वयमेव स्वप्रबुद्धेत्यस्तमेति चेति निष्कर्ष इत्यर्थः ॥४८॥
चिचेत्स्वसत्तावलेन सत्कृत्य जगत्पश्यति तदा न किञ्चिदसदिति
वक्तुं शक्यमित्याह—यदिति । यत्पञ्चुतिप्रसिद्धं सदस्तु यस्मा-
देतोः यद्यथा यथा वेत्ति सर्गादौ तदथापि तथैवानुभवति ।
तस्मात्समस्तमपि चिन्मात्रं तत्र किं न विद्यते यदसत्स्यादि-
त्यर्थः ॥ ४९ ॥ चिद्यतिरिक्तरूपेणासन्तः, चिदात्मना तु सन्तः
॥ ५० ॥ तेषां तादृशी स्थिति लक्षणेनानुभावयति—निर्मा-
नमोहा इति । यन्मयाः पुरुषप्रतिमा इव । तत्पक्षे जलादि-
प्रवाहवशात्संप्राप्तनिजचेष्टार्थभाजः पश्यतामन्येषां कार्यव्यव-
हारदृष्टौ तिष्ठन्तीति योज्यम् ॥ ५१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे नास्तिक्यनिराकरणं
नाम शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

संविदेकात्म्यममलं सदा सर्वत्र पश्यतः ।

अप्राप्तेर्भयहेतुनामभवत्स्वित्तिरीर्यते ॥ १ ॥

सर्ववादिनामपि चिन्मात्रमेव तत्त्वमित्यवगमे यथा अजय-
प्रतिष्ठाप्राप्तिकथा वर्णयितुं पीठिकां रचयति—चिन्मात्रमेवे

तथावदातमाकाशं तन्मये ब्रह्म दृश्यते ।
 तावन्मात्रं जगदतो हेयोपादेयधीः कुतः ॥ २
 न विद्यते परो लोको बार्हस्पत्यस्य यस्य तु ।
 विदोऽन्यत्तस्य किं सारं रागद्वेषावतः कुतः ॥ ३
 इष्टानिष्टदृशो रागद्वेषदोषाः किमात्मकाः ।
 संविद्योममये स्वप्ने जगदाख्येऽङ्ग कथ्यताम् ॥ ४
 इदं हेयमुपादेयं वेति संवित्स्वमात्मनि ।
 निर्मले निर्मलं भाति केवात्र तदतद्दृशौ ॥ ५
 संविन्नरोऽमरो नागः संवित्स्थावरजंगमम् ।
 भावाभावादयोऽस्याब्धेस्तरङ्गावर्तवृत्तयः ॥ ६
 संविदाकाशमेवाहं भवानपि जना अपि ।
 ज्ञियामहे नो कदाचित्संवित्किल कदा मृता ॥ ७
 संविदो नास्ति संवेद्यं स्वयं संवेद्यतामिता ।
 चिस्वादतो विशालाक्ष द्वितैकत्वे क्व वा स्थिते ॥ ८
 संविन्मात्रादते तस्माद्भूतं किमिव कथ्यताम् ।
 कथ्यतां ज्ञियते तच्छेत्तदद्येमे कुतो वयम् ॥ ९
 वादिनः सौगताद्या ये ये लोकायतिकादयः ।
 संविदाकाशमुत्सृज्य यन्मन्यन्ते तदुच्यताम् ॥ १०

त्यादिना । इत्थमनेन नानाबादिपरिकल्पितस्थायिषणिकादि-
 रूपेण जन्ममरणभयशोकादिरूपेण च ॥ १ ॥ तदेवोपपादयं-
 स्तत्फलमाह—तच्छेति । तन्विन्मात्रं भावदातं निर्मलमाकाश-
 मेष । तन्मये तद्विवर्तभूते ॥ २ ॥ हेयोपादेयाभावेन राग-
 द्वेषप्रसक्तिरिति विज्ञानैकस्वन्धादिनो बौद्धस्यापि संमतं किंतु
 क्षणिकविज्ञानमसारमित्येव तन्मतमुपेक्षितव्यमित्याह—न वि-
 द्यत इति । बार्हस्पत्यस्य बृहस्पतिप्रणीतबुद्धसांख्यानसारिणो
 यस्य वादिनः क्षणिकविज्ञानात्परोऽन्यो लोक्यत इति लोको
 जगन्न विद्यते तस्य । अतो निर्विषयत्वादेव रागद्वेषौ कुतः न
 प्रसज्येते एव किंतु विदः अन्यत् किं सारं नित्यं पुरुषार्थरूपं
 यत्संभावनया विदः शाश्वतत्वं स नेच्छतीत्यर्थः । रजिपुत्रा-
 णामसुराणां च विमोहनाय बृहस्पतिनापि बुद्धशास्त्रं प्रणीत-
 मिति मत्स्यपुराणादौ प्रसिद्धम् ॥ ३ ॥ कूटस्थसंविद एव
 विवर्तकः स्वप्ने जगदित्यस्त्विसद्धान्ते तु सुतरां न रागद्वेषप्रस-
 क्तिरित्याह—इष्टानिष्टेति ॥ ४ ॥ अस्तु वा हेयोपादेयविक-
 ल्पाभ्यासस्तथापि संविदाकाशे न कश्चिद्विशेष इत्याशयेनाह—
 इदमिति । तदतद्दृशौ इष्टानिष्टादिदृष्टी ॥ ५ ॥ सर्वस्या-
 विनाशिसंविन्मात्रत्वे जन्ममरणादयोऽपि न संभावयितुं
 शक्या इत्याह—संविदिति ब्रह्म्याम् ॥ ६ ॥ ७ ॥ सर्वस्य
 संविद्ये संवेद्यमन्यत्र परिशिष्यते । स्वस्याः स्वसंवेद्यताकल्पना
 तु स्वस्य स्वस्वन्धारोहणकल्पनाकल्पेत्याह—संविद इति ।
 स्वयमेव चेत्संवेद्यतां इता प्राप्ता अतश्चिरवादन्यत्संवेद्यतालक्ष-
 णक्रियाकर्मभेदरूपं द्वित्वं तथावृत्तमेकत्वं वा क्व स्थिते ॥ ८ ॥

१ बन्धवन्ते, यन्मन्यन्ते इति पाठौ.

संविदाकाशमेवैतत्केनचिद्ब्रह्म कथ्यते ।
 केनचित्प्रोच्यते ज्ञानं केनचिच्छून्यमुच्यते ॥ ११
 केनचिन्मदशक्त्याभं केनचित्पुरुषाभिधम् ।
 केनचिच्च चिदाकाशं शिव आत्मा च केनचित् ॥ १२
 चिन्मात्रमेवमप्युक्तं याति न कश्चिदन्यताम् ।
 यस्मात्स्वयं तदेवैवमात्मानं वेत्ति नेतरत् ॥ १३
 चूर्णतां यान्तु मेऽङ्गानि सन्तु मेरूपमानि च ।
 का क्षतिः का च वा वृद्धिश्चिद्रूपवपुषो मम ॥ १४
 मृताः पितामहाद्याश्चिन्न मृता सा ज्ञियेत चेत् ।
 तज्जन्म नैव नाम स्यादस्माकं मृतसंविदाम् ॥ १५
 न जायते न ज्ञियते संविदाकाशमक्षयम् ।
 भवेत्कथं कथय किं किलाकाशस्य संक्षयः ॥ १६
 जगद्रूपैककचनमविनाशि चिदम्बरम् ।
 उदयास्तमयोन्मुक्तं स्थितमात्मनि केवलम् ॥ १७
 जगद्भानं दधद्वाहं चिन्नभःस्फटिकाचलः ।
 अनादिमध्यपर्यन्तः स्वच्छ आत्मनि तिष्ठति ॥ १८
 यथा यथान्धकारेण प्रेक्ष्यमाणं प्रणश्यति ।
 किमप्यङ्गाभ्रचक्राभं तथेदं विश्वमात्मनि ॥ १९

भूतं नित्यं सद्ब्रह्म । कुतो वयं जीवाम इति शेषः ॥ ९ ॥
 एवं सति संविदाकाश एव सर्ववादिनां स्वस्याभिमतार्थाकारेण
 प्रथत इति फलितम् । तां विना गत्यन्तराभावादित्याशयेनाह—
 वादिन इति ॥ १० ॥ उक्तमर्थं ब्रह्मवादिनं पुरस्कृत्य प्रपञ्च-
 यति—संविदाकाशमिति ब्रह्म्याम् । ज्ञानं विज्ञानम् ॥ ११ ॥
 केनचिद्देहात्मवादिना । मदिरामदशक्त्याभं देहाकारपरिणत-
 भूतधर्मभूतम् । पुरुषाभिधं सांख्येन । चिदाकाशं योगिना ।
 शिव ईश्वर आत्मा अणुर्जीवश्चेति शैवेन ॥ १२ ॥ एवं वादि-
 भिर्बहुधा विकल्पनेऽपि चितो न काचित्क्षतिः । स्वस्याः
 सर्वविकल्पसाक्षिणीत्वेन निर्बिकल्पत्वादित्याह—चिन्मात्रमिति
 ॥ १३ ॥ चिद्रूपमेव वपुः स्वरूपं यस्य तथाविधस्य मम ॥ १४ ॥
 अस्माकं पितामहाद्या देहा मृतास्तेषां चित्तु न मृता । सापि
 ज्ञियेत चेन्मृतसंविदां तेषां पुनर्जन्मैव न स्यादित्यर्थः । अस्मा-
 कमिति अस्मात्सपि तस्यायसाम्यप्रदर्शनपरतया वा योज्यम्
 ॥ १५ ॥ आकाशस्य संक्षयः किं भवेत्कथं वा भवेत्कथय
 ॥ १६ ॥ एवं संक्षयासंभवे जगद्रूपस्य कचनं प्रथारूपं तच्चि-
 देवाम्बरमविनाशि स्थितम् ॥ १७ ॥ चिन्नभोलक्षणः स्फटि-
 काचलः स्वान्तः स्वयमेव जगद्भानं दधत् स्वतः स्वसाक्षात्कार-
 वहिना तद्वाहं विधाय स्वच्छ आत्मनि तिष्ठति । यथा स्वच्छः
 स्फटिकाचलः स्वान्तः प्रतिबिम्बवर्तनं प्राग्दधत्कदाचित्प्रतिबि-
 म्बवद्विभावमिव प्राप्तेन स्वेनैव तद्वनं दग्धा स्वरूपमात्रे अब-
 तिष्ठते तद्वदित्याशयः ॥ १८ ॥ यथा यथा ज्ञानप्राप्त्यर्थं तथा
 तथा साज्ञानस्य जगतो नाशे इष्टान्तमाह—दृश्येति । अन्ध-
 कारेण निशि संपादितं किमपि अन्नचक्राभं जगदावरणमुपसि
 प्रेक्ष्यमाणं यथा यथा क्रमादिशेषं प्रणश्यति तथा अज्ञानान्ध-

यथाभ्युधिः स्वयं याति तोयाद्यावर्तकादिकम् ।
 स्थितो दशसथैवेदं विदाकाशोऽङ्गमात्मनि ॥ २०
 चिन्मात्रमेव पुरुषः स्वत्स च न भवति ।
 कदाचनपि तद्वयं वक्ष्यामीति शोकित ॥ २१
 देहादेहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः ।
 मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्याने विषीदथ ॥ २२
 मृतश्चेन्न भवेद्भूयः सोऽत्रान्युपचयो महान् ।
 भावाभावप्रहोत्सर्गज्वरः प्रशममागतः ॥ २३
 मरणं जीवितं तस्मान्न दुःखं न सुखं यतः ।
 नास्त्येवैतच्चिदाकाशः किलेत्यमभिरुम्भते ॥ २४
 मृतस्य देहलाभश्चेन्न एव तदुत्सवः ।
 मृतिर्नाशो हि देहस्य सा मृतिः परमं सुखम् ॥ २५
 मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्भ्राम्यसंक्षयः ।
 भूयः शरीरलाभश्चेन्न एव तदुत्सवः ॥ २६
 कुकर्मभ्योऽथ भीतिश्चेत्सा समेह परत्र च ।
 तानि मा कार्षं भोस्तस्माद्भोक्तव्यसिद्धये ॥ २७

मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति भावसे ।
 मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति वेदसे ॥ २८
 क नाम जन्ममरणे क भवाभवभूमयः ।
 संविदात्मकमेवेदं व्योम व्योम्नि विवर्तते ॥ २९
 संविदाकाशमात्रात्मा पितृ भुङ्क्वास्व निर्ममः ।
 आकाशकोशकान्तस्य कुत इच्छोदयस्तव ॥ ३०
 स्वप्रवाहबलोद्युक्तदेशकालवशादितान् ।
 भावान्भुङ्क्तेऽभयो भव्यः पावनान्पावनादपि ॥ ३१
 मध्यमध्यगतान्दोषान्देशकालवशोदितान् ।
 अनादृत्यान्तरेवास्ते सुतधीरवहेलयन् ॥ ३२
 न दुःखमेति मरणात्सुखमेति न जीवितात् ।
 नाभिवाञ्छति न द्वेष्टि स तदास्ते विवासनः ॥ ३३
 मरणजीवितजन्मजरत्तृणा-
 न्यविमृशन्विगतैरुच्छमवासनः ।
 विदितवेद्य इहाह इवोदितो
 वसति वीतभयस्त्वबलो यथा ॥ ३४

इत्यार्षे श्रीवसिष्ठमहाराजायने वाल्मीकीये दे० सो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमोपदेशो नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

द्वाधिकशततमः सर्गः १०२

श्रीराम उवाच ।
 परिहाते परे वस्तुन्यनादिनिधनात्मनि ।
 संपद्यते वद ब्रह्मन्कीदृशः पुरुषोत्तमः ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 शृणु संपद्यते कीदृग्ज्ञातज्ञेयो नरोत्तमः ।
 कारणे कृतमिदं विश्वमपीत्यर्थः ॥ १९ ॥ यथा स्वयमेव तोय-
 प्रवाहस्तरङ्गादिष्वावर्तकफेनबुद्बुदादिकमङ्गं दधत्स्थितस्वयैव चि-
 दाकाशोऽप्यात्मनि जगद्गङ्गं दधत्स्थित इत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥
 जीर्णदेहत्यागेन नवतरदेहप्राप्तिनिमित्ते मरणे उपस्थिते हर्षं
 एवोचितो न शोक इत्याह—देहादिति ॥ २२ ॥ यदि पुन-
 र्जन्म नास्त्येवेति वो भ्रमस्तथापि विषादो नोचितः । मरणा-
 देव सर्वानन्यप्राप्तिनिवारणादित्याह—मृत इति । उपचयः पुरु-
 षार्थोत्कर्षः ॥ २३ ॥ इत्थं जन्ममरणयोः सतोरपि यत्र न
 दुःखप्रसक्तिस्तत्रान्तमसतोक्तयोर्दूरे तरप्रसक्तिरित्याद्येनोप-
 संहरति—मरणमिति ॥ २४ ॥ मृतस्य देहलाभोऽस्ति वा
 न वेति संदेहादेव मरणाद्भयमिति मन्वानं प्रति उक्तमेवार्थं
 भङ्गवन्तरेणाह—मृतस्येति । हि यस्मान्मृतिर्जरारोगादिप्रसक्तस्य
 काराणहकल्पस्य पूर्वदेहस्य नाशः ॥ २५ ॥ अत एव कोऽन्यन्त-
 रेऽपि सा तथैवेत्याह—मृतिरिति ॥ २६ ॥ मरणोत्तरं कु-
 र्मिणां नरकादिभ्रवणाद्भयमिति चेज्जीवतामपि तेषां राजदण्डा-
 दिवशादत्युत्कटानामिहैव फलदर्शनात् भयं तुल्यमिति कु-
 कर्माण्येव मा कुर्वित्याह—कुकर्मभ्य इति । मा कार्षं मा कार्षाः ।
 सिपद्भ्रान्तसोऽकारदेशः ॥ २७ ॥ २८ ॥ परमार्थदृष्ट्या तु
 जन्ममरणादिप्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—केति ॥ २९ ॥ ज्ञान-
 पूर्णाणां निरिच्छद्व्यवहाराद्य कदापि दुःखप्रसक्तिरित्याह—स्त्वि-
 यो० वा० १६४

यावज्जीवं कथं चैव किमाचारोऽवतिष्ठते ॥ २
 उपला अपि मित्राणि बन्धवो वनपादपाः ।
 वनमध्ये स्थितस्यापि स्वजना मृगपोतकाः ॥ ३
 आकीर्णं शून्यमेवास्य विपद्भ्यातिसंपदः ।
 स्थितस्यापि महाराज्ये व्यसनान्येव सूत्सवाः ॥ ४
 दाकाशेति ॥ ३० ॥ स्त्रीयप्रवाहबलेन प्रसक्तादुद्युक्तात्प्रयत्नादेश-
 कालवशात् इतान्प्राप्तान् भावान्शब्दादिविषयांस्तेष्वपि पावनान्पाव-
 नादपि पावनान्भुङ्क्ते न मनोमालिन्यविक्षेपहेतूनित्यर्थः । 'पावनान्पादपो
 यथा' इति पाठे स्पष्टम् ॥ ३१ ॥ मध्ये मध्ये देशकोभुक्तिश्चादि-
 कालेऽप्यस्य न दुःखप्रसक्तिस्तदा कश्चिदेकान्तपर्वतगुहाद्यै
 समाधिद्युत्तानुभवेन तत्कालवहेलनसंभवादित्याह—मच्छेति ।
 अन्तर्निर्विकल्पसमाधीं सुतधीः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ सर्गोक्तमर्थं
 संक्षिप्योपसंहरति—मरणेति । मरणादिलक्षणानि जरत्तृणानि
 अविमृशन्विदितवेद्योऽप्यज्ञोऽतिमूढ इव वीतभयः सन्नबल्ये
 यथा तथा वसतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति श्रीवसिष्ठमहाराजायने-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमोपदेशो नामैकाधि-
 कशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥
 भूयोऽपि बुद्धतरवस्व वष्यते लक्षणावलिः ।
 तदभ्यासदृढत्वेन बोधदार्ढ्यं भवेदिति ॥ १ ॥
 कीदृशः किलक्षणविशिष्टः संपद्यते ॥ १ ॥ कथंस्वभावः
 किमाचारश्चावतिष्ठते तच्छृणु ॥ २ ॥ तत्र स्वभावभूताभ्यान्त-
 राणि लक्षणानि प्रथमं वक्तुमुपक्रमते—उपला अपीत्यादिना ।
 मित्रादिषूपलादिषु च संयोगवियोगादिषु तुल्यान्तःस्वस्तिरि-
 त्यर्थः ॥ ३ ॥ आकीर्णं जनसंकुलं स्थानम् । विपदो भवन्-
 न्धादिनाशाः । व्यसनानि वधबन्धनपारवश्यादिषुः सति ।

असमाधिः समाधानं दुःखमेव महत्सुखम् ।
 व्यवहारोऽपि सन्मौनं कर्माण्येवात्यकर्मता ॥ ५
 जाग्रदेव सुषुप्तस्थो जीवन्नेव मृतोपमः ।
 करोति सर्वमाचारं न करोति च किञ्चन ॥ ६
 रसिकोऽत्यन्तविरसो निर्घृणो बन्धुवत्सलः ।
 निर्दयोऽत्यन्तकरुणो वितृष्णस्तृष्णयान्वितः ॥ ७
 सर्वाभिनन्दिताचारः सर्वाचारबहिष्कृतः ।
 वीतशोकभयायासः सशोक इव लक्ष्यते ॥ ८
 तस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते तु सः ।
 परमुद्वेगमापन्नः संसृतौ रसिकोऽपि सन् ॥ ९
 नाभिनन्दति संप्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
 आस्तेऽनुभूयमानेऽर्थे न च हर्षविषादयोः ॥ १०
 दुःखिते दुःखितकथः सुखिते सुखसंकथः ।
 आस्ते सर्वास्वस्थासु हृदयेनापराजितः ॥ ११
 कर्मणः सुकृतादन्यदस्मै किञ्चिन्न रोचते ।
 स्वभाव एव महतां ननु यन्न विचेष्टितम् ॥ १२
 नालम्बते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित् ।
 नार्थेषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत् ॥ १३
 यथा शास्त्रव्यवहृतेः सुखदुःखैः क्रमागतैः ।

सूक्तवा महोत्सवसमाः ॥ ४ ॥ व्यवहारो वाचिकः । कर्माणि
 क्रियाकानि ॥ ५ ॥ सुषुप्तसदृशे निर्विकल्पात्मनि तिष्ठतीति
 सुषुप्तस्थः । अशरीरारम्भावस्थितेर्मृतोपमः । अकर्त्रात्मप्रतिष्ठ-
 त्वात्न करोति ॥ ६ ॥ विषयसुखेष्वप्यात्मसुखमात्रतादृशा
 रसिकः । विषयदृशा त्वत्यन्तविरसः । स्वीयताबुध्यभावाच्चि-
 र्घृणः । स्वामताबुद्ध्या तु निरुपाधिप्रेम्णा बन्धुषु वत्सलः ।
 दयाविषयद्वितीयादर्शनाच्चिर्दयः । स्वदेहोपम्येन परशरीरेऽपि
 सुखदुःखदर्शनादत्यन्तकरुणः । एवं पूर्णत्वात्स्वयं वितृष्णः ।
 अज्ञानोद्धारस्वभावात्तद्वितृष्णयान्वितः ॥ ७ ॥ किमाचा-
 रोऽवतिष्ठते इति पृष्ठानि बाह्यलक्षणान्याह—सर्वेति । अज्ञ-
 नदुःखदर्शनात्ताननुशोचन् सशोक इव लक्ष्यते ॥ ८ ॥ नोद्विजते
 न बिभेति । उद्वेगं भयम् ॥ ९ ॥ अनुभूयमानेऽपि हर्षविषा-
 दहेतावर्थे तयोर्नास्ते ॥ १० ॥ सुखदुःखाभ्यामपराजितः
 अनभिभूतः । सहिष्णुरिति यावत् ॥ ११ ॥ नन्विति संबोधने ।
 न विचेष्टितमशास्त्रीयचेष्टावर्जनं यत् तन्महतां स्वभाव एव ।
 'यन्नविचेष्टितम्' इति पाठे शास्त्रीययत्नमात्रप्रयुक्तं विचेष्टितम्
 ॥ १२ ॥ रसिकताभासकम् । नीरसतां निष्प्रणयताम् । अ-
 र्थेषु धनेषु अर्थो उपयाचको भूत्वा न विचरति ॥ १३ ॥
 सुखदुःखैरनागतोऽसंसृष्टोऽप्यायाति स्पृशतीव । ततो हर्ष
 विषादितां वा नायात्येव ॥ १४ ॥ सुखदुःखाभ्यां स्पृश्यत
 इवेति यदुक्तं तल्लिङ्गोपदर्शनेन विवृणोति—संप्रहृष्टाञ्चेति ।
 'न हर्षं न विषादिताम्' इत्युक्तिमपि हेतूपदर्शनेन विवृणोति—
 न स्वभावमिति । स्वभावं निरतिशयानन्दप्रतिष्ठाप्रयुक्तं धैर्यम् ।
 तथा च संप्रहृष्टादिलिङ्गविडम्बनं तेषां नटविडम्बनतुल्यं कलित-

अनागतोऽपि चायाति न हर्षं न विषादिताम् ॥ १४
 संप्रहृष्टाञ्च लक्ष्यन्ते लक्ष्यन्ते दुःखितास्तथा ।
 न स्वभावं त्यजन्त्यन्तः संसारारभटीनटाः ॥ १५
 आत्मीयेष्वर्षजातेषु मिथ्यात्मसु सुतादिषु ।
 बुद्बुदेष्विव तोयानां न ह्येहस्तस्वदर्शिन्याम् ॥ १६
 अस्मिन् एव सुषुप्तस्नेहार्द्रहृदयो यथा ।
 वत्सलां दर्शयन्वृत्तिं हस्तिष्ठति यथाक्रमम् ॥ १७
 वायूनिव प्रवाहस्थाः स्पृशन्ति विषयान्मुधा ।
 देहसत्ताविषयान्मूढा लीयन्ते विषयोदरे ॥ १८
 बहिः सर्वसमान्चारमन्तः सर्वार्थशीतलम् ।
 नित्यमन्तरनाविष्ट आविष्ट इव तिष्ठति ॥ १९
 श्रीराम उवाच ।
 स्वरूपमीदृशं तस्य को वेत्ति मुनिनायक ।
 वद् सत्यमसत्यं वा भवत्यज्ञो ह्यपीदृशः ॥ २०
 अश्वत्थस्य चर्येण चरन्तोऽचारुचेतसः ।
 मिथ्यातपस्विदार्याय भवन्त्येवंविधा मुने ॥ २१
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 असत्यं वास्तु सत्यं वा स्वरूपं वरमीदृशम् ।
 विद्धि वेदविदां त्वेष स्वभावानुभवस्थितः ॥ २२

मित्याशयेन विशिनष्टि—संसारारभटीनटा इति ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ १७ ॥ अज्ञास्तु न सुषुप्तदनासक्त्या विषयान्भोक्तुं
 जानन्तीत्याह—वायूनिवेति । ते हि देहात्मनैव या स्वसत्ता
 तल्लक्षणाद्विषयान्मूढाः संतापमूर्च्छिता इव कामादिसंतापशान्तये
 अत्यासक्त्या विषयोदरे लीयन्ते । तथा लीना अपि प्रतप्तवैत-
 रणीनरीप्रवाहस्था नारकिपुरुषा उपरिभागेन वायूनिव विषयान्
 किञ्चिदेव मुधा स्पृशन्ति न तत्त्वतः कात्स्न्येन विषयमनुभूय
 विभ्रमिन्तुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ सर्वैः क्षिप्रैः सम आ-
 चारो यस्यां स्थितौ, सर्वे अर्थाश्च शीतला यस्यामिति द्वे
 अपि स्थितिक्रियाविशेषणे । तिष्ठति तत्त्वविदिति शेषः ॥ १९ ॥
 उक्तैर्लक्षणैस्तस्वज्ञपरिचयो दुर्घटः मूर्खदाम्बिकवन्नकतापसे-
 ष्वपि ह्यतसंपादितानामेषां लक्षणानां दर्शनादिति रामः
 शङ्कते—स्वरूपमिति । ईदृशमुक्त्वलक्षणपरिचयं स्वरूपं सत्यम-
 थवा असत्यं दम्भादिपरिकल्पितं वेति को वेदितुं शक्नोति ।
 हि यतः अज्ञोऽपि दाम्बिक ईदृशस्त्वदुक्त्वलक्षणवान्भवति
 लोके इत्यन्वयः ॥ २० ॥ अचारुचेतसो विद्वरसादृश्यविडम्ब-
 नेन तादृशमानपूजादिसापेक्षचित्ताः । तपस्विशब्देन तथा
 ह्यातिर्लक्ष्यते । मिथ्यापरिकल्पितस्वतपस्विताप्रख्यातिदार्याये-
 त्यर्थः ॥ २१ ॥ दम्भार्थमपि दृढोक्तान्येतानि लक्षणानि
 शुभोदकाप्येवेति न तल्लक्षणवतामुपेक्षा कार्या । यतस्सादृशानाम-
 नुसरणे स्वभावसिद्धलक्षणसंपन्नस्तत्त्वविदपि देवालम्ब्यत इत्या-
 शयेन श्रीवसिष्ठ उत्तरमाह—असत्यं वेति । ईदृशमुक्त्वलक्षण-
 संपन्नं स्वरूपं वरं दुर्लभत्वाच्छ्रेष्ठम् । वेदविदां वेदार्थतत्त्वविदां
 तु एव लक्षणकलापः स्वभावानुभववत्त्वादेव स्थितः प्रतिष्ठितो

अनाविष्टा विचेष्टन्ते वीतरागाः सरागवत् ।
 गतदासा हसन्त्यहान्सहसा करुणाकुलाः ॥ २३
 चित्तादर्शगतं दृश्यं सर्वं कपटकुट्टिमम् ।
 पश्यन्त्यसत्परिज्ञातं स्वप्ने हेमेव हस्तगम् ॥ २४
 अन्तःशीतलतामेषां तां न जानन्ति केचन ।
 दुराचन्दनदारुणामामोदमिव जन्तवः ॥ २५
 ये तु विज्ञातविज्ञेयास्तादृशाः पावनाशयाः ।
 जानन्ति तांस्तथैवान्तरहेः पादानिषाहयः ॥ २६
 भावं निगूह्यन्त्येते तमुत्तममनुत्तमाः ।
 ग्राम्यैर्धनैः किलानर्घ्यैः कश्चिन्तामणिरापणे ॥ २७
 तस्मिन्निगूहने भावो यतस्तेषां न दर्शने ।
 निर्वासना गतद्वैता गतमानाः किलाङ्ग ते ॥ २८
 एकान्तामानदौर्गत्यजनावहसयस्तु तान् ।
 सुखयन्ति यथा राम न तथैव महर्षयः ॥ २९
 स्वसंवेदनसंवेद्यसारा विदितवेद्यता ।
 नैषा दर्शयितुं शक्या दृश्यते न च तद्विदा ॥ ३०
 गुणं ममेमं जानातु जनः पूजां करोतु मे ।
 इत्यहंकारिणामीहा न तु तन्मुक्त्वात्तसाम् ॥ ३१
 क्रियाफलानि चिद्धोमगमनादीनि राघव ।
 अज्ञानामपि सिध्यन्ति मन्त्रौषधिवशादिह ॥ ३२
 यो यादृक् क्लेशमाधातुं समर्थस्तादृगेव सः ।
 अवश्यं फलमाप्नोति प्रबुद्धोऽस्तवज्ञ एव वा ॥ ३३

न ह्यत्रसंपादित इत्यर्थः ॥ २२ ॥ अनाविष्टाः क्रियाफलेष्वन-
 भिनिविष्टाः ॥ २३ ॥ सर्वं दृश्यं चित्तादर्शगतं कपटकुट्टिमक-
 ल्पमसत्पश्यन्ति ॥ २४ ॥ २५ ॥ यद्यपि तत्त्ववित्स्वरूपमज्ञा ज्ञातुं
 न शक्नुवन्ति तथापि तत्त्वविदो जानन्त्येवेत्याह—ये त्विति ।
 पादान् पदानि ॥ २६ ॥ दाम्भिकस्तु लक्षणानि प्रख्यापयन्ति ।
 तत्त्वज्ञास्तु निगूह्यन्तीत्यनेन विशेषेण वा ते परिचेया इत्याशये-
 नाह—भावमिति । किमर्थं निगूह्यन्ति तत्राह—ग्राम्यैरिति ।
 ग्राम्यैर्ग्रामनगरादिषु भवैर्धनैरनर्घ्यैः केतुमशक्यश्चिन्तामणिः
 आपणे कः प्रसार्यते । न कश्चिदित्यर्थः ॥ २७ ॥ आपणप्रसार-
 णच्छिन्नं नायं चिन्तामणिरिति ब्रह्मात्स्वगुणप्रख्यापनच्छिन्नं
 दाम्भिकोऽयं न तत्त्वविदिति ज्ञेयमित्याशयेनाह—तस्मिन्निति ।
 तेषां तत्त्वविदां तस्मिन्स्वगुणादौ विषये निगूहने एव भाव-
 स्तात्पर्यं न तु दर्शनपरेभ्यः प्रख्यापने । यतस्ते निर्वासनाः
 ख्यातिमानादिरागवासनाशून्याः । अज्ञेयामन्त्रणे ॥ २८ ॥
 किमर्थं ते ख्यात्यादि नेच्छन्ति तत्राह—एकान्तेति । ख्याति-
 मानधनादिसमृद्धौ जनसमाजाभिमानाद्यनर्थसहस्रैर्विक्षेपे आ-
 त्मसुखानुभवविच्छेदापत्तेरिति भावः । अमानं पूजावर्जनम् ।
 दौर्गन्धमकिञ्चनता । जनैरवज्ञस्योऽवज्ञाः ॥ २९ ॥ वा विदि-
 तवेद्यता सा स्वसंवेदनेन स्वानुभवेनैव संवेद्यः सारो निरतिश-
 यानन्दो यस्मां सा । एषा अनर्थं प्रति दर्शयितुं न शक्या ।
 यतस्तद्विदामि सा न दृश्यते न दृक्शक्यीक्रियते किंतु स्वप्रकाश-

आमोदश्चन्दनस्येव स्पन्दनस्य फलं हृदि ।
 सर्वस्यैवास्ति तन्नूनं तद्वता समवाप्यते ॥ ३४
 अहंतावासनाद्वैतं वस्तुता दृश्यवस्तुषु ।
 यस्यास्त्यसौ साधयति खगमादिक्रियाफलम् ॥ ३५
 इदं न किञ्चिद्भ्रान्तिर्वा खं चेति हस्तु वेत्ति यः ।
 सोऽवासनः कर्मधात्याः कथं साधयति क्रियाः ॥ ३६
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
 न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाधयः ॥ ३७
 न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा कश्चित् ।
 यदुद्धारमनोवृत्तेर्लोभाय विदितात्मनः ॥ ३८
 जगदेव तृणं यस्य न किञ्चिद्रज एव वा ।
 किं नाम तस्य भवतु अन्यदादेयतां गतम् ॥ ३९
 निर्वाहितजगद्यात्रः परिपूर्णमना मुनिः ।
 यथास्थितमसावास्ते संप्रयाति यथागतम् ॥ ४०
 नित्यान्तःशीतलो मौनी सन्धीभूतमनोवनिः ।
 परिपूर्णार्णवाकारो गम्भीरप्रकटाशयः ॥ ४१
 रसायनपरापूर्णहृदयत् ह्लादमात्मनि ।
 धत्ते करोति वान्यस्य सकलेन्दुरिवामलः ॥ ४२
 मन्दारमञ्जरीकुञ्जपिञ्जरा देवभूमयः ।
 न तथा ह्लादयन्त्येता यथा पण्डितबुद्धयः ॥ ४३
 चन्द्रबिम्बैर्धसन्तैश्च महतामहताशयैः ।
 सारं सौभाग्यसौगन्ध्यसौरभालोकभोगिषु ॥ ४४

तथैव स्वयं प्रयत इत्यर्थः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ व्योमगमना-
 दीनि मन्त्रजपादिक्रियाफलानि अज्ञानामपि सिध्यन्ति । वि-
 दिति निपातो बाहुल्यद्योतनार्थः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ स्पन्दनस्य
 विहितनिषिद्धकर्मणां फलं स्वहृद्येव सर्वस्यापि जन्तोरपूर्वात्मना
 अस्ति । तच्च कालेनाविर्भूतं समवाप्यते ॥ ३४ ॥ सिद्धिलक्षण-
 दृश्यवस्तुषु अहं भोक्ता स्यामित्यहंतावासनालक्षणं द्वैतं परि-
 च्छिन्नात्मकल्पनं यस्यास्ति स खेचरसिद्ध्यादिक्रियाफलं साधय-
 तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ इदं सिद्धिजातं न किञ्चित्कुच्छं भ्रान्तिर्मनो-
 भ्रममात्रं स्वमधिष्ठानविदाकाशमात्रं वेति यस्तु ज्ञो वेत्ति अवा-
 सनः स तत्त्वज्ञः कर्मधात्या भ्रमणप्रायखेचरादिसिद्धिफला मन्त्रौ-
 षधादिक्रियाः कथं साधयति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ का-
 त्तर्यपर एवकारः । कृच्छं जगद्यस्य तृणं रजो न किञ्चिदेव वा
 तस्य धीरस्यान्यदनात्मभूतं किमादेयतां गतमुपादेयमस्तु । न
 किञ्चिदित्यर्थः ॥ ३९ ॥ निर्वाहिता जगद्यात्रा लोकसंप्रहार्थप्र-
 वृत्तिर्यस्य । यथा आगतं यथाप्राप्तं विद्याचारं संप्रयाति अनु-
 सरति ॥ ४० ॥ ४१ ॥ स्वयं ह्लादं धत्ते अन्यस्य च करोति
 ॥ ४२ ॥ ह्लादकारित्वं तस्य विशदयति—मन्दारेति । देवभू-
 मयो नन्दनादयः । पण्डितबुद्धयो बोधनैरित्यर्थः ॥ ४३ ॥
 सारग्राही हि विवेकी सुरभिर्गोष्मर्तुस्त्वसंबन्ध्यालोकभोगिषु
 चन्द्रबिम्बैः सारमादत्ते, सौगन्ध्यभोगिषु वसन्तैः सारमादत्ते,
 सौभाग्यभोगिषु महतां तत्त्वविदां अहतैः रामायण्युपहृतेः

भ्रान्तिमात्रमिवं विश्वमिन्द्रजालमसन्मयम् ।
 त्यजतीति विनिश्चित्य दिनानुदिनमेषणाः ॥ ४५ ॥
 शीतातपादिदुःखानि निजदेहगतान्यपि ।
 अन्यदेहगतानीष हः पश्यत्यवहेलया ॥ ४६ ॥
 करुणोदारया वृत्त्या वृत्त्या व्रततिषीरया ।
 नीरसो नीरसारां तु सारतां सरति स्थितिम् ॥ ४७ ॥
 व्यवहारं यथाप्राप्तं लोकसामान्यमाचरन् ।
 खराचराणां भूतानामुपर्येवावतिष्ठते ॥ ४८ ॥
 प्रज्ञाप्रासादमारूढस्त्वशोक्यः शोचते जमान् ।
 भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वाभ्रजोऽनुपश्यति ॥ ४९ ॥
 चिरं कल्लोलवलितः सुमना जलधौ भ्रमे ।
 परं पारमुपागत्य परां विभ्रान्तिमेति सः ॥ ५० ॥
 हसन्स शान्तया वृत्त्या प्राक्तनीर्जागतीर्गतीः ।
 स्मयमान इवास्तेऽन्तर्जनताश्च घनभ्रमाः ॥ ५१ ॥
 यताः कास्तारनिर्मग्नमिताः संसारदृष्टयः ।
 असत्यो हृतवत्यो मामित्यन्तर्याति विस्मयम् ॥ ५२ ॥
 दृष्ट्याष्टगुणमैश्वर्यमनिष्टं मे तृणायते ।
 इत्युपैत्युपशान्तत्वात्स्मयमानोऽपि न स्मयम् ॥ ५३ ॥
 कश्चिद्विरिगुहागेहः कश्चित्पुण्याभ्रमाभ्रयः ।

कश्चिद्दृष्ट्याभ्रमघान्कश्चिद्दुरटस्थितः ॥ ५४ ॥
 कश्चिद्भिन्नाचराचारः कश्चिदेकान्ततापसः ।
 कश्चिन्मौनव्रतधरः कश्चिद्व्यामपरायणः ॥ ५५ ॥
 कश्चिद्विपश्चिद्विश्वातः कश्चिच्छ्रोता श्रुतेः स्मृतेः ।
 कश्चिद्राजा द्विजः कश्चित्कश्चिद्वक्त्र इव स्थितः ॥ ५६ ॥
 गुटिकाजनखङ्गादिसिद्धः कश्चिदभ्रमोगतः ।
 कश्चिच्छिल्पकलाजीवी कश्चित्पामररूपभृत् ॥ ५७ ॥
 कश्चित्स्यक्तसमाचारः कश्चिच्छ्रोत्रियनायकः ।
 कश्चिदुन्मत्तचरितः प्रव्रज्यां कश्चिदश्रितः ॥ ५८ ॥
 पुरुषो न शरीरादि न च चित्तादि किञ्चन ।
 पुरुषभेतनं नाम न स नश्यति कर्हिचित् ॥ ५९ ॥
 अच्छेद्योऽसावदाहोऽसावक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
 नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽसौ सनातनः ॥ ६० ॥
 इति सम्यक्प्रबुद्धो यः स यथा यत्र तिष्ठति ।
 तथा तिष्ठतु तत्रात्र स्थानास्थानियमेन किम् ॥ ६१ ॥
 पातालमाविशतु यातु नभो विलङ्घ्य
 दिङ्मण्डलं भ्रमतु पेष्णमेव येन ।
 चिन्मात्रमेतदजरं न तु यातु नाश-
 माकाशकोश इव शान्तमजं शिवं तत् ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० मरणाद्यभावोपदेशो नाम द्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

भाष्यैः सारमादत्त इति द्वन्द्वनिर्दिष्टानां व्युत्क्रमेण संबन्धः ।
 तैरेव हि तत्सारो लभ्यो नान्यत्रान्यैरुपायैरित्यर्थः ॥ ४४ ॥
 महतामाशयैः कं सारमादत्त इति चेत्प्रथमं जगन्मिथ्यात्वदर्श-
 नात्कामात्सर्वेषणात्यागमित्याह—भ्रान्तिमात्रमिति ॥ ४५ ॥
 ततः शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुतालक्षणं सारमादत्ते इत्याह—शी-
 तेति ॥ ४६ ॥ तदनन्तरं सर्वभूतानुकम्पास्वरूपदृढावलम्बनं
 यथाप्राप्तेन जलमात्रेणापि संतोष इत्यादिगुणसारमादत्ते
 इत्याह—करुणेति । इत्थं नीरसो विरक्तः सः करुणया उदारा
 वृत्तिः सर्वस्वव्ययेनाप्यार्तपरिपालनव्रतं तथा । व्रततिर्लता तद्व-
 दीरया वृत्त्या परार्थैकप्रयोजनच्छायाफलपुष्पादिसंग्रहः स्वत-
 रुदृढावलम्बो जलमात्रेणापि यथाप्राप्तेन संतोष इत्येवंरूपया
 वृत्त्या नीरमात्रमपि सारः संतोषहेतुर्यस्यां स्थितौ तादृशस्थि-
 तिरुपां सारतां सरति ॥ ४७ ॥ उपरि उत्कर्षे ऊर्ध्वमूलभूते
 प्रद्वग्नि वा ॥ ४८ ॥ उपरिस्थितिमेव दर्शयति—प्रवेति ॥ ४९ ॥
 तदैवासौ चिरप्रवृत्तरागादिविक्षेपदुःखेभ्यो मुक्तः सम्यक्विभ्र-
 म्यतीत्याह—चिरमिति । कल्लोलैः षड्भिर्भिर्बलितो विक्षिप्तः
 ॥ ५० ॥ ५१ ॥ कान्तारे मार्मभ्रंशेन निर्यमो योऽम्बुस्तेन
 मीता उपमिताः । इतवत्यो मोहितवत्यः ॥ ५२ ॥ इति एवं
 ज्ञात्वा स्मयमान ईषदसन्नपि स्मयं गर्वं नोपैति ॥ ५३ ॥
 तस्य स्थानादिनियमोऽपि नास्तीत्याह—कश्चिदिति । अटन्

रटन् इति वा छेदः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥
 रामप्रभवाक्ये कीदृशः पुरुषोत्तम इति पदं श्रुत्वा तदर्थजिज्ञा-
 सामपि संभावयन्पुरुषं वर्णयंस्वदुत्तमतां दर्शयति—पुरुष
 इति । न स नश्यतीत्यविनाशित्वात्स एवोत्तम इत्यर्थः ॥ ५९ ॥
 छेदभेदादिविनाशहेत्वसंस्पर्शादिभिरपि स एवोत्तम इत्याह—
 अच्छेद्य इति ॥ ६० ॥ एतादृशपुरुषोत्तमतत्त्वपरिज्ञानादेव
 तत्त्ववित्पुरुषोत्तमो न तु वर्णाभ्रममर्यादापालनमात्रेण । तदभा-
 वेऽपि तस्य पुरुषोत्तमत्वानुपायादित्याशयेनाह—इतीति ।
 स्थानं वर्णाभ्रममर्यादास्थितिस्वदास्थानियमेन तस्य किं साध्य-
 मिति विद्याप्रभावोक्तिरनुत्तमान्यतीन्सालावृक्षेभ्यः प्रायच्छमि-
 तिवत् ॥ ६१ ॥ तस्याविनाशिपुरुषत्वमेव द्रव्यसुपसंहरति—
 पातालमिति । तत्त्वविद्वलात्स्वनाशचिकीर्षया पातालमाविशतु
 नभो विलङ्घ्योर्ध्वं वा यातु दिङ्मण्डलं वा भ्रमतु येन भ्रमणेन
 मानसोत्तरलोकादिकिरिशिक्लासहस्रधर्षणात्पेष्णं संचूर्णन-
 मेव संभाव्यते । 'पेष्णमेव यातु' इति पाठे विरिशिक्लासहस्रैः
 स्वस्य पेष्णं कारयतु वेत्यर्थः । तथाप्येतत्त्ववित्स्वरूपमसङ्ग-
 द्रयं चिन्मात्रमजरमेवेति नार्था न तु याति । यतस्तदाकाशकोश
 इव शिवं निरुपलब्धवित्स्वनिरतिशयानन्दरूपमेवेत्यर्थः ॥ ६२ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तार्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 रार्धे मरणाद्यभावोपदेशो नाम द्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

श्र्यधिकशततमः सर्गः १०३

धीवसिष्ठ उवाच ।

भामात्रं भानमात्रं वा शान्तं भासत एव च ।
 चिन्मात्रं यदनाद्यन्तं तस्य नाशः कथं कदा ॥ १
 तावन्मात्रं च पुरुषः कदाचित्स न नश्यति ।
 यदि नश्यति चिन्मात्रं भूयो जायेत किं कथम् ॥ २
 न चान्यदन्यच्चिन्मात्रं कश्चित्किञ्चन कस्यचित् ।
 सर्वानुभवसादृश्ये कीदृशी नाम सान्यता ॥ ३
 सर्वस्यैव हिमं शीतमुष्णोऽग्निर्मधुरं पयः ।
 चिन्मात्रस्यावदातस्य कीदृगन्यत्वमत्र तु ॥ ४
 शरीरनाशे नाशश्चेच्चिन्मात्रस्य तदुच्यताम् ।
 हर्षस्थाने विषादः किं मरणे संसृतिक्षये ॥ ५
 न च नाम शरीरस्य नाशे नश्यति चिन्मभः ।
 देहे नष्टेऽपि बन्धूनां म्लेच्छेर्दृष्टा पिशाचता ॥ ६

चितो नित्यत्वमेकत्वं स्वातन्त्र्यमपि साध्यते ।

सच्छास्त्रस्यास्य माहात्म्यं हितं चात्रोपदिश्यते ॥ १ ॥

तत्र चित्तसामान्यस्याविनाशित्वं सर्वानुभवबलेन प्रथमं सा-
 धयति—भामात्रमिति । जाग्रत्स्वप्रयोरन्तःकरणसाक्षितया सु-
 पुसावज्ञानस्वापादिसाक्षितया च प्रत्यगात्मभामात्रं विषयभान-
 नमात्रं वा सर्वेषां भासत एवेति प्रत्यक्षेण चकाराद्यवहारस्मृ-
 त्यादिलिङ्गेन च यदनाद्यन्तं चिन्मात्रं तत्सिद्धं तस्य कथं केन
 निमित्तेन नाशो भवेत् तदसाक्षितस्य निमित्तस्याप्रसिद्धेस्तत्सा-
 धितस्य च तदुपजीवकतया तन्नाशनिमित्तत्वायोगादेवं कदा
 वा नाशो भवेत् । तादृशकालस्यापि तदधीनसिद्धिकस्य तदुप-
 जीवकत्वादिति भावः ॥ १ ॥ भवतु चिन्मात्रमविनाशि पुरु-
 षस्य किमायातं तत्राह—तावन्मात्रमिति । तन्नाशे भ्रमे सृष्टि-
 रेष न स्वात्साक्षिकसर्गासिद्धेरित्याह—यदीति ॥ २ ॥ ननु
 चिदन्तरमुत्पत्स्यते ततः सर्गः प्रवर्त्यति तत्राह—न चेति ।
 औत्तरकालिकयाधितः पूर्वचितो भेदः किं मध्ये विच्छेदानुभ-
 वात्कल्पयेत उत वैलक्षण्यात् । न तावद्विच्छेदानुभवादनुभवस्यैव
 चित्त्वात्सद्भावे विच्छेदासिद्धेः । नापि वैलक्षण्यम् । अवि-
 त्वापत्तेः । सर्वाशे अनुभवस्य पूर्वोत्तरकालयोः सादृश्ये सा
 अन्यता भिन्नता कीदृशी नाम । अलीकेत्यर्थः ॥ ३ ॥ काल-
 भेदापि पुरुषभेदादपि चितो न भेदः । द्विमशैत्यादिविषये-
 ष्विव नित्यपि वैलक्षण्याननुभवादेवेत्याह—सर्वस्यैवेति ॥ ४ ॥
 ननु बुद्धुःखानुभवलक्षणविशेषज्ञानातिरिक्तं न चित्तसामान्य-
 मभ्युपगच्छामः । विशेषविज्ञानेषु चावच्छेदकतासंबन्धेन श-
 रीरं कारणं तन्नाशाच्च ज्ञाननाश इत्यभ्युपगच्छतां चावीकवैशेषि-
 कादीनां शब्दानुद्भाव्य निरस्यति—शरीरेति । हर्षस्थाने इति ।
 दुःखप्रागभावासमानकालिकदुःखध्वंस एव हि वो मुक्तिः,
 सा च देहनाशाच्चित्तसामान्यनाशे उत्तरत्र देहदुःखाविसाधका-
 भावादेव सिध्यति । न हि चिदतिरिक्तं तत्साधकमस्ति । न च

यावच्छरीरसत्ता चेत्चेतनस्य तदुच्यताम् ।
 शवः कस्मान्न चलति सत्यस्त्रण्डे शरीरके ॥ ७
 पिशाचानुभवो जीवधर्मश्चेत्तत्स सर्वदा ।
 किं न पश्यति किं बन्धौ मृते पश्यति तत्तथा ॥ ८
 जीवधर्मो विशिष्टश्चेत्सादृशस्तं नरः कथम् ।
 मिथ्या देशान्तरमृते पिशाचत्वं न पश्यति ॥ ९
 तस्मात्सर्वात्मकत्वे तच्चिन्मात्रं न नियन्त्रितम् ।
 यद्यद्यत्र यथा वेत्ति तत्तत्सत्रावगच्छति ॥ १०
 अवाधितैवैकघना संविद्भवति यादृशी ।
 तादृश्येवानुभूतिर्हि तत्त्वभावोऽत्र कारणम् ॥ ११
 अन्यत्र संभवत्यत्र सर्गादावेव कारणम् ।
 यन्नाम तदिदानीं स्यात्कथ्यतां कीदृशं कथम् ॥ १२
 सर्गादावेव नोत्पन्ना न चैवाद्यावभासते ।
 विकल्पश्रीर्जगद्भासा केवलं भाति चिन्मभः ॥ १३

निःसाधकोऽप्रिमदेहः सिध्यति । न च तं विना तत्साधिका
 चित्सिध्यतीति मुक्तिहेतोर्मरणादर्थ एव स्यान्न विषाद इत्यर्थः ।
 ॥ ५ ॥ तद्वस्तु तथेत्याशया मुखं व्याददानस्याशां छिनत्ति—
 न चेति । प्रायेण हि पिशाचा बन्धूनेव बाधन्ते । प्रत्यन्तदेशे-
 ष्वेव बहुधा पिशाचा दृश्यन्त इति द्योतनाय बन्धुम्लेच्छप्रहणम्
 ॥ ६ ॥ किञ्च शरीरनाशाच्चिन्मात्र इत्यसंगतमेव, सत्येव मृतश-
 रीरे चिकित्सितदर्शनविरोधादित्याह—यावदिति । न चलति
 न चेतति ॥ ७ ॥ यदि कश्चिच्चावीको ज्ञयाजीवन
 म्लेच्छजीवधर्म एव पिशाचदर्शनं न मृतम्लेच्छचिदवशेषप्र-
 युक्तः पिशाचस्तत्रास्तीति तदाशङ्कामुद्गम परिहरति—पिशा-
 चानुभव इति । सर्वदा बन्धुमरणं विना स पिशाचं किं न
 पश्यति मृते सत्येव कस्मात्पश्यतीति वक्तव्यो नियमद्वये त्वया
 हेतुरित्यर्थः ॥ ८ ॥ स जीवो बन्धुमरणज्ञानविशिष्टश्चेत्सद्मः
 पिशाचदर्शनमिति तादृशो नियमश्चेत्तत्तथापि जीवत्येव मिथ्या
 देशान्तरमृतेऽन्येन कल्पिते सति तत्पिशाचत्वं नरः कथं न
 पश्यति ॥ ९ ॥ तस्माच्चितो भेदविनाशयोरयोगात्सर्वात्मकत्वे
 सिद्धे सति वस्तुकृतपरिच्छेदेनापि तन्न नियन्त्रितम् । तथाच
 यद्यदस्तु यत्र देशे काले वा वेत्ति स्वात्मानमेव तत्तद्वस्वात्म-
 नावगच्छतीति न तद्वेद्यं पृथगस्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ एवं च स-
 र्गादौ सत्यकामत्वादवाधिता संवित्स्वसंकल्पात्मना यादृश्येव
 भवति तादृश्येवेदानीं सर्वजनानामनुभूतिः ॥ ११ ॥ सत्यसं-
 कल्पब्रह्मसंविदोऽन्यत्रप्रधानपरमाण्वादिकं सर्गादौ कारणं न
 संभवत्येव, यत्कारणं ब्रह्मातिरिक्तं स्यात्तत्कीदृशं कथं च तत्का-
 रणं इदानीं मत्पुरतो वादिभिः कथ्यतां श्रुतियुक्तिभ्यां सद्य एव
 निरसिष्यामीत्यर्थः ॥ १२ ॥ तव तर्हि कीदृशः सिद्धान्तस्त-
 माह—सर्गादावेवेति ॥ १३ ॥ यदि केवलं चिन्म एव
 भासि तर्हि दृश्यमिति सर्वैर्जनैः किमवबुध्यते तत्राह—आभास-

१ तादृशत्वं इति पाठः.

आभासमात्रमेवेदं दृश्यमित्यवबुध्यते ।
 दृश्यमित्यवबोधेन तद्वत् स्यात्क दृश्यता ॥ १४
 स्वचमत्कारचातुर्यं चाह चिन्नभसा रसात् ।
 बोधेन बुध्यते दृश्यमित्यवबोधान्न बुध्यते ॥ १५
 बोधोऽबोधश्च तद्रूपमेवमेव निरामयम् ।
 भेदोऽत्र वाचि न त्वर्थे तस्मात्प्रस्त्येव दृश्यता ॥ १६
 या चासीद्दृश्यतेषां तां सिद्धिं त्वमविचारणाम् ।
 सा चेदानीं विचारेण विनष्टातः क दृश्यते ॥ १७
 अस्मिन्नेव धियो यत्न आत्मज्ञानविचारणे ।
 यत्नेन परमोऽभ्यासः स लोकद्वयसिद्धिदः ॥ १८
 अधिद्योपशमस्त्वेष जातोऽपि भवतामिह ।
 अभ्यासेन विना साधो न सिद्धिमुपगच्छति ॥ १९
 प्रोद्वेगं संपरित्यज्य गृहीत्वानुदिनं क्षणम् ।
 लोकद्वयहितं पश्यमिदं शास्त्रं विचार्यताम् ॥ २०
 विज्ञातमप्यविज्ञातमात्मज्ञानमिदं भवेत् ।
 भवतां भूरिभागानां संभूयाभ्यसनं विना ॥ २१
 योऽयमर्थे प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
 सोऽबुध्यं तमवामोति न चेच्छान्तो निवर्तते ॥ २२
 तस्मादस्माद्विधत्तं भवमसच्छास्त्रविचारणात् ।
 शान्तिं प्राप्स्यथ सच्छास्त्राज्जयलक्ष्मीं यथा रणात् ॥

मात्रमेवेति । विवर्तमात्रमेवेत्यर्थः । दृश्यमित्यवबोधेन गृह्य-
 माणस्यास्य शुक्तिरजतमरुनदीकेशोष्णकादेस्तच्चिन्नभः ऋते क
 ल्यता दृष्टेत्यर्थः ॥ १४ ॥ तथा च चिन्नभसा स्वचमत्कारचा-
 तुर्यमेव दृश्यमिति रसाच्चाप्रस्त्रप्रबोधेन बुध्यते सुषुप्तौ चाबो-
 धान्न बुध्यत इति निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ १५ ॥ तर्हि तौ बोधा-
 बोधौ कौ तत्राह—बोध इति । तस्य चिन्नभस एव रूपं न
 जडस्य । अतस्तदात्मना एकमेव । न हि बोधमन्तरेणावोधस्य
 रूपं प्रसिष्यति । सति च बोधे तत्र नभोयो दुर्लभ इति राहोः
 शिरः शिर एव राहुरितिबद्धात्त्राकृतो भेदो न त्वर्थेऽस्तीत्यर्थः
 ॥ १६ ॥ अथवा स्वतत्त्वाविचारणैव चित्तो दृश्यता विचार-
 नष्टेत्याह—या चेति ॥ १७ ॥ अत एव विचारे एव महा-
 न्यजः कार्य इति बहुशो मयोक्तमित्याह—अस्मिन्नेवेति ।
 यत्नेन विचारस्य किं स्यात्तदाह—यत्नेनेति । लोकद्वये इह वा
 अमुत्र वा ज्ञानसिद्धिदः । तथा च सूत्रे 'आवृत्तिरसकृदुपदे-
 शात्' । 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेन तद्दर्शनात्' इति ॥ १८ ॥
 ननु नित्यापरोक्षे वस्तुनि प्रवृत्तमुपदेशवाक्यं सकृत्प्रवृत्त्यैवा-
 विद्यां शमयित्वा वस्तु प्रकटयिष्यति किमभ्यासेन तत्राह—
 अधिद्योपशम इति । सिद्धिं जीवन्मुक्तिप्रतिष्ठाम् ॥ १९ ॥ तर्हि
 कं ग्रन्थमुपादाय विचारोऽभ्यसनीयः केन वा शीघ्रं प्रबोधः
 सिध्येत्तत्राह—त्रेति । त्रा शमादिसाधनसंपन्नपुरुषेण आलस्य-
 रत्याद्युद्वेगं तद्वैतुयथेष्टाक्षानदुःसजादि च परित्यज्य क्षणं पुरुशु-
 श्रूपादिनियमं गृहीत्वा इदं महारामायणाख्यं शासनाच्छास्त्रम-
 नुदिनं विचार्यताम् ॥ २० ॥ तत्र च बहुभिः सतीर्थैः संभूया-

विवेके चाविवेके च बहुद्वेषा मनोनदी ।
 यत्रैव वाह्यते यत्नात्तत्रैव स्थितिमृच्छति ॥ २४
 अस्माच्छास्त्राद्वत्ते भयो न भूतं न भविष्यति ।
 ततः परमबोधार्थमिदमेव विचार्यताम् ॥ २५
 स्वयमेव विचार्येदं परो बोधोऽनुभूयते ।
 संसाराभवभ्रमहरो न त्वेतद्वरशापवत् ॥ २६
 यद्यपि न वा मात्रा न चापि सुकृतैः कृतम् ।
 श्रेयस्तद्वः परिज्ञातमिदमाशु करिष्यति ॥ २७
 भवबन्धमयी साधो विषमेयं विषूचिका ।
 आत्मज्ञानाद्वत्ते दीर्घा न कदाचन शाम्यति ॥ २८
 महामोहमयी माया मिथ्यैवाहमिति स्थिता ।
 शास्त्रार्थभाषनेनाशु मुच्यतां परशोच्यता ॥ २९
 यात माऽऽपातमधुरं व्योम व्योमैकरूपिणीम् ।
 शून्यं वायुं लिहन्तोऽन्तर्लेलिहाना इवाहयः ॥ ३०
 यान्ति वो दिवसाः कष्टमविज्ञातगमागमाः ।
 व्यवहारे हि तैरेव प्रतिपालयतां मृतिम् ॥ ३१
 तावदाश्वासनेवास्ति भवतां भयभागिनाम् ।
 दिनानि कतिचिद्यावन्नायाति मरणावधिः ॥ ३२
 आगच्छन्त्यां मृतौ कष्टं परितापमवाप्स्यथ ।
 तं यत्राङ्गाङ्गविच्छेदः शीतचन्दनलेपनम् ॥ ३३
 क्रीणन्ति प्राणपण्येन धनं मानं घनभ्रमाः ।

भ्यसनं परस्परानुभवसंवादेन सद्यो ज्ञानप्रतिष्ठाद्वेतुरित्याह—
 विज्ञातमिति । अविज्ञातं विस्मरणादविज्ञातप्रायम् । भूरिभा-
 गानां बहुविधासंभावनाविशाखिनाम् ॥ २१ ॥ ज्ञानं दुर्ल-
 भमित्युद्वेगाच्छ्रवणं न त्याज्यमित्याह—य इति ॥ २२ ॥
 अनात्मशास्त्राभ्यासाच्चित्तैरेतच्छास्त्राभ्यासः कार्य इत्याह—
 तस्मादिति । जयलक्ष्मीं भूजयलक्ष्मीं स्वर्गजयलक्ष्मीं वा ॥ २३ ॥
 यथाद्विरोधिस्रोतोन्तरनिरोधप्रयत्नात् ॥ २४ ॥ श्रेयः प्रशस्य-
 तं विवेकसाधनम् ॥ २५ ॥ तच्छास्त्रं विचार्य स्थितेन स्वयं
 प्रत्यक्षतया आत्मतत्त्वबोधोऽनुभूयते न तु षरवत् शापवद्वा
 कालान्तरविलम्बेनेत्यर्थः ॥ २६ ॥ पितृमात्राद्यपेक्षयापि शास्त्र-
 मेतद्विदितकृतममित्याह—यदिति । विचारेण शास्त्रं परिज्ञातं
 सत् । परिज्ञातं प्रत्यक्षं श्रेय इति वा ॥ २७ ॥ २८ ॥ अह-
 मिति मिथ्यैव स्थिता महामोहमयी माया तत्प्रयुक्ता परा
 शोच्यता च मुच्यताम् ॥ २९ ॥ आपातमधुरं व्योम शून्यं
 विषयजातं लिहन्तः सन्तो व्योमैकरूपिणीमनन्तां संवृतिं मा
 यात लेलिहानाः क्षुधिता रसशून्यं वायुं लिहन्तः अहयः सर्पा
 इव ॥ ३० ॥ ३१ ॥ मरणरूप आयुषोऽवधिर्यावन्नायाति तावदेव
 भवतां सच्छास्त्रावल्म्बनयोग्यतया आश्वासना भस्ति ॥ ३२ ॥
 तदुत्तरं किं भविष्यति तत्राह—आगच्छन्त्यामिति । तं तादृशं
 परितापमवाप्स्यथ यत्र अज्ञानामज्ञानां विच्छेदोऽपि शीतचन्द-
 नलेपनवद्वयं भोक्तव्य इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ घनभ्रमा मूर्खा
 जना युद्धादौ प्राणपण्येनापि धनं जयाभिमानं च क्रीणन्ति ।

यथाशास्त्रैः कथं बुद्ध्या न क्रीणन्त्यजरं पदम् ॥ ३४
 पदं परमयत्नेन क्रियते यैश्चिदम्बरे ।
 कथं तैः सद्यतेऽज्ञानशत्रुपादः स्वमूर्धनि ॥ ३५
 निर्मानमोहमापन्ना गतिं गच्छत माधमाम् ।
 क्रियते स्वात्मबोधेन मूलकापो महापदाम् ॥ ३६
 प्रलपन्तमहोरात्रं युष्मदर्थेन मामिमम् ।
 यं प्रहृश्येदमाकर्ण्य स्वात्मनैवात्मतार्प्यताम् ॥ ३७
 अथैव न चिकित्सां यः करोति मरणापदः ।
 संप्राप्तायां मृतौ मूढः करिष्यति किमातुरः ॥ ३८
 अस्माद्गन्धाहते ग्रन्थो नान्यः स्वात्मावबोधने ।
 नूनमर्थकरो प्राणस्तिलस्तैलार्थिनामिव ॥ ३९
 आत्मज्ञानमिदं शास्त्रं प्रकाशयति दीपवत् ।
 पितेव बोधयत्याशु कान्तेव रमयत्यलम् ॥ ४०
 विद्यमानमपि ज्ञानं ज्ञातं शास्त्रगणान्न यत् ।
 दुर्बोधे मधुरं तप्तु ज्ञास्यन्तीतो न संशयः ॥ ४१
 इदमुत्तममाख्यानं मुख्यानां शास्त्रदृष्टिषु ।

यथाशास्त्रैर्विवेकवैराग्यश्रवणाद्युपायैः प्राप्तया तत्त्वबुद्ध्या अ-
 जरं मोक्षपदं कथं न क्रीणन्त्याध्वर्यमेतदित्यर्थः ॥ ३४ ॥ य-
 विवेकिभिः अयत्नेन स्वतत्त्वज्ञानमात्रेण चिदम्बरे ब्रह्माकाशे
 पदं स्थानं क्रियते परं सर्वोत्कृष्टैस्तादृशैरज्ञानशत्रुबन्धसमर्थैः
 सच्छास्त्राद्युपेक्षया स्वमूर्धनि अज्ञानशत्रुपादः कथं सद्यते
 ॥ ३५ ॥ हे जनाः, यूयं निर्गतौ मानमोहौ यस्मात्तत्त्वविधं
 दृढविवेकमापन्नाः सन्तस्तत्त्वं बुद्ध्या मोक्षगतिं गच्छत अधमां
 संसारगतिं मा गच्छत ॥ ३६ ॥ बहुकालं बहुप्रकारैरस्मद्वो-
 धने प्रवृत्तोऽयं वसिष्ठः कण्ठशोषदुःखादिमुच्यतामिति मयि
 दयया वा मद्वचनं सम्यगाकर्ण्य स्वात्मा युष्माभिर्युध्यतामिति
 वात्सल्यातिशयेनाह—प्रलपन्तमिति । यं जगरत्प्रसिद्धमिमं
 युष्मद्वोधनायोद्युक्तं युष्मदर्थेन महोरात्रं प्रलपन्तं कण्ठशोषश्र-
 मादिना नित्यं क्रिश्यमानं मां प्रहृश्य सम्यग्दृष्ट्वा दयया इदं
 मद्वचनमादरेणाकर्ण्य प्रमुद्देनात्मनैव देहेन्द्रियादिपरिच्छिन्नात्म-
 भावं विहाय यथाभूतब्रह्मात्मता अर्प्यतां प्राप्यतामिति प्रार्थ-
 नायां लोद ॥ ३७ ॥ किमद्यैवात्मज्ञानेन अग्रे कदाचित्करि-
 ष्याम इति मन्वानान्प्रत्याह—अद्यैवेति ॥ ३८ ॥ नान्यः
 विद्यते इति शेषः । नूनं निश्चयेन अर्थकरः अभिलषितार्थकर-
 रीति बुद्ध्या प्राणः ॥ ३९ ॥ इतराध्यात्मग्रन्थेभ्योऽस्य कोऽति-
 शयस्तमाह—आत्मज्ञानमिति । आत्मरूपं ज्ञानम् ॥ ४० ॥
 विद्यमानं नित्यप्राप्तमपि यत् आत्मरूपं ज्ञानं शास्त्रान्तरात्
 ज्ञातं तद् इतः अस्माच्छास्त्राज्ज्ञास्यन्ति ॥ ४१ ॥ शास्त्रदृष्टिषु
 मुख्यानामाख्यानानां मध्ये इदमाख्यानमुत्तमम् । अस्मिन्ना-
 ख्याने अपूर्वमनादितत्त्ववित्संप्रदायप्रसिद्धव्यतिरिक्तं स्वकपोल-
 कल्पितं किञ्चन न तु नास्त्वैव ॥ ४२ ॥ विनोदेन कौतूहले-
 नापि विचारयन्पुमान्परमात्मबोधं याति प्राप्नोति ॥ ४३ ॥
 पण्डितैः सर्वशास्त्रैरपि यो बोधोऽद्यापि न संप्राप्तः स इतः

सुखेन बोधदं इद्यमपूर्वं न तु किञ्चन ॥ ४२
 नानाख्यानकथाचित्रं विनोदेन विचारयेत् ।
 इदं शास्त्रं परं याति पुमान्नास्त्यत्र संशयः ॥ ४३
 यो ह्यद्यापि न संप्राप्तः पण्डितैरविकण्डितैः ।
 स इतः प्राप्यते बोधः सुवर्णमिव सैकतात् ॥ ४४
 शास्त्रकर्तारि मङ्गल्यं न कदाचन कुत्रचित् ।
 शास्त्रार्थ एव तन्नित्यं युक्तियुक्तानुभूतिदे ॥ ४५
 अज्ञानान्मत्सरान्मोहादविचारिभिरेकता ।
 अवहेलितशास्त्रार्थैः कर्तव्या नात्महन्तृभिः ॥ ४६
 जानाम्येव यथैवेमा यदहं त्वं यथा धियः ।
 तथा बोधितकारुण्यात्स्वभावो हि ममेदृशः ॥ ४७
 युष्मत्संघिल्लवः शुद्ध एव वक्तुमिह स्थितः ।
 अहं नरो न गन्धर्वो नामरो न च राक्षसः ॥ ४८
 संविन्मात्रा भवन्तो हि तद्भावोऽस्त्यतिनिर्मलः ।
 स्थितोऽसीति भवत्पुण्यैर्ननु नास्मि न चापरः ॥ ४९

अस्माच्छास्त्राप्यते । यथा सुवर्णाकरे कालनेन विवेचिता-
 त्सेकतात्सुवर्णं प्राप्यते तद्वत् ॥ ४४ ॥ ननु अस्माच्छास्त्रादेव
 ज्ञानं चेदेतच्छास्त्रकर्ता कस्माच्छास्त्राज्ज्ञातवान् । यत एव स
 ज्ञातवांस्तत एव वयमपि ज्ञास्यामः । यथाज्ञात्वैवेतच्छास्त्रं प्रणी-
 तवांस्तर्ह्यस्माच्छास्त्राज्ज्ञानोदये का प्रत्याशेति शङ्कमानान्प्र-
 त्याह—शास्त्रकर्तरीति । यद्येतच्छास्त्रं युक्तियुक्तमनुभवपर्यव-
 सितं च न स्यात्तदा एतत्कर्तृबोधमूलकप्रामाण्यमेतच्छास्त्र-
 मिति तत्कर्तारि बोधहेतुचिन्तया मङ्गल्यं स्यात् । अस्मिन्सु
 शास्त्रे स्वतो युक्तिसहस्रयुक्ते अनुभूतिदे च सति स्वानुभवेनैव
 सर्वशङ्कानिवृत्तेस्तत्रैव तन्मज्जनं नित्यं युक्तमिति न शास्त्रकर्तारि
 बोधशङ्कया कदाचिन्मङ्गल्यमित्यर्थः ॥ ४५ ॥ अत एवेतच्छा-
 स्त्रावहेलनपरः सह मैत्री न कार्येत्याह—अज्ञानादिति । ए-
 कता मैत्री । अप्यात्मशास्त्रावहेलने आत्मज्ञानानवाप्तिरेवात्म-
 हलेत्याशयः ॥ ४६ ॥ त्वं तर्ह्यस्माभिरन्यैश्चाज्ञैः सह कथं
 मैत्री भजसे यतो दयया उपदेशे प्रवृत्तोऽसि तत्राह—जाना-
 मीति । हे राम, इमाः श्रोतृश्रेणयो यथा यादृशाधिकारिविशेष-
 णसंपन्नाः । त्वं च यथा यादृगधिकारिविशेषणसंपन्नः । यथा च
 वो धियः श्रवणधारणाभ्यासपद्धयः । अहं च यत् यादृशं भवदा-
 द्युपदेशाय पितुराज्ञापनं प्राप्तस्तत्सर्वं जानाम्येव । अतस्तथा-
 विधमवद्भानयोदयोद्वोधितास्कारुण्याद्युष्मदुपदेशोऽहं प्रवृत्त इति
 शेषः । हि यस्यान्मम स्वभाव ईदृशः सदा वीनेयुद्दुःकारुण्य
 एव न निष्ठुर इति युष्मद्विद्वेषिणो दयालोर्मम वचनमाद्रियध्व-
 मिति भावः ॥ ४७ ॥ अथवा भवतामात्मैवाहं भवत्पुण्यव-
 शाच्छुद्धं युष्मत्सत्त्वं युष्मभ्यमुपदेशुमागतः । मम च भवन्तः
 परमप्रेमास्पदमात्मैवेति युष्मन्मित्रतामिव प्राप्त इत्याह—यु-
 ष्मद्विद्विद्वाभ्याम् । संविद्रूपो लवः शोधितः सूक्ष्मार्थो न तु
 नरगन्धर्वादिशरीरमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ अपरो भवदात्मव्यति-

इयामायमाना नाचान्ति यावत्परणवास्तराः ।
 सारः संहियतां तावद्वैरस्यं वस्तुदृष्टिषु ॥ ५०
 इहैव नरकव्याधेऽधिकित्सां न करोति यः ।
 गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ ५१
 सर्वभावेषु वैरस्यं न यावत्समुपागतम् ।
 भावानां भावना तावत्तानवं नोपगच्छति ॥ ५२
 आत्मानमलमुद्धर्तुं वासनातानवाहते ।
 नास्त्युपायो महाबुद्धे कश्चनापि कदाचन ॥ ५३
 भावास्तु यदि विद्यन्ते तद्धिते वस्तुभावेना ।
 किं त्वेते नैव सन्तीह शशशृङ्गादयो यथा ॥ ५४
 सर्व एव जगद्भावा अविचारितचारवः ।
 अविद्यमानसद्भावा विचाराद्विशारवः ॥ ५५
 प्रामाणिकविचारेषु न विद्यन्ते कृतेषु ये ।
 कथं सन्ति जगद्भावास्ते के सन्ति सदैव वा ॥ ५६
 सर्व एव जगद्भावाः कारणाभावतो भृशम् ।
 सर्गादावैव नोत्पन्ना यच्चेदं भाति तत्परम् ॥ ५७
 पदे सर्वेन्द्रियातीते मनःषष्ठेन्द्रियात्मनाम् ।
 भावानां कारणं नास्ति मनःषष्ठेन्द्रियात्मकम् ॥ ५८
 भावानां विविधाख्यानामनाख्यं कारणं कुतः ।

रिक्तो नास्मि । नन्विति संबोधने ॥ ४९ ॥ अतः परमाप्त-
 मोहमिति मङ्गुलः प्रथमः सारः सर्ववस्तुदृष्टिषु वैराग्यलक्षणः
 संहियतां संगृह्यताम् ॥ ५० ॥ सरुजः नरकरुजाभिः पीड्य-
 मानः ॥ ५१ ॥ वैराग्यमेव परमः सार इति कुत इति चेत्-
 द्विना वासनातानवासिद्धेरित्याह—सर्वेति ॥ ५२ ॥ वासनाता-
 नवे वा किमर्थमादरस्तत्राह—आत्मानमिति ॥ ५३ ॥ ननु
 भावेषु सत्सु कथं तद्वासनातानवं प्रसिद्धेत्तत्राह—भावा-
 स्त्विच्छति । यदि सत्यतया विद्यन्ते तत्तर्हि तेषु भावेषु हिते
 खानुकूले वस्तुनि वस्तु ममेदमावश्यकं संपाद्यमित्यादिभावना
 भवेत् ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ नन्वेते भावा वेदान्तिनां विचारेषु
 न सन्ति चेदपि कापिलकाणादादिविचारेषु सन्त्येवेति कुतोऽय-
 त्वावधारणं तत्राह—प्रामाणिकेति । प्रामाणिकविचारेषु कृतेषु
 ये न विद्यन्ते ते के सन्ति किंस्वरूपाः । एकैकवस्तुरूपा
 उत सर्ववस्तुरूपाः । सदैव वा ते सन्त्युत कदाचिदेव वा ।
 सर्वथापि प्राक् शतशः खण्डितमेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥
 कारणाभावः कुतस्तत्राह—पदे इति । न हीन्द्रियावेषे स्वप्नका-
 शविदेकरसे ब्रह्मणि इन्द्रियवेद्याः प्रलयकाले संभावयितुमपि
 शक्या इति भावः ॥ ५८ ॥ सनामरूपकस्य जगतः अनामरूप-
 कमपि कारणं न संभवतीति युक्त्यन्तरमप्याह—भावात्तानामिति ।
 एवं वस्त्ववस्तुनः कारणं शून्यमशून्यस्येति तदपि दुर्वचम्, तदा-
 त्मातपत्त्ययोगादित्याह—कुत इति ॥ ५९ ॥ एवं निराकारं
 साकारस्य कारणमित्यप्ययुक्तमित्याह—साकारस्येति । बीजं
 भवेत् ॥ ६० ॥ विडम्बनं विडम्बनवाक्यबद्धशून्यमिति

कुतो वस्तुन्यवस्तुत्वं श्वोमन्यग्योमता कुतः ॥ ५९
 साकारस्य हि साकारं घटघानादिवद्भवेत् ।
 बीजं तद्वस्तु साकारं जायतेऽन्यत्कुतोऽन्यथा ॥ ६०
 न किञ्चिदपि यत्रास्ति बीजमाकृतिमन्मनाक् ।
 तत आकृतिमद्विभं भवतीति विडम्बनम् ॥ ६१
 कार्यकारणभावादि तस्मिन्नहि परे पदे ।
 वाचालत्वेन यत्राम कल्पयते मौर्ख्यमेव तत् ॥ ६२
 सहकारिनिमित्तानामभावे हि न कारणात् ।
 कार्यं भवेदन्यदेति वालैरप्यनुभूयते ॥ ६३
 तन्मात्रवेदनं भूयः पृथ्व्यादीनां च कारणम् ।
 किमस्ति कथ्यतां छाया कथमास्ते घदातपे ॥ ६४
 परमाणुसमूहा ये जगदित्यप्यवास्तवम् ।
 शशशृङ्गं घनुःप्रख्यमहानादभिधीयते ॥ ६५
 परमाणुसमूहश्चेत्संभूय कुरुते जगत् ।
 यदृच्छयैव तमसि शीर्यते च यदृच्छया ॥ ६६
 तदङ्गमिङ्गते नित्यं देशे देशे गृहे गृहे ।
 अपूर्वात्म रजः शृङ्गं खातं वा स्याद्दिने दिने ॥ ६७
 न च तदृश्यते किञ्चित्कस्य तत्कर्म तादृशम् ।
 भवेद्यर्थमभव्यस्य जडास्तु परमाणवः ॥ ६८

यावत् ॥ ६१ ॥ वाचालत्वेन बहुभाषित्वेन ॥ ६२ ॥ ६३ ॥
 जगद्वेदनत्वादपि चितो न जगत्कारणत्वं घटवेदने घटकारण-
 त्वाभावदर्शनादित्याह—तन्मात्रेति । तत्र कुलालवेदनस्य
 घटकारणत्वदर्शनाद्यभिचारमाशङ्क्य मात्रपदम् । चित्तविद्व-
 स्थानायोगादपि चितो न कारणतेत्याशयेनाह—छायेति
 ॥ ६४ ॥ अत एव परमाणुकारणवादिनो बौद्धादयोऽप्यपास्ताः ।
 अतीन्द्रियसमूहस्यैन्द्रियकलादर्शनादित्याशयेनाह—परमाणुत्विति
 ॥ ६५ ॥ यदि परमाणवः संभूय जगत्कुर्युस्तर्हि तेषां सदा न-
 भसि उडुयनपतनदर्शनात्प्रतिगृहं दिने दिने गिरेरिव शृङ्गं कृपा-
 दिवत्खातो वा स्यादित्याह—परमाणुत्विति द्वाभ्याम् ॥ ६६ ॥
 तस्य जगतः अङ्गसवयवभूतं रजो देशे देशे गृहे गृहे च अपूर्वं
 नवं नवमिङ्गते चलत्येवेति शृङ्गं खातं वा स्यादित्यर्थः ॥ ६७ ॥
 न च परमाण्वाख्यं निरवयवं किञ्चिद्द्रव्यं केनचिद्द्रव्यते । जालान्त-
 रमरीचिषु सावयवानामेव रजसां दर्शनात् । तदवयवपरम्परा-
 वधिर्निरवयवोऽनुमीयत इति चेन्न । तस्य संयोगानर्हत्वेनाद्रव्य-
 त्वापत्तेः । न हि निरवयवोऽन्येन संयोगमर्हति । संयोगस्यैकदेशा-
 वच्छिन्नवृत्तिकत्वनियमात् । न च तदभावे अणुकादिसिद्धिरिति
 व्याघातः । किञ्चातीन्द्रियाणां खण्डरूपरूपानां परमाणूनां संयो-
 जनेन जगद्वचनं कस्य कर्म । किमसंसारिण उत संसारिणः ।
 तत्र संसारिणस्तावत्परमाणुभिर्जगत्निर्माणे असामर्थ्यं स्पष्टमेवे-
 त्यभव्यस्य भवानर्हस्येश्वरस्य जडस्य वा तद्वाच्यम् । तत्र आ-
 यस्य व्यर्थं निष्प्रयोजनं जगद्वचनं भवेत् । न हि नित्यमुक्तसे-
 श्वरस्य प्रयोजनापेक्षा प्रयोजनं वा सर्गस्योपपादयितुं शक्यते ।

नाबुद्धिपूर्वं तत्कर्म संभवत्यङ्ग कस्यचित् ।
 बुद्धिपूर्वं तु यद्यर्थं कुर्यादुन्मत्तको हि कः ॥ ६९ ॥
 जडस्य बुद्धिपूर्वेहा मरुतो नास्ति तां विना ।
 न संभवत्यणुचयो नान्यत्कर्तोपपद्यते ॥ ७० ॥
 वयमात्मान एवेमे स्वात्मानः स्वात्मका जनाः ।
 तथा स्थिता यथा स्वप्ने भवतां स्वप्नमानवाः ॥ ७१ ॥
 तस्मान्न जायते किञ्चिद्विश्वं नापि च विद्यते ।
 इत्थं चिन्मम एवाच्छं प्रकचस्यात्मनात्मनि ॥ ७२ ॥
 विश्वाकाशं चिदाकाशे विश्वग्विभ्रान्तिमागतम् ।
 स्पन्दो द्रवत्वं शून्यत्वमनिलेऽम्भसि खे यथा ॥ ७३ ॥
 देशाद्देशान्तरप्राप्तौ निमेषेणातिदूरतः ।
 संविदो यद्ब्रह्ममध्ये चिद्योन्नो विद्धि तद्ब्रह्म ॥ ७४ ॥
 स स्वभावो हि सर्वेषामर्थानां ते च तन्मयाः ।
 तादृशास्तन्नभोरूपास्तेन विश्वमतो नमः ॥ ७५ ॥
 स्वभावस्य परा वृत्तिर्मनागेवाशु तस्य सा ।
 स्वभावादविभिन्नैव सेदं जगदिति स्थिता ॥ ७६ ॥
 जगच्चिन्ममसोस्तस्मान्न कदाचन भिन्नता ।
 एकमेव द्वयो रूपं पवनस्पन्दयोरिव ॥ ७७ ॥
 देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्ये हि यद्ब्रह्म ॥
 शान्ताशेषविशेषात्म तन्मुख्यं नेतरद्विदुः ॥ ७८ ॥
 स स्वभावोऽङ्ग भूतानां तत्र तिष्ठन्ति पण्डिताः ।
 तस्मान्न विचलन्त्येते नित्यध्यानाद्धरादयः ॥ ७९ ॥

आभासाकाशमेवेदं भामात्रमथमासनम् ।
 विश्वमाकाररहितं स्वभावं विदुरव्ययम् ॥ ८० ॥
 न जायते न म्रियते न भूत्वा भावि कुत्रचित् ।
 अनन्यदेव चिद्योन्नः शून्यत्वमिव साज्जगत् ॥ ८१ ॥
 न विश्वमस्ति नैवासीन्न च नाम भविष्यति ।
 इदमाभासते शान्तं चिद्योन्न परमात्मनि ॥ ८२ ॥
 चिन्मात्रमेव कचति स्वप्ने पुरतया यथा ।
 तथैव जाग्रदाख्येऽस्मिन्स्वप्ने कचति स्वयम् ॥ ८३ ॥
 सर्गादावेव भावानामसत्तेत्यस्ति देहकः ।
 कुतस्तस्माच्छरीरत्वं स्वप्न एव नभश्चितेः ॥ ८४ ॥
 स्वयंभ्वाख्यं शरीरं स्वं पूर्वं स्वप्नो महाचितेः ।
 इत उत्थानास्तदनु स्वप्नात्स्वप्नान्तरं वयम् ॥ ८५ ॥
 गण्डस्योपरि जातानां स्फोटानामत एव नः ।
 परमेण प्रयत्नेन न मनो नाम यास्यति ॥ ८६ ॥
 ब्रह्मैवासत्यपुरुषः सत्यवच्चानुभूयते ।
 स्थितं ततःप्रभृत्येव न त्वलीकमिदं ततम् ॥ ८७ ॥
 आग्रहस्तम्बपर्यन्तमलीकं जायते जगत् ।
 यथा स्वप्ने तथालीकमेवमाशु विनश्यति ॥ ८८ ॥
 चिद्योमैवैत्य विश्वत्वं यथा स्वप्ने विनश्यति ।
 अनुदित्वैव विश्वत्वं जाग्रदाख्ये तथैव च ॥ ८९ ॥
 अनुभूतमलीकं चाप्यलीकं सत्यवत्स्थितम् ।
 संविदेव यथा स्वप्ने नगरादितयोदिता ॥ ९० ॥

न च जडाः परमाणवः स्वतः सर्वे प्रवर्तितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६८ ॥ ननु चेतनस्य बुद्धिपूर्वके रचने प्रयोजनापेक्षा, अबुद्धिपूर्वके तु न सा तत्राह—नैति । हे अङ्ग, तत् मनसाप्यचिन्त्यरचनात्मकं भूतभुवनं चतुर्विधभूतग्रामसंभूतं सर्गकर्म अबुद्धिपूर्वं कस्यचित् संभवति । बुद्धिपूर्वकं तु व्यर्थं कर्म क उन्मत्तकः कुर्यात् ॥ ६९ ॥ एतेन वायुरेवाणुचयं करिष्यति बुद्धिपूर्वव्यापारं विनेवाणुचयो भविष्यतीति प्रत्याशापि निरस्तोत्याह—जडस्येति । जडस्य मरुतो बुद्धिपूर्वा इहा चेष्टा नास्ति । तां विना तु अणुचयो न संभवति । जडसर्वज्ञाभ्यामन्यजीवजातं तु प्रकृत्ये देहाद्यभावादसमर्थमेवेति न सर्गादौ कश्चित्कर्तोपपद्यत इत्युपसंहारः ॥ ७० ॥ ननु यदि कर्त्रभावादनुत्पन्नमेव जगत्तर्हि वयं किमात्मकाः कथं वा जगति स्थितास्तत्राह—व्ययमिति । इमे वयं स्वात्मानो देहादिमूर्तताश्चन्याधिदास्मान एव । एवं जना अपि स्वात्मका एव । तथापि स्वप्ने यथा भवतां स्वप्नमानवाः स्थितास्तथा अस्मात्कल्पनयैव स्थिता इत्यर्थः ॥ ७१ ॥ इत्थं सर्वोपपत्तेर्ब्रह्माद्वैतसिद्धान्तो निष्प्रत्यूह इत्याह—तस्मादिति ॥ ७२ ॥ अनिलादौ स्पन्दादि यथा अभिजमेव विश्वग्विभ्रान्तिमागतं तथा चिदाकाशे विश्वाकाशमपीत्यर्थः ॥ ७३ ॥ जगच्छून्यस्य चिद्योन्नो ब्रह्मं तत्प्राग्बहुशो दृष्टान्तेनानुभावितं स्मारयति—देशादिति ॥ ७४ ॥ सर्वेषां पदार्थानां संविदाकाशा एव परमार्थस्वभावः । अतो हेतोर्विश्वं तेन तद्ग्राह्येनैव यो० वा० १६५

नभो न शून्यभावेनेत्यर्थः ॥ ७५ ॥ तस्य चिदाकाशस्य स्वभावादविभिन्नैव या विवर्तभावेन स्वभावस्य परा वृत्तिः संवेदं जगदिति आपातदर्शिनो स्थिता ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ तन्मुख्यं अनुभवस्य संपन्नं निदर्शनं नेतरदित्यर्थः ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ इदं विश्वं चिद्वर्पणे आभासाकाशमेव । तदवभासनं च भामात्रम् ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ सर्गादौ पृथिव्यादिभावानामेवासत्तेति हेतोरयं पार्थिवादिदेहकः कुतः अस्ति । तस्मादिदं भासमानं शरीरत्वं नभोरूपस्य चित्तेः स्वप्न एव ॥ ८४ ॥ पूर्वं प्राथमिकः । इतः स्वयंभूशरीरादुत्थानं येषां ते वयं तदनु स्वप्नात्स्वप्नान्तरमिवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥ अत एव नो मनः परमेणापि प्रयत्नेन प्रवर्तमानं ब्रह्मणि श्रुतिं न यास्यति । गलगण्डोत्थितस्य स्फोटस्य गलेनेव व्यवहितसंबन्धभ्रान्तिदाढ्यादित्याह—गण्डस्येति ॥ ८६ ॥ यथा गलमेव गण्डात्मना स्थित्वा तद्गतस्फोटात्मनापि स्थितमपृथग्भूतमपि पृथक्सत्यमिवानुभूयते, तथा ब्रह्मैव हिरण्यगर्भव्यष्टिजीवलक्षणाऽसत्यपुरुषो भूत्वा तद्भावेनैव सत्यवच्चानुभूयत इत्यर्थः । यदाप्रसृतिं ब्रह्म जीवभूतं ततःप्रभृत्येव अलीकमिदं जगत्ततं स्थितम् ॥ ८७ ॥ अलीकमनुत्तम् । एवं स्वप्नवदेव आशु विनश्यति तदप्यलीकमेव ॥ ८८ ॥ अनुदित्वा उदयं जन्म अप्राप्यैव ॥ ८९ ॥ यथालीकमेव तर्हि कथमनुभूतं कथं वा सत्यवत्स्थितम् । शास्त्राद्वादावुभयादर्शनात्तत्राह—अनुभूतमिति । अलीकमन्यनुभूत-

साकारेण निराकारा स्थिता तद्वज्रगत्या ।
 संविदाकाशाकाशादणु मेरोरणुर्यथा ॥ ९१
 किल यत्तस्य नाम स्यादाकाशादणुता कुतः ।
 कारणाभावतोऽन्यस्य नाकार उपपद्यते ॥ ९२
 सर्गादावेव योऽजातो जातोऽयं जगतः कुतः ।
 यदेव वेदनाकाशे पुरं स्वप्ने तदेव नः ॥ ९३
 मेदः स्वप्नाद्विचिद्वयोद्धोर्न शून्याम्बरयोरिव ।
 यदेव चिन्नभो नाम तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥ ९४
 यदेव स्पन्दनं नाम स एव पवनो यथा ।
 स्पन्द्रास्पन्दैकरूपात्मा वायुर्व्योमोपमो यथा ॥ ९५

इत्यार्षे श्रीवा० बाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० सकलभावाभावोपदेशेन परमार्थैकताप्रतिपादनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥१०३॥

चतुरधिकशततमः सर्गः १०४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

आकाशः शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रकोऽनिलः ।
 तत्सङ्कोत्कर्षजं तेजस्तच्छान्तिभ्येत्यपां स्थितिः ॥ १

मलीकमपि सत्यवत्स्थितम् । यतस्तदस्मन्मते संविदेव न
 शून्यमित्यर्थः ॥ ९० ॥ आकाशादणुणु । तत्र द-
 छान्तः—मेरोः अणुः परमाणुर्यथा अणुस्तद्वत् ॥ ९१ ॥ तर्हि
 किमाकाशादणुता तस्य धर्मो नेत्याह—किलेति । आ-
 काशादणुताख्यो धर्मः कुतः क्व वा प्रसिद्धो यत्किल तस्य ब्रह्मणो
 धर्मो नाम स्यात् । अणुतोक्तेस्तर्हि कोऽभिप्रायस्तमाह—कार-
 णेति । अन्यस्य जगतः स्थूल आकारो नोपपद्यते तादृश-
 कारणाभावादिति वक्तुं तस्य तथात्वोक्तिरित्यर्थः ॥ ९२ ॥ न-
 निवदानीमिष्टकादेः पुरादिजन्मदर्शनाज्जगत एव जगज्जायतां न
 ब्रह्मणस्तत्राह—सर्गादावेवेति । यः पुरादिः सर्गादावेव अ-
 जातः स जगतः कुतो जातः । किंच स्वप्ने विनैवेष्टकादिभ्यः पुरा-
 दयो दृश्यन्ते । जाग्रद्वेदनाकाशे यदेव पुरं तदेव नः सिद्धान्ते
 स्वप्नेऽपि पुरं तत्र च व्यभिचारः स्फुट इत्यर्थः ॥ ९३ ॥ एवं
 स्वप्नजाग्रदर्थयोर्भेदाभावे स्वप्नार्थानां चिद्योममेदाभावाज्जाग्रद-
 र्थानामपि तदमेदः सिद्ध इत्याशयेनाह—मेद इति ॥ ९४ ॥
 उक्ते अमेदे स्पन्दनपवनौ वाय्वाकाशौ च दृष्टान्तावित्याह—
 यदेवेति । व्योमोपमो व्योमाभिन्नः ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ सकृद्वि-
 भातमखण्डस्फुरणरूपम् ॥ ९७ ॥ एवं च चित्तो निष्प्रपञ्चता
 सिद्धेत्याह—तस्मादिति ॥ ९८ ॥ हे अत्र, त्वं विगतामयशु-
 द्धबोधरूपस्य तदवस्य बोधेन तदेकतामुपगतः सन् नित्योदितो
 व्यवहरन्नपि तदभिनवेशाभावाच्चिर्विकारो द्वित्वैक्याभ्यां पर-
 स्परविहृदाभ्यां मुक्ता मतिर्यस्य तथाविधः सन् अन्तः उत्तम-
 शीतलो भूत्वा निर्वाणो निरतिशयानन्दनिर्वृत आस्व । यतस्ते
 विक्रोपहेतवो भावा न सन्तीत्यर्थः ॥ ९९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थैकताप्रति-
 पादनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

तस्माच्चिन्नम एवेदं जगदाकृति लक्ष्यते ।
 सर्वं शून्यं निरालम्बं भासनं चिद्विषयतः ॥ ९६
 शान्तमेवेदमखिलं निरस्तास्तमयोदयम् ।
 सकृद्विभातममलं दृषन्मौनमनामयम् ॥ ९७
 तस्माद्द्व कथं भावाः कुतो भावाः क्व भावधीः ।
 क्व द्वैतं कैकता काहं क्व भावाः क्व च भावनाः ॥ ९८
 नित्योदितो व्यवहरन्नपि निर्विकारो
 द्वित्वैक्यमुक्तमतिरुत्तमशीतलोऽन्तः ।
 निर्वाण आस्व विगतामयशुद्धबोध-
 बोधैकतामुपगतोऽङ्ग न सन्ति भावाः ९९

भूरेषां सकृः स्वप्नामे जगद्भाने क्रमस्त्विति ।
 कथं नाम किलामूर्ताद्वयोद्धो मूर्तिः प्रवर्तते ॥ २
 गत्वा सुदूरमप्येतज्जतेध्वेत्परिकल्पयते ।

आकाशादेर्हि वाय्वादिभावोऽनुभवतो यथा ।

चित्त एव जगद्भावोऽनुभवादेव साध्यते ॥ १ ॥

चिन्मात्रमेव जगदाकारेण स्वप्नवद्भातीति यदुक्तं तदेवानु-
 भवालम्बने प्रमाणतः पदार्थतत्त्वं जिज्ञासमानैः सर्वैराकाशा-
 दिक्रमसृष्टिकल्पनापरम्पराभिः सुदूरमपि गत्वा अन्ततः शरणी-
 करणीयमिति वर्णयिष्यन्नाकाशादीनां तैर्थिकप्रसिद्धां स्वरूपस्थि-
 तिमाह—आकाश इत्यादिना । तयोर्यः सङ्कोत्कर्षः संघर्षाति-
 शयस्तस्माज्जातं रूपतन्मात्रं तेजस्तस्य तेजसः शान्तिः औ-
 ष्यरौक्ष्यप्रशमनेन शैत्यवत्त्वालम्बनलक्षणं रसतन्मात्रमि-
 त्यपां स्वभावस्थितिरित्यर्थः ॥ १ ॥ भूस्तु एषां संद्वन्तीति
 संघो मेलने घनीभावहेतुर्गन्धतन्मात्रमिति चित्त एव स्वप्नामे
 जगद्भाने इयं क्रमस्थितिः । तत्रेदं पृच्छामः—अमूर्ताद्योन्नः
 पृथिव्यन्ता मूर्तिः कथं प्रवर्तते इति । यदि कश्चिद्भूयाद्वायुरेव
 प्रथममाकाशात्क्रियास्पर्शप्रधान उत्पद्यते स च रूपाभावात्किञ्चि-
 दाकाशवत्स्पर्शक्रियाशालित्वात्किञ्चिन्मूर्तवदपीति रूपतन्मात्रप्र-
 धानं मूर्तं तेजो जनयिष्यतीति । तन्न । निरवयवकूटस्थेनाका-
 शेन वायोरेवासिद्धेः । न ह्यव्याप्रियमाणं निरवयवं च किञ्चि-
 दारब्धुं विकर्तुं वा शक्नोति । किंच यदि कृत्स्नं विक्रियेत तर्ह्य-
 काशाभावाच्चिरवकाशा वाय्वादयः स्युः । यथार्थं ततोऽल्पं वा
 तर्ह्यकाशास्यापि सावयवत्वप्रसङ्गः । अस्तु सावयवमपीति चेत्त-
 देव स्पर्शवत्क्रियावच्च स्यादिति वाय्वादिजननवैयर्थ्यं निरवका-
 शता च तस्य तदवयवानां च स्यात् । एवं वायोरपि नीरूपा-
 द्रूपतन्मात्रोत्पत्तिरारम्भेण परिणामेन वा पुनिरूपैव । कारण-
 गुणा हि कार्यगुणानारभन्ते । न च रूपं वायावस्ति । परिपा-
 केन हि परिणामः स्यात्त च विना तेजः परिपाकोऽस्ति । एव-
 गुत्तरभूतयोरप्युत्पत्तिरिति ॥ २ ॥ नन्वनुभववत्त्वादेव कूटस्थाद-

| | | | |
|--|---|---|---|
| तदादावेव सत्यर्थे दोषोऽस्मिन्क इवामले ॥ | ३ | इत्यहं जगदित्येकं स्वमेवैकं शिलाधनम् ॥ | ७ |
| ज्ञप्तिरेवातिविमला स्वरूपात्मनि भासि यत् । | | यदादिसर्गजननं यत्कल्पान्तविवर्तनम् । | |
| तदेव जगदित्युक्तं सत्यमित्येव सत्यतः ॥ | ४ | यद्वा भुवनसंस्थानं तद्धि व्योम निराकृति ॥ | ८ |
| न कश्चित्सन्ति भूतानि पञ्च कुट्यादयो न वा । | | सति वाऽसति वा देहे | |
| असन्त्यप्यनुभूतानि ननु स्वप्नदशाखिव ॥ | ५ | निर्दुःखसुखत्वमक्षयं मोक्षः । | |
| स्वभाव एव विमलो यथा स्वप्ने पुरादिवत् । | | बुद्धेऽमले स्वभावे | |
| कचत्येवं जाग्रतीदं जगद्ब्रह्मस्तुतस्तु खम् ॥ | ६ | निर्भरविभ्रान्तिरस्तु सर्वेह ॥ | ९ |
| चेतनाकाश एवाहं तदेवेदं जगत्स्थितम् । | | | |

इत्यर्थे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० जगदसत्ताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥१०५॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः १०५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स्वभावं जगदाकारं चिद्भावोऽनुभवन्स्थितः ।
 स्वतः स्वप्नमिवानन्यमात्मनः कल्पनाभिधम् ॥ १
 जाग्रत्सुषुप्तमेवेदं शिलाजठरमेव वा ।
 आकाशमेव वा शून्यं जगत्त्वेन च नोज्झितम् ॥ २
 स्वप्न एवात्र दृष्टान्तः पुरमण्डलमण्डितः ।
 स्वप्ने जगन्न किञ्चित्सदित्यमाभाति भासुरम् ॥ ३
 त्रैलोक्यमसदेवेदं यथा स्वप्नेऽवभासते ।
 जाग्रत्स्यासिस्तथैवेदं मनागप्यत्र नान्यथा ॥ ४
 न जाग्रति न च स्वप्ने जगच्छब्दार्थसंभवः ।
 खं घस्तुतस्तु चिद्बोधो भानं बुद्धं जगत्तया ॥ ५

प्याकाशात्तन्मात्मकं वायुं नीरूपाच्च वायो रूपवत्तेजो नीरसाच्च तस्माद्रसात्मकं वारि अगन्धाच्च तस्माद्रन्धवतीं पृथ्वीमुत्पन्नां कल्पयिष्यामः । अनुभवात्मिका ज्ञप्तिरेव भगवती नः सर्वं विरोधमुत्सार्य यथानुभवमर्थान्समर्थयिष्यतीति चेत्त्राह—
 गत्वेति । यदि सुषुप्तमपि गत्वा ज्ञप्तिरेव चरणीक्रियते तर्हि सैव स्वप्नादाविव विवर्तमात्रेण सर्वं जगद्वेषं निर्वेदिष्यतीति आदौ ब्रह्मण्येव सर्वार्थस्वरूपे सति अमले सर्वदोषनिर्मुक्ते सिद्धान्ते को दोष इत्यर्थः ॥ ३ ॥ कोऽसौ सिद्धान्तस्त्रमाह—
 ज्ञप्तिरेवेति । तदेव जगदिति सत्यतः परमार्थसत्याधिष्ठानबलत् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादि यथार्थवादिश्रुतिबलाच्च सत्यमित्येव सिद्धान्तरहस्यमुक्तमित्यर्थः ॥ ४ ॥ भूतभौतिकशून्यैव विद्यतः स्वप्ने भूतभौतिकवत्सर्वानुभवसिद्धेत्याह—न कश्चिदिति ॥ ५ ॥ तद्ब्रह्माप्रत्यपि चिन्स्वभाव एव जगद्ब्रह्मत्वतीत्याह—स्वभाव इति ॥ ६ ॥ 'वस्तुतस्तु खम्' इत्येतद्विशदयति—चेतनाकाशा इति ॥ ७ ॥ अस्त्वयं सर्गे एवमादिसर्गो ब्रह्माण्डान्तरादिसर्गः कल्पान्तविवर्तनं वा अन्यथापि स्यादिति शङ्कां निरस्यति—यदिति ॥ ८ ॥ एवं सति जीवन्मुक्तिविदेहमुत्तरयोर्न कश्चिद्विशेष इत्याह—सतीति । अमले स्वभावे बुद्धे सति यन्निर्दुःखसुखत्वं भूमानन्दरूपत्वमक्षयं स एव मोक्षः स च देहे सति वा असति वा समान एवेति तत्र सर्वा पूर्णा निर्भरविभ्रान्तिरस्तु तावतैव

चिद्बोधोऽत्र स्वचमत्कारो व्योमन्यद्यादिरूपधृत् ।
 जगदित्येव बुद्धोऽन्तर्जाग्रत्स्वप्ने स्वयंभुवा ॥ ६
 जगन्न किञ्चिदेवेदं चिद्रूपं च न किञ्चन ।
 एते किञ्चिदिवाभातो नर्माश्चजगती मुधा ॥ ७
 आभातमेव त्रैलोक्यं यथा स्वप्ने न किञ्चन ।
 शून्यमेव भवेदेवमेवं जाग्रति निर्वपुः ॥ ८
 स्वप्ने किल महाबुद्धे नानानिर्माणशालिनि ।
 आरम्भा एव नारम्भा असत्सदिव चाततम् ॥ ९
 अव्योमैवातिविततं व्योमान्तपरिवर्जितम् ।
 व्योमैवाचलसंघातो नानापुरगणोत्करः ॥ १०

त्वं कृतार्थ इत्यर्थः ॥ ९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगदसत्ताप्रतिपादनं नाम
 चतुरशरशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

चिदेवाभाति जाग्रद्विदेव स्वप्नवत्तथा ।

न जाग्रत्स्वप्नयोर्भेदः स्वभावेनेति वर्णयते ॥ २ ॥

उक्तं स्वप्नसाम्यं जगतः प्रपञ्चयितुं पीठिकां रचयति—
 स्वभावमिति । चिद्भावश्चित्स्वभाव आत्मा ॥ १ ॥ इदं
 जाग्रजगत्त्वेन नोज्झितमेव सत् सुषुप्तमज्ञानमेव मूलतः शिला-
 जठरमेवाधिष्ठानतः शून्यं स्वमेव स्वत इत्यर्थः ॥ २ ॥ स्वप्नो-
 ऽप्येतादृश एवेति स एवात्र दृष्टान्त इत्याह—स्वप्न इति ॥ ३ ॥
 तत्र तृतीयकल्पे स्वप्नसाम्यं स्फुटमित्याह—त्रैलोक्यमिति ॥ ४ ॥
 द्वितीयकल्पेऽपि तत्साम्यं विवेकिनां सुगममित्याशयेनाह—ने-
 ति ॥ ५ ॥ प्रथमकल्पेऽपि तं दर्शयति—चिद्बोधोऽनेति । स्वयमेव
 भवति अस्तीति स्वयंभुवा चिद्बोधा तमोद्भूतात्मरूपे व्योमनि अद्या-
 दिरूपधृत्स्वचमत्कारस्वप्न एव जाग्रत्स्वप्ने जगदित्यन्तर्बुद्धः ॥ ६ ॥
 पुनस्तृतीयकल्पमेव समर्थयति—जगदिति । भास्यजगतः शून्य-
 न्यत्वे चित्तस्वप्नात्मकं रूपं च न किञ्चन । नभः अत्यन्तासती
 एते विजगती प्राह्यप्राहकरूपे ब्रह्मणि मुधा भातः ॥ ७ ॥ तत्र
 दृष्टान्तं योजयति—आभातमेवेति । एवं जाग्रत्सपि आभातं
 त्रैलोक्यमेवं निर्वपुः शून्यमेव ॥ ८ ॥ ९ ॥ अव्योम ब्रह्मेव
 अतिविततं शून्यात्मकं व्योम प्रथमं संपन्नम् । व्योमैव च वाय्वा-

अप्यब्धाब्धद्विर्घोषो मौनमेव यथा तथा ।
 न शृणोत्येव पार्श्वस्थः संप्रबुध्यापि किञ्चन ॥ ११
 प्रजायते वाऽजातोऽपि बन्ध्यायास्तनयो यथा ।
 जातोऽप्यजात एवास्ते यथात्ममृतिविस्मृतौ ॥ १२
 सवसङ्गवति क्षिप्रं भुवोऽननुभवो यथा ।
 विपर्यस्यति सर्वं च रात्रिरेव यथा दिनम् ॥ १३
 असद्यत्संभवत्याशु दिनमेव यथा निशा ।
 असंभवः संभवति यथा स्वमृतिदर्शनम् ॥ १४
 असंभवः संभवति जगद्गानमिवाम्बरे ।
 तम एव महालोको यः सनिद्रः सवासरः ॥ १५
 आलोक एवेति तमो यन्निद्रा स्वप्रवासरा ।
 बसुधैव भवेद्दयोम श्वभ्रादिपतने यथा ॥ १६
 असत्यरूपमेवेति भाति स्वप्ने जगद्यथा ।
 तथैव जाग्रदाभाति मनागप्यत्र मान्यता ॥ १७
 यथा द्वौ सदृशौ सूर्यौ यथा द्वौ सदृशौ नरौ ।
 जाग्रत्स्वप्नौ तथैवैतौ मनागप्यत्र मान्यता ॥ १८

श्रीराम उवाच ।

नैतदेवमपि क्षिप्रत्प्रत्ययो यत्र बाधकः ।
 स्वप्ने तद्दर्शनेनान्तः कथं जाग्रत्समं भवेत् ॥ १९

दिकनेणाचलसंघातो नानापुरगणोत्करश्च संपन्नमित्युभयमप्या-
 धर्ममित्यर्थः । अथवा अन्व्योम गिरिमहीपुरादि व्योम भवति एवं
 व्योमैवाचलसंघातादि भवतीति यथाश्रुतं प्रतिज्ञापरम् ॥ १० ॥
 तत्राद्यं दृष्टान्तेन साधयति—अपीति । अन्दाश्च अन्धमथ अ-
 द्रयश्च तेषां निर्घोषश्च स्वप्ने एकं सुप्तं प्रति प्रसिद्धोऽप्यपरं प्रति
 मौनं शून्यमेव यथा तथा जाग्रदन्दादयोऽपीत्यर्थः । दृष्टान्ते
 मौनमेवेत्येतत्कुतस्तत्राह—न शृणोत्येवेति । यतः पार्श्वस्थः
 अपरः सुप्तनरः संप्रबुध्यापि किञ्चन अन्दाब्ध्यादि तद्घोषं वा
 न शृणोत्येव ॥ ११ ॥ द्वितीयमपि तथा साधयति—प्रजायत
 इति । अजातोऽपि बन्ध्यायास्तनयः स्वप्ने प्रजायते तथात्रापि
 बोध्यमित्यर्थः । एवं मृत्वा जातोऽपि पुरुष आत्मनः स्वस्य मृते-
 र्विस्मृतौ सत्यामजातोऽनुत्पन्न एवाहमित्यास्ते यथा तथैत्यर्थः
 ॥ १२ ॥ सुप्तस्य स्वप्ने स्वप्नयनभुवोऽननुभवो यथा तदधरव-
 मापादयति तथैत्यर्थः ॥ १३ ॥ एवमन्येऽपि विपर्यासाः
 प्रसाध्या इत्याह—असदित्यादिना ॥ १४ ॥ १५ ॥ यद्यस्मा-
 द्देतोः स्वप्नेतुर्वासरो यस्यां तथाविधा उल्लासीनां निशा
 दृश्यते । स्वप्ने श्वभ्रादिपतनेऽनुभूयमाने शयनबसुधैव श्वभ्रान्योम
 भवेत् ॥ १६ ॥ १७ ॥ द्वौ सूर्यौ पूर्वेषुस्सनायतनौ । अत्र
 अनयोः ॥ १८ ॥ वर्णितं जाग्रत्स्वप्नयोः साम्यमाक्षिप्य वैषम्यं
 दर्शयन् रामः शङ्कते—नैतदिति । मनागप्यत्र मान्यतेति
 यत्त्वयोक्तमेतन्न । कुतः । यत्र यस्मिन्स्वप्ने क्षिप्रान्जायमानो
 बाधको सो जाग्रत्प्रत्ययमस्तद्दर्शनेनान्तः स्वप्नमेव तस्याभासता-

धीवसिष्ठ उवाच ।

विहृत्य स्वप्नजगति स्वप्नबन्धुजनैः समम् ।
 मृतिमाप्नोति तत्रासौ द्रष्टा स्वप्नस्य राघव ॥ २०
 मृतः सन्स्वप्नजगति स्वप्नजन्तुवियोगवान् ।
 इह प्रबुध्यते जन्तुर्निद्रामुक्तश्च कथ्यते ॥ २१
 सुखदुःखदशामोहान्दिनरात्रिर्विपर्ययान् ।
 अनुभूय बहून्द्रष्टा म्रियते स्वप्नसंसृतौ ॥ २२
 गतनिद्रतया पश्चाच्चिद्रान्त इह जायते ।
 न सत्यमेतदित्येवं ततः प्रत्ययवान्भवेत् ॥ २३
 स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमाप्तवान् ।
 अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः प्रजायते ॥ २४
 जाग्रद्द्रष्टा तथा जाग्रत्संसारे मृतिमाप्तवान् ।
 अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥ २५
 न स्वप्नमसदित्येवं पूर्वस्मिन्जाग्रदान्मनि ।
 पुनः प्रत्ययमादत्ते स्वप्नात्स्वप्नान्तरं गतः ॥ २६
 स जाग्रत्प्रत्ययं तत्र पुनर्गृह्णाति मुग्धधीः ।
 स्वप्नसंदर्शनं त्वन्यत्तत्राप्यनुभवत्यथ ॥ २७
 स्वप्नं जाग्रत्तया जाग्रत्स्वप्नत्वं चेति नामनि ।
 न जायते न म्रियते जायते म्रियतेऽपि च ॥ २८
 स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमृतः प्रबुद्ध इह कथ्यते ।

नुभवात् । अतः कथं जाग्रत्समं भवेदित्यर्थः ॥ १९ ॥
 नैतावता वैषम्यसिद्धिः भिन्नदेशस्य जाग्रत्प्रत्ययस्य स्वप्नप्रत्यय-
 बाधकत्वासिद्धेः । स्वप्नदेशे हि सनिद्रः स्वप्नदेहस्थो द्रष्टा स्वप्न-
 बन्ध्वाशीन्पश्यति । अपगतस्वप्नदेहो विनिद्रो जाग्रदेहस्थश्च
 स्वप्नद्रष्टवन्ध्वाद्यसरवं पश्यति । न च देशान्तरे देहान्तरद्रष्टानां
 देहान्तरे देशान्तरे चान्यदर्शने तद्दर्शनं तद्वाधः । पूर्वजन्मब-
 न्ध्वाशीनामिह जन्मन्यदर्शनस्यापि तद्वाधत्वापत्तेरिति साम्या-
 नपायादित्याशयेन वसिष्ठः समाधत्ते—विहृत्येत्यादिसप्तभिः ।
 मृतिं स्वप्नदेहापगमम् ॥ २० ॥ जन्तुर्जीवः ॥ २१ ॥ म्रियते
 स्वप्नदेहं जहाति ॥ २२ ॥ इहास्मिन्शयनदेशे जायते अनेन
 देहेन संबध्यते । ततस्तदनन्तरमेतत्स्वप्नद्रष्टवन्ध्वादि न सत्य-
 मित्येवं प्रत्ययवान्भवेत् । स च प्रत्ययो न स्वप्नार्थबाधनसमर्थ
 इति शोतनाय संभावनायां लिङ् ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥
 जाग्रति मृत्वा जाग्रदन्तरे जातः सन् । पूर्वस्मिन् जाग्रदात्मनि
 प्रपञ्चेन स्वप्नमसदित्येवं पुनः प्रत्ययं यथा आदत्ते तथा स्वप्न-
 त्स्वप्नान्तरं गत उत्तरस्वप्ने जाग्रत्प्रत्ययं पुनर्गृह्णाति । तत उत्त-
 रस्वप्ने जाग्रत्प्रत्ययो यथा मुग्धताप्रयुक्तस्तद्पूर्वजाग्रति स्वप्न-
 त्वासत्त्वयोरग्रहणमपि मुग्धताप्रयुक्तमेवेति भावः ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ अथ तथापि स्वप्ने स्वप्नसंदर्शनानन्तरमनुभवत्स्वप्नमेव
 जाग्रत्तया अनुभवतीति पूर्वेषाम्बयः । एवंरीत्या जाग्रत्स्वप्नत्वं
 चेत्येवं नामनि अवस्थाद्वयेऽयं जीवः स्वतो न जायते
 न म्रियते । तत्तद्देहाभिमानोपादानत्यागाभ्यां तु जाय-
 ते म्रियतेऽपि च ॥ २८ ॥ तथा च स्वप्नद्रष्टा स्वप्ने मृतः सन्

इह जाग्रन्मृतो जन्तुः प्रबुद्धोऽन्यत्र कथ्यते ॥ २९ ॥
 स्वप्नात्स्वप्नस्थितौ जाग्रत्स्वप्नप्रदर्शनम् ।
 मृत्वान्यत्र प्रबुद्धस्य जाग्रत्स्वप्नो भवत्यलम् ॥ ३० ॥
 इतिहासमपावेद्य जाग्रत्स्वप्नावुभावपि ।
 परस्परं गतावेतानुपमानोपमेयताम् ॥
 स्वप्नो जाग्रदिवामाति जाग्रत्स्वप्नसिधोदितम् ।
 वस्तुतस्तु द्वयमसच्छिस्तं कथति केवलम् ॥ ३१ ॥
 स्थावरं जंगमं चैव भूतजातमशेषतः ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यनुपपद्यते ॥ ३२ ॥
 मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्मं नोपलभ्यते ।
 चिन्मत्कारमात्रात्म तथा काष्ठोपलाद्यपि ॥ ३३ ॥
 वस्तुजातमिदं स्वप्ने जाग्रत्यपि तथैव नः ।
 दृष्टो य उपलः स्वप्ने चिन्मत्करणादते ॥ ३४ ॥
 किमन्यत्संघदं प्राक् किलावश्यं चिदेव सा ।
 ननु यादृग्वपुः स्वप्ने जाग्रन्तादृगखण्डितम् ॥ ३५ ॥
 जगज्जातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्मखण्डितम् ।
 जगज्जातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्मकुण्डितम् ॥ ३६ ॥
 मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्मं नोपलभ्यते ।

चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्मं नोपलभ्यते ॥ ३८ ॥
 शैलात्मकं यथा भाण्डं शैलशून्यं न लभ्यते ।
 चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्मं नोपलभ्यते ॥ ३९ ॥
 द्रवरूपं यथा वारि द्रवरिकं न लभ्यते ।
 चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्मं नोपलभ्यते ॥ ४० ॥
 ऊष्मरूपो यथा वह्निर्निरूप्मा नोपलभ्यते ।
 चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्मं नोपलभ्यते ॥ ४१ ॥
 यथा स्पन्दमयो वायुरस्पन्दो नोपलभ्यते ।
 चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्मं नोपलभ्यते ॥ ४२ ॥
 यद्यन्मयं तद्विना तु तत्कथं किल लभ्यते ।
 काशून्यं लभ्यते व्योम काशना लभ्यते मही ॥ ४३ ॥
 चिद्ब्योममयमेवेदं यथा घटपटादिकम् ।
 स्वप्ने तथेदं शैलादि चिद्ब्योमाभासमात्रकम् ॥ ४४ ॥
 स्वप्ने यथा गगनमेव पुराचलादि
 संविन्मयं सुभग जाग्रति तद्भवेव ।
 स्वप्नोऽथ जाग्रदिति शान्तममन्तमेकं
 चिन्मात्रमत्र ननु नाम विनास्तु वादः ॥ ४५ ॥

इत्याखं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० जाग्रत्स्वप्नैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमः सर्गः १०६

श्रीराम उवाच ।

कीदृशं स्याच्चिदाकाशं तद्ब्रह्मन्ब्रह्म यत्परम् ।
 भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १ ॥

इह जागरे प्रबुद्धः कथ्यते, इह जाग्रति मृतस्तु अन्यत्र
 स्वप्ने प्रबुद्धः कथ्यत इति तयोः साम्यमेवेत्यर्थः ॥ २९ ॥
 एवं च स्वप्नात्स्वप्नान्तरस्थितौ द्वितीयं स्वप्नरूपमेव पूर्वापेक्षया व-
 र्तमानत्वात्प्रकृष्टं दर्शनं जाग्रद्भवति । एवं जाग्रति मृत्वा अन्यत्र
 स्वप्ने जाग्रदन्तरे वा प्रबुद्धस्य पुंसः पूर्वजाग्रत्स्वप्न एवालमवश्यं
 भवति ॥ ३० ॥ इतिहासः कीर्त्यमानपूर्ववृत्तकथार्यसन्मयौ
 तत्सदृशावेव न यथार्थाविति हेतोः परस्परानुपमानोपमेयतां
 यतावित्यर्थः । 'इतीहासमयौ' इति वीर्यपाठे तु इति इह असमं
 विषयं ज्ञात इत्यसमयौ, किञ्चिद्विलक्षणावपीत्यर्थः । 'इतीहा-
 सन्मयौ' इति पाठः साधुः ॥ ३१ ॥ किञ्च वर्तमानदशायां स्व-
 प्नोऽपि जाग्रदिव प्रत्यक्षमाभाति । अतीतं तु जाग्रदपि प्रसिद्ध-
 स्वप्नसिध उदितम् ॥ ३२ ॥ 'चित्तं कथति केवलम्' इत्युक्तिमु-
 पपादयति—स्थावरमित्यादिना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ चिन्मत्कर-
 णादते अन्यत् किं स्यात् । हे प्राज्ञ, अस्मिन्नर्थे विद्वद्भिः सह
 युक्त्या संघदं संवादेनावधारय । विचारोत्पन्नत्वदर्शने सा
 प्रसिद्धा चिदेव स्वप्नोपल इति परेणान्वयः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 चिन्मात्रं ब्रह्मैव जगदाकारेण खण्डितं विभक्तमध्यारोपे ।
 अपाद्ये तु जगत्सर्वं ब्रह्मकुण्डितं जातमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

समयोर्यमयोर्भ्रात्रोर्व्यवहाराय नामनी ।
 यद्वत्क्रियेते द्वे तद्ब्रह्मजाग्रत्स्वप्नशिलामये ॥ २ ॥

चिद्यतिरेकेण जगदनुपलम्भादपि चिन्मात्रत्वमेवेत्याह—मृन्म-
 यमित्यादिना ॥ ३८ ॥ शिलया अवयवः शैलस्तदात्मकम् ॥ ३९ ॥
 ॥ ४० ॥ ४१ ॥ स्पन्दमयः स्पन्दस्वभावः ॥ ४२ ॥ अधना
 अमूर्ता ॥ ४३ ॥ तथा इदं जाग्रच्छैलाद्यपि ॥ ४४ ॥ उक्त-
 मेव स्फुटयक्षुपसंहरति—स्वप्ने इति । स्वप्ने प्रसिद्धं पुराचलादि
 यथा संविन्मयं गगनमेव हे सुभग, जाग्रति प्रसिद्धं पुराचला-
 दपि तद्भवेव संविन्मयं गगनमेव । एवं च स्वप्नोऽथ जाग्रदिति
 विकल्पनशान्तमेकं चिन्मात्रमेव परिशिष्टम् । अत्र ईदृशे तत्त्वे
 वादिनां विषयं विना वृथा विवाद इत्यर्थः ॥ ४५ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्न-
 क्यप्रतिपादनं नाम पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

लक्षणौषेचिदाकाशमिह भूयः प्रदर्शयते ।

तदेव जगदित्येतदपि भूयः प्रपश्यते ॥ १ ॥

प्रपञ्चितेन जगतः स्वप्नसाम्येन यादृशचिदाकाशमात्रं तत्त्व-
 मिति प्रतिपत्तव्यं तत्स्वरूपं प्राक् शतशो निरूपितमपि मन्द-
 मतिभिः कश्चित्सम्यक्भावधारितं स्यादिति संभावनया तदनुक-
 म्यया पुनस्तस्यैव स्वरूपतदस्थलक्षणभेदैः सम्यग्गुण्यादनं श्रोतु-
 कामो रामः पृच्छति—कीदृशमिति ॥ १ ॥ पृष्टं वर्णयिष्यन्वसिष्ठः
 प्रस्तुतं जाग्रत्स्वप्नसाम्यमेव तद्दर्शनेनपीठिकार्वेनानुवदति—

वस्तुतस्त्वनयोर्भेदो न द्वयोः पयसोरिव ।
 द्वयमप्येकमेवैतच्चिन्मात्रं व्योम निर्मलम् ॥ ३
 देशादेशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः ।
 निमिषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥ ४
 यादृशस्तिष्ठतः स्वच्छं रसमाकर्षतस्तरोः ।
 भवेद्भावो नभःस्वच्छस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥ ५
 विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः ।
 यादृशः स्यात्समो भावस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥ ६
 अनागतायां निद्रायां मनोविषयसंक्षये ।
 पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ७
 तृणगुल्मलतादीनां वृद्धिमागच्छतामृतौ ।
 यः स्यादुन्ममतो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ८
 रूपालोकमनस्कारविमुक्तस्यामृतस्य यः ।
 भावः पुंसः शरद्वयोमविशदस्तच्चिदम्बरम् ॥ ९
 यदेतदासनं सृष्टं काष्ठपापाणभूभृताम् ।
 चेतनानां च सत्तात्म चिदाकाशः स उच्यते ॥ १०
 द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः ।
 यत्र वास्तमयश्चित्तं तद्विद्धि विगतामयम् ॥ ११
 यत उद्यन्ति यस्मिञ्च चित्राः परिणमन्त्यलम् ।
 पदार्थानुभवाः सर्वे चिदाकाशः स उच्यते ॥ १२
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
 यश्च सर्वमयो नित्यं स चिदाकाश उच्यते ॥ १३
 दिवि भूमौ बहिश्चान्तस्तथान्यस्य समाभिधः ।

समयोरिति । यमयोर्मलजातयोर्नामनी यद्वे भिन्ने क्रियेते
 तद्वजाप्रत्खमलक्षणखण्डचिरस्फटिकशिलाभये तत्प्रतिबिम्बप्रये
 सहशे प्रपञ्चद्वये द्वे नामनी क्रियेते इत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ तस्य
 चिद्योत्रो लक्षणं प्रागुक्तमेव स्मारयन्प्रथममाह—देशादिति ।
 मध्ये यच्चिर्विषयं संविदो वपुः प्रसिद्धं तदित्यर्थः ॥ ४ ॥
 मूलेन भौमं रसं जलमाकर्षतस्तरोः 'पिपीयमानो मोदमानस्तिष्ठ-
 ती'ति श्रुतिप्रसिद्धो यादृशो वृद्धिहासश्च आह्लादभावः प्रसिद्ध-
 स्तादृशमित्यर्थः ॥ ५ ॥ समः सर्ववैषम्यशून्यो भावः सहजसुख-
 स्वरूपानुभवः । निर्विक्लेपदशायामहं सुखं तिष्ठामीति सर्वानुभ-
 वान् ॥ ६ ॥ अनागतायामिति । यथाहुः 'निद्रादौ जागर-
 सान्ते यो भाव उपजायते । तं भावं धारयन्योगी न दुःखै-
 रभिभूयते ॥' इति ॥ ७ ॥ ऋतौ प्रावृषि शरदि वा । उ-
 न्मुक्ता ममता यस्मिन्स्थाविधो य आनन्दभावः ॥ ८ ॥ अ-
 मृतस्य जीवतः पुंसः ॥ ९ ॥ आसनं निष्क्रियमवस्थानं धात्रा
 स्वभावतया सृष्टं तदेव चेतनानां जीवानां सत्तात्म स्थितिरूपं
 चैस्यात्तदा स चिदाकाश उच्यते । तन्न मनोनाशे सत्येव
 सिद्धतीति भावः ॥ १० ॥ यतो यस्मात्सुषुप्तिमाक्षिणः स्वप्न-
 जागरयोर्दृष्टद्वित्रिपुट्या उदयो यस्मिन्नेव चास्तमयः ॥ ११ ॥
 विचित्राः सर्वे पदार्थानुभवा यत उद्यन्ति उदयं प्राप्नुवन्ति

यो विभात्यवभासात्मा चिदाकाशः स उच्यते ॥ १४
 यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृष्टे स्रगिव तिष्ठति ।
 सदसदुत्थितं विश्वं विश्वाङ्गे तच्चिदम्बरम् ॥ १५
 यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
 यस्मिञ्चैव प्रलीयन्ते यन्मयास्तच्चिदम्बरम् ॥ १६
 निद्रायां विनिवृत्तायां यतो विश्वं प्रवर्तते ।
 निवर्तते च यच्छान्तौ तच्चिदम्बरमुच्यते ॥ १७
 यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत्सत्तालयोदयौ ।
 स्वानुभूत्यात्मकं स्वान्तः स्थितं तद्विद्धि चिन्नभः ॥ १८
 नेदं नेदं तदित्येवं सर्वं निर्णाय सर्वथा ।
 यत्र किञ्चित्सदा सर्वं तच्चिद्योमेति कथ्यते ॥ १९
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 दूरतोऽर्धनिमेषेण तच्चिन्मात्रवपुः स्मृतम् ॥ २०
 विश्वं तन्मयमेवेदं यथा भूतं यथा स्थितम् ।
 रूपालोकमनस्कारैर्युक्तमप्येवमीदृशम् ॥ २१
 ईषदुन्मेषणादेतदन्यतामिव गच्छति ।
 अनन्यरूपमपि सच्चिद्योम विमलाकृति ॥ २२
 पश्यन्नेवेन्द्रियैरर्थान्नूनं निर्वासनाशयः ।
 प्रबुद्ध एवैकघनः सुषुप्तावस्थितो भव ॥ २३
 निर्वासनः शान्तमना वद ब्रज पिबाहर ।
 पाषाण इव संजीवो नित्यं सुघनमानवान् ॥ २४
 इदं न संभवत्येव दृश्यं पश्यसि यत्पुरः ।
 मृगतृष्णाजलमिव द्वैतमिन्दाविवोदितम् ॥ २५

यस्मिञ्च आलोचनविमर्शनाध्यवसायहानोपादानादिभावेनोत्तरो-
 त्तरं परिणमन्ति ॥ १२ ॥ द्वौ श्लोकौ प्राग्ब्याख्यातौ ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ विश्वाङ्गे यस्मिन्नुत्थितं सन्मूर्तेमसदमूर्तं च विश्वं
 तन्तौ स्रगिव तिष्ठति तत् ॥ १५ ॥ 'यतो वा इमानि भूतानि
 जायन्ते' इति श्रुत्युक्तं तदस्थलक्षणमाह—यस्मादिति ॥ १६ ॥
 सुषुप्तिप्रलयलक्षणायां निद्रायां विनिवृत्तायां सत्यां यतो यस्मा-
 त्प्रतीचो विक्षेपशक्तिवशात्प्राप्तप्रलक्षणं वियदादिलक्षणं च
 विश्वं प्रवर्तते आविर्भवति । यस्य शान्तौ विक्षेपशक्तिशान्तौ च
 निवर्तते ॥ १७ ॥ उन्मेषश्चरमसाक्षात्कारवृत्तावाविर्भावस्तेन
 जगत्सत्ताया लयः । निमेषः स्वरूपावरणं तेन च उदयः ॥ १८ ॥
 एवं सर्वनिषेधावधि सर्वात्मस्त्वमपि तलक्षणमित्याह—नेदमिति ।
 सदा सर्वमपि यत्र किञ्चित् ॥ १९ ॥ अर्धनिमेषेण अविल-
 म्बेन देशान्तरप्राप्तौ । विलम्बे हि वृत्तिविच्छेदाद्विषयान्तरा-
 नुप्रवेशाद्वा न शुद्धचिदम्बरं परिचेतुं शक्यमिति । उपक्रमोक्तस्य
 पुनः कीर्तनमुपसंहारयोतनार्थम् ॥ २० ॥ लक्षणान्युक्त्वा तद-
 द्वैतसिद्धये विश्वस्य तन्मयतामाह—विश्वमित्यादिना ॥ २१ ॥
 नाह कथं प्रलयावस्थातः सर्गावस्थाया भेदविभावनं तत्राह—
 ईषदिति ॥ २२ ॥ सेयमन्यताभ्रान्तिर्वासनावशादेवेति न
 निर्वासनस्येत्याह—पश्यन्नेवेति ॥ २३ ॥ २४ ॥ अन्यतामि-
 वेति इवकारेणान्यताया मिथ्यात्वमुक्तं तत्कृत इति चेदसंभवा-

इदमावाबनुत्पन्नं कारणाभावतः किल ।
कारणेन विना कार्यं न हि नामोपपद्यते ॥ २६
यद्गोपपद्यते किञ्चित्तदकारणकोद्भवम् ।
यथास्थितं परं रूपमुद्भूतमिध लक्ष्यते ॥ २७
तद्यथास्थितमेवाङ्ग पूर्वेरूपमवस्थितम् ।
भवत्यद्वयमेवाच्छं द्वयेनाप्युपलक्षितम् ॥ २८
तत्रेदं प्रत्ययः प्रौढो भवत्यनुभवो हि यः ।
समायातमिदं भ्रान्तं तत्स्वप्नस्त्रीसमं विदुः ॥ २९
तस्माद्दृश्यं न चोत्पन्नं नैवास्ति न भविष्यति ।
न च नश्यति यन्नास्ति तस्य किं नाम नश्यति ॥ ३०
तत्तदेव परं शान्तं चिद्योमैव तथा स्थितम् ।
स्वरूपादच्युतं स्वस्थं सौम्यं जगदिवोदितम् ॥ ३१
न हीदमग्रे यद्दृष्टं दृश्यं तत्सत्कदाचन ।
न चापि द्रष्टा दृष्टार्थाभावे क द्रष्टृता किल ॥ ३२
श्रीराम उवाच ।
एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्द्रष्टृदृश्यावभासनम् ।
किमिदं कथमाभाति भूयोऽपि वदतांवर ॥ ३३
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
असद्रूपस्य दृश्यस्य कारणाभावतः सदा ।
दृश्यतास्येत्यपि प्रौढिनिर्देशस्यात्यसंभवात् ॥ ३४
यदिदं भासते किञ्चिद्द्रष्टृदृश्यभ्रमात्मकम् ।

देवेत्याह—इदमिति ॥ २५ ॥ २६ ॥ यद्वा किञ्चिद्बीजादङ्कु-
रादि अन्वयव्यतिरेकदर्शनादुपपद्यते तदप्यकारणकादद्वयाद्ब्रह्मण
एवोद्भवो यस्य तथाविधम् । ननु निर्विकारात्तस्मात्कथमङ्कुराद्यु-
द्भवस्तत्राह—यथास्थितमिति ॥ २७ ॥ यथा अद्वयमपि
चन्द्रबिम्बभ्रान्तौ द्वयेनाप्युपलक्षितं तद्वदिति भावः ॥ २८ ॥
तदेव चेत्कथमन्यथाग्रहत्वं तत्राह—तत्रेति ॥ २९ ॥ माया-
मात्रत्वे किं सिद्धं तदाह—तस्मादिति ॥ ३० ॥ तद्विधं परं
शान्तं चिद्योमैव तथा विश्ववेषेण स्थितम् । किं परिणामेन
नेत्याह—स्वरूपादिति ॥ ३१ ॥ कुतो न परिणामेनेति चेत्-
त्समसत्ताकत्वाभावादित्याह—न हीति । अत एव तद्द्रष्टृतापि
न परिणामः । दृश्यनिरूप्यया तत्समत्वादित्याह—न चेति
॥ ३२ ॥ यदि द्रष्टृदृश्ये अत्यन्तासतो तर्हि तयोः कथमवभा-
सनम्, अत्यन्तासतो भानादर्शनादिति रामः शङ्कते—एवं
चेदिति । तत्प्रागुक्तमपि भूयोऽपि वद । हे वदतांवर ॥ ३३ ॥
तत्रासतो भानासंभवं प्रथमश्लोकेनाभ्युपेत्य अत एव सतः पर-
मात्मन एव मायया तथा भानमित्युत्तरं द्वितीयेनाह—असद्रू-
पस्येति । कारणाभावतः असद्रूपस्योत्पत्तेरेवासंभवादस्य दृश्य-
तापीति प्रौढ्या निर्देशः प्रौढिवादस्तस्य अत्यसंभवात्सुतराम-
संभवादित्यर्थः ॥ ३४ ॥ अत एवेदं द्रष्टृदृश्यं न असतो रूपं
किं तु परमार्थसतो ब्रह्मण इत्याह—यदिदमिति ॥ ३५ ॥
परमात्मन एवेदं रूपमिति कथं ज्ञातमिति चेत्स्वप्ननिदर्शना-
दित्याह—स्वप्ने इति ॥ ३६ ॥ स्वप्नसाम्यमस्य कृत इति

जगदादि परं रूपं तद्विद्धि परमात्मनः ॥ ३५
स्वप्ने चिन्मात्र एवास्ते यथा गगनकाननम् ।
तथा जगत्तया भाति स्वयं चिन्मात्रमात्मनि ॥ ३६
इहादिसर्गात्प्रभृति नास्त्युपादानकारणम् ।
किञ्चनापि क्वचिदपि भातीत्यं ब्रह्म केवलम् ॥ ३७
यच्चिदाकाशकचनं स्वयमात्मनि जृम्भते ।
तदिदं भाति तस्यैव जगदित्युदितं वपुः ॥ ३८
यथा भावस्य भावत्वं यथा शून्यस्य शून्यता ।
आकारिणो यथाकारस्तथा चिन्नभसो जगत् ॥ ३९
इदं विद्धि चिदाभासं परमार्थघनं घनम् ।
इत्थं स्थितं स्वयं भातं द्रष्टृदृश्यदृग्गान्मकम् ॥ ४०
वस्तुतस्तु द्वयाभावाच्चाभासि न च भासनम् ।
किमपीदमनिर्देश्यं सद्वाऽसद्वेति वेत्ति कः ॥ ४१
श्रीराम उवाच ।
एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्कार्यकारणतादिकः ।
कथं भेदः किमायातः कथं सत्यत्वमागतः ॥ ४२
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
चित्प्रकाशो यथाभानं यदा भावयति स्वयम् ।
स्वात्मा तथा तदेवाशु पश्यसीत्यसि दृष्टवान् ॥ ४३
चिद्योमैवायमाकारः स्वे व्योम्येव न मुह्यति ।
स्वयमेव यथा स्वप्ने कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४४

चेत्सर्वकारणकलापशून्यसुषुप्तिसदृशात्प्रलयादुद्भूतत्वादित्याश-
येनाह—इहेति ॥ ३७ ॥ चिदाकाशकचनाधीनकचनत्वादपि
स्वप्नसाम्यमित्याशयेनाह—यदिति ॥ ३८ ॥ निर्धर्मकस्य
चिन्नभसः कथं जगद्धर्मकतेति चेन्मायिकविकल्पवशादेवेति
दृष्टान्तेरुपपादयन्नाह—यथेति । आकारिणो मूर्तस्य ॥ ३९ ॥
घनं सैन्धवघनवदेकरसं परमार्थघनमेव मायायां चिदाभासं
इत्थं त्रिपुटीभूय स्थितं विद्धि ॥ ४० ॥ मायात्यागे तु
द्वयाभावात्सद्वा असद्वेति को वेत्ति, बाधितस्य विमर्शयोग्यत्वा-
दिति भावः ॥ ४१ ॥ एवं 'नाभासि न च भासनम्' इति त्वदु-
क्तरीत्या द्रष्टृदृश्योभयशून्यं चेत्परमार्थतत्त्वं तर्हि कार्यकारणता-
दिको भेदः कथम् । न ह्यद्रष्टृकः कश्चित्सेद्गुमर्हति कस्मादुपादा-
नाभिहितत्वाद्वा आयातः । यद्यसत्य एवेति ब्रूये तर्हि कथं सत्य-
त्वमागतः, सर्वजनानां सत्यत्वेन कथं भातीत्यर्थः ॥ ४२ ॥ तत्र
प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—चित्प्रकाश इति । वस्तुतः स्वात्मापि
चित्प्रकाश ईश्वरः स्वयं यदा यथाभानं यथाप्राणिकामकर्मवा-
सनोद्बोधं यद्यथा सत्यसंकल्पतया भावयति तत्तदा त्वं तथैवाशु
पश्यसि त्वदात्मना च स एव इति प्रागुक्तं द्रष्टृदृश्यभावमनुभू-
तवान् । तेनास्य सिद्धिरित्यर्थः ॥ ४३ ॥ द्वितीयस्योत्तरमाह—
चिद्योमैवेति । अयं कार्यकारणभावाद्याकारश्चिद्योमैव, यथा घटो
मृदेवेति चिद्योमैवोपादानं मोह एवास्व निमित्तम् । कथमिदं
ज्ञायते । यतोऽयं स्व व्योम्येव परिज्ञाते न मुह्यति अन्यथा तु
मुह्यसेव । यथा स्वप्ने स्वयमेव मुह्यति स्वात्मप्रबोधदेव मोहं

भाषान्त्राधान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
 तच्चिद्योम तदेवेदं सर्वं च स्थिति नेतरत् ॥ ४९
 कार्यकारणभावादिदृशोऽविद्याविजृम्भिकाः ।
 जगद्वत्कल्पयत्येष कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४६
 द्रष्टा भोक्ताथ कर्ता वा कश्चित्स्यादितरो यदि ।
 तत्कथं किमिदं दृश्यमिति युज्येत नान्यथा ॥ ४७
 यत्र स्वप्ने निराभासं चिद्योमैव विराजते ।
 शुद्धमेकमनेकात्म तत्र किं क्व विकल्प्यते ॥ ४८
 आस्वयंभुव एषेयं चिन्मात्रे भाति सर्गभाः ।
 परिज्ञाता सती सा तु ब्रह्मैव भवति क्षणात् ॥ ४९
 एषैव त्वपरिज्ञाता भ्रान्तिर्मायेति कथ्यते ।
 जगदित्युच्यते विद्या दृश्यमित्युपवर्ण्यते ॥ ५०
 चिदाकाशप्रकाशेन चित्ता दृश्यपिशाचकः ।
 वेतालो बालकेनेव बुद्धोऽसन्नेव सञ्चिव ॥ ५१
 जगत्सात्मन्यसत्यापि चिद्योमैवानुभूयते ।
 सत्येव साङ्गलेखेव स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥ ५२
 अहमद्रिरहं रुद्रः समुद्रोऽहमहं विराट् ।
 चेत्यते खे चित्तैवेति स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥ ५३

जहाति तद्वत् । ननु स्वात्मबोधे समर्थ ईश्वरः स्वयमेव जीवो भूत्वा किमर्थं मुह्यति कुतो वा न प्रबुध्यते तत्राह—कोऽस्येति । स्वप्नेस्वप्नेश्वरस्य किमर्थं जीवो भूत्वा मुह्यसीति पर्यनुयोगमाक्षेपं करोतीति पर्यनुयोगकृत्को वा स्यात् कश्चिदित्यर्थः ॥ ४४ ॥ तृतीयस्योत्तरमाह—भावादिति । दुरवभावाद्दधिभावप्राप्तौ पिण्डभावाद्दृढभावप्राप्तौ पूर्वभावनिवृत्ताद्युत्तरभावानुपजने च मध्ये क्षणमात्रं सन्मात्ररूपं प्रतिदं तत्परमार्थसत्याः संविदो वपुः स्वरूपं तदेव चिद्योम मया प्रागुक्तं तदेवेदं सर्वं च स्थिति बलु विभाव्यत इति सर्वं सत्यत्वमागतमित्यर्थः ॥ ४५ ॥ ईश्वरस्य जीवभावकल्पनायामिष जीवस्य स्वाविद्यया कार्यकारणरूपावस्थात्रयकल्पनायामपि न पर्यनुयोगो युक्त इत्याह—कार्यकारणेति । न हि स्वात्मानं प्रति कश्चित्किमर्थमेवं करोमीति पर्यनुयोगं कर्तुं समर्थ इति भावः ॥ ४६ ॥ आत्मन्यस्य कर्तृत्वे भोक्तृत्वे वा स्यादेव पर्यनुयोग इत्याह—द्रष्टेति । इति पर्यनुयोगो युज्येत ॥ ४७ ॥ विकल्प्यते पर्यनुयुज्यते ॥ ४८ ॥ स्वयंभुवः आस्वयंभुवमभिव्याप्यैव सर्गभाः सर्गभ्रान्तिर्भाति तस्मात्परिज्ञानादित्यर्थः ॥ ४९ ॥ एषा सर्गभ्रान्तिरेव तस्वतः अपरिज्ञाता मायेति शास्त्रेषु कथ्यते, लोके जगदित्युच्यते, अज्ञैरविद्येत्युच्यते, दृग्विवेकिभिर्दृश्यमित्युपवर्ण्यते ॥ ५० ॥ स्त्रीया चित्ता चित्स्वभावः पृथगसन्नेव सञ्चिव दृश्यपिशाचको बुद्धः ॥ ५१ ॥ असतो निरवयवस्यापि सन् सावयव इत्यनुभवः स्वप्नवदत्रोप-

१ 'अत्र सर्वं नस्त्विति नेतरत्' इति पाठो युक्तः.

आकारि कारणाभावाज्जातं कार्यं न किञ्चन ।
 महाप्रलयचिद्योमि चित्स्थितेत्यमिदन्तया ॥ ५४
 अकारणकमेवेदं व्योम व्योम्नानुभूयते ।
 जगदित्येव शून्याङ्गं चिन्मात्रात्म चिदात्मनि ॥ ५५
 सर्वं एव जडा जीर्णा दर्पणा इव जन्तवः ।
 समीपगत एवान्तः कुर्वतस्तु विचारणम् ॥ ५६
 तत्तत्स्वरूपमुत्सृज्य बुद्धा चिन्मात्रं जगत् ।
 अश्मना चेतनेनैव स्थेयं नास्थेतरोत्तमा ॥ ५७
 यथास्ते चलयेद्देहं वार्याध्वर्तजगद्भवः ।
 चेततीति तथा चित्त्वं स्थिता चित्तजगद्दृशा ॥ ५८
 यथा कल्पद्रुमोऽभीष्टं कुर्याच्चिन्तामखिर्यथा ।
 तथा यद्भाषितं स्वान्तस्तत्पूरयति चित्क्षणात् ॥ ५९
 चित्तिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
 आशु संपादयत्यन्तरात्मनात्मनि स्वात्मिका ॥ ६०
 देशादेशान्तरप्राप्तौ मध्यदेशे चित्तेर्षुः ।
 यत्तन्मयमिदं दृश्यं कुतो द्वैतैक्यविभ्रमः ॥ ६१
 चिच्छायैवं कचत्यच्छमनन्ता भास्वरोदरा ।
 अङ्गरिकापि दृश्यान्तःशून्यता नीलतेव खे ॥ ६२

पादनीय इत्याह—जगत्तेति । साङ्गलेखा सावयवैव च ॥ ५२ ॥ तत्राहंताध्यासेनानुभवं प्रपद्यति—अहमिति । अद्रिर्मेरुहिमवदादिः ॥ ५३ ॥ चिदनुभव एव सर्ग इति किमर्थं वर्ण्यते, प्रधानपरमाण्वादिकारणान्तरादेवायं जात इति कुतो न वर्ण्यते तत्राह—आकारीति ॥ ५४ ॥ शून्याङ्गं निरवयवम् ॥ ५५ ॥ सर्वं एव जन्तवो दर्पणा इव स्वान्तःपरिकल्पितजगद्देहा अपि विचाराभावात्स्वरूपदर्शनासामर्थ्याज्जडाः सन्तो वृथा जीर्णाः । विचारणं कुर्वतः पुरुषधौरेयस्य तु परमपुरुषार्थोऽन्तः प्रत्यगात्मरूपत्वात्समीपगत एवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥ विचारेण स्वरूपं बुद्धा कथं स्थेयं तत्राह—तत्तदिति । तत्तत्प्रामाण्यस्वरूपमुत्सृज्य परिशिष्टं चिन्मात्रं खमेवेति जगद्बुद्धा चेतनेन चिदेकधनेनाश्मनेव अचलेन स्थेयं, इतरा मायिकी देहाद्यास्था नोत्तमा ॥ ५७ ॥ चित्कथं जगदात्मना स्थिता तत्राह—यथेति । यथा वारि स्वदेहं चलयेत्सत् आवर्तादि जगद्भवो भूत्वा आस्ते तथा चिदपि चेततीति व्यापाररूपं चित्त्वं स्वात्मनि परिकल्प्य स्थिता सती तत्कर्म जगद्दृशा आस्ते ॥ ५८ ॥ यत्र अल्पशक्तीनां कल्पद्रुमादीनामपि संकल्पितार्थकल्पनसामर्थ्यं तत्र सर्वशक्तेः परमात्मनस्तत्किं वाच्यमित्याशयेनाह—यथेति ॥ ५९ ॥ ६० ॥ स्वात्मिकेत्येति द्विषयाकर्षणेनोपपादयजगतस्तन्मयत्वमाह—देशादिति ॥ ६१ ॥ चित्तज्ञायां कान्तिरेव जगद्देवेण कचति । अज्ञैरवयवै

२ भास्वरोदरा इति पाठः.

विसदृशकार्यानुभवो

न भवति सहकारिकारणाभावात् ।

सर्गादावत आधा

चिदेव दृश्यं यथा स्वप्ने ॥

६३

इत्यर्थे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उत्तरार्धे कार्यकारणनिरासो नाम षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमः सर्गः १०७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अचेत्यच्चिन्मयं विश्वं विष्वगाभाति चिन्नमः ।
 अत्र चिचेतनं चेदं चेत्यमप्येषमात्मकम् ॥ १
 अतो जीवन्नपि मृत इव सर्वोऽवतिष्ठते ।
 असावहं च त्वं चेति जीवन्तोऽपि मृता इव ॥ २
 काष्ठमौनमृता एव व्यवहारगता अपि ।
 खगमा एव वा सर्वे भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥ ३
 आकाशकाचकचयात्म यदिदं किञ्चिदाततम् ।
 न किञ्चिदेव तद्विद्धि किञ्चिद्योस्मि कुतो भवेत् ॥ ४
 केशोण्डुकनदीवाहधूमालीमौक्तिकादिवत् ।
 यत्त्वं कचति तत्रास्ति नानुभूतेऽपि वस्तुता ॥ ५
 तथैवासिजगन्नाम्नि चिद्योस्मि कचने चिते ।
 अनुभूतेऽपि निःशून्ये कास्थास्थाभावकश्च कः ॥ ६
 चिद्बालकल्पनाजाले शून्यात्मनि निरर्थके ।
 अवस्तुभूते पृथ्व्यादौ भ्रान्तिमात्राम्बरोदये ॥ ७

किमास्था बालका ब्रूत ममेदमहमित्यलम् ।
 आ ज्ञातं रमते बालसंकल्पे बाल एव च ॥ ८
 पृथ्व्याद्यसद्विचारैर्वा व्यर्थं यास्यति जीवितम् ।
 किञ्चिन्न न ज्ञास्यति भोराकाशक्षालनोद्यतः ॥ ९
 सहकार्यादिपूर्वाणां कारणानामभावात् ।
 यदादावेव नोत्पन्नं तन्नामाद्य भवेत्कुतः ॥ १०
 अजातेनासतार्थेन खेन व्यवहरन्ति ये ।
 मूढा मृतमजातं वा तनयं पालयन्ति ते ॥ ११
 कुतः पृथ्व्यादयः केन के नाम कथमुत्थिताः ।
 चिद्योमेत्थमिदं शान्तं प्रकचस्यात्मनात्मनि ॥ १२
 कार्यकारणकालादिकल्पनाकुलचेतसाम् ।
 एवं पृथ्व्यादयः सन्ति तैर्बालैरलमस्तु नः ॥ १३
 अपृथ्व्यादि जगन्नाम सपृथ्व्यादि च स्वरमकम् ।
 कचतीत्यं नभोरूपं स्वप्नादिष्विव चिन्मणिः ॥ १४

रिक्ता शून्यापि ॥ ६२ ॥ विस्तरेण व्यवस्थापितमर्थं संप्र-
 हेणोपसंहरति—विसदृशेति । सर्गादौ चितो विसदृशं जडं
 यत्कार्यं तस्यानुभव उद्भवो न संभवति । वैसादृश्ये निमित्तभूतानां
 सहकारिकारणानामभावात् । सुसदृशे तु मेदकाभावात्कार्यत्वा-
 सिद्धिरित्याशयः । अतः आधा चिदेवेदं दृश्यं न तथातिरिक्त-
 मणुमात्रमप्यस्तीति स्वप्रवृत्तान्तेन सिद्धमित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 कार्यकारणनिरासो नाम षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

इहोपपाद्यते चेत्यपृथ्व्यादीनामवस्तुता ।

चिन्मणेरेव कचनं स्वप्रवृत्तगदित्यपि ॥ १ ॥

विश्वस्य चेत्यभावमपलप्य चिन्मात्रभावं परिशेषयितुं प्रति-
 जानीते—अचेत्येति । यतश्चिन्नम एव विष्वगाभाति । तथा च
 चिन्नमोमात्राधीनसिद्धिकलादित्यनुमानं दर्शितम् । अत्र चेतय-
 तीति चित् चेतनं क्रिया चेत्यं चेति त्रिपुटी चिन्मयीति प्रतिज्ञार्थं
 इत्याह—अत्रेति । अत्रास्यां प्रतिज्ञायामेवमात्मकं शुद्धचिदात्मकं
 प्रतिज्ञार्थत्वेनाभिप्रेतमिति शेषः ॥ ११ ॥ प्रतिज्ञासिद्धेः फलद्वयम् ।
 स्थितस्यैव जगतो जगद्भावनिवृत्तिर्जावतामेवास्माकं जीवभाव-
 निवृत्तिश्चेत्याह—अत इति ॥ २ ॥ सर्वभावानां कौटस्थ्यामूर्त-
 तासिद्धिर्वा तत्फलमित्याह—काष्ठेति । काष्ठमौनमात्यन्तिक-
 निष्क्रियतालक्षणं कौटस्थ्यं ऋताः प्राप्ताः । खे गमनं गमः
 आत्यन्तिकामूर्तभावप्राप्तिर्येषाम् ॥ ३ ॥ नभोनैल्यादिवद्भास-
 यो० वा० १६६

मानस्वाप्यसत्त्वावधारणं वा तत्फलं विद्वीत्याह—आकाशेति ।
 काचकच्यं काचवत्कचवजैत्यम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ तथा च नभो-
 मौक्तिकालिष्विव जगति भोगास्था न युक्तैत्यपि फलितमि-
 त्याह—तथैवेति । आस्थाया भावक उत्पादकश्च कः पदा-
 योऽस्ति ॥ ६ ॥ ७ ॥ यथास्था अनुचितैव तर्हि को हेतुर्यज-
 नास्तत्रास्थां कुर्वन्ति तत्राह—आ ज्ञातमिति । हेतुस्मरणेऽय-
 माकारो निपातः । ज्ञातं स्मृतम् । तेषां बाल्यमेव तदास्थाहेतु-
 रिति स्मृतमित्यर्थः ॥ ८ ॥ अत एवेपत्संजातविवेकैः पृथ्व्या-
 दीनामसतां लाभादिहेतुं व्यर्थजन्मनाशकरं विचारं स्वक्त्वा
 जन्मसार्थक्रियापादकं वैराग्यादिसाधनजातमवलम्बनीयमित्या-
 शयेनाह—पृथ्व्यादीति । यथा स्वर्णरत्नादिलोमेच्छया प्रवृत्त-
 स्तदाकरस्थानक्षालनं विहाय आकाशक्षालनोद्यतश्चेन्महतापि
 भ्रमेण न किञ्चिन्न फलं ज्ञास्यति द्रक्ष्यति तद्वदित्यर्थः ॥ ९ ॥
 पृथ्व्यादीनामसत्त्वं तु अकारणत्वादजातत्वादिना प्राक्साधि-
 तमित्याह—सहकारीति ॥ १० ॥ अत एव व्यवहारेऽभिनि-
 विष्टता विदुषां हास्यास्पदमित्याह—अजातेनेति ॥ ११ ॥
 तत्स्वदृष्टो पृथ्व्यादीनामत्यन्तासंभवमनुभवमवलम्ब्याह—कुत
 इति ॥ १२ ॥ मूढदृष्टिस्तु नास्माकं प्रमाणमित्याह—कार्येति
 ॥ १३ ॥ एवं च प्रतिज्ञार्थः सिद्ध इत्याह—अपृथ्व्यादीति ।
 नामेति प्रसिद्धम् । स्वप्नमपृथ्व्यादि जगज्जाग्रदप्रसिद्धं सपृथ्व्यादि
 जगत्स्यनुभवमपि स्वरमकं चिदाकाशात्मकम् । किं तर्हि

अङ्गं यदेतस्य चिदम्बरस्य
निराकृतिं स्थानुभवानुमानम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उत्तरार्धे अविद्याभावप्रतिपादनं नाम सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥१०७॥

तदेतदाभाति महीतलादि-
रूपेण वेद्येति कृताभिधानम् ॥ १५

अष्टाधिकशततमः सर्गः १०८

धीराम उवाच ।

अविद्या दृश्यरूपेयं कचन्ती यस्य विद्यते ।
चिद्विद्यःस्वप्नगरी दृश्यमानापि शून्यकम् ॥ १
तस्याङ्गस्य कियत्कालं किंरूपा स्यात्किमात्मिका ।
कियती सा च वेत्येवं मुने मे कथ्यतां पुनः ॥ २
धीराम उवाच ।
अविद्या विद्यते येषामज्ञानां भूतलादिका ।
तेषामस्यां ब्रह्मणीव नास्त्यन्तोऽत्र कथां शृणु ॥ ३
सदृशं जगतोऽस्यास्ति क्वचिदम्बरकोणके ।
कस्मिन्निजगत्किञ्चिदनयैव द्यवस्थया ॥ ४
अस्ति कश्चिद्भुवो भागो भूषणं तत्र भूस्थितेः ।
पुरी ततमितिर्नाम्ना सुव्यक्तकलनाऽवनौ ॥ ५

जगदिति कचति तदाह—कचन्तीति ॥१४॥ स्थानुभव एवा-
नुसृतं मानं यत्र तथाविधं यदेतस्य चिदम्बरस्य निराकृति
निराकारमङ्गं शरीरम् । स्वरूपमिति यावत् । तदेतदेव महीतला-
दिरूपेण वेद्यदृश्य इति प्रातिपदिकरूपं कृतमभिधानं येन
तथाविधं सदा भाति प्रथते न वस्त्वन्तरमवस्तु वेत्यर्थः ॥१५॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
अविद्याभावप्रतिपादनं नाम सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥१०७॥

अनष्टायामविद्यायां जगदन्तो न क्वचिच्चिद् ।

अत्रार्थे विस्तराच्चिदमविद्याख्यानमीर्यते ॥ १ ॥

तस्मिन्निपश्चिच्चरिते चतुर्विधुविपश्चितः ।

इह द्विषत्समुत्थानोदन्तमुत्थन्तमुत्थयते ॥ २ ॥

वर्णितायाः संसृतिरूपाया अविद्यायास्तस्त्वज्ञानेन त्रैकालिका
सत्त्वापत्तिलक्षणं बाधं विनापि देशतः कालतो वा अन्तः संभ-
वति न वेति संदिहानो रामः पृच्छति—अविद्येति । इयं चिद्विद्यः-
स्वप्नगरी विद्यमानापि शून्यभूता दृश्यरूपा अविद्या यस्य पुंसः
अबाधात्कचन्ती विद्यते तस्याङ्गस्य सा कियत्कालं स्यात् किंरूपा
स्यात्किमात्मिका च स्यात् देशतश्च कियती वा स्यादित्येवं पुनर्मै-
त्वया कथ्यतामिति द्वयोरन्वयः ॥१॥२॥ तत्र संशयद्वितीयकोटिं
परिगृह्य वसिष्ठस्तत्प्रतिष्ठापनाय प्रथमं विपश्चित्कथां श्रावयितुं
राममवधापयति—अविद्येति । ब्रह्मणि यथा देशतः कालतो
वा अन्तो नास्ति तद्वदस्यामपि नास्ति । अत्रास्मिन्नर्थे उपपादिकां
वक्ष्यमाणकथां शृण्वित्यर्थः ॥ ३ ॥ तामेव प्रस्तौति—सदृश-
मिति । लोकालोककलधौतशिलाप्राये कस्मिन्निद्वस्तुनि स्थिते
चिदम्बरस्य कोणके तत्रापि क्वचिदप्रदेशे अस्या जगत्सैलो-
क्यस्य सदृशं किञ्चिजगदन्तयैवैतजगत्प्रसिद्धया भुवनद्वीपदेश-

तत्रासीत्पार्थिवः कश्चिद्विपश्चित् इति विश्रुतः ।
यः सभायां सुसभ्यायां विपश्चित्त्वाद्भिराजते ॥ ६
राजहंस इवाङ्गिन्यामृक्षचक्र इवोडुराद् ।
सुमेरुरिव शैलौघे यः सभायामराजते ॥ ७
निवर्तते यतोऽशक्त्या वचनं गुणवर्णनात् ।
कवीनामचलाकारा भवेद्भा भूधरो यथा ॥ ८
प्रातःप्रातर्विकसितात्सर्वाशाभासनोद्यतात् ।
यतः प्रतापजनितश्रीरुदेत्यम्बुजादिव ॥ ९
स ब्रह्मण्यमतिर्मानो वह्निमेवाधिदैवतम् ।
अपूजयत्समं भक्त्या देवं वेत्ति स नेतरम् ॥ १०
समत्स्यमकरव्यूहा गजवाजिगणान्विताः ।
आवर्तचक्रव्यूहाख्याः कलोलबलमालिताः ॥ ११

कालादिव्यवस्थया मर्यादया अस्ति ॥ ४ ॥ तत्र जम्बूद्वीपलक्ष-
णाया भूस्थितेर्भूषणभूतः कश्चिद्भुवो भागोऽस्ति । तत्रापि
गिरिवप्रवालकुदिकृतवैषम्याभावात्तरगजतुरगरथादीनां सुव्यक्ता
संचारादिव्यवहारकलना यस्यां संभवति तथाविधायामवनौ
समभूमौ नाम्ना ततमितिरिति प्रसिद्धा पुरी अस्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥
तत्र तस्यां पुर्यां शोभनाः सभ्या यस्यां तथाविधायां
सभायां विपश्चित्त्वात्सर्वशास्त्रेषु विद्वत्त्वादिराजते ॥ ६ ॥
वैभवसौन्दर्यादिनापि तस्य तत्र विराजमानतामाह—राजहंस
इति । अङ्गिन्यामञ्जवल्यां सरस्याम् । ऋक्षचक्रे नक्षत्रगणे
उडुराद् चन्द्र इव ॥ ७ ॥ सर्वत्रोत्तरोत्तरगुणोत्कर्षवर्णने प्रवृत्तं
कवीनां वचनं यतो यस्माद्विपश्चितोऽवधेः सकाशात्पुणानन्त्येन
निरुपमत्वेन च वर्णनाशक्त्या वर्णनाच्चिर्वर्तते तथापि कवयस्तं
भजन्त एव । यतो यस्माद्विपश्चितः सकाशात्कवीनामचलाकारा
स्थिरा संपत्क्यातिगुणोत्कर्षप्रयुक्ता भा शोभा भवेत् । स हि
भूधरो मेरुर्धया स्वाश्रितनरमृगतृणगुल्मावीन्स्वभासा स्वर्णां करोति
तादृश इत्यर्थः ॥ ८ ॥ श्रीः संपत् । अम्बुजपक्षे प्रतापादातप-
जनिता श्रीः शोभा ॥ ९ ॥ ब्रह्मण्या ब्राह्मणहिता मतिर्यस्य
अत एव देवेषु वह्नेर्ब्राह्मणत्वाद्बहिमेवाधिदैवतं देवेषु अपूजयत् ।
तथा चाभ्युपस्थाने मन्त्रः 'त्वं देवेषु ब्राह्मणोऽस्यहं मनुष्येषु
ब्राह्मणो हि ब्राह्मणमुपधावत्युप त्वा धावामीति । तदमिनैव
देवेषु ब्रह्माभवत्' इति वाजसनेयके ॥ १० ॥ अस्य मन्त्रिषु
मध्ये अकम्पना धीरा बाहुबलेन चाधिका अकम्पनेन निर्भयेन
बलेन सैन्येन चाधिकाश्चत्वारो मन्त्रिणश्चत्वारः सत्सागरा इव
चतसृषु दिक्षु परचक्रनिरोधेन देशमर्यादापालने युक्ता नियुक्ता
इति द्वयोरन्वयः । तत्र सागराः समत्स्यमकरव्यूहाः, मन्त्रिणस्तु

मर्यादापालने युक्ता अकम्पनबलाधिकाः ।
 मन्त्रिष्वप्यस्य चत्वारो दिक्षु सत्सागरा इव ॥ १२
 तैरशेषककुम्बक्रमाभिराभासितावनिः ।
 आसीत्सुदुर्जयो जेता स सुदर्शनचक्रवत् ॥ १३
 तमेकदा ययौ पूर्वदिङ्मुखाच्चतुरक्षरः ।
 स उवाच रहो रंहोगतिघोराक्षरं बन्धः ॥ १४
 देव दोर्द्धुमविभ्रान्तधरागोबन्धनाच्युत ।
 भ्रूयतां मन्मुखात्पद्माद्यथाप्राप्तं विधीयताम् ॥ १५
 पूर्वदिङ्मुखसामन्तो ज्वरेणास्तमुपागतः ।
 मन्ये जेतुं यमं यातस्त्वयारब्धो जितारिणा ॥ १६
 तस्मिन्समन्ततो जेतुं दक्षिणापथनायकः ।
 पूर्वापराभ्यामाक्रम्य बलाभ्यामरिणाऽऽहृतः ॥ १७
 तस्मिन्मृते समागम्य यावद्धारुणदिकपतिः ।
 बलेनायाति ककुभौ ते समादातुमाहृतः ॥ १८
 पूर्वदेशानृपैः सार्धं दक्षिणापथपार्थिवैः ।
 तावदेवारिभिरसावर्धमार्गे रणे हृतः ॥ १९
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अथास्मिन्कथयत्येवं त्वरार्तमपरक्षरः ।
 उपप्लवजडोत्पीड इव हर्म्यं विवेश ह ॥ २०
 चर उवाच ।
 उत्तराशाबलाभ्यक्षो देवारिभिरुपद्रुतः ।
 इत आयाति सबलो भग्नसेत्वम्बुपूरवत् ॥ २१
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 इति श्रुत्वा महीपालः कालक्षेपमवास्तवम् ।

गजवाजिगणान्विताः । समुद्रा आवर्तव्यूहाढ्याः, मन्त्रिणश्चक्रव्यू-
 हाढ्याः । समुद्राः कल्लोलमालिताः । मन्त्रिणो बलमालिताः ॥ ११ ॥
 समुद्राः अकम्पनानां पर्वतानां बलेनाधिकाः ॥ १२ ॥ तैर्मन्त्रिभिः
 स राजा अशेषाणां ककुम्बक्राणां दिक्चक्राणां नाभिरिव आधा-
 रभूतः सन् सुदर्शनचक्रवत्सुदुर्जयः शत्रुभिरपरिभवनीयः स्वयं
 जेता च आसीत् ॥ १३ ॥ चरक्षरः आययौ । रंहः कालरय
 इव दुर्निवारत्वाद्वोरण्यक्षराणि यस्मिन् ॥ १४ ॥ दोर्द्धुमयोर्वि-
 भ्रान्तेन धरागोबन्धनेन अच्युत भविच्युत । सदैव भूस्त्वद्गु-
 जावष्टब्धेति यावत् । अत्राच्युतपदरूपाद्विष्णुत्वारोपोऽपि
 गम्यते ॥ १५ ॥ पूर्वदिङ्मुखे त्वया मर्यादापालनाय नियुक्तो यः
 सामन्तः प्रागुक्तमन्त्री स ज्वरेणास्तं मरणमुपागतः । तत्रोत्प्रे-
 क्षते—मन्ये इति । जितारिणा त्वया दिग्विजयाय आरब्धः
 उपक्रम्य नियुक्तः स दक्षिणदिकपतिं यमं जेतुं यात इति मन्ये
 ॥ १६ ॥ तस्मिन्मृते सति दक्षिणापथनायकस्त्वत्सामन्तः सम-
 न्ततः पूर्वा दक्षिणां च दिशं जेतुं प्रवृत्तः सोऽप्यरिणा पूर्वापराभ्यां
 बलाभ्यामाक्रम्य हृतः ॥ १७ ॥ तस्मिन्मृते सति वारुणदिशः
 पतिस्ते सामन्तो यावद्दलेन समागम्य ते पूर्वदक्षिणे ककुभौ दिशौ
 समादातुमाहृतः सजायाति तावदेव अरिभिः पूर्वदेशानृपैः सार्धं
 दक्षिणापथपार्थिवैः असौ अर्धमार्गे रणे हृत इति द्वयोः संबन्धः

मन्यमान उवाचेदं निर्गच्छन्वरमन्दिरात् ॥ २२
 राज्ञः सन्नह्य सामन्तानानीयन्तां च मन्त्रिणः ।
 उद्गाढ्यन्तां हेतिशाला दीयन्तां घोरहेतयः ॥ २३
 श्रेष्ठ्यन्तां कंकटा देहेष्वागच्छन्तु पदातयः ।
 गण्यन्तामाशु सैन्यानि क्रियन्तां वरकल्पनाः ॥ २४
 कल्प्यन्तां च बलाभ्यक्षाः प्रेष्यन्तामभितक्षराः ।
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 वदत्येवं त्वरायुक्तं संरम्भवति राजनि ॥ २५
 प्रतीहार उवाचेदं प्रविश्याकुलमानतः ।
 प्रतीहार उवाच ।
 उत्तराशाबलाभ्यक्षो देव द्वार्यवतिष्ठति ।
 काङ्क्षत्यज्ञमिवाकस्य देवदेवस्य दर्शनम् ॥ २६
 राजोवाच ।
 गच्छाविलम्बितं तावदेनमेव प्रवेशय ।
 जानीमः किं दिगन्तेषु वृत्तं वृत्तान्तसंभवात् ॥ २७
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 इत्युक्त उत्तराशेशं प्रतिहारप्रवेशितम् ।
 प्रणामपरमप्रेऽसौ राजाऽपश्यद्बलाधिपम् ॥ २८
 क्षतविक्षतसर्वाङ्गमङ्गमङ्गेषुसंततम् ।
 श्वासाकुलं वमद्रकं धैर्येणाबलनिर्जितम् ॥ २९
 स प्रणम्य त्वरायुक्तमुवाचेदमुपक्रमम् ।
 संस्तभ्याङ्गम्यथामाशु संततोच्छ्वासमुच्छ्वसन् ॥ ३०
 बलाभ्यक्ष उवाच ।
 देव त्रयोऽपि दिक्पाला बलेन बहुना सह ।

॥ १८ ॥ १९ ॥ अपरक्षरस्त्वयया आर्तं पीडितं यथा स्यात्तथा
 हर्म्यं विवेश ह किल । उपप्लवे प्रलये प्रसिद्धो जडोत्पीडो जल-
 प्रवाह इव ॥ २० ॥ हे देव ॥ २१ ॥ वस्तुनां वास्तुनां चाहि-
 तमवास्तवं मन्यमानः सन् वरमन्दिराग्निर्गच्छन्नेव उवाच ।
 संनिहितानुपुरुषान्प्रतीत्यर्थः ॥ २२ ॥ किमुवाच । राज्ञस्तथा
 सामन्तान्मन्त्रिणश्च सन्नह्य युद्धसन्नाहयुक्तानुकृत्वा सर्वेऽप्यानी-
 यन्ताम् । त्यबन्तक्रियाकर्मणोऽनभिहितत्वात्पक्वौदनं भुज्यत
 इतिवद्वितीया । पक्वौदनो भुज्यत इति प्रयोगे त्वभिहिते प्रधान-
 क्रियाकर्मणि प्रथमैव । कत्वान्तक्रियायां त्वार्थिकोऽन्वयो न
 शाब्दः । हेतीनामायुधानां शालाः कोशगृहा उद्गाढ्यन्ताम्
 ॥ २३ ॥ वरकल्पनाः भटश्रेष्ठसमर्थनाः ॥ २४ ॥ २५ ॥ देवदेवस्य
 राजाधिराजस्य तव ॥ २६ ॥ वृत्तान्तस्य संश्रवात्सम्यक्श्रवणात्
 दिगन्तेषु किं वृत्तमिति जानीमो ज्ञास्यामः ॥ २७ ॥ इति राज्ञा
 उक्ते सति प्रतिहारप्रवेशितमुत्तराशेशमप्रे प्रणामपरं राजा
 अपश्यत् ॥ २८ ॥ अङ्गमङ्गं प्रत्यङ्गं ह्युभिः संततम् । अबल-
 मत एव निर्जितम् । धैर्येणेति पदस्योत्तरत्र संबन्धः ॥ २९ ॥
 स धैर्येण अङ्गव्यथा संस्तभ्य प्रणम्य अयं वक्ष्यमाण
 उपक्रमो यस्मिन्सदिदमुपक्रमं वाक्यमुवाच ॥ ३० ॥ त्रयोऽपि
 १ उपप्लवो जडोत्पीड इति पाठविन्ध्यः.

| | |
|---|--|
| त्वदाज्ञयेव निर्जेतुं यमं यमपुरं गताः ॥ ३१ | आकाशकामितसन्नाहैर्विशं प्रति बलं बलम् । उदेत्यलघुकल्लोलैः प्रलयार्णवपूरवत् ॥ ४१ |
| तद्देशपालनाद्यर्थमशक्तं मामिमं ततः । अनुद्रवन्तो बहवो भूपाः प्राप्ता बलादिह ॥ ३२ | शरास्त्रशस्त्रसन्नाहमुकुटाभरणत्विवः । कचन्ति त्वत्प्रतापाग्नेर्ज्वाला इव तदङ्गाः ॥ ४२ |
| महत्परबलं प्राप्तमिदं देवस्य मण्डलम् । विधीयतां तथाप्राप्तं न देवस्यास्ति दुर्जयम् ॥ ३३ | समत्स्यमकरव्यूहाः सच्चक्रावर्तवृत्तयः । उद्यन्ति सैन्यसंघट्टैः कल्लोला जलधेरिव ॥ ४३ |
| श्रीवासिष्ठ उवाच । अथ तस्मिन्वदस्येवमार्तिमत्याजिविभक्षते । सहसैवाभ्युवाचेदं प्रविश्य पुरुषोऽपरः ॥ ३४ | परस्परपरामर्शात्कुन्ताधायुधपङ्क्तयः । कोपादिवोम्रङ्गुकारैर्ज्वलन्ति विरटन्ति च ॥ ४४ |
| पुरुषा मण्डलस्यास्य विपुला दललीलया । स्थितान्यरिबलान्युच्चैश्चतुर्दिक् नरेश्वर ॥ ३५ | इति कर्तुमहं देव विभक्तिं स्वामिनेरितः । तस्मान्मण्डलसीमान्तगुल्माद्युद्धाय गच्छता ॥ ४५ |
| कचन्तुः क्रगदाप्रासकुन्तकाननकाम्तिभिः । बलिता नोऽरिभिर्भूमिलोकालोकतटैरिव ॥ ३६ | तमहं देव गच्छामि शक्तयुष्टिशरसंगतः । मयेहावेदितं सर्वं देवो जानात्यतः परम् ॥ ४६ |
| पताकायुधयोध्रङ्गाश्चलत्परिकराकुलाः । विसरन्ति रथास्तत्र प्रोङ्गीनन्निपुरौघवत् ॥ ३७ | श्रीवासिष्ठ उवाच । इत्युक्त्वाथ प्रणामं च स कृत्वा त्वरया ययौ । |
| करानुज्ञामयन्तः स्त्रे मांसवृक्षधनोपमाः । बृंहन्ति वारणव्यूहा वर्षावारिद्वन्द्ववत् ॥ ३८ | कृत्वा गुलुगुलारावं शान्तो वीक्षिरिवाम्बुधेः ॥ ४७ |
| नतोन्नतानि कुर्वन्तः स्पन्देनोर्वीनतोन्नतैः । हेषन्ते ह्यसंघाता वातस्पन्दमहाब्धिधवत् ॥ ३९ | संभ्रान्तमन्निनृपयोधनियोगिनाग- नारीरथाश्वपरिचारकनागरौघम् । राज्ञो गृहं स्वभयतोलितहेतिसार्थं चण्डानिलाकुलमहायनतुल्यमासीत् ॥ ४८ |
| रसन्ति सुरगापुराः फेनिलावर्तपातिनः । सर्वतो बलयाकारा लवणार्णववारिवत् ॥ ४० | इत्यार्षे श्रीवा०वा०दे०मो०नि०उ० अविद्योपाह्वयानान्तर्गतविपश्चिदुपा०भविद्याक्षेपणे पार्थिवसंरम्भवर्णनं नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥ |

नवाधिकशततमः सर्गः १०९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

पतस्मिन्नन्तरे सर्वे मन्त्रिणो नृपमाययुः ।

प्रागुक्तास्ते दिक्पालः सामन्ता यमपुरं गताः । मृता इति यावत् । त्वदाज्ञया यमं निर्जेतुमित्युत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ प्राप्तं परबलं तथा तन्निर्जितास्मद्वलवहुर्दशाप्राप्तं विधीयताम् ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ हे नरेश्वर, अस्य मण्डलस्य पुरुषा दलानामश्वत्थादिपर्णानां प्रसिद्धया कम्पलीलया विपुला विस्तीर्णाः संपन्नाः । चतुर्दिक्कमरिबलान्युच्चैः स्थितानि ॥ ३५ ॥ नः भूमिरिभिर्वलिता वेष्टिता ॥ ३६ ॥ पताका आयुधानि योद्धारक्षत्रे येषाम् ॥ ३७ ॥ करान् छुण्डाप्राणि । वर्षासु प्रसिद्धवारिद्वन्द्ववत् बृंहन्ति गर्जन्ति ॥ ३८ ॥ स्पन्देन गतिक्रमेण उर्वीनतोन्नतैः सहशानि नतोन्नतानि कुर्वन्तः । वातेन स्पन्दन्त इति वातस्पन्दैर्महाब्धिभिस्तुन्यं हेषन्ते ॥ ३९ ॥ रसन्ति ध्वनन्ति । फेनिलाश्च ते आषर्तवत्पातिनो भ्रमन्त इति यावत् ॥ ४० ॥ आकाशवत्स्वच्छकान्तिभिः कचन्तुः क्रगदाप्रासकुन्तकान्तिभिः संनाहैरुपलक्षितं बलं दिशं दिशं प्रति उदेति । वीप्साव्यत्यास-
श्छान्दसः ॥ ४१ ॥ तेषां बलानामङ्गाः शरास्त्रशस्त्रादिविव-
स्वत्प्रतापाग्नेर्ज्वाला इव कचन्ति ॥ ४२ ॥ समत्स्यमकराया-
कारैर्व्यूहैः सहिताः । उदधिपङ्के स्पष्टम् । कल्लोला बृहत्तरजाः

मुनयो वासवमिव दैत्याक्रान्तनभोभुवम् ॥ १

सैन्यप्रसरमेदाश्च ॥ ४३ ॥ उर्मैर्हुकारैर्हुकारप्रार्थेर्षणत्कारैः ॥ ४४ ॥ स्वामिना त्वत्सामन्तेन त्वत्समीपे ईरितः प्रेषितः ॥ ४५ ॥ तं प्रेषयितारमहं शक्तयुष्टिशरैः संगतः संनद्धः सन् गच्छामि । तथीयवचनं सर्वमिह त्वत्पुरो मया आवेदितं विशापित-
तम् । अतः परं यत्कर्तव्यं तद्देवो जानाति, नाहमित्यर्थः ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ संभ्रान्ता मन्त्रिणो नृपा योधा नियोगिनो राजनियोगानुष्ठातारो नागा गजा नार्यो रथा अध्याः परिचा-
रकाः परिचर्याकारिणो नागरीया यस्मिन् । स्वभयेन तोलिता उद्यता हेतयो यैस्त्वथाविधाः सार्था जन्तुसंघा यत्र । 'अलिह-
तेतिसार्थम्' इति पाठे अलय इव हता उपगता इतिसार्था इतिसमूहा यस्मिन्तथाविधं राज्ञो गृहं चण्डानिलाकुलेन महा-
वनेन तुल्यं तुलनार्हमत्यन्तव्याकुलमासीदित्यर्थः ॥ ४८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजमायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पार्थिवसंरम्भवर्णनं नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

इह मन्त्रिणः श्रुत्वा हुतदेहस्य पावकात् ।

राज्यव्यभिर्देहैर्प्राक्कृत्युत्थानजुषीर्यते ॥ १ ॥

दैतैराक्रान्ते नमश्च भूभेक्षेते यस्य । जमसि भवतीहि

मन्त्रिण ऊचुः ।

देव निर्णीतमस्माभिर्यावन्न विषयोऽरयः ।
 त्रयाणामप्युपायानां दण्डस्तेषु विधीयताम् ॥ २
 प्रणयोऽनुप्रवेशो वा न कदाचन यः कृतः ।
 मधुना तेषु तं देव कुर्यात्तेषु कथैव का ॥ ३
 पापा म्लेच्छा घनालयाश्च नानादेह्याः सुसंहताः ।
 बहवो लब्धरन्ध्राश्च सामादेर्नास्पदं द्विषः ॥ ४
 तत्सुसाहसमेवेदं वर्जयित्वा प्रतिक्रिया ।
 नान्यास्ति शीघ्रमेघातो रणोद्योगो विधीयताम् ॥ ५
 धीराणां दीयतामहा पूज्यन्तामिष्टदेवताः ।
 आहूयन्तां च सामन्ता हन्यतां रणदुन्दुभिः ॥ ६
 सन्नह्यन्तामशेषेण निर्गच्छन्तु रणे भटाः ।
 क्रियन्तां कालकम्पाधमेदुरा राजिता दिशः ॥ ७
 आस्फाल्यन्तां धनूंष्युधैः कणन्तु गुणपङ्कयः ।
 भवन्तु जलदह्यामाः ककुभः खण्डमण्डलैः ॥ ८
 स्फुरज्याविद्युतः शूरवारिदा घनगर्जिताः ।
 नाराचधारा मुञ्चन्तु कचत्कोदण्डकुण्डलाः ॥ ९

राजोवाच ।

गम्यतां सङ्गरायाशु संविधानं विधीयताम् ।
 ज्ञात्वाहं पूजयित्वाग्निं निर्गच्छामि रणाजिरम् ॥ १०
 इत्युक्त्वा नृपतिः ज्ञातो महारम्भोऽपि स क्षणात् ।
 प्रावृषीव नवोद्यानं गङ्गाजलधरैर्घटैः ॥ ११
 अथ प्रविष्टोऽग्निगृहं पूजयित्वा हुताशनम् ।

नभोभूः स्वर्गलोको यस्य तथाविधं वासवं मुनय इव ॥ १ ॥
 यावदिति साकल्ये । विचार्य सकलं निर्णीतमित्यर्थः । किं
 निर्णीतम् । अरयस्त्रयाणामप्युपायानां सामदानमेदानां विषयो
 न ॥ २ ॥ प्रणयो दानमानादिना ज्ञेहः । अनुप्रवेशः स्वपक्षी-
 याणामेव केषाञ्चिच्छरणागतिच्छलेन काकोलूकन्यायेन तद्वधा-
 यान्तःप्रवेशः । तेषु शत्रुषु तेषु तादृशेषु यशोहरेषूपायेषु कर्तव्य-
 ताकथैव का ॥ ३ ॥ किञ्चिद्विधासाहैषु अनाद्येषु मामदानो-
 पायप्रवृत्तिरेते तु न तादृशा इत्याह—पापा इति । म्लेच्छाः
 प्रत्यन्तदेशवासिनः । लब्धरन्ध्रा ज्ञातास्मच्छिद्राः ॥ ४ ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥ भटाः सन्नह्यन्ताम् । ततो रणे निर्गच्छन्तु । दिशः
 अर्थाङ्गजघटाभिः कालघणैः कल्पाभैरिव राजिताः क्रियन्ताम्
 ॥ ७ ॥ गुणपङ्कयो मौर्वीधेणयः । खण्डमण्डलैर्धर्मण्डलसदृशै-
 र्धनुर्भिः ॥ ८ ॥ घनं गर्जितं सिंहनादो येषां तथाविधाः शूर-
 वारिदा नाराचलक्षणा जलधारा मुञ्चन्तु । कचन्ति कोदण्डकु-
 ण्डलानि येषाम् ॥ ९ ॥ संविधानं नगरगुप्तिस्यूहरचनादि
 ॥ १० ॥ प्रावृषि नवोद्यानमिव क्षणात्ज्ञातः । महारम्भोऽपी-
 त्यनेनावश्यकान्यप्यन्यानि कार्याणि त्यक्त्वैति गम्यते ॥ ११ ॥
 चिन्तयामास वक्ष्यमाणार्थमित्यर्थः ॥ १२ ॥ समुद्रितं शास-
 नमुद्रासहितम् ॥ १३ ॥ दशापि ककुभो दिशः करादिकल-
 भरेण जल इव ममिताः कृताः ॥ १४ ॥ प्रजापितृलक्षणे-

आदरेण यथाशास्त्रं चिन्तयामास भूमिपः ॥ १२
 नीतमायुरनायासविलासविभवधिया ।
 प्रजाभ्यो दक्षमभयमासमुद्रसमुद्रितम् ॥ १३
 आक्रान्तवसुधापीठाः पादपीठे कृता द्विषः ।
 लताः फलभरेणैव ममिताः ककुभो दश ॥ १४
 प्रजापितृसेन्दुबिम्बेषु लिखितं धवलं यशः ।
 भूमाधारोपिता कीर्तिलता त्रिपथगामिनी ॥ १५
 कोशवद्भरिता रत्नैः सुहृन्मित्रार्यबन्धवः ।
 निपीतोऽर्णवतीरेषु नालिकेररसासवः ॥ १६
 द्विषामाकम्पिता मेकगलाङ्गत्वनिवासवः ।
 मच्छासनाङ्किता जाता द्वीपान्तरकुलाचलाः ॥ १७
 विद्वृतं सिद्धसेनासु दिगन्तनवभूमिषु ।
 भूम्यन्तभूभृतां मूर्ध्नि विभ्रान्तं मेघलीलया ॥ १८
 धियेष्वेषैःपदे ज्ञानपूर्णयैकान्तशीलया ।
 विलम्बान्यविनष्टानि राष्ट्राणीष्टार्थकारिणा ॥ १९
 रक्षांस्यप्यविनीतानि ब्रह्मानि निगडैर्घनैः ।
 धर्मार्थकामैरन्योन्यं चयापचयवर्जितैः ॥ २०
 अखण्डितैर्मया नीतं पीतातियशसा वयः ।
 इदानीं शष्पविभ्रान्तप्रालेयभरभासुरम् ॥ २१
 आगतं वार्धकं सर्वभोगसंरम्भमार्जनम् ।
 तस्योपर्यरयो रौद्रा बलवन्तो रणैषिणः ॥ २२
 संभूय सर्वतः प्राप्ताः संदिग्धो वर्तते जयः ।
 तदिहैवानलायासै देवाय जयदाधिने ॥ २३

चिन्दुबिम्बेषु लिखितं विन्यस्तम् । पूरितमिति यावत् । यशसः
 कलासाम्यमनुकमपि गम्यते । कीर्तिलतालक्षणा त्रिपथगा-
 मिनी गङ्गा । त्रिपथगामिनीति रूपणात्कीर्तिलताया ऊर्ध्वाधो-
 लोकयोरपि ब्रह्मा प्रतानव्याप्तिर्गम्यते ॥ १५ ॥ आर्याः पूज्या
 ब्राह्मणाः । अर्णवतीरेष्वित्युक्तया चतुःसमुद्रान्तं दिग्विजयो
 गम्यते ॥ १६ ॥ द्विषां असवः प्राणाः मेकानां रटनकाले
 गललक्षणे अङ्गे प्रसिद्धा त्वनिव आकम्पिताः ॥ १७ ॥
 दिगन्ते प्रसिद्धासु नवासु अपूर्वासु काञ्चनादिभूमिषु । भूम्यन्तभू-
 भृतां लोकात्कोकान्तानां प्रत्यन्तदेशराजानां च ॥ १८ ॥ दृष्टा-
 न्तान्तरमाह—धियेष्वेति । यथा ज्ञानपूर्णया धिया एकान्तस-
 माधिशीलया उच्चैःपदे ब्रह्मणि विभ्रान्तं तद्वत् प्रजानामिष्टार्थ-
 कारिणा मया राष्ट्राण्यविनष्टानि विद्वदानि लब्धानि ॥ १९ ॥
 अविनीतान्यविनययुक्तानि लङ्कादिनिलयानि रक्षांस्यपि घनैर्नि-
 गडैर्ब्रह्मानि ॥ २० ॥ अन्योन्यमखण्डितैः चयेन उपचयेन
 अपचयेन च वर्जितैः । समसंश्रितैरिति यावत् । धर्मार्थकामैर्बयो
 नीतम् । पीतातियशसेव सांप्रतं जराध्वलेन मया शष्पेषु
 तृणाङ्कुरेषु विभ्रान्तप्रालेयातिषय इव भासुरं धवलं वार्धकमा-
 गतमिति परेणान्वयः । 'शक्यविभ्रान्त' इति पाठे घनीभक्षितं
 शक्येषु पलाकादिषु विभ्रान्तेति व्याख्येयम् ॥ २१ ॥
 तस्य वार्धकस्योपरि । तस्मिन्सखीति यावत् ॥ २२ ॥ २३ ॥

मस्तकाद्भुतिमेवेमां समुद्यम्य द्वामि वै ।

राजोवाच ।

कृशानो देव मूर्धाऽयं तुभ्यमाहुतितां गतः ॥ २४

मया पूर्वं पुरोडाश इव देवेश दीयते ।

यदि तुष्टोऽसि भगवंस्तदनेन कृतेन मे ॥ २५

चत्वारो भवतः कुण्डात्स्वदेहाः प्रोद्भवन्तु मे ।

बलवन्तः धिया दीप्ता नारायणभुजा इव ॥ २६

तैश्चतुर्दिग्गमेशरीन्वध्यामहमविघ्नतः ।

त्वया च दर्शनं देयं मद्यं मतिमते विभो ॥ २७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा स महीपालः अङ्गमादाय त्रिच्छिदे ।

शिरः कमलमालोलं लीलयेवाशु बालकः ॥ २८

छिन्नमेष शिरो यावज्जुहोत्यसितवर्त्मने ।

तावच्छरीरेण सह पपातामौ स पार्थिवः ॥ २९

भुक्त्वाथ वह्निस्तं देहं द्वावसौ चतुर्गुणम् ।

महतामुपयुक्तं हि सद्य एवामिषर्धते ॥ ३०

चतुर्भूर्तिरथोत्स्र्यौ पावकाद्बसुधाधिपः ।

प्रज्वलंस्तेजसां पुञ्जैर्नारायण इषार्णवात् ॥ ३१

ते देहास्तस्य चत्वारो विरेजुर्भास्वरत्विषः ।

सहजातोत्तमोत्तंसंभूषणायुधवाससः ॥ ३२

सकंकटशिरस्त्राणाः समौलिकटकाङ्गदाः ।

सहारकुण्डलाभोगाः सर्वाः सर्वे महाशयाः ॥ ३३

सर्वे एव समाकाराः सहशाक्यवान्विताः ।

चञ्चलोच्चैःश्रवःप्रण्यं हयरत्नमवस्थिताः ॥ ३४

ससुवर्णशरापूर्णतूणीराः सुमहाशयाः ।

समानगुणकोदण्डाः समानवपुषः शुभाः ॥ ३५

समारोहन्ति ते यस्मिन्पुंसि नागो रथे ह्ये ।

सर्वेषामरिदोषाणां नैव गम्यो भवत्यसौ ॥ ३६

पीत्वा घृत्वा चिरं कालं गर्भं पुरुषतापिताः ।

वेद्यामिव हितास्तत्र सागरा वडवार्चिषा ॥ ३७

रत्नाश्वदेहकुसुमोत्करपूर्णदेहा-

अत्वार इन्दुहसितैरवभासयन्तः ।

सन्मूर्तयो हरय एव यथाब्धयो वा

वेदा इवाहुतिहुतादनलात्प्रसज्युः ॥ ३८

इत्यार्षं श्रीवासिष्ठं बाल्मीकं मो० निर्वा० उ० अवि० वि० अभिप्रवेशाद्देहलाभो नाम नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमः सर्गः ११०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

पुरोपकण्ठसंप्राप्तैश्चतुर्दिग्गं सहारिभिः ।

एतस्मिन्नन्तरे तत्र प्रवृत्तं दारुणं रणम् ॥ १

लुण्ठितप्रामनगरं प्रजाकुलमहाकुलम् ।

अग्निदाहज्वलहेहं धूमाम्रपटलावृतम् ॥ २

शरजालमहाधूमच्छन्नार्कविलसत्तमः ।

क्षिप्रदष्टरवि क्षिप्रमदष्टरविमण्डलम् ॥ ३

अग्निदाहमहातापप्रतपत्पर्णकाननम् ।

लोलालातलताशूलमुसलोपलपूर्णखम् ॥ ४

॥२४॥ पूर्वमिष्टिषु पुरोडाश इव इदानीमयं मूर्धा दीयते । यदि

मे तुष्टोऽसि तत्तर्हि अनेन कृतेन कर्मणा ॥२५॥ चत्वारो भवतः

कुण्डात्स्वदेहा मे प्रोद्भवन्तु ॥ २६ ॥ वध्यां वध्यासम् । सलो-

पञ्चानन्दसः । मतिमते त्वदर्शनेच्छया त्वत्स्मृतिमते ॥ २७ ॥

लीलया बालकः कमलमिव स महीपालः शिरश्छिच्छिदे ॥२८॥

असितवर्त्मने कृष्णवर्त्मने । शरीरेण कबन्धेन सह ॥२९॥ भुक्त्वा

हविष्टेनोपयुज्य । महतामुपयुक्तम्, महद्भिः स्वीकृतमित्यर्थः

॥ ३० ॥ ३१ ॥ सहैव जातानि उत्तमान्युत्तंसंभूषणायुधवा-

सांसि येषाम् ॥ ३२ ॥ मौलिपदेन तद्भूषणानि शिरोरत्नादीनि

लक्षयन्ते । सर्वान् अवन्ति रक्षन्तीति सर्वाः । वेरपृक्तलोपाद्-

लिलोपः पूर्वविप्रतिषेधेनेति बलिलोपे पूर्वसवर्णवीर्यः ॥ ३३ ॥

अवस्थिता अधिरूढाः ॥ ३४ ॥ ससुवर्णपदं शरैस्तूणीरैश्च

संवध्यते ॥ ३५ ॥ अपरमसाधारणं गुणमाह—समारोह-

न्तीति । ते देहा यस्मिन्पुंसि शिबिकावाहे नागे गजे रथे ह्ये

वा समारोहन्ति । असौ नरो नागादिश्च सर्वेषामरिप्रयुक्तसम्-

यन्त्रकुलाणान्नादिदोषाणां नैव गम्यः प्राप्नो भवतीति ॥३६॥

किञ्च ते देहाश्चत्वारः सागराः वडवार्चिषा मात्रा प्रथमं पीत्वा

ततो गर्भं चिरं कालं घृत्वा पुरुषतां पुरुषाकारं आपिताः प्रापिताः

ततस्तत्रामिकुण्डवेद्यामाहिताः प्रसूता इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥

किञ्च रत्नभूषितेषु रत्नभूषेषु च अश्वदेहेषु कुसुमोत्करैः पूर्ण-

देहा इन्दुसहस्रैर्हसितैर्दिशोऽवभासयन्तस्ते चत्वारो विपश्चित

आहुतिभिर्हुतादनलाश्चत्वारो हरयो विष्णव एव यथा सन्मूर्तयो

मूर्तिमन्तः । अब्धयो वा यथा तथा मूर्तिमन्तो वेदा इव वा

प्रसन्ननिर्जग्मुः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-

त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अभिप्रवेशाद्देहलाभो नाम

नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

पुरोपकण्ठं संप्राप्तैश्चतुर्दिग्गं सहारिभिः ।

प्रवृत्तं दारुणं युक्तं विस्तरेणात्र वर्णयते ॥ १ ॥

पुरस्वोपकण्ठे समीपे संप्राप्तैरिभिः सह रणं युक्तं प्रवृत्तम्

॥१॥ प्रजानां कुलं महाव्याकुलं यत्र ॥२॥ शरजालैर्महाधूमैश्च

च्छन्नेनाकंणं विलसत्तमो यत्र ॥ ३ ॥ प्रतपत्पर्णानि शुष्यत्प-

त्राणि काननानि यत्र । लोलैरलातलताविभिः पूर्णं खं यत्र ॥४॥

अनलप्रतिबिम्बीधैर्द्विगुणज्वलनायुधम् ।
 रणभ्रममहाशूरप्राप्तेन्द्रवनितासुधम् ॥ ५ ॥
 उहामवारणारावै रणलम्पटहर्षदम् ।
 भुशुण्डीमण्डलप्रासशूलतोमरवर्षदम् ॥ ६ ॥
 भटकोलाहलोल्लासहङ्गमृतपामरम् ।
 रजःपटलशुभाभ्रकृतद्युपथवारणम् ॥ ७ ॥
 मरणव्यप्रसामन्तमुक्तनाद्वज्रजम् ।
 इतश्चेतश्च निपतद्वैद्युतोपहतप्रजम् ॥ ८ ॥
 अग्निदग्धपतद्देहप्रोज्जिताग्निमयाम्बुदम् ।
 मरणाह्लाददासंख्यशरधारामयाम्बुदम् ॥ ९ ॥
 जितसागरकल्लोलं तुरङ्गमतरङ्गकैः ।
 दन्तिदन्तविनिषेधतारकैकारककशम् ॥ १० ॥
 कोटकोटिकुटीकुड्यकण्टकोद्भटसद्भटम् ।
 चटकुण्ठितकोटाहकूटाटननटच्छटम् ॥ ११ ॥
 लुठत्पटनकुट्टाकसाटोपस्फुटपट्टिशम् ।
 खे वटकेतुपट्टाहपटत्पटपटारवम् ॥ १२ ॥
 दन्तिदन्तगुणोद्गीर्णैर्हेतिपाषाणधर्षणैः ।
 तारकैकारहुंकारैराहृतसुरवारणम् ॥ १३ ॥
 बहच्छरनदीपूरपूर्णाम्बरमहार्णवम् ।
 विचलच्चक्रकुन्तासिधारामकरककशम् ॥ १४ ॥
 उन्नादयोधसंघट्टकटोत्कटटांकृतैः ।
 लसज्जणमण्णारावैर्घटितद्वीपमण्डलम् ॥ १५ ॥
 पादपातपरापिष्टशरसंजातकर्दमम् ।

द्विगुणज्वलनानि द्विगुणवीप्तानि आयुधानि यत्र । रणभ्रममहा-
 हाशूरैः प्राप्ता इन्द्रवनिता अप्सरसः सुधा च यत्र ॥ ५ ॥
 रणलम्पटानां रणोत्सुकानां शूराणां हर्षदम् ॥ ६ ॥ भटानां
 कोलाहलोल्लासश्रवणमात्रेण हङ्गमन्मृताः पामराः कातरा यत्र ।
 द्युपथवारणं अन्तरिक्षमार्गनिरोधः ॥ ७ ॥ मरणे व्यप्राणां
 सामन्तानां मुक्तनादं यथा स्यात्तथा व्रजन्तो व्रजाः स्तोमा यत्र ।
 वैद्युत्सेनोत्पाताग्निना उपहताः प्रजा यत्र ॥ ८ ॥ अग्निदग्धैः पतद्भि-
 र्गैर्हेः प्रोज्जिता निर्मुक्ता अग्निमया अग्निवर्षिणो धूमाम्बुदा यत्र
 ॥ ९ ॥ १० ॥ कोटानां दुर्गाणां कोटिषु संक्रमेषु याः कुड्य-
 स्तदीयकुड्येषु कण्टकवच्छरावापे उद्भटाः सद्भटा यत्र । 'कंकटो-
 द्भट' इति पाठे वारवाणैरुद्भासमानाः सद्भटा यत्र । चटत्सु वह्निना
 वेष्ट्यमानेष्वत एव कुण्ठितेषु कोटाहकूटेषु संक्रमाद्यालशिखरेषु
 अटनैर्नटन्तो बह्विच्छटा यत्र ॥ ११ ॥ लुठन्ति पटनकुट्टाकानि
 गमनविच्छेदकानि साटोपस्फुटानि पट्टिशानि यत्र । खे वटन्तो
 वेष्टन्तः केतुपट्टा येषु तथाविधेष्वट्टेषु पटत्पटपटारवा यत्र ॥ १२ ॥
 दन्तिनां दन्तगुणानां शौक्लयादीनामुद्गीर्णैरुद्गीरणैर्हेतीनामायुधानां
 पाषाणेषु धर्षणैर्घट्टनैस्तारैः कैंकारैर्हुंकारैश्च युद्धोत्साहजन-
 नादाहृता इव सुरवारणा दिग्गजा यत्र ॥ १३ ॥ बह्विभिः शर-
 नदीपूरैः पूर्णैः अम्बरलक्षणो महार्णवो यत्र ॥ १४ ॥ उन्नादानां
 शोधानां संघट्टेषु कंकटानां वारवाणासासुत्कटैर्घट्टतैर्लसद्भिर्जण-

बह्विभक्तनदीरंहःप्रोह्यमाणरथद्विपम् ॥ १६ ॥
 सुपर्णहेलानिपतत्प्रोत्पतत्पट्टपट्टिशम् ।
 शरवारितरङ्गार्तमग्नायुधजलेचरम् ॥ १७ ॥
 हेतिसंघट्टनिष्क्रान्तज्वालाप्रज्वलिताम्बरम् ।
 बलीपलितनिर्मुक्तशूराक्रान्तत्रिविष्टपम् ॥ १८ ॥
 पाण्डुपांसुपयोवाहकचक्राचिरद्युति ।
 हेतिनिर्विवराकाशयुधानाधारभूतलम् ॥ १९ ॥
 कटद्भटभटाटोपरटत्प्रतिभटोत्कटम् ।
 चटच्छकटसंघट्टपिष्टकाष्ठलुठद्भयम् ॥ २० ॥
 कबन्धभटवेतालमिश्रकण्टकसंकटम् ।
 वेतालभुज्यमानाप्यशवमांसहृदम्बुजम् ॥ २१ ॥
 शूरशासितशीरार्धशिरःकरखुरोरुकम् ।
 कबन्धदोर्दुमस्पन्दवनीकृतनभस्तलम् ॥ २२ ॥
 तरल्लोलास्यवेतालहासघट्टितपेटकम् ।
 कंकटोत्कटसाटोपभटभ्रुकुटिभीषणम् ॥ २३ ॥
 एकान्तमारणैकान्तमरणैकान्तभूषणम् ।
 प्रहारदानग्रहणकार्पण्यापारदूषणम् ॥ २४ ॥
 शूरवारणसामन्तमदधारिविशोषणम् ।
 मारणैकान्तरसिककृतान्तानन्दपोषणम् ॥ २५ ॥
 अविकत्थनगुप्तानां शूराणां जयघोषणम् ।
 अशूराणां च गुप्तानां प्रभावुद्धोषणं परम् ॥ २६ ॥
 शौर्यादीनां प्रसुप्तानां स्वगुणानां प्रबोधनम् ।
 धनमाधारभूतानां राष्ट्रेषु भुजशालिनाम् ॥ २७ ॥

मणारावैश्च घटितानि व्याप्तानि द्वीपमण्डलानि यत्र ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ शरलक्षणैर्वारितरङ्गरातानां भ्रमा आयुधजलेचरा यत्र
 ॥ १७ ॥ देवभावप्राप्त्या बलीपलितनिर्मुक्तैः शूराक्रान्तं त्रिवि-
 ष्टपं यत्र ॥ १८ ॥ पाण्डुषु पांसुलक्षणेषु पयोवाहेषु कचचक्र-
 लक्षणा अचिरद्युतयो विद्युतो यत्र । हेतिभिर्निर्विवरं निरवकाशं
 युधानां संप्रहाराणामनाधारं भूतलं यत्र ॥ १९ ॥ कटन्तः
 शरान्वर्षन्तो ये भटैर्भ्योऽपि भटास्तेषामाटोपैः रटद्भिस्तत्प्रति-
 भटैरुत्कटम् । तथा चटतां भुवमावृण्वानानां शकटानां संघट्टैः
 पिष्टेषु रथान्तरकाष्ठेषु लुठन्तो रथा यत्र ॥ २० ॥ कबन्धादि-
 भिर्मिश्रा ये कण्टकाः शत्रवस्तैः संकटं दुरवगाहम् ॥ २१ ॥ शूरैः
 शासितं शीरार्धं शिरार्धम् । छान्दसो दीर्घः । शिरांसि करादिकं
 च यत्र ॥ २२ ॥ तरद्भिः श्लवद्भिर्लोल्लास्यैवेतालैः प्रहर्षाद्घातैर्घ-
 ट्टितानि शवैः पूरितानि पेटकानि स्वकरण्डानि यत्र कंकटै-
 रुत्कटानां साटोपानां भटानां भ्रुकुटिभिर्भीषणम् ॥ २३ ॥
 एकान्तेन नियमेन मारणं मरणं चेत्युभयमपि शूराणामेकान्त-
 भूषणं यत्र । प्रहाराणां दाने ग्रहणे च कार्पण्यमसामर्थ्यमेवा-
 पारं दूषणं निन्दा यत्र ॥ २४ ॥ २५ ॥ अविकत्थनेन स्वमु-
 खेन स्वशौर्यानिभिलापेन गुप्तानां प्रच्छन्नानां शूराणां किययैव
 रणे तच्छौर्यदर्शिनमुखेन प्रभौ जयघोषणं तथा गुप्तानामशू-
 राणां च प्रभौ अशौर्योद्धोषणं यत्र ॥ २६ ॥ भुजशालिनामत

दन्त्यारूढरथास्फोटप्रभञ्जकटवारणम् ।
 समस्तमत्तगन्धेभदानवारिनिवारणम् ॥ २८
 सारसारवसामन्तमुक्तमसमतङ्गजम् ।
 जरजितकरानीककल्पितासीकवेदनम् ॥ २९
 दिनं दिनकरस्येव नृपस्य शरणं गतम् ।
 अनागतभटव्रातपिष्टार्धमृतमानवम् ॥ ३०
 मानवायुबलोन्मत्तनतप्रारब्धकुहनम् ।
 धनानां प्राणपण्यानां नवमापणपत्तनम् ॥ ३१
 पटनद्वपताकौघजातसंचारिदोर्दुमम् ।
 रक्तोक्तवलत्वाञ्चैलोक्यलक्ष्म्या भूषणविद्रुमम् ॥ ३२
 मन्दराहननोद्भूतक्षीरोदजलसुन्दरैः ।
 छत्रैश्छादितहेत्योद्युष्पाख्यगगनाङ्गमम् ॥ ३३
 गणगीर्वाणगन्धर्वगीतशूराशयं कृतम् ।
 तद्गातरलतालाग्रहेतिहालाहलायुधम् ॥ ३४
 संघप्रहरणासंख्ययातुधानाक्षणज्ज्ञणम् ।
 भुक्त्वा चाद्रिगुहागेहपूरितापूर्वदुर्दुमम् ॥ ३५
 कच्चत्कुन्तवनव्यस्तशिरःकरवृताम्बरम् ।
 क्षेपणोन्मुक्तपाषाणपूरस्तककुल्लतम् ॥ ३६
 महाचटवटाशब्दस्फुटद्रववृहद्दुमम् ।

एव राष्ट्रेषु दुर्बलानामाधारभूतानां शूराणाम् । धनं धनवतिप्र-
 यम् ॥ २७ ॥ दन्त्यारूढानां रथानां च परस्परमास्फोटे युद्धे
 प्रभञ्जकटा वारणा यत्र । समस्तानां मत्तगन्धेभानां दानवारिणां
 मदजलानां निवारणं विशेषणम् ॥ २८ ॥ मत्तमतङ्गजेषु
 सरसि प्रविष्टेषु सारसैरिव आरवेणाकोशेन सामन्तैस्तरुणैरपि
 पलायमानैर्मुक्ता मत्तमतङ्गजा यत्र । ततो जरद्विरपि खड्गवि-
 थायां जितकराणामनीकैः कल्पितं समर्थितं असिः प्रहरणं
 येषां ते आसीकास्तद्देदनं तद्गावप्रकटनं यत्र । शक्तियष्टोर्वि-
 हित ईकच्छान्दसत्वादसेः कृतः ॥ २९ ॥ कच्चित् अनागते-
 ष्वेव भटव्रातेषु तदागमनभ्रान्त्या पलायने परस्परपादतल-
 पिष्टार्धमृतप्राया मानवा यत्र । अत एव दिनं दिनकरस्येव
 नृपस्य पादौ शरणं गतम् ॥ ३० ॥ मानोऽभिमानस्तलक्षणो-
 न्मादवायुबलेनोन्मत्तनतेष्वपि प्रारब्धं कुहनं यत्र । प्राणैः
 पण्यानां धनानां नवमापणस्थानभूतं पत्तनम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ गणैः प्रमथैर्गन्धर्वैर्गीर्वाणैश्च गीताः शूराणामाशया
 उत्साहादयो यत्र । तेषां गणानां गन्धर्वादीनां भाभिस्तरु-
 स्तालाग्रैर्धजाग्रैर्हेतिहालाभिश्च सोन्मादत्वादलावुधभूता भटा
 यत्र ॥ ३४ ॥ संघं संभूय लीलया प्रहरणं येषां तथाविधैरसंख्यै-
 र्यातुधानैरक्षणज्ज्ञणं निःशब्दं स्वयं भुक्त्वा चकाराच्छवादिभारा-
 षीत्वा अद्रिगुहालक्षणे स्वगेहे पूरिता भोजिता अन्येऽप्यशीषा

१ पटनद्वः पताकौघा एव संचारिणो दोर्दुमा अभूवन्-
 २ जरद्विरपि खड्गविधारदरानेशवशास्त्रविधाकौशळं प्रकटितमित्यर्थः

नारीहलहलारावरणनगरमन्दिरम् ॥ ३७
 मन्दरावानलाकारनभोभातायुधमजम् ।
 परित्यज्य धनं गेहं दूरोर्वीविद्रुतप्रजम् ॥ ३८
 सर्वतोहेतिषहनात्समक्षप्रेक्षकोज्ज्ञितम् ।
 धर्जितं भीरुभिः पक्षिराजवृन्दमिवाहिभिः ॥ ३९
 दन्तिदन्तविनिष्पिष्टशिष्टसङ्कटसंकटम् ।
 कटे मृत्योरिव नरद्राक्षापीडनयन्त्रके ॥ ४०
 यत्रपाषाणसंघट्टपिष्टाम्बरगतायुधम् ।
 योधनादनदहन्तिवृन्दबन्धुरकन्दरम् ॥ ४१
 धराधरदरीरन्तःप्रतिश्रुत्प्रोतगर्जितम् ।
 अर्जितं प्राणसर्वस्वमर्जयन्निरुपार्जितम् ॥ ४२
 भर्जितं हेतिदहनैरग्निवाहैश्च संततैः ।
 तैरेवान्यैरथान्यैश्च द्वन्द्वयुद्धैरनिष्ठितम् ॥ ४३
 धेष्टितं मृतशिष्टैश्च सारैः सुभटपेटकैः ।
 कैलासैरिव संशुद्धैरीश्वराधारतां गतैः ॥ ४४
 तैरुदारैः समाक्रान्तं ये मृत्योरपि मृत्यवः ।
 मरणं जीवितं येषां जीवितं मरणं रणे ॥ ४५
 रणे नभसि निर्लूनथरवारणवारिजे ।
 सारसाः सरसीचात्र रेजुरत्युद्धटा भटाः ॥ ४६

दुर्दुमा विषवृक्षप्राया यातुधाना यत्र ॥ ३५ ॥ कच्चिद्विः कुन्त-
 वनैः कुन्तारण्यप्रायैः कुन्तधरैर्व्यस्तैश्छित्त्वा क्षिप्तैः शिरोभिः
 करैश्च वृताम्बरम् ॥ ३६ ॥ भुजास्फोटनजैर्महाचटवटाशब्दैः
 स्फुटतामिव रवो येषां तथाविधा बृहद्दुमा यत्र ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
 हेतीनामायुधानां सर्वतोवहनात्प्रवहणात्सर्वतः प्रेक्षकैर्मयाहु-
 जिज्ञितम् ॥ ३९ ॥ मृत्योर्नरलक्षणानां द्राक्षाणां निष्पीडनयन्त्र-
 मिव विद्यमाने कटे गण्डस्थले दन्तिभिर्दन्तैर्विनिष्पिष्टशिष्टानां
 सङ्कटानां संकटं यत्र ॥ ४० ॥ ४१ ॥ धराधरदरीः प्राप्य
 प्रतिश्रुद्धिः प्रतिश्रुतिभिः प्रोतानि गर्जितानि यत्र । तथा
 महता यत्नेन जन्मप्रभृत्यर्जितं प्राणसर्वस्वं बलसर्वस्वं अर्जयन्निरु-
 र्गमयन्निरुपार्जितं रणं प्रवृत्तमित्यत्रान्वयः
 ॥ ४२ ॥ पुनः कीदृशं तत्रणं प्रवृत्तं तदाह—भर्जितमित्यादि ।
 निष्ठां समाप्तिमप्राप्तमनिष्ठितम् ॥ ४३ ॥ सारसामेव दृष्टान्तेन
 व्यनक्ति—कैलासैरिवेति । संशुद्धैः स्वाम्यवयवकैः अत एव हृदि
 ईश्वराधारतां गतैः सुभटपेटकैः । कैलासपक्षे स्पष्टे द्वे ॥ ४४ ॥
 येषां भटानां रणे मरणं जीवितमिव प्रियं पलायनेन जीवितं जीवनं
 तु मरणमिव द्वेष्यम् । उदारैस्तैः पुरुषैश्चैलोक्यमपि समाक्रान्तं
 जितमित्यर्थः । ये मृत्योरपि मृत्यवः परमपदप्राप्ताः संपद्यन्ते ।
 यथाहुः 'द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलमेदिनौ । परिव्राद्ध
 योगयुक्तश्च रणे चाभिमुक्तो हतः ॥' इति ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

३ हलायुधो वज्ररामः । ४ अर्जुनैः लवणैः कर्मन्.

यन्प्राश्मक्षेपणानां प्रसरणसरितां
घृकृतैः फूत्कृतैर्ब्राह्म
क्रान्तानां व्योम्नि मूर्ध्ना शरसलिलमुखां
सैनिकानां च नादैः ।

टांकारैरायुधानां नमसि विसरता-
मश्वचक्रेशब्दै-
रासीभिःसंधिवन्धोपलजठरजडं
जीर्णकर्णं गतं तत् ॥ ४७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० अविद्यो० विप० संप्रामवर्णनं नाम दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमः सर्गः १११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति कल्पान्तसदृशे यत्ते समरसंभ्रमे ।
पतन्तीषूत्पतन्तीषु सेनासु समरेजिरे ॥
तूर्यमेरीमहाशङ्खखण्डेषु खे नदत्सु च ।
धनुर्वैनिषु वीराणां तारक्रेकारकारिषु ॥
अन्योन्यकठिनास्फोटविकटे भटपेटके ।
कवत्कटकटाटोपे कटुकुट्टितकट्टे ॥
किञ्चित्प्रमज्ज्यमानासु विशत्कश्मासु संगरे ।
विपश्चित्पक्षसेनासु लूयमानलताखिष ॥
उदभूत्पूरयन्नाशा नृपनिर्याणदुन्दुभिः ।
चतुर्धाशनिसंपूर्णकल्पाभ्रवमांसलः ॥
स्फुटतां कुलशैलानां तुल्यकालमिधोत्कटः ।
स्फुटवटवटास्फोटैर्जडितखिलदिकटः ॥
लोकपालैरिवाकारैर्नारायणभुजैरिव ।
स चतुर्भिश्चतुर्विक्रं निर्जगाम महीपतिः ॥
चतुरङ्गेण महता सैन्येन परिचारितः ।
अट्टालवलयत्कृच्छ्राभिर्गत्य नगराद्दहिः ॥
ददर्शात्मबलं रिक्तं बलवद्रिपुमण्डलम् ।

गर्जन्तं च लयाकृत्या भीमं युद्धोद्धतार्णवम् ॥ ९
शरसीकरनीरन्ध्रं मकरव्यूहसंकुलम् ।
वारणव्यूहबलितं तरङ्गव्यूहविस्तृणम् ॥ १०
अकावर्तवहद्यूहकल्लोलकलितान्तरम् ।
चलद्रथशतावर्ते पताकालहरीगणम् ॥ ११
प्रस्फुरच्छत्रफेनाख्यं ह्यहेषितफीत्कृतम् ।
समुल्लसद्भेतिजलं कचञ्जाराकरं परम् ॥ १२
तरत्तरलमातङ्गतुरङ्गौघतरङ्गकम् ।
हेत्यम्मसि कचत्पापमुघहुलुगुलोदरम् ॥ १३
दरीवलनसंधुग्धमरुज्जनितधुंघुमम् ।
नतोन्नतकृताद्रीन्द्रमहास्पन्दशरीरकम् ॥ १४
मज्जन्मातङ्गतुरगहेलाइतमहीधरम् ।
अपारविचरत्पूरकल्लोलालमहाजलम् ॥ १५
अकालकल्पान्तदशासमुत्थानघनाकृतिम् ।
आक्रान्तरोदसीरन्ध्ररुधिरैकमहार्णवम् ॥ १६
कचदायुधखण्डौघघ्नीनरन्नावृतोदरम् ।
अलभ्यूहचलद्वयस्तयन्प्राश्मक्षेपणाश्मकम् ॥ १७

तदेव युद्धं वर्णयन्नुपसंहरति—यन्मेति । यन्प्राश्मनां क्षेपणानां
यानि प्रसरणानि प्रवाहास्तलक्षणानां सरितां घृकृतैर्ष्वनि-
विशेषैस्तथा ब्राह्म सद्य एव छिन्नोद्गीनानां व्योम्नि क्रान्तानां
चलितानां मूर्ध्ना फूत्कृतैः फूत्कारशब्दैस्तथा शरसलिलमुखां
सैनिकानां च नादैस्तथा नमसि विसरतामायुधानां नादैस्त-
थाऽश्वचक्राणाभिमानां च हेष्वाङ्घ्रितशब्दैश्च गतं व्याप्तं तद्युद्धं
जीर्णं बधिरीकृताः कर्णा यस्मिन्स्तथाविधं सन्निःसंधिवन्धमुपल-
जठरमिष जडमासीत् ॥ ४७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संप्रामवर्णनं नाम दशा-
धिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

एवमेव हीयमानेऽत्र निर्गतेन महीधृता ।

वाचयत्याख्यैश्चतुर्विक्रु वषयंते द्विचतां क्षयः ॥ १ ॥

यस्य प्रकृते । सर्वेषां भावलक्षणसम्यक्तानां पञ्चमकोके
उबभूदित्यन्वान्वयः ॥ १ ॥ तूर्वादेषु त्रिषु प्रतिष्वनिभिः खे तत्र
खण्डेषु च नदत्सु । वीराणां तारक्रेकारासुकारिषु ॥ २ ॥ भटपेटके
योषकदन्वे कटु यथा स्यात्तथा कुट्टितकट्टे कवत्कटकटाटोपे
सति । कुशाब्दे शतृप्रत्ययः ॥ ३ ॥ विशन्ती कश्मा मूर्ध्ना यासु
बो० वा० १६७

॥ ४७ ॥ तुल्यकालं स्फुटताम् । जडितानि जडीकृतानि ॥ ६ ॥
आकारैर्मूर्तिधरैर्नारायणभुजैरिव चतुर्भिर्देहैः ॥ ७ ॥ ८ ॥ आत्मबलं
रिक्तं ददर्श । रिपुमण्डलं तु बलवत् ऊर्जितं ददर्श । तदेव
रिपुमण्डलमर्णवलेन वर्णयति—गर्जन्तमित्यादिना ॥ ९ ॥
प्रायेण रूपकाणि सर्वत्र ॥ १० ॥ अकावर्तवहद्विद्विर्व्यूहैः सेना-
रचनामेर्देर्जनकल्लोलैश्च कलितान्तरम् ॥ ११ ॥ हयानां हेषितमेव
यादसां फीत्कारशब्दो यत्र । कचन्तीनां घाराणामाकरम्
॥ १२ ॥ हेतिलक्षणे अम्भसि कचन्तः प्रकाशमानाः पापाः
कृष्णसर्पायमाणा म्लेच्छा यत्र । ब्रविडादिभटवार्ताभिरुघुल्लु-
लोदरम् ॥ १३ ॥ नतैरुन्नतैश्च मातङ्गैः कृता अद्रीन्द्राणां
मज्जन्तान्मज्जनलक्षणमहास्पन्दा यस्मिन्स्तथाविधविपुलशरीरकम्
॥ १४ ॥ अपारं विकचन् यः सेनापूरस्तदेव कल्लोलैरलं भूषितं
महाजलं यस्य ॥ १५ ॥ अकाले कल्पान्तदशासमुत्थानमिष
घना आकृतिर्यस्य । रोदसीरन्ध्रेत्यल्लुक् छान्दसः ॥ १६ ॥
कचद्विरायुधखण्डौघलक्षणेर्दानैरुच्छलद्गी रजैरावृतोदरम् ।
चलत्सु सेनाव्यूहेषु चलन्तो व्यस्ता यन्प्राश्मक्षेपणाश्मका यत्र ।
समुद्रेषु पोसेषु सामुद्रजनानां यन्प्राश्मक्षेपणाश्मनां अस्तिदेरिति

रक्तसीकरनीहारसंध्याभ्रपटलानतम् ।
 कश्चित्पांसुपयोवाहपीतद्वेतिपयोधरम् ॥ १८
 तमालोक्य रणाम्भोधिमगस्त्योऽस्य भवाम्यहम् ।
 इति संचिन्त्य मनसा स पातुं तं रणार्णवम् ॥ १९
 अस्त्रं सस्मार वायव्यं चतुर्दिक् च संदधे ।
 धनुषि शिखराधारे त्रिपुरान्त इवोद्यतः ॥ २०
 आत्मीयदेशसैन्यानां श्रेयोर्थं शान्तयेऽनलम् ।
 नमस्कृत्याथ जम्बाशु स तत्तत्याज दारुणम् ॥ २१
 यथा तथैव तत्याज तस्य साहायकाय सः ।
 पर्जन्यास्त्रं महास्त्रं द्विषदातपशान्तये ॥ २२
 तस्मादस्त्रजुषो घोराद्भनुषः परिनिर्गताः ।
 अष्टमूर्तेश्चतुर्दिक्माशाकुहरपूरकाः ॥ २३
 निर्ययुर्वाणसरितस्त्रिशूलसरितस्तथा ।
 शक्तीनामुग्रसरितो भुशुण्डीसरितस्तथा ॥ २४
 मुद्गराणां च सरितः प्रासानां सरितो रथात् ।
 चक्राणां चैव सरितः परश्वधनदीरयाः ॥ २५
 तोमराणां च सरितो मिन्दिपालमहापगाः ।
 पाषाणानां च सरितो वाताः कल्पान्तशंसिनः ॥ २६
 अशनीनां च सरितो विद्युतां सरितस्तथा ।
 जलधारासरित्पूराः स्त्रवर्षसमन्विताः ॥ २७
 सनाराच्चा महावर्षहर्षलोत्पातपीवराः ।
 नागाश्च युगपर्यन्तस्फुटिताद्रीन्द्रजा इव ॥ २८
 तेनास्त्रवर्षवेगेन धुतः सोऽरिबलार्णवः ।
 झटित्येव न कालेन पांसुराशिरिवाभितः ॥ २९
 सलिलाशनिशस्त्राणामासारैश्चण्डमारुतैः ।

भावः ॥ १७ ॥ १८ ॥ तं वर्णितप्रकारं रणहंतुं रिपुवलाम्भो-
 धिमालोक्यास्य पाने अहमगस्त्यो भवामीति संचिन्त्य स विप-
 क्षितं बलार्णवं पातुं वायव्यमस्त्रं सस्मार ॥ १९ ॥ यथा शिखरा-
 णामाधारे मेरुलक्षणे धनुषि त्रिपुराणां अन्ते वधे उद्यतः शिवः
 अस्त्रं संदधे तद्वत् ॥ २० ॥ 'शत्रुशान्तये' इति पाठे नमस्कृत्य
 अनलमिति शेषः । सः तदस्त्रं तत्याज ॥ २१ ॥ यथा वायव्य-
 मस्त्रं तत्याज तथैव तस्य साहायकाय पर्जन्यास्त्रमपि तत्याजे-
 त्यर्थः ॥ २२ ॥ चतुर्दिक् अस्त्रद्वयजुषः अत एवाष्टमूर्तेस्तस्माद्भ-
 नुषो वाणादिसरितो निर्ययुरिति परेणान्वयः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 ॥ २५ ॥ वाताश्चण्डवायवः ॥ २६ ॥ २७ ॥ महावातैर्हर्षलाः
 प्रवृद्धा उत्पाता इव पीवराः पुष्टा नागाः सर्पाश्च निर्ययुः । युग-
 पर्यन्ते स्फुटितेभ्योऽद्रीन्द्रेभ्यो जाता इव ॥ २८ ॥ तेन अस्त्रव-
 र्षवेगेन यः अरिबलार्णवः कालेन विलम्बेन न किंतु झटित्येव
 पांसुराशिरिव अभितो धुत उद्गायितः ॥ २९ ॥ ३० ॥ इतः
 पलायमानः संश्रुतुर्दिक् ययौ ॥ ३१ ॥ तमेव पलायमानं बलौघं
 गिरिणवीसाम्योपपादनादिना वर्णयति—बह्वदित्यादिना । वायु-
 प्रवाहेण वहन्तः स्त्रिणाः स्वेदार्द्रा बृहन्तश्छिन्नाश्च पताका केतव

सरांसीव विसेतूनि सैन्यानि परिवुहुवुः ॥ ३०
 चतुरङ्गश्चतुर्दिक् बलौघः स परास्सुखः ।
 ययौ प्रावृद्धिरिणदीमहावाह इव द्रुतः ॥ ३१
 बहत्स्विन्नबृहच्छिन्नपताकाकेतुपादपः ।
 मरीचिपुष्पशबलविलोलासिलतावनः ॥ ३२
 विलुठत्पुष्पाषाणपृषद्रक्तद्रवावचः ।
 घोरैर्धुरधुरारावैरलं हृदयभङ्गदः ॥ ३३
 उह्यमानबृहद्वन्तिदन्तद्रुमविघट्टनैः ।
 स्फूर्जश्चटचटारावतर्जितोद्गर्जिताम्बुदः ॥ ३४
 हेतिवृत्तोग्रसंघट्टपुष्पजातझणज्झणः ।
 तरस्तरलसारावतुरङ्गमतरङ्गकः ॥ ३५
 रथादिभटचक्रौघशिलाक्रेकारपीवरः ।
 पदातिरथहस्त्यश्वशिलासंघट्टसंकटः ॥ ३६
 कट्टुचंकारचीत्कारक्रेकारपरिपीवरः ।
 मृता मृता वयमिति धनकोलाहलाकुलः ॥ ३७
 सेनावारिमहावर्तचलहुलुगुलारघः ।
 रक्तसीकरनीहारसंध्याम्बुदविनानकः ॥ ३८
 हेतिवीचिवटाच्छिन्नवारिवामनवारिदः ।
 वर्षपङ्किलभूपीठतटखण्डनमण्डितः ॥ ३९
 कुन्तशूलगदाप्रासवहत्तालतलाद्भुतः ।
 साक्रन्दभीरुजनताप्रतपन्मृगपोतकः ॥ ४०
 मृतहस्त्यश्वयोधौघजीर्णपर्णनिरन्तरः ।
 पिष्टदेहवसामांसपङ्कसंजातकर्दमः ॥ ४१
 चूर्णीकृतखुरापिष्टमहास्थिघनसैकतः ।
 उह्यमानशिलापूरकाष्ठकोटिकटङ्कटः ॥ ४२

एव पादपा यत्र । मरीचिपुष्पैः शबलानि विलोलान्यसिलता-
 वनानि येन ॥ ३२ ॥ पलायनाशक्त्या विलुठन्तः पुष्टजन-
 लक्षणा ये पाषाणास्तेषां पृषद्रिर्बिन्दुभूतै रक्तवैरवचो दुर्वचः ।
 तत्र पातमूर्च्छितानां घोरैर्धुरधुरारावैर्हृदयभङ्गदो भीषण इति
 यावत् ॥ ३३ ॥ गिरिणयाः प्रावृद्धिशेषणमम्बुदकल्पनेनोपपा-
 दयति—उह्यमानेति ॥ ३४ ॥ हेतिषु वृत्तो य उग्रः शिलादि-
 संघट्टः स एव नदीतीरतरुषुपेषु जातो भ्रमरझणज्झणध्वनि-
 र्यत्र ॥ ३५ ॥ रथादीनां भटचक्रौघानां च यच्छिलासंकटे
 कृजितं तल्लक्षणेन मेकपक्ष्यादिक्रेकारेण पीवरः पुष्टः ॥ ३६ ॥
 तदेवाह—कट्टित्ति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ हेतिमिर्वाचिभिर्वटा
 इव आच्छिन्ना वारिणा वामना नम्रा वारिदा यत्र । पङ्किलस्य
 भूपीठतटस्य मार्गनिष्पादनाय खण्डनेन मण्डितः ॥ ३९ ॥
 पलायमानैः कुन्तादिधरैर्वहत्तालतलं तालवनमिवाद्भुतः ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ चूर्णीकृतान्यस्थीनि ईषत्स्थूलसैकतानि, खुरैरापिष्टानि
 तु सूक्ष्मतमसैकतानीति भेदः । उह्यमानैः शिलापूरैः काष्ठकोटि-
 भिश्च परस्परघटनात्कटङ्कट इति अन्यभेदारोपोक्तिः ॥ ४२ ॥

| | | | |
|--|----|--|----|
| उद्गर्जत्प्रलयाम्भोदैर्बहुप्रलयवायुभिः । | | विद्युद्वलयविस्तारकारिसंघट्टघर्षणैः । | |
| प्रपत्प्रलयासारैः प्रलयाशनिसंकटैः ॥ | ४३ | शरशक्तिगदाप्रासभिन्दिपालादिवर्षणैः ॥ | ४७ |
| पङ्किलाखिलभूपीठैः सलिलोपप्लुतस्थलैः । | | सर्वदिक्रमसंस्थानि बलानि बलशालिनाम् । | |
| सितशैत्यबशाद्यानधाराकृतस्वपञ्जरैः ॥ | ४४ | भृशतां विद्रवन्त्याशु विनेशुर्मशकौघवत् ॥ | ४८ |
| समग्रनगरग्रामगृहज्वलितवह्निभिः । | | उद्दामपावकवनोपमहेतिसार्थ- | |
| प्रजाश्वेभपदातीनामाक्रन्देनापि घर्घरैः ॥ | ४५ | मेघानलाकुलजनाशनिवर्षपातैः । | |
| रथाम्भोधरनिर्हादैर्दिवि भूमौ घनारवैः । | | आसम्बलानि चपलाब्धिजलाबलानि | |
| चतुर्दिकं घनं तारककारस्य चतुष्टयैः ॥ | ४६ | पर्याकुलानि बडवाग्निमिवाविशन्ति ॥ | ४९ |

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० वि० चतुर्दिग्गतबलद्रवणं नामैकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमः सर्गः ११२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

लोकहाराम्बरव्यालं चेदिचन्दनकाननम् ।
छिन्नं परशुधाराभिः पतितं दक्षिणार्णवे ॥ १
पर्णवत्प्रोक्ष्य पूरेण पारसीकाः परस्परम् ।
प्रहरन्तो विमोहेन विनष्टा वज्रुलावने ॥ २
दुर्दुराश्रौ दुरन्तेषु दरदीर्णहृदन्तराः ।
दरीरन्ध्रेषु संलीना दरदा दानवा इव ॥ ३
चतुरायुधधाराप्रचूर्णनीहारधारिणः ।
विद्युद्वलयिनो वाता वेष्टितायुधवारिदाः ॥ ४
दन्तिनोऽन्योन्यमाभ्रमदन्तदेहौघपीडिताः ।
मृत्युदरोम्भकप्रासपिण्डपिण्डा इवाभवन् ॥ ५
तज्जा रैवतिका रात्रौ रौद्रतोमरताडिताः ।

उद्गर्जत्प्रलयाम्भोदैरित्यादीनां तृतीयान्तानां पञ्चमश्लोके इत्थं
विप्रवन्ति भृशतां बलानि मशकौघवद्विनेशुरित्यत्रान्वयः ॥ ४३ ॥
सितं तीक्ष्णं यच्छैत्यं तद्वशादश्यानैरशुष्यद्भिर्जलधाराकृतैः खे
पञ्जरैः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ भुवि रथनिर्हादैः, दिवि अम्भोधरनिर्हादैः ।
चतुर्दिकं तारस्य विपश्चिद्वनूःककारस्य चतुष्टयैः ॥ ४६ ॥ विद्यु-
द्वलयविस्तारकारिणां मेघानां संघट्टघर्षणैश्च ॥ ४७ ॥ ४८ ॥
प्रत्यन्तभृशतां बलानि उद्दामपावकवनोपमहेतिसार्थमेघानामन-
लैराकुला जना वैस्तथाविधैरशननिवर्षपातैश्च पर्याकुलानि सन्ति
बडवाग्निमाविशन्ति चपले अब्धिजले कथ्यमानान्यबलानि
यादांसीव आसन् ॥ ४९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चतुर्दिग्गतबलद्रवणं
नामैकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

यत्र यत्र यथा नष्टा यद्यदेक्ष्याः पलायिताः ।

वर्ण्यन्तेऽत्र तथा सर्वे चतुर्दिक्षु द्विषन्नटाः ॥ १ ॥

तत्र प्रथमं चेदिदेशभटानां नाशप्रकारमाह—लोकैति ।
चेदिभटलक्षणं चन्दनकाननं परशुभिश्छिन्नं सद्दक्षिणार्णवे
पतितम् । तत्र चन्दनवृक्षाणां व्यालवेष्टितत्वप्रसिद्धिसमर्थनाय
विशिनष्टि—लोकैति । लोक्यन्त इति लोका दर्शनीया हारा
अम्बराणि च व्याला यस्मिन् । अत्र सर्वत्र देशनाम्नैव भट-

१ मूलप्रोक्षेति व्यवन्तस्य प्रवहणं प्राण्येत्पर्यकरणे कलितमिदम्-

रूपिकाभिः पिशाचीभिर्मुक्ता भागीकृताङ्गकाः ॥ ६
तालीतमालगहने दशार्णा जीर्णजङ्गले ।
गले पादं निधायान्तः कृत्वाः सिंहैर्गतासवः ॥ ७
पश्चिमाणवतीरस्था नालिकेरधरावनौ ।
यवना विगतप्राणा निगीर्णा मकरोत्करैः ॥ ८
नाराचनिकरं नीलं निमेवं नासहच्छकाः ।
रमठा नलिनीषण्डा इव ताण्डवितासवः ॥ ९
श्रवणाभोगशृङ्गाप्रो महेन्द्रोऽद्रिर्दिवि व्रजैः ।
विद्रुतैर्वलितो नीलैर्जालैर्जलमुचासिव ॥ १०
चामीकरवराकारा भग्ना तङ्गणवाहिनी ।
मृता हताम्बरा चोरैर्भुक्तैकान्ते निशाचरैः ॥ ११
द्यौरिवर्षभरैरासीत्तदासारं भुवस्तलम् ।

निर्देशो बोध्यः ॥ १ ॥ पारसीका भटा अन्नपूरेण पर्णवत्प्रोक्ष्य-
माणा विमोहेन परस्परं प्रहरन्तः सन्तो वज्रुलावने देशे
विनष्टाः ॥ २ ॥ तथा दरदा भटा दुर्दुराश्रौ दुरन्तेषु दरीरन्ध्रेषु
संलीनाः ॥ ३ ॥ शरप्रासासिपरशुलक्षणानां चतुर्णामायुधानां
धाराप्रयुक्तशिलाकवचादिचूर्णलक्षणनीहारधारिणो विद्युद्विर्व-
लयिनो वेष्टिता वेष्टितायुधा वारुणाह्वयप्रयुक्ता वारिदा वाता-
श्चलिताः ॥ ४ ॥ तेषु चलितेषु किमासीत्तदाह—दन्तिन
इति । अन्योन्यं प्रहारैराभ्रमदन्ता देहेषु रुधिराघेण पीडि-
ताश्च दन्तिनो मृत्योरुदरस्य उम्भकाः पूरका प्रासपरिमिताः
पिण्डपिण्डा इव अभवन् । द्विरुक्तिरनेकत्वद्योतनाय ॥ ५ ॥
तज्जा दरदेशजा एव केचिद्रैवतिका रैवतकपर्वते निलीनाः ।
रूपिकाभिः स्वरूपेण पुरुषवशिकाभिः पिशाचीभिः ॥ ६ ॥
दशार्णास्तेशजा भटाः ॥ ७ ॥ नालिकेरधरायां वेलावनौ
॥ ८ ॥ नीलं कार्णायसं नाराचनिकरं शका नासहन् ।
एवं रमठा अपि वाताहता नलिनीषण्डा इव ताण्डवितासव
आसन् ॥ ९ ॥ श्रवणनक्षत्रस्याभोगः संस्थानमिव त्रीणि
शृङ्गाप्राणि यस्य तथाविधो महेन्द्रोऽद्रिर्विद्रुतैर्नीलैर्दिवि व्रजैर्भ-
टैर्वलितः सन् जलमुचां जालैर्वलित इवासीत् ॥ १० ॥
तङ्गणानां भटानां वाहिनी पूर्वं चोरैर्हताम्बरा पश्चादेकान्ते
निशाचरैर्भुक्ता सती मृता ॥ ११ ॥ तदा तङ्गणसेनाभक्षणकाले

विवर्तमानैरभितः कचद्विज्वलनायुधैः ॥ १२
 धाराधरधरारम्भप्रतिश्रुद्धनघुंघुमा ।
 जगन्नेहगुहासीहयौर्धनं गानुमिषोद्यता ॥ १३
 द्विपान्तरजनाभ्रकैर्जर्जरा जीवितं जडुः ।
 मीनजङ्गलजम्बाले जीर्णमत्स्या इषाजले ॥ १४
 यावद्भीषा जिताः कुक्षौ सहाद्रौ सममूर्तयः ।
 आश्वस्य दिषसांसस ययुरायासमन्थरम् ॥ १५
 गन्धमादनपुष्पागबनकुञ्जेषु पुञ्जिताः ।
 विद्याधरकुमारीभिर्गन्धाराः परिरक्षिताः ॥ १६
 हृणचीनकिरातानां मुक्तैस्तैश्चक्रवर्षणैः ।
 कमलानीव लूनानि शिरांस्यभिमुखानिलैः ॥ १७
 निलीपा नलिनीनाले कण्टका इव निश्चलाः ।
 द्रुमे द्रुमे द्रुममया भयात्त्वस्यावसंश्रितम् ॥ १८
 चारुसारङ्गरङ्गासु शैलकाननभूमिषु ।
 चतुर्विधं तदापातैः संपन्नं क्षोभणं घनम् ॥ १९
 कण्टकस्थलनामानः कण्टकस्थलकर्कशाः ।
 कण्टकस्थलगा आसन्कण्टकस्थलमण्डले ॥ २०
 पारसीकाः परं पूरैः पारं प्राप्य पयोनिधेः ।
 निपेतुः पवनैः पूताः प्रलये तारका इव ॥ २१
 वधुरम्भोधिकुट्टाका दृषदां कटकाङ्किताः ।
 सर्वदिग्बनलुण्टाका वाताः प्रलयशङ्किताः ॥ २२
 आसारसाराः पङ्काम्बुहुताः सघनघुंघुमाः ।

तत्रत्यं भुवस्तलमभितो विवर्तमानैः संचरद्विज्वलनायुधैरुल्लु-
 कधरैरत एव कचद्विर्निशाचरैः ऋक्षभरैर्नक्षत्रसमूहैर्द्यौर्विष सारं
 शोभमानमासीत् ॥ १२ ॥ किंच तस्मिन्विपश्चिद्विजये जगदेव
 गेहगुहा बस्यास्तथाविधा द्यौर्धाराधराणां धरारन्ध्रेषु गर्जनप्र-
 तिध्वनिभिर्घनघुंघुमा बहुलमृदङ्गध्वनिः सती घनं तद्यशो गानु-
 मुद्यतेवासीत् ॥ १३ ॥ मीनविहारजंगलभूते जम्बाले शैवलप-
 त्वले दैवादजले सति मत्स्या इव अशरणाः ॥ १४ ॥ याव-
 द्भीषाः यावद्भीषामिजना भटाः सहाद्रौ निलीय सप्तरात्रमा-
 श्वस्य चिकित्सादिना त्रणोपशमात्सममूर्तयः सन्त आसारैः
 क्लिष्टमाना आयासेन मन्थरं मन्दं स्वदेशं ययुः ॥ १५ ॥ १६ ॥
 हृणानां चीनानां किरातानां च शिरांसि अभिमुखानिलैरत एव
 वेगवद्विर्विपश्चिन्मुक्तैश्चक्रवर्षणैः कमलानीव लूनानि ॥ १७ ॥
 निलीपास्तन्नामकदेशजा भटा द्रुममया वृक्षप्रायाः घन्तोऽम्ब-
 सन् ॥ १८ ॥ सारङ्गाणां मृगाणां पक्षिणां च विहारे रङ्गभूमि-
 भूतासु शैलकाननभूमिषु तस्य विपश्चित आपातैर्घनमतिशयितं
 क्षोभणं संपन्नम् ॥ १९ ॥ कण्टकस्थलं करजवनमिव कर्कशाः
 कण्टकानां दस्यूनां स्थले मण्डले देशे कण्टकस्थलगाः करजा-
 दिग्बननिलीना आसन् ॥ २० ॥ २१ ॥ दृषदां प्रहारैः पर्वत-
 कटकेषु अङ्किताः कृतचिह्नाः । प्रलयशङ्किताः प्रलयशङ्काविषयी-
 कृताः ॥ २२ ॥ दशदिशो बहुधुग्धैरायुधैरनिलैश्च आसार-
 सारा भूत्वा पङ्काम्बुहुता अदृश्या आसन् ॥ २३ ॥ शतैर्नीहारा

आसन्दशदिशोऽदृश्या बहुधुग्धायुधानिलैः ॥ २३
 निर्हादकारिभिर्वातैर्वहच्छपछपारवम् ।
 प्रसञ्जुर्भुवि नीहारा महार्णवरया इव ॥ २४
 विदूरस्था रथेभ्यश्च वीचिचीत्कारकारिणः ।
 सरोम्भस्यनिलैः पेतुः पशोभ्य इव षट्पदाः ॥ २५
 आयुधौघेऽपि चक्रौघात्पादात् बलमाविलम् ।
 रजोराशिरिवासारै न समर्थं पलायने ॥ २६
 हृणा आमस्तकं मग्ना उत्तरार्णवसैकते ।
 क्लिष्टास्तत्रैव पङ्कान्तः पूरणाविलशूलवत् ॥ २७
 तीरैलावनलेखासु शकाः पूर्वपयोनिधेः ।
 नीता बद्धा दिनं मुक्ता न गता यमसादनम् ॥ २८
 मन्दं मन्त्रा महेन्द्राद्रौ क्रन्दन्तः पतिता दिवः ।
 आश्वासिता मुनिवरैर्निजाभ्रममृगा इव ॥ २९
 प्रविष्टा याचनं सद्ये लब्धाः सुरबिलाह्वयम् ।
 अनर्थेनाऽर्थं आयाति काकतालीयतः कश्चित् ॥ ३०
 पतिता दूर्दुरारण्ये दशार्णा जीर्णपर्णवत् ।
 भुक्त्वा विषफलान्यज्ञा मृतास्तत्रैव ते स्वयम् ॥ ३१
 विशल्यकरणीं भुक्त्वा काकतालीययोगतः ।
 हिमाद्रौ हैहया याता गृहं विद्याधरा इव ॥ ३२
 पृष्ठनुम्लानकुसुमा धनुर्भिर्गृहमागताः ।
 वज्रा नाद्यापि दृश्यन्ते पिशाचत्वमिवागताः ॥ ३३

वहच्छपछपारवं यथा स्यात्तथा प्रसजुः । छपछपेत्यभ्यक्तनीहारा-
 मिघातध्वन्यनुकरणम् । महार्णवरया अपि वातप्रयुक्ता वहच्छ-
 पछपारवाश्च तदनुभवितानां प्रसिद्धाः ॥ २४ ॥ अनिलैः प्रोह्य-
 माणा विदूरदेशस्था रथिका वीचय इव चीत्कारकारिणः सन्तः
 सरोम्भसि पेतुः ॥ २५ ॥ तेषां पादात् बलं तु आयुधौघे
 सत्यपि विपश्चिन्क्रौघादाविलमश्रुकुलुषाक्षं सत् आसारै धारासं-
 पाते रजोराशिः पांसुजालमिव पलायने न समर्थमभूत् ॥ २६ ॥
 भुवि पूरणेन आविलं मृन्मालिन्यमापद्यमानं लोहशूलं यथा
 क्लिद्यते तद्वत्क्लिष्टाः ॥ २७ ॥ शका भटाः पूर्वपयोनिधेस्तीरैर-
 वनलेखासु नीताः सन्तो दिनमात्रं विपश्चिता बद्धा पश्चाद्दृश्यं
 मुक्ता यमसादनं न गताः । न मृता इत्यर्थः ॥ २८ ॥ दिवो
 द्युवद्भुक्ताद्रिदिशिखरात् ॥ २९ ॥ सद्ये गिरौ प्रविष्टा मठास्तु
 मृकाम्बिकासभिधौ कुटजाख्याह्वये तच्छिखरे देवात्प्रविष्टात्पूर-
 विलात् द्वयं ऐहिकामुष्मिकं याचनं अभिलषितसिद्धिफलं
 लब्धाः प्राप्तवन्तः । तथा हि । अमयोद्यकाले क्लिष्टिकाकता-
 लीयन्ध्यावतः अनर्थेनापि अर्थः पुरुषार्थं आयाति । यतो मर-
 गार्ह सुरभिलं प्रविष्टैः सिद्धयो लब्धा इत्यर्थः ॥ ३० ॥
 दशार्णा भटा दूर्दुरगिरेररण्ये पतिताः प्रविष्टाः सन्तः ॥ ३१ ॥
 हैहयदेशीया भटा हिमाद्रौ विशल्यकरणीमोषधिं भुक्त्वा विद्या-
 धरा इव श्वेचराः सन्तो गृहं याताः ॥ ३२ ॥ एवं वज्रा अपि
 हैमवतीरोषधीभुक्त्वा पृष्ठलम्भा नरा इव म्लानानि उत्सं-

अङ्गा वनफलेभ्युर्कैर्बिधाधरपदप्रदैः ।
 विधाधरीभिः कीडन्ति दिवि विधाधराः स्थिताः ॥ ३४ ॥
 तालीतमालखण्डेषु पतिताः पातिताङ्गकाः ।
 पारसीका गता मोहं भ्रमाद्वैमानिका इव ॥ ३५ ॥
 तरलासारमातङ्गं पतितं तङ्गणाङ्गणे ।
 अङ्गैरङ्ग कलिङ्गानां चतुरङ्गं बलं इतम् ॥ ३६ ॥
 क्रमत्यरिबले सात्वाः शरशैलोदकोदरे ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० अवि० वि० बलपरिभ्रंशो नाम द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

पतिताः प्रभुणा सार्धमद्याप्येषोपलाः स्थिताः ॥ ३७ ॥
 अर्सख्याः प्रपलायन्तः ककुभं ककुभं प्रति ।
 नराः सरत्तरङ्गेषु सागरेषु लयं गताः ॥ ३८ ॥
 क्षेत्राटवीपुरजलस्थलशैलकूल-
 कुल्याप्रहारसरिदग्धिभृगुहृमेषु ।
 प्रामारपट्टिगिरिकूपगुहागृहेषु
 भ्रष्टानि कः कलयितुं कुबलानि शक्तः ॥ ३९ ॥

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ११३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

बलान्यनुतरन्तोऽथ तदित्यं द्रवतां द्विषाम् ।
 दूरादूरतरं प्राप्ताश्चत्वारस्ते विपश्चितः ॥ १ ॥
 सर्वशक्तिमयैकेन चेतनेनेश्वरेण ते ।
 प्रहिता दिग्जयं चक्रुः सर्वे एव समाशयाः ॥ २ ॥
 दूरात्सावदविच्छिन्नमनुसस्रुर्बलानि ते ।
 यावत्तीरं समुद्राणां प्रवाहाः सरितामिव ॥ ३ ॥
 दूराविभ्रान्तयानेन तेषां तत्सर्वसाधनम् ।
 आत्मीयं परकीयं च क्षीणं कुसरिदम्बुवत् ॥ ४ ॥
 आत्मीयान्यन्यदीयानि तेषां वीक्ष्यबलान्यलम् ।
 क्षीणानीव मुमुक्षूणां पुण्यपापानि धावताम् ॥ ५ ॥
 स्वयमस्त्राणि शान्तानि कृतकृत्यान्यथाम्बरे ।

कुष्ठमानि तेषां तथाविधाः सन्तः शरभ्ययात्केवलं धनुर्भिस्त्वस-
 क्षिता गृहमागताः सन्तो भयादद्यापि बहिर्निःसरणाभावात्
 दृश्यन्ते ॥ ३३ ॥ दिवि विधाधरा भूत्वा स्थिताः ॥ ३४ ॥
 पारसीकास्तालीतमालखण्डेषु पतिताः प्रविष्टमात्राः शत्रुभिः
 पातिताङ्गकाः सन्तो मोहं मूर्च्छां गताः । तत्र च भ्रमाद्वैमानिका
 इवाभवन् ॥ ३५ ॥ हे अङ्ग, कलिङ्गानां तरलासारमातङ्गं चतु-
 रङ्गं बलं अङ्गैर्हतं सत् पलायमानं तङ्गणाङ्गणे पतितम् ॥ ३६ ॥
 सात्वा भटाः शराः शैलाः शिलासमूहा उदकानि चोदरे यस्य
 तथाविधे अरिबले क्रमति आक्रमति सति प्रभुणा सार्धं पति-
 तास्ते चाद्यापि तद्देशप्रामदेवताभूता उपलाः प्रतिमा भूत्वा
 स्थिताः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ न केवलं सागरेष्वेव किन्तु क्षेत्रेष्व-
 टवीषु पुरेषु जलेषु स्थलेषु शैलेषु कूलेषु कुल्यासु अप्रहारेषु
 सरित्सु अग्निषु मृगेषु हृमेषु तथा प्रामेषु आरपट्टिषु कुल्कस्था-
 नेषु गिरिषु कूपेषु गुहासु गृहेषु च भ्रष्टानि मृतानि तेषां कुब-
 लानि कलयितुं गणयितुं कः शक्तः । न कश्चिदपीत्यर्थः ॥ ३९ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 बलपरिभ्रंशो नाम द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

अस्त्राणामरिसंशान्त्या साधनानां च संक्षयः ।

अर्जवानां च विभवो वर्ष्यते विस्तरादिह ॥ १ ॥

द्रवतां द्विषां बलान्यनुतरन्तोऽनुधावमानाः ॥ १ ॥ सर्व-

ज्वालाजालानि वहीनां दाहस्यासंभवादिव ॥ ६ ॥
 आलयेषु रथाश्वेभ्युक्षौघादिषु हेतयः ।
 आसन्नित्त्रालवो लीना दिनान्ते विहगा इव ॥ ७ ॥
 तरङ्गा इव तोयेऽस्तनीहारा इव वारिदे ।
 मेघा घायाविधामोदा व्योमनीव निलिह्यिरे ॥ ८ ॥
 धारापङ्कतलालीनशान्तहेतिलेचरः ।
 नाराचसीकरासारनीहारपरिवर्जितः ॥ ९ ॥
 चक्रावर्तशतोन्मुक्तो युक्तः सौम्यतयाच्छया ।
 प्रशान्तमेघसंरम्भतरङ्गोत्तुङ्गवर्षणः ॥ १० ॥
 अन्तर्लीनर्क्षरक्षौघकोणसंस्थार्कबाडवः ।
 शून्यतावारिरमलो व्योमैकाग्धिरभूत्पृथुः ॥ ११ ॥
 लम्बप्रकाशगम्भीरं प्रसन्नं कान्तिमसतम् ।

शक्तिमत्तेन सर्वशक्तिसंभूतेन सर्वदेहेष्वेकेन चेतनेनेश्वरेण प्रहिता
 दिविजयाय प्रवर्तिताः । समाशयास्तुत्याभिप्रायाः ॥ २ ॥
 अविच्छिन्नमरिबलैरनुस्यूतं यथा स्यात्तथा अनुसस्रुः ॥ ३ ॥
 दूरमविभ्रान्तेन यानेन गमनेन तेषां विपश्चित्सैन्यानां तत्प्र-
 सिद्धं सर्वं जीवनयुद्धादिसाधनं धनास्त्रशस्त्रादि प्रत्यहं व्ययेन
 क्षीणम् । कुसरितां कुल्यानामम्बुवत् ॥ ४ ॥ धानतां तेषां
 विपश्चितामात्मीयान्यन्यदीयानि च वीक्षणार्हाणि बलानि
 सैन्यानि मुमुक्षूणां पुण्यपापानीव अलं निःशेषं क्षीणानि ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥ आलयेषु निषङ्गकोशादिस्वस्थानेषु रथादिषु च लीनाः
 सन्तो निमग्न इव निश्चेष्टा आसन् ॥ ७ ॥ ८ ॥ वर्षधाराप्रयुक्ते
 पङ्कतले आलीना अत एव शान्ता हेतिलक्षणा जलेचरा मीन-
 मकरादयो यस्य । तथा नाराचलक्षणैः सीकरासारनीहारैः परि-
 वर्जित इत्याद्यग्धिरूपकोपपादकविशेषणानां चतुर्थश्लोकस्थे
 व्योमैकाग्धिरभूदित्यत्रान्वयः ॥ ९ ॥ प्रशान्तानि मेघसंरम्भ-
 प्रयुक्तानि तरङ्गभ्योऽप्युत्तुङ्गानि वर्षणानि यस्मिन् ॥ १० ॥ अन्त-
 र्लीना ऋक्षलक्षणा रक्षौघा यस्मिन् । कोणे एकदेशे संस्थः अर्क-
 लक्षणो बाडवो बडवानलो यस्मिन् । शून्यतैव वारि यस्मिन् ।
 इदृशो व्योमलक्षण एकाग्धिः प्रलये प्रसिद्ध एकार्णवः पृथु-
 विस्तृतः अभूत् ॥ ११ ॥ खं महतां मन इव रेजे । लम्बेन

रजोविरहितं रेजे खं मनो महतामिव ॥ १२
 अथार्णवांस्ते दृष्टशुराकाशस्यानुजानिव ।
 विस्तीर्णान्विमलाकारान्पूरिताखिलदिक्कटान् ॥ १३
 तरङ्गकणकल्लोलमहागुलुगुलाकुलान् ।
 भूरिसीकरनीहारहारिहारिशरीरिणः ॥ १४
 स्थितानात्मानमास्तीर्य भूमौ व्याध्यातुरानिव ।
 श्वसनातांश्चलद्देहान्बिम्बवर्तोर्मिमहाभुजान् ॥ १५
 जडानपि स्पन्दमयान्कल्लोलाकोटकोटरान् ।
 संसारानिव विस्तीर्णांश्चक्रावर्तदशाकुलान् ॥ १६
 रत्नराशितटोद्घोतपीवरीकृतभास्करान् ।
 शङ्कराशिबिशाद्वातशब्दतर्जितघुंघुमान् ॥ १७
 मांसलोर्मिघटाघोषघर्घराम्बरडम्बरान् ।
 वर्तुलावर्तविस्तारप्रभ्रमद्विद्रुमद्रुमान् ॥ १८
 मकरव्यूहनिर्द्वादघर्घरोदरघुंघुमान् ।
 मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमज्जपोतकृतारवान् ॥ १९
 उद्धीवकूर्ममकरनिगीर्णांर्णनरोत्करान् ।
 ऊर्मिबिम्बितसप्ताश्वसहस्रार्कनभोनिभान् ॥ २०
 भांकारकारिपवनपतद्भृत्यततोद्धटान् ।
 ऊर्म्युदस्तमणिमातबलाज्जण्णणध्वनीन् ॥ २१
 नानाजालैर्बलभुजैर्हेलास्पृष्टार्कमण्डलान् ।
 नमद्रुमद्रुमद्रुमिर्मरत्नमाणिक्यमण्डलान् ॥ २२
 उत्फालफेनिलावर्तविवर्तमकरोत्करान् ।
 क्वचित्करिकरोन्नामैः क्षणं वंशवनीकृतान् ॥ २३

विस्तीर्णनात्मप्रकाशेन सूर्यालोकितेन च गम्भीरम् । रजोगुणैर्धू-
 लिभिश्च विरहितम् ॥ १२ ॥ आसर्गसमाप्तरणवान्वर्णयितुमु-
 पक्रमते—अथेति ॥ १३ ॥ भूरिभिः सीकरनीहारहारिभिर्मै-
 घैर्हारि मनोहरं शरीरं येषाम् । नित्ययोगायार्थाधिक्यविवक्षया
 कर्मधारयादपि मत्वर्थीयः समर्थनीयः ॥ १४ ॥ आत्मानं
 स्वदेहं भूमौ आस्तीर्य प्रसार्य । विवर्त्यन्त इति विवर्ता उत्क्षि-
 प्यमाणा ऊर्मिमहाभुजा येषाम् ॥ १५ ॥ संसारपक्षे कल्लोलाः
 षड्भेदयस्तराकोटाः कुटिलाः कोटरा जलाशया येषु ॥ १६ ॥
 रत्नराशिधरैस्तटोद्घोतैरुदयकाले पीवरीकृतः स्थूलीकृत इव
 भास्करो यैः । शङ्कराशिषु विशतो वातस्य शब्द एव तर्जितघुंघु-
 मस्तर्जनध्वनिर्येषाम् ॥ १७ ॥ मांसलानां पृष्ठानामूर्मिघटानां
 घोषैर्मैघघर्घराम्बरडम्बरयुक्तान् ॥ १८ ॥ पुच्छच्छटा पुच्छाप्रं
 तेन छिन्नैर्द्विधाकृतैरत एव मज्जद्विः पोतैः कृतारवान् ॥ १९ ॥
 उद्धीवैः कूर्मैर्मकरैश्च निगीर्णां आर्णा ऊर्णाम्बरा नरोत्करा येषु ।
 रामद्राणां नराणां प्रायेणार्णाम्बरत्वद्योतनार्थेति विशेषणम्
 ॥ २० ॥ विस्तीर्णपटे भांकारकारिभिः पवनैः पतन्तो
 गच्छन्तो भूत्याः भूतिसंभृतास्तताः उन् ऊर्ध्वं घटन्ते चेष्टन्त
 इत्युद्धटाः पोता येषु । बलान् पतनाभिघातबलान् ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ करिणां कराणां शुण्डानामुन्नामैरुन्नमनैर्वंशवनमिव

लहरीवल्लरीवालान्पृष्ठतालिषु माधवान् ।
 क्वचिदन्तरविभ्रान्तसपरिच्छदमाधवान् ॥ २४
 एकदेशस्थितासंख्यनानासुरसुरालयान् ।
 तारानवतरङ्गौघपरिदन्तुरिताम्बरान् ॥ २५
 गुहामशकवद्वर्तभीतशास्त्रायिताचलान् ।
 नयतोम्बुतरङ्गौघैर्वेलाद्गीनसिखर्षताम् ॥ २६
 खक्षेत्रारोपितानत्परत्तरश्मिपथाङ्कुरान् ।
 शुद्धशुक्तिमुखोन्मुक्तमुक्तान्तरितसैकतान् ॥ २७
 नानारत्नांशुकौशेयसूत्रचित्रांस्तरङ्गितान् ।
 विशन्नदीन्दशादिग्भिः समाकीर्णान्पटानिव ॥ २८
 इन्द्रनीलतटैर्व्युत्समुक्ताशुक्तिशताङ्कितैः ।
 क्वचिदर्शयतः कान्तशतेन्दुकनखश्रियम् ॥ २९
 रत्नांशुजालसंदिग्धास्तरङ्गादेशबिम्बिताः ।
 परिवर्तयतः फुल्लास्तीरतालीवनावलीः ॥ ३०
 एलालवङ्गकल्लोलफलमालां जिघृक्षुभिः ।
 वेलावनलताभ्रष्टामात्तावृत्तीजलेचरैः ॥ ३१
 चूतनीपकदम्बाप्रविहगान्प्रतिबिम्बितान् ।
 भुञ्जानैर्विप्रलम्बेन कृताच्छोटाजलेचरैः ॥ ३२
 खेचरप्रतिबिम्बेन विद्रवद्भिरितस्ततः ।
 भङ्गबन्धवृहत्सेतून्क्षणं प्रति जलेचरैः ॥ ३३
 अमूर्तान्प्रतिबिम्बेन हृदयस्थजगन्नयान् ।
 चतुरो व्योमविपुलान्दिक्षु नारायणानिव ॥ ३४

कृतान् ॥ २३ ॥ लहरीषु वल्लर्य इव करिणां वालाः पुच्छानि
 येषु तान् । करिणां पृष्ठसमूहः पृष्ठता तल्लक्षणाखालिषु पङ्क्तिषु
 माधवान्वसन्तानिव फेनपुञ्जैः पुष्पितान् । क्वचित् भेतद्वीपादौ
 ॥ २४ ॥ नानाविधानामसुराणां सुराणां चालयभूतान् । इन्द्र-
 गर्भषष्ठीतत्पुरुषान्तचतुष्पदबहुव्रीहिवा । प्रतिबिम्बफेनादितारा-
 वद्भिर्नवतरङ्गौघैः परिदन्तुरितं परिहसितमम्बरं यैः ॥ २५ ॥
 गुह्यस्थमशकवत्पातालगतं निविष्टा वह्निर्नगमनभीता अत एव
 मूलस्थशास्त्रायिता अचला येषाम् । खर्वतां नयत इति वेलाद्य-
 पेक्षया । तरङ्गौघाणामौक्त्वसंपादनादिति भावः ॥ २६ ॥
 रश्मिपथाः रश्मिप्रसराः । खक्षेत्रे आरोपितास्तल्लक्षणा अङ्कुरा
 यैस्तान् ॥ २७ ॥ नानारत्नांशुलक्षणैः कौशेयसूत्रैश्चित्रान् ।
 विशन्त्यो नद्य एव तुरीप्रवेश्यमानतन्तवो येषां तान् । दशाभू-
 ताभिर्दिग्भिः परितः समाकीर्णान् अत एव ऊयमानपटानिव
 स्थितान् ॥ २८ ॥ कान्तशतेन्दुकामिव नखश्रियं क्वचिदर्शयतः
 ॥ २९ ॥ तरङ्गाणामादेशेषु प्रदेशेषु प्रतिबिम्बितास्तीरताली-
 वनावलीस्तरङ्गपरिवृत्त्या परिवर्तयतः ॥ ३० ॥ वेलावनलताभ्यो
 भ्रष्टामेलादिफलमालां जिघृक्षुभिर्जलेचरैः आत्ता आवृत्तयस्तीरे
 संचारा येषु तान् ॥ ३१ ॥ भङ्ग्योपदर्शनादिच्छन्नता तरङ्गसंनि-
 धावाकृष्य भुञ्जानैर्जलेचरैः कृता आच्छोटा अङ्गुलीध्वनयस्त-
 त्प्राया ध्वनयो येषु ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ अमूर्तत्वादिसाधर्म्येण दिक्षु

अतिगाम्भीर्यनैर्मह्यविस्तारविभवैर्नभः ।
निगीर्य संदर्शयतो हृदयादिषु विम्बितम् ॥ ३५
जलचारिविहङ्गानां साकाशं प्रतिविम्बितम् ।
आशयैर्दधतः सारैः पद्मान्भृङ्गमिवात्मगम् ॥ ३६
तरङ्गतरलास्फालमारुतैराहताम्बरान् ।
कन्दरोद्गारगम्भीरैः कल्पान्तजलदालयान् ॥ ३७
गुहागुलुगुलावर्तनिर्घोषाशनिभीषणान् ।
भृशं भावयतो प्रस्तानगस्त्यौर्वानलानिष ॥ ३८

भूरितीकरपुष्पाणि तरङ्गौघतरुणि च ।
प्राप्तान्यम्बुवनानीष लहरीमभरीणि खम् ॥ ३९
सरस्तरङ्गजालानि प्रोङ्गीनप्राणिमन्त्यधः ।
आकाशखण्डखण्डत्वात्पतितानीष विभ्रमात् ॥ ४०
एलालवङ्गबकुलामलकीतमाल-
हिंतालतालदलताण्डवखण्डिताग्रे ।
प्राप्ते पतल्लवणधारिधिदीर्घतीरं
रेखा बभावलिनिभाम्बरशैलमूर्ध्नि ॥ ४१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विप० समुद्रवर्णनं नाम त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ११४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ तेषां तदा तत्र ततस्तांस्तानदर्शयन् ।
पार्श्वगा वनवृक्षाब्धिशैलमेघवनेचरान् ॥ १
देव पश्यास्य शैलस्य येयमभ्रं कषाप्रभूः ।
समरुन्मध्यदेशादेरश्मदेशमुपेयुषः ॥ २
इमा बकुलपुत्रागनालिकेरकुलाकुलाः ।
विपिनावलयो वान्तविविधामोद्मारुताः ॥ ३
लुनात्युपत्यकां वार्धिः शैलशालिशिलावलीः ।
वनालीलहरीदात्रैरापादफलपल्लवाः ॥ ४

चतुरो नारायणानि स्थितान् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ आशयैर्हृदयै-
र्दधतः । आत्मगं कोशगर्भस्थम् ॥ ३६ ॥ गम्भीरैरिति भाव-
प्रधानो निर्देशः । अन्तर्गतगिरिकन्दरासु पवनप्रवेशनिर्गम-
लक्षणो य उद्गारस्तदनुमेयकन्दरागाम्भीर्यैः कल्पान्तजलदाना-
मालयभूतान् ॥ ३७ ॥ गुहासु गुलुगुलारूपैरावर्तनिर्घोषैः अश-
नय इव भीषणान् । स्वप्रासिनः अगस्त्यानौर्वानलांश्च गुहोदरेषु
भृशं प्रस्तानसंभावयत इव ॥ ३८ ॥ तथा खं प्राप्तान्यम्बुवनानि
भावयत इव स्थितान् । कीदृशान्यम्बुवनानि । भूरितीकरा एव
पुष्पाणि येषु तानि । तरङ्गांघास्तरवो येषु । लहरीं मज्जरीं येषु
॥ ३९ ॥ तथा प्रोङ्गीनप्राणिमन्ति मत्स्यादियुक्तानि सरन्ति तरङ्ग-
जालानि आकाशस्य खण्डे शब्दैः खण्डने कृते खण्डत्वादेव अधः
पतितानीष विभ्रमाद्भावयतश्चतुरोऽर्णवांस्ते ददृशुरिति पूर्वत्रा-
न्वयः ॥ ४० ॥ वर्णितप्रकारैः पततां तरङ्गैः प्रत्युद्रच्छतां लवण-
वारिधीनां दीर्घतीरं विपश्चित्सैन्ये प्राप्ते सति परितो वीर्धे तीराग्रे
अम्बरसंपृक्तानां शैलानां मूर्ध्नि एलालवङ्गादिषुक्षाणां दलता-
ण्डवैः खण्डिता विभक्ता अलिनिभा श्यामला वनरेखा बभौ
अंशोभतेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे समुद्रवर्णनं नाम त्रयोदशा-
धिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

इत आरभ्य वर्णयन्ते विपश्चित्यः प्रदर्शिताः ।

पार्श्वतीर्षवृक्षाब्धिशैलमेघवनेचराः ॥ १ ॥

अथेति वनादिवर्णनविस्तारारम्भद्योतनाय । तेषां विपश्चितां
पार्श्वगा मन्मदादयस्ततः समुद्रसंनिधिप्राप्त्यनन्तरं तांस्तान्नि-

अधित्यकासु मेघालीर्तृत्यतां स्वाम्बुभृताम् ।
धुनोति जलधिर्बालो गृहधूमावलीमिव ॥ ५
राकाग्धिपूरसंप्रोतशङ्काशाखास्तटद्रुमाः ।
चन्द्रबिम्बफलाः कल्पवृक्षा इव विभ्रान्त्यमी ॥ ६
रत्नपुष्पमरापूर्णरक्तपल्लवपाणयः ।
भवन्तं पूजयन्तीव लतादारान्विता द्रुमाः ॥ ७
प्रोतोर्मिमकरप्रासैर्दृषहन्तैर्गुहासुखैः ।
ऋक्षवानृक्षवद्भूद्वत्से घुरघुरारवम् ॥ ८

चित्रान् वनवृक्षादीन् अदर्शयन् । कौतुकार्थमित्यर्थः ॥ १ ॥ हे देव,
मध्यदेशादेरुपत्यकाधित्यकाप्रस्थादिप्रदेशात्क्रमेणाग्रे अश्मदेशं
शिलाप्रचुरभागतासुपेयुषः अस्य शैलस्य येयमभ्रं कषा अत्यु-
न्नता अत एव समरुत् प्रचुरवायुयुक्ता, विहरदेवगन्धर्वादि-
युक्ता वा अमभूः शिखरभूमिस्तां पश्येत्यर्थः ॥ २ ॥ वान्तः
उद्गीर्णो विविधामोदो मारुतो याभिः । या इमा विपि-
नावलयस्ता अपि पश्य ॥ ३ ॥ वार्धिर्लहरीलक्षणैर्दात्रै-
रुपत्यकामद्रेरासक्षां भूमिं लुनाति । तथा शैले शालन्ते
शोभन्ते याः शिलावलयस्ताश्च लुनाति । तथा आपादं
फलपल्लवव्यासा वनालीश्च लुनाति पश्येत्यर्थः ॥ ४ ॥
जलधिः पवनकम्पिततरुलताभुजाद्यभिनयैर्तृत्यतां स्वेदबिन्दु-
प्रायस्वाम्बुकणाञ्चितानां भृशतामधित्यकासु विभ्रान्ता मेघालीः
पवनेन धुनोति । यथा बालः स्वगृहधूमावलीं व्यजन-
पवनेन धुनोति तद्वत्पश्य ॥ ५ ॥ राकासु पूर्णेन्द्रदयकाले
प्रवृद्धस्याब्धेः पूरैः संप्रोतशङ्काः शाखा येषां तथाविधा
अर्मीः तटद्रुमाश्चन्द्रबिम्बानीषामृतररापूर्णानि शुभ्राणि च
फलानि येषां तथाविधाः कल्पवृक्षा इव विभ्रान्ति । पश्येति
सर्वत्रानुषङ्गः ॥ ६ ॥ लतारूपैर्दारैरन्विता द्रुमा रत्नसदृशैः
पुष्पभरैः आपूर्णा रक्तपल्लवलक्षणाः पाणयो येषां तथाविधाः
सन्तः स्वगृहं प्राप्तमतिथिं भवन्तं पूजयन्तीव किरन्तीत्यर्थः
॥ ७ ॥ प्रोतोर्मिमकरान्प्रसन्ति तथाविधैः शुक्लादिवर्णदृषहन्तै-
र्गुहालक्षणैर्मुखैः ऋक्षवाजाम भूवत् ऋक्षवद्भूद्वत्से घुरघुरारवं

महेन्द्रो मन्द्रगर्जाभिरभिक्षिपति गर्जतः ।
 पर्जन्यानूर्जितो जम्बः प्रतिजन्यान्यथा जडैः ॥ ९
 चन्द्रनारुषितः श्रीमाजेतुं जलधिबेह्लनाः ।
 समुद्यत इवोच्चोऽसौ मल्लो मलयपर्वतः ॥ १०
 सर्वतः कश्चितोऽजस्रं रत्नवीचिभिरम्बुधिः ।
 भूरत्नवल्लयभ्रान्त्या प्रेक्ष्यते सूर्यमार्गणैः ॥ ११
 सरन्ति रत्नमूर्धानञ्जलकानिलपायिनः ।
 वानपूराः पर्वतकाः सर्पा इव नतोन्नतैः ॥ १२
 भ्रमन्तो वीचिशृङ्गेषु मकरेभाः करोत्कटैः ।
 हरन्ति सीकराम्बोदा मेघानुद्राविता इव ॥ १३
 आवर्तवलिताकारः सीकरोत्करकीर्णदिक् ।
 पूर्णत्वात्तु शिरोऽशक्तो म्रियतेऽत्युत्करः करी ॥ १४
 विविधप्राणिसंपूर्णाः सजलाद्रिनतोन्नताः ।
 यथैवात्मोद्ययः सर्वास्तथैव द्वीपभूमयः ॥ १५
 आवर्तानात्मनोऽनन्यानप्यन्यानिव भास्वरान् ।
 गृह्यमाणानसद्रूपान्दृश्यमानानपि स्फुटान् ॥ १६
 तरङ्गतरलानन्तर्जडानप्यम्बुधिञ्जलान् ।
 धत्ते ब्रह्मजगन्तीव सान्तानप्यन्तवर्जितान् ॥ १७
 यानन्तरिन्द्रवद्भानुमणीन्धत्तेऽम्बुधिर्बहून् ।

धत्ते ॥ ८ ॥ अयं महेन्द्रो गिरिरुर्ध्वं गर्जतः पर्जन्यानधो
 मन्द्रगर्जाभिरभिक्षिपति भर्त्सयति । यथा ऊर्जितो जन्यो
 युद्धकुशलः प्रतिजन्यानिरपूज्यैर्वाक्यैः क्षिपति तद्वत् ॥ ९ ॥
 असौ मलयपर्वतलक्षणो मल्लो जलधेः प्रतिमल्लस्य लहरीभुजवे-
 ह्मनाः जेतुं समुद्यत इव ॥ १० ॥ सर्वतो रत्नयुक्तवीचिभिः
 कश्चितोऽयमम्बुधिः सूर्यमार्गणैर्नभश्चरैरजस्रं भूरत्नवल्लयभ्रान्त्या
 प्रेक्ष्यते । 'कश्चितौजस्कम्' इति पाठे एकपद्ये क्रियाविशेषणं
 योज्यम् ॥ ११ ॥ वानं वनसमूहास्तैः पूर्यन्त इति वानपूराः
 पर्वतकाः सूक्ष्माः पर्वताः वायुना वने कम्प्यमाने चलकाः
 सन्तः सर्पा इव सरन्ति । रत्नमूर्धानः अनिलपायिन इति
 साधारणे विशेषणे । नतोन्नतैर्गतिमेदैः ॥ १२ ॥ वीचिशृङ्गेषु
 भ्रमन्तः सामुद्रा मकरा आरण्या इभाश्च वीचिशृङ्गेषु निर्गच्छन्तु
 प्रविशन्तु च परस्परप्रहणाय करैरुत्कटैर्व्याप्तैर्मुखैश्च भ्रमन्तो
 मेघैरनुद्राविता अनुद्रुताः सीकरमुचोऽम्बोदा इव हरन्ति, कौतु-
 कदर्शनां मन इति शेषः ॥ १३ ॥ तत्रैकः करी देवादगाधे
 जले आवर्तनं कलितः परिवर्तित आकारो यस्य तथाविधः सन्
 सीकरोत्करैः कीर्णा दिशो येन तथाविधो भूत्वा मज्जनजलपूर्ण-
 त्वात्तु शिर उच्चैतुमशक्त ऊर्ध्वाकृतकरः सन् म्रियते पद्य ॥ १४ ॥
 सजलाश्च ते अद्रिभिर्नतोन्नता विषमाश्च अम्बोद्ययो यथा
 सन्ति तथा सर्वा द्वीपभूमयोऽपि सन्तीति बोध्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥
 अम्बुधिर्ब्रह्मजगन्तीव आवर्तान् धत्ते इति द्वयोरन्वयः । आत्म-
 नोऽनन्यानप्यन्यानिवेत्यादिविशेषणानि आवर्तजगतोः साधा-
 रण्येन योज्यानि ॥ १६ ॥ १७ ॥ मन्यने देवासुरैरपहत-

१ चलकानिकैति संशिराधः.

मन्थापहतसर्वस्वो देवेभ्यः परिरक्षितात् ॥ १६
 दृश्यमानान्महातेजस्तथा पातालतोऽप्यलम् ।
 प्रतिबिम्बविभङ्गान्तरसत्यानिव नोपितात् ॥ १९
 तेषां मध्यादेकमेकं प्रत्यहं पश्चिमार्णवे ।
 निक्षेपाय क्षिपति यं तेन मन्ये दिनं भवेत् ॥ २०
 नानादिग्देशपयसामर्ण्यौ साधुसमागमः ।
 यात्रायामिव लोकानां मिथः कलकलान्वितः ॥ २१
 जलेचरावरा नूनं सागरार्णवसंगमे ।
 अन्योन्यवेह्लनाद्युद्धं न कदाचन शाम्यति ॥ २२
 ताम्यसिमितरङ्गाप्रनर्तनावर्तविभ्रमम् ।
 वलयम्बायुरायाति वान्तसीकरमौक्तिकैः ॥ २३
 सरिन्मुकालतामभ्यमभ्यस्थाद्दमणीश्वराः ।
 दीर्घाः लम्बणायन्ते चञ्चलाः सर्वतोऽम्बुधेः ॥ २४
 महेन्द्राद्रेर्गुहागेहपरावृत्तार्णवाध्वनाम् ।
 भांकारिण्यो भुवः सिद्धसाध्यानां सुसुखावहः ॥ २५
 मन्दरः कन्दरोद्रीणैः प्रसरैर्मातरिभ्यः ।
 कम्पाकुलवनाभोगः पुष्पमेघास्तनोति स्त्रे ॥ २६
 चूतनीपकदम्बाख्यगन्धमाद्नकन्दरान् ।
 विशन्ति मेघहरिणास्तडितरललोचनाः ॥ २७

सर्वस्वोऽम्बुधित्स्मिन्काले देवेभ्यः परिरक्षितान्नोपितान् यान्
 बहून्भानुमणीनन्तर्धत्ते । इन्द्रवत् यथा इन्द्रः असुरेभ्यो गोप-
 यन्मणीनन्तर्धत्ते तद्वत् ॥ १८ ॥ तथा महातेजोरूपानत एव
 पातालतोऽपि अलं दृश्यमानान् यन्मणीन् प्रतिबिम्बविभङ्गा
 असत्यानिव कृत्वा अन्तर्गोपितान्धत्ते ॥ १९ ॥ तेषां मणीनां
 मध्यात्प्रत्यहमेकं यं मणिं पश्चिमार्णवे निक्षेपायान्तरिक्षे क्षिपति
 तेन तद्दिनं भवेदिति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा ॥ २० ॥ अन्धिकल-
 कले हेतुमुत्प्रेक्षमाण आह— नानेति ॥ २१ ॥ युद्धोत्साहवर्ता
 मध्ये जलेचरा एव वराः । नूनमिति वितर्कं । कुतः । यतः
 सागरार्णवयोः पूर्वापरसमुद्रयोः संगमे येषां सदैवान्योन्यवेह-
 लनाच्च कदाचन युद्धं शाम्यति ॥ २२ ॥ ताम्यतां ग्लायतां
 तिमीनां मत्स्यमेदानां तरङ्गाग्नेषु नर्तने च आवर्तविभ्रमस्तं
 वान्तैरुद्रीणैः सीकरलक्षणैः सीकरसहितैर्वा मौक्तिकैः पारितोषि-
 कैर्वलयन्वेष्टयन्प्रभुरिव वायुरायाति पद्य ॥ २३ ॥ सरिन्मु-
 गानां मुक्तालतानां मध्ये मध्ये स्थिता अब्दलक्षणा मणीश्वरा
 मणिश्रेष्ठा अम्बुधेः कण्ठे सर्वतो दीर्घा लम्बमानाः परस्परा-
 भिचातात्खणखणायन्त इत्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥ पुनः कीदृशो
 वायुः । महेन्द्राद्रेर्भांकारिण्यः अरतिकारिणीः । विभक्तिव्यत्य-
 यच्छन्दसः । भुवः प्राप्य तत्रारुच्या गुहागेहेषु रत्यर्थं परा-
 वृत्तार्णवाध्वनां सिद्धानां साध्यानां च देवयोनिमेदानां रति-
 श्रमापनोदेन सुसुखावहः ॥ २५ ॥ अपरो मन्दरं वर्णय-
 न्दर्शयति—मन्दर इति । कन्दरेभ्य उद्रीणैर्मातरिभ्यो
 वायोः प्रसरैः स्त्रे पुष्पवर्षिणो मेघास्तनोति विस्तारयति ।
 प्रस्थाकृतान् मेघान् पुष्पैः पूरयतीति यावत् ॥ २६ ॥ २७ ॥

हिमवत्कन्दरोद्गीर्णा वल्लीबलवताण्डवम् ।
 तम्बाना वायव्यो याम्ति विमिञ्जाब्दाब्धिबीजयः ॥ २८
 तात श्रुतकदम्बाप्रपरामर्शसुगन्धयः ।
 बलयन्त्यब्धिकल्लोलान्गन्धमादनवायवः ॥ २९
 जलदाम्बलयम्बायुरलकालकतां गतान् ।
 इत आयासि पुष्पाभ्रं रक्षयन्वनवीथिषु ॥ ३०
 कुन्दमन्दारसंदोहमधुरामोदमन्थरान् ।
 तुषारसीकरोन्मिथानिघात्र कलयानिलान् ॥ ३१
 नालिकेरलतालास्यलब्धतिकसुगन्धयः ।
 पतन्ति पवनाः पश्य पारसीकपुरीः पुरा ॥ ३२
 धुन्वानाः पुष्पितेशानवनकर्पूरवारिदान् ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विप० दिग्दर्शनं नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

बालयन्तोऽनिला याम्ति कैलासकमलाकरान् ॥ ३३
 करीन्द्रकुम्भनिष्क्रान्तमदमन्थरमूर्तयः ।
 इमे शुकशुकायन्ते विन्ध्यकन्दरवायवः ॥ ३४
 शबरीणां शरीरेषु शीर्षपर्णोत्करे गिरौ ।
 नाराचैः पर्णशबरैर्वनाली नगरायते ॥ ३५
 अभ्यद्रि सरिदम्भोदवनलेखाङ्गिका दिशः ।
 त्वत्प्रतापबलैरेता हसन्तीवाकर्द्विमिः ॥ ३६
 अत्रोपशैलवनवीथिषु पुष्पशय्या
 विद्याधरीविरचिताः परिवर्णयन्ति ।
 पार्श्वद्वयस्यपरिवृत्तपदात्समुद्रा-
 द्यावृत्तसुगन्धवनितापुरुषायितानि ॥ ३७
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विप० दिग्दर्शनं नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ११५

पार्श्वगा ऊचुः ।

अत्रोत्तमाशय लतावलयालयेषु
 लीलाविलोलललनाः कलयन्ति गीतम् ।
 उद्दामभावरसविस्मृतवासरेहा
 विभ्रम्य किन्नरगणाः कलकाकलीकम् ॥ १
 एते हिमाद्रिमलयाचलविन्ध्यसह्य-
 क्रौञ्चा महेन्द्रमधुमन्दरदर्वुराद्याः ।
 दूरस्थिता दृशि सिताभ्रपटा वहन्ति
 संशुष्कपर्णलवलाम्बितलोष्टलीलाम् ॥ २

विमिञ्जा अब्दाः अब्धिबीजयश्च येः । शैल्यमान्यसौरभ्योपपाद-
 कानि विशेषणानि ॥ २८ ॥ २९ ॥ अलकायाः कुबेरपुर्यां अलकतां
 कुन्तलतां गतान्प्राप्तान् ॥ ३० ॥ अत्रास्मिन्गन्धमादने अनि-
 लान्कलय स्पृश ॥ ३१ ॥ नालिकेरतरूणां मल्लिकादिलतानां
 च लास्येन क्रमाङ्गबन्धस्तन्मद्यतिकगन्धः सुगन्धश्च येः । पुरा
 पश्य ॥ ३२ ॥ पुष्पितं यदीशानस्य प्रमदवनं तत्रत्यकदली-
 कर्पूरसुरमीन्वारिदान्धुन्वानाः ॥ ३३ ॥ शुकशुकायन्ते इति
 वीरणस्तम्बोद्भूताव्यक्तवन्धुनकरणम् । अथवा विन्ध्यशुकैः
 सह निर्गमनात्तद्वर्णैः शुकायन्ते हरितायन्ते ॥ ३४ ॥ शबरीणां
 शरीरेषु परिधानकल्पनया शीर्षपर्णोत्करे मलयगिरौ पर्णपरि-
 धानैः शबरैस्ताराचैश्च पूर्णा अल्पावशेषमृगपक्षिगणा मलय-
 वनाली नगरमिवाचरति नगरायते ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ अत्रा-
 स्मिन्प्रवेशे उपशैलवनवीथिषु रत्यर्षं विद्याधरीभिर्विरचिताः
 पुष्पशय्याः परिवर्णयन्ति सूचयन्ति । कस्मान्निष्क्रान्तिकं सूचयन्ति
 तदाह—पार्श्वेति । समुद्रात् अलककमुद्रासहितात्पार्श्वद्वयस्था-
 त्परिवृत्तात्सम्यङ्निष्क्रान्त्यदाङ्गिज्ञान् । पुंस्ति रतिश्रान्ते सति
 अकोदेशाभ्यावृत्तायाः मुग्धवनितायाः उपरि सुरतलक्षणानि
 पुरुषायितानि पुरुषवदाचरणानि सूचयन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 दिग्दर्शनं नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥
 वा० वा० १६८

अमी दूरालोकव्यवहितमहावर्त्मनिचयाः
 पुरःप्राकाराणां कुलक्षिखरिणो विभ्रति वपुः ।
 विशन्तीरम्भोधिं कलय लुलिता भान्ति सरितः
 पटस्यान्तः सक्ताः प्रतनुसितसूत्रा इव दशाः ३
 दशाशाः शैलानामुपरि परितः प्रावृत्तघना
 घनश्यामाकाराः खगकलकलालापलपिताः ।
 लतामुक्तैः पुष्पैर्ललितवनलेखाभुजलता
 हसन्त्यस्ते राजन्मघनवनिता भान्ति पुरतः ४

वर्ण्यन्तेऽत्र चतुर्दिक्षु वनानि गिरयो नगाः ।

नद्यः समुद्राः पवनपक्षिग्रामघनादयः ॥ १ ॥

हे उत्तमाशय, अत्रास्मिन् गिरौ लीलाषु विलोला आसक्ता
 ललना येषां तथाविधाः किन्नरगणा उद्दामैर्भावैः संचारिभावैः
 रसैः संभोगशृङ्गाररसैश्च विस्मृता वासरेहा दिनचेष्टालक्षणः
 कालो यैस्तथाविधाः सन्तो विभ्रम्य कलाः काकलयो यस्मिन्स-
 थाविधं गीतं कलयन्ति गायन्ति शृण्वन्ति च ॥ १ ॥ अत्यु-
 क्ता अपि गिरयो दूराद्दृश्यमाना अल्पवद्भ्रान्तीत्याह—एते
 इति । एते हिमाद्रिमलयाद्याः सिताभ्रपटाः शैला दूरस्थिताः
 सन्तो दृशि प्रेक्षकदृष्टौ संशुष्कपर्णलवलाम्बितानां लोष्टानां
 लीलां साम्यं वहन्ति पश्य ॥ २ ॥ किन्नामी कुलक्षिखरिणो
 दूरादालोकनमालोकस्तस्मिन् अपारे परेषां व्यवहिता अन्तर-
 लक्ष्यवर्त्मनिचया येषां तथाविधाः सन्तः परस्परसंलभतया
 परितो दृश्यमानाः पुरःप्राकाराणां वपुर्विभ्रति । तथा अम्भोधिं
 विशन्तीः प्रवेशात्वरया च लुलिताः सरितः पटस्यान्तः सक्ताः
 प्रतनुसितसूत्रा दशा इव भान्ति ॥ ३ ॥ हे राजन्, परितः
 शैलानामुपरि प्रावृत्ता घना मेघा यामिस्ताः घना इव श्यामा-
 काराः । खगानां कलकललापा एव लपितानि यासां ताः ।
 तथा लताभिर्मुक्तैः पुष्पैरुपलक्षिताः । ललिताः शोभमाना

तालीतमालबकुलाकुलतुङ्गभृङ्ग-
मेकीकृताकृति वनं तरलं विभाति ।
अभ्याहतं जलनिधेस्तरलैस्तरङ्गै-
स्तीरान्तलप्रघनशैबलजालकल्पम् ॥ ५
इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विधा-
मितोऽपि शरणार्थिनः शिखरिपत्रिणः शेरते ।
इतोऽपि वडधानलः सह समस्तसंघर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्षपुः ॥ ६
एते जम्बुनदीतटा रविकरैराभान्ति हेमाखिल-
प्रामारण्यपुरस्थलीगिरितदस्थाण्वप्रहारोच्ययाः ।
ज्वालालीवलितांबरांतरलिहो मुञ्चन्ति भासोमित-
स्सर्षा भूमिप भूरिहैवममरासेव्यास्ति नो मानुषैः ७
एते कदम्बवनकम्बलमम्बुदाभ-
माभान्ति भास्करपथानुगता बहस्तः ।
अस्याचलस्य वसुधेव तटं तवास्तु
मा सूर्यरोधकनभस्थघनौघशङ्का ॥ ८
एषोऽसौ मलयो लयोप्रलवलीवल्लीलसच्चन्दन-
स्फीतामोदमदाद्रसेन तरवो वक्त्रे क्रियन्ते त्रिमिः ।

वनलेशालक्षणा भुजलता यासां तथाविधा दश भाशा
दिशस्ते भवनवनिता राजीर्हसन्त्य इव पुरतो भान्ति ॥ ४ ॥
ताल्यादिभिराकुलानि तुङ्गानि गिरिभृङ्गाणि यस्मिंस्तथाविधम् ।
दूराद्द्रवद्भासमानेषु शैलेष्वेकीकृताकृति । पवनतरलं वनं
जलनिधेस्तरलैस्तरङ्गैरभ्याहतं तीरान्तलप्रघनशैबलजालकल्पं
विभाति । ईषदसमाप्तिद्योतकेन कल्पया सादृश्यस्य गम्यमान-
त्वाद्गम्यमानोपमा ॥ ५ ॥ शिखरिणः पर्वतास्तल्लक्षणाः पत्रिणः
पक्षिणः शेरते स्वपन्ति । शीङो रुद्र । सिन्धोः समुद्रस्य वपु-
र्विततं विस्तीर्णं ऊर्जितं बलवद्भरसहं बहुभारसहिष्णु अहो
आश्चर्यमनुपममित्यर्थः ॥ ६ ॥ कश्चिदुत्तरदिशि प्रस्थितं विप-
थितं प्रति मेरुमूले सौवर्णान् जम्बुनदीतटान्प्रदर्शयन्नाह—
एते इति । हेमभूताः अखिला प्रामादयो येषु तथाविधा एते
जम्बुनदीतटा रविकरैर्व्यासाः सन्तः अभितः आभान्ति ।
ज्वालालीवलिताम्बरान्तरलिहः सन्तः अभितो भासो मुञ्चन्ति ।
हे भूमिप, इह एवंभूता सर्वा भूः अमरैर्देवैरासेव्या उपभोक्तुं
योग्यास्ति मानुषैर्नो आसेव्येत्यर्थः ॥ ७ ॥ अस्याचलस्य अम्बु-
दाभं कदम्बवनकम्बलं वहन्तो भास्करपथानुगता एते अधि-
त्यकाप्रवेशा आभान्ति । अतः एषु प्रदेशेषु तव वसुधेव इद-
मपि तटमिति बुद्धिरस्तु । सूर्यरोधका नभस्था घनौघा एते
इति शङ्का मास्त्वित्यर्थः ॥ ८ ॥ अपरो दक्षिणदिक्प्रस्थिताय
विपथिते मलयाग्निं वर्णयन्दर्शयति—एष इति । एष समीपे
दृश्यमानो मलयोऽसावेवंप्रभावः । यस्य अप्राभिः श्रेष्ठाभिर्ल-
वलीवल्लीभिर्लसतां चन्दनानां स्फीतामोदमदाद्रसेऽपि तरवो
रसेन चन्दनीभूताग्निभिरपि देवैर्मेनुष्यैरसुरैश्च वक्त्रे मुखपथे
अकम्प इव तिलकीक्रियन्ते । किञ्चास्मादामोदमदाद्रसञ्जाल

सज्वालोदहनाक्षसंस्थितकपोलोष्मोद्बोचाण्डवे
अङ्गुष्ठाङ्गुलिमिर्यथोष्णककणास्तता यथा योषिताम्
एषोऽग्निघ्नौतकलघ्नौततटाधिरुद्र-
भोगीन्द्रभोगपरिवेष्टितबन्धनोऽगः ।
विद्याधरीवदनपङ्कजदीतिपुञ्ज-
हेमीकृताखिलशिलो मलयाभिधानः ॥ १०
कूजत्कुञ्जकठोरगह्वरगदीकत्कारवत्कीचक-
स्तम्भाडम्बरमूकमौकुलिकुलः कौञ्जाचलोयं गिरिः ।
एतस्मिन्प्रबलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेहन्ति पुराणरोहणतदस्तम्भेषु कुम्भीनसाः ॥ ११
कोमलकनकलताल-
विलसितललनाधिलोलवलयकृतम् ।
अवणरसायनपानं
विततमिहाकर्षयास्य तटे ॥ १२
करिकरटगलितमदजल-
वलितध्रुववीथिचञ्चरीकचयैः ।
चर्वित एष कर्षित
इव कणनिकरो विरौति वारिनिधौ ॥ १३

ऊर्ध्वो ज्वलनः अङ्गे तृतीयनेत्रे संस्थितो यस्य तथाविधस्य
रुद्रस्य कपोलयोरुष्मोद्बो यस्मिंस्तथाविधे उत्कृष्टे ताण्डवे प्रस-
कास्तताः यथोपपन्ना उष्णककणाः स्वेदबिन्दवो यथा योषितां
रतिभ्रमजाः स्वेदबिन्दवः शिथिरतरास्तथा क्रियन्ते एवं-
प्रभावोऽयमित्यर्थः ॥ ९ ॥ अग्निघ्नौतकलघ्नौतेषु कलघ्नौतं सुवर्णं
तन्मध्येषु तटेष्वधिरुद्राः प्रादुर्भूता भोगीन्द्राणां भोगैः कायैः
परिवेष्टिताश्चन्दनशुक्षा यस्मिंस्तथाविधः । तथा विद्याधरीणां
वदनपङ्कजदीतिपुञ्जैर्हेमीकृता अन्या अप्यखिलाः शिला यस्य
तथाविध एष पुरोवर्ती भगो मलयाभिधानः । मा लक्ष्मीर्लो-
यते अस्मिन्नित्यन्वर्थनामेत्यर्थः । 'क्यापोः' इति ह्रस्वः ॥ १० ॥
कूजस्तः कुञ्जानां कठोरानां शिलाकटकदिप्रदेशानां गह्वराणां
गदीनां कत्कारास्तालध्वनिमेदास्तदन्तो ये कीचकस्तम्भास्तेषां
गीताडम्बरेण तच्छृङ्गासक्तया मूकं निःशब्दं मौकुलिनां मुकु-
लनिवासिनां भ्रमराणां कुलं यस्मिंस्तथाविधः कौञ्जाचलनामायं
गिरिः । एतस्मिन् गिरौ प्रचलतां प्रकृष्टाः बलाकिनो बलाका-
वन्तो नीलमेघाः प्रिया येषां मयूराणां तेषां कूजितैरुद्वेजिताः
कुम्भीनसाः सर्पजातिमेदाः पुराणं चिरंतनं रोहणं प्रादुर्भावो
येषां तथाविधानां सकोटरजीर्णतकणां स्तम्भेषु मध्यकाष्ठेषु
उद्वेहन्ति अधिरुद्रा भोगसंकोचेन निलीयन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥
हे राजन्, इहास्य कौञ्जस्य तटे कोमलकनकलतारचिते आस्ये
निकुञ्जे कान्धेन सह विलसितानां ललनानां रतिविलोलेर्बन्धु-
कृतं रागि अवणयो रसायनपानप्रायं विततं सिञ्चितमाकर्षय
॥ १२ ॥ करिणां करटेभ्यो गण्डस्थलेभ्यो गलितैर्मदजलैर्ब-
लितो मिथित इति हेतोर्बलवीथिषु चञ्चरीकचयैर्भ्रमरसमूहैश्च-
र्वित इव वारिनिधौ कणनिकरो विरौति रोषितोऽप्युत्प्रेषा ॥ १३ ॥

पश्यामलेन्दुरामृत-

नवनीतशरीरसुन्दरीबलितः ।

पितुरुत्सङ्गे कुरुते

जललीलां क्षीरवारिनिधौ ॥ १४

नृत्यन्ति मत्तकलकोकिलकाकलीकाः

पश्यामले मलयसानुनि बालबह्वयः ।

लोलालिंजालनयनारुणपत्रपाणि-

पुष्पा मधूत्सवविलासविशेषवत्यः ॥ १५

वंशानां हृदि पर्वतेषु जलधौ तोयार्थिनीनां तु ये
शुक्तीनां हृदये विशन्ति समये वर्षाभसां बिन्दवः ।
ते मुक्ताफलतां व्रजन्ति करिणां कुम्भेषु धान्यद्रवेषु
शुद्धौ मौक्तिकवत्स्युरुत्तमगुणा एतास्त्रिधा जा-
तयः ॥ १६

शैलेऽधौ पुरुषेऽवनौ जलधरे भेके शिलायां गजे
नानाकारधरा भवन्ति मणयः कर्माणि तेषां विभो ।

ह्लादोच्चाटनमारणज्वरभयभ्रान्तिप्रकाशान्धता-
खेदोत्तापनभूनभोगतिदृशो नाशो विधानं तथा ॥ १७

वातायनोदरगवाक्षकवाटकक्षा-

द्वाराननैरिह पुराण्युदिते पठन्ति ।

श्वभ्राभ्रकन्दरदरीवनवेषुरन्ध्र-

वर्गेण मन्दर इवामृतसिन्धुमिन्दुम् ॥ १८

अब्धेश्वलं प्रतिबिम्बचन्द्रं दर्शयन्नुत्प्रेक्षते—पश्येति । हे
राजन्, अमलेन्दुः आमृतं अमृतमथनर्ज यज्ञवनीतं तादृशशरी-
रस्तादृशशरीराभिर्नक्षत्रसुन्दरीभिर्वलितः सन् क्षीरवारिनिधौ
प्रतिबिम्बितः पितुरुत्सङ्गे जललीलां जलक्रीडां कुरुते । पश्येदं
कौतुकमित्यर्थः ॥ १४ ॥ अपरः कश्चिन्मलये लतावृक्षं दर्श-
यति—नृत्यन्तीति । लोलालिंजालनयना अरुणपत्रपाणिषु
पुष्पाणि मासां ताः । मधूत्सवविलासैः परागैर्विशेषवत्यो विशे-
षकवलयः ॥ १५ ॥ कश्चिन्नृत्यमान्मुक्ताकरास्तेपूतमगुणमुक्ता-
फलोत्पत्तिं च वर्णयति—वंशानामिति । पर्वतेषु वंशानां
वेषुभेदानां हृदि काण्डच्छिद्रे । तथा जलधौ तोयार्थिनीनां
शुक्तीनां हृदये च स्वातिसमये ये वर्षाभसां बिन्दवो विशन्ति
ते मुक्ताफलतां व्रजन्ति । अन्यतृतीयं तु मुक्ताफलं करिणां
गण्डहस्तिनां कुम्भेषु भवेत् । एषामुक्तरूपाणां मुक्ताफलानां
एतास्त्रिधा प्रसिद्धा जातयः स्थानशुद्धौ मौक्तिकस्थौल्यप्रकषेव-
द्रुणतोऽप्युत्तमगुणा भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥ एवं रत्नानामप्याक-
रभेदेनोत्पत्तिं गुणक्रियावैविध्यं च रत्नशास्त्रे प्रसिद्धमित्याह—
शैले इति । तेषां यथायोगं कर्माणि शृणु । ह्लादस्तापशान्तिः
ज्वरानामुच्चाटनं मारणम् । ज्वरः भयं भ्रान्तिः अन्धता खेदः
उत्तापनं चेति । रत्नस्वामिनो व्यवहितविप्रकृष्टार्थप्रकाशो भूग-
तिर्परगमनशक्तिर्भूमौ निमज्ज्य गमनशक्तिर्वा नभोगतिः प्रसिद्धा
असीतानागतदर्शनं व्याधिदुर्भिक्षादिनाशः परप्रयुक्तविषकृत्सा

१ जोकमीति विशेषणोभयपदः क्लीवारयोऽयम्.

एतच्छृङ्गं हरति पवनः किंसिदित्युन्मुक्तीभि-

र्दष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।

प्रालेयाद्रेः प्रतितटवनं प्रोत्पतत्यभ्रमूर्ध्वं

वज्रस्तम्भो गगनसुतलोत्तोलनायेव भूमेः ॥ १९

गङ्गातरङ्गहिमसीकरशीतलानि

विद्याधराभ्युषितचारुशिलातलानि ।

पुष्पाभ्रसंवलितपुष्पितकाननानि

राजन्विलोक्य महेन्द्रगिरेस्तटानि ॥ २०

वेशान्तरेषु बिततानि वनान्तराणि

पुष्पस्थलान्युपवनान्यथ पन्नानि ।

तीर्थेषु पूतभुवनानि जलानि दृष्ट्वा

दीर्भाग्यमीतिरपयाति जवानुविद्धा ॥ २१

शृङ्गाणि पूरितदिगन्तरमण्डलानि

श्वभ्राभ्रकन्दरनिकुञ्जकुलाकुलानि ।

व्योमोपमाम्यपि च वारिधिकुण्डलानि

दृष्ट्वा गलन्ति क्रुक्रुतानि बृहत्तराणि ॥ २२

रम्याश्चन्दनबीधयो हि मलये विन्ध्ये मदान्धा गजाः

कैलासे नृप पादजाति कनकं चन्द्रं महेन्द्राचले ।

दिव्याधौषधयस्तुषारशिखरे सर्वत्र रत्नानि वै

सन्त्यन्धाखुवदेष जीर्णसदने व्यर्थं जनो जीर्यते ॥ २३

यन्नादिप्रतिविधानं चेत्यर्थः । चार्थं तथाशब्दः ॥ १७ ॥
अपरः कश्चिदिन्दुदये प्रहर्षप्रवृत्तं नगरे वातायनादिजनघोषं
मन्दरे श्वभ्राविघोषं चोपमेयोपमानभावेनोत्प्रेक्षमाणश्चन्द्रस्तव-
पाठत्वेनोत्प्रेक्षते—वातायनेति । इहास्मिन्देशे पुराणि कर्तुणि
इन्दौ उदिते सति वातायनोदरादिलक्षणैराननैर्मन्दरो गिरिः
श्वभ्राभ्रकन्दरदरीवनवेषूनां रन्ध्रवर्गेणैव अमृतसमुद्रभूतमिन्दुं
पठन्ति स्तुवन्तीत्युत्प्रेक्षा ॥ १८ ॥ हिमाद्रितटेभ्योऽभ्रोत्पतनं
पवनकृतशृङ्गहरणत्वेन भूस्युत्थिताकाशपातालोत्तोलनस्तम्भत्वेन
चोत्प्रेक्षमाणः कश्चिदाह—एतदिति । गगनस्य सुतलस्य च
गुरुत्वाधिक्यपरीक्षार्थमुत्तोलनायेव ॥ १९ ॥ २० ॥ पुष्पतम-
वेशावनतीर्थादिदर्शनस्य दीर्भाग्यनिवृत्तिर्मेहाफलमस्तीत्याह—
वेशान्तरेष्विति । जवेनानुविद्धा घटिता हृतमपयातीति यावत्
॥ २१ ॥ श्रीशैलादिशृङ्गाणि । साधुजनपूरितानि दिगन्तराणि ।
तीर्थकूपवाप्यादिश्वभ्राणि । हिमवदादीनामभ्रयुक्तानि कन्दराणि
चम्पकारण्यादीनि । निकुञ्जकुलैराकुलानि । व्योमोपमानि
निर्मलानि वारिधिकुण्डलानि सेतुबन्धादितीर्थानि दृष्ट्वा प्राणिनां
क्रुक्रुतानि पापानि बृहत्तराणि ब्रह्महत्यादीन्यपि गलन्ति
नश्यन्ति ॥ २२ ॥ तत्तदुत्तमवस्तुशालिनां कुलशैलानामदर्शने
नृणां नेत्राणां वैयर्थ्यमेवेत्याशयेनाह—रम्या इति । हे नृप,
पादजाति भेष्टं कनकम् । चन्द्रं गिरिधातुविशेषः । तुषारशिखरे
हिमवति । सर्वत्रान्येभ्येतेषु च रत्नानि सन्ति । एवं सत्यप्येव
भारवहीनो जनस्तान्यपश्यन्तश्चक्षात्तावाङ्मूर्धकश्च तद्द्वीर्ण-

सोन्नतं जगदिबोधतटाकं
 वारिणा विवलितं तिमिरेण ।
 प्रस्फुरन्ति च युगान्त इवैता
 विद्युतः शफरिका इव लोलाः ॥ २४ ॥
 सावध्यायाश्याननीहारधारा
 धारोद्धारान्धारिदान्मादयन्तः ।
 शीतानीतोद्दामरोमाञ्चर्चाः
 प्रोद्यच्छब्दं धाम्प्यहो वर्षवाताः ॥ २५ ॥
 हा धाति नीलजलदप्रसरानुसारी
 वातः किरन्वितपिपल्लवपुष्पगुच्छान् ।
 धीरोत्करद्रुमवनान्तरचारचारु-
 रासारसीकरकदम्बकसारसारः ॥ २६ ॥
 नाहताः सुरतकान्तकान्तानिःश्वसितैरिमे ।
 वहन्ति वृद्धिं गन्धं च लघं स्वर्गादिव ज्युताः ॥ २७ ॥
 कुबलयकुबलयविकचन-
 कुसुमलताविदलनोद्यता मृदवः ।
 घनपटपाटनपटवो
 विद्युतोपवना वहन्त्यमी पवनाः ॥ २८ ॥
 संध्याभ्रलेशानुपयन्ति धाता
 नभस्तले कोमलकम्पनेन ।
 नृपाङ्गणे पुष्पविचित्रलेखा-
 नुवासिते भृत्यवरा इवैते ॥ २९ ॥

सदने व्यर्थं जीर्यते । आश्चर्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥ सजलदास्ति-
 मिरावृता दिशः कश्चिद्वर्णयति—सोन्नतमिति । मेघतिमिरेणा-
 वृता एता दिशो युगान्ते वारिणा विवलितं सोन्नतमन्तरिक्ष-
 लोकपर्यन्तं पूर्णं जगदेव एकतटाकभूतमिव प्रस्फुरन्ति । तत्र
 लोला विद्युतस्तस्मिन्तटाके शफरिकाः क्षुद्रमत्स्या इव प्रस्फुरन्ति
 ॥ २४ ॥ स्वयं सावध्यायाः सहिमाः भूम्यादौ च श्यानाः शोष-
 णेन तनूकृता नीहारधारा येः धाराः उन्निरन्तीति धारोद्धार-
 स्तथाविधान्धारिदान्मादयन्तो मत्तान्कुर्वाणाः । शीतस्पर्शेन
 आनीता जनानामुद्दामरोमाञ्चर्चा यैस्तथाविधा वर्षवाताः
 प्रोद्यच्छब्दं यथा स्यात्तथा वान्ति । अहो इत्याश्चर्ये ॥ २५ ॥
 नीलजलदप्रसरानुसारी अङ्कुरद्रुमवनान्तरचारेण चारुः सौग-
 न्ध्यादिगुणवान् आसारसीकराणां कदम्बकैर्निकुरन्मैः सारादपि
 सारो धीरो वातो विटपिनां पल्लवपुष्पगुच्छान्किरन्सन् वाति ।
 हा इति शीतार्तस्य विरहिणो वा खेदोक्तिः ॥ २६ ॥ स्वर्गा-
 ज्युताः जीवाः पूर्वपुण्यवासनालवमिव ॥ २७ ॥ कुबलये भूम-
 ण्डले यानि कुबलयान्युत्पलानि तेषां विकचने विक्रासे । तथा
 कुसुमलतानां विदलने कुकुलपुटमेदने च उद्यता इति
 युगन्धयः । घनलक्षणानां पटानां पाटने पटव इति शीताः
 अमी पवना वहन्ति ॥ २८ ॥ एते वाता नभस्तले संध्याभ्रले-
 शान् कोमलकम्पनेन मन्दचालनेनोपयन्ति । यथा पुष्पाणां
 विचित्रलेखाभिरनुवासिते नृपाङ्गणे भृत्यवराः पुष्पाण्यनुपमृ-
 त्तन्तः संचरन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ २९ ॥ कुसुमानामिव गन्धो

कचित्कुसुमगन्धयः कमलवर्गगन्धाः कश्चि-
 त्कचित्कुसुमवर्षिणो ललितकेसरासारिणः ।
 कश्चिच्च हिमपाण्डवो हरितपीतलक्ष्यामला
 वहन्ति शिखरानिलाः सुरतमन्दधर्मच्छिदः ॥ ३० ॥
 कश्चिद्दुंकारकांकारैरङ्गारनिकरान्कारैः ।
 किंकरैर्विकिरत्यर्को मूर्खसंसर्गवानिष ॥ ३१ ॥
 नररसायनतृप्तिविमुक्तया
 प्रमदया मदयापितलज्जया ।
 उपगते वपुषा न विषह्यते
 विषविमूर्च्छनयेव समायता ॥ ३२ ॥
 वलिततामरसा मृदुशीकराः
 शशिकरोत्करवीचिविमेदिनः ।
 सदहना इव तापमयाः पुरो
 विरहिणीषु वनावनिवायवः ॥ ३३ ॥
 इह हि पूर्वपयोधितटावटे
 विकटपत्रपटाः कटकीतटाः ।
 नवमदासवयौवनसंभ्रयाः
 कलय यान्ति कथं शबरस्त्रियः ॥ ३४ ॥
 नवरसासवसारनिशागम-
 क्षयमयातुरचित्ततयाङ्गना ।
 त्यजति कान्तमियं न मनागपि
 हुतमितो वलितेव पुरोऽहिभिः ॥ ३५ ॥

येषाम् । उपमानपूर्वपदत्वादित् । कश्चित्कमलवर्गाणां गन्ध
 इव गन्धो येषाम् । हिमैः पाण्डवः हरितपीतलक्ष्यामलैर्गिरि-
 धातुभिस्तद्गर्णाः शिखरसंबन्धिनोऽनिलाः सुरते मन्दानां
 भ्रान्तानां धर्माश्मुच्छिदो वहन्ति ॥ ३० ॥ किंकरैः सेवकव-
 दाङ्गाकारिभिः सूर्यकान्तमणिभिर्गुहादौ दद्यमानानां प्राणिनां
 हुंकारैः कांकारैराकन्दनशब्दैश्चोपलक्षितानङ्गारनिकरान्कारैर्वि-
 किरति प्रक्षिपति ॥ ३१ ॥ नरः पुरुषस्तल्लक्षणं यत्सङ्गमास्वार्थ
 रसायनं तद्विषये तृप्तिविमुक्तया अनुसया अत एव मदेन यापि-
 तलज्जया अपनीतप्रपया प्रमदया वपुषा उपगते आलिङ्गिते
 पुरुषे सुरतोपरमाय । आवश्यककार्यान्तरोपवर्णनलक्षणा समा-
 यता वचनोक्तिर्विषविमूर्च्छनया प्रयुक्ता स्वमृतिरिव न विष-
 ह्यते इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ तामरसवलनाद्विप्रयुक्तसर्वगुणसंपन्ना अपि
 वनावनिवायवो विरहिणीषु सदहना इव दाहकारिण इत्यर्थः
 ॥ ३३ ॥ हे राजन्, इह पूर्वपयोधितटलक्षणे अवटे निर-
 देशे कटक्यः शबरजातिप्रसिद्धकास्यादिकटककास्तदन्वितप्रकोष्ठ-
 तटाः । विकटानि निर्गुष्पीपत्राण्येव परिधानपटो यासाम् । वयो
 मदासवो यस्मात्तथाविधस्य यौवनस्य संभ्रयाः शबरस्त्रियः
 कथं यान्ति तद्दमनविलासं कलय पश्य ॥ ३४ ॥ इयमङ्गना
 नवः सुरतरसो यस्मात्तथाविध आसवसारः समदसंभोगो
 मस्मिन्तथाविधस्य निशागमस्य क्षयाच्चक्षयं तदातुरचित्ततया
 हुतं सार्धभावं कान्तं मनागपि न त्यजति । इतः पुरो

प्रभातसूर्यमुखैरेविसैरिव तर्जिता ।
 हृद्येव स्फुटिता नारी मिलीना द्यितोरसि ॥ ३६
 प्रोत्फुल्लकिंशुकैषा
 दक्षिणजलधेस्तटेऽत्र वनराजी ।
 ज्वलितेव जलतरङ्गैः
 पौनःपुन्येन सिध्यतेऽम्बुधिना ॥ ३७
 अस्या निर्यान्त्यनिलै-
 धूमा इव कृष्णकेसराम्बुधराः ।
 अङ्गारा इव कुसुमा-
 न्युपशान्ताङ्गारवच्च खगधृक्काः ॥ ३८
 ईदृश्येव विलोक्य
 वनराजी सस्यबहिना ज्वलिता ।
 गिरिशिरसि दूत्तरस्यां
 दिशि दूरे धूयते च खे पवनैः ॥ ३९
 क्रौञ्चाचलस्य भुवि मन्धरमेघचक्र-
 गम्भीरताररवनर्तितबहिणीयम् ।
 पश्योत्थितं तुमुलमाकुलवर्षवात-
 व्याधूतपुष्पफलपल्लवकाननीयम् ॥ ४०
 अस्ताचले विकटकाञ्चनकूटकोटि-
 संघट्टनस्फुटितजर्जरचारुसंधिः ।
 खर्वं रथः पतति स स्म रवेः सच्चक्र-
 चीत्कारतारतरकूबररास एषः ॥ ४१

हर्यमाना अहिभिर्वलिता चन्दनलतेषु सेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 ज्वलितेवेति पुनःपुनः संके हेतुप्रेक्षा ॥ ३७ ॥ अस्याः
 प्रफुल्लकिंशुकवनराजेः सकाशाद्दूमा इव कृष्णाः केसरा ऊर्ध्व-
 भागा येषां तथाविधा अम्बुधरा धूमा इव निर्यान्ति । एवं
 किंशुककुसुमान्यङ्गारा इव निर्यान्ति । खगाश्च धृक्काश्च उपशा-
 न्ताङ्गारवच्च निर्यान्ति । पश्येति पूर्वोक्तार्थे उपपत्तिः ॥ ३८ ॥
 कल्पितज्वलनां वनराजि दर्शयित्वा यथार्थज्वलनां तामुत्तरतो
 दर्शयति—ईदृश्येवेति । पवनैः खे धूयते कम्प्यते च
 ॥ ३९ ॥ हे राजन्, क्रौञ्चाचलस्य भुवि मन्धरस्य मन्दगतमेघ-
 चक्रस्य गम्भीरैस्तारवर्तितं बहिणीयं बहिंसमूहो यस्मिंस्तथा-
 विधमाकुलवर्षवातव्याधूतपुष्पफलपल्लवमुत्थितमुन्नतं काननीयं
 वनसमूहं पश्य ॥ ४० ॥ स एष रवेः रथः अस्ताचले विकटो
 विधमो चः काञ्चनमयः कूटः शृङ्गं तत्कोटौ संघट्टनेन स्फुटिता
 जर्जरव्यारुसंधयो यस्य तथाविधः सन् सच्चक्रचीत्कारस्तार-
 तरः कूबरस्य रासो ध्वनिर्यस्य तथाविधः सन् खर्वं निम्नदेशं
 पतति स अवतरति किलेयौभत्यातिशयोक्तिः ॥ ४१ ॥
 भुवनलक्षणस्य भवनस्य गृहस्य आकारभूते अश्री मानसोत्त-
 रपर्वते उद्दयगिरिशिखरे निष्ठाकरश्चन्द्रस्तलक्षणं मेरुकं भाङ्ग-
 लिकं तरुविशेषजं पुष्पं देशविशेषे प्रसिद्धं तच्च मङ्गलसूचकत्वा-
 दमङ्गलान्मालिन्याङ्गीतं परितो भासा विकसितमभूत् । तथा-
 विधमप्यदःपुष्पममङ्गलकारिणा विधिना प्रेरितो मलं कलह-

भुवनभवनप्राकारेऽश्री निष्ठाकरमेरुकं
 परिविकसितं भीतं भासा मलालिकपाभितः ।
 तदिह जगतां वस्तु श्रेष्ठं न किञ्चन विद्यते
 विधिरुपहतः कुर्यान्नो यत्क्षणेन कलङ्कितम् ४२
 त्रिभुवनहराद्दहासो
 भुवनमहाभवन एष मङ्गोलः ।
 क्षीरसलिलावपूरो
 गगनाब्धेश्चान्द्र आलोकः ॥ ४३
 स्पृष्टप्रदोषमयमन्दरमध्यमान-
 चन्द्रार्णवोल्लसितदुग्धतरङ्गभङ्गैः ।
 पद्मय प्रभापटलकैः परिपूरिताङ्गीः
 पूरैरिवोप्रसरितः प्रसरद्गिराशाः ॥ ४४
 एते पतन्त्यतुल तालकरालोल-
 वेतालबालवलिता निशि गुह्यकौघाः ।
 ह्रूणेश्वरस्य नगराणि निरस्तशान्ति
 स्वस्तिभ्रवादिविकलानि बलेन भोक्तुम् ४५
 तावद्विभाति गगने परिपूर्णचन्द्रो
 यावद्बधूवदनमेति न सप्त बाह्यम् ।
 अभ्युद्गतेऽङ्गणनभस्यबलाननेन्दा-
 विन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ४६
 वृक्षानि चन्द्रांशुनवाम्बराणि
 घङ्गौघनिर्धूतशिलान्यमूनि ।

स्तलक्षणः अलिङ्गपस्थित एव । तदेवं सति इह भुवने तत्तादृशं
 जगतां मध्ये श्रेष्ठं वस्तु किञ्चन न विद्यते यद्गस्तु उपहतो विधिः
 क्षणेन कलङ्कितं न कुर्यात् । भुवमस्पृशतो गिरिशिखरनभःस्थस्य
 चन्द्रस्यापि यत्रेहशी दशा तत्र किं वाच्यमन्यस्येत्यर्थः ॥ ४२ ॥
 चन्द्रप्रकाशं सर्वतः प्रसृतं त्रेधा उत्प्रेक्षते—त्रिभुवनेति ।
 एष गगनाब्धेश्चान्द्र आलोकः प्रदोषकाले नृत्यतन्त्रिभुवनहरस्य
 त्रैलोक्यसंहारिणो रुद्रस्याद्दहासः । अथवा भुवनलक्षणे महाभवने
 मङ्गोलः सुधालेपः । अथवा क्षीरलक्षणस्य सलिलस्यावदातः
 पुरोऽवपूरः ॥ ४३ ॥ संघ्याधातुरागैः स्पृष्टेन प्रदोषमयेन
 मन्दरेण मध्यमानो यश्चन्द्रलक्षणः क्षीरार्णवस्तदुल्लसितेदुग्धतर-
 रङ्गभङ्गप्रायैः प्रसरद्भिः प्रभापटलकैः उग्रः शिवस्तद्विसृष्टाया
 गङ्गासरितः प्रसरद्भिः पूरैरिव परिपूरिताङ्गीः आशा दिशः पद्म
 ॥ ४४ ॥ हे अतुल निरुपम, तालवत्करालैर्वेतालबालैर्वलिताः
 सहिता एते गुह्यकौघा निशि निरस्तशान्तिकर्मस्वस्तिवाचन-
 मङ्गलाचरणानि अत एवोत्पत्तैर्विकलानि ह्रूणेश्वरस्य त्वद्रिपोर्नग-
 राणि तत्स्मात् जनान् भोक्तुं पतन्ति गच्छन्ति ॥ ४५ ॥
 सप्तमो बाह्यमनावरणमङ्गणदेशं वधूवदनं न एति । बाह्याङ्गण-
 नभसि अबलाननेन्दौ निर्गमनेनाभ्युद्यते सति तत्सौन्दर्यनिर-
 स्तशोभस्येन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः । न कश्चिदिति
 कामुकोक्तिः ॥ ४६ ॥ चन्द्रकरव्यासानि हिमवच्छिखराणि
 कश्चिद्वर्णयति—वृक्षानीति । वृद्धिरत्र दैर्घ्यम् । तुषारबौलेधरो

हिमातताम्युग्रलताजटानि
 तुषारशैलेश्वरमस्तकानि ॥ ४७
 स एष मन्दारवनावतंसो
 दोलाप्सरोगेयविसारिवातः ।
 क्वचिन्मणिद्योतविचित्रचित्रः
 संदृश्यते व्योमनि मन्दराद्रिः ॥ ४८
 प्रोभिद्रनीरन्ध्रशिलीन्ध्रसान्द्र-
 पुष्पाध्व्यपात्रध्रमहामहीध्राः ।
 सान्द्राभ्रनिर्हादगभीरकुक्षौ
 सर्क्षान्तरिक्षभ्रियमुद्रहन्ति ॥ ४९
 इतः स कैलासगिरिर्गरीयसा
 प्रभाप्रवाहेण मितेन यस्य खम् ।
 शंभोरिवाभाति सुतस्य कुट्टिमं
 चन्द्रोऽपि च क्षीरसमुद्रगो यथा ॥ ५०
 स्थाणूनां छिन्नशाखानां मृन्मयानां च वासवः ।
 संघत्से पश्य दूराणां वातैर्मुक्तशिखा इव ॥ ५१
 एते कदम्बकुलकुन्दसुगन्धिवाता
 लिम्पन्ति मांसलतया मकरन्दवृष्टेः ।

घ्राणं घनैः परिमलैरलिजालनीला
 व्यालोच्च मेघपटलैः क्षमिवाभ्रकायाः ॥ ५२
 उभिद्रकुञ्जलदलासु वनस्थलीषु
 सच्छायशाद्वलघनेषु च जङ्गलेषु ।
 ग्रामेषु संततफलद्रुमसंकुलेषु
 लक्ष्मीः स्वयं निवसतीव निवासहेतोः ॥ ५३
 वातायनागतलतावृतसौधकोश-
 कोशातकीकुसुमकेसरमाहरद्भिः ।
 आगुल्फकीर्णमुकुलाजिर एष वातै-
 ग्रामो विभाति नगरं वनदेवतानाम् ॥ ५४
 उभिद्रामलचम्पकद्रुमलतादोलाविलोलाङ्गनाः
 कूजभिर्झरवारयः परिसरप्रोभिद्रतालद्रुमाः ।
 उत्फुल्लोज्ज्वलमञ्जरीसितलतागोहोल्लसद्भिर्हिणः
 पर्यन्तोन्नतसाललम्बजलदा रम्या गिरिप्रामकाः
 वातालोलविचित्रपत्रलतिकासंपूर्णनीलस्थलाः
 कूजल्लावककोककुटुघटागायत्पुलिन्दाङ्गनाः ।
 बालाव्याकुलतर्णका दधिमधुक्षीराज्यपानोज्ज्वलाः
 कस्येवामृतमण्डपा विरचिता रम्या गिरिप्रामकाः

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० विपश्चिदनुकृतपदार्थवर्णनं नाम पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ११५

हिमवांस्तस्य मस्तकानि शिखराणि ॥ ४७ ॥ दोलाः प्रेङ्गास्त-
 दारूढानामप्सरसां गीतानि विसारयति तच्छीलो वातो यस्य ।
 अत्युन्नतत्वाद्योमनि संदृश्यते ॥ ४८ ॥ प्रोभिद्राणि नीरन्ध्राणि
 पुष्पमरितानि यानि शिलीन्ध्राणि तान्येव सान्द्रपुष्पाण्यध्व्यपा-
 त्राणि धारयन्ति तथाविधा ये महान्तो महीध्राः पर्वताः सान्द्रै-
 रन्ध्रनिर्हादैर्गभीरायां कुक्षौ द्रोणीप्रदेशे सर्क्ष ऋक्षैर्नेक्षत्रैः सह
 वर्तमानं यदन्तरिक्षं तच्छिद्यमुद्रहन्ति धारयन्ति ॥ ४९ ॥ इत
 उत्तरतः स प्रसिद्धः कैलासगिरिर्दृश्यताम् । कीदृशः । यस्य
 गरीयसा प्रभाप्रवाहेण मितेन व्याप्तेन खमाकाशमधोभागे
 शंभोः सुतस्य स्कन्दस्य मुक्ताचूर्णनिर्मितं क्रीडागृहकुट्टिममिव
 आभाति । ऊर्ध्वभागे तु चन्द्रोऽपि क्षीरसमुद्रगस्तन्ममो यथा
 तथा आभाति ॥ ५० ॥ हे राजन्, कौतुकी वासवः कुञ्ज-
 रिच्छन्नशाखानां स्थाणूनाममिना छिन्नच्छयादिशाखानां मृन्म-
 यानां कुञ्जादीनां च परस्परदूराणामपि वृष्टिसेकेनोभयत्राप्य-
 कुरोपजननान्मुक्तशिखा इव निर्माय वातैः परस्परप्रयनायेव
 संघत्से पश्य ॥ ५१ ॥ तथा एते कदम्बकुलैः कुन्दैश्च सुगन्धयो
 वाता मकरन्दवृष्टेर्हेतोस्तत्पानेन मांसलतया अलिजालनीला
 अभ्रकायाश्च भूत्वा सर्वाणि परिमलानि व्यालोच्च मेघपटल-
 लक्षणैः स्वमिव घनैः परिमलैर्जनानां घ्राणच्छिद्रमपि लिम्पन्ति
 पश्येत्यर्थः ॥ ५२ ॥ घर्षतां वनस्थल्यादिषु चतुर्षु स्थानेषु
 खनिवासहेतोः शोभातिशयस्य दर्शनादिषु निवसति ॥ ५३ ॥

एष पुरोवर्ती ग्रामो वातायनद्वारा आगताभिरन्तःप्रविष्टाभि-
 रर्थात्कोशातकीलतामिरावृतेषु सौधकोशेषु कोशातकीकुसुमानि
 तत्केसरांश्चाहरद्भिर्वातैः आगुल्फं कीर्णानि कुसुमानि यत्र तथा-
 विधान्यजिराण्यङ्गणानि यस्मिन्स्थयाविधः सन् वनदेवतानां नगरं
 विभाति ॥ ५४ ॥ उभिद्राणां पुष्पितानाममलचम्पकद्रुमाणां
 लतादोलासु विलोलाः क्रीडन्त्यः अङ्गना येषु । तथा कूजन्ति
 निर्झरवारीणि येषु । परिसरेषु परितः प्रोभिद्राः पुष्पितास्तालद्रुमा
 येषु । उत्फुल्लामिरुज्ज्वलमञ्जरीभिः सितेष्वलंकृतेषु लतागोहेषु
 उल्लसन्तो वृत्त्यन्तो बर्हिणो मयूरा येषु । पर्यन्तेषुन्नतेषु सालेषु
 प्राकारेषु वृक्षेषु वा लम्बा जलदा मेघा येषु । सालवृक्षा एव
 लम्बा लोला जलदा येष्विति वा । ईदृशा गिरिप्रामका रम्याः
 ॥ ५५ ॥ तथा वातैरालोलामिः पल्लवादिदशाविचित्रपत्रामिर्ल-
 तिकाभिः संपूर्णानि शाद्वलनीलानि स्थलानि येषाम् । लावका
 मधुरस्वराः क्षुद्रपक्षिमेदाः । गायन्त्यः पुलिन्दामां म्लेच्छजाति-
 मेदानामङ्गना येषु । बालैः पालनादभ्याकुलास्तर्णका वत्सा येषु ।
 तथा त एव बाला अभ्याकुलस्तर्णकाश्च यथायोगं दधिमधुक्षी-
 राज्यानां पानेन उज्ज्वलाः पुष्टा येषु । ईदृशा गिरिप्रामकाः कस्य
 धातुर्विश्रान्तये रम्या अमृतपूर्णा विरचिता मण्डपा इव भा-
 न्तीत्यर्थः ॥ ५६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विपश्चिदनुकृतपदार्थवर्णनं नाम पञ्च-
 दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः ११६

अनुचरा ऊचुः ।

देव पश्याम् संग्रामलक्ष्मीमान्तभूभृताम् ।
 कचन्ति हेतिसंघाता विसरन्ति बलानि च ॥ १
 हतान्हतानमिमुखान्भीरान्वीरैः सहस्रशः ।
 आरोप्यारोप्य क्वं धाम्नि पश्य पश्याङ्गनारथैः ॥ २
 विजिगीषोः पुनः प्राप्ते संकटे प्रकटे रणे ।
 धर्म्यं विराजते युद्धं यौवने सुरतं यथा ॥ ३
 लोकैरनिन्दिता लक्ष्मीरारोग्यं श्रीसमन्वितम् ।
 धर्म्यं युद्धं परार्थेन जीवितस्योत्तमं फलम् ॥ ४
 अविरोधेन धर्मस्य युद्धे संमुखमागतम् ।
 योधानुरूपं यो हन्ति शूरः स्वर्ग्यः स नेतरः ॥ ५

हस्तस्थितासिवरनीलसरोजदाम-
 श्यामो हयोत्थघनरेणुनिशागमोऽत्र ।
 आलोक्य क्रमणमेष कथं करोति
 प्रोक्षामहेतिभरभूषणभाजि लक्ष्म्याः ॥ ६
 एते कचन्ति शरशक्तिगदामुशुण्डी-
 शूलासिकुन्तपटुतोमरचक्रपूर्णाः ।
 तापाः सताण्डवकचप्रचले बलेऽन्धौ
 देहेन बलगति भुवीव फणीन्द्रसंघाः ॥ ७

संग्रामण्योमभिरहिशिखरिग्रामडम्बराः ।
 गिरिगङ्गारमेवाश्च मूर्खकाकाश्च वर्णिताः ॥ १ ॥

तत्रादौ सप्तभिः संग्रामं वर्णयितुं प्रस्तौति—देहेति । बलानि
 चतुर्विधानि सेनाङ्गानि ॥ १ ॥ अज्ञाना अप्सरसः । रथैर्विमानैः
 ॥ २ ॥ विजिगीषोर्बलवतः शत्रूणां रणे प्रकटे संकटे प्राप्ते विना-
 धर्मेण तेषां वधो न शोभते किंतु धर्म्यं धर्मादनपेतं युद्धं विराजते
 इत्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्कृतस्तत्राह—लोकैरिति । यत् एतानीदृशा-
 न्येष जीवनस्योत्तमफलानि न तु निन्दितसंपदादय इत्यर्थः ॥ ४ ॥
 योधानुरूपमिति । तथा एकस्मिन्योधे एक एव सः सबाहने
 सबाहनः सधनुषि सधनुः सखड्गे सखड्गो निरायुधे निरायुध
 एव बाहुयुद्धं चरन्त्यो हन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ हे राजन्, प्रोक्षामा
 उच्यता हेतिभरा एव भूषणानि तद्भाजि अस्मिन् शूर-
 पुरुषे एव संग्रामलक्ष्म्या हस्तस्थितासिवरलक्षणेन नीलसरोज-
 दाम्ना श्यामो हयोत्थघनरेणुकृतोऽन्धकारलक्षणो निशाग-
 मोऽत्रास्यां संग्रामभूसौ कथं क्रमणं करोति । किं लक्ष्मीरेन-
 मस्यां तिष्ठि स्त्रयं वरे वृणीते उत नेति कौतुकं पश्येत्यर्थः
 ॥ ६ ॥ शरशक्त्याद्यायुधैः पूर्णा एते योधाः सताण्डवकचप्रा-
 यत्पदाक्षप्रचले अचले पर्वते प्रज्वलितास्तापा दवामय इव
 कचन्ति । तेषु च शरशक्त्यादिसंघाः अन्धौ देहेन बलगति

पश्याम्बरं बलवदम्बुधराब्धिपूर्णं
 पश्याम्बरं तरलतारकतारहारम् ।
 पश्याम्बरं सुघनसकतमसैकसारं
 पश्याम्बरं विशदचन्द्रकरावसिकम् ॥ ८
 यत्रानेकसुरासुरास्पदघटा तारापदेशं गता
 ऋक्षाणां च यदास्पदं विसरतां सर्वोन्नतानां च यत् ।
 तस्मिन्नुच्यमिति प्रतीतिरधुनाप्यस्तं गता नाम्बरे
 कोऽन्यो मार्जयितुं जनोऽह्नरचितं लोकापवादं क्षमः
 मेघाटोपैः प्रलयदहनैरद्रिपक्षाभिघातै-
 स्तारापूरैरमरदितिजधुम्बसंग्रामसंघैः ।
 व्योमाघापि प्रकृतिविकृतिं नाम नायात्यसंख्यै-
 रन्तः साराशयगुणवतां लक्ष्यते नो महिन्नः ॥ १०
 आन्दोलयस्यविरलं गगनार्कमङ्गे
 नारायणं च शशिनं च तथेतराणि ।
 तेजांसि भासुरतडित्प्रभृतीनि साधो
 चित्रं तथापि न जहासि यदान्ध्यमन्तः ॥ ११
 आकाश काशसि तु यत्र शशाङ्कविम्बं
 त्वत्कीर्णकज्जलतमो मलिनोऽसितत्वम् ।
 सङ्गात्र यन्नयसि तत्त्वत्तु चित्रमुच्चैः
 को नाम वान्तरमलं मलिनीकरोति ॥ १२

सति तत्रत्याः फणीन्द्रसङ्घा भुवि प्रसूता इव कचन्ति ॥ ७ ॥ इतः-
 प्रमूत्याकाशं चतुर्दिक्षु वर्णयति—पश्येत्यादिना । सुघनं सज्जत
 इति सुघनसकृ तथाविधेन तमसा एकसारं तुल्यसारं नील-
 मिति यावत् ॥ ८ ॥ यत्र यस्मिन्नाम्बरे अनेकेषां सुरासुरास्पदानां
 विमाणादीनां घटा तारा इत्यपदेशं व्याजं गता । ऋक्षाणाम-
 धिन्यादीनां यदास्पदं यद्विसरतां सर्वोन्नतानां चन्द्रसूर्यादीनां
 चास्पदं तस्मिन्नाम्बरे सर्वतः पूर्णेऽपि अज्ञानां शून्यमिति प्रती-
 तिरधुनापि नास्तं गता । यत्रैवं महान्गमर्थोऽप्याकाशः अह्नर-
 चितं शून्यतापवादं मार्जयितुं न क्षमस्तत्र कोऽन्यः क्षमः
 स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥ साराशयगुणवतां महिन्नः अन्तो न
 दृश्यते ॥ १० ॥ हे साधो, गगनत्वमविरतमर्कं नारायणं चका-
 रात्तत्परिजनान्सर्वान्देवान् शशिनं चकारादन्यान् प्रहांस्तथा
 इतराणि भासुरतडित्प्रभृतीनि तेजांसि च अङ्गे आन्दोलयसि
 तथाप्यन्तर्यदान्ध्यं तमः श्यामिकालक्षणं तत्र जहासि चित्रमा-
 चर्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥ हे आकाश, त्वं मलिनोऽसि । यत्र
 शशाङ्कविम्बं त्वया छिद्रात्मना कीर्णं कज्जलतमः प्रायं संपन्नं तत्र
 कलङ्कच्छलेन मलिनः प्रत्यक्षं काशसि तु दृश्यसे खल्वित्यर्थः ।
 एवं सति स्वसङ्गात्संपूर्णं शशाङ्कविम्बं यत् असितत्वं न नवसि
 तत् उच्चैर्हृदिचित्रम् । वा अथवा मलिनसङ्गादन्तर्मलिन एव

पूर्णस्यापि जगद्दोषैः सर्वदैवाधिकारिणः ।
 स्वस्य मन्ये बुधस्येव सुखं सर्वार्थशून्यता ॥ १३
 कल्पाभद्रमवीरुदुष्प्रतिदृशां कर्तासि धर्तासि च
 आकाशेन्दुघनार्ककिन्नरमरुत्स्कन्धामराणामपि ।
 सर्वं रम्यमसंकुलाशय समस्वच्छस्वभावस्य ते
 यत्त्वेतद्दहनत्वमङ्ग तद्दहो मुख्याय खेदाय नः ॥ १४
 आकाश काशमसि निर्मलमच्छमुच्चै-
 राधार उन्नततयोत्तममुत्तमानाम् ।
 त्वामेत्य किंतु विरलं करकाघनोऽयं
 लोकं विमर्दयति तेन परोऽसि नीचैः ॥ १५
 आकाश कर्षकष एव निकर्षणं ते
 मन्ये चिरं समञ्चितं न तु किञ्चिदम्यत् ।
 शून्योऽसि यज्जलधरर्क्षविमानचन्द्र-
 सूर्यानिलाम्बुदसि भासि न धार्थशून्यः ॥ १६
 अङ्घ्रि प्रकाशमसि रक्तवपुर्दिनान्ते
 यामासु कृष्णमथ आखिलवस्तुरिक्तम् ।
 नित्यं न किञ्चिदपि सद्ब्रह्मीति मायां
 न व्योम त्रेप्ति विदुषोऽपि विचेष्टितं ते ॥ १७

बहिरपि मालिन्यमापद्यते । अन्तरमलं तु को नाम मलिनी-
 करोति न कश्चिदित्यर्थः ॥ १२ ॥ अथवा सन्तु मालिन्यादयः
 सर्वेऽपि दोषास्तथापि निर्विकारताबलेनैव तत्प्रयुक्तसर्वानर्थशू-
 न्यतासुखं सुलभमित्याशयेनाह—पूर्णस्यापीति । बुधस्य तत्त्व-
 विद इव ॥ १३ ॥ हे अङ्ग, असंकुलाशय उदारबुद्धे हे आकाश,
 त्वं कल्पाभ्राणां प्रलयाम्बुदानां द्रुमाणां वीरुधां लतानां
 चोन्नतिं पश्यन्त्यभिलषन्तीत्युन्नतिदृशस्तेषामवकाशदानेनोन्नतेः
 कर्तासि । इन्दुश्च घनाश्च अर्कश्च किन्नराश्च मरुत्स्कन्धाश्च अम-
 राश्चेत्येषामपि धर्ता आधारश्चासीति समस्वच्छस्वभावस्य ते
 सर्वं कर्म रम्यमेव । यत्त्वमेः सूर्यस्य च प्रज्वलनावकाशदानेन
 दहनत्वं संतापकत्वं एतत्कर्म नः मुख्याय खेदाय न तु सुखा-
 येति दावाभ्यातपादिसंतप्तस्योक्तिः ॥ १४ ॥ हे आकाश, त्वं
 निर्मलमच्छं काशं मास्वरं उन्नततया उत्तमानां देवादीनामु-
 त्तममाधारश्चासि किंतु विरलं सावकाशं त्वामेत्य आभित्य अयं
 करकावर्षी घनो लोकं जनं विमर्दयति तेन तद्दोषेण परः नीचैः
 अत्यन्तमपकृष्टोऽसीत्यर्थः ॥ १५ ॥ हे आकाश, ते तव स्वर्ण-
 वत्कर्षकषे कर्षकषणस्थाने निकषोपल एव निघर्षणं चिरमु-
 चितम् । न त्वन्यत्किञ्चित्त्परीक्षास्थानमित्यर्थः । यद्यस्मात्त्वं
 शून्योऽसि तथापि जलधरान् ऋक्षाणि विमानानि चन्द्रं सूर्यमनि-
 लांश्च ब्रह्मि भासि अर्थशून्यो निष्प्रयोजनश्च न चासीति तव
 सकलकनकगुणशालिनो गुणपरीक्षार्थमपि तद्गुणपरीक्षास्थानस्यै-
 वौचित्यादिति भावः ॥ १६ ॥ हे व्योम,—‘न त्रिसंयुज्योः’ इति

अकिञ्चनोऽपि कार्याणि साधयत्यातताशयः ।
 अन्तःशून्यमपि व्योम सर्वस्योन्नतिकारणम् ॥ १८
 न तृणसखिलं नैव प्राप्नो न नाम च पत्तनं
 न च दलभरच्छिग्धच्छायस्तरुर्न च सत्प्रपा ।
 तदपि गगनाध्वानं सूर्यः प्रयाति दिने दिने
 विषममपि यत्प्रारब्धं तस्य जन्ति न सात्त्विकाः १९
 यामा ध्वान्तपटेन शीतलदक्षिः कर्पूरपूरैः करै-
 रर्कालोकनवांशुकेन दिवसस्तारौघपुष्पोत्करैः ।
 द्यौरम्भोदतुषारवारिकुसुमैः सर्वैर्तदो भूषय-
 न्त्येते कालकलात्मनोस्त्रिभुवने व्योमाङ्गणं नाथयोः
 धूमाभरेणुतिमिरार्कनिशेशसंध्या
 ताराविमानगरुडाद्रिसुरासुराणाम् ।
 क्षोभैरपि प्रकृतिमुज्जति नान्तरिक्षं
 चित्रोत्थिता स्थितिरहो नु महाशयस्य ॥ २१
 दिग्भित्तिबद्धमिदमूर्ध्वतलान्तरिक्ष-
 मुर्वीतलं घनपुराचलभूरिभाण्डम् ।
 विद्याधरामरमहोरगजालकारं
 लोकौघसंसरणसंघपिपीलिकाव्यम् ॥ २२

नलोपनिषेधश्चान्दसत्त्वादनित्यत्वाद्वा नाश्रितः । त्वं अङ्घ्रि प्रकाशं
 भास्वरवर्णमसि । दिनान्ते संध्यारागेण रक्तवपुरसि । यामासु
 नामैकदेशे नामग्रहणाभ्रियामासु कृष्णमसि । अथ च नित्यं न कि-
 ञ्चिदपि सद्ब्रह्म बहुसीति हेतोरेखिलवस्तुरिक्तमसि इति तत्र मायां
 विदुषस्तत्त्वविदो विचेष्टितमपि न कश्चिदपि वेत्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥
 आतताशयः अतिविपुलबुद्धिस्तत्त्ववित् ॥ १८ ॥ गगनाध्वनि
 अध्वगविश्रान्तिसाधनं तृणं सखिलं च नास्ति । प्रामस्तु नैवास्ति ।
 पत्तनं नगरं च न नाम अत्यन्तासंभाध्यमित्यर्थः । दलभरैः
 शिग्धच्छायस्तरुश्च नास्ति । सती रम्या प्रपा पानीयशाला
 च नास्ति । तत्तथापि सूर्यो गगनाध्वानं दिने दिने प्रयाति ।
 सात्त्विकाः सरववन्तो विषममन्येषामसाध्यमपि यत्प्रारब्धं
 तत्र त्यजन्ति स्वसामर्थ्येनावश्यं साधयन्त्येवेत्यर्थः ॥ १९ ॥
 दिवसः अर्कालोकलक्षणेन नवांशुकेन स्वं भूषयति । द्यौः
 रात्रितारौघपुष्पोत्करैः स्वं भूषयति । सर्वैर्तदो वसन्तादयः
 अम्भोदतुषारलक्षणेर्कारिकुसुमैः स्वं भूषयन्ति । एते सर्वेऽपि
 मिलित्वा कालकलात्मनोस्त्रिभुवने नाथयोः स्वामिनोश्चन्द्रसूर्ययोः
 क्रीडास्थानं व्योमाङ्गणं भूषयन्तीत्यर्थः ॥ २० ॥ महाशयस्य
 स्थितिश्चित्रा आश्चर्यरूपा उत्थिता उन्नता दृश्यते यतोऽन्तरिक्षं
 धूमादीनां त्रयोदशानां क्षोभैरपि प्रकृतिं पूर्वावस्थां नोज्जति
 ॥ २१ ॥ अपरः कश्चिन्निभुवनमेकजीर्णगृहत्वेन वर्णयति—दि-
 ग्भिन्सीति । दिश एव भित्तयस्वामिर्बद्धमूर्ध्वतलं उपरितनसौध-
 भूतमन्तरिक्षं यस्य । उर्वा भूमिरेव अधस्तलं यस्य । घनं पुराण्यच-
 लाश्च भूरिभाण्डं पृहोपस्करो यस्मिन् । विद्याधरादयो जालकारा
 ऊर्णनाभिकीटा यस्मिन् । तथा लोकौघाश्चतुर्विधभूतप्रामास्य-

कालः क्रिया च भुवनं भवनं चिराय
नामाधिसिद्धत इवोपवनं विकासि ।
आशङ्क्यते प्रतिदिनं ननु नष्टमेव
नाद्यापि नश्यति च केयमहो नु माया ॥ २३
[युगलकम् ।]

खं मन्ये पादपादीनां रोधयत्यधिकोन्नतिम् ।
अकर्तुरेव महतो महिज्ञोवेति कर्तृता ॥ २४
जगतां यत्र लक्षणानि न भवन्त्युद्भवन्ति च ।
तरुण्यमुच्यते व्योम धिक्पाण्डित्यमखण्डितम् २५
व्योमन्येव प्रलीयन्ते व्योमतः प्रोद्भवन्ति च ।
गच्छतोन्मत्ततामेतामीश्वरान्यभिदा कृता ॥ २६

आयान्ति यान्ति निपतन्ति तथोत्पतन्ति
सर्गधियः कणघटा इव पावकोत्थाः ।
यत्रामलं तदहमेकमनादिमध्यं
मन्ये खमेव न तु कारणमीश्वराख्यम् ॥ २७
आधारमायततरं त्रिजगन्मणीना-
मङ्गे विभर्त्यमितमन्तरशेषवस्तु ।

लक्षणानिः संघपिपीलिकाभिराद्यम् ॥ २२ ॥ ईदृशमिदं भुवनं
भवनं कालः क्रिया चेति दम्पती चिराय नाम अधिसिद्धतः पाल-
यतः । यथा मालाकारदम्पती विकासि उपवनमधिसिद्धतस्तद्वत् ।
यद्यपि कालक्रियाभ्यां नाधिष्ठीयते प्रतिदिनं ननु नष्टमेवाशङ्क्यते
तथापि नाद्यापि नश्यति चकारान्नश्यति च तथापि प्रवाहेणा-
नुवर्तत एव । एवं नश्यदपि न नश्यतीति विरुद्धधर्मकत्वादहो
नु माया । इन्द्रजालसदृशमेतदित्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'कस्मा-
त्तानि न क्षीयन्ते अद्यमानानि सर्वदा' इति । 'पुरुषो वा
अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिः' इति ॥ २३ ॥
मन्ये इत्युत्प्रेक्षायाम् । आदिपदावृद्धिमतां सर्ववस्तूनाम् । ननु
निरोधकव्यापारशून्यस्य खस्य निरोधे अकर्तृत्वैव तत्कथं तद्वि-
रुद्धा कर्तृत्वोत्प्रेक्ष्यते तत्राह—अकर्तुरेवेति । 'रुन्धन्ति मार्गं
गिरयोऽध्वगानाम्' इतिवदिति भावः ॥ २४ ॥ कश्चिद्योमशून्य-
तावादिनो युक्त्या खण्डयन्नन्दति—जगतामिति । न भवन्ति
लीयन्ते, उद्भवन्ति जायन्ते च ॥ २५ ॥ अपरो व्योमन्येवैश्वर-
लक्षणानि पश्यंस्तदन्यतावादिनं निन्दति—व्योमन्येवेति ।
ईश्वरादन्यद्योमेति मिदा उन्मत्ततां गच्छता प्राप्तेन वादिना
कृता । यतः सर्वाणि जगन्ति व्योमन्येव प्रलीयन्ते व्योमत एव
प्रोद्भवन्ति चकाराद्योमन्येव तिष्ठन्तीति 'जन्माद्यस्य यतः' इति
शास्त्रसिद्धमीश्वरलक्षणं व्योमन्येव इत्यत इति तदेवेश्वर इत्यर्थः ।
'ईश्वराद्यभिधाः कृताः' इति पाठे एतां उक्तार्थबोधप्रयुक्तां उन्म-
त्ततां भ्रान्तिं गच्छता वादिना अन्यताभ्रमेण व्योम एवेश्वराद्य-
भिधाः कृताः ॥ २६ ॥ यदि व्योमः सकाशादेवाभिर्विस्फु-
लिभ्यायेन जगज्जन्मादि मन्यसे तर्हि न जडं व्योम तत् किंतु
विद्योमरूपोऽहमेव । 'मन्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रति-
यो० वा० १६९

व्योमैव चिद्गुणं परमेव मन्ये
यत्रोदयास्तमयमेति जगज्जमोऽयम् ॥ २८
वनावनौ वनचरचारुकामिना
मनोहरद्रुमगहनेषु गीयते ।
इतो गिरेः शिरसि विलोक्यतेऽमुना
वियोगिना पथि वहता रसाकुलम् ॥ २९
गीतं शृङ्गतरुपल्लवपुटे निःश्वस्य सोत्कण्ठया
कंठाश्लिष्टगिरा वियोगहतया विद्याधराणां स्त्रिया ।
यन्नामात्र तदेष नाथ पथिकः सोच्छ्वासमाकर्णयन्
दोलान्दोलनयेव चञ्चलधिया नो याति नोनूच्यते ॥
गायत्यद्रिशिरस्तरौ दलपुटे निःश्वस्य विद्याधरी
काकल्याऽतिलकं वियोगविधुरा बाष्पाकुलैषा पुरः ।
नाथोत्सङ्गगृहे गृहीतचिबुकं स्मेरं भवबुम्बनं
स्मृत्वास्वाद्य रसायनं हतसमा नीता मयैता इति ॥
अस्याः प्राग्भवसत्पतिः स मुनिना शापेन वृक्षीकृतो
वर्षद्वादशकं तदेव गणयन्त्येवैव सात्र स्थिता ।
गायत्युत्कलिता तदेव दयितं तं पादपं संश्रिता
मार्गे मार्गविहारिणां वदनतो राजन्ममैतच्छ्रुतम् ॥ ३२

ष्ठितम् । मयि सर्वं लयं याति तद्गद्गाद्वयमस्म्यहम्' इति श्रुतेरह-
मेव स ईश्वर इति तदस्थंश्वरपक्ष एव निरसनार्हं इति
तत्र कश्चित्त्वविदाह—आयान्तीति । ईश्वराख्यं तदस्थं
नैयायिकाद्यभिमतं न तु ॥ २७ ॥ अमितं यदशेषवस्तु
अत्रे विभर्ति त्रिजगन्मणीनामायततरमाधारं तद्योमैव
चिद्गुणः परं ब्रह्मैवेत्यहं मन्ये ॥ २८ ॥ कश्चिद्गिरौ कौतुक-
विशेषं दर्शयन्नाह—वनावनाविति । गिरेः शिरसि वनावनौ
वनचरेण चारुणा कामिना मनोहरद्रुमगहनेषु गीतं गीयते ।
अधःपथि वहता गच्छता अमुना वियोगिना पुरुषेण तद्वीतं श्रुत्वा
रसाकुलं यथा स्यात्तथा स गाता ऊर्ध्वं विलोक्यते ॥ २९ ॥
अपरस्तथाविधमपरं कौतुकं दर्शयन्नाह—गीतमित्यादिना ।
हे नाथ, गिरिशृङ्गवने उच्चो यस्तरुस्तरीयपल्लवपुटप्राये कुञ्जे
वियोगहतया सोत्कण्ठया विद्याधराणां स्त्रिया निःश्वस्य कण्ठा-
श्लिष्टगिरा यन्नाम गीतं तदत्राधस्ताद्गच्छन्नेष पथिकः सोच्छ्वा-
समाकर्णयन्सन् दोलायामान्दोलनयेव चञ्चलया धिया अत्रे
नो याति । अनुगंरपि याहीति नोऽनूच्यते चित्रमित्यर्थः
॥ ३० ॥ सा विद्याधरी बाष्पाकुला सती अतिलकं विमृष्ट-
विशेषकं यथा स्यात्तथा गायति । किं गायति तदाह—हे
नाथ, त्वदुत्सङ्गलक्षणे गृहे गृहीतचिबुकं स्मेरमीषद्वास्यसहितं
भवबुम्बनलक्षणं रसायनं स्मृत्वा पुनःपुनरास्वाद्य इह मया
एता हतसमा निन्धाः संवत्सरकाला नीता इति गायति ॥ ३१ ॥
किमर्थं तत्रैव सा स्थिता गायति तत्राह—अस्या इति । सः
गीयमानः प्राग्भवतीति प्राग्भवः सन् युवा पतिर्विद्याधरो
मुनिना केनचिदपराधेन निमित्तेन शापेन वर्षद्वादशकं वृक्षी-
कृतस्तदेव गणयन्ती सैषा अत्रैव स्थिता उत्कलिता उत्कण्ठिता

पश्यैष सोऽस्मदवलोकनशान्तशापो
विद्याधरो विटपितामवमुच्य बालाम् ।
कण्ठेकरोति विटपाकृतिविप्रलम्भै-
स्तैरेव बाहुभिरलं स्फुटपुष्पहासः ॥ ३३
शिखरिणां करिणां कुसुमोत्करो
विटपिषु स्फुटरोमसु राजते ।
गगनविच्युततारकलीलया
शिखरमेष तुषारसमानया ॥ ३४
मीनावलीसरभसहृतिघट्टिताम्बु-
वीचीविलोलविद्वत्पुरीकराला ।
कावेर्यहो कुसुमशुक्लपटाऽवभाति
निःशङ्करकुलसंकुलकूलकच्छा ॥ ३५
भात्यत्र पश्य रविणा कटके सुवेल-
शैलस्य काञ्चनशिला सकलामलधीः ।
वेलाखलोलवरुणालयवीचिमङ्ग-
पर्यस्तवाडवकृशानुकोपमाना ॥ ३६
आसन्नपीनजलदावलितालयाणां
गेहोपशस्यपरिफुल्लवनद्रुमाणाम् ।

तमेव स्वदयितं पादपं संश्रिता सती सा गायति । हे राजन्,
मार्गविहारिणां वदनतो मया एतन्मार्गं श्रुतम् ॥ ३२ ॥ स
च मुनिरस्मदर्शनमेव शापान्तमकरोदतः स एष वृक्षभूतो
विद्याधरोऽस्मदवलोकनदेव शान्तशापः सन् विटपितामव-
मुच्य बालां तां विद्याधरीं विटपाकृतिव्याजैस्तैरेव बाहुभिः
स्फुटपुष्पाण्येव हासत्वेन संपन्नानि यस्य तथाविधः सन्
आलिङ्ग्य कण्ठेकरोति पश्य ॥ ३३ ॥ अपरः शिखरिणो
वर्णयति—शिखरिणामिति । शिखरिलक्षणानां करिणां विट-
पिलक्षणेषु स्फुटरोमसु कुसुमोत्करः शिखरेषु मेषतुषारो वास-
न्तिकहिमकणस्तत्समानया गगनविच्युततारकलीलया राजते
॥ ३४ ॥ अपरः कावेरीं वर्णयति—मीनेति । मीनावलीनां
सरभसहृतिभिर्घट्टितास्वम्बुवीचिषु विलोलाभिः क्रीडन्ती-
भिर्विस्वतीभिः कुररीभिः कराला कुसुमशुक्लपटा निःशङ्कै-
रङ्गभिर्भृगुमेदैः संकुलाः कूलानि कच्छा जलप्रायदेशाश्च यस्या-
स्तथाविधा कावेरी अवभाति । अहो इत्याश्चर्यं ॥ ३५ ॥
हे राजन्, अत्र सुवेलशैलस्य कटके सकला काञ्चनशिला
रविणा प्रद्योत्यमाना वेलाखलोलस्य वरुणालयस्य वीचि-
मङ्गः पर्यस्तस्य वाडवकृशानोर्वेडवाभिः कणा एवोपमानं
यस्यास्तथाविधा भाति ॥ ३६ ॥ तथा पर्वतेषु आसन्नैः
पीनैर्जलदैरावलितालयाणां गेहोपशस्येषु गृहसीमान्तेषु परि-
फुल्लवनद्रुमाणां तथा पलाशपटलैरावलिताम्बराणां घोषौकसा-
माभारपल्लीगृहाणां लक्ष्मीः समवलोक्य ॥ ३७ ॥ तथा उच्चैः
पुष्पैः पटुपाण्डुरा अतिशुभ्राः पुष्पखण्डाः पुष्पवाटिका येषु ।
तथा मन्दारवृक्षा एव भाण्डानीव बहुतरपुष्पभाजनानि येषु
तथाविधा विविधस्निग्धनिग्धानां नृत्यस्थानस्थास्तत्करणप्रयासः

लक्ष्मीः पलाशपटलावलिताम्बराणां
घोषौकसां समवलोक्य पर्वतेषु ॥ ३७
उच्चैःपुष्पपटुपाण्डुरपुष्पखण्डा
मन्दारभाण्डविशिखण्डिकरण्डकच्छाः ।
ग्रामाः प्रपातजलजालविलासवाद्या
वल्गाङ्गहागहनगीतजना जयन्ति ॥ ३८
उच्चैःकन्दलदलान्तरलीयमान-
कूजन्मदान्धमधुपोन्मदपामराणाम् ।
मन्ये न सा भवति तुष्टिरिहामराणां
या गोकुलेषु गिरिगह्वरिणां नराणाम् ॥ ३९
भृङ्गावदोलितलताकुलकाननान्त-
र्गायत्पुलिन्ददयिताननदत्तनेत्रम् ।
लीलाकुला गतघृणं गिरिगह्वरेषु
किं प्रन्ति शत्रुमिव मुग्धमृगं किराताः ॥ ४०
नानाविकासिकुसुमोत्करसारलब्ध-
वल्लीवलावलनशीतलिताध्वगाङ्गाः ।
साम्भःप्रथमसरणेन तरत्तरङ्गा
ग्रामा गिरीन्द्रगहनेषु जयन्ति चन्द्रम् ॥ ४१

कच्छा जलप्रायाः शिखिरप्रदेशा येषु । तथा प्रपातेषु ऊर्ध्व-
देशात्पततो जलजालस्य विलासा एव शिखण्डिनां नृत्ये वाद्यानि
येषु । तथा प्रतिध्वनिभिर्वल्गन्त्यो गुहा यत्र तथाविधेषु गह-
नेषु गीतानि येषां तथाविधा जना येषु एवंविधा गिरिप्रामा
जयन्ति स्वर्गमिति शेषः ॥ ३८ ॥ तदेव स्फुटयति—उच्चि-
द्वेति । इह गिरिप्रामगोकुलेषु उच्चैःपुष्पाणां सद्योविकसितानां
कन्दलानां मुकुलानां दलान्तरेषु गर्भेषु लीयमानैः कूजन्मि-
दान्धैर्मधुपैर्निरीक्षितैरुन्मदानामुद्दीपितकामानां पामराणामपि
गिरिगह्वरिणां नराणां घोषमिथुनानां या तुष्टिर्भवति सा तुष्टि-
र्नन्दने क्रीडतामप्यमराणां न भवतीति मन्ये ॥ ३९ ॥ भृङ्गै-
रवदोलिताभिर्दोलत्वेन कल्पिताभिर्लताभिराकुलकाननस्यान्त-
र्गिरिगह्वरेषु गायन्तीनां पुलिन्ददयितानामाननेषु दत्तनेत्रं
यथा स्यात्तथा लीलासु भृङ्गारचेष्टाभिराकुलाः किराता
मुग्धमृगं शत्रुमिव गतघृणं निर्दयं क्व किं कथं प्रन्ति ।
अहो येषामन्यत्र दत्तहृष्टीनामन्यमनसां चललक्ष्यवेधनपाटव-
मीदृशसमयेऽप्यतिनिर्दयत्वं चेत्यर्थः । अथवा भृङ्गावदोलि-
तलतासदृशपुलिन्दललनानामाननेषु दत्तनेत्रत्वान्मुग्धमृगाणां
पुलिन्दललनानेत्रसौन्दर्यापहारिस्वलापल्लावाशित्वप्रतिबंधाना-
च्छत्रुमिव मन्यमाना दयायोग्यसमयेऽपि निर्दयं प्रन्ति किमि-
त्युत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥ किंच नानाविधेभ्यः कुसुमोत्करेभ्यो लब्धः
शैलसौगन्ध्यपरागादिसारो येन तथाविधस्य वायोर्वल्लीदलानां
चावल्लैः शीतलितानि अष्वागानामङ्गानि यैः । अम्मोभिः
सह तद्गुणेन शैल्येन प्रयन्त इति साम्भःप्रथास्तथावि-
धानां वायूनां प्रसरेण तरत्तरङ्गा जलाशया येषु तथा-
विधा ग्रामाः सौरम्यगुणाधिक्येन चन्द्रं जयन्ति । तथा च

कूजभिर्जरवार्यः परिसरत्प्रोभिद्रतालुमा
हेलोहासितपुष्पपल्लवचलद्वलीवितानाम्बराः ।
पर्यन्तोन्नतसालकम्बिजलदा रम्या गिरिग्रामका-
श्चन्द्राश्वत्थमिताथर्नि शशिपुरस्योद्यानमत्ता इव ॥

आसन्नपीतघनघर्घरमेघनाद-

नृत्वाच्छिखण्डिनवताण्डवविप्रकीर्णैः ।

ग्रामाः कलापिकुलकोमलबर्हखण्डैः

प्रोद्गीनचन्द्रकमणिप्रकरा जयन्ति ॥ ४३

पार्श्वस्थचारुशशिमण्डलमण्डनेषु

विश्रान्तवारिगुरुवारिद्वारणेषु ।

ग्रामेषु या गिरितटेषु विलासलक्ष्मी

राज्येषु सा विभववत्सु कुतो विरिञ्चेः ॥४४

स्वामोदनन्दनवनान्तरसुन्दरेषु

संतानकस्तबकहासिनिकुञ्जकेषु ।

उच्चिद्रमन्द्रमधुपाकुलपारिभद्र-

सान्द्रद्वुमेष्वभिरमे गिरिगह्वरेषु ॥ ४५

हरिणीरावरम्येषु हारिहारीतहारिषु ।

गिरिग्रामेषु पुष्पेषुपुरेष्विव रतिर्नृणाम् ॥ ४६

चन्द्रमण्डलस्थेभ्यो देवेभ्योऽपि ग्रामवासिनां सुखाधिक्यमिति भावः ॥ ४१ ॥ पादत्रयं व्याख्यातम् । ईदृशा गिरिग्रामकाः शशिपुरस्य स्वर्गस्थचन्द्रनगरस्य गान्धुयानानि तद्भागा इव 'सोश्वत्थः सोमसवनः' इति श्रुतेश्चान्द्राश्वत्थाविणा अश्वत्थेन मितां ब्रह्मलोकावनिं च जयन्तीत्यनुषज्यते ॥ ४२ ॥ किञ्चैते गिरिग्रामा आसन्नाः पीता विद्युतो येषां तथाविधानां घनघर्घराणां मेघानां नादैर्नृत्वितां शिखण्डिनां नवताण्डवेषु विप्रकीर्णैः कलापिकुलानां कोमलैर्बर्हखण्डैः प्रोद्गीनाश्चन्द्रकलक्षणा मणिप्रकरा येषु तथाविधाः सन्तो जयन्ति प्रागुक्तमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ किञ्चैकपार्श्वस्थं यच्चारुशशिमण्डलं तदेव मण्डनं येषाम् । एकपार्श्वं च विश्रान्ता वारिगुरवो वारिद्वारणा येषु तथाविधेषु गिरितटेषु स्थितेषु ग्रामेषु या विलासलक्ष्मीः सा विभववत्सु विरिञ्चेः राज्येष्वपि कुतः । दुर्लभेत्यर्थः ॥ ४४ ॥ स्वामोदनन्दनवनान्तरमिव सुन्दरेषु । संतानकस्य कल्पवृक्षमेदस्य स्तबकान्दसन्ति तच्छील्य निकुञ्जका येषु । उच्चिद्राः पुष्पिता मन्द्रध्वनिमधुपाकुलाः पारिभद्रा निम्बतरुभाः सान्द्रा इमाः येषु तथाविधेषु गिरिगह्वरेष्वहं अभिरमे ॥ ४५ ॥ पुष्पेषुर्मन्मथस्तपुरेष्विव ॥ ४६ ॥ स्फाटिकस्तम्भानां संभारा इव रम्याणि धारापातीनि निर्झरवारिणि येषु ॥ ४७ ॥ रणन्ति ध्वनन्ति निर्झरपुष्कराणि निर्झरजलानि यस्मिन्स्तथाविधे अत्र ग्रामगह्वरे ॥ ४८ ॥ हारीतैः पक्षिमेदेर्हारिणो मनोहरा हरिता उपवनद्वुमा यासु । तथा वापीप्रमाणेन हंससारसाहिरणितलक्षणा अमलाः काकल्यो यासु । गिरिगह्वरेषुपितासु व्यब-

स्फाटिकस्तम्भसंभाररम्यनिर्झरवारिणि ।

नृत्यन्त्येताः शिखण्डिन्यः पश्यास्मिन्ग्रामगह्वरे ॥४७

शिखण्डिन्यो विलासिन्यः पुष्पभारगता लताः ।

अत्र नृत्यन्ति कुञ्जेषु रणनिर्झरपुष्करे ॥ ४८

हारीतहारिहरितोपवनद्वुमासु

वापीप्रमाणरणितामलकाकलीषु ।

ग्रामस्थलीषु गिरिगह्वरगोपितासु

मन्ये मुदेष रमते खरसेन कामः ॥ ४९

श्रीमद्वृत्तमहाशयातपहरप्रोच्चैर्गभीराकृते

भूभृन्मूर्धसु भूषणं भवसि भो भूमे रसैकास्पदम् ।

एतसु क्षपयेन्मनांसि यदिदं मेघ त्वया वर्षता

हर्षादूर्परपल्लवस्थलतरुष्वम्भोविभागक्रमः ॥५०

नित्यं ज्ञासि सुतीर्थवारिविसरैरुच्चैःपदस्थोऽम्बुदः

शुद्धः सन्विपिनावनौ निवससि प्रारब्धमौनव्रतः ।

रिक्तस्याप्यतिकान्तिरेव भवतः कायाभया लक्ष्यते

प्रोत्थायाशनिमातनोषि किमिदं तुच्छं तवाचेष्टितम्

वस्त्वस्थानगतं सर्वं शुभमप्यशुभं भवेत् ।

दुर्मेघं स्थानमासाद्य वारि त्वसिततां गतम् ॥ ५२

हितासु ग्रामस्थलीषु एष सर्वजगत्प्रसिद्धः कामो मुदा खरसेन रमते इति मन्ये ॥ ४९ ॥ आसर्गसमाप्तेरित आरभ्य प्रायेणान्यापदेशा बोध्याः । हे श्रीमतां वृत्तमिव वृत्तं महादार्ढ्यस्य तथाविध जगत्परिपालनेषुत्वान्महाशय, आतपहरा प्रोच्चैरुशता गभीरा च आकृतिः शरीरं यस्य तथाविध भो मेघ, त्वं भूभृतां पर्वतानां मूर्धसु भूषणं भवसि । तथा भूमेः क्षेत्रारामादिसंपत्तिहेतोः रसस्य जलस्यैकास्पदमसि । एवं सङ्गणसहस्रवतापि हर्षादूर्षता त्वया यदपात्रभूतेषु ऊपरस्थलेषु पल्लवस्थलेषु तत्रत्यकण्टकादितरुषु च सुक्षेत्रसाध्येन अम्भोविभागक्रम आस्थित एतत्ते सदसत्पात्रविभागापरिज्ञानं तु सतां मनः क्षपयेत्पीडयेत् । यदि भवाद्दृशा महान्तोऽपि सुपात्रगुणोत्कर्षं न मानयन्ति तर्ह्यन्ये के मानयिष्यन्तीति भावः ॥ ५० ॥ दानप्रारम्भादिकाले रुक्षकटु कर्णकठोरजल्पनं तु दातॄणां महान्दुःसहो दोष इत्याशयेनाह—नित्यमिति । हे मेघ, त्वं सुतीर्थानां समुद्रगङ्गादीनां वारिविसरैर्नित्यं ज्ञासि । तथा उच्चैःपदस्थः सर्वप्राणिनामप्युददासीत्यम्बुदः । किञ्च शुद्धः सन् विपिनावनौ प्रारब्धं मौनं मुनिसंबन्धि व्रतं येन तथाविधो निवससि । किञ्च शरदि रिक्तस्यापि भवतः अतिशयिता धवलकान्तिरेव कायाभया दृश्यते । ईदृशोऽपि त्वं दानार्थमुत्थाय अशानिं विद्युदग्निपुरःसरं कटुध्वनिमातनोषि । इदं तुच्छं शुद्धोच्चितं तव आचेष्टितं किम् । सर्वथा अनुचितमेवेत्यर्थः ॥ ५१ ॥ तटस्थ आह—वस्त्विति । शुभमपि वस्तु अयोम्यस्थानगतं सदशुभं भवेत् । वारि तु इति च्छेदः ॥५२॥

अहो नु मेघेन जलं विमुक्त-
महो नु तोयेन विपूरिता भूः ।
अहो नु भूमौ परिपोषितश्च
जलैर्धनाढ्यैः प्रणयीव दीनः ॥ ५३
नैर्घृण्यमस्यैर्यमथाशुचित्वं
रथ्याचरत्वं परिकुत्सितत्वम् ।
श्वभ्यो गृहीतं किमु नाम मूर्खै-
र्मूर्खैभ्य एवाथ शुना न जाने ॥ ५४
गुणैः कतिपर्यैरेव बहुदोषोऽपि कस्यचित् ।
उपादेशो भवत्येव शौर्यसंतोषभक्तिभिः ॥ ५५
उन्मत्तमत्तपतनोन्मुखधावमान-
मानाधिकान्विषयवीथिषु दत्तमूर्तिः ।
यन्मन्यते तृणलवाप्र विलोकयेच्छा-
सत्त्वं जडत्वमुत वास्य विचार्यतां तत् ॥ ५६
कोलाहलः समानेऽपि तिर्यकत्वे क्षुब्धमानसैः ।
अन्यथा सहाते सिंहैर्मौलितैरन्यथा श्वभिः ॥ ५७
नित्याशुचे प्रियजने भषणैकनिष्ठ
रथ्यान्तरभ्रमणनीतसमस्तकाल ।

शीनो दरिद्रः प्रणयी सुहृदिव भूमौ म्लानसस्यादिः परितोषितश्च
॥५३॥ दर्यादार्यादिगुणवर्णनप्रसङ्गात्तद्विपरीतनैर्घृण्यादिशालिनो
मूर्खान् कश्चिच्छृणुगुणविनिमयसंदेहप्रदर्शनेन निन्दति—नैर्घृ-
ण्यमिति ॥ ५४ ॥ यदि मूर्खो निन्द्य एव तर्हि कथं महीपास्तं
संगृह्णन्ति तत्राह—गुणैरिति । श्व मूर्खोऽपि शौर्यादिगुणैः
कस्यचित्कुतूपादेरुपादेशो भवति ॥ ५५ ॥ विषयवीथिषु भोग-
परम्परासु दत्तमूर्तिः प्रसंजितशरीरो विषयलम्पटो मूर्खो धत्तू-
रादिभक्षणेनोन्मत्तान्मदिरादिना मत्तान्प्रमादकोधावेशादिना
कूपादिपतनोन्मुखान्पिशाचाद्यावेशेन धावमानांस्तत्त्वज्ञानप्रक-
र्षेण देहादिपरिच्छेदविस्मरणादहं ब्रह्मेति सर्वात्कृष्टप्रमाणप्रतिष्ठा-
नाच्च मानाधिकान्ब्रह्मादिभूमिकारुडांश्च स्वाभिज्ञतारोपेण यत्तृणं
मन्यते । हे तृणलवाप्र, तत् त्वमेव विलोकय । अस्य विषयलम्प-
टस्य इच्छासत्त्वमुत वा जडत्वमिति तद्रहस्यं विचार्यताम् । यदी-
च्छासत्त्वं तर्हि स एव श्वमिस्तुल्यः । यदि जडत्वं तर्हि तृणल-
वाप्रादपि विषयलम्पट्यादिदोषाधिकान्मत्तान्मदिरादिना स्वयं नीच
इति तृणसाम्यमपि तस्य दुर्लभतरमिति किंचिदेव कलिष्यतीति
उन्मत्तादिभ्यो नीचत्वं तस्य किं वाच्यमित्यादि ॥ ५६ ॥ धनग-
जितादिकोलाहलः सिंहैरक्षुब्धमानसैरनादरान्मौलिताक्षैः सहाते
श्वमिस्तु क्षुब्धमानसैर्भयान्मौलिताक्षैः सहाते इत्युभयान्युपा-
त्वमिति भावः ॥५७॥ हे कौलेयक श्वन्, आशयविषयसमस्तान्
समानतया स्वगुणशिक्षायोग्यं त्वां मन्यमानेन केनचित्कृत-
नित्याशुचित्वादीन्स्वगुणांस्तं शिक्षितोऽसि । मन्ये इति प्रकी-
संदेहे निर्णयः । तथा हि सति शिष्याद्गुरुगुणाधिक्यवद्वेद-
नैः

१ अथ मुक्तमूर्तिः इति पाठः.

कौलेयकाशयसमानतयैव मन्ये
मूर्खेण केनचिदहो बत शिक्षितोसि ॥५८

नित्यं सर्वं जगदसदृशं कुर्वतोच्चैर्विधात्रा
दौहित्रेऽस्मिन्शुनि समदृशे निर्मितं सर्वमेव ।
वासोऽमेध्यावकरकुहरे भोजनं गूथपूयं
सर्वाल्लोके कुरतिकुरतिः सर्वनिन्द्यं शरीरम् ॥ ५९
त्वत्तः कोऽधम इत्युदीरितवते श्वोवाच हासान्वितं
मत्तो मौर्ख्यममेध्यमान्ध्यमशुभं यः सेवते सोधिकः
शौर्यं भक्तिरकृत्रिमा धृतिरिति श्रीमान्गुणो योस्ति मे
मूर्खादेष गुणः प्रयत्ननिचयैरन्विष्य नो लभ्यते ॥६०
भुङ्क्तेऽमेध्यममेध्य एव रमते नित्यं महावस्करे
तूष्णीमत्ति सचेतनं कृतरतिर्निश्चेतनं कृन्तति ।
सर्वैरेत्य रते शुनीविबलिते लोष्टैर्जनैस्ताड्यते
धात्रा खेलसमन्वितस्थितिरलं लोके कृतो नैश्वरः ॥
लिङ्गस्योर्ध्वं रटत्काक आत्मानं दर्शयत्ययम् ।
सर्वाधःपातकोत्तुङ्गतं पश्यत मामिति ॥ ६२

पश्यत इति भावः ॥ ५८ ॥ असदृशं कर्म वैषम्याद्विषमं जगत्कु-
र्वता विधात्रा दौहित्रे दुहितुः सरमाख्याया देवशुन्या अपत्य-
भूतेऽस्मिन्शुनि समानामनुरूपाणां सर्वधर्माणां दृशे दर्शनाय
सर्वमेव वक्ष्यमाणं समं निर्मितम् । किं तन्सर्वं तदाह—वास
इति । अमेध्ये अवकरस्य स्वनिर्मितं कुहरे गर्तकुलाये । गूथं
पुरीषं पूयं च भोजनम् । सर्वैर्जनैरालोक्यत इति सर्वाल्लोको रप्या-
मार्गस्तस्मिन्कुत्सिता चिरप्रन्थिला या रतिर्मेथुनं तद्विषये कुर-
तिर्दुरिच्छा तथा सर्वैर्निन्द्यं शरीरं चेति सर्वमित्यर्थः ॥ ५९ ॥
उदीरितवते पृष्ठवते पुरुषाय श्वा हासान्वितं यथा स्यात्था
उवाच । मौर्ख्यमज्ञानम् । अमेध्यमपवित्रं देहाद्यभिमानम् ।
आन्ध्यं विचारनेत्रराहित्यम् । तर्हि तव मूर्खापेक्षया कैर्गुणैरा-
धिक्यं तानाह—शौर्यमिति । धृतिरल्पसंतोषः । एष गुणक-
दम्बः । एतेष्वपि दर्शने मूर्खानो लभ्यते अतः स मत्तोऽधम
इत्यर्थः ॥ ६० ॥ अवस्करे पुरीषे । 'वर्चस्केऽवस्करः' इति
सुक् । शरीरं सजीवमपि नकुलमूषकादि दैवाङ्गध्वा तूष्णीं
निराश्रयमेवास्ति । निश्चेतनं निर्बलं च छागधत्सादि तूष्णीं
निराश्रयमेव कृन्तति दशति । शुनीविबलिते रते प्रसक्तः
निरस्य लोष्टैस्ताड्यते । एवमलमत्यन्तं नैश्वरः असमर्थः
निराश्रयः खेलं खेले दुर्विलासकौतुकं तेन समन्विता यावदायुः-
व्यतिरेकस्य तथाविधः कृत इत्यर्थः । 'श्वेव समन्वितस्थितिः'
इति पाठे नैश्वरः सेवकः ॥ ६१ ॥ कश्चिन्नदीतीरे निर्माल्या-
दुत्सृष्टाण्य शिवलिङ्गस्योर्ध्वं रटन्तं काकं दृष्ट्वा कश्चित्प्रदटन-
त्तं मुत्प्रेक्षते—लिङ्गस्येति । आत्मानं स्वं दर्शयति निर्दर्श-
यति । किमिति निर्दर्शयति तदाह—सर्वेषामधःपातकानामधो-
पातित्वेन मध्ये यदुत्तुङ्गं शिवस्वभक्षणाय शिवलिङ्गाश्रयणं

काकक कटुकस्कारव
 कवलितगुणकर्ममे भ्रमन्सरसि ।
 अन्तरयसि मधुपरवं
 यदतो मे शिरसि फलभूतः ॥ ६३
 कवलयति नरकनिकरं
 परिहरति मृणालिकां ध्वाङ्गः ।
 यदतोऽस्तु मा स्वयस्ते
 स्वभ्यस्तं सर्वदा स्वदते ॥ ६४
 विविधघनकुसुमकेसर-
 धवलवपुर्हंस इव दृष्टः ।
 काकः कुमिकुलकवलं
 क्लिन्नमथो कवलयन् ज्ञातः ॥ ६५
 तुल्यवर्णच्छदैः कृष्णः संगतैः किल कोकिलैः ।
 केन विज्ञायते काकः स्वयं यदि न भाषते ॥ ६६
 अरण्यान्या मृदः स्थाणौ स्थितः काको निरीक्षते ।
 चैत्याहशदिशश्चोरो निशि सुप्ते जने यथा ॥ ६७
 सरभससारसविदल-
 त्पुष्करमकरन्दसुन्दरे सरसि ।

तद्वत् मां प्रत्यक्षं काकभूतं पश्यतेति ॥ ६२ ॥ अपरः सरसि रटन्तं
 भ्रमन्तं काकमपदिश्याह—काककेति । हे कुत्सितकाक
 काकक, कटुभिः कल्कारवैदम्भध्वनिभिः कवलिता हंससारसा-
 दिगुणा येन तथाविध, त्वं सरसि कर्ममे भ्रमन्सन् मधुपानां रव-
 मन्तरयसि स्वकटुकरवैर्यदन्तर्धत्से अतो हेतोमे शिरसि वेदना-
 हेतुत्वात्फलभूतः शल्यभूतोऽसि ॥ ६३ ॥ सखायं प्रति कश्चि-
 दाह—कवलयतीति । ध्वाङ्गः काको नरकनिकरं नानाविध-
 ममेध्यं कवलयति मृणालिकां प्राप्तमपि परिहरतीति यत् अतस्ते
 स्वयो विस्मयो मास्तु । यतः कुत्सितमपि स्वाद्यं व्यसनितया
 स्वभ्यस्तं चेत्तदेव सर्वदा स्वदते । यथा लज्जानोपस्कृतं व्यञ्जनं
 तद्गुणमित्यर्थः ॥ ६४ ॥ विविधानां वनकुसुमानां केसरैः
 केसरस्यैः परागैर्धवलवपुः काको भ्रान्त्या हंस इति दृष्टः ।
 इत्यर्थे इवशब्दः । अथो अनन्तरं क्लिन्नं कुमिकुलकवलं कवल-
 यन् काको ज्ञातः ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ अरण्यान्या महारण्यस्य
 मृदः स्थाणौ मृन्मयजीर्णभित्तिस्तम्भे स्थितोऽयं काको यथा
 निशि सुप्ते जने चोरश्चैत्यवृक्षमारुह्य दशदिशो निरीक्षते तद्ग-
 विरीक्षते इत्यर्थः ॥ ६७ ॥ सरभसैः सारसैर्विदलतां पुष्क-
 राणां पद्मानां मकरन्दैश्च सुन्दरे इह सरसि स्फुरता वायुनो-
 द्यमानधूलिना अवकरेण धूसरः स्कन्धो यस्य तथाविधः
 काकः कथं विहरति । अनुचितमिदमित्यर्थः ॥ ६८ ॥ स्फुटानां
 विकसितानां पुण्डरीकाणां कोशे इष्टवपुषि अभिमतस्वरूपे
 सरसि स्थितै राजहंसैः सह एषः कषन्तीति कषाः शिलास्ता-
 भिराहननयोग्यं मुखं यस्य तथाविधः काकः पिशाचः

कथमिह विहरति काकः
 स्फुरद्वकरनिकरधूसरस्कन्धः ॥ ६८
 हा कष्टमिष्टवपुषि स्फुटपुण्डरीक-
 कोशे कषाहननयोग्यमुखः पिशाचः ।
 पश्यैष काक उपविश्य कुपत्वलेऽस्मिन्
 लीलाः करोति विविधाः सह राजहंसैः ॥ ६९
 हे काक कर्कशरव क्रकचैकचिह
 तादृक्स्वशङ्कनमपि क नु तेऽद्य यातम् ।
 कस्मादनर्थकमिदं पिकपाकमेक-
 पुत्राशया तदपि ते ह्युपहाससिञ्चै ॥ ७०
 आलोक्य पङ्कजवने सविलासवन्तं
 काकं कलङ्कसदृशं भृशमारटन्तम् ।
 हा कष्टशब्दशतनष्टविचेष्टितो यो
 नो रोदिति क्रकचकेन विदार्यतां सः ॥ ७१
 विशरारुशरारुमये
 बकमहुघने च पत्वले चपलाः ।
 स्युर्यदि कौशिककाका-
 स्तत्स्यादेषा समन्विता गोष्ठी ॥ ७२

अस्मिन् कुपत्वले उपविश्य राजहंसविडम्बनाय विविधा
 लीलाः करोति हा कष्टं हे राजन्, त्वं पश्य ॥ ६९ ॥ वक्षनाप-
 हारादिना खलभ्यधनादिभागं न्याय्येनोपायेन साधुर्मां प्राप-
 दिति शङ्कया तन्निरासाय राजसभासु कटु रटन्तं खलं प्रत्यन्या-
 पदेशेन कश्चिदाह—हे काकेति । कर्कशरवलक्षणो यः श्रोतृ-
 कर्णविदारणः क्रकचः स एवैकं चिह्नं यस्य तथाविध हे काक,
 स्वभागमकाको मा भुङ्क्षामिति शङ्कया सदा काकानंवाहयंस्त्व
 रटसि तत्ते तादृक् स्वशङ्कनमद्य क नु यातम् । त्वमेकः पुत्रो
 मे जीवत्वित्याशया पिकस्य कोकिलस्य पाकमर्थकं कस्मादनर्थकं
 व्यर्थं पुष्णासि । हि यस्माद्धेतोः कटुभाषणैकशीलस्य तन्भ्रान्त्या
 क्रियमाणमपि सुखरपिकपोषणं न मनोरथसिञ्च्यं किंतु उपहास-
 सिञ्च्यं भविष्यतीत्यर्थः ॥ ७० ॥ काकमालोक्य कश्चिदाहेति
 शेषः । किमाह तदाह—हा इति । हे काक, यः पुरुषस्तव
 खलानां वा कष्टैः क्रूरैः शब्दशतैः श्रुतैः खेदाजष्टविचेष्टितः सन्
 नो रोदिति स पुरुषस्त्वया कटुवक्रकचकेन विदार्यताम् । अहं
 तु न तथेति किमर्थं रटसीत्यर्थः ॥ ७१ ॥ खलसभायाम-
 न्येऽपि खला एव योग्या नैकोऽपि साधुरित्यन्यापदेशेनाह—
 विशरारुविति । विशरारुभिः संचरद्भिः शरारुभिर्हंसैः प्रचुरे
 बकैर्महुभिर्जलकाकैश्च घने पत्वले बदि चपलाः कौशिका
 उल्लङ्घाः काकाश्च स्युस्तर्हि एषा पत्वलरूपा गोष्ठी सभा
 तथोग्यैः समन्विता स्यात् । कौशिककाका इत्यत्र सतोपि विरो-
 धस्याविवक्षितत्वात् 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति द्वन्द्वैक-
 वद्भावो न कृतः । शकुनिद्वन्द्वैकवद्भावस्तु वैकल्पिकः ॥ ७२ ॥

कोकिलः काकसंघातैः संमसंघरणाकृतिः ।
 गदितैर्व्यक्ततामेति सभायाम्निष पण्डितः ॥ ७३ ॥
 मृदुकुसुमाङ्गुरदलनं
 सोदुमलं कोकिलस्य कुसुमलता ।
 न तु कङ्कटप्रमहक-
 वककुटवायसादीनाम् ॥ ७४ ॥
 भ्रोत्रोत्सवं तव कलं कलकण्ठ कौऽत्र
 नादं शृणोति रतिविग्रहसंधिदूतम् ।
 काकैरुलूककलहैरिह गुल्मकेषु
 क्रंकारघर्घररवैः श्रुतिरागतास्तम् ॥ ७५ ॥
 वाचाकोमलया सुकोकिलशिशुः कल्याणकल्पां कथां
 सर्वावर्जनमार्जवेन कुरुते यावत्पुरो राणिणाम् ।
 तावन्मसनयोऽयमित्यधिरतं द्रंकारभीमारवै-
 ध्वाङ्गेणोपवने निपत्य नभसः सर्वे कृता नीरसाः ७६
 किं किं कोकिल कूजसि द्रुतरवं हर्षात्समुल्लासितं
 ग्रीवाकोटरतः प्रवेशय पुनर्मा भूषिरं ते भ्रमः ।
 उद्दामैः कुसुमैर्निरन्तरतरं नेदं मधोर्जृम्भितं
 हेमन्तेन कृतास्तुषारनिकरैः शुष्का अमी पादपाः
 इत्यार्षे श्रीवा० बा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विपक्षि० शृङ्गाककोकिलान्योक्तिवर्णनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥११६॥

कूजकोकिल कोमलं कलरवैर्नित्यं प्रशस्ताकृते
 केनेदं यत शिक्षितोसि वचनं दुःखप्रदं दुर्भगम् ।
 चैत्रे चित्रनवाङ्गुरे विरहिणी वक्ति त्वया यात्मनः
 कस्यायं मधुरित्यतस्तव तवेत्युक्तं त्वरोचैस्सरोः ॥७८
 मौनस्पन्दविहारवर्णवपुषां साम्येऽपि काकमजेऽ-
 काकः कोकिल एष कान्तिरुचिरो दूरात्परिज्ञायते
 मध्ये मूर्खजनस्य पण्डित इव स्वाकारमव्यक्रियः
 सर्वो हि प्रथिमानमेति सदृशस्वान्तश्चमत्कारतः ॥
 भ्रातः कोकिल कूजितैरलमलं नायात्यनर्घ्यो गुण-
 स्तूष्णीमास्व विशीर्णपर्णपटलच्छत्रे क्वचित्कोटरे ।
 उद्दामद्रुमकन्दरे कटुरटकाकावलीसंकुलः
 कालोयं शिशिरस्य संप्रति सखे नायं वसन्तोत्सवः ।
 चित्रं मातरमेष कोकिलशिशुः संत्यज्य काकीं गतः
 सैवैनं तुदतीति यावद्दहमप्याचिन्तयामि क्षणम् ।
 तावत्सोऽपि तथाशु मातृसदृशं त्रिष्टो रसाद्धितुं
 यामायाति दिशं स्वभावसुभगः सैवास्य माहा-
 त्म्यदा ॥ ८१

वर्णतः समाः संघरणाः शरीराच्छादकाः पक्षा आकृतिः संस्थानं
 च यस्य । गदितैर्व्यक्तवाग्भिः ॥ ७३ ॥ साधूनामपराधोऽपि
 सोढुं शक्यः खलानां तु संवन्ध एव दुःसह इत्याशयेनाह—
 मृद्विति । वायसादीनां संस्पर्शमपीति शेषः ॥ ७४ ॥ खल-
 सभायां सद्विशोपन्यासोत्सुकं जनं प्रति कश्चिदाह—भ्रोत्रेति ।
 हे कलकण्ठ कोकिल, अत्र दंपत्योः रतिविग्रहे मानादिनिमित्ते
 प्रणयकलहे संधां संधाने दूतभूतं कलं मधुरमत एव भ्रोत्रोत्स-
 वभूतं तव नादं कः शृणोति । यतः इह पिचुमन्दगुल्मकेषु
 उलूकैः सह सदैव कलहो येषां तथाविधैः काकैः क्रंकारघर्घररवैः
 सर्वेषां श्रुतिः श्रोत्रेन्द्रियमस्तमागतां बधिरतां गतेति यावत्
 ॥ ७५ ॥ उपवने राणिणां श्रवणानुरागवतां पुरःसु कोकिल-
 शिशुः कोमलया वाचा कल्याणं महोत्सवस्तत्कल्पां कथां कृत्वा
 यावदावर्जनेन सर्वेषां श्रोतृणामावर्जनं मनोरञ्जनं कुरुते तावद्वा-
 ङ्गेणोपनिपत्य अयं कोकिलशिशुर्मसनयो मम पुत्रो मया पुष्टो
 मयोजीवित इत्यादिभिर्द्राकारो न्यक्कारस्तद्रूपैर्भारिारवैः सर्वे
 श्रोतारो नीरसा निरुत्साहाः कृताः ॥७६॥ अयोग्येषु श्रोतृष्व-
 समये योग्यतादिभ्रमेण स्वगुणप्रदर्शनोत्सुकं क्वचित्प्रत्यपर आह—
 किं किमिति । हे कोकिल, त्वं श्रोतृणां, योग्यतादिकमविचा-
 र्यैव स्वगुणप्रख्यापनोत्सुक्यप्रयुक्ताद्धर्षात् द्रुतरवं किं किं कूजसि ।
 अषाधे द्विवचनम् । ग्रीवाकोटरतो हर्षात्प्रवृत्तं समुल्लासितं
 कूजनसमुल्लासं पुनरन्तः प्रवेशय । ते चिरमयं गुणोपन्या-
 सकाल एते च श्रवणयोग्या इति भ्रमो मा भूत् । इदं उद्दामैः

कुसुमैर्निरन्तरतरं मधोर्वसन्तस्य जृम्भितं न किंतु हेमन्तेन
 अमी पादपास्तुषारनिकरैः शुष्काः कृताः । तथा च नेतेषु त्वद्विरां
 साफल्यमित्यर्थः ॥ ७७ ॥ चित्रा नवा अङ्गुरा यस्मिन्तथाविधे
 चैत्रे मासि या विरहिणी सा वक्ति । किं वक्ति । नित्यं प्रशस्ता-
 कृते हे कूजकोकिल, अयं मधुश्चैत्रो मासः कस्येत्यतः अस्मा-
 न्मत्प्रश्नात्त्वया आत्मनः स्वस्य मधुस्सरोः सकाशात्त्वरोचैस्त्व
 तवेति कलरवैः कोमलं यदुक्तमिदं दुःखप्रदं दुर्भगमनृतं वचनं
 केन शिक्षितोऽसि । बतेति खेदे । न हि विरहदुःखिताया मम
 मधुः किंतु प्रियया सह कलं गायतस्तवं, एवं च मम ममेति
 वक्तव्ये तव तवेत्यनृतोक्तिर्मत्पीडनार्थैव तवेत्यर्थः ॥ ७८ ॥
 काकमजे काकसमूहे मौनस्पन्दस्य पक्षादिचलनस्य विहारस्य
 वर्णस्य वपुषो गात्रस्य च साम्येऽपि कान्तिरुचिर एष कोकिलो
 मूर्खजनस्य मध्ये पण्डित इव दूरादेव अकाकः परिज्ञायते
 परिचीयते । तथा हि । सर्वोऽपि स्वाकारसूचितमव्यक्रियः
 पुरुषः सदृशाद्युक्तास्वान्तश्चमत्कारतो निगूढोऽपि प्रथिमानं
 प्रख्याति एति ॥७९॥ हे सखे भ्रातः कोकिल, अयं कटुरटका-
 कावलीसंकुलः शिशिरस्य कालो वसन्तोत्सवो न । संप्रति
 कूजितैरनर्घ्यो गुणो नायाति अतः कूजितैरलमलम् । क्वचि-
 दुद्दामद्रुमकन्दरे विशीर्णः पर्णपटलैश्छत्रे कोटरे तूष्णीमास्व
 ॥ ८० ॥ तत्राश्वयोणिं दर्शयति—चित्रमिति । एष कोकि-
 लशिशुः काकीं मातरं संत्यज्य यद्गतस्तदेकं चित्रम् ।
 तदुत्तरं सैषा काकी माता एनं कोकिलशिशुं चक्षुचरणेन
 तुदति इत्यपरं चित्रमित्यहं क्षणं यावदाचिन्तयामि तावत्स

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ११७

सहस्ररा ऊर्ध्वः ।
 पद्याद्रिसानाविष बिम्बितं चं
 पुरःसरो मारपुरःसरो यः ।
 कृद्धारपद्मोत्पलजालनाल-
 ललद्विचित्रारवपक्षिवीतम् ॥ १
 बिकासितोद्गण्डसहस्रपत्र-
 कोशस्थलस्थोद्गुरराजहंसम् ।
 पीठद्विरेफद्विजलोकजुष्टं
 भुवीव गेहं कमलासनस्य ॥ २
 आकीर्णसीकरकरालदिगन्तराले
 फुल्लोत्पलान्नपटलोदरेणुगौरम् ।
 आमोदमत्तमधुपद्विजगीतिगीतं
 यातं वितानकमिवाम्बरगं वहन्तम् ॥ ३
 कच्चित्तरन्तारतरङ्गभङ्गं
 कच्चिद्विपद्मूरिविराविभृङ्गम् ।
 कच्चिद्रभीरामलवारिसुतं
 कच्चित्सरोजोद्भवलपुष्पगुप्तम् ॥ ४

कोकिलशिशुरपि रसादुत्साहान्मातृसदृशं वर्धितुं श्लिष्ट उषु-
 क्तोऽभूदित्यपरं चित्रम् । तथा हि । स्वभावसुभगो भाग्यवान्
 जनो यां दिशमायाति सैव दिगस्य माहात्म्यदा संपद्यत इत्यर्थः
 ॥८१॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे शुकककोकिलान्योक्तिवर्णनं नाम षोडशाधिकश-
 ततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

वर्णयतेऽत्र सरः पद्मकुमुदोत्पलमण्डितम् ।

पद्मभ्रमरहंसाद्यास्तप्रसङ्गेन वर्णिताः ॥ १ ॥

तत्रादौ त्रयोदशभिः सर एव प्राधान्येन वर्णयितुं प्रसूति—
 पश्येति । हे राजन्, इह पुरः अद्रिसानौ कृद्धारपद्मोत्पलजालानां
 नालेषु मृणालार्थं ललद्विः क्रीडद्विर्विचित्रारवैः पक्षिभिर्वीतं
 व्याप्तम् । अत एव सनक्षत्रपक्षिकं प्रतिबिम्बितं खमिव स्थितं सरः
 पश्य । यः अद्रिसानुः सरःशोभातिशयेन मारस्योद्दीपकत्वात्पुरः-
 सरः प्रधानमृत्य इवास्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ तदेव सरो विशिनष्टि—
 बिकासितेत्यादिद्वादशभिः । बिकासितेषूद्गण्डेषु सहस्रपत्राणां
 पद्ममेदानां कोशस्थलेषु स्थिता उद्गुरास्तच्छोभाधुरन्धरा राज-
 हंसा यत्र तथेन्द्रनीलपीठस्थानीयैर्द्विरेफैर्द्विजैः सारसकौशादि-
 पक्षिभिर्ब्राह्मणैर्लोकैर्जनैश्च जुष्टं सेवितं भुवि कमलासनस्य गेह-
 मिव स्थितम् ॥ २ ॥ आकीर्णैः सीकरैः करालानि सहिमानि
 दिगन्तरालानि येन । फुल्लानामुत्पलान्जादीनां पटलस्य समूह-
 स्योदरस्थै रेणुभिर्गौरम् । आमोदमत्तानां मधुपानां द्विजानां च
 गीतिभिर्गीतम् । ऊर्ध्वं यातं वितानकमिवाम्बरगं मेघनीहारादि-
 प्रतिबिम्बच्छलेन वहन्तं वहत् । पुंस्त्वं छान्दसम् ॥३॥ कच्चित्
 तरन्तस्सारास्तरङ्गभङ्गा यस्मिन् । कच्चिन्मदोत्कर्षात्परस्परं
 द्विषन्तः अत एव भूरिविराविणो मृगा यत्र । गभीरेणामल-

कणाणुमुकाजलतापटालं
 तीरेषु सिंहे सुलतासुटालम् ।
 तरङ्गनिर्धूतशिलोप्रकच्छं
 महीतलाकाशमनस्तकच्छम् ॥ ५
 तडित्प्रकाशोदरमस्यमेघ-
 नुभ्राजजातोत्थरजःप्रभाभिः ।
 पृषद्भ्रमरध्वान्तमयैकदेशं
 संध्याम्बराभोगमिवाप्रकाशम् ॥ ६
 वातावकीर्णशरदम्बुदखण्डखण्डं
 व्योमेव केवलसमीरणमावृताङ्गम् ।
 हंसैर्लसद्विसलताकवलालसांसैः
 कालेन संचयकृतैरिव चन्द्रबिम्बैः ॥ ७
 आमोदमन्दमकरन्दकरालघात-
 व्याधूतपद्मपुटपाटनपाटवेन ।
 उद्यन्महापटपटा वयतीव लेखा
 क्षुभ्यत्स्वधाभितलतोज्जितपुष्पवर्षम् ॥ ८

वारिणा निश्चलत्वात्सुतमिव । सरोजैर्ज्वलपुष्पैः कुमुदैश्च गुतं
 शोषितमिव च्छन्नम् ॥ ४ ॥ कणाणुभिः सीकरीभूर्तमुका-
 प्राबैर्जलैस्तापं टालयति अपसारयतीति तापटालम् । तीरेषु
 सिंहे प्रतिबिम्बसिंहान्तरशङ्कया जलपानाप्रगल्भतां कच्चिद्वि-
 प्रादारभ्य जलपर्यन्तं प्रलम्बिताभिः सुलताभिः प्रतिबिम्बदर्शन-
 निरोधेन सुषु टालयतीति तत्तथा । तथा तरङ्गनिर्धूतशिलाः
 पद्मोप्राः कच्छा जलप्रायप्रदेशा यस्य । तथा अनन्तैर्मेघैरनन्त-
 कच्छं महीतले अवतीर्णमाकाशमिव स्थितम् ॥ ५ ॥ अस्याः
 निरसनीया मेघा यस्य तथाविधेन वायुना नुञ्जं कम्पितं यद-
 ब्रजातं पद्मसमूहस्तदुत्थरजःप्रभाभिस्तडित्प्रकाशमिव उदरं
 यस्य । अत एव एकतः पृषद्भ्रमरयो जलविन्दुप्रचुरः अन्यतश्च
 ध्वान्तमयोऽन्धकारप्रचुर एकदेशो यस्य तथाविधं संध्याकालिक-
 मम्बराभोगमाकाशसंस्थानमिव आसमन्तात्प्रकाशत इत्याप्रकाशं
 ईषत्प्रकाशमिति वा ॥ ६ ॥ बिसलतामृणालानि तल्लक्षणानि
 यानि कवलानि शिशूनां पोषणाय नीडं प्रति नीयमानानि
 तद्भारेण अलसा अंसाः स्कन्धा येषां तथाविधं हंसैः कालेन
 एकत्र संचयरूपेण कृतैश्चन्द्रबिम्बैरिव स्थितैः आवृताङ्गं सत्
 वातावकीर्णैः शरदम्बुदानां खण्डखण्डा बहवः खण्डा यस्मि-
 स्तथाविधं व्योमेव केवलसमीरणमपि लसत् किं पुनः सर्वगुणो-
 पपन्नसमीरणमित्यर्थः ॥ ७ ॥ अस्य सरसः आमोदभरादिव
 मन्दमैकरन्दसंपर्कात्करालैराद्वैर्वातैर्व्याधूतस्य पद्मपुटस्य जल-
 संमिश्रितपद्मभागस्य यत्पाटनं पद्मस्याधोनयनेन जलाद्विभजनं
 तद्विषये पाटवेन स्वरया उद्यन्महापटपटा इति शब्दो यस्या-
 स्वधाविधा लेखा तरङ्गपङ्क्तिः स्वध्वनि क्षुभ्यत्स्वगौराश्रिताभिस्तीर-
 लताभिरुज्जितं पुष्पवर्षं वृष्टानि पुष्पाणि सरःपटवृष्टौ वयतीव

साम्यं न फुल्लविपिनेन सरःसु याति
 व्योम्ना न तारकयुतेन न चेन्दुवृन्दैः ।
 नृत्यद्भूविहसितामनशोभयैति
 फुल्लस्य पङ्कजवनस्य नवोदिता भीः ॥ २३
 येषां पुष्पलतास्वादैरनन्यमनसां गतम् ।
 भृङ्गाणामायुरायामि त एव सुभगोत्तमाः ॥ २४
 चूतचारुचमत्कारं चञ्चरीकाञ्चरन्ति ये ।
 त एव सचमत्कारा इतरे जातिपूरणम् ॥ २५
 मत्ता मधुमदामोदैः पुष्करेषु रणन्ति ये ।
 तुष्टानामितरस्वादैर्भ्रमराणां हसन्ति ते ॥ २६
 येनोषितं विरुतमुल्लसितं प्रसुप्तं
 पद्मोदरेषु शशिकोटिकोमलेषु ।
 भृङ्गः स एव शिशिरे विरसेषु भावं
 कष्टं करिष्यति कथं तरुपुष्पकेषु ॥ २७
 अफुल्लमल्लिकोद्दाममुकुलोपरि षट्पदः ।
 दृश्यते कालरुद्रेण श्ले प्रोत इवाम्धकः ॥ २८
 आस्वादयन्विधपुष्पमधूनि भृङ्ग
 नित्यं भ्रमन्सकलशैललतागृहेषु ।
 नाद्यापि तुष्यसि किमङ्ग दुराशयोऽसि
 मन्थे न सारमुपगच्छसि वा वनेभ्यः ॥ २९

इति योज्यम् ॥ २२ ॥ सरःसु फुल्लस्य पङ्कजवनस्य नवोदिता
 श्रीः शोभा फुल्लेन मन्दारादिविपिनेन साम्यं न याति । तारकयु-
 तेन व्योम्नापि साम्यं न याति । एवमिन्दुविम्बैरप्येकत्र मिलितैः
 साम्यं न याति । किंतु नृत्यन्तीनां वधूनां विहसितयुक्तया
 आननशोभया साम्यमेति लभते इत्येतद्विध्यर्थापूर्वोपमाननिरा-
 किया ॥ २३ ॥ प्रसङ्गाद्भृङ्गान्वर्णयति—येषामिति । येषां
 भृङ्गाणां पुष्पलतास्वादैरायामि दीर्घमायुर्गतं ते भृङ्गा एव सुभ-
 गोत्तमाः । हे सुभगेति पृथक्पदं वा ॥ २४ ॥ चूतस्य चारुचम-
 त्कारं सुगन्धि मकरन्दरसं नवाङ्कुरकषायरसं च चरन्ति
 आस्वादयन्ति ये भृङ्गाः कोकिलाश्च ॥ २५ ॥ पद्ममकरन्दास्वा-
 दिनो भृङ्गा वनान्तरासक्तान् भृङ्गान् हसन्तीवेत्याह—मत्ता
 इति । ये भृङ्गाः भ्रमराणां हसन्ति । जन्मेति शेषः । कर्मणः
 शेषत्वविवक्षा वा ॥ २६ ॥ येन भृङ्गेण पद्मोदरेषु उषितं विहृतं
 उल्लसितं प्रसुप्तं च स एव भृङ्गः शिशिरे विरसेषु तरुपुष्पकेषु
 भावं प्रीतिं कथं करिष्यति ॥ २७ ॥ मुकुलपदेनैवाफुल्लत्वे
 लब्धे अफुल्लपदं विकसोन्मुखव्यावृत्त्या श्लेसाम्योपपादनार्थम्
 ॥ २८ ॥ अङ्ग हे भृङ्ग, त्वं विविधपुष्पमधूनि आस्वादयन्सन्
 सकलशैललतागृहेषु नित्यं भ्रमन्नापि किं न तुष्यसि । मधुल-
 म्पटत्वाहुराशयोऽसि अद्यापि वनेभ्यः सारं नोपगच्छसि वा ।
 कष्टमिति खेदे । मन्थे इति वितर्के । न हि सारलभे अपरितोषो
 भ्रमणं वा संभावयितुमपि शक्यमिति भावः ॥ २९ ॥ कमल-
 कुले पद्मवने कवलनं कवलो मकरन्दास्वादं तत्र कोविद हे

कमलकुलकवलकोविद
 गच्छ सरो मधुप मा रुढम् ।
 बदरदरीषु विदीर्णं
 देहं कुरु कण्टककचैः ॥ ३०
 अतसीकुसुमे कुवलय-
 दलवलये विकसिते च तापिच्छे ।
 परभागमेहि मधुना
 तासु विसदृशीष पण्डितः पुरुषः ॥ ३१
 पश्यैषा नाभिनलिनीकेसरैः पालिता भ्रिया ।
 हंसमालामलावल्ली सामगायनकूजिता ॥ ३२
 दोलाकमलनीडस्थां दृष्ट्वा खे प्रतिविम्बिताम् ।
 हंसो हंसीमनुसरन्मण्डले नेह चेतति ॥ ३३
 मा भूक्तस्यन्निदेवैषा राजम्यसनिता भृशम् ।
 पश्यैतां विम्बितां हंसो हंसीमनुसरन्मृतः ॥ ३४
 हेलया राजहंसेन यत्कृतं कलकूजितम् ।
 न तद्वर्षशतेनापि जानात्याशिक्षितुं वकः ॥ ३५
 समानेष्वकाराकारजातिष्वेष्टाशनादिषु ।
 हंसस्य राजहंसस्य दूरमत्यन्तमन्तरम् ॥ ३६
 शुक्लपक्षस्थितो व्योम्नि कुमुदाकरभासकः ।
 आहादयति चेतांसि हंसमन्द् इवोत्थितः ॥ ३७

मधुप, त्वं सरः पद्माकरं गच्छ । रुढं मकरन्दपुष्टं स्वदेहं
 बदरदरीषु कण्टककचैर्विदीर्णं मा कुरु ॥ ३० ॥ हे मधुप,
 यासु हेमन्तशिशिरादिकालकलासु कमलानि न लभसे तास्यपि
 त्वद्वर्णसदृशे अतसीकुसुमे तथा कुवलयदलवलये तथा विक-
 सिते तापिच्छे तमाले च यथायोगं प्राप्तेन मधुना आयुषः पर-
 भागं एहि यापय । यथा पण्डितः पुरुषः स्वानुरूपप्रभुसमाजा-
 यलामे विसदृशि प्रभौ वसन्नपि विद्वत्प्राप्तये वसति न किरात-
 कुले तद्वदित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्र हंसमालां वर्णयन्दर्शयति—
 पश्येति । हे राजन्, सरोनाभिनलिनीनां केसरैरुपभुक्तैस्तत्स-
 मानवर्णरूपया भ्रिया शोभया पालिता हंसमालालक्षणा अमला
 वल्ली सामगायनमिष गम्भीरं कूजितं यस्यास्तथाविधास्ति तां
 पश्येत्यर्थः । गायनमित्यशित्यात्वाभावश्छान्दसः । अथवा भग-
 वन्नाभिनलिनीकेसरैः भ्रिया लक्ष्म्या पालिता यथार्थसामगान-
 मेव कूजितं यस्यास्तथाविधेति देवाहृष्टाद्वाहंसमालापरतया
 ग्याह्येयम् ॥ ३२ ॥ इह सरोमण्डले खे हंसीमनुसरन् हंसः
 प्रतिविम्बितां दोलासदृशे कमलनीडे स्थितां हंसीं दृष्ट्वा तत्पत-
 नमज्जनशाङ्क्या न चेतति । मूर्च्छितोऽभूदित्यर्थः ॥ ३३ ॥ तादृशीं
 स्त्रीव्यसनितां निन्दति—मा भूदिति । अप्यर्थे एवकारः ॥ ३४ ॥
 ॥ ३५ ॥ आकरो जन्मस्थानम् । आकारः संस्थानम् । अक्षन-
 माहारः । आदिपदाक्षामवर्णोदयो एष्टन्ते । इतरहंसस्य राजहं-
 सस्य चात्यन्तमन्तरं तारतम्यं दूरं विप्रकृष्टम् । यतस्ते मानसे
 खर्णपद्मवने क्रीडन्ति समुद्रे च निमज्ज्य मुक्ताः खादन्ति सर्व-
 पक्ष्याण्ये कर्षीभागे वभसः संचरन्ति नाम्ये इति भावः ।
 'राजहंसास्तु ते चमुचरषैर्लोहितैः सिताः' ॥ ३६ ॥ श्लेकेन पक्षेण

उज्जालनलिनीनालकदलीस्तम्भसंकुले ।
 वने विहरतां लक्ष्मीं हंसानामेति कः खगः ॥ ३८
 तरङ्गवलयो लोलसीकरोत्करहारिणी ।
 कुमुदोत्पलकहारपुष्पसंभारसुन्दरी ॥ ३९
 भृङ्गलोलालकलता रणत्सारसनूपुरा ।
 वर्तुलावर्तनाभीका चलद्वीचिचिलोचना ॥ ४०
 प्रतीक्षमाणा दयितं रसपूरकरं धरम् ।
 नारीव सरसी चारुहंसकाभ्यां विराजते ॥ ४१
 हे हंस महुषकाकशरावसारे
 मा त्वं सरस्यधिरतं कुरु वासमेकः ।
 आपद्यपीह समशीलवयोवचोभिः
 श्रेयःफला भवति संगतिरात्मवर्गेः ॥ ४२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० वा० दे० मो० नि० उ० अवियो० विप० पद्मभ्रमरहंसवर्णनं नाम सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥११७॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः ११८

सहचरसहचर्यः क्रमेणोचुः ।

निर्गुणस्य बकस्यास्य गुण एकोऽस्ति दृश्यताम् ।
 यत्प्रावृषं स्मारयति प्रावृष्टं प्रावृष्टिति ब्रुवन् ॥ १

चन्द्रः शुक्लाभ्यां पक्षाभ्यां हंसो व्योम्नि स्थितः । कुमुदाना-
 माकरस्य भासको विकासकचन्द्रः शोभाहेतुर्हंस इति तयोः
 साम्यम् ॥ ३७ ॥ उज्जाला या नलिन्यस्तज्जाललक्षणैः कदली-
 स्तम्भैः संकुले कदलीवनप्रये पद्मवने विहरतां हंसानां लक्ष्मीं
 शोभास्मित्युत्तानोऽर्थः । तात्पर्यतस्तु योगेन ऊर्ध्वकृतनाला
 या हृदयपद्मलक्षणा नलिनी तस्याः प्राणायामाभ्यासाद्विकासेन
 कदलीवयः स्तम्भनं स्तम्भस्तसंकुले प्रागुक्तहृत्पद्मत्रयलक्षणे
 वने निरस्तत्रिविधतापनिरतिशयानन्दास्वादानेन सदा विहरतां
 हंसानां यतीनां जीवन्मुक्तिमुखसाम्राज्यलक्षणां लक्ष्मीं संपदं
 खगो देवोऽपि क एति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ इदानीं तां सरसीं
 नारीसाम्येन रूपयन्तुप्रेक्षते—तरङ्गैत्यादिना । तरङ्गा एव वलया
 यस्याः । लोलैः सीकरोत्करैर्हारिणीं हारवती ॥ ३९ ॥ भृङ्गा एव
 लोला अलकलता यस्याः ॥ ४० ॥ रसो मनोरथो जलं च तस्य
 पूर्तिः पूरस्तकरं धरं पर्वतं प्रतीक्षमाणा प्रतिमुखमीक्षमाणा ।
 हंसकाभ्यां मञ्जीराभ्यां हंसपोताभ्यां च ॥ ४१ ॥ प्रसङ्गात्कश्चि-
 दन्यापदेशेन कंचित्प्रत्याह—हे हंसैति । हे हंस, त्वं महुषल-
 काको बकः प्रसिद्धकाकश्च एतद्रूपा ये शरारथो हिंसास्तसारे
 तत्प्रधाने सरसि एको वासं मा कुरु । यतः इह आपद्यपि
 समशीलवयोवचोभिरात्मवर्गेहंसैरेव सह संगतिः श्रेयःफला
 सुखोदका भवति नान्यैरित्यर्थः ॥ ४२ ॥ अन्यः प्रसङ्गादाह—
 पादेति । पादैराकान्ता महेभानां मस्तकतटा येन तथा पद्या-
 कर एवैक आलयो यस्य तथा कदाद्यादिलतावधूनां संभोग-
 भ्रमरवान् एष ईदृशप्रभावोऽपि भृङ्गो विधेर्देवस्य वसेन

पादाकान्तमहेभमस्तकतटाः पद्माकरैकालयः
 कदारोत्पलकुन्दचम्पकलतासंभोगसौभाग्यवान् ।
 भृङ्गोऽप्येष विधेर्वशेन शिशिरे लोष्टं तृणं खादयन्
 शीते शुष्कवक्यहो नु विपदा दैन्ये मनो दीयते ॥ ४३
 पुत्रस्येह दलोदरे द्युति तरत्तारं चिरं संस्मृतं
 हंसस्यांसधिनुभनालगहने संचारिणा भो मया ।
 शुक्लासारमिवाङ्गिनी विकिरति स्वं वारिबिन्दूत्करं
 मध्याह्ने शिशिरं विकासि सहसा मूर्ध्नि स्फुटं
 दृश्यताम् ॥ ४४
 व्योम्नीन्दोरिव सौम्यवारिणि चिरं निःशब्दकं सर्पतो
 हंसस्यांसहताज्जनालवलनानिष्कम्पटङ्कगतैः ।
 गङ्गावारिवदत्र पुष्करपुटाद्गङ्गादिवास्योपरि
 भ्रष्टा ये जलबिन्दवो जलचरा दृष्टाः पिबन्त्याशु तान्

बक हंस इवाभासि सरःस्थो महुसौहृदम् ।

मृशंसत्वं च वाणीं च त्यक्त्वा हंसो भव स्फुटम् २

शिशिरतीं लोष्टं तृणं च खादयन्नाखादयन्सन् शुष्को बक
 इवाचरति बकति । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे किञ्चक्यः'
 इति क्विप् । अहो इति सखेदाक्षर्ये । विपदा महङ्गिरपि मनो
 दैन्ये दीयते ॥ ४३ ॥ भो राजन्, हंसस्यांसाभ्यां पक्षाभ्यां विजुञ्जे
 नालगहने नालवने प्रविष्टेन मया द्युति द्योतमाने पद्मदलोदरे
 निविष्टस्य पुत्रस्य हंसपोतस्य तरङ्गिः सरत् तारमुञ्जेः खरं स्वपितरं
 प्रति यद्वचनं तत्सदृशदर्शनोद्दोषकसमवधानात्संस्मृतम् । किं
 तद्वचनं तदाह—शुक्लेति । हे तात, अब्जिनी शुक्लं मुक्तामय-
 मासारमिव स्वं वारिबिन्दूत्करं विकिरति । मूर्ध्नि शिरोभागे
 मध्याह्नकालेऽपि सहसा विकासि शिशिरं हिमं स्फुटं प्रत्यक्षं
 दृश्यतामिति ॥ ४४ ॥ हे राजन्, इह सरसि व्योम्न्याकाशे इन्दोरिव
 चन्द्रवत् सौम्ये प्रसजे वारिणि निःशब्दकं सर्पतो गच्छतो हंसस्य
 अंसाभ्यां पक्षाभ्यां हंसानि यान्यब्जनालानि तत्संबलनलक्षणै-
 निष्कम्पटङ्काघतैः पुष्करपुटाद्गङ्गात् हिरण्यगर्भोसनपुष्करपुटा-
 दिव ये जलबिन्दवः अस्योपरि भ्रष्टस्तान् जलचरा मत्स्यादयो
 दृष्टाः सन्तो गङ्गावारिवदाशु पिबन्ति ॥ ४५ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पद्मभ्रमर-
 हंसवर्णनं नाम सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

बकमहूमयूराणां पाम्थानां च विद्योनिनाम् ।

मत्स्यानां चातकानां च चरित्रसिंह वर्ण्यते ॥ १ ॥

प्रावृष्टं प्रावृष्टिति बकशब्दस्याव्यक्तस्य व्यक्तवर्णैरनुकृत्योक्तिः
 ॥१॥ अत्रान्यन्यापदेशोक्तयः प्रावृष्टः । हे बक, त्वं वर्णतो हंस
 इवाभासि । महुसौहृदादिदोषभ्रमं त्यक्त्वा हंसो भवेत्यर्थः ॥२॥

गम्भीरं वारिगर्भं प्रसृतजलचरं ये प्रविश्य प्रविश्य
प्राक्प्रत्यान्प्रोतचञ्चञ्चतुरतर परं जग्धवन्तो विद-
ग्धाः

ते केनाप्यद्य दिष्ट्या मृतस्तिमिगमिताः कालयुक्ते
महिम्ना

नाक्रामन्ति क्रमस्थाः सुहरमपि पुरः पङ्क्तवो मद्रवो-
ऽमी ॥ ३

एवं विहन्यते लोकः स्वार्थेनेति प्रदर्शयन् ।
मद्गुर्मद्गुरुतां यात इत्येवं स्तौति दुर्जनः ॥ ४

उत्कन्धरो विततनिर्मलचारपक्षो
हंसोऽयमत्र नभसीति जनैः प्रतीतः ।

गृह्णाति पल्वलजलाच्छफरीं यदासौ
ज्ञातस्तदा खलु बकोऽयमितीह लोकैः ॥ ५

अतिबहुकालविलोला-
नवलोक्य बकांस्तपोदम्भान् ।

अत्रैवातिमिरस्थां-
स्तटवनिता विस्मिता धूर्तान् ॥ ६

अत्र जले हिमहेलाः
पश्येता अपहरन्ति सितपद्मान् ।

इच्छसि ता अनुगन्तुं
नाहं ते बल्लभा ब्रजामीति ॥ ७

हे चतुरतर, मत्स्यवधे विदग्धाः पण्डिता ये मद्रवः प्रसृता
जलचरा यस्मिन्स्थाविधं वारिगर्भं प्रविश्य प्रविश्य । पुनःपुनः
प्रविश्येत्यर्थः । प्राक् गिलनरामये मत्स्यैः प्रोताश्चञ्चवो येषां
तथाविधाः सन्तो मत्स्यान् जग्धवन्तो भक्षितवन्तस्तेऽमी मद्रवो
दिष्ट्या दैववशात्केनापि महिम्ना मृतस्तिमिभिर्मत्स्यजातिभेदैर्गल-
रुजं गमिताः सन्तः क्षुधातिशयकालयुक्ते आक्रमणे तीरे क्रमेण
पङ्क्तिबन्धेन स्थिताः सन्तोऽपि पुरस्तीरप्रदेशागतं सुहरमपि
मत्स्यं पङ्क्तवः सन्तो नाक्रामन्ति । आश्चर्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥
दुर्जनैर्लोकहिंसनेन स्वार्थसंपादनं मद्गुभ्यः शिक्षितमिति भङ्ग्य-
न्तरेणाह—एषमिति । एवं मद्गुवदेव स्वार्थेन वाञ्छितेन लोको
विहन्यते हन्तुं युज्यते इति इममर्थं प्रदर्शयन् मद्गुर्मम गुरु-
र्मद्गुरुस्तद्भावं प्राप्त इति एवं दुर्जनो मद्गुं स्तौति प्रशंसति ॥ ४ ॥
अत्र नभसि उत्कन्धर ऊर्ध्वकृतकण्ठो विततौ निर्मलौ चारु-
पक्षौ यस्य तथाविधोऽयं पुरोवर्ती हंस एवेति प्राग्जनैः प्रतीतो
निश्चितो बको यदा असां इह भूमौ पल्वलजलाच्छफरीं गृह्णाति
तदा बकोऽयमिति लोकैर्ज्ञातः ॥ ५ ॥ पल्वलादौ मत्स्यार्थ-
मतिबहुकालं विलोलान् अत्रैव सरसि तपोदम्भान् बकान्वि-
लोक्य ज्ञातधूर्तचरित्रा काचित्तटवनिता तथैवान्यत्रातिबहुकालं
विषयलाम्पट्येन विलोलानत्रैव तपोदम्भान् आतिमिरस्थान्
तिमिरोदयपर्यन्तं प्रतीक्षमाणान्धूर्तान्विलोक्य विस्मिताभूदि-
त्यर्थः ॥ ६ ॥ पान्धर्वा पद्महारिणीः पश्यन्तं पान्ध्रं प्रत्याह ।
हे कान्त, अप्रास्मिजले हिमं शीतं हेलयन्ति न गणयन्ति तथा-
विधा एता प्राणीणवञ्चः । हीति पृथक्पदम्, महिला एष

कुपितां तामनुनेतुं

यज्ञपरः पान्ध्र एष पथि कान्ताम् ।

अवलोक्य नरनायक

कुसुमलताकुहरकेलितीरवने ॥ ८

इति हावभावविलसित-

विचलनकोपार्धदृष्टिहसितानि ।

कुर्वाणा वरवनिता

कथयति ते दृश्यतां राजन् ॥ ९

बकमद्गुरारूपां नित्यमेकौकसामपि ।

संकरोऽस्ति मिथो बुद्धेर्न मूर्खविदुषामिव ॥ १०

चञ्चमे खञ्जरीटस्य कीटः किटिकिटायते ।

दौर्भाग्यस्य पुराणस्य पताकेवोच्छ्रितोऽनते ॥ ११

तारं तीरतरौ स रौति तरलो यावद्बकः प्रोल्लसं-
स्तावत्पल्वलगोष्पदेऽम्बुकलिले यावद्दलाहेहकम् ।

मज्जन्त्या प्रियवक्षसीव निपुणं त्रातं शफर्या भया-
द्दुद्भजेन महापदीह हि मृतेर्नान्यद्भवेत्सौख्यदम् ॥ १२

बकाजगरमद्रूनां हृदि या प्राणिनां धृतिः ।

अचर्वितनिगीर्णानां मन्ये निद्रोपमैव सा ॥ १३

आसन्नमद्गुबकगृध्रविडालसर्प-

दृष्ट्या भयं भवति यत्सलिलाशयानाम् ।

महेला इति वा । सितपद्मानपहरन्ति त्वं ता अनुगन्तुमिच्छसि ।
तेन अहं ते बल्लभा प्रिया न इति हेतोरहं ब्रजामीति ॥ ७ ॥
एवंवादिनीं कुपितां तां कान्तामनुनेतुमेष पथिकः पथि कुसुम-
लताकुहरे केलितीरवने यज्ञपरः प्रार्थयते । हे नरनायक, स्वम-
वलोकयेति द्वयोरन्वयः ॥ ८ ॥ इममेव पथिकं मिथुनचरित्रं
प्रागल्भ्यात्कथयन्तीं वाराजनां राज्ञे दर्शयति—इतीति ॥ ९ ॥
शारारूपां हिंसाणां निषादादीनाम् । बुद्धेः संकरो मेलनं प्रीति-
रिति यावत् ॥ १० ॥ कीटोऽत्र पतङ्गः । किटिकिटीति रौति
किटिकिटायते । जाजन्तादिवाथनिष्ठाकरोत्यर्थं कथम् । 'स्फिटि
किटायते' इति पाठे स्फेटयति विमोचयति पक्षाविति स्फिटि
चञ्चमे किटायते केटीति किटः कम्पमानः स इवाचरति ।
पुराणस्य प्राक्संक्षितस्य दौर्भाग्यस्य पापस्य उन्नते ऊर्ध्वभागे
उच्छ्रिता पताकेव ॥ ११ ॥ पल्वलतीरतरौ प्रोल्लसन् स बको
यावद्भूति कूजति तावदम्बुकलिले ईषज्जलार्दे पल्वलगोष्पदे
यावद्दलात् । यावदिति साकल्ये । सर्वप्राणेनेत्यर्थः । प्रिय-
वक्षसि रागादिव भयान्मज्जन्त्या शफर्या मृत्वापि स्वदेहकं
त्रातम् । इह संसारे महापदि प्राप्तायां हृद्भजेन मृतेर्भरणा-
दन्यत्सौख्यदं शरणं न भवेत् । तथा च मृत्वापि तया कृतं
खदेहरक्षणमुचितमेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥ बकादीनां हृदि उदरे
प्रविष्टानामचर्वितं निगीर्णानां मत्स्यादिप्राणिनां या धृतिश्चित्त-
स्थितिः सा निद्रोपमा सुषुप्तिसदृशी मूर्च्छेवेति मन्ये ॥ १३ ॥
सलिलाशयानां मत्स्यादीनां आसन्नमद्गुबकादिदर्शनेन यद्भयं
भवति तस्य भयस्याप्रतः अघनिपातप्रयुक्तो भङ्गो भयं तुण-

तस्याप्रतस्तृणमिवाशनिपातभङ्गो
जातिस्मरेण विदुषोक्तमदः पुरा मे ॥ १४
इह सरोवरतीरतरोस्तले
कुसुमशालिनि मुग्धमृगान्पुरः ।
समवलोकय लोकमलौ बला-
त्समवकीर्णनवोत्पलकेतकान् ॥ १५
वर्ही प्रोक्षतचित्तत्वात्तोयमिन्द्रं प्रयाचते ।
स पूरयति तेनास्य महात्मा निखिलां महीम् ॥ १६
मेघाननुसरन्त्येते मयूरास्तनपा इव ।
मलिनो मलिनस्यैव पुत्र इत्यनुमीयते ॥ १७
मृगानालोक्य पथिकमिन्तयन्दयितेक्षणे ।
पुरःस्थेषु पदार्थेषु यन्नपुत्रिकतां गतः ॥ १८
शिखी वार्यपि नावसे भूमेभुङ्क्ते बलावहिम् ।
दौरात्म्यं तन्न जाने किं सर्पस्य शिखिनोऽथवा ॥ १९
सज्जनाशयनीकाशं त्यक्त्वा वर्ही महत्सरः ।
पिबत्यम्बुध्रनिष्ठघृतं मन्ये तन्नतिमीसितः ॥ २०
लसत्कलापजलदाः पश्य नृत्यन्ति वर्हिणः ।
धुन्वानाः पिच्छकान्तीन्तुं प्रावृषः पोतका इव ॥ २१
वरवने वनवातविसारिणां
अपलचन्द्रकचारुतरङ्गिणाम् ।
इह पयोनिधिरेव कलापिनां
विस्तृतमुक्ततयेव विलासनः ॥ २२

मिवाल्पमेव । अदः रहस्यं मे पुरा जातिस्मरेण मन्स्यादियोनि-
दुःखानि स्मरता विदुषा स्वानुभूतमुक्तम्, नासत्यमिति मन्तव्य-
मित्यर्थः ॥ १४ ॥ नेत्रश्रोत्रशोभाबलात् अलौं भ्रमरे सति सम्य-
गवकीर्णानि नवोत्पलानि केतकानि च यैस्त्वथाविधानमुग्धमृगान्
लोकं प्रियाजनं समयलोक्य दर्शय ॥ १५ ॥ वर्ही मयूरः प्रोक्ष-
तचित्तत्वादङ्गुलाशयत्वादिन्द्रं तोयं प्रयाचते । याचेद्विं कर्मकत्वा-
दिन्द्रोऽप्यकथितं कर्म । स इन्द्रस्तेन प्रोक्षतचित्तत्वगुणेन संतुष्टः
सन् अस्य प्रीत्यै निखिलां महीं तोयेन पूरयति । यतो महात्मा
अत्युदार इत्यर्थः ॥ १६ ॥ स्तनं पिबन्तीति स्तनपा वन्सा इव
॥ १७ ॥ यन्ननिर्मितपुत्रिकातुल्यताम् । निषेष्टतामिति यावत्
॥ १८ ॥ किं सर्पस्य दौरात्म्यमथवा शिखिनो दौरात्म्यं तन्न जाने
॥ १९ ॥ तत्तस्मै सरसे या नतिः शिरोनमनं तद्गीतितः ॥ २० ॥
॥ २१ ॥ विस्तृता विश्राणिता मुक्ता येन तद्भवेनेव इह वने पयो-
निधिरेव कलापिनां मयूराणां विलासनो नर्तयिता न मेघः पश्ये-
त्यर्थः ॥ २२ ॥ हे चकितचातक, ते वनावर्नां प्रीप्से पावकदूषिता
संभावितपावका शुष्कतरुकोटरवासनिर्बन्धसूचिता अतिमानिता
सुखाय न हि भवति । कदलीवनसंनिहितानि शीतलहरिततृ-
णानि चर । कुल्यादिध्वम्बु पिब । कदलीवने विश्रमणं कलयेत्य-
न्यापदेशः ॥ २३ ॥ हे मयूर, अयमग्रे प्रदृश्यमानः अम्बर-
मारुह्युः पदार्थो मकरालयस्य समुद्रस्य वादिभिः पूर्णोदरो

चर तृणानि पिबाम्बु वनावर्ना
कलय विश्रमणं कदलीवने ।
चकितचातक पावकदूषिता
न हि सुखाय भवत्यतिमानिता ॥ २३
नायं मयूर मकरालयवारिपूर-
पूर्णोदरो जलधरोऽम्बरमारुह्युः ।
दावाग्निदग्धवनपादपकोटराप्र-
धूमावलीवलय उत्थित एष शैलात् ॥ २४
येनाब्देन शरद्विधावपि शिखी संतर्पितो वारिभि-
र्नो वर्षास्वपि पूरयेद्यदि सरस्तद्वाललोकोचितम् ।
आरब्धं समवेक्ष्य सज्जनजनो हासेन दुःस्थो भवे-
द्वर्हीत्यात्मतृषैव नेतुमखिलं कालं समभ्युद्यतः ॥ २५
स्फटिकविमलं पीत्वा तोयं घनोदरनिर्गतं
पिबति न पुनर्मार्गं क्षुभ्यंस्तृषापि शिखी जलम् ।
स्फुरति च घनं स्मृत्वा स्मृत्वा न चापि विपद्यते
गुणवति जने बद्धाशानां भ्रमोऽपि सुखावहः ॥ २६
इहातिवाहयन्त्येते मार्गदौस्थ्यं घनागमे ।
कथाभिः पथिकाः प्रायो विमूढा जीवितं यथा ॥ २७
पश्यात्र नाथ सरसः
कमलोत्पलकुमुदविसमृणालानाम् ।
कह्लारपत्रपयसां
भारानादाय बालिकाश्चलिताः ॥ २८

जलधर इति ते भ्रान्तिर्मा भूत् कित्वेप दावाग्निना दग्धानां वन-
पादपानां कोटराग्नेधूमावलीवलयः शैलादुत्थितस्तथा चास्थाने
ते नृत्यारम्भसंभ्रम इत्यर्थः ॥ २४ ॥ अनावृष्टौ भौमं वार्यपिबतो
मयूरस्याशयं कश्चिद्वर्णयति—येनेति । येन अब्देन मेघेन शर-
त्कालेऽपि शिखी मयूरो वारिभिः संतर्पितः स वर्षासु वर्षार्ता-
वपि सरो न पूरयेदिति यच्चरित्रं तद्वाल्लोकानां क्षुद्राणामेवोचितं
न महत्स्तस्य । औदार्ययोग्ये समयेऽप्यारब्धमिदमनौदार्यं सम-
वेक्ष्य पामरैः कृतेन हासेन सज्जनजनो दुःस्थो दुःखितो भवेत् ।
इति एवं विचिन्त्य वर्ही मयूरः आत्मनस्तृषैव निखिलं कालं
नेतुं समभ्युद्यत उद्युक्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥ तर्हि स मयूरः
किमनुषितकारी नेत्याह—स्फटिकविमलमिति । शिखी तृषा
क्षुभ्यन्नपि प्राक् स्फटिकविमलं घनोदरनिर्गतं तोयं पीत्वा पुन-
र्मार्गं सकर्दमं जलं न पिबति । तर्हि स कुतो न तृषा भ्रियते
तत्राह—स्फुरतीति । स घनं मेघं स्मृत्वा स्मृत्वा स्फुरत्युत्स-
सति नापि च विपद्यते भ्रियते । यतो गुणवति जने बद्धा आशा
यैस्तेषां भ्रमोऽपि सुखावह एव न दुःखद इत्यर्थः ॥ २६ ॥
कान्तावियोगिनां पथिकानां वर्षासु कश्चित् कथालापादिना
कष्टेन कालयापनं यथा आत्मज्ञानहीनानां मूर्खाणां जन्मयापनं
तथेत्याह—इहेति । एते पथिकाः ॥ २७ ॥ कह्लारपत्रनिबद्ध-
पयसां च भारानादाय बालिकास्तस्मिन्चलिताः । हे नाथ,

किमिदं नयथेति ततः
 पृष्ठाभिस्ताभिरुक्तमेतस्य ।
 वयसनज्वरतप्तायाः
 पथिक वयं बालसख्य इति ॥ २९
 अथ रागरक्तहृदयाः
 स्तनभरवितता विलासललिताङ्गः ।
 पथिकानां स्वरणपथं
 भूयोऽप्यनयन्प्रियाः स्वगेहस्थाः ॥ ३०

सा नूनं मम काम्ता
 दृष्ट्वा सुस्निग्धघनतमःश्यामम् ।
 गगनं च शून्यगहनं
 प्रलपति भुवि पतति विस्खलति ॥ ३१
 भृङ्गावलीकुवलयवलिताङ्गपात्र-
 संप्रेर्यमाणनलिनीमधुपानमत्तः ।
 हा वाति तीरतरुपल्लवलास्यलब्ध-
 संमुग्धशब्दगणगीतगुणो नमस्वान् ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० हरिणमयूरवकमुग्धादिवर्णनं नामाष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥११८॥

एकोविंशाधिकशततमः सर्गः ११९

सहचरा ऊचुः ।

कथयत्येष पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके ।
 प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम् ॥ १
 एकत्र शृणु किंवृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम् ।
 दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम् ॥ २
 अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे
 यो मां तयेह मम याति गृहं स कः स्यात् ।
 नैवास्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै
 प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत ॥ ३

पश्य ॥ २८ ॥ इदं भारजातं किं किमर्थं नयथ इति पृष्ठाभि-
 स्ताभिर्बालिकाभिरेतस्य प्रहृष्टमं उत्तरमुक्तम् । हे पथिक, वयं
 वियोगव्यसनज्वरतप्तायाः बालसख्यः, तथा च तदुपचाराय
 कमलोत्पलादिभाराणायाम इत्यर्थः ॥ २९ ॥ अथ तदुत्तरं स्वका-
 न्तेषु रागरक्तहृदयास्ताः स्त्रियाः पश्यतां पथिकानां स्वगेहस्थाः
 प्रियाः स्वरणपथमनयन् । सहशदर्शनस्य संस्कारोद्बोधकत्वा-
 दिति भावः ॥ ३० ॥ तत्र कश्चित्पथिकः स्वप्रियां स्वरणाह—
 सेति । सुस्निग्धा ये घना मेघास्तल्लक्षणैस्तमोभिः श्यामं गगनं
 सुस्निग्धं घन इव तम इव च श्यामं गहनं वनं च दृष्ट्वा मम
 काम्ता प्रलपति भुवि पतति गच्छन्ती च विस्खलति । नून-
 मिति संभावनायाम् ॥ ३१ ॥ भृङ्गावल्या कुवलयैश्च आवलिते-
 नाञ्जलक्षणेन पानपात्रेण संप्रेर्यमाणं गच्छन्तीमधु तत्पानेन
 मत्तस्तथा तीररुहाणां तरुवल्लीनां पल्लवलास्येन लब्धो यः
 संमुग्धो मृधुमन्त्रः शब्दगणस्तेन गीतः क्वापितः शैत्यमान्धसौ-
 रभ्यादिर्गुणो यस्य तथाविधो नमस्वान्वायुर्वाति । हा इति विर-
 होद्दीपनप्रयुक्तबोदे ॥ ३२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे हरिणमयूरवकमुग्धादिवर्णनं
 नामाष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

पथिकः स्त्रियां प्रियां प्राप्य तद्वप्रे तद्वियोगजाम् ।

प्राक्तनीं स्त्रियां वृत्तामत्र इमशान्तामवर्णयत् ॥ १ ॥

हे राजन्, मन्दरनिदेः कुञ्जगुल्मके एष पथिकश्चिरलब्धायाः

आ एष शिखरे मेघः स्मराम्भ इव संयुतः ।
 विद्युलताविलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः ॥ ४
 भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुच्चितं व्यालम्ब्य कण्ठेगुणं
 नीचैर्गर्जं मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा ।
 बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा
 तां गत्वा सुगते गलञ्जललवैराश्वसायत्मानिलैः ॥ ५
 चिस्तूलिकया व्योम्नि लिखित्वालिङ्गिता सती ।
 न जाने काधुनैवेतः पयोद दयिता गता ॥ ६

प्रियायाः पुरतः प्राग्वृत्तां स्त्रियां विरहसंकथां कथयति तं पश्य
 ॥ १ ॥ प्रियाग्रे तेन वर्णितां विरहसंकथां वर्णयितुमुपक्रमते—
 एकत्रेत्यादिना । हे प्रिये, त्वद्वियोगदशायां मम एकत्र एकस्मि-
 न्दिने जातं किंवृत्तं वृत्तान्तमाश्चर्यमिदं वक्ष्यमाणं त्वं शृणु ।
 त्वन्निकटे स्ववृत्तान्तं दातुं प्रेषयितुं दूतं विचारयन्चिन्तान्वितो-
 ऽहमिदमवदम् ॥ २ ॥ किमवदत्तदाह—अस्मिन्निति । अस्मि-
 न्महाप्रलयकालसमे वियोगे वियोगलक्षणयां महापदि इहस्थं
 मां वृत्तान्तप्रापणेन तथा सभाजयितुं यो मम गृहं याति स
 तादृशो दयालुर्दूतः कः स्यात् । यः परदुःखशान्त्यै प्रीत्या सरलं
 यथा स्यात्तथा निरन्तरं यतेत । असौ तादृशः पुरुषो जगति
 नैवास्ति ॥ ३ ॥ आ इदानीं स्मृतः पुरोवर्तिगिरिशिखरे एष
 परिदृश्यमानो मेघः प्रीत्या सततं परदुःखोपशमनादिगुणैः संयुतः
 स्मराम्भ इव शीघ्रं महद्गहनमनसमर्थः । परोपकाररसिको
 विद्युलतालक्षणाया विलासिन्या वलितः स्थितोऽस्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥
 अतोऽहमेनमेव प्राचीयिष्यामीत्यभिप्रेत्याह—भ्रातरिति । हे
 भ्रातर्मेघ, त्वं कण्ठे गुणो यस्य स कण्ठेगुणस्तथाविधं गुणव-
 तस्त्व उच्चितं महेन्द्रचापं व्यालम्ब्य गृहीत्वा सुगते हे शोभन-
 नभोमार्गगामिन्, तां मत्प्रियां गत्वा गलञ्जललवैराश्वसानिलैः
 प्रथममाधाष्य । ततो मत्संदेशं प्रापयितुं नीचैर्मन्दं गर्जं मुहूर्तकं
 दयां कुरु । यतस्ते गाढगर्जितं मद्द्विरहदुःखाद्बाष्पपूर्णेक्षणा
 बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी बाला सा सोढुं न क्षमा ॥ ५ ॥

इत्थं चिन्तापरवशमतेस्तन्वि सार्धं त्वयाऽसा-
वन्तर्लीनप्रसरमनसः कापि याता स्मृतिर्मे ।
संपन्नोऽहं परवशवपुः काष्ठकुब्जोपमाङ्गो
भङ्गं सोढुं क इव विरहक्लेशजं नाम शक्तः ॥ ७
पञ्चाज्जातः कलकलरवः संतते पान्थसार्धं
दीनालापैर्व्यसनविधुरैरालपन्ते च मेघम् ।
कष्टं पान्थो मृत इति महारम्भसंपन्नहाडा-
शब्दः प्रोद्यत्पथिकवनिताविस्मृतोरःप्रहारः ॥ ८
लोकेनायं मृत इति ततो बाष्पसंपूरिताक्षं
शावीं पूजां विरचितवता संघयीकृत्य दारु ।
दग्धुं नीतोऽस्म्यतिभयमहं प्रज्वलच्चित्यनन्त-
प्रोद्यत्स्फोटस्फुटपटपटारावरींद्रं श्मशानम् ॥ ९
तत्राहं तैः कमलवदने बाष्पपूर्णाक्षिपक्षै-
न्यस्तः कैश्चिद्विशयनके बद्धलोकालिलेखे ।
धूमोद्गाराविरलजटिले मस्तके मत्तमृत्यो-
द्भ्रूदारलोत्तमे इव कलामात्रदृश्येऽग्निहेम्नि ॥ १०
अस्मिन्काले कुवलयलताकोमला धूमलेखा
नासारन्ध्रं मृदुगलबिलं मे प्रवृत्ता नियातुम् ।

हे पयोद, सा दयिता मया हृद्योत्रि चित्ततुलिकया लिखित्वा
आलिङ्गिता सती अधुना इतः केव गता न जाने ॥६॥ हे तन्वि,
इत्थं मेघं प्रत्युक्त्वा त्वच्चिन्तापरवशमतेः अन्तरेव लीनप्रसरं
मनो यस्य तथाविधस्य मे सा प्रतिष्ठा स्मृतिः पूर्वापरप्रति-
संधानसमर्था बुद्धिस्त्वया सार्धं कापि याता । ततः स्मृतिलो-
पादहं परवशवपुः सन् काष्ठकुब्जोपमान्यज्ञानि यस्य तथाविधः
संपन्नः । तथा हि । विरहक्लेशजं भङ्गं परिभवं सोढुं क इव शक्नो
नाम । न कश्चिदित्यर्थः ॥७॥ ततः पश्चान्मां तथाविधं पश्यति
संतते मिलिते पान्थसार्धं पान्थजनसमूहे महारम्भेण संपन्ना
हाहाशब्दा यस्मिन्स्तथाविधः प्रोद्यन्तीनामागच्छन्तीनां पथिक-
वनितानां विस्तृता उरःप्रहाराश्च यस्मिन्स्तथाविधश्च पान्थो मृत
इति कलकलरवः कोलाहलध्वनिर्जातः । तत्र केचिद्व्यसनेन
विधुरैर्भ्रष्टस्वरैर्दीनालापैर्मैघं च आलपन्ते अधिक्षिपन्ति ॥ ८ ॥
ततः किमभूत्तत्राह—लोकेनेति । ततस्तेन पान्थलोकेन अयं
मृत इति निश्चय्य बाष्पैः संपूरिताक्षं यथा स्यात्तथा शावीं
शवोचितां गन्धमाल्यादिभिरलंकरणरूपां पूजां विरचितवता
दारु काष्ठं संघयीकृत्य संगृह्य दग्धुमहमतिशयितं भयं अत्र
तथाविधं प्रज्वलन्तीभिश्चित्तिभिरनन्तैः प्रोद्यद्भिः स्फोटस्फुट-
पटपटारावैः रौद्रमुद्देगदं श्मशानं नीतोऽस्मि ॥ ९ ॥ हे कमल-
वदने, तत्र अहं कैश्चिद्बाष्पपूर्णाक्षिपक्षैस्तैः पान्थैश्चित्तिशयनके
न्यस्तः । तत्र बद्धा परितो लोकालिरिव लेखा पङ्क्तिर्यस्य तथा-
विधे धूमोद्गारैर्विरलं जटिले मस्तस्य मृत्योर्मस्तके प्रसिद्धभ्रू-
दारलोत्तमे इव योतमाने अमिलक्षणे हेम्नि कलामात्रेण दृश्ये
जाते सति ॥ १० ॥ तस्मिन् काले कुवलयलतेव कोमला

उष्णा कृष्णा नकुलकलिता सत्वरं बालसर्पी
भूमे रन्ध्रं तनुमिव द्राहैर्ध्वसंकोचकुब्जा ॥ ११
त्वत्संकल्पामृतकवचितो नापविद्धस्तयाहं
कुन्तश्रेण्या दृढपतनया वज्रकायो यथाजः ।
त्वामासन्नां मदनसरितं दृष्टुहे गाहमानो
मर्मच्छेदेष्वपि विलसिता नाविदं वेदनास्ताः ॥ १२
एतावन्तं समयमुचितं तन्वि सार्धं त्वयान्त-
र्लीलालोलं हृदि चिरतरं तन्मयात्रानुभूतम् ।
यस्मिन्दृष्टेऽमृतहृद इवोन्मज्जनौघैर्यथासौ
राज्याभोगो विशसनमिवाल्पाल्पमेवेति बुद्धिः ॥ १३
सा लीला ते विलासा वचनमपि च तत्सस्मितं ते
कटाक्षाः
सानन्दानन्तरस्य प्रसरसमुचिता दूरमण्येकभूषा ।
तानीहारावसारावहसनचलनावेगविक्षोभितानि
किंवा तत्तत्र यत्संस्मृतममृतरसाह्लादमंतः करोति
त्वत्संगमे सुरतसौख्यरसायनेन
बाले ततोऽहमतिवृत्ततया भ्रमार्तः ।
तत्र स्थितो मृदुनि तल्पतले शशाङ्क-
बिम्बे शरच्छिशिरनिर्मलशोचिषीव ॥ १५

मृद्री तथा उष्णा कृष्णा दैर्घ्यसंकोचात्कुब्जा धूमलेखा मे मृदु-
गलबिलं नासारन्ध्रं नकुलेन कलिता भीषिता पूर्वोक्तविशेषणक-
दम्बवती बालसर्पी तनुं सूक्ष्मं भूमे रन्ध्रमिव नियातुं निश्चितं
प्रवेष्टुं प्रवृत्ता ॥११॥ हे प्रिये, अहं त्वदाकारेणामृतेन कवचितः
कवचेनामृतः संस्तया धूमलेखया नापविद्धो न पीडितः । यथा
वज्रकायः अजो ब्रह्मा मृत्योर्दृढपतनया कुन्तश्रेण्या नापविद्धस्त-
द्वत् । किंच दृष्टुहे आसन्नां मदनसरितं त्वां गाहमानोऽहमभि-
दाहेन मर्मच्छेदेषु क्रियमाणेष्वपि विलसिता उद्भूतास्ता वेदना
नाविदं किं पुनर्धूममात्रस्येत्यर्थः ॥१२॥ हे तन्वि, एतावन्तं समयं
मया हृदि अन्तस्त्वया सार्धं विरचितमत्रास्यां मूर्च्छायां तत्सादृशं
सुखमनुभूतम् । कीदृशं तदाह—यस्मिन्निति । अमृतहृदे
उन्मज्जनौघैर्यथा तथा यस्मिन् सुखे दृष्टे सति असौ प्रतिद्धो
राज्यस्याभोगैर्लोक्यराज्याधिपत्यमुखमपि प्रागुक्तं मर्मविशसनं
दुःखमिव अल्पादल्पं तुच्छमेवेति बुद्धिर्भवतीत्यर्थः ॥१३॥ हे
प्रिये, तत्र सा अनुभवैकगम्यनिरतिशयानन्दरूपा अनुपमा लीला
ते तादृशा एव भ्रूविक्षोपादिविलासास्तसादृशमेव दचनमपि
तत्सादृशमेव स्मितं ते च कटाक्षास्तथा दूरे मणिमयी एकभूषा-
प्रधानभूषणभूता एकावली यस्यां तथाविधा सा आनन्दस्या-
नन्तरस्य सुरतस्य प्रसरे समुचिता अर्थादालिङ्गनक्रिया तानि
तादृशानि ईहा नखक्षतादिचेष्टा रतिकृजिताहारावास्तसारण्य-
वहसनानि चलनावेगेन चित्तविक्षोभितानि चेत्येतेषु यत्संस्मृत-
मन्तरमृताह्लादं न करोति तत्तत्किं वास्ति । न किञ्चित्, सर्वमपि
अमृतरसाह्लादं करोत्येवेत्यर्थः ॥१४॥ हे बाले, ततस्तदनन्तरमहं
त्वत्संगमे सुरतसौख्यमेव रसायनं यस्मिन्स्तथाविधे अतितृप्ततया

अत्रान्तरे इदिति चन्दनपङ्कशीता-
दीर्घादिवेन्दुशकलादशनिः सशब्दः ।
दृष्टो मया चितितलज्वलितो हुताशः
क्षीराब्धिवाडवनिमोङ्गतः स्वतल्पात् ॥१६
सहचरा ऊचुः ।

इत्युक्तवति कान्तेऽस्मिन् हा हुतासीति वादिनी ।
मुग्धा मौग्ध्याद्वावर्तशङ्कया मूर्च्छिता स्थिता ॥१७
तामेनामेष नलिनीदलबीजेन वारिमिः ।
आश्वासयंस्तथावस्थां कण्ठेकृत्वात्र संस्थितः ॥ १८
पुनः पृष्टोऽनया यत्किं पश्य तामेव संकथाम् ।
एष पार्श्वगतामेनां गृहीत्वा चिबुके प्रियाम् ॥ १९
हा हा हुताश इति किञ्चिदिवोपजात-
खेदो वदामि खलु यावद्दहं त्वरावान् ।
तावच्चित्तिर्दृष्टिति तैरवलुण्ठिता सा
पान्थैः क्षणात्खरखराकुलिता लसद्भिः ॥ २०
पान्थास्ततस्तरलतालविलासबाध-
मालिङ्ग्य मामतनुशेखरपूरिताङ्गम् ।
उत्थापितस्थितिमलं परिवार्य सर्वे
नेदुर्जगुर्जहसुराननुतुर्ववल्गुः ॥ २१
विषमविनायकसुखदं
वलितं भस्माहिशवशिरःप्रकरैः ।
शशिधवलास्थिकपालं
वपुरिव रौद्रं श्मशानमथ दृष्टम् ॥ २२

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० अवि० विप० पथिकविरहवृत्तवर्णनं नामैकोनविंशतिशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

पार्श्वच्छायां हरन्तो विचलितविदलत्क्लिन्नकङ्काल-
गन्धा-
स्तन्वन्तो भूरिभस्मप्रविततमिहिकामाधुनानाः
शवानाम् ।
केशानाकाशकोशे शशिगलितशराकारिणः
शांकराणा-
मस्थीनां टाङ्कतेनारचितखरगिरस्तत्र वाता
वहन्ति ॥ २३ ॥

ज्वलन्तलचितिप्रवाहनिर्य-
त्पवनहतोष्मविशुष्कपर्णवृक्षा ।
ज्वलनपवनभास्करात्मजानां
रमणगृहानुकृतिं विभर्ति सा भूः ॥ २४
दृष्टं श्मशानं तदनन्तभीम-
करङ्ककंकालघनामगन्धि ।
माद्यच्छिषावायसकङ्कगृध्र-
पिशाचवेतालविरावरौद्रम् ॥ २५
आनीतनानाशवबन्धुसार्थ-
संरोदनाद्वादिदिगन्तकुञ्जम् ।
खगावकृष्टार्द्रशिराश्रतन्त्री-
निबद्धदग्धद्रुमखण्डजालम् ॥ २६
कच्चिच्चितिक्षोभकृतप्रकाशं
कच्चिन्महाकेशकृताद्भवृन्दम् ।
कच्चिच्च रक्ताक्तधरावितानं
नक्तं स्तनस्वभ्रमिवास्तशैलम् ॥ २७

भ्रमेणातो मन्थरः संस्तत्र मृदुनि तल्पतले शरदि शिञ्जिराणि
शोचीषि यस्मिंस्तथाविधे शशाङ्कबिम्ब इव स्थितः ॥ १५ ॥
अत्रान्तरे अस्मिन्नवसरे चन्दनपङ्कशीतादीर्घादिन्दुशकलादश-
निरिवात्यन्तमसंभाव्यः स्वतल्पादुत्थितः स्वाङ्गतः सशब्दधि-
तितले ज्वलितो हुताशः क्षीराब्धिसंबन्धिवाडवो वडवानलस्त-
थिमो दृष्टः ॥ १६ ॥ कान्ते इति इमां कथामुक्तवति सति
तच्छ्रुत्वा मुग्धा सा स्त्री मौग्ध्यादेव वरः श्रेष्ठ आवर्तः संवर्त-
स्तच्छङ्कया मूर्च्छिता भूत्वा स्थिता ॥ १७ ॥ तां तथाविधा-
मेनां कान्तामेष कान्तो नलिनीदलैर्वाजनं बीजस्तेन शीतैर्वारि-
मिथ आश्वासयंस्तन्मूर्च्छामपनयन्सन् तथावस्थां तां कण्ठेकृत्वा
अत्र मन्दरकुञ्जे संस्थितः ॥ १८ ॥ तां प्राशुक्तामेव संकथाम् ।
कथाशेषमिति यावत् । यत्किं पश्य ॥ १९ ॥ तमेवाह—
हादृष्टि । हे प्रिये, अहं किञ्चिदिवोपजातखेदः सन् हा हा
हुताश इति यावद्ददामि तावच्चित्ति तैरलसद्भिः प्रहृष्टैः पान्थैः
खरखरञ्चमिराकुलिता सा चितिः सर्वोत्सुकपहारैणावलु-
ण्ठिता ॥ २० ॥ मृतस्य पुनरुज्जीवनहर्षात्पान्थात्तरलतालविला-
सबाधं यथा स्यात्तथोत्थापितचित्तिस्थितिमतनुभिर्बहुभिर्मङ्गलायैः
शेखरैस्तरुमञ्जरीगणोत्सैः पूरिताङ्गं मामालिङ्ग्य सर्वे परिवार्य
हर्षाद्नेदुर्जगुर्जहसुरासमन्ताननुतुर्ववल्गुश्लेषैः ॥ २१ ॥
अथ मया श्मशानं रौद्रं संहाररूपसंबन्धिवपुरिव भीषणं दृष्टम् ।

विशेषणान्युभयत्र तुल्यतया योज्यानि ॥ २२ ॥ तत्र तस्मिन्
श्मशाने वाता वायवो वहन्ति । कीदृशास्ते । पार्श्वे वनस्य हरित-
च्छायां भस्मक्षेपैर्हरन्तो विचलिताः प्रसृता विदलत् क्लिन्नकं-
कालानां गन्धा यैर्भूरिभस्मभिः प्रविततां मिहिकां नीहारपटलीं
तन्वन्तः शवानां केशान् आधुनाना आकाशलक्षणे कोशे
निषण्णे शशिनः सकाशाद्गलिता ये शरास्तदाकारिणस्तथा शांका-
राणां शंकरभूषायोग्यानामस्थीनां टाङ्कतेनाभिघातशब्देन
आरम्भिताः खरा रक्षा गिरः शब्दा यैस्तथाविधा इत्यर्थः
॥ २३ ॥ ज्वलन्तः अनला यासु तथाविधाभ्यक्षि-
तिभ्यः प्रवाहेण निर्यता सभूमस्फुलिङ्गन पवनेन हता अत एवो-
ष्मणा विशुष्कपर्णा वृक्षा यस्यां तथाविधा सा श्मशानभूर्ज्वलन-
स्याग्नेः पवनस्य भास्करात्मजस्य शनैश्चरस्य च रमणयोग्यं
यद्दृष्टं तदनुकृतिं तत्सदृशलक्षणानि विभर्ति ॥ २४ ॥ तत्ता-
दृशं श्मशानं दृष्टं यत् अनन्तभीमैः करकैर्धदग्धैः कङ्कलैः
शवैर्धनमत्यन्तमामगन्धि दुर्गन्धि ॥ २५ ॥ पुनः कीदृशं तच्छ-
शानम् । आनीतावां नानाशवानां यो बन्धुसार्थस्तदीयसंरोद-
नैरासमन्तात् हादिनो दिगन्ताः कुञ्जाश्च यस्मिन् । खगैरव-
कृष्ट या आर्द्रा शिरा आश्रतन्त्रयश्च तामिर्निबद्धं दग्धप्रायं
द्रुमखण्डं लतत्रजालं च तस्मिन् ॥ २६ ॥ चितेः क्षोभः संवलनं

विंशाधिकशततमः सर्गः १२०

सहस्ररा ऊचुः ।

एवंप्रायाः कथाः कुर्वैत्पश्यैनन्मिथुनं महत् ।
 पानं प्रवृत्तवत्सारं पातुं पद्मनिमेक्षण ॥ १
 कदलीकन्दलीखच्छगुच्छाच्छोटनपण्डिताः ।
 विविधा वायवो वान्ति पुष्पकेसरपण्डिताः ॥ २
 वान्ति घाता वनोद्धान्तविविधामोद्दमांसलाः ।
 पीतघर्मकणाः क्रान्तललनालकलालकाः ॥ ३
 कुलाचलगुहागेहवलनोद्यन्मृगाधिपाः ।
 सरन्त्यसुरसंरम्भैर्लवणार्णवमारुताः ॥ ४
 तमालतालतरललीलान्दोलनलालिताः ।
 धनिलाजलकलोलोत्क्रान्तकोमलपल्लवाः ॥ ५
 ललन्नवलतावान्तपुष्पधूलिविधूसराः ।
 सरन्ति मरुतो मन्दमुद्यानेषु नृपा इव ॥ ६
 मधुरं वंशविभ्रान्तो गानुमेष वनानिलः ।
 प्रवृत्तः पाण्डुनगरनारीभिरिव शिक्षितः ॥ ७
 निकारः कर्णिकारेण पवनस्य यदा कृतः ।
 तदा परिहरन्त्येनं भ्रमरा अपि दूरतः ॥ ८
 न ददाति फलं किञ्चिदर्थिने न च पल्लवम् ।
 तालः स्तम्भतयाऽऽरम्भं हरूपैव विनाऽऽकृतिः ९
 राग एव हि शोभायै निर्गुणानां जडात्मनाम् ।

तेन ज्वालोद्दीपनात्कृतप्रकाशम् । महाकेशैः कृतमन्दग्रन्दं
 मेघसमूह इव यत्र । क्वचित्तु अस्तस्यक्तः शैलो येन तथाविधं
 रक्तैः अक्षं धराया वितानमिव स्थितम् । नक्तं स्तनत् गर्जद-
 भ्रमिव स्थितम् ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पथिकवृत्तविरहवर्णनं नामैको-
 नविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

वर्ण्यन्ते वायवो वृक्षा भ्रमरा वनपङ्कजः ।

देवस्त्रियोऽविधवीच्यश्च हेमचूडसगादवः ॥ १ ॥

हे पद्मनिमेक्षण, एवं प्रागुक्तप्रायाः कथाः कुर्वदेनत् प्रागुक्तं
 मिथुनं लीपुंगुयुग्मं संप्रति सारसुप्तमं सीधुपानं पातुं प्रवृत्तवत्
 पश्येति मिथुनकथोपसंहारः । 'अन्वादेशे नपुंसके एनद्रक्तव्यः'
 इत्येनदादेशः ॥ १ ॥ वायून्कश्चिद्वर्णयति—कदलीत्यादिना ।
 गुच्छानामाच्छोटने विकासने पण्डिताः ॥ २ ॥ क्रान्तानां
 विक्षिप्तानां ललनालकानां लालका विलासकाः ॥ ३ ॥ कुला-
 चल्यानां गुहागेहेषु बलने प्रविश्य भ्रमणे उद्यन्त उद्युक्ता मृगा-
 धिपाः सिंहा इव । असुराणामिव संरम्भैर्हरिखरारक्रमणोद्योगैः
 सरन्ति ॥ ४ ॥ तमालेषु तालेषु च तरलशिञ्जिवत् लीलान्दो-
 लनं दौलिताः । जलकलोलैभ्य उल्लस्य क्रान्ता वृक्षाप्रकोमलप-
 ल्लवा यैः ॥ ५ ॥ ललन्त्यो वा नवा लतास्ताभिर्वान्ता वाः
 पुष्पधूलयस्तामिर्विधूसराः ॥ ६ ॥ वंशेषु कीचकवनेषु विभ्रान्तः ।
 पाण्डुनगरे हस्तिनापुरे नार्यो गानविद्याकुशाल इति प्रसिद्धिः
 ॥ ७ ॥ भ्रमरैः कर्णिकारवृक्षस्य दूरतस्यागे हेतुसुरप्रेक्षते—

१ शुग्धमित्यत्र आकाशपक्षे तद्विद्विरेव शुग्धम् । पक्षपक्षे

राजेव राजते राजन्प्रागेणैवैव किंशुकः । १०
 आगच्छ कर्णिकारोऽयं विकारस्यैव भाजनम् ।
 निरामोदः किमेतेन निर्गुणेनेव जन्तुना ॥ ११
 विलोलमञ्जरीजालतडित्सङ्गस्थितोऽसितः ।
 चातकस्याम्बुदभ्रान्ति तमालः कुरुते मुधा ॥ १२
 पत्राला घनसंघाताः सच्छायावृत्तभूभृतः ।
 गुणानां महतां योग्या वंशा वंशा इवोन्नताः ॥ १३
 हेमसान्वासनस्थोऽप्यो वातव्याधितटोऽम्बुदः ।
 तडित्पीताम्बरं धत्ते क्षुब्धं हरिरिवोद्भवः ॥ १४
 प्रवेशनिर्गमव्यग्रतरत्नगशि्लीमुखः ।
 प्रफुल्लकिंशुको भाति वीरो रक्त इवासृजा ॥ १५
 मन्दारमञ्जरीपुअपिञ्जरास्मोदमन्दरे ।
 महेन्द्रमस्तके मत्ताः सुप्ता गन्धर्वकामिनः ॥ १६
 कल्पद्रुमवनच्छाया विभ्रान्ता विततान्विताः ।
 पश्य पार्थिव गायन्ति सिद्धविद्याधराध्वगाः ॥ १७
 पश्य कल्पद्रुमस्यास्य पल्लवे पल्लवे वने ।
 विभ्रान्ताः सुरसुन्दर्यो गायन्ति च हसन्ति च ॥ १८
 मन्दिरं मन्दपालस्य मन्दरे मृदुमन्दरे ।
 मुनेरिवमुदारस्य भार्या सा यस्य पक्षिणी ॥ १९

निकार इति । निकारो गन्धपरागाद्यनर्पणेन तिरस्कारः ॥८॥
 अयं तालः स्तम्भप्रायतया दुरारोहत्वादर्थिने फलं न ददाति
 पल्लवं च न ददाति । हि यस्मान्कारणादुन्नताप्याकृतिरस्य अर्ध-
 भिलाषपूरणारम्भं विना अरूपैव न शोभत इत्यर्थः ॥ ९ ॥
 औदार्यादिगुणशून्यानां जडात्मनां मूर्खाणां वल्लालंकाराद्याड-
 म्बरेण रागः शरीररजनमेव शोभायै नान्यदित्यर्थः । किंशुकः
 पुष्पितः पलाशः ॥१०॥ विकारस्य वृथाऽयमनुसृत इति विषाद-
 लक्षणस्य चित्तविकारस्यैव ॥ ११ ॥ मञ्जरीजाललक्षणतडित्सङ्गेन
 स्थितः असितश्च तमालश्चातकस्याम्बुदभ्रान्ति कुरुते । मुधा
 नृथा ॥ १२ ॥ पत्रैः पर्णैर्वाहनैश्च अलाः भूषिताः । घनो दुर्मेघः
 संघातो येषाम् । सतीमिदृच्छायामिर्भृता भूभृतो गिरयो यैः ।
 सतां छायायै वृताः स्वीकृता भूभृतो राजानो यैः । गुणानां धनु-
 भावे मौर्वीणां सन्मानादीनां च ॥१३॥ हेममयसानुलक्षणे आ-
 सने तिष्ठत्यम्बुदः, हेमसानुसदृशे हरिः । अत एवाग्रे भनोऽप्यः ।
 वातलक्षणो व्याधिस्तटेषु यस्याम्बुदस्य वातव्याधिरुद्धवस्तटे
 सन्निधौ यस्य हरेः । तडिद्रिः पीतमम्बरमाकाशं धत्तेऽम्बुदः,
 तडिट्वतीतमम्बरं बद्धं धत्ते हरिः ॥१४॥ प्रवेशनिर्गमव्यग्रप्राः
 सरन्तः खगा इव शिलीमुखा वाणाः अलयश्च यस्य । वीरो
 योधः असृजा रक्तप्रवाहेण रक्तो रञ्जित इव ॥ १५ ॥ महेन्द्रस्य
 गिरेर्मस्तके शिखरे । पानमत्ताः सन्तः सुप्ताः ॥ १६ ॥ विशिष्टै-
 स्तैर्वाणादिवायैरन्विताः ॥१७॥१८॥ मन्दपालस्य मुनेर्महाभा-
 रतादौ प्रसिद्धस्य सा प्रसिद्धा पक्षिणी जरिताद्यथा पृथ्वी ॥१९॥

संचलितं स्फुरत्. २ उद्भव कर्मभवः, पक्षे उल्लस्यैवर्थः.

अन्योन्यामत्सिंहेभनकुलो रगकेलिकाम् ।
 पश्य मुन्याभ्रमभ्रेणि सर्वतुङ्गसुमहृमाम् ॥ २०
 विद्रुमद्रुममिभ्राणामम्भोधितटवीरुधाम् ।
 विम्बितार्काः कचन्त्येते पल्लवेषुदबिन्दवः ॥ २१
 वीचयो रत्नमणिक्वपदेष्वावर्तवृत्तिभिः ।
 विलसन्ति विलासिन्यो वक्षःस्त्रिव विलासिनाम् २२
 नगलोकेन्द्रलोकस्त्रीगमनागमनोद्भवः ।
 दिव्यो भूषणझांकारः श्रूयते नभसः शृणु ॥ २३
 श्रवणोपान्तविभ्रष्टमदमसालिनीस्वरैः ।
 ऐरावणज्ञानभुवो गायन्तीव गुहा गिरेः ॥ २४
 हसतोऽनुदिनं कृष्णपक्षे कृष्णान्तलेखिकाः ।
 दृश्यन्ते कृशागप्रस्य वास्तुकावलयोऽम्बुधेः ॥ २५
 आमोदगन्धश्वसना सच्छाया शीतलाङ्गिका ।
 एकान्तदर्शिताकारा नानाकुसुमपूरिता ॥ २६
 वनविन्यासवसना निर्झरामलहासिनी ।
 आस्तीर्णपुष्पास्तरणा धन्या वनविलासिनी ॥ २७
 रमन्ते नन्दनोद्याने न तयोदारबुद्धयः ।
 यथोपशान्तशब्दासु शुद्धासु वनभूमिषु ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासि० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवियो० विप० दिगन्तरवृत्तिवाद्यादिवर्णनं नाम विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२० ॥

सुविरक्तं मुनेभ्येतो रक्तं च विषयार्थिनः ।
 रमयन्ति समं रम्या विजना वनभूमयः ॥ २९
 सलिलाधौतवप्राणामम्भोधितटभूभृताम् ।
 नूपुरैरिव रत्नौघैः पादा भान्ति भवनन्ति च ॥ ३०
 पुंनागनगविभ्रान्ताः काम्तकाञ्चनकाम्तयः ।
 हेमचूडाः खगा भान्ति दिशि देवगणा इव ॥ ३१
 भ्रमराम्भोदधूमाख्याः फुल्लवम्पककाननाः ।
 कम्पन्ते पश्य वातेन ज्वलिता इव पर्वताः ॥ ३२
 कुर्वन्तं करवीराप्रलतान्दोलावदोलकम् ।
 कोकिलं कोकिलालिङ्ग्य लोलालापयति प्रियम् ॥ ३३
 लसत्कलकलाराधमेता लावणसैन्धवीः ।
 पूर्णास्तटभुवो भूपैः पश्योपायनपाणिभिः ॥ ३४
 आ पूर्वादाऽपरस्माल्लवणजलनिधेरोत्तराक्षिणाद्वा
 देवोदप्राजिशिष्टा इह नरपतयः पादपीठीक्रियन्तां
 दीयन्तां मण्डलानां दिशि दिशि च यथाशास्त्रमस्त्रा-
 ण्यवन्त्या
 रक्षायै क्षान्तिपूर्वं चिरमतुलबलं शान्तया शास-
 नानि ॥ ३५

एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२१

धीवसिष्ठ उवाच ।

अथ तेष्वर्णवतटेष्वेते भूमौ विपश्चितः ।

अन्योन्यममतानां सिंहेभावीनां जातिविरपरित्यागेन प्रीतिके-
 लिका यस्यां तथाविधां मुन्याभ्रमभ्रेणिम् ॥ २० ॥ विद्रुमद्रुमैर्मि-
 भ्राणां संवलितानामम्भोधितटस्थानां वीरुधां लतानां पल्लवेषु
 विम्बितः अर्को येषु तथाविधा एते उदबिन्दवः उदकबिन्दवः
 कचन्ति । 'मन्यौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च' इत्यु-
 दकस्योदादेशः ॥ २१ ॥ रत्नमणिक्वयानां पदेष्वाकरस्थानेषु वीचय
 आवर्तवृत्तिभिर्मुहुर्मुहुः परिवर्तनेर्विलसन्ति क्रीडन्ति । विलासि-
 न्यस्तरुण्यो विलासिनां खकान्तानां वक्षःस्त्रिव ॥ २२ ॥ २३ ॥ श्रव-
 णोपान्ताद्गण्डस्थलाद्दिभ्रष्टमदमसालिनीनां स्वरैरावणस्वैरा-
 वतस्य ज्ञानभूमेर्गिरेरिमा गुहा गायन्तीव पश्य ॥ २४ ॥ कृष्ण-
 पक्षे चन्द्रमनु हसतः अभ्युधेः कृष्णान्तरेखारूपा वास्तुके निवा-
 सभूमिभूते वेलातटे पश्यो दृश्यन्ते ॥ २५ ॥ वनान्येव कश्चित्स्त्री-
 रूपेण वर्णयति—आमोदेति द्वाभ्याम् । विशेषणानि सर्वाणि
 श्लेषादिनार्थद्वयपराम्प्येकीकृत्य योज्यानि । वनामोद एव गन्धयुक्तं
 श्वसनं श्वासो यस्याः ॥ २६ ॥ वनलक्षणा विलासिनी स्त्री ॥ २७ ॥
 उदारबुद्धयो देवादयः ॥ २८ ॥ मुनेर्विरक्तं चेतो विषयार्थिनः
 कामिनो रक्तं च चेतः समं तुल्यतया रमयन्ति ॥ २९ ॥ पादाः
 प्रत्यन्तपर्वतास्ताल्लक्षणाधरणाश्च ॥ ३० ॥ ३१ ॥ भ्रमरैरम्भोदैश्च
 धूमाख्याः । यतः कम्पन्ते अतो ज्वलिता इव ॥ ३२ ॥ करवी-
 रस्य अप्रलता ऊर्ध्वशाखा ताल्लक्षणदोलाया अवदोलकमान्दो-
 यो० वा० १०१

उपविश्यैतदखिलं चक्रु राज्यप्रयोजनम् ॥ १

लनं कुर्वन्तं कोकिलं तदिप्रया कोकिल आलिङ्ग्य मधुरगीतमा-
 लापयति ॥ ३३ ॥ हे राजन्, एता लवणसिन्धोरिमा लावण-
 सैन्धवीः 'दृङ्गसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपददृष्टिः ।
 लसत्कलकलं यथा स्यात्तथा उपायनपाणिभिर्भूपैः पूर्णास्तटभुवः
 पश्य ॥ ३४ ॥ हे देव, आ पूर्वाल्लवणजलनिधेः आऽपरस्मात्प-
 क्षिमाल्लवणजलनिधेश्च तथा आ उत्तराक्षिणाद्वा लवणजल-
 निधेः । मर्यादायामाङ्कः । इहास्मिन् जम्बूद्वीपे उदग्रे आजौ
 शिष्टा अवशिष्टा ये यावन्तो नरपतयस्ते सर्वे पादपीठीक्रिय-
 न्ताम् । शिरसि पादार्पणेनानुगृह्यन्तामिति यावत् । किंच तल-
 न्मण्डलानामवन्त्या दिशि दिशि चिरं रक्षायै यथाशास्त्रं नीति-
 क्कालोक्तप्रकारेण क्षान्तिपूर्वं समाधानपुरःसरं शान्तया धिया
 शासनानि दीयन्ताम् । तदन्वलाणि दीयन्तां तदनु च बलं
 स्वसैन्यं दीयताम् ॥ ३५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दिगन्तरवृत्तिवाद्यादिवर्णनं नाम
 विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२० ॥

अत्र मण्डकमर्यादां संस्थाप्याभिमुखेषुषाम् ।

वरादग्नेर्दिगन्तानां दर्शनोद्योग इवन्ते ॥ १ ॥

अथ एते प्रागुक्ता विपश्चितेस्तेष्वर्णवतटेषु उपविश्य एत-
 त्प्राञ्चभिर्निवेदितं मण्डलमर्यादास्थापनरूपं प्रयोजनं चक्रुः

तदा तत्रैव ते वासभूमिं कृत्वा यथाक्रमम् ।
 तस्थुर्मण्डलमर्यादां स्थापयामासुरक्षताम् ॥ २
 अथ वर्षयितुं धीमांस्तप्रतापमिवागमत् ।
 संप्रविश्य समुद्रान्तरन्यलोकान्तरं रविः ॥ ३
 आययौ यामिनीश्यामा मेघलेखेव तानवम् ।
 संपादिताहर्व्यापारास्तस्थुः स्वशयनेषु ते ॥ ४
 आसमुद्रं नदीवाहा इव दूरादुपागताः ।
 इदं संपादयामासुर्विसयाकुलचेतसः ॥ ५
 महो नु दूरमध्वानं प्राप्ता वयमयजतः ।
 प्रभावाद्देवदेवस्य बह्वेर्विद्यैः स्ववाहनैः ॥ ६
 कियती स्यात्प्रविस्तीर्णा दृश्यधीरियमातता ।
 इतः समुद्रस्तदनु द्वीपभूरम्बुधिः प्रभुः ॥ ७
 इतो द्वीपं ततोऽम्भोधिः किमन्ते स्यात्ततोऽपि च ।
 कियती कीदृशी वा स्यान्मायेयं चेत्यरूपिणी ॥ ८
 तत्प्रार्थयामहे देवं हुताशं तद्वरादिमाः ।
 प्रेक्षामहे दिशः सर्वा अपर्यन्तमखेदिनः ॥ ९
 इति संचिन्त्य ते सर्वे यथास्थानमवस्थिताः ।
 सममेवाह्वयामासुर्भगवन्तं हुताशनम् ॥ १०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अवि० विप० विपक्षिणिर्णयो नामैकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततः प्रभाते प्रसभं पृथिव्याः

कृत्वा यथाशास्त्रमलं व्यवस्थाम् ।

॥ १ ॥ स्वयं तत्र तस्थुर्मण्डलमर्यादां च स्थापयामासुः ॥ २ ॥
 तेषां विपश्चितां प्रतापम् । लोकान्तरं ज्योतिषमते पाताललो-
 कम् । पौराणिकमते मेरुस्तरभागस्थं वर्षान्तरम् । समुद्रान्तः-
 प्रविश्येति समुद्रतीरस्थजनदृष्ट्योक्तिः ॥ ३ ॥ तानवं विस्तारम् ।
 ते विपश्चितः ॥ ४ ॥ इदं वक्ष्यमाणं मनसि संपादयामासुश्चि-
 न्तयामासुः ॥ ५ ॥ ६ ॥ तदेवाह—**कियती स्यादित्यादिना ।**
 इतः अस्माज्जम्बूद्वीपात् परतो लवणसमुद्रस्तदनु उरुद्वीपभूस्तत
 इक्षुरसाम्बुधिः प्रभुर्महान् लवणसमुद्राद्विगुणायाम इति यावत्
 ॥ ७ ॥ इतः इक्षुसमुद्रात्परतः कुशद्वीपं ततः परतः सुरोदो-
 ऽम्भोधिः । एवं क्रमेण सप्तद्वीपसमुद्राणामन्ते किं स्यात् ।
 ततोऽपि च परतः किं स्यात् । इदं चेत्यरूपिणी माया कियती
 स्याद्दस्तुवैचित्र्येण कीदृशी वा स्यात् ॥ ८ ॥ तत्सर्वं इष्टं हुताशं
 देवं प्रार्थयामहे प्रार्थयेमहि ॥ ९ ॥ यथास्थानं चतुःसागर-
 कूलेष्ववस्थितास्ते सभं युगपदेव ॥ १० ॥ ११ ॥ यावद-
 नेन देहेन गन्तुं शक्यं तावदनेन देहेन । एतदगम्ये वैदिक-
 मश्रप्रभावसंस्कृतेनानेनैव देहेन । तदगम्ये मनसा ॥ १२ ॥
 यावत्संवेदनमिति प्रत्यक्षयोग्यसर्वार्थोक्तिर्यावत्संभवमित्यनुमा-
 नगम्यसर्वार्थोक्तिर्यावदात्मकमिति श्रुत्यादिगम्यतदुक्तिः । अथवा

बभूव भगवानेषामथ दृश्यो हुताशनः ।
 आकारवान्धरं पुत्राः प्रगृहीतेत्युवाच ह ॥ ११
 विपश्चित ऊचुः ।
 पञ्चभूतात्मकस्यास्य दृश्यस्यान्तं सुरेश्वर ।
 देहेन मन्त्रदेहेन तदन्ते मनसापि च ॥ १२
 यावत्संवेदनं यावत्संभवं यावदात्मकम् ।
 पश्येम इति नो देव दीयतामुत्तमो वरः ॥ १३
 आसिद्धगम्यमध्वानं पश्येम वपुषा वयम् ।
 तदन्ते मनसैवाथ दृश्यं पश्येम भो प्रभो ॥ १४
 आसिद्धगम्यमध्वानं मृत्युरस्माकमस्तु मा ।
 अध्वन्यसंभवदेहे मन एव प्रयातु नः ॥ १५
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अथैवमस्त्विति प्रोच्य पावकः सहसागमत् ।
 क्षणादौर्वतया यातुं समुद्र इव सत्वरः ॥ १६
 अग्निर्जगामाथ समाजगाम
 निशा विलम्ब्याथ जगाम सापि ।
 समाजगामापि रविर्जगाम
 तेषां च धीरार्णवलङ्घनेहा ॥ १७

आविष्टदेहा इव ते रसेन

निषेभ्यमाना इव मन्त्रिमुल्लयैः ॥ १

आयेन यावत्स्थूलोक्तिः, द्वितीयेन यावत्सूक्ष्मोक्तिः, तृतीयेन
 यावत्कारणप्रपञ्चोक्तिः । इति नः अस्मभ्यं वरो दीयताम् ॥ १३ ॥
 सिद्धा योगिनस्तेषां योगप्रभावगम्यमभिव्याप्येत्यासिद्धग-
 म्यम् । वपुषा अनेनैव देहेन । अथ तदन्ते तदगम्यमिति
 यावत् ॥ १४ ॥ अध्वानं गच्छतामिति शेषः । असंभवदेहे
 अध्वनि दक्षिणोत्तरायणादिमार्गेषु मृत्यैव गन्तुं शक्ये अध्वनि
 ॥ १५ ॥ अथ तद्वरप्रार्थनानन्तरम् । और्वतया बडवाभिभावेन
 समुद्रे यातुं सत्वर इव ॥ १६ ॥ एवं वरं दत्त्वा अग्निर्ज-
 गाम । अथ निशा समाजगाम । सा निशापि यामचतुष्टयं
 विलम्ब्य जगाम । अथ रविः समाजगाम । तेषां विपश्चितां
 धीरार्णवलङ्घनेहा च समाजगाम ॥ १७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विपक्षिणिर्णयो
 नामैकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

पदैरविष्टतरङ्गेषु गच्छन्तोऽत्र विपश्चितः ।

विदावौर्वतमकराभिर्पावाः साधुवर्णिताः ॥ १ ॥

यथाशास्त्रं नीतिशास्त्रमनतिक्रम्य राज्यविभागपरिपालनो-
 पायोपदेशमर्यादास्थापनादिव्यवस्थां कृत्वा । रसेन दिग्गन्तदर्श-
 नोत्कण्ठतिशयेन प्रहासानिष्टदेहा इव साक्षात्निषेधमुमशकृवद्भि-

निवार्य सर्वं परिवारमात्र-
 माक्रन्दमानं वदनै रुद्रिः ।
 निरस्य चास्त्रेहतयाभिमान-
 मात्सर्यलोभाभिमवैषणादि ॥ २
 दिगन्तमालोक्य समुद्रपारे
 क्षणात्समायाम इति ब्रुवन्तः ।
 स्वमशक्तयोत्तमतां गतैस्तै-
 रंभिः पदैरेव तदा प्रविष्टः ॥ ३
 विपश्चितस्ते दिशि दिश्यन्ध्वै-
 र्भृत्यैः समुद्रं प्रविशद्भिरेव ।
 भृत्यैश्च कैश्चिन्नुगम्यमाना
 ययुर्यथा वारिणि पद्भिरेव ॥ ४
 तरङ्गजालेषु पदानि कृत्वा
 पृष्ठे स्थलस्येव जलस्य चान्तः ।
 चत्वार एकैकतयैव युक्ता
 भृशं वियुक्ता निजसेनया ते ॥ ५
 पदक्रमेणैव महार्णवान्त-
 स्तावत्प्रविष्टा भवलोकितास्ते ।
 तटस्थितैर्यावददृश्यभावं
 शरन्नभोमेघलवा इवापुः ॥ ६
 तमभ्वानमथोद्गुस्ते जलधौ पादचारिणः ।
 वितताध्यवसायेन बद्धकक्षाहरा इव ॥ ७
 उन्नतावनतामद्रिसमारोहावरोहणैः ।

मंश्रिमुखैरिन्नितैर्निषेध्यमानत्वादिवकारः ॥ १ ॥ परिवारमात्रं
 कृत्वा परिजनं निवार्य । अभिभवः शत्रुपराभवस्तद्वेषणा ।
 आदिपदाज्यस्त्रीपुत्राद्येषणापरिग्रहः । अथवा अभिभवः शत्रु-
 भिरुपहसद्भिस्तिरस्कारः, एषणाश्च प्रागुक्ताः । आदिपदाज्य-
 धनादींश्च निरस्य हित्वा ॥ २ ॥ वयं समुद्रपारे दिगन्तमालोक्य
 क्षणाच्छीघ्रमेव समायाम इति परिजनसमाधानाय ब्रुवन्तः
 सन्तो जगुरित्यध्याहारः । अमिप्रसादहेतुमशक्तयैव भूमि-
 जलादिभूतजयेनोत्तमतां सिद्धतां गतैस्तैस्तदा अंभिः पदैरेव
 प्रविष्टो न तु पोताद्युपायेनेत्यर्थः ॥ ३ ॥ जेहातिशयात्समुद्रं
 प्रविशद्भिः कैश्चिद्भृत्यैरनुगम्यमानाः पद्भिरेव ययुः ॥ ४ ॥ कथं
 यथुस्तदाह—तरङ्गेति । स्थलस्य भूमेः पृष्ठ इव तरङ्गजालेषु
 पदानि कृत्वा विन्यस्य । युक्ता उद्युक्ताः ॥ ५ ॥ तटस्थितै-
 र्भृत्यजनैस्ते तावत्कालमवलोकित्वा यावच्छरन्नभोमेघलवा इव
 अदृश्यभावापुः ॥ ६ ॥ विततेनाध्यवसायेन दृढनिश्चयेन ।
 हस्तिपकस्थानीयेन प्रेर्यमाणस्ते विपश्चितो बद्धा कक्षां हरन्ति
 तथाविधा गजा इव तं जलाध्वानं ऊर्ध्वः अतिवाहयामासुः
 ॥ ७ ॥ अद्रिसमैः आरोहावरोहणैर्निभ्रोजतीभाषैः उन्न-
 तावनतां वारितरङ्गाणां श्रियं शोभां स्वयमपि तस्वीकारा-

१ अंभिः इति मुद्रितपाठश्चिन्त्यः.

भियं वारितरङ्गाणां हरन्तो हरिमूर्तयः ॥ ८
 भावतेषु तृणानीव भ्रान्ता विगतसर्वभ्रमम् ।
 चिरं चञ्चलमन्ताभ्रचन्द्रमण्डलशोभिषु ॥ ९
 मन्मविधाबलौजोभिर्दुर्जयाः शस्त्रपाणयः ।
 कश्चित्प्रमत्तैर्मकरैर्निगीर्णोद्गीर्णैर्देहकाः ॥ १०
 जलकल्लोलविभ्रान्तघातोत्सारितमूर्तयः ।
 नीतानीताः क्षणेनैव योजनानां शतं शतम् ॥ ११
 जलकल्लोलमातङ्गतुङ्गिताङ्गतया तथा ।
 दधाना निजराज्येभृष्टरोहस्थितिभियम् ॥ १२
 विस्तीर्णोर्मिघटापट्टपाटपट्टपाटवैः ।
 दर्शयन्तो जलाम्मोदनिष्कान्ति मारुता इव ॥ १३
 तरत्तरलमातङ्गतरङ्गौघविघट्टिताः ।
 अस्यजन्तो मिजं धैर्यं वेलावरतटा इव ॥ १४
 महोर्मिमुक्तामाणिक्यमण्डलप्रतिबिम्बिताः ।
 एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ १५
 पाण्डुद्विण्डीरपिण्डेषु कुर्वन्तो लाघवात्पद्म् ।
 श्वेतपद्मपरिक्रान्तराजहंसश्रियं दधुः ॥ १६
 वननिर्घातनिर्घोषभीषणाणैर्बधुंधुमात् ।
 न भीता भूभृतस्तत्र वेलावलनजुम्भितात् ॥ १७
 अभ्रंलिहजलाद्गीन्द्रपातोत्पातविघट्टिताः ।
 क्षणं पातालमाजग्मुः क्षणमर्कास्पदं ययुः ॥ १८
 अशङ्कितोत्पत्तद्वारिपूरपातपटावृताः ।
 उत्पातपातनिपतद्वितानकवृता इव ॥ १९

द्वरन्तः । अत एव हरेर्गूर्तिरिव मूर्तिर्येषाम् । हरिमूर्तिरपि
 हि मन्थाद्रेर्मन्थनकाले वारितरङ्गाणां समारोहावरोहणैरुन्नताव-
 नतां श्रियं लक्ष्मीं जहारेति प्रसिद्धमिति भावः ॥ ८ ॥ मत्ता-
 भ्रप्रविष्टेन चन्द्रमण्डलेनेव स्वप्रवेशच्छोभमानेष्वावर्तेषु तृणा-
 नीव चिरं भ्रान्ताः ॥ ९ ॥ पूर्वं निगीर्णाः पश्चाज्जराशक्त्या
 उद्गीर्णा देहा येषाम् ॥ १० ॥ ११ ॥ जलकल्लोललक्षणैर्मातङ्गै-
 स्तुङ्गिताङ्गतया आरोहिताङ्गतया अपूर्वचमत्कारिण्या ॥ १२ ॥
 विस्तीर्णानामूर्मिघटालक्षणानां शिलापट्टानां यः पाटनं पाटो
 विदारणं यच्च पट्टनमधोमुखीकरणं तत्र पाटवैः कौशलैः
 जललक्षणाम्मोदनिष्कान्ति मारुता मरुहीपिता विद्युत् इव
 दर्शयन्तः ॥ १३ ॥ तरत्तरलमातङ्गैरिव तरङ्गौघैर्विघट्टिता अपि
 वेलासु प्रसिद्धा वरतटाः शिलावप्रा इव निर्जं धैर्यं अत्यजन्तः
 ॥ १४ ॥ महोर्मिषु मुक्तामाणिक्यमण्डलेषु च प्रतिबिम्बिताः
 सन्तः पुरुषाणां समूहः पौरुषेयं तेन परिवृता इव भासमानाः
 ॥ १५ ॥ श्वेतपद्मेषु परिक्रान्तस्फारुदस्य राजहंसस्य श्रियम्
 ॥ १६ ॥ निर्घातः स्फूर्जधुः । भूभृत इति ऋष्टम् । यतो
 भूभृतस्ततो न भीताः ॥ १७ ॥ अभ्रंलिहैभ्यो जलमयेभ्योऽ-
 द्गीन्द्रेभ्यः पातेरुपातैश्च विघट्टिताः सन्तः ॥ १८ ॥ उत्पातस्य
 पाते प्राप्तौ निपतन्तो ये मेघवितानकास्तैर्वृता इव ॥ १९ ॥

प्रकान्तास्तेम्बुराशौ सहचरमकराः शूरनकैः कुलीरैः कुर्वतः कान्तियुक्तं वपुर्वि व कुसुमैर्भ्रौतमाणिक्यमुक्तैः
व्यासावर्ताविभृत्ताः सलिलतरुलतासीकरैरन्तरालैः व्यक्ताव्यक्तांशुजालैः प्रतिपदमितरैरन्नरूपैरदभैः २०
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अक्षि० वि० बलपरिभ्रंशो नाम द्वाविंशाधिकशततमः सर्गः ॥१२२॥

त्रयोविंशाधिकशततमः सर्गः १२३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्येते दृश्यरूपाया अविद्याया विचारणे ।
प्रवृत्ताः पादचारेण समुद्रद्वीपगामिनः ॥ १ ॥
अग्नेर्द्वीपं पुनर्द्वीपावर्धिं द्वीपं निरिं वनम् ।
लाघवाच्छ्रयामासुश्छेदभेदविधर्जिताः ॥ २ ॥
पीतो विपश्चित्पाश्चात्यो मीनेनामरगामिना ।
विष्णुमीनकुलोत्थेन वितस्तावाहनौजसा ॥ ३ ॥
क्षीरोदं प्राप्य मत्स्येन तेनोद्गीर्णः सुदुर्जरः ।
तेन क्षीरोदमुल्लङ्घ्य गतो बुरं दिगन्तरम् ॥ ४ ॥
दक्षिणो यक्षनगरे संप्रेक्ष्येधुरसार्षवे ।
शिक्षादक्षिणयाक्षिप्य यक्षिण्या कामुकीकृतः ॥ ५ ॥
पूर्वो मकरमाक्रम्य यदा गङ्गां निकृत्तवान् ।
गङ्गया स तदानीय कान्यकुब्जे समुज्जितः ॥ ६ ॥
उत्तरस्तूत्तरकुलनाराभ्य प्राप्तवाञ्छिभयम् ।
तं तथैनं न बाधन्ते दिगन्ते मृतभीतयः ॥ ७ ॥

तथा मकरमातङ्गनिर्गीर्णोद्गीर्णमूर्तिमान् ।
अतिचक्राम सुबह्वन्दीपान्तरकुलाचलान् ॥ ८ ॥
पश्चिमः पृष्ठमारोप्य हेमचूडेन पक्षिणा ।
कुशद्वीपे कुशाङ्गभीस्तरसा तारतोऽर्णवान् ॥ ९ ॥
कौशद्वीपाचले पूर्वो निर्गीर्णो रक्षसा वने ।
तद्रक्षः पाटितं तेन हृदयेऽन्नविकर्तनैः ॥ १० ॥
दक्षिणो दक्षशापेन यक्षतामागतः क्षणात् ।
शाकद्वीपे शक्तेनासौ वर्षाणां मोक्षमागतः ॥ ११ ॥
उत्तरस्तरसोत्तीर्णतारावरतरङ्गिणः ।
महार्णवसुवर्णोर्ग्या सिद्धशापाच्छिलां गतः ॥ १२ ॥
ततो वर्षशक्तेनासौ प्रसादाज्जातवेदसः ।
तेनैवोन्मोचितस्तत्र सिद्धेन रतिमाप्तवान् ॥ १३ ॥
वर्षाण्यष्टावभूद्राजा नालिकेरनिवासिनाम् ।
पूर्वः परमधर्मिष्ठः प्राप्तवान्प्राक्स्मृतिं ततः ॥ १४ ॥

अदभैर्बहलैरन्नरूपैर्व्यक्ताव्यक्तांशुजालैर्भ्रान्तैर्माणिक्यमुक्तासमूहैः
अन्तराले सलिलमयतरुलताप्रायाणां तरङ्गाणां सीकरैश्च कुसु-
मैर्वि वपुः कान्तियुक्तं भूषितं कुर्वन्तः तथा शूरैर्नकैः कुलीरैः
कर्कटकैश्च व्याप्तेष्ववर्तेषु आसमन्ताद्विवृत्ताः सहचरा मकरा
येषां तथाविधास्ते विपश्चितः अम्बुराशौ समुद्रे प्रकान्ताः
चलिता इत्यर्थः ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे बलपरिभ्रंशो नाम द्वाविंशाधि-
कशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥

इह द्वीपसमुद्रेषु प्रयातानां विपश्चिताम् ।

पाश्चात्यादिक्रमात्प्राप्ता वर्ण्यन्ते विविधा वृत्ताः ॥ १ ॥

इति अनया रीत्या एते विपश्चितः पादचारेण दृश्यरूपाया
अविद्याया अन्तर्पर्यन्तं विचारणे प्रवृत्ताः ॥ १ ॥ लाघवाच्छ्रे-
य्यात् ॥ २ ॥ तत्र पाश्चात्यः पश्चिमदिगन्तदर्शनाय प्रवृत्तो विप-
श्चिदमरोऽहमित्यभिमानवता मीनेन पीतो निर्गीर्णः । वितस्ता
नदी सा ह्यत्यन्तशीघ्रगा प्रसिद्धा तद्वाहनस्य नौकादेरोज इव
शीघ्रतरमोजो यस्य तथाविधेन ॥ ३ ॥ सुदुर्जरो जरयितुमशक्यः
॥ ४ ॥ द्वितीयस्योदन्तमाह—दक्षिण इत्यादिना । इधुरसा-
र्षवे स्थिते यक्षनगरे । वशीकरणविद्याशिक्षाविषये दक्षिणया
कुशलया यक्षिण्या प्रेक्ष्य विद्याबलेनाक्षिप्य स्वकामुकीकृतः ॥ ५ ॥
तृतीयस्योदन्तमाह—पूर्व इति । पूर्वदिशि प्रवृत्तो विपश्चित् गङ्गा-
सहस्रमुखसंभेदान् क्रमेण पश्यन् यदा कश्चिन्मकरं प्रसितुकामं

बलादाक्रम्य तस्योदाराय गङ्गामानीय निकृत्तवान् विदारितवान्
तदा स विपश्चित् गङ्गया परावृत्त्यानीय कान्यकुब्जे नगरे समु-
ज्जितस्त्वक्तः ॥ ६ ॥ चतुर्थस्योदन्तमाह—उत्तरस्तिष्ठति ।
उत्तरकुलं लक्षणया उत्तरकुलं देव्या सह क्रीडन्तमीश्वरमा-
राभ्य श्रियमणिमायैश्वर्यं प्राप्तवान् । अत एव तमेन विपश्चितं
तथैव श्रिया दिगन्ते प्रसृतमपि मृतं मरणं तत्प्रयुक्ता भीतयो
न बाधन्ते । अमरोऽभूदित्यर्थः ॥ ७ ॥ तथा श्रियैव तत्प्रभावे-
णैवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ पुनः पश्चिमस्योदन्तमाह—पश्चिम इति ।
हेमचूडेन गरुडेनेति यावत् । कुशद्वीपे हि कुशास्तम्बे स्थितो
गरुडः पूजादिना प्रसादितस्तद्वीपमणवांश्च तारयतीति प्रसिद्धिः ।
स्वर्गमयकुशास्येव अङ्गश्रीर्देहकान्तिर्यस्य ॥ ९ ॥ पुनः पूर्वस्यो-
दन्तमाह—कौश इति । कौशद्वीपे प्रसिद्धे वर्षसीमाचले रक्षसा
निर्गीर्णः । अथ तद्रक्षस्तेन विपश्चिता अम्ब्राणां विकर्तनैः पाटितं
विदारितम् ॥ १० ॥ पुनर्दक्षिणस्योदन्तमाह—दक्षिण
इति । मोक्षं शापमोक्षम् ॥ ११ ॥ तरसा जवेनैव उत्तीर्ण-
स्तारा महान्तः अवराः क्षुद्राश्च तरङ्गिण्यैश्च तरङ्गिणः समुद्राश्च
तरङ्गिणो येन । महार्णवस्य स्वाद्दस्य परतः प्रसिद्धायां सुव-
र्णोर्ग्यां शिलां शिलान्तं गतः ॥ १२ ॥ येन सिद्धेन शापो
दत्तस्तेनैव शापादुन्मोचितः सन् रतिं मनःप्रीतिमाप्तवान्
॥ १३ ॥ पुनः पूर्वस्योदन्तमाह—वर्षाणीति । कान्यकुब्ज-

कल्पवृक्षवने मेरोरुत्तरेऽप्सरसा सह ।
 उवाच दशवर्षाणि नालिकेरफलाशनः ॥ १५
 विहगाश्वासतस्वहः शास्मलिद्वीपशास्मलौ ।
 पश्चिमः पक्षिणीनीडे क्रीडया न्यवसत्समाः ॥ १६
 मन्दराद्रौ मृदुलते मन्दारतरुमन्दिरे ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० दिग्विहरणं नाम त्रयोविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

किन्नरी मन्दरीनाम्नी दिनमेकमसेवत ॥ १७
 क्षीरोद्वेलावनकल्पवृक्ष-
 वनावलीनन्दनदेवताभिः ।
 सार्धं समाः सप्ततिमप्सरोभि-
 निर्नाय कामाकुलितोऽथ पूर्वः ॥ १८

चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः १२४

श्रीराम उवाच ।
 एकसंविन्मयाः सर्वे एवैकवपुषोऽपि ते ।
 विविधेच्छाः कथं ब्रह्मसंपन्ना एकदेहिनः ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 एकसंविद्वनाकाशमप्यनानैव सर्वगम् ।
 स्वयं नानैव संपन्नं सुप्ते चित्तमिवात्मनि ॥ २
 तस्याच्छत्वात्तथाभूतमात्मैवात्मनि बिम्बति ।
 तादृशस्य तथाभूतौ मुकुरस्येव निर्मला ॥ ३
 एकलोहमया एव यथादर्शाः परस्परम् ।
 तथैते प्रतिबिम्बन्ति पदार्थाः पारमार्थिकाः ॥ ४

देशावुत्तरां दिशं गतस्तत्र नालिकेरप्रधानदेशनिवासिनां राजा-
 ऽभवदित्यर्थः । प्राक्स्मृतिं पूर्वोदन्तस्मरणम् ॥ १४ ॥ १५ ॥ पुनः
 पश्चिमस्योदन्तमाह—विहगोति । विहगानामाश्वासे वशीकरण-
 विषये तत्त्वज्ञो रहस्यज्ञः । अत एव प्रागरुडेन पृष्ठमारोप्यार्ण-
 वांस्तारित इत्युक्तम् । पक्षिण्या नीडे तथा सह क्रीडया दशसमाः
 न्यवसदित्यर्थः ॥ १६ ॥ तदनन्तरं मन्दराद्रौ गतं तं पश्चिमविप-
 क्षितं मन्दराद्रौ किन्नरी दिनमेकमसेवत ॥ १७ ॥ अथ पूर्वो नालि-
 केरवनात्क्षीरोद्वेलां गतः संस्तत्रत्यकल्पवृक्षवनावलीषु नन्दन-
 देवताभिरप्सरोभिः सार्धं कामाकुलितः सन् सप्ततिसमाः निर्नाय
 ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे दिग्विहरणं नाम त्रयोविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

एकस्यापि चतुर्देहैर्ष्ववहारः समर्थ्यते ।
 द्वीपेषु नानाद्वीपेषु विहारश्च विपश्चिताम् ॥ १ ॥

चतुर्णामेकदेहत्वे एकजीवकत्वे च भिन्नेच्छत्वमनुपपन्नमिति
 रामः शङ्कते—एकेति । एकसंविदेकं साक्षिचैतन्यं तन्मया
 एकस्यैव वपुषश्चतुर्धाभावादेकवपुषश्च ते विपश्चितः । एकः
 देही जीवो येषाम् । तथाच जीवमेदं विना युगपदिच्छाभे-
 दोऽनुपपन्न इत्यर्थः ॥ १ ॥ एकस्यापि जीवस्याविषया स्वप्ने
 नानादेहादिकल्पनदर्शनात्तेषु च शत्रुमित्रोदासीनभावकल्पने
 नानेच्छत्वदर्शनाच्च सर्गादौ ब्रह्मणि जीवे जाग्रत्यपि तादृशकर्म-
 सत्त्वे सर्वसंभव इत्याशयेन वसिष्ठ उत्तरमाह—एकसंविदिति
 ॥ २ ॥ तस्य संविद्वनाकाशस्याच्छत्वात्पणवदतिस्वच्छत्वात्तथा-
 भूतं नानात्मतामिवापन्नं आत्मा स्वमेवात्मनि बिम्बति वर्णो-
 दराकाशे गिरिनद्यादिसहितं महाकाशमिवेत्यर्थः । तादृशस्य

तेन यस्य यदा यद्यत्पुरो भवति वस्त्वसौ ।
 यदर्थं युज्यते तेन चिद्धनैकस्वभावतः ॥ ५
 इत्यनानैव नानेदं नानानाना च वस्तुतः ।
 न च नाना न ज्ञानाना नानानानात्मकं ततः ॥ ६
 तेन यस्य यदायातं पुरो वस्तु विपश्चितः ।
 स तेन संविन्मयतामेत्य तद्दशमागतः ॥ ७
 एकदेशगता विष्वग्भ्याप्य कर्माणि कुर्वते ।
 योगिनस्त्रिषु कालेषु सर्वाण्यनुभवन्त्यपि ॥ ८
 अब्दोऽपि व्याप्तिमानेकस्तुत्यकालं पृथक्क्रियाः ।
 आह्लादस्तेन पादेन करोत्यनुभवत्यपि ॥ ९

स्वच्छत्वापि तथाभूतौ नानाजगदाकारभवने मुकुरस्येव निर्मला
 स्वच्छत्वे हेतुरिति शेषः ॥ ३ ॥ ननु जगदपि वस्तुतश्चिदेव ।
 तथा सति चित्त एव चिति कथं प्रतिबिम्बनमिति चेच्छृणु
 दृष्टान्तमित्याह—एकेति । पारमार्थिकाः परमार्थतश्चिद्रूपा
 अपील्यर्थः । मायोपाधेरचिन्त्यशक्तिवाद्ब्रह्मवदनगरस्फटिककुण्ड-
 रूपे नभसि मचन्द्रार्काभ्रमहानभःप्रतिबिम्बनदर्शनाच्चेति भावः
 ॥ ४ ॥ अत एवाध्यस्तभोग्यजगदाकारं ब्रह्म विषयेन्द्रियसंयोगे
 बुद्ध्यवच्छिन्नजीवमिति प्रियाप्रियविषयभोगाकारेण प्रतिबिम्ब-
 तीत्याह—तेनेति । यद्यद्भोग्यवस्तु पुरो भवति सन्निकर्षमा-
 पद्यते तेन वस्तुना असौ तदर्थं तद्भोगार्थं युज्यते उपपद्यते ।
 यदि भोग्यं वस्तु बुद्धौ न प्रतिबिम्बेत भोग एव न युज्येत-
 त्यर्थः ॥ ५ ॥ तर्ह्येकस्य नानाऽनानात्मकत्वं विरुद्धं माययापि
 कथं स्यात्तत्र युक्तिर्वाच्येति चेत्तत्राह—न चेति । यदि नाना-
 त्वमात्रनिषेधः स्यात्तदा नियतैकरूपमेव स्यात् । अनानात्वधर्म-
 स्यापि निषेधात्तानात्वेनापि तत्संभावयितुं शक्यमित्यविरोधं
 युक्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥ अत एव विपश्चितो नानादिगतभोग्यानां
 युगपद्भोगप्रदकर्मपरिपाके एकस्यैव देहादेक्षातुर्विध्यं तत्तद्देशस्य
 विषयाणां तत्र तत्र बुद्धौ युगपत्प्रतिबिम्बनं च संपन्नमित्याशये-
 नाह—तेनेति ॥ ७ ॥ यदा योगिनामगत्यादीनां मलत्यादि-
 नियतैकदेशे नित्यं स्थितानामपि नानादेशेष्वतीतानागतादिका-
 लेषु योगबलात्संनिधानेन सर्वानुभवितृत्वं प्रसिद्धम्, तदा भिन्न-
 देशं प्रयातानां विपश्चितां तर्हि वाच्यमित्याशयेनाह—एकदे-
 शेति ॥ ८ ॥ नानादेशेषु युगपदेकस्य भिन्नक्रियाकारित्वे

१ तदर्थं इति वीकानुगुणः पाठः.

तुल्यकालमसंख्यातमीश्वरप्रतियोगिनः ।
 कर्मजालं जगज्जातं कुर्वन्त्यनुभवन्ति च ॥ १०
 एको विष्णुश्चतुर्भिः स्वैर्बाहुभिर्वा शरीरकैः ।
 पृथक्कुर्वन्क्रियाः पाति जगद्भुक्ते वराङ्गनाः ॥ ११
 बहुबाहुर्व्यदा द्वाभ्यां हस्ताभ्यां द्वयसंप्रहम् ।
 करोति बहुभिर्भूयः संग्रामं सततं करैः ॥ १२
 तथैव तैर्विपश्चिद्भिः सर्वदिक्कं तथा स्थितैः ।
 तथा व्यवहृतं प्राप्तमेकसंविन्मयैरपि ॥ १३
 सुतं तैर्भूमिशय्यासु भुक्तं द्वीपान्तरेषु च ।
 विहृतं घनलेखासु प्रकान्तं मरुभूमिषु ॥ १४
 उषितं गिरिमालासु भ्रान्तं सागरकुक्षिषु ।
 विभ्रान्तं द्वीपलेखासु निलीनं घनमालिषु ॥ १५
 रुढमर्षवमालासु घात्यासु जलबीचिषु ।
 क्रीडितं मूढवृक्षीनां तटीषु नगरीषु च ॥ १६
 शाकद्वीपोदयगिरितटे सप्तवर्षाणि सुतं
 पूर्वैणान्तर्विदलगहने यक्षसंमोहितेन ।
 पाषाणाम्बु प्रसभममुनैवात्र पीत्वा दृषत्ता-
 मागत्यान्तः स्थितमथ समाः सप्त जात्येन भूमेः
 इत्याषं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० वि० द्वीपान्तरवर्णनं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥

शाकद्वीपेऽस्तशैलस्य शिरस्य अगुहागृहे ।
 पिशाचाप्सरसा मासं पाश्चात्यः कामुकीकृतः ॥ १८
 यत्र शान्तभये वर्षे जलधारे महागिरौ ।
 हरीतकीवने वर्षे पूर्वोऽन्तर्धानमाययौ ॥ १९
 अत्र रैवतके शैले वर्षे शिशिरनामनि ।
 दशरात्रमभूर्त्सिंहः पूर्वो यक्षवशीकृतः ॥ २०
 अत्र काञ्चनशैलादिदरीदुर्दुरतां गतः ।
 पिशाचमायाछलितो दशवर्षाण्युवास सः ॥ २१
 कौमारं वर्षमासाद्य श्यामाद्रेः दत्तरस्तटम् ।
 शाकद्वीपेऽन्धकूपेऽन्धो न्यवसच्छरदां शतम् ॥ २२
 मरीचकेऽकरोद्वर्षे वर्षाण्यत्र चतुर्दश ।
 विद्याधरत्वं पाश्चात्यः स विद्याधरविद्यया ॥ २३
 रतक्लमक्लान्तपुरारिलक्ष्मी-
 चलाङ्गलेखाक्रमशीकराक्तम् ।
 एलाळतालिक्रनलब्धगन्ध-
 मालम्ब्य वेलावनगन्धवाहम् ॥ २४

पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

वर्षे शान्तभयाभिव्ये जलधारे गिरौ तरौ ।

तत्तद्देशव्याप्तिरेवोपयुज्यते न जीवमेद इत्याह—अब्द इति ।
 यथा घर्मातान् आह्लादयतीत्याह्लादः अब्दो मेघोऽपि महत्त्वा-
 देव नानानगरगिरिनदीक्षेत्रादिव्याप्तिमांस्तुल्यकालं सौध-
 क्षालनकूटमेदनजलवर्धनसस्यपोषणाविपृथक्क्रियाः तुल्यकालं
 तेन तेन पादेनांशेन करोति तदभिमानो जीवश्च मयेमाः
 क्रियाः कृता इत्यनुभवत्यपि तद्द्वाराप्रोपपत्तिर्बोधयेत्यर्थः ॥ ९ ॥
 अणिमाद्यैर्धर्मलाभादीश्वरप्रतिमाः योगिनः ॥ १० ॥ चतुर्भिः
 शरीरकैः क्वचियोगनिद्रां क्वचित्तपः क्वचिदिन्द्रानुजतया तत्सा-
 हायं क्वचिद्वैकुण्ठं भोगजातमिति पृथक् क्रियाः कुर्वन् जगत्पाति
 वराङ्गना भुक्ते अनुभवति ॥ ११ ॥ यदा द्वाभ्यां बाहुभ्यां द्वयो-
 रर्थयोः संग्रहप्रसक्तिस्तदा तं संभूय सर्वैः करैः संग्रामप्रसक्तौ
 तं च करोति ॥ १२ ॥ दृष्टान्तान्प्रकृते योजयति—तथैवेति ।
 प्राप्तं सुखदुःखादिकमिति शेषः ॥ १३ ॥ प्रकान्तं चलितम्
 ॥ १४ ॥ घनमालिषु मेघमालाघत्सु पर्वताग्रेषु निलीय
 स्थितम् ॥ १५ ॥ रुढं प्रादुर्भूतम् ॥ १६ ॥ तथा पूर्वैण
 विपश्चितां शाकद्वीपे प्रसिद्धस्योदयगिरिस्तटे विदलस्य दलर-
 हितस्य कुहीवृक्षस्य गहने अन्तर्धानेण संमोहनविद्यया संमो-
 हितेन सप्तवर्षाणि सुतं । अमुनैव पूर्वविपश्चिता पाषाणकरं
 अम्बु अत्रास्मिन् गिरौ क्वचित्पीत्वा प्रसभं बलादृषत्तां पाषाण-

तादकतंरिपानीयं शाकद्वीपे पिबन् स्थितः ॥ १

भावमागत्य भूमेरन्तस्तजात्येन भूत्वा सप्त समाः स्थितम् ॥ १७ ॥
 अभ्रसंनिहिते गुहागृहे ॥ १८ ॥ शान्तभयाभिव्ये वर्षे भूमिमेदे
 कस्यचिन्मुनेः शापाद्वरीतकीवृक्षतां प्राप्याऽन्तर्धानं जनैरदृश्य-
 ताम् । वर्षे सप्ततिवर्षम् ॥ १९ ॥ २० ॥ दरीषु दुर्दुरतां
 मेकताम् ॥ २१ ॥ उत्तरस्योदन्तं पुनराह—कौमारमिति ।
 श्यामाद्रेर्निलगिरेः । अन्धो दुर्दुरः सन्नित्यर्थः ॥ २२ ॥ पाश्चात्य-
 स्योदन्तमाह—मरीचक इति । विद्याधरत्वप्रापिकया मन्त्र-
 विद्यया ॥ २३ ॥ किमालम्ब्य विद्याधरत्वमकरोत्तदाह—
 रतेति । रतं सुरतं तत्रत्येन क्लमेन क्लान्तस्य पुरारेर्लक्ष्म्या
 शोभातिशयेन चलानामङ्गलेखानां क्रमेणोद्भूतैः शीकरैः आर्कं
 संपृक्तम् । तथा एलाळतानामालिङ्गनैर्लब्धगन्धं वेलावनस्य
 गन्धवाहं वायुमालम्ब्य आनन्दहेतुलेनाश्रित्येत्यर्थः ॥ २४ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 द्वीपान्तरवर्णनं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥
 परस्पररोपकारित्वं विपश्चत्र विपश्चिताम् ।

विपश्चत्रार्थक्रिया जीवन्मुक्तानां चोपवर्णयते ॥ १ ॥

तत्र विपश्चितां भिन्नदिक्षु भ्रमतां परस्परानुसंधानं विपत्सु
 परस्परानुप्राहकत्वं चास्ति न वेति रामस्य संशयं लिङ्गैरुपलक्ष्य
 तं निराचिकीर्षुर्वसिष्ठः प्रथमं पूर्वस्य शान्तभयवर्षे हरीतकी-

पूर्वोऽथ वर्षसप्तत्या पाश्चात्येनैव मोक्षितः ।
 विद्यया ऋक्चेनेव छित्वा वृक्षत्वमक्षतः ॥ २
 पाश्चात्यः क्षिप्रिरे वर्षे पाषाणत्वमुपागतः ।
 मोक्षितो दक्षिणेनाशु गोमांसादिप्रयोगतः ॥ ३
 शिवेऽस्ताचलपारस्थे वर्षे वर्षेण पश्चिमः ।
 मोक्षितो दक्षिणेनैव गोपिशाच्या वृषीकृतः ॥ ४
 अत्रैव क्षेमके वर्षे आम्बिकेयगिरौ तरौ ।
 दक्षिणो यक्षतां यातो मोक्षं यक्षेण लब्धवान् ॥ ५
 अत्रैव वृषके वर्षे शैले केसरनामनि ।
 केसरित्वं गतः पूर्वं पाश्चात्येनैव मोक्षितः ॥ ६
 श्रीराम उवाच ।
 एकदेशगता विष्वग्व्याप्य कर्माणि कुर्वते ।
 योगिनस्त्रिषु कालेषु सर्वाणि भगवन्कथम् ॥ ७
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 इह रामाप्रबुद्धानां यदस्यस्त्वलमेव नः ।
 तेन यत्तु प्रबुद्धानां तदिदं शृणु कथ्यते ॥ ८
 चिन्मात्रसत्तासामान्यादृतेऽन्यत्रात्म तद्विदाम् ।
 दृश्यात्यन्ताभावबोधे सर्गासर्गदृशोः क्षये ॥ ९
 चिन्मात्रसत्तासामान्ये विश्वान्तस्य निरन्तरम् ।

तदभावसंकटे पश्चिमकृतमनुग्रहमाह—वर्षे इति । शान्तमय-
 मित्याभिरुया प्रसिद्धिर्यस्य तस्मिन् वर्षे । अत्र शान्तमये वर्षे
 जलधारे महागिराविति प्राक्सर्गोके गिरौ हरीतकीवने हरीतकी-
 वृक्षभूतस्तादृकदवस्थः कर्तरीयम्नसदृशभूम्यन्तःशिलासंबन्धि
 पानीयं मूलैः पिबन् स्थितः पूर्वो विपश्चित् पाश्चात्येन विपश्चिता
 तद्वृत्तान्तं ज्ञात्वा तत्र एव आगत्य शापप्रदं मुनिं प्रसाद्य तद्-
 स्या विद्यया ऋक्चेनेव वृक्षत्वं छित्त्वेव वृक्षभावान्मोक्षित इति
 परेणान्वयः ॥ १ ॥ २ ॥ एवं पाश्चात्योऽपि क्षिप्रिरुद्ये वर्षे
 पिशाचपतिशापात्पाषाणत्वमुपागतो दक्षिणेन एव गोमांसादि-
 प्रयोगतः पिशाचपतिं प्रसाद्य मोक्षितः ॥ ३ ॥ गोरुपया
 पिशाच्या पिशाचविद्यया वृषीकृतो वृषपिशाचीकृतः पश्चिमो
 दक्षिणेन मोक्षितः ॥ ४ ॥ यक्षतां पिशाचमेदताम् । देवता-
 यक्षभावस्य मोक्षणे प्रयोजनाभावात् । यक्षेण पश्चिमप्रसादितेन
 यक्षपतिना निमित्तेन ॥ ५ ॥ अत्रासिञ्जेव शाकद्वीपे ॥ ६ ॥
 विष्वक् सर्वतो व्याप्य विविधं आप्य । कर्माणि अनुग्रहादीनि
 कथं कुर्वते तत्रोपपत्तिर्वाच्येत्यर्थः ॥ ७ ॥ योगिनां दृशा सर्वप्र-
 पञ्चस्य मनोमात्रत्वान्मानसक्रियासु च मनसः सर्वत्र युगपद्यव-
 हारेऽपि निरङ्कुशस्वातन्त्र्याविधातात्सर्वक्रियोपपत्तिरित्याशयेन
 वसिष्ठ उत्तरमाह—इहेत्यादिना । हे राम, इह जगति अत्रबु-
 द्धानां दृशा यद्भूतभौतिकादिस्थूलं वस्त्वस्ति तेन नः प्रबुद्धाना-
 मुपपत्तिचिन्तया अल्पम् । प्रबुद्धानां दृशा यत्तु चिन्मात्रं मनो-
 मात्रं वस्तु तत् सर्वत्रार्थक्रियासमर्थं यद्योपपद्यते तथा कथ्यते

१ क्षेमके वर्षे इति पाठः.

सर्वेशयेह सर्वत्वं सर्वात्मत्वं च सर्वदा ॥ १०
 यद् केन कथं कुत्र कदा किमिव रोध्यते ।
 सर्वगतस्थथ सर्वात्मा यत्र भाति यदा यथा ॥ ११
 तथा भाति तदा तत्र सर्वात्मनि किमस्ति नो ।
 अतीतं वर्तमानं च भविष्यत्स्यूलमप्यणु ॥ १२
 तथा दूरमदूरं च निमेषः कल्प एव च ।
 स्वरूपमजहत्येव सामान्ये तानि सर्वदा ॥ १३
 सर्वात्मनि स्थितान्येव पश्य मायाविजृम्भितम् ।
 अजातमनिरुद्धं च यथास्थितमवस्थितम् ॥ १४
 विज्ञानघनमेवेदमत एव जगद्भयम् ।
 नभस्त्वमत्यजंश्रैव सर्वात्मैव नभः स्थितम् ॥ १५
 जगदात्मा जगद्रूपं द्रष्टृदृश्यतयोदितम् ।
 विश्वात्मदृग्बुधैर्यत्स्यात्तत्किं केन कथं कदा ॥ १६
 दुःसाध्यं ब्रूहि तत्त्वज्ञ साध्यासाध्यस्वरूपिणः ।
 तस्मादस्याः सदैकस्या विपश्चिद्राजसंविदः ॥ १७
 प्रबोधमनुगच्छन्त्या अप्राप्तायाः परं पदम् ।
 एकस्या अप्यनेकस्याः सर्वं सर्वत्र युज्यते ॥ १८
 बोधाबोधात्मरूपे हि किं नामास्ति परात्मनि ।
 अप्राप्तायाः परं बोधं पदार्थाकुलतोचिता ॥ १९

शृण्वित्यर्थः ॥ ८ ॥ तत्र चिन्मात्रमेव वस्तिवति कल्पे सर्वेश्वरस्येव
 सर्वत्र सर्वार्थक्रियोपपत्तिरित्याह—चिन्मात्रेति । तद्विदां
 तत्त्वविदां दृशा चिन्मात्रसत्तासामान्यादृते अन्यत् जगद्रूपं
 न विद्यते आत्मा स्वरूपं यस्य तन्नात्म । नशब्दोऽयं न तु नम् ।
 निःस्वरूपमिति यावत् ॥ ९ ॥ १० ॥ किंश्रुतानि प्राग्बत् ।
 रोध्यते सर्वत्र सर्वार्थक्रियाविषये निवार्यते । दृष्टसृष्टिपक्षमा-
 लम्ब्यापि तदनिरोधमाह—सर्वगत इति । अथेति पक्षान्तर-
 योतनाय ॥ ११ ॥ किं नो अस्ति किं तद्यत्ततः सत्तां न लभत
 इत्यर्थः । अतीतमित्यादिस्तत्प्रपञ्चः ॥ १२ ॥ सामान्ये सत्ता-
 सामान्ये । तान्यतीतादीनि ॥ १३ ॥ अनिरुद्धमनष्टम् ॥ १४ ॥
 अत एव सत्तासामान्याधीनस्थितिकत्वादेव । अविकृतस्य सदा-
 त्मन एव नभआदिरूपेण स्थितिं प्रपञ्चयति—नभस्त्वमिति ।
 अत्यञ्जनं स्वसत्तया अनुगृह्णन्नेव ॥ १५ ॥ मायाशबलो हि
 जगदात्मा तदेव द्रष्टृदृश्यतया जगद्रूपमुदितम् । यत्तु विश्वा-
 त्मनः शबलस्य दृग्बुधैर्यत्स्यात्तत्किं केन कथं कदा किं स्यात् ।
 शुद्धे परिणामविबर्ताद्यघटनादित्यर्थः ॥ १६ ॥ साध्यासाध्यस्व-
 रूपिणः शबलस्य दुःसाध्यं किम्, न किंचिदिति सर्वदा सर्वत्र
 सर्वार्थक्रियोपपत्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥ रामप्रश्नसमाधानं प्रकृते
 योजयन्नुपसंहरति—तस्मादिति । ईश्वरचित एवोपाधिमेदे
 विपश्चिदादिजीवत्वादेकस्या अप्युपाधिनात्वेनानेकभावाप-
 न्नाया अत्रादिप्रसादात्सर्वं सर्वत्र कार्यं युज्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥
 बोधाबोधात्मरूपे शबले किं नामास्ति । असाध्यमिति
 शेषः । तत्रैव युक्त्यन्तरमाह—अप्राप्ताया इति ॥ १९ ॥

किञ्चिद्बोधं प्रविष्टायाः सिद्धताप्युचितैव सा ।
एवं ते सर्वदिकसंस्थाः सर्वमेव परस्परम् ॥ २०
प्रद्यन्त्यनुभवन्त्याशु चिकित्सन्ते च संकटम् ।
बोधाकाशः स्वकाद्रूपादीष्वभ्युत इवाशु चेत् ॥ २१
तद्व्यन्यतामिवाद्यत्तं सुखितोऽपि यथास्थितम् ।

श्रीराम उवाच ।

विपश्चितः प्रबुद्धाश्चेत्कथं सिंहवृषादिताम् ॥ २२
दिक्षु यान्तीति मे ब्रह्मबोधाय कथयाश्वलम् ।

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

प्रबुद्धाः कथिता ये ते योगिनस्ते मयानघ ॥ २३
प्रसङ्गरूपान्तरतो न प्रबुद्धा विपश्चितः ।
विपश्चितो महाबाहो प्रबुद्धा निपुणं न ते ॥ २४
बोधाबोधघटोर्मध्ये ते हि दोलायिताः स्थिताः ।
मोक्षचिह्नानि दृश्यन्ते बन्धचिह्नानि चाभितः ॥ २५
नित्यधर्मप्रबुद्धानां तथाभूततया तथा ।
विपश्चितो धारण्या योगिनो न परं गताः ॥ २६
धारणायोगिनस्ते हि धारणाप्राप्तसिद्धयः ।

योगिनामैच्छिकार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसिद्धतायामप्युपपत्तिमाह—
किञ्चिदिति । बोधप्रकर्षक्रमेण अकामहतत्वप्रकर्षसंभवात्तत्प्र-
युक्तानन्दोत्कर्षप्रयोजकैर्धर्मप्रकर्षक्रमस्याप्युपपत्तेरिति भावः ।
ते विपश्चितः संकटं विपद्रोगं चिकित्सन्ते प्रतिकुर्वन्ति ॥२०॥
प्रबुद्धानां मनोमात्रमेव सर्ववस्त्विति कल्पे तु सर्वत्र सर्वार्थ-
क्रिया मनोराज्यवदुपपन्नतरैवेत्याशयेनाह—**बोधाकाश इति** ।
ईषत्स्वरूपात्प्रच्युतिरेव मनोभाव इत्युत्पत्तिप्रकरणे बहुशो
व्युत्पादितत्वादिति भावः ॥ २१ ॥ यथास्थितं सुखितोऽपि
तत्तस्मान्मनोभावलक्षणादीष्वभ्युवनदोषादन्यतां जगद्रूपतां युग-
पदादत्ते । विपश्चितप्रसङ्गे योगिनां प्रबुद्धानां युगपत्सर्वार्थ-
क्रियोपपत्तौ वर्णितार्यां विपश्चितोऽपि प्रबुद्धा इति मन्यमानो
रामः शङ्कते—**विपश्चित इति** । प्रबुद्धानां सर्वार्थक्रियास्वा-
तन्त्र्येण पारतन्त्र्येण सिंहवृषादिवेहसंकटाप्रसक्तः परस्परानुप्रदो-
क्तिरसंगतेति भावः ॥ २२ ॥ त्वया योगिनः कथं व्याप्य
कर्माणि कुर्वते इति पृष्टमिति मयात्र योगिनः प्रबुद्धा वर्णिता
न तु विपश्चितोऽपि प्रबुद्धा योगिन इतीति बसिष्ठः समाधत्ते—
प्रबुद्धा इति ॥ २३ ॥ त्वत्प्रश्नसमाधानार्थं विपश्चितप्रसङ्गरूप-
स्यान्तरतः अन्तरेण योगिनस्ते कथिता न तु विपश्चितोऽपि
प्रबुद्धा इत्याशयेनेत्यर्थः ॥२४॥ तर्हि ते किमत्यन्तमूढा नेत्याह—
बोधेति । द्वितीयभूमिकास्था इत्यर्थः । भाविमोक्षचिह्नानि
विबेकादीनि । बन्धचिह्नानि रागादीनि ॥ २५ ॥ तथा उक्त्या
तथाभूतया दोलायिततमा धारण्या योगिनो न तु परं गता
योगिन इत्यर्थः ॥ २६ ॥ हृदयादिप्रदेशेष्वग्निदेवतायां चित्त-
निरोधेन तत्प्रसादप्राप्तसिद्धित्वाद्धारणायोगिनो न तु ज्ञानयोगिनो
येष्वविद्या नष्टेत्यर्थः ॥ २७ ॥ ते ज्ञानयोगिनश्चेद्विद्यां किं
किमर्थमवेक्षन्ते । तद्दर्शनेच्छैवैवामविद्यानुच्छेदे लिङ्गमित्यर्थः ।

ये परं बोधमायाता येष्वविद्या न विद्यते ॥ २७
किमविद्यामवेक्षन्ते ते तामरसलोचन ।
धारणायोगिनो ह्येते वरेण प्राप्तसिद्धयः ॥ २८
अविद्या विद्यते तेषां तेन तेऽतद्विचारिणः ।
अन्यच्च शृणु हे राम जीवन्मुक्तशरीरिणाम् ॥ २९
अवेद्यवहतावेव पदार्थान्तरवेदनम् ।
मोक्षोऽपि चेतसो धर्मश्चेतस्येव स तिष्ठति ॥ ३०
न देहे देहधर्मस्तु न देहाद्विमिवर्तते ।
न कदाचन निर्मुक्तं चेतो भूयो निबध्यते ॥ ३१
यत्नेनापि पुनर्बन्धं केन वृन्तच्युतं फलम् ।
देहस्तु देहधर्मेण जीवन्मुक्तिमतामपि ॥ ३२
गृह्यते तद्गतं तेषां चेतस्त्वबलमेव तत् ।
मोक्षो हि न परश्चेतो धारणादिप्रयोगवत् ॥ ३३
आत्मसंबन्ध पचासौ मन्धाद्यास्वादसौख्यवत् ।
सुखदुःखैर्युतो योऽसौ स्वयं बन्धानुभूतिमान् ॥ ३४
तन्मुक्तो मुक्त इत्युक्तः स्वानुभूतिप्रदस्त्वसौ ।
अन्तःशीतलचित्तो हि मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ३५

धारणापरिपाकान्ते देवताप्रसादजेन वरेण प्राप्तसिद्धयस्ते ॥२८॥
ते विपश्चितः अतद्विचारिण आत्मविचारशून्याः । जीव-
न्मुक्तानां व्यवहारकाल एव देहादिभानम्, समाधी तु विदेह-
कैवल्यसाम्यमेवेति विपश्चित्यो विशेषान्तरं श्रावयति—**अन्य-
च्छेत्यादिना ॥ २९ ॥** व्यवहृतौ व्युत्थानकाले एव । कुतस्तेषां
समाधावेव तथात्वं तत्राह—**मोक्ष इति** । यो हि बद्धस्तस्य
बन्धनिवृत्तिर्मोक्षः । चित्तमेव बध्यते नात्मेति मोक्षोऽपि तद्धर्म
एव । अतः समाहिते चेतस्येव स मोक्षस्तिष्ठति न देहे देह-
भावापक्षे व्युत्थिते इत्यर्थः ॥ ३० ॥ न देहे इति पूर्वान्वयि ।
यस्तु देहधर्मो देहभावाधीनो व्यवहारः स जीवन्मुक्तस्यापि
देहात् निवर्तते इति पदार्थान्तरवेदनोपपत्तिरित्यर्थः । तर्हि
जीवन्मुक्तचेतोऽपि देहभावे बध्येतेति चेत्तेत्याह—**न कदाच-
नेति ॥ ३१ ॥** वृन्ताच्युतं पतितं फलं पुनः केन समर्थेनापि
वृन्ते पूर्ववद्दृढम् । न केनापीत्यर्थः । अत एव मुक्तानाममुक्तानां
च देहधर्मानुवृत्तिस्तुल्या न चित्तधर्मानुवृत्तिरित्याह—**देह-
स्तिष्ठति ॥ ३२ ॥** अत एव ते परैर्जीवन्मुक्ता इमे इति न ज्ञातुं
शक्यन्ते धारणादिसिद्धास्तु ज्ञातुं शक्यन्त इत्यपरो विशेष
इत्याह—**मोक्ष इति ॥ ३३ ॥** मनोधर्मो मोक्षः कथमात्म-
संबन्ध इत्युच्यते तत्राह—**आत्मसंबन्ध इति** । बन्धबन्धमोक्ष-
स्यापि मनोगतस्य साक्षित्वानुभूत्यैव सिद्धेरिति भावः । यदि
बन्धमोक्षो मनोधर्मो तर्हि कथमात्मा बद्धो मुक्त इति च शास्त्रे
व्यवहियते तत्राह—**सुखदुःखैरिति** । स्वानुभूतिप्रदः असौ
आत्मा तु मनोधर्मैः सुखदुःखैर्युतः सन् यो जीवः स्वयं
बन्धानुभूतिमान् भवति स तस्य मनसो मुक्तो मुक्त इति
शास्त्रे उक्त इत्यन्वयः ॥ ३४ ॥ नन्वेवं सति देहादयोऽपि
मनोधर्माभ्यां ताभ्यां बद्धा मुक्ताश्चेति व्यवहियेरस्तत्राह—

बन्धः संतप्तचित्तेति देहादेस्तत्र दृश्यते ।
 शरीरे कणशः कृते राज्ये वा विनियोजिते ॥ ३६
 क्वतो हसतश्चैव जीवन्मुक्तमतेरिह ।
 न दुःखं न सुखं किञ्चिदन्तर्भवति तन्स्थितम् ॥ ३७
 गृह्णतोऽप्यनुभूतिस्तु तत्रैवैवास्ति नापरे ।
 दृश्यन्ते पण्डिता भग्ना रूपान्तरमुपागताः ॥ ३८
 देहादिजीवन्मुक्तानां स्वभावाच्च कदाचन ।
 मृतोऽपि नैव म्रियते रुद्धपि न रोदिति ॥ ३९
 विहसन्न हसत्येव जीवन्मुक्तो महोदयः ।
 शीतरागाः सरागामा अकोपाः कोपसंयुताः ॥ ४०
 अमोहा मोहबलिता दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।
 इदं सुखमिदं दुःखमित्यादिकलनास्तु ताः ॥ ४१
 अलं दूरगतास्तेषामङ्कुरा नभसो यथा ।
 जगदात्मा च नास्त्येव यस्यैकं सर्वमस्ति च ॥ ४२
 सुखदुःखादि तस्येति वाग्व्योमविटपोपमा ।
 अशोका एव शोचन्ते जीवन्मुक्ता जयान्विताः ॥ ४३
 अच्छिन्ना एकतद्भावा दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।
 शिरः कमलजस्योच्चैः सामगायनतत्परम् ॥ ४४
 हरो नखेन चिच्छेद सुकुमारमिवाम्बुजम् ।
 शक्तोऽपि न पुनर्ब्रह्मा जनयामास तच्छिरः ॥ ४५

अन्तरिति । आन्तरयोराहादसंतापयोरान्तरे एव चिदात्मन्य-
 ध्यासोऽनुभवसिद्धोऽभ्युपगन्तुं व्यवहर्तुं च युक्तो न बाधे देहा-
 दाविति भावः ॥ ३५ ॥ संतप्तचित्तेति संधिरार्थः । युक्ते मनसि
 शरीरधर्माणामिव मनोधर्मस्य मोक्षस्य शरीरे प्रतीतिप्रस-
 क्तिरित्याशयेनाह—शरीरे इति । कृते छिन्ने ॥ ३६ ॥
 तन्स्थितं देहप्रयुक्तम् ॥ ३७ ॥ ननु पादे मे कण्टकदुःखं देहे मे
 चन्दनसुखमिति देहेऽपि जनो मनोधर्मसुखदुःखादीन् गृह्णाति
 तत्कथमात्मन्येव तदध्यासस्तत्राह—गृह्णत इति । अवच्छेद-
 कतासंबन्धेन देहे सुखदुःखादीन् गृह्णतोऽपि जनस्य अहं सुखी
 अहं दुःखीत्यात्मन्येव तदनुभवपर्यवसानात्तत्रैवैवा कल्पनास्ति
 न अपरे बाधे देहादौ । अत एव हि आत्मन्यध्यासमनभ्युप-
 गच्छन्तो देहाद्यात्मताभिमानाद्रूपान्तरमुपागताश्चार्वाकनैयायि-
 कसांख्यबौद्धकाणादादयः पण्डिता मोक्षोपायालाभाद्भग्नाः परा-
 भूता दृश्यन्ते, वेदान्तिभिर्वा जल्पकथाया भग्नाः पराजिता
 दृश्यन्त इति योज्यम् ॥ ३८ ॥ अस्तु वा बन्धस्य सुखदुःखा-
 देहेऽपि कथञ्चिदनुभवः, मोक्षस्य तु स नास्त्येव । जीवन्मुक्तैः
 समाधौ देहाभाने स्फुटं तदनुभवाद्देहाभाने व्युत्थानकाले मन्द-
 भ्रम्यमज्ञानिभिस्तदनुभवाच्चैत्याशयेनाह—देहादीति । स्वभा-
 वाच्चित्याशरीरात्मस्वभावात् । तथा च श्रुतिः 'अशरीरं शरीरे-
 ष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न
 शोचति' इति । अत एव स मरणादिदेहधर्मेन युज्यत
 इत्याह—मृतोऽपीति ॥ ३९ ॥ मनोधर्मैरपि तेषामसंबन्ध-
 माह—शीतरागा इति ॥ ४० ॥ ४१ ॥ जगदात्मा जगत्स-

व्योमैकतास्य चिद्योक्तो मुधा मूर्ध्तरण किम् ।
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥ ४६
 यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथास्त्वितरेण किम् ।
 हरो हरिणशावाक्षीमक्षीणशरतोऽधु च ।
 धत्ते वपुषि दुग्धाब्धिर्गुप्तामृतकलामिव ॥ ४७
 शक्तोऽपि रागितामेष न त्यजत्युत्तमाशयः ।
 पञ्चेपुदाहसमये दृष्टा नीरागतागुणाः ॥ ४८
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
 न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ४९
 रागितैषास्तु मा वास्य किमरागितयान्यया ।
 यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथास्त्वितरेण किम् ॥ ५०
 करोति कार्यत्युच्चैर्म्रियते मार्यतेऽपि च ।
 जायते वर्धतेऽजस्रं जीवन्मुक्तो जनार्दनः ॥ ५१
 न चाजस्रं जवीभावं त्यक्तुं शक्तोऽप्यसौ न तम् ।
 तेन त्यक्तेन नैवार्थस्तस्य नैवाभितेन च ॥ ५२
 तद्यथास्थितमेवास्तु इह इत्यस्तथासनम् ।
 हरिर्निरिच्छ पवास्ते शुद्धचिन्मात्ररूपभृत् ॥ ५३
 आत्मानमान्दोलयति कालकन्दुकतां गतम् ।
 अजस्रं नित्यमादित्यो जगद्गहनभोजने ॥ ५४
 न च रोधयितुं देहं न समर्थो दिनेश्वरः ।

रूपं चकारात्तन्मूलमज्ञानं च यस्य नास्त्येव । यस्य सर्वमेक-
 मेकरसं सदस्ति च तस्य जीवन्मुक्तस्य सुखदुःखाद्यस्तीति
 वाग्व्योक्तो विटपाः शाखाः सन्तीति वागुपमेत्यन्वयः ॥ ४२ ॥
 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति श्रुतेः शोक-
 मोहजयान्विताः ॥ ४३ ॥ शिरआद्यच्छेदेऽर्थाच्छिन्ना एकत-
 द्भावा अद्वितीयात्मभावाः । क तदृष्टं तदुदाहरति—शिर
 इति । गायनमित्यशिल्यात्वाभावश्छान्दसः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ अस्य
 कमलजस्य व्योमैकता आकाशसमता अतो मुधा मिथ्याभूतेने-
 तरेण पञ्चमेन मूर्धा किं प्रयोजनमित्यर्थः । तर्हि तस्य चतुर्भिः
 शिरोभिर्वा किमर्थं वेदोपदेशकरणं तत्राह—नैवेति ॥ ४६ ॥
 संपन्नं प्राणिकर्मवशादिति शेषः । ईश्वरस्यापि प्राणिकर्मानुसारे-
 णैव व्यवहारो न स्वार्थ इत्याह—हर इति । अनुगृहीतादक्षी-
 णशरतो मन्मथाद्धरिणशावाक्षीमर्धाङ्ग धत्ते । नियुहीतात्तु निरु-
 प्लवसमाधिप्रवृत्तेरानन्दाशु च वपुषि धत्ते । गुप्तामृतकलामिवे-
 त्युभयदृष्टान्तः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अर्थव्यपाश्रयः प्रयोजनलाभः
 ॥ ४९ ॥ अरागितया अन्यया रागितया वा किं को लाभः
 का वा क्षतिरित्यर्थः ॥ ५० ॥ स्वयमसुरनिग्रहादि करोति इन्द्रादि-
 द्वारा कारयति । म्रियते अवतारसमाप्तिषु मरणमङ्गीकरोति ।
 तदनुकूलैः शरभल्लब्धकादिभिर्मार्थतेऽपि च ॥ ५१ ॥ तं
 प्राणिकर्मवशोपगतं आजस्रं जवीभावं व्यवहारव्यप्रतां न च
 त्यक्तुं शक्नोति ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ सूर्यादीनामपि निरिच्छानामेव
 प्राणिकर्मानुसारादेव स्वसाधिकारपालनमित्याह—आत्मान-
 मिति । आन्दोलयति भ्रमयति ॥ ५४ ॥ निर्वाणो जीवन्मुक्तः

निरिच्छ एव निर्वाणस्तथाप्यास्ते यथास्थितम् ॥ ५५ ॥
 चन्द्रोऽनुभवति व्यर्थमाकर्ण्य क्षयमक्षयम् ।
 जीवन्मुक्ततया स्त्रियो यथास्थितमवस्थितः ॥ ५६ ॥
 मरुत्सहव्यगौरीशवीर्यप्रासादिलेखिताम् ।
 जीवन्मुक्तो बहुत्यग्निर्यथा स्थित्या समस्थितिः ॥ ५७ ॥
 बह्वीभिर्विजिगीषाभिः कृपणाविव तिष्ठतः ।
 जीवन्मुक्तावपि गुरु लोके शुकुहस्पती ॥ ५८ ॥
 करोति जनको राज्यं जीवन्मुक्तमना मुनिः ।
 जगत्यामाजिषूप्राप्तु देहं जर्जरतां नयन् ॥ ५९ ॥
 नलमान्धावसगरदिलीपनद्रुपादयः ।
 जीवन्मुक्ताभिरं राज्यं चक्रुराकुलिता इव ॥ ६० ॥
 व्यवहारे यथैवास्तथैव खलु पण्डितः ।
 वासनावासने एव कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ ६१ ॥
 बलिप्रह्लादनमुचिवृत्रान्धकमुपादयः ।
 जीवन्मुक्ताः स्थितिं चक्रुर्वीतरागाः स्वरागवत् ॥ ६२ ॥
 तस्मात्सर्वे सत्त्वे च रागद्वेषक्षयोदये ।
 न मनागपि भेदोऽस्ति ज्ञानं प्रति स्वरूपिणि ॥ ६३ ॥
 ज्ञानेनाकाशशुद्धेन धर्मान्ये गगनोपमान् ।
 विन्दन्ति जीवन्मुक्तानां तेषां भेदमतिः कुतः ॥ ६४ ॥

॥ ५५ ॥ आकर्ण्य कल्पान्तावधि । क्षयं राज्यक्षमाणम् ॥ ५६ ॥
 मरुत्स्य यज्ञे द्वादशवर्षपर्यन्तं गजशृण्वाप्रमाणजलनिपतद्भूत-
 धारादिहव्यप्रासप्रयुक्ताऽजीर्णेन स्कन्दोत्पत्तिप्रसङ्गे गौरीशस्य
 गौरीसंगमे देवैर्विजिगीषाचरणे स्थानाऽक्षुभितस्य वीर्यस्य ब्रह्मणो
 नियोगाद्वासः पानं तत्प्रयुक्तेनान्तर्दाहेन, आदिपदाद्देवानां
 दिवानिशं हव्यवहनदेवस्वापहरणाप्सुनिलयनादिना खेदिताम्
 ॥ ५७ ॥ विजिगीषाभिः परस्परजयेच्छाभिः ॥ ५८ ॥
 आजिषु युद्धेषु ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ एतेन जीव-
 न्मुक्तानां रागद्वेषाभासदर्शनेऽपि मुक्तिसंवेदो निरस्त इति
 दर्शयन्नुपसंहरति—तस्मादिति । ज्ञानं जीवन्मुक्तचिदाकाशं
 प्रति लक्ष्यकृत्य रागद्वेषयोः क्षये उदये वा चरिते न च सत्त्वे
 सुचरित्रत्वे असत्त्वे दुश्चरित्रत्वे वा स्वरूपिणि आविर्भूतस्वरूप-
 वति मोक्षे मनागपि भेदः संशयो नास्ति ॥ ६३ ॥ नाहं ब्रह्मेति
 भेदमतौ मत्यां हि मुक्तौ संशयः स्यात् सैव तेषां नास्ती-
 स्याह—ज्ञानेनेति । आकाशो ब्रह्माकाशस्तद्गच्छुद्धेन चरम-
 शाक्षात्कारवृत्त्यात्मकज्ञानेन ये धारयन्ति देहमनःप्राणादीनि
 धर्मा जीवास्तान् गगनोपमान् अराज्ञाद्वयपूर्णब्रह्मभावेनाकाशसह-
 शान्विन्दन्ति लभन्ते तेषां जीवन्मुक्तानां भेदप्रमहेत्वज्ञानस्य
 नष्टत्वात्पुनर्भेदमतिः कुतः । कस्मान्निमित्तात्संभाव्यतेत्यर्थः
 ॥ ६४ ॥ तत्त्वसाक्षात्कारेण जीवजगद्भेदः कुतो बाध्यत इति
 चैत भान्तिमात्रसिद्धत्वादित्याशयैव तस्यावस्तुतां दृष्टान्तेन
 साधयति—भास्वरमिति । शक्रकोदण्डमिन्द्रचापः । मेघपटल-

१ हव्यवहनेन देवस्वापहारेणेत्यादि पाठः.

भास्वरं शक्रकोदण्डं यथा नानेव शून्यकम् ।
 आभासमात्रमेवायं तथा दृश्यात्मको भ्रमः ॥ ६५ ॥
 शक्रचापे यथा भान्ति नानावर्णा नमोक्ते ।
 तथा शून्यात्मका एव ब्रह्माण्डपरमाणवः ॥ ६६ ॥
 इदं जगदसद्भाति सदिष व्यक्तिमागतम् ।
 अजातमनिदुर्द्धं च यथा शून्यत्वमम्बरे ॥ ६७ ॥
 साद्यन्तमप्यनाद्यन्तमशून्यमपि शून्यकम् ।
 जगज्जातं तथाऽजातमरुद्धं रुद्धमेव च ॥ ६८ ॥
 जातं निरुद्धमस्त्येवं ब्रह्म व्योमैव भासते ।
 यथा दारुमयः स्तम्भस्तथा तच्छालभञ्जिका ॥ ६९ ॥
 समस्तकलनोन्मुक्तं समं निर्निद्रमासनम् ।
 यदेकान्तचिदाकाशं तद्विद्यात्तन्मयं जगत् ॥ ७० ॥
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 अनुन्मेषं चिदाकाशं तद्विद्यात्तन्मयं जगत् ॥ ७१ ॥
 तत्र यद्वैतमैक्यं तन्मध्ये तदपि नैव च ।
 तद्योम केवलं भाति मन्ये तदपि नैव वा ॥ ७२ ॥
 जगदाकाशमेवेदमात्मैवात्मनि वा स्थितम् ।
 भविष्यत्पुरवृष्टमपि स्फारमपि स्फुटम् ॥ ७३ ॥

स्थाः सूर्यरश्मय एवेन्द्रचापात्मना दृश्यन्त इति प्रतिद्वम् ॥ ६५ ॥
 ब्रह्माण्डलक्षणाः परमाणवः ॥ ६६ ॥ व्यक्तं प्रकटताम् । अजा-
 तमनुत्पन्नम् । अनिरुद्धमनष्टम् ॥ ६७ ॥ अप्यर्थे तथाशब्दः ।
 जातमप्यजातमेव रुद्धं नष्टं च अरुद्धमनष्टमेव । जगत्तयापि
 गृहीते नित्यकूटस्थासद्भाद्वेषे वस्तुनि आद्यन्ताद्यप्रसक्तेरिति
 भावः ॥ ६८ ॥ जगद्भाव इव तज्जन्मनिरोधभावोऽपि ब्रह्मणि
 कल्पनयोपपाद्यते इति चेद्विद्यापतिः, कल्पनामात्रेण कौटस्थ्या-
 क्षतेरित्याशयेनाह—जातमिति । यथा स्तम्भो दारुमयो दावैव
 तथा तस्य स्तम्भस्यैकदेशस्था शालभञ्जिका प्रतिमापि दावैवै-
 त्यर्थः ॥ ६९ ॥ अकल्पनं तु जगद्ब्रह्मैवेति समाधिदृष्ट्या अनुभव-
 मारोपयेदित्याह—समस्तेति । समाधिना समस्तकलनोन्मुक्तं
 निर्निद्रं च समं यदासनमात्ममात्रतयावस्थानं तन्मयं तन्मात्र-
 मेव तज्जगद्विद्यात् ॥ ७० ॥ असमाधावपि शास्त्रान्तरदर्शने
 बुद्धिदृष्टेः शास्त्रादेशान्तरप्राप्तौ मध्ये यन्निर्दिष्यं वृत्त्यभि-
 व्यक्तं संविदः स्वरूपं तन्मयं जगद्विद्यादित्याह—देशादिति
 ॥ ७१ ॥ तत्र तादृशे चिदात्मनि यद्वैतं विशेषरूपमैक्यं सामा-
 न्यरूपं चाभाति तदपि तत्तस्माच्चिदाकाशस्वभावादेव नैव नास्त्ये-
 वेति मन्ये मननेन निश्चिनोमि । तत् केवलं व्योम शून्यमिति
 च यद्भाति तदपि च नैव । पूर्णानन्देकरसे शून्यत्वस्याप्ययो-
 गादित्यर्थः ॥ ७२ ॥ शून्यता पूर्णता च सप्रतियोगिका लोके
 यादृशी प्रसिद्धा । यथा जलेन शून्यो घटो जलेन पूर्ण इति वा ।
 सा आत्मनि न संभवति किंतु जगद्विदं जगद्भावस्यात्यन्ताप्रसिद्ध्या
 आकाशमेवेदमिति शून्यत्वम् । एवमात्मैवात्मनि संस्थितमित्य-
 न्यनिरपेक्षं पूर्णत्वम् । यथा भविष्यत्पुरमिहानीं प्रतियोगि-

आकाशकोशविशदाशय इश्यजातं
मीनात्म तिष्ठति शिलाघनमेव शान्तम् ।

यन्माम तस्य जगदित्यभिधां विधाय
स्वात्मैव मोहित इवापमहो नु माया ॥ ७४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० जीवन्मुक्तकलनं नाम पञ्चविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

षड्विंशाधिकशततमः सर्गः १२६

श्रीराम उवाच ।

अनन्तरं मुनिश्रेष्ठ कुर्वन्तः किं विपश्चितः ।
आसंस्तेषु दिग्गन्तेषु सद्भीपाग्धिवनाद्रिषु ॥ १
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
शृणु किंवृत्तमेतेषां तात तत्र विपश्चिताम् ।
तालीतमालमालाख्यद्भीपाद्रिवनचारिणाम् ॥ २
श्रौञ्चद्भीपगिरेरेको विपश्चित्पश्चिमे तटे ।
कटेनाद्रितटे पिष्टः करिणा कमलं यथा ॥ ३
द्वितीयो नभसा नीतो रक्षसा विक्षताङ्गकः ।
निक्षिप्तो वाडवे वह्नौ तत्र भस्मत्वमागतः ॥ ४
तृतीयस्त्रैदशं देशं नीतो विद्याधरेण वै ।
गतोऽप्रणामकुपितशक्रशापेन भस्मताम् ॥ ५
चतुर्थश्चतुरं गच्छन्कुशद्भीपगिरेस्तटे ।
दुर्चारेण नदीकच्छे मकरेणाष्टधा हृतः ॥ ६
इति ते पञ्चतां प्राप्ता दिग्गन्तेषु कुलाशयाः ।
क्षये चतुर्षु चत्वारो भूपाला लोकपालवत् ॥ ७
अथ तेषां ददर्शासौ व्योम्नयेव व्योमरूपिणाम् ।

निरपेक्षशून्यतया दृष्टं स्फारं दिक्कालादि यथा प्रतियोगिनिरपेक्ष-
पूर्णतया स्फुटं दृष्टं तद्वदित्यर्थः ॥ ७३ ॥ हे आकाशकोशमिव
विशदाशय राम, यहृश्यजातं शिलाघनग्राममेव शान्तं ब्रह्मैव
मीनं तिष्ठति नाम तस्य स्वात्मैव जगदित्यभिधां विधायायं
मोहित इव तिष्ठति, अहो नु माया अत्याक्षर्यभूतेत्यर्थः ॥ ७४ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
रार्धे जीवन्मुक्तकलनं नाम पञ्चविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

मृतानामिह सर्वेषां स्वान्तः संसृतिविभ्रमः ।

उत्तरस्य तमःस्नातदर्शनान्तोऽनुबर्ण्यते ॥ १ ॥

तेषु पूर्वादिषु दिग्गन्तेषु गतास्ते विपश्चितः किं कुर्वन्त
आसन् ॥ १ ॥ एतेषां किंवृत्तं वृत्तान्तम् ॥ २ ॥ तेषां मध्ये एको
विपश्चित् श्रौञ्चद्भीपे प्रसिद्धस्य वर्षसीमगिरेः पश्चिमे तटे भागे
करिणा अद्रितटे वप्रक्षिलायां कटेन गण्डेन दन्ताभ्यां पिष्टः
संचूर्णितो मृत इत्यर्थः । वरप्रार्थनकाले 'आसिद्धगम्यमध्वानं
मृत्युरस्माकमस्तु मा' इत्यवधिकरणात्तदुत्तरं सिद्धान्तम्योऽन्वेत्य-
नुक्तमपि गम्यते । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥ ३ ॥ द्वितीयो विपश्चि-
द्वक्षसा युद्धे विक्षताङ्गको नभसा नभोमार्गेण नीतो वाडवे वह्नौ
सामुद्रे निक्षिप्तस्तत्र भस्मत्वं चागतः ॥ ४ ॥ त्रैदशं देशमिन्द्रसमां
गतः । तत्र च अप्रणामाजमस्काराकरणात्कुपितस्य शक्रस्य

संघित्प्राक्तनसंस्काराद्भ्योमात्मावनिमण्डलम् ॥ ८
सप्तद्वीपाग्धिवलयं पुरपत्तनभूषणम् ।
सुरशैलशिरःपीठं ब्रह्मलोकशिरोमणिम् ॥ ९
चन्द्रार्कबिम्बनयनं तारामुक्ताकलापकम् ।
विलोलमेघवसनं मानावनतनूरुहम् ॥ १०
देहान्विपश्चितां संघिहृदशं चतुरोऽपि सा ।
प्राग्बत्कल्पपरावृत्तौ द्यौर्दिग्गन्तानिवाततान् ॥ ११
आतिवाहिकसंघितेस्तेऽव्योम्नि व्योमतात्मकाः ।
आधिभौतिकदेहत्वभावाद्दृशुरप्रतः ॥ १२
अस्यात्मकत्वेऽविद्येयं कियती त्यादितीक्षितुम् ।
चत्वारोऽपि प्रवृत्तास्ते संस्कारवशतः पुरः ॥ १३
दृश्यदर्शनयोर्द्वीमण्डलानुभवाकृतेः ।
निष्ठां द्रष्टुमविद्याया भ्रेमुर्द्वीपान्तराणि ते ॥ १४
द्भीपसप्तकमुल्लङ्घ्य समहार्णवसप्तकम् ।
विपश्चित्पश्चिमः प्राप घनभूमौ जनार्दनम् ॥ १५
तस्मादनुपमं ज्ञानं समासाद्य दिग्गन्तरे ।
तस्मिन्नेव समाधाने सोऽतिष्ठद्वर्षपञ्चकम् ॥ १६

शापेन भस्मतां गतः ॥ ५ ॥ चतुर्थो विपश्चित्कुशद्भीपगिरेस्तटे
नदीकच्छे मकरेण अष्टधा शकलीकृतो मृत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इति
अनया रीत्या ते चत्वारो भूपाला विपश्चितः पञ्चतां मरणं प्राप्ता
यथा क्षये कल्पान्ते चत्वारो लोकपालाः पञ्चतां यान्ति तद्वत्
॥ ७ ॥ अथ मरणानन्तरं तेषां संघिद्योमात्मा भूत्वा तस्मिन्व्यो-
म्नयेव अवनिमण्डलं पूर्ववद्दर्श ॥ ८ ॥ अवनिमण्डलं कीदृशं ददर्श
तदाह—सप्तद्वीपेत्यादि । सुरशैलो मेरुः स एव शिरःपीठमि-
वोक्तो यस्य । ब्रह्मलोकोऽत्र मेरुस्थं ब्रह्मगृहम् ॥ ९ ॥ १० ॥ कल्पः
प्रलयस्तत्परावृत्तौ सर्गारम्भकाले । द्यौरिति तत्र प्रथमसृष्टाः
प्रजापतयो गृह्यन्ते ॥ ११ ॥ अव्योम्नयेव चिदात्मनि व्योमता-
प्रतीतिस्तदात्मकास्ते विपश्चितः आतिवाहिकसंघितेर्मानसप्रति-
भासमात्रस्य विषये प्राप्तिभासिकदेहे आधिभौतिकदेहत्वप्रयुक्त-
स्योत्यजाब्जादिभावान् अप्रतो दृष्टुः ॥ १२ ॥ अस्मिन् निश्चितस्य
देहस्य अज्ञात आत्मा आत्मकस्तद्भावे सति इयं दृश्यपृथ्यादि-
रूपा अविद्या कियती किंपरिमाणा स्यादितीक्षितुं पूर्वसंस्कारव-
शात्प्रवृत्ताः ॥ १३ ॥ दृश्यदर्शनयोर्मध्ये उर्वीमण्डलरूपाया अनु-
भवाकृतेरविद्याया निष्ठाभियत्तया परिच्छित्तिं द्रष्टुम् ॥ १४ ॥ तेषु
पश्चिमो विपश्चित् घनभूमौ प्रागुक्तस्वर्णघनायां भूमौ क्रीडन्तं
जनार्दनं भारयोदयवशात्प्राप ददर्श ॥ १५ ॥ तस्माज्जनार्दनाद-

ततो देहं परित्यज्य चित्ते सत्तामुपागते ।
स तत्प्राण इवाकाशं परं निर्वाणमाययौ ॥

१७

तुपमं ज्ञानं ब्रह्मविद्यां समासाद्य तस्मिन्नेव दिगन्तरे सः समा-
धाने समाधौ वर्षपञ्चकमतिष्ठत् ॥ १६ ॥ देहं देहभावं परि-
त्यज्य वीतहृव्योपाख्यानोक्तीत्या चित्ते सत्तां सन्मात्ररूपताम् ।
असत्तामिति वा च्छेदः । स विपश्चित् परं निर्वाणं कैवल्य-
माययौ, यथा तस्य प्राण आकाशभावमाययौ तद्वत् ।
उपलक्षणमेतत् षोडशकलानाम् । 'गताः कलाः पञ्चदश प्रति-
ष्ठा' इति श्रुतेः ॥ १७ ॥ पूर्वः पूर्वदिक्प्रवृत्तो विपश्चित्
पर्वणि राकायां शीतांशोः पूर्णचन्द्रस्य बिम्बपार्श्वे चन्द्रसंनिधा-
विति यावत् । स्थितं स्वं वपुश्चिरमैन्दववत् आतद्भावोदयं चिन्त-
यन्नुपदेहो भूत्वा चन्द्रपुरे स्थितः । नन्विदमयुक्तम् । चतुर्ष्वपि
शरीरेष्वेको हि विपश्चित्जीवो योगिकायव्यूहेष्विव विभक्तं
स्थितः । तस्य पश्चिमशरीरे विष्णुप्रसादाज्ज्ञानेन निर्वाणप्राप्तौ
कोऽन्यः पुनः पूर्वविपश्चित्शरीरे चन्द्रोपासनया चन्द्रलोकं
यायात् । न ह्येकस्यैव जीवस्य क्वचिन्मुक्तिः क्वचिद्बन्धश्च युगपत्स-
मञ्जसौ । मुक्तिफलस्य पाक्षिकत्वपरिच्छिन्नत्वयोरापत्तेः । न
चैकस्य देहचतुष्टयधारणेन जीवचतुष्टयभावो जीवान्तरोत्पत्तिर्वा
युक्ता । आद्ये चतुर्धा विभागे पूर्वजीवस्य नाशापत्तेः । द्विती-
येऽप्यभिनवोत्पन्नानां कामकर्मवासनादिबीजाभावेन संसाराना-
पत्तेः । न च भोगवैचित्र्यमिव बन्धमोक्षवैचित्र्यं कर्मभिर्मायया
वा अविरोधेन निर्वाणं शक्यम्, मोक्षस्याकर्मतन्त्रत्वाद्द्विधमाया-
निवृत्तिश्रुतिविरोधाच्चेति चेत् । सत्यम् । अयमत्राशयो भगवतो
वसिष्ठस्य लक्ष्यते—न जीवो नाम ब्रह्माकाशादतिरिक्तः कश्चि-
दस्ति । ब्रह्मैव सन्तःकरणोपाधिषु मायया विभक्तं तद्गतकाम-
कर्मवासनानुसारेण संसरदिव विभाव्यमानं जीव इत्युच्यते ।
तत्रान्तःकरणानां शीपवद्बहुनां मेलने एकत्वमुपचयश्च भवति ।
एकस्य च योगदेवताप्रसादादिनिमित्तवशाद्युगपद्विरुद्धानेकदेश-
भोग्यकर्मोद्भवाच्चात्रेकभावोऽपि भवति । तत्र यदा बहूनां
जीवानां तुल्यदेशकालभोग्यसमानकामकर्मवासनोद्भवस्तादा
तद्भोगाय मेलने एकजीवत्वमेव भवति यावद्विरुद्देशभोगहेतु-
कर्मोद्भवं लाघवादेकमेव भोगायतनं शरीरं संपद्यते । यथा
युधिष्ठिरजीवो धर्मस्य इन्द्रस्य च मेलनेनैको जीवः, यथा वा
भीमस्य वाट्विन्द्रयोर्मेलनेनैको जीवः, यथा वा अर्जुनजीवो
द्वयोरिन्द्रयोर्नरस्य च मेलनेनैकः, यथा वा नकुलसहदेवयो-
रिन्द्रस्याश्विनोश्च मेलनेनैको जीवः । द्रौपद्याश्च नारायणी-
लक्ष्मीगौर्यशामेलनेनैको जीवः पद्मेन्द्रोपाख्यानादिपर्यालोचने
प्रसिद्धः । यथा वा अत्रेवोयोधेन्द्रशापादगस्त्यावतारे मेलनेनैको
जीव इत्याद्युक्तम् । एकस्य जीवस्यानेकधोपाधिभिर्भागे अनेक-
जीवतापि । इन्द्रहन्तारं पुत्रं कश्यपात्तूर्भे प्राप्य अशुचित्वेन
सुप्ताया दिलेरेकजीवैकशरीरकस्य गर्भस्येन्द्रेण प्रथमं सप्तधा
छेदने सप्त जीवास्तत एकेकस्य सप्तधा छेदने जातानामेकोनप-
ञ्चाशन्महतामेकोनपञ्चाशज्जीवाः संपन्नाः । अष्टेष्टदूर्वासीनां च

पूर्वः पर्वणि शीतांशुबिम्बपार्श्वे स्थितं वपुः ।

चिन्तयन्धिरमुन्नष्टदेहश्चन्द्रपुरे स्थितः ॥

१८

काण्डशाखारूपां प्रतिशाखं प्रतिकण्डं च प्ररोहेण जीवनदर्श-
नादेकस्य नानाजीवात्मनोपाधिको विभागश्च प्रसिद्धतर एव ।
इत्थं च प्रकृतेऽपि चतुर्णां जीवानां यावत्समानकामकर्मोद्भवे
एकदेहतया राज्यपरिपालनम्, विरुद्धभिन्नदेशभोग्यकर्माद्युद्भवे
च देहादिविभागेन दिगन्तरप्रसर्पणमिति कल्पने वा एकस्यैव
विपश्चित्जीवस्योपाधिभिर्भागेन मरुद्बन्धुर्जीवभावोभूदिति कल्पने
वा एकमुक्तो न सर्वमुक्तिप्रसङ्गः । न च बहूनां मेलनेनैक-
जीवारम्भे तस्याभिनवस्य कर्मभावात्संसारानुपपत्तिः । आरम्भ-
वादेनाभिनवजीवोत्पत्त्यनभ्युपगमात् । गङ्गायमुनयोर्मेलनेनै-
क्यापत्तावप्यभिनवगङ्गोत्पत्तिषुद्भभावेन सैवेयं गङ्गेति प्रत्यभि-
ज्ञया द्वयोरप्येकगङ्गात्मनावस्थानवद्वनादिजीवयोरेवैक्येनावस्थाने
बाधकाभावात् । उपाधिद्वयस्य मेलनेनैक्ये उपहितेऽपि मेल-
नेक्यस्य सर्वप्रत्ययसिद्धत्वात् । एकत्वेनापि प्राक्तनकर्मभोग-
संभवात् । एवमेकस्य चतुर्जीवभावे प्रत्यभिज्ञया चतुर्णामपि
प्राक्तनजीवादमेदेन तद्गतकामकर्मवासनाराशीनां चतुर्धा विभा-
गेन व्यवस्थितेः संसरणोपपत्तिस्तत्रैकस्य मुक्तावप्यपरस्य ज्ञाना-
भावात्संसरणोपपत्तिश्च । न चैवं मुक्तिफलस्य पाक्षिकत्वपरि-
च्छिन्नत्वयोः प्रसङ्गः । व्यष्टिजीवानां मुक्तावपि समष्टिहिरण्य-
गर्भजीवस्याधिकारान्ते मुक्तिवदुपपत्तेः । न हि समष्ट्यात्मनो
हिरण्यगर्भस्य तत्त्वज्ञानं व्यष्टीनां मुक्त्यभावे पाक्षिकपरिच्छिन्न-
मोक्षफलम् । यत्र वर्तमानेऽपि व्यष्टिसमष्ट्यमेदेन मुक्तिसंकर-
स्तत्र सांप्रतिके जीवमेदे सति प्राक्तनतदभेदमात्रेण मुक्तिसंकर-
रापादनस्यानवसर एव । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिर्गृह्यते' इति
श्रुतिरपि तत्तज्जीवोपाधिकृत्त्वबीजनिवृत्तिपरा । अन्यथा एक-
मुक्त्यैव ज्ञानशून्यानामपि सर्वजीवानां मुक्त्यापत्तेः । 'तद्यो यो
देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्',
'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृति-
वैयर्थ्यापत्तेश्च । न चेदानींतनमन्दाधिकारिणो भाविबहुतरजन्म-
लभ्यमोक्षप्रत्याशया साधनानुष्ठानं न स्यान्ममैकस्यानेकजीव-
भावे क्वचिन्मोक्षेऽपि क्वचिद्बन्धानुत्पत्त्यनिवृत्तिः स्यादिति
शङ्कया अनिमोक्षज्ञानपनयादिति वाच्यम् । मोक्षसाधनानुष्ठा-
नप्रवृत्तेः 'खल्पमप्यस्य धर्मस्य प्रायते महतो भयात्', 'न हि
कल्याणकृत्काश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति', 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो
याति परां गतिम्' इति स्मृतिप्रामाण्यानुरोधेनोत्तरजन्मसु
नानाजीवात्मना अविभागस्य विभागे वा सहैव साधनसंस्कारै-
र्विभागात्सर्वत्र क्रमेणावश्यं ज्ञानोदयस्य वानुमानेन साधनानु-
ष्ठाने प्रवृत्त्युपपत्तेः । वर्णिता हि तथैव मिथुजीवटोपाख्याने
भिक्षोः साधनानुष्ठानवतः प्रामादिकसंकल्पप्राप्तनानाजीवभाव-
स्यान्ते शतरुद्भावे सर्वेषां तद्विभागजीवानां ज्ञानावाप्तिर्मुक्ति-
श्चेति । न चैवं सर्वजीवमुक्त्यनापत्तिरिष्टापत्तेः । मायाहृष्या
मायानन्त्यस्य 'अ रूपमस्येह तथोपलभ्यते वान्तो न चादिर्न च

दक्षिणः शाल्मलिद्वीपे राज्यमुत्सन्नशात्रवः ।
 करोत्यद्यापि न सतो विस्मृतान्यविनिश्चयः ॥ १९
 उत्तरस्तरलास्फालकहोले सप्तमाम्बुधौ ।
 सहस्रमेकं वर्षाणामुवास मकरोदरे । २०
 मकरोदरसांसाशी मृते मकरनायके ।
 मकरोदरतोऽग्नेश्च निर्गतो मकरो यथा ॥ २१
 ततोऽशीतिसहस्राणि योजनानां घनावनिम् ।
 हिमकल्पजलाम्भोधेरुल्लङ्घ्य सुधनोदरीम् ॥ २२
 प्राप्तो दशसहस्राणि योजनानां महामहीम् ।
 सौवर्णीं सुरसंचारसरणिं मृतवानसौ ॥ २३
 तस्यां भूमौ च मध्ये च विपश्चिन्नाकितामगात् ।
 उत्तमामग्निमध्यस्थं क्षणात्काष्ठमिवाग्निताम् ॥ २४
 प्रधानदेवो भूत्वासौ लोकालोकगिरिं गतः ।
 इत्यार्वे श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विप० विपश्चिन्नान्तराचरणं नाम षड्विंशतिशततमः सर्गः ॥ १२६ ॥

अस्य भूमण्डलतरोरालवालमिव स्थितम् ॥ २५
 स पञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां समुन्नतः ।
 आलोकलोकाचारालयो भाग एकोऽस्य नेतरः ॥ २६
 लोकालोकशिरःप्राप्तं तारकामार्गसंस्थितम् ।
 अधःस्थिता अपश्यंस्तमुन्नतक्षत्रशङ्कया ॥ २७
 तस्मात्प्रदेशात्तत्पारे तमस्तस्य महागिरेः ।
 चतुर्दिकं महास्नातं नभः शून्यमनन्तकम् ॥ २८
 ततो भूगोलकोऽयं हि समाप्तो वर्तुलाकृतिः ।
 नभःशून्यं महास्नातं ततस्तिमिरपूरितम् ॥ २९
 तत्रालिकज्जलतमालनभोन्तराल-
 नीलं तमो न च मही न च जंगमादि ।
 नालम्बनं न च मनागपि वस्तुजातं
 किञ्चित्कदाचिदपि संभवतीति विद्धि ॥ ३०
 तत्रालिकज्जलतमालनभोन्तराल-
 नीलं तमो न च मही न च जंगमादि ।
 नालम्बनं न च मनागपि वस्तुजातं
 किञ्चित्कदाचिदपि संभवतीति विद्धि ॥ ३०

सप्तविंशतिशततमः सर्गः १२७

श्रीराम उवाच ।
 भगवन्कथयैतन्मे कथं भूगोलकं स्थितम् ।
 कथमृक्षगणो याति लोकालोकः कथं गिरिः ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 यथा संकल्परचिता शिशोर्व्यामनि तिष्ठति ।
 संप्रतिष्ठा' 'नित्यं वा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्' इत्यादि-
 स्मृतिसिद्धत्वात् । तत्त्वदृष्ट्या तु जीव एव नास्तिकस्य मुक्त्य-
 नापत्तिः । न च 'अतोऽन्यदातम्' इति श्रुतिविरोधः । तस्याः
 श्रुतेर्व्यक्त्यातिमात्रेणान्युपपत्तेः प्रवाहानन्त्येऽप्यविरोधात् । चर-
 मभ्यक्तिनाशस्यैव प्रवाहनाशतया सर्वजीवसंसारचरमव्यक्त्य-
 प्रसिद्धीं तज्जाशस्याप्रसिद्धेः । प्रकृते तु पश्चिमविपश्चित एकस्यैव
 भगवद्भक्तिपरिपाकोदितात्तदनुग्रहज्ञानलाभो नान्येषामिति
 तस्यैकस्यैव मुक्त्युपपत्तिरिति ॥ १८ ॥ अथ दक्षिणो विपश्चि-
 त्किमकरोत्तत्राह—दक्षिण इति । उत्सन्नाः शात्रवा येन
 तथाविधः सन् । सतः पारमार्थिकतत्त्वस्य लाभाद्विस्मृतः
 अन्यविनिश्चयो बाह्यार्थनिश्चयो येन तथाविधस्तु न ॥ १९ ॥
 सप्तमाम्बुधौ स्वादूदे मकरेण निगीर्णः सन् मकरोदरे वर्षाणां
 सहस्रमेकमुवास ॥ २० ॥ तत्र किमाहारोऽभूत्तत्राह—मक-
 रोदरेति ॥ २१ ॥ ततः हिमकल्पजलस्य स्वादूदाम्भोधेर-
 वशिष्ठान्यशीतिसहस्राणि योजनान्युल्लङ्घ्य सुधनं विशालमुदरं
 यस्यास्तथाविधां सौवर्णीं महामहीं प्राप्त इत्युत्तरेणान्वयः ॥ २२ ॥
 ॥ २३ ॥ अथ तस्यां भूमौ स विपश्चिन्मृतः सञ्जुप्तमां नाकितां
 देवभावमगात् । यथामिमध्यस्थं काष्ठं क्षणादग्नितां गच्छति
 तद्वत् ॥ २४ ॥ असौ विपश्चित्प्रधानदेवो देवभेषो भूत्वा
 प्राक्तनदिग्गतोपसर्पणवासनया ततो लोकालोकगिरिं गतः ।
 क्रीदृशं लोकालोकगिरिम् । उत्तरे आमेरुश्रुमुन्नतत्वात्तत्प्राय-
 स्यात्स भूमण्डलस्य सुद्रे आलवालं तेतुमिव स्थितम् ॥ २५ ॥

वीटा चिन्मात्रबालेन कल्पिता भूस्तथाम्बरे ॥ २
 यथा तिमिरिकाक्षाणां केशचन्द्रादिदर्शनम् ।
 चिदाकाशस्य सर्गादौ तथा पृथ्व्यादिदर्शनम् ॥ ३
 यथा संकल्पनगरं धार्यमाणं न दृश्यते ।
 धार्यते धार्यते मा च तथोर्ध्वनुभवश्चितेः ॥ ४
 अस्य लोकालोकगिरेः एकः प्रथमो भागः सूर्यालोकेन लोकानां
 जनानामाचारेण व्यवहारेण चाढ्यः, इतरस्तु न ॥ २६ ॥ लोका-
 लोकगिरेरारोहणेन तच्छिरःप्राप्तं तं देवविपश्चितं अधःस्था जना
 नक्षत्रशङ्कया अपश्यन् ॥ २७ ॥ तस्य महागिरेः पारे परभागे
 तमः । चतुर्दिकं परितः महत् स्वातं परिखाकारो गर्तः । नभ
 इव सर्वप्राणिशून्यमनन्तकमनेकयोजनविस्तृतम् ॥ २८ ॥ २९ ॥
 हे राम, तत्र तस्मिन् स्वाते अलिरिव कज्जलमिव तमाल इव
 नभोन्तराले नीलं तम एवास्ति । न च मही न च जंगमादि प्राणि-
 जातमस्ति । आलम्बनमाश्रयश्च नास्ति । न च किञ्चिद्वस्तुजातं
 कदाचिदपि संभवतीति त्वं विद्धीत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विपश्चिन्ना-
 न्तराचरणं नाम षड्विंशतिशततमः सर्गः ॥ १२६ ॥

भूमिनक्षत्रचक्रादेः स्थितिस्तरपरतो नभः ।

ब्रह्माण्डस्य परब्रह्मण्युत्पत्तिश्चाप्रोपवर्ष्यते ॥ १ ॥

प्रासङ्गिको रामप्रश्नः । निराधारं भूगोलकं कथं स्थितम् ।
 ऋक्षगणो नक्षत्रचक्रं च निराधारं कथं याति भ्रमति । त्वदुक्तो
 गिरिश्च कथं लोकालोकः । तत्संज्ञानिमित्तं किमित्यर्थः ॥ १ ॥
 तत्राद्यप्रश्नस्य वसिष्ठः प्रथममुत्तरमाह—यथेति । वीटा
 कन्दुकः । चिन्मात्रबालेन हिरण्यगर्भेण कल्पिता भूरपि तथा
 अम्बरे आकाशे तिष्ठति न पततीत्यर्थः ॥ २ ॥ सिध्यात्वाद्वा
 पतनसंभावना वारणीयेत्याह—यथेति । तिमिरमस्यास्तीति
 तिमिरिकम् । अत्वर्थायुषत् ॥ ३ ॥ धार्यमाणं केनचिदाधारेण-

यद्यथा यावदाभाति चिति चित्वात्स्वभावतः ।
 तत्तथा तावदाभाति तत्र तत्र तदात्मकम् ॥ ५
 तिमिराफ्रान्तनेत्रस्य केशोष्कमिवाम्बरे ।
 चिन्मात्रस्य महीगोलो यो भातः स तथा स्थितः ॥ ६
 ऊर्ध्वं घट्टन्त्यः सरितस्तदधस्तादुत्ताराशनः ।
 चिति चेतस्त्वप्रवृत्ताति तत्तथा तत्स्थितं भवेत् ॥ ७
 तस्मात्पतन्ती भूर्माता पतत्येवानिशं जगत् ।
 उत्पतन्ती तु चिद्भाता तथा नानात्मिका भवेत् ॥ ८
 स्तब्धभाता स्थिता स्तब्धा सालोका तु प्रकाशिनी ।
 निरालोका निरालोकलोकानामात्मनि स्थिता ॥ ९
 चिद्भानैकानुसारेण ताराचक्रं तथा मही ।
 असदेव सर्वदेवं मातीदमविक्षण्डितम् ॥ १०

प्रियमाणं न दृश्यते नानुभूयते । सांकल्पिकैरेव स्तम्भकुष्पादि-
 निर्धार्यते यद्यपि तथापि सांकल्पिकस्तम्भादेरवस्तुत्वान्मा धार्यते
 न धार्यते च, तथोर्व्यपीत्यर्थः ॥४॥ सर्ववस्तुस्वभावानां चिद-
 धीनसिद्धिकत्वादधृतगोलकाकारेण चिता सिद्धाया भूमेस्तादृश
 एव स्वभावो वाऽनुमीयतामित्याशयेनाह—यद्यथेति । तदात्म-
 कमिति वस्तुस्वभावस्तथेति तत्प्रकारस्वभावस्तावदिति तदायुर्नि-
 यतिस्वभावः परिगृह्यते ॥ ५ ॥ केशचन्द्रादिदर्शनमित्यत्र केश-
 दर्शनं स्पष्टयति—तिमिरेति । तथा आन्त्यैव स्थितः ॥ ६ ॥
 नद्यादीनां निम्नवाहित्वस्वभावादिविपरीतस्वभावोऽपि चेत
 क्वचिच्छिता भाव्येत तर्थास्तीत्येव प्रतिपत्तिः स्याज्ज नास्तीति यथा
 स्वप्ने इत्याह—ऊर्ध्वमिति । तासामधस्तादधोमुखज्वालो हुता-
 शानचिति चेतसर्गादौ भाति तत्प्रतीतं वैपरीत्यमिदानीमपि
 स्थितमेव भवेत्तस्थितम् ॥ ७ ॥ अत एव वादिनां भूमेरजस्र-
 पतनोर्ध्वगमनभ्रमणपवननादिकल्पनादि तत्तदुच्यवच्छिन्नचित्स-
 तया सत्यैवेत्याशयेनोपसंहरति—तस्मादिति । तथाहि—वादिनः
 केचिद्दुक्त्वाद्जलं महाकाशे पतत्येव भूः, आकाशस्याधोदेशा-
 वध्यभावाच्च न क्वचिदस्याः पतनं विश्राम्यति, विपुलतरत्वाच्च
 तत्पतनमस्माभिर्न विभाव्यते । ज्योतिष्कं चोभयतो मेरुसंलग्ने
 ध्रुवद्वये बद्धं सहैव पतति । तच्च लघुतरत्वात्पतनवशादेवानादि-
 कालाद्गमतीति मन्यन्ते । अन्ये तु 'योऽस्यु नावं प्रतिष्ठितां
 वेद प्रत्येव तिष्ठति' इति श्रुतेर्भूम्याधारोऽर्णवोऽस्ति तत्रानिबद्धा
 नौरिव भ्रमन्त्येवास्ते भूः प्रलये च तत्रैव निमज्जति सर्गकाले
 च जलतुम्बिकाग्यायेनोर्ध्वमायातीति । अन्ये तु मन्यन्ते । उप-
 र्यधस्तात्परितश्च भूमेरपरिच्छिन्नं जलमेवास्ति । तत्रान्तदिच्छ-
 त्रेषु भूमेः सप्तलोकाः पवनपूर्णान्तरालः सन्ति । तत्रान्तरस्य
 वायोर्लघवातिशयबलाज्जलमम्रतुम्बीफलमिव सततमूर्ध्वं गच्छ-
 तीति । अपरे तु मन्यन्ते भूगोलात्परित आकाश एव । तस्य
 चानन्याद्गुत्वात्नमेरुसंलग्नमेवहशा दक्षिणभागस्यैवाधोभागत्वा-
 दक्षिणत एव सदा पततीति । अन्ये त्वासुरा वादिनः पाताल-
 मेवोर्ध्वदेशं मन्यमाना देवाभिमतामूर्ध्वदिशमथ इति कल्पयन्त
 उत्तरत एव शुक्लाद्भूः पततीति मन्यन्ते । अनन्यैव रीत्या

आलोकालोकमेवाथ नभःखातं ततो महत् ।
 तम एकार्णवाकारं स्थितं तत्र क्वचित्कचित् ॥ ११
 दूरत्वाद्दक्षचक्रस्य करालत्वात्समहागिरेः ।
 क्वचित्तमः क्वचित्तेजस्तत्रैवाचत्वरेऽपि च ॥ १२
 लोकालोकगिरेः पारे स्थितादाकाशमण्डलात् ।
 दशदिक्ं सुदूरेण ऋक्षचक्रं विवर्तते ॥ १३
 आपातालदिवो नक्षत्रचक्रं तदम्बरे ।
 दशदिक्ं प्रसरति पतदूर्ध्वाहतेऽमितः ॥ १४
 भूलोकमेव पातालयुतं नक्षत्रमण्डलम् ।
 पर्येति लोकालोकान्ते नान्यचित्कल्पनाच्च तत् ॥ १५
 सलोकालोकभूलोकद्विगुणात्स्वादनन्तरम् ।
 एकाक्षोटस्य भिस्सेव स्थितं नक्षत्रमण्डलम् ॥ १६

प्राच्यपाश्चात्या अपि स्वस्वदेशमेवोर्ध्वं मन्यमानाः प्राचीप्रती-
 च्योरपि पतनं मन्यन्ते । अन्ये तु ज्योतिष्कं न भ्रमति किंतु
 भूरेव स्वस्थाने भ्रमति तद्भ्रमविभावयन्तो नौस्थात्तरचलनमिव
 ज्योतिष्कं भ्रमत्पर्याम इति । अपरे तु भूमिरेव सर्वतोऽध-
 स्तस्याः परितः स्थितानां जनानां दृष्ट्या तत्तच्छिरोदेशोपल-
 क्षिताः सर्वा एवोर्ध्वदिशः । तत्र गुरुत्वाद्यस्यामधोदिशि पृथिव्याः
 पतनं संभाव्येत सैव निर्धारितरूपा नास्तीति विनिगमना-
 विरहात्कापि न पततीति स्वस्थाने स्थिरैवान्तं इति । तेषां
 तेषां वादिनां स्वस्वबुद्ध्यवच्छिन्नचित्सतया सर्वं सत्यं स्वतस्तु
 न किञ्चिदपि सत्यमिति भावः । तथा तत्तद्भानानुसारेण विरुद्ध-
 नानात्मिकैव भवेत् ॥ ८ ॥ स्तब्धा निश्चलेति भाता स्तब्धैव ।
 दिवारात्रं ये प्राणिनोऽप्रतिहतचक्षुषस्तदृष्ट्या सदैव सालोका
 प्रकाशवती । एवं निरालोकलोकानां जात्यन्धानां दशा
 मदेव निरालोका । आत्मनि बुद्ध्यवच्छिन्नचिति ॥ ९ ॥ एवं
 सदसद्वादिनां चिद्भानानुसारेण तथापि ताराचक्रं मही च तथैव
 भवतीत्याह—चिद्भानेति । ॥ १० ॥ प्रश्नद्वयोत्तरे समाप्त
 तृतीयप्रश्नोत्तरमारभते—आलोकालोकमिति । इयं भूः
 आलोकालोकं लोकालोकमभिव्याप्य स्थिता तावत्येव । अथ
 तदनन्तरं नभोरूपं खातं गतीं बलयाकारस्तत्र च महत्तमस्तत्रै-
 कार्णवाकारम् । क्वचित्क्वचिदिन्युक्त्या तच्छुद्धान्तराल ईष-
 स्तोऽलोकप्रवेशोऽप्यस्तीति गम्यते ॥११॥ तस्य लोकालोकना-
 मप्रवृत्तौ निमित्तमाह—दूरत्वादिति । ऋक्षचक्रस्य नक्षत्रचक्रस्य
 खातात्परतः परिवर्तनः अतिदूरत्वात् गिरेश्च करालत्वात्क-
 चिदेकभागे तमः । चत्वरशब्देनाधिल्यका गोण्या वृत्त्योच्यते ।
 आचत्वरेऽधिल्यकापर्यन्ते क्वचिद्भागे तेजोपि चेति स लोकालो-
 काख्य इत्यर्थः ॥ १२ ॥ दूरत्वमेव दर्शयति—लोकालो-
 केति । विवर्तते परिभ्रमति ॥१३॥ अथ ऊर्ध्वं च कियद्विस्तृतं
 तत्राह—आपातालदिव इति । सर्वोर्ध्वाद्गुहाहते अन्यस्त्वर्ध्वं
 पतन्नमत् ॥१४॥ इयं नक्षत्रमण्डलं पातालतद्विस्तृतं कृत्वां भूलोकं
 पर्येति प्रदक्षिणीकरोति । तच्च चित्कल्पनादन्यच्च ॥ १५ ॥
 एकसाक्षोटफल्गुस्य भिस्त्वा वीजशारावर्णमगम इव ॥ १६ ॥

द्विगुणा नभसस्तस्मादक्षत्रकस्य पुष्टता ।
 दशदिकं विसरतो बिल्वत्वकसदृशस्थितेः ॥ १७
 संविद्धनस्य कचनं यादृशं कल्पनात्मकम् ।
 यदित्यं संनिवेशेन नन्विद्यं जागती स्थितिः ॥ १८
 नक्षत्रकाद्विगुणं ततोऽन्यद्विद्यते नभः ।
 तच्च क्वचित्प्रकाशाख्यं क्वचित्सान्द्रतमोमयम् ॥ १९
 पर्यन्ते तस्य नभसः स्थितं ब्रह्माण्डखर्परम् ।
 एकमूर्ध्वं परमधो गगनं मध्यमेतयोः ॥ २०
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० भो० नि० उ० अ० वि० भूगोलनिर्णयो नाम सप्तविंशतिशततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

योजनानां कोटिशतं वृष्टं बज्रदठं च तत् ।
 स्थितं संवेदनमयं व्योम्नि व्योममयात्मकम् ॥ २१
 सर्वदिकं महागोले नभसि स्पर्कतारकम् ।
 किमत्रोर्ध्वमधः किं स्यात्सर्वमूर्ध्वमधश्च वा ॥ २२
 पतनमुत्पतनं गमनं स्थितं
 चित इति स्फुरितं न तु वस्तु तत् ।
 पतनमस्ति न चोत्पतनं न वा
 गमनमागमनं स्थितमित्यपि ॥ २३

अष्टाविंशतिशततमः सर्गः १२८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अस्मदादेर्जनस्यैतत्प्रत्यक्षं नानुमानिकम् ।
 शुद्धबोधशरीरेण नाधिभौतिकरूपिणा ॥ १
 एतदस्मज्जगत्स्वप्ने नान्येषु कथितं मया ।
 अन्येष्वस्ति जगत्स्वप्नेष्वेवमन्यापि च स्थितिः ॥ २
 जगत्स्वप्नेषु चान्येषु संस्थानकथनेन किम् ।
 न ह्यौपयोगिकादन्या कथा भवति भीमताम् ॥ ३
 सर्वेषामुत्तरे मेरुलोकालोकश्च दक्षिणे ।
 येषामित्यनुमाऽशेषभूतौघे तेन पण्डिताः ॥ ४
 प्रत्यक्षमेतदन्येषां यत्र तेऽन्ये जगद्भूमाः ।

नास्माकं विषये ते हि तथा संस्थानशोभिनः ॥ ५
 सर्वेषामुत्तरे मेरुलोकालोकश्च दक्षिणे ।
 सप्तद्वीपनिवासानां नान्येषामिति निश्चयः ॥ ६
 प्रकृतं शृणु हे राम तद्ब्रह्माण्डकवाटकम् ।
 यत्प्रमाणं ततो वारि बाह्ये दशगुणं स्थितम् ॥ ७
 तद्ब्रह्माण्डकवाटं तु तृणं तृणमणिर्यथा ।
 धत्ते वारि स्वभावेन नित्यं कल्पकरज्जवत् ॥ ८
 सर्वेषामेव भावानां स्थितः कल्पकरज्जवत् ।
 सर्वदा पार्थिवो भागस्तेनात्रैते पतन्त्यलम् ॥ ९

तस्माद्भूलोकद्विगुणाजभसः ऋक्षत्रकस्य द्विगुणा पुष्टता अन्तर्द-
 लविस्तारः ॥ १७ ॥ संविद्धनस्य शबलब्रह्मणः सत्यसंकल्पा-
 त्मकं यादृशं कचनं तदेवेत्थं सन्निवेशेन ब्रह्माण्डतदवयवरूपेण
 जागती स्थितिरित्यर्थः ॥ १८ ॥ ततः परतः पूर्वोक्तनभसोऽन्य-
 चभो विद्यते ॥ १९ ॥ २० ॥ तदन्तर्दलपरिमाणमाह—योज-
 नानामिति । संवेदनमयं कल्पनामात्ररूपं परमार्थतो व्योमवि-
 कारपथीकृतभूतकार्यभूतं व्योम विदाकाशमेव ॥ २१ ॥ महा-
 गोलाकारे नभसि स्पर्कतारकं ज्योतिश्चक्रं सर्वदिकं तिष्ठति ।
 एवं सति किमत्र अस्मिन् ज्योतिश्चक्रे किमूर्ध्वं किमधः स्यात्,
 यदि स्यात्तर्हि सर्वमूर्ध्वं सर्वं चाधः । चशब्दात्सर्वं दक्षिणोत्तर-
 पूर्वपश्चात्तोऽपि वा स्यादित्यर्थः ॥ २२ ॥ सर्ववस्तूनां पतनं
 उत्पतनं तिर्यग्गमनं स्थितम् । एकत्रावस्थानं यद्भाति तच्चित्तः
 प्रत्यगात्मनः स्फुरितं प्रतिभानमात्रमेव । वस्तुतस्तु न पतन-
 मस्ति न चोत्पतनमस्ति न वा गमनमागमनं स्थितमवस्थितं
 किञ्चिदित्यप्यस्ति । अद्वयत्वविरोधादित्यर्थः ॥ २३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 भूगोलनिर्णयो नाम सप्तविंशतिशततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

तमःशब्दं समुत्तीर्णं ब्रह्माण्डावरणानि च ।

विपश्चितोऽत्र भ्रमजमविद्यायासुदीर्यते ॥ १ ॥

इदं ज्योतिश्चक्रतत्परिमाणादिकं त्वया केन प्रमाणेनावगतं
 तत्राह—अस्मदादेरिति । जनस्य योगिजनस्य योगज्ञानाभ्यास-

शोधितत्वाच्छुद्धो यस्तत्त्वबोधः सर्वजगत्त्वसाक्षात्कारस्वर-
 धानेनातिवाहिकशरीरेण न त्वाधिभौतिकस्थूलरूपेणेत्यर्थः ॥ १ ॥
 एतद्यन्मया लोकालोकज्योतिश्चक्रादिसंस्थानं कथितं तदस्म-
 द्दृष्टे जगत्स्वप्ने प्रसिद्धं कथितमन्येषु तु न कथितम् । अन्येषु
 ब्रह्माण्डान्तरलक्ष्णेषु जगत्स्वप्नेष्वेवमेवोत्सर्गतः स्थितिः क्वचि-
 दन्यादृश्यपीत्यर्थः ॥ २ ॥ तर्हि तदपि वद तत्राह—जग-
 दिति ॥ ३ ॥ हे पण्डिताः, तेन उत्सर्गेण तु सर्वेषां ब्रह्माण्डानां
 मध्ये सर्वद्वीपसमुद्राणामुत्तरे मेरुलोकालोकस्तु दक्षिणे इति
 अशेषभूतौघे येषां जिज्ञासा तेषामनुमानमनुमा प्रवर्ततामित्यर्थः
 ॥ ४ ॥ ये त्ववान्तरविशेषास्ते तत्रत्यानामेव प्रत्यक्षा नात्रत्या-
 नामित्याह—प्रत्यक्षमिति ॥ ५ ॥ अन्येषां ब्रह्माण्डाद्दहिर्गता-
 नाम् ॥ ६ ॥ ब्रह्माण्डस्य कवाटकं प्रागुक्तखर्परद्वयं यत्प्रमाणं
 प्रागुक्तशतकोटियोजनप्रमाणं ततः परं बाह्ये दशगुणं वारि
 जलवरणं स्थितम् ॥ ७ ॥ ननु तस्य क आधारस्तत्राह—
 तदिति । तद्ब्रह्माण्डकवाटमेव पार्थिवभागतया आकर्षणशक्त्या
 तद्धारि धत्ते । यथा तृणमणिस्तृणचुम्बकमणिविशेषस्तृणमाकर्ष-
 णशक्तिरूपस्वभावेन धत्ते । यथा वा कल्पवृक्षोऽर्धेवाच्छितानि
 रत्नानि धत्ते तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥ तर्हि मेघनिर्मुक्तजलकरका-
 दयः समुद्रनद्यादिषु न पतेयुर्जले आकर्षणशक्त्यभावात्किन्तु
 दूरादपि तीरभूमिमेवोपसृत्य तत्र पतेयुस्तत्राह—सर्वेषामिति ।

१ जगत्तारकं इति मूले व्याख्यायां च पाठः ।

जलाद्दशगुणं बाह्ये स्थितं तेजो निरिन्धनम् ।
 आकाशविशदं शान्तस्तब्धज्वालोदरोपमम् ॥ १०
 तस्माद्दशगुणो बाह्ये संस्थितो वायुरावृतः ।
 वायोर्दशगुणं बाह्ये व्योम तिष्ठति निर्मलम् ॥ ११
 ततः परतरं शान्तं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ।
 न प्रकाशं न च तमो महाविद्धनमव्ययम् ॥ १२
 अनादिमध्यपर्यन्ते तस्मिन्ब्रह्ममहाम्वरे ।
 महाविभक्तिं सर्वात्मन्ययोनिर्वाणरूपिणि ॥ १३
 ब्रह्माण्डानां तादृशानां दूरे दूरे पुनःपुनः ।
 मिथोलक्षाणि लक्षाणि कचन्त्युपरमन्ति च ॥ १४
 न किञ्चित्कचयत्यत्र समे कचनरूपिणि ।
 तादृशं यं तथारूपं तदात्मन्येव संस्थितम् ॥ १५
 एष ते कथितः सर्वो दृश्यानुभवनक्रमः ।
 अधुना शृणु किञ्चित् लोकालोके विपश्चितः ॥ १६
 स्वभ्यस्तपूर्वसंस्कारो विलसन्निश्चयेरितः ।
 लोकालोकगिरेर्मूर्धस्तमःश्वभ्रं पपात सः ॥ १७
 ददर्श तत्र शिखरप्रतिमैर्विहगैर्बभूवुः ।
 विकर्तितं मनोदेहं प्रसृतं च स्वचिन्तिते ॥ १८
 देशस्य तस्य पुण्यत्वाद्देहं तथातिवाहिकम् ।
 आधिभौतिकताबोधं नानयन्निर्मलाशयः ॥ १९
 तावन्मात्रप्रबोधोऽसौ नाधिकं बोधमागतः ।

एते वृष्टिजलादयः ॥ ९ ॥ प्रागुक्ताद्ब्रह्माण्डावरणजलाद्बाह्ये
 ॥ १० ॥ ११ ॥ ब्रह्माकाशमविद्याशबलब्रह्माकाशम् । चिद्धनं
 प्रज्ञानघनं सुष्ठुतिरूपम् ॥ १२ ॥ अयोघनवदच्छिद्रनिर्वाणरू-
 पिणि ॥ १३ ॥ कचन्त्युद्वन्ति । उपरमन्ति प्रलीयन्ते ॥ १४ ॥
 किं तत्कारणं यद्ब्रह्माण्डलक्षाणि कचयति तत्राह—न किञ्चि-
 दिति । किंतु तद्ब्रह्मात्मनि अविद्यया तादृशयमेवावस्थितम्
 ॥ १५ ॥ प्रश्नोत्तरमुपसंहृत्य प्रकृतं श्रावयति—एष इति
 ॥ १६ ॥ सुष्ठु अभ्यस्तः पूर्वो दिगन्तदर्शनोद्योगसंस्कारो येन
 तथाविधनिश्चयेरितो विपश्चितस्य लोकालोकगिरेर्मूर्धः शिख-
 रात्परतः प्रागुक्तं तमःश्वभ्रं पपात विवेश ॥ १७ ॥ तत्र
 च निर्जं स्वं देवबभूवुः पर्वतशिखरप्रतिमैर्महत्सैर्विहगैर्गृध्रादिभिर्वि-
 कर्तितं विच्छिद्य भक्षितं ददर्श । तदनन्तरं च स्वचिन्तिते
 दिगन्तदर्शने मनोदेहमेव प्रसृतं ददर्श ॥ १८ ॥ तस्य मरणप्र-
 देशस्य पुण्यत्वात्स्थूलदेहभावगोचरसंस्कारोद्बोधकचतुर्विधभूत-
 प्रामादिश्चान्यत्वादिति यावत् । तन्महिम्ना तदातिवाहिकं देहमा-
 धिभौतिकताबोधं न अनयत् । आतिवाहिकभावं न विसंसा-
 रेति यावत् ॥ १९ ॥ तावन्मात्रः स्थूलदेहातिरिक्तात्ममात्रगो-
 चरः प्रबोधो यस्य तथाविधोऽसौ विपश्चित् ततोऽधिकं देहप्र-
 यातिरिक्छुद्बन्धिन्मात्रात्ममात्रगोचरं बोधं नागतः । ततो
 दिगन्तदर्शनलक्षणं कार्यमसितमपर्यवसितं चिन्तयित्वा प्रकृते-
 रुपसर्पणस्वभावस्य हितः अनुकूलो बभूव नोपरत इत्यर्थः
 ॥ २० ॥ नन्वदेहं चित्तं बहिः कथं प्रसरति गच्छति । तद-

चिन्तयित्वाऽसितं कार्यं बभूव प्रकृतेर्हितः ॥ २०
 श्रीराम उवाच ।
 अदेहं प्रसरत्येतच्चित्तं कार्यं कथं मुने ।
 आतिवाहिकसंविसेर्बोधः स्यात्कीदृशोऽधिकः ॥ २१
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 संकल्पपथिकत्वेन यथान्तःपुरवासिनः ।
 इदं मनः प्रसरति तथास्य प्रसृतं मनः ॥ २२
 भ्रमे स्वप्ने मनोराज्ये मिथ्याज्ञाने कथाश्रुतौ ।
 यथा मनः प्रसरति तथा तत्प्रसृतं मनः ॥ २३
 पतन्ति तु शरीरं तदातिवाहिकमुच्यते ।
 आधिभौतिकधीर्माति विस्मृत्यात्रैव कालतः ॥ २४
 ते तदान्तार्धिमायाते सर्परज्जुभ्रमोपमे ।
 आधिभौतिकदेहेऽस्मिच्छिष्यते त्वातिवाहिकः ॥ २५
 आतिवाहिक एषोऽङ्ग निपुणं प्रविचार्यताम् ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण यावद्भ्रान्त्यदस्ति नो ॥ २६
 देशदेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 चिन्मात्रस्यास्य तद्रूपमनन्तस्यैकरूपिणः ॥ २७
 क द्वैतं क च वा द्वेषः क रागादि तु कथ्यताम् ।
 सर्वं शिवमनाद्यन्तं परो बोध इति स्मृतः ॥ २८
 निर्मनोमननं शान्तमासितं बोध उत्तमः ।
 आतिवाहिकदेहस्थो न तं बोधमुपागतः ॥ २९

भ्युपगमेपि पूर्वं देवशरीरेणापि नभोवर्त्मन्यप्रतिहतगतिः स
 आसीत्तस्तज्जाशेऽपि मनोदेहेन नभोमार्गे गच्छतस्तस्य पूर्वदे-
 हान्मनोमात्रमयदेहस्य को विशेषोऽभूदिति रामः पृच्छति—
 अदेहमिति ॥ २१ ॥ तत्रायप्रश्नस्योत्तरमाह—संकल्पेत्यादिना ।
 न हि संकल्पस्य पथि प्रसरो देहप्रसरमपेक्षते इत्यर्थः ॥ २२ ॥
 ॥ २३ ॥ द्वितीयस्योत्तरमाह—पतन्तीति । तुशब्द आधिभौ-
 तिकापेक्षया विशेषद्योतनार्थः । यस्मिन्तु देहे तं भ्रमस्वप्नमनो-
 राज्यादयः पतन्ति प्रसरन्ति तच्छरीरमातिवाहिकमित्यर्थः ।
 अत्रातिवाहिके देह एव तद्भावविस्मृत्या आधिभौतिकताबुद्धि-
 रुदतीति प्रागुक्तस्यानुवादो विशेषप्रदर्शनार्थः ॥ २४ ॥ कदा
 तर्हि आधिभौतिकभावनिवृत्त्या आतिवाहिकपरिशेषस्तत्राह—
 ते तदेति । ते इति पदं पूर्वश्लोकान्वयि । विचारेण आधि-
 भौतिकविभ्रमे अन्तार्धिमायाते सति तदा आतिवाहिकः शिष्यते
 ॥ २५ ॥ आतिवाहिकदेहनिवृत्त्या चिन्मात्रपरिशेषेऽपि विचार
 एवोपाय इत्याशयेनाह—आतिवाहिक इति । निपुणं 'तेजसा
 सोम्य शुणेन सन्मूलमन्विच्छ' इति श्रुतिदर्शिततत्त्वदर्शनोपायेन
 ॥ २६ ॥ निर्विषयचिन्मात्रा प्रसिद्धिस्तु प्राग्बहुशो वारितैवे-
 त्याशयेन प्राग्बहुशः पठितमेव श्लोकार्धं पुनः पठति—देशा-
 दिति । तद्रूपं प्रसिद्धमेवेति शेषः ॥ २७ ॥ तत्र च द्वैतरूपस्य
 विषयस्य तत्प्रयुक्तरागद्वेषादेश्च प्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—केति
 ॥ २८ ॥ यन्निर्गतमनोमननमासितमवस्थानं स एवोत्तमो
 बोधः । आतिवाहिकदेहस्थो विपश्चित्नु तं बोधं नोपागतः किंतु

विपश्चित्तद्विबोधोऽसौ ददर्श विसरन्मनः ।
 आतिवाहिकबोधेन गर्भवासोपमं तमः ॥ ३०
 तमसोऽन्ते विरिञ्चाण्डकवाटच्छेदभूतलम् ।
 बज्रसारं हेममयं कोटियोजनविस्तृतम् ॥ ३१
 तदन्ते प्राप सलिलं तस्माद्दृष्टगुणं ततः ।
 कपाटभूम्यैव समं स्थितमर्णवपृष्ठवत् ॥ ३२
 तमतीत्य ततः प्राप तेजोऽर्कगणभीषणम् ।
 प्रलयाम्निघनज्वालापिण्डकोटरभास्वरम् ॥ ३३
 दाहशोकादिमुक्तेन वपुषा मानसेन तत् ।
 तत्र गच्छन्स बुबुधे वहनं पूर्ववासितम् ॥ ३४
 उद्यमानो विवेदासाधात्मानं त्वातिवाहिकम् ।
 चित्तमात्रात्मनः स्वस्य किमिबोध्यत इत्यपि ॥ ३५
 इति बोधेन धीरात्मा तं ततीराऽनिलार्णवम् ।
 प्राप तद्विततं व्योम तस्माद्दृष्टगुणं स्थितम् ॥ ३६
 तदतिक्रम्य स प्राप ब्रह्माकाशमनन्तकम् ।
 यत्र सर्वं यतः सर्वं यत्र किञ्चिच्च किञ्चन ॥ ३७
 मनसा प्रभ्रमंस्तत्र दूरादूरतरं ययौ ।
 तेन दृष्टं च पृथ्व्यापस्तेजो वायुस्तथा जगत् ॥ ३८
 पुनः संसाररचनाः पुनः सर्गाः पुनर्दिशः ।
 इ० श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० ब्रह्मणीतासु ब्रह्माकाशविपश्चित्तजगच्चन्द्रदर्शनं नामाष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२८ ॥

पुनर्महीधरा व्योम पुनर्देवाः पुनर्नराः ॥ ३९
 पुनः पञ्चमहाभूतपर्यन्ते ब्रह्म निर्धनम् ।
 पुनस्तत्र जगत्स्युद्धैः पुनः सर्गाः पुनर्दिशः ॥ ४०
 ब्रह्माकाशस्ततः सर्गाः पुनरन्ये त्वनिष्ठिताः ।
 इत्यसौ विहरन्दीर्घकालमद्यापि संस्थितः ॥ ४१
 स्वनिश्चयाच्चिराभ्यस्ताभ्यासौ विरतिमेति हि ।
 अन्तो नैवास्त्यविद्यायाः सा हि ब्रह्मैव सत्यता ॥ ४२
 वस्तुतो नास्त्यविद्येह ब्रह्मण्यधिकलात्मनि ।
 इदं दृश्यमविद्येयमित्यात्मैष विकासितः ॥ ४३
 यद्यथा जाप्रति स्वप्ने दृष्टं द्रश्यसि पश्यसि ।
 तत्तथा ब्रह्म सच्छान्तमासीदस्ति भविष्यति ॥ ४४
 घनतमःप्रविलोकनचक्रकं
 क्रमजगत्प्रतिभानमिदं महत् ।
 परतया प्रतिभात्मतयानया
 न च सदङ्ग न वाप्यसदाकृति ॥ ४५
 तेष्वेव तेष्विव च तेषु तनूतरेषु
 ब्रह्मोदरेषु चिरदूरतरं जगत्सु ।
 सोऽद्याप्यसंविदिततत्त्वतया तयोद्धैः
 खण्डेषु रङ्गुरिव राघव बभ्रमीति ॥ ४६

एकोनत्रिंशदधिकशततमः सर्गः १२९

श्रीराम उवाच ।

तयोर्द्वयोर्मुनिश्रेष्ठ संपन्नं किमतः परम् ।

तद्विबोधः आतिवाहिकदेहमात्रात्मबोधवान् । अत एवमे
 विसरन्मनो ददर्शति परेणान्वयः ॥ २९ ॥ गर्भवासोपमं तमश्च
 ददर्श ॥ ३० ॥ विरिञ्चाण्डस्य कपाटप्रायो यश्छेदः खण्डस्तद्रूपं
 भूतलं, संपुटविभागसंधिभूतमिति यावत् ॥ ३१ ॥ तदुत्तरं तदा-
 वरणप्राप्तिमाह—तदन्ते इति । कवाटभूम्यैव समं तुल्यतया
 द्वीपान्ते अर्णवपृष्ठवत्स्थितम् । जलस्य निराधारावस्थानायोगा-
 दण्डकपालखण्डमाश्रित्य तद्भेदे विभज्य स्थितमिति भावः
 ॥ ३२ ॥ तैजसादावरणस्य तु न जलवदाधारापेक्षेति संधिविभागा-
 भावात्पिण्डकोटरमिव भास्वरमित्युक्तिः ॥ ३३ ॥ तत्र तैजसावरणे
 गच्छन् स विपश्चित्तदुत्तरं वाष्पावरणे वहनं बुबुधे ॥ ३४ ॥ तत्र
 तस्य स्वप्रकल्पनाप्रायं न वास्तवमिति बुबुधे इति पदस्य तात्पर्य-
 मित्याह—उद्यमान इति ॥ ३५ ॥ तादृशवेदनबलादेव वाष्पा-
 वरणतरणं तस्येत्याह—इतीति ॥ ३६ ॥ ब्रह्माकाशमविद्याशचक्र-
 ब्रह्माकाशम् ॥ ३७ ॥ दृष्टं संस्कारवशादिति भावः ॥ ३८ ॥ पुन-
 र्नरा दृष्टा इति विपरिणामेनानुषज्जते ॥ ३९ ॥ निष्ठितं घनं निर्ध-
 नम् ॥ ४० ॥ अनिष्ठिता अव्यवस्थिताः ॥ ४१ ॥ निश्चयाच्चगत्स-
 त्यतानिश्चयात् । सत्यता सत्यस्वभावः पर्यालोचितश्चेत्सा ब्रह्मैव
 ॥ ४२ ॥ तत्कृतस्तत्राह—वस्तुत इति ॥ ४३ ॥ यद्ब्रह्म जाप्रति
 स्वप्ने च यथा यादृशवासनोद्भवेन प्राग्दृष्टं सांप्रतं पश्यस्वप्नेऽपि
 यो० वा० ॥ ३३

पञ्चाद्विपश्चितोस्तस्य रुद्धयोर्वै विपश्चितोः ॥ १

द्रश्यसि तद्ब्रह्म तथैवासीदस्ति भविष्यति च ॥ ४४ ॥ अत एवेदं
 जगत्सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमेवेत्याह—घनतम इति । इदं
 आसीदस्ति भविष्यतीति क्रमयुक्तं जगत्प्रतिभानं घनं तमः
 अविद्यामात्रमेव प्रमीलितयोर्विलोचनयोस्तैस्मिरिकं चक्रकमिव
 महद्भाति । तत्र परश्चिन्मात्रात्मा तत्तया न सत् प्रतिभात्मतया
 अनया अज्ञदृष्टिप्रसिद्धया तु न असदाकृति । अत उभयदृष्टि-
 प्रामाण्ये अनिर्वचनीयमेवेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ हे राघव, स विप-
 श्चित् अद्यापि असंविदिततत्त्वतया तेषु पूर्वदृष्टेष्वेव तेष्विव
 तत्सदृशेष्वन्येषु च वासनामात्रत्वात्तनूतरेषु ब्रह्मणा विरा-
 जासुदरेषु प्रसिद्धेषु जगत्सु वनखण्डेषु रङ्गुर्मृगविशेष इव उद्धैः
 स्ववासनीज्ञत्वेन बभ्रमीति पुनः पुनर्भ्रमति । भ्रमेर्यत्कृत्कि अभ्या-
 सस्य नुक् ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्माकाशविपश्चित्तजगच्चन्द्रदर्शनं नामा-
 ष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२८ ॥

विपश्चितोरुदन्तोऽत्र वर्ण्यते ह्यवशिष्टयोः ।

तत्रैकस्य मृगात्वेऽन्ते तथा रामसमागमः ॥ १ ॥

एको विपश्चित्तद्विष्णुप्रसादाज्ज्ञानं प्राप्य मुक्तो द्वितीयस्त्वद्याप्य-
 विद्यायां बभ्रमीतीति श्रुत्वा अवशिष्टयोर्द्वयोः समान्चारं रामः
 पृच्छति—तथोरिति । चन्द्रलोके शात्मलिङ्गीपराज्ये च भोगै-

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तयोरेकस्मिन्नाभ्यस्तासनाविषयीकृतः ।
 भ्रमन्दीपेषु देहोवैस्तामेव पदवीं गतः ॥ २
 तथैवावरणास्त्यक्त्वा परमाकाशकोटरे ।
 पश्यन्संसारलक्षणाणि तथैवाद्यापि संस्थितः ॥ ३
 तयोर्द्वितीयः स्वाभ्यस्तादादावासंगतेर्षदात् ।
 त्यक्तवान्प्रभ्रमदेहेरघ शैले मृगः स्थितः ॥ ४
 श्रीराम उवाच ।
 एकैव वासना ब्रह्मन्या चतुर्णां सदोदिता ।
 नानातां सा कथं प्राप्ता हीनोत्तमफलप्रदाम् ॥ ५
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 स्वभ्यस्ता वासना जन्तोर्वेशकालक्रियावशात् ।
 तनुदार्यान्यतामेति घनदार्याति जान्यताम् ॥ ६
 देशकालक्रियाद्येतदेकता वासनैकता ।
 तयोर्देव बलवत्तदेव जयति क्षणात् ॥ ७
 एवं विभागो नैतेऽत्र चत्वारः समवस्थिताः ।
 कृष्यन्ते द्वावविद्यार्थमन्यो मुक्तो मृगोऽपरः ॥ ८
 नाद्यापि तैरविद्याया लब्धोऽन्तो भ्रान्तिबुद्धिभिः ।
 अनन्तेयमविद्येयमज्ञानपरिवृंहिता ॥ ९

निरुद्धयोर्विपश्चितोर्भोगसारत्वामिन्द्रियोस्तयोर्द्वयोः पूर्वदक्षिणवि-
 पश्चितोः पश्चादनन्तरं अतः प्रागुक्तात्परमन्यतस्य दिग्गन्तदर्श-
 नवरस्य संबन्धि किं चरित्रं संपन्नमिति प्रश्नः ॥ १ ॥ तामुत्त-
 रविपश्चितः पदवीं ब्रह्माण्डावरणलङ्घनेन शबले ब्रह्मणि संसार-
 लक्षकोटिषु भ्रमणलक्षणामेव पदवीं दक्षिणो विपश्चित इत्यर्थः
 ॥२॥ तथैवेत्यादिरुक्तस्यैव प्रपन्नः ॥३॥ द्वितीयः पूर्वो विपश्चित
 स्वेन चन्द्रसंनिधावभ्यस्ताच्चन्द्रमृगमेहातिशयलक्षणात् आसंग-
 तेरासङ्गस्य वशात् चन्द्रेण सह प्रतिमासमुद्भूतैः प्रभ्रमदेहेरुप-
 लक्षितस्तानि त्यक्तवान्सन् अद्य शैले मृगो भूत्वा स्थितः ॥४॥
 एकरूपाया वासनाया अन्तःकरणस्य देहस्य च चतुर्धाभावेऽपि
 वासनाविभागस्य हीनोत्तमफलभेदस्य वाऽसंभवं रामः शङ्कते-
 एकैवेति ॥ ५ ॥ तत्राद्यप्रश्नस्योत्तरमाह—स्वभ्यस्तेति ।
 तनुदार्या कोमला । घनदार्या अतिपरिपाकदृढीभूता । अन्यतां
 विभागम् ॥६॥ वासनानामेकीभावे विभागे वा को हेतुस्तत्राह—
 देशेति । यदा भोग्यफलानुकूलानां देशकालकर्मप्रयत्नसामग्री-
 णामेकता तदा तदनुकूलसमानविषयवासनानामप्येकता संप-
 ष्यते । यदा तु भेदस्तदा विभागः । यदा तु समानदेशकाल-
 क्रियाफला कश्चिद्वासना तद्भिन्नदेशकालक्रियाफला चापरा
 वासना द्वे उद्भूते तदा तयोर्मध्ये यदेव बलवत्तदेव जयति । बल-
 वत्ता च फलानुमेयेति भावः ॥७॥ एवमनया रीत्या एते विपश्चितो
 युगपदुद्भूतविरुद्धदेशादिभोग्यवासनाविभागप्रयुक्तानाभ्यविभागेन
 चत्वारः सन्तः समवस्थिताः । तत्राद्यावविद्यार्थमपरो मृग इति
 त्रयोऽपि कृष्यन्ते वासनाभिः । अन्य एकस्तु मुक्तः ॥ ८ ॥

क्षिप्रेण शान्ता भवति विज्ञानालोक आगते ।
 अमूलमेव गलति तिमिरधीरिषोदये ॥ १०
 कालेनान्यजगज्जातं शृणु वृत्तं विपश्चितः ।
 तस्मिन्दूरतरे देशे कस्मिन्चित्संमृतिभ्रमे ॥ ११
 कश्चिद्ब्रह्ममहाव्योम्नि कस्मिन्निदृश्यमण्डले ।
 तस्य दृश्यात्मना प्राप्ते वस्तुतो ब्रह्मरूपिणि ॥ १२
 स एकः शुभसंगत्या विदुषां मध्यमागतः ।
 दृश्यं यथावद्विज्ञाय ब्रह्मतामलमागतः ॥ १३
 तत्रैवाशु परिज्ञानात्साऽविद्या स च देहकः ।
 मृगतृष्णाग्निववाशान्तिमागतौ रागतश्चितौ ॥ १४
 इति ते सर्वमाख्यातं विपश्चित्चेष्टितं स्फुटम् ।
 अनन्तैवमविद्येयं ब्रह्मवत्तन्मयी यतः ॥ १५
 येन यत्रैव वर्षाणां लक्षलक्षणि गम्यते ।
 तत्र तत्र स्वभावेन चिता किमपि लक्ष्यते ॥ १६
 तदेवाश्वपरिज्ञातं मिथ्या विद्येति कथ्यते ।
 परिज्ञातं तु तच्छान्तं तथा ब्रह्मेति कथ्यते ॥ १७
 भेदो न भेदस्तत्रायं भेदोऽयं यन्मयः किल ।
 तद्ब्रह्मैव चिदाभासं चिद्रूपैव हि भिन्नता ॥ १८

तैस्त्रिभिः । अज्ञानैर्भ्रान्तिसहस्रैः परितो बृंहिता वर्धिता ॥ ९ ॥
 अमूलं निःशेषमेव गलति ॥ १० ॥ क्षिप्रेण कालेनेति पूर्वश्लोका-
 न्वयि । इदानीं पश्चिमविपश्चितो येन वृत्तेन मुक्तिर्जाता तत्पुनः
 श्रावयति—अन्येति । अन्यस्मिन्स्ववासनाकल्पिते जगति
 ब्रह्माण्डे जातम् । तस्मिन् ब्रह्माण्डे । दूरतरे स्वावधिपरभागस्थ-
 वर्णभूदेशे ॥११॥ ब्रह्ममहाव्योम्नि कश्चिदध्यस्ते कस्मिन्निदृश्य-
 मण्डले । किं वास्तवेनेत्याह—तस्येति ॥१२॥ शुभस्य शान्ति-
 दान्तिभगवद्भक्त्यादिगुणौघस्य संगत्या स पश्चिमो विपश्चितेको
 विदुषां जीवन्मुक्तानाम् ॥ १३ ॥ तस्य सा जगदाकारा
 अविद्या स देहश्च मोक्षोत्तरं क्व गतौ तत्राह—तत्रैवेति ।
 आशान्तिं बाधमागतौ यतस्तौ रागः कामस्तत्तश्चितौ तदधीन-
 स्थितिकौ । तथा च श्रुतिः 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य
 हृदि भिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति
 ॥ १४ ॥ प्रकृतकथामुपसंहरति—इतीति । इयमविद्या कार्या-
 विद्या सर्वदिश्वद्यापि तैरन्तादर्शनादनन्ता कारणब्रह्मवत् ॥१५॥
 तत्कल्पकाज्ञातचित्त आनन्त्यादेव तदानन्त्यमिति ब्रह्मवदिति
 दृष्टान्तोक्तेस्तात्पर्यमित्याह—येनेति ॥ १६ ॥ तन्मयीत्युक्तं-
 रपि तात्पर्यमाह—तदेवेति । तद्ब्रह्मैव ॥ १७ ॥ नन्वविद्येति
 ब्रह्मेति च भेदे सति कथं तदेव तत्राह—भेद इति । अयं
 भेदो न भेदो यतोऽयं तन्मयः अविद्यामय एष सा च ब्रह्मेवेति ।
 चिद्भास्यत्वादपि भेदो न चितोऽन्य इत्याह—तदिति ॥१८॥

ब्रह्माण्डमण्डपस्यास्य भ्रमतेत्यविपश्चिता ।
 लब्धो युगशतैरन्तो नविद्याया विपश्चिता ॥ १९
 श्रीराम उवाच ।
 स ब्रह्माण्डकपाटः किं न संप्राप्तो विपश्चिता ।
 स्वयैतत्कथितं ब्रह्मण कथं वदतां वर ॥ २०
 धीवसिष्ठ उवाच ।
 जातेनैव विरिञ्चन पुरा ब्रह्माण्डमण्डलम् ।
 द्वाभ्यामधस्तादूर्ध्वात्स्वभुजाभ्यां प्रविदारितम् ॥ २१
 भागस्तेनोर्ध्वतस्तस्मादतिदूरतरं गतः ।
 अतो भागो गतोऽधस्तादतिदूरतरान्तरम् ॥ २२
 ताविवाश्रित्य तिष्ठन्ति जलाद्यावरणास्ततः ।
 त एव च तदाधारा लम्बन्ते संस्थितास्तयोः ॥ २३
 एतयोर्मध्यमाकाशं विदुरण्डकपाटयोः ।
 अपारावारमानीलमिदमालक्ष्यते तु यत् ॥ २४
 जलाद्यावरणास्तत्र न लगन्ति न सन्ति च ।
 तद्धि निर्मलमाशून्यमालानं कल्पकृत्तिभिः ॥ २५
 तेन मार्गेण यातोऽसौ विपश्चिदक्षचक्रवत् ।
 अविद्यायाः परीक्षार्थमामोक्षमतिदीक्षितः ॥ २६
 ब्रह्मैवानन्तरूपेयमविद्या तन्मयी यतः ।
 अतोऽस्ति साऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न विद्यते ॥ २७
 विपश्चित इति प्राप्य दूरादूरं परेऽम्बरे ।
 जगद्रूपेष्वविद्याया भ्रमन्त्यन्येषु केषुचित् ॥ २८
 कश्चिन्मुक्तो मृगः कश्चित्कौचिदद्यापि तौ कश्चित् ।
 भ्रमतः प्राक्तनानल्पसंस्कारविवशीकृतौ ॥ २९
 श्रीराम उवाच ।
 कीदृशेषु क दूरेषु ते जगत्सु विपश्चितः ।

ज्ञानशून्येनोत्तरविपश्चिता तु युगशतेनाप्यविद्याया अन्तो न लब्ध इत्याह—ब्रह्माण्डेति । इति उक्तरीत्या भ्रमता अविपश्चिता अविदुषा, विपश्चिता तु अविद्याया अन्तो युगशतैरपि न लब्धः ॥ १९ ॥ उत्तरविपश्चितो ब्रह्माण्डकपाटसंज्ञाकाशमार्गेण निर्गमनं कथं ब्रह्माण्डभङ्गे कारणानुत्था संभ्याकाशस्यैवासंभाषनादित्याशयेन रामः शङ्कते—स इति । ब्रह्माण्डकपाट एव किं न संप्राप्तः, तथा च तं भित्त्वा यथा स बहिर्गतः एतत् स्वया कथं न कथितम् ॥ २० ॥ वसिष्ठो ब्रह्माण्डकपाटद्वयविभागे कारणं प्राक् पाषाणारूपां उक्तमेव स्मारयति—जातेनेति ॥ २१ ॥ अन्यदतिदूरतरं अतिदूरतरान्तरम् । अतिदूरतरमन्तरमवधिं गत इति वा ॥ २२ ॥ जलाद्यावरणासौ भागाविव विभक्तास्तावेवाश्रित्य तिष्ठन्ति । आश्रित्य स्थितिः साधारणी विभक्ता तु जलावरणमात्रस्येति प्रागुपपादितमेव ॥ २३ ॥ ॥ २४ ॥ तत्र आकाशे अपारत्वोक्तिरितरभूतापेक्षया वैपुल्यरूपापनाय । अन्यथा बाह्याकाशावरणस्य पूर्वावरणदद्युगुणपरिमाणत्वानुपपत्तेः । तदग्रे ब्रह्माकाशवर्णनायोगाच्च । आलानमितरभूतानामाधारः । यावत्प्रलयं कल्पकालकल्पनैः ॥ २५ ॥ अविद्यायाः परित ईक्षार्थमतिशयेन दीक्षितो गृहीतरीक्ष इव ॥ २६ ॥ तर्हि स दृढतरपुरुषप्रयत्नाविच्छेदादविद्यान्तं कृतो

भ्रमन्तीति मुने ब्रूहि मयि चेज्जायते कृषा ॥ ३०
 कियत्यध्वनि संसारास्ते जाता येषु ते मुने ।
 महदेतदिहाध्वर्यमस्माकं कथितं त्वया ॥ ३१
 धीवसिष्ठ उवाच ।
 स्थितौ विपश्चितौ राम तादुभौ जगतोर्ययोः ।
 तेऽस्माकं गोचरं याते जगती यन्नतोऽपि नो ॥ ३२
 तृतीयो मृगतां यातो विपश्चिद्यत्र तिष्ठति ।
 स कदाचित्संसारो गोचरे नोऽवतिष्ठते ॥ ३३
 श्रीराम उवाच ।
 विपश्चिन्मृगतां यातो यस्मिञ्जगति संस्थितः ।
 तज्जगत्क महाबुद्धे यथावत्कथयेति मे ॥ ३४
 धीवसिष्ठ उवाच ।
 दूरादूरतरं गत्वा परब्रह्ममहाम्बरे ।
 मृगो विपश्चिज्जगति स यस्मिस्तज्जगच्छृणु ॥ ३५
 तदिदं विद्धि त्रिजगदिहासौ संस्थितो मृगः ।
 इदं तत्परमाकाशं दूरादूरे जगत्स्थितम् ॥ ३६
 श्रीराम उवाच ।
 विपश्चिदस्मादेवासौ जगतस्तां गतिं गतः ।
 इदृवाद्य मृगो जातः कथमेतत्समअसम् ॥ ३७
 धीवसिष्ठ उवाच ।
 अवयवानवयवी नित्यं वेत्ति यथाखिलान् ।
 तथा सर्वानहं वेत्ति ब्रह्मण्यात्मन्यवस्थितान् ॥ ३८
 अनिष्टितान्ससंहाराभानाकारांस्तु तान्बहून् ।
 मिथः प्रोतान्मिथोदृश्यान्स्वरूपानिव पार्थिवान् ॥ ३९

न ददर्शेति चेत्तस्यावस्तुतोऽनन्तब्रह्मात्मकत्वादेवेत्याह—
 ब्रह्मैवेति । तर्हि तत्त्वज्ञैस्तदन्तः कथं दृश्यते तत्राह—
 परिज्ञातेति ॥ २७ ॥ अविद्याया जगत्क्षणेपु रूपेषु केषुचित्
 ॥ २८ ॥ २९ ॥ रामप्रश्नाः स्पष्टाः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ सप्रदष्टोऽपूर्वो
 ग्राम इतः कियदूरेऽस्तीति प्रश्नव्यामप्रश्नोऽयं योजनसंख्याक्त्या
 न समाधातुं योग्य इति मत्वा वसिष्ठस्तदपरिज्ञानोक्तिच्छेदेन
 स्वाशयं सूचयन्नुत्तरमाह—स्थिताविति । यन्नतः पर्यालोचने
 ऽप्यस्माकं ते जगती गोचरं बुद्धिविषयतां नो याते ॥ ३२ ॥
 स ब्रह्माण्डस्तदन्तर्गतसंसारैः सहितः ससंसारो नो गोचरे
 बुद्धिविषयभावेऽवतिष्ठते ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ पूर्वतनविपश्चि-
 ज्जन्मवेशादूरादूरे व्यवस्थितम् ॥ ३६ ॥ तां दिगन्तदर्शनगतिं
 गतः सन् इहैव मृगो जात इति कथं समजसम् । परावृत्त्या
 गमनं विना इह मृगजन्मासंभवादित्यर्थः ॥ ३७ ॥ दूरं दूरतरं
 चेत्यादिसर्वं परिच्छिन्नात्मदर्शनामेव भवति । अपरिच्छि-
 न्नात्मदर्शनां त्ववयविनामवयवा इव सर्वं संनिहिततरमेवेति
 खानुभवेनेयमुक्तिरित्याशयेनोत्तरमाह—अवयवानिति । सर्वा-
 न्ब्रह्माण्डानिति शेषः ॥ ३८ ॥ अन्यदृशा अतीतराणामपि
 ब्रह्मदृशा सांप्रतं सनिहिततरत्वमेवेति कालतोऽपि न कस्य-
 चिदूरतास्तीत्याशयेन तान्विचिन्धि—अनिष्टितानिति । चिर-

तत्र कस्मिंश्चिदन्यस्मिन्मार्गेऽस्मिन्निव तिष्ठति ।
 यद्वृत्तं कथितं राम तवेतद्भवते मया ॥ ४०
 विपश्चितोऽन्यसंसारे देहैर्भ्रान्ता दिगन्तरान् ।
 ताननन्ताम्बरे व्योम्नि तावत्कालमखिलघ्नीः ॥ ४१
 इहैव हरिणो जातः कस्मिंश्चिन्निरिकन्दरे ।
 काकतालीययोगेन भ्राम्वा भूरिजगद्भ्रमम् ॥ ४२
 स जगन्ति भ्रमन्दूरे यस्मिन्सर्गे मृगः स्थितः ।
 ससर्गोऽयमिति व्योम्नि काकतालीयवत्स्थितम् ४३

श्रीराम उवाच ।

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्कस्यां ककुभि मण्डले ।
 कस्मिन्कस्मिन्न शैलेऽसौ वने कस्मिन्मृगः स्थितः ४४
 किं करोति कथं दूर्वाश्चर्वयत्युर्वरास्पदः ।
 जार्ति तां जरठज्ञानी कयोदारां स्मरिष्यति ॥ ४५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

योऽसौ त्रिगर्तनाथेन दत्तः क्रीडामृगस्तव ।
 स्थितः क्रीडामृगागारे विद्धि तं त्वं विपश्चितम् ॥४६

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विप० विपश्चिन्मृगलाभो नामैकोनत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३०

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

अथ राम उवाचास्य मुने केन विपश्चितः ।
 स्यादुपायेन दुःखान्तः प्राक्तनात्मोदयादिति ॥ १

काळोत्तरमावित्वात्संप्रतमनिष्ठितान् असंजातान् तथा ससंहरान्
 पूर्वकालनिष्पन्नसंहारसहितान् नानाकारान्विचित्रान् मिथः
 परस्परमदृश्यान्पि एकैः चित्यभ्यासात्परस्परप्रोतान् पार्थि-
 वान् पृथ्वीषिकारभूतपटतन्वादिस्वरूपानिव स्थितान् ॥ ३९ ॥
 तत्र ब्रह्माण्डेषु कस्मिंश्चिदन्यस्मिन्मार्गे अस्मिन्नेतद्ब्रह्माण्डस्थे मार्गे
 इव तिष्ठति सति यद्वृत्तं तन्मया भवत एतद्ब्रह्माण्ड इव कृत्वा
 अत्रैव विपश्चिजन्मराज्यादीति कथितं तत्त्वतः प्रकारतश्च
 मेदाभावादित्यर्थः ॥ ४० ॥ तान् पूर्वोक्तान् दिगन्तरान्
 स्वस्ववासनाकल्पिते अन्यान्यसंसारे तादृशैरेव देहैर्वस्तुतो
 भ्रान्ताः नैकस्मिन्तत्र पूर्वो विपश्चिदिहैव हरिणो जात इत्युत्त-
 रप्राम्बयः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ व्योम्नि ब्रह्माकाशे ॥ ४३ ॥
 ककुभि दिशि ॥ ४४ ॥ उर्वरा सस्याख्या भूमिस्तदास्पदः
 जरठं जरयेव त्रिधिलं ज्ञानमस्यास्तीति जरठज्ञानी स मृगस्तां
 प्राक्तनीं जार्ति विपश्चिजन्म कदा संस्मरेष्यति ॥ ४५ ॥
 त्रिगर्ता देशविशेषास्तेषां नाथेन राज्ञा तव उपायनत्वेन यः
 क्रीडामृगो दत्तः स इदानीं क्रीडामृगबन्धनागारे स्थितोऽस्ति
 तं मृगं त्वं विपश्चितं विद्धि ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ देहगतै-
 र्बिन्दुभिः पृषद्भिस्ताराबिन्दुयुतं खं विडम्बयन्ननुकुर्वन् ॥ ४९ ॥
 आदता दर्शनादरवस्वपि अनादता सभा वैस्तथाविधैश्चकित-

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

श्रुत्वेति राघवस्तस्यां सभायां विस्मयान्वितः ।
 बालकान्मृगमानेतुं प्रेषयामास भूरिशः ॥ ४७
 अथानीतो मृगो मुग्धः सभां स्फारां विवेश सः ।
 सर्वैः सभ्यगणैर्दृष्टः पुष्टिमांस्तुष्टिमानपि ॥ ४८
 ताराबिन्दुयुतं देहबिन्दुभिः खं विडम्बयन् ।
 दृष्टिपातोत्पलासारैः सुन्दरीः परितर्जयन् ॥ ४९
 आदतानादतसभैर्नीला मरकतत्विषः ।
 धावंस्तृणेच्छया लोलं मुग्धैश्चकितधीक्षितैः ॥ ५०
 उत्कर्णोन्नयनोद्गीवं क्षणभङ्गावलस्थितैः ।
 उत्कर्णनयनोद्गीवैः सभ्यानाकुलयञ्जवैः ॥ ५१
 मृगमालोक्य तं लोकाः सराजमुनिमन्त्रिणः ।
 अनन्ता बत मायेति चिरमासन्सयाकुलाः ॥ ५२
 आश्चर्यचर्वणसुविस्मितसर्वलोका
 सर्वावलोकनघनोत्पलवर्षकृष्णम् ।
 रत्नांशुजालकचितं मृगमीक्षमाणा
 सासीत्सभा कमलिनी लिपिनिर्मितेव ॥ ५३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

येनैवाम्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः ।
 न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला ॥ २
 वीक्षणैः समयकटाक्षैर्नीलवर्णाः सभास्तम्भादिखचितमरकत-
 त्विषो हरिततृणभ्रान्तिप्रयुक्तया इच्छया आदातुं धावन् ॥ ५० ॥
 ऊर्ध्वाकृतकर्णनयनप्रीवं यथा स्यात्तथा क्षणभङ्गैरस्थिरवर्लेर-
 निवार्यैः स्थितैरवस्थानैस्तथाविधैर्जवैश्च सभ्यान्सभागतान्
 जनान् दर्शनोत्कण्ठया आस्कन्दनशङ्कया च आकुलयन् ॥ ५१ ॥
 स्मयो विस्मयस्तदाकुला आसन् ॥ ५२ ॥ सर्वेषां सभासदाम-
 वलोकनलक्षणैर्घनैर्निबिडैरुत्पलवर्षैः कृष्णं नीलवर्णाकृतमिव
 स्थितं नानाविधरत्नानामंशुजालैः कान्तिसमूहै रचितं परिष्कृतं
 तं मृगमीक्षमाणा सभा आश्चर्यस्याद्गुतरसस्य यच्चर्वणं विगलित-
 वेद्यान्तरतया अन्तरास्त्रादनं तेन सुविस्मिता विस्मयजडीकृताः
 सर्वे लोका यस्यां तथाविधा सती लिपिनिर्मिता चित्रलिखिता
 कमलिनी पद्मवनीव आसीत् ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विपश्चिन्मृ-
 गलाभो नामैकोनत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १२९ ॥

वसिष्ठस्यामजे बह्वी मृगस्यात्र प्रवेशनम् ।

विपश्चिद्देहलाभेन प्राक्स्मृतिश्चात्र वर्णयते ॥ १ ॥

प्राक्तन आत्मा विपश्चिद्देहस्तस्योदयात्पुनराविर्भावाज्ज्ञानेन
 वास्तवात्माविर्भावाच्च इति राम उवाचेत्यन्वयः ॥ १ ॥ यस्य
 पुरुषस्य येनैव चिरोपासितेन दैवतेन गतिः पुनःपुनरभिलषित-
 सिद्धिः प्रागभ्युदिता तस्य पुरुषस्य तेन दैवतेन विनाऽपि अत्रे

विपश्चितोऽग्निः शरणं तत्प्रवेशाद्यं मृगः ।
 पूर्वरूपमवाप्नोति निर्मलं कनकं यथा ॥ ३
 करोम्वेतदहं सर्वं दृश्यतां दर्शयामि वः ।
 अग्निप्रवेशं हरिणः करोत्येषोऽधुना पुरः ॥ ४
 श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 इत्युक्त्वा स मुनिस्तत्र वसिष्ठः श्रेष्ठचेष्टितः ।
 उपस्पृश्य यथान्यायं स्वकमण्डलुवारिणा ॥ ५
 दध्यावनिन्धनं वह्निं ज्वालापुञ्जमयात्मकम् ।
 तच्चानेन सभामध्याज्ज्वालाजालं समुद्ययौ ॥ ६
 अकाररहिताकारमिन्धनेन विवर्जितम् ।
 स्वच्छं धमधमायन्तमधूममपकज्जलम् ॥ ७
 मुग्धमुग्धकचत्कान्तिं हेममन्दिरसुन्दरम् ।
 उत्फुल्लकिंशुकाकारं संध्याम्बुदवदुत्थितम् ॥ ८
 दूरापसृतसभ्यं तज्ज्वालाजालं विलोकयन् ।
 मृगः प्राग्भक्तिभावेन प्रोल्लास विलोकितैः ॥ ९
 तं समालोकयन्वह्निं विविधुः क्षीणदुष्कृतः ।
 पश्चादुपससाराशु दूरं सिंह इवोत्पतन् ॥ १०
 एतस्मिन्नन्तरे ध्याने विचार्य मुनिपुङ्गवः ।
 मृगं विलोकितैः क्षीणपापं कुर्वन्नुवाच ह ॥ ११
 संस्मृत्य प्राक्तनीं भक्तिं भगवन्हृदयवाहन ।
 कुरु कारुण्यतः कान्तं मृगमेनं विपश्चितम् ॥ १२
 वदत्येवं मुनौ दूराद्भावित्वा नृपसंसदि ।
 मृगोऽग्निं वेगनिर्मुक्तः शरो लक्ष्यमिवाविशत् ॥ १३
 ज्वालाजालं प्रविष्टोऽसाधादर्श इव बिम्बितः ।
 संध्याभ्र इव विश्रान्तो दृष्टः स्पष्टशरीरकः ॥ १४
 स पश्यत्स्वैव सभ्येषु मृगोऽथ नरतामगात् ।

गतिरभिलषितसिद्धिर्न जायते जातापि न शोभते शोभितापि परिणामे न सुखदा कथंचित्सुखप्राप्तावपि परलोकहिता कदाचन न भवति । तथा च धृतिः 'यः स्वां देवतामतिरजति प्रस्त्रायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान्भवतीति । अभियुक्ताक्षाहुः 'लामतियजेत भगवन्मयः कुलदेवं द्विजातिकुलजातः । उमयभ्रष्टो नश्येदभ्युदयोपांशुयाजवत्स जडः ॥' इति ॥ २ ॥ शरणं इष्टार्थप्रदानेन रक्षिता । पूर्वरूपं प्राक्तनविपक्षिहेहम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ उपस्पृश्य आचम्य । यथान्यायं 'शिरश्चक्षुषो नासिके श्रोत्रे हृदयमालम्ब्य' इति श्रुत्युक्तन्यायमनतिक्रम्य ॥ ५ ॥ दशरथसभामध्यप्रदेशात् ॥ ६ ॥ धमधमायन्तमित्यव्यक्तानुकरणाद्वाचि 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति द्वित्वे 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यषन्ताद्धटः शत्रादेशः । अपकज्जलमपकज्जलमिति यावत् ॥ ७ ॥ मुग्धमुग्धं कचन्ती कान्तिर्यस्य तथाविधं हेममन्दिरमिव सुन्दरम् ॥ ८ ॥ दूरादपगताः सभ्या अस्मात्तथाविधं तज्ज्वालाजालं विलोकयन्सन् स मृगः प्राक्तनेन भक्तिभावेन विलोकितैः सादरदर्शनैः प्रोल्लास जहर्ष ॥ ९ ॥ १० ॥ उवाच । वह्निं प्रतीति शेषः ॥ ११ ॥ १२ ॥

ज्वालोदरे नभस्यभ्रलवो रूपान्तरं यथा ॥ १५
 अदृश्यताथ ज्वालावामन्तःकनककान्तिमान् ।
 पुरुषः पावनाकारः कान्तावयवसुन्दरः ॥ १६
 अर्कबिम्ब इवादित्यश्चन्द्रबिम्ब इवोद्गुपः ।
 महाम्भसीव वरुणः संध्याभ्र इव वा शशी ॥ १७
 चक्षुःकनीनिकाकोशे मुकुरे सलिले मणौ ।
 प्रतिबिम्ब इवार्काभो भक्तिनाधारपावकः ॥ १८
 अनन्तरं सभामध्याद्वातैर्दीप इवाहतः ।
 ज्वालाजालं ययौ कापि संध्याम्बुद इवाम्बरात् ॥ १९
 कुटीकुण्डेषु भग्नेषु प्रतिबिम्ब इवामरः ।
 अतिष्ठत्पुरुषस्तत्र पटाभट इवोद्गतः ॥ २०
 अक्षमालाधरः शान्तो हेमयज्ञोपवीतवान् ।
 अग्निशौचाम्बरच्छन्नः सद्यश्चन्द्र इवोदितः ॥ २१
 अहो मा इति सभ्योक्त्या तस्य वेषस्य भासनात् ।
 भास्वानिव विशालाभो भास इत्येष शब्दितः ॥ २२
 असौ मूर्त इवाभासो भासनाद्वा भविष्यति ।
 समास्यैः कैश्चिदित्युक्तं तेन भासः स उच्यते ॥ २३
 अधोपविश्य तत्रैव स भासो ध्यानसंस्थितः ।
 आत्मोदन्तमशेषेण सस्मार प्राक्तनं तनौ ॥ २४
 समालोके गतरूपन्दे स्येनात्मनि तिष्ठति ।
 भासो मुहूर्तमात्रेण दृष्ट्वा स्वोदन्तमक्षतम् ॥ २५
 आययौ पूर्वजन्मभ्यो ध्यानालोकाद्यबुध्यत ।
 सभामालोकयामास समुत्थाय यथाक्रमम् ॥ २६
 स चागत्य वसिष्ठाय प्रणाममकरोन्मुदा ।
 ज्ञानार्कप्राणद् ब्रह्मभ्रमस्तेऽस्त्वित्युदाहरत् ॥ २७
 तमुवाच वसिष्ठोऽपि हस्तेन क्षिरसि स्पृशन् ।

॥ १३ ॥ दृष्टो जनैरिति शेषः ॥ १४ ॥ नरतां मनुष्याकारम् । नभसि मृगरूपोऽभ्रलवः । रूपान्तरं मनुष्यरूपं यथा तथा ॥ १५ ॥ कान्तैः कान्तिमद्भिरवयवैः सुन्दरः ॥ १६ ॥ अर्कबिम्ब इवेत्याद्युपमामाला ॥ १७ ॥ चक्षुरित्यादिमालितोपमा । चक्षुःकनीनिकाकोशादी प्रतिबिम्ब इव आधारः पावको यस्य तथाविधो भक्तिरेव ना पुरुषभूतेव स्थितः । अर्काभः पुरुषः अदृश्यतेति पूर्वत्रान्वयः ॥ १८ ॥ अनन्तरं तज्ज्वालाजालं वातैराहतो दीप इव कापि ययौ । उपशशामेति यावत् ॥ १९ ॥ देवालमकुट्याः कुण्डेषु भग्नेषु सत्सु तदन्तर्गत आमरः विष्णवाद्यमराकारः प्रतिबिम्बः प्रतिमेव । पटातिरस्करणीवत्त्वादुद्गतो नट इव ॥ २० ॥ अग्निदाहेनैव शौचं नैर्मल्यं यस्य तथाविधैरम्बरैश्छन्नः ॥ २१ ॥ एष भास इति नाम्ना शब्दितो जनैरुक्तः ॥ २२ ॥ २३ ॥ आत्मनः स्वस्य प्राक्तनमुदन्तं वृत्तान्तम् ॥ २४ ॥ स्येन विलम्बेन । दृष्ट्वा स्मृत्वा ॥ २५ ॥ आययौ इत्यस्य ध्यानालोकाद्यबुध्यतेति विवरणम् । यथाक्रमं मुनिराजसामन्तादिक्रमेण ॥ २६ ॥ स भासाख्यो विपश्चित् । उदाहरदुक्तवान् ॥ २७ ॥ सुचिराद्दृश्यमानायासो अविद्याया अथ

अथ ते सुचिराद्वाञ्छविद्यायाः क्षयोऽस्त्विति ॥ २८
 रामं जयेति जल्पन्तं नतं दशरथोऽथ तम् ।
 भासनार्त्तिकविदुसिष्ठन्समुवाच हसन्निव ॥ २९
 दशरथ उवाच ।
 स्वागतं तेऽस्तु भो राजभिदमासनमास्यताम् ।
 अनेकभवसंभारज्जान्त विभ्रम्यतामिह ॥ ३०
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 वदत्येवं दशरथे विपश्चिद्भासनामभृत् ।
 विवेश विष्टरे विश्वामित्रादीन्प्रणमन्मुनीन् ॥ ३१
 दशरथ उवाच ।
 अहो वत चिरं कालमालानेनेव दन्तिना ।
 इत्यार्षे श्रीवास्तिष्ठमहा० वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाण० उ० अ० वि० मृगवह्निप्रवेशो नाम त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३० ॥

वन्येनाविद्यया दुःखमनुभूतं विपश्चिता ॥ ३२
 असम्यग्बोधदुष्टेष्टेहो नु विषमा गतिः ।
 व्योम्न्येव दर्शयत्येषा सर्गाडम्बरसंभ्रमम् ॥ ३३
 कियन्त्याश्चर्यमेतानि जगन्ति विततात्मनि ।
 संततानि चिरं तानि विभ्रान्तानि विपश्चिता ॥ ३४
 व्योमात्मनोऽपि महिमायमहो नु कीदृ-
 गस्य स्वभावविभवस्य चिदात्मवृत्तेः ।
 यः शून्य एव परमात्मघनेऽम्बरेऽन्त-
 रेवंविधानि विविधानि जगन्ति भ्रान्ति ॥ ३५

एकत्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३१

दशरथ उवाच ।
 क्रिष्टोऽयं यवविद्यार्थं विपश्चिद्विपश्चितः ।
 तदहं वेष्टितं मन्ये कष्टोऽवस्तुनि किंप्रहः ॥ १
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 अस्मिन्नवसरे तत्र राहः पार्श्वे व्यवस्थितः ।
 प्रसङ्गपतितं वाक्यं विश्वामित्रोऽभ्युवाच ह ॥ २
 अप्राप्तोऽसमबोधानां बोधवेद्या विलक्षणाः ।
 भवन्त्येवंविधा राजन्बहूनां बहवो मृशम् ॥ ३

अथ सप्तदशं वर्षलक्षमक्षीणनिश्चयाः ।
 एवमेव भ्रमन्तोऽस्यां वटधाना भुवि स्थिताः ॥ ४
 भूमेरन्तावलोकार्थमद्याप्युद्वेगवर्जितम् ।
 प्रवृत्ता न निवर्तन्ते वहनात्सरितो यथा ॥ ५
 अयं खलु महालोको वर्तुलो व्योम्नि संस्थितः ।
 बालसंकल्पतरुवद्ब्राह्मसंकल्पनिश्चयः ॥ ६
 कन्दुके व्योम्नि संरुद्धे दशदिकं पिपीलिकाः ।
 इत्थं भ्रमन्ति भूतानि तदाधाराणि नित्यदा ॥ ७

क्षयोऽस्त्विति ॥ २८ ॥ रामं प्रति जयेति जल्पन्तं व्यक्तं वद-
 न्तम् । नतं नमस्कुर्वाणं तं भासम् ॥ २९ ॥ ३० ॥ विष्टरे
 भासमे । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् ॥ ३१ ॥ आलानेन
 वन्यमस्त्राम्नेनेव ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ विपश्चिता विततात्मनि कियन्ति
 विभ्रान्तानि । इदमाश्चर्यम् ॥ ३४ ॥ चिदात्मवृत्तेर्मायास्वभाव-
 रूपस्यास्य विभवस्य वस्तुतो व्योमात्मनः शून्यस्याप्ययं महिमा
 कीदृक् । अहो इत्याश्चर्ये । नु इति वितर्के । यो महिमा शून्य
 एव स्रजम्बरवदसन्ने शून्ये एव परमात्मघने अन्तः एवंविधानि
 प्राणुक्तप्रकाराणि विविधानि विचित्राणि जगन्ति भूत्वा भ्रान्ति ।
 इदमस्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ ३५ ॥ इति श्रीवास्तिष्ठम० तात्पर्यप्रकाशे
 नि० उ० मृगवह्निप्रवेशो नाम त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३० ॥

वटधानाराजपुत्रकथामुक्त्वा प्रचोदितः ।

कौशिकेन विपश्चिस्तां भ्रान्तिं विस्तरतोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

अयं विपश्चिद्विद्यार्थं दिगन्तदर्शनलक्षणामपुरुषार्थरूपाम-
 विद्यामुद्दिश्य यत्क्रिष्टः क्लेशाननुभूतवांस्तत्सर्वमहमविपश्चितः
 अज्ञस्य आत्मज्ञानशून्यस्यास्य भ्रान्तिरूपं वृथा चेष्टितं मन्ये ।
 यतः अवस्तुनि मिथ्याभूते दिगन्तदर्शनादिकान्तुके कुत्सितो
 प्रहः किंप्रहोऽवश्यं साधयामीति दुराप्रहः कष्टः क्लेशफल इत्यर्थः
 ॥ १ ॥ राजवाक्यश्रवणादुद्बुद्धवटधाना राजपुत्रकथासंस्कारो

विश्वामित्रः प्रस्तुतविपश्चिद्वृत्तान्तवर्णनप्रयोजनदार्ढ्यहेतुत्वाद्दु-
 पेक्षानर्हा तां कथामाहेति वाल्मीकिराह—अस्मिन्निति ॥ २ ॥
 हे राजन्, त्वया सम्यग्बोधोक्तं यतो न प्राप्त इत्समबो-
 धस्तत्त्वज्ञानं यैस्तथाविधानां बहूनामेवंविधा विलक्षणा विचित्रा
 बहवो भ्रान्तिरूपा बोधास्तद्वेद्या वासनामया अनन्तकोटिजग-
 द्रूपा अर्थाश्च सृष्टा भवन्तीति वक्ष्यमाणकथापीठिकारचनम्
 ॥ ३ ॥ तत्र कथां प्रस्तौति—अद्येत्यादिना । वक्ष्यमाणार्था
 भुवि वटधानारूपा राजपुत्रा अपि एवं विपश्चिद्वेद्यावपर्यन्तं
 सप्तदशं वर्षलक्षं भ्रमन्तः स्थिता वर्तन्ते ॥ ४ ॥ ५ ॥ तामेव
 भुवं वर्णयितुं प्रस्तौति—अयमिति । अयं प्रसिद्धः पाताल-
 भूम्यादिचतुर्वर्षालोकघटितत्वान्महान् लोको भुवनसमष्टिः
 भुवदेव वर्तुलेरन्तरिक्षलोकेर्वर्तुलः सन् भूमेः परितो व्योम्नि
 संस्थितः । स च आहो हैरण्यगर्भः संकल्पनिश्चय एव नान्यो
 निरूपयितुं शक्यः । अयं भूगोललक्षणो महान्तो लोकाश्चतुर्वर्ष-
 भुवनाभिता जना यस्मिन् यदाधारास्तथाविधः खलु ज्योतिः-
 शास्त्रप्रसिद्धो व्योम्नि आकाशे बालसंकल्पतरुवत्संस्थितो यतोऽय-
 मपि ब्राह्मः संकल्पनिश्चय एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥ तस्य निराधारस्य
 कथं जनाधारत्वं तत्राह—कन्दुके इति । यथा मध्यके कन्दुके
 दशदिकं पिपीलिका भ्रमन्ति इत्यमेवं तस्मिन्परितस्तदुपजीवीनि

भूगोलकाधोभागानि तदङ्गान्यूर्ध्वमिति च ।
 तदा भूतानि तिष्ठन्ति तान्याविश्य भ्रमन्ति च ॥ ८
 तमेवाविश्य दूरेण सरितश्चर्मण्डलम् ।
 असंस्पर्शा भ्रमन्त्युच्चैः सचन्द्रार्कादि संततम् ॥ ९
 इहैव सर्वदिक्कं धौस्तामावेष्ट्य व्यवस्थिता ।
 सर्वदिक्कं खमन्त्यूर्ध्वं तस्याधस्तान्महीतलम् ॥ १०
 भावाः पतन्तो धावन्ति तस्याधः सर्वतोङ्गकम् ।
 यत्रोत्पतन्तो गच्छन्ति तदूर्ध्वमिति शब्दितम् ॥ ११
 तत्रैकदेशे विद्यन्ते वटधानाभिधानकाः ।
 जातास्तेषां त्रयो राजन् राजपुत्राः पुराभवन् ॥ १२
 ते ह्येवमेकसंस्कृता भूम्यादेर्दृश्यवर्त्मनः ।
 कोऽन्तः स्यादिति निर्याता विहर्तुं दृढनिश्चयाः ॥ १३
 पुनर्वारि पुनर्भूमिस्तेषामाक्रमतां चिरम् ।
 नवलब्धशरीराणां दीर्घकालो व्यवर्तत ॥ १४
 स्वच्छकन्दुकवस्त्रीकन्यायेनानिशमत्र ते ।
 भ्रमन्तो नामुवन्त्यन्तमन्यत्वं संविदन्ति च ॥ १५
 व्योमस्थकन्दुकभ्रान्तपिपीलिकवदाकुलम् ।
 अद्यापि संस्थिता राजन्न च खेदं व्रजन्ति ते ॥ १६
 देशं भूगोलकस्यास्य यं यमासादयन्ति च ।

भूतानि दशदिक्कं भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥ यानि भूगोलकस्याधो-
 भागगतानि यानि च ऊर्ध्ववन्त्युपरितनानि तदङ्गानि तान्या-
 विश्य यदा यत्र यानि भूतानि तिष्ठन्ति तदा तानि तत्र भ्रमन्ति
 च ॥ ८ ॥ अन्तरिक्षवहा मन्दाकिन्यादिसरितो ज्योतिश्चक्र-
 रूपमृक्षमण्डलं च तं भूगोलमेव दूरेण वायुबन्धनवशादा-
 ध्रिय अस्पर्शा उच्चैर्भ्रमन्ति । क्षीशेषश्छान्दसः ॥ ९ ॥ तां
 सज्योतिश्चक्रां भुवमावेष्ट्य घौरिह अस्यामेव भुवि व्यवस्थिता ।
 तत्र च खं सर्वासु दिक्षु ऊर्ध्वमेव महीतलं च सर्वाधस्तादेवे-
 त्यर्थः ॥ १० ॥ ननु भूगोलाधस्वनस्य स्वस्य कथमूर्ध्वत्वं तद-
 पेक्षया महीतलस्य कथमधस्तात्त्वं तत्राह—भावा इति । तस्य
 महीतलस्याधो ये भावाः पदार्थाः संचरन्ति ते तस्य सर्वतोङ्ग-
 कमवयवं तत्प्रदेशे पतन्तः प्राप्नुवन्त एव गच्छन्ति संच-
 रन्ति । यत्र यस्मिन्नमसि पक्ष्यादय उत्पतन्तो गच्छन्ति तत्तत्र
 ऊर्ध्वमित्येव शब्दितं न त्वध इति तिर्यगिति वेल्यर्थः ॥ ११ ॥
 तत्र तस्मिन्भूगोलके एकदेशे क्वचिद्वटधानाभिधानका देशा वा
 तदधीश्वराः क्षत्रियाश्च विद्यन्ते । तेषां कुले त्रयो राजपुत्राः
 पुरा जाता अभवन् ॥ १२ ॥ ते राजपुत्रा एवं विपश्चिद्वदेव
 दृश्यवर्त्मनो भूम्यादेर्जगतः कोऽन्तः स्यात्तं द्रक्ष्याम इत्येक-
 संस्कृता दृढनिश्चयाश्च सन्तस्तद्दर्शनाय निर्याताः ॥ १३ ॥ द्वीप-
 समुद्रभेदेषु पुनःपुनर्वारि पुनर्भूमिरिति क्रमेण आक्रमतां मध्ये
 मध्ये मरणेन नवानि लब्धानि शरीराणि यैस्तथाविधानां तेषां
 दीर्घकालो व्यवर्ततेत्यर्थः ॥ १४ ॥ स्वच्छे कन्दुके संलम्बा ये
 वस्त्रीकीटास्तस्यायेन भ्रमन्तस्ते । 'वस्त्रीकन्यायेन' इति पाठे

इहैव तत्र तत्रोच्चैरधोर्ध्वं तथा दिशः ॥ १७
 ते वदन्ति महाराज यद्यस्माभिरितोयतैः ।
 न तावदन्तः संग्राहः संचराम इतः परम् ॥ १८
 इत्थं न किञ्चिदेवेदं ब्रह्मसंस्कल्पदम्बरम् ।
 किञ्चित्संस्कल्पमज्ञानमनन्तं स्वप्नदृश्यवत् ॥ १९
 कल्पनं तत्परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव कल्पनम् ।
 चिद्रूपं नानयोर्भेदः शून्यत्वाकाशयोरिव ॥ २०
 चिन्मात्रं यद्यदाभातं जलवाहविवर्तवत् ।
 तत्तादृक्कथमन्याभमन्यस्यासंभवाद्भवेत् ॥ २१
 अभावः खे च अमिदं सर्गादौ परमाम्बरम् ।
 स्वयं जगदिवाभाति नान्यत्प्रलयसर्गकौ ॥ २२
 यथा कषति चिद्रूपं तथैव रतिमेत्य तत् ।
 दृष्टादृष्टैः स्वसंसारैश्चिरमास्ते यथा चिरम् ॥ २३
 दृश्यात्मकं रूपमेकमेकमस्यैवमक्षयम् ।
 स्वयमेवमजं भाति यन्न भातीव किञ्चन ॥ २४
 चिदणोरुदरे सन्ति समस्तानुभवाणवः ।
 शिलाः शैलोदर इव स्वच्छाः आत्मनि आत्मिकाः ॥
 स्वभावनिष्ठास्तिष्ठन्ति ते यद्व्याहृतात्मनि ।
 मा तिष्ठन्ति तु वै ते यद्व्याहृताः परे पदे ॥ २६

वस्त्रीकपदेन तस्मिन्मातारो वस्त्रीकीटा एव लक्ष्यन्ते । अन्यत्वं
 देशान्तरत्वम् ॥ १५ ॥ १६ ॥ यं यमधस्वनं पार्श्वगतं वा
 आसादयन्ति । दिशः पश्यन्तीति शेषः ॥ १७ ॥ इतोयतैः
 प्रातोयोगैः ॥ १८ ॥ कयासुपसंहृत्य प्रकृते योजयति—इत्थ-
 मिति ॥ १९ ॥ संस्कल्पकल्पनस्य चिदधिष्ठानकत्वाच्चिन्मात्रं
 तत्त्वमिति व्यतिहारेण द्रवयति—कल्पनमिति ॥ २० ॥ जलस्य
 वाहः प्रवाहस्तत्रत्यावर्ततरङ्गबुद्बुदादिविवर्तवत् । आवर्तादौ
 नामीकुरादिसादृश्यात्कथंचिदन्याभतापि भवेत्, इह तु सद-
 शस्य विसदशस्य चान्यस्यात्यन्तासंभवादन्याभमपि कथं भवेदि-
 त्यर्थः ॥ २१ ॥ इदं जगत्सर्गस्यादौ अभावः अतः खं शून्यमेवेति
 तदा परमाम्बरं ब्रह्माकाश एवेति तावदविवादम् । तथा च
 तदेव स्वयमिदानीमपि जगदिवाभातीति दृष्टौ प्रलयसर्गकौ
 अन्यन्न ॥ २२ ॥ तच्च चिद्रूपं कामकर्मवासनानुसारेण यथा
 यथा कषति कल्पनामालिङ्गति तथैव तत्र रतिमासक्तिमेत्य
 दृष्टादृष्टैर्वैधावेवैर्जडचिद्रूपैरन्योन्यतादात्म्याभ्यस्तैः स्वसंसारैर्यथा
 प्राक्चिरमासीत्तथाप्रेऽपि चिरमास्ते ॥ २३ ॥ दृष्टादृष्टरूपते
 तयोर्विद्वेषन् द्वितीयस्याक्षयत्वं दर्शयति—दृश्यात्मकमिति
 ॥ २४ ॥ चिदणोरुदरे तत्तदाकारवासनावच्छिन्ना जगदनुभवा-
 णवस्तिष्ठन्तीत्याह—चिदणोरिति ॥ २५ ॥ किं शुद्धचिदणो-
 रुदरे नेत्याह—स्वभावेति । स्वभाव आश्रुतात्मस्वरूपं तद्भूताः ।
 परे पदे निरविद्ये चैतन्ये तु मा तिष्ठन्ति न सन्त्येव । यतस्तत्र
 व्यावर्त्यरूपान्तरा प्रसिद्धेरव्याहृता अत्यन्ताभिजा एव स्यु-

१ अनुभवाणवाः इति पाठश्चिन्त्यः. २ अत्र स्वभावभूता इति
 पाठो व्याख्यानानुसृतः स्यात्.

तदेव जगदित्युक्तं ब्रह्म भारूपमाततम् ।
 पूर्वापरपरामर्शाभिपुणं निपुणाशयाः ॥ २७
 अत्याश्चर्यमनष्टोऽयं परमात्सदनात्स्वयम् ।
 नानात्वबुद्ध्या नानैव जीवोऽहमिति ताम्यति ॥ २८
 उच्यतां भास भो राजन्विपश्चिदपराख्य हे ।
 कियद्दृष्टं कियद्भ्रान्तं दृश्यं स्मरसि किञ्च वा ॥ २९
 भास उवाच ।
 बहु दृष्टं मया दृश्यं बहु भ्रान्तमख्येदिना ।
 बद्धेव बहुधा नूनमनुभूतं स्मराम्यहम् ॥ ३०
 मयानुभूतानि महान्ति राज-
 श्चिरं सुदूरे विविधैः शरीरैः ।
 सुखानि दुःखानि जगन्त्यनन्ता-
 न्यनन्तमासाद्य महाम्बरं तत् ॥ ३१
 विश्वित्रदेहैर्वरशापयोगा-
 दृश्यान्त्यनन्तानि मया महात्मन् ।
 जन्मान्तरावर्तविधर्तनानि
 दृढैकचित्तेन वरात्कृशानोः ॥ ३२
 दृश्यात्मकोर्वीवपुषस्त्वविद्या-
 दृशो जवेनान्तपरीक्षणाय ।
 वेहेन वेहेन जगत्प्रति प्राक्
 स्मृतेः सदाहं घनयत्नमासम् ॥ ३३
 समाः सहस्रं विटपोऽहमास-
 मन्तर्मनाश्चेतनभुक्तदुःखः ।
 चित्तं विना पुष्पफलप्रदाने
 वा कन्वत्तत्तरसाङ्गरागः ॥ ३४

रित्यर्थः ॥ २६ ॥ यतस्तत्राव्यावृत्तास्ततस्तदेव जगत्तेतरदिति
 निपुणं पूर्वापरपरामर्शान्योक्तम् । हे निपुणाशयाः ॥ २७ ॥
 एवं शुद्धचिदैक्ये परमात्सदनात् नष्टः अप्रच्युतोऽप्ययं जीवो
 नानात्वबुद्ध्या जीवोऽहमिति यत्ताम्यति ग्लायते तदत्याश्चर्य-
 मित्यन्वयः ॥ २८ ॥ इत्थं वसिष्ठोक्तं विपश्चिरितं स्वोक्त्या
 संवाद्य भासमुखोक्त्यापि संवादयितुं विश्वामित्र उवाच—उच्य-
 तामिति । हे विपश्चिदपराख्य, हे भास, त्वया कियद्दृश्यं दृष्टं
 कियच्च भ्रान्तं तत्र किञ्च वा स्मरसि तत्किञ्चित्संक्षिप्य उच्य-
 ताम् ॥ २९ ॥ ३० ॥ तन्महाम्बरमव्याकृताकाशमासाद्य
 ॥ ३१ ॥ मया कृशानोर्वराद्दिगन्तदर्शनविषये दृढैकचित्तेन
 जन्मान्तरावर्तेषु विधर्तनानि तत्रानन्तानि दृश्यान्त्यनुभूतानी-
 त्यनुषजते ॥ ३२ ॥ अहं जगत्प्रति प्रतिब्रह्माण्डं देहेन वेहेन
 नानादेहमेदेन भ्रमजपि प्राक्तनदृढनिश्चयस्मृतेर्हेतोर्दृश्यात्मको-
 र्व्यादिस्वरूपाया अविद्यादृशः अन्तपरीक्षणाय जवेन घनयत्नं
 यथा स्यात्तथा आसं अभवमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ ततः अहं तस्य
 चित्तस्य तरसा मृतिकाळे तरुदर्शनप्रयुक्तसंस्कारवेगेन अज्ञे
 देहप्रहणे रागे यस्य तथाविधः सन् सहस्रं समाः विटपः ।
 अकारो मत्वर्थायः । विटपी आसम् । स कीदृशः । बहिः-

समाः शतं मेरुमृगोऽहमासं
 सुवर्णवर्णस्तारुपर्णकर्षः ।
 दूर्वाङ्कुरास्वादनगीतिनिष्ठ
 अहन्कनिष्ठो वनवासिमध्ये ॥ ३५
 पादाष्टकैरावलितात्मपृष्ठो
 मृतेऽम्भसः क्लेशकृतात्ममृत्युः ।
 समाः शतार्धं शरभोऽहमासं
 क्रौञ्चावले काञ्चनकन्दरासु ॥ ३६
 कालागुरुद्रुमलतावलितानिलेन
 विद्याधरीसुरतधर्मकलामृतानि ।
 पीतानि मे मलयसानुनि मन्दरे च
 मन्दारचन्दनकदम्बलतागृहेषु ॥ ३७
 हेमारविन्दमकरन्दपिशङ्गितानि
 पीतानि पञ्चदशवर्षशतानि मेरौ ।
 वैरिञ्चहंसतनयेन मया पयांसि
 तीरान्तरेषु रमतोपरि निर्झरिण्याः ॥ ३८
 क्षीरोदबेलावनगन्धवाह-
 धिलोलनीलालकवल्लरीणाम् ।
 समाः शतं शोकजरापहारि
 गीतं श्रुतं माधवसुन्दरीणाम् ॥ ३९
 कालञ्जरे मञ्जरिते करञ्ज-
 गुञ्जावने जम्बुकतां गतोऽहम् ।
 गजेन पिष्टे हरिणा हतोऽसौ
 हस्ती मयात्रार्थमृतेन दृष्टः ॥ ४०

प्रश्रुतिनिमित्तप्राणचेष्टानाविष्करणादन्तरेव मनो यस्य । चेतनेन
 वृक्षदेहाभिमानीजीवेन भुक्तं दुःखं यत्र । तथा पूर्वापरपरा-
 मर्शहेतुं चित्तं विना पुष्पफलादीनां प्रदाने जननविस्तारे वा
 कन्दः कन्दविशेषस्तद्द्रुमीमरसकालादितन्त्र इत्यर्थः ॥ ३४ ॥
 दूर्वाङ्कुराणामास्वादने गीतिषु च निष्ठा दृढासक्तिर्यस्य । वन-
 जातानां मृगाणां मध्ये कनिष्ठः अल्पदेहोऽल्पबलश्च । अत एव
 कमपि अहन् अहिंसन् ॥ ३५ ॥ शरभजातेः पृष्ठतोऽपि पाद-
 चतुष्टयेन संचारादिसामर्थ्ये उदरप्रदेशस्यापि पृष्ठत्वसंभवात्पा-
 दाष्टकैरावलिते आत्मनः पृष्ठे यस्य । मृते मरणे प्रसक्ते तु गर्ज-
 न्मेघनिर्गतात्करकाभसो निमित्तान्मेघेन सह योद्धुं गिरिशि-
 खरादुत्पतनपतनादिक्लेशेनैव कृत आत्ममृत्युर्यस्य ॥ ३६ ॥
 ततो मे इति कर्तुः शेषत्वे षष्ठी । विद्याधरजन्म प्राप्तेन मया
 मलयसानुनि मन्दरे च कालागुरुद्रुमणां लताभिर्वलितेनालि-
 ङ्गितेन अत एव शीतमन्दसुरभिणा अनिलेन सह विद्याध-
 रीणां सुरतधर्मेषु तथैवकलालक्षणान्यमृतानि पीतान्यनुभूतानि
 ॥ ३७ ॥ विरिञ्चहंसस्य तनयेन पुत्रजन्मप्राप्तेन मया मेरोरु-
 परि निर्झरिण्या मन्दाकिन्यास्तीरान्तरेषु रमता हेमारविन्दानां
 मकरन्दैः पिशाङ्गितानि पिङ्गलवर्णाङ्कृतानि पयांसि पीतानि
 ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ततोऽहं कालञ्जरे गिरौ करञ्जगुञ्जाप्रचुरे

संतानकप्रकरहासिनि सहासानौ
 कस्मिंश्चिदस्यजगतीन्दुमुखी सुरस्त्री ।
 एकाकिनी कृतयुगार्धमथाहमार्सं
 कल्पद्रुमस्तवकसञ्जनि सिद्धशापात् ॥ ४१
 अग्नीन्द्रकच्छकरवीरलतालयेषु
 नीतं समाशतमशङ्कधिया मयान्यत् ।
 अन्यत्र दूरजगतीन्द्रगिरौ विरावि-
 वाल्मीकपक्षिपुषाऽनिशमेककेन ॥ ४२
 अन्यत्र सानुनि मया परिलम्बमानाः
 सच्छायचन्दनवनावलिते लतानाम् ।
 दृष्टाः स्त्रियः फलमिवावलिता विलासै-
 र्भुक्ताश्च ता अपहृता अपि सिद्धपान्यैः ४३
 अन्यत्र पर्वतनितम्बकदम्बकच्छे
 नीतानि तापसतयोत्तमया दिनानि ।
 प्राप्यैकवस्त्वभिनिवेशविषुचिकास्त-
 चित्तेन तान्तमतिनाऽमतिना मयान्तः ४४
 ब्रह्माण्डसंपूरितमन्यदस्ति
 जलेचराशेषदिगस्तभूतम् ।

वने जम्बुकतां सृगालजन्म गतः प्राप्तः । तत्रापि गजेन पिष्टे
 संचूर्णिते स्वदेहे सत्यर्धमृतेन मया असौ मत्पेष्टा हस्ती हरिणा
 सिंहेन हतो दृष्टः ॥ ४० ॥ अथ संतानकानां कल्पवृक्षमेदानां
 प्रकरैर्हासिनि हासवतीव शोभमाने सहागिरेः सानौ अहमिन्दु-
 मुखी सुरस्त्री कृतयुगस्यार्धं सिद्धशापादासम् ॥ ४१ ॥ ततो
 मया अग्नीन्द्रस्य संनिधानात्साहास्य कच्छे जलप्राये प्ररूढानां
 करवीराणां लताः शाखास्तदन्तरप्रदेशेषु विरावी सदैव रवण-
 श्लो वाल्मीकनामा पक्षिजातिभेदस्तद्रुषा समानां घातं
 नीतम् । ततः करवीरवने सहभार्यापुत्रादिभिरुच्छिञ्जे सति
 अन्यत्र दूरस्थे जगति इन्द्रगिरौ महेन्द्रपर्वते शृङ्गां वियोगार्तेनै-
 ककेन शेषं वयो नीतम् ॥ ४२ ॥ एवं जन्मद्वयेन सिद्धशाप-
 मोक्षानन्तरं सिद्धानुग्रहादेव सिद्धभूतेन मया महेन्द्रगिरेरेव
 सच्छायचन्दनवनावलिते अन्यत्र सानुनि लतानां दोलासु
 तस्फलमिव परिलम्बनाविलासैरावलिताः स्त्रियो दृष्टाः, सिद्धपा-
 न्यैरपहृता अपि ता भुक्ताश्च ॥ ४३ ॥ तदनन्तरममतिना
 अविवेकेन एकवस्तुनि अविद्यान्तदर्शनलक्षणे योऽभिनिवेश-
 स्तलक्षणया विषुचिकया आप्तं वशीकृतं चित्तं यस्य तथाविधेन
 अत एव तान्ता ग्लाना मतिर्यस्य तथाविधेन मया अन्तर्निर्बन्धं
 प्राप्य अन्यत्र पर्वतनितम्बकदम्बकच्छे तापसतया दिनानि
 नीतानि ॥ ४४ ॥ इत्थं स्वजन्मपरम्परावर्णनान्तराले बल-
 त्समृतान्यत्याश्चर्याणि कानिचिदुत्कण्ठया वक्तुमारभते—ब्रह्मा-
 ण्डेत्वादिना । हे मुने, अन्यदेकमत्याश्चर्यमस्ति तच्छृणु ।
 कीदृशं तत् । ब्रह्माण्डैरनन्तैः संपूरितम् । जलेचरा इवाशेषदि-
 गन्तस्थितानि भूतानि यत्र तथाविधम् । जलेचरा इवेति
 दृष्टान्ततात्पर्यं विषुचिन्विचिनिष्टि—संदिग्धेति । संदिग्धा
 यो० वा० १७४

संदिग्धतेजोम्बरघातसत्तं
 जलस्थभूताकृतिमात्रभूमि ॥ ४५
 एकत्र दृष्टा वनिता मयैका
 तस्याः शरीरे त्रिजगन्ति भान्ति ।
 प्रतिबिम्बितानीव सुवर्षणेऽन्त-
 राकाशशैलादिदिगादिमन्ति ॥ ४६
 पृष्टा मयासौ वरगात्रि कासि
 शरीरमेतच्च किमीदृशं ते ।
 तयोक्तमङ्गेह चिदस्मि शुद्धा
 ममाङ्गमेतानि महाजगन्ति ॥ ४७
 यथाहमेवं स्वयदेहिकेयं
 सर्वं तथैवाङ्गं न चित्रमेतत् ।
 अन्यैः स्वभावो विदितो न शुद्धो
 यदा न पश्यन्ति तदेत्यमङ्ग ॥ ४८
 अवेदशास्त्रेण जगत्प्रशेषै-
 र्भूतैः स्वदेहालयभित्तिभागात् ।
 एतद्विधेयं न विधेयमेत-
 द्भूनिः स्वतः भूयत एव नित्यम् ॥ ४९

तेजोम्बरघाताख्यानां त्रयाणां महाभूतानां सत्ता यस्मिन् ।
 जलस्थं जले प्रतिबिम्बितं भूतमिवाकृतिर्यस्यास्तथाविधाकृति-
 मात्रा भूमिर्यस्मिन् । तदिदमीषथाकृतनामरूपावस्थं ब्रह्मैवा-
 श्वाश्चर्यमस्तीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ तत्राश्चर्यं कलशौतशिलान्यायेन
 वनिताशरीरादिसर्वपदार्थेष्वपि सर्वजगद्गर्भं प्रत्येकं पर्याप्तमस्ती-
 त्येतत्प्राश्चर्यान्तरं मया दृष्टमिति वक्तुं काञ्चिद्वनितामुदाह-
 रति—एकत्रेति । तस्या वनितायाः शरीरे सुवर्षणे अन्तः
 प्रतिबिम्बितानीव आकाशशैलादिसहितदिक्कालप्राप्यादिमन्ति
 त्रिजगन्ति भान्ति तदत्यन्तमाश्चर्यमित्यर्थः ॥ ४६ ॥ अथ सा
 वनिता मया पृष्टा । हे वरगात्रि, त्वं कासि । ते एत-
 च्छरीरमीदृशं त्रिजगद्दृष्टितं किमिति । ततस्तया मां प्रत्यु-
 क्तम् । हे अङ्ग, इहास्मिन्वस्तुजाते या शुद्धा चित् सर्वावभा-
 सिका साहमस्मि । इमानि च महाजगन्ति मम अङ्गं मूर्ता-
 मूर्तात्मकं शरीरम् । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च',
 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' इत्यादिभ्रुतेरिति भावः ॥ ४७ ॥
 हे अङ्ग, इत्थं त्वदृष्टा अहं यथा जगद्दृष्टितत्वात्स्वयो विस्मय
 आश्चर्यं तद्योग्यदेहवती तथा इदं सर्वमेतत्स्वम्भक्तुम्मादिच-
 स्तुजातमपि सर्वजगद्दृष्टितत्वादिष्विष्विप्रमत्याश्चर्यभूतमेव । तर्हि
 अन्यैः पृथग्जनैरपि सर्वं वस्तु इत्थं कुतो न दृश्यते तत्राह—
 अन्यैरिति । यदा इत्थं स्वभावः प्रतिवस्तु न विदितस्तदा
 इत्थं न पश्यन्ति । यदा त्वातिवाहिकमात्रभावहृदीकारे
 विदितो भविष्यति तदा द्रक्ष्यन्त्येव तेऽपीति भावः ॥ ४८ ॥
 नन्विदमसमञ्जसम् । मया स्वदेहस्य सर्वजगद्दृष्टितत्वेनानु-
 भवाद्देहान्तश्चक्षुराद्यप्रवेशेन यदि तत्र जगददर्शनं ब्रूषे तर्हि
 तत्रत्यवेदशास्त्रादेः श्रोत्रेण श्रवणं न स्यादेवेति ममाशंभाववा

ईदृक्स्वभावैव पदार्थसत्ता
 सा तेऽत्र भित्तिस्यचलादयोऽपि ।
 स्वप्नादिमायास्विव मे वदन्ति
 वाचं न युष्मास्वसमञ्जसं तत् ॥ ५०
 अस्त्रीकसंसारगतेन दृष्टं
 मया कश्चिद्यवदनन्यकामम् ।
 भूतानि निर्यान्ति बहूनि भूता-
 द्विशन्ति भूतानि बहूनि भूतम् ॥ ५१
 एकानि दृष्टानि मयाञ्जसानि
 खेऽभ्राण्यदभ्राङ्ग शृणुज्ज्ञानानि ।
 वृष्ट्या समन्ताञ्जिपतन्ति खण्डै-
 र्भवन्ति तीक्ष्णानि जनायुधानि ॥ ५२
 अन्यत्र दृष्टं गगनेन याव-
 दिहान्धया ग्रामगृहाणि यान्ति ।
 विशन्त्यमुत्रान्त इहाभवद्भो
 ग्रामः स एवान्यत एव लब्धः ॥ ५३
 नरामराऽहिप्रविभागमुक्ता-
 न्यन्यत्र भूतानि समानि सन्ति ।

खादेव सर्वाणि समुद्भवन्ति
 तत्रैव काले न लयं प्रयान्ति ॥ ५४
 अचन्द्रतारार्कमनन्धकारं
 स्वयंप्रकाशाखिलभूतजातम् ।
 स्मरामि किञ्चिज्जगदेककान्तं
 ज्वालोदरामं दिनरात्रिसुकम् ॥ ५५
 अपूर्वदैत्याहिनरामरादि-
 भूतान्यपूर्वद्रुमपत्तनानि ।
 अपूर्वलोकान्तरकार्यवन्ति
 स्मराम्यनन्तानि महाजगन्ति ॥ ५६
 दिगस्ति सा नो विद्वतं न यस्यां
 न सोऽस्ति देशः खलु यो न दृष्टः ।
 यन्नानुभूतं न तदस्ति कार्य-
 मन्याश्रयं नापरमस्ति मर्शात् ॥ ५७
 क्षीरोदकभ्रमितमन्दररत्नशृङ्ग-
 धाराप्रनिर्दलनजातशृणुज्ज्ञानानाम् ।
 एकत्र संयुतमुपेन्द्रभुजाङ्गदानां
 शब्दं स्मरामि घनगर्जितशङ्कितेन ॥ ५८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० अ० वि० भाससंसारवर्णनं नामैकत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३१ ॥

लिङ्गरूपलक्ष्य तत्संभावनार्थं सा मामाह—अवेदेति द्वाभ्याम् ।
 त्वदादिभिरशेषैरपि भूतैः प्राणिभिः अवेदशास्त्रत्वेनाभिमतेऽपि
 बाह्यादन्यस्मिन् देहान्तर्गते जगति स्वदेहालयमित्तेर्भागात्
 एकदेशभूतात्स्वस्वकर्णशङ्कलीप्रदेशान्जित्यमनाहतध्वनिः सर्ववे-
 दशास्त्रादिशब्दसामान्यरूपनादात्मकः स्वतः श्रूयत एव । स
 एव हि एतन्नित्यनैमित्तिकं कर्म शमदमादिज्ञानसाधनं च विधे-
 यमवश्यमनुप्रेयमिति सर्वविधिगर्भः । एतत्कलञ्जमक्षणादि न
 विधेयमिति सर्वनिषेधवेदशास्त्रगर्भश्चेति तच्छब्दगणेनैव तदन्तर्गतं
 विधिनियेधशास्त्रमिव तदर्थभूतं जगदपि देहेऽस्तीति संभाव-
 येति भावः ॥ ४९ ॥ उक्तन्यायेन स्तम्भकुम्भादिष्वपि सर्व-
 जगत्सद्भावः संभावनीय इत्याशयेनाह—ईदृशिति । सर्वपदा-
 र्थेष्वनुगता सत्तापि यादृक् शब्दसामान्यस्वभावोऽनाहतध्वनिः
 ईदृक्स्वभावैव सर्वजगद्दटितसामान्यस्वभावैव । यद्यस्मात्कार-
 णादत्र जगति प्रसिद्धा भित्तिस्यचलादयोऽपि सा ब्रह्मसत्त्व ।
 न च भित्तयादयो वाचं न वदन्तीत्यचेतना एवेति भ्रमितव्यम् ।
 यतस्ते स्वप्नादिप्रसिद्धमायास्विव इदानीमपि मे पुरतः वाचं
 वदन्ति । यदा अत्यन्तजडत्वेन प्रसिद्धेष्वपि कुष्पादिषु सर्व-
 जगद्दटितचेतनत्वं नासमञ्जसं तदा चेतनप्रायेषु युष्मासु
 युष्मदादिदेहेषु सुतरां तन्नासमञ्जसमित्यर्थः ॥ ५० ॥ वनिता-
 संवादलक्षणमाश्चर्यं स्वदृष्टमुपबर्ण्यार्थान्तरं तादृशं वर्णयति—
 अस्त्रीकेति । कन्धिदेशे काले च न विद्यन्ते स्त्रियो भ्रष्टा तथा-
 विधो यः संसारो जगत्प्रवृत्तेन मया यावत्सकलं प्राणिजातं न
 विद्यते अन्यथाः कामो भ्यतिकरामिलाषो यस्य तथाविधं

दृष्टम् । तर्हि तत्र कथं पुत्रपौत्रादिसंगतिः पूर्वेणां मरणं वा
 तत्राह—भूतानीति ॥ ५१ ॥ आश्चर्यान्तरमाह—एकानीति ।
 आज्ञसानि उत्पातादिनिमित्तनिरपेक्षाणि । एकानि अन्यानि
 अभ्राणि खे दृष्टानि । तानि च गर्जनैः शब्दसंघट्टनध्वनिसाम्येन
 संजातशृणुज्ज्ञानानि । तेभ्यो वृष्ट्या यानि विद्युदादीनि जल-
 वज्रिपतन्ति तानि खण्डैः स्वशकलैर्जनानामायुधानि भवन्ति
 ॥ ५२ ॥ अन्यत्र आश्चर्यान्तरं दृष्टम् । किं तत् । इहास्मि-
 जगति यावत् यावन्ति ग्रामगृहाणि सन्ति तावन्ति अन्धया
 तिमिराद्युपहतदृष्ट्यैव गगनेन आकाशमार्गेण यान्ति अमुत्र दूरे
 दिगन्ते विशन्ति स च वो ग्रामः इह अभवत् । स एव मया
 अन्यतोऽन्यत्रैव लब्ध इत्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ अन्यत्र दृष्ट-
 माश्चर्यान्तरमाह—नरेति । एते नरा एते अमरा एते अहय
 इति लोकत्रयवासिनां ये अवान्तरप्रविभागास्तैर्मुक्तानि अत
 एव समानि ॥ ५४ ॥ अन्यत्राश्चर्यान्तरमाह—अचन्द्रेति ।
 अनन्धकारत्वे हेतुः—स्वयंप्रकाशेति ॥ ५५ ॥ आश्चर्या-
 न्तरमाह—अपूर्वेति । प्रसिद्धसंस्थानभ्यवहारवैलक्षण्यमपूर्वता
 ॥ ५६ ॥ किं बहुना । मया यस्यां दिशि न विद्वतं सा
 दिग्नास्ति । यो देशो न दृष्टः सोऽपि नास्ति । यत्कार्यं कौतुकं
 नानुभूतं तदपि नास्ति । मदीयान्मर्शाद्विमर्शादनुभवरूपात्सर्व-
 साक्षिणः सकाशादन्याश्रयमन्याधिष्ठानकमपरं तद्यत्तिरिक्तं च
 यत्स्यात्तदपि नास्ति ॥ ५७ ॥ क्षीरोदके समुद्रे मथनार्थं भ्रमितो
 यो मन्दरगिरिस्तकीयरत्नमयशृङ्गाणां तीक्ष्णैः शाणप्रायैर्धारा-
 प्रनिर्दले निशातने जातशृणुज्ज्ञानानां सिञ्चितानामुपेन्द्रस्य

द्वात्रिंशाधिकशततमः सर्गः १३२

भास उवाच ।

मन्दरे मृदुमन्दारमन्दिरे मन्दरामिधाम् ।
 आलिङ्ग्याप्सरसं सुप्तं सरिसृणमिधानयत् ॥ १
 मामथासौ मया पृष्टा समाश्रास्य जलाकुला ।
 बाले किमिदमित्युक्तं तथा चपलनेत्रया ॥ २
 इह चन्द्रोदयेष्वेताश्चन्द्रकान्तकटप्रजाः ।
 नद्यो माद्यन्ति वनिताः सेष्टा इव निशागमे ॥ ३
 त्वत्संगमरसावेशवशात्तन्ननु विस्मृतम् ।
 इत्युक्त्वा मामुपादाय सोऽङ्गीना विहगीष खम् ॥ ४
 भृङ्गं भृङ्गवतः भृङ्गे गङ्गाकनकपङ्कजे ।
 अहमासं समाः सप्त तत्क्लिञ्चोऽकर्दमासुते ॥ ५
 अन्यन्मया जगद्भृष्टमृक्षचक्रविवर्जितम् ।
 गर्भगर्भस्थैकजातिस्वप्रकाशजनावृतम् ॥ ६
 न दिग्विभागो न दिनानि यत्र
 न चैव शास्त्राणि न वेदवादाः ।
 न चैव दैत्यादिसुरादिमेदो
 जगन्मया तादृगथात्मदीप्तम् ॥ ७
 विद्याधरामरविहारविमानभूमा-
 वभ्रंलिहाचलनितम्बकदम्बकच्छे ।

भगवतो भुजाङ्गदानां घनगर्जितशङ्कितेन मेघगर्जनशङ्कया जनैः
 श्रुतमत्याश्चर्यभूतं शब्दं स्मरामीत्याश्चर्योक्तीनामुपसंहारः ॥५८॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 राधे भाससंसारवर्णनं नामैकत्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः ॥ १३१ ॥

वर्णयन्तेऽप्रापि भासेन मूलो जन्मपरिभ्रमाः ।

आश्चर्याणि च भूरीणि निःसारत्वं च संसृतेः ॥ १ ॥

आश्चर्योपवर्णनैरन्तरितां स्वजन्मपरम्परावर्णनकथां पुनरनु-
 संधते—मन्दरे इत्यादिना । पर्वतनितम्बकदम्बकच्छे तापस-
 भावानुभवेन बहुदिनयापनेन प्राप्तिसिद्धिं अत एव मन्दरपर्वते
 मृदुनि मन्दारकुञ्जमन्दिरे मन्दरामिधामप्सरसमालिङ्ग्य सुप्तं
 मां वक्ष्यमाणा सरित् स्वप्रवाहपतितं तृणमिवानयत् । प्रवाहि-
 तवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ मामिति पूर्वान्वयि । अथानन्तरं जलेन
 आकुला व्याकुला असौ अप्सराः मया समाश्रास्य पृष्टा । हे
 बाले, इदमाकस्मिकं नयामावयोः प्रवहणं किंनिमित्तमिति ।
 ततो मयाचपलनेत्रया तथा उक्तम् ॥ २ ॥ किमुक्तं तदाह—
 इहेति । हे कान्त, इहास्मिन्प्रदेशे चन्द्रोदये सति चन्द्रकान्त-
 शिलाभयानां कटानामप्रिकटकानां प्रजाः संतानभूता एता नद्यो
 माद्यन्ति प्रसवजलैर्वर्धन्ते । यथा निशागमे सेष्टाः इष्टेन प्रियत-
 मागमनेन सहिता वनिताः कामेन माद्यन्ति तद्वत् ॥ ३ ॥ तर्हि
 निद्रागमात्प्रागेवायमर्थस्त्वया मया कुतो न निवेदितस्तत्राह—
 त्वत्सङ्गमेति । ननु इति कोमलामन्त्रेण । विस्मृतं मयेति
 शेषः । यथा गङ्गाकनकपङ्कजे स्थिता विहगी सहचरं मृदुमुपा-

भासं समाः समरसोऽमरसोमनामा

सप्तान्यसप्त सप्तमुद्रतटे तपस्वी ॥ ८

पवनवहनसंनिवेशानाना-

सुहृयपयोधरदेहकैरनेकैः ।

गजहरिणमृगेन्द्रवृक्षवल्ली-

मृगनगपद्मगपक्षिभिः परीतम् ॥ ९

गगनमवनितः समेत्य वहे-

र्वरविभवेन जगत्यनन्तकोशम् ।

कचिदहमभितो दिदक्षुरप्रे

सृत उरगाशनघट्टलादविद्याम् ॥ १०

कचिदहं जगतः परिनिर्गतः

पतित एकमहार्णवविस्तृते ।

नभसि तत्र निवासिनिमे सितः

समयमन्वभवं पतनं तथा ॥ ११

आकाशकोशपतनानुभवैकवृत्तेः

भ्रान्तस्य मे पदमकार्यथ निद्रयान्तः ।

तादृक्सुषुप्तघणुषाथ मयोपलब्धं

स्वप्नात्मजाप्रति तदात्मनि तत्र विश्वम् ॥ १२

दाय खमुङ्गीना तथा सा मामुपादाय खमुङ्गीनेति परेण सहा-
 न्वयः ॥४॥ तेन जलेन क्लिञ्चोऽहं तदनन्तरमकर्दमासुते निर्मले
 मन्दरभृष्टे सप्त समास्तया सह आसम् ॥ ५ ॥ ततो जन्मान्तरे
 साश्चर्यजगदन्तरदर्शनमाह—अन्यदिति । ऋक्षचक्रेण उच्योति-
 श्चक्रेण विवर्जितम् । कदलीन्वच इव गर्भस्य गर्भे स्थिता एक-
 जातयः स्वप्रकाशाश्च ये जनास्तौरावृतम् ॥ ६ ॥ तर्हि तत्र कथं
 लौकिकवैदिकव्यवहारप्रवृत्तिस्तत्राह—नेति । आत्मनैव क्षीप्तं
 प्रकाशमानम् ॥ ७ ॥ ततो जन्मान्तरमाह—विद्याधरेति ।
 सप्तमुद्रतटे समुद्रतटसंनिहिते अंलिहानामत्युन्नतानामचलानां
 नितम्बकदम्बकच्छे अहं अमरसोमनामा विद्याधरः सप्त अन्यत्
 सप्त चतुर्दशसमास्तपस्वी आसम् ॥ ८ ॥ ततोऽहं वहेर्वरविभवेन
 जगति अभितः अविद्यां दिदक्षुः सन् क्वचित् पवनवहनं
 प्रवाहरूपेण गमनं तद्युक्तक्रमसंनिवेशैर्नानाविधा ये सुहृया
 जात्यश्वाः पयोधरा मेघा इव च देहा येषां तथाविधैर्जनैर्गर्जैर्हरि-
 णैर्मृगेन्द्रैर्वृक्षैर्वल्लीभिरन्यैश्च मृगेर्नगैः पर्वतैः पद्मगैः पक्षिभिश्च
 परीतमनन्तकोशं गगनमवनितः समेत्य उरगाशनो गरुडस्तद्व-
 द्बलात् वेगेनाप्रे सृतः प्रसृत इति द्वयोरन्वयः ॥ ९ ॥ १० ॥
 तस्माज्जगतः परिनिर्गतोऽहं कचिदेकमहार्णवविस्तृते नभसि
 पतितः । तत्र निवासिनिमे नक्षत्रगणे सितो बद्धः सन् दिनरात्रि-
 मासर्वादिसमयमन्वभवं । तथा दिक्षु पतनं गमनं चान्वभवं
 ॥ ११ ॥ वर्णितेन प्रकारेण आकाशकोशे पतनस्य गमनस्यानु-
 भवनमेवैका मुख्या वृत्तिर्यस्य तथा चिरपतनेन भ्रान्तस्य मे

भूयो दिगन्तभुवनामरमन्वराद्रि-
संसारचञ्चलतया लतयेव पक्षी ।
अक्षीणवातबलया परिचात्यमान-
स्तन्मास्तु तास्तु पतितो हि जगद्गुहास्तु ॥ १३
विषयाशा दृशो यावत्तावघातः क्षणादहम् ।
पुनस्तथैव पश्यंस्तु दृश्यं यातः पुनःपुनः ॥ १४
इति दृश्यमदृश्यं च गम्यं चागम्यमेव च ।
वेगाद्बहुयतो देशं मम वर्षगणा गताः ॥ १५
दृश्यावयाया अविद्याया न त्वन्तं प्राप्तवानहम् ।
मिथ्यैव हृदि रूढायाः पिशाच्या इव बालकः ॥ १६
नेदं नेदं सदित्येव विचारानुभवे स्थितम् ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० भासवर्णितस्वजन्मपरम्परा नाम द्वात्रिंशोऽधिकशततमः सर्गः ॥ १३२ ॥

तथापीदमिदं चेति दुर्दृष्टिर्न निवर्तते ॥ १७
प्रतिक्षणं सुखैर्दुःखैर्देशकालैः समागमैः ।
सरिद्वारिवदालोला नभमायान्ति यान्ति च ॥ १८
तालीतमालबकुलातुलतुल्लभ-
मुन्नादवातजवमेकमहं सरामि ।
सूर्यादिभिर्विरहितं प्रकटं स्वकान्त्या
सस्थावराद्रितटजङ्गममेव विश्वम् ॥ १९
यदेतदेकान्तविहारहारि
स्वच्छन्दमेकामितमस्तशङ्कम् ।
कश्चिन्मया चारुजगत्सु दृष्टं
तुल्या न तस्यामरराजलक्ष्मीः ॥ २०

त्रयस्त्रिंशाधिकशततमः सर्गः १३३

विपश्चिदुवाच ।
कस्मिन्निदम्यत्र जगत्यपूर्वे
दृष्टं मयेदं भृशु किं विचित्रम् ।
महाधृत्तान्तदशासमान-
मविद्ययान्धेन बलात्कृतं यत् ॥ १
अस्ति कश्चित्खे भवतामगम्ये
जगद्बलहीसिबिचित्रसर्गः ।

एतादृगप्यम्बरतस्तदन्यत्
स्वामं पुरं जाप्रति चेतसीव ॥ २
तस्मिन्मया विहरता हृदयस्थमर्थ-
मन्वेष्टुमक्षि निहितं ककुभां मुखेषु ।
पश्यामि यावदचलप्रतिमा धरायां
छायालिजालमलिना परिवंभ्रमीति ॥ ३

अथानन्तरं निद्रया अन्तर्हृदि पदं स्थानमकारि । तादृशा सर्व-
जनप्रसिद्धेन सुषुप्तवपुषा स्थितेन मया अथ अनन्तरं प्रवृत्ते
स्वप्नात्मके जाप्रति तदा तत्र अन्तरेव आत्मनि तस्मिन्निध-
मुपलब्धं दृष्टम् ॥ १२ ॥ तत्रापि भूयो दिगन्तभुवनादिसंसारेण
चञ्चलतया अक्षीणवातबलया लतया पक्षीव परिचात्यमानोऽहं
तास्तु पूर्वसंकल्पितास्तु तेषां दृश्यानां मानानि माः इत्यस्या परि-
च्छेदास्तलक्षणास्तु जगद्गुहास्तु पतितः ॥ १३ ॥ दृश्याधुषो
यावत्पर्यन्तं विषयाशा प्रसृता अहं तावत्प्रदेशपर्यन्तं क्षणाघातः
पुनरपि तथैव पश्यन् सन् तद्दर्शनकौतुकेन पुनःपुनर्दृश्यं
यातोऽस्मीत्यर्थः ॥ १४ ॥ इति एवरीत्या जागरेषु स्वप्नेषु च द्रष्टुं
शक्यं दृश्यं तद्विषयमदृश्यं च विषयमुद्दिश्य गम्यमगम्यं च देशं
वेगाद्बहुयतो मम वर्षगणा बहवो गताः ॥ १५ ॥ १६ ॥ यद्यपि
मया नेदं सत् नेदं सदिति विचारानुभवे स्थितं तथापि इदं
सत्यमिदं च सत्यमिति प्रतिविषयं दुर्दृष्टिर्न निवर्तते विराभ्यस्त-
द्वैतसत्यतासंस्कारस्य प्रबलत्वादिति भावः ॥ १७ ॥ विचारेण
निरस्ता अपि दुर्दृष्टयः प्रतिक्षणं प्रसक्तैः सुखैर्दुःखैर्देशकालमेदै-
रिष्टानिष्टजनसमागमैश्च सरिद्वारिवत् नवं नभमायान्ति ॥ १८ ॥
तत्रैकमाश्वर्यं स्पृतमाह—तालीति । तत्र शृङ्गं सूर्यादिभिर्वि-
रहितमपि स्वकान्त्या प्रकटं भासमानम् । विश्वं तु तस्य शृङ्गस्य
स्थावरैरहितैर्जङ्गमैश्च सहितं यत्सानु तत्स्थानीयमिति सर्वाधि-
ष्ठानं ब्रह्मैवात्राश्वर्यं शृङ्गं निर्दिष्टम् ॥ १९ ॥ यदेतच्छृङ्गमेकान्ते

विहारो येषां तरुविदां तेषां हारि मनोहरं स्वच्छन्दमेकममित-
मस्तविकारशङ्कं चेति त्रिविधपरिच्छेदशून्यं तत्र कश्चिच्चारुजगत्सु
ब्रह्मविन्मण्डलीषु दृष्टम् । अमरराजस्येन्द्रस्य हिरण्यगर्भस्य च
लक्ष्मीस्तस्य तुल्या संमिता तुल्या न । हिरण्यगर्भान्तानन्दानां
परिमितत्वादिति भावः ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भासवर्णितस्वजन्मपरम्परा
नाम द्वात्रिंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १३२ ॥

अस्याश्वर्यं कश्चिद्दृष्टं भासेनात्रोपवर्ण्यते ।

सप्तद्वीपप्रमाणस्य शवस्य पतनं दिवः ॥ १ ॥

अविद्याख्यानेऽस्मिन्नत्याश्वर्यवर्णनप्रसङ्गेन शवोपाख्यानं
भासमुखेन वर्णयितुं प्रसूति—कस्मिन्निदिति । हे मुने,
अस्माज्जगतोऽन्यत्र कस्मिन्निदपूर्वे जगति मया इदं बक्ष्यमाणं
विचित्रमस्वाश्वर्यं दृष्टं तच्छृणु । यन्महाघानां ब्रह्महत्यादीनां
फलभूतरौरवादिनरकृतान्तदशासमानमतिबीभत्समप्यविषया
अन्धेन मया बह्विधप्रार्थनाबलात् कृतं संपादितम् । अनुभूत-
मिति यावत् ॥ १ ॥ भवतामगम्ये गन्तुमशक्ये कश्चिद्योत्रि
जगत् तत्र च ज्वलन्त्या चन्द्रसूर्यादिविद्यया विचित्रः
सर्गोऽस्ति । तत्र सन्निवेशत एतादृगेतद्ब्रह्मण्यसदृशमप्यम्बरत
एतद्दृष्ट्या शून्यत्वतो हेतोरस्मादन्यदेव । तत्र दृष्टान्तः—यथा
स्वामं स्वप्नदृष्टं पुरं जाप्रदृष्टपुरसदृशमपि जाप्रदृष्ट्या शून्यत्वा-
दन्यदेव चेतसि भातं तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥ तस्मिन् जगति
निवसता मया हृदयस्थं स्वामिल्लभितमर्थं दिगन्तोऽन्वेष्टुं ककुभां

आश्चर्यमात्रमुचितं किमिदं निमेषा-
दित्यक्षि वै जगति यावदहं त्यजामि ।
स्वात्तावदग्निमतुलं पुरुषाकृतिं द्रा-
गावर्तवृत्तिभिरपश्यमहं पतन्तम् ॥ ४
कः स्यादयं गिरिशुरुः पुरुषो विराडा
पर्यस्तपर्वतवदाशु पतच्छरीरः ।
आकाशपूरकवपुः परमाम्बरोऽपि
यो नैव भाति पिहिताखिलवासरथीः ॥ ५
एवंविधां वृद्धि मनाकलयामि याव-
त्तावत्पपात सहसा नभसो विषस्वान् ।
कल्पान्तवातपरिवृत्तपितामहाण्ड-
पृष्ठावपातघनघोषजुषा जवेन ॥ ६
तस्मिन्पतति भीमात्मन्यपारावारदेहिनि ।
सप्तद्वीपां वसुमतीं परिपूरयति क्षणात् ॥ ७
स्वात्मनो नाशमाशङ्क्य सद्द्वीपभुवनैः सह ।
अपश्यभाविपार्श्वस्थमहमग्निमथाविशम् ॥ ८
स जातवेदा भगवान्जन्मान्तरशतार्चितः ।
मा मैषीरिति देहेन मामुवाचेन्दुशीतलः ॥ ९
जय देव त्वमस्माकं प्रतिजन्म परायणम् ।
अकाल एव कल्पान्तो जातोऽतः पाहि मां प्रभो ॥ १०
इत्युक्तेनाग्निना प्रोक्तं मा मैषीरिति तत्पुनः ।

मुखेषु अक्षि निहितम् । प्रेरितमिति यावत् । तेषु यावत्कौतुकं पश्यामि तावद्दरायां अलिजालमलिना अचलप्रतिमा महती छाया बभ्रमीति वृत्तं भ्रमति ॥ ३ ॥ ततः अतिमहत्त्वादा-
श्चर्यमात्रमिदं छायाकारं किमुचितमिति विमृशन् यावदक्षि जगति ऊर्ध्वभागे त्यजामि प्रेरयामि तावदद्रीणां मानं परिमाणं अग्निमा सा तुला यस्य तथाविधं स्वादावर्तवृत्तिभिः पतन्तं पुरुषाकृतिमहं द्रागपश्यम् ॥ ४ ॥ गिरिरिव गुरुः आकाशपूरक-
वपुः पतच्छरीरोऽयं पुरुषः को ब्रह्मा वा स्याद्विराट् ब्रह्माण्डश-
रीरो वा स्यादिति वितर्के । येन परमाम्बरोऽपि यः प्रसिद्धः सूर्यः पिहिताखिलवासरथीः सन् नैव भाति ॥ ५ ॥ अहमेवंविधां चिन्तां यावन्मनाकलयामि तावत् सहसा नभसो विषस्वान् सूर्यः कल्पान्तवातैः परिवृत्तस्य परावर्तितस्य पितामहाण्डपृष्ठस्य ब्रह्माण्डोर्ध्वकपालस्य अवपातः इव घनघोषवता जवेन वेगेन पपात ॥ ६ ॥ तदा त्वं किमकार्षीस्तत्राह—तस्मिन्निति द्वाभ्याम् । भीमात्मनि भयानकरूपे पुरुषाकारे वस्तुनि पतति सति अहं स्वात्मनः शरीरस्य तदुपमर्दादपश्यभाविनाश-
माशङ्क्य अथ पार्श्वस्थमग्निमविशामिति द्वयोरन्वयः ॥ ७ ॥ ८ ॥ स भगवान् जन्मान्तरशतार्चितो जातवेदा इन्दुशीतलः सन् मां मा मैषीरित्याह ॥ ९ ॥ तदानीं स्वकृतामग्निप्रार्थनामाह—
जयेति । जातः प्रसक्तः ॥ १० ॥ हे अनघ, महलोकमिलोकं गच्छावस्त्वमागच्छ इति च प्रोक्तम् ॥ ११ ॥ स्ववाहनशुकपृष्ठे मामारोप्य तत् प्रागुक्तं पातोऽस्यास्तीति पाति भूतं शवं देहै-

उत्तिष्ठागच्छ गच्छावो महलोकमिति खानघ ॥ ११
इत्युक्त्वा शुकपृष्ठेऽसावारोप्य भगवांस्ततः ।
देहैकदेशे तत्पाति भूतं दग्ध्वा नभः हुतः ॥ १२
अनन्तरं नभः प्राप्य दृष्टः कशाकृतिर्मया ।
स तादृग्भूतसंपातमहोत्पातो भयप्रदः ॥ १३
तस्मिन्जवेन पतिते वसुधा चचाल
साम्भोधिशीलवनपत्तनजङ्गलौघा ।
चक्रे भृगुद्वयमयानजलस्रवन्ती
भीमाकृतीन्व्यधुरदेहविमेदगर्तात् ॥ १४
उर्वी ररास ककुपुचरतो ररास
पूर्वा ररास विररास च दक्षिणा दिक् ।
घौराररास विररास सशैलभूतं
सर्वं जगत्प्रलयसंभ्रममीतमुच्चैः ॥ १५
उर्वी ररास धरणे सविरावरंहः-
संरम्भतर्जितसमस्तादिगन्तरासा ।
व्योमापि घुंघुममलङ्घयमलं चकार
नागारिवृन्दभयविद्रवणप्रचण्डम् ॥ १६
निर्घातशब्द उदभूदमितो भयाय
भीमाय भूधरदरीदृढदारणोरथः ।
उत्पातभीमजबजालयुगान्तवात-
संरब्धकल्पघनघोषवितीर्णतर्जः ॥ १७

कदेशे दग्ध्वा छिद्रीकृत्य नभः हुतः ॥ १२ ॥ १३ ॥ तस्मि-
न्महाशवे जवेन पतिते सति अम्भोग्यादिसहिता वसुधा
चचाल । अयानजलाः निरुद्धोदकप्रवाहाः स्रवन्त्यो नद्यो यस्यां
तथाविधा सती गिरिनदीनां कूलद्वये मार्गान्तरेण जलस्रवणात्
भृगुद्वयं जलप्रपातद्वयं चक्रे । पतन्ति जलानि भीमाकृतीन् भयं-
करकारान् अदेहविमेदान् मनुष्यादिदेहकृतभूविदारणजन्य-
वापीकूपादिविलक्षणान्गर्तान्ब्यधुश्चक्रुः । 'विधुरदेहविमेदकर्तान्'
इति पाठे वसुधाविधुरेण विसंघुक्तेन स्वदेहविमेदेन कर्तान्
वप्रादिकर्तनानि चक्रे इत्यर्थः ॥ १४ ॥ पुनः किमासीत्तदाह—
उर्वीति । उर्वी भूः उत्तरतः ककुपु उत्तरा दिक् तथा पूर्वा
दक्षिणा चकारात्पश्चिमा च ककुपु घांः शैलेर्भूतैश्च सहितं सर्वं
जगच्च प्रलयसंभ्रमेण मीतं सत् उच्चैः ररास दग्धान् करोद च ।
धात्वावृत्तिसत्तच्छब्दैलक्ष्यद्योतनाय ॥ १५ ॥ उक्तमेव स्पष्टं
पुनराह—उर्वीति । धरणे पतितस्य शवस्य धारणे । तारत्वाधि-
क्येन शब्दान्तरेरलक्ष्यं घुंघुमं ध्वनिमलमल्यर्थं चकार । नाग-
रीणां गरुडानां भयेन विद्रवण इव प्रचण्डं दुःसहम् ॥ १६ ॥
भूधरदरीणां दृढदारणादुत्थ उत्थितो निर्घात आस्फालनं तस्मि-
न्नितः शब्दो भयाय भीमाय भयहेतवे श्रोत्रदृश्यादिमेदनाय
च उदभूत् । स कीदृक् । उत्पातैर्भीमजबजालवदाकर्षिणो ये
युगान्तवातास्तैः संरब्धा ये कल्पघनाः प्रलयाम्बुदास्तद्वोषेभ्यो
वितीर्णा विभ्राणिता तर्जा भर्त्सना येन तथाविधः ॥ १७ ॥

तस्मिन्नेव पतिते बभूवुः सरस
 सारावदिव्युक्ततया शतवैधमागात् ।
 तत्राह्णुदन्कुलमिरीन्द्रमहातटानि
 पातालदेशमविशाम्बिमवच्छिरांसि ॥ १८
 आसीत्पतनं तस्य मेरुशैलशिलाकृतेः ।
 दलनं शैलभृङ्गाणां विदारणकरं भुवः ॥ १९
 क्षोभणं जलराशीनामद्रीणां भूतलार्पणम् ।
 पीडनं सर्वभूतानां क्रीडनं प्रलयार्थिनाम् ॥ २०
 पातनं भूतले भानोः स्थगनं द्वीपपङ्क्तयेः ।
 धूर्णीकरणमद्रीणां दलनं मण्डलाघनेः ॥ २१
 द्वितीयमिव भूपीठं ब्रह्माण्डार्धमिवापरम् ।
 पतितं समिवाकृत्या तदपश्यन्नमध्वराः ॥ २२
 अथ पश्याम्यहं यावदसौ मांसमयोऽबलः ।
 न माति सप्तद्वीपायां भुवि तस्याङ्गमेककम् ॥ २३
 तमालोक्य मया देवः प्रसादे समवस्थितः ।
 संपृष्टो भगवान्बुद्धिः प्रभो किमिदमित्यथ ॥ २४
 कथं मांसमयः सार्धं स चार्कः पतितो दिवः ।
 इत्याहं श्रीवासिष्ठमहारामा०वा० दे०मो०नि०उ० अ० वि० शवोपाख्याने महाशववर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः सर्गः ॥ १३३ ॥

स न माति हि भूपीठे सपर्वतवनाम्बुधौ ॥ २५
 अभिरुवाच ।
 प्रतिपालय पुत्र त्वं क्षणमेकं गतत्वरः ।
 यावच्छाम्यतु दोषोऽयं कथयिष्यामि ते ततः ॥ २६
 अथ तस्मिन्वदत्येवं समाजमुर्नमध्वराः ।
 तज्जगज्जालजातीया दिग्भ्यो गगनजाखिलाः ॥ २७
 सिद्धसाध्याप्सरोदैत्यगन्धर्वोरगकिन्नराः ।
 ऋषयो मुनयो यक्षाः पितरो मातरोऽमराः ॥ २८
 अथ सर्वेश्वरीं देवीं शरण्यां ते नमध्वराः ।
 भक्तिमन्नशिरःकायाः कालरात्रिं प्रतुष्टुष्टुः ॥ २९
 नमध्वरा ऊचुः ।
 बद्धा खट्वाङ्गभृङ्गे कपिलमुरुजटामण्डलं पद्मयोनेः
 कृत्वा दैत्योत्तमाङ्गैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं
 तार्क्ष्यपक्षैः ।
 या देवी भुक्तविश्वे पिबति जगदिदं साद्रिभूपीठभूतं
 सा देवी निष्कलङ्का कलिततनुलता पातु नः
 पालनीयान् ॥ ३०

चतुस्त्रिंशत्तमः सर्गः १३४

विपश्चिदुवाच ।

एतस्मिन्नन्तरे व्योम्नः स पतन्पुरुषो मया ।
 स्थगिताखिलभूपीठः शबरूपो विलोकितः ॥ १
 स यावदुदराभिर्यो देहभागोऽस्य येन भूः ।
 सप्तद्वीपापि पिहिताऽमातुः शैलोपमो महान् ॥ २

तस्मिन्वावे । शतगुणं वैधमनिघातमागात्प्राप । तत्र तस्मिन्वेधे
 ॥ १८ ॥ तस्य शवस्य तदाहं पतनमासीत् । कीदृशं तदाह-
 दलनमित्यादि ॥ १९ ॥ भूतले अर्पणं समीकरणसाधनमिति
 यावत् । प्रलयार्थिनां रुद्रगणानाम् ॥ २० ॥ स्थगनमाच्छादनम्
 ॥ २१ ॥ आकृत्या मूर्त्तकारेण ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ मांसमयो देहः
 कथं पतितः । तेन सार्धं स प्रसिद्धोऽर्कश्च कथं पतित इत्याहृत्या
 योज्यम् ॥ २५ ॥ प्रतिपालय प्रतीक्षस्व । अयमेतत्पतनदोषो
 यावत्साकस्येन शाम्यतु ॥ २६ ॥ गगनजमखिलं बलभूषण-
 यात्यादि येषाम् ॥ २७ ॥ ते नमध्वराः के के तानाह—
 स्तिष्ठेति ॥ २८ ॥ २९ ॥ या देवी महाकल्पान्ते संहतस्य पद्म-
 योनेः कपिलमुरुजटामण्डलं खट्वाङ्गभृङ्गे बद्धा तथा दैत्याना-
 मुत्तमाङ्गैः शिरोभिः उरसि स्रजं कृत्वा संहतस्य तार्क्ष्यस्य गरु-
 षस्य पक्षैः शिरःशेखरमवतंसं च कृत्वा भुक्तं विश्वं प्राणिजातं
 मया तथाविधा सती साद्रिभूपीठभूतमिदं जगत्पिबति । एवं
 सर्वजगत्संहारेऽपि दोषलेशोनाप्यलित्वाभिष्कलङ्का शुद्ध-

बद्धिनोकमनन्तं तत्तद्भुजोरुशिरश्च मे ।
 लोकालोकात्परं पारं प्राप्तं ह्यविषये नृणाम् ॥ ३
 व्योमवासिचये देवीमथ स्तुवति सादरम् ।
 व्योम्नः प्रकटतामागाच्छुष्का नु भवति स्वयम् ॥ ४
 प्रेतवृन्दैरनुगता मातृमण्डललालिता ।
 कुम्भाण्डयज्ञवेतालजालतारकिताम्बरा ॥ ५

चिन्मात्रस्वमावाप्यस्मदनुग्रहाय कलिततनुलता खीकृतशरीरा
 सती अवश्यपालनीयाः अस्मान्पातु रक्षतु ॥ ३० ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 महाशववर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः सर्गः ॥ १३३ ॥

देव्यास्तदाभिर्भूतायाः शरीरमिह वष्यते ।

तत्पीठरक्तकुणपक्वादनं च गणैरथ ॥ १ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवारब्धदेवीस्तुतिकाले स प्रागवर्णितः पत-
 न्पुरुषो मया स्थगितमाच्छादितमखिलं भूपीठं येन तथाविधः
 शबरूपो निर्जघो विलोकितः परिज्ञातः ॥ १ ॥ येन शवभागेन
 सप्तद्वीपापि भूः पिहिता सोऽस्य संपूर्णभूमौ यावत् साकस्येन
 अमातुर्मानमप्राप्तुवत्तः शवस्य शैलोपमो महानुदराभिर्यः
 कुक्षिसंज्ञको भागः स एव मया दृष्ट इत्यर्थः ॥ २ ॥ तर्हि तद्भुजो-
 रुशिरस्त्वया वरुस्थं कथं ज्ञातं तत्राह—वह्निनेति । तत्तर्हि क
 पतितं तत्राह—लोकालोकादिति ॥ ३ ॥ सा स्वयं शुष्का नीर-
 कैव भवति । नु इति वितर्कं ॥ ४ ॥ कीदृशी सा तदाह—प्रेत-
 वृन्दैरित्यादिना । तारकितं संजाततारकमिव कृतमम्बरं मया

शिरालदीर्घदोर्वण्डवनीकृतनभस्तला ।
 किरन्ती कीर्णदिग्दाहैर्दृष्टिपातैर्विवाकरान् ॥ ६
 स्फुरजानायुधाकारकचञ्जणक्षणध्वनि ।
 शतखण्डं खगानीकं कुर्वाणा व्योमकोटरे ॥ ७
 देहज्वालेक्षणोष्माद्यैः शरीरावयवैस्त्विषः ।
 दीर्घवेणुवनाकाराः किरन्ती कोटियोजनाः ॥ ८
 दन्तकान्तीन्दुविद्योतदुग्धक्षपितदिस्सुखा ।
 कृशातिदीर्घविस्तीर्णशरीरापुरिताम्बरा ॥ ९
 निरालम्बास्पदा सांध्या विततेषामभमालिका ।
 प्रेतासनसमारूढा सुरुढा परमे पदे ॥ १०
 स्फुरन्ती प्रज्वलद्रूपा संध्या जलधरादणा ।
 दधाना गगनाम्भोधौ वाडवज्वलनध्रियम् ॥ ११
 शबैः शवाङ्गैर्मुसलैः प्रासतोमरमुद्गरैः ।
 वृसिकोलूखलहलैः किरन्ती चञ्चला स्रजः ॥ १२
 प्रजां कटकटाटोपैर्बहन्ती गगनाङ्गणे ।
 दृपदां घर्घरारावैः प्रावृक्किरिवाचले ॥ १३
 देवा ऊचुरयं देवि उपहारीकृतोऽम्बिके ।
 सार्धं स्वपरिवारेण शीघ्रमाह्वियतामिति ॥ १४
 वदत्येवं सुरानीके तं शवं प्राणवायुना ।
 देवी प्रववृते रक्तसारमाकृष्टमञ्जसा ॥ १५
 प्राणेनाकृष्यमाणं तद्रक्तं भगवतीमुखे ।
 अविशत्सांध्यमेघौघ इव मेरोर्गुहान्तरम् ॥ १६
 तावद्रक्तं तथा पीतं प्राणाकृष्टं नभःस्थया ।
 यावच्छुष्का सती तृसा पीना सा चंडिका स्थिता ॥ १७
 ततो बभूव सा रक्तपरिपीनशरीरिणी ।
 रक्ता वर्षाभमालेव तडित्तरललोचना ॥ १८

॥ ५ ॥ शिरालः शिरावद्विदीर्घदोर्वण्डवनीकृतनभस्तलं कृतं नभस्तलं यथा । दृष्टिपातैर्विवाकरान्किरन्ती विक्षिपन्ती ॥ ६ ॥ स्फुरतां नानायुधानामाकारैः कचञ्जणक्षणध्वनि यथा स्यात्तथा व्योमकोटरे खगानीकं पक्षिसमूहं शतखण्डं कुर्वाणा ॥ ७ ॥ देहज्वालाभिरक्षणोष्मिर्नैत्राभ्यौष्ण्यैश्चाद्यैः संपन्नैः शरीरावयवैर्दीर्घवेणुवनाकाराः कोटियोजनपरिमितास्त्विषः किरन्ती विक्षिपन्ती ॥ ८ ॥ ९ ॥ निर्गते आलम्बास्पदे यस्याः । अभ्रमालिकापक्षे निरालम्बमम्बरमास्पदं यस्याः । परमे पदे ब्रह्मणि सुष्ठु रूढा प्रादुर्भूता ॥ १० ॥ वाडवज्वलनो वडवानलस्तच्छिद्यं दधाना ॥ ११ ॥ वृसिकाः आसनानि ॥ १२ ॥ कटकटेति दन्तध्वन्यनुकरणं तदाटोपैस्तदाडम्बरैः प्रजां जनशरीरमालां गगनाङ्गणे बहन्ती । यथा प्रावृक्किरिषदां मालां घर्घरारावैर्निर्क्षरैरचले स्वदेहे बहति तद्वत् ॥ १३ ॥ देवास्तां देवीमूचुः । किमूचुः । हे अम्बिके, अयं शवस्ते उपहारीकृतोऽस्माभिः स्वपरिवारेण सार्धं शीघ्रमाह्वियतां भुज्यतामित्यूचुः ॥ १४ ॥ देवी स्वयं सर्वप्राणशक्तित्वात्प्राणानां रक्ताभारत्वात्प्राणवायुनैव तद्रक्तसारमाकृष्टं प्रववृते ॥ १५ ॥ १६ ॥ प्राक् शुष्का सती तृसा

लम्बोदरा भगवती विषमाहिविभूषणा ।
 रक्तासवमदक्षीया समस्तासुधधारिणी ॥ १९
 व्योम्नि नर्तनमारेमे स्वशरीरार्धपुरिते ।
 पर्यन्तगिरिमालाप्रस्थितामरनिरीक्षिता ॥ २०
 ततः पिशाचकुम्भाण्डकपिकादिमहागणाः ।
 शवमावारयांचकुर्महाखलभिषाम्बुदाः ॥ २१
 शवशैलो गृहीतोऽसौ कुम्भाण्डैः कटिभागतः ।
 उदरादूपिकावृन्दैर्यक्षैः कुञ्जरविक्षतैः ॥ २२
 भुजोरुकन्धराद्यास्ते तस्यान्येऽवयवा यतः ।
 ब्रह्माण्डस्य परं पारं प्राप्ताः परमविस्तृताः ॥ २३
 ततस्तैर्भूतसंघातैः स्थिता दूरे दिगन्तरे ।
 न प्राप्ता वै हि तत्रैव कालेन कलिताः स्वयम् ॥ २४
 नृत्यन्त्यां चण्डिकायां खे भूतवृन्दे शवाकुले ।
 देवेष्वद्रिषु तिष्ठत्सु बभूव भुवनं तदा ॥ २५
 पिण्डाहार्यामदुर्गन्धिगुण्ठीकृतककुम्भाणम् ।
 रक्तगर्भाभ्रनिर्व्यूहैः सादिरज्वलनोज्ज्वलम् ॥ २६
 मांसचर्बणसंरम्भप्रोद्यच्छवशवस्वनम् ।
 लतास्थिखण्डनोद्गीनवृद्धकटकटारवम् ॥ २७
 भूतसंघदृष्टिन्शेषवशाद्गीषणनिःस्वनम् ।
 हिमवद्विन्ध्यशैलाद्रिप्रभाणास्थ्यखलावृतम् ॥ २८
 देवीमुखानलज्वालापकमांसाकभूतलम् ।
 रक्तसीकरनीहारसिन्दूरितककुम्भाणम् ॥ २९
 सर्वतः प्रेक्षकैर्देवैः सप्राकारदिगन्तरम् ।
 रुधिरैर्कार्णवीभूतसप्तद्वीपवसुन्धरम् ॥ ३०
 अत्यन्तान्तर्हिताशेषसमस्ताखलमण्डलम् ।
 रक्तप्रभाभ्रसंभारवस्त्रावृतदिगङ्गनम् ॥ ३१

भूत्वा पश्चात्पीना पुष्टा भूत्वा स्थिता ॥ १७ ॥ यथा वर्षाकाले तडित्तरललोचना रक्तवर्णा अभ्रमाला स्थिता तद्वत् ॥ १८ ॥ ॥ १९ ॥ स्वशरीरेणार्धपुरिते व्योम्नि नर्तनमारेमे उपचक्रमे । पर्यन्तगिरिलोकालोकपर्वतस्त्रीयशिखरमालाप्रेषु स्थितैरमरैर्निरीक्षिता ॥ २० ॥ २१ ॥ उदरात् उदरमारभ्य । यक्षैस्तु स्त्रीयकुञ्जरदन्तविक्षतैः परिशिष्टैः पार्श्वदृष्टभागैर्गृहीतः ॥ २२ ॥ ननु भुजोरुकन्धरादिभागे कृतो न गृहीतस्तप्राह—भुजोर्विति । यतस्ते ब्रह्माण्डस्पर्परस्य परं पारं जलाद्यावरणदेशं प्राप्तास्ततो हेतोस्तैर्भूतसंघातैर्दूरे दिगन्तरे स्थितास्तोन प्राप्ताः किंतु तत्रैव कालेन स्वयमेव कलिता इति द्वयोरन्वयः ॥ २३ ॥ ॥ २४ ॥ २५ ॥ कीदृशं बभूव तदाह—पिण्डैल्यादिना । पिण्डश्च आहार्यैर्भक्ष्यमाणैर्नायमानैश्च आमदुर्गन्धिभिर्मांसवसादिभिर्गुण्ठीकृता अवगुण्ठिता व्याप्ताः ककुम्भाणा यत्र तथाविधम् ॥ २६ ॥ शवशवेति चर्बणध्वन्यनुकरणम् । वीभस्तो रक्षः । लतानामिव शिराणामस्थीनां च खण्डनादुद्गीन आकाशे प्रसृतो वृद्धकटकटारवो यत्र ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ सप्राकारं वरणवेष्टितमिव दिगन्तरं यत्र ॥ ३० ॥ अत्यन्तमन्तर्हितं

वृत्तलोलभुजभ्रान्तहेतिच्छन्नमस्तलम् ।
 इरस्मृतिपथप्राप्तपुरपसनमण्डलम् ॥ ३२
 अत्यन्तार्संभवद्रूपसर्वस्यावरजंगमम् ।
 संपन्नानन्तकुम्भाण्डरुपिकाद्येकसंगमम् ॥ ३३
 नृत्तलोककराकारखनावलमजालकैः ।
 मानस्रैरिष विधेरन्वद्रचयतो जगत् ॥ ३४
 भूमेरार्कगतं नीतैः पिशाचैराभ्रतन्तुभिः ।
 मिमानमिष दिङ्कुञ्जैस्तिर्यग्ूर्ध्वमधो जगत् ॥ ३५
 जगदालोक्य तत्तादृगुदकोपप्लवाद्भुतम् ।
 भूतपूर्वमहीपीठस्थितिरकार्षणीकृतम् ॥ ३६
 द्वीपसप्तकपर्यन्ते लोकालोकाद्रिमूर्धनि ।
 तदङ्गकैरनाक्रान्ते स्थिताः खिन्नतराः सुराः ॥ ३७
 श्रीराम उवाच ।
 ब्रह्माण्डादपि निर्गत्य यस्य तेऽवयवा गताः ।
 लोकालोकाचलस्तेन ब्रह्मन्न स्थगितः कथम् ॥ ३८
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 द्वीपसप्तकमध्येऽस्मिन्नाम तस्योदरं स्थितम् ।
 शिरःखुरभुजाद्यङ्गं ब्रह्माण्डात्परतः स्थितम् ॥ ३९
 पार्श्वार्ध्याभ्यामूर्ध्वमध्याच्च कटिपार्श्वद्वयात्तथा ।
 शिरोसद्वयमध्याभ्यां लोकालोकः स लक्ष्यते ॥ ४०
 तत्रोपविष्टास्ते देवा लक्ष्यन्ते शृङ्गमूर्धसु ।

भूतप्रवेशादरथ्याष्ठाच्छादनाच्च तिरोधानं प्राप्तमशेषं समस्तं
 शिखरसहितमचलमण्डलं यत्र । रक्तप्रभारजितैरप्रसंभारैः
 रक्तनखावृता इव दिग्गजना यत्र ॥ ३१ ॥ हेतिभिर्देवीतद्गणायुधै-
 र्छन्नं नमस्तलं यत्र ॥ ३२ ॥ संपन्नः अनन्तानां कुम्भाण्डरु-
 पिकाधीनामेवैकः संगमः समाजो यत्र ॥ ३३ ॥ नृते प्रसक्ता
 ये लोका भूतगणास्तेषां ये अभिनयकराकारास्तत्क्षणाणां खगा-
 नामावलनाय बन्धनाय प्रसारितैर्जालकैरिव नभसि अन्यज-
 गद्रचयतो विधैर्मानस्रैरिष च स्थितैर्भूमेरारभ्य आ अर्कगतं
 सूर्यमार्गपर्यन्तमूर्ध्वमधश्च दशदिग्लक्षणैः कुञ्जैस्तिर्यक् च पिशा-
 चैरातानवितानाभ्यां नीतैराचलक्षणैस्तन्तुभिर्जगद्ब्रह्माण्डोदरं
 मिमानमिष तदा भुवनं त्रैलोक्यं बभूवेति द्वयोरन्वयेनोपक्रमेण
 संबन्धः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ पूर्वं भूते भूतपूर्वं महीपीठे स्थिति-
 येषां तथाविधै रक्षैर्णवीकृतम् । अत एव उदकेन उद्भूतेनो-
 पप्लवेनाद्भुतमास्कन्दितं जगदालोक्य द्वीपसप्तकपर्यन्ते तस्य
 शवस्याङ्गकैः कुत्सितैरैरनाक्रान्ते लोकालोकाद्ग्रेर्मूर्धनि स्थिताः
 सुराः खिन्नतरा आसन्निति द्वयोरन्वयः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ यस्य
 शवस्य ते अतिदीर्घा हस्तपादाशयवा ब्रह्माण्डादपि बहि-
 निर्गत्य गतास्तेन तादृशेन महाशवेन लोकालोकाचलः कथं न
 स्थगितो नाच्छादित इति रामेण सर्वज्ञो वसिष्ठ एव पृष्टो न
 भासः । तस्य लोकालोकपर्यन्तं दृश्यप्रसरेण तदनभिज्ञत्वनिश्च-
 यादिति भावः ॥ ३८ ॥ अत एव वसिष्ठ एव तदुत्तरमाह—
 द्वीपेत्यादिना । हे राम, तस्य उदरं उदरोपलक्षितं मध्यवारीरं

सुशुद्धकान्तयस्तापावजला जलदा इव ॥ ४१
 प्रसारिताङ्गकमधो वक्रं तत्पतितं शवम् ।
 संभक्षयति भूतौघे प्रनृत्यन्तीषु मातृषु ॥ ४२
 वहत्स्वस्फप्रवाहेषु मेदोगन्धे विजृम्भिते ।
 दुःखिताग्निस्तयामासुः प्रत्येकममरा इदम् ॥ ४३
 हा कष्टं क गता पृथ्वी क गता जलराशयः ।
 क गता जनसंघाताः क गता धरणीधराः ॥ ४४
 तादृक्चन्दनमन्दारकदम्बवनमण्डितः ।
 मण्डपः पुष्पराशीनां कष्टं क मलयो गतः ॥ ४५
 उच्चावदाता विपुला हिमवद्भूमयोऽपि ताः ।
 नीताः शौक्ल्यरुषेवाशु रुधिरैणात्मपङ्कताम् ॥ ४६
 क्रौञ्चद्वीपतले क्रौञ्चे योऽभूत्कल्पद्रुमो महान् ।
 ब्रह्मलोकलसच्छास्त्रः सोऽपि चूर्णत्वमागतः ॥ ४७
 हा क्षीरार्णव पारिजातकमलाचन्द्रामृतानां पते
 हा दध्यर्णव नावनीतशिखरिप्रोद्भूतवेलावन ।
 हा मध्वर्णव नालिकेरगिरिके योगेश्वरीसेवित
 केदानीं समुपैष्यथ क वनिता दिग्दर्पणत्वं गताः ४८
 हा कल्पद्रुमकाञ्चनामललतानिःसंधिबन्धावल
 क्रौञ्चद्वीपधिरिच्छहंसनलिनीनीरन्ध्रदिग्जालक ।
 यातः केह कदम्बकाननदरीविभ्रान्तविद्याधरी-
 क्रीडाकोविदनागरामरगृह त्वं पुष्करद्वीपक ॥ ४९

द्वीपसप्तकमध्ये स्थितम् । शिरःखुरोपलक्षितौ पादौ भुजाद्यङ्गं
 च ब्रह्माण्डात्परतः स्थितमिति भासोकं सत्यमेव ॥ ३९ ॥
 तथापि शवस्य पार्श्वार्ध्यां ऊर्ध्वमध्यात्कटिपार्श्वद्वयात् तथा
 शिरोसद्वयमध्याभ्यां च शृङ्गाणामनाच्छादनात्स लोकालोकपर्य-
 त ऊर्ध्वं लक्ष्यते इत्यत एवेत्यर्थः ॥ ४० ॥ एवं प्रभो-
 तरमुक्त्वा कथाशेषमपि भासेनापरिज्ञातं वसिष्ठ एवाह—
 तत्रेत्यादिना । तापादन्तःसंतापाच्छरदर्कात्पाञ्च ॥ ४१ ॥
 अधोवक्रं तच्छन्नं भूतौघे संभक्षयति सति ॥ ४२ ॥
 इदं वक्ष्यमाणं चिन्तयामासुः ॥ ४३ ॥ तदेवाह—हा कष्ट-
 मित्यादिना ॥ ४४ ॥ पुष्पराशीनां मण्डप इव स्थितो मलयः
 ॥ ४५ ॥ रुधिरैण कर्त्रा हिमकृते शौक्ल्ये विषये रुषा क्रोचेनेव
 तदभिभवय आत्मपङ्कतां स्वीयकर्दमभावम् ॥ ४६ ॥ क्रौञ्च-
 नान्नो द्वीपस्य तले क्रौञ्चे गिरौ यः कल्पद्रुमोऽभूत् ॥ ४७ ॥
 पारिजातानां कमलायाश्चन्द्रस्यासृत्स्य चोत्पादकत्वात्पते
 स्वामिन् हे क्षीरार्णव । नावनीता नवनीतभरिता ये शिखरिणस्तेषु
 प्रोद्भूतं वेलावनं यस्य तथाविध हे दध्यर्णव, वेलास्थे नालिकेर-
 प्रघने अनुकल्प्ये गिरौ गिरिके योगेश्वर्यां सेवित हे मध्वर्णव,
 हा भवतां प्रत्येकं शोच्यता इत्यर्थः । इदानीं क समुपैष्यथ
 स्फटिकादिरजशिलाभिर्वेनितानां देवकीणां दिशां च दर्पणत्वं क
 वा गताः ॥ ४८ ॥ कल्पद्रुमेण काञ्चनीभिरमलामिलिताभिश्च
 निःसंधिनिरुपाधिर्बन्धः संबन्धो यस्य तथाविधः क्रौञ्चाचलो
 यस्मिन्स्थाविध हे क्रौञ्चद्वीप, त्वम् । तथा विरिञ्चिहंसैर्नलिनी-

स्वादूदप्रतापावलकुसुममहीपावनां वनानां
गोमेघद्वीपकल्पद्रुमकनकलतासुन्दरीणां दरीणाम् ।
शाकद्वीपाचलानाममरतरुधनैर्दशितानां सितानां
स्मृत्यैवोदेति पुण्यं सुरपदसुखदं मानवानां नवानां

मन्दानिलावलितपल्लवबालबल्ली-

संतानभासितसमस्तदिगन्तराणि ।

ध्वस्तानि तानि सकलानि बनानि कष्ट-

माश्वासमेव्यति कथं जनता न जाने ॥ ५१

कदा नु तानीशुरसाब्धितीरे

वनानि खण्डाचलभूमिकासु ।

द्रक्ष्येम भूयो गुडमोदकानि

तथा कुमारण्यपि शर्करायाः ॥ ५२

कदम्बकल्पद्रुमशीतलेषु

तालीतमालीसवनाचलस्य ।

कदा नु तच्चन्दनसुन्दरीणां

पश्येम नृत्तं कनकालयेषु ॥ ५३

गतानि कष्टं स्मरणीयरूपतां

जम्बूद्रुमस्याप्रफलानि तान्यपि ।

येषां नदी द्वीपसमुद्रमेखला

बहुत्यसौ जम्बुमती रसाम्बुभिः ॥ ५४

शिलीन्ध्रनीरन्ध्रमहीध्ररन्ध्र-

क्षीबामरस्त्रीकृतगीतनृत्यम् ।

संस्मृत्य संस्मृत्य सुरोदतीरं

प्रागङ्गमुर्वीव इदावदीर्ये ॥ ५५

पश्यात्सगम्भसि नवार्णवमूर्ध्नि भासा

सौवर्णपर्वतशताप्रशिखाः कचन्ति ।

संध्यारुणा उदयनास्तभयावनीनां

स्तोकोदितेन्दुकलिका इव दिङ्मुखेषु ॥ ५६

तादृक्सागरवारिराशिवलया द्वीपान्तरालंकृता

प्रोच्चाद्रीन्द्रनिविष्टवारिदघटानीलोत्पलानां स्थली ।

स्रोतोजङ्गलकाननोन्नगरग्रामाग्रहाराम्बरा

नो जाने तरुपल्लवाङ्कुरवती कष्टं क याता मही ॥ ५७

इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० शवोपाख्याने देवपरिदेवनवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३४ ॥

भिश्च नीरन्ध्रं निविष्टितं दिग्जालं यस्य तथाविध । तथा कद-
म्बकाननदरीषु विश्रान्तानां विद्याधरीणां रतिक्रीडासु कोवि-
दानां नागराणाममराणां च गृहभूत हे पुष्करद्वीपक, त्वं चेति
युवां इह क यातः क गतां ॥ ४९ ॥ स्वादूदस्य समुद्रस्य तदी-
थानां उदप्रतापं आवलयन्ति निरुन्धन्ति तथाविधानां कुसु-
मच्छन्नमहीपावनानां वनानाम् । तथा गोमेघद्वीपस्य तदीय-
कल्पद्रुमाणां तत्रत्यकनकलतानां ताभिः सुन्दरीणां दरीणां ।
तथा अमरतरुणां कल्पवृक्षाणां वनैर्दशितानां कम्बुकितानां
तत्पुष्पैः सितानां क्रौञ्चद्वीपसहितानां तदचलानां चेति नवानां
पदार्थानां स्मृत्यैव मानवानां सुरपदं स्वर्गस्तसुखदं पुण्यमुदेति
॥ ५० ॥ मन्दानिलैरावलितपल्लवा या बालवलयस्तयुक्तेः संतानैः
कल्पवृक्षभेदैर्मासितानि समस्तदिगन्तराणि येषां तानि तादृ-
क्षानि सकलानि बनानि ध्वस्तानि भ्रमानि । कष्टमिति खेदे ।
अतः परमस्मदादिजनता आश्वासं विधामं चित्तसमाधानं च
कथमेव्यति न जाने इति तत्र कस्यचिदुक्तिः ॥ ५१ ॥ इक्षुरसा-
ब्धेस्तीरे खण्डः शिलीभूतशर्करा तन्मयैरचलैर्भूमिकासु महीषु
तानि प्रसिद्धमाधुर्याणि गुडमोदकानि कदा नु द्रक्ष्येम पश्येम
द्रक्ष्याम इति वा । छान्दसो विकरणव्यत्ययः । तथा शर्करायाः
कुमाराणि क्रीडार्थाः पुत्रिका अपि कदा द्रक्ष्यामः ॥ ५२ ॥ ताली-
तमालीभिः सवनस्य तदचलस्य कदम्बैः कल्पद्रुमैश्च शीतलेषु
कनकालयेषूपविष्टाः सन्तस्तत्प्राग्बहुशोऽनुभूतं चन्दनलितानां
सुन्दरीणामप्सरसां नृत्तं चन्दनलतालक्षणानां सुन्दरीणां नृत्तं
वा कदा नु पश्येम । आर्णवसामां लिङ् ॥ ५३ ॥ जम्बूद्रुमस्य
यो० वा० १७५

तानि गजप्रमाणत्वेनामृतरसत्वेन जाम्बूनदस्वर्णहेतुत्वेन च
प्रसिद्धान्यप्रफलानि स्मरणीयरूपतां गतानि । कष्टमिति खेदे ।
येषां फलानां रसाम्बुभिः प्रभवां नदी द्वीपाः समुद्राश्च मेखला
यस्यास्तथाविधा असौ जम्बुमती जम्बूद्वीपरूपा मही वहति
॥ ५४ ॥ तथा शिलीन्ध्रनीरन्ध्रानां निरवकाशीकृतानां महीध्रणां
रन्ध्रेषु गुहासु क्षीबाभिर्मधुमत्साभिरमरस्त्रीभिः कृतं गीतसहितं
नृत्यं यन्मिस्तथाविधं सुरोदस्य समुद्रस्य तीरं पुनः पुनः संस्मृत्य
प्राक् प्रातःकाले अञ्जं पद्ममिव संप्रति उर्वीव च अहं इदा
अवदीर्ये । विदारणं प्राप्नोमीत्यर्थः ॥ ५५ ॥ हे मित्र, असुप्रक-
मम्भो यस्य तथाविधे नवस्य अभिनवस्यार्णवस्य मूर्ध्नि उपरि-
भागे सौवर्णानां मेर्वादीनां पर्वतशतानामप्रशिखाः शृङ्गाणि
उत्तरादिदिङ्मुखेषु उदयास्तमयावनीनां सूर्योदयास्तमयसंनिहि-
तभूमीनां संध्याभ्यामरुणाः स्तोकोदिता इन्दुकलिका इव भासा
कचन्ति दीप्यन्ते त्वं पश्य ॥ ५६ ॥ तादृशा वर्णितप्रकाराः
सागररूपा ये वारिराशयो जलसमूहास्ते वलया इव यस्याः ।
द्वीपान्तरैर्द्वीपभेदैरलंकृता । प्रोच्चेन्द्रिन्द्रेषु अर्थास्तनप्रायेषु
निविष्टानामम्बुदघटालक्षणानां नीलोत्पलमालानां स्थली आधा-
रभूता तद्भूपितेति यावत् । स्रोतांसि नद्यो जङ्गलानि काननाणि
भटैरुप्राणि नगराणि ग्रामा अप्रहारा ब्राह्मणग्रामाक्षाम्बराणि
यस्याः । तरुपल्लवाङ्कुरादिभूषणवती मही संप्रति क याता खे
जाने । कष्टमिति खेदे ॥ ५७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे देवपरिदेवनवर्णनं नाम चतुस्त्रिं-
शदधिकशततमः सर्गः ॥ १३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

मत्सेन भूतवृन्देन किञ्चिच्छेषीकृते शबे ।
 इदमूचुः पुनर्दिक्षु गिरौ देवाः सवासवाः ॥ १
 विद्याधरामरविहारविमानभूमा-
 बप्यास्तृतान्यशिशिरीकरणाय भूतैः ।
 मेदोमयानि पवनप्रसृतामलाध-
 खण्डाञ्चिताम्बरसमान्युरुजालकानि ॥ २
 द्वीपेषु सप्तस्यपि पश्य मेदो-
 जलानि भूतैः प्रविसारितानि ।
 भुक्तं च मांसं रुधिरं च पीतं
 किञ्चिद्रता संप्रति दृश्यतां भूः ॥ ३
 मेदःपटैरावलिताखिलाङ्गी
 कष्टं स्थिता संप्रति मोदना भूः ।
 मेदोमयैः शारदमेघजालैः
 सकम्बलानीव वनानि भ्रान्ति ॥ ४
 पश्यैतानि तदस्थीनि संपन्नानि महाद्रयः ।
 द्विमात्रिशिकराणीव स्थितान्यावार्य दिक्कटम् ॥ ५
 इत्यार्षे श्रीवासी० वाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उ० अ० विप० शबो० शबोपशमो नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३५ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

देवेषु कथयत्स्वेवं कृत्वैमां मेदिनीं धराम् ।
 मेदोजालैः स भूतौघो मत्तो व्योम्नि जनर्त ह ॥ ६
 नृत्यत्सु भूतवृन्देषु शिष्टं रक्तं सुरैर्भुजः ।
 एकप्रवाहेणैकस्त्रिभिक्षितं मकरालये ॥ ७
 सुरार्णवं तमेवैनं संकल्पं विद्भुः सुराः ।
 ततःप्रभृति सोऽद्यापि संपन्नो मदिरार्णवः ॥ ८
 भूतानि नृत्तमाकाशे तानि कृत्वा पिबन्ति ताम् ।
 मदिरां पुनराकाशे नृत्यम्यानन्दमन्दिरे ॥ ९
 पिबन्त्यद्यापि तानीव मदिरां मदिरार्णवात् ।
 खे नृत्यन्ति च भूतानि सह योगेश्वरीगणैः ॥ १०
 तेषां तान्यथ भूतानां मेदोजालानि भूतले ।
 विस्तृतान्यवशुष्काणि स्थितातो मेदिनी मही ॥ ११
 इति क्रमाच्छान्तिमुपागते शबे
 पुनः प्रवृत्ते दिनयामिनीक्रमे ।
 प्रजाः ससर्जाथ नवाः प्रजापतिः
 पुनः स सर्गोऽभवदत्र पूर्ववत् ॥ १२

षट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३६

भास उवाच ।

अथाहं तं महादेवं पावकं पृष्टवानिदम् ।
 शुक्लपक्षतिकोणस्थः श्रूयतामवनीश्वर ॥ १
 भगवन्सर्वयज्ञेश स्वाहाधिप हुताशन ।
 किमिदं नाम संपन्नं कथ्यतां किमिदं शबम् ॥ २

भुक्ते मासेऽत्र भूतौघैः पीते रक्ते च भूः कृता ।

मेदसा मेदिनी रक्षोपेण मदिरार्णवः ॥ १ ॥

दिष्टु स्थिते लोकालोकगिरौ स्थिता देवा इदं वक्ष्यमाणमूचुः
 ॥ १ ॥ विद्याधराणाममराणां च विहारार्थानां विमानानां संचार-
 भूमौ नभस्यप्यशिशिरीकरणाय भूतैर्देवीगणैर्मेदःप्रचुराणि पवन-
 प्रसृतैरमलैरभ्रखण्डैरश्वितेनाम्बरेण समानि उरूणि आम्ब्रजाल-
 कानि आस्तृतानि ॥ २ ॥ दृश्यतां दर्शनयोग्यताम् ॥ ३ ॥
 मोदना सर्वप्राणिप्रमोदप्रदा भूः संप्रति मेदःपटैरावलिताखिलाङ्गी
 सती स्थिता कष्टम् । वनानि च मेदोमयैः शारदमेघजालैः
 सकम्बलानि धूसरकम्बलसंवीतानीव भ्रान्ति ॥ ४ ॥ तस्य शब-
 स्वास्थीनि ॥ ५ ॥ स भूतौघो देवीगणस्तृप्तः सन् इमां पीत-
 शिष्टमेदोजालैर्मेदिनीं मेदोलिप्तां कृत्वा मत्तः सन् व्योम्नि जनर्त ।
 हेति प्रसिद्धी ॥ ६ ॥ एकप्रवाहेण संकल्पकृतेन सप्तानां मध्ये
 एकस्त्रिभक्षितं मकरालये समुद्रे निक्षिप्तम् ॥ ७ ॥ तमेवैनं शमुद्रं
 संकल्पं विद्याय सुरार्णवं विद्भुः ॥ ८ ॥ तां तत्रत्यां मदिरां पिबन्ति
 ॥ ९ ॥ तानि भूतानीव अद्यापि इदानींतनान्यपि भूतानि

१ भास उवाच इत्युभयत्र पाठः.

वह्निरुवाच ।

श्रूयतामखिलं राजन्यथावर्णयामि ते ।
 त्रैलोक्यमासुरानन्तशबवृत्तान्तमक्षतम् ॥ ३
 अस्त्यनन्तमनाकारं परमं व्योम चिन्मयम् ।
 यत्रेमान्यपसंख्यानि जगन्ति परमाणवः ॥ ४

तस्यान्मदिरार्णवान्मदिरां पिबन्ति खे नृत्यन्ति च ॥ १० ॥
 तेषां भूतानां तानि पीतशिष्टानि मेदोजालानि भूतले शुष्काणि
 अतो हेतोर्मेही मेदिनीनाम्ना स्थिता ॥ ११ ॥ एवमादित्योऽपि
 देवैः पूर्ववत्स्वपदमारोपितः पर्वतादयश्च पूर्ववत्कृत्वा इति सूच-
 यन्नाह—इतीति । इति उत्तात्क्रमाच्छवे शान्ति क्षयमुपागते
 सति सूर्यस्य स्वस्थानारोपणान्मेर्वादीनां चोद्धरणाद्दिनयामिनी-
 क्रमे पुनः प्रवृत्ते सति अथ प्रजापतिर्नवाः प्रजाः ससर्ज । अत्र
 भूतले सः सर्गः पूर्ववदभवत् ॥ १२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शबोपशमो नाम
 षट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३५ ॥

अग्निर्भासेन पृष्टोऽत्र शबवृत्तान्तमादितः ।

असुरो महाकर्मणो व्याधश्चेत्याद्यवर्णयन् ॥ १ ॥

अग्निवाहनस्य शुक्लस्य पक्षतिः पक्षमूलं तत्कोणस्थः । हे अव-
 नीश्वर दधरथ ॥ १ ॥ मदिरामिदानीं शबं नाम संपन्नं तत्पूर्वं
 किं किनिमित्तं च तथा संपन्नमिति द्वौ प्रश्नौ ॥ २ ॥ तत्राद्यप्रश्न-
 स्योत्तरं वह्निः आशयति—श्रूयतामित्यादिना ॥ ३ ॥ तत्रादौ

शुद्धचिन्मात्रमसि तस्मिन्सर्वगते कश्चित् ।
 सर्वात्मस्युद्भूत्संवित्संवेदनमयी स्वयम् ॥ ५
 सा तेजःपरमाणुत्वमपश्यद्वेदनावशात् ।
 भावितार्थात्मकतया स्वप्ने त्वमिष पान्थताम् ॥ ६
 परमाणुरसंवित्त्वादपश्यदणुतां स्वयम् ।
 भास्वतीं पञ्चजरजस्तुल्यां संकल्पनात्मिकाम् ॥ ७
 सोच्छूनतां भावयन्ती पुनरप्यभवत्स्वयम् ।
 चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वपुष्यन्वभवत्स्वतः ॥ ८
 अपश्यदग्ने च जगच्चक्षुरादि स्वभावतः ।
 आधाराधेयवद्भूतमयं स्वप्नपुरं यथा ॥ ९
 असुरो नाम तत्रासीत्प्राणी मानी बभूव ह ।
 असत्यप्रतिभासात्म पितृमातृपितामहः ॥ १०
 दर्पोत्सिक्ततया तत्र कस्यचित्स महामुनेः ।
 यदा मृदितवानासीदाश्रमं शर्मभाजनम् ॥ ११
 मुनिः शापमदात्तस्य महाकारतयाश्रमः ।
 त्वया यन्नाशितो मृत्वा भव त्वं मशकोऽधमः ॥ १२
 स तच्छापहृताशोऽथ तस्मिन्नेव तदा क्षणे ।
 असुरं भस्मसाक्षके जलमौर्वे इवानलः ॥ १३
 निराकारं निराधारमाकाशबलयोपमम् ।
 चित्तं किञ्चिदिवाचेत्यमासीचेतनमासुरम् ॥ १४
 तदेकत्वं ययौ साम्याद्भूताकाशेन चेतनम् ।

वक्ष्यमाणसंवेदनभावाद्यध्यासानां परममूलं ब्रह्मैवेति दर्शयति—
 अस्तीति । अपसंख्यान्यपगतसंख्यानि ॥ ४ ॥ संवेदनं विषया-
 कारं ज्ञानं तन्मयी ॥ ५ ॥ सा च स्वविषयतया तेजःपरमाणु-
 भावं स्वस्य वेदनास्वभाववशादेवापश्यत् । यथा त्वं पान्थं भावय-
 न्मुसः स्वस्यैव पान्थतां पश्यसि तद्वत् ॥ ६ ॥ असंवित्त्वाद्ज्ञाना-
 त्तत्त्वात्परमाणुः पद्मोत्पन्नजरजस्तुल्यां भास्वतीं स्फुटं भास-
 मानाम् ॥ ७ ॥ सा च भास्वत्यणुता वृक्षा सोच्छूनतां भावयन्ती
 सती अन्यचक्षुरादीनीन्द्रियाणि अन्वभवदनुभूतवती । ततस्तानि
 वपुषि संलमानील्यन्वभवत् ॥ ८ ॥ चक्षुरादि च अग्ने शब्दस्प-
 र्शादिगुणाधाराधेयवद्भूतमयं जगदपश्यत् ॥ ९ ॥ द्वितीयप्रश्न-
 विषयं निमित्तपरम्परां वर्णयितुमुपक्रमते—असुर इति । तत्र
 वेदनादिविषयान्ताध्यारोपरूपकार्यकरणसंघातानां मध्ये असुरो
 नाम जातिविशेषवान् कश्चित्प्राणी आसीत् । स च असुरस्व-
 भावादेव मानी अभिमानवान् बभूव ह किल । तस्य पितृमातृ-
 पितामहाः किं नासन् । आसन्नैव किन्तु ते विदूरथपित्रादिवद-
 सत्यप्रतिभासात्मानो यस्य तथाविध इत्यर्थः ॥ १० ॥ असुरत्वा-
 देव दर्पेणोत्सिक्ततया आर्द्राकृतचणकवदुच्छूनतया ॥ ११ ॥ महा-
 कारतया अतिस्थूलशरीरतया । अधमः अतिछद्मः ॥ १२ ॥ १३ ॥
 तदा तदासुरं चेतनं किमासीत्प्राह—निराकारमिति । अचेत्यं
 चित्तं सुषुप्तमूर्च्छितमिवासीत् ॥ १४ ॥ तदव्याकृतरूपं चेतनं
 भूताकाशेनैकत्वं ययौ । तद्भूताकाशं च स्वास्पदेन वायुनैकतां
 ययौ ॥ १५ ॥ चेतनवातः प्राणस्तदात्मा स एव देहकामे प्राणि-

तदास्पदेन तत्राथ वायुना नैकतां ययौ ॥ १५
 आसीचेतनवातात्माऽभविष्यत्प्राणिनामकः ।
 रजसा पयसा व्याप्तस्तेजसा नभसाणुना ॥ १६
 स पञ्चतन्मात्रमयश्चिन्मात्रलघकोऽणुकः ।
 स्पन्दमाप स्वभावेन व्योम्नि वातलघो यथा ॥ १७
 अथ तस्यानिलान्तस्थं चेतनं तद्ग्रबुध्यत ।
 कालानिलजलैर्भूमौ बीजमङ्कुरकृद्यथा ॥ १८
 शुद्धशापविदम्बस्था मशकत्वविदास्य चित् ।
 वेधिता मशकाङ्गानि विदित्वा मशकोऽभवत् ॥ १९
 स्वेदजस्यास्पदेहस्य निःश्वासनिपतप्तनोः ।
 द्वे तस्य मशकस्येह दिने भवति जीवितम् ॥ २०
 श्रीराम उवाच ।
 प्राणिनामिह सर्वेषां योन्यन्तरज एव किम् ।
 समुद्भवः संभवति किमुताम्योऽपि वा प्रभो ॥ २१
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 ब्रह्मादीनां तृणान्तानां द्विधा भवति संभवः ।
 एको ब्रह्ममयोऽभ्यस्तु भ्रान्तिजस्ताविमौ शृणु ॥ २२
 पूर्वकूटजगद्भ्रान्तिभूततन्मात्ररजनात् ।
 भूतानां संभवः प्रोक्तो भ्रान्तिजो दृश्यसङ्गतः ॥ २३
 अभातायां जगद्भ्रान्तौ भूतभावः स्वयं भवन् ।
 यः स ब्रह्ममयः प्रोक्तः संभवो न स योनिजः ॥ २४

नामकोऽभविष्यत् । रजः पार्थिवो भागस्तदादिभूतचतुष्टयव्याप्तः ।
 अणुना अपसीकृतेन ॥ १६ ॥ तत्र क्रियाशक्त्याविर्भावमाह—
 स इति ॥ १७ ॥ स्पन्देन लिङ्गदेहे ज्ञानशक्त्याविर्भावमाह—
 अद्येति । वर्षादिकालः प्राच्योऽनिलो वर्षादिजलं चेत्येतैरङ्कुर-
 कृद्बीजं यथा उच्छूनभावेन व्यबुध्यत तद्वत् ॥ १८ ॥ शुद्धस्य
 मुनेः शापं वेत्तीति शुद्धशापवित् प्राणान्तं स्थिता स्वमशकत्व-
 विदारूपा अस्यासुरस्य चित् तत्संस्कारवेधिता सती मशका-
 ङ्गानि पक्षपादादीनि विदित्वा स्वयमेव मशकोऽभवत् ॥ १९ ॥
 कियोनिः कियत्कालं तस्य जीवनं तदाह—स्वेदजस्येति ।
 निःश्वासमात्रेणापि निपतत्युद्गीयते तदुर्गस्य । द्वे दिने जीवितं
 परमायुरभवदित्यनुपङ्गः ॥ २० ॥ स्वप्नदेव जाग्रदित्यसङ्क-
 र्जगवतोक्तम् । स्वप्नदेहस्य च न योनित उद्भवो दृश्यते, जाग्रदे-
 हस्य तु दृश्यते तद्दृष्टान्तेन जाग्रदेहवदेव सर्वत्र योनित एवोद्भ-
 वोऽस्तु उतान्यथापीति संदिहानो रामः प्रसङ्गादसिद्धं पृच्छति—
 प्राणिनामिति । विवर्तोपादानांशे ब्रह्ममयः । परिणाम्युपादा-
 नांशे योनिजः ॥ २१ ॥ २२ ॥ तत्र द्वितीयं लक्षयति—
 पूर्व्वेति । पूर्व तद्योन्यनुभवरूढया तद्देहतादात्म्यदृढभ्रान्त्या तत्त-
 द्भूततन्मात्राणां रजनात्तदाकारेण भूतानां प्राणिनां यः संभवः
 स भ्रान्तिजः । 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविन-
 श्यति । यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति' इत्यादिभ्रुतेरिति भावः ॥ २३ ॥
 नित्यमुक्तब्रह्मणः कदाप्यभातायामेव जगद्भ्रान्तौ स्वयमेव
 विवर्ततया सर्गादौ जीवभावेन भवन् यश्चतुर्विधभूतभावः स

एवं स्थिते स मशको जगन्नाम्निवशोत्थितः ।
 न तु ब्रह्मोत्थितस्तस्य राम चेष्टाक्रमं शृणु ॥ २५
 क्षमेक्षुशष्पकक्षादिपुञ्जगुञ्जेषु गुञ्जता ।
 स्वायुषोऽर्धं दिनं तेन सर्वं भुक्तं विवल्गता ॥ २६
 शाद्वलोदरदोलायां दोलनं बाललीलया ।
 चिरमारब्धमेतेन सार्धं मशिकया स्वयम् ॥ २७
 दोलाध्रमार्तस्तत्रासौ यावद्विभ्राम्यति कश्चित् ।
 तावद्धरिणपादाप्रगिरिपातेन चूर्णितः ॥ २८
 हरिणाननसंदर्शत्यक्तप्राणतया तथा ।
 पूर्वक्रमगृहीताक्षः स जातो हरिणस्ततः ॥ २९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० अ० वि० श० मशकव्याधबोधनं नाम षट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३७

व्याध उवाच ।

एवं वेत्तन्मुने ब्रूहि कीदृग्दुःखपरिक्षये ।
 न कर्कशो न च सृदुर्व्यवहारक्रमो भवेत् ॥ १
 मुनिरुवाच ।
 इदानीमेव संत्यज्य धनुषा सह सायकान् ।
 मौनमाचारमाश्रित्य शान्तदुःखमिहोष्यताम् ॥ २

ब्रह्ममय इत्यर्थः ॥ २४ ॥ स च आजानसिद्धैः कपिलसनकादि-
 भिरैवानुभूयते नास्मैर्मशकादिभिरिति भ्रान्तिज एव प्रकृतो
 मशकसंभव इत्याशयेनाह—एवमिति । भासोपक्रान्तकथाशेषं
 वसिष्ठः स्वयमेवोत्साहाच्छ्रावयति—तस्येति ॥ २५ ॥ क्षमायां
 भूमौ इक्षुगुल्मेषु शष्पेषु बालतृणेषु काशमुजादिकक्षादिपुञ्जेषु
 च गुञ्जन्ति अव्यक्तध्वनिं कुर्वन्ति ये मशकास्तेषु स्वयमपि गुञ्जता
 तथा ध्वनता विवल्गता क्रीडता तेन मशकेन दिनद्रयात्मकस्य
 स्वायुषोऽर्धमेकं दिनं सर्वं भुक्तम् ॥ २६ ॥ ततो द्वितीयदिन-
 चेष्टामाह—शाद्वलेति । मशिकया भार्यया सार्धम् ॥ २७ ॥
 हरिणपादाप्रमेव मशकरदृष्ट्या गिरिस्तत्पातेन ॥ २८ ॥ आनन-
 प्रहणेन संपूर्णो हरिणाकारो लक्ष्यते । तस्य यः संदर्शः सम्य-
 च्छरणकाले भावनं तेन त्यक्तः प्राणो येन तत्तया । पूर्व मशक-
 देहप्रहणे उक्तो यः क्रमस्तेनैव क्रमेण गृहीतान्यक्षाणि बाह्या-
 न्तःकरणानि येन ॥ २९ ॥ ३० ॥ सङ्गात् सत्सङ्गलभमागमात्
 ॥ ३१ ॥ किं प्रतिबोधितस्तदाह—भ्रान्त इत्यादिना । तत्र
 महाफलमहिंसाभयदानादिशास्त्रमर्यादां कस्मान्न पाप्मि ॥ ३२ ॥
 व्याधकुलचारप्राप्ता जीविका मृगवधस्तस्यागे कथं जीवन् कथं
 वा भोगसिद्धिस्तत्राह—आयुरिति । न जीवनं भोगा वा पुरु-
 षार्थः । हिंसादिना तत्संपादने अनन्तकालभोगस्य पारलौकिक-
 कानर्थस्वावश्यंभावात् । आयुषो न ह्यभङ्गत्वमस्ति येन तदप्र-
 सक्तिः । यत् आयुर्वायुविघटितास्त्रपटलीषु लोलं यदम्बु तद्व-
 ङ्गुरम् । तत्र भोगास्तु मेघवितानस्य मध्ये विद्यसन्ती वा सौदा-

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति संबोधितस्तेन परित्यज्य धनुःशरान् ।
 आसीन्मुनिसमाचारस्तत्रैवायाचितारानः ॥ ३
 विवेश मनसा मौनी ततः शास्त्रविवेकिताम् ।
 दिनैरेव यथा पुष्पमामोदेन नराशयम् ॥ ४
 अपृच्छन्मुनिशार्दूलं कदाचित्तमरिन्दम् ।
 भगवन्द्दृश्यते स्वप्नः कथमन्तर्बहिः स्थितः ॥ ५

मनी विद्युत्तद्वचनलाः । तद्योग्या यौवनलालना यौवनविला-
 सास्तु जलस्य रयो वेग इव लोलाः । काथो भोगायतनं च क्षणे
 अपायवान् संभावितापायः । हे पुत्र, अतो हेतोः पारलौकिक-
 भाव्यनर्थपरम्परालक्षणसंसृतिवशात् त्रासमुपेत्य अभयदानार्हिं-
 साद्युपायैरात्यन्तिकानर्थनिवृत्त्युपलक्षितनित्यनिरतिशयानन्दरूपं
 निर्वाणं ब्रह्म अन्विष्यतां गुरुशास्त्रोपायेनेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 मशकव्याधबोधनं नाम षट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३६ ॥

व्याधेन पृष्टोऽत्र मुनिर्धारणाम्यासतः स्वयम् ।

परकापप्रवेशेन तत्स्वप्नं दृष्टममधीत् ॥ १ ॥

एवं हिंसादिव्यवहारो दुःखहेतुश्चेत्तर्हि दुःखपरिक्षये हेतु-
 भूतो व्यवहारक्रमः कीदृग्भवेत्तद्ब्रूहि ॥ १ ॥ मुनीनामाचार-
 क्रम एव दुःखक्षयहेतुस्तत्सहवासेन शिक्षणीय इत्याशयेनो-
 त्तरं मुनिराह—इदानीमेवेति । मौनं मुनिषु प्रसिद्धं यम-
 नियमविचारायाचारमाश्रित्य ॥ २ ॥ तत्र तस्मिन्नाश्रम एव ॥ ३ ॥
 ततः सत्सङ्गच्छात्रप्रसिद्धां सारासारविवेकशीलतां विवेश ।
 यथा पुष्पं मुकुलपरिपाकविकासादिकमोद्भवेनामोदेन नराणामा-
 शयं हृदयं हृदयद्विशति तद्वत् ॥ ४ ॥ एवं संजातविवेकः स
 व्याधः कदाचित् मुनिशार्दूलमपृच्छत् । हे अरिन्दमेति दशर-
 थसंबोधनम् । किमपृच्छत्तदाह—भगवन्निति । हे भगवन्,
 प्राणिनामन्तःस्थितः स्वप्नो जाग्रदिव बहिः कथं दृश्यते । बहिः
 स्थितश्च प्रपन्नः स्वप्नः सन् कथमन्तर्दृश्यते । प्राण्यन्त-

मुनिरुवाच ।

ममापि साधो प्रथममेव एव विवेकिनः ।
 पुरा चित्ते वितर्कोऽभूत्कुतोऽप्यभ्रमिषाम्बरे ॥ ६
 तत पतद्दृष्टकार्यमहमभ्यस्तधारणः ।
 बद्धपद्मासनस्तस्यां संविद्येवाभवं स्थिरः ॥ ७
 तत्रस्थो दूरविक्षिप्तं तथैवाहृतघानहम् ।
 चेतः स्वहृदयं सायं रुचेव रविरातपम् ॥ ८
 वेदनैरणया प्राणस्ततश्चित्तान्वितो मया ।
 शरीराद्रेचितो बाह्ये सौरभं कुसुमादिषु ॥ ९
 व्योमस्थचित्तवलितः स प्राणपवनो मया ।
 अग्रस्थस्य मुखप्रस्थे जन्तोः प्राणे नियोजितः ॥ १०
 यः प्राणवलितः प्राणस्तेन नीतो हृदन्तरम् ।
 स्नेहया स्वं स्वकः सर्पः करमेणेव हिंसितः ॥ ११
 ततोऽहं हृदयं तस्य प्रविष्टः प्राणवाजिना ।
 संकटस्थः स्वया बुद्ध्या तावेवानुसरोन्तरम् ॥ १२
 चरद्द्रसामिर्बह्वीभिर्नाडीभिरमितो वृतम् ।
 कुल्याभिः स्थूलतन्वीभिर्बाह्यदेशमिवाखिलम् ॥ १३

र्गतः स्वप्नः कथं केनोपायेन दृश्यते । एवमन्तर्बहिश्च स्थितः प्रपन्नः स्वप्नः कथं दृश्यते । स्वप्न एव चेत्प्रपन्नस्तर्हि अन्तर्बहिरिति द्विधा स्थितः कथं दृश्यते । इत्यनेकसंदेहसंपिण्डिताः पञ्च तन्त्रेण प्रश्नाः ॥ ५ ॥ बहुतरवितर्कगर्भितं प्रश्नं श्रुत्वा मुनिः स्वस्याप्येतादृशो वितर्कः कोमलविवेकदशायामभूत्स च मया धारणाभ्यासेन स्वयमेव परकायप्रवेशेन तदीयस्वप्नादि पुनःपुनरवलोक्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां चिरं परीक्षणेन तत्त्वमयगम्य समाहित इति कथां विस्तरेण तृतीयप्रश्नोत्तरमुखेन वक्तुं मुनिरुपक्रमते—ममापीत्यादिना ॥ ६ ॥ अभ्यस्ता परकायप्रवेशानुकूला बहिःकुम्भकधारणा येन । तस्यां संबंधजनानामात्मत्वेन प्रसिद्धायां संविद्येव स्थिरोऽभवम् ॥ ७ ॥ तत्र तस्यां संविदि स्थितोऽहं दूरविक्षिप्तं चेतस्तथैव संविदा प्रत्याहृतवान् । यथा सायं रविः स्वरुचा मण्डलकान्त्यैवातपं प्रत्याहरति तद्वत् ॥ ८ ॥ वेदनं प्राणान्तर्गता चित्तवीरणया जीवस्य प्राणेन सह बहिर्निर्गमनानुकूलेन योगशास्त्रप्रसिद्धप्रयत्नेन चित्तं जीवोपाधिस्तदन्वितः प्राणः शरीराद्बाह्ये देशे रेचितो रेचकेन निःसारितः ॥ ९ ॥ ततः परकायप्रवेशोपायं स्मृतमाह—व्योमस्थेति । बाह्यव्योमस्थेन चित्तेन जीवोपाधिना संवलितः स प्राणपवनो मया अग्रपुरोभागे स्थितस्य कस्यचिजन्तोऽह्नात्रस्य प्राणे नियोजितो मेळितः ॥ १० ॥ मदीयप्राणवलितो यस्तस्य जन्तोः प्राणस्तेन तदीयं हृदन्तरमहं नीतः । यथा करमेण भङ्गकेन बिले मुखं निवेश्य बलान्मुखवायुना आकर्षणलक्षणया स्नेहया स्वच्छेद्या स्वकः स्वाहारभूतः सर्पः स्वमुखं प्रवेश्य हिंसितः सन् स्वहृदयं नीतस्तद्वत् ॥ ११ ॥ तदीयप्राणलक्षणेन वाजिना अग्नेन तौ परस्परसंवलितौ प्राणावेवानुसरतीत्यनुसरोऽहमन्तरं तद्देहमध्यं

पशुकापञ्जरप्रीहयकृत्कादिङ्मिषकैः ।
 संकटं जीवसदनं भाण्डोपस्करणैरिव ॥ १४
 सर्वैः शलशलायङ्गिरुणैरवयवैर्वृतम् ।
 निदाघतापसंततैरूर्मिजालैरिवार्णवम् ॥ १५
 नवं नवं बहिःशैत्यं नासाप्राचेतनात्मकम् ।
 जीवनायानिशं चेतो वातोष्नीतमनारतम् ॥ १६
 रक्तकुट्टरसश्लेष्मवसानिःस्त्रावपिच्छिलम् ।
 घनान्धकारमुष्णं च संकटं नरकोपमम् ॥ १७
 उदयावयवाश्लेषस्पष्टास्पष्टमरुद्रतैः ।
 स्थित्यन्तानां तु वैषम्यादागामिगदसूचकम् ॥ १८
 दरत्सरभसच्छिद्रावातवातेन शब्दितम् ।
 पद्मनालप्रणालान्तज्वलदर्णववाडवम् ॥ १९
 मिलत्पदार्थनीरन्ध्रं सितमच्छं सवायुभिः ।
 कचित्सौम्यं कचित्क्षुब्धं चोरैरिव पुरं निधि ॥ २०
 रसनादपरैर्नाडीमार्गविद्याधराध्वगैः ।
 संचरद्भिर्वृतं वातैराकारार्धाध्वगीतिभिः ॥ २१

प्रविश्य स्वया बुद्ध्या वक्ष्यमाणसंकटस्थः अभवमिति शेषः ॥ १२ ॥ १३ ॥ संकटतां प्रपन्नयति—पशुकैत्यादिना । पशुकाः पार्श्वस्थीनि तल्लक्षणे पञ्जरे ग्रीहयकृती मांसविशेषां । ङ्मिषकैः पिण्डकैः । जीवस्य सदनं गृहभूतं तच्छरीरम् ॥ १४ ॥ शलशलेति जाठरानलकथनध्वन्यनुकरणम् ॥ १५ ॥ पुनः कीदृशं तज्जीवरदनम् । जीवनाय चेतसा प्राणादिवातैश्चानारतमुष्नीतम् । तत्र बहिष्ठस्य सोमात्मकस्यापानस्य नासाप्रादन्तःप्रवेशे नवं नवमन्तःप्रविशद्बहिःशैत्यं यस्य । अत एव चेतनात्मकम् ॥ १६ ॥ रक्तं कुट्टन्ति नाडीमार्गैर्भ्यो विच्छिन्दन्ति तथाविधा येऽन्तरसाः श्लेष्मादयश्च तेषां निःस्त्रावैः पिच्छिलम् ॥ १७ ॥ रक्तसश्लेष्मपित्तानां द्वाप्ततिसहस्रनाडीभेदेषु क्वचिदुदयैः क्वचिदवयवेषु आश्लेषैश्च क्वचित्संचारसौकर्यात्स्पष्टानां क्वचिन्मार्गनिरोधादस्पष्टानां च प्राणादिमरुतां रतैः कीडितैः सप्तधातुस्थितानामन्तानां तज्जाशानां च वैषम्यादागामिनां गदानां रोगाणां स्वप्नादिषु सूचकम् ॥ १८ ॥ दरन्ति सरभसानि यान्यपानादिच्छिद्राणि तेषावातेन निर्गतेन वातेन शब्दितं संजातशब्दं हृदयपद्मनालस्य प्रणालं छिद्रं तदन्तज्वलन् अर्णववाडव इव जाठरामिर्न्यस्मिन् । तथा चोक्तं महोपनिषदि—‘पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्’ इत्युपक्रम्य ‘तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्य मध्ये बहिःशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता’ इति ॥ १९ ॥ मिलद्भिर्वासनामयैः पदार्थनीरन्ध्रं निषिद्धितम् । सवायुभिरिन्द्रियैः सितं बद्धम् । साक्ष्यात्मस्वभावेन तु अच्छम् । चित्तवृत्तिभेदैः प्रदेशभेदैश्च क्वचित्सौम्यं क्वचित्क्षुब्धम् ॥ २० ॥ कोष्ठगतानामन्तरसानां नादे ध्वनने तत्परैरत एव नाडीमार्गेषु गायद्विद्याधराध्वगप्रायैः संचरद्भिर्वृतम् ।

तदहं हृदयं जन्तोराविशं विषमान्तरम् ।
 नरोऽवयवसंबाधं नरवृन्दमिवाधिकः ॥ २२
 अनन्तरमहं प्राप्तस्तेजोधातुं हृदन्तरे ।
 दूरस्थमिव यत्नेन रात्राविन्दुमिवाकुरुक ॥ २३
 यस्मान्निभुवनादर्शो दीपस्रैलोक्यवस्तुषु ।
 सत्ता सर्वपदार्थानां जीवस्तत्रावतिष्ठते ॥ २४
 काये सर्वगतो जीवः स्वामोदः कुसुमे यथा ।
 तथाप्योजसि किञ्चैर्मुखे शैत्यं विवस्वता ॥ २५
 तज्जीवाधारमोजस्तु प्रविष्टोऽहमलक्षितम् ।
 रक्षितं परितः प्राणैर्वातैः प्रच्छादनं यथा ॥ २६
 ततोऽञ्जः संप्रविष्टोऽहमामोद इव मारुतम् ।
 उष्णांशुरिव शीतांशुं मृत्पात्रमिव वा पयः ॥ २७
 द्वितीयेन्द्रशुसंकाशे शुक्लाभ्रलवपेलवे ।
 नवनीतगुडप्रस्थे क्षीरबुहुदसुन्दरे ॥ २८
 तत्र पश्याम्यहं तिष्ठन्प्रवेश्यप्रयोजितः ।
 स्वौजसीव वसन्स्वप्न इव विश्वमखण्डितम् ॥ २९
 सार्कं सपर्वतं साग्धि ससुरासुरमानवम् ।
 सपत्नवनाभोगं सलोकान्तरदिग्मुखम् ॥ ३०

द्विमात्र आकारस्तदर्धमेकमात्रस्तदर्धोर्धमात्रश्च गीतिषु येषाम् ।
 गीतिमात्रस्य वातसाध्यत्वादिति भावः ॥ २१ ॥ यथा अधिकः
 श्रेष्ठो नरो नरावयवैः संबाधं निरवकाशं नरवृन्दं विशति तद्वत्
 ॥ २२ ॥ तेजोधातुं जठरामिलक्षणस्य तेजसः सारं तेजोरूपोऽहं
 यत्नेन प्राप्तः । यतः समीपस्थमपि बहुतरनाडीमार्गप्राप्यत्वाद्दूर-
 स्थमिव । यथेन्द्रं रात्रौ अर्करुक् प्राप्नोति तद्वत् । तथा च श्रुतिः—
 'एतद्धि ब्रह्म दीप्यते यदादित्यो दृश्यते । अर्धतन्म्रियते यच्च
 दृश्यते । तस्य चन्द्रमसमेव तेजो गच्छति' इति ॥ २३ ॥ तस्य
 तेजःसारत्वं कुतस्तत्राह—यस्मादिति । यस्माद्धेतोस्त्रिभुवन-
 स्याप्यन्तर्भानादादर्शभूतस्रैलोक्यवस्तुषु दीपवत्प्रकाशको जीव-
 स्तद्वेषः परमात्मा तत्र तस्मिंस्तेजस्यवतिष्ठते । तथा च श्रुतिः
 'तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता । तस्याः शिखाया
 मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः । स ब्रह्म स शिवः सोऽजः सोऽक्षरः
 परमः स्वराट्' इति ॥ २४ ॥ ननु 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रभ्य'
 इत्यादिश्रुतिषु सर्वदेहगतो जीवः श्रूयते, तत्कथं तेजोधातावेव
 सोऽवतिष्ठते तत्राह—काये इति । यद्यपि सर्वगत आत्मा
 जीवः सन्काये आनखाग्रं प्रविष्टस्तथापि ओजसि तेजोधातौ
 विशेषतोऽवतिष्ठते । यथा विवस्वता विकासिते कुसुमे सर्वग-
 तोऽपि स्वामोदः शैत्यं च किञ्चैर्मुखे लक्षिते तन्मुखे विशेषतोऽ-
 वतिष्ठते तद्वदित्यर्थः ॥ २५ ॥ परितः प्राणैः करणाभिमानीभिर्देवैः
 परितश्चतुर्ध्वपि द्वापु रक्षितम् । यथा घटादिप्रच्छादनं दीप-
 प्योतिः सूक्ष्मघटच्छिद्रप्रविष्टैर्वातै रक्ष्यते तद्वत् । आस्यन्ति-
 कच्छिद्रपिधाने दीपनाशदर्शनादिति भावः ॥ २६ ॥ ततोऽहं अञ्जः
 साक्षात्तज्जीवोपाधिभूतं मनोमयविज्ञानमयकोशसंबलितमानन्द-
 मयकोशं संप्रविष्टः । तद्गृहान्तानाह—आमोद इवेत्यादिना

सद्वीपसागराम्भोधि सकालकरणक्रमम् ।
 सकल्पक्षणसर्वर्तुं सहस्थावरजंगमम् ॥ ३१
 तत्स्वप्नदर्शनं तत्र स्थिरमेव समं स्थितम् ।
 वसाम्यत्येव निद्रान्ते निद्राऽन्ते नागता यतः ॥ ३२
 अनिद्र एव किं स्वप्नं पश्यामीति मया ततः ।
 परिचिन्तयता ज्ञातमिदं व्याध विबोधिना ॥ ३३
 ननु नामास्य चिद्धातोः स्वरूपमिदमैश्वरम् ।
 स्वं यद्यपदिशत्येष जगन्नाम्बरात्मकम् ॥ ३४
 चिद्धातुर्यत्र यत्रास्ते तत्र तत्र निजं वपुः ।
 पश्यत्येष जगद्रूपं व्योमतामेव चात्यजत् ॥ ३५
 अहो त्वद्येदमाज्ञातं यदित्यं दृश्यते जगत् ।
 तत्कथ्यते स्वप्न इति स्वचित्कचनमात्रकम् ॥ ३६
 चिद्धातोर्यत्स्वकचनं तर्किचित्स्वप्न उच्यते ।
 किञ्चिच्च जाग्रदित्युक्तं जाग्रत्स्वप्नौ तु न द्विधा ॥ ३७
 स्वप्नः स्वप्नो जागरयामेष स्वप्ने तु जागरा ।
 स्वप्नस्तु जागरैवेति जागरैव स्थिता द्विधा ॥ ३८
 चेतनं नाम पुरुषः स मृतेषु शतेष्वपि ।
 शरीरेषु महाबुद्धे कथं कस्य कदा मृतः ॥ ३९

॥ २७ ॥ तत्र स्वप्न एव ज्ञेहानन्दयोर्दर्शनाच्चनवीतगुडप्रस्थे
 ॥ २८ ॥ पूर्वस्थानेष्विव प्रवेशप्रयुक्तया व्यग्रया श्रान्त्या उज्जितः
 सन् स्वस्य हृदि स्थिते ओजसीव स्वस्थो वसन् स्वौजस्वप्न इव
 तदीयस्वरूपमखण्डितं विश्वं पश्यामि ॥ २९ ॥ तद्विश्वमेव
 विशिनष्टि—सार्कमित्यादिना ॥ ३० ॥ ३१ ॥ स्थिरमनादिप्रचाह-
 स्थितमेव प्रसिद्धजगत्समं स्थितम् । अहं निद्रान्ते जागरे अति-
 शयेन वसाम्येव । यतो निद्रा अन्ते जाग्रदवसाने नागतैव
 ॥ ३२ ॥ तथापि स्वप्नं किं पश्यामि इति परिचिन्तयता हे
 व्याध, ततस्तदनन्तरं विबोधिना प्रबोधवता मया इदं वक्ष्य-
 माणं ज्ञातम् ॥ ३३ ॥ किं ज्ञातं तदाह—नन्विति । नामेति
 विवेकिप्रसिद्धौ । अस्य चिद्धातोः प्रत्यगात्मन इदमैश्वरं रूपम् ।
 कीदृशम् । एष ईश्वरः अम्बरात्मकं स्वं घट इति वा पट इति
 वा जगदिति वा जीव इति वा यथादृशनामरूपं व्यपदिशति
 स्वयं तत्तज्जगन्नाम्ना भवति ॥ ३४ ॥ किं तात्त्विकं रूपं विहाय
 नेत्याह—व्योमतामिति । अत्यजदेव ॥ ३५ ॥ इदमेव स्वप्न
 इति जनैः कथ्यत इति अथ आ ज्ञातं अहो । आ इति स्मरणे
 अङ्गित् ॥ ३६ ॥ जाग्रदपि तत्त्वतो विमृष्टमिदमेव पर्यवस्य-
 तीत्याह—चिद्धातोरिति ॥ ३७ ॥ अनयोः परस्परदृशा स्वप्न-
 त्वमेव स्वप्नदृशा तु जागरत्वमेवेत्याह—स्वप्न इति । स्वप्ने तु
 जागरा एषः स्वप्न एव । स्वप्नस्तु स्वदृश्या जागरैवेति यदा
 स्वदृश्या दृश्यते तदा जागरैव द्विधा स्थितेति पर्यवस्यमित्यर्थः
 ॥ ३८ ॥ ननु मरणं तर्हि स्वप्नजागराभ्याम्भित्तं किं स्यात्-
 त्राह—चेतनमिति । नास्त्येव मरणं । ततः
 पुरुषचेतनम् । भावे स्युट् । चिन्मात्रमेव । स चानकशतेषु

तच्चेतनं स्वमेधास्ति स्थितं तद्देहवत्कचत् ।
 अनन्तमविभागात्म प्रतिघाप्रतिघात्मकम् ॥ ४०
 स्वभावस्याप्रतिघस्य नित्यानन्तोदितात्मनः ।
 परमाणोश्चिदाख्यस्य मज्जा जगदिति स्मृतः ॥ ४१
 चिद्बोद्ध उदरे भान्ति समस्तानुभवाणवः ।
 तथा यथावयविनो विचित्रावयवाणवः ॥ ४२
 निवृत्तो बाह्यतो जीवो जीवाधारे इदि स्थितः ।
 रूपं स्वं स्वप्नसर्गोऽयमिति वेत्ति चिदाकचान् ॥ ४३
 बाह्योन्मुखं बहिर्जाप्रच्छब्दितं कचितं स्वकम् ।
 रूपं पश्यति जीवोऽयमन्तस्त्वं स्वप्न इत्यपि ॥ ४४
 द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्यताः सरितो दिशः ।
 प्रसृतो जीव इत्यन्तर्बहिर्ब्रह्मात्मकः स्थितः ॥ ४५
 अर्कोऽर्कबिम्बसंस्थोऽपि यथेहापि स्थितस्त्विषा ।
 तथा जीवो जगद्रूपो बहिरन्तश्च संस्थितः ॥ ४६
 अन्तःस्वप्नो बहिर्जाप्रदहमेवेति वेत्ति चेत् ।
 चिदात्मको यथाभूतं मुच्यते तद्वासनः ॥ ४७
 अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमपि जीवोऽन्यथा वदन् ।
 द्वैतसंकल्पयक्षेण मुह्यत्येष शिशुर्यथा ॥ ४८
 अन्तर्मुखोऽन्तरात्मानं बहिः पश्यन्बहिर्मुखः ।
 आस्ते जीवो जगद्रूपं यत्स्वन्ते स्वप्नजाप्रती ॥ ४९
 इति चिन्तयतः किं स्यात्सुषुप्तमिति मे मतिः ।

शरीरेषु मृतेष्वपि कदा मृतः कस्य मृतः कथं मृतत्वेभापि
 तदप्रसिद्धेरित्यर्थः ॥ ३९ ॥ अभ्युपेत्य शरीरं तन्मरणं चेदमु-
 क्तम् । वस्तुतस्तु तदुभयमपि नास्तीत्याह—तदिति । प्रतिह-
 न्यत इति प्रतिघा मूर्ताकारस्तद्विलक्षणस्त्वप्रतिघा तदात्मकं च
 भ्रान्त्येवेत्यर्थः ॥ ४० ॥ तत्र अप्रतिघात्मता स्वभावसादृशा-
 त्मनश्चिदाख्यस्य परमाणोर्मज्जा मार एव भ्रान्त्या देहवज्जग-
 दित्यपि स्मृतः ॥ ४१ ॥ मज्जालमेवोपपादयति—चिद्बोद्ध
 इति । जगद्भ्रान्त्यनुभवलक्षणा अणवः ॥ ४२ ॥ प्रथमतृतीयप्रश्नौ
 समाहितौ, द्वितीयं प्रश्नं समाधत्ते—निवृत्त इति । बाह्यतो
 जागरतो जाग्रद्भोगप्रदकर्मोपरमे निवृत्तः सन् स्वं रूपमेव बाह्य-
 संस्कारानुरोधेन बाह्यः स्वप्नसर्गोऽयमिति चिदाकचान् चिद्दि-
 वर्तानेव वेत्ति ॥ ४३ ॥ यदा चित्तं बाह्योन्मुखं तदा स्वकं
 रूपं जाग्रच्छब्दितं कचितम् । यदा अन्तस्त्वं चित्तं तदा अयं
 जीवः स्वकं रूपं स्वप्न इत्यपि पश्यति ॥ ४४ ॥ चतुर्थपञ्चमप्रश्नयो-
 रुत्तरमाह—द्यौरिति । एकात्मक एव जीवो बहिरन्तश्च द्यौः
 क्षमेत्यात्मात्मकः प्रसृतः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ अत एव सर्वात्म-
 ताया एव तारिक्त्वत्तथा परिज्ञानादेव मुच्यत इत्याह—
 अन्तरिति । यथाभूतं यथार्थम् । भूमिकामेदपरिपाकक्रमेणा-
 वासनः सन् मुच्यते ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अन्तरात्मानं स्वमन्तर्ज-
 गद्रूपं पश्यन् स्वप्न एवं बहिर्जगद्रूपं पश्यन् जाग्रद स्वप्नमे-
 वास्ते ते एवास्य स्वप्नजाप्रती ॥ ४९ ॥ अज्ञात्सुषुप्तिपुरीय-

जाता तेन सुषुप्तांशमन्वेष्टुमहमुद्यतः ॥ ५०
 यावार्त्कि दृश्यदृष्ट्यान्तस्त्पूर्णां तिष्ठाम्यहं चिरम् ।
 निश्चित इति संवित्तिः शमा नान्यत्सुषुप्तकम् ॥ ५१
 नखकेशादि देहेऽस्मिन्विदिताविदितं यथा ।
 न जडं च जडं चैव सुषुप्तं चेतनात्मनि ॥ ५२
 संवित्त्या किं भ्रमातोऽस्मि शान्तमासेवि मानसम् ।
 इत्येकपरिणामत्वान्नान्यदस्ति सुषुप्तकम् ॥ ५३
 एतन्निद्राघनं जाग्रत्यपि संभवति स्वतः ।
 न किञ्चिच्चिन्तयाम्यासे शान्त इत्येकरूपकम् ॥ ५४
 एषावस्था यदा याति घनता मुच्यते तदा ।
 निद्राशब्देन तन्वी तु स्वप्नशब्देन कथ्यते ॥ ५५
 सुषुप्तमिति निश्चित्य तुरीयान्वेषणामहम् ।
 प्रवृत्तः कर्तुमुद्युक्तो युक्तः परमया धिया ॥ ५६
 यावद्रूपं तुरीयस्य किञ्चनापि न लभ्यते ।
 सम्यग्बोधादते शुद्धात्प्रकाशस्तमसो यथा ॥ ५७
 यथास्थितमिदं विश्वं सम्यग्बोधाद्विलीयते ।
 यथास्थितं च भवति न च किञ्चिद्विलीयते ॥ ५८
 अतः स्वप्नो जागरा च सुषुप्तं च तुरीयके ।
 सयथास्थितमस्तीदं नूनं नास्ति च किञ्चन ॥ ५९
 कारणजगदुत्पन्नं न ब्रह्मेत्यमवस्थितम् ।
 जगत्तया शान्तमजं बोध इत्येव तुर्यता ॥ ६०

तत्त्वमपृष्टमप्याह—इतीति । इति जाग्रत्स्वप्ने तत्त्वतश्चिन्त-
 यतो मे सुषुप्तं किं स्यादिति चिन्तालक्षणा मतिर्जाता ॥ ५० ॥
 दृश्यदृष्ट्या मम किं अहं चिरं तूर्णी निश्चितस्तिष्ठामि । इति
 अन्तर्यावत्संवित्तिः शमाशमरूपा तावत्सुषुप्तकं तदन्यत्रेत्यर्थः
 ॥ ५१ ॥ चित्तव्याप्त्यभावे चिदनभिव्यक्तौ घटादिवज्जडत्व-
 माशङ्क्य विशेषतोऽहन्तया अविदितत्वेऽपि नखकेशादिवत्सा-
 मान्यतो विदितत्वाद्दिदिताविदितात्मकम् । तत्सुषुप्तं न जडं
 जडं चैव चेतनात्मनि तत्साक्षिणि स्फुरतीत्याह—नखेति
 ॥ ५२ ॥ जाग्रत्स्वप्नभ्रमणेन भ्रमातोऽस्मि । मम विशेष-
 संवित्त्या किं कंचित्कालं शान्तमासे इति संकल्पेऽवगाढनिद्रा-
 कारैकपरिणामत्वमेव सुषुप्तकं नान्यदस्तीत्यर्थः ॥ ५३ ॥ जाग्रत्यपि
 पुरुषे एतत्सुषुप्तकं चिन्तापरित्यागदशायां संभवतीत्याह—
 एतदिति ॥ ५४ ॥ नितरां दृढा निद्रेति व्युत्पत्त्या सुषुप्तिरेव
 निद्राशब्देनोच्यते । तन्वी ईषद्विक्षेपाकारेण शिथिला तु स्वप्न-
 शब्देनेत्यर्थः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ तुरीयस्य यावत्पूर्णं रूपं तु सम्य-
 ग्बोधादते न लभ्यते ॥ ५७ ॥ अतः सम्यग्बोध एव तुरीयम् ।
 तत्र हि विलीनस्य विश्वस्य आत्यन्तिकमविलीनत्वं यथा स्थितं
 भवतीत्याह—यथास्थितमिति ॥ ५८ ॥ अत एवावस्थात्रयं
 तत्रान्तर्भूतमित्याह—अत इति । यथास्थितेन जगता सहितं
 सयथास्थितम् ॥ ५९ ॥ जगत्कारणाज्ञोत्पन्नं किंतु ब्रह्मैवेत्यं
 जगत्तयावस्थितमिति बोध एव सदा तुर्यतेत्यर्थः ॥ ६० ॥

असंभवात्संभवकारणानां

न जायते किञ्चन नाम सर्गः ।

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० वि० जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयवर्णनं नाम सप्तत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३७ ॥

अष्टत्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३८

तापस उवाच ।

गन्तुमेवं विचार्याहं ततस्तत्संविदैकताम् ।
प्रवृत्तश्चोत्तमाक्षेण सौरमेणेव सौरभम् ॥ १
यावत्तच्चेतनं तस्य तमोजोधातुमत्यजम् ।
प्रवृत्तं बाह्यसंविद्यै समस्तेन्द्रियसंविदा ॥ २
संविदं संविदा गृह्णन्तान्बाह्येऽन्तरपि क्षणात् ।
अहं प्रसृतवांस्तत्र तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३
तत्संविदि तथैवाथ यावत्परिणमाम्यहम् ।
भुवनं दृष्ट्वांस्तावत्सर्वं द्विगुणितं स्थितम् ॥ ४
दिशो द्विगुणतां यातास्तपतस्तपनाबुधौ ।
भूमण्डले द्वे संपन्ने द्वे वै धावौ समुत्थिते ॥ ५
वदनप्रतिबिम्बे द्वे दर्पणप्रतिबिम्बिते ।
यथा भातस्तथा भाते मिश्रिते ते जगच्चितम् ॥ ६
तैलवद्भाति कोशस्थं यच्चेतनतिलद्वये ।
तस्मिज्जगद्वयं तत्तत्तथा भाति विमिश्रितम् ॥ ७
संविद्वितयकोशस्थं मिश्रिते अप्यमिश्रिते ।
ते उभे जगती भाते समे क्षीरजले यथा ॥ ८
निमेषाद्दृष्टमात्रेण सा तत्संविन्मया ततः ।

तदेव पुनर्वर्णयन्नुपसंहरति—असंभवादिति । संभवो जन्म तत्कारणानामद्वये ब्रह्मण्यसंभवात्सर्गः किञ्चन द्वितीयं न जायते किन्तु चित्तो जगदाकारचेतनेनैव सर्गसंविद्व्ययमेव गृहीता । यथा अम्बुना प्रवता गृहीता तद्वदित्यर्थः ॥ ६१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त-
तुरीयवर्णनं नाम सप्तत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३७ ॥

मेलने द्विगुणं विश्वं प्राणिजीवस्वजीवयोः ।

ऐक्ये स्वेकं मया दृष्टमित्यादि मुनिनोच्यते ॥ १ ॥

एवं जाग्रदादितुर्यान्तावस्थातत्त्वं विचार्य ततस्तदनन्तरमहं
तस्य प्राणिनः संविदा चिदाभासलक्षणजीवेन सहैकतामेकी-
भावं गन्तुं प्रवृत्तः यथा चैतं पुष्पितसहकारसंबन्धि सौरभं
वायुना पद्माकरे नीतं आब्जेन अब्जोद्भवेन वायुस्थसौरमेणै-
कतां गन्तुं प्रवर्तते तद्वदित्यर्थः ॥ १ ॥ अहं तस्य प्राणिनश्चे-
तनं चिदाभासं प्रवेष्टुं तं प्राणिकमोजोधातुं यावदत्यजं ताव-
न्मध्ये महीयया समस्तेन्द्रियलक्षणया संविदा बाह्यसंविद्यै
वर्हिर्मुखव्यापारे बलात्प्रवृत्तमित्यर्थः ॥ २ ॥ ततोऽहं ताः याह्ये
प्रवृत्ता इन्द्रियसंविदः अन्तःप्रवणया प्रयत्नसंविदा बलात्प्रवृ-
त्तान् क्षणादन्तरपि प्रसृतवान् । कथं प्रसृतवांस्तत्र दृष्टान्तमाह—
तैलबिन्दुरिति ॥ ३ ॥ एवमुपाधिब्याप्तिद्वारा अहं यावत्तस्य
प्राणिनश्चिदाभाससंविदि मेलनेन परिणमामि तावत्कालमध्ये

चिचेतनेनैव हि सर्गसंवित् ।

स्वयं गृहीता प्रवताम्बुनेव ॥

६१

सकलैवात्मतां नीता परिमित्येव संविदा ॥ ९
ऋतुऋत्वन्तरेणेव सरितेवाल्पिका सरित् ।
वातेनामोदलेखेव धूमलेखेव धार्मुचा ॥ १०
एकत्वेनाशु संविद्येयैर्था मे जगदेकताम् ।
दुर्दृष्टेर्द्विवपुश्चन्द्रः सुदृष्टेरेकतामिव ॥ ११
ततो मे तच्चित्स्थस्य स्वं विवेकमनुज्झतः ।
अल्पीभूतः स्वसंकल्पस्तत्संकल्पस्थितिं गतः ॥ १२
तच्चित्तवृत्त्यैव ततो बाह्यमालोकयंस्ततः ।
अभुञ्जि तद्दिनाचारं तत्तद्दृश्यमत्यजन् ॥ १३
ततो यदृच्छयैवासौ शनैर्निद्राकुलोऽभवत् ।
पद्मः सायमिवापीय पयो भुक्त्वान्नमुच्छ्रमः ॥ १४
प्रसृतं दिग्भिक्षुजेषु रूपालोकक्रियाकरम् ।
संजहार बहिश्चित्तं सायमर्को रश्मि यथा ॥ १५
सह चित्तेन तास्तस्य समस्तेन्द्रियवृत्तयः ।
दृक्कोशमविशच्छत्राः कूर्मस्येवाङ्गसंधयः ॥ १६
मुद्रिता हृदयाकारास्त आसंश्चक्षुरादयः ।
लोष्टरूपा मृताबेव लिपिकर्मापिता इव ॥ १७

सर्वं भुवनं तद्वासनामद्रासनोभयान्तःप्रतिभासा द्विगुणितं
स्थितं दृष्टवान् ॥ ४ ॥ द्विगुणितत्वमेव प्रपन्नयति—दिश
इत्यादिना ॥ ५ ॥ ते च मिश्रिते तेन जगत् चित्तं द्वैगुण्ये-
नोपचितम् ॥ ६ ॥ यच्चेतनतिलद्वये तैलवद्द्विकोशस्थं भाति
तस्मिन्संवलितोपाधिस्थचिदाभासद्वये द्विगुणीभूतं तत्तज्जगत्तथा
विमिश्रितं भाति ॥ ७ ॥ वासनानामसिध्रणादमिश्रिते ॥ ८ ॥
सा तत्प्राणिचिदाभाससंविन् स्वसंविदा परिमित्य परिच्छिद्येव
आत्मतामेकात्मतां नीता उपाधिद्वयैक्यापादनेनेत्यर्थः ॥ ९ ॥
आत्मतानयने दृष्टान्तानाह—ऋतुरिति ॥ १० ॥ तत्र वासना-
नामप्येकीकारेण संचित्तेरात्यन्तिकैकत्वेन प्राग् द्विगुणीभूतं जग-
दप्येकतां ययौ ॥ ११ ॥ स्वं विवेकं पूर्वापरविमर्शम् । तस्य
प्राणिनः संकल्पानुसारिणीं स्थितिं गतः प्राप्तः ॥ १२ ॥ अहं
तत्र तच्चित्तवृत्त्यैव तद्द्रोण्यं बाह्यं शब्दादिविषयमालोकयंस्तद्दृ-
श्यमत्यजन्नेव तस्य जाग्रद्व्यवहारलक्षणं दिनाचारं अभुञ्जि अभु-
नजम् । अन्वभवमिति यावत् । कर्तरि शिष्णुं छान्दसः ॥ १३ ॥
ततः असौ प्राणी अन्नं भुक्त्वा पय आपीय उद्भूतश्रमः सन्
यदृच्छयैव निद्राकुलोऽभवत् ॥ १४ ॥ निद्रारम्भे तत्प्राणः
किमकरोत्तत्राह—प्रसृतमिति ॥ १५ ॥ ततः किमासीत्तदाह—
सहेति ॥ १६ ॥ चक्षुरादयो मुद्रिताः सन्तो हृदयपद्माकारा
आसन् । मृतौ मरणे आ ईषदिव लोष्टरूपा लिपिकर्मापिता इव

अहं तच्चित्तवृत्तैव सहसोत्थम्य तत्स्थितः ।
 तच्चित्तानुविधाधित्वात्तत्तद्बुद्धयमाविशम् ॥ १८
 संहृत्य बाह्यानुभवमन्तरेष तदोजसि ।
 क्षणमन्वभयं शून्यं सुषुप्तं तल्पकोमले ॥ १९
 क्रुमाभ्रपानबहुलैर्निविडास्त्वपि नाडिषु ।
 सुषिरास्त्रेष वा वायुर्न निर्यात्येव याति च ॥ २०
 यदा तदात्मकात्मैकपरो हृदि सहस्थितम् ।
 अप्रधानीकरोत्येतच्चित्तं स्वार्थस्वभावतः ॥ २१
 स्वार्थमात्रोऽद्य तस्यान्तः परकृत्यं न कस्यचित् ।
 कचति स्वार्थसत्तायामेतदेव वपुर्यतः ॥ २२

श्रीराम उवाच ।

मनः प्राणवशादेव मनुते किं महासुने ।
 स्वरूपं मनसो नास्ति तस्मात्तत्केवलं च किम् ॥ २३

श्रीवसिष्ठ उवाच :

देह एवेह नास्त्येव खानुभूतोऽप्ययं निजः ।
 मनसः कल्पनात्मेदं वपुः स्वप्ने गिरिर्यथा ॥ २४
 तच्चित्तमपि नास्त्येव चेत्यार्थाभावयोगतः ।
 सर्गादौ कारणाभावाद्दृश्यानुत्पत्तिहेतुतः ॥ २५
 अतः सर्वमिदं ब्रह्म तच्च सर्वात्मकं यदा ।
 तदा विश्वमिदं विष्वक्स्त्येव च यथास्थितम् ॥ २६

च निर्व्यापारा आसन् ॥१७॥ अहमपि तच्चित्तानुविधाधित्वा-
 त्तच्चित्तवृत्तैव सह तदिन्द्रियगोलकानि स्वक्त्वा तत्सत्तादीमार्गेण
 तद्बुद्धयमाविशम् ॥ १८ ॥ तल्पवत्कोमले ओजसि प्राणुक-
 तेजोन्तस्थे आमन्दमयकोशे ॥१९॥ तदानीं यदा समानाक्यो
 ब्राह्मणः सुषिराद्बु तच्छिद्रास्त्वपि नाडिषु क्रुमेनाभ्रपानरसविकारै-
 र्बहुलैस्त्र तत्र निरुध्यमानो बहिर्ने निर्यात्येव तथापि सूक्ष्म-
 रया गत्या याति संचरति च ॥ २० ॥ यदैवं सुषुप्तिर्भवति
 तदायं प्राणः सेन्द्रियं चित्तं किं करोति तदाह—यदेति ।
 यदैवं भवति तदा प्राणसदात्मको य एकः अद्वैतः संप्रसक्त
 आत्मा तन्मात्रपरः सन् हृदि पुरीतति प्रविश्य सहस्थितमे-
 तच्चित्तं प्रसित्वा अप्रधानीकरोति स्वाधीनीकरोति । तत्कृतः ।
 स्वार्थस्वभावतः स्वः प्रत्यगात्मा स एवार्थः परमार्थः पुरुषार्थश्च
 तत्स्वभावतः । तत्स्वभावमात्रेण परिशेषलक्षणसुखाविभ्रान्ती
 प्रसक्तत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥ अस्तु स्वार्थप्रसक्तस्यापि मनश्चि-
 द्वादिपरकार्यमपि कृतो न करोति तत्राह—स्वार्थेति । अतो
 निरतिशयानन्दरूपस्वार्थसत्तारूपायां सुषुप्तौ एतदेव निरतिशयान-
 नन्दवपुः कचति न विक्षेपयुःसकेशोऽपीत्यर्थः ॥ २२ ॥ प्राण-
 चित्तं प्रसित्वा अप्रधानीकरोतीति अद्वैतं तत्र रामः अद्वैते—
 अहं इति । मनश्चित्तमित्येकमेव । हे महासुने, मन इवाधीनमपि
 प्रम्वत्तादेव मनवादिभ्यापारात्करोति । तथा च तदादि प्राणे-
 नाप्रधानीकृतं न मनुते तर्हि इहानीमपि किं मनुते । अस्मा-
 यो० वा० १७६

अस्ति चित्तादि देहादि तद्ब्रह्मैव च तद्विदाम् ।
 यादृक्तत्तद्विदामेतदस्माकं विषये न तत् ॥ २७
 यथेदं त्रिजगद्ब्रह्म यथेति विविधात्मकम् ।
 अत्रेमं राजपुत्र त्वं वर्ण्यमानं क्रमं शृणु ॥ २८
 अस्ति चिन्मात्रमलमनस्ताकाशरूपि यत् ।
 सर्वदा सर्वरूपात्म न जगत्त च दृश्यता ॥ २९
 सर्वविरघाषु तेनेदं मनस्त्वं चेतितं स्वतः ।
 रूपमत्यजता शुद्धं बुद्धमाधिविबर्जितम् ॥ ३०
 मनसा कल्पितं तेन यद्वै सरणमात्मनः ।
 तदेतत्प्राणपवनं विद्धि वेद्यविदां घर ॥ ३१
 प्राणतैषा यथा तेन कल्पितेषानुभूयते ।
 तथैवेन्द्रियदेहादि दिक्कालकलनादि च ॥ ३२
 इति विश्वमिदं विष्वक् चित्तमात्रमलविद्धतम् ।
 चित्तं तु चित्परं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मेदमाततम् ॥ ३३
 अनाकारमनाद्यन्तमनाभासमनामयम् ।
 शान्तं चिन्मात्रसन्मात्रं ब्रह्मैवेदं जगद्गुणः ॥ ३४
 सर्वशक्ति परं ब्रह्म मनःशक्त्या यथा स्थितम् ।
 यत्र तत्र तथा रूपं स्वमेवानुभवत्यलम् ॥ ३५
 संकल्पात्म मनो ब्रह्म संकल्पयति यद्यथा ।
 तत्तथैवानुभवति सिद्धमाबालमीदृशम् ॥ ३६

प्राणात्पृथक्कृतं मनसः स्वरूपं नास्ति तस्मात्केवलं प्राणविनिर्मुक्तं
 किम् । न किंचिदित्यर्थः । चकारः पूर्वप्रश्नसमुच्चयार्थः ॥२३॥
 अधिष्ठानसन्मात्रात्पृथक्करणे देहप्राणादिजगद्रूपं किमपि नास्ति ।
 तदपृथक्करणे तु तत्सत्ताया सर्वमस्त्येव । तत्र प्राणपृथक्कृतं मन
 एकं नास्तीत्यल्पमिदं त्वया शङ्कितमित्याशयेन वसिष्ठ उत्तर-
 माह—देह इत्यादिना । यतो मनसः कल्पनात्मेदं वपुः अतो
 मनःपृथक्कृतं वपुर्नास्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥ एवं चित्तस्यापि चेत्यर्थ-
 निरूप्यत्वाच्चेत्यार्थाभावे तत्पृथक्कृतं स्वरूपं नास्तीत्यपि सुवचमि-
 त्याह—तद्विति । पूर्वपूर्वचेत्यं तन्निरूपकमिति चेतन्नाप्याह—
 सर्गादाविति ॥ २५ ॥ ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वात्तत्सत्ताया सस्वोक्तौ
 तु मनवाधिसर्ववस्तु अस्त्येवेत्याह—अत इति ॥ २६ ॥
 चित्तदेहादि सर्वमस्ति अतस्सात्तद्विदां तद्ब्रह्मैव । अत्राधिदां तु
 एतच्चित्तदेहादि यादृक् तदस्माकं तत्त्वविदां विषये न ॥ २७ ॥
 हे राजपुत्र राम, यथा इदं त्रिजगद्ब्रह्मैव तथा वर्ण्यमानमप्या-
 रोपाधिक्रमं शृण्वित्यर्थः ॥२८॥ तत्राधिष्ठानमादौ निर्दिशति—
 अस्तीति ॥२९॥ तेनेदं मनस्त्वं प्रथमं चेतितमभ्यारोपितम् ।
 तेन चाधिष्ठानस्य नान्यथाभाव इत्याह—रूपमिति ॥ ३० ॥
 सरमं संचरणम् ॥३१॥३२॥३३॥३४॥ यतः सर्वशक्ति अतः
 प्राथमिक्या मनःशक्त्या यथा स्थितं पूर्वसिद्धमेवेति यत्र तत्र
 जागरे स्वप्ने वा स्वमेव तथा स्वरूपं जगद्भूतमनुभवति ॥ ३५ ॥
 संकल्पात्मकं मन एव कार्यमात्रं तद्यथा भूतदिकोक्तमन्यथा

प्राणीकृतः स्वयमयं ननु चेतसात्मा

देहीकृतस्त्रिभुवनीकृत एव नाद्यः ।

इत्यापि श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० चित्तसर्वात्मकताप्रतिपादनं नामाष्टत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १३९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चित्तमेव जगत्कर्तृ संकल्पयति यद्यथा ।
असत्सत्सदसच्चैव तत्तथा तस्य तिष्ठति ॥ १
तेन संकल्पितः प्राणः प्राणो मे गतिरित्यपि ।
न भवामि विनानेन तेन तत्तत्परायणम् ॥ २
अहं कतिपयं कालं ननु प्राणविनाकृतः ।
न भवामि पुनर्नूनं भवाम्येवेति कल्पितम् ॥ ३
यत्र तेनाङ्ग तत्रैतत्प्राणेनाशु क्षणाद्वपुः ।
उदितं पश्यति मनो मायापुरमिवाततम् ॥ ४
न भवाम्येव भूयोऽहं प्राणदेहविनाकृतः ।
दृढनिश्चयभागित्थं चित्तो भवति नो पुनः ॥ ५
दोलायितं तु संदेहाहुःस्वमास्ते कुनिश्चयम् ।
विकल्पेनैवमस्यैतज्ज्ञानात्प्रालयेन यास्यति ॥ ६
यस्यायमहमित्यस्ति तस्य तन्नोपशाम्यति ।
वर्जयित्वात्मविज्ञानं केनचिन्नाम हेतुना ॥ ७
नाम्यत्र प्रथते ज्ञानं मोक्षोपायविचारणात् ।

संकल्पयति तथैवानुभवति । इदं चाबाहं बालानमिव्याप्य ईदृशं
सिद्धम् ॥ ३६ ॥ ननु हे राम, खवपुरेव चेतनात्मा आद्यो ना पुरुषः
प्रथमं प्राणी प्राणवान् चेतसैव कृतस्तथा देहीकृतस्तथा त्रिभुवनी-
कृत एव । एतत्सर्वं कल्पितपुरीषु स्वस्वदेहेषु सर्वैरपि स्वप्नेष्व-
नुभूतं तथैव निदर्शनीकार्यमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चित्तसर्वात्मक-
ताप्रतिपादनं नामाष्टत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३८ ॥

प्राणादपि हि चित्तस्य प्राधान्यमिह वर्ण्यते ।

मुनेः सुषुप्तास्वप्नासौ प्रलयेक्षा च चित्तरात् ॥ १ ॥

चित्तस्य सदैव प्राणाधीनत्वमभ्युपेत्याध्यारोपक्रमे प्राधान्य-
भात्रेण जाग्रत्स्वप्नयोर्भयप्राधान्यं, सुषुप्ती तु प्राणस्वैवेत्याशयेन
रामप्रश्नः समाहितः, इदानीं प्राणादिसर्वजगन्निर्माणे चित्तस्यैव
स्वातन्त्र्यात्प्राधान्यं सुषुप्त्यारम्भकाले तु ध्रान्तत्वात्पारितुम-
समर्थमिति स्वविधान्त्यर्थमेव चित्तं प्राणप्राधान्यमप्रीकरोती-
त्याशयेन तत्समाधानमुपक्रमते—चित्तमेवेत्यादिना । असत्
अलीकम् । सत् व्यावहारिकम् । सदसत् प्रातिभासिकम् । तस्य
चित्तात्मनः ॥ १ ॥ गतिर्मधीयसर्वव्यवहारनिर्वाहकः । तेन प्राणेन
विना न भवामि न तिष्ठामि इत्यपि कल्पितं तेन हेतुना तच्चित्तं
तत्परायणं प्राणाधीनमुच्यते ॥ २ ॥ स्वप्नमनोराज्यादिप्रसिद्धदेहे
प्राणाभावेऽपि मनोव्यापारदर्शनाद्विना तेन न भवामीति संक-
ल्पस्य व्यभिचारमाहाह—अहमिति ॥ ३ ॥ यत्र यत्र तेन

देहीकृतः खवपुरेव गिरीकृतश्च

स्वप्नेषु कल्पितपुरीष्वनुभूतमेतत् ॥ ३७

ऋते तस्मात्प्रयत्नेन मोक्षोपायो विचार्यताम् ॥ ८
किलाहमिदमित्येव नाविद्या विद्यते कश्चित् ।
मोक्षोपायादृते नैतत्कुतश्चिदयतेऽन्यतः ॥ ९
एवं यन्मनसाभ्यस्तमुपलब्धं तथैव तत् ।
तेन मे जीवितं प्राणा इति प्राणे मनः स्थितम् ॥ १०
देहे सौम्ये स्थिते प्राणे मनो मननवद्भवेत् ।
ध्रुव्ये प्राणगतं क्षोभं पश्यन्मान्यत्प्रपश्यति ॥ ११
यदा स्वकर्मणि रूपन्दे व्यग्रः प्राणो भृशं भवेत् ।
तदा तदीहितव्यग्रः प्राणो नात्मोद्यमी भवेत् ॥ १२
एते हि प्राणमनसौ त्वन्योन्यं रथसारथी ।
के नाम नानुवर्तन्ते रथसारथिनौ मिथः ॥ १३
इत्यादिसर्गे स्वात्मैव चेतितः परमात्मना ।
तेनैषाद्यापि नियतिर्नाबुधानां निवर्तते ॥ १४
देशकालक्रियाद्रव्यैर्मनःप्राणशरीरिणाम् ।
प्रयान्त्यधिगता देहेष्वरूढानां परे पदे ॥ १५

मनसा प्राणेन सह वपुः कल्पितं तत्रैतत् क्षणादुदितं पश्यति
॥ ४ ॥ प्राणदेहकल्पनानन्तरमहं भूयः कदापि प्राणदेहाभ्यां
विनाकृतो न भवाम्येवेत्यन्तदृढनिश्चयवान् जीवो भवति ।
चित्तश्चिन्मात्रस्वभावस्य तु दृढनिश्चयवाचो भवति ॥ ५ ॥ अत
एवाल्पविचारजात्संदेहप्रायाज्ञानाच्च निस्तारः । विपरीतदृढनिश्च-
यस्य यथार्थदृढनिश्चयं विना अनिवृत्तेरित्याह—दोलायित-
मिति । एवं दृढतरमेतद्भ्रान्तिज्ञानं तत्त्वज्ञानादल्पेन विकल्पेन न
यास्यति ॥ ६ ॥ ७ ॥ दृढतरतत्त्वज्ञाने त्वयं ग्रन्थ एवोपाय इत्याह—
नाम्यत्रेति ॥ ८ ॥ अहमिदमिति द्विधैवाविद्या विद्यते । अन्येति
शेषः । अयते अपगच्छति ॥ ९ ॥ मे मम प्राणा एव जीवितं
परमप्रेमविषयं रूपमित्येवं यन्मनसा दृढमभ्यस्तमित्येतस्मा-
द्वेतोः प्राणे प्राणाधीनतया मनः स्थितम् ॥ १० ॥ एवं देहा-
धीनता मनसोऽस्तीत्याह—देहे इति । देहे ध्रुव्ये तु तत्
क्षोभं प्राणगतं प्रपश्यन्मनः अन्यदात्मतत्त्वविवेकं वा न प्रप-
श्यति ॥ ११ ॥ अत एव प्राणो निरोधाभ्यासं विना नात्मज्ञानो-
न्मुखीभवतीत्याह—यदेति । तस्य मनस ईहितेषु व्यग्रः
॥ १२ ॥ तत्कुतस्तत्राह—एते इति ॥ १३ ॥ तदपि कुतस्त-
त्राह—इतीति । इति एवं परस्परानुवृत्तिस्वभावे प्राणमनोरू-
पेण परमात्मना आदिसर्गे आत्मा चेतितः संकल्पितः ॥ १४ ॥
परे पदे अरूढानामव्युत्पन्नानां मनःप्राणशरीरिणां देहेषु देश-
कालक्रियाद्रव्यैरधिगता व्यवहाराः प्रयान्ति प्रवर्तन्ते ॥ १५ ॥

स्वं प्राणमनसी साम्यात्कुर्वती कर्म तिष्ठतः ।
 वैषम्याद्विषमं वैकं शान्ते शान्ता सुषुप्तता ॥ १६
 यदाहारादिदृष्टासु नाडीषु कापि पिण्डितः ।
 शान्तमास्ते जडः प्राणस्तदोदेति सुषुप्तता ॥ १७
 नाडीष्वन्नाद्यपूर्णसु तथा क्षीणासु वा क्रमात् ।
 निःस्पन्दस्तिष्ठति प्राणस्तदोदेति सुषुप्तता ॥ १८
 नाडीनां मृदुरूपत्वात्पूर्णत्वाद्वा व्रणोदरे ।
 कापि प्राणे स्थिते लीने निःस्पन्दास्ते सुषुप्तता ॥ १९
 तापस उवाच ।
 अथ यस्य प्रविष्टोऽहं हृदये सोऽभवन्निशि ।
 सुषुप्तघननिद्रालुराहारपरितृप्तिमान् ॥ २०
 तेन सार्धमहं तत्र तच्चित्तेनैकतां गतः ।
 सुषुप्तनिद्रां सुषुप्तां गुणीभूतोऽनुभूतवान् ॥ २१
 ततोऽन्धस्यस्य जीर्णेऽन्तर्नाडीमार्गे स्फुटे स्थिते ।
 प्राकृते स्पन्दिते प्राणे सुषुप्तं तनुतां ययौ ॥ २२
 सुषुप्ते तनुतां याते हृदयादिषु निर्गतम् ।
 अपश्यमहमत्रैव भुवनं भास्करादिमत् ॥ २३
 तच्च क्षुब्धार्णयोत्थेन पूर्यमाणं महाम्भसा ।
 विमुक्तेनैव कल्पात्रैरभ्रकषतरंगिणा ॥ २४
 प्रोह्यत्पर्वतपूरेण महावर्तधिराधिणा ।
 वहन्ननालीतृण्यात्त्रैर्व्याप्तेनोन्मूलितागया ॥ २५
 पूर्वमेवावदग्धायाम्लिक्याः खण्डखण्डकैः ।
 पूर्णेन परितः प्रौढैः खपुराद्रिमहीमयैः ॥ २६

तत्र प्राणमनसी यावत्कालं साम्यात्स्वं कर्म कुर्वती तिष्ठतस्तावत्समो व्यवहारो जाग्रदाख्यः प्रवर्तते । यदा प्राण इन्द्रियप्रवर्तनादुपरतो वैषम्यं भजते तदा विषमं स्वप्राण्यमेकं केवलमानसं व्यवहरणं प्रवर्तते । शान्ते च मनसि सर्वविक्षेपशान्त्युपलक्षिता सुषुप्तता प्रवर्तते इत्यर्थः ॥ १६ ॥ कदा पुनर्मेनः शान्तं भवति तदाह—यदेति । आहारैरन्तरादिपदात्पिप्सादिभिश्च नाडीषु दृष्टासु सतीषु पिण्डितः प्राणो यदा जडो मन्दसंचारो भूत्वा काप्यास्ते तदा मनःशान्त्या सुषुप्ततोदेति ॥ १७ ॥ क्षुधिताक्षीनामपि भ्रमात्सुषुप्तौ निमित्तमाह—क्षीणासु वेति ॥ १८ ॥ मर्दनादिना नाडीमार्दवमपि सुषुप्तिनिमित्तमित्याह—नाडीनामिति । एवं शरक्षतव्रणरुधिरादिपूर्णेतापि तच्चिन्तितमित्याह—पूर्णेत्वादिति ॥ १९ ॥ एवं रामप्रभोत्तरप्रासन्निकं समाप्य वासिष्ठः प्रस्तुततापसोक्तिमेवावलम्बते—अथेत्यादिना । स प्राणी आहारपरितृप्तिमान्सन् सुषुप्तघननिद्रालुरभवदिति प्रागुक्तानुवादः ॥ २० ॥ गुणीभूतस्य फलात्तन्मयः ॥ २१ ॥ ततः अस्य प्राणिन उदरस्ये अन्धसि अन्ने जीर्णे जाते सति प्राकृते नैसर्गिके नाडीमार्गे प्राणे स्पन्दिते स्पन्दमाने सति । 'गण्यार्थकर्मक—' इति कर्तारि कः । तनुतामल्पताम् ॥ २२ ॥ ततस्त्वपीयस्वप्रप्रपञ्चो मया दृष्ट इत्याह—सुषुप्ते इति ॥ २३ ॥ तच्च भुवनं प्रलय-

महं तत्रैव पश्यामि यावत्कस्मिन्निवास्पदे ।
 कस्यांचित्पुरि कस्मिन्निद्रुहे वध्वा पुरे स्थितः ॥ २७
 सदारः सहभृत्योऽहं सपुत्रः सहवाग्धवः ।
 सहभाण्डोपस्करणः सगृहोऽपहतोऽम्भसा ॥ २८
 उद्यमानं क्षयाम्भोभिस्तद्गृहं तच्च पत्तनम् ।
 लङ्घयमानं द्रुमाकारैः पूर्यमाणं च धारिभिः ॥ २९
 वृहत्कलकलारावं जेतुमग्घिसिधोद्यतम् ।
 अतिक्षुमितवास्तव्यमनपेक्षितपुत्रकम् ॥ ३०
 आवर्ततरलाख्याभिर्वृत्तिभिर्व्यूढमाकुलम् ।
 साक्रन्दोरस्ताडनोत्कजनजम्बालमीषणम् ॥ ३१
 स्फुटकुब्जत्रुटकाष्टरटच्छुद्धतोद्रटम् ।
 प्रपतच्छादनच्छप्रगवाक्षस्थाङ्गनामुखम् ॥ ३२
 इति यावत्क्षणं पश्यन्नहं तद्भाषमागतः ।
 परिरोदिमि दीनात्मा दाषत्तत्सकलं गृहम् ॥ ३३
 चतुर्धा भित्तिमेवेन वृद्धबालाङ्गनान्वितम् ।
 जगाम शतधा वीच्यां शिलायामिव निर्झरः ॥ ३४
 उद्यमानोऽहमभवं ततः प्रलयधारिणि ।
 त्यक्तसर्वकलत्रादिचित्तः प्राणपरायणः ॥ ३५
 क्षिप्तस्तरङ्गजालेन योजनाद्योजनध्वजे ।
 उद्यमानद्रुमशिखाज्वालान्तरितजर्जरः ॥ ३६
 काष्ठकुब्जतटीपीठकटुसंघट्टघट्टितः ।
 आवर्तनृत्यपातालतले गत्वोत्थितधिरात् ॥ ३७

कालक्षुब्धार्णवेभ्य उदितेन महाम्भसा पूर्यमाणमपश्यम् । तदम्भ एव विशिनष्टि—विमुक्तेनेवेति । कल्पात्रैर्मुसलप्रमाणधाराशृङ्गा विमुक्तेन अधस्यकेन । इवशब्दो मिथ्यात्वद्योती सर्वप्राणवर्तनीयः ॥ २४ ॥ वहन्ती या वनाली तल्लक्षणा या तृण्या तृणसमूहस्तदात्त्रैः पर्वतैर्व्याप्तेन । 'तृणाद्यैर्व्याप्तेन' इति पाठे स्पष्टम् । उन्मूलिता अगा वृक्षाः पर्वताश्च यया तथाविधया वात्यया वहिज्वालया पूर्वमेवावदग्धायाम्लिक्याः खण्डखण्डकैः पूर्णेनेत्युत्तरान्वयः ॥ २५ ॥ खे प्रसिद्धानि देवासुरादिपुराणि तदादिमयैः ॥ २६ ॥ तदा च अहं कस्मिन्निद्रुहे वध्वा भार्यया सह स्थितोऽस्मीति स्वं पश्यामीत्यर्थः ॥ २७ ॥ ईदृशश्चाहं तेन प्रलयाम्भसापहतः प्रवाहितः ॥ २८ ॥ तदवस्थं तद्गृहं तन्नगरं च वर्णयति—उद्यमानमिति । क्षयाम्भोभिः प्रलयजलैः । द्रुमाकारैस्तारकैः ॥ २९ ॥ वास्तुनि वेष्टमभूमौ भवा वास्तव्या जनाः ॥ ३० ॥ वृत्तिभिर्जलप्रवृत्तिभिर्व्यूढं प्रवाहितम् । जम्बालैः पद्मैश्च मीषणम् ॥ ३१ ॥ त्रुटद्भिः शङ्कुभिः कृत सत्कृष्टो रटो ध्वनिर्यत्र ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ भित्तीनां मेदेन विदारणेन ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ उद्यमाना ये द्रुमास्तत्रप्रलयवह्निधिला ज्वाला तदन्तः इतैर्गमनैर्जर्जरैः । अन्तरितैरन्तरायैरिति वा ॥ ३६ ॥ काष्ठादीनां कटुभिर्घुसहैः

चलाचलागमापायचलुलुगुलारवे ।
 अले बहुलकल्लोले मग्नोन्मग्नः पुनः पुनः ॥ ३८
 संघट्टभग्नशैलेन्द्रपङ्किले सल्लिले क्षणम् ।
 पल्लले धारण इव मग्नः सत्पयसोद्धतः ॥ ३९
 यावदाश्वसिभि क्षिप्रं छिण्डीरे चाद्रिखण्डके ।
 तावदेत्य हतो वेगाद्द्वैरिजेवातिवारिणा ॥ ४०
 नानावलनकल्लोलजलजालजुषा तदा ।
 न तदस्ति न यद्दृष्टं दुःखं दुःखात्मना मया ॥ ४१
 एतस्मिन्नन्तरे तत्र तदा तत्तामसेक्षण ।
 यावज्जीवन्निराभ्यासाद्रिषादित्वात्सचेतसः ॥ ४२
 प्राक्तनं संस्मृतं रूपं खं समाधिमयं मया ।
 आ अहो नु जगत्यन्यरूपेऽहं तापसः स्थितः ॥ ४३
 अहं कस्यचिदन्यस्य स्वप्रदृष्टिदिदृक्षया ।
 प्रविष्टोऽहमयं स्वप्ने पश्यामीमं भ्रमं त्विति ॥ ४४
 वर्तमानदृढाभ्यासमिथ्याज्ञानमयात्मनि ।
 कल्लोलैरुद्यमानोऽपि ततोऽहं सुस्थितः स्थितः ॥ ४५
 इदं वारितयापश्यं प्रलयाधिधिधिवर्तनाः ।
 उद्यमानाद्रिनगरप्रामोर्धीखण्डपादपाः ॥ ४६
 उद्यमानामराहीन्द्रनारीनरनभञ्जराः ।
 उद्यमानमहारम्भलोकपालपुरालयाः ॥ ४७
 अथाहमद्रिमिथ्याम्बुकल्लोलाद्रिविधट्टनाः ।
 मुहुः पश्यजगत्तामनन्तरमचिन्तयम् ॥ ४८
 चित्रमेव त्रिनेत्रोऽपि जीर्णं तृणमिद्वार्षवे ।

संघट्टैर्बद्धित आस्फालितः । आवर्तवृत्तेषु भ्रमणेषु पातालतले
 गत्वा चिरानुत्थितः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ मग्नोऽभूवम् । तत्र देवा-
 दागतेन सत्पयसा पुनरुद्धतः ॥ ३९ ॥ छिण्डीरे फेनपुजे
 अद्रिखण्डके च यावदाश्वसिभि विभ्रान्ति लभे तावदतिवारिणा
 महातरङ्गेण हतः ॥ ४० ॥ किं बहुना तदा सर्वं दुःखं मयाजु-
 भृतमित्याह—जानेति ॥ ४१ ॥ एतस्मिन्नन्तरे मया तत्प्राक्तनं
 खं समाधिमयं रूपं संस्मृतमिति परेण संबन्धः । 'तामरसेक्षण'
 इति पाठे मुनिवाक्यमनुवदतो वसिष्ठस्य रामसंबोधनम् ॥ ४२ ॥
 स्मृतिमेव विदम्बवचाह—आ अहो इत्यादिना । स्मृतावनाक्-
 त्वात् 'निपात एकाजनाक्' इति प्रगृह्यता ॥ ४३ ॥ अत्रमहमिति
 प्रत्यभिज्ञानायम् ॥ ४४ ॥ वर्तमानो नः स्वप्रदृष्टदृढाभ्यासक-
 त्प्रयुक्तमिथ्याज्ञानमये आत्मनि देहे कल्लोलैरुद्यमानोऽहम् तत्-
 कास्मरणानन्तरम् ॥ ४५ ॥ वक्ष्यमाणविशेषणाः प्रलयाधिधि-
 धिवर्तना इदं प्रसिद्धं यन्मरुतरीषिवारि तत्तया । मिथ्यात्वे-
 नेति यावत् ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ किमचिन्तयं तदाह—
 चित्रमिति । अत्र मायामहार्णवे त्रीण्यवस्थात्रयलक्षणानि
 मेत्राणि यस्य तथाविध ईश्वरोऽपि जीवो भूत्वा जीर्णतृणमिवो-
 द्यते । चित्रमाश्वर्यम् । हतस्य विधिदेवस्य ॥ ४९ ॥ यथा
 प्रातरण्डु रवेः प्रभाः निकसन्ति पद्यानि दर्शयन्ति तथा गृहाण्यपि

उद्यते हा हतविधेर्नाऽकार्यं नाम विद्यते ॥ ४९
 चतुर्धा भित्तिभेदेन प्रकटाशयतामहम् ।
 पद्यानीच गृहाण्यण्डु दर्शयन्ति रवेः प्रभाः ॥ ५०
 चित्रं तरङ्गवलनासु समुल्लसन्ति
 गन्धर्वकिंकरनरामरनागनार्यः ।
 भूरिभ्रमैर्भ्रमरहारमिव हृदिभ्यः
 पथिभ्य एव सकलामलजङ्गमाख्याः ॥ ५१
 विद्याधरीभुजलतावलितेन्दुकान्त-
 कक्ष्याविभागमणिजालगवाक्षलक्ष्म्यः ।
 देवासुरोरगमहागृहभित्तिभागाः
 सौधर्षणौगणवदम्बुभरे भ्रमन्ति ॥ ५२
 मत्सेमकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमाङ्के
 शक्याः पयोधरभरे रतिखेदखिन्नः ।
 लग्नः सुखादिव करोति तरङ्गदोलाः
 संशीर्यमाणमणिगेहगतोऽत्र शक्रः ॥ ५३
 हा वान्ति वारिषलनावलितान्तरिक्ष-
 मृक्षावधूतकुसुमप्रकरान्किरन्तः ।
 वाताः पतन्तिबुधमन्दिररजसाना-
 बुधानकोटरगता इव साक्षतेन ॥ ५४
 यन्प्रोत्थहेमदृषदा सदशाम्बुरूपं
 ध्रुवधात्रिमीमजलवीचिशिखेरितं खे ।
 व्यावर्तते दिवि दलावृतकर्णिकास्थ-
 ध्यानैकनिष्ठपरमेष्ठिसरोजमेतत् ॥ ५५

चतुर्धा भित्तिविदारणेन प्रकटाशयतामहं यथा स्यात्तथा दर्श-
 यन्ति ॥ ५० ॥ एताश्च भूरिभ्रमैर्भ्रमरवर्तैर्विभ्रमैर्भ्रमोपलक्षिताः परा-
 गधवलभ्रमरपङ्किलक्षणं हारं वहन्त्यः पथिभ्यः मुखकरपादादिप-
 थवत्यो हृदिभ्यो नद्य एव प्रसिद्धा हृदिभ्यो न सकला अमला नापि
 जङ्गमाख्याः । एतास्तु तद्विपरीताः । अत एव तरङ्गवलनासु चित्रं
 समुल्लसन्तीवेत्यन्वयः ॥ ५१ ॥ विद्याधरीणां भुजलतावलितेषु
 इन्दुकान्तेषु कक्ष्याविभागा इव भासमाना मणिजालगवाक्ष-
 लक्ष्म्यो येषु तथाविधा देवासुरोरगमहागृहाणां भित्तिभागाः प्रल-
 याम्बुभरे सौधर्षणौकागणवज्रमन्ति ॥ ५२ ॥ संशीर्यमाणमणिगे-
 हगतः शक्रः अत्रास्मिन्प्रलयाम्बुभरे लग्नः सन् कुङ्कुमाङ्के मत्सेमकु-
 म्भपरिणाहिनि विद्याके शक्याः पौलोभ्याः पयोधरभरे रतिप्र-
 मुक्तेन खेदेन खिन्नः भ्रान्तः संस्तदपनयनाय जलकीडासुखात् ।
 त्यक्लोपे पद्ममी । जलकीडासुखमुद्दिश्येव तरङ्गदोलाः करोति
 ॥ ५३ ॥ वारिणां बलनैर्वेष्टनैरावलितमन्तरिक्षं यस्मिन्कर्मणि तथा ।
 तथा ऋक्षाणि नक्षत्राणि तल्लक्षणानवधूतान्कुसुमप्रकरान्किरन्तो
 विक्रिपन्तो वाताः । पतन्ति विबुधमन्दिराणि विमानानि यत्र
 तथाविधे रजसानौ मेरासुषामस्य कोटरे गताः प्रविष्टा मज्ज-
 कार्यं साक्षतेन कुसुमवर्षेण किरन्तो जमा इव वान्ति । हा
 इति खेदे ॥ ५४ ॥ खे आकाशे ध्रुवधानामद्रिवद्रीनामां नद्या-

मेषा इवातिघनघुंघुमघोषभीमा
 वीचीचयाः कनकपत्तनविद्युतोऽमी ।
 व्योम्नि भ्रमन्ति गजवाजिसृगेन्द्रनाग-
 वृक्षाद्रिकाननमहीतलतुल्यदेहाः ॥ ५६
 उद्यमानोद्भूवीच्यामतसीकुसुमश्रियाम् ।
 यमोऽप्ययं यमेनेव वारिपूरेण नीयते ॥ ५७
 पते ब्रुवन्ति सलिलेऽखिललोकपाला
 नागा नगैश्च नगरैः सह लक्षसंख्याः ।
 लक्ष्म्याकरोदरगुहागतवारिपूर-
 व्यावर्तनागुडगुडैरभिलक्ष्यपूराः ॥ ५८
 दुर्वारवारिवलनापरिपूरितेषु
 पातालभूतलनभस्तलदिकतटेषु ।
 मत्स्या इवेन्द्रयमयक्षसुरासुरौघाः
 सप्रामपत्तनविमाननगा भ्रमन्ति ॥ ५९
 उद्यमानस्य कृष्णस्य तनुरेवाम्बुरुपिणी ।
 मातृजङ्घेव वत्सस्य कष्टं बन्धनतां गता ॥ ६०
 अम्योन्यमावलयतामहो बुडबुडारवः ।
 भ्रूयते देवदैत्यानां स्वस्त्रीहलहलाकुलः ॥ ६१
 कोलाहलाकुलपुरोत्तमवेगपात-
 विश्रुग्धवारिपटलीवलिताम्बरासु ।
 दिक्षु भ्रमज्जलज्जालघनाखिवैष
 संलक्ष्यते जलमयः स्फुटकुण्डबन्धः ॥ ६२
 इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० वि० श० जगन्नाशवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३९ ॥

हा कष्टमेष तरसा पयसापनीत
 आवर्तवृत्तिपरिवर्तनया स्वधस्तात् ।
 एते कुबेरयमनारदवासवाधाः
 प्राणान्पयोभ्रपटलैर्विधुरास्यजन्ति ॥ ६३
 प्राणाः प्रशान्तजडदेहमिहोद्यमानं
 मानोजिह्मताः शवतयैव च तद्ब्रह्मन्ति ।
 ब्रह्मेन्द्रविष्णुपुरखण्डकसंकटाम्बु-
 संघट्टनेन कटुकुट्टनदृष्टु तेन ॥ ६४
 स्त्रीणां गणोऽर्धपरिपिष्ट इहैति कष्टं
 कखातुमेनमपरः कुजडं समर्थः ।
 न ह्यन्तकस्य दशनैरभिवर्ष्यमाणा
 प्रातुं परस्परमियं जनता समर्था ॥ ६५
 पर्वतप्रतिघसर्पसर्पणाः
 संसरन्ति विपुला जलोच्चयाः ।
 तेषु नाथ इव देवपत्तना-
 न्युज्जमप्य वपुराशु यान्त्यधः ॥ ६६
 द्वीपाद्रीन्द्रसुरासुरोरगनैर्नागाप्सरश्चारणै-
 र्व्याप्तं वारिधिलोलितैः सरसिजैरालूनमूलैरिव ।
 एकाम्भोधिसरः स्थितं त्रिभुवनं कालेन निर्मूलितं
 कष्टं ते क गता महर्द्धिविभवा देवा जगन्नायकाः ॥ ६७

नकानां जलवीचीनां शिखाभिरीरितमुत्क्षिप्तमेतत् । यन्त्रोत्क्षि-
 स्तेन हेमदृषदा सदशमम्बुनो रूपं दिवि ब्रह्मलोके दलैः पञ्चैरावृत्तं
 कर्णिकास्थस्य ध्यानैकनिष्ठस्य परमेष्ठिन आसनभूतं सरोजं प्राप्य
 व्यावर्तते परावर्तते नान्तराले इत्यर्थः ॥ ५५ ॥ गजवाज्यादितुल्य-
 देहाः । अतिघनघुंघुमघोषभीमाः कनकमयदेवासुरपत्तनान्येव
 विद्युतो येषु तथाविधा अमी वीचीचया मेषा इव व्योम्नि भ्रमन्ति
 ॥ ५६ ॥ अतस्त्रीकुसुमसदृशश्रियां उद्यमानोदे प्रलयार्णवे भव-
 तीत्युद्यमानोद्भूक्तायाविधायां वीच्यां वारिपूरेणायं यमोऽपि
 यमान्तरेण नीयत इव लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ अखिला
 लोकपाला नागाश्च स्वाश्रयैर्मेवास्तिनगैर्नगरैश्च सह ब्रुवन्ति
 मज्जन्ति । तत्र निधानादिलक्ष्म्याकरेषु पर्वतोदरगुहासु गतस्य
 प्रविष्टस्य वारिपूरस्य व्यावर्तनार्थं निर्गच्छतो वायोर्गुण्डगुण्ड-
 ष्चैरभिलक्ष्यः पूरः पूरणं येषां तथाविधाः सन्तः ॥ ५८ ॥ स्पष्टम्
 ॥ ५९ ॥ दोहनकाले वत्सानामामीरैर्मातृजङ्घायां बन्धना-
 दिति भावः ॥ ६० ॥ स्वार्थ इव व्यर्थ इव वा हलहलाखनि-
 भिराकुलः ॥ ६१ ॥ कोलाहलैराकुलानां देवदानवपुरोत्तमानां
 वेगेन पातैर्विश्रुग्धवारिपटलीभिर्वलितान्तरासु दिक्षु भ्रमन्ति-
 र्जलज्जालैर्घनाखिव जलमयः स्फुटकुण्डबन्धः संलक्ष्यते ॥ ६२ ॥

एष सर्वजनप्रसिद्धः सूर्य आवर्तवृत्तिपरिवर्तनया सुष्ठु अधस्ता-
 दपनीतः । विधुराजीवनासमर्थाः ॥ ६३ ॥ तेन तादृशेन ब्रह्मेन्द्रादि-
 पुराणां खण्डकैः संकटस्याम्बुनः संघट्टनेन कटुकुट्टनं पश्यन्तीति
 कटुकुट्टनदशस्तेषु मध्ये ये प्राज्ञास्तत्त्वविदस्ते प्रशान्तं मृतं
 अत एव जडं स्वदेहमिह जले उद्यमानं मानस्तदहंभावस्तादु-
 जिह्मताः सन्तः शवतयैव ब्रह्मन्ति । अतो न ते छेदमेदाभिघातादि-
 दुःखैर्लिप्यन्त इति भावः ॥ ६४ ॥ कुजडं कौ पृथ्व्यां जडमतिमूर्ख-
 त्वेन प्रसिद्धमेतं स्त्रीगणं प्रातुं कः समर्थः । जनता जनसमूहः
 ॥ ६५ ॥ पर्वतान् प्रतिघ्नन्ति विदारयन्तीति पर्वतप्रतिघाः सर्पवत्स-
 र्पणं गमनं येषां तथाविधा विपुला जलोच्चयाः कल्लोलाः संस-
 रन्ति । तेषु कल्लोलेषु देवपत्तनानि प्रथमं स्ववपुर्नाथ इव उज्ज-
 मप्य तदनन्तरमाद्यु अधो यान्ति । मज्जन्तीति यावत् ॥ ६६ ॥
 त्रिभुवनं कालेन निर्मूलितं सद्धारिभिलोहितैर्द्वीपैर्द्रीनैः सुरैरसुरैर-
 रगैर्नैर्नागैर्गैर्पारोभिश्चारणैश्च आलूनमूलैः सरसिजैरिव व्याप्त-
 मेकाम्भोधिलक्षणं सरो भूत्वा स्थितम् । कष्टमिति खेदे । महान्तः
 ऋद्धिविभवा येषां ते जगन्नायका इन्द्रादिदेवाः क गताः ॥ ६७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 जगन्नाशवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशत्तरशततमः सर्गः ॥ १३९ ॥

चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४०

व्याध उवाच ।

भगवंस्त्वाद्दशस्तां तामवस्थां च कथं गतः ।

कथं ध्यानप्रयोगेण तदा नोपशमं गतः ॥

१

मुनिरुवाच ।

कल्पान्तेषु विनश्यन्ति नाशैर्नानाविधात्मभिः ।

जगन्ति भ्रान्तिरूपाणि नभस्याभासरूपिभिः ॥

२

कदाचित्कमशो नाशः कल्पान्ते संप्रवर्तते ।

अशङ्कितं कदाचिद्वागैकधादिविकारतः ॥

३

तदा द्रागित्येव यदा विकृतं वारि तत्तथा ।

तेन यावत्सरन्त्याद्यं तावन्नीता जलैः सुराः ॥

४

अन्यच्च विपिनाधीश कालः सर्वकषो ह्ययम् ।

यत्र काले ततस्तस्मिन्स्त्ववश्यं भावि तत्तथा ॥

५

बलं बुद्धिश्च तेजश्च क्षयकाल उपस्थिते ।

विपर्यस्यति सर्वत्र सर्वथा महतामपि ॥

६

अन्यच्च विपिनाधीश मयैतत्तव धर्णितम् ।

स्वप्नदृष्टं किल स्वप्ने किं न संभवतीह कम् ॥

७

व्याध उवाच ।

असदेतद्यदि विभो स्वप्नसंभ्रममात्रकम् ।

कथितेन तदैतेन कोऽर्थः कल्याणकोविद ॥

८

मुनिरुवाच ।

त्वद्बोधनात्मकं कार्यं महद्दस्त्यत्र बुद्धिमन् ।

प्रलयाब्धेरपगमो प्राप्ते द्विजतया स्थितिः ।

मुनेः प्राणितनोर्बाह्यनिर्गमाद्यत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

अप्यर्थे चकारः । त्वादशो ज्ञानयोगसिद्धोऽपि तां तां प्राग्वर्णितबहुप्रकारां प्रलयजलद्ववनादिनानाभ्रान्त्यवस्थां कथं गतः । ध्यानलक्षणयोगाङ्गप्रयोगेणासीतानागतसर्वदर्शनोपायेन तदा सर्वभ्रान्त्युपशमं कथं न गतो न प्राप्तः ॥ १ ॥ २ ॥ क्रमिके प्रलये योगेन भूतभाव्यर्थपर्यालोचनावकाशः स्यात् । आकस्मिके तु न तदवकाशां मया लब्ध इत्युत्तरमभिप्रेत्य प्रलयद्वैविध्यं दर्शयति—कदाचिदिति । सप्तानां समुद्राणां युगपदेकधाभावादिलक्षणाद्विकारतः ॥ ३ ॥ आद्यं हिरण्यगर्भं प्रति निवेदयितुं सुरा यावत्सरन्ति जिगमिषन्ति तावन्नलैर्नीताः । तथा च सुराणामपि यत्र प्रमादस्तत्र मम का कथेत्यर्थः ॥ ४ ॥ कालप्राबल्याद्वा तदा मम ध्यानधारणा न स्फूर्तेत्याह—अन्यच्छेति । विपिनाधीश हे व्याध, सर्वं कपति नाशयतीति सर्वकषः । यत्र काले यदवश्यं भावि तत्तथा भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—बलमिति ॥ ६ ॥ किंचेदं स्वप्ने परषितानुवर्तिना मया दृष्टम्, तत्र च विवेकाप्रसरो महतामपि प्रसिद्ध इति परिहारान्तरमाह—अन्यच्छेति । इह सर्वजने किमप्रसिद्धमिदमित्यर्थः ॥ ७ ॥ स्वप्नसंभ्रमो मात्रा उपमानं यस्य तत्स्वप्नसंभ्रम-

एतद्भ्रमात्मकं वेत्ति भवान्सत्यं तु मे शृणु ॥

९

अनन्तरमहं तस्मिन्मत्तैकार्णवरंहसि ।

जन्तोरोजः स्थितः स्वप्ने भ्रान्तं भ्रान्तो व्यलोक्यं ॥ १०

यावत्ससकलं वारि कापि निर्गन्तुमुद्यतम् ।

विधुब्धवज्रविभ्रस्तसपक्षाद्रीन्द्रवृन्दवत् ॥

११

लब्धवानुह्यमानोऽहं कंचिद्वैवशात्तटम् ।

अवसं तमवष्टभ्य शिखरप्रान्तसंनिभम् ॥

१२

अथ क्षणेन सलिलं तदशेषेण निर्ययौ ।

वीच्यप्रस्फुटिताकारैर्देवैस्तारकिताम्बरम् ॥

१३

तारागणैश्च पातालगतैर्मणिमयोदरम् ।

आवर्तेषु परावृत्तैः स्फारमद्रिजरत्नैः ॥

१४

हेमद्वीपोपमैर्व्यासं गीर्वाणपुरमन्दिरैः ।

भ्रमत्सुराङ्गनालीननलिनीजालमालितम् ॥

१५

मध्योह्यमानकल्पाभ्रनीलशैवालजालकम् ।

विद्युद्गोरोचनाम्भोदनीलनीरजनिर्भरम् ॥

१६

स्फुरत्सीकरनीहारमेघाद्रिकृतदिक्कटम् ।

उल्लोलद्वीचिसंदिग्धवहत्कल्पद्रुममजम् ॥

१७

अथैकार्णवखातोऽसावभवच्छुष्ककोटरः ।

कचिद्रलितसह्याद्रि कचित्संशीकमन्दरः ॥

१८

कचित्कङ्कनिमग्नेन्दुयमवासवतक्षकः ।

कचित्पङ्कनिमग्नाद्यःशाखकल्पद्रुमोत्करः ॥

१९

मात्रकम् । तस्माद् एतेन मां प्रति कथितेन किं प्रयोजनम् । हे कल्याणकोविदेति निरर्थकवाक्यवक्तृता त्वयि न संभाव्येति द्योतनाय संबोधनम् ॥ ८ ॥ कल्याणकोविदत्वं प्रकटयन्मुनिरुत्तरमाह—त्वद्बोधनात्मकमिति । मोक्षपर्यवसायित्वान्महत् । यतो भवान् वर्णितप्रपञ्चसाम्यावगमावेत्परिदृश्यमानमपि भ्रमात्मकं वेत्ति । दृश्यमात्रस्य भ्रमात्मकत्वे सत्यं तु द्रुमो भवानिव परिशिष्यते । अत इममन्वयव्यतिरेकाभ्यामन्यशोधनोपायं कथाशेषं मे मत्तः शृण्वित्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥ कियत्कालं भ्रान्ति त्वं व्यलोकयस्तत्राह—यावदिति । सकलैरावर्तकलोलदिभिः सह वर्तमानं ससकलम् ॥ ११ ॥ तं तटमवष्टभ्य आश्रित्य अवसम् ॥ १२ ॥ तत्सलिलं वर्णयति—वीच्यप्रेत्यादिना । वीच्यप्रस्फुटितजलकणाकारैर्प्रह्ननक्षत्रादिदेवैस्तारकितं संजाततारकमम्बरं येन ॥ १३ ॥ कैश्चित्तारागणैः पातालगतैर्मणिमयोदरमिव ॥ १४ ॥ सुराङ्गनालक्षणैर्लनैर्नलिनीजालैर्मालितम् ॥ १५ ॥ कल्पाभ्रवृत्तिलं शैवालजालकं यत्र, विद्युत् एव गोरोचनातुल्याः परागा यत्र तथाविधैरम्भोदलक्षणैर्नीलनीरजैर्निर्भरमतिशयितम् ॥ १६ ॥ स्फुरत्सीकरैर्नीहारैर्मैघैरदिभिश्च कृतं दिङ्मु तटं यस्य ॥ १७ ॥ एकार्णवखातमपि वर्णयति—शुष्केत्यादिना । संशीकः शीर्णत्वादयं मन्दरोऽन्यो वेत्ति संशयमोम्यो मन्दरो यत्र ॥ १८ ॥ १९ ॥

कश्चित्कमलवत्कीर्णलोकपालशिरःकरः ।
 कश्चित्पङ्कजविश्रान्तरुधिरहृदपाटलः ॥ २०
 कश्चिदाकण्ठनिर्मलकणद्विधाधरीगणः ।
 कश्चित्स्रममृतेभाभयाभ्योप्रमहिषावृतः ॥ २१
 कश्चित्स्रममहाकायगरुडामरपर्वतः ।
 कश्चिन्मत्तमहासेतुर्यमदण्डेन भृजुषा ॥ २२
 कश्चित्प्रमृतवैरिञ्चहंससस्मितपङ्कभूः ।
 कश्चित्पङ्कविनिर्मलदेहार्धामरवारणः ॥ २३
 एतस्मिन्नन्तरे तत्र सानुं प्राप्याश्रमे श्रमात् ।
 विश्रान्तोऽस्मि यदा तेन भृशं निद्राजगाम माम् ॥ २४
 ततः सुषुप्तनिद्रान्तस्तथा वासनयान्धितः ।
 तं तादृगेव कल्पान्तमपश्यं स्वौजसि स्थितः ॥ २५
 दृष्ट्वा तद्विगुणं दुःखं चिरेणात्राहमाकुलः ।
 प्रबुद्धो दृष्टवान्सानुं तमेवास्य हृदि स्थितम् ॥ २६
 अथ तत्र द्वितीयेऽह्नि भास्करोदयसुन्दरम् ।
 सलोकाकाशभूशैलं भुवनं दृष्टवानहम् ॥ २७
 द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
 इति मे चेतसो जातं पत्रादि विटपादिव ॥ २८
 ततस्तस्मिस्तथा दृष्टे भूतले तैः पदार्थकैः ।
 व्यवहारं प्रवृत्तोऽहं किञ्चिद्विस्मृतधीरितः ॥ २९
 जातस्य मेऽद्य वर्षाणि षोडशैष पिता मम ।
 इयं मातास्पदं चेदमिति मे प्रतिमोद्भूत् ॥ ३०
 अपश्यं प्रामकं कश्चित्कञ्चिच्च ब्राह्मणाश्रमम् ।
 किञ्चिद्देहं तथा कश्चिद्दन्धुः कस्मिन्निवाश्रमे ॥ ३१
 अथ मे तिष्ठतः सार्धं बन्धुभिर्ग्राममन्दिरे ।
 अहोरात्रेषु गच्छन्सु जाग्रदादींस्तदेव सत् ॥ ३२
 ततः कालवशात्तत्र प्राक्तनी बोधधीर्मम ।

पङ्कजैरिव विश्रान्तै रुधिरहृदैः पाटलः ॥ २० ॥ स्वप्न इव मृते-
 रिभाभैर्याम्भैर्यमबाह्नैरुप्रमहिषैरावृतः ॥ २१ ॥ सन्नो महा-
 कायगरुडलक्षणोऽमरपर्वतो यत्र । भृजुषा भूमौ पतितेन यम-
 दण्डेन मत्त इव जलनिरोधाक्षमो महासेतुर्यत्र ॥ २२ ॥ २३ ॥
 सानुं तदगिरेः प्रस्थदेशम् । कस्यचिन्मुनेराश्रमे यदा विश्रा-
 न्तोऽस्मि तदा मां मृशं निद्रा आजगाम ॥ २४ ॥ सुषुप्तोत्तर-
 कालप्रवृत्तनिद्रान्तस्तादृक्प्राप्योजोन्तर्दृष्टसहस्रमेव स्वौजसि
 स्थितोऽहमपश्यम् ॥ २५ ॥ अस्य प्राणिनो हृदि स्थितं सानुमहं
 दृष्टवान् ॥ २६ ॥ २७ ॥ चेतसो मनसः सकाशादेव विटपा-
 च्छास्त्रातः पत्रादीव जातमुत्पन्नम् ॥ २८ ॥ प्रवृत्तः कर्तुमिति
 शेषः । इतः पूर्वानुभूतविषये किञ्चिद्विस्मृतधीः, विस्मृतधिया
 ईरित इति वा ॥ २९ ॥ तत्र चापूर्वा कश्चित्सिद्धवत्कारेण
 व्यवहारप्रतिभा स्वस्योद्भूतित्याह—जातस्येति । आस्पदं
 गृहम् ॥ ३० ॥ तत्र कश्चिद्दन्धुरभूविति शेषः ॥ ३१ ॥
 जाग्रदादीनवस्थामेदानुभवत इति शेषः । तदेव प्रामादि ।
 सत् यथार्थमिवाभवत् ॥ ३२ ॥ तस्य प्राग्दामभ्यालकटाक्षाने

विस्मृता तादृशाभ्यासाद्देहो तस्येव मत्स्यता ॥ ३३
 इत्यहं प्रामवास्तव्यः संपन्नो ब्राह्मणस्तदा ।
 देहमात्रकबद्धास्थो दूरीकृतविवेकभूः ॥ ३४
 शरीरमात्रात्मवपुर्दारमात्रानुरजितः ।
 वासनामात्रसारात्मा धनमात्रैकतत्परः ॥ ३५
 जीर्णगोमात्रकधनः संरोपितलतावृत्तिः ।
 संचिताइयवनिप्राणिरुपार्जितकमण्डलुः ॥ ३६
 चलवृक्षकबद्धास्थो लोकाचाररतः सदा ।
 गृहपार्श्वगतानीलशाद्वलस्थलिकास्थितिः ॥ ३७
 शाकशाकायतारामरचनानीतवासरः ।
 सरिद्धवनदीतीर्थसरसि ज्ञानतत्परः ॥ ३८
 गोमयाभ्रजलाम्बुग्निकाष्ठेष्टा कष्टसंचयी ।
 इदं कार्यमिदं नेति पाशाभ्यां विवशीकृतः ॥ ३९
 इति मे जीवतस्तत्र संवत्सरशतं गतम् ।
 एकदाभ्यागतो दूरात्तापसोऽतिथिरात्मवान् ॥ ४०
 पूजितोऽसौ विशभ्राम मद्गृहे ज्ञानपूर्वकम् ।
 भुक्तवाञ्छयने स्थित्वा रात्रौ वर्णितवान्कथाम् ॥ ४१
 नानादिग्देशशैलोर्वीव्यवहारमनोदरे ।
 कथाप्रसङ्गे कस्मिन्निश्रानाविधरसाश्रये ॥ ४२
 सर्वे चिन्मात्रमेवेदमनन्तमविकारि च ।
 जगत्तयेव कश्चति यथास्थितमपि स्थितम् ॥ ४३
 इत्यहं बोधितस्तेन बोधैकधनतां गतः ।
 स्मृतवांस्तमशेषेण वृत्तान्तं धारणावशात् ॥ ४४
 स्मृतवानात्मवृत्तान्तं यस्याहमुदरे स्थितः ।
 तं विराडूपमाशङ्क्य तस्माभिर्गन्तुमुद्यतः ॥ ४५
 तदास्यं निर्गमद्वारमथ जानामि नो यदा ।
 विस्तीर्णं भुवने यस्मिन्भूम्यग्न्यद्विसरिद्धृते ॥ ४६

उक्तस्य निर्वासनस्यापि कष्टस्य मत्स्यसहवासाभ्यासात्पूर्वबोध-
 विस्मरणेन मत्स्यतेव प्रामवास्तव्यता मम संपन्नैत्यर्थः ॥ ३३ ॥
 तामेव प्रपद्यति—इतीत्यादिना ॥ ३४ ॥ वासनामात्रसारः
 आत्मा स्वभावो देहो वा यस्य ॥ ३५ ॥ गृहाङ्गणे संरोपिता
 निष्पावादिलतावृत्तिर्येन । संचिताः अग्निश्च अग्निः क्षेत्रादिभूश्च
 पश्चादिप्राणिनश्च येन । नलोपद्वान्दसः ॥ ३६ ॥ चलेष्वल्प-
 कालजीविषु तुलस्यादिवृक्षकेषु बद्धास्थः । लोकानामाचारेषु
 जनपदप्रामर्शेषु रतः । गृहपार्श्वगतासु आनीलशाद्वलासु
 स्थलिकासु स्थितिर्यस्य ॥ ३७ ॥ शाकानां शाकैरायतानामारा-
 माणां च रचना परिष्कारस्तथा नीता वासरा येन । सरोन्तानां
 दन्तैकवद्भावः ॥ ३८ ॥ इष्टा इष्टकाः । गोमयादीनां कष्टेन
 संचयनशीलः ॥ ३९ ॥ आत्मवानात्मज्ञः ॥ ४० ॥ ४१ ॥
 कस्मिन्निष्कथाप्रसंगे तेवाहं इति बोधित इति व्यवहितेन संबन्धः
 ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ तं प्राक्तनप्राणिशरीरप्रवेशादिसृष्टान्तम्
 ॥ ४४ ॥ तं प्राणिनं सर्वजगत्तरत्वाद्द्विराडूपमाशङ्क्य तस्मात्त-
 दुदरात् ॥ ४५ ॥ यस्मिन् प्राप्युदरे विस्तीर्णं भुवने अमलहं यदा

तदा तमत्यजमेव देशं बन्धुजनावृतम् ।
 तस्य प्राणं प्रविष्टोऽहं निर्गन्तुं पवनं बहिः ॥ ४७
 इहस्थस्य विराजोऽस्य बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
 अन्यजं सर्वमीक्षेऽहमिति निर्णीय तादृशम् ॥ ४८
 धारणां संविदा बद्धा प्रवेशं स्वं तमत्यजम् ।
 तत्प्राणैः सह निर्यात आमोदः कुसुमादिव ॥ ४९
 पवनस्कन्धमासाद्य प्राप्य तन्मुखकोटरम् ।
 बहिर्वातरथेनाहं निर्गतो दृष्टवान्पुरः ॥ ५०
 यावत्तथैव महेहो बद्धपद्मासनः स्थितः ।
 कापि मुन्याभ्रमः क्षिप्यैः पालितो गिरिकन्दरे ॥ ५१
 पुरो मे तिष्ठतां तेषां मत्संरक्षणकर्मणाम् ।
 मुहूर्तमात्रं च गतः कालश्चान्ते निवासिनाम् ॥ ५२
 हृदयं संप्रविष्टोऽसौ यस्याहं स पुमानपि ।
 पृष्ठेनोत्सवलण्धेन शेते ततोऽन्धसा सुखम् ॥ ५३
 तदाभ्यर्थं मया दृष्ट्वा नोक्तं किञ्च न कस्यचित् ।
 पुनस्तस्यैव हृदयं प्रविष्टः कौतुकाद्बहम् ॥ ५४
 प्राप्तोऽस्म्योजःप्रवेशं तं तस्य तस्मिन्दन्तरे ।
 भवेक्षितुं स्वबन्धुंस्तान्भ्यातो वासनया तथा ॥ ५५
 यावत्तत्र युगस्यान्तः संप्रवृत्तोऽतिदारुणः ।
 भुवनं तद्विपर्यासमागतं सह संस्थया ॥ ५६
 अन्य एवाचलास्तत्र घसुधान्या च संस्थिता ।
 अन्य एव ककुप्सेदस्तथान्या भुवनस्थितिः ॥ ५७
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि०

ते बन्धवः स च प्राणः स भूभागः स दिक्तटः ।
 न जाने क गतं सर्वं व्यूहा नीतमिवाग्निलैः ॥ ५८
 तदा पश्यामि भुवनं यावद्बन्धवस्त्वितम् ।
 अपूर्वसंनिवेशं तज्जगद्वन्द्विवोदितम् ॥ ५९
 तपन्ति द्वादशादित्याः प्रज्वलन्ति दिशो दश ।
 शीताश्यानाम्बुषच्छैलाः प्रवृत्ता गलितुं बलात् ॥ ६०
 अद्रावद्रौ दिशिदिशि ज्वलन्ति वनपङ्कयः ।
 दग्धाः स्मृतिपदं याताः समस्ता रज्जभूतयः ॥ ६१
 सर्व एवाग्धयः शुष्का महावाताः पुरःस्थिताः ।
 भङ्गारराशितां यातं भूमण्डलमशेषतः ॥ ६२
 पातालतो भूतलतोऽथ दिग्भ्यो
 ज्वाला विनिर्गन्तुमनुप्रवृत्ताः ।
 संघ्याभ्रवद्वाशु बभूव विश्वं
 ज्वालामयं मण्डलमेकमेव ॥ ६३
 ज्वालामये सद्यनि हेमपद्म-
 कोशे भ्रमद्भ्रू इव प्रविष्टः ।
 ततोऽहमाराच्छलभकमेण
 न वासवान्दाहविकारदुःखम् ॥ ६४
 ज्वालामये साधु महाम्बुवाहे
 भ्रमाम्यहं विद्युदिवानिलात्मा ।
 ज्वालापरिस्पन्दविलोलवर्ष्मा
 स्थलाब्जखण्डभ्रमरोपमधीः ॥ ६५
 हृदयकल्पनावर्णनं नाम चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४१

मुनिरुवाच ।

तत्र दन्दद्वयमानोऽपि नाभवं दुःखभागहृत्म् ।

निर्गमद्वारं तदास्यं न जानामि तदा तं देशमत्यजमेव तस्य
 प्राणं पवनं बहिर्निर्गन्तुं प्रविष्ट इति परेण सहान्वयः ॥ ४६ ॥
 ॥ ४७ ॥ इहस्थस्य विराजोऽस्य प्राणिनो बाह्यमाभ्यन्तरं विराज-
 न्तरोत्पन्नमाभ्यन्तरं चेति सर्वमीक्षे इति बुद्ध्या तादृशं तदनु-
 कूलं तत्प्राणाहंभावधारणां बद्धा तं प्रदेशमत्यजमिति परेणा-
 न्वयः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ वातलक्षणेन रथेन बहिर्निर्गतः सन्
 पुरो वक्ष्यमाणं दृष्टवान् ॥ ५० ॥ बाह्ये कापि गिरिकन्दरे
 मुन्याभ्रमोऽस्ति तत्र महेहो यावत्सकलस्तथा प्रागनुभूतबदेव
 बद्धपद्मासनः स्थितः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ स प्राणी अन्तेवासी
 पुमान् प्राप्ते कश्चिदुत्सवे लब्धेन अन्धसा मृष्टाञ्जेन तृतः सन्
 उत्तानः पृष्ठेन सुखं शेते ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ तं प्रागनुभूतभोजः-
 प्रदेशमानन्दमयादिकोशत्रयप्रवेशं यावत्प्राप्तोऽस्ति तावत्तत्र
 युगस्यान्तः संप्रवृत्त इति परेणान्वयः ॥ ५५ ॥ संस्थया धर्मा-
 धर्मव्यवस्थया सह विपर्यासमागतं प्राप्तम् ॥ ५६ ॥ भुवनविपर्या-
 समेव प्रपन्नयति—अन्य इति ॥ ५७ ॥ व्यूह संकल्प ॥ ५८ ॥
 यावत्कृत्स्नम् ॥ ५९ ॥ शीतेन आशयानं घनीभूतं बद्धम् तद्वत्

स्वप्ने स्वप्नोऽयमित्येष जानन्नभावापि च्युतः ॥ १
 ज्वालाजालनवोद्गीतिमण्डलैरखिलैर्नभः ।

गलितुं प्रवृत्ताः ॥ ६० ॥ ६१ ॥ पुरोदिशि स्थिता उत्थिताः
 ॥ ६२ ॥ प्रथमं पातालस्ततो भूतलतोऽधानन्तरं दिग्भ्यो
 ज्वाला विनिर्गन्तुं प्रवृत्ताः । विश्वमाद्यु एकमेव ज्वालामयं
 मण्डलं सत् संघ्याभ्रवदारकं बभूव ॥ ६३ ॥ तस्मिन् ज्वाला-
 मये सद्यनि हेमपद्मकोशे भ्रमद्भ्रू इव प्रविष्टोऽहं शलभकमेण
 प्रसक्तमपि दाहविकारदुःखं नैवासवान् । आतिवाहिकदेहमात्र-
 मिश्रयादिति भावः ॥ ६४ ॥ अमिलधारणया अनिलात्मा वायु-
 प्रायोऽहं तस्मिन् ज्वालामये महाम्बुवाहे विद्युदिव साधु
 भ्रमामि । ज्वालापरिस्पन्देषु विलोकं वर्ष्मं यस्य तथाविधः सन्
 स्थलाब्जखण्डेषु भ्रमन्तो ये भ्रमरास्तदुपमधीः संवृत्त इत्यर्थः
 ॥ ६५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे उत्तरार्धे हृदयकल्पनावर्णनं नाम चत्वारिंशदधिकशत-
 तमः सर्गः ॥ १४० ॥

वह्निज्वालाकुले कोके वापरेखण्डस्य निर्गमः ।

विश्विहाङ्गारधर्माब्जज्वालासेवोऽत्र वर्ष्मते ॥ १ ॥

दन्दद्वयमानः सर्वतो दहनव्याप्तोऽपि ॥ १ ॥ ज्वालाजालानां

अलातचक्रवन्नाह केवलं भ्रान्तवानहम् ॥ २
 तं द्वाग्निमहं यावत्तस्ववित्यादस्त्रिभ्रवीः ।
 विचारयाम्यस्त्रिभ्रवात्मा मारुतस्तावदाययौ ॥ ३
 सीत्कारमसिगम्भीरं दधन्मेघरघोपमम् ।
 जगत्पदार्यैरावृत्तैरुह्यमानैः परावृतः ॥ ४
 वृहद्भिर्घुमावेगैर्वने द्विगुणिताम्बुदः ।
 सूर्यैरावृत्तिभिव्यूढैर्विमिश्रालातचक्रकः ॥ ५
 ज्वालासंध्याभ्रनिवहैर्वृहदग्निनदीशतः ।
 शैलद्विगुणभूखण्डदानवामरपत्तनः ॥ ६
 भूतैर्द्विगुणपाश्र्वौघो भ्रान्तैरम्बरकुक्षिषु ।
 दग्धादग्धाभिरप्यर्धदग्धाभिरितरेतरम् ॥ ७
 पतन्तीभिः सुरस्त्रीभिर्द्विगुणाग्निशिखालवः ।
 पतदङ्गारधारौघकणसीकरदन्तुरः ॥ ८

अलातविद्युतो धुन्वन्पूताङ्गारोप्रमण्डलीः ।
 धूमान्धकारैः स्थगयन्मलानमूर्ध्वदिशोमुक्षम् ॥ ९
 भूमेर्व्योम्नो दिग्बुखेभ्यः समन्ता-
 ज्वालासंध्यावारिदा निर्गतास्ते ।
 यैस्तैर्ज्वालाशैलसंपिण्डमात्रं
 सव्योमौकाः संस्थिता सप्तलोकी ॥ १०
 कापि प्रोत्फालकीर्णानलकणकपिलप्रोल्लसन्मूर्ध-
 जालिः
 कापि प्रोङ्गीनकुड्यःकटुरटनपटुर्मससंपिण्डपाण्डुः ।
 कापि ज्वालापटालीं परिदधदमितः संपतन्तीं
 गृहीतां
 रोद्रः कर्तुं प्रवृत्तो हर इव स तदा मारुतो
 नृत्यलीलाः ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासि० वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० कल्पान्तवर्णनं नामैकचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४२

मुनिरुवाच ।

वर्तमाने तदा तस्मिन्कष्टे संभ्रान्तसंभ्रमे ।
 उह्यमानोऽहमत्यन्तं खेदमभ्यागतोऽभवम् ॥ १
 अचिन्तयं तत्स्वप्नोऽयं परस्य हृदये मम ।
 तदतः परिनिर्वामि दुःखं पश्यामि किं मुधा ॥ २
 व्याध उवाच ।
 किंस्त्रिस्त्यात्स्वप्न इत्येव किल संदेहशान्तये ।

नवैः उड्वितीनामुड्यनानां मण्डलैरहमखिलं नमः अलातच-
 क्रवन्भ्रान्तवान् ॥२॥ भ्रमणैरास्त्रिभ्रवात्मा ईषच्छ्रान्तमनाः ॥३॥
 तमेव मारुतं वर्णयति—सीत्कारेत्यादिना । सीत्कारमग्नि-
 फूत्कारोपमं ध्वनिविशेषम् । उह्यमानैः शिलोत्सुकरजोभस्मा-
 दिमिर्जगत्पदार्यैः परावृतो व्याप्तः ॥ ४ ॥ व्यूढैः प्रवाहितै-
 रावृत्तिभिः परिवर्तमानैः सूर्यैर्द्वादशादित्यैः सह विमिश्राणि
 अलातचक्राणि येन ॥ ५ ॥ ज्वालालक्षणैः संध्याभ्रनिवहैः
 प्रवर्तितानि वृहन्त्यग्निनदीशतानि येन । शैलेभ्योऽपि द्विगुणानि
 भूखण्डा लोष्ठानि दानवामराणां पत्तनानि च यस्मिन् ॥ ६ ॥
 अम्बरकुक्षिषु भ्रान्तैर्भूतैर्द्विगुणिताः प्रागुक्तनदीशतपाश्र्वौघा येन
 ॥ ७ ॥ द्विगुणा अग्निशिखा एव ज्वाला संध्याभ्रजललवा
 यस्मिन् । पतदङ्गारलक्षणैस्तदीयैर्जलधारौघैरग्निं कणलक्षणसी-
 करैश्च दन्तुर उज्जतदन्त इव स्थितः ॥ ८ ॥ पूतानां निरस्त-
 भस्मनामङ्गाराणामुष्मा मण्डल्यो यावु तथाविधास्तदीया अला-
 तविद्युतो धुन्वन् कम्पयन् । स्थगयन्नाच्छादयन् ॥ ९ ॥ भूमेः
 सकाशासथा व्योम्नो दिग्बुखेभ्यश्च ते वर्णितप्रकारा ज्वालाल-
 क्षणाः संध्यावारिदा निर्गताः । यैर्वारिदैर्व्योमौकाभिर्देवादिभिः
 सहिता सव्योमौकाः सप्तानां लोकानां समाहारः सप्तलोकी
 ज्वालाशैलसंपिण्डमात्रं भूत्वा संस्थिता ॥ १० ॥ स प्राग्वर्णित-
 यो० वा० १७७

प्रविष्टो हृदयं तस्य किं तं निर्णीतवानसि ॥ ३
 किमेतद्भवतां दृष्टं हृदये क महार्णवः ।
 जठरे कल्पवातः किं हृदि कल्पानलः कथम् ॥ ४
 द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
 कथं हृदि जगन्नाम कथयेति यथास्थितम् ॥ ५

ध्वण्डमारुतस्तदा हरः कालामिरुद्रवज्रतलीलाः कर्तुं प्रवृत्तः ।
 कीदृशः सन् । कापि ऊर्ध्वदेशे प्रोत्फालैरुच्छलनैः कीर्णानल-
 कणा एव कपिलाः प्रोल्लसन्त्यो मूर्धजानामालयो यस्य । काप्य-
 धोभागे पादाघातेनेव प्रोङ्गीनानि कुड्यानि येन । कटु दुःसहं
 यद्रटनं तत्र पटुः । भस्मभिः संपिण्डितान्यवगुण्डितान्यङ्गानि
 यस्य । कापि मध्यभागे अभितः संपतन्तीं ज्वालापटालीमुप-
 संगृहीतां परिदधत् वसान इत्येवंविधः सन्नित्यर्थः । विशेषणा-
 न्युभयत्र योज्यानि ॥ ११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कल्पान्तवर्णनं नामैकचत्वा-
 रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४१ ॥

इह स्वप्नादिजगतस्तत्त्वं ब्रह्मेति कीर्त्यते ।

तत्त्वदृष्ट्या जगद्गीजकर्माभावश्च साध्यते ॥ १ ॥

खेदं भ्रमप्रयुक्तं दैन्यम् ॥ १ ॥ तत्ततः खेदादचिन्तयम् ।
 मुधा दुःखप्रदुःखं किं पश्यामि । अतः परित्यज्यैतद्दर्शनं
 जागरणेन निर्वामि निर्भृति लमेयेत्यर्थः ॥२॥ स्वप्नस्य तत्त्वं किं
 स्यादिति निर्णयाय परस्वप्नं द्रष्टुं परकाये प्रविष्टस्त्वं किं निर्णय
 तद्दर्शनाभिवृत्तोऽभूरिति व्याधः पृच्छति—किंस्त्रिदिति । तं
 स्वप्नं तत्त्वतः किं निर्णीतवानसि ॥ ३ ॥ परहृदये दृष्टा महा-
 णेनादयः किम् ॥ ४ ॥ हृदि जगन्नाम कथं संभवतीत्येतस्य

मुनिरुवाच ।

अकारणत्वात्सर्गशब्दावेवानुत्पादतः स्फुटात् ।
 अज्ञातौ सर्गशब्दार्थावेव न स्तो मनागपि ॥ ६
 तच्चैतौ सर्वशब्दार्थौ त्वज्ञातौ परमात्मनि ।
 यतस्तत्पदमज्ञानज्ञानात्मकमनामयम् ॥ ७
 अतः सुभग सिद्धान्ते त्वत्पक्षे बोधमागते ।
 मौर्ख्यशान्तावनाद्यन्ते पदे परमपावने ॥ ८
 वच्मीदं मूढसंविशौ यदिदं तन्न वेद्यहम् ।
 वस्त्ववस्तुजमाभातं बोधमात्रमिदं ततम् ॥ ९
 क शरीरं क हृदयं क स्वप्नः क जलादि च ।
 क बोधो बोधविच्छिन्निः क जन्ममरणादि च ॥१०
 स्वच्छं चिन्मात्रमस्तीह तन्नाम यदपेक्षया ।
 स्थूलमेव खमप्यद्रिरणूनां निकटे यथा ॥ ११
 स्वभावात्स चिदाकाशः किञ्चिद्येतति चिन्तया ।
 स्वमेव वपुराकाशं यत्तद्वेत्ति जगत्तथा ॥ १२

यथास्थितं तत्त्वं स्वनिर्णीतं कथयेत्यर्थः ॥ ५ ॥ एवं स्वपर-
 स्वप्रादिदर्शनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां परीक्षितस्य शब्दार्थरूपस्य
 जगतो बाधदशा त्रैकालिकासत्त्वमेव तत्त्वम् । परिशिष्टाभिष्टान-
 नब्रह्मदशा तु तदेव तत्त्वमित्याशयेन मुनिरुत्तरमाह—अका-
 रणत्वादित्यादिना । अकारणत्वादसंभवत्कारणकत्वात् ।
 तथा हि । कूटस्थं वा कारणं विकारि वा । न तावत्कूटस्थम् ।
 अकुर्वतः कारकत्वायोगेन कार्यसंज्ञानर्हत्वेन उदासीनव्यावृत्त-
 रूपानिरूपणेन स्वभावान्तरानुपजनेन च कारणत्वासंभवात् ।
 विकारिणश्चानिर्णीतनानां शब्दितस्य कौशः कारणं स्यात् ।
 मृत्पिण्डे हि षटादिविकारिणि किमपयन्पिण्डाकारः कारणमुतो-
 पयन् षटाकार उतोभयानुगतो सूदायाकारः । नाद्यः । स्वत्राणे-
 ऽप्यसमर्थस्य कार्यकालास्थायिनः कार्यार्थव्यापारानाधारस्य च
 तस्य कारणत्वसंभावनाऽयोगात् । न द्वितीयः । कार्यस्या-
 न्यस्वानिरूपणात् । न तृतीयः । तस्याकुर्वद्भूत्वे कौटस्थ्यात्कु-
 र्वद्भूत्वे घटानन्वयप्रसङ्गात्समर्थस्य क्षेपायोगेन युगपत्सर्व-
 कार्यप्रसङ्गात्पिण्डषट्कपालघूर्णादिर्यागपद्यापत्तेः । सहकार्य-
 न्तरसंबन्धव्यवस्थया व्यवस्थेति चेन्न । तत्संबन्धस्य
 मृत्कार्यत्वे तदानीमेवापाद्यमानत्वादन्यकार्यत्वे तत्रापि सर्व-
 त्कार्ययोगपद्यापादने संबन्धस्यापि तदा आपादनापृतीय-
 सहकार्ययुक्तौ तत्राप्येतद्वोधानिर्मोक्षादिनिगमनाविरहेण युगपत्स-
 र्वोत्पादस्य परस्परप्रतिबन्धेन कस्याप्यनुत्पादस्य वा प्रसङ्गात् ।
 तस्मात्सर्गादेरकारणपक्षस्यैव परिशेषात्सर्गशब्दार्थौ मनागपि न
 स्त एवेति तत्त्वं निर्णीतमित्यर्थः ॥ ६ ॥ कथं तर्हि लोके सर्गशब्दार्थौ
 प्रसिद्धौ तत्राह—तच्चैताविति । एतौ सर्गशब्दार्थौ परमात्मनि
 तत्त्वतो ज्ञातावेव प्रसिद्धौ । तदज्ञातं परमात्मरूपं ज्येतौ ।
 नन्वज्ञातौ चेदप्रसिद्धावेवेति स्यान्न तु प्रसिद्धाविति तत्राह—

२ चिन्तय इति वाचः ।

यथा स्वप्ने पुरतया चिदेवाभाति केवला ।
 न तु किञ्चित्पुरात्वेवं जगच्चिन्मात्रमेव खे ॥ १३
 इदं शान्तमनाभातमनन्वचैतदात्मनि ।
 चिति दृशौ तमसि खे चक्रकादीव भाति ते ॥ १४
 अस्माकं तु न चाभानं न चासन्नं च सन्नं खम् ।
 अनाकारमनाद्यन्तमेकं चिद्योम केवलम् ॥ १५
 भात्यकारणकं स्वप्ने शुद्धो द्रष्टृव केवलः ।
 तेनात्र कारणाभावो न द्रष्टास्ति न दर्शनम् ॥ १६
 शुद्धं किमपि तद्भाति स्वानुभूतमपि स्फुटम् ।
 यद्वाच्यमनाद्यन्तमेकं द्वैतैक्यवर्जितम् ॥ १७
 एकः कालो यथा कल्पः प्रकाशश्चोभयात्मकः ।
 बीजं वा फलपुष्पान्तं ब्रह्म सर्वात्मकं तथा ॥ १८
 यदन्यस्य महत्कुड्यं तदन्यस्यामलं नभः ।
 दृष्टमेतत्स्थिरस्वप्नसंकल्पभ्रमभूमिषु ॥ १९
 स्वच्छं तदा तदात्मैकं भाति चिन्मात्रखं यथा ।

यत इति । भवेदेतदेवं यद्यज्ञानमात्रं जगत्स्यात् । यतस्तु तद-
 ज्ञातमात्मपदं शबलत्वादज्ञानज्ञानात्मकम् । तत्राज्ञानांशमादा-
 याज्ञातौ ज्ञानांशमादाय प्रसिद्धौ च सुवचवित्यर्थः ॥ ७ ॥ यदि
 प्रसिद्धौ तर्हि सर्गशब्दार्थावेव न स्त इति कथं वक्षि तत्राह—
 अत इति । हे सुभग, त्वत्पक्षे त्वदभिप्रेते स्वप्रादिजगत्तत्त्वे
 बोधमागते सति मौर्ख्यस्याज्ञानस्य शान्तौ सत्यां परमसिद्धान्ते
 परमपावने पदे स्थित्वा । इदं सर्गशब्दार्थावेव न स्त इति वाक्यं
 वक्षि । मूढानां संविशौ यदिदं शब्दार्थसत्त्वं तदहमत्यन्ता-
 संभवाच्च वेद्योत्युत्तरत्रान्वयः ॥ ८ ॥ ९ ॥ सिद्धान्ते तु शरी-
 रादिप्रसिद्धिरेव नास्तीत्याह—केति ॥ १० ॥ किं तर्ह्यस्ति
 तदाह—स्वच्छमिति ॥ ११ ॥ ईश्वरस्य तत्त्वविदां च जगद्दर्शनं
 कीदृशं तत्राह—स्वभावादिति ॥ १२ ॥ १३ ॥ व्याधदशा तर्हि
 कथं भाति तदाह—चित्तीति । चिति चिद्रूपायां दृशौ चक्षुषि
 तमसि अज्ञानलक्षणातिमिरोगे सति खे चक्रकादि यथा भासते
 तद्वत्ते भातीत्यर्थः ॥ १४ ॥ स्वदशा त्वाह—अस्माकमिति ।
 अस्तत् प्रातिभासिकं सत् व्यावहारिकं खं शून्यं केवलं चिद्योम
 भातीत्यनुवर्तते ॥ १५ ॥ येन हेतुना अकारणकब्रह्माति तत्केव-
 लक्षिपुटीशून्यः शुद्धो द्रष्टृवेति स्वप्ने निर्णीतं तेन कारणेन अत्र
 जाप्रत्यपि कारणाभावः आशुपपादित इति द्रष्टादित्रिपुटी
 नास्त्येवेत्यर्थः ॥ १६ ॥ खेनानुभूतमपि कुमारीसुखवदवाक्यं
 वक्तुमशक्यम् ॥ १७ ॥ द्वैतैक्यवर्जितस्य द्वैतैक्यात्मना स्थितिः
 क दृष्टा तत्राह—एक इति । कल्पः प्रलयः प्रकाशः सर्गोत्सु-
 मयात्मको यथा । यथा वा बीजमङ्कुरकाण्डवृक्षशाखापङ्कजक-
 पुष्पान्तं स्वममेवावतिष्ठते तथा ब्रह्म सर्वात्मकमित्यर्थः ॥ १८ ॥
 तर्हि ब्रह्म द्वैतैक्यवदेव न तु तद्वर्जितं तत्राह—यदिति । यदि
 परमार्थतो द्वैतैक्यवत्स्यात्तर्हि सर्वान्प्रति तथा स्यान्न तु तथा
 सर्वैर्दृश्यत इति भावः ॥ १९ ॥ यथा आत्मा चिन्मात्रमेव सन्नं

स्वप्ने जाग्रदिवससहजाप्रत्यक्षेऽपि नान्यथा ॥ २०
 अदृश्ये पवने यद्ददृश्यं सौरभं स्थितम् ।
 चिन्मात्रेऽप्रतिषे तद्वज्रगदप्रतिघं स्थितम् ॥ २१
 समस्तमननत्यागे योऽसि सोऽसि निरामयः ।
 बहिरन्तरनन्तात्मा सुस्थितोऽपि निरन्तरम् ॥ २२
 व्याध उवाच ।
 भगवन्प्राक्तनं कर्म केषामिह हि विद्यते ।
 केषां न विद्यते तद्वद्विनापि भवतः कथम् ॥ २३
 मुनिरुवाच ।
 सर्गादिषु स्वयं भ्रान्ति ब्रह्माद्या ये स्वयंभुवः ।
 विद्वत्सिमात्रदेहास्ते न तेषां जन्मकर्मणी ॥ २४
 तेषामस्ति न संसारो न द्वैतं न च कल्पनाः ।
 विशुद्धज्ञानदेहास्ते सर्वात्मानः सदा स्थिताः ॥ २५
 सर्गादौ प्राक्तनं कर्म विद्यते नेह कस्यचित् ।
 सर्गादौ सर्गरूपेण ब्रह्मैवेत्यं विजृम्भते ॥ २६
 यथा ब्रह्मादयो भ्रान्ति सर्गादौ ब्रह्मरूपिणः ।
 भ्रान्ति जीवास्तथान्येऽपि शतशोऽय सहस्रशः ॥ २७
 किंतु ये ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्ते सात्त्विकोद्भवाः ।
 अबोधा ये त्वच्चिदाख्यं बुद्ध्वा द्वैतमिदं स्वयम् ॥ २८
 तेषामुत्तरकालं तत्कर्मभिर्जन्म दृश्यते ।
 स्वयमेव तथा भूतैस्तैरवस्तुत्वमाश्रितम् ॥ २९
 यैस्तु न ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुद्धं बोधमहात्मनि ।

स्वप्ने जाग्रदिवस माति तथा जाग्रन्मध्ये स्वप्नेऽपि माति न त्वणुमा-
 त्रमपि स्वप्नाजाग्रत्स्वप्नया भातीति तदेवेदानीमपि तस्याद्वयत्व-
 मेवेत्यर्थः ॥ २० ॥ ननु प्रलयसुषुप्तोरस्य जगत् स्थितमिति कथं
 सदैकस्वभावोऽयमित्याशङ्क्य नादर्शनमात्रेण जगत्सदा न स्थित-
 मिति निर्णेतुं शक्यमित्याशयेनाह—अदृश्ये इति । चक्षुरद-
 श्येऽपि पवने तादृशं सौरभं स्थितमिति यथा प्राणजानुभवेन
 निर्णयते तथा सुषुप्तप्रलयानुभविपुरुषादृश्यमपि जगत्पुरुषान्त-
 रदशा स्थितमेवेत्यर्थः ॥ २१ ॥ मनोमननत्यागेन दर्शने तु
 कदापि कापि जगत्साक्षीदस्ति भविष्यतीति निरन्तरमेवात्मा
 अद्वयः सुस्थिर इत्याह—समस्तेति ॥ २२ ॥ तर्हि प्राक्तनकर्मा-
 नुसारेणैव मनो मनुते नान्यथेति कर्मैव संसृतिबन्धबीजं पर्य-
 वसजं तदेषां निःशेषं नष्टं तेषां समस्तमननत्यागः सिध्यतीति
 मन्यमानो व्याधस्तत्केषामस्ति केषां नास्तीति पृच्छति—भग-
 वदिति । येषां नास्ति तेषां तत्कर्म विनापि मननतत्यागे कथं
 भवतः ॥ २३ ॥ येषामधिकारप्रापकोपासनाफलान्तर्भावणैव सह
 सिद्धं चतुष्टयमिति न्यायेनौत्पत्तिकं तत्त्वज्ञानं तेषां कर्म नास्तीति
 मुनिरन्तरमाह—सर्गादिच्छिति । आदिपदात्समककपिला-
 दयः । जन्मग्रहणं दग्धपटन्यायेन देहस्थितिप्रदर्शनार्थम् ॥ २४ ॥
 आत्मत्वादेव सर्वात्मानः ॥ २५ ॥ कर्मज्ञान्यास्ते कथं कर्मवता-
 यात्मान इत्याशङ्क्य तादृशा कर्म कस्यापि नास्तीत्याह—सर्गा-
 दिच्छिति ॥ २६ ॥ २७ ॥ केषां दशा तर्हि कर्म विद्यते ताकाह—

निरवद्यास्त एतेऽत्र ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ ३०
 सर्वात्म संबिदोऽच्छत्वं ब्रह्मात्मन्वेव संस्थितम् ।
 तत्कचिज्जीवबुद्धानं स्वयमात्मनि पश्यति ॥ ३१
 यत्र वेत्ति तु जीवत्वं तत्राविद्येति तिष्ठति ।
 तत्र संसृतिनास्मात्मा धत्ते रूपं तथास्थितम् ॥ ३२
 स्वयमेव हि कालेन बुद्ध्वा खं रूपमात्मनः ।
 स्वयमेव स्वरूपस्थं ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ ३३
 यथा द्रवत्वाद्बन्धन्तरेति चावर्ततामिव ।
 ब्रह्म चित्त्वात्तथैतीव सर्गतामस्य सर्गकम् ॥ ३४
 ब्रह्मभानमयं सर्गो न स्वप्नो न च जागरः ।
 कस्य कान्यत्र कर्माणि कीदृशानि क्रियन्ति वा ॥ ३५
 वस्तुतः कर्म नास्त्येव नाविद्यास्ति न सर्गधीः ।
 स्वसंवेदनतः सर्वमसदेष प्रवर्तते ॥ ३६
 ब्रह्मैव सर्गो भूतात्मा कर्म जन्मेति कल्पनाः ।
 स्वयं कुर्वदिदं भाति विभुत्वात्कल्पितार्थभाक् ॥ ३७
 न संभवति जीवस्य सर्गादौ कर्म कस्यचित् ।
 पद्मात्स्वकर्म निर्माय भुक्ते कल्पनया स चित् ॥ ३८
 जलावर्तस्य को देहः कानि कर्माणि बोध्यताम् ।
 यथाम्बुमात्रमावर्तो ब्रह्ममात्रं तथा जगत् ॥ ३९
 यथा स्वप्नेषु दृष्टानां न प्राक्तनं नृणां भवेत् ।
 आदिसर्गेषु जीवानां तथा चिन्मात्ररूपिणाम् ॥ ४०
 सर्गं सर्गतया रूढे भवेत्प्राक्तनकल्पना ।

किञ्चित् । ये तु अबोधा अज्ञानावृताः सन्तः स्वस्य ब्रह्मत्वं
 न बुध्यन्ते किंतु नाहं ब्रह्मेति ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्ते असा-
 त्त्विकाकेवलसत्त्वपरिणामविलक्षणरजस्तमोमिश्रसत्त्वपरिणामा-
 दुद्भवो येषां तथाविधा जीवास्ते अचिदाख्यमिदं द्वैतं सत्यमिति
 बुद्ध्वा तद्वासनावासिता एव प्राकृतास्तेषां कर्मभिः सहितं जन्म
 उत्तरकालं दृश्यत इति परेणान्वयः ॥ २८ ॥ यतस्तैः स्वयमेव
 तथा अचिदेहाद्यात्मभूतैः परमार्थवस्तु विस्मृत्य अवस्तुत्वमा-
 श्रितमित्यर्थः ॥ २९ ॥ यैस्तु कदापि न बुद्धं ते निरवद्याः कर्म-
 बन्धलक्षणपारहितः ॥ ३० ॥ अच्छत्वं स्वाभाविकमिति
 शेषः । यतो ब्रह्म आत्मनि स्वस्वभावे एव संस्थितम् ।
 कश्चिन्मलिनोपाधौ ॥ ३१ ॥ अविद्यापि जीवोपाध्यवच्छेदेनै-
 वास्ते न शुद्ध इत्याह—यत्रेति ॥ ३२ ॥ स्वयमेवेति । 'ब्रह्म
 वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवाऽवेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्-
 त्सर्वमभवत्', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
 ॥ ३३ ॥ अज्ञातब्रह्मणः सर्गताभ्रान्तिः स्वभाव एवेत्याह—
 यथेति । अस्य सर्गकं स्वभाव इति शेषः ॥ ३४ ॥ का अस्य
 सर्गतेति शेषः ॥ ३५ ॥ प्रवर्तते प्रथते ॥ ३६ ॥ विभुत्वात्सर्व-
 शक्तिमत्त्वात्सत्यसंकल्पत्वात् ॥ ३७ ॥ पश्चात् अविद्यान्तः-
 स्थितिकल्पनोत्तरम् । निर्माय देहादिना निष्पाद्य ॥ ३८ ॥
 ब्रह्मभावदर्शने तु न कर्मसंभावनापीत्याह—अस्तेति ॥ ३९ ॥
 आदिसर्गेषु शुद्धसात्त्विकदेहेषु ॥ ४० ॥ इत्येव न तद्वद्—

पञ्चाजीवा भ्रमन्तीमे कर्मपाशवशीकृताः ॥ ४१
 सर्ग एव न सर्गोऽयं ब्रह्मेत्थं किल तिष्ठति ।
 यत्र तत्र क्व कर्माणि कानि वा कस्य तानि वा ॥ ४२
 अपरिज्ञानमात्रं यत्स्वयं वै परमात्मनः ।
 तदेतत्कर्म बन्धाय तत्तज्ज्ञस्योपशाम्यति ॥ ४३
 यावद्यावत्परिज्ञानं पण्डितस्य प्रवर्तते ।
 तावत्तावत्तदेवास्य कर्म शाम्यति बन्धनम् ॥ ४४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श्रुवो० कर्मनिर्णयो नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१४२॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४३

मुनिरुवाच ।

सर्वेषामेव धर्माणां कर्मणां शर्मणामपि ।
 पण्डितः पुण्डरीकाणां मार्तण्ड इव मण्डनम् ॥ १
 आत्मज्ञानविदो यान्ति यां गतिं गतिकोविदाः ।
 पण्डितास्तत्र शकधीर्जरत्तृणलवायते ॥ २
 पाताले भूतले स्वर्गे सुखमैश्वर्यमेव वा ।
 न तत्पश्यामि यन्नाम पाण्डित्यादतिरिच्यते ॥ ३
 पण्डितस्य यथाभूता वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ।
 दृग्विन्दौ निरम्भोदे सकलामलमण्डले ॥ ४
 इदं दृश्यमविद्यात्म ब्रह्म संपद्यते क्षणात् ।
 बुधस्य बोधात्स्रग्दाम सर्पत्वमिव शाम्यति ॥ ५
 सर्गो इति । तेषां सर्गतया स्वभावदेवेति भावः ॥ ४१ ॥
 ॥ ४२ ॥ तथा च न कर्मप्रयुक्तो बन्धः किंत्वज्ञानप्रयुक्त एवेति
 तदेव कर्मबीजमिति कामं भ्यपदिश्यतां नान्यदित्याह—अप-
 रिज्ञानमात्रमिति ॥ ४३ ॥ अत एव कर्माप्यविद्यात्वादेव यथा
 यथा ज्ञानप्रकर्षस्तथा तथा अपक्षीयत इत्याह—यावदिति
 ॥ ४४ ॥ ननु ज्ञानमात्रात्कथं वस्तुनाश इत्याशङ्क्य वस्तुत्वमेव
 कर्मणो नास्तीत्याह—यन्नामेति ॥ ४५ ॥ अत एव पाण्डित्यार्थ-
 मेव यत्नः कार्यस्तद्विना भयाशान्तेरित्युपसंहरति—तावदिति ।
 यावत्पण्डितत्वं नास्ति तावत्कालमेव माया भवभयकरी ।
 'मिघर्तिभयेषु क्लमः' इति स्वशो विषयोऽयं न । ग्रहणवता
 प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तदेव पाण्डित्यं येन
 पुनः संसारचक्रे न पतसि । न तु शुष्कतर्कादिपाण्डित्यमत्रोपयु-
 ज्यत इत्यर्थः । अतः कारणादधिरतममलज्ञानोदारे पण्डितत्वे
 श्रवणादियत्नं कुर्यात् । इतरथा उपायान्तरेण वो भयं शान्ति
 नैति । 'स एनमविदितो न मुनक्ति', 'उदरमन्तरं कुरुते अथ
 तस्य भयं भवति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कर्मनिर्णयो
 नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४२ ॥

पाण्डित्यस्य प्रशंसात्र तच्च विन्मात्रवृत्तानम् ।

विदेव जगदित्येतद्भूयो युक्त्या समर्प्यते ॥ १ ॥

सर्वेषामेव धर्माणां निर्णये धर्माधिकद्वलौकिककर्मणां निर्णये

यन्नाम किल नास्त्येव तच्छान्तौ का कर्षणा ।
 परमार्थादृते बन्धः किञ्चिन्नाम न विद्यते ॥ ४५
 तावन्माया भवभयकरी पण्डितत्वं न याव-
 सात्पाण्डित्यं पतसि न पुनर्येन संसारचक्रे ।
 यत्नं कुर्यादधिरतमतः पण्डितत्वेऽमलात्म-
 ज्ञानोदारे भयमितरथा नैव वः शान्तिमेति ॥ ४६

यत्स्थितं ब्रह्मणि ब्रह्म कृतास्तेनैव सत्यता ।
 स्वभावैकात्मिकाः संज्ञा देहसर्गक्षयादिकाः ॥ ६
 सर्गो विद्यत एवायं न यत्र किल किञ्चन ।
 तस्य धर्माणि कर्माणि न चैवाक्षरमालिका ॥ ७
 पृथ्व्यादि संभवति चेत्सत्सकारणमस्तु तत् ।
 तदेव यत्र नास्त्येव तत्र किं तस्य कारणम् ॥ ८
 ब्रह्मणः प्रतिभातं यत्तदिदं जगदुच्यते ।
 तेनैव कुत एतानि पृथ्व्यादीनि क्व कारणम् ॥ ९
 स्वप्नद्रष्टृदृश्यनृणामस्ति काल्पनिकं यथा ।
 न वास्तवं पूर्वकामं जाग्रत्स्वप्ने तथा नृणाम् ॥ १०
 तदुभयफलैहिकामुष्मिकशमेणां तारतम्यनिर्णये च संदेहप्रन्थि-
 मेदनेन श्रोतृणां बुद्धिविकासनः पण्डित एव सभामण्डनम् ।
 यथा पुण्डरीकाणां विकासे मार्तण्डो नभोमण्डनं तद्वदित्यर्थः
 ॥ १ ॥ आमुष्मिकसुखमपि सर्वं पण्डितप्राप्यात्मसुखवारिधौ
 सीकरादपि लघुतरमित्याह—आत्मज्ञानेति ॥ २ ॥ पाण्डित्या-
 त्पाण्डित्यफलादानन्दात् । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि
 मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ ३ ॥ पण्डितस्य
 सच्छास्त्रविचारजन्यज्ञानघटतः परमार्थवस्तुरूपा दृष्टिः स्वात्म-
 न्येव प्रसीदति आह्लादते । सकलामलमण्डले शरत्पूर्णेन्दौ इक्
 चक्षुरिव ॥ ४ ॥ बुधस्य पण्डितस्य स्रग्दामनि कल्पितं सर्पत्वमिव
 देहसर्गादिदृश्यजातं बोधाच्छाम्यति ॥ ५ ॥ तर्हि देहसर्गादि
 शान्तिर्ब्रह्मस्वभावादन्या उत्पद्यते नेत्याह—यदिति । ब्रह्म
 स्वतत्त्वज्ञानेन ब्रह्मणि स्वस्वभावे यत्स्थितं तस्यैव तेनैव स्वभावै-
 कात्मिका देहसर्गक्षयादिकाः संज्ञाः कृता इति सत्यता परमार्थ
 इत्यर्थः ॥ ६ ॥ कुत एवमिति चेत्परिषिष्टब्रह्मणो दृश्यक्षया-
 र्क्यधर्मकर्मजन्यत्वादित्याह—सर्गो इति । अक्षरमालिका तद्वो-
 धकपदवाक्यादिरूपा च नैव ॥ ७ ॥ त्रैकालिकासत्त्वादेव
 दृश्यस्य सकारणकत्वं निरस्तमित्याह—पृथ्व्यादीति ॥ ८ ॥
 प्रतिभानं प्रतिभासः । न हि प्रातिभासिके घटे दण्डचक्रादि-
 कारणोपेक्षास्तीति भावः ॥ ९ ॥ पूर्वं कामयते इति पूर्वकामं
 पित्रादिकारणं काल्पनिकमस्ति न वास्तवं यथा तथा जाग्रद्वृत्ते

यथा प्राक्कर्म पुंस्त्वे च स्वप्ने पुंसां न विद्यते ।
 इह जाग्रत्स्वप्ननृणां भातानामपि नो तथा ॥ ११
 जीवः सर्वेषु सर्गेषु स्वप्नार्थाभिखिलान्मिथः ।
 प्राक्कर्मसत्त्वं मिथ्यात्म यथावासनमेषु च ॥ १२
 सर्गादावथ देहान्ते भान्ति स्वप्नार्थवन्मिथः ।
 यथासंवेदनं जीवाः सन्तोऽसन्तश्च तेन ते ॥ १३
 यथासंवेदनं सर्वे भान्ति भावयतस्ततः ।
 ते सन्त्यात्मन्यपि स्वप्ने जाग्रतीवार्थदा मिथः ॥ १४
 संकल्पसंविदप्रत्यवस्तुनिष्ठतयाऽस्फुटम् ।
 फलं चाप्नोति ते स्वप्ने लोकनिष्ठतयाऽस्फुटः ॥ १५
 शुद्धा संवित्स्वभावस्था यत्स्वयं भाति भास्वरा ।
 तस्या भानस्य तस्यास्य जाग्रत्स्वप्नाभिधाः कृताः ॥ १६
 सर्गादावथ देहान्ते भातं यद्वेदनं यथा ।
 तत्तथाऽऽमोक्षमेवास्ते तदिदं सर्गं उच्यते ॥ १७
 जाग्रत्स्वप्नार्थसार्थस्य संविदश्च न भिन्नता ।
 अस्त्यप्रतिघरूपायाः प्रकाशालोकयोरिव ॥ १८
 अण्यौष्ण्ययोरिव तथा वातरुपन्दनयोरिव ।
 द्रवाम्भसोरिवाऽऽवीचि वा शैत्यानिलयोरिव ॥ १९
 सर्वमप्रतिघं शान्तं जगज्जातमसन्मयम् ।
 इत्थं सन्मयमेवास्ति नास्त्यर्थेन च संयुतम् ॥ २०

स्वप्नेऽपीत्यर्थः ॥ १० ॥ पित्रादिवत्कर्माप्यवास्तवमेवेत्याह—
 यथेति । पुंस्त्वे पुरुषादिभावे ॥ ११ ॥ मिथः पश्यतीति शेषः ।
 एषु च सर्गेषु यथावासनं मिथ्याभूतसर्वव्यवहारे प्राक्कर्मसत्त्व-
 मपि यथावासनं मिथ्यात्मैवेत्यर्थः ॥ १२ ॥ जीवाः सर्गो
 भूतभुवनादिसर्गस्तत्प्रभृतिके देहसिद्ध्यन्ते संसारे स्वप्नार्थवदेव
 यथासंवेदनं स्वस्वसंवेदनान्यनतिक्रम्य भान्ति तेन स्वप्नार्था
 इव संवेदनांशे सन्तो विद्यमाना इतरांशे असन्तश्चेत्यर्थः ॥ १३ ॥
 यतो यथाभावनं भान्ति अतः स्वप्नेऽपि सन्ति । मिथः परस्पर-
 मर्थदा अर्थक्रियासमर्थाः ॥ १४ ॥ ते तव स्वप्ने यथा विनापि
 बाह्यार्थं भोजनादिसंकल्पसंविदेव पाकादिसंविक्त्रमेणाग्रस्थप्रासा-
 दिवस्तुनिष्ठा यस्यास्तथाविधात्वेन तृभ्यादिफलं प्राप्नोति तथा
 जाग्रत्संकल्पसंविदपि । अस्फुटः स्वप्नः स्फुटा जाग्रदित्येतावानेव
 विशेष इत्यर्थः ॥ १५ ॥ स्फुटमस्फुटं वा यदेव भूत्वा स्वयं भाति
 तस्यास्तस्यास्य भानस्य जाग्रत्स्वप्नौ इत्यभिधा लोके कृताः ॥ १६ ॥
 आमोक्षं मोक्षपर्यन्तं तत्तथैवास्ते प्रवाहरूपेणेत्यर्थः ॥ १७ ॥
 जाग्रत्स्वप्नयोर्मे अर्थाः प्रसिद्धास्तेषामप्रतिरूपायास्तसंविद-
 क्षातो न भिन्नतेत्यर्थः ॥ १८ ॥ आवीचि वीचीनमिथ्याप्य
 स्थितयोर्द्रवाम्भसोरिव वा ॥ १९ ॥ अप्रतिघममूर्तचिद्रूपत्वा-
 त्प्रतिघातासहम् । इत्थमधिष्ठानचित्स्वभावत्वप्रकारेण तु सन्म-
 यमेवास्ति । नेतिनेतीतिश्रुत्या निषिध्यमानत्वाच्चास्त्यर्थेन नञा
 तदर्थेन वा प्रतियोगिभावेन संयुतं च ॥ २० ॥ ब्रह्म जगदा-
 त्मना प्रोद्भूय प्रलयात्मना मृत्वा च दृश्यानुभवरूपित्वात्तदन-
 नुभवरूपं च सार्वात्म्यव्यवहारे । परमार्थे तु एकमेवाचर्तं

ब्रह्म प्रोद्भूय मृत्वा च दृश्यानुभवरूपि च ।
 चिन्मात्रमजरं शान्तमेकमेवामलं स्थितम् ॥ २१
 कार्यकारणतार्थानां या यथा हृदि कल्पिता ।
 ब्रह्मणा पुरुषेणेव नगर्गन्तस्तथैव सा ॥ २२
 ब्रह्मणो हृदि सर्गोऽयं हृदि ते स्वप्नपूर्यथा ।
 कार्यकारणता तत्र तथास्तेऽभिहिता यथा ॥ २३
 संविद्धनोदरे सर्गे कार्यकारणता स्थिता ।
 तथा यथोहिता तेन त्वया वा कल्पनापुरम् ॥ २४
 चिता संकल्परूपिण्या सर्गे संकल्पपत्तने ।
 त्वयैव स्थापिता संस्था कार्यकारणरूपिणी ॥ २५
 आकाश एव कचनं यच्चित्ते स्वात्मरूपिणी ।
 नियतं संनिवेशत्वात्तदन्तः सर्गं उच्यते ॥ २६
 या संविद्रव्यवस्थास्ते हृदि संकल्पपत्तने ।
 सैषा स्वभावसंसिद्धिः कार्यकारणतार्थजा ॥ २७
 प्रथमं यद्यथा भाति चित्स्वमस्ति तथेह तत् ।
 तस्यैव नियतिः कालो देशादीत्यभिधा कृता ॥ २८
 या नामाशु यथा भाति चेतनाकाशशून्यता ।
 तथा तथा वस्तुतया कार्यकारणताश्रिता ॥ २९
 चिच्चमत्कारमात्रेऽस्मिन्सर्गांमे भावरूपिणि ।
 पूर्वं भावाः प्रवर्तन्ते पश्चात्सर्गाभिधा चिदः ॥ ३०

स्थितम् ॥ २१ ॥ नगर्गन्तमृत्कृच्छ्यादीनामर्थाणां पुरुषेणेव गगन-
 पवनादीनां कार्यकारणता ब्रह्मणा या यथा कल्पिता सा तथै-
 वास्ते । न नियतिभङ्गायेदं शास्त्रं किंतु तत्सत्यतामेदादिभङ्गा-
 येत्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्सत्यताभङ्गे स्वाप्रवस्तुनियतिवचिन्मात्रमेव
 पर्यवस्यतीत्याह—ब्रह्मण इति । अभिहिता स्वामी यथा तथा
 ॥ २३ ॥ यथा ऊहिता सर्गादीं संकल्पिता ॥ २४ ॥ त्वयापि
 स्वकीयसंकल्पपत्तने स्वेच्छानुसारिकार्यकारणरूपिणी व्यवस्था
 मुस्थापेति सिद्धवत्कृत्याह—चित्तेति ॥ २५ ॥ संकल्पनगरत-
 दन्तर्गतव्यवस्थयोश्च चिदाकाशमात्रकचनत्वं खानुभवसिद्धम् ।
 अयं दृश्यमानसर्गोऽपि हिरण्यगर्भसंकल्पजत्वात्संकल्पसर्गान्त-
 र्गत एवोच्यते श्रुतिपुराणादौ न तद्गर्भभूत इत्यर्थः ॥ २६ ॥ ते
 हृदि संकल्पपत्तने या संविद्रव्येच्छिदादित्यस्य स्वप्रकाशतालक्षणा
 अवस्था सदैव आस्ते सैषैव कार्यकारणतार्थजा स्वभावसंसिद्धेति
 न ततोऽणुमात्रमप्यन्येत्यर्थः ॥ २७ ॥ तदेवोपपादयति—
 प्रथममिति । 'स भूरिति व्याहरस्त भुवमसृजत' इत्यादिश्रुते-
 र्हिरण्यगर्भहार्दचित्ति सर्गारम्भे यत्पृथिव्यादिपथा गन्धकाठि-
 न्यादिप्रकारेण चित्त्वं भाति स्फुरति तदिदानीमपि तथैवास्ति ।
 तस्यैव तथा स्थितस्य पृथिव्या गन्धकाठिन्यनियतिरपां द्रवत्व-
 नियतिस्तेजस उष्णप्रकाशनियतिर्वायोः स्पन्दसौक्ष्म्यनियतिरि-
 त्यादिरूपेण अतीतानागतादिकालरूपेण प्राचीप्रतीच्यादिवेशादि-
 रूपेण च स्थितस्य तथा तथा अभिधा कृतेत्यर्थः ॥ २८ ॥ एवं
 गोषटादिषु सर्वत्र बोध्यमित्याह—या नामेति । यथा गौः
 पयसः कारणं घटस्तद्धारणस्य ॥ २९ ॥ 'यद्धि मनसा भ्यायति
 तद्वाचा वदति' इति श्रुतेर्नस्ति प्रथमं रूपकल्पना पश्चात्प्रा-
 म-

शून्यतास्त्रिजगद्रूपास्तथा चिद्योमनि स्थिताः ।
 अनन्याः पवने सौम्ये स्पन्दसत्ता यथा निजाः ॥ ३१
 व्योम्नि सौषिर्यनैबिड्यं यथा नीलमिति स्थितम् ।
 चिति चेतननैबिड्यं तथा सर्ग उपस्थितम् ॥ ३२
 आभात एव भातेऽस्मिन्कृच्छ्रात्सर्गे विसर्गता ।
 बुध्यते रज्जुभुजगे रज्जुरूपं यथा पुनः ॥ ३३
 मृतः स स्वप्नवत्सर्वैः संपश्यति पृथग्जगत् ।
 तन्मान्यदिदमन्यच्च नित्याप्रतिघमम्बरम् ॥ ३४
 व्याघ उवाच ।
 परतः सुखदुःखार्थं देहः संपद्यते कथम् ।
 किमस्य हेतुः के वास्य हेतवः सहकारिणः ॥ ३५
 कुर्वन्ति धर्माधर्माश्चेत्तेन प्रतिघरूपिणा ।
 तदस्याप्रतिघं रूपं कुर्वन्तीत्यसमञ्जसम् ॥ ३६
 मुनिरुवाच ।
 धर्माधर्मौ वासना च कर्मात्मा जीव इत्यपि ।
 पर्षायशब्दभारोऽत्र कल्प्यते न तु वास्तवः ॥ ३७
 चित्त्वात्कल्पितचित्त्वेन स्वयं चिन्नभसात्मनि ।
 कृतानि नामान्येतानि कश्चिदस्तीति चेतसा ॥ ३८

कल्पनेत्याह—चित्तमत्कारेति । भावो भावना संकल्पस्तद्रूपिणि ॥ ३० ॥ यत्र या कल्पना सा शून्यापि तन्मात्ररूपेति दृष्टान्तेन दर्शयति—शून्यता इति । यथा पवनस्य स्पन्दसत्ता तद्यतिरिक्तस्वरूपशून्या तदनन्या तथा चिद्योमनि त्रिजगद्रूपाः शून्यता अपील्यर्थः ॥ ३१ ॥ तथा च चिद्वनतैव भ्रान्तदृशां जगदान्मना स्फुरतीत्याह—व्योम्नीति । सौषिर्यनैबिड्यमिति । धूमधूत्यादिव्याप्ते नमसि नैल्यादर्शनादिति भावः ॥ ३२ ॥ कदा पुनर्ब्रह्मणि विसर्गता बुध्यते तदाह—आभात इति । सर्गे आभाते त्रिविधपरिच्छेदशून्यचिन्मात्रस्वभावतो भाते सतीत्यर्थः । कृच्छ्रात्साधनाभ्यासक्रेशात् ॥ ३३ ॥ ऐहलौकिक इव पारलौकिकः सर्गोऽप्येतादगेवेत्याह—मृत इति । तत्र तदन्यत्तदुत्तरपारलौकिकं च इदं च एतदन्यदैहिकं च सर्वमप्रतिघममूर्तं चिदम्बरमेव ॥ ३४ ॥ एतद्देहपतात्परतः अन्यो देहः कथं संपद्यते । हेतुरुपादानम् । हेतवो निमित्तानि ॥ ३५ ॥ ये धर्माधर्मा एव स्वभोगार्थं सर्वे कुर्वन्तीति मन्यन्ते तेषां कर्मनिर्मितस्य ज्ञानेन निवृत्त्यदर्शनादनिर्भोक्षप्रमञ्ज इत्याह—कुर्वन्तीति । प्रतिघरूपिणा तेन देहादिभावेन स्थितस्यास्याप्रतिघं नित्यं तन्मोक्षाख्यं रूपं कर्माणि कुर्वन्तीत्यसमञ्जसम् । कृतकस्यानित्यत्वावर्जनादिति भावः ॥ ३६ ॥ विहितनिमित्तान्तरणे संस्काररूपेण स्थिते धर्माधर्मावित्युच्येते तादृशसंस्कारपुजात्मकमेव मनस्तदेव चिदाभासव्याप्तं जीवः स च प्राणादिचेष्टाप्रधानत्वात्कर्मात्मा स एव स्ववासनानुसारिदेहादि संकल्पयन्स्वदात्मा संपद्यत इवेति । चित एवैते सर्वे प्रतिभासविशेषास्तत्र कामं यथेच्छं कल्पयन्तु फलतो न मेव इत्याशयेन द्वितीयप्रश्नस्य

संविदात्मा स्वयं चिदवादेहं वेत्ति जमेव खे ।
 मृत्वा सन्तं सन्तमिष संकल्पस्यप्रयोरिष ॥ ३९
 स्वयं स्वप्न इवाभाति मृतस्य परलोकधीः ।
 तमेव पश्यति चिरं न तत्राप्यस्ति सत्यता ॥ ४०
 मृतं निर्माति चेदन्यः कथं वास्य स्मृतिर्भवेत् ।
 कथं वा स्यात्स एवासौ चेतनत्वं तमेव जम् ॥ ४१
 मृतौ न जायते तस्माच्चेतसैव स केवलम् ।
 इहायमित्यमित्येष वेत्ति खे वासनात्मकम् ॥ ४२
 स्वमेव भावमभ्यस्तमास्ते सोऽनुभवंधिरम् ।
 स्फुटप्रत्ययवांस्त्वत्र सत्यमित्येष वेत्त्यलम् ॥ ४३
 स्वात्मा स्वमेव तत्रैव स्वप्नाभं दृश्यमाहरन् ।
 पुनः स्वमरणं वेत्ति पुनर्जन्म पुनर्जगत् ॥ ४४
 अलीकजालमेवं खे पश्यन्प्रत्येकमास्थितः ।
 पश्यत्याचारयस्यति किञ्चित्कश्चिन्न कस्यचित् ॥ ४५
 इत्येवं जगतां सन्ति कोटीनां कोटिकोटयः ।
 परिज्ञातास्तु ता ब्रह्म केवलं दृश्यमन्यथा ॥ ४६
 ताभिर्न कस्यचित्किञ्चिदावृतं न च सन्ति ताः ।
 तासां च वेत्ति प्रत्येकमिदमेव जगत्स्थिति ॥ ४७

प्रथमं मुनिरुत्तरमाह—धर्माधर्मावित्यादिना । शब्दभारः शब्दराशिः । वास्तवोऽर्थमेदस्तु न त्वस्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥ कश्चिदुच्यदेहादिप्रपञ्चोऽयप्तीति चेतसा कल्पितेन चित्त्वेन चिदाभासरूपेण चिन्नभःस्वरूपे आत्मनि स्वयं स्वेनैव एतानि धर्माधर्मादीनि तत्फलसुखदुःखादीनि च नामानि कृतानि । 'नर्वाणि रूपाणि निचिन्व धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ३८ ॥ प्रथमप्रश्नं समाधत्ते—संविदात्मेति ॥ ३९ ॥ मरणोत्तरकालं देहादिकल्पनमपि स्वप्नवदेवेत्याह—स्वयमित्येति ॥ ४० ॥ पित्रादिरीश्वरो वा मृतं पुनर्निर्मातीति भ्रमं वारयति—मृतमिति । अन्यश्चेत्निर्माति तदा स एवासौ कथं स्यात् । 'तत्सृष्टा तदेवानुप्राविशत्' इति निर्मातुरेव प्रवेशश्रवणात् । तस्य च स्वात्मत्वात् । इष्टापत्तावस्य स्तन्यपानादिप्रभृत्यनुकूलमस्मृतिः कथं वा भवेत् । तमेव पूर्वसिद्धमात्मानमाश्रित्य जातस्य चेतनत्वं यत्किञ्च तदपि खं शून्यमेव स्यादित्यर्थः ॥ ४१ ॥ प्रथमप्रश्नोत्तरमुक्तमनुवदक्षुपसंहरति—मृतामिति । न जायते जन्म न लभते किंतु चेतसैव केवलमिहायमित्यं जातोऽस्मीति सृष्टेव खे जन्मादिविक्रियाशून्ये आत्मनि कल्पनया वेत्ति ॥ ४२ ॥ तस्यैव भावस्याभासात्स्फुटप्रत्ययतया जन्मादिव्यवहारो लोकवेदयोर्न वस्तुत इत्याह—स्वमेवेति ॥ ४३ ॥ आहरजध्यस्यन् ॥ ४४ ॥ प्रत्येकं व्यष्टिभावमास्थितः सन् पश्यति स्वसंनिधिमात्रेण स्वाध्यस्तकार्यकारणानि विषयेष्वान्चारयति प्रवर्तयति । जाप्रत्स्वप्नयोः सुषुप्तिप्रलयमोक्षेष्विति च । परमार्थतस्तु न किञ्चित्कस्यचिदनीयं नापि कश्चिदस्तीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ अन्यथा अपरिज्ञातास्तु केवलं दृश्यमेव 'स एवमभिदितो न भुजकी'ति श्रुतेरिति भावः ॥ ४६ ॥ ताधिर्जगत्कोटिकोटिभिः । कि

भूतानि तासां प्रत्येकं तथैवान्योन्यमास्थिते ।
 सत्यान्येवासत्यदृष्ट्या सत्यदृष्ट्या त्वजं पदम् ॥ ४८
 सद्यद्विदितवेद्यस्य तदज्ञस्यासदक्षयम् ।
 असद्यत्संप्रबुद्धस्य तत्सदज्ञस्य सुस्फुटम् ॥ ४९
 चित्तेर्यद्यथा भानं तत्तत्सत्यं यथा यतः ।
 सद्रूपाणि समप्राणि भूतानीमाम्यतो मिथः ॥ ५०
 नित्यमन्योन्यसत्यानि तानि तान्येव वाप्यतः ।
 किल संविद्विनिर्णयं रूपमप्रतिघं यतः ॥ ५१
 संविन्मात्रविनिर्णयं कान्यता नान्यता कथा ।
 यथासंवेदनं भाते वस्तुवै क द्वितैकते ॥ ५२
 तदेवेदमिदं ज्ञतेस्तदेवेदं भवत्यलम् ।
 तदेवैतत्तदेवेति भवेज्ज्ञमेरसत्यतः ॥ ५३
 तच्चेदर्थस्ततो ज्ञतेर्नायं तस्याः पृथक् स्थितः ।
 स्थिते ज्ञत्यात्मनि त्वर्थं त्वज्ञत्यायं ततो व्रजेत् ॥ ५४
 ज्ञानं यदेव तज्ज्ञेयं ज्ञेयस्यासंभवात्पृथक् ।
 यथा ज्ञानमतो ज्ञेयं तनोत्यात्मानमात्मना ॥ ५५
 पश्यन्तोऽपि मिलन्तोऽपि पृथक्सर्गा न किञ्चन ।
 सत एवासतो ज्ञस्य मूर्खज्ञातास्तु वेद्यि नो ॥ ५६
 एकं प्रबोधतः सर्वं चिन्मात्रं तावदात्मखम् ।

त्वयमात्मा तासां मध्ये प्रत्येकमेकैको जीव एकं जगदिदमेव
 जगज्ज्ञान्यदिति वेत्ति ॥ ४७ ॥ तासां जगत्कोटीनां पृथिव्या-
 दिपञ्चभूतानि चतुर्विधभूतप्रामाञ्च प्रत्येकमास्थिते तत्तज्जीवा-
 भिमते जगति तथैव न विसदृशानीत्यर्थः । तानि चाऽसत्यया
 व्यवहारदृष्ट्या सत्यानि । सत्यया परमार्थदृष्ट्या त्वजं ब्रह्मपद-
 मेवेत्यर्थः ॥ ४८ ॥ अत एव ज्ञाज्ञयोः सत्यासत्ये परस्परविप-
 रीते इत्याह—सद्यदिति ॥ ४९ ॥ अथवा परमार्थसत्यमिति
 मानरूपत्वात्सर्वं सत्यमेधेयत्ववैपरीत्यमेवेत्याह—चित्तेरिति ॥ ५० ॥
 अथवा यं प्रति यदा यज्जगद्भाति तं प्रति तदा तत्सत्यमिति व्यव-
 स्थितं सत्यत्वमित्याह—नित्यमिति । यतो जगद्रूपं सत्यमसत्य-
 मिति वा सत्यसंविदेव विनिर्णयं सा चेद्भगवती संवित्सत्यमेवेति
 निर्णयति कस्तद्वैपरीत्यं तदन्यः साधयेदिति भावः । अप्रतिघं
 केनापि प्रतिहन्तुमशक्यम् ॥ ५१ ॥ अन्यतानान्यते अत-
 थात्वतयात्वे तयोः कथा का । अयं न्यायो वस्तुमेदाभेद-
 द्वित्वैकत्वाद्दौ योज्य इत्याह—यथासंवेदनमिति ॥ ५२ ॥
 अस्त्वेवं किं ततो भवति तत्राह—तदेवेति । इदं ज्ञेयं तत्
 ज्ञानमेवेति ज्ञानज्ञेयामेदशतेर्वशादिदं दृश्यजातं तज्ज्ञानमेव
 भवति । तावत्तैव सर्वदृश्यप्रासाधित्वद्वैतं सिद्धमिति भावः । ननु
 ज्ञानापलापेनेत्थं ज्ञेयमात्रपरिशेष एव किं न स्यात्तत्राह—तदे-
 वैतदिति । तज्ज्ञानमेतज्ज्ञेयमेव । तथा च तद्दृश्यमेव परिशि-
 ष्टमित्येतन्न ज्ञतेरसत्यत्वाद्भवेत्संभान्येत । तथा सति निर्गतििका
 ज्ञेयसिद्धिरेव न स्यादिति भावः ॥ ५३ ॥ अतः परिशेषाज्ज्ञान-
 मेवार्थभेदयं प्रपञ्चस्तस्या ज्ञतेः पृथक् न स्थितः । एवं सर्व-
 क्षिण्ये ज्ञत्यात्मनि स्थिते सति अयं ब्रह्म अज्ञत्या तदज्ञानेनैव

तदेवात्रैकसंविद्या सहस्रं विजडात्मनाम् ॥ ५७
 एकं तथा च चिन्मात्रं स्वप्ने लक्षात्म तिष्ठति ।
 पुनर्लक्षात्म तत्त्वप्रादेकमास्ते सुषुप्तके ॥ ५८
 चिद्योनि स्वप्नसंविस्तिर्या सैव जगदुच्यते ।
 सुषुप्तं प्रलयः प्रोक्तस्तस्माद्व्यायोऽयमेव सन् ॥ ५९
 एकैव संविन्नानात्वं नृलक्षत्वं च गच्छति ।
 शून्यत्वं च तथार्थत्वं स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ ६०
 इदमप्रतिघं सर्वं किल वेदनमात्रकम् ।
 शुद्धं तद्वद्यथा यत्र भाति तत्र तथा भवेत् ॥ ६१
 एकैव संवित्सर्गादौ भवत्यव्यम्बुखादिकम् ।
 पृथ्व्यादि तावत्सर्गार्थं स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ ६२
 संविदाकाशरूपैव भाति पृथ्व्यादिनामिका ।
 यत्तदेव स्वमेवेदं जगदित्येव भासते ॥ ६३
 संवित्सप्रतिघं भाति भाति चाप्रतिघं तथा ।
 न वस्तुतस्तु प्रतिघा संवित्सान्ते निवर्तते ॥ ६४
 यासि पूर्वा पश्चिमां च दिशं वेत्सि चिरं विदन् ।
 प्रतिघं नाम ते नास्ति न च सप्रतिघा क्वचित् ॥ ६५
 दृष्टं संकल्पितं चार्थं सहाभ्यस्यति यश्चिरम् ।
 सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छान्तो निवर्तते ॥ ६६

ततो ज्ञप्तिस्वभावाद्भजेत्प्रच्यवेत न वस्तुत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥
 तथा चाज्ञानज्ञानमेव ज्ञेयजगदात्मतामात्मनैव तनोतीति फलि-
 तमित्याह—ज्ञानमिति ॥ ५५ ॥ तथा च पृथगसतो ज्ञत्यात्मना
 सत एव सर्गान्पश्यतो ज्ञस्य तत्त्वविदः पश्यन्तो पृहन्तश्च-
 क्षुरादिसर्गास्तैर्मिलन्तो रूपादिसर्गा अपि ज्ञप्तिव्यतिरिक्ता न
 किञ्चनेति तत्त्वम् । मूर्खज्ञातास्तु सर्गानहं नो वेद्यि ॥ ५६ ॥
 विजडात्मनामज्ञजीवानाम् ॥ ५७ ॥ एकस्यैव चिदात्मनः
 स्वप्ने लक्षकोट्यात्मत्वं सुषुप्तावेकात्मत्वं च प्रतिदमित्याह—
 एकमिति ॥ ५८ ॥ स्वप्नसुषुप्तयोर्द्वयोः न्यायः सर्गप्रलययोरपि
 समानस्तयोस्तदमेदादित्याह—चिद्योनीति ॥ ५९ ॥ भोग्यात्म-
 ना नानात्वं भोकात्मना नृलक्षत्वं च ॥ ६० ॥ ६१ ॥ सर्गार्थं
 सर्गसिद्ध्यर्थं पृथ्व्यादि तावद्भवति । वत्करणमविकारिताद्योत-
 नार्थम् ॥ ६२ ॥ तदेव स्पष्टमाह—संविदिति ॥ ६३ ॥ सप्र-
 तिघं नश्वरं मूर्तमिव, अप्रतिघं नित्यममूर्तमिव च । वस्तुतस्तु
 प्रतिघा नाश एव नास्ति । यतः सा प्रतिघाप्यन्ते निवर्तते
 निवृत्ता च संविदेव परिशिष्यते ॥ ६४ ॥ अप्रतिघत्वमेव संविदः
 समर्थयति—यासीति । त्वं मनसा पूर्वा पश्चिमां च दिशं चिरं
 यासि तत्र तत्र च दृष्टश्रुतानुमितादीनर्थान्विदन्त्वं वेत्सि । तत्र
 संविद्रूपस्य ते प्रतिघं नाम नास्त्येवाऽतः क्वचिदपि संवित्सप्रतिघा
 नेति सिद्धमित्यर्थः ॥ ६५ ॥ ननु जीवचित्संकल्पानां बहुधा
 मोषता दृश्यते सैव तस्याः प्रतिघात इति सप्रतिघत्वमिति
 भेत्तत्राह—दृष्टमिति । दृष्टं प्रमाणसिद्धं संकल्पितमर्थं यः पुरुषः
 सह नैरन्तर्बेण चिरमभ्यसति सोऽवश्यं तदवाप्नोति । तथा च
 संकल्पत्वादाद्यादेव मोषता । न ह्यदृष्टः कार्याक्षय इत्येतावता

यासि पूर्वा पश्चिमां च दिशं वेति चिरं विदन् ।
 य आस्ते यात्यसौ तत्सामन्यस्त्वफन्वा तु नेतराम् ६७
 दृष्टः संकल्पितार्थः स्यामित्यचलसंविदः ।
 द्वयं भवेद्वयं नश्यत्यन्यस्याचलसंविदः ॥ ६८
 दक्षिणादुत्तरां वाशां यामीत्यचलसंविदः ।
 द्वयं भवेद्वयं नश्यत्यन्यस्याचलसंविदः ॥ ६९
 खे पुरं स्यां भुवि मृगः स्यामित्यचलसंविदः ।
 द्वयं भवेद्वयं नश्यत्यन्यद्वयसु तज्जगत् ॥ ७०
 एकं प्रबोधतः सर्वं चिन्मात्रं तावदात्मखम् ।
 तदेवानेकसंविद्या सहस्रं चिज्जडात्मनाम् ॥ ७१
 शरीरमस्त्वप्रतिघमथ सप्रतिघं च वा ।
 स्वप्नात्मकोऽयं संसारो जीवत्येह परत्र च ॥ ७२
 एतन्म्लेच्छादिदेशेषु मृतानां दर्शनात्पुनः ।
 स्मृतिपूर्वं च कथनात्प्रत्यक्षमनुभूयते ॥ ७३
 ये मृता भस्मसाज्जाता म्लेच्छदेशेषु ते पुनः ।
 आगत्य कथयित्वाथं गच्छन्त्यप्रतिघात्मकाः ॥ ७४

चित्तः सप्रतिघलम् । सर्वत्र तत्प्रसङ्गादिति भावः ॥ ६६ ॥
 अथवा अदृढः संकल्पः अदृढमेव मानोरथिकं दिगन्तरगमनं
 तत्रत्यपदार्थदर्शनादि करोति । दृढस्तु दृढमिति न तस्यापि
 मोक्षलमित्याशयेनाह—यासीति । त्वं मनसा पूर्वा पश्चिमां च
 दिशं यासि । तत्र तांस्तान्पदार्थांश्चिरं विदन् यः संकल्पयिता
 आस्ते स तत्तां स्वसंकल्पितदिगन्तरगमनतत्रत्यपदार्थाद्यात्मतां
 स्वसंकल्पानुसारेण याति । यतः अन्यः पुरुषस्तु संकल्पं त्यक्त्वा
 इतरां दिशं मनसापि न याति । अनेनैव विशेषेण तत्र चिद-
 प्रतिघेत्यर्थः ॥ ६७ ॥ एन्दवादेः संकल्पिताथोऽहं स्यामिति
 संकल्पादचलसंविदो द्वयं प्रथमं प्रातिभासिकः संकल्पदाब्धौ
 व्यावहारिकश्चेति द्वयं भवेदित्ययमर्थो दृष्टः । अन्यस्यासंकल्प-
 यितुः पुरुषान्तरस्य स्वात्मनि विषयान्तरं वा अचलसंविदोऽपि
 तद्वयमपि नश्यति न दृश्यत इत्यर्थः ॥ ६८ ॥ एषं दक्षिणादेशा-
 दुत्तरामन्यां वा आशां यामीत्यचलसंविदो मानसं शारीरं चेति
 द्वयं भवेत् । पूर्वपश्चिमगमनद्वयं च नश्यति ॥ ६९ ॥ ७० ॥ तत्त्व-
 प्रबोधतः सर्वमेकमेव चिन्मात्रं तदेवाप्रबोधतोऽनेकसंविद्या
 सहस्रं चिज्जडात्मनां जीवानां भवतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥ ननु चिदेव
 चेच्छरीरायाकारेणास्ते तर्हि तस्य सप्रतिघत्वाच्चित्तोऽपि सप्रति-
 घता प्रसक्ता तत्राह—शरीरमिति । चिद्रूपेण शरीरमप्रतिघ-
 मेवास्तु अथवा अन्यरूपेण सप्रतिघं वास्तु नेतावता कश्चिद्दोषो
 मिथ्यार्थगतगुणदोषैरभिज्ञानादूषणादिति भावः ॥ ७२ ॥ शरीर-
 नाशे तेन सह जीवो न नष्ट इत्येतत्कथं ज्ञायत इति चेत्प्रत्य-
 क्षाच्छब्दादित्याह—एतदिति । म्लेच्छादिदेशेषु मृतानां
 पिशाचदेहेनेहागतानां भूतविद्याः प्रत्यक्षं दर्शनात्पूर्वतनस्वीय-
 गृहव्यापारादीनां तैः स्मृतिपूर्वकं कथनात् जीवचित्सत्त्वं प्रत्यक्ष-

एष चेज्जीवतो धर्मस्तद्देशान्तरगे जने ।
 मृत इत्येव बुद्धेऽर्थे कस्माच्चैव प्रवर्तते ॥ ७५
 जीवधर्मः सोऽपि संश्लेन्मृतधर्मोऽपि किं न सन् ।
 यादृगनुभवस्त्वस्मिन्समे न्यायद्वये स्थिते ॥ ७६
 स्वप्नवज्जगदाभानमित्येवं सत्यखण्डितम् ।
 आर्यानुभवशास्त्राणामनेनास्त्येकवाक्यता ॥ ७७
 दृष्टिजालं जनौघानां पश्यतामिन्दुमन्दिरे ।
 यादृगप्रतिघं तादृगजगत्सदसदात्मकम् ॥ ७८
 सन्मात्रमात्रानुविधमच्छानुभवमात्रकम् ।
 चिन्मात्रं भानमात्रात्म सर्वार्थात्मार्यवर्जितम् ॥ ७९
 सर्वमप्रतिघं शान्तं जगदेकं चिदम्बरे ।
 अनिङ्गनमनाभासमात्मन्येवात्मनास्यताम् ॥ ८०
 अचला संविदेवास्ते स्थिरं कृत्वा यथा यथा ।
 तथा तथा भवत्याशु किमसत्किं च वापि सत् ॥ ८१
 शरीराण्यथ कर्माणि दुःखानि च सुखानि च ।
 यथा स्थितान्युपायान्तु यान्तु वा कस्य किं ग्रहः ॥ ८२

मनुभूयते ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ जीवनो भूतवृथादरेवैष पिशाचदर्श-
 नसंभाषणादिभ्रमो धर्मो न मृतस्यागमनं संभाषणं वेति चार्वा-
 ककल्पनां प्रत्याचष्टे—एष इति । वस्तुतोऽमृते मृत इति
 भ्रान्त्या बुद्धेऽर्थेऽपि एवं दर्शनसंभाषणादिव्यवहारः कस्माच्च
 प्रवर्तते ॥ ७५ ॥ किंच जीवधर्मः सोऽपि भ्रमः संश्लेन्मृतस्य
 संभाषणादिः किं न सन् । अर्थसिद्धावनुभवशरणा नामस्मि-
 न्जीवति यादृगनुभवः स मृतेऽपि समः । एवं न्यायद्वये समे
 सति को विशेष इत्यर्थः ॥ ७६ ॥ एवमनुभवस्यार्थसाधकत्वे
 जाप्रत्यक्षानुभवयोरपि यावद्बाधं तुल्यमर्थसाधकत्वं प्रबोधेना-
 नुभवमात्रपरिशेषश्चेति स्वप्नवदेव जगदाभानमिति यत्प्रतिज्ञात-
 मेतदखण्डितं दृढीभूतम् । अनेन च विद्वदनुभवानाम् । 'तस्य
 त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'
 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादिशास्त्राणां चानेनैकवाक्यता पर-
 स्परसंवादेनैकार्यनिष्ठता अस्ति । उपपन्नैति यावत् ॥ ७७ ॥
 इन्दुमन्दिरे चन्द्रबिम्बे पश्यतां जनौघानां दृष्टिजालं यादृग-
 प्रतिघं परस्परप्रतिघातश्च न्यूनं सदसदात्मकं कस्यचित्सत्कस्य
 चिदसदित्येवमात्मकं जगदपि तादृगप्रतिघमित्यर्थः ॥ ७८ ॥
 प्राणं सर्वं सत्त्वेन गृह्यमाणं सन्मात्रस्यैव मात्राः अंशमेदाननु-
 विधत्तं । प्राहकं च अच्छानुभवमात्रकम् । न च सन्मात्रमाभा-
 समानं सिध्यतीति तत्सदेव । तदेव चार्थवर्जितमपि सर्वार्था-
 त्मकं स्फुरतीति सर्वमप्रतिघं शान्तं चेत्यर्थः ॥ ७९ ॥ उक्तम-
 र्थमनुभावयितुमुपायमुपदिशति—अनिङ्गनमिति ॥ ८० ॥
 यथा यथा मनः स्थिरं कृत्वा आस्ते तथा तथा आशु भवतीति
 परेणान्वयः ॥ ८१ ॥ कस्य किंविषयो ग्रह उपादानम् ॥ ८२ ॥

१. परेणेत्यधिकं वा पूर्वत्रैकमर्थं पतितमिति वा मन्त्रव्यसः

इत्थमस्तु सद्यन्वयास्तु वा
मैव भूम्भवतु कोऽत्र संभ्रमः ।

मुञ्च फल्युनि फले फलावहं
बुद्धवानसि कृतं परिभ्रमैः ॥

८३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० निर्वाणबोधोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४४

मुनिरुवाच ।

सर्वेषामावभावेषु स्वप्नसंवेदनात्मसु ।
नित्याप्रतिघ्नरूपेषु किं बद्धं किं विमुच्यते ॥ १
खे दृष्टिभासां स्फुरणं यादृशं तादृशं जगत् ।
विपर्यस्यत्यविरतमबोधाल्लक्ष्यते स्थिरम् ॥ २
यद्यथा पुरसंस्थानं चिरैरेति तदन्यताम् ।
जगदप्येवमनिशं वार्यावर्तविवर्तवत् ॥ ३
भूम्यम्बुम्बरशैलादि भवत्यसदिदं क्षणात् ।
तस्मिन्नेव क्षणोदन्तैर्युगकल्पाभिधाः कृताः ॥ ४
जगत्स्वप्न इवाशेषमसदप्यनुभूयते ।
यस्मास्ति खेसन्निःशेषं चिदेवेत्यं कश्चलम् ॥ ५
यथेदं नो जगत्सद्ब्रह्मतानां खे शतानि हि ।
नृणां पश्यन्तु तेषां तु नान्योन्यमनुभूतयः ॥ ६
सरोम्बिकूपमेकानां दृष्टाः प्रत्येकमारूपदे ।
न तेऽन्योन्यं विद्वन्त्यन्यां दृष्ट्यादिनियतिं कश्चित् ॥ ७

यथा जनशतस्वप्ननगराप्येकमन्दिरे ।
तथा जगन्नि खे भान्ति वानि नो सन्त्यसन्ति नो ॥ ८
कश्चन्ति नृशतस्वप्नपुराप्येकपृष्ठे यथा ।
न च नाम कश्चन्त्येवं सन्त्यसन्ति जगन्नि खे ॥ ९
विश्वमत्कारमात्रं खं स्वात्माङ्गं दृश्यमद्रवम् ।
सरूपमेव नीरूपं सकारणमकारणम् ॥ १०
दधत्याश्रितस्वभावायाः संस्काराद्यभिधाः कृताः ।
प्रतिमायाः प्रभाविन्या न संस्कारादयः पृथक् ॥ ११
अपूर्वत्वात्स्मृतिः स्वप्नः संकल्पार्थानुभूतिषु ।
स्मृत्यनुभववाद्यास्तु दृष्टार्थसदृशीषु च ॥ १२
इदं सर्गात्म सर्गादौ प्रतिमेव विजृम्भते ।
विजृम्भामात्रात्मिका स्वच्छा नान्यत्रामोपपद्यते ॥ १३
ब्रह्मैव भाति जगदित्युक्तमुच्यमानया भवेत् ।
न च भातं नवं तच्च ब्रह्मैवेदमतः स्थितम् ॥ १४
कारणं कार्यमित्युक्तः स पूर्वैः स विशिष्यते ।
संस्कार इति तेनैव संस्कारः कृतिरुच्यते ॥ १५

फलबहवमवश्यफलदं यमं मुञ्च ॥ ८३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणबो-
पदेशो नाम त्रिचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४३ ॥

विदेव जगदाभाति जगदेव च विद्यथा ।

युक्तयोऽत्र तथा ब्रह्म सर्वशक्ति समर्थते ॥ १ ॥

इत्यस्य चिन्मात्रत्वे बन्धमोक्षचिन्ताप्यपगतैवेत्याह—
सर्वथेति ॥ १ ॥ दृष्टिभासां दृक्किरणानां खे तादृशं संपतद्दृक्कर-
कमुक्ताकेशोद्भवात्माना स्फुरणं तादृशं जगदविरतं परिणामेन
विपर्यस्यति अधिष्ठानविवेकाबोधात्तत्स्यैरेण स्थिरं लक्ष्यते ॥ २ ॥
विपर्यासमेवानुभावयति—यदिति । यत् प्रसिद्धं पुरसंस्थानं
यथा चिरैरन्यतां संस्थानान्तरताम् ॥ ३ ॥ यस्मिन्नेव काले
भवति तस्मिन्नेव क्षणकवन्तुव्यायवयवोदन्तैर्युगकल्पाद्यभिधा
विद्वद्भिः कृताः ॥ ४ ॥ यजगत्सास्तीत्यपलभ्यते चेदशेषं विदेव
कश्चति ॥ ५ ॥ नः अस्माकं प्रसिद्धमिदं जगदव्यथास्ति तद्वत्तै
जगतां शतानां शतान्ययुतानि अन्येषां नृणां सन्तीति पश्यन्तु
संभावयन्तु । तेषां प्रत्येकमन्योन्यमनुभूतयस्तु न । अयोग्य-
त्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥ सरोम्बिकूपमेकानां जन्तवो शृण्वन्ते ।
अन्यां खलास्पदातिरिक्ताम् ॥ ७ ॥ एकैवानुभूयमानत्वाद्-
सन्ति नो । अन्यैरनुभूयमानत्वात्सन्ति नो ॥ ८ ॥ तदेव स्फुट-
माह—कश्चन्तीति ॥ ९ ॥ स्वात्मनः अज्ञप्रभवयवभूतमेव ।
एकस्य सकल्पमेवापरस्य नीरूपम् । एकस्याप्येकहा सरूपमेवा-
यो० वा० १४८

न्यदा नीरूपम् । तत्तदृशा तु सर्वदेव नीरूपमित्यर्थः । एवं
सकारणमप्यकारणम् ॥ १० ॥ तत्रैते जीवानां जगत्संस्काराः
किं देहे सन्ति उत चिति । यदि चिति तर्हि सर्वेषां दृष्ट्याः
स्युः । यदि देहे तर्हि देहापगमे उच्छिथेरभित्याशङ्गाह—
दधत्या इति । न केवलचितो नापि देहप्रतिमायाः किंतु
तत्तद्दृष्ट्याकारपरिणामं दधत्याश्रिताभासव्याप्त्या चित्स्वभावाया
बुद्धेरेव संस्काराद्यभिधाः कृताः । प्रभाविन्या बुद्धिप्रभावेणैव
प्रभावयत्याः ॥ ११ ॥ यदि जगत्संस्कारधारिण्या बुद्धेरेव
परिणामो जगत्तर्हि संकल्पार्थानुभूतिषु स्मृतिवमेव स्वात्त-
त्राह—अपूर्वत्वादिति । पूर्वदृष्टार्थसदृशीष्वपि संकल्पार्थानुभू-
तिषु स्मृतिरेव अपूर्वत्वात्पूर्वानुभूततांशप्रमोषात्स्वप्नो भवति ।
तत्र स्वसृष्ट्यनुभववाद्यास्तु इह जन्मन्यननुभूता अपि जन्मा-
न्तरे अनुभूता एवेति तत्संस्कारवत्येवाध्यस्यन्ते इति विशेष
इत्यर्थः ॥ १२ ॥ इदं जाग्रत्सर्गात्म जगदपि स्वप्नप्रतिमेव
सर्गादौ विजृम्भते ॥ १३ ॥ 'सर्वेषामावभावेषु' इत्याद्युक्तिभङ्गी-
मेदानां पर्यवसितं तात्पर्यं पिण्डीकृत्याह—ब्रह्मैवेति । तच्च
नवं भातं न प्राग्भातमिति न किंत्वनादिभारूपं तदेक्यापचं चेदं
जगदनादि ब्रह्मैवेति तात्पर्यं स्थितं पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥ १४ ॥
स परमात्मैव कारणं कार्यमिति चोक्तः । यतः स एव पूर्वः
पूर्वं च कारणं सामान्यरूपम् । स एव विशिष्यते विशेषरूपं च
कार्यम् । कार्यसंस्काराधारो हि बीजं कारणं सम्बन्धकरोति

तस्त्वप्रादावपूर्वोऽर्थो दृष्टान्त इति भाति यः ।
 स संस्कारादिनामोको न बाह्योऽर्थोऽस्ति चेत्सि ॥१६
 वस्तु दृष्टं न दृष्टं च सत्त्वास्ते चेत्तत्रैव ज्ञे ।
 स्वभावाद्भाति स्वात्मापि दृष्टवच्चातिजृम्भते ॥ १७
 वेदान्तार्थात्मकं पूर्वंसर्गाभावं प्रवर्तते ।
 ततो वेद्यव्यवस्था ज्ञैः क्रियते स्वार्थसिद्धये ॥ १८
 स्वप्ने तु जाग्रत्संस्कारो यस्तज्जाग्रत्कृतं नवम् ।
 अजाग्रज्जाग्रदाभासं कृतमित्येष तद्विदः ॥ १९
 ततो वायाविद्यास्पन्दश्चित्ते भावाः स्थिताः स्वतः ।
 ते स्वतः संप्रवर्तन्ते कात्र संस्कारकर्तृता ॥ २०
 एकं तथा च चिन्मात्रं स्वप्ने लक्षात्म तिष्ठति ।
 पुनर्लक्षाघतः स्वप्न एकमास्ते सुषुप्तकम् ॥ २१
 चिद्योनि स्वप्नसंविष्टिर्या सैव जगदुच्यते ।
 सुषुप्तं प्रलयः प्रोक्तस्तस्मात्प्रायोऽयमेव सन् ॥ २२
 एकमेव विदाकाशं साकारत्वमनेककम् ।
 स्वरूपमजहृद्यते यत्स्वप्न इव तज्जागत् ॥ २३
 एवं चित्परमाण्वन्तर्जगद्भावमिदं स्थितम् ।
 तदनन्यात्म चाभोगि स्वप्नादर्शतलेष्विव ॥ २४
 चिद्योम संविन्मात्रं यत्परमाणुवदाततम् ।
 अनादिमध्यपर्यन्तं तदेव जगदुच्यते ॥ २५

कार्यमिति व्युत्पत्तेस्तेनैव आत्मैव संस्कार इत्युक्तः । तत्र कृतिः
 कार्यानुकूलो यज्ञः कृथास्वर्थः । सम्यक् करणं संस्कार इति
 व्युत्पत्त्या कृतिलक्षणः संस्कारोऽप्येव आत्मैवोच्यते ॥ १५ ॥
 तत्र स्वप्नादौ अपूर्वो जाग्रदर्थविलक्षणो योऽर्थो जाग्रदर्थ-
 दृष्टान्त इति भाति, स एव सूक्ष्मार्थत्वात्संस्कारो वासना रागो
 द्वेष इच्छेत्यादिनाम्ना उक्तो न कश्चिद्बाह्योऽर्थोऽन्यथेतसि
 संस्कारनामा निविष्टोऽस्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥ तत्र संस्काराख्यं
 वस्तु स्वप्ने दृष्टं जागरे अदृष्टम् । न चादर्शनमात्रेण नास्तीति
 मन्तव्यम् । अतश्चित्ताकाशे चेतनेव सदैवास्ते । तत्र स्वात्मापि
 साक्षिस्वभावात्स्वप्ने भाति जाग्रदृष्टपदार्थवच्चातितरां जृम्भते
 विस्तीर्यते ॥ १७ ॥ तदेव साधनसंपत्तिसहितश्रवणावधारि-
 ताद्वितीयप्रत्यग्रप्रलक्षणवेदान्तार्थात्म सत् । पूर्वं प्रसिद्धद्वैतस-
 र्गवाचकात्मकं सत् यथास्थिते स्वभावे प्रवर्तते एतादृशं तत्स-
 मानं निश्चित्य ज्ञैः पण्डितैः स्वार्थस्य परमपुरुषार्थस्य चिन्वे-
 ष्वपि सिद्धये प्रायज्ञात् आत्मैव जगत्संसारः । सम्यग्निबन्धनं
 ज्ञातस्तु अद्वयं ब्रह्मैव मोक्षयेति व्यवस्था शास्त्रेषु क्रियत इत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ इदानीमन्यद्वैतं स्वप्नदर्शनप्रकारमनूय ब्रूयति—
 स्वप्ने स्थित्यादिना । स्वप्ने यो जाग्रत्संस्कारस्तज्जाग्रत्कृतं नवमपूर्वं
 रूपं तत्र अजाग्रदेव जाग्रदाभासं जाग्रदनुभवेन कृतमित्ति
 तद्विदः केचिन्मन्यन्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥ तत्र । ततो वायावा-
 स्पन्दा इव स्वप्नाद्यात्मताभावाः स्वत एव स्थिताः । ते च स्वत
 एव स्वप्नाकारेण प्रवर्तन्ते तत्र जाग्रतः संस्कारकर्तृता केल्यर्थः
 ॥ २० ॥ चित्ते सर्वे भावाः स्थिता इति कृतो ज्ञापते तत्र—

तस्माच्च विदाकाशमनन्तं सततं स्थितम् ।
 तत्रास्तीति जगद्भानं तदज्ञानम्यकृषि वत् ॥ २६
 चिन्मात्र एव भुवनं त्वमहं चिन्मयं जगत् ।
 इति न्यायाज्जगद्याति परमाणूदरेऽप्यजम् ॥ २७
 तस्मादहं पराण्वात्मा समस्तजगदाकृतिः ।
 सर्वत्रैव च तिष्ठामि परमाणूदरेऽपि च ॥ २८
 चिन्मात्रपरमाणुः सखगदात्माप्ययं नमः ।
 यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र पश्यामि भुवनत्रयम् ॥ २९
 अहं चित्परमाण्वात्मा तेन चित्परमाणुना ।
 एकतामागतो वारि वारिणेषु तदीक्षणात् ॥ ३०
 तदोजः संप्रविश्याहं स्थितस्तदनुभूतिवत् ।
 अन्तस्थत्रिजगद्रूपो यथाज्ञे बीजमङ्कुरे ॥ ३१
 तत्र मे त्रिजगद्रूपमन्तः कश्चित्मात्मनि ।
 तथा तत्र तु तद्बाह्ये विद्यते केनचित्कचित् ॥ ३२
 यत्र यत्र यदा भाति स्वप्ने जाग्रदितीह वा ।
 सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं निजं चिद्भानमेव तत् ॥ ३३
 भाति स्वप्ने यदा जन्तोर्जगदानन्दभाततम् ।
 चिदणोरेव तद्भानमात्मनस्तत्पदात्मना ॥ ३४
 व्याध उवाच ।
 अकारणं चैदृश्यं तत्कथमेतत्प्रसिध्यति ।

एकमिति ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ एवमुक्तयोपपत्त्या तत्र चित्तः
 अनन्यात्म यथा स्वप्नेषु यथा वा आदर्शतलेषु दृष्टं मुसवनपर्व-
 तादि अनन्यात्म तद्वदित्यर्थः ॥ २४ ॥ परमाणुवत्परमसूक्ष्ममा-
 ततं विस्तीर्णं च कालतोऽप्यनादिमध्यपर्यन्तम् ॥ २५ ॥ तस्माद्-
 भिव अनन्यरूपि । अनेति संबोधनं वा ॥ २६ ॥ न्यायाद्ब्र-
 शास्त्रोक्तयुक्तिकलापात्परिज्ञानात् जगत्परमाणूदरेऽपि भाति ।
 स्थूलतां परित्यज्य परमसूक्ष्मचिन्मात्रतामापद्यत इति यावत्
 ॥ २७ ॥ कीदृशं तद्ब्रह्मास्त्रोक्तन्यायैः परिज्ञानं तस्मान्नुभवामि-
 लापेन दर्शयति—तस्मादिति ॥ २८ ॥ २९ ॥ चित्परमाण्वात्मा
 शोचितत्वंपदार्थरूपोऽहं तेन चित्परमाणुना शोचिततत्पदार्थेव
 ब्रह्मणा सह तदीक्षणादेकतामागतः । तथा च श्रुतिः—'यथा
 जले जले क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् । अविशेषो भवेत्तद्वजी-
 वात्मा परमात्मनि ॥' इति ॥ ३० ॥ एवं प्रश्नोत्तरप्रसङ्गेनात्म-
 ज्ञानरहस्यमुक्त्वा प्रस्तुतकथामवलम्ब्याप्याह—तदोज इत्य-
 दिना । तदनुभूतिस्वरूपोऽन्तर्गतवासनाभयजगदनुभवस्तद्व-
 दिति प्राक्तनकथाशेषानुसंधानोक्तिः । यथा आन्जे अङ्कुरे सूक्ष्म-
 रूपेण स्थितं भाति बीजमन्तस्थभाविष्वैचिन्मयसहस्रगर्भं तद्वदि-
 त्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्र मे अन्तरेवात्मनि तदीयं मरी-
 यमन्यवीर्यं च सर्वं वासनाभयं त्रिजगद्रूपमात्मनि प्रत्यह-
 चैतन्ये कश्चितम् । तज्जगद्रूपं किंचिदपि बाह्ये न विद्यते ।
 तद्विद्वेषास्त्रोक्तान्ताप्रसिद्धेरिति भावः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तत्प-
 दात्मना स्वप्नप्रादात्मना ॥ ३४ ॥ कथं प्रसिध्यति । अकारण-

सकारणं चेद्दृश्यं तत्त्वमे सर्गादिधीः कुतः ॥ ३५ ॥
 मुनिव्याच ।
 अकारणक एवायं सर्ग आदौ प्रवर्तते ।
 समस्तकारणामावायतः सर्गात्मविभ्रमः ॥ ३६ ॥
 अकारणानां भावानामत्यन्तासंभवादिह ।
 कश्चित्सप्रतिघः सर्गो न संभवति कश्चन ॥ ३७ ॥
 ब्रह्मेदमित्यभाति भास्वरं चित्स्वभावात् ।
 सर्गादिशब्दपर्यायमाद्यन्तपरिवर्जितम् ॥ ३८ ॥
 इत्यकारणके सर्गे क्वचिद् ब्रह्मरूपिणि ।
 परस्यावयवामासे नित्यात्मावयवात्मना ॥ ३९ ॥
 अमानात्वेऽपि नानात्वे ब्रह्मण्यब्रह्मरूपिणि ।
 अनाकारेऽपि साकारे क्वचिदप्रतिघं प्रति ॥ ४० ॥
 तद्ब्रह्मैव निराकारं चिद्रूपत्वात्स्फुरद्गुणः ।
 साकारमिव भातात्म भूत्वा स्वावरजंगमम् ॥ ४१ ॥
 देवर्षिमुनिभारूपं करोति नियतिं क्रमात् ।
 विधीञ्च प्रतिषेधाञ्च देशकालक्रियादिकान् ॥ ४२ ॥
 भावाभावाप्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।
 अर्था व्यभिचरन्त्येते नियतिर्नाखिलास्ततः ॥ ४३ ॥

कस्य शब्दशब्दादेः स्वरूपसिद्धदर्शनात् । यदि सकारणं तर्हि स्वप्ने घटादिसर्गकारणदण्डचक्रावीनामभावात्सर्गादिधीः कुतः कारणादिति संविद्वानस्य प्रश्नः ॥ ३५ ॥ अकारणकपक्षमेव ब्रह्मादौ तत्पर्यवसानेन समर्थमनुनिरुत्तरमाह—अकारणक एवेति ॥ ३६ ॥ अकारणकः सप्रतिघः स्थूलसर्गो न संभवति । प्रातिभासिके तु सिध्याभूते न सकारणकत्वमिव इति भावः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ इति उक्तरीत्या सर्गे अकारणके अत्यन्तमसंभाविते सति ब्रह्मरूपिणि परस्व अवयवामासे मायाप्रतिबिम्बवैतन्ये नित्यस्यात्मन औपाधिकवयवात्मना अवानात्वेऽपि वानात्वे अत्यन्तमयुक्ते ब्रह्मण्यब्रह्मरूपिणि अनाकारेऽपि साकारे अप्रतिघं प्रति क्वचिदप्रतिभाते सति निराकारं तद्ब्रह्मैव चिद्रूपत्वात्स्फुरद्गुणः साकारमिव भातात्म भूत्वा देवर्षिमुनिभारूपं स्वावरं जंगमं क्रमात्सर्वां नियतिं विधिप्रतिषेधादीं च करोतीति फलितमिति चतुर्धामन्वयः ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ब्रह्मकृतत्वादेव भावाभावापर्यव्यभिचारेऽपि न तन्नियतेर्ब्यभिचार इत्याह—आवेति । आ अखिलास्ततः सर्वास्तमवलक्षणं मोक्षं मर्यादीकृत्येत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ततो नियतिकल्पनातः प्रवृत्तिनियतिविशेषरूपां कार्यकारणतां विना भावानां संभवो नास्ति ॥ ४४ ॥ तस्य ब्रह्मणे नियतित्वात्कल्पको जायको भोक्ता जीववेति करद्वयसदृशमङ्गं ब्रह्मतः आत्मना स्वैव प्रवृत्तम् । तद्ब्रह्म तेनैकेन ज्ञानेवापरं करेणापरं करमिव संवमयति विवृणोति ॥ ४५ ॥ अत एव जीवस्यैवमेव जाग्रत्सुषुप्तसुषुप्तसर्वः अनुद्विपूर्वमविच्छन्नं च काकतालीयवत्प्रवर्तते ॥ ४६ ॥

ततः प्रवृत्ति भावानां सकारणकतां विना ।
 सैकतादिव तैलानां न संभवति संभवः ॥ ४४ ॥
 नियतिर्नायकश्चैव ब्रह्मतत्त्वात्प्रमात्मना ।
 स्वाप्नेन संवमयति करेणेव निजं करम् ॥ ४५ ॥
 अनुद्विपूर्वं चाविच्छन्नमेवमेव प्रवर्तते ।
 काकतालीयवत्स्पर्शादावर्ता इव वारिणि ॥ ४६ ॥
 संनिवेशो हि नियतिस्तां विना प्रतिबोदयम् ।
 ब्रह्म स्थातुं न शक्नोति तच्च सर्वात्मताज्ञयम् ॥ ४७ ॥
 एवं सकारणं सर्वं सर्वदा दृश्यमण्डलम् ।
 यस्य सर्गे यतः कालास्ततः प्रवृत्ति तं प्रति ॥ ४८ ॥
 भात्यकारणकं ब्रह्म सर्गात्माप्यनुभवं प्रति ।
 तं प्रत्येव च भात्येव कार्यकारणदृग्भ्रमः ॥ ४९ ॥
 काकतालीयवत्सर्गे स्थिते त्वावृत्तिवृत्तिवत् ।
 इदमित्यभिदं नेत्यमितीयं नियतिः स्थिता ॥ ५० ॥
 सकारणत्वं भावानामवश्यंभाविनि क्रमे ।
 जाग्रत्सुषुप्तदृशो नेह संभवन्त्यपकारणाः ॥ ५१ ॥
 यथा स्वप्नेऽखिलामम्बुसंक्षोभात्मलयन्नमाः ।
 दृश्यते कारणं तत्र भूयतामनुभूयताम् ॥ ५२ ॥

कारणप्रयुक्तः कार्ये संनिवेशविशेषनियम एव नियतिस्तां संनिवेशनियतिं विना क्षणमप्यज्ञातं ब्रह्म स्थातुं न शक्नोति । यथा सुषुप्तमिच्छदकपालाद्यन्यतमसंनिवेशं विना न तिष्ठति तद्ब्रह्म इति भावः । तच्च संनिवेशधारणं ज्ञानेन सर्वात्मनैवाव्यक्तिकः क्षयो यस्य तथाविधमामोक्षमनुवर्तत इत्यर्थः ॥ ४७ ॥ एवं नियतिकल्पनातः सर्वं सकारणं यं प्रति यतः कालात्प्रवृत्तिनियतिर्यस्य सर्गे प्रवृत्ता तं प्रत्येव न पुरुषान्तरं कालान्तरभाषिपदार्थं च प्रतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ अकारणकं ब्रह्म अनुभवमज्ञं प्रति सर्गात्मापि भाति ॥ ४९ ॥ विवेकिदृशा काकतालीयवत्सर्गे स्थिते सति पूर्वापरीभावनियममात्रदर्शनादिदं घटादि इत्यं दण्डचक्रमृदादिसामग्रीतो जातं, इदं पटादि तुरीयेमादित इत्यंमिदं जातमिति पर्यालोचनेन नित्यवेदस्य पदवाक्यव्याकरणनियतिरिव स्थितेत्यर्थः ॥ ५० ॥ अन्यभावाभाववश्यंभाविनि पौर्वापर्यक्रमे सकारणकत्वमेवेति यो मन्यते तस्य जाग्रत्सुषुप्तदृशः अकारणा न संभवन्ति । न हि स्वप्नसुषुप्तान्यतरानन्तरं जाग्रत्प्रपञ्चोत्पत्तौ कारणानि सन्ति । एवं जाग्रत्सुषुप्तान्यतरानन्तरं स्वप्नप्रपञ्चोत्पत्तावपि कारणानि निरूपयितुं न शक्यन्ते इति सोऽपि न संभवति । न च जाग्रदन्तरितः स्वप्नप्रपञ्चस्यैवास्ते येन घट्टिं नापेक्षेत । एवं स्वप्नसुषुप्तान्यतरितो जाग्रत्प्रपञ्चोऽपीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ यथा यवैव प्राण्योजसि स्वप्ने दृष्टः अखिलं भुवमभिध्याप्याम्बुसंक्षोभात्प्रलयभ्रमास्तत्र किं कारणं त्वया दृश्यते किं वा तत्र श्रुतितोऽपि भूयतां प्रमाणात्तदेष वास्तुभूयताम् । संभावनायां ज्ञोदः । न किंचित्संभावितमित्यर्थः

सर्ववस्तुषु कचन्ति सर्वदा
युक्तयः स्फटिकशुकयो यथा ।

भावनानुभव एव स स्वयं
शक्तिमाश्रयति जीवितारमकः ॥ ५३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० ज्ञ० पदार्थविचारो नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४५

मुनिदवाच ।

बहिष्ठैर्बाह्यमेवान्तरस्तस्यैः स्वप्नमिन्द्रियैः ।
जीवो वेत्ति द्वयस्यासितीवसंवेगिभिर्द्वयम् ॥ १
यदेन्द्रियाणि तिष्ठन्ति बाह्यतश्च समाकुलम् ।
तदा म्लानानुभवः संकल्पार्थोऽनुभूयते ॥ २
यदा स्वन्तर्मुखाभ्येव सम्यक्षाणि तदा जगत् ।
अणुमात्रं स्वपुषि जीवस्तेनातिवेत्ति तत् ॥ ३
जगत्सप्रतिघं नास्ति किञ्चिदेव कदाचन ।
जीवेक्षणानामक्षाणां दृष्टिरप्रतिघा जगत् ॥ ४
जीवनेत्राणीन्द्रियाणि यदा बाह्यमयाम्यलम् ।
तदा बाह्यात्मकं वेत्ति चित्ति जीवो जगद्वपुः ॥ ५
ओत्रं स्वगीक्षणं घ्राणं चिक्वा चेतीहितात्मकः ।
संघातः प्रोच्यते जीवधिद्रूपोऽनिलमूर्तिमान् ॥ ६
सर्वत्र सर्वदा जीवः सर्वेन्द्रियमयः स्थितः ।
विधिद्योमाभ्ययस्तेन सर्वं सर्वत्र पश्यति ॥ ७

श्रेष्ठात्मना रसेनान्तर्जीव आपूर्यते यदा ।
तेऽक्षाणुकेऽणुरूपपात्मा तदा तत्रैव विन्दति ॥ ८
क्षीरणेव इवोद्दीनो नभश्चन्द्रोदयान्वितम् ।
सरांसि फुल्लपद्मानि कङ्कारवलितानि च ॥ ९
पुष्पाभ्रप्रतिघानानि परिगीतानि बहूपदैः ।
वसन्तान्तःपुराण्यन्तरुधानान्युदितानि खे ॥ १०
उत्सवान्मङ्गलाकीर्णाङ्गीलालोलाङ्गनागणान् ।
भङ्गमोज्याभ्रपाणक्षीपरिपूर्णेगृहाजिरान् ॥ ११
सपुष्पाः फेनहसनास्तरलातरलेक्षणाः ।
बिलासेनाम्बुधिं यान्ति सरितो मत्तयौवनाः ॥ १२
हिमवच्छुभ्रपट्टकाणि सौधानि शिशिराण्यलम् ।
सुधाबधौतभिस्तीनि कृतानीन्वुतलैरिव ॥ १३
शिशिरासारहेमन्तप्रावृण्मेघवृत्तानि च ।
स्थलानि नीलवलिनीलताशाङ्गलघन्ति च ॥ १४
पुष्पप्रकरसंछन्ना विश्रान्तहरिणाश्रवणाः ।
स्निग्धपत्रतरुच्छायाः पुरोपवनभूमिकाः ॥ १५

॥ ५२ ॥ उक्तप्रकारा ब्रह्मप्रपञ्चैक्यप्रतिपादिका युक्तयोऽनुयुक्तेष्वपि सर्ववस्तुषु बुद्धिमतां स्वत एव कचन्ति स्फुरन्ति । यथा स्फटिकमणयः शुकयो वा सति प्रकाशे स्वचाकचक्येन स्वत एव कचन्ति तद्वत् । तत्तस्मात्सर्वत्र निर्णये शास्त्रानुसारियुक्तिभावनानुभव एव स प्रसिद्धः स्वयं सर्वतस्वनिर्णयशक्तिमान्सर्वप्रमाणजीवितारमको जयति । सर्वोत्कर्षेण वर्तते इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पदार्थविचारो नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४४ ॥

श्रेष्ठात्मनि लालापूर्यते जीवस्यैव कल्पिताः ।

स्वप्नमेवा इहोष्यन्ते तथाहौर्बाह्यभिभवाः ॥ १ ॥

अयं जीवो बहिष्ठैरिन्द्रियैर्बाह्यमेव स्वप्नं वेत्ति । अन्तस्त्रैरिन्द्रियैरन्तः स्वप्नं वेत्ति । बाह्यान्तरद्वयस्यैरुभयत्र व्यापारसिद्ध्यर्थमसितीवसंवेगितैरिन्द्रियैस्तु द्वयमपि वेत्ति ॥ १ ॥ तर्हि बहिष्ठैरिन्द्रियैर्यदा बहिर्भ्यवहरति तदा किमान्तरम्यवहारो नास्त्येव, नेत्याह—यदेति । अस्त्येव, किन्तु मनोराज्यकल्पः संकल्पार्थो म्लानमनुभवनं यस्य तथाविधोऽनुभूयते न स्वप्नवत्स्फुटानुभव इत्यर्थः ॥ २ ॥ अणुमात्रं वासनामात्रत्वादतिसूक्ष्ममपि स्वप्नं जगदतिवेत्ति स्थूलमिव पश्यति स एव तस्य अम्लानानुभव इत्यर्थः ॥ ३ ॥ बाह्यान्तरं वा जगत्सप्रतिघं स्थूलं वस्तुतो नास्ति । जीवस्य ईक्षणानां दर्शनकरणमूतानामक्षाणांमिन्द्रियाणां स्वीत्यकल्पने अप्रतिघा निष्प्रतिघाता या दृष्टिः सैव स्थूलं जगदित्यर्थः ॥ ४ ॥ अत एव बहिरन्तर्बाह्यै-

वेन्द्रियप्रसरस्तत्रैव स्थूलवज्जगदर्शनमित्याह—जीवेति ॥ ५ ॥ ओत्रादिप्रहृणं वागादीनामप्युपलक्षणम् । अनिलमूर्तिमान् पद्मप्रणयदितः । ईहितमिच्छाप्रधानमन्तःकरणचतुष्टयं तदात्मकः संघात आतिवाहिकदेहः स एव कूटस्थचिदाभाससंवलनाधिद्रूपो जीवः प्रोच्यते इत्यर्थः ॥ ६ ॥ तादृशो जीवः स्ववासनाभयं जगदन्तः पश्यतु नाम । बहिस्तु वासनाभावात्कथं तन्मयं जगत्पश्यति तत्राह—सर्वत्रेति । तत्र कूटस्थचिदेव चिदाभासः समष्टिम्योममयः सन् सर्वत्र सर्वदा सर्वेन्द्रियमयः स्थितस्तस्मिन्सर्ववासनाधिष्ठाने बाह्यजगदभ्यास उपपन्न एवेति भावः ॥ ७ ॥ तत्रान्तः स्वप्नविशेषवैचित्र्यदर्शने ओजसि प्रविष्टस्य जीवस्य श्रेष्ठात्मा अक्षरसमिश्रपूर्णनाडीप्रवेश एव निमित्तमित्येतत्प्रपञ्चयति—श्रेष्ठात्मनेत्यादिना । यदा उपसंहृतकरणविस्तारः सन्नणुरूपः सहस्रधा विदीर्णकेशभागप्रमाणसूक्ष्मनाभ्यन्तःसंचारयोग्यस्ते तत्र जीवो नाभ्यन्तर्गतेन श्रेष्ठात्मना अक्षरसेन आपूर्यते तदा तत्तदक्षाणुके तत्रैव नाभ्यन्तर्वैक्यमाणप्रकारान्स्वाप्नप्रमान्विन्दतीत्यर्थः ॥ ८ ॥ स्वयं क्षीरणेव उद्दीन इव भूत्वा चन्द्रोदयान्वितं नमो विन्दतीति सर्वत्रानुभवः ॥ ९ ॥ पुष्पमयानां दिव्याङ्गाणां प्रतिघानानि प्रतिनिधिभूतानि सरांसि वसन्तराजस्यान्तःपुरभूतान्युधानानि खे जीवाकाशे उदितानि ॥ १० ॥ ११ ॥ तरल्याः शक्यस्तल्लक्षणतरलेक्षणाः ॥ १२ ॥ इन्दुमयैस्तलैः कुट्टिमैः कृतानीव सौधानि ॥ १३ ॥ १४ ॥ विश्रान्ता हरिणा अश्रवणा-

कदम्बकुन्दमन्दारमकरन्देन्दुकान्तिभिः ।
 मासमानासनस्थानसंस्थानाः कुसुमस्थलीः ॥ १६ ॥
 नलिनीजालिनीनीलाः पुष्पकस्थलधारिणीः ।
 वनावलीर्विलीनाभनिर्मलाकाशकोमलाः ॥ १७ ॥
 कदलीकन्दलीकुन्दकदम्बकृतशेखराः ।
 गिरिमालाञ्जलञ्जलीलापल्लवपेलवाः ॥ १८ ॥
 हेलावलितचम्पिमुकुमालसिकालताः ।
 इव बालाङ्गना नृत्यं तन्वानास्तनुगात्रिकाः ॥ १९ ॥
 उत्फुल्लम्बेतनलिनीनिभा नरपतेः सभाः ।
 चारुचामरधुङ्गारवितानकशतावृताः ॥ २० ॥
 वल्लीवलयविन्यासविलासवलितक्रिकाः ।
 वनमाला विलोलाम्बुप्रणालीकाकलीकलाः ॥ २१ ॥
 धराभरकरालाङ्गधाराधरधराधराः ।
 दिशः सीकरनीहारहारोदरधरा दश ॥ २२ ॥
 पित्तात्मना रसेनान्तर्जीव आपूर्यते यदा ।
 ओजोन्तरणुमात्रात्मा तदा तत्रैव विन्दति ॥ २३ ॥
 पवनस्पन्दसंशुष्ककिंशुकहुमशोभनाः ।
 ज्वालालीरुञ्जलाम्भोजदलपल्लवपेलवाः ॥ २४ ॥
 संतप्तसिकतासेकसनीहारसरिच्छिराः ।
 दावानलशिखाश्यामधूमश्यामलदिशुखाः ॥ २५ ॥
 कृशानुकर्कशानकौञ्चक्रधाराक्षितस्त्रिषः ।
 दाघदाहविषावेशविपरीतरसाकरान् ॥ २६ ॥
 खेदमुष्णीकृताग्निं वा स्त्रिभ्रं त्रैलोक्यमण्डलम् ।
 क्षरत्क्षाराण्यरण्यानि प्रतर्दगहनान्यपि ॥ २७ ॥

अत्र ॥ १५ ॥ मासमानासनस्थानस्येव संस्थानं यासां ताः
 ॥ १६ ॥ विलीनाभो निर्मलः शरदाकाश इव कोमलाः
 त्रिधाः ॥ १७ ॥ कदली कन्दली च मृगमेदास्तदुल्ममे-
 दाश्च । गिरिमालाः पर्वतपङ्क्तिः ॥ १८ ॥ हेलावलितैर्धम्मि-
 र्मुक्ताः प्रसृतसंवलितशाखा मालसिकालता इव स्थिता नृत्यं
 तन्वाना बालाङ्गनाः विन्दति ॥ १९ ॥ २० ॥ वनमाला वनपङ्क्तिः ।
 विलोलाम्बुनां प्रणालीषु कुल्यासु पक्षिकाकलीभिः कला
 गन्भीराः ॥ २१ ॥ धरायां भरे भरणे भवैः पूरणविषये करा-
 ङ्गायां ये धाराधरास्तद्युक्ता धराधराः पर्वता यासु तथाविधा दश
 दिशाः ॥ २२ ॥ श्लेष्मपूर्णनाडीदृश्यान्त्रप्रविशेषान्प्रपश्य पित्तरस-
 पूर्णनाडीदृश्यांस्तानाह—पित्तात्मनेत्यादिना ॥ २३ ॥ ज्वाला-
 लीर्विन्दति पश्यतीति यावत् ॥ २४ ॥ ज्वालालीरेव विधि-
 नष्टि—संतप्तोति । संतप्तसिकतानां सेकैः सनीहाराः सबाण्याः
 सरिच्छिराः क्षिरा आभ्यः ॥ २५ ॥ चक्रधारा इव शिता निक्षिता-
 स्त्रिषो वेषाम् । विपरीता विशेषतो म्यासा रसाकरा जलाशया
 येभ्यः ॥ २६ ॥ खेदं सार्शोष्माणम् । स्त्रिभ्रं खेदनार्द्रम् । प्रतर्दो
 वृक्षगुल्मवृणाधीनामस्तिनेविष्यं तद्युक्तानि गहनान्यरण्यान्यपि
 ॥ २७ ॥ प्रतरत्सु प्रवहत्सु मृगतृष्णाम्बुषु सरत्सारसै र्वपि
 शोभमानम् ॥ २८ ॥ संभ्रमो भयं तदृशादभ्यगमभ्यसु धावन्तं

प्रतरन्मृगतृष्णाम्बुसरत्सारसकपि च ।
 स्वलान्यदृष्टपूर्वाणि भूतपूर्वतकपि च ॥ २८ ॥
 अभ्रगं संभ्रमवशात्तत्तद्वृत्तिविधूसरम् ।
 दूरादमृतवदृष्टं क्षिण्वच्छायाध्वपावपम् ॥ २९ ॥
 ज्वरज्वालितमाकारं भुवनं तप्तमग्निवत् ।
 पांसूपहतदेशानि दिशुक्तानि च ज्ञानि च ॥ ३० ॥
 प्रह्रामार्णवाभ्यग्निधवनव्योमाग्निका दिशः ।
 तुहिनाहारहानन्तासंख्याम्बुदघटोद्भटान् ॥ ३१ ॥
 शरद्रीष्मवसन्तांश्च तापानातपदायिनः ।
 तृणपत्रलतौषाधराशुष्मपिहितायनीः ॥ ३२ ॥
 सौवर्णमम्बरतलं भूतलं दिशतद्वानि च ।
 तप्तान्यदभ्रसरसीहिमशैलस्थलानि च ॥ ३३ ॥
 रसानुरिके वातेन जीव आपूर्यते यदा ।
 ओजोन्तरणुमात्रात्मा तदा तत्रैव विन्दते ॥ ३४ ॥
 वातविशुग्धसंविस्वाद्पूर्वं वसुधातलम् ।
 अपूर्वां नगरप्रामशैलाग्निधवनमण्डलीः ॥ ३५ ॥
 उद्गीयमानमात्मानं शिलाः शैलस्थलानि च ।
 घनधुंधुमसारावानचक्रभ्रमणादि च ॥ ३६ ॥
 ह्योद्भृगरुडाम्भोदहंसयानावरोहणम् ।
 यक्षविषाधरादीनां गत्यागमनसंचरम् ॥ ३७ ॥
 साद्रिपूर्वीनदीशानां वनभूप्रामपूर्विशाम् ।
 कम्पं भयोन्मुखाङ्गानां बुधुदानामिषार्णवे ॥ ३८ ॥
 अश्वकूपे निपतितं विपुले संकटेऽथवा ।
 अथवा रुढमात्मानं क्षमामं पादपं गिरिम् ॥ ३९ ॥

सं पश्यति । अमृतवदृष्टं दर्शनात्संभावितम् ॥ २९ ॥ ३० ॥
 गृहादिभ्योमान्तेषु अभिकाः ज्वलदग्निमत्यो दिशः पश्यति ।
 तुहिनं शीतं आहरति भक्षयतीति तुहिनाहारोऽमित्तं जहति
 मुचन्ति वर्षन्ति तथाविधा अनन्तसंख्या ये अम्बुदास्तादृटो-
 ऽद्भटान्शरद्रीष्मवसन्तानिति परेणान्वयः ॥ ३१ ॥ तृणैः पत्रै-
 र्लतौषैर्धराविष्मिरुष्मभिश्च पिहिता आच्छादिता अवनीर्भू-
 प्रवेशान् ॥ ३२ ॥ अदभ्रा बहुलाः सरसीः हिमशैलस्य
 स्थलानि प्रदेशमेदाश्च तप्तान् पश्यति ॥ ३३ ॥ रसेरसरसैः
 श्लेष्मपित्तादिभिरनुद्यत्य रिक्ते केवलवायुनैव पूर्णं नाडीप्रवेशे
 प्रविष्टोऽणुमात्रात्मा जीवो यदा वातेन आपूर्यते तदा तत्र
 प्रागुक्ते ओजोन्तरे वक्ष्यमाणं क्षमं विन्दते ॥ ३४ ॥ अपूर्वं
 पूर्वदृष्टविलक्षणम् ॥ ३५ ॥ वनानां धुंधुमैर्गर्जनैः सारावान्स-
 चान्दान् देशान् । विनैव कुलालचक्रं घटीनां भ्रमणादि च ॥ ३६ ॥
 हंसान्तैर्यागं गमनं तद्वरोहणं च । गत्यथ आगमनानि च दूरतः
 स्वस्थाने संचरणं च । गत्येति पृथक्पदं वा ॥ ३७ ॥ अद्रि-
 सिर्दिवा उर्ध्वा नदीशैलैश्च सहितानां वने भवन्तीति वनमुबो
 वृक्षादयस्तेषां प्रामाणां पुरां दिशां च भयोन्मुखाङ्गानां मनु-
 ष्यादीनां च कम्पम् ॥ ३८ ॥ सं भिनोति परिच्छिन्नस्याग्नि
 संस्थानशोभा मस्य तथाविधं पादपं गिरिं च ॥ ३९ ॥ श्लेष्मा-

वातपित्तश्लेष्मयुको जीव आपूर्यते यदा ।
 भागैर्वातवशं प्राप्तेरातोऽसौ विन्दते तदा ॥ ४०
 पतन्तीं पार्वतीं वृष्टिं सुखिलावृष्टिसंकटम् ।
 स्फुटाट्टकटकारावन्नमत्पादपमण्डलम् ॥ ४१
 अमङ्गिर्बनविन्यासैः संविन्धान्मोघरोत्कटम् ।
 सिंहावारणवर्षा अनिरन्तरदिगन्तरम् ॥ ४२
 तालीतमालहितालमालज्वलनसंकुलम् ।
 शुद्धाशुभमिर्हावर्षाकारचनवर्षरम् ॥ ४३
 मन्द्रमन्दरमस्थानशब्दसंदर्भसुन्दरीम् ।
 दूरीं दलनदुर्धरमिथःसंघट्टघट्टिताम् ॥ ४४
 शृङ्गसंघट्टसदृशाः क्रेकारोत्करकर्कशाः ।
 नदीमुक्तालतापातसङ्गन्धामनमस्तलाः ॥ ४५
 शिलाशकलपूर्णां पूर्णांम्बरमहार्णवम् ।
 बहद्भनघनोद्घातघट्टितमण्डलम् ॥ ४६
 परस्परविभिर्मुष्टवद्यदर्शनदन्तुरम् ।
 चटत्कटकटारावस्फुटकटकटकृतम् ॥ ४७
 खपातपवनाधूतवज्रवातलतोवयम् ।
 रणदात्महवर्णैर्कर्तुराम्बुजधारिणम् ॥ ४८
 प्राग्मटोद्भटमेदोत्थैर्मन्त्रैर्मरमरारवैः ।
 क्रूराकन्धैरिवाम्भसि विराजितजगन्नयम् ॥ ४९

लोकैकपूरितनाडीभागदृश्यान्स्वप्राणुक्त्वा तत्रितनपूरितनाडी-
 दृश्यांस्तानाह—वातेत्यादिना ॥४०॥ स्फुटतामद्धानां सौधानां
 गिरिकटकानां चारावैः सह अमत्पादपमण्डलम् ॥ ४१ ॥
 सिंहावारणवर्षात्रैव निरन्तरं दिव्यप्यम् ॥ ४२ ॥ तदेव दिग-
 न्तरं विमिनष्टि—तालीति ॥ ४३ ॥ दलने दुर्धरो वो मिथः
 संघट्टेन घट्टितां दूरीं पश्यति ॥ ४४ ॥ गिरिशृङ्गद्वयमध्ये
 अवाहृष्यनिभिः शृङ्गद्वयसंघट्टनसदृशाः । चकवाकादिक्रेकारो-
 त्करैः कर्कशाः । मुक्तालतावदापतनैः सङ्गन्धामसहितमिव नम-
 स्तकं यामिस्ता नदीः पश्यति ॥ ४५ ॥ खट्टः प्रलयार्णवा-
 दिदर्शनस्वप्नोऽभ्येतस्यादेव निमित्तादिति सूचयन्नाह—शिला-
 शकलैति । शिलाशकलपूर्णां पूर्णोस्मिर्जलेः पूर्णांम्बरं महार्णवं
 पश्यति । तदेव वर्णयति—बहद्वित्यादिना । बहतां वनानां
 घनघनां चोद्घातैर्घट्टितामास्फाळितं मण्डलमण्डलं सप्तर्षिज्योको येन
 ॥ ४६ ॥ परस्परं तरङ्गसंघट्टैर्विनिर्मुष्टानां चोतानां दृश्यानां दिशां
 दर्शनेन दन्तुरं हसन्तमिव स्थितम् । चटन् दिश आवृण्वन् कः
 कटकटारावस्तेन स्फुटत्किरिक्कटकैश्चकृतं संजातदङ्गापातश्वनि-
 मिष स्थितम् ॥ ४७ ॥ खं पततीति खपातो यः पवनस्तेना-
 धूतं कम्पितं यद्भनं तत्र वाताशुसारिलतोदयो क्त्वाकाख्यं
 यस्मिन् । रणद्विरात्मकृतैर्घणैः कर्तुरवर्णानि जगन्मन्त्रुजा-
 लावि शैवात्म्येनि धारयति तच्छीलम् ॥ ४८ ॥ सङ्गुक्रा-
 मगात्प्रमन्त्रुगान्ते प्रकृतेर्मटोद्भटानां धराणां मेदेषु परस्परवि-
 दारणेष्वातिथैर्मन्त्रैस्तालीवनादिमरमरारवैः क्रूराणां प्राणि-
 नाम्नाकन्दैरिव विराजितं जगन्नयं तदाभातीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

इति तैः काष्ठपाषाणमृद्युग्वातमदैर्बृतः ।
 परिपीडित एवास्ते यदा जीवो जडीकृतः ॥ ५०
 मृदन्तःकीटकणवच्छिलान्तर्गतमेकवत् ।
 गर्भस्थापकशिशुवत्फलान्तर्गतबीजवत् ॥ ५१
 बीजोद्दरस्थाङ्गुरवद्द्रव्यपिण्डोद्दराणुवत् ।
 अन्तस्तम्बकोशास्वदारुपुत्रकवेद्भवत् ॥ ५२
 सौषिर्यासंभवात्प्राणपवनस्पन्दवर्जितः ।
 प्रोक्षमत्पशुपूरेण शिलापूरेण तर्जितः ॥ ५३
 तदा निविडतेजोन्तरेवानुभवति स्वयम् ।
 सुषुप्तं शैलकोशमन्धकूपोद्दरोपमम् ॥ ५४
 यदा परिणतं यत्नं पुनः सौषिर्यमागतम् ।
 पुनर्वेत्ति तदा जीवः स्वप्नं प्राणावबोधितः ॥ ५५
 यदा तस्मिन्प्रदेशेऽन्तर्भागभागान्पतन्ति ते ।
 देहे परिणमन्तोऽन्तस्तदेवात्यद्रिवर्षणम् ॥ ५६
 बहुवै बह्विबहुना स्वल्पेनाल्पं प्रपश्यति ।
 वातपित्तादियोगेन बहिरन्तश्च संभ्रमम् ॥ ५७
 पश्यत्येतद्यथैवान्तरेष जीवो वशीकृतः ।
 वातपित्तादिबलितो बहिर्वेत्त्येवमेति वा ॥ ५८
 ध्रुवैरन्तर्बहिर्ध्रुवैः स्वल्पैः स्वल्पं प्रपश्यति ।
 समैः सममिदं दृश्यं वातपित्तकफादिना ॥ ५९

त्रिधातुपूर्णनाडीषु इति वर्णितप्रकारैस्तेः सर्वजनप्रसिद्धैः काष्ठैः
 पाषाणैर्मृद्युतैर्वातेर्भटैर्वा बृतः सन् स्वप्ने जडीकृतो जीवः परिपी-
 डित एवास्ते ॥ ५० ॥ मृदन्तर्गतकीटादिवत्तादृशपाषाणादिक-
 वानुभवतीति तृतीये सर्वेषां संबन्धः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ सुषुप्तं
 तर्हि कदा केन निमित्तेनानुभवति तदाह—सौषिर्येति ।
 यदायं जीवः पुरीतति नाडीपञ्जरे सर्वपाश्चात्स्थ्यप्रघटितदृश्या-
 स्थिप्रन्थ्युपलक्षिते प्रविष्टो भवति तदा अग्रे संचारार्थं सौषिर्या-
 संभवाद्यस्मिन्प्रदेशे प्राणपवनप्रयुक्तेन स्पन्देन वर्जितः सन्प्रो-
 क्षमतां पशुनां पार्श्वस्थीनां पूरेण प्रन्थिना शिलापूरेण चिह्ने
 निरुद्ध इव तर्जितो व्यापारासमर्थः कृतो भवति तदा प्राणु-
 निमिडतरौजःशब्दिततेजोन्तरेव शैलकोशः शिलापञ्जरं तदा-
 भमज्ञानगाडलादन्धकूपोद्दरोपमं सुषुप्तमनुभवतीति हयोरन्वयः
 ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ततः पुनः स्वप्ने कथमायाति तत्राह—यदेति ।
 मुक्तमन्नं यदा पाकेन परिणतं यदा चाक्षरसङ्कतप्रवेशमार्गनि-
 रोधापगमात्पुनः सौषिर्यमागतं तदा ततो निर्गमनवर्णं प्राण-
 संचारेण प्राप्य पुनर्जीवः प्राणेनावबोधितः सन्स्वप्नं वेत्ति ॥ ५५ ॥
 यदा देहे परिणमन्तस्तेऽक्षरसा यस्मिन्प्रदेशे जीवेन सह नाडी-
 भागेषु भागान्तराणि पतन्ति तदा ओजोन्तरद्विवर्षणं वेत्ति
 ॥ ५६ ॥ बहुवैबहुना बहुतरङ्गाठराभिध्यातेन वातपित्तादियो-
 गेन बहिरन्तश्च बहुवै संभ्रमं पश्यतीति बहिर्दृष्टिं आन्तर्दर्शनं
 वर्णयितुं पीठिकारचनम् ॥ ५७ ॥ तदेव वर्णयितुमुपक्रमते—
 पश्यतीति । ज्ञानेन्द्रियैर्वेत्ति कर्मेन्द्रियैरेति वा ॥ ५८ ॥ वात-
 १ इतदग्निप्रिकल्पवृत्तैश्च स्वर्षः

बहिः पश्यत्ययं जीवः कुपितैरेभिरावृतः ।
 स्पन्दं भूम्यद्रिनभसां ज्वलनं वानलोच्चयैः ॥ ६०
 आकाशगमनं चैव बभ्रोदयहिमाबलान् ।
 गहनं वृक्षशैलानां नभःप्लवनमर्णसाम् ॥ ६१
 मज्जनोन्मज्जनं वाञ्छौ सुरतं सुरसद्यसु ।
 शैलोपवनशुभ्राभ्रपीठविभ्रमणोच्चयम् ॥ ६२
 बृहत्ककचनिष्येवं नरकानुभवभ्रमम् ।
 तालीतमालहिंतालमालाबलनमन्बरे ॥ ६३
 अक्रवृसैश्च पतनं श्नित्युत्पतनं दिवि ।
 शून्येऽपि जनतावृन्दं स्थलेऽप्यञ्चिन्मिज्जनम् ॥ ६४
 विचित्रं विपरीतं च व्यवहारं महानिधि ।
 अहीव भास्करालोकं दुर्मेघं चाहि वा तमः ॥ ६५
 साद्रिभूतलमाकाशे कुञ्चबन्धे घने स्थलम् ।
 कुञ्चबन्धाञ्च गगने मित्रभावं च विद्विषि ॥ ६६
 स्वजने परतावुदिं सुजनत्वं च दुर्जने ।
 सुसमस्थलतां श्वभ्रे श्वभ्रत्वं सुसमे स्थले ॥ ६७
 उद्गीतालापमसृणाम्सुधाधीताम्सुचित्रितान् ।
 अद्गीकृतेतमयान्वापि नवनीतमयाञ्च वा ॥ ६८
 कदम्बनीपजम्बीरपत्रस्तवकसद्यसु ।

सुखविभ्रमणं लीभिः नाकं पचेष्विवालिनः ॥ ६९
 अन्तर्निमीलिता ह्येताः पश्यन्त्युन्मीलिता बहिः ।
 घातूनामिति वैषम्याद्भ्रान्तिमिन्द्रियवृत्तयः ॥ ७०
 एवंविधान्यनेकानि पश्यन्त्यनुभवन्ति च ।
 बहिरैव यथा स्वप्ने वस्तुन्यसमधातवः ॥ ७१
 बहिश्चान्तश्च दृश्यन्ते विपरीतान्यनेकशः ।
 कार्याण्यतिकरालानि जीवैरसमघातुभिः ॥ ७२
 समेषु घातुष्वेषोऽन्तर्जीवोऽनुभवति स्वयम् ।
 तेजोन्तर्गत एवेमां व्यवहारस्थितिं समाम् ॥ ७३
 यथास्थितां पुरप्रामपत्तनारण्यसंततिम् ।
 सौम्यवारितदृक्कायादेशाध्वगगमागमम् ॥ ७४
 सुखातपमयेन्द्रकैताराहोरात्रमण्डितम् ।
 एवमेतदसद्भूतं सद्भूतमिव भासते ॥ ७५
 दृश्योपलम्भं चित्तस्वे स्पन्दनं पवने यथा ।
 असदेव सदाभासमभिर्भं भिन्नवदित्यतम् ॥ ७६
 शान्तावुदेति सकलं जगदम्बरात्म
 शान्तं न किञ्चन न नाम सदित्युदेति ।
 तद्योगनीदृशमनस्तचितेः शरीरे
 मामात्रमाततमनस्तवपुर्विभाति ॥ ७७

६० वा० महारामा० वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४६

व्याघ्र उवाच ।

अनन्तरं मुनिभेष्ट तस्मिन्नुदि तदोजसि ।
 सिप्रतस्य तव किं वृत्तं नामतो भ्रान्तिरूपिणि ॥ १
 मुनिरुवाच ।
 अनन्तरं तदा तत्र शृणु किंवृत्तमङ्ग मे ।
 तेजोघातुनिबन्धस्य तज्जीवावलिताकृतेः ॥ २

पित्तकफादिना कुञ्चैः स्वल्पैरजरसैरन्तर्बहिष्वैव स्वल्पं दृश्यं
 भ्रान्त्या प्रपश्यति समैः समं दृश्यं प्रपश्यति । अतिकुञ्चैस्त्व-
 तिषायितभ्रान्तितदृश्यानि प्रपश्यतीत्यर्थोऽयम्यते ॥ ५९ ॥ कुपि-
 तैरेभिः संनिपातमदमणिमञ्चौषधादिनिमित्तेषु ॥ ६० ॥ बहि-
 श्रान्तितदृश्यानि प्रपश्यति—आकाशगमनमित्यादिना ॥ ६१ ॥
 शुभ्राभ्रानां पीठेषु विभ्रमणमुपवेशनं शुभ्राभ्रोच्चयं च ॥ ६२ ॥
 ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ निधि अहीव भास्करालोकम् ॥ ६५ ॥
 घने कुञ्चबन्धे विकुञ्चं विशालं स्थलम् ॥ ६६ ॥ ६७ ॥
 श्वेतस्फटिकरजतादिमयान् ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ एतां भ्रान्तीरन्त-
 र्निमीलिता इन्द्रियवृत्तयः पश्यन्ति । जागरोन्मीलितास्तु
 बहिरिन्द्रजालादी पश्यन्ति ॥ ७० ॥ असमा वातादिघातवो
 येषां पुरुषाणां ते ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ इमां प्रसिद्धां लौकिकसाक्षीव-
 व्यवहारस्थितिम् ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ शान्ताधि-
 प्रपञ्चादेव ब्रह्मणः सकाशात्सकलं जगदुदेति शान्तं च न

तस्मिन्स्तदा वर्तमाने घोरे कल्पान्तसंभ्रमे ।
 तृणवत्प्रौढशैलेन्द्रे वहति प्रलयानिके ॥ ३
 विरिबृष्टिर्दृष्टियेव कुतोऽपि समुपाययौ ।
 उद्यमानवनाभोगक्षिणरप्रामपत्तना ॥ ४
 तस्यान्तस्तत्र संप्राप्तं तदा परिणतं यदा ।
 तदा तदेव सूक्ष्मोऽहमपश्यं शैलवर्षणम् ॥ ५

किञ्चनान्यद्भवति । यतः सदिति परिदृश्यमानजन्यरूपेण गोदेति
 नाम न हि समुत्पद्यते । तत्तस्मादेतोर्व्योमन्याकाशकल्पे अन-
 न्तायाधितेः शरीरे मामात्रं प्रतिभासमात्रं जगदित्यनन्तवपुर्वि-
 भाति न वस्तवन्त्यदित्यर्थः ॥ ७७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभाषण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्णनं नाम
 पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४५ ॥
 प्रस्तुतस्वप्नवीक्षान्ते सुषुप्तिः स्वल्पं चर्षते ।
 पुनः स्वप्नसन्नेन ब्रह्माद्वैतं च निस्तरात् ॥ १ ॥
 प्रासादिकं भुत्वा पुनः पूर्वकथाशेषमेव व्याधः पृच्छति—
 अनन्तरमिति । भ्रान्तिरूपिणि नामतस्तस्य प्राणिन ओजसि
 स्थितस्य तत्रापि किं कीदृशं स्वप्नदर्शनादिवृत्तं संपन्नम् ॥ १ ॥
 तज्जीवेन आवलिता मिश्रिता आकृतिर्निद्रादेहो यस्य मे ॥ २ ॥
 ॥ ३ ॥ ४ ॥ यदा यथा तस्य प्राञ्चो जघोन्तस्तज्जीवात्मना
 परिणतं तदा तत्र संप्राप्तं तदेव शैलवर्षणमहमपश्यत् ॥ ५ ॥

सैनाञ्जलवशैलोचपूरेण प्रतिपिण्डितः ।
 सुषुप्तमन्धतामिश्रमहमन्धभवं धनम् ॥ ६
 अथ कंचित्तदा कालमनुभूय सुषुप्तताम् ।
 तदा पद्माकर इव शनैर्बोधोन्मुखोऽभवत् ॥ ७
 यथा दृष्टिश्चिराद्धान्ते भाति चक्रकरपिणी ।
 सुषुप्तमेव तत्रासीत्तथा स्वप्नत्वमागतम् ॥ ८
 तथा सुषुप्तविश्रान्तेः स्वप्ने निद्रामहं विशम् ।
 अपश्यं दृश्यमोजोऽन्तः स्वमूर्मित्वमिवाजैवः ॥ ९
 सर्वस्विकोशात्मकं दृश्यं तत्तथा मामुपागतम् ।
 अस्पन्दस्यामिलस्यान्तरनन्यत्स्पन्दनं यथा ॥ १०
 अश्यादौ च यथोष्णत्वं जलादौ द्रवता यथा ।
 मरीचादौ यथा तैक्ष्ण्यं चिद्योक्तञ्च जगत्तथा ॥ ११
 चित्त्वभावैकरूपत्वाज्जगद्दृश्यं तदाततम् ।
 तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्प्रसूतं बालपुत्रवत् ॥ १२
 न्याय उवाच ।
 तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यादिति तद्व्यपदेशतः ।
 सुषुप्तदृश्यं किं बक्षि वद मे वदतां वर ॥ १३
 तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्त्वत्सुषुप्तात्मनोऽपि च ।
 किमन्यञ्जायते जन्यमथवान्यसुषुप्तता ॥ १४

तेन तत्राणिनाभ्यन्तर्गतान्तरसन्तर्गताञ्जलवलक्षणैः शैलोच-
 पूरेण प्रतिपिण्डितः पिण्डीकृताकृतिर्निबेष्टः संपन्नः सप्तहमज्ञान-
 लक्षणया अन्धतया मिश्रं संवलितं सुषुप्तमन्धभवम् ॥ ६ ॥ तदा
 निर्गमनमार्गनिरोधकोऽङ्गरसो जीर्णस्तदा उषसि पद्माकर इव
 बोधोन्मुखोऽभवत् ॥ ७ ॥ ध्वान्ते निमीलिता दृष्टिर्यथा चिरान्ते-
 जञ्जकामासकृपिणी भाति तथा सुषुप्तमेवात्मरूपं स्वप्नत्वमाग-
 तमासीदित्यर्थः ॥ ८ ॥ सुषुप्तिविश्रान्तेः सकाशाद्दृष्टं स्वप्ननिद्रा-
 भविष्यम् । अडभावश्छान्दसः । यथा अर्णवः स्वमूर्मित्वं
 तरङ्गादिसहस्रभिक्षेपसंकुलां स्वमूर्तिं पश्यति तथाहमपि तदो-
 षोन्तर्भिक्षेपसहस्रमपश्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ तत्स्वप्नं
 जगत् तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यान्मातृद्वाराद्बालपुत्रवत्प्रसूतम् ॥ १२ ॥
 सर्वदृश्यमित्ये हि सुषुप्तिः प्रसिद्धा तत्र तत्सुषुप्तात्मनो दृश्या-
 दिति सुषुप्तावपि दृश्यसद्भावमुक्तं भूत्वा तदसंभावयन्त्याधः
 पृच्छति—तदिति । तत्सुषुप्तात्मन इति तच्छब्देन दृश्यपदेन
 च व्यपदेशात्सुषुप्तदृश्यं किंचिदस्तीत्यभिप्रेत्य त्वं बक्षि तन्मे वदे-
 त्यर्थः ॥ १३ ॥ किंच तस्य प्राणिनः सुषुप्तात्मनः तत्सुषुप्तात्मन-
 श्चापि सकाशात्स्वप्नं जगद्रूपं दृश्यमन्यत्किं जायते । अन्यता-
 प्रयोजकं जन्म किं, अथ सर्वदृश्यलये अन्यसुषुप्तता वा किम्
 ॥ १४ ॥ किं दृश्यतज्जन्मादि परमार्थतः किमिति पृच्छति
 उत व्यवहारतः । आद्ये अवस्त्वरूपत्वाच्च किंचिदित्युत्तरं मुनि-
 राह—जायत इत्यादिना । द्वैतोपतप्तानां मूर्खाणां कल्पनात्मकः
 प्रलयो मयानूदितो न तत्त्ववादोऽयमित्यर्थः ॥ १५ ॥ पण्डित-
 विचारे तु जातादिशब्दानां सन्नात्रमेवार्थो नान्य इत्याह—
 आतशब्द इति । कथं सन्नात्रपर्यायस्त्वच्छ्रूयतामुपपादयामी-

मुनि उवाच ।

जायते भाति कचति घटादि जगदादि च ।
 इति द्वैतोपतप्तानां प्रलापः कल्पनात्मकः ॥ १५
 आतशब्दो हि सन्नात्रपर्यायः श्रूयतां कथम् ।
 प्रादुर्भावे जनिस्तूकः प्रादुर्भावस्य भूर्बपुः ॥ १६
 सप्तार्थ एव भूः प्रोक्तस्तस्मात्संजातमुच्यते ।
 सर्गतो जात इत्युक्ते सन्सर्ग इति शब्दितम् ॥ १७
 बुधानामस्मदादीनां न किंचिद्भास जायते ।
 न च नश्यति वा किंचित्सर्वं शान्तमजं च खत् ॥ १८
 सर्वसत्तात्मकं ब्रह्म सर्वसत्तात्मकं जगत् ।
 विधयः प्रतिषेधाच्च वद तत्र लगन्ति के ॥ १९
 या नाम शक्तिः काचित्सा तत्रैवास्ति च नास्ति च
 यस्मात्तदात्म तद्ब्रह्म तथैवात्म तदात्मकम् ॥ २०
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादिपरमार्थविदां विदाम् ।
 न विद्यते किंचिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥ २१
 स्वप्नसंकल्पपुरयोर्नास्त्यप्यनुभवस्थयोः ।
 मनागपि यथा रूपं सर्गादौ जगतस्तथा ॥ २२
 द्रष्टास्याः स्वप्नदृष्टेस्तु जीवः संभवतीह हि ।
 चिदचेत्या तु सर्गादौ भात्यच्छा गगनादपि ॥ २३

त्यर्थः । अनिर्घातुः 'जनी प्रादुर्भावे' इति पाणिन्यादिभिः प्रादु-
 र्भावार्थे उक्तः । तत्र प्रादुरित्यन्ययं प्रकटतां भाव्यर्थस्य योतयन्न-
 प्रधानं, भूधातुरेव तु तस्य वपुः प्रधानं शरीरमित्यर्थः ॥ १६ ॥
 अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—सप्तार्थ इति । भूर्बपुस्तु 'भू सत्ता-
 याम्' इति पाणिन्यादिभिः प्रोक्तस्तस्मात्प्रादुर्भवेसर्गसहिताद्भाव-
 शब्दात्संजातः प्रकटः सप्तार्थ उच्यते । स च नित्यसिद्धत्वप्रका-
 शचित्वात्सर्वैत्यर्थः । यदि प्रादुःशब्दस्य सर्गत इत्यर्थस्तदापि न
 काचित्कतिः । यतः सर्गशब्दस्यापि सृजभातोर्भावे षणि षमर्थे
 सत्तारूपे भावे सृज्यर्थस्वामेदेनान्धये सजेव सर्ग इति शब्दितं
 नान्यदित्यर्थः ॥ १७ ॥ एवं सति पण्डितदृशा नाज्ञजनप्रसिद्ध-
 जन्मादि कस्यचित्प्रसिद्धतीत्याह—बुधानामिति ॥ १८ ॥
 एवं सर्वसत्तात्मके ब्रह्मणि अस्तिनास्तीति वा वस्तूनां विधि-
 प्रतिषेधयोरप्यनवकाश इत्याह—सर्वेति ॥ १९ ॥ तद्यस्ति-
 नास्तीति लोकप्रसिद्धव्यवहारस्य को विषयस्तं दर्शयन् द्वितीये
 प्राह—या नामेति । या मायाशक्तिः । यस्मात्तद्ब्रह्म तच्छ-
 बलत्वादज्ञानां तदात्म । तदात्मेति पदं व्यावष्टे—तथैवेति ।
 यथा यथा मायाशक्तिर्विजृम्भते तथैवात्मा सर्वशक्तिषट्ठितं
 स्वरूपं अस्व तदात्मकं, तदात्मशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ २० ॥
 तत्त्वविदां तु सदा तुरीयपदे प्रतिष्ठितानां जाग्रदाद्यवस्था एव
 न सन्ति, दूरे विधिप्रतिषेधा इत्याह—जाग्रदिति । विदां
 पण्डितानाम् ॥ २१ ॥ प्रत्यक्षमनुभवस्थानामपलापो दुर्भट
 इति शब्दा दृष्टान्ताभ्यां वारयति—स्वप्नेति ॥ २२ ॥ तर्हि
 स्वप्ननोरथयोर्द्रष्टा प्राणादिमान् जीव इव सर्गादावपि प्राणादि-

१ स्वमूर्तित्वं इति पाठः । २ स्वप्नसर्वज्ञादृश्यादुपरसर्वत्वमस्तीति हेवद.

मेह द्रष्टास्ति नो भोक्ता सर्वमस्तीह तादृशम् ।
यत्र किञ्चिच्च किञ्चिच्च मौनमेधातिघागपि ॥ २४
सर्गादौ कारणाभावाद्यथा कश्चितं चित्तौ ।
तत्तथास्ते चिरं रूपं स्वप्रसंकल्पपर्यथा ॥ २५
तथास्त्राचेतनाद्वैताद्विभेति न विभेति वा ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अ० वि० श० सुषुप्तविचारो नाम षट्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४६ ॥

अङ्गसंस्थाद्यथा चित्रात्स्वरूपात्पुरुषः स्वयम् ॥ २६
अनादिमध्यान्तमनन्तमेक-
मस्यच्छमेधातिविकारि नाया ।
यथास्थितं भास्वरमप्यशान्त-
मिदं समस्तं परिशान्तमेव ॥ २७

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४७

मुनिरुवाच ।

अनन्तरं महाबाहो सुषुप्ताभिर्गतस्य मे ।
त्वमे जगद्भ्रममिवं सागरादिव निर्गतम् ॥ १
आकाशाङ्गादिवोत्कीर्णमुत्कीर्णमवनेरिव ।
उत्कीर्णमिव वा चित्ताद्युत्कीर्णमिव वा दृशः ॥ २
प्रफुल्लमिव वृक्षेभ्यः सर्गः पूर्वमिवोत्थितः ।
तरङ्गजालं रोधोऽध्वेरिव वा कचनं दृशाम् ॥ ३
नभस्तलादिवायातं ककुब्भ्य इव चागतम् ।
षड्भैभ्य इवोत्कीर्णं भूमेरिव समुत्थितम् ॥ ४
इदयादिव निष्क्रान्तं संप्रविष्टमिधाम्बुदैः ।
प्रसृतमिव वृक्षेभ्यो जातं वा सस्यवद्भुवः ॥ ५
अङ्गेभ्य इव निर्यातं समुत्कीर्णमिवेन्द्रियैः ।
पटादिव प्रकटितं मन्दिरादिव निर्गतम् ॥ ६
कुतोऽप्यागतस्य पतितमुद्गीय गगनादिव ।

उपायनं परे लोके गृहीतमिव वा भुवः ॥ ७
प्रसूनं ब्रह्मवृक्षस्य तरङ्गमिव वाम्बुधेः ।
अनुत्कीर्णप्रकटनाच्चित्तममे चारुपुत्रिका ॥ ८
आकाशमृन्मयानन्तकुब्जमाकाशापत्तनम् ।
मनो मत्तो गजमयो मिथ्या जीवस्य जीवितम् ॥ ९
अमिच्छिकमरङ्गं च विचित्रं चित्रमम्बरे ।
शम्बरेशस्य सर्वस्वमविद्यास्यस्य कस्यचित् ॥ १०
महारम्भं स्थिरमपि देशकालविबर्जितम् ।
नानात्म्यमपि चाद्वैतं नानात्मापि न किञ्चन ॥ ११
गन्धर्वपुरदृष्टान्तस्याप्यवस्तुतया समम् ।
जागरायां हि किल तन्क्रान्तमप्युपलभ्यते ॥ १२
चिद्भ्रामात्रमनारब्धमप्यारब्धमिव स्थितम् ।
देशकालक्रियाद्रव्यसर्गसंहारसंयुतम् ॥ १३
सुरासुरनराधारगर्भगर्ममनोहरम् ।
पृथक्कोष्ठस्यबीजौघसंपूर्णमिव दाडिमम् ॥ १४

मदेव ब्रह्म सिद्धेन निर्विशेषं तत्राह—दृष्टेति । जीवोपा-
विसर्वांतरकालत्वात्तयोः प्राणादिमान् जीवस्तादृशं प्राणाद्युत्पत्तेः
प्राक् तु दृष्ट एव तत्सर्गादिद्रष्टा स्थित इति संभावयेत्यर्थः ॥ २३ ॥
अभ्युपेक्ष्य सर्वं तद्गद्गुः दृष्टत्वमुक्तम् । वस्तुतस्तु त्रिपुटी सर्वापी-
दैव दृष्टे निवर्तत इत्याह—नेष्टेति । तादृशं चिदेकरसम् ॥ २४ ॥
सर्गादावपि चिदेव सर्गात्मना कश्चिता यावत्प्रलयं तथैवास्त
इष्येत्याह—सर्गादाविति ॥ २५ ॥ तथा उक्तप्रकारेण चेतनादा-
त्मभूतादेव द्वैतादज्ञतायामन्यलाभान्त्या विभेति । तत्त्वबोधे न
विभेति । आक्षब्धो व्यवस्थितविकल्पार्थः । यथा बालः स्वाप्ने
लिखिताद्याघ्नसर्पादिवित्राद्विभेति प्रौढस्तु न विभेति तद्वदित्यर्थः
॥ २६ ॥ तत्त्वतोऽनादिमध्यान्तमस्यच्छं ब्रह्मैव भ्रान्त्या अतिवि-
कारि नाना च भूत्वा भाति यथास्थितम् । अज्ञान्तमपीदं जग-
त्सत्त्वतः परिशान्तमेव प्रबोधेनेत्यर्थः ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
हाराजस्य रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सुषुप्तविचारो
नाम षट्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४६ ॥

सुषुप्तादत्र दृष्टाण्यैः स्वप्ननिर्गमनक्रमः ।

तत्र पूर्वकृद्भ्रामादिबीजात्तत्त्वं च वर्णयते ॥ १ ॥

सप्तमारातरङ्गमणिमुक्तादिकमिव निर्गतम् । अत्र सर्वत्र संभवे
उपपन्नं तद्वत्प्रेशा प्रोक्तम् ॥ १ ॥ उत्कीर्णं दृष्टकरोदा-
यो० वा० १०५

दिना शिलाप्रतिमावत्प्रकटितम् ॥ २ ॥ पूर्वमुत्थितः पूर्वसिद्ध
एव न तदानीमुत्पन्न इति भात इत्यर्थः । रोधः कूलं तत्सं-
निहितादभ्येक्षतरङ्गजालमिव । दृशां नेत्राणां केशोण्डकद्विचन्द्रा-
विभावेन कचनमिव वा ॥ ३ ॥ भूमेः समुत्थितं कुब्जवल्मी-
कादीव ॥ ४ ॥ अम्बुदैर्नभसि संप्रविष्टमिव सस्यवद्विरूपप-
रिणामेन ॥ ५ ॥ दृष्टस्थानीयैरिन्द्रियैर्दिक्षु समुत्कीर्णं उल्लेख-
नेन निष्पादितमिव प्रसारितमिव वा । पटात्प्रकटितं चित्रमिव
॥ ६ ॥ राज्ञां प्रजामिराहतमुपायनमिव । इह लोके संचितं
पुण्यं परे लोके फलभावेनोपस्थितमिव । भुवः खननाद्युपायैर्गृ-
हीतं निधानमिव वा ॥ ७ ॥ ब्रह्मलक्षणस्य वृक्षस्य प्रसूनमिव काले-
नोपनीतम् । उत्तिकरणं विनैव प्रकटनं यथास्तथाविधा बाल-
भञ्जिका ॥ ८ ॥ आकाशलक्षणमृद्विकारभूतमनन्तमसंख्यातं
कुब्जम् । मनसो मतंगजमयो विलासः । जीवितं सर्वस्वम् ॥ ९ ॥
शम्बरं माया तत्र ईशस्य समर्थस्य अविद्याकृतस्य कस्यचि-
दंन्द्रजातिकस्य मायासर्वस्वम् ॥ १० ॥ देशकालसौक्ष्म्येऽपि
विस्तारचिरत्वदर्शनादेशकालविबर्जितम् ॥ ११ ॥ यन्क्रान्तमपि
जागरायामुपलभ्यते रज्जुसर्पमृगतृष्णोदकादि तेनापि सममि-
त्यनुपज्यते ॥ १२ ॥ १३ ॥ सुरासुराद्युपलक्षितत्रैलोक्याधरै-
र्भूमैस्तारुभैश्च कर्तृलोक्यभवनमनोहरम् । तथाप्यनन्तरार्धे-

गद्दीशैलवनादिस्यव्योमताराभ्रसंकुलम् ।
 गीताब्धिरणपाठाख्यपवनारावधर्धरम् ॥ १५
 ततो विलोकितं तत्र तन्मया दृश्यमण्डलम् ।
 यावत्तमेव पश्यामि ग्रामं प्राक्तनमास्पदम् ॥ १६
 तानेव सकलाम्बुधूंस्तथासंस्थानसंस्थितान् ।
 ताम्पुत्रांस्तां महिलां च तदेव च तदा गृहम् ॥ १७
 तां दृष्ट्वा प्राक्तनीं प्राप्स्यामाहरद्वासनां बलात् ।
 तटस्थं मुखामानाङ्गमिव वीचिर्महार्णवे ॥ १८
 अथाहमभवं तत्र तदालिङ्गननिर्वृतः ।
 गृहीतवासनो नूनं विस्मृतप्राक्तनस्मृतिः ॥ १९
 विम्बं तत्तदुपादत्ते यद्यदप्रेऽवतिष्ठति ।
 यथादर्शब्धिदादर्शस्तथैवायं स्वभावतः ॥ २०
 यस्तु चिन्मात्रगगनं सर्वमित्येव बोधवान् ।
 द्वैतेन बोध्यते नेह सोऽङ्ग तिष्ठति केवलः ॥ २१
 न नश्यति स्मृतिर्यस्य विमला बोधशालिनी ।
 अयं द्वैतपिशाचस्तं मनागपि न बाधते ॥ २२
 येषामभ्यासयोगेन साधुसच्छास्त्रसंगमैः ।

इत्यार्षे श्रीवा० बाल्मी० दे० मो० नि० उ० अ० वि० शबोपाख्याने स्वप्नोपलम्भनं नाम सप्तत्रवारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४७ ॥

अष्टत्रवारिंशदधिकशततमः सर्गः १४८

व्याध उवाच ।

एवं चेत्तन्मुनिश्रेष्ठ सत्यतासत्यता कथम् ।

ध्वनन्तब्रह्माण्डकल्पनसत्त्वापृथक्प्रस्थवीजौधैः संपूर्णं दाडिम-
 फलमिव स्थितम् ॥ १४ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—नदीति । कल-
 र्धांतशिलान्यायेनेति भावः ॥ १५ ॥ तं पूर्वप्रवेशस्वरूपं ग्रामं
 तत्र प्राक्तनमास्पदं गृहं च पश्यामि अपश्यम् । 'यावत्पुरा-
 निपातयोर्लट्' ॥ १६ ॥ तथासंस्थानं प्रागनुभूतवयोवस्थासं-
 निवेशस्तेन संस्थिताम् । महिलां भार्याम् ॥ १७ ॥ महार्णवे
 वीचिः प्राक्तनं तटस्थं मुखामानं व्याकुलं स्वाङ्गमिव स्थितां
 प्राक्तनीं प्राप्स्यां गृहक्षेत्रपुत्रबन्ध्यायमिमानवासनां बलादाहरत्
 ध्यानयदिति बन्धुपुत्रमहेलागृहविशेषणम् । तत्र 'नपुंसकमन-
 पुंसकेन—' इति नपुंसकशेषे एकवद्भावः ॥ १८ ॥ तेषां बन्धु-
 पुत्रमहेलानामालिङ्गनेन निर्वृतः सुखितः ॥ १९ ॥ प्रसङ्गा-
 दविमृष्टविमृष्टचित्तोः स्वभावान्प्रपञ्चयति—विम्बमित्यादिना ।
 यथा प्रसिद्ध आदर्शो यद्यदप्रेऽवतिष्ठते तत्तत्प्रतिविम्बं स्वयम-
 प्युपादत्ते तथा चिदादर्शो वासनोपस्थापितं यद्यत्पूर्वमवतिष्ठते
 तत्तदाकाराभासमुत्तरत्र गृह्णातीत्यर्थः ॥ २० ॥ विमृष्टचित्तस्तु
 नायं स्वभाव इत्याह—यस्तिष्ठति । सः वासनामयेन द्वैतेन
 प्रतिविम्बग्रहणादिना नैव बोध्यते । 'यस्यां जाप्रति भूताणि
 सा निशा पश्यतो मुनेः' इति भगवद्भक्तन्यायादिति भावः ।
 'बाध्यते' इति वा पाठः ॥ २१ ॥ तदेवाह—नैति ॥ २२ ॥
 या बोधवीर्यविता चेत्पुनः स्वोदयं न विस्मरत्येव । तदेव ज्ञान-

उदेति बोधवीर्ययो या विस्मरति नोदयम् ॥ २३
 अप्रौढा मे तदा सासीद्वोद्यधीर्या तथा हता ।
 अद्य शक्नोति मे बुद्धिं हन्तुं क इव दुर्ग्रहः ॥ २४
 तथापि व्याध विद्धीदं बुद्धिः सत्सङ्गवर्जिता ।
 द्वैतबोधेन कष्टेन कृच्छ्राच्छान्तिमुपैष्यति ॥ २५
 व्याध उवाच ।

एषमेतन्मुने सत्यं पावनैस्त्वद्विबोधनैः ।
 ईदृशैरपि मे बुद्धिर्न विधाम्यति सत्यदे ॥ २६
 स्यादीदृशमथो न स्यादिति संदेहजालिका ।
 नैतस्मिन्स्वानुभूतेऽपि वस्तुन्यद्यापि शाम्यति ॥ २७
 अहो वत दुरन्तेयमभ्याससुदृढीकृता ।
 अविद्या विद्यमानैव या शान्तैव न शाम्यति ॥ २८
 सत्सङ्गतैः पदपदार्थविबुद्धबुद्धेः
 सच्छास्त्रसत्कमविचारमनोहराङ्गैः ।
 अभ्यासतः प्रशममेति जगद्भ्रमोऽयं
 नान्येन केनचिदपीति विनिश्चितिर्मे ॥ २९

स्थितः स्वप्रहशा चैव सुमहान्संशयो मम ॥ १

नुसंधानात्मना आस्ते इत्यर्थः ॥ २३ ॥ तर्हि तत्त्ववित्त्वं कथं
 तदा व्यामूढस्तत्राह—अप्रौढेति । या अप्रौढा धीस्तया बन्ध्वा-
 दिवासनया हता, तर्हीदानीमपि ते बोधवीरप्रौढैव नेत्याह—
 अद्येति । दुर्ग्रहो दुर्वासनाप्रचयः ॥ २४ ॥ हे व्याध, तव
 बुद्धिरपि सत्सङ्गवर्जितेति हेतोर्भेदानीमेव शान्तिमेति किंतु
 वक्ष्यमाणतपःकायबुद्धिमरणजन्मान्तरराज्यादिना कष्टेन द्वैत-
 बोधेन कृच्छ्रात्साधनाभ्यासपरिध्रमाज्ज्ञानमासाद्य शान्तिमुपै-
 ष्यति ॥ २५ ॥ मुन्युक्तमनुमोदमानो व्याध उवाच—एष-
 मेतदिति ॥ २६ ॥ २७ ॥ अविद्यमानैवेति सदा शान्तैव न
 शाम्यति ॥ २८ ॥ सत्सङ्गवर्जितेति यदुक्तं तदप्यनुमोदमान
 आह—सत्सङ्गतैरिति । सच्छास्त्रं सत् क्रमो गुरुसंप्रदायो
 विचारधेत्यादिना मनोहराङ्गैः सत्सङ्गैः प्रसूता या पदपदार्थ-
 वेकबुद्धिस्तदभ्यासतत्त्वोत्पत्तात्त्वबोधार्थमिकाक्रमेणायं जग-
 द्भ्रमः प्रशमयेति । अन्येन केनचिदपि न प्रशमयेतीति मे विनि-
 श्चितिर्निश्चय इत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्प-
 र्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वप्नोपलम्भनं नाम सप्तत्र-
 वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४७ ॥

स्वभासत्त्वसत्यत्वहेतुरत्र विकल्पते ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यैक्यं चित्तार्वाक्यैक्यबुद्धियुक्तं ॥ १ ॥

अदि वासनानुसारि चिद्वेदवयेव स्वप्ने जाग्रत् स्वप्नविशेष

मुनिरुवाच ।

देशकालक्रियामुच्यैर्या संविधिश्चित्तोदिता ।
 काकतालीयवद्भाति सा सत्यस्वप्नामिका ॥ २
 मणिमन्त्रौषधिद्रव्यैः क्वचिद्व्यभिचारिणी ।
 क्वचित्सव्यभिचारा चित्सत्यस्वप्नाभिधा स्मृता ॥ ३
 सत्यस्वप्नस्थितिलोकेष्वीदृशूपा यदा स्थिता ।
 तदैषा काकतालीयन्यायादन्या न लभ्यते ॥ ४
 यं यं निश्चयमादत्ते संवित्सदृढनिश्चया ।
 तथा तथा भवत्येषा फलयुक्तस्वभावतः ॥ ५
 तमेव निश्चयं त्वस्या अन्यः प्रतिनिहन्ति चेत् ।
 तत्रासौ निश्चयः प्रौढः स कथं लक्ष्यभागभवेत् ॥ ६
 न बहिर्नान्तरे सन्ति पदार्थाः केचन क्वचित् ।
 संविदेका जगद्रूपैर्यथेच्छति तथा स्थिता ॥ ७
 स्वप्नोऽयं सत्य इत्यन्तर्निश्चयेन तथोदिता ।
 तथैवाशु भवत्येषा संशयात्संशयं व्रजेत् ॥ ८
 अन्यतोऽपि फलं प्राप्तं स्वप्नसत्यत्वकल्पनात् ।
 स्वप्नेन सूचितमिदं फलमित्येव वेत्स्यथम् ॥ ९
 सर्व एव निजया जगद्भये
 संविदातिशयिता दृढा अपि ।

एवेत्येवं चेत्सिद्धान्तस्सार्हिं क्वचित्सप्न उषसि दृष्टगजारोहणादि-
 र्त्वादिफलसूचकत्वात्सत्यः । अन्यस्तु अरण्यगमनभ्रमणादिः
 फलादर्शनादसत्य इति स्वप्नदशौ सत्यतासत्यते कथमुपपद्यते ।
 एवं हैरण्यगर्भमानोरथिकः सर्गोऽर्थक्रियासमर्थत्वात्सत्यः अस्-
 वीयस्त्वसत्य इति जाग्रज्जगत्पि एष संशयः सुमहान्मम
 स्थितः । अभिष्टानचित्सत्यतयाध्यस्ते सत्यता स्वतस्त्वसत्यता
 बोभयत्रापि तुल्यैव चेद्वैषम्ये को हेतुरिति भावः ॥ १ ॥
 या स्वप्नसंवित् स्वप्नेश्वरीसाभिध्यादिदेशे प्रत्युषादिकाले देवतारा-
 धनतपोव्रतादिक्रियाभिर्द्विव्यकुशास्तरणादिद्रव्यैश्च शास्त्रादि-
 प्रमाणैरवश्यमीदृशस्वप्नस्येदंशं फलं भवत्येवेति निश्चिता उदेति
 सा संवित् काकतालीयफलकशकुनादिवदवश्यमुत्तरकाले फल-
 लाभात्सत्यस्वप्नामिका भवति ॥ २ ॥ मणिमन्त्रादिनिमित्तैर्जा-
 यमाना तु तथोग्ये पुरुषे अव्यभिचारिणी अयोग्ये तु सम्भ-
 विचारापि शास्त्रमर्यादानतिलङ्घनादुभयत्रापि सत्यस्वप्नाभिधैव
 स्पृतेत्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्रोभयत्रापि काकतालीयन्याय एव शरणं
 न दृष्टं नियामकं किञ्चिन्निरूपयितुं शक्यमित्याशयेनाह—स्व-
 स्येति ॥ ४ ॥ हिरण्यगर्भादिसंविन्नु प्राक्तनोपासनापरिपाकजत्वा-
 त्सत्यसंकल्परूपदृढनिश्चया सती यं यं निश्चयमादत्ते तथा तथा
 भवत्येवेत्याह—यं यमिति । प्राक्तनोपासनफलप्रयुक्तस्वभावतः
 ॥ ५ ॥ सापि अन्यथीयतद्विरुद्धसत्यसंकल्पेन कुतो न प्रतिहन्यते
 तत्राह—तमेवेति । तस्मात्सं सर्गादिनिश्चयमन्यः प्रतिनिहन्ति
 चेत्तत्र प्राक्तनोपासनाकाले प्रौढो जगत्स्रष्टाहमिति निश्चयः
 प्रयाणकाल उद्भूतः 'तद्वैतल्लोकजिदेव' इत्यादिश्रुतिसिद्धस्वल्प-
 फलभाक् कथं भवेत् । अतस्तद्विरोधेनैवाग्न्येषां सिद्धानां

कालतो व्यभिचरन्ति देशतो

यज्ञतश्च चिरतोऽचिरेण वा ॥ १०
 सर्गादावेव चिद्योम भानमप्रतिघं जगत् ।
 वस्तुसत्तां चिदेवातो यथेष्टं तनुते तनुः ॥ ११
 चिन्मात्रं वर्जयित्वैकं ब्रह्मान्यत्सर्वदाशिलम् ।
 विद्धि सत्यमसत्यं च नियतानियतं स्थितम् ॥ १२
 यस्माद्ब्रह्मैव सर्वात्म सदेकमेव नेतरत् ।
 तस्मात्किं नाम तत्सत्यं किमसत्यं च वा भवेत् ॥ १३
 अतः स्वप्नः क्वचित्सत्यः क्वचिच्चासत्य एव वा ।
 अबुद्धानां प्रबुद्धानां नासद्रूपो न सम्मयः ॥ १४
 संविद्भ्रान्तिरियं भाति जगन्नाम्नी स्वरूपिणी ।
 स्वयं च भ्रान्तिरस्मीति वादिनी कात्र निश्चिता ॥ १५
 चित्तिरेव चिरायेदं चित्तं चिमचिमायते ।
 यदात्मन्येव सलिलं द्रववत्सदिदं जगत् ॥ १६
 यथा स्वप्नं समालोक्य सुषुप्तमनुभूयते ।
 तथा जाग्रत्समालोक्य निद्रा समनुभूयते ॥ १७
 अतस्त्वं जाग्रदेवेदं स्वप्नं विद्धि महामते ।
 स्वप्नं च विद्धि जाग्रत्स्वमेकमेतदजं द्वयम् ॥ १८
 व्योमैवाचेत्यचिन्मात्रभानमेकमिदं ततम् ।

संकल्प उदेति न तद्विरुद्ध इति भावः ॥ ६ ॥ तथा च संवि-
 त्स्वातन्त्र्यमप्रतिहतमेवेत्याह—नेति ॥ ७ ॥ शास्त्रादिप्रमाण-
 कृतनिश्चयेन । शास्त्रादिप्रमाणसंशयानु फलसंशयं प्राभुयात्
 ॥ ८ ॥ काकतालीयवदिति यदुक्तं तदुपपादयति—अन्यत
 इति ॥ ९ ॥ एवं जाग्रत्प्रसिद्धघटादिसंविदोऽपि काकतालीया
 एव, तद्विषयेष्वपि देशकालभेदेनान्यथाभावदर्शनादित्याह—
 सर्व एवेति । निजया तत्तत्पुरुषसंविदा अतिशयिताश्चिरपरि-
 क्षीलिता अर्थक्रियादिना दृढीकृतघटादिस्वभावा अपि सर्व एव
 भावा देशतः कालतश्च मुद्गरप्रहारादियज्ञतथान्यथाभावमापद्य-
 मानाः पूर्वनिश्चितं स्वभावं व्यभिचरन्ति ॥ १० ॥ चित्तु स्वस्व-
 भावं न व्यभिचरतीत्यव्यभिचार्यप्रतिघस्वभावा सैव सत्या अस-
 त्यसप्रतिघजगद्वेषं घत्त इति राद्धान्त इत्याह—सर्गादाशिति
 ॥ ११ ॥ अत एव चिन्मात्रं सत्यैकनियतमन्यत्त्वनियतसत्त्व-
 मित्याह—चिन्मात्रमिति ॥ १२ ॥ यस्मात्सद्ब्रह्मैकमेव सर्वा-
 त्मकं तस्मात्तदतिरिक्तं सत्यमसत्यं वा किं भावयेत् । न किञ्चिदि-
 त्यर्थः ॥ १३ ॥ एवं विचारे स्वप्नोऽपि क्वचित्कदाचित्सत्यः क्वचि-
 त्कदाचिदसत्योऽपि संविदात्मना सत्यस्तद्व्यरूपेणासत्यत्वे-
 त्याह—अत इति ॥ १४ ॥ स्वरूपिणी आकारवती । निश्चिता
 यथार्था ॥ १५ ॥ चित्तं भूत्वेति शेषः । यच्चिमचिमायते साभासं
 स्पन्दते तदेवेदं जगत् ॥ १६ ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयो घनेषुतघृत्त-
 वदमिजा एवेत्युपपादयितुं भूमिकां रचयति—यथेति । मित्रा
 स्वप्नः ॥ १७ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—अत इति । यथा
 घनं घृतमेवेषद्विहीनमीषद्विहीनमेव पुनर्घनतामापद्यत इति
 घृतामेदः प्रत्यभिज्ञानात्तद्वदित्यर्थः ॥ १८ ॥ एवं चाभिचारात्त-

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यास्थाः पर्यायरचना इह ॥ १९ ॥
 नेह नामास्ति नियतिर्न चावियतिरस्ति च ।
 नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशे स्वप्नसंविदि ॥ २० ॥
 यावज्ज्ञानं किल स्वप्ने तावत्सैव नियन्त्रणा ।
 स एव संविज्ञानस्य कुर्यान्नियमनं मुनिः ॥ २१ ॥
 स्वच्छन्दं वातलेखायाः स्फुरन्त्याः संविदस्तथा ।
 अकारणकमेवाङ्ग नियतिः केष कीदृशी ॥ २२ ॥
 अथाकारादि यन्नाम कल्प्यते कारणं विदः ।
 तदकारणकं सर्गः स्यादनन्यन्न वै चित्ते ॥ २३ ॥
 एतावत्येव नियतिरत्र यन्नाम यद्यथा ।
 यावत्स्फुरितं भानं तत्तथा न तदन्यथा ॥ २४ ॥
 कदाचित्सत्यता स्वप्ने कदाचिच्चाप्यसत्यता ।
 अमावाभियत्तरेव काकतालीयमेव तत् ॥ २५ ॥
 यत्स्वेनैवात्मना भाति मणिमश्रौषघात्मना ।
 यन्नाम नियतं तस्यु जाग्रत्यपि हि दृश्यते ॥ २६ ॥
 जाग्रत्स्वप्नश्च चिज्ञानमात्रमेवान्यतात्र का ।
 जाग्रति स्वप्नगरे वेदनात्सदृशात्मकम् ॥ २७ ॥
 जाग्रन्न संभवत्येव यज्जाग्रदिति शब्दितम् ।

इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० वि० श०

स्वप्न एव जगद्रूपं निर्निद्रस्यैव चात्मनः ॥ २८ ॥
 स्वप्नो वा नाम नास्त्येव यः स्वप्न इव शब्दितः ।
 सुप्तासुप्तैकरूपस्य ब्रह्मणो बोधरूपता ॥ २९ ॥
 जाग्रत्स्वप्नादयो वृत्ते न केचन कदाचन ।
 दृश्यं पश्यति सत्ताशु मृतिभ्रान्तेरनन्तरम् ॥ ३० ॥
 यथानवरतं कालमनन्तं तीकरोर्मयः ।
 त एवान्यवद्भाशावदनन्याः स्फुरन्त्यलम् ॥ ३१ ॥
 तथानन्ये परे सर्गाः स्फुरन्त्यस्फुरिता अपि ।
 शिलाकोशान्तलेखावजाग्रत्स्वापादि तत्र किम् ॥ ३२ ॥
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुर्यकवपुः साकारतावर्जितं
 सर्वाकारमपि व्यतीतकलनं सर्गं शरीरं दधत् ।
 व्याप्तं चिद्रूपता तथापि सुषिरं शून्येन दृश्यात्मना
 चिन्मात्रं खमिदं मनागपि नभोमात्रात् मिश्रं पुनः
 साकाशानिलवह्निवारिधरणीलोकान्तराम्बोधरं
 सर्गादावपि कारणानुभवाचित्तात्मकं केवलम् ।
 नाम्ना वर्जितमेव बोधवपुषा संयुक्तमेधान्ततः
 शुद्धं वेदनमात्रमेव सकलं दृश्यं न वस्त्वन्तरम् ३४ ॥

स्वप्ननिर्णयो नामाष्टचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४८ ॥

चिन्मात्ररूपा सुषुप्तिरेवैका घृतवत्सर्वदा द्रष्टव्या । तस्या एव
 सर्वे नामरूपमेदाः पर्यायरचना इति फलितमित्याह—व्योमै-
 वेति ॥ १९ ॥ स्वप्नादेः फलनियत्यनियती अपि न ततः पृथक्
 स्त इत्याह—नेहेति । मिथ्यात्वादपि ते पृथक् न स्त इत्याह—
 नियत्यनियती इति ॥ २० ॥ अज्ञानानुता चिदनियन्त्रिता
 जाग्रत्स्वप्नौ । भ्रमादिनिमित्तनियन्त्रिता सुषुप्तिः । प्रयत्ननियन्त्रिता
 तु समाधिः । अज्ञानानुते सैव मुक्तिः । एवं सति जाग्रत्निरोधेन
 मनोव्यापारमात्ररूपे स्वप्ने यावत्कालं भानं तावत्सैव चित्तो
 बाह्यप्रवृत्तिनियन्त्रणाशोकान्तरम् । यावच्च संविज्ञानस्य निय-
 त्रणा तावत्सुषुप्ते स आत्मैव सर्वशोकान्तरम् । एवं ज्ञात्वा
 मुनिर्विशोकसमाधिमुखविभ्रान्त्यर्था नियमनमेव कुर्यादित्यर्थः
 ॥ २१ ॥ ननु न संविन्नियन्तुं शक्या तस्य वातलेखाया इव
 स्वप्नाद्याकारस्फुरणनियतेरित्याशङ्क्याह—स्वच्छन्दमिति । न
 तावद्विषयाकारस्फुरणं संविदः स्वभावः । सुषुप्तावदर्शनात् ।
 न च स्वप्ने तथा स्फुरणे कारणान्तरं निरूपयितुं शक्यम्, यन्नि-
 बन्धना नियतिः स्यादिति का नियतिः कीदृशी वेत्यर्थः ॥ २२ ॥
 ननु बाह्यघटपटाद्याकार एव स्वसंबन्धे संविदः स्वाकारताया
 कारणं कल्प्यते तत्राह—अद्येति । भवेदेवं यदि सर्गे किञ्चि-
 दन्यत्कारणं निरूपयितुं शक्येत । यदा तु प्रागुक्तयुक्तेः सर्गः
 अकारणकस्तदा चित्तेरनन्यदाकारादि चित्तेः कारणं न ज्ञा-
 वेत्यर्थः ॥ २३ ॥ तर्हि किं सर्वापि नियतिर्मा, नेत्याह—
 एतावत्येवेति । या चित्तिर्यदा यथा स्फुरति तदस्यु तदा तथा
 पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं वेति नियतिर्भावव्य-
 हारमस्त्येवेत्यर्थः ॥ २४ ॥ स्वप्नसज्जतास्तिस्तिस्तु यथावाक्-

त्वेन सर्वत्रेति काकतालीयवदित्युक्तेवेत्याह—कदाचिदिति
 ॥ २५ ॥ मणिमश्रौषघात्मना प्रयुक्तसत्यतानियतिस्तु जाग्र-
 त्प्रत्ययेऽपि समेत्याह—यदिति ॥ २६ ॥ अत एव जाग्रत्स्व-
 प्रयोचिन्मात्रत्वादमेद उक्त इत्याह—जाग्रदिति । तयोर्वैद्य-
 स्वरूपं वेदनस्वरूपं वानुभवतस्तुल्यमेवेत्याह—जाग्रतीति
 ॥ २७ ॥ अत एव निर्निद्र आत्मनि द्वयोरपि व्यभिचारादसत्त्वमे-
 वेत्याह—जाग्रदिति द्वाभ्याम् ॥ २८ ॥ २९ ॥ एवं सति निर्नि-
 द्रस्य सुषुप्तिरपि नास्त्येवेत्याशयेनाह—जाग्रदिति । एवमास्त्य-
 न्तिकदृश्यादर्शनरूपा आत्मोच्छेदादिरूपा वा मृतिरपि नास्त्ये-
 वेत्याह—दृश्यमिति । सत्ता अविपरिहृयमस्ति सत्ता ॥ ३० ॥
 अभ्रवत् दिग्भ्रमे आशा दिशस्तद्वच्च अनन्यास्त एव अन्यव-
 त्स्फुरन्ति । अनन्या इति बहुव्रीहिः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ इदमात्म-
 स्वरूपं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तवपुस्ताद्विरुद्धतुर्यकवपुश्च तथा साकार-
 तावर्जितं सर्वाकारमपि व्यतीतकालकलनं सर्गात्मककालपरि-
 छिन्नशरीरं दधदपि ह्यन्वेनैवावेन चिद्रूपता शून्येनैव दृश्या-
 त्मना चात्मकमेव सुषिरं शून्यं व्याप्तं तथापि पुनरिदं चिन्मात्रं
 समाकाशात्मकं नभोमात्राद्रूपान्मनागपि मिश्रं ज्ञेयर्थः ॥ ३३ ॥
 किंच सकलमाकाशादिभूतभौतिकसहितं दृश्यं जगत्सर्गादावपि
 कारणस्वान्यस्य प्रमाणैरनुभवात्केवलं हैरभ्यवर्मेचित्तात्मकम् ।
 तथा च चित्तात्मकस्य मनोराज्यवत्तस्य नामरूपाभावात्तात्रा
 वर्जितमेव । बोधवपुषा मनःसाक्षिणा संयुक्तमेव । अन्ततो
 मनोविलये शुद्धं वेदनमात्रमेव न वस्त्वन्तरमित्यर्थः ॥ ३४ ॥
 इति श्रीवासिष्ठसंहाराम्नायणतत्त्वप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 स्वप्ननिर्णयो नामाष्टचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १४९

व्याध उवाच ।

अनन्तरं मुने ब्रूहि तत्तत्त्वं जागतस्य ते ।
 किं वृत्तमुत्तुष्टान्तशतनिर्वाणसंसृतेः ॥ १
 मुनिरुवाच ।
 ततः शृणु तदा साधो तस्मिंस्तद्ब्रूवयोजसि ।
 अपूर्वं एव वृत्तान्तः को वृत्तो वृत्तसस्पृह ॥ २
 तथा मम च तत्रस्थविस्मृतात्मचमत्कृतेः ।
 अभ्यवर्तत वै कालो ऋतुसंवत्सरात्मकः ॥ ३
 कलत्ररञ्जितमतेर्मम वर्षाणि षोडश ।
 तत्र तानि व्यतीतानि गृहस्थाभ्रमतोऽमतेः ॥ ४
 कदाचिच्चाजगामाथ गृहमुप्रतपा मम ।
 मुनिर्मान्यो महाबोधो बुधोऽतिथितया तथा ॥ ५
 सोऽत्र संपूजितस्तुष्टः सुप्तवान्भुक्तवांस्ततः ।
 इदमङ्ग मया पृष्टो विमृश्य जनताक्रमम् ॥ ६
 भगवन्भूरिबोधोऽसि जानासि जगतो गतीः ।
 यस्माद्दृष्टक्रोधोऽसि सुखे गृह्णासि नो रतिम् ॥ ७
 सुखदुःखान्युपायान्ति कर्मभिः कर्मशालिनाम् ।
 शुभाशुभैः शरत्काले सस्यानीव फलार्थिनाम् ॥ ८
 सममेवाशुभं कर्म किमिमाः सकलाः प्रजाः ।
 कुर्वन्त्यासां यदा यान्ति दोषाः सर्वादयः समम् ॥ ९
 दुर्भिक्षावग्रहोत्पातं सर्वादि सममेव किम् ।

इह तस्मिन्वृत्तान्ते गृहागतमुनेमुंखात् ।

बहूनां तुल्यदुःखादिनिमित्तं श्रुतमीर्यते ॥ १ ॥

हे मुने, प्राणिदेहे प्रत्यादिभिरुत्तान्तशतैः सह निर्वाणाः संवृतयो यस्य तथाविधस्य ते गृहे भार्याबन्धादिसहवासानन्तरं तत्रानुभूयमानस्य जागतस्य वृत्तान्तस्य संबन्धि किं वृत्तं तत्तत्त्वं ब्रूहीत्यन्वयः ॥ १ ॥ हे वृत्तसस्पृह हे साधो, ततः परं तस्य प्राणिनो दृश्योजसि अपूर्वं एव यो वृत्तान्तो वृत्तस्तं शृणु । य इत्यर्थे क इति प्रयोगः प्रश्नानुवादायः ॥ २ ॥ ३ ॥ अमतेः आत्ममननशून्यस्य ॥ ४ ॥ कदाचिद्बुधो मुनिरतिथितया मम गृहमाजगाम । तथेत्युत्तरान्वदि ॥ ५ ॥ आर्यात् क्रमात्पूर्वं भुक्तवांस्ततः सुप्तवान् । जनता जनसमूहस्तस्याः समानसुखदुःखागमकर्म विमृश्य ॥ ६ ॥ सुखे विषयसुखलवे रक्षिणावृत्तिम् ॥ ७ ॥ ८ ॥ आसां जनतानां सर्वान्भक्ष्यान् भक्ष्यान् आश्रयन्ति भोजयन्तीति सर्वादयो दुर्भिक्षादिदोषाः सममेव यदा भवन्ति तत्र निमित्तभूतमशुभं कर्म किं सममेव कुर्वन्ति ॥ ९ ॥ अस्ममेव प्रवर्तते तर्हि कस्य दुष्क्रिया समाना । सर्वेषां युयपत्तदनुकूलवृत्तान्तस्य प्रतिद्वेषित्वैः ॥ १० ॥ स्ववमानो विस्ववमानिबोन्मना ईषद्दसञ्चिति का ॥ ११ ॥ नास्ति संशयः सर्वसंशयभीजमज्ञानमनिरस्य समा-
 चारं स्वयं इत्यग्निप्रोक्त्वा तदर्थंशततत्त्वं इत्यभिधायत्वं च

जनजालस्य फलति समाना कस्य दुष्क्रिया ॥ १०
 इत्याकर्ण्य समालोक्य स्मयमान इवोन्मनाः ।
 स उवाच यत्रो बन्धममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥ ११
 अभ्यमुनिरुवाच ।
 साधो साधु विविकान्तःकरणे यत्तु कारणम् ।
 सद्वासद्वास्य दृश्यस्य कस्माज्जानासि कथ्यताम् ॥ १२
 संस्मरात्मानमखिलं कस्त्वं केह स्थितोऽसि च ।
 काहं वा किमिदं दृश्यं किं सारं किञ्चिदेव च ॥ १३
 स्वप्नमात्रमिदं भाति किल कस्मात् वेत्सि भो ।
 अहं स्वप्नरो यत्ते त्वं स्वप्नपुरुषोपमः ॥ १४
 अनाकारमनाख्येयमनाद्यमपकल्पनम् ।
 इदं चिन्मात्रकायस्य काचकच्यं जगत्स्थितम् ॥ १५
 रूपमीदृशमेवास्य चिन्मात्रस्यास्यकृत्रिमम् ।
 सर्वेगस्य यदेतद्यद्यत्र वेत्यस्ति तत्र तत् ॥ १६
 सकारणत्वकलनात्सर्वमस्य सकारणम् ।
 अकारणत्वकलनादस्य सर्वमकारणम् ॥ १७
 आसां प्रजानां त्वस्माकं विराडात्मा स भाततः ।
 वयं हृदि स्थिता यस्य स चास्मच्चिद्वशादितः ॥ १८
 भविष्यत्यपरोऽन्यासां विराडात्मा स एव च ।
 कारणं सुखदुःखानां भाषाभाषात्मकर्मणाम् ॥ १९

व्युत्पादयितुं स मुनिर्मा पप्रच्छ—साधो इति । हे साधो, विविके चिदर्थिवेकवत्यन्तःकरणे सति अस्य दृश्यस्य तु यत्कारणं सद्वा असद्वा साधु जानासि तत्कस्माज्जानासि कथ्यताम् । त्वया जानासीति निर्दिष्टाप्रमातुः पृथक्कृत्य साक्षिणः शुद्धस्य प्रश्नविषयत्वद्योतनार्थं कस्मादिति हेतुपञ्चम्या निर्देशः ॥ १२ ॥ तत्र विवेकामभ्यांलूणीभूतं मां निरीक्ष्य सः प्राक्तनसर्ववृत्तान्तैः सह तत्साक्षिणमात्मानं स्मरेत्याह—संस्मरेति । किञ्चित्छमसारमेव च किम् ॥ १३ ॥ असारतामेव प्रकटयति—स्वप्नमात्रमिति । यद्यस्मादेतोः ॥ १४ ॥ काचकच्यं कान्तिविशेषः ॥ १५ ॥ तत्राकृत्रिमं चिन्मात्ररूपं स्वाध्यस्ते यथावेदनं सत्त्वादि निर्वाहयतीत्याह—रूपमिति ॥ १६ ॥ अत एव सर्ववस्तूनां सकारणकत्वादिवादा अपि तत्कल्पनानुसारेण व्यवस्थिता इत्याह—सकारणत्वेति ॥ १७ ॥ समष्टिव्यष्टिभावकल्पनाप्यस्माकमस्यचिदधीनैवेत्याह—आसामिति । यस्य प्राणिनो हृदि ओजसि वयं स्थिताः सोऽस्माकं विराडात्मा । स च अस्मच्छिक्त्पनावशादेव विराड्भावमितः । स्वकल्पनया लन्यसाधारणो व्यष्टिरेवेत्यर्थः ॥ १८ ॥ एतत्प्राणिवद्परोऽपि प्राणी अन्यासां प्रजानां विराडात्मा भविष्यतीति संभाव्यते । तस्मिन्नु देहे स एव सुखदुःखादीनां भोक्तृताया क्रूरत्वं

१ भवेति यावत्.

विराट्धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना ।
 तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वै समम् ॥ २०
 दुर्मिक्षावग्रहातीतमायाति शममेति वा ।
 यस्माद्विराजो या सत्ता सा सर्गस्यास्य सर्गता ॥ २१
 काकतालीयवत्साधो केषुचिदुष्टकर्मसु ।
 समं पतति दुःखादि पादपेष्वशनिर्यथा ॥ २२
 कर्मकल्पनया संवित् स्वकर्मफलभागिनी ।
 कर्मकल्पनयोन्मुक्ता न कर्मफलभागिनी ॥ २३
 या या यत्र यथोदेति कल्पनाल्पाथवाधिका ।
 सा सा तत्र तथैवास्ते सहेतुकमहेतुकम् ॥ २४
 नास्त्येव स्वप्नमे
 कारणसहकारि कारणादिपुरे ।
 तस्मात्तदनादि शिवं
 चेतनमजरं परं ब्रह्म ॥ २५
 एष स्वप्नभ्रमो नाम भाति कश्चिदकारणम् ।
 कश्चित्सकारणो भाति शून्यः सदसदात्मकः ॥ २६
 काकतालीयवद्भ्रान्ति स्वप्नाः सकलसंविदः ।
 ताभ्यस्तुल्योपलम्भत्वान्नान्यज्जगदिदं ततम् ॥ २७
 सकारणतया रुढमिह यत्तत्सकारणम् ।
 अकारणतया रुढमिह यत्तदकारणम् ॥ २८
 कार्यकारणमयक्रमोदितं
 स्वप्न एष चित्तिभानमात्रकम् ।

नान्योन्यत्रेति व्यवस्थितमित्यर्थः । भावाः संपदः । अभावा
 विपदः । कर्माणि सुकृतदुष्कृतानि तेषाम् ॥ १९ ॥ जनानां दुर्मिक्षा-
 वग्रहादिसाधारणदुःखे तु यो यस्य स्थूलसमष्टिरूपो विराट् तथी-
 यधातुविकारभेद एव निमित्तमित्याह—विराडिति द्वाभ्याम्
 ॥ २० ॥ दुर्मिक्षं च अवग्रहश्च अतीतमत्ययः प्रलयश्च एतेषां
 समाहारो यथायोगमायाति शममेति वा । तत्कृतस्तत्राह—
 यस्मादिति ॥ २१ ॥ तेषां प्राणिनां समानकालपरिपक्वदुष्टकर्मोपि
 तत्रास्त्वेष्वेत्याह—काकतालीयेति ॥ २२ ॥ तादृशं कर्मोपि
 चित्तैव प्राकल्पितं चेत्ता तत्फलभागिनी नान्यथेत्याह—कर्मैति
 ॥ २३ ॥ सहेतुककल्पना सहेतुकमेवास्ते । अहेतुककल्पना त्वहे-
 तुकमेवास्ते ॥ २४ ॥ न च सहेतुकत्वकल्पनामात्रेण स्वप्ने सहेतुकता
 घटादेरस्तीति निर्हेतुकजगदसिद्धेक्षिन्मात्रमेव ब्रह्म परमार्थतो-
 ऽस्तीत्याह—नास्त्येवेति ॥ २५ ॥ यतः सदसदात्मकः अत एव
 शून्यो मिथ्याभूतः ॥ २६ ॥ स्वप्नोक्तो न्यायो जाग्रज्जगत्स्यपि
 तुल्योपलम्भत्वादेव बोध्य इत्याह—काकतालीयेति । चित्तः
 स्वप्नाद्वा अन्यथा ॥ २७ ॥ सकारणत्वाकारणत्वप्रसिद्धिरप्यत्र स्वप्न-
 भेदेव व्यवस्थितेत्याह—सकारणतयेति ॥ २८ ॥ स्वप्ने कार्य-
 कारणमयक्रमोदितं यत्स्वभावकं चित्तिभानमात्रकमेवेति एष
 निर्णयो जाग्रदाख्यस्य महतः स्थूलप्रपञ्चस्यापि तुल्य इति शेषः ।
 तेन हेतुना अखिलं शान्तं परमेवेति विदुर्ब्रह्मविद् इत्यर्थः ॥ २९ ॥
 ननु सर्वभावानां सत्यं ब्रह्मैव कारणमस्तु । सत्यकारणकत्वाच्च

जाग्रदाख्यमहतः स्वभावकं

तेन शान्तमखिलं परं विदुः ॥ २९

सत्यकारणका भावाः के ते शृणु महामते ।
 कारणं किं स्वभावानां किमिहाकाशकारणम् ॥ ३०
 पृथ्व्यादेर्धनपिण्डत्वसर्गादेः किं च कारणम् ।
 किं कारणमविद्यायाः कारणं किं स्वयंभुवः ॥ ३१
 सर्गादौ कारणं किं स्याद्वायूनां तेजसां च किम् ।
 किमपां वेदनामात्ररूपाणां गगनात्मकम् ॥ ३२
 पिण्डग्रहे देहलाभे मृतानां किं च कारणम् ।
 एवमेव प्रवर्तन्ते सर्गाः प्रथमतोऽखिलाः ॥ ३३
 एवमेव प्रवर्तन्ते जगत्यावलयन्ति च ।
 चक्रकाणीव नभसि चिरसंप्रेक्षणादृशा ॥ ३४
 एवमेव प्रवृत्तेन सर्गेण ब्रह्मरूपिणा ।
 पञ्चात्स्वस्यैव रूपस्य संज्ञाः पृथ्व्यादिकाः कृताः ३५
 वातस्पन्दवदाभान्ति सर्गाः पूर्वं चिदम्बरे ।
 स्वयमेव च कुर्वन्ति देहकारणकल्पनाः ॥ ३६
 यद्यथा कल्प्यते घत्ते तत्तथा नियतिर्वपुः ।
 कल्पितायाश्चित्तेर्यस्यादेवमेतन्निजं वपुः ॥ ३७
 यद्यद्भानात्मकं रूपं प्रथमं चेतितं चित्ता ।
 स्वतोऽहमेव चित्येव तदद्यापि तथा स्थितम् ॥ ३८

तेऽपि सत्याः सन्तु । तथा च कथं सर्वं ब्रह्मैव कथं वा सत्या-
 द्वैतं तत्राह—सत्यकारणका इति । हे महामते, अस्यां
 शङ्कयामुत्तरं तेऽहं वदामि । त्वं शृणु । के ते भावा आयुष्मतः
 सत्यकारणका अभिमताः । किं स्वभावानां सत्यं कारणम् । किं
 सत्यस्वभावानां सत्यं कारणमुत मिथ्यास्वभावानाम् । किं
 सजातीयानामुत विजातीयानाम् । आद्ययोर्ब्रह्मणो ब्रह्मैवीत्प-
 येत न जगत् । द्वितीययोर्न ब्रह्मजस्य सत्यतासिद्धिरित्यकार-
 णत्वमेव फलत इति किं त्वया साधितं स्यात् । किंच सर्वेषु
 कल्पेषु पृच्छामः । किमिहाकाशस्य कारणम् । आद्यकल्पयोराका-
 शपदवाच्यतावच्छेदकबैलक्षण्यासिद्धिर्द्वितीययोस्तत्सत्यत्वासिद्धि-
 रित्यर्थः ॥ ३० ॥ अयं न्यायः पृथ्व्यादावपि योज्य इत्याह—
 पृथ्व्यादेरिति ॥ ३१ ॥ वेदनातिरेकेण तत्स्वरूपानिरूपणादेवना-
 मात्ररूपाणां साधकाभावादेवासिद्धेर्गगनात्मकं शून्यम् ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ तस्मात्परिशेषादकारणका भ्रान्तिमात्ररूपा इति सिद्ध-
 मित्याह—एवमेवेति । चिरसंप्रेक्षणा चिरकालमनुभवस्तत्प्रयु-
 क्तभ्रान्तिदृशा ॥ ३४ ॥ ब्रह्मरूपिणा हिरण्यवर्माकृतिना पृथ्व्या-
 विरूपस्य स्वस्यैव पृथ्व्यादिसंज्ञाः कृताः ॥ ३५ ॥ अत एव प्रथमं
 मनोराज्यवदतिसूक्ष्माधिराभ्यासेन स्थूलीभूता देहकर्मादिकार-
 णकल्पनाः कुर्वन्ति ॥ ३६ ॥ तत्रायकल्पने यद्यथा कल्प्यते
 तत्तथा वपुर्निगतिः संपद्यते । इदं च स्वेन संकल्पितपदार्थेषु
 स्वानुभवसिद्धमित्याह—कल्पिताद्या इति ॥ ३७ ॥ चित्ता सर्वा-

पुनरन्वेन यत्नेन तदुत्कृष्टेन सैव चित् ।
शक्ता तदन्यथाकर्तुं यत्नेन महता पुनः ॥ ३९
कल्प्यते कारणं यत्र तत्र कारणसारता ।
न कल्प्यते विद्या यत्र कारणं तदकारणम् ॥ ४०
धात्यावर्तवदाभातमिदं प्रथममाततम् ।

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० शं० कारणविचारो नामैकोनपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४९ ॥

पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५०

मुनिदवाच ।

एवंप्रकारया युक्तया तेनायं मुनिना तदा ।
तथाहं बोधितो येन गतो विदितवेद्यताम् ॥ १
ततोऽसौ न मया त्यक्तधिरप्रार्थनया तथा ।
अवसत्तेन तत्रासौ मृतस्यापि तथैव च ॥ २
येनैतन्मुनिना प्रोक्तमिन्दूदयशुभं वचः ।
सोऽयं पश्य मुनिश्रेष्ठस्तव पार्श्वे व्यवस्थितः ॥ ३
अनेनोक्तमनुक्तेन ममैतन्मोहघातिना ।
दृश्यपूर्वापरत्वेन यत्नेनेधात्तमूर्तिना ॥ ४
अग्निदवाच ।
तदाकर्ण्य वचस्तस्य मुनेर्बोधोऽभवत्तदा ।
प्रत्यक्षः स्वप्नसर्गः किमिति खिन्न इव स्मयात् ॥ ५
व्याध उवाच ।
अहो महच्छिन्नमिदं मुने मनसि दुःसहम् ।
कथितं मेऽद्य भवता भवतापापहारिणा ॥ ६

शुक्लहैरण्यगर्भचिता ॥ ३८ ॥ आद्यकल्पनाया अन्यथाभावस्तु महतामपि महद्गिर्यज्ञैः कदाचिदेव भवतीत्याह—पुनरिति । यथा नन्दिनहुषादेः सुरसर्पादिभावमिति भावः ॥ ३९ ॥ कश्चिद्गुहादौ दध्नादिभावायातत्रनकालोष्मादिकारणं कल्प्यते । वाय्वादेर्धनद्रवादिमावाय तत्कल्पनमप्यशक्यमित्याह—कल्प्यत इति ॥ ४० ॥ तत्र चित्तः अचित्प्रतिभासो न कार्यं किंतु ज्ञेयं प्राथमिकत्वात्तु इदानीमप्यनुवर्तत इत्याह—धात्यावर्तवदिति ॥ ४१ ॥ यत्तु मया पृष्टं 'सममेवाशुभं कर्म किमिमाः सकलाः प्रजाः । कुर्वन्ति किम्' इति तस्योत्तरं वदन्नुपसंहरति—संभूयेति । केचन जीवाः संभूयापि शुभाशुभं कर्म कुर्वन्ति तस्य फलमपि संभूयैव प्राप्नुवन्ति । केचित्तु कर्तृत्वाभिमानरहितत्वादकर्तारोऽपि सहस्रसंख्या अकारणकमेव दुःखं संप्राप्नुवन्ति जीवन्मुक्ताः । यथा गिरिशिखरशिला दुष्कृतमकुर्वाणाम्यशनिपातमनुभवति तद्वदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजमणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कारणविचारो नामैकोनपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४९ ॥

तद्गन्धैः स्वाममबोधोऽत्र तत्सहस्रितिरात्मनः ।

प्राग्देहगमनाक्षयैः प्रभे दाहादि चोच्यते ॥ १ ॥

अथमहं तेन मुनिवाः एवं प्राणुप्रकारया युक्तया तथा बोधितो

असदेव यथा भातं तथैवाद्यापि संस्थितम् ॥ ४१
संभूय केचन शुभाशुभमात्मकर्म
कुर्वन्ति तस्य सहस्रं फलमाप्नुवन्ति ।
संप्राप्नुवन्ति च शिलाशनिवच्च केचि-
दुःखं त्वकारणकमेव सहस्रसंख्याः ॥ ४२

यत्स्वप्नकथितस्येयं जाग्रत्प्रत्यक्षतोच्यते ।
लभ्यतेऽपि च तन्नाम वेद चित्रमिदं मुने ॥ ७
कथमेव महान्स्वप्नपुरुषः स मुनीश्वर ।
जाग्रत्स्यपि स्थिरीभूतो भूतो बालमतेरिव ॥ ८
एवमाश्चर्यमाख्यानमुच्यतां मे यथाक्रमम् ।
कुतः कस्य किमेतद्वा परमो हि स विस्मयः ॥ ९

मुनिदवाच ।

ततः शृणु महाभाग वृत्तं चित्रं किमत्र मे ।
कथयामि समासेन सहसा मां कुरु त्वराम् ॥ १०
अनेनैतत्तदा तत्र वर्णितं बोधनाय मे ।
बुधोऽहमभवं चाशु महतोऽस्य तथा गिरा ॥ ११
तत एतन्निरा पूर्वंः स्वस्वभावः स्मृतो मया ।
अवदातोऽवदातेन नभसेव तपास्यये ॥ १२
अहो नु सोऽहमभवं मुनिरित्युदिताशयम् ।
अहमासं हृदा स्फीतात्स्नातोऽवस्थितविस्मयात् ॥ १३

यथा तेन बोधनेन तदैव विदितवेद्यतां तत्त्वज्ञतां गतः ॥ १ ॥ चिरप्रार्थनया तथा भक्त्या अनुश्रुत्या सेवया तेन विनयादिगुणकदम्बेन च वशीकृतोऽसौ मृतस्य आत्मविचारश्च्युत्वात्प्राब्रूतप्रायस्यापि मम तत्र गृहे तथैव अवसत् । तथा चोक्तं वृद्धैः—'गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा । न विचारपरं चेतो यस्यासौ मृत उच्यते ॥' इति ॥ २ ॥ तथाविधो दयालुर्मदुपदेष्टा मुनिरिदानीं त्वत्पार्श्वे एवास्तीति तं दर्शयति—येनेति ॥ ३ ॥ आत्तमूर्तिना घृतशरीरेण यत्नेन मयीयज्ञादियुक्ततेनेव स्थितेन ॥ ४ ॥ तन्मुनेर्वच आकर्ण्य व्याधः स्वप्नसर्गस्तदुपदेष्टा मुनिरिदानीं मत्प्रत्यक्षः किं संभावित इति असंभावनया विस्मयात्खिन्न इव अभवत् ॥ ५ ॥ असंभावनामेव सस्पष्टमाह—अहो इति ॥ ६ ॥ किं तच्छिन्नं मया कथितं तदाह—यदिति । स्वप्ने स्वोपदेष्टृत्वेन कथितस्य मुनेरिदानीं जाग्रत्प्रत्यक्षता यदुच्यते मया च प्रत्यक्षमुपलभ्यते तदहं चित्रं वेदेत्यर्थः ॥ ७ ॥ भूतो वेतालः ॥ ८ ॥ एवंविधमाश्चर्यमिदमाख्यानं मे यथाक्रमं संपूर्णमुच्यताम् । इदं स्वप्नपुरुषस्येदानीं दर्शनं कुतो निमित्तात्कस्य वेदं दर्शनं किं वा स्वप्नो जाग्रद्वा ॥ ९ ॥ १० ॥ अनेन त्वत्पार्श्वस्थेन मुनिना ॥ ११ ॥ पूर्वंः अनादिसिद्धसन्मात्रस्वभावः । तपास्यये मावमासास्यये । हिमास्य इति यावत् ॥ १२ ॥ ततो मे पूर्व-

इमां भोगस्थयावस्थां प्राप्तोऽस्म्यहं इवाध्वगः ।
 धावच्छ्रुमार्तिरम्ब्वर्षी व्यर्थया मृगतृष्णया ॥ १४
 कष्टं दृश्योपलम्बेन भ्रान्तिमात्रात्मना सता ।
 बालो वेतालकेनेव प्राप्नोऽपि क्छलितो ह्यहो ॥ १५
 अहो नु चित्रमेतेन सिष्याज्ञानेन वस्मता ।
 नीतः सर्वार्थशून्येन पद्वी कामिमामहम् ॥ १६
 अथवा यः सोऽहमपि भ्रान्तिमात्रं न सम्मयः ।
 तथापि चित्रशतता यन्नामासद्विडम्ब्यते ॥ १७
 नाहंमस्मि न चैवेयमिदं नायमपि भ्रमः ।
 चित्रं सर्वमिदं सिष्या सर्वं च सदिव स्थितम् ॥ १८
 किमिदानीं मया कार्यमिह बन्धमिदान्तरः ।
 विद्यते मेऽङ्कुरच्छेद्यं तत्तावत्संत्यजाम्यहम् ॥ १९
 आस्तामेतदविधैषा व्यर्थरूपा किमेतया ।
 भ्रान्त्या भ्रान्तिरसद्रूपा त्यक्तैवैषा मयाधुना ॥ २०
 उपदेष्टा मुनिरयमेषोऽत्र भ्रान्तिमात्रकम् ।
 ब्रह्मैवाहमिवाभाति रूपमेतद्विवाध्रवत् ॥ २१
 तदेवं तावदुदितज्ञानं वक्ष्ये महामुनिम् ।
 इति संचिन्त्य स मुनिस्तत्र प्रोक्त इदं मया ॥ २२
 मुनिनायक गच्छामि तच्छरीरमिदं निजम् ।
 द्रष्टुं यच्च प्रवृत्तोऽस्मि शरीरं तदपीक्षितुम् ॥ २३
 इत्याकर्ण्य स मामाह हसन्मुनिवरस्तदा ।
 कुतस्तौ भवतो देहौ तौ सुदूरतरं गतौ ॥ २४
 गच्छात्मनैव वा पश्य वृत्तान्तं वृत्तकोविद ।

मुनिभावोऽपि स्मृतिमागत इत्याह—अहो इति । अवस्थिता-
 द्विस्मयाद्देहा ज्ञात इवादीकृत आसम् ॥ १३ ॥ तामवस्था-
 मनुशोचति—इमामित्यादिना । भ्रमप्रयुक्ता आर्तिर्यस्य तथा-
 विधोऽध्वगः पुरुषोऽम्ब्वर्षी सन् व्यर्थया मृगतृष्णयेव भोगा-
 स्थया अहमिमामवस्थां प्राप्तोऽस्मि ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥
 अथवा यः सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञाविषयस्तसाहंतादिः सोपि
 भ्रान्तिमात्रम् । तथा च कस्य चित्रमिति नो वाच्यम् । तथापि
 यत्साक्षिणा असद्रूपं विडम्ब्यते तत्र चित्रशतता अस्यैवेत्यर्थः
 ॥ १७ ॥ १८ ॥ बन्धं भिनत्तीति बन्धमित् आन्तरो यो
 ब्रह्माकारवृत्तिविशेषः सोऽङ्कुरो विद्यते तदपि छेद्यमेवेति तत्ता-
 वत्संत्यजामि ॥ १९ ॥ जगद्भ्रान्तिस्तु अविद्यात्वाद्विद्यावृत्त्यै-
 वोच्छिद्यमेवेति न सेदानीं त्याज्येत्याह—आस्तामिति ॥ २० ॥
 अयमुपदेष्टा मुनिरपि अहं शिष्य इव ब्रह्मैव तथा आभातीति न
 त्यक्तव्यान्तरमस्तीत्यर्थः । दिवा वा दृष्टाभ्रपुरुषवत् ॥ २१ ॥ उचितं
 ज्ञानं यस्मात्तं गुहं महामुनिं एवं वक्ष्यमाणं स्वाभिप्रायं ज्ञानं वक्ष्ये
 ॥ २२ ॥ तत् आभ्रमस्थं निजं मुनिशरीरं यन्नेदं प्राणिशरीरं
 द्रष्टुं प्रवृत्तोऽस्मि तदपि ईक्षितुं बहिर्गच्छामीत्यर्थः ॥ २३ ॥ तौ
 देहौ कुतो भवतः स्तः । यतस्तौ दाहेन भस्मीभावात्सुदूरतरं

पश्य तावद्यथावृत्तं दृष्टान्तं हास्यसि स्वयम् ॥ २५
 इति संचिन्त्य तं देहं विदं भूसत्तयाऽऽस्मिकम् ।
 त्यक्त्वा चिदात्मा तत्प्राणात्पवने योजितो मया ॥ २६
 प्राक्तनं देहमालोक्य यावदायाम्यहं मुने ।
 इहैव तावत्स्थातव्यमित्युक्त्वाहं गतोऽनिलम् ॥ २७
 अथ वातरधारुढो गगनं भ्रान्तवानहम् ।
 पुष्पामोद इवानन्तं गत्वा च त्वरया चिरम् ॥ २८
 ततश्चिरमपि भ्रान्त्वा यदा गलबिलं चलन् ।
 अहं न प्राप्तवांस्तस्य किञ्चिदस्याशयस्थितः ॥ २९
 तदा खेदमुपायातः परमं पुनरागतः ।
 इदमेव जगज्जालमहमालानमात्मनः ॥ ३०
 इहेमं लब्धवानमे ततो मुनिमनुत्तमम् ।
 पृष्टवानहमेकाप्रस्तत एवमिदं गृहे ॥ ३१
 किमेतद्भगवन्ब्रूहि पूर्वापरविदांवर ।
 त्वं पश्यसि यथावृत्तमुत्तमज्ञानचक्षुषा ॥ ३२
 यस्य देहं प्रविष्टोऽहं स च मद्रपुरेव च ।
 क तावुभौ गतौ देहौ न लब्धौ केन हेतुना ॥ ३३
 मयातिचिरमाभोगि भ्रान्तं संसारमण्डलम् ।
 स्थावरादाऽऽत्मनः कस्मात्प्राप्तं गलबिलं न तत् ॥ ३४
 गत्वेति पृष्टः स मुनिः समुवाच महाशयः ।
 जानासि तत्स्वयं कस्मादिति तामरसेक्षण ॥ ३५
 एतदालोकयसि चेत्स्वयं योगैकसंविदा ।
 तत्पश्यस्येव निःशेषं यथा करतलाम्बुजम् ॥ ३६

गताविति भावः ॥ २४ ॥ आत्मना स्वयमेव गत्वा तद्गतान्तं
 पश्य वा ॥ २५ ॥ इति तेनोक्ते सतीति शेषः । अहं तं प्राक्तनं
 देहं संचिन्त्य तत्र गन्तुकामेन मया स्वसंविदं स्वाप्रभूसत्तया
 आस्मिकं पायिंश्शरीरमेवाहमस्मीति कल्पितं रूपं त्यक्त्वा प्राणो-
 पहितचिदात्मा स्वजीवस्तत्प्राणात् द्वारभूतात्पवनस्कन्धे योजितः
 ॥ २६ ॥ मुनि प्रति किमुक्त्वा त्वमनिलं प्रविष्टस्तदाह—प्राक्तन-
 मिति । गतः प्रविष्टः ॥ २७ ॥ २८ ॥ ततोऽहं चिरमपि भ्रान्त्वा
 बहिर्निर्गमनद्वारं तस्य प्राणिनो गलबिलं किञ्चिदन्यदपि द्वारं
 न प्राप्तवांस्तदा वाताशयस्थितोऽहं खेदमुपायात इति परेणा-
 न्वयः ॥ २९ ॥ ततः परममिदमेवात्मन आलानं बन्धनस्तम्भ-
 भूतं स्वगृहं पुनरागतः सन्निह इममनुत्तमं मुनिं स्वगुरुमग्रे उप-
 लब्धवानिति परेणान्वयः ॥ ३० ॥ इदं वक्ष्यमाणम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
 स च प्राणी ॥ ३३ ॥ आ आत्मन इति छेदः । आ स्थावरादात्मन
 आभोगि विज्ञानं संसारमण्डलं भ्रान्तमित्यन्वयः ॥ ३४ ॥ किमु-
 वाच तदाह—जानासीति । तत्पूर्वं स्वशरीरादिदृष्टं मद्रुको-
 पायं विना स्वयं स्वबुद्ध्यैव कस्माज्जानासि । तामरसेक्षणेति संको-
 धनासाक्षिसौन्दर्यमात्रेण तद्द्रष्टुं शक्यमिति सूच्यते ॥ ३५ ॥ तर्हि
 तद्दर्धने क उपायस्तत्राह—एतदिति । योगैकमस्मा संविदा
 आलोकयसि चेत्तदर्थं ज्ञानमन्वेषणा एतद्विज्ञानं तन्ममं मद्रुस्येव

तथापि यदि शुभ्रया तवास्ति वक्षसा मम ।
 तद्विदं शृणु वक्ष्यामि यथावृत्तमवच्छिद्यतम् ॥ ३७
 तपस्तामरसोष्णांशुः कल्याणकमलाकरः ।
 ज्ञानाज्ञस्य हरेर्नाभिर्नास्ति तावदयं भवान् ॥ ३८
 स त्वं कदाचित्तपसि स्थितः स्वप्नदिदृक्षया ।
 कस्यचिद्भुदयं जन्तोः प्रविष्टः पुष्टसंविदा ॥ ३९
 यत्त्वं प्रविष्टो हृदयं तत्रेदं भुवनत्रयम् ।
 दृष्टवानसि विस्तीर्णं रोक्षसी विपुलोदरम् ॥ ४०
 इति त्वयि चिरं व्यग्रे देहस्तस्य तथापि च ।
 स संसृताकृतिर्यत्र स्थितस्तत्र महावने ॥ ४१
 लघोऽग्निर्धूमधूमाभ्रसाम्बराम्बरदम्बरः ।
 धूलद्वलज्वालालातचक्रसूर्येन्दुमण्डलः ॥ ४२
 दग्धाभ्रभस्मसंपूर्णधूमाभ्रासितकम्बलैः ।
 आनीलाकाशदलपैरिव संछादिताम्बरः ॥ ४३
 दरीगृहविनिष्क्रान्तसिंहनिर्हावतजितैः ।
 स्फुटैश्चटचटास्फोटैर्जडीकृतदिगन्तरः ॥ ४४
 तालीतमालमालानां गतानामग्निष्टुक्षताम् ।
 पातैरुत्पातवह्नयभ्रकषत्करकरैर्धनः ॥ ४५
 दूरदेशगतैर्दृष्टस्थिरसौदामनीश्रिया ।
 द्रवत्कनकनिष्यन्दकुट्टिमं व्योम दर्शयन् ॥ ४६
 कणैस्तारागणं कान्तैर्व्योम्नि द्विगुणतां नयन् ।

॥ ३६ ॥ यदि मद्बचनेनैव श्रोतुमिच्छा न द्रष्टुमिच्छा तर्हि यथावृत्तं वक्ष्यामि शृणु ॥ ३७ ॥ तत्र स्वजीवतत्त्वं प्रथमं बुध्यस्व ततस्ते पूर्वदेहवृत्तान्तं कथयिष्यामीति मन्यमानो व्यष्टि-जीवभावमिध्यात्वं समष्टिभावस्यैव सत्यत्वं 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इति श्रुतिदर्शितन्यायमाधिल्याह—तप इति । भवान् अयं त्वयानुभूयमानव्यष्टिजीवविशेषरूपो नास्ति । किंतु सर्वप्राणितपस्तामरसानां सुकृताञ्जानां फलदानेन विकासनेनोष्णांशुः सूर्यभूतः सर्वकल्याणानां मानुषानन्दादिप्राजापत्यानन्दान्तानां सुखानां कमलाकर इव समष्टिभूतो हरेर्ज्ञानस्वरूपस्य नाभ्यब्जस्य नाभिः कर्णिका तदधिस्तु सर्वजीवसमष्ट्यात्मा हिरण्यगर्भ एवास्ति ॥ ३८ ॥ तर्हि मम कथं व्यष्टिभावस्तत्रैते भ्रान्तिविशेषा-श्चागतास्तत्राह—स त्वमिति । व्यष्टिभावस्वप्रदिदृक्षया तपसि मनोराज्यरूपे आलोचने स्थित आश्रमे तापसोऽभूः । तत्र पुष्टया व्यष्टिभावसंविदा परशरीरान्तःस्वप्नादिकौतुकदिदृक्षया कस्यचिज्जन्तोर्हृदयं प्रविष्टः ॥ ३९ ॥ ४० ॥ इत्यनया रीत्या त्वयि चिरं परशरीरान्तर्गतस्वप्नदर्शनव्यग्रे सति तव देहस्तथा तत्र महावने सुप्ताकृतिस्त्वरप्रविष्टः स प्राणी स्थितस्तस्य देहोऽपि च स युष्मदाश्रमो युष्मदाश्रमकुटीसहितस्तेनाभिना दग्ध इति दश-मश्लोकेनान्वयः ॥ ४१ ॥ तत्र महावने अभिलम्भः । तमेवार्थि वर्णयति—धूमधूमाभ्रैलादिना । स्फुरद्भिर्बलाचलद्भिरलात-चक्रैः संपादितानि सूर्यमण्डलानीन्दुमण्डलानि च येन ॥ ४२ ॥

वक्षःस्य बालवनिता नयनानन्वन्दनम् ॥ ४७
 ज्वालाधमधमाशब्दप्रध्मातगगनोदरः ।
 दरीगृहविनिष्क्रान्तभ्रान्तोच्चिद्रवनेचरः ॥ ४८
 अर्धदग्धद्रवत्सिंहमृगव्याधविहंगमः ।
 कथत्सरःसरित्त्रोतोरन्धितोप्रवनेचरः ॥ ४९
 बलज्वालाज्वलद्वालचमरीशारुचञ्चुरः ।
 दृश्यमानवनप्राणिमैदोगन्धावृताम्बुदः ॥ ५०
 तेन कल्याणिकल्पेन बलगता वनवह्निना ।
 सयुष्मदाश्रमो दग्धः सर्पेणैव प्रसर्पता ॥ ५१
 व्याध उवाच ।
 तत्र तस्याग्निदाहस्य हेतुः कः प्राकृतो मुने ।
 तद्वनं ते बहुवराः सर्वं नष्टं कथं सह ॥ ५२
 मुनिरुवाच ।
 संकल्पकमनस्पन्दः संकल्पादिक्षयोदये ।
 यथा हेतुर्निरास्पन्दोऽचिराच्च त्रिजगत्तथा ॥ ५३
 हृदये च वनान्ते च क्षोभाक्षोभेषु कारणम् ।
 यथा स्पन्दोऽचिरात्स्पन्दस्तथा त्रिजगतामिह ॥ ५४
 घातुः संकल्पनगरं जगत्स्पन्दनं त्विह ।
 प्रजोदयक्षयक्षोभवर्षावर्षादिकारणम् ॥ ५५
 ब्रह्मादिमानसोऽप्यस्य सोऽप्यन्यत्र चिदम्बरे ।
 इत्यपर्यवसानेयं शास्त्रैका चिन्नभोगतिः ॥ ५६

दग्धाभ्रेषु भस्मसंपूर्णधूमाभ्रलक्षणैरसितकम्बलैरानीलान्याकाश-दलानि दिश आवरणेन पान्ति तथाविधैः संछादिताम्बरः ॥ ४३ ॥ जडीकृतदिगन्तरो बधिरिकृतदिगन्तरालजनः ॥ ४४ ॥ सर्वतोऽ-भिग्याप्त्या अभिष्टुक्षतां गतानां तालीतमालमालानां पातैः स्फुट-तामुत्पातवह्निवदुत्पाताभ्रवच्च कवतां ध्वनतां करकरैः कलकलै-र्धनो निविडितः ॥ ४५ ॥ व्योमद्रवत्कनकनिष्यन्द लिप्तं कुट्टिममिव कृत्वा प्रदर्शयन् ॥ ४६ ॥ कणैर्विस्फुलिङ्गैस्तारागणं द्विगुणतां नयंस्तेरेव कणैर्व्योम्नि वक्षस्थया ज्वालालक्षणाया बालवनिताया नयनानन्दनैः कटाक्षैर्नन्दन आनन्दयन् ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ रन्धिताः पाचिता उग्रा वनेचरा व्याधव्याघ्रादयो जलचराश्च येन ॥ ४९ ॥ ॥ ५० ॥ तेन वर्णितप्रकारेण वनवह्निना सयुष्मदाश्रमो युष्मदा-श्रमसहितः स ते देहस्तस्य प्राणिनो देहश्च दग्धः ॥ ५१ ॥ को हेतुः प्राकृतः प्रसक्तः । ते बहुवरास्त्वरप्रविष्टब्रह्मचार्यादिदेहाः । सह युगपत् सर्वं कथं नष्टम् ॥ ५२ ॥ संकल्पादिक्षयोदये यथा संकल्पकपुरुषमनःस्पन्दो हेतुस्तथा त्रिजगत्संकल्पकस्य विधा-तुरचिरात्प्रवृत्तो मनःस्पन्द एव त्रिजगदिति तत्क्षयोदयेऽपि तथा तन्मनःस्पन्द एव हेतुरित्यर्थः ॥ ५३ ॥ यथा हृदये भयादिना क्षोभाक्षोभेषु अचिरात्स्पन्दो हेतुस्तथा त्रिजगतां वनान्ते च क्षोभाक्षोभेषु स एव हेतुरित्यर्थः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ अस्य जगतो ब्रह्मादिमानसो मनःसमष्टिहेतुः सोऽप्यन्यत्रान्य-मानसे चिदम्बरे कल्पितः सोऽप्यन्यत्र सोऽप्यन्यत्रेत्येषा मात्स-र्यबलस्य चिन्नभसो गतिः कल्पनापरम्परा अपर्यवसाना ।

१ स्फुरद्भ्र इति पाठो व्याख्यानुकूलः.
 यो. पा. १८०

चित्तिनभसि चिन्मभःश्रीः

कचतीति निरामया विदुषाम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० परमोपदेशो नाम पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५० ॥

मूर्खाणां तु यथैषा

यादृग्वा तन्मयीह न सत् ॥

५७

एकपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५१

अन्यमुनिदवाच ।

तत्र ते नगरं तानि गृहाणि तरवश्च ते ।
क्षिमेण शुष्कपुणवत्सर्वे भस्मत्वमागतम् ॥ १ ॥
तत्रैवं भस्मतां प्राप्ते सुप्ते ते भवतस्तव ।
तनू तथासिखंतापविदारितमहाक्षिके ॥ २ ॥
स शशाम शनैर्वह्निर्निःशोषीकृतकाननः ।
परिपीतार्णवोऽगस्त्य इवास्तं समुपाययौ ॥ ३ ॥
तस्मिन्नस्तं गते बहौ तद्भस्मेखं सुशीतलम् ।
दुधाव कचशो वायुरशेषं पुष्पराशिबत् ॥ ४ ॥
ततो न शयते नासीत्काश्रमः क तनू तथा ।
क पेटकं बहूनां तस्वप्नपूर्जाप्रतो यथा ॥ ५ ॥
अभावमुपयाते ते यदैवं भवतस्तनू ।
स्वपतस्ते भ्रमवतः संविदेव विजृम्भते ॥ ६ ॥
तस्मात्क तद्रुचिलं विराडात्मा स च क ते ।
दग्धो दग्धस्य सौजस्कः सौजस्कस्यैव देहकः ॥ ७ ॥

लघ्ववानसि नो तस्याद्येतोवैद्वयं मुने ।
अनन्ते स्वप्नसंसारजाग्रतीहावतिष्ठसे ॥ ८ ॥
तदेवं स्वप्न एवायं जाग्रद्भावमुपागतः ।
सर्वे वयमिह स्वप्नपुरुषास्तव सुप्रत ॥ ९ ॥
अस्माकं त्वं स्वप्नरस्तव स्वप्नरा वयम् ।
अयमेव चिदाकाशः सर्वदात्मात्मनि स्थितः ॥ १० ॥
ततः प्रभृति संपन्नो भवान्स्वप्नरो भवन् ।
जाग्रत्प्रत्ययवाजाग्रन्नरो गार्हस्थ्यसुस्थितः ॥ ११ ॥
एतत्ते कथितं सर्वं यथावृत्तमशेषतः ।
अनुभूतं सुदृश्यं च ध्यानेनैतच्च पश्यसि ॥ १२ ॥
इत्यादिमग्न्यरहितोऽयमनन्तरूपः
संविद्धनः कचति काञ्चनतापवत्क्षे ।
तत्फाललोलवपुरात्मनि चिन्मयात्मा
सर्गात्मभिर्विकसितैरसितैः सितैश्च ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० श० अभावदर्शनं नामैकपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५२

मुनिदवाच ।

इत्युक्त्वा स मुनिस्तत्र तूर्णीं स्वशयने निशि ।

अनवस्थितैवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥ निष्कृष्टदर्शने तु चित्तिनभसि चिन्म-
भःश्रीरेव कचतीति निरामया विदुषां दृष्टिः । मूर्खाणां त्वापात-
दर्शनरूपा एषा दृष्टिर्यादृग्वा भासते तन्मग्न्येव इह परमार्थे तु
न सत् । अलीकैव सेत्यर्थः ॥ ५७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमोपदेशो नाम पञ्चा-
शदधिकशततमः सर्गः ॥ १५० ॥

दृग्वाभ्रमत्तनोर्बद्धेः प्रथमो भस्मनोऽनिलैः ।

वर्णतेऽयं नयस्तस्मात्स्वप्ने जागरितस्थितिः ॥ १ ॥

न केवलमाभ्रमादिकमेव किंतु नगरादि सर्वे भस्मत्वमागतम्
॥ १ ॥ तथा अतिसंतापविदारितमहाक्षिके तत्राभ्रमे भवतो
वर्तमानस्य तव सुप्ते ते द्वे तनू शरीरे एवमुक्तप्रकारेण भस्मतां
प्राप्ते इत्यन्वयः ॥ २ ॥ परिपीतार्णवोऽगस्त्य इव आदत्वात्ता-
रमाश्रशेषेण शशाम । ततोऽस्तमदर्शनं समाययौ ॥ ३ ॥
आदौ इदं पञ्चासुक्षीतलम् । वायुर्दुधाव व्यबूनयत् ॥ ४ ॥
बहूनां जनानां पेटकं करण्डभूतं तजगरम् ॥ ५ ॥ ६ ॥ देह-
दाहेऽपि तदोक्तपरिशेषमाशङ्क्याह—सौजस्क इति । औज-

नासीद्विस्मयतश्चाहमथाऽऽसं प्रोक्ष्यमानवत् ॥ १ ॥
ततश्चिरेण कालेन मयोक्तं तस्य सन्मुने ।

सहितस्यैव तस्य सुप्तस्य सौजस्क एव देहको दग्धः ॥ ७ ॥
स्वप्नसंसाररूपके जाग्रत्प्रतिष्ठसे ॥ ८ ॥ तथा च जाग्रत्स्वप्नयो-
र्भेदो नास्तीति यत्प्रागुक्तं तदिदं दर्शितमित्याशयेनाह—
तदेवमिति ॥ ९ ॥ सर्वदा अवस्थात्रयेऽप्यात्मनि अद्वयस्वप्न-
भावे ॥ १० ॥ प्राक् स्वप्नरो भवन्नपि भवांस्ततः प्रभृति
जाग्रन्नरः संपन्नो गार्हस्थ्ये सुसंस्थितः ॥ ११ ॥ संदेहे त्वमपि
ध्यानेन एतन्मदुक्तं सर्वं पश्यसि द्रक्ष्यसि । वर्तमानसामीप्ये
वर्तमानवत् ॥ १२ ॥ खे काञ्चनमयस्ताप आतपस्तद्वत् यः
कचति तत्फालः स्वकचनशक्त्युत्फालस्तेन लोलवपुः संवि-
न्मयात्मा आत्मनि दुष्कर्मफलभूतैरसितैः सत्कर्मफलभूतैः सितै-
श्चान्मिध्रकर्मफलभूतैर्मिश्रैश्च विकसितैः सर्गात्मभिर्भावैः संविद्धन
एव कचति नान्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धेऽभावदर्शनं नामैकपञ्चाशद-
धिकशततमः सर्गः ॥ १५१ ॥

स्वप्नार्थसत्यताशङ्कां निवारयान्ममुनिमुनेः ।

इह ध्यायगुणवत्स्य हेतुकिमुपचक्रमे ॥ १ ॥

अथ अहं बालया प्रोक्ष्यमानवदासम् ॥ १ ॥ सद्रूपो यथार्थः

एवं स्वप्नो विभो सर्वः सद्रूप इति मे मतिः ॥ २
 अन्यमुनिरुवाच ।
 सत्संबवति यन्नाम्यसत्त्वं सदिति स्वयः ।
 युक्तो यत्र त्वैतदेष सत्तात्पर्यं तत्र का प्रमा ॥ ३
 यथा स्वप्नस्तथैवायमादौ सर्गोऽवभासते ।
 पृथ्यादिरहितोऽप्येव पृथ्यादिरिखस्थितः ॥ ४
 इत्थमद्यतनात्स्वप्नात्सर्गस्वप्नोऽमलात्मकः ।
 शृणु पुष्करपत्राक्ष मुने व्याध महागुरो ॥ ५
 अद्य दृष्टपदार्थाभ्यां स्वप्नं स्वप्नवतोऽभवत् ।
 सर्गस्वप्नस्तु दृष्टार्थं एवावौ खे विराजते ॥ ६
 एवं सत्स्वप्न इत्येव संदिग्धमिव वक्षि किम् ।
 स्फुटमप्यनुभूतं सत्स्वप्नभ्यानोद्यमः कथम् ॥ ७
 इदमित्थं यदाभोगि स्फुटं स्वप्नजगन्मुने ।
 सदेवानुभवत्येव तत्र संदिग्धता कथम् ॥ ८
 अर्थेवंवादिनस्तस्य वाक्यमाक्षितधानदम् ।
 पृष्टवाभ्याधगुरुता कासौ मे कथ्यतामिति ॥ ९
 अन्यमुनिरुवाच ।
 भूयतामिदमाख्यानमपरं कथयामि ते ।
 संक्षेपेण महाप्राज्ञ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० स० मुनिरात्रिसंकथावर्णनं नाम द्विपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५२ ॥

अस्म्यहं तावदादीर्घतपास्त्वमतिधार्मिकः ।
 श्रुत्वेवं मद्रुचः सत्यमिहैव रतिमेष्यसि ॥ ११
 इहस्यं मामिमं त्वं च न त्यक्ष्यसि सपर्यया ।
 अहं भवद्भिः सहितो निवत्स्यामीति निश्चयः ॥ १२
 साधो यातेषु वर्षेषु ततः कतिपयेष्विह ।
 सर्वबन्धुविनाशस्ते दुर्भिक्षेण भविष्यति ॥ १३
 मत्ससीमान्तसामन्तविग्रहेण तदैव च ।
 सर्वो गृहात्तनुप्राणिर्ग्रामकोऽयं विनश्यति ॥ १४
 ततो दुःखमजानन्तौ चिरमाश्वसितौ मिथः ।
 शान्तौ विदितवेद्यत्वात्समौ सर्वार्थनिरूप्यौ ॥ १५
 इहैवैकत्र कस्मिंश्चित्तद्वन्द्वकजालके ।
 समाचारौ निवत्स्यावः शून्ये चन्द्ररवी यथा ॥ १६
 उत्पत्स्यते त्वरण्येऽसिन्कालेन वनमुत्तमम् ।
 शालताललताजालवलिताखिलभूतलम् ॥ १७
 तालीतमालवृत्ताण्डबमण्डिताशं
 व्याकोशपद्मवनवन्द्यविकासिवृक्षम् ।
 कूजशकोरचयचारुलतानिकुञ्ज-
 मुक्तासि नन्दनमिषागतमन्तरिक्षात् ॥ १८

मे मतिरित्युक्त्या असंभावनया विस्मयो द्योतितः ॥ २ ॥ यत्र
 यदि अन्यज्जाग्रद्वस्तु सत् संभवति संभवेत् तत्र तर्हि इदं स्वप्नादि
 सदिति स्वयो विस्मयो युक्तः स्यात् । यत्र तु एतज्जाग्रदृश्य-
 मेव सत्तया अस्य सत्तात्पर्यं मिथ्याभूतं तत्र स्वप्ने सत्यतायाः
 का प्रमा । सुतरां मिथ्यात्वमेवेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ इत्थं परि-
 दृश्यमानादद्यतनादस्वप्नीयस्वप्नादपि जाग्रत्त्वेन प्रसिद्धः सर्ग-
 स्वप्नः अमलचैतन्यमात्रात्मकः । इत्यपि तत्ता तस्य दुर्लभे-
 त्यर्थः । हे व्याध महागुरो, हे पुष्करपत्राक्ष मुने, अत्रोपपत्ति
 शृणु । त्वदपेक्षयापि मन्दमतेर्व्याधस्य बोधनकाले त्वया उप-
 पादनभ्रमो ज्ञासते इति द्योतनाय तथा संबोधनम् । पुष्करप-
 त्राक्षेति संबोधनतात्पर्यं प्रागुक्तमेव ॥ ५ ॥ बभूवुं प्रसिद्धतामुप-
 पत्तिमाह—अद्येति । अद्य जाग्रति दृष्टाभ्यां पदसदार्थाभ्यां
 बुद्धौ स्वसंस्काराधानात्स्वप्नवतस्तव रात्रौ स्वप्ने शब्दोऽर्थस्याभव-
 दिति संस्कारादिसामग्रीसत्त्वात्सत्यः संभाव्येतापि । दृष्ट्यादिकाले
 प्रसिद्धः सर्गस्वप्नस्तु प्राग्दृष्टः अर्थो यस्य तथाविध एव खे विदा-
 काशे विराजते । तत्र च चिरप्रलयकालेन व्यवधाने पूर्वानुभव-
 संस्कारादेरुच्छिन्नत्वात्तदस्वप्नापेक्षयापि दुष्कृत एव संभा-
 व्यते न समसत्ताकोऽपीत्युपपत्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥ एवं जाग्रत्प्र-
 पञ्चस्यधिकमिथ्यात्वे ऋषि 'स्वप्नो विभो सर्वः सद्रूप इति मे मतिः'

इति मतिपदेन संदिग्धमिव सूचयन् किं वक्षि । स्फुटमप्यनुभूतं
 सविवं स्वगृहं मनुपवेशाद्यनुभूय पुनः स्वप्नभ्याने तबोधमः कथं
 जातः । न हि स्वप्नदर्शी कश्चित्स्वप्नोऽयं मिथ्येति तदानीं पश्य-
 तीति भावः ॥ ७ ॥ किंच सदेव जगदनुभवतस्ते असत्त्वसंदेहे
 बीजमपि वास्तीत्याह—इदमिति ॥ ८ ॥ आक्षिप्तवान् प्रश्नान्तर-
 करणेन निरुद्धवान् ॥ ९ ॥ १० ॥ अहं यावत्त्वं व्याधगुरुर्भ-
 विता तावदिहैवास्मि । हे मुनिनायक, त्वमपि इदं मद्रुचः
 श्रुत्वा इहैव त्वद्गृहे रतिमेष्यसि ॥ ११ ॥ इहस्यं मां च त्वं न
 त्यक्ष्यसि ॥ १२ ॥ १३ ॥ वैरवलादिना मत्तानां सीमान्तस्थानां
 सामन्तानां क्षुद्रभूपानां विग्रहेण परस्परबुद्धप्रसङ्गेन तबबोऽल्पी-
 भूताः प्राणिनो यत्र तथाविधः सत्तयं ग्रामको गृहाद्विषययति
 पलायिष्यति ॥ १४ ॥ तदा आर्त्ता किं करिष्यावस्तदाह—
 तत इति द्वाभ्याम् ॥ १५ ॥ १६ ॥ अस्मन्निवासादरण्ये उत्तमं
 वनं वृक्षनिकुरम्बमुत्पत्स्यते । उत्तमत्वमेव प्रपद्यति—शाले-
 त्यादिसार्धेन ॥ १७ ॥ व्याकोशैः पद्मवनेरधक्षरणाश्रयणाद्दन्धा
 बन्धमाना इव पुष्पैर्विकसिनो वृक्षा यत्र । अन्तरिक्षात्स्वर्गादा-
 गतं नन्दनमिव स्यात्तु वनमुत्पत्स्यत इति पूर्वशान्दयः ॥ १८ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 राधे मुनिरात्रिसंकथावर्णनं नाम द्विपञ्चाशदधिकशततमः
 सर्गः ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५३

अन्यमुनिरुवाच ।

आवयोश्चरतोस्तस्मिन्वने चिरतरं तपः ।
 मृगानुसरणध्रान्तो मृगव्याध उपैष्यति ॥ १
 तं त्वं स्वभावपुण्याभिः कथाभिर्बोधयिष्यसि ।
 तपस्तत्रैव विपिने स चिरक्तश्चरिष्यति ॥ २
 ततस्तपस्विचर्याणामात्मज्ञानबुभुत्सया ।
 मध्ये स स्वप्रजिज्ञासुः प्रक्षयति स्वप्रसंकथाम् ॥ ३
 कथयिष्यसि तस्मै त्वमात्मज्ञानमखण्डितम् ।
 स्वप्राख्येन प्रसङ्गेन सोऽतो योग्यो भविष्यति ॥ ४
 इत्यनेन प्रकारेण गुरुस्तस्य भविष्यति ।
 तेन तात मयोकोऽसि गिरा व्याधगुरो इति ॥ ५
 इति ते सर्वमाख्यातं यथायं संसृतिभ्रमः ।
 यथाहं यादृशञ्च त्वमिह यत्ते भविष्यति ॥ ६
 इति तेनाहमुक्तः सन्विस्मयाकुलया धिया ।
 तेन सार्धं विमृश्यैतत्परं विस्मयमागतः ॥ ७
 अथ रक्षयां व्यतीतायां स प्रभाते महाभुनिः ।
 तथा संपूजितो येन तत्रैव रतिमाप्तवान् ॥ ८
 अनन्तरं गृहे तस्मिन्स्तस्मिन्प्राप्तगृहे तथा ।
 स्थितावावां स्थिरमती कृतभावौ परस्परम् ॥ ९
 ततो वहति कालोऽयमृतुसंघत्सरात्मकः ।
 स्थितोऽहमागतान्भावांस्तस्यजन्मृहन्निरिर्यथा ॥ १०
 नाभिवाञ्छामि मरणं नाभिवाञ्छामि जीवितम् ।
 यथा स्थितोऽसि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरम् ॥ ११
 ततो विचारितं तत्र तन्मया दृश्यमण्डलम् ।
 किं कारणमिदं तु स्यात्किमयं वेत्ति चेतसा ॥ १२

इह व्याधागमाद्युक्त्या तदुक्तसमर्थनम् ।

काले विवेकाद्विज्ञानं सर्वैकाल्यं च वर्धते ॥ १ ॥

तस्मिन् वर्णितशुणे वने ॥ १ ॥ २ ॥ तपस्विचर्याणामन्या-
 साच्छान्तिदान्यादिसाधनसंपत्त्यनन्तरं स व्याध आत्मज्ञान-
 बुभुत्सया मध्ये तदुपोद्घाततया स्वप्रजिज्ञासुः सन् स्वप्रसंकथां
 प्रक्षयति ॥ ३ ॥ ततस्त्वं स्वप्राख्येन प्रसङ्गेन आत्मज्ञानं कथयि-
 ष्यसि ॥ ४ ॥ तेन हेतुना ॥ ५ ॥ पृष्टस्योत्तरं समाप्य प्राक्त-
 नमुपसंहरति—इतीति ॥ ६ ॥ एतत् दृश्यजातम् ॥ ७ ॥ रतिं
 प्रीतिम् ॥ ८ ॥ तस्मिन्वने गृहे तथा तस्मिन्प्राप्तने प्राप्तगृहे
 च । कृतभावौ बद्धप्रीती ॥ ९ ॥ भावान् अनिष्टेष्टमिथान् ।
 गिरिपक्षे दवाभिष्टुष्णादीन् ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ एतस्य
 कारणं निमित्तं किमस्ति ॥ १३ ॥ आत्मनि विवेकघनस्वभावे
 अवस्थितं चिन्मात्रम एव ॥ १४ ॥ चे विदाकाशे अप्रतिघात

कोऽयं पदार्थसंघातः किं नामैतस्य कारणम् ।
 अस्त्यस्मिन्स्वप्रसंसर्गो चिद्योमैकस्वरूपिणि ॥ १३
 द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
 चिन्मात्रम एवैते कचन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥ १४
 चिन्मन्दित्रिकाचतुर्दिक्कमवभासं तनोति यत् ।
 तदिदं जगदाभाति चित्रमप्रतिघातम् खे ॥ १५
 नेमेऽद्रयो न चैयं भूर्नेहं खं नायमप्यहम् ।
 चिन्मात्रव्योमकचनमिदमाभाति केवलम् ॥ १६
 पदार्थजातस्यास्य स्यात्किं नाम बत कारणम् ।
 पिण्डग्रहे हेतुना तु विना कोऽप्यर्थसंभवः ॥ १७
 भ्रान्तिमात्रमिदं चेत्स्यान्भ्रान्तेः किं नाम कारणम् ।
 द्रष्टा मन्ता च को भ्रान्तेः कारणं वा क कीदृशम् ॥ १८
 यस्याहमवसं संविन्मात्रकं हृदयौजसि ।
 असौ मया सह गतः किलाशेषेण भस्मसात् ॥ १९
 तस्मादिदमनाद्यन्तं चिदाभामात्रमम्बरम् ।
 अकर्तृकर्मकरणं रूपं चिद्धनमक्रमम् ॥ २०
 इदं चिद्योमकचनं घटावटपटादिकम् ।
 स्फुटं कुत इषाकारि घटावटपटाद्यतः ॥ २१
 नापि चिन्मात्रकचनं चिन्मात्रं व्योम केवलम् ।
 तस्य किं कचनं कीदृक् कथं कचति किं नमः ॥ २२
 अयं फेनश्चिदम्भोषेः किमस्य कचनं नवम् ।
 कचत्स्वभाव एवायमनन्तश्चिद्धनः स्थितः ॥ २३
 चिन्मात्रकचनं शुद्धं ब्रह्म बृंहितचिद्धनम् ।
 इदं जगदिवाभाति क दृश्यं द्रष्टृता कुतः ॥ २४

स्यौल्याभावाप्रतिघाताऽयोग्यस्वभावम् ॥ १५ ॥ नन्वद्यादयः
 सप्रतिधाः कथमप्रतिधाः स्युस्तत्राह—नेम इति ॥ १६ ॥
 यदा चिन्मात्रकचनं तर्हि कारणमेव नास्ति पिण्डग्रहतद्वेत्योर-
 प्रतिघेरित्याह—घटार्थेति ॥ १७ ॥ तर्हि भ्रान्तरेवेयमस्तिवत्या-
 शङ्क तत्रापि निमित्तद्रष्टादि दुर्वचमित्याह—भ्रान्तीति ॥ १८ ॥
 संविन्मात्रकमहं यस्य देहे प्रविष्टः सन् हृदयौजस्यवसम् असौ
 प्राणी मया महेहेन सह भस्मसाद्गतः ॥ १९ ॥ तस्मात्तदेहमहे-
 हापीनामसत्त्वादिदं सर्वं चिदाभामात्रमम्बरमेव ॥ २० ॥
 घटावटपटाद्यत आकारतो भवितुं स्फुटं रूपं कुत इव अकारि ।
 न कुतश्चिदित्यर्थः ॥ २१ ॥ चिन्मात्रकचनमिति बुद्धिरपि
 राहोः चिर इतिवद्विकल्पमात्रम् । षष्ठीतत्पुरुषप्रयोजकयोर्भेद-
 संबन्धयोरप्रतिघेरित्याशयेनाह—नहपीति ॥ २२ ॥ फेन
 इव फेनः ॥ २३ ॥ सदैव बृंहितचिद्धनं मया ॥ २४ ॥

आद्यन्तवर्जितममेयमनादिमध्य-

मेकं विभुं विगतकारणकार्यसत्त्वम् ।

इति श्रीवासिष्ठ० वा० दे० मो० निर्वा० ङ० अवि० श० सर्वकाल्प्यप्रतिपादनं नाम त्रिपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५३ ॥

सत्तामयं भुवनशैलदिगन्तनाना-

ऽनानात्मकं किमपि चेतनमेव सर्वम् २५

चतुःपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५४

मुनिरुवाच ।

इति निर्णय दृश्येऽस्मिन्स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ।
 वीतरागो निराशङ्को निर्वाणो निरहंक्रुतिः ॥ १
 निराधारो निराधेयो निर्मानो निरुपाधयः ।
 स्वभावस्थः स्वयं शान्तः सर्गात्मा सर्वथोदितः ॥ २
 यथाप्राप्तस्य कर्तास्मि न कर्तास्मि कदाचन ।
 स्वयमेव हि यो व्योम कर्तृता तस्य कीदृशी ॥ ३
 द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो विशः ।
 इत्येकात्म नभः सर्वं भूतजालैकचिद्भुः ॥ ४
 शाश्वत्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
 न विधिप्रतिषेधौ मे न मे बाह्यं न मेऽन्तरम् ॥ ५
 इति मे तिष्ठत इह यथासंस्थानसंस्थितेः ।
 अद्यायं त्वमनुप्राप्तः काकतालीयवत्पुरः ॥ ६
 इति ते सर्वमाख्यातं यथा स्वप्नो यथा वयम् ।
 यथा जगद्यथा च त्वं यथा दृश्यमिदं तथा ॥ ७
 त्वं च यादृग्दृश्यमिदं यथा दृश्यमिदं पुरः ।
 यथा भावा यथा ब्रह्म यथेमा जनताः पुरः ॥ ८
 एतद्ब्रह्म भवाञ्छान्तो मिथ्या लुब्धक लुब्धक ।

कालत आद्यन्तवर्जितं देशतोऽप्यनादिमध्यं वस्तुत एकमत
 एव विगतकारणं विगतकार्यं विगततदधीनसत्त्वकं च स्वतः-
 सत्ताप्रधानं स्वसत्तयैव भुवनादिसत्तानिर्वाहकत्वाजानाऽनानात्म-
 कमित्थं किमपि बाह्यनसागोचरं यच्चेतनं तदेव सर्वं न तद्यति-
 रिकमथुमात्रमप्यस्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वकाल्प्यप्रतिपादनं
 नाम त्रिपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५३ ॥

विचारजा निजा श्रीबन्धुस्थितिरिहोदिता ।

मुनिनाभ्यासहीनस्य व्याधस्य स्वनवस्थितिः ॥ १ ॥

स्फुरतविचारफलं स्वजीवन्मुक्तिस्थितिं मुनिः प्रपन्नयति—
 इतीत्यादिना ॥ १ ॥ निर्मानो विगताभिमानः ॥ २ ॥ यः स्वयमेव
 व्योम निष्क्रियं तस्य ॥ ३ ॥ एकात्म सत् नभश्चिदाकाशमेव
 ॥ ४ ॥ ५ ॥ हे व्याध, अयं त्वमद्यानुप्राप्तः ॥ ६ ॥ एवमनुप्राप्तस्य
 पृच्छते ते इति यथावर्णितप्रकारं सर्वम् । तदेव प्रपन्नयति—
 यथा स्वप्न इत्यादिना । सर्वत्र तथा व्याख्यातमिति संबध्यते
 ॥ ७ ॥ त्वं प्रष्टा च यादृक् । इदं देहेन्द्रियाद्याध्यात्मिकमान्तरं
 दृश्यं यथा । इदं पुरोदृश्यमाधिभौतिकं च दृश्यं यथा । तेषु च
 रागद्वेषहानोपादानादिभावा यथा ॥ ८ ॥ हे लुब्धक लुब्धकेत्या-

१ विभुमिति पुंस्त्वसर्वम्.

शान्तैवैवमियं सत्ता चिन्मात्रव्योमरूपिणी ॥ ९
 स्वयमाभाति निर्वाणा नैव बाभाति किञ्चन ।

लुब्धक उवाच ।

एवं चेत्तदहं त्वं च सर्वं वा विबुधादयः ॥ १०
 सर्वं एव मिथः स्वप्नपुरुषाः सदसन्मयाः ।

मुनिरुवाच ।

एवमेतदिदं सर्वमन्योन्यं स्वप्नवत्स्थितम् ॥ ११
 अन्योन्यमात्मनि तथा सदसञ्चानुभूयते ।
 दृश्यं येन यथा बुद्धं तथा तेनानुभूयते ॥ १२
 नानैकं वस्त्वतोऽनैकं न सत्तासन्न मध्यगम् ।
 जाप्रति स्वप्ननगरमिव वेदनमात्रकम् ॥ १३
 अदृष्टपूर्वदूरस्थदृश्यमानपुरोपमम् ।
 इति ते सर्वमाख्यातं बोधितोऽसि निरन्तरम् ॥ १४
 स्वयं प्राज्ञोऽसि जानासि यथेच्छसि तथा कुरु ।
 एवं प्रबोधितस्यापि तव व्याध मते मतिः ॥ १५
 क्षणं प्रबोधविभ्रान्ता न विभ्रान्ता परे पदे ।
 नाभ्यासेन विना बोध एव याति मनोहृदि ॥ १६

दरात्रिवैचनम् । भवानेतत्सर्वं मिथ्या इति बुद्ध्या शान्तो भवतु ।
 यत इयमात्मसत्ता शान्तैव स्वयं निर्वाणा आभाति नाशान्ता
 ॥ ९ ॥ शान्तिस्वरूपमेव दर्शयति—नैवेति । आत्यन्तिकदृश्या-
 भानमेव तच्छान्तिरित्यर्थः । स्फुटतरस्य नरदेवतिर्यकस्यावरादेः
 स्वप्नप्रायत्वमसंभावितमिति काका ध्वनयंलुब्धक आह—एवं
 चेदिति ॥ १० ॥ सन्त एवासन्मयाः स्युरिति शेषः । इष्टापर्या
 मुनिरुत्तरमाह—एवमेतदिति ॥ ११ ॥ आत्मनि सत् अन्येष्व-
 सन्न । तथैव सर्वानुभवादित्यर्थः । बोधानुसारिव्यवस्थत्वादिपि
 तत्तथेत्याह—दृश्यमिति ॥ १२ ॥ यतो नानैकं वस्तु । यथैको
 घटो नानाकपालकपालिकातदवयवपरम्परापरमाण्वन्तनानाव-
 स्त्वात्मक एकत्वप्रतीतेरेकवस्त्वात्मकश्च । तत्र नानात्वदर्शिनान्मे-
 कमसत् । एकत्वदर्शिणां नानात्वमसत् । उभयदर्शिनानुभयं सद-
 सन्न पाक्षिकम् । तत्त्वविदां तु वेदनमात्रकमिति नैकमपीत्यनुभव-
 सिद्धमिति भावः । मध्यगं सदसत् ॥ १३ ॥ १४ ॥ मते स्वाभिमत
 जगत्सत्त्वत्वभ्रमे एव मतिर्विभ्रान्ता परे पदे तु न विभ्रान्तेति
 परेणान्वयः ॥ १५ ॥ तत्कृतस्तत्राह—नैति । एव बोधोऽभ्या-
 सेन परां परिणतिं विना मनोहृदि मनोन्तर्न याति न प्रवि-
 शति । यथा अम्बुधारणे कार्ये दादपि परां कमण्डलाद्याकारां
 कर्तनानिर्निर्मितां परिणतिं विना तदन्तरम्बु न प्रविशति तद्वदिति

परां परिणतिं प्राङ् दारुणीवाम्बुधारणे ।

अभ्यासाद्बोधविभ्रान्तौ गुरुशास्त्रैकसेवनात् ।

द्वैताद्वैतदृशोः शान्त्या निर्वाणं विस्रमुच्यते ॥ १७

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० वि० श० यथाभूतार्थवर्णनं नाम चतुःपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा

अभ्यासमवित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-

र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ १८

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५५

अग्निरुवाच ।

इत्याकर्ण्यार्थं स व्याधस्तदा तस्मिन्वनान्तरे ।

आसीच्चित्रकृताकार इव विस्मयमन्थरः ॥ १

न विशश्राम चेतोऽस्य स्वाभ्यासेन विना पदे ।

आसीदुद्भ्रान्त इव स प्रोह्यमान इवार्णवे ॥ २

आरूढ इव वा चक्रे चक्रेण तपसा हृतः ।

नक्रेणेव समाक्रान्तः पराक्रमविद्यर्जितः ॥ ३

किमेतत्स्यादुत्तान्यत्स्याच्चिर्वाणमिति संशयात् ।

नाध्यगच्छदसौ शान्तिं मूर्खो यौवनवानिव ॥ ४

अविद्याकृतमेवेदं दृश्यमित्येव चिन्तयन् ।

अविद्या जगदित्येषा नायाति निपुणं हृदि ॥ ५

कियदन्तमिदं दृश्यं स्यात्पश्याम्येतदादितः ।

दूरतोर्ध्वप्रमाणेन तपोलब्धशरीरकः ॥ ६

भावाभावात्मनो नित्यमस्यान्ते स्वीयते सुखम् ।

तस्मादाकाशमप्यस्ति यत्र नो तत्र याम्यहम् ॥ ७

इति निर्णीय हृदये मूर्खं एव बभूव सः ।

गतं तादृशमप्युक्तं विनाभ्यासेन भस्मनि ॥ ८

ततस्ततः प्रभृत्येव तेनैव मुनिभिः सह ।

लुब्धकत्वं परित्यज्य तपश्चरितुमुद्यतः ॥ ९

तस्मिञ्जगति तैर्भावैस्तैः समं निवसन्सदा ।

बहुम्यद्दसहस्राणि चकार सुमहत्तपः ॥ १०

तपः कुर्वन्कदाचित्स पुनः प्रप्रच्छ तं मुनिम् ।

कदा स्यादात्मविभ्रान्तिर्ममेत्याह मुनिस्ततः ॥ ११

मुनिरुवाच ।

ज्ञानं तदुपदिष्टं ते जीर्णदार्ढ्यल्पकाग्निवत् ।

संस्थितं हृदये किंतु दाह्यमाक्रम्य नोचितम् ॥ १२

नाभ्यासेन विना ज्ञाने शिवे विभ्रान्तयानसि ।

अभ्यासेन तु कालेन भृशं विभ्रान्तिमेप्यसि ॥ १३

अविष्यदिदमात्मीयमथाकर्णय निर्णयम् ।

मम वर्णयतः कर्णभूषणं भूतलाद्भुतम् ॥ १४

संस्तुतानवबुद्धात्मा ज्ञानसारतयानया ।

दोलायमानसंवित्त्वं न मूर्खो न च पण्डितः ॥ १५

अविद्यारूपमाभोगि किंप्रमाणमिदं जगत् ।

स्यादित्यात्मविकल्पेन तपस्त्वं कर्तुमुद्यतः ॥ १६

इत्थं तपस्त्वया घोरं कार्यं युगशतं पृथु ।

परमेष्ठी ततस्तुष्टस्त्वामुपैष्यति सामरः ॥ १७

परेणान्वयः ॥ १६ ॥ अभ्यासेन बोधस्यान्तर्विभ्रान्तौ सिद्ध्या

तच्चित्तमेव निर्वाणमिति तदनुभविविद्वद्यत इत्याह—अभ्या-

सादिति ॥ १७ ॥ उक्तेऽर्थे भगवद्भवनसंमतिं दर्शयति—

निर्मानेति । अन्तर्निर्मानमोहाः । बहिर्जितसङ्गदोषाः । अन्त-

र्बहिर्वाध्यात्मनिष्ठाः । सर्वतः पूर्णानन्दत्मात्माद्भिनिवृत्त-

कामाः । सुखदुःखयोः सम्यग्ज्ञानं संज्ञा येभ्यस्तथाविधैः प्रियादि-

द्वन्द्वैर्विमुक्ता अमूढास्तत्त्वविदस्तद्विष्णोः परमं पदं निर्वाणकथं

गच्छन्ति । अनुभवन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-

मायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे यथाभूतार्थवर्णनं

नाम चतुःपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५४ ॥

व्याधस्य मूढतपसा विरक्तेजाद्विभेरात् ।

बभोगतिः कार्यदृष्टिर्दृष्टिश्च मुनिनोप्यते ॥ १ ॥

चित्रकृत आकारः प्रतिमेव विस्मयेन मन्थरो ज्वलीकृतः

॥ १ ॥ न विशश्राम विभ्रान्तिं न लेभे ॥ २ ॥ केनचित्तिदेन

तपसा स्वीयतपोबलेन चक्रेण चक्रवातेन हृत इव ॥ ३ ॥ ४ ॥

यत इदं जगदविधैवेत्यर्थो हृदि नायाति अत इदं जगदविद्या-

कथया ब्रह्मशाक्त्या कृतमुत्पादितं सत्यमेवेति चिन्तयन्सन् ॥ ५ ॥

इदं दृश्यं कियदन्तं कियद्दूराधिकं ज्ञायेततपोलब्धशरीरकः

समादितः पृथिवीमारभ्य दूरतया ऊर्ध्वप्रमाणेन वेहेन गत्वा

पश्यामि दृश्यामि ॥ ६ ॥ भावाभावात्मनोऽस्य दृश्यस्यान्ते

असंसारप्रदेशे नित्यं सुखं स्वीयते स्थास्यते मया ॥ ७ ॥ तादृशमति-

विस्तीर्णं सहस्रान्तोपपत्तिकमपि मुन्युक्तमभ्यासेन विना भस्मनि

हुतमिव वृथा गतमित्यर्थः ॥ ८ ॥ तेनैव निर्णयेन ॥ ९ ॥ तैस्तपस्त्रिषु

प्रसिद्धैर्भावैर्लक्षणैः ॥ १० ॥ मम निरुपलब्धे आत्मनि विभ्रान्तिः

कदा स्यादिति प्रप्रच्छ । ततो मुनिस्तं प्रत्याह ॥ ११ ॥ जीर्णदार्ढ्य-

काग्निवत् संस्थितमित्युक्त्या जन्मान्तरे उद्बोधमेप्यतीति सूचि-

तम् । सांप्रतं दग्धुमुचितं दाह्यं दग्धुं शक्यमपि हृद्यानर्थमा

क्रम्य न संस्थितम् ॥ १२ ॥ कालेन विरेण ॥ १३ ॥ भूतले केनापि

मनसाप्यसंभाषणादल्यद्भुतम् ॥ १४ ॥ संस्तुतो ज्ञातुं प्रस्तुतः तथा

विद्वत्प्रसिद्ध्या ज्ञानसारतया अनवबुद्धात्मा येन तथाविधोऽत

एव दोलायमानसंवित्त्वम् । असमर्थसमासश्छान्दसः ॥ १५ ॥

आत्मविकल्पेन स्वमनोरथकल्पनामात्रेण ॥ १६ ॥ इत्थमेतेनैव

मार्गयिष्यसि तस्य त्वं वरदस्य वरं वरं ।
 इदमुदामदौरात्म्याभिजं संदेहसंशयम् ॥ १८
 देवायं दृश्यरूपेऽस्मिन्दृष्टेऽविद्याभ्रमे सति ।
 कचिदादर्शवभास्ति प्रतिबिम्बमलोज्जितः ॥ १९
 चिद्योमदर्पणस्यास्य परमाण्वाकृतेरपि ।
 अन्तस्थस्यैव वा यत्र तत्रेदं प्रतिबिम्बति ॥ २०
 तस्मात्किंयदनन्तं स्यादिवं दृश्यमनर्थकम् ।
 तस्य पारे क्रियद्वा स्यादाकाशं दृश्यमेव तत् ॥ २१
 एवमर्थमहं ज्ञातुमिमं संप्रार्थये वरम् ।
 शृणु देवेश्वराविघ्नं तत्रैवाशु प्रयच्छ मे ॥ २२
 इयं स्वच्छन्दमृत्युर्मे नीरोगाऽस्तु तनुश्चिरम् ।
 गारुडेन च वेगेन संयुता व्योमगामिनी ॥ २३
 प्रतिनाडीकमेषा तु वृद्धिं गच्छतु योजनम् ।
 क्रमेण जगतो बाह्ये भवत्वाकाशरूपिणी ॥ २४
 साकाशस्यास्य दृश्यस्य लभेय परमेश्वर ।
 अन्तमित्थमनन्तस्य परमोऽस्तिविति मे वरः ॥ २५
 इति साधो त्वया प्रोक्ते देवदेवो वरं प्रभुः ।
 एवमस्तु तवेत्युक्त्वा यास्यत्यन्तार्थिमीश्वरः ॥ २६
 गते तस्मिन्महादेवे देवैः सह दिवस्पती ।
 तपसा ते कृशो देहश्चन्द्रकान्तिर्भविष्यति ॥ २७

मामापृच्छन्नमस्त्वस्य तस्मिन्नेव क्षणे ततः ।
 हृतिमेष्यति स व्योम्नि चित्तस्थार्थविद्वत्तया ॥ २८
 द्वितीय इव शीतांशुर्द्वितीय इव भास्करः ।
 द्वितीय इव बौर्वाग्निश्चन्द्रार्कस्पर्धयोत्थितः ॥ २९
 ततो गरुडवेगेन दृश्यस्य नभसस्तथा ।
 अन्तं प्राप्तुं वहन्वेगाजगतः सरितामिव ॥ ३०
 जगतोन्ते ततोऽजस्रं ततो वर्धिष्यते वपुः ।
 कल्पान्तमन्तार्णववन्निष्पाराम्बरपूरणम् ॥ ३१
 द्रक्ष्यस्यथ महाव्योम्नि वर्धमानो बृहद्वपुः ।
 सर्गाभिरर्गलाधारनिरन्तगगनक्रमात् ॥ ३२
 परमार्थमहाकाशशून्यतावातचक्रकान् ।
 स्वभावद्रवतोद्देशाभिर्दर्णवतरङ्गकान् ॥ ३३
 संविदने यथा स्वप्ने पुराद्या भान्ति आत्मकाः ।
 तथा तदा तवैष्यन्ति सर्गवर्गा निरर्गलाः ॥ ३४
 विस्फुरन्ति महाव्योम्नि पर्णौघाः क्षुभितानिलैः ।
 तथा सर्गान्मन्तांस्त्वं द्रक्ष्यस्यक्षीणनिश्चयः ॥ ३५
 सभासत्येक्षणदृष्ट्यां यथा जालं सदप्यसत् ।
 जगदात्म तथाकाशसंविदां स्वे सदप्यसत् ॥ ३६
 सर्वोर्वीजनदृष्टानां लग्नानामिन्दुमण्डले ।
 यादृग्जालं जगत्तादृक्स्थितेऽनन्यत्वमात्मनः ॥ ३७

सांप्रतं क्रियमाणप्रकारेण । युगशतं व्याधस्य जीवनासंभवाद-
 र्थादनेकजन्मभिः ॥ १७ ॥ वरदस्य तस्य विधेः सन्निधौ उदाम-
 दौरात्म्याभिजं मनोरथकल्पितं वरं मार्गयिष्यसि । प्रार्थयिष्य-
 सीति यावत् ॥ १८ ॥ यत्प्रार्थयिष्यसि तच्छृण्वित्याह—देवेति ।
 हे देव विधे, अस्मिन् दृश्यरूपे दृष्टे अविद्याभ्रमे सति आदर्श-
 वस्थिते ब्रह्मणि प्रतिबिम्बमलेनोज्जितः प्रदेशो नास्ति यत्र
 गतस्य मे निर्विकल्पस्थितिः स्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥ कुतो नास्ति
 तत्राह—चिद्योमदर्पणस्येति । यतः परमाण्वाकृतेरप्यन्तः-
 स्थितस्यास्य चिद्योमदर्पणस्य यत्र तत्र इदं जगद्रूपं प्रतिबिम्बति
 ॥ २० ॥ हे विधे, यस्मात्साविद्यचितेरियं स्थितिस्तस्मादिदम-
 विद्याप्रयुक्तं दृश्यं कियद्दूरमिदमनर्थकदृश्यं स्यात् । तस्य दृश्यस्य
 पारे अनन्तं निरविद्यं ब्रह्म कियद्दूरं वा स्यादाकाशसत् संसार-
 शून्यं ब्रह्म तन्मया दृश्यमवश्यं गत्वा द्रष्टव्यमेव । आवश्यके
 कृत्यः ॥ २१ ॥ एवरूपमर्थं ज्ञातुं प्रत्यक्षमनुभवितुमिमं वक्ष्य-
 माणं वरं संप्रार्थये ॥ २२ ॥ इयं मे तनुः स्वच्छन्दमृत्युर्नीरोगा
 गारुडेन गरुडवेगसदृशेन वेगेन संयुता व्योमगामिनी चास्तु
 ॥ २३ ॥ तु पुनः प्रतिनाडीकं प्रतिक्षणं प्रत्यक्षमनुभवितुमिमं च योजन-
 मेषा मे तनुर्वृद्धिं गच्छतु । कालक्रमेण जगतो लोकत्रयाद्बाह्ये
 भवतु बहिर्गच्छतु । आकाशवद्विद्यालरूपिणी ॥ २४ ॥ अहं

साकाशस्यास्य दृश्यवर्गस्यान्तं लभेय ॥ २५ ॥ २६ ॥ महति देवे
 वैधसि । त्रिमूर्तानाममेदाद्वा महादेवे । चन्द्रस्य कान्तिरिव
 कान्तिर्यस्य तथाविधो भविष्यति ॥ २७ ॥ स भवान्व्योम्नि
 तस्मिन्वरप्राप्त्युत्तरक्षण एव ततो मदाश्रमात्कृतिमूर्ध्वमुद्दयनमे-
 ध्यति ॥ २८ ॥ २९ ॥ वहन्गच्छन्सन् सरितामन्त इव जगत-
 श्लोकव्यस्यान्ते ते वपुर्वर्धिष्यते इति परेणान्वयः ॥ ३० ॥
 निष्पारस्याप्यम्बरस्य पूरणं निरवकाशतासंपादकम् ॥ ३१ ॥
 निरर्गलमप्रतिबन्धमेवाधारभूतं यदनन्तं गगनं तस्य क्रमादाक-
 मणात् ॥ ३२ ॥ सर्गानेव विशिनष्टि—परमार्थेत्यादिना । पर-
 मार्थमहाकाशस्य शून्यताप्रयुक्तान्वातचक्रकान्वात्या इव स्थितान् ।
 स्वभावः अज्ञाततास्वभावस्तक्षणद्रवताया उद्देशादुत्सेकादावि-
 र्भूतांभिर्दर्णवतरङ्गकान् ॥ ३३ ॥ एष्यन्ति दृष्टिपथमिति शेषः
 ॥ ३४ ॥ यथा विस्फुरन्ति तथा विस्फुरितानिति शेषः ॥ ३५ ॥
 यथा सौधस्थस्त्रीजनानां विचित्रवातायनजालेन बहिष्टटल्य-
 सभासत्येक्षणं रोचते नान्येषां तथाविधानां विचित्रं वाता-
 यनजालं सदप्यसत्प्रायं तथा चिदाकाशसंविदां तरवविदां जग-
 दात्मकं वैचिभ्यं तत्र सदप्यसत्प्रायमेवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥ सर्वैर-
 वीजैर्जनैरिन्दुमण्डलसंलभतया दृष्टानां धूमनीहारधूल्यादीनां
 जालमिन्दुमण्डलस्यजनदशा यादृगत्यन्तासत् जगदपि आत्मनः

१ स्वजातिसिद्धिंसादिपरित्यागेन तपःप्रवृत्तत्वाद्गुणकस्यैव वरेति
 संशोधनः २ तपुंसकत्वमात्रं इममिति वा पाठः ३ संदेहस्य अविद्या-

रूपमित्यादिनानुपदोक्तस्य सत्यं शयः शयनं निवृत्तिरिति यावत् ।
 स वसिष्ठिति संदेहसंशयस्तथाविधमिति वरविशेषणम् ।

पुनः सर्गः पुनर्व्योम पुनः सर्गः पुनर्नमः ।
 इत्येवं पश्यतस्तेऽत्र दीर्घकालः प्रयास्यति ॥ ३८
 अथ दीर्घेण कालेन प्रस्फुरन्सर्गपर्यङ्के ।
 उद्वेगमेष्यसि व्योम्नि महामहिमनि स्वयम् ॥ ३९
 उद्वेगमेष्यसि ततस्तपसोऽनुभवत्फलम् ।
 निर्देक्ष्यसि तदा देहमनन्ताम्बरपूरकम् ॥ ४०
 किमिदं कुशरीरं मे भारभूतमिव स्थितम् ।
 मेर्वादिभूभृतां लक्षमपि यस्मिंस्तृणायते ॥ ४१
 देहो ममाप्रमाणोऽयं व्यातं व्योम मयाखिलम् ।
 पूरयामि स्वमद्यापि भावि नैवोपगम्यते ॥ ४२
 अविद्या बत घोरेयमनन्ता च प्रमीयते ।
 मीयते न च केनापि ब्रह्मज्ञानं समं विना ॥ ४३
 तस्मिन् संसृजाम्येष देहमाविभृतान्तरम् ।
 नानेन किञ्चिदाप्नोमि साधुसच्छास्त्रसंगमम् ॥ ४४
 अनन्तापारपर्यन्तं निरालम्बाम्बरास्पदम् ।
 किं नामेदं शरीरं मे सुदुष्प्रापार्थसंगमम् ॥ ४५
 इति संचिन्त्य तं देहं धारणां प्राणरेचनीम् ।
 कृत्वा त्यक्ष्यसि संभुक्तात्फलाच्छुष्कं यथा खगः ॥ ४६
 कृत्वा देहपरित्यागं जीवः प्राणसमन्वितः ।
 व्योम्नि स्थास्यति ते तस्मिन्वातात्सूक्ष्मोऽपि वातवत्
 छिन्नपक्षो महामेरुरिव देहः पतिष्यति ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० बा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० भाविसंपत्तिवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५६

व्याघ्र उवाच ।

अनन्तरं हे भगवन्वितताकाशवासिनः ।

अनन्तत्वं प्राप्य स्थिते तत्त्वविदि तादृक् अत्यन्तासदेवेत्यर्थः
 ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ प्रस्फुरन् संचरन् । व्योम्न्यव्यक्ताकाशे ॥ ३९ ॥
 निर्देक्ष्यसि ब्रह्मसि ब्रह्मसि च ॥ ४० ॥ तदेवाह—किमिदं-
 मित्वादिना ॥ ४१ ॥ अप्रमाणः अपरिमितः । यद्भावि तत्रैव
 उपगम्यते ज्ञायते ॥ ४२ ॥ इयं दृश्यरूपा । प्रमीयते अनुभू-
 यते । मीयते इयत्तया परिच्छिद्यते हिंस्यते वा ॥ ४३ ॥ अने-
 नातिप्रबृद्धदेहेन साधुसच्छास्त्रसंगममन्यद्वा मोक्षसाधनं किञ्चि-
 द्वाप्नोमि ॥ ४४ ॥ सुदुष्प्रापः आर्याणां तत्त्वविदां संगमो येन
 ॥ ४५ ॥ प्राणं रेचयति शरीराद्दहिर्नयति तच्छीलां धारणां
 कृत्वा । यथा खगः पक्षी संभुक्तात्फलाद्द्विमादेः शुष्कं नीरसं
 बीजत्वगादिभागं लज्जति तद्वत् ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ तत्र तस्मिन्
 जगति ॥ ४८ ॥ शुष्का नीरका प्राग्वर्णिता समातृमण्डला
 भगवती काली तद्देहं प्राग्वर्णितप्रकारेण गणैः सह भक्षयि-
 ष्यति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ इदं भाविस्वदृढसंकल्पफलं श्रुत्वा ततो
 निर्विण्णो व्याघ्रस्तत्परिहारोपायोऽस्ति वा न वेति पृच्छति—
 अहो इत्यादिना । यद्यस्मादेतोः अर्थेन पुरुषार्थप्रमेण दुःखमे-
 वार्थितं संकल्पेन समर्थितम् ॥ ५१ ॥ हे वर श्रेष्ठ भगवन्, सैषा
 भाव्यर्थस्थितिस्त्वयोक्ता । अयं भवितव्योऽर्थो यथा पुस्तकान्यथा

तत्र मूलोकशैलादि सर्वं चूर्णीकरिष्यति ॥ ४८
 शुष्का भगवती देहं तच्छदा भक्षयिष्यति ।
 समातृमण्डला तेन निर्दोषा भूर्भविष्यति ॥ ४९
 इत्यात्मोदन्तमखिलं श्रुतवानसि सुमत ।
 तपस्तालीवने कृत्वा यथेच्छसि तथा कुद ॥ ५०
 व्याघ्र उवाच ।
 अहो नु भगवन्दुःखं परिभोक्तव्यमक्षयम् ।
 मया व्यर्थमनर्थाय यदर्थेन तुरार्थितम् ॥ ५१
 विद्यते किं विभो काचिद्युक्तिः सैषा स्थितिर्वर ।
 अन्यथा भवितव्योऽर्थो यदि नास्ति तदुच्यताम् ॥ ५२
 मुनिरुवाच ।
 भवदयं भवितव्योऽर्थो न कदाचन केनचित् ।
 विधातुमन्यथा शक्यस्तन्न क्षरति यज्ञतः ॥ ५३
 वामावामशिरःपादविपर्ययविधौ यथा ।
 पुंसो न विद्यते शक्तिस्तथा भाव्यन्यथास्थितौ ॥ ५४
 ज्योतिःशास्त्रार्थविज्ञानैरिह भाव्यर्थवेदनम् ।
 भवत्यन्यदपूर्वं तु न किंचन कदाचन ॥ ५५
 जयन्ति कर्माणि हि वेदनानि
 यैः प्राकृतैरद्यतनान्युपेत्य ।
 शरीरदाहैरपि निर्विकार-
 संविन्नयैर्ब्रह्मतयैव सुप्तम् ॥ ५६

किं भविष्यति मे तत्र देहेऽधःपातिनि क्षितौ ॥ १

सात्तथाविधा काचिद्युक्तिर्विद्यते यदि वा नास्ति तत्त्वया उच्च-
 ताम् ॥ ५२ ॥ यत्स्वत् इदानींतनयज्ञतो न क्षरति न नश्यति
 ॥ ५३ ॥ यथा पुंसः स्रदेहेऽपि वामावामभागयोः शिरःपाद-
 योर्वा विपर्ययविधौ व्यत्यासकरणे शक्तिर्न विद्यते तथा भाव्य-
 र्थानामव्यन्यथास्थितौ स्थापने ॥ ५४ ॥ तस्य परिज्ञानमात्रं तु
 शास्त्रीयोपायैर्भवति नान्यथात्वमित्याह—ज्योतिःशास्त्रेति
 ॥ ५५ ॥ तर्हि प्राक्तनदृढसंकल्पकर्मणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग
 इत्याद्यद्वाह—जयन्तीति । यैः पुरुषधौरेयैः प्राकृतैः सुकृतैर-
 द्यतनानि क्षमदमादिसाधनान्युपेत्य संविन्नयैर्ब्रह्मसंभित्प्रापकैः
 श्रवणाद्युपायैस्तत्त्वज्ञानं प्राप्य ब्रह्मतयैव सुप्तं न जगद्दर्शनेन
 जागरितं ते पुरुषश्रेष्ठाः प्राक्तनानि सर्वकर्माणि दुःसंकल्पवेदनानि
 चात्यन्तदृढतराण्यपि मूलोच्छेदेन जयन्ति नान्ये इत्यर्थः ॥ ५६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 भाविसंपत्तिवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५५ ॥

वाचो स्थितो व्याघ्रजीवः सिंपुर्भूत्वा विदूरथम् ।

हत्वा मभिसुखाप्नोता स्वतस्वमिह वर्णयते ॥ १ ॥

कृत्वा देहपरित्यागं जीवः प्राणसमन्वितः । व्योम्नि स्थास्यति

मुनिवचनम् ।

शृणुष्वान्वदितस्त्वस्मिन्नेहे तव परिस्रवे ।
 किं भविष्यति भव्यात्संस्तस्मिन्परमकाम्वरे ॥ २ ॥
 देहे तस्मिन्परिश्रमे जीवस्तु प्राणसंयुतः ।
 भविष्यत्यम्बरे घातलवो व्याततरूपिणि ॥ ३ ॥
 तस्मिन्वातलवे चेतो इत्थं इत्थं स्थितं पुरः ।
 स्फारं द्रक्ष्यति भूपीठं भवान्स्वप्ने जगद्यथा ॥ ४ ॥
 महत्वाचित्तवृत्तेस्तु जीवो द्रक्ष्यति ते ततः ।
 राजाहमस्मि भूपीठ इति संकल्पितार्थभाक् ॥ ५ ॥
 तत्रास्य सहसैवाशु प्रतिभोदेष्यति स्वयम् ।
 महमस्मि नृपः श्रीमान्स्मिन्पुर्नास्मिन्मात्रितः ॥ ६ ॥
 अष्टवर्षाय मे राज्यं गते पितरि काननम् ।
 भुवन्मृतुःसमुद्रायाः मित्रा दक्षमुपागतम् ॥ ७ ॥
 सीमान्ते भूपतिः शत्रुर्विदूरथ इति श्रुतः ।
 विद्यते यः प्रयत्नेन विना नाम न जीयते ॥ ८ ॥
 इदं मे कुर्वतो राज्यं संवत्सरशतं गतम् ।
 अहो भृत्यकलत्रौघैः सह भुक्तं मया सुखम् ॥ ९ ॥
 कष्टमेव प्रवृद्धो मे सीमान्तबलुघ्नधियः ।
 अनेन सह संग्रामो दाक्यः समुपस्थितः ॥ १० ॥
 इति चिन्तयतस्तत्र विदूरथमहीभुजा ।
 भविष्यति महद्युद्धं बभ्रुवल्बलक्षयि ॥ ११ ॥
 महता तेन युद्धेन हनिष्यति विदूरथम् ।
 करवाललतालूनजङ्घं त्वं विरथोऽपि सन्न ॥ १२ ॥
 बभ्रुःसागरपर्यन्ते भूतके भूपतिस्ततः ।
 भविष्यति भयाकान्तदिकपातादतशासनः ॥ १३ ॥
 स त्वं सिन्धुर्मन्थन्नासकफलाचनिमण्डलः ।
 पण्डितसैन्धुमिः सार्वं करिष्यति कथा इमाः ॥ १४ ॥
 मन्त्री वदिष्यति ।
 अस्यान्वर्थमिदं देव वदेवं स विदूरथः ।

देवेन विजितो युद्धे नीलञ्च यमसाक्षरम् ॥ १५ ॥
 त्वं वक्ष्यसि ।
 मोः साधो सधनस्यास्य कस्यान्तार्णवरंहसः ।
 वैरी विदूरथो राजा किमर्थं वद् दुःसहः ॥ १६ ॥
 मन्त्री वदिष्यति ।
 लीला नामास्य भार्योस्ति तथास्तिपत्न्यार्जिता ।
 माता सरस्वतीदेवी जगद्धात्री निरञ्जना ॥ १७ ॥
 गृहीतायाः सुतात्वेन सास्या भुवनभाषिणी ।
 संसाधयति कार्याणि मोक्षपदीन्यपि हेळया ॥ १८ ॥
 वरेण शब्दमात्रेण जगदप्यजगत्क्षणात् ।
 करोति सा भवभाशे तस्याः कैव कर्षणा ॥ १९ ॥
 सिन्धुर्वदिष्यति ।
 त्वया वै युक्तं कथितं यद्येवं तद्विदूरथः ।
 अशक्यो जेतुमाक्षर्य एतस्य समरे वधः ॥ २० ॥
 तदेवं संप्रसादेन भगवत्या समन्वितः ।
 किमित्यस्मिन्प्रणे तस्मिजयं राजा न लब्धवान् ॥ २१ ॥
 मन्त्री वदिष्यति ।
 तेन संप्रार्थिता देवी सर्वकालमखेदिना ।
 मोक्षोऽस्तु मम संसारादिति तामरसेक्षण ॥ २२ ॥
 तथा तेन मित्रो तस्य स पवावन्ध्यसंविदा ।
 संपादितस्तेन तदाभित आजौ पराजयः ॥ २३ ॥
 सिन्धुर्वदिष्यति ।
 यद्येवं तम्मया देवी सर्ववैषा प्रपूज्यते ।
 मोक्षं किमिति मे नैषा ददाति परमेश्वरी ॥ २४ ॥
 मन्त्री वदिष्यति ।
 एषा हि ऋषिरास्तेऽन्तः सर्वस्य हृदये सदा ।
 संविदूपा भगवती सैव प्रोक्ता सरस्वती ॥ २५ ॥
 येन येन यथास्वीया प्रार्थ्यते स्वयमेव सा ।
 प्रयच्छति तथैषाशु तस्माच्चिदनुभूयते ॥ २६ ॥

ये तस्मिन्वातासुःश्रमोपि वातवद् इति युक्तं तद् भुत्वा व्यापक-
 द्वात्परं कश्चिन्मिदं पृच्छति—अगन्तरमिति ॥ १ ॥ परिस्रवे वदे
 सति । परमकाम्वरे भव्याकृतकाले ॥ २ ॥ ३ ॥ तस्मिन्नेव
 वासकवे ते चेतो इत्थंस्थितं खान्तस्यं वासनामयं भूपीठं तद्-
 प्रवृत्तितं स्फारं जगत् द्रक्ष्यति ॥ ४ ॥ चित्तवृत्तेरेव जगदाकारेण
 महत्वाते जीवस्तत्र राजाहमस्मीति द्रक्ष्यति ॥ ५ ॥ अस्मिन्नेव
 सामन्तैर्मात्रितः पूजितः ॥ ६ ॥ बभ्रुःसमुद्रायाः भूमौ राज्यं
 मे मित्रा दक्षमुपागतम् ॥ ७ ॥ यः शत्रुर्विद्यते स प्रयत्नेन विना
 न जीयते ॥ ८ ॥ १० ॥ विदूरथमहीभुजा सह युद्धं भविष्यति
 ॥ ११ ॥ त्वं विदूरथं हनिष्यसि ॥ १२ ॥ भयाकान्तैर्दिकपातै-
 र्प्यास्तं शासनं यस्य ॥ १३ ॥ पण्डितैः शास्त्रतत्त्वविद्भिः ।
 इमाः वक्ष्यमाणाः ॥ १४ ॥ तत्र तत्त्ववित्कविन्मन्त्री वदि-
 ष्यति—अस्यान्वर्थमिति ॥ १५ ॥ अस्यान्वर्थेन देवया जगदा-
 यो० वा० १८१

वदेन च कस्यान्तार्णवरंहसो मम विदूरथो राजा किमर्थं केन
 वदेन दुःसहो जातस्तद्देवैर्यः ॥ १६ ॥ माता भविता मातृ-
 भावेन साध्वीनीकृतेत्यर्थः ॥ १७ ॥ तदेवाह—गृहीताया इति ।
 सा सरस्वती सुतात्वेन गृहीताया अस्या लीलाया मोक्षपदीन्यपि
 कार्याणि संसाधयति ॥ १८ ॥ तस्या भवतां भाशे परिभवे क-
 र्षणा हेळरूपा अर्थात्किः कैव ॥ १९ ॥ युक्तमुपपन्नं कथितम् ।
 यद्येवं तर्हि स विदूरथो जेतुमशक्य एवात एतस्य समरे वधो
 यो जातः स आक्षर्यः असंभाव्य इत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ अवन्यसंविदा सत्यसंकल्पया तथा देव्या स मोक्ष
 एव संपादितः । तेन स्वत एव पराजय आभितः ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ ऋषिः पराकया वैखर्यन्तसर्वशब्दधीजन्मता ॥ २५ ॥
 आस्वीया स्वात्महिता । तस्मात्प्रदानात्परीयसत्यसंकल्पविशेष
 १ तस्मिन्नेव २ वदे इति संज्ञाः ३ देवता ४ तस्या विदूरथेन

न प्रार्थितेषा भवता मोक्षार्थमरिमर्दन ।
 प्रार्थितैव त्वया संविदात्मीया शत्रुशान्तये ॥ २७
 सिन्धुर्वेदिष्यति ।
 न प्रार्थिता मया कस्मादनेनैषा सरस्वती ।
 संविच्छुद्धा मया कस्मात्प्रार्थिता नेह मुक्तये ॥ २८
 मदाशयगताप्येषा ज्ञप्तिं दत्त्वा सरस्वती ।
 मन्मोक्षाय किमित्यङ्ग सद्रूपापि न चेष्टते ॥ २९
 मन्त्री वदिष्यति ।

अशुभः प्राक्तनोऽभ्यासस्तथास्ति रिपुघातिनः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अ० श० सिन्धुसंबोधनं नाम षट्षष्ठादधिकशततमः सर्गः ॥ १५६ ॥

तेनैषा मुक्तये नत्वा त्वया न प्रार्थिता विमो ॥ ३०
 यच्चित्तस्तन्मयो जन्तुर्भवतीत्याजगत्स्थितेः ।
 आबालमेव संसिद्धं कर्तुं शक्नोति कोऽन्यथा ॥ ३१
 यदेव येनामलयामलात्म
 संवेद्यतेऽभ्यासमयं विदाम्तः ।
 सर्वोपमर्देन तदेव सोऽङ्ग
 सदस्त्वसद्वास्तु भवत्यविग्रम् ॥ ३२

सप्तपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५७

अथ सिन्धुर्वेदिष्यति ।

आर्यानार्यवपुः कोऽहमभवं विमतिः पुरा ।
 यद्दृशान्मे कुसंस्कारः प्राक्तनोऽस्ति भवप्रदः ॥ १
 मन्त्री वदिष्यति ।
 रहस्यं शृणु भो राजन्सावधानपरः क्षणम् ।
 श्रोदितः संवधासीदमद्य मान्द्यविनाशनम् ॥ २
 किमप्याद्यन्तरहितमस्तीह सदानामयम् ।
 स्थितं त्वमहमित्यादिरूपेण ब्रह्मशब्दितम् ॥ ३
 तद्ब्रह्म स्वयमेवाहं चिच्छेतामीति संविदम् ।
 जीवतामिव गत्वास्ते चित्तीभूयात्यजद्रूपः ॥ ४

वरफलत्मना अनुभूयते ॥ २६ ॥ २७ ॥ मयेव अनेन
 विदुर्येन राज्यार्थं कस्मात् संप्रार्थिता । मया वा अनेनेव
 मुक्तये कस्मात् प्रार्थितेति इवशब्दाभ्याहारेण योज्यम्
 ॥ २८ ॥ तत्र खेच्छानुसारिप्रवृत्तौ मां प्रति प्रभोऽयमप्युक्त
 इत्याशाङ्ग तत्प्राप्त्यर्थं प्रकाशयति—मदाशयेति । आशयश्चित्तं
 तद्गता महात्मभूताप्येषा मम मोक्षेच्छालक्षणां ज्ञप्तिं दत्त्वा साध-
 नसंपत्तिद्वारेण मन्मोक्षाय कुतो न चेष्टत इत्याशय इत्यर्थः
 ॥ २९ ॥ नत्वा नमस्कृत्य ॥ ३० ॥ न स्वातन्त्र्येण देवा अनु-
 श्रुन्ति किंतु भक्तचित्तानुसारेणैवेत्यर्थं यच्चित्तस्तन्मयो भवति
 'गुह्यमेतत्सनातनम्' इति श्रुतिः प्रमाणमित्याशयेनाह—यच्चित्त
 इति । न चैतल्लोकेऽप्यप्रसिद्धमित्याह—आबालमिति ॥ ३१ ॥
 येन पुरुषेण अमलया विदा ज्ञप्त्या अन्तः स्वचित्ते अमलात्मरूपं
 यदेव राज्यं मोक्षोऽन्यद्वा अभ्यासमयं दृढाभ्यासप्रचुरं यदेव
 कृत्वा संवेद्यते तत् सत्तदानीं विद्यमानमसत्तद्विलक्षणं वास्तु त-
 देव सर्वैतरवासनोपमर्देन स पुरुषः अविभ्रं स्वयमेवावश्यं भवति,
 नान्यः कश्चित्फलभूतोऽस्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सिन्धुसं-
 बोधनं नाम षट्षष्ठादधिकशततमः सर्गः ॥ १५६ ॥

चित्तं तु गगनाच्छात्म वपुर्विख्यातिवाहिकम् ।
 तदेव वास्ति मेहान्यदाधिभौतिकतादिकम् ॥ ५
 चित्तमेतदनाकारमपि साकारवत्स्थितम् ।
 संकल्पैः परलोकाद्यैः स्वप्राद्यैरेतदेव सत् ॥ ६
 अनाकारमपि स्फारं चित्तं जगदिदं विदुः ।
 य एव पवनो नाम स एव स्पन्दनं यथा ॥ ७
 यथा गगनशून्यत्वे जगच्चित्ते तथैककम् ।
 अत्राप्रतिघरूपेऽस्ति न मनागपि भिन्नता ॥ ८
 हृदयस्थं जगज्जालं न किञ्चित्किञ्चिदास्थितम् ।
 जगद्विद्धि निराकारं चित्तमेव न वास्तवम् ॥ ९
 सत्त्वमेव वपुः पूर्वमुदितं ब्रह्मणः पदात् ।
 अयमेव स संपन्नो योऽद्य तामसतामसः ॥ १०

वर्णते सिन्धुजीवस्य जातिसामसतामसी ।

सिन्धोश्च स्वजतो राज्यं विवेकात्पुकिरन्ततः ॥ १ ॥

हे आर्येति मन्त्रिसंबोधनम् ॥ १ ॥ अवधानपरेण चित्तेन
 सहितः सावधानपरः । अथ मया त्वं श्रोदितः प्रेरितः सन्
 मान्द्यस्य अज्ञानस्य विनाशनमिदं महत्तनं हृदि दधासि धार-
 विष्यति ॥ २ ॥ पृष्ट्वा सिन्धुजीवप्राक्तनस्थितिं वस्तुं ब्रह्मण
 एवोपाधिसंबन्धाजीवभावविवक्षया आर्यां ब्रह्मस्वरूपस्थितिं
 दर्शयति—किमपीति । तस्यैव सार्वात्म्यमाह—स्थितमिति
 ॥ ३ ॥ अहं चित् अतश्चेतामीति संकल्पसंमिदं प्राप्य समष्टि-
 व्यष्टिचित्तीभूय तद्रूपाधौ जीवतामिव गत्वा आस्ते । वपुरुपा-
 धिमलयजत् ॥ ४ ॥ किं तद्रूप्यदत्यजजीवतां गतं तदेवाह—
 चित्तं तिष्ठति । स्थूलमिदं वपुर्वाहं किं तत्राह—तदेवेति ॥ ५ ॥
 तच्चित्तमेव परलोकेहलोकस्यैः स्वप्राजापजीवमरणभोगमोक्षाद्यैः
 संकल्पैरनाकारमपि साकारजगद्वत्स्थितम् ॥ ६ ॥ इदं रहस्यं
 तत्त्वमिदो विदुर्नान्ये इत्याह—अनाकारमिति ॥ ७ ॥ अप्रति-
 वरूपे जगदाकारकल्पने निरङ्कुशसामर्थ्ये । अत्र चित्ते ॥ ८ ॥
 मिथ्यात्वात् किञ्चिदृदयस्थं वासनारूपमेव जगज्जालं बहिरिष
 किञ्चिदिवास्थितम् ॥ ९ ॥ पूर्वं प्राथमिकसर्गे सावित्रकवेरुता-

सिन्धुर्षदिष्यति ।

किमुच्यते महाभाग वद तामसतामसः ।
क्रियन्ते पूर्वमेवैताः केन संज्ञाः परे पदे ॥ ११
मन्त्री वदिष्यति ।
जन्तोः सावयवस्येह इस्ताद्यवयवा यथा ।
तथानवयवस्यैवमातिवाहिकतात्मनः ॥ १२
पञ्चादात्मनि सैवात्मा नामासंज्ञाः करिष्यति ।
आधिभौतिकतानानि पृथ्व्याद्या आतिवाहिके ॥ १३
स्वप्नामेऽस्मिन्नङ्गान्ने संकल्पेनात्मरूपिणां ।
संज्ञात्मनात्मरूपेण स्वयं व्यवहरिष्यति ॥ १४
त्वामातिवाहिकाकारा यत्तत्स्फुरितवाभवम् ।
जातिर्महातमस्कोऽयमिति तत्रामिधा कृता ॥ १५
ब्रह्मणो निर्विकारस्य विकारिण इव प्रभो ।
जातयो जीवतापत्तौ कलिता विविधाभिधाः ॥ १६
प्राथम्येनैव यद्ब्रह्म जीवतामिव गच्छति ।
तदैव बुद्ध्या भोक्ता तज्जातिः सात्त्विकसात्त्विकी ॥ १७
वर्तमाने भवे भव्यगुणैर्युक्ता तु मानद ।
केवला सात्त्विकी प्रोक्ता जातिर्जातिविदां वरैः ॥ १८
नवा भवैश्चेद्बहुभिर्भोगमोक्षैकभागिनी ।
जातिस्तत्प्रोच्यते तज्जैः सङ्गी राजसराजसी ॥ १९
वर्तमाने भवे भव्यगुणैर्मुक्ता तु मानद ।
केवला राजसी प्रोक्ता जातिः स्वल्पभवे भवेत् ॥ २०

षट्तिरूपत्वात्स्वमेव हिरण्यगर्भाख्यं समष्टिवपुर्ब्रह्मणः पदादुदितम् । अयं समष्टिरेव व्यष्टिभावे तामसविषयासङ्गोत्पत्तिप्रकरणोक्तरीत्या राजससात्त्विकादित्रयोदशधाविभागक्रमेण स ते जीवोऽथ तामसतामसः संपन्नः ॥ १० ॥ प्रश्नः स्पष्टः ॥ ११ ॥ अपरिच्छिन्नसैवात्मनो हिरण्यगर्भभावेन परिच्छिन्नस्त्वे मायया कृते हिरण्यगर्भ एव सर्वाः संज्ञाः करोतीत्याशयेनोत्तरमाह— जन्तोरेति । एवं तथा ॥ १२ ॥ आत्मनि स्वव्यष्टिजीवेषु स सम्प्रणामैव संज्ञाः करिष्यति । सैवात्मेति 'सोषि लोपे चेत्याद-पूरणम्' इति सलोपः । तथा आतिवाहिके समष्टिस्वदेहे पञ्चीकरणेन आधिभौतिकतानानि कृते तदवयवेषु पृथ्व्याद्याः संज्ञाः करिष्यति ॥ १३ ॥ एवं नामरूपे कल्पयित्वा व्यष्टिभावेन स्वयमेव व्यवहरिष्यति ॥ १४ ॥ तत्र नवं व्यष्टिभावकल्पने त्वा-मुद्दिश्य यत् सृष्टिसंकल्पेन यद्यष्टिभावेन हिरण्यगर्भो यत् महा-तमस्कोऽयमिति स्फुरितवान् । तत्तस्मादेतोस्सावातिवाहिकाकारा जातिस्वामसतामसी महातमस्केत्यभिधा कृतेत्यर्थः ॥ १५ ॥ नेयमेकैवाभिधा किंनु ब्रह्मणो जीवभावे तत्तदुपाधिगुणानुसारेण राजससारिकादयस्त्रयोदशभिधाः कृता इत्याह— ब्रह्मण इति ॥ १६ ॥ तत्र मोक्षशैश्वर्यविलम्बप्रयोजकचित्तगुणदोषैरेव जी-वानां जातिभेदकल्पनेति दर्शयंस्तद्ब्रह्मणो जीवजातीर्विभज्य लक्षय-ति—प्राथम्येनेत्यादिना । अद्यदि कल्पादौ प्राथम्येनैव जीवता-मिव गच्छति ब्रह्मणि तदा तस्मिन्नेव जन्मनि औत्पत्तिकज्ञानै-

प्रथमात्यन्तबहुभिर्भवेन्मोक्षभागिनी ।
जातिस्तत्प्रोच्यते तज्जैः सङ्गीस्तामसतामसी ॥ २१
सामान्येनैव बहुभिर्जन्मभिर्मोक्षभागिनी ।
केवला तामसी प्रोक्ता जातिर्जातिविशारदैः ॥ २२
क्रमेणानेन जातीनां विविधा भेदकल्पना ।
तासां तामसतामस्यां जातौ जातोऽसि मानद ॥ २३
बहुनि तव जन्मानि समतीतानि तान्यहम् ।
विविधानि विचित्राणि वीर जानामि नो भवान् ॥ २४
विशेषेण त्वनेनैव व्यर्थं कालोऽतिवाहितः ।
महाशवशरीरेण त्वयामन्तस्त्रागमिना ॥ २५
एवं तामसतामस्या जात्यासि जनितो यदा ।
तदा दुर्लभमोक्षस्त्वं संसारकुहरादिति ॥ २६
सिन्धुर्षदिष्यति ।
आर्योदाहर केनैषा प्राञ्जातिर्जायतेऽधमा ।
यावत्तथैव तिष्ठामि स्याच्छेधद्द पावनम् ॥ २७
मन्त्री वदिष्यति ।
न किञ्चन महाबुद्धे तदस्तीह जगद्भये ।
यदनुब्रेगिना नाम पौरुषेण न लभ्यते ॥ २८
ह्यस्तनी दुष्क्रियाभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा ।
अद्यैव प्राक्तनीं तस्माद्यत्नात्सत्कार्यवान् भव ॥ २९
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सोऽवश्यं तद्वामोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥ ३०

धर्मयुक्त्या बुद्ध्या विषयभोक्ता तस्मिन्नेव जन्मनि मुच्यते इति यावत्तज्जातिः सात्त्विकसात्त्विकी यथा सनकारीनाम् ॥ १७ ॥ कंचित्कालं भवे भवहेतावज्ञाने वर्तमाने सति तस्मिन्नेव जन्मनि ज्ञानैश्वर्यादिभिर्भव्यगुणैर्युक्ता चेद्भूत्वा मुच्यते तदा केवलसात्त्विकी प्रोक्तैत्यर्थः ॥ १८ ॥ या जातिः कल्पादौ नवा अभिनवतथा-मिव्यकापि बहुभिर्जन्मभिर्भोगेषु भुक्तेषु क्रमेण मोक्षैकभागिनी चेद्भवति तदा राजसराजसीत्यर्थः ॥ १९ ॥ स्वल्पभवे दशपञ्च जन्मोत्तरकालमपि तस्मिन्कल्पे भव्यैर्विकेकादिगुणैर्मुक्ता रहिता बहुतरजन्मपरंपरोत्तरं भव्यगुणान् लभते चेत्केवलराजसीत्यर्थः ॥ २० ॥ प्रथमा कल्पादिमारभ्य अत्यन्तबहुभिः स्वावरकीटकि-रातादिभिरन्ते मोक्षभागिनी चेतामसतामसीत्यर्थः ॥ २१ ॥ सामान्येनानुःकृष्टेन रक्षःपिशाचशूद्रादिजन्मभिर्बहुभिर्मोक्षभा-गिनी चेत्केवलतामसी ॥ २२ ॥ तासां जातीनां मध्ये त्वं ता-मसतामस्यां जातौ जातोऽसि ॥ २३ ॥ भवान् नो जानाति ॥ २४ ॥ २५ ॥ इतिशब्दः प्रश्नोत्तरसमाप्ती ॥ २६ ॥ प्रा-क्तनी अथमा तामसतामसी जीवजातिः केनोपायेन जीयते अभिभूयते । हे आर्य, तमुपायमुदाहर । तत्तादृशं पावनं शोचनं स्याच्छेधावहेहं तथैव तेनैव त्वदुक्तप्रकारेण तिष्ठामि स्यास्यामि तद्द ॥ २७ ॥ पौरुषेण पुरुषप्रयत्नेन ॥ २८ ॥ अद्यैव सत्क्रि-यया ह्यस्तनी दुष्क्रिया यथा शोभां शोभनतामभ्येति तथा त-स्मादेव यत्प्राक्तनीं जित्वा सत्कार्यवान् भव ॥ २९ ॥ ३० ॥

ना यथा यतते नित्यं बद्धावयति यन्मयः ।
 शोचन्निच्छेद्य भवितुं तद्वन्मयति नायन्मयः ॥ ३१ ॥
 मुनिरुवाच ।
 एवमुक्तः स तेनाथ सिन्धुद्वुरया चिवा ।
 तदा तत्र तथा नाम राष्ट्रं त्यक्त्यत्यशेषतः ॥ ३२ ॥
 गमिष्यति वनं कूरं प्रार्थितोऽपि हि मन्त्रिभिः ।
 नाभयिष्यति तद्भूयो राज्यमुच्छिन्नशाश्वतम् ॥ ३३ ॥
 तिष्ठतः साधुमध्येऽस्य तद्विवेककथावशात् ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० वे० मो० नि० उ० अ० वि० श्रवणोपाख्याने सिन्धुनिर्वाणं नाम षष्ठपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५७ ॥

पुष्पासङ्गादिवामोदो विवेकः समुदेष्यति ॥ ३४ ॥
 ततः कथमिदं जन्म कुतः संसार आगतः ।
 इत्थं विचारसांतत्यात्स यास्यति विमुक्तताम् ॥ ३५ ॥
 नित्यं विचारणपरोऽथ भवन्स सिन्धुः
 सत्सङ्गमेन पद्ममाप्स्यति पावनं सः ।
 तद्यत्र पत्रमिव वातविधूयमानं
 नो वस्तुतां व्रजति काचन नाम लक्ष्मीः ॥ ३६ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५८

मुनिरुवाच ।
 एतत्ते कथितं सर्वं मविष्यद्भूतवत्तथ ।
 यथेच्छसि तथेदानीं व्याध साधु विधीयताम् ॥ १ ॥
 मन्त्रिरुवाच ।
 इति तस्य वचः श्रुत्वा विस्मयाकुलचेतनः ।
 क्षीणं स्थित्वा जगामाशु क्वातुं व्याधस्तथा मुनिः ॥ २ ॥
 इति तौ शेरतुस्तत्र तपः शास्त्रविचारणैः ।
 अकारणसुहृद्भूताधुमौ व्याधमहासुनी ॥ ३ ॥
 अथास्त्वेनैव कालेन मुनिनिर्वाणमाययौ ।
 देहं त्यक्त्वाऽपदेशान्ते परे परिणतिं गतः ॥ ४ ॥
 कालेन बहुनाम्प्येन ततो युगशतात्मना ।
 व्याधस्य कामनां दातुं पञ्चजम्भा समाययौ ॥ ५ ॥
 व्याधः स्ववासनावेशं निवारयितुमक्षमः ।
 जानन्नपि वरं पूर्वं वर्णितं समयाचत ॥ ६ ॥
 ब्रह्मैकमस्त्विति प्रोच्य यथावप्रिमतां दिशम् ।
 व्याधस्तपःफलं भोक्तुं जगच्चक्षोम पुष्टुवे ॥ ७ ॥

वर्धमानेन देहेन जगत्पारे महानभः ।
 वेगादगणितं कालं पूरयामास शैलवत् ॥ ८ ॥
 महागुरुद्वेगेन तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
 व्योम पूरयतस्तस्य कालो बहुतरो ययौ ॥ ९ ॥
 मध दीर्घेण कालेन यदा विद्याभ्रमस्य सः ।
 अन्तं न समवाप्नोति तत्रोद्वेगमुपाययौ ॥ १० ॥
 उद्वेगादथ वफ्फासौ प्राणरेचनधारणाम् ।
 प्राणांस्तत्याज नभसि शशीभूतमधोवपुः ॥ ११ ॥
 चित्तं प्राणान्वितं व्योम्नि ययौ तत्रैव सिन्धुतमम् ।
 विदूरधारिरूपां तामखिलावनिपालिनीम् ॥ १२ ॥
 देहो मेदद्यताकारमहाशय इवामवत् ।
 द्वितीयोर्धीनिभो व्योम्नः पपाताशनिवज्रवत् ॥ १३ ॥
 पिधानमिव कस्योर्धीवीधी कस्मिन्निदम्बरे ।
 केशोण्डकवदाभाते कस्मिन्निज्जागते भ्रमे ॥ १४ ॥
 आकारपूरिताशेषवसुधाचलमण्डलः ।
 विपश्चिच्छ्रेष्ठ कथितमेतत्ते तन्महाशयम् ॥ १५ ॥

ना पुत्रवः ॥ ३१ ॥ तेन मन्त्रिणा एवमुक्ताः सन् । उचुरया
 उत्सृष्टराज्यभारया ॥ ३२ ॥ नाभयिष्यति न स्त्रीकरीष्यति
 ॥ ३३ ॥ पुष्पसङ्गातैलादिष्वाभोद इव विवेकः समुदेष्यति
 ॥ ३४ ॥ विमुक्ततां जीवन्मुक्तताम् ॥ ३५ ॥ स सिन्धुः रात्रा
 संसर्गमेन नित्यं विचारणपरः सन् अथ पावनं तत्तादृशं मो-
 क्षार्थं पदमेष्यति । यत्र मोक्षपदे काचन हिरण्यगर्भैर्धर्मपर्य-
 न्तापि लक्ष्मीर्वातविधूयमानं शुष्कपत्रमिव वस्तुतामुपादेयतां नो
 व्रजति किंतु मुष्टैव भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महाराजमायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सिन्धुनिर्वाणं
 नाम षष्ठपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५७ ॥

श्रुत्वा मुनिवचो व्याधस्तपः कृत्वा वराद्विधेः ।

समाहृतः शशीभूताः पपातेत्यादि वर्ण्यते ॥ १ ॥

भूतवत् अतीतकथावत् ॥ १ ॥ क्षणं स्थित्वा निवृश्येति
 यावत् ॥ २ ॥ ३ ॥ अल्पेनैव कालेनेति मुनेः समाधौ बहुतर-

१ अभोमुधीति पाठे वपुरित्पञ्चाशदधिकं, २ पतनात्प्रागुर्धीवीधी

स्यापि कालस्याल्पताप्रतीतेरित्याशयः । यद्यप्यत्र यथाश्रुतप्र-
 न्यात्पूर्वं मुनेर्देहत्यागः पश्चात्पिरकालोत्तरं व्याधस्य कामनां दातुं
 पद्यजागमनं प्रतीयते तथापि पूर्वं मुनेर्भविष्यत्कथनग्रन्थे व्याधस्य
 वरस्त्रभानन्तरं 'मामापुच्छन्नमस्कृत्य तस्मिन्नेव क्षणे' ततः ।
 मुक्तिमेष्यति स व्योम्नि चित्तस्वार्थदिदक्षया ॥' इति मुनिनोक्तत्वा-
 व्याधस्योर्ध्वगमनकाले मुनेर्जीवनं स्थितमेवेति पश्चादेव देहत्याग
 इति बोध्यम् । अपदेशस्य निर्दिष्टस्य आयुषोऽन्ते ॥ ४ ॥ ५ ॥
 पूर्वं मुनिना धर्मैवेन वर्णितं वरं जानन्नपि समयाचत ॥ ६ ॥
 ॥ ७ ॥ जगत्पारे त्रैलोक्यादूर्ध्वम् । महानभः अव्याकृताका-
 शम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ उद्वेगं तत्प्रयुक्तनिर्वेदम् ॥ १० ॥ ११ ॥
 सिन्धुतां सिन्धुदेसरजताम् । विदूरथस्य अरिः वातुस्तद्रूपाम्
 ॥ १२ ॥ त्यक्तेहस्तु व्योममार्गे पपात ॥ १३ ॥ कस्य ब्रह्मणः
 कस्मिन्निज्जागते भ्रमे केशोण्डकवदाभाते तत्र कस्मिन्निदम्बरे
 उर्धीवीधी विशालं पिधानमिव स्थितः ॥ १४ ॥ हे श्रेष्ठ हे
 पुष्पसङ्गतरणमानं इव पतनोत्तरं च निश्चलं पिधानमिव स्थित इत्यर्थः.

| | | | |
|--|----|---|----|
| यस्मिच्छब्दं संपतितं जगत्प्रथममण्डले । | | तदैतन्महामेदो मृदातुत्वमुपागतम् । | |
| तद्विदं जगदामातमस्माकं स्वप्रपूर्यथा ॥ | १६ | कालेन वसुधा भूयो भूत्वा मृन्मयतां गता ॥ | १९ |
| तदेतच्छब्दमास्माद्य शुष्का पूर्णा महोदरी । | | भूयः प्रजातानि वनानि भूमौ | |
| संपन्ना चण्डिका देवी रक्ता रक्तान्मपूरिता ॥ | १७ | ग्रामाः कृताः पत्तनसंयुताश्च । | |
| मेदिनी मेदिनी जाता शबस्यैतस्य मेवसा । | | पातालतः साधुसमुत्थितास्ते | |
| पूरिताऽपूर्वरूपेण हिमवद्विरिरूपिणा ॥ | १८ | शैलाः प्रवृत्ता व्यवहारलक्ष्मीः ॥ | २० |
| इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० वा० शबनिर्णयो नामाष्टपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५८॥ | | | |

एकोनषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १५९

| | | | |
|---|---|---|----|
| अग्निरुवाच । | | भान्ति चेतन्ति चोपन्ति पर्वतप्रतिमानि च ॥ | ७ |
| विपश्चिच्छ्रेष्ठ भो साधो त्वं गच्छामिमतां दिशम् । | | कचिद्द्वारमयाङ्गानि भान्ति भूतानि कुत्रचित् । | |
| स्थिरं भूमण्डलं भूयः प्रकृतव्यवहारवत् ॥ | १ | कचित्पाषाणवेहानि सन्ति भूतानि भूरिशः ॥ | ८ |
| यज्ञं यष्टुं प्रजौघस्य शक्रः शततमं दिवि । | | कचिदाजीवमेकत्र स्थितान्युपलदेहवत् । | |
| तत्राहृतोऽस्मि मन्त्रेण गच्छामि गतिकोविद ॥ | २ | वाङ्मात्रव्यवहाराणि भूतान्यालोकितानि खे ॥ | ९ |
| भास उवाच । | | इत्यहं सुचिरं कालं पश्यन्नप्यन्मनस्तया । | |
| इत्युक्त्वा भगवानग्निस्तत्रैवान्तरधीयत । | | अविद्यान्तमपश्यंश्च तत्रोद्विप्तोऽभवत् दशाम् ॥ | १० |
| गगने निर्मले याति अनलो वैद्युतो यथा ॥ | ३ | तपः कर्तुं समुद्युक्तः कस्मिंश्चिन्मोक्षसिद्धये । | |
| तथाहमपि चित्तेन प्राक्तनांश्च स्वयं बहन् । | | प्राहेन्द्रो मम चैवेदं मृगयोन्यन्तरं हि खे ॥ | ११ |
| पुनः स्वकर्म निर्णेतुं भ्रमन्त्योमनि संस्थितः ॥ | ४ | प्रवृत्तः स्वर्गसंमोहे पूर्वाभ्यासवशीकृतः । | |
| भूयोऽपि दृष्टवानस्मि जगत्स्यगणितानि खे । | | मन्दारकानने तत्र भ्रमतो वै ममारुदरे ॥ | १२ |
| नानाचारविचाराणि नानासंस्थानवन्ति च ॥ | ५ | तेनैत्युके मया प्रोक्तं देव खिन्नोऽस्मि संसृतेः । | |
| कचिच्छत्रमयाङ्गानि एकीभूतानि भूपते । | | मुच्येयं शीघ्रमित्युक्तं भ्रुत्वोवाच ततो मम ॥ | १३ |
| भान्ति चेतन्ति चोपन्ति दृष्टवानि हरन्ति च ॥ | ६ | विशुद्धात्मा त्वरूपोऽहमिति चैव हुताशनात् । | |
| कचिन्मृन्मयवेहानि सर्वभूतानि दाघव । | | वरं शृद्धानेत्युके स ततोऽन्यं याचितो मया ॥ | १४ |

विपश्चित्, ते एतन्महाशब्दं सङ्गतान्तं यथाबन्मया कथितम् ॥ १५ ॥ अस्माकं चित्ते आभातं प्रत्यक्षं स्फुरितम् ॥ १६ ॥ रतेन आन्त्रैश्च पूरिता सती रक्ता रक्तवर्णा संपन्ना ॥ १७ ॥ अपूर्वरूपेण आर्ष्यभूतेन ॥ १८ ॥ १९ ॥ पूर्वं वनादीनां शबेन नाशनाद्भूयो वनानि प्रजातानि । ग्रामाश्च भूयः कृताः । ते चूर्णिताः शैलाश्च भूयः पातालतः साधु यथा-पूर्वं समुत्थिताः । ततो जनाभिा व्यवहारलक्ष्मीः प्रवृत्तेत्यर्थः ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे शबनिर्णयो नामाष्टपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५८ ॥

इहामेदिनिग्रगमनमुपविश्य विपश्चिते ।
आश्चर्याणि बहून्मन्त्रे महत्तरुं च वर्णयते ॥ १ ॥

श्रेष्ठ भो विपश्चित्, त्वं स्थिरं भूयः प्रकृतव्यवहारवद्भूमण्डलं प्राप्य अभिमतां दिशं गच्छ ॥ १ ॥ शक्रो दिवि यज्ञं यष्टुं प्रवृत्तः । अहं तत्राहृतोऽस्मि गच्छामि ॥ २ ॥ मूर्त्याकारेणा-न्तरधीयत । अग्न्याकारेण तु वैद्युतामिबद्गगने याति ॥ ३ ॥ प्राक्तनानविद्यान्तदर्शनविषयकसंस्कारान्वहन्तन् स्वं दिग्गन्तोप-सर्पयकम् निर्णेतुं निष्पादयितुम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ तान्येव खड्गव्यति-

जगन्ति वर्णयति—कचिद्विल्यादिना । एकीभूतानि परस्परसंल-म्रानि । भूपते इति दशरथसंभोधनम् । चोपन्ति मन्दं गच्छन्ति दृष्ट्वा दृष्टवानि मनसि हरन्ति च ॥ ६ ॥ ७ ॥ कुत्रचित्-गति ॥ ८ ॥ आजीवं यावज्जीवम् । उपलदेहवत् प्रतिमावत् । परस्परं संभाषणादिना वाङ्मात्रव्यवहाराणि न गमनादानादि-व्यवहारवन्ति । खे स्वप्तिताकाशे ॥ ९ ॥ मनस्तया स्वप्न इव मनोमात्रवेहतया । तत्र अविद्यायां दशा दृश्यवर्णाणां विषये उद्विग्नः अवसत् ॥ १० ॥ एवं समुद्विप्तोऽहं कस्मिंश्चिदहति उप-विद्यम मोक्षसिद्धये तप आत्मतत्त्वालोकनं कर्तुं समुद्युक्तोऽभवम् । ततो मामिन्द्रः प्राह । किं प्राह । हे विपश्चित्, ते चित्ता-काशे मम च तव च इदं मृगयोन्यन्तरमुपस्थितमस्ति । ततो नायमात्मतत्त्वालोकनकाल इत्यर्थः ॥ ११ ॥ ननु ममारुपपुण्यस्य कदाचिन्मृगयोनिप्रापकं दुष्कृतादि संभा-व्येत, तव तु महापुण्यस्य कुतस्तत्संभावना तत्राह—प्रवृत्त इति । अहमपि स्वर्गभोगयुके संमोहे दुर्वासोपराधे प्रवृत्तः । अ-ते तत्राहृतिस्तत्राह—मन्दारेति ॥ १२ ॥ तेन इन्द्रेण इत्युके कति- ॥ १३ ॥ किमुवाच तदाह—विशुद्धेति । शीघ्रं मुक्तिस्तु अल्प-अवस्थात्रयकूपेण मूर्तामूर्तरूपेण च रहितो विशुद्ध अवस्थावहादि-

इन्द्र उवाच ।

तदेवं मृगयोन्यन्तश्चिरं संसरते चितिः ।
 अवश्यं भवितव्योऽर्थ इति दृष्टो मया तव ॥ १५
 मृगो भूत्वा महापुण्यां तां सभां समवाप्तवान् ।
 यस्यां तद्वदन्तं ज्ञानं मदुक्तं बोधमेष्यति ॥ १६
 तदेवं तत्र हरिणो भवार्तस्त्वं भवावनौ ।
 आत्मोदन्तमिदं बन्धं सकलं संस्मरिष्यसि ॥ १७
 स्वप्रभ्रममिवाशेषसंकल्पपरचितोपमम् ।
 परलोकानुभूतार्थकथायातार्थसंनिभम् ॥ १८
 यदा तु मृगतोऽमुक्तः पुरुषस्त्वं भविष्यसि ।
 ज्ञानाभिर्बन्धदेहान्ते तदा हृत्स्थं स्फुरिष्यति ॥ १९
 तेन तां त्वमविद्याख्यां भ्रान्तिं त्यक्त्वा चिरं स्थिताम्
 भविष्यसि विनिर्वाणो गतस्पन्द इवानिलः ॥ २०
 इत्युक्ते तेन देवेन तदैव प्रतिभोदभूत् ।
 ममायं हरिणोऽस्मीति बनेऽस्मिन्निति निश्चिता ॥ २१
 ततः प्रभृति संपन्नस्तत्रैवान्तरकोणके ।
 हरिणोऽहं गिरिवरे तृणदूर्वाङ्कुराशनः ॥ २२
 ततः सीमान्तसामन्तमागतं मृगयार्थिनम् ।
 दृष्ट्वाहमेकदा भीतः पलायनपरोऽभवम् ॥ २३
 ततस्तेन समाक्रम्य पृष्ठं नीत्वा दिनत्रयम् ।
 संस्थाप्य तव लीलार्थमिदानीतो रघूद्वह ॥ २४
 एष ते कथितः सर्वं आत्मोदन्तो मयानघ ।
 संसारमायाप्रतिभो नानाध्वर्यरसान्वितः ॥ २५
 अविद्यैवमनन्तेयं शास्त्राप्रसरशालिनी ।

तत्त्वज्ञानादेव भवति । तपु त्वया प्राग्ब्याधमुनिसंवादवर्णनप्र-
 सङ्गेन हुताशनाच्छ्रुतमेवेति शेषः । ततस्त्वमन्यं वरं गृह्णतेती-
 न्द्रेणोक्ते सति मया सः अन्यं मृगत्वे स्वस्य किमग्रे भविष्यती-
 त्येतत्परिज्ञानरूपं वरं याचितः ॥ १४ ॥ संसरते संसर्तुमिच्छति
 ॥ १५ ॥ तां दाधारथीं सभाम् । मदुक्तं विशुद्धात्मा त्वरूपोऽह-
 मिलेवंकल्पम् ॥ १६ ॥ हरिणः संसृष्टदेवं क्रमेण सभां प्राप्य व-
 सिष्ठप्रसादात्सकलमात्मोदन्तं स्ववृत्तान्तम् ॥ १७ ॥ बन्धयत्क-
 मेव दृष्टान्तैर्विदुषोति—स्वप्नेति ॥ १८ ॥ किं मृगदेहेनैव सं-
 स्मरिष्यामि नेत्याह—यदेति ॥ १९ ॥ तेन आत्मतत्त्वस्फुर-
 णेन । विनिर्वाणो मुक्तः ॥ २० ॥ इति तेन देवेनेन्द्रेणोक्ते सति
 सा पूर्वा मानसी हरिणोऽस्मीति प्रतिभा निश्चिता व्यवहारार्थकि-
 यासमर्था उदभूत् ॥ २१ ॥ तत्रैव मन्दारवनान्तरकोणके
 ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ संसारप्रसिद्धेन्द्रजालिकमायाप्रतिभः
 ॥ २५ ॥ २६ ॥ इदं बक्ष्यमाणम् ॥ २७ ॥ अन्यसंकल्परूपोऽयं
 मृगशेदस्माकं दृश्यतां यातः । एवं सति असंकल्पोपि पुरुषोऽ-
 न्यसंकल्पसर्वे स्थितं वस्तुजातं पश्यतीति फलितम् । इदं तु कथ-
 नुपपद्यते बधेस्वर्थः ॥ २८ ॥ महामुनिदेवताविषरशापादिना
 अन्यसंकल्पकल्पितोऽयं मृगोऽन्येषामसंकल्पानामपि दर्शनादिबन्ध-

आत्मज्ञानादृते नैव केनचिन्नाम शान्त्यति ॥ २६
 श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 यदा विपश्चिदित्युक्त्वा तत्र तूर्णी स्थितः क्षणात् ।
 समधोचक्षदा रामस्तमभिन्धमतिस्त्विदम् ॥ २७
 श्रीराम उवाच ।
 एवं पश्यत्यसंकल्पो योऽन्यसंकल्प आत्मनि ।
 मृगशेददृश्यतां यातः कथं सर्वे वद प्रभो ॥ २८
 विपश्चिदुवाच ।
 महाशवं यत्पतितं यस्मिन्नगति भूतले ।
 तां भुवं पूर्वमिन्द्रेण यज्ञगर्वेण गच्छता ॥ २९
 पादेनाभिहतो व्योम्नि दुर्वासा ध्यानसंस्थितः ।
 गतासुरित्यविज्ञानात्तेनासौ कुपितोऽशपत् ॥ ३०
 शक्र शक्राघनितलं ब्रह्माण्डप्रतिमं शवम् ।
 अक्षिरेण महाघोरं तव चूर्णीकरिष्यति ॥ ३१
 मामिमं शवबुद्ध्या त्वं यदतिक्रान्तवानतः ।
 शापेन ममतां पृथ्वीं शीघ्रमासादयिष्यसि ॥ ३२
 मृगार्थं तेन मुनिना तथा देवेति सद्यथा ।
 तत्तया कथयाऽऽयातं सदैव विषयं दशाम् ॥ ३३
 वस्तुतस्तु न कैकं सन्न द्वितीयं न चाप्यसत् ।
 सा तथा प्रतिभोदेति किं सत्किमथवाप्यसत् ॥ ३४
 अन्यच्च राघवे मां तां युक्तिं त्वमपरां शृणु ।
 एतस्मिन्नयसंदर्भे सुस्फुटप्रतिपत्तये ॥ ३५
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
 ब्रह्म तस्मिन्महामाग किं न संभवतीह हि ॥ ३६

हारयोग्यो भवतीत्युक्तं वक्तुं प्रागुक्तशवपतनमेव निमित्तान्तरेण
 वर्णयितुं विपश्चित्प्रसूति—महाशवमित्यादिना । पूर्वं शवप-
 तनात्पूर्वकाले तां भुवं प्रति मन्दारवने स्फुरतयज्ञप्रयुक्तयजमा-
 नतागर्वेणान्धब्रूच्छता इन्द्रेण मुनिरयमित्यविज्ञानात्प्रातासुरयमि-
 त्यवज्ञया च दुर्वासाः पादेनाभिहतः ॥ २९ ॥ ३० ॥ शक्र शक्रेति
 'वाक्यादेरामश्चित्तस्यास्यासंमतिकोपकृतसनभर्त्सनेषु' इति को-
 पादिषु द्विवचनम् । तव गन्तुमिष्टमवनितलं चूर्णीकरिष्यति
 ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ तेन मुनिना दुर्वाससा विपश्चिता सह शक्रस्य
 मृगभाषार्थमपि 'तथा देवमृगश्च त्वं तुल्यकालं विपश्चिते'ति
 वाक्येन यथा विपश्चितो मनःसंकल्पितमपि मृगत्वं सत् अन्य-
 दर्शनाद्यर्थक्रियासमर्थं भवति तथा स शत इति शेषः । तत्त-
 स्सातया इन्द्रशापकथयैव मुनिवाक्यबलात्सांकल्पिकमपि विप-
 क्षितो मृगत्वं भवदादिदृशां सदैव विषयं विषयत्वमायातम्
 ॥ ३३ ॥ एवं जगत्प्रसिद्धदृशा रामप्रभं समाधाय तत्त्वदृशां
 समाधत्ते—वस्तुतस्तुस्त्विदं । वस्तुतो विचारे एकं व्यावहारिकं
 जगत् सत् इत्यपि न । द्वितीयं सांकल्पिकं वा असदित्यपि न ।
 द्वयोरपि तुल्यत्वादित्याह—सैति ॥ ३४ ॥ ब्रह्मणः सर्वव्यक्ति-
 सर्वात्मकत्वादपि न कोऽपि विरोध इत्याह—अन्येषोत्यादिना ।

संकल्पजातं मान्योन्म्यं मिलतीत्युपपद्यते ।
 संकल्पजातमन्योन्म्यं मिलतीत्युपपद्यते ॥ ३७
 संकल्पजातमन्योन्म्यं मिलतीत्यवगम्यते ।
 सर्वात्मनि हि यत्रैव कृत्वाया तत्रैव चातपः ॥ ३८
 न संभवति चेतसत्कथं सर्वात्मतामियात् ।
 कस्मात्संकल्पनगरं न मिथः निष्ठप्यतीति सत् ॥ ३९
 मिथश्च निष्ठप्यतीत्येवमपि सत्सर्वरूपिणि ।
 न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ॥ ४०
 सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वरूपिणि ।
 अहो नु विषमा माया मनोमोहविधायिनी ॥ ४१
 विधयः प्रतिषेधाश्च यदेकत्र स्थितिं गताः ।
 ईदृशी ब्रह्मसत्तैषा यदेवात्मानमात्मना ॥ ४२
 तथा अनादिः सादिश्चेत्यविद्येत्यनुभूयते ।
 न ज्ञप्तिमात्रकचनं यदि स्याद्भुवनत्रयम् ॥ ४३
 तन्महाकल्पनष्टानां सृष्टिः स्यात्कथमजसा ।
 कथमग्नेः कथं धायोः सत्ता भूमेः कथं भवेत् ॥ ४४
 तस्मात्स्वभावकचनमात्रात्रान्यदृते जगत् ।
 शास्त्राप्यनुभवो लोका आमहाकल्पवादिनाम् ॥ ४५
 येषां प्रमाणं नो सर्वं प्रशस्तैस्तैरलं सताम् ।
 ज्ञप्तिदृष्ट्यानया सर्वं प्रमाणीभवति क्षणात् ॥ ४६
 नान्यथा तनु तेनैवमेष सारं विदुर्बुधाः ।
 शुद्धा ज्ञप्तिब्रह्मसत्ता त्वविद्यास्तीति चेतनात् ॥ ४७
 स्फुरतीयं जगद्रूपा धातभीः स्पन्दनादिव ।
 न कञ्चनेह म्रियते जायते न च कञ्चन ॥ ४८
 मृतोऽहमिदमस्तीति प्रतिभैव चिदात्मिका ।

नया युक्तयस्तासां संदर्भे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ संकल्पजातं पर-
 स्परं न मिलति मिलतीति च द्वयमपि सर्वशक्तावुपपद्यते इत्यर्थः
 ॥ ३७ ॥ अवगम्यते प्रत्यक्षं सृग्दर्शनादी । उपपत्तिश्चात्रा-
 स्तीत्याह—सर्वात्मनीति ॥ ३८ ॥ यदि विरुद्धमेकत्र न संभ-
 वति तदा सर्वात्मत्वमेव ब्रह्मणो व्याहन्येतेत्याह—नेति । इदं
 च सर्वं प्राग्बहुशो व्याख्यातप्राचमम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ मायाया
 अघटितघटनासमर्थत्वेनात्याश्चर्यरूपत्वादपि सर्वं घटत इत्याह
 —अहो इति ॥ ४१ ॥ न मायाया एव, ब्रह्मसत्ताया अप्येवं
 माहात्म्यमित्याह—ईदृशीति ॥ ४२ ॥ तथा ब्रह्मसत्ताया ॥ ४३ ॥
 ॥ ४४ ॥ स्वभावकचनमात्रादृते जगन्मान्यत् । वेदान्तादिशा-
 स्त्राणि विद्वदनुभवो लोकप्रसिद्धदृष्टान्ताश्च येषां मूर्खाणां प्रमाणं
 न तीः सतां अलं संभाषणेनेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ प्रशस्तैर्विरोधि-
 कक्षणाया निन्दैः । ज्ञप्तिदृष्ट्या चिद्विलासदृष्ट्या ॥ ४६ ॥ अन्यथा
 दृष्ट्या तु न प्रमाणीभवति किंतु तनु कल्पु भवति । तेन हेतुना
 बुधा एवमेव ज्ञानदृष्टिसिद्धमेव सारं विदुः । कथं विदुस्तदाह
 —शुद्धेति ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अत्यन्तं नाशो दृश्यादर्शनं चेत
 वा निद्रा सुषुप्तिस्तद्बुधोपमा ॥ ४९ ॥ ५० ॥ कस्मिन् एक-

मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तस्मा निद्रा सुषुप्तोपमा ॥ ४९
 पुनर्दृश्योपलम्भश्चेन्ननु जीवितमेव तत् ।
 तस्मात्तेहास्ति मरणं तेषैवेहास्ति जीवितम् ॥ ५०
 कस्मिन्निन्मात्रकचने द्वयं वाप्यस्ति नैव वा ।
 चेतितं द्वयमप्यस्ति नास्ति द्वयमचेतितम् ॥ ५१
 चेतितं चैकमेवास्ति स्वस्त्यनन्तमतश्चितः ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण किं नाम वद जीवनम् ॥ ५२
 अदुःखमक्षयत्वात्तदतो दुःखं क कस्यचित् ।
 वाच्यं सवाचकं सर्वं यत्र चिद्योममात्रकम् ॥ ५३
 तदन्यत्तदन्यच्च के ते तत्रैकताद्विते ।
 आवर्तादि यथा तोये शरीरादि तथा परे ॥ ५४
 तत्सत्तासंनिवेशात्मा कारणानन्यखात्म च ।
 चिद्भागमात्रमव्यग्रं खमेवाप्रतिघं जगत् ॥ ५५
 आश्चर्यं सुघनं व्यग्रं द्रव्यं सप्रतिघं स्थितम् ।
 तथेते भूतिभूर्नास्ति वर्तमानानुभूतिभूः ॥ ५६
 तत्र भ्रान्त्या पिशाचोऽयं भाति चात्मेति बुध्यताम् ।
 यथैतत्त्वं तथैतत्त्वमेतत्त्वमिति खं स्थितम् ॥ ५७
 तथेतो भूरितो भूतमितोऽन्यदिति खं परम् ।
 यैव चिद्भा जगत्सैव नैकतात्र न च द्विता ॥ ५८
 न च प्रतिघता काश्चिन्न चाप्रतिघरूपता ।
 सर्वमप्रतिघं दृश्यं यथा भूतार्थदर्शनः ॥ ५९
 तज्जतातज्जते चेह न सती नाप्यसत्स्थिती ।
 सत्ये सदसती चैकं काष्ठमौनमतोऽखिलम् ॥ ६०
 यद्दृश्यं ब्रह्मतानन्तं तदेव परमं पदम् ।
 इदं सर्वं परं ब्रह्ममात्रमित्येव संस्थितम् ॥ ६१

स्मिन् । एकारलोपश्छान्दसः । नैव वेत्यत्रोपपत्तिमाह—चेति-
 तमिति ॥ ५१ ॥ अतश्चितो द्वैतस्त्वात्सत्त्वसाक्षिण्याः स्वस्तिक्लेशः
 सदैवेत्यर्थः । अदुःखं जीवनं हि सर्वाभिलषितं सुखं तच्च
 चिन्मात्रमेवेति तदेव परपुरुषार्थ इत्याह—चिन्मात्रेति ॥ ५२ ॥
 वाच्यं रूपं वाचकनामसहितं सर्वं यत्र यस्यां तत्त्वदृष्टौ ॥ ५३ ॥
 ननु शरीराद्येव दुःखमस्तीत्याद्यज्ञाह—आवर्तादीति ॥ ५४ ॥
 कारणानन्यत्वात्सर्वकारणखात्मकमेव । अप्रतिघमनघम् ॥ ५५ ॥
 यत्सुघनं व्यग्रं द्रव्यं सप्रतिघं च स्थितं तदेवाश्चर्यम् । यथा
 इते अतीते भूतेः प्रतीतेः भूः विषयो नास्ति तथा वर्तमानेऽपि
 अनुभूतो भवतीत्यनुभूतिभूर्विषयो नास्ति ॥ ५६ ॥ तत्र वर्त-
 मानानुभूतौ अयं स्वात्मा शून्यात्मैव दृश्यपिशाचो भूत्वा भा-
 तीति बुध्यताम् । यथा एतत्परिदृश्यमानं खं तथा एतच्चिदाका-
 शरूपं खम् । यत् एतच्चिदाकाशमेव खमिति प्रतीतं खं शून्यं
 भूत्वा स्थितम् ॥ ५७ ॥ तथा इतः अधःप्रदेशे भूः इतः प्रदे-
 शान्तरे वाय्वाकाशादिभूतं इतः दिक्षु विदिक्षु वाग्यदिस-
 नेकाकारः परं खमेव भाति नाग्यदिस्यर्थः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥
 पूर्णदृष्टौ ज्ञताज्ञतामेदोप्यपेतीत्याह—तज्जतेति ॥ ६० ॥ एवं च

इदं नामैव विद्यासुः क्वचत्येवं यदात्मनि ।
 यस्येदं कचनं न्योन्नो रूपमप्रतिभं जगत् ॥ ६२ ॥
 सर्गाद्या वृत्तजीवानां सर्ववैवाकुलेभ्युले ।
 असंख्याः सन्त्यसंख्यानामदस्याप्रतिघामिभ्यः ॥ ६३ ॥
 अन्योन्यं सिद्धलोकास्ते स्वं यत्र प्राप्य संगताः ।
 परस्परं न पश्यन्ति मिथः प्रोता अपि स्थिताः ॥ ६४ ॥
 भवत्याकाश एवैषा दृश्यश्रीर्गगनात्मिका ।
 अनन्यदृष्टा चिद्रूपा स्वप्रवत्स्वात्मद्रष्टुका ॥ ६५ ॥
 एषा हि संपरिज्ञाता तिष्ठत्यपि यथास्थितम् ।
 मामाभरूपनिर्वाणा निशास्ताऽप्रतिभाकृतिः ॥ ६६ ॥
 इ० वा० महाराजयणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० वा० विपश्चित्संसारभ्रमवर्णनं नामैकोनषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १५९ ॥

शान्तारोषविशेषात्म यथास्थितमवस्थितम् ।
 सदसद्वा जगज्जाळं परिक्लामेन शाम्यति ॥ ६७ ॥
 यथाग्निजलविन्दूनां क्षयेविशेषसंगमम् ।
 चिदणूनां तथा ब्रह्म वारिधौ स्फुरतां मिथः ॥ ६८ ॥
 स्वप्रवद्भाति सर्गश्रीः सर्गादौ विघ्नसोमयी ।
 अतः सर्वमिदं ब्रह्म शान्तमित्युपपद्यते ॥ ६९ ॥
 दृष्टान्यनन्तविभवानि मया जगन्ति
 मुक्तानि कार्यपरिणामविजृम्भितानि ।
 भ्रान्ता दिशो दश बहूनि युगानि याव-
 ज्ञानादृते क्षयमुपैति न दृश्यदोषः ॥ ७० ॥

षष्ठ्यधिकशततमः सर्गः १६०

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 विपश्चिति वदत्येवं तद्दृष्टान्तमवेक्षितुम् ।
 इष लोकान्तरं भातुः पादैर्दूरायतेर्ययौ ॥ १ ॥
 उद्भूतपुरयन्तारा दिनपर्यन्तदुन्दुभिः ।
 तुष्टामिरिव निर्मुक्तो दिग्भिर्जयजयारवः ॥ २ ॥
 विपश्चिते दृष्टारयो गृहदारभनादिकम् ।
 राज्यानुसुपं विषयं प्रोक्तस्यौ करुणयन्कमात् ॥ ३ ॥
 सज्जराभवसिद्धाद्या मिथः कृत्वा विसर्जनम् ।
 यथाक्रमं पूजनं च प्रययुः स्वास्पदानि ते ॥ ४ ॥
 ज्ञात्वा भुक्त्वा निशां नीत्वा प्रभाते पुनराययुः ।
 तेनैव संनिवेशेन सा सभा संस्थिताऽभवत् ॥ ५ ॥

इदं सर्वं ब्रह्मतयैव संपन्नमित्याह—यदिति ॥ ६१ ॥ ६२ ॥
 सर्वत्र सर्गाः सन्तीत्याह—सर्गाद्या इति । इदं च प्राग्बसिष्ठेन
 विस्तरणोपपादितम् ॥ ६३ ॥ उत्तरोत्तरं सूक्ष्मतराः सिद्धलोकाः
 स्वं स्वरूपं प्राप्य यत्र ब्रह्मणि संगताः । एतच्च गृहदारभ्यके
 गर्गाप्रश्ने वर्णितम् 'यदिदं सर्वमप्सोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्
 खल्वाप ओताच्च प्रोताथेति वायौ गर्गाति कस्मिन् जल वा-
 युरोतच्च प्रोतथेत्यन्तरिक्षलोकेषु गर्गाति' इत्यादिना ॥ ६४ ॥
 वस्तुतस्तु आत्मातिरिक्तद्रष्टृत्वमेवाप्रसिद्धमित्याशयेनाह—भ्र-
 वतीति । यत इयं दृश्यश्रीरात्माकाश एव भवति ततः अनन्य-
 दृष्टा ॥ ६५ ॥ चिद्रूपगनात्मकत्वादेव परिज्ञातमात्रा तदाकृतिः
 संपद्यत इत्याह—एषा हीति । निशाया अन्ते प्रभाते अप्र-
 तिभाया अन्वकारस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्याः ॥ ६६ ॥ यथास्थितं
 चेच्छान्तारोषविशेषात्मकमवस्थितं तदाज्ञानवाप्यं जगत् सद-
 सद्वाऽस्तु न कश्चित्क्षतिरित्याह—शान्तेति ॥ ६७ ॥ अ-
 स्त्विदं जगज्जाळं तन्निबद्धजीवानां ब्रह्मणि कीदृशी स्थितिस्ता-
 माह—यथेति । यावदज्ञानसंघातिभावेनेत्यर्थः ॥ ६८ ॥ तेषां
 सर्गादौ सर्गश्रीः कथं भाति तदाह—स्वप्रवदिति ॥ ६९ ॥ मया
 अनन्तविभवानि जगन्ति दृष्टानि । कस्यांयां स्वकर्मणां परिणय-

कमान्मुनिरुवाचाय तां यथाप्रस्तुतां कथाम् ।
 शशीवामृतमाहादमुद्गिरन्मुक्तदीप्तिभिः ॥ ६ ॥
 राजभेयमविद्येयमसत्येव सती स्थिता ।
 नेदशेनापि यत्नेन निर्णीतेषा विपश्चिता ॥ ७ ॥
 अविद्येवमविज्ञाता चिरानन्तायभासते ।
 परिज्ञाता तु नास्त्येव सृगदृष्णानदी यथा ॥ ८ ॥
 मन्त्रिणस्ते महाबुद्धे भासस्यास्य विपश्चितः ।
 इतिवृत्तं त्वमित्यस्य स्वयमेव हि दृष्टवान् ॥ ९ ॥
 सदृशोऽयमितस्त्वामिः कथामिर्ज्ञाततत्पदः ।
 अविद्यायां प्रशान्तायां जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ १० ॥

विजृम्भितानि सुखदुःखफलानि मुक्तानि । बहूनि युगानि दिशो
 भ्रान्ताः । यावत् साकल्येन । ज्ञानादृते दृश्यदोषः क्षयं नोपैतीत्यर्थः
 ॥ ७० ॥ इति श्रीवासि० ता० प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विप-
 शित्संसारभ्रमवर्णनं नामैकोनषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १५९ ॥

इह सायं समोत्थानं परेषुः पुनरागतम् ।

भासस्य जीवन्मुक्तत्वमविद्या चोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

भुतं तस्य भासस्य पूर्ववृत्तान्तं प्रत्यक्षमवेक्षितुमिव पादैः
 किरणचरणैः ॥ १ ॥ आद्या दिशः । दिनपर्यन्तः सायंकाल-
 स्तत्सूचको दुन्दुभिः । तुष्टामिरिति तत्रोत्प्रेक्षा ॥ २ ॥ कल्प-
 यन् समर्थयन् ॥ ३ ॥ स्वास्पदानि स्वस्वगृहाणि ॥ ४ ॥ तेन
 प्राकनेनैव संनिवेशेन कमेण ॥ ५ ॥ शशी अमृतमिव मुक्त-
 दीप्तिभिराहादयतीत्याहादं वचनमुद्गिरन् ॥ ६ ॥ एवं विप-
 शिद्रुपवर्णनप्रकारैर्दृश्यभ्रान्तिरूपा अविद्या न निर्णीता अन्तवत्त-
 येत्यर्थः ॥ ७ ॥ अविद्याप्रकृत्याप्रतया अविज्ञाता सती काक-
 धिरादेशतो वस्तुतश्चानन्ता ॥ ८ ॥ ते मन्त्रिणो दृष्टवन्त इति
 विपरिणामेनापकृष्यते ॥ ९ ॥ इतः परमाभिः कथामिर्ज्ञाततत्त्वो-
 ऽयमविद्यायां प्रशान्तायां सत्यां युष्माभिः सदृशो जीवन्मुक्तो

अविद्येति धृता संविद्ब्रह्मणात्मनि सत्तया ।
 तद्भ्रमेणासद्व्यवस्थाः सद्रूपमिव लक्ष्यते ॥ ११ ॥
 यदा ब्रह्मात्मिकैवेयमविद्या नैतरात्मिका ।
 तदास्वेषाऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न भिद्यते ॥ १२ ॥
 अविद्यैवमनन्तेयं नानाप्रसवशालिनी ।
 जडा हृद्या रसमयी मोहमाधवमञ्जरी ॥ १३ ॥
 अन्तश्शून्या प्रन्थिमती ऋक्षणा स्वङ्कुरकण्टका ।
 जडा रसमयी दीर्घा लतेव वनवैणवी ॥ १४ ॥
 फलाशङ्का मुधैवातिनिष्फला चित्तहारिणी ।
 अकालपुष्पमालेव श्रेयसा नाभिनन्दिता ॥ १५ ॥
 न किञ्चिद्रूपिणी पीना नानामुधनपूरिणी ।
 भूताकुला निरालोका सुदीर्घेव तमोमयी ॥ १६ ॥
 केशोण्ड्रकभ्रान्तिरिष विचित्रप्रन्थिवेष्टना ।
 मिथ्यैव दृश्यमाना खेऽदृश्यमाना न किञ्चन ॥ १७ ॥
 विचित्रवर्णा विगुणा शून्ये च वितताकृतिः ।
 जडस्पन्दोत्पातमयी शक्रचापलतेव खे ॥ १८ ॥
 जडकलोलबहुला कलुषोल्लासफेनिला ।
 चक्रावर्ताक्षयमयी प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ १९ ॥
 अनारतवहच्छून्यजगन्मृगनदीशता ।
 रजोराशिमयी रूक्षा शवभूरिव दुर्भगा ॥ २० ॥
 अन्तं प्राप्नोति न यथा चिरं स्वप्नपुरे चरन् ।
 जाग्रदाख्ये स्वप्नपुरे तथैवास्मिन्निश्चरन् ॥ २१ ॥
 यानि संकल्पजालानि प्रतिष्ठायागतान्यलम् ।
 त्यक्तैकदृश्यजालस्थवेदानां दृढचेतसाम् ॥ २२ ॥
 स्थितानि तानि चिद्योम कोशरज्जान्वसंकटम् ।

अविद्येति ॥ १० ॥ ब्रह्मणा यद्यस्मादविद्येति संविद्धृता
 तत्तस्माद्भ्रमेणैवास्या असदपि रूपं सद्रूपमिव लक्ष्यते ॥ ११ ॥
 इत्थं चास्या ब्रह्मातिरिक्तस्वरूपाभावाद्यावदपरिज्ञानं सत्ता, परि-
 ज्ञानमात्रेण निवृत्तिरूपपद्यत इत्याह—यद्येति ॥ १२ ॥ तामे-
 वाविद्यां वर्णयति—अविद्येत्यादिना । सर्वत्र विशेषणान्युभयत्र
 योज्यानि । रसमयी आसक्तिकरी । मोहलक्षणे माधवे वसन्ते
 प्रफुल्ला मञ्जरी ॥ १३ ॥ आपातदृष्ट्या ऋक्षणा अनुभवकाले तु
 स्वङ्कुराः सर्वे कण्टका यस्याः । वनवैणवी जाता वनवैणवी क्ता
 शाखेव ॥ १४ ॥ मुधैव फलमस्तीत्याशङ्का यस्याम् । श्रेयसा
 प्रशास्यतरेणाभिज्ञनेन नाभिनन्दिता औत्पासिकी अकाल-
 पुष्पमालेव ॥ १५ ॥ भूतैः प्राणिभिः पिशाचैश्चाकुला । तमो-
 मयी रात्रिरिव ॥ १६ ॥ १७ ॥ विगुणा गुणहीना ज्याहीना
 च । शक्रचापलतापक्षे जडस्पन्दो जलस्पन्दो वृष्टिस्तस्योत्पाताः
 सूक्ष्मा विह्वलाः सूर्यकिरणास्तन्मयी ॥ १८ ॥ १९ ॥ शवभूः
 स्वप्नानभूमिरिव ॥ २० ॥ चरन् अमन् ॥ २१ ॥ त्यक्ता
 एकत्र दृश्यजाले प्रपञ्चे स्थिता देहा यैस्तथाविधानां जीवानां
 मरणकाले एतज्जगदाकारदृढचेतसां दृढीभूतानि यानि संक-
 ल्पजालानि तान्येवैतज्जगद्देहायाकारेण प्रतिष्ठां स्थितिमागतानि
 यो० वा० १८२

विमानपुरभूम्यादिरूपेणेत्यं स्थितात्मना ॥ २३ ॥
 तान्येव सिद्धसद्धानि व्योम्नि भावित परस्परम् ।
 अदृष्टान्यन्धसंख्यानि सूपलब्धान्यसन्त्यपि ॥ २४ ॥
 सुवर्णमणिमाणिक्यमुक्तावनिमयानि च ।
 भक्ष्यभोज्यान्नपानाख्यरसायनसरांसि च ॥ २५ ॥
 मधुमद्यदधिकीरघृतकुल्याकुलानि च ।
 रसायनमयाकारवनितावलितानि च ॥ २६ ॥
 सर्वर्तुपुष्पफलपल्लवपूरवन्ति
 लीलाविलोलललनाकुलितालयाणि ।
 संकल्पमात्ररचनेन च सर्वकालं
 संपन्नसर्वविभवोत्करसंकुलानि ॥ २७ ॥
 सहस्रचन्द्रबिम्बानि शतसूर्याणि कानिचित् ।
 सुवर्णामृतवेषाम्बुमयभूतानि कानिचित् ॥ २८ ॥
 खेच्छातमःप्रकाशानि नित्यानन्दमयानि च ।
 कानिचिन्नीयमानानि तनुतूललघूनि च ॥ २९ ॥
 क्षणोत्पत्तिविनाशानि कानिचित्कलनावशात् ।
 अनन्तस्वप्नपानानि निर्जरामरणानि च ॥ ३० ॥
 विचित्रसंनिवेशानि विचित्रविभवानि च ।
 सर्वर्तुगुणरम्याणि सर्वकाममयानि च ॥ ३१ ॥
 तानि संकल्पजालानि किल कल्याणकारतः ।
 स्थिराणां मनसां भित्तिः कथमेवं भवेत्तु सा ॥ ३२ ॥
 नान्यत्किञ्चन नामेह ब्रह्ममात्रमयात्मनि ।
 संभवत्यङ्ग तेनैतदुच्यतामस्तु किमयम् ॥ ३३ ॥
 सर्गादावेव सर्गादि किञ्चनापीदमस्ति नो ।
 कारणाभावतस्तेन जगत्किमयमस्तिचदम् ॥ ३४ ॥

॥ २२ ॥ २३ ॥ अदृष्टान्यपि सन्ति । सूपलब्धानि
 सम्यग्दृष्टान्यपि असन्ति । सिद्धसद्धानि सिद्धलोकाः ॥ २४ ॥
 तानि सिद्धसद्धान्येव वर्णयति—सुवर्णेत्यादिना ॥ २५ ॥
 रसायनं चन्द्रस्तन्मयाकारवनिताभिर्वलितानि ॥ २६ ॥
 सर्वर्तुषु प्रसिद्धपुष्पफलपल्लवनदीप्रवाहादिमन्ति । संकल्पेति ।
 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेनास्य पितरः समुत्तिष्ठ-
 न्ते तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
 ॥ २७ ॥ सुवर्णमिवामृतमिव वेषा येषां तथाविधान्यम्बुमयानि
 च भूतानि येषु ॥ २८ ॥ वायुना यथाभिलषितदेशं नीयमा-
 नानि ॥ २९ ॥ उत्पत्तिविनाशाविच्छया दर्शनादर्शने ॥ ३० ॥
 ॥ ३१ ॥ कल्याणकारतः शास्त्रीयसत्कर्मोपासनातस्तत्फलाका-
 राणां तत्तल्लोकतद्भोग्याकारेण स्थिराणां तन्मनसां परिणसिः ।
 सा तु एवंविधा स्थूला भित्तिः कथं भवेत् ॥ ३२ ॥ मनःपरिणा-
 मास्तु मनोरथादौ विन्मात्रसत्ताका एव दृष्टा इति ब्रह्ममात्रमया-
 त्मनि जगति सति एतन्मदुक्तं सर्वं सोपपत्तिकं संभवति । हे अहम्,
 प्रकारान्तरमस्ति चेदिदं जगत्किमयं तदुच्यतां वादिभिरित्यर्थः
 ॥ ३३ ॥ यद्यपीदानीं भूतमयं भौतिकमित्युत्प्रेक्षितुं संकथं

संकल्प्यन्ते निरस्तानि किल तानि यथा यथा ।
चित्तौ तथा तथा भ्रान्ति केषाञ्च वद चित्रता ॥ ३५
इदानीमपि हे साधो त्वमप्यन्येऽपि केऽपि वा ।
तीव्रसंवेगसंकल्पनगराण्येवमेव खे ॥ ३६
कुर्वन्त्येकरसाभ्यासाद्यदि नाम बहच्छया ।
तत्तानीदं वपुस्त्यक्त्वा प्राप्नुवन्त्यचिरेण खे ॥ ३७
यस्त्विदं कल्पितं च द्वे वस्तुनी अनुवर्तते ।
स्वर्गादिवद्वामोति प्राप्नोत्येवैकमेकधीः ॥ ३८
सिद्धाः सदा विभ्रान्त्येवं यथान्तःकल्पनावशात् ।
नरकादीनि दुःखानि तथैवाभ्रान्ति कल्पनात् ॥ ३९
यद्यत्संवेद्यते किञ्चित्तत्तथाप्यनुभूयते ।
सति वाऽसति देहेऽस्मिन्वेह एव मनोमयः ॥ ४०
जीवस्त्यजति यद्भावे एकां देहमयीं धियम् ।
तद्भावैकमयीमन्यामाशु तत्रैव पश्यति ॥ ४१
शुभा संविच्छुभाँल्लोकान्संपश्यत्यशुभाऽशुभान् ।
आत्मिका आत्मकानेव चिरं वानुभवत्यपि ॥ ४२
शुद्धा सिद्धपुराण्येव पश्यत्यनुभवत्यपि ।
चिदशुद्धानि रूपाणि दुःखानि नरकेष्वति ॥ ४३
घूर्णत्पाषाणयमलगिरिचक्रकपेषणम् ।
तत्रान्धकूपपतनं पुनरुद्धारवर्जितम् ॥ ४४

तथापि सर्गादिकाले 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुतेर्नान्यत्कारणं संभावयितुं शक्यमित्यकारणं अगदब्रह्मत्वे अत्यन्तासदेवेत्याह—सर्गादावेवेति ॥ ३४ ॥ यद्यत्यन्तासन्ति तर्हि कथं जगन्ति भ्रान्ति तत्राह—संकल्प्यन्त इति । अत्यन्तासतामपि शशशृङ्गखपुष्पादीनां संकल्पने भानदर्शनादिति भावः ॥ ३५ ॥ तर्ह्यस्त्संकल्पादेवैन्ध्यत्वं कृत इति चेत्तीव्रसंवेगत्वाभावादेव । तीव्रसंवेगेन तु त्वं वा अन्येऽपि केऽपि वा खेऽपि नगराणि कुर्वन्त्येव । तानि चैकरसाभ्यासादेन्दवन्यायेन प्राप्नुवन्ति चेत्याह—इदानीमिति द्वाभ्याम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ इदं पूर्वसिद्धमुपासनादिना स्वकल्पितं चेति द्वे प्रपञ्चे दृढसंकल्पेनावश्यमस्त्येवेति बुद्ध्या योऽनुवर्तते स पुरुषो यथा यज्ञादिकारी स्वर्गाद्यवश्यमाप्नोति तथा क्रमेण द्वे अप्यवाप्नोति । यस्त्वनयोरेकं सत्यमिति दृढधीः स एकमेवाप्नोतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ सिद्धलोकेषूक्तो न्यायो नरकादिपापफलकल्पनास्तपि समान इत्याह—सिद्धा इति । एतावाँस्तु विशेषः—उपासनाफलं यत्नेन तत्सत्यतादृढाभ्यासे सत्येव भवति । पुण्यफलं त्वास्तिक्यानुष्ठानयोः सतीर्षनापि तदभ्यासं सत्यमित्येव दृढं भवति । पापफलं तु आस्तिक्याभ्यासयोरभावेऽपि पापाचरणमात्रेण सत्यमित्येव दृढकल्पनं भवतीति भावः ॥ ३९ ॥ संवेदानुसारित्वं तु सर्वत्र समानमित्याह—यद्यदिति । देह एव । कात्वे एवकारः । सर्वोऽपि देह इत्यर्थः ॥ ४० ॥ अत एव

दारुणेनातिशीतेन देहं पाषाणतां गतम् ।
भूताङ्गारमयान्तमरुमार्गास्पर्शं वपुः ॥ ४५
पूताङ्गारमयाम्मोदसरदङ्गारवर्षणम् ।
तप्तनाराचनिकरपरुषासारदारुणम् ॥ ४६
बहत्पाषाणचक्रासिसरिदाकाशसंचरम् ।
वक्षोमुकाम्बुदाकारकुठाराघातमेदनम् ॥ ४७
तप्तायःपरुषाश्लेषच्छमिच्छमितिमज्जनम् ।
बृहत्कटकटाशब्दशस्त्रयन्निपीडनम् ॥ ४८
चक्रवज्रगदाप्रासशूलासिशरवर्षणम् ।
शाल्मलीप्रहणं पाशं कुशकिशततोदनम् ॥ ४९
तप्तसैकतसंभारपातपातालमज्जनम् ।
दीपच्छन्नानलभयं बृहद्वायसचर्षणम् ॥ ५०
निर्निर्गमाकृशाङ्गारमहाङ्गारप्रवेशनम् ।
शरशक्तिगदाप्रासमुशुण्डीचक्रवेधनम् ॥ ५१
क्षुत्क्षोभपरुषप्रेतत्रातान्योन्याङ्गवर्षणम् ।
तालोत्तालातिपरुषशिलातलनिपातनम् ॥ ५२
रुधिरामेध्यपङ्काङ्कूपयनघादिसंकटम् ।
शिलाशस्त्रमयाश्वेभपादपाषाणपेषणम् ॥ ५३
श्वभ्राभोलूकलिखितं जनौघमुसलाहतम् ।
शिरःकरखुरस्कन्धखण्डोत्कृष्टमण्डलम् ॥ ५४

मनोनुसारेणैवैकं देहं त्यक्त्वा अपरं देहं जीवो वृद्धातीत्याह—जीव इति । तत्रैवाकाशे ॥ ४१ ॥ शुभा कृतपुण्या । अशुभा कृतपापा जीवसंविद् ॥ ४२ ॥ या तु कर्मोपासनशुद्धा सा सूक्ष्मतमानि सिद्धपुराण्येव परेषां पश्यति स्वान्यनुभवत्यपि । अति दुःखानि पश्यत्यनुभवत्यपि ॥ ४३ ॥ नरके यानि पश्यत्यनुभवति च तानि प्रपञ्चयति—घूर्णदित्यादिना । घूर्णत्पाषाणे ये यमलगिरिचक्रके गिरिद्वयचक्रके गोधूमपेषणपाषाणयन्त्राकारे ताभ्यां पेषणम् । तत्र नरके ॥ ४४ ॥ भूतैः पिशाचैरशरैश्च प्रचुरः अनन्तो यो मरुर्निर्जलो मार्गस्तदास्पदं तत्र पान्थभूतं स्वं परं वपुः ॥ ४५ ॥ पूता निरस्तमस्तानो येऽङ्गारास्तन्मयाम्मोदेभ्यः सरतां पततामङ्गाराणां वर्षणम् ॥ ४६ ॥ बहन्त्यः पाषाणादिसरितो यत्र तथादिवे आकाशे संचरं संचारम् । वक्षःसु मुक्तानां पातितानामम्बुदाकारकुठाराणामाघातेन वक्षोभेदनम् । बृहद्वायामुक्तानामिति पाठान्तरे विग्रहः ॥ ४७ ॥ तप्तायःसूर्मिद्वयशरीरानामाश्लेषं सशब्दं मज्जनं च ॥ ४८ ॥ शाल्मल्याः सकष्टकाया प्रहणमाश्लेषणम् ॥ ४९ ॥ दीपवेधेण प्रच्छन्नो य उल्कानलस्त्रास्त्रयम् । बृहद्भिर्वायसैश्चर्षणं तोदनम् ॥ ५० ॥ ५१ ॥ तालादप्युत्तालादुन्नतप्रदेशादतिपरुषशिलातलेषु निपातनम् ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ श्वभ्राभेषु देशेषूल्कैर्लिखितं देहविदारणम् । शिरःकरपादादीनां खण्डनं खण्डस्तत्रोत्कृष्टमुत्कृष्टं गुध्रमण्डलं

एतस्मात्कुक्कुतादेतत्फलमित्येव भावनात् ।
पश्यत्येवंदेहाद्दृष्टादविसंवादिविस्तृतः ॥
यस्मान् किञ्चन कदाचन चेतनं खे
भातं न भातमथवा यदपूर्वमेव ।

५५

तत्कल्पनाद्भवति तन्मयमेव तद्धि
तस्माच्चिरं च चलतीति यदृच्छयैव ॥ ५६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० स्वर्गनरकोपलम्भवर्णनं नाम षष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६१

श्रीराम उवाच ।

यन्मुनिव्याधयोरेतद्दृष्टं नानादशाशतम् ।
अन्यकारणकं किं स्यादेतत्किं वा स्वभावजम् ॥ १

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ईदृशाः प्रतिभावताः परमात्ममहाम्बुधौ ।
अनारतं प्रवर्तन्ते स्वतः स्वात्मनि स्वात्मकाः ॥ २

यथा स्पन्दात्मनो वायोरजस्रं स्पन्दलेखिकाः ।
उद्यन्त्येव सतश्चित्वाचिद्बोधि प्रतिभायुताः ॥ ३

या यथा स्वाङ्गभूतास्सादुदिता प्रतिभा प्रभा ।
तावत्सेह तथैवास्ते न हता यावदन्यथा ॥ ४

नानावयववानेक एवेहावयवी यथा ।
चिद्ब्रह्मैकमिदं व्योम तथैवं प्रतिभात्मकम् ॥ ५

ब्रह्म काश्चित्स्थिराः काश्चिदस्थिराः प्रतिभार्थवत् ।
देहावस्था इवात्मस्थाः स्थितमात्मनि स्वात्मनि ॥ ६

स्वात्मनि स्वप्नपुरवद्भ्रानं चिति चमत्कृतिः ।

किं सारं किमसारं वा किं सत्किं वाप्यसद्भवेत् ॥ ७

परिज्ञातमिदं यावत्सर्वं चिद्बोममात्रकम् ।
दृश्यं जगद्भुवद्भुवं न सन्नासत्किमुच्यते ॥ ८

चिद्बोममात्रकचनं संसारे सर्वतः शिवे ।
आस्थानास्थादि किं तज्ज्ञा यथासंस्थानमास्थित ॥ ९

समुद्यन्ति स्वतोऽम्भोधेर्वाचिवत्प्रतिभाकृताः ।
स्वात्मिकाः स्वात्मनो देवात्कार्यकारणहृत्तया ॥ १०

स्फारं यत्परमं व्योमः स्वसंकल्पस्वसर्गवत् ।
तत्तेनैव जगद्भुवं कुतः पृथ्व्यादयोऽत्र के ॥ ११

भात्येवमयमाभासो नैव भाति च किञ्चन ।
ब्रह्मण्येव स्थितं ब्रह्म तदविद्याभिधं स्वतः ॥ १२

घनता चिद्ब्रह्मेनेह चिद्बोमैवाखिलं जगत् ।
इत्येव परमो बोध एतत्प्रौढिस्तु मुक्तता ॥ १३

चिद्बोमशून्यतारूपमात्रमाभास आततः ।
इदमप्रतिघं शान्तं जगदित्येव भासते ॥ १४

यत्र ॥ ५४ ॥ भावनाच्छाकृतो निर्णयात्प्राग्बहुश एवंविषदे-
शेष्वनुभवेन दृढात् । स्वात्मैव तत्तन्नरकार्मना विस्तृतः सञ्चि-
त्यर्थः ॥ ५५ ॥ उक्तं संगृह्योपसंहरति—यस्मान्मेति । यस्मान्
किञ्चन चेतनदेहादि कदाचन खे चित्ताकाशे भातम्, अथवा
भाविनोऽपि स्वप्ने दर्शनात् भातम्, वा अपूर्वमेव यत् तदपि
संकल्पभ्रान्तिरूपात्कल्पनाद्भाति । तत्सर्वं तन्मयं मनोमयमेव ।
तस्माद्भावाच्च चिरमनुभूतायदृच्छयैव चलति न प्रयत्नशतैर-
पीति सिद्धमित्यर्थः ॥ ५६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वर्गनरकोपलम्भवर्णनं
नाम षष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६० ॥

अनन्यकारणं चित्रं चिन्मात्रप्रतिभात्मकम् ।

अबोभाजगदाभाति बोधे ब्रह्मेति वर्ण्यते ॥ १ ॥

मुनिव्याधयोरेतद्भासवर्णितं सुखदुःखादिवशात्तं नदृष्टं
सत्किं प्रत्यहं दृश्यमानस्वप्रादिवदनन्यकारणकं किं वा लक्षणग-
धिप्रसृतीनां चण्डालभावादिकर्मैन्द्रजालिकभगवद्गरादिनिमित्ता-
दिव निमित्तान्तरस्वभावजमिति रामप्रश्नार्थः ॥ १ ॥ तत्र
निमित्तान्तरमस्तु मा वा । अज्ञातात्मनि यावन्भोक्षमीदृशा
भ्रमाः सदैव प्रवर्तन्ते इति वसिष्ठ उत्तरमाह—ईदृशा इत्या-
दिना ॥ २ ॥ यथा अज्ञानादिनिमित्तान्तरे सत्यसति च ज्ञाना-

बलप्राप्तयः स्पन्दलेखिकाः स्पन्दलवाः सदैवोद्यन्ति तद्दृदि-
त्यर्थः । प्रतिभा अर्थाकारप्रथा ॥ ३ ॥ अन्यया आकारान्तर-
प्रतिभया यावन्न हता न विनाशिता । यथा मृदः पिण्डाद्या-
कारो घटाद्याकारान्तरपरिणतिविनाश्यस्तद्वदिति भावः ॥ ४ ॥
तेषु चानन्तेषु प्रतिभासेष्वधिष्ठानसन्मात्रात्मकं ब्रह्म शाखादिषु
वृक्ष इवानुगतं तिष्ठतीत्याह—जानेति ॥ ५ ॥ तत्र काश्चिद्भ्रम्यन्त-
रिक्षदिगाद्यवस्थाश्चिरकालावस्थानातिस्थिराः । अन्या अस्थिराः
अल्पकालस्थानिन्यः । यथा देहस्य पिण्डहृत्स्वपादाद्याकारावस्था
निमेषोन्मेषाद्यवस्थाश्चेत्यर्थः ॥ ६ ॥ ताषु सारासारत्वादिप्रहो
वृथैव मूढानामित्याह—स्वात्मनीति ॥ ७ ॥ यावद्यदा भवद्भिरङ्गे-
र्बुद्धं तु ॥ ८ ॥ यथासंस्थानं यथास्थितं स्वरूपमात्मन्व्य आ-
स्थित तिष्ठत । छान्दसस्तिङ्ग्यत्ययः ॥ ९ ॥ स्वतः स्वात्मनः
सकाशात् कार्यकारणहृत्तया प्रतिभाकृताः प्रतिभाकाराः समु-
द्यन्ति ॥ १० ॥ यत्स्वसंकल्पवत्स्वसर्गवच्च स्फारं प्रतिभानं
तदेव तेन जगदिति बुद्धम् ॥ ११ ॥ तज्जगत् । स्वतः न
कारणान्तरतः ॥ १२ ॥ इह चिद्ब्रह्मेनैव घनता नान्येन पृथ्व्या-
दिरूपेण । प्रौढिर्भूमिकाभ्यासेन दृढीभावः ॥ १३ ॥ दृग्भ्य-
ताया आकाशताया रूपं नैत्यमिव स्थितमज्ञानमालम्ब्येति

ध्यायिनः क्षीणदेहस्य ध्याने दृक्त्वे क्षणं स्थिते ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण शक्तत्वं स्यात्किमुच्यताम् ॥ १५ ॥
 चिद्भानुष्योमभागो यो भाति यत्र यथा यथा ।
 तथा तथा स तत्रास्ते यावदित्यं स्वभावतः ॥ १६ ॥
 अविचारवतो दृश्यभ्रान्तिर्गगनमर्थ्यपि ।
 जातितैमिरिकद्वीन्दुदोषबन्धोपशाम्यति ॥ १७ ॥
 यदिदं दृश्यते किञ्चित्तद्ब्रह्मैव निरामयम् ।
 चिदाकाशमनाद्यन्तं तत्कथं किं प्रशाम्यति ॥ १८ ॥
 स्वमसन्त्यजतो रूपं स्वच्छसंवेदनात्मकम् ।
 स्वप्रवृत्तचनं स्वस्य यन्नाम तदिदं जगत् ॥ १९ ॥
 शास्त्रार्थैस्तीक्ष्णया बुद्ध्या मिथो यन्न विकल्पनैः ।
 कृत्वा सुप्तमिवात्मानं किञ्चिद्बुद्धेन बोध्यते ॥ २० ॥
 कदा येयमविद्येति संविद्व्यभिचारिणी ।
 भवतां ननु नास्त्येव सा सरित्स्व पांसुभूः ॥ २१ ॥
 यथा स्वप्नेऽवनिर्नास्ति स्वानुभूतापि कुत्रचित् ।
 तथेयं दृश्यता नास्ति स्वानुभूताप्यसन्मयी ॥ २२ ॥
 चिद्योममात्रमेवार्थोऽनलवद्भासते यथा ।
 स्वप्ने तथैव जाग्रद्वेऽनलं स्वस्यैव लक्ष्यते ॥ २३ ॥
 इयं जाग्रदयं स्वप्न इति नास्त्येव भिन्नता ।
 सत्ये वस्तुनि निःशेषसमयोर्यानुभूतितः ॥ २४ ॥
 नैतदेवमिति स्वप्नप्रबोधात्प्रत्ययो यथा ।
 मृतधामुत्र प्रबुद्धस्य जाग्रति प्रत्ययस्तथा ॥ २५ ॥
 कालमल्पमनल्पं च स्वप्नजाग्रदितिही घीः ।

शेषः । आभासो भ्रमः ॥ १४ ॥ एतच्च ध्यायिनामनुभवसि-
 द्धमित्याह—ध्यायिन इति । निर्विकल्पसमाधिप्रतिष्ठया क्षीणदे-
 हस्य उच्छिन्नदेहभावस्य । दृक्त्वे साक्षिचिन्मात्ररूपत्वे । शक्त-
 त्वं जगद्दर्शनसामर्थ्यं किं स्यात् । तस्माद्ज्ञानदृष्टैव तत्सामर्थ्यं
 परिशेषादिति भावः ॥ १५ ॥ तथा च ब्रह्मैवाङ्घ्रितोपाधी
 जगदात्मना भात्यन्यत्र चिन्मात्रस्वभावेनेति व्यवस्थेत्याह—
 चिद्भानुस्त्विति । बोधाबोधस्वभावतः ॥ १६ ॥ जातितैमिरिकस्य
 जन्मप्रसृति तिमिररोगदुष्टचक्षुषः पुरुषस्य ॥ १७ ॥ ब्रह्मभा-
 वापन्नं तु जगन्न नश्यतीत्याह—यदिदमिति ॥ १८ ॥ तथा
 चाज्ञदशायामपि स्वप्नविद्विषर्तमात्रं जगदित्याह—स्वमिति ।
 अविहृतस्यान्यथा प्रतिभासो विवर्त इति तद्व्यभिचारिणी
 भावः ॥ १९ ॥ २० ॥ या भवतां जगदाकारेण कदा सा-
 स्माकं नास्त्येव ॥ २१ ॥ नन्वनुभवः कथमुपलभ्यते तत्राह—
 यद्येति ॥ २२ ॥ रूपाद्यर्थवत्तत्प्रकाशकानलवच्च यथा स्वप्ने
 चिद्योमैव भासते । स्वस्य जाग्रत्साक्षिणः अनलमपूर्णं स्वप्न-
 काशरूपमेव तथा लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥ या भिन्नता भासते
 अनुभूतितः समयोक्तयोः सा नास्त्येवेत्यर्थः ॥ २४ ॥ अमुत्र
 शरीरान्तरे प्रबुद्धस्य गर्भस्थस्य जातिस्मरणस्य जाग्रति प्रसिद्धः
 प्रत्ययोऽपि तथा नैतदेवमिति बाधितो भवतीत्यर्थः ॥ २५ ॥
 कथं तर्ह्यसाम्यप्रत्ययो जनानामिति चेत्स्वल्पव्यवहारवत्त्वान्मा-

वर्तमानानुभवसाम्यासुस्ये तयोर्द्वयोः ॥ २६ ॥
 बाह्ये तदेवमित्यादिगुणसाम्यादशेषतः ।
 न जाग्रत्स्वप्नयोर्ज्यायानेकोऽपि यमयोरिव ॥ २७ ॥
 यदेव जाग्रत्स्वप्नोऽयं यः स्वप्नो जाग्रदेव तत् ।
 नैतदेवं किलेत्यस्ति घीः कालेनोभयोरपि ॥ २८ ॥
 आजीवितान्तं स्वप्नानां शतान्यनियतं यथा ।
 अनिर्वाणमहाबोधे तथा जाग्रच्छतान्यपि ॥ २९ ॥
 उत्पन्नध्वंसिनः स्वप्नाः स्मर्यन्ते बहवो यथा ।
 तथैव बुद्धेः स्मर्यन्ते सिद्धैर्जन्मशतान्यपि ॥ ३० ॥
 एवं समस्तसाधर्म्यं समस्तानुभवमात्मनि ।
 कचति स्वप्नवज्जाग्रत्स्वप्नवत्स्वप्नवेदनम् ॥ ३१ ॥
 यथा दृश्यं जगच्चेति नित्यमेकार्थतां गतौ ।
 उभौ शब्दौ तथैवैतज्जाग्रत्स्वप्नात्मकौ स्मृतौ ॥ ३२ ॥
 एवं स्वप्नपुरं स्फारं यथा व्योमैव चिन्मयम् ।
 तथैवेदं जगद्वतः काविद्या दृश्यते कुतः ॥ ३३ ॥
 तदेवाकाशमात्रात्म यद्यविद्येति कथ्यते ।
 तद्यदास्ते तदेवाहं बन्धः स्वकलनात्मकः ॥ ३४ ॥
 तन्मैवं क्रियतामेतद्वन्धस्यैव बन्धनम् ।
 कान्यता अमलव्योम्नश्चिन्मयस्य निराकृतेः ॥ ३५ ॥
 चिन्मयाकाशकचने कास्मिन्किल निराकृतेः ।
 दृश्यनामन्यविद्याख्ये बन्धो मोक्षोऽथवा कुतः ॥ ३६ ॥
 नाविद्या विद्यते नाम बन्धो बन्धो न कस्यचित् ।
 मोक्षो न कस्यचिन्मोक्षश्चास्तिनास्तीति नास्त्यलम् ॥

नानुभवत इत्याह—कालेति ॥ २६ ॥ न च बाह्ये जाग्रदन्तः
 स्वप्न इति भेदः । स्वप्नोऽपि बाह्ये । तत्स्वाप्नमेव जाग्रद्वदेव सर्व-
 मिति सर्ववस्तुपूभयत्र गुणसाम्यानुभवेन नेकतरज्यायस्त्वमि-
 त्यर्थः ॥ २७ ॥ धीर्नाधधीः ॥ २८ ॥ अनिर्वाणस्य जीवस्य
 महत्त्वबोधे स्थापे ॥ २९ ॥ बुद्धेः प्रबुद्धेः सिद्धैर्जातिस्मरणा-
 नुकूलयोगसिद्धिमद्भिः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ कथं तर्हि नामभेद-
 स्तत्राह—यद्येति ॥ ३२ ॥ स्वप्नसाम्यप्रतिपादनस्य प्रयोजनं
 दर्शयति—एवमिति ॥ ३३ ॥ 'स हि स्वप्नो भूत्वा' इत्यादिभुतो
 स्वप्नशब्देनेवाविद्याशब्देनापि तद्ब्रह्मैव यदि कथ्यते तर्हि न शब्दे
 वयं विषयमाहे किन्तु सर्वभ्रमशान्तौ यदेवास्ते तदेवाहम् ।
 प्राक् स्वकल्पनात्मक एव बन्ध इत्येतावदस्मदभिमतं तच्च सिद्ध-
 मेवेति भावः ॥ ३४ ॥ यदेवं तदा नित्यमुक्तस्यात्मनो बन्ध-
 नभ्रान्तिरेव न कार्येत्याह—तदिति । अमलस्य व्योमो निरा-
 कृतेश्चिन्मयस्य च का अन्यता किं वैलक्षण्यं येन व्योम न वश्यते
 विदात्मा तु बध्यत इति बाधो युक्तिः प्रसरेत् । इयोरप्यमूर्त-
 त्वालेपकत्वसूक्ष्मतमत्वादिना अत्यन्तसाम्यादिति भावः ॥ ३५ ॥
 अस्मिन्दृश्यनामन्यविद्याख्ये चिन्मयाकाशकचने सति स्वप्ने
 वा मोक्षो वा कुतो हेतोः स्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥ यदा अवि-
 नाम न विद्यते तदा बन्धो बन्धो न । तथा मोक्षोपि मोक्षं
 न । नतो ब्रह्मास्तिरिक्तं अस्तिनास्तीति अन्वयव्याप्ययोगवनेव दुर्लभं

नास्त्येव विद्याऽविद्या वा चिदेवेयं कचत्यजा ।
 स एव आकृतिः स्वप्न इव सर्गस्वदेहिनी ॥ ३८
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो बभूवुः ।
 तज्जाग्रत्स्वप्नदृश्यस्य रूपमित्येव निश्चयः ॥ ३९
 सबाह्याभ्यन्तरे दृश्ये शान्तनिद्रस्य यद्रूपः ।
 एकस्य निशि तद्रूपं जाग्रत्स्वप्नदृशामिह ॥ ४०
 विद्धि तद्रूपमेवेदं मेदवेदनमित्यपि ।
 चित्यन्तमागतः कोऽन्यो नाम स्याद्देवदेवने ॥ ४१
 चिद्योमैवामेवबुद्धिश्चिद्योमैव च मेदधीः ।
 द्वैताद्वैते चैकमेव तथा शान्तमखण्डितम् ॥ ४२
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे बाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उ० अ० वि० श० निर्वाणवर्णनं नामैकषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥१६१॥

सदंशो बोधतद्ब्राह्मणमय एव यथा तथा ।
 दृष्टा य एव दृश्यं तद्वैतवेदनमेककम् ॥ ४३
 तद्ब्रह्म खं विदुर्द्वैतमद्वैताद्वैतमेव च ।
 सर्ग एव परं ब्रह्म द्वैतमद्वैतमेव सत् ॥ ४४
 नेति नेति विनिर्णय सर्वतोऽभिभवत्यपि ।
 पश्चात्पश्चात् चिदाकाशे शिलां कृत्वास्तमितम् ॥४५
 यथाक्रमं सुभग यथास्थितस्थिति
 यथोदयं ब्रज पिव भुंक्ष्व भोजय ।
 अनीप्सितं गतमननो निरिङ्गनः
 सुचिन्मये परमपदोपलो भवान् ॥ ४६

द्विषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 चिद्योमार्थतयार्थानां यथास्थितमिदं जगत् ।
 सरूपालोकमननमपि चिद्योम केवलम् ॥ १
 स्वप्नचित्पुररूपत्वादन्वद्यस्मान्न विद्यते ।
 जगत्सस्मान्नमः शान्तं नेह नानास्ति किञ्चन ॥ २
 चिदाभानमनानैव नानेव परिलक्ष्यते ।

मित्यर्थः ॥ ३७ ॥ स्वप्न इव चिदेव सर्गाकारस्वदेहिनी भूत्वा
 कचति ॥ ३८ ॥ मध्ये यन्निर्विषयं संविदः स्वरूपं प्रसिद्धं
 तदेव जाग्रत्स्वप्नप्रसिद्धदृश्यस्य पारमार्थिकं रूपमित्येव निश्चयः
 कार्यः ॥ ३९ ॥ बाह्ये दृश्ये आभ्यन्तरे च दृश्ये इन्द्रियमन-
 स्तद्विकारादौ प्रकाशनाय सदा जागरुकस्य स्वयंज्योतिरात्मनो
 यद्रूपः स्वरूपम् । 'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' इति श्रुतेः ।
 तदेव जाग्रत्स्वप्नदृशां तात्त्विकं रूपमित्यर्थः ॥ ४० ॥ अत एव
 जाग्रत्स्वप्नप्रभेदवेदनमित्यपि कल्पनं तद्रूपं तदुभयसाक्षिरूपमेव
 विद्धि न चिद्देवदेवनम् । यतः अबस्थात्रयानुगतायाः साक्षि-
 चित्तेरन्तमन्यः क आगतो दृष्टवान् यश्चिति मेदं पश्येदित्यर्थः
 ॥ ४१ ॥ तथा सतीति शेषः ॥ ४२ ॥ यथा ब्रह्मणः सच्चिदा-
 नन्दांशेषु सदंशो बोधमयो बोधप्राह्मणमयश्चेत्युभयत्राभिन्नस्यथा
 द्वैतं तद्वेदनं चैककमिति चिदंशोऽप्यभिन्नः । यतो य एव दृष्टा
 दृशां विषयीकृतास्त एव दृश्यमित्युच्यन्ते । न च विषयविषयि-
 भावश्चिदात्मात्म्यातिरिक्तः केनचिजिरूपयितुं शक्यस्तत्तस्मा-
 द्देतोरित्यर्थः ॥ ४३ ॥ एकस्य सद्वस्तुन एव सर्वद्वैतात्मना
 यदा प्रतिभासकदा ब्रह्मैव द्वैताद्वैतमद्वैताभिन्नं च । न तद्यति-
 रिक्तं किञ्चित्सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ तर्हि किं द्वैताद्वैतसमुच्चया-
 त्मकमेव ब्रह्म बोद्धव्यं नेत्याह—नेतीति । पूर्वं 'सर्ग एव परं ब्रह्म
 द्वैतमद्वैतमेव च' इति मूर्तामूर्तप्रपञ्चस्य ब्रह्मरूपतां विनिर्णय पश्चात्
 'नेति नेति' इति सर्वद्वैतनिषेधेन सर्वतः कृतं द्वैतं स्वप्नत्वा अभितो
 भवत्वाविभूतेऽपि इह प्रत्यगात्मनि चिदाकाशे उत्तरोत्तरभूमि-
 काभ्यासेन सैन्धवचमवदानन्दैकरसधनां शिलां कृत्वा आस्यताम्

१ अथ सत् इति पाठः आधुः, तथैव ४४ इमच्छेके षट्-

अनात्मैवात्मनात्मानं स्वप्नाकाशपुरेष्विव ॥ ३
 सर्गादाविव चिद्योम स्वप्नाकाशपुरं जगत् ।
 आभातमेवास्त्यं च नूनं सत्यमिव स्थितम् ॥ ४
 तज्जाह्वातो न मूर्खाणामज्ञाज्ञातो न तद्विद्वान् ।
 विद्यते सर्गशब्दार्थः सत्यास्त्यमयात्मकः ॥ ५

॥४५॥ हे सुभग, एवं सुचिन्मये ब्रह्मणि परमपदोपलभ्यते भ-
 वान् यथाक्रमं स्ववर्णाश्रमोचितक्रममनतिक्रम्य यथास्थितं लोक-
 स्थितिं चानतिक्रम्य यथोदयं स्वविभवानुसारेणानीप्सितं देशं
 विषयं च ब्रज विहर पिव भुंक्ष्व द्विजसुहृद्गर्गभोजय च ।
 'अनीप्सितम्' इति पाठे निरिच्छं यथा स्यात्तथा ॥ ४६ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 निर्वाणवर्णनं नामैकषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६१ ॥

इह द्वैतस्य कृत्वास्त्यं ब्रह्ममात्रवर्णनैः ।

हितोक्तिभिरविद्याया निरास उपपाद्यते ॥ १ ॥

सर्वस्य दृश्यस्य चिद्योमार्थमेव स्फुरणादपि तन्मात्रतापरि-
 शेष इत्याह—चिद्योमेति । अर्थानां विषयाणां बाह्यरूपालो-
 कनेन आन्तरमननेन च सहितं बाह्यमाभ्यन्तरे च दृश्यजातं
 गवायर्थतृणादि गवाद्यात्मने चिद्योमोपभोग्यं चिद्योमैव केवलं
 परिशिष्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥ चिद्योग्यस्य चिन्मात्रपरिशेषत्वं
 केन दृष्टान्तेन साध्यते तत्राह—स्वप्नेति । यस्मादेतोः स्वप्ने
 पुरभोकृत्याश्चित एव पुररूपत्वादन्वद्य विद्यते तस्माज्जाग्रजग-
 दपि नम इव शान्तम् । उक्तानुमाने श्रुतिसंमतिं दर्शयति—
 नेह नानास्ति किञ्चनेति ॥ २ ॥ यदि नाना नास्ति तर्हि किं
 तद्यत्नानेव परिलक्ष्यते तत्राह—चिदाभानमिति । यजाना तद्-
 नात्मैव निःस्वरूपमेव स्वसाक्षिणा भासमानात्मानं स्वं दर्शयति ।
 यथा स्वप्नपुरेष्व्वाकाशपुरेषु यन्धर्ववगरेषु च पदार्थस्तद्वदित्यर्थः
 ॥ ३ ॥ तस्मान्मयेव स्फुटयति—सर्गादाविति । सर्गस्य आद्यौ
 प्रलयकाल इवेदानीमपि जगत् स्वप्नाकाशपुरवत् आभातमेवासत्त्वं
 चेति साम्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ चन्द्रप्रादेशिकत्ववराज्जानानुभव-

तत्पाद 'च' इति तत्पूर्वाधान्तेच आन्तिः सुसंभयम् ।

तज्ज्ञानयोस्तयोरन्तःप्रतिप्रसौ तु यत्स्थितम् ।
 न बोद्धुं न च वक्तुं ते जानीतस्तौ परस्परम् ॥ ६
 स्वबुद्धौ स्वर्गशब्दार्थो मिथोन्तस्तत्किलानयोः ।
 स्थैर्यास्थैर्ये जाग्रतो द्वे अक्षीवक्षीवयोरिव ॥ ७
 द्रवस्थितिमिता यद्वत्सरिद्वारिणि वीचयः ।
 चित्तौ स्थितिमितास्तद्वच्चेतनात्सर्गवीचयः ॥ ८
 चिद्रूपं यन्न किञ्चित्त्विदं किञ्चिदवस्थितम् ।
 भाति दृश्यमिवाद्दृश्यमपि स्वप्नपुरेष्विव ॥ ९
 चिच्छायेयं प्रकचति जगदित्यभिशाब्दिता ।
 नन्वमूर्तेव मूर्तेव द्रव्यच्छायेव वै तता ॥ १०
 कायमात्रकमेवेदं भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ।
 पिशाचविभ्रमालोकप्रायमायासनं दृढम् ॥ ११
 मनोराज्यमिवासत्यं लोलं लम्बाम्बुबिन्दुवत् ।
 द्वाभ्यामित्यनुभूतिभ्यां यदसत्तत्र कात्मता ॥ १२
 विदार्यदारुणवचनरङ्गानिलशब्दवत् ।
 खे शब्दाः पवनस्फोटा भ्रान्त्यर्था वासनोदयाः ॥१३
 सर्गादितः स्वपरिभा कचति स्वप्नशैलवत् ।
 वस्तुतस्तु न शब्दोस्ति नार्थोऽस्ति न च दृश्यता ॥१४
 यदिहं चास्ति चाभाति तत्सर्वं परमार्थसत् ।
 अन्यादकारणाभावात्सर्गादावेव नोदितम् ॥ १५

विसंवादादपि जगत्तथेत्याह—तज्ज्ञेति । उभयत्र अज्ञात इति
 च्छेदः । अथवा न मूर्खाणां तद्विदां वा अनुभवमनुसृत्य
 प्रपन्नो व्यवस्थापयितुं शक्यः परस्परविस्तराद्दुःसाधुभाभ्यामप्य-
 ज्ञातत्वादित्यर्थः ॥५॥ तत्कृतस्तत्राह—तज्ज्ञानयोरिति । यतः
 केवलान्तर्दृश्यस्तज्ज्ञाः केवलबाह्यदृश्योऽज्ञाः, प्रपन्नरूपं तन्तः-
 प्रतिप्रसौ बुद्धिद्वितौ अन्तराले स्थितमुभावपि बोद्धुं ते तुभ्यं
 परस्परं वा वक्तुं च न जानीतो न शकृतः ॥ ६ ॥ उक्तमेवोप-
 पादयति—स्वबुद्ध्याविति । सर्गशब्दार्थस्तावत्स्वबुद्धौ स्थित
 एव स्फुरति नान्य इत्यविवादं, तत्राक्षीवक्षीवयोरिवान्तरान्तर-
 योरनयोर्मिथः परस्परं तत्प्रपन्नरूपमान्तरबुद्धिस्थत्वाद्दन्तः-
 स्थम् । किलेति यौक्तिकप्रसिद्धौ । तत्र विदुषो बुद्धिः सदैव
 स्थैर्ये जागतीति स स्थिरमात्मतत्त्वमेव पश्यति । अविद्वद्बुद्धिर-
 स्थैर्ये जागतीति सोऽस्थिरं बाह्यमेव पश्यति । बुद्धिगतं तु प्रपन्न-
 स्वरूपं नात्यन्तमान्तरं नात्यन्तं बाह्यमिति नोभयोरपि तत्परि-
 ज्ञानमस्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥ यद्युभाभ्यामपि द्रष्टुमशक्यः प्रपन्नकार्त्वि-
 कथं स्थितिं प्राप्तस्तत्राह—द्रव्येति । अज्ञातचित्स्वभावमेवावलम्ब्य
 जलद्रवतया तरङ्गा इवात्मसत्तयैवान्तराले स्थितिं प्राप्ता इत्यर्थः
 ॥८॥ अत एव चिन्मत्कारमात्रं जगदित्याह—चिद्रूपमिति ॥९॥
 अथवा मायायां यच्चित्प्रतिबिम्बः स एव जगदाकारेण स्फुर-
 तीत्याह—चिच्छायेति । दर्पणे घटपटादिद्रव्यच्छायेव ॥ १० ॥
 तत्र वेदात्मताभ्रान्तिरेव सर्वायासमूलमित्याह—कायेति ॥११॥
 देह एवात्मास्तिवति भ्रमं वारयति—द्वाभ्यामिति । प्राग्बर्षि-

१ जीवजगदाकारेण इत्यभि. पाठः.

निरस्तशब्दमेवार्थमनिरस्ताखिलार्थकम् ।
 शान्त्यामि परिनिर्वामि व्योमैवास्तीति बुद्ध्यताम् ॥१६
 त्यज्यतामात्मविभ्रान्त्या शुद्धबोधैकरूपया ।
 जीवेऽजवं जवीभावस्त्वसदुत्थित आत्मना ॥ १७
 आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
 आत्मात्मना न चेन्नातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ १८
 तर तारुण्यमंस्तीदं यावत्ते तावदम्बुधेः ।
 ननु संसारनाम्नोऽस्माद्बुद्ध्या नावा विशुद्धया ॥ १९
 अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन्निकं करिष्यसि ।
 स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥ २०
 शैशवं वार्धकं श्रेयं तिर्यक्त्वं मृतिरेव च ।
 तारुण्यमेव जीवस्य जीवितं तद्विवेकि चेत् ॥ २१
 संसारमिममासाद्य विद्युत्संपातचञ्चलम् ।
 सच्छास्त्रसाधुसंपर्कैः कर्दमात्सारमुद्धरेत् ॥ २२
 अहो बत नराः क्रूरा गतिः कैषां भविष्यति ।
 कुर्वन्ति कर्दमोन्मये नात्मन्यपि निजोदयम् ॥ २३
 यथा मृन्मयवेतालसभा ग्राम्यस्य भङ्गदा ।
 यथा भूतार्थविज्ञानान्मृन्मय्येव न भङ्गदा ॥ २४
 तथा ब्रह्ममयी दृश्यलक्ष्मीरहस्य भङ्गदा ।
 यथा भूतार्थविज्ञाने ब्रह्मैवास्ते न भङ्गदा ॥ २५

ताभ्यां द्वाभ्यां विद्वद्विद्वदनुभूतिभ्यामपि विमृश्यमानं यदसत्
 तत्र का आत्मताप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥ कथं तर्हि रामोऽहं
 वसिष्ठस्त्वमित्यादिदेहात्मव्यवहारशब्दार्थास्तत्राह—विदार्येति ।
 यथा पृथिव्यां स्थूलवंशदारुविदारणे तदन्तःस्थितः शब्दो
 बहिर्निःसरतीव प्रतिभाति न च तदन्तःशब्दः स्थितो निःसृतो
 वा तथा जले तरङ्गेभ्यः अमौ ज्वालादिभ्यः खे प्रतिध्वनि-
 शब्दाः पवनाच्च कण्ठतात्वादिप्रदेशे वर्णपदवाक्यस्फोटा निर्गता
 इव भ्रान्ति न च ते प्राक् तदन्तः सन्ति तद्द्वारासनामया अप्यर्था
 अभिविस्फुलिङ्गवजाप्रत्स्त्रप्रयोरारामनो निर्गता इव भ्रान्ति न च
 तत्र सन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥ स्वपरिभा स्वात्मचित् ॥ १४ ॥
 अन्यादक् सद्यतिरिक्तं रूपं तु सर्गादावेव कारणाभावाच्चोदितं
 नोत्पन्नमेव ॥ १५ ॥ अतः सदैवैकरूपं सद्योमैवाहमिति परम-
 शान्तनिर्गृप्तिरूपं बुद्ध्यतामित्याह—निरस्तेति ॥ १६ ॥ जीवे
 प्रसिद्धोऽजवं जवीभावो मनोविक्षेपः ॥ १७ ॥ अत एव स्ववि-
 वेकेनैवात्मानमुद्धरेत्याह—आत्मैवेति ॥ १८ ॥ यावत्तारुण्य-
 मस्ति तावदेव बुद्ध्या नावा संसारनाम्नोऽम्बुधेस्तर परतीरं व्रज
 ॥ १९ ॥ वयसो विपर्यये वृद्धत्वे ॥ २० ॥ शैशवं वार्धकं च
 तिर्यक्त्वंवज्ज्ञानासाधकं श्रेयम् । विवेकि चेदिति । अविवेकित्वे
 तु ततिर्यक्त्वाद्दृश्यममिति भावः ॥ २१ ॥ कर्दमात् मोह-
 कर्दमात् । सारमात्मानम् ॥ २२ ॥ ये कर्दमोन्मयेऽप्यात्मनि
 शास्त्रोपायैर्निजोदयमुद्धारोपायं न कुर्वन्ति एषां का गतिर्भवि-
 ष्यतीत्यनुशोचति वसिष्ठः ॥ २३ ॥ ग्राम्यस्य मृन्मयत्वात्तन्नि-
 हस्य सत्यवेताला सभा मया दृष्टेति भ्रान्तिमत इति यावत् ।
 भङ्गदा भयज्वरपाविदुःखदा ॥ २४ ॥ २५ ॥ कुतो न भङ्गद-

शान्त्यस्यशान्तमेवेदं स्थितमेव विलीयते ।
दृश्यं तस्वपरिज्ञानाद्दृश्यमानं न दृश्यते ॥ २६
स्फुटानुभवनस्यापि स्वप्नकाले निजे यथा ।
परिज्ञानादसत्यत्वमेव सत्यपदं गता ॥ २७
तथानुभूयमानापि सर्गसंवेदनाम्बरे ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० अविद्यानिरसनो नाम द्विषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६३॥

चिन्मये तस्वविज्ञानाच्छून्यतैवावशिष्यते ॥ २८
जातिज्वरज्वलितजीवितजङ्गलेषु
जीर्णानि वातहरिणादृक्कमेण ।
माद्यन्मनःपवनपातयुतान्यमूनि
जित्वेन्द्रियाणि जयमेहि जहीहि जन्म ॥२९

त्रिषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६३

श्रीराम उवाच ।
विनेन्द्रियजयेनेदं नास्त्वमुपशाम्यति ।
तदिन्द्रियाणि जीयन्ते कथं कथय मे मुने ॥ १
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
न च प्रभूतभोगेषु न पुंस्त्वे न च जीविते ।
न चेन्द्रियजयोन्मुक्तौ दीपस्तनुदशो यथा ॥ २
तदिन्द्रियजये युक्तिमिमामविकलां शृणु ।
सिद्धिमेति स्वयत्नेन सुखेन तनुरेतया ॥ ३
चिन्मात्रं पुरुषं विद्धि चेतनाजीवनामकम् ।
यश्चेतति स जीवोऽन्तस्तन्मयो भवति क्षणात् ॥ ४
संघितप्रयत्नसंबोधनिशिताङ्गशकषणैः ।
मनोमतङ्गजं मत्तं जित्वा जयति नान्यथा ॥ ५

तत्राह—शान्त्यतीति ॥ २६ ॥ ननु स्फुटानुभवनत्वात्सत्यपदं गतस्य जगतः कथं ज्ञानमात्रादसत्त्वापत्तिस्तत्राह—स्फुटेति । यथा स्वप्नकाले स्फुटानुभवनस्यापि स्वप्नजगतः परिज्ञानात्प्रबोधात् । तथा अनुभूयमाना अत एव सत्यपदं गतापि सर्गसंवेदनेति परेणान्वयः ॥ २७ ॥ २८ ॥ तन्न ज्ञानं समनस्केन्द्रियजयं विना न लभ्यत इति दर्शयन्नुपसंहरति—जातीति । जाति-उत्पत्तिर्जन्मज्वरभूतैः कामक्रोधादिद्वामिभिर्ज्वलितेषु शीतेषु जीवितजङ्गलेषु वातहरिणां वातशृणाणां यस्तृणपर्णाद्याहरणक्रमः कदाचिच्छब्दयते कदाचिन्नेत्येवंरूपस्तेन जीर्णानि शिथिलीभूतानि मायतो मनसः प्राणपवनस्य च यः पातो बहिःसंचारस्तेन युतान्यमूनीन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानेनाविद्याजयमेहि प्राप्नुहि । तेन च मुक्तः सन् पुनर्जन्म जहीहि त्यज । निवारयेति यावत् ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे अविद्यानिरसनो नाम द्विषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६३ ॥

इहेन्द्रियजयोपायश्चित्तरोधश्चिद्व्यये ।

अभ्यासश्चास्य शास्त्रस्य कीर्तिता बोधहेतवः ॥ १ ॥

‘जित्वेन्द्रियाणि जयमेहि जहीहि जन्म’ इति यदिन्द्रियजय-स्यावश्यकत्वं वसिष्ठेनोक्तं तत्रोपायं रामः पृच्छति—विनेति ॥ १ ॥ स्थाने त्वया प्रश्नः कृत इत्यनुमोदमानो वसिष्ठः प्रश्नं पुष्पाति—न चोति । यथा तनुदशो मन्दचक्षुषः पुरुषस्य प्रज्व-लक्षपि शीपो न सूर्यमार्यदर्शने उपयुज्यते तथा न प्रभूतभोगे-

चित्तमिन्द्रियसेनाया नायकं तज्जयाज्जयः ।
उपानद्रुढपादस्य ननु चर्मावृत्तैव भूः ॥ ६
संविदं संविदाकाशे संरोप्य हृदि तिष्ठतः ।
स्वयमेव मनः शान्त्ये श्रीहार इव शारदः ॥ ७
स्वसंविद्यत्नसंरोधाद्यथा चेतः प्रशाम्यति ।
न तथाङ्ग तपस्तीर्थविधायकक्रियागणैः ॥ ८
यच्च संवेद्यते किञ्चित्तत्संविदि संविदा ।
नूनं विस्मार्थते यत्नाद्भोगानामिति तज्जयः ॥ ९
स्वसंवेदनयत्नेन विषयामिपतोऽनिशम् ।
किञ्चित्संरोधिता संवित्त्प्राप्तं वैबुधं पदम् ॥ १०
स्वधर्मव्यवहारेण यदायाति तदेव मे ।
रोचते नान्यदित्येव पदे वज्रदृढीभव ॥ ११

आसक्तस्य, नापि पुंस्त्वे स्वोत्कर्षसंपादने आसक्तस्य, नापि जीविते जीवनोपाये धनार्जनादावासक्तस्य शास्त्रादिसाधनं ब्रह्म-दर्शनं उपयुज्यते । तथा इन्द्रियजयोन्मुक्तावपि तन्नोपयुज्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ तत्तस्मादिन्द्रियजयस्यावश्यकत्वादेतया महुक्त-युक्त्या तनुरल्पापि साधनसंपत् स्वयत्नेन सिद्धिं मोक्षफलसि-द्धिमेति प्राप्नोति ॥ ३ ॥ चेतनाविषयोपनीतार्थप्रकाशकत्वात् । चित्ताधीनत्वादेति यावत् । यश्चेतति चित्तवृत्त्या व्याप्य प्रथयति तन्मयो भवति तत्रासज्जते । स्त्रीमयो जात्म इतिवत् ॥ ४ ॥ एवं सति चित्तस्य प्रत्याहारप्रयत्नेनान्तराकर्षणेन बाह्याकारतां निरुध्य ब्रह्माकारताप्रबोधनाभ्यासे स्वतः पञ्चनीन्द्रियाण्यर्थादेव जितानि भवन्तीति युक्तिमाह—संविदिति ॥ ५ ॥ तत्कृतस्त-त्राह—चित्तमिति । नायकं स्वामिभावेन प्रवर्तकं निरोधकं च । पादमात्रावरणेन सर्वकण्टकजय इव चित्तमात्रावरणेन सर्वेन्द्रि-यजय इत्याद्येनाह—उपानदिति ॥ ६ ॥ मनःशान्तौ तर्हि क उपायस्तमाह—संविदमिति । संविदं चित्तावच्छिन्नसंविदं जीवं संविदाकाशे ब्रह्मणि संरोप्य एकीकृत्य ॥ ७ ॥ स्वसंविदो जीवः संविदो यत्नेन ब्रह्मणि संरोधादुक्तरूपात् ॥ ८ ॥ संवेद्यते बल-त्स्मर्यते तत्तत्तदभिष्टानब्रह्मसंविदि प्रविलापनसंविदा नूनं निश्च-येन विस्मार्थते तत्संस्कारोच्छेदेन पुनः स्मरणयोग्यं क्रियते । तत्तेनोपायेन भोगानां भोगहेतूनां विषयाणां इति एवं जयः ॥ ९ ॥ संरोधिता संविद्येतेनोपायेन वैबुधं विबुधानां तत्त्व-विदात्मनुभवसिद्धं स्वाराज्यपदं प्राप्तम् ॥ १० ॥ एवं स्वधर्मक-

संविप्रवृत्तिमर्थेषु विरुद्धेषु विवर्जयन् ।
 अर्जयच्छमसंतोषौ यः स्थितः स जितेन्द्रियः ॥ १२
 संविप्रसिकतास्वन्तस्तथा नीरसतासु च ।
 यस्य नोद्वेगमायाति मनस्तस्योपशाम्यति ॥ १३
 संविप्रयज्ञसंरोधात्मनः स्वायनमुज्जति ।
 चेतश्चपलतोन्मुक्तं विवेकमनुधावति ॥ १४
 विवेकधानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते ।
 वासनावीचिबेगेन भवाब्धौ न स मुह्यते ॥ १५
 साधुसंपर्कसच्छास्त्रसमालोकनतोऽनिशम् ।
 जितेन्द्रियो यथावस्तु जगत्सत्यं प्रपश्यति ॥ १६
 सत्यावलोकनाच्छान्तिमेति संसारसंभ्रमः ।
 मराविव जलहानं मिथ्यापतनदुःखदम् ॥ १७
 अचेत्यमेव चिन्मात्रमिदं जगदिति स्थितम् ।
 इत्येव सत्यबोधस्य बन्धमोक्षदृशौ कुतः ॥ १८
 अनाकारं यथा वारि क्षीणं बहति नो पुनः ।
 अकारणं तथा दृश्यं ज्ञानच्छिन्नं न रोहति ॥ १९
 वेदनं व्योममात्रं त्वमहमित्यादिरूपधृक् ।
 वर्जयित्वैतदन्यत्स्यादहमित्यादिकं जगत् ॥ २०
 अधिद्यामात्रमेवेदमहमित्यादिकं जगत् ।
 चिद्योक्तयेव स्थितं शान्तं शून्यमात्रशरीरकम् ॥ २१
 इदं चिद्योक्तिं चिच्छाया जगदित्येव भासते ।
 शून्यशून्यैव चिन्नासौ शून्या चेत्येव निश्चयः ॥ २२
 स्वप्नदर्शनदृष्टान्तः केन नामात्र खण्ड्यते ।

निष्ठतादात्म्यमपि वेत्तुष्यसिद्धिद्वारा इन्द्रियजयहेतुरित्याह—स्वप्न-
 मिति ॥ ११ ॥ विरुद्धेषु स्वप्नमविरुद्धेषु देहायात्राहेतुष्वप्रादिषु
 संविप्रवृत्तिमिच्छाम् ॥ १२ ॥ यस्य मनः अन्तः संविप्रसिकतासु
 बहिर्नारसतासु चाभ्यस्यमानासु निर्वेदमरतिं नायाति तस्य तदु-
 पशाम्यति ॥ १३ ॥ अयनं विषयासुधावनदुर्भ्यसनम् । सैवास्य
 चपलता तदुन्मुक्तं सत् ॥ १४ ॥ १५ ॥ एवं जितेन्द्रियः सन्
 जगदथावस्तु सत्यं ब्रह्ममात्रं प्रपश्यति ॥ १६ ॥ मिथ्यावस्तुषु
 पतनेन धावनेन दुःखदम् ॥ १७ ॥ १८ ॥ अनाकारं शोष-
 णेनोच्छिन्नमूर्ताकारम् ॥ १९ ॥ यतो व्योममात्ररूपं वेदनमेव
 स्वाविद्याया त्वमहमित्यादिरूपधृगतः स्वाभ्यस्तमहमित्यादिकमे-
 तन्नगजज्ञानेन वर्जयित्वा विमृष्य अभ्यस्तादन्यदधिष्ठानमात्रं
 स्यात् ॥ २० ॥ शान्तं मिथ्यात्वात्सत एव शान्तमिति चिद्यो-
 क्तयेव तात्त्विके रूपे स्थितम् ॥ २१ ॥ असौ चिच्च जगच्छू-
 न्याशून्येनापि शून्येत्येव निश्चयः सिद्धान्तः ॥ २२ ॥ उभय-
 शून्यता क्व प्रसिद्धेति चेत्स्वप्नदर्शने इत्याह—स्वप्नेति । अस्व-
 न्मय इति शून्यता अनुभूत इति शून्यशून्यता च । अनुभूतस्या-
 सन्मयत्वेऽपि स एव दृष्टान्त इत्याह—स्वानुभूतोऽपीति ॥ २३ ॥
 हे अत्र, स्वप्नसंविप्रसिद्धिमात्रमात्मा स्वरूपं यस्य तथाविधो यद्य-
 द्राज्यं वैभवं भूत्वा महीयते तत्तच्चित्तेरेव रूपम् । यत्तत्कर्तृ-
 कर्मकरणाधिकारकनिरपेक्षं रूपम् । तद्ब्रह्मप्रत्यक्षमपि बोध्य-

असन्मयोऽनुभूतश्च स्वानुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ २३
 सोऽङ्ग संविप्रसिद्धिमात्रमात्मा यद्यद्राज्यं महीयते ।
 नकर्तृकर्मकरणं रूपं तद्ब्रह्मजगच्चित्तेः ॥ २४
 अकर्तृकर्मकरणमहं चिद्धनमात्रकम् ।
 जगच्चेदमनिर्देश्यं स्वसंवेदनलक्षणम् ॥ २५
 यथा स्वप्नेषु मरणमनुभूतं न विद्यते ।
 मरौ जलेच्छाऽधिद्येयं विद्यमाना न विद्यते ॥ २६
 चिद्योक्ता काचकण्ठं स्वं सर्गादौ व्योम्नि चेतितम् ।
 जगदित्येव निर्मूलं काकतालीयवत्स्वयम् ॥ २७
 निर्मूलमेव भातीदमभातमपि भातवत् ।
 तस्माद्यद्भासुरमिदं तत्तदेव पदं विदुः ॥ २८
 जीवादिकखनं त्वन्न यद्भातीदं तदेव तत् ।
 शून्यतैव भवेद्योम धार्येवावर्तवृत्तयः ॥ २९
 यथावयविनो रूपमेकं सावयवं भवेत् ।
 एकं जीवाद्यवयवं ब्रह्मानवयवं तथा ॥ ३०
 आभासमात्रं दृश्यात्म चिन्मात्रं शान्तमव्ययम् ।
 स्थितमास्थाः किमेतस्मिन्स्वभावे स्वे विचार्यते ॥ ३१
 नाद्यन्तमन्तःकलनाः काश्चित्सन्ति परे पदे ।
 तद्रूपमेवाधिद्येयं नाविद्या त्विह विद्यते ॥ ३२
 जीवः स्वप्नाद्विशङ्गाप्रजाप्रतः स्वप्नमाविशन् ।
 प्रबुद्धो वास्तवबुद्धो वाप्येकरूपतया स्थितः ॥ ३३
 स्थिते सुषुप्ततुर्ये द्वे सदा स्वप्नेऽथ जायते ।
 जाग्रत्स्वप्नावेकमेव तुर्यं वेत्ति तु बुद्धधीः ॥ ३४

मित्यर्थः ॥ २४ ॥ यद्यत्कर्तृकर्मकरणादिनिरपेक्षं तत्तच्चिद्धनमात्र-
 कर्महमेव । इदं जगच्च सर्गादौ कर्त्रादिमत्तया निर्देष्टुमशक्य-
 मिति प्रागुपपादितम् । अतो मरीयस्वप्रकाशात्मस्वरूपमेवेत्यर्थः
 ॥ २५ ॥ तथा च स्वाप्नस्वमरणमद्वयत्वप्रतीतितो विद्यमा-
 नापि अविद्या ज्ञानबाधितत्वात् विद्यत इत्याह—यथेति । जले-
 च्छापदेन अलभ्रान्तिलक्षयते ॥ २६ ॥ व्योम्नि स्वात्मनि चेतितं
 संकल्पितम् ॥ २७ ॥ इदं जगद्यस्याच्चित्प्रकाशाच्चिमित्ताद्भा-
 सुरमपरोक्षं प्रथमानमास्ते तदेव नित्यापरोक्षं परमं पदं विदुरि-
 त्यर्थः ॥ २८ ॥ २९ ॥ अवयवावयविभावकल्पनद्वारा वा
 जीवादेर्ब्रह्मैक्यं प्रतिपत्तव्यमित्याह—यथेति ॥ ३० ॥ स्फटि-
 कश्चिन्नान्तर्बनगिरिनद्याधाभासवद्वा ब्रह्मणि जगद्रोप्यमित्याह—
 आभासमात्रमिति । तथा च तत्स्वच्छतास्वभाव एव जगदा-
 त्मना भासत इत्याशयेनाह—स्वभावे इति । किं विचार्यत
 इत्यन्वयः ॥ ३१ ॥ न आदिरन्तं च नाप्यन्तः मध्यप्रदेशानां
 कलनाः काश्चित्सन्ति ॥ ३२ ॥ स्वप्नजागरणव्यव्यतिरेकेण
 परिशोधनेन वा शुद्धं जीवजगत्सत्त्वं ज्ञेयमित्याह—जीव इति ।
 प्रबोधप्रबोधयोर्भानैकरूपतया ॥ ३३ ॥ सुषुप्तमज्ञानावृत्त आत्मा
 तुर्यः शुद्धात्मा च आन्तिकृतसर्पान्तः अज्ञानरज्जुकेवकरञ्जू इव

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च सर्वं तुर्यं प्रबोधिनिः ।
 नाविद्या विद्यते तस्य द्वयस्थोऽप्येव सोऽद्वयः ॥ ३५ ॥
 द्वैतमद्वैतमित्येतद्द्वैतमिदमित्यपि ।
 निरविद्यस्य कलना कुतः काप्यम्बरं कुतः ॥ ३६ ॥
 द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यसंदर्भविभ्रमैः ।
 क्रीडन्त्यबुद्धाः शिशवो बोधवृद्धा हसन्ति तान् ३७ ॥
 द्वैताद्वैतविवादेहा हृदयाकाशमञ्जरी ।
 विनैतयेह नोदेति प्रबोधाकाशमार्जनम् ॥ ३८ ॥
 सुहृद्भूत्वा विवादेन द्वैताद्वैतविचारणा ।
 कृता हृदयगेहेऽन्तरविद्याभस्ममार्जनी ॥ ३९ ॥
 तच्चित्तास्तद्रतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
 कथयन्तश्च तच्चित्तं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ४० ॥
 तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
 जायते बुद्धियोगोऽसौ येन ते यान्ति तत्पदम् ॥ ४१ ॥
 किलोपकुरुते यन्नात्तृणमात्रावगोपने ।
 कथं सिध्यत्ययत्नेन त्रैलोक्यगणगोपनम् ॥ ४२ ॥
 अध्यात्मव्यसनोन्मुक्तं ततं हृत्स्थाऽधमाऽग्रभु ।
 उपहासास्पदं यस्या जगदप्युत्तमस्थितेः ॥ ४३ ॥

स्वप्नजाग्रतोरन्तः स्थिते ॥ ३४ ॥ प्रबोधिनिस्त्वबोधवतः । एव-
 कारो भिन्नकमः । स द्वयस्थोऽप्यद्वय एवेति ॥ ३५ ॥ इत्यपि
 कापि कलना निरविद्यस्य कुतः, तथा अम्बरं घृत्यं च कुतः
 ॥ ३६ ॥ अबुद्धा अप्रबुद्धाः शिशवो बालाः क्रीडन्ति ॥ ३७ ॥
 प्रबुद्धा अपि शास्त्रेषु कथं द्वैतविवादानिच्छन्ति तत्राह—द्वैते-
 ति । हृदयाकाशे अध्यारोपिता शिष्यप्रबोधफला मञ्जरी ॥ ३८ ॥
 अत एव मयापि सुहृद्भूत्वाभ्युपगम्य द्वैताद्वैतविचारणा कृता
 कृतकार्या गेहमार्जनीव निरसिष्यत इत्याह—सुहृदिति ॥ ३९ ॥
 अविद्याभस्मनि मार्जिते सति अधिकारिणस्तच्चित्ता ब्रह्मचित्ता ब्र-
 ह्मगतप्राणाः परस्परं बोधयन्तस्तुष्यन्ति रमन्ति च ॥ ४० ॥ एवं
 भजतां तेषां सततं विचारयुक्तानामसौ मदुपदिष्टो बुद्धियोगः
 कालेन दृढो जायते, येनासौ तदात्मा तत्पदं मोक्षाख्यं याति
 ॥ ४१ ॥ सततयुक्तानामिति प्रयत्नातिशयापेक्षोक्तेस्तत्पर्यमु-
 द्धादयति—किलेति । तृणमात्रस्यापि जलवह्निपश्चादिभ्योऽवगो-
 पने रक्षणे यन्नात्साधित एवोपाय उपकुरुते न हेळ्या साधितः ।
 त्रैलोक्यगणस्य ब्रह्मीभावापादनेन गोपनमात्यन्तिकपरिरक्षण-
 रूपं तत्त्वज्ञानमयत्नेन कथं सिध्यति ॥ ४२ ॥ यस्या निरति-
 शयानन्दलक्षणाया उत्तमस्थितेर्सांजुषानन्दमारभ्य हैरभ्यगर्भा-
 नन्दपर्यन्तमुत्तरोत्तरं शतशतगुणोत्कृष्टसुखोपभोगाय चतुर्दशभु-
 वनभेदेषु ततं विस्तृतं हृत्स्थस्य अधमस्य कामस्य जये अग्रभु अ-
 धमर्थम् । कामोपहतमिति यावत् । जगदपि कात्स्न्ये अपिशब्दः ।
 कृत्स्नं जगज्जीवजातं तुच्छभोगासक्तत्वादुपहासास्पदं सा तादृशी
 सर्वोत्तमा स्थितिः कथं न यत्नमर्हतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ भोगानां
 तुच्छतामवयुलोदाहरणेन दर्शयति—किं नामेति ॥ ४४ ॥

१ येनासौ याति तत्पदं इति वाठोऽपेक्षितटीकानुरोधेन.

यो० वा० १८३

किं नामेदं किल सुखं यद्राज्यादिमनोहरम् ।
 तत्त्वज्ञानैकविभ्रान्तौ देवराजपदं तृणम् ॥ ४४ ॥
 सुप्ताः प्रबुद्धाः पश्यन्ति दृश्यं दृश्ये रता यथा ।
 तथा दृश्येऽरताः शान्ताः सन्तः पश्यन्ति तत्पदम् ।
 विना यत्नभरेणेदं न कदाचन सिध्यति ।
 महतोऽभ्यासवृक्षस्य फलं विद्धि परं पदम् ॥ ४६ ॥
 इदं बहुकमेतेन किमेतेनेति दुर्मतिः ।
 न प्राह्यैतावताप्युक्ते नादत्ते नेदमश्नधीः ॥ ४७ ॥
 भूयोभूयः परावृत्त्या चिरमास्वाद्यते यदि ।
 भूयते कथ्यते चेदं तज्ज्ञेनाज्ञेन भूयते ॥ ४८ ॥
 यस्त्येकवारमालोक्य दृष्टमित्येव संत्यजेत् ।
 इदं स नाम शास्त्रेभ्यो भस्माप्यामोति नाधमः ॥ ४९ ॥
 इदमुत्तममाख्यानमध्येयं वेदवत्सदा ।
 व्याख्येयं पूजनीयं च पुरुषार्थफलप्रदम् ॥ ५० ॥
 यदस्मात्प्राप्यते शास्त्रात्तद्वेदादवाप्यते ।
 अस्मिन्नाते क्रिया ज्ञानं द्वयं याति पवित्रताम् ॥ ५१ ॥
 वेदान्ततर्कसिद्धान्तस्त्वस्मिन्नाते च बुध्यते ।
 इदमुत्तममाख्यानं व्याख्यातं शास्त्रदृष्टिषु ॥ ५२ ॥

अज्ञाननिद्रा सुप्ता दृश्ये विषयभोगे रता जना यथा दृश्यमत्या-
 सत्तया पश्यन्ति तथा शान्ताः सन्तस्त्वस्वविदो दृश्ये अरताः
 प्रसुप्तप्रायास्तच्चिरतिशयानन्दं पदं प्रबुद्धाः पश्यन्तीत्यर्थः ।
 तथा चोक्तं भगवता—‘या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति
 संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥’
 इति ॥ ४५ ॥ ईदृशं नित्यापरोक्षनिरतिशयानन्दरूपं मोक्षपदं
 यत्नभरेण विना कथं सिध्येदित्यभ्यासावश्यकतामाह—विनेति
 ॥ ४६ ॥ अत एव मया भवतामभ्यासदार्ढ्यं भवतिविति पुनःपुनर्भ-
 ष्यन्तरेण युत्तयन्तरेण कथाख्यानादिमिस्त्रेण चेदमेव बहुवार-
 मुक्तम् । भवद्भिश्च पुनःपुनस्त्वदेव भगवतोच्यते बहुकेन पुनरु-
 क्तसहस्रविस्वारितेनैतेन ग्रन्थेन एतेनाभ्यासभ्रमेण च किं प्रयो-
 जनमित्यभ्रदालक्षणा तुर्मतिर्न प्राह्या । सुश्रव्यातिकुशलबुद्धेः कस्य-
 चिदेव नाभ्यासापेक्षा । अज्ञधीस्तु एतावता विस्तृतेनाप्युक्ते-
 नोपदेशवाक्येन इदमतिदुरूहमात्मतत्त्वं हृदि नादत्ते । अतस्त-
 स्यावृत्त्यादिलक्षणोऽभ्यास आवश्यक इत्यर्थः । तथा च भगवतो
 बादरायणस्य सूत्रम्—‘आवृत्तिरसकृदुपदेशात्’ इति ॥ ४७ ॥
 अत एवायं ग्रन्थो मन्दमध्यमाधिकारिभिर्यावज्ज्ञानोदयं पुनः-
 पुनः श्रवणाद्यावर्तनेनास्वादनीय इत्याह—भूयोभूय इति । इदं
 मदुक्तं शास्त्रम् । अज्ञेनापि एतदावर्तनोपायेनावश्यं तज्ज्ञेन
 भूयते नात्र संदेह इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ अनभ्यासपरस्य तु नैतत्फ-
 लावाप्तिरिति तं निन्दति—यस्त्विच्छति । शास्त्रेभ्यः अनध्या-
 त्मशास्त्रेभ्यः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ प्रत्यक्षवेदोपबृंहणत्वादस्य का-
 ण्डद्वयफलसर्वस्वाधनत्वादतिप्रशस्ततरत्वं दर्शयति—यदिति ।
 क्रिया पूर्वकाण्डार्थः । ज्ञानमुत्तरकाण्डार्थः । द्वयमपि पवित्रता-
 मालयन्तिकाष्टुदिनिरासफलताम् ॥ ५१ ॥ चकारो भिन्नकमः ।

कारुण्याद्भवतामेतद्द्वं वक्षि न मायया ।
भवन्तस्त्ववगच्छन्ति मायामेतद्विचार्यताम् ॥ ५३
अस्माच्छास्त्रवराद्बोधा जायन्ते ये विचारितात् ।
लघुणैर्व्यञ्जनीय भान्ति शास्त्रान्तराणि तैः ॥ ५४
अनार्यमिदमाख्यामसित्यनादृत्य हृदयधीः ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णनं नाम त्रिषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६३॥

मा भवंत्वात्महन्तारो भवन्तो भवभागिनः ॥ ५५
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ।
यथा भवन्तो विविचारयन्त-
स्तथानिशं मा भवताहतास्तवै ॥ ५६

चतुःषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जीवाणवो जगत्यन्तश्चिदादित्यांशुमण्डले ।
यद्य तेऽवयवास्तुर्यास्तेनानवयवात्मता ॥ १
सर्वं प्राप्य परं बोधं वस्तु स्वं रूपमुज्जति ।
पुनस्तदेकवाक्यत्वात् किञ्चिद्वापरं भवेत् ॥ २
सर्वास्त्रेवास्त्रवस्थासु तस्वज्ञविषयं तु तत् ।

वेदान्तेषु ये बादरायणादिभिर्दर्शितास्तात्पर्यनिर्णयानुकूलोप-
मादिलिङ्गकलर्कास्त्रैर्व्यवस्थापितः सिद्धान्तः स चास्मिन् शब्दे बु-
ध्यत इति विशेषबोधोतनार्थस्तु शाब्दः । शाब्दद्वेषिषु मध्ये विविष्टत्वे-
नाख्यातं व्याख्यातं श्रेष्ठतया ख्यातमित्यर्थः ॥५२॥ मायया कैत-
वेन न वक्षि किंतु कारुण्यात् । भवन्तस्त्वस्माच्छास्त्रवराद्विचा-
रितादतद्दृश्यजातं मायां मिथ्यैत्यवगच्छन्त्यत एतच्छास्त्रं वि-
चार्यताम् ॥५३॥ अस्माच्छास्त्रवराद्विचारिताये बोधा जायन्ते
तैर्बोधैः शास्त्रान्तराणि व्यणैर्व्यञ्जनीय रुचिराणि भान्तीतीदं
सर्वशास्त्रोपजीव्यमित्यर्थः ॥ ५४ ॥ अनार्यं काव्यत्वाद्पूज्यम् ।
हृदयेषु भोगेष्वासक्ता धीर्येषाम् । 'सुपां सुलक्ष्' इति छान्दसः
पूर्वसद्वर्णोर्षः सुबन्धत्वयो वा । आत्मनः पुनःपुनर्मृत्युपरम्परा-
प्राप्तिहेतुमोहगर्तपातिनः । ततश्च पुनःपुनर्भवभागिनो जन्म-
भाजो मा भवन्तु ॥ ५५ ॥ नन्वस्मत्कृते पूर्वजैस्त्वःकर्मादि-
निष्ठैवाश्रिता न ब्रह्मनिष्ठा । अस्मदीयाः पूर्वजाः कर्ममीमांसका
अस्मदीयाः पूर्वजास्तार्किका अस्मदीयाः पूर्वजाः सांख्ये अस्म-
दीयाः पूर्वजास्तान्त्रिका मन्त्रसिद्धा योगसिद्धा औषधपरस्वयना-
दिसिद्धा वा अभूवन्तो वयमपि तद्दृश्यास्तत्तदनुसृतमेव मार्ग-
माभ्यिष्मामो नाभ्यात्मशास्त्रमिति ब्रुवाणान् जनानुपहसन्मुमु-
क्षूणां तन्मार्गप्रवृत्तिं वारयति—तातस्त्वैति । कापुरुषाः दुरभि-
मानेन संनिहितमपि जाह्नवीजलमनादृत्य यथा क्षारं जलं पिब-
न्ति तथा भवन्तोऽन्यज्ञतास्तैः पुनःपुनर्जन्मपरम्परासु मौर्ख्यास्तै
मौर्क्यैस्त्रैव काभाय अनिशं विरुद्धविविधविचारयन्तो मा भव-
तेत्यर्थः ॥ ५६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णनं नाम
त्रिषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६३ ॥

ब्रह्मभावोद्भवाजीवजगद्भावविमार्कनैः ।

इह जीवजगद्ब्रह्मसामरस्यं प्रस्थाप्यते ॥ १ ॥

तत्रादीं जीवभावं मिमांसुमारभते—जीवाणव इत्यादिना ।

१ शून्यत्वात्प्रहन्तार इत्यत्रात्मनैः ।

परमेवामलं ब्रह्म नान्यत्किञ्चित्कदाचन ॥ ३
यथातस्त्वज्ञविषयं तज्जानाति स एव तत् ।
वयं तु विधो नाहं त्वं नातस्त्वं न वस्तु तत् ॥ ४
अयं सोहमयं चाहः सत्योऽयमिति बुद्धयः ।
संभवन्ति न तस्वज्ञे क मेरौ मृगतृष्णिका ॥ ५
यथैकद्रव्यनिष्ठे हि चित्तेऽन्यद्रव्यसंविदः ।

सर्वतः परिपूर्णस्य चिदादित्यस्य मण्डके अन्तःस्फुरति यत्र
जगति ते प्रसिद्धा जीवाणवस्तेन चिदादित्येन तुल्या अभिविष्फु-
लिङ्गवत्समानप्रकाशस्वभावास्तेन हेतुना अनवयवात्मता चिदा-
दित्यस्य सिद्धा । इत्थपादाद्यवयवानां परस्परविक्षणाकारादि-
स्वभावत्वदर्शनादवयविनष्टं तेभ्यो मिमाकारसंस्थानादिदर्शना-
त्तत्र भेदोऽवयवावयविभावश्च लोके प्रसिद्धो न चात्यन्ततुल्यत्वे
इति भावः ॥ १ ॥ नन्वेवं नक्षत्राणामपि नमस्ति समानप्रका-
शस्वभावदर्शनात्परस्परभेदो निरवयवत्वं च तेजसः किं न
स्याद्भिन्नदेशत्वेन प्रकाशतारतम्येन च परिहारस्तु जीवेष्वपि
तुल्य इत्याशाह—सर्वमिति । न नक्षत्रमेदवजीवानां भेदः
किंतु घटकरकाद्याकाशभेदवदोपाधिकः । तच्च भेदकमन्तः-
करणाद्युपाधिस्तु सर्वं परमखण्डाकारमपरोक्षमहं ब्रह्मास्मीति
बोधं प्राप्य स्वमुपाधिरूपं स्वकृतं भेदरूपं चोज्जति उत्सृजति ।
अपगते चोपाधिभेदे प्रतिज्ञासिद्धिरित्यर्थः । अथवा पूर्व जीवा-
नामविद्यया परस्परविरुद्धधर्मतां प्रदर्श्य ब्रह्मैकवाक्यतामिच्छे-
दाद्भेद इव बन्ध इवानर्थ इवाभूत् । इदानीं विद्यया अधियां
निरस्य विरुद्धधर्मनिरासेन पुनर्ब्रह्मैकवाक्यतासंपादनादवयवा-
वयविभावादिना भेदकमपरं किं भवेदित्यर्थः ॥ २ ॥ तर्हि
किमविद्यान्तःकरणभेदमेदाद्यवस्थासु पूर्व जीवा मिमा एव इदानीं
विद्यया ब्रह्मैक्यं प्रापिताः, नेत्याह—सर्वास्त्रेवेति । तस्वज्ञविषयं
तु यद्ब्रह्म तत् आसु सर्वास्त्रेवावस्थासु भेदादिमलद्युन्यमेकरस-
मेव । न कदाचिदपि किञ्चिद्वैतमलं तत्रास्तीत्यर्थः ॥३॥ कथं तर्हि
पूर्वमहत्त्वादिमलदर्शनं तत्राह—यच्छेति । तन्मलिनं वस्तु च न
विद्यः ॥४॥ कुतो विद्यस्तत्राह—अयमिति । पिपासितश्रान्तदृशा
हि मृगतृष्णाप्रसिद्धिः । न च स्वर्गभूते मेरौ पिपासाभ्रमादवः
कस्यचित्सन्तीति तदप्रसिद्धिरिति भावः ॥ ५ ॥ यथा स्थाणुरेव
शुक्तिरेवेत्येकद्रव्यनिष्ठे एकरूपद्रव्यतत्त्वनिश्चयवति पुरुषे अन्या-
स्तद्विद्याः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संज्ञायसंविद इव रजतमिति

न भवन्ति परे तद्व्याख्यास्तिष्ठन्ति संविदः ॥ ६ ॥
 इदं नासीन्न चोत्पन्नं न चास्ति न भविष्यति ।
 जगद्ब्रह्मैव सद्रूपमिदमित्थमवस्थितम् ॥ ७ ॥
 चिन्मः काचकच्यं च स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
 जगदित्येष तप्तत्र तज्ज्ञानेनैव चेत्यते ॥ ८ ॥
 स्वप्नेषु कल्पनपुरेषु यथान्यदस्ति
 चिन्मात्रमच्छगगनं ननु वर्जयित्वा ।
 नो किञ्चनापि न च रूपमरूपकेषु
 रूपं तथा जगति संप्रति जाग्रदाद्ये ॥ ९ ॥

पूर्वं किलोद्भवति किञ्चन नाम मेवं
 तन्नामभाति तदनादि कमेव चित्वात् ।
 नो कारणं न सहकारि किलास्ति यत्र
 तस्मात्स्वयं भवति वस्त्विति केयमुक्तिः १०
 तस्मात्स्वयं भवति नेह हि कश्चिदादौ
 ब्रह्मादयोऽव्यविदिता न च नाम सन्ति ।
 व्योमेदमाततमयं स इतः स्वयंभू-
 रित्यादि चिद्गगनमेव चिता विभाति ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायने वा० दे० मो० नि० उ० जगत्परमात्मनोरैक्यभोगोपदेशो नाम चतुःषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६५ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जाग्रत्स्वप्ने स्वप्न एव जाग्रत्स्वप्नमुपगच्छति ।
 स्वप्नजाग्रति जाग्रतु स्वप्नतामुपगच्छति ॥ १ ॥
 स्वप्नो जाग्रत्प्रविशति जाग्रत्स्वप्नात्प्रबुध्यते ।
 जाग्रत्स्वप्नं प्रविशति प्रबुद्धः स्वप्नजाग्रतः ॥ २ ॥
 जाग्रत्स्वप्नवता स्वप्नः स्वप्न इत्यभिधीयते ।
 स्वप्नजाग्रता जाग्रत्स्वप्नदित्यभिधीयते ॥ ३ ॥

तज्जाग्रत्प्रतीवेह न तु स्वप्नः कदाचन ।
 स्वप्ने स्वप्नो जाग्रदेव न तु जाग्रत्कदाचन ॥ ४ ॥
 लघुकालात्मकः स्वप्नः सर्वदैव हि जाग्रति ।
 लघुकालात्मकं जाग्रत्स्वप्नकाले सदैव च ॥ ५ ॥
 न जाग्रत्स्वप्नयोर्भेदः कश्चनस्ति कदाचन ।
 एकस्यावसरोऽन्यत्र द्वयोरपि न सम्भवः ॥ ६ ॥
 मृतिप्रबोधसमये जाग्रत्स्वप्नः प्रशान्त्यति ।

भ्रान्तिसंविदश्च न भवन्ति तद्वत् परे तस्वे निश्चिते अन्या
 मेदन्नमसंविदो न तिष्ठन्ति ॥ ६ ॥ इत्थं जीवभावं विमृज्य
 तथैव जगद्भावमपि विमार्ष्टुमारमते—इदमिति । इत्थं मार्जने
 जगद्ब्रह्मैव भूत्वावस्थितम् ॥ ७ ॥ एवं मार्जने जगत्त्वेन गृहीतं
 चिन्मः काचकच्यं स्वात्मन्येव शुद्धब्रह्मभावेऽवतिष्ठते । तत्र
 तस्यां दृश्यायां जीवन्मुक्तैस्तदेव जगदिति तज्ज्ञानेनैव चेत्यते न
 जडं किञ्चिदित्यर्थः ॥ ८ ॥ यथा स्वप्नेषु मनोराज्यकल्पितपुरेषु
 च भ्रमलं चिन्मात्रमेकं वर्जयित्वा अन्यथास्ति तथा संप्रति जाग्र-
 दाद्येऽपि जगति चिन्मात्रं विना न किञ्चनाप्युपाधिस्वरूप-
 मस्ति । एवमुपाधिमाजनेनारूपकेषु जीवेषु न च रूपान्तरम-
 स्तीति विद्वैकरस्यं सिद्धमित्यर्थः ॥ ९ ॥ 'सदेव सोम्येदमत्र
 आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतेर्यत्र सर्गात्पूर्वं नो कारणं परि-
 णाम्युपादानं नापि सहकारि निमित्तकारणं च किलास्ति तस्मा-
 द्ब्रह्मवतीतीयमुक्तिः का । अतः किञ्चनेदं नोद्भवति यच्चोद्भूत-
 मिवावभाति तदनादि ब्रह्म स्वमेव चित्स्वभावात्स्वयमेव तथाव-
 भातीति सिद्धमित्यर्थः ॥ १० ॥ असुमेवार्थं इतीकुर्वन्पुनः
 स्पष्टमाह—तस्मादिति । अत्रैविदिता ब्रह्मादयो व्यष्टिसमष्टि-
 जीवतुप्रमाथयो नैव सन्ति । किंतु स स्वयंभूर्यं प्रपञ्चश्च इतो ब्र-
 ह्मणः सक्रियाद्योम शून्यमेवेदमाततं चिद्गगनमेव चिता तथा
 विभातीति सिद्धमित्यर्थः ॥ ११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायने
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगत्परमात्मनोरैक्यभोगो-
 पदेशो नाम चतुःषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६५ ॥

परस्परानुप्रवेशात्परस्परसमुद्भावात् ।
 चिन्मात्रत्वं इतीकर्तुं जाग्रत्स्वप्नौन्यमीर्यते ॥ १ ॥
 जाग्रत्स्वप्नसुप्तयः परस्परानुप्रवेशेन प्रत्येकं त्रिविधाः ।
 जाग्रत्जाग्रत् जाग्रत्स्वप्नः जाग्रत्सुप्तिः, स्वप्नजाग्रत् स्वप्नस्वप्नः
 स्वप्नसुप्तिः, सुप्तिजाग्रत् सुप्तिस्वप्नः सुप्तिस्वप्तिरिति । एते
 हि सुरेश्वरवार्तिके प्रागुत्पत्तिप्रकरणे बोदाहरणमेदैरुपपादिता
 इह सिद्धबहुपाठीयन्ते । तत्र जाग्रत्स्वप्ने मनोराज्ये इन्द्रियव्यापार-
 निरपेक्षत्वात्केवलमनोमयत्वात्कार्थानां स्वप्नसाम्येन स्वप्न एव जा-
 ग्रत्स्वप्नमुपगच्छति । एवं स्वप्नेऽपि एतावत्कालमहं सुप्त इदानीं
 जाग्रतीति प्रतीतिदर्शनात्प्रसिद्धे स्वप्नजाग्रति तु स्वानुभवसिद्धा
 जाग्रदेव स्वप्नस्वप्नमुपगच्छतीत्यर्थः ॥ १ ॥ परस्परानुप्रवेशावदनयोः
 परस्परनिमित्तता वास्तीत्याह—स्वप्न इति । स्वप्नरूपादेव जाग्रतः
 प्रबुद्धः सन् जाग्रद्रूपमेव स्वप्नं प्रविशत्यात्मेति परस्परनिमित्त-
 तापि दृश्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ अनयोर्धर्मपदेशसांकर्यमपि दृश्यत
 इत्याह—जाग्रदिति । स्वप्नस्वप्नो जाग्रत्जाग्रदित्युभयत्र वीक्ष्यता
 द्विवचनम् ॥ ३ ॥ तत्र स्वप्नेऽपि जाग्रत् इह जाग्रतीव अनुभ-
 वतो जाग्रदेव न तु स्वप्नः । एवं जाग्रत्स्वप्ने मनोराज्ये जाग्रत्स्वप्न
 एवानुभवतो न तु जाग्रदित्यर्थः ॥ ४ ॥ स्वप्नस्वप्नकालता
 जाग्रतो धीर्ब्रह्मकालता च परस्परानुप्रवेशे विपरीतेत्याह—लघु-
 कालात्मक इति ॥ ५ ॥ एवं परस्परसांकर्यं यत्सिद्धं तदाह—
 मेति । द्वयोरप्यन्यत्र एकस्यावसरोः परस्परानुप्रवेशो युक्त्या
 सम्भवे न ॥ ६ ॥ मनु स्वप्नः प्रबोधे प्रशान्त्यति, स्वप्नार्थे

स्वप्नानुभवबोधे च शून्य एवातिभास्वरः ७
 जीवतः स्वप्नसमये मृतिबोधोदयं विना ।
 परलोकात्मकं जाग्रत्किञ्चनापि न दृश्यते ८
 स्थिते जीवितबोधेऽस्मिच्छून्ये नानामयात्मनि ।
 परलोकात्मकः स्वप्नः कश्चनापि न दृश्यते ९
 चिच्चमत्कृतिमात्रात्म यथा स्वप्ने जगद्भवम् ।
 हृदि सर्गोत्प्रभृत्येव तथैवाभाति जाग्रति १०
 सन्त्येवासत्यभूतानि स्फाराणि परमार्थतः ।
 तास्त्येवाकारवत्तेयं स्वप्नोर्ध्यामिव जाग्रति ११
 नानात्मभासुरमपि स्वप्ने शून्यं यथा जगत् ।
 तथैव जाग्रत्यखिलं व्योमैवेदं चिदात्मकम् १२
 चिद्योन्नो हि स्वभावोऽयं यदिदं जगदम्बरे ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० ६० सो० ति० उ० जाग्रत्स्वप्नैक्योपदेशो नाम पञ्चषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सार्थकेनात्मशब्देन ख्यातिशब्देन चोज्झिताम् ।
 आत्मख्यातिमिमां विद्धि शिलाजठरनिर्घनाम् १
 आदिसर्गात्प्रभृत्येव चिद्योमैवेत्यमाततम् ।

जागरे शून्य एवातिष्ठन्ते, नैवं जाग्रत्प्रशाम्यति, नाप्यर्था
 असन्तो दृश्यन्त इति स्वप्नवैधर्म्यशङ्कां निरस्यति—मृतीति ।
 अयं जाग्रत्क्षणोऽपि स्वप्नो मृतिकाले यः परलोकप्रबोध आख्य-
 न्तिकद्वैतमृतिक्षणस्तत्प्रबोधश्च तत्समये प्रशाम्यत्येव । प्रत्यहं
 स्वप्नानुभवलक्षणे स्वप्नार्थबोधकाले चकारात्सुषुप्तिकाले च शून्य
 एवातिष्ठत इति साधर्म्यमेव न वैधर्म्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥ नन्व-
 यतनस्वप्नार्थाः श्वस्तनस्वप्ने असन्त एव, अयतनजाग्रदर्थान्तु
 श्वस्तनजाग्रत्यनुवर्तन्त इति वैधर्म्यमित्याशङ्कां जन्ममेदेष्वननु-
 वृत्तिप्रदर्शनेन परिहरति—जीवत इति । मृतिबोधोदयं विना
 मरणोत्तरप्रबोधदृश्यानामभावात्परलोकात्मकं जाग्रत्किञ्चनापि न
 दृश्यते ॥ ८ ॥ एवं स्थिते अस्मिन्नयतनस्वप्ने जीवनादिसर्व-
 स्वप्नपदार्थशून्ये भ्रान्त्येव नानामयात्मनि जीवामीति जीवित-
 बोधे सति श्वस्तनः पूर्वेषुस्तनश्च स्वप्नः परलोकात्मकप्राय इति
 कश्चनापि तत्रत्यपदार्थोऽत्रानुवर्तमानो न दृश्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥
 चिच्चमत्कारमात्रात्मत्वं च द्वयोरपि तुल्यमित्याह—चिदिति ।
 हृदि अन्तःकरणे ॥ १० ॥ स्वप्नैक्ये जाग्रत्स्वप्नयोर्ध्यामीनां स्वप्न-
 र्थवन्निराकारत्वमसत्यत्वं च स्फुटमित्याह—सन्त्येवेति ॥ ११ ॥
 ततश्चिन्मात्रपरिशेषोऽपि सिद्ध इत्याह—नानात्मेति ॥ १२ ॥
 तेजसः सूर्यदेरालोकः प्रभेव ॥ १३ ॥ सहजा स्वामाविकी ॥ १४ ॥
 एनां जगद्भ्रान्तिं प्रति प्रह आग्रहः कः । अनुचित एवेत्यर्थः
 ॥ १५ ॥ प्रहीत्रादिप्रिपुटीजगद्रूपमाशून्यमसदेव । ह्यार्षे चः ।
 अधिष्ठानसत्तया सदस्तु अथवा असदेवास्तु अत्रास्मिन्निवसे
 प्रह एकतरपक्षव्यवस्थापनदुराग्रहः किंप्रयोजन इत्यर्थः ॥ १६ ॥

कचतीत्यमिह स्फारमालोक इव तेजसः १३
 चितेश्चमत्कृतिरियं जगन्नात्री चकास्त्यलम् ।
 सहजा गगने कुञ्जे परमाणौ स्थले जले ॥ १४
 भ्रान्तावसत्यरूपायां स्थितायां सत्यवस्तुवत् ।
 आकाशमात्रदेहायां क इवैनां प्रति प्रहः ॥ १५
 प्रहीतप्रहणप्राहारूपमाशून्यमेव च ।
 सदस्त्वेवासदेवास्तु जगदत्राह किं प्रहः ॥ १६
 इत्थमस्त्विदमथान्यथास्तु वा
 मैव भूद्भवतु कोऽत्र संभ्रमः ।
 कोऽत्र फल्गुनि फले फलग्रहो
 बुद्धमेव तदलं विकल्पनैः ॥ १७

कचत्यात्मनि यत्तस्य बुद्धा तेनैव सर्गता २
 न वहन्तीह सरितो नेहोन्मज्जनमज्जने ।
 व्योम व्योह्येव चिद्रूपं कचत्येवमनिक्रितम् ३

अबोधादेकतरपक्षाभिमानसंभ्रमः स्यात् । इदानीं भवद्भिस्त-
 र्वतो बुद्धमेवेति अत्रैतदन्तर्गतभोगलक्षणे एतत्सत्यताप्रतिष्ठा-
 पनेनेतरजलक्षणे च फल्गुनि फले कः फलवग्रहः । अनुचित
 एवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नैक्योपदेशो नाम पञ्चषष्ठ्यधि-
 कशततमः सर्गः ॥ १६५ ॥

आत्मख्यातिविशेषोऽत्र तथा ख्यात्यन्तरस्थितिः ।

ब्रह्मनीलशिलाख्यानं चोक्तं प्रभोत्तरान्वितम् ॥ १ ॥

'चितेश्चमत्कृतिरियं जगन्नात्री चकास्त्यलम्' इति यदुक्तं
 तत्र अख्यात्यसत्ख्यात्यन्यथाख्यात्यात्मख्यात्याख्यासु चतसृषु
 वादिमेदसंमतासु ख्यातिषु कया ख्यात्या स विदुषां चकास्तीति
 रामस्य जिज्ञासां मुनिर्लिङ्गैरुपलक्ष्य तत्र विद्वद्दृशा वादिमेदक-
 ल्पितानां चतसृणामपि शशशृङ्गप्रायतेति निरसिष्यन्निवृत्तसं-
 मतां पञ्चमीमलौकिकीमात्मख्याति व्युत्पादयितुमारभते—सार्थ-
 केनेत्यादिना । सार्थकेन वाच्यार्थसहितेन । तथा चास्युपार्थकप-
 दद्वयलक्ष्यामित्यर्थः । बक्ष्यमाणशिलाजठरमिव निरन्तरं घनाम्
 ॥ १ ॥ आत्मैव ख्यातिरिति पदद्वयस्य सामानाधिकरण्येनान्वये क
 आत्मा सा च किंविषयिणी ख्यातिरिति जिज्ञासायामाह—आदि-
 सर्गादिति । यद्यस्मात्तेनात्मना आत्मन्येव सर्गता बुद्धा स्वै-
 तन्यबलेन ख्यापिता तत्तस्मादयमात्मैव सर्गताविषयिणी ख्याति-
 रित्यर्थः ॥ २ ॥ तत्रात्मशब्दव्याख्यानपरे चिद्योमशब्दे ।
 व्योमशब्दस्य प्रपञ्चशून्यतैवार्थः । अतः प्रपञ्चसत्ख्यातिधा-
 त्मैवेत्येवकारार्थे इति दर्शयति—न ब्रह्मस्तीत्यादिना । कचति-

कचनोक्त्या तु रहितां समप्रेणास्तकल्पनाम् ।
 विनोत्तरपदार्येन त्वात्मख्यातिमिमां विदुः ॥ ४
 आत्मैवेदं जगत्सर्वं ख्यातिर्यत्र न किञ्चन ।
 अख्यातो नाम न ख्यात्या कदाचित्ख्यापितः क्वचित्
 ख्यातिरख्यातिरित्यत्र वाचोयुक्तिरवास्तवी ।
 किं तत्र ख्यापनं नाम स्याद्वाप्यख्यापनं च किम् ॥ ६
 अख्यातिरन्यथाख्यातिरसत्ख्यातिरितीतरा ।
 दृश्याग्निमात्ररूपस्य भासश्चिस्वचमत्कृताः ॥ ७
 यथा यथा यदा ये ये चिन्मात्रव्योमभास्वतः ।
 चिदंशवः कचन्त्यच्छास्तदा ते ते तथा तथा ॥ ८
 आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
 इत्येताश्चिन्मत्कृत्या आत्मख्यातेर्विभूतयः ॥ ९
 आत्मख्यातिपदस्यार्थं आत्मख्यातिपदोज्झितः ।
 अनाद्यन्तो निरुल्लेखः सोऽयमेकधनः स्थितः ॥ १०
 तत्रेदं महदाख्यानं शृणु भवणभूषणम् ।
 दूषणं द्वैतदृष्टीनां द्योतनं बोधभास्वतः ॥ ११
 अस्ति योजनकोटीनां सहस्राणि प्रमाणतः ।
 आनीलकुण्डकठिना विमला विपुला शिला ॥ १२

ख्यायते । अनिहितं निष्क्रियम् ॥ ३ ॥ कचनोक्त्या कचन-
 वाचकेन ख्यातिशब्देन । उत्तरपदं ख्यातिशब्दस्तेन तदर्थेन च
 विना स्वप्रकाशमात्मानमेव स्वात्मकसर्गप्रख्यानात्मकत्वादात्म-
 ख्यातिं विदुर्विद्वान् इत्यर्थः ॥ ४ ॥ एवं चिन्मात्ररूपे सर्गे
 वाद्यभिमतार्थानामख्यात्यादिशब्दानामसंगतिरित्याह—आत्मै-
 वेति । यदा इदं जगत्सर्वमात्मैव स च स्वप्रकाशात्मेव स कदापि
 स्वातिरिक्त्या ख्यात्या न ख्यापित इति अख्यात इति वाचो-
 युक्तिस्तत्र स्यात् । न त्वख्यातिरिति भावार्थकफिञ्जन्तपदं तत्र
 घटमितुं वाक्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥ कुतो न वाक्यं तत्राह—ख्या-
 तिरिति । ख्याधातोर्हि प्रथा अर्थः । प्रत्ययस्य भावः स च यत्ता ।
 तथा च ख्यानात्मिका सत्ता ख्यातिशब्दार्थः । तथाविधव्या-
 यमात्माख्यातिरेवेति न नञर्थेन संबध्यत इत्यख्यातिरिति परा-
 भिमता वाचोयुक्तिस्तत्रावास्तवीत्यर्थः । अस्तु तर्हि हेतुमण्य-
 न्तादत्र किञ् । तत्रापि 'गेरनिटि' इति णिलोपे ख्यातिरिति रूप-
 सिद्धेस्तथा च न विद्यते ख्यातिः ख्यापनं यत्र सा अख्याति-
 रिति व्युत्पत्त्या पराभिमतोऽर्थस्तत्र सेत्स्यतीत्याशङ्काह—किं
 तत्रेति । जडे हि सर्गेऽभ्युपगते तत्रान्यकृतं ख्यापनमख्यापनं
 चोपयुज्यते । यदा तु स्वप्रकाश आत्मैव सर्गस्तदा धीपे धीपान्तरे-
 णेव तत्र ख्यापनमख्यापनं च किम्, न किञ्चिदिति सर्वथा पराभिमतं
 न घटत इत्यर्थः । एतेनासत्ख्यात्यन्यथाख्याती अपि वाद्यन्तरा-
 भिमते प्रत्याख्याते । नञर्थेवदसद्व्यथाशब्दार्थयोरपि ख्याति-
 पदार्येन सह अन्वयानुगत्यादिति भावः ॥ ६ ॥ यदि तु स्वप्र-
 मनोराज्यादिदृश्यान्तरतुल्याः कल्पनामात्ररूपा अख्यात्याद्य-
 क्षिप्रमत्कारा एवेत्यभ्युपगच्छ्य तर्हि तथास्तु न अन्वयः
 क्षतिरित्याह—अख्यातिरिति ॥ ७ ॥ चिदंशवः अक्षिचित्क-

नसंधिवन्धा निषिद्धा वज्रसारा विसारिणी ।
 अत्यन्तपुष्टकठिनाजठराकाशनिर्मला ॥ १३
 असंख्यकल्पनिचयमविनाशा घनाङ्गिका ।
 कान्ताङ्गी निर्मलत्वेन व्योमरूपैव लक्ष्यते ॥ १४
 जातिस्तु ज्ञायते तस्या विशिष्टा नैव केनचित् ।
 कथं कुत्र कदा चेति न विज्ञाता सदैव सा ॥ १५
 अन्तस्तस्यास्तु हृदये भूतधातुविवर्जिते ।
 निषिडानन्तकठिना वज्रसाराऽविनाशिनी ॥ १६
 लेखामयानि विद्यन्ते स्वाङ्गभूतानि भूरिशः ।
 पद्मजालानि शङ्खाश्च गदाश्चक्रादयस्तथा ॥ १७
 खं वायुः सलिलं तेजो वसुधैवमिधा कृता ।
 नासीत्तत्र खलेखानां जीव इत्येव वै तथा ॥ १८
 श्रीराम उवाच ।
 शिलासौ चेतनं तस्याः कुत इत्युच्यतां मम ।
 अचेतना शिला नाम कथं नाम करोति च ॥ १९
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 न चेतना न च जडा सा शिला विपुलोज्वला ।
 जातिं जानाति कस्तस्याः कस्तत्रान्यत्र विद्यते ॥ २०

लिङ्गवत्कल्पितचिद्भागाः ॥ ८ ॥ तथा सति भवदमिमतास्ते
 मधीयात्मरूपातेर्विभूतय एवेत्याह—आत्मख्यातिरिति ॥ ९ ॥
 वर्णितामात्मख्यातिमुपसंहरन् शिलाजठरनिर्घनामिति पदं शिले-
 पाख्यानेन व्याख्यातुमुपक्रमते—आत्मख्यातिपदस्येति ॥ १० ॥
 तत्र एकधनः स्थित इति पदसूचिते शिलाजठरनिर्घनपदव्या-
 ख्याने विषये ॥ ११ ॥ आसमन्ताशीलमाकाशमेव यदि कुञ्चं
 स्यात्तदिव कठिना विमला विपुला च ॥ १२ ॥ न विद्यन्ते
 सन्निवन्धा अवयवसंश्लेषघटना यस्याम् । नशब्दोऽयं न तु नन् ।
 विसारिणी विसारवती ॥ १३ ॥ कल्पनिचयमिति 'काव्य-
 नोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया क्रोशं गिरिरिति वत् ॥ १४ ॥
 सजातीयवस्त्वन्तराप्रसिद्धेस्तस्या विशिष्टा विजातीयव्यावृत्ता
 जातिः केनचित्मेव ज्ञायते । एवं तस्या देशकालप्रकारा अभ्य-
 त्यन्ताप्रसिद्धा इत्याह—कथमिति ॥ १५ ॥ भूतधातुनिर्मला-
 भूतेश्वरुनिघ्नभूतग्रामैश्च विवर्जिते तस्या अन्तर्जठरे लेखाय-
 यानि स्फटिकविलान्तलैस्तत्रायाणि पद्मजालादीनि विद्यन्ते
 इति परेणान्वयः ॥ १६ ॥ आविपदात्सङ्गखद्गादिपरिग्रहः
 ॥ १७ ॥ तत्र शिलाजठरे खं वायुरित्यादि जगत्तासीदेव, किंतु
 तथा लक्ष्यमाणानां खलेखानामेव खं वायुरित्याद्यभिधा तत्र
 शिल्पा कृता । तस्याश्च तथा जीव इत्येवमिधा देहलेखाः
 कृतेत्यर्थः ॥ १८ ॥ नन्वसौ शिला शिलात्वादेव अचेतन्यः ।
 नामेति लोकप्रसिद्धौ । तस्याश्च चेतनं संज्ञानं कृतः । यद्यचे-
 तनैव सा तर्हि सा खलेखानां खं वायुरित्यादि नाम कथं करोति ।
 नामकरणस्य चेतनकर्तृत्वप्रसिद्धेरिति रामः शङ्कते—शिलेति
 ॥ १९ ॥ 'जातिस्तु ज्ञायते तस्या विशिष्टा नैव केनचित्' इति
 प्राक्कनोक्त्यैवायं प्रश्नो उत्तर इति वसिष्ठः कश्चनोक्त्या—नेत्या-

श्रीराम उवाच ।

तस्याः पश्यति ता लेखाः कः कथं जठरस्थिताः ।
कथं वा केन सा भग्ना कदा नामेति मे वद ॥ २१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

न मेरुं युज्यते सोम्रा न च भेत्ता च विद्यते ।
तथैवापरपर्यन्तदेहिभ्या सर्वमावृतम् ॥ २२
लेखामयानि विद्यन्ते तत्रानन्तानि कौटरे ।
वृक्षपर्वतजालानि भग्नानि पुराणि च ॥ २३
तत्र लेखाश्रयाः सन्ति देवदानवनामकाः ।

सूक्ष्मासूक्ष्मा विराकाराः साकारा इव पुत्रिकाः २४
आकाशनाम्नी तत्रास्ति लेखा वैपुस्यशास्त्रिणी ।
उपलेखाश्च सन्त्यस्या मध्ये चन्द्रार्कनामिकाः ॥ २५

श्रीराम उवाच ।

केन दृष्टा वद ब्रह्मल्लेखास्तास्तत्र किंविधाः ।
कथं वा वद दृश्यन्ते निपिण्डोपलकोशगाः ॥ २६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

मया राघव ता दृष्टास्तादृश्यस्तत्र लेखिकाः ।
तवापीच्छा यदि भवेत्तत्तास्त्वमपि पश्यसि ॥ २७

श्रीराम उवाच ।

तादृशी वज्रसारा सा शिला भङ्गं न युज्यते ।
तथापि भवता दृष्टा लेखास्तत्कोशगाः कथम् ॥ २८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एतस्या जठरे राम लेखाहं जठरे स्थितः ।
सैन पश्यामि तत्रस्थो लेखाजालं तदक्षतम् ॥ २९
कोऽसौ शक्तोऽन्यथा भङ्गुं तां शिलामहमन्तरे ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० शिलोपाख्यानं नाम षट्षष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६६ ॥

तत्सर्वं दृष्ट्वास्तस्या अहं तत्रान्तरस्थितः ॥ ३०

श्रीराम उवाच ।

कासौ शिलाथ कञ्च त्वं वद मे कासि संस्थितः ।
किमेतद्वदसि ब्रूहि किमेतद्दृष्टवानसि ॥ ३१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

परमात्ममहासत्ता कवितैषा मया तव ।
अनयैव वचोमङ्गला न त्वेषा विपुला शिला ॥ ३२

परमात्ममहासत्ताशिलाया जठरे वयम् ।
तच्छिलामांसमेवेमे सौषिर्यपरिवर्जिते ॥ ३३

तच्छिलाङ्गं नभो विद्धि तच्छिलाङ्गं सदागतिः ।
तच्छिलाङ्गं क्रियाशब्दा वासना कालकरुपना ॥ ३४

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीदं तत्तच्छिलाङ्गमुदाहृतम् ॥ ३५

परमात्ममहासत्ता शिला मांसमिमे वयम् ।
सर्वं एव ततोऽनन्येऽप्यन्ये त्विति च विद्यते ॥ ३६

चिन्मात्रैकात्मिका येयं किलातिमहती शिला ।
एतस्या व्यतिरेकेण क्व तदस्ति किमुच्यताम् ॥ ३७

शुद्धं वेदनमेवेदं घटावटपटादिकम् ।
यथा स्वप्ने तथा भाति जलमूर्मितया यथा ॥ ३८

इदं ब्रह्म घनं सर्वं चिन्मात्रघनमाततम् ।
परमार्थघनं शान्तं सर्वमेकघनं विदुः ॥ ३९

एकं महाचित्ति शिलोदरमेव सर्वं
सौषिर्यवर्जितमपारमनादिमध्यम् ।

तेनात्मनैव कलिता कलनात्मनेयं

सर्गो जगद्भुवनमित्यपि दृश्यनाम्नी ॥ ४०

हित । अन्यथ को विद्यते ब्रह्मज्जार्ति जानीयादित्यर्थः ॥ २० ॥
यदि तत्रान्यो न विद्यते तर्हि ताः खं वायुरिखायाकारास्त्व-
नुकाकाजठरस्थिता लेखाः कः पश्यति । केन वासान्तर्विचित्ररे-
खाकारेण भग्ना टङ्कैर्लिखिता । अन्तदृष्टप्रवेशाययोगात्कथं वा
भग्ना । कदा नाम भग्नेति वदेति रामप्रश्नः स्पष्टः ॥ २१ ॥ पृष्ठा-
नामपहवैनेवोत्तरमाह—येत्यादिना । उग्रा अतिदृढा । आवृतं
व्याप्तम् । 'नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम्' इति श्रुतेरिति
भावः ॥ २२ ॥ २३ ॥ सूक्ष्मा असूक्ष्माश्च पुत्रिकाः प्रतिभाः
॥ २४ ॥ २५ ॥ नितरां पिण्डो निपिण्डः अतिघनो य उपलको-
शास्त्रतः ॥ २६ ॥ पश्यसि समाधिना प्रपश्यसि ॥ २७ ॥ २८ ॥
अहं वसिष्ठदेहोपि एतस्या जठरे स्थितो रेखैव तेन हेतुना ॥ २९ ॥
तस्या अन्तरवस्थितोऽहमन्तरे विद्यमानं तत्सर्वं लेखाङ्गदं दृष्ट-
वान् ॥ ३० ॥ इदानीं तत्प्रतप्तां शिल्पं वसिष्ठं च रामो
जिज्ञासुः पृच्छति—कासाविति । एतत् शिल्पकथं किं वदसि
॥ ३१ ॥ अनया शिलाख्यानकचोभक्त्या ॥ ३२ ॥ तच्छि-
लाया मांसमिमे खंखं करुपभूता एवेति भावत् । इमे वयम्

॥ ३३ ॥ सर्वं जगत्तच्छिलाङ्गमेवेति प्रपश्यसि—तच्छि-
ला-
ङ्गमिति । सदागतिर्वायुः । पञ्चभूतोपलक्षणमेतत् । एवं किना-
शब्दग्रहणमपि वाट्वाकाशादिसर्वभूतभौतिकधर्मोपलक्षणम् ।
वासना मनोधर्मोपलक्षणम् ॥ ३४ ॥ उक्तमेव पुनः स्पष्ट-
माह—भूमिरिति ॥ ३५ ॥ अन्ये इति तु भ्रान्त्या विद्यते
॥ ३६ ॥ एतस्या व्यतिरेकेण किंचिदस्ति चेत्तत्कास्ति तच्च
किमस्ति तदुभयमुच्यताम् ॥ ३७ ॥ ननु भूतलघटावटपटा-
दिकमेव तद्यतिरिक्तं प्रसिद्धं, नेत्याह—शुद्धमिति । नैतिक-
मपि तद्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ सर्वं जगदेकं
ब्रह्मशिलोदरमेव । तच्च सौषिर्येण चिह्नभावेन वर्जितमपार-
मनन्तं तथा अनादिमध्यं च । तेन तथाविधेन ब्रह्मात्मना
आत्मना खेनेव सर्गो जगद्भुवनमित्यपि पर्यायनामभिः प्रसिद्धा
दृश्यनाम्नी कलना कलिता खोक्तव्येत्यर्थः ॥ ४० ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शिलो-
पाख्यानं नाम षट्षष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६६ ॥

सप्तषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः १६७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिः ख्यातिरख्यातिरन्यथा ।
 शब्दार्थदृष्टयस्तज्ज्ञं प्रत्येताः शशभृङ्गवत् ॥ १
 कदाचनापि मामाङ्ग संभवन्ति न काश्चन ।
 शान्तमव्यपदेश्यात्मा न् आस्तेऽस्तकृतेज्जनः ॥ २
 एता उद्यन्ति चिन्मात्रादात्मख्यात्यादिका दृशः ।
 तच्च शुद्धतरं व्योम तन्मन्येष च दृश्यते ॥ ३
 अयमात्मा त्वियं ख्यातिरित्यन्तःकलनाभ्रमः ।
 न संभवत्यतश्चैनं शब्दं त्यक्त्वा भवार्थभाक् ॥ ४
 गच्छंस्तिष्ठन्नदपि सर्वं शान्तमतो जगत् ।
 आकाशमौनमेवाच्छमच्छिन्नं वाऽप्रवृत्तिमत् ॥ ५
 नानामहाशब्दमपि शिलासौमन्यवस्थितम् ।
 अनारतं गच्छदपि व्योमवच्छैलवत्स्थितम् ॥ ६
 नानाविधारम्भमपि महाशून्यमनङ्कितम् ।
 पञ्चभूतात्मकमपि स्वमिवाल्गवपञ्चकम् ॥ ७
 पदार्थसंकुलमपि शून्यं संवित्तिमात्रकम् ।
 स्वप्ने महापुरमिव दृष्टमप्यच्छविन्मयम् ॥ ८
 सारम्भमप्यनारम्भं संकल्पनगरं यथा ।
 आकाशमात्रं भ्रान्त्यात्म स्वप्नस्त्रीसंगमोपमम् ॥ ९
 अनुभूतमपि व्यर्थं प्रतिबिम्बाङ्गनासमम् ।
 नानानुभवनिर्माणं वस्तु शून्यं तु वस्तुतः ॥ १०

श्रीराम उवाच ।

जाग्रत्स्वप्नात्मकमिदं मन्ये स्मृत्यैव दृश्यते ।

इह तज्ज्ञदृशोदस्य वादिक्यातिचतुष्टयम् ।
 अवस्थात्रयनिर्मुक्तमात्मतत्त्वं निरूप्यते ॥ १ ॥

अन्यथा ख्यातिरिति व्यद्वहितपूर्वपदेन संबन्धः ॥ १ ॥ जग-
 त्ख्यातिसत्त्वे हि सा किमात्मख्यातिरुतासत्ख्यातिरित्यादिवि-
 कल्पानामवसरः स्यात्, सैव नास्ति चेत्कस्याश्चानुविध्यमित्याश-
 येनाह—कदाचनेति । अस्तत्रतेज्जनः ख्यात्यादिकल्पनामूलचि-
 त्तचेष्टाशून्यः ॥ २ ॥ दृशो भ्रान्तिदृष्टयः । तच्च चिन्मात्रं पर-
 मार्थतः शुद्धतरं सर्वकल्पनाशून्यं व्योम । सर्वापि कल्पना
 कृन्मन्येष दृश्यते मया । 'तद्यदिदमयोऽदोमयः सर्वमयः' इति
 श्रुतेरित्यर्थः ॥ ३ ॥ शब्दं त्यक्त्वेति । अत एवास्माभिः सार्थ-
 केनात्मवाच्येन ख्यातिश्चन्देन चोञ्जितामित्युक्तमिति भावः ।
 अर्थभाक् परमार्थभाक् ॥ ४ ॥ गच्छंस्तिष्ठन्निति च्छन्दसो
 लिङ्गव्यत्ययः । अतोऽस्मादर्थदर्शनाद्गच्छन् तिष्ठन् अदद्भक्तवदपि
 जगदप्रवृत्तिमत् सर्वप्रवृत्तिशून्यं भातीयर्थः ॥ ५ ॥ इदमेव
 विशदयति—मानेत्यादिना ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ आकाशमात्र-
 मतिशून्यम् ॥ ९ ॥ १० ॥ यद्यपियमानमेव जाग्रत्स्वप्नात्मकं
 अण्डात्सनामात्राद्दृश्यते तर्हि स्मृत्यैव दृश्यते इति मन्ये । इह

सद्रूपवाद्यार्थकृता स्मृतिरेवेह करणम् ॥ ११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यत्तद्वित्काचकच्येन काकतालीयवद्वपुः ।
 व्योमात्माऽऽभाति भावानां सत्तामात्रमभिसिद्धम् ॥ १२
 तदेतद्विनाशात्म सर्वत्र परमात्मनि ।
 सर्वदा विद्यते शान्ते पथसीव तरङ्गकाः ॥ १३
 निर्निमित्तं स्वरूपात्म तदेतत्परमात्मनि ।
 सर्वात्मन्यपि निर्वाणे व्योमात्मनि निरात्मनि ॥ १४
 यदा यदावमात्यन्तयेन तेन यथा तथा ।
 सर्वदा न कदाचिद्वा यत्र तत्र न किञ्चन ॥ १५
 तस्यैव ब्रह्ममानस्य तेनैवं ब्रह्मणारमना ।
 स्वच्छस्यैव सभावस्य स्वस्वभावमनुज्झता ॥ १६
 इदं जाग्रदयं स्वप्नः सुषुप्तं तुर्यमित्यपि ।
 कृतं नाम स्वयं चित्वाङ्गुल्य वाग्मेति चारमनि ॥ १७
 वस्तुतस्त्वस्ति न स्वप्नो न जाग्रन्न सुषुप्तता ।
 न तुर्यं न ततोऽतीतं सर्वं शान्तं परं नमः ॥ १८
 अथवा सर्वमेवेदं जाग्रद्रूपं सदैव च ।
 सर्वदैव च वा स्वप्नः सुषुप्तं सर्वदैव च ॥ १९
 सर्वदैव च वा तुर्यं तदन्तः सर्वदैव च ।
 तदिदं वा न यद्विज्ञो वयमाशान्तकथिणः ॥ २०
 इदं केनो न किञ्चिद्वा बुद्बुदो वा न कश्चन ।
 शून्यताम्भसि चिद्रयोम महार्णवमहोदरे ॥ २१

जगत्प्रतिभाने स्मृतिरेव करणं न भ्रान्तिः । यतः सा अधि-
 ष्ठाणदोषवाद्दृश्यसंप्रयोगादिनिमित्तशून्या सद्रूपवाद्या अविद्य-
 माना वे अर्थास्तकृता तन्मात्रगोचरेति रामप्रश्नार्थः ॥ ११ ॥
 अधिष्ठानिन्द्रादिदोषज्ज्ञात्स्वप्रकाशमिति संप्रयोगानुपयोगाच्च तद-
 धिष्ठाना भ्रान्तिरेवेवं न स्मृतिः । पूर्वपूर्वानुभवेष्वपि सांप्र-
 त्तिकतुल्यतया स्मृतित्वापरत्या तन्मूलानुभवाप्रसिद्धिप्रसङ्गादि-
 त्याशयेन वसिष्ठः समाधत्ते—यत्तदित्यादिना । तत्राधिष्ठानस-
 ङ्गात्वं दर्शयति—यत्तदिति । यत्तद्योमात्म सत्तामात्रं काचक-
 च्येनाभाति तदेवेदं जगदित्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥
 अधिष्ठाने नियतदोषापेक्षा नास्ति । अनियतदोषास्तु संभ-
 वन्त्येवेत्याशयेन येन तेनेत्याद्युक्तिः ॥ १५ ॥ तर्हि कस्येवं
 भ्रान्तिः केन जगदादिनामानि कृतानि तत्राह—तस्यैवेति
 द्वाभ्याम् ॥ १६ ॥ १७ ॥ ततः अतीतमतिरिक्तम् ॥ १८ ॥
 चितः कदापि स्वापानावात्सर्वदैव जाग्रद्रूपम् । भ्रान्तिमात्रत्वा-
 त्सर्वदैव स्वप्नो वा । अधिष्ठावरणमात्रत्वात्सर्वदैव सुषुप्तम्
 ॥ १९ ॥ खेनैव सदैव वायस्वात्रयातिक्रमणात्सदैव तुर्यमित्येव
 वा वक्तुं शक्यमित्यर्थः । त्रयाप्रसिद्धेस्तस्य तुर्यस्यान्तः असत्त्वं
 वा निर्विकल्पे तदिदं वेत्तादिकिञ्चल्यं च न विद्यः ॥ २० ॥ २१ ॥

यथा संवेद्यते यद्यस्य तदनुभूयते ।
 सद्भासद्भा भवत्स्वप्ने व्योम्नीव सद्यस्य तत् ॥ २२
 संवित्कचनमेवेदं यथा भानं विभासते ।
 व्योम व्योमनि चिद्रूपं चिद्रूपे विततात्मनि ॥ २३
 संविद्य चिन्नभोमजा सैवंरूपैव सर्वदा ।
 नास्तमेति न चोदेति तस्याः स्वात्मिदं जगत् ॥ २४
 महाप्रलयसर्गाद्या महाप्रलयरात्रयः ।
 तस्या एवावयवतां याताः केशनखादिवत् ॥ २५
 तस्या भानमभानं तद्भास्वरं जिह्वामेव वा ।
 नान्यत्स्वभाषवत्स्वप्न्द् इव वायोर्महाचितेः ॥ २६
 तस्मात्किं नाम जाग्रत्स्यात्कः स्वप्नः का सुषुप्तता ।
 किं तुर्यं का स्मृतिः केच्छा तुच्छा एताः कुट्टय्यः २७
 अन्तःसंवेदनं भाति स्वं बाह्यार्थतया यतः ।
 क इतं क च वार्थधीः स्मृतिरेवमतः कुतः ॥ २८
 तदिदं भाति निर्भिति तत्स्वभानं यदात्मना ।
 भानोर्नभसि भावरूपमेव भूतविबर्जितम् ॥ २९
 सद्रूपो यदि बाह्योऽर्थो विद्यते तत्तदुत्थिता ।
 स्मृतिः कारणतामेतु नामाद्यजगतः स्थितेः ॥ ३०
 किंतु नास्त्येव बाह्योऽर्थो भूतानामत्यसंभवात् ।
 पञ्चानामादिसर्गादौ कारणानामभावतः ॥ ३१
 शशशृङ्गं यथा नास्ति यथा नास्ति खपादपः ।
 यथा घण्ट्यासृतो नास्ति यथा नास्त्यसितः शशी ३२
 तथाऽहप्रतिभातोऽर्थो जगदाद्यहमादिकः ।
 अप्रेक्षितोऽस्ति नास्त्येव प्रेक्षितः सन्न कश्चन ॥ ३३
 यथास्तीदं महाकारं न किञ्चिद्रूपमेव वा ।

कल्पनावेदनदशा तु येन यथा यदा संवेद्यते तस्य तदा तथेत्येव
 संतोष्यमित्याह—यथेति ॥ २२ ॥ २३ ॥ यतः संविद्येव जगदतो-
 नास्तमेति नोदेति च ॥ २४ ॥ महाप्रलयसर्गाद्याः कालविभा-
 गास्तत्र महाप्रलयलक्षणा रात्रयः सर्गलक्षणदिनानि चेत्युप-
 लक्षणीयम् ॥ २५ ॥ भास्वरं चिद्रूपं जिह्वं मायारूपं वा ॥ २६ ॥
 उपसंहरति—तस्मादिति ॥ २७ ॥ एवं सति स्मृतिश्च कुतः
 ॥ २८ ॥ निर्भिति निर्भेदं यदात्मना भाति तत्स्वभानं स्वात्म-
 कमेव भानं न स्वभिन्नम् । यथा भानोर्नभसि निराश्रये भाक-
 पमेव भानं न भास्यसापेक्षं तद्वदित्यर्थः ॥ २९ ॥ तदुत्थिता
 तदनुभवहेतुका एतु नाम । आधायाः सर्गादिकात्मिक्या जगतः
 स्थितेः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ जगदादौ सर्गादिकाळे अज्ञा-
 न्प्रति भातोऽहमादिकोऽर्थस्तत्त्वतोऽप्रेक्षितत्वेदस्ति प्रेक्षितस्तु
 नास्ति ॥ ३३ ॥ तत्त्वद्विषयं न किञ्चिद्रूपं मूर्तामूर्तरूपरहितं
 चिन्मात्रैकधनं त्वखण्डितमस्त्येवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ नित्योदितापि
 व्यवहारे उपचारेण कल्पितास्तमयोदया ॥ ३५ ॥ व्योम्न्ये-
 वाज्ञो मुधा पृथ्व्यादितया यदा यदा वेत्ति तदा तदा पृथ्व्या-
 दिकल्पनां धत्ते ॥ ३६ ॥ महाचितिः स्वभानमेव पृथ्व्यादि-
 व्यपदेशेन पृथ्व्यादिनाम्ना पञ्चाद्यपदिशति व्यवहरति ॥ ३७ ॥

तत्त्वद्विषयं राम तथास्तीदमखण्डितम् ॥ ३४
 संविद्यन्ननभोमजा यथोदेति यदा यदा ।
 नित्योदितोपचारेण कल्पितास्तमयोदया ॥ ३५
 मुधा व्योम्न्येव पृथ्व्यादितया वेत्ति तदा तदा ।
 स्वस्यैव तस्य भानस्य धत्ते पृथ्व्यादिकल्पनाम् ॥ ३६
 स्वमेव भानमाकाशमात्रमेव महाचितिः ।
 पृथ्व्यादिव्यपदेशेन पञ्चाद्यपदिशत्यजा ॥ ३७
 आकाश एव पृथ्वीयमिति धत्ते स्वसंविद्यम् ।
 मनोराज्यपुरं बाल इव चिन्मात्रमव्ययम् ॥ ३८
 किं भानं किमभानं स्यात्तस्येति न विकल्प्यते ।
 स्पन्दस्वप्न्द्स्वभावं तद्विद्धि घातमिधाम्बरे ॥ ३९
 यथा भाति चिदाकाशं तथेदमवभासते ।
 व्योम व्योम्न्येव नीरूपं नेदं पृथ्व्यादि सत्कचित् ४०
 यथा भाति चिदाकाशरूपत्वाद्भातमप्यलम् ।
 न सद्भासदिति किञ्चित्तत्र किञ्चिद्य किञ्चन ॥ ४१
 इदमित्थमनित्यं च सद्भाऽसद्भा यथास्थितम् ।
 लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ४२
 स एव हृदयाकाशे कचन्त्या दृश्यसंविदा ।
 बाह्यं ब्रह्माण्डमित्थं च सद्भाऽसद्भा यथास्थितम् ४३
 किमत्र बाह्यं किं वान्तः किं दृश्यं कास्य दृश्यता ।
 शिवं शान्तमशान्तं च सर्वभोमिति शाम्यताम् ॥ ४४
 नो वाच्यवाचकदृशा रहितो विचारः
 संपद्यते स च विकल्पमयेन सिद्धौ ।
 सिद्धिश्च संभवति तेन विना न काश्चि-
 दीपं विना निशि यथा नयनोपलम्भः ॥ ४५

अव्ययं चिन्मात्रमाकाशकल्पे स्वात्मन्येव पृथ्वीयमिति स्वसंविदं
 धत्ते ॥ ३८ ॥ चिन्मात्रमेव चेतस्य जगदाकारं भानं किं अभानं
 च किं स्यादिति तु तत्र विकल्प्यते न विकल्पनीयम् । यतस्तत्राण-
 शक्त्या स्पन्दस्वभावं विच्छत्तया अस्पन्दस्वभावमिति विद्धि ॥ ३९ ॥
 यथा यथा वासनोद्भवेन भाति स्फुरति तथा तथा इदं जगदित्यव-
 भासते ॥ ४० ॥ तद्यथा भाति तथा तद्भातु नाम । भातमपि
 तच्चिदाकाशरूपत्वादलं न सत् नाप्यसदिति । तत्प्रपञ्चरूपं
 किञ्चिदपि न किंतु किञ्चनानिर्वचनीयमेवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥
 यतः स प्राज्ञ एव सर्वेषां हृदयाकाशे आत्मतया आस्ते अत-
 स्तद्रूपैव कचन्त्या दृश्यसंविदा इदमान्तरं शरीरमिदं बाह्यं
 ब्रह्माण्डमित्यादिमेदकल्पनया नाम हृतमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ सर्व-
 भोमिति प्रणवमात्राऽमेदकल्पनया प्रकिलाप्य शाम्यताम् ।
 'मा मा' इति पाठे मा मा इति निषेधवीक्षया निरत्येत्यर्थः ॥ ४४ ॥
 यावद्विचारं त्वसदपि वाच्यवाचकविकल्पं यथालोकमभ्युपग-
 म्येव श्रवणादिविषयः प्रवर्तन्त इत्याशयेनाह—नो इति ।
 वाच्यवाचकदृशा रहितः शास्त्रार्थविचारो नो संपद्यते । स च
 विचारो विकल्पमयेन 'विषयो विद्यमथैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
 प्रयोजनं च पञ्चाङ्गं शास्त्रोऽधिकरणं चिद्रुः ॥' इति प्रसिद्धेनः

तस्मादपास्य परयाऽमलया धियान्तः-

संकल्पकल्पनमनल्पविकल्पजालम् ।

इत्यर्थे श्रीवासिष्ठम् ० वा० दे० मो० नि० उ० जामत्स्यप्रसुप्त्यभावप्रतिपादनं नाम सप्तषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६७ ॥

कृत्वा मनः सकलशास्त्रमहार्थनिष्ठ-

मुद्गीय गच्छ पदमुत्तममेकनिष्ठः ॥ ४६

अष्टषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः १६८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अबुद्धिपूर्वमेवागो यथा शास्त्राविचित्रताम् ।
 करोत्येवमजश्चिन्नाः सर्गाभासः ख एव खम् ॥ १
 यथा करोत्यबुद्ध्यादिरावर्तादि पयोनिधिः ।
 तथा करोति खे स्वात्मा सर्वेशः सर्ववेदनाः ॥ २
 तासां स्वसंविदामेव ततः स कुरुते स्वयम् ।
 मनो बुद्धिरहंकार इत्याद्या विविधाभिधाः ॥ ३

पश्चाज्ज्ञेन कृतः सिद्धैर्भवति । तेन विचारेण विना सिद्धिर्न संभवत्येव । यथा शीपं विना चाक्षुषप्रत्यक्षं निशि न भवति तद्वदित्यर्थः ॥ ४५ ॥ तस्मात्सम्यग्बिचारामलया धिया अन्तःसंकल्पनलक्षणमनल्पविकल्पजालमपास्य मनः सकलशास्त्रनिष्कर्षसिद्धमहार्थः सच्चिदानन्दाद्रयात्मा तच्चिद्रुं कृत्वा तदेकनिष्ठः सन्नस्मात्संसारानुद्गीयोत्तमं मोक्षाख्यं पदं गच्छेत्यर्थः ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जामत्स्यप्रसुप्त्यभावप्रतिपादनं नाम सप्तषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६७ ॥

अबुद्धिपूर्वकः सर्गोऽप्यारोपोऽत्र वर्ण्यते ।

चिन्मात्रात्मा च स चित्तोऽविकारित्वाद्बोधते ॥ १ ॥

मिथ्यात्वसिद्धये सर्गस्याबुद्धिपूर्वकत्वं दृष्टान्तैः समर्थयति—
 अबुद्धिपूर्वमित्यादिना । अगो वृक्षो यथा अबुद्धिपूर्वं अहंशास्त्रावैचित्र्यं करोमीति बुद्धिपूर्वकतां विना । अजो जन्मादिविक्रियाद्यन्यः परमात्मा खे आकाशकल्पे स्वात्मनि खं शून्यात्मिकाश्चिन्ना विचिन्नाः सर्गाभासः प्रपञ्चाध्यासान्करोति । ननु 'स ऐकत लोकास्तु सजा इति', 'सोऽकामयत बहु स्या प्रजावेयेति', 'स तपोऽतप्यत, सतपस्तप्त्वा, इदं सर्वमसृजत', 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽजमुपजावते' इत्यादिश्रुतिषु बुद्धिपूर्वक एव सर्ग उद्बोध्यते तत्कथमत्राबुद्धिपूर्वकः सर्ग इति प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धमुच्यते इति चेत् शृणु । भवेदेतदेवं यदि श्रुतेः सर्गादिप्रतिपादने तात्पर्यं स्यात् । न तु तदस्ति । प्रयोजनाभावात् । न हि सर्गादिज्ञानेन किञ्चित्प्रयोजनं श्रुतम् । अद्वितीयब्रह्मात्मताज्ञानं हि प्रयोजनबहुपक्रान्तं सर्वश्रुतिषु । तस्य फलवतः संनिधौ श्रुतमफलं सर्गादिकैमर्थक्याकाङ्क्षायां तदज्ञताप्रतिपद्यते । सा चास्य शाण्डिल्यविद्याज्ञानमविधिपरं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति ज्ञान्त उपासीत' इति वाक्ये यत इदं सर्वं जगत्सत्त्वाभ्यायत इति तज्जम् । तस्मिन् जीयत इति तज्जम् । तेनानिति प्राप्तिरिति जीयतीति तदन्, उत्पत्तिरित्यति-प्रकृत्येव तद्विनीतसत्ताकमतः सर्वं खल्विदं तद्ब्रह्मैवेति ब्रह्मैवेत्युत्पादनोपायसया सर्गोद्देशानाज्ञानवस्य श्रुत्यैव सिद्धवत्कीर्तना-
 यो० वा० १८४

अबुद्धिपूर्वमारम्भो दृश्यरूपः स्वतश्चित्ते ।
 संकल्प्यमानो बुद्ध्यादिस्तरङ्गादिर्यथाऽम्बुधेः ॥ ४
 चिन्मात्रात्संप्रवर्तन्ते मनोबुद्ध्यादयस्तथा ।
 आधर्तकणकल्लोलवीचयो धारिधेर्यथा ॥ ५
 भित्तिमात्रं यथा चित्रजगदालोकमात्रकम् ।
 चिति चिद्योममात्रात्म तथैवाभासमात्रकम् ॥ ६
 अबुद्धिपूर्वमारम्भो नियत्या संनिवेशवान् ।
 यथा संपद्यते वृत्ते तथा सर्गात्मकश्चित्ति ॥ ७

त्प्रकारान्तरेण तद्वटनायोगात् 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादिसूत्रभाष्यादिव्युत्पादितयुक्तिसहस्रेभ्यः स्मृतिपुराणाद्युपबृंहणसहस्रेभ्यश्चाप्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वव्युत्पादने सर्गश्रुतीनां तात्पर्ये निश्चिते रज्जुसर्पशृङ्गिरजतमरुमरीचिकास्त्रप्रायध्यारोपेण बुद्धिपूर्वकत्वमेव दृष्टं न क्वचिदारोपे बुद्धिपूर्वकता लोके दृश्यत इति भगवता वसिष्ठेनात्रानारोपितत्वदृष्ट्वा कस्यचित्सर्गे मा भूदित्यबुद्धिपूर्वकता प्रसाध्यते । श्रुतिषु ईक्षणादिपूर्वकत्वकीर्तनं तु ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वचिदेकरसत्वादिलामेन सांख्यार्थमिमता चेतनप्रधानाद्युपादानकत्वनिरासे पर्यवस्यति । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादिसूत्रैस्त्वैव श्रुतित्तात्पर्यवर्णनात् । 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्त्रपाः', 'यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इत्यादिश्रुतिदृष्टान्तानुगुण्यात् । भगवदीक्षणकामसंकल्पादीनां बुद्धितत्त्वोत्पत्तेः पूर्वभाविनां मायावृत्तिमात्रत्वेन तत्पूर्वकत्वेऽपि कामसंकल्पादिचर्मिबुद्धिपूर्वकत्वाभावोपपत्तेः । अध्यारोपस्य त्वंपदार्थनिष्ठस्यैव चापवादेन निरासस्य तन्मुक्तिफलत्वोपपत्तेस्तत्पदार्थजगदध्यारोपप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्प्रपञ्चस्य खनिष्ठाविद्याकार्यत्वे खविद्यया निरासोपपत्तेः खस्मिन्नाबुद्धिपूर्वकत्वैवावस्थात्रयाध्यारोपस्यानुभवाभेत्याद्याशयेनेह मुनिना अबुद्धिपूर्वकत्वसमर्थनमिति बोध्यम् ॥ १ ॥ अबुद्ध्यादिः अबुद्धिपूर्वः सन् । सर्ववेदनाः जगत्प्रतिभासान् ॥ २ ॥ तासां जगदाकाराणां स्वसंविदां स्वयमेव मनो बुद्धिरित्याद्यभिधा नामानि सर्गादौ यथाश्रुति कुरुते इत्यर्थः ॥ ३ ॥ चित्तैर्बुद्ध्यादिसिद्धिपर्यन्तमबुद्धिपूर्व स्वत एवारम्भः । यस्तु बुद्धिसिद्ध्यनन्तरं संकल्प्यमान आरम्भः स बुद्ध्यादिर्बुद्धिपूर्वः । तरङ्गादिरित्युभयत्र दृष्टान्तः ॥ ४ ॥ ५ ॥ आलोक्यत इत्यालोकस्तन्मात्रकं चित्रलिखितं जगद्यथा भित्तिमात्रं तथा चिति आभास्यत इत्याभासस्तन्मात्रकमिदं जगच्चिद्योममात्रात्मेव ॥ ६ ॥ वृत्ते प्रागुक्तवृक्षपयोनिध्यादिवचित्रे यथा अबुद्धिपूर्वं प्रवृत्तोऽपि शास्त्रावर्ताधारम्भो नियत्या तुल्यसंनिवेशवान्संपद्यते, तथा चिति सर्गाधारोऽप्यारम्भस्तु स्वसंनिवेश-

तरौ गुलुच्छकादीनां यथान्यः कुरुतेऽभिधाः ।
 तथा चिद्वक्ष्युष्पादिपृथ्व्यादिविहिताभिधम् ॥ ८
 अनन्यत्पुष्पत्रादि यथा नाम महातरौः ।
 तथैवानन्यदेवेदं चिद्व्योम्नः परमात्मनः ॥ ९
 तराववयवेष्वन्यः करोति विविधाभिधाः ।
 चिद्व्योमात्मनि सर्वेषु भूत्वान्य इव खात्मसु ॥ १०
 चित्तरोः पल्लवाः सर्गाधिस्थादेव न सन्त्यलम् ।
 कार्यकारणवद्भाति स एव स्वप्नवत्स्वयम् ॥ ११
 वक्षिं चैत्कथमेतस्माद्यर्थं तदनुभूयते ।
 सर्गाद्यमुत्र स्वप्नादिष्वेषु कोऽपह्वं भजेत् ॥ १२
 तरावाकारवत्येषा कल्पना रचिता यथा ।
 चित्तेराकाशमात्रायास्तथैषा कल्पना कृता ॥ १३
 यथा गन्धादयः पुष्पे गगने शून्यतादयः ।
 यथा स्पन्दादयो वायौ तथा बुद्ध्यादयः परे ॥ १४
 यथा गन्धादयः पुष्पे गगने शून्यतादयः ।
 यथा स्पन्दादयो वायौ तथेमाः सृष्टयश्चित्ति ॥ १५
 यथा खानिलपुष्पाणां शून्यतास्पन्दगन्धदृक् ।
 शून्यरूपानुभूता च तथा सर्गस्थितिश्चित्ति ॥ १६
 न पृथक् शून्यता व्योम्नो न पृथग्भवताम्भसः ।
 न पृथक् कुसुमाग्रन्धो नानिलात्स्पन्दनं पृथक् ॥ १७
 अग्नेर्न पृथगुष्णत्वं पृथक् शैत्यं च नो हिमात् ।
 चिद्व्योमैकात्मनः स्वच्छान्न जगत्पृथगीश्वरात् ॥ १८
 सर्गादावेव यद्व्योम्नि स्वप्नादिति च दृश्यते ।

बान्भविष्यतीति न तदर्थमपि बुद्धिपूर्वकत्वापेक्षेत्यर्थः ॥ ७ ॥
 समष्टिबुद्ध्याद्युत्तरकालिकं चिद्वक्ष्युष्पादिप्रायपृथ्व्यादि तु चिद-
 न्यबुद्धिसमध्यात्महिरण्यगर्भादिना विहिताभिधं कृतनामधेयं
 बोध्यम् ॥ ८ ॥ अनन्यत् अभिधम् ॥ ९ ॥ अन्यो व्यष्टिजीव इव
 भूत्वा स्वप्नादिषु कार्यान्तरेषु च सर्वेषु विविधा अभिधा नामानि
 करोति ॥ १० ॥ एवं नामरूपाध्यारोपं प्रपञ्चयेदानीमपवादमारभ-
 ते—चित्तरोरित्यादिना । स चित्तहरेव ॥ ११ ॥ यदि सर्गादि
 नास्त्येव तर्हि चिता अमुत्र परलोके व्यर्थं तदनुभूयत इत्यापत्तिः ।
 तन्न न युक्तम् । विहितनिषिद्धकर्मफलत्वाद्योगप्रसङ्गादिति
 हेतोरैतत्कथं स्यादिति त्वं वक्षि आक्षिपसि चेत्तर्हि स्वप्नादि-
 ष्वेषु प्रसिद्धरज्जुसर्पसृगृत्तृष्णिकाद्यनुभवेषु मध्ये को वैमर्थाप-
 ह्वं भजेत् । तस्यापि स्वप्नभोगप्रदकर्मफलत्वाविशेषात् । यदि च
 भोगाभासमात्रविभावेनेन तत्र कर्मसाफल्यं ब्रूषे तर्हि प्रकृतेऽपि
 सममिति भावः ॥ १२ ॥ एतावांस्तु साकाराध्यासेषु सर्वा-
 दिभ्यश्चित्तैर्विशेषो यत्साकारे साकाराध्यासास्ते, चित्ति तु नि-
 राकारे जगदध्यास इत्याद्येनाह—तराविति ॥ १३ ॥ १४ ॥
 सृष्टयः पृथ्व्यादयोऽपि ॥ १५ ॥ स्वस्य शून्यतादृक् अनिकस्य
 स्पन्ददृक् पुष्पाणां गन्धदृक् च यथा अनुभूतापि तद्व्यतिरेकशून्य-
 न्यरूपा तथा चित्ति सर्गस्थितिरपीत्यर्थः ॥ १६ ॥ तदेव स्पष्ट-
 याह—नेसादिना ॥ १७ ॥ १८ ॥ कुतो न पृथक् तत्राह—

अकारणं तच्चिद्व्योम्नः कथमन्यद्भवेत्किल ॥ १९
 स्वप्न एवात्र दृष्टान्तो नित्यदृष्टो विचार्यताम् ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण सारं किं तत्र कथ्यताम् ॥ २०
 तदिदं बुद्धिसंस्कारदृश्यमित्यादिका स्मृतिः ।
 न संभवति यत्तत्त्वं कथयेदं कथं भवेत् ॥ २१
 यत्तत्र दृष्टं तदिह स्मृतिकाले भवेद्यदि ।
 नानुभूयेत तत्तत्र कैवैकस्य द्विधा स्थितिः ॥ २२
 तस्मादावर्तवृत्त्येदं काकतालीयवज्रगत ।
 चित्ति यद्भाति तत्रैषा पश्चात्स्वप्नादिकल्पना ॥ २३
 अबुद्धिपूर्वं संपन्ने सर्गे वीक्ष्यादयो यथा ।
 संनिवेशः स्थितिः पश्चात्स्वयं संपद्यते तथा ॥ २४
 जातमेव न तज्जातं जातं यत्कारणं विना ।
 यतोऽजातं तदेवाद्यं तत्समं संस्थितं तथा ॥ २५
 अबुद्धिपूर्वं संजाता रक्षादीनां यथार्चिषः ।
 सत्तैव संनिवेशेन तथैवासां जगद्दृशाम् ॥ २६
 यथाकथंचिदेवेदमादौ संपद्यते जगत् ।
 पश्चाद्दृक्भाति नियतिमावर्तोऽध्याधिवात्मनि ॥ २७
 चिद्व्योम्नि स्वप्नजालानि चिज्जगन्त्यपकारणम् ।
 प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते शून्यशून्यात्मकान्यपि ॥ २८
 यावत्सर्वमध्यान्योन्यं याति कारणतां चिरम् ।
 तेषां शून्यात्मका एव पदार्था ईश्वरादयः ॥ २९
 जायते शून्यमेवेदं शून्यमेव च वर्धते ।
 ननु शून्यतयात्यन्तं शून्यमेव विनश्यति ॥ ३०

सर्गादावेवेति । यतः अकारणं ततो न पृथगित्यर्थः । विना-
 कारणं कूटस्था चित्कथमन्या भवेत् । बदन्तित्यर्थः । क्लिप्तेति
 प्रश्ने ॥ १९ ॥ २० ॥ ननु स्वप्नः स्मृतिरेव । इतरस्मृतिषु
 संस्कारजासु विषयशून्यासु तत्ता भासते । इह तु निद्रादोषवसा-
 दिदंतागोचरत्वांशेऽपि संस्कारोद्दोषात्तत्ताप्रमोषादिदन्ता भा-
 सत इति तदिदं बुद्धिजन्यसंस्कारदृश्यमुभयप्राप्यैकं वस्त्वित्यादि-
 का शङ्का तु न संभवति । यद्यस्मात्तत्त्वं तत्ता इदं इदन्ता कथं भ-
 वेत् । अपरोक्षे हीदन्ता प्रसिद्धा, स्मृतौ त्वसन्निकृष्टं वस्तु परोक्ष-
 मेव । अतः कथमिदं घटते कथयेत्यर्थः ॥ २१ ॥ ननु स्वप्नस्मृति-
 काले तत्रारण्यादौ दृष्टं व्याघ्रादि इह स्वप्नप्रदेशे निद्रया संनिधा-
 प्यते इति यदि इदन्ता तत्र भवेत्तर्हि तत्रारण्ये तद्याघ्राद्यन्वै-
 स्तदा नानुभूयेत । निद्रया एक एव व्याघ्रो द्विधा स्थाप्यत
 इति चेत्तत्राह—कैवेति ॥ २२ ॥ तस्मात्स्वाप्नबोधस्मानुभवत्वान-
 नपह्वाद्दृष्टान्तोऽस्त्येवेति श्लोकं सिद्धमित्युपसंहरति—तस्मा-
 दिति । पश्चात्स्वप्नानुभवसिद्ध्यनन्तरम् ॥ २३ ॥ २४ ॥
 यतः अजातमिति श्लेधः ॥ २५ ॥ जगत्सत्तैव जगद्दृशा संनि-
 वेशेन वेपेण स्फुरतीति शेषः ॥ २६ ॥ यथाकथंचित् अनिर्वचनी-
 यमायाकारणवत्त्वादेव । नियतिमर्षिक्रियानियतिलक्षणां स्वप्नताम्
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ ईश्वरादय इति । ईश्वरत्वस्यापि नात्याघ्रापेक्ष-
 कप्रत्यादिति भावः ॥ २९ ॥ शून्यमभिधमानम् ॥ ३० ॥

शून्यं कचत्वशून्याभं दृष्टान्तं स्वप्नमत्र यः ।
 अपहृतेऽनुभूतं स पशुभर्तृकुंकं कुचीः ॥ ३१
 असदेवेदमाभाति भ्रान्तिमात्रं सुकृत्रिमम् ।
 चिच्चामत्कारमात्रात्म ज्ञे सन्मात्रमकृत्रिमम् ॥ ३२
 अयं चिरस्थसंकल्पः सर्गप्रलयविभ्रमः ।
 ज्ञानं स्वभावकचनमज्ञानं भ्रान्तिजृम्भणम् ॥ ३३
 झटित्युदेति ब्रह्मात्म दृश्यं दृष्टमकारणम् ।
 खे सुषुप्तादिव स्वप्नः पश्चाद्विद्यतिमृच्छति ॥ ३४
 काकतालीयवचित्वाच्चिति दृश्यं प्रकाशते ।
 स्वयमेव स्वभावस्थमावर्तादि यथाम्बुधौ ॥ ३५
 ईदृशो नाम चिद्धातुरयमाकाशमात्रकः ।
 यदित्थं नाम कचति जगद्रूपेण चिद्धपुः ॥ ३६
 तेन चिद्रूपिणा पश्चाद्दृश्येनात्मनि कल्पिताः ।
 संज्ञाः स्मृत्यादिपृथ्व्यादिबुद्ध्यादिकलनात्मिकाः ॥ ३७

श्रीराम उवाच ।

एवं स्थिते हे भगवन्बुद्धिसंस्कारतः स्मृतिः ।

अत्र असतोऽपि कचने दृष्टान्तभूतस्वप्नं स्वानुभूतं योऽपहृते अप-
 लपति स कुचीर्मेघपालः सन् पशुभर्तुर्महामेघस्य साक्षात्स्वयं दृष्टं
 कुंकं कोकनं कुकः । 'कुक आदाने' इत्यस्माद्धर्मैः कः । वृककर्तृ-
 कमादानं तमप्यपहृयादित्यर्थः ॥ ३१ ॥ चित्तो मायाविन्याश्चम-
 त्कार एवात्मा स्वरूपं यस्य तदेव ज्ञे अकृत्रिमं सन्मात्रं न
 जगदित्यर्थः ॥ ३२ ॥ अयं प्रपञ्चधातुश्चिरस्थसंकल्पात्मक एव
 सर्गप्रलयविभ्रमो नान्यः । तस्य तात्त्विकस्वभावकचनं तत्त्वज्ञानं
 भ्रान्त्याकारेण जृम्भणं त्वज्ञानमिति बोध्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥
 मायोपहितब्रह्मात्म झटित्येव दृश्यं भूत्वा अकारणमेवोदेतीति दृ-
 ष्टम् । यथा दृश्यज्ञाने आत्मनि सुषुप्तादनन्तरं स्वप्नो दृष्टस्तद्वत्पश्चा-
 दर्थक्रियाव्यवस्थया कार्यकारणभावादिनियतिं ऋच्छति गच्छति
 ॥ ३४ ॥ अकस्माद्दृश्यस्फुरणे निमित्तापेक्षा नास्तीत्याह—काक-
 तालीयवदिति । स्वभावस्थं चित्स्वभावमात्रनिबन्धनम् ॥ ३५ ॥
 स्वभावमेव विद्यादयति—ईदृश इति ॥ ३६ ॥ प्रथममबुद्धिपूर्व-
 दृश्याकारप्रतिभासाद्दृश्यभूतेन तेन चिदात्मना पश्चादात्मनि अ-
 तीतमिति भाते स्मृत्यादिकलनात्मिकाः, वर्तमानमिति भाते च
 पृथ्व्यादितद्बुद्ध्यादिकलनात्मिकाः संज्ञाः कल्पितास्तथा च सर्वो-
 ऽप्ययं तात्कालिकप्रतिभासे अविभक्ते बुद्ध्यादिविभागः कल्पना-
 मात्रमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ यदि तात्कालिकप्रतिभासेष्वेव विभाग-
 संज्ञामेदकल्पनामात्रं जगत्सर्हि प्रतिभासक्षणमात्रस्यापि जगद्-
 प्रतिभासकाले नास्त्येवेति फलितम् । तथा च प्रतिभासस्योत्तर-
 क्षणे नाशे जगतोऽपि नाशात्क्षणमज्ञात्प्रसङ्गः । अस्तु नाम
 तथा मायामये जगति स्थायित्वव्यवस्थापनस्यापि ब्रह्मविदः
 प्रयोजनाभावादिति चेन्न । लोके स्मृतिप्रत्यभिज्ञादेः पूर्वानुभूत-
 गोचरत्वनिबन्धाधीनवेदशास्त्रादिप्रामाण्यभङ्गापत्त्या ब्रह्मवादस्य
 मूलधैयिस्मापत्तेरित्याशयेन रामः शङ्कते—एवं स्थिते इति ।
 एवं त्वदुक्तरीत्या तात्कालिककल्पनामात्रत्वे जगतः स्थिते

इति किं प्राप्यते ब्रूहि संकुञ्जा यदि न स्मृतिः ॥ ३८
 धीवसिष्ठ उवाच ।

शृणु राम भिनन्नेनं प्रश्नं सिंह इवेभकम् ।
 अमेदं स्थापयाम्येकमालोकमिष भास्करः ॥ ३९
 विद्यते जगदात्मेवं दृश्यं चिन्मात्रकोटरे ।
 अनुत्कीर्णा यथा वृक्षे वनस्था शालभञ्जिका ॥ ४०
 उद्धरेद्वृक्षतस्तक्षा कदाचिच्छालभञ्जिकाम् ।
 अद्वितीयाच्चितिस्तम्भादुत्कीर्णा कः करोति ताम् ४१
 स्तम्भे जडेन सा व्यक्तिमनुत्कीर्णेह गच्छति ।
 चिति त्वन्तर्गता चित्त्वादेवात्मन्येव भात्यलम् ॥ ४२
 भासमाना त्वनुत्कीर्णेदेहैवापि च आत्मिका ।
 स्वरूपादच्युता चैव चिन्मात्रादात्मनि स्थिता ॥ ४३
 सर्गादौ सर्गकलनाः करोति कलनावती ।
 सा चित्स्वभावतः स्वप्ने आत्मन्यद्योदितामिव ॥ ४४

पूर्वोत्पन्नबुद्धेः प्रामाणिकादनुभवात्तात्पर्यस्कारतः स्मृतिः प्रत्य-
 भिज्ञा चेति सर्वशिष्टानुभवसिद्धो नियमः किं प्राप्यते कथं
 लभ्यते । यदि स्मृतिः प्रत्यभिज्ञा च संकुञ्जा प्रागनुभूतविष-
 यिणी नाभ्युपगम्यते । अत्रोत्तरं ब्रूहीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ तत्र भ-
 गवान्वसिष्ठ आक्षेपं बहु मन्यमानः समाधानं प्रतिजानीते—
 शृणुष्विति । प्रश्नमाक्षेपं भिनन्नि बुक्त्या विदारयामि । अमेद-
 मद्वैतमात्मतत्त्वम् ॥ ३९ ॥ अवेदर्य दोषो यदि प्रागसदेव ज-
 गत्क्षणिकप्रतिभासेन सहोत्पद्यत इति बौद्धराजान्ताभ्युपगमे ।
 न तु तथा वयमभ्युपगच्छामः; किंतु नित्यब्रह्मसत्तात्मकमेव जग-
 त्तित्यचिदात्मकैव प्रतिभासेन सदाभिव्यक्तियोग्यमपि अविद्या-
 वरणविज्ञेयशक्तिवैशिष्ट्यचमत्कारेण कदाचिदाविर्भूतमिव तिरो-
 भूतमिव घटपटाद्याकारविशेष इव च्छिन्नमिव भिन्नमिव कारणे-
 कत्पादितमिवापरोक्षमिवैकमिव नानेव भिन्नाभिन्नमिव क्षणिकमिव
 स्थायीवातीतं वर्तमानं अविष्यदिवेत्यादिनानाचमत्कारैर्नियतैश्चा-
 नियतैः सहस्रैर्विसदृशैश्चावभासत इति । तत्र च स्मृतिप्रत्यभि-
 ज्ञादिकं सर्वमुपपद्यत एवेत्याशयेन समाधानुमारभते—विद्यते
 इत्यादिना । वनस्थेस्थानन्यद्योतनाय ॥ ४० ॥ उद्धरेत्तदावरकका-
 छावयवनिरसनेन यथा प्रकटयेत्तथा अद्वितीयात्कर्त्रादिकारकज्ञ-
 न्याच्चितिस्तम्भात्तां जगच्छालभञ्जिकां सम्यगुत्कीर्णा कः तदन्यः
 करोतीत्यकारकतत्त्वाद्वाकप्रतिभासत्तदभिव्यक्तिर्न भवतीत्यर्थः
 ॥ ४१ ॥ तर्हि सा कथं व्यक्तिं गच्छति तत्राह—चित्ति त्विति ।
 तद्विद्यमानचित्त्वावरणनिवृत्तौ तादृशचिद्गोदेव चन्द्रान्तर्गतौ
 राहुरिव आत्मनि चिदात्मन्येव अलं भाति व्यक्तिं गच्छतीत्यर्थः
 ॥ ४२ ॥ तर्हि सा प्रलयसुषुप्त्गोरपि किं न भातीति चेत्सत्सा-
 मान्यात्मना भात्येवेत्याह—भासमाना त्विति । तु सचुः सर्ग-
 कालाद्विशेषद्योतनार्थः ॥ ४३ ॥ सर्गादावपि सा चित् प्रथमं प्रा-
 गुक्तनिर्विकल्पकलनावती सती पश्चाद्भोजकादृष्टानुसारेणोद्भूते-

आकाश एव हृदये परमाकाशरूपिणी ।
 संकल्पयति चिच्छालभञ्जिकाः स्वात्मनात्मनि ॥ ४५
 इयं ब्रह्मकला सेह चिन्मात्रकलना त्वियम् ।
 इयं चित्तिरियं जीवस्त्वहंकारस्त्वसाविति ॥ ४६
 इयं बुद्धिरियं चित्तमयं काल इदं नभः ।
 अयं सोऽहं क्रिया चेत्यमिदं तन्मात्रपञ्चकम् ॥ ४७
 इन्द्रियाणामिदं बृहत् पुर्यष्टकमिदं स्मृतम् ।
 इहतिबाहिको देहस्तथायं चाधिभौतिकः ॥ ४८
 ब्रह्माहं शंकरब्राह्मपेन्द्रोऽहमहं रविः ।
 इदं बाह्यमिदं चान्तर्यं सर्ग इदं जगत् ॥ ४९
 इत्यादिकलमाजालं चिद्योमैवातिनिर्मलम् ।
 तस्मात्कैते पदार्थौघाः क स्मृतिः क द्वयैकते ॥ ५०
 अकारणकमेवेति जगदाभोगिलण्डकः ।
 सर्गादौ स्वप्नवद्भाति खे स्वात्मैव विकारिवत् ॥ ५१
 व्योम्नयेव कथति व्योम चिन्मये चिन्मयं हि यत् ।
 बुद्धं तदेव तेनैव जगद्बोधात्क तज्जगत् ॥ ५२
 क स्मृतिः क च वा स्वप्नः क कालाः कलनाञ्जकाः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० शालभञ्जिकोपदेशो नामाष्टषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १६९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो ।
 अन्तर्मुखमतेर्नित्यं स मुक्त इति कथ्यते ॥ १

मनोविकल्पैर्विचित्राः सर्गकल्पाः करोति । यथा स्वप्ने अद्योदिता
 कल्पनामिव हृदये संकल्पयतीति परेण संबन्धः ॥ ४४ ॥
 ॥ ४५ ॥ कथं कथं विशेषविभागान्सर्गादौ संकल्पयति तत्र-
 पञ्चयति—इयमित्यादिना । इयं ब्रह्मकला सत्तासामान्यरूपा
 जगद्बीजभूता । इहास्यां ब्रह्मकलायामेव सेयं चिन्मात्रकलना
 सदा अनावृत्तस्वभावा तत्प्रतिचिन्वन्वित्तिरियम् । इयमेव प्राणा-
 दिसंबलिता जीवः । असावभिमानवृत्तिप्रधानस्तु अहंकारः ।
 अन्वयसानप्रधाना बुद्धिरित्याद्युक्तम् ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ इह
 एतत्संघाते । अयं पञ्चीकृतभूतमयः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ इत्यादि सर्व
 कल्पनाजालमतिनिर्मलं चिद्योमैव न ततोऽन्यदणुमात्रमपीत्यर्थः ।
 तस्माद्भक्तलिपता जडपदार्थौघा एते क तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ५० ॥
 इति अनया रीत्या ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ यदेकमेव चिद्योम तदा प्रपञ्चि-
 तविभागा न सन्त्येवेति फलितमित्याह—केति ॥ ५३ ॥ अन्त-
 र्यदस्ति अन्तर्गता या सत्तेत्यर्थः ॥ ५४ ॥ हे अन्धाः बाहिनः,
 अकारणं तद्भूतमुत्पन्नं कथं भवेत् । तत्कूटस्थं च अन्यथा सवि-
 कारे कथम् ॥ ५५ ॥ तस्मात्स्वप्नान्तिगृहीतं जगतो जाह्यादिसमाहं
 परिलज्य शुद्धचिन्मात्रस्वभावोऽग्नीक्रियतामित्याह—तस्मादिति
 ॥ ५६ ॥ रजश्चिन्मत्प्रसन्नमार्गमणुमात्रम् ॥ ५७ ॥ यतः अचेत्यकम-
 तोऽकचत् अत्रप्रकाशयदेव स्वमात्रप्रकाशं सदावतिवत् ॥ ५८ ॥

चिदाभानमिदं भाति शान्तं शून्यमिदाम्बरे ॥ ५३
 यदन्तश्चिद्धनस्यास्ति तद्बहिर्भूततां गतम् ।
 वस्तुतस्तु न तद्बाह्यं नान्तः सन्मात्रकादते ॥ ५४
 निरस्तावयवाच्छान्तादनाख्याद्यत्प्रवर्तते ।
 अकारणं भवेद्भूतं तदन्धाः कथमन्यथा ॥ ५५
 तस्माद्याहकपरं ब्रह्म तादृग्दृश्यमिदं परम् ।
 यदेव चिन्मयः स्वप्ने तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥ ५६
 न किञ्चित्किञ्चनापीदं दृश्यमस्ति मनागपि ।
 क रजः पूर्णजलधौ क दृश्यं परमाम्बरे ॥ ५७
 तच्छेदं भाति वा किञ्चित्चिन्मात्रमचेत्यकम् ।
 अकचत्वेव संशान्तमात्मनीत्यमवस्थितम् ॥ ५८
 पूर्णाद्वै ब्रह्मणः पूर्णमप्यनुद्धृतमुद्धृतम् ।
 इवेदं भाति भारूपमाभानं परमात्मकम् ॥ ५९
 इत्थं मयि प्रकथयत्यनुभूयमान-
 मप्युच्चकैर्बत जनस्य विमूढतान्तः ।
 स्वप्ने जगद्गुणेषु जाग्रदिति प्रतीतिं
 नाद्यापि यत्त्यजति नाम विदन्नपि द्राक् ॥ ६०

यस्य न स्फुरति प्रज्ञा चिद्योमन्यचलस्थितेः ।
 प्रसृतेष्विव भोगेषु स मुक्त इति कथ्यते ॥ २

उक्तेऽर्थे 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इति श्रुतिं स्मारयति—पूर्णादिति ।
 परमात्मैव परमात्मकम् ॥ ५९ ॥ एतावद्विस्तृतेनान्वहमावर्तिते-
 नाप्युपदेशेन काश्चिन्मन्दाधिकारिजनानप्रबुद्धान् लिङ्गैरुपलक्ष्य
 भगवांस्ताननुशोचन्नाह—इत्थमिति । मयि स्वयमनुभूयमान-
 मात्मतरवमित्थं विषादतरं पुनःपुनरत्युच्चकैः प्रकथयति अत्यपि
 मन्दाधिकारिजनस्यान्तर्गता विमूढता स्वप्नप्राये जगद्गुणेषु इयं
 जाग्रत्सत्यमेवेति प्रतीतिमद्यापि न संत्यजति । यतेति खेदे ।
 विदन्नप्यधिकारी द्राक् सटिति तां न त्यजति । नामेति मोह-
 प्राबल्यप्रसिद्धौ ॥ ६० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शालभञ्जिकोपदेशो नामाष्टषष्ठ्यधिकशत-
 तमः सर्गः ॥ १६८ ॥

यूयो विश्रान्तचित्तस्य जीवन्मुक्तस्य शूरिणः ।

लक्षणान्यभिधीयन्ते सुखिन्नात्मवतः सदा ॥ १ ॥

यद्यबोधो मन्दाधिकारिणां त्वया लिङ्गैरुपलक्षितस्वर्णबोधो-
 पगमः कैर्लिङ्गैर्ज्ञायते इति मुक्तलक्षणजिज्ञासून्नामादीन्प्रति
 तानि भगवान्वसिष्ठ आह—न सुखायैत्यादिना । सुखं सुख-
 साधनविषयजातम् । अन्तर्मुखी प्रत्यगात्मासक्ता मतिर्यस्य
 ॥ १ ॥ न स्फुरति न संचलति । प्रज्ञा बुद्धिः । यथा अज्ञाना-
 बुद्धिः प्रसृतेषु भोगेषु सदा ततो न चकति तद्बहिर्यथा ॥ २ ॥

चिन्मात्रात्मनि विभ्रान्तं यस्य चित्तमवञ्चलम् ।
 तत्रैव रतिमायातं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ३
 परमात्मनि विभ्रान्तं यस्य व्यावृत्त्य नो मनः ।
 रमतेऽस्मिन्पुनर्दृश्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४
 श्रीराम उवाच ।
 न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो ।
 जडमेव मुने मन्ये मानवं तमचेतनम् ॥ ५
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 चिह्नोमैकान्तनिष्ठत्वात्प्रयत्नेन विना सुखम् ।
 न वेत्ति शुद्धबोधात्मा यः स विभ्रान्त उच्यते ॥ ६
 सर्व एव परिक्षीणाः संदेहा यस्य घस्तुतः ।
 सर्वार्थेषु विवेकेन स विभ्रान्तः परे पदे ॥ ७
 यस्य कस्मिंश्चिदप्यर्थे क्वचिद्रसिकतास्ति नो ।
 व्यवहारवतोऽप्यन्तः स विभ्रान्त उदाहृतः ॥ ८
 यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
 यथाप्राप्तं विहरतः स विभ्रान्त इति स्मृतः ॥ ९
 अविश्रामे निरालम्बे दीर्घे संसारवर्त्मनि ।
 चित्त्वादात्मनि विभ्रान्तिः प्राप्ता येन जयत्यसौ ॥ १०
 धावित्वा ये चिरं कालं प्राप्तविभ्रान्तयः स्थिताः ।
 ते सुप्ता इव लक्ष्यन्ते व्यवहारपरा अपि ॥ ११
 ते हि चेत्यचिदाभासनमस्याभान्ति भामयाः ।
 भास्करा उदिता नित्यं नेह तिष्ठन्ति ते क्वचित् ॥ १२
 सदेहा व्यवहारस्था अपि सुप्ता इवोत्तमाः ।
 प्रक्षीणा इव लक्ष्यन्ते जडाभा न तु ते जडाः ॥ १३

श्लोकद्वयार्थं स्फुटमाह—चिन्मात्रात्मनीति ॥ ३ ॥ तत्रैवेत्ये-
 वकारार्थं विवृणोति—परमात्मनीति ॥ ४ ॥ आद्यश्लोकोकल-
 क्षणस्य जडोन्मत्तमूर्च्छितेषु रामो व्यभिचारं दृष्ट्वा— न सु-
 खायेति ॥ ५ ॥ अन्तर्मुखमतेरिति तत्र विशेषणेनैव व्यभि-
 चारस्य निवारितत्वात् कश्चिदोष इत्याशयेन वसिष्ठस्तत्तात्पर्यं
 विशदयन्नुत्तरमाह—चिह्नोमेति । न सुखायेत्यत्र वा प्रयत्नेन
 विनेति विशेषणीयमित्याशयेनाह—प्रयत्नेनेति ॥ ६ ॥ लक्ष-
 णान्तराण्याह—सर्वे एवेत्यादिना । सर्वार्थेष्विति । सर्वसं-
 हानामज्ञानमूलत्वान्मूलाज्ञानक्षयेण सर्वसंदेहक्षयोपपत्तेरिति
 भावः । तथा च श्रुतिः 'मिथते हृदयप्रन्यिश्लिष्यन्ते सर्वसं-
 क्षयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्ष्टे परावरे' इति ॥ ७ ॥
 रसिकता रागवता ॥ ८ ॥ ९ ॥ चित्त्वाचिन्मात्रत्वदर्शनात्
 ॥ १० ॥ धावित्वा चिरं भ्रमित्वा धावनभ्रमनिवारणात् सुप्ता
 इव लक्ष्यन्ते । तथा च विषयेष्वभावनेव स्पष्टं तल्लक्षणमिति
 भावः ॥ ११ ॥ चेत्यचिदाभासौ दृश्यदृष्टारौ तदुभयशब्दे
 नभसि स्वचित्ताकाशे भामयाः शुद्धचिद्रूपा भास्करा उदिता
 भान्ति । इह संसारे ॥ १२ ॥ प्रक्षीणा विदेहा इव लक्ष्यन्ते ।
 जडत्वा सुगन्धदशाः ॥ १३ ॥ सुप्ता इति पदतात्पर्यं विवृ-
 णोति—सुप्ता इवेत्यादिना व्यासर्गसमाप्तेः । जडतां विवृणोति—

सुप्ता इवेह शय्यासु ये स्वप्ननगरे स्थिताः ।
 सुप्ता इति त उच्यन्ते न तु ते जडतां गताः ॥ १४
 दीर्घाध्वपरिविभ्रान्तो विभ्रान्तो न ददाति यः ।
 वाक्यं स सुखमौनस्यः प्रोच्यते न जडाकृतिः ॥ १५
 या निशा सर्वभूतानामविद्यास्तमयात्मिका ।
 परो बोधः परा शान्तिस्तत्रासौ सममास्थितः ॥ १६
 यस्मिन्प्राप्ति भूतानि दृश्येऽस्मिन्दुःखदायिनि ।
 तत्रासौ सततं सुतस्तत्र पश्यत्यसौ सुखी ॥ १७
 यः कर्मौघमनाहत्य स्वात्मन्येधावतिष्ठते ।
 स आत्माराम इत्युक्तो न जडोऽसौ रघूदह ॥ १८
 दुःखादतिगतः सोऽस्मात्प्राप्तः पारं भवाम्बुधेः ।
 तिष्ठत्यनुभवन्भव्यो विभ्रान्तिसुखमात्मनि ॥ १९
 दीर्घाध्वनि परिव्रान्तो विषयैश्चतुरैश्चिरम् ।
 भोगभावातुरः क्रूरैः प्रोत्थितः पथि डामरैः ॥ २०
 जरातुषाराशनिभिर्भूयोभूयो जडीकृतः ।
 जन्मजङ्गलसारङ्गो व्यर्थेभ्यप्रविहारवान् ॥ २१
 परमात्मपरिक्रान्तो दुःखकण्टकसंकटे ।
 सुदुष्प्रापसुखच्छाये पान्थः संसारवर्त्मनि ॥ २२
 दुष्कृतैः कृतपाथेयो लुठन्क्षीणः पदे पदे ।
 अर्थानर्थमर्थमार्गैः संकटैर्विवशीकृतः ॥ २३
 संसारजलधेः पारं प्राप्य भूतविघर्जितम् ।
 अशप्योऽतिप्रमाबुद्धः स शेते सुखमात्मवान् ॥ २४
 अपसर्प निरस्तेहमस्वप्नसुषुप्तकम् ।
 प्रबुद्धमवहिर्निद्रं हा शेते सुखमात्मवान् ॥ २५

वशताम् ॥ १४ ॥ केनांशेन तर्हि सुप्तसाम्यमिति चेद्विभ्रान्ति-
 मौनाभ्यामित्याह—दीर्घेति । परिभ्रमणादिव्रान्तो निवृत्तः ।
 विभ्रान्तो गतभ्रमः सन् यो न ददाति नोच्चारयति बहिर्मुखेभ्यः
 ॥ १५ ॥ उल्लङ्घनप्रयाणामविद्यान्धकारे व्यवहरतां सर्वभूतानां
 या तदस्वमयात्मिका निशा स परो बोधः । सर्व एकरसम्
 ॥ १६ ॥ सुप्त इत्यस्य विवरणं तत्र पश्यतीति । तथा च
 भगवता गीतासु 'या निशा'इति श्लोके लक्षणद्वयं दर्शितमिति
 भावः ॥ १७ ॥ सर्वकर्मसंन्यासोऽपि तल्लक्षणमित्याह—य-
 इति ॥ १८ ॥ १९ ॥ 'धावित्वा ये चिरं कालं'इति श्लोकार्थं
 प्रपञ्चयति—दीर्घाध्वनीत्यादिना । बभ्रनचतुरैर्विषयैश्चिरं डामरै-
 र्देशोपलब्धैर्भोगसामग्रीलुण्ठनैरिव प्रोत्थितः प्रस्थितः ॥ २० ॥
 जरालक्षणहिमाशनिभिर्जडीकृतो व्यवहाराक्षमः कृतः ॥ २१ ॥
 परं आत्मना स्नेनैवासहायेन परिक्रान्तकलितः ॥ २२ ॥
 दुष्कृतैः पापार्जितधनैः । पदे पदे क्षीणः पतितः सन् लुठन्
 ॥ २३ ॥ एवं भ्रान्तोऽयं देवात्साधनसंपत्त्या सच्छास्त्रसङ्ग-
 साहाय्यप्रमया तत्त्वसाक्षात्कारेण प्रबुद्धः सन् संसारजलधेः
 पारं प्राप्य स आत्मज्ञानसदयः शम्भारहितोऽपि सुखं बोधे इति
 सर्वेषामन्वयः ॥ २४ ॥ शयनार्थेभिः सप्यन्ते अपसुषुप्तक-
 र्पाणि प्रहापवरकम्पसादपर्यङ्गीकृतिः । तद्रहितं यथा स्वात्मना

जात्यश्वदिहाजातिरङ्गच्छन्धसन्धदन् ।
 लोकमध्ये महारण्ये हा शेते सुखमात्मवान् ॥ २६
 अपूर्वेव घना निद्रा कापि सा तस्वदर्शिनाम् ।
 या न शाम्यति कल्पाभ्रवैर्नाङ्गधिकर्तनैः ॥ २७
 अपूर्वेव घना निद्रा कापि सा तस्वदर्शिनाम् ।
 प्रबुद्धानामपि हि या निमीलयति दृग्दृशौ ॥ २८
 अनिमीलितनेत्रस्य यस्य विश्वं प्रलीयते ।
 स क्षीवः परमार्थेन हा शेते सुखमात्मवान् ॥ २९
 विनिगीर्य जगत्सर्वं परमां पूर्णतां गतः ।
 आतृतेरमृतं पीत्वा हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३०
 निरानन्दमहानन्दी सुखमद्वैतमक्षयम् ।
 निरालोकमहालोको हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३१
 लोमान्धकारोपरमो लोकलम्पटतां गतः ।
 अधनत्वघनाभोगो हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३२
 अनन्तदुःखमाशान्तमशान्तं जनतास्थितौ ।
 अबहिर्मुखमाभोगि हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३३
 अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थयीयसाम् ।
 कृत्वात्मानं नभःशय्यं हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३४
 परमाणौ परमाणौ जगत्कोटिशतान्यपि ।

निरस्तेहं प्राणादिचेष्टारहितं यथा स्यात्तथा प्रबुद्धमात्मस्वरूपे जा-
 गरूकता यथा स्यात्तथा स्वरूपबहिर्भूतनिद्राख्यवस्त्वन्तररहितं च
 यथा स्यात्तथा शेते । हा इत्याशये ॥ २५ ॥ जात्यश्वो ह्यभ्रन् गच्छं-
 स्तिष्ठं च सदैव निद्रति समरे एव केवलं जागतीति लोकप्रसि-
 देर्जात्यश्वदित्युक्तिः ॥ २६ ॥ अपूर्वा भलौकिकी । तत्रोप-
 पत्तिर्येति ॥ २७ ॥ दृग्दृशौ चिन्मात्रदर्शने प्रबुद्धानामपि या
 प्रमीलयति बाह्येन्द्रियाणीत्यर्थः । अथवा व्यवहारे प्रबुद्धानामपि
 या दृशां बाह्येन्द्रियाणां दृशिः रूपादिदर्शनं तद्विषये प्रमीलयति
 संवृणोति ॥ २८ ॥ परमार्थेन स क्षीवो न तु भवेन क्षीवः
 ॥ २९ ॥ अमृतमपरिच्छिन्नानन्दरसम् ॥ ३० ॥ निरालोके
 आलोकान्तरामास्ये स्वात्मनि महानालोकः प्रकाशो यस्य ॥ ३१ ॥
 अधनत्वे अमूर्तानन्दरसे घन आभोग आस्वादो यस्य ॥ ३२ ॥
 दुःखमा दुःखानुभवस्तद्विषये शान्तमुपरतम् । जनतास्थितौ
 वर्णाभ्रमोचितव्यवहारे लोकसंप्रहार्यमशान्तमनुपरतम् । अब-
 हिर्मुखं बाह्यार्थानासक्तम् । आन्तरमुखमाभोगि । क्रियाविशो-
 षणानि सर्वाणि ॥ ३३ ॥ नभश्चिदाकाश एव शय्या यस्य
 तथाविधं कृत्वा ॥ ३४ ॥ सौक्ष्म्यादणौ विभुतया स्थूले
 च विदेहे । प्रतिपरमाणु जगत्कोटिशतान्यनन्तानि जगन्ति
 दधद्धारयन् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ पूर्णप्रकाशेन प्रकटा विश्व इव
 दीर्घामपरिच्छिन्नामिति यावत् ॥ ३७ ॥ सद्रूपेण सर्वत्रानुगमा-
 त्सत्तासामान्यताम् । आकाशादिति । 'ज्यायानाकाशात्' इति

अणौ स्थूले दधद्देहे हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३५
 कुर्वन्संहारसर्गाघानकुर्वन्श्च कथञ्चन ।
 परमालोकशय्यायां हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३६
 संसारनिचयस्वप्नं परिहाय सुषुप्तताम् ।
 नयन्प्रकटदिग्दीर्घां हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३७
 सर्वेषां जगदर्थानां सत्तासामान्यतां गतः ।
 आकाशादधिको व्यापी हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३८
 अच्छाच्छमम्बरं कृत्वा जगदप्यम्बरीकृतम् ।
 शान्तशब्दपरश्वासं हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३९
 इदमसज्जगत्पश्यन्स्वयमाकाशकोणके ।
 विशवाकाशकोशात्मा हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ४०
 यथा प्रवाहसंप्राप्तव्यवहारमनोरमे ।
 तृण्यास्तरणविधान्तो हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ४१
 परमेण स्वयत्नेन परिहानात्स्वरूपिणा ।
 स्वप्नसंदर्शनेनैव जीवन् स्वमिव स्नेन स्ने ॥ ४२
 ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् गगनसंनिभान् ।
 स्नेन यत्नेन संबुद्धः परमाम्बरतां गतः ॥ ४३
 प्रबुद्धः सुप्तः सुप्तोऽपि प्रबुद्धो रमतेऽनिशम् ।
 सुषुप्तोभूत्सतो जाग्रत्स्वप्नार्थसुहृदा सह ॥ ४४

श्रुतेरिति भावः ॥ ३८ ॥ आदौ प्रविलापनेनाम्बरीकृतमाका-
 शतां नीतं जगत् अच्छादय्याकृताकाशादप्यच्छं चिदम्बरं कृत्वा
 शान्तौ शब्दश्च परश्वासः प्रधासश्च यस्मिन्कर्मणि तथा । अम्ब-
 रमास्तरणवक्त्रमच्छादच्छं कृत्वा अम्बरीकृतं प्रावारीकृतं जगद-
 प्याच्छाद्य शान्तपुर्षुराशब्दप्रधासं शेते इत्युत्तानार्थः ॥ ३९ ॥
 स्वयं प्रत्यगात्मभूतो यश्चिदाकाशस्तत्कोणके स्वप्नमिव इदं जगत्
 स्वप्नाभासमिव पश्यन् ॥ ४० ॥ व्यवहारलक्षणे मनोरमे
 तृणानां समूहस्तृण्या कटस्तदास्तरणे विश्रान्त इत्येतत्पर्यन्तं
 समस्तमेकं पदम् ॥ ४१ ॥ यथा जागरूकस्य निद्रानुभूतस्वप्नस्य
 परमेण प्रयत्नेनानुसंधानात्स्मृतियोग्यस्वरूपता तथा कथंचित्पर-
 मेण प्रयत्नेन स्वप्नप्रयत्नेन चित्तमीषद्विर्मुखीकृत्य बाह्यव्यवहा-
 रपरिहानादापाततः स्वरूपबता देहादिना जीवन् । यथा निर-
 वकाशे स्थातुमशकं सं खात्मकेनैव द्वितीयमिव कल्पितेन
 लब्धावकाशं स्ने आकाशस्वरूपे जीवति सत्तां लभते तद्वदित्यर्थः
 ॥ ४२ ॥ आकाशकल्पेन स्वरूपज्ञानेन अस्यन्तात्सत्त्वाद्गगनसं-
 निभान् जीवजगत्क्षणांश्चर्मान्यत्नेन स्नेन प्रयत्नापादितज्ञातुभा-
 वेन स्वस्यैव यः संबुद्धः सम्यग्बुद्धवान् । 'मतिबुद्धि' इति कर्त्तरि
 क्तः ॥ ४३ ॥ एवं जीवन्मुक्तस्याज्ञविषये स्वापमुपवर्ण्य परमार्थे
 सदा प्रबुद्धतामाह—प्रबुद्धः सुप्त इति । प्रबुद्धत्वरववित् एषं-
 वीत्या सदा सुप्तोऽपि लोकप्रसिद्धयोः प्रबोधस्वापमोर्लोककवेव
 प्रबुद्धः सुप्तश्च सन् जाग्रत्स्वप्नार्थयोगे सहायभूतेन कथ्यमाणेव

जन्मान्तरेकसहवाससमाशयेन
वित्रातुष्टिमधुरेण चिरंतनेन ।

मित्रेण सार्धमखिलानि दिनानि नीत्वा
विश्रान्तिमेप्यति पदे परमे चिरं सः ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे बाल्मी० दे० मो० नि० उ० अवि० श० विश्रान्तचित्तवर्णेन नामैकोनसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७०

श्रीराम उवाच ।
ब्रह्मन्कोऽस्य सुहृद्बहि येनासौ रमते सह ।
रमणं किंस्वभावं स्यादुत रत्यात्म वास्य तत् ॥ १ ॥
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
स्वप्नवादेहितं नाम स्वप्नायेहितनाम च ।
स्वकर्म नाम चास्यास्ते मित्रमेकमकृत्रिमम् ॥ २ ॥
पितृवद्विहिताश्वासं दारा इव नियन्त्रणम् ।
संकटेषु दुरन्तेषु नित्यमव्यभिचारि च ॥ ३ ॥
अशङ्कितोपचरणं सुसंपादितनिवृत्ति ।
कोपेष्वकोपनतया वितीर्णावर्जनामृतम् ॥ ४ ॥
दुर्गदुर्गमदुर्वारदोषोद्धरणतत्परम् ।
सर्वविश्वासरक्षानां कोश आशौशवोषितम् ॥ ५ ॥
सहपांसुकृताक्रीडमाबाल्यादेव संगतम् ।
विनिवारितदुश्चेष्टं पितृवद्रक्षणोन्मुखम् ॥ ६ ॥
वह्नेरिद्वौष्ण्यं सौगन्ध्यं कुसुमस्येव सर्वदा ।
अविनाभावि विमलं रवेरिव च वासरम् ॥ ७ ॥
लालनैकरतं नित्यं पालनैकपरायणम् ।

सर्वसंकटसंघट्टरक्षणैकसमुद्यतम् ॥ ८ ॥
हेतोऽग्निरिव देहस्य सर्वावस्थस्य शुद्धिदम् ।
इदं हेयमुपादेयमिति दर्शनतत्परम् ॥ ९ ॥
आह्लादकमनिन्धाभिः कथाभिरिव नागरम् ।
सन्धेष्टामणिमणिकयभाण्डसंभारमन्दिरम् ॥ १० ॥
सूर्यस्तम इवाजस्रमप्रदर्शयदप्रियम् ।
अनुरक्ता महैलेव प्रियमेवाप्रदर्शयत् ॥ ११ ॥
जनं प्रियंवदं कुर्वन्प्रियमेव समाचरत् ।
पेशलं मधुरं जिग्धमधुब्धमुदिताशयम् ॥ १२ ॥
लोकोपचारकं पूज्यं स्मितपूर्वाभिभाषणम् ।
कामोपशान्तं सद्रूपं परमार्थैककारणम् ॥ १३ ॥
रणेऽज्ञानसमुद्भूते पूर्वं प्रहरणोद्यतम् ।
अपूर्वनर्मनिर्माणलीलाललनलालकम् ॥ १४ ॥
पालकं शीलसाराणां दाराणां च कुलस्य च ।
आधिच्याधिपरीतस्य चेतसोऽमृतमौषधम् ॥ १५ ॥
विशेषविद्यावैदग्ध्यबादवन्धविनोदनम् ।
समानकुलशीलत्वाद्दिग्धाभाव इव स्थितम् ॥ १६ ॥

सुहृदा सह अनिशं रमते । ततः सुशुप्तस्तु संस्नेन सहैव सुशु-
प्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ४४ ॥ यावत्प्रारब्धभोगं तेन सुहृदा सह
क्रीडित्वा तस्य तदन्ते विदेहमुक्तिमाह—जन्मान्तरेति । स
जीवन्मुक्तो जन्मान्तरेषु एकतया चिरसहवासप्रयुक्तवेदातिशया-
दिव सर्वं स्ववैषम्यं परित्यज्य समाशयेन समचित्तेन अत एव
वित्राभिः शमदमतिशिक्षाज्ञानवैराग्यसंतोषाद्यनुवृत्तिभिर्मधुरेण
उत्तरत्र वक्ष्यमाणेन चिरंतनेन मित्रेण सार्धमखिलान्याः शेष-
दिनानि वक्ष्यमाणरमणेन नीत्वा परमे निरतिशयानन्दे विदेह-
कैवल्यपदे विश्रान्तिमेप्यति प्राप्स्यति ॥ ४५ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तचित्त-
वर्णनं नामैकोनसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६९ ॥

सुहृत्स्वकर्मनामात्र पुत्रस्त्रीभृत्यसंयुतः ।

तद्गुणाश्वोपवर्ण्यन्ते रमणं च सुखोदयम् ॥ १ ॥

अस्य जीवन्मुक्तस्य तेन सुहृदा सह यत्रमणं तर्हि स्वभावः
स्वात्मस्वरूपावस्थितिरेव वा स्यादुत रतिः रम्येषु भोगस्थानेषु
विहारप्रयुक्ता प्रीतिसदात्मकमित्यर्थः ॥ १ ॥ प्रवादेहितं
सहजं कर्म प्रायेहितं लोकसंप्रदायं शास्त्रीयं कर्म स्वप्रयत्नान्यस्तं
सन्काशाभ्यामव्यभिचारसत्संगशमदमवितिक्षोपरमशौचसंतोषेश्वर-
प्रविधानसंयमादिसकर्मैस्ति त्रिविधमनिन्धमनिषिद्धं कर्मैकमेव

१ स्मितस्तेति शेषः.

त्रिभिर्नामभिरुपाधिमेदाद्यपदिश्यते । अत एवैकं मित्रमि-
त्युक्तिः ॥ २ ॥ तस्य सुहृदो गुणानाह—पितृवदित्यादिना ।
अकार्यविषये लज्जानियन्त्रणमव्यभिचारि च ॥ ३ ॥ वितीर्ण-
मावर्जनं साक्षा समाधानं तल्लक्षणममृतं येन ॥ ४ ॥ एवं
दुर्गेषु दुर्गमेषु मार्गेषु दुर्वारवैरकलहादिदोषेषु च मज्जने प्रसक्ते
उद्धरणतत्परम् । अनेकजन्मान्यासानुवृत्तत्वादाशौशवोषितम् ॥ ५ ॥
तदेवामिप्रेत्याह—सहैत्यादिना ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ सर्वावस्थस्य
अशुचिस्पर्शभक्षणादिना अशुच्यायवस्थस्मापि । दर्शने विविच्य
प्रदर्शने तत्परम् ॥ ९ ॥ नागरं नगराभिजनं चतुरभिवेति यावत् ।
सन्धेष्टाः शुभा वाच्यनःकायचेष्टास्तल्लक्षणानां मणिमणिकयानां
भाण्डसंभारमन्दिरं कोशगृहम् ॥ १० ॥ अप्रदर्शयत् दूरतो
निरस्यदित्यर्थः । महैला महिलेव ॥ ११ ॥ उदिताशयमप्र-
मादि ॥ १२ ॥ लोकानां संगतसज्जनानामुपचारकं सुभूषकम् ।
कामेभ्य उपशान्तमत एव सतां रूपमिव रूपं यस्य सद्रूपम्
॥ १३ ॥ अज्ञानेभ्यो जनेभ्यो देवात्समुद्भूते रणे संप्रहारे पूर्वं
प्रहरणे उत्तममतिशूरमिति यावत् । अपूर्वैर्लोकैरेर्नर्मनिर्माणैः
क्रीडाहास्यादिकौतुहलनिर्माणैर्लोकया ललनैश्च लालकं विकास-
वित् ॥ १४ ॥ अमृतवदुज्जीवनमौषधमिव रोगहरं च ॥ १५ ॥
विशेषतो विद्यावैदग्ध्येन पाण्डित्येन वापैश्च बन्धानामुत्कृष्टावा
प्रयुक्तमान्यादीनां विनोदनं कौतुकावहम् । अचिरसमानकुल-

| | | | |
|---|----|---|----|
| अनुरक्ताष्टपान्साधून्वदान्यान्कारयत्सदा । यद्दानतपस्तीर्थन्यायार्थप्रेरणोन्मुखम् ॥ | १७ | सास्य धीरस्य धुर्यस्य पुरो धन्यस्य धावति ॥ अस्य सन्ना समं स्कन्धे सर्वदैव महौजसः । | २६ |
| पुत्रदारद्विजातिस्त्रीधृत्यबन्धुजनैः सह । शुभभोजनपानार्हमुत्तमश्लाघ्यसंगति ॥ | १८ | विषयारिजये राहो मैत्री मन्त्रप्रदायिनी ॥ कार्याणामार्थमर्यादाचार्या चातुर्यशालिनी । | २७ |
| भोगादिबद्धवृष्णत्वं दुःखदं विनिवारयत् । सुखिग्धसंकथोदारं समाश्वासोत्तमास्पदम् ॥ | १९ | सर्वेषामस्य मान्यस्य सत्यता स्वार्थदायिनी ॥ इत्येवंपरिवारेण मित्रेण सह मन्त्रिणा । | २८ |
| ईदृशेनात्ममित्रेण स कलत्रेण संयुतः । स्वकर्मनाम्ना रमते स्वभावेनैव नेरितः ॥ | २० | स्वकर्मणा व्यवहरन्न हृष्यति न कुप्यति ॥ स यथास्थितमेवास्ते विनिर्वाणमना मुनिः । | २९ |
| श्रीराम उवाच । कलत्रमस्य मित्रस्य तदीयस्य मुनीश्वर । किं तत्किंरूपमेव स्यात्समासेनैव मे वद ॥ | २१ | चित्रार्पित इवाजस्रं लोके व्यवहरन्नपि ॥ वस्तुशून्येषु वादेषु मूकः शैलमयो यथा । | ३० |
| श्रीवासिष्ठ उवाच । ज्ञानदानतपोध्याननामानोऽस्य महामते । सन्ति पुत्रा महात्मानः स्वानुरक्ताखिलप्रजाः ॥ | २२ | निष्प्रयोजनशब्देषु परं बाधिर्यमागतः ॥ लोकाचारविरुद्धेषु शवं सकलकर्मसु । | ३१ |
| चन्द्रलेखेव लोकस्य दृष्ट्यैवाहावदायिनी । अविनाभाविनी भार्या मुदितास्यानुरागिणी ॥ | २३ | आर्याचारविचारेषु वासुकिर्वा बृहस्पतिः ॥ प्रवृत्तवाक्पुण्यकथो जिज्ञानां प्रतिभानवान् । | ३२ |
| करुणाकारणाकीर्णघना हृदयहारिणी । भानन्दजननी चास्य वयस्याऽव्यभिचारिणी ॥ | २४ | निम्नेषेणैव निर्णेता वकाशु बहु वस्तुनः ॥ समदृष्टिरुदारात्मा वदान्यः संविभागवान् । | ३३ |
| समतास्य मता नित्यमास्ते हृदयवल्लभा । प्रतीहारी पुरः प्रज्ञा संमुखं सुखदायिनी ॥ | २५ | पेशलक्षिग्धमधुरः सुन्दरः पुण्यकीर्तनः ॥ स्वभाव एषैव भवेत्प्रबुद्ध- धियां प्रयत्नेन तु नेदशास्ते । | ३४ |
| धैर्ये धर्मे च धीः साधो नित्यमाधीयते च या । इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे ब्रा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० तत्त्वज्ञव्यवहारवर्णनं नाम सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७०॥ | | भवन्ति नेन्द्रकहुताशनाद्याः कश्चित्परप्रेरणया प्रकाशाः ॥ | ३५ |

एकसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

संविदाकाशकचनमिदं भाति जगत्तया ।

शीलवादिभागेन द्विधामावे स्थितमिव ॥ १६ ॥ नृपादीन-
जुरणन्कृत्वा वदान्यान्दानक्षीणान् कारयत् । सवेति देहली-
रीपकन्यायेनोभयत्र संबन्धते ॥ १७ ॥ उत्तमैः श्लाघ्यैर्महद्भिः
सह संगतिर्येन ॥ १८ ॥ १९ ॥ स्वभावेन सहजवृत्त्यैव न तु
केनचिदीरितः प्रेरितः सन्नित्यर्थः ॥ २० ॥ कलत्रं श्रीपुत्रादि-
पोष्यवर्गः । तत्सहितस्य तदीयस्य मित्रस्य तत्कलत्रं किं तच्च
किंरूपं कीदृशगुणवदित्यर्थः ॥ २१ ॥ तत्रादौ पुत्रानाह—
ज्ञानेति । गुणैः स्वानुरक्ता अखिलाः प्रजा येषाम् ॥ २२ ॥
तस्य भार्या गुणैः सह वर्णयति—चन्द्रलेखेवेति । मुदिता
निससंदुष्टा ॥ २३ ॥ करुणा दया तत्कारणात् आसमन्तात्कीर्ण
विक्षिप्तं विकीर्णं धनं यथा ॥ २४ ॥ समतानात्री हृदयवल्लभा
प्रिया भार्या । प्रतीहारी द्वारपालिका ॥ २५ ॥ धैर्ये धर्मे च
विषये या धीः सा ॥ २६ ॥ अस्य राज्ञः सुहृदो विषयारिजये
विषये मन्त्रप्रदायिनी मैत्री नामापरा भार्या समतया समं
सर्वदैव स्कन्धे सन्ना सन्ना ॥ २७ ॥ आर्यमर्यादाकार्याणां विषये
अस्य आचार्या उपदेष्टी । अस्य सत्यता स्वार्थदायिनी धनाप्यसा

वस्तुतो न जगन्नाभा न शून्यं न च संविदः ॥ १
यदिदं भाति चिद्बोम जगदाख्यं न तप्ततः ।

॥२८॥ एवंविधः परिवारः पोष्यवर्गो यस्य तथाविधेन मन्त्रिणा
सुहृदा स्वकर्मणा सर्वत्र व्यवहरन् जीवनमुक्तो त्र्यभालभयोर्न
हृष्यति न कुप्यति ॥ २९ ॥ चित्रार्पितो योद्धेव युद्धादिना
व्यवहरन्नपि यथास्थितमेवास्ते ॥ ३० ॥ शैलमयः शिलाप्र-
तिमाकूप इव ॥ ३१ ॥ शवं वृत्तकल्पः ॥ ३२ ॥ जिज्ञानां
स्वपरकौटिल्यादिदोषाणां प्रतिभानवान् । वस्तुनो दुरुहस्यापि
संदेहपदस्य निर्णाय वक्ता ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ एष वर्णितो गुण-
गणः प्रबुद्धधियां स्वभाव एष भवेत् । ते प्रयत्नेन ईदृशा
ईदृशगुणा न भवन्ति । इन्द्रकहुताशनाद्याः परप्रेरणया प्रकाशन्त
इति प्रकाशा न भवन्ति किंतु स्वभावत एव तद्दृदिस्यर्थः ॥३५॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
तत्त्वज्ञव्यवहारवर्णनं नाम सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७० ॥
जीवनमुक्तिप्रतिष्ठार्थं सर्वसंदेहनाशस्तथे ।

भूयस्त्वोपदेशेन क्रियते हृदयमार्जनम् ॥ १ ॥

वस्तुतस्तु न जगत नापि जगत आभानमाभा नापि शून्यं
नापि वृत्तिसंविदः ॥ १ ॥ अज्ञदृष्ट्या अन्वयं विवक्ष्यन्ति तत-

आकाशादिषु शून्यत्वमन्यदन्यदपि स्थितम् ॥ २
 देशादेशान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संबिदो वपुः ।
 तद्दृश्यमिति भातीदं दृश्यमन्यत्र विद्यते ॥ ३
 महाप्रलयसंपत्तावादिसर्गः पुनः किल ।
 परस्मात्कारणाभावे कुतो दृश्यस्य संभवः ॥ ४
 तदाणुमात्रमपि हि दृश्यबीजं न विद्यते ।
 किल यस्मादिदं चक्रं पुनर्मूर्ते प्रवर्तते ॥ ५
 उत्पन्नमेव नैवातो मूर्ते दृश्यमिदं जगत् ।
 वन्द्यापुत्र इवात्यन्तमतोऽस्त्येव न दृश्यधीः ॥ ६
 यद्येदं किञ्चिदाभाति दृश्यमित्यभितः स्थितम् ।
 तच्चिन्मात्रं स्वमेवाच्छं परमेव पदं विदुः ॥ ७
 यथा सुषुप्तात्स्वप्रत्वं गच्छद्यात्यनवस्थितिम् ।
 चिन्मात्रमजहत्स्वच्छं निजं रूपमनामयम् ॥ ८
 सर्गस्यादौ तथैवेदमात्मैव स्वात्मनात्मनि ।
 व्योमात्मैव चिदाभासं दृश्यमित्यवभासते ॥ ९
 यथा पुरतया भाति मनः संकल्पमन्थरम् ।
 तथा दृश्यमिवाभाति सर्गादौ चिन्नमः परम् ॥ १०
 यथात्मन्यनिलः स्पन्दश्चक्रावर्तवदीहते ।
 सर्गादौ चिन्नमः स्थित्वा दृश्यमित्येव तिष्ठति ॥ ११
 अतो ज्ञातमनाभातमेव दृश्यं जगन्नयम् ।
 ब्रह्मैवेदं परं भाति स्वात्मनीत्यमवस्थितम् ॥ १२
 नास्त्येव मूर्ते पृथ्यादि किञ्चनापि कदाचन ।

श्विद्योऽन्यत्र । यथा शून्यत्वमाकाशादन्यत्र तद्वत् ॥ २ ॥
 तथा च निर्विषयमेव चैतन्यं यदेकविषयादपरविषयप्राप्तावन्तराले प्रसिद्धं तदेव दृश्यमिति भातीत्यर्थः ॥ ३ ॥ 'सदेव सोम्ये-
 दमप्र आसीत्' । 'यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन्
 शिष एव केवलः' इत्यादिश्रुतिषु सन्मात्रपरिशेषलक्षणमहाप्रल-
 यसंपत्तौ प्राक्सत्त्वां तदुत्तरं पुनरादिसर्गः किल भवतीति श्रुतम् ।
 तत्र सदेवेत्यवधारणादविकारात्परस्मादन्यस्य कारणस्याभावे
 कुतोऽस्य दृश्यस्य संभवः ॥ ४ ॥ तत्र श्रुतिविरोधात्परमाण्वा-
 दिकारणान्तरकल्पनाया अनवकाश इत्याह—तदेति । प्रवर्तते
 प्रवर्तते ॥ ५ ॥ किं ततस्त्राह—उत्पन्नमेवेति । अनुत्पत्ति-
 प्रतिपादने एव सृष्टिश्रुतीनां तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ प्रत्यक्षं
 दृश्यमानस्य का गतिस्त्राह—यद्येदमिति । विदुः श्रुतितात्प-
 र्यविद इत्यर्थः ॥ ७ ॥ चिन्मात्रस्य दृश्याकारेण भानं सुषुप्ता-
 त्स्वप्रगमने प्रसिद्धमित्याह—यद्येति ॥ ८ ॥ सुषुप्तात्स्वप्रग-
 मनवत्प्रलयात्सर्गमनमपि तथा बोध्यमित्याह—सर्गस्येति
 ॥ ९ ॥ १० ॥ यथा अनिलः स्पन्दः सभात्मनि स्वस्मिन्नेव चक्राव-
 र्तवद्वास्वावधीहते तथा चिन्नमोऽन्यज्ञातमात्मन्येव दृश्यमित्येव
 तिष्ठति ॥ ११ ॥ अत एव ज्ञातं चेदृश्यं जगन्नयमनाभातमेव परं
 ब्रह्मैव भाति ॥ १२ ॥ अहादृशा इदं वा मूर्तेममूर्ते वा अस्तु ब्रह्मैव
 तथा विराजते इति तु निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ १३ ॥ प्रबोधो जागरणं
 तत्त्वज्ञेयं । प्रबोधे आत्मप्रबोधे ॥ १४ ॥ धीमन्तश्चिन्तयन्तोपि अप्र-
 यो० वा० १८५

अस्तु मूर्तममूर्तं वा ब्रह्मैवेदं विराजते ॥ १३
 प्रबोधकाले स्वप्नाद्विर्यथा व्योमैव निर्बुधुः ।
 तथेदं शान्तच्चिन्मात्रं खं प्रबोधे जगन्नयम् ॥ १४
 प्रबुद्धानां परं ब्रह्म निर्विभागमिदं जगत् ।
 धीमन्तोऽपि न तद्विद्यो यदिदं स्वप्रबोधनम् ॥ १५
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संबिदो वपुः ।
 स्वस्वभावो हि भूतानां तत्पदं परमात्मकम् ॥ १६
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संबिदो वपुः ।
 एतत्तत्परमाकाशमत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १७
 यादृगेतत्पदं तादृगिदं सदसदात्मकम् ।
 येनार्थपञ्चकादन्यत्किञ्चनापि न विद्यते ॥ १८
 रूपाढोकमनस्कारा एतदेव पदं विदुः ।
 एते ते द्रवतावर्ताः पदस्यास्य महाम्भसः ॥ १९
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संबिदो वपुः ।
 एतस्याव्यतिरेकेण जगत्ता नास्ति काचन ॥ २०
 रागद्वेषादयो भावा भावाभावदशस्तथा ।
 एतद्रूपममुञ्चन्त एतस्यावयवाः स्थिताः ॥ २१
 त्यक्त्वा पूर्वापरं कोट्यौ मध्ये यत्संबिदो वपुः ।
 स स्वभावः परो ज्ञेयो जगत्पयसि संज्ञितः ॥ २२
 देशादेशान्तरप्राप्तौ विद्धि मध्यमसंबिदः ।
 जगदित्यपरं नाम स्वरूपादच्युतात्मनः ॥ २३
 आदिसर्गात्प्रभृत्येव दृश्यमुत्पन्नमेव नो ।

बोधनं कीदृशमिति न विद्यः ॥ १५ ॥ सर्वभूतानां निर्विषयचिन्मा-
 त्रमेव स्वस्वभाव इत्याह—देशादिति ॥ १६ ॥ अत्रेति ।
 सर्वाधिष्ठानमपि निर्विषयविदेवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ अधिष्ठानानुरूपो-
 ऽयमध्यास इत्याह—यादृगिति । केनांशेन सादृश्यं तदाह—
 येनेति । येन हेतुना अर्थपञ्चकात्पञ्चभूतेभ्योऽन्यत्किञ्चिन्न वि-
 द्यते । तथा च स्वातिरिक्तस्वकार्यशून्यत्वमेवास्य ब्रह्मसादृश्यमि-
 त्यर्थः ॥ १८ ॥ बाह्येन्द्रियजन्यविषयाभासा रूपाढोका आभ्य-
 न्तरमनोधीनास्तु मनस्कारा एते सर्वेन्येतत्पदमेव ॥ १९ ॥ तथा च
 निर्विषयचिन्मात्रव्यतिरेकेण जगत्ता नास्तीति प्रसिद्धमित्याह—
 देशादिति । जगत्ता जगद्भावः ॥ २० ॥ एतद्रूपं सद्रूपं मानरूपं च
 ॥ २१ ॥ शाखाचन्द्रदर्शने पूर्वा कोटिः शाखा अपरा कोटिश्चन्द्रस्तौ
 त्यक्त्वा मध्ये यत्संबिदो निर्विषयं वपुः प्रसिद्धं स तस्याः स्वभावः
 स एव जगत्क्षणमहमरीचिकापयस्यधिष्ठानसंज्ञित इत्यर्थः ॥ २२ ॥
 एतदेवाभिप्रेत्य मया पुनःपुनर्निर्विषयविस्तृतापरोक्षचैतन्यस्य
 सकलजनसाधारणप्रसिद्धिप्रदर्शको 'देशादेशान्तरम्' इति श्लोक
 उद्धृत इत्याशयेनाह—देशादिति । कूटस्थत्वादेव स्वरूपा-
 दच्युतात्मनः । जगद्देशात्स्वप्रदेशप्राप्तौ मध्ये सुषुप्तिदशायां
 यत्संबिदो वपुः पूर्वसर्गदेशात्पुनःसर्गप्राप्तौ मध्ये प्रलये यत्सं-
 बिदो वपुः इहलोकदेशात्परलोकदेशप्राप्तौ मध्ये मूर्च्छावस्थायाम्
 यत्संबिदो वपुस्तदेव तथैव सर्वदा आत्मे तस्यैव जगदित्यपरं
 नामाज्ञेः कल्पितमित्यर्थः ॥ २३ ॥ तथा सति यत्कथितं

यन्नाम तदिहस्तीति मायाशम्बरशम्बरः ॥ २४
 कष्टं नास्त्येव यद्दृश्यं तदप्यस्तीति संस्थितम् ।
 यदप्यस्ति परं ब्रह्म कष्टं नास्तीति तत्स्थितम् ॥ २५
 अब्रह्मण्यं क्व गच्छामि विपरीतमतो जगत् ।
 असद्दृश्यं सदित्युक्तं ब्रह्मैवं नावगम्यते ॥ २६
 न चोत्पन्नं न चाभाति दृश्यं किञ्चन कुत्रचित् ।
 यदिदं भाति तद्ब्रह्म व्योमैव कश्चित् स्वयम् ॥ २७
 यथा मणिः प्रकचति स्वभासाऽव्यतिरिक्तया ।
 आत्मनोऽनन्यया सृष्ट्या चिद्योम कश्चितं तथा ॥ २८
 तस्मिन्नेव पदे शान्ते तपत्येव दिवाकरः ।
 तस्यैवावयवञ्चैव न नामान्योऽस्ति भास्करः ॥ २९
 स्थितोऽपि तत्र न तपत्यको न च निशाकरः ।
 प्रकाशयति देवोऽसावर्कं नार्कस्तमीश्वरम् ॥ ३०
 तस्य भासा विभातीदं तद्दहो दृश्यमण्डलम् ।
 सर्वचन्द्रार्कवह्नीनां पदार्थानां स दीपकः ॥ ३१
 स साकारो निराकार इति शब्दार्थकल्पना ।
 स्वपुष्पवदसद्रूपा न संभवति तद्विदाम् ॥ ३२
 साङ्गभूतो यथैकोऽणुर्भाति जीवार्कतेजसि ।
 न भान्ति भान्ति वा तत्र तथा सूर्यादयोऽणवः ॥ ३३
 चिन्मात्राकाशरक्षस्य सृष्टयोऽर्काविसंयुताः ।
 या भासस्ताः कथं तस्माद्यतिरिक्ताः स्युर्वच्यताम् ॥ ३४
 चिन्मात्रेणापि रहितं शून्यत्वेनापि वर्जितम् ।
 पदं सर्वात्मरिकं तत्सर्वाथैश्च समन्वितम् ॥ ३५

तदाह—आदिसर्गादिति । जगन्मायालक्षणस्य शम्बरस्यैन्द्र-
 जालिकस्याशम्बरमात्रमिति कलितमिति भावः ॥ २४ ॥ तथा च
 मूढानामभाग्यवशादेव मणिर्नास्ति काचोऽस्तीति भ्रान्तिव-
 द्द्वैपरीत्यभ्रमः संपन्नोऽयमित्याह—कष्टमिति । खेदे कष्टशब्दो
 ॥ २५ ॥ अहं तु अब्रह्मण्यं ब्रह्मभावशून्यमतो विपरीतं जगत्
 क्व गच्छामि क्व लभेयम् । मूढैस्तु असद्दृश्यं सदित्युक्तं तैरपि
 ब्रह्मैवं नाम गम्यते न दृश्यम् । असतो गन्तुमशक्यत्वादित्यर्थः
 ॥ २६ ॥ २७ ॥ अव्यतिरिक्तयेत्यस्य दार्ष्टान्तिके विवरणं
 स्वात्मनोऽनन्ययेति ॥ २८ ॥ कथमिदं प्रत्येयमिति चेद्विवा-
 करादिजगतः सद्रूपेणैव सत्सामान्यकदेशप्रायतया अनुभूयमा-
 नत्वादित्याह—तस्मिन्नेवैत्यादिना ॥ २९ ॥ यथा अर्कादव-
 खादधीनप्रकाशा न तथा ब्रह्म अर्कावधीनप्रकाशमित्याह—
 स्थितोऽपीति । तपति प्रकाशयति । तथा च श्रुतिः 'न तत्र सूर्यो
 भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
 तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'
 इति ॥ ३० ॥ ३१ ॥ विषयासत्त्वादेवासद्रूपा ॥ ३२ ॥ जीव-
 भूतस्य जगत्पश्यतोऽस्यार्कस्य तेजसि जालान्तरे यथा एकोऽणु-
 भाति तथा अपरिच्छिन्नचित्प्रकाशे ब्रह्मणि एते अर्कादयो
 भान्ति न भान्ति वेत्यादरोफिः ॥ ३३ ॥ न हि रज्जात्तद्भासी-

पृथ्यादीन्यपि सन्त्येव तत्र सन्ति न काश्चित् ।
 जीवन्तोऽपि न विद्यन्ते जीवास्तत्र च केचन ॥ ३६
 अत्यजन्तो द्वयस्थौल्यं तत्रैते परमाणवः ।
 स्वरूपमत्यजद्वैतमैक्यं चात्र न किञ्चन ॥ ३७
 किञ्चिदत्र न किञ्चिद्वै न किञ्चिच्च न किञ्चन ।
 किञ्चिन्न किञ्चिदित्येषा कलनात्रातिदूरगा ॥ ३८
 एका निरन्तरानन्ता नित्यमस्याततात्मना ।
 चिन्मात्रव्योमसत्तैव जगन्नात्मात्मनि स्थिता ॥ ३९
 एकं चेत्यं त्यक्तवत्या अप्रासायाश्चितोऽपरम् ।
 यद्रूपं जगतो रूपमस्य नानात्मनोऽपि तत् ॥ ४०
 नानेवेदमनानैव चिद्योमैवेदमाततम् ।
 भूतपञ्चकरूपेण स्वप्ने चित्तिरिव स्थितम् ॥ ४१
 सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नं सुषुप्तस्यैव चिद्यथा ।
 यथा स्थितैव स्वप्नत्वमेत्येवं सर्गतामिमाम् ॥ ४२
 यादृक्सुषुप्तं स्वप्नस्तु तादृगेव तथैव च ।
 जाग्रत्तुयं तथैवेदमतो व्योमसमं जगत् ॥ ४३
 जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यमेवाखिलं स्थितम् ।
 तस्यविद्रोत्रमूढस्तु यद्वै वेत्ति न वेत्ति तत् ॥ ४४
 जडानामजडानां यः सर्वार्थानामनारतम् ।
 दुर्लक्ष्यपरिणामोऽन्तर्मनोबुद्ध्यादिवर्जितः ॥ ४५
 सुशुद्धायाश्चितो रूपं पदार्थास्तन्मयाश्च ते ।
 ते वसन्ति न सद्रूपास्तदेव हि तथा स्थितम् ॥ ४६
 परिणामादिशब्दार्थदृशामत इहानघ ।
 उपदेशार्थमुक्तीनां गन्धोऽप्येवं न विद्यते ॥ ४७

ऽतिरिक्ताः ॥ ३४ ॥ अविदप्रसिद्धौ व्याख्याभावाच्चिन्मा-
 त्रेणापि रहितम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ अवयवद्वयघटनप्रयुक्तं स्थौ-
 ल्यमलजन्त एव तत्र चित्प्रकाशे एते सूर्यादयः परमा निर-
 वयवा अणवः । स्वरूपं सत्ताम् ॥ ३७ ॥ किञ्चिदिति । व्यव-
 हारमात्रस्य निरासे विरोधाविरोधयोरपि तत्र निरासादिति भावः
 ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ 'दिशाद्देशान्तरम्' इति श्लोकस्य तात्पर्यं तत्र
 साधकत्वेन वर्णयति—एकमिति ॥ ४० ॥ चित्तिर्जीवचैतन्वमिव ।
 तथा च नादरायणस्य भगवतः सूत्रम् 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च
 हि' इति ॥ ४१ ॥ तथा च सुषुप्तास्वप्न इव प्रलयात्सर्गात्मना
 निदेव भातीत्याह—सुषुप्तादिति ॥ ४२ ॥ तदेव स्पष्टयति—
 यादृगिति ॥ ४३ ॥ तत्त्वविदां गोत्रं ब्रह्मविद्यासंप्रदायमस्तिद्वेष्ये
 मूढस्तु पामरो यद्वेत्ति तदहं न वेत्ति ॥ ४४ ॥ जडानां जगता-
 मजडानां जीवानां चान्तः स्थित्वा योऽन्तर्गमितया दुर्लक्ष्यमेव
 यथा स्यात्तथा जगत्परिणामयतीति दुर्लक्ष्यपरिणाम ईश्वरः स
 एव शोभिताया जीवन्वितेः पारमार्थिकं रूपम् । जगत्पदार्थाच्च
 तन्मया एवेति तदेव जगदाकारेण स्थितमिति निष्कर्ष इति
 द्वयोरर्थः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ननु यदि पृथिव्यादिपदार्थाश्चिद्रूप
 एव न चिद्रूपास्तु यद् सन्ति दार्ष्टान्तर्गमितया तत्परिणामवितुल्यं
 कथं तत्राह—परिणामादीति । उपदेशार्थं परिणामं लौकिकमात्री-

आदिसर्गात्प्रभृत्येव महासत्तात्मनात्मनि ।
 चिन्मात्रपरमाकाशं स्थितमेकं महात्मनः ॥ ४८
 प्रपूर्णैकात्मनि प्रख्या सा सर्वव्यापिनी चितिः ।
 स्थिता तथात्मन्येषान्तर्जगदित्यभिधाः कृताः ॥ ४९
 परिज्ञाते यथा स्वप्ने स्वाङ्गीकारात्सुखं सुखम् ।
 अनङ्गीकारतो दुःखं सदुःखं भवति क्षणात् ॥ ५०
 गच्छतस्तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतस्तथा ।
 नित्यमेकं समाधानं स्थितं शान्तस्य तद्विदः ॥ ५१
 भेदेऽप्यभेदनिष्ठस्य दुःखेऽपि हि सुखस्थितेः ।
 सतोऽप्येवासतो ह्यस्य किमन्यदधशिष्यते ॥ ५२
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० निर्वा० उ० द्वैतैक्यनिरामययोगोपदेशो नामैकसत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७१ ॥

न संत्यजति नादत्ते किञ्चिद्व्यवहरन्नपि ।
 हृदयेन बहिःकार्येऽकार्यं एवावतिष्ठते ॥ ५३
 यथा हिमस्य शीतत्वं बहोरौष्यं तथेदृशः ।
 स्वभावोऽस्य भवेन्नित्यं न त्वाहार्यो गुणोऽस्य सः ५४
 यस्य त्वेव स्वभावः स्यान्न नाम न स तत्त्ववित् ।
 एतदेवाज्ञताचिह्नं यदिच्छा प्रकृतेतरा ॥ ५५
 आश्वस्तान्तःकरणः
 क्षीणविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
 परमशामामृततृप्त-
 स्तिष्ठति विद्वान्विरावरणः ॥ ५६

द्विससत्यधिकशततमः सर्गः १७२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं पृथ्व्यादिरहितः जमेवाद्यः प्रजापतिः ।
 मनोमात्रमहं मन्ये संकल्पविटपी यथा ॥ १
 मन इत्यभिधानेन पश्चादास्था प्रकल्पिता ।
 चार्यावर्तविवर्तनं प्रोत्थायावर्तता यथा ॥ २
 सत्तामात्रात्मनस्तस्य कुतो बुद्ध्यादयः किल ।

अविद्यमाने पृथ्व्यादौ स्वस्यानन्तस्य किं रजः ॥ ३
 न तस्य देहचित्तादि भेन्द्रियाणि न वासनाः ।
 सद्येतत्सदा तस्य न किञ्चिदपि विद्यते ॥ ४
 प्राक्तनस्य प्रजेशस्य मुक्तत्वात्कथमेव च ।
 भूयः संभवति प्राज्ञ न स्मृतिर्न च संभवः ॥ ५
 न भवत्येव मुक्तानां स्मृतिर्वेदोदयः पुनः ।

कृत्य प्रवृत्तानामुक्तीनां न परमार्थतः परिणामपरतेत्यर्थः ॥ ४७ ॥
 कुत्र तर्हि तात्पर्यं तदाह—आदिसर्गादिति । महात्मनस्तत्त्वविदः
 प्रपूर्णैकात्मनि प्रख्या अनुभूतिरत्र प्रमाणमित्युत्तरान्वयि ॥ ४८ ॥
 अभिधाः अज्ञानप्रति कृताः ॥ ४९ ॥ तथा च प्रबोधे यादृश आत्मा प-
 रिशिष्यते तदङ्गीकाराद्यजगत्कौतुकमनुभूतं तत्सर्वं सुखं सुखमेव
 भवति । अप्रबोधे तदनङ्गीकारे तु सदुःखं यद्यदनुभूयते जन्म-
 मरणजरामयादि तत्सर्वं दुःखमेव भवति स्वप्नप्रबोधप्रबोधवदि-
 त्याह—परिज्ञाते इति ॥ ५० ॥ अत एव तद्विदो दुःखविक्षेपाभावा-
 न्नित्यं समाधानसुखमेवेत्याह—गच्छत इति ॥ ५१ ॥ बहिःसंसारे
 सतोऽप्यन्तर्मुक्तत्वात्प्रासत एव । अन्यत्किं साध्यं परिहरणीयं
 वा अवशिष्यते ॥ ५२ ॥ बहिःकार्ये व्यवहरन्नपि हृदयेन कि-
 ञ्चिन्न संत्यजति नादत्ते च किंत्वकार्ये ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ५३ ॥
 एवंस्थितिबास्य स्वभाव एव न तु यत्नेन आहार्यः संपाशो गुणः
 ॥ ५४ ॥ प्रकृतेतरा आत्मातिरिक्तविषयिणी ॥ ५५ ॥ यो नि-
 रावणो विद्वान् स आश्वस्तान्तःकरणः सदा समाहितचित्तः प्र-
 क्षीणशत्रुमित्रादिविकल्पः स्वात्मसुखसारप्रचुरः परमेण शामामृतेन
 सदैव तृप्तस्तिष्ठति ॥ ५६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे द्वैतैक्यनिरामययोगोपदेशो नामै-
 कसत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७१ ॥

मकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो खः' इति, तत्कथं
 चिन्मात्रकचनं स्वप्नवदिति वर्णितमित्याशङ्कां वारयितुं तत्सं-
 कल्पानां तन्मयजगतश्च चिन्मात्रत्वमेवेति वर्णयितुमुपक्रमते—
 एवमिति । एवमनादिजीवन्मुक्तत्वादेव प्रजापतिर्विराडपि पृ-
 थ्व्यादिरहितो निरावरणं खं चिदाकाशमेव । तं च मनःसम-
 ष्टिहिरण्यगर्भमात्रमहं मन्ये । मनश्च संकल्पविटपीव चित्त-
 चनमात्रं प्रसिद्धमिति चिन्मात्रत्वसिद्धिस्तस्येति भावः ॥ १ ॥
 कथं प्रसिद्धं तत्राह—मन इति । मननाकारकल्पनात्प्राक्तचित्ति-
 न्मात्रमेव पश्चान्मननाकारकल्पनानन्तरं मन इत्यभिधानेन
 तस्यास्था चित्तादात्म्याप्यासः प्रकल्पिता । यथा वारिण्येव आव-
 र्तविवर्तकारेण स्वयं प्रोत्थाय आवर्तता तेन कल्पिता तद्वत् ॥ २ ॥
 अत एव तस्य बुद्ध्यादयोऽपि चिद्यतिरेकेण न सन्तीत्याह—सस्येति
 ॥ ३ ॥ एवं देहादयोऽपि न सन्तीत्याह—न तस्येति । व्यवहारा-
 भासनिर्वाहार्यमापाततः सद्यपि परमार्थतो न किञ्चिदपि विद्यते
 ॥ ४ ॥ कुतो न विद्यत इति चेदादिसर्गादौ कारणाभावात् । न च
 प्राक्तनः प्रजापतिरेवोत्तरस्य कारणम् । तस्य प्राक्तनद्विपरार्थोव-
 साने मुक्तत्वादित्याह—प्राक्तनस्येति । कारणाभावाद्भूयो देह-
 बुद्ध्यादिमहर्षेण कारणाभावात् । तस्मादभिनवस्य प्रजापतेर्ज-
 गद्रचनानुकूलं स्मृतिस्तस्य संभव उत्पत्तिश्च यतो न संभवती-
 त्यर्थः ॥ ५ ॥ संसारे सतामावर्तानां परिवृत्तिपरानां जी-
 वानामिव मुक्तानां विदेहमुक्तानां संसारस्मृतिः पुनर्वेदो-
 दयश्च न भवत्येव । देशान्तरे कालान्तरे वा पुनरावर्तत्वं

मनोमात्रं विधातात्र तत्संकल्पो जगद्भ्रमः ।
 न वेदोऽस्य स्मृतिर्वेति स्मृतितात्वं च कीर्त्यते ॥ १ ॥
 ननु विधातृसृष्टं जगच्छ्रूयते 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व-

१ कारणाभावादिस्तद्विधातृत्वात्तद्विद्वान् इति

प्रतिगादि मुक्तत्वात्प्राक्तत्वात्

न देशकालावर्तत्वमावर्तानां सतामिष ॥ ६
 यदि वापि भवेत्किञ्चित्स्मृत्या वेदादि तस्य तत् ।
 तदपृथ्व्यादिभिः शान्तं संकल्पनगरं तनु ॥ ७
 यथा संकल्पशैलस्य दृश्यमानमपि स्फुटम् ।
 पृथ्व्यादिरहितं रूपं तद्विराड्बुधस्तथा ॥ ८
 स्मृतिश्च संभवत्येव न कदाचन काचन ।
 एषा लौकिकबुद्ध्या या सा सद्बुद्ध्या न विद्यते ॥ ९
 श्रीराम उवाच ।
 कथं न संभवत्येषां स्मृतिः स्मृतिमतां वर ।
 स्मृतेभ्यःसंभवे कस्माद्बुधो गुणगणाकर ॥ १०
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 दृश्ये हि संभवत्येषा कार्यकारणतात्मनि ।
 तद्भावाभावसंपन्ना न तु संभवति स्मृतिः ॥ ११

यतो नास्ति । 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते', 'न स पुनरावर्तते' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ६ ॥ यदि वापि तस्य प्रजापतेः पूर्वकल्पकृतो वासनाजन्यहिरण्यगर्भाहंभावगोचरसंस्कारबलात्तथैव स्मृत्या तद्देहादि किञ्चित्संभवेत् तत्केवलोपासनात्मकमनःकल्पनासंस्कारजत्वात् केवलमानसमपृथ्व्यादिरूपं तनु अतितुच्छं संकल्पनगरं प्रायं मिथ्याभूतमेव भवेत्तत्तु सत्यमित्यस्मत्सिद्धान्तसिद्धिरित्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु पृथ्व्यादिघटितत्वेन दृश्यमानस्य ब्रह्माण्डात्मकस्यास्य विराट्शरीरस्य कथं तद्विहितता तत्राह—यथेति ॥ ८ ॥ ननु प्रागुदाहृतश्रुतौ 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' इति पृथ्व्यादिघटितमेव तद्रूपं श्रुतम्, तच्च 'वाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति पूर्वतनस्मृतिपूर्वकमेव निर्मितं गम्यते तत्राह—स्मृतिश्चेति । अस्य प्रजापतेरादिसर्गे पूर्वानुभवाभावात्स्मृतिर्न संभवत्येव । या चेयं श्रुतिबलाद्गम्यते एषा लौकिकानां जगत्सत्यतादर्शिनामज्ञानां बुद्ध्या अनादिसिद्धकर्ममार्गप्रवाहप्रवर्तनार्थं श्रुत्या परबुद्ध्यनुसारेणैव बोधनात् । तस्य तत्त्वविदः प्रजापतेः बुद्ध्या तु सा स्मृतिर्न विद्यते ॥ ९ ॥ नन्वस्य प्रजापतेः पूर्वकल्पे उपासकतादशायां पृथ्व्याद्यनुभवोऽस्त्येव, तदभावे पृथ्व्यादिघटितविराट्शरीरोऽहमिति कथमुपासीत । ततश्चासौ तद्ब्रह्मदेतत्कल्पादौ पृथ्व्यादिस्मृतेस्तद्वटितविराट्शरीरमुपासनबलबन्धविरचनसामर्थ्यस्तत्स्मृत्यैव निर्मासति, अस्मृत्यैव निर्माणे 'वाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति श्रुतिबोधितः पूर्वकल्पियब्रह्माण्डगुणः सर्वोऽस्मिन्ब्रह्माण्डे कथं सिद्धोदिति रामः शङ्कते—कथमिति । हे गुणगणाकरेति वसिष्ठसंबोधनम् ॥ १० ॥ न वयं कल्पनाभ्रान्तिसंस्कारजामर्थशून्यां स्मृतिं प्रत्याचक्ष्महे किंतु सत्यार्थानुभवजन्यसंस्कारजाम् । तस्यां हि सत्यां पूर्वानुभवगोचरसत्यार्थजातस्य स्वगोचरानुभवसंस्कारस्मृतिद्वारा एतत्कल्पियार्थान्प्रत्यन्वयव्यतिरेककल्पनात्कार्यकारणभावसिद्धौ स्वकारकसत्तालब्धसत्ताकस्यास्य जगतः सत्यत्वे ब्रह्मार्हतसिद्धान्तोपरोधः स्यादिति पूर्वकल्पिये पृथ्व्यादिदृश्ये

आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं दृश्यं किञ्चिन्न विद्यते ।
 यत्र तत्र कथं कीदृक् कुतः स्यात्संभवः स्मृतेः ॥ १२
 भूत्वा भावे हि दृश्यस्य स्मरणं स्मृतिरुच्यते ।
 दृश्यमेव न यत्रास्ति तत्रैताः कलनाः कुतः ॥ १३
 अत्यन्ताभाव एवास्य दृश्यस्य किल सर्वदा ।
 सर्वं ब्रह्मेति सत्यार्थास्तत्स्मृतेः कलनाः कुतः ॥ १४
 स्मृतिर्न संभवत्येव तस्मादाद्या प्रजापतेः ।
 आकारवत्त्वमेवास्य शुद्धज्ञानात्मनः कुतः ॥ १५
 स्मर्तव्यं भाववशतः स्मृतिर्नास्त्येव लौकिकी ।
 स्मृत्यर्थस्त्वन्यदीयोऽस्ति सत्यात्मा त्वमिमं शृणु ॥
 भूतस्यान्तः पदार्थस्य स्मरणं स्मृतिरुच्यते ।
 पदार्थस्तु न चैवास्ति न भूतो न भविष्यति ॥ १७

परमार्थतः सति तद्भावाभावौ तदन्वयव्यतिरेकौ तद्वशात्संपन्ना स्मृतिद्वारिका एषा लौकिकन्यायप्रसिद्धा कार्यकारणता संभवति सा द्वारभूता स्मृतिरेव तु न संभवति ॥ ११ ॥ कुतो न संभवति तत्राह—आब्रह्मेति । 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'एकमेवाद्वितीयम्', 'अथात आदेशो नेति नेति', 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा', 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादिश्रुतिभिः सर्वेदृश्यप्रतिषेधात्तथैव विदुषामनुभवाच्च । तथा च 'सह सिद्धं चतुष्टयम्' इति स्मृतिदर्शितदिशा सहजतस्तत्त्वविदुषो विराजस्तत्त्वज्ञानवाधितः प्राक्तनः प्रपञ्चो मिथ्यैव संपन्नो न तस्य यथार्थस्मृतिमाधानुं तद्वारा सत्यसर्गं प्रति कारणीभितुं च समर्थ इति भावः ॥ १२ ॥ भूत्वा परमार्थत उत्पद्य भावे विद्यमानत्वे सति प्रमाणैस्तदनुभूय कालान्तरे स्मरणं हि स्मृतिः शास्त्रज्ञैरुच्यते । न तसतो भ्रान्तिकल्पितस्य तत्त्वबोधवाधितस्य च स्मृतिरस्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥ उक्तमेवाभिप्रायं सूचयन्समाधानमुपसंहरति—स्मृतिरिति ॥ १५ ॥ पूर्वजन्मन्युपासनात्मिका या स्वस्य जगच्छरीरत्वभावना तद्दशतस्तु उपासनाफलसिद्धये जगच्छरीरोऽहमिति तेनावश्यं स्मर्तव्यम् । या तु लोके विदिता सा मे माता सा मे दुहितेत्यादिस्मृतिरिवाथ-प्रमाजन्त्या सा तस्य नास्त्येव । अन्यदीयो लौकिकः स्मृत्यर्थस्तु मातृदुहित्रादिर्गृहेऽस्ति । उपासनाविषयस्तु मनोराज्यकल्पो नास्तीति वैषम्यमित्यर्थः । कथं नास्ति इममर्थं त्वं शृणु ॥ १६ ॥ भूतस्यातीतस्यापि पदार्थस्य संस्कारबलादन्तः स्मरणं स्मृतिरिति लोके उच्यते । प्रजापतेस्तु कल्पादौ वर्तमानोपि पदार्थो नास्ति न भूतोऽस्ति नापि कश्चिद्भविष्यति यत्स्मृतिः स्यादित्यर्थः । तथा चोक्तं सुरेश्वरवार्तिके 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्पत्त्यस्यग्भीजन्ममात्रतः । अविद्यासहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति' इति । 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इति च श्रुतिः ॥ १७ ॥

एवं हि खल्विदं ब्रह्म परमेधाचलं यतः ।
 अनादिमध्यपर्यन्तं कुतः स्मृत्यादयस्ततः ॥ १८
 सर्वात्मत्वात्पदार्थात्म चिद्योमकचनं तु यत् ।
 व्यवहारेऽप्यलं शान्तं स्मृत्या तच्छब्दितं मया ॥ १९
 तदेतत्स्मरणं नाम स्वभावकचनं हि तत् ।
 तेनाभ्यस्तोऽथ बाह्यार्थः सादृश्यादवभासते ॥ २०
 यद्यत्संवेद्यते किञ्चित्स्वभावं स्वभावयत् ।
 तेनावभासते योऽर्थस्तस्य स्मृत्यभिधा कृता ॥ २१
 अविद्यमानं भातीव यथा दृश्यं तथा स्थितिः ।
 भातैवाविद्यमानैव मृगतृष्णा यथोद्यता ॥ २२
 सर्वात्मनि स्थिताः सत्ये याः कचन्ति सुसंविदः ।
 ता एवाभ्यासरूढार्थाः सादृश्यात्स्मृतयः स्मृताः ॥
 काकतालीयवद्भ्रान्ति सर्वात्मनि सुसंविदः ।
 स्वाङ्गभूताः स्वतः स्वस्थास्ता एव स्मृतयः कृताः ॥ २४
 यद्यत्कचति सद्रूपं स्वाङ्गं सर्वात्मनः स्वतः ।
 तदभ्यस्तार्थसादृश्यात्स्मृतिरित्युच्यते बुधैः ॥ २५
 हेतौ लब्धेऽप्यलब्धे वा पवनस्पन्दवद्विदः ।
 ता एवाभ्यासरूढार्थाः सादृश्यात्स्मृतयः कृताः ॥ २६
 काकतालीयवद्भ्रान्ति यास्ताः स्मृत्यभिधाः कृताः ।
 यथा तच्चैतेऽवयवाः कचन्ति न कचन्ति च ॥ २७

अचलं कूटस्थम् ॥ १८ ॥ यदि सर्वात्मत्वात्स्मृत्यात्मापि ब्रह्म
 भवतीति सर्वात्मदृशा उच्येत तर्ह्यस्तु नामेत्याह—सर्वात्म-
 त्वादिति । एतदेवाभिप्रेत्य मयापि 'यदि वापि भवेत्किञ्चित्स्मृत्या
 देहादि तस्य तत्' इत्युक्तमित्याह—व्यवहारेऽपीति ॥ १९ ॥
 अज्ञातब्रह्मस्वभावस्य परोक्षतयैव कचनं तेनोपासनात्मना पुनः-
 पुनरभ्यस्तः सन् ब्रह्मात्मैवोपासनाफलीभूतबाह्यार्थ इवोपासना-
 कल्पिताकारसादृश्यादवभासते ॥ २० ॥ अज्ञानोपहितं ब्रह्म जीवेन
 यद्यत्संवेद्यते भ्रान्त्या स्मृतिपरंपरया वा तत्स्वभावमेवावलम्ब्य
 स्वं स्वभावं यत्सत् तेनाकारेण कालान्तरेण यत्तत्तालिङ्गित
 इवार्थोऽवभासते तस्य स्मृतिरित्यभिधा स्वस्मिन्नेव तेन कृतेत्यर्थः
 ॥ २१ ॥ यथा भ्रान्तानुभवे अविद्यमानं दृश्यं भातीव तथा
 स्मृतावपि स्थितिर्बोध्या ॥ २२ ॥ भ्रान्ताभ्यासेन सत्यत एव
 रूढार्था भ्रान्त्यनुभवेन समानविषयत्वलक्षणात्सादृश्यात्स्मृतयः
 स्मृताः ॥ २३ ॥ काकतालीयवदाकस्मिकोद्बोधकवशेन याः संविदो
 भ्रान्ति । स्वाङ्गभूताश्चिदवयवभूता इव विषयतः परोक्ष्याद-
 स्वस्या अपि स्वत आपरोक्ष्यात्स्वस्था अविहृताः ॥ २४ ॥ अनु-
 भवे यद्यत्कचति तेनाभ्यस्तार्थेन समानाकारतया सादृश्यात्
 ॥ २५ ॥ हेतौ उद्बोधके लब्धे अलब्धेऽपि वा । यथा पवन-
 स्पन्दो व्यजनादिहेतौ लब्धेऽप्यलब्धेऽपि भवति तद्वत् ।
 ता अनुभववृत्त्युपलक्षिता एव विदः कालान्तरे स्मृतयः कृताः
 ॥ २६ ॥ यदि संविदोऽवयवभूतास्तर्हि तद्वत्सदैव कृतो न

स्थिता यथात्मनि तथा सर्वाः सर्वात्मिका विदः ।
 मिथ्याज्ञानमया यद्बुद्ध्या घटपटादयः ॥ २८
 तद्वत्स्मृतिपदार्थस्य किं भ्रमस्य विचार्यते ।
 दृश्यस्यासंभवाज्ज्ञस्य स्मृतिर्नास्त्येव तत्त्वतः ॥ २९
 स तथैकघनत्वाच्च चिद्योमत्वाज्जगत्स्थितेः ।
 यथास्थितमिदं दृश्यमस्त्येवाज्ञस्य संप्रति ॥ ३०
 न मोक्षोपायकथनं न च जानामि तत्स्थितिम् ।
 संदेहादिव जिज्ञासुस्तावन्मोक्षकथोच्यते ॥ ३१
 यावद्दृश्यं स्मृतिश्चैव संस्मृतिश्चास्य शाम्यति ।
 अविद्यायास्तु मौर्ख्यस्य विमोहस्यात्यसंभवात् ॥ ३२
 अज्ञस्थो निश्चयोऽस्माकं न कदाचन गोचरः ।
 यच्च यद्विषये नास्ति तत्रैवानुभवत्यसौ ॥ ३३
 रजन्यनुभवो भानोर्भवत्यङ्ग कथं वद ।
 भातं वस्तुस्वरूपात्म चिन्मात्रे किञ्चिदेव यत् ॥ ३४
 तदभ्यस्तार्थसादृश्यात्तत्संस्कार इति स्मृतम् ।
 आत्मस्वभावभूतानामपि चिद्योमरूपिणाम् ॥ ३५
 सर्वेषां परिकल्प्यानामाभासेऽप्यनवस्थितेः ।
 एवं न संभवत्येव जगत्किञ्चित्कदाचन ॥ ३६
 दृष्टं मृगतृषेवास्तु न तु तत्परमार्थतः ।
 यदा त्वयं तदा स्वप्ने सर्गादौ चावभासते ॥ ३७

कचन्ति तत्राह—काकतालीयवदिति । उद्बोधकसमवधानस्य
 कादाचित्कत्वेनेति भावः । अवयवा हस्तपादादयो यथा मनस-
 स्तरप्रवणत्वे कचन्त्यन्यप्रवणत्वे न कचन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ २७ ॥
 स्वप्नेन्द्रजालदां यथा घटपटादयो मिथ्याज्ञानमयास्तादृशभ्रमस्य
 स्मृतिपदार्थस्य किं मूलं विचार्यत इत्यन्वयः ॥ २८ ॥ अत
 एवाभ्रान्तस्य ज्ञस्य प्रजापतेः स्मृतिर्नास्त्येव ॥ २९ ॥ स तत्त्व-
 वित्तथैव यथापूर्वं निर्विकार एवास्ते । जगत्स्थितेस्तद्दृशा
 चिद्योममात्रत्वादित्यर्थः । अज्ञस्य तु तद्वैपरीत्यमित्याह—यथा-
 स्थितमिति ॥ ३० ॥ तत्कृतस्तत्राह—नेति । तस्य तत्त्व-
 विदः स्थितिम् । अत एव स देवात्साधनचतुष्टयं प्राप्य संदेहा-
 द्यावजिज्ञासुरिव भवति तावन्मोक्षकथा तस्मै गुरुणोच्यते ॥ ३१ ॥
 यथा अज्ञास्तस्वज्ञस्थिति न जानन्ति तथा वयं तत्त्वज्ञा अपि
 अज्ञनिश्चयं न जानीम इत्याह—अविद्याया इति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥
 इदानीं स्मृतिहेतुसंस्कारं प्रमाह तत्स्वरूपमाह—भातमिति ।
 अन्तःकरणोपहितचिन्मात्रे बाह्यवस्तुस्वरूपात्म यत्किञ्चिदेव
 भातं तच्चैत्पुनःपुनर्व्यवहारेणाभ्यस्तं तादृशार्थसादृश्याद्वसितं
 चितं तत्संस्कार इति स्मृतमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ तत्र परिकल्प्यानां
 सर्वेषां बाह्यार्थानां तत्त्वज्ञानेनात्मस्वभावभूतानां बाधितानु-
 कृत्या दग्धपटन्यायेनाभासेऽपि वस्तुतोऽनवस्थितेस्तत्सादृशस्य
 चित्ते मार्जनात् संस्कारस्तत्त्वविदां संभवतीति शेषः ॥ ३५ ॥
 तथा च मत्फलितं तदाह—एवमिति ॥ ३६ ॥ तथा च प्रतिज्ञातं

चिद्योमैव परं सर्गपर्यायं स्वात्मनि स्थितम् ।
 चिद्योमैवेत्यमागतं न च्युतं सत्स्वरूपतः ॥ ३८
 आत्मनात्मनि रूपं वा सद्रूपमिव संस्थितम् ।
 सर्गादावेष कश्चित् मिथ्या कचदपि स्थितम् ॥ ३९
 अतः कुतः कश्चिन्नाम हेयादेयादिभासकम् ।
 वेदमाकारवार्तिकविज्ञापि स्मृत्यात्मकं कश्चित् ॥ ४०
 कारणाभासतो भाति स्वरूपं परमात्मनः ।
 आकारवस्त्वे यदुःखं भवेत्स्मृत्यां तदेव च ॥ ४१
 द्वयमेतदसत्तस्माद्बुधो नाम न विद्यते ।
 चिद्योञ्चि भूतव्योमाभे शून्य एव यथास्थितम् ॥ ४२
 स्थितं स्वरूपमजहद्बुधनाकाचलादिकम् ।
 यथास्थितोप्रदिकालं जगत्सं रूपमत्यजत् ॥ ४३
 स्वमेवात्यजतो रूपं चिद्योञ्च उदरे स्थितम् ।

स्वानुभूत्येकमात्रात्म प्रमातृस्वामपदानम् ॥ ४४
 अपृथ्व्यादि कुतस्तत्र किल पृथ्व्याद्यो वद ।
 तद्भाति केवलं शस्तं चिदाकाशं तथात्मनि ॥ ४५
 सर्वादौ स्वप्रकाले च पृथ्व्यादेः संभवः कुतः ।
 उद्भूयेव जगद्रूपान्नसत्तात्मनात्मनि ॥ ४६
 करोति पृथ्व्याद्यमिधाः पञ्चात्सत्यार्थदा इव ।
 न स्मृत्यात्म न साकारं पृथ्व्यादीनामसंभवात् ।
 न भ्रान्तिर्न विधर्तादि जगद्ब्रह्मात्म केवलम् ॥ ४७
 ब्रह्मेदमाकचति चारुजगत्स्वरूपं
 तत्रैकमेव कचवाकचनात्मनिष्ठम् ।
 इदयाभमप्यमलमेव नमः प्रशान्तं
 नित्योदितं प्रलयसर्गमयोदयात्म ॥ ४८

इत्याहं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० जगतो ब्रह्मत्वप्रतिपादनं नाम द्विसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७३ ॥

त्रिसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७३

श्रीराम उवाच ।
 सर्वानुभवरूपस्य तथा सर्वात्मनोऽप्ययम् ।
 अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य देहेऽपि किमहंप्रहः ॥ १
 चितः पाषाणकाष्ठत्वं स्वमादिषु कथं भवेत् ।
 इदं पाषाणकाष्ठादि कथं नास्त्यस्ति वा कथम् ॥ २
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 शरीरिणो यथा हस्ते हस्ततायां यथाग्रहः ।

सर्वात्मनस्तथा देहे देहतायां तथाग्रहः ॥ ३
 पादपस्य यथा पत्रे पत्रतायां यथाग्रहः ।
 सर्वात्मनस्तथा वृक्षे वृक्षतायां तथाग्रहः ॥ ४
 आकाशस्य यथा शून्ये शून्यतायां यथाग्रहः ।
 सर्वात्मनस्तथा द्रव्ये द्रव्यतायां तथाग्रहः ॥ ५
 स्वप्नोचितः स्वप्नपुरे रूपतायां यथाग्रहः ।
 सर्वात्मनस्तथा स्वप्नजाग्रदादौ तथाग्रहः ॥ ६

सिद्धमित्याह—यदा त्विति । अयमर्थः सिद्ध इति शेषः ॥३७॥
 ॥ ३८ ॥ आत्मना आत्मनि इत्यमागतमिति पूर्वत्रान्वयः ।
 अथवा मिथ्या कचदिव स्थितं जगद्रूपं चासद्रूपं ब्रह्म भूत्वा
 स्थितम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ न तु स्मृत्यात्मकताप्यस्य किमर्थं
 प्रत्याख्यायते तत्राह—आकारवस्त्वे इति । स्मृतेनापि भार्या-
 पुत्रादिमरणेन दुःखदर्शनादिति भावः ॥ ४१ ॥ यथास्थितं
 जीवनमुक्तानां यावज्जीवं व्यवहारक्षमं स्थितमित्युत्तरत्रान्वयः
 ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ स्वप्नप्रपञ्चदृष्टान्तोऽप्यत्र सुसदृश इत्याह—
 स्वप्नेवेति ॥ ४४ ॥ साध्यमेवोपपादयति—अपृथ्व्यादीति
 ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ इदं ब्रह्म चारुजगत्स्वरूपमाकचति
 तत्र कचवाकचनयोः सर्गप्रलययोरात्मन्यविकृतस्वभावनिष्ठं तदे-
 करूपमेव इदयाभं भातमप्यमलं नम एव नित्यमनादिकाकतः
 प्रलयसर्गमयोदयात्मकमुदितमहानामित्यर्थः ॥४८॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मज्ञ-
 प्रतिपादनं नाम द्विसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७३ ॥
 यथा चित्तोऽपि देहादि जडभासकियाग्रहः ।
 यथा सर्वात्मकत्वं च तथेह प्रतिपाद्यते ॥ १ ॥
 यदि स्वप्नकाचनिचमत्कार एव जगद्वर्ति चितः कश्चिन्नुदितं

तथा अहंभावग्रहो युक्तः । ग्रह आग्रहोऽभिनिवेशः । देहे
 एवातिशयेनाहंभावाग्रहोऽन्यत्र नेति नियमः कुत इत्येकः प्रश्नः
 ॥ १ ॥ एवं चितः अचिद्रूपपाषाणकाष्ठादिभावाग्रहश्च कुतः ।
 चिद्रूपस्य हातुमशक्यत्वात् । अचिद्रूपस्य स्वीकर्तुमशक्यत्वात्वेति
 द्वितीयः । एवं चित एव सर्वात्म्ये इदं पाषाणकाष्ठादि नास्तित्वं
 कथमापद्यते । चित्तोऽपहवासंभवात् । एवं सर्वात्मकचित्द्रिकृद्-
 मचिद्रूपं पाषाणकाष्ठाद्यस्ति वा कथम् । येन सर्वात्म्यं स्यादिति
 द्वौ प्रश्नौ ॥ २ ॥ सर्वशरीरस्याहंतया प्रथायां तुल्यायां हस्ते एव
 हस्तत्वं पादे एव पादत्वं नैतरत्रेति आत्मिकर्म संस्थानाधीनां यथा
 व्यवस्थाग्रहः अनादितत्तदाकारसंस्कारव्यवस्थयैव नान्येन हेतुना
 तथा देहे देहतायामहंतादौ चाग्रहो बोध्य इत्याशयेन दृष्टान्त-
 प्रपञ्चनेनाथो प्रश्नौ समाचक्षते—शरीरिण इत्यादिना । देहतावृक्ष-
 तादिसन्दास्तदहंतापराः । अत्र सर्वत्र विषयाभ्यासे विषयाभ्यासो
 ज्ञानाभ्यासे ज्ञानाभ्यासो दृष्टान्त इति द्वौ द्वौ यथातथाग्रहदौ प्रयु-
 क्त्विति बोध्यम् ॥ ३ ॥ इक्ष्वाकादावप्यभिमानिजीवसत्त्वात्-
 तदृशाभ्यासा उदाहृताः ॥ ४ ॥ इत्येव अग्निमुक्ताखर्पादिषुने ।
 इत्यभ्यासां प्रयोजोपाख्यतालक्षणव्यवस्थायाम् ॥ ५ ॥ अरूपचित्तो-
 पादानकत्वादरूपत्वेन अचिद्रूपचित्ते स्वप्नपुरे स्वप्नजाग्रदाकार-

यथाग्नेन्द्रे दृषदृषदादीं स तथाग्रहः ।
 तथा सर्वात्मनोऽग्नेन्द्रपुरतायां तथाग्रहः ॥ ७
 शरीरस्य यथा केशनखादिषु यथाग्रहः ।
 सर्वात्मनस्तथा काष्ठदृषदादीं तथाग्रहः ॥
 चित एव यथा स्वप्ने भवेत्काष्ठोपलादिता ।
 चिदाकाशस्य सर्गादौ तथैवावयवादिता ॥
 चेतनाचेतनात्मैकं पुरुषस्य यथा वपुः ।
 नखकेशजलाकाशधर्ममाकारभासुरम् ॥
 चेतनाचेतनात्मैकं तथा सर्वात्मनो वपुः ।
 जङ्गमं स्थावरमयं किंतु नित्यमनाकृति ॥
 यथास्थितं शाम्यतीदं सम्यग्ज्ञानवतो जगत् ।
 स्वप्ने स्वप्नपरिहातुर्यथा दृष्टार्थसंभ्रमः ॥
 चिन्मात्राकाशमेवेदं न द्रष्टास्ति न दृश्यता ।
 इति मौनमलं स्वप्नद्रष्टुर्यत्सा प्रबुद्धता ॥
 कल्पकोटिसहस्राणि सर्गा आयान्ति यान्ति च ।
 त एवान्ये च चिद्योस्त्रि जलावर्ता इषार्णवे ॥
 करोत्यब्धौ यथोर्म्यादौ नाना कञ्चकञ्चं वपुः ।
 चित्करोति तथा संज्ञाः सर्गाद्याच्चेतने निजे ॥
 यथास्थितमिदं विश्वं ब्रह्मैवानामयं सदा ।
 तस्वप्नं प्रत्यतस्वप्नजनतानिश्चयादते ॥
 नाहं तरङ्गः सलिलमहमित्येव युक्तितः ।
 बुद्धं येन तरङ्गेन कुतस्तस्य तरङ्गता ॥
 ब्रह्मणोऽस्य तरङ्गत्वमिवाभानं यतस्ततः ।

तायां यथा आग्रहः स्वप्नभुजः । स्वप्नजागरादौ अवस्थात्रये ॥६॥
 अग्नेन्द्रे पुरे च विद्यमाने दृषदादौ स तथा प्रसिद्ध आग्रहो
 यथेत्थर्थः । अत्रितायां पुरतायां च तदभिमानिन आग्रहः ॥ ७ ॥
 अन्यौ प्रभावपि समाधत्ते—शरीरस्येत्यादिना । यथा चेतन-
 त्वेनाभिमतस्यापि शरीरस्य केशनखादिषु यथा अचेतनत्वा-
 ग्रहस्तथा चिद्रूपस्यापि सर्वात्मनः काष्ठदृषदादीं तथाग्रहः अचे-
 तनत्वाग्रहः । चिता चित्तस्य हातुमशक्यत्वमचित्तस्य स्वीक-
 र्तुमशक्यत्वं च मायागतवरणविक्षेपशक्तिभ्यामघटितस्यापि च-
 टनात्परिहर्तव्यमिति भावः ॥ ८ ॥ चित्तस्त्रिरुद्धमचित्तमिव निर-
 वयवायाः सावयवत्वमपि स्वप्नाभुवबलादेव भवतीति स्वीका-
 र्यमित्याह—चित्त एवेति । चित्तः सकाशादेव ॥९॥ किंच मा-
 याशबलस्य चेतनाचेतनोभयात्मकैकवस्तुत्वाद्प्युभयव्यवहारप्र-
 वर्तकतान विरुद्धेत्याशयेनाह—चेतमेति । न च विरोधः ॥१०॥
 ॥ ११ ॥ अत एव तत्त्वतस्तज्ज्ञानात्सर्वे विरुद्धधर्माः शाम्यन्ती-
 त्याह—यथास्थितमिति ॥ १२ ॥ स्वप्नद्रष्टुर्यां सा प्रातः प्रसिद्धा
 प्रबुद्धता सैव न द्रष्टास्ति न दृश्यता किंत्विदं सर्वं चिन्मा-
 त्राकाशमेवेति निश्चये अलं समर्थेत्यर्थः ॥ १३ ॥ सहस्र-
 कोटिकोऽप्यागतैरीदशाभ्यासैर्नाधिष्ठातैककल्पकृतिरित्याह—क-
 ल्पकोटीति ॥ १४ ॥ करोति सलिलमिति शेषः । निजे चेतने

तरङ्गत्वात्तरङ्गत्वे ब्राह्मणौ शक्ती स्थितिं गते ॥ १८
 चिद्योस्त्रोऽत्यजतो रूपं स्वप्नवद्व्यस्तवेदनम् ।
 तदिदं हि मनो राम ब्रह्मेत्युक्तः पितामहः ॥ १९
 एवमाद्यः प्रजानाथो निराकारो निरामयः ।
 चिन्मात्ररूपसंकल्पपुरवत्कारणोज्जितः ॥ २०
 येनाङ्गदत्त्वं नास्तीति बुद्धं हेमाङ्गदेन वै ।
 अङ्गदत्त्वं कुतस्तस्य तस्य शुद्धैव हेमता ॥ २१
 अजे संकल्पमात्रात्म चिन्मात्रव्योमदेहिनि ।
 अहं त्वं जगदित्यादि यद्विभातं तदेव तत् ॥ २२
 चिच्छमन्कृतयो भान्ति याश्चिद्योमनि शून्यताः ।
 एतास्ताः सर्गसंहारस्थितिसंरम्भसंघिदः ॥ २३
 अच्छं चिन्मात्रनभसः कञ्चनं स्वयमेव तत् ।
 स्वप्नाभं चित्ततामात्रं स एव प्रपितामहः ॥ २४
 यथा तरङ्गस्तेनैव रूपेणान्येन वाऽनिशम् ।
 स्फुरत्येवमनाद्यन्तः सर्गप्रलयविभ्रमः ॥ २५
 चिद्योस्त्रः कञ्चनं कान्तं यद्विराडिति शब्दितम् ।
 भवेत्संकल्पपुरवत्तस्य कुर्यान्मनोऽपि वै ॥ २६
 सर्गः स्वप्नः स्वप्न एव जाग्रदेहः स एव च ।
 घनं सुषुप्तं तैमिर्याद्यथा संवेदनं भवेत् ॥ २७
 तस्य कल्पान्तरजनी शिरोरुहतयोदिता ।
 प्रकाशतमसी कालक्रियाव्याः स्वाङ्गसंघयः ॥ २८
 तस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा च नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
 चन्द्राकौ दृग् दिशौ श्रोत्रे कल्पनेति विजृम्भिता २९

मायाशबलचिति ॥ १५ ॥ १६ ॥ तरङ्गेन । 'प्रातिपदिकान्तनु-
 भ्विमफिषु च' इत्यत्रापि 'पूर्वपदारसंज्ञायाम्' इति सूत्रादग इ-
 त्यनुष्टुप्तेर्न णत्वम् । अचेतनस्यापि चेतनत्वारोपादिमसक्तिः ॥१७॥
 तरङ्गशब्दास्तत्सदृशजगत्पराः ॥ १८ ॥ व्यस्तवेदनमन्योन्यध-
 र्मविनिमयेन व्यत्यस्तचेतनभावं मनःसमष्ट्युपहितं यद्गुणं
 तदिदं मनो ब्रह्मेति शब्दैः पितामह उक्तः ॥ १९ ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ समष्टेचिन्मात्रत्वे तद्यद्येनमस्यदादीनां तदनुक्तमपि
 सिद्धमित्याह—अजे इति ॥ २२ ॥ २३ ॥ प्रपितामहो हिर-
 ष्यगर्भः ॥ २४ ॥ २५ ॥ विराडपि तादृगेवेत्याह—
 चिद्योस्त्र इति । तस्य विराजो मनोहिरण्यगर्भोपि यत्कुर्याद्भुवन-
 भूतप्रामादि तदपि संकल्पपुरवदित्यर्थः ॥ २६ ॥ तथा च
 स विराडेव सर्गः स एव स्वप्नः स्वप्न एव जाग्रद्व्यष्टिसमष्टिदेहः
 संपन्नः । यथा घनं सुषुप्तं निद्रातिशयलक्षणतैमिर्यात्स्वप्नसंवे-
 दनं भवेत्तथा प्रलये अविद्यातिमिरावृत आत्मैव जगत्संवेदनं
 भवेदित्यर्थः ॥ २७ ॥ जगत्सर्वं विराजोऽङ्गतया वर्णयति—
 तस्येत्यादिना । तस्य विराड्वेषस्य परमात्मनः कल्पान्ता अवा-
 न्तरप्रलयात्तद्रूपा चतुर्मुखस्य रजनी शिरोरुहतया केशतया
 उदिता प्राथमिकत्वात् । प्रकाशतमसी दिनरात्री अङ्गसंघयः
 ॥ २८ ॥ दिशौ प्राचीप्रतीच्यौ श्रोत्रे इत्यनया रीत्या मनःकल्पनैव

एवं सम्यग्दृश्यमानो व्योमात्मा वितताकृतिः ।
 अस्मत्संकल्पशैलामो विराड् स्वप्नाकृतिस्थितः ॥ ३०
 यद्य चेतश्चिदाकाशे स्वयं कचकचायते ।
 तदेतज्जगदित्येवं तेनात्मैवानुभूयते ॥ ३१
 विराडात्मैवमाकाशं भाति चिन्मयमाततम् ।
 स्वभावस्वप्ननगरं नगनागमयात्मकम् ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु परमार्थोपदेशो नाम त्रिसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७३ ॥

चतुःसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सर्गादौ स्वप्नसंविद्या चिदेवाभाति केवला ।
 जगदित्यवभासेव ब्रह्मैवातो जगन्नयम् ॥ १
 सर्गास्तरङ्गा ब्रह्माब्धेस्तेषु संवेदनं द्रवः ।
 सर्गान्तरं सुखाद्यात्म द्वैतैक्यादीतरत्कुतः ॥ २
 यथा स्वप्नसुषुप्तात्म निद्रारूपकमेव खम् ।
 दृश्यादृश्यांशमेकात्मरूपं चिन्नभसस्तथा ॥ ३
 जाग्रति स्वप्ननगरं यादृक्तादृशिदं जगत् ।

विराडाकारेण विजृम्भिता ॥ २९ ॥ तथा चास्मत्स्वप्नतुल्यता तस्य सिद्धेति निष्प्रपञ्चतैव परमार्थ इत्याह—एवमिति ॥ ३० ॥ यच्चेतत् चेतनात्मकजीवभावापन्नं सत् स्वयं कचकचायते अतिहायेन क्षीयते । क्षीयार्थात्कचेः पचाद्यचि डाचि द्वित्वे डाजन्तस्यापि षुशादित्वकल्पनात्क्यच् ॥ ३१ ॥ चिन्मयमातत-माकाशमेव एवरीत्या विराडात्मा भाति । एवरीत्या दर्शने विराडात्म चिन्मयमाकाशमेव भातीति वा ॥ ३२ ॥ अनुभविता चिदात्मैव स्वस्वरूपमनुभवैकरसं सत्यं स्वात्मानमपि मायावरणादसन्तमिव कृत्वा इत्यस्वेन परिच्छिन्न-प्रपञ्चभावेनानुभवति, यथा स्वप्नप्राप्तो नटः स्वात्मानमेव स्वातिरिक्तनाट्यद्रष्टृसमाजपूर्ण स्वप्नदेशं कल्पयित्वा तत्र स्वनाट्यं स्वयमेवानुभवति तद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥ अस्मिन्नर्थे सर्वैवादिसिद्धान्ताविरोधः सर्वाभिलषितफलसिद्धिश्चेत एवेत्याह—वेदान्तेति । वेदान्ताः शुद्धब्रह्मपराः सर्वज्ञेश्वर-परा उपासनापराश्च । आर्हता दिग्म्बराः । सांख्याः कापिला योगिनश्च । सौगताः सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिकाः । एतेषां ये गुरवो व्यासार्हत्कपिलपतञ्जलिबुद्धाः । व्यक्षः पशु-पतिर्भैरवो वा आगमशास्त्रमेदनिर्माता । आदिपदाद्वैष्णवहि-रण्यगर्भाद्या आगमनिर्मातारो विष्णवादयो गृह्यन्ते । तैः सुष्ठु उक्ता स्वस्वामेषु प्रतिपादिता या यादृशस्ताः सर्वा भूत्वा अस्मदभिमतं ब्रह्मैव तत्तद्वासनालक्षणतदात्मकतया स्फुरितम् । तेषां च वादिनामाम्बिदः स्वस्वनिश्चयस्वानुरूपं स्वर्गं पारलौकिकसुखरूपमखिलमैहलौकिकं च सर्वं फलं तद्ब्रह्मैव भवति

अनुभवितैवानुभवं

सत्यं स्वात्मानमप्यसन्तमिव ।

अनुभवतीयत्वेन

स्वप्ननटः स्वप्नदेशमिव ॥

३३

वेदान्तार्हतसांख्यसौगतगुरुव्यक्षादिसूक्ता दृशो ब्रह्मैव स्फुरितं तथात्मकलया स्तादात्मनित्यं यतः । तेषां चात्मविदोऽनुरूपमखिलं स्वर्गं फलं तद्भव-त्यस्य ब्रह्मण ईदृगेव महिमा सर्वात्म यत्तद्वपुः ॥ ३४

परिज्ञातं भवेदत्र कथमास्था विवेकिनः ॥ ४
 सर्गादौ सर्गसंविद्येयथाभूतार्थवेदनात् ।
 जाग्रति स्वप्ननगरं यादृशं तादृशं जगत् ॥ ५
 जाग्रति स्वप्ननगरवासना विविधा यथा ।
 सत्या अपि न सत्यास्ता जाग्रत्यो वासनास्तथा ॥ ६
 अन्यथोपप्रपद्येह कल्प्यते यदि कारणम् ।
 तत्किं नेदीयसी नात्र भ्रान्तता कल्प्यते तथा ॥ ७

यतस्तदात्मरूपमेव तैस्तैस्तथा तथा फलं स्तादित्याशास्यते इत्यर्थः । अस्य ब्रह्मण ईदृगेव महिमा प्रसिद्धो यद्यस्माद्ब्रह्म एवंपुर्माया-शबलस्वरूपं सर्वात्मकमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-हारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपदेशो नाम त्रिसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७३ ॥

स्वप्नस्येव प्रबोधेन कृते दृश्यस्य मार्जने ।

परिशिष्टश्चिदात्मको बर्ष्यतेऽत्र परं पदम् ॥ १ ॥

यतः सर्गादौ केवला चिदेव स्वप्नवित्संविद्या जगदित्यव-भासेऽवभातीति प्रसाधितमतो जगन्नयं ब्रह्मैवेति प्रबोधे केवल्यं सिद्धमित्यर्थः ॥ १ ॥ अज्ञप्रसिद्धो दुःखात्मकः सर्गो बोधेन प्रमार्जितः । यत्तु तदनन्तरमपि जीवन्मुक्तानां व्यवहाराय जगत्प्रसिद्धं तदानन्दसच्चिदेकरसत्वात्सर्गान्तरमेव तत्तत्र द्वैत-क्यादीतरत् असुखरूपं कुतो निमित्तात्स्यादित्यर्थः ॥ २ ॥ तेषां तादृशसर्गेणैकरस्याविघाते अज्ञदृशा प्रसिद्धतरं दृष्टान्तमाह—यथेति । यथा स्वप्ने सुषुप्तिस्वप्नभेदाभासेऽपि निद्रैकरस्यं न वि-हन्यते तद्वद्विदेहमुक्तिजीवन्मुक्तिभेदप्रतिभासेऽपि सुखैकरस्यं न विहन्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥ कुतो न दुःखमिति चेद्वाधिते विषये विदुष आस्थाभावादित्याह—जाग्रतीति ॥ ४ ॥ यादृशं यथा बाधितम् ॥ ५ ॥ द्रव्यपटवद्वासनामात्रेण स्थि-तित्तु न दुःखसमर्थेत्याशयेनाह—जाग्रतीति । जाग्रत्यो जाग्रतो भोगाभासार्थमाधिर्भूताः ॥ ६ ॥ ननु जगतो भ्रान्तिमात्रत्वे तत्प्रबोधेन तन्मूलज्ञानोच्छेदाद्वाधः स्यात् । प्रधानपरमाप्त्राधिकारणात्तरैरन्यथोपपत्त्या भ्रान्तित्वाकल्पने तु

कानुभूयत एवेवं भ्रान्तिः समजगत्स्विव ।
कारणं स्वानुमासात् कानुमाऽनुभवव्यक्तिका ॥ ८
इष्टमप्यस्ति यज्ञेन न चात्मनि विचारितम् ।
अन्यथानुपपत्त्यान्तर्भ्रान्त्यात्म स्वप्रचौलवत् ॥ ९
निर्विकल्पं परं जाड्यं सविकल्पं तु संसृतिः ।
ध्यानं तेन समाधानं न संभवति किञ्चन ॥ १०
सचेत्यं संसृतिर्ध्यानमचेत्यं तूपलस्थिति ।
मोक्षो नोपलब्धवानं न विकल्पात्मकं ततः ॥ ११
न च नामोपलब्धेन निर्विकल्पसमाधिना ।
अन्यदासाद्यते किञ्चिद्भ्यते किं स्वनिद्रया ॥ १२
तस्मात्सम्यक्परिहानान्भ्रान्तिमात्रं विवेकिनः ।
सर्गात्यन्तासंभवतो यो जीवन्मुक्ततोदयः ॥ १३
निर्विकल्पं समाधानं तद्वन्तमिहोच्यते ।

न बाधप्रसक्तिरिति ततो दुःखं स्यादेवेत्याशङ्गाह—अभ्ययेति ।
उपप्रपथ उपपाथ । स्वप्ने जगति प्रसिद्धतरत्वात्त्वात् 'वा-
चारम्भणं विकारो नामधेयम्', 'तस्य त्रय भावसथास्त्रयः
स्वप्नाः', 'मायां तु प्रकृति विद्यात्', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानि-
वृत्तिः' इत्यादिश्रुतिबोधितत्वात् कल्पनान्तरेभ्यो नेरीयसी
क्षीप्रोपस्थितिकत्वेन संनिहिततरा भ्रान्तिमात्रैव जगतः किं
न कल्प्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥ किञ्च वाचारम्भणश्रुतिदर्शितन्यायेन
पर्यालोचने मृतसन्वादिव्यतिरिक्तघटपटाद्यदर्शनात्तद्विषये स्था-
स्वीया इव भ्रान्तिरिति प्रसङ्गमनुभूयत एव प्रत्यक्षानुम-
नापेक्षया अधिका बलवतरा अनुमा क दृष्टा यद्बलप्रधान-
परमाणादयः सिद्धेरित्यर्थः ॥ ८ ॥ किञ्च जगत्स्वप्रचौल-
वदन्तर्भ्रान्त्यात्मैव इष्टं प्रत्यक्षं लिङ्गमप्यस्ति । यथास्मात्कार-
णादयं जन आत्मनि इष्टमेव इष्टमनिष्टं सर्गं निवारयितुं च
न ईशे नेष्टे । छन्दसः पुरुषव्यत्ययः । अहं न ईशे इत्यनु-
भवतीति वा अध्याहार्यम् । न च तेन प्राग्विचारितं निश्चितमेव
दृश्यते अकस्मादेव यत्किञ्चिदर्थदर्शनात् । सर्गस्य कारणान्तराधी-
नत्वे हि तादृशकारणसंपत्तिसाध्यं जना इष्टमेव सृजेयुरनिष्टं च
वारयेयुराकस्मिकं च दृश्यं न पश्येयुः । तल्लिङ्गत्रयान्यथानुपपत्त्या
स्वप्रचौलवदन्तिरित्येव सिद्धमित्यर्थः ॥ ९ ॥ अत एव ध्यान-
मात्रेण निर्विकल्पसमाधिपर्यन्तेन जगद्वाचं विनैव निस्कारं
मन्यमाना योगिनोऽपि निरस्ता इत्याह—निर्विकल्पमिति । यो-
गिनां आत्मा भ्रान्त्यन्तर्निद्रियः साक्षादनुभूतोऽप्यपुरुषार्थ इति
तत्साक्षात्कारकल्पने प्रबोधनाभावात्तिलानुमेये तस्मिन् भाह-
ज्ञानकल्पे निद्रापरोक्षे अकस्मैव परिशिष्यते । तत्र चित्तस्य
निर्विकल्पं समाधानं संपन्नमपि परं जाड्यमेव । सविकल्पं
तु संपन्नं संसृतिः संसार एव । तेन हेतुना तद्व्यानं
तेन समाधानं न संपन्नमपि किञ्चन पुरुषार्थरूपं न संभवती-
त्यर्थः ॥ १० ॥ तदेव स्पष्टयति—सचेत्यमित्येति । परामिमतमना-
कल्पकं मोक्षे परिशिष्यमाणं यत् ज्ञानं तन्मोक्षः पुरुषार्थवि-
शेषे न । एतेनात्मनो ज्ञानसमाधानमवन्मुक्तोपपत्त्या वैशिष्ट्य-
यो० वा० १८९

यथास्थितमविश्वमात्मनं सर्वमात्मनम् ॥ १४
तद्वन्तसुषुप्तायं तसुरीयमिति स्मृतम् ।
तन्निर्वाणमिति प्रोक्तं तन्मोक्ष इति शब्दितम् ॥ १५
सम्यग्बोधैकघनता यासौ ध्यानमिति स्मृतम् ।
दृश्यात्यन्तासंभवात्म बोधमाहुः परं पदम् ॥ १६
तच्च नोपलब्धजाड्यं न सुषुप्तोपमं भवेत् ।
न निर्विकल्पं न च वा सविकल्पं न वाऽप्यसत् ॥ १७
दृश्यात्यन्तासंभवात्म तदेवाद्यं हि वेदनम् ।
तत्सर्वं तच्च किञ्चिच्च तद्देवाङ्ग वेत्ति तत् ॥ १८
सम्यक्प्रबोधाभिर्वाणं परं तत्समुदाहृतम् ।
यथास्थितमिदं विभ्रं तत्रालं प्रलयं गतम् ॥ १९
न तत्र नानाऽनाना न न च किञ्चिच्च किञ्चन ।
समस्तसदसद्भावासीमान्तः स उदाहृतः ॥ २०

दीनामभिमतोऽपि मोक्षो नितरां निरस्तः । विकल्पात्मकं
सचेत्यं तु ततोऽपि मोक्षो न बन्धाविशेषादित्यर्थः ॥ ११ ॥
योगिसंमतसमाध्यभ्यासेन भवदभिमतमोक्ष एव किं न लभ्यते
तत्राह—न च नामेति । अन्यत्साख्याभिमतान्यदस्मद्भिमतं
यदि लभ्येत तर्हि स्वनिद्रयापि लभ्येत । चित्तवाच्यत्वनिवृ-
त्तेरज्ञानावरणानिवृत्तेष्वोभयत्रापि साम्यादिति भावः ॥ १२ ॥
तस्मात्परोक्षपक्षे निर्बोधादोषानिर्बोधाभ्रान्तिमात्रं जगत् ।
निरतिशयानन्दसच्चिदेकरस एवात्मा । तत्त्वज्ञानेन भ्रान्ति-
हेत्वज्ञानावरणक्षयेन भ्रान्तिक्षये परिशिष्यमाणः परमपुरु-
षार्थ इत्यस्मत्पक्ष एव सर्वेषां शरणमित्युपसंहरति—तस्मादि-
त्यादिना । यो जीवन्मुक्ततोदयः स एव निर्विकल्पसमाधानं
तदेव वानन्तं निर्वाणमित्युत्तरेणान्वयः ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥
आहुः 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स
भूमा' इत्यादिश्रुतयस्त्वविदक्षेत्यर्थः ॥ १६ ॥ तच्च गौतम-
कणादाभ्युपगतमुक्तिरिवोपलब्धजाड्यं न । हेरप्यगर्भोपगत-
प्रकृतिप्रलयवत्सुषुप्तोपमं न । पातञ्जलोपगतमुक्तिवन्निर्विक-
ल्पतामात्रं न । पाण्डुपतपाबरात्राद्यभिमतमुक्तिवत्सविकल्पं न ।
बोद्धाभिमतमुक्तिवदसत्सैरात्मन्यलक्षणं शून्यमपि न ॥ १७ ॥
किं तर्हि तदाह—दृश्येति । तदेव सर्वम् । 'प्रज्ञा वा इदमग्रं
आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मासीति', 'तस्मात्सर्वममभवत्'
इति श्रुतेरिति भावः । 'यत्र नाम्नात्पश्यति नान्यच्छृणोति'
इत्यादिश्रुतेर्न किञ्चिच्च ॥ १८ ॥ सर्वत्वे न किञ्चित्त्वे चोपपत्ति-
माह—यथास्थितमिति ॥ १९ ॥ सीमान्त इति । यथा पटः
सन्नसन्निति च कल्पनायाः सीमा तन्तुः । तन्तुः सन्नसन्निति
कल्पनायाः सीमा कर्पासम् । कर्पासं सदसदिति कल्पनायाः
सीमान्तस्तद्दीजम् । बीजं सदसदेति कल्पनायाः सीमा सुदा-
त्मिका पृथिवी । सा सती असती वेति कल्पनायाः सीमा
आपस्तार्सा तेजस्तस्य वायुस्तस्याकाशं तस्याव्याकृतं तस्य सद-
सद्भावाकल्पनायाः सीमा केवलविदात्मैवेति स सीमान्त इत्यर्थः

१ तदेवाच्छमिति वादः.

अत्यन्तार्थमर्थं दृश्यं यद्वै निर्वाणमास्तिम् ।
 शुद्धबोधोदयं शान्तं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ २१ ॥
 स च संप्राप्यते शुद्धो बोधो ध्यानमनुत्तमम् ।
 शास्त्रात्पदपदार्थबोधोर्ध्वोत्पन्नबुद्धिना ॥ २२ ॥
 मोक्षोपायामिधं शास्त्रमिदं वाचयतामिशम् ।
 बुद्ध्युपायेन शुद्धेन पुंसां नाम्नेन केनचित् ॥ २३ ॥
 न तीर्थेन न दानेन न ज्ञानेन न विद्यया ।
 न ध्यानेन न योगेन न तपोभिर्न चाण्डरैः ॥ २४ ॥
 भ्रान्तिमार्गं किलेदं सदसत्सदिव लक्ष्यते ।
 व्योमैव जगदाकारं स्वप्नोऽनिष्टे चिदम्बरे ॥ २५ ॥
 न शान्त्यति तपस्तीर्थैर्भ्रान्तिर्नाम कदाचन ।

तपस्तीर्थैदिना स्वर्गाः प्राप्यन्ते न तु मुक्तता ॥ २१ ॥
 भ्रान्तिः शान्त्यति शास्त्रार्थैस्त्वय्युच्चावलोकितात् ।
 आत्मज्ञानमयान्मोक्षोपायादेवेह गम्यतः ॥ २२ ॥
 आलोककारिणात्यर्थं शास्त्रार्थेनैव शान्त्यति ।
 भ्रमलेनास्त्रिणा भ्रान्तिः प्रकाशेनैव तामसी ॥ २३ ॥
 सर्गसंहारसंस्थानां भासो भ्रान्तिश्चिदम्बरे ।
 स्पन्दनानीव मरुति द्रवत्वानीव धारिणि ॥ २४ ॥
 द्रव्यस्य ह्येषेव समत्कृतिर्निजा
 नभस्ततः स्पन्द इवामिधं यथा ।
 यथा स्थिता सृष्टिरियं तथास्तिता
 लयं नभस्वन्तरनभ्यरूपिणी ॥ २५ ॥

इत्यापे श्रीवासिष्ठमहाराजायने वा० दे० मो० नि० ३० ब्रह्मगीतासु निर्वाणोपदेशो नाम चतुःषसत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७५

धीवसिष्ठ उवाच ।

स्वप्नाभमाद्यं चिद्योम कारणं देहसंविदाम् ।
 दृश्यान्वताऽसंभवतश्चिद्योन्नस्तत्कुतो वपुः ॥ १ ॥
 सर्गादौ स्वप्नसंविस्तरूपं सर्वं विनानघ ।
 न सर्गो न परो लोको दृश्यमानोऽपि सिद्ध्यति ॥ २ ॥
 असदेवानुभूरित्यमेवेदं भासते जगत् ।
 स्वप्नाङ्गनासङ्ग इव शान्तं चिद्योम केवलम् ॥ ३ ॥

एवंनामास्ति चिद्वातुरनादिनिधनोऽमलः ।
 शून्यात्मैवाच्छरूपोऽपि जगदित्यवभाति यः ॥ ४ ॥
 मलस्त्वेषोऽपरिज्ञातः परिज्ञातः परं भवेत् ।
 कुतः किल परे व्योमन्यनादिनिधने मलः ॥ ५ ॥
 यदेतद्देदनं शुद्धं तदेव स्वप्नपत्नम् ।
 जगत्तदेव सर्गादौ पृथ्व्यादेः संभवः कुतः ॥ ६ ॥

॥ २० ॥ यन्निर्वाणं सर्वविज्ञेपरहितं निरतिशयानन्दात्मना
 भासितमवस्थानं तदेव परमं पदं परमपुरुषार्थं विद्धि ॥ २१ ॥
 तत्प्राप्तौ चायं मोक्षोपायाख्यो प्रथम उपाय इत्याह—स चेति
 ॥ २२ ॥ बुद्धिरध्यात्मशास्त्रजन्यज्ञानं तद्वक्षणेनोपायेन ।
 अन्वेनोपायान्तरेण केनचिदपि न प्राप्यते—‘ज्ञात्वा तं मृत्यु-
 मत्येति नाम्नः पन्था विमुक्तये’ इत्यादिश्रुतेरिति भावः
 ॥ २३ ॥ तदेव प्रपद्यति—नेत्यादिना । विद्यया ब्रह्मवि-
 यातिरिक्विद्यया ॥ २४ ॥ कुतो न तत्राह—भ्रान्तिमार्ग-
 मित्यादिना । यतो भ्रान्तिमार्गमत्तत्कपस्तीर्थेन शान्त्यतीति
 परेणान्वयः ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ प्रकाशेन सूर्योदयेन ।
 तामसी कृष्णरात्रिरिव ॥ २८ ॥ संस्था स्थितिः । भासः प्रति-
 भासाः ॥ २९ ॥ यथा वटनीजादिद्रव्यस्य हृदि वटाकारधार-
 णचमत्कृतिर्नभस्ततो वायोः स्पन्दचमत्कृतिरिव स्थिता तथा
 मायाहावत्वभिन्नमस्वन्तः इयं यथा स्थिता जगतः सृष्टि-
 क्तस्या अस्तित्वा स्थितिश्च अनन्यरूपिणी भास्ते लयं च गमि-
 प्यतीति शेषः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणोपदेशो नाम चतुःष-
 सत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७४ ॥

यावन्मोक्षार्थं जगदिव चिदेवाभासकारणम् ।
 शास्त्रेण मौर्ख्येऽपहृते सा मुक्तेतीह वर्ण्यते ॥ १ ॥
 इयं सृष्टिस्तदस्तित्वा चानन्यरूपिणीत्युक्ते पितः सर्गः शरी-
 रमेवेत्याशङ्कां प्रसक्त्या निराकरोति—स्वप्नाभमिति । आद्यं हि
 चिद्योम स्वाविद्यया स्वप्नाभं भूत्वा जीवभावेन संसरदेवोऽहं
 मनुष्योऽहमित्यादि तत्तद्देहतादात्म्याभ्यासानां कामकर्मबाध-
 नादिद्वारा कारणं जीवोपासिद्धेः पूर्वं महत्प्रलये स्वप्नाभत्व-
 प्राप्तौ तु दृश्यान्वताऽसंभवतो निमित्तादिसिद्धेस्तत्सर्गरूपं इदं
 तस्य चिद्रूपोन्नो वपुः शरीरं कुतो निमित्ताद्भवेदित्यर्थः ॥ १ ॥
 स्वप्नसंविस्तरूपेणैव जीवभावसमकाला सर्गादिसिद्धिर्न निमि-
 त्तान्तरादित्याह—सर्गादाविति ॥ २ ॥ नापि चिद्योन्नो वास्तवो
 जीवभावो जगद्भावो वास्ति येन जगत्स्य शरीरं भवेदि-
 त्याह—असदेवेति । अनुभवतीत्यनुभूरनुभवैकरसविदात्मा
 इत्यमसदेव जगद्भूत्वा स्वाविद्यया भासते ॥ ३ ॥ तर्हि किम-
 नुभूतिरप्यसती, नेत्याह—एवंनामेति । यो जगदित्यवभाति च
 जगच्छून्यात्मैवाच्छरूपश्चिद्वातुरस्ति ॥ ४ ॥ एष परमात्मैव
 यावदपरिज्ञातस्त्यावन्मलः अविधीव । तत्र संसरन् जीव इव
 पृथगिव भवति । परिज्ञातस्तु परं निर्मलं ब्रह्मेव भवेत् । ‘स यो
 ह वै तत्परमं ब्रह्म वेदं ब्रह्मेव भवति’ इत्यादिश्रुतेरिति भावः ।
 ब्रह्मभावे कस्य मलप्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—कुत इति । प्रवी-
 षेन स्वप्नस्यैव बाधादिति भावः ॥ ५ ॥ स्वप्नसाम्यं तु धरणा-
 दीनयाद्भुक्तः प्रसक्तित्वेन पुनर्देहीकारणत्वात्तदिति—यदि-

चिद्योमात्मप्राप्तस्य कश्चिः सर्गकृषिणी ।
 कृता पृथ्यादिकल्पना मनोबुद्ध्यादिना तथा ॥ ७
 वार्यावर्त इष्टाभाति पवनस्पन्दवच्च यत् ।
 अबुद्धिपूर्वं चिद्योमि जगद्भ्रान्तमभिहितम् ॥ ८
 पश्चात्तस्यैव सैनैव स्वयमैश्वर्यशांसिना ।
 कृतं बुद्ध्यादिपृथ्यादिकल्पनं सवसम्भयम् ॥ ९
 स्वयमेव कचत्यच्छाच्छा वेयं सा महाचितिः ।
 सर्गाभिधानमस्यैव नभ एवेह नेतरत् ॥ १०
 न च किञ्चन नामाङ्ग कचत्यच्छैव सा स्मृता ।
 चिन्मात्रैकैककलनं ततमेवात्मनात्मनि ॥ ११
 चिदाकाशश्चिदाकाशे तदिदं समलं वपुः ।
 चित्तं इत्यभिधामाति यथा स्वप्ने तथा स्थितम् ॥ १२
 अन्यथानुपपत्त्यर्थकारणाभावतः स्वतः ।
 सर्गादावेव स्वात्मैव इदं चिद्योम पश्यति ॥ १३
 स्वप्नवत्तच्च निर्धर्म मनागपि न भिद्यते ।
 तस्माच्चिद्योम चिद्योम शून्यत्वं गगनादिषत् ॥ १४
 यदेव तत्परं ब्रह्म सर्वैरुपविबर्जितम् ।
 तदेवैकं तथारूपमेवं सर्वतथा स्थितम् ॥ १५
 स्वप्नेऽनुभूयते चैतस्त्वामो ह्यात्मैव भासते ।
 नानाबोधमनानैव ब्रह्मैवामलमेव तत् ॥ १६
 ब्रह्मैवात्मनि चिदावाजीवन्त्वमिव कल्पयत् ।
 रूपमत्यजदेवाच्छं मनस्तामिव गच्छति ॥ १७
 इदं सर्वं तनोतीव तच्च आत्मकमेव जम् ।
 भवतीव जगद्रूपं विकारीवाधिकार्येपि ॥ १८

मन एव स्वयं ब्रह्मा स सर्गस्य इति स्थितः ।
 करोत्यविरतं सर्वमजस्रं संहरत्यपि ॥ १९
 पृथ्यादिरहितो यस्मिन्मनोहृत्प्रवर्जिते ।
 अन्यथा त्रिजगद्भ्रान्ति यथा स्वप्ने निराकृति ॥ २०
 देहरूपजगद्रूपैरहमेकमनकृति ।
 मनस्तिष्ठाम्यनन्तात्म बोधाबोधं पराभवम् ॥ २१
 नेह पृथ्यादि नो देहो न बोधाव्याप्ति इष्यता ।
 जगत्तया केवलं सं मनः कचकचायते ॥ २२
 विचार्यदृष्टयैतदपि न किञ्चिदपि विद्यते ।
 केवलं भाति चिन्मात्रमात्मनात्मनि निर्धनम् ॥ २३
 यतो वाचो निवर्तन्ते तूर्णीभावोऽवशिष्यते ।
 व्यवहार्येपि आत्मैव तद्वचिष्ठति मूकवत् ॥ २४
 अनन्तापारपर्यन्ता चिन्मात्रवरमेष्टका ।
 तूर्णीभूत्वा भवत्येष प्रबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥ २५
 अबुद्धिपूर्वं द्रवतो यथावर्तावयोऽन्मसि ।
 क्रियन्ते ब्रह्मणा तद्वचिष्ठबुद्ध्यादयो जडाः ॥ २६
 अबुद्धिपूर्वं चातेव क्रियते स्पन्दनं यथा ।
 मनन्यदेवं बुद्ध्यादि क्रियते परमात्मना ॥ २७
 अनन्यदात्मनो वायोर्यथा स्पन्दनमव्ययम् ।
 अनन्यदात्मनस्तद्वचिन्मात्रं परमात्मनः ॥ २८
 चिद्योम ब्रह्मचिन्मात्रमात्मा चिति महामिति ।
 परमात्मेति पर्याया हेया ज्ञानवर्ता वर ॥ २९
 ब्रह्मोन्मेषमिमेवात्म स्पन्दास्पन्दात्म चातवत् ।
 निमेषो यादगेवास्य समुन्मेषस्तथा जगत् ॥ ३०

स्वाधिना ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ पश्चाजगद्भ्रान्तमन्तरं जीवभावेन
 तदनुप्रविश्य हिरण्यगर्भोऽहं भुवनलघैश्वर्यशांसिना बुद्ध्यादि-
 पृथ्यादिनामरूपव्याकरणलक्षणं कल्पनं कृतम् । सदसम्भयं
 मूर्तामूर्तप्रचुरम्, सस्यामृतमिधुनीकरणरूपं वा ॥ ९ ॥ अच्चा-
 दप्यच्छा वेयं महाचितिः सा स्वयमेव जगद्रूपेण कचतीति
 जगच्चिन्म एव नेतरत् ॥ १० ॥ अनया पर्यालोचनया हे भद्र,
 न किञ्चन कचति । चिन्मात्रलक्षणं यदेकमेवैकं तत्कलनमेव
 वा इत्थमात्मनि ततम् ॥ ११ ॥ खं अलं पूर्णं वपुः स्वरूपम् । अज्ञातं
 तदेव समलं वपुरिति वा । चित्तमिव तदुत्थमिव च ॥ १२ ॥
 अन्यथानुपपत्त्या प्रकारान्तरेण वादिसहसैरपि सर्गोपपादना-
 संभवात्परिषेवात् ॥ १३ ॥ उपपादितं जगद्रूपमुत्तरासमुप-
 संहस्य शिष्टमवधारयति—तस्मादिति । चिद्योम चिद्योमेति
 अवधारणार्थं वीप्सा ॥ १४ ॥ १५ ॥ उक्तमेव निष्कृष्य पुन-
 रप्युच्यते इत्यन्तरमाह—स्वप्ने इत्यादिवा ॥ १६ ॥ १७ ॥ तच्च
 मनःश्रमश्चिरूपेण इदं सर्वं तनोतीव ॥ १८ ॥ ब्रह्मा हिरण्य-
 गर्भः ॥ १९ ॥ पृथ्यादिरहितः स मनोरूपो ब्रह्म ब्रह्मवर्जिते

सहैव यस्य जगतो इति स्वयं स्थितस्तस्मादभ्यह्ना त्रिजग-
 द्भ्रान्तं स्वयं भाति ॥ २० ॥ स्वाधिधया पूर्णभावपराभवं प्राप्त्वं
 तन्मन एवाहमाकारेण देहजगद्रूपैरनन्तात्म भूत्वा बोधाबोध-
 रूपं तिष्ठतीत्याह—देहेति ॥ २१ ॥ २२ ॥ वर्जितदृष्टान्तर-
 मुपसंहरन्प्रकृते योजयति—विचार्येति । नितरां धर्म निर्धनम्
 ॥ २३ ॥ वाच्यनसागोचरनिरतिशयानन्दधनमेव तूर्णीभावो
 निवृत्ता । सा निवृत्ता व्यवहारकालेऽपि नापैतीत्याह—
 व्यवहार्यपीति ॥ २४ ॥ चिन्मात्रलक्षणा परमा इष्टैवेष्टका पर-
 मप्रेमास्पृहीभूतनिरतिशयानन्दधनता स्वयं भवतीत्यर्थः ।
 ज्ञानाभिपरिपाकेन इतीभाषाद्ब्रह्मभूत एवेष्टकेति वा ॥ २५ ॥
 एवं मुक्तस्य पुनः कालान्तरे सर्गादिना बन्धप्रसक्तिं वारयितुं
 सर्गस्याज्ञानपूर्वकत्वं दर्शयति—अबुद्धिपूर्वमिति । अबुद्धिबोध-
 नाशयमज्ञानं तत्पूर्वम् । अविद्यावृत्तब्रह्मचैतन्यस्यैव जलादिभा-
 वेनावर्तादिकल्पमाकत्वाजलादेर्देहास्तता ॥ २६ ॥ २७ ॥
 चिन्मात्रं सर्वं चिदाभासलक्षणा जीवा आत्मनः प्रत्यभूपात्पर-
 मात्मनोऽनन्यत् ॥ २८ ॥ अत एव जीवानामपि ब्रह्मपर्याय-
 त्वात् मतेत्याशयेनाह—चिद्योमेति ॥ २९ ॥ अविद्यावृत्तं हि ब्रह्म
 चिद्योमेति तन्मोक्षनिषेधात् । आत्मन् इत्यन्तरमाह—

१ अर्थस्य प्रत्ययकारणात्परमात्मप्रत्ययः ।

दृश्यमस्य समुन्मेषो दृश्याभावो निमेषणम् ।
 एकमेतन्निराकारं तद्भूयोरप्युपस्रयात् ॥ ३१
 निमेषोन्मेषयोरेकरूपमेव परं मतम् ।
 अतोऽस्ति दृश्यं नास्तीति सदसच्च सदा चितिः ३२
 निमेषो नान्य उन्मेषान्मेषोऽपि निमेषतः ।
 ब्रह्मणः सर्गवपुषो निमेषोन्मेषरूपिणः ॥ ३३
 तद्यथास्थितमेवेदं विद्धि शान्तमशेषतः ।
 अजातमजरं व्योम सौम्यं समसमं जगत् ॥ ३४
 चिदचित्यात्मकं व्योम रूपं कचकचायते ।
 चिन्नामं तदिदं भाति जगदित्येव तद्भुः ॥ ३५
 न नश्यति न चोत्पन्नं दृश्यं माप्यनुभूयते ।
 स्वयं चमत्करोत्यन्तः केवलं केवलैव चित् ॥ ३६
 महाचिद्योममणिभा दृश्यनाम्नी निजाकरात् ।
 अमन्यान्येव मातापि भानुमास इवोष्णता ॥ ३७
 सुषुप्तं स्वप्रवद्भाति भाति ब्रह्मैव सर्गवत् ।
 सर्वमेकं चिदं शान्तं नानेवापि स्थितं स्फुरत् ॥ ३८
 यद्यत्संवेद्यते यादृक्सद्वाऽसद्वा यथा यथा ।
 तद्धानुभूयते तादृक्तत्सदस्त्वसदस्तु वा ॥ ३९
 अन्यथानुपपत्त्या चेतकारणं परिकल्प्यते ।
 तत्स्वप्नाभो जगद्भावाद्व्यथा नोपपद्यते ॥ ४०
 प्रमातीतात्पराद्विश्वमनन्यदुदितं यतः ।
 प्रमातीतमिदं चैव किञ्चिन्नाभ्युदितं ततः ॥ ४१
 यस्य यद्रसिकं चित्तं तत्तथा तस्य गच्छति ।
 ब्रह्मैकरसिकं तेन मनस्तत्तां समश्नुते ॥ ४२

यद्देव प्रक्यात्मको निमेषस्तादृशेव सर्गात्मक उन्मेषो जगदि-
 त्यर्थः ॥ ३० ॥ यथा उन्मेषनिमेषयोः साधारणं चक्षुर्गोलक-
 मेकं तत्रैवोन्मेषनिमेषयोरुपस्रयात्तथा ब्रह्मापीत्याह—एकमेत-
 दिति ॥ ३१ ॥ अतश्चितेः सकाशादेव दृश्यस्यास्ति नास्तीति
 स्फुरणादृश्यं सदसच्च, चितिस्तु सदा सत्तेकरूपैवेत्यर्थः ॥ ३२ ॥
 उन्मेषनिमेषावपि तदेतुपस्रयसहितचक्षुःस्थानीयशबलब्रह्मात्मना
 परस्परभिन्नावेवेत्याह—निमेष इति ॥ ३३ ॥ अनया दृष्ट्या
 यत्सिद्धं तदाह—तदिति । समेन निमेषोन्मेषसाधारणब्रह्मरूपेण
 सममेकरसम् ॥ ३४ ॥ यथा व्योम स्वाप्यस्तनैत्यरूपं कचकचा-
 यते तथा चिदपि अचित्यात्मकमिव कचकचायते ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 महाचिद्योममणेर्भा प्रभा निजाकरान्मणेः सकाशादनन्या
 ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ सत् भावरूपं वा यद्यचिता यथा संवेद्यते
 प्रकाश्यते तथा चिदाभासेनानुभूयते ॥ ३९ ॥ जगतो जड-
 त्वान्यथानुपपत्त्या तदगुरुं प्रधानपरमात्मादिकारणं परिक-
 ल्प्यते चेत्तर्हि स्वप्ने आभातीति स्वप्नामः प्रपञ्चः प्रधानपर-
 मात्मादिभिर्निर्वोदुमद्यक्यत्वादात्मन एव जगद्भावं विहाय
 नोपपद्यत इत्यर्थः । तत्रात्मन एव जगद्भावाभ्युपगमे तद्व्या-
 येन सर्गादावपि ब्रह्मैव जगदेवं करिष्यतीति तेन प्रधानपर-
 मात्मादिकल्पनं निरुद्धमिति भावः ॥ ४० ॥ एवं च इति

यच्चित्तो यद्गतप्राणो जनो भवति सर्वदा ।
 तत्तेन चस्त्विति ज्ञातं जानाति तदसौ स्फुटम् ॥ ४३
 ब्रह्मैकरसिकं यत्स्यान्मनस्तत्तद्भवेत्क्षणात् ।
 यस्य यद्रसिकं चेतो बुद्धं तेन तदेव सत् ॥ ४४
 विभ्रान्तं यस्य वै चित्तं जप्तोस्तत्परमार्थसत् ।
 व्यवहृत्यै करोत्यन्यत्सदाचारादतद्रसम् ॥ ४५
 द्वित्वैकत्वादिकलना नेह काचन विद्यते ।
 सत्तामात्रं च दृगियमितभेदलमीक्ष्यते ॥ ४६
 अदृश्यदृश्यसदसन्मूर्तामूर्तदशामिह ।
 नैवास्ति न च नास्त्येव कर्ता भोक्ताऽथवा कश्चित् ॥ ४७
 इदमित्थमनाद्यन्तं जगत्पर्यायमात्मनि ।
 ब्रह्मैकधनमाशान्तं स्थितं स्थाणुरिवाध्वनि ॥ ४८
 यदेव ब्रह्म बुद्ध्यादि तदेवैतन्निरञ्जनम् ।
 यदेव गगनं शान्तं शून्यं विद्धि तदेव तत् ॥ ४९
 केशोण्डकादयो व्योम्नि यथा सदसदात्मकाः ।
 द्वितामिवागता भ्रान्ति परे बुद्ध्यादयस्तथा ॥ ५०
 तथा बुद्ध्यादि देहादि वेदनादि परापरे ।
 अनेकान्यप्यनन्यानि शून्यत्वानि यथाश्वरे ॥ ५१
 सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नेकनिद्रात्मनो यथा ।
 सर्गस्थस्यापि न द्वित्वं नैकत्वं ब्रह्मणस्तथा ॥ ५२
 एवमेव कचत्यच्छा छायेयं स्वा महाचितेः ।
 न च किञ्चन नामाह कचत्यच्छैवमास्थिता ॥ ५३
 चिद्योन्नि हि चिदाकाशमेव स्वममलं वपुः ।
 चेत्यं दृश्यमिवाभाति स्वप्नेष्विव यथास्थितम् ॥ ५४

जगतः प्रमाणाभिषये ब्रह्मण्यध्यासात्सप्रवदनिर्वचनीयतालक्षणा
 प्रमाणानिर्धार्यरूपतापि सेत्स्यतीत्यद्वैताविरोधादपरमनुकूलमि-
 त्याह—प्रमातीतादिति ॥ ४१ ॥ अत एव ब्रह्मैकरसिकानां चित्तं
 जगद्भूयैव पश्यतीति तदनुभवाजुसारोऽपि जात इत्याह—
 यस्येति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ यस्य जप्तोश्चित्तं दृढनिश्च-
 येन यत्र विभ्रान्तं तस्य तदेव परमार्थसत् । अत एव ब्रह्मवि-
 नास्तिकश्च स्वनिश्चितान्यथागदानादि करोति तत्केवलं लोक-
 संग्रहार्थव्यवहृत्यै अतद्रसमनिच्छमेव बलादिव करोतीत्यर्थः
 ॥ ४५ ॥ इत एतस्मान्मदुक्तोपायतत्त्वेजगद्वलोकयते तदा
 इदं सर्वं सत्तामात्रं, इयं इगेव । द्वित्वैकत्वकलना इह काचन
 न विद्यते ॥ ४६ ॥ अदृश्यं ब्रह्मैव दृश्यं सदसन्मूर्तममूर्तं
 चेति दृश्येषां तेषां इह कर्ता भोक्ता वा जीवो नैवास्ति
 नापि नास्त्येव । तस्यैव ब्रह्मतया परिदोषादित्यर्थः ॥ ४७ ॥
 अज्ञानां धान्धानां चोरसंवेहभ्रान्त्यादियोग्ये कान्ताराध्वनि
 स्थाणुरिव स्थितम् ॥ ४८ ॥ बुद्ध्यादि बुद्धिसमष्टिहिरण्य-
 गर्भादि जगत् ॥ ४९ ॥ ५० ॥ परापरे सर्वसामान्यात्मके
 ब्रह्मणि शून्यत्वानि षटपदाद्यमाणाः सर्वे ॥ ५१ ॥ सर्गस्थस्य
 स्वाप्नसर्गस्थस्यापि स्वस्य न द्वित्वं नाप्येकत्वं व्यावर्त्ताप्र-
 सिद्धेः ॥ ५२ ॥ ज्ञाना कान्तिरविद्या वा ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

अन्यथानुपपत्त्यर्थकारणमावतः स्वतः ।
 चिद्योमात्मानमेवादौ दृश्यमित्येव पश्यति ॥ ५५
 सर्गादावेव स्वात्मैव दृश्यं प्राति निराकृति ।
 संभ्रमः स्वमसंकल्पमिध्याक्षानेष्विधामितः ॥ ५६
 स्वप्रवृत्तश्च निर्धर्म मनागपि न मिद्यते ।
 विकार्यपि सधर्मापि चिद्योन्नो वस्तुनो मलात् ॥ ५७
 तत्स्वप्नगराकारं सधर्माप्यसधर्मकम् ।
 विधादनन्यमेवेत्थं स्थितमेव निरन्तरम् ॥ ५८
 दृश्यं स्वप्राद्विदस्वच्छं मनागपि न मिद्यते ।
 तस्माच्चिद्योमचिद्योन्नः शून्यत्वं गगनादिव ॥ ५९
 यदेव तत्परं ब्रह्म सर्वरूपविधार्जितम् ।
 तदेवेदं तथाभूतमेव सर्गतया स्थितम् ॥ ६०
 स्वप्नेऽनुभूयते चैतत्स्वप्ने ह्यात्मैव भासते ।
 पुरादित्वेन न तु सत्पुरादिरचितं तदा ॥ ६१
 स्वप्ने च प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारस्य स्मृतेस्तथा ।
 न सत्ता तदिदं दृष्टमित्यर्थस्यात्यसंभवात् ॥ ६२

अन्यथानुपपत्त्या नादिसहस्रैरपि सदस्ववतिरिक्तस्योपपादयितुम-
 शक्या अर्थस्य सत्यस्य कारणान्तरस्याभावतश्च चिद्योम स्वतः
 आत्मानमेव सर्गादौ दृश्यमिति पश्यतीत्येव पक्षो निरूढ इत्यर्थः
 ॥ ५५ ॥ निराकृति मूर्त्तकारतद्विशेषश्चान्यम् । तच्च मानममितः
 सम्यग्भ्रमः संभ्रमः ॥ ५६ ॥ तच्च दृश्यं स्वप्रवृत्तिर्धर्म सर्वधर्म-
 शून्यं चिद्योमेव । यतस्तत्र मनागपि धर्मो न विद्यते । वस्तुनः
 परमार्थभूतस्य चिद्योन्नो विकारी सधर्माप्याकारोऽविद्यामला-
 त्प्रतीयत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ प्रतीतितः सधर्मापि असधर्मकम् ।
 विधादधिष्ठानसन्मात्रादनन्यमेव अहृदशा इत्थं जगदाकारेण
 निरन्तरमेव स्थितम् ॥ ५८ ॥ न मिद्यते स्वाधिष्ठानात् ।
 तस्माच्चिद्योममात्रत्वेन परिशिष्टस्य चिद्योन्नो गगनादपि शून्य-
 त्वमतिसूक्ष्मत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ननु स्वप्नकाले
 सत्सत्यं पुरादिजीवेन रचितमस्तु । 'अथ रथान् रथयोगा-
 म्पथः सृजते स हि कर्ता' इति श्रुतेरित्याशङ्गाह—न त्विति ।
 'न तत्र रथा रथयोगाः पन्थानो भवन्ति', 'मायामात्रं तु
 कारक्येनानभिज्यक्तस्वरूपत्वात्' इत्यादिश्रुतिसूत्रैः स्वप्ने सृष्टि-
 प्रतिषेधाम्नायामात्रत्वप्रतिषादनाच्चेति भावः ॥ ६१ ॥ ननु
 स एवायं देवदत्तस्तदिदं पूर्वदृष्टमेव मद्गृहमित्याद्यबाधितप्रत्यभि-
 ज्ञादिना स्वप्नेऽपि पदार्थाः सत्याः सन्तु तत्राह—स्वप्ने चेति ।
 तदिदमिति प्रत्यभिज्ञायमानस्य गृहाद्यर्थस्य हृदयकण्ठनाडीच्छि-
 द्रादिदेशे आसन्नतमसंभवेन प्रत्यभिज्ञाया असंभवात् । अर्थासं-
 भवे तद्गोचरसंस्कारस्मृत्योरप्यसंभवः स्पष्ट एवेति भावः ॥ ६२ ॥
 तस्मादसंभवादेव प्रसिद्धस्मृत्यादिकं स्वक्त्वा ब्रह्मसंविद एव
 निद्रादोषाद्यदन्वयाभानं तस्यैव जाग्रदृष्टार्थसादृश्यं कल्पयित्वा
 अनुभवव्यवहारमास इव स्मृत्यादिसादृश्यमपि कल्पयित्वा
 स्मृत्यादितापि मूढैरुहितेष्वभ्युपेयमिति शेषः ॥ ६३ ॥ साद-
 र्यादपि सैवेयं लहरी सैवेयं वीपज्जाकेत्यादिप्रत्यभिज्ञाभ्रना

तस्मादेतन्नयं त्यक्त्वा यद्भानं ब्रह्मसंविदः ।
 तस्य दृष्टार्थसादृश्यान्मूढैः स्मृत्यादितोहिता ॥ ६३
 यथा यत्रैव लहरी वारिण्येति पुनः पुनः ।
 तत्रैवेति तथा तद्ब्रह्मन्या खे परे जगत् ॥ ६४
 विधयः प्रतिषेधाश्च सर्वे एव सदैव च ।
 विभक्ताश्च विभिन्नाश्च परे सन्ति न सन्ति च ॥ ६५
 तस्मात्सद्ब्रह्म सर्वात्म किमिधात्र न विद्यते ।
 सैव सत्तैव सर्वात्म चैतदप्येतदात्मकम् ॥ ६६
 भ्रान्तस्य भ्रमणं भूमेर्न भूर्भ्रान्तैव वा गणैः ।
 न शाम्यति ज्ञातुरपि तथाभ्यासं विनात्र दृक् ॥ ६७
 शास्त्रस्यास्य तु यन्नाम धादनं तद्विनापरः ।
 अभ्यासो दृश्यसंशान्त्यै न भूतो न भविष्यति ॥ ६८
 न जीवन्न मृतं चित्तं रोधमायाति संसृतेः ।
 अधिनाभाविदेहत्वाद्बोधास्वेतन्न पश्यति ॥ ६९
 सर्वदेवाविनाभावि चित्तं दृश्यशरीरयोः ।
 इह वामुत्र चैतस्य बोधान्ते शाम्यतः स्वयम् ॥ ७०

लोके प्रसिद्धाः सन्तीत्याह—यथेति । कल्पनाधिष्ठाने खे
 चिदाकाशविषये भ्रमण्या न तु कल्पनाविषयेऽपि तथा स्वप्नेऽपि ।
 तद्वत् सर्गादौ जगदपि बोध्यमित्यर्थः ॥ ६४ ॥ कल्पनामात्र-
 त्वादेव ब्रह्मणि 'स दाधार पृथिवीं धामुतेमाम्', 'यस्मिन् द्यौः
 पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्त्वमेवैकं जानन्न
 आत्मानम्' इत्यादिजगद्विधयो 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादिज-
 गत्प्रतिषेधाच्चाधिरोधेन समावेशं लभन्त इत्याह—विधय इति
 ॥ ६५ ॥ सैव सत्ता ब्रह्मसत्तैव सर्वात्मेत्येतत्सर्वमप्येतदात्मकं
 सदात्मकं सर्वात्मकं च ॥ ६६ ॥ अत एव तत्र सर्वेषां नादिनां
 सर्वकल्पनानामप्यविरोधेन समावेशस्यैककल्पनस्य मोक्षश्चो-
 पपद्यत इत्याशयेनाह—भ्रान्तस्येति । कीडार्थं भ्रान्तस्य
 भ्रमतो बालस्य वृक्षगिरिनद्यादिगणैः सह भूमेर्भ्रमणमन्येषां
 तु भूर्न भ्रान्तैवेत्युभयमपि सदात्मकम् । भ्रमत्वे बालस्य
 भूर्न भ्रमतीति ज्ञातुरपि स्थैर्याभ्यासं विना उपात्ता भ्रम-
 णदृक् न शाम्यति तद्ब्रह्मगद्भ्रान्तिदृगपीति भावः ॥ ६७ ॥
 दृश्यभ्रान्तिधान्त्युपयुक्तः प्रकृते कस्य को वाऽभ्यासः कर्मस्त-
 माह—शास्त्रस्येति । अस्य मोक्षोपायस्य शास्त्रस्य यत्तत्त्वज्ञं गुरुं
 सेवादिना वशीकृत्य वादनं व्याख्यापनं तत्पूर्वकध्रवणाभ्यासं
 विना अपरः अन्यः ॥ ६८ ॥ ननु किमेतच्छास्त्राभ्यासेन योग-
 शास्त्रप्रसिद्धचित्तनिरोधादेव इत्यादर्शनलक्षणेऽसिद्धिरित्याश-
 ङ्गाह—नेति । भवेदेतदेवं यदि चित्तनिरोधः सिध्येत्, तन्तु
 चित्तं संसृज्यविनाभाविस्वरूपत्वाच्चाप्रत्स्वप्राभ्यां जीवत्सुषुप्तौ
 विलयान्मृतं वा यत्नेनापि निरुप्यमानं रोधं नायाति कित्वेतच्छा-
 स्त्राभ्यासाधीनाद्बोधादेव बाधितमेतत्संसृतिं न पश्यतीत्येतदभ्यास
 एवोपाय इत्यर्थः ॥ ६९ ॥ यथा चित्तं संसृज्यविनाभावि एवं दृश्य-
 रूपा संसृतिरपि चित्तशरीरोभयाविनाभाविनी । ते च दृश्य-
 रीरे एतच्छास्त्राभ्यासादसति प्रतिबन्धे इहजन्मन्येव तत्त्वबोधा-

चित्तदृश्यशरीराणि भीषि शान्त्यन्ति बोधतः ।
 पवनस्पन्दसैन्यानि कारणाभासतो यथा ॥ ७१ ॥
 कारणं मौर्ख्यमेवास्य तन्नासादेव घ्रास्यतः ।
 किञ्चित्संस्कृतबुद्धीर्ना चाचितादेव शान्त्यति ॥ ७२ ॥
 अबुद्धमुत्तरग्रन्थात्पूर्वं पूर्वं हि बुध्यते ।
 ग्रन्थं पदपदार्थज्ञः खेदवाच निवर्तते ॥ ७३ ॥
 उपायमिदमेवातो विद्धि शास्त्रं भ्रमक्षये ।
 अनन्यसाधारणतां गतमित्यनुभूयते ॥ ७४ ॥
 तस्मादस्मान्महाशास्त्राद्यथाशक्तिं विचारयेत् ।
 भागौ द्वौ भागमेकं वा तेन दुःखक्षयो भवेत् ॥ ७५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० परमार्थगीताख्यद्वैतयुक्तिर्नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७६

श्रीराम उवाच ।

जगन्ति सन्त्यसंख्यानि भविष्यन्ति गतानि च ।
 तत्कथाभिः कथं ब्रह्मप्रबोधयसि मासिमम् ॥ १ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।

जगत्स्वप्नेषु शब्दार्थसंबन्धोऽवगतस्त्वया ।

च्छान्त्यतः । सति तु प्रतिबन्धे अमुत्र जन्मान्तरे वा प्रतिबन्ध-
 क्षये बोधोदयाच्छान्त्यतः । तथा च भगवतो बादरायणस्य
 सूत्रम् 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' इति ॥ ७० ॥
 पवनस्पन्दौ तत्प्रयुक्तमेघसैन्यानि च यथा तत्प्रयोजकच्छुक्रा-
 स्तोदयाधिकारणापायाच्छान्त्यन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ ७१ ॥ किं त-
 र्थात्र चित्तादित्रिकस्य कारणं तदाह—कारणमिति । मौर्ख्यं
 ब्रह्मात्मभावावरिका अविद्या ॥ ७२ ॥ ननु वाचनमात्रेण कथ-
 मस्यार्थः सर्वो बुध्यते तत्राह—अबुद्धमिति । न निवर्तते
 यदीति शेषः ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ भागमेकमर्धग्रन्थं वा ॥ ७५ ॥
 ऋषिणा कृतमिदं शास्त्रं स्मृतिरूपं स्मृतेश्च श्रुतिर्यूलमिति श्रुति-
 मेव विचारयिष्याम इति बुद्ध्या प्रमादवच्छादितं शास्त्रं न रोचते
 तत्तर्हि अन्यच्छ्रुतिरूपमुपनिषद्ब्राह्म्यादिरूपमात्मज्ञानशास्त्रमेव वि-
 चारयेत् त्वात्मशास्त्रविमुखो भवेदित्यत्र नस्त्वात्पर्यं न तत्रैवाग्रह
 इत्यर्थः ॥ ७६ ॥ ज्ञानसारेण श्रवणाद्युपायेन यथाकथञ्चित्प्रव-
 बोधेन सर्वं दृश्यमात्मने देयमात्मसात्कर्तव्यम् । वाचमुखेनात्म-
 ना प्रसनाहं कर्तव्यमिति यावत् । 'दिये त्रा च' इति सातिप्रत्ययः ।
 ब्राह्मणसादिदमं कर्तव्यमिति वत् ॥ ७७ ॥ तत्रालसानुयो-
 जयति—आयुष इति । स्वर्णादिराशिसहितैः सर्वैरैरपि
 प्रमादस्तस्येति शेषः ॥ ७८ ॥ इदं दृश्यं प्रत्यक्षमनुभूतमपि
 द्रष्टुं अन्तःकरणोपहितेन जीवेन सहितमपि स्वप्ने दैवाद्दृष्टे निज-
 मरणे परितो बान्धवैः कृतं रोदनमिव सद्यः कञ्चित्तमपि नो
 सत् मिथ्यैवेति ब्रह्माद्वैतदिविजयशिष्टिम् इत्यर्थः ॥ ७९ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे

१ षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७६ ।

आहंशेषमिदमिति प्रमादाक्षेप रोचते ।
 तदन्यदात्मविज्ञानशास्त्रं किञ्चिद्विचारयेत् ॥ ७६ ॥
 अनर्थेनाविचारेण वयः कुर्यान्न भस्मसात् ।
 बोधेन ज्ञानसारेण दृश्यं कर्तव्यमात्मसात् ॥ ७७ ॥
 आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वैरर्क्षेर्न लभ्यते ।
 नीयते तद्वथा येन प्रमादः सुमहानहो ॥ ७८ ॥
 अनुभूतमपि च नो स-
 दृश्यमिदं द्रष्टुमहितमपि ।
 स्वप्ने निजमरणबान्धव-
 रोदनमिव सद्यः कञ्चित्तमपि ॥ ७९ ॥

न नाम न च लोकेन व्यर्थं तत्कथनं ततः ॥ २ ॥
 या कथावगतात्मभ्यां शब्दार्थाभ्यां निगद्यते ।
 बुध्यते सेतरा नास्तः सैवेह व्यवहारिणी ॥ ३ ॥
 यदा विदितबोधः संस्त्रिकालामलदर्शनः ।
 भविष्यसि तदा तानि प्रत्यक्षेणैव भोत्स्यसे ॥ ४ ॥

उत्तरार्धे अद्वैतयुक्तिर्नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७५ ॥

स्वप्नब्रह्ममिदं सर्गादौ ब्रह्माण्डाभिदजाविति ।

अत्रार्थे ब्रह्मणा प्रोक्तं ब्रह्माण्डास्त्वानुभूयते ॥ १ ॥

यदि दृश्यमसदिति दृश्यवाधेन विन्मात्रपरिशेष एव पुरु-
 षार्थस्त्विह समूलस्य वर्तमानस्यैव दृश्यस्य जगतो बन्धतया
 तन्मार्जनमेवोपयुज्यते न त्वतीतानागतानामप्रतीयमानानामव-
 र्तमानजगतामपि । तेषामप्रतीयैव बन्धत्वाप्रसक्तत्वात् च तदु-
 पन्यासः शास्त्रे व्यर्थ एवेत्याशयेन रामः शङ्कते—जगन्तीति ॥ १ ॥
 वर्तमानदृश्यमात्रमेवोपन्यासाहं नातीतं भविष्यद्वा किञ्चिदपीति
 त्वदाक्षेपो निष्कर्षेण फलति । तस्य न युक्तम्, पदपदार्थसंबन्धस्य
 व्याप्तिप्रसङ्गं च दृष्टान्तसिद्ध्याधीनां चातीतव्यवहाराधीनत्वेन
 तदुपन्यासे विना विचारारम्भकशास्त्रप्रवृत्त्ययोगात् । तस्मादतीता-
 नागतब्रह्माण्डा वर्तमानब्रह्माण्डान्तराणि च शब्दार्थसंबन्धप्रहा-
 दावनुपयोगाक्षोपन्यसनीया इत्येतावानाक्षेपः कर्तुं युक्तबेदस्तु ना-
 मेल्यनास्त्वया अभ्युपगच्छस्विव भगवान्बसिष्ठ उत्तरमाह—जग-
 त्स्वप्नेष्वित्यादिना । लोकेन एतच्छास्त्रार्थश्रवणाधिकृतजनेन ॥ २ ॥
 अवगतात्मभ्यां निश्चितवाच्यवान्कमावाभ्यां व्यवहारिणी व्यव-
 हारोपयुक्ता नान्येति केवललौकिकदुष्प्रवृत्तिसारेण पर्यालोचने
 त्वया सम्यगाक्षितमित्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्प्रबोधे प्रसिद्धं त्रिक-
 लमलदर्शनं यदि पर्यालोचयिष्यसि तदा सर्वत्र स्वप्नेव द्रष्टु-
 स्वादतीतानागतदृश्यबहिर्ब्रह्मण्यनन्तब्रह्माण्डानां वर्तमानस्य
 ब्रह्माण्डस्य च विशेषलेखस्याप्यभावात्तदं तदाक्षेप उत्थातुम-
 र्हीतीत्याशयेनाह—यदेति । वर्तमानाया अपि तत्प्रबो-
 धेन समानम् ।

स्वप्ने चिन्मात्रमेवाद्यं स्वयं भासि जगत्तया ।
यथा तथैव सर्गादीं नात्रान्यदुपपद्यते ॥ ५
अणावणावसंख्यानि तेषां सन्ति जगन्ति स्ते ।
तेषां तान्मन्त्रद्वारोऽन्वसंख्यातुं क इव क्षमः ॥ ६
अत्रैव मे पुरा प्रोक्तं मत्पित्रा वक्ष्यन्मया ।
पद्यरेणुमताख्यानं शृणु तत्कथयामि ते ॥ ७
पुरा पृष्टो मया ब्रह्म जगज्जालमिदं किञ्चत् ।
क वा भासीति वद मे ब्रह्मोवाच ततः स माम् ॥ ८
श्रीब्रह्मोवाच ।
ब्रह्मैवेदं मुने सर्वं जगदित्यवभासते ।
सतामनन्तं सत्त्वेन जगत्त्वेनासतामपि ॥ ९
शुभं ममेदमाख्यानं शृणु भवणभूषणम् ।
ब्रह्माण्डपिण्ड इत्युक्तं ब्रह्माण्डाख्यानमेव च ॥ १०
अस्ति स्ते स्वादन्यात्मा चिद्योमपरमाणुकः ।
शून्यरूपमिवाकाशे शुद्धः स्पन्द इवानिले ॥ ११
सोऽपश्यत्मात्मना स्वप्न इव जीवत्वमात्मनि ।
शून्यरूपमिवाकाशां पवनः स्पन्दनं यथा ॥ १२
आकाशरूपमजहृदेव जीवस्ततः स्वयम् ।
अपश्यद्दहमित्येव रूपमाकाशरूपकम् ॥ १३
अहंकारस्त्वहंबुद्धिरित्येवापश्यत्मात्मनि ।
एकनिश्चयनिर्माणमयी मायानुरूपिणी ॥ १४
बुद्धिर्मनोहमित्येवं स्वप्ने पश्यदसन्मयम् ।
नमयन्त्यात्मनात्मानमविकल्पं विकल्पनैः ॥ १५
इत्याश्रं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० ब्रह्मगीतासु ब्रह्माण्डोपाख्यानं नाम षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७६॥

अपश्यत्सन्मनः स्वप्ने देहे पञ्चेन्द्रियं ततः ।
अनाकारं घनाकारं स्वप्नाद्रित्वमिवाहृषीः ॥ १६
ददर्श स मनोदेहो वपुस्त्रिभुवनारमकम् ।
आत्मा आत्मैव निर्मित्ति भित्तिभासुरवाततम् ॥ १७
अनेकभूतकलितं नानास्थावरजङ्गमम् ।
कलनाकालकलितं कल्पितान्योन्यसंगमम् ॥ १८
स्वप्ने प्रत्येकमेवात्र पश्यत्यादर्शविम्बितम् ।
इष त्रैलोक्यनगरं नवरङ्गमनोहरम् ॥ १९
अथ प्रत्येकमत्रापि नवरङ्गमनोहरम् ।
त्रिजगद्रेत्ति हृदये स्वादर्श इष विम्बितम् ॥ २०
परमाणोः परमाणोरिति सन्ति तनूदरे ।
अतनूनि जगन्त्युच्चैर्घनानीव च तान्यपि ॥ २१
अविद्येयमनन्तेयमविद्यात्वेन चेतित्वा ।
ब्रह्मत्वेन परिहृता भवति ब्रह्म निर्मलम् ॥ २२
एवं द्रष्टापि यः स्वप्नजालं दृष्टे न किञ्चन ।
कोऽत्र द्रष्टा कुतो दृश्यं क इतं क च कारणम् ॥ २३
सर्वं निःशान्तमाभातं आत्म निर्मित्ति केवलम् ।
ब्रह्मात्मनि स्थितं स्वच्छमाद्यन्तपरिवर्जितम् ॥ २४
ब्रह्माण्डलक्षणविषयाः परमात्मनीति
नित्यं स्थिता निपुणमन्यवदप्यनन्ये ।
चारिण्यचारितविसारितरङ्गवेगा-
ल्लोलं स्थिताम्बुपरमाणुचया यथैते ॥ २५

रपर्यालोचनेन वृथात्वापादनात्परिहृसेन भविष्यसि भोस्त्वसे
इति च भविष्यत्सारोपेणोक्तिः ॥ ४ ॥ तत्त्वविदो वर्तमान-
ब्रह्माण्डान्तरेषु भविष्यद्ब्रह्माण्डेषु च पुनरावृत्तिवाङ्मावारणाय
तेषामपि स्वप्नप्रपञ्चसाम्येन मूढज्ञानबोधेन बाधप्रतिपादनाय
तेऽपि शास्त्रे अवश्यमुदाहरणीया एवेत्याशयेनाह—स्वप्ने इति ।
सर्गादीं अतीतानागतसिद्धसर्वसर्गादीं इत्येतावानंशस्तत्राप्युप-
युज्यते नान्यतद्वैश्विभ्यं प्रकृतोपयुक्तमत्रोपपद्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥
तत्कृत इति चेदसंख्यत्वेन तद्वैश्विभ्येयतायाः शास्त्रे वर्णयितुम-
शक्यत्वादित्याशयेनाह—अणावणाविति ॥ ६ ॥ अत्र
‘अणावणावसंख्यानि’ इत्युक्तेऽर्थे पद्यरेणुमता पद्यपरागकीर्णद्वेहेन
मत्पित्राऽऽख्यानं मे प्रोक्तं तच्छृणु ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥
तस्य आख्यानस्य द्वे नामनी आह—ब्रह्माण्डपिण्ड इति ।
अन्वर्धनात्त्रा उक्तं प्रतिबन्धम् ॥ १० ॥ तदेव वक्रुमारभते—
अस्तीत्यादिना । अनिले शुद्धः स्पन्द इव स्वसत्तामात्रेण जग-
त्तद्वैद्युः ॥ ११ ॥ स चिद्योमपरमाणुकः स्वतत्त्वादर्शनवि-
श्रावणात्स्वप्न इवात्मनो जीवत्वं समष्टिजीवत्वमपश्यत् । यथा
संस्तुभूतमेवाकर्शं स्वमसदेव शून्यत्वं पश्येत्तद्वत् । यथा वा
पवनः स स्पन्दनं पश्येत्तद्वत् ॥ १२ ॥ तर्हि स किं परिभासी
नेत्याह—आकाशरूपमिति । आकाशरूपमिति चारिताराम्यसंज्ञा

पूर्णतां सूक्ष्मतां च । आकाशरूपकमाकाशप्रतिममहमित्येव
जीवः स रूपमपश्यत् ॥ १३ ॥ सः अहंकाररूपस्त्वहमात्मनि
बुद्धिरित्येव रूपमपश्यत् । सा च बुद्धिरेकनिश्चयनिर्माणमयी
मायायाश्चानुरूपिणी असदर्थभ्रमदायित्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥
विकल्पनैर्विकल्पाभासारोपणैरात्मना आत्मानं नमयन्ती न्य-
ग्भावमन्ती ॥ १५ ॥ १६ ॥ स चिद्योमपरमाणुक इत्यं
मनोदेहसमख्यात्मा संक्षिभुवनारमकं विराडुपूर्वदर्श ॥ १७ ॥
विराडुपूर्वर्णयति—अनेकेति ॥ १८ ॥ व्यष्टिजीवभेदकल्पनेन
प्रत्येकं त्रैलोक्यद्रष्टृतायां दृष्टान्तमाह—स्वप्ने इति । नवरजाः
द्रष्टा दृश्यं दृष्टिः, भोक्ता भोग्यं भोगः, कर्ता कार्यं क्रियेति तिस्र-
स्त्रिपुट्यस्सैर्मनोहरम् ॥ १९ ॥ तद्दार्ष्टान्तिकमाह—अथेति ।
प्रत्येकं प्रतिजीवम् ॥ २० ॥ एवं जीवभेदेन विविक्तस्य चित्प-
रमाणोः सर्वस्यापि तनूनि अतिसूक्ष्मेऽप्युदरे इति वर्णित-
रीत्या कल्पितानि अतनूनि महान्ति जगन्ति सन्ति । तान्यपि
उच्चैर्जीवधनैः पृथग्यादिधनैश्च घनानीव ॥ २१ ॥ इयं च सर्वा
स्वतत्त्वाज्ञानलक्षणा अविद्यैव । सा ज्ञानेन निवारिता चेद्ब्रह्म
निर्मलम् ॥ २२ ॥ ब्रह्मत्वेन दृष्टे सति यो जगत्स्वप्नजालं द्रष्टा
सोऽपि न किञ्चन ॥ २३ ॥ निर्मित्ति निर्भेदं ब्रह्म आत्मनि
स्वरूपे स्थितम् ॥ २४ ॥ तेषां च परमात्मनि यमदज्ञान-

सप्तसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७७

श्रीराम उवाच ।

अकारणकमेवेदं जगद्ब्रह्म परात्पदात् ।
यदि प्रवर्तते नाम स्वप्रसक्तल्पनादिवत् ॥ १
तदकारणतः सिद्धेः संभवेऽन्यदकारणम् ।
कथं न जायते वस्तु क्वचित्किञ्चित्कदाचन ॥ २
श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यद्यथा कल्पितं येन स संपश्यति तत्तथा ।
कल्पनैवान्यथा न स्यात्तादृशकारणविच्युतेः ॥ ३
यथेदं कल्पितं दृश्यं मनसा येन तत्तथा ।
वेत्स्यसौ यादृगन्येन कल्पितं वेत्स्यसौ तथा ॥ ४
कल्पनाकल्पनात्मैकं तच्च ब्रह्म स्वभावतः ।
कल्पनात्मेदृशं जन्तुर्यथा केशनखादिमान् ॥ ५
अकारणपदार्थत्वं सकारणपदार्थता ।
ब्रह्मणि द्वयमप्यस्ति सर्वशक्त्यात्म तद्यतः ॥ ६
यतः स्याद्ब्रह्मणस्त्वन्यत्कश्चित्किञ्चित्कदाचन ।
तत्कारणविकल्पेन संयोगस्तस्य युज्यते ॥ ७

निद्रास्ति तावत्परमात्मनि ब्रह्माण्डलक्षणितया इति वर्णित-
प्रकारेण नित्यमनन्ये अपि अन्यवदित्यथाः । यथा वारिणि
समुद्रे एते अवारितविसारितरत्नवेगाभिमिलाल्लोळं स्थितस्या-
म्बुनः परमाणुचया असंख्याताः स्थितास्तद्दिल्यर्थः ॥ २५ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
ब्रह्माण्डोपाख्यानं नाम षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७६ ॥

सकारणं कल्पनया वस्तुषुस्या त्वकारणम् ।

जगत्स्वप्नसमं मोहाद्बोधाद्ब्रह्मेति वर्ण्यते ॥ १ ॥

अकारणक एव स्वप्नसमोऽयं सर्गः इति बहुशो बहूर्णितं तत्र
रामः संस्रधान्यादिकार्यस्यापि तर्हि कृषिवृष्ट्यादिकारणं विनैवो-
त्पत्तिः स्यादित्युत्पत्तिप्रसङ्गं शङ्कते—अकारणकमिति द्वाभ्याम्
॥ १ ॥ तर्तर्हि अकारणत एव सर्वाभिलषितसिद्धेः संभवे
अन्यत्स्रधान्यादिकमपि वस्तु कृषीवल्लानामकारणकं कृषिवृष्टि-
बीजापादिकारणं विनैव कथं न जायते इत्यर्थः ॥ २ ॥ न वयं
व्यवहारव्यवस्थापकं काल्पनिकं कार्यकारणमात्रं बीजाङ्कुरादेर्वा-
रयामः किंतु जगत्सत्यत्वप्रसङ्गनेन तत्त्वज्ञानवैयर्थ्यापादकं
ब्रह्मातिरिक्तं प्रधानपरमाण्वाद्यश्रौतं वादिभिः कल्पितं कारणं
निराचक्ष्महे । जगतो ब्रह्मविवर्तमात्रत्वप्रसिद्ध्या तत्त्वज्ञानेन
बाधे केवल्यसिद्धिर्यथा स्यादित्तीत्याशयेन वसिष्ठः समाधत्ते—
यद्यथेति । अनादिव्यवहारे येन यद्यथा दृढाभ्यासेन कल्पितं
स तत्तथा कार्यं कारणं वा सर्वं पश्यति । अन्यथा व्यवहा-
रेऽपि व्यावहारिकनियमापलापे कापि कल्पना न स्यादित्यन-
भ्यासेनैव सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ३ ॥ अत एव कल्पकडु-
खानुसारेण व्यवस्थितमेव वस्तु अनुभूयत इत्याह—यथेदं-

यत्र सर्वमनाद्यन्तं नानानानात्म भासते ।
ब्रह्मैव शान्तमेकात्म तत्र किं कस्य कारणम् ॥ ८
नेह प्रवर्तते किञ्चित् च नाम निवर्तते ।
स्थितमेकमनाद्यन्तं ब्रह्मैव ब्रह्म चात्मकम् ॥ ९
किं कस्य कारणं केन किमर्थं भवतु क वा ।
किं कस्य कारणं केन किमर्थं मास्तु वा कश्चित् ॥ १०
नेह शून्यं न वा शून्यं न सञ्जासन्न भ्रम्यता ।
विद्यते न महाशून्ये न नेति न न नेति च ॥ ११
इदं न किञ्चित्किञ्चिद्वा यन्नामास्त्यथ नास्ति वा ।
सर्वं ब्रह्मैव तद्विद्धि यत्तथैवातथैव तत् ॥ १२

श्रीराम उवाच ।

अतज्जघिषये ब्रह्मकार्ये कारणसंभवे ।
किमकारणतात्म स्यात्कथं वेति षट् प्रभो ॥ १३
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
अतज्जहो नाम नास्त्येष तावत्तज्जजनं प्रति ।
असतो व्योमघृक्षस्य विचारः कीदृशस्ततः ॥ १४

मिति । तथा च निरालम्बनवादनिष्कर्षे भट्टवार्तिके उदाहृतम्—
'परिप्रादकामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ । कुणपः कामिनी
भक्ष्यमिति तिस्रो विकल्पनाः' इति ॥ ४ ॥ तर्हि किं निरालम्ब-
नैव कल्पना, नेत्याह—कल्पनाकल्पनात्मेति । तत्राचिदंशः
कल्पनात्मा चिदंशस्त्वकल्पनात्मा उभयघटितमिदं जगत् ।
यथा जन्तुधेतनः पुरुषः केशनखाद्यचेतनघटितः प्रतीयते
तद्दिल्यर्थः ॥ ५ ॥ अत एव वस्तुतत्त्वदृशा अकारणपदार्थत्वम्,
कल्पनादृशा सकारणपदार्थतेति ब्रह्मणि द्वयमप्यविरोधेनास्ति
॥ ६ ॥ यद्युभयात्मकं ब्रह्म तर्हि कथमकारणकत्वपक्ष एव
त्वया प्रतिष्ठापितस्तत्राह—यत इति । तत्त्वज्ञानस्यैव सप्रयो-
जनत्वात्तत्त्वदृष्टिमात्रपक्षपातेन स प्रतिष्ठापित इति भावः ॥७॥
॥ ८ ॥ ९ ॥ वास्तवमकारणकत्वं कल्पितकार्यानुत्पत्तितदुत्प-
त्योर्द्वयोरप्यविरोधीत्याह—किं कस्येति ॥१०॥ शून्याशून्या-
द्युभयविधमात्रशून्यत्वाम्पहाशून्ये । न नेति न नेति चेति तदु-
ल्लेखः ॥ ११ ॥ सर्वस्यापि ब्रह्मैकरस्यादेव शून्यता न शून्यै-
करस्यादित्याह—इदमिति । यथस्मादेतोस्तद्ब्रह्म अभ्यारोपे
सर्वानुगतत्वात्तथैव अपवादे सर्वतो व्यावृत्तत्वादतथैव च ॥१२॥
नन्वतत्त्वज्ञविषयो यथा अभ्यारोपापवादी तत्त्वज्ञैस्तद्बोधनाया-
भ्युपगम्येते तथा प्रधानपरमाण्वादिप्रयुक्तकार्यकारणसंभवोऽपि
कुतो नाभ्युपगम्यत इति रामः शङ्कते—अतज्जहेति । पृथि-
व्येतोजोवायुलक्षणे कार्ये तदवयवपरम्परासौक्ष्म्यावधीनां परमा-
णानां सत्त्वादिगुणानां कारणानां वा संभवे किं जगत्प्रत्ययमका-
रणवत्स्यात् कथं वा अद्वितीयमज्ञपरिषेध इत्यर्थः ॥ १३ ॥
सर्वेदेवं यदि ब्रह्मातिरिक्तः प्रधानपरमाण्वादिप्रयुक्तोऽतज्जः
प्रतिष्ठेत् । अथा तु 'ब्रह्म वा इत्यम आधीश्वरात्मनेवायैवर्हि

एकबोधमयाः शास्त्रविज्ञानघनरूपिणः ।
 तज्ज्ञास्तेषामसद्रूपे कथमर्थे विचारणा ॥ १५
 अतज्ज्ञत्वं च बोधेऽन्तरवभाति तदङ्गता ।
 गते स्वप्नसुषुप्तेऽन्तरिव निद्रात्म केवलम् ॥ १६
 तथाप्यभ्युपगम्यापि मूर्खनिश्चय उच्यते ।
 मयेदमणु सर्वात्म यस्माद्ब्रह्म निरामयम् ॥ १७
 सन्त्यकारणका एव सन्ति कारणजास्तथा ।
 भावाः संविद्यथा यस्मात्कल्प्यते लभ्यते तथा ॥ १८
 सर्वकारणसंशान्तौ सर्वानुभवशालिनाम् ।
 सर्गस्य कारणं नास्ति तेन सर्गस्त्वकारणः ॥ १९
 हृदयंगमतात्यक्तमीश्वरादि प्रकल्प्यते ।
 यदत्र किंचिद्दुःखादु व्यर्थं वाग्जालमेव तत् ॥ २०
 अन्यथानुपपत्त्यैव स्वप्नाभाकलनादृते ।
 स्थूलाकारात्मिका काचिद्भास्ति दृश्यस्य दृश्यता ॥२१

ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् इति श्रुतिर्दार्शितदिशा ब्रह्मैव
 स्वाज्ञानादतज्ज्ञं तस्यैव तत्त्वज्ञानोपयुक्तं शास्त्रं तदा तदध्या-
 रोपापवादम्यायेनैव तत्त्वज्ञाने उपयुज्यते न प्रधानपरमाण्वा-
 दिकल्पनयेति वैषम्यमित्याशयेन वसिष्ठः समाधत्ते—अतज्ज्ञ
 इति ॥ १४ ॥ कुतो नास्ति तत्राह—एकबोधमया इति ।
 'तद्यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव वा अरे
 भयभास्मा विज्ञानघन एव प्रज्ञानघन एव' इति श्रुतेरिति भावः
 ॥१५॥ ननु ब्रह्मातिरिक्तः अतज्ज्ञो नास्तीति कथं संभाव्यते ।
 तार्किकैः पामरैश्च नाहं ब्रह्म नाहं ब्रह्मज्ञश्चेति स्वात्मन्यतत्त्व-
 ज्ञत्वाब्रह्मत्वयोः प्रत्यक्षमनुभवादित्याशङ्क्य तादृशानुभवबले-
 नैव तदात्मनामपि ब्रह्मत्वं समर्थयति—अतज्ज्ञत्वमिति ।
 अज्ञानादिसर्वजगदारोपाधिष्ठानचिन्मात्रत्वं हि ब्रह्मत्वम् । तच्चा-
 हमज्ञ इत्यनुभवितरि तार्किकात्मनि दुर्वारम् । यतः अज्ञत्वं
 प्रबोधरूपे आत्मन्यन्तरवभाति । यदि च वैशेषिककल्पितो
 जडोऽयमात्मा स्यात् कथमात्मन्यज्ञानमनुभवेत् । अतः अज्ञा-
 नाधिष्ठानचिद्रूपत्वमस्मादेवानुभवात्सिद्धम् । जगच्च केवलमज्ञा-
 नात्मैव यतस्तदङ्गतां गतम् । यथा स्वप्नसुषुप्ते निद्रान्तर्निद्रा-
 ङ्गतां गते केवलं निद्रैव न निद्रान्यतिरिक्तं तयोः स्वरूपमस्ति
 तद्वत् । न च ज्ञानस्वभावे आत्मनि स्वभावविरुद्धमज्ञानमारो-
 पमन्तरेण भवितुमर्हतीत्यज्ञानादिजगदारोपाधिष्ठानत्वस्मादे-
 वानुभवात्सिद्धेरित्यर्थः ॥ १६ ॥ नन्वज्ञानादिजगदधिष्ठानत्व-
 रूपं सर्वात्मत्वं ब्रह्मलक्षणं चेज्ज्ञानेन तदपाये तदब्रह्मैव स्यादि-
 त्याशङ्क्याह—तथापीति । मूर्खप्रतिबोधनार्थं मूर्खबुद्धिमनुस्यस्य
 शुद्धब्रह्मव्युत्पादनार्थं मयेदं ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणमुच्यते । स्वरूप-
 लक्षणं तु तस्य शुद्धनिरामयानन्दैकरसत्वं नाज्ञानुभवपथमव-
 तरतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ तथा चाह्युद्धनुसारेण जगदन्यदिव
 कृत्वा ब्रह्मकल्पादौ कारणमिति स्वीकारेऽपि यक्षानुरूपो
 बलिरिति न्यायेन मिथ्याभूतस्य प्रपञ्चस्य तादृशी मायैव
 कारणं तथापि न वास्तवत्वं तद्विरित्याशयेनाह—सन्तीति ।

स्वप्नप्रध्याद्यनुभवे किमबुद्धस्य कारणम् ।
 चित्स्वभावाद्दृते ब्रह्म स्वप्नार्थो नाम कीदृशः ॥ २२
 स्वप्नार्थो ह्यपरिहातो महामोहभरप्रदः ।
 परिहातो न मोहाय यथा सर्गास्तथैव च ॥ २३
 शुष्कतर्कदृढावेशाद्यप्यनुभवोऽङ्गितम् ।
 कल्प्यते कारणं किञ्चित्सा मौर्ख्याभिनिवेशिता ॥२४
 अग्नेरौष्ण्यमपां शैत्यं प्राकाश्यं सर्वतेजसाम् ।
 स्वभावो वाखिलार्थानां किमबुद्धस्य कारणम् ॥ २५
 किं ध्यातृशतलब्धस्य ध्येयस्यैकस्य कारणम् ।
 किं च गन्धर्वनगरे पुरे भित्तिषु कारणम् ॥ २६
 धर्माद्यमुत्रामूर्तत्वान्मूर्ते देहे न कारणम् ।
 देहस्य कारणं किं स्यात्तत्र सर्गादिभोगिनः ॥ २७
 भित्त्यभित्त्यादिरूपाणां ज्ञानस्य ज्ञानवादिनः ।
 किं कारणमनन्तानामुत्पन्नध्वंसिनां मुहुः ॥ २८

अकारणकाः शुक्तिरजतमरुनवीरजुसर्पादयः । तत्र संविदा
 कारणजत्वेन कल्पिताः सकारणका अन्यथाकल्पितास्त्वकारणका
 इति मृन्मयगोरीगणपत्योर्मातृपुत्रतावत्कल्पनानुसारेणैव तद्य-
 वस्थेत्याह—संविदिति ॥ १८ ॥ तत्त्वदृशा त्वलक्षणद्वयचि-
 न्मात्रमेव सदा नाणुमात्रमपि कदाचिद्विपर्यास इति न सर्ग-
 कारणं केनचिदपि निरूपयितुं शक्यमित्याह—सर्वेति । सर्वे-
 वामनुभवशालिनां तत्त्वविदाम् ॥ १९ ॥ अत्र ईदृशे स्वप्नग-
 न्धर्वनगरमरुमरीचिकाप्राये जगति सत्यत्वसाधनाभिनिवेशेन
 यद्वैशेषिकादिभिः 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'
 इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमायोपहितब्रह्मातिरिक्ततटस्थेश्वरप्रधानपरमा-
 ण्वादि किञ्चित्कारणं प्रकल्प्यते तत्प्रत्यक्षश्रुतिविद्वदनुभवविरो-
 धाद्देवान्तशास्त्रप्रसिद्धयुक्तिपराहृतत्वाच्च दुःखादु तिर्यं लघुरीश्व-
 रस्य भोक्तुर्जावस्य वा पुरुषार्थपर्यवसायित्वाव्यर्थम् । अत एवा-
 भिज्ञानां हृदयंगमतया त्यक्तमहृदयंगममिति वृथा कण्ठशोर्षं
 वाग्जालमेव तदित्यर्थः ॥ २० ॥ प्रबोधबाध्यत्वान्यथानुपप-
 त्त्यापि जगत्स्वप्नाभमेवेति तदर्थं न कारणकल्पनावकाश
 इत्याह—अन्यथानुपपत्त्येति ॥ २१ ॥ तदेव विशदयति—
 स्वप्नेति । अबुद्धस्य अप्रबुद्धस्य ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥
 यद्यवश्यं कारणमपेक्षितं तर्ह्यज्ञातब्रह्मस्वभाव एव तथास्त्व-
 त्याशयेनाह—अग्नेरिति । अबुद्धस्याज्ञानोपहितस्यात्मनः स्वभावो
 वा कारणमिति शेषः ॥ २५ ॥ मनोरथकल्पितनगरव-
 द्यातृभेदेन व्यवस्थिताकारत्वादपि न सर्वसाधारणमेकं कारणं
 सुवचमित्याशयेनाह—किमिति ॥ २६ ॥ धर्माधर्मयोस्तु अमू-
 र्तेत्वादेव मूर्तेदेहाद्युपादानकारणता न संभवतीति कर्ममीमांसक-
 कल्पनमपि निराचष्टे—धर्मादीति । अमुत्र परलोकं ॥ २७ ॥
 विज्ञानवादिमतेऽप्यमूर्तस्य क्षणिकस्य च विज्ञानस्य मूर्ता क्षणि-
 कोपादानता दुर्वचेत्याह—भित्तीति । भित्तयः स्थूलकृष्णोदयः
 अभित्तयस्त्वादिलक्षणाः परमाणवः । उत्पन्नध्वंसिनामित्युक्त्या कार्म्य-
 नुकूलत्वापारस्य कार्यसंबन्धस्य च क्षणिकेष्वसंभवः श्रुतः ॥२८॥

स्वभावस्य स्वभावोऽसौ किल कारणमित्यपि ।
 बहुच्यते स्वभावस्य सा पर्यायोक्तिकल्पना ॥ २९
 तस्मादकारणा भ्रान्तिर्भावा भ्रान्ति च कारणम् ।
 अहे हे त्वखिलं कार्यं कारणाद्भवति स्थितम् ॥ ३०
 यद्भवत्प्रपरिज्ञानात्स्वप्ने द्रव्यापहारिभिः ।
 न दुःखाकरणं तद्ब्रह्मीवितं तत्त्वदर्शनात् ॥ ३१
 सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं चिद्गगनं त्विदम् ।
 स्वल्पं स्वप्नवद्भाति नान्यदत्रोपपद्यते ॥ ३२
 अन्या न काचित्कलना दृश्यते सोपपत्तिका ।
 अस्मान्मयायादते कस्माद्ब्रह्मैवैवानुभूतिभूः ॥ ३३
 ऊर्म्यावर्तवत्त्वादि शुद्धे जलघने यथा ।
 तथेदं सर्गपर्यायं ब्रह्मणि ब्रह्म भासते ॥ ३४
 स्पन्द्यावर्तविचर्तादि निर्मले पवने यथा ।
 तथायं ब्रह्मपवने सर्गस्पन्दोऽवभासते ॥ ३५
 यथानन्तत्वसौविध्यशून्यत्वादि महाम्बरे ।
 स सन्नासन्नबोधोऽसौ तथा सर्गः परापरः ॥ ३६
 एषु निद्रादिकेष्वेते सुपलब्धा अपि स्फुटम् ।
 भावा असन्मया एवमेतेऽनन्यात्मका यतः ॥ ३७

सर्गप्रलयसंस्थानान्येवमात्मनि चिद्गने ।
 सौम्ये स्वप्नसुषुतामा शुद्धे निद्राघने यथा ॥ ३८
 स्वप्नात्स्वप्नान्तराण्यास्ते निद्रायां मानवो यथा ।
 सर्गात्सर्गान्तरात्मास्ते स्वप्नसायामजस्तथा ॥ ३९
 पृथ्व्यादिरहितोऽप्येष ब्रह्माकाशो निरामयः ।
 अतद्वांस्तद्ब्रह्माभाति यथा स्वप्नानुभूतिषु ॥ ४०
 स्थिता यथास्यां पश्यन्त्यां शब्दा घटपटादयः ।
 जाताजाताः स्थिताः सर्गास्तथानन्ये महाचित्ति ॥ ४१
 पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती यथा भाति तथैव च ।
 यथा शब्दास्तथा सर्गाच्चित्तैव चित्ति चिन्मयाः ॥ ४२
 किं शास्त्रकं तत्रकथाविचारै-
 निर्वासनं जीवितमेव मोक्षः ।
 सर्गे त्वसत्येवमकारणत्वा-
 त्सत्येव नास्त्येव न नाम काचित् ॥ ४३
 एषा च सिद्धेह हि वासनेति
 सा बोधसत्तैव निरन्तरैका ।
 नानात्वनानारहितैव भाति
 स्वप्ने चिदेवेह पुरादिरूपा ॥ ४४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु सत्यवर्णनं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७७ ॥

स्वभाववाचिनश्चार्वाकस्य मतं निरस्यति—स्वभावस्येति ।
 अङ्कुरादिस्वभावस्य कालक्षेत्रजलादिसहितवीजादिस्वभावोऽसौ
 कारणमिति चार्वाकैर्युच्यते सा उक्तिरपि बीजस्वभावपदयो-
 रर्थमेदानिरूपणादङ्कुरस्वभावस्येत्यत्र स्वभावपदे षष्ठ्यर्थसंबन्ध-
 स्यापि दौर्लभ्यान्नानार्थत्वे उभयत्रापि पर्यायतया सहप्रयोगाना-
 पत्तेः सकलसाधारणस्वभावत्वसामान्याप्रसिद्धेः प्रातिखिकरूपा-
 परामर्शप्रसङ्गाच्चैकार्याघटनाच्च निरर्थिकोक्तिः सेत्यर्थः ॥ २९ ॥
 अतः परिशेषात्स्वाभिमतं सिद्धं दर्शयति—तस्मादिति । तस्मात्
 सर्वे भावास्तत्कारणं चेत्यखिलमहे अकारणा भ्रान्तिरेव, हे तु
 सन्मात्रात्मना स्थितमेव कार्यं कारणात्तस्मादेव चिन्मत्काररूपे-
 णाभिर्भवति तिरोभवति च न तद्यतिरिक्तमणुमात्रमप्यस्तीत्यर्थः
 ॥ ३० ॥ अत एव शस्याहकृतैरपराधकोटिभिरप्यन्तर्दुःखं न
 जायत इत्याह—यद्भवदिति । स्वप्ने द्रव्यापहारिभ्योरेः कृतं
 ताडनबन्धनादिकं प्रबुद्धस्य स्वप्नस्थित्यात्परिज्ञानाद्यद्दुःखाक-
 रणं पीडासंपादकं न तद्वत्तत्त्वदर्शनोत्तरं जीवनमपि दुःखाक-
 रणं नेत्यर्थः । 'सुख दुःख तस्मिन्मयायाम्' इति डाच् ॥ ३१ ॥
 अन्यदुःखं तन्निमित्तं च ॥ ३२ ॥ अस्माक्यायादते अन्या कस्मा
 अन्यादधी वादिनां कल्पना अत एवा जगत्कलना ब्रह्मानुभूति-
 भूरेवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ आसन्नो बोधात्मा मेव तन्माभिधं
 सत् स प्रसिद्धः सन्न आकाश एव तमेत्यर्थः । 'व सत्' इति शब्दे

स्पष्टम् ॥ ३६ ॥ कृतः सजेव तत्राह—एष्विति । यतः सदनन्या-
 त्मका इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ अजः जन्मादिशून्यः परमात्मा स्वप्न-
 मेव सर्गात्सर्गान्तरात्मना आस्ते ॥ ३९ ॥ ४० ॥ पश्यन्त्यां सांप्रति-
 कसर्वदर्शनात्मनि । जाताः पूर्वतना अजाता भविष्यन्तः ॥ ४१ ॥
 यदा अनन्ये तदा शब्दास्तदर्थभूतसर्गाश्च ब्रह्मणि सन्तीत्युक्तिः
 पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती तिष्ठतीत्यभिप्रायामेव भेदोपचारेणोप-
 चारिके आधाराधेयभावे पर्यवस्यतीत्याह—पश्यन्त्यामेवेति
 ॥ ४२ ॥ यदा शब्दाः सर्गाश्च चिन्मया एव तदा तत्र कृत-
 कार्यं शास्त्रमपि शास्त्राभावान्मोक्षफलस्य पृथगस्त्वाभिरसनीय-
 प्रपञ्चबन्धाभावाच्च विवर्तत इत्याह—किमिति । शास्त्रमेव
 शास्त्रकं तत्र किम् । तत्रत्यकथाविचारैश्च किम् । यतः शास्त्र-
 फलं निर्वासनं जीवितमेव मोक्षः सिद्धः । एवं वर्णितरीत्या
 अकारणत्वात्सर्गे असति नानाप्रपञ्चरचना प्रत्यक्षं सत्येव काश्चिन्न
 च नास्त्येवेति निःशेषं मार्जितेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ या वैवा वासने-
 तीह प्रपञ्चबीजतया भाति सा ज्ञानात्वेन नानात्वरहिता बोध-
 सत्तैव भाति । यथा इह प्रत्यक्षे स्वप्ने चिदेव पुरादिरूपा भाति
 तद्वदित्यर्थः ॥ ४४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यवर्णनं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमः
 सर्गः ॥ १७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७८

श्रीराम उवाच ।

पदार्था द्विविधाः सन्ति मूर्तामूर्ता जगन्नये ।
 यत्र सप्रतिधाः केचित्केचिदप्रतिधा अपि ॥ १
 तानिहाप्रतिधानाहुरन्योन्यं वेह्यन्ति ये ।
 तांश्च सप्रतिधानाहुरन्योन्यं वेह्यन्ति ये ॥ २
 इह सप्रतिधानां तु दृष्टमन्योन्यवेह्यनम् ।
 न त्वप्रतिघरूपानां केषांश्चिदपि किंचन ॥ ३
 तत्र संवेदनं नाम यदिदं चन्द्रमण्डले ।
 इतः पतत्यप्रतिघं तत्सर्वेणानुभूयते ॥ ४
 अर्धप्रभुञ्चसंकल्पविकल्पद्वैतकल्पितम् ।
 वदाम्यभ्युपगम्येदं न तु बोधदशास्थितम् ॥ ५
 कः प्राणमारुतः क्षोभं जनयत्याशयस्थितः ।
 प्रवेशनिर्गममयं कथं वा वद मे प्रभो ॥ ६
 कथमप्रतिघं नाम वेदनं प्रतिघात्मकम् ।
 इमं देहं चालयति भारं भारहरो यथा ॥ ७

इहाऽमूर्तचित्ता मूर्तचालने युक्तिरूप्यते ।

जगत्तामूर्तचित्तामूर्तविकल्पानवः स्फुटम् ॥ १ ॥

‘धर्माद्यनुभूतत्वान्मूर्ते देहे न कारणम्’ इत्युक्तिं श्रुत्वा
 अमूर्तेन चिदात्मना मूर्तस्य देहादेश्चालने उपपत्तिं जिज्ञास-
 मानो रामस्तदनुपपत्तिं दर्शयितुं भूमिकां रचयति—पदार्था
 इत्यादिना । मूर्तामूर्तब्रह्मणा दर्शितो विभाग इह नाभिप्रेतः
 किं तु प्रतिघातयोग्यतातदयोग्यतोपाधिभेदकृत इत्याशयेन वि-
 धिनष्टि—यत्रेति ॥ १ ॥ कुसुमकर्पासनवनीतादिसूनुतरप-
 दार्थानां कठिनशिखादिवत्प्रतिघायोग्यत्वादमूर्तत्वमुक्तं मा भू-
 दिति विशेषणतात्पर्यं लक्षणाभ्यामुद्घाटयति—तानीति ।
 वेह्यन्ति संश्लिष्यन्ति ॥ २ ॥ तदेव लोकप्रसिद्ध्या विशद-
 यति—इहेति ॥ ३ ॥ अस्त्वेवं प्रस्तुते किं तत्राह—तत्रेति ।
 तत्र संवेदनं नामेदं यत्प्रतिघं तदप्रतिघमेव । यथास्मादेतो-
 ष्चन्द्रं पश्यतः पुरुषस्य इतः अस्मात्प्रदेशाभयनरश्म्यनुधादि-
 विलेन सह तदवच्छिन्नसंवेदनानि चन्द्रमण्डले अप्रतिघं निःसं-
 श्लेषमेव पतन्ति । अतोऽमूर्तानीति सर्वेणापि चन्द्रदर्शिना स्वय-
 मनुभूयत इत्यर्थः ॥ ४ ॥ नन्वयमाक्षेपस्ते प्रभुदृष्ट्या अप्रभु-
 दृष्ट्या वा । आद्ये मूर्तमेवाप्रसिद्धम् । द्वितीये अमूर्ता चिदेहादि
 प्रवर्तयतीत्यप्रसिद्धम् । देहाद्यहंकारान्तानां संपिण्डितानामेव
 लौकिकैरुत्पन्नानुभवादिद्याशङ्काह—अर्धेति । अर्धप्रभुद्वानां
 तृतीयचतुर्थभूमिकान्तरालस्थानां संकल्पविकल्पद्वैतेन कल्पित-
 सिद्धं जगदभ्युपगम्य वदाम्याक्षिपामि । बोधदशा स्थितं पति-
 शिष्टं चिन्मात्रमभ्युपगम्य तु नाक्षिपामीत्यर्थः ॥ ५ ॥ यद्यपि
 मूर्तः प्राणमारुत एव प्रवेशनिर्गमवृत्तिभेदेन क्षुब्धो देहं प्रव-
 र्त्तयतीति सुषर्षं, तथापि तस्य प्राणमारुतस्य क्षोभं को जनयति
 ॥ ६ ॥ ननु जीवात्मकविद्याभाह एव सं जनयति

यदि सप्रतिघं वस्तु वेह्यत्यप्रतिघात्मकम् ।
 कथं संवित्तिमात्रेण पुंसः शैलो न बह्यति ॥ ८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

विकासमथ संकोचमत्र नाडी इति स्थिता ।
 यदा याति तदा प्राणश्छेदैरायाति याति च ॥ ९
 बाह्योपस्करभस्त्रायां यथाकाशास्पदात्मकः ।
 वायुर्यात्यपि आयाति तथात्र स्पन्दनं हृदि ॥ १०

श्रीराम उवाच ।

बहिर्भस्त्रामयस्कारः संकोचनविकासनेः ।
 योजयत्यान्तरं नाडीं कक्षालयति चालकः ॥ ११
 शतं कथं मधेदेकं कथमेकं शतं भवेत् ।
 कथं स चेतना एते काष्ठलोहोपलावयः ॥ १२
 कस्मात् स्यावरं वस्तु प्रस्पन्दयति चमत्कृतम् ।
 वस्तु जङ्गममेवेह स्पन्दि मात्रेव किं वद ॥ १३

तत्राह—कथमिति । देहं प्राणादिदेहान्तम् ॥ ७ ॥ यदि
 अप्रतिघात्मकमपि संवित्तिमात्रं प्राणादिदेहान्तं सप्रतिघं
 वेह्यति सिद्धम्य चालयति तर्हि शैलश्चलत्विति पुंसः संकल्प-
 संवित्तिमात्रेण शैलः कुतो न चाल्यते । बाह्यशैलदेहेहादेश्च
 को विशेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥ यथा बाह्यस्य वायोरयस्कारभ-
 स्त्रायां प्रवेशनिर्गमाभ्यां तच्चालकत्वं तथा प्राणवायोरपि कण्ठ-
 दिनालीबिलाकाशसंकोचविकासानुमितप्रवेशनिर्गमाभ्यां देहा-
 दिचालकत्वं प्रत्यक्षमेव हृदयादिप्रवेशोष्णप्येवमेव बोध्यमित्यु-
 त्तानोक्त्या गूढाशयेन वसिष्ठः समाचते—विकासमिति
 द्वाभ्याम् । छेदैश्छिद्रैः ॥ ९ ॥ आकाशश्छिद्रं तदास्पदः
 तदाश्रयसर्वद्वयान्तःसंचारस्वभावो वायुर्यथा बाह्यायामयस्का-
 रोपस्करभस्त्रायां याति प्रविशति आयाति निर्गच्छति ॥ १० ॥
 सखं वायुचालयति तथाप्ययस्कारादिचेतनाधिष्ठितभस्त्रायामेव
 तथा चालयति नान्यत्रेति चेतनमेवाचेतनस्य नियतव्यवहार-
 च्छेद्यनिमित्तमवश्यं वाच्यम् । तत्र नाडी आन्तरं प्रविश्य
 कक्षेतनचालयतीत्यर्थः ॥ ११ ॥ ननु ‘शतं चैका च हृदयस्य
 नाड्यः’ इति भूतो विष्वक्प्रस्तुताः शतं नाड्यः भूयन्ते ।
 तत्रैकशतं नाडीनां तासां द्वाप्तप्रतिघासप्ततिः प्रतिघातं नाडी-
 सहस्राणि भवन्त्यासु व्यन्वः संचरतीति च । तत्र सर्वनाडीषु
 व्यानसंचारस्य देहादिचलननिमित्तत्वे सदैव सर्वाङ्गचलनं
 स्यात्तैकैकहृत्पदाद्युपमनं नियतम् । यद्युच्येत एकैकाश्रयमने
 उपस्थिते नाडीनां शतमपि तदत्रे एकं भवति सर्वाङ्गचलने
 उपस्थिते त्वेकमपि सर्वाङ्गव्यापि नाडीशतं भवतीति तत्रा-
 प्याह—शतमिति । किंचामूर्तचेतन्यस्य संश्लेषो देहेऽपि
 नास्ति । आप्यासिकसंबन्धस्तु काष्ठलोहोपलावयि तुल्य इति
 तेऽपि सचेतना बाह्यास्तथ कथमित्यर्थः ॥ १२ ॥ तथा स्यावरं
 वृक्षकटाक्षपाषाणादि वस्तु चेतनं चेतन्येव कक्षकम् ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अन्तःसंवेदनं नाम चालयत्याश्रवेष्टनम् ।
बहिर्भस्त्रामयस्कार इव लोकेऽनुचेष्टनम् ॥ १४

श्रीराम उवाच ।

वाय्वन्नादिशरीरस्थं सर्वं सप्रतिघं मुने ।
कथमप्रतिघा संविद्यालयेदिति मे वद ॥ १५

संविदप्रतिघाकारा यदि सप्रतिघात्मकम् ।
चालयेदचलिष्यत्तद्दूरमम्भो यदिच्छया ॥ १६

सप्रतिघाप्रतिघयोर्मिथो यदि पदार्थयोः ।
वेल्लनं स्यात्तदिच्छैव कर्तृकर्मैन्द्रियैः क्व किम् ॥ १७

सप्रतिघाप्रतिघयोः श्लेषो नास्ति बहिर्यथा ।
तथैवान्तरहं मन्ये शेषं कथय मे मुने ॥ १८

अन्तः स्वयं योगिना वा यथैतदनुभूयते ।
अमूर्तस्यैव मूर्तेन वेल्लनं तद्ददाशु मे ॥ १९

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

सर्वसंदेहवृक्षाणां मूलकाषमिदं वचः ।
सर्वैकतानुभूत्यर्थं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ २०

नेह किञ्चिन्न नामास्ति वस्तु सप्रतिघं क्वचित् ।

सर्वदा सर्वमेवेदं शान्तमप्रतिघं ततम् ॥ २१

शुद्धं संविन्मयं सर्वं शान्तमप्रतिघात्मकम् ।

पदार्थजातं पृथ्व्यादि स्वप्रसंकल्पयोरिव ॥ २२

आदावन्ते च नास्तीदं कारणाभावतोऽखिलम् ।

भ्रान्त्यात्मा वर्तमानापि भाति चित्स्वप्रगा यथा ॥२३

द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।

महता कारणौषेन बोधमप्रतिघं विदुः ॥ २४

अन्तःकरणभूतादि मृत्काष्ठदृषदादि वा ।

सर्वं शून्यमशून्यं च चेतनं विद्धि नेतरत् ॥ २५

तत्रैवमैन्दवाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।

मया च पूर्वमुक्तं तत्किञ्चान्यदभिवर्ण्यते ॥ २६

तथापि वर्तमानोक्तप्रश्नबोधाय तच्छृणु ।

यथेदं सर्वमद्यादि विदित्येव तु भोत्स्यते ॥ २७

कस्मिंश्चित्प्राक्तनेनैव जगज्जालेऽभवद्विजः ।

तपोवेदक्रियाधारो ब्रह्मभिन्दुरिति स्मृतः ॥ २८

दश तस्याभवन्पुत्रा जगतो दिक्कटा इव ।

महाशया महात्मानो महतामास्पदं सताम् ॥ २९

देहबद्धो गोपयोगेन चमरकृतमपि कस्मान्न मात्रा नियन्त्रा
कुलालादिना अधिष्ठितं चक्रादीव नियतकालस्पन्दि किम्

॥ १३ ॥ कार्यकारणस्वामिन्या भोक्तृजीवसंविदो यत्रानादिप्रवा-
होपनीतकामकर्मवासनाप्रयुक्तलादात्याध्यासस्तत्खालने आ-

ध्यासिकस्वतादात्म्यशालिप्राणसंश्लेषद्वारा स्वातन्त्र्यमन्यत्र पार-

तन्त्रयमिति व्ययस्येति गूढाभिसंधिर्नैव वसिष्ठ उत्तरमाह—
अन्तरिति । आश्रवेष्टनं नाडीसमूहम् । तदनुसारेणैव लोके

सर्वोऽपि बहिश्चेष्टनं करोतीति शेषः ॥ १४ ॥ उत्तानार्थेन
गूढाभिसंहितेन च स्वशङ्काबीजेन परिहृतमिति गूढाभिसंधि-

रेव रामः पुनः स्वशङ्कामनुवदति—वाचिष्यति ॥१५॥ विपर्यये
दोषमाह—संविदिति । तत्तर्हि दूरं दूरस्थमप्यम्भः यातीति

यन् तृषितः पान्थस्तदिच्छया अचलिष्यत् स्वयमेवागमिष्यत्
॥ १६ ॥ तथा च बाह्यव्यवहारे सर्वप्राणिनामिच्छयैव सर्वैका-

र्यसिद्धेः कर्मैन्द्रियघटाद्युपकरणवैयर्थ्यं च स्यादित्याह—सप्रति-
घेति । तत्तर्हि इच्छैव बहिर्वचनादानविहरणोत्सर्गादिकं करि-

ष्यतीति शेषः ॥ १७ ॥ बहिः श्लेषाभावेऽप्यन्तः श्लेषोऽस्तु
तत्राह—सप्रतिघेति । एवं त्वत्समाधानयुक्तिषु निरस्तासु

शेषं युक्तयन्तरं कथय, न तु निरस्तमेव पुनः पुनः कथयेत्यर्थः
॥ १८ ॥ अथवा योगिना त्वया स्वयं यथा एतत् अमूर्तस्यैव

मूर्तेन वेल्लनं लोके अत्यन्ताप्रसिद्धमपि योगबलेनान्तर्यथा
येनोपायेनानुभूयते तद्देवत्यर्थः ॥ १९ ॥ एवमाक्षितो वसिष्ठः

प्रागुक्तगूढाभिसंध्युत्तरमपि वासनानां बाह्याध्यात्मिकपरिच्छे-
दभ्रान्तिमात्रमूलत्वादनवस्थाप्रसक्तं निष्कर्षागहं रामेण ज्ञातमु-

द्वाटितमपि रामः खण्डयिष्यत्येवेति मन्यमानस्तदुपेक्ष्य
सिद्धान्तावलम्बनेनैवैकोक्त्या सर्वं समाधत्ते—सर्वेति ।

सर्वेषां संदेहानां तत्त्वज्ञानमूलकत्वात्सर्वैकतानुभवलक्षण-
तत्त्वसाक्षात्कारानुभूत्यर्थमिदं वक्ष्यमाणं शृण्वित्यर्थः ॥ २० ॥

भवेदयं त्वदाक्षेपनिवहः सर्वोऽपि सप्रतिघयथार्थप्रपञ्चाभ्युप-
गमे । यदा त्वप्रतिघा चिदेव बाह्याध्यात्मिकवस्तुभेदभ्रान्त्या-

त्मनां अविद्यावशाद्दिवर्तते तदा यथादर्शनमेव प्राणादिदेहान्त-
संघाते आन्तरचेतन्यमात्राधीनश्चलनाद्यध्यासो बाह्ये घटादौ तु

करावष्टम्भाद्यधीन इति व्यवस्थित एवाभ्युपगम्यते न संकीर्ण
इति समुदिताभिप्रायः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ अत एव तत्त्व-

विदो महता विवेकवैराग्यत्यागश्रवणमनननिदिध्यासनादिप्रय-
त्नसाध्यकारणौषेन मूर्ताकारं सवासनं निर्मृज्य द्यौः क्षमा वायुरि-

त्यादि सर्वं जगदप्रतिघं बोधमात्रमिति विदुरित्यर्थः ॥ २४ ॥
चेतनमिति भावे ल्युट् ॥ २५ ॥ चिन्मात्रमेव सर्वजगन्न मूर्तं

किञ्चिदस्तीत्यर्थं प्रागुक्तमैन्दवाख्यानं पुनः आबयितुं प्रतिजा-
नीते—तत्रेति । पूर्वं मनोमात्रं जगदित्युत्पत्तिप्रदर्शनायोक्त-

मिह त्वन्यच्चिन्मात्रमेव जगदिति निर्वाणनिष्कर्षार्थमभिवर्ण्यत
इत्यर्थः ॥ २६ ॥ प्रस्तुतप्रश्नसमाधानप्रयोजनभेदादपि पौन-

रुक्तप्रमदोषायेत्याह—तथापीति । अमूर्ता विदित्येव प्रश्नसमा-
धानं त्वया भोत्स्यते । कर्मणि लृटि स्ये भष्भाषः ॥ २७ ॥
प्राक्तनेनोत्पत्तिप्रकरणवर्णितप्रकारेण विधिष्टे जगज्जाले ॥ २८ ॥
जगतो ब्रह्माण्डोदराकाशास्य दश दिक्कटा इव । आस्पदं प्रतिघा

स तेषां कालवशतः पिताऽन्तर्धिमुपाययौ ।
 दशानां भगवान् रुद्र एकादश इव क्षये ॥ ३०
 तस्यानुगमनं चक्रे भार्या वैभव्यमीतिभिः ।
 अनुरक्ता दिनस्येव संध्या ताराविलोचना ॥ ३१
 तयोस्ते तनया दुःखकलिता विपिनं गताः ।
 कृतौर्ध्वदेहिकास्त्यक्त्वा व्यवहारं समाधये ॥ ३२
 धारणानां समस्तानां का स्यादुत्तमसिद्धिदा ।
 धारणा यन्मयाः सन्तः स्याम सर्वेश्वरा वयम् ॥ ३३
 इति ते तत्र संचिन्त्य बद्धपद्मासना दश ।
 इदं संचिन्तयामासुर्निर्विघ्ने कन्दरोदरे ॥ ३४
 पद्मजाधिष्ठिताशेषजगद्धारणया स्थिताः ।
 भवामः पद्मजोपेतं जगद्रूपमधिगतः ॥ ३५
 इति संचिन्त्य सद्ब्रह्मजगद्धारणया चिरम् ।
 निमीलितदृशस्तस्थुस्ते चित्ररचिता इव ॥ ३६
 अथैतद्धारणाबद्धचित्तास्ते तावदच्युताः ।
 आसन्मासान्दशाष्टौ च यावत्ते तत्र देहकाः ॥ ३७
 शुष्काः कंकालतां याताः क्रव्यादैश्चर्विताङ्गकाः ।
 नाशमभ्याययुस्तत्र च्छायाभागा इवातपैः ॥ ३८
 अहं ब्रह्मा जगच्चेदं सर्गोऽयं भुवनान्वितः ।
 इति संपश्यतां तेषां दीर्घकालोऽभ्यवर्तत ॥ ३९
 तानि चित्तान्यदेहानि दशैकध्यानतस्ततः ।
 संपन्नानि जगन्त्येव दश देहानि वै पृथक् ॥ ४०
 इति तेषां चिदिच्छा सा संपन्ना सकलं जगत् ।

॥ ३९ ॥ क्षये महाप्रलये ॥ ३० ॥ ३१ ॥ दुःखेन वियोग-
 दुःखेन कल्पिता व्याप्ताः ॥ ३२ ॥ धारणानां विषयविशेषा-
 कारितमनःस्थैर्यलक्षणानां मध्ये का किंविषयिणी उत्तमधारणा
 स्यादित्यर्थः । सर्वेश्वरा हिरण्यगर्भभूताः ॥ ३३ ॥ निर्विघ्ने
 श्रापदाद्युपघातरहिते ॥ ३४ ॥ पद्मजेन चतुर्मुखेनाधिष्ठितं यद-
 शेषं जगद्ब्रह्माण्डं तदेवाहमिति स्थिता निश्चलाः सन्तः ॥ ३५ ॥
 ॥ ३६ ॥ अच्युताः मनसो वृत्त्यन्तरधारणेन प्रच्युतिमप्राप्ताः
 ॥ ३७ ॥ कंकालतां शवताम् ॥ ३८ ॥ जगच्चेदमहम् । संप-
 श्यतां ध्यायताम् ॥ ३९ ॥ दश चित्तानि दश देहानि दश
 ब्रह्माण्डरूपाणि जगन्त्येव ध्यानपरिपाकेन संपन्नानि तत्कृतुन्या-
 येनेत्यर्थः ॥ ४० ॥ चिदेवेच्छा भूत्वा जगत्संपन्ना । किञ्चि-
 त्स्वभावहानेन नेत्याह—अत्यन्तेति ॥ ४१ ॥ तथा च प्रतिज्ञातं
 सिद्धमित्याह—संचिन्मयत्वादिति ॥ ४२ ॥ नो चेतेषां किल
 दशविधं त्रिजगज्जालं तत्किमात्म वा तत्त्वया उच्यतामिति पूर्वं-
 भ्रान्त्ययः । त्वया किमुच्यते तदाह—संचिदिति ॥ ४३ ॥
 चलनादिकं न विद्यत इत्यनुकृष्यान्वयः ॥ ४४ ॥ ऐन्दवजग-
 त्साम्यं प्रस्तुतेऽपि जगति बोध्यमित्याह—ऐन्दवानिति ॥ ४५ ॥
 तुल्यत्वमेव दर्शयति—यथेति ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ कुत
 ह्यसंभावनोऽपि मिथ्यात्वथोतनाय ॥ ४९ ॥ एतेन 'कथं सचे-
 तना एते काष्ठलोष्टोपकादयः' इति प्रश्नोऽपि समाहित इत्याहा-

अत्यन्तस्वच्छरूपैव स्थिता चाकारवर्जिता ॥ ४१
 संचिन्मयत्वाज्जगतां तेषां भूम्यचलादि तत् ।
 सर्वं चिदात्मकं किञ्चि नो चेदन्यत्किमुच्यताम् ॥ ४२
 किल यत्रिजगज्जालं तेषां किमात्म तत्तथा ।
 संचिदाकाशशून्यत्वमात्रमेवेतरन्न तत् ॥ ४३
 विद्यते न यथा किञ्चित्तरङ्गः सलिलादृते ।
 संचित्तत्त्वादृते तद्वद्विद्यते चलनादिकम् ॥ ४४
 ऐन्दवानि यथैतानि चिन्मयानि जगन्ति स्ते ।
 तथा चिन्मयमेतेषु काष्ठलोष्टोपकाद्यपि ॥ ४५
 यथैवैन्दवसंकल्पास्ते जगत्त्वमुपागताः ।
 तथैवाद्भजसंकल्पो जगत्त्वमयमागतः ॥ ४६
 तस्मादिहेमे गिरयो वसुधा पादपा घनाः ।
 महाभूतानि सर्वं च चिन्मात्रमयमाततम् ॥ ४७
 चिद्दृक्षाश्चिन्मही चिद्दृष्टौश्चिदाकाशं चिद्दृश्यः ।
 नाचित्कचित्संभवति तेष्वैन्दवजगत्स्विव ॥ ४८
 चिन्मात्रखकुलालेन स्वदेहचलचक्रके ।
 स्वशरीरमृदा सर्गः कुतोयं क्रियतेऽनिशम् ॥ ४९
 संकल्पनिर्मिते सर्गे दृषदश्चेन्न चेतनाः ।
 तदत्र लोष्टशैलादि किमेतदिति कथ्यताम् ॥ ५०
 कलनस्मृतिसंस्कारा दधत्यर्थं च नोदरे ।
 प्राकृत्यष्टं कल्पनादीनामन्यैवार्थकलावताम् ॥ ५१
 तद्धाम संविदो धाम्नि मणिराशौ मणिर्यथा ।
 सर्वात्मनि तथा चित्ते कश्चिदर्थ उदेत्यलम् ॥ ५२

येनाह—संकल्पेति ॥ ५० ॥ कलनमनुभवः स्मृतिस्तज्जनक-
 संस्काराः, चकारादिच्छाकृतय इत्येते हि संचिद्विशेषा अर्थगोचराः
 एतेषां ह्यन्तरर्थाः प्रथन्ते । एते च खोदरे अभिव्यक्तचि-
 न्मात्रमेव दधति न जडमर्थमतोऽप्यर्थाश्चिद्रूपा एवेत्याह—
 कलनेति । तत्कृतस्तत्राह—प्रागिति । यत इदं प्रागेवास्मा-
 भिरिष्टं यत्कल्पनादीनामर्थशून्यानामन्यैव स्थितिः । अर्थ-
 कलावतां तत्त्वावगाहनचमत्कारशालिनामन्यैव चमत्कृतिरिति ।
 अथवा । ननु लोष्टादिकलनस्मृतिसंस्कारैरकल्पेण लोष्टाद्यचि-
 द्रूपमेव निश्चितं कथं तत्सचेतनमित्युपवर्णयते तत्राह—कल-
 नेति । कलनादयो लोष्टशैलादितरुवं चिन्मात्रमुदरेण दधति
 नावगाहितुं शक्नुवन्ति यतस्तदर्थकलावतां कल्पनादीनामुत्था-
 नात्प्रागेवास्तीति मृष्टं परामृष्टम् । अज्ञातविषये हि चक्षुरादिना
 कलनं, ज्ञातविषये हि स्मृतिसंस्कारौ ज्ञानसमानविषयौ । अत-
 स्तेभ्यः पूर्वमज्ञातविषयसिद्धिरवश्यं चाश्चेति भावः । न चा-
 चिद्रूपं तृणकाष्ठशैलाद्यज्ञातं वक्तुं शक्यम् । जडेष्वज्ञानावरण-
 प्रयोजनाभावात् । अतो जडेभ्योऽन्यत्र ब्रह्मसत्ता तृणादीनां
 तत्त्वं रौवान्यथाकलनस्मृतिसंस्कारैर्जडत्वेन भ्रान्त्या विमृश्यत
 इत्यर्थः ॥ ५१ ॥ इत्यत्र काष्ठलोष्टादयश्चेतना इत्याह—तदिति ।
 यतस्तत्परमं सिद्धामैव सर्वात्मनि संविदो धाम्नि समष्टिव्यष्टि-
 चित्ते मणिराशौ मणिरिव देवीप्यमात्रमन्तः स्थित्वा कश्चित्प्र-

अकार्यकरणस्यार्थो न भिन्नो ब्रह्मणः कश्चित् ।
 स्वभाव इति तेनेदं सर्वं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ५३
 यथा प्रवृत्तं चिद्धारि बह्व्यावर्ततेऽवनौ ।
 स्वयमेनातितीक्ष्णेण परात्मीयात्मना विना ॥ ५४
 पद्मलीला जगदिषु प्रकचन्ति जगन्ति यत् ।
 चिन्मात्राद्ब्रह्मणः स्वस्वादन्धानि न मनागपि ॥ ५५
 अजातमनिरुद्धं च सन्मात्रं ब्रह्म स्वात्मकम् ।
 शान्तं सदसतोर्मध्यं चिद्भ्रामात्रमिदं जगत् ॥ ५६
 यत्संविन्मयमद्यादि संकल्पजगति स्थितम् ।
 तदसंविन्मयमिति वक्ताऽहो द्वैर्विहस्यते ॥ ५७
 जगन्त्यात्मेव संकल्पमयान्येतानि वेत्ति खे ।
 स्वात्मकानि तथेदं च ब्रह्म संकल्पजं जगत् ॥ ५८
 यावद्यावदियं दृष्टिः शीघ्रं शीघ्रं विलोक्यते ।
 तावत्तावदिदं दुःखं शीघ्रं शीघ्रं विलीयते ॥ ५९
 यावद्यावदियं दृष्टिः प्रेक्ष्यते न चिराच्चिता ।

तावत्तावदिदं दुःखं भवेत्प्रतिघ्नं वनम् ॥ ६०
 दीर्घदुष्कृतमूढानामिमां दृष्टिमपश्यताम् ।
 संसृतिर्वैजसारेयं न कदाचित्प्रशाम्यति ॥ ६१
 नेहाकृतिर्न च भवामवजन्मनाशः
 सत्ता न वैव न च नाम तथास्त्वसत्ता ।
 शान्तं परं कचति केवलमात्मवीर्यं
 ब्रह्माथवा कचनमप्यलमत्र नास्ति ॥ ६२
 आद्यन्तवर्जितमलभ्यलताप्रमूल-
 निर्माणमूलपरिवेशमशेषमच्छम् ।
 अन्तस्थनिर्गमसर्गकपुत्रकौबं
 नित्यं स्थितं ननु घनं गतजन्मनाशम् ॥६३
 सन्मात्रमन्तरहिताखिलहस्तजातं
 पर्यन्तहीनगणनाङ्गममुकरूपम् ।
 आत्मान्बरात्मकमहं त्विदमेव सर्वं
 सुस्तम्भरूपमजमौनमलं विकल्पैः ॥ ६४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगीताख्येन्दोपाख्यानं नामाष्टसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमः सर्गः १७९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं चिन्मात्रमेवैकं शुद्धं सत्त्वं जगन्नयम् ।
 संभवन्तीह भूतानि नाह्नुबुद्धानि कानिचित् ॥ १
 तस्मात्कुतः शरीरादि वस्तु सप्रतिघ्नं कुतः ।

काष्ठशैल्यर्थं इव उदेति । 'तदनुप्रविश्य सच्च ल्याभाववत्'
 इति श्रुतेरिति भावः ॥ ५९ ॥ इतश्च तृणकाष्ठादिष्वेतानो यतो-
 ऽयमकार्यकरणस्य तस्य सृष्टिः । यथा सूर्यस्य प्रभा तस्त्वभाव
 एव नाप्रकाशरूपा तद्वदिदं सर्वं चेतनं ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥ ५३ ॥
 यथा निम्नावनौ प्रवृत्तं वारि परात्मीयात्मना कारणान्तरेण
 विना स्वयमेन स्वत एव आवर्तप्रवाहतरङ्गादिवैचित्र्येणावर्तते
 तथा चिदपीत्यन्वयः ॥ ५४ ॥ यथा पादो कल्पे भगवत्पा-
 निपद्मलीला एव जगदिषु कचन्ति तद्वचिन्मात्राद्ब्रह्मणः
 सकाशाज्जगन्ति प्रकचन्ति यत्ततोऽपि मनागपि ततो नान्यानि
 ॥ ५५ ॥ अनन्यत्वे यत्फलितं तदाह—अजातमिति । सद-
 सतोर्भावाभावयोर्द्वयोरपि मार्जनान्मप्यम् ॥ ५६ ॥ अत एव
 तृणशैलकाष्ठादयः अचेतना इति प्रथरो मूढा विद्वन्निरुपहस्यन्त
 इत्याह—यदिति । वक्ता अह इति च्छेदः ॥ ५७ ॥ ब्रह्मा
 चतुर्मुखस्तत्संकल्पजत्वादिपि समनोराज्यवचिन्मात्रस्वमनुमेय-
 मित्याह—जगन्तीति । आत्मा स्वयमिव ॥ ५८ ॥ किमर्थ-
 मियमेव दृष्टिर्मन्त्रान्तरेः पुनः पुनः समर्प्यते तत्राह—
 यावदिति । इयं प्रपञ्चदृष्टिर्वीकृतया विदुष्या यावद्यावद्विलो-
 क्यते तावत्तावदिदं दुःखं विलीयते ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥
 अतो महाफलत्वादिपमेव दृष्टिर्वीकार्यैरुपसंहरति—नेहेति ।
 इह जगत्तावत्तावद्यो विकल्प न क्वन्ति । सत्ता द्वितीयो भाव-

यदिदं दृश्यते किञ्चित्प्रतिघ्नमाततम् ॥ २
 स्थितं चिद्योम चिद्योन्नि शान्ते शान्तं समं स्थितम् ।
 स्थितमाकाशमाकाशे क्वतिर्हसौ विजृम्भते ॥ ३

विकारः । असत्ता तदभावः । आत्मनि परमार्थचित्स्वभावे इत्थं
 कचति । अथवा ब्रह्मातिरिक्तं कचनमप्यलमत्यन्तं नास्ति ।
 कचपातुप्रवृत्तिनिमित्ताभावादित्यर्थः ॥ ६२ ॥ कचनस्याप्य-
 भावे ब्रह्म कीदृक् स्थितं तदाह—आद्यन्तेति । तद्ब्रह्म स्फटिकस्त-
 म्भवदन्तस्थनिर्गमसर्गकपुत्रिकौषमपि अलभ्या जगत्तावत्सद-
 प्राणि तन्मूलानि तन्निर्माणानि तन्मूलानां मूले भूमौ परिवेशाः
 प्रवेशाश्च यस्मिन्स्तथाविधमाद्यन्तवर्जितं कालतोऽप्यजन्मना-
 शमशेषमच्छमतिस्वच्छं चिदानन्दैकघनं नित्यं स्थितं केवल्य-
 मित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इदमेवामुकरूपं यदा तदा अन्तरहितमसंख्यम-
 खिलं विश्वतोव्याप्तं इत्यजातं पर्यन्तेष्वपि हीनगणनान्यसंख्यानि
 चक्षुःश्रोत्रशिरःकण्ठोदरपादावाङ्गानि च यस्य तथाविधमिदमेव
 सर्वमासीत् । मुकरूपं स्वात्मान्बरात्मकं सुस्तम्भरूपं सन्मात्रं
 अजमौनं वर्णितस्फाटिकसुस्तम्भरूपमिदमहमेव संपन्नमिति
 पुनर्वैकल्पैरलं प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः ॥ ६४ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ऐन्दवो-
 पाख्यानं नामाष्टसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७८ ॥

चिन्मात्रमखिलं किञ्च क्वितमप्रतिघ्नं वतः ।

ततः प्राणुकस्तस्याः कः प्रकृत इतीर्यते ॥ १ ॥

अहोः सप्रतिघ्नैव मूर्तत्वेन च बुद्धानि भूतानि नेह संभ-
 वन्ति ॥ १ ॥ अप्रतिघ्नं मूर्तत्वात्तम् ॥ २ ॥ एवं सर्वैरप्यन्-

सर्वं संविन्मयं शान्तं सत्स्वप्न इव जाग्रति ।
 स्थितमप्रतिष्ठाकारं कासौ सप्रतिष्ठा स्थितिः ॥ ४
 क देहावयवाः कान्धवेष्टनी कास्थिपञ्जरम् ।
 व्योमेवाप्रतिष्ठं विद्धि देहं सप्रतिष्ठापमम् ॥ ५
 संवित्करौ शिरः संवित्संविदिन्द्रियवृन्दकम् ।
 शान्तमप्रतिष्ठं सर्वं न सप्रतिष्ठमस्ति हि ॥ ६
 ब्रह्मव्योम्नः स्वप्नरूपस्वभावत्वाज्जगत्स्थितेः ।
 इदं सर्वं संभवति सहेतुकमहेतुकम् ॥ ७
 न कारणं विना कार्यं भवतीत्युपपद्यते ।
 यद्यथा येन निर्णीतं तद्यथा तेन लक्ष्यते ॥ ८
 कारणेन विना कार्यं सद्भवित्युपपद्यते ।
 यथाभाषितमेवार्थं संविदाप्रोत्यसंशयम् ॥ ९
 यथा संभवति स्वप्ने सर्वं सर्वत्र सर्वथा ।
 चिन्मयत्वात्तथा जाग्रत्यस्ति सर्वात्मरूपता ॥ १०
 सर्वात्मनि ब्रह्मपदे नानानानात्मनि स्थिता ।
 भस्त्यकारणकार्याणां सत्ता कारणजापि च ॥ ११
 एकः सहस्रं भवति यथा ह्येते किलैन्द्रवाः ।
 प्रयाता भूतलक्षत्वं संकल्पजगतां गणैः ॥ १२
 सहस्रमेकं भवति संविदां च तथा हि यत् ।
 सायुज्ये चक्रपाण्यादेः सर्गैरेकं भवेद्बभूवुः ॥ १३

एक एव भवत्यब्धिः क्वचन्तीनां शतैरपि ।
 एक एव भवेत्काल ऋतुसंवत्सरोत्करैः ॥ १४
 संविदाकाश एवायं देहः स्वप्न इवोदितः ।
 स्वप्नाद्रिवन्निष्ठाकारः स्वानुभूतिस्फुटोऽपि च ॥ १५
 संवित्तिरेवानुभवत्सैवानुभवत्तिका ।
 द्रष्टृदृश्यदृशा भाति चिद्योमैकमतो जगत् ॥ १६
 वेदनावेदनात्मैकं निद्रास्वप्नसुषुप्तवत् ।
 वातस्पन्दविवाभिधौ चिद्योमैकमतो जगत् ॥ १७
 द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च चिद्ज्ञानं परमार्थकम् ।
 शून्यस्वप्न इवाभाति चिद्योमैकमतो जगत् ॥ १८
 जगत्स्वमसदेवेशे भ्रान्त्या प्रथमसर्गतः ।
 स्वप्ने भयमिवाशेषं परिज्ञातं प्रशाम्यति ॥ १९
 एकस्याः संविदः स्वप्ने यथा भानमनेकधा ।
 नानापदार्थरूपेण सर्गादौ गगने तथा ॥ २०
 बहुदीपे गृहे ऋच्छाया बहुषो भ्रान्त्येकवद्यथा ।
 सर्वशक्तेस्तथैवैका भाति शक्तिरनेकधा ॥ २१
 यत्सीकरस्फुरणमम्बुनिधौ शिवाख्ये
 व्योम्नीव वृक्षनिकरस्फुरणं स सर्गः ।
 व्योम्न्येष वृक्षनिकरो व्यतिरिक्तरूपो
 ब्रह्माम्बुधौ न तु मनागपि सर्गविन्दुः ॥ २२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठम० वा० दे० मो० मि० उ० ब्रह्म० ब्रह्ममयत्वप्रतिपादनं नामैकोनाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७९ ॥

निर्मुक्तम् ॥ ३ ॥ सप्रतिष्ठा असौ त्वदुक्ता स्थितिः कास्ति
 यत्र ते शब्दा प्रसरेदित्यर्थः ॥ ४ ॥ देहतदवय-
 वादिकं तु स्वप्नदेहवन्निन्मात्रमेव प्रबुद्धदशेति तत्राह-
 दशैव शब्दा न तत्त्वदशेत्याह—केति । सप्रतिष्ठस्वप्न-
 देहोपममिति कथंचिदाख्येयं सप्रतिष्ठाप्रसिद्धेः ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥ प्रत्यक्षादिसिद्धस्य मूर्तस्य देहादेरपलापः साहसमिति तु
 न मन्तव्यमित्याह—ब्रह्मव्योम्न इति । सहेतुकं प्रत्यक्षादिप्र-
 भाणसिद्धमप्यहेतुकमप्रमाणं सकारणकमप्यकारणकं च । 'तस्य
 अय भावसत्ताख्यः स्वप्नाः', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'यत्र नान्य-
 त्पश्यति नान्यच्छृणोति', 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि-
 श्रुत्यैव जगदपकापादिति भावः ॥ ७ ॥ ब्रह्मणो निर्विकाराद्य-
 त्वाज्जगतः कारणान्तरस्याभावादनुत्पत्तिरेवेत्यपलाप उपपद्यते
 तत्त्वदृशा । भ्रान्तिदृशा त्वनादित्वात्कारणपरम्परसंभवाद्-
 द्वाप्रसिद्धेश्चोत्पत्त्यादिसर्वमुपपद्यते इति स्वस्वनिर्णयानुसारेणो-
 भयोपपत्तेरित्यर्थः ॥ ८ ॥ यौक्तिकदृशा तु कारणेन विनोत्पन्नं
 संविदारमत्वेन लब्धं चेदं जगत्काल्यन्तमसत्त्वाप्यस्यन्तं सत् किंतु
 सद्भवित्युपपद्यते इत्याह—कारणैवेत्यादिना ॥ ९ ॥ १० ॥
 मायाभावे तु सर्वमविद्यमित्याह—सर्वात्ममीति ॥ ११ ॥ १२ ॥
 चक्रपाण्यादिपदात्तत्वेन चन्द्रसूरीदेः सायुज्ये निमित्तमुपा-

ख्यानिष्कर्षोक्तदिशा उपाधिमेकनद्वारेक्यापत्तौ । 'इन्द्रस्यैव
 सायुज्यं सलोकतामाप्नोति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १३ ॥
 भिन्नसत्तयोः सत्सैक्यप्राप्तिस्तु लोकेऽपि प्रसिद्धेत्याह—एक
 एवेति । ऋतुसंवत्सरोत्करैर्मिनोऽपि ॥ १४ ॥ तथा एक एवा-
 त्मा भ्रान्त्या देहादिनानात्वं प्रात इव भातीत्याह—संविदा-
 काशा इति ॥ १५ ॥ द्रष्टृदृश्यदृशा भ्रान्तविभागदृशा ॥ १६ ॥
 यथा एकैव निद्रा स्वप्ने वेदनात्मा सुषुप्तौ अवेदनात्मेति द्वैवि-
 ध्येऽप्येका तद्वत् ॥ १७ ॥ १८ ॥ यतो जगत्स्वमसदेवातः
 स्वप्ने प्रसक्तं व्याघ्रादिभयमिव परिज्ञातमात्रं प्रशाम्यति ॥ १९ ॥
 गगने ब्रह्मणि ॥ २० ॥ अनेकदीपप्रभाणामेकवद्भानमिव एकस्या
 अपि मायाशक्तेरनेकधामानं संभावनीयमित्याह—बहुदीपे
 इति । छायाः कान्तयः ॥ २१ ॥ व्योम्नि भ्रान्त्या वृक्षनिकर-
 स्फुरणमिव शिवाख्ये अम्बुधौ यत्सीकरस्फुरणं स एवायं सर्गः ।
 एतावास्तु विशेषः—व्योम्नि वृक्षनिकरो व्योमधर्मशून्यता-
 विद्वत्वेनास्फुरणावत्यन्तव्यतिरिक्तरूपः । ब्रह्माम्बुधौ स्फुरन्सर्व-
 विन्दुस्तु मनागपि व्यतिरिक्तरूपो नेत्यर्थः ॥ २२ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मस्य-
 त्वप्रतिपादनं नामैकोनाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमः सर्गः १८०

श्रीराम उवाच ।

इमं मे संशयं छिन्धि भगवन्भास्करं तमः ।
 भुवनस्येव भावानां सम्यग्रूपानुभूतये ॥ १
 कदाचिदहमेकाग्रो विद्यारोहे विपश्चिताम् ।
 संसदि स्थितवान्यावत्तापसः कश्चिदागतः ॥ २
 विद्वान्द्विजवरः श्रीमान्विदेहजनमण्डलात् ।
 महातपाः कान्तियुतो दुर्वासा इव दुःसहः ॥ ३
 स प्रविश्याभिवाद्याशु समामाभास्वरद्युतिम् ।
 उपविश्यासने तिष्ठन्नस्माभिरभिवादितः ॥ ४
 वेदान्तसांख्यसिद्धान्तवादान्संहस्य सत्समम् ।
 सुखोपविष्टं विधान्तं तमहं पृष्टवानिदम् ॥ ५
 दीर्घाध्वना परिधान्तः सयज्ञ इव लक्ष्यसे ।
 वदाद्य वदतां श्रेष्ठ कुत आगमनं कृतम् ॥ ६
 ब्राह्मण उवाच ।
 एवमेतन्महाभाग सुमहायज्ञवानहम् ।
 यदर्थमागतोऽस्मीह तस्याकर्णय निर्णयम् ॥ ७
 वैदेहो नाम देशोऽस्ति सर्वसौभाग्यसंयुतः ।
 स्वर्गस्याम्बरसंस्थस्य प्रतिबिम्बमिवावनौ ॥ ८
 तत्राहं ब्राह्मणो जातः प्राप्तविद्यश्च संस्थितः ।
 कुन्दाघदातदस्तत्वात्कुन्ददन्त इति श्रुतः ॥ ९
 अथाहं जातवैराग्यः प्रविहर्तुं प्रवृत्तवान् ।
 देवद्विजमुनीन्द्राणां संभ्रमाच्छ्रमशान्तये ॥ १०
 श्रीपर्वतमखण्डेहं कदाचित्प्राप्तवानहम् ।
 तत्रावसं चिरं कालं मृदु दीर्घं तपश्चरन् ॥ ११

इह रामोदिते कुन्ददन्ताख्याने गिरौ तरो ।

प्रलम्बिनस्तापसस्य वरलाभान्तमीर्यते ॥ १ ॥

स्वयं प्रबुद्धो रामश्चिरं तत्त्वजिज्ञासया स्वमाश्रितस्य कुन्द-
 दन्ताख्यद्विजस्य प्रस्तुतोपदेशश्रवणात्तत्त्वप्रबोधोऽभूत् वेति
 स्वसंदेहं गुरुमुखेन तं पृष्ट्वा विमार्ष्टुकामो वसिष्ठं प्रत्यत्याश्चर्यभूतं
 तदाख्यानं वक्तुं भूमिकां रचयंस्तं गुरुं प्रार्थयते—इममिति ।
 इममाख्यानान्ते वक्ष्यमाणम् । यथा भास्करं ज्योतिर्भुवनस्य
 जगतः सर्वभावानां सम्यग्रूपानुभूतये तमदिच्छन्ति तद्वदित्यर्थः
 ॥ १ ॥ संशयबीजं दर्शयितुमाख्यानमारभते—कदाचिदि-
 त्यादिना । यावस्थितस्त्वावत्तस्मिन्काले इति यावत् ॥२॥३॥
 सभां द्विजसभाम् ॥ ४ ॥ तत्र अहं स्वाधीयमानान्वेदान्त-
 सांख्यसिद्धान्तवादानुपसंहस्य तं तापसमिदं वक्ष्यमाणं पृष्टवान्
 ॥ ५ ॥ सयज्ञः कंचिदर्थं लब्धुं बोद्धुं वा यज्ञवानिव लक्ष्यसे
 ॥ ६ ॥ निर्णयं त्वत्संदेहनिवारणं मद्राक्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥
 अवनीं स्फटिकावनौ ॥ ८ ॥ तत्र विदेहेषु ॥ ९ ॥ देव-
 द्विजमुनीन्द्राणां स्थानानीति शेषः ॥ १० ॥ अखण्डेहमिति
 पूर्वान्बधि । अखण्डेहं तत्रावसमिति वा । एषु अनुभवं

तत्रास्त्यरण्यं विदितं मुक्तं तृणवनादिभिः ।
 त्यक्तेजस्तमोभ्रादिभूमाविव नभस्तलम् ॥ १२
 तत्रास्ति मध्ये विटपी लघुः पेलवपल्लवः ।
 स्थित एषोऽम्बरे शून्ये मन्दरश्मिरिवांशुमान् ॥ १३
 लम्बते तस्य शाखायां पुरुषः पावनाकृतिः ।
 भानुर्भानाविव रश्मिगृहीतो ग्रथिताकृतिः ॥ १४
 मौञ्जदामनिबद्धोर्ध्वपादो नित्यमवाक्शिराः ।
 अष्टीलत्वं दधदिव महाष्टीलस्य शात्मलेः ॥ १५
 दृष्टः प्राप्तेन तं देशं स कदाचिन्मया पुमान् ।
 विचारितो निकटतो वक्षःस्थाञ्जलिसंपुटः ॥ १६
 यावज्जीवत्यसौ विप्रो निःश्वसित्यहताकृतिः ।
 शीतवातातपस्पर्शान्सर्वान्वेत्ति च कालजान् ॥ १७
 अनन्तरमसावेको नोपचर्य मया बहून् ।
 दिवसातपखेदेन विश्रम्भे पातितः शनैः ॥ १८
 पृष्टश्च कोऽसि भगवन्किमर्थं दारुणं तपः ।
 करोषीदं विशालाक्ष लक्ष्यालक्ष्यात्मजीवितः ॥ १९
 अथ तेनोक्तमर्थस्ते क इवानेन तापस ।
 अर्थं नातिविचित्रा हि भवन्तीच्छाः शरीरिणाम् ॥२०
 इत्युक्तवान्प्रयत्नेन सोऽनुबन्धेन वै मया ।
 यदा पृष्टस्तदा तेन ममोक्तमिदमुत्तरम् ॥ २१
 मथुरायामहं जातो वृद्धिं यातः पितुर्गृहे ।
 वात्ययौवनयोर्मध्ये स्थितः पदपदार्थवित् ॥ २२
 समग्रसुखसंभारकोशो भवति भूमिपः ।
 इत्यहं श्रुतवांस्तत्र भोगार्थी नवयौवनः ॥ २३

दीर्घकालवादीर्घम् ॥११॥ शून्यत्वांशे नभस्तलदृष्टान्तः ॥१२॥
 विटपी बहुशाखो वृक्षः ॥ १३ ॥ भानुः सूर्यः भानौ स्वर-
 श्माविव रश्मिगृहीतो रज्जुबद्धपादः । पादबन्धनरज्जाधार इति
 यावत् ॥ १४ ॥ तदेव स्पष्टमाह—मौञ्जेति । अष्टीलत्वं प्रल-
 म्बपर्वग्रन्थिभावं दधदिव ॥ १५ ॥ विचारितो मनसा विमृष्टः
 ॥ १६ ॥ तं विचारमेव स्फुटमाह—यावदिति । वितर्के
 यावच्छब्दः । नूनं जीवति यतो निःश्वसितीत्यर्थः ॥ १७ ॥
 एकोऽसौ लम्बमानो ना पुरुषो मया बहून् दिवसात् दिवसा-
 तपखेदसहनेनोपचर्य शनैर्विश्रम्भे विश्वासे पातितः ॥ १८ ॥
 चिरेणोच्छ्रसनालक्ष्यालक्ष्यात्मजीवितः ॥ १९ ॥ अनेन मत्कु-
 ल्लेशतपःप्रयोजनादिपरिहानेन ते कोऽर्थः किं प्रयोजनम् ।
 न हि निष्प्रयोजनेऽर्थे जिज्ञासा संभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥ इत्यु-
 क्तवान् स तापसो मया यदा प्रयत्नेन प्रणयानुबन्धेन च
 पृष्टस्तदा तेन ममेदं वक्ष्यमाणमुक्तम् ॥ २१ ॥ पदानि
 शब्दशाब्दं पदार्था अर्थशाब्दाणि च वेत्तीति पदपदार्थवित्
 ॥ २२ ॥ भूमिपो राजा समग्राणां सुखसंभाराणां भोगसाम-
 ग्रीणां कोश इवाश्रयो भवतीति अहं तत्र श्रुतवान् ॥ २३ ॥

अथ सप्तमहाद्वीपविस्तीर्णया भुवः पतिः ।
 स्यामित्यहमुदापत्मा परिविम्बितवाञ्छिरम् ॥ २४
 इत्यर्थेन समगस्य देशमित्यमहं स्थितः ।
 अत्र द्वादश वर्षाणि समतीतानि मानम् ॥ २५
 तदकारणमित्र त्वं गच्छेहं देशमाद्युगः ।
 अहं चाभिमतप्राप्तेरित्यमेव दृढस्थितिः ॥ २६
 इति तेनाऽहमुक्तः संस्तमित्थं प्रोक्तवाञ्छुणु ।
 आश्चर्यध्वजने चेतः खेदमेति न भीमतः ॥ २७
 साधो यावत्स्वया प्राप्तो न नामाभिमतो वरः ।
 त्वद्रक्षापरिचर्यार्थमिह तावदहं स्थितः ॥ २८
 मयेत्युक्ते स पाषाणमौनवानभवच्छमी ।
 निमीलितेक्षणः क्षीणरूपस्त्वकलनो बहिः ॥ २९
 तथाहं पुरतस्तस्य काष्ठमौनवतोऽवसम् ।
 पण्मासान्विगतोद्वेगं वेगान्कालकृतान्सहन् ॥ ३०
 अर्कविम्बाद्विनिष्क्रम्य तत्प्रदेशान्तरे स्थितम् ।
 एकदा दृष्टवानस्मि पुरुषं भानुभास्वरम् ॥ ३१
 स तेन पूज्यते यावन्मनसा कर्मणा मया ।
 उवाच तावद्गन्धनममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥ ३२
 शास्त्राप्रलम्बनपर हे ब्रह्मन्दीर्घतापस ।

तपः संहार संहारि गृहाणामिमत्तं वरम् ॥ ३३
 सप्तद्वीपबलयां पालयिष्यसि मेदिनीम् ।
 सप्तवर्षसहस्राणि देहेनानेन धर्मतः ॥ ३४
 एवं समीहितं वत्सा स द्वितीयो दिवाकरः ।
 गन्तुमस्तमथार्काब्धिमविशत्प्रोदितो यतः ॥ ३५
 तस्मिन्याते मया प्रोक्तं तस्य शास्त्रातपस्विनः ।
 भुतदृष्टानुभूताभ्यवरदस्य विवेकिनः ॥ ३६
 संप्राप्ताभिमतं ब्रह्मंस्तदशास्त्राबलम्बनम् ।
 तपस्त्यक्त्वा यथाप्राप्तं व्यवहारं समाचर ॥ ३७
 एवमङ्गीकृतवतः पादौ तस्य मया ततः ।
 मुक्तौ विटपिनस्तस्मादालानात्कालभाविष ॥ ३८
 ज्ञातः पवित्रहस्तोऽसौ चक्रे जस्वाधमर्षणम् ।
 फलेन पुण्यलब्धेन विटपाङ्गुतपारणम् ॥ ३९
 तत्पुण्यवशतः प्रातैः स्वादुभित्तैस्तरौः फलेः ।
 समाश्वस्तावत्संभ्रुग्धावावां तत्र दिनत्रयम् ॥ ४०
 सप्तद्वीपसमुद्रमुद्रितदिशं भोक्तुं समप्रां महीं
 विप्रः पादपलम्बितेन वपुषा तस्वोर्ध्वपादस्तपः ।
 संप्राप्याभिमतं वरं दिनकृतो विश्वस्य आहां त्रयं
 सार्धं मत्सुहृदा स्वमेव सदनं गन्तुं प्रवृत्तोऽभवत्

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु तापसोपाख्यानं नामाक्षीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८० ॥

एकाशीत्यधिकशततमः सर्गः १८१

कुन्दन्त उवाच ।
 आधासमन्तरे गन्तुं प्रवृत्तौ मुदिताकृती ।

अथ तच्छ्रवणानन्तरमहं सप्तमहाद्वीपविस्तीर्णया भुवः पतिस्तथा
 उदारतामा अर्थिनामभिलषितपूरणसमर्थः स्यामिति निरं परि-
 विम्बितवान् । इच्छां कृतवानिति यावत् ॥ २४ ॥ इति एवं-
 रूपेण अर्थेन प्रयोजनेन इमं श्रीशैलदेशमागस्य स्थितः ॥ २५ ॥
 हे अकारणमित्र, तत्तस्मात्पुष्टार्थस्य मयोक्तव्यत्पमिष्टं देशमा-
 द्युगः क्षीप्रयामी भूत्वा गच्छ । मन्दगमने दूरस्वप्राप्तनग-
 राद्यप्राप्त्या अरण्ये निष्ठाप्रसफेरिति भावः । आ अभिमत-
 प्राप्तेरहं तु इत्यमेव तपसि दृढस्थितिः ॥ २६ ॥ २७ ॥
 तावत्कालमहमपि तव रक्षार्थं परिचर्या सेवा तदर्थं च स्थितो
 भविष्यामीत्यर्थः ॥ २८ ॥ क्षीणस्य यृतस्य रूपमिव रूपं यस्य ।
 यतो बहिरकलनः ॥ २९ ॥ कालकृतान् क्षीतोष्णादिवेगान् सह-
 न्दन् ॥ ३० ॥ तस्मिन्प्रदेशान्तरे तस्य तापसस्य पुरोदेशे
 आगस्य स्थितं भानुभास्वरं पुरुषम् ॥ ३१ ॥ स पुरुषत्वेन
 तापसेन मया सह यावत्पूज्यते तावदुवाच ॥ ३२ ॥ त्वं तपः
 उपसंहर । सन्मह हारि मनोहरमभिमतं वरं गृहाण ॥ ३३ ॥
 अनेन देहेन कृतात्तपोधर्मतो न त्वमेव देहेन पालयिष्यसीति ।
 उत्तरप्रश्नविरोधात् ॥ ३४ ॥ यतः स्वर्गं प्रोदितो निर्गतस्त-
 वेपार्कमभिमथमस्तवदर्शनं गन्तुमविशत् ॥ ३५ ॥ ज्ञात्वा यः
 यो० वा० १८८

मथुरानगरीं चन्द्रसूर्याविन्द्रपुरीमिव ॥ १

श्रुतः स एव प्रत्यक्षं दृष्टो वरदानव्यवहारेणानुभूतश्चाभ्यः भेषो
 वरद आदित्यपुरुषो येन तस्य शास्त्रातपस्विनः ॥ ३६ ॥ हे
 ब्रह्मन्, तव तदशास्त्राबलम्बनरूपं यत्तपस्तत्संप्रति संप्राप्तमभिमतं
 यस्मात्तथाविधं संपन्नम्, अत इदानीं त्वं तपस्त्यक्त्वा यथाप्राप्तं
 स्वपुष्टगमनादिव्यवहारं समाचर ॥ ३७ ॥ कालमौ कलमसंब-
 न्धिनी । आत्मनात्तद्वन्धनस्तम्भादिषु ॥ ३८ ॥ पुण्येन तपः-
 सिद्धिवत्केन तस्मादेव विटपाङ्गुधेन फलेन मया सह व्रतपारणं
 चक्रे ॥ ३९ ॥ ४० ॥ उक्तमेव कथां संक्षेपोक्तयोपसंहरति—
 सप्तद्वीपेति । दिनकृतः सूर्यपुढषात्सकाशादभिमतं वरं संप्राप्य
 तदनन्तरं तदुत्के अहां त्रयं विश्वस्य विश्रम्य पादपीडानि-
 दृत्यनन्तरं मया सुहृदा सार्धं स्वयमेव मथुरास्थं भवनं गन्तुं
 प्रवृत्तोऽभवत् ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे तापसोपाख्यानं नामाक्षीत्यधिकशत-
 तमः सर्गः ॥ १८० ॥
 गच्छतोर्मथुतां मार्गभ्रंशाद्वैरीवनागमः ।
 तत्र तापसहृदेन संवादश्चात्र वर्णयते ॥ १ ॥
 यथा चन्द्रसूर्याविन्द्रपुरी प्राच्यां प्रतिजामावासे गन्तुं कान्-
 काके प्रवृत्तौ तद्गवावामपि आसायं चकित्वा अन्तरे आकाशे

प्राप्य रोधाभिधं प्राप्तं विभ्रम्यान्नवणाचले ।
 उचितौ द्वे दिने तस्मिन्सालीसे नगरे सुखम् ॥ २
 अथानन्दितचित्तान्ध्यामावाभ्यामतिवाहितः ।
 त्रितीयेऽहनि क्षीतान्मुक्तिगन्धच्छायावनद्गुमाः ॥ ३
 नदीतीरलतोन्मुकपुष्पप्रकराण्डुराः ।
 तरसदृशंकारमापमानभिताम्बगाः ॥ ४
 क्षिग्धद्रुमवनच्छायरणन्मृगविहंगमाः ।
 स्थूलशाहलशाखाप्रभोतावश्यायमौक्तिकाः ॥ ५
 जङ्गलाद्रिपुरप्रामभ्रानूपखलावनीः ।
 समुल्लङ्घ्य दिने तस्मिन्सरित्कोतःसरांसि च ॥ ६
 नीतघन्ती मिथामावां कदलीकानने घने ।
 तुषारशिखिरे भ्रान्तौ कदलीदलतल्पके ॥ ७
 प्रासावावां तृतीयेऽहनि वेणुवण्डकमण्डितम् ।
 जङ्गलं जनविच्छेदविभक्तं क्षमिवाकृतम् ॥ ८
 तत्र स प्रकृतं मार्गं परित्यज्य घनान्तरम् ।
 प्रविशन्समुवाचेदमकार्यकरणं वचः ॥ ९
 गच्छावोऽत्राश्रमे गौर्या मुनिमण्डलमण्डिते ।
 भ्रातरौ मे स्थिताः सप्त घनेष्वेवमिवायिनः ॥ १०
 भ्रातरौऽहौ वयमिमे जातानेकतया तथा ।
 एकसंविन्मया जाता एकसंकल्पनिश्चयाः ॥ ११
 तेन तेऽप्यत्र तपसे स्वनिश्चयसमाधयाः ।
 स्थिता भागस्य विविधैस्तपोभिः क्षयितैनसः ॥ १२
 तैः सार्धं भ्रातृभिः पूर्वमागत्याहमिहावसम् ।
 षण्मासानाश्रमे गौर्यास्तेन दृष्टो मयैव सः ॥ १३
 पुष्पखण्डतरुच्छायासुप्तमुग्धमृगार्भकः ।
 पर्णोऽत्राप्रविभ्रान्तशुकोद्गाहितशास्त्रदृक् ॥ १४
 तद्गच्छलोकसंकाशमेहि मुन्याभ्रमं भिद्ये ।
 गच्छावोऽच्छतरं तत्र चेतः पुण्यैर्भविष्यति ॥ १५

गन्तुं प्रवृत्तौ ॥ १ ॥ आवासस्थानान्येव क्रमेणाह—प्राप्ये-
 त्यादिना । आन्नवणप्रचुरे अचले ॥ २ ॥ त्रितीये अहनि
 आवां क्षीतान्ध्यामूनि क्षिग्धच्छायावनद्गुमाश्च यासु तथाभिधाः
 श्रान्द्रूपस्यश्रवणीः समुल्लङ्घयेति चतुर्थे संबन्धः ॥ ३ ॥ ता
 एवावनीर्विचिनष्टि—नदीतीरेत्यादिना । मायमिति भक्षि-
 त्यात्माकरणं छान्दसम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ कश्चिजङ्गलभृताः कश्चिद-
 दिप्रायाः कश्चित्पुरप्रामभृताः कश्चिद्रूपभृताः कश्चिद्रूपभृता-
 खलावावनीः ॥ ६ ॥ ७ ॥ अत्रजण्डैर्गुल्मखण्डकैश्च मण्डितम् ।
 तृणकाण्डादिहारिजनकृतैर्विच्छेदैर्विभक्तम् । मेघविच्छेदैर्विभक्तं
 क्षमिव आसमन्तात्कृतम् ॥ ८ ॥ इदानीं दिदक्षितानां भ्रातृमु-
 निप्रवृत्तानां गौर्याश्रमे अभावात् 'न भ्राता भ्रातरं नच्छेदयेन्न-
 परः कश्चित्' इति निविद्धत्वाच्च वृथाकालविलम्बेन प्रकृतस्वरु-
 गमनकार्यविच्छेदित्वात्कार्यकरणं वचः ॥ ९ ॥ १० ॥ 'एवमिवायिनः'
 इत्युक्तिं विहायति—भ्रातर इत्यादिना । तथा प्राग्भगितया
 सप्तद्वीपराज्यजोगेच्छया जाता अनेके अनौरथा वैर्षा तद्गवेषन

विदुषामपि वीराणामपि तत्त्वविदामपि ।
 त्वरते हि मनः पुंसामलंबुद्धिबिलोकने ॥ १६
 तेनेत्युक्ते च ताषावां प्राप्तौ मुन्याभ्रमं च तम् ।
 यावत्तत्र महारण्ये पश्यावभ्रान्तकर्मिणम् ॥ १७
 न वृक्षं नोटजं किञ्चिन्न शुद्धं न च मानवम् ।
 न मुनिं नार्भकं नान्यन्न वेदिं न च वा द्विजम् ॥ १८
 केवलं शून्यमेवास्ति तदरण्यमनन्तकम् ।
 तापोपततमभितो भूमौ स्थितमिवाम्बरम् ॥ १९
 हा कष्टं किमिदं जातमिति तस्मिन्वदस्यथ ।
 आवाभ्यां सुचिरं भ्रान्त्वा दृष्ट एकत्र वृक्षकः ॥ २०
 क्षिग्धच्छविर्घनच्छायः क्षीतलोऽम्बुधरोपमः ।
 तले तस्य समाधाने संस्थितो वृद्धतापसः ॥ २१
 आवाभ्रमे मुनेस्तस्य च्छायायां शाहलस्थले ।
 उपविष्टौ चिरं यावत्सालीं ध्यानाभिधतेते ॥ २२
 ततश्चिरेण कालेन मयोद्वेगेन चापलात् ।
 उक्तं मुने प्रबुध्यस्व ध्यानादित्युच्चकैर्वचः ॥ २३
 शब्देनोद्येर्मदीयेन संप्रबुद्धोऽभवन्मुनिः ।
 सिंहोऽम्बुवरवेणेव जृम्भां कृत्वाभ्युवाच च ॥ २४
 कौ भवन्ताविमौ साधू कालौ गौर्याश्रमो गतः ।
 केन वाहमिहानीतः कालोऽयं कश्च वर्तते ॥ २५
 तेनेत्युक्ते मयाप्युक्तं भगवन्विद्धि ईदृशम् ।
 न किञ्चिदावां बुद्धोऽपि कस्माज्जानासि न स्वयम् ॥ २६
 इति श्रुत्वा स भगवान्पुनर्ध्यानमयोऽभवत् ।
 वदर्शोदन्तमखिलमस्माकं स्वात्मनस्तथा ॥ २७
 मुहूर्तमात्रेणोषाच्च प्रबुध्य ध्यानतो मुनिः ।
 भूयतामिदमाश्चर्यमार्यो हि कार्यवेदिनौ ॥ २८
 यमिमं पश्यथः साधू कदम्बतरुपुत्रकम् ।
 मदास्पदमरण्यान्या धम्मिल्लमिव पुष्पितम् ॥ २९

वयमश्रवपि भ्रातरस्तपसे एकसंविन्मया एकरूपदृढनिश्चयप्र-
 धाना जाताः ॥ ११ ॥ १२ ॥ इह गौर्याश्रमे । तेन हेतुना
 यः प्रारदृष्टः स एवैव पुरो दृश्यते इति प्रत्यभिज्ञाभिलापः ॥ १३ ॥
 तमेवाश्रमं वर्णयति—पुण्येति । उटजाप्रेषु विभ्रान्तैः शुकरपि
 उद्गाहिता उपन्यस्ता नानाशास्त्रदृष्टो यत्र ॥ १४ ॥ तत्र आबयो-
 धेतः सर्वदोषक्षयादच्छतरं भविष्यति ॥ १५ ॥ अलंबुद्धयस्त-
 त्वदर्शनेन पूर्णमनसो वे मुनयस्तेषां विलोकने विदुषामपि
 पुंसां मनस्स्वरते किं पुनरावयोरित्यर्थः ॥ १६ ॥ अन्तः संहा-
 रत्तस्य रूपैवैव स्वमिणमाश्रमं शून्यमिति यावत् ॥ १७ ॥ तदे-
 वाह—न वृक्षमित्यादिना ॥ १८ ॥ १९ ॥ तस्मिन्मस्तहाये
 तापसे ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ चापलात् चपकसभावात्
 ॥ २३ ॥ २४ ॥ इह शून्यारण्ये ॥ २५ ॥ हे भगवन्, ईदृशं
 त्वत्पृष्टमावां न किञ्चिज्जानीथ इति शेषः । अतस्त्वमेव विद्धि ।
 बुद्धः सर्वज्ञोऽपि त्वं योगवत्कस्मात्स्वयं न जानासि ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ इमं मदास्पदं आवाभ्रमम् । अत एवाव-

केनापि कारणेनास्मिन्सती वागीश्वरी सती ।
 भवसहस्रावर्षाणि समस्तर्तुनिवेदिता ॥ ३०
 तदा तेनेह विस्तीर्णमभवत्तन्काननम् ।
 गौरीवचमिति ख्यातं भूषितं कुसुमर्तुभिः ॥ ३१
 भृङ्गाङ्गनाजनमनोहरहारिणीत-
 लीलाबिलोलकलकण्ठविहंगमम् ।
 पुष्पाब्जुवाहशतचन्द्रनभोवितानं
 राजीवरेणुकणकीर्णविगन्तरालम् ॥ ३२
 मन्दारकुन्दमकरन्दसुगन्धितार्शं
 संसृष्टसत्कुसुमराशिशाशाङ्गविष्टम् ।
 संतानकस्तवकहासविकासकान्त-
 मामोदिमावृतसमस्तलताङ्गनीधम् ॥ ३३
 पुष्पाकरस्य नगरं नवगीतभृङ्गं
 भृङ्गाङ्गनाकुसुमलण्डकमण्डपाठ्यम् ।
 चन्द्रांशुजालपरिकोमलपुष्पदोला-
 दोलायमानसुरसिद्धबधूसमूहम् ॥ ३४
 हारीतहंसशुककोकिलकोककक-
 चक्राहभासकलविह्वकुलाकुलाङ्गम् ।

नेत्रककुलकमिच्छामहेमभू-
 रावमयूरवक्रकल्पितकेलिरम्भम् ॥ ३५
 गन्धर्वयक्षसुरसिद्धकिरीटपृष्ठ-
 पादाङ्गकर्णिककदम्बसरसतीकम् ।
 वातायनं क्रमककोमलचम्पकौघ-
 ताराम्बराम्बुधरपूरगृहीतगन्धम् ॥ ३६
 मन्दानिलस्फलितपल्लववालवल्ली-
 विन्यासगुतदिवसप्रधिपरदिमशीतम् ।
 पीतं कदम्बकरवीरकनालिकैर-
 तालीतमालकुलपुष्पपरागपूरैः ॥ ३७
 कङ्कारकीर्णकुमुदोत्पलपद्मलण्ड-
 वल्लभकोरककोककदम्बहंसम् ।
 तालीसगुग्गुलकचम्पनपारिमद्र-
 मद्रुमोदरविहारिविचित्रशक्ति ॥ ३८
 तस्मिन्वने विरमुवास हरार्धदेहा
 केनापि कारणवशेन विराव गौरी ।
 भूत्वा प्रसन्नशशिबिम्बमुक्ती कदम्ब-
 वागीश्वरी शशिकलेव शिबस्य मूर्ध्नि ॥ ३९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० ओ० नि० उ० ब्रह्मगीतासु तापसीया० गौर्याभ्रमवर्णनं नामैकाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८१॥

व्यशीत्यधिकशततमः सर्गः १८२

शुद्धतापस उवाच ।
 तस्मिन्नेव कदम्बेऽस्मिन्वर्षाणि ख्यं चक्रे दश ।
 स्थित्वा गौरी जगामाथ हरवामार्धमन्दिरम् ॥ १
 तत्स्पर्शान्मृतसिकोऽयं कदम्बतरुपुत्रकः ।

कम्प्यत्वात्पुत्रकमित्युक्तिः ॥ १९ ॥ सती गौरी वागीश्वरी सती
 वरसती भूत्वा अत्र भवसत् ॥ ३० ॥ कुसुमप्रधानैः सर्व-
 र्तुभिर्भूषितमलंकृतम् । तदा तस्मिन्काले । तेन कारणेन ॥ ३१ ॥
 कीदृशमभवत्तदेव वर्णयति—भृङ्गाङ्गनेत्यादिना । हे अत्रेत्यु-
 भयोः संबोधनम् । भृङ्गाङ्गनाजनानां मनोहरगीतलीलाभिर्वि-
 लोलाः कलकण्ठविहंगाः कोकिका यत्र । तदा पुष्पवर्षिभिरम्बु-
 वाह्यायेस्तदभिः शतचन्द्रं नभोवितानं यत्र ॥ ३२ ॥ मन्दाराणां
 कुन्दानां च मकरन्दैः सुगन्धिता व्यासा दिशो येन । समन्ता-
 त्सु हृत्सु सत्सु निकसत्सु कुसुमराशिलक्षणेषु वाशाङ्गविम्बेषु
 निहा शोभा पर्याप्तिर्यत्र ॥ ३३ ॥ पुष्पाकरस्य वसन्तस्य
 नगरमिव स्थितम् । भृङ्गाङ्गनायुक्तैः कुसुमलण्डकमण्डपैराठ्यम् ।
 चन्द्रांशुजालवत्परितः क्रोमलासु पुष्पदोलासु दोलायमानाः
 सुरसिद्धबधूसमूहा यत्र ॥ ३४ ॥ हारीतादिपक्षिकुलेराकुला-
 न्यङ्गानि यस्य । हेमचूडास्तितिरयः । रावाः पक्षिमेदाः
 ॥ ३५ ॥ गन्धर्वयक्षादीनां किरीटैर्पृष्ठे पादाङ्गकर्णिके वस्त्रा-
 स्तामिधा कदम्बसरसती भस्मिन् । सुरभिवातनामयनमत
 एव क्रमकमिव क्रोमलेभ्यश्चम्पकौघेभ्यस्ताराम्बुधरान्यां गृहीतो

उत्सङ्ग इव आसीनो न यात्येव पुराणताम् ॥ २
 ततो गौर्या प्रयातायां तद्वनं तादृशं महत् ।
 सामान्यवचनां यातं जनबुद्धोपजीवितम् ॥ ३

गन्धो यस्य ॥ ३६ ॥ मन्दानिलास्फलितपल्लवानां बालवल्लीनां
 विन्यासैः प्रसार्युत्पेषु कुलेषु निरुद्धैर्दिवसाधिपरदिमभिरन्तः-
 शीतम् । तथा कदम्बादीनां कुलस्य पुष्पपरागपूरैः पीतं पीत-
 वर्णम् ॥ ३७ ॥ कङ्कारैः पद्मैः कीर्णानि मिश्रानि कुमुदोत्प-
 लानि येषु तथाविधेषु पद्मलण्डेषु पद्माकरेषु वसन्तस्यको-
 रादिकदम्बसहिता हंसा यत्र । तालीप्रभृतिद्रुमोदरेषु विहारिणी
 विचित्रा सर्वाभिलषिताभैर्पूरणशक्तिर्यसिन् ॥ ३८ ॥ सक-
 लजनसंपत्तिषु यत्कारणं तदाह—तस्मिन्निति । तस्मिन्वने
 हरार्धदेहा गौरी केनापि कारणवशेन कदम्बवागीश्वरी भूत्वा
 विरमुवास । तदेव वनसंपदां कारणमित्यर्थः ॥ ३९ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे गौर्या-
 भ्रमवर्णनं नामैकाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८१ ॥
 कदम्बतापसेनात्र तद्वाच्यतां समागतम् ।
 गृहेषु वरसापानां हेतुसिद्धिश्च वर्णयति ॥ १ ॥
 तस्मिन्वर्णितगुणे अस्मिन्नेव मदात्पदे कदम्बे ॥ १ ॥
 उत्सङ्गे आसीनो बाल इव पुराणतां नरां न यात्येव ॥ २ ॥
 जनबुद्धैस्तु यकाङ्ककलपुष्पाङ्गुपद्मोपजीवितं सत् इत्यङ्गव-

१ बिलोक इत्यपि पाठः.

मालवो नाम देशोऽस्ति तत्राहं पृथिवीपतिः ।
 कदाचिस्यकराज्यधीर्मुनीनामाश्रमान्भ्रमन् ॥ ४
 इमं देशमनुप्राप्त इह चाश्रमवासिभिः ।
 पूजितोऽस्य कदम्बस्य ध्याननिष्ठस्तले स्थितः ॥ ५
 केनचित्स्वथ कालेन आत्भिः सप्तभिः सह ।
 भवानभ्यागतः पूर्वं तपोर्षेभिममाश्रमम् ॥ ६
 तपस्विनोऽद्याविह ते तथा नाम तदाऽवसन् ।
 यथा तपस्विनोऽन्ये ते तेषां मान्यास्तपस्विनः ॥ ७
 कालेमानन्तरमसावेकः श्रीपर्वतं गतः ।
 स्वामिनं कार्तिकेयं च द्वितीयस्तपसे गतः ॥ ८
 वाराणसीं तृतीयस्तु चतुर्थोऽगात्रिमाबलम् ।
 इहिव ते परे धीराश्रत्वारोऽन्ये परं तपन् ॥ ९
 सर्वेषामेव चैतेषां प्रत्येकं त्वेतदीप्सितम् ।
 यथा समस्तद्वीपाया भुवोऽस्याः स्यामहीपतिः ॥ १०
 अथ संपादितं तेषां सर्वेषामेतदीप्सितम् ।
 तपस्तुष्टाभिरिष्टामिदं वताभिर्वैर्वैरैः ॥ ११
 तपतस्ते ततो याता आतरः सदनं निजम् ।
 भूमौ धर्मयुगं भुक्त्वा वेधा ब्रह्मपुरीमिव ॥ १२
 तैर्मवद्भ्रातृभिर्भव्य वरदानविधौ तदा ।
 इदं वरोद्यता यज्ञात्प्रार्थिताः स्नेष्टदेवताः ॥ १३
 देव्यस्माकमिमे सर्वे सप्तद्वीपेश्वरस्थितौ ।
 सत्याः प्रकृतयः सन्तु सर्वे आश्रमवासिनः ॥ १४
 तमिष्टदेवतासार्थमुररीकृत्य सादरम् ।
 तेषामस्त्वेवमित्युक्त्वा जगामान्तर्हिमीश्वरी ॥ १५
 ते ततः सदनं यातास्तेषामाश्रमवासिनः ।
 सर्वे एव गताः पद्मादेक एवासि नो गतः ॥ १६
 अहं केवलमेकान्ते ध्यानैकगतमानसः ।
 वागीश्वरीकदम्बस्य तले तिष्ठामि शैलवत् ॥ १७

साधारणतां यातम् ॥ ३ ॥ इदानीं मुनिः स्वदृष्टान्तमाह—
 मालव इत्यादिना ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ अद्यै ते तपस्विनस्तदा
 तथा तेन प्रकारेण तपस्विनो भूत्वा अवसन् । यथा अन्ये ये
 तपस्विनः तेषामपि मान्याः पूज्यास्तेऽभवन्मित्यर्थः ॥ ७ ॥
 अनन्तरं केनचित्कालेन तेषां मध्ये असौ त्वमेकः श्रीपर्वतं
 गतः । एवं त्रयोऽन्येपि ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ वरैः श्रेष्ठैर्वैरैः
 ॥ ११ ॥ ते तपतस्तपस्येव तिष्ठतः । 'षष्ठी वानादरे' इति
 भावबलक्षणे षष्ठी । धर्मप्रधानं कृतयुगं भूमौ भुक्त्वा अद्भुतं
 तदन्ते वेधाश्चतुर्मुखो ब्रह्मपुरीं ब्रह्मलोकमिव ॥ १२ ॥ हे
 भव्य, इदं वक्ष्यमाणं वरं प्रार्थिताः ॥ १३ ॥ सप्तद्वीपेश्वरैरिति
 भावप्रधानो निर्देशः । प्रकृतयः प्रजाभूताः सर्वे जनाः सत्याः
 परित्यक्तानृताः सन्तु । तथा सर्वेऽपि सप्तद्वीपवासिनः स्वस्वा-
 श्रमधर्मेण सन्तु । इदं च वर्णधर्मप्रार्थनाया अप्युपलक्षणम्

१ वरमस्तप्तमपत् तपवद्भ्रुवैः । अद्यभावात्तैः ।

अथ काले बहस्यस्मिद्धतुल्यवत्सरात्मनि ।
 इदं सर्वं वनं छिन्नं जनैः पर्यन्तवासिभिः ॥ १८
 इदं कदम्बमम्बानं जनताः पूजयन्त्यलम् ।
 वागीश्वरीगृहमिति मां चैवैकसमाधिगम् ॥ १९
 अथैनं देशमायातौ भवन्तौ दीर्घतापसौ ।
 एतत्कथितं सर्वं ध्यानदृष्टं मयाखिलम् ॥ २०
 तस्मादुत्थाय हे साधू गच्छतं गृहमागतौ ।
 तत्र ते आतरः सर्वे संगता दारवन्धुभिः ॥ २१
 अष्टानां भवतां भव्यं सद्ने स्वे भविष्यति ।
 महात्मनां ब्रह्मलोके वसुनामिव संगमः ॥ २२
 इत्युक्ते तेन स मया पृष्ठः परमतापसः ।
 संवेदादिदमाश्रयमार्यास्तद्दर्शयाम्यहम् ॥ २३
 एकैव सप्तद्वीपास्ति भगवन्भूरियं किल ।
 तुल्यकालं भवन्त्यष्टौ सप्तद्वीपेश्वराः कथम् ॥ २४
 कदम्बतापस उवाच ।
 असमञ्जसमेतावदेव नो यावदुच्यते ।
 इदमन्यदसंबन्धतरं संभूयतां मम ॥ २५
 एतेऽष्टौ आतरस्तत्र तापसा देहसंक्षये ।
 सप्तद्वीपेश्वराः सर्वे भविष्यन्ति गृहोदरे ॥ २६
 अष्टौ ह्येते महीपीठेष्वेतेष्वेतेषु सद्यस्तु ।
 सप्तद्वीपेश्वरा भूषा भविष्यन्तीह मे शृणु ॥ २७
 अस्त्येतेषां किलाष्टानां भार्याष्टकमनिन्दितम् ।
 दिगन्तराणां नियतं ताराष्टकमिषोऽवलम् ॥ २८
 तद्भार्याष्टकमेषु यातेषु तपसे चिरम् ।
 बभूव दुःखितं स्त्रीणां यद्वियोगोऽहिदुःसहः ॥ २९
 दुःखिताः प्रत्यये तेषां चक्रुस्ता दारुणं तपः ।
 शतचान्द्रायणं तासां तुष्टाभूत्सेन पार्वती ॥ ३०

॥ १४ ॥ सा इष्टदेवता तं तप्तप्रार्थितमर्थमुररीकृत्य अङ्गीकृत्य
 ॥ १५ ॥ एक एवाहं नो गतः ॥ १६ ॥ तत्कृतस्तत्राह—
 अहमिति ॥ १७ ॥ १८ ॥ मां चैव पूजयन्ति ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ इहागतौ युवा गृहं गच्छतम् । ते आतरः पूर्वमेव
 दारवन्धुभिः संगताः ॥ २१ ॥ भवतामष्टानामपि संगमो
 भविष्यति । वसुनामष्टानाम् । ब्रह्मलोके देवलोके ॥ २२ ॥
 हे भार्या इति रामसभासंबोधनम् ॥ २३ ॥ २४ ॥ एता-
 वदेवासमञ्जसमसंबन्धमिति नो, यावद्यत इदमन्यदसंबन्धतर-
 मत्यन्तमसमञ्जसं मयोच्यते उदाह्रियते, तन्मम मतः भूयता-
 मित्यर्थः ॥ २५ ॥ श्लोकद्वयमुत्तरविषयया पूर्वोक्तानुवादः
 ॥ २६ ॥ २७ ॥ दिगन्तराणां प्राच्याधीनां ताराष्टकमिषोऽ-
 लोक्षिकी उपमा ॥ २८ ॥ यद्यस्मादेतोः पतिवियोगः अहिरिव
 दुःसहः ॥ २९ ॥ तेषां वतीनां प्रसवे पुनःपुनः स्मरणे सति

१ अयं वासी कदम्बमेति विग्रहः.

अदृश्योवाच सा तासां वचोऽन्तःपुरमन्दिरे ।
 देवी सपर्यावसरे प्रत्येकं पृथगीश्वरी ॥ ३१
 देव्युवाच ।
 भर्षर्षमथ आत्मार्यं गृह्यतां बालिके वरः ।
 चिरं क्लिष्टासि तपसा निदाघेनेव मञ्जरी ॥ ३२
 इत्याकर्ण्य वचो देव्या दत्तपुण्या चिरंठिका ।
 स्ववासनानुसारेण कुर्वाणैवेश्वरीस्तथम् ॥ ३३
 आनन्दमन्धरोवाच वचनं मृतुभाषिणी ।
 आकाशसंस्थितां देवीं मयूरीवाग्मालिकाम् ॥ ३४
 चिरंठिकोवाच ।
 देवि देवाधिदेवेन यथा ते प्रेम शंभुना ।
 भर्त्रा मम तथा प्रेम स भर्तास्तु ममामरः ॥ ३५
 देव्युवाच ।
 आसृष्टेर्नियतेर्दाह्यादमरत्वं न लभ्यते ।
 तपोदानैरतोऽन्यं त्वं वरं वरय सुव्रते ॥ ३६
 चिरंठिकोवाच ।
 अलभ्यमेतन्मे देवि तन्मद्गुरुर्गृह्यन्तरात् ।
 मृतस्य मा विनिर्यातु जीवो बाह्यमपि क्षणात् ॥ ३७
 देहपातञ्च मे भर्तुर्यदा स्यादात्ममन्दिरे ।
 तदेतदस्त्विति धरो दीयतामम्बिके मम ॥ ३८
 देव्युवाच ।
 एवमस्तु सुते त्वं च पत्यौ लोकान्तरास्थिते ।
 भविष्यसि प्रिया भार्या देहान्ते नात्र संशयः ॥ ३९
 इत्युक्त्वा चिररामासौ गौर्या गीर्गनोदरे ।
 मेघमालाध्वनिरिव निरवद्यसमुद्यता ॥ ४०
 देव्यां गतायां भर्तारस्तासां कालेन केनचित् ।
 इ०श्री० वा० दे० मो० नि० उ०३० तापसोपाख्यानान्तर्गतसप्तद्वीपेश्वरीपा० सप्तद्वीपेश्वरवर्णनं नाम अशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८२॥

ते ककुब्ध्यः समाजग्मुः सर्वे प्राप्तमहावराः ॥ ४१
 अद्यायमपि संयातु भार्याया निकटं पतिः ।
 आतृणां बान्धवानां च भवत्वन्योन्यसंगमः ॥ ४२
 इदमन्यदधैतेषामसमञ्जसमाकुलम् ।
 शृणु किंचित्तमाश्चर्यमार्यकार्योपरोधकम् ॥ ४३
 तप्यतां तप एतेषां पितरौ तौ वधुसुतौ ।
 तीर्थमुन्याश्चमधेर्णी प्रष्टुं दुःखान्वितौ गतौ ॥ ४४
 शरीरनैरपेक्ष्येण पुत्राणां हितकाम्यया ।
 गन्तुं कलापप्रामं तं यत्नवन्तौ वधुसुतः ॥ ४५
 तौ प्रयातौ मुनिप्राम मार्गे ददृशतुः सितम् ।
 पुरुषं कपिलं ह्रस्वं भस्मान्नं चोर्ध्वमूर्धजम् ॥ ४६
 धूलीलवमनादस्य तं अरत्पान्थशाह्वया ।
 यदा तौ जग्मतुस्तेन स उवाचान्वितः कुधा ॥ ४७
 सवधूक महामूर्ख तीर्थार्थी दारसंयुतः ।
 मां पुर्वाससमुल्लङ्घ्य गच्छस्यविहितानतिः ॥ ४८
 वधूनां ते सुतानां च गच्छतस्तपसार्जिताः ।
 विपरीता भविष्यन्ति लब्धा अपि महावराः ॥ ४९
 इत्युक्तवन्तं तं पाषत्सदारोऽथ वधुसुतः ।
 सन्मानं कुरुते तावन्मुनिरन्तर्धिमाययौ ॥ ५०
 अथ तौ पितरौ तेषां सवधूकौ सुदुःखितौ ।
 कृशीभूतौ दीनमुखौ निराशौ गृहमागतौ ॥ ५१
 अतो वदाम्यहं तेषां नैकं नामासमञ्जसम् ।
 असमञ्जसलक्षाणि गण्डे स्फोटाः स्फुटा इव ॥ ५२
 चिद्योमसंकल्पमहापुरेऽस्मि-
 भित्थं विचित्राप्यसमञ्जसानि ।
 निःशून्यरूपेऽपि हि संभवन्ति
 दृश्ये यथा व्योमनि दृश्यजृम्भाः ॥ ५३

ता दुःखिताः सत्यो दारुणं तपश्चक्रुः । किनामकं तत्प-
 क्षदाह—शतब्रह्म्रायणमिति ॥ ३० ॥ ३१ ॥ निदाघेन
 प्रीप्सेण ॥ ३२ ॥ दत्तपुण्या गौरी पादयोः समर्पितपुष्पाञ्जलि-
 चिरंठिका सुवासिनी ॥ ३३ ॥ आनन्दमन्धरा गद्गदस्वरा ।
 ज्येष्ठया नामधेयं वा ॥ ३४ ॥ अमरो मृत्युरहितोऽस्तु
 ॥ ३५ ॥ आसृष्टेरादिसर्गमारभ्य प्रवृत्ताया नियतेरीश्वराज्ञायाः
 दाह्याद् अंकुमशक्यत्वात् ॥ ३६ ॥ क्षणादपिषण्दाधिरादपि
 ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ मूर्खायास्तस्याः समीचीनवरयाचनाकुशलतां
 बुद्धा देवी स्वयमेव वरान्तरं ददाति—त्वं चैति । लोकान्तरे
 सप्तद्वीपाधिपत्ये ॥ ३९ ॥ निरवद्यं निर्दोषं अगदानन्दाय
 समुद्यता ॥ ४० ॥ ककुब्ध्यो विरभ्यः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥
 असमञ्जसान्तरमप्युदाहरति—इहमिति । आर्यकार्याणां अत्क-
 र्मेफलानुपरोधकम् ॥ ४३ ॥ वधूभिः सुभाभिर्युतौ सहितौ
 ॥ ४४ ॥ शरीरपदेन तद्गोच्यसुखं लक्ष्यते तद्वैरपेक्षेण ।
 तं प्रसिद्धं कल्पप्रामास्यं तीर्थम् ॥ ४५ ॥ वधूतः कपिलं

ह्रस्वं पुरुषं मार्गे ददृशतुः ॥ ४६ ॥ तावद्वानां मातापितरौ
 अरत्पान्थः कश्चिदसाविति शङ्कया तं मुनिमनादस्य नमस्कार-
 पूजास्तवनायादरमकृत्वा प्रत्युत गमनत्वरया तदुपरि धूली-
 लवमुद्गूनयन्तौ सन्तौ यदा जग्मतुस्तदा तेनापराधेन कुधा-
 ऽन्वितः स मुनिह्वाच ॥४७॥ किमुवाच तदाह—सवधूकेति ।
 अविहितानतिः अकृतनमस्कारः ॥४८॥ तपसार्जिता वरा विप-
 रीता दुःखफला भविष्यन्ति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ निराशौ
 सन्तौ पराहृत्य स्वगृहमेवागतौ ॥ ५१ ॥ अतोऽहं वदामि
 तेषां नैकमेवासमञ्जसं किंतु असमञ्जसलक्षाणि गृहमध्ये सप्तद्वी-
 पराज्यकल्पने तदन्तर्गतगिरिपर्वताद्यसमञ्जसलक्षाणां कल्पनाया
 नान्तरियकतया प्रसक्तेरिति भावः । यथा गले गण्डस्तत्र
 स्फोटास्ते च स्फुटाः स्फुटिताब्देनिष्टोपर्येनिष्टं तत्राप्यनिष्ट-
 न्तरं तद्वदित्वाः ॥ ५२ ॥ एवमन्यत्राप्यस्मिन्नायावदे अग-
 त्यसमञ्जसलक्षाणि संभवन्तीत्याह—चिद्योमेति । अस्मिन्जग-
 त्पदे चिद्योमसंकल्परचिते महापुरे इत्थं विचित्राप्यसमञ्जसानि

श्रीश्रीलघुशततमः सर्गः १८३

कुन्दवन्त उवाच ।

ततः पृष्टो मया तत्र स गौर्याभ्रमतापसः ।
 तापसंशुष्कदर्भाप्रजराजर्जरमूर्धजाः ॥ १
 एकैव सप्तद्वीपस्त्रि वसुधा यत्र तत्र ते ।
 सप्तद्वीपेश्वरा भद्रौ भवन्ति कथमुत्तमाः ॥ २
 यस्य जीवस्य सद्गतास्त्रिस्ति निर्गमनं बहिः ।
 स करोति कथं सप्तद्वीपेश्वरत्वेन दिग्जयम् ॥ ३
 वैश्वरा वरवैश्वराः शापैस्ते तद्विरुद्धताम् ।
 कथं गच्छन्ति गच्छन्ति कथं छाया हि तापताम् ॥ ४
 मियोऽशक्यां कथं धर्मो स्थितिमेकत्र गच्छतः ।
 आघार एवाधेयत्वं करोति कथमात्मनि ॥ ५
 गौर्याभ्रमतापस उवाच ।
 संपश्यसि किमेतेषां भो साधो शृण्वन्नन्तरम् ।
 अष्टमेऽस्मिन्सुसंभाते तं प्रवेशं स्वान्धवम् ॥ ६
 इतो भवन्तौ तं देशमासाद्य सुखसंस्थितौ ।
 स्वबन्धुसुखसंस्थानौ कञ्चित्कालं भविष्यतः ॥ ७
 ततस्तेऽष्टौ मरिष्यन्ति भ्रातरः क्रमशो गृहे ।
 बन्धवोऽथ करिष्यन्ति तेषां देहांतदग्निसात् ॥ ८
 तेषां ते संबिदाकाशाः पृथक्पृथगवस्थिताः ।
 मुहूर्तमात्रं स्वास्यन्ति सुषुप्तस्था जडा इव ॥ ९
 एतस्मिन्नन्तरे तेषां तानि कर्माणि धर्मतः ।
 एकत्र संघटिष्यन्ति वरशापात्मकानि च ॥ १०

कोटिषः संभवन्ति । यथा ध्योमनि उत्पातवद्वातान्धर्वनगर-
 धूमकेतुकबन्धोल्कादिदृश्यजृम्भाः संभवन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ ५३ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 सप्तद्वीपेश्वरवर्णनं नाम श्रीश्रीलघुशततमः सर्गः ॥ १८३ ॥

त्रिरुद्धवरशापानां चतुराननवाक्यतः ।

मियोऽजयोन्वःसारानामिह सम्यक्किरूष्वते ॥ १ ॥

तापेन ग्रीष्मे संशुष्कं परस्परप्रयितं च दर्भाप्रमिव जराज-
 जैर मूर्धजा यस्य ॥ १ ॥ किं पृष्टस्तादाह—एकैवेति ॥ २ ॥
 द्वितीयं पृष्टमाह—यस्येति ॥ ३ ॥ तृतीयं पृष्टमाह—यैरिति ।
 शीतलच्छायास्तापतां ग्रीष्मातपतां कथं गच्छन्ति ॥ ४ ॥
 एकस्यैव फलस्य वरशापोभयफलत्वमशाक्यत्वाद्दुष्करमित्याह—
 मिथ इति । विरुद्धौ वरशापफलतागच्छेदकौ शुभलाशुभरत्न-
 धर्माविकर्त्रेव धर्मिष्यशक्यां स्थितिं कथं गच्छतः । एक-
 धर्म्याश्रितत्वात्संभवेऽपि तयोर्धर्मयोः परस्पराश्रितत्वमस्तु
 तत्राह—आध्याय एवेति ॥ ५ ॥ सर्वेषां प्रक्षमां कथाशेष-
 वर्णनमुक्तेनैवोत्तरं कदम्बतापस उवाच—संपश्यसीति । हे
 साधो, एतेषां किं विरुद्धमसमबलं पश्यसि । अनन्तरं यदुक्तं
 तच्छृणु । तेनैव ते समाधानं भविष्यतीति भावः । अद्यतन-

कर्माणि तान्यधिष्ठातृदेवरूपाणि विटकम् ।
 वरशापशरीरानि करिष्यन्ति पृथक् पृथक् ॥ ११
 वरास्तेऽत्र गमिष्यन्ति सुमनाः पञ्चाषण्यः ।
 ब्रह्मदण्डायुधाश्चन्द्रचबलाङ्गाश्चतुर्भुजाः ॥ १२
 शापास्तत्र भविष्यन्ति त्रिनेत्राः शूलपाणयः ।
 भीषणाः कृष्णमेघामा त्रिभुजा भुङ्कुदीमुखाः ॥ १३
 वरा वदिष्यन्ति ।
 सुदूरं गम्यतां शापाः कालोऽस्माकमुपागतः ।
 ऋतूनामिव तन्नाम कः समर्थोऽतिवर्तितुम् ॥ १४
 शापा वदिष्यन्ति ।
 गम्यतां हे वरा दूरं कालोऽस्माकमुपागतः ।
 ऋतूनामिव तन्नाम कः समर्थोऽतिवर्तितुम् ॥ १५
 वरा वदिष्यन्ति ।
 कृता भवन्तो मुनिना वयं दिनकृता कृताः ।
 मुनीनां चाधिको देवो भगवन्तं पुरा यतः ॥ १६
 प्रवदत्सु वरेष्वेवं शापाः क्रुद्धधियो वरान् ।
 धिवसता कृता यूयं वयं रुद्रांशतः कृताः ॥ १७
 देवानामधिको रुद्रो रुद्रांशप्रभवो मुनिः ।
 इत्युक्त्वा प्रोद्यता तेषां चक्रुः शृङ्गाण्यगा इव ॥ १८
 शापेषूद्यतशृङ्गेषु वरा इदमरातिषु ।
 विहसन्तः प्रवक्ष्यन्ति प्रमेयीकृतनिस्त्रयम् ॥ १९

वासरादष्टमे अस्मिन्नेव वासरे संप्राप्ते सति भवन्ती तं अशु-
 राप्रवेशं स्वान्धवसहितं प्राप्स्यत इति शेषः ॥ ६ ॥ ७ ॥
 तद्विमिसात्सैराहिता येऽमयस्तदधीनान् । अन्येष्टिमिस्तत्त-
 मिषु दाहेन संस्करिष्यन्तीति यावत् ॥ ८ ॥ संबिदाकाशा
 जीवाः ॥ ९ ॥ कर्मणां विरोधपरिहारं वस्तुमुपक्रमते—एत-
 स्सिद्धिति । धर्मतः बलावदयंभावस्वभावतः । एकत्र च तत्त-
 त्त्वावच्छिन्नाकाशे ॥ १० ॥ तानि कर्माणि अधिष्ठातारस्व-
 त्फलप्रदा देवास्तद्रूपाणि भूत्वा पेटकं स्वस्वानुकूलसमूहवर्धितं
 संपुटं पृथक् पृथक् करिष्यन्ति । एवं संपुटीभूता वराः शापाश्च
 पृथक् पृथक् शरीरानि करिष्यन्ति ॥ ११ ॥ तेषां वैषभेव-
 माह—वरा इति । गमिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति ॥ १२ ॥ दुर्वाससो
 रुद्रांशत्वेन तथीयस्वाहुष्कर्मफलदानोन्मुखत्वेन शौररूपत्वाच्च
 त्रिनेत्राः शूलपाणयः ॥ १३ ॥ ऋतूनां वसन्ताधीनामिव
 ॥ १४ ॥ १५ ॥ तत्र वरा मूलधिक्यात्स्वाधिक्यं दर्शयन्ति—
 भवन्त इति । यतो भगवन्तं सूर्यं मुनिभ्यः पुरा आता
 असृजदिति शेषः ॥ १६ ॥ १७ ॥ इत्युक्त्वा प्रोद्यता प्रोद्यतानि ।
 सुपां सुलगिति च्छान्दसोऽङ्गदेशः ता ता पिण्डानामिति वत् ।
 शृङ्गाणि त्रिशूलप्रसङ्गि ॥ १८ ॥ अन्तःप्रमाणपूर्वकं सम्यक्कि-
 कारेण प्रमेयीकृतत्वात्प्रवदितत्वात्सर्वान् निबन्ध ॥ १९ ॥

हे शापाः पापतां त्यक्त्वा कार्यस्यान्तो विचार्यताम् ।
 यत्कार्यं कलहस्यान्ते तदेवादी विचार्यताम् ॥ २० ॥
 पितामहपुरीं गत्वा कलहस्यान्ते विनिर्णयः ।
 कर्तव्योऽस्याभिरेतत्किमादौ वेह विधीयते ॥ २१ ॥
 शापैर्वरोकमाकर्ष्य वाढमित्युररीकृतम् ।
 को न गृह्णाति मूढोऽपि वाक्यं युक्तिसमन्वितम् ॥ २२ ॥
 ततः शापं वरैः सार्वं यावन्ति ब्रह्मणः पुरम् ।
 महानुभावा हि गतिः सदा संदेहनाशने ॥ २३ ॥
 प्रणामपूर्वं तत्त्वर्थं यथावृत्तं परस्परम् ।
 ब्रह्मणे कथयिष्यन्ति श्रुत्वा तेषां स वक्ष्यति ॥ २४ ॥
 ब्रह्मोवाच ।

वरशापाधिपा भो भो येऽन्तःसारा जयन्ति ते ।
 केऽन्तःसारा इति मिथो नूनमन्विष्यतां स्वयम् ॥ २५ ॥
 इति श्रुत्वा प्रविष्टाले सारतां समवेक्षितुम् ।
 वराणां हृदयं शापाः शापानां हृदयं वराः ॥ २६ ॥
 ते परस्परमन्विष्य स्वयं हृदयसारताम् ।
 ज्ञात्वा च समवायेन प्रवक्ष्यन्ति पितामहम् ॥ २७ ॥
 शापा वक्ष्यन्ति ।

जिताः प्रजानाथ वयं नाम्तःसारा वयं यतः ।
 अन्तःसारा वरा एव ब्रह्मस्तम्भा इवाचलाः ॥ २८ ॥
 वयं किलेमे भगवन्वराः शापाश्च सर्वदा ।
 ननु संविन्मया एव देहोऽन्योऽस्याकमस्ति नो ॥ २९ ॥

पापतामनुचितकारिताम् । तदेवादी कर्तव्यमिति शेषः ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ २२ ॥ गतिः शरणम् ॥ २३ ॥ २४ ॥ शास्त्रानु-
 सारदृष्ट्याभ्यासोभयकृतं यदाकारसंविदाक्यं ये अन्तःसाराले
 जयन्ति । अन्विष्यतां पर्यालोच्यताम् ॥ २५ ॥ इदं प्रविष्टा
 इति कल्पनोक्तिः । परस्परान्तः पर्यालोचितवन्त इति यावत्
 ॥ २६ ॥ समवायेन परस्परेकमल्लक्षणैः मिलनेन ॥ २७ ॥
 ॥ २८ ॥ तत्र संविदो दृष्ट्याभ्यासेन यदाकारदाक्यं तेषां प्राब-
 ल्यमिति वक्तुं मूलसंविदं दर्शयन्ति—वयं किलेति । देहः
 स्वल्पम् ॥ २९ ॥ तदेवोपपादयन्ति—वरवस्येत्यादिना
 ॥ ३० ॥ वरस्य हि फलं सुखमोगायतनं देहं तत्र विशि-
 मात्रस्य कलनात्मकं कचनम् । ततः सैव विशिर्देहाकारा
 भूत्वा देशकालादिकल्पनाद्यतभ्रमेस्तत्तद्भोगार्थान्पश्यति अनु-
 भवति तत्रादनीयमिति ॥ ३१ ॥ तत्र शास्त्रीयतपःशक्तिरव-
 संकल्पशीकृताहरदारसंविदात्मनो गृहीतत्वाहरकल्पना चित् का-
 लान्तरे फलावस्थायां सम्यक् भूता पुष्टा यदा तदा सैवान्तः-
 सारा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तच्छ्रुतस्तत्राह—यदेवेति ॥ ३४ ॥
 तत्रापि शास्त्रीयत्वेन शुद्धत्वे प्राबल्याधिक्यमित्याहुः—शुद्धा-
 नामिति । संविदामिति निर्धारणे वष्टी । अतः फलेऽपि सार्वं
 न विद्यते ॥ ३५ ॥ ज्येष्ठत्वापि वरसंविदः प्राबल्यमस्ती-

वरस्य हि या संविद्वरो दत्त इति स्थिता ।
 सैवार्थिनि मया लब्धो वरोऽयमिति तिष्ठति ॥ ३७ ॥
 विशिष्टिमात्रकचनं देहं सैव फलं ततः ।
 परस्यनुभवस्यचि देशकालाद्यतभ्रमे ॥ ३८ ॥
 वरदात्मा गृहीतत्वाचित्काकालान्तरसंभृता ।
 यदा तदान्तःसारासौ दुर्जया न तु शापजा ॥ ३९ ॥
 वरप्रदानं वरदैर्वरदानां वरार्थिभिः ।
 यदा सुखिरप्रभ्यस्तं वराणां सारजा तदा ॥ ३९ ॥
 यदेव सुखिरं संविदभ्यस्यति तदेव सा ।
 सारमेवाशु भवति भवत्याशु च तन्मयी ॥ ३७ ॥
 शुद्धानामतिशुद्धैव संविदस्यति संविदाम् ।
 अशुद्धानां त्वशुद्धैव काकालान्तरं न विद्यते ॥ ३५ ॥
 क्षणांशेनापि यो ज्येष्ठो न्यायस्तेनवपूर्यते ।
 नार्थे न्यायान्तरं किञ्चित्कर्तुमुत्सहते मद्म् ॥ ३६ ॥
 समेनोभयकोटिस्थं मिश्रं वस्तु भवेत्समम् ।
 वरशापविलासेन क्षीरमिश्रं यथा पयः ॥ ३७ ॥
 समाभ्यां वरशापाभ्यामथवा चिद्रूपताम् ।
 स्वयमेवानुभवति समेष्विव पुरात्मिका ॥ ३८ ॥
 शिक्षितं त्वत्त एवेति यत्तदेव तत्र प्रभो ।
 पुनः प्रतीपं पठितं शीघ्रं यामो नमोऽस्तु ते ॥ ३९ ॥
 इत्युक्त्वा स स्वयंशापः कापि शापगणो ययौ ।
 प्रशान्ते तिमिरे दृष्टे व्योम्नि केशोष्कं यथा ॥ ४० ॥

त्याहुः—क्षणांशेनापीति । ज्येष्ठस्यासंजातविरोधित्वेन सम्य-
 द्दिरुत्वादिति भावः । अप्रमाणजस्य हि ज्येष्ठत्वं बाध्यत्वे
 तन्मम् । यथा रजतभ्रमस्य प्रमाणदृष्टौ त्वर्थे अनपेक्षितस्य
 ज्ञानस्य ज्येष्ठत्वं बाध्यत्वे तन्ममिच्छि प्रतिदम् । न्यायान्तरं
 न किञ्चिन्मदं शापप्राबल्यं कर्तुमुत्सहते इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ अत एव
 यत्र विरुद्धकर्मणोर्वरशापयोर्वा प्रमाणाभ्यासादिसाम्यं तत्रोभयमि-
 ध्रमेव फलं भवतीत्याह—समेनेति । शुभाशुभोभयकोटिस्थम् ।
 यथा मनुष्यदेहः ॥ ३७ ॥ यत्रैककाले भिन्नदेशभोग्यौ समौ वर-
 शापो तत्र विपश्चिदुपाख्यानोफन्यायेनोपाधेर्विभागेनैकैव जीव-
 विद्युगपदेभेदेन द्विरुपतामापद्यत इत्याह—समाभ्यामिति ।
 यथा स्वप्नेषु पुरात्मिका चित् पुरवास्तिजनदेहभेदेन विभाग-
 मिवापद्यते तद्वत् ॥ ३८ ॥ धातुः पुरतः स्वेषां तस्वोद्धार-
 धार्थमनुचितमनुचिन्त्याहुः—शिक्षितमिति । यत्त एव
 शिक्षितं तत्तनैव पुरः पुनः पठितं धार्थ्यावहत्वात्प्रतीपं प्रति-
 कूलमिति नो चाष्ट्यापसधं क्षमस्य । अतस्ते नसोऽस्तु वयं शीघ्रं
 स्वस्थानं यामः ॥ ३९ ॥ स्वयमेव स्वं वृथा प्रयासकारिणं
 स्वमौर्ख्यदयापकं लज्जया घृणसीति स्वयंशापस्तथाविधः
 सन् कापि ययौ । यथा दृष्टेस्तिमिररोगे प्रशान्ते सति
 व्योम्नि भ्रान्तिकृतं केशोष्कं कापि याति तद्वत् ॥ ४० ॥

अथान्यो वरपूगोऽत्र गृहनिर्गमरोधकः ।
स्थानिस्थानमिवादेशः समानार्थोऽभ्यपूरयत् ॥ ४१

शापस्थानका वदिष्यन्ति ।

सप्तद्वीपेशजीवानां निर्वाणं शवसदानः ।
देवेश विश्वो न वयमन्धकूपादिवास्मसाम् ॥ ४२
सप्तद्वीपेश्वरानेतानिमे द्वीपेषु सप्तसु ।
कारयन्ति घरा वर्या वीरा दिग्विजयं रणे ॥ ४३
तवेषमनिवार्येऽस्मिन्विरोधे विबुधेश्वर ।
यदनुष्ठेयमस्माभिस्तदादिश शिवाय नः ॥ ४४

ब्रह्मोवाच ।

सप्तद्वीपेश्वरवरा गृहरोधवराश्च हे ।
कामः संपन्न एवेह भवतां भवतामपि ॥ ४५
व्रजतैतदपेक्षत्वं यावन्नेष्टावपि क्षणात् ।
चिरं चिराय सदाने सप्तद्वीपेश्वराः स्थिताः ॥ ४६
समनन्तरमेवैते देहपातात्सप्तसु ।
सप्तद्वीपेश्वराः सर्वे संपन्नाः परमं वराः ॥ ४७

सर्वे वरा वदिष्यन्ति ।

कुतो भूमण्डलान्यद्यै सप्तद्वीपानि भूतयः ।
एकमेवेह भूपीठं भुतं दृष्टं च नेतरत् ॥ ४८
कथं चैतानि तिष्ठन्ति कस्मिन्निहृहकोशके ।
पद्माक्षकोशके सूक्ष्मे कथं भान्ति मतंगजाः ॥ ४९

ब्रह्मोवाच ।

युक्तं युष्मामिरस्माभिः सर्वे व्योमात्मकं जगत् ।
स्थितं चित्परमाण्वन्तरन्तःस्वप्नोऽनुभूयते ॥ ५०

एवं दुर्वासःशापेषु गतेषु अथ अन्यः सप्तद्वीपाधिपत्यविरुद्धस्तेषां
गृहाधिर्गमस्य रोधकः अन्यस्तद्धार्याभ्यो दत्तो गौरीवरपूगो
वैयाकरणप्रक्रियायामादेशः स्थानिस्थानमिव सूर्यवरैः सह विवा-
दार्थं शापस्थानमभ्यपूरयत् । यतः सोऽपि समानः अर्थस्तु-
त्यक्कालं विरुद्धं फलं यस्य तथाविधः ॥ ४१ ॥ शापस्थाने
निविष्टः शापस्थानकाः पत्नीवरा ब्रह्माणं प्रति वदिष्यन्ति । किं
तदाह—सप्तद्वीपेशेति । हे देवेश, भाविसप्तद्वीपेशत्वेना-
भिमत्तानामेतेषां जीवानां शवसदानो वह्निर्निर्याणं वयं न
विधः । अस्माभिस्तन्निरोधादित्यर्थः । अन्धकूपाच्छून्यकूपात्
॥ ४२ ॥ ४३ ॥ नः शिवाय सफलत्वाय यदादेशं तदादिश ।
आज्ञापयेत्यर्थः ॥ ४४ ॥ भवतां सर्वेषां कामः संपन्न एव
॥ ४५ ॥ कथं संपन्नस्तत्राह—व्रजतेति । यूयमेतत्परस्पर-
पेक्षत्वं व्रजत । यावत् यतो भवतां चिरं नेष्टौ परस्परैच्छा-
विरहेषु तेऽद्यै भ्रातरौ मरणोत्तरक्षणादेव चिराय स्वसदान
एव सप्तद्वीपेश्वरा भूत्वा स्थिताः ॥ ४६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—
समनन्तरमिति ॥ ४७ ॥ भूतयस्तत्तद्दर्शयामि च कुतः । कुतं
शुक्तिषु प्रसिद्धम् । इष्टं लोकेषु प्रसिद्धम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ काम-
वदेवाविरुद्धमेतदित्युत्तरमाह—युक्तमिति । यतो युष्माभि-

माति यत्परमस्याणोरन्तस्थस्वगृहोदरे ।
स्फुरितं तत्किमाश्चर्यं कः स्वयः प्रकृतेः क्रमे ॥ ५१
मृतेरनन्तरं भाति यथास्थितमिदं जगत् ।
शून्यात्मैव घनाकारं तस्मिन्नेव क्षणे चितः ॥ ५२
अणायपि जगन्भाति यत्र तत्र गृहोदरे ।
सप्तद्वीपा वसुमती कचतीति किमद्भुतम् ॥ ५३
यद्गातीदं च चित्तस्त्वं जगत्त्वं न जगत्कचित् ।
चिन्मात्रमेव तद्भाति शून्यत्वेन यथास्वरम् ॥ ५४
इति ते ब्रह्मणा प्रोक्ता वरदेन वरास्ततः ।
तानाधिभौतिकभ्रान्तिमयान्दस्यज्य देहकान् ॥ ५५
प्रणम्याजं समं जग्मुरातिवाहिकदेहिनः ।
सप्तद्वीपे च देवानां गृहकोशात्कचजनान् ॥ ५६
यावत्ते तत्र संपन्नाः सप्तद्वीपाधिनायकाः ।
अष्टावपीष्ठापुष्टानां दिनाष्टकमहीभुजाम् ॥ ५७
ते परस्परमहाता अज्ञानान्योन्यबन्धवः ।
अन्योन्यभूमण्डलगा अन्योन्याभिमते हिताः ॥ ५८
तेषां कश्चिद्गृहस्यान्तरेव तारुण्यसुन्दरः ।
उज्जयिन्यां महापुर्यां राजधान्यां सुखे स्थितः ॥ ५९
शाकद्वीपास्पदः कश्चिन्नागलोकजिगीषया ।
विचरत्यधिजठरे सर्वदिग्विजयोद्यतः ॥ ६०
कुशद्वीपराजधान्यां निराधिः सकलप्रजाः ।
कृतदिग्विजयः कश्चित्सुतः कान्तावलम्बितः ॥ ६१
शात्मलिङ्गीपशैलेन्द्रशिरःपुर्याः सरोवरे ।
जललीलारतः कश्चित्सहविद्याधरीगणैः ॥ ६२

रस्माभिश्च व्यष्टिसमष्टिभिर्युक्तं सर्वं जगद्योमात्मकं सच्चित्पर-
माण्वन्तः स्थितमन्तःस्वप्न एवानुभूयते अतस्तत् परमाणोर-
प्यन्तस्थे स्वगृहोदरे भातीति परेणान्वयः ॥ ५० ॥ तत्कि-
माश्चर्यमपूर्वम् । कः स्वयो विस्मयः ॥ ५१ ॥ स्वप्नसाम्भवेव
दर्शयन्तुं स्फुटयति—मृतेरित्यादिना ॥ ५२ ॥ ५३ ॥
यदिदं जगत्त्वं भाति तत् त्वं चिदेव । यतश्चिन्मात्रमेव तद्भाति
अतो न कश्चिज्जगन्मूर्तमस्ति यद्गृहे न भायादित्यर्थः ॥ ५४ ॥
तान्प्राकल्पितानाधिभौतिकभ्रान्तिमयान् देहकांस्वस्वविचारेण
संत्यज्य आतिवाहिकदेहिनः सन्तः अजं प्रणम्य अविरोधा-
त्समं साकं तत्तन्मनःकल्पिते सप्तद्वीपे तत्तद्देवानां गृहको-
शान् जग्मुरिति परेणान्वयः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ यावदिति साकस्ये ।
तेऽद्यै भ्रातरस्तत्र गृहे इष्टैर्यज्ञादिकसत्कर्मभिर्बन्धुजनैश्च आपुष्टानां
जगदष्टकभेदेन ब्रह्मदिनाष्टके आदिमहीभुजां स्वार्थभुवनानां
कुले इति शेषः । सप्तद्वीपाधिनायकाः संपन्ना इत्यर्थः ॥ ५७ ॥
प्रत्येकं भ्रातृसहितत्वकल्पनादन्योन्यबन्धवः । राज्यभेदेन सर्व-
ेषामाधिपत्यांश्चै त्वन्नाः । अत एवान्योन्याभिमते हिता न तु
विरुद्धचेष्टाः ॥ ५८ ॥ तेषां प्रत्येकं चरित्रभेदकल्पनामाह—
तेषामित्यादिना ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ शैलेन्द्रस्य शिरः

क्रौञ्चद्वीपे हेमपुरे सप्तद्वीपविबर्धिते ।
 प्रवृत्तो वाजिमैवेन कश्चिद्यष्टं दिनाष्टकम् ॥ ६३
 उद्यतः शाल्मलिद्वीपे कश्चिद्वीपान्तचारिणा ।
 योद्धुमुद्धुतदिग्दन्तिदन्ताकृष्टकुलाचलः ॥ ६४
 गोमेदद्वीपकः कश्चित्पुष्करद्वीपराट् सुताम् ।
 समानेतुं वशाद्याति कषत्सेनोऽष्टमोऽभवत् ॥ ६५
 पुष्करद्वीपकः कश्चिल्लोकालोकाद्रिभूभुजः ।
 दूतेन सह निर्यातो धनभूमिदिदृक्षया ॥ ६६
 प्रत्येकमित्यमेतेषां द्वीपद्वीपाधिनाथताम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्म० ताप० द्वीपसप्तकाष्टकवर्णनं नाम त्र्यशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८३ ॥

कुर्वतां स्वगृहाकाशे दृष्ट्वा स्वप्रतिभोक्षिताम् ॥ ६७
 त्यक्ताभिमानिकाकारा द्विविधास्ते वरास्ततः ।
 तत्संविद्धिर्गृहेष्वन्तरेकतां खानि खैरिव ॥ ६८
 यास्यन्ति ते भविष्यन्ति संप्राप्ताभिमताश्चिरम् ।
 सप्तद्वीपेष्वरास्तुष्टा नन्वष्टावपि तुष्टिमत् ॥ ६९
 इत्येते प्रविकसितोदितक्रियार्थाः
 प्राप्स्यन्ति प्रविततबुद्धयस्तपोभिः ।
 अन्तर्यत्स्फुरति विदस्तदेव बाह्ये
 नासं कैस्तदुचितकर्मभिः किलेति ॥ ७०

चतुरशीत्यधिकशततमः सर्गः १८४

कुन्ददन्त उवाच ।

इत्युक्तवानसौ पृष्टः कदम्बतलतापसः ।
 सप्तद्वीपा भुवोऽष्टौ ताः कथं भाता गृहेष्विति ॥ १

कदम्बतापस उवाच ।

चिद्धातुरीहगोवायं यदेष व्योमरूप्यपि ।
 सर्वगो यत्र यत्रास्तं तत्र तत्रात्मनि स्वयम् ॥ २
 आत्मानमित्थं त्रैलोक्यरूपेणान्येन वा निजम् ।
 परिपश्यति रूपं स्वमत्यजमेव आत्मकम् ॥ ३

कुन्ददन्त उवाच ।

एकस्मिन्विमले शान्ते शिवे परमकारणे ।
 कथं स्वभावसंसिद्धा नानाता वास्तवी स्थिता ॥ ४

कदम्बतापस उवाच ।

सर्वं शान्तं चिदाकाशं नानास्तीह न किञ्चन ।
 दृश्यमानमपि स्फारमावर्तात्मा यथाम्भसि ॥ ५

सिम्हरं तद्गतायाः पुर्वाः क्रीडासरोवरे ॥ ६२ ॥ सप्तद्वीपाहृत-
 महाभिर्भिर्बिर्बिर्धिते ॥ ६२ ॥ द्वीपान्तचारिणा राज्ञा सह योद्धु-
 मुद्यतः । उद्धुतं इत्पाटितैर्दिग्दन्तिदन्तैराकृष्टाः कुलाचला वर्ष-
 पर्वता येन तथाविधः सन् ॥ ६४ ॥ गोमेदद्वीपकस्तद्रसतिः ।
 समानेतुं जित्वा परिणेतुम् । वशात्कामवशात् । कषन्ती
 शत्रुदेशान्बाधमाना सेना यस्य । यः प्राग् भ्रातृणामष्टमोऽभवत्
 सः ॥ ६५ ॥ धनभूमिर्निधानस्थानं तदिदृक्षया ॥ ६६ ॥
 ॥ ६७ ॥ त्यक्तः आभिमानिकाकार आतिवाहिकदेहाकारेऽपि
 यैस्तथाविधाः सन्तस्त्रेषामष्टानां जीवसंविद्धिरेकतां यास्यन्तीति
 परेणान्वयः ॥ ६८ ॥ तुष्टिमत् राज्यं प्राप्येत्यर्थः ॥ ६९ ॥
 उक्तं संगृह्योपसंहरति—इतीति । इति उक्तप्रकारं सप्तद्वीपा-
 धिपत्यं तपोभिः प्रविकसितः पूर्वोदितवरः क्रियार्थो येषां
 तथाविधा एतेऽष्टौ भ्रातरः प्राप्स्यन्ति । विदः प्रत्यक्चैतन्यस्य
 अन्तर्हृदनिश्चयात्मना यत्स्फुरति तदेव बाह्ये तदुचिततपोज-
 पादिकर्मभिः कैर्नासम् । किलेति प्रसिद्धौ ॥ ७० ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे द्वीप-
 यो० वा० १८९

असत्स्वेषु पदार्थेषु पदार्था इति भान्ति यत् ।
 चित्तं स्वमसुषुतात्म तत्तस्याच्छं निजं वपुः ॥ ६
 सस्पन्दोऽपि हि निःस्पन्दः पर्वतोऽपि न पर्वतः ।
 यथा स्वप्नेषु चिद्धावः स्वभावोऽर्थगतस्तथा ॥ ७
 न स्वभावा न चैवार्थाः सन्ति सर्वात्मकोक्षिते ।
 सर्गादौ कश्चितं रूपं यद्यथा तत्तथा स्थितम् ॥ ८
 न च नाम परं रूपं क्वचनक्वचनात्मकम् ।
 द्रव्यात्मा चिच्च चिद्धोम स्थितमित्थं हि केवलम् ॥ ९
 एकैव चिद्यथा स्वप्ने सेनायां जनलक्षताम् ।
 गतेवाच्छैव क्वचति तथैवास्याः पदार्थता ॥ १०
 यत्स्वतः स्वात्मनि स्वच्छे चित्तं क्वचक्वायते ।
 तत्तेनैव तदाकारं जगदित्यनुभूयते ॥ ११
 असत्यपि यथा बह्नावुष्णसंविद्धि भासते ।
 संविन्मात्रात्मके व्योम्नि तथार्थः स्वस्वभासकः ॥ १२

सप्तकाष्टकवर्णनं नाम त्र्यशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८३ ॥

गृहस्यान्तर्जगन्त्यष्टौ संभवन्त्यपि कोटिशः ।

यतोऽप्रबुद्धचिन्मात्रं तथा भातीति वर्णयते ॥ १ ॥

गृहेषु अल्पावकाशे ताः प्रत्येकं पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तीणा
 भुवः कथं भाता इति मया पृष्टोऽसौ कदम्बतलतापस इति
 वक्ष्यमाणमुत्तरमुक्तवान् ॥ १ ॥ व्योमरूपी प्रपञ्चशून्योऽपि
 आत्मानं त्रैलोक्यरूपेण अन्येन सुषुप्ततुर्यरूपेण वा स्वं रूप-
 मत्यजदेव परिपश्यतीति द्वयोरन्वयः ॥ २ ॥ ३ ॥ एकत्र
 नानाता विरुद्धेति शङ्कार्थः ॥ ४ ॥ न वास्तवीयं नानाता किंतु
 भ्रान्तिरुक्ता । सा चैकस्मिन्नपि चन्द्रे द्वित्ववदविरुद्धेत्याशयेनो-
 त्तरमाह—सर्वमिति ॥ ५ ॥ स्वमसुषुप्तवद्विरुद्धतयथार्थस्वभा-
 वात्म निजमज्ञातं वपुः स्वरूपमेव ॥ ६ ॥ अतो न विरोध इति
 दर्शयति—सस्पन्द इति । स्वभावः सन्मात्रात्मा कल्पितार्थ-
 गतोऽपि तथैव बोध्य इत्यर्थः ॥ ७ ॥ सर्वात्मकस्य उचिते
 वास्तवे रूपे न सर्गादिस्वभावा नापि तत्कृता अर्थाः ॥ ८ ॥
 न च द्रव्यात्मनाप्यन्वि ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ स्वप्ने असत्यपि

असत्यपि यथा स्तम्भे स्वप्ने खे स्तम्भता विदः ।
 तथेवमस्या नानात्वमनन्यदपि चान्यवत् ॥ १३
 आदिसर्गं पदार्थत्वं तत्स्वभावाच्छमेव च ।
 चिद्योक्ता यद्यथा बुद्धं तत्तथाद्यापि विन्दते ॥ १४
 पुष्पे पत्रे फले स्तम्भे तरुरेव यथा ततः ।
 सर्वं सर्वत्र सर्वात्म परमेव तथाऽपरम् ॥ १५
 परमार्थाम्बराम्भोघावापः सर्गपरंपरा ।
 परमार्थमहाकाशे शून्यता सर्गसंविदः ॥ १६
 परमार्थश्च सर्गश्च पर्यायौ तरुवृक्षवत् ।
 बोधादेतदबोधास्तु द्वैतं दुःखाय केवलम् ॥ १७
 परमार्थो जगच्छेदमेकमित्येव निश्चयः ।
 अध्यात्मशास्त्रबोधेन भवेत्सैषा हि मुक्तता ॥ १८
 संकल्पस्य घपुर्ब्रह्म संकल्पकश्चिदाकृतेः ।
 तदेव जगतो रूपं तस्माद्ब्रह्मात्मकं जगत् ॥ १९
 यतो वाचो निवर्तन्ते न निवर्तन्त एव वा ।
 विधयः प्रतिषेधाश्च भावाभावदशस्तथा ॥ २०
 अमौनमौनं जीवारम यत्पाषाणवदासनम् ।
 यत्सदेवासदाभासं तद्ब्रह्माभिधमुच्यते ॥ २१
 सर्वस्मिन्नेकसुघने ब्रह्मण्येव निरामये ।
 का प्रवृत्तिर्निवृत्तिः का भावाभावादिवस्तुनः ॥ २२
 एकस्यामेव निद्रायां सुषुप्तस्वप्नविभ्रमाः ।
 यदा भान्त्यविचित्रायां चित्रा इव निरन्तराः ॥ २३
 एतस्यां चित्त्वसत्तायां तथा मूलकसर्गकाः ।

बहौ स्वप्नचिदेव यथा उष्णत्वं भासते ॥ १२ ॥ १३ ॥
 कथं तर्ह्यर्थक्रियानियतिस्तत्राह—आदिसर्गं इति ॥ १४ ॥
 तथा अपरं जगत् ॥ १५ ॥ सर्गसंविदः सर्गप्रतिभासाः ॥ १६ ॥
 ॥ १७ ॥ १८ ॥ कथमेकं तत्राह—संकल्पस्येति ॥ १९ ॥
 सर्वशब्दानां तन्मात्रनिष्ठत्वान्न निवर्तन्त एव वा ॥ २० ॥
 सदेवासदाभासम् । 'तदेजति तर्हजति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
 ॥ २१ ॥ प्रवृत्तिः सर्गः । निवृत्तिः प्रलयः ॥ २२ ॥ २३ ॥
 मूलका बीजभूताः प्रलयाः सर्गकाश्च ॥ २४ ॥ कथं भाति
 तदाह—द्रव्ये इति । यद्यथा दध्यादिद्रव्ये शर्करादिद्रव्यान्तरं
 श्लिष्टं श्लिष्टं सत् प्रत्येककार्यापेक्षया कार्यान्तरं रुचिपुष्टिपि-
 तोपशमादिकार्यान्तरमाक्षिपेत्तथा भूतानां प्राणिनामन्तःकरणे
 अभिव्यक्तं प्रमातृचित्तारं बाह्ये चक्षुरादिद्वारा निर्गल्य घटाद्या-
 कारवृत्तिश्लेषश्चिच्छिष्टं घटपटादि तत्तद्विषयान्तरधिष्ठानचिदावर-
 णभङ्गेन मिथश्चिपुटीस्फुरणमाक्षिपेदित्यर्थः ॥ २५ ॥ अत एव
 घटाद्यर्था अपि स्वाधिष्ठानचिदधीनसत्तास्फूर्तिक्त्वात्तत्सारमात्र-
 मित्याह—सर्वे इति । यथा सर्गादौ भान्ति तथा इदानीमपि
 भान्ति ॥ २६ ॥ स्थितिरपि तेषां यथासंवेदनमेव । निःस्पन्दचि-
 दधिष्ठानकत्वादेव सर्वा द्रव्यशक्तयोऽपि स्वाश्रयात् चलन्ति न
 हसन्ति चेत्याह—निःस्पन्दा इति । मनस्कारो मानसो द्वैता-

बहवो भान्त्यचित्रायां चित्रा इव निरन्तराः ॥ २४
 द्रव्ये द्रव्यान्तरं श्लिष्टं यत्कार्यान्तरमाक्षिपेत् ।
 तद्वदन्तस्तथाभूतचित्तारं स्फुरणं मिथः ॥ २५
 सर्वे पदार्थाश्चित्तारमात्रमप्रतिधाः सदा ।
 यथा भान्ति तथा भान्ति चिन्मात्रैकात्मतावशात् ॥ २६
 चिन्मात्रैकात्मसारत्वाद्यथासंवेदनं स्थिताः ।
 निःस्पन्दा निर्मनस्काराः स्फुरन्ति द्रव्यशक्तयः ॥ २७
 अविद्यमानमेवेदं दृश्यतेऽथानुभूयते ।
 जगत्स्वप्न इवाशेषं सरुद्रोपेन्द्रपद्मजम् ॥ २८
 विचित्राः खलु दृश्यन्ते चिज्जले स्पन्दरीतयः ।
 हर्षामर्षविषादोत्थजङ्गमस्थावरात्मनि ॥ २९
 स्वभावघाताधृतस्य जगज्जालचमत्कृतेः ।
 हा चिन्मरीचिपांश्वभ्रनीहारस्य विसारिता ॥ ३०
 यथा केशोण्डुकं व्योम्नि भाति व्यामलचक्षुषः ।
 तथैवेयं जगद्भ्रान्तिर्भात्यनात्मविदोऽम्बरे ॥ ३१
 यावत्संकल्पितं तावद्यथा संकल्पितं तथा ।
 यथा संकल्पनगरे कचतीदं जगत्तथा ॥ ३२
 संकल्पनगरे यावत्संकल्पसकला स्थितिः ।
 भवत्येवाप्यसद्रूपा सतीवानुभवे स्थिता ॥ ३३
 प्रवहत्येव नियतिर्नियतार्थप्रदायिनी ।
 स्थावरं जङ्गमं चैव तिष्ठत्येव यथाक्रमम् ॥ ३४
 जायते जङ्गमं जीवात्स्थावरं स्थावरादपि ।
 नियत्याधो बहृत्यम्बु गच्छत्यूर्ध्वमथानलः ॥ ३५

कारप्रहस्तद्रहिताः ॥ २७ ॥ इत्थं च जगत्प्रातिभासिकमेव प्रति-
 भासमात्राधीनसर्वस्वत्वादित्याशयेनाह—अविद्यमानमेवेति
 ॥ २८ ॥ खलु यतः स्वप्नदेव हर्षामर्षविषादोत्था विचित्राः
 स्पन्दरीतयो दृश्यन्ते ॥ २९ ॥ स्वभावः अज्ञातस्वरूपनिष्ठा
 विक्षेपशक्तिस्तन्मात्रेण वायुना आधृतस्य । जगज्जालाकारा
 चमत्कृतिर्यस्य तथाविधस्य, चिच्छिक्षणसत्त्वगुणात्मना प्रकाशेन
 मरीचेः, रजोगुणात्मना पांसुपटलस्य, तमोगुणात्मना आव-
 रणजाड्यप्राधान्येन अभ्रनीहारस्वरूपनभसि विसारिता विस्तार-
 शालिता । हा इति खेदे । क्रीदशजननमरणाद्यनर्थसहस्रको-
 व्यात्मना संपञ्चत्यर्थः । पांसुरेव पांसुः । 'तालव्या अपि
 दन्त्याश्च शम्भशूकरपांशवः' इति कोशप्रसिद्धेः ॥ ३० ॥ अना-
 त्मविदः अज्ञानाधृतचिद्वृष्टेः । अम्बरे स्वात्माकाशे ॥ ३१ ॥
 तस्याश्च कालप्रकारव्यवस्था संकल्पानुसारेणैवेत्याह—यावदिति ।
 यथा येन येन प्रकारेण ॥ ३२ ॥ दृष्टान्ते तां प्रकटयति—
 संकल्पनगरे इति । असद्रूपापि सतीव स्थिता ॥ ३३ ॥ सैव
 धातुः संकल्परूपा नियतिरथापि प्रवहत्येवऽपि प्रवहत्येव तथैव
 स्थावरादिप्राणिजातं यथाक्रमं नियतमेव तिष्ठति ॥ ३४ ॥ तेषां
 जन्मकर्मस्वभावादिभ्यवस्थापि तथैवेत्याह—जायते इति ।

वहन्ति देहयन्त्राणि ज्योतींषि प्रतपन्ति च ।
 वायवो नित्यगतयः स्थिताः शैलादयः स्थिराः ॥ ३६
 ज्योतिर्मयं विवृत्तं तु धारासाराम्बरीकृतम् ।
 युगसंबत्सराघात्म कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ३७
 भूतलैकान्तराण्यद्रिसंनिवेशः स्थितायते ।
 भावाभावप्रहोत्सर्गद्रव्यशक्तिश्च तिष्ठति ॥ ३८
 कुन्ददन्त उवाच ।

प्राग्दृष्टं स्मृतिमायाति तत्स्वसंकल्पनान्यतः ।
 भाति प्रथमसर्गे तु कस्य प्राग्दृष्टभासनम् ॥ ३९
 तापस उवाच ।

अपूर्वं दृश्यते सर्वं स्वप्ने स्वमरणं यथा ।
 प्राग्दृष्टं दृष्टमित्येव तत्रैवाभ्यासतः स्मृतिः ॥ ४०
 चित्त्वाधिष्ठोक्ति कचति जगत्संकल्पपत्तनम् ।
 न सन्नासदिदं तस्माद्भाताभातं यतः स्वतः ॥ ४१
 चित्प्रसादेन संकल्पस्वप्राद्यद्यानुभूयते ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्म० ता० कुन्ददन्तोपदेशो नाम चतुरशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमः सर्गः १८५

कुन्ददन्त उवाच ।

जरन्मुनिरपीत्युक्त्वा ध्यानमीलितलोचनः ।
 आसीदस्पन्दितप्राणमनाश्चित्र इवार्पितः ॥ १
 आवाभ्यां प्रणयोदारैः प्रार्थितोऽपि पुनःपुनः ।

जीवात्स्फुटजीवनाज्जमात् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ज्योतिर्मयं कालचक्रं दक्षिणायनात्मना विवृत्तं वर्षतीं धारासारव्यासाम्बरीकृतम् । तयैव नियत्या ॥ ३७ ॥ भूतले च द्वीपमेदैरेकान्तराणामब्धीनामद्रीणां च संनिवेशः स्थितवदाचरति स्थितायते ॥ ३८ ॥ नन्वस्मदादिसर्वजनव्यवहारो धातुसंकल्परूपनियत्या व्यवस्थितोऽस्तु । धातुः संकल्पव्यवस्थैव तु पूर्वानुभवजन्यसंस्कारातिरिक्तेवसंभवादादिसर्गे च पूर्वानुभवाप्रसिद्धेः कथं सिध्यतीति कुन्ददन्तः शङ्कते—प्राग्दृष्टमिति । तत्तत्सदनुसारिस्वसंकल्पमानि भवन्ति । अत एभ्यः स्वसंकल्पनेभ्यो नियतः सर्गो भाति । इदं तु द्वितीयादिकल्पसर्गे उपपद्यते । प्रथमसर्गे तु कस्य प्राक्सर्गभासनं प्रसिद्धम् । यं पृच्छेत्स्वयं वा स्मरेदित्यर्थः ॥ ३९ ॥ न स्मरणाधीनो धातुः संकल्पः किंतु दिव्यज्ञानेनातीतानागतसर्ववस्तुदर्शनाधीनः । 'स ऐक्षत लोकाणु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत' इत्यादिश्रुतेः । तस्मिन् क्षणे सर्वमतीतानागतं जगद्पूर्वमेव दृश्यते दृष्टानुसारिणी च विद्विष्वर्तरूपा सांफल्पिकी सृष्टिः प्रवर्तते । तत्रैवेदं मया प्राग्दृष्टमित्यप्यध्यस्तते क्वचिदिति तापसः समाधत्ते—अपूर्वमित्यादिना ॥ ४० ॥ यतः कदाचिद्भातं कदाचिद्भातम् ॥ ४१ ॥ दर्शनासामर्थ्ये हि स्मृतिः कल्प्येत ।

शुद्धं चिद्योम संकल्पपुरं मा स्मर्यतां कथम् ॥ ४२
 हर्षामर्षविनिर्मुक्तैर्दुःखेन च सुखेन च ।
 प्रकृतेनैव मार्गेण ब्रह्मैरिव गम्यते ॥ ४३
 निद्राव्यपगमे स्वप्नगरे यादृशं स्मृतौ ।
 चिद्योमात्म परं विद्धि तादृशं त्रिजगद्भ्रमम् ॥ ४४
 संविदाभासमात्रं यज्जगदित्यभिशब्दितम् ।
 तत्संविद्योम संशान्तं केवलं विद्धि नेतरत् ॥ ४५
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
 सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम् ॥ ४६
 यथेयं संसृतिर्ग्राही भवतो यद्भविष्यति ।
 यथा भानं च दृश्यस्य तदेतत्कथितं मया ॥ ४७
 उत्तिष्ठतं व्रजतमास्पदमहि पद्यं
 भृङ्गाविवाभिमतमाशु विधीयतां स्वम् ।
 तिष्ठामि दुःखमलमस्तसमाधिसंस्थं
 भूयः समाधिमहमङ्ग चिरं विशामि ॥ ४८

वाप्यैः संसारमविदन्न वचो दत्तवान्पुनः ॥ २
 आवां प्रदेशतस्तस्माच्चलित्वा मन्दमुत्सुकौ ।
 दिनैः कतिपयैः प्राप्तौ गृहं मुदितवान्धवम् ॥ ३

स्वप्ने कल्पनामात्रेण दर्शनसमर्थायाश्चितः स्मृतिकल्पनादर्शनादित्याह—चित्प्रसादेनेति ॥ ४२ ॥ अत एव गुणदोषाद्यस्मरणाद्धर्षामर्षरहितैस्तत्त्वज्ञैः कुलालचक्रवत्प्रारब्धवेगेनैव भ्रम्यत इत्याह—दृष्टेति ॥ ४३ ॥ बाधितस्मृतिश्च न स्मृतिः कित्त्वधिष्ठानमात्रपरिशेषदर्शनमित्याह—निद्रेति ॥ ४४ ॥ तत् संशान्तं व्योमेव तादृशं त्वं विद्धि ॥ ४५ ॥ यतश्चिदेव संशान्ता सर्वमित्याह—यस्मिन्सिद्धि ॥ ४६ ॥ तदेतत्सर्वं मया भवतः कथितमित्युपसंहारः ॥ ४७ ॥ अङ्ग हे द्विजां, युवां उत्तिष्ठतम् । अहि प्राप्तः पद्यं भृङ्गाविवा आस्पदं गृहं व्रजतम् । तत्राभिमतं सत्कर्म विधीयताम् । अहमिदानीमस्तसमाधिसंस्थमलमत्यन्तं दुःखं यथा स्यात्तथा तिष्ठामि । अतस्तत्परिहाराय भूयः अलं समाधिं विशान्तीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कुन्ददन्तोपदेशो नाम चतुरशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८४ ॥

तयोर्गृहागमस्तत्र आदृणां कमयाः क्षयः ।

कुन्ददन्तस्य रामास्या भोहोच्छिष्टिश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

अस्पन्दिते प्राणमनसौ यस्य ॥ १ ॥ प्रणयोदारैर्वाक्यैरावाभ्यां प्रार्थितोऽपि वचो न दत्तवान् । यतो वाक्कृत्युपरमात्संसारमविदन्ननुसंभवान् इत्यर्थः ॥ २ ॥ मुनिविबोगा-

अथ तत्रोत्सवं कृत्वा कथाः प्रोच्य चिरंतनीः ।

स्थितास्तावद्वयं यावत्सत्तापि भ्रातरोऽथ ते ॥ ४

क्रमेण विलयं प्राप्ताः प्रलयेष्वर्णवा इव ।

मुक्तोऽसौ मे सखैवैक एकार्णव इवाष्टकः ॥ ५

ततः कालेन सोऽप्यस्तं दिनान्तेऽर्क इवागतः ।

अहं दुःखपरीतात्मा परं वैधुर्यमागतः ॥ ६

ततोऽहं दुःखितो भूयः कदम्बतरुतापसम् ।

गतो दुःखोपघाताय तज्ज्ञानं प्रष्टुमादृतः ॥ ७

तत्र मासत्रयेणासौ समाधिविरतोऽभवत् ।

प्रणतेन मया पृष्ठः सच्चिदं प्रोक्तवानथ ॥ ८

कदम्बतापस उवाच ।

अहं समाधिविरतः स्थातुं शक्नोमि न क्षणम् ।

समाधिमेव प्रविशाम्यहमाशु कृतत्वरः ॥ ९

परमार्थोपदेशस्ते नाभ्यासेन विनानघ ।

लगत्यत्र परां युक्तिमिमां शृणु ततः कुरु ॥ १०

अयोध्यानाम पूरस्ति तत्रास्ति वसुधाधिपः ।

नाम्ना दशरथस्तस्य पुत्रो राम इति श्रुतः ॥ ११

सकाशं तत्र गच्छ त्वं तस्मै कुलगुरुः किल ।

वसिष्ठाख्यो मुनिश्रेष्ठः कथयिष्यति संसदि ॥ १२

मोक्षोपायकथां दिव्यां तां श्रुत्वा सुचिरं द्विज ।

विभ्रान्तिमेष्यसि परे पदेऽहमिव पावने ॥ १३

इत्युक्त्वा स समाधानरसायनमहार्णवम् ।

विवेशाहमिमं देशं त्वत्सकाशमुपागतः ॥ १४

एषोऽहमेतदृच्छं मे सर्वं कथितवानहम् ।

यथावृत्तं यथादृष्टं यथाश्रुतमखण्डितम् ॥ १५

श्रीराम उवाच ।

स कुन्ददन्त इत्यादिकथाकथनकोविदः ।

स्थितस्ततःप्रभृत्येव मत्समीपगतः सदा ॥ १६

स एष कुन्ददन्ताख्यो द्विजः पार्श्वं समास्थितः ।

श्रुतवान्संहितामेतां मोक्षोपायाभिधामिह ॥ १७

स एष कुन्ददन्ताख्यो मम पार्श्वगतो द्विजः ।

अद्य निःसंशयो जातो न वेति परिपृच्छयताम् ॥ १८

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

इत्युक्ते राघवेणाथ प्रोवाच वदतांवरः ।

स वसिष्ठो मुनिश्रेष्ठः कुन्ददन्तं विलोकयन् ॥ १९

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कुन्ददन्त द्विजवर कथ्यतां किं त्वयानघ ।

बुद्धं श्रुतवता ज्ञेयं मदुक्तं मोक्षदं परम् ॥ २०

कुन्ददन्त उवाच ।

सर्वसंशयविच्छेदि चेत एव जयाय मे ।

सर्वसंशयविच्छेदो ज्ञातं ज्ञेयमखण्डितम् ॥ २१

ज्ञातं ज्ञातव्यममलं दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।

प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं विश्रान्तोऽस्मि परे पदे ॥ २२

बुद्धेयं त्वदिदं सर्वं परमार्थघनं घनम् ।

अनन्येनात्मनो व्योम्नि जगद्रूपेण जृम्भितम् ॥ २३

सर्वात्मकतया सर्वरूपिणः सर्वेणात्मनः ।

सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदा संभवत्यलम् ॥ २४

संभवन्ति जगन्त्यन्तः सिद्धार्थकणकोटरे ।

न संभवन्ति च यथा ज्ञातमेतदशेषतः ॥ २५

गृहेऽन्तः संभवत्येव सप्तद्वीपा वसुंधरा ।

गेहं च शून्यमेवास्ते सत्यमेतदसंशयम् ॥ २६

यद्यद्यदा वस्तु यथोदितात्म

भातीह भूतैरनुभूयते च ।

तत्तत्तदा सर्वघनस्तथास्ते

ब्रह्मेत्थमाद्यन्तविमुक्तमस्ति ॥ २७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्म० ता० कुन्ददन्तप्रबोधो नाम पञ्चाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८५॥

दुस्तुकां ॥ ३ ॥ तत्र गृहे कुलदेवताराधनसुवासिनीप्राद्वान्-
भोजनाद्युत्सवं कृत्वा ॥ ४ ॥ प्रलयेषु प्रलयारम्भे द्वादशादित्य-

तापात्सप्तार्णवा इव ॥ ५ ॥ स मत्सखः अष्टमोऽपि । वैधुर्यं
सखिजनवियोगम् ॥ ६ ॥ तत् प्राक्तेनोक्तमान्मज्ञानम् ॥ ७ ॥

॥ ८ ॥ ९ ॥ इदानीं मया कृतोऽपि ते न लगति । परामन्यां
युक्तिं ज्ञानप्राप्त्युपायम् ॥ १० ॥ ११ ॥ मोक्षोपायकथां कथ-

यिष्यति ॥ १२ ॥ १३ ॥ त्वत्सकाशमिति रामं प्रत्युक्तिः ॥ १४ ॥

अखण्डितमखिलम् ॥ १५ ॥ १६ ॥ इह अस्यां समायाम्
॥ १७ ॥ एवं प्रश्नोपोद्घातमुपवर्ण्यं प्रष्टव्यांशमाह—स इति

॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ सर्वसंदेहविच्छेदो जात इति शेषः ।
यतोऽवश्यज्ञेयमखण्डितं प्रत्यग्भेदलक्षणखण्डितशून्यं ब्रह्मतत्त्वं

ज्ञातम् ॥ २१ ॥ ज्ञानमात्रेण मोहनिवृत्त्या ज्ञातव्यान्तरस्य

प्रष्टव्यान्तरस्य लब्धव्यान्तरस्य चापरिशेषात्कृतकृत्यतामाह—
ज्ञातमेति ॥२२॥ त्वत् त्वत् इयमात्मचित् मया बुद्धा । कथं

बुद्धा तदाह—इदं सर्वमित्यादि ॥ २३ ॥ २४ ॥ सिद्धार्थः
श्वेतसर्पपस्तरीयकणकोटरेऽपि अधिष्ठानचित्तः सर्वकल्पनाश-

क्तिसंभृतायाः सत्त्वासदन्तर्मायादृशा जगन्ति संभवन्ति । पर-

मार्थदृशा तु कापि न संभवन्ति च ॥ २५ ॥ २६ ॥ तत्र समायं
ब्रह्मतत्त्वं निष्कृष्योपसंहरति—यद्यदिति । सर्वघन आत्मैव

सर्वजनसार्वकालिकबोधविषयसर्वभावेनास्ते नाणुमात्रमपि ततो-

ऽन्यत्केनचित्कदाचिदप्यनुभूयत इति निष्कर्ष इति भावः
॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-

प्रकरणे उत्तरार्धे कुन्ददन्तप्रबोधो नाम पञ्चाशीत्यधिकशततमः
सर्गः ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमः सर्गः १८६

धीवाल्मीकिरवाच ।
 कुन्ददन्ते वदत्येवं वसिष्ठो भगवान्मुनिः ।
 उवाचेदमनिन्द्यात्मा परमार्थोचितं वचः ॥ १ ॥
 धीवसिष्ठ उवाच ।
 यत विज्ञानविश्रान्तिरस्य जाता महात्मनः ।
 करामलकवद्विश्वं ब्रह्मेति परिपश्यति ॥ २ ॥
 किलेदं भ्रान्तिमात्रात्म विश्वं ब्रह्मेति भात्यजम् ।
 भ्रान्तिर्ब्रह्मैव च ब्रह्म शान्तमेकमनामयम् ॥ ३ ॥
 यद्यथा येन यत्रास्ति यादृग्यावद्यदा यतः ।
 तत्तथा तेन तत्रास्ति तादृकतावत्सदा ततः ॥ ४ ॥
 शिवं शान्तमजं मौनममौनमजरं ततम् ।
 सुशून्याशून्यमभयमनादिनिधनं ध्रुवम् ॥ ५ ॥
 यस्या यस्यास्त्ववस्थायाः क्रियते संविदा भरः ।
 सा सा सहस्रशाखत्वमेति सेकैर्यथा लता ॥ ६ ॥
 परो ब्रह्माण्डमेवाणुश्चिद्व्योमोन्तःस्थितो यतः ।
 परमाणुरेव ब्रह्माण्डमन्तःस्थितजगद्यतः ॥ ७ ॥
 तस्माच्चिदाकाशमनादिमध्य-
 मखण्डितं सौम्यमिदं समस्तम् ।
 निर्घोणमस्तंगतजातियन्धो
 यथास्थितं तिष्ठ निरामयात्मा ॥ ८ ॥
 स्वयं दृश्यं स्वयं द्रष्टुं स्वयं चिस्त्वं स्वयं जडम् ।
 स्वयं किञ्चिन्न किञ्चिच्च ब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ॥ ९ ॥

सर्वं ब्रह्मेति सिद्धान्तो युक्तिभिः क्रियतेऽचलः ।

वरशापार्थसिद्धिश्च धातुः संकल्पवञ्चितः ॥ १ ॥

कुन्ददन्तवर्णितं मायाशबलब्रह्मतत्त्वं प्रथमतो दृढीकृत्य
 निर्मायं शुद्धं तद्वर्णयितुं धीवसिष्ठः प्रवृत्त इत्याह—कुन्ददन्ते
 इति ॥ १ ॥ बतेत्यनुकम्पायाम् । 'ज्ञात' इति पाठे ज्ञातेन साक्षा-
 त्कारज्ञानफलेन विज्ञानस्य शास्त्रश्रवणजन्यज्ञानस्य विश्रान्तिः
 पूर्णता । करामलकवदिति तस्यैव स्फुटमभिनयः ॥ २ ॥
 भ्रान्तिरन्यथाग्रहस्तन्मात्रात्मकं विश्वं ब्रह्मेत्यस्य भाति यतो
 भ्रान्तिरपि ब्रह्मैवेत्यस्य भाति ॥ ३ ॥ शबलब्रह्मनिष्कर्षदृशा-
 नेन यद्वर्णितं तदपि सम्यग्मेत्याह—यदिति ॥ ४ ॥ तच्च
 शुद्धाविरुद्धम् । मायाया विकारं विनैव वैचित्र्यप्रकटनादित्या-
 शयेनाह—ज्ञेयमिति ॥ ५ ॥ संविदा मायाशबलचिता ।
 भरः संकल्पातिशयः ॥ ६ ॥ ब्रह्माण्डमेव परोऽणुः परमाणुः ।
 एवं परमाणुरेव ब्रह्माण्डं यतोन्तःस्थितं जगत् ॥ ७ ॥ अग-
 द्रह्मैव चेद्यत्फलितं तदाह—तस्मादिति । अस्तंगतो जातिः
 शरीरादिवैचित्र्यं तद्रूपो बन्धो यस्य तथाविधः सन् यथास्थितं
 ब्रह्मैव भूत्वा तिष्ठ ॥ ८ ॥ व्यवहारे तु ब्रह्म स्वयमेव दृश्या-
 दिवेषेण संस्थितम् । परमार्थतस्तु तत् आत्मन्यद्वितीयस्व-

यथा यत्र जगत्येतत्स्वयं ब्रह्म स्वमात्मनि ।
 स्वरूपमजहृच्छान्तं यत्र संपद्यते तथा ॥ १० ॥
 ब्रह्म दृश्यमिति द्वैतं न कदाचिद्यथास्थितम् ।
 एकत्वमेतयोर्विद्धि शून्यत्वाकाशयोरिव ॥ ११ ॥
 दृश्यमेव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव दृश्यता ।
 एतन्न शान्तं नाऽशान्तं नानाकारं न चाकृतिः ॥ १२ ॥
 यादृग्प्रबोधे स्वप्नादिस्तादृग्देहो निराकृतिः ।
 संविन्मात्रात्मा प्रतिघः खानुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ १३ ॥
 संविन्मयो यथा जन्तुर्निद्रात्मास्ते जडोभवत् ।
 जडीभूता तथैवास्ते संविन्स्थावरनामिका ॥ १४ ॥
 स्थावरत्वाज्जडाश्चिस्त्वं जङ्गमात्म प्रयाति चित् ।
 जीवः सुषुप्तात्मा स्वप्नं जाग्रच्चैव जगच्छतैः ॥ १५ ॥
 आमोक्षमेषा जीवस्य भुव्यम्भस्यनिलेऽनले ।
 खे खात्ममिर्जगल्लक्षैः स्वप्नामैर्मांसते स्थितिः ॥ १६ ॥
 चिन्विनोति तथा जाड्यं नरो निद्रास्थितिर्यथा ।
 चिनोति जडतां चिस्त्वं न नाम जडतावशात् ॥ १७ ॥
 चिता वेदनवेत्तारं स्थावरं क्रियते वपुः ।
 चिता वेदनवेत्तारं जङ्गमं क्रियते वपुः ॥ १८ ॥
 यथा पुंसो नखाः पादावेकमेव शरीरकम् ।
 तथैकमेवाप्रतिघं चितः स्थावरजङ्गमम् ॥ १९ ॥
 आदिसर्गं स्वप्न इव यत्प्रथामागतं स्थितम् ।
 चितो रूपं जगदिति तत्तथैवान्त उच्यते ॥ २० ॥

प्रकाशानन्देकरसात्मन्येव संस्थितम् ॥ ९ ॥ यत्र यद्वासनया
 यथा संपद्यते तत्र तथा स्थितमित्यनुकर्षः ॥ १० ॥ ब्रह्म मायया
 दृश्यं जगत्संपन्नमित्येतावता द्वैतं न कदाचिन्मन्तव्यं, यतो यथा-
 स्थितमविकृतमेवास्ते ॥ ११ ॥ १२ ॥ प्रतीयमाना देहाद्याकृतिः
 कथमपलप्यते तत्राह—यादृगिति ॥ १३ ॥ संविदोऽपि
 जडस्थावरभावे दृष्टान्तमाह—संविन्मय इति ॥ १४ ॥
 तस्याः स्थावरभावोत्तरं जङ्गमभावे चिदभिव्यक्तौ दृष्टान्त-
 माह—स्थावरत्वादिति । यथा सुषुप्तात्मा जीवः स्वप्नं जाग्र-
 चैव जगच्छतकल्पनैर्गच्छति तद्वदित्यर्थः ॥ १५ ॥ कियत्कालं
 स्थावरजङ्गमादिभावस्थितिस्तत्राह—आमोक्षमिति ॥ १६ ॥
 चिनोति अध्यस्यति । तथाप्यस्याश्चिस्त्वंमन्याहृतमित्याह—
 चिनोतीति । अध्यस्तजडतावशाज्जडतां न चिनोति, वस्तुतो
 जडतां न नाम भजते ॥ १७ ॥ जाड्यवेदनवेत्तारं जीवं
 प्रति स्थावरं वपुः क्रियते तथा जङ्गममपि ॥ १८ ॥ तथा
 कृतेऽपि न चिद्भेदः किंतु महाचितः स्वाध्यस्तं सर्वमचेतवं
 चेतनं च नखपादादिवदवयवभूतमेवेत्याह—यथेति ॥ १९ ॥
 आदिसर्गं हिरण्यगर्भस्य प्राथमिकसर्गहेतोः संकल्पे यथा यद्रूपं
 प्रथामागतं तत्तथैवाधुनापि स्थितम् । एवं चिरात्पर्यन्तं

तच्चैवाप्रतिघं शान्तं यथास्थितमवस्थितम् ।
 न प्रथामगतं किञ्चिन्नासीदप्रथितं हितम् ॥ २१
 अयमादिरयं चान्तः सर्गस्येत्यवभासते ।
 चित्तः सुधननिद्रायाः सुषुप्तस्वप्नकोष्ठतः ॥ २२
 स्थित एको ह्यनाद्यन्तः परमार्थघनो यतः ।
 प्रलयस्थितिसर्गाणां न नामाप्यस्ति मां प्रति ॥ २३
 प्रलयस्थितिसर्गादि दृश्यमानं न विद्यते ।
 एतन्न चात्मनश्चान्यश्चित्रे चित्रवधूर्यथा ॥ २४
 कर्तव्यचित्रसेनासाद्यथा चित्राङ्ग भिद्यते ।
 नानाऽनानैव प्रतिघा चित्तस्त्वे सर्गता तथा ॥ २५
 विभागहीनयाप्येष भागश्चिद्धननिद्रया ।
 सुषुप्तान्मुष्वते मोक्ष इति स्वप्नस्तु चित्तकम् ॥ २६
 प्रलयोऽयमिधं सुधिरयं स्वप्नो घनस्त्वयम् ।
 भासोऽप्रतिघरूपस्य चित्सहस्ररुचेरिति ॥ २७
 चिन्निद्रायाः स्वप्नयो भागश्चित्तमुदाहृतम् ।
 तदेव मुच्यते भूतं जीवो देवासुरादिदृक् ॥ २८
 एष एव परिज्ञातः सुषुप्तिर्भवति स्वयम् ।
 यदा तदा मोक्ष इति प्रोच्यते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २९

श्रीराम उवाच ।

चित्तं देवासुराद्यारम् चिन्निद्रा स्वात्मदर्शनम् ।
 कियत्प्रमाणं भगवन्कथमस्योदरे जगत् ॥ ३०

स्थितमपि चिन्मयत्वादप्रतिघं शान्तमित्यादि तदपवादेन सर्ग-
 स्यान्त उच्यते इति परेषान्वयः ॥ २० ॥ यतो नासीदतः
 अप्रथितं कदापीत्येव हितम् ॥ २१ ॥ एवं सर्गमात्रस्य
 त्रैकालिकात्पर्ये आद्यन्तकल्पनापि सिद्ध्यैवेत्याह—अयमिति ।
 यथा स्वप्नप्रपञ्चस्य सुषुप्ततादिप्रबोधान्ततापि निद्रा कोष्ठान्तरेव
 कल्प्यते न प्रबोधकोष्ठान्तस्तद्दित्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्कृतस्त-
 त्राह—स्थित इति । मां प्रशुद्धं प्रति नामापि नास्ति दूरे
 रूपमित्यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥ यथा चित्रकृता कर्तव्या चित्र-
 सेना अस्मात्तद्विस्थाचित्राङ्ग भिद्यते तथा प्रतिघा मूर्ता सर्ग-
 तापि स्रष्टृचित्तस्त्वे नानाप्यनानैव ॥ २५ ॥ विभागहीनयापि
 चिद्धननिद्रया अविद्यया सुषुप्तादेवावरणाद्वास्तवस्वरूपभूतोऽपि
 मोक्ष इति प्रसिद्धो भागो मुच्यते चोर्यते अपल्प्यते । तु
 प्रत्युत चित्तकं भूत्वा एष जाग्रद्भागः स्वप्नश्च प्रदर्शयते इति
 शेषः । 'सुषुप्तास्तोयते मोक्षः' इति पाठे तु सोद्यते श्रवणमन-
 नाद्युद्योगसहिते पुरुषे मोक्ष इति विभागः प्रदर्शयते । अन्वस्मिस्तु
 चित्तकं भूत्वा द्विविधः स्वप्नः प्रदर्शयते इति व्याख्येयम् ॥ २६ ॥
 घनो जापरः प्रज्ञानघनतारूपसुषुप्तिकस्य चित्सहस्ररुचेरात्म-
 सूर्यस्य इति एवंप्रकारा भासः प्रकाशमेदाः ॥ २७ ॥ तत्र य
 उद्भूतवासवात्मा स्वप्नभागः स एव उपाध्यंशप्राधान्येन चित्तं
 चिदंशप्राधान्येन जीवः स एव देवासुरमनुष्याद्यधिकारिणारी-
 रदृक् संस्वत्त्वज्ञानेन निद्रां विधूय मुच्यते ॥ २८ ॥ तदेवाह—
 एष एवेति । चतुर्थपञ्चमभूमिकयोः परिज्ञातः षष्ठभूमिकायां

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

विद्धि चित्तं नरं देवमसुरं स्यावरं स्त्रियम् ।
 नागं नगं पिशाचादि खगकीटादिराक्षसम् ॥ ३१
 प्रमाणं तस्य चानन्तं विद्धि तद्यत्र रेणुताम् ।
 आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगद्याति सहस्रशः ॥ ३२
 यदेतदादित्यपथादूर्ध्वं संयाति वेदनम् ।
 एतच्चित्तं भूतमेतदपर्यन्तामलाकृति ॥ ३३
 एतदुग्रं चित्तो रूपमस्यान्तर्भुवनर्द्धयः ।
 यदायान्ति तदा सर्गश्चित्तादागत उच्यते ॥ ३४
 चित्तमेव विदुर्जीवं तदाद्यन्तविवर्जितम् ।
 खं घटेष्विव देहेषु चास्ते नास्ते तदिच्छया ॥ ३५
 निम्नोन्नतान्भुवो भागान् गृह्णाति च जहाति च ।
 सरित्प्रवाहोऽङ्ग यथा शरीराणि तथा मनः ॥ ३६
 अस्य त्वात्मपरिज्ञानादेष देहादिसंभ्रमः ।
 शाम्यत्याश्वयबोधेन मरुवाःप्रत्ययो यथा ॥ ३७
 जगत्यन्तरणुर्यत्र तत्प्रमाणं हि चेतसः ।
 सदेव च पुमांस्तस्मात्पुंसामन्तःस्थितं जगत् ॥ ३८
 यावत्किञ्चिदिदं दृश्यं तच्चित्तं स्वप्नभूष्विव ।
 तदेव च पुमांस्तस्मात्को मेदो जगदात्मनोः ॥ ३९
 चिदेवायं पदाथौघो नास्त्यन्यस्मिन्पदार्थता ।
 व्यतिरिक्ता स्वप्न इव हेङ्गीव कटकदिता ॥ ४०

सुषुप्तिर्भवति । सप्तमभूमिकायां मोक्ष इति प्रोच्यते ॥ २९ ॥
 चित्तं देवासुरादिभेदेन कियत्प्रमाणं कियत्संस्थानं च भवति
 चिन्निद्रा तस्योदरे जगच्च कियत्प्रमाणं कियत्कालं भवतीति
 प्रश्नार्थः ॥ ३० ॥ तत्रायस्योत्तरमाह—विद्धीत्यादिना ॥ ३१ ॥
 रेणुतां परमाणुतामवधीकृत्य ॥ ३२ ॥ वैपुन्योत्कर्षमप्यनुभव-
 मारोहयति—यदेतदिति । ऊर्ध्वं चक्षुःश्रेणो यदेतदादित्य-
 पथादूर्ध्वदेशे ध्रुवान्धकारादिप्रदेशेऽपि चाक्षुषं वेदनं संयाति
 तदेतान्तप्रमाणं भूतं चित्तमपर्यन्तममलाकृति च सर्वानुभव-
 सिद्धमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ दुःसहसंसारदुःखबहुलत्वादुग्रम् ।
 अस्मैव समष्ट्यात्मनोऽन्तर्भुवनर्द्धयो यदा ब्रह्माण्डादिकल्पनया
 आयान्ति तदा सर्गः स चास्माभिश्चित्तादागत इत्युच्यते ॥ ३४ ॥
 आद्यन्तविवर्जितं विभु । अत एव सर्वदेहेषु आस्ते व्यष्टिरूपेण
 देहादुत्क्रमणाघातो च धातुरिच्छयेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ तत्र शरी-
 रग्रहणत्यागयोर्दृष्टान्तमाह—निम्नोत्ति । हे अङ्ग ॥ ३६ ॥ ३७ ॥
 एवं सर्वजगद्भित्तस्य मनसः परमाणुरूपतैवेत्याह—जगतीति ।
 यत्र जालसूर्यमरीच्यादौ सर्वतः सूक्ष्मोऽणुर्यत्प्रमाणः प्रसिद्ध-
 स्तत्तसः प्रमाणं परिमाणम् । तदेव च पुमान् जीवः ।
 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स
 विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' इति श्रुतेरिति भावः ॥ ३८ ॥
 एवं च जीवजगद्भेदोऽप्यपमृष्ट इत्याह—यावदिति ॥ ३९ ॥
 जीवजगदभेदे चिन्मात्रतापि जगतः सिद्धेत्याह—चिदेवेति ।
 अन्यस्मिन्निद्राभ्युपगम्यमाने सत्तास्फुरणयोरकाभादकीक-

यथैकदेशे सर्वत्र स्फुरन्त्यापोऽम्बुधौ पृथक् ।
 ब्रह्मण्यनन्या नित्यस्थाश्चितो दृश्यात्मिकास्तथा ॥४१॥
 यथा द्रवत्वमम्बोधावापो जठरकोशगाः ।
 स्फुरन्त्येवं विदोऽनन्याः पदार्थोधास्तथापरे ॥ ४२॥
 यथास्थितजगच्छालभञ्जिकाकाशरूपधृक् ।
 चित्तस्तम्भोयमपस्पन्दः स्थित आद्यन्तवर्जितः ॥ ४३॥
 यथास्थितमिदं विभ्रं संविद्योन्नि व्यवस्थितम् ।
 स्वरूपमत्यजच्छान्तं स्वप्नभूमाधिवाखिलम् ॥ ४४॥
 समता सत्यता सत्ता चैकता निर्विकारिता ।
 आधाराधेयतान्योन्यं चैतयोर्विभ्रसंविदोः ॥ ४५॥
 स्वप्नसंकल्पसंसारवरशापदशाभिह ।
 सरोब्धिसरिदम्बूनामिवान्यत्वं न वाथवा ॥ ४६॥
 श्रीराम उवाच ।
 वरशापार्थसंविता कार्यकारणता कथम् ।
 उपादानं विना कार्यं नास्त्येव किल कथ्यताम् ॥४७॥
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 स्ववदातत्रिदाकाशकचनं जगदुच्यते ।
 स्फुरणे पयसाम्बधावावर्तचलनं यथा ॥ ४८॥
 ध्वनन्तोऽब्धिजलानीव भान्ति भावाश्चिदात्मकाः ।
 संकल्पादीनि नामानि तेषामाहुर्मनीषिणः ॥ ४९॥
 कालेनाभ्यासयोगेन विचारेण समेन च ।

तापस्या व्यतिरिक्ता पदार्थतैव नास्ति न सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४० ॥
 यथा अम्बुधिलक्षणे एकदेशे एकीभूय स्थिता एवापः पृथक्
 स्फुरन्ति तद्वद्ब्रह्मण्यपि दृश्यात्मिकास्ता इत्यर्थः ॥ ४१ ॥
 अनन्यत्वे तद्भवत्वदृष्टान्तमाह—यथेति ॥ ४२ ॥ एवं च
 यथास्थितजगच्छक्षणः शालभञ्जिकानां यदाकाशरूपमात्यन्तिक-
 शून्यता तद्रूपधृक् चित्तस्तम्भ एव निस्पन्दोऽचलः स्थितः
 ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ कथं शान्तं कथं च स्वरूपमत्यजस्तदाह—
 समतेति । पञ्चभिः प्रकारैर्भेदाविभावनाच्छान्तमाधाराधेय-
 भावेन स्तम्भशालभञ्जिकावद्यवहारे ईषद्वेदप्रतिभासात्स्वरूपम-
 त्यजदित्यर्थः ॥ ४५ ॥ तत्र प्रातिभासिको भेदो वस्तुतस्तु
 तदभाव इत्याह—स्वप्नेति । वरशापाभ्यां नन्दिनहुषयोर्देव-
 सर्पभावप्रतिभासदशाभिव व्यवहारसमर्थमन्यत्वं परमार्थतस्तु
 न वा ॥ ४६ ॥ नन्दिनो मनुष्यशरीरे देवशरीरोपादानं चन्द्रा-
 मृतभागो नास्ति एवं चन्द्रामृतपरिणामे नहुषस्य देव-
 शरीरे सर्पशरीरोपादानं तदण्डादि नास्ति । उपादानं विना
 लोके कार्यं च क्वापि नास्ति तत्रोभयत्र कथं देवसर्पशरी-
 रसिद्धिरिति रामप्रश्नार्थः ॥ ४७ ॥ निरावरणविज्ञानस्य
 भगवतो रुद्रस्यागस्त्यादीनां च सत्यसंकल्पावच्छिन्ना चिदेव
 सुरसर्पशरीरात्मना तत्र विवर्तत इति विवर्तवादेनास्था-
 स्नेपस्य प्रसर इत्युत्तरं वसिष्ठो वक्तुं भूमिकां रचयति—
 स्ववदातत्रिदाकाशकचनं जगदुच्यते । स्ववदातस्तत्त्वज्ञानविमृष्टत्वादिनिर्विको
 यधिदाकाशस्तस्य सत्यसंकल्पानुसारि कचनं तदित्यसङ्गमयो-

जातेर्वा सात्त्विकत्वेन सात्त्विकेनामलात्मना ॥ ५०
 सम्यग्ज्ञानवतो ह्यस्य यथा भूतार्थदर्शिनः ।
 बुद्धिर्भवति चिन्मात्ररूपा द्वैतैक्यवर्जिता ॥ ५१
 निरावरणविज्ञानमयी चिद्ब्रह्मरूपिणी ।
 संवित्प्रकाशमात्रैकदेहादेहविवर्जिता ॥ ५२
 सोऽयं पश्यत्यशेषेण यावत्संकल्पमात्रकम् ।
 स्वमात्मकचनं शान्तमनन्यत्परमार्थतः ॥ ५३
 अस्या इदं हि संकल्पमात्रमेवाखिलं जगत् ।
 यथा संकल्पनगरं यथा स्वप्नमहापुरम् ॥ ५४
 आत्मा स्वसंकल्पवरः स्ववदातो यथा यथा ।
 यद्यथा संकल्पयति तथा भवति तस्य तत् ॥ ५५
 संकल्पनगरे बालः शिलाप्रोदुयनं यथा ।
 सत्यं वेत्यनुभूयाशु स्वविधेयनियन्त्रणम् ॥ ५६
 स्वसंकल्पात्मभूतेऽस्मिन्परमात्मा जगन्नये ।
 वरशापादिकं सत्यं वेत्यनन्यत्पथात्मनः ॥ ५७
 स्वसंकल्पपुरे तैलं यथा सिद्ध्यति लैकतात् ।
 कल्पनात्सर्गसंकल्पैर्वरादीह तथात्मनः ॥ ५८
 अनिरावरणज्ञतेर्यतः शान्ता न मेदधीः ।
 ततः संकल्पनाद्वैताद्वराद्यस्य न सिद्ध्यति ॥ ५९
 या यथा कलना रूढा तावत्साद्यापि संस्थिता ।
 न परावर्तिता यावद्यज्ञात्कल्पनयान्यथा ॥ ६०

च्यते ॥ ४८ ॥ विधातुः स्वात्मचित्तिजगद्भावाधिदात्मका
 एवाकस्माद्भान्ति तेषां भानानां 'सोऽकामयत', 'तदैक्यत'
 'समरूपतां यावापृथिवी' इत्यादिभ्रुतयो मनीषिणः ऋषयश्च
 संकल्पाधीनि नामान्याहुः ॥ ४९ ॥ तत्र निरावरणविज्ञानानां
 यद्भावाथस्फुरणं स एव सत्यसंकल्प इति दर्शयितुं तादृशवि-
 ज्ञानकारणान्याह—कालेनेत्यादिना । कालेन कर्कष्यादेः ।
 समेन शत्रुमित्रादिषु समदर्शनेन । देवानां तु जातेः सात्त्विक-
 कत्वेन ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ सोऽयं निरावरणविज्ञानः
 पुरुषो यावत्संकल्पमात्रं पश्यति तत्सर्वं परमार्थतः अनन्य-
 त्पश्यतीति तत्संकल्पस्य सत्यतायामुपपत्तिः ॥ ५३ ॥ अस्य आ
 इदमिति छेदः । अस्यैवविधस्य हिरण्यगर्भस्य आसमन्ताद्भूय-
 मानमिदं जगत् संकल्पमात्रमेवेत्यर्थः ॥ ५४ ॥ एवमन्योऽपि
 स्वसंकल्पवरो निरावरणात्मैवेति यथा यथा यत्संकल्पमात्रं
 पश्यति तत्तथा तथा भवति ॥ ५५ ॥ स्वविधेयं स्वाधीनं नियन्त्रणं
 नियमनं यत्र ॥ ५६ ॥ तत्र वरशापात्मकं यत्फलं तत् हिर-
 ण्यगर्भाद्यनिरावरणविज्ञानात्मा आत्मनोऽनन्यत्सत्त्वं वेति ॥ ५७ ॥
 जगतश्च तदीयसंकल्पात्मकत्वात्स्वसंकल्पपुरे बालस्य सिकता-
 भ्यस्तैलमिव हिरण्यगर्भाद्यात्मनोऽपि वरशापात्सर्षो विरुपादा-
 नोऽपि सिद्ध्यति ॥ ५८ ॥ निरावरणेति विशेषणस्य प्रयोजनं
 दर्शयति—अनिरावरणेति । अस्य अज्ञपुरुषस्य वरादि न
 सिद्ध्यति ॥ ५९ ॥ निरावरणज्ञानानां कल्पना तादृशकल्पनान्त-

ब्रह्मण्यवयवोन्मुक्ते द्वितैकत्वे तथा स्थिरे ।
 यथा सावयवे तस्ये विचित्रावयवक्रमः ॥ ६१ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 अनिरावरणाज्ञानात्केवलं धर्मचारिणः ।
 शापादीन्संप्रयच्छन्ति यथा ब्रह्मस्तथा वद ॥ ६२ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 संकल्पयति यन्नाम सर्गादौ ब्रह्म ब्रह्मणि ।
 तत्तदेवानुभवति यस्मात्तत्रास्ति नेतरत् ॥ ६३ ॥
 ब्रह्म वेत्ति यदात्मानं स ब्रह्मायं प्रजापतिः ।
 स च नो ब्रह्मणो भिन्नं द्रवत्वमिव वारिणः ॥ ६४ ॥
 संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः ।
 तत्तदेवाशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत् ॥ ६५ ॥
 निराधारं निरालम्बं व्योमात्म व्योम्नि भासते ।
 दुर्बलेरिव केशोण्डं दृष्टमुक्तावलीष च ॥ ६६ ॥
 संकल्पिताः प्रजास्तेन धर्मो दानं तपो गुणाः ।
 वेदाः शास्त्राणि भूतानि पञ्च ज्ञानोपदेशनाः ॥ ६७ ॥
 तपस्विनोऽथ वादैश्च यद्भूयुरधिलम्बितम् ।
 यच्चद्वेदविदस्तस्यादिति तेनाथ कल्पितम् ॥ ६८ ॥
 इदं चिद्ब्रह्मच्छिद्रं खं वायुश्लेष्टाग्निरुष्णता ।
 द्रवोऽम्भः कठिनं भूमिरिति तेनाथ कल्पिताः ॥ ६९ ॥
 चिद्भातुरीदृशो वासौ यद्यत्स्वात्मापि चेतति ।

रोदयपर्यन्तं न निवर्तत इत्याह—येति ॥ ६० ॥ निरवयवे
 निरावरणज्ञानात्मनि तद्विरुद्धवरशापादिकल्पना कथं तिष्ठति
 तत्राह—ब्रह्मणीति ॥ ६१ ॥ तर्ह्यनिरावरणज्ञानानां केवलो-
 धतापसानां वरशापादि मोघं स्यादित्याशयेन रामः पृच्छति—
 अनिरावरणेति ॥ ६२ ॥ तदीयवरशापादेरपि सत्यतास्त्विति
 सर्गादौ धातुः संकल्पादेव न तन्मोघतेत्युत्तरं वक्तुं भूमिकां
 वसिष्ठो रचयति—संकल्पेत्यादिना । इतरत् तत्प्रतिबन्धकं
 नास्ति ॥ ६३ ॥ धातुस्तु सत्यसंकल्पता सत्यब्रह्मात्मवेदितृ-
 त्वादेव सिद्धेत्याशयेनाह—ब्रह्मेति । स प्रजापतिर्धाता यद्य-
 स्मात्कारणाद्ब्रह्म वेत्ति तस्मादेतोरयं ब्रह्मैव । 'तद्यो यो देवानां
 प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ६४ ॥
 ॥ ६५ ॥ कीदृशं तत्कल्पनं तदाह—निराधारमिति ॥ ६६ ॥
 तेन प्रजापतिना । चत्वारो वेदाः स्मृतयश्चेति पञ्च । 'त्रयी
 सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवम्' इति वा पञ्च । ज्ञानोपदे-
 शनाः । षण्ण्ताद्युच् ॥ ६७ ॥ अथ तेन प्रजापतिना इति
 कल्पितं संकल्पितम् । किमिति । वेदविदस्तपस्विनो वादैश्च-
 कारात्सहजवृत्त्या वा यद्यद्भूयस्तत्तदवश्यं स्यादिति ॥ ६८ ॥
 एवं सर्ववस्तुस्वभावमेदा अपि तेनैव कल्पिता इत्याह—
 इदमिति । इदं ब्रह्म चिज्जडव्यायुत्तस्वभावम् । खं छिद्रस्वभा-
 वम् । वायुश्लेष्टस्वभावः । अग्निरुष्णतास्वभाव इत्यादि ॥ ६९ ॥
 एवमियं सर्वा कल्पना प्रजापतिवेषस्य चिद्भातोरेव कल्पने-

तत्तथानुभवत्याशु त्वमहं स इवाखिलम् ॥ ७० ॥
 यद्यथा वेत्ति चिद्योम तत्तथा तद्भवत्यलम् ।
 स्वप्ने त्वमहमादीव सदात्माप्यसदात्मकम् ॥ ७१ ॥
 शिलानृतं यथा सत्यं संकल्पनगरे तथा ।
 जगत्संकल्पनगरे सत्यं ब्रह्मण ईप्सितम् ॥ ७२ ॥
 नित्स्वभावेन शुद्धेन यद्बुद्धं यच्च यादृशम् ।
 तदशुद्धोऽन्यथा कर्तुं न शक्तः कीटको यथा ॥ ७३ ॥
 अभ्यस्तं बहुलं संवित्पश्यतीतरदल्पकम् ।
 स्वप्ने जाग्रत्स्वरूपे च धर्तमानेऽखिलं च सत् ॥ ७४ ॥
 सदा चिद्योम चिद्योमि कचदेकमिदं निजम् ।
 द्रष्टृदृश्यात्मकं रूपं पश्यदाभाति नेतरत् ॥ ७५ ॥
 एकं द्रष्टा च दृश्यं च विभ्रमः सर्वगं यतः ।
 तस्माद्यथेष्टं यद्यत्र दृष्टं तत्रात्र सत्सदा ॥ ७६ ॥
 वाय्वङ्गस्पन्दनवज्जलाङ्गद्रवभाववत् ।
 यथा ब्रह्मणि ब्रह्मत्वं तथाजस्याङ्गं जगत् ॥ ७७ ॥
 ब्रह्मैवाहं विराडात्मा विराडात्मवपुर्जगत् ।
 मेदो न ब्रह्मजगतोः शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥ ७८ ॥
 यथा प्रपाते पयसो विचित्राः कणपङ्कयः ।
 विचित्रदेशकालान्ता निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ ७९ ॥
 निपत्यैवैकयाऽऽकल्पं मनोबुद्ध्यादिवर्जिताः ।
 आत्मन्येवात्मनो भान्ति तथा या ब्रह्मसंविदः ॥ ८० ॥

त्याह—चिद्भातुरिति । अनुभवति सत्यसंकल्पत्वादिति भावः
 ॥ ७० ॥ ७१ ॥ तत्र सदात्मतां दृष्टान्तेन स्फुटयति—
 शिलेति । ब्रह्मणः प्रजापतेरधिकारप्रारब्धभोगायेप्सितम्
 ॥ ७२ ॥ वरसंकल्पजं वरशापादिसंकल्पेन तद्विरुद्धेन जनैः कुतो
 नान्यथा क्रियते तत्राह—चित्स्वभावेनेति ॥ ७३ ॥ अशु-
 द्धानामस्वतन्त्रकल्पनाभ्यामदाकार्येदपि न तद्विरुद्धकल्पनस्वा-
 तन्त्र्यमित्याशयेनाह—अभ्यस्तमिति । शृङ्खलाबद्धोऽहमिति
 दृढतरजाग्रत्संस्कारयतः स्वप्नेऽपि शृङ्खलाबन्धपारतन्त्र्यस्यैवा-
 नुभवादिति भावः ॥ ७४ ॥ एवं कल्पितत्रिपुटीवेषेण कचनेऽपि
 चित उदासीनसाक्षिस्वभावेनापि सदैव कचनमस्त्येवेत्याह—
 सदैविति । द्रष्टृदृश्यग्रहणं त्रिपुट्युपलक्षणम् ॥ ७५ ॥ साक्षि-
 चित्त्रिपुटीव्याप्तिबलादेव तत्सत्तासंपादकत्वमित्याह—एक-
 मिति । एकचित्सत्तोपजीवित्वादेकम् ॥ ७६ ॥ धातृसाक्ष्य-
 धीनमत्तास्फूर्तिकत्वात्तद्भगवतमेवेदं जगदिति सदृष्टान्तमाह—
 वाचिविति । ब्रह्मत्वं जगदाकारवृंहणहेतुमायाशक्तिमत्त्वं च
 यथा तथेत्यर्थः । अजस्य विराजः ॥ ७७ ॥ पूर्वं ब्रह्मण्यभ्यस्तं
 जगदित्यराकृद्दुकमिदानीं कथमजस्याङ्गमित्युच्यते तत्राह—
 ब्रह्मैवेति ॥ ७८ ॥ प्रपाते पर्वताप्राद्ब्रह्मादीनामथः पतनस्थाने
 ॥ ७९ ॥ एकयैव धारया आकल्पं निपस्य कणसहस्रकोटिमे-
 दविभक्ताः पुनरेकतामापद्य आत्मनः स्वस्यैकप्रवाहात्मन्येव
 भान्ति तथा या विचित्रा ब्रह्मसंविदो जगन्नेदा अपि बोध्या

ताभिः स्वयं स्वदेहेषु बुद्ध्यादिपरिकल्पनाः ।
 कृत्वोररीकृता सर्गधीरङ्गिद्रवता यथा ॥ ८१
 तदेवं जगदित्यस्ति दुर्बोधेन मम त्विषम् ।
 अकारणकमद्वैतमजातं कर्म केवलम् ॥ ८२
 अस्तस्थितिः शरीरेऽस्मिन्थादृश्रूपानुभूयते ।
 उपलादौ जडा सत्ता तादृशी परमात्मनः ॥ ८३
 यथैकस्यां सुनिद्रायां सुषुप्तस्वप्नकौ स्थितौ ।
 तथैते सर्गसंहारभासौ ब्रह्मणि संस्थिते ॥ ८४
 सुषुप्तस्वप्नयोर्भातः प्रकाशतमसी यथा ।
 एकस्यामेव निद्रायां सर्गासर्गौ तथा परे ॥ ८५
 यथा नरोऽनुभवति निद्रायां दृषदः स्थितिम् ।

परमात्मानुभवति तथैतज्जडसंस्थितिम् ॥ ८६
 अङ्गुष्ठस्याथवाङ्गुल्या धाताद्यस्पर्शने सति ।
 योऽन्यच्चित्तस्यानुभवो दृषदादौ स आत्मनः ॥ ८७
 व्योमोपलजलादीनां यथा देहानुभूतयः ।
 तथास्माकमचित्तानामद्य नानानुभूतयः ॥ ८८
 काले कल्पेषु भान्त्येता यथाहोरात्रसंविदः ।
 तथाऽसंख्याः परे भान्ति सर्गसंहारसंविदः ॥ ८९
 आलोकरूपमननानुभवेषु च्छा-
 मुक्तात्मनि स्फुरति वारिघने स्वभावात् ।
 आवर्तवीचिवलयादि यथा तथायं
 शान्ते परे स्फुरति संहतिसर्गपूगः ॥ ९०

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगी० सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिपादनयोगोपदेशो नाम षडशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमः सर्गः १८७

श्रीराम उवाच ।

विचित्राणामसंख्यानां भावानां नियतिः कुतः ।
 कथं स्वभावो भावानामेकरूपः स्थितोऽचलः ॥ १
 सत्स्वसंख्येषु देवेषु सूर्य एवोप्रभाः कथम् ।
 दीर्घत्वमथ ह्रस्वत्वं दिवसानां तु किंकृतम् ॥ २

इत्यर्थः ॥ ८० ॥ एतावांस्तु विशेषः—यत्कणपङ्क्तयो मनोबुद्ध्यादि-
 वर्जिताः ताभिर्ब्रह्मसंविद्भिस्तु स्वदेहेषु स्वयं मनोबुद्ध्यादि-
 कल्पनाः कृत्वा सर्गधीरङ्गिद्रवता यथा ॥ ८१ ॥ मनो-
 बुद्ध्यादिकल्पनात्यागे तु अज्ञानमात्रं जगत्पर्यवस्यतीत्याशये-
 नाह—तदेवमिति । मनोबुद्ध्यादिविक्षिप्ताज्ञानलक्षणेन दुर्बोधेन ।
 मम दुर्बोधरहितस्य दृशा त्विदं मनोबुद्ध्यादि सर्वं जगत्कर्म काल-
 त्रयेऽप्यजातमेव ॥ ८२ ॥ अस्मिन् शरीरे अस्तस्थितिर्मृतावस्था
 यादृश्रूपा मनोबुद्ध्यादिरहितानुभूयते । उपलादौ जडा सत्ता च
 यादृश्रूपा तादृशी परमात्मनोपि मनोबुद्ध्यादिरहितैव निर्विक्षेप-
 सत्ता बोधेत्यर्थः ॥ ८३ ॥ एवं च सृष्टिप्रलयौ द्वावप्यज्ञान-
 निद्रावान्तरविशेषावेवेत्याह—यथेति ॥ ८४ ॥ ननु सर्गो सूर्यादि-
 प्रकाशास्तर्हि तमोरूपप्रलयविलक्षणाः कथं तत्राह—सुषुप्तेति
 ॥ ८५ ॥ चित्त्वेव जडाजडभेदकल्पनेऽपि स्वप्न एव दृश्यन्त
 इत्याह—यथेति ॥ ८६ ॥ चेतने जाज्यानुभवाप्रसिद्धिं वार-
 यति—अङ्गुष्ठस्येति । अन्यत्र विषयान्तरे व्यासकचित्तस्य
 पुरुषस्याङ्गुष्ठस्याङ्गुल्यन्तरस्य वा वातातपभूत्यादिस्पर्शने जाते
 सति यो जातोऽप्यजातप्रायोऽनुभवः प्रसिद्धः स तादृश एव
 दृषदादौ विद्यमानोऽप्यविद्यमानप्रायो जाज्यामित्यर्थः ॥ ८७ ॥
 एवं जडस्यापि चेतनभावानुभवप्रसिद्धिमाह—व्योमेति । देहे
 विराड्देहभावे तत्तदधिष्ठातृदेवतादेहभावे वा यथा अनुभूत-
 यस्तथा प्रलये अचित्तानामस्माकमद्य सर्गकाले सचित्तत्वलाभेना-
 नुभूतयः । 'तवास्माकम्' इति पाठे 'त्यदाशीनि सर्वैर्नित्यं'
 त्यदाशीनां मिथः सहोचौ अत्परं तच्छिष्यत इत्येकशेषाभाष-
 यो० वा० १९०

भीवसिष्ठ उवाच ।

काकतालीयवद्भानं यत्परे नियतं स्वतः ।
 यथास्थितं यथारूपं स्थिते तज्जगदुच्यते ॥ ३
 सर्वशक्तेर्यथा यद्यद्भाति तत्तत्तथैव सत् ।
 संवित्सारतया यायात्कथं भातमभातताम् ॥ ४

रछान्दसः ॥ ८८ ॥ अखण्डकाले ब्रह्मदिनभेदरूपेषु कल्पेषु
 यथास्माकमहोरात्रसंविदो भान्ति तथा असंख्याः परमात्मनि
 सर्गसंहारसंविदो भान्ति ॥ ८९ ॥ यथा वारिघने उदकैक-
 स्वभावे समुद्रे स्वभावादेव आवर्तवीचिवलयादि स्फुरति तथा
 आलोकनमालोकस्तद्विषयरूपं तन्मननं तस्य भोगलक्षणोऽनु-
 भवस्तदेषणा रागस्ततः पुनस्तत्प्राप्तीच्छेत्यादिविक्षेपविनिर्मुक्ता-
 त्मनि अत एव शान्ते परे पदे अयं संहतिसर्गपूगः स्वभावत
 एव स्फुरति न प्रमाणतस्तत्त्वदर्शने सतीत्यर्थः ॥ ९० ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहाराामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिपादनयोगोपदेशो नाम षडशीत्यधिक-
 शततमः सर्गः ॥ १८६ ॥

सर्वभावस्वभावोऽत्र नियतिश्चोपवर्ण्यते ।

उत्पत्तिर्जीवताप्राप्तिहेतूनां ब्रह्मशुद्धता ॥ १ ॥

नियतिः कार्यकारणभावादिनियमः, अग्निजलादेरौष्ण्यद्रव-
 त्यादिः स्वभावश्च अचलः अव्यभिचारितः कथं केन हेतुना
 जगति स्थितः । स्वाप्रमानोरथिकादिमिथ्यार्थान्तरेष्वदर्शनादिति
 भावः ॥ १ ॥ केन कृतं किंकृतम् ॥ २ ॥ आदिसर्गे यद्यत्का-
 कतालीयन्यायेन धातुर्यथा यथा भातं तत्तथैवार्थक्रियादिना
 नियतं स्थितं तत्र धातुरिच्छैव तदव्यभिचारे हेतुरेवं वस्तु-
 स्वभावेऽपि बोध्यमित्याशयेनाद्यप्रश्नयोर्वसिष्ठ उत्तरमाह—
 काकतालीयेत्यादिना । परे विधातरि यत्काकतालीयवक्ष्यतं
 सर्गादौ भानं तद्यथारूपं यथा च कार्यकारणभावेन स्थितं तथै-
 वाद्यापि जगदुच्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥ नियताया ईश्वरशक्तेर-
 न्यथाभावायोगाद्वा नियतिरव्यभिचारेत्याशयेनाह—सर्व-

यथा स्थितं यथा भाति चित्वाद्ब्रह्म चिराय यत् ।
 तस्य भानमभानानां नियत्यभिधमेव तत् ॥ ५ ॥
 इदमित्थमिदं चेत्यं स्वयं ब्रह्मेति भाति यत् ।
 तन्नियत्यभिधं प्रोक्तं सर्गसंहाररूपधृक् ॥ ६ ॥
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं यत्स्वतः कचनं चिति ।
 तप्ततोऽनन्यदेकाच्छं द्रवत्वमिध धारिणि ॥ ७ ॥
 यथा शून्यत्वमाकाशे कर्पूरे सौरभं यथा ।
 यथौष्ण्यमातपे नान्यज्जाग्रदादि तथा चिति ॥ ८ ॥
 सर्गप्रलयनाशकैकप्रवाहानन्यसप्तया ।
 चिन्मात्रगगनात्मैकब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ॥ ९ ॥
 सर्गोऽयमिति तद्बुद्धं क्षणं यत्कचनं चितः ।
 कल्पोऽयमिति तद्बुद्धं क्षणं तत्कचनं चितः ॥ १० ॥
 तत्कालस्तत्क्रिया तत्त्वं देशद्रव्योदयादि तत् ।
 यत्स्वप्न इव चिन्मात्रकचनं स्वस्वभावतः ॥ ११ ॥
 रूपालोकमनस्कारदेशकालक्रियादि तत् ।
 चित्तं कचति चिद्योनिं यन्नामानाकृति स्वतः ॥ १२ ॥
 यद्यथा कचितं कालं यत्किञ्चित्कल्पितं तथा ।
 तेनैवेयं हि नियतिरित्यप्याकाशरूपकम् ॥ १३ ॥

शकैरिति । संवित्सारतया सत्यसंकल्पसंविदः अस्मदादित्स्वप्न-
 मणोरयसंविद्द्विसारत्वाभावादित्यर्थः ॥ ४ ॥ मायोदरे स्थितस्यैव
 सर्गकाले भानं प्रलयकाले सौक्ष्म्यापत्त्या तदेवाभानानां भव-
 तीत्यनादिरेव सर्ववस्तुनामर्थक्रियाशक्तिरिति तदेव नियति-
 नामकमिति वा बोध्यमित्याह—यथास्थितमिति ॥ ५ ॥
 ब्रह्मैव नियतसर्वार्थक्रियासमर्थं जगदाकारतां धसे इति वा
 नियतिप्रतिष्ठासिद्धिरित्याह—इदमिति ॥ ६ ॥ अवस्थात्रयस्या-
 ज्ञातात्मस्वभावत्वाद्वा यथादृष्टनियत्यव्यभिचारसिद्धिरित्याह—
 जाग्रदिति ॥ ७ ॥ तस्य तत्त्वभावतां दृष्टान्तः समर्थयति—
 यथेति ॥ ८ ॥ एकप्रवाहानन्यसप्तया बीजाङ्कुरन्यायेन सर्ग-
 प्रलयप्रवाहानादितया चिन्मात्रगगनात्मके एकब्रह्मात्मन्येव
 यतस्तिष्ठति ततोऽपि नियतार्थक्रियासिद्धिरित्यर्थः ॥ ९ ॥ अत
 एव चित्कचनानुसारेणैव सर्वनियमव्यवस्था । क्षणस्यापि
 कल्पोऽयमिति चित्कचने अकल्पत्वसाधकान्तराभावादित्याश-
 येमाह—सर्गोऽयमिति ॥ १० ॥ अत एव कालक्रियादेश-
 द्रव्यादिवस्तुमेदात्मना चित्कचनमेव सर्ववस्तुस्वभावो नियति-
 श्वेत्याह—तदित्यादिना ॥ ११ ॥ १२ ॥ इत्येवं कचित्तमप्या-
 काशरूपकमेव न सत्यमित्यर्थः ॥ १३ ॥ इदानीं 'कथं स्वभावो
 भावानां' इति प्रश्नं समाधत्ते—आकल्पाख्यमिति । कल्पाख्यं
 ब्रह्मनिमेषमभिव्याज्य भावानां यदेकरूपं कचनं तमेव प्रति-
 ष्ठु नियतस्वभावं प्राहुः स्वाभाविकाः स्वभावतत्त्वविदः
 ॥ १४ ॥ एकस्यैव बहूनादिवस्तुनो देशकालमेदानेकधाभूत-
 त्यापि स्वरूपमनुज्झतो यदेकमनुगतमौष्ण्यप्रकाशरूपं स एव
 तद्देहेऽनुगतस्वभावः । यथा संविदंशस्य जीवस्य सर्वाणुगतं

आकल्पाख्यं निमेषं यत्कचनं चैकरूपकम् ।
 स्वाभाविकाः स्वभावं तं प्राहुः प्रसूतबुद्धयः ॥ १४ ॥
 एकस्य संविन्मात्रस्य पदार्थशतता तथा ।
 यथेदं संविदंशस्य रूपं स्वं स्वमनुज्झतः ॥ १५ ॥
 संविन्मये संविदो याः कचन्तीषु परे तथा ।
 ताभिस्तेषां स्वदेहानां यासां सा कलना कृता ॥ १६ ॥
 चिदुर्वी सलिलं तेजः स्पन्दः शून्यत्वमेव च ।
 प्रत्येकमाकरस्त्वेषां तानि स्वप्न इवाम्बरम् ॥ १७ ॥
 तत्र सप्रतिघस्यास्य कठिनस्याकरो महान् ।
 भूपीठं जनताधारो राजप्राज्ञेव राजते ॥ १८ ॥
 अपामग्धिः प्रधानानां तेजसामेष भास्करः ।
 स्पन्दस्य पवनो व्योम शून्यताया जगद्गतम् ॥ १९ ॥
 पञ्चानामिति भूताभामाकरत्वेन संविदः ।
 पञ्च तान्युचिता ब्राह्मणः प्रश्नः किं भास्करं प्रति ॥ २० ॥
 बुधा संविच्चिदित्युक्ता सर्वेणा सर्वरूपिणी ।
 सर्वत्र स्वमहिम्नैषा सर्वेणैषानुभूयते ॥ २१ ॥
 ब्रह्मात्मा ब्रह्मबालोऽयं स्वसंवित्स्फुरणाग्निमाम् ।
 व्योमात्मक्षौमभूनाग्नी स्फारयत्यम्बराकृतिः ॥ २२ ॥

चित्स्वरूपमेव स्वभावस्तद्ददित्यर्थः ॥ १५ ॥ संवित्प्रचुरे वृत्ति-
 मेदेऽपि याधिदाभाससंविदः कचन्तीव ताः स्वभावः । परे
 तद्विषये उर्वासलिलतेजोवाय्वादी ताभिर्वृत्त्याभाससंविद्धिः स्वदे-
 हप्रायाणां तेषां वृत्तिमेदानां मध्ये यासां यासां वृत्तीनां
 यद्यदाकारकलना या या कृता स आकारः स्वभाव इत्यर्थः
 ॥ १६ ॥ नानाकारमेदानेवोदाहृत्य तेषामधिष्ठानचिदाकाश
 एव पारमार्थिकः स्वभाव इति दर्शयति—चिदिति । तान्यु-
 र्यादीनि प्रत्येकं स्वकार्याणामाकरः खनिः । उर्वा पार्थिवानां
 सर्ववस्तुनामनुगतः स्वभाव एवं सलिलादयोऽपि । तेषां च
 चिदम्बरं मायाशबलं ब्रह्मैवाकर इत्यर्थः ॥ १७ ॥ उक्तमेव
 प्रपञ्चयति—तत्रेत्यादिना । राजेव जीवनप्रदः ॥ १८ ॥
 प्रधानानां गङ्गादीनामभ्यादीनां च जगद्गतं सर्वं स्वस्वविशेषे-
 ष्वनुगतम् । नपुंसकैकशेषे एकवद्भावः ॥ १९ ॥ तेषामम्बर-
 मिल्यंशं विशदयति—पञ्चेति । तानि पञ्चमहाभूतानि ब्राह्मणः
 संवित्तय एव तयोदिता इति ब्रह्मैव तदनुगतः सत्स्वभाव
 इत्यर्थः । एतेन 'सत्स्वसंरूपेषु देवेषु सूर्य एवोपभवाः कथम्' इति
 प्रश्नोऽपि समाहित इत्याशयेनाह—प्रश्न इति । स्वभावप्रश्नो-
 त्तरेणैव समाहितत्वात्पृथक्प्रश्नो न भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥
 बुधा सर्वावभासकत्वात्सर्वज्ञा सैव सर्वरूपिणीति स्वप्रकाशता-
 लक्षणस्वमहिम्नैव सर्वत्र परमः स्वभावपरमाकारः परमा निव-
 तिरिति च सर्वैरेवाभिज्ञैरवगम्यते ॥ २१ ॥ अयं चतुर्मुखाद्यो
 ब्रह्मबालः स्वात्मभूतसंवित्स्फुरणं व्योमात्मकं क्षौमं प्रावरणं
 यस्मात्तथाविधो भूनाग्नी स्वयं ब्रह्मात्मत्वाद्ब्रह्माम्बराकृतिरेव सन्
 स्वस्मिन्स्फारां करोति स्फारयति वित्सारयति । नमश्चाहुः

सा यदैतच्चैतच्च चिरंमस्यजसंविदा ।
 तदा तदङ्गस्यार्कादेर्नाऽतो नोत्पादि चञ्चलम् ॥ २३
 संकल्पपूर्वमशकजालवद्विष्ण्यस्रकम् ।
 आवर्तवर्तिना भाति चिद्योमेदं च दृश्यवत् ॥ २४
 तत्र प्रभास्वराः केचित्केचिदप्यस्रभास्वराः ।
 केचिन्नाभास्वरा भाताः पदार्थाञ्चित्ररूपिणः ॥ २५
 पदार्थजातं त्वेतावन्न जातं न च दृश्यते ।
 ज्ञस्याजातमिदं भाति स्वमात्मा स्वप्रदृश्यवत् ॥ २६
 चिन्मात्रमात्मा सर्वेशः सर्व एवातिदृश्यवत् ।
 नश्यतीव विदेहे स्वे न च भाति न नश्यति ॥ २७
 स्वप्रदर्शनवद्भाति यच्चिद्योम चिदम्बरे ।
 चिद्योमत्वाद्देते रूपं तदस्य जगतः कुतः ॥ २८
 यद्यथा स्फुरितं तस्य यावत्सत्त्वं स्फुरद्गुणः ।
 तत्स्वभावनियत्याख्यैः शब्दैरिह निगद्यते ॥ २९
 गगनाङ्गस्य सत्तान्तः शब्दतन्मात्रकल्पया ।
 कुसूलबीजाङ्कुरवत्तिष्ठत्याशान्तरूपिणी ॥ ३०
 संपद्यते तत इदमितीयं रचनेहया ।
 कृता सा मुग्धबोधाय मूर्खैर्विरचिता मुधा ॥ ३१

स्फुरत्सैर्वा 'विस्फुरोर्णौ' इत्यात्वम् ॥ २२ ॥ यदा सा माया
 शबला सर्वज्ञसंविदजस्य चतुर्मुखस्य संविदा सह तत्स्थूलमे-
 तत्सूक्ष्मं च प्रपञ्चमिति स्वात्मन्युपसंहरति तदा तदङ्गस्य
 चतुर्मुखसंविदङ्गस्यार्कादेश्चञ्चलं भ्रमणस्वभावं रूपं नोत्पादि ।
 यतस्तत् अतः अस्मादुपसंहारादता ना पुरुष एव संपद्यत
 इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैबोदेता
 नास्तमेता एकल एव मध्ये स्थाता' इति ॥ २३ ॥ 'दीर्घत्वमथ
 ह्रस्वत्वं दिवसानां तु किङ्कृतम्' इति प्रश्नस्तु ज्योतिश्चक्रे सूर्यस्य
 दक्षिणोत्तरमार्गगतिमेदप्रसिद्धैव दत्तोत्तर इति सूचयन् ज्योति-
 श्चक्रं दर्शयति—संकल्पेति । लुताकीटेन संकल्पपूर्वकं बाह्य-
 साधननिरपेक्षयैव विरचितमशकबन्धनजालवद्भात्रा संकल्प-
 जालमात्रनिर्मितं ग्रहनक्षत्रादिधिष्ण्यभूतं शिष्टुमारचक्रकं
 ज्योतिःशास्त्रादौ प्रसिद्धमेव । तदेव दक्षिणोत्तरायणमार्गावर्त-
 वर्तिना सूर्येण निमित्तेनेदं त्वत्पृष्ठं दिवसानां ह्रस्वदीर्घत्वं
 तत्तदावर्तवद्दृश्यवन्नियतं भानीत्यर्थः ॥ २४ ॥ 'सत्त्वसंख्येषु
 देवेषु सूर्य एवोप्रभाः कथम्' इति प्रश्ने ये अनेके देवा उक्ता-
 स्ताम् ज्योतिश्चक्रे नक्षत्रादिरूपेण स्थितान्दर्शयति—तत्रेति ।
 अभास्वरा राहादयः प्रागुक्ततामसनक्षत्राणि च ॥ २५ ॥ एवं
 प्रभ्रान्तमाधाय प्रकृतमेवालम्ब्याह—पदार्थजातमिति ॥ २६ ॥
 त्वमहं सर्व एव अतिदृश्यवत्प्रसिद्धो भाति । विदेहे मृते पुरुषे
 नश्यतीव ॥ २७ ॥ रूपं पारमार्थिकस्वरूपम् ॥ २८ ॥
 तत्पारमार्थिकसद्रूपमेवाभ्यस्ते यावत्काळं षटादेर्विद्यमानता
 तावत्सत्तादात्म्येन स्फुरद्गुरास्ते तदेव स्वभावनियत्यादिशब्दै-
 र्निगद्यते ॥ २९ ॥ तत्र सा ब्रह्मसत्ता गगनरूपस्य प्रथमजस्य
 स्नाहस्यान्तः शब्दतन्मात्रकल्पया स्थित्या कुसूलान्तर्पतेतु

नास्तमेतीह नोदेति तत्कदाचन किञ्चन ।
 शिलाजडरवच्छान्तमिदं नित्यं सदप्यसत् ॥ ३२
 यथावयविनो नाम्तः सदैवावयववाणवः ।
 नास्तं यान्ति न चोद्यन्ति जगन्त्यात्मपदे तथा ॥ ३३
 ब्रह्म व्योम्नि जगद्योम व्योम व्योम्नीव विद्यते ।
 तत्कथं किल संशुद्धमस्तमायात्युदेति वा ॥ ३४
 तस्यानन्तप्रकाशात्मरूपस्याततच्चिन्मजेः ।
 सत्तामात्रात्मकबन्धं यदजस्रं स्वभावतः ॥ ३५
 तदात्मना स्वयं किञ्चिच्छेयतामिव गच्छति ।
 अगृहीतात्मकं संविद्ब्रह्ममर्शनसूचकम् ॥ ३६
 भाविनामार्थकलनैः किञ्चिद्दहितरूपकम् ।
 आकाशादणु शुद्धं च सर्वेस्त्रिन्मात्राविबोधनम् ॥ ३७
 ततः सा परमा सत्ता सती तच्चेतनोन्मुखी ।
 चिन्नामयोग्या भवति किञ्चिद्ब्रह्म्यतया तथा ॥ ३८
 घनसंवेदनात्यम्नाङ्गाविजीवादिनामिका ।
 सा भवत्यात्मकलना यद्भवन्ती परं पदम् ॥ ३९
 गर्भीकृत्य स्थिताऽनाख्या चिदाकाशाधिधानताम् ।
 संप्रति त्वतिशुद्धस्य पदस्यानन्यरूपिणी ॥ ४०

बीजेष्वनाविर्भूताङ्कुरशक्तिवद्वादिजगद्बीजशक्तितया आशा-
 न्तरूपिणी अनाविर्भूता तिष्ठति ॥ ३० ॥ ततस्तस्याः सकाशा-
 दिदं वायुतेजोन्मुधरालक्षणभूतभौतिकत्वं जगत् क्रमेण संप-
 द्यते इति इयं कल्पना संमुरधानामहानां तत्त्वबोधाय जग-
 द्विरचनप्रतिपादनेच्छया श्रुतिभिर्मुनिभिश्च कृता न सृष्टिरेव
 तात्त्विकीति प्रतिपादनाय । तथात्वे मूर्खैरेवेयं सृष्टिकथा विर-
 चिता मुधेव स्यात् । न हि वास्तवी सृष्टिरिति परिज्ञाने कस्य-
 न्चित्किञ्चित्प्रयोजनं दृष्टं भूतं वास्तीति भावः ॥ ३१ ॥
 यतस्तत्तात्त्विकं ब्रह्मरूपं नास्तमेति नोदेति च । तत इदं
 प्रपञ्चरूपं परसत्तया सदपि स्वतः असदित्यर्थः ॥ ३२ ॥
 अपृथक्सत्ताकत्वे ब्रह्मान्तर्जगदवयवप्रायमुदयास्तमयरहितमेव
 पर्यवस्यतीत्याह—यथेति । आशो नकारः पृथक्सत्तानिरासार्थः
 ॥ ३३ ॥ ब्रह्मसत्तातिरिक्तजगत्सत्तापलाये जगच्छुद्धं ब्रह्मैव
 पर्यवस्यतीत्यस्तोदयादिवैचित्र्यमस्य गतमित्याह—ब्रह्म व्यो-
 म्नीति ॥ ३४ ॥ एवं जगतस्तत्त्वपर्यालोचने ब्रह्ममात्रतां प्रति-
 पाद्य ब्रह्मण एव स्वतात्त्विकरूपविस्मरणे जगद्रूपापत्तिं बहुमुप-
 क्रमते—सस्येत्यादिना ॥ ३५ ॥ अगृहीतात्मकमज्ञातमत एव
 प्रथममन्यथाभावादूहामर्शनसूचकम् ॥ ३६ ॥ तव ऊहित-
 रूपकं भाविप्रपञ्चपर्यालोचनान्तस्त्वोद्बोधनम् ॥ ३७ ॥ तस्य
 पर्यालोचितार्थस्य सम्यक्चेतनोन्मुखी सती चेतयतीति चिदिति
 न्युत्पत्यवसरलाभाच्चिन्नामयोग्या भवति ॥ ३८ ॥ तदुत्तरं
 यद्भवति तदाह—अनेति । यद्भवन्ती सती अधिकारिजन्म-
 लामे पुनः परं पदं भवति ॥ ३९ ॥ ननु सा सदैव परं पदम् ।
 बन्धनेन तस्या अधिकारिदेहज्ञानरूपेण कोऽतिशयस्तत्राह—
 गर्भीकृत्येति । यतः सा जीवत्वे चिदाकाशाच्छादिकासन्निधा

१. विरचति इति पाठः. २. कृता संसृग्भ' इति टीकानुशुणः पाठः.

स्वतैकभावनामात्रसारसंसारणोन्मुखी ।
 तदा विनाभावकृता अनुतिष्ठन्ति तामिमाः ॥ ४१
 शून्यरूपा स्वसत्तैका शब्दादिगुणगर्भिणी ।
 चिद्भावनाभिसंपन्ना भविष्यदभिधार्थता ॥ ४२
 अहंतोदेति तदनु सह वै कालसत्तया ।
 भविष्यदभिधार्थं ते बीजं मुख्यं जगत्स्थितेः ॥ ४३
 चित्तिशक्तेः परायास्तु स्वसंवेदनमात्रकम् ।
 जगज्जालमसद्रूपं चेतनात्सदिव स्थितम् ॥ ४४
 एवंप्रायात्मिका सा चिद्बीजं संकल्पशास्त्रिनः ।
 अहंतां भावयत्यन्तः सैवेह भवति क्षणात् ॥ ४५
 जीवाभिधाना सैषाद्य भावाभावप्रवृत्तयैः ।
 भ्रमत्यात्मपदे धीचिरूपैर्वारीव वारिणि ॥ ४६
 चिदेवंभावनवती व्योमतन्मात्रभावनाम् ।
 स्वतो घनीभूय शनैः स्वतन्मात्रं प्रचेतति ॥ ४७
 भाविनामार्यरूपं तद्बीजं शब्दौघशास्त्रिनः ।
 पदवाक्यप्रमाणात्पदार्थादिविकारि च ॥ ४८
 तस्मात्पुदेप्यत्यखिला जगच्छ्रीः शब्दतत्त्वतः ।
 शब्दौघनिर्मितायौघपरिणामविसारिणी ॥ ४९
 चिदेवंव्यवसाया सा जीवशब्देन कथ्यते ।
 भाविशब्दार्थजालेन बीजं भूतौघशास्त्रिनः ॥ ५०
 चतुर्दशविधं भूतजातमावलिताम्बरम् ।

गर्भीकृत्य स्थिता अतः अनाख्या अप्रकृत्यायमानपरपदस्वभावा
 ज्ञानलाभे संप्रति शुद्धस्य पदस्यानन्यरूपिणी लब्धाखण्डैक्यैव
 संपद्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥ तदा आनृततादशायां स्वता आत्म-
 तादात्म्याध्यासस्तदेकभावनामात्रसारेण देहेन्द्रियादिना संस-
 रणोन्मुखी सती विनाभावः स्वरूपवियोगस्तत्कृतास्तामिमाः ।
 'तमु ग्लानौ' तमनं तामस्तज्जमित्तकर्माणि तामिमा अनुतिष्ठति ।
 'तामिमाः' इति पाठे ताः प्रसिद्धाः अभिमानान्यमिमाः ।
 संधिरार्थः ॥ ४१ ॥ सा स्वमत्ता एकैव वस्त्वन्तरशून्यरूपैव
 शब्दादिगुणगर्भिणी सविकल्पचिद्भावनाप्रान्त्या अभिसंपन्ना । भ-
 विष्यन्तीनामाकाशादिपञ्चभूताभिधानामर्थता प्रवृत्तिनिमित्तभूता
 सूक्ष्मभूतात्मिकेति यावत् ॥ ४२ ॥ तथा अहंकारप्रधानलिङ्ग-
 देहकल्पनामाह—अहंतेति । लिङ्गदेहघटकप्राणक्रियाप्रयुक्त-
 कालसत्तया । ते अहन्ताकालसत्ते ॥ ४३ ॥ तत्र जीवचिदभि-
 व्यक्त्या तत्र जगज्जान्तिरित्याह—चित्तिशक्तेरिति ॥ ४४ ॥
 ॥ ४५ ॥ आत्मपदे मायाशबलब्रह्मणि ॥ ४६ ॥ तस्याः
 समष्टिहिरण्यगर्भरूपेण स्थूलपञ्चभूतकल्पनामाह—चिदिति ।
 सूक्ष्मां व्योमतन्मात्रभावनां घनीभूय घनीभाव्य । स्वतन्मात्रं
 स्थूलाकाशम् ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ तस्मादिति । 'स भूरिति
 व्यावहरत् भुवमसृजत । एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत ।
 असृजमिति मनुष्यान् । इन्द्रव इति पितृन्' इत्यादिश्रुतेरिति
 भावः ॥ ४९ ॥ एवंव्यवसाया ईदृशविधिप्रसंकल्पवती ब्रह्म-
 चिदेव जीवशब्देन कथ्यते नान्येत्यर्थः ॥ ५० ॥ ५१ ॥

जगज्जठरकर्णौघं तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥ ५१
 असंप्राप्ताभिधाचारा जीवत्वाच्चेतनेन चित् ।
 काकतालीयवत्स्पन्दचिन्मात्रं चेतति स्वयम् ॥ ५२
 पवनस्कन्धरूपस्य बीजं त्वक्स्पर्शशास्त्रिनः ।
 सर्वभूतक्रियास्पन्दस्तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥ ५३
 तत्र यच्चिद्विलासस्य प्रकाशानुभवो भवेत् ।
 रूपतन्मात्रकं तद्वद्भविष्यदभिधार्थदम् ॥ ५४
 प्रकाशचेतनं तेजो न तेजोऽन्यकृतं भवेत् ।
 स्पर्शसंवेदनं स्पर्शो नेतरस्पर्शसंभवः ॥ ५५
 शब्दसंवेदनं शब्दः स्वत एवानुभूयते ।
 खं खेनेव स्वयं कोशे नान्यच्छब्दकृदस्ति हि ॥ ५६
 किल तस्यामवस्थायां कोऽपरः शब्दकृद्भवेत् ।
 यथा तथा तदाद्यापि द्वैतैक्यस्यात्यसंभवात् ॥ ५७
 एवं हि रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमेव च ।
 असत्यमेव सदिव स्वप्नाभमिव चेत्यते ॥ ५८
 तेजः सूर्यादिजृम्भाभिर्बीजमालोकशास्त्रिनः ।
 तस्माद्रूपविभेदेन संसारः प्रसरिष्यति ॥ ५९
 भविष्यदभिधस्याथ स्वतः स्वत इवासतः ।
 स्वदनं तस्य संघस्य रसतन्मात्रमुच्यते ॥ ६०
 भविष्यद्रूपसंकल्पनामासौ सकलो गणः ।
 संकल्पात्माथ तन्मात्रं गन्धाद्यमनुचेतति ॥ ६१

तस्याः स्वसृष्टभूतभौतिकभोगाय समष्टित्वगादीन्द्रियकल्पनाप्र-
 कारमाह—असंप्राप्तैत्यादिना । न संप्राप्ता अभिधा शाब्दो
 व्यवहारः आचारः शरीरादिना व्यवहारश्च यथा तथाविधा
 सती तदर्थं वक्ष्यमाणं चेतति कल्पयति ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥
 प्रकाशानुभवस्यैव रूपतन्मात्रत्वमुपपादयति—प्रकाश-
 चेतनमिति । एवं स्पर्शाद्यपि बोध्यमित्याह—स्पर्शैत्या-
 दिना ॥ ५५ ॥ यथा खं खेन खंनेव स्वात्मके कोशे अवकाशं
 प्राप्य तिष्ठति नान्येन तथा संवेदनमपि स्वात्मकेनैव शब्देन
 शब्दकृत शब्दप्राहकं नान्यदस्तीत्यर्थः ॥ ५६ ॥ सर्गादौ सम-
 द्धाविवेदानां व्यग्रावपि तत्तत्संवेदेव स्वस्यां तत्तत्तर्थाकारमध्यस्य
 जगद्वेषेण भासते नान्यदिति बोध्यमित्याह—किलेति । तथा
 यथा तथा अद्यापि । अवश्यं चेदं सर्वैर्वादिभिरभ्युपगन्त-
 व्यम् । अन्यथा संविदां विषयव्यवस्थासिद्धेः । संवितादात्म्य-
 मेव हि विषयाणां विषयता न त्वन्या वादिकोटिसहस्रैरप्युप-
 पादयितुं शक्या । न च शब्दादीनामसंविद्रूपे संविदैक्यरक्षणं
 तादात्म्यं घटत इत्याशयेनाह—द्वैतैक्यस्येति ॥ ५७ ॥ शब्दे
 दर्शितो न्यायो रसादिष्वपि बोध्य इत्याह—एवं हीति ॥ ५८ ॥
 प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रस्तुतमेवाह—तेज इति । 'अक्षिणी
 निरभियेतां अक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदिसः' इत्यादिश्रुतेः
 ॥ ५९ ॥ असतः विकारशून्यात्स्वत आकाशत इव । स्वदनं
 माधुर्यसंघित् । तस्य सङ्घस्य पञ्चीकृतस्यापानादेः ॥ ६० ॥
 अयं सकलो गणः कार्यकारणसमुदायात्मा जीवः ॥ ६१ ॥

भाविभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशास्त्रिनः ।
सर्वाधारात्मनस्तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ ६२
अजात एव संजातस्तन्मात्राणां गणस्त्विति ।
अनाकारोऽपि साकारः संपन्नः कल्पनावशात् ॥ ६३
एव तन्मात्रकगणः काकतालीयवत्स्वयम् ।
रूपं येन प्रदेशेन वेत्यक्षीति तदुच्यते ॥ ६४
शब्दं येन प्रदेशेन वेत्ति भोत्रं तदुच्यते ।
स्पर्शं येन प्रदेशेन वेत्ति तसु त्वग्निन्द्रियम् ॥ ६५

इत्यार्षे श्रीवासि० बाल्मी० दे० मो० नि० उ० जीवत्वसंसृतिप्रतिपादनं नाम सप्ताशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८७ ॥

अष्टाशीत्यधिकशततमः सर्गः १८८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

आदिमत्त्वमिदं प्रोक्तमेतस्य कलनस्य यत् ।
परस्माद्वितीयं तत्त्वद्वोधाय न वास्तवम् ॥ १
एवंविधं तत्कलनमात्मनोऽङ्गमकृत्रिमम् ।
चेत्योन्मुखचिदाभासं जीवशब्देन कथ्यते ॥ २
कलनस्यास्य नामानि बहूनि रघुनन्दन ।
शृणु तानि विचित्राणि चेत्योन्मुखचिदात्मनः ॥ ३
जीवनाश्वेतनाज्जीवो जीव इत्येव कथ्यते ।
चेत्योन्मुखतया चित्तं चिदित्येव निगद्यते ॥ ४
इदमित्थमिति स्पष्टबोधाद्बुद्धिरिहोच्यते ।

॥ ६२ ॥ ६३ ॥ चक्षुरादिगोलकस्थानकल्पनामाह—एष
इत्यादिना ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ द्विविधपरिच्छेदवत्पिण्डाहं-
भावप्रयुक्तमस्य दिक्कालभेदकल्पनामाह—दिगिति । दिक्काल-
कलनां करोतीति शेषः । किञ्च सर्वेणाङ्गेन चक्षुःश्रोत्रादिना
रसगन्धादि सर्वं न वेत्ति एवं व्यष्टिभूतः सर्वशरीरेण सर्वं भोग्यं
न वेत्ति । असर्वात्मतादोषादित्यर्थः ॥ ६७ ॥ इति अनया
रीत्या अनुक्तमप्यनन्तं सांसारिकं कलनं प्रति जीवमात्मनो-
न्तर्गतमनुभेयमानन्यादेव प्रातिस्विकरूपेण वक्तुमशक्यम् ।
तच्चानन्तं कलनमात्मनोऽनन्यदात्मभूतमेव । अतस्तत्परमार्थतो
नोदयमुपैति नाशमेति कितूपलोदरवत्सच्चिदानन्दैक-
घनं निर्व्यापारमेव स्थितमित्यर्थः ॥ ६८ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवत्वसं-
सृतिप्रतिपादनं नाम सप्ताशीत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १८७ ॥

जीवो ब्रह्मैव तस्येवमुत्पत्तिरुपचारतः ।

छिन्नवेहस्य विभ्रान्त्येतन्न स्पष्टं निरूप्यते ॥ १ ॥

‘घनसंवेदनात्पश्चाद्भावी जीवादिनामिका’ इत्यादिना जीवो-
त्पत्तिरुपपादिता । सा च न युक्ता । अभिनवोत्पन्नजीवस्य
संसारहेतुकामकर्मवासनाद्यभावेन संसारासिद्धेर्बटपटादिवन्नि-
ध्यात्वापत्त्या ब्रह्मात्मभावयोगान्मोक्षासिद्धेर्ब्रह्मत्याक्त्वा रामस्य
मा भूदिति तस्मात्पर्य भगवान्स्वयमेवाह—आदिमत्त्वमिति ।

१ दिक्कालकलनां जीवो नियतामिति पाठो व्याख्यानुपुणः स्यात्.

रसं येन प्रदेशेन वेत्ति तद्रसनेन्द्रियम् ।
गन्धं येन प्रदेशेन वेत्ति प्राणेन्द्रियं तु तत् ॥ ६६
दिक्कालभेदाधीनोऽयं नियतामाकृति गतः ।
सर्वेणाङ्गेन नो सर्वं वेत्त्यसर्वात्मतावशात् ॥ ६७
इति कलनमनन्तमात्मनोन्त-
र्गतमनुभेयमनन्यदात्मभूतम् ।
न तदुदयमुपैति नास्तमेति
स्थितमुपलोदरवद्धनं सुमौनम् ॥ ६८

कल्पनान्मननकत्वान्मन इत्यभिधीयते ॥ ५
अस्तीति प्रत्ययादन्तरहंकारश्च कथ्यते ।
चेतनाख्यमृतं चित्तमिति शास्त्रविचारिभिः ॥ ६
प्रौढसंकल्पजालात्स पुर्यष्टकमिति स्मृतम् ।
संसृतेः प्रकृतत्वेन प्राथम्यात्प्रकृतिः स्मृता ॥ ७
बोधादविद्यमानत्वादविद्येत्युच्यते बुधैः ।
इत्यादिकलनस्यास्य नामानि कथितानि ते ॥ ८
एतत्कलनमाद्यन्तमनाकारमनामयम् ।
आतिबाहिकदेहोक्त्या समुदाह्रियते बुधैः ॥ ९

कलनस्य चिदाभासात्मकजीवस्य । तत्कलनं परस्माद्ब्रह्मणः
अद्वितीयमभिन्नमिति त्वद्वोधाय न तु वास्तवमुत्पत्त्यादि जीव-
स्यास्तीत्याशयेनेत्यर्थः ॥ १ ॥ कया रीत्या परस्माद्वितीयमिति
बोधनाय तदाह—एवंविधमिति । तत्कलनमात्मनो ब्रह्मण
एवंविधमौपाधिकमङ्गमवयवः अत एवाकृत्रिमम् । चेत्योन्मु-
खेति प्रागुक्त्यानुवादः । तथा औपाधिक एव पृथग्भावस्त-
त्प्रयुक्तजीवादिनामभेदश्च परस्यैव घटाकाशमठाकाशादिरूपना-
मभेद आकाशस्यैवेति तदाशय इति भावः ॥ २ ॥ औपाधि-
कप्रवृत्तिनिमित्ततद्भेदनिमित्तात्तन्मभेदान् जीवस्य श्रावयति—
कलनस्येत्यादिना ॥ ३ ॥ जीवनान्मुख्यप्राणस्य कर्मेन्द्रियाणां
च धारणात् । चेतनाज्ज्ञानेन्द्रियाणां धारणाच्च जीवः । पूर्वानु-
भूतातीतानागतचेत्योन्मुखतया हेतुना चित्तमिति, संनिकृष्टचे-
त्योन्मुखतया चिदिति च निगद्यते ॥ ४ ॥ कल्पनात्संकल्पनात् ।
मननमूहपोहादि तज्ज्ञत्वाच्च मन इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥ अस्मी-
त्यभिमानोक्तेः । पामरसाधारणव्युत्पत्त्या प्राक्चित्तनाम व्या-
ख्यातम् । पण्डितप्रसिद्ध्या तु ‘चित्ती संज्ञाने’ इति धातुव्युत्पत्तेः
स्वतत्त्वचेतनाख्यं ऋतं परमार्थवस्तु आत्मैव चित्तपदवाच्यं
मुख्यमिति शास्त्रविचारिभिरुक्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥ स जीवः संकल्पा-
दिभिः पूर्यन्त इति पुर्यस्तासायष्टकमिति व्युत्पत्तेरिति भावः ।
प्रकृतत्वेन सर्गादिकाले प्रस्तुतत्वेन ततः प्राथम्यात् ॥ ७ ॥
बोधात्तत्त्वदर्शनादीपाधिकरूपेणाविद्यमानत्वात् ॥ ८ ॥ ९ ॥

इत्येवं स्वप्नसंकल्पपुरवृत्तिजगद्भ्रमः ।
 आत्यर्थकार्यप्यवपुः शून्यमप्रतिष्ठात्मकम् ॥ १०
 इत्यातिवाहिकः प्रोक्तो देहो देहभृतां वर ।
 चित्रमश्चित्तदेहोऽसौ शून्य आकाशतोपि च ॥ ११
 नास्तमेति न चोदेति जगत्यामोक्षसंविदः ।
 चतुर्दशविधस्यैका भूतसर्गस्य चित्तभूः ॥ १२
 अत्र संसारलक्षणानि भविष्यन्ति भवन्ति च ।
 भूतानि च फलानीव यथा कालव्यवस्थया ॥ १३
 एष चित्तमयो देहो जगन्त्यन्तर्बहिस्त्वपि ।
 प्रतिबिम्बमिवादर्शः शून्य एव नभो यथा ॥ १४
 महाकल्पस्य पर्यन्ते सर्वनाशे स्थिरे स्थिते ।
 महाशून्यपदे प्रौढे ब्रह्मात्मनि निरामये ॥ १५
 स्वतश्चित्तित्वनोऽचित्त्वाच्चिद्भानमिदमात्मनः ।
 आतिवाहिकदेहाभं क्रमेणानेन चेतति ॥ १६
 स आतिवाहिको देहस्तदालोकप्रवर्तितः ।
 कैश्चिद्ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कैश्चिद्विराडिति ॥ १७
 कश्चित्सनातनाभिरुच्यः कश्चिन्नारायणाभिधः ।
 कश्चिदीश इति ख्यातः कश्चिदुक्तः प्रजापतिः ॥ १८
 काकतालीयवद्भाताः पञ्च खेन्द्रियसंविदः ।
 यत्र यत्र यथा तेषां स्थितास्तत्र तथा स्थिताः ॥ १९
 एवमत्यन्तवितते संपन्ने दृश्यविभ्रमे ।

न किञ्चिदपि संपन्नं सर्वशून्यं ततं यतः ॥ २०
 अनादिमत्परं ब्रह्म न सद्यन्नासदुच्यते ।
 तदेवेदमनाद्यन्तं तथास्थितमवेदनम् ॥ २१
 आतिवाहिकदेहस्य तस्यानुभवतः स्वयम् ।
 याति व्यसनिनः स्वप्नः कान्तेषु परिपुष्टताम् ॥ २२
 शून्योऽप्यनाकृतिरपि घटाकारोऽनुभूयते ।
 स्वप्नसंकल्पयोः स्वस्य देहस्य जगतो यथा ॥ २३
 भवत्यर्थकरोऽत्युच्चैस्तश्चित्त्वस्वप्नवस्तुवत् ।
 आकाशात्मक एवोप्रः पदार्थ इव भासते ॥ २४
 आतिवाहिकदेहोऽसौ स्वतोऽनुभवति क्रमात् ।
 अनाकारोपि शून्योपि स्वप्नाभोऽसन्नपि स्थितः ॥ २५
 चेतत्यस्थिगणः स्थूलं कराद्यवयवावलिम् ।
 त्रिकलोमशिरास्त्रायुसंनिवेशतया स्थितम् ॥ २६
 जन्मकर्महितस्थानं परिणामवयःस्थितम् ।
 देशकालक्रमाभोगभावार्यायोद्भवध्रमम् ॥ २७
 जरामरणमाधानदशादिब्रह्मण्डलक्रमम् ।
 ज्ञानश्रेयज्ञातृभावमादिमध्यान्तवेदनम् ॥ २८
 क्षितिजलगगनदिवाकर-
 जनताड्यवहारनगरशिखरात्मा ।
 स्वाधाराधेयमयं
 पश्यति धपुषः पुरातनः पुरुषः ॥ २९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० जीवरूपवर्णनं नामाष्टाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८८ ॥

अर्धौ भोगमोक्षौ तत्कार्यपि अवपुर्निःस्वरूपम् ॥ १० ॥ ११ ॥
 कियत्कालं स तिष्ठति तत्राह—आमोक्षसंविद् इति ।
 भूतसर्गस्य चित्तरूपा भूः प्ररोहस्थानम् ॥ १२ ॥ १३ ॥
 अन्तर्बहिरपि जगन्ति आदर्शः प्रतिबिम्बमिव घटे तथापि
 क्वं शून्य एवेत्यर्थः ॥ १४ ॥ कदाप्रभृत्ययं जगन्ति घटे
 इत्यत्राह—महाकल्पस्येति । प्राकृतप्रलयस्य पर्यन्ते
 चरमक्षणे ॥ १५ ॥ अचित्त्वाच्चिदावरकाज्ञानाक्षिमितात् ।
 अनेन प्राणुकेन क्रमेण ॥ १६ ॥ स जीव एवातिवाहिको
 देहस्तस्य यो जगदालोकनात्मक आलोकस्तेन प्रवर्तितः
 कश्चिद्भागो ब्रह्मा चतुर्मुखोऽहमिति कथितः शास्त्रेषु ॥ १७ ॥
 सनातनग्रहणं सनकादीनां ब्रह्मपुत्राणामुपलक्षणम् ॥ १८ ॥
 यत्र भागे पञ्च खेन्द्रियसंविदो भातास्तत्र तत्र तद्यथाः स्थिताः
 ॥ १९ ॥ ततं विस्तीर्णमात्मतत्त्वं यतः सर्वदृश्यशून्यम् ॥ २० ॥
 सत् आविर्भूतम् । असत् तिरोभूतम् । यत्सत्त्वेन अवेदनं
 स्वरूपसाक्षात्कारहीनं सत्तथा सदसदाकारेण स्थितम् ॥ २१ ॥
 अयं प्रपन्नः कान्तानुसंधानव्यसनिनो विष्णुरस्य स्वप्नकान्तेषु
 परिपुष्टतां याति ॥ २२ ॥ जगच्छून्यस्यैव जगदात्मका भावे

दृष्टान्तान्तरमाह—शून्योऽपीति । स्वत एव स्वदेहस्य जगत-
 ध्यासतो भावे यथा दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥ तादृशस्याप्यर्थ-
 क्रियासामर्थ्यं तत्रैव प्रसिद्धमित्याह—भवतीति । उग्रः कठिनः
 ॥ २४ ॥ २५ ॥ स आतिवाहिकदेहरूपो जीवः अस्थिगणैः
 स्थूलं त्रिकस्य पृष्ठवंशस्य लोत्रां आतानवितानत्वमेदान्मासा-
 स्थिवेष्टनत्वोपाधिभेदाद्वा शिरास्त्रायुर्भेदस्तासां संनिवेशात्म-
 तया स्थितं स्थूलशरीरं देशकालक्रमासनशब्दादिविषये भोगा-
 र्याय चेततीत्यन्वयः ॥ २६ ॥ तस्मिन् देहे उद्भवो जन्म
 तद्भ्रमं चेतति ॥ २७ ॥ तथा जरामरणं गुणदोषाद्याधार्चं
 दशादिब्रह्मण्डलेषु क्रमणं कमो भ्रमणं ज्ञानादित्रिपुटीं सर्वभा-
 वानामादिमध्यान्तवेदनं च चेतति ॥ २८ ॥ एषमातिवाहिक-
 देहभूतः पुरातनः पुरुषः स्वकल्पितादेव व्यष्टिसमष्टिस्थूलवपुषो
 निमित्तात्स्वयमेव क्षित्यादिष्विखरान्तात्मा सन् स्वस्य पृष्ठव्यादव
 आधाराः स्वयं तु तदाधेय इति भ्रान्तिमयं संसारकर्म पश्य-
 तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यब्रह्मणे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवरूपवर्णनं नामाष्टाशीत्यधिकशततमः
 सर्गः ॥ १८८ ॥

एकोनवत्यधिकशततमः सर्गः १८९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

आतिवाहिकदेहोऽसौ तस्याद्यस्य प्रजापतेः ।
काकतालीयवन्निस्वाद्यद्येत्यादि चेतति ॥ १
तत्तथा स्थितिमायाति चिरं संवित्स्वभावतः ।
वत विश्वमिदं भातमत्रासत्ये कृतः स्वयः ॥ २
ब्रह्माऽसत्यमसत्यं दृगसत्यं दर्शनं ततम् ।
सत्यमेवाथवा सर्वं ब्रह्मैवात्मतया तथा ॥ ३

श्रीराम उवाच ।

इत्यातिवाहिकालोकः स तस्याद्यप्रजापतेः ।
कठिनत्वं कथं यातः कथं स्वप्नस्य सत्यता ॥ ४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

आतिवाहिक आलोकः स्वत एवानुभूयते ।
सदानवरतं तेन स एवाभाति पुष्टवत् ॥ ५
यथा स्वप्नस्य पुष्टत्वं चिरानुभवनोचितम् ।
अतिसत्यमिवाभाति स्वातिवाहिकता तथा ॥ ६
आतिवाहिकदेहस्य चिरस्वानुभवोदये ।
आधिभौतिकताबुद्धिरुदेति मृगधारिवत् ॥ ७
जगत्स्वप्नभ्रमाभासं मृगानृणांभुवत्स्वितम् ।
असदेवेदमाभाति सत्यप्रत्ययकार्यणि ॥ ८
आतिवाहिकरूपाणामाधिभौतिकता स्वयम् ।
असती सत्यबहुरमर्वाग्दर्शिनिरर्थिता ॥ ९
अयं लोहमिदं तन्म इमा गिरिनभोदिशः ।
इति मिथ्याभ्रमो भाति भास्वरस्वप्नशैलवत् ॥ १०
आतिवाहिकदेहोऽसौ अष्टुराद्यस्य भावितः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजामणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० ब्रह्मैकताप्रतिपादनं नामैकोनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८९ ॥

आधिभौतिकतां चैतत्पिण्डाकारं प्रपश्यति ॥ ११
चिन्नमभेतनं त्यक्त्वा ब्रह्माहमिति पश्यति ।
अयं देहोऽयमाधार इति ब्रह्माति भावनाम् ॥ १२
असत्ये सत्यबुद्धौ च ब्रह्मो भवति भावनात् ।
बहुशो भावयत्यन्तर्गतात्वमनुधावति ॥ १३
शब्दान्करोति संकेतं संज्ञाश्च स्पन्दनानि च ।
ओमित्युक्ते ततो वेदाङ्गलम्बराशीम्प्रगायति ॥ १४
तैरेव कल्पयत्याशु व्यवहारमितस्ततः ।
मनो ह्यसौ कल्पयति यथेतति तदेव हि ॥ १५
यो हि यन्मय एवासौ स न पश्यति तत्कथम् ।
असत्यैव जगद्भ्रान्तिरेवं प्रौढिमुपागता ॥ १६
आब्रह्मणो मुधा भाति चिरस्वप्नेन्द्रजालवत् ।
इत्यातिवाहिकस्येयमाधिभौतिकतोचिता ॥ १७
आधिभौतिकता नास्ति काचित्किञ्चिदपि क्वचित् ।
आतिवाहिकतैवैनामभ्यासाद्याति भावनाम् ॥ १८
मूलादेवैवमायातो मिथ्यानुभवनात्मकः ।
मोहो ब्रह्मण एवायमित्यत्येष महात्मनाम् ॥ १९
एवमित्थं दृशा राम पिण्डबन्धः क्व विद्यते ।
भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्मैवाभातमेव वा ॥ २०
न शाश्वतादन्यदिहास्ति कारणा-
च्च कारणं तत्खलु कार्यतां विना ।
न कार्यताकारणतादिसंभवो-
ऽस्त्यनामये तत्किमपीदमाततम् ॥ २१

आतिवाहिकदेहात्मप्रजापतिमनोरथे ।

आधिभौतिकताभ्रान्तिर्जगत्प्रोपबर्ण्यते ॥ १ ॥

'कश्चिद्ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कश्चिद्विराडिति' इत्यादिप्रपञ्चित-
प्रकारेण यद्यथा चेतति तत्तथा स्थितिमायातीति परेणान्वयः
॥ १ ॥ संवित् सत्यसंकल्पसंविद् तत्स्वभावत इदं विश्वं भातम् ।
वतेति खेदे ॥ २ ॥ अतो भ्रान्तिमात्रत्वाद्ब्रह्मविप्रिपुटी असत्या
दृश्यत इति दृक् दृश्यम् । दर्शनं वृत्तिः ॥ ३ ॥ इति अनया
रीत्या आतिवाहिक आलोकनमालोको भ्रान्तिदर्शनमात्रं चेत्स
कठिनत्वं शिलादिभावम् । सत्यता पारलौकिकफलाद्यर्थक्रिया-
समर्थता ॥ ४ ॥ सदा नैरन्तर्येण । तथा चिराभ्यासात्पुष्टवत्
घनीभूत इवाभाति ॥ ५ ॥ यथा हरिश्चन्द्रादेः स्वप्नस्य चिरा-
नुभवनोचितं पुष्टत्वं तथेत्यर्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ अर्वाग्द-
र्शिनिरविवेकिभिः । अर्थिता आसक्त्या स्वीकृता ॥ ९ ॥
॥ १० ॥ एतद् पृथिवीशरीरादिरूपे पिण्डाकारम् ॥ ११ ॥
ब्रह्माहमिति यथाचैतनं त्यक्त्वा अयं देहो मनुष्यादिरहं अयं
पृथ्व्यादिर्गमाधार इति पश्यति तत्र च भावनामास्यां ब्रह्माति

॥ १२ ॥ अनुधावति अनुसरति ॥ १३ ॥ प्रथमं वैदिकलौकिक-
शब्दान्करोति सृजति । तेषां च तत्तदुपाधिमति अर्थे संकेतं
करोति संकेतेन संज्ञाः करोति । शब्दकरणप्रकारमाह—
ओमित्युक्ते इति ॥ १४ ॥ १५ ॥ यन्मयो यदासक्तः ।
स्त्रीमयो जालम् इतिवत् ॥ १६ ॥ आब्रह्मण आमशकात्
इत्यनया रीत्या आधिभौतिकता कठिन्यादिस्वभावता उचितैव
नानुचिता ॥ १७ ॥ एतामाधिभौतिकभावनाम् ॥ १८ ॥
मूलभूताद्ब्रह्मणः अष्टुः सकाशादेव एवरूपो मोहोऽयमायात
इति हेतौरेव जगद्दर्शनरूपो भ्रमो महात्मनां तत्त्वविदामपि
यावत्प्रारब्धक्षयमस्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥ विदेकरसस्य ब्रह्मण एवं-
रूपा इत्थं दुर्दशा क्व विद्यते किलिदमखिलं संसारदुर्दशादि-
भ्रान्तिरेव । अथवा ब्रह्मैव कौतुकवशाज्जगज्जीवाद्याकारेणा-
भातम् । न हि स्वाकारः स्वस्य दुर्दशेत्यर्थः । अन्ते बन्धमोक्ष-
विभागनिष्कर्षप्रदर्शनं चैतत् ॥ २० ॥ शाश्वताद्ब्रह्मणोऽन्व-
त्कारणं जगतो नास्ति । तच्च कार्यतां विना कारणं न । अना-
मये कूटस्थविदानन्दादये ब्रह्मणि कार्यताकारणतादिसंभव एव

नवत्यधिकशततमः सर्गः १९०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिर्बन्ध इत्यभिधीयते ।
 तस्यैव ज्ञेयताशान्तिर्मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ १ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 ज्ञानस्य ज्ञेयताशान्तिः कथं ब्रह्मन्प्रवर्तते ।
 सा रूढा बन्धताबुद्धिः कथं वात्र निवर्तते ॥ २ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 सम्यग्ज्ञानेन बोधेन मन्दबुद्धिर्निवर्तते ।
 निराकारा निजा शान्ता मुक्तिरेवं प्रवर्तते ॥ ३ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 बोधः केवलतारूपः सम्यग्ज्ञानं किमुच्यते ।
 येन बन्धादयं जन्तुरशेषेण विमुच्यते ॥ ४ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम् ।
 अघाच्यमिति बोधोन्तः सम्यग्ज्ञानमिति स्मृतम् ॥ ५ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 ज्ञानस्य ज्ञेयता भिन्ना त्वन्तः केति मुने वद ।
 उत्पाद्यो ज्ञानशब्दश्च भावे वा करणेऽथ किम् ॥ ६ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 बोधमात्रं भवेज्ज्ञानं भावसाधनमात्रकम् ।

नास्ति । तत्तस्माद्देतोरेदं जगदाकारं किमपि भ्रान्तिमात्रमाततं
 विस्तृतं न वस्तु सदिति निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ २१ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्म-
 कताप्रतिपादनं नामैकोननवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८९ ॥

अतीतानागताः शङ्काः सर्वाः समूज्य युक्तिभिः ।

ज्ञानस्य ज्ञेयताशान्तिर्मुक्तिरत्रोपपाद्यते ॥ १ ॥

‘भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्मैवाभातमेव वा’ इति बन्धमोक्ष-
 निष्कर्षप्रदर्शनमन्ते यत्कृतं तत्परिष्कृत्याह—ज्ञानस्येति ॥ १ ॥
 अत्र रामः सर्वेषामुपकाराय प्राक्समाहिता अपि शङ्काः प्रश्नो-
 त्तरमालिकाक्रमेणोद्वाह्य समाधानक्रमप्रख्यापनकामस्तदुपायं
 प्रथमं पृच्छति—ज्ञानस्येति । रूढा दृढाभ्यस्ता । कथं कनो-
 पायेन ॥ २ ॥ शमदमादिसाधनसहितदृढाभ्यस्तसम्यग्ज्ञानल-
 क्षणेन प्रबोधेन मन्दबुद्धिर्भ्रान्तिर्निवर्तते । अपगते च भ्रान्ति-
 स्वप्ने एवंविधा ज्ञेयता शान्तिरूपा मुक्तिर्भूमिकापरिपाकक्रमेण
 प्रवर्तते ॥ ३ ॥ अनेकविशेषवतो रज्जादेः कतिपयविशेषेषु ज्ञाते-
 प्वपि विशेषान्तरज्ञानाय पुनःपुनः पर्यालोचनजन्यं सम्य-
 ग्ज्ञानमन्यत्स्यात् । निर्विशेषे तु वस्तुन्यापातज्ञानापेक्षया सम्य-
 ग्ज्ञानमन्यत्किं स्यादेनास्य बन्धो निवर्तते इति शङ्कार्थः ॥ ४ ॥
 अधिष्ठानचिन्मात्ररूपस्य ज्ञेयता कालत्रयेऽपि नास्तीति सर्व-
 द्रव्यबाधपर्यवसित एव तत्त्वसाक्षात्कारः । आपाततो ज्ञानं

१ सम्यग्ज्ञानप्रबोधेन इति टीकाकृद्भिमतः पाठः.

न ज्ञानज्ञेययोर्भेदः पवनस्पन्दयोरिव ॥ ७ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 एवं चेत्तत्कथमयं ज्ञानज्ञेयादिविभ्रमः ।
 सिद्धः शशविषाणाभो भविष्यद्भूतभव्यशः ॥ ८ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 बाह्यार्थभ्रान्तितो ज्ञेया भ्रमबुद्धिरिहोदिता ।
 बाह्यभ्रान्त्यन्तरार्थो न संभवति कश्चन ॥ ९ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 योऽयं प्रत्यक्षदृश्योऽर्थो मुने त्वमहमादिकः ।
 भूतादिरनुभूतात्मा स कथं नास्ति मे वद ॥ १० ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 आदिसर्गविधावेव विराडात्मादिकोऽनघ ।
 जातो न कश्चिदेवार्थो ज्ञेयस्यातो न संभवः ॥ ११ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 भविष्यद्भूतभव्यस्था जगद्दृष्टिरियं मुने ।
 नित्यानुभूयमानापि न जातेति किमुच्यते ॥ १२ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 स्वप्नार्थमृगतृष्णाम्बुद्धीन्दुसंकल्पितार्थवत् ।
 मिथ्या जगदहंत्वं च भाति केशोण्ड्रकं यथा ॥ १३ ॥

तु न तथेत्युत्तरार्थः ॥ ५ ॥ चिदेकरसस्यात्मनोऽन्तस्तद्विज्ञा
 ज्ञेयता का । तथायं ज्ञानशब्दः किं भावे उत्पाद्यो व्युत्पादनीयः
 अथ किं करणे व्युत्पादनीय इति प्रश्नार्थः ॥ ६ ॥ भावे एव
 ज्ञानशब्दो व्युत्पाद्यः । ज्ञेयजगद्रूपता च ज्ञानस्यैव मायिको
 विकल्पो नैकरस्यविघातक इत्युत्तरार्थः ॥ ७ ॥ एवं चेत्तर्हि स
 विकल्पः शशविषाणकल्पः कथं प्रत्यक्षादिभिर्भूतभव्यभविष्य-
 द्विभागैर्व्यवहारक्षमो भासते इति प्रश्नार्थः ॥ ८ ॥ नासत्त्वमभावे
 अर्थक्रियासामर्थ्ये वा प्रयोजकम् । स्वप्नभ्रान्तिज्ञाने असत्सह-
 सस्यापि तद्दर्शनात् । किंतु बाधस्तत्प्रयोजकः । स चात्र विचा-
 रवतां यौक्तिकस्तत्त्वविदामपरोक्षश्चास्येवेत्युत्तरार्थः ॥ ९ ॥
 लौकिकप्रत्यक्षादिमानसिद्धस्य कथमपलाप इति प्रश्नार्थः ॥ १० ॥
 आदिसर्गे जगतो मायातिरिक्तसाम्य्या दुर्वचत्वाद्भ्रान्तिमात्रत्वे
 अवश्यं वक्तव्ये संप्रत्यपि तथैव वाच्यमिति व्यवहारमात्रावि-
 संवादेन चरितार्थानि लौकिकप्रत्यक्षादीनि तत्त्वगोचरयुक्तिभिः
 श्रुतिभिश्च वाच्यन्त इत्युत्तराशयः । तथा च श्रुतिः ‘न निरोधो
 न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरि-
 त्येषा परमार्थता’ इति ॥ ११ ॥ भूतभविष्यदाद्यनन्तवस्तु-
 गोचराणामनन्तानां सर्वजनीनानां प्रत्यक्षादीनामेकेन तत्त्व-
 ज्ञानेन कथं बाध इति शङ्कार्थः ॥ १२ ॥ तादृशानामपि स्वप्न-
 ज्ञानानामेकेन जागरेण बाधदर्शनादित्युत्तरार्थः ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच ।

अहं त्वमयमित्यादिजगज्जठरमण्डलम् ।
कथं न जातं भगवन्सर्गादावनुभूतिमत् ॥ १४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कारणाज्जायते कार्यं नान्वद्येत्येव निश्चयः ।
सर्वोपशान्तौ जगतामुत्पत्तौ नास्ति कारणम् ॥ १५

श्रीराम उवाच ।

महाप्रलयसंपत्तौ शिष्टं यदजमव्ययम् ।
तत्कथं नाम सर्गस्य न भवेत्कारणं मुने ॥ १६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यदस्ति कारणे कार्यं तत्तस्मात्संप्रवर्तते ।
न त्वसज्जायते राम न घटाज्जायते पटः ॥ १७

श्रीराम उवाच ।

जगत्सूक्ष्मेण रूपेण महाप्रलय आगते ।
आस्ते ब्रह्मणि तत्तस्मात्पुनरेव प्रवर्तते ॥ १८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

महाप्रलयपर्यन्ते केन सर्गास्तितानघ ।
अनुभूता महाबुद्धे तत्रस्था सा च कीदृशी ॥ १९

श्रीराम उवाच ।

ज्ञत्यात्मिका श्रीस्तत्रस्था तादृशेरनुभूयते ।
व्योमात्मिका तु न भवेन्न सत्तामसदेति हि ॥ २०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं चेत्तन्महाबाहो ज्ञप्तिरेव जगन्नयम् ।
विशुद्धज्ञानदेहस्य कुतो मरणजन्मनी ॥ २१

श्रीराम उवाच ।

तदेवमादितो नास्ति सर्गस्तदियमागता ।

कया युक्त्या बाध इति प्रश्नार्थः ॥ १४ ॥ कारणाभावयुक्त्ये-
त्युत्तरार्थः ॥ १५ ॥ ब्रह्मैव कारणं किं न स्यादिति प्रश्नार्थः
॥ १६ ॥ ब्रह्मणश्चिदेकरसत्वेन तत्र जगद्गीजशक्त्ययोगादि-
त्युत्तरार्थः ॥ १७ ॥ तर्हि सांख्याभिमतगुणेष्विव ब्रह्मणि
सूक्ष्मरूपेण तदा जगदस्तु इति प्रश्नार्थः ॥ १८ ॥ तत्सत्तायाः
साधकाभावादैकरस्यश्रुतिबाधितत्वाच्च अभ्युपगन्तुमशक्यत्वादि-
त्युत्तराशयः ॥ १९ ॥ तर्हि ज्ञान्येकरसतत्रैव तदा स्वप्रकाशा
तत्सत्तास्तु न मायाकाशात्मिका । तस्याः शून्यतापर्यवसानेन
असतः सदात्मना सर्गे आगमनायोगादिति प्रश्नार्थः । हि
वस्मादसत् सतां नैति ॥ २० ॥ एवं चेत्तदेकरसमेव ततो
जगत्स्यात्, तथा च मेदकाभावे को जगच्छब्दार्थ इत्युत्तराशयः
॥ २१ ॥ तर्हि जगद्ज्ञान्तेः किं कारणमिति प्रश्नार्थः ॥ २२ ॥
न बाह्यं कारणं तत्कार्यं आवात्मकं जगद्वा अस्ति मायया
तु ब्रह्मैव तत्तन्निपुटीवेषं धत्ते इत्युत्तरार्थः । यद्यथेत्येव यथे-
तितं यच्च चेतति तन्नयमपि स्वात्मैवेत्यर्थः ॥ २३ ॥ नन्विदं
विपरीतम् । यच्चसदृशः कार्यकारणसंघातः अन्विद्रूपचेतति ताद-
श्रूपत्वात्सर्वाद्रष्टा चेशरो जडरूपं दृश्यत्वमेतीति काष्ठं दग्धं भूत्वा
यो० वा० १९१

कुतः कथमिव भ्रान्तिरिति मे भगवन्वद ॥ २२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कार्यकारणताभावाद्भावाभावौ स्त एव नो ।
इदं च चेत्यते यद्यत्सात्मा चेतति चेतितम् ॥ २३

श्रीराम उवाच ।

चेतिता चेतति यन्नं द्रष्टा दृश्यत्वमीश्वरः ।
कथमेति कथं वहिं दहेत्काष्ठं कदा किल ॥ २४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

द्रष्टा न याति दृश्यत्वं दृश्यस्यासंभवादतः ।
द्रष्टैव केवलो भाति सर्वात्मैकघनाकृतिः ॥ २५

श्रीराम उवाच ।

चिन्मात्रं तदनाद्यन्तं चेत्यं चेतयते तदा ।
तदिवं जगदाभानं कुतः स्याच्छेत्यसंभवः ॥ २६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

चेत्यं हि कारणाभावाच्च संभवति किंचन ।
चेत्याभावाच्चेतनस्य मुक्ताऽवाच्यता सदा ॥ २७

श्रीराम उवाच ।

एवं चेत्तदहन्तादि चेत्यं कथमिदं कुतः ।
कथं जगद्वेदनं च कथं स्पन्दादिवेदनम् ॥ २८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कारणासंभवादादावेवोत्पन्नं न किंचन ।
कुतश्चेत्यमतः शान्तं सर्वं सर्गस्तु विभ्रमः ॥ २९

श्रीराम उवाच ।

अत्र मे विगतोद्देशे निश्चेत्यचलनादिके ।
सकृद्विभाते विमले विभ्रमः कस्य कीदृशः ॥ ३०

वहिं दाष्टं कृत्वा कदा किल दहेदिति शङ्कार्थः ॥ २४ ॥
न द्रष्टा दृश्यत्वं यातीति वयं प्रतिपादयामः, किंतु दृश्यादित्रि-
पुटी द्रष्टृकैवल्यरूपदृष्ट्यात्रमेवैकघनाकृतिः स्वयं भातीति न
किंचिद्विपरीतं किंतु सर्ववैपरीत्यनिवृत्तिरेवेत्युत्तराशयः ॥ २५ ॥
सर्गादावचेतितजगरप्रतिभासासिद्धेः शुद्धचिन्मात्रमेव तदा
चेत्यं चेतयते इत्यवश्यं वाच्यम् । तत्र चेत्यस्य कुतः संभव-
साद्देति प्रश्नार्थः ॥ २६ ॥ चेत्यं चेत्सर्गादौ संभूतं स्यात्तदा
तत्कुतः संभूतमिति प्रश्नावसरः स्यात् । अत्यन्तासंभूतस्य
बन्ध्यापुत्रकल्पस्य किमुपपत्तिजिज्ञासयेति नित्यमुक्त एवात्मा
प्रतिपत्तव्य इत्युत्तरार्थः । अवाच्यता वक्तुमनर्हता ॥ २७ ॥ नित्य-
मुक्तं चेदहंतादिप्रतिभास एव कदापि न स्यादिति गुरुशास्त्रा-
दिवैफल्यमिति शङ्कार्थः ॥ २८ ॥ नोत्पन्नमेव किंचिदिति
नित्यमुक्ताप्रतिबोधनेन जगद्बन्धविभ्रमशान्तिरेव शास्त्रादि-
फलमित्युत्तराशयः ॥ २९ ॥ अत्र मे ब्रह्मपुत्रमिति शेषः ।
विगतोद्देशे वागगम्ये सकृद्विभाते सदा स्वप्रकाशे नित्यमुक्ते
ब्रह्मणि विभ्रम एव कस्य कुतो वा निमित्तात्कीदृशः किंप्रका-
रश्च । अद्वयेन द्वैतकेशस्याप्यसहनादिति प्रश्नार्थः ॥ ३० ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

कारणाभावतो राम नास्त्येष अलु विभ्रमः ।
सर्वं त्वमहमित्यादि शान्तमेकमनामयम् ॥ ३१

श्रीराम उवाच ।

ब्रह्मन्मममिवापन्नः प्रष्टुं जानामि नाधिकम् ।
नास्त्यस्तं च प्रबुद्धोऽस्मि पृच्छामि किमिहाधुना ॥ ३२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

कारणस्यैव निकषं पृच्छ माऽऽकारणक्षयात् ।
परे स्वभावेऽनिर्वाच्ये स्वयं विभ्रान्तिमेव्यसि ॥ ३३

श्रीराम उवाच ।

मन्येऽहं कारणाभावात्पूर्वमेव न सर्गता ।
उदिता तेन कस्यायं चेत्यचेतनविभ्रमः ॥ ३४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अकारणत्वात्सर्वत्र शान्तत्वान्नाप्तिरस्ति नो ।
अनभ्यासवशादेव न विभ्राम्यति केवलम् ॥ ३५

श्रीराम उवाच ।

कुतो भवेदनभ्यासो भवेदभ्यसनं कुतः ।
कुतोऽभ्यासात्मिका भ्रान्तिरेषा पुनरुपस्थिता ॥ ३६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अनन्तत्वादनन्तस्य भ्रान्तिर्नास्ति च संप्रति ।
अभ्यासभ्रान्तिरखिलं महाचिद्धनमक्षतम् ॥ ३७

अस्तु शाखाभिगताद्वितीयमक्षतत्त्वदृशा विभ्रमोऽप्यनुपपन्नः ।
नैतावता कृतकार्यं शाखं विफलमित्युत्तराशयः ॥ ३१ ॥ एवं
निरुत्तरीकृतो रामः प्रबोधदाढ्याभावादनियुक्तसंशयः प्रश्रा-
शक्तिमेव स्वस्य दर्शयति—ब्रह्मज्ञिति ॥ ३२ ॥ हे राम, न
निरुत्तरीकरणादप्रतिभामात्रेण प्रश्रादुपरमस्य किंतु प्रश्रकार-
णस्य संशयबीजस्य निकषोपलवत्सारसारतापरीक्षास्थानं मा
मां आकारणक्षयाद्यावदाशङ्कं पृच्छ । ततः क्रमेण प्रश्रकारण-
संशयानां तत्कारणस्याज्ञानस्य च निःशेषं क्षयात्परे स्वभावे
विभ्रान्तिमेव्यसि ॥ ३३ ॥ कारणाभावात्पूर्वं सर्गादावेव सर्गता
नोदितेति त्वदुक्तं सिद्धान्तमहं मन्ये अवगच्छाम्येव, तथापि
ममात्रं चेत्यचेतनविभ्रमः कस्येति संशयो नापगच्छति तत्र
को हेतुरिति प्रश्राशयः ॥ ३४ ॥ यदि मदुक्तं सिद्धान्तं
जानासि तर्हि अनभ्यासवशात्तज्ज्ञानादाढ्यादविभ्रान्तिरेव ते
वृथा नानासंशयहेतुरित्युत्तराशयः ॥ ३५ ॥ यत्र जगद्भ्रान्तेरपि
कारणं नास्ति तत्राभ्यासात्मिका भ्रान्तिः कुतो हेतोरुपस्थिता
स्यादिति प्रश्राशयः ॥ ३६ ॥ मास्तु कापि भ्रान्तिस्तथापि जीवन्मु-
क्तानां चिद्धनात्मकसर्ववस्तुभिर्व्यवहारप्रवृत्तिवत्ताप्यभ्यासप्रवृ-
त्तिरस्त्वित्याशयेनोत्तरमाह—अनन्तत्वादिति ॥ ३७ ॥ जीव-
न्मुक्तानां भवदाढीनां सर्वसिद्धजगद्भ्रमे शान्ततां गते सति
अनयाऽध्यात्मशास्त्ररूपया शब्दसंपदा उपदेशार्हाणामसदा-

श्रीराम उवाच ।

उपदेश्योपदेशादावनया शब्दसंपदा ।
किमन्यद्ब्रह्मे ब्रह्मन्सर्वसिद्धान्ततां गते ॥ ३८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

उपदेश्योपदेशात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ।
बोधात्मनि न मोक्षोऽस्ति न बन्धोऽस्तीति निश्चयः ॥

श्रीराम उवाच ।

देशकालक्रियाद्रव्यमेदवेदनचेतसाम् ।
सर्वस्यासंभवे सर्वसत्ता कथमुपस्थिता ॥ ४०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

देशकालक्रियाद्रव्यमेदवेदनचेतसाम् ।
अज्ञानमात्रादितरा सत्ता नान्यास्ति नो पुरा ॥ ४१

श्रीराम उवाच ।

बोध्यबोधकतापत्तेरभावाद्बोधता कथम् ।
द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मकारणासंभवे सति ॥ ४२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

बोधेन बोधतामेति बोधशब्दस्तु बोध्यताम् ।
भवद्विषयमेवायमुच्यते नास्मदादिषु ॥ ४३

श्रीराम उवाच ।

बोध एव यदाहंत्वमेति बोधान्यता तदा ।
कुत एषा परेऽनन्ते नासावतिजलेऽमले ॥ ४४

वीनामुपदेशकायप्रवेशशक्तिपातादिना प्रबोधनव्यवहारे किमन्य-
त्कारणं स्यादिति प्रश्नः ॥ ३८ ॥ तेषामुपदेशादिसर्वव्यवहारा-
त्मना ब्रह्मैव ब्रह्मणि संस्थितम् । अन्यादृशानां बन्धमोक्षतदुपा-
यानां तत्त्वदृशा अत्यन्ताप्रसिद्धेरित्युत्तराशयः ॥ ३९ ॥ अज्ञा-
दिसिद्धा जगत्सत्ता तर्हि केन हेतुनोपस्थितेति प्रश्नः ॥ ४० ॥ अज्ञा-
नहेतुनैवेत्युत्तरम् । यतो जीवन्मुक्तेः पुरा अन्या तदनुभवसिद्धा
जगत्सत्ता नो ॥ ४१ ॥ तत्त्वदृशा द्वैतैक्यासंभवे सति बोध्य-
बोधकभावापत्तेरप्यभावात्त्वबोधस्य बोधता वा कथम्, न
सकर्मको बोधशब्दो लोके प्रसिद्धोऽस्तीति प्रश्राशयः ॥ ४२ ॥
अबुद्धं हि ब्रह्मबोधेन स्वाज्ञानक्षयफलाश्रयत्वेन बोध्यतां
बोधकर्मतामेति । तेनैव तु बोधशब्दोऽपि बोध्यतां बोधफल-
वत्तालक्षणसकर्मकतामेति । इदं सर्वमज्ञानबद्धवद्विषयमेव ।
जीवन्मुक्तेष्वस्मदादिषु त्वज्ञानाभावात् बोधस्य सकर्मकता
निरूपयितुं शक्येत्यर्थः ॥ ४३ ॥ नास्मदादिष्विति वदता भवता
जीवन्मुक्तेष्वप्यस्मच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूता अहंता दर्शिता । सा
च नाबोधकार्यम् । तेष्वबोधाप्रसिद्धेः । अतः परिषोषाद्बोध
एव अहंतालक्षणं परिणाममेतीति वाच्यम् । तदा च बोधान्यता
तस्य दुर्बारा असावहंता हि ना जीवाक्यः पुरुषः । एषा च परे
अनन्ते त्रिविधपरिच्छेदशून्ये अत एव जलमतिक्रान्ते अति-
जले जलादप्यतिशयिते अमले चिन्मात्रे त्वयि कुतः ॥ ४४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यत्तद्बोधस्य बोधत्वं तदेवाहंत्वमुच्यते ।
द्वित्वमत्रानिलस्पन्ददृशोरिव निगद्यते ॥ ४५

श्रीराम उवाच ।

सौम्याब्ध्यन्तस्तरङ्गादिर्यथावत्ते यथास्थितम् ।
तथा स्वरूपमात्रात्म बोध्यं बोधोऽवबुद्धवान् ॥ ४६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं चेत्तत्कथं कः स्यादोषो द्वित्वादिदोषतः ।
अनन्ते स्थित एकस्मिच्छान्ते पूर्णे परे पदे ॥ ४७

श्रीराम उवाच ।

कोऽत्र कल्पयिताहंत्वं भुङ्क्ते भोक्ता च कश्च वा ।
यन्मूलं यजगद्भ्रान्तिरनन्ता प्रविजृम्भते ॥ ४८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ज्ञेयसप्तावबोधे हि बन्धनं सञ्च नास्त्यलम् ।
ज्ञप्तेः सर्वार्थरूपत्वाद्बन्धमोक्षावतः कुतः ॥ ४९

श्रीराम उवाच ।

ज्ञतेर्वाह्यार्थता दीपाग्नीलादीव प्रवर्तते ।
बाह्यस्त्वर्थोऽस्ति सद्रूपो ननु दृष्टोपलम्भनः ॥ ५०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अकारणस्य कार्यस्य बाह्यस्यार्थस्य सत्यता ।
ज्ञेयं सा भ्रान्तिमात्रात्मरूपिणी नेतराङ्गिका ॥ ५१

श्रीराम उवाच ।

स्वप्नः सत्योऽस्त्वसत्यो वा दुःखं तावत्प्रयच्छति ।
तथैवेयं जगद्भ्रान्तिः क उपायोऽत्र कथ्यताम् ॥ ५२

बोधैकरसस्यास्मदादेर्यद्बोधत्वं स्वरूपभूतं तदेवानिलस्पन्दव-
द्वैकल्पिकव्यपदेशेनाहंत्वमस्माभिरुच्यते नाहवदभिमानप्रधानेन
जीवरुपेणेत्युत्तरार्थः ॥ ४५ ॥ एवं चेत्समुद्रतरङ्गन्यायेन
जीवन्मुक्तानां चिन्मयमेवाहंतादिजगत् बोध्यबोधादित्रिपुटी
ष्वेति पर्यवसन्नमिति प्रश्नाशयः ॥ ४६ ॥ यथेवं स्थितिरैव
तत्त्वं तर्हि तथा 'द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मकारणासंभवे सति' इति
त्वदुद्भावितो द्वित्वादिप्रसक्तो यः अद्वैतहानिलक्षणो दोषः स
कथं स्यात्, कश्च स्यात्, तस्माच्चैवं मन्तव्यमिति शुद्धाद्वैतमेवा-
वलम्बस्वेत्यर्थः ॥ ४७ ॥ तर्हि शुद्धाद्वैतपक्षे अनिलस्पन्दव-
दहंत्वविकल्पं कल्पयिता को व्यवहारं भुङ्क्ते । जगद्भ्रान्ति-
विकल्पस्यापि तथैवावर्जने पुनर्बन्धमोक्षकल्पनापि स्यादिति
प्रश्नार्थः ॥ ४८ ॥ हेयार्थसत्यत्वाभिनिवेशे हि पुनर्बन्धनं प्रस-
ज्येत । तत्त्वविदां तु सत् ज्ञेयं अलं अत्यन्तं नास्ति । तत्त्व-
ज्ञानेन बाधात् । ज्ञप्तिरेव हि तेषां प्रारब्धशेषभोगाय सर्वा-
र्थाकारेण भासते नातः पुनर्बन्धादिकल्पनाप्रसक्तिरित्युत्तरार्थः
॥ ४९ ॥ ननु न ज्ञप्तिः सर्वार्थरूपा । यतो दीपात्प्रकाशाकाशी-
लपीतादिरूपस्थितिरिव ज्ञतेर्वाह्यात्प्रपटाद्यर्थस्थितिः प्रवर्तते

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं तावद्यथा स्वप्नस्तथेयं चेज्जगत्स्थितिः ।
तत्पिण्डप्रहृतार्थानां सर्वैव भ्रान्तितोदिता ॥ ५३

श्रीराम उवाच ।

किमेतावति संपन्ने संपन्नं भवति प्रियम् ।
कथं च शाम्यत्यर्थानां स्वप्नादौ पिण्डरूपता ॥ ५४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

पूर्वापरपरामर्शात्पिण्डतार्थेषु शाम्यति ।
स्वप्नेऽप्येवं स्थिते स्थूला भावना विनिवर्तते ॥ ५५

श्रीराम उवाच ।

भावना तनुतां याता यस्यासौ किं प्रपश्यति ।
कथं शाम्यति तस्यायं संसारकुहरभ्रमः ॥ ५६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

उद्धस्तमसदाभासमुत्पन्ननगरोपमम् ।
वर्षमोन्मृष्टचित्राभं जगत्पश्यत्यवासनः ॥ ५७

श्रीराम उवाच ।

ततः किं तस्य भवति वासनातानवे स्थिते ।
पिण्डप्रहे गतेऽर्थानां स्वप्नोपमजगत्स्थितेः ॥ ५८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

संकल्परूपजगतः क्रमात्सापि विधीयते ।
वासना तस्य तेनाशु स निर्वाति विवासनः ॥ ५९

श्रीराम उवाच ।

अनेकजन्मसंरुढा शाखा प्रसवशालिनी ।
भवबन्धकरी घोरा कथं शाम्यति वासना ॥ ६०

प्रथां लभते । तथा च दृष्टोपलम्भनः प्रत्यक्षादिसिद्धो बाह्योऽर्थः
सद्रूपो ज्ञतिबलादेव सिद्धः कथं तथैवापलपितुं शक्य इति
शङ्कार्थः ॥ ५० ॥ यदा बाह्यार्थस्याकारणकत्वाद्बन्ध्यापुत्र-
सदृशात्वं प्राकसाधितं तदा तस्य ज्ञेयमापातदर्शनप्रसिद्धा सत्यता
सा शुक्तिरजतसत्यतेव भ्रान्तिमात्रात्मरूपिणी न तु इतरथ-
धार्यशुद्धिरङ्गं साधकं यस्यास्तथाविधा । तत्त्वविदां तु भ्रान्ति-
मूल्यज्ञाननाशात्प्रसक्तिरेव नास्तीत्युत्तरार्थः ॥ ५१ ॥ तास्कालि-
कार्यक्रियासामर्थ्यात्सत्योऽस्तु । प्रबोधबाध्यत्वादसत्यो वाऽस्तु ।
अत्र तच्चिकित्सायां क उपाय इति प्रश्नः स्पष्टः ॥ ५२ ॥ स्वप्न-
सान्ध्ये सिद्धे तत्त्वबोधेन तत्पिण्डप्रहृताबाध एव सर्वदुःखशान्त्यु-
पाय इत्युत्तराशयः । तत्तर्हि सर्वैव अर्थानां पिण्डप्रहृता-
भ्रान्तितैवेति अर्थादुदितैव ॥ ५३ ॥ आशयमप्रतिपथ प्रश्नः
स्पष्टः ॥ ५४ ॥ एवं पूर्वापरपरामर्शेन स्थिते अवश्यं प्रबोधो-
दये स्थूला स्वप्नभावना विनिवर्तते ॥ ५५ ॥ यस्य पूर्वापरविम-
र्शेन जगत्स्थौल्यभावना तनुतां याता स जीवन्मुक्तो जगत्किं
कीदृशं प्रपश्यतीति प्रश्नः ॥ ५६ ॥ उत्तरं स्पष्टम् ॥ ५७ ॥
ततस्तदन्तरम् ॥ ५८ ॥ उत्तरोत्तरभूमिपारिवाहकत्वात्

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 यथाभूतार्थविज्ञानाद्भ्रान्तिमात्रात्मनि स्थिते ।
 पिण्डप्रह्वियुक्तेऽस्मिन्दृश्यचक्रे क्रमात्क्षयः ॥ ६१ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 पिण्डप्रह्वियुक्तेऽस्मिन्दृश्यचक्रे क्रमान्मुने ।
 संपद्यते किमपरं कथं शान्तिः प्रजायते ॥ ६२ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 पिण्डप्रह्वयमे शाप्ते चित्तमात्रात्मतां गते ।
 निरोधगौरवोन्मुक्ते जगत्सास्थोपशान्त्यति ॥ ६३ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 बालसंकल्परूपेऽस्मिन्स्थिते जगति भासुरे ।
 कथमास्थोपशमनं तादृग्दुःखाय किं नरः ॥ ६४ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 संकल्पमात्रसंपन्ने नष्टे दुःखं कथं भवेत् ।
 संकल्पचित्तमात्रं यत्सत्तावत्प्रविचार्यताम् ॥ ६५ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 कीदृशं भगवंद्विस्तं कथं तत्प्रविचार्यते ।
 किं च संपद्यते ब्रूहि तस्मिन्सम्यग्बिचारिते ॥ ६६ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 चित्तश्रेत्योन्मुक्तत्वं यत्तच्चित्तमिति कथ्यते ।
 विचार एष एषास्य वासनानेन शान्त्यति ॥ ६७ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 क्रियमाणं भवेद्ब्रह्म चेत्योन्मुक्तता चित्तेः ।
 चित्तस्याचित्ततोदेति कथं निर्वाणकारिणी ॥ ६८ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 चेत्यं न संभवत्येष चित्किं चेतयते कुतः ।
 चेत्यासंभवतश्चित्तसत्ता नास्ति ततश्चिरम् ॥ ६९ ॥

॥ ५९ ॥ ६० ॥ भ्रान्तिमात्रात्मनि अस्मिन्दृश्यचक्रे यथा-
 भूतार्थविज्ञानात्पिण्डप्रह्वियुक्ते दृश्यपटन्यायेन स्थिते सति
 प्रारब्धशेषभोगक्रमात्तस्यापि क्षय इत्यर्थः ॥ ६१ ॥ अपरं
 किं निर्विकल्पतासाधकं संपद्यते इति प्रश्नः ॥ ६२ ॥ भोगा-
 स्थाशान्तिः परवैराग्याख्या संपद्यत इत्युत्तरम् ॥ ६३ ॥ बाल-
 संकल्परूपे अतिपेल्बतया स्थितेऽपि जगति दुःखहेत्वास्थोप-
 शमनं कथम् । तर्हि तादृग्यन्तपेल्बसंकल्पः क्षिणुरपि नरो
 दुःखाय किम् । दुःखमनुभवन् कथं दृश्यते इत्यर्थः ॥ ६४ ॥
 अविचारेण पेल्बत्वापरिज्ञानादेव विशोरपि दुःखम् । विचारेण
 तत्परिज्ञाने तु न तत्तादादिना दुःखमिति त्वमपि विचारयेत्यु-
 त्तरमाह—संकल्पेति ॥ ६५ ॥ प्रश्नः स्पष्टः ॥ ६६ ॥ एषः
 सांप्रतं त्वया मां पुरस्कृत्य क्रियमाणो महाराजायणश्रवणरूप
 एव ॥ ६७ ॥ चित्ते जीवति सति तन्निरोधसाध्या चित्तेर-
 चेत्योन्मुक्तता क्रियत्कारं स्थासति । अतश्चित्तानाशोपायमेव

श्रीराम उवाच ।
 कथं न संभवत्येतच्चेत्यं यदनुभूयते ।
 अपह्वयभ्रानुभवे क्रियते कथमीदृशः ॥ ७० ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 यादृक्स्यादृशविषयं जगत्तस्य न सत्यता ।
 यादृकं तज्ज्ञविषयं तदनाख्यं यददृश्यम् ॥ ७१ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 त्रिजगत्कीदृगज्ञानां कथं तस्य न सत्यता ।
 तज्ज्ञानां तु जगदादृकतद्वृत्तं किं न युज्यते ॥ ७२ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 भाषन्तद्वैतमज्ञानां तज्ज्ञानां तन्न विद्यते ।
 जगच्च नो संभवति नित्यानुत्पन्नमादितः ॥ ७३ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 आदितो यदनुत्पन्नं न संभवति कर्हिचिद् ।
 असद्रूपमनाभासं कथं तदनुभूयते ॥ ७४ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 असदेव सदाभासमनुत्पन्नमकारणम् ।
 जाग्रत्स्वप्नवदुद्भूतमर्थकृद्भ्रानुभूयते ॥ ७५ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 स्वप्नादौ कल्पनादौ च यदृश्यमनुभूयते ।
 तज्जाग्रद्रूपसंस्कारादनुष्ठानानुभूतितः ॥ ७६ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 किं जाग्रद्रूपमाहोस्विदन्यत्स्वप्नेऽनुभूयते ।
 संकल्पे च मनोराज्ये इति मे वद राघव ॥ ७७ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 स्वप्नेषु कल्पनाद्येषु जाग्रदेवावभासते ।
 संस्कारात्मतया नित्यं मनोराज्यभ्रमेषु च ॥ ७८ ॥

वदेति प्रश्नार्थः ॥ ६८ ॥ चेत्यस्यासंभवदर्शनेन मार्जनमेव चित्त-
 नाशोपाय इत्युत्तरार्थः ॥ ६९ ॥ चेत्यं सर्वथा न संभवति
 चेतदनुभवस्य को विषय इति प्रश्नतात्पर्यार्थः ॥ ७० ॥
 अज्ञपरिज्ञातस्यापह्वये अर्थात्तस्य तत्त्ववित्परिज्ञातनामरूपातीत-
 वरूपेव विषय इत्युत्तरार्थः ॥ ७१ ॥ प्रश्नः स्पष्टः ॥ ७२ ॥
 आद्यन्ती देशकालकृतपरिच्छेदौ द्वैतं वस्तुकृतपरिच्छेदश्च यस्मि-
 न्स्तथाविधं तत्तादृशं जगत्तज्ज्ञानां सांप्रतं न विद्यते आदितश्च
 न संभवतीति नित्यानुत्पन्नं शाश्वतविषयवन्ध्यापुत्रप्रायमित्यर्थः
 ॥ ७३ ॥ अत्यन्ताऽसचेत्कथमर्थक्रियासमर्थमनुभूयत इति प्रश्नः
 ॥ ७४ ॥ एवंविधापि जाग्रत्स्वप्नवदनुभूयत इत्युत्तरम् ॥ ७५ ॥
 कल्पनादौ मनोराज्यवितर्कादौ । अनुष्ठानं जाग्रदवधारसादनु-
 भवतः प्रसूतात्प्रसंस्कारादित्यर्थः ॥ ७६ ॥ संस्कारात्स्वप्ने
 किं जाग्रत्प्रसिद्ध एवार्थोऽनुभूयते उतान्य इति मे वदेति
 प्रश्नार्थः ॥ ७७ ॥ तत्राद्यकल्पं रामः परिपृष्टोत्तरमाह—

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

तदेव जाग्रत्संस्कारास्वप्नश्चेदवभासते ।
तत्स्वप्ने लुठितं गेहं कथं प्रातरवाप्यते ॥ ७९

श्रीराम उवाच ।

न जाग्रद्राजते स्वप्ने तद्ब्रह्मान्यत्तदेव हि ।
बुद्धमेतत्कथं त्वन्यदपूर्वमिव भासते ॥ ८०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

नानुभूतोऽनुभूतश्च चेतस्यर्थोऽवभासते ।
सर्गाद्यन्तादिमध्येषु स्वभ्यस्तस्त्विति भासते ॥ ८१

श्रीराम उवाच ।

एवं स्वप्नात्मकं भाति जगदित्येव बुद्धवान् ।
ग्रहवत्स्वप्नयज्ञोऽयं कथं ब्रह्मंश्चिकित्सते ॥ ८२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

योऽयं संसरणस्वप्नः स किंकारणको भवेत् ।
कार्यान् कारणं भिन्नमिति दृष्टं विचारय ॥ ८३

श्रीराम उवाच ।

चित्तं स्वप्नोपलम्भानां हेतुस्तस्मात्तदेव ते ।
विश्वं चाद्यन्तरहितमनासारमनामयम् ॥ ८४

इत्याषं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० रामविधान्तिर्नाम नवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं चित्तं महाबुद्धे महाविद्वनमेव तत् ।
तथास्थितं न स्वप्नादि किञ्चनास्तीतरात्मकम् ॥ ८५

श्रीराम उवाच ।

अवयवावयविनोर्यथा भिन्नस्तथा स हि ।
तत्रानवयवे ब्रह्मण्येकता जगदादिना ॥ ८६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं न संभवत्येव नित्यानुत्पन्नमादितः ।
जगत्तेनाजरं शान्तमजं सर्वमवेधितम् ॥ ८७

श्रीराम उवाच ।

काकतालीयवन्मन्ये सर्गाद्यन्तादयो भ्रमाः ।
भ्रान्तिद्रष्टृत्वमोकृत्वसहिताः परमे पदे ॥ ८८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

या व्यापारवती रसाद्रसविदां काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्था परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमखिलं निर्वेणितं निर्बुतं
यावद्दृष्टिदृशो न सन्ति कलिता नो शून्यता नो भ्रमः

स्वप्नेष्विति । जाग्रत् जाग्रत्प्रसिद्धोऽर्थ एव ॥ ७८ ॥ लुठितं पातितं गेहं गृहम् । अर्थाभेदे स्वाप्नपातनस्य जाग्रत्पातनरूपत्वादिति भावः ॥ ७९ ॥ आद्यकल्पपरिग्रहे दूषिते रामो द्वितीयकल्पमवलम्बते—नेति । जाग्रदर्थः स्वप्ने न राजते न भासते कित्वन्यत् । तच्च ब्रह्मैवेत्येतत्त्वदभिप्रेतं मया बुद्धम् । एतावांस्तु संदेहः परिशिष्टः—तदन्यद्ब्रह्म अपूर्वं जगदिव भासते इति ॥ ८० ॥ नापूर्वमिव भासत इत्येव नियमः किंतु कश्चिदर्थो नानुभूतोऽपूर्वं इति कश्चित् प्रागनुभूतो नापूर्वं इति चावभासतेऽसौ च येन येनाकारेण सर्गाद्यन्तादिमध्येष्वनुभवोऽभ्यस्तः स इति तेन तेनाकारेण भासते । तत्र ब्रह्माकारताभ्यासे स्वभ्यस्ते तथैव भासिष्यत इति भावः ॥ ८१ ॥ एवं त्वया बोधितोऽहं जाग्रज्जगदपि स्वप्नात्मकमेव भातीयेव बुद्धवान् । तथाविधोऽप्ययं जगद्यज्ञो ग्रहवद्भाषते अतः कथं चिकित्सते ॥ ८२ ॥ कारणपरीक्षणेन स चिकित्सनीय इत्याशयेन वसिष्ठस्तत्कारणं पृच्छति—योऽयमिति ॥ ८३ ॥ उत्तरं स्पष्टम् ॥ ८४ ॥ चित्तं च चेत्योन्मुखी चिदेवेत्यसकृदुक्तमेवेति तच्चित्तं महाविद्वनमेव । तथा च तदेव जगदाकारमिव स्थितमिति सिद्धमित्यर्थः ॥ ८५ ॥ तर्हि वृक्षशाखान्यायेन मेदाभेदेन ब्रह्मणि जगत्स्थितमित्येव कुतो नोच्यते न स्वप्नादि किञ्चन अस्तीति कुतो निषिध्यते इति रामः शङ्कते—अवयववेति । यथा अवयवानां शाखाकीनामवयविनो वृक्षस्य च तादात्म्यलक्षण एकीभावो भिन्नो भेदसहिष्णुस्तथा चित्तजगतोरप्यसु । तत्र जगदादिना समष्टिचित्तेन अनवयवे ब्रह्मण्येकतास्त्वित्यर्थः

॥ ८६ ॥ परिहरति—एषमिति । एवं कल्पना न संभवत्येव । यत आदितो विमर्शं ब्रह्मणि कारणाभावाज्जगदित्यानुत्पन्नम् । न हि मायिककल्पनामात्रेणावयवावयविभावो भेदाभेदो वा भवति । मरुतवीगन्धर्वनगरादेरपि भरीचिनमःप्रभृत्यवयवताप्रसङ्गादिति भावः । अवेधितमच्छिद्रितमखण्डितमिति यावत् ॥ ८७ ॥ एवं समाहितो रामः परिशिष्टां सैद्धान्तिकीं स्थितिमेवावलम्ब्याह—काकतालीयवदिति ॥ ८८ ॥ एवं जगद्भ्रान्तिमात्रमेवेति निश्चितवन्तं रामं प्रति सापि भ्रान्तिर्दृष्टिद्वयमूलकेन शास्त्रीयविचारेण मया निराकृतेति वसिष्ठ उपसंहरति—येति । त्रिविधा हि प्रसिद्धा दृष्टिः । पामरदृष्टिर्बौद्धिकदृष्टिस्तत्त्वदृष्टिश्चेति । तत्रादौ प्रथमा उत्तराभ्यां द्वाभ्यां निराकार्या, द्वितीया त्वन्ते तृतीययेत्याशयेन उत्तरे द्वे दृष्टी अवलम्ब्य मयेदमखिलं विश्वं तस्वतो निर्वेणितम् । के ते द्वे । रसाद्रसविदां सारादपि सारं निर्मथ्य बोद्धुं समर्थानां कवीनां प्रमाणप्रमेयतत्त्वपरीक्षाकुशलानां पटुतरविचारव्यापारवती अतिनिष्कर्षरूपत्वादभिनवा या काचिद्दृष्टिः सैका । या चापस्य सर्वविचारशास्त्रभ्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकपरिनिष्ठिते अः परमतत्त्वरूपोऽर्थस्तन्मात्ररूपस्य विषयस्य उन्मेषः अपरोक्षतया स्फुरणं यस्यां चरमसाक्षात्कारवृत्तौ तादृशी वैपश्चिती विपश्चित्तु जीवन्मुक्तेषु प्रसिद्धा सा च । ते द्वे दृष्टी अवलम्ब्यास्मिन् शास्त्रे कियत्पर्यन्तं विश्वं निर्वेणितं तदाह—यावदिति । यावद्दृष्टयश्च तद्दृशो जीवाश्च कालत्रयेऽपि न सन्ति । जगतः शून्यतापि न कलिता, भ्रमश्च न कलितस्तावदित्यापरोक्षपरमानन्दब्रह्म-

एकनवत्यधिकशततमः सर्गः १९१

श्रीराम उवाच ।

एवं चेशम्भुविशेष्य परमार्थमयं जगत् ।
सर्वदा सर्वभावात्मा नोदति न च शाम्यति ॥ १
आन्तिरेवेयमाभाति जगदाभासरूपिणी ।
आन्तिरेवापि वा नैव ब्रह्मसत्सैव केवला ॥ २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

काकतालीयवद्ब्रह्म यद्भासीवात्मनात्मनि ।
स तेनैवात्मनात्मैव जगदित्यवबुध्यते ॥ ३

श्रीराम उवाच ।

कथं तपत्यहोऽदिकं सर्गस्यादौ परत्र च ।
कथं भित्त्वा विना भाति वद दीपप्रभा मुने ॥ ४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्थंरूपमिदं भाति चित्तिरूपप्रभाप्रभा ।
पश्य सैवात्मनाऽऽस्ते यत्प्रकाशादिभिरेव च ॥ ५
भित्तौ प्रकाशो भातीव तत्कुञ्चं भासनं च तत् ।
इदं पस्यासंभवादादौ वक्ता ब्रह्मा प्रदृश्यताम् ॥ ६
तस्माद्ब्रह्मास्ति नो इदं नैवात्मीदमनामयम् ।
चित्प्रभैवात्मना भित्तिर्भवत्याभासनं तथा ॥ ७
द्रष्टृदृश्यात्मिकैकेव स्वात्मनैव विराजते ।
स्वप्नादिषु यथेहाद्य द्रष्टृदृश्यात्मिका सती ॥ ८

लोकवस्तुस्थितिपर्यन्तमिति यावत् ॥ ८९ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे रामविश्रा-
न्तिर्नाम नवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९० ॥

ब्रह्मैव जगदाकारं यथा भास्यप्रबोधतः ।

प्रबुद्धमात्रनिर्वाणं तत्सम्पत्तिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

एवं प्रतिबोधितो रामः सैदान्तिकं पक्षं प्रतिपद्याभिल-
पति—एवं चोदित्यादिना । परमार्थमयं परतत्त्वविवर्तः ॥ १ ॥
आन्तिरेविशेष्यप्रकाशप्रधाना अविद्या यौक्तिकदृशा, तत्त्वदृशा तु
सापि नैव ॥ २ ॥ श्रीरामोक्तमनुमोदमानो वसिष्ठस्तदेवाह—
काकतालीयवदिति । काकतालीयवदत्पर्यया अविद्याया
आत्मना जीवभूतेन तेनैव ब्रह्मणा ॥ ३ ॥ महाप्रलयकाले
खालम्बनदिग्विभागादिशून्यं अपरिच्छिन्नचित्प्रकाशसंभावय-
न्निव सविस्मयं रामः पृच्छति—कथमिति । अदिकं विरभानं
विना सर्गस्यादौ प्रलयकाले परत्र मोक्षे च कथं तपति प्रका-
शते । अहो इत्याश्चर्यं । भित्त्या आलम्बनेन । तथा च विना-
लम्बनं प्रभाया इव चिदात्मनोपि प्रथा असंभाव्येत्यर्थः ॥ ४ ॥
अन्नात्रादृष्टमत्याश्चर्यमप्येतत्प्रमाणानुभवबलादेव संभावनीय-
मिति समाधत्ते—इत्थंरूपमिति । इदमित्थंरूपमत्याश्चर्यमेव ।
'विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्' इति श्रुतेः । 'आश्चर्यवत्पश्यति
कश्चिदेनम्' इति भगवद्वचनाच्च । तथापि नासंभावना कार्या ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां परीक्ष्य त्वं पश्य । यथास्मात्सैव चिति-

चिद्भात्येव हि सर्गादौ कचन्ती भाति सर्गवत् ।
भासनीयं च भानं च रूपं यत्र स्वयंप्रभा ॥ ९
एकैव चिद्वयं भूत्वा सर्गादौ भाति सर्गवत् ।
एष एव स्वभावोऽस्या यदेवं भाति भासुरा ॥ १०
एतसु स्वप्नसंकल्पनगरेष्वनुभूयते ।
इत्थं नाम तपत्येषा चिद्दृष्टिः प्रथमोदिता ॥ ११
नप्रस्येव नभोरूपा यदिदं भासते जगत् ।
अनाद्यन्तमिदं तस्याः सर्गाः सर्गात्मभासनम् ॥ १२
स्वभावभूतमस्माकं त्विदं भाति महात्मनाम् ।
भास्यभासकसंवित्तिर्नश्यति प्रतिभामिता ॥ १३
तदा तु नाम सर्गादौ नासीद्भास्यो न भासकः ।
मिथ्याहानवशादेव स्थाणौ पुंस्रत्ययो यथा ॥ १४
तथात्मनि द्विताभानाच्चित्से द्वैतविभासनम् ।
सर्गादौ न च भास्योस्ति न च वा नास्ति भासकः १५
कारणाभावतोद्वैतं चिद्व्योमाभाति केवलम् ।
किं नाम कारणं ब्रूहि सर्गादौ चिति वस्तुतः ॥ १६
अभावादर्थदृष्टीनां चिदेवेत्यं प्रकाशते ।
जगद्भानमिदं यत्तत्र जाग्रन्न सुषुप्तकम् ॥ १७
न स्वप्नोऽसंभवाद्दृश्यं केवलं ब्रह्म भासते ।
चिन्मात्रव्योमसर्गादाचित्थं कचकचायते ॥ १८

रूपा सूर्यादिप्रभाया अपि प्रभा अन्धकारकाले आत्मनैव
प्रथमाना आन्ते । सूर्योदयाद्यनन्तरं प्रकाशादिभिः सहाप्यात्ते
॥ ५ ॥ सूर्यादिप्रकाशोऽपि भित्त्यादिनिरपेक्षप्रकाशस्वभाव एव
सन् भित्तौ भातीव । न हि तस्य प्रकाशता भित्तिप्रयुक्ता ।
प्रत्युत कुञ्चं तद्भासनं च तत्स्यप्रकाशताबलादेव संपद्यते ।
प्रकाशैकरस्येनैव कुञ्चप्रथनात् । तत्र यथा कुञ्चादिसंबन्धा-
त्प्राङ्मसि प्रकाशो दृश्यते तथा सर्गस्यादौ प्रलयेऽपि वक्ता
श्रोता चायमात्मा निर्विषयो दृश्यतामित्यर्थः ॥ ६ ॥ एवं
निरालम्बनचित्संभावनसिद्धेः सैव सर्गादौ जगदाकारेण संप-
ञ्जति संभावयेत्याह—तस्मादिति । भित्तिर्नृतेमालम्बनभा-
भासनं सूर्यादिप्रभा यथा तथैव ॥ ७ ॥ एकस्या एव चित्तस्त्रिपुटी-
भावः स्वप्नादिष्वपि प्रसिद्ध एवेत्याह—द्रष्टृति ॥ ८ ॥ यत्र
यस्मिन्सर्गादिकाले ॥ ९ ॥ स्वभावो मायाशक्तिः ॥ १० ॥ तपति
प्रकाशते ॥ ११ ॥ तस्याः सर्गात्मना भासनं भानमेव सर्गाः
॥ १२ ॥ अज्ञानादेवेदमाश्चर्यवद्भाति नास्माकमित्याह—स्वभा-
वभूतमिति । अकस्मात्प्रतिभामितापि झटित्येव तत्त्वानुसंधानेन
नश्यति ॥ १३ ॥ कथं तत्त्वानुसंधानं तदाह—तदा त्विति
॥ १४ ॥ भासकश्चिदात्मा तु न नास्ति अवश्यमस्यैव ।
वाशब्दः संसुष्ये ॥ १५ ॥ १६ ॥ सर्गादौ जगद्भानस्य जाग्रदाद्य-
वस्थात्रयानन्तर्भावादपि तुर्यचिदेवेत्यं प्रकाशत इत्याह—

१ पक्षान्तरे इति पाठः ।

यत्स्वमेव वपुर्वेत्ति जगदित्यजगन्मथम् ।
चिन्मात्रव्योमसर्गादावित्थं भाति विकासनम् ॥ १९
यदिदं जगदित्येव शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥ २०

बुद्धा च यावत्स्वनुभूतियुक्तं
स्थातव्यमेतेन विकल्पमुक्तम् ।
पाषाणमौनं कुजनेन तूक्तं
न प्राह्यमग्नेन हि भुक्तमुक्तम् ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठम० वा० दे० मो० नि० उ० महावादबोधनं (तत्त्वानुसंधानं) नामैकनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९१ ॥

द्विनवत्यधिकशततमः सर्गः १९२

श्रीराम उवाच ।

अहो नु सुचिरं कालं संभ्रान्ता धयमन्तरे ।
अपरिज्ञातमात्रेण संसारपरमाम्बरे ॥ १
बुद्धे यावदियं नाम जगद्भ्रान्तिर्न किंचन ।
न चाभून्न च वास्तीयं न च नाम भविष्यति ॥ २
सर्वं शान्तं निरालम्बं विज्ञानं केवलं स्थितम् ।
अनन्तं चिद्धनं व्योम नीरागमपकल्पनम् ॥ ३
परमाकाशमेवेदमपरिज्ञातमात्रकम् ।
संसारतामिवासाकं गतं चित्रमहो नु भोः ॥ ४
इत्थं द्वैतमिदं भातमिमे लोका इमेऽद्रयः ।
परमाकाशमित्यच्छमेवानच्छमिव स्थितम् ॥ ५
सर्गादौ परलोकादौ स्वप्नादौ कल्पनादिके ।
चिदेव चेत्यवद्भाति कुतोऽन्या किल दृश्यधीः ॥ ६
स्वर्गे वा नरके वापि स्थितोऽस्मीति मतिर्यदि ।
तत्तस्या नरकस्यान्तो दृश्यं संविन्मयात्मकम् ॥ ७
नेदं दृश्यं न च द्रष्टा न सर्गो न जगन्न चित् ।
न जाग्रत्स्वप्नसिद्धादि किमपीदं तदप्यसत् ॥ ८

कुतोऽस्याः संभवो भ्रान्तेरिति चेद्दृश्यते मुने ।
तदेतदपि नो युक्तं भ्रान्त्यभाषानुभूतितः ॥ ९
भ्रान्तिर्न संभवत्येव निर्विकारे ज्ञतापदे ।
यत्त्विदं भ्रान्तिताज्ञानं तत्तदेवेतरन्न तत् ॥ १०
निरन्तरे निराद्यन्ते व्योम्नि शैलोदरेऽथवा ।
कुतोऽन्यताकल्पकं स्याज्ज्ञपदे चाविकारिणि ॥ ११
मिथ्यैवानुभवो भ्रान्तेः स्वप्ने स्वमरणोपमः ।
यदनालोकनं नाम शाम्यतीदं विलोकनात् ॥ १२
सृगटृष्णाम्बुगन्धर्वनगरद्वीन्दुविभ्रमः ।
तथाऽविद्याभ्रमश्चायं विचाराभ्योपलभ्यते ॥ १३
बालवेतालवद्भ्रान्तिर्न विद्या जाग्रदापि हि ।
अविचारेण संरूढा विचारेणोपशाम्यति ॥ १४
कुत आसीदिति मुने नात्र प्रश्नो विराजते ।
सत एव विचारेण लाभो भवति नासतः ॥ १५
प्रामाणिकविचारेण प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
तदेतदसदेवादि तत्तर्ह्यनुभवो भ्रमः ॥ १६

अभावादिति ॥ १० ॥ १८ ॥ विकासनमित्युत्तरान्वयि
॥ १९ ॥ शून्यत्वाम्बरयोर्मेदविकल्पविकासनम् ॥ २० ॥ वर्णितं
तत्त्वानुसंधानप्रकारमुपसंहरति—बुद्धेति । एतेन बहुकतस्वानु-
संधानोपायेन तत्त्वं बुद्धा यावद्भूमिकापरिपाकक्रमेणैवं स्वनु-
भूतियुक्तं दृढं भवति तावद्विकल्पमुक्तं यथा स्यात्तथा पाषाण-
मौनं निरुद्धवागादिभ्यापारं निर्विकल्पसमाधौ स्थातव्यम् ।
अग्नेन स्वेन परेण च अनार्दी संसारे पुनःपुनर्भुक्तं वैराग्याति-
शयेन सांप्रतं मुक्तं त्यक्तं बाह्यविषयजातं तु कुजनेन भुंक्तेत्यु-
क्तमपि न प्राह्यम् । विषयग्रहणस्य भोगलाभ्यद्वेदुतया
समाधिमुखविद्यातत्त्वादिति भावः ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महाराजमायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महावादबो-
धनं नामैकनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९१ ॥

इह प्रबुद्धो रामः स्वं प्रबोधं गुरुसन्निधौ ।

यथा चिन्मात्रमेवेदं तथा विस्मरतोऽग्रधीत् ॥ १ ॥

सर्वसंदेहनिवृत्त्या सम्यक्प्रबुद्धो रामः सुप्तोत्थितः स्वप्न-
भ्रान्तिमिव संसारभ्रान्तिमाश्चर्यतया स्मरन्नाह—अहो इत्या-
दिना । संसारलक्षणे परमे निरवधौ अम्बरे तत्राप्यन्तरे
एतद्ब्रह्माण्डैकदेशे सुचिरं कालं धयमपरिज्ञातमात्रेणास्तत्स्वेन

संभ्रान्ताः ॥ १ ॥ बुद्धे आत्मतत्त्वे तु यावदिति साकल्ये ।
तथा चोक्तं सुरेश्वरवार्तिके 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्पत्तिसम्यग्धी-
जन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति'
इति ॥ २ ॥ यतः अपकल्पनमत एव तद्रजनाभाषाजीरोगम्
॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ कल्पना काव्यरचना । आदिपदान्मनोराज्य-
परिग्रहः ॥ ६ ॥ मतिर्भ्रान्तिः । तत्तस्या भ्रान्तेर्वशात्सत्स्य पुंसां
नरकस्य अन्तो बन्धः । 'अति बन्धने' घम् ॥ ७ ॥ चित् चिदा-
भासः ॥ ८ ॥ भ्रान्तेरसद्रूपत्वात्तत्कारणचिन्ताप्ययुक्तैवेत्याह—
कुत इति । दृश्यते आलोच्यते ॥ ९ ॥ ज्ञता तत्त्वज्ञानं तत्पदे
॥ १० ॥ निरन्तरे अन्तरालान्ये शैलोदरे स्फटिकविलगर्भे वा
॥ ११ ॥ १२ ॥ द्वीन्दुविभ्रमो यथेति शेषः ॥ १३ ॥ जागरणं जाग्र-
पमर्थे कः । जागरे प्रत्यक्षदृष्ट्यापि न विद्या न यथार्था ॥ १४ ॥
इयं भ्रान्तिः कुतो निमित्तादासीदिति प्रश्नोऽप्यत्र न विराजते ।
विचारार्थं हि प्रश्नः स चात्र निष्फलः । तन्मूलस्याज्ञानस्यासतो
निर्णयत्वायोगादित्यर्थः ॥ १५ ॥ अज्ञानस्यासत्त्वं प्रमाणपूर्वक-
विचारात्म्यत्वादेवेत्याह—प्रामाणिकेति । आदिजगन्मूल-
ज्ञानम् । तत्तस्मात्कारणादेव हि तदनुभवो भ्रमः ॥ १६ ॥

यथास्तीति परिच्छिन्नं प्रमाणैः सुविचारितम् ।
 कपुष्पशशभृङ्गाभं तत्कथं लभ्यते सतः ॥ १७
 सर्वतः प्रेक्ष्यमाणोऽपि यः कुतश्चिन्नं लभ्यते ।
 तस्य स्यात्कीदृशी स्रस्ता बन्ध्यातनयरूपिणः ॥ १८
 भ्रान्तिर्न संभवत्येव तस्मात्काचित्कदाचन ।
 निरावरणविज्ञानघनमेवेदमाततम् ॥ १९
 यत्किञ्चिज्जगदद्यात् भातीदं परमेव तत् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० विश्रान्त्युपगमवर्णनं नाम द्विनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमः सर्गः १९३

श्रीराम उवाच ।

अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्वयो विदुः ।
 यत्पदं तदिदं भाति क्व जगत्क व दृश्यता ॥ १
 द्वैताद्वैतसमुद्भेदवाक्यसंबेदविभ्रमैः ।
 अलमस्माकमाशान्तमार्यं रूपमनामयम् ॥ २
 व्योमनि व्योमभावानां प्रशान्तं यादृगासितम् ।
 तादृक्चिद्योमनि स्फारत्रिजगद्योमभासनम् ॥ ३
 यथा व्योमनि व्योमत्वं दृषत्वं दृषदि स्थितम् ।
 जलत्वं च जलस्यान्तर्जगत्वं चिद्धने तथा ॥ ४
 साहंतादिजगद्दृश्यमाशाकाशविसार्यपि ।
 महाचित्तुदरं विद्धि खं शान्तं शून्यतोदितम् ॥ ५
 जीवस्यास्मिन्विमूढस्य परेऽपरिमितोदये ।
 प्रस्फुरन्नापि संसारपिशाच उपशाम्यति ॥ ६
 मेदोपलब्धिर्नलति व्यवहारवतोऽप्यलम् ।
 जडस्येवाजडस्यैव वीचेरिव जलोदरे ॥ ७

अज्ञानं तत्कार्यं च सन्मूलकमेव किं न स्यात्तत्राह—यदिति ।
 प्रमाणैर्वाच्यैरन्मणैस्त्वादिस्रुतिभिः ॥ १७ ॥ तर्हि जगदपि सदेव
 किं न स्यात्तत्राह—सर्वत इति । कुतश्चिन्कारणात् प्रमाणाच्च
 ॥१८॥१९॥ परेषु निरतिशयानन्देन आपूर्णे परे ब्रह्मस्वरूपे
 परं तदेव स्वे महिष्यवतिष्ठते ॥ २० ॥ २१ ॥ कीदृशं तत्पद-
 मवतिष्ठते तदाह—अजमिति । अहार्यं परैरपहर्तुमशक्यम् ।
 अर्थाविरुद्धिर्जुष्टं समन्तात्पूर्णमहमेव निरहं सत् बोधादुदितम् ।
 आवरणपरिच्छेदभङ्गात्सर्वतोविकासि ॥ २२ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्त्युप-
 गमवर्णनं नाम द्विनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९२ ॥

इह रामः प्रबोधेनाऽज्ञाननिद्राक्षये क्षणात् ।

निर्हृदमिच्छिन्नद्वैतमीत्यात्मस्थितिमवधीत् ॥ १ ॥

देवाः कर्मोपासनसिद्धाः । ऋषयस्तपोयोगसिद्धाः । अथवा
 चक्षुरादिबाह्यान्तःकरणान्येवात्र देवा ऋषयश्च । 'ते ह देवा
 उद्गीथमाजहुः । इमावेव गौतमभरद्वाजौ' इत्यादिश्रुतेः ॥ १ ॥
 द्वैताद्वैतयोरनुसंधाने यो मनसि समुद्भेदस्तत्प्रयुक्तैर्वाक्यव्यवहारैः
 संबेदहैर्विभ्रमैश्चास्माकं अलम् । प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः । आद्यं

१ वाच्यारम्भणहस्तासिद्धिः इति वाठः.

परं परे परापूर्णे पूर्णमेवावतिष्ठते ॥ २०
 न भातं न च नाभातसिंह किञ्चित्कदाचन ।
 इदमित्थं स्थितं स्वच्छं शान्तमेव जगद्गुः ॥ २१
 अजममरमहार्यमार्यजुष्टं
 परमधिकारि निरामयं समन्तात् ।
 पदमहमुदितं ततं हि शुद्धं
 निरहमनेकमथाह्वयं विकासि ॥ २२

काप्यज्ञानरवौ याते प्रतापाद्याकरे भृशम् ।
 संसारसत्तादिवसो यात्यस्तं स निशागमः ॥ ८
 भावामावेषु कार्येषु जरामरणजन्मसु ।
 ह आजवं जवीभावे तिष्ठन्नपि न तिष्ठति ॥ ९
 नाविद्यास्ति ह न भ्रान्तिर्न दुःखं न सुखोदयः ।
 विद्याऽविद्या सुखं दुःखमिति ब्रह्मैव निर्मलम् ॥१०
 परिहातं सदेतत्तु यावद्ब्रह्मैव निर्मलम् ।
 अपरिहातमस्माकमब्रह्मात्म न विद्यते ॥ ११
 प्रबुद्धोऽसि प्रशान्ता मे सर्वा एव कुदृष्टयः ।
 शान्तं समं सोहमिदं खं पश्यामि जगन्नयम् ॥ १२
 सम्यग्ज्ञातं यावदिदं जगद्ब्रह्मैव केवलम् ।
 अज्ञातात्माभवद्ब्रह्म ज्ञातात्मन्यधुना स्थितम् ॥ १३
 ज्ञाताज्ञातमनिर्भासं ब्रह्मैकमजरं तथा ।
 शून्यत्वैकत्वनीलत्वरूपमेकं नभो यथा ॥ १४

सर्वादौ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुति-
 सिद्धं यद्रूपं तदिदं सर्वं भातीत्यनुकल्प्यते ॥ २ ॥ संप्रति
 जगद्ज्ञानं कीदृकसंपन्नं तदाह—व्योमनीति । व्योमभावानां
 केशोष्णकमुक्तावलीगन्धर्वनगरादीनाम् ॥ ३ ॥ व्योमादौ
 व्योमत्वादि यथा अमेदेन सामान्यरूपेण तद्भावेन च स्थितं
 तथेत्यर्थः ॥ ४ ॥ आशासु दिक्षु आकाशे च विसारि असं-
 ख्येयतया विस्तृतमपि शून्यतया उदितं शून्यतोदितम् ॥ ५ ॥
 अपरिमितोदये अस्मिन्परे ब्रह्मणि दृष्टमात्रे जीवस्य संसार-
 पिशाच उपशाम्यति ॥ ६ ॥ कथमुपशाम्यति तदाह—मेदो-
 पलब्धिर्नलति । लडयोरमेदाज्जलस्यापीत्यापि नीत्विपक्षे ॥ ७ ॥
 प्रताप आध्यात्मिकादित्रिविधसंताप आदिपदाद्विषयतृष्णा
 तदाकरे । अस्त्वमदर्शनं याति स मोक्षसुखविभ्रान्तिहेतुर्निशा-
 गमः ॥ ८ ॥ आजवं जवीभावे व्यवहारविक्षेपे च ॥ ९ ॥
 ॥ १० ॥ अस्माकं तत्त्वविदाम् ॥ ११ ॥ समं सर्वद्वैतवैषम्य-
 रहितम् ॥ १२ ॥ नाहं कश्चिन्प्रागधुनाप्यम्यः किंतु ब्रह्मैव
 प्रागज्ञात आत्मा येन तथाविधमभवत् । अधुना तु ज्ञाते
 आत्मनि स्वस्वभावे स्थितम् ॥१३॥ अनिर्भासं स्वातिरिक्तज्ञाना-
 ज्ञाननिर्भासशून्यम् । यथा नीलत्वशून्यत्वे नीलत्वे च तत्र शुद्धं

निर्वाणमासे गतशङ्कमासे
निरीहमासे सुसुखेऽहमासे ।
यथास्थितं नित्यमनन्तमासे
तदेवमासे न कथं समासे ॥ १५
सर्वं सदैवाहमनन्तमेकं
न किञ्चिदेवाप्यथवातिशान्तः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० नि० उ० विश्रान्तिकथनं नाम त्रिनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९३ ॥

सर्वं न किञ्चिच्च सदेकमस्मि
न चास्मि चेतीयमहो तु शान्तिः ॥ १६
अधिगतमधिगम्यं प्राप्तमप्राप्तमन्वै-
र्मतमिदमलमस्तं वस्तुजातं समस्तम् ।
उदितमुदितबोधं तादृशं यत्र भूयो-
ऽस्तमयसमुद्धानां नाम नामाधि नास्ति ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमः सर्गः १९४

श्रीराम उवाच ।

सर्वात्मसर्वभाषेषु येन येन यदा यदा ।
यथा भाति स्वयंबोधस्तथानुभवति स्वयम् ॥ १
स्वभाव एव तिष्ठन्ति सर्गाः संमिलिता अपि ।
अत्रापि स्वीकृता एव नानारत्नांशवो यथा ॥ २
अत्र दृष्टमदृष्टं च मिथो विशति गच्छति ।
जगद्रश्मिभवनं रत्नं नानारत्नघनं यथा ॥ ३
दीपानामिय सर्गाणां बहुनां ज्वलतां परम् ।
केषांचिदस्त्यनुभवो मिथः केषांचिदेव नो ॥ ४
अप्लवण्विव रसोऽम्नोघावावर्तरमणावनौ ।
सर्गेऽस्ति प्रत्यणुं तस्मिन्नापि सर्गास्तथा क्रमः ॥ ५

तद्वदित्यर्थः ॥ १४ ॥ तत्तस्मात्प्रयोधानिर्वाणमेव सच्चहमासे ।
अज्ञाननिवृत्त्यैव सर्वशङ्कानिवृत्तेर्गतशङ्कमासे । सुसुखं निर्विक्ले-
पात्मसुखं तत्रैवेह धारावाहिकचित्तवृत्तिर्यथा स्यात्तथा आसे ।
एवं प्रबुद्धोऽहं समासे समस्तात्मनि ब्रह्मणि न कथमासे ।
तद्भावप्रच्युतिहेतूनां बाधादित्यर्थः ॥ १५ ॥ सदैव सर्वमहं
अथवा अतिशान्तः सर्वोपपन्नरहितो न किञ्चिच्च एकं सदह-
मेवास्मि । अथवा देशकालधाराप्रसिद्धेः कापि नास्मि च ।
इति इयं निर्वाणारूपा इयं सर्वशान्तिरहो अत्याश्चर्यरूपेत्यर्थः
॥ १६ ॥ अधिगन्तुं ज्ञातुं योग्यमधिगम्यं परमपुरुषार्थरूप-
मधिगतं ज्ञातम् । अन्यैरज्ञैरगम्यं दुष्प्रापं मोक्षसुखं प्राप्तम् ।
इह संसारानर्थरूपं वस्तुजातं समस्तमस्तं गतम् । चरमसाक्षा-
त्कारोदितप्रबोधं तादृशं निजस्वरूपं मम उदितम् । यत्र
स्वरूपे भूयः अस्तमयसमुद्धानां मरणतिरोधनदुःखावनर्धानां
नामाधि नास्ति । नामेति विद्वत्प्रतिद्वौ ॥ १७ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे विश्रान्तिक-
कथनं नाम त्रिनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९३ ॥

आत्मतत्त्वं जगत्तत्त्वं च यत्र निर्वाणसाधनम् ।

इह रामः स्वयं बुद्धं गुरवे प्रकथयेद्वच ॥ १ ॥

तत्राज्ञातपरममन्त्रमावगाह—सर्वार्थोति । सर्वेषाम्ना-
त्मनां जीवानां सर्वेषु भाषेषु मनोवृत्तिमेषु यदा यदा केव येन
भोगनिमित्तेन यथा स्वयंबोधः सप्रकाशचिदात्मा भाति निर्वर्तते
तदा स्वयमेव भोक्तुं नानाजीवजन्तुवैव अद्भुतवति । स्वयमेव
यो० वा० १९२

सर्वत्र सर्वतो नित्यं चिद्धनस्याम्बुवेदनम् ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते सर्गाधारपरम्पराः ॥ ६
यथावयविता भिन्ना नैवावयविनः क्वचित् ।
शब्दमेदाहते भिन्ना न तथा सर्गता परे ॥ ७
एकस्यानन्तरूपस्य कारणाभावतः स्वयम् ।
नोदेति न च यात्यस्तं जगदादिः स्वभावतः ॥ ८
तपन्ती हतिरेवेयमखण्डवेयतामिमाम् ।
करोत्यकर्तृरूपैव समालोकमिवाकृमाः ॥ ९
वैदृण्ययात्सर्वभाषानां समाप्त्यैवाक्षयं स्वयम् ।
संपद्यते समाधानं यत्तन्निर्वाणमुच्यते ॥ १०

त्रिपुटीभावेन स्वमायया विवर्तत इत्यर्थः ॥ १ ॥ एकस्मिन्नेव
निस्वयवे परमसूक्ष्मे ब्रह्मणि सर्वैर्जीवैर्युगपदभ्यासात्संमिलिता
अपि अनन्ताः सर्गाः प्रत्येकं ब्रह्माण्डमुवननादिभेदविस्तीर्णै
स्वभावे एव परस्परमसंलग्नास्तिष्ठन्ति । यतस्तै अत्र ईदृशे
निरवयवेऽपि ब्रह्मणि तादात्म्याभ्यासेन स्वीकृता आत्मीकृताः
परमसूक्ष्मीकृताः । न स्वात्मनि कस्यचिदन्वकाशता अकरोधो
वास्तीत्यर्थः । यथा सूक्ष्मा नानारत्नानामंशवः किरणा एकस्मि-
न्युहे मिलिता अप्यसंबन्धा असंकीर्णास्तिष्ठन्ति तद्वदित्यर्थः
॥ २ ॥ तदेव विशदयति—अत्रेति । दृष्टं संनिहितं प्रत्यक्ष-
मदृष्टं देशकालव्यवधानात्परोक्षं च जगद्रश्मिभवनमत्रास्मिन्पर-
मात्मनि मिथोऽन्योन्यमसंबाधं समाविशति गच्छति संबरति
च । नानारत्नानां घनं रश्मिजालं यथा तथा ॥ ३ ॥ तत्र येषां
जीवानां समानकर्मवातनानिमित्तोऽध्यासस्तेषां परस्परमजु-
भवोऽस्ति तद्विज्ञानां तु नास्तीत्याशयेनाह—केषांचिदिति ।
दीपपक्षे चक्षुष्मतामन्धानां च ॥ ४ ॥ आवर्तानां रमणावनौ
कीडास्थाने अम्नोधौ अप्लवणु प्रतिजलावयव रसो लवणादि-
रस इव । परमार्यतस्तु न सर्गास्तत्कमोऽपि ॥ ५ ॥ अम्बु-
वेदनं जलपरमाशुरस इव ॥ ६ ॥ ७ ॥ एकस्यात्मन एव
माययानन्तरूपस्य जगत आदिरधिष्ठानं तास्वभावत्वाज्जोदेति
नाप्यस्तत्रायाति ॥ ८ ॥ तपन्ती स्फुरन्ती । समालोकं षट-
पदाक्षिप्रकामम् ॥ ९ ॥ कदा तर्हि सा अप्यासम्बन्धेन जहाति
केनोपायेन च तत्राह—वैदृण्ययादिति । सर्वेषां भाषानां
तरवज्जनेन वायात्समाप्त्यैव स्वयमकथं क्वचित् देहाधित्वात्तत्त्वा-

न बुद्ध्या बुध्यते बोधो बोधाबुद्धेर्न बोध्यते ।
 न बुध्यते वा तेनापि बोध्यो बोधः कथं भवेत् ॥ ११ ॥
 प्रबुद्ध एव सुप्ताभः स्वयंबोधो विबुध्यते ।
 देशकालाद्यभावेऽपि मध्याह्नेऽर्कात्तपो यथा ॥ १२ ॥
 सर्वकर्मवितृष्णानां शान्तेच्छानां प्रबोधतः ।
 सतामनिच्छतामेव निर्वाणं संप्रवर्तते ॥ १३ ॥
 प्रबुद्धबोधो ध्यानस्थः स्वभावे केवले स्थितः ।
 न किञ्चिदपि गृह्णाति न किञ्चिदपि खोज्जति ॥ १४ ॥
 यो यथास्थित एवास्ते पश्यन्दीप इवाक्रियः ।
 अमनोमानमननो मनोमननवानपि ॥ १५ ॥
 व्युत्थाने विश्वरूपाख्यमन्यत्र ब्रह्मसंज्ञितम् ।
 सर्गासर्गात्म चिन्मात्रं सत्यं सर्वत्र भासते ॥ १६ ॥
 अभिन्नबोधसद्रूपस्वरूपानुभवे स्थितः ।
 व्युत्थितः सन्निरुद्धश्च यः पश्यति स शाम्यति ॥ १७ ॥
 जगत्पदार्थसार्थानां बोधमात्रैकनिष्ठताम् ।

ध्यासोन्मुक्तं संपद्यते । यत्तादृशं स्वरूपं तदेव सर्वविक्षेप-
 हेतुक्षयात्समाधानं निर्वृत्तित्वाभिर्वाणमुच्यते इत्यर्थः ॥ १० ॥
 अध्यासपरम्परासमाप्त्यैव स्वयं स्वस्य परमपुरुषार्थः परिबिध्यते
 इति कुतः, बुद्धानुभूयमानस्यैव पुरुषार्थत्वादननुभूयमानस्य
 तस्य पुरुषार्थत्वादर्शनात् । तस्मात्पुरुषार्थताप्रयोजिका चरम-
 साक्षात्कारबुद्धिर्मुक्तावावश्यकतीति न सर्वभावानां समाप्तिरभ्यु-
 पगन्तुं युक्त्याशास्त्राह—नेति । परमपुरुषार्थरूपो बोधः परमा-
 त्मबुद्ध्या चरमसाक्षात्कारवृत्त्या न बुध्यते । जडायास्तस्या
 बोधसत्त्वभावात्, बोधस्य बुद्धिविषयत्वायोगात् । तर्हि बोध-
 शक्तिमान्परमात्मा सुप्तो राजा बन्दिभिरिव प्रबोध्यतां तत्राह—
 बोधाबुद्धेरिति । न बोध्यतेऽपि । कुतः बोधाबुद्धेः । सुप्तं
 राजानं बुद्धा तद्बोधनाय बन्दिनः प्रवर्तन्ते । बुद्ध्या तु सुप्तो
 बोधो न बुद्ध इति कथं तद्बोधने सा प्रवर्तन्तेत्यर्थः । तर्हि
 बोधेनैव बोधो बुध्यतां तत्राह—नेति । तेन बोधेनापि बोधो
 न बुध्यते । कुतस्तत्राह—बोध्य इति । बोधः स्वयंबोध्यो
 बोधकर्म कथं भवेत् । क्रियाजन्यातिशयाधारो हि कर्म ।
 न हि बोधे क्रिया तज्जन्यातिशयस्तदाधारता वा संभवति ।
 निष्क्रियत्वाभिर्विकारत्वात्स्वात्मनि क्रियाविरोधाच्चेति भावः
 ॥ ११ ॥ तस्माद्बुद्ध्यासपरम्पराचरमसाक्षात्कारबुद्ध्यन्तपरिणाम-
 परम्परया स्वयमेव समाप्यते । तस्यां च समाप्त्या स्वप्रका-
 शत्वात्प्रबुद्ध एवात्मा नीहारागमात्सुप्तप्रायतां प्राप्तो मध्याह्ने
 निःशेषनीहारापगमेन सवितेव तदातप इव च प्रबुध्यत इव ।
 स एवास्व निष्प्राप्तनिरतिशयानन्दामिष्यकिलक्षणः परम-
 पुरुषार्थ इत्याशयेनाह—प्रबुद्ध एवेति ॥ १२ ॥ कर्मपदेन
 ऐहिकामुष्मिकफलं लक्ष्यते ॥ १३ ॥ मोहनिहातः प्रबुद्धो
 बोधश्चिदात्मा यस्य । ध्यानस्थो निरुद्धबाह्यवृत्तिः ॥ १४ ॥
 व्युत्थानकाले स तर्हि कथमास्ते तदाह—य इति । मनोमन-

विना नास्त्यपरा सत्ता व्योम्नः शून्येतरा यथा ॥ १८ ॥
 शिष्यते स्फीतबोधानां केवलानन्तबोधता ।
 सापि स्वपरिणामेन परेणायात्यवाच्यताम् ॥ १९ ॥
 तद्विधान्तौ परा सत्ता शिष्यते वा न शिष्यते ।
 या काप्यत्यन्तशान्तानां न वाग्वोचरमेति सा ॥ २० ॥
 या समस्य पराकाष्ठा सैव बोधस्य सन्मयी ।
 सर्गस्तन्मय एवातः सकलं शान्तमध्ययम् ॥ २१ ॥
 निर्वाणाय वितृष्णाय स्वच्छशीतलसंविदे ।
 स्पृहयन्ति सदा सत्तां ब्रह्मविष्णुहरा अपि ॥ २२ ॥
 सर्वार्थात्मैव सर्वत्र सर्वदा सर्वथोदितम् ।
 चेतनं शुद्धमेवास्ति नाशो नास्योपपद्यते ॥ २३ ॥
 अत्यन्ततप्तः संसारो निर्वाणमतिशीतलम् ।
 अतिशीतलमेवास्ति तप्तस्त्वेव न विद्यते ॥ २४ ॥
 संचेतन्ति शिलान्तस्था यथालं शालभञ्जिकाः ।
 अनुत्कीर्णास्तथा ब्रह्म चेततीदमखण्डितम् ॥ २५ ॥

नवानपि विषयेष्वासङ्गाभावादमनोमानमननः अत एव बीप-
 यत्प्रकाशयन्नपि अक्रियः ॥ १५ ॥ १६ ॥ यो व्युत्थितो निरुद्धः
 समाध्यारूढश्चाभिन्नबोधो यः सद्रूपस्वरूपानुभवस्तत्रैव स्थितः
 सन् निरोधव्युत्थाने उदासीनवृत्त्या पश्यति स एव संसार-
 विक्षेपाच्छाम्यति नान्यः ॥ १७ ॥ कीदृशी सा तादृशसद्रूपानु-
 भवे स्थितिस्तामाह—जगदिति । बोधमात्रमेव एका निष्ठा
 यथार्थरूपं येषां तद्भावं विना अपरा सत्ता वस्तुस्थितिर्नास्ती-
 त्येवंरूपा सेत्यर्थः ॥ १८ ॥ अपरा सत्ता कुतो नास्तीति
 चेत्तत्त्वसाक्षात्कारेण जगद्रूपभावे तस्माद्विचिन्मात्रसत्ताया एव
 परिशेषादित्याशयेनाह—शिष्यत इति । स्फीतबोधानामपरि-
 च्छिन्नब्रह्मावगाहनानुस्फारताशालिप्रबोधवताम् । सा तादृश-
 प्रत्यगात्मरूपा बोधतापि स्वस्याः ब्रह्मसन्मात्रपरिशेषलक्षणा-
 खण्डाकारवाक्यार्थलक्षणेन परेण परिणामेन अवाच्यतामख-
 ण्डार्थकवाक्यलक्ष्यताम् ॥ १९ ॥ तद्विधान्तौ तद्भावेन स्थितौ
 सत्यां शिष्यते न शिष्यते वेत्युभयविधा वाचामपि गोचरतां
 सा दशा नैति ॥ २० ॥ समस्य सत्तासामान्यस्य पराकाष्ठा
 परमावधिः शोधिततत्पदार्थरूपा सैव बोधस्यापि शोधितत्वं-
 पदार्थरूपा पराकाष्ठा । वियदादिलक्षणः अवस्थात्रयलक्षणश्च
 सर्गः अस्ति भातीति सर्वानुभवात्सत्ताबोधमय एव । एवं सति
 यन्फलितं तदाह—सकलमिति ॥ २१ ॥ तदेव ब्रह्मादीनामपि
 प्रेयस्तमत्वाभिरतिशयानन्दरूपं निर्वाणमित्याह—निर्वाणा-
 येति । सदैवाहं स्यां मा कदाचिन्मा भूवमिति सदैव तत्सत्तां स्पृह-
 यन्ति । अपिशब्दात्सर्वप्राणिनोऽपि ॥ २२ ॥ सर्वेषां सार्व-
 कालिकस्पृहास्पदमेव वस्तु सर्वदेशं सर्वकालं सर्ववस्त्वात्मना
 उदितं चेतनं खतः स्फुरद्रूपं शुद्धं तदेवेति तस्य नाशः अद-
 र्शनं क्षणमपि नोपपद्यते ॥ २३ ॥ तप्तो निरतिशयदुःखरूपः ।
 अतिशीतलमास्त्वन्तिकदुःखोपशमः ॥ २४ ॥ यथा शिल्पि-
 बुद्धावनुत्कीर्णाः शिलान्तस्थाः शालभञ्जिका यथेच्छं संचेतन्ति

यथा चेतति सौम्याम्बुकोशस्थं बीक्षिमण्डलम् ।
 तथा चेतति कोशस्थं महाविद्येस्यमध्ययम् ॥ २६
 अभिभक्तो विभागस्थैरिव शान्तैरनन्तकैः ।
 परमार्थाम्बराभोगैस्त्वबोधात्मत्वमन्थरैः ॥ २७
 वैर्यैर्यथास्व आत्मान्तर्भावितश्चेतितश्चिरम् ।
 भोगमोक्षप्रभेदेषु तेषां तेषां तथोदितः ॥ २८
 मृते वाप्यमृते बन्धौ स्वप्ने स्वप्नविबोधिनः ।
 न यथोदेति सत्याख्या तथा दृश्येषु तद्विदः ॥ २९
 यदिदं क्विल दृश्यादि तच्छान्तमखिलं शिवम् ।
 भावितेऽवगतेऽप्यन्तरिति भ्रान्तेः क उद्भवः ॥ ३०
 सर्वथा देहसंख्येषु वैतृण्यमुपजायते ।
 सम्यग्बोधे सति स्वप्न इवापि स्वार्थकादिषु ॥ ३१
 वैतृण्याद्बर्धते बोधो बोधाद्वैतृण्यवर्धनम् ।
 परस्परेण प्रकटे एते कुड्यप्रकाशवत् ॥ ३२
 येन बोधेन वैतृण्यं धनदारसुतादि वा ।
 खनूनमपि संपन्नं जाड्यं तत्संस्थितं तथा ॥ ३३
 एतावदेव बोधस्य बोधत्वं यद्वितृण्यता ।
 पाण्डित्यं नाम तन्मौख्यं यत्र नास्ति वितृण्यता ॥ ३४
 न तु वैतृण्यबोधाख्यौ न परस्परवर्धितौ ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० रामविभ्रान्त्युपगमो नाम चतुर्नवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९४ ॥

मसत्यावेव तौ नाम नष्टौ चित्रहुताशवत् ॥ ३५
 परमा बोधवैतृण्यसंपत्तिर्भोक्ष उच्यते ।
 तत्रानन्ते एते शान्ते वसता च न शोच्यते ॥ ३६
 गतं गम्यं कृतं कार्यं दृष्टं दृश्यमशेषतः ।
 यावत्सर्वं शिवं शान्तमेकमाद्यमनामयम् ॥ ३७
 आत्मारामस्य शान्तस्य वैतृण्यस्यानहंकृतेः ।
 असंकल्पैव भवति स्थितिः स्वप्नेव निर्मला ॥ ३८
 सहस्रेभ्यः सहस्रेभ्यः कश्चिदुत्थाय वीर्यवान् ।
 भिनत्ति वासनाजालं पञ्जरं केसरी यथा ॥ ३९
 प्राप्तज्योतिर्बोधशुद्धिः परमन्तःप्रकाशवान् ।
 नीहारः शरदीवाशु स्वयमेवोपशाम्यति ॥ ४०
 ज्ञातज्ञेयस्त्वसंकल्पः संकल्पातिशयाशयः ।
 मवासनो व्यवहृतौ वातवत्स्पन्दते न वा ॥ ४१
 मासीद्गीरान्मनस्कारैर्भ्रान्तिमात्रैकनिश्चयात् ।
 यः सर्वत्र खवद्भावस्तदवासनमासितम् ॥ ४२
 निर्वासने भाव उदारसत्त्वे
 ब्रह्माखिलं दृश्यमिति प्रबुद्धे ।
 स्थिरैकनिर्वाणमतावमन्तो
 मोक्षामिधानः प्रशमोऽभ्युदेति ॥ ४३

संस्फुरन्ति तथा भावोपहितमखण्डितमविच्छिन्नमेव ब्रह्म इदं
 जगद्वर्षं चेतति स्फुरतीत्यर्थः ॥ २५ ॥ सौम्याम्बुकोशो जला-
 शयस्तत्स्थम् । कोशोऽन्नमयादिस्तत्स्थं ब्रह्माण्डकोशस्थं च चेत्यं
 स्वयमेव भूत्वा चेतति स्फुरति ॥ २६ ॥ अबोधः अज्ञानावृत्तो
 य आत्मा तद्भावेन मन्थरैर्जडप्रायैः परमार्थाम्बरस्य सन्मात्रस्य
 आभोगैः कृत्रिमवेषैः । इत्यंभावे तृतीया । वैर्यैर्जावैर्यथा यथा
 भावितस्तथा चेतित इति परेणान्वयः ॥ २७ ॥ २८ ॥
 स्वप्नाद्विबोधिनः प्रबुद्धस्य पुरुषस्य स्वप्ने स्वबन्धौ मृते अमृते
 जीवत्यपि वा यथा सत्याख्या सत्यताबुद्धिर्नोदेति तथा तत्स्व-
 विदः सर्वेषु दृश्येष्विति न हर्षशोकप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ २९ ॥
 यद्दृश्यादि त्रिपुटीरूपं तदखिलं शान्तं शिवमित्यन्तर्भाविते
 सम्यगवगतेऽपि सति भ्रान्तेः पश्चात्क उद्भव इत्यन्वयः ॥ ३० ॥
 अवगमे सति केन क्रमेण भ्रान्तेरुद्भवस्तमाह—सर्वथेत्या-
 दिना । देहे सम्यक् रूपायन्त इति देहसंख्यास्तथाविधेषु
 स्वार्थकादिषु भोगतदुपायेषु ॥ ३१ ॥ अस्त्वेवं ततः किं
 तत्राह—वैतृण्यमिति ॥ ३२ ॥ तत्कृतस्तत्राह—येनेति ।
 येन हेतुना वैतृण्यं वा धनदारादि वा तत्त्वाभिनिवेशलक्षणेन
 बोधेनैव सुष्ठु अनूनं खनूनमुपचितं संपन्नं तद्विरोधि तदनुकूलं
 वा जाड्यमपि तथा तत्तदभिनिवेशानुसारेणैव संस्थितमित्यर्थः
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ परस्परवर्धितावपि तावसत्यावेवेति चित्रहुता-
 शवत्कार्याक्षमावेव नष्टाविति न तु मन्तव्यमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

कृतो न मन्तव्यं तत्राह—परमेति । यतो बोधवैतृण्ययोः परमा
 निरतिशया संपत्तिरेव निरतिशयानन्दरूपत्वादात्यन्तिकदुःख-
 हेतुक्षयरूपत्वाच्च मोक्ष उच्यते । अबोध एव हि बन्धमूलं तृण्यैव
 च बन्धस्तदुभयक्षयरूपो हि मोक्ष इत्युपपत्तेरित्यर्थः ॥ ३६ ॥
 अतस्ताभ्यामेव वर्धिताभ्यां कृतकृत्योऽहं वृत्त इत्याह—गत-
 मित्यादिना । गम्यं निरसनीयं गतं निरस्तम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
 तृण्यामोहबन्धमेतारः शूला विरला इत्याह—सहस्रेभ्य इति ।
 यत्मानानां मध्ये इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ प्राप्तः ज्योतिष आत्मनः
 सूर्यादीनां च बोधो ज्ञानं प्रकाशातिशयश्च येन । नीहारो
 जाड्यवासनाभागः प्रसिद्धश्च ॥ ४० ॥ संकल्पानतिशेते अति-
 क्रामत्याशयो यस्य । अवासनो जीवन्मुक्तः स्पन्दते व्यवहरति
 न वा व्यवहरति । समाधावेव विभ्राम्यतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥
 सर्वत्र सर्ववस्तुषु मनस्कारैस्तत्त्वमननैर्धीरात्स्थिरीभूताद्भ्रान्ति-
 मात्रैकनिश्चयाद्यः खवद्भाव आसीत्तदेव अवासनमासितमध-
 स्थानमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ उदारसत्त्वे शुद्धान्तःकरणे पुंस्ति बर्णि-
 तरूपे निर्वासने भावे उदिते सति अखिलं दृश्यं ब्रह्मैवेति
 प्रबुद्धे सति स्थिरैकनिर्वाणमता तस्मिन् पुंस्ति अनन्तो मोक्ष इत्य-
 मिधानं यस्य तथाविधः सर्वसंसारप्रशमः अभ्युदेति । स्वयमेव
 प्रकटीभवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे रामविभ्रान्त्युपगमो नाम चतुर्न-
 वत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकशततमः सर्गः १९५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अहो नु संप्रबुद्धोऽसि राघवाघविधातिनी ।
 वागियं तव संपन्ना प्रबुद्धेष्ववहासिनी ॥ १
 विभातीवासदेवेदमसंकल्पेन शाम्यति ।
 एतच्छान्तिस्तु निर्वाणमित्येव परमार्थता ॥ २
 कल्पनाकल्पने रूपं परस्यैवेतरस्य नो ।
 रूपन्दनारूपन्दने धारोर्यथा नावैकताद्विते ॥ ३
 प्रबुद्धस्यैव या पुंसः शिलाजठरवस्थितिः ।
 शान्तौ व्यवहृती चापि सामला मुक्ततोष्यते ॥ ४
 वयमस्मिन्पदे स्थित्वा राघवाघविधातिनि ।
 शान्तत्वे व्यवहारे च सममित्यमवस्थिताः ॥ ५
 अस्मिन्नेव पदे नित्यं ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
 तिष्ठन्ति व्यवहारस्था अपि शान्ता हरूपिणः ॥ ६
 शैलोदरस्थितिमतां प्रबुद्धानामनामयम् ।
 अस्माकं पदमेवं तदालम्ब्यैतदिहोष्यताम् ॥ ७

श्रीराम उवाच ।

ब्रह्मण्येवमसद्रूपमनुत्पन्नमभासुरम् ।
 अकारम्मममाकारमेवेदं भासते जगत् ॥ ८
 सृगतृष्णांभुसहस्रं तरङ्गावर्तिवारिवत् ।
 दन्तकादीषु कनके स्वप्नसंकल्पशैलवत् ॥ ९
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 बुद्धधानसि चेद्राम तत्त्वबोधविवृद्धये ।

शुभाः प्रबुद्धरामोक्तीः प्रशस्त्य गुरुणा स्वयम् ।

परीक्षार्थं कृताः प्रभा रामेणात्र समाहिताः ॥ १ ॥

तत्रादौ बोधोपवर्णिताः प्रबुद्धरामोक्तीरनुभोवमानो वसिष्ठः
 प्रशंसति—अहो इत्यादिना । हे राम, इयं तव वाक् अप्रबु-
 द्धानामघविधातिनी । प्रबुद्धेषु त्वनुभवसिद्धार्थाद्बुद्धत्वाद्युक्ति-
 युक्तत्वाच्च अवहासिनी प्रहर्षस्मेरवदनताकारिणी संपन्ना ॥ १ ॥
 असदेवेदं जगत् बोधप्रयुक्तसंकल्पे विभातीवेति बन्धनिष्कर्षः ।
 असंकल्पदार्ढ्यपर्यवसितेन तत्त्वज्ञानेन शाम्यतीति मुक्तिसा-
 धननिष्कर्षः । एतच्छान्तिरेव निर्वाणमिति मोक्षनिष्कर्षः ।
 सैव परमार्थतेत्यर्थः ॥ २ ॥ तथा च कल्पनाकल्पनरूपबन्ध-
 मोक्षो अप्रबुद्धस्य प्रबुद्धस्य च ब्रह्मण एव रूपमिति निष्कर्षोपि
 फलित इत्याह—कल्पनाकल्पने इति ॥ ३ ॥ शान्तौ समाधौ
 ॥ ४ ॥ एतत्पदस्थितिरेवासदादिजीवन्मुक्तानां समाधिब्यु-
 त्थानयोस्तुल्यरूपस्थितिरित्याह—व्ययमिति ॥ ५ ॥ शरूपिणः
 प्रबुद्धाः ॥ ६ ॥ शैलोदरमिव निर्विकल्पस्थितिमतामस्माकमे-
 तत्पदं त्वयाप्येवमसदादिबदेव तदालम्ब्य इह जीवन्मुक्तौ
 उष्यताम् । अद्यप्रवृत्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं वसिष्ठोक्त्या जीव-
 न्मुक्तिपदे प्रतिष्ठितो रामो जीवन्मुक्तानां ग्राहसं जगद्भासते
 तदमिलपति—ब्रह्मणीति द्वाभ्याम् । अनुत्पन्नत्वमेवमाकारं

कुरु संशयविच्छेदं पृच्छतः प्रच्छकस्य मे ॥ १०
 इत्थं नित्यानुभूतोऽपि क्षिरस्थोऽप्यसिभासुरः ।
 जगदाख्योऽयमाभासः कथं नाम न विद्यते ॥ ११
 श्रीराम उवाच ।
 पूर्वमेवेदमुत्पन्नं न किञ्चन कदाचन ।
 तेन बन्ध्यासुतस्यास्य न सत्ता कल्पनादते ॥ १२
 किमिवास्या जगद्भ्रान्तेः कारणं प्रोत्थिता यतः ।
 न कारणं विना कार्यं किञ्चित्संभवति कश्चित् ॥ १३
 न चाविकारमजरं सविकारं क्षयादते ।
 कारणं कश्चिदेवेह किञ्चिद्भूतमर्हति ॥ १४
 ब्रह्मैवेदमनाख्यात्म कारणं प्रविजृम्भते ।
 तत्क कस्य कथं नाम जगच्छब्दार्थसंबिदः ॥ १५
 तदनाख्ये पदे शान्ते क्षिरात्प्रथमचेतनम् ।
 कञ्चित्काललवं तिष्ठत्यातिबाहिकदेहभृत् ॥ १६
 क्षणे वत्सरसंबिन्धि स्वप्ने त्वमिव चेतति ।
 काकतालीयवत्तत्र चन्द्रार्कादींश्च पश्यति ॥ १७
 संकल्पैकारमनस्तस्य देशकालक्रियान्वितम् ।
 अत्यन्तमेव व्योम्येव भुवनं भासते स्वयम् ॥ १८
 तस्मिन्मिथ्योपसंपन्ने स मिथ्यापुरुषस्ततः ।
 मिथ्यैव तत्समाचारं कुर्वन्चिपरिवर्तते ॥ १९
 अधस्तादूर्ध्वमायाति पुनरूर्ध्वाद्भ्रजत्यधः ।
 कल्पितानन्तसंभारपदार्थानर्थसंभ्रमः ॥ २०

पृथगप्रथमानम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ इदानीं वसिष्ठो रामं जीवन्मुक्ति-
 प्रतिष्ठाकथापनाय योगपट्टन्यायेन वक्तुपदे स्थापयित्वा स्वयं
 बोध्यवत्पृच्छामि स्वसंशयविच्छेदं कुर्वित्याह—बुद्धधानसीति
 ॥ १० ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणदृढीकृतत्वादर्थक्रियाऽविसंवादाच्च
 सत्यतया क्षिरःस्थितप्रायोऽपि ॥ ११ ॥ तत्र प्राग्गुरुणोक्त-
 भिरेव युक्तिभिः श्रीरामः समाधत्ते—पूर्वमेवेत्यादिना ।
 नोत्पन्नं कारणाभावावित्यर्थः । कल्पनात् भ्रमादते विना ॥ १२ ॥
 कारणाभावमेव दर्शयति—किमिद्वेत्यादिना । यतः प्रोत्थिता
 स्यात् ॥ १३ ॥ ब्रह्मणः कारणताप्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—
 न चेति । पूर्वावस्थाक्षयादते सविकारं न च किञ्चित्प्रसिद्ध-
 मित्यर्थः ॥ १४ ॥ यदि निर्विकारमेव विवर्तोपादानकारणं
 सन्मायया जगदाकारेण विजृम्भत इत्युच्येत तर्हि जगच्छ-
 ब्दार्थः सत्यो न लभ्यत इत्याह—कारणमिति । संबिदो यथा-
 र्थप्रत्ययाः ॥ १५ ॥ प्रथमं चेतनं हिरण्यगर्भाख्यं द्विपरार्थ-
 परिमितं कञ्चित्काललवं विवर्तरूपमातिबाहिकदेहभृत् तिष्ठतीवेति
 जगद्भ्रान्तेः स विषयः पर्यवस्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥ तत्प्रथम-
 चेतनमेव क्षणे वत्सरादिकालविस्तारभ्रमं पश्यति । यथा त्वं
 स्वप्ने तथा पश्यसि ॥ १७ ॥ १८ ॥ तद्भूतभुवनान्दिसर्गसमाचा-
 रम् ॥ १९ ॥ स एव स्वकल्पिते भुवनमेवेदं व्यष्टिजीवात्मना
 बुद्धतादिककर्मोपायान्मायान्मायान् च आन्यासि भ्रमतीव ॥ २० ॥

काकतालीयवचस्य संकल्पस्य भवेद्यदि ।
 यद्यथा तत्तथाद्यापि सुस्थिरामात्तवान्स्थितिम् ॥ २१ ॥
 शिला बन्ध्यासुतमुखे व्योमचूर्णेन रजनम् ।
 करोतीत्यादिवदिदं मिथ्या जगदुपस्थितम् ॥ २२ ॥
 सत्यमेवेदमथवा मिथ्यात्वं तु कुतः किल ।
 न मिथ्यात्वं न सत्यत्वं किमपीदमजं ततम् ॥ २३ ॥
 आकाशकोशवत्स्रच्छं शिलाजठरवद्धनम् ।
 पाषाणमौनवच्छेदं शान्तमेवाक्षयं जगत् ॥ २४ ॥
 चिन्मात्रसर्वसंकल्पे विराडात्मातिवाहिके ।
 देहे संवेदनं व्योम जगदित्यवभासते ॥ २५ ॥
 यत्वं ब्रह्म महाकाशमेवेदं क्व जगत्कथा ।
 शान्तं समसमाभोगमेकमाद्यन्तवर्जितम् ॥ २६ ॥
 यथा पयसि बीचीनामुन्मज्जननिमज्जनैः ।
 न जलान्यत्वमेवं हि भाषाभावैः परैः परे ॥ २७ ॥
 परावरविदः केष्विदेतस्मिन्परमे पदे ।
 शुद्धे परिणमन्त्यन्तर्धारिबिन्दुरिवाग्भसि ॥ २८ ॥
 परेऽपरमिदं भाति परस्येव परात्मकम् ।
 संभवन्त्यमले शान्ते न जगन्ति न तत्क्रियाः ॥ २९ ॥
 स्वप्ने स्वप्न इति ज्ञाते दृश्ये ब्रह्मतयापि च ।
 मृगाम्बुनि परत्वेन को भावयति भावनाम् ॥ ३० ॥

यदि तस्य संकल्पस्य काकतालीयवचथा पूर्वस्थितिस्तथैवाद्यापि स्थितिरभूत्तर्हि तत एव प्रत्यभिज्ञाय जगति सुस्थिरां स्थितिं आत्तवान् भ्रान्त्या गृहीतवान् ॥ २१ ॥ एवं भ्रान्त्या इत्यमुपस्थितमिदं मिथ्या जगत् शिला कामिनी भूत्वा बन्ध्यासुतस्य कान्तस्य मुखे ललाटे व्योमचूर्णेन तिलकं विरच्य रजनं शोभाक्षिप्तं करोतीत्यादिवद्यथार्थवद्विकल्पमात्रमित्यर्थः ॥ २२ ॥ यदि स्वल्पन्तासति मिथ्यात्वाख्यधर्मस्याप्यप्रसिद्धिः पर्यालोचयेत् सर्वभिष्ठानमात्रत्वात्सत्यमेवेत्याह—सत्यमेवेति । यदि तु व्यावर्तनीयमिथ्यात्वात्प्रसिद्ध्या व्यावर्तकसत्यत्वकल्पनमपि तत्र न षडते इति विचार्यते तदा निर्बचनवागप्रसरात्किमपीदम् ॥ २३ ॥ २४ ॥ चिदात्मनो मायिको यः सर्वाकारसंकल्पस्तद्रूपे विराडात्मन्यातिवाहिके देहे संवेदनरूपं यद्योम तदेव जगदिति भासते इत्यर्थः ॥ २५ ॥ एवं सति यत्फलितं तदाह—यद्यमिति । समेभ्योऽपि सम आत्यन्तिकवैषम्यशून्य आभोगो यस्य ॥ २६ ॥ परे ब्रह्मणि ॥ २७ ॥ परावरविदः सारासारविवेकिनः परिणमन्त्यैकरस्यं गच्छन्ति ॥ २८ ॥ परस्य ब्रह्मणो वैष इव कार्यमिव अवयव इव वा अपरमिदं जगत् जीवरूपं भाति । तच्च तत्त्वतो विचारे परमेव संभवति । जगन्ति तत्क्रियाः व्यवहाराश्च न संभवन्ति ॥ २९ ॥ मृगाम्बुनि परत्वेन अन्यत्वेन ऊपरभूमात्रत्वेन परिज्ञाते सति भावनां पुनस्तत्सत्यतादुक्तिं को भावयति ॥ ३० ॥

परमार्थचमत्कारमन्तःस्थानुमयं विना ।
 अन्यस्यान्यं न जानाति सीधुस्वादुमिव द्विजः ॥ ३१ ॥
 निर्वाय निज आत्मायं परिवृत्याबलोकितः ।
 चेत्योन्मुखत्वमुत्सृज्य संतिष्ठेच्छान्त आत्मनि ॥ ३२ ॥
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 दृश्यं बीजाङ्कुर इव स्थितं ब्रह्मणि कारणे ।
 इति सर्गादिसद्भावः कस्माद्भेदोपपद्यते ॥ ३३ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 बीजेऽङ्कुरोऽङ्कुरतया संश्रितो नोपलभ्यते ।
 बीजोदरे तु या सत्ता बीजमेव हि सा भवेत् ॥ ३४ ॥
 ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्सैवं जगत्सैवोपलभ्यते ।
 अस्ति चेत्तद्भवेन्नित्यं सा ब्रह्मैवाधिकारि तत् ॥ ३५ ॥
 अविकारादनाकाराद्विकार्याकृतिभासुरम् ।
 उदेतीति किलास्माभिर्नैव दृष्टं न च श्रुतम् ॥ ३६ ॥
 अनाकृतावाकृतिमत्र चैतत्स्थातुमर्हति ।
 परमाणौ न चैवान्तरिव संभ्रान्ति मेरवः ॥ ३७ ॥
 समुद्रके रज्जमिव जगद्ब्रह्मणि तिष्ठति ।
 महाकारं निराकार इत्युन्मत्सवचो भवेत् ॥ ३८ ॥
 शान्तं परं च साकारस्याधार इति राजते ।
 न वक्तुं राजते केव साकारस्याविनाशिता ॥ ३९ ॥

शुचिप्रपद्यस्यान्यं भोगरसं न जानाति प्रबुद्धः । यथा द्विजो ब्राह्मणः सीधुस्वादुं मद्यमाधुर्यं न जानाति तद्वदित्यर्थः ॥ ३१ ॥ अयं निज आत्मा बाह्यदृष्टेः परावृत्य चेत्योन्मुखत्वमुत्सृज्य समाधौ निर्वाय चरमसाक्षात्कारवृत्त्या विलोकितः सन् शान्ते विवे नित्यमुक्ते आत्मनि तिष्ठेत् । 'कश्चिद्धीरं प्रत्यगात्मानमैक्षदाहत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इति श्रुतेः ॥ ३२ ॥ एवं समाहितो वसिष्ठः पुनर्बीजाङ्कुरन्यायेन ब्रह्मणि जगत्सत्यतां शङ्कते—दृश्यमिति ॥ ३३ ॥ समाधत्ते—बीज इति । यद्यङ्कुरः सत्यत्तर्हि बीजोदरे संस्थित एव बहिर्बीजपुटं भित्त्वा निर्गच्छतीति स्यात्, तत्तु न । यतो बीजमेदने तदुदरे अङ्कुरतया संश्रितोऽङ्कुरो नोपलभ्यते । या तु बीजोदरे सूक्ष्मभागानां सत्ता सा बीजमेव भवेत्तङ्कुर इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्सत्ता न तथा किंतु जगत्सैवोपलभ्यते इति वैषम्यं प्रलयकाले तथैवास्तीति चेतत्तर्हि सा ब्रह्मैव भवेद्यत्तद्ब्रह्म अविकारीति न बीजाङ्कुरन्यायस्यात्रोपपत्तिरित्यर्थः ॥ ३५ ॥ अस्तु ब्रह्म अविकारं किं ततस्त्वप्राह—अविकारादिति । अविकाराद्विकार्यमुदेति अनाकारादाकृतिभासुरमुदेतीति च न दृष्टं न श्रुतं च क्वापीत्यन्वयः ॥ ३६ ॥ एवमनाकारे निरवयवे च साकारस्य सावयवस्य च स्थूलस्यावस्थानमपि सर्वप्रमाणविकृद्धमित्याह—अनाकृतादिति ॥ ३७ ॥ समुद्रके संपुटे ॥ ३८ ॥ शान्तं सर्वोपरमरूपं परं ब्रह्म साकारस्य तादात्म्येनाधार इति वक्तुं न शक्यते ॥ ३९ ॥ एवं सति अपूर्वेः

बोध एवायमाकार इति कल्पनयापि धीः ।
 अपूर्वैः स्वप्नवद्बुधैः संसारैर्नोपलभ्यते ॥ ४०
 अपूर्वं एव स्वप्नोऽयं यद्वै सर्गोऽनुभूयते ।
 स्वप्नः किलानुभूतार्थः स्वप्नस्त इव दृश्यते ॥ ४१
 यदेव जाग्रत्स्वप्न इति नात्रोपपद्यते ।
 स्वप्ने प्रदग्धः पुरुषः कथं प्रातर्विलोक्यते ॥ ४२
 अशरीरस्य न स्वप्न इत्येतदपि नोचितम् ।
 संभवन्ति पिशाचाद्यास्तेषां च स्वप्नवत्स्थितिः ॥ ४३
 तस्मात्स्वप्नप्रवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
 सर्गादिर्नानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥ ४४
 स्वप्ने विदेव शैलादिरूपेणात्मनि तिष्ठति ।
 ब्रह्मात्माखिलमुक्तोऽसावन्येनासौ कृतो यदि ॥ ४५
 नेहास्तित्वं न नास्तित्वमुपलब्धेऽनुभूयते ।
 नैवानुभवितृत्वं च न चानुभवनक्रमः ॥ ४६
 किमपीदमनाख्येयं बुद्धेर्नैवानुभूयते ।
 स्वसंवेदनसंवेद्यं सत्तासत्ताविजृम्भितम् ॥ ४७
 अभावरूपिणो भावा अभावा भावरूपिणः ।
 सर्वदा सर्वथा सर्वे भान्ति भासुरतां गताः ॥ ४८
 बृंहति ब्रह्मणि ब्रह्म व्योम व्योमनि वर्धते ।
 न चोपपद्यते किञ्चिद्ब्रह्म व्योम्नि विबृंहणम् ॥ ४९
 द्रष्टृदृश्यदृग्नात्मायमहं सर्गादिविभ्रमः ।
 शान्तविद्योमविस्तारो न कुड्याद्युपपद्यते ॥ ५०

स्वप्नवद्बुधैराकारैर्बोध एव क्षणिकः साकार उत्पद्यत इति
 बौद्धकल्पनाप्यनुपपन्नेत्याह—बोध एवेति ॥ ४० ॥ कृतो
 नोपपद्यत इति तत्राह—अपूर्वं इति । यतोऽयं सर्गः स्वप्नः
 अपूर्वः प्रागननुभूतार्थ एव चक्षुरादिप्रमाणैरनुभूयते । स्वप्नस्तु
 जाग्रदनुभूतार्थः संस्कारमात्रेण भासमानार्थो जाग्रति स्वप्नस्तु
 एवार्थः स्वप्ने दृश्यते । किलेति सर्वजनप्रसिद्धौ ॥ ४१ ॥ अत
 एव बौद्धानां जाग्रत्स्वप्नप्रमेदाभावोक्तिरपि तेषामसंगतेत्याह—
 यदेवेति । स्वप्ने मृतः श्मशानं नीत्वा प्रदग्धः पुरुषः । तस्मात्
 चितः साकारत्वक्षणिकत्वादिकल्पनया प्रपञ्चस्य स्वप्नसाम्यं सर्व-
 प्रमाणविरुद्धं सिध्यतीति कूटस्थे ब्रह्मण्यध्यस्तत्वादेव बाध्यत्वेन
 स्वप्नसाम्यं सिद्धमिति भावः ॥ ४२ ॥ तत्र चार्वाककृतमाक्षेपं
 समाधत्ते—अशरीरस्येति । स्थूलशरीरशून्यस्य स्वप्नो न दृष्ट
 इत्यशरीरे प्रतीयवस्थात्रयस्वप्नारोप इत्युक्तिर्न युक्तेत्याक्षेपा-
 शार्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४३ ॥ अतः परिशेषाभिर्दोषः स्वप्न
 एव स्थित इत्याह—तस्मादिति साधेन । निराकृतिर्निराकारः
 परमात्मैव विवर्तकरूपाभिः सर्गादिनानाकृतिभिः स्थित इति
 सिद्धान्तः प्रतिष्ठित इत्यर्थः ॥ ४४ ॥ प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मैकत्व-
 प्रबोधे स्वप्नदेव बाधात्सत्त्वासत्त्वाभ्यां वक्तुमयोग्या तुच्छतैव
 परिशिष्यत इत्याह—ब्रह्मात्मैति । असौ प्रत्यगात्मा अखिल-
 बन्धमुक्तो ब्रह्मैव । असौ च प्रपञ्चः अन्येनाज्ञानेनैव स्वप्नवत्

यथा न सन्न कुड्यादि स्वसंकल्पनपत्तनम् ।
 तथैवायं जगदिति शान्तमेकमनामयम् ॥ ५१
 पूर्णं हि परमं शान्तमिदं सर्वमक्षणितम् ।
 अनिङ्गनमनाभासमनाद्यन्तमचेतितम् ॥ ५२
 अजन्ममरणं शान्तमनादिनिघनं महत् ।
 अनुपाधि निराकारं स्वपदं बुद्धवानहम् ॥ ५३
 या संविदन्तः स्फुरति सैवोपायाति वाक्यताम् ।
 यद्दीजं लीनमवनौ तथात्यङ्कुरतां किल ॥ ५४
 शुद्धज्ञानामयैकात्मा द्वैतैक्यपरिघर्जितः ।
 मनागपि न जानामि द्वैतैक्यकलनाकलाम् ॥ ५५
 सर्वे तूष्णीमया एव जीवन्मुक्ता इमे जनाः ।
 संशान्तसर्वसंरम्भाः खे स्वभाव इव स्थिताः ॥ ५६
 जगत्स्पर्शमहारम्भमपि तूष्णीमिदं स्थितम् ।
 चित्रं भिन्नाविद्य कृतं मनोराज्य इवोदितम् ॥ ५७
 शैलादिवोत्कीर्णसमं कथायामिव वर्णितम् ।
 शम्बरेणैव रचितं व्योम्नि स्वप्न इवोदितम् ॥ ५८
 किल स्वप्नवदेवेदं सर्गादावेव भाति यत् ।
 अमित्तिकं निष्प्रतिघं जगत्केवास्य सत्यता ॥ ५९
 जगद्बुद्ध्याविदं सत्यं परिज्ञानवतो मृषा ।
 ब्रह्मात्मक इदं ब्रह्म शान्ते शान्तं पराम्बरम् ॥ ६०
 सर्वे एव इमे भावाः सह स्थावरजङ्गमाः ।
 असदादय आकाशां जगज्जगद्विषयं तथा ॥ ६१

कृत इति सिद्धान्ते तथाविधे ब्रह्मात्मन्युपलब्धे सति इह प्रपञ्चे
 अस्तित्वनास्तित्वादिकं नैवानुभूयत इति तुच्छतैव परिशिष्यत
 इति परेणान्वयः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ बुद्धे सति नैवानुभूयते । अबुद्धता-
 दशायामप्यनिर्वचनीयमेव जगदित्याह—स्वसंवेदनेत्यादिना
 ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ विबृंहणं जगदाकारेण वर्धनं ब्रह्म व्योम्नि नोपपद्यते
 ॥ ४९ ॥ ५० ॥ यथा स्वसंकल्पनपत्तनं न सत् तत्र च कुड्यादि
 सुतरां न सत् ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ममेदं वाक्यं सत्यमेव नासत्य-
 मनुभवमूलकत्वादिति सयुक्तिकमाह—येति ॥ ५४ ॥ द्वैतैक्य-
 कलनायाः कलां लेशमपि मनागपि न जानामि ॥ ५५ ॥ सर्वे
 इमे जनाः स्वाज्ञानेन जीवन्तोपि महृशा ब्रह्ममात्रत्वाभित्य-
 मुक्ताः खे स्वभावः शून्यतैव स्थिताः ॥ ५६ ॥ तथा तद्गोच्यं
 जगदपि स्पर्शमहारम्भत्वात्स्वगादीन्द्रियवेद्यत्वाच्चित्रं विलक्षण-
 मपि मितौ चित्रमिवाभासमात्रं स्थितम् ॥ ५७ ॥ उत्कीर्ण-
 प्रतिमादिसमम् ॥ ५८ ॥ यत्किल सर्गादावेव अमित्तिकं
 निरालम्बनं भाति अस्य केव सत्यता ॥ ५९ ॥ तथा च दृष्टि-
 मेदेन चतुर्धा जगत्संपन्नमित्याह—जगदिति । इदं जगज्जग-
 द्बुद्धावज्ञदृष्टौ सत्यम् । परिज्ञानवतो विवेकिनो दृष्टौ मृषा ।
 ब्रह्मात्मकं पश्यतो ब्रह्म । भूमिकामेदारोहणक्रमेण शान्ते
 पुरुषे त्वन्धकारवत् क्रमेण शान्तं सत्परमम्बरं शून्यमेव
 पर्यवस्यतीत्यर्थः ॥ ६० ॥ तत्र चतुर्थरूपं तत्त्वज्ञविषय-

१. न्यास्यानानुरोधेन आकारैरेति पाठोऽपेक्षित इति. २. नाभा-

कृतिभिः इति पाठः साधुः.

खमहं खं भवांश्चित्खं जगत्खं खं खमेव च ।
 श्चिदाकाशैकतामेख भजैकाकाशरूपताम् ॥ ६२
 ज्ञानैकाकाशकल्पेन सर्वात्म गगनोपमम् ।
 ज्ञेयाभिधेन संबोधात्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥ ६३
 चिद्रूपत्वादुदेतीदं जगत्त्रैव लीयते ।
 अकारणकमेवान्तः परं व्योमैव निर्मलम् ॥ ६४
 एतत्सर्वपदातीतं सर्वशास्त्रकलातिगम् ।
 पदमासाद्य निर्द्वन्द्वं त्वमाकाशात्मकोऽभवः ॥ ६५
 अहं जगच्च नो पादपाण्यादि न घटादि च ।
 सर्वमाकाशमाकाशमेवाच्छं सूक्ष्मश्चिद्भवेत् ॥ ६६
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० बोधप्रकाशीकरणयोगोपदेशो नाम पञ्चनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९५ ॥

सर्वापहव एवायं मया यो दर्शितस्तव ।
 स निन्द्यो वादिनां वादेष्वात्मज्ञानेषु राजते ॥ ६७
 काष्ठमौनात्मको वादे न सर्वापहवो यदा ।
 क्रियते तेन वादेषु नात्मज्ञानं प्रसीदति ॥ ६८
 प्रत्यक्षादिप्रमाणानां यद्गम्यमचिह्नितम् ।
 स्थानुभूतिभवं ब्रह्म वादैस्तल्लभ्यते कथम् ॥ ६९
 सर्वागमार्थसमतीतमचिह्नमच्छ-
 माकाशमेकमजमाद्यमनामरूपम् ।
 शुद्धं चिदात्मकमिहास्त्यनुभूतिमात्रं
 शान्ताभिधानकलनं मलशङ्क्यालम् ॥ ७०

षण्णवत्यधिकशततमः सर्गः १९६

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 एवमुक्त्वा महाबुद्धे रामो राजीवलोचनः ।
 मुहूर्तमात्रं विश्रम्य तूर्णो स्थित्वा परे पदे ॥ १
 परमां तृप्तिमापन्नो विश्रान्तः परमात्मनि ।
 मुनिं पुनरपृच्छत्तं जानन्नपि हि लीलया ॥ २
 श्रीराम उवाच ।
 भगवन्संशयाम्मोदशरत्काल मुनीश्वर ।
 इदानीं संशयोऽयं मे जातो मनसि पेलवः ॥ ३
 एवमेतन्महाज्ञानं संसारार्थवतारणम् ।
 समस्तमेव वाग्जालं समतीत्यावतिष्ठते ॥ ४

मित्याह—सर्वं एवेति ॥ ६१ ॥ हे गुरो, त्वं मनुष्यपरीक्षा-
 र्थमेकाकाशरूपतां भज ॥ ६२ ॥ तं तादृशं ब्रह्माकाशभावे
 स्थितं द्विपदां वरं त्वामहमाकाशकल्पेन स्वरूपज्ञानेन सर्वात्म
 गगनोपमं ज्ञेयपूर्णानन्दैकब्रह्मामेदेन संबोधाद्वन्दे नमस्करोमि
 ॥ ६३ ॥ सर्वात्म गगनोपमं चेत्येतद्विप्रतिषिद्धमिति शङ्कां
 वारयन्नाह—चिद्रूपत्वादिति ॥ ६४ ॥ सर्वाः शास्त्रकल्पः
 शास्त्रयुक्तीरतिक्रम्य गच्छतीति सर्वशास्त्रकलातिगं तत्पदमा-
 साद्य त्वमप्याकाशो ब्रह्माकाशस्तदात्मकः अभवः सदैवासीः ।
 भवश्चन्य इति वा ॥ ६५ ॥ अहं रामस्तदवयवपादपाण्यादि
 तद्वाद्यघटादि चेति प्रतिद्वं जगच्च नो नास्त्येव । यतः सर्व-
 माकाशमेव ॥ ६६ ॥ अयं च सर्वापहवो यद्यपि मम माता
 वन्ध्या मम मुखे जिह्वा नास्तीति वाक्यवद्वाचात्तवैतण्डिकत्वा-
 दिदोषापादकत्वाद्वादिनां तार्किकादीनां वादेषु निन्द्य इति
 तत्समायां न राजते तथाप्यात्मज्ञानेषु बहुभिर्वादिभिर्बहुषो-
 पान्यस्त्रेषु मध्ये परमपुरुषार्थपर्यवसितं किं ज्ञानं स्यादिति
 परीक्षकारणां समायां राजते । न हि सर्वापहवमन्तरेणास्त्यन्ति-
 कानर्थनिवृत्त्युपलक्षितनिरतिशयानन्दप्रतिष्ठा सिम्बतीति भावः
 ॥ ६७ ॥ यत् इत्यार्षे यदाशब्दः । यतः काष्ठमौनपर्यवसित-
 त्वात्काष्ठमौनात्मकः सर्वापहवो वादे न संभवत्येवेति न क्रियते ।
 तेन तदकरणेन निर्विशेषात्मा परिचयाद्वादेषु आत्मज्ञानं न

यदिदं किल सद्ब्रह्म स्वसंविन्मात्रनिश्चयम् ।
 तदवाच्यं किल गिरां महतामपि मानद ॥ ५
 एवं स्थिते परं ज्ञेयं सर्वसंकल्पनोज्झितम् ।
 स्वसंविचुर्यतन्मात्रलभ्यं दुर्गमतां गतम् ॥ ६
 प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यामेदैषिणां किल ।
 कथं शास्त्रपदैस्तुच्छैः सविकल्पैरवाप्यते ॥ ७
 विकल्पसारशब्दाद्यैर्ज्ञानं शास्त्रैर्न लभ्यते ।
 तत्किमर्थमनर्थाय गुरुशास्त्रादि कल्पितम् ॥ ८
 गुरुशास्त्रादिविज्ञाने कारणं वास्त्यकारणम् ।
 तदत्र निश्चयं ब्रह्मन्ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ९

प्रसीदति नोदेतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥ कुतो नोदेति तत्राह—प्रत्य-
 क्षेति ॥ ६९ ॥ उक्तं सारतः संक्षिप्योपसंहरति—सर्वेति । सर्वे
 ये आगमाः शास्त्रमेदास्तदर्थेभ्यः समतीम्, अनुभूतिमात्रा
 प्रमाणं यत्र तथाविधमचिह्नमत एव शान्ताभिधानकलनं शुद्धं
 चिदात्मकमेकं ब्रह्माकाशमेवास्ति नान्यदणुमात्रमपीति तत्र
 मलशङ्क्या अलं पर्याप्तम् । प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः ॥ ७० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे बोधप्रकाशीकरणयोगोपदेशो नाम पञ्चनवत्यधिक-
 शततमः सर्गः ॥ १९५ ॥

गुरुशास्त्राद्युपायेन यथा ब्रह्मेह लभ्यते ।

दासवैवभिकाकथानं तथा संक्षिप्य वर्णयते ॥ १ ॥

हे महाबुद्धे, इति भरद्वाजस्मारिष्टनेमेर्वा संबोधनम् ॥ १ ॥

लीलया गुरुमुखेन श्रवणकौतुहलेन ॥ २ ॥ ३ ॥ करिष्यमाणं प्रश्नं
 पूर्वेण संगमयितुं पूर्वोक्तमनुवदति—एवमिति ॥ ४ ॥ अवाच्यम्
 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः शब्द-
 प्रवृत्तिनिमित्तधर्मज्ञानत्वात्पक्षेत्यर्थः ॥ ५ ॥ स्वसंविद्रूपं यत्तुर्यमव-
 स्थाप्रगतीतं स्वप्रकाशवस्तु तन्मात्रलभ्यमत एव जाग्रदवस्थान्त-
 र्गतगुरुशास्त्राद्यगम्यत्वाद्दुर्गमतां गतम् ॥ ६ ॥ तुच्छैः शुद्धतर-
 प्रतियोगिव्यवच्छेदादिसापेक्षत्वात्तद्बोधनासमर्थैः ॥ ७ ॥ विकल्प-
 सहज्ञानसंज्ञानान्तिपरम्परानर्थाय ॥ ८ ॥ तत्तस्मात्परविविज्ञाने

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवमेतन्महाबाहो न शास्त्रं ज्ञानकारणम् ।
नानाशब्दमयं शास्त्रमनाम च परं पदम् ॥ १०
तथापि राघवश्रेष्ठ यथैतद्धेतुतां गतम् ।
शास्त्राद्युत्तमबोधस्य तत्समासेन मे शृणु ॥ ११
सन्ति क्वचिद्वैवधिकः कीरकाश्चिरदुर्मनाः ।
दुःखेनाभ्यागताः शोषं ग्रीष्मेणैव जरद्भुमाः ॥ १२
दारिद्र्येण दुरन्तेन कन्थासंस्थानकारिणा ।
दीनाननाशयाः पद्मा निर्गतेनेव वारिणा ॥ १३
दौर्गत्यपरितप्तास्ते जीविताथंमच्चिन्तयन् ।
जठरस्य कया युक्त्या वयं कुर्मः प्रपूरणम् ॥ १४
इति संचिन्त्य विधिना दिनान्तेन दिनं प्रति ।
दारुभारेण जीवामो विक्रीतेनेति संस्थिताः ॥ १५
इति संचिन्त्य ते जग्मुर्दार्थं विपिनान्तरम् ।
यथैवाजीव्यते युक्त्या सैवापदि विराजते ॥ १६
इति ते प्रत्यहं गत्वा काननं भवचारिणः ।
दारुण्यानीय विक्रीय चकुर्वेहस्य धारणम् ॥ १७
यत्प्रयान्ति वनान्तं ते तस्मिन्सन्त्यखिलानि हि ।
गुप्तागुप्तानि रत्नानि दारुणि कमकानि च ॥ १८
इत्यार्षे श्रीवासि० वा० दे० मो० नि उ० काष्ठवैवधिकोपाख्यानं चिन्तामणिलाभो नाम षण्णवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९६ ॥

तेषां भारभृतां मध्यात्केचित्कसिपयैर्बेनात् ।
जातरूपाणि रत्नानि तानि संप्राप्नुवन्ति हि ॥ १९
केचिच्चन्दनदारुणि केचित्पुष्पाणि मानद् ।
कंचित्फलानि विक्रीय जीवन्ति चिरकीरकाः ॥ २०
केचित्सर्वमनासाद्य दुर्दारुण्येव दुर्धियः ।
नीत्वा विक्रीय जीवन्ति वनवीथ्युपजीविनः ॥ २१
दार्थंमुद्यताः सर्वे ते संप्राप्य महावनम् ।
केचित्प्राप्य स्थिताः सर्वे हृदित्येवं गतज्वरम् ॥ २२
इति यावदजलं ते सेवन्ते तन्महावनम् ।
प्रदेशान्तावदेकस्मात्प्राप्तश्चिन्तामणिर्मणिः ॥ २३
तस्माच्चिन्तामणेः प्राप्ताः समग्रा विभवश्रियः ।
परमं सुखमायातास्तत्र ते संस्थिताः सुखम् ॥ २४
दार्थंमुद्यताः सन्तः प्राप्य सर्वार्थदं मणिम् ।
सुखं तिष्ठन्ति निर्द्वन्द्वा दिशि देववरा इव ॥ २५
सर्वार्थसारपरिपूर्णतया तथा ते
काष्ठोद्यमाधिगतसन्मणयो महान्तः ।
तिष्ठन्ति शान्तभयमोहविषाददुःख-
मानन्दमन्थरधियः समतामुपेताः ॥ २६

सप्तनवत्यधिकशततमः सर्गः १९७

श्रीराम उवाच ।

तथा कुरु मुनिश्रेष्ठ यथा वैवधिकक्रमम् ।
असंदेहमिमं सम्यगवगच्छामि मानद् ॥ १

गुरुशास्त्रादिकं कारणमस्ति भवति अकारणं वा । अत्रास्मिन्
संशये निश्चयं ब्रूहीत्यर्थः ॥ १ ॥ रामशङ्कामनुमोदमानो
वसिष्ठः समाधत्ते—एवमेतदित्यादिना । अनामेति । शब्द-
प्रवृत्तिनिमित्तधर्मशून्यत्वादसंस्पृष्टत्वाच्च परं पदं न पदार्थो न
वाक्यार्थश्चेत्यर्थः ॥ १० ॥ यद्यप्येवं तथाप्येतच्छास्त्रादि उत्तम-
बोधस्य तत्फलस्य मोक्षस्य च यथा येन प्रकारेण हेतुतां गतं
तच्छृणु वक्ष्यमाणकाष्ठवैवधिकाख्यानहृष्टान्तेनेत्यर्थः ॥ ११ ॥
तदेवाह—सन्तीत्यादिना । विवधवीवधशब्दाद्युभयतो बद्धशिक्ये
स्कन्धवाद्ये काष्ठविशेषे वर्तते तद्वहन्तीति वैवधिकाः कीरकाः
शुद्धास्तिमेदा देशविशेषजा वा । शोषं कार्श्यम् ॥ १२ ॥ कन्था
पटञ्जरप्रथिता तथैव प्रावरणसंस्थानकारिणा । 'कथासंस्थाव'
इति पाठे पूर्वानुभूताश्वत्थादिकथामात्रावस्थानकारिणेत्यर्थः ।
तटाकभङ्गाधिर्मतेन वारिणा पद्मा इव दीनाननाशयाः ॥ १३ ॥
दौर्गत्सेन दारिद्र्येणमित्याः ॥ १४ ॥ दिनं प्रति प्रतिदिनम् ।
दिनान्तेन दिनावसानान्तधर्मसाध्येनेति यावत् । इति संचिन्त्या
निश्चिताः ॥ १५ ॥ १६ ॥ भवचारिणः कृतदिनप्राप्तान्मन्थ-
रधीनः ॥ १७ ॥ गुप्तान्वगुप्तानि प्रकटानि च रत्नानीनि ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ये ते वैवधिका राम त एते मानवा भुवि ।
तेषां दारिद्र्यदुःखं यत्तदज्ञानं महातपः ॥ २

केचित् भाग्यवन्तः ॥ १९ ॥ पुष्पाणि केतकीचम्पकादीनि ।
चिरकीरकाः चिराभ्यासदृढीभूतकीरकवृत्तयः ॥ २० ॥ केचि-
द्भ्राम्यहीना दुर्धियः सारान्वेषणाकुशलपुद्गयो दुर्दारुण्येव
नीत्वा ॥ २१ ॥ केचिद्ब्रह्मीनि प्राप्य गतदारिद्र्यज्वरं यथा
स्यात्तथा स्थिताः ॥ २२ ॥ चिन्तामण्याख्यो मणिर्देवात्प्राप्तः
॥ २३ ॥ २४ ॥ निर्द्वन्द्वा निरस्त्रशीतोष्णक्षुत्प्रादिदुःखाः ॥ २५ ॥
आख्यानमुपसंहरति—सर्वार्थेति । ते कीरकाः काष्ठोद्यमेनैव
अधिगतः प्राप्तः सन्मणिश्चिन्तामणिर्देवताविधाः सन्तस्तथा
उक्त्या सर्वैरर्थसारैरुत्तमधनैः परिपूर्णतया शान्तभयमोहविषा-
ददुःखं यथा स्यात्तथा आनन्दमन्थरधियो भूत्वा इतरत्नामा-
लाभादिषु समतामुपेताः सन्तस्तिष्ठन्ति ॥ २६ ॥ इति श्रीवसिष्ठ-
महारायण्यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चिन्तामणि-
लाभो नाम षण्णवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९६ ॥

स्फुटं वैवधिकाकथानुत्तरार्थं विवधिकायात् ।

हेतुत्वं गुरुशास्त्रादेरस्मद्भ्रान्तेऽत्र कथ्यते ॥ १ ॥

यथा अहमवगच्छामि तावत्पर्यतस्तथा कुरु विवरणमिति
शेषः ॥ १ ॥ ये वैवधिका मनोकांक्षे सत्तद्मापेते अनन्त

यत्तन्महाधनं प्रोक्तं गुरुशास्त्रकमादि तत् ।
 बहुधतास्ते प्रासार्थं जना भोगार्थिनो हि ते ॥ ३
 भोगौघाः सिद्धिमायान्तु मम निष्कृपणो जनः ।
 अनपेक्षितकार्यार्थः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ॥ ४
 भोगार्थं संप्रवृत्तोऽपि प्राप्नोत्यभ्यासतः क्रमात् ।
 जन्तुश्चित्तितमेवाद्यपदं परवशोऽपि सन् ॥ ५
 दार्वर्धमुद्यतो भावी यथा संप्राप्तवान्मणिम् ।
 भोगार्थमात्तशास्त्रोऽयं तथाप्नोति जनः पदम् ॥ ६
 किं स्याच्छास्त्रविचाराभ्यामिति संदेहलीलया ।
 कश्चित्प्रवर्तते पश्चादाप्नोति पदमुत्तमम् ॥ ७
 अदृष्टोत्तमतत्त्वार्थः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ।
 संदेहेनार्थभोगार्थं जनः प्राप्नोति तत्पदम् ॥ ८
 अन्यथा संप्रवर्तन्ते शास्त्रैर्वासनया जनाः ।
 अन्यदासाद्यन्त्याद्यं मणिं वैवधिका इव ॥ ९
 परोपकारेऽविरतं स्वभावेन प्रवर्तते ।
 यः स साधुरिति प्रोक्तः प्रमाणं त्वस्य चेष्टितम् ॥ १०
 साध्वाचारवशालोको भोगसंप्राप्तिशङ्कया ।
 संदेहश्चाप्यतत्त्वज्ञः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ॥ ११
 भोगार्थं संप्रवृत्तोऽसौ भोगमोक्षाद्युभाद्यपि ।
 तस्मात्प्राप्नोति दार्वर्धी धनाश्चिन्तामणिं यथा ॥ १२
 केचिच्चन्दनदारुणि केचिच्चिन्तामणिं मणिम् ।

धोभ्याः । एवमप्येऽपि सर्वत्र । यद्धारिदुःखं मयोक्तं तत्तेषा-
 मज्ञानं तदप्रयुक्तश्च महान् आतपत्रिविधसंतापः । 'तत्तु दानं
 नहातपः' इति पाठे दानतपःप्रयोजिका ऐहिकामुक्तिमकभोगाशा-
 लक्षणयोच्यते । भोगार्थिनः सन्तस्तदुपायेषूद्यता इत्यत्र तात्पर्य-
 मिल्यर्थः ॥ २॥३ ॥ मम भोगौघाः सिद्धिमायान्त्विति नितरां
 कृपणः कार्यण्यवान् जनो मानवः अनपेक्षिता इतरकार्यार्था येन
 तथाविधः सन् । शास्त्रादौ शास्त्रमूलके तदुपाये ॥ ४ ॥ यद्य-
 प्ययं भोगेच्छयैव शास्त्रे प्रवृत्तस्तथापि तच्छास्त्रं गुडजिह्विका-
 न्यायेनैतं प्रथमं फलास्वादनैः प्रलोभ्यान्ते स्वतात्पर्यविषये परमे
 पदे नयत्येवेत्याह—भोगार्थमिति । शास्त्रतः प्रथमं भोगफल-
 लाभेन तद्विश्वासदार्वर्धकमात्तदुक्तसाधनाभ्यासतो भूमिकामेदा-
 रोहणकमाश्चिन्तितं शास्त्रपरमं तात्पर्यविषयमाद्यपदं मोक्षाख्यं
 ब्रह्म ॥ ५ ॥ भावः सारासारविचारान्वेषणादिः सोऽस्यास्तीति
 भावी वैवधिकः ॥ ६ ॥ संदेहप्रयुक्तया लीलया कौतूहलेन
 ॥ ७ ॥ अर्ध्यत इत्यर्थो विषयस्तद्भोगार्थम् ॥८॥ स्वस्ववासना-
 नुसारेणान्यादृशं शास्त्रफलं संभावयन्तो जनास्तत्र प्रवर्तन्ते ।
 अन्यद्वाङ्मनसागोचरं निर्विषयनिरतिशयसुखमासादयन्तीत्यंशो
 वैवधिकाख्यानदृष्टान्तोपन्यास इत्यर्थः ॥ ९ ॥ सर्वजनाना-
 मुत्सर्गतः सन्मार्गप्रवृत्तौ साध्वाचारदर्शनमेव मूलमिति साधु-
 लक्षणप्रदर्शनपूर्वकमाह—परोपकारे इति । प्रमाणं सर्वलोक-
 स्येति शेषः ॥१०॥ अस्तु प्रमाणं किं तत्तत्समाह—साधिविति ।
 अतस्त्वज्ञो लोकः शास्त्रफले संदिश्ये इति संदेहः संदिहानोऽपि
 यो० वा० १९३

केचित्सामान्यरत्नानि प्राप्नुवन्ति यथा धनात् ॥ १३
 केचित्कामं केचिदर्थं केचिद्धर्मत्रयं तु वा ।
 केचिन्मोक्षमशेषं च लभन्ते शास्त्रतस्तथा ॥ १४
 वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव ।
 ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वात्तस्ति तच्छासनेष्वपि ॥ १५
 केवलं सर्ववाक्यार्थैर्ध्वन्यमानावगम्यते ।
 कालश्रीः प्रसवेनेव स्वयं स्वानुभवेन सा ॥ १६
 सर्वार्थातिगतं शास्त्रे विद्यते ब्रह्मवेदनम् ।
 सर्वगातिगतं स्वच्छं लावण्यमिव योषिति ॥ १७
 न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्याद्य दानाभेश्वरार्चनात् ।
 एष सर्वपदातीतो बोधः संप्राप्यते परः ॥ १८
 एतान्यकरणान्येव कारणत्वं गतान्यलम् ।
 परमात्मैकविश्रान्तौ यथा राघव तच्छृणु ॥ १९
 शास्त्राद्भ्यासयोगेन चित्तं यातं विशुद्धताम् ।
 अनिच्छदेवमेवाशु पदं पश्यति पावनम् ॥ २०
 एतच्छास्त्राद्विद्यायाः सात्त्विको भाग उच्यते ।
 तामसः सात्त्विकेनास्याभागेनायाति संक्षयम् ॥ २१
 नूनं मलं प्रधानेन क्षालयच्छास्त्ररूपिणा ।
 पुरुषः शुद्धतामेति परमां वस्तुशक्तितः ॥ २२
 अनिच्छयोरेव यथा सप्तसप्तिसमुद्रयोः ।
 प्रागदृश्यं तृतीयत्वं स्वभाववशतः स्वतः ॥ २३

भोगसंप्राप्तिसंभावनया संप्रवर्तते ॥ ११ ॥ १२ ॥ 'गुप्तागुप्तानि'
 इत्याद्युक्तेस्तात्पर्यमाह—केचिदित्यादिना ॥ १३ ॥ १४ ॥
 वर्गत्रयं धर्मकामार्थास्तस्योपदेशो मुख्यवृत्तयैवास्ति । तच्छासनेषु
 ब्रह्मतत्परेषु शास्त्रेष्वपि पदवाक्यमुख्यवृत्त्या ब्रह्मप्राप्तिर्ब्रह्मबोधः
 ॥ १५ ॥ वसन्तादिकालश्रीः प्रसवेन तत्तदार्तवफलपुष्पादिजन्म-
 नेव ध्वन्यमाना सूच्यमाना । आलंकारिकसमये व्यञ्जनाख्य-
 वृत्त्यन्तरेण, इतरसमये लक्षणयेति यावत् ॥ १६ ॥ मुख्यवृत्त्या
 बोधने असामर्थ्येऽपि शास्त्रस्य लक्षणाद्युपायैर्बोधने सामर्थ्य-
 मस्त्येवेति तेन अधिकारिणां ब्रह्मवेदनमस्त्येवेति न वैवर्ध्य-
 मित्याह—सर्वार्थेति । सर्वान् अर्थान् दृश्यवर्गास्त्रिवर्णान्वा
 अतिक्रम्य उत्कर्षकाष्ठां गतम् । मणिदर्पणचन्द्रादिसर्वगत-
 सौन्दर्याप्यतिगतं लावण्यं योषिति क्षीरजेऽस्ति तद्वदित्यर्थः
 ॥ १७ ॥ साक्षात् संप्राप्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ चित्तशुद्ध्यादिसाधन-
 परम्परोपव्यवहारा कारणत्वं गतानि ॥ १९ ॥ अनिच्छत् सर्व-
 भोगेच्छानिर्मुक्तं एवमेव प्रतिदिनमन्तर्मुखतया प्रत्यक्षप्रवर्णं
 चित्तं तत्पदं ब्रह्म पश्यति ॥ २० ॥ उच्यते उत्कर्षं नीयते । उच्य-
 शब्दात्तत्करोतीति णिचि कर्मणि लटि यकि णिलोपः ॥ २१ ॥
 शास्त्ररूपिणा प्रधानेन जलेन क्षालयन् सन् । वस्तुशक्तितः
 अचिन्त्याच्छास्त्रादिप्रभावात्तद्बोध्यमित्यशुद्धात्मवस्तुसामर्थ्याच्च
 ॥ २२ ॥ यथा सप्तसतेः सूर्यस्य समुद्रस्य च संनिधाने प्राग-
 दृश्यमपि प्रतिबिम्बं स्वच्छप्रकाशस्वभाववशतस्तृतीयं संप्र-
 १ तृतीयं तु स्वभाववशत इति पाठश्रीकानुगुणः

स्वसंनिधानमात्रेण विदितप्रतिभासनम् ।
 सदसन्मयमाभोगि प्रतिबिम्बं प्रवर्तते ॥ २४
 मुमुक्षुशास्त्रयोरेवं मिथः संबन्धमात्रतः ।
 सर्वसंवित्पदातीतमात्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ २५
 अनयोः प्रेक्षणाद्देहे विवेको जायते यथा ।
 तथा स्वभावतः शास्त्रविवेकाज्ज्ञेयवेदनम् ॥ २६
 लोष्ट्रेण लोष्टं सलिले क्षालयन्बालको यथा ।
 क्षयेण लोष्टयोर्दस्तनैर्मल्यं लभते परम् ॥ २७
 तथा शास्त्रविकल्पौघैर्विकल्पांश्वेतनाद्दुघः ।
 क्षालयन्स्वविचारेण परमां याति शुद्धताम् ॥ २८
 महावाक्यार्थनिष्पन्दं स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
 शास्त्रादेरिष्टुरसतः स्वाद्विव स्वानुभूतितः ॥ २९

प्रभामित्योः समासज्ञापयथाऽऽलोकोऽनुभूयते ।
 श्रुतश्रुतवतोः सङ्गादात्मज्ञानं तथा भवेत् ॥ ३०
 त्रिवर्गमात्रसिद्धये यत्र मोक्षाय च तच्छ्रुतम् ।
 विपुलश्रुतचर्चासु तुच्छमश्रुतमेव तत् ॥ ३१
 तच्छ्रुतं यत्किल ज्ञप्त्यै सा ज्ञप्तिः समता यया ।
 तत्साम्यं यत्र सौषुप्ती स्थितिर्जाप्रति जायते ॥ ३२
 एवं हि सर्वमेतत्तच्छास्त्रादेः समवाप्यते ।
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शास्त्राद्यभ्यासमाहरेत् ॥ ३३
 शास्त्रार्थभावनवशेन गिरा गुरुणां
 सत्सङ्गमेन नियमेन शमेन राम ।
 तत्प्राप्यते सकलविश्वपदादतीतं
 सर्वेश्वरं परममाद्यमनादिशर्म ॥ ३४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० शास्त्रमाहात्म्यं नाम सप्तनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९७ ॥

अष्टनवत्यधिकशततमः सर्गः १९८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भूयो निपुणबोधाय शृणु किञ्चिद्द्रष्टव्यम् ।
 पुनःपुनर्यत्कथितं तद्वक्षेऽप्यवतिष्ठते ॥ १
 राघव प्रथमं प्रोक्तं स्थितिप्रकरणं मया ।
 येनेदमित्थमुत्पन्नमिति विज्ञायते जगत् ॥ २

वर्तते । एवं मुमुक्षुशास्त्रयोरपि मिथः संबन्धमात्रत आत्मज्ञानं प्रवर्तते इति त्रयाणामन्वयः ॥ २३ ॥ विदितमनुभवसिद्धं प्रतिभासनं सम्यक्स्फुरणं यस्य तथाविधम् ॥ २४ ॥ २५ ॥ अनयोः सवितृसमुद्भयोः प्रेक्षणाद्यथा अत्यन्तबंधमर्यादिविबोध-लक्षणो विवेको जायते तथा शास्त्रकृताद्विवेकादपि देहे सर्वोपा-ध्यसंसृष्टाद्वितीयज्ञेयवेदनं जायते ॥ २६ ॥ शास्त्रकृतैर्विचारविक-ल्पैर्भ्रान्तिकृतविकल्पानां क्षालनेनात्मनैर्मल्यप्राप्तावपि दृष्टान्त-माह—लोष्ट्रेणेति ॥ २७ ॥ चेतनात् पुनःपुनरात्मतत्त्वपरीक्षा-क्षाालयन्सन् ॥ २८ ॥ केन प्रमाणेन कथं परीक्षणात्प्राह—महावाक्येति । शास्त्रादेः सूत्रभाष्यतद्व्याख्यामहारामायणादि-शास्त्राद्गुरुवचनादेश्वोपायात्तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्य निष्पन्दं तत्त्वंपदवाक्यार्थद्वयपरिशोधनलब्धरसभूतमखण्डवाक्यार्थापरो-क्षानुभवरूपं स्वात्मज्ञानमवाप्यते । यथा यन्त्रादिनिपीडनोपाया-भिःसारितेष्टुरसतः स्वाद्दु माधुर्यास्वादनं स्वानुभूतितः अवाप्यते तद्वदित्यर्थः ॥ २९ ॥ यथा नभसि प्रसृतोऽप्यालोकः प्रभामित्योः समासज्ञादभिव्यक्तः स्फुटमनुभूयते तथा नित्यस्वप्रकाशरूपम-प्यात्मज्ञानं श्रवणतदधिकारिणोर्मैलनात्स्फुटमनुभूयत इत्यर्थः ॥ ३० ॥ तत्र शास्त्रान्तरश्रवणं तत्पाण्डित्यं वा नोपयुज्यत एव-त्याह—त्रिवर्गोति । विपुलश्रुता बहुश्रुतास्तत्त्वविदस्तेषां तत्त्वबो-धोपायचर्चासु तच्छ्रुतमश्रुतं मौर्ख्यमेव, यतो मिथ्याविषयफल-

ततो जगति जातेन परोपशमशालिना ।
 भवितव्यमिति प्रोक्तं मयोपशमयुक्तिभिः ॥ ३
 उपशान्तिप्रकरणे प्रोक्तैरुपशमक्रमैः ।
 परमोपशमं गत्वा वस्तव्यमिह विज्वरम् ॥ ४
 प्राप्तप्राप्येन तज्ज्ञेन यथा संसारदृष्टिषु ।
 विहर्तव्यं हि नः किञ्चित्स्वल्पं श्रोतव्यमस्ति ते ॥ ५

त्वानुच्छं तदित्यर्थः ॥ ३ ॥ अतो निर्विकल्पस्वरूपस्थितिपर्यव-सितमेव श्रुतमुपादेयमित्याशयेन प्रशंसति—तदिति । यत्र जाप्रत्यपि सौषुप्ती निर्विकल्पा स्वरूपस्थितिर्जायते ॥ ३२ ॥ इदं सर्वं शास्त्राधीनमिति तदावश्यकमित्याह—एवमिति ॥ ३३ ॥ हे राम, तत्सकलविश्वपदाद्ब्रह्मलोकान्तैश्वर्यसुखादप्यतीतमसिद्धयितं पावनं सर्वेश्वरं मोक्षाख्यमनादिसुखं गुरुणां गिरा शास्त्रार्थबोध-नवशेनेव प्राप्यते तच्च सत्संगमादिनेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति श्रीवा-सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शास्त्र-माहात्म्यं नाम सप्तनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९७ ॥

वर्ण्यतेऽत्र प्रबुद्धानां निर्विक्षेपसुखस्थितौ ।

हेतुः सेतुरिवाम्बूनां सर्वत्र समदर्शनम् ॥ १ ॥

निपुणबोधाय बोधदार्ढ्यहेतुनिर्विक्षेपतासिद्धये किञ्चिद्वर्ण्य-मानं रहस्यमुपशमप्रकरणादौ कथितमेव पुनः किमर्थमुच्यते इत्यनास्थावारणायाह—पुनःपुनरिति ॥ १ ॥ उत्पत्तिस्थिति-प्रकरणाभ्यामुत्पन्नं जगदित्यं भ्रान्तिमात्रमिति विज्ञाते सति समदर्शनप्रतिष्ठया उपशमप्रकरणे समदर्शनं वर्णितं तदेवात्र जीवनिर्वाणसुखप्रतिष्ठार्थं पुनर्वर्ण्यत इत्याह—राघवेत्यादिना ॥ २ ॥ ३ ॥ इह एतत्प्रकरणप्रतिपाद्ये निर्वाणसुखे ॥ ४ ॥ संसारदृष्टिषु व्यवहारेषु यथा येन प्रकारेण विहर्तव्यं तत्कि-ञ्चिद्द्रष्टव्यं नः अस्यन्मुक्ताते श्रोतव्यमस्ति तदुच्यते इत्यर्थः

जन्म संप्राप्य जगति बाल्य एव जगत्स्थितिम् ।
 यथाभूतामिमां बुद्ध्या वस्तव्यमिह विज्वरम् ॥ ६
 सर्वसौहार्दजननीं सर्वस्याश्वासकारिणीम् ।
 समतामलमाश्रित्य विहर्तव्यमिहानघ ॥ ७
 सर्वसंपत्तिसुभगं सर्वसौभाग्यवर्धनम् ।
 समतासुलतायास्तु फलं भवति पावनम् ॥ ८
 समतासुभगेहानां कुर्वतां प्रकृतं क्रमम् ।
 सर्वैवेयं जगद्भूमिर्भृत्यामेति राघव ॥ ९
 न तदासाद्यते राज्याच्च कान्ताजनसंगमात् ।
 अनपायि सुखं सारं समत्वाद्यद्वाप्यते ॥ १०
 द्वन्द्वोपशमसीमान्तं संरम्भज्वरनाशनम् ।
 सर्वदुःखातपाम्भोदं समत्वं विद्धि राघव ॥ ११
 मित्रीभूताखिलरिपुर्यथाभूतार्थदर्शनः ।
 दुर्लभो जगतां मध्ये साम्यामृतमयो जनः ॥ १२
 प्रबुद्धस्य स्वचित्तेन्दोर्निष्यन्दममृताधिकम् ।
 साम्यमास्वाद्य जीवन्ति सर्वे वै जनकादयः ॥ १३
 साम्यमभ्यस्यतो जन्तोः स्वदोषोऽपि गुणायते ।
 दुःखं सुखायते नित्यं मरणं जीवितायते ॥ १४
 साम्यसौन्दर्यसुभगं वनिता मुदितादिकाः ।
 आलिङ्गन्ति महात्मानं नित्यं व्यसनिता इव ॥ १५
 समः समुदितो नित्यं समोऽनुदितधीः सदा ।
 न काश्चिदिह ताः सन्ति याः समस्य हि नर्घयः ॥ १६
 सर्वकार्यसमं साधुं प्रकृतव्यवहारिणम् ।
 चिन्तामणिमिवोदारं प्रवाञ्छन्ति नरामराः ॥ १७

॥ ५ ॥ बाल्ये त्वद्वयस्येव जगत्स्थितिं बुद्ध्या वक्ष्यमाणरीत्या निर्विक्षेपं वस्तव्यम् ॥ ६ ॥ समतां वक्ष्यमाणां सर्वभूतेष्वैकाल्यदर्शनाद्गुणदोषदर्शनलक्षणवैषम्यशून्यतां स्वदेहसमानसुखदुःखदृष्टिं सर्ववैषम्यरहितब्रह्मदृष्टिं च । अलं दृढम् ॥ ७ ॥ फलं सर्वभूतमैत्रीरूपम् । संपदो बाल्याः सौभाग्यानि सुभगभावाः कल्याणगुणा इति मेदः ॥ ८ ॥ तदेव द्विविधं फलं प्रकटयति—समत्वेति द्वाभ्याम् । समतया सुभगा सर्वभूतहिता ईहा चेष्टा येषाम् ॥ ९ ॥ १० ॥ सर्वदुःखातदेतुप्रशमोऽपि तथा सिद्ध्यतीत्याह—द्वन्द्वेति ॥ ११ ॥ १२ ॥ 'साम्यामृतमयः' इति पदतात्पर्यं वर्णयंस्तद्दशजनानुदाहरति—प्रबुद्धस्येति । आस्वाद्य जीवन्ति उपजीवन्ति ॥ १३ ॥ स्वदोषः क्रोधलोभादिः क्रमेण शान्त्यौदार्यादिभावेन परिणम्य गुणवदाचरति गुणायते ॥ १४ ॥ मुदिताया मैत्रीकरणोपेक्षादयो योगशास्त्रे प्रसिद्धाः । व्यसनिताः कामुकीत्वाद्गर्तुसमागमव्यसनवत्य इव ॥ १५ ॥ समुदितः कल्याणगुणैः सर्वसंपन्नश्च सम्यग्भ्युदयं प्राप्तः समुदायतां प्राप्तश्च । न उदिता धीश्चिन्ता यस्य । ऋद्धयः संपदः ॥ १६ ॥ सर्वकार्ये स्वकार्ये परकार्ये च समं पुरुषम् । साधुमपराधिषु क्षमावन्तम् । उदारं सान्निभम् ।

सम्यक्कारिणमुद्दाममुदितं समचेतसम् ।
 न दहन्यन्नयो राम नापः सिञ्चन्ति मानवम् ॥ १८
 यद्यथा तत्तथा येन क्रियते दृश्यते तथा ।
 आनन्दोद्वेगमुक्तेन कस्तं तोलयितुं क्षमः ॥ १९
 मित्राणि बन्धुरिषवो राजानो व्यवहारिणः ।
 सम्यक्कारिणि तत्त्वज्ञे विश्वसन्ति महाधियः ॥ २०
 नानिष्टात्प्रपलायन्ते नैष्टादायान्ति तुष्टताम् ।
 प्रकृतक्रमसंप्राप्तास्तत्त्वज्ञाः समदर्शिनः ॥ २१
 त्यक्त्वा सर्वानुपादेयान्नाम भावाननिन्दितान् ।
 समतायामदुःखायां दधाना वृत्तिमुत्तमाम् ॥ २२
 विहसन्ति जगज्जालं जीवयन्ति निरामयाः ।
 पूज्यन्ते विबुधैः सर्वैः समतामुदिताशयाः ॥ २३
 प्रकृतक्रमसंप्राप्तं मुखेन्दौ कोपमेव यः ।
 समाशयो धारयति स्यात्सोम्यामृतवज्जनः ॥ २४
 यत्करोति यदश्नाति यदाकामति निन्दति ।
 समदृष्टिस्तदस्येयं स्तौति नित्यं जनावलिः ॥ २५
 यच्छुभं वाशुभं यच्च यच्चिरेण यद्यद्वा ।
 समदृष्टिकृतं सम्यग्भिनन्दति तज्जनः ॥ २६
 सुखदुःखेषु भीमेषु संततेषु महत्स्वपि ।
 मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः ॥ २७
 शिबिर्भूपः कपोताय मांसमङ्गविकर्तनम् ।
 ददौ मुदितया बुद्ध्या समदृष्टितयानया ॥ २८
 प्राणेभ्योऽपि प्रियतमां कान्तामग्रे विकालिताम् ।
 दृष्ट्वाप्यङ्ग महीपालो न मुमोह समाशयः ॥ २९

नरा अमराश्च प्रवाञ्छन्ति ॥ १७ ॥ सम्यक्कारिणं सदाचारसर्वजनहितकर्तारम् । सिञ्चन्ति क्लेददुःखं कुर्वन्ति ॥ १८ ॥ यद्यथा कर्तुमुचितं तत्तथा येन क्रियते आनन्दोद्वेगौ हर्षामर्षौ तन्मुक्तेन सर्वं कृतं समतया येन दृश्यते ॥ १९ ॥ ॥ २० ॥ २१ ॥ कीदृशास्तत्त्वज्ञाः । अनिन्दितानपि सर्वानुपादेयान् परैरुपादानुमिष्टान् गृहक्षेत्रादिभावास्त्यक्त्वा उत्तमां निर्लोकसंतोषलक्षणां वृत्तिं दधानाः ॥ २२ ॥ जीवयन्ति विवेकोपदेशादिना उज्जीवयन्ति ॥ २३ ॥ समाशयो जनः परहितार्थं प्रकृतक्रमसंप्राप्तं मुखेन्दौ कोपं धारयति चेत्तदप्यमृतवदेव स्यात्तोद्वेगकरं कस्यचिदित्यर्थः ॥ २४ ॥ यत्कर्म अनुचितमिति निन्दति, जनस्वत्परिहरंस्तदस्य सच्चरित्रं सर्वं स्तौति ॥ २५ ॥ अशुभं प्रसादकृतमपराधमपि चिरेण कृतमद्य कृतं वा तदप्यभिनन्दति ॥ २६ ॥ सुखदुःखेषु भीमेषु घोरेषु संततेषु चिरानुदृष्टेषु वैरस्यं चित्तोद्वेगम् ॥ २७ ॥ इदानीं महत्स्वपि दुःखेषु समदृष्टिधीरानुदाहरति—शिबिरित्यादिना । कपोताय शरणागतकपोतप्राणरक्षणाय तन्मांसप्रतिनिधितया अङ्गविकर्तनं स्वमांसं ददौ । तच्च महाभारतादौ प्रसिद्धम् । एवमग्रेऽप्युक्तम् ॥ २८ ॥ अग्रे स्वपुरोभागे विकालितां शत्रुभिः

मनोरथशतप्राप्तं तनयं समया धिया ।
 राक्षसाय त्रिगतेशो ददौ स्वपणहारितम् ॥ ३०
 नगर्यां दह्यमानायां भूषितायां तथोत्सवे ।
 सम एव महीपालो जनको भूमृतां वरः ॥ ३१
 न्यायतः परिविक्रीतं सात्वराद् समदर्शनः ।
 स्वमेव विचकर्ताशु शिरः पद्मदलं यथा ॥ ३२
 कुन्दप्रकरनिर्भासं यत्ने पाण्डुमिवाचलम् ।
 जहौ जरत्तुणमिव सौवीरः समया धिया ॥ ३३
 समयैव धिया नित्यं निजमभ्याहरन् क्रमम् ।
 मातङ्गः कुण्डपो नाम प्राप वैमानिकस्थितिम् ॥ ३४
 सर्वभूतक्षयकरिं साम्याभ्यासेन भूरिणा ।
 तत्याज राक्षसीं वृत्तिं कदम्बवनराक्षसः ॥ ३५
 बालचन्द्राभिजातोऽपि समबुद्धितया जडः ।
 गुडमोदकवक्ष्यायप्राप्तमग्निमभक्षयत् ॥ ३६
 समबुद्धितया क्रूरव्यवहारपरोऽपि सन् ।
 धर्मव्याघस्तनुं त्यक्त्वा जगाम परमं पदम् ॥ ३७

नन्दनोद्यानसंस्थोऽपि पुरुषोऽपि कपर्दनः ।
 लुलुमे न सुरस्त्रीषु नूनं प्रणयिनीष्वपि ॥ ३८
 समचित्ततयाऽस्पन्दः करञ्जगहनेष्वपि ।
 विन्ध्यकान्तारकच्छेषु राज्यं त्यक्त्वावसच्चिरम् ॥ ३९
 ऋषयो मुनयश्चैव ये सिद्धाः सुरपूजिताः ।
 समदृष्टितयोद्विग्ना न ते तासु व्रतार्थेषु ॥ ४०
 राजानः प्राकृताश्चैव धर्मव्याघादयोऽपरे ।
 समदृष्टिपदाभ्यासान्महतां पूज्यतां गताः ॥ ४१
 इहामुत्र च सिद्ध्यर्थं पुरुषार्थप्रवृत्तये ।
 समदृष्टितया नित्यं विचरन्ति सुबुद्धयः ॥ ४२
 अभिवाञ्छेन्न मरणप्रभिवाञ्छेन्न जीवितम् ।
 यथाप्राप्तसमाचारो विचरेद्विहिंसकः ॥ ४३
 समकलितगुणागुणैकभावः
 समसुखदुःखपरावरो विलासी ।
 प्रविचरति समावमानमानः
 प्रकृतव्यवहारपूतमूर्तिः ॥ ४४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० समदृष्टिप्रशंसा नामाष्टनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९८ ॥

नवनवत्यधिकशततमः सर्गः १९९

श्रीराम उवाच ।
 नित्यं ज्ञानैकनिष्ठत्वादात्मारामतया तथा ।
 मुक्तैः कर्मपरित्यागः कस्मान्न क्रियते मुने ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 हेयोपादेयदृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै ।
 क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात्क्रियासंश्रयणेन वा ॥ २
 क्लेषिताम् ॥ २९ ॥ स्वस्य पणे वाग्भूते हारितं राक्षसेन जितम् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ परिविक्रीतं ऐच्छिकीं दक्षिणां ते दास्या-
 मीति प्रतिज्ञया ब्राह्मणाय विक्रीतप्रायम् । विचकर्तं छित्त्वा
 ददौ ॥ ३२ ॥ पाण्डुमचलं कैलासमिव स्थितमैरावतमिन्द्रजयेन
 लब्धं पुनर्यत्ने ऋत्विजां वचनादिन्द्राय जहौ ददौ ॥ ३३ ॥
 निजं देहयात्रानिमित्तं क्रमं व्यवहारं समयैव धिया आहरन्
 आचरन् कुण्डपो नाम मातङ्ग एकां गां वेतनीकृत्य ब्राह्मणस्य
 पञ्च पङ्कमगा गाः समुद्रुल्य स्ववेतनीकृतां गां पुष्करे समया
 धिया तस्मै ब्राह्मणाय दत्त्वा सद्यः समागतं विमानमारुह्य
 वैमानिकस्थितिं देवत्वं प्राप ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ जडो जडभरतः ।
 न्यायप्राप्तं शिक्षापत्रे मैक्ष्यन्यायेन प्राप्तम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥
 कपर्दननामा राजर्षिः पुरुषः पुंस्त्वात्सुरस्त्रीभोगसमर्थोऽपि प्रण-
 यिनीषु स्वस्मिन्सानुरागास्वपि न लुलुमे । कामवशो नाभूदि-
 त्यर्थः ॥ ३८ ॥ स एव राज्यं त्यक्त्वा विन्ध्यकान्तारकच्छेषु
 करञ्जगहनेष्वपि अस्पन्दः संश्रिरमवसत् ॥ ३९ ॥ व्रतेषु
 तपःकृशेषु ऋदिषु भोगेषु च समदृष्टितया नोद्विग्नाः ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ समतया कलिता गुणा अगुणा

न तदस्तीह यत्त्याज्यं तस्योद्वेगकरं भवेत् ।
 न वास्ति यदुपादेयं तज्जसंश्रेयतां गतम् ॥ ३
 तस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः ।
 तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यर्सा ॥ ४
 यावदायुरियं राम निश्चितं स्पन्दते तनुः ।
 तद्यथाप्राप्तमभ्यग्नं स्पन्दतामपरेण किम् ॥ ५

दोषाश्च एकभावा एकीभूता इव यस्य । 'परोपतापचिन्तः' इति
 पाठे परैः कृता उपतापास्तन्प्रयुक्तचिन्ताश्च समतया कलिता
 येन । तथा समे सुखदुःखे परा उत्कृष्टयोनयोऽवरा निकृष्टयो-
 नयश्च यस्य । तथा समाः अवमाना मानाश्च यस्य तथाविधो
 जीवन्मुक्तः प्रकृतव्यवहारेष्वप्यासक्त्यभावात्पूतमूर्तिरत एव
 विलासी विलसनशीलः सन् लोकानुग्रहाय देशान् प्रविचरति
 संचरतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे समदृष्टिप्रशंसा नामाष्टनवत्युत्तर-
 शततमः सर्गः ॥ १९८ ॥

मुक्तानां न कृतैरर्थो नाकृतैः कर्मभिः क्षतिः ।

तथापि तेऽनुवर्तन्ते सत्कर्माणीति वर्णयते ॥ १ ॥

मुक्तैर्जीवन्मुक्तैः ॥ १ ॥ स्वभ्यस्तस्य करणे श्रमाभावात्त्यागे
 प्रयोजनाभावान्नोक्तानुग्रहवशाच्च तैः कर्मत्यागो न क्रियत इत्यु-
 त्सर्ग इत्याशयेनोत्तरमाह—हेयेत्यादिना ॥ २ ॥ संश्रेयताम-
 वश्यानुष्ठेयताम् ॥ ३ ॥ यद्यद्वर्णाश्रमाचितत्वेन यथास्थितं तत्तत्
 तथैव करोति ॥ ४ ॥ जीवदेहस्य स्पन्दनावश्यभावे स्वभ्यस्तस-
 दाचाररूपमेव स्पन्दनं तदेहे प्रवर्तत इत्याह—यावदायुरिति ।

अन्यथान्यत्र चेत्कार्या क्रिया त्यक्त्वा निजं क्रमम् ।
 समाने हि क्रियास्पन्दे को दोषः सत्क्रमे किल ॥ ६
 समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया ।
 यथा यत्क्रियते राम तद्दोषाय सर्वदा ॥ ७
 इह मह्यां महाबाहो बहवो बहुदृष्टयः ।
 बहुधा बहुदोषेषु विहरन्ति विचक्षणाः ॥ ८
 गतसङ्गतया बुद्ध्या विहरन्ति यथास्थितेः ।
 गृहस्थारम्भणः केचिज्जीवन्मुक्ताः स्थिता भुवि ॥ ९
 तज्ज्ञा राजर्षयश्चान्ये धीतरागा भवाद्दशाः ।
 असंसक्तधियो राज्यं कुर्वन्ति विगतज्वराः ॥ १०
 केचित्प्रकृतवेदार्थव्यवहारानुसारिणः ।
 यश्चशिष्टाशिनो नित्यमग्निहोत्रे व्यवस्थिताः ॥ ११
 केचिच्चतुर्षु वर्णेषु ध्यानदेवार्चनादिकाम् ।
 स्वक्रियामनुतिष्ठन्तः स्थिता विविधयेदृया ॥ १२
 केचित्सर्वपरित्यागमन्तः कृत्वा महाशयाः ।
 सर्वकर्मपरा नित्यं तज्ज्ञा एवाज्ञवत्स्थिताः ॥ १३
 स्वमेऽप्यदृष्टलोकासु मुग्धमुग्धमृगासु च ।
 वनावनीषु शून्यासु केचिद्भयानपरायणाः ॥ १४
 पुण्यवद्भिः सदा जुष्टे पुण्योपचयकारिणि ।
 शमशालिसमाचारे केचिदायतने स्थिताः ॥ १५
 रागद्वेषप्रहाणार्थं त्यक्त्वा देशं समाशयाः ।
 केचिदन्यत्र देशे च पदमालम्ब्य संस्थिताः ॥ १६
 वनाद्भनं पुराङ्गमं स्थानात्स्थानं गिरेर्गिरिम् ।
 भ्रमन्तः संस्थिताः केचित्संसारोच्छित्तये बुधाः १७
 धाराणस्यां महापुर्यां प्रयागे चैव पावने ।
 धीपर्वते सिद्धपुरे बदर्याश्रमके तथा ॥ १८

अपरेण स्पन्दत्यागेनान्यथा स्पन्दनेन च ॥ ५ ॥ शार्ङ्गीया-
 शास्त्रीयक्रिययोः क्रमे समानेऽपि शास्त्रीये सत्क्रमे सदाचारे को
 दोषो येन निजं क्रमं त्यक्त्वा अन्यभाचरणं स्यादित्यर्थः ।
 अन्यत्रेति दृष्टान्तार्थम् । यथा स्वगृहे निर्दोषे अन्यत्रावस्थाने
 प्रयोजनं नास्ति तद्वदिति ॥ ६ ॥ समया सिद्ध्यसिद्ध्योस्तुत्यया
 ॥ ७ ॥ यद्यपि कर्मसु प्रवृत्तानां प्रव्यार्जनं ऋत्विगावर्जनादिषु
 अनुष्ठेयार्थनिर्णयेषु च श्रमसाध्यत्वाद्बहुदोषप्रसक्तिरस्ति तथापि
 सा तैः समदर्शनता विचक्षणता बलादेव सुपरिहरेत्याशये-
 नाह—इहति । बहुदृष्टयः सर्वशास्त्रलोकरहस्यदर्शिनः प्रपञ्च-
 विष्यमाणबहुदृष्टयश्च समदर्शनबलात्क्रोडसंग्रहेऽपि विचक्षणाः
 ॥ ८ ॥ बहुधेतुयुक्तिं प्रपञ्चयति—गतसङ्गतयेत्यादिना । यथा-
 स्थितेः यथाप्राप्तानुवृत्तेः ॥ ९ ॥ भवाद्दशा इति भाविनीं
 वृत्तिमाश्रित्य रामं प्रत्युक्तिः ॥ १० ॥ ११ ॥ स्वक्रियां स्वस्व-
 वर्णाश्रमोचितं कर्म तत्र ध्यानं चतुर्थाश्रमोचितम् । ईहया
 चेष्टया ॥ १२ ॥ सर्वपरित्यागं फलासङ्गत्यागम् ॥ १३ ॥
 स्वप्नेऽपि न दृष्टा लोका जना यत्रेत्यतिशयोक्तिः ॥ १४ ॥ आय-
 तने पुण्यतीर्थमुन्वाश्रमादौ ॥ १५ ॥ बन्धुजवसमागमे राग-

शालग्रामे महापुण्ये कलापग्रामकोटरे ।
 मथुरायां च पुण्यायां तथा कालञ्जरे गिरौ ॥ १९
 महेन्द्रवनगुल्मेषु गन्धमादनसानुषु ।
 दुर्दुराचलवप्रेषु सहाकाचलभूमिषु ॥ २०
 विन्ध्यशैलस्य कच्छेषु मलयस्योदरेषु च ।
 कैलासवनजालेषु ऋक्षवत्कुहरेषु च ॥ २१
 एतेष्वन्येषु चान्येषु वनेष्वायतनेषु च ।
 तपस्विनस्तथा राम बहवो बहुदृष्टयः ॥ २२
 केचित्प्रकृतनिजाचाराः केचिच्च क्रमसंस्थिताः ।
 केचित्प्रबुद्धमतयो नित्यमुन्मत्तचेष्टिताः ॥ २३
 केचित्स्वदेशरहिताः केचित्प्रकृतनिजास्पदाः ।
 एकस्थानरताः केचिद्भ्रमन्तः केचिदास्थिताः ॥ २४
 एतेषां महतां मध्ये नमस्तलनिवासिनाम् ।
 पातालनिरतानां च दैत्यादीनां महामते ॥ २५
 विशातलोकपर्यायाः सम्यग्दर्शननिर्मलाः ।
 केचित्प्रबुद्धमतयो दृष्टदृश्यपरावराः ॥ २६
 अप्रबुद्धधियः केचिद्दोलान्दोलितचेतसः ।
 निवृत्ताः पापकाचारात्सुजनानुगताः स्थिताः ॥ २७
 अर्धप्रबुद्धमतयः केचिज्ज्ञानावलेपतः ।
 परित्यक्तक्रियाचारा उभयभ्रष्टतां गताः ॥ २८
 इत्थमस्मिन्नानीके जन्मसंतरणार्थिनः ।
 बहवः संस्थिता राम बहुधा बहुदृष्टयः ॥ २९
 संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्बनवासिता ।
 नापि स्वदेशवासित्वं न च कष्टतपःक्रियाः ॥ ३०
 न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः ।
 नाचारेषु समारम्भविचित्रफलपालयः ॥ ३१

द्वेषादिविक्षेपसहसावजनात्तत्प्रहाणार्थम् । पदं स्थानम् ॥ १६ ॥
 संसारोच्छित्तये संग्रहदोषपरिहारार्थम् ॥ १७ ॥ पूर्वोक्तानि
 पुण्यायतनानि प्रपञ्चयति—धाराणस्यामित्यादिना । महापुर्या-
 मित्यनेन तस्याः सर्वपुण्यायतनोत्कृष्टता सूचिता ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ २० ॥ कच्छेषु जलप्रायदेशेषु । ऋक्षवतः कुहरेषु
 दरीषु ॥ २१ ॥ बहुदृष्टयो बहुविधप्रारब्धभोगानुकूलदृष्टयः
 ॥ २२ ॥ संन्यासनिधिना त्यक्तनिजाचाराः । क्रमा ब्रह्मचर्या-
 द्याश्रमधर्मास्तसंस्थिताः ॥ २३ ॥ एकस्थाने स्वगृहे एव रताः
 प्रीतिमन्तः सर्वजनानुकूल्येन विक्षेपशून्या इति यावत् ॥ २४ ॥
 ऊर्ध्वाधोलोकेष्वपि देवदेत्यादयो जीवन्मुक्ता बहवः सन्ती-
 त्याशयेनाह—एतेषामिति । एतेषां मध्ये केचित्प्रबुद्धमतय
 इत्याद्युत्तरत्रान्वयः ॥ २५ ॥ २६ ॥ अप्रबुद्धधियोऽल्पप्रबुद्ध-
 धियः । अत एव दोलान्दोलितचेतसः ॥ २७ ॥ ज्ञानावलेप-
 स्तत्त्वज्ञोऽहं मम किं निबिद्धाचरणं करिष्यतीति गर्वितः ॥ २८ ॥
 जनानीके जनसमूहे ॥ २९ ॥ तर्हि किं तत्कृता वनवासोद्-
 योपि संसारोत्तरणहेतवो नेत्याह—संसारैति ॥ ३० ॥ आचा-
 रेषु सत्कर्माचरणेषु समारम्भयन्त इति समारम्भा अनुविष्णा-

स्वभावः कारणं नाम संसारोत्तरणं प्रति ।
 असंसक्तं मनो यस्य स तीर्णो भवसागरात् ॥ ३२
 शुभाशुभाः क्रिया नित्यं कुर्वन्परिहरन्नपि ।
 पुनरेति न संसारमसंसक्तमना मुनिः ॥ ३३
 शुभाशुभाः क्रिया नित्यमकुर्वन्नपि दुर्मतिः ।
 निमज्जत्येव संसारे परित्यक्तमनाः शठः ॥ ३४
 मक्षिकेवान्तःसारज्ञा दुःखादुःखप्रदायिनी ।
 न निवारयितुं शक्या न च मारयितुं मतिः ॥ ३५
 काकतालीययोगेन कदाचित्स्वस्य चेतसः ।
 प्रवृत्तिर्जायते सिद्धौ स्वयमात्मावलोकने ॥ ३६
 अवलोकनतो लब्ध्वा तत्त्वं नैर्मल्यमागतम् ।
 चेतो भवति निर्द्वन्द्वमसंसक्तमनामयम् ॥ ३७
 अक्षित्तत्त्वं प्रयातेन सत्त्वरूपेण चेतसा ।
 समो भूत्वा सुखं तिष्ठ पराकाशांशरूपभृत् ॥ ३८
 अधिगतपरमार्थस्त्यक्तरागादिदोषः
 सममतिरुदितात्मा त्वं महात्मा महात्मन् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० मुक्तपुरुषस्थितिवर्णनं नाम नवनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९९ ॥

द्विशततमः सर्गः २००

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

निर्वाणवाक्यसंदर्भसमाप्तौ मुनिनायके ।

दिनः क्वातिलामैश्वर्यवरशःपसामर्थ्यादिरूपा विचित्रफलसमूहाः
 ॥ ३१ ॥ स्वभावो यथार्थस्वरूपेणाभिनिष्पत्तिस्तत्त्वज्ञानरूपा
 कारणं स च मनसा आत्यन्तिकराक्तिपरिहारलभ्य इत्याह—
 असंसक्तमिति ॥ ३२ ॥ अत एव जीवन्मुक्तानां शुभाशुभकर्मा-
 चरणेऽप्यसंसक्तिवशादेव तदलेप इत्याह—शुभेति ॥ ३३ ॥
 परित्यक्तं विषयेषु विसृष्टं मनो येन । शठः स्वात्मवञ्चकः
 ॥ ३४ ॥ तर्हि मन एव विषयेभ्यो निवार्यतां भार्यतां च किं
 तत्त्वज्ञानेन तत्राह—मक्षिकेवेति । अन्तःसारज्ञा आस्वादित-
 विषयरसा मतिर्भुक्तुम्भप्रसक्ता मक्षिकेव न निवारयितुं
 मारयितुं वा शक्या ॥ ३५ ॥ कदाचिद्भाग्यवशात्साधनचतु-
 ष्यप्राप्तौ श्रवणाद्युपायैरात्मावलोकने स्वयमेव प्रवृत्तिर्जायते
 ॥ ३६ ॥ तत्र नैर्मल्यमागतं चित्तमवलोकनतस्तत्त्वं लब्ध्वा
 निर्द्वन्द्वमत एवानासक्तमनामयं च ब्रह्मैव भवति ॥ ३७ ॥
 पराकाशरूपो यश्चित्तादिसर्वप्रपञ्चाधिष्ठानांशस्वरूपभृत् सन् तिष्ठ
 ॥ ३८ ॥ हे महात्मन् रघुतनय, त्वं अधिगतः परमार्थो येन
 तथाविधस्त्यक्ता रागादिदोषा येन उदित आत्मा यस्य तथा-
 विधः सममतिः सञ्जको विशोको महानात्मा भूत्वा निःशङ्कं
 तिष्ठ । यतो जननमरणमुक्तं पावनं तद्ब्रह्मपदं त्वमेवेत्यर्थः ॥ ३९ ॥
 किञ्च विमलब्रह्मरूपे जगति प्रकृतिरूपं मलरूपं विकाररूपमु-
 पाधिरूपं तद्बोधरूपं तदिच्छाप्रयत्नज्ञानोपादानभोगादिरूपं च
 किञ्चिदपि क्वचिन्न नास्ति किंतु अकृतकं चिद्दाम ब्रह्मास्ति ।

रघुतनय विशोकस्तिष्ठ निःशङ्कमेको
 जननमरणमुक्तं पावनं तत्पदं त्वम् ॥ ३९
 प्रकृतिमलविकारोपाधिबोधादिरूपं
 जगति विमलरूपे नास्ति किञ्चित्कञ्चिन्न ।
 स्फुटमकृतकमस्ति ब्रह्म चिद्दाम तच्च
 स्वयमहमिति मत्वा तिष्ठ निःशङ्कमेकः ॥ ४०
 अधिकवचनगम्यं नान्यदस्त्यक् किञ्चि-
 त्तव शुभमुपदेश्यं ज्ञानसंबोधनाय ।
 उदितमखिलमाद्यं ज्ञानसारं समग्रं
 विदितसकलवेद्यो राघव त्वं हि जातः ॥ ४१
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्त्वा मुनिनायको व्यपगताशेषैषणे राघवे
 सर्वस्मिन्न सभाजने स्थितवति ध्यानैकतानोपमे ।
 प्राप्ते ब्रह्मपदं धिया धवलया तूष्णीमभूत्पदपदः
 कृत्वेवारणितं सरोजपटले पातुं प्रवृत्तो रसम् ४२

पाश्चात्यवाक्यविरतिं कुर्वति क्रमपालिताम् ॥ १

तच्च स्वयं स्वानुभवेनैव अहमिति मत्वा एको निःशङ्कस्तिष्ठे-
 त्यर्थः ॥ ४० ॥ अहं हे सुभग, तव ज्ञानसंबोधनाय अन्यदि-
 तो व्यतिरिक्तं अधिकवचनगम्यं शुभमुपदेश्यं नास्ति । यतस्तव
 आद्यं ज्ञानसारमखिलमक्षतं समग्रमुदितम् । हि यस्मात्त्वं
 सांप्रतं विदितसकलवेद्यो जात इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ मुनिनायको
 वसिष्ठः इति एवमन्ते उक्त्वा राघवे धवलया धिया ब्रह्मपदं
 प्राप्ते अत एव व्यपगताशेषैषणे जाते सति तथा सर्वस्मिन्नसभा-
 जने च ध्यानैकतानोपमे स्थितवति सति तस्यां सभायां स्वयं
 ब्रह्मरसायनास्वादपरस्तूष्णीमभूत् । यथा पदपदः सरोजपटले
 आरणितं गुञ्जाप्वनिं कृत्वा रसं मकरन्दं पातुं प्रवृत्तः संस्तूष्णीं
 भवति तद्वदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्प-
 र्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुक्तपुरुषस्थितिवर्णनं नाम
 नवनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९९ ॥

सिद्धानां साधुवादोऽत्र पुष्पवृष्टिः सदुन्मुभिः ।

वर्ष्यते प्रकृतः सर्वैर्गुरुपूजामहोत्सवः ॥ १ ॥

निर्वाणप्रकरणान्तमात्मोपदेशं श्रुत्वा कृतार्थानां सिद्धिर्धिमा-
 नवानां तस्यां सभायां वसिष्ठपूजामहोत्सवं वर्णयिष्यन् श्रीवा-
 ल्मीकिरुवाच—निर्वाणेति । सर्वेषां सप्तम्यन्तानां षष्ठश्लोके
 कोलाहलः समुदभूदित्यत्रान्वयः । एतत्प्रकरणरूपस्य निर्वाण-
 वाक्यसंदर्भस्य समाप्तौ सत्यां मुनिनायके वसिष्ठे क्रमपालितां
 क्रमप्राप्तां पाश्चात्यवाक्यविरतिं कुर्वति सति ॥ १ ॥

निर्विकल्पसमाधानसमतां समुपागते ।
 शान्तस्वच्छमनोवृत्तौ सर्वसिद्धिं सभाजने ॥ २ ॥
 सत्त्वकोटिसुपारुहे परां पावनतां गते ।
 संवित्तत्त्वे समप्रस्य जनस्य श्रुतशालिनः ॥ ३ ॥
 झटित्येवाम्बरहृता पूर्वमुक्तधियां मुक्तात् ।
 सिद्धानां साधुवादेन व्योमकोटरवासिनाम् ॥ ४ ॥
 तथा सभास्थितानां च मुनीनां भावितात्मनाम् ।
 गाधेयप्रमुखानां च साधुवादगिरोष्वया ॥ ५ ॥
 कोलाहलः समुदभूद्भूरिपूरितदिशुखः ।
 मधुरः पवनात्तानां कीचकानामिबारवः ॥ ६ ॥
 सिद्धानां साधुवादेन सह वै सहसा ततः ।
 देवदुन्दुभयो नेदुः प्रतिश्रुत्पूरिताचलाः ॥ ७ ॥
 देवदुन्दुभिभिः सार्धं तुषारासारसुन्दरी ।
 दिग्भ्यः स्थगितदिक्चक्रा पुष्पवृष्टिः पपात ह ॥ ८ ॥
 पुष्पौघपूरितस्थानः शब्दापूरितकन्दरः ।
 रजःसंरजिताकाशो गन्धरञ्जितमारुतः ॥ ९ ॥
 स साधुवादशब्दस्य देवतूर्यरवस्य च ।
 कुसुमासारघोषस्य समवायो रराज ह ॥ १० ॥
 उन्मुखाखिलसभ्याक्षिरदिमश्यामलितान्तरः ।
 उत्कर्णमृगमातङ्गद्वयपक्षिपशुश्रुतः ॥ ११ ॥
 सविस्मयभयोभेन्नवालकान्ताजनेक्षितः ।
 विस्मयस्मेरवदनराजलोकावलोकितः ॥ १२ ॥
 कुसुमासारसारेण शब्दशोभातिशाधिना ।
 संरम्भेण जगामाशु रोदोरन्ध्रमपूर्वताम् ॥ १३ ॥

सर्वसिन्सभागते जने चाज्ञभोगतदेवादिजने च मुनिवाक्यश्रवणाच्चिर्विकल्पसमाधानेन समतां ब्रह्मैकरसतां समागते सति ॥२॥ निर्विकल्पसमाधिक्रमेण संवित्तत्त्वे प्रतीचि सत्त्वकोटिं सन्मात्रकाष्ठां समारूढे अत एव परां पावनतां गते सति ॥ ३ ॥ व्योमकोटरवासिनां पूर्वमुक्तधियां सनकादीनां अम्बरं हरति व्याप्रोतीत्यम्बरहृत् तथाविधेन साधुवादेन प्रशंसावाक्येन ॥ ४ ॥ तथा सभायां स्थितानां गाधेयो विधामित्रस्तत्प्रमुखानां मुनीनामुक्त्या साधुवादगिरा च झटित्येव भूरिपूरितदिशुखो मधुरः कोलाहलः समुदभूदिति परेण संबन्धः ॥ ५ ॥ पवने आत्तानां व्याप्तानां पूर्णरन्ध्राणां कीचकानां वेणुमेदानामारव इव ॥ ६ ॥ प्रतिश्रुद्धिः प्रतिश्रुतिभिः पूरिता अचला भूरचलाः पर्वताश्च यैः ॥ ७ ॥ तुषाराणामासार इव सुन्दरी शुभ्रा । स्थगितान्याच्छादितानि दिक्चक्राणि यथा ॥ ८ ॥ पुष्पादिभिश्चतुर्भिः पूरितं सभास्थानादिचतुष्टयं यत्र तथाविधः साधुवादशब्दादित्रयस्य स समवायः समूहो रराजेति द्वयोरर्थः ॥९॥१०॥ तमेव समवायं वर्णयति—उन्मुखाख्यादिश्याभ्याम् ॥११॥ सविस्मयैः सभयैश्च अत एव उन्नेत्रैर्बालैः कान्ताजनेश्च ईक्षितः ॥ १२ ॥ रोदोरन्ध्रं यावाभूम्यन्तरालम् । अपूर्वतामलौकिकचमत्कारिताम् ॥ १३ ॥ पुष्पवर्षेण सुधाभिर्मकरन्दै-

पुष्पवर्षसुधाधौतं रटद्भूतसुधुंघुमम् ।
 समतां सद्नेनागात् ध्मातशङ्कशतेन खम् ॥ १४ ॥
 भुवनं भूरिभांकारभासुरं सुरचारणैः ।
 घृतं मत्तोत्सवं रेजे समं कुसुममण्डितम् ॥ १५ ॥
 शनैर्दुन्दुभिसिद्धौघवाक्यपुष्पभरः समम् ।
 प्रययौ रोदसीरन्ध्रे वेलाचलमिवाम्बुधौ ॥ १६ ॥
 तस्मिन्विबुधसंरम्भे क्षणेन समये गते ।
 वाक्यानीमानि सिद्धानामभिव्यक्तिमुपाययुः ॥ १७ ॥
 सिद्धा उचुः ।
 आकल्पं सिद्धसङ्घेषु मोक्षोपायाः सहस्रशः ।
 व्याख्याताश्च श्रुताश्चालमीदृशास्तु न केचन ॥ १८ ॥
 तिर्यञ्चो वनिता बाला व्यालाश्वानेन निर्वृतिम् ।
 मुनेर्वाक्यविलासेन यान्ति नास्त्यत्र संशयः ॥ १९ ॥
 दृष्टान्तैर्हेतुभिर्युक्त्या यथा रामोऽवबोधितः ।
 तथा चारुन्धती साक्षात्संबोधयति वा न वा ॥ २० ॥
 अनेन मोक्षोपायेन तिर्यञ्चोऽपि गतामयाः ।
 स्थिता मुक्ता भविष्यन्ति के नाम भुवि नो नराः ॥ २१ ॥
 श्रवणाञ्जलिभिः पीत्वा ज्ञानामृतमिदं वयम् ।
 परां पूर्णनवीभूतसिद्धयः श्रियमागताः ॥ २२ ॥
 इति शृण्वन्सभां लोको विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
 कुसुमासारसंपूर्णां राजीवानां ददर्श ताम् ॥ २३ ॥
 मन्दारादिमहापुष्पच्छन्नच्छादनसंचयाम् ।
 पारिभद्रलतागुच्छनीरन्ध्राजिरभूमिकाम् ॥ २४ ॥

धौतं शालितम् । रटद्भिर्भूतैः प्राणिभिः सुधुंघुमं पुण्यशब्दम् । ध्माताः शङ्का यस्मिंस्तथाविधं खमाकाशं सद्नेन दशरथगृहेण समतामगात् ॥१४॥ भुवनं जगदपि मत् उपचित उत्सवो यत्र तथाविधं सत् अर्थाद्दशरथगृहेण समं तुल्यरूपं रेजे ॥ १५ ॥ दुन्दुभिपदेन तच्छब्दा लक्ष्यन्ते । तेषां सिद्धौघवाक्यानां पुष्पाणां च भरः समं तुल्यकालं रोदस्योः रन्ध्रे दिग्गन्ते शनैः प्रययौ, यथा अम्बुधौ कल्लोलो वेलाचलं याति तद्वत् ॥१६॥ विबुधानां संरम्भे पुष्पवर्षोद्योगकोलाहले । इमानि वक्ष्यमाणानि ॥ १७ ॥ अस्माभिव्याख्याता अन्येभ्यश्च श्रुताः ईदृशा एतद्वन्धसदृशाः ॥ १८ ॥ अत्र यो गुणातिशयस्तमाहुः—तिर्यञ्च इति । मुनेर्वसिष्ठस्यैतद्वन्धरूपेण वाक्यविलासेन श्रुतेन ॥ १९ ॥ भगवतो वसिष्ठस्य श्रीरामे मुख्याधिकारिणि लोहातिशयं प्रशंसन्ति—दृष्टान्तैरिति ॥ २० ॥ तिर्यञ्चः पशुपक्ष्यादयोऽपि । भुवि नराः के नाम मुक्ता नो भविष्यन्ति यदि शृण्वन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥ २२ ॥ लोकः अयोध्याजनः इति एवंविधानि सिद्धवाक्यानि शृण्वन् सन् तां सभां राजीवानां पद्मादीनां कुसुमासारैः संपूर्णां ददर्श ॥ २३ ॥ पारिभद्रलता कल्पलतामेदः । मन्दारा-

पारिजातप्रसूनाख्यमहीतलविराजिताम् ।
 संस्तानकमहाम्भोदव्याप्तसभ्यशिरःकराम् ॥ २५
 मौलिरत्नविटंकाप्रविभ्रान्तहरिचन्दनाम् ।
 वारिपूरप्रलम्बाभ्रवदालम्बिवितानकाम् ॥ २६
 इति पश्यन्सभां लोकः साधुवादेन भूरिणा ।
 तत्कालोचितवाक्येन तेन तेन तथोद्यतः ॥ २७
 वसिष्ठं पूजयामास सर्वेन्द्रियगणानतः ।
 कुसुमाञ्जलिभिन्नेण प्रणामसहितेन च ॥ २८
 नृपप्रणाममालासु किञ्चिच्छान्तासु तास्वथ ।
 मुनिमापूजयन्नाह सार्धपात्रकरो नृपः ॥ २९
 दशरथ उवाच ।
 क्षयातिशयमुक्तेन परमेणात्मवस्तुना ।
 परान्तः पूर्णतोत्पन्ना बोधेनारुन्धतीपते ॥ ३०
 न तदस्ति महीपीठे दिवि देवेषु वापि च ।
 महत्किञ्चिदप्राप्तं तत्र पूज्यस्य पूजनम् ॥ ३१
 तथाप्यात्मक्रमं ब्रह्मभ्रिमं नेतुमवन्ध्यताम् ।
 अहं वच्मि यथाप्राप्तं न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ ३२
 आत्मना सकलत्रेण लोकद्वयशुभेन च ।
 राज्येनाखिलभृत्येन भवन्तं पूजयाम्यहम् ॥ ३३
 एतत्सर्वं तत्र विभो स्वायत्तं स्व इवाश्रमः ।
 नियोजय यथादेशं यथाभिमतयेच्छया ॥ ३४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 प्रणाममात्रसंतुष्टा ब्राह्मणा भूपते वयम् ।

रीनि पश्यदेवतरुमेदपुष्पाणि ॥ २४ ॥ २५ ॥ वारिपूरैः प्रलम्बैर-
 भ्रंतुल्यं प्रलम्बाभ्रवत्पुष्पभारालम्बिनो वितानका यस्याम्
 ॥ २६ ॥ तेन तेन तत्कालोचितप्रशंसावाक्येन तथा । उद्यत
 उद्युक्तः सन् वसिष्ठं पूजयामासेति संबन्धः ॥ २७ ॥ सर्व-
 रिन्द्रियगणैरानतः प्रह्वीभूतः ॥ २८ ॥ अर्घ्यपात्रेण सहितः
 सार्धपात्रः करो यस्य । नृपो दशरथः ॥ २९ ॥ हे अरुन्ध-
 तीपते, त्वदुपदेशलब्धेन बोधेन परमेण निरतिशयानन्दरूपे-
 णात्मवस्तुना अन्तः परा सर्वोत्कृष्टा पूर्णता उत्पन्ना ॥ ३० ॥
 एवमीदृशपरमपुष्पार्थदातुस्तत्र पूजनं योग्यं यत्स्यात्तत्तादृशं
 वस्तु महीपीठे मनुष्येषु दिवि देवेषु अपि च पाताले वा
 नास्ति ॥ ३१ ॥ तथाप्यहमात्मनः स्वस्य अवश्यकर्तव्यमिमं
 शास्त्रलोकप्रसिद्धं यथाप्राप्तं गुरुपूजनक्रममवन्ध्यतां सफलतां
 नेतुं किञ्चिद्वच्मि प्रार्थयामि ॥ ३२ ॥ लोकद्वये मुवि स्वर्गे
 च भोगार्थं यन्मया संचितं शुभं सकृत् तेन । अखिलाः
 सामन्ता भृत्या यस्मिन्स्तथाविधेन राज्येन । अखिलभृत्यवर्गेणेति
 पृथक्वा । भवते समर्पितेनेति शेषः ॥ ३३ ॥ मया तुभ्यं
 दत्तमेतत्सर्वं तत्र स्वायत्तम् । त्वं नियोजय स्वामी भूत्वा
 आज्ञापय ॥ ३४ ॥ स प्रणामो भवता कृत एवेत्यन्वयः
 ॥ ३५ ॥ पातुं रक्षयितुम् ॥ ३६ ॥ अत्र अस्मिन्परमपुरुषार्थ-

प्रणामेनैव तुष्यामः स एव भवता कृतः ॥ ३५
 पातुं त्वमेव जानासि राज्यं भाति तवैव च ।
 भवत्वेतत्तवैवेह ब्राह्मणाः क महीभृतः ॥ ३६
 दशरथ उवाच ।
 कियन्मात्रं तु राज्यं स्यादिति लज्जामहे मुने ।
 प्रकर्षेणात्र तेनेश यथा जानासि तत्कुरु ॥ ३७
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्तवति भूपाले रामः पुष्पाञ्जलिं ददत् ।
 उवाच प्रणतो वाक्यं पुरस्तस्य महागुरोः ॥ ३८
 निरुत्तरीकृतमहाराज ब्रह्मन्प्रणौमि ते ।
 प्रणाममात्रसारोऽहं रामः पादाविमौ प्रभो ॥ ३९
 इत्युक्त्वा पादयोस्तस्य शिरोवन्दनपूर्वकम् ।
 नत्याजाञ्जलिपुष्पाणि हिमानीष वनं गिरेः ॥ ४०
 आनन्दबाष्पसंपूर्णनयनो नयकोविदः ।
 गुरुं परमया भक्त्या प्रणनाम पुनःपुनः ॥ ४१
 शत्रुघ्नो लक्ष्मणश्चैव तथान्ये तत्समाश्च ये ।
 निकटस्थास्तथैवाशु ते प्रणेमुर्मुनीश्वरम् ॥ ४२
 दूरप्रणामैर्दूरस्थाः पुष्पाञ्जलिसमीरणैः ।
 राजानो राजपुत्राश्च प्रणेमुर्मुनयश्च तम् ॥ ४३
 अस्मिन्नवसरे तत्र कुसुमाञ्जलिवर्षणैः ।
 हिमैरिव हिमाद्रीन्द्रो मुनिरन्तर्धिमाययौ ॥ ४४
 अथ शान्ते सभाक्षोभे प्रणामनिवहे तथा ।
 संस्मरच्छासनं किञ्चित्सत्ये कृष्णासिताशयम् ॥ ४५
 मुनिः कुसुमराशिं तं वाहुभ्यां प्रविचालय सः ।

स्वरूपभोक्षदानोपकारे प्रत्युपकारतया राज्यं प्रकर्षेण किय-
 न्मात्रं स्यात् । मानुषानन्दपरमावधिर्हि निष्कण्टकवित्तपूर्ण-
 निरामयरासद्वीपाधिपत्यम् । तदपेक्षया शतगुणो मनुष्यगन्ध-
 र्वाणामानन्दस्तदपेक्षयापि देवगन्धर्वाणां स शतगुण इत्येवं
 क्रमेणोत्कृष्ट्यमाणविषयानन्दानां दैरण्यगर्भानन्दः परमावधिः
 सोपि यस्मिन् भोक्षानन्दसमुद्रे सीकरप्रायस्तत्रेदं कियन्मात्रं
 क गणनाहं स्यादित्यर्थः ॥ ३७ ॥ तस्य महागुरोः पादयोः
 पुष्पाञ्जलिं ददत्तन् ॥ ३८ ॥ प्रणामेनैव तुष्याम इति त्वद्व-
 चनात्प्रणाममात्रं सारः सर्वोत्कृष्टतया आवश्यको यस्य ॥ ३९ ॥
 यथा वनं गिरेः पादयोर्हिमानि पद्मवसक्तान्यवश्यायजलानि
 लजति तद्वत् ॥ ४० ॥ ४१ ॥ तत्समाः शत्रुघ्नलक्ष्मणसदृशा
 रामतस्त्राः ॥ ४२ ॥ दूरस्थयोग्यैः प्रणामैः ॥ ४३ ॥ अन्त-
 र्धिमाच्छादनम् ॥ ४४ ॥ मुनीनां मान्यानां पुरतः स्वकृतं
 शासनमुपदेशात्मकं शास्त्रं सत्ये वस्तुनि विषये कृष्णाशयं
 बुद्धिमाहिन्यप्रयुक्तं सदोषं, सिताशयं स्वच्छबुद्धिप्रयुक्तनिर्दोषं
 वा स्यादिति संदिहान इव स्वचरित्रेण जनस्य विनयं शिक्ष-
 यितुं किञ्चिन्मुनिषु वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रष्टव्यं संस्मरन्सन् मुखं
 संदर्शयामासेति संबन्धः ॥ ४५ ॥ सिताभ्रात् सिताभ्राणि

मुक्तं संदर्शयामास सिताम्नादिव चन्द्रमाः ॥ ४६ ॥
 शान्ते सिद्धवचोराशौ तथा बुन्दुमिनिःस्वने ।
 नमःकुसुमवर्षे च सभाकलकले तथा ॥ ४७ ॥
 प्रणामानन्तरं तस्मिन्प्रासादैः स्वसभाजने ।
 शान्तवात इवाम्मोदे जने सौम्यत्वमागते ॥ ४८ ॥
 आकर्णयन्साधुवाचं विश्वामित्रं मृदुस्वनम् ।
 उवाचेदमनिन्धात्मा वसिष्ठो मुनिनायकः ॥ ४९ ॥
 मुने गाधिकुलाम्मोज वामदेव निमे क्रतो ।
 भरद्वाज पुलस्त्यात्रे घृष्टे नारद शाण्डिले ॥ ५० ॥
 हे भासभृगुभारण्डवत्सवात्स्यायनादयः ।
 मुनयस्तुच्छमेतन्नु भवद्भिर्मन्त्रचः श्रुतम् ॥ ५१ ॥
 यदत्रानुचितं किञ्चित्तदनुप्रहृतोऽधुना ।
 दुरथं विगतार्थं वा भवन्तः कथयन्तु मे ॥ ५२ ॥
 सभ्या ऊचुः ।
 वसिष्ठवचने ब्रह्मन्परमार्थैकशालिनि ।
 दुरथो भवतीत्यद्य नवैव खलु गीः श्रुता ॥ ५३ ॥
 यत्संभृतमनस्तेन जन्मदोषेण नो मलम् ।
 तत्प्रमृष्टं त्वयेद्वाद्य हेन्नामिव हविर्भुजा ॥ ५४ ॥
 ब्रह्मवृंहितया वाचा विभो विकसिता वयम् ।
 कुमुदानीन्दुदीप्त्येव परमासृतशीतया ॥ ५५ ॥
 सर्वसत्वमहाबोधदायिनं मुनिनायकम् ।
 भवन्तमेकान्तगुरुं प्रणमाम इमे वयम् ॥ ५६ ॥
 श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 इत्युक्त्वा मुनिनाथाय नमस्त इति ते पुनः ।

वदन्त एकशब्देन तारेणाध्वरवौजसा ॥ ५७ ॥
 अर्वाकपुष्पाञ्जलिमातैः स्वात्सिद्धैः सममुज्जितैः ।
 वसिष्ठं पूरयामासुर्द्विमैरव्या इवाचलम् ॥ ५८ ॥
 इत्थं दशरथं भूपं शशंसुश्चाथ राघवम् ।
 माधवं चतुरात्मानं राघवोदन्तकोविदाः ॥ ५९ ॥
 सिद्धा ऊचुः ।
 नमाम चतुरात्मानं नारायणमिवापरम् ।
 रामं सन्नातरं जीवन्मुक्तं राजकुमारकम् ॥ ६० ॥
 चतुरग्निस्त्रिस्तातान्तधरावलयपालकम् ।
 त्रिकालस्थमहीपालचिह्नं दशरथं नृपम् ॥ ६१ ॥
 मुनिसेनाधिपं भूपं भास्करं भूरितेजसम् ।
 वसिष्ठं सुप्रवादाख्यं विश्वामित्रं तपोनिधिम् ॥ ६२ ॥
 एषामेव प्रभावेन ज्ञानयुक्तिं परामिमाम् ।
 श्रुतवन्तो वयं सर्वे भ्रान्तिसंरम्भनाशिनीम् ॥ ६३ ॥
 श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 इत्युक्त्वा गगनात्सिद्धा भूयः पुष्पाणि चिक्षिपुः ।
 सभायामथ तूर्णानि च तस्थुर्मुदितचेतसः ॥ ६४ ॥
 तथैव व्योमगाः सिद्धाः शशंसुस्तं जनं पुनः ।
 तथैव सभ्यास्तांस्तत्र समानर्चुर्धनस्तवम् ॥ ६५ ॥
 नमश्चरा धरणिचरा मुनीश्वरा
 महर्षयो विबुधगणा द्विजा नृपाः ।
 अपूजयन्निति जनमोजसैव ते
 गिरोष्या सह कुसुमार्घ्यदानया ॥ ६६ ॥

इत्यर्थे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० निर्वा० उ० साधुवादसपर्यादिवर्णनं नाम द्विशततमः सर्गः ॥ २०० ॥

निरस्व । त्यम्लोपे पञ्चमी । चन्द्रमा इव ॥ ४६ ॥ ४७ ॥
 स्वं सभाजयति पूजयतीति स्वसभाजने जने सौम्यत्वमम्ब्र-
 तामागते सति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ गाधिकुलस्य गणःसौरभ-
 जनकत्वाद्गाधिकुलाम्मोज हे विश्वामित्र ॥ ५० ॥ भासो विप-
 क्षिद्व्यो वा । हे मुनयः, भवद्भिर्मन्त्रैरेतन्मन्त्रचनं तुच्छं
 सर्वोपत्वात्क्षुद्रमनुपादेयम् । नु इति वितर्कं । एवं संभावया-
 नीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ अतोऽत्र यत्किञ्चिदनुचितं दुरथं विगतार्थं
 निरर्थकं वा संभावितं तदधुना सक्षिप्ये मध्यनुप्रहृतो मे कथय-
 न्त्विति भगवतो विनयोक्तिर्लोकैः विनयशिक्षणार्थं, महर्षिच-
 नेन प्रथस्य निर्दोषताख्यापनार्थं च ॥ ५२ ॥ सभ्याः संबोधिता
 गाधिपुतायाः मुनय ऊचुः । जगति क्वाप्यप्रसिद्धत्वाच्चवैव
 गीर्वाणी श्रुता ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ब्रह्मणि वृंहितया विस्तारि-
 तया । इन्दुवीप्तिपक्षे ब्रह्मसदृशे आकाशे विस्तारितया ॥ ५५ ॥
 एकान्तो निवमः । गुरुमेव न तु कुतश्चिदगुरुमिति अपरविद्या-
 गुरुभ्योऽस्योत्कर्षकाष्ठा सूचिता ॥ ५६ ॥ ते पुनर्नमस्ते इति
 वदन्तः सन्तः स्वात् आकाशात्सिद्धैः समं स्वयमप्युज्जितैरर्वा-
 यो० वा० १९४

कपुष्पाञ्जलिमातैर्वसिष्ठं पुनः पूरयामासुः अचलं हिमवन्तमिव
 ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ अथ दशरथप्रशंसानन्तरं चतुरात्मानं माधवं
 राघवं प्रशशंसुः । यतस्ते राघवस्य विष्णवतारत्वकृतान्तकोविदा
 इत्यर्थः ॥ ५९ ॥ ६० ॥ त्रिकालस्थानि कदाप्यनपायीनि
 महीपालचिह्नानि राजलक्षणानि यस्मिंस्तथाविधं दशरथं नृपं
 श्रीरामजनकत्वात्त्वं धन्यतमोऽसीति पुनः प्रशशंसुः ॥ ६१ ॥
 मुनिसेनायाः अधिपं स्वामिनं भूरितेजसं भास्करमिव स्थितं
 वसिष्ठं तत्संनिहितं विश्वामित्रं च प्रशशंसुः ॥ ६२ ॥ एतेषां
 प्रशंसायां को हेतुस्तमाहुः—एषामेवेति । भ्रान्तिसंरम्भना-
 शिनी वसिष्ठवाणीमिति शेषः ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ तान्सिद्धा-
 न्वनस्त्वं बहुस्त्वसहितं यथा स्वात्तथा समानर्चुः ॥ ६५ ॥
 नमश्चरा महर्षयो विबुधगणा धरणिचरा द्विजा नृपा उभयचरा
 मुनीश्वराश्च ते इति वर्णितप्रकारेण ओजसा स्वस्वसामर्थ्यानु-
 सारेण प्रतिजनं सह कुसुमार्घ्यदानया उच्यया गिरा अपूजयन्
 ॥ ६६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे साधुवादसपर्यादिवर्णनं नाम द्विशततमः सर्गः ॥ २०० ॥

एकाधिकद्विशततमः सर्गः २०१

श्रीवाल्मीकिदवाच ।
 अर्थाकसाधुवादेषु प्रशान्तेषु शनैःशनैः ।
 ज्ञानोपदेशमासाद्य प्रोल्लसत्स्विव राजसु ॥ १
 प्रशान्तसंस्मृतिभ्रान्तौ जने चरितमात्मनः ।
 स्वयं हसति चित्तेन सत्यं समनुधावता ॥ २
 बलचित्तकलं ज्ञानसमाखादनतत्परे ।
 विवेकिनि सभालोके शान्ते ध्यानमिवास्थिते ॥ ३
 ब्रह्मपद्यासने रामे सभातरि गुरोः पुरः ।
 स्थिते हृताञ्जलौ दीप्तगुरुवक्त्रगतेक्षणे ॥ ४
 पार्थिवे किमपि ध्यानमिवास्वादयति स्थितिम् ।
 जीवन्मुक्तात्मिकामन्तरादिमध्यान्तपावनीम् ॥ ५
 प्रहीतुमर्था भक्तानां मानितार्थजनो मुनिः ।
 तूष्णीं क्षणमिव स्थित्वा प्रोवाचानाकुलाक्षरम् ॥ ६
 स्वकुलाकाशशीतांशो राम राजीवलोचन ।
 किमन्यदिच्छसि श्रोतुं कथयामिमतेच्छया ॥ ७
 स्थितिं च कीदृशीमेनामद्यानुभवसि स्वयम् ।
 किंपमिदमाभासं जागतं वद पश्यसि ॥ ८
 इत्युक्ते मुनिना तेन प्राह राजकुमारकः ।
 अविह्वलं मृदु स्पष्टं गुरोरालोकयन्मुखम् ॥ ९
 श्रीराम उवाच ।
 त्वत्प्रसादेन यातोऽस्मि परां निर्मलतां प्रभो ।
 शान्ताशेषकलङ्काङ्कं शरदीव नभस्तलम् ॥ १०

सर्वा एवोपशान्ता मे भ्रान्तयो भवमङ्गदाः ।
 स्वरूपेणावदातेन तिष्ठाम्यच्छमिवाम्बरम् ॥ ११
 स्थितोऽहं गलितप्रस्थिः शान्ताशेषविशेषणः ।
 स्फटिकालयमध्यस्थस्फटिकामलपीरहम् ॥ १२
 अन्यच्छ्रोतुमथाहर्तुं शान्तं नैच्छति मे मनः ।
 परां तृप्तिमुपायान्तं सुषुप्तमिव संस्थितम् ॥ १३
 शान्ताशेषपरामर्शं विगताशेषकौतुकम् ।
 संत्यक्ताशेषसंकल्पं शान्तं मम मुने मनः ॥ १४
 परिनिर्वामि शाम्यामि जाग्रदेव जगत्स्थितौ ।
 अस्वप्नपुनर्बोधं स्वपिमीव निरामयम् ॥ १५
 आशाविधुरितामात्मसंस्थितिं प्राक्तनीं तनौ ।
 प्रविहस्य स्फुरत्सुकैः स्वस्थस्तिष्ठाम्यसंशयम् ॥ १६
 नोपदेशेन नार्थेन न शास्त्रेण च बन्धुभिः ।
 त्यागेन च न चैतेषामधुना मम कारणम् ॥ १७
 साम्राज्यस्याथवा व्योम्नि या स्थितिः क्षोभवर्जिता ।
 तामेवानुभवाम्यत्र मच्चित्तामनपायिनीम् ॥ १८
 स्वादप्यतितरामच्छं चिदाकाशांशमात्रकम् ।
 जगदित्येव पश्यामि लोचनाद्यङ्गतां गतः ॥ १९
 आकाशमात्रमेवेदं जगदित्येकनिश्चयः ।
 दृश्यानाञ्चि नभस्यस्मिन्क्षये जागर्मि चाक्षयः ॥ २०
 यथाकामं यथाप्राप्तं यथास्थितमिव स्थितम् ।
 यद्भक्तिं तदविघ्नेन करोम्यपगतैषणम् ॥ २१

अत्र रामेण भूयोऽपि पृष्टेन गुरुणादरात् ।

पूर्णाबन्धुपदे स्वस्य विभ्रान्तिः प्रकटीकृता ॥ १ ॥

अर्वाक् अधःसभाप्रदेशे ॥ १ ॥ आत्मनः स्वस्य चरित-
 मङ्गदशाचरित्रं स्वयमेव सत्यं तत्त्वं समनुधावता सम्यक्पश्यता
 चित्तेन हसति सति ॥ २ ॥ सभागते लोके जने बलन्ती पर-
 वृत्ता प्रत्यक्प्रवणा चित्तकला चित्तवृत्तिर्यस्मिन्कर्मणि तद्यथा
 स्यात्तथा ज्ञानस्य चिदेकरसानन्दस्य सम्यगास्वादनतत्परे जाते
 सति ॥ ३ ॥ शीतं शोभमानं यद्गुरुवक्त्रं तद्गतेक्षणे ॥४॥ पार्थिवे
 दशरथे ध्यानमिवाल्म्व्य जीवन्मुक्तात्मिकां स्थितिमास्वादयति
 सति ॥ ५ ॥ मुनिर्वेत्तिष्ठो भक्तानां राजासीनामर्थां पूजां प्रहीतुं
 पूर्वोक्तरीत्या अर्णं तूष्णीमिव स्थित्वा तदनन्तरं प्रोवाच ॥ ६ ॥
 ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ शान्ताशेषकलङ्कः पूर्णचन्द्रः अङ्गुष्ठं
 यस्मिन्स्तथाविधं नभस्तलमिव ॥ १० ॥ ११ ॥ स्फटिकाल-
 यमध्यस्थस्फटिक इव ब्रह्मभावविशुद्धे जगति तैथाविधा
 पीर्यस्य ॥ १२ ॥ आहर्तुं संपादयितुं चेत्यर्थः ॥ १३ ॥
 परामर्शो विषयस्मरणं तद्गोत्रे कौतुकं तदर्थः संकल्पा इति
 भेदः ॥ १४ ॥ अस्वप्नं मानसविषयालोचनरहितं अपुनर्बोधं

जाग्रदेन्द्रियकविषयालोचनरहितं च स्वपिमीव । इवशब्दः
 सुषुप्तभानस्यापि मिथ्यात्वान्तुरीयावस्थितिशोतनार्थः ॥ १५ ॥
 आशाभिर्विधुरितां विह्वलितां प्राक्तनीं तनौ देहे आत्मबुद्ध्या
 स्थितिं प्रविहस्य स्फुरद्भिर्भवत्सुकैरुपदेशवाक्यैः सांप्रतं स्वस्थ-
 तिष्ठामि ॥ १६ ॥ अधुना मम उपदेशेन अर्थेन तत्प्रयुक्त-
 प्रयोजनान्तरेण । एतेषां सर्वेषां त्यागेन च कारणं प्रयोजनं
 नास्ति ॥ १७ ॥ मच्चित्तां प्रब्रह्मात्ममात्रप्रतिष्ठितचित्तामन-
 पायिनीं नित्यां जीवन्मुक्तस्थितिं व्योम्नि स्वर्गे साम्राज्यस्य
 अयुरादिक्षोभवर्जिता या स्थितिस्तामेवानुभवामीति लोकर-
 शोक्तिः ॥ १८ ॥ अहं बहिर्दृशालोचनाद्यङ्गतां गतोऽपि
 जगत् स्वादप्यतितरामच्छं चिन्मात्रमित्येव पश्यामि नाञ्जवज्ज-
 मित्यर्थः ॥ १९ ॥ अस्मिन् जगति क्षये मोहनिद्रया सह
 बाधिते सति अक्षयोऽहं सदैव जागर्मि ॥ २० ॥ भाविकार्यं
 यथाकामं वर्तमानकार्यं यथाप्राप्तं प्रागवस्थितं कार्यं तु यथा-
 स्थितं यद्भवान्बन्धि तदहमपगतैषणं फलाभिसंधिरहितं गुरु-
 शास्त्रानुसारेण करोमि । पैठान्तरे स्वकार्यविषये यथाकामं
 यथास्मम् । परकार्यविषये यथाप्राप्तं यथास्थितम् ॥ २१ ॥

१ बहिर्दृशा लोचनादीन्यङ्गानि यस्मां तादृशीं स्थितिं गतोऽपी-
 त्यर्थः. २ ब्रह्मभावविशुद्धेत्यर्थः.

३ 'यथाकामं यथास्मं यथाप्राप्तं यथास्थितम्' इत्येवंकमे.

न तुष्यामि न हृष्यामि न पुष्यामि न रोदिमि ।
 कार्यं कार्यं करोम्येको भ्रान्तिर्दूरं गता मम ॥ २२
 अभ्यतामेतु सर्गोऽयं वातु वा प्रलयानिलः ।
 सौम्यो भवतु वा देशः स्वस्थोऽहं स्वात्मनि स्थितः ॥ २३
 विभ्रान्तोऽसि विलक्ष्योऽसि दुर्लक्ष्योऽसि निरामयः ।
 नाशाभिर्बन्धमामोमि मुने स्वमिष मुष्टिभिः ॥ २४
 यथा तरुगतात्पुष्पाद्बन्धः प्राप्य नमःपदम् ।
 तिष्ठत्येवमहं देहादतीतः संस्थितः समः ॥ २५
 यथैव सर्वे राजानो विहरन्ति यथासुखम् ।
 अप्रबुद्धाः प्रबुद्धाश्च राज्येषु बहुकर्मसु ॥ २६
 श्रान्तहर्षविषादाशः स्थिरैकसमदर्शनः ।
 स्थित आत्मनि निःशङ्कं तथैव विहराम्यहम् ॥ २७
 सर्वस्योपर्यपि सुखी सुखं नेहामि मे प्रभो ।
 जनसाम्येन तिष्ठामि यथेच्छं मां नियोजय ॥ २८
 बालो लीलामिव त्यक्तशङ्कं संसारसंस्थितिम् ।
 यावद्देहमिमां साधो पालयाम्यमलैकदहकृ ॥ २९
 भुञ्जे पिवामि तिष्ठामि पालयामि निजक्रियाम् ।
 इत्यार्वे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विभ्रान्तिप्रकटीकरणं नामैकाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २०१ ॥

जातोऽहं विगताशङ्कस्त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर ॥ ३०
 भीराम उवाच ।
 अहो बत महापुण्यं पद्मासादितं त्वया ।
 अनादिमध्यपर्यन्तमिदं यत्र न शोच्यते ॥ ३१
 सम्यक्समसमामोणे शीतले स्वात्मनि स्वयम् ।
 नभसीव नमः शान्ते विभ्रान्तिमसि लब्धवान् ॥ ३२
 दिष्ट्या जातो विशोकस्त्वं दिष्ट्या सम्यगवस्थितः ।
 दिष्ट्या लोकद्वयेऽनर्थशङ्का ते शममागता ॥ ३३
 दिष्ट्या रघूणां तनय संज्ञः पावितवानसि ।
 भूतभव्यभविष्यस्थां बोधेन कुलसंततिम् ॥ ३४
 अधुना मुनिनाथस्य विश्वामित्रस्य राघव ।
 पूर्यित्वाथितां भुक्त्वा पित्रा सह महीमिमाम् ॥ ३५
 स्वयान्विताः सतनयभृत्यबान्धवाः
 पदातयः सरथगजाश्वमण्डलाः ।
 निरामया विगतभयाः स्थिरभियः
 सदोदयाः सुभग भवन्तु राघवाः ॥ ३६

द्व्यधिकद्विंशततमः सर्गः २०२

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 एतच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य वचः संसदि पार्थिवाः ।
 सिका इवामृतापूरैरस्तःशीतलतां ययुः ॥ १
 रामः कमलपत्राक्षो रराज वक्त्रेन्दुना ।
 क्षीरोद इव संपूर्णः सुधापूरेण आरुणा ॥ २

न तुष्याम्यस्तर्जनसि न हृष्यामि । न पुष्यामि बहिर्देहे इष्ट-
 प्राप्त्या । एवमनिष्टप्राप्त्या न रोदिमि । कार्यमवश्यकर्तव्यं
 लौकिकं वैदिकं च कार्यं करोमि ॥ २२ ॥ एवंस्थितस्य
 ममाज्ञानमितैर्बन्धुधनराज्यादिनाशैर्दशाविनिमयैर्वा नानर्थ-
 प्राप्तिशङ्कास्तीत्याशयेनाह—अभ्यतामिति । सौम्यः सोममार्-
 गवच्छून्यो वा भवतु । स्वस्थो निर्बिज्ञेपः ॥ २३ ॥ विलक्ष्यो
 बाहोन्द्रियैरलक्ष्यः । मनसापि दुर्लक्ष्यः । आशाभिस्तुष्यामिः
 ॥ २४ ॥ देहे अभिव्यक्तस्य देहमतीत्यावस्थाने दृष्टान्तमाह—
 यथेति । समः अस्य पुष्पस्य देहस्य वायमिति विशेषयितुम-
 शाक्यत्वात्साधारणः ॥ २५ ॥ तर्हि त्वमत्रे कथं क इव
 व्यवहरिष्यसि तत्राह—यथैवेति ॥ २६ ॥ अप्रबुद्धेभ्यो विज्ञे-
 यमाह—श्रान्तोऽसि ॥ २७ ॥ सर्वस्य विषयैश्चर्यानन्दस्योपरि
 प्रज्ञानन्देनाहं सुखी । अत एव मे देहे विषयसुखं नेहामि
 मेकच्छामि । नियोजयस्व सेवादिविषये आज्ञापय ॥ २८ ॥ अहं
 यावद्देहं बालः स्वयोनुरूपां लीलां क्रीडामिव यथाप्राप्तं संसा-
 रसंस्थितिं पालयामि ॥ २९ ॥ ३० ॥ यत्र पदे स्थितैर्न
 शोच्यते । भावे लः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ लोकद्वये इहलोके पर-

वामदेवाद्यः सर्वे तत्त्वज्ञानविदारवाः ।
 अहो भगवता ज्ञानमुकमित्यूषुरादरात् ॥ ३
 श्रान्तान्तःकरणो राजा मुदा दशरथो बभौ ।
 तुष्ट्यैव संप्रहृष्टाङ्गो नवां धृतिमुपागतः ॥ ४

लोके च दृष्टादृष्टश्रुतानर्थशङ्का ॥ ३३ ॥ तनयेति प्रीत्यतिशयेन
 संबोधनम् । सम्यगजानातीति संज्ञ आत्मतत्त्ववित्सन् रघूणां
 भूतभव्यभविष्यस्थां कुलसंततिं बोधेन पावितवानसि ॥ ३४ ॥
 अर्थितां यज्ञविघ्नपरिहारार्थिताम् । पित्रा सहेति जीवस्यैव
 पितरि तदाज्ञया राक्षसवधेन महीं पालयित्वेत्याशयः ॥ ३५ ॥
 हे सुभग, त्वया अन्विताः संगताः सतनयाः पुत्रपौत्रसहिता
 मूलबान्धवाश्च सरथगजाश्वमण्डलाः पदातयश्चेति द्विविधा
 अपि जना निरामयाः शरीरे विगतमवाधिते सदोदया गृहेषु
 भवन्त्वित्याशीः प्रार्थना वा ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विभ्रान्तिप्रकटी-
 करणं नामैकाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २०१ ॥

प्रबोधहृष्टा राजानो रामश्चात्रोपवर्णितः ।
 रामेण च स्थितिः स्त्रीया निर्मुष्टा ज्ञाननिर्मला ॥ १ ॥
 पार्थिवग्रहणं सर्वजनोपलक्षणम् ॥ १ ॥ सुधाभिः पूर्यत
 इति सुधापूरः पूर्णवन्दस्तेनोदितेन क्षीरोद इव ॥ २ ॥ अहो
 आश्चर्यभूतमुकम् ॥ ३ ॥ तुष्ट्या संतोषातिशयेन संप्रहृष्टाङ्गो
 १ तिष्ठेति शेषः. २ रघुकुलसंबन्धिनो मृत्पादवः.

ज्ञातव्येषु बहुषु साधुवादकथास्तथ ।
 उवाच गलिताज्ञानो रामो वाक्यमिदं पुनः ॥ ५
 श्रीराम उवाच ।
 भगवन्भूतभव्येश त्वयास्माकमलं मलम् ।
 संप्रमृष्टमिदं हेमः श्यामत्वमिव वह्निना ॥ ६
 अभूम वयमात्मीयकायमात्रदृशः पुरा ।
 प्रभो संप्रति संपन्ना विश्वग्विश्वावलोकिनः ॥ ७
 स्थितोऽस्मि सर्वसंपूर्णः संपन्नोऽस्मि निरामयः ।
 जातोऽस्मि विगताशङ्को बुधो जागर्मि संप्रति ॥ ८
 आनन्दितोऽस्म्यस्त्रेदाय सुखितोऽस्मि चिराय च ।

स्थितोऽनस्तमयायैव शाश्वतार्थोद्भयो मम ॥ ९
 अहो वत पवित्रेण शीतेन ज्ञानधारिणा ।
 त्वया सिकोऽस्मि दृष्यामि पद्मवद्भवे स्वयम् ॥ १०
 इयमद्य मया लब्धा पदवी त्वत्प्रसादतः ।
 यस्यां स्थितस्य मे सर्वममृतत्वं गतं जगत् ॥ ११
 अन्तःप्रसन्नमतिरस्तसमस्तशोकः
 शोभां गतोऽहममलाशय एव शान्त्या ।
 आनन्दमात्मनि गतः स्वयमात्मनैव
 नैर्मल्यमभ्युपगतोऽस्मि नमोऽस्तु मह्यम् ॥ १२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उत्तरार्धे आत्मविश्रामाप्तीकरणं नाम अष्टादशतमः सर्गः ॥ २०२ ॥

अधिकद्विंशततमः सर्गः २०३

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्थं विचारपरयोर्मुनिराद्यवयोस्तयोः ।
 भास्करः श्रवणायेव व्योममभ्यमुपाययौ ॥ १
 तीक्ष्णतामाजगामाशु सर्वदिक्कमथातपः ।
 पदार्यौघविकासार्थं रामस्येव महामतिः ॥ २
 उत्कृष्टदृश्याम्भोजस्फाराकारतया तदा ।
 लीलापद्माकरा रेजुस्तत्रस्थाः पार्थिवा इव ॥ ३
 जालं मुक्ताकलापानन्तरमाक्रान्तभास्करम् ।
 ननतैव तरद्योम विज्ञानश्रवणादिव ॥ ४
 पुस्फुरः पद्मरागेषु लम्पार्कतरुणत्विवः ।
 भासो व्योमतलोद्गीना धियो ज्ञानकला इव ॥ ५
 एवं निर्वृतिमायाते रामे स्वकुलकैरवे ।

मुनीन्द्रवदनालोकात्सविकासमिव स्थिते ॥ ६
 रवावौघोपमे व्योम महाब्धेर्नाभितां गते ।
 तेजःपुञ्जलसज्जवाले समप्ररसपायिनि ॥ ७
 नभोनीलोत्पले नीले गलद्रजसि राजति ।
 घर्माशुकार्णिकाकान्ते स्फुरत्किरणकेसरे ॥ ८
 अवतंसे जगद्भ्रम्यास्त्रिलोकीकर्णकुण्डले ।
 अन्तर्लीनस्फुरत्सारारक्षराजिविराजिते ॥ ९
 दिग्बधूमिर्बृहद्भृङ्गपाणिभिर्मुकुरेष्विव ।
 धृतेषु तापभिन्नेषु महाभ्रेषु निरम्बुषु ॥ १०
 सूर्यकान्तवरोत्थेन वह्निनेव समेधिते ।
 त्रिगुणं प्रज्वलत्यर्कशून्ये गगनधामनि ॥ ११

रोमाहितगात्रः ॥ ४ ॥ बहुषु साधुवादकथासु प्रवृत्तासु सतीषु
 ॥ ५ ॥ मलमज्ञानम् ॥ ६ ॥ कायमात्रदृशो देहपरिच्छिन्ना-
 त्मदृश्यः । विश्वावलोकिनः सर्वात्मदर्शिनः ॥ ७ ॥ सर्वः सन्
 संपूर्णः ॥ ८ ॥ मम शाश्वतस्यार्थस्य परमपुरुषार्थस्य उदय
 आविर्भावोऽभूदिति शेषः ॥ ९ ॥ पद्मवच्छारदाञ्जवत् ॥ १० ॥
 पदवी साम्राज्यपदवी ॥ ११ ॥ अन्तः प्रसन्ना मतिर्यस्य ।
 अत एवास्तसमस्तशोकः । यतोऽहं शान्त्या सञ्चार्यमूलाज्ञान-
 नाशेनामलाशय एवात्मनि आनन्दं गतः । आत्मनैव सम्य-
 कपरीक्ष्य दृष्टेन स्वतःसिद्धनैर्मल्यमभ्युपगतोऽस्मि । अतो
 मह्यमेव नमोऽस्त्वित्यर्थः ॥ १२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे आत्मविश्रामाप्तीकरणं
 नाम अष्टादशतमः सर्गः ॥ २०२ ॥

मध्याह्नत्सूर्यघोषोऽत्र दिनकृत्यं निशाक्रमः ।

प्रातः सभायां रामस्य निःसंदेहश्च वर्णयते ॥ १ ॥

इत्थं विचारपरयोः सतोः । भावलक्षणे सप्तमीद्विवचनम् ।
 अर्थात्तदुभयविचारश्रवणायेवेत्युत्प्रेक्षा ॥ १ ॥ सर्वासु दिक्ष्विति
 सर्वदिक्कम् । पदार्यौघस्य विकासः स्फुटदर्शनम् ॥ २ ॥

लीलापद्माकरा उद्यानतटाकाः । तत्रस्थास्तत्सभास्थाः । पार्थि-
 वप्रहणं सर्वजनोपलक्षणम् ॥ ३ ॥ मुक्ताकलापा अनन्तरा
 अव्यवधानसञ्चिता यस्मिंस्तथाविधं स्फटिकवातायनजालकं
 प्रतिबिम्बभावेनाक्रान्तः संक्रान्तो भास्करो यस्मिंस्तथाविधं
 सदीप्त्यतिशयेन व्योम तरत् प्रवमानमिव सत् ननतैव । वसि-
 ष्ठोपदिष्टविज्ञानश्रवणाद्योम ब्रह्माकाशं तरदिवेत्सनुभवचमत्का-
 रिणी उत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥ पद्मरागेषु लम्पार्कस्य तरुणत्विवो
 भासः प्रतिबिम्बकान्तयः । यथा स्रच्छाया धिय उपदेशज्ञान-
 कलाः स्फुरन्ति तद्वत् ॥ ५ ॥ मुनीन्द्रवदनस्य आलोकयोगा-
 त्केरवविकासकलाभ्यानुपायि चन्द्रता गम्यते ॥ ६ ॥ और्वो-
 पमे वडवामिसदृशे । तत्सान्ध्यानेव विशेषणैरुपपाद्यते ॥ ७ ॥
 एवं नभसो नीलोत्पल्लवमपि विशेषणैरुपपाद्यते—नभ इत्या-
 दिना । घर्माशुः सूर्यसल्लक्षणया कर्णिकया कान्ते ॥ ८ ॥
 अवतंसे इत्यन्तमुत्पलोत्प्रेक्षा । त्रिलोकीकर्णकुण्डले इत्युत्प्रेक्षा-
 न्तरम् । अन्तर्लीनेति तदुपपादकम् ॥ ९ ॥ दिग्बधूमिर्बृहद्भृ-
 ङ्गलक्षणेः पाणिभिर्ब्रह्मेषु मुकुरेष्विव धृतेषु सत्सु तापै-
 रात्तपैभिन्नेषु संभिन्नेषु विभक्तेषु वा ॥ १० ॥ अर्कशून्येऽपि
 गगनधामनि सूर्यकान्तभेदेभ्यः उत्प्रेक्षेन वह्निना समेधिते

विनेदुर्मैदुरोद्दाममुखाभादतपूरिताः ।
 मध्याह्नशङ्खाः कल्पान्तवातपूर्णा इवार्धवाः ॥ १२
 मालेयभीरिवालेषु धर्मभीर्षवनेष्विव ।
 चकार पदमाकीर्णेशुद्धमुक्ताफलोपमा ॥ १३
 गृहभित्तिपरावृत्ता सत्स्वसंरम्भमांसला ।
 शब्दभीः पूरयामास कर्णमर्ण इवार्धवम् ॥ १४
 पुरन्धीभिर्निवाघौघशान्तये समुदीरिता ।
 उल्लालस नवा पाण्डुकर्पूरजलदावलिः ॥ १५
 स राजा सहसामन्तः सभूपः सपरिच्छदः ।
 सवसिष्ठः समुत्तस्थौ सहसामः स संसदः ॥ १६
 राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो मुनयस्तथा ।
 अन्योन्यं पूजिता जग्मुर्मुदिताः स्वं निवेशनम् ॥ १७
 अन्तःपुरगृहामेषु तालवृन्तानिलाहृतैः ।
 कर्पूरधूलिभिरभूभवैवाम्बुदमालिका ॥ १८
 अथ मध्याह्नतूर्याणां रवे स्फूर्जति मित्तिसु ।
 उवाच ध्वनं वाक्यकोविदो मुनिनायकः ॥ १९
 सर्वमेव श्रुतं श्राव्यं ज्ञेयं ज्ञातमशेषतः ।
 त्वया राघव भो नास्ति ज्ञातव्यमपरं वरम् ॥ २०
 यथा मयोपदिष्टोऽसि यथा पश्यसि शास्त्रतः ।
 यथानुभवसि श्रेष्ठमेकवाक्यं तथा कुरु ॥ २१
 उत्तिष्ठ तावत्कार्याय वयं ज्ञातुं महामते ।
 मध्याह्नसमयोऽस्माकमयमङ्गातिवर्तते ॥ २२
 अपरं यस्त्वया भद्र स्वाकाङ्क्षाभिनिवृत्तये ।
 प्रष्टव्यं तच्छुभं प्रातः प्रष्टव्यं भवता पुनः ॥ २३
 श्रीधाम्नीकिदवाच ।
 इत्युक्ते मुनिनाथेन राजा दशरथः स्वयम् ।
 पूजयामास तान्सभ्यान्सर्वान्साधून्सपर्यया ॥ २४

अर्कापेक्षया द्विगुणमिव प्रज्वलति सति ॥ ११ ॥ १२ ॥
 धर्मभीः खेदविन्दुशोभा जनानां वदनेषु पदं चकार ॥ १३ ॥
 गृहभित्तिष्वभिघातात्प्रतिष्वन्यात्मना परावृत्ता । सत्त्वानां
 प्राणिनां कार्यत्वरशब्दसंरम्भेर्भांसला पुष्टा । अर्णो वृष्टिनवीज-
 लमर्णवमिव कर्णं पूरयामास ॥ १४ ॥ सकर्पूरजलसेकलक्षणा
 जलदावलिः ॥ १५ ॥ मण्डलदेशाधिपत्यमेदात्सामन्तभूपयो-
 मेंदः । संसदः सभायाः ॥ १६ ॥ १७ ॥ गृहामेषु गृहमुखेषु
 ॥ १८ ॥ स्फूर्जति अभिघातेन वर्धमाने ॥ १९ ॥ २० ॥
 गुरुपदेशवेदान्ताविद्याज्ञानानुभवानामविसंवादाय एकार्थनिष्ठता-
 कक्षणा एकवाक्यता कार्येत्याह—यथेति ॥ २१ ॥ २२ ॥
 प्रष्टव्यं प्रश्नार्हमस्ति चेत्प्रातरवश्यं प्रष्टव्यं नोपेक्षितव्यमित्यर्थः
 ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ कांक्षिन्मणिमुक्तागणनिष्क्रियभूतेनार्ये-
 न धनेन । कांक्षिशु प्रत्यक्षमणिमुक्ताप्रदानेन ॥ २६ ॥ कन्या-
 दिप्रदानेन ॥ २७ ॥ २८ ॥ सभया सभास्थेन जनेन सह
 ॥ २९ ॥ संसंरम्भः सत्वरः ससभाया उत्थानसमयः समो-

सह रामेण धर्मात्मा मुनिविप्राहृपांश्च सः ।
 वसिष्ठाद्युपदिष्टेन क्रमेण ध्योमगांस्तथा ॥ २५
 मणिमुक्तागणार्येण दिव्येन कुसुमेन च ।
 मणिरत्नप्रदानेन मुक्ताहारार्पणेन च ॥ २६
 प्रणयेन प्रणामेन प्रदानेनार्यशालिना ।
 धत्त्वासनाभयानेन कनकेन तथा भुवा ॥ २७
 धूपेन गन्धमाल्याभ्यां यथोदितमनिन्दितः ।
 पूर्वान्संपूजयामास सर्वानेव महीपतिः ॥ २८
 अथोत्तस्थौ सभामभ्यात्सभया सह मानदः ।
 सवसिष्ठादिदेवर्षिः सायमिन्दुरिवाम्बरात् ॥ २९
 ससभोत्थानसमयः ससंरम्भो व्यराजत ।
 जानुद्वयसुरोन्मुक्तपुष्पसंजातकर्ममः ॥ ३०
 संघहाघटकेयूररत्नचूर्णारुणावनिः ।
 छिन्नहारस्फुरन्मुक्ताताराजितमिशाम्बरः ॥ ३१
 देवर्षिमुनिविप्रेन्द्रपार्थिवस्पन्दसंकुलः ।
 व्यग्रभृश्याङ्गनाहस्तकेशचञ्चलधामरः ॥ ३२
 ज्ञानप्रमेयीकरणस्पन्दमानो न दाहणः ।
 शिरःकरत्रिनयनजिह्वेष्वेव विराजितः ॥ ३३
 परस्परमथापृच्छथ पूजिताः पेशलोक्तयः ।
 राजानो मुनयश्चैव सर्वे दशरथादयः ॥ ३४
 स्वाभ्रमान्साधवो जग्मुस्तुष्टिगन्धाशया मिथः ।
 लोकसप्तकथास्तव्या देवाः शक्रपुरादिषु ॥ ३५
 अन्योन्यं प्रणयात्सर्वे पूजयित्वा यथाक्रमम् ।
 तद्विसृष्टाः स्वमागत्य गृहं चक्रुर्दिनक्रियाम् ॥ ३६
 अथ सर्वे वसिष्ठाद्यास्तथा दशरथादयः ।
 चक्रुर्दिवसकार्याणि राजानो मुनयस्तथा ॥ ३७

त्थानसमयसहितः, स संरम्भ इति वा ॥ ३० ॥ तमेव वर्ण-
 यति—संघट्टेत्यादिना । संघट्टो वर्णणं भाषणं परस्परमाघात-
 स्ताभ्यां केयूररत्नचूर्णैः अरुणावनिः । छिन्नहारेभ्यः स्फुरन्तीनि-
 मुक्ताताराभिर्जितं निशाकालप्रसिद्धं सनक्षत्रमम्बरं वेन
 ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ तर्हि किं सर्वजनानां स्वार्थप्रवृत्तित्वरया दुर्बलपरो-
 पमर्दाहारणो नेत्याह—ज्ञानेति । वसिष्ठोपदिष्टस्य दानस्य मन्-
 नादिना भूमिकाक्रमेण प्रमेयीकरणार्थमेव स्पन्दमानो नान्य-
 स्वार्थत्वरयेति हेतोर्न दाहणः । किंच कदाचिदीषद्वज्रघट्टनेपि
 परस्परक्षमापणार्थं शिरःकराः शिरसि बद्धाजलयो ये पुरतः
 पार्श्वयोश्चेति त्रिषु भागेषु अवलोकनाय क्षमापणाय च प्रवृत्ता
 नयनजिह्वं येषां तथाभिधासेष्वेव सर्वजनेषु विराजितो न
 प्रमत्तनिष्ठुरजनविसंभ्रूल इति न तत्र परपीडादिदोषलेकास्यापि
 प्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ३३ ॥ पेशल्य मृदुमधुरा उक्तयो येषाम्
 ॥ ३४ ॥ मिथः परस्परं गुणस्पृहया तुष्टः किरणः जेहदुक्तक
 भाशयो येषाम् । शक्रपुरादेवा इवायोध्यातो लोकसप्तकथा-
 स्तव्या जग्मुः ॥ ३५ ॥ दिनक्रियामाधिकम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

यथाप्राप्तं क्रियां तेषु कृतवत्स्वयं वैवसीम् ।
 क्रमेणाकाशपथिको भास्करोऽस्तमुपाययौ ॥ ३८
 तथैव कथया तेषां रामस्य च महामतेः ।
 प्रबोधवशतः शीघ्रं सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ ३९
 उत्सारिततमःपांसुताराकुसुमनिर्भरम् ।
 भुवनं भवनीकुर्वन्नाजगाम दिवाकरः ॥ ४०
 करवीरकुसुम्भामैः करैरक्षणयन् दिशः ।
 विवेश गगनाम्भोधिमथ बालदिवाकरः ॥ ४१
 राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो मुनयस्तथा ।
 वसिष्ठाद्याः समाजग्मुः पुनर्दाशरथीं समाम् ॥ ४२
 यथाक्रमं यथासंस्थं यथादेशं यथासनम् ।
 सा विवेश समा तत्र विष्ण्यधीरम्बरे यथा ॥ ४३
 ततो दशरथाद्येषु सुमन्त्रादिषु वाप्यलम् ।
 वसिष्ठं संप्रशंसत्सु मुनिमासनसंस्थितम् ॥ ४४
 वसिष्ठस्य पितृभ्रात्रे राजीवदललोचनः ।
 उवाच राघवो घीमान्मृदुवर्णमिदं वचः ॥ ४५
 श्रीराम उवाच ।
 भगवन्सर्वधर्मज्ञ सर्वज्ञानमहार्णव ।

सर्वसंदेहपरशो परशोकमयापह ॥ ४६
 श्रोतव्यमपरं किं मे विद्यते वैद्यमेव वा ।
 श्रोतव्यं विद्यते यद्वा तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ४७
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 राम संप्राप्तबुद्धिस्त्वं श्रोतव्यं ते न विद्यते ।
 कृतकृत्या तवैषा घीः प्राप्तप्राप्या स्थितात्मनि ॥ ४८
 त्वमेव तावत्कथय प्रविचार्य धियात्मना ।
 कीदृशोऽद्य भवानन्तः किं शेषं आव्यमस्ति ते ॥४९
 श्रीराम उवाच ।
 ब्रह्मभेवमहं मन्ये यथाहं कृतकृत्यधीः ।
 निर्वाणोऽस्मि प्रशान्तोऽस्मि नाकाङ्क्षा मम विद्यते ॥ ५०
 वक्तव्यमुक्तं भवता ज्ञातं ज्ञेयं मयाखिलम् ।
 तव विभ्रान्तिमायातु कृतकृत्या सरस्वती ॥ ५१
 अधिगतमधिगम्यं ज्ञेयमानुं मयेदं
 विगतमखिलमैक्यं द्वैतमस्तं प्रयातम् ।
 परिगलितमशेषं दृश्यमेदावभानं
 ननु निपुणमपास्ताशेषसंसारितास्था ॥ ५२

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० निर्वाणवर्णनं नाम त्र्यधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २०३ ॥

चतुरधिकद्विंशततमः सर्गः २०४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
 आदर्शो राजतेऽत्यर्थं पौनःपुन्येन मार्जितः ॥ १
 अर्थो वेदनसंकेतः शब्दो जलरघोपमः ।
 दृश्यमेतच्चिदाभानं स्वप्नवत्काभवज्जगत् ॥ २
 देवसीं दिवससंबन्धिनीम् ॥ ३८ ॥ प्रबोधो जागरणं तद्वशातः
 ॥ ३९ ॥ प्रातर्यहसंमार्जनेनेव उत्सारितास्त्रमःपांसवत्साराकुसुम-
 निर्भराश्च मस्मिन्स्थाविधं भुवनं जगद्भवनं गृहमित्थं परिष्कर्वन्
 ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ विष्ण्यधीरं देवविष्ण्यभूतनक्षत्रशोभा
 ॥ ४३ ॥ वसिष्ठं संप्रशंसत्सु स्तुवत्सु ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ परेषां
 शत्रूणांमपि शोकमयापह ॥ ४६ ॥ यदि विद्यते तर्हि तद्ब्रह्म-
 मर्हसि ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अद्य भवान् खानुभवेन कीदृशः । ते
 शिष्यत इति शेषं श्राव्यमवश्यश्रोतव्यं किमस्तीति त्वमेव बदे-
 ल्यर्थः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ विभ्रान्तिमुपरमम् । सरस्वती वाणी
 ॥ ५१ ॥ अखिलं जगदैक्यं ब्रह्मैकरस्यं विशेषेण गतं विव-
 तम् । द्वैतं जीवब्रह्मभेदः । यतस्तदुपाधिभूतं दृश्यमेदावभानं
 परिगलितम् । तदपि कृतस्तत्राह—नन्विति । यतो मया
 संसारितास्था निपुणं विचार्य अपास्ता त्यजेत्यर्थः ॥ ५२ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 निर्वाणवर्णनं नाम त्र्यधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २०३ ॥

जाग्रद्वै स्वप्नसंज्ञः स्मरणात्म स्थितं पुरः ।
 संविद्वेदनमात्रं सत्तदन्याकारवत्ततम् ॥ ३
 यथाच्छं संविदाकाशं मयि स्वप्नपुरात्मकम् ।
 सरूपमपि नीरूपं तथेदं भुवनत्रयम् ॥ ४

निष्कृष्टयुक्त्या भूयोऽत्र दृश्यं चिति विमार्ज्यते ।

वसिष्ठेन च रामेण चिदात्मपरिष्कृष्टे ॥ १ ॥

परमं युक्तिसंक्षेपेण स्फुटं दृश्यमार्जनोपायोपदेशित्वाबुल्ल-
 ष्टम् ॥ १ ॥ रूपं नाम चेति हि द्विविधं दृश्यं, तत्राद्यमार्जने-
 पायमाह—अर्थ इति । जातिगुणक्रियासंस्थानानि हि चतु-
 र्विधानां शब्दानामर्थः । यथा गौर्नात्य चपला भद्राख्येति । ते
 वैकस्मिन्नेवार्थे व्यावर्त्यमेदाधीनमेदकल्पनरूपाः शब्दमेदप्रवृत्ति-
 निमित्ततया कल्पिता भ्रान्तिवेदनसंकेता एव न वास्तवाः । न हि
 तत्र वस्तुचतुष्टयमस्तीत्यर्थमार्जनमित्यर्थः । द्वितीयमार्जनोपाय-
 माह—शब्द इति । अर्थे मार्जिते निरर्थकः शब्दो जलध्वनि-
 सदृशः सन्नामतां त्यजन्नर्थतामेवापन्नस्तन्मार्जनेनेव मार्जित
 इत्येतद्विधमपि दृश्यं चिदाभानमात्रं स्वप्नवदिति सिद्धमित्यर्थः
 ॥ २ ॥ यदा जाग्रदेव मिथ्या तदा सैव स्वप्नसंज्ञार्थः संस्कार-
 मुखेन संपद्यते तत्र स्मरणमिव आत्मावैश्वान्यरूपं पुरः
 स्थितमिति संविद्वेदनमात्रमेव सत्तदन्याकारवत्ततं न तत्रापि
 संविद्यतिरिक्तं किंचिदस्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥ तथा चोभयोरुत्प-
 तया चिदाकाशमात्रत्वमित्याह—यद्येति । मयि प्रवृत्तिरिति

श्रीराम उवाच ।

संपन्नं कथं भूमिः संपन्ना गिरयः कथम् ।
 कथं संपन्नमम्भश्च संपन्ना उपलाः कथम् ॥ ५
 कथं च तेजः संपन्नं संपन्ना च कथं क्रिया ।
 कथं च कालः संपन्नः संपन्नः पवनः कथम् ॥ ६
 कथं च शून्यं संपन्नं संपन्नं चिन्नमः कथम् ।
 इति ज्ञातं मया भूयो बोधाय वद मे प्रभो ॥ ७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ब्रूहि राघव तत्त्वेन स्वप्नदृष्टमहापुरे ।
 संपन्ना भूः कथमिव संपन्नं कथमम्बरम् ॥
 कथं धारि च संपन्नं संपन्ना उपलाः कथम् ।
 कथं च तेजः संपन्नं संपन्नाश्च कथं दिशः ॥ ९
 संपन्नश्च कथं कालः संपन्ना च कथं क्रिया ।
 कथमेतन्निमित्तादि सर्वं संपन्नमुच्यताम् ॥ १०
 केनेदं निर्मितं दग्धमानीतं रचितं चितम् ।
 उत्पादितं प्रकटितं किमात्वारं किमात्मकम् ॥ ११

श्रीराम उवाच ।

आत्मास्य केवलं व्योम न सद्भ्रम्यचलादिकम् ।
 जगतः स्वरूपस्य निराकारो निरास्पदः ॥ १२
 आत्मैव व्योमरूपोऽस्य निराधारो निराकृतिः ।
 विनाकृतेर्वा व्योम्नोऽस्य किमाधारेण कारणम् ॥ १३
 न किञ्चिदेतत्संपन्नं सद्यथैतन्न संविद् ।
 एतच्चित्कचनं नाम मन एव तथा स्थितम् ॥ १४
 दिक्कालाद्यत्र चिद्भानं चिद्भानमचलादिकम् ।
 चिज्जलादि तथा बोधाच्चित्तं वाय्वादि तद्विदः ॥ १५
 संविदेव किल व्योम तिष्ठति व्योमतामिता ।

॥ ४ ॥ चिति जाड्यं तत्र भूम्यादिवैचित्र्यं च कथं संपन्नमिति प्रश्नः ॥ ५ ॥ ६ ॥ इत्येतत्सर्वं प्राक् त्वद्वचनान्ज्ञातमपि पुनरसंभावनाशान्त्या बोधाभिवृद्धये वद ॥ ७ ॥ स्वप्नवदेव सर्वसंभावनीयमित्याशयेन प्रतिबन्धेन स्वयं प्रश्नव्याजेन वसिष्ठ उत्तरमाह—ब्रूहीत्यादिना ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ दृष्टान्तवदेव दाष्टान्तिकेऽपि पृथ्वाविसंपत्ति संभावयन् रामः स्वयमपि जगतो मिथ्यात्वं प्रपन्नयति—आत्मास्येत्यादिना । अस्य जगत आत्मा स्वरूपं केवलं व्योमैव ॥ १२ ॥ तर्हि किञ्चिद्व्ययकमेव, नेत्याह—आत्मैवेति । कारणं प्रयोजनम् ॥ १३ ॥ अभ्युपेक्ष पृथ्वायाकारसंपत्तिमिदमुक्तं, वस्तुतस्तु तत्संपत्तिरपि नास्त्येवेत्याह—न किञ्चिदिति । एतज्जगदाकारं चित्कचनं स्वप्नवन्मन एव तथा स्थितं नान्यत् ॥ १४ ॥ मनसश्च

दृष्टयास्ते काठिन्याद्द्रव्याज्जलमिव स्थितम् ॥ १६
 वस्तुतस्तु न भूम्यादि किञ्चिन्न च दृश्यता ।
 चिदाकाशमनन्तं तत्सर्वमेकं तदात्मकम् ॥ १७
 द्रवत्वाद्भ्रु हृद्याग्नेर्नानावृत्तितया यथा ।
 अनानैव भवेन्नाना चिद्योमात्मनि वै तथा ॥ १८
 काठिन्यवेदनादुर्वी गिरितामागतेव चिद् ।
 शून्यतावेदनाच्छून्यं वेत्ति व्योमेव चिद्भ्रुः ॥ १९
 द्रवत्ववेदनाद्वेत्ति धारि स्पन्दतयानिलम् ।
 औष्ण्यसंविन्नतो वह्निमत्यजन्ती निजं वपुः ॥ २०
 एवंस्वभावा एवायं चिद्भ्रुर्गुणगतात्मकः ।
 यदेवं नाम कचति निष्कारणगुणक्रमम् ॥ २१
 न वैतद्यतिरेकेण किञ्चिन्नापीह विद्यते ।
 अन्यच्छून्यत्वधारिभ्यामृते ज्ञानेवयोरिव ॥ २२
 न तु चिद्भ्रुर्गतादन्यन्न संभवति किञ्चन ।
 इदं त्वमहमित्यादि तस्मादाशास्तमास्यताम् ॥ २३
 त्वं यथासिन् गृहे कुर्वन्नग्निशैलादिकां विदम् ।
 तदेव पश्यस्यवपुरेवं चिद्भ्रुर्गनं तथा ॥ २४
 चिद्योम भाति देहाभं सर्गादौ न तु देहकः ।
 अकारणत्वादसतश्चिदुदेतीति चिन्त्यताम् ॥ २५
 मनोबुद्धिरहंकारो भूतानि गिरयो दिशः ।
 शिलाजटारश्चम्पौममयं सर्वं यथास्थितम् ॥ २६
 एवं न किञ्चिदुत्पन्नं नष्टं न च न किञ्चन ।
 यथास्थितं जगद्रूपं चिद्भ्रुसात्मनि तिष्ठति ॥ २७
 चितौ यत्कचनं नाम स्वरूपप्रविजृम्भणम् ।
 तदेतज्जगदित्युक्तं द्रव एव यथा जलम् ॥ २८

चित्सफुरणमात्रत्वात्तदेव सर्वमित्याह—दिक्कालेत्यादिना । तद्विदः सर्वतत्त्वविदः ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ हृद्यस्य प्रसन्नस्याग्नेरभ्रु द्रवत्वादेव यथा तरङ्गेनावर्तानानावृत्तयात्मना अनानैव नाना संभवेत्तथा चिद्योमापीत्यर्थः ॥ १८ ॥ १९ ॥ चिद् आत्मनि द्रवत्ववेदनाद्वारि वेत्ति । एवं स्पन्दतया वेदनात्तन्निर्णयं वेत्ति । निजं अपुरधिष्ठानचिद्भ्रुपमत्यजन्तीति विवर्तता इति ॥ २० ॥ निष्कारणगुणक्रममिति दृष्टव्येतिद्वान्तः प्रकटितः ॥ २१ ॥ यथा ज्ञानेव धारित्वादेव अन्यत्त्वं नास्ति । स्वप्न च शून्यत्वाद्देव, तथा एतस्माच्चिदात्मनो व्यतिरेकेण किञ्चिज्जगतत्त्वं न विद्यते ॥ २२ ॥ इदं त्वमहमित्यादि जगद् चिद्भ्रुर्गतादन्यन्न इ । यतः किञ्चन तद्विना न संभवति ॥ २३ ॥ कुर्वन् स्वप्ननोर्थादिना रचयन् ॥ २४ ॥ यदा देहको नास्ति तदा अकारणत्वादसतोऽज्ञानाद्देहाकारं चिदुदेति न तद्वत्ता इति चिन्त्यतां विचार्यतामभिज्ञेतिस्वर्थः ॥ २५ ॥ मौनममम-विर्भाव्यमेवेत्यर्थः ॥ २६ ॥ २७ ॥ स्वरूपस्य प्रकर्षेण विजृम्भणं

इदं जगद्भानमभानमेव
चिद्योम शून्यं परमार्थ एव ।

यथार्थसंदर्शनबुद्धये-
रबुद्धयेस्तु यथा तथास्तु ॥

२९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० भो० नि० ४० विदाकाशैकताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमः सर्गः २०५

श्रीराम उवाच ।

एवं यथैतद्भगवन्स्वप्ने इदं परं नमः ।

तथैव जाग्रतीत्यत्र न चेत्संदेहजालिका ॥

इदं मे भगवन्ब्रूहि महाप्रश्नमनुत्तमम् ।

कथं भवत्यदेहा चिज्जाग्रत्स्वप्ने स्वदेहवत् ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इदं जाग्रत्यथ स्वप्ने स्वाधारं स्वात्मकं स्वजम् ।

खं च नान्यत्परं जातु संदेहोऽस्त्युपपत्तितः ॥

समस्तकारणाकारप्रत्यस्तमयरूपिणि ।

सर्गादावेव भूतानि संभवन्ति न कानिचित् ॥

पृथ्व्यादिनियतस्तेन देहोऽयं नास्ति किञ्चन ।

भूतान्येव किलैतानि देहस्तानि न सन्त्यलम् ॥

तेन स्वप्नवदाभासमिदं पश्यति चिञ्जमः ।

स्वरूपमात्रकचनमाकारवदिवाकुलम् ॥

भानमाभानमात्रत्वमिदं यत्तच्चिदात्मना ।

अमसा स्वप्नशब्देन कथ्यते जगदाकृतिः ॥

बुद्धम् ॥ २८ ॥ यथार्थसंदर्शनेन प्रबुद्धदृष्ट्या इदं ज-
गद्भावेन भानमप्यभानमेव चिद्योमेव परमार्थः । अबुद्धबुद्धे-
र्मूर्खस्य तु यथा तथास्तु किं तद्विचारेणेत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विदाका-
शैकताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०४ ॥

विवर्तमात्ररूपेयं स्वप्नतुल्या जगत्स्थितिः ।

नोद्भूता न स्थिता नास्ती चिन्मात्रमिति वर्णयते ॥ १ ॥

एवं जगतः स्वप्नवद्विवर्तमात्रत्वं यथोक्तमभ्युपगम्य कूट-
स्थाद्वयचिन्मात्रे विवर्तोऽप्यसंभावित एव हेत्वभावादिति रामः
पृच्छति—एवमिति द्वाभ्याम् ॥ १ ॥ २ ॥ हेत्वभावादिति त्वया
विवर्तस्यानुत्पत्तिरनुत्पन्नस्य न स्थितिः स्यादिति शून्यतेव
स्यादित्यापादनीयं तच्छेषमेव तस्येति निरुपपत्तिकस्ते प्रश्नहेतुः
संदेह इति भगवानुत्तरमाह—इदं इत्यमित्यादिना । यतः स्वर्जं
हेतुशून्यादुत्पन्नमतः शून्याधारं शून्यात्मकमेव स्यादित्यापाद-
नीयम् । खं शून्यं च परं ब्रह्मैव नान्यत् । अत उत्पत्त्यादि-
शून्ये ब्रह्माद्वैताविरोधिनि विवर्ते अनुपपत्तिसंदेहो नोपपद्यत
इत्यर्थः ॥ ३ ॥ अनुत्पत्तिमेवोपपादयति—समस्तेत्यादिना
॥ ४ ॥ 'कथं भवत्यदेहा चिज्जाग्रत्स्वप्ने स्वदेहवत्' इति प्रश्नोऽ-
प्यनुपपन्नः । पृथ्व्याद्यभावे चतुर्विधभूतप्रामरूपदेहानामप्यस-
त्त्वादित्याह—पृथ्व्यादीति ॥ ५ ॥ अतो विवर्तपक्षो निर्दोष

यदेतद्वेदनं नाम चिद्योक्तो व्योमनिर्मलम् ।

एतदन्तश्चित्तो रूपं स्वप्नो जगदिति स्थितम् ॥

एतस्मिन्नेव तेनाथ स्वभावकचने तते ।

चिद्रूपेण कृताः संज्ञाः पृथक्पृथ्व्यादिका इमाः ॥

चिद्भानमेव तत्स्वप्नजगच्छब्दैः प्रकथ्यते ।

भानं चास्याः स्वभावः खं तत्कदाचिन्न शाम्यति ॥ १० ॥

बह्वयः सर्गदशो भिन्ना ब्रह्मैव ब्रह्मखे च ताः ।

शून्यतानमसी वातस्तिष्ठन्ति च विशन्ति च ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच ।

सर्गाणां कोटयः प्रोक्ता भगवन्भवता किल ।

काश्चिद्ब्रह्माण्डकोशस्थाः काश्चिदण्डविवर्जिताः ॥ १२ ॥

काश्चिन्महीकोशगताः काश्चिदाकाशसंस्थिताः ।

तेजःकोशगताः काश्चित्काश्चित्पवनकोशगाः ॥ १३ ॥

काश्चिद्योमस्थभूपीठा ऊर्ध्वाधस्थविनिश्चयाः ।

बुध्राकाशादूर्ध्वखुरा लम्बमानवनाचलाः ॥ १४ ॥

इत्याह—तेनेति । आकुलं मायागुणविधुग्धम् ॥ ६ ॥ यत्-
दाभानमात्रत्वं तदेव स्वप्नभानं सैव जगदाकृतिर्नमसा विदा-
काशरूपेणैव स्वप्नविवर्तजगदादिशब्देन कथ्यते ॥ ७ ॥ तथा च
वेदानान्तर्भासमानं जगद्रूपं सौक्ष्म्ये स्वप्न इति स्वौल्ये जगदिति
वेदनमेव तथा स्थितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ एवंप्रपञ्चस्य वेदनमा-
त्रत्वे नामप्रपञ्चोपि वेदनस्यैव नामभेद इति पर्यवस्यतीत्याह—
एतस्मिन्नेवेति । तेन रूपभेदकल्पकेन चिद्रूपेण चिदात्मना ।
अथ अनन्तरम् ॥ ९ ॥ अत एव स्वप्नादिशान्तावपि तत्सत्त्वं
भानं कदापि न शाम्यतीत्याह—चिद्भानमेवेति । स्वभावस्व-
त्वम् ॥ १० ॥ तत्सद्भावादेव तत्र बहवो विवर्ताः प्रवृत्ता
इत्याह—बाह्य इति ॥ ११ ॥ कौतुकादेतद्ब्रह्माण्डस्वरूपं श्रोतु-
कामो रामः प्रश्नपीठिकां रचयति—सर्गाणामित्यादिना ।
प्रोक्ताः लीलोपाख्यानभुशुण्डाख्यानादी ता उक्ता एवानुब-
दति—काश्चिदित्यादिना । एते श्लोकाः प्राग्भाष्यताः ॥ १२ ॥
॥ १३ ॥ व्योमस्थगोलकाकारभूपीठाः । ऊर्ध्वाधस्थानां विपि-
लिकाबहुगोलसंलभानां देवापुराणीनां वयमेवोर्ध्वं वयमेवोर्ध्व-
मिति विविधा निश्चया यत्र । तदेव स्पष्टमाह—बुध्राकाशा-
दिति । यतः सर्वेषां दशा भूमेरुभोदेशे प्रजाः बुध्राकाशादूर्ध्व-
मूलाकाशादूर्ध्वखुरा ऊर्ध्वपादाः अधःशीर्षाः । एवमूर्ध्वमूर्ध्वधः-
शास्त्रादिखरत्वालम्बमानानीव बनान्यवस्थाय येषु ॥ १४ ॥

काञ्चिद्वातात्मभूतौघाः काञ्चिन्निस्यं तमोधराः ।
 व्योमसंस्थानकाः काञ्चित्काञ्चित्किमिकुलाकुलाः ॥
 काञ्चिदाकाशकोशस्थाः काञ्चिन्नोपलकोशगाः ।
 काञ्चित्सकुण्डकोशस्थाः काञ्चित्स्त्रे खगवत्स्थिताः ॥
 तासां मध्ये यथा हीदं ब्रह्माण्डं यादृशं स्थितम् ।
 अस्माकं भगवंस्तन्मे ब्रूहि तत्त्वविदां वर ॥ १७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यदपूर्वमदृष्टं वा नानुभूतं न वा श्रुतम् ।
 तद्वर्ण्यते सुदृष्टान्तैर्गृह्यते च तद्ब्रूयते ॥ १८
 इदं तु राम ब्रह्माण्डमागमैर्मुनिभिः सुरैः ।
 शतशो वर्णितं तच्च ज्ञातमेतत्त्वयाऽखिलम् ॥ १९
 यथेदं भवता ज्ञातमागमैर्वर्णितं यथा ।
 स्थितं तदेतदखिलं किमन्यदिह वर्ण्यते ॥ २०

श्रीराम उवाच ।

कथमेतद्वद ब्रह्मन्संपन्नं चिन्महानभः ।
 कियत्प्रमाणमेतद्वा कियत्कालं च वा स्थितम् ॥ २१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अनादिनिघनं ब्रह्म नित्यमस्त्येतदव्ययम् ।
 आदिमध्यान्तता नास्ति नाकाराः परमास्वरे ॥ २२
 ब्रह्माकाशमनाद्यन्तमेतदव्ययमाततम् ।
 एतन्मयमिदं विश्वं विश्वगाद्यन्तवर्जितम् ॥ २३
 परमस्यास्य चिद्बोद्धः स्वयं यद्भानमात्मनि ।
 तदेतद्विश्वमित्युक्तं स्वयं तेनैव तन्मृषा ॥ २४
 पुरुषस्य यथा स्वप्नपुरसंदर्शनं तथा ।

तत्तस्य भानं पुरवत्तदिदं विश्वमुच्यते ॥ २५
 कठिना मेह गिरयो न द्रवाणि जलानि च ।
 न शून्यमेतदाकाशं कालो न कलनात्मकः ॥ २६
 यद्यथा चाव्ययं यत्र स्वतः संचेतितं धिता ।
 तत्तथा तत्र चित्तत्वे अलं शैलादिवत्स्थितम् ॥ २७
 अशिलैव शिला स्वप्ने नम एवानभो यथा ।
 भवेत्तथेह सर्गादि स्वप्ने दृश्यस्थितिधितौ ॥ २८
 अनाकारैव चिच्छान्ता स्वप्नघटत्स्वचेतनम् ।
 वेत्ति तज्जगदित्युक्तं तच्चात्माकारमेव सत् ॥ २९
 वायोः स्पन्दो यथान्तस्थो घात एव निरन्तरः ।
 तथेदं ब्रह्मणि ब्रह्म न चोदेति न शाम्यति ॥ ३०
 द्रवत्वमम्मसि यथा शून्यत्वं नमसो यथा ।
 यथा वस्तुनि वस्तुत्वं ब्रह्मणीदं जगत्तथा ॥ ३१
 न प्रयातं न वाऽऽयातमकारणमकारणात् ।
 न च नास्ति न वास्तीदं भिन्नं ब्रह्मपदे जगत् ॥ ३२
 न चानादि निरामासं निराकारं चिदम्बरम् ।
 दृशः कारणमन्यस्याः कश्चिद्भूषितुमर्हति ॥ ३३
 तस्माद्यथायथिनोऽवयवाः स्वात्ममात्रकाः ।
 तथानवयवे ब्रह्मव्योम्नि व्योम जगत्स्थितम् ॥ ३४
 सर्वं शान्तं निरालम्बं कृतिमात्रमनामयम् ।
 नेह सत्ता न वासत्ता न च नानास्ति किञ्चन ॥ ३५
 संकल्पस्वप्नगरनृत्तवत्सर्वमाततम् ।
 स्थितमेव समं शान्तमाकाशमजमव्ययम् ॥ ३६

वातात्मानो वायुशरीरा भूतौघाः प्राणिसमूहा यास्तु तमोधराः
 सान्धकाराः । व्योमेव प्राणिदेहसंस्थानं यास्तु ॥ १५ ॥ सकुण्डाः
 स्रभाण्डा ये गृहमण्डपादिकोशास्तत्स्थाः यथा । मण्डपोपाख्याने
 दर्शिताः ॥ १६ ॥ इदमस्माकमाश्रयभूतमिव ब्रह्माण्डं यादृशं
 स्थितं तन्मे ब्रूहीति प्रश्नः ॥ १७ ॥ नायं तत्त्वविषयस्वत्व-
 ज्ञानोपयोगी वा प्रश्नो नापि प्रयोजनवान् प्रकृतोपशुक्तोऽपूर्वो
 वा नापि नियतार्थः । मुनिभिर्ज्योतिषसिद्धान्तमेदेषु भूमिभु-
 वनादिस्थितेरन्यथान्यथावर्णनात् । तन्नोपदर्शितमेव पुरस्तादतो
 मायामये स्वप्नोपमेऽस्मिन्नैकतरपक्षपातेन सिद्धान्तकथने किञ्चि-
 त्प्रयोजनं प्रमाणं वास्तीति मन्यमानो वसिष्ठः शास्त्रान्तरस्य
 विषयोऽयं ततस्त्वया ज्ञात एवेति न प्रश्नार्ह इत्येवोत्था समा-
 धत्ते—यदिति । अपूर्वं भानान्तराविषयः । तस्यैव प्रपद्यो न दृष्टं
 नानुभूतं न वा श्रुतमिति प्रत्यक्षानुमानागमार्थत्वपरम् । तदेव
 गुरुणा सुदृष्टान्तैर्वर्ण्यते शिष्येण च श्रवणेन गृह्यते मननेनोद्यते
 नेतरदित्यर्थः ॥ १८ ॥ शतशः अनेकधा अनेकप्रकारेण च
 ॥ १९ ॥ त्वज्ज्ञातप्रकारस्यैव त्वां प्रति वर्णनं नापूर्वमिति न
 यो० वा० १९५

युक्तमित्याह—यथेति ॥ २० ॥ तर्हि ब्रह्म कथं ब्रह्माण्डाकारं
 संपन्नं कियत्कालं वा एवं स्थास्यति तद्वदेति रामः पृच्छति—
 कथमिति ॥ २१ ॥ न ब्रह्म कदापि साकारं संपन्नम्, नापि तस्य
 कालिकपरिच्छेदोऽस्ति, किंतु यावदप्रबोधं सुप्त इव स्वात्मान-
 मेव जगदाकारमिव पश्यतीत्याशयेनोत्तरमाह—अनादीत्यादिना
 ॥ २२ ॥ २३ ॥ तेन स्वयमेव विश्वमिति उक्तं तच्च सृष्टा
 ॥ २४ ॥ २५ ॥ चिदेकस्वभावे ब्रह्मणि तद्विच्छेदा गिरिकाठि-
 न्यादिस्वभावाः कथं सत्याः स्युरित्याह—कठिना इति ॥ २६ ॥
 तथा च चिदेव भ्रान्तिचेतनेन तथा तथा स्थितेव न वस्तुत
 इत्याह—यदिति ॥ २७ ॥ एवकारो भिन्नक्रमः । अनम एव
 यथा नम इति ॥ २८ ॥ उक्तं शतशो मयेस्वर्यः ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥ ३१ ॥ प्रयातं प्रकथ्येन तिरोभूतम् । आयातमाकि-
 र्भूतम् ॥ ३२ ॥ ब्रह्म तु कारणत्वादियोग्यं न भवत्येवेत्याह—
 न चोति । अन्यस्याः सर्गदृशः ॥ ३३ ॥ स्वात्ममात्रकाः पृथ-
 गसन्ताः ॥ ३४ ॥ सर्वापक्षपे 'नेह नाना' इति श्रुतिः प्रमाण-
 मिति साधः ॥ ३५ ॥ तथाविधस्यापि प्रतिभासे दृष्टान्तमाह—

परमचिदम्बरद्वयं

चित्त्वामयत्कचति कान्वाससकसकम् ।

तदिवं जगदिति कलितं

तेनैव त्रवात्मरूपमाकल्पम् ॥

३७

इत्यार्षे श्रीमद्भागवतपुराणस्य भा० द्वे० मो० त्रि० उ० सर्वाकारणनिराखो नाम पञ्चाधिकद्विसप्ततमः सर्गः ॥ ३०५ ॥

पञ्चाधिकद्विसप्ततमः सर्गः २०६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यदकारणकं भाति भानं तत्रैव किञ्चन ।
 तत्तथा परमार्थेन परमार्थः स्थितोऽनघ ॥ १ ॥
 अत्रेयं केनचित्कृद्दोऽयमहं तं महामते ।
 सम्यग्बोधस्य पुण्यार्थं महाप्रश्नं परं शृणु ॥ २ ॥
 अस्यन्धिभ्यस्तुभ्यतो ज्ञानं ज्ञातं जगद्भवे ।
 कुशाद्रीपमिति द्वीपं भूमौ बलयवस्थितम् ॥ ३ ॥
 तत्रास्तीलावती नाम द्वीपी पूर्वोत्तरे पुरी ।
 दीप्तिज्वालाभयस्तम्भप्रोतावनिभस्तला ॥ ४ ॥
 पूर्वं तस्यामभूद्वाज प्रकृतिरिति विश्रुतः ।
 अनुरक्तकमभूतः शकः स्वर्ग इवापरः ॥ ५ ॥
 केनचित्काश्मोताहं कदाचिदस्य भूपतेः ।
 प्राप्तः समीपं कस्यः प्रलयार्थं इह ज्युतः ॥ ६ ॥
 पुण्यार्थावसनीयैर्मां पूजयित्वापविश्य सः ।
 मध्ये कथार्यां कस्यांचिदपृच्छत्प्रणयादिदम् ॥ ७ ॥
 भगवन्सर्वसंहारे जाते शून्यतते स्थिते ।

अवाच्ये परमे व्योम्नि सर्वकारणसंशये ॥ ८ ॥
 सर्गारम्भस्य भूयः स्याद्भवं किं मूलकारणम् ।
 कानि वा सहकारीणि कारणानि कुतः कथम् ॥ ९ ॥
 किं जगत्किं च सर्गादि काश्चिन्नित्यं तमोधराः ।
 व्योमसंस्वार्णवाः काश्चित्काश्चित्कमिकुलाकुलाः ॥ १० ॥
 काश्चिदाकाशकोशस्थाः काश्चिद्योपलकोशगाः ।
 किञ्च वा भूतभूतादि कुतो बुद्ध्यादयः कथम् ॥ ११ ॥
 कः कर्ता कोऽयं वा द्रष्टा काधाराधेयता कथम् ।
 न कदाचिन्महानाशो जगतामिति निश्चयः ॥ १२ ॥
 समस्तवेदशास्त्रार्थाविरोधाय समर्थितः ।
 यथा संवेदनं नाम तथा नामानुभूतयः ॥ १३ ॥
 यतस्ततो वेदनं स्यात्किमनाशमसन्मयम् ।
 अन्यच्च जम्बूद्वीपादौ देशेऽद्य मुनिनायक ॥ १४ ॥
 सृतानामग्निदग्धानामिह वा देहनाशिनाम् ।
 नरकस्वर्गभोगाय विदेहे देहकारणम् ॥ १५ ॥

सुंकरपेति ॥ ३६ ॥ असलं खच्छं कान्तं स्फुरदपं परमस्य
 चिदम्बरस्य हृदयं सारभूतं सक्रममेव चित्त्वामावाद्यसुदाकारं
 अन्त्या अलं समर्थं कचति तदेव खकल्पितमाल्मरूपसुसुप्तम्-
 माप्रकृतं तेनैव जगदिति कलितं दुहं नान्यदित्यर्थः ॥ ३७ ॥
 इति श्रीमद्भागवतपुराणस्य पञ्चाधिकद्विसप्ततमः सर्गः ॥ ३०५ ॥

अत्रैव सम्यग्बोधस्य पुण्यार्थं महाप्रश्नं परमन्यं शृणु ।

कुशाद्रीपेचप्रोक्तः प्रसा इह निरूपिताः ॥ १ ॥

परमार्थो ब्रह्मेव परमार्थेन स्थितः । अकारणकं प्रकृतज्ञानं
 भाति तद्विचित्रापि नैवास्ति इति पूर्वप्रत्यक्षकारणं उत्तरप्र-
 न्यावताम्योपन्यस्तः ॥ १ ॥ अत्रास्तिष्ये सम्यग्बोधस्य
 पुण्यार्थमिमं कथयामां महाप्रश्नं परमन्यं शृणु ॥ २ ॥ अन्धिभ्यां
 सुरोदृष्टोदाभ्यामुभयतो बलयवस्थासु ॥ ३ ॥ पूर्वोत्तरयोरन्त-
 राळे दिग्भागे । 'दिक्कामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिः । दीप्ति-
 क्षणज्वालावलिस्तम्भैः प्रोते अवनिभस्तले यत्र ॥ ४ ॥
 तस्यां पुरि पूर्वं भागे ॥ ५ ॥ ज्योतिषकाश्च्युतः प्रलयकालेऽर्क
 इव ॥ ६ ॥ ७ ॥ शून्यतया तदे विस्तीर्णं नामप्रवृत्तिनिमित्त-
 तजात्यादिकपञ्चतुष्टयाभावादवाच्ये सर्वकारणानां बीजादीनां
 पृथ्व्यादीनां च संशये जाते सति ॥ ८ ॥ मूलकारणमुपादा-
 नम् । सहकारीणि निमित्तकारणानि । तानि यदि सन्ति तर्हि
 कुत उपादानादेः कथं केनोप्रायेण जातासि ॥ ९ ॥ इत्यर्थः

८ सर्ग इति पाठः.

जगत् तत्त्वतः किम् । तस्य सर्गादिप्रलयान्ता विकाराश्च किम् ।
 तत्रापि काश्चिद्भूययो नित्यं तमोधराः । काश्चिद्भूयलोकादयो
 व्योमसंस्वार्णवाः । 'अरब प्यक्षार्णवौ' इति श्रुतेः । काश्चि-
 रकादिभूययः कृमिकुलैराकुला इत्यादिवैविध्यं च किम् ॥ १० ॥
 आकाशकोशस्था अन्तरिक्षात्रिलोकाः । उपलकोशगाः स्थितो-
 दरमत्त देवदानवदिग्गर्ग्यः । भूतानि पृथिव्याधीनि तद्वत-
 ष्चूर्विभभूतमासादि च तद्वतः किम् । तेषामाभासिक
 बुद्ध्यादयश्च किं कथं वा ॥ ११ ॥ एतेषां सर्वेषां कर्ता त्रिर्घाता
 कः । अथ को वा द्रष्टा । यदि तु कर्मप्रज्ञोभयकाण्डात्मकसम-
 स्तवेदशास्त्रार्थाविरोधाय जगतां कदाचिदपि महानाशः प्रकृतो
 नास्ति किन्तु तत्तत्प्रणिर्कर्माजुषारेण सदैव व्यवहारः प्रवर्तन्ते
 न कदाचिदनीहं जगदिति निश्चयः समर्थितस्तर्हि यथा संवे-
 दनं तथैकानुभूतय इति प्रसिद्धेः संवेदनं देहादिदेहानुभूतयेत
 उतान्तर । तत्राद्ये प्रकृते तत्संवेदनं किमनामां ज्ञानं किं च
 धसन्ममं नशरमिति । यथानाशं तर्हि कृत्स्नमेवेति न देहा-
 दिविकारं स्यात् । यदि तद्वत् तर्हि तदुत्पत्तौ कारणं स्यात्तस्य
 तत्र दुर्वचम्, किन्ता संवेदनं तस्माद्विदेरिति विरोधादित्युत्तरको-
 काभ्यां सहान्वयः ॥ १२ ॥ १३ ॥ द्वितीयेऽपि सङ्कते—
 अन्यत्रोत्पाद्य ॥ १४ ॥ इह कुशाद्रीपादौ वा देहनाशयताम् ।
 विदेहे देहोत्पादकमातापित्रादिशून्यप्रदेशे देहं प्रति उपादान-
 कारणं सहकारीणि निमित्तकारणानि वा कानि ॥ १५ ॥

किं तत्स्यात्सहकारीणि कारणान्यथ कानि वा ।
 धर्माधर्माधर्मतां द्वौ तस्यामूर्तस्य मूर्तता ॥ १६
 निर्द्रव्यं कुरुते द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमञ्जसा ।
 मातापित्राद्यमावो हि बीजं किं तत्र कारणम् ॥ १७
 अन्ये वा हेतवः के स्युः कथं द्रव्यादिसंभवः ।
 परलोकोऽस्य नास्तीति यथासंवेदनं स्थितेः ॥ १८
 समस्तलोकवेदादिबिरोधाद्यासमञ्जसम् ।
 अनिच्छितेदितैर्दूरदेशान्तरगतैः फलम् ॥ १९
 प्रजा प्राप्नोत्यसंख्यैरमूर्तैरत्र कः क्रमः ।
 स्तम्भो घरेण सौवर्णो विना हेमगमागमैः ॥ २०
 क्षणात्संपद्यते तत्र संघसिः कथमुच्यताम् ।
 विधीनां प्रतिवेधानां निर्निमित्तं विवक्षताम् ॥ २१
 रुढानामप्यरुढानां किं प्रयोजनमुच्यताम् ।
 असदासीजगरपूर्वं सत्संपन्नमन्तरम् ॥ २२
 इति श्रुतेः कथं ब्रह्मन्कथ्यतां संगतार्थता ।
 अयं भवेत्कथं ब्रह्मा भवेच्छेत्सम्प्रदायानुने ॥ २३
 यद्व्यप्रभावात्संभवः किं सर्वेषां जायते ।

ननु धर्माधर्मावेव देहाकाकारेण परिणस्येते तत्राह—धर्माधर्मा-
 धिति । तस्य अमूर्तस्य इत्यस्य मूर्तता असमञ्जसेत्यपहृष्य संभवः
 ॥ १६ ॥ किंच निर्द्रव्यं अद्रव्यं द्रव्यभिर्भवं तदुभयं द्रव्यैः पार्थि-
 वादिभ्योर्देहादिनिर्माणं कुरुते इति युक्तिरप्यसमञ्जसा । निर्वा-
 जत्वाद्यसमञ्जसमित्याह—मातापित्रादीति ॥ १७ ॥ तर्हिस्तु
 नास्तिकपक्षस्तत्राह—परलोक इति । अस्य धर्माधर्मादिकर्तुः
 परलोको नास्तीति च असमञ्जसम् । अस्मैव जन्मनः पूर्वज-
 म्भविष्याको परलोकत्वात् । अस्य च यथासंवेदनं स्थितेः
 ॥ १८ ॥ समस्तलोकवेदादिबिरोधाप्रसङ्गाच्च नास्तिकपक्षो न
 प्राप्य इत्याह—समंस्तीति । किंचैवं प्रजा सौख्यवैद्यव्यभिचरि-
 रपि देशान्तरगतैरत एवासंख्यैरमूर्तैरपि राजाशादिनिर्विकल्प-
 क्त्वैरुपाधिफलं प्राप्नोति तत्र च कः क्रमः का उपपत्तिः ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ किंच शिलाविमयः स्तम्भो देवमुन्यादिवरेण हेमः
 अर्जनाथं गमनागमनैर्विनापि यत्र सौवर्णः स्तम्भः क्षणात्सं-
 पद्यते तत्रापि सा उपपत्तिः कथं कया उपपत्त्या । निर्नि-
 मित्तं अर्थात्तत्कारणप्रयोजनसिद्धिकर्णं निर्मितं विनैव प्रवृत्ततां
 प्रवर्तमानानां विधिप्रतिषेधशक्त्याणां लोके प्रचारेण सिद्धिदानं
 कैरप्यननुष्ठानादकृतानामपि किं प्रयोजनम् ॥ २१ ॥ तथा
 'असदा इदमत्र आसीत्ततो वै सदाजन्त', 'असदेवेदमत्र आ-
 सीत्', 'सर्वेव सौम्येदमत्र आसीदेकमेवादितीयम्', 'वासदा-
 सीतो सदासीत्तदानीम्' इत्यादिश्रुतेः कथं परस्परं संगतार्थता
 ॥ २२ ॥ किंच सर्गादींश्चान्याकमसः संकाशादयं प्रजा हिं-
 श्ययजैः कथं भवेत् । यदि नमस एवंप्रभाक्ता अस्तौत्युच्येत
 तद्व्यप्रभावात्संभवस्तत्प्रवेशमिनात्सर्वत्र प्रकृतं कुतोऽप्यो न
 जायते ॥ २३ ॥ औपधीनां सत्संपूर्णजायजन्मसमाजा

औपधीनामौपधीनां सर्वेषां वा स्थितिं मताः ॥ २४
 कथं स्वभावाः कथय यथाबोधं मुनीश्वर ।
 एकस्य जीवितं पुंसः सुहृदा मरणं द्विषा ॥ २५
 मृत्वाथितं प्रयोगादौ क्षेत्रे तत्कथमुच्यताम् ।
 खे स्यामक्षयपूर्णेन्दुरिति ध्यायिषितैः फलेः ॥ २६
 तुल्यकालमनुप्राप्तैः सहस्रेन्दु न किं नमः ।
 अन्येषु ध्यायिनां लक्ष्यैर्ध्यातैका स्त्री यथाक्रमम् ॥ २७
 जायात्वेन समं कालं लब्धं ध्यानफलं च तैः ।
 साध्व्यसाध्वी गृहे मर्तुः संस्थितां तपसा परा ॥ २८
 तेषां च जायां संपन्नां कथंसेतन्महासुने ।
 गृहानिर्गच्छमाकर्ष्यं नृपः सं द्वीपसप्तके ॥ २९
 वरत्वं वरशांपाभ्यामिति अन्तः क तिष्ठति ।
 दानधर्मादितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणाम् ॥ ३०
 इहस्थानाममूर्तानां मूर्तं प्रीत्यास्ति सत्फलम् ।
 ध्यवहर्ता न मूर्तोऽत्र विद्यते लोकयोर्द्वयोः ॥ ३१
 देशान्तरे मृशं जीवीं मृशं कालान्तरेऽपि वा ।
 फलं संभवतीयत्तद्विनानुभवने मुने ॥ ३२

अन्येषां बहुपापीनामौष्ण्यादिसमावाच्य कथं तत्कथय ॥ २४ ॥
 किंचैकस्मै पुंसः सुहृदा द्विषा च युगपज्जीवितं मरणं च प्रयोगादौ
 कथं प्रदे क्षेत्रे मृत्वा यदा अर्थितमर्थयित्वा मृतम् । मरणकाले
 तदुत्तरकालं च कामवासनादुत्प्रेतैर्बुद्धं व्यादाय स्वपितीतिवदौ-
 त्तकालिकाशापेक्षया कथं निन्मरणस्य पूर्वमाहं प्रकल्प्य क्त्वाप्र-
 योगः । तत्कथं संपद्यते ॥ २५ ॥ किंच अहं खे नमसि पूर्णेन्दुः
 स्मामिति कामनया चन्द्रभावप्रापकोपासनविध्यनुसारेण ध्यायि-
 भिर्बुद्धिमिषयासकैश्चितैरवश्यभावित्वेन संचितैस्तुल्यकालमनुष्ण-
 तैश्चन्द्रभावफलैर्नमो युगपत्सहस्रेन्दु अनेकचन्द्रसहितं किं न
 जायते ॥ २६ ॥ २७ ॥ तेषां सर्वेषां च जाया कथं संपन्ना ।
 सा च तेषां मिश्रिसे गृहे एका कथं स्थिता । सा च स्वतपसा
 परा ब्रह्मचारिणी तेषां प्रत्येकं तपसा साध्वी बहुमोनयत्वाद्-
 साध्वी च कथं संपन्ना ॥ २८ ॥ अहं गृहानिर्गच्छं निर्गमनं
 विनैव आकर्ष्यं द्वीपसप्तके नृपः सं गृहं तिष्ठियमिति च विदुषाम् ।
 यत्र वराच्छापाह्वा संपादितं तत्र गृहान्तमौर्यं वरत्वं वरत्वं
 क तिष्ठति । कथमुपपद्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥ किंच दानधर्मा-
 दितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणां चोत्प्रेतं किंयौत्सात्प्रदेषौ
 बहुमुपपद्यते तर्हि इहस्थानां परलोके तच्छुन्यदेषौ कथं फलम् ।
 किंचाहं मूर्तदेहादौ प्रीतिजननेन सत्फलं वाच्यम् । न च
 तत्रत्ये मूर्ते देहे तत्संस्मृतत्वात्तैः ॥ ३० ॥ यदि ब्रूवा व्यं-
 हर्ता जीवत्सत्संभवतं तदददं यत्र तस्य मीगसौत्रीस्तीति ।
 तथं । यतो द्वयोरपि इहलोकपरलोकयोर्द्वयोर्दृष्टी जीवीं मूर्तो
 न विद्यते । न चात्रत्या देहादिमूर्ता देशान्तरे कालान्तरे च
 विद्यन्ते । यथाप्रविणास्यं यथां कालं संभवतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

असमञ्जसमेवाति कथं स्यात्सुसमञ्जसम् ।

इत्यादिसंशयगणं गिरा शीतावदातया ।

छिन्धि मेऽभ्युदितं भासा सान्ध्यमान्ध्यमिषोडुपः ॥

परमवस्तुनि संशयनाशना-

दुभयलोकहितं भवति स्फुटम् ।

तदिह मे कुरु साधुसमागम-

स्तनुफलो भवतीह न कस्यचित् ॥ ३४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठप्रहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० महाप्रश्नो नाम षडधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०६ ॥

सप्ताधिकद्विशततमः सर्गः २०७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शृणु राजन्यथा स्पष्टमेतत्ते कथयाम्यहम् ।

येन ते सर्वसंदेहा यास्यन्त्यलममूलताम् ॥ १

सर्वे तावज्जगद्भावा असद्रूपाः सदैव हि ।

सद्रूपाश्च सदैवमे यथासंवेदनं स्थितेः ॥ २

इदमित्थमिति प्रोता यत्र संवित्तदेव तत् ।

भवत्यवश्यं तत्त्वङ्ग सदेवास्त्वसदेव वा ॥ ३

ईदृक्स्वभावा संवित्तिस्तया देहो विभाव्यते ।

एक एव स्वरूपेण तस्यास्ते न च तद्विदा ॥ ४

विदमेव विदुर्देहं स्वप्नादावितरेतरा ।

संवित्काचित्संभवति न चान्यास्ति शरीरता ॥ ५

आश्रितस्वप्नसंदर्शस्तथेदं भासते जगत् ।

समस्तकारणाभावात्सर्गादावन्यतात्र का ॥ ६

एवं यदेव विमलं वेदनं ब्रह्मसंज्ञितम् ।

तदेवेदं जगद्भाति तत्केव जगतोऽन्यता ॥ ७

एवं पूर्वापरं शुद्धमधिकार्यजगत्स्थितेः ।

लोकवेदमहाशास्त्रैरनुभूतमुदाहृतम् ॥ ८

अपलाप्यैव ये मूढा अन्धकूपकमेकवत् ।

समस्तभूतसंवित्तौ रुढपूर्णं महात्मभिः ॥ ९

वर्तमानानुभवनमात्रमोहप्रमाणकाः ।

शरीरकारणा संविदिति मोहमुपागताः ॥ १०

उन्मत्ता एव तेऽज्ञास्ते योग्या नास्तकथासु ते ।

इत्याद्यसमञ्जसं सर्वं कथं समञ्जसं स्यात् । इत्यादिसंशयगणं शीतावदातया गिरा उडुपश्चन्द्रः संध्यायां भवं सांध्यमान्ध्यं तम इव छिन्धि ॥ ३३ ॥ हे भगवन्, परमवस्तुनि परमात्मनि विषये उपदेशेन सर्वसंशयनाशनादुभयलोकहितं विरुद्धसहस्रफलमप्यविरुद्धं स्फुटं भवति । अतस्तपरमवस्तुबोधनं मे कुरु । ननु महाफलमिदं कथं सहसैव मया कार्यं तत्राह— साध्विति । भवत्सहस्रमहत्समागमस्तनुफलस्तुच्छफलः कस्यचिन्माहशस्यापि न भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाप्रश्नो नाम षडधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०६ ॥

क्रमभ्युत्क्रमतः प्रभाः केचिदत्र समाहिताः ।

समाधास्यत्यथान्यांश्च सर्गैश्चिभिरुदारधीः ॥ १ ॥

तत्रैकविज्ञानेनैव सर्वविज्ञानात्सर्वसंशयानां मूलोच्छेदेन परिहारात्सामान्यतः सर्वप्रश्नसमाधानं करिष्यामीति प्रतिजानीते—शृण्विति । स्पष्टं करतलमलकवत्स्फुटमेतदात्मतत्त्वं कथयामि ॥ १ ॥ तत्रादौ स्वतःप्रमाणस्वसंवेदानुसारिणामर्थतत्त्वव्यवस्थायां कोऽपि कापि संशयोऽनुपपन्न इत्याह—सर्वे इति । यत्र यदस्तीति प्रत्ययो यत्र च नास्तीति तत्रोभयत्रापि संविदेव भगवत्या तदुभयरूपसमर्थनादिति भावः ॥ २ ॥ यत्र विषये इदं वस्तु नीलं पीतं घटः पटः अस्ति नास्तीति वा इत्थमेवेति अवधारणेन संवित्तिः प्रोता व्याप्ता हे अत्र, तस्य विषयस्य तद्रूपमवश्यं भवत्येव, तन्न सदा असदेव वास्तु न तत्राग्रह इत्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्कृत इति चेत्संवित्तेर्यथाप्रतिभासमर्थसाधकस्वभावादित्याह—ईदृगिति । तथा च नरकस्वर्गभोगाय

विदेहे देहकरणं किं तत्स्यादिति प्रश्नः समाहित इत्याह— तथेति । तथा संवित्तया देह एक एव स्वरूपेण आत्मभावेन प्रथमं विभाव्यते । तेन देहेन तस्याः संविदो विदा अभिव्यक्तिश्च विभाव्यते देहस्यात्मता संविदो देहधर्मता चेति वैपरीत्यमभ्यस्यत इति यावत् ॥ ४ ॥ अत एव हि जनाः स्वप्नजाप्रतोर्देहं वेत्तीति वित् तथाविधं चेतयितारमेव विदुरनुभवन्ति । इतरा संविन्तु इतरा चेतयितुर्धर्मो न स्वयं चेतयित्रीति विदुः । अतः काचिद्भ्रान्तिरूपा संविदेव शरीरता संभवति तदन्या शरीरता नास्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ आद्यप्रश्नत्रयमप्यनयैव दिशा समाधेयं जगतोऽपि संवेदनबलदेव सिद्धेरित्याशयेनाह— आश्रितेति । सर्गादौ जगदपि समस्तकारणाभावाद्ब्रह्मश्रयणीयः स्वप्नं संपश्यतीति स्वप्नसंदर्शः संविदारम्भेदेवं भासते । अत्र जगति अन्यता स्वप्नवैधर्म्यरूपा का । न काचिदपि । अथवा अस्ति भातीति प्रत्यगात्मस्वभावेनैव जगदनुभवात्सदन्यता का । न काचिदपीत्यर्थः ॥ ६ ॥ तदेवाह—एवमिति ॥ ७ ॥ एवमधिकार्यस्य ब्रह्मण एव जगद्रूपेण स्थितोर्विद्वल्लोकैर्बेदैरभ्यात्मशास्त्रैश्च प्रमाणैरेवमेवास्माभिरनुभूतं तदेवोदाहृतं नान्यदित्यर्थः ॥ ८ ॥ समस्तानां भूतानां प्राणिनां संवित्तौ कठं हृदानुभवसिद्धं सत्तात्मना सर्वत्र पूर्णं च महात्मभिरुक्तं जगतो नित्यसंविन्मात्रत्वमपलाप्यैव ये मूढा आपातवर्तमाननामरूपमात्रानुभवनमात्रप्रमाणकाः सन्तः संविन्न नित्यास्ति किंतु शरीरमेव कारणं यस्यास्तथाविधा जडोपादानिका जडात्मनो गुण इति मोहमुपागतास्ते अज्ञा नैयायिकचार्याकादय उन्मत्ता एवेति प्रयाणामन्वयः ॥ ९ ॥ १० ॥ कुतो न योग्यास्तत्राह—

अक्षीयक्षीययोर्मूढबुद्धयोः कैव संकथा ॥ ११
 यथा विपश्चित्कथया सर्वसंशयसंक्षयः ।
 न भवेत्त्रिषु लोकेषु ज्ञेया मूर्खकथैव सा ॥ १२
 प्रत्यक्षमात्रनिष्ठोऽसौ मूढास्थ इति वक्ति यत् ।
 तेन निर्युक्तिनोकेन शिलासदृशवृत्तिना ॥ १३
 प्रोक्तः सर्वविरुद्धेन सोऽज्ञः कूपान्धदुर्गुरः ।
 पूर्वापरधियं त्यक्त्वा वर्तमाने मतिस्थितः ॥ १४
 वेदा लोकादयश्चेते पृष्ठाः स्वानुभवान्विताम् ।
 वदन्तीमां दृशं सर्वे यथा नश्यन्ति संशयाः ॥ १५
 संविदेव शरीरं चेच्छवं कस्मान्न चेतति ।
 इति यस्य मतिस्तस्मै मूढायेदमिहोच्यते ॥ १६
 ब्रह्मणो ब्रह्मरूपस्य संकल्पनगरं ततम् ।
 इदं तावज्जगद्भानं तव स्वप्नपुरं यथा ॥ १७
 तत्समस्तं सदैवेदं चिन्मात्रात्म निरन्तरम् ।
 भवत्यत्र न ते भ्रान्तिः स्वे स्वप्ननगरे यथा ॥ १८
 तत्र तावद्दिशः शैलाः पृथ्व्यादि नगरादि च ।
 सर्वं चिन्मयमाकाशमिति ते स्वानुभूतिमत् ॥ १९
 संविद्योम घनं ब्रह्म तत्संकल्पपुरं विराट् ।
 शुद्धसंविन्मयो ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ॥ २०
 ब्राह्मे संकल्पनगरे यद्यत्संकल्पितं यथा ।
 तथानुभूयते तत्तत्स्वत्संकल्पपुरे यथा ॥ २१
 संकल्पनगरे यद्यद्यथा संकल्प्यते तथा ।

तस्यथास्त्येव च तदा त्वत्संकल्पपुरे यथा ॥ २२
 तस्माद्देहस्य नियतौ यथेतौ ब्रह्मणा चिता ।
 स्पन्दास्पन्दौ कल्पितौ द्वौ स तथैवानुभूतवान् ॥ २३
 महाप्रलयपर्यन्ते पुनः सर्गः प्रवर्तते ।
 समस्तकारणाभावाद्भव्यं तावन्न विद्यते ॥ २४
 विमुक्तत्वात्प्रजेशस्य न च संभवति स्मृतिः ।
 ब्रह्मैवेयमतो दीप्तिर्जगदित्येव भासते ॥ २५
 तस्मादाद्यात्मना भातं स्वमेव ब्रह्मणा स्वतः ।
 जगत्संकल्पनगरमिति बुद्धं च स्वेन स्वम् ॥ २६
 यथा संकल्पनगरं चिन्मात्रं भाति केवलम् ।
 तथैवाकारणं भाति चिन्मात्रोन्मेषणं जगत् ॥ २७
 शरीरमस्तु वा मास्तु यत्र यत्रास्ति चिन्नमः ।
 वेत्यात्मानं तत्र तत्र द्वैताद्वैतमयं जगत् ॥ २८
 तस्माद्यथा स्वप्नपुरं यथा संकल्पपत्तनम् ।
 तथा पश्यति चिद्योम मरणानन्तरं जगत् ॥ २९
 अपृथ्व्यादिमयं भाति पृथ्व्यादिमयवज्जगत् ।
 यथेदमाऽऽप्रथमतो मृतस्याप्यखिलं तथा ॥ ३०
 देशकालौ न सर्गेण प्रबुद्धस्येव तौ यथा ।
 अणुमात्रमपि व्याप्तौ तथैव परलोकिनः ॥ ३१
 इदं प्रबुद्धविषये स्वानुभूतमपि स्फुटम् ।
 जगन्न विद्यते किञ्चित्कारणं गगने यथा ॥ ३२

अक्षीयेति ॥ ११ ॥ यस्तु मूढा भास्था बुद्धिर्यस्य तथाविध-
 धार्वाकः असौ प्रपन्नः प्रत्यक्षमात्रं निष्ठा प्रमाणं यस्य तथाविधो
 मात्रप्रत्यक्षप्रमाणमस्तीति श्रुत्वादिसिद्धं न प्राणमिति वक्ति स
 तेन निर्युक्तिनोकेन सर्वविरुद्धेन अभिज्ञजनकर्णकठोरत्वाच्छि-
 ल्यासदृशवृत्तिना स्वोकेनैव निमित्तेन सर्वैर्निर्दिष्टिरज्ञः कूपान्धद-
 दुर्गुर इति प्रोक्तः । यतोऽसौ पूर्वापरविचारधियं त्यक्त्वा वर्तमान-
 मात्रगोचरे प्रत्यक्षे स्वमत्या पशुवत्स्थित इति द्वयोरन्वयः
 ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ न च चार्वाकाद्युक्त्या संशया नश्यन्ति,
 अनुमानादिप्रमाणानभ्युपगमेन तदुक्तोर्निर्युक्तित्वात् । वेदाद्यस्तु
 गुरुमुखेन पृष्ठाः सर्वसंशयोच्छेदेन पुरुषार्थसिद्धिक्षमाः । यतस्ते
 स्वानुभवान्विता इमां मनुकां दृशं वदन्तीत्याह—वेदा इति ।
 लोकास्तत्पञ्चजनाः ॥ १५ ॥ यदि प्रत्यगात्मसंविदेव देहादि
 जगत्तर्हि शवं मृतशरीरमपि संवित्त्वात्कृतो न चेततीति मतिः
 शङ्का यस्य तस्मै मूढाय शुभ्रुषवे इदमुच्यते शृणु ॥ १६ ॥
 ब्रह्मरूपस्य हिरण्यगर्भवेषस्य ब्रह्मण इदं जगद्भूपं भानं संकल्प-
 नगरं ततं विस्तृतम् ॥ १७ ॥ तद्वस्तुतो निरन्तरं चिन्मात्रात्मैव
 तथापि अत्र ते स्वे स्वप्ननगरे चेतनभ्रान्तिर्यथा न तथा यथा-
 विजडेऽपि नेति बोध्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥ तत्र स्वस्वप्ने स्वानुभूति-
 मत् विचारे स्वानुभवसिद्धम् ॥ १९ ॥ तद्वज्जगत्पि चिन्मयत्वं
 संभावनीयमित्याह—संविदिति । ब्रह्मा हिरण्यगर्भः । विराट्
 ब्रह्माण्डशरीरम् । तत्तादृशमेवेदं जगच्छुद्धसंविन्मयमित्यर्थः

॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ देहस्य जीवत एव स्पन्दो मृतस्य
 त्वस्पन्द इति नियतौ स्पन्दास्पन्दौ ब्रह्मणा हिरण्यगर्भरूपया
 चिता यथा कल्पितौ तथैव सत्त्वमनुभूतवान् वैपरीत्येनेति शवे
 न चेतनताव्यञ्जकस्पन्दप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ २३ ॥ 'निर्द्रव्यं कुरुते
 द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमञ्जसा' इति प्रश्नं समाधातुं तदाशयं परिष्क-
 रोति—महाप्रलयेति साधेन ॥ २४ ॥ ननु पूर्वप्रजापतिनि-
 मितं द्रव्यमत्रोपयोक्ष्यते तत्राह—विमुक्तत्वादिति । पूर्वप्रल-
 यात्पूर्वमेव पूर्वप्रजेशस्य विमुक्तत्वात्कृतजगतो निःशेषं
 प्रलयादित्यर्थः । अतस्तत्प्रकारस्मृत्यादिनिमित्तकारणान्यपि न
 सन्तीति त्वदाशय इति भावः । अयं च त्वदाशयोऽस्मत्सिद्धा-
 म्नासिद्धावनुकूल एवेति समाधत्ते—ब्रह्मैवेति । दीप्तिः स्वयं-
 ज्योतिर्ब्रह्मैव जगदिति भासते न द्रव्यरूपं जगदन्यदस्तीत्यर्थः
 ॥ २५ ॥ तदेव स्पष्टयणुपसंहरति—तस्मादिति । ब्रह्मणा प्रथमं
 आयो हिरण्यगर्भस्तदात्मना भातम् । भावे कः । ततस्तेन
 स्वयमेव संकल्पनगरे जगद्बुद्धं च ॥ २६ ॥ २७ ॥ एतेन
 'मातापित्रायभावेऽपि' इति प्रश्नोऽपि समाहित इत्याह—शरीर-
 मिति ॥ २८ ॥ मरणानन्तरं जगद्दर्शनेऽप्ययमेव न्यायो बोध्य
 इत्याह—तस्मादिति ॥ २९ ॥ आप्रथमतः आदिषर्गे ॥ ३० ॥
 यथा प्रबुद्धस्य तत्त्वविदः स्वप्नात्प्रबुद्धस्य वा स्वाप्नदेशकालौ
 जाग्रत्सर्गेण अणुमात्रमपि न व्याप्तौ तथा परलोकप्राप्तस्यापि
 नैहिकदेशकालौ तत्र व्याप्तु इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवं तत्त्व-

अप्रबुद्धस्यासदेव यथेदं भाति मासुरम् ।
 तथैव सर्गवद्भाति व्योमैव परलोकिनः ॥ ३३
 शुभरात्रियमाद्याद्यं समैव परलोकिनः ।
 अभूतपूर्वमाभाति भूतपूर्ववदाततम् ॥ ३४
 कृतोऽयं पुनरुत्पन्नो यमलोके शुभाशुभम् ।
 भुजेऽहमित्यतिघनं मृतो भ्रान्तिं प्रपश्यति ॥ ३५
 मोक्षोपायानादरिणामेष मोहो न शाम्यति ।

बोधाद्वासनत्वेन मोह एव प्रशाम्यति ॥ ३६
 अप्रबुद्धस्य यो संबित्सो धर्माधर्मवासना ।
 ख एव खात्मिका भाति यत्तदेव जगत्स्थितम् ॥ ३७
 न शून्यरूपं न च संस्वरूपं
 ब्रह्माभिधं भाति जगत्स्वरूपम् ।
 तथापरिज्ञानवशादनर्थ-
 भूतं परिज्ञातवतः शिवात्म ॥ ३८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० महाप्रश्नोत्तरं नाम सप्ताधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०७ ॥

अष्टाधिकद्विशततमः सर्गः २०८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शुभाशुभं यथोदेति प्रजानां गृहसंगमे ।
 असंबद्धैरप्रतिघैर्दूरस्थैस्तद्विदं शृणु ॥ १
 ब्रह्मसंकल्पनगरं जगत्सावदिदं स्थितम् ।
 यद्दृश्यं दृश्यबोधेन ब्रह्मैव ब्रह्मबोधतः ॥ २
 यद्यत्संकल्पनगरे यदा लोकल्प्यते यथा ।
 तथानुभूयते तत्तत्सादृशिविचरन् तदा ॥ ३
 एवमस्मिन्गृहे याते संपन्नैवसिधं प्रजा ।
 एवं संकल्पसंपन्ने जगत्येवं भवत्स्वरूपम् ॥ ४
 एतत्स्वसंकल्पपुरे सादृशं ते तथा स्थितम् ।
 यथा संकल्पयति यत्तत्तथा किल पश्यसि ॥ ५
 यथैव वरशापाभ्यां शुद्धसंविद्वान्भवते ।

संबित्तथैव भवति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥ ६
 प्रजाविधिनिषेधाभ्यामेकयाऽऽस्याव्यवस्थया ।
 तथैव फलमाप्नोति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥ ७
 देहिनो ये जगत्यास्मिस्ताम्प्रत्यनुपलभ्यतः ।
 असदासीजगत्पूर्वं सत्यमित्युपलभ्यते ॥ ८
 चिद्रूपब्रह्मसंकल्पवशादेवैतद्वक्त्रं सत् ।
 चिदुन्मेषनिषेधौ यौ तावेतौ प्रलयोदयौ ॥ ९
 राजोवाच ।
 किं नोपलभ्यते पूर्वं किं पश्चादुपलभ्यते ।
 जगच्चलद्गुरिदं सुस्थिरारम्भभास्वरम् ॥ १०
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 असिद्धिद्वयोमसंकल्पपुरस्ये भाव ईदृशः ।

निद्विष्ये जगदपि न व्याप्नोतीत्याह—इवमिति ॥ ३२ ॥ अप्रबुद्धस्य निद्राणस्य । व्योम चिद्योमैव ॥ ३३ ॥ भूतपूर्ववत्पूर्वसिद्धवत् ॥ ३४ ॥ अयमर्हं मृतः पुनर्नारकिमावेनोत्पन्नो यमलोके आर्गतस्वप्न शुभाशुभं भुजे इत्यादिभ्रान्तिम् ॥ ३५ ॥ सा भ्रान्तिर्निःशेषं मोक्षोपायसेवनादेव नश्यति नान्यथेत्याह—मोक्षेति ॥ ३६ ॥ एतेन धर्माधर्मादेव जगदाकारेण परिणमेते इत्यास्तिकसंक्षौऽप्यनुगृहीत इत्याशयेनाह—अप्रबुद्धस्येति । संविद्धिद्वितानिषिद्धाचरणानुभवरूपा ॥ ३७ ॥ जगत्स्वरूपं स्वतः शून्यरूपमपि न, सत्स्वरूपं च न, किंतु ब्रह्माभिधं चैतन्यमेव जगत्स्वरूपं भाति । तच्च अज्ञानवशादेवानर्थभूतं परिज्ञातवतस्तु शिवात्म परमकल्याणनिरतिशयानन्दात्मकमेवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाप्रश्नोत्तरं नाम सप्ताधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०७ ॥

दूरदेशगतैर्यथैरन्यत्रापि प्रजाफलम् ।

यथा प्राप्नोति तादृशा घातुरिच्छात्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

‘अनिच्छतेद्वितैर्यथैरान्तरगतैः फलम् । प्रजा प्राप्नोत्यसंबद्धैरमूर्तैरत्र कः क्रमः’ इति प्रश्नोत्तरं श्रावयितुं प्रतिजानीते—शुभाशुभमिति । अप्रतिघैरमूर्तैः ॥ १ ॥ नयसादेतोर्भवेवाज्ञानाद्दृश्यबोधेन दृश्यं ब्रह्मबोधतश्च ब्रह्मैव भवति तस्माद्विदं जगत् ब्रह्मसंकल्पनगरमिति तावत्स्थितम् ॥ २ ॥ किं तत्-

स्वराह—यद्यदिति ॥ ३ ॥ ततोऽपि किं तत्राह—इवमिति । यथा ते तव अस्मिन्संकल्पमये गृहे येयं प्रजा एवं त्वत्संकल्पानुसारिणी संपन्ना तथैव ब्रह्मसंकल्पसंपन्ने जगत्यापि इयं प्रजा ब्रह्मसंकल्पानुसारिण्येव भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ तदेव एषहमाह—एतदिति ॥ ५ ॥ यत्तु जगत्स्वसंकल्पनगरेवल्लक्षणमनुभूयते तत्र वरशापसंकल्पसिद्धबद्धोभ्यमित्याशयेनाह—यथैवेति । मुनीनां अमनियमादिनिषेकणशुद्धा संनिह्वरशापाभ्यां यथा व्यवहारक्षमा अवाप्यते ब्रह्मसंविदपि तथैव भवतीत्यर्थः । यद्वरशापाभ्यां भवति तदपि ब्रह्मणैव तपस्विनां वरशापाः सिद्ध्यन्तिविति कल्पनाब्रह्मणैव सत्यसंकल्पनं बोधमित्यर्थः ॥ ६ ॥ प्रकृते प्रजाविधिनिषेधशास्त्राभ्यां बोधितबोधैर्माधर्मयोर्मैथी एकया आस्वाभ्यवस्थया तत्फलं यदाप्नोति तदपि ब्रह्ममेवेत्येवंविधं संकल्पनमित्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ जसतो जगतः किंचित्कालं सत्त्वेन भाग्यमपि ब्रह्मसंकल्पवशादेवेत्याह—चिद्रूपेति । हे जगत्, एतज्जगत् ॥ ९ ॥ यदि जगत् ब्रह्मसंकल्पवशात्सत्तर्हि पूर्वं सुप्तिप्रलययोः किं कृतो नोपलभ्यते । पश्चाज्जाग्रतसंज्ञाकयोः किमर्थं सुप्तिप्रलययोः च लक्षणैः सदा विविक्तजागृतिर्द्वैर्जगत्स्थिरारम्भभास्वरं भासमानं किं संबन्धित्वैः ॥ १० ॥ अतिकस्यास्य स्वभावे एवेदं इत्युत्तरमाह—अस्मिन्निति । सर्गे साप्रजाप्रतोर्भूत्वा प्रकृत्यसुप्तिप्रलययोः न भवत्येवम् ॥

यद्भूत्वा न भवत्येष पुनर्भवति च क्षणात् ॥ ११
 बालसंकल्पपुराणप्रोमकेधोण्कादिषुत् ।
 किलैवे सदसद्रूपा भान्ति सर्गाधिदात्मनि ॥ १२
 त्वं संकल्पपुरं कृत्वा विनाशयसि तत्क्षणात् ।
 स्वतोऽन्यसंविद्विशतः स्वस्वभावः स ते यथा ॥ १३
 चिद्योमकल्पनपुरे यदुन्मज्जनमज्जनम् ।
 स्वभावकचनं तस्य तद्विद्धि विमलं तथा ॥ १४
 संविद्धनस्त्वनाद्यन्तव्योमैव त्रिजगत्प्रभः ।
 तेनासावद्य यन्नाम करोत्यपि च चेतति ॥ १५
 तदनावरणस्यास्य योजनानां शतेष्वपि ।
 युगैरपि स्वप्न इव कार्यकृद्भर्तृभाववत् ॥ १६
 किल देशान्तरे नित्यमथ लोकान्तरेऽपि च ।
 निरावृतो य एकात्मा स किं नाम न चेतति ॥ १७
 यथा मणौ प्रकचति प्रोन्मज्जननिमज्जने ।
 परावर्तः स्वभासास्य चिन्मणौ जगतां तथा ॥ १८
 विधीनां प्रतिषेधानां लोकसंस्थाप्रयोजनम् ।
 सैव संविदि कृत्वात्प्रेत्यापि फलदा स्थिता ॥ १९
 न कदाचन यात्यस्वमुदेति न कदाचन ।
 ब्रह्म ब्रह्मचिदाभानं सर्वदात्मन्मयस्थितम् ॥ २०

यथा तु द्रष्टृदृश्यत्वात्कल्पना कल्पनापुरम् ।
 स्वयं जगदिवाप्सति जातमित्युच्यते तथा ॥ २१
 यदा स्वभावात्कचनं संहृत्वात्मनि तिष्ठति ।
 ब्रह्मचिद्भनैकात्मा शान्त इत्युच्यते तथा ॥ २२
 कचनाकचने यस्य स्वभावो निर्मलोऽक्षयः ।
 यथैतावात्मनो नान्यौ स्पन्दस्फन्दौ नभस्वतः ॥ २३
 जरामरणहन्तृणि क्षणान्यत्र पृथक्पृथक् ।
 भवन्तिवति यथैतानि सन्ति त्वात्कल्पनापुरे ॥ २४
 ब्रह्मसंकल्पनगरे स्वभावा उदितस्तथा ।
 ओषधीनां पदार्थानां सर्वेषां च जगत्प्रये ॥ २५
 न संकल्पयिता राजसंकल्पनगरे स्वयम् ।
 तृणं तृणं कचयति बालः क्रीडनकामिव ॥ २६
 स्वयं स्वभाव एवैव चिद्यनस्यास्य सुस्तुटम् ।
 यद्यत्संकल्पयत्याशु तत्र तेऽवयवा अपि ॥ २७
 चिदात्मकतया भान्ति नानात्मकतयात्मना ।
 अप्येकसारास्तिष्ठन्ति नामाकारस्वभावगाः ॥ २८
 प्रत्येकं किल तत्रास्ति ब्रह्मचिन्मात्रतात्मनि ।
 सर्वात्मिका सा यत्रास्ते यथान्तर्भवति तस्यथा ॥ २९

सावीदृशो भावः स्वभाव एव ॥ ११ ॥ बालसंकल्पपुरादौ
 यावत्संकल्पभ्रान्तिकास्मात्प्रावृत्ताननियमदर्शनेन सर्वसङ्क-
 त्वावधारणाद्वा तस्य तथात्वमित्याह—बालेति ॥ १२ ॥ जग-
 त्संकल्पयित्रैव तत्प्रकल्पस्यापि संकल्पनाद्वा तथात्वमित्याह—
 त्वमिति । अथसंविद्धनस्त्वनाद्यन्तव्योमैव त्रिजगत्प्रभ-
 संकल्पनशतं च तथायं ते स्वः स्वभावस्तथा चिद्योमसंकल्पपुरे
 तस्य ब्रह्मणो विमलं स्वभावकचनमिति परेषात्स्वयः ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ अतस्त्रिजगत्प्रभः संविद्धनमात्रं सवनाद्यन्तं ज्योम
 ब्रह्मकाशमेव मतः स्वयमेव जगत्तेज हेतुना असौ परमेश्वरो
 यद्भवेति करोत्यपि च तत्सर्वमनावरणस्यास्य ससर्वसंकल्प-
 त्वायोजनानां शतेष्वपि बहुभिर्युगैरपि व्यवहितं पुण्यपापदि-
 कर्म परलोकादिषु समीपे वर्तमानवत्सर्वपरकर्मोपैश्वर्यादिकर्म-
 कृद्भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ बहिर्देशकाज्जगत्प्रभने कर्म-
 त्कलोमनाभ्यासाधिष्ठातृभूतो निरावरणो य एकात्मा तत्रोभयोः
 सदैव सचिदात्मिकं नाम कर्मफलं च जीवो न चेतति । सर्वं चेत-
 त्येवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ यथा प्रकचति मणौ स्वभासास्य चान्ति-
 विज्ञेयस्य प्रोन्मज्जननिमज्जने अनुभूयेते तथा चिन्मणौ जगतां
 सृष्टिप्रलयस्यको नानाकर्मफलवैशिष्ट्यभोग्यात्सकश्च स्वभासास्य
 परावर्तनं परवर्तोऽनुभूयत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ विधिप्रतिषे-
 शाक्षसाफल्यप्रयोजिका लोकासंस्थैव वा ब्रह्मणि निकृत्वाहू-
 र्स्वकर्मण्यपि फलं कल्पयतीत्याह—विधीनामिति । प्रेत्य
 मृत्वा परलोके गत्य स्थितास्येति शेषः ॥ १९ ॥ वस्तुतस्तु

जन्ममरणे एवात्मनो न ह्यः कित्स्य स्वात्मनैव भ्रान्त्या
 तत्कल्पनमित्याह—न कदाचनेति ॥ २० ॥ तथा जातं ज-
 न्मापि उच्यते वाचा व्यपदिश्यते न तु वस्तुत इत्यर्थः ॥ २१ ॥
 तथा मरणमपि पूर्वदेहादिभ्रान्तिकचनोपसंहार एव नान्य
 इत्याह—इदेति । शान्तो यत इत्युच्यते जीव इत्यर्थः ॥ २२ ॥
 दृश्याकारकचनकचने वाज्ञानोपहितचित्तः स्वभाव एवेत्याह—
 कचनेति ॥ २३ ॥ मणिमणौषधीनां प्रभावविशेषो अपि
 ब्रह्मणः सत्यसंकल्पस्वभावा एव तथोदिता इति सहस्रान्तमाह—
 जरेति द्वाभ्याम् ॥ २४ ॥ २५ ॥ तर्हि किमीश्वरः प्रतिक्षणं
 प्रतिवस्तु शक्तिकार्यादिभेदान्संकल्पयिता कल्पयते, नेत्याह—
 न संकल्पयितेति । प्रतिवस्तु प्रतिक्षणमीश्वरो न संकल्पयिता
 कल्पयते किंतु बालः क्रीडनकाम्यश्चमिशेषास्त्रिभुवदेव संक-
 ल्पयत्येतावातीत्येतज्जातीयकर्मकृद्भवतु तत्र तज्जातीयमित्य-
 मुत्पत्त्यमिति । तद्वादेव बीजाहारादिकमेव पूर्वपूर्वतुष्युत्त-
 रोत्तरतृणं कल्पयति ॥ २६ ॥ भाह्य क्षमेनैव यद्यत्संकल्पयति
 तत्र ते ते पदार्थाः सद्भवकाः शक्तिकार्यादिभेदश्च भवित्वा-
 त्कार्यपसंपराश्च स्रष्टृसंकल्पयते चिद्यन्यतीत्येव चिद्भवत् स्व-
 भावः ॥ २७ ॥ ते संकल्पकल्पितपदार्था आत्मना स्वभावेक
 नानात्मकतया स्थिता अपि प्रकचतास्वभावे चिद्येतात्मतया
 भान्ति एवं स्वतो नानाकारस्वभावा अपि सद्रूपेव एकसाक-
 सिष्ठन्ति ॥ २८ ॥ तत्र तेषु पदार्थेषु प्रत्येकमात्मनि ब्रह्म-
 चिन्मात्रता भाति । मतः सैव चित्सर्वात्मिकं मतं यथा भावते

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यं

किञ्चिन्न किञ्चिच्च सद्प्यसत्यम् ।

इत्याषं श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० महाप्रश्नमोक्षणे नामाष्टोत्तरद्विशततमः सर्गः ॥ २०८ ॥

स्थितं यथा यत्र तदात्म तत्र

सर्वात्मभूर्भूततृणादिजातौ ॥

३०

नवाधिकद्विशततमः सर्गः २०९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एकस्य जीवितं पुंसः सुहृदा मरणं द्विषा ।
मृत्वार्थितं प्रयागादौ क्षेत्रे यत्तदिदं शृणु ॥ १
क्षेत्राणामर्थधर्माणां सर्वेषां प्रति तं फलम् ।
ब्रह्मणा कल्पितं सर्गे स्वके संकल्पपत्तने ॥ २
यत्र पुण्यं यदर्थं च क्षेत्रं ताभ्यां तथा कृतम् ।
यदि तद्विनियोज्यस्य तस्योन्नमति निष्कृतात् ॥ ३
तत्तस्मान्महतः पापाद्भागमेनोखिलं च वा ।
चित्तिशक्त्यात्म तत्पुण्यं परिभ्राम्योपशाम्यति ॥ ४
विनेयपापमल्पं चेत्क्षेत्रधर्मोऽधिकस्ततः ।
तत्पापं नाशयित्वा तच्छब्द एव विवल्गति ॥ ५
क्षेत्रधर्मेण तेनास्य विनेयस्य महीपते ।
द्वे शरीरे विदौ सम्यक्कचतः प्रतिभात्मिके ॥ ६

तत्र तथा भातीत्यर्थः ॥ २९ ॥ एवमनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मपरिच्छेद्यशक्तिकं ब्रह्म किञ्चिन्न किञ्चिच्च स्थितमसत्यं
सदपि स्थितम् । 'सत्यं चावृतं च सत्यमभवत्' इति
श्रुतेः । यतस्तत्सर्वात्म भवतीति सर्वात्मभूः अतो भूतेषु
प्राणिषु तृणादिजातौ च यत्र यद्वस्तु यदात्म यत्स्वभावं प्रसिद्धं
तत्र स्वयमेव तत्स्वभावं भूत्वा स्थितमित्यर्थः ॥ ३० ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महा-
प्रश्नमोक्षणे नामाष्टाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०८ ॥

युगपद्भोगसंप्राप्तौ विरुद्धफलकर्मणाम् ।

अविरोधेन साफल्यमिह युक्त्या प्रसाध्यते ॥ १ ॥

प्रश्नश्लोकमेव प्रश्नानुवादार्थमुच्चार्य तेषामक्षराणां विनिम-
येन तत्समाधिं श्रावयति—एकस्येति ॥ १ ॥ तं बक्ष्यमाणम-
धिकारिणं प्रति क्षेत्रादीनां सर्वेषां फलं ब्रह्मणा कल्पितं संकल्पेन
समर्थितमादिसर्गे ॥ २ ॥ यत्र संकल्पपत्तने यदर्थं यस्याधि-
कारिणो बाष्पितार्थसिद्धार्थं कामप्रदं प्रयागादिक्षेत्रं तत्रानुष्ठितं
ज्ञानदानतपोयज्ञादिपुण्यं तथा ताभ्यां कृतं संस्कृतं शरीरं च
यदि शास्त्रविनियोज्यस्य पुरुषस्यास्ति तदा तस्य पुरुषस्य निष्कृ-
ताद्वश्यमत्र मदितं फलं भविष्यतीति निश्चित्य कृतात्प्रयाग-
मरणादेः सकाशात्कामितं फलमुन्नमत्याविर्भवत्येवेत्यर्थः ॥ ३ ॥
अस्तु कृतपुण्यस्यैवं पातकिनस्तु श्रद्धावतः प्रयागमरणादि-
पुण्यं किं करोति तत्राह—तदिति । तस्मात्प्रयागादिमरणाद्यु-
त्पन्नं ततो महतो ब्रह्महत्यादेः पापादेकभागमखिलं संपूर्णमेव
पापं वा क्षेत्रमाहात्म्यतारतम्यानुसारेण परिभ्राम्य निरस्य स्वय-

इत्येवमादिपापानां पुण्यानां च फलं महत् ।
ब्रह्मसंकल्पकचितं यथा यद्यत्तथैव तत् ॥ ७
ब्रह्मोच्यतेऽसौ चिद्भ्रातुः सोऽन्नजाद्यहमादि च ।
स यथास्ते तथा तत्तत्तस्य संकल्पनं जगत् ॥ ८
प्रतिभैव विनेयस्य क्षेत्रपुण्येन तादृशी ।
तथैवोदेति सा धातुर्विपरीतवतो यथा ॥ ९
एकात्मनाहमद्यैव मृतोऽमी मम बन्धवः ।
रुदन्तीमे परं लोकं प्रातोऽयमहमेककः ॥ १०
बन्धूनामपि तत्रैव तदैवास्य तथैव च ।
प्रतिभा तादृशैवेति धातुक्षोभवतामिव ॥ ११
अत्युग्रैः पुण्यपापैः स्वैर्वा महात्मभिरीक्षिते ।
लक्ष्याप्यप्यन्यथा सन्ति नृणां चित्कल्पनावशात् ॥ १२

मप्युपशाम्यति । 'धर्मेण पापमपनुदति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
॥ ४ ॥ विनेयस्य शास्यस्य पुंसः पापमल्पं चेत्ततः क्षेत्रार्जितो धर्मो-
ऽधिकश्चेन्नःशेषं तत्पापं नाशयित्वा तच्छब्दे श्रुत्यादिप्रतिपादिते
फले अंशेन विवल्गति । काम्यफलमपि किञ्चित्साध्यत्येवेत्यर्थः ।
यत्र तु विनेयस्य शास्यस्य पुंसः क्षेत्रार्जितेन धर्मेण समबलं
पापमस्ति तत्र तुल्यबलत्वादेव तेन धर्मेण अपनेतुमशक्यस्यास्य
पापस्य पुण्यस्य च भोगाय द्वे शरीरे तयोश्च द्वे विदौ चिदाभासौ
भ्रान्तिप्रतिभात्मिके कचतः ॥ ५ ॥ ६ ॥ यद्यथा ब्रह्म
संकल्पकचितं तत्तत्तथैव व्यवस्थितमित्यर्थः ॥ ७ ॥ ब्रह्मसंक-
ल्पकचितमित्यत्र किं तद्ब्रह्म कथं वा तत्संकल्पकचितं जगत्-
दाह—ब्रह्मेति । स एवाब्जजादिसमष्टिजीवा अहमादिव्यष्टिजी-
वाश्च स यथा संकल्पयन्नास्ते व्यष्टिमष्ट्युपाभौ तस्य संकल्पनं
जगदपि तत्तथास्ते इत्यर्थः ॥ ८ ॥ धातुः संकल्पानुसारेणैव
विनेयस्य क्षेत्रार्जितपुण्यानुसारेण तत्फलभोगात्मिका प्रतिभैव
स्वप्नबुदेति । यथा पुण्यविपरीतपापवतो नरकादिप्रतिभोदेति
तद्वत् ॥ ९ ॥ कीदृशी कीदृशी प्रतिभोदेति तामुल्लिख्य दर्श-
यति—एकात्मनेति । अहमद्य एक एवात्मना मृतः अमी मम
बन्धवः सर्वे जीवन्ति मदर्थं रुदन्तीमे ॥ १० ॥ एतदीयं
मरणमिव बन्धूनामपि अस्य तत्र प्रसिद्धं रोदनशबनिर्हरणम्-
शानगमनदाहादिकं सर्वमपि धातुक्षोभवतां सन्निपातशुब्धवा-
तपित्तादिधातुमतां पुंसामिव तादृशी प्रतिभैवेति बोध्यम् ।
तादृशा इति कमन्तादाप्लान्दसः ॥ ११ ॥ यदा त्वत्युत्कटानि
पुण्यानि प्रापानि वास्य सन्ति तदा तैः स्वैरेव श्रुत्वात्मनि-

अचेतनं शरीरभूतं तेऽपि पश्यन्ति तं मृतम् ।
 रुदन्ति तं च दहने क्षिपन्ति सह बन्धवैः ॥ १३ ॥
 विनेयः स यथान्येन संबिद्रूपेण देहिना- ।
 ऽजरामरणमात्मानं वेत्ति स्थितमदुःखितम् ॥ १४ ॥
 यथास्थितेन देहेन वेद्यसौ जीवितस्थितम् ।
 मूर्तिं त्वद्दृश्येनान्धेन क्षेत्रपुण्यविदेरितः ॥ १५ ॥
 आबिला संविदा संबिच्छून्यया वेद्यते क्षणात् ।
 न हि सन्नद्धगात्रस्य क्लेशोऽसन्नद्धमेवने ॥ १६ ॥
 पश्यन्ति बन्धवोऽन्येन तथैवामरतां गतम् ।
 द्वयमित्येष लभते जीवितं मरणं समम् ॥ १७ ॥
 इदमप्रतिधारम्भं भ्रान्तिमात्रं जगन्नयम् ।
 न संभवति को नाम भ्रान्तौ भ्रान्तिविपर्ययः ॥ १८ ॥
 संकल्पस्वप्नपुरयोर्था भ्रान्तिरनुभूयते ।
 ततोऽधिकोऽयं न न्यूनाज्जाप्रत्वप्नेऽनुभूयते ॥ १९ ॥
 राजोवाच ।

धर्माधर्मौ कथं ब्रह्मन्कारणं देहसंविदः ।
 तस्यामूर्तौ कथं त्रैको द्विशरीरत्वमृच्छति ॥ २० ॥

श्रीषसिष्ठ उवाच ।

संकल्पनगरे ब्राह्मे जगत्सस्मिन्महामते ।
 किं नाम नो संभवति सत्यं वाप्यसमञ्जसम् ॥ २१ ॥

निप्रहानुप्रहृष्ट्या ईक्षिते सति वा क्षुब्धैः परैर्लक्ष्याणि अन्यथा
 परैरलक्ष्याप्यपि वा तत्फलानि शरीरादीनि चित्कलनावशात्सन्ति
 भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥ ते जना अपि क्वचिदत्युक्तैः पुण्य-
 पापैस्तं विनेयं मृतं पश्यन्ति ॥ १३ ॥ 'एकस्य जीवितं पुंसः
 सुहृदा मरणं द्विधा । सृष्टार्थितं प्रयागादौ क्षेत्रे तत्कथमुच्यताम्'
 इति प्रश्नं समाधत्ते—विनेय इत्यादिना । देहिना अजरामरण-
 मिति श्लोकेः । सः सुहृद्भिः कर्मभ्यां विनेय एकः पुरुषः
 अन्येन देहसंबिद्रूपेण देहिना सुहृदा यथा प्रार्थितं तथा
 स्थितमजरामरणमात्मानमदुःखितं वेत्ति ॥ १४ ॥ किं
 देहान्तरेण, नेत्याह—यथास्थितेनेति । तर्हि कथं तद्विषो
 मनोरथसिद्धिस्तत्राह—मूर्तिमिति । सुहृत्स्वजनैरदृश्येनान्धेन
 देहेन मूर्तिं वेत्ति । क्षेत्रे प्रयागादौ शत्रुमरणानुकूलपुण्यकृता
 द्विधा ईरितः । बलान्मरणाय प्रेरितः सन्नित्यर्थः ॥ १५ ॥ तत्र
 द्विषत्कृताभिचारदिप्रतीकारशून्यया विनेयविदा क्षणात्तत्काल-
 मेष मरणाधिकं वेद्यते अनुभूयते । सन्नद्धगात्रस्य द्विषो
 वर्माद्युधादिना, असन्नद्धगात्रस्य विश्वस्तस्य शरन्नदादिना भेद-
 नेन हि क्लेशः ॥ १६ ॥ १७ ॥ अनेनैव न्यायेन सर्वे विरुद्ध-
 प्रश्नाः समाहिता बोध्या इत्याशयेनाह—इदमिति । भ्रान्तौ
 को वा भ्रान्तिविपर्ययः । एकभ्रमविरुद्धोऽपरो भ्रमः को वा न
 संभवति । स्वप्नसन्निपातादौ विरुद्धसहस्रस्यापि सहसावदर्श-
 नादित्यर्थः ॥ १८ ॥ तदेवाह—संकल्पेति ॥ १९ ॥ धर्मा-

यथैव संकल्पपुरे यत्र संभवतीह हि ।
 तन्नास्त्येव तदेतस्मिन्किं वाऽस्तु ब्रह्मकल्पने ॥ २२ ॥
 स्वप्नसंकल्पपुरयोरेको गच्छति लक्षताम् ।
 तथा त्रैकेव चित्त्वप्ने सेनात्वमुपगच्छति ॥ २३ ॥
 सहस्राण्येकतां याति तथा सैव सुषुप्तकम् ।
 अन्यथा स्वप्नसंकल्पसैमानुभवसंस्मृतौ ॥ २४ ॥
 संकल्पस्वप्नपुरयोरिति को नानुभूतवान् ।
 संविदाकाशमात्रेऽस्मिन्नगत्यनुभवत्प्रमि ॥ २५ ॥
 तस्मात्सिद्धिदाकाशसंकल्पे जगदात्मनि ।
 न संभवति किं नाम तत्संभवति वापि किम् ॥ २६ ॥
 एवमेवमिदं भ्रान्तिर्भाति भास्वन्नभोमयम् ।
 नेह किंचन सन्नासन्न वाऽऽसदिह किंचन ॥ २७ ॥
 यथानुभूयते यद्यत्तथा तत्त्वदर्शिनः ।
 प्रबुद्धस्यात्र किं नाम तत्स एवाकृतत्वलम् ॥ २८ ॥
 इह खेद्विहितो धर्मस्तत्सर्वोऽमृतपर्वताः ।
 स्थिता इतीह संकल्पे कस्मात् प्राप्तवान्गिरीन् ॥ २९ ॥
 इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपमुज्यते ।
 इतीह संकल्पपुरे सर्वमेवासमञ्जसम् ॥ ३० ॥
 यदि स्यात्सुस्थिरं किञ्चिद्दस्तु तद्दृश्यको भवेत् ।
 न्याय एषोऽखिलः किंतु संविस्थात्सत्यकं स्थितः ३१ ॥

धर्माधर्मौ इति प्रश्नेन ब्रह्मतत्कवाक्षेपानुपुण्येन परिष्कृत्य
 राजा पुनः पृच्छति—धर्माधर्ममिति । तस्य धर्मस्य अध-
 मस्य चामूर्तौ मूर्तत्वाभावे द्विशरीरत्वं द्वितीयशरीरभावं नृच्छति
 प्राप्नोति ॥ २० ॥ वातुः सत्यसंकल्पः अमूर्तस्यापि मूर्ततां बट-
 यितुं समर्थ इत्याशयेनोत्तरमाह—संकल्पनगरे इति ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ २३ ॥ सा स्वप्नसेनैवैकं सुषुप्तकं भवति स्वप्नसंक-
 ल्पानुभूतसेनायाः स्मृतौ समूहरूपतया एकाकारे इदमिति
 स्थाने तदिति कल्पनेन चान्यथानुभवनं भवतीति सर्वांनुभव-
 सिद्धमित्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ उपसंहरति—तस्मादिति
 ॥ २६ ॥ न वा था सत् ईषत्सत् सदसदित्यर्थः ॥ २७ ॥
 प्रबुद्धस्य अत्र किं नाम असमञ्जसमिति शेषः ॥ २८ ॥ धर्मा-
 धर्मानुष्ठायिनोऽपि जनाः शास्त्रकृतस्वस्वनिश्चयानुधारिसर्गानेव
 प्राप्नुवन्तीत्याह—इह खेदिति । अमृता देवास्तदुपभोग्याः अमृ-
 तरक्षिणैरहदफलपुष्पादिपूर्णाश्च पर्वताः स्वर्गे स्थिताः सन्तीति
 शास्त्रतोऽजगन्मय तदनुसारिसंकल्पे सति तत्र गत्वा तादृशगिरी-
 न्प्राप्तवान् स्वात्मानं कस्मान्नुभवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥ यदि तु
 मिथ्यात्वादसमञ्जसमिति ते बुद्धितार्थं लोकत्रयं धर्माधुष्ठानं
 तेन परलोकत्रयं भोग्येत्येतत्सर्वमेव अयदसमञ्जसमेवेत्याह—
 इहेति । इह जगति ॥ ३० ॥ यदि जगति किञ्चिद्दस्तु तद्दृश्यको भवेत्
 सुस्थिरं सत्यं स्यात् तत्राद्यं निरोधो इदमको भवेत् सदा एव
 इदं समञ्जसमिदमसमञ्जसमित्येष न्यायोऽखिलः अखण्डितः
 स्यात् किंतु सर्वेषु इह संविस्थात्सत्यकं संकल्पनेन इत्यर्थः

१ सतोऽधिकेयं न न्यूना ज्जाप्रतिवि ॥ सतोऽधिकेयः ।

यो० वा० १९६

इत्येष कथितो न्यायः सिद्धास्तनुभवस्ततः ।
 यतो जगन्ति संकल्पश्चितो ब्रह्मस्वरूपतः ॥ ३२
 तत्र संकल्पमगरे नास्त्येवासंभवो यथा ।
 सर्वार्थानां तथा ब्राह्मे संकल्पे नास्त्यसंभवः ॥ ३३
 यद्यथा कल्पितं तत्र यावत्संकल्पमेव तत् ।
 स्वभावेन तथैवास्ति यतस्तत्संनिवेशवत् ॥ ३४
 ततः संप्रेक्षणमिह संकरो न प्रवर्तते ।
 विनान्यचित्प्रयत्नेन भवत्यर्थस्तु नान्यथा ॥ ३५

आकल्पमजसंकल्पे यथा भातं जगत्स्थितम् ।
 पुनरन्येन संकल्परूपेणान्यदुपैष्यति ॥ ३६
 संकल्पात्म स्वयं भाति कल्पे कल्पे जगत्तथा ।
 प्रतिजीवं चित्तिस्वप्ने स्वप्ने स्वाप्नपुरं यथा ॥ ३७
 संकल्पपत्नतनोर्न तदस्ति किञ्चि-
 द्यद्यच्च संभवति तच्च चिदात्मनोऽस्मात् ।
 नान्यत्प्रकम्पयितुराद्यपरस्वरूपा-
 ब्रह्मैव तेन सकलं जगदङ्ग विद्धि ॥ ३८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० महा० सर्वास्तित्वानुभूतिदर्शनं नाम नवाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥२०९॥

दशाधिकद्विंशततमः सर्गः २१०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 फले क्षयेन्दुभारूपे प्राप्ते ध्यातृशतैर्नभः ।
 यथा न शतपूर्णेन्दु तथेदं कथनं शृणु ॥ १
 चन्द्रबिम्बस्य ध्यातारः प्राप्ताः प्राप्तव्यसुस्थिताः ।
 नेदं नमस्तलं प्राप्ता न क्षेमं शशिनं भिताः ॥ २
 केषान्यसंकल्पपुरमन्यः प्राप्नोति कथ्यताम् ।
 संकल्पपुर्यामर्यातिस्तज्जन्तावेव नापरे ॥ ३
 पृथक्पृथक्स्वसंकल्पसर्गेष्वेव ते स्थिताः ।
 चन्द्रास्तपन्ति तत्रैव कलाक्षयविवर्जिताः ॥ ४
 विशेषमस्मिन्नेवेन्द्राविति ध्याता निशाकरे ।
 अस्मिन्नेव विशत्यन्तरात्मबुद्धिसुखोज्झितः ॥ ५

स्थितो न वास्तवमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ इत्येषोऽस्माभिरासमजस्य-
 परिहारन्यायोऽपि स्वप्रसंकल्पसिद्धासु कल्पनासु अनुभवः सर्वो-
 नुभवानुसारी स्थितो जगत्स्वपि योज्यः । यतो जगन्त्यपि ब्रह्म-
 स्वरूपतः स्थितायाश्चितः संकल्प एव ॥ ३२ ॥ तदेवाह—
 तवेति ॥ ३३ ॥ यद्यथा तत्र ब्राह्मसंकल्पे कल्पितं तत् तादृ-
 शसंनिवेशवत्तथा स्वभावेनास्ति ॥ ३४ ॥ ततस्त्वादशसंनिवेश-
 स्वभावनियमादेव ज्ञानेन्द्रियैः सर्ववस्तूनां सम्यगविर्वादिताया
 प्रेक्षणं प्रवर्तते । कर्मेन्द्रियव्यवहारे संकरश्च न प्रवर्तते ।
 पूर्वचित्प्रयत्नेन कृतनियतसंनिवेशोऽर्थः अन्यचित्प्रयत्नेन विना
 अन्यथा च न भवति । चार्थे तुः ॥ ३५ ॥ आक-
 ल्पमाप्रकल्पं यथा अजसंकल्पे भातं तथैव स्थितं पुनः
 प्रलयानन्तरमन्यत् ब्रह्माण्डान्तरम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ संकल्प-
 पत्नतनोरस्य जगतो यत्र संभवतीति मन्यसे तज्जास्ति सर्वं
 संभवत्येव तच्च प्रकल्पयितुरस्माच्चिदात्मनो नान्यत् तेन हेतुना
 जगद्ब्रह्मैव विद्दीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
 र्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वास्तित्वानुभूतिदर्शनं नाम
 नवाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २०९ ॥

इह वसिष्ठप्रश्नानां समाधानं निरूप्यते ।

तथा देहादिजगतः सुदृष्ट्या ब्रह्ममात्रता ॥ १ ॥

‘खेऽस्वामक्षयपूर्णेन्दुरिति ध्यायिषितैः फलैः । तुल्यकाल-
 मनुप्राप्तैः सहस्रेन्दु न किं नभः’ इति प्रश्नस्योत्तरं तत्र प्रथमं

अहमिन्दुं प्रविष्टः स्यामिन्दुबिम्बसुखान्वितः ।
 ध्यातेति तादृक्सुखभाग्भवतीति विनिश्चयः ॥ ६
 यथायमनुसंधत्ते स्वभावं संविद्व्यया ।
 तं तथैवानुभवति भवेच्चैद्दृढनिश्चयः ॥ ७
 यथेन्दुत्वं स्वसंकल्पात्सर्वध्यातुः पृथक्पृथक् ।
 भालेवमेव घनितालामः काल्पनिकः स्वतः ॥ ८
 या ध्याने ध्यातृलक्षाणां साध्वी भार्यात्वमागता ।
 तत्कल्पनानुभवने तेषां सत्त्वात्मनि स्थितम् ॥ ९
 गृह्णादनिर्गतो जीवः सप्तद्वीपपरः स्थितः ।
 तस्यापि तत्काल्पनिकं राज्यं व्योम्नि स्वमन्दिरे ॥१०

श्रावयति—फले इत्यादिना ॥ १ ॥ सत्यचन्द्रबिम्बस्यह्रभावेन
 ध्यातारः प्राप्तव्ये चन्द्रभावे चिरध्यानेनान्यभावविस्मरणादेन्द-
 वन्यायेन सुस्थिताः सन्तश्चन्द्रभावं प्राप्ता एव तथापि नेदं
 नमस्तलं प्राप्ता नाप्येनं शशिनं भिताः । प्रविष्टा इत्यर्थः
 ॥ २ ॥ कुतो न प्राप्तास्तत्राह—केवेति । अन्यसंकल्पपुरमन्यः
 प्राप्नोतीत्येतत्केव कुत्र दृष्टं दृष्टान्तीकृत्य प्रकृते शङ्क्यते ।
 तज्जन्तो तस्मिन् संकल्पयितृजीवे एव न परे जीवान्तरे दृष्टा
 ॥ ३ ॥ क तर्हि ते स्थितास्तत्राह—पृथगिति ॥ ४ ॥ ५ ॥
 अस्मिन्नेव चन्द्रे ते सर्वे लब्धवात्कुतो न प्रविष्टास्तत्राह—
 अहमिति । तैस्तु न तथा ध्यातं किंतु त्वत्प्रश्नानुसारात्स्वे स्वाम-
 क्षयपूर्णेन्दुरिति कामनया ध्यातमिति भावः ॥ ६ ॥ अन्यधा-
 ध्यानेऽन्यथाफलं कुतो न भवति तत्राह—यथेति । यथायं
 स्वभावमयमनुसंधत्ते दृढसंकल्पेन ध्यायति तं स्वभावमव्यया
 साक्षिसंविद्यैवानुभवति न वैपरीत्येनेत्यर्थः ॥ ७ ॥ ‘अन्यथा
 ध्यायिनां लक्ष्म्यार्थिका जी यथाक्रमम् । जायात्वेन सर्वं
 कालम्’ इति प्रश्नोऽप्यनेनैव युक्त्या समाधेय इत्यतिदिशति—
 यथेति । स्वतः स्वस्य काल्पनिकः कल्पनासिद्धः ॥ ८ ॥
 ‘साध्यसाध्वी गृहे भर्तुः संस्थिता तपसा परा’ इति प्रश्ना-
 शोऽप्ययमेव समाधिरित्याह—येति । सत्त्वात्मनि अन्तःकर्णो-
 पहिते साक्षिणि ॥९॥ ‘गृह्णादनिर्गच्छमाकर्णं जपः स तीव्रचन्द्रे’

समस्तं कल्पनामात्रमिदमाद्यजन्मनः ।
 शून्यमप्रतिघं शान्तं तेष्वपि व्यातिकमन्यथा ॥ ११
 दानौर्ध्वदेहिकतपोजपादीनां परत्र यत् ।
 अमूर्तानां फलं मूर्ते तदिदं कथ्यते शृणु ॥ १२
 दानादिचिह्नितधियः परत्र स्वप्नवत्फलम् ।
 पश्यन्त्यमूर्तामूर्ताभ्रमजं चिन्मूर्तिकल्पनात् ॥ १३
 वेदनावेदनाकार स्पन्दास्पन्दात्म वै पुनः ।
 चिन्मात्रव्यास्य तद्भ्रान्तिशान्तौ शान्तात्म निर्मलम् ॥
 चिन्मात्रमभितो दानादमुत्रात्तमवामुयात् ।
 संकल्पात्मेति कथयः कथं तन्नोपलभ्यते ॥ १५
 कल्पनात्मनि संसारे संकल्पोऽकृत्रिमं फलम् ।
 चिन्मात्रमभितोऽदानादानाद्वाऽस्तु यथोदितः ॥ १६
 एतत्ते कथितं सर्वं यथापृष्टं महीपते ।
 जगदप्रतिघं सर्वमिदं चिन्मात्रकल्पनम् ॥ १७
 राजोवाच ।
 सर्गादौ भगवन्देहमिदं चिन्मात्रकल्पनम् ।
 कथं भाति कथं कुड्यं विना दीपः प्रकाशते ॥ १८
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 त्वयार्थो देहशब्दस्य यो बुद्धः स महामते ।
 तत्त्वज्ञं प्रति नास्त्येव शिलानृत्तमिदाम्बरे ॥ १९
 य एव ब्रह्मशब्दार्थो देहशब्दार्थ एव सः ।
 नार्थयोरनयोर्भेदो विद्यतेऽम्बम्भसोरिव ॥ २०

इति प्रश्नोऽप्यनेन समाहित इत्याह—गृहादिति । स्वमन्दिरे
 व्योम्नि स्वभित्ताकाशे ॥ १० ॥ यदा इदमस्मदादिदृश्यं जगदपि
 समस्तमाद्यस्य जन्मन औत्पत्तिकसावैरभवतो हिरण्यगर्भस्य
 कल्पनामात्रं तदा तेषु उपासककल्पितजगत्सु किमन्यथा भ-
 न्याहृषां सत्यं स्यायेनासमञ्जसता स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥ 'दान-
 धर्मादितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणाम् । इहस्थानाममूर्तानां मूर्ते
 प्रेत्यास्ति किं फलम्' इति प्रश्नमनूय तत्समाधानं वक्तुं प्रति-
 जानीते—द्वानेति ॥ १२ ॥ चित्तैव मूर्त्याकारकल्पनात् ॥ १३ ॥
 मनोज्ञानेन्द्रियैर्वेदनावेदनाकार भ्रान्तिस्तया भ्रान्त्या विषय-
 प्राप्तये तच्चिन्मात्रं समनस्कैः कर्मेन्द्रियैः स्पन्दास्पन्दात्म संप-
 द्यते । तद्भ्रान्तिशान्तौ तु निर्मलं शान्तात्मैवावतिष्ठते ॥ १४ ॥
 इत इहानुष्ठितादानादमुत्र परलोके चिन्मात्रात् चित्प्रतिभासा-
 त्मकं तत्फलमात्सुपनीतं तत्संकल्पात्मा जीवः अवामुया-
 दिति कथयो वदन्तीति शेषः ॥ १५ ॥ इतो दानाददानाद्वा
 अकृत्रिमः संकल्प एव दानफलं भोगैश्वर्यादि, अदानफलं दारि-
 द्यादि वा परलोकेऽस्तु न कश्चिद्विरोध इति सर्वासमञ्जसपरि-
 हार इत्यर्थः ॥ १६ ॥ सर्वान्प्रश्नान्कण्ठोऽर्थाच्च समाधाय
 जगतो ब्रह्मैव तत्त्वमित्युपसंहरति—एतदिति ॥ १७ ॥ देहे
 एव चिदभिव्यक्तिदर्शनादनभिव्यक्तचित्ति भ्रान्त्याद्यदर्शनात्स-
 र्गादौ भ्रान्तिसिद्धौ देहसिद्धिसत्त्वित्वाच्च भ्रान्तिसिद्धिरिल-
 म्बोन्माभ्रयं मन्वमानो राजा पृच्छति—सर्गादाविति ।

यदेव ब्रह्मदेहोऽसौ स्वप्नः स्वप्न एव तु ।
 त्वद्बोधायोच्यते युक्तिर्न तु तत्स्वप्न एव तु ॥ २१
 स्वप्नस्तवानुभूतार्थस्तेनातस्त्वं प्रबोध्यसे ।
 न तु सर्गे चिदाभाते सादृश्यं स्वप्नमस्सना ॥ २२
 कस्तत्र नाम देहोऽयं कस्यैते स्वप्नधीः क वा ।
 स्वप्नेन ज्ञावबुद्धेन भ्रमेणाहोऽवबोध्यते ॥ २३
 तत्र जाग्रन्न च स्वप्नो न सुषुप्तं न चैतरत् ।
 किमपीत्थमिदं भानं स्वप्नात् मौनमोमलम् ॥ २४
 अभातमेव भातीव यदद्येत्थमिदं तु तत् ।
 प्राग्विभातं तथात्यच्छं जाग्रत्स्वप्नादि नो यथा ॥ २५
 देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 तन्मयं सर्वमेवेदं द्वैतमद्वैतमेव च ॥ २६
 अन्यत्र चिन्मयं स्वप्नं द्वैताद्वैतं शुभाशुभम् ।
 निरावरणचिन्मात्रनभसैवोपमीयते ॥ २७
 शून्यमर्थोपलम्भश्च भानं चाभानमेव च ।
 द्वैतमैक्यमसत्सच्च सर्वं विद्मग्नं परम् ॥ २८
 पूर्णात्पूर्णं प्रसरति पूर्णमेव स्थितं जगत् ।
 न च भातं न चाभातं शिलाबद्धोदरोपमम् ॥ २९
 यतो जगच्चिदुम्भेषो व्योमात्माप्रतिघं ततः ।
 चिन्मात्रं यत्र यत्रास्ति तत्र तत्रोचितं जगत् ॥ ३०
 चिद्योम चास्ति सर्वत्र सर्वं चैतज्जगन्मयम् ।
 सर्वं ब्रह्ममयं शान्तं जगदित्यपि शब्दितम् ॥ ३१

चिन्मात्रं देहशून्यं चैतन्यं तत्कृतं देहकल्पनं कथं भाति । देहं
 विना चित्प्रयाया एवादर्शनात्कुर्व्याद्यनाभितरीपप्रभाप्रायत्वा-
 तदा चैतन्यस्येत्यर्थः ॥ १८ ॥ न जडो देहश्चिदभिव्यक्तक
 इति तत्त्वज्ञपक्षः । तद्गृष्टौ जडस्यैवाप्रसिद्धेः । ब्रह्म तु सर्वज्ञत्वा-
 त्सदैवाभिव्यक्तचैतन्यं देहादि सर्वं कल्पयतीत्याशयेनोत्तर-
 नाह—त्वयैत्यादिना ॥ १९ ॥ अम्बम्भसोरिवेति शब्दद्वया-
 नुकरणत्वात् 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्' इत्येकशेषोऽसह-
 प्रयोगोऽद्वन्द्वो वा ॥ २० ॥ स्वप्नाहोऽसौ देहो यद्ब्रह्म तदेव ।
 ननु स्वप्नेऽप्यस्य न्यायस्य साम्याद्ब्रह्मत्वे स्वप्नात् इति मेदं
 सिद्धवत्कृत्य दृष्टान्तोक्तिः कथं तत्राह—त्वद्बोधायेति ॥ २१ ॥
 कथमस्य मद्बोधोपयोगस्तत्राह—स्वप्न इति । स्वप्नरूपेण
 मस्सना बाधितार्थेन सह चिदात्मना आभाते सर्गे सादृश्यं
 न लसीत्यर्थः ॥ २२ ॥ कस्यैते स्वप्नार्थाः ॥ २३ ॥ ओमिति
 विराडादिपादत्रयप्रतिख्यावशिष्टतुरीयोपदेशः । अलमिति तत्र
 सर्वसाधनपुरुषार्थपर्याप्तिदर्शनम् ॥ २४ ॥ यदद्येत्थं भातीव
 तदभातमेव । प्राग्विभातमपि तथा । तथा च कदापि जाग्रत्स्व-
 प्नादि यथा नो नास्त्येव तथा अत्यच्छं ब्रह्मास्ति ॥ २५ ॥ देशादिति
 व्याख्यातम् । निर्विषयचिन्मात्रमयमित्यर्थः ॥ २६ ॥ अज्ञदृष्टेरन्यत्र
 जडौ स्वप्नादि सर्वं चिन्मात्रनभसैवोपमीयते ॥ २७ ॥ २८ ॥
 स्पष्टिकविक्रिया आवर्द्धं धनं वदुर्दं मर्षं तदुपमम् ॥ २९ ॥
 उचितं स्वादुमिति शेषः ॥ ३० ॥ ब्रह्मैव ब्रह्ममयम् ॥ ३१ ॥

यथास्थितमिदं विश्वं तथासंस्वमनामयम् ।
 ब्रह्मैव निरवघातम चित्संकल्पपुराकृति ॥ ३२
 असंभवाद्व्ययुक्तेर्युक्तिरेषैव शोभना ।
 अयुक्त्यनुभवं तूक्तं नार्थिनामिह शोभते ॥ ३३
 लोके शास्त्रेऽथ वेदादौ यत्सिद्धं सिद्धमेव तत् ।
 सद्स्त्वसद्वात्मनि तद्भातुं शक्यं न वा क्वचित् ॥ ३४
 तदेवेत्यं परिज्ञातं ब्रह्मतामुपगच्छति ।
 यदा तेन समं विश्वं स्थितमेव विलीयते ॥ ३५
 न्यायेनैतदिहोक्तेन लोकवेदादि सिध्यति ।
 सर्वं स जीवन्मुक्तत्वमेव एवोचितस्ततः ॥ ३६
 परिज्ञातं चिदाकाशमपरिज्ञातपादपे ।
 सोऽहं त्रिजगदित्येव बन्धमोक्षविनिर्णयः ॥ ३७

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० हैतैक्योपलम्भनिरासेन महाप्रश्नोत्तरवाक्यसमाप्तिर्नाम दशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥२१०॥

एकादशाधिकद्विंशततमः सर्गः २११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति तत्रोपविश्याहं पूजितस्तेन भूभुजा ।
 प्रयोजनं स्वं संपाद्य स्वर्गस्तुं गगनं हृतः ॥ १
 अद्यैतद्भवता प्रोक्तं मया मतिमतां पर ।
 अनया सुदृशा शान्तमनाः स्वात्मा भविष्यति ॥ २
 ब्रह्मैव तदिदं सर्वं निर्नामैवामलं नभः ।
 किमन्येषाजमाशान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ३
 चिद्भानमात्रमित्युक्तं ब्रह्मेति कलिताभिधम् ।

॥ ३२ ॥ अर्थिनां पुरुषार्थेच्छनां श्रोतॄणां पुरत इति शेषः
 ॥ ३३ ॥ मत्प्रमाणयुक्त्यनुभवसिद्धं तत्सिद्धमेव न हातुं शक्यम् ।
 तथा च सदिति वेदादिसिद्धं ब्रह्म तथैवाभ्युपगन्तव्यम्, असदिति
 सिद्धं हैतं तथैवाभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ तत्पूर्वमब्रह्मेति
 वृद्धीतं विश्वमित्यं परिज्ञातं ब्रह्मतामुपगच्छति । कदा । यदा तेन
 चरमसाक्षात्कारवृत्तिरूपेण ज्ञानेन समं स्थितमेव विलीयते तदा
 ॥ ३५ ॥ त्वयार्षो देहसम्बन्धेत्यादिना एतदन्तेन मनुकेन
 न्यायेन सजीवन्मुक्तत्वं जीवन्मुक्तिसिद्धितं लोकवेदादि सर्वं
 जगदेतद्ब्रह्मैव सिध्यति, तस्मादेव एव मनुके न्यायः परमपुरु-
 षार्थोपायत्वाद्दुपादात्तमुचित इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ अस्मिन् अपरि-
 ज्ञातारममात्ररूपसंसाररूपे पादपेऽश्रुत्यवृत्ते परिज्ञातं चिदा-
 काशमेव न ततोऽन्यदपुमात्रमप्यस्ति सः अपरिज्ञातः परिज्ञा-
 तश्च चिदाकाशोऽहमेव त्रिजगत् बन्धो मोक्षश्च पर्यायेणेति
 विनिर्णय इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ परिज्ञातमात्रत्वं कथं मोक्षसाधकम्—
 यथास्थितमिति । तज्ज्ञस्य स्वरूपमिति शेषः । इत्यात्मना असं-
 गतस्य इत्यात्रं वागवयगम्यमवशिष्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ लोके
 जीवन्मुक्तवने यत्सिद्धं विचारस्तैः परिनिष्ठितं तदेव ब्रह्मनुभवे-
 चापि संवेद्यते । अतस्तदेवं चरमपुरुषार्थभावेन फलति ॥ ३९ ॥
 सन्ध्यासिद्धिरार्षसाधनेन तदेकनिष्ठैवोपावृत्तेव कथं

यथास्थितमिदं दृश्यं परिह्वानाद्विलीयते ।
 तज्ज्ञस्यास्तंगतस्यैव शिलामौनं तु शिष्यते ॥ ३८
 लोके शास्त्रे च वेदे च यत्सिद्धं सिद्धमेव तत् ।
 संवेद्यते तदेवातस्तदेवं फलति स्फुटम् ॥ ३९
 सकलार्थनिरासेन यद्यत्संवेद्यते चिरम् ।
 तदेव प्राप्यतेऽवश्यं सर्वत्रैवान्यभाषितम् ॥ ४०
 यथानुभूतं यत्ससत्तथा नामानुभूयते ।
 तत्सत्यमस्त्वसत्यं वा यावद्भाषं तथा तु तत् ॥ ४१
 इत्थं महाप्रश्नविचारणं ते
 मयेदमुक्तं मतिमन्महात्मन् ।
 अनेन गच्छाशु पथा निराधि-
 निरामयो निर्व्यसनो भवोष्यैः ॥ ४२

परात्परमिति प्रोक्तं तच्च निर्नामकं पदम् ॥ ४
 श्रीराम उवाच ।
 सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवोकसाम् ।
 ब्रह्मन्कथय इत्यन्ते लोका लोकधराः कथम् ॥ ५
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवोकसाम् ।
 अन्येषामपि भूतानामपूर्वाणां महात्मनाम् ॥ ६
 प्रतिरात्रं प्रतिदिनं पुरः पश्चादुपर्यधः ।

तत्राप्यत इत्याह—सकलार्थेति । सर्वत्र लौकिकेऽपि कार्ये
 अन्यदपि भाषितं तथैवेत्यर्थः ॥ ४० ॥ तत्र लौकिककार्यम-
 सत्यं मोक्षार्थं तु सत्यमित्यवान्तरवैलक्षण्यमस्तु नाम, साधनो-
 योगतत्कलानुभवे च न विशेष इत्याशयेनाह—यद्येति ॥ ४१ ॥
 हे मतिमन् हे महात्मन्, इत्थं मया ते महाप्रश्नानां विचारणं
 विचारफलनिर्णयरूपं समाधानमुक्तम् । अनेन पथा गच्छ ।
 तेन आशु मनसि निराभिर्देहे निरामय इन्द्रियेषु निर्व्यसनो
 भूत्वा उष्यैः सर्वोत्कृष्टो भवेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाप्रश्नोत्तरवाक्य-
 समाप्तिर्नाम दशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २१० ॥

सिद्धसाध्यादिकोकोषार्थमोपावृत्तमुक्तम् ।

कर्ण्यतेऽत्र पुनः स्पष्टं ब्रह्मैव सकलं जगत् ॥ १ ॥

तत्र कृष्णदीपे इकावस्याक्यायां पुरि । तेन प्रज्ञप्त्यात्मनेन
 भूभुजा । स्वं प्रयोजनं तदनुग्रहकक्षयम् ॥ १ ॥ अथ एतस्या-
 योभ्यायां भवता मिष्टमानेन मया ॥ २ ॥ निर्नाम निःशब्दं
 नभ एव ॥ ३ ॥ ब्रह्मेत्यपि कल्पनया कलितमिदं च ब्रह्मतः
 कृतस्ये नृहृत्त्वर्थहृत्वादेरयोगादित्यर्थः ॥ ४ ॥ लोकाकाशत्रया
 कलासंघातं परा अपारभूताः कथं केनोपायेन इत्यन्ते
 ॥ ५ ॥ ६ ॥ आत्मोक्तवन् ब्रह्मलोकपदस्योक्तपादस्यमित्येवैः

पश्यस्यालोकयँलोकमपश्यञ्च न पश्यति ॥ ७
 वृत्ते लोकाः किलैतेषां नाभ्यासः स्वावपूर्वाः ।
 एते संकल्पलोकाश्च व्याप्तमेभिः किलाखिलम् ॥ ८
 यथैते कल्पनालोका भयं लोकस्तथैव नः ।
 यथा कल्पनिको वातो लोकालोकास्तथैव ते ॥ ९
 संकल्पस्वप्नलोका ये तव भान्ति दिवानिशम् ।
 त एव तादृशाभ्यान्ये संकल्पेन स्थिरीकृताः ॥ १०
 ध्यानेन त्वमपीतांशेस्थिरतां सुस्थिरात्मना ।
 नयस्याशु तदेवैते स्थिरतां याम्बुविभ्रतः ॥ ११
 यथाभिमतविस्तारा यथाभिमतसंपदः ।
 संकल्पभावबलितो जनः पश्यति सिद्धवत् ॥ १२
 किंतु ते स्थिरतां नीताः सिद्धैः स्वर्गानसंपदा ।
 अस्थिरैर्ध्यानविभ्रान्तौ तैर्दुःखैस्तदमी कृताः ॥ १३
 जगदप्रतिघं सर्वं शान्तचिद्बोम सर्वदा ।
 यथा इदं संविदितं तथैवाभाति नाभ्यथा ॥ १४
 न भात्येषासंविदितमस्ति नास्ति न चोद्यता ।
 शून्यं ह्यप्रतिघं चैतत्पराकाशमरोधकम् ॥ १५
 चित्त्वभावतथा भातं भावरूपमिव दृश्यते ।
 अस्मिन्निदमिमानश्च विद्यते न स्वभावतः ॥ १६
 कार्यकारणभावाच्चेत्कथंवात्र न विद्यते ।
 ध्योसोऽनन्तस्य सिद्धस्य किं कथं किल जायते ॥ १७
 यच्च जातमिवाभाति व्योम्नि व्योमैव तत्तथा ।
 तत्रैकद्वित्वकलना कीदृशी स्यादरूपिणी ॥ १८

तद्धि यादृशमेवसीतादृशेषावसिद्यते ।
 निर्विकारं यथा स्वप्ने व्योमैवावकचक्रवेत् ॥ १९
 संकल्पे चित्तमाकारं यथोदेत्यद्रिलीलया ।
 न च सोऽद्रिर्न तद्बोम तथा ब्रह्म जगत्स्थितिः ॥ २०
 काष्ठबन्मौनमास्थाय रटन्तोऽपि महाधियः ।
 इह व्यवहरन्त्येते बुधा दाहनरा इव ॥ २१
 यथा धारिणि वर्तन्ते तरङ्गावर्तवृत्तयः ।
 अनन्याः परिवर्तन्ते तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥ २२
 यथा वायौ परिस्पन्दा यथा व्योमनि शून्यता ।
 अनन्याध्याप्यमूर्ताश्च तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥ २३
 यथा संकल्पनगरं शून्यमेव पुरं स्थितम् ।
 साकारमप्यनाकारं ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥ २४
 चिरानुभूतमप्यर्थकार्यपीदं जगद्भवम् ।
 शून्यमेव निराकारं संकल्पनगरं यथा ॥ २५
 यदेव चित्तसंकल्पस्तदेव नगरं यथा ।
 तदा तथायं ब्रह्माच्छं तदेव जगदुच्यते ॥ २६
 चिरं नित्यानुभूतोऽपि जगदर्थो न किञ्चन ।
 विद्यते पुरुषस्येह स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ २७
 स्वप्ने पुंसां मृतेनापि स्वदाहो दृश्यते यथा ।
 असदेव सदाभासं जगद्दृष्टं परे तथा ॥ २८
 जगत्ता चाजगत्ता च परस्यैवामलं वपुः ।
 पराभिधानं च परं न च सत्परमार्थतः ॥ २९

पश्यन्सर् पश्यति इक्षयति ॥ ७ ॥ द्विविधा हि सिद्धलोका य
 एते महर्जनस्यःसत्याख्यास्ते स्थानतो दूरगाः । ये त्वेते
 सर्वत्र संवरतां सिद्धनाम् 'स यदि पितृलोककाशो भवति
 संकल्पावेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो
 महीयते' इत्यादिश्रुतिसिद्धाः संकल्पलोकाख्याः एभिरखिलं विश्वं
 व्यप्तं सर्वत्र सन्ति (?) । द्विविधानामपि दर्शने धारणाभ्यासः
 कारणं स च ते नास्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥ तर्हि किं मया तर्ह्येनाय
 धारणाभ्यासः कार्यः, न कार्यलोपमसारत्वादिति दर्शयति—
 यथेत्यादिना । यथैव तेषां ते कल्पनात्मका लोकास्तथैवायं
 नोऽस्माकमयं लोकः कल्पनात्मासिद्धः । यथा कल्पनि-
 कोऽपि वातः सर्वत्र भ्रमति तथा ते भ्रमन्ति अयं तु
 न तथेत्येत्प्रधानेन विशेष इत्यर्थः ॥ ९ ॥ तव संकल्पस्व-
 प्नलोका ये भान्ति त एव ते सिद्धलोकाः प्रसिद्धास्तादृशा
 भ्यान्ये च लोकास्त्रैर्निर्मोय संकल्पेनैव स्थिरीकृताः ॥ १० ॥
 एवं च स्वमपि यदि योगधारणास्थिरीकृतेन ध्यानेन इत्याद्य
 त्वसंकल्पप्रसादतः लोकात् स्थिरतां वयसि तदा एतेऽपि
 स्थिरतां यान्ति ॥ ११ ॥ एकमन्योपि इदत्तरण्यात्संकल्पभा-
 वेन वसितव्येस्योऽपि सिद्धवत्केव तन्निष्पन्नत्वमिति ॥ १२ ॥
 किंत्वेषांनिबोधः—तैः सिद्धैः काः स्वर्गान् सिद्धलोकान्
 यान्ति यथा त्वमिवायं प्राज्वल्यसर्वसंपदा से लोकाः स्थिरतां

नीता इत्यनायाससिद्धास्तेषाम् । येस्त्वन्मैरनित्यैरिदानींतन-
 धारणाभ्यासेभ्यःनविभ्रान्तौ यत्नते तैर्दुःखैः भ्रमैरमी लोकाः
 स्थिरीकृताः स्युरिति ॥ १३ ॥ संविदितं निश्चितम् ॥ १४ ॥
 यतस्तत्रासंविदिते अस्ति नास्तीति वा चोद्यता तर्कविषयता
 नास्ति ॥ १५ ॥ कुतः शून्यमप्रतिघं च तत्तत्राह—चित्तस्व-
 भावतयेति । यद्दृष्टसंवेदनेन भातं तच्चित्त्वभावतया भावरूपमिव
 भासमानं दृश्यते । अस्मिन्संविदिते स्वभावतश्चिदभिमान-
 चित्तसत्तास्फूर्तिव्याप्तिर्यतो न विद्यते इत्यर्थः ॥ १६ ॥ कारण-
 सत्ताबलादेव तत्सत्त्वान्या अकिञ्चितीति तु न ब्रह्ममेव निरस्त-
 त्वादित्याह—कार्येति । सर्गादौ प्रलयत्वाद्योक्तः ॥ १७ ॥ यच्च
 जातमिवाभाति भूतभुवनादि तद्बु व्योम्नि व्योमैव जातमिवा-
 भातीति तत्रैकद्वित्वकलनापि कुर्त्वा इदं कार्यकारणभाव
 इत्यर्थः ॥ १८ ॥ तर्हि ब्रह्मैव कारणमसु तत्राह—तच्छ्रुति । नि-
 वर्ताधिष्ठानयेव न विकारीति न कारणमित्यर्थः ॥ १९ ॥ आकारं
 कल्पयित्वाति शेषः ॥ २० ॥ अत एव खादव्या निर्भयपाप एव
 जीवन्मुक्ता व्यवहरन्त इव भान्ति न वस्तुत इत्याह—काष्ठ-
 वदिति ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ अर्थकारि लौकिक-
 वैदिककार्यसमर्थमपि ॥ २५ ॥ तदा संकल्पनपरम्यद्वयत्वात् ॥
 तथा अयं परिदृश्यमानः संसारोऽपि ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥
 परपरम्यद्वयत्वादि पराभिधानं अर्थापनिधानमोक्तो अपत्ति

इत्थमस्तु यदि वान्यथास्तु वा
मैव भूद्भवतु कोऽत्र संभ्रमः ।

मुञ्च फल्गुनि फले फलग्रहं
बुद्धवानसि कृतं परिभ्रमैः ॥ ३०

इत्यायं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० परमार्थोपदेशो नामैकादशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २११ ॥

द्वादशाधिकद्विंशततमः सर्गः २१२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चित्त्वाद्ब्रह्मत्वमेवाहमिति चेत्तीव यत्स्वयम् ।
तदेव परमेष्ठित्वं तस्योदरमिदं जगत् ॥ १
एवं स्थिते न च ब्रह्मा न च जातं जगत्स्थितम् ।
स्थितं यथास्थितमजं परं ब्रह्मैव पूर्ववत् ॥ २
संविस्तौ तु जगद्रूपं भासतेऽप्येवमेव तत् ।
मृगतृष्णेव मिथ्यैव दृश्यमानमपि त्वसत् ॥ ३
अतःप्रभृति शून्येयं भ्रान्तिरभ्युदिता नवा ।
कुतः केव किल भ्रान्तिर्ब्रह्मैव तदनामयम् ॥ ४
जगद्ब्रह्मजलावर्तो द्वित्वैकत्वे किलात्र के ।
कावर्तपयसोर्द्वित्वं द्वित्याभावात्क चैकता ॥ ५
तद्ब्रह्म घनमाशान्तं चित्त्वाच्चेतत्यहं विदत् ।
निजं शून्यत्वमन्तस्थं व्योमेव विततान्तरम् ॥ ६
एवमः स्पन्दनमिष हुताशन इवोष्णताम् ।
स्वशीत्यमिष पूर्णेन्दुः सप्तमर्थ इवात्मनः ॥ ७

श्रीराम उवाच ।

एतद्ब्रह्मन्कदा नाम तन्न चेतितवन्मुने ।
निराश्रुतमनाद्यन्तं किमिदानीं प्रचेतति ॥ ८
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
एवमेतत्सदैवैतदहमाद्यपि चेतति ।
न ह्यनादेरजस्यास्य काप्यपेक्षा स्वसंविदा ॥ ९
सर्गासर्गनभोरूपं ब्रह्म सर्वत्र सर्वदा ।
न कदाचिदिदं नेदं ज्ञातं नेदं च किञ्चन ॥ १०
पवनस्पन्दनं चन्द्रशैत्यं शून्यत्वमम्बरम् ।
ब्रह्माहंत्वमनन्यात्म न कदाचिन्न चेतति ॥ ११
सर्वदैवेदशी सत्ता न कदाचिदनीदशी ।
जगद्यस्मादनाद्यन्तं ब्रह्मात्मैव निरामयम् ॥ १२
केवलं त्वमबुद्धत्वाच्छब्दध्वन्यध्वेषधितः ।
अद्वये ब्रह्मबोधेऽस्मिन्द्वितामभ्युपगच्छसि ॥ १३

तत्परमार्थतः सन्न ॥ २९ ॥ हे राम, सिद्धलोकभोगादिफल-
मित्थं मद्गणितप्रकारेणैव कल्पनामात्रमस्तु । यदि वा अन्यथा
अन्यैर्मुनिभिर्गणितप्रकारेणान्यादृशमेव वास्तु । भैवाभूतथापि
ते जीवन्मुक्तस्य अत्र कः संभ्रम आदरः । फल्गुनि सिद्ध्यादि-
फले फलग्रहं पुरुषार्थतावुद्धिं मुञ्च । यतस्त्वं ब्रह्मतत्त्वं बुद्धवा-
नसि अतस्ते मायामात्ररूपसिद्धलोकवैभवपरिज्ञानभ्रमैः कृतं
अलम् । साध्यं नास्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-
मायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपदेशो
नामैकादशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २११ ॥

ब्रह्माहंभावकलना परमेष्ठी जगत्प्रथम् ।

तत्सर्वकल्पमयं तस्माद्ब्रह्मैवेत्यत्र वर्णयते ॥ १ ॥

ब्रह्मणि प्रथमं समष्ट्यहंकारात्मा हिरण्यगर्भ इव कल्पना-
त्तदुदरे च व्यष्टिजीवजगत्कल्पनेति सर्वं ब्रह्मविधत्तमात्रमापात-
दर्शनसिद्धं परमार्थदृष्टं न हिरण्यगर्भो जीवो जगद्वा किञ्चिदस्ति
ब्रह्मैव केवलं नित्यनिर्मलसच्चिदानन्दैकरसं पूर्णमवतिष्ठत इति
सर्ववैदान्तनिष्कृष्टार्थयन्त्रे वर्णयितुमुपक्रमते—चित्त्वादिति ।
ब्रह्मसं स्वयमेव प्रथममहमित्यहंकारसमष्ट्यात्मानं वेत्तीव तत्ता-
दृशवेदनमेवास्व परमेष्ठित्वं हिरण्यगर्भता ॥ १ ॥ न च मायि-
केन तावन्नात्रापराधेन ब्रह्म अब्रह्म भवतीति हिरण्यगर्भादि
किञ्चिदन्यत्वासीद्वेष्याह—एवं स्थिते इति ॥ २ ॥ यदि
वासीदेव तर्हि संवित्ती कथं भासते तत्राह—संविस्तौ इति ।
एवमेव प्राप्तिभाषिण्येव सत् न परमार्थसत् ॥ ३ ॥ अतः

सर्गात्प्रभृति भ्रान्तिरभ्युदिता अथवा सापि नाभ्युदितेव
॥ ४ ॥ अस्तु नाम जगदनिर्वचनीयो ब्रह्मभ्रमेत्यथापि न क्षति-
रित्याह—जगदिति ॥ ५ ॥ चित्त्वात्परप्रथास्वभावात् । अह-
मित्यहंकारसमष्ट्यात्मतां विदत् ॥ ६ ॥ ब्रह्मैवात्मना अर्थ इव
सत्तां चेतति ॥ ७ ॥ यदि स्वरूपचेतन्यमेवाभिप्रेत्य अर्थ इव
चेततीत्युच्यते तर्हि तत्सदैवास्तीतीदानीं प्रचेततीति किमुच्यते
इति रामः पृच्छति—एतदिति । एतदहमादि कदा न चेतित-
वत् । यतः सदैव निराश्रुतं निरावरणमनाद्यन्तं नित्यं च तदि-
दानीं सर्गादिकालमारभ्य प्रचेततीति किमुच्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥
सत्यम् यौक्तिकदृशा सदैव वाहमादिस्वतत्त्वं च प्रचेतति, तथा च
सर्गासर्गोभयरूपं ब्रह्मदृष्टिद्वयप्रामाण्ये पर्यवस्यति तथापि दृष्टिद्वये
विषयसत्त्वासत्त्वकृतमन्तरमस्तीति प्रायाण्येन तुल्यमित्याशये-
नाभ्युपगम्येवोत्तरमाह—एवमेतदित्यादिना । स्वसंविदा स्वरूप-
चेतन्येन विषया स्वरूपस्फूर्तावविषया अहमादिस्फूर्तो चान्या-
पेक्षा यतो नास्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥ यतः कदाचिदपि अविद्यादृष्टौ नेदं
ज्ञातं विद्यादृष्टौ नेदं च किञ्चन ॥ १० ॥ मिश्रदृष्टौ तर्हि कीदृशां
चेतति तदाह—एवमेति ॥ ११ ॥ सर्वदैवेति । विपश्चिदुपा-
क्यानोक्त्यायेन सर्वजीवसंसारोच्छेदकालप्रसिद्धेति भावः
॥ १२ ॥ इमां मिश्रदृष्टिमपि तत्र बोधाश्रुतिपर्यन्तमेव शब्द-
अवगणादिव्यवहारसिद्धये त्वमभ्युपेयि चेदभ्युपगच्छ न परमार्थत
इत्याह—केवलमिति । त्वमद्वये ब्रह्मबोधे जातेऽप्यबुद्धत्वाक-
वोभ्रमभ्युपेय । ह्यञ्जोपे पवनी । मनुपदेष्टाच्छब्दध्वन्ये वैधित

न कश्चित्किञ्चिदेवेह न कदाचिन्न चेतति ।
 न कश्चिन्न तदव्यात्मा न कदाचिन्न चेतति ॥ १४
 इदं त्रिभुवनाभासमीदृशं भाति सर्वदा ।
 शान्तं राम समं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ १५
 न कदाचन जायन्ते नमसः पादपाद्वयः ।
 ब्रह्मणश्च जगन्तीति मत्वा शान्तिं परां व्रज ॥ १६
 उपदेश्योपदेशार्थं संदेहावसरेऽह्यधीः ।
 यावन्न बुद्धस्तावत्वं भेदमभ्युपगच्छसि ॥ १७
 बोधस्य तु विबुद्धस्य न शास्त्रादि न शब्दधीः ।
 न भेदबुद्धिर्नो भेदः किमप्येष प्रजापतेः ॥ १८
 श्रीराम उवाच ।
 बुद्धमेतन्मया ब्रह्मन्मकृतं तदुदाहर ।
 वचो भद्वबोधार्थं यदुदाहृतवानसि ॥ १९
 किं तस्मिन्नेतितेऽहंत्वे पदे संपद्यते परे ।
 बुद्धवानसि शुभ्रुर्नाहं तृप्तिमुपैमि हि ॥ २०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० परमार्थनिरूपणं नाम द्वादशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २१३ ॥

त्रयोदशाधिकद्विंशततमः सर्गः २१३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यथा यत्पृष्ठवानय त्वं मामरिनिषूदन ।

आसक्तचित्तः सन्न मिश्रदृष्टिलब्धां द्वितीं सप्रपन्ननिष्प्रपन्नो-
 भयरूपतामभ्युपगच्छसि न तत्त्वदृशेत्यर्थः ॥ १३ ॥ मिश्रदृष्टी
 हि सर्वात्मकं ब्रह्म तत्र सर्वान्तर्गतः कश्चिज्जीवः किञ्चिचेत-
 स्येव चेतद्ब्रह्मैव तदात्मना चेततीति तदात्मना सर्वः सर्वं
 चेतति । निर्विशेषब्रह्मात्मना च कश्चित्किञ्चिदपि न कदाचन
 चेतति ॥ १४ ॥ तथा च बद्धदृष्ट्या त्रिभुवनाभासमेव सर्वदा
 ब्रह्म भाति, मुक्तादृष्ट्या नेह नानास्ति किञ्चनेति न किञ्चिद्भाती-
 त्यर्थः ॥ १५ ॥ तत्र बद्धदृष्टेर्बोधितार्थत्वान्मुक्तादृष्टिरेव त्वया
 आश्रयणीवेत्याह—न कदाचनेति ॥ १६ ॥ यावदुपदेशप्रवृत्ति-
 मिश्रदृष्टिरभ्यनुज्ञाता भवेत्याह—उपदेश्येति । अभ्युपगच्छसि
 अभ्युपगच्छ ॥ १७ ॥ तदुत्तरकालं त्वहंकारतत्संकल्पजगदा-
 त्मनः प्रजापतेर्भेदबुद्धिस्तदभावबुद्धिश्च तव न भविष्यत्येवेत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ 'एतद्ब्रह्मन्कदा नाम' इत्यादि यन्मया पृष्ठं एतन्मया
 त्वदुक्त्या बुद्धम् । प्रकृतं समष्ट्यहंकाराद्यध्यासं निरूपयितुं
 प्रस्तुतं यन्भद्वबोधार्थं वचस्तदुदाहर निरूपयेत्यर्थः ॥ १९ ॥
 तदेव स्मारयन्पृच्छसि—किमिति । तस्मिन्परे पदे अहंत्वे
 चेतिते सति भवे किं संपद्यते । त्वं सर्वज्ञत्वात्सर्वं बुद्धवानसि ।
 अहं च त्वद्वचनशुभ्रुर्न तृप्तिमुपैमि अतो बदेत्यर्थः ॥ २० ॥
 व्योमसत्ता आकाशाध्यासः । भेदसत्ता त्रिविधपरिच्छेदाध्यासः
 ॥ २१ ॥ अहंकाराध्यासस्य परिच्छेदाध्यासहेतुतामुपपाद-
 यति—यदेति । यदा अस्य इह देहादौ अहमिति भाति तदा
 देहात्म्यस्यैव अत्र नाहमित्यप्यवश्यं भाति-स देशकृतपरिच्छेदः ।

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अहंत्वे सत्यथैतस्मिन्व्योमसत्ता प्रवर्तते ।
 दिक्सत्ता कालसत्ता च भेदसत्ताभ्युदेति च ॥ २१
 यदा किलेहाहमिति तदा नात्राहमित्यपि ।
 भातीत्युदेति नाना स्त्रे स्वात्मैव द्वैतमकमम् ॥ २२
 व्योमात्मिकानामेतासां सत्तानामभिधानधीः ।
 भविष्यत्युत्तरं कालं तदा त्वाकाशमेव तत् ॥ २३
 एतस्मिन्परिसंपन्ने दिक्कालकलनात्मनि ।
 अहंभावे निराकारे व्योम तन्मात्रवेदिनि ॥ २४
 इदमाभाति भाकूपं वेदनं इत्यनाम यत् ।
 भूत्वा ब्रह्मैव निर्वाधमब्रह्मैव विराजते ॥ २५
 ब्रह्मैव शान्तमजमेकमनादिमध्यं
 व्योमैव जीवकलनामिव भावयित्वा ।
 व्योमेषु पश्यति निरावरणे विसारि
 इत्थं स्वरूपमपि चान्यदिवाऽऽत्मवित्वात् ॥ २६

शिष्येणैव सता पूर्वमहं पृष्ठो गुरुस्त्वया ॥ १

इत्यनया रीत्या नानाविधः कालकृतपरिच्छेदो वस्तुकृतपरि-
 च्छेदश्चेति स्वात्मैव अकमं द्वैतं भूत्वा उदेति ॥ २२ ॥ ततः
 परस्परव्यावर्तकजातिगुणक्रियादिप्रवृत्तिनिमित्तभेदकल्पनाप्रयुक्ते
 नामभेदाध्यासो भविष्यतीत्याह—व्योमात्मिकानामिति । ए-
 तासामुक्तानां पदार्थभेदसत्तानामभिधानधीर्वाचकशब्दाध्यासः
 ॥ २३ ॥ तत्राहंकारावच्छेदेन जीवसाक्षिभेदेष्ववरणाभावा-
 त्साभाविकश्चिदभिव्यक्तौ तत्राध्यस्तजगदाकारेण ब्रह्मैव अत्र-
 ह्मैव भास्यतीत्याह—एतस्मिन्नित्यादिद्वाभ्याम् ॥ २४ ॥ २५ ॥
 तदेव स्पष्टमाह—ब्रह्मैवेति । व्योम जीवजगद्भावश्चन्यं ब्रह्मैव
 जीवकलनामिव भावयित्वा अध्यस्य निरावरणे जीवसाक्ष्याकाशे
 एव विसारि विस्तृततरं इत्थं पश्यति स्वरूपमपि ब्रह्म अन्यदिवा
 पश्यति आ आत्मवित्वात्तत्त्वज्ञानोदयं मर्यादीकृत्येत्यर्थः ॥ २६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 परमार्थनिरूपणं नाम द्वादशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २१३ ॥

वर्ष्यते पूर्वसंवाद इह रामवसिष्ठयोः ।

गुरुशिष्याभ्यामधिकया सर्वं ब्रह्मेति निश्चितः ॥ १ ॥

विसारेणोपदेशात्करतलामलकवत्साक्षात्कारितमप्यात्मतत्त्वं ए-
 मस्य जन्मान्तरीयस्वोपदिष्टार्थ एव ते पुनरुपदिष्ट इति
 स्मरणेन स्थूणानिखननन्यायेन दृढीचिकीर्तुर्भगवान्वसिष्ठः
 सर्वजगदुपकाराय सर्वशास्त्रार्थसंग्रहकृपां गुरुशिष्याभ्यामधिक्यं
 शास्त्रान्ते परममङ्गलरूपमुपदेश्यारभते—यथेत्यादिना । हे
 राम, त्वमयं मां प्रति यथागतत्त्वमात्मतत्त्वं च यथा पृष्ठवांसत्वा

पुराकल्पे हि कस्मिंश्चित्स्वमात्मादिकात्मिका ।
 आसीदियं चित्प्रतिभा गुरुशिष्यात्मना बने ॥ २ ॥
 गुरुस्तत्राहममर्षं शिष्यस्त्वममवस्तादा ।
 पृष्टवान्मां त्वमप्रस्थ इदमुद्दामधीरधीः ॥ ३ ॥
 शिष्य उवाच ।
 सर्वस्य भगवच्छिन्धि ममेममतिसंशयम् ।
 किं नश्यति महाकल्पे किं वस्तु न विनश्यति ॥ ४ ॥
 गुरु उवाच ।
 पुत्र शेषमशेषेण दृश्यमानु विनश्यति ।
 यथा तथा स्वप्नपुरं सौप्तुर्त्ती स्थितिमीयुषः ॥ ५ ॥
 निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो दश ।
 क्रिया कालः क्रमश्चैव न किञ्चिदवशिष्यते ॥ ६ ॥
 नश्यन्ति सर्वभूतानि व्योमापि परिणश्यति ।
 स सर्वजगदाभासमुपलब्धुरसंभवात् ॥ ७ ॥
 ब्रह्मविष्णुब्रह्मद्राद्या ये हि कारणकारणम् ।
 तेषामप्यतिकल्पान्ते नामापीह न विद्यते ॥ ८ ॥
 शिष्यते हि चिदाकाशमव्ययस्यानुमीयते ।
 तत्कालशेषतामेव सर्गानुभवहेतुना ॥ ९ ॥
 शिष्य उवाच ।
 नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
 इदं तत्कथमाभोगि विद्यमानं क्व गच्छति ॥ १० ॥
 गुरु उवाच ।
 न विनश्यत एवेदं सतः पुत्र न विद्यते ।

पूर्वमन्यस्मिन् रामजन्मन्यपि अहं गुरुः शिष्येणैव सता त्वया पृष्टः ॥ १ ॥ संक्षिप्योक्तं विस्तरेणाह—पुरेति । तज्जगत्तत्र त्वं रामः आत्मा अहं वसिष्ठः आदिपदात्तव निर्वेदो मदभिगमनं ब्रह्मखे-
 लोवमादिका इयं चित्प्रतिभा कस्मिंश्चिद्बने गुरुशिष्यात्मना इदा-
 नीमिष आसीदित्यर्थः ॥ २ ॥ इदं वक्ष्यमाणं पृष्टवानसि ॥ ३ ॥
 सर्वस्य जगतो विषये ममेममुष्यमानमतिशयितं संशयमति-
 संशयम् ॥ ४ ॥ हे पुत्र, यथा स्वप्नपुरं सौप्तुर्त्ती स्थितिमीयुष
 आत्मनस्तन्मात्रशेषमशेषेण विनश्यति तथा जगद्दृश्यमपि
 प्रलये विनश्यतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ सर्वजगदाभाससहितं
 व्योमाप्यव्याकृते ल्यात्परिणश्यति उपलब्धस्य भोग्यस्य भोक्-
 धीनस्थितिकत्वात्प्रलयकाले उपलब्धुर्भोक्पुरसंभवात् ॥ ७ ॥
 ब्रह्मद्वय एव तदा तद्भोक्कारः स्वास्यन्तीत्याशङ्कावारणायाह—
 ब्रह्मेति । अतिशयिते कल्पान्ते प्राकृते वैज्ञानिके च प्रलये ॥ ८ ॥
 आत्मशेषं विनश्यतीति यदुक्तं तदुपपादयति—शिष्यते
 हीति । अव्ययस्य चिद्वस्तुनो विवर्तं नष्टे चिदाकाशं शिष्यते
 इत्यनुमीयते । हि यस्मात्कारणात्स्वाप्यस्तसर्गानुभवहेतुना अनेन
 चिदात्मनैव सर्वप्रपञ्चान्यतस्त्वच्छेषता सिद्ध्यति । तस्यापि
 नाशो निःसाक्षिकः प्रलय एव न सिद्ध्येदित्यर्थः ॥ ९ ॥ सतो
 जगतः असत्तालक्षणो नाश एव न सिद्ध्यतीति शिष्यः
 चाकृते—आसत् इति ॥ १० ॥ अतिप्रसङ्गानुमानस्युत्पत्तिरिति

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ ११ ॥
 यत्तु वस्तुत एवास्ति न कदाचन किञ्चन ।
 तदभावात् तद्राम कथं नाम विनश्यति ॥ १२ ॥
 क्व स्थितं मृगतृष्णांशु क्व स्थिरो द्वीन्दुविद्यमः ।
 क्व स्थिरा केशदम्बयोस्त्रि क्व भ्राम्यन्नुभवः स्थिरः ॥ १३ ॥
 सर्वं दृश्यमिदं पुत्र भ्रान्तिमात्रमसम्भयम् ।
 स्वप्ने पुरमिवाभाति कथमेतन्न शाश्यति ॥ १४ ॥
 शाश्यतीदमशेषेण तथा सर्वत्र सर्वदा ।
 यथा जाग्रद्विधौ स्वप्नः स्वप्ने वा जागरो यथा ॥ १५ ॥
 यथा स्वप्नपुरं शान्तं न जाने काशु गच्छति ।
 शान्तं तथा जगद्दृश्यं न जाने काशु गच्छति ॥ १६ ॥
 शिष्य उवाच ।
 किमिदं भाति भगवन्न विभाति च किं पुनः ।
 कस्येदं वस्तुनो रूपं चिद्योक्तो वितताकृतेः ॥ १७ ॥
 गुरु उवाच ।
 चिदाकाशमिदं पुत्र स्वच्छं कचकचायते ।
 यन्नाम तज्जगद्भाति जगदन्यत्र विद्यते ॥ १८ ॥
 अस्यैतद्वस्तुनो रूपं चिद्योक्तो वितताकृतेः ।
 रूपमत्यजदेवाच्छं यदित्थमवभासते ॥ १९ ॥
 कचनाकचनं सर्गक्षयात्मास्य निजं वपुः ।
 व्योमात्म शुक्लकृष्णं स्याद्यथावयविनो वपुः ॥ २० ॥
 यथायं त्वं सितोदान्तरेक एवादितः कचैः ।
 तथा ब्रह्मैवमच्छात्म सर्गे सर्गक्षयेऽक्षयम् ॥ २१ ॥

जगतो नाशो नापहोतुं शक्य इति तद्वज्जेन सत्यमेवापातदर्शन-
 प्रसक्तमपहृत्य इति न दोष इत्याक्षयेन गुरुः समाधत्ते—
 नेति । न त्वदुक्तं युक्तम् । यत् इदं जगद्विनश्यत्येव । प्रस-
 क्षादिभिः सावयवेषु नाशप्रसिद्धेः अतो न विद्यत एवेत्यस-
 तोऽस्य भावो नास्तीत्यनुकूलमेतत्कथोक्तमित्यर्थः ॥ ११ ॥
 यद्वस्तुतोऽस्त्येव तर्किचन अभावात् अस्तत् न । तद्भावः
 सद्भावः कथं नाम विनश्यत्यसत्त्वमापद्यते ॥ १२ ॥ आपात-
 दर्शनमात्रेण जगतः सत्ता नावधारयितुं शक्या । बहुना तथा
 दृष्टानां सत्त्वाददर्शनादित्याह—केति । स्थिरः अर्थप्रतिष्ठः ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ भाष्यलसाधने जाग्रत्स्वप्नयोः परस्परं दृष्टान्तभावः
 प्रसिद्ध इत्याह—शाश्यतीति ॥ १५ ॥ बाधितं तु क्व गच्छति
 क्व तिष्ठतीति योगिभिरप्यदर्शनादसत्त्वमेव तस्य धरणविला-
 शयेनाह—यथेति ॥ १६ ॥ यदि नास्त्येव दृश्यं तर्हि दृश्यवे-
 पेण कंचित्कालं परमार्थतः किं वस्तु भाति तदेव बोधोत्तरं
 पुनस्तथा न विभाति च किमर्थमित्यर्थः ॥ १७ ॥ कचकचा-
 यते शुक्तिरिदं सचाकचकचेन रजतमिव स्फुरति ॥ १८ ॥
 अस्यैतदिति । 'द्वे वाच ब्रह्मण्ये रूपे मूर्तं वैशामूर्तं च' इत्यादि-
 श्रुतेरिति भावः ॥ १९ ॥ यथा अवयविनो वपुः अरूपमवयव-
 मेवभिन्नमिव तद्वेद्यर्थः ॥ २० ॥ यथा अयं प्रसिद्धस्त्वं सितो-
 दान्तं सच्योदकस्य इदं सच्योदकः प्रसिद्धो विनश्यतिविनश्ये-

यथा स्वप्ने सुषुप्ते च निद्रैकैवाक्षयानिशाम् ।
 सर्गेऽस्मिन्प्रलये चैव ब्रह्मैकं चित्तिरव्ययम् ॥ २२
 यथा स्वप्ने जगद्ब्रह्मः शान्तं शाम्यत्यशेषतः ।
 तद्वदस्मज्जगदिदं शान्तं शाम्यत्यशेषतः ॥ २३
 तदन्यत्रास्ति खे खाख्यं तथेत्यङ्ग न विशदहे ।
 अशङ्क्यं परखे त्वेतदस्मच्चिद्योनि संभवात् ॥ २४
 यथेहास्मच्चिदाकाशकचनं सर्गसंक्षये ।
 तथान्यत्संविदाकाशं नैवमित्यत्र का प्रमा ॥ २५
 क्षिप्य उवाच ।
 एवं चेत्तद्यथा स्वप्ने द्रष्टुरन्यः स दृश्यधीः ।
 विद्यते तद्वदन्यत्र मन्येऽस्ति जगदादिधीः ॥ २६
 गुरुकवाच ।
 एवमेतन्महाप्राज्ञ स्वरूपं तु न तज्जगत् ।
 चित्ति भाति स्वरूपं तत्तद्वदेव न भाति च ॥ २७
 न भाति न च तत्किञ्चिन्न च तत्किञ्चिदेव सत् ।
 तच्चिदाकाशकचनं के तत्र सदसद्दृशौ ॥ २८
 विद्यते तद्धि सर्वत्र सर्वे सर्वेण सर्वदा ।
 न विद्यते च तत्किञ्चित्सर्वे सर्वत्र सर्वदा ॥ २९
 तत्सत्तत्सर्वदा सर्वमसच्चासद्धि वाखिलम् ।
 तन्मयं तच्चिदाकाशं न नाशि न च नाशि तत् ॥३०
 यन्नाम सच्चिदाकाशं सर्गप्रलयरूपि तत् ।
 तदुःखायापरिज्ञातं परिज्ञातं परः शमः ॥ ३१
 विद्यते सर्वथैवेदं सर्वे सर्वत्र सर्वदा ।

क्षयादेक एव । आदितो हृदप्रवेशात्पूर्वमपि बिम्बप्रतिबिम्बभा-
 दादिभेदकचनेरन्येक एवाक्षयोदयस्तथा ब्रह्मापि सर्गे सर्गक्षये
 चाक्षयोदयमेकमेवेत्यर्थः ॥ २१ ॥ चित्तिः चित्स्वभावमव्ययम-
 विकारि ॥ २२ ॥ यथा स्वप्ने प्रसिद्धं जगज्जाग्रत्सुषुप्तयोः
 शान्तमेव शाम्यति ॥ २३ ॥ बाधितमत एव खाख्यं शून्याख्यं
 तत्स्वप्नं जगदन्यत्र देशान्तरे तथैव विद्यते इति तु बोधदृष्ट्या
 न विशदहे । परेषां पुरुषान्तराणां खे जीवाकाशे स्थास्यतीति तु
 अशङ्क्यं शङ्कानर्हम् । कुतः । अस्मच्चिद्योऽन्येवास्मद्वासनामयस्य
 संभवाद्बाधितदशायापि परच्चिद्योऽत्र प्रसक्तयभावादित्यर्थः
 ॥ २४ ॥ यद्यस्मदनुभवसिद्धसर्गः प्रबोधबाधितः परसंविदा-
 काशं विशेषतदा परस्य प्रबोधेन शुद्धचिदाकाशकचनं नास्तीत्येव
 कल्प्यं स्यात्, तत्र च कल्पकं प्रमाणं नास्तीत्याह—यथेति
 ॥२५॥ एवमुक्तरीत्यास्मत्संविद्विषयः परसंविदि न भाति चेत् स्वप्न-
 द्रष्टुरन्यो जाग्रत्पुरुषो यथा स दृश्यधीर्विद्यते तद्वदन्यत्र प्रत्य-
 काळेऽपि अन्यत्र पुरुषान्तरे जगदाधिधीरस्तीति मन्ये संभा-
 वये ॥ २६ ॥ अभ्युपगमेन गुरुकवाचमाह—एवमेतदिति ।
 अत एव प्रकथेऽप्येन्दवजगत्सद्भावदर्शनं धातुः प्राग्वर्णितमिति
 भावः । यदि जगच्चितः स्वरूपं स्यात्तदा सर्वसाधारणं स्यात्तत्तु
 न, किंतु चित्त्वप्यस्तं भाति तद्द्रष्टृणामन्येषां तद्वदेव न भाति
 चेति तत्तदनुसारेण व्यवस्थितं तत्स्वरूपमित्यर्थः ॥ २७ ॥
 साधारणं न भातीत्यत एव तत्र किञ्चित् तुच्छं न तु किञ्चिदेव
 यो० वा० १९७

न विद्यते सर्वथा च सर्वे सर्वत्र सर्वदा ॥ ३२
 एष देवो घटः शैलः पटः स्फोटस्तटो वटः ।
 तृणमग्निः स्थावरं च अंगमं सर्वमेव च ॥ ३३
 अस्ति नास्ति च शून्यं च क्रिया कालो नभो मही ।
 भावाभावौ भवो भूतिर्नाशाः पाशाः शुभाशुभाः ॥ ३४
 तन्नास्त्येव न यन्नाम नित्यमेकस्तथा बहिः ।
 आदिमध्यमथान्तं तु कालत्रितयमेव च ॥ ३५
 सर्वे सर्वेण सर्वत्र सर्वदेवात्र विद्यते ।
 सर्वे सर्वेण सर्वत्र सर्वदात्र न विद्यते ॥ ३६
 यदैवं राम सर्वात्म सर्वमेवास्ति सर्वदा ।
 ब्रह्मात्मत्वात्त्वप्रसंवित्पुरन्यायेन वै तदा ॥ ३७
 तृणं कर्तुं तृणं भोक्तुं ब्रह्मात्मत्वात्तृणं विभुः ।
 घटः कर्ता घटो भोक्ता घटः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ३८
 पटः कर्ता पटो भोक्ता पटः सर्वेश्वरेश्वरः ।
 दृशिः कर्ता दृशिर्भोक्ता दृशिः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ३९
 गिरिः कर्ता गिरिर्भोक्ता गिरिः सर्वेश्वरेश्वरः ।
 नरः कर्ता नरो भोक्ता नरः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ४०
 प्रत्येकं सर्ववस्तूनां कर्ता भोक्ता परात्परः ।
 अनादिनिघ्नो धाता सर्वे ब्रह्मात्मकं यतः ॥ ४१
 तृणकुम्भादयस्त्वेते स्वया विभुतया विभुः ।
 एवंप्रका स्थिता रूपं यद्विभातः क्षयोदयौ ॥ ४२
 बाह्योऽर्थोऽस्ति स एवेह कर्ता भोक्ता तथाविधः ।
 विद्वानमात्रमेवास्ति कर्तुं भोक्तुं तथाविदाम् ॥ ४३

सत् किंतु तत्तज्जीवचिदाकाशकचनमात्रं तत्र सदसद्दृशौ के
 ॥२८॥ यदि तु चिदाकाशरूपेण विद्यते इत्युच्येत तदा तज्जग-
 त्सर्वेण प्रकारेण सर्वत्र सर्वदा विद्यते । स्वरूपेण तु न किञ्चि-
 त्कुत्रचित्कदाचिदपि विद्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥ यतस्त्रह्मैव
 सदसच्च अतो जगदपि सदसच्च भाति । यतश्चिदाकाशं न
 नाशि अतस्तन्मयं जगच्च न नाशि ॥ ३० ॥ यद्यस्मात्सच्चिदा-
 काशमेव सर्गप्रलयरूपि । तदेवापरिज्ञातं दुःखाय परिज्ञातं तु परः
 शमः । सर्वदुःखक्षय इत्यर्थः ॥३१॥ तच्च यथा परिज्ञानं ज्ञानयोः
 सर्वत्र सर्वदा विद्यते न विद्यते च ॥ ३२ ॥ तस्यैव सर्वरूपेण
 सर्वत्र विद्यमानतां प्रपन्नयति—एष देव इत्यादिना ॥ ३३ ॥
 भवो जन्म ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ब्रह्मभावेन दर्शने तृणा-
 दयः सर्वे पदार्थाः प्रत्येकं सर्वकर्तारः सर्वभोक्तारः सर्वेश्वरा-
 श्वेतदपि प्रपन्नयति—ब्रह्मात्मत्वादित्यादिना ॥ ३७ ॥
 सर्वेषामीश्वराणामिन्द्रादीनामीश्वरः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 सर्ववस्तूनां प्रत्येकमेकं वस्तु कर्ता भोक्ता परात्परः श्रेष्ठादपि
 श्रेष्ठः ॥ ४१ ॥ स्वया प्रत्यगात्मरूपया । यद्यस्मिन् रूपे क्षयो-
 दयौ विभातस्तदर्थं सर्व रूपमेवंरूपा विभुतैव स्थिता ॥ ४२ ॥
 उक्तेऽर्थे वादिनामनुभवं संवादयति—बाह्योऽर्थ इति । येषां
 बाह्यो विद्वानातिरिक्तोऽर्थोऽस्ति तेषां स एव कर्ता भोक्तव्यः ।
 यथा वैशेषिकसौत्रान्तिकादीनाम् । येषां तु वादिनां विद्वान-
 मात्रमेवास्ति तथाविदां तेषां तदेव कर्तुं भोक्तुं च ॥ ४३ ॥

न कश्चिच्चैव कर्तेह न च भोक्ता तथाविद्याम् ।
कश्चिदीश्वर एवेह कर्ता भोक्ता तथाविद्याम् ॥ ४४
सर्वमेव पदे तस्मिन्संभवत्युत्तमोत्तमे ।
विषयः प्रतिषेधाच्च के ते सन्ति न सन्ति के ॥ ४५
शुद्धे द्रष्टे चिद्योम इत्यतामिव भावयत् ।
स्वमात्मानं जगदिति पश्येत्सिद्धेदनामयम् ॥ ४६

सर्वा इतो विधिविषेधदृशाश्च सर्वाः
संकल्पवेदनविशेषसशेषपूर्वाः ।
सत्यात्मिकाः सततमेव न वैध सत्या
रूपं यथानुभवमत्र यतः स्वरूपम् ॥ ४७
इति त्वया शिष्यतया मदन्तिका-
कृतं पुरा तेन न चासि बुद्धवान् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० प्राक्नरामशिष्यत्वोपाख्यानं नाम त्रयोदशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥२१३॥

ततोऽनुभूयाम्यजगद्भवाद्भवा-
निहाय जातोऽसि तदेव पृच्छसि ॥ ४८
ज्ञानं सदेतदखिलं धृतमुत्तमं चि-
त्संसारदीर्घरजनीसितरदिमिम्बम् ।
जातस्त्वमभ्युदयवानमलैकबोध
उत्सार्य मोहमनुसिष्ठ यथागतं त्वम् ॥ ४९
तिष्ठंस्तदात्मनि परे विमलस्वभावे
सर्वात्मके तपति सर्वपदार्थमुक्तः ।
निर्वाणशान्तमतिरम्बरकोशकान्तो
धर्मेण राज्यमनुपालय तीर्णतृष्णः ॥ ५०

चतुर्विंशतिशततमः सर्गः २१४

श्रीवासिष्ठोऽब्रवीत् ।
इत्युक्तवत्यथ मुनौ नमसो ननाद्
वर्षानृताम्रमिव दुन्दुभिरामरो द्राक् ।
शुक्लीकृतान्खिलककुम्भदना तुषार-
वर्षोपमा भुवि पपात च पुष्पवृष्टिः ॥ १

ग्रन्थवादिनां तु तदेवेत्याह—न कश्चिदिति । पाशुपतादीनां
कश्चित्प्रक्रियाप्रसिद्ध ईश्वर एव कर्ता भोक्ता च ॥ ४४ ॥
एवं मतमेवेति न वादिनां मध्ये कस्यचिदप्यसंभवदर्शनादित्वं
यतस्त्वसिद्धुत्तमोत्तमे सर्वत्र सर्वशक्तिमति सर्वात्मके पदे
सर्वमपि संभवति । तस्मिन्पदे सर्वतत्तद्वाच्यभिमतताः परस्पर-
विलक्षणताः पदार्थप्रक्रियासाधनानुष्ठानफलादिविधयः परस्पर-
कृतास्वप्रतिषेधाच्च सर्वेऽप्यविरोधेनासंकीर्णाः संभवन्ति ।
तत्तद्बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्ये वरशापन्यायेन यथास्वसंकल्पनं व्यव-
स्थितविवर्तसंभवात् ॥ ४५ ॥ तत्र तत्र चिद्योम शुद्धे स्वात्मनि
तत्तद्वासनानुसारिदृश्यतामिव भावयत्सत् द्रष्टेव भूत्वा स्वमा-
त्मानं सादृशं जगदिति पश्यत्तत्र वस्तुतोऽनामयमेव तिष्ठत्,
स्थातुं शक्तमित्यर्थः ॥ ४६ ॥ हे राम, सर्वेषां जीवानां सर्वाः
स्वस्वानुभवसिद्धाः पदार्थादिदृशाः सर्वाः परस्परविलक्षणविधि-
निषेधदृशाश्च यस्मात्तत्संकल्पतत्तद्वेदनविशेषतत्तदनुभवशेष-
वासनासहिततत्तत्कामकर्मपूर्विकास्वस्मात्तत्तद्व्यवहारे सततमेव
तत्तदर्थक्रियासमर्थत्वात्सत्यात्मिकाः परदृशा तु प्रतीतेरेवाभा-
वाच्च नैव सत्याः शाश्वत्प्रकल्पाः । यतः प्रत्यगात्मरूपं यथा-
नुभवमेव जगद्रूपं घते इति शेषः ॥ ४७ ॥ हे राम, पुरा
पूर्ववृत्ते त्वया शिष्यतया स्थित्वा पुरोमेव अन्तिकत्वात् इति
एवंवर्णितरूपमुपदेशनं धृतं तेनोपदेशेन त्वं तदा न चासि
बुद्धवान् । ततस्त्वदनन्तरमणोधदोषादेव पुनर्भवान् पुनर्म-
वादन्यजगदनुभूय अयास्मिन्नेतायुगे इह दशरथगृहे जातोऽसि ।
तदेव प्राप्त्वा प्रति पृष्टमवापि मां पृच्छसि ॥ ४८ ॥ अत्रापि
त्वया बुद्धवत्तत्तत्तमं सत् परमार्थवस्तुगोचरमत एव

किञ्चिज्जालदिवसान्तधनाङ्गरागा
घातावधूतसितकेसरगौरहारा ।
पुष्पोदरोत्थमृदुसीकरशीतलाङ्गा
प्राप्ता स्वयं सुरपुरादिषु पुण्यलक्ष्मीः ॥ २

संसारलक्षणाया दीर्घरजन्यास्तापतमोनिवर्तकत्वात्सितरश्मेः पूर्ण-
चन्द्रस्य विम्बमिव स्थितं ज्ञानमखिलं समग्रं धृतं तेन त्वं
मोहमज्ञानमुत्सार्य निरतिशयानन्दरूपपरमपुरुषार्थकाभाभ्युद-
यवान् अमलैकबोधरूपो जातः, एवं कृतकृत्यस्त्वमतः परे यथा-
गतं व्यवहारपरंपराप्राप्तं स्वराज्यपरिपालनादिकमनुसिष्ठ ॥ ४९ ॥
हे राम, त्वं विमलस्वभावे तपति सर्वतः प्रकाशमाने सर्वात्मके
आत्मनि सर्वदृश्यपदार्थमुक्तसिद्धसन् निर्वाणो निरतिशयान-
न्दममोऽत एव शान्ता मतिर्यस्य तथाविधः सन्नम्बरकोशमिव
कान्तो मनोहरस्तीर्णतृष्णः सन् धर्मेण राज्यमनुपालयेत्यन्ते
मङ्गलार्थमाशीः ॥ ५० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतार्ष-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे प्राक्नरामशिष्यत्वोपाख्यानं
नाम त्रयोदशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २१३ ॥

उपदेशप्रशंसात्र श्रोतॄणां कृतकृत्यता ।

विष्णुश्च मानुषध्वान्ते षण्यते सुमहोत्सवः ॥ १ ॥

महतः शास्त्रस्यान्ते देवेमैनुष्यैश्च कृतं पुरुद्विजसुरपितृसज्जन-
पूजनमहोत्सवलक्षणं मङ्गलं वर्णयिष्यन्वात्मकीकरुषाच्च—इती-
त्यादिना । मुनौ वसिष्ठे इति वाक्यमुक्तवति सति अथ आमरः
अमरसंबन्धी दुन्दुभिर्वर्षार्थममृतेन पूर्णमम्रमिव ननाद् ।
शक् सद्यः शुक्लीकृतान्खिलानि ककुम्भदनानि दिक्षुस्त्वानि
यथा अत एव तुषारवर्षोपमा पुष्पवृष्टिश्च भुवि पपात ॥ १ ॥
सा च पुष्पवृष्टिः किञ्चिज्जालान्येव दिवसान्तधना इव शोणः
अङ्गरागो यस्याः । तथा पुष्पोदरोत्था सृष्टवः सीकरा एव
शीतलान्यङ्गानि यस्याः । घातावधूताः सिताः केसरा एव
गौरा हाराः अस्मात्तज्जानिधा । सुरपुरात्स्वयमेवोत्सवदर्शनाय

कल्पान्तकालकविकम्पितशुष्कशाखा-
 त्स्वर्गद्रुमात्पतितमाशु विडम्बयन्ती ।
 तारागणं प्रथितभासमनल्पहास-
 माशामुखप्रसृतभैरवमम्बरस्था ॥ ३
 सा पुष्पवृष्टिरथ दुन्दुभिनादगर्ज-
 त्किञ्जल्कपुञ्जलदा शममाजगाम ।
 आपूरिताखिलसभा हिमहारिपुष्प-
 पूरेण कौतुकविकासकरीक्षणेन ॥ ४
 तानि दिव्यानि पुष्पाणि यथास्थानमधःस्थिताः ।
 वसिष्ठाय नमस्कृत्वा सभ्याः संशोकितां जडुः ॥ ५
 दशरथ उवाच ।
 अहोऽनुसुविशात्मानः संसारवितताकृतेः ।
 विश्रान्ताः सखिरं भ्रान्ताः शुद्धा मेघा इषाचले ॥ ६
 कर्मणामवधिः पूर्णो दृष्टः सीमान्त आपदाम् ।
 ज्ञातं ज्ञेयमशेषेण विश्रान्ताः स्मः परे पदे ॥ ७
 ध्यानलब्धपरव्योमधिरानुभवमभ्रमैः ।
 धारणाधारविश्रान्त्या देहसंत्यजनकमैः ॥ ८
 संकल्पनवनिर्माणैः स्वप्नदृष्टिजगज्ज्वरैः ।
 शुक्तिरूप्यानुभवनैः स्वप्नप्रमृतिदर्शनैः ॥ ९
 अनन्यैः पथनस्पन्दैरनन्यैः सलिलद्रवैः ।

भुवं प्राप्ता पुष्पलक्ष्मीरिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा ॥ २ ॥ पुनः कीदृशी
 सा पुष्पवृष्टिः । कल्पान्तकाललक्षणो यः कपिर्मर्कटस्तेन कम्पिताः
 शुष्काः कल्पद्रुमशाखा दिक्पालपुरलोकमेदरूपशास्त्राश्च यस्य
 तथाविधास्वर्गरूपाद्रुमादाशु पतितं आशामुखेषु झटिति पात-
 नाच्च प्रसृतो भैरवः संहारस्तो यस्य तथाविधं प्रथितभासं
 तारागणमम्बरस्था सतीत्यनल्पहासं यथा स्यात्तथा विडम्बयन्ती
 तारागणप्रथितहासं भैरवं च विडम्बयन्तीति वा उत्प्रेक्षा ॥ ३ ॥
 दुन्दुभिनादगर्जनं किञ्जल्कपुञ्जलक्षणे जलदो मेघो यस्यास्त-
 थाविधा हिमवत् हरिणा मनोहरणपुष्पपूरेण पुष्पप्रवाहेण
 आपूरिता अखिला सभा यथा तथाविधा अत एव ईक्षणैः
 दर्शनेन कौतुकविकासस्य आनन्दविस्तारस्य करी सा पुष्पवृष्टिः
 अथ शममाजगाम । ईक्षणेन द्रष्टृजननेत्रेण सह कौतुकविका-
 सकरीति वा, क्षणेन शममाजगामेति वा योज्यम् ॥ ४ ॥
 यथास्थानमिति । सर्वोन्नतस्थाने वसिष्ठस्तत्संनिहिते मुनयस्त-
 त्संनिहिते दशरथरामादयस्तत्संनिहिते मन्त्रिसामन्तास्तर्वाङ्-
 नैमगाः प्रजापत्यैश्च क्रमेणाधःस्थिताः सभ्यास्तामि दिव्यानि
 पुष्पाभ्युपादाय वसिष्ठवरणे पुष्पाङ्किकं दत्त्वा वसिष्ठाय नम-
 स्कृत्य पुष्पसौरभशोत्यादिसंपर्कास्त्रेददीर्गन्ध्यादिसंशोकितां रोम-
 क्षुत्पाभमादिप्रयुक्तशोकवशां जन्ममरणादिसर्वशोकवशां च
 जडुस्तदुवाच ॥ ५ ॥ संसाररक्षणार्थितताकृतेरसिद्धीर्थात्कान्ता-
 राखिरं भ्रान्ता इत्येव त्वदनुग्रहोपदेशात् शुद्धिः शुद्धेन प्रवेष्टुं
 शक्य आत्मा येषां तथाविधाः सन्तस्तस्मिन्नेवास्मिन् चिरं
 विश्रान्ताः स्मः । अहो इत्यादि । यथा शुद्धा चाञ्चकार्यनि-
 र्मुक्त्यः स्वप्नेषां जपके हिमवदारो विश्रान्त्यन्ति तद्वत् ॥ ६ ॥

इन्द्रजालपुरापुरैर्गन्धर्वनमरोत्करैः ॥ १०
 मायापूर्णपुराभोगैर्गृगृष्णानदीरवैः ।
 आयतौ पवनस्पशैर्द्विध्वन्द्रानुभवोदयैः ॥ ११
 मदभ्रंशपुरस्पन्दैर्मुधा त्वचनिकम्पनैः ।
 बालयक्षाद्यनुभवैः स्वकेशोष्कदर्शनैः ॥ १२
 एवमादिभिरन्यैश्च दृष्टान्तैः स्वानुभूतिद्वैः ।
 अहो नु मार्जिता दृश्यदृष्टिर्भगवता मम ॥ १३
 श्रीराम उवाच ।
 नष्टो मोहः पदं प्राप्तं त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर ।
 संपन्नोऽहमहं सत्यमत्यन्तमवदातधीः ॥ १४
 स्थितोऽस्मि गतसंदेहः स्वभावे ब्रह्मरूपिणि ।
 निराधरणविज्ञानः करिष्ये धन्यं तव ॥ १५
 स्मृत्वा स्मृत्वाऽमृतासेकसौख्यं वचनं तव ।
 अर्हितोऽपि च शास्तोपि हृष्यामीव मुहुर्मुहुः ॥ १६
 नैव मेऽद्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
 यथा स्थितोऽस्मि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरः ॥ १७
 उपायस्तु तथा तेन दृष्टिर्वास्तीह कीदृशी ।
 अहो नु वितता भूमिः कष्टमेतादृशी दशा ॥ १८
 न शत्रुर्न च मित्रं मे न क्षेत्रं दुर्जनो जनः ।
 दुर्बाधैवा जगत्क्षुब्धा शान्ता सर्वार्थसुन्दरी ॥ १९

किंचास्माकं कर्मणां पुरुषार्थसिद्धये अवश्यकर्तव्यानामवधिः
 पूर्णः । कृतकृत्यतासंपन्न इत्यर्थः । आपदां च सीमान्तः परमाव-
 धिरदृष्टः । तत्कृतस्तत्राह—ज्ञातमिति ॥ ७ ॥ सर्वेषां तृतीयान्त-
 पदानां बह्वश्लोके एवमादिभिरन्यैश्च दृष्टान्तैर्दृश्यदृष्टिर्माजितेत्य-
 त्रान्वयः । ध्यानेन लब्धं कल्पितं परमन्यद्योम तत्र चिरं
 विहारयानुभवमभ्रमैर्ललोपाख्यानादौ प्रदर्शितैः भारणया सर्वा-
 धारे ब्रह्मणि विश्रान्त्या देहसंत्यजनकमोऽपि लीलाया वर्णित
 एव ॥ ८ ॥ स्वप्ने आत्मनः स्वस्य मृतिदर्शनैर्हरिध्वन्द्रादौ
 प्रसिद्धैः ॥ ९ ॥ १० ॥ मायया प्रदर्शितजलपूर्णपुराभोगैः ।
 आयतौ सर्वोत्तरकाळे प्रलये वर्णितेष्वण्डपवनस्पशैः ॥ ११ ॥
 मदाश्रित्वेकभ्रंशे प्रतीयमानैः पुरस्पन्दैः । मुधा उत्पातादिना
 शुभाशुमसूचनं विनैव भ्रान्त्या प्रतीतैरवनिकम्पनैः । खे
 केशोष्कदर्शनैः ॥ १२ ॥ १३ ॥ सत्यं ब्रह्मैव संपन्नः ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ अर्हितः पूजितः । अपि चेत्प्रनेनापमानितश्च सम-
 दर्शनेन हर्षविषादानुदयाच्छान्तोऽप्यहं हृष्यामीव ॥ १६ ॥
 यथा पूर्वं व्यवहारे स्थितोऽस्मि तथैव सांप्रतं तिष्ठामि । विगत-
 ज्वरो व्यवहारप्रसक्तसंतापछून्यः ॥ १७ ॥ तेन त्वद्वचनेन
 यादृशो विश्रान्त्युपायो लब्धस्तथा उपायस्तु कोऽन्यः स्यादृ-
 ष्टिर्वा अन्या कीदृशी स्यात् । अहो नु वितता अपरेच्छिन्ना
 विश्रान्तिपुष्पभूमिर्मेया आसाविता, एतादृशी जन्ममरणा-
 यन्तानर्थासंकुलसंसारदशा अहो नु कष्टं प्राणिनामित्यर्थः
 ॥ १८ ॥ मम नु दुःखनिमित्तानि कान्यपि न सन्तीत्याह—
 न शत्रुरिति । क्षेत्रं शरीरं बाधं च । जनः दुजनः । एवा

कथमेतां जनो वेत्ति विना भवदनुग्रहम् ।
विनैव सेतुं पोतं वा बालोऽग्निं लङ्घयेत्कथम् ॥ २०

लक्ष्मण उवाच ।

जन्मान्तरोपचितसंशयनाशनेन
जन्मान्तरोपचितपुण्यशतोदितेन ।

जातोऽद्य मे मुनिवचःपरिबोधनेन

जातोऽद्य मे मनसि चन्द्र इव प्रकाशः ॥ २१

ईदृश्यां दृश्यमानायां दृशि दोषदशाशतैः ।

काष्ठवह्न्याते लोकः स्वदुर्भगतया तथा ॥ २२

विश्वामित्र उवाच ।

अहो बत महत्पुण्यं श्रुतं ज्ञानं मुनेर्मुखात् ।

येन गङ्गासहस्रेण ज्ञाता इव वयं स्थिताः ॥ २३

श्रीराम उवाच ।

संपदामथ दृष्टीनां शास्त्राणामापदां गिराम् ।

देशानामथ दृष्टानां दृष्टः सीमान्त उत्तमः ॥ २४

नारद उवाच ।

यत्र श्रुतं ब्रह्मलोके स्वर्गे भूमितले तथा ।

कर्णौ तज्ज्ञानमाकर्ण्य यातौ मेऽद्य पवित्रताम् ॥ २५

लक्ष्मण उवाच ।

हार्दं बाह्यं च तिमिरमपमृष्टवता त्वया ।

मुने परमभानुत्वं नूनं नः संप्रदर्शितम् ॥ २६

शत्रुघ्न उवाच ।

निर्वृतोऽस्मि प्रशान्तोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि परमं पदम् ।

चिराय परिपूर्णोऽस्मि सुखमासे च केवलम् ॥ २७

स्वात्मचिदेव यावदुर्बोधा तावत्कुण्ठा दुःखदा जगद्भूत्, इदानीं

तु बाधात् शान्ता सर्वार्थसुन्दरी संपत्तेत्यर्थः ॥ १९ ॥ हे

भगवन्, त्वदनुग्रहं विना एतां दृष्टिं जनः कथं वेत्ति ॥ २० ॥

जन्मान्तरेऽप्यनन्तजन्मसूपचितदुर्वासनाप्रयुक्तसंशयानां नाश-

नेन तथा जन्मान्तरोपचितानां पुण्यशतानामुदयो बोधफलो-

न्मुखता येन तथाविधेन मुनिवचःकृतेन प्रतिबोधनेन जातो

विचारोद्यमो अस्मिन्स्वथाविधे मे मनसि अद्य चन्द्र इव परमा-

हादकारी परमात्मप्रकाशो जात इत्यर्थः ॥ २१ ॥ ईदृश्यां

निरतिशयानन्दप्रकाशरूपायामात्मदृशि भवाद्दशमहाभवावोप-

देशाजित्यापरोक्षतया दृश्यमानायामप्ययं लोको जनस्तथा

प्रसिद्ध्या स्वदुर्भगतया दौर्भाग्यवशेन महत्सेवाशुभ्रूपादिहीनः

सन् रागद्वेषाहंकारजन्ममरणादिदोषदशाशतैः काष्ठवह्न्यानिर्वा-

दह्यते तदाश्चर्यमित्यर्थः ॥ २२ ॥ बतेति हर्षं । साम नो बसे-

तिवत् ॥ २३ ॥ संपदामुत्कर्षे सीमान्त आत्मा निरतिशय-

यानन्दरूपत्वात् । दृष्टीनां सीमान्त आत्मदृष्टिः एकविज्ञानेन

सर्वविज्ञानात् । शास्त्राणां सीमान्तोऽध्यात्मशास्त्रं चरमप्रमाण-

त्वात् । पशुपुत्रधनादिनाशलक्षणानामापदां सर्वसंसारनाशः

सीमान्तो यदुत्तरमन्यो नाशो नास्ति । काव्यरसालंकारादिशा-

लिनीनां गिरां वसिष्ठोक्तिः सीमान्तः । दृष्टानां सुखविभ्रान्ति-

हेतूनां प्रासादारामगिरिनदीपुलिनाविदेषानां परमात्मदेहः

परमविभ्रान्तिहेतुत्वात्सीमान्तो दृष्ट इत्यर्थः । सर्वत्र परमात्मैव

दशरथ उवाच ।

बहुजन्मोपलब्धेन पुण्येनायं मुनीश्वरः ।

धीरः कथितवाग्मस्तद्येन पावनतां गताः ॥ २८

धीषाल्मीकिरुवाच ।

इति तेषु वदत्स्वत्र सभ्येषु सह भृशता ।

वसिष्ठः स उवाचेदं ज्ञानपावनया गिरा ॥ २९

राजन् रघुकुलैकेन्दो यदहं वच्मि तत्कुरु ।

इतिहासकथान्ते हि पूजनीया द्विजातयः ॥ ३०

तदद्य ब्राह्मणौर्धास्त्वं सर्वकामैः प्रपूरय ।

वेदार्थसमनुष्ठानफलं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ३१

मोक्षोपायकथावस्तुसमाप्तौ द्विजपूजनम् ।

शक्तिः कीटकेनापि कार्यं किमु महीभृता ॥ ३२

इति मौनं वचः श्रुत्वा सहस्राणि नृपो दश ।

दूतैराकारयामास द्विजानां वेदवादिनाम् ॥ ३३

मथुरायां सुराष्ट्रेषु गौडेषु च वसन्ति ये ।

तेभ्यः कुलेभ्यः सोऽभ्यर्च्य समानीय द्विजन्मनाम् ॥

अधिकात्यधिकज्ञानप्रकृतद्विजभोजनः ।

तदा दशसहस्राणि भोजयामास भूपतिः ॥ ३५

यथाभिमतभोज्यान्नदानदक्षिणया तथा ।

एवं संपूज्य तान्विप्रान्पितृन्देवाष्टुपांस्तथा ॥ ३६

पौरामात्यांस्तथा भृत्यान्दीनान्घृपणांश्च तान् ।

तस्मिन्दशरथो राजा दिने सह सुहृज्जनैः ॥ ३७

लब्धसंसृतिसीमान्तश्चकारोत्सवमुत्तमम् ।

तथा नृपगृहे तस्मिन्कौशेयमणिकाञ्चने ॥ ३८

वा परमसीमान्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ परमं प्रसिद्धमा-

न्वपेक्षया उत्कृष्टं भानुत्वम् ॥ २६ ॥ २७ ॥ नः अस्मभ्यं

तत्परमपावनं वस्तु शास्त्रं वा कथितवान् । येन पावनतां गता

वयमिति शेषः ॥ २८ ॥ २९ ॥ इदानीं धीवसिष्ठो 'मङ्गलादीनि

मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकण्ठ्या-

युष्मत्पुरुषकाणि च भवन्ति अध्येतारश्च मङ्गल्युक्तं यथा स्युः'

इति महाभाष्ये भगवत्पतञ्जलिनादाहृतां श्रुतिमनुस्य निर्विघ्नं

समाप्तस्य महतः शास्त्रोक्तफलसिद्धये ब्राह्मणदेवपितृसुजनपूजो-

त्सवादिमङ्गलमौचित्यज्ञापनमुखेनाज्ञापयति—राजकित्यादिना ।

पूजनीया इति विधौचित्ययोः कृत्यः ॥ ३० ॥ वेदार्थः

प्रकृते अवगणविध्यर्थस्तस्य सम्यगनुष्ठानं साज्ञतया निष्पादनम् ।

श्रवणविधेः काम्यविधितया साज्ञानुष्ठानादेव फलसिद्धेरिति

भावः ॥ ३१ ॥ कीटकेन कीटकवदनादराहैण दृष्टिरेणापि

कार्यमित्यर्थः ॥ ३२ ॥ मुनिना प्रोक्तं मौनं वचः । पूर्वाज्ञायाः

शिरसा धारणीयत्वान्मौनं निरुत्तरं यथा स्यात्तथा श्रुतेति वा

॥ ३३ ॥ कुलेभ्यः कुलश्रेष्ठेभ्यः पृथक्पृथक्समुदितेभ्यश्च ॥ ३४ ॥

अधिकेभ्योऽप्यत्यधिकं ज्ञानं येषां तत्प्रकृतं तानुपकम्य प्रवृत्तं

द्विजभोजनं येन ॥ ३५ ॥ पितृन् ब्राह्मणादिना । देवा-

न्माल्यमोदकोपहारादिना इष्ट्यादिना च । नृपान्यानराजादिना

॥ ३६ ॥ सुहृज्जनैः सह उत्सवं चकारोत्सवसुत्तरान्त्वयः ॥ ३७ ॥

लब्धः संसृतिसीमान्तो येन । अत्रापि सुहृ सुहृजनैरिति

भूषिते नगरे चैव गीर्वाणनगसुन्दरे ।
 ननृतुर्मत्सकामिन्यो विलासिन्यो गृहे गृहे ॥ ३९
 लसद्वंशलताकांस्यवीणामुरजमर्दलम् ।
 ताण्डवेनोद्धतारावमन्योन्येतरशेखराः ॥ ४०
 क्षुब्धीकृतापणकरभ्रान्तिपल्लविताम्बराः ।
 मुग्धाद्दृष्टासविक्षिप्तदन्तेन्दुकिरणच्छटाः ॥ ४१
 मदाकुलितहुंकारा लीलासु तरलस्रराः ।
 एकपादतलाघातहेलाहृतधरातलाः ॥ ४२
 झग्दामतारविगलत्कुसुमासारपाण्डुराः ।
 धारापातितविच्छिन्नहारमुकास्खलत्पदाः ॥ ४३
 लोलाभरणसाकारं कामं ननृतुरङ्गनाः ।
 पेदुः स्फुटपदं विप्रा बन्दिनोऽप्यङ्गनाश्च ताः ॥ ४४
 इत्याद्यं श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भो० नि० उ० महोत्सववर्णनं नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१४ ॥

पपुदस्ताण्डवं पानं पानपा मदशालिनः ।
 भोज्यं बुभुजिरे चित्रं भूषिता भोजनार्थिनः ॥ ४५
 सुधादिपरिलेपेन रञ्जिता गृहभित्तयः ।
 रेजु रामेन्दुभानेन पुष्पधूपविलेपनैः ॥ ४६
 वासांसि वसिताश्चित्राण्युत्तमशङ्खिभूषणाः ।
 चेरुः परिचराश्चेत्यभ्यारुगन्धा नृपाध्वरे ॥ ४७
 देहयष्टिषु संयोज्य वनिता यक्षकर्दमम् ।
 जग्मुस्ताण्डवनर्तक्यः शृङ्गारात्माङ्गणान्तरम् ॥ ४८
 भवबहुलनिशावसानहर्षा-
 दिति घनमुत्सवमेव ससरात्रम् ।
 दशरथनृपतिः सदानभोग-
 श्रियमकरोत्पदमक्षयं समेतः ॥ ४९

पञ्चदशाधिकद्विशततमः सर्गः २१५

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

भरद्वाज महाबुद्धे मम शिष्याधिनायक ।
 इति रामादयो ज्ञातव्येया निःशोकतां गताः ॥ १
 एतामेव दशं कान्तामवष्टभ्य यथासुखम् ।
 नीरागस्तिष्ठ निःशङ्को जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥ २
 धीरनभ्यस्तसङ्गा हि रामादीनामिवानघ ।
 घनमोहनिमग्नापि विमूढापि न मुह्यति ॥ ३

योजनीयम् ॥ ३८ ॥ गीर्वाणनगो मेरुः कल्पद्रुमश्च तद्वत्सुन्दरे
 ॥ ३९ ॥ वंशलतात्र मुरली । क्रियाविशेषणे द्वे । ता नर्तकीर्व-
 र्णयति—अन्योन्येत्यादिना । अन्योन्येतरं परस्परविलक्षणं यथा
 स्यात्तथा चिकुरवन्धनान्कारमेदादिना रचिताः शेखरा यासाम्
 ॥ ४० ॥ क्षुब्धीकृतानामितस्वतश्चालितानामापणानां विविधा-
 भिनयव्यवहारवतां कारणां भ्रान्तिभिः परितः पल्लवितमिवा-
 म्बरमाकाशं बलं च यासाम् । हास्यरसाभिनये मुरधरदृष्टासै-
 विक्षिप्ताः परितः प्रक्षिप्ता दन्तेन्दुकिरणच्छटा याभिः ॥ ४१ ॥
 वीररसाभिनये मदाकुलितहुंकाराः । करुणामृतादिरसाभिनय-
 लीलासु तरलस्रराः । शृङ्गारमानस्यभिनये एकपादत-
 लाघातेन हेल्या इतं ताडितं धरातलं याभिस्त्याः ॥ ४२ ॥
 शृङ्गारकोपायभिनये झग्दामविधूतनेन तारैर्नक्षत्रैरिव विग-
 लद्भिः कुसुमासारैः पाण्डुरा जलधारा इव पातिता ये विच्छिन्ना
 हारास्तेषु देवात्पदन्यासैः स्खलत्पदाः ॥ ४३ ॥ लोलैरभरणैः
 साकारं कामं दर्शयन्त्य इवेति शेषः । साकारं कृत्रिमाकारस-
 हितं यथा स्यात्तथा कामं यथेच्छं ननृतुरिति वा । पेदुर्गथा-
 क्रमं वेदस्तवगीतानि ॥ ४४ ॥ तेषु पानपा अविप्राः पानं
 मध्यासवं पपुः । विप्रादयस्तु भोजनार्थिनो भोज्यं भोजनार्हं
 चित्रं नानामध्यादिवैचित्र्ययुक्तं चतुर्विधमज्ञं बुभुजिरे ॥ ४५ ॥
 रामलक्षणसेन्दोर्भानेन देहप्रभाचन्द्रिकया पुष्पधूपविलेपनैश्च
 रेजुः ॥ ४६ ॥ नृपस्य अध्वरे उत्सवमज्ञे ॥ ४७ ॥ कर्पूरापु-

पद्यमेते महासत्त्वा जीवन्मुक्तपदं गताः ।
 राजपुत्रा राघवाद्या राजा दशरथादयः ॥ ४
 त्वं च पुत्र भरद्वाज स्वयमेवासि मुक्तधीः ।
 सत्यं मुक्ततरोऽस्यश्च श्रुत्वेमां मोक्षसंहिताम् ॥ ५
 मोक्षोपायानिमान्पुण्यान्प्रत्यक्षानुभवार्थदान् ।
 बालोप्याकर्ण्य तज्जन्त्वं याति का त्वादृशे कथा ॥ ६

कस्तूरीकङ्कालैः समं घृष्टं चन्दनं यक्षकर्दमस्तं देहयष्टिषु संयोज्य
 विलिप्य ताण्डवनर्तक्यो वनिताः शृङ्गारात् अलंकृतमङ्गणा-
 न्तरं राजसमाङ्गणमध्यं जग्मुः ॥ ४८ ॥ दशरथनृपतिः भक्षयं
 ब्रह्मपदं प्रपन्नः सन् भवः संसारस्तल्लक्षणा या बहुलनिशा
 कृष्णपक्षरात्रिस्तस्य अवसानं बोधसूर्योदयेन नाशस्तत्प्रयुक्तात्
 हर्षात् ससरात्रं इति वर्णितप्रकारं सदानभोगश्रियं दानभोग-
 शोभासहितं घनमुपचितमुत्सवमेवाकरोत् ॥ ४९ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महोत्सव-
 वर्णनं नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१४ ॥

रामादिवत्पण्डितस्त्वं जीवन्मुक्तः सुखी वस ।

इति वाल्मीकिना शिष्यो भरद्वाजोऽत्र शिष्यते ॥१॥

इति अनया वर्णितया रीत्या रामादयो निःशोकतां गताः
 प्राप्ताः ॥ १ ॥ त्वमपि एतामेव पूर्णब्रह्मात्मदशमवष्टभ्य
 दृढमाभित्य तिष्ठ ॥ २ ॥ इदं च मनुपदिष्टं ज्ञानं दुःसङ्गेन
 भोगासङ्गाभ्यासेन च यथा न नश्यति तथा रक्षेत्याशये-
 नाह—धीरिति ॥ ३ ॥ दशरथादयो राजानः । सुपां सुल्लगिति
 जसश्छान्दसो ङादेशः ॥ ४ ॥ स्वयं स्वविचारेणैव रामवत्पूर्वं
 मुक्तधीरसि । अथ तु इमां मोक्षसंहितां श्रुत्वा मुक्ततरोऽसि ।
 संभावितसर्वेष्टाङ्गापङ्कशालनादिति भावः ॥ ५ ॥ दृष्टपरमपु-
 रुषार्थफलत्वादस्य शास्त्रस्य सर्वशास्त्रेभ्योऽभ्यर्हिततमत्वं मन्दा-
 धिकारिष्वप्यभ्यासे फलोपधानसमर्थत्वं च दर्शयति—मोक्षो-
 पायानिति । त्वादृशे मुख्याधिकारिणि फलोपधाने का कथा

यथा पदं पुण्यमनुप्रयाता
महानुभावा रघवो विशोकाः ।
वसिष्ठवाक्यप्रसरेण साधो
गन्तव्यमाद्यं पदमेवमेव ॥ ७
सतां नयेनोत्तमसेवया च
प्रभेन चोदारकथागतैः ।
विन्दन्ति वेद्यं सुधियोऽप्रमत्ता
वसिष्ठसङ्गादिव राघवाद्याः ॥ ८
तृष्णावरत्राहृदबन्धवद्वा
ये ग्रन्थयोऽस्य हृदि प्ररूढाः ।
सर्वे हि ते मोक्षकथाविचारा-
द्वाला छाबाला इव यान्यमेवम् ॥ ९
मोक्षाभ्युपायान्सुमहानुभावान्
ज्ञास्यन्ति ये तत्त्वविदां वरिष्ठाः ।
पुनः समेष्यन्ति न संसृतिं ते
कोऽर्थः सुताऽन्येन बहुदितेन ॥ १०
बहुश्रुता ये प्रविचार्य सम्य-
कप्रबोधितार्थे कथया जनाय ।

॥ ६ ॥ हे साधो, यथा वसिष्ठवाक्यानां हृदि प्रसरेण सर्वसं-
शयसहिताज्ञाननाशान्महानुभावा रघवो रामादयः पुण्यं जीव-
न्मुक्तपदमनुप्रयाताः सन्तो विशोकाः संपन्ना एवमेव त्वयाप्यार्थं
नित्यसिद्धब्रह्मावलक्षणं जीवन्मुक्तपदं गन्तव्यं विशोकेन च
भाव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥ तत्प्राप्तावन्येषामपि सत्सङ्गसेवाप्रधा-
दिरैवोपाय इत्याह—सतामिति । नयेन शिक्षणेन उत्तमया
लोभालस्यनिश्चादित्यागसहितया सप्रेमनिरन्तरसेवया । उदा-
राभिर्बोधोपायभूताभिः कथाभिराख्यायिकाभिः संगतेन
तदुपदेशेन सुधियोऽधिकारिणो वेद्यमात्मतत्त्वं विन्दन्ति
लभन्ते । अप्रमत्तास्तदेकासकाश्चेत् । यथा वसिष्ठसङ्गादाववा
अभिरंस्तद्वित्यर्थः ॥ ८ ॥ तृष्णालक्षणाया वरत्रायाश्चर्मरज्ज्वा
हृदबन्धवद्वा अज्ञस्य हृदि प्ररूढा ये देहेन्द्रियादितादात्म्यसंस-
र्गाध्यासरूपा ग्रन्थयो ये च गृहपुत्रदारादिषु ममताभिनिवेशल-
क्षणाः सर्वभूतेष्वैकारभ्यानुभवैकरस्याभावाद्वागद्वेषादिहेतवो प्र-
न्थयन्ते सर्वे हि अस्मान्मोक्षकथाविचारात् यथा बाल्यः क्षियः
पूर्वं बाल्यात्कीटाद्यभिनिवेशाद्रसानभिज्ञत्वाच्च मर्तृषु वैरस्य-
युक्त्य अपि कालेन अबालाः प्रौढाः सत्यो मर्तृभिरभेदमैकरस्यं
यान्ति तद्वत्सर्वभूतेष्वभेदमैकरस्यं यान्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥ हे सुत
पुत्रबहुक्तम्य भरद्वाज, मन्दाधिकारिणामपि श्रवणाभ्यासे अ-
ज्ञाननिवर्हणसमर्थत्वात्सुमहानुभावानिमान्मोक्षाभ्युपायान् गुरु-
पूर्वभवणेन ये ज्ञास्यन्ति ते तत्त्वविदां वरिष्ठाः सन्तः पुनः
संसृतिं न सवेभ्यन्ति । इयं मम संक्षिप्तपरमरहस्योक्तिः । अ-
न्येन बहुना उदितेन उक्तेन कोऽर्थः किं प्रयोजनमित्यर्थः ॥ १० ॥
इदानीं वृष्णामपि गुरुमुखादिविचार्य संप्रदायतोऽर्थं सम्य-
ग्ज्ञात्वा अन्येभ्यः श्रावयतामेव बोधककथासिर्नान्येषामिति

सन्तो वदिष्यन्ति पुनः शिशुत्वं
न ते प्रयास्यन्ति किमन्यथाकथैः ॥ ११
ये वाचयिष्यन्त्यनपेक्षितार्थां
ये लेखयिष्यन्ति च पुस्तकं वा ।
ये कारयिष्यन्त्यपि वाचकं वा
व्याख्यातृयुक्तं शुभमार्यदेशे ॥ १२
ते राजसूयस्य फलेन युक्ता
मुहुर्मुहुः स्वर्गमुदारसत्त्वाः ।
मोक्षं प्रयास्यन्ति तृतीयजन्म-
लामेन लक्ष्मीमिव पुण्यवन्तः ॥ १३
इमां पुरा मोक्षमयीं विचार्य
सुसंहितां सद्ब्रह्मनाद्विरिञ्चः ।
प्रयुक्तवानेतदचिन्त्यरूपो
भवन्त्यसत्याश्च न तस्य वाचः ॥ १४
मोक्षाभ्युपायाद्यकथाप्रबन्धे
याते समाप्तिं सुधिया प्रयत्नात् ।
सुवेद्यं दत्त्वाभिमतान्नपान-
दानेन विप्राः परिपूजनीयाः ॥ १५

नियमं सूचयन्नाह—बहुश्रुता ये इति । अमुं ग्रन्थं ये सन्तो
बहुश्रुतानां गुरुणामप्रे स्वयं सम्यकप्रबोधितार्थं तत्संबादकथया
ग्रन्थे सम्यकप्रबोधितार्थं सति पुनः पश्चात्स्वयमपि शुभ्रुषवे
जनाय संप्रदायतो वदिष्यन्ति ते शिशुत्वं मोक्षं पुनर्जन्म वा
न प्रयास्यन्ति । अवश्यं तत्त्वज्ञानफलं प्राप्स्यन्तीत्यर्थः । अन्यैः
संप्रदायतोऽनधिगतैर्वाक्यैः श्रुतैः श्रावितैर्वा किम् । किं प्रयोजन-
मित्यर्थः ॥ ११ ॥ इदानीमर्थोक्तगमं विनापि ग्रन्थपारायणस्य
पुस्तकलेखनस्य वाचकवृत्तिकल्पनेन व्याख्यापनस्य च फल-
माह—ये वाचयिष्यन्तीति द्वाभ्याम् । अनपेक्षितार्थाः व्यु-
त्पत्त्यभावाद्वापेक्षारहिता अपि पारायणदक्षिणाद्रव्यानपेक्षा
निर्लोभाश्च ये पुस्तकं वा लेखयिष्यन्ति । ये वृत्तिकल्पनेन
व्याख्यातृपुरुषयुक्तं केवलं वाचकं वा कारयिष्यन्ति ते सका-
माच्छेदज्ञसूयस्य यज्ञस्य फलेन युक्तः सन्तो मुहुर्मुहुः स्वर्गं
प्रयास्यन्ति । उदारसत्त्वा निष्कामास्तत्प्रमज्ज्य सद्ब्रह्मसत्त्वज्ञ-
श्रवणादिकं प्राप्य तृतीयजन्मलामेन मोक्षं प्रयास्यन्ति ।
लक्ष्मीमिवेत्युभयत्र दृष्टान्तः ॥ १२ ॥ १३ ॥ ईदृशमहाफल-
त्वमस्य ग्रन्थस्य कुतस्तत्राह—इमामिति । मया कृतामिमां
मोक्षमयीं सुसंहितां पुरा पूर्वकाले अचिन्त्यरूपो विरिञ्चः सतां
सुनीनां समाजे आमूलाग्रं स्वयं विचार्य एतद्वाक्यं सर्वान्प्रयु-
क्तवान् । किमेतत् । सत्यवाचो बाल्मीकेर्वसिष्ठस्य स्वस्य च
गिरः असत्या न भवन्तीति । तथा च पूर्वराभायणे मर्त्या स्वस्य
वरदानं 'न ते वागवृता काव्ये काविदत्र भविष्यति' इति सूच-
नार्थककारः ॥ १४ ॥ एतच्छब्दसमाप्तौ गृह्यश्रवणादिकानं
विप्रादिभ्योऽवश्यं कर्तव्यमित्याह—मोक्षेति । विप्रा वाच-
कवाः । उपलक्षणमेतन्मिष्यद्बुद्धीनाञ्चक्षुष्यन्तमपि ॥ १५ ॥

१ सत्त्वाश्च इति पाठोऽस्ति, स यत् सत्त्वाः.

देयं च तेभ्यः खलु दक्षिणादि
चित्सेरिसतं स्वस्य धनस्य शक्त्या ।
मत्त्वानुरूपं कृतमेव सक्त-
पुण्यं यथाशास्त्रमुपैत्यसौ तत् ॥ १६ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० ति० उ० ग्रन्थप्रसांसात्तद्वाचनविधिनिर्णयपञ्चदशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २१५ ॥

एतत्ते कथितं कथाक्रमशतैर्बोधाय बुद्धैर्बुद्ध-
च्छास्त्रं बृंहितब्रह्मतत्त्वममलं दृष्टान्तयुक्तयाश्चितम् ।
श्रुत्वैतच्चिरनिर्वृतिं भज सृशं जीवद्विमुक्ताशयो
लक्ष्मीं ज्ञानतपःक्रियाक्रमयुतां भुक्त्वाऽक्षयामक्षयः
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० ति० उ० ग्रन्थप्रसांसात्तद्वाचनविधिनिर्णयपञ्चदशाधिकद्विंशततमः सर्गः ॥ २१५ ॥

षोडशाधिकद्विंशततमः सर्गः २१६

श्रीवाल्मीकिरवाच ।
एतत्ते कथितं जन्कुम्भयोनेः सुभाषितम् ।
अमुना तत्त्वमागौ तत्पदं प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥ १ ॥
राजोवाच ।
भगवन्भवतो दक्षिणबन्धविनाशनी ।
आलोकितो यथा बहुसुतीर्णोऽसि भवान्भुवेः ॥ २ ॥
देवत उवाच ।
इत्युक्त्वासौ ततो का विस्मयोत्कुललोचनः ।
उवाच बचनं मां तु धुरं रक्षयया गिरा ॥ ३ ॥
राजोवाच ।
देवदूत नमस्तुभ्यं कुर्वं चास्तु ते विभो ।
सतां सासपदं मैत्रमित्कं तत्त्वया कृतम् ॥ ४ ॥
इदानीं गच्छ भद्रं ते वैपजनिवेशनम् ।
अनेन श्रवणेनाहं निर्वृतोऽहोऽपि च ॥ ५ ॥
श्रुतार्थं चिन्तयन्न स्यात्सि विगतज्वरः ।
इत्युक्तोऽहं ततो भद्रे परं स्वयमागतः ॥ ६ ॥
न श्रुतं पूर्वमेवैतज्ज्ञानसारं तं मया ।
तेनैव मुदितश्चान्तः पीताम्बुवाधुना ॥ ७ ॥

ततो वाल्मीकिमापृच्छथ भागतोऽसि त्वदन्तिके ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं त्वया पृष्ठं भवानधे ।
इतः परं गमिष्यामि शकस्य सदनं प्रति ॥ ८ ॥
अप्सरा उवाच ।
नमोऽस्तु ते महाभाग देवदूत त्वया मम ।
भावितादर्थविज्ञानात्परं निर्वृतिमागता ॥ ९ ॥
कृतार्था बीतशोकासि स्थास्यामि विगतज्वरा ।
इदानीं गच्छ भद्रं ते यथेच्छं शकसंनिधौ ॥ १० ॥
अग्निवेश्य उवाच ।
ततः सा सुरुचिः श्रेष्ठा तमेवार्थमचिन्तयत् ।
स्थिता सा हिमवत्पृष्ठे समीपे गन्धमादने ॥ ११ ॥
कश्चिदेतच्छ्रुतं पुत्र वसिष्ठस्योपदेशनम् ।
तत्सर्वमवधार्याथ यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १२ ॥
कारुण्य उवाच ।
स्मृतिर्वाग्दृष्टिसत्ता च स्वप्ने बन्ध्यासुतेऽजले ।
मरीचिका यथा तद्ब्रह्मज्ञानात्सांसारिकी स्थितिः ॥ १३ ॥
मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि शकस्येति क आग्रहः ॥ १४ ॥

खधनस्य मध्ये तेषां चित्सेरिसता णा यथाशक्त्या देया ।
असौ कर्ता तत्सकृतमेव अवश्यं सः इति सङ्गं पुष्यं फल-
त्पना यथाशास्त्रमुपैत्येवेति मत्वा निश्चयेत्यर्थः ॥ १६ ॥ हे
भरद्वाज, ते तव बुद्धेर्बोधाय कथाशतैर्बृंहितं ब्रह्मतत्त्वं
दृष्टान्तयुक्त्या अभितमेतच्छास्त्रं मया कृतम् । एतच्छ्रुत्वा
जीवन्नेव विमुक्ताशयोः सन् लोकानुग्रहाज्ञानतपःक्रियाफल-
युतां प्रारब्धभोगसत्कर्मफलभूतां योगज्ञानात्कर्मलक्ष्मीमक्षयं
चिरस्थासिनीं भुक्त्वा सदेहो विदेहश्च चिरनिर्वृत्तः कृतानिरतिशयान-
न्दरूपां मुक्तिं पृशं भजेत्याशीरन्ते मज्जाम्बु ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे प्रथमे ग्रन्थप्रसां-
सात्तद्वाचनविधिनिर्णयपञ्चदशाधिकद्विंशततमः ॥ २१५ ॥
अरिष्टनेमिसुरुचिकारुण्यविद्वत्तार्थता ।
वर्षयतेऽत्र गुरुभ्यश्च क्षिप्रैरात्मनिषेवदन्तः ॥
कुम्भयोनेर्वसिष्ठस्यागस्त्यस्य च रामासीन्सुतीर्ण इति च
सुभाषितम् । अमुना एतद्ग्रन्थरूपेण ॥ १ ॥ अरिष्टने-
मिरवाच वाल्मीकिं प्रति । इष्टिः कृपाकटाक्षः ॥ ३ ॥
मैत्रं मित्रभावः सप्तभिः पदैरनुगतैर्लभ्यत इति सः ॥
शैबिकोऽण् । इति मत्स्यद्विरुक्तं तत्त्वया सत्यं कृतमित्यर्थः ॥
सर्वतापोपशमेव निर्वृतो निरतिशयानन्दलाभेन मुदितः ॥

इति राज्ञा अहमुक्तः संस्तद्धिनयादिगुणसंपदा परं विस्वयमा-
गतः ॥ ६ ॥ स्वस्यापि सत्सङ्गवशेन श्रवणलाभात्कृतार्थता
आतेत्याह—न श्रुतमिति । पूर्व कदापि न श्रुतमपूर्वमेवैतज्ज्ञान-
सारं सत्सङ्गान्मया श्रुतम् ॥ ७ ॥ त्वदन्तिके त्वामुपदेष्टुमि-
त्यर्थः । अनेधे इति संबोधनेन निष्पापत्वादधिकारसंपत्तिं
त्वयि दृष्ट्वा एतत्सर्वं ते दुभ्यमाख्यातमिति सूचितम् ॥ ८ ॥
परं निर्वृतिं सुखविश्रान्तिमागता अहमिति शेषः ॥ ९ ॥ १० ॥
तमुपदिष्टं ब्रह्मात्मैक्यलक्षणमेवावयम् ॥ ११ ॥ तत्सर्वमिति ।
'भोक्षस्व कारणं कर्म ज्ञानं वा भोक्षसाधनम्' इति त्वदीयसंदे-
हक तद्वचनारणे मूलापगमादेवोच्छेदस्तिदिति भावः ॥ १२ ॥
अत एव स्वस्य समूलसर्वसंशयविषयवाधाद्वाधितानुवृत्तिमात्रेण
यथाप्राप्तानुवर्तनमेव जीवन्मुक्तस्य परिशिष्यत इति कारुण्य
उवाच—स्मृतिरित्यादिना । अतीतानामते अवशिष्टे च
विषये स्मृतिः परोक्षधीर्वाग्यबह्वारथ वर्तमानविषये दृष्टिस-
त्ताप्रत्यक्षं च मम सांप्रतं तत्त्वज्ञानात्स्वप्ने प्रतीते बन्ध्यासुत-
विषये यथा निर्विषयास्तथा निर्विषयाः संपन्नाः । सर्वापि च
सांसारिकी स्थितिः अजले मरुदेशे मरीचिका यथा तद्ब्रह्मसं-
वेदि कापि विषये न कश्चिदपि संदेहः परिशिष्ट इत्यर्थः
॥ १३ ॥ रामाशिवदेव यथाप्राप्तेन ॥

अगस्तिरुवाच ।

इत्युक्त्वा नाम कारुण्य अश्लेषेण्यसुतः कृती ।
प्राप्तकर्मा यथान्यायं काले काले ह्युपाहरत् ॥ १५ ॥
संदेहोऽत्र न कर्तव्यः सुतीक्ष्ण ज्ञानकर्मणि ।
संशयाद्भ्रमयते स्वार्थात्संशयात्मा विनश्यति ॥ १६ ॥
एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यमनेकार्थैक्यबोधनम् ।
नमस्कृत्य गुहं प्राह अन्तिके विनयान्वितः ॥ १७ ॥

सुतीक्ष्ण उवाच ।

नष्टमज्ञानतत्कार्यं प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ।
साक्षिणि स्फुरिताभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ॥ १८ ॥
सति यस्मिन्प्रवर्तन्ते चित्तेहाः स्पन्दपूर्विकाः ।
कटकान्कदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम् ॥ १९ ॥
पयसीव तरङ्गाली यस्मात्स्फुरति दृश्यमूः ।
तदेवेदं जगत्सर्वं पूर्णं पूर्णं व्यवस्थितम् ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतेके मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अलकाण्डे

द्वात्रिंशच्छतस्राहक्यां संहितायां षोडशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१६ ॥

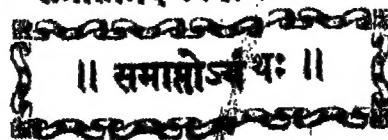
तिष्ठामि स्थास्यामि । अकर्मणि बल्यत्कर्मत्यागे ॥ १४ ॥
प्राप्तकर्मा विवाहेन प्राप्तकर्माधिकारः सन् काले काले यथोचि-
तकाले ज्ञानदानाग्निहोत्रातिथिसपर्यादिकर्म उपाहरत् अनुष्ठित-
वानित्यर्थः । नामेति किलार्थे ॥ १५ ॥ हे सुतीक्ष्ण, ज्ञान-
कर्मणि ज्ञानोत्तरं कर्मानुष्ठानविषये कर्म बन्धाय भविष्यतीति
संदेहो न कर्तव्यः ॥ १६ ॥ अनेकेषां संदेहविषयविरुद्धानेकको-
ट्यात्मकानां सांसारिकार्थानां पारमार्थिकब्रह्मतत्त्वात्मना सर्व-
विरोधत्यागेनैक्यबोधनं मुनेरगस्त्यस्यैतद्वाक्यं श्रुत्वा । अन्तिके
समीपे ॥ १७ ॥ यस्मिन् सर्वसाक्षिणि परमात्मनि स्वयंज्यो-
तिष्ठादेव नित्यस्फुरिताभासे ध्रुवे निष्क्रिये स्थिते सति नाव्य-
शाक्यायां दीपे स्थिते सति तत्प्रकाशमुपजीव्य नटनर्तकादीनां
क्रिया इव सर्वाः स्पन्दमूर्तयश्चित्तेहा लौकिकवैदिकक्रियाः
प्रवर्तन्ते । यस्माच्च कटकदिभेदैः काञ्चनमिव पयसि तरङ्गालीव
दृश्यमूः स्फुरति । इदं जगत्सर्वं तदेव नाणुमात्रमपि तदन्य-
क्रियाकारकफलादिपृथक्निरूपयितुं शक्यत इति निश्चित्य यथा
यस्मिन्नाश्रमे प्राप्तस्वप्नवहारमनुवर्ताम्यनुवर्ते । छान्दसः पद-
व्यख्यः ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ इदानीं श्रीगुरुकृ-
तस्य परमपुरुषार्थप्रापकज्ञानदानोपकारस्य जगति प्रत्युपकारो-
पायमपश्यंस्वप्नचरणयोर्नमस्कृत्यात्मानं यावज्जीवं दास्याय निवेद-
यति—कृतार्थोऽहमित्यादिना ॥ १२ ॥ अन्येन केनापि
कर्मणा गुरोरुपकारादुत्तीर्णता न ॥ २३ ॥ हे स्वामिन्, अहं तव
प्रसादेन भवाम्बुधेः उत्तीर्णः सन् पूर्णानन्दभावेन आपूरितजग-
ज्जालं यथा स्यात्तथा स्थितोऽस्मि नात्र संशय इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमत्सर्वज्ञसरस्वतीपूज्यश्रीरामचन्द्रसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-

श्रीगङ्गाधरेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षोः शिष्येण श्रीमदानन्देन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षुणा विरचितः

श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यसंग्रहः संपूर्णः ॥

समाप्तमिदं निर्वाणप्रकरणम् ।



यथाप्राप्तोऽनुवर्तामि को लङ्घयति सद्वचः ।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन ज्ञातव्योऽस्मि संस्थितः ॥ २१ ॥
कृतार्थोऽहं नमस्तेऽस्तु दण्डवत्पतितो भुवि ।
गुरोरुत्तीर्णता केन शिष्याणामस्ति कर्मणा ॥ २२ ॥
कायवाङ्मनसा तस्माच्छिच्छ्यैरात्मनिधेयम् ।
गुरोरुत्तीर्णता सैव नान्या केनापि कर्मणा ॥ २३ ॥
स्वामिस्तव प्रसादेन उत्तीर्णोऽहं भवाश्रुधेः ।
आपूरितजगज्जालं स्थितोऽस्मि गतसंशयः ॥ २४ ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति न स्फुटम् ।
श्रुत्वा ह्युदीर्षते साक्षि तस्मै ब्रह्मात्म नमः ॥ २५ ॥
ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्तस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रिसिद्धं नताः स्मः २६ ॥

अस्य ग्रन्थस्य सर्वोपनिषत्सारार्थोद्देश्यत्वान्मुमुक्षुभिरादरणी-
यतमत्वं सूचयन् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपा-
सीत' इति छान्दोग्योपनिषत्प्रदाहस्फुटतरोपायसहितज्ञानाधि-
गतसर्वात्मकसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मत्वमनुसंधायान्ते महत्त्वार्थं
नमस्यति—यत्सर्वमिति । यं साग्नि सामवेदे 'सर्वं खल्विदं
ब्रह्म तज्जलानिति' श्रुत्या स्फुटिकारिणां करतलामलकवद-
परोक्षं यथा भवति तथा अतात्पर्येणोदीर्यते तस्मै तद्भावेन
परिशिष्टयात्मने प्रत्यक्चिन्मदधनाय नम इत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

गजवदनं शुभरक्षज्जनभरणं समस्तगुणसदनम् ।

सच्चित्सुखसारधर्मदयं हृदये सदा बन्दे ॥ १ ॥

निमज्जान्तर्भस्मत्तरसवसिष्ठोक्तिजलधौ

सदथा उद्धीर्षतं गुरुकटाक्षात्कतिपये ।

विचिन्वानो जलधिजउरं को नु कल्ये-

दियतां रक्षाप्रचुरतरयत्तरपि कृती ॥ २ ॥

निरुपमन्किन्तारं निःसंसारं नितान्तगम्भीरम् ।

नित्यसुखादरं पारावारं परं स्वमेव भजे ॥ ३ ॥

ऋतुरसतुरगमः ७६६ शकविकारिशुभवत्सरस्य शिषिरर्तोः ।

फाल्गुनसितकां सुगुरौहिणवृषभलमके सिद्धम् ॥ ४ ॥

वाक्मन्त्रजलिः सोऽयं मया भक्त्या समर्पितः ।

भिक्षुकयोः श्रीमच्छिष्ययोः श्रीपद्मजयोः ॥ ५ ॥

इति श्रीकामदारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे

षोडशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१६ ॥

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल नं० २२४ अ.प.प.
१ महात्मा